मध्य सिद्धान्तकौमुदी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१८५

श्रीवरदराजाचार्यविरचिता

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेता

(आदितः-अव्ययप्रकरणान्तः प्रथमो भागः)

सम्पूर्ण

350/-

व्याख्याकार

श्रीसुरेशचन्द्र शर्मा

व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी-एच्० डी०



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

तृतीय संस्करण १९९८

मूल्य 

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए. बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
185



MADHYASIDDHĀNTA-KAUMUDĪ

OF

ŚRĪ VARADARĀJĀCĀRYA

(Part 1 : Avyayaprakarananta)

Edited with

'Subodhini'-Sanskrit & Hindi Commentaries

By
Shri Suresh Chandra Sharma
Vyakaranacharya, M. A., Ph. D.



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

Telephone : 57214

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007

Telephone : 236391

*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001

Telephone : 63076

निवेदनम्

विदितमेव तत्रभवतां श्रीमतां यत्संस्कृतवाङ्मयज्ञानाय व्याकरणमेव मुख्यं साधनम्। ऐन्द्रचान्द्रादिषु नैकेषु व्याकरणेषु सत्स्वपि सर्वत्राधुना पाणिनीय-व्याकरणमेव प्रचलति। तच्च व्याकरणं लक्ष्यलक्षणात्मकम्। तत्र शब्दो हि लक्ष्यः, लक्षणन्तु सूत्रम्। अनयोः सम्यग्ज्ञानार्थं पाणिनीयाष्टाध्याय्या अध्ययनं परमावश्यकम्। अतः 'अष्टाध्यायी'ति ग्रन्थस्य गूढाभिप्रायं ज्ञातुं काशिकादि-वृत्तिग्रन्थानां पठनपाठनयोः परम्परा प्रचलिता। परिवर्तनशीलेऽस्मिन् युगेऽध्य-यनाध्यापनविधावपि परिवर्तनं स्वाभाविकमेव। अत एव सरलरीत्या व्याकरण-शास्त्रज्ञानाय अष्टाध्यायीक्रमस्थकाठिन्यनिवारणाय च प्रक्रियाक्रमस्यारम्भो जातः। रूपावताराद्उद्गतेयं प्रक्रियापरम्परा रूपमालया प्रक्रियाकौमुद्या च पल्लविता, सिद्धान्तकौमुद्या च पुष्पिता तत्रैव पर्यवसिताऽपि। श्रीमद्भट्टोजि-दीक्षितविदुषा विरचिता वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रौढा पाण्डित्यपरिपूर्णा च वर्तते। अतः सकुमारमतीनां बालानां प्रवेशोऽत्र दुष्कर इति विचार्य तच्छिष्येण पण्डितप्रवरेण वरदराजाचार्येण प्राथमिकाध्येतॄणां बालानामनायासेन बुद्धिप्रवेश-लाभाय लघुसिद्धान्तकौमुदी, लब्धकिञ्चित्प्रवेशानां माध्यमिकानाञ्च बालानां व्याकरणशास्त्रबोधसम्पत्तये मध्यसिद्धान्तकौमुदी विरचिता।

सेयं मध्यसिद्धान्तकौमुदी स्वल्पेन कालेन बहुबोधाधायनीति विदन्त्येव विद्वांसः। ग्रन्थस्यास्य परमोपादेयतामभिलक्ष्य कैश्चिद्विश्वविद्यालयैः माध्यमिक-कक्षासु विनिर्धारितोऽयं ग्रन्थः। यद्यप्यद्यत्वे मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतानि नैकानि संस्करणानि प्रकाशितानि सन्ति। परं 'विद्यार्थि-जनोपयोगि सरलटीकोपेतं किञ्चित्संस्करणं नैव समुपलभ्यते' इत्यभावमनुभवता चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनाध्यक्षस्याग्रहवशंवदेन छात्रहितैषिणा मया 'सुबो-धिनी'ति संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतायाः मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः प्रथमो भागः प्रकाश्यते। कार्येऽस्मिन् व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताद्यनेकशास्त्रमर्मविदुषां व्याकरणविभागाध्यक्षाणां पूज्यगुरुवर्याणां श्रीमतां केशवदेवतिवारीमहाभागानां हार्दिकीमधमर्णतामावहामि, यैरत्यन्तवात्सल्यभावेन पदे पदे काठिन्यं निरस्या-स्माकं साहाय्यं कृतम्। अत्र कियत्साफल्यमधिगतं मयेत्यत्र तु विद्वांसः प्रेक्षका एव प्रमाणम्। प्रमादेनात्र काश्चन त्रुटयः स्युस्ताः संशोध्य विद्वद्भिः सूचनीयो-ऽप्ययं जन इति शम्।

विदुषामाश्रवः—

सुरेशचन्द्र शर्मा

भूमिका

संस्कृत भाषा भारत की ही नहीं, अपितु विश्व की प्राचीनतम भाषा है। सभ्यता के उषाकाल में इस भाषा का उदय हुआ और सर्वप्रथम भारत को ही इस उदय के दर्शन का श्रेय प्राप्त हुआ। 'वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं' यह सभी विद्वानों और ऐतिह्यविदों ने स्वीकार किया है।

किसी भी भाषा की सुरक्षा और उसका मौलिक ज्ञान उसके व्याकरण में निहित होता है। बिना व्याकरण के भाषा प्रायः विशृंखल और अपूर्ण रहती है। संस्कृत-वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का विशिष्ट स्थान है। 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।' अर्थात् जिससे साधु शब्दों का ज्ञान होता है, उसे **'व्याकरण'** की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। महाभाष्यकार ने इसी को **'शब्दानुशासन'**[1] भी कहा है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन षडङ्गों में व्याकरण वेद का मुख रूप प्रधान अङ्ग माना जाता है। जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्॥'[2]

भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—**'प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम्।'**[3]

व्याकरण-वाङ्मय में ऐन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है। शब्दोपदेश के लिए प्रकृति-प्रत्यय विभाग की कल्पना सर्वप्रथम सुरगुरु बृहस्पति के शिष्य इन्द्र ने की थी। देवराज इन्द्र से लेकर महर्षि पाणिनि पर्यन्त[4] अनेक आचार्यों ने व्याकरणशास्त्र का निर्माण किया था, परन्तु आज पाणिनीय व्याकरण ही सर्वाङ्ग परिपूर्ण उपलब्ध होता है। यद्यपि यह संस्कृत के प्राचीन आर्ष

---

१. 'अनुशिष्यन्ते अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधुशब्दा अनेनेत्यनुशासनम्, शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासनं सूत्रवार्तिकभाष्यव्याख्यानादिरूपं शास्त्रम्।'

२. पाणिनीय शिक्षा (४१, ४२)।

३. महाभाष्यम् (पस्पशाह्निकम्)।

४. बोपदेव ने इन्द्र आदि आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया है—

'इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥' (कविकल्पद्रुमः)

व्याकरणों में सबसे अन्तिम और संक्षिप्ततम है; तथापि लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के संस्कृत-वाङ्मय को आलोकित करने वाला एक महान् प्रकाश-स्तम्भ है। विश्व की किसी भी भाषा का व्याकरण इतना सरल और परिष्कृत नहीं बन सका है। संसार के सभी विद्वानों ने इसकी वैज्ञानिकता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। पाणिनीय व्याकरण का मूलग्रन्थ भगवान् पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है। इसमें ३९९५ सूत्र हैं।[1] इस अष्टाध्यायी के माध्यम से उन्होंने संस्कृत भाषा के परिष्कृत रूप को स्थायित्व प्रदान किया। कालान्तर में महर्षि कात्यायन ने 'अष्टाध्यायी' की समीक्षा करते हुए उसके पूरक के रूप में वार्तिकग्रन्थ की रचना की। सूत्र तथा वार्तिकों के पारस्परिक समन्वय को समझाने के लिए शेषावतार भगवान् पतञ्जलि ने विशद विवरणात्मक ग्रन्थ 'महाभाष्यम्' की रचना की। उन्होंने पूर्ववर्ती दोनों आचार्यों की रचनाओं में सत्यान्वेषण किया और सिद्धान्ततः निष्कर्ष प्रस्तुत किया, जिससे विद्वानों ने उनके सिद्धान्तों को विशेष मान्यता प्रदान की—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।' इस प्रकार सूत्रकार 'पाणिनि', वार्तिककार 'कात्यायन' और भाष्यकार 'पतञ्जलि' ये तीनों आचार्य व्याकरण के 'त्रिमुनि' कहलाते हैं।

पाणिनि

महर्षि पाणिनि के जन्मस्थान, जन्मकाल आदि के विषय में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। 'त्रिकाण्डशेष' कोष में पाणिनि के छह नामों का उल्लेख मिलता है। पाणिन, आहिक, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, पाणिनि और शालातुरीय। इन नामों द्वारा इनके गोत्र, माता-पिता तथा देश का निर्णय किया जा सकता है। इनमें पाणिन और पाणिनि दोनों नाम गोत्र-व्यपदेशज हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि 'आहिक' इनका मूल नाम है। इनकी माता का नाम दाक्षी था, अतः इनका एक नाम दाक्षीपुत्र भी है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है—'सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।' कुछ गवेषकों के अनुसार इनके पिता का नाम शलङ्क था। अतः इनको 'शालङ्कि' कहा गया। 'शालातुरीय' नाम इनके जन्मप्रदेश को स्पष्ट करता है। 'गणरत्नमहोदधि' नामक ग्रन्थ में 'शालातुरीय' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—**'शलातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः।'** इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि का जन्मस्थान 'शलातुर' नामक ग्राम ही है, जो वर्तमान

---

१. 'चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह॥'

(स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका, श्लो० १५)

में 'लाहौर' नाम से प्रसिद्ध है और पाकिस्तान का विशाल नगर है। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सम्भवतः तक्षशिला में हुई थी, पश्चात् अपने ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए यह अन्यत्र चले गये। इनके गुरु का नाम उपवर्षाचार्य था, जो नालन्दा विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते थे। इन्होंने अपने अध्ययन काल में ही कठिन तपस्या करके आशुतोष भगवान् शङ्कर को प्रसन्न किया और उनके उपदेश से 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरणशास्त्र की रचना की। महर्षि पाणिनि की वन्दना में आचार्यों ने कहा भी है—

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥'

महर्षि पाणिनि के काल के सम्बन्ध में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। अष्टाध्यायी के 'कुमारः श्रमणादिभिः' (२।१।७०) सूत्र में 'श्रमण' पद प्रयुक्त हुआ है। इससे आलोचक पाणिनि को बुद्धकालीन अथवा तत्पश्चात्कालीन सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वान् 'इन्द्रवरुण०' (४।१।४९) सूत्र में 'यवन' पद को देखकर इन्हें 'सिकन्दर' के समकालीन स्वीकार करते हैं। परन्तु यह नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि वैदिक ब्राह्मणग्रन्थों में भी श्रमण पद का उल्लेख मिलता है।[1] इसी प्रकार सिकन्दर के भारतागमन से भारतीय लोग यवनों से परिचित हुए। यह भी भ्रम ही है, क्योंकि महाभारत में यवन सैनिकों के द्वारा युद्ध करने का प्रसङ्ग है।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि पाणिनि विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व हुए हैं। किन्तु भाण्डारकर और गोल्डस्टुकर ने पाणिनि का समय ५०० ई० पू० से पहले निश्चित किया है। इसी प्रकार भारतीय और पाश्चात्य मतों पर सम्यग् विचार करने के उपरान्त डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनि का समय ५०० ई० पू० निश्चित किया है।[2]

कात्यायन

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर आवश्यकतानुसार अनेक आचार्यों ने वार्तिकग्रन्थ लिखे थे। उनमें महामुनि कात्यायन का प्रमुख स्थान है। पाणिनीय व्याकरण को सम्पूर्ण एवं समृद्ध बनाने के लिए कात्यायन का विशेष महत्त्व

---

१. 'अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः।'

(शतपथब्राह्मण)

२. द्रष्टव्य—श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल : 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'।

(पृ० ४७०–४८०)

है। पाणिनि और कात्यायन समकालीन और सतीर्थ्य थे। इनका कात्यायन नाम गोत्रज है। आपका मूल नाम 'वररुचि' था। महाभाष्य के प्रथमाह्निक में 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इस वार्तिक पर 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते।' इस पतञ्जलि-वचन से विदित होता है कि ये दाक्षिणात्य थे। ये केवल वार्तिककार ही नहीं अपितु महाकवि भी थे। इनके 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों में है। यथा—

'यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥'

महाभाष्यकार पतञ्जलि

इस समय पाणिनीय व्याकरण पर पतञ्जलि-विरचित एक ही भाष्य ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यह विशालकाय होने से महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। भाष्य का तात्पर्य निम्नाङ्कित है—

'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥'

महामुनि पतञ्जलि एवं उनके महाभाष्य की सभी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उनका महाभाष्य न केवल व्याकरणशास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ है, अपितु अनेक विषयों का आकर ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि अत्यन्त सरल है, तथापि कहीं-कहीं भाव-गाम्भीर्य अत्यधिक है।

भगवान् पतञ्जलि ने मनोवाक्कायदोषनिरसनार्थं 'योगसूत्र', 'महाभाष्य' और 'चरकसंहिता' इन तीन विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की, जैसा कि किसी विद्वान् ने भगवान् पतञ्जलि की स्तुति करते हुए कहा है—

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥'

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने परिचय के विषय में कुछ नहीं लिखा है। किन्तु 'महाभाष्य' में कुछ स्थलों पर 'गोर्नदीयस्त्वाह' तथा 'गोणिकापुत्रः' लिखा गया है। इससे ज्ञात होता है कि यह गोर्नद प्रदेश के निवासी थे। यह गोर्नद प्रदेश कहाँ है? इस पर आधुनिक विद्वान् गोण्डा जनपद को ही गोर्नद मानते हैं। इनके महाभाष्य में 'पुष्यमित्रो यजते, इह पुष्यमित्रं याजयामः' इत्यादि प्रयोग मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि ये राजा पुष्यमित्र के समकालिक थें। पुष्यमित्र का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी निश्चित किया गया है। भारतीय पौराणिक गणना के आधार पर पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने पतञ्जलि का समय विक्रम से १२०० वर्ष पूर्व निश्चित किया है।

पाणिनीय व्याकरण के ये तीनों आचार्य 'त्रिमुनि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आशुतोष भगवान् शंकर के डमरू से पाणिनि के चतुर्दशसूत्र प्राप्त हुए और उन्हीं सूत्रों के आधार पर उन्होंने अष्टाध्यायी की रचना की। उसकी पूर्ति के लिए कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की और भगवान् शेषावतार पतञ्जलि ने जिज्ञासु विद्यार्थियों और मनीषियों के हितार्थ 'महाभाष्य' का प्रवचन किया। ये तीनों व्याकरणशास्त्र के प्रवर्तक है।

अष्टाध्यायी के टीकाकार

पाणिनीय व्याकरण के मूल ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' पर अनेक वृत्तिग्रन्थ लिखे गये। वृत्तिकारों में श्वोभूति, व्याडि, कुणि, माथुर, वररुचि आदि प्रमुख हैं। परन्तु इस समय उपलब्ध वृत्तिग्रन्थों में वामन और जयादित्य द्वारा विरचित 'काशिकावृत्ति' अत्यन्त सराहनीय है। इसका निर्माणकाल विद्वानों ने वि० सं० ६५०-७०० के मध्य स्वीकार किया है।

इस प्रकार अध्येता को सर्वप्रथम सम्पूर्ण 'अष्टाध्यायी' कण्ठस्थ करके प्रयोग के लिए 'काशिका' का अध्ययन करना होता था। अनन्तर विशेष-ज्ञानार्थ महाभाष्य पढ़कर ही विशिष्ट पाण्डित्य प्राप्त होता था।

प्रक्रिया-क्रम

प्रौढ एवं विशेष परिश्रम न करने वाले विद्यार्थियों को उक्त प्रणाली में कष्ट और गौरव का अनुभव होने लगा था। अतः सरलरीति से व्याकरण-शास्त्र के ज्ञान के लिए तथा अष्टाध्यायी-क्रमस्थ कठिनाई को दूर करने के लिए सर्वप्रथम बौद्धमतावलम्बी धर्मकीर्ति ने वि० सं० १३०० में 'रूपावतार' नामक प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना की। पश्चात् विमलसरस्वती ने 'रूपमाला' और पं० रामचन्द्राचार्य ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की। किन्तु इन प्रक्रिया-ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनता की पूर्ति के लिए म० म० श्रीभट्टोजि दीक्षित ने 'वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी' की रचना की। विद्वानों ने भट्टोजि दीक्षित का समय वि० सं० १५०० से १५७५ के मध्य स्वीकार किया है। उक्त ग्रन्थ अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातु-पाठ से सर्वाङ्गपरिपूर्ण है। यह ग्रन्थ इतना उपयोगी सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन इसी के द्वारा होने लगा। 'सिद्धान्तकौमुदी' पर अनेक टीकाएँ लिखीं गयीं, जिनमें दीक्षित जी की प्रौढ-मनोरमा, ज्ञानेन्द्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनी, वासुदेव दीक्षित की बाल-मनोरमा तथा नागेश का लघुशब्देन्दुशेखर प्रसिद्ध है।

आचार्य वरदराज

आचार्य वरदराज दाक्षिणात्य पण्डित थे। इनके पिता दुर्गातनय और गुरु भट्टोजिदीक्षित थे। अपने अध्ययन के पश्चात् इन्होंने पाणिनि-व्याकरण में प्रवेशार्थी सुकुमार मति वाले बालकों के लिए 'सिद्धान्तकौमुदी' का पथ-प्रदर्शक 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की। वरदराज का यह लघु प्रयास प्रारम्भिक छात्रों के लिए परमोपयोगी है।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

इस प्रकार 'लघुकौमुदी' द्वारा साधारण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिए वरदराज ने द्वितीय सोपान रूप 'मध्य-सिद्धान्तकौमुदी' का प्रणयन किया। मध्यसिद्धान्तकौमुदी के अन्त में वरद-राज ने कहा है—

'कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी।
तस्याः सङ्ख्या तु विज्ञेया खबाणकरवह्निभिः॥'

यह किंवदन्ती है कि आचार्य वरदराज की इस कृति को देखकर गुरुवर भट्टोजिदीक्षित को सन्देह हो गया था कि मध्यकौमुदी को पढ़ने के पश्चात् मेरी 'सिद्धान्तकौमुदी' को कौन पढ़ेगा? क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी का सार-सर्वस्व मध्यसिद्धान्तकौमुदी है।

इस ग्रन्थ में सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा संक्षेप के अतिरिक्त प्रकरण-क्रम में भी भिन्नता है। वाक्य में सर्वप्रथम अर्थज्ञान के लिए पदच्छेद अपेक्षित होता है। अतः पूर्व में सन्धि-प्रकरण को रखा गया है। अनन्तर सुबन्त पदों के ज्ञान के लिए षड्लिङ्ग-प्रकरण और अव्यय-प्रकरण का संघटन किया गया है। इसके बाद स्त्रीप्रत्यय की अपेक्षा तिङन्त पदों के ज्ञान के लिए तिङन्त-प्रकरण का विन्यास सर्वथा उचित है। क्योंकि स्त्रीप्रत्यय कृत्तद्धित-समास के बाद ही अपेक्षित है। अतः अन्त में 'स्त्री-प्रत्यय' का होना ही उचित है। इसी प्रकार कारक का भी समास से पूर्व होना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। क्योंकि विभक्त्यर्थज्ञान पर ही समास-प्रक्रिया आधारित है।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी की एक अत्यन्त प्राचीन टीका 'मध्यमनोरमा' है; ऐसा कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है। परन्तु इसका मुद्रित संस्करण अद्यावधि अप्राप्य ही है।

आजकल मध्यसिद्धान्तकौमुदी के संस्कृत-हिन्दी टीकाओं सहित अनेक संस्करण निकल रहे हैं। उनमें पं० सदाशिव शास्त्री की 'सुधा' संस्कृत व्याख्या तथा पं० रामचन्द्र झा द्वारा रचित 'इन्दुमती' हिन्दी टीका का प्रमुख स्थान रहा है।

प्रस्तुत संस्करण में 'सुबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या का संक्षेप में वर्ण्यविषय इस प्रकार है—संस्कृत में जिज्ञासु छात्रों को सूत्रार्थ समझाना ही उद्देश्य रहा है। हिन्दी में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, अनुवृत्ति तथा सूत्रभेद प्रदर्शित कर विद्यार्थियों को सूत्रार्थ समझने की ओर स्वतः उन्मुख होने की प्रणाली बतलायी गई हैं। अनन्तर ग्रन्थ की 'वृत्ति' के अनुसार सूत्रार्थ किया गया है। 'विमर्श' में अनुवृत्त सूत्रों का उल्लेख करते हुए सूत्रस्थ पदों के साथ उनका सम्बन्ध प्रदर्शित कर सूत्रार्थ स्पष्ट किया गया है। प्रक्रियानुसार क्रम से उदाहरणों की सिद्धि की गई है और प्रत्युदाहरणों के द्वारा सूत्रस्थ पदों की सार्थकता दिखलायी गई है। प्रसङ्गवश कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण भी किया गया है। नवीन प्रकरणों के आरम्भ में पूर्वापर सङ्गति उपक्रम के रूप में की गई है। इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण की व्याख्या के विषय में गुण-दोषों का विवेचन सुधी पाठकजन ही करेंगे। मेरे प्रमाद एवं अज्ञानवश कुछ त्रुटियाँ हुई होंगी। अतः नीर-क्षीर-विवेकी विद्वानों से निवेदन है कि वे उन्हें सुधारकर सूचित करने का कष्ट करें। आशा एवं विश्वास है कि 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' के इस संस्करण से छात्रगण अवश्य ही लाभ उठायेंगे।

शिवरात्रि, २०४६ वि० }

विदुषां वशंवदः
सुरेशचन्द्र शर्मा

प्रकरण-सूची

॥ श्रीः ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

अथ संज्ञाप्रकरणम्

नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

'श्रीसरस्वत्यै नमः'

श्रीगणेशं नमस्कृत्य साम्बं विश्वेश्वरं परम् ।
बालानां सुखबोधाय सुबोधिनीयं विरच्यते ॥

अन्वयः—वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् नत्वा पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीं करोति ।

'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युः' इति भाष्यादिसिद्धप्रतिपादितकर्तव्यताकं ग्रन्थादौ मङ्गलमाचरन् वैयाकरणो वरदराजः 'गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म' इत्युक्तिं हृदि निधाय श्रीगुरून् प्रणम्य चिकीर्षितं प्रतिजानीते—**नत्वेति** । वरदराजः = मध्यसिद्धान्तकौमुदीप्रणेता, श्रीगुरून्—श्रिया = निखिलशास्त्रज्ञानरूपया शोभया, सहिताः श्रीसहिताः, ते च गुरवः—गृणन्त्युपदिशन्तीति गुरवस्तान्=सच्छास्त्रोपदेशकानिति यावत्, भट्टोजिदीक्षितान् = शब्दकौस्तुभ-सिद्धान्तकौमुदी-मनोरमादिग्रन्थकर्तॄन्

प्रकृत ग्रन्थ 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' के आरम्भ में ग्रन्थकार वरदराजभट्टाचार्य शिष्टों की परम्परा का अनुसरण कर, अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति हेतु मङ्गलाचरण प्रस्तुत करते हैं ।

मूलार्थ—मैं वरदराज पदवाक्यप्रमाणज्ञानरूप शोभा से युक्त अपने गुरु श्रीभट्टोजिदीक्षित को प्रणाम करके पाणिनिमुनि रचित व्याकरणशास्त्र में प्रवेश हेतु मध्यसिद्धान्तकौमुदी को बनाता हूँ ।

विमर्श—'गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म, नास्ति तत्त्वं गुरोः पदम्' इत्यादि शिष्ट व्यवहार से विदित है कि ज्ञानदाता गुरु का सर्वश्रेष्ठ स्थान है, वही परमपदार्थ है । अतः ग्रन्थकार ने आरम्भ में विघ्नों के विनाश हेतु गुरुनमस्कारात्मक मङ्गल प्रस्तुत किया है ।

किसी ग्रन्थ के अध्ययन में अध्येताओं की प्रवृत्ति के लिए अनुबन्धचतुष्टय अर्थात् विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन का निरूपण करना आवश्यक होता है । अतः इस प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रकृत ग्रन्थ मध्यसिद्धान्तकौमुदी के मङ्गलाचरण श्लोक में भी 'अनुबन्धचतुष्टय' की कल्पना की गई है ।

अइउण् ।१। ऋलृक् ।२। एओङ् ।३। ऐऔच् ।४। हयवरट् ।५। लण् ।६। ञमङणनम् ।७। झभञ् ।८। घढधष् ।९। जबगडदश् ।१०। खफछठथचटतव् ।११।

(बहुवचनमत्रादरार्थम्), नत्वा = प्रणम्य, अञ्जलिशिरःसंयोगादिव्यापारेण तोषयित्वेति भावः । पाणिनीयानाम्—पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं (व्याकरणशास्त्रम्), तदधीयते विदन्ति वेति पाणिनीयास्तेषां पाणिनीयानाम्, मध्यसिद्धान्तकौमुदीम्—सिद्धः = निष्पन्नः, अन्तः = निर्णयो येषान्ते सिद्धान्तास्तेषां कौमुदीव कौमुदी—कौमुद्या अर्थप्रकाशकत्वधर्मेण चन्द्रिकयाऽत्र साम्यमिति भावः, मध्या=लघुकौमुद्यादिवन्नात्यल्पा, सिद्धान्तकौमुदीवच्च नातिविस्तीर्णा; चासौ सिद्धान्तकौमुदी मध्यसिद्धान्तकौमुदी—'पुंवत्कर्मधारय०' (६।३।४२) इत्यनेन पुंवद्भावः'; ताम्, करोति = विरचयति ।

मङ्गलाचरणोऽनुबन्धा अपि निवेशनीया भवन्ति । यथोक्तमभियुक्तैः—

'विषयश्चाधिकारी च सम्बन्धश्च प्रयोजनम् ।
विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं नैव शस्यते ॥'

ग्रन्थाध्ययनविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धसामान्यलक्षणम् । अत एवात्रापि 'पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम्' इति कथनेनानुबन्धाः सूचिताः । पाणिनीयानामर्थाद् वैयाकरणानां सिद्धान्तज्ञानं विषयः । तज्जिज्ञासुरधिकारी, अन्ये त्वधीत-

---

(१) विषय का अभिप्राय है—किसी शास्त्र या ग्रन्थ की प्रतिपाद्यवस्तु । यहाँ वैयाकरण सिद्धान्तज्ञान प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है ।

(२) जिस कार्य के लिए मनुष्य स्वयं को योग्य (अधिकारी) समझता है; उसी में उसकी प्रवृत्ति होती है । यह अधिकारिता मुख्यतया दो बातों पर निर्भर होती है, प्रथम—इष्टसाधनता, द्वितीय—कृतिसाध्यता । 'इदं मदिष्टसाधनम्' अर्थात् जिसमें उसे अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफलता मिले तथा इसके साथ यह भी आवश्यक है 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' अर्थात् वह उस कार्य को करने में समर्थ भी है । इस प्रकार ग्रन्थाध्ययन में प्रवृत्ति के लिए इष्टसाधनता और कृतिसाध्यता का ज्ञान आवश्यक होने से अधिकारी भी अनुबन्ध माना गया है । यहाँ वैयाकरणमध्यसिद्धान्त का जिज्ञासु अधिकारी है ।

(३) सम्बन्धज्ञान अध्येता की प्रवृत्ति के लिए आवश्यक होने से सम्बन्ध भी अनुबन्ध है । ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है ।

(४) 'प्रयुङ्क्ते प्रयोजयति वा प्राधान्येन यत्तत्प्रयोजनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रयोजन का अर्थ है—प्रधानप्रवर्त्तक । अध्येता को जब तक ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान की उपयोगिता की जानकारी नहीं होती, तब तक उस ग्रन्थ के अध्ययन में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती । इस प्रकार अध्येता की प्रवृत्ति के लिए विषय का ज्ञान आवश्यक होने से विषयज्ञान का प्रयोजन भी अनुबन्ध माना गया है । प्रकृत ग्रन्थ का प्रयोजन प्रकृतिप्रत्ययादिविभाग से शब्द-निष्पादन है ।

अक्षरसमाम्नाय के द्योतक अइउण् इत्यादि १४ सूत्र भी प्रत्याहारों की सिद्धि में 'आदिरन्त्येन सहेता' के साथ एकवाक्यता होने से सूत्र कहे गये हैं । इस प्रकार शक्तिनियामकत्व होने के कारण इनको संज्ञासूत्र भी कहते हैं ।[1]

---

१. "एषां क्रमबोधकत्वेऽपि 'आदिरन्त्येन सहेता' इत्यनेनैकवाक्यतया वृत्तिपरिच्छेदकत्वेन संज्ञासूत्रत्वम्" (ल० श० शे०)

कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल् ।१४। इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः ।

काव्यकोषादिद्विजातिरधिकारीति वदन्ति । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः । अनायासेन तदवगमः प्रयोजनम् ।

अ इ उ ण् इति । वर्णानां स्पष्टप्रतिपत्तये संहिताया अविवक्षणादेतेषु अ इ उ इत्यादिष्वसन्धिः । सौत्रत्वान्नैतेभ्यो विभक्त्युत्पत्तिः । यद्वा स्वराणां चादिषु पाठात् 'चादयोऽसत्त्वे' इति निपातसंज्ञायां 'निपात एकाजनाङ्' इति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः । ननु अकारादिवर्णेभ्यो 'वर्णात्कारः' इत्यनेन कारप्रत्ययः स्यादिति चेन्न, 'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलमि'त्यतोऽनुवृत्तबहुलग्रहणसामर्थ्यात् । न च 'एओङ्, ऐऔच्' इत्यत्र स्थान-प्रयत्नसाम्ये सावर्ण्यं स्यादिति वाच्यम्; 'एओङ्, ऐऔच्' इति पृथक्सूत्रपाठात् । **लणिति ।** ननु 'अइउण्' इत्यत्र णकारानुबन्धेनैवाणादिप्रत्याहारसिद्धौ पुनः लणित्यत्र णकारानुबन्धग्रहणं व्यर्थमिति न शङ्क्यम्, 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादि-लक्षणम्' इति परिभाषया तस्य साफल्यात् । तथा च व्याख्यानम्—

'परणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाऽण्ग्रहा मताः । ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥'

इति = इमानि चतुर्दशसूत्राणि, माहेश्वराणि = महेश्वरादागतानि माहेश्वराणि 'तत आगतः' इत्यण् । महेश्वरप्रसादप्राप्तानीत्यर्थः । तदुक्तं पाणिनीयशिक्षायाम्—

'अइउण्, ऋऌक्, एओङ्, ऐऔच्' इन चार सूत्रों में सन्धिकार्य की प्रवृत्ति वर्णों की स्पष्ट प्रतीति के कारण नहीं होती । अन्यथा सन्धि हो जाने पर वर्णों की पृथक्ता को व्याख्यान आदि के द्वारा सूचित करना पड़ता । अथवा अ इ उ इत्यादि स्वरों का चादिगण में पाठ होने से 'चादयोऽसत्त्वे' से निपातसंज्ञा हो जानेपर 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव होने से सन्धि नहीं होती । अकारादि वर्णों से बाहुलकात् 'वर्णात्कारः' से कारप्रत्यय भी नहीं होता ।

यहाँ ए तथा ऐ का कण्ठतालु स्थान और विवृत प्रयत्न साम्य होने से एवम् ओ तथा औ वर्णों का कण्ठोष्ठ स्थान और विवृत प्रयत्न समान होने से सवर्ण संज्ञा होकर 'एओङ्, ऐऔच्' इन दो सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र से काम चल सकता था ? ऐसी शङ्का की जाती है । इसका निराकरण यह है कि पाणिनि ने 'एओङ्, ऐऔच्' ये दो सूत्र पृथक् पढ़े हैं । अतः ए ऐ तथा ओ औ वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती ।

वर्णसमाम्नाय में 'ण्' अनुबन्ध[1] का पाठ दो सूत्रों में किया गया है, प्रथम तो 'अइउण्' सूत्र में, दूसरा 'लण्' सूत्र में । अतः अण् और इण् प्रत्याहारों में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि णकार से पूर्व 'ण्' का ग्रहण किया जाय अथवा पर (दूसरे) 'ण्' का ग्रहण किया जाय ? इस शंका का समाधान व्याख्यान के द्वारा किया जाता है कि 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (१।१।६९) सूत्र में तो अण् प्रत्याहार पर-णकार तक स्वीकार किया जायः अन्यत्र सभी जगह पूर्व-णकार तक । इण प्रत्याहार पर-णकार से ही ग्राह्य है ।

मूलार्थ—ये १४ माहेश्वर सूत्र अण्, अक्, अच् इत्यादि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) की सिद्धि के लिए हैं । इन १४ (चौदह) सूत्रों के अन्तिम वर्ण (ण् क् ङ् च् ट् आदि) इत्संज्ञक होते हैं ।

---

१. इत्संज्ञकत्वम् इत्संज्ञायोग्यत्वम् वानुबन्धत्वम् । अनु पश्चात् बध्यते युज्यते इति अनुबन्धः । जो बाद में जोड़े जाये वे अनुबन्ध कहे जाते हैं । ये अनुबन्ध इत्संज्ञा सदृश होते हैं ।

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥' इति ।

नन्वेषां माहेश्वरसूत्राणां वैयाकरणसिद्धान्तप्रकाशने उपयोगाभावादिह तदुपन्यासो व्यर्थ इत्यत आह—अणादिसंज्ञार्थानीति । अण् आदिर्यासां ताः अणादयः=अक्, अच्, अल्, हल् इत्यादिसंज्ञारूपप्रत्याहाराः, अणादयश्च ताः संज्ञा अणादिसंज्ञाः, ताः अर्थः प्रयोजनं येषां तानि अणादिसंज्ञार्थानि । कथमेषां सूत्राणामणादिसंज्ञार्थत्वमित्यत आह—**एषामन्त्या इत** इति । एषां चतुर्दशसूत्राणामन्त्ये भवा अन्त्याः 'दिगादिभ्यो यदि'त्यनेन यत्प्रत्ययः, णकारादिवर्णा इत्संज्ञका भवन्तीत्यर्थः । **हकारादिष्विति** । सुकरतयोच्चारणार्थमेव हकारादिष्वकारोच्चारणं कृतम्, अन्यथा ह्य्वर् इत्येवं क्लिष्टोच्चारणापत्तेरिति भावः । अथवा अचं विना हलामुच्चारणाभावात् पुनः पुनरकारपाठो हकाराद्युच्चारणार्थ इत्यवगन्तव्यम् । यथोक्तम्—'उच्चैरुदात्तः' इति सूत्रस्थभाष्ये—'न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणं भवति' इति ।

ननु 'उरण् रपरः' इत्यत्र रप्रत्याहारेण रलयोर्ग्रहणार्थं रप्रत्याहारसिद्धिरा-

(अर्थात् उनका लोप होता है, शास्त्रप्रवृत्ति में उनका उपयोग नहीं होता है।) हकार इत्यादि व्यञ्जन वर्णों में अकार उच्चारण की सुविधा के लिए है । परन्तु 'लण्' सूत्र में अकार की इत्संज्ञा होती है । इत्संज्ञा होने से उसका भी लोप हो जाता है ।

विमर्श—अ इ उ ण् इत्यादि चौदह सूत्र 'माहेश्वरसूत्र' कहे जाते हैं । इस वर्णसमूह का परिचय महर्षि पाणिनि को महेश्वर (भगवान् शंकर) की कृपा से प्राप्त हुआ है । इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि—पाणिनि अपने गुरु वर्षाचार्य के गुरुकुल में विद्याध्ययन करते थे । अध्ययन के समय अपनी प्रतिभा का समुचित विकास होते हुए न देखकर अत्यन्त खिन्न रहा करते थे । वर्षाचार्य के ही शिष्य कात्यायन प्रखरप्रतिभासम्पन्न थे । अपने सहाध्यायी कात्यायन से शास्त्रार्थ में पराजित होकर पाणिनि ने भगवान् शंकर की आराधना की । जिसके परिणाम-स्वरूप उन्हें शिव के डमरू-निनाद से वर्णसमाम्नाय (१४ सूत्रों) की प्राप्ति हुई ।[1] इस प्रकार अपने आराध्य भगवान् शिव से वरदान के रूप में प्राप्त शब्दों की चतुर्दश सूत्रों में कल्पना कर महर्षि पाणिनि ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से स्वर-व्यञ्जन विभाग किया है । इन चौदह सूत्रों से प्रत्याहारों की कल्पना द्वारा शास्त्र का निरूपण करने में परम लाघव हुआ है । ये प्रत्याहार इस व्याकरणशास्त्र में अत्यन्त उपयोगी हैं । प्रत्याहार का अर्थ है—संक्षिप्त कथन[2] । इस प्रकार अनेक वर्णों का ज्ञान संक्षेप में हो जाने से व्यवहार में सरलता हो जाती है । जैसे अच् और हल् प्रत्याहारों से क्रमशः स्वर और व्यञ्जन वर्णों का ज्ञान सुगमता से हो जाता है । अतः इन चौदह माहेश्वर-सूत्रों को प्रत्याहार सूत्र भी कहा गया है ।

अण्, अक्, अच् आदि संज्ञा करना इन १४ सूत्रों का प्रयोजन है । इन सूत्रों के अन्तिम व्यञ्जन वर्ण की इत्संज्ञा होती है । इत्संज्ञक वर्ण का लोप होने से प्रत्याहारों में इन (ण् क् ङ् इत्यादि) व्यञ्जनवर्णों का समावेश नहीं किया जाता । प्रत्याहारों के निर्माण में इन इत्संज्ञक वर्णों की उपयोगिता है, जो उनके नामों में सार्थक दृष्टिगोचर होती है ।

१. 'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥' (नन्दिकेश्वर कृत काशिका)

२. 'प्रत्याह्रियन्ते सङ्क्षिप्यन्ते वर्णाः यत्र स प्रत्याहारः ।'

हकारो द्विरुपात्तोऽयमटि शल्यपि वाञ्छता ।
अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति ॥

(१) हलन्त्यम् १।१।३ । उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् ।

वश्यकी, सा च लण्सूत्रस्याकारस्येत्संज्ञां विना न सम्भवतीत्यत आह—**लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः** । अत्र मानश्च 'लपरत्वं वक्ष्यामी'ति भाष्यमेव । 'लण्' इति सूत्रेऽकार इत्संज्ञको न तूच्चारणमात्रार्थः ।

अन्वयः—अयं हकारः अटि शल्यपि वाञ्छता द्विरुपात्तः, अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति ।

अटि शल्यपीति । अट् प्रत्याहारे शल्प्रत्याहारे च हकारस्य ग्रहणं स्यादित्येतदर्थं हयवरडित्यत्र 'हल्' इत्यत्र च हकारोऽयं द्विरुपात्तः=द्विवारं पठितः । अटि हकारस्य प्रयोजनमाह—**अर्हेणेति** । 'अट्कुप्वाङ्नुमि'ति सूत्रेणाड्व्यवायेऽपि णत्वम् । शलि पाठस्य फलमाह—**अधुक्षदिति** । 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः क्सादेशः ।

(१) हल् प्रथमान्तम्, अन्त्यं प्रथमान्तम् । पदद्वयं सूत्रम् । 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यस्मात् पूर्वसूत्रादुपदेश इति इदिति चानुवर्तते । तदाह—**उपदेशेऽन्त्यमित्यादिना** । अथ कोऽयमुपदेश इत्यत आह—**उपदेश आद्योच्चारणमिति** । उपशब्दोऽत्र आद्यर्थकः, दिशिरुच्चारणक्रियायाम् । आद्यश्च तदुच्चारणञ्चेत्याद्योच्चारणम्=प्रथममुच्चारणमित्यर्थः, तच्च प्रत्यासत्त्या मुनित्रयस्यैव । केचित्तु—

'हयवरट्' इत्यादि सूत्रों के हकारादि वर्णों में अकार उच्चारण की सुविधा के लिए है । क्योंकि स्वरों की सहायता के बिना व्यञ्जनों का स्पष्ट उच्चारण नहीं हो पाता । किन्तु 'लण्' सूत्र के मध्य में (लकारोत्तरवर्ती) अकार इत्संज्ञक है । इसके साथ ही 'लण्' सूत्रस्थ अकार को अनुनासिक माना जाता है । क्योंकि अच्=स्वर वर्णों के इत्संज्ञाविधायक[1] सूत्र में सानुनासिक अच् की इत्संज्ञा स्वीकार की गई है । माहेश्वर-सूत्रों में अन्तिम व्यञ्जन वर्णों के अतिरिक्त इस लकारोत्तरवर्ती अकार की इत्संज्ञा का प्रयोजन 'र' प्रत्याहार की सिद्धि है । अन्तिम इत्संज्ञक अकार के साथ 'हयवरट्' सूत्रस्थ र् को आदि वर्ण मानकर मध्यवर्ती ल् और आदि वर्ण र् का ग्रहण होने से र प्रत्याहार बनता है । इस प्रकार इस 'र' प्रत्याहार में र् और ल् दोनों वर्णों का समावेश होता है । फलतः आगे 'अच् सन्धि' प्रकरण में 'उरण् रपरः' (१।१।५१) सूत्र के सहकार से अवर्ण और ऌकार को गुण एवं वृद्धि क्रमशः 'अल्' और 'आल्' होते हैं । अन्यथा र प्रत्याहार-सिद्धि के अभाव में ऋ और ऌ की परस्पर सवर्ण संज्ञा होने से 'रपर' केवल अर् तथा आर् ही होता ।

अट् प्रत्याहार और शल् प्रत्याहार में हकार का ग्रहण हो, इसलिए माहेश्वर सूत्रों में दो बार 'ह्' का पाठ किया गया है । 'अट्' प्रत्याहार में हकार का समावेश हो जाने से 'अर्हेण' में 'अट्-कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व हो जाता है तथा 'शल्' प्रत्याहार में हकार का समावेश होने से 'अधुक्षत' में 'शल इगुपधात्०' सूत्र से च्लि' के स्थान पर 'क्सः' आदेश हो जाता है ।

(१) **पद**—हलन्त्यम् । **अनुवृत्ति**—उपदेशे इत् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—उपदेश अवस्था में विद्यमान जो अन्त्य हल् (व्यञ्जन वर्ण), उसकी इत्संज्ञा होती है । व्याकरणशास्त्र के प्रवर्तक पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि आचार्यों का प्रथम उच्चारण

---

१. 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (१।३।२) ।

सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र। (२) अदर्शनं लोपः १।१।६०। प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्। (३) तस्य लोपः १।३।९। तस्येतो लोपः स्यात्। णादयो-

---

'धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥' इत्याहुः।

(२) अदर्शनं प्रथमान्तम्, लोपः प्रथमान्तम्। शास्त्रतोऽर्थतश्च प्रसक्तस्य = प्राप्तोच्चारणस्यादर्शनम् = श्रवणाभावः, लोप इत्यर्थः।

(३) तस्य षष्ठ्यन्तम्, लोपः प्रथमान्तम्, तस्य = इत्संज्ञकस्येत्यर्थः। णादयो-

---

'उपदेश' कहा जाता है। जो पद सूत्रों में नहीं देखे गये हैं, उनको दूसरे सूत्रों से सब जगह अनुवर्तन कर लेना चाहिए।

विमर्श—प्रत्याहारसूत्रों द्वारा स्वर-व्यञ्जन वर्णों का विभाग करने के पश्चात् प्रत्याहार सिद्धि का उपक्रम किया जा रहा है। कार्यों की सुगमता के लिए पाणिनीय सूत्रों को छः भागों में विभक्त किया गया है—संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश और अधिकार।[1]

'हलन्त्यम्' इत्संज्ञाविधायक सूत्र है। यहाँ 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से अनुवृत्त 'उपदेशे, इत्' तथा सूत्र में विद्यमान 'अन्त्यं, हल्' पदों की एकवाक्यता होने पर 'उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्' इस प्रकार बोध होता है।

प्रकृत में 'उपदेश' पद का अर्थ आद्य उच्चारण है। यहाँ 'आद्य' शब्द पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि तीनों मुनियों के अर्थ में रूढ है। अतः अज्ञात वर्णों के स्वरूप-ज्ञान के लिए तीन मुनि द्वारा उच्चरित को उपदेश कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने आद्योच्चारण को धातु, सूत्र, गण, उणादि, लिङ्गानुशासन, आगम, प्रत्यय और आदेश के रूप में स्वीकार किया है। काशिकाकार के अनुसार 'शास्त्रवाक्य' ही उपदेश हैं और वे सूत्रपाठ तथा खिलपाठ के अन्तर्गत समाविष्ट किये गये हैं। सूत्रपाठ से पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' और खिलपाठ से धातु, गण, उणादि तथा लिङ्गानुशासन का ग्रहण किया जाता है।

इस प्रकार 'हलन्त्यम्' सूत्र से उपदेश में अन्तिम व्यञ्जन वर्ण की इत्संज्ञा सिद्ध हुई।

(२) पद—अदर्शनं लोपः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—विद्यमान वस्तु के अदर्शन = न दिखलायी पड़ने को लोप कहते हैं।

विमर्श—यहाँ प्रसङ्गतः लोपसंज्ञा का विवेचन किया जा रहा है।

सूत्र में संज्ञा—लोप और संज्ञी—अदर्शन है। यहाँ अदर्शन शब्द का अर्थ श्रवणाभाव और उच्चारणाभाव के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार प्रसक्त = शास्त्रतः, अर्थतः विद्यमान = प्राप्तोच्चारण का जो अदर्शन, वह लोपसंज्ञक होता है, अर्थात् उस अभाव को लोप कहते हैं।

(३) पद—तस्य, लोपः। **अनुवृत्ति**—इत्। **विधिसूत्र।**

---

१. कम शब्दों में किसी बात का स्पष्ट वर्णन करना सूत्र का प्रयोजन होता है—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥' इति सूत्रलक्षणम्।
'संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥'

'तत्र नामकरणं संज्ञा। अनियमे नियमकारिणी परिभाषा। कर्तव्यत्वेन निर्देशो विधिः। प्राप्तविधिनियामकं नियमः। अतस्मिन् तद्धर्मोपादकम् अतिदेशः। उत्तरप्रकरणव्यापी अधिकारः।'

ऽणाद्यर्थाः । (४) **आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१ ।** अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् । यथा अण् इति अ इ उ वर्णानां संज्ञा । एवमच्, हल्, अल् इत्यादयः । (५) **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७ ।** उश्च ऊश्च ऊ३ श्च वः । वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्ध्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात् । सः प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन

ऽणाद्यर्था इति । अण् आदिर्येषान्तेऽणादयस्तेऽर्थाः प्रयोजनं येषान्तेऽणाद्यर्थाः । णादयः =वर्णसमाम्नाये पठिताः ण् क् च् प्रभृतय इत्संज्ञकाः वर्णाः, अण्-अक्-अच्-इत्यादि-प्रत्याहारप्रयोजनका इति ।

(४) आदिः प्रथमान्तम् । अन्त्येन तृतीयान्तम् । सह इति अव्ययपदम् । इता तृतीयान्तम् । अन्त्ये भवः अन्त्यः, तेन इता सहोच्चार्यमाणः आदिः अण् अक् इच् इत्यादिरूपा संज्ञेत्यर्थः । यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिः, यस्मात्परं नास्ति पूर्वञ्चास्ति सोऽन्तः । आद्यन्तशब्दाभ्यामत्र मध्यगा आक्षिप्यन्ते । 'स्वं रूपमि'ति सूत्रात् स्वमित्यनुवर्त्तते षष्ठ्या च विपरिणम्यते । तदाह—**अन्त्येनेत्यादि ।**

(५) अणादिसंज्ञासु सिद्धासु अचो ह्रस्वादिसंज्ञां दर्शयति—**ऊकालोऽजिति ।**

मूलार्थ—उस इत्संज्ञक वर्ण का लोप हो जाता है ।

(४) पद—आदिः, अन्त्येन, सह, इता । **अनुवृत्ति**—स्वं रूपम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चार्यमाण आदि वर्ण अपने तथा मध्यवर्ती वर्णों का बोधक होता है । जैसे—'अण्' अ इ उ वर्णों का बोधक है । उसी प्रकार अच्, हल्, अल् इत्यादि प्रत्याहार भी जानने चाहिए ।

विमर्श—यह प्रत्याहारबोधक सूत्र है । यहाँ आदि और अन्त्य पद अवयवार्थक हैं । इन आदि और अन्त्य शब्दों से समुदाय का आक्षेप किया जाता है । 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' सूत्र से 'स्वं रूपम्' की अनुवृत्ति है । इस प्रकार आदि और अन्त्य पद मध्यवर्ती वर्णों के साथ स्वयं आदि वर्ण भी संज्ञी है । अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण का लोप हो जाने से प्रत्याहार में उसे सम्मिलित नहीं किया जाता । जैसे—अच् प्रत्याहार में अन्त्य इत् हुआ 'ऐऔच्' का चकार, तत्सदृश अच् का चकार, उसके साथ आदि वर्ण अइउण् का अकार (उसके सदृश अच् का अकार), उससे आक्षिप्त समुदाय—'अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ' है । इसी प्रकार अण्-अल् इत्यादि प्रत्याहारों की सिद्धि होती हैं ।

प्रत्याहारों की संख्या ४२ है, जिनका क्रम इस प्रकार है—

१. अक्	७. अण्	१३. एङ्	१९. चर्	२५. झल्	३१. यञ्	३७. वल्
२. अच्	८. अण्	१४. एच्	२०. चय्	२६. झश्	३२. यण्	३८. वश्
३. अट्	९. इण्	१५. ऐच्	२१. छव्	२७. झष्	३३. यम्	३९. शर्
४. अम्	१०. इक्	१६. खर्	२२. जश्	२८. बश्	३४. यय्	४०. शल्
५. अल्	११. इच्	१७. खय्	२३. झय्	२९. भष्	३५. यर्	४१. हल्
६. अश्	१२. उक्	१८. ङम्	२४. झर्	३०. मय्	३६. रल्	४२. हश्

इसके अतिरिक्त र प्रत्याहार भी है । जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है ।

(५) पद—ऊकालः, अच्, ह्रस्वदीर्घप्लुतः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—उ, ऊ और ऊ ३—ये तीनों उकार 'वः' पद से जाने जाते हैं । इन एकमात्रिक,

त्रिधा। (६) उच्चैरुदात्तः १।२।२९। ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात्। (७) नीचैरनुदात्तः १।२।३०। ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्व-

---

ह्रस्वदीर्घप्लुत इति समाहारद्वन्द्वः, सौत्रं पुंस्त्वम्। वां काल इवेति। फलितार्थकथनमिदम्। विग्रहस्तु वः कालो यस्येति बोध्यः। अपदेन स्वोच्चारणकालो लक्ष्यते।

(६) उच्चैः अव्ययपदम्, उदात्तः प्रथमान्तम्। उच्चैश्शब्दोऽधिकरणशक्तिप्रधानः 'ऊर्ध्वभागे' इत्यर्थे वर्तते। 'ऊकालोऽच्' इत्यतः 'अच्' इत्यनुवर्तते। तदेतदाह—**ताल्वादिष्वित्यादिना। सभागेष्विति।** ताल्वादीनां स्थानानां सावयवत्वकथनम् ऊर्ध्वभागे इत्यस्योपपादनार्थम्, तेषामखण्डत्वे ऊर्ध्वभागे इत्यनुपपत्तेः।

द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक उकार के उच्चारण काल के समान जिस अच् का उच्चारण काल हो, उस अच्=स्वर की क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है। वह अच् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से पुनः तीन प्रकार का होता है।

विमर्श—सूत्र में पठित काल शब्द मात्रा-विशेष का बोधक है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुप्त—ये तीनों संज्ञाएँ स्वर वर्ण के उच्चारण में लगने वाले सीमित समय की मापक हैं। उ, ऊ और ऊ ३ से क्रमशः एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक स्वरों का बोध होता है। इन तीनों कालों का अन्वय यथासंख्य परिभाषा के द्वारा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत शब्दों के साथ होने से एकमात्रिक स्वर की ह्रस्वसंज्ञा, द्विमात्रिक की दीर्घसंज्ञा तथा त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा होती है।[1] वह ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत रूप प्रत्येक अच् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से तीन प्रकार का होता है।

विशेष—यहाँ शंका होती है कि वर्णसमाम्नाय में पहले अकार का पाठ किया गया है; उसको तथा इ को छोड़कर सूत्रकार ने दृष्टान्त के रूप में उ वर्ण का ग्रहण क्यों किया? इसका समाधान है कि ब्राह्ममुहूर्त में कुक्कुट (मुर्गा) की ध्वनि कु, कू, कू ३ में क्रमशः आरोह होता है। उसमें एकमात्रिक ह्रस्व उ, द्विमात्रिक दीर्घ ऊ तथा त्रिमात्रिक प्लुत ऊ ३ प्रसिद्ध है। यह मात्रा समय का प्राकृतिक मापक है। अतः आचार्य ने प्राकृतिक मुर्गे की ध्वनि का आश्रय लेकर सूत्र में उच्चारणकाल का निर्धारण किया है।

(६) पद—उच्चैः, उदात्तः। **अनुवृत्ति**—अच्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—मुख के भीतर तालु आदि सभाग स्थानों के ऊर्ध्वभाग से उच्चरित स्वरवर्णों की उदात्त संज्ञा होती है।

विमर्श—आचार्य पाणिनि ने वर्णों की उच्चारण पद्धति में उदात्तादि वर्णधर्मों की निष्पत्ति पर सूक्ष्म विचार किया है। प्रकृत सूत्र में 'उच्चैः' तथा 'उदात्तः' दो पद हैं। 'ऊकालोऽच्०' (१।२।२७) सूत्र से 'अच्' पद अनुवृत्त है। सामान्यतः 'उच्चैः' शब्द से 'ऊँचे स्वर से बोलना' अर्थ लिया जाता है, किन्तु यहाँ 'उच्चैः' शब्द मुख के अन्दर स्थित तालु, कण्ठ आदि भागों के ऊपरी भाग का ज्ञान कराता है; क्योंकि तालु, कण्ठ, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ आदि स्थानों से वर्णों का उच्चारण किया जाता है। इन स्थानों के उच्चैः=ऊपरी भागों से उच्चरित अच्=स्वर वर्ण उदात्तसंज्ञक होते हैं।

(७) पद—नीचैः, अनुदात्तः। **अनुवृत्ति**—अच्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—तालु आदि सभाग स्थानों के अधोभाग में उच्चरित अच् अनुदात्तसंज्ञक होता है।

---

१. 'एकमात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्॥'

धोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञः स्यात्। (८) **समाहारः स्वरितः १।२।३१।** उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्। सः नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा। (९) **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १।१।८।** मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्। तदित्थम्–

---

(७) अनुदात्तसंज्ञामाह—**नीचैरिति**। नीचैश्शब्दोऽधिकरणशक्तिप्रधानः 'अधोभागे' इत्यर्थे विद्यते।

(८) स्वरितसंज्ञामाह—**समाहारः स्वरित इति**। पूर्वसूत्राभ्याम् उदात्तानुदात्तपदे अनुवृत्ते व्याख्यानाद् धर्मप्रधाने षष्ठ्यन्ततया च विपरिणम्येते। यत्र समाहरणं स समाहारः। अधिकरणे घञ्। 'ऊकालोऽजि'त्यस्मात् अजित्यनुवर्तते। ततश्चोदात्तत्वानुदात्तत्वयोर्धर्मयोर्यस्मिन्नचि मेलनं स्यात् सोऽच् स्वरितसंज्ञको भवतीत्यर्थः।

(९) अनुनासिकसंज्ञामाह—**मुखनासिकेति**। मुखसहिता नासिका मुखनासिकेति

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी 'नीचैः' पद मुख के अन्तर्गत तालु आदि भागों के निम्न भाग का बोधक है। अतः तालु-कण्ठादि स्थानों के नीचैः=नीचे के भागों से उच्चरित स्वर वर्ण की अनुदात्त संज्ञा होती है।

विशेष—ऋग्वेद में अनुदात्त स्वर को वर्ण के नीचे पड़ी रेखा द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है।

(८) पद—समाहारः स्वरितः। **अनुवृत्ति**—उदात्तः, अनुदात्तः, अच्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—उदात्तत्व और अनुदात्तत्व दोनों वर्णधर्म जिसमें इकट्ठे हो जाये, वह अच्=(स्वर) स्वरितसंज्ञक होता है।

विमर्श—सूत्र में 'समाहारः' संज्ञी है और 'स्वरितः' संज्ञा। उदात्तत्व और अनुदात्तत्व दोनों वर्णधर्मों का समाहार=एकीकरण ही 'स्वरित' कहलाता है। दोनों वर्णधर्मों का एकत्र समावेश होने से उच्चारण की मध्यता प्रतीत होती है। यहाँ यह शंका की जाती है कि उदात्त और अनुदात्त दो विरोधी वर्णधर्म हैं। उनका एक अच् में मिलना सम्भव कैसे होगा? इसका समाधान यह है कि—जिस वर्ण की 'स्वरित' संज्ञा होती है, उसमें अंशद्वय की स्थिति समष्टि रूप में रहती है। जिसमें उदात्त धर्म की स्थिति है, उस अंश में अनुदात्तत्व धर्म की स्थिति नहीं एवं जिस अंश में अनुदात्तत्व की स्थिति है, उसमें उदात्तत्व धर्म की स्थिति नहीं। इस प्रकार इन्हीं दोनों वर्णधर्मों के मेल से स्वरित स्वर की उत्पत्ति होती है।

विशेष—ऋग्वेद में स्वरित स्वर का चिह्न वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा द्वारा सूचित किया जाता है।

इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत—ये तीनों उदात्तादि भेद से नौ प्रकार के होते हैं। यथा—१. ह्रस्वोदात्त, २. ह्रस्वानुदात्त, ३. ह्रस्वस्वरित, ४. दीर्घोदात्त, ५. दीर्घानुदात्त, ६. दीर्घस्वरित, ७. प्लुतोदात्त, ८. प्लुतानुदात्त, ९. प्लुतस्वरित। उक्त रीति से नौ प्रकार का वह अच् पुनः अनुनासिक और अननुनासिक भेद से दो-दो प्रकार का होता है। जो अग्रिम सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

(९) पद—मुखनासिकावचनः, अनुनासिकः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—मुख सहित नासिका (नाक) से जिस वर्ण का उच्चारण होता है, वह अनुनासिक संज्ञक वर्ण कहलाता है।

अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। लृवर्णस्य द्वादश। तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश। तेषां ह्रस्वाभावात्। (१०) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९। ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्।

विग्रहः 'शाकपार्थिवादित्वात् सहितपदस्य लोपः।' उच्यतेऽसाविति वचनः, कर्मणि ल्युट्। मुखनासिकया वचन इति 'मुखनासिकावचनः'। 'कर्तृकरणे कृता बहुलमि'ति तृतीयासमासः।

सर्वेषां स्वराणां सामान्यरूपेणाष्टादशभेदाः न भवन्तीत्याह—**तदित्थमिति**।

(१०) अथ सवर्णसंज्ञामाह—**तुल्यास्येति**। आस्यशब्दोऽत्र न मुखमात्रपरः, किन्तु आस्ये=मुखे भवम् आस्यम्=ताल्वादिस्थानम् 'शरीरावयवाद्यत्' इति भवार्थे

विमर्श—अनुनासिक पद का अर्थ है—'नासिकाम् अनुगत इति अनुनासिकः (नासिकाम् अनु=पश्चात् प्राप्तः)' अर्थात् नासिका से उच्चरित वर्ण। सामान्यतया वर्णों का उच्चारण मुख से ही होता है, किन्तु जिस वर्ण के उच्चारण में मुख के साथ नासिका भी सक्रिय हो, वह अनुनासिक कहलाता है।[1] इस प्रकार वर्गों के अन्तिम वर्ण ङ्, ञ्, ण्, न् और म् अनुनासिक हैं।

इन अनुनासिक और अननुनासिक दो भेदों के कारण पूर्वोक्त नौ भेदों को दुगुना करने से अ, इ, उ, ऋ इनमें से प्रत्येक वर्ण के अठारह भेद हुए। दीर्घ न होने से लृ के बारह भेद हैं। ह्रस्व न होने से ए, ओ, ऐ, औ इनमें प्रत्येक के बारह भेद हैं।

स्वरों का भेदबोधक चक्र

अ इ उ ऋ लृ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	
(ह्रस्व भेद)	(दीर्घ भेद)	(प्लुत भेद)
१. ह्रस्व उदात्तानुनासिक	७. दीर्घ उदात्तानुनासिक	१३. प्लुत उदात्तानुनासिक
२. ,, उदात्ताननुनासिक	८. ,, उदात्ताननुनासिक	१४. ,, उदात्ताननुनासिक
३. ,, अनुदात्तानुनासिक	९. ,, अनुदात्तानुनासिक	१५. ,, अनुदात्तानुनासिक
४. ,, अनुदात्ताननुनासिक	१०. ,, अनुदात्ताननुनासिक	१६. ,, अनुदात्ताननुनासिक
५. ,, स्वरितानुनासिक	११. ,, स्वरितानुनासिक	१७. ,, स्वरितानुनासिक
६. ,, स्वरिताननुनासिक	१२. ,, स्वरिताननुनासिक	१८. ,, स्वरिताननुनासिक

स्वरों के अष्टादश भेदों का निरूपण करने के पश्चात् आचार्य सवर्ण संज्ञा का निरूपण करते हैं—

(१०) पद—तुल्यास्यप्रयत्नम्, सवर्णम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न जिन वर्णों के तुल्य (=समान) हों उनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है।

विमर्श—सूत्र में 'तुल्य' पद सदृश का पर्यायवाची है। 'आस्य' पद से मुखभवस्थान तालु आदि स्थानों का ग्रहण किया गया है। इन स्थानों से टकराकर वर्ण बाहर आते हैं अर्थात् उच्चरित होते हैं। इसी प्रकार प्रयत्न में 'प्र' शब्द से मुखभव यत्न-आभ्यन्तर का ही ग्रहण होता है, बाह्य का नहीं; क्योंकि वर्णों के बाहर निकलने के पूर्व आभ्यन्तर प्रयत्न होते हैं, जो वर्णों के उच्चारण में अत्यन्त सहायक होते हैं। इसी प्रयत्नशीलता के कारण यहाँ आभ्यन्तर प्रयत्न ही

---

१. 'किञ्चिन्मुखवचनम्, किञ्चिन्नासिकावचनम्।' (व्याकरणमहाभाष्यम्)

(ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्)। अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य। इति स्थानानि। यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा। स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्व-

---

यत्प्रत्ययः। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः। आस्यञ्च प्रयत्नश्चास्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य वर्णजालस्य तत्तुल्यास्यप्रयत्नम्, परस्परं सवर्णसंज्ञकं स्यादित्याह—**तात्वादीति**।

ऋऌवर्णयोः स्थानसाम्याभावादप्राप्ता सवर्णसंज्ञा वार्तिककृता विधीयते—**ऋऌवर्णयोरिति**। ॠ च ऌवर्णश्च ऋऌवर्णौ, तयोः ऋऌवर्णयोर्मिथः परस्परं सावर्ण्यं=सवर्णत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। कस्य किं स्थानमित्याकाङ्क्षायां तद्व्यवस्थापकानि शिक्षावचनान्यर्थतः सङ्गृह्णाति—**अकुहविसर्जनीयामिति**। 'अ' इत्यष्टादशभेदाः गृह्यन्ते। 'कु' इति कादिपञ्चात्मकः कवर्गः। विसर्जनीयशब्दोऽपि विसर्गपर्यायः। **दन्ता इति**। दन्तमूलप्रदेशा इत्यर्थः, अतो भग्नदन्तस्याप्युच्चारणं भवत्येव। **नासिका चेति**। चकारेण स्वस्ववर्गानुकूलं ताल्वादि गृह्यते। **यत्नो द्विधेति**। यत्नशब्दोऽत्र प्रयत्नपरः। यत्नानामाभ्यन्तरत्वं बाह्यत्वञ्च वर्णानामुत्पत्तेः प्रागूर्ध्वभावित्वमिति शिक्षाग्रन्थेषु स्पष्टम्।

अपेक्षित है। अतः जिन वर्णों के कण्ठ, तालु, मूर्धा आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न समान हों, वे परस्पर सवर्ण कहलाते हैं।

मूलार्थ—ऋकार और ऌकार की (भिन्न स्थान होने पर भी) परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है। अकार, कु=(कवर्ग) क, ख, ग, घ, ङ्, ह और विसर्ग[1] का कण्ठ स्थान है। इ, चु=(चवर्ग) च, छ, ज, झ, ञ्, य और श का तालु स्थान है। ऋ, टु=(ट वर्ग) ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष का मूर्धा स्थान है। ऌ, तु=(त वर्ग) त, थ, द, ध, न, ल और स का दन्त स्थान है। उ, पु=(पवर्ग) प, फ, ब, भ, म और उपध्मानीय का ओष्ठ स्थान है। ञ, म, ङ, ण, न का नासिका स्थान भी है। ए, ऐ का स्थान कण्ठतालु है। ओ, औ का स्थान कण्ठोष्ठ है। 'व' का स्थान दन्तोष्ठ है। जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वामूल है। अनुस्वार का स्थान नासिका है—ये वर्णों के स्थान हैं। यत्न दो प्रकार के हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। प्रथम आभ्यन्तर प्रयत्न के पाँच भेद हैं—१. स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ट, ३. ईषद्विवृत ४. विवृत और ५. संवृत। स्पर्श वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है। अन्तःस्थ वर्णों का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है। ऊष्माण=श, ष, स और ह वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न है। स्वरों का विवृत प्रयत्न है। ह्रस्व अ का प्रयोगदशा में संवृत प्रयत्न है, किन्तु प्रक्रियादशा में विवृत प्रयत्न रहता है। यह आचार्य पाणिनि ने 'अ अ' सूत्र से ज्ञापित किया है।

---

१. यहाँ अकार के साहचर्य के कारण विसर्ग का कण्ठ स्थान कहा गया है, किन्तु विसर्ग अयोगवाह है; अतः आश्रय का जो स्थान होगा, वही विसर्ग का स्थान होगा। जैसे 'रामः' यहाँ विसर्ग का स्थान कण्ठ होगा और 'हरिः' यहाँ विसर्ग का स्थान तालु होगा, क्योंकि पाणिनीय शिक्षा में स्पष्ट कहा गया है—

'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः।' पा० शि०—२२

स्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव । बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति । खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च । हशः संवारा नादा घोषाश्च । वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः । वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः । कादयो मावसानाः स्पर्शाः । यणोऽन्तःस्थाः । शषसहा ऊष्माणः । अचः स्वराः । ≍क≍ख

आद्यः—आभ्यन्तरप्रयत्नमित्यर्थः । **बाह्य इति** । आस्यबहिर्भूतदेशे गलविवरादौ विकासादिरूपकार्यकरो बाह्यः । **घोषाश्चेति** । चकारेणाचामपि सङ्ग्रहः । **यणश्चेति** । अत्रापि चेनाचो ग्रहणं भवति । एवञ्च बाह्यप्रयत्नेऽचामपि घोषसंवारनादाल्पप्राणाः प्रयत्नाः भवन्ति । **ह्रस्वस्यावर्णस्येति** । प्रयोगे इत्यस्य व्यवहारकाले इत्यर्थः । प्रक्रिया-

---

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । खर् प्रत्याहार बोध्य वर्णों का विवार, श्वास तथा अघोष प्रयत्न है । हश् प्रत्याहार के संवार, नाद और घोष प्रयत्न हैं । वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प), तृतीय (ङ, ज, ड, द ब) और पञ्चम (ङ, ञ, ण, न, म) तथा यण् (य, व, र, ल) के अल्पप्राण प्रयत्न हैं । वर्गों के द्वितीय (ख, छ, ठ, थ फ), चतुर्थ (घ, झ, ढ, ध भ) तथा शल् प्रत्याहार के महाप्राण प्रयत्न हैं । क से म पर्यन्त वर्ण स्पर्श कहलाते हैं । यण्=य, र, ल, व को अन्तःस्थ कहते हैं । श्, ष्, स्, ह् को ऊष्म कहते हैं । अच्=(अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) स्वर कहलाते हैं । ≍क≍ख में क और ख से पूर्व आधे विसर्ग के समान जिह्वामूलीय कहलाता है । ≍प≍फ यहाँ प और फ से पहले आधे विसर्ग के समान उपध्मानीय कहलाता है । 'अं' और 'अः' इनमें स्वर वर्ण के बाद क्रमशः अनुस्वार और विसर्ग कहलाते हैं ।

विमर्श—प्रसङ्गवश सवर्णसंज्ञा में उपयोगी वर्णों के प्रमुख आठ स्थानों का निरूपण किया गया है, जो अधोलिखित वर्णोद्भवस्थान-बोधक चक्र से स्पष्ट हो जायेगा—

स्थान-बोधक चक्र

वर्ण		उच्चारण स्थान
स्वर	व्यञ्जन	स्थान
अ	क, ख, ग, घ, ङ, ह, (: विसर्ग)	कण्ठ
इ	च, छ, ज, झ, ञ, य, श	तालु
ऋ	ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष	मूर्धा
लृ	त, थ, द, ध, न, ल, स	दन्त
उ	प, फ, ब, भ, म (≍प≍फ-उपध्मानीय)	ओष्ठ
	ञ, म, ङ, ण, न	नासिका तथा स्वस्ववर्गीय स्थान
ए, ऐ		कण्ठतालु
ओ, औ		कण्ठोष्ठ
	व	दन्तोष्ठ
	≍क≍ख-जिह्वामूलीय	जिह्वामूल
	(अनुस्वार)	नासिका

इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ≍प≍फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ। (११) अणुदि-

दशायाम् = 'शास्त्ररीत्या शब्दसाधनसमये' इत्यर्थः, संवृतत्वविधायकस्य 'अ अ' इति सूत्रस्य सम्पूर्णामष्टाध्यायीं प्रत्यसिद्धत्वात्।

यत्न दो प्रकार के होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। वर्णों के मुख से बाहर निकलने से पहले किये गये प्रयत्न 'आभ्यन्तर' कहलाते हैं। उसके पश्चात् होने वाले प्रयत्न बाह्य हैं। वर्णोत्पत्ति में अव्यवहित पूर्व न होने से बाह्य प्रयत्न को गौण प्रयत्न कहा जाता है।[1]

आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत। इनका विवेचन मूलार्थ में किया जा चुका है। जब क से म पर्यन्त २५ व्यञ्जनों में जिह्वा तालु तथा कण्ठ आदि स्थानों का स्पर्श करती है, तब उसे स्पृष्ट प्रयत्न कहते हैं। 'ईषत्स्पृष्ट' का अर्थ है—तालु आदि स्थानों को जिह्वा द्वारा धीरे से स्पर्श करना। 'विवृत' का अर्थ है—जिह्वा एवं तालु आदि उच्चारण स्थानों के बीच का मार्ग खुला रहे। 'ईषद्विवृत' से तात्पर्य है कि उक्त मध्य का मार्ग थोड़ा-सा विवृत=खुला रहे। संवृत प्रयत्न ह्रस्व अकार के व्यवहार काल में होता है। साधनिकादशा में विवृत ही होता है। क्योंकि ह्रस्व 'अ' का संवृत-विधायक सूत्र 'अ अ' (८।४।६८) सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के प्रति असिद्ध माने जाने से इस सूत्र के द्वारा किये गये कार्य की ओर शास्त्र की दृष्टि नहीं जाती। अतः वह अकार विवृत माना गया है। वर्णों के आभ्यन्तर प्रयत्न को निम्न चक्र से स्पष्ट किया गया है—

आभ्यन्तरप्रयत्न-बोधक चक्र

आ. प्रयत्न	स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट	ईषद्विवृत	विवृत	संवृत
संज्ञा	स्पर्श	अन्तःस्थ	ऊष्म	स्वर	
वर्ण	क,ख,ग,घ,ङ च,छ,ज,झ,ञ ट,ठ,ड,ढ,ण त,थ,द,ध,न प,फ,ब,भ,म	य, व, र, ल	श, ष, स, ह	अ, इ, उ ऋ, लृ, ए ओ, ऐ, औ	ह्रस्व अकार (प्रयोगदशा में)

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के होते हैं, जिनका विवेचन मूलार्थ में किया गया है। जिन वर्णों का उच्चारण करते समय कण्ठ का विकास हो, उनको विवार कहते हैं। जिन वर्णों के उच्चारण करते समय श्वास चलता हो उसे श्वास, जिनके उच्चारण में नाद=व्यक्त ध्वनि हो उसे नाद तथा जिन वर्णों का उच्चारण करने में गूँज होती हो उनको घोष, तदतिरिक्त को अघोष एवं जिन वर्णों के उच्चारण में प्राणवायु का अल्प उपयोग हो उसे अल्पप्राण और अधिक उपयोग हो उसे महाप्राण कहते हैं।

किन वर्णों का कौन-सा बाह्य प्रयत्न है? यह निम्नलिखित चक्र से स्पष्ट हो जायेगा।

---

१. आभ्यन्तर प्रयत्न का उपयोग सवर्णसंज्ञा में होता है, परन्तु बाह्य प्रयत्न का उपयोग सवर्णसंज्ञा में नहीं होता। किन्तु आन्तरतम्य परीक्षा अर्थात् वर्णों में परस्पर अत्यन्त समानता का अन्वेषण करते समय बाह्य प्रयत्न की आवश्यकता होती है।

११ अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः १।१।६९। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु चु टु तु पु एते उदितः। तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्। अनुना-

(११) संज्ञासूत्रमिदम्। प्रतीयते=विधीयत इति प्रत्ययः, स न भवतीति अप्रत्ययोऽविधीयमानः, आदेशप्रत्ययादिभिन्नोऽण् इत्यर्थः। चकारात् 'स्वं रूपमि'ति सूत्रात् स्वमित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते। तदाह—**अविधीयमान** इत्यादिना। अण् अविधीयमानः सवर्णबोधकः, उदित् विधीयमानोऽपि सवर्णबोधको भवतीति भावः। अणिति पूर्वेण परेण वा प्रत्याहार इत्याशङ्कायामुच्यते—**अत्रेति**।

बाह्यप्रयत्न-बोधक चक्र

बा. प्रयत्न	विवार, श्वास, अघोष	संवार, नाद, घोष	अल्पप्राण	महाप्राण	उदात्त, अनुदात्त, स्वरित
	क, ख, श	ग, घ, ङ, य	क, ग, ङ, य	ख, घ, श	अ ए
	च, छ, ष	ज, झ, ञ, व	च, ज, ञ, व	छ, झ, ष	इ ओ
	ट, ठ, स	ड, ढ, ण, र	ट, ड, ण, र	ठ, ढ, स	उ ऐ
वर्ण	त, थ	द, ध, न, ल	त, द, न, ल	थ, ध, ह	ऋ औ
	प, फ	ब, भ, म	प, ब, म	फ, भ	लृ

इस प्रकार व्यञ्जन वर्णों में प्रत्येक के चार तथा स्वर वर्णों में प्रत्येक के तीन बाह्यप्रयत्न होते हैं।

(११) पद—अण्, उदित्, सवर्णस्य, च अप्रत्ययः। **अनुवृत्ति**—स्वं रूपम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—अविधीयमान (प्रत्ययभिन्न) अण् और उदित् सवर्ण के बोधक=सवर्णी अक्षरों के ग्राहक होते हैं।

आचार्यों के व्याख्यान से यहाँ अण् पर-णकार तक लिया जाता है। कु चु टु तु पु—ये उदित् कहलाते हैं। 'अणुदित्' सूत्र का फल इस प्रकार है—'अ' अठारह का बोधक होता है। इसी प्रकार इकार और उकार भी अठारह-अठारह के बोधक हैं। ऋकार तीस का बोधक है एवं लृकार भी तीस का बोधक है। एच्=ए, ओ, ऐ, औ प्रत्येक बारह के बोधक होते हैं। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य व ल दो प्रकार के होते हैं। इसीलिए अनुनासिक 'य व ल' अनुनासिक, निरनुनासिक दोनों का संज्ञाबोधक है।

विमर्श—सूत्र द्वारा विधान किये जाने वाले को प्रत्यय कहते हैं। इससे भिन्न 'अप्रत्ययः' का अर्थ है—जिसका विधान न किया गया हो—अविधीयमान। इस प्रकार अविधीयमान (प्रत्यय-भिन्न) केवल अण् का ही विशेषण है; उदित् का नहीं। अतः प्रत्यय-भिन्न अण प्रत्याहार और उकारेत्संज्ञक उदित्[1] वर्ण अपने स्वरूप तथा सवर्ण के ग्राहक होते हैं।

• केवल इसी सूत्र में अण् प्रत्याहार पर-णकार से लिया जाता है। अतः यहाँ अण् पद से अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल वर्णों का बोध होता है। कु=कवर्ग, चु=चवर्ग, टु=टवर्ग, तु=तवर्ग, पु=पवर्ग, ये उत्कारेत्संज्ञक हैं। अतः ये वर्ण भी सवर्ण के बोधक होते हैं। स्पष्ट ज्ञान के लिए वर्णों के प्रकार बतलाये जा रहे हैं। अ=१८, इ=१८, उ=१८, (ऋ और लृ वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा होने के कारण ऋ=१८+लृ=१२) ऋ=३०, इसी प्रकार लृ=

१. 'उत् इत् यस्य उदित्। अण् च उदित् च अणुदित्' (बहुव्रीहिगर्भः इतरेतरद्वन्द्वः)।

सिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा। (१२) **परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९।** वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्। (१३) **हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७।** अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः। (१४) **सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४।** सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

इति सन्ध्युपयोगि संज्ञाप्रकरणम् ॥ १ ॥

अस्मिन्नेव सूत्रे अण् परेण णकारेण गृह्यते। अन्यत्र—'अणोऽप्रगृह्य०' इत्यादौ पूर्वेण णकारेण प्रत्याहारः। अत्र व्याख्यानमेव शरणम्। यथोक्तं भाष्ये—

'परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥' इति।

(१२) परः अतिशयितः, सन्निकर्षः सामीप्यम्—अर्धमात्राधिककालव्यवधानराहित्यम्। अर्धमात्राकालव्यवधानन्तु स्वाभाविकमेव। तदेतदभिप्रेत्याह—**अतिशयित** इत्यादि।

(१३) **हलोऽनन्तरा इति।** अनन्तराः=अव्यवहिताः, विजातीयव्यवधानरहिता इति यावत्। एवञ्च स्वरवर्णैर्व्यवधानशून्या हल्वर्णाः संयोगसंज्ञका भवन्तीत्यर्थः।

(१४) **सुप्तिङिति।** 'स्वौजसमौट्०' इति सूत्रे 'सु' इत्यारभ्य सुपः पकारेण

३०, (दीर्घ और प्लुत होने से, ह्रस्व न होने के कारण ए, ओ, ऐ, औ प्रत्येक के १२ प्रकार (भेद) होते हैं।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'अप्रत्ययः' पद का समावेश होने के कारण प्रत्ययावयव अण्=अ इ उ आदि वर्ण सवर्णों के बोधक नहीं होते। अतः 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) सूत्र से विधीयमान 'अ' से केवल ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होता है।

(१२) पद—परः, सन्निकर्षः, संहिता। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—वर्णों की अत्यन्त सन्निधि=(समीपता) को संहिता कहते हैं।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में संहिता संज्ञा है, 'परः सन्निकर्षः' संज्ञी। परः=अत्यधिक, सन्निकर्षः= सामीप्य। इस प्रकार सूत्रार्थ है—वर्णों की जो अत्यधिक समीपता है उसकी संहिता संज्ञा होती है। एक वर्ण के उच्चारण के बाद अर्धमात्राकाल का व्यवधान स्वाभाविक होता है। उससे अधिक काल का व्यवधान न रहे—यह अर्थ विवक्षित है।[1] जैसे 'सुधी+उपास्यः' में इकार उकार की अत्यधिक समीपता होने से 'संहितायाम्' (६।१।७०) के अधिकार में 'इको यणचि' (६।१।७४) सूत्र से यण् आदेश इ=य् होकर 'सुद्ध्युपास्यः' रूप होगा।

(१३) पद—हलः, अनन्तराः, संयोगः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—अच् वर्णों के व्यवधान से रहित हल् संयोगसंज्ञक होते हैं।

विमर्श—व्यवधान रहित दो या दो से अधिक व्यञ्जनसमूह 'संयोग' कहलाता है। व्यवधान विजातीय वर्णों का होता है। व्यञ्जन वर्णों के विजातीय स्वर वर्ण हैं। अतः दो या अधिक व्यञ्जनों के बीच में स्वर वर्णों का व्यवधान न हो—यह अर्थ यहाँ अपेक्षित है। जैसे—'अग्निः' शब्द में ग् न् दो व्यञ्जनों का संयोग है।

(१४) पद—सुप्तिङन्तं, पदम्। **संज्ञासूत्र।**

---

१. 'परो यः सन्निकर्षो वर्णानाम्, अर्धमात्राकालव्यवधानं स संहितासंज्ञो भवति।' (काशिका)

अथ अच्सन्धिः

(१५) इको यणचि ६।१।७७ । इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । सुधी उपास्य इति स्थिते ।। **(१६) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६६ ।** सप्तमी-

---

प्रत्याहारः । एवं 'तिप्तस्झि०' इत्यत्र 'ति' इत्यारभ्य महिङो ङकारेण प्रत्याहारः । सुप्च तिङ् च सुप्तिङौ, तौ अन्ते यस्य तत्सुप्तिङन्तम् । शब्दरूपन्तु शब्दशास्त्रप्रस्तावाल्लभ्यते । अन्तशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते 'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति नियमादिति ।

इति संज्ञाप्रकरणम् ।

---

(१५) इकः षष्ठ्यन्तम्, यण् प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तम् । इक इत्यत्र स्थानषष्ठी, तथा च 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) इति परिभाषया स्थान इति लभ्यते । स्थानश्च—प्रसङ्गः । अचीत्यत्रौपश्लेषाधिकरणे सप्तमी संहितायामित्यधिकार-

---

मूलार्थ—सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पद संज्ञा है और 'सुप्तिङन्तम्' संज्ञी । सुप् का अर्थ है—प्रातिपदिक नाम विहित विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय (स्वौजसमौट्' सूत्र में सु से लेकर सुप् तक २१ प्रत्यय) और तिङ् का अर्थ है—धातु से विहित विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय ('तिप्तस्झि०' सूत्र से विहित तिप् से लेकर महिङ् तक १८ प्रत्यय) प्रकरणवशात् 'शब्दस्वरूपम्' का अध्याहार किया जाता है । इस प्रकार उक्त दोनों प्रत्यय जिस शब्दस्वरूप के अन्त में रहें, वे क्रमशः सुबन्त और तिङन्त हैं । उन दोनों की पद संज्ञा होती है ।

संज्ञाप्रकरण समाप्त ।

संज्ञा प्रकरण में सन्धि[1] के प्रसङ्ग में 'संहिता' संज्ञा की उपयोगिता का प्रतिपादन किया जा चुका है ।[2] एक पद में, धातु और उपसर्ग के मिलने पर तथा समास में सन्धि नित्य (आवश्यक) होती है । वाक्य में सन्धि करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर रहता है ।[3] सन्धियाँ पाँच प्रकार की मानी गई हैं—अच्सन्धि, प्रकृतिभाव, हल्सन्धि, विसर्गसन्धि और स्वादिसन्धि । वर्णसमाम्नाय में अच्=स्वरों का प्रथम पाठ होने से पूर्व में अच् सन्धि का विवेचन किया जा रहा है ।

(१५) पद—इकः, यण्, अचि । **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इक् के स्थान में यण् आदेश होता है, अच् परे रहते संहिता के विषय में ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में इक्=इ उ ऋ लृ वर्ण स्थानी हैं । यण्=य् व् र् ल् वर्ण आदेश हैं । 'संहितायाम्' का अधिकार है । इस प्रकार इक् और अच् के बीच किसी अन्य वर्ण का व्यवधान न होने पर इक् के स्थान पर यण् आदेश होगा ।

---

१. सन्धिः संहिता इति पर्यायः । सम्पूर्वकाद् धाधातोः 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्यये 'सन्धिरि'ति ।

२. 'परः सन्निकर्षः संहिता' (१।४।१०९) ।

३. 'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः । नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ।।'

निर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य ज्ञेयम् । (१७) स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०। प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । सुध्य् उपास्य इति जाते ।

त्वेनानुवर्तते । इत्यत आह—**इकः स्थान इत्यादि । सुधी इति ।** शोभना धीर्येषान्ते सुधियः । सुधीभिः उपास्यः सुध्युपास्यः । अत्र 'सुधी + उपास्यः' इति स्थिते ।

(१६) **तस्मिन्निति ।** 'तस्मिन्निति सप्तम्यन्तानुकरणम् । निरिति नैरन्तर्ये, दिशिरुच्चारणार्थः ।' 'अचि अणि' इत्युक्ते व्यवहितेऽव्यवहितेऽप्यचि प्राप्तेऽव्यवहित एवेति, पूर्वस्य परस्य च प्राप्ते पूर्वस्यैवेति च नियम्यते ।

(१७) **स्थानेऽन्तरतमः ।** स्थानं=प्रसङ्गः, शास्त्रप्रवृत्तिरिति यावत् । अन्तर-शब्दोऽत्र सदृशपर्यायः, अतिशयितोऽन्तरः अन्तरतमः । अर्थादेकस्य स्थानिन अनेकादेश-प्रसङ्गे सति यः स्थानार्थगुणप्रमाणतः स्थानिना सदृशतमः स एवादेशो भवति ।

विशेष—'यस्य स्थानेऽन्यद्विधीयते तत्स्थानि । येन विधीयमानेन अन्यत् प्रसक्तं निवर्त्तते स आदेशः ।' अर्थात् विद्यमान होकर जो बाद में न रहे, वह 'स्थानी' कहलाता है । जिसके आ जाने पर स्थानी न रहे, वह 'आदेश' कहलाता है । आदेश शत्रुवत् होता है, जो स्थानी को हटाकर स्थित होता है ।

(१६) पद—तस्मिन्, इति, निर्दिष्टे, पूर्वस्य । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—(सूत्र में) सप्तम्यन्त पद का उच्चारण करके विधीयमान कार्य वर्णान्तर के व्यव-धान से रहित पूर्व के स्थान में होता है ।

विमर्श—सूत्र में 'इति' शब्द अर्थनिर्देशार्थ प्रयुक्त किया गया है । अतः 'तस्मिन्' शब्द से 'सप्तमी विभक्ति' यह अर्थ लिया जाता है । तदनुसार सप्तमी-निर्देश से विधीयमान कार्य वर्णान्तर से अव्यवहित पूर्व को होता है । परिणामतः 'सुधी+उपास्यः' में 'इको यणचि' सूत्र द्वारा विधीय-मान कार्य यण्, प्रकृत परिभाषासूत्र से एकवाक्यता होने पर इक् और अच् के बीच किसी अन्य वर्ण का व्यवधान न होने पर धकारोत्तरवर्ती ईकार के स्थान में ही हुआ ।

(१७) पद—स्थाने, अन्तरतमः । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—प्रसङ्ग रहने पर सदृशतम आदेश होता है ।

विमर्श—जब एक वर्ण के स्थान में अनेक आदेशों की प्राप्ति होती है, तब प्राप्त होने वाले आदेशों के मध्य में जो सबसे अधिक सदृश हो, उसके स्थान में वही आदेश होता है । जैसे 'सुधी+उपास्यः' में 'ई' के स्थान में यण्=य् व् र् ल् चारों की प्राप्ति है, किन्तु ई तथा य् का तालु स्थान समान होने से उक्त चारों वर्णों में से 'य्' सबसे अधिक निकट है । अतः 'ई' के स्थान पर 'य्' आदेश हुआ ।

सादृश्य मुख्यतया चार प्रकार के होते हैं—१. स्थानतः, २. अर्थतः, ३. गुणतः, ४. प्रमाणतः । (१) दध्यत्र—दधि+अत्र में स्थानी इकार तथा आदेश 'य' दोनों तालु स्थान वाले हैं, अतः स्थानकृत साम्य से इ के स्थान में 'य्' यण् हुआ । (२) क्रोष्टा—यहाँ शृगाल-वाचक क्रोष्टु शब्द और क्रोष्टृशब्द समानार्थक हैं । अतः अर्थकृत सादृश्य को लेकर 'तृज्वत्क्रोष्टुः' सूत्र से क्रोष्टु शब्द के स्थान में 'क्रोष्टृ' आदेश हुआ । (३) वाग्घरिः—'वाग्+हरिः' में संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण प्रयत्न वाले हकार में वैसा ही घकार हुआ, क्योंकि उक्त प्रयत्न दोनों के समान हैं । यहाँ गुण से तात्पर्य प्रयत्नों से है । (४) प्रमाणकृत आन्तर्य में मात्रासाम्य अपेक्षित है । अमुष्मै,

(१८) अनचि च ८।४।४७। अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धस्य द्वित्वम्। **(१९) झलां जश् झशि ८।४।५३।** झलां जश् स्यात् झशि परे। इति पूर्वधस्य दः **(२०) संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३।** संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोपः स्यात्। **(२१) अलोऽन्त्यस्य १।१।५२।** षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात्। इति

---

(१८) **अनचि च।** 'अनचि' इत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः। न अच् अनच् तस्मिन्ननचि। 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वे'त्यतो 'यर' इति 'वा' इति चानुवर्तते। 'अचो रहाभ्यां द्वे' इत्यत अच इति द्वे इति चानुवर्तते। अत आह—**अचः परस्येत्यादिना।**

(२१) **अलोऽन्त्यस्य।** अल इति षष्ठ्यन्तम्। अत्र 'षष्ठी स्थाने' इति सूत्रमनुवर्तते। तच्च षष्ठी प्रथमान्ततृतीयान्ततया विपरिणम्यते। विधीयमान आदेश इत्यध्या-

---

अमूभ्याम्—यहाँ क्रमशः ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व उकार तथा दीर्घ आकार के स्थान में दीर्घ ऊकार हुए हैं—सूत्र—'अदसोऽसेर्दादुदोमः' (८।२।८०)।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'षष्ठी स्थानेयोगा' से 'स्थाने' पद की अनुवृत्ति आने से पुनः 'स्थाने' ग्रहण का फल यह है कि जहाँ अनेक प्रकार के सादृश्य प्राप्त हों, वहाँ स्थानकृत सादृश्य ही बलवान् होता है।

(१८) पद—अनचि च। **अनुवृत्ति**—यरः, वा, अचः, द्वे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अच् से परे यर् को विकल्प से द्वित्व होता है, किन्तु अच् परे रहते द्वित्व नहीं होता। इस प्रकार 'सु ध् य् उपास्यः' में द्वित्व होकर दो धकार हुए—सु ध् ध् य् उपास्य इति।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'यरोऽनुनासिके०' सूत्र से 'यरः' तथा 'वा' एवं 'अचो रहाभ्यां द्वे' से 'अचः' तथा 'द्वे' की अनुवृत्ति आती है। इन सब पदों को जोड़ कर इस प्रकार अर्थ होता है—'अच्' से परे 'यर्' के स्थान में द्वित्व होता है, किन्तु यर् से परे यदि अच् वर्ण हो तो द्वित्व नहीं होगा।

(१९) पद—झलां जश् झशि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—झल् के स्थान पर जश् आदेश होता है, झश् परे रहते।

विमर्श—झल् प्रत्याहार बोध्य वर्णों के स्थान पर झश् प्रत्याहार बोध्य वर्णों के पश्चाद्वर्ती होने पर जश् प्रत्याहार बोध्य वर्ण (ज् ब् ग् ड् द्) हो जाते हैं। इस प्रकार 'सु ध् ध् य् उपास्यः' में पूर्वधकार के स्थान पर स्थानकृत सादृश्य होने के कारण दन्तस्थानीय (जश् प्रत्याहार बोध्य वर्ण) 'द्' हुआ। क्योंकि पूर्वधकार का पश्चाद्वर्ती धकार झश् प्रत्याहार का है।

(२०) पद—संयोगान्तस्य लोपः। **अनुवृत्ति**—पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—संयोगान्त पद का लोप होता है।

विमर्श—'पदस्य' (८।१।१६) के अधिकार में होने से प्रकृत सूत्र में 'पदस्य' की अनुवृत्ति आती है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषासूत्र के साथ एकवाक्यता होने से यह अर्थ निष्पन्न होता है—जिस पद के अन्त में संयोग (संयुक्त वर्ण) हों, उसके अन्त्य वर्ण का लोप होता है।

(२१) पद—अलः, अन्त्यस्य। **अनुवृत्ति**—षष्ठी (स्थाने)। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—षष्ठी-निर्देश से विधीयमान कार्य अन्त्य अल् के स्थान में हो।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'षष्ठी स्थानेयोगा' सूत्र से षष्ठी व स्थाने की अनुवृत्ति आती हैं। अल् प्रत्याहार के अन्तर्गत सभी वर्ण आ जाते हैं। इस प्रकार 'सूत्र में षष्ठ्यन्त पद का निर्देश कर

यलोपे प्राप्ते । (वा० यणः प्रतिषेधो वाच्यः) सुद्ध्युपास्यः । मद्ध्वरिः । धात्त्रंशः । लाकृतिः । (२२) एचोऽयवायावः ६।१।७८ । एचः क्रमात् अय्, अव्, आय्, आव्,

---

ह्रियते। अतः स्थाने विधीयमान आदेशः षष्ठीनिर्दिष्टस्य यः अन्त्य अल् तस्य स्यादित्यर्थः । **यणः प्रतिषेध** इति । संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य यणो लोपस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । **सुद्ध्युपास्य** इति । अत्र 'सुधी + उपास्यः' इति स्थिते 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति सूत्रेण सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्यैवेति नियमविधानात् 'स्थानेऽन्तरतमः' इति सूत्रेण च सदृशतमादेशविधान-नियमात् 'इको यणचि' इत्यनेन ईकारस्य स्थाने 'य्' इति यणादेशे 'अनचि च' इति सूत्रेण धकारस्य विकल्पेन द्वित्वे, सु ध् ध् य् + उपास्य इति जाते 'झलां जश् झशि' इति सूत्रेण प्रथमधकारस्य दकारे 'सु द् ध् य्+उपास्यः' इत्यवस्थायाम् 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषैकवाक्यतया 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सूत्रेण यकारस्य लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्तिकेन यलोपनिषेधे सति 'सुद्ध्युपास्यः' इति रूपं सिद्धम् । मधोः अरिः मध्वरिः = मधुनामकदैत्यस्य शत्रुरिति । 'मधु + अरिः' इति च्छेदः । धातुरंशः धात्रंशः । ऌ + आकृतिः = लाकृतिः ।

(२२) **एचोऽयवायावः** । एचः षष्ठ्यन्तम्, अयवायावः प्रथमान्तम् । अय् च अव् च आय् च आव् चेति विग्रहः । 'इको यणची'त्यतोऽचीत्यनुवर्तते ।

जहाँ आदेश का विधान किया गया हो, वह अन्तिम वर्ण को होता है ।' तदनुसार 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र की प्रकृत सूत्र से एकवाक्यता होने पर 'सु द् ध् य् उपास्यः' यहाँ अन्तिम वर्ण 'य्' का लोप प्राप्त हुआ । उसका निषेध वार्तिक द्वारा किया जा रहा है—

(वा०) 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' संयोगान्त पद के अन्तिम यण् = य् व् र् ल् का लोप नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार 'सुद्ध्युपास्यः' रूप सिद्ध हुआ। इसका अर्थ है— 'सुधीभिः उपास्यः' अर्थात् विद्वानों द्वारा उपासना करने योग्य ।

'मधु + अरिः' यहाँ उकार को यण् वकार—'म ध् व् अरिः'—ध् का द्वित्व, जश्त्व पूर्व ध् को द् होकर 'मद्ध्वरिः' = मधु नामक दैत्य के शत्रु = विष्णु । 'धातृ + अंशः' ऋकार के स्थान पर यण् 'र्' तथा 'त्' को द्वित्व होकर 'धात्त्रंशः' रूप हुआ। धात्रंशः = ब्रह्मा का अंश । 'ऌ + आकृतिः' = लाकृतिः—ऌ के स्थान में 'ल्' होकर 'लाकृतिः' रूप सिद्ध होगा = 'ऌ की आकृति की तरह स्वरूप वाला' अर्थ है ।

(२२) पद—एचः, अयवायावः । **अनुवृत्ति**—अचि, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—एच् के स्थान में क्रम से अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होते हैं, अच् परे रहते ।

विमर्श—यहाँ एच् = ए, ओ, ऐ, औ स्थानी है और अय्, अव्, आय्, आव् आदेश हैं। दोनों की संख्या चार है। 'इको यणचि' सूत्र से 'अचि' पद अनुवृत्त है। तदनुसार यथासंख्य-परिभाषा द्वारा स्थानी तथा आदेश की समान संख्या होने के कारण क्रमशः ए = अय्, ओ = अव्, ऐ = आय् और औ = आव् आदेश होते हैं।

प्रसङ्गवश उद्देश्य और विधेय के समानसंख्यक होने पर व्यवस्था-निर्देशक सूत्र की व्याख्या की जा रही है।

एते स्युरचि । (२३) यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१० । समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्यं स्यात् । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः । (२४) वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९ । यावौ प्रत्यये परे ओदौतोरवावौ स्तः । गव्यम् । नाव्यम् । (वा० अध्वपरि-

---

(२३) **यथासङ्ख्यमिति ।** अत्र समानामिति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । साम्यञ्चात्र सङ्ख्यातो विवक्षितम् । अनुदिश्यत इत्यनुदेशः । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोः समसङ्ख्यत्वे क्रमात्कार्यं स्यादित्यर्थः । हरे + ए = हरये । विष्णो + ए = विष्णवे । नै + अकः = नायकः । पौ + अकः = पावकः ।

(२४) **यकारादाविति ।** अत्र 'यि' इति प्रत्यये इत्यस्य विशेषणम् । सप्तम्यन्ते वर्णग्रहणे यो विधिः सः—तद्वर्णादौ ज्ञेय इत्यर्थक 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति परिभाषया तदादिलाभेन यकारादावित्यर्थलाभः । **गव्यमिति ।** गोशब्दात् 'गोपयसोर्यत्' इत्यनेन विकारार्थे यत्प्रत्यये कृते 'गो + यम्' इति स्थिते, ओकारस्याऽच्परकत्वाभावात् 'एचोऽयवायावः' इत्यनेनावादेशाप्राप्तौ 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेन यकारादौ

---

(२३) पद—यथासंख्यम्, अनुदेशः, समानम् । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—समान सम्बन्धी विधि क्रमशः संख्यानुसार होती है ।

विमर्श—यह परिभाषा सूत्र है । स्थानी और आदेश की समान संख्या होने पर आदेश की प्रवृत्ति क्रमानुसार प्रथम को प्रथम, द्वितीय को द्वितीय, तृतीय को तृतीय—इस प्रकार से होती है । यहाँ 'यथासंख्यम्' का अर्थ है (संख्यामनतिक्रम्य-अव्ययीभाव स०)—क्रमानुसार[1] । इस परिभाषा की उपस्थिति से पूर्व सूत्र द्वारा एच्—ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर विधीयमान आदेश क्रमशः होते हैं ।

हरे + ए, विष्णो + ए, नै + अकः, पौ + अकः में क्रमशः ए = अय्—हरये (हरि के लिए) । ओ = अव्—विष्णवे (विष्णु के लिए) । ऐ = आय्—नायकः (नेता) । औ = आव्—पावकः (अग्नि) ।

(२४) पद—वान्तः यि प्रत्यये । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—यकारादि प्रत्यय के परे 'ओ' तथा 'औ' को वान्त (अव्, आव्) आदेश होते हैं । गौ का विकार—गव्यम् (घी, दूध इत्यादि) । यहाँ विकार अर्थ में 'गोपयसोर्यत्' सूत्र से यत्प्रत्यय, विभक्तिकार्य गो + यम्, ओ = अव् आदेश हुआ है । नाव्यम् (नावा तार्यम् = नौका से पार करने योग्य जल)—नौ + यम् ('नौवयोधर्म०' से यत्प्रत्यय), औ = आव् < नाव्यम् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अव्' तथा 'आव्' आदेशों के लिए 'वान्त' पद का प्रयोग किया गया है । अतः 'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते' के अनुसार 'अव्' तथा 'आव्' आदेशों से 'ओ' तथा 'औ' स्थानी का ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार सन्धि के विषय में यकारादि परे रहने पर ओ एवम् औ के स्थान में क्रमशः अय् तथा आव् आदेश होते हैं ।

(वा०) अध्व=मार्ग के परिमाण (नाप) अर्थ में गो शब्द को यूति शब्द के परे वान्त आदेश होता है । उदाहरण—गव्यूतिः । गो + यूतिः, ओ = अव्—गव्यूतिः (यूतिः—यु + क्तिन् (ति)

---

१. 'सङ्ख्याशब्देन क्रमो लक्ष्यते । यथासङ्ख्ये यथाक्रममनुदेशो भवति ।' (काशिका)

माणे च) गव्यूतिः । (२५) धातोस्तन्निमित्तस्यैव ६।१।८० । यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव नान्यस्य । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । तन्निमित्तस्य

प्रत्यये परेऽवादेशे गव्यमिति रूपम् । नावा तार्यं नाव्यम् । नौ + यम् । 'नौवयोधर्म०' इत्यादिना यत्प्रत्ययः । **अध्वपरिमाणे चेति** । मार्गपरिमाणे गम्यमाने गोशब्दाद् यूतिशब्दे परेऽवादेशो भवतीत्यर्थः । गो + यूतिः = गव्यूतिः, क्रोशयुगमित्यर्थः ।

(२५) **धातोस्तन्निमित्तस्यैवेति** । अत्र एच इति 'वान्तो यि प्रत्यय' इति चानुवर्तते । यादिप्रत्यये परे धातोरेचो भवन् वान्तादेशः यादिप्रत्ययनिमित्तकस्यैव एचो भवति, अन्यस्य नेत्यर्थः । सूत्रारम्भसामर्थ्यादेव सिद्धे एवकारस्तु विपरीतनियमवारणार्थः । अन्यथा तन्निमित्तस्यैचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि धातोरेवेति नियमः स्यात् तथा च 'बाभ्रव्य' इत्यत्र वान्तादेशो न स्यात् । **लव्यमिति** । लूञ्धातोः 'अचो यत्' इति यत्प्रत्यये 'सार्वधातुकार्धधातुकयोरि'ति गुणे 'लो + यम्' इत्यत्र वान्तादेशे लव्यमिति रूपम् । **अवश्यलाव्यमिति** । 'ओरावश्यके' इति लूञो ण्यत् 'अचो ञ्णिति' इत्यनेन ऊकारस्य वृद्धिः औकारः, अवश्यमित्यव्ययम्, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः । औकारस्य

'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' से निपातन से उ को दीर्घ ऊ=यूतिः) । अमरकोष के अनुसार 'गव्यूतिः' का अर्थ 'दो कोस' है ।

(२५) पद—धातोः, तन्निमित्तस्य एव । **अनुवृत्ति**—वान्तः, यि प्रत्यये, एचः । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—यकारादि प्रत्यय के परे धातु के एच् को यदि वकारान्त आदेश हो तो यकारादि-प्रत्यय-निमित्तक एच् को ही हो; अन्य को नहीं । सूत्र में तन्निमित्तक पद का ग्रहण क्यों किया गया ? ओयते । औयत ।

विमर्श—यह नियमसूत्र है । पूर्व सूत्रों से यहाँ 'वान्तः, यि प्रत्यये तथा 'एचः' पदों की अनुवृत्ति आती है । अतः धातु के अवयव एच्=स्थानी है और वान्त=अव् तथा आव् आदेश हैं । सामान्यतः पूर्व सूत्र से यकारादि प्रत्यय के परे रहते ओ तथा औ को क्रमशः अव् तथा आव् आदेश होते हैं, किन्तु यह सभी धातुओं में नहीं होता । उस सामान्य वचन का यहाँ नियमन किया गया है । नियम की व्यवस्था 'एव' शब्द द्वारा की गई है । तदनुसार य् वर्ण से प्रारम्भ होने वाले प्रत्यय के परे रहते धातु के एच् को वान्तादेश हो तो वह एच् यादि-प्रत्यय-निमित्तक ही होना चाहिए; अन्यथा नहीं । **उदाहरण**—१. लव्यम् । √लू+यत (य) गुण लो+य्, वान्त=अव् आदेश < लव्य+सु (अम्)=लव्यम् (काटने योग्य) । इस उदाहरण में यकारादि प्रत्यय 'यत्' है, उसी को निमित्त मानकर 'सार्वधातु०' से उ=ओ गुण । अतः ओकार के स्थान पर अव् आदेश हुआ । २. अवश्यलाव्यम्—'अवश्य+√लू+ण्यत् (य) 'अचो ञ्णिति' सूत्र से उ की वृद्धि 'औ' < अवश्य लौ+य औ=अवादेश < अवश्यलाव्य+सु (अम्)—अवश्यलाव्यम् (अवश्य काटने योग्य) । **प्रत्युदाहरण**—'ओयते । औयत ।' प्रकृत सूत्र में तन्निमित्तक पद का ग्रहण होने से 'य' वर्ण से आरम्भ होने वाले प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाले ओ तथा औ क्रमशः अव् तथा आव् आदेशों का विधान किये जाने से 'ओयते' तथा 'औयत' में वान्त आदेश=(अव् तथा आव्) नहीं होते हैं । इन दोनों प्रत्युदाहरणों में ओ तथा औ यादि-प्रत्यय-निमित्तक नहीं है । यथा—(१) ओयते—आङ्+√वेञ्+लट् (कर्म में प्रत्यय) (ते), यक्—आ+वे+

किम् ? ओयते । औयत । (२६) क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ६।१।८१ । यान्तादेशनिपातनार्थमिदम् । क्षय्यम् । जय्यम् । शक्यार्थे किम् ? क्षेतुं जेतुं योग्यं क्षेयं पापं जेयं मनः । (२७) क्रय्यस्तदर्थे ६।१।८२ । तस्मै प्रकृत्यर्थायेदं तदर्थम् । क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्धया आपणे प्रसारितं क्रय्यम् । क्रेयमन्यत् । क्रयणार्हमित्यर्थः । (२८) अदेङ्गुणः

धात्ववयवत्वाद् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशः। तन्निमित्तस्यैवेति किम् ? नियमस्य किं प्रयोजनमित्याशयः । **ओयत इति** । आङ्पूर्वाद् वेञ्धातोः कर्मणि लट् 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे यकि, सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'अकृत्' इति दीर्घे, आङा सहोकारस्य गुणे तस्य यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाभावान्न वान्तादेशः । **औयत इति** । वेञः कर्मणि लङ्, यगादि प्राग्वत् आटि 'आटश्चे'ति वृद्धिः ।

(२६) **क्षय्यजय्याविति** । क्षिधातोः जिधातोश्च 'अचो यत्' इति यत्प्रत्यये गुणे क्षे + यम्, जे + यम्—इत्यत्र अयादेशस्याप्राप्तौ शक्यार्थे निपातनम्, **क्षेयमिति** । 'अर्हे कृत्यतृचश्चे'ति यत् । स च न शक्यार्थ इति नात्र यान्तादेशः ।

(२७) **प्रकृत्यर्थायेति**—प्रकृत्यर्थो द्रव्यविनिमयः ।

य + ते, व = उ (सम्प्रसारण) पूर्वरूप < आ + उ + य + ते गुण < ओयते । (२) औयत—आ + √वेञ् + लङ् (कर्म में) त, यक्—आ + वे + य + त, सम्प्रसारण, पूर्वरूप < आ + उ + य + त, आट् का आगम, दीर्घ, 'आटश्च' से वृद्धि = औयत (बुना गया) ।

(२६) पद—क्षय्यजय्यौ, शक्यार्थे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—शक्य अर्थ में क्षय्य और जय्य निपातन[1] से सिद्ध होते हैं । क्षय होने में शक्य = क्षय्यम् । जीतने में समर्थ = जय्यम् । सूत्र में शक्यार्थ पद का ग्रहण क्यों किया ? योग्यता अर्थ में यान्तादेश न हो, अतः 'शक्यार्थ में' कहा गया है । यथा—क्षेयम् (पापम्) = नाश करने योग्य पाप । जेयम् मनः (जीतने योग्य मन) ।

विमर्श—शक्य अर्थ में निपातन (विशेष विधान) करने के लिए प्रकृत सूत्र की रचना की गई है । पूर्व सूत्र से अय् आदेश की अप्राप्ति में यह व्यवस्था की गई है । उदाहरण—१. √क्षि + यम् (यत्), गुण < क्षे + यम्, निपातन से अय् आदेश—क्षय्यम् । २. जय्यम्—जि + यम् (यत्), गुण, जे + यम्, अय् आदेश < जय्यम् ।

(२७) पद—क्रय्यः, तदर्थे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'ग्राहक खरीदें' इस दृष्टि से जो वस्तु बाजार में फैलाकर रखी जाती है—इस अथ में 'क्रय्यम्' शब्द निपातन से सिद्ध होता है । बेचने योग्य अर्थ में 'क्रेयम्' होता है ।

विमर्श—यहाँ 'तदर्थे' पद से धातु का अर्थ लिया जाता है (तस्मै इदं = तदर्थम्, तस्मिन्) । तदनुसार क्री धातु का अर्थ द्रव्य-विनिमय = खरीदना है । मूल्य देकर खरीदने हेतु प्रसारित वस्तु के लिए 'क्रय्यम्' का प्रयोग होता है । प्रक्रिया इस प्रकार है—√क्री + यम् (यत्), गुण < क्रे +

---

१. जो शब्द लोक में जैसे सुने जाते थे—प्रचलित थे, उनका उसी रूप में आचार्यों ने उल्लेख कर दिया है । ऐसे शब्दों के विषय में उनके अर्थ के अनुसार प्रकृति-प्रत्यय कल्पित कर दिये जाते हैं—

'धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च ।
अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम् ॥' —महाभाष्यप्रदीपः ५।२।१४

१।१।२। अदेङ् च गुणसंज्ञः स्यात्। (२९) तपरस्तत्कालस्य १।१।७०। तः परो यस्मात् तात्परो वा उच्चार्यमाणो वर्णः समकालस्यैव संज्ञा स्यात्। (३०) आद् गुणः ६।१।८७। अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुणादेशः स्यात्। उपेन्द्रः। रमेशः। गङ्गोद-

---

(२८) **अदेङ्गुण इति**। अच्च एङ् चेति समाहारद्वन्द्वः। अत् एङ् इत्युभयत्र तपरकरणम्। तथा च 'अ' इति ह्रस्वाकारस्यैव 'ए, ओ' इति द्विमात्रस्यैव गुणसंज्ञा।

(२९) **तपर इति**। अत्र बहुव्रीहितत्पुरुषसमासद्वयम्, अत आह—**तः परो यस्मादिति**। समकालस्यैव = उच्चार्यमाणसमानकालिकस्यैवेत्यर्थः।

(३०) **आद्गुण इति**—'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारः। 'इको यणचि' इत्यतोऽचि इत्यनुवर्तते। अत आह—**अवर्णादचीत्यादिना**। **उपेन्द्र** इति। 'उप + इन्द्रः' इति स्थितेऽत्र 'आद्गुणः' इत्यनेन पूर्वपरयोः अकार-इकारयोः स्थाने कण्ठतालुस्थानकः

यम्, निपातन से अय् आदेश—क्रय्यम्। 'केवल बेचने योग्य वस्तु, जो घर में या अन्यत्र रखी है' अर्थ में 'क्रेयम्' प्रयोग होता है। यहाँ अय् आदेश नहीं होता।

(२८) पद—अदेङ्, गुणः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—ह्रस्व अकार तथा एङ् = ए, ओ की गुणसंज्ञा होती है।

(२९) पद—तपरः तत्कालस्य, **अनुवृत्ति**—सवर्णस्य, स्वं रूपम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—तकार है परे जिससे अथवा तकार से परे (त् से पूर्व अथवा पश्चात्) जो अच्, वह उच्चार्यमाण समान काल का ही बोधक होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पूर्व दो सूत्रों से 'सवर्णस्य' तथा 'स्वं रूपम्' की अनुवृत्ति आती है। 'तपरः' पद में बहुव्रीहि और तत्पुरुष दो समास है—(१) तः परः यस्मात् सः तपरः (बहु०)। (२) तात् परः = तपरः (तत्पुरुषः)। 'तत्कालः' पद में उत्तरपदलोपी बहुव्रीहि समास है—तत्काल इव कालो यस्य सः। इस प्रकार 'त्' है परे जिससे अथवा 'त्' से परे जो स्वर वर्ण, वह उच्चार्यमाण समानकाल (मात्रा) का बोधक होता है। उदाहरणतः—उक्त सूत्र 'अदेङ् गुणः' में 'अत्' शब्द में उच्चरित अकार केवल ह्रस्व (छह प्रकार का) अकार का बोधक होगा, क्योंकि अ के बाद तकार है। इसी प्रकार 'एङ्' पद में ए तथा ओ केवल द्विमात्रिक एकार तथा ओकार के बोधक होंगे, क्योंकि यहाँ एङ् पद 'त्' के पश्चात् आया है (तात् परः)।

विशेष—'अणुदित्० इत्यादि ग्रहणकशास्त्र के अन्तर्गत समकाल का बोध कराने वाला होने से इस सूत्र को संज्ञासूत्र कहा गया है।

(३०) पद—आत्, गुणः। **अनुवृत्ति**—अचि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अवर्ण से अच् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में गुण रूप एकादेश होता है।

विमर्श—सूत्र में दो पद हैं—'आत्' और 'गुणः'। 'आत्' पञ्चमी विभक्ति के एकवचन का रूप है। तपरकरण नहीं है। 'इको यणचि' से 'अचि' पद की अनुवृत्ति आती है। 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है। तदनुसार अवर्ण से अच् परे रहते पूर्व और पर दोनों वर्णों के स्थान में एक गुण (अ, ए, ओ) आदेश होता है। **उदाहरण**—उप + इन्द्रः = उपेन्द्रः। यहाँ पकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् अच् वर्ण 'इ' है। अतः दोनों वर्ण अ + इ (स्थान-साम्य होने के कारण मिलकर) गुण 'ए' हो गये। अ (कण्ठ स्थान) + इ (तालु) = ए (कण्ठतालु स्थान)। इसी

कम् । (३१) उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२ । उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात् । प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः । लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञाः । (३२) उरण् रपरः १।१।५१ । ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्, तत्स्थाने

गुणसंज्ञकः एकारो जातः, तेन 'उपेन्द्रः' इति सिद्धम् । रमा + ईशः, गङ्गा + उदकम् इति च्छेदः ।

(३१) उपदेशेऽजित् । उपशब्द आद्यर्थकः । दिशिरुच्चारणक्रियायाम् । उपदेशनमुपदेशः, भावे घञिति मनोरमाकारः । अनिर्ज्ञातस्वरूपस्य कार्यार्थं स्वरूपज्ञापनार्थमपूर्वोच्चारणं ह्युपदेशः । प्रतिज्ञेति । प्रतिज्ञायत इति प्रतिज्ञा । अनुनासिकस्य भावः आनुनासिक्यम् । प्रतिज्ञा आनुनासिक्यं येषां ते प्रतिज्ञानुनासिक्याः=पाणिन्यादिप्रोक्ता वर्णाः प्रतिज्ञामात्रबोध्यानुनासिक्यवन्त इत्यर्थः । लण्सूत्रस्येति । लण्सूत्रे तिष्ठतीति लण्सूत्रस्थः, स चासौ अवर्णश्च लण्सूत्रस्थावर्णः, तत्र सहोच्चार्यमाणो रेफः 'र्' इत्येवंरूपः रेफलकारयोः संज्ञा=बोधक इत्यर्थः ।

(३२) उरणिति--उः अण् रपरः इति च्छेदः । 'उः' इति ऋशब्दस्य षष्ठ्येकवचनम् । 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यतः स्थाने ग्रहणमनुवर्तते तदाह–ऋ इत्यादिना । रपरः

प्रकार—रमा + ईशः = रमेशः । आ + ई = ए । गङ्गा + उदकम् = गङ्गोदकम् । आ + उ = ओ (गङ्गा का जल) ।

'गुणसन्धि-बोधक चक्र'

स्थानी +	स्थान	आदेश	
अ (कण्ठ) +	इ (तालु)	= ए—(कण्ठतालु)	
अ (कण्ठ) +	उ (ओष्ठ)	= ओ (कण्ठोष्ठ)	
अ (कण्ठ) +	ऋ (मूर्धा)	= अ (अर्—कण्ठमूर्धा)	द्रष्टव्य—
अ (कण्ठ) +	ऌ (दन्त)	= अ (अल्—कण्ठदन्त)	'उरण् रपरः'

विशेष—गुण-सन्धि की बाधक दीर्घ तथा वृद्धि सन्धि है ।

(३१) पद—उपदेशे, अच् , अनुनासिक, इत् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—उपदेशावस्था में अनुनासिक अच् की इत्संज्ञा होती है। गुरु-परम्परा द्वारा निश्चयात्मक कथन से पाणिनि प्रोक्त वर्णों की अनुनासिकता का ज्ञान किया जाता है। 'लण्' सूत्र में इत्संज्ञक अ वर्ण के साथ उच्चरित रेफ 'र्' और 'ल्' का बोधक होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र के अनुसार पाणिनि आदि त्रिमुनि द्वारा संकेतित अनुनासिक अच् वर्ण इत्संज्ञक होते हैं। प्राचीन काल में कोई चिह्न-विशेष अच् वर्णों की अनुनासिकता का द्योतक होता था। अब केवल इत्संज्ञा रूप कार्य से कारण स्वरों की अनुनासिकता जानी जाती है। उदाहरणतः 'लण्' में लकारोत्तरवर्ती 'अ'कार की इत्संज्ञा पाणिनि द्वारा अनुनासिक माने जाने के कारण होती है। परिणामस्वरूप 'हयवरट्' सूत्र का 'र्' 'लण्' के अ के साथ मिलकर 'र' प्रत्याहार के रूप में र् और ल् इन दो वर्णों का बोध कराता है।

(३२) पद—उः अण् , रपरः । **अनुवृत्ति**—स्थाने । **परिभाषासूत्र** ।

मूलार्थ—ऋकार के तीस प्रकार संज्ञा-प्रकरण में कहे जा चुके हैं। उसके स्थान पर होने वाला अण् रपर होकर ही प्रवृत्त होता है।

योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्त्तते । कृष्णर्द्धिः । तवल्कारः । (३३) लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९ । अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे । (३४) पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ । अधिकारोऽयम् । तेन सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्वं

=रप्रत्याहारपर इत्यर्थः । तेन 'ऋ'स्थाने अर् 'ऌ' स्थाने च अल् विधीयते । **कृष्णर्द्धिरिति ।** 'कृष्ण+ऋद्धिः' इत्यत्र 'आद्गुणः' इति सूत्रेण पूर्वपरयोः अकार-ऋकारयोः स्थाने रेफशिरस्कोऽकारे कृते, जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्योर्ध्वगमने सति 'कृष्णर्द्धिः' इति सिद्धम् । 'तव+ऌकारः' इति च्छेदः ।

(३३) **लोप इति ।** 'झरो झरि' इत्यतः अपूर्वस्येति अशीति चानुवर्तते । 'व्योर्लघु०' इत्यतः व्योरित्यनुवर्तते । अत आह—अवर्णेति ।

(३४) **पूर्वत्रासिद्धमिति ।** अधिकारसूत्रमिदम् । स्वदेशे वाक्यार्थशून्यत्वे सति

विमर्श—प्रकृत सूत्र द्वारा ऋ के स्थान में होने वाले आदेश की विशेष व्यवस्था की जा रही है । ऋ और ऌ के स्थान में गुणादि की प्राप्ति होने पर अ, ए, ओ इत्यादि में से कोई भी उसका अन्तरतम स्थानी नहीं है । अतः प्रकृत सूत्र में स्थाने पद की अनुवृत्ति आने से यह सूत्रार्थ होता है—(उः स्थाने) ऋ के स्थान में होने वाला अण् यदि प्राप्त है तो वह र के साथ ही प्रवृत्त होगा । 'र' से रप्रत्याहार=र्, ल् का ग्रहण होता है । **उदाहरण—**कृष्णर्द्धिः । कृष्ण+ऋद्धिः 'आद् गुणः' से गुण—अ+ऋ+अ, 'उरण् रपरः' सूत्र से रपर—(अर्) कृष्ण् अर् द्धिः=कृष्णर्द्धिः (कृष्ण का ऐश्वर्य) । यहाँ 'कृष्ण+ऋद्धिः' में णकारोत्तरवर्ती अ और ऋ के स्थान में कौन-सा गुण हो ? ऐसी शंका होती है; क्योंकि अ और ऋ में स्थानकृत समानता नहीं मिलती । 'अ' का कण्ठ और ऋ का मूर्धा स्थान है । ऐसा गुणसंज्ञक कोई वर्ण नहीं है, जिसका कण्ठ-मूर्धा स्थान हो, तथापि दग्धाश्वरथन्याय से (दो राजा वन में अपने-अपने रथ से गये । जंगल में आग लगने से एक का रथ जल गया, दूसरे का घोड़ा पलायित हुआ । ऐसी परिस्थिति में दोनों में अभाव की तुल्यता है । दोनों का परस्पर सहायतार्थ संयोजन होता है । तब 'अश्वो नष्टः, मम रथो दग्धः, आवयोः संयोगः' । उसी प्रकार यहाँ अकार गुण को स्थानी की अपेक्षा है और ऋकार को गुण-संज्ञक आदेश की) अ और ऋ परस्पर स्थानाभावरूप आनन्तर्य से जुड़ गये=गुण अकार 'उरण् रपरः' की सहायता से रपर् अर्, जलतुम्बिकान्यायेन रेफ का ऊर्ध्वगमन होने पर 'कृष्णर्द्धिः' सिद्ध हुआ । इसी प्रकार तव+ऌकारः गुण—रपर (अल्)<तव्+अल्+कारः= तवल्कारः (तुम्हारा ऌकार) ।

(३३) पद—लोपः शाकल्यस्य । **अनुवृत्ति—**पूर्वस्य, अशि, व्योः पदस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अवर्णपूर्वक पदान्त यकार, वकार का विकल्प से लोप होता है, अश् परे रहते ।

विमर्श—'शाकल्य के मत में लोप होता है' यह सूत्रगत पदों का अर्थ है । 'किस स्थिति में किन वर्णों का लोप हो' ? इस शङ्का का समाधान पूर्वसूत्रों से अनुवृत्ति किये जाने पर होता है । अतः 'भोभगो०' (८।३।१७) से 'अपूर्वस्य' तथा 'अशि' एवं 'व्योर्लघु०' (८।३।१८) से 'व्योः' की अनुवृत्ति आती है । 'पदस्य' का अधिकार है । इस प्रकार अवर्णपूर्वक पदान्त यकार-वकार का अश् परे रहते शाकल्य के मत में लोप होता है । अन्य आचार्यों के मत में लोप का विधान न होने के कारण विकल्प से लोप कहा गया है ।

(३४) पद—पूर्वत्र, असिद्धम् । **अधिकारसूत्र ।**

प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्। हर इह। विष्ण इह। हरयिह। विष्णविह। (३५) वृद्धिरादैच् १।१।१। आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्। (३६) वृद्धिरेचि ६।१।८८। आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः। गुणापवादः। कृष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कृष्णो-

---

उत्तरसूत्रेण सहैकवाक्यतयार्थबोधजनकत्वमधिकारत्वम्। अष्टाध्याय्याः द्वितीयपादस्यादिमं सूत्रमिदम्। इतःपरं सर्वत्रैवाधिक्रियत अत एव त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धमिति सङ्गच्छते।

(३६) 'आद् गुणः' इत्यतः आदित्यनुवर्तते। **गुणापवाद** इति। निरवकाशो विधिरपवादः।

मूलार्थ—यह अधिकार सूत्र है। सपादसप्ताध्यायीस्थ (सवा सात अध्यायों के) सूत्रों की दृष्टि में त्रिपादीस्थ (अष्टमाध्याय के अन्तिम तीन पादों) के सूत्र असिद्ध होते हैं। त्रिपादी में भी पूर्वसूत्र के प्रति परसूत्र असिद्ध होता है।

विमर्श—पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्रथम से अष्टमाध्याय के प्रथम पाद तक सपादसप्ताध्यायी और अष्टम अध्याय के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पादमात्र त्रिपादी कहे जाते हैं।

उदाहरण—हरे+इह, विष्णो+इह। यहाँ 'एचोऽयवायावः' सूत्र से क्रमशः ए=अय्, ओ=अव् आदेश हो जाने पर 'हर् अय् इह, विष्ण् अव् इह' स्थिति में आदेशावयव य् और व् पद के अन्त में हैं; उसके पूर्व 'अ' है। दोनों प्रयोगों में य्, व् के पश्चात् 'इ' (अश्) होने से 'लोपः शाकल्यस्य' से य्, व् का लोप हो गया—हर इह। विष्ण इह। यहाँ इन दोनों उदाहरणों में अ+इ=ए गुणसन्धि प्राप्त है, परन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' के प्रभाव से लोपशास्त्र के असिद्ध होने के कारण स्वरसन्धि नहीं होती। लोप का विकल्प से विधान होने से पक्ष में हरयिह, विष्णविह।

(३५) पद—वृद्धिः आदैच्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—आत् (आ) ऐच् (ऐ, औ) की वृद्धि संज्ञा हो।

विमर्श—सूत्र में 'वृद्धिः' संज्ञा है, 'आदैच्' संज्ञी। संज्ञी होने के कारण 'आदैच्' पद उद्देश्य है तथा संज्ञा होने से 'वृद्धिः' पद विधेय है। अतः 'अदेङ् गुणः' आदि की तरह यहाँ भी उद्देश्य का कथन पूर्व में होना चाहिए। यहाँ इस नियम की अपेक्षा इसलिए की गई है कि अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र होने से 'वृद्धिः' पद यहाँ मङ्गलार्थक है।[1]

(३६) पद—वृद्धिः, एचि। **अनुवृत्ति**—आत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अवर्ण से एच् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एक आदेश होता है। 'गुण' सन्धि का अपवाद है।

विमर्श—'आद् गुणः' से अनुवृत्त पद 'आत्' तथा सूत्रस्थ 'एच्' पद स्थानी है। आदेश (वृद्धि) से आ, ऐ, औ वर्णों का ग्रहण होता है। 'आ के बाद एच्=ए, ओ, ऐ, औ वर्णों के रहते हुए पूर्व और पर दोनों वर्णों के स्थान पर एक ही वृद्धि रूप आदेश होता है।

(१) 'अ' या 'आ'+ए=ऐ। (२) 'अ' या 'आ'+ऐ=ऐ।

(३) 'अ' या 'आ'+ओ=औ। (४) 'अ' या 'आ'+औ=औ।

उदाहरण—(१) कृष्ण+एकत्वम् (अ+ए=ऐ)=कृष्णैकत्वम्। **अर्थ**—कृष्ण की एकता।

---

१. 'माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते'—महाभाष्यम् (सूत्र १।१।१)।

त्कण्ठयम् । (३७) **एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९ । अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूढि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूपगुणापवादः । उपैति । उपैधते प्रष्ठौहः । एजाद्योः किम् ? उपेतः । मा भवान्प्रेदिधत् । (स्वादीरेरिणोः) स्वैरम् । स्वैरी । स्वैरिणी । (अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्) अक्षौहिणी सेना । (प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु) प्रौहः । प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः । (ऋते च तृतीयासमासे) सुखेन ऋतः सुखार्तः । तृतीयेति किम् । परमर्तः ।**

---

(३७) एतिश्च एधतिश्च ऊठ् चेति विग्रहः । अत्र 'वृद्धिरेचि' इत्यतः एचीत्यनुवर्तते । 'एत्येधती' इमौ श्तिप् निर्दिष्टौ । इण् गताविति, एध् वृद्धाविति धातू विवक्षितौ 'यस्मिन्विधिः' इति परिभाषाबलेन एजादाविति लभ्यते । तच्च एत्येधत्योरेव विशेषणम्, न तु ऊठोऽसम्भवात् । 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिकृतम् । 'आद् गुणः' इत्यतः आदित्यनुवर्तते । तदाह—**अवर्णादित्यादिना** । 'येन नाप्राप्तौ यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवती'ति न्यायेन 'एङि पररूपम्' इति पररूपस्य 'आद् गुणः' इति गुणस्य चापवादोऽयम् ।

---

(२) गङ्गा+ओघः (आ+ओ=औ)=गङ्गौघः । अर्थ—गङ्गा का प्रवाह । (३) देव+ऐश्वर्यम् (अ+ऐ=ऐ)=देवैश्वर्यम् । अर्थ—हे देव ! आपका ऐश्वर्य । (४) कृष्ण+औत्कण्ठ्यम् (अ+औ=औ)=कृष्णौत्कण्ठ्यम् । अर्थ—कृष्ण की उत्कण्ठता ।

(३७) पद—एत्येधत्यूठ्सु । **अनुवृत्ति**—वृद्धिः, एचि, आत् । **विधिसूत्र** ।

अर्थ—अवर्ण से एजादि एति, एधति और ऊठ् परे हो तो पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एक आदेश होता है । पररूप और गुण सन्धि का यह अपवाद-सूत्र है । (१) उपैति—उप+एति (अ+ए=ऐ) वृद्धि=उपैति । अर्थ—समीप जाता है । (२) उपैधते—उप+एधते (अ+ए=ऐ) वृद्धि=उपैधते । अर्थ—समीप में बढ़ता है । इन दोनों उदाहरणों में पररूप (६।१।९४) प्राप्त था, उसके अपवादस्वरूप प्रकृत सूत्र से वृद्धि हुई । (३) प्रष्ठौहः—प्रष्ठ+ऊहः, (अ+ऊ=औ) वृद्धि=प्रष्ठौहः । अर्थ—बैल । यहाँ गुणसन्धि (६।१।८७) प्राप्त थी, उसके अपवादस्वरूप वृद्धि हुई ।

प्रकृत सूत्र में एज् आदि विशेषण क्यों कहा ? उपेतः, मा भवान्प्रेदिधत् । सूत्र में एजादि पद इण् तथा एध् के विशेषण के रूप में न होने पर 'उप+इतः' तथा 'प्र+इदिधत्' में भी वृद्धि प्राप्त होने लगेगी । वृद्धि न हो, इसलिए एजादि पद दोनों धातुओं के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । अतः दोनों प्रत्युदाहरणों में धातु का पूर्व वर्ण एकार रहित होने से वृद्धि नहीं हुई, किन्तु 'आद् गुणः' से गुण हुआ; उपेतः=समीप गया हुआ । मा भवान्प्रेदिधत्=आप बहुत न बढ़ें ।

(वा०) स्व शब्द के अवर्ण से परे ईर तथा ईरिन् शब्द का अच् हो तो पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि रूप एकादेश होता है । (१) स्वैरम्—स्व+ईरम् (अ+ई=ऐ)=स्वैरम् । अर्थ—स्वच्छन्द । (२) स्वैरी—स्व+ईरी (अ+ई=ऐ वृद्धि)=स्वैरी । अर्थ—स्वेच्छा से गमन करनेवाला । (३) स्वैरिणी—स्व+ईरिणी (अ+ई=ऐ)=स्वैरिणी । अर्थ—स्वेच्छाचारिणी स्त्री । यहाँ 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा की प्रवृत्ति होने से वार्तिक द्वारा वृद्धि हुई ।

(वा०) अक्ष शब्द से ऊहिनी शब्द परे रहते पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है । यह वार्तिक प्राप्त गुण का बाधक है । उदाहरण—अक्षौहिणी । अक्ष+ऊहिनी (अ+ऊ=औ, न=ण)=अक्षौहिणी सेना । सेना-विशेष ।

(प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे) प्रार्णमित्यादि । (३८) **उपसर्गाः क्रियायोगे १।४।५९।** प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः । प्र । परा । अप । सन् । अनु । अव । निस् । निर् । दुस् । दुर् । वि । आङ् । नि । अधि । अपि । अति । सु । उत् । अभि । प्रति । परि । उप । एते प्रादयः । (३९) **भूवादयो धातवः १।३।१।** क्रिया-

---

(३८) **उपसर्गा इति ।** क्रियासम्बन्धे सतीत्यर्थः ।

(३९) **भूवादय इति ।** भूश्च वाश्चेति भूवौ, आदिश्च आदिश्चेति आदी, भूवौ आदी येषान्ते भूवादयः । भू-प्रभृतयो वा सदृशा इत्यर्थः । सादृश्यञ्चात्र क्रियावाचकत्वेन गृह्यते, तदाह—**क्रियावाचिन इत्यादि ।**

(वा०) प्र शब्द से ऊह, ऊठ, ऊढि, एष, एष्य शब्दों के परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है। **उदाहरण**—(१) प्र+ऊहः (अ+ऊ=औ)=प्रौहः (अच्छा तार्किक)। (२) प्र+ऊढः (अ+ऊ=औ)=प्रौढः (बढ़ा हुआ प्रौढ़)। (३) प्र+ऊढिः (अ+ऊ=औ)=प्रौढिः (प्रौढ़ता)। (४) प्र+एषः (अ+ए=ऐ)=प्रैषः (प्रेरणा)। (५) प्र+एष्यः (अ+ए=ऐ)=प्रैष्यः (नोकर)।

(वा०) अवर्ण के अनन्तर ऋत शब्द के परे रहते पूर्व तथा पर वर्णों के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है, तृतीयातत्पुरुष समास में। **उदाहरण**—सुख+ऋतः (सुखेन ऋतः)। अ+ऋ=आर्=सुखार्तः। अर्थ—सुख से प्राप्त। **प्रत्युदाहरण**—प्रकृत वार्तिक में 'तृतीयासमासे' पद न रहने पर 'परमश्चासौ ऋतः' इस विग्रह वाले कर्मधारय समास में वृद्धि होने लगेगी, जो इष्ट नहीं है। अतः 'तृतीयासमासे' पद का ग्रहण किया गया है। यहाँ गुण होने पर (अ+ऋ =अर्) 'परमर्तः' हुआ।

(वा०) प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण, दश—इन शब्दों के पश्चात् ऋण शब्द के परे रहते पूर्व एवं पर वर्ण के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है। **उदाहरण**—(१) प्रार्णम्। प्र+ऋणम् (अ+ऋ=आर्) वृद्धि=प्रार्णम्। अर्थ—अधिक ऋण। इसी प्रकार वत्सतर+ऋणम्, कम्बल+ऋणम्, वसन+ऋणम्, दश+ऋणम् इत्यादि में वृद्धि होती है।

(३८) पद—उपसर्गाः, क्रियायोगे। **अनुवृत्ति**—प्रादयः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—क्रिया के योग में प्र आदि की उपसर्ग संज्ञा होती है। प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अति, अपि, सु, उद्, अभि, प्रति, पर, उप—ये प्रादि हैं।

विमर्श—प्रादि उपसर्गों की संख्या २२ है। क्रिया से संयोग होने पर ही उपसर्ग संज्ञा होती है। लौकिक संस्कृत में उपसर्ग धातु से पूर्व लगाये जाते हैं तथा वैदिक संस्कृत में धातु के पश्चात् तथा बीच में भी लगते हैं। धातु के साथ उपसर्ग जोड़ने पर अर्थ-परिवर्तन, अर्थ में प्रकृष्टता आदि प्रतिक्रियाएँ होती हैं। यथा—हरति (चुराता है), प्रहरति (प्रहार करता है)। सूते, प्रसूते आदि।

(३९) पद—भूवादयः, धातवः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—क्रियावाचक भू आदि की धातुसंज्ञा होती है।

विमर्श—सूत्र में द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास है। भूश्च वाश्चेति भूवौ, आदिश्च आदिश्च आदी, भूवौ आदी येषान्ते भूवादयः। अतः 'वा' के सदृश अर्थात् क्रियावाची भू आदि धातुसंज्ञक होते हैं।

वाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः । (४०) उपसर्गादृति धातौ ६।१।९१ । अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्रार्च्छति ॥ (४१) वा सुप्यापिशलेः ६।१।९२ । आदुपसर्गादृकारादौ सुब्धातौ परे वृद्धिर्वा । आपिशलिग्रहणं पूजार्थम् । (४२) अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६ । अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । इति प्राप्ते । (४३) शरोऽचि ८।४।४९ । द्वे न । प्रार्षभीयति ।

---

(४०) 'आद् गुणः' इत्यतः पञ्चम्यन्तमादित्यनुवर्तते । तच्चोपसर्गविशेषणमतस्तदन्तविधिवर्णान्तादिति लभ्यते । ऋतीति तु धातोर्विशेषणत्वाद् यस्मिन्विधिरिति तदादिलाभेन ऋकारादावित्यर्थः । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारादेकादेशलाभः । 'वृद्धिरेची'-त्यतो 'वृद्धिरि'त्यनुवर्तते, तेनोक्तार्थलाभ इति । प्रार्च्छतीति । प्र+ऋच्छति इति दशायाम् ऋच्छतीत्यस्य क्रियावाचकत्वाद् 'भूवादयो धातवः' इत्यनेन धातुसंज्ञायां प्र इत्यस्य क्रियायोगात् 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इत्यनेनोपसर्गसंज्ञायाम् 'उपसर्गादृति धातौ' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने (आ) वृद्धौ रपरे च कृते प्रार्च्छतीति निष्पन्नम् ।

(४१) **वा सुपीति** । 'उपसर्गादृति धातावि'ति सूत्रमनुवर्तते 'आद् गुणः' इत्यतः आदिति, 'वृद्धिरेची'त्यतः वृद्धिरिति चानुवर्तते । आदित्युपसर्गविशेषणत्वेन तदन्तविधिः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया सुबित्यनेन सुबन्तप्रकृतिको धातुर्विवक्षितः ।

(४२) **अचो रहाभ्यामिति** । यरोऽनुनासिक इत्यतो यर् इत्यनुवर्तते । अच इति दिग्योगे पञ्चमी, पराभ्यामिति शेषः ।

(४३) अचि परे शरो न द्वित्वमिति भावः ।

पृथ्वी का पर्यायवाचक भूपद की धातुसंज्ञा नहीं होती है । वैसे ही विकल्पार्थक अव्यय 'वा' पद भी धातुसंज्ञक नहीं होता । क्योंकि वह 'वा' क्रियावाची नहीं है (दधाति क्रियामिति धातुः) ।

(४०) पद—उपसर्गाद्, ऋति, धातौ । **अनुवृत्ति**—आत्, वृद्धि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे रहते पूर्व और पर के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है । उदाहरण—प्रार्च्छति ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में अनुवृत्त 'आत्' शब्द 'उपसर्गात्' का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है । अतः अवर्णान्त उपसर्ग के बाद ऋकारादि धातु के रहने पर पूर्व और पर वर्ण के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश हो जाता है । जैसे—प्रार्च्छति । प्र+ऋच्छति (अ+ऋ=आर्) प्रार्च्छति । अर्थ—अधिक चलता है ।

(४१) पद—वा, सुपि, आपिशलेः । **अनुवृत्ति**—आत्, उपसर्गात्, ऋति, धातौ, वृद्धिः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि सुब्धातु (नामधातु) पर में हो तो विकल्प से वृद्धि होती है । आपिशलि ग्रहण आदर के लिए है ।

(४२) पद—अचः, रहाभ्यां, द्वे । **अनुवृत्ति**—यरः वा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अच् से परे 'र्' तथा 'ह्' उससे परे यर् वर्णों को विकल्प से द्वित्व होता है ।

(४३) पद—शरः, अचि । **अनुवृत्ति**—द्वे न । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—अच् परे रहते शर् को द्वित्व नहीं होता । प्रार्षभीयति, प्रर्षभीयति ।

प्रर्षभीयति । (४४) एङि पररूपम् ६।१।९४ । आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः । प्रेजते । उपोषति । **(४५) अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४ ।** अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात् । (शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्) तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । कुलटा । सीमन्तः केशवेशे । सीमान्तोऽन्यः । मनीषा । हलीषा । लाङ्गलीषा । पतञ्जलिः । सारङ्गः पशुपक्षिणोः । साराङ्गोऽन्यः । आकृतिगणोऽयम् ।

---

(४४) 'उपसर्गात्' इति 'धातौ' इति चानुवर्तते । आदित्यनुवृत्तमुपसर्गादित्यस्य विशेषणम् । 'यस्मिन्विधिरि'ति परिभाषाबलेन तदादिलाभः । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारादेकादेशलाभः । प्रेजते—प्र + एजते इति स्थिते 'वृद्धिरेची'त्यनेन वृद्धौ प्राप्तायां तां प्रबाध्य 'एङि पररूपमि'त्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने पररूपैकादेशे प्रेजते इति रूपम् । एवम् 'उप + ओषति' इत्यत्रापि बोध्यम् ।

(४५) **अच इति** निर्धारणे षष्ठी । जातावेकवचनम् । अन्त्ये भवः अन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य तद् अन्त्यादीति विग्रहः ।

शकन्ध्वादिष्विति । शकन्ध्वादि विषये तत्सिध्यर्थं पूर्वपरयोः पररूपं वाच्यमित्यर्थः । **तच्च टेः ।** अर्थाट्टेः पररूपं भवति । 'शक + अन्धुः' इति स्थिते सवर्णदीर्घे प्राप्तेऽनेन वार्तिकेन टेः पररूपे कृते 'शकन्धुः' इति । कर्क + अन्धुः । कुल + अटा । **सीमन्त इति ।** केशानां रचनाविशेषे गम्यमाने 'सीमन् + अन्तः' इत्यत्रानः पररूपं भवती-

---

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अचो रहाभ्यां द्वे' (८।४।४६) से द्वे तथा 'नादिन्या क्रोशे०' (८।४।४८) से 'न' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार स्वर वर्णों के अनन्तर शर=श् ष् स् को द्वित्व नहीं होता । **उदाहरण**—प्र+ऋषभीयति (ऋषभमात्मानमिच्छतीत्यर्थे क्यच्) (अ+ऋ =आर्—वृद्धि) <प्र् आर् षभीयति=प्रार्षभीयति । यहाँ 'अचो रहाभ्यां द्वे' से ष् को द्वित्व प्राप्त है । परन्तु 'शरोऽचि' सूत्र के द्वारा निषेध होने से द्वित्व नहीं हुआ । पक्ष में अर्थात् वृद्धि के अभाव में गुण (अ+ऋ=अर्) प्रर्षभीयति ।

(४४) पद—एङि, पररूपम् । **अनुवृत्ति**—आत्, उपसर्गात्, धातौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अवर्णान्त उपसर्ग से एङ् आदि धातु परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है । प्रेजते, उपोषति ।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में 'आद् गुणः' से 'आत्', 'उपसर्गादृति०' से 'उपसर्गात्' एवं 'धातौ' की अनुवृत्ति आती है । तब सूत्र का पूर्वोक्त अर्थ होता है । पररूप सन्धि वृद्धि का बाध करती है । **उदाहरण**—(१) प्र+एजते (अ+ए=ए) प्र् एजते=प्रेजते । अर्थ—अधिक काँपता है । (२) उप+ओषति (अ+ओ=ओ) उप् ओषति=उपोषति । अर्थ—उपवास करता है ।

(४५) पद—अचः, अन्त्यादि, टि । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—अचों के मध्य में जो अन्त्य अच् , वह है आदि में जिसके, उस समुदाय की टिसंज्ञा होती है । (वा०)—'शकन्ध्वादिगणपठित शब्दों की सिद्धि के लिए पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश हो और वह भी टिसंज्ञक वर्णों का हो' ऐसा कहना चाहिए । शकन्धुः । कर्कन्धु : । कुलटा । (वा०)—केशप्रसाधन अर्थ वाच्य हो तो 'सीमन्तः', भिन्न अर्थ में सीमान्तः । मनीषा । हलीषा । लाङ्गलीषा । पतञ्जलिः । (वा०)—पशु-पक्षी अर्थ वाच्य हो तो 'सारङ्गः', भिन्न अथ में

मार्तण्डः । (एवे चानियोगे) । क्वेव भोक्ष्यसे । अनियोगे किम् । तवैव । (ओत्वोष्ठयोः समासे वा) स्थूलोतुः । स्थूलौतुः । बिम्बोष्ठः । बिम्बौष्ठः । समासे किम् ।

त्यर्थः । मनस् + ईषा । हल + ईषा । लाङ्गल + ईषा । पतत् + अञ्जलिः । सार + अङ्गः । 'मृत + अण्डः' इत्यत्र पररूपे कृते मृतण्डादागत इत्यर्थे अण् प्रत्ययः । **एवे चेति ।** नियोगोऽवधारणम्—अन्ययोगव्यवच्छेदः, अनियोगे = अनिर्धारणेऽर्थे य 'एव' शब्दस्तस्मिन्नकारात् परे पूर्वपरयोः पररूपमेकादेशः स्यादित्यर्थः । क्व + एव = क्वेव । **ओत्वोष्ठयोरिति ।** अवर्णात् ओतुशब्दे ओष्ठशब्दे च परे पूर्वपरयोरचोः विकल्पेन पररूपं वक्तव्यमित्यर्थः । स्थूल + ओतुः । स्थूलश्चासौ ओतुरिति विग्रहः 'ओतुर्बिडालो मार्जारः' इत्यमरः । बिम्ब + ओष्ठः ।

साराङ्गः । यह आकृतिगण है । मार्तण्डः । (वा०)—अवर्ण के अनन्तर 'एव' शब्द रहने पर पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है, अनिश्चय अर्थ में । क्वेव भोक्ष्यसे । अनियोग क्यों कहा ? तवैव । (वा०)—अवर्ण के अनन्तर ओतु या ओष्ठ शब्द का अच् परे हो तो पूर्व-पर के स्थान में समास में विकल्प से पररूप होता है । स्थूलोतुः । स्थूलौतुः । बिम्बोष्ठः । बिम्बौष्ठः । समास में क्यों कहा ? तवौष्ठः ।

विमर्श—सूत्र में 'अचोऽन्त्यादि' पद संज्ञी तथा 'टि' संज्ञा है । सूत्रार्थ स्पष्ट है । यथा—अच् वर्णों में जो अन्तिम अच् वह है आदि में जिसके, ऐसे शब्द-समुदाय की टिसंज्ञा होती है । जैसे 'पतत्' शब्द में अन्तिम अच् तकारोत्तरवर्ती अकार है, वह द्वितीय तकार के आदि में है । अतः उसके सहित शब्द 'अत्' हुआ । उसकी 'टि' संज्ञा हुई । जहाँ अन्तिम अच् के बाद कोई हल् वर्ण नहीं होगा, वहाँ व्यपदेशिवद्भाव से उसी वर्ण को 'टि' जानना चाहिए । यथा—'शक' में ककारोत्तरवर्ती अकार 'टि' संज्ञक है । (वा०) पद—शकन्ध्वादिषु, पररूपं वाच्यम् । अनुवृत्ति—अचि । अर्थ—शकन्धु आदि शब्दों की सिद्धि हेतु अच् परे रहते पररूप एकादेश होता है; वह टिसंज्ञक वर्णसमुदाय के अनन्तर अच् परे रहते हो तो । **उदाहरण**—(१) शक + अन्धुः (अ + अ = अ), शक् + अन्धुः = शकन्धुः । **अर्थ**—शकों का कुआँ । (२) कर्क + अन्धुः (अ + अ = अ), कर्क् + अन्धु = कर्कन्धुः । **अर्थ**—कर्क द्वारा बनाया हुआ कुआँ । (३) कुल + अटा (अ + अ = अ) कुल् + अटा = कुलटा । **अर्थ**—दुराचारिणी स्त्री । सीमन्तः केशवेशे । केशप्रसाधन अर्थ में पररूप होता है, अन्यत्र नहीं । (४) सीमन् + अन्तः ('अन्' टि + अ = अ) = सीमन्तः । **अर्थ**—केशों का संस्कार-विशेष । इससे भिन्न सीमा (मर्यादा) अर्थ में सीम + अन्तः = सीमान्तः, सवर्णदीर्घ । (५) मनस् + ईषा (अस् 'टि' + ई = ई)—मनीषा । अर्थ—बुद्धि । (६) हल + ईषा (अ + ई = ई)—हलीषा । अर्थ—हल की मूठ । (७) पतत् + अञ्जलिः (अत् 'टि' + अ = अ) पतञ्जलिः । **अर्थ**—महाभाष्यकार ऋषि । (८) (वा०) पशु-पक्षी अर्थ में सार + अङ्गः (अ + अ = 'अ' पररूप) = सारङ्गः । अर्थ—हिरन (पशु) चातक (पक्षी) । भिन्न अर्थ में सार + अङ्गः (अ + अ = 'आ' दीर्घ) = साराङ्गः । अर्थ—शक्तिशाली । शकन्ध्वादि गण आकृति गण है । इसका तात्पर्य यह है कि जो शब्द इस गण में नहीं पढ़े गये तथा शिष्टप्रयुक्त पररूप से निष्पन्न हैं तो उनका पाठ भी शकन्ध्वादि गण में कल्पित कर लेना चाहिए । अतः 'मार्तण्ड' पद में भी पररूप की कल्पना की जाती है । (९) 'मृतण्डस्यापत्यम्' इस अर्थ में अण् प्रत्यय होने से पूर्व मृत +

तवौष्ठः। (४६) **ओमाङोश्च ६।१।९५।** ओमि आङि चात्परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायों नमः। शिव आ इहि इति स्थिते। शिव एहि। शिवेहि। (४७) **अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१।** अकः सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः।

---

(४६) **ओमाङोश्च**। 'आदि'ति, 'पररूपमि'ति, 'एकः पूर्वपरयोरि'ति चानुवर्तते। 'शिवाय+ओंनमः' इति स्थिते वृद्धिं बाधित्वा पररूपैकादेशे साधु। **शिवेहि इति**। 'शिव+आ+इह' इति स्थिते दीर्घे गुणे च प्राप्ते 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गमि'ति परिभाषया पूर्वम् आ+इह इत्यत्र 'आद् गुणः' इत्यनेन गुणे 'शिव+एहि' इत्यवस्थायाम् 'अन्तादिवच्चे'ति पूर्वान्तवद्भावे 'ओमाङोश्चे'ति पररूपे कृते 'शिवेहि' इति रूपसिद्धिः।

(४७) 'इको यणची'त्यतोऽचीत्यनुवर्तते। 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिकारः। सावर्ण्यञ्च स्थानतः प्रयत्नतश्च। 'अकोऽकि दीर्घः' इत्येव सुवचम्। **दैत्यारिरिति**।

अण्डः (अ+अ='अ' पररूप)=मृतण्डः। पश्चात् अण् प्रत्यय तथा आदि वृद्धि होने पर 'मार्तण्डः' रूप होता है।

(वा०) एवे च अनियोगे। **अनुवृत्ति**—आत्। अकार के अनन्तर अनिश्चयार्थक 'एव' शब्द परे रहने पर पररूप एकादेश होता है। **उदाहरण**—(१०) क्व+एव (अ+ए='ए' पररूप) क्वेव भोक्ष्यसे। अर्थ—कहाँ भोजन करोगे? यहाँ भोजन के विषय में कोई निश्चय नहीं है। **प्रत्युदाहरण**—'अनियोग' पद के ग्रहण से अनिश्चयार्थक 'एव' शब्द में ही पररूप होने से तव+एव='तवैव' में वृद्धि हुई। अर्थ—तुम्हारे ही यहाँ (भोजन करूँगा)। यहाँ 'एव' निश्चयार्थक है। (वा०) अवर्ण के बाद 'ओतु' और 'ओष्ठ' शब्द परे रहते विकल्प से पररूप होता है समास में। पक्ष में वृद्धि होकर दो रूप बनेंगे। **उदाहरण**—(११) स्थूल+ओतुः (अ+ओ='ओ' पररूप) स्थूलोतुः (पररूप), पक्ष में स्थूलौतुः (वृद्धिः), विग्रह—स्थूलश्चासौ ओतुश्च। अर्थ—मोटी बिल्ली। (१२) बिम्ब+ओष्ठः (अ+ओ=ओ)—बिम्बोष्ठः (पररूप) पक्ष में बिम्बौष्ठः (वृद्धि) विग्रह—बिम्बवद् ओष्ठौ यस्य। अर्थ—बिम्बफल के समान होंठ। **प्रत्युदाहरण**—समास ग्रहण न करने पर तव+ओष्ठ=तवौष्ठः (वृद्धि)। यहाँ भी पररूप हो जाता, क्योंकि यहाँ समास नहीं है; अतः केवल वृद्धि हुई।

(४६) पद—ओमाङोः च। **अनुवृत्ति**—आत्, पररूपम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अवर्ण से ओम् और आङ् परे रहते पररूप एकादेश होता है। (यह वृद्धि तथा दीर्घ का बाध करता है।)

विमर्श—सूत्रार्थ स्पष्ट है। **उदाहरण**—(१) शिवाय+ओंनमः (अ+ओं='ओ' पररूप) शिवायों नमः। अर्थ—शिव को नमस्कार। (२) 'शिव+आ+इह' इस स्थिति में (अ+आ) दीर्घ तथा (आ+इ) गुण दोनों की प्राप्ति है। परन्तु अन्तरङ्ग होने से दीर्घ को बाधकर प्रथम गुण (आ+इ=ए) पश्चात् 'शिव+ए हि' में पूर्वान्तवद्भाव से आङ् का आरोप होने से (अ+ए=ए) पररूप=शिवेहि। अर्थ—हे शिव! रक्षार्थ आओ।

(४७) पद—अकः, सवर्णे, दीर्घः। **अनुवृत्ति**—अचि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अक् से सवर्ण अच् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में दीर्घ रूप एकादेश होता है।

श्रीशः । विष्णूदयः । (ऋति सवर्णे ऋ वा) । होतृकारः । होतॄकारः । (४८) एङः पदान्तादति ६।१।१०९ । पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव । (४९) सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।१२२ । लोके वेदे चैङन्तस्य गोरिति वा प्रकृतिभावः पदान्ते । गो अग्रम् । गोऽग्रम् । एङन्तस्य किम् । चित्रग्वग्रम् । पदान्ते

दैत्यानामसुराणामरिः=शत्रुः 'दैत्यारिः' । 'दैत्य + अरिः' इति स्थिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घे कृते 'दैत्यारिः' इति । **ऋति सवर्ण** इति । अकः सवर्णे ऋति परे पूर्वपरयोः ऋ इत्येकादेशो विकल्पेन भवतीत्यर्थः ।

(४८) 'अमि पूर्वः' इत्यतः पूर्व इत्यनुवर्तते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । अतः पदान्तादेङोऽति परे पररूपमित्यर्थः ।

(४९) 'एङः पदान्तादति' इत्यतः 'एङः' इति 'पदान्तादि'ति चानुवर्तते । 'प्रकृत्यान्तः पादमि'त्यतः प्रकृत्येत्यनुवर्तते । प्रकृत्या स्वरूपेण—निर्विकाररूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः ।

दैत्यारिः, श्रीशः, विष्णूदयः । (वा०) ऋत् से परे सवर्ण ऋत् रहे तो पूर्व-पर के स्थान में ह्रस्व ऋ आदेश विकल्प से होता है । होतृकारः, होतॄकारः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इको यणचि' सूत्र से 'अचि' की अनुवृत्ति आती है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है । अक् (=अ इ उ ऋ ऌ) तथा इनके पश्चाद्वर्ती अच् (सवर्ण स्वर वर्ण) परस्पर मिलकर दीर्घ रूप में परिणत हो जाते हैं । **उदाहरण**—(१) दैत्य+अरिः (अ+अ='आ' दीर्घ) दैत्य् आ रिः—दैत्यारिः । अर्थ—विष्णु । (२) श्री+ईशः (ई+ई='ई' दीर्घ) श्र्+ईशः=श्रीशः । अर्थ—विष्णु । (३) विष्णु+उदयः (उ+उ='ऊ' दीर्घ) विष्ण् ऊदयः—विष्णूदयः । अर्थ—विष्णु का अवतार ।

(वा०) अक् के अनन्तर सवर्ण ऋ के होने पर पूर्व-पर वर्णों के स्थान पर 'ऋ' आदेश विकल्प से होता है । **उदाहरण**—(४) होतृ+ऋकारः (ऋ+ऋ=ऋ)=होतृकारः पक्ष में दीर्घ (ऋ+ऋ=ॠ) होकर होतॄकारः ।

(४८) पद—एङः, पदान्ताद्, अति । **अनुवृत्ति**—पूर्व । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पदान्त एङ् से अत् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । हरेऽव । विष्णोऽव ।

विमर्श—'अमि पूर्वः' सूत्र से यहाँ पूर्व (पूर्वरूपम्) की अनुवृत्ति आती है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार होने से—पद के अन्त में विद्यमान ए, ओ के अनन्तर ह्रस्व अकार रहे तो पूर्व-पर दोनों वर्णों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । **उदाहरण**—(१) हरे+अव (ए+अ='ए' पूर्वरूप)=हरेऽव[1] । अर्थ—हे हरे ! रक्षा करो । (२) विष्णो+अव (ओ+अ='ओ' पूर्वरूप)=विष्णोऽव । अर्थ—हे विष्णो ! रक्षा करो ।

(४९) पद—सर्वत्र, विभाषा, गोः । **अनुवृत्ति**—एङः, पदान्ताद्, अति, प्रकृत्या । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लोक और वेद में एङन्त गो शब्द को विकल्प से प्रकृतिभाव होता है । गो अग्रम्, गोऽग्रम् । एङन्त क्यों कहा ? चित्रग्वग्रम् । पदान्त क्यों कहा ? गोः ।

---

१. पूर्वरूपसन्धि में लुप्त अकार को 'ऽ' चिह्न द्वारा दिखलाया जाता है ।

किम् ? गोः। (५०) अनेकाल्शित्सर्वस्य १।१।५५। इति प्राप्ते। (५१) ङिच्च १।१।५३। ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात्। (५२) अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३। पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि। गवाग्रम्। पदान्ते किम्। गवि। (५३)

---

(५१) **ङिच्च** इति। अलोऽन्त्यस्येत्यनुवर्तते। ङिदपि अन्त्यस्यैवादेश इति भावः।

(५२) **अवङ् स्फोटायनस्य।** पदान्तादिति, गोरिति, अचीति चानुवर्तते। स्फोटायनस्य महर्षेः मतेऽवङ् नान्यस्येति विकल्पः **गवाग्रमिति**—'गो+अग्रम्' इत्यत्र 'अनेकाल् शित्सर्वस्ये'ति सूत्रापवादभूतेन 'ङिच्चे'ति परिभाषाबलेन गोशब्दघटकौकारस्य 'अवङ् स्फोटायनस्य' इति सूत्रेणावङादेशेऽनुबन्धलोपे दीर्घे कृते 'गवाग्रमि'ति।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' सूत्र से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति आती है। अतः प्रकृतिभाव का प्रकरण है। 'एङः पदान्तादति' से एङः तथा 'पदान्तात्' पदों का अनुवर्तन आता है। ये दोनों पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित होकर 'गोः' के विशेषण बन जाते हैं। तदनुसार लौकिक एवं वैदिक दोनों प्रकार के प्रयोगों में पद के अन्त में विद्यमान एङन्त गो शब्द के आगे ह्रस्व अकार रहने पर विकल्प से प्रकृतिभाव होता है। प्रकृतिभाव होने से सन्धि जन्य कार्य (पूर्वरूप आदि) नहीं होते हैं।

उदाहरण—गो+अग्रम् (ओ+अ=ओ अ)—यथास्थिति रूप—गो अग्रम्। विकल्प होने के कारण पक्ष में 'गोऽग्रम्' 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप। अर्थ—गायों में उत्तम। **प्रत्युदाहरण**—(१) सूत्र में एङन्त गो कहने से 'चित्रगु+अग्रम्' यहाँ प्रकृतिभाव नहीं हुआ प्राप्त यणादेश होकर चित्रग्वग्रम। अर्थ—चितकबरी गायों का श्रेष्ठ स्वामी। (चित्रा गावः यस्य सः, बहुव्रीहिः)। (२) सूत्रार्थ में पदान्त पद का समावेश होने से 'गो+अस्' में प्रकृतिभाव नहीं हुआ। यहाँ भसंज्ञा होने से 'ओ' पदान्त नहीं है। अतः 'ङसिङसोश्च' से पूर्वरूप हुआ गोः।

(५०) पद—अनेकाल्, शित्, सर्वस्य। **अनुवृत्ति**—षष्ठी। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—अनेकाल् और शित् आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में हों।

विमर्श—एकश्चासौ अल् च एकाल् (कर्मधारय) न एकाल्—अनेकाल् (नञ्तत्पुरुष)= अनेक वर्णों वाला तथा श् इत् यस्य सः शित्=शकार इत्संज्ञक आदेश सम्पूर्ण पद के स्थान पर होते हैं।

(५१) पद—ङित्, च। **अनुवृत्ति**—अलः, अन्त्यस्य (षष्ठी)। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—ङित् आदेश यदि अनेकाल् भी हो तो अन्त्य के ही स्थान में होता है।

विमर्श—यह सूत्र 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' का अपवाद है। यहाँ अनुवृत्त 'षष्ठी' पद ङित् का विशेषण है। अतः सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—षष्ठी निर्दिष्टो यो ङिदादेशः, सः अन्त्यस्य अलः स्थाने भवति। अर्थात् षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट ङकारेत्संज्ञक आदेश अन्तिम वर्ण के स्थान में होता है। अतः 'गो+अग्रम्' में ङकार—इत्संज्ञक होने के कारण गो शब्द के अन्तिम वर्ण 'ओ' को 'अवङ्' आदेश हुआ।

(५२) पद—अवङ्, स्फोटायनस्य। **अनुवृत्ति**—पदान्ताद्, गोः, अचि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त में एङन्त गो शब्द को अच् परे रहते 'अवङ्' आदेश विकल्प से होता है। गवाग्रम्। पदान्त में क्यों कहा ? गवि। व्यवस्थित विभाषा होने से गवाक्षः।

इन्द्रे च ६।१।१२४। गोरवङिन्द्रे। गवेन्द्रः। व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः। (५४) दूराद्धूते च ८।२।८४। दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा।

अथ प्रकृतिभावः

(५५) प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५। एतेऽचि प्रकृत्या स्युः।

पक्षे 'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यनेन विभाषया प्रकृतिभावे 'गो अग्रमि'ति। प्रकृतिभावाऽभावपक्षे 'एङः पदान्तादति' इति सूत्रेण पूर्वरूपे गोऽग्रमिति रूपम्।

(५३) **इन्द्रे च।** गोशब्दादिन्द्रशब्दे परतो नित्यमवङ् स्यादित्यर्थः। **व्यवस्थितविभाषयेति।** लक्ष्यानुसारेण व्यवस्थायां प्रवृत्ता विभाषा व्यवस्थितविभाषेत्युच्यते। यथा क्वचिद् भवत्यंश एव प्रवर्त्तते, क्वचिन्न भवत्यंश एव, क्वचिदुभयम्। 'गवाक्षः' इत्यत्र तु नित्यमवङ् बोध्यम्।

(५५) 'प्रकृत्यान्तः पादमि'त्यतः प्रकृत्येत्यनुवर्तते। **आगच्छ कृष्ण** इति। अत्र 'दूराद्धूते च' इति सूत्रेण टिसंज्ञकस्य णकारोत्तरवर्त्यकारस्य प्लुतत्वं विधाय 'प्लुतप्रगृह्या०' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'आगच्छ कृष्ण ३ अत्रे'ति। तेन नात्र सवर्णदीर्घः।

विमर्श—'गो' शब्द के ओकार के स्थान में (ङित् होने से) अवङ् आदेश स्वर वर्ण परे रहते केवल स्फोटायन आचार्य के मत में ही होता है। अन्य आचार्यों के मत में नहीं। अतः यहाँ विकल्प माना जाता है।

उदाहरण—गो+अग्रम् (ओ=अवङ्—अव) ग् अव+अग्रम् (दीर्घ अ+अ=आ) गवाग्रम्। अर्थ—गायों में उत्तम।

प्रत्युदाहरण—पदान्त में कहने से गो+इ (ङि) में ओकार पदान्त में न रहने से अवङ् आदेश नहीं हुआ। 'अव्' आदेश होकर 'गवि' रूप बना।

व्यवस्थित विभाषा का तात्पर्य है कि कहीं-कहीं विकल्प विधान में भी भावात्मक कार्य की ही प्रवृत्ति होती है। अतः व्यवस्थित विभाषा होने के कारण 'गो+अक्षः' में नित्य अवङ् आदेश हुआ। गो+अक्षः (ओ=अव)—गव+अक्षः (दीर्घ)=गवाक्षः। अर्थ—झरोखा।

(५३) पद—इन्द्रे, च। **अनुवृत्ति**—गो, अवङ्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—गो शब्द को अवङ् आदेश होता है इन्द्र शब्द के परे रहते।

विमर्श—गो शब्द के ओकार के स्थान में इन्द्र शब्द परे हो तो 'अवङ्' आदेश होता है। **उदाहरण**—गो+इन्द्रः (अवङ्) ओ=अव—गव+इन्द्रः (अ+इ='ए' गुण)=गवेन्द्रः।

(५४) पद—दूराद्, हूते च। **अनुवृत्ति**—वाक्यस्य, टेः, प्लुतः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—दूर से सम्बोधन में (पुकारने पर) वाक्य की टि को प्लुत होता है, विकल्प से।

(५५) पद—प्लुतप्रगृह्याः, अचि, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—प्रकृत्या। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्लुतसंज्ञक और प्रगृह्यसंज्ञक को नित्य प्रकृतिभाव होता है, अच् परे रहते।

स्वरसन्धि का विवेचन करने के अनन्तर विशेष स्थिति में शब्द के स्वाभाविक रूप की साधुता का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत प्रकरण में प्रकृतिभाव के नियमों का उल्लेख किया जा रहा है।

आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति । (५६) ह्रस्वं लघु १।४।१० । (५७) संयोगे गुरुः १।४।११ । संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात् । (५८) दीर्घं च १।४।१२ । गुरु स्यात् । (५९) गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ८।२।८६ । प्लुतो वा । दे३वदत्त ३ । गुरोः किम् ? वकारादकारस्य मा भूत् । अनृतः किम् ? कृष्ण ३ । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् । (६०) ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११ । ईदूदेदन्तं

---

(५९) गुरोरनृतोऽनन्त्यस्येति । 'दूराद्धूते चे'त्यनुवर्तते । 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यधिकृतम् । दूरात्सम्बोधने यद्वाक्यं तत्र सम्बोध्यमानवाचकं यत्पदं तद-वयवस्य ऋकारभिन्नस्यानन्त्यस्य गुरोः प्लुतः स्यात् । अन्त्यस्य तु गुरोरगुरोश्चापि स्यादित्यर्थः । अपिना टेः समुच्चयात् ।

(६०) ईदूदेदिति । ईच्च ऊच्च एच्चेति समाहारद्वन्द्वः । ईदूदेदिति द्विवचन-

---

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' (६।१।११५) सूत्र से 'प्रकृत्या' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार प्लुत या प्रगृह्यसंज्ञक पदों के पश्चात् किसी अच् वर्ण के रहने पर प्रकृतिभाव होता है । प्लुतसंज्ञक का निरूपण अच् सन्धि के अन्त में किया जा चुका है । प्रगृह्य संज्ञा का निरूपण आगे किया जायेगा । प्रकृतिभाव होने से सन्धि कार्य नहीं होता । **उदाहरण**—'आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति' । यहाँ प्लुतसंज्ञक 'कृष्ण ३' के पश्चात् आने वाले 'अत्र' के अकार के साथ प्रकृतिभाव होने से दीर्घ नहीं हुआ ।

(५६) पद—ह्रस्वं लघु । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—ह्रस्व की लघुसंज्ञा होती है । (ह्रस्व का तात्पर्य एकमात्रिक स्वर से है) ।

(५७) पद—संयोगे, गुरु । **अनुवृत्ति**—ह्रस्वम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—संयोग (संयुक्ताक्षर) के परे ह्रस्व की गुरु संज्ञा होती है ।

(५८) पद—दीर्घं च । **अनुवृत्ति**—गुरु । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—दीर्घ अच् की भी गुरु संज्ञा होती है ।

(५९) पद—गुरोः, अनृतः, अनन्त्यस्य, अपि, एकैकस्य, प्राचाम् । **अनुवृत्ति**—दूरात्, हूते, वाक्यस्य, टेः, प्लुतः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—दूर से सम्बोधन विषयक वाक्य में सम्बोध्यमान वाचक पद के अवयव ऋकारेतर, अन्त्यभिन्न गुरुसंज्ञक स्वरवर्णों को वैकल्पिक प्लुत पर्याय से होता है । (सूत्र में 'प्राचाम्' पद होने से सभी प्लुत प्राचीन आचार्यों के मत में विकल्प से होते हैं) ।

विमर्श—उपर्युक्त प्लुतविधान प्राचीन आचार्यों को मान्य है, अन्य को नहीं । अतः विकल्प से प्लुत होता है । पक्ष में वाक्य की 'टि' को प्लुत होता है । **उदाहरण**—(१) 'दे३वदत्त' यहाँ आदि के एकार को गुरु होने के कारण प्लुत हुआ । (२) 'देवद३त्त' यहाँ संयुक्ताक्षर 'त्त' के पूर्व में होने से दकारोत्तरवर्ती अकार गुरुसंज्ञक होने से प्लुत । (३) 'देवदत्त ३' विकल्प होने के कारण पक्ष में 'टि' (अन्तिम अकार) को प्लुत हुआ । **प्रत्युदाहरण**—(१) 'देवदत्त' पद में वकारोत्तरवर्ती अकार को प्लुत न हो, इसलिए सूत्र में गुरु पद का ग्रहण किया गया है । 'व' लघु वर्ण है, अन्यथा उसको भी प्लुत हो जाता । (२) इसी प्रकार सूत्र में अनृतः (ऋकार-भिन्न) पद विद्यमान होने से 'कृष्ण ३' में ऋकार के गुरुसंज्ञक वर्ण होने पर भी प्लुत नहीं हुआ ।

(६०) पद—ईदूदेद्, द्विवचनम् प्रगृह्यम् । **संज्ञासूत्र ।**

द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू। मणीवोष्ट्रस्येति तु इवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोध्यः। (६१) अदसो मात् १।१।१२। अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशा। रामकृष्णावमू आसाते। मात्किम्। अमुकेऽत्र।

विशेषणत्वात् तदन्तविधिः, तदाह—ईदूदेदन्तमित्यादिना। हरी एतौ। अत्र 'ईदूदेद्द्विवचनमि'त्यादिना प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यमि'त्यनेन प्रकृतिभावे 'हरी एतौ' इति निष्पन्नम्। एवं विष्णू+इमौ, गङ्गे+अमू। ननु 'मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम' इति भारतश्लोके 'मणीव' इत्यत्र 'मणी+इव' इति दशायाम् ईकारस्य प्रगृह्यत्वे सति प्रकृतिभावे सवर्णदीर्घो न स्यादित्यत आह—मणीवोष्ट्रस्येति। 'व वा यथा तथैवैवं साम्ये' इत्यमरः। वृत्तिकारस्तु—'मणीवादीनाम्प्रतिषेधो वक्तव्यः' इत्याह। रूपमालायामपि 'मणीवादौ सन्धिरिष्यते' इत्युक्त्वा सन्धिरङ्गीकृतः।

(६१) अदसो मादिति। अदसः षष्ठ्यन्तम्, मादिति पञ्चम्यन्तम्। अदस इत्यत्रावयवषष्ठी तथा च अदश्शब्दावयवमकारादित्यर्थः। 'ईदूदेदि'ति प्रगृह्यमिति चानुवर्तते। मादिति दिग्योगे पञ्चमी। तेन अदश्शब्दावयवमकारात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ

सूत्रार्थ—ईकारान्त, ऊकारान्त एवं एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू। 'मणीव' में इव के अर्थ में 'व' अथवा 'वा' शब्द जाना जाय।

विमर्श—'प्लुतप्रगृह्या०' इत्यादि सूत्रक्रमानुसार 'प्लुत' के पश्चात् 'प्रगृह्य' संज्ञा का निरूपण किया जा रहा है—

'ईदूदेद्०' सूत्र में ईदूदेद्द्विवचनम्' संज्ञी है तथा 'प्रगृह्य' संज्ञा है। यहाँ तपरकरण होने से द्विमात्रिक 'ई', 'ऊ' तथा 'ए' का ग्रहण होता है। तदनुसार द्विवचन में विद्यमान ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त शब्दों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। **उदाहरण**—(१) 'हरी+एतौ' यहाँ हरि शब्द के प्रथमा द्विवचन में दीर्घ से 'हरी' उसके पश्चात् एकार होने से प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव हुआ। अर्थ—ये सिंह हैं। (२) इसी प्रकार विष्णू+इमौ। इन दोनों उदाहरणों में यण् नहीं हुआ। अर्थ—ये दो विष्णु हैं। (३) 'गङ्गे+अमू' में एकारान्त द्विवचन होने से प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव हुआ। 'अय्' आदेश नहीं हुआ। अर्थ—ये दो गङ्गा के रूप हैं।

'मणीव' इत्यादि महाभारतोक्त प्रयोगों की सिद्धि के लिए काशिकादि वृत्तिकारों ने प्रगृह्यसंज्ञा का प्रतिषेध स्वीकार किया है। परन्तु महाभाष्यकार तथा वार्तिककार ने ऐसा उल्लेख नहीं किया है। अतः 'मणीवोष्ट्रस्य' इत्यादि शब्दों में सन्धि नहीं है, अपितु उपमानार्थक 'व' अथवा 'वा' शब्द से उनकी साधुता निर्बाध है।

(६१) पद—अदसः मात्। **अनुवृत्ति**—ईदूत्, प्रगृह्यम्। **संज्ञासूत्र**।

सूत्रार्थ—अदस् शब्द सम्बन्धी मकार से परे ई, ऊ की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। सूत्र में 'मात्' पद का ग्रहण क्यों किया? अमुकेऽत्र। 'मात्' ग्रहण न करने पर एकार की भी अनुवृत्ति आने लगेगी।

विमर्श—सूत्रस्थ 'अदसः' पद में अवयवार्थक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। पूर्व सूत्र से 'ईत्' 'ऊत्' तथा 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार 'अदस्' शब्दावयव मकार से परे

असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत । (६२) चादयोऽसत्त्वे १।४।५७ । अद्रव्यार्थाश्चादयो निपातसंज्ञाः स्युः । (६३) प्रादयः १।४।५८ । एतेऽपि तथा ।

वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते ।
द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः ॥

लिङ्गसङ्ख्यान्वययोग्यं द्रव्यम् । (६४) निपात एकाजनाङ् १।१।१४ । एकोऽज्

स्तः । अमी ईशा इति । 'अमी + ईशाः' इत्यत्र 'अदसो मादि'त्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावे 'अमी ईशाः' इति । एवम् 'अमू आसाते' इत्यत्रापि प्रगृह्यसंज्ञा कृत्वा प्रकृतिभावो ज्ञेयः । मात्किमिति । असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत । तेन च 'अमुकेऽत्र' इत्यत्र प्रगृह्यसंज्ञापूर्वकप्रकृतिभावः स्यात् ।

(६३) **वस्तूपलक्षणं यत्रेति ।** द्रव्यपदं वस्तूपलक्षणम् । वस्तूपलक्ष्यते परामृश्यते = ज्ञायते येन तत्सर्वनाम यत्र परामर्शाय = ज्ञानाय प्रयुज्यते सोऽर्थो द्रव्यमित्युच्यते । अथवा भेद्यत्वेन लिङ्गसङ्ख्यानिरूपितविशेष्यत्वेन विवक्षित इत्यर्थः ।

(६४) **निपात इति ।** प्रगृह्यमित्यनुवर्तते पुँल्लिङ्गतया च विपरिणम्यते ।

'ई' तथा 'ऊ' की प्रगृह्य संज्ञा होती है । **उदाहरण**—(१) (अदस् + जश, — अद + ई = अमी) अमी + ईशाः प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव, दीर्घ नहीं हुआ । (२) अमू आसाते । यहाँ भी प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव होने से यण् नहीं हुआ । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में यदि 'मात्' पद का ग्रहण न होता तो एकार की भी अनुवृत्ति आने से अदश्शब्दावयव 'ई', 'ऊ' तथा 'ए' की प्रगृह्य संज्ञा होने के फलस्वरूप 'अमुकेऽत्र' में भी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होने लगेगी । प्रकृतिभाव होने से पूर्वरूप नहीं होगा । 'मात्' पद के ग्रहण से अदस् शब्दावयव मकार के अनन्तर 'ई' तथा 'ऊ' के ही मिलने से एकार की अनुवृत्ति नहीं आती ।

(६२) पद—चादयः, असत्त्वे । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—अद्रव्यार्थक चादि निपातसंज्ञक होते हैं ।

विमर्श—'प्रागीश्वरान्निपाताः' सूत्र 'निपात' का अधिकार होने से 'संज्ञा' का लाभ होता है । सूत्र में चादयः (च वा ह इत्यादि गणपठित शब्द) संज्ञी हैं । 'सत्त्व' शब्द का अर्थ पदार्थ है । जिसमें लिङ्ग, संख्या का अन्वय होता है ।[1] अद्रव्य में लिङ्ग, संख्या की प्रतीति नहीं होती । अतः अद्रव्यार्थक चादिगणपठित शब्द निपातसंज्ञक होते हैं ।

(६३) पद—प्रादयः । **अनुवृत्ति**—असत्त्वे, निपाताः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—अद्रव्यार्थक प्र आदि शब्दों की भी निपातसंज्ञा होती है ।

विमर्श—सूत्र के अन्तर्गत 'प्रादयः' संज्ञी है । (प्र आदिर्येषां ते प्रादयः—बहुव्रीहि) पूर्व सूत्र से 'असत्त्वे' और 'निपाताः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार द्रव्य से भिन्न अर्थ वाले प्र परा आदि २२ शब्दों की निपातसंज्ञा होती है ।

द्रव्य का लक्षण—वस्तूपलक्षमित्यादि । जहाँ किसी वस्तु के ज्ञान के लिए सर्वनाम (सः, अयम्, इदम् इत्यादि) का प्रयोग किया जाता है । विशेष्यत्वेन विवक्षित वह वस्तु 'द्रव्य' कहलाती है । (लिङ्ग संख्याद्यन्वयोग्य द्रव्य होता है) ।

(६४) पद—निपात, एकाच्, अनाङ् । **अनुवृत्ति**—प्रगृह्यम् । **संज्ञासूत्र ।**

---

१. सत्त्वमिति द्रव्यमुच्यते । लिङ्गसङ्ख्यान्वितं द्रव्यम् ।

निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ इन्द्रः । उ उमेशः । (वाक्यस्मरणयोरङित्) । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । अन्यत्र ङित् । ईषदुष्णम् । ओष्णम् । (६५) ओत् १।१।१५ । ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः । (६६) सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६ । सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ

एकश्चासावच्चेति कर्मधारयः । चादित्वात् 'इ' निपातः । स चाश्चर्येऽस्ति । 'उ' वितर्के । इ + इन्द्रः । उ + उमेशः । उभयत्राप्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावे सन्ध्यभावः । **वाक्यस्मरणयोरिति** । ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमात्रं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ।।' **अन्यत्रेति** । वाक्यस्मरणार्थकभिन्ने इत्यर्थः । तेन आ + उष्णमित्यत्र गुणः । ईषदुष्णमित्यर्थनिर्देशः ।

(६६) **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येति** । सम्बुद्धाविति । निमित्तसप्तमी अनुवृत्तेन आदित्य-

---

मूलार्थ—'आङ्' को छोड़कर एक अच् रूप निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है । इ इन्द्रः । उ उमेशः । (वाक्य और स्मरण में 'आ' ङकारेत्संज्ञक नहीं होता) आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । वाक्य और स्मरण अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में 'आ' ङित् होता है । ईषत् (थोड़ा) उष्णम् = ओष्णम् ।

विमर्श—सूत्र में 'अनाङ्, एकाच्, निपातः' संज्ञी हैं । 'प्रगृह्य' संज्ञा है । तदनुसार 'आङ्' से भिन्न (न आङ् = अनाङ्) एक अच् रूप (एकश्चासौ अच्च एकाच्, कर्मधारय) निपात प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं । प्रगृह्यसंज्ञा का फल 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' सूत्र से प्रकृतिभाव होना है । **उदाहरण**—(१) 'इ + इन्द्रः' (यहाँ विस्मयार्थक इ निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव होकर दीर्घसन्धि नहीं हुई । अर्थ—अरे ! इन्द्र हैं । (२) 'उ + उमेशः' (यहाँ वितर्कार्थक उ निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव) दीर्घसन्धि नहीं हुई । अर्थ—क्या यह शिव हैं ।

ईषत् अर्थ (थोड़ा) में, क्रिया के योग में, मर्यादा और अभिविधि अर्थ में 'आ' ङकारेत्संज्ञक है । अन्यत्र—अर्थात् वाक्य और स्मरण अर्थ में 'आ' ङित् नहीं है।[1] अतः (३) 'आ एवं नु मन्यसे' में 'आ' को प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव । वृद्धि सन्धि नहीं हुई । अर्थ—आप, ऐसा समझने लगे । (४) 'आ एवं किल तत्' यहाँ भी प्रगृह्यसंज्ञा तथा प्रकृतिभाव होने से वृद्धि सन्धि नहीं हुई । अर्थ—मुझे स्मरण है कि यह बात ऐसी ही है । वाक्य और स्मरण के अतिरिक्त अन्य अर्थों में 'आ' के 'ङित्' होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती । अतः 'ईषत्' अर्थ में प्रयुक्त आ + उष्णम् = 'ओष्णम्' में गुणसन्धि हुई । अर्थ—थोड़ा गरम है ।

(६५) पद—ओत् । **अनुवृत्ति**—निपातः, प्रगृह्यम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—ओदन्त निपात प्रगृह्य संज्ञक होता है ।

विमर्श—सूत्र में 'ओत्, निपातः' संज्ञी हैं तथा 'प्रगृह्य' संज्ञा । सूत्रस्थ 'ओत्' पद अनुवृत्त पद 'निपातः' का विशेषण है । अतः तदन्त विधि होने से ओकारान्त निपातसंज्ञक शब्दों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । **उदाहरण**—'अहो + ईशाः' यहाँ 'अहो' ओकारान्त निपात होने से प्रगृह्य संज्ञा और प्रकृतिभाव होकर अहो ईशाः । अय् आदेश नहीं हुआ । अर्थ—अहो ! देवगण हैं ।

(६६) पद—सम्बुद्धौ, शाकल्यस्य, इतौ, अनार्षे । **अनुवृत्ति**—ओत्, प्रगृह्यम् । **संज्ञासूत्र** ।

---

१. ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादादभिविधौ च यः । एतमात्रं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

परे। विष्णो इति। विष्णविति। विष्ण इति। अनार्षे इति किम्? ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्। (६७) मय उञो वो वा ८।३।३३। मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किमु उक्तम्। किम्वुक्तम्। (६८) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७।

नेनान्वेति। प्रगृह्यमनुवर्त्यं पुंल्लिङ्गतया विपरिणम्यते। **विष्णो इति।** 'विष्णो+इति' इति स्थितौ 'सम्बुद्धौ शाकल्येतावनार्षे' इत्यनेन सम्बुद्धिनिमित्तकस्योकारस्य अवैदिके इतौ परे विकल्पेन प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यमि'त्यनेन प्रकृतिभावे 'विष्णो इति' रूपम्। प्रगृह्यसंज्ञाभावे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अवादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन वकारस्य विकल्पेन लोपे 'विष्ण इति' रूपम्, लोपाभावे च 'विष्णविति' रूपम्।

(६७) 'ङमो ह्रस्वादचि०' इत्यत अचीत्यनुवर्तते तदाह—**मय** इत्यादि।

(६८) **इकोऽसवर्ण इति।** 'इकः' इति षष्ठ्यन्तम्। 'एङः पदान्तादि'त्यतः

मूलार्थ—सम्बुद्धि निमित्तक ओकार की विकल्प मे प्रगृह्यसंज्ञा होती है, अवैदिक 'इति' शब्द के परे रहते।

विमर्श—'सम्बुद्धौ' शब्द में सप्तमी विभक्ति निमित्त अर्थ में हुई है। पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में सम्बोधन के एकवचन को 'सम्बुद्धि' कहते हैं।[1] तदनुसार सम्बोधन के एकवचन को मानकर होने वाले (सम्बुद्धिनिमित्तक) ओकार के पश्चात् वैदिक प्रयोग से भिन्न 'इति' शब्द के होने पर आचार्य शाकल्य के मत में प्रगृह्यसंज्ञा होती है, अन्य आचार्यों के मत में नहीं। **उदाहरण**—(१) विष्णो+इति। यहाँ विष्णु शब्द का सम्बोधन के एकवचन में 'ह्रस्वस्य गुणः' सूत्र से गुण होकर 'विष्णो' रूप बना है। इस प्रकार सम्बुद्धि-निमित्तक 'ओ' होने से प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव हुआ। (२) विकल्प होने से पक्ष में—अवादेश (ओ=अव्)—विष्णव् इति, 'लोपः शाकल्यस्य' से विकल्प से वकार का लोप होने से विष्ण इति। (३) व् का लोप न होने पर—विष्णविति। अर्थ—हे विष्णो! इस प्रकार। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'अनार्ष' (वेद से भिन्न) पद होने के कारण 'ब्रह्मबन्धो+इति' में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई। क्योंकि यहाँ 'इति' वैदिक पद परे है। अतः ओ=अव् आदेश ब्रह्मबन्ध् अव् इत्यब्रवीत्=ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्। वैदिक पद होने के कारण यहाँ वकार का लोप भी नहीं हुआ। अर्थ—हे ब्रह्मबन्धो! ऐसा कहा।

(६७) पद—मयः, उञः, वः, वा। **अनुवृत्ति**—अचि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—मय से परे 'उञ्' के स्थान में वकार आदेश विकल्प से होता है, अच् वर्ण परे रहते। किमु उक्तम्। किम्वुक्तम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' (८।३।३२) सूत्र से 'अचि' की अनुवृत्ति आती है। 'मयः' पञ्चम्यन्त पद है। 'उञ्' अव्यय है। तदनुसार मय प्रत्याहारस्थ वर्ण के अनन्तर 'उञ्' (उ) के स्थान पर अच् परे रहते 'व्' आदेश विकल्प से होता है। **उदाहरण**—किमु+उक्तम् (उ=व्)—किम् व् उक्तम्=किम्वुक्तम्। पक्ष में किमु उक्तम्। (पक्ष में 'निपात एकाजनाङ्' से प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव)।

(६८) पद—इकः, असवर्णे, शाकल्यस्य, ह्रस्वः च। **अनुवृत्ति**—पदान्तात्, अचि। **विधिसूत्र।**

---

१. 'एकवचनं सम्बुद्धिः' (पा० सू० २।३।४९)

पदान्ता इको ह्रस्वाः प्रकृत्या च वा स्युरसवर्णेऽचि । ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः । चक्रि अत्र । चक्र्यत्र । पदान्ताः किम् ? गौर्यौ । (न समासे) वाप्यश्वः । (६९) ऋत्यकः ६।१।१२८ । ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वत् । ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । पदान्ताः किम् ? आर्च्छत् । इति स्वरसन्धिः ।

पदान्तादित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । अचीत्यनुवर्तते । चकारात् 'प्रकृत्यान्तः पादमि'त्यतः प्रकृत्येत्यनुकृष्यते । तदाह—पदान्ता इत्यादि । अत्र 'ह्रस्व-विधिसामर्थ्यादेव प्रकृतिभावे सिद्धे तदनुकर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्यः इति भाष्यकारः । **वाप्यश्व इति ।** वाप्यामश्वः 'वाप्यश्वः' । अत्र 'वापी + अश्वः' इत्यवस्थायां 'इकोऽसवर्णे०' इत्यनेन ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावे प्राप्ते 'न समासे' इति वार्तिकेन तन्निषेधे यणि कृते 'वाप्यश्वः' इति ।

(६९) ऋत्यक इति । ऋति सप्तम्यन्तम्, अकः षष्ठ्यन्तम् । 'एङः पदान्तादि'त्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । शाकल्यस्य ह्रस्वश्चेत्यनुवर्तते । 'असवर्णे' इति निवृत्तम् । तदाह ऋति परे इत्यादि । ब्रह्म ऋषि

सूत्रार्थ—पदान्त 'इक्' को असवर्ण अच् परे रहते विकल्प से प्रकृतिभाव और ह्रस्व होता है । यहाँ ह्रस्व-विधान सामर्थ्य से सन्धिकार्य (यण्) नहीं होता । चक्रि अत्र । चक्र्यत्र । 'पदान्ताः' क्यों कहा ?—गौर्यौ । समास में नहीं होता । वाप्यश्वः ।

विमर्श—यहाँ 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०९) सूत्र से 'पदान्तात्' पद की अनुवृत्ति आती है, वह षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित होकर 'इकः' का विशेषण हो जाता है । 'च' से 'प्रकृत्या' पद का अनुकर्षण होता है । अतः पदान्त में विद्यमान 'इक्' (इ, उ, ऋ, ऌ) वर्णों के अनन्तर सवर्ण भिन्न अच् वर्णों के रहने पर आचार्य शाकल्य के मत में 'इक्' वर्ण को ह्रस्व हो जाता है तथा प्रकृतिभाव भी । अर्थात् इन ह्रस्व वर्णों को सन्धिकार्य नहीं होता । **उदाहरण**—(१) चक्री + अत्र = चक्रि अत्र—यहाँ पद के अन्त में दीर्घ ईकार के पश्चात् 'ई' से भिन्न अच् 'अ' होने के कारण ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव हुआ । पक्ष में (अन्य आचार्यों के मत में) यण्—चक्र्यत्र । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'पदान्त इक्' कहने से 'गौरी + औ' में ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव नहीं हुआ । क्योंकि यहाँ ईकार पद के अन्त में नहीं है ; यण् होकर 'गौर्यौ' बना ।

(वा०)—समास में ह्रस्व और प्रकृतिभाव नहीं होता । **उदाहरण**—'वापी + अश्वः' = वाप्यश्वः । यण् हुआ ।

(६९) पद—ऋति, अकः । **अनुवृत्ति**—पदान्तात्, शाकल्यस्य, ह्रस्वः, प्रकृत्या । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ह्रस्व ऋकार परे रहते पदान्त 'अक्' को ह्रस्व और प्रकृतिभाव विकल्प से होता है । ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । 'पदान्त में होता है' ऐसा क्यों कहा ? आर्च्छत् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र से 'शाकल्यस्य' 'ह्रस्वः' तथा 'प्रकृत्या' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'एङः पदान्तात्०' से अनुवृत्त 'पदान्तात्' पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित होकर 'अकः' का विशेषण हो जाता है । अतः ह्रस्व ऋकार परे रहने पर पदान्त अक् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) को शाकल्य के मत में ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव हो जाता है । अर्थात् ह्रस्व हो जाने पर कोई सन्धि कार्य नहीं होता । **उदाहरण**—ब्रह्मा + ऋषिः = ब्रह्म ऋषिः । यहाँ 'आ' के स्थान पर ह्रस्व तथा

अथ हल्सन्धिः

(७०) स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४० । सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । हरिश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जयः । **(७१) शात् ८।४।४४ ।** शात्परस्योक्तं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः । **(७२) ष्टुना ष्टुः**

इति । 'ब्रह्मा + ऋषिः' इति स्थितौ गुणं प्रबाध्य 'ऋत्यकः' इत्यनेन ह्रस्वसमुचितप्रकृतिभावे 'ब्रह्म ऋषिः' इति । तदभावपक्षे गुणे रपरे च कृते 'ब्रह्मर्षिः' इति रूपम् ।

इति स्वरसन्धिः ।

---

(७०) स्तोः श्चुना श्चु इति । श्चुनेत्यत्र सहार्थे तृतीया । अत्र स्थान्यादेशानां यथासङ्ख्यं भवति । ततश्च सकारस्य स्थाने शकारः, तवर्गस्य चवर्गः । निमित्तकार्यिणोस्तु न 'शात्' इति ज्ञापकात् । **हरिशेश्त इति ।** 'हरिस् + शेते' इति स्थिते शकारेण योगात् सकारस्य शकारः । तमस् + चिनोति । सत् + चित् । शार्ङ्गिन् + जयः ।

(७१) विश्नः, प्रश्न इति । 'विश् + नः, प्रश् + न' इत्यत्र पूर्वसूत्रेण नकारस्य श्चुत्वे प्राप्ते 'शात्' इत्यनेन तन्निषिध्यते । अत्र विच्छप्रच्छधातुभ्यां 'यजयाच॰'

प्रकृतिभाव हुआ । गुण नहीं हुआ । पक्ष में (अन्य आचार्यों के मत में) गुण तथा रपर (आ + ऋ = अर्)—ब्रह्म् अर् षिः = ब्रह्मर्षिः । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'पदान्तात्' पद की अनुवृत्ति आने से पदान्त भिन्न 'अक्' के स्थान में उक्त कार्य नहीं होता । अतः आर्च्छत् में 'आ + ऋच्छत्' स्थिति में वृद्धि ('आटश्च' से आ + ऋ = आर्) = आर्च्छत् । यहाँ आकार के पदान्त में न होने से ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव नहीं हुआ । अर्थ—गया ।

इति स्वरसन्धिः ।

---

(७०) पद—स्तोः, श्चुना श्चुः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सकार—तवर्ग के स्थान में शकार अथवा चवर्ग का योग रहने पर सकार के स्थान में शकार और तवर्ग के स्थान में चवर्ग होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में सकार तथा तवर्ग (त् थ् द् ध् न्) स्थानी हैं तथा शकार और चवर्ग आदेश हैं । इस प्रकार स्थानी और आदेशों की संख्या समान होने के कारण 'यथासंख्य' परिभाषा के द्वारा क्रमशः स् = श् , त् = च्, थ् = छ्, द् = ज् , ध् = झ्, न् = ञ् हो जाते हैं' । योग (साहचर्य) में रहने वाले वर्णों में यथासंख्य परिभाषा का नियम प्रवृत्त नहीं होता । **उदाहरण**—(१) हरिस् + शेते (स् = श्—'श्' के योग में)—हरिश्शेते । अर्थ—हरि सोता है । (२) रामस् + चिनोति (स् = श्—'च्' के योग में)—रामश्चिनोति । अर्थ—राम चुनता है । (३) सत् + चित् (त् = च्—'च्' के योग में)—सच्चित् । अर्थ—सत् और चित् रूप । (४) शार्ङ्गिन् + जय (न् = ञ्—'ज्' के योग में)—शार्ङ्गिञ्जयः । अर्थ—हे विष्णु, तुम्हारी जय हो ।

(७१) पद—शात् । **अनुवृत्ति**—न, तोः, चुः । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—शकार से परे तवर्ग को श्चुत्व नहीं होता ।

८।४।४१। स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे। (७३) न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२। 'अनामि'ति लुप्तषष्ठीक-स्पदम्। पदान्ताट्टवर्गात्परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात्किम्? ईट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्। अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। षण्णाम्।

इति नङ्प्रत्यये 'च्छ्वोः शूडनुनासिके चे'ति शत्वम्। 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणन्तु न भवति 'प्रश्ने चासन्नकाले' इति निर्देशात्।

(७२) **ष्टुना ष्टुरिति।** अत्र 'स्तोः' इत्यनुवर्तते। 'रामस्+षष्ठः' इत्यत्र 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन षकारयोगेन सकारस्य षकारादेशे 'रामष्षष्ठः' इति। एवम् रामस्+टीकते, पेष्+ता, तत्+टीका, चक्रिन्+ढौकसे।

(७३) अनामिति लुप्तषष्ठ्यन्तं पदम्। स्तोः ष्टुरित्यनुवर्तते। षट्+सन्तः, षट्+ते इत्यत्र टवर्गस्य पदान्ते वर्तमानत्वान्न ष्टुत्वम्। पदान्तादित्यस्याभावे तु—'ईट्+ते' इत्यत्रापि ष्टुत्वनिषेधः स्यात्। **टोः किमिति।** 'सर्पिष्+तमम्' इत्यत्र ष्टुत्वे 'नपदान्तादि'ति सूत्रेण निषेधो न भवति, पदान्ताद्टवर्गात्परत्वाभावात्। टोः ग्रहणाभावे तु सन्नियोगशिष्टानामि'ति परिभाषया ष्टुरिति समुदायस्यानुवृत्तौ

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (८।४।४२) से 'न', 'तोः षि' (८।४।४३) से 'तोः' और 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से 'श्चुः' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार शकार के अनन्तर विद्यमान तवर्ग के स्थान पर च वर्ग नहीं होता है। **उदाहरण**—(१) विश्+नः (यहाँ 'श्' के बाद 'न्' के स्थान पर पूर्वसूत्र से प्राप्त चुत्व ('ञ्') नहीं हुआ)—विश्नः। (२) प्रश्+नः (यहाँ भी श्चुत्व निषेध होकर)—प्रश्नः।

(७२) पद—ष्टुना ष्टुः। **अनुवृत्ति**—स्तोः। **विधिसूत्र**।।

मूलार्थ—सकार—तवर्ग के स्थान में षकार टवर्ग का योग रहने पर षकार—टवर्ग होते हैं।

विमर्श—'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) सूत्र से 'स्तोः' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार सकार तथा तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान में क्रमशः षकार तथा टवर्ग (ट् ठ् ड्, ढ्, ण्) आदेश होते हैं। ष् और टवर्ग में से किसी वर्ण का योग पूर्व या पर में रहे तो भी ष्टुत्व होता है। **उदाहरण**—(१) रामस्+षष्ठः (स्=ष्—'ष्' के योग में)=रामष्षष्ठः। अर्थ—राम छठवाँ है। (२) रामस्+टीकते (स्=ष्—'ट्' के योग में)=रामष्टीकते। अर्थ—राम जाता है। (३) पेष्+ता (त्=ट्—'ष्' के योग में)=पेष्टा। अर्थ—पीसने वाला। (४) तत्+टीका (त्=ट्—'ट' के योग में)=तट्टीका। अर्थ—उसकी टीका। (५) चक्रिन्+ढौकसे (न्=ण्—'ढ्' के योग में)=चक्रिण्ढौकसे। अर्थ—हे चक्रधारी (कृष्ण) तुम जाते हो।

(७३) पद—न, पदान्तात्, टोः, अनाम्। **अनुवृत्ति**—स्तोः, ष्टुः। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—पदान्त टवर्ग से परे नाम् भिन्न सकार तथा तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता। (वा०)—पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति, नगरी भिन्न सकार तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता, ऐसा कहना चाहिए।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'स्तोः' तथा 'ष्टुः' पदों की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'अनाम्' पद में षष्ठीविभक्ति का लोप स्वीकार किया जाता है। अर्थात् 'नाम्' के विषय में निषेध नहीं होता।

षण्णवतिः । षण्णगर्यः । (७४) तोः षि ८।४।४३ । तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम् । सन्षष्ठः । (७५) झलां जशोऽन्ते ८।२।३९ । पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।

पदान्ताभ्यां षकारटवर्गाभ्यां परस्येत्याद्यर्थे 'सर्पिष्टममि'त्यत्रापि ष्टुत्वनिषेधः स्यादिति तद्वारणाय टोर्ग्रहणम् । **अनामिति** । नाम्–नवति–नगरीभिन्नानां ष्टुत्वनिषेध इत्यर्थः । षण्णामिति । 'षष्+नाम्' इत्यत्र पदान्तत्वात् षस्य जश्त्वेन डकारे 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इत्यनेन णकारे टवर्गयोगात् नकारस्य ष्टुत्वम्, 'नपदान्तादि'ति निषेधस्तु न 'अनामि'ति पर्युदासात् ।

(७४) तवर्गस्य सकारे परे ष्टुत्वं न भवतीत्यर्थः, तेन 'सन्+षष्ठः' इत्यत्र नकारस्य सकारे परे न ष्टुत्वमिति ।

(७५) **झलां जशोऽन्त इति** । पदस्येत्यधिकृतम्, तच्चान्त इत्यस्य विशेषणम् ।

इस प्रकार सूत्रार्थ होगा—पद के अन्त में टवर्ग के अनन्तर स् तथा तवर्ग के स्थान पर पूर्वसूत्र से प्राप्त क्रमशः ष् तथा टवर्ग (ष्टुत्व) नहीं होता । **उदाहरण**—(१) षष्+सन्तः—(ष्=ड्, ड्=ट्)—षट्+सन्तः (ट् के पश्चात् स् को षत्व निषेध)=षट् सन्तः । अर्थ—छः सज्जन । (२) षट्+ते (ट् के पश्चात् 'त्' को ट् नहीं हुआ) षट् ते । अर्थ—वे छः हैं । **प्रत्युदाहरण**—(१) सूत्र में 'पदान्तात्' पद होने के कारण पदान्त भिन्न टवर्ग के अनन्तर आने वाले स् तथा तवर्ग के स्थान पर क्रमशः षकार तथा टवर्ग होते हैं । अतः 'ईड्+ते' (ड्=ट्)=ईट्+ते प्रकृत सूत्र द्वारा निषेध न किये जाने पर ष्टुत्व (त्=ट्) हो गया । ईट्टे । (२) सूत्र में 'टोः' पद का ग्रहण न करने पर 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से 'ष्टुना' पद की अनुवृत्ति आती । तदनुसार पदान्त ष् तथा टवर्ग के अनन्तर स् एवं तवर्ग को ष्टुत्व निषेध होने लगता । 'सर्पिष्+तमम्' में भी ष्टुत्व निषेध होता, जो अभीष्ट नहीं है । अतः 'टोः' पद का ग्रहण किया गया है । इस प्रकार सर्पिष्+तमम् (ष् के अनन्तर 'त' को ष्टुत्व—त्=ट्)=सर्पिष्टमम् ।

(वा०)—सूत्रकार पाणिनि ने केवल 'नाम्' के न् को ण् (ष्टुत्व) होने का विधान किया था परन्तु वार्तिककार ने 'नाम्' के अतिरिक्त 'नवति' तथा 'नगरी' शब्द के भी पदान्त टवर्ग के अनन्तर 'न्' को 'ण्' होने का विधान किया है । **उदाहरण**—(१) षड्+नवति ('न्'='ण्', पुनः 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से 'ड्'='ण्')=षण्णवतिः । पक्ष में षड् नवतिः । अर्थ—छियानवे । (२) षड्+नगर्यः । ('न'=ण्, पूर्ववत् 'ड्'=ण्)=षण्णगर्यः । पक्ष में षड् नगर्यः । अर्थ—छह नगरी) । (३) षड्+नाम् ('न्'=ण् पुनः पूर्ववत् 'ड्'=ण्)=षण्णाम् ।

(७४) पद—तोः षि । **अनुवृत्ति**—न, ष्टुः । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—षकार परे रहने पर तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'नपदान्तात्०' से 'न' तथा 'ष्टुना ष्टुः' से 'ष्टुः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार षकार परे रहने पर तवर्ग को टवर्ग नहीं होता । **उदाहरण**—सन्+षष्ठः (ष्टुत्व निषेध होने से तवर्ग (न्) के अनन्तर 'ष्' होने से 'ण्' नहीं हुआ)=सन् षष्ठः ।

(७५) पद—झलां, जशः, अन्ते । **अनुवृत्ति**—पदस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पद के अन्त में झल् वर्णों के स्थान पर जश् आदेश होते हैं ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'पदस्य' का अधिकार होने से पद के अन्त में विद्यमान झल् प्रत्याहार

चिद्रूपम् । (७६) यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५ । यरः पदान्तस्याऽनुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः । एतद्मुरारि । स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरितार्थो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते । चतुर्मुखः । (प्रत्यये भाषायां नित्यम्) । तन्मात्रम् ।

वागीश इति । 'वाक् + ईशः' इत्यत्र 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन 'क्' इत्यस्य स्थाने गकारादेशे (जश्त्वे) वागीश इति ।

(७६) न पदान्तादित्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । **स्थानप्रयत्नाभ्यामिति ।** ननु 'चतुर्मुखः' इत्यत्रापि रेफस्यानुनासिको णकारः स्यात् स्थानसाम्यादिति चेन्न, स्थानप्रयत्नाभ्यां सदृशतमे 'षण्मुखः' इत्यत्र चारितार्थ्यात् । केवलं स्थानसादृश्यमादाय 'चतुर्मुखः' इत्यत्र न प्रवर्तत इति । अथवा 'अनुस्वारस्य ययि' इत्यतः सवर्णपदमपकृष्य सवर्णोऽनुनासिको भवतीति सूत्रार्थः । 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ती'ति भाष्यानुसारेण रेफस्य कश्चित्सवर्णो नास्तीति नात्र

बोध्य वर्णों के स्थान में जश् (वर्गों के तृतीय व्यञ्जन वर्ण—ज् ब् ग् ड् द्) आदेश होता है। **उदाहरण**—(१) वाक् + ईशः (क् = ग्)—वागीशः । अर्थ—बृहस्पति । (२) चित् + रूपम् (त् = द्)—चिद्रूपम् । अर्थ—ज्ञान स्वरूप ।

(७६) पद—यरः, अनुनासिके, अनुनासिकः, वा । **अनुवृत्ति**—पदान्तात् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त 'यर्' को विकल्प से अनुनासिक होता है (अपने वर्ग का पञ्चम वर्ण) यदि उसके बाद कोई अनुनासिक वर्ण हो तो ।

विमर्श—'न पदान्तात्०' से अनुवृत्त पदान्तात् पद को 'यरः' स्थानी के अनुसार षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित कर दिया जाता है । तदनुसार पद के अन्तिम यर् प्रत्याहार बोध्य वर्ण के अनन्तर वर्गों के पञ्चम वर्ण (अनुनासिक) रहने पर स्थानी का सजातीय पञ्चम वर्ण (अनुनासिक) होता है । **उदाहरण**—एतद् + मुरारिः ('द्'–यर् के अनन्तर अनुनासिक (म्) रहने पर द् = न्)—एतन्मुरारिः । विकल्प होने से पक्ष में एतद् मुरारिः । अर्थ—यह मुरारि हैं ।

यह अनुनासिक विधि स्थान और प्रयत्न सादृश्य से अत्यन्त सदृश स्पर्श वर्णों में (ट, ठ, ड इत्यादि में) चरितार्थ हो चुकी है । अतः रेफ में प्रवृत्त नहीं होती, तदनुसार 'चतुर्मुखः' में णकार नहीं हुआ ।

आशय यह है कि 'चतुर् + मुखः' में प्रकृत सूत्र से 'र्' के स्थान में अनुनासिक ण् की प्राप्ति होती है, क्योंकि यहाँ यर् (र्) के अनन्तर अनुनासिक 'म्' वर्ण है । इन दोनों वर्णों का मूर्धा स्थान भी समान है । इस शङ्का के समाधानार्थ 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र में सप्तमी विभक्ति युक्त पाठ स्वीकार करने से सदृशतम स्थानी में ही आदेश स्वीकार किया जाता है । अतः स्थान और प्रयत्न दोनों का ही सादृश्य अपेक्षित है । ऐसा अत्यन्त सादृश्य 'षड् + नाम्' में है । जैसे—'ड्' का मूर्धा स्थान और 'स्पृष्ट' आभ्यन्तरप्रयत्न है, वैसा ही अनुनासिक वर्णों में 'ण्' का है । अतः 'ड्' के स्थान में 'ण्' होकर 'षण्णाम्' की सिद्धि हुई । इस प्रकार सूत्र की चरितार्थता में सदृशतम उदाहरणों के मिलने से केवल मूर्धा स्थान की समानता होने पर 'र्' के स्थान में अनुनासिक 'ण्' नहीं होता । **अथवा**—'अनुस्वारस्य ययि' सूत्र से स्वरितत्व प्रतिज्ञा बल से एकदेश सवर्ण **का अपकर्षण कर 'यर्' के स्थान में सवर्ण अनुनासिक विकल्प से होता है अनुनासिक परे रहते'**

चिन्मयम् । (७७) **तोर्लि ८।४।६०** । तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः विद्वाँल्लिखति । नस्याऽनुनासिको लः । (७८) **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१** । उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् । (७९) **तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७** । पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् । (८०) **आदेः**

काचिदापत्तिः, प्रकृतसूत्राप्राप्तेः । **प्रत्यये भाषायामिति** । अनुनासिकादौ प्रत्यये परे लोके नित्यमनुनासिकः स्यादित्यर्थः । तद् + मात्रम् । चित् + मयम् ।

(७७) **तोर्लीति** । 'अनुस्वारस्य ययि' इत्यतः परसवर्ण इत्यनुवर्तते ।

(७८) **उद इति** । 'अनुस्वारस्ये'त्यतः सवर्णमिह सम्बध्यते, एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानात् । 'उदः' इति पञ्चम्यन्तत्वेन 'तस्मादित्युत्तरस्ये'ति परिभाषया उदः-परयोरिति लभ्यते ।

अर्थ किया जाता है । चूँकि रेफ का कोई सवर्ण नहीं है ।[1] अतः 'चतुर्मुखः' में प्रकृत सूत्र की प्राप्ति नहीं होती ।

(वा०)—प्रत्यय के अवयव अनुनासिक वर्ण परे रहते पदान्त यर् को नित्य अनुनासिक होता है, भाषा (अवैदिक प्रयोग) में । **उदाहरण**—(१) तद्+मात्रम् ('द्'='न'—यहाँ तद् शब्द के पश्चात् मात्रच् प्रत्यय का प्रथम वर्ण 'म्' अनुनासिक होने से नित्य अनुनासिक हुआ ।) तन्मात्रम् । अर्थ—उतना ही । (२) चित्+मयम् ('त्'='न्'—चित् शब्द के अनन्तर मयट् प्रत्यय होने से नित्य अनुनासिक) चिन्मात्रम् । अर्थ—चेतनस्वरूप ।

(७७) पद—तोः लि । **अनुवृत्ति**— परसवर्णः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तवर्ग को लकार परे रहते परसवर्ण होता है । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नकार के स्थान पर अनुनासिक लकार हुआ ।

विमर्श—'अनुस्वारस्य ययि' (८।४।५८) सूत्र से 'परसवर्णः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार तवर्ग=त्, थ्, द्, ध्, न् के स्थान पर लकार परे रहने पर लकार का सजातीय वर्ण होता होता है । **उदाहरण**—(१) तद्+लयः (द्=ल्)—तल्लयः । अर्थ—उसका लय । (२) विद्वान्+लिखति (अनुनासिक 'न्' के स्थान पर सानुनासिक 'लँ' होने से)= विद्वाँल्लिखति । अर्थ—विद्वान् लिखता है ।

(७८) पद—उदः, स्थास्तम्भोः, पूर्वस्य । **अनुवृत्ति**—सवर्णः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उद् से परे 'स्था' और 'स्तम्भ्' को पूर्व सवर्ण होता है ।

(७९) पद—तस्माद्, इति, उत्तरस्य । **अनुवृत्ति**—निर्दिष्टे । **परिभाषासूत्र** ।

मूलार्थ—पञ्चमी विभक्ति के निर्देश से किये जाने वाला कार्य वर्णान्तर के व्यवधान से रहित परवर्ण के स्थान में होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्रस्थ 'तस्मात्' पद से शब्दस्वरूप का ग्रहण न होकर पञ्चमी विभक्ति रूप अर्थ लिया जाता है । 'तस्मिन्निति०' (१।१।६६) सूत्र से 'निर्दिष्टे' पद की अनुवृत्ति आने पर अव्यवहित पद की उपस्थिति होती है । अतः विधिसूत्रों में पञ्चमी विभक्ति से निर्दिष्ट जो पद हो, उससे परवर्ण को कार्य होता है ।

---

१. 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति'—महाभाष्यम् ।

परस्य १।१।५४। परस्य यद्विहितं तत्तस्याऽऽदेर्बोध्यम्। अत्राघोषस्य महाप्राणस्य विवारस्य श्वासस्य सस्य तादृश एव थः, इति सस्य थः। (८१) झरो झरि सवर्णे ८।४।६५। हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात्सवर्णे झरि। (८२) खरि च ८।४।५५। खरि परे झलां चरः स्युः। इत्युदो दस्य तः। उत्थानम्, उत्तम्भनम्। (८३) झयो

---

(८२) **उत्थानमिति।** 'उद्+स्थानम्' इति स्थिते 'तस्मादित्युत्तरस्य' 'आदेः परस्ये'ति परिभाषयोः सहकारेण 'उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्ये'ति सूत्रेण विवारश्वासाघोषमहाप्राणवतः सकारस्य स्थाने विवारश्वासाघोषमहाप्राणवति थकारे कृते उद् थ् थानम् मिति जाते 'झटो झरि सवर्णे' इत्यनेन पूर्वथकारस्य विकल्पेन लोपे

---

(८०) पद—आदेः, परस्य। **अनुवृत्ति**—अलः। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—पर को विधान किया गया कार्य पर के आदि वर्ण को होता है।

विमर्श—उक्त दोनों परिभाषासूत्रों का आशय यह है कि पञ्चमी विभक्ति से निर्दिष्ट पर के स्थान में होने वाला कार्य (आदेश) पर के आदि वर्ण के स्थान में होता है। **उदाहरण**—उद्+ स्थानम्' में 'उद्' से परे 'स्थानम्' को पूर्व सवर्ण विधान किया गया है। वह इस परिभाषा के बल से 'स्थानम्' के आदि वर्ण 'स्' के स्थान में होता है। तदनुसार यहाँ 'स्' से पूर्व वर्ण 'द्' है। अतः उसका सवर्ण 'थ्' विधान किया जायेगा, क्योंकि 'स्' और 'थ्' का विवार, श्वास, अघोष और महाप्राणप्रयत्न समान है।

(८१) पद—झरः, झरि, सवर्णे। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, हलः, लोपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'हल्' से परे 'झर्' का विकल्प से लोप होता है, यदि उसके अनन्तर सवर्ण 'झर्' परे हो तो।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (८।४।६८) से 'अन्यतरस्याम्' तथा 'हलो यमाम्०' (८।४।६४) से 'हलः' और 'लोपः' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार हल् वर्णों के पश्चाद्वर्ती झर् वर्णों का विकल्प से लोप होता है यदि इसके पश्चात् भी अन्य सवर्ण 'झर्' वर्ण रहे।

पूर्वोक्त उदाहरण में पूर्वसवर्ण होने पर 'उद् थ् थानम्' स्थिति हुई। प्रकृत सूत्र द्वारा 'थ्' का विकल्प से लोप होने से 'उद् थानम्'।

(८२) पद—खरि, च। **अनुवृत्ति**—झलां, चर्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'खर्' परे रहते 'झल्' के स्थान में 'चर्' आदेश हो।

विमर्श—यहाँ 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) सूत्र से झल् (स्थानी) की तथा 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) सूत्र से 'चर्' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार 'खर्' परे रहने पर झल् वर्ण के स्थान में 'चर्' आदेश होते हैं। आदेशों में स्थान कृत सादृश्य लिया जाता है। यथा—

स्थानी 'झल्' वर्ण	सादृश्य (स्थान)	आदेश (चर्)
क्, ख्, ग्, घ्	कण्ठ	क्
च्, छ्, ज्, झ्	तालु	च्
ट्, ठ्, ड्, ढ्	मूर्धा	ट्
त्, थ्, द्, ध्	दन्त	त्
प्, फ्, ब्, भ्	ओष्ठ	प्

अतः 'खरि च' सूत्र से 'उद् थानम्' में 'द्' को चर्त्व होकर 'त्' होता है। उदाहरण—

होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२ । झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः स्यात् । नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः । वाग्घरिः । वाग्हरिः । (८४) **शश्छोऽटि ८।४।६३ ।** पदान्ताज्झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि । तच्छिवः । तच् शिवः । पदान्तात्किम् । विरप्शम् । छत्वममीति वाच्यम् । तच्छ्लोकेन । तच्

'खरि चे'ति सूत्रेण चर्त्वे दकारस्य तकारे उत्थानमिति पक्षे उत्थ्थानमिति । एवं उद्+स्तम्भनम् ।

(८३) **झय इति ।** 'उदः स्थास्तम्भोः०' इत्यतः पूर्वस्येति 'अनुस्वारस्य ययि' इत्यतः सवर्ण इति चानुवर्तते । 'वाक्+हरिः' इति स्थिते 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन जश्त्वे गकारे कृते 'झयो होऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण पूर्वसवर्णे हकारस्य स्थाने विकल्पेन घकारे कृते 'वाग्घरिः' इति । पक्षे 'वाग्हरिः' इति । (अत्र संवारनादघोषमहाप्राणवता हकारेण संवारनादघोषमहाप्राणवान् घकारे तुल्य इत्यवधेयम्) ।

(८४) **तच्छिव इति ।** 'तद्+शिवः' इत्यवस्थायाम् 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन श्चुत्वे दकारस्य जकारे कृते 'खरि चे'ति जकारस्य चकारे कृते 'तच् शिवः' इति जाते 'शश्छोऽटि' इति सूत्रेण झय्प्रत्याहारबोध्यवर्णचकारात्परस्य शस्य अट्-

---

(१)—उत्थानम् । पक्ष में ('थ्' का लोप न होने पर) उत्थ्थानम् । अर्थ—उठना । (२) उद्+स्तम्भनम् (स्=थ्), उद् थ् तम्भनम् (थ् का विकल्प से लोप)—उद् तम्भनम् ('द्'= 'त'—'खरि च')=उत्तम्भनम् । पक्ष में (थ् का लोप न होने पर)—उत्थ्तम्भनम् ।

(८३) पद—झयः, हः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य, सवर्णः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'झय्' से परे हकार को विकल्प से पूर्वसवर्ण होता है । संवार, नाद, घोष और महाप्राण प्रयत्न वाले 'ह्' वर्ण के स्थान पर उसी के समान 'घ्' होता है । वाग्घरिः । वाग्हरिः ।

विमर्श—सूत्र में स्थानी 'ह्' का निर्देश किया गया है । परन्तु आदेश का उल्लेख नहीं किया गया । अतः 'उदः स्था०' (८।४।६१) सूत्र से 'पूर्वस्य' तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' (८।४।५८) से 'सवर्णः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार पूर्वसवर्ण आदेश होता है । स्थानी से पूर्व भी झय् प्रत्याहारबोध्य वर्ण होना आवश्यक है । पूर्वसवर्ण में 'स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा द्वारा गुण कृत साम्य ग्रहण किया जाता है । प्रस्तुत उदाहरण में स्थानकृत साम्य होने से 'ह्' के स्थान पर क्, ख्, ग्, घ्—वर्णों की प्राप्ति होती है, परन्तु संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण प्रयत्न वाला केवल 'घ्' ही है । अतः 'ह्' के स्थान पर पूर्व सवर्ण 'घ्' ही होगा । **उदाहरण**—'वाग्+हरिः' (ह्=घ—विकल्प से पूर्वसवर्ण)=वाग्घरिः । पक्ष में वाग्हरिः । अर्थ—वाणी में चतुर ।

(८४) पद—शः, छः, अटि । **अनुवृत्ति**—पदान्तस्य, झयः, अन्यतरस्याम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त झय् के अनन्तर 'श्' के स्थान पर विकल्प से 'छ्' आदेश होता है । यदि उस 'श्' के बाद 'अट्' हो तो ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'झयो०' (८।४।६२) सूत्र से 'झयः' तथा 'अन्यतरस्याम्' एवं 'वापदान्तस्य' सूत्र से 'पदान्तस्य' पदों की अनुवृति आती है । 'पदान्तस्य' की षष्ठी विभक्ति पञ्चमी में परिवर्तित होकर 'झयः' की विशेषण बन जाती है । तदनुसार पदान्त में विद्यमान झय् प्रत्याहारबोध्य वर्ण के बाद श् के स्थान में छ् आदेश विकल्प से होता है, यदि उसके आगे अट् वर्ण रहें तो । **उदाहरण**—तद्+शिवः ('द्'='ज्'—श्चुत्व)—'तज्+शिवः'—('ज्'='च्'

श्लोकेन । अमि किम् ? वाक् श्च्योतति । (८५) मोऽनुस्वारः ८।३।२३ । मान्तस्य पदस्यानुस्वारः स्याद्धलि । हरिं वन्दे । पदस्य किम् ? गम्यते । (८६) नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४ । नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः स्यात् । यशांसि ।

प्रत्याहारबोध्यघटके इकारे परे छत्वे 'तच्छिवः' इति । छत्वाभावे तु 'तच्शिवः' इति । पदान्तत्वाभावे तु 'विरप्शमि'त्यत्र शकारे छत्वापत्तिः स्यात् । **छत्वममीति ।** 'शश्छोऽटि' इति सूत्रे 'अटी'ति पदं विहाय अमीति वाच्यमित्यर्थः ।

(८५) मोऽनुस्वार इति । पदस्येत्यधिकृतम्, म इति पदस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः । 'हलि सर्वेषामि'त्यतो हलीत्यनुवर्तते । 'हरिम् + वन्दे' इत्यत्र अलोऽन्त्यपरिभाषया मकारस्यानुस्वारे 'हरिं वन्दे' इति ।

—'खरि च' से चर्त्व)—तच् शिवः ('श्'='छ्'—विकल्प से)=तच्छिवः । पक्ष में तच्शिवः । अर्थ—उसका शिव ।

सूत्र में पदान्त ग्रहण न करने पर एकपद—'विरप्शम्' में 'श्' के स्थान पर 'छ्' हो जाता, अतः 'पदान्त' पद का ग्रहण किया गया है । (वा०) पदान्त झय् से परे 'श्' के स्थान पर छत्व-विधायक उक्त सूत्र 'अटि' के स्थान पर 'अमि' कहा जाय । **उदाहरण**—'तद्+श्लोकेन' (द्=ज्—श्चुत्व) ज्=च्—चर्त्व—तच्+श्लोकेन (श्=छ्—'अम्' परे रहने से) तच्छ्लोकेन । छत्व के अभाव पक्ष में तच् श्लोकेन । **प्रत्युदाहरण**—प्रकृत वार्तिक में 'अम्' पद के अभाव में 'वाक्+श्च्योतति' में 'क्' के अनन्तर 'श्' के स्थान पर 'छ्' आदेश की प्राप्ति होती है । वह न हो इसलिए वार्तिक में 'अमि' पद ग्रहण किया गया है । क्योंकि 'श्' के बाद 'च्' वर्ण अम् प्रत्याहार के अन्तर्गत नहीं आता ।

(८५) पद—मः, अनुस्वारः । **अनुवृत्ति**—हलि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—मान्त पद को हल् परे रहते अनुस्वार होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'हलि सर्वेषाम्' सूत्र से 'हलि' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'पदस्य' का अधिकार होने से तदन्तविधि होती है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के द्वारा पद के अन्तिम वर्ण 'म्' के स्थान पर अनुस्वार होता है; उस मकार के बाद यदि कोई 'हल्' वर्ण हो तो । **उदाहरण**—'हरिम्+वन्दे' (म्=ं)=हरिं वन्दे । अर्थ—हरि को प्रणाम । **प्रत्युदाहरण**—इस सूत्र में 'पद' ग्रहण न करने पर (गम्यते) 'गम्+य+ते' 'म्' के स्थान पर 'हल्' वर्ण परे रहते अनुस्वार हो जाता; वह न हो, इसलिए 'पद' ग्रहण किया गया है । यहाँ 'म्' पद के अन्त में न होने से अनुस्वार नहीं होगा ।

(८६) पद—नः, च, अपदान्तस्य, झलि । **अनुवृत्ति**—मः, अनुस्वारः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'झल्' परे रहते अपदान्त नकार और मकार के स्थान पर अनुस्वार होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'मोऽनुस्वारः' (८।२।२३) से 'मः' तथा 'अनुस्वारः' की अनुवृत्ति आती है । यह सूत्र पदान्त से भिन्न स्थान में अनुस्वार का विधान करता है । तदनुसार अपदान्त 'न्' और 'म्' के स्थान में आगे झल् वर्ण परे होने पर अनुस्वार होता है । **उदाहरण**—(१) 'यशान्+सि' (अपदान्त 'न्' का अनुस्वार होने से)—यशांसि । (२) 'आ+क्रम्+स्यते' (झल् 'स' परे रहने पर अपदान्त 'म्' को अनुस्वार)—आक्रंस्यते । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'झल्' पद का

आक्रंस्यते । झलि किम् ? मन्यते । (८७) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८ । अङ्कितः । अञ्चितः । शान्तः । गुम्फितः । (८८) वा पदान्तस्य ८।४।५९ । पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि(परे)परसवर्णो वा स्यात् । त्वङ्करोषि । त्वं करोषि । (८९) मो राजि समः क्वौ ८।३।२५ । क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात् ।

---

(८७) अपदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे नित्यं परसवर्णः स्यादित्यर्थः । **अङ्कित इति ।** 'अङ्क पदे लक्षणे चे'ति स्वार्थिकण्यन्तात् क्तः, इट् 'निष्ठायां सेटि' इति णिलोपः 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति सूत्रेणानुस्वारे तस्य 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इत्यनेन नासिकास्थानसाम्यात् परसवर्णे ङकारे 'अङ्कितः' इति। एवम्—अञ्चितः, शान्तः, गुम्फित इत्यादि ।

(८८) पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे वा परसवर्णः स्यादिति सूत्रार्थः। **त्वङ्करोषि इति ।** 'त्वम् + करोषि' इत्यत्र 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'वा पदान्तस्ये'त्यनेन विभाषया परसवर्णे कृते त्वङ्करोषि इति। पक्षे त्वं करोषि इति।

(८९) **मो राजीति ।** अत्र 'मोऽनुस्वारः' इत्यतो म इति स्थानषष्ठ्यन्तमनु-

---

ग्रहण न होने पर 'मन्यते' में अपदान्त 'न्' को 'य्' परे रहते (झल् न होने पर भी) अनुस्वार होने लगेगा। वह न हो, इसलिए 'झल्' पद का ग्रहण किया गया है। अर्थ—मानता है।

(८७) पद—अनुस्वारस्य, ययि, परसवर्णः । **अनुवृत्ति**—अपदान्तस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अपदान्त अनुस्वार के स्थान में यय् परे रहते परसवर्ण होता है।

विमर्श—'परसवर्ण' का अर्थ है कि अनुस्वार का अपने परवर्ती वर्णों के पञ्चम वर्ण में परिवर्तित हो जाना। प्रकृत सूत्र द्वारा अपदान्त न, म् के स्थान पर हुए अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण होता है। **उदाहरण**—(१) अन्क+क्त (त)—('त' से पूर्व इट् का आगम)—अ न् क्+इ+त (न्=ं अनुस्वार)—अंक्+इत परसवर्ण 'ङ्'=अङ्कित+सु विभक्ति (स्=र्= :)=अङ्कितः। अर्थ—चिह्नित। (२) अन्च्+क्त (त)—अ न् च्+इत—अन्+चितः (न्=ं अनुस्वार) अंचितः (ं=परसवर्ण 'ञ्')-अञ्चितः। अर्थ—पूजित। (३) शम्+क्तः (त) (दीर्घ) शाम्+त (अनुस्वार)=शांतः अनुस्वार से 'त्' परे रहते परसवर्ण 'न्')= शान्तः। (४) गुम्फ्+क्तः (त) गुम्फ्+इत (अनुस्वार)—गुंफ्+इत=गुंफितः (अनुस्वार से 'फ्' परे रहते 'म्' परसवर्ण)=गुम्फितः। अर्थ—गूँथा हुआ।

(८८) पद—वा पदान्तस्य । **अनुवृत्ति**—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त अनुस्वार के स्थान में यय् परे रहते विकल्प से परसवर्ण होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में सम्पूर्ण पूर्वसूत्र (८७) की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार 'यय्' परे रहते पदान्त अनुस्वार के स्थान पर विकल्प से परसवर्ण होता है। **उदाहरण**—'त्वम्+करोषि' (म्=ं अनुस्वार)—(ं='ङ्' परसवर्ण)=त्वङ्करोषि । पक्ष में त्वं करोषि। अर्थ—तू करता है।

(८९) पद—मः, राजि, समः क्वौ । **अनुवृत्ति**—मः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—क्विप् प्रत्ययान्त राज् धातु परे रहते सम् के 'म्' को 'म' ही रहता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'मोऽनुस्वारः' से 'मः' पद की अनुवृत्ति आती है। प्रत्ययग्रहण

सम्राट्। (९०) हे मपरे वा ८।३।२६। मपरे हकारे मस्य मो वा स्यात्। किम् ह्मलयति। किं ह्मलयति। * यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम् *। कियँ ह्यः। किं ह्यः। किवँ ह्वलयति। किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति। किं ह्लादयति। (९१) नपरे नः ८।३।२७। नपरे हकारे मस्य नो वा। किन् ह्नुते। किं ह्नुते। (९२) ङः सि

वर्तते। समः इत्यवयवषष्ठी। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया क्विप्प्रत्ययान्तलाभः। तदाह—**क्विबन्त इति।**

(९०) किम्+ह्मलयति पक्षेऽनुस्वारः। **कियँ ह्य इति।** 'किम्+ह्यः' इति स्थिते 'यवलपरे यवला वा' इति वार्तिकेन यपरके हकारे परे 'मोऽनुस्वारः' इति प्राप्तमनुस्वारं प्रबाध्य मकारस्यानुनासिके यकारे विकल्पेन कृते 'कियँ ह्यः' इति। पक्षेऽनुस्वारे किं ह्य इति।

(९१) किम्+ह्नुते।

परिभाषा से तदन्तविधि होने से क्विप्प्रत्ययान्त राज् धातु परे रहते 'सम्' उपसर्ग के अवयव मकार के स्थान पर 'म्' ही होता है। **उदाहरण**—सम्+राज्+क्विप् (लोप, सुलोप)—सम्राज् ('व्रश्च०' से ज्'='ष्')—सम्राष् (ष्=ड्—जश्त्व)—सम्+राड् (ड्=ट्—चर्त्व)—सम्+राट् ('म्'='म्')=सम्राट् (अनुस्वार का अभाव)। अर्थ—चक्रवर्ती राजा।

(९०) पद—हे, मपरे, वा। **अनुवृत्ति—**मः (षष्ठी), मः प्रथमा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—मपरक हकार परे रहते 'म्' को 'म्' विकल्प से होता है।

विमर्श—सूत्रार्थ करने के लिए 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से 'मः' (षष्ठी विभक्ति) की तथा 'मो राजि०' (८९) 'मः' (प्रथमान्त) की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार 'म्' परक हकार परे रहने पर 'म्' के स्थान में विकल्प से 'म्' ही होता है। पक्ष में अनुस्वार होता है। **उदाहरण—**किम्+ह्मलयति (म्=म्)=किम् ह्मलयति। पक्ष में (ं—अनुस्वार)—किं ह्मलयति। अर्थ—क्या चलाता है।

(वा०)—य्, व्, ल् परक हकार परे रहते 'म्' के स्थान में विकल्प से क्रमशः य्, व्, ल् होते हैं। यह वार्तिक अनुस्वार विधि का बाधक है। 'म्' के स्थान पर सानुनासिक यँ, वँ, लँ होते हैं) **उदाहरण—**(१) किम्+ह्यः (म्=यँ—अनुनासिक विकल्प से)=कियँ ह्यः। पक्ष में अनुस्वार—किं ह्यः। अर्थ—कल क्या? (२) किम्+ह्वलयति (म्=वँ विकल्प से)=किवँ ह्वलयति। पक्ष में अनुस्वार—किं ह्वलयति। अर्थ—क्या चलाता है? (३) किम्+ह्लादयति (म्=लँ विकल्प से)=किलँ ह्लादयति। पक्ष में—किं ह्लादयति। अर्थ—क्या प्रसन्न करता है?

(९१) पद—नपरे, नः। **अनुवृत्ति—**हे, मः (षष्ठी)। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नकार-परक हकार परे रहते 'म्' को 'न्' विकल्प से होता है।

विमर्श—यहाँ स्थानी को स्पष्ट करने के लिए 'मोऽनुस्वार' से 'मः' पद की अनुवृत्ति आती है। **उदाहरण—**किम्+ह्नुते (म्=न्—ह्न् परे होने के कारण)=किन् ह्नुते। पक्ष में अनुस्वार—किं ह्नुते। अर्थ—क्या छिपाता है?

(९२) पद—ङः, सि, धुट्। **अनुवृत्ति—**वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'ङ्' के अनन्तर 'स्' को धुट् का आगम विकल्प से होता है।

धुट् ८।३।२९। डात्परस्य सस्य धुड् वा। **(९३) आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६।** टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्ताऽवयवौ स्तः। षट्त्सन्तः। षट् सन्तः। **(९४) ङ्णोः कुक् टुक् शरि ८।३।२८।** ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि। कुक्टुकोरसिद्धत्वान्न जश्त्वम्। * चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् *। प्राङ्ख् षष्ठः। प्राङ् क्षष्ठः। प्राङ् षष्ठः। सुगण्ठ् षष्ठः। सुगण्ट् षष्ठः। सुगण् षष्ठः।

---

(९३) षट्त्सन्त इति। 'षड्+सन्तः' इत्यत्र 'आद्यन्तौ टकितावि'ति परिभाषायाः सहकारेण 'डः सि धुडि'त्यनेन विकल्पेन सकारस्याद्यवयवे धुडागमेऽनुबन्धलोपे 'खरि चे'ति चर्त्वेन धकारस्य तकारे डकारस्य टकारे च कृते षट्त्सन्त इति। धुडभावपक्षे चर्त्वे सति 'षट् सन्तः' इति च रूपम्।

(९४) ङ्णोः कुगिति। 'हे मपरे वे'त्यतो वेत्यनुवर्तते। कुक् टुक् चेति समाहारद्वन्द्वः। यथासङ्ख्यपरिभाषाबलेन ङकारस्य कुक्, णकारस्य टुगागमौ भवतः। उभयत्र ककार इत्, उकार उच्चारणार्थः। चय इति। पौष्करसादिराचार्यस्तस्य मते चय्प्रत्याहारघटितवर्णानां (कचटतपाम्) स्थाने शरि परे क्रमशः खयः (खछठथफाः) स्युरिति वक्तव्यमित्यर्थः। 'प्राङ्+षष्ठः' इत्यत्र 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' इत्यनेन ङकारस्य कुगागमे तस्य 'आद्यन्तौ टकितौ' इति परिभाषया ङकारस्यान्तावयवेऽनुबन्ध-

---

विमर्श—'हे मपरे वा' (८।३।२६) सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति आने से यह धुट् का आगम विकल्प से होता है। 'ट्' तथा 'उ' की इत्संज्ञा होकर केवल 'ध्' शेष रहता है।

(९३) पद—आद्यन्तौ टकितौ। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—टित्, कित् आगम जिसको विधीयमान हों, उसके क्रमशः आदि और अन्त अवयव होते हैं।

विमर्श—द्विपद सूत्र है—टकितौ आद्यन्तौ। टश्च कश्च टकौ। टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ। आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ—(इतरेतरद्वन्द्व)। अर्थात् टकारेत्संज्ञक विधान यथासंख्य परिभाषा की सहायता से जिसका विधान किया गया हो, उसके आदि में तथा ककार इत्संज्ञक विधान उसके अन्त अवयव के रूप में स्थित रहता है। **उदाहरण**—षड्+सन्तः ('ध्'—धुट् का आगम विकल्प से)—षड ध् सन्तः (चर्त्वं ध्=त् औ ड्=ट्—'खरि च' से)=षट्त्सन्तः। पक्ष में (धुट् का आगम न होने पर 'ड्'='ट्'=चर्त्व)—षट् सन्तः। अर्थ—छः सज्जन।

(९४) पद—ङ्णोः, कुक्, टुक्, शरि। **अनुवृत्ति**—वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ङकार और णकार को 'कुक्' और 'टुक्' का आगम विकल्प से होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'हे मपरे वा' सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति आती है। यहाँ उद्देश्य ङकार और णकार एवं विधेय—कुक् और टुक् समान संख्या वाले होने से यथासंख्य परिभाषा के बल से क्रमशः होते हैं। कुक् और टुक् के अन्तिम वर्ण 'क्' और 'उ' की इत्संज्ञा होकर केवल क और ट् शेष रहता है। यहाँ 'क्' की इत्संज्ञा होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा के अनुसार यह आगम स्थानी का अन्तावयव होता है। इस प्रकार 'ङ्' तथा 'ण्' के बाद यदि शर् (श् ष् स्) वर्ण रहें तो क्रमशः 'ङ्' तथा 'ण्' के अन्त में विकल्प से कुक् (क्) तथा टुक् (ट्) का आगम होता है। **उदाहरण**—(१) प्राङ्+षष्ठः (क्–कुक् का आगम विकल्प से)—प्राङ्क् षष्ठः ('क्'='ख्'—वार्तिक से द्वितीय वर्ण)=प्राङ्ख् षष्ठः। वर्ग का द्वितीय वर्ण न होने

(९५) नश्च ८।३।३० । नान्तात्परस्य सस्य धुड् वा । सन्त्सः । सन्सः । (९६) शि तुक् ८।३।३१ । पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा । सञ्च्छम्भुः । सञ्छम्भुः । सञ्च्शम्भुः । सञ्शम्भुः ।

'अछौ अचछा अचशा अशाविति चतुष्टयम् ।
रूपाणामिह तुक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात् ।।'

लोपे 'प्राङ्क् षष्ठः' इति जाते 'चयो द्वितीया' वार्तिकेन ककारस्य स्थाने खकारे 'प्राङ्ख् षष्ठः' इति । द्वितीयाक्षराऽभावे क् ष् संयोगे 'प्राङ्क्षष्ठः' इति । कुगागमाभावे च 'प्राङ् षष्ठः' इति । सुगण् + षष्ठः ।

(९५) **सन्त्स इति** । 'सन् + सः' इति स्थिते 'नश्चे'ति सूत्रेण विभाषया सस्याद्यावयवे धुटचनुबन्धलोपे चर्त्वे 'सन्त्सः' इति । धुडागमाभावे 'सन् सः' इति ।

(९६) 'नश्चे'ति सूत्रात् न इति पञ्चम्यन्तमनुवृत्तमिह षष्ठ्यन्तमाश्रीयते, शब्दाधिकारात् । 'पदस्ये'त्यधिकृतम्, अवयवषष्ठ्यन्तमाश्रीयते । 'हे मपरे वे'त्यतो वेत्यनुवर्तते । **सञ्च्छम्भुरिति** । 'सन् + शम्भुः' इत्यत्र 'शि तुक्' इत्यनेन तस्य विकल्पेन तुगागमेऽनुबन्धलोपे 'सन्त् + शम्भुः' इति स्थिते 'शश्छोऽटि' इति शस्य वा छत्वे 'सन्त्छम्भुः' इति, 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति तकारस्य श्चुत्वेन चकारे, पुनस्तेनैव

पर (क् + ष् = क्ष्) = प्राङ्क्षष्ठः । कुक् के आगम के अभाव में—प्राङ्षष्ठः । अर्थ—छठा प्राग्देशवासी । (२) सुगण् + षष्ठः (ट्—टुक् का आगम विकल्प से) = सुगण्ट् षष्ठः (ट् = ठ्—वर्ग का द्वितीयाक्षर विकल्प से) = सुगण्ठ् षष्ठः । द्वितीय वर्ण न होने के कारण पक्ष में—सुगण्ट् षष्ठः । टुक् आगम के अभाव में—सुगण् षष्ठः । अर्थ—छठा अच्छा गणक ।

(९५) पद—नः, च । **अनुवृत्ति**—सि, धुट्, वा । **विधिसूत्र** ।

सूत्रार्थ—नकारान्त पद से परे 'स्' को धुट् का आगम विकल्प से होता है ।

विमर्श—इस सूत्र में 'डः सि धुट्' (८।३।२९) सूत्र से 'सि' और 'धुट्' एवं 'हे मपरे वा' (८।३।२६) सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति आती है । अनुवृत्त सप्तम्यन्त 'सि' पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है । तदनुसार 'न्' के अनन्तर 'स्' को 'धुट्' का आगम विकल्प से होता है । 'धुट्' में 'टकार' और उकार की इत्संज्ञा होकर 'ध्' शेष रहता है । टित् होने से यह सकार के आदि में स्थित रहता है । **उदाहरण**—सन् + सः ('ध्'—धुट् का विकल्प से आगम)—सन् ध् सः ('ध्' = 'त्'—चर्त्व) = सन्त्सः । धुट् आगम के अभाव पक्ष में—सन् सः । अर्थ—वह सज्जन ।

(९६) पद—शि, तुक् । **अनुवृत्ति**—नः, वा, पदान्तस्य । **विधिसूत्र** ।

सूत्रार्थ—पदान्त नकार को 'श्' परे रहते तुक् का आगम विकल्प से होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ पूर्ण करने के लिए 'नश्च' (८।३।३०) सूत्र से पञ्चम्यन्त 'नः' तथा 'हे मपरे' से 'वा' की अनुवृत्ति आती है । 'पदस्य' का अधिकार है । अनुवृत्त 'नः' पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित होकर 'पदस्य' का विशेषण बन जाता है । तदन्तविधि होने से—शकार परे रहने पर नकारान्त पद को विकल्प से 'तुक्' का आगम होता है । ककारेत्संज्ञक होने से यह न् का अन्तावयव होगा । **उदाहरण**—'सन् + शम्भुः' ('त्'—तुक् का आगम विकल्प से)—सन् त् शम्भुः ('त्' = 'च्'—श्चुत्व पुनः 'न्' = 'ञ्' श्चुत्व)—सन् च् शम्भुः ('श्' = 'छ्' = शश्छोऽटि से विकल्प से)—सञ्च्-

(९७) ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८।३।३२। ह्रस्वात्परो यो ङम्, तदन्तं यत्पदं, तस्मात्परस्याऽचो नित्यं ङमुडागमः स्यात्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युतः। **(९८) समः सुटि ८।३।५।** समो रुः स्यात् सुटि। **(९९) अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२।** अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात्।

नकारस्य ञकारे 'झरो झरि सवर्णे' इत्यनेन विकल्पेन चकारलोपे 'सञ्छम्भुरि'ति। चलोपाभावे 'सञ्च्छम्भुः' इति। छत्वाभावे तकारस्य चुत्वे 'सञ्चशम्भुः' इति। तुगभावे च 'सञ्शम्भुः' इति।

(९७) ङमो ह्रस्वादिति। ङमः ङमुट् इत्युभयत्रापि प्रत्याहारग्रहणम्। उडिति प्रत्येकं ङकारादिभिः सम्बध्यते। **प्रत्यङ्ङात्मेति।** 'प्रत्यङ् + आत्मा' इत्यत्र 'आद्यन्तौ टकितौ' इति परिभाषाबलेन 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' इति आकारस्याद्यावयवे ङुटि अनुबन्धलोपे 'प्रत्यङ्ङात्मा' इति। एवं सुगण् + ईशः, सन् + अच्युतः।

छम्भुः, ('च्' लोप विकल्प से 'झरो झरि सवर्णे')—सञ्छम्भुः 'च्' का लोप न होने पर पक्ष में—सञ्च्छम्भुः। 'च्' लोप और छत्व न होने पर पक्ष में सञ्चशम्भुः। 'तुक्' आगम न होने पर—सञ्शम्भुः। इस प्रकार यहाँ तुक्, छत्व और 'च्' लोप प्रत्येक कार्य विकल्प से होने के कारण चार रूप बनते हैं। अर्थ—विद्यमान शिव।

(९७) पद—ङमः, ह्रस्वाद्, अचि, ङमुण्, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ह्रस्व वर्ण से परे ङम्, तदन्त पद से परे अच् को नित्य 'ङमुट्' का आगम होता है।

विमर्श—पदस्य का अधिकार है, वह पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित होकर 'ङम्' का विशेष्य बन जाता है, विशेषण 'ङम्' में तदन्तविधि होती है। 'अचि' पद भी षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। 'ङमुट्' में 'उ' तथा 'ट्' इत्संज्ञक है। ङम् प्रत्याहार के अन्तर्गत ङ्, ण्, न् वर्ण आते हैं। 'ङमुट्' के अनुबन्धों का सम्बन्ध सभी 'ङम्' वर्णों के साथ होने से ङुट्, णुट् तथा नुट् का आगम होता है। **उदाहरण**—(१) प्रत्यङ्+आत्मा (आ से पूर्व 'ङ्' (ङुट्) का आगम) प्रत्यङ्ङात्मा। अर्थ—अन्तरात्मा। (२) 'सुगण्+ईशः' (ई से पूर्व 'ण्' (णुट्) का आगम) सुगण्णीशः। अर्थ—अच्छा गणितज्ञ। (३) 'सन्+अच्युतः' ('अ' से पूर्व 'न्' (नुट्) का आगम) सन्नच्युतः। अर्थ—सत्स्वरूप विष्णु।

(९८) पद—समः, सुटि। **अनुवृत्ति**—रुः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सम्' को 'रु' होता है, सुट् परे रहते।

विमर्श—सूत्र में स्थानी—'सम्' तथा निमित्त—'सुट्' का निर्देश किया गया है। आदेश का निर्देश नहीं है। अतः पूर्वसूत्र 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ' से प्रसङ्गवशात् 'रु' की अनुवृत्ति आती है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति होने से सम् के अन्तिम वर्ण 'म्' के स्थान में सुट् परे रहते 'रु' होता है।

(९९) पद—अत्र, अनुनासिकः, पूर्वस्य, तु वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इस 'रु' प्रकरण में 'रु' से पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक होता है।

विमर्श—यहाँ रु प्रकरण का तात्पर्य 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ' (८।३।१) के प्रसङ्ग में होने वाले रु से है। 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) का ग्रहण नहीं होता।

(१००) अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८।३।४। अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात् । **(१०१) खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५।** खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात् । इति प्राप्ते । * संपुंकानां सो वक्तव्यः * । सँस्स्कर्ता । संस्स्कर्ता । **(१०२) पुमः खय्यम्परे ८।३।६।** अम्परे खयि पुमो रुः

---

(१००) **अनुनासिकात्पर इति ।** रोः पूर्वस्मात्वर्णात्परः अर्थात् रोः पूर्वस्य स्वरवर्णस्योपरि (अनुस्वारः) इत्यर्थः । **संस्स्कर्तेति ।** 'सम् + कर्ता' इत्यत्र 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सूत्रेण सुडागमेऽनुबन्धलोपे 'सम् स् कर्ता' इति जाते 'समः सुटि' इति सुट्सम्बन्धिनि सकारे परे सर्वस्य रुत्वे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषयान्त्यस्य मकारस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'स र् स्कर्ता' इत्यवस्थायाम् 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन विभाषया रोः पूर्वमनुनासिके 'सँर् स्कर्ता' इति जाते 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इति सूत्रेण पक्षेऽनुस्वारे संर् स्कर्ता इति जाते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यस्यापवादेन 'वा शरि' इत्यनेन पाक्षिके विसर्गे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्गस्य सत्वे कृते 'सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता' इति रूपद्वयं निष्पन्नम् ।

(१०२) **पुम इति ।** 'मतुवसो रुः' इत्यतो रुग्रहणमनुवर्तते । पुम् + कोकिलः = पुँस्कोकिलः ।

---

(१००) पद—अनुनासिकात्, परः, अनुस्वारः । **अनुवृत्ति**—रुः, पूर्वस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अनुनासिक पक्ष को छोड़कर 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण के परे अनुस्वार का आगम होता है ।

विमर्श—'मतुवसो रु०' (८।३।१) तथा 'अत्रानुनासिक०' (८।३।२) से क्रमशः 'रु' तथा 'पूर्वस्य' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार अनुनासिक पक्ष को छोड़कर 'रु' से पूर्व वर्ण के पश्चात् अनुस्वार (ं) का आगम होता है ।

(१०१) पद—खरवसानयोः, विसर्जनीयः । **अनुवृत्ति**—रः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—खर् परे रहते अवसान में पदान्त रेफ को विसर्ग होता है ।

विमर्श—'पदस्य' का अधिकार है । 'रो रि' से 'रः' पद की अनुवृत्ति आती है । वह 'पदस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । इस प्रकार—खर्-प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण परे रहते अवसान के विषय में पदान्त 'र्' के स्थान में विसर्ग होता है ।

(वा०)—सम्, पुम् तथा कान् शब्दों के विसर्ग के स्थान पर 'स्' आदेश होता है ।

उदाहरण—'सम्+कर्ता' (स् (सुट्) का आगम—'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे')—'सम् स् कर्ता' ('म्'='र्')—स र् स्कर्ता ('र्' से पूर्व अनुनासिक विकल्प से) 'सँ र्+स्कर्ता' (पक्ष में अनुस्वार होकर द्वितीय रूप)—संर्+स्कर्ता । ('र्' = : —विसर्ग) सँः स्कर्ता, संः स्कर्ता (विसर्ग के स्थान में 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) के अपवाद 'वा शरि' (८।३।३६) सूत्र से पाक्षिक विसर्ग की प्राप्ति होने पर 'संपुंकानां सो वक्तव्यः' वार्तिक से-विसर्ग के स्थान पर नित्य 'स्' होता है) (: =स्)=सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता ।

(१०२) पद—पुमः, खयि, अम्परे । **अनुवृत्ति**—रु । **विधिसूत्र ।**

स्यात् । पुँस्कोकिलः । पुंस्कोकिलः । पुँस्पुत्रः । पुंस्पुत्रः । अम्परे किम् ? पुंक्षीरम् । खयि किम् ? पुँदासः । पुंसः संयोगान्तलोपेऽवशिष्टभागस्येदमनुकरणम् । * ख्याञादेशे न * । पुंख्यानम् । (१०३) नश्छव्यप्रशाम् ८।३।७ । अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः । (१०४) विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४ । खरि परे विसर्जनीयस्य सः स्यात् । चक्रिँ-

---

(१०३) नश्छव्यप्रशानिति । अम्परे इत्यनुवर्तते रु इति च । तदाह—अम्पर इति ।

(१०४) चक्रिँस्त्रायस्वेति । 'चक्रिन् + त्रायस्व' इति स्थिते 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषायाः सहकारेण 'नश्छव्यप्रशान्' इति नकारस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'चक्रि र्

मूलार्थ—अम्परक 'खय्' परे रहते 'पुम्' के मकार को रु होता है ।

विमर्श—प्रसङ्गतः 'रु' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार खय्-प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण के अनन्तर अम् प्रत्याहारस्थ वर्ण हो तो 'पुम्' के 'म्' के स्थान पर 'रु' होता है । **उदाहरण**—पुम् + कोकिलः' (म् = र्—यहाँ 'क्' खय् वर्ण है और उसके अनन्तर 'ओ' अम् प्रत्याहारस्थ वर्ण है) रु प्रकरण में होने वाला अनुनासिक होकर—'पुँर् कोकिलः' ('र्' = 'स्'—वार्तिक से) = पुँस्कोकिलः । पक्ष में अनुस्वार—पुंस्कोकिलः । अर्थ—नर कोयल । इसी प्रकार पुम् + पुत्रः (पूर्ववत्) = पुँस्पुत्रः, पुंस्पुत्रः । अर्थ—वीर पुत्र । **प्रत्युदाहरण**—(१) प्रकृत सूत्र में 'खय्' के अनन्तर 'अम्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों का होना न स्वीकार किया जाय तो 'पुंक्षीरम्' में भी 'म्' को 'रु' होने लगेगा । 'अम्' ग्रहण होने से 'क्' के बाद 'ष्' वर्ण 'अम्' के अन्तर्गत न होने से 'रु' नहीं हुआ । (२) इसी प्रकार इस सूत्र में 'खय्' पद के न रखने पर 'पुंदासः' 'पुम् + दासः' में केवल अम् परे रहने पर 'म्' = 'रु' होने लगेगा । 'खय्' पद के ग्रहण करने पर 'र्' नहीं होगा, क्योंकि 'द्' खय् प्रत्याहार के अन्तर्गत नहीं आता ।

(वा०) चक्षिङ् (धातु) के स्थान में 'ख्याञ्' आदेश होने पर 'पुम्' के 'म्' के स्थान पर 'रु' (र्) नहीं होता । **उदाहरण**—पुंख्यानम् । पुम् + चक्ष् (चक्षिङ्) + ल्युट् (यु) (यु = अन)—पुम् + चक्ष् + अन चक्ष् = ख्या—'चक्षिङः ख्याञ्' (२।४।५४) सूत्र से)—पुम् + ख्या + अन (दीर्घ)—पुम् + ख्यान (विभक्तिकार्य)—पुम् + ख्यानम् (प्राप्त रुत्व का प्रकृत वार्तिक से निषेध) अनुस्वार होकर—पुंख्यानम् । अर्थ—पुरुष का वर्णन ।

(१०३) पद—नः, छवि, अप्रशान् । **अनुवृत्ति**—अम्परे, रुः, पदस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अम्परक छव् परे रहने पर प्रशान् भिन्न नान्त पद को रु आदेश होता है ।

विमर्श—पदस्य का अधिकार है । 'नः' विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । 'पुमः खय्यम्परे' से 'अम्परे' तथा 'मतुवसो रु०' से 'रु' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार अम् = (स्वर, अन्तःस्थ, ह तथा वर्गों के पञ्चमवर्ण) परक छव् = (च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्) वर्णों के परे रहने पर प्रशान् शब्द से भिन्न नकारान्त पदों के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के द्वारा अन्तिम वर्ण 'न्' के स्थान पर 'रु' (र्) होगा ।

(१०४) पद—विसर्जनीयस्य, सः । **अनुवृत्ति**—खरि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—खर् परे रहते विसर्ग के स्थान में स् आदेश होता है ।

विमर्श—यहाँ 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।४५) से 'खरि' की अनुवृत्ति आती है । **उदाहरण**—'चक्रिन् + त्रायस्व' ('न्' = 'र्' यतः उसके बाद छव्—'त्' है तथा उसका पश्चाद्-

स्त्रायस्व । चक्रिस्त्रायस्व । अप्रशान् किम् ? प्रशान् तनोति । पदस्य किम् ? हन्ति । अम्परे किम् ? सन्त्सरुः खड्गमुष्टिः । (१०५) नॄन्पे ८।३।१० । नॄनित्यस्य रुर्वा पे । (१०६) कुप्वोः ≍क≍ पौ च ८।३।३७ । कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍ पौ स्तः । चाद्विसर्गः । नॄँ≍ पाहि । नॄं≍ पाहि । नॄँः पाहि । नॄंः पाहि । नॄन्पाहि ।

त्रायस्व' इति जाते विकल्पेन 'अत्रानु०' इत्यनेनानुनासिके पक्षे 'अनुनासिकात्परः०' इत्यादिना अनुस्वारे कृते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति सत्वे चक्रिँस्त्रायस्व, चंकिस्त्रायस्वे'ति रूपद्वयम् ।

(१०५) **नॄन्पे इति** । 'मतुवसो रु' इत्यतः रु इत्यनुवर्तते । 'नॄन्' इत्यस्य रु स्याद्वा पकारे पर इत्यर्थः ।

(१०६) **'नॄँ≍पाही'ति** । 'नॄन्+पाही'ति स्थिते नकारस्य अलोऽन्त्यपरिभाषया रुत्वे पाक्षिकानुनासिके पक्षेऽनुस्वारे च कृते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'कुप्वोः≍क≍पौ च' इत्युपध्मानीये 'नॄँ≍पाहि, नॄं≍पाहि' इति । उपध्मानीयाभावे विसर्गे सति नॄँः पाहि, नॄंः पाहि' इति । रुत्वाऽभावपक्षे च 'नॄन्पाही'ति पञ्चरूपाणि ।

वर्ती वर्ण 'अम्' 'र्' है)—चक्रि र् त्रायस्व, (अनुनासिक) चक्रिँर्त्रायस्व, (र्=:, विसर्ग) चक्रिँः त्रायस्व, (:=स्—विसर्जनीयस्य सः) चक्रिँस्त्रायस्व । पाक्षिक अनुनासिक होने से पक्ष में अनुस्वार—चक्रिंस्त्रायस्व । अर्थ—हे चक्रधारी कृष्ण ! रक्षा करो । **प्रत्युदाहरण**—(१) सूत्र में 'अप्रशान्' पद का ग्रहण होने से 'प्रशान् तनोति' में 'न्' को प्रशान् शब्द के अन्तर्गत होने के कारण 'रु' नहीं हुआ । (२) पद के अन्त में 'न्' के न होने से 'हन्ति' में 'रु' नहीं हुआ । (३) 'अम्परे' पद का ग्रहण होने से 'सन्त्सरुः' 'न्' के अनन्तर 'त्'–छव् होने पर भी उसके पश्चात् रहने वाला 'स्' वर्ण अम् प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से 'न्' के स्थान पर 'रु' नहीं हुआ । अर्थ—तलवार की मूँठ ।

(१०५) पद—नॄन्, पे । **अनुवृत्ति**—रु, उभयथा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—नॄन् के नकार को पकार परे रहने पर रु विकल्प से होता है ।

विमर्श—यहाँ आदेश वाचक पद 'रु' की अनुवृत्ति 'मतुवसो०' से आती है । 'उभयथर्क्षु:' (८।३।८) से विकल्पार्थक 'उभयथा' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के बल से 'नॄन्' के 'न्' के स्थान पर पकार परे रहते 'रु' आदेश होता है ।

(१०६) पद—कुप्वोः, ≍क≍पौ, च । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विसर्ग के स्थान पर कवर्ग, पवर्ग परे रहते क्रमशः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होते हैं । पक्ष में विसर्ग भी होता है ।

विमर्श—सूत्र में स्थानी का सङ्केत नहीं किया गया है । अतः 'विसर्जनीयस्य सः' (१०४) से 'विसर्जनीयस्य' की अनुवृत्ति आती है । 'कुप्वोः'[1] निमित्त वाचक पद है । इस प्रकार विसर्ग के अनन्तर कवर्ग, पवर्ग परे रहने पर विसर्ग के स्थान में जिह्वामूलीय (≍क) और उपध्मानीय (≍प≍फ) आदेश क्रमशः होते हैं । पक्ष में 'च्' पद से विसर्ग भी । **उदाहरण**—नॄन्+पाहि

---

१. कुश्च पुश्च कुपू, तयोः कुप्वोः । कपावुच्चारणार्थौ ।

(१०७) सोऽपदादौ ८।३।३८ । विसर्गस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः । *पाश-कल्पक-काम्येष्विति वाच्यम्* । पयस्पाशम् । पयस्कल्पम् । यशस्कम् । यशस्काम्यति । *अनव्ययस्येति वाच्यम्* । प्रातःकल्पम् । *काम्ये रोरेवेति वाच्यम्* । नेह—गीः काम्यति ।
(१०८) इणः षः ८।३।३९ । इणः परस्य विसर्गस्य षः स्यात् पूर्वविषये । सर्पिष्कल्पम् ।

---

(१०७) **सोऽपदादाविति** । कुप्वोरित्यनुवर्तते, तस्याऽपदादाविति विशेषणम् । **पयस्पाशमिति** । 'पयस्+पाशम्' इत्यत्र 'ससजुषो रुः' इत्यनेन सस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे विसर्गे च कृते 'पयः पाशमि'ति जाते प्राप्तमुपध्मानीयं प्रबाध्य 'सोऽपदादौ' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वे पयस्पाशमिति । एवं पयस्कल्पमित्यादयः ।

(१०८) **इणः ष इति** । सूत्रेऽस्मिन् कुप्वोरिति, अपदादाविति, पाशकल्पकेत्यादि,

---

('न्' = 'र्')—नॄर् पाहि, (पाक्षिक अनुनासिक)—नॄँर् पाहि, (पक्ष में अनुस्वार)—नॄंर् पाहि, (र् = : विसर्ग)—नॄँः पाहि, पकार परे रहते उपध्मानीय)—नॄँ ᳵपाहि, नॄं ᳵपाहि । पक्ष में विसर्ग—नॄँः पाहि, नॄंः पाहि । 'नॄन्पे' सूत्र से रुत्व के अभावपक्ष में नॄन्पाहि ।

(१०७) पद—सः, अपदादौ । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, कुप्वोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विसर्ग के अनन्तर अपदादि क वर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्ग के स्थान में 'स्' आदेश होता है ।

(वा०) इस सन्दर्भ में पाशप्, कल्पप्, क तथा काम्यच् प्रत्ययों के परे रहने पर ही स् आदेश होता है, ऐसा कहना चाहिए ।

विमर्श—यहाँ अनुवृत्त 'विसर्जनीयस्य' पद स्थानी है तथा सूत्रस्थ 'सः' आदेश । 'कुप्वोः०' (८।३।३७) से 'कुप्वोः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार विसर्ग के पश्चात् पदादिभिन्न कवर्ग-पवर्ग परे रहने पर विसर्ग के स्थान में 'स्' आदेश होता है ।

(वा०) 'यह आदेश प्रायः पाशप्, कल्पप्, क और काम्यच् प्रत्ययों के परे रहने पर ही हो ।' यह वार्तिककार का अभिप्राय है ।

उदाहरण—(१) पयः+पाशम् (कुत्सित अर्थ में 'पयस्' शब्द से 'पाशप्' प्रत्यय—'याप्ये पाशप्' ५।३।४७) अतः (: = स्) = पयस्पाशम् । अर्थ—खराब दूध । (२) पयः+कल्पम् (कम अर्थ में पयस् शब्द से 'कल्पप्' प्रत्यय—'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' अतः विसर्ग = स्) = पयस्कल्पम् । अर्थ—कम दूध । (३) यशः+कम् (न्यून अर्थ में 'क' प्रत्यय—'अज्ञाते' अथवा 'कुत्सिते' (५।३।७४) अतः 'विसर्ग = स्') = यशस्कम् । अर्थ—अप यशस्वी । (४) यशः +काम्यति (अपने यश की इच्छा करने वाले अर्थ में 'काम्यच्' प्रत्यय—'काम्यच्च' (३।१।९) अतः विसर्ग = स्) = यशस्काम्यति । अर्थ—अपने यश का इच्छुक ।

(वा०) 'अनव्ययस्य इति वाच्यम्' । पूर्व वार्तिक का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए वार्तिककार का कथन है कि—अव्यय से भिन्न विसर्ग के स्थान पर 'स्' आदेश हो । अत एव 'प्रातः+कल्पम्' में (:) विसर्ग को 'स्' नहीं होता, क्योंकि यहाँ 'प्रातः' अव्यय पद है ।

(वा०) काम्ये, रोः, एव, इति वाच्यम् । 'काम्यच्' प्रत्यय परे रहने पर रु के स्थान में हुए विसर्ग को ही 'स्' होता है । अतः 'गीः+काम्यति' में विसर्ग को 'स्' नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ विसर्ग 'रु' के स्थान पर नहीं हुआ है । अर्थ—वाणी का इच्छुक ।

सर्पिष्पाशम् । सर्पिष्कम् । सर्पिष्काम्यति । (१०९) कस्कादिषु च ८।३।४८ । एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यादन्यस्य तु सः । कस्कः । कौतस्कुतः । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालमित्यादि । आकृतिगणोऽयम् । (११०) तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२ ।

अनव्ययस्येति, काम्ये रोरेवेति च सम्बध्यते । परस्येत्यध्याहार्यम्, 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यस्मात् 'विसर्जनीयस्ये'त्यनुवर्तते । **सर्पिष्कल्पमिति** । 'सर्पिः + कल्पम्' इत्यत्र 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' इत्यनेन प्राप्तं जिह्वामूलीयं प्रबाध्य 'इणः षः' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वे 'सर्पिष्कल्पमि'ति ।

(१०९) **कस्कादिषु चेति** । अत्र 'इणः षः' इत्यत इण इति, 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यस्मात् 'विसर्जनीयस्ये'ति, 'सोऽपदादावि'त्यतः 'सः' इति चानुवर्तते । सूत्रे कस्कादिष्विति विषयसप्तमी । तेन कस्कादिगणे इणः परस्य विसर्गस्य षः स्यात्, अन्यस्य विसर्गस्य इणपरत्वाभावान्न षत्वम्, किन्तु सत्वं भवतीत्यर्थः फलितः ।

---

(१०८) पद—इणः षः । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पूर्वोक्त विषय में इण् से परे विसर्ग को 'ष्' होता है ।

विमर्श—यहाँ 'विसर्जनीयस्य सः' से 'विसर्जनीयस्य' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार अनुवृत्त विसर्ग स्थानी है और 'ष्' आदेश । पूर्व वार्तिक सम्बन्धी प्रत्ययों के विषय में यह सूत्र प्रवृत्त होता है । अतः 'इण्'=इ, उ के अनन्तर विसर्ग के पश्चात् पूर्व वार्तिकोक्त पाशप्, कल्पक्, क तथा काम्यच् प्रत्यय परे रहने पर विसर्ग के स्थान में 'ष्' आदेश होता है । **उदाहरण**—(१) सर्पिः+पाशम् (इ के बाद विसर्ग=ष्)=सर्पिष्पाशम् । अर्थ—खराब घी । (२) सर्पिः+कल्पम् (इ के पश्चाद्वर्ती :=ष्)=सर्पिष्कल्पम् । अर्थ—घी के समान । (३) सर्पिः+कम् (विसर्ग : =ष्)=सर्पिष्कम् । अर्थ—कम घी । (४) सर्पिः+काम्यति (विसर्ग=ष्)= सर्पिष्काम्यति । अर्थ—घी का इच्छुक ।

(१०९) पद—कस्कादिषु, च । **अनुवृत्ति**—सः, षः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कस्कादिगणपठित शब्दों में इण् से परे विसर्ग को 'ष्' होता है । इण् भिन्न से परे (यदि इण् से परे विसर्ग न रहे तो) विसर्ग के स्थान में 'स्' होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सोऽपदादौ' सूत्र से 'सः' तथा 'इणः षः' सूत्र की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार उक्त गणपठित शब्दों के अवयव इण्=इ, उ के पश्चाद्वर्ती विसर्ग को ष् होता है । इण् के अनन्तर विसर्ग न रहने पर विसर्ग को 'स्' आदेश होता है । **उदाहरण**—(१) 'कः+कः' (इण् से परे विसर्ग न होने के कारण विसर्ग=ष् नहीं हुआ, अपितुः='स्')=कस्कः । अर्थ—कौन-कौन । (२) कौतः+कुतः ('कुतः' से आगत अर्थ में अण् आदिवृद्धिः) (विसर्ग=स्)= कौतस्कुतः । अर्थ—कहाँ-कहाँ से । (३) 'सर्पिः+कुण्डिका' (इण् से परे विसर्ग होने से :=ष्) =सर्पिष्कुण्डिका । अर्थ—घी का पात्र । (४) 'धनुः+कपालम्' (विसर्ग=ष्)=धनुष्कपालम् । अर्थ—धनुष की डोरी । कस्कादि आकृतिगण है ।

(११०) पद—तस्य, परम्, आम्रेडितम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—द्विरुक्त (जो दो बार कहा गया हो) के दूसरे रूप की आम्रेडित संज्ञा होती है ।

विमर्श—'सर्वस्य द्वे' का अधिकार होने से सूत्रपठित 'तस्य' पद से द्वित्व का संकेत किया गया है । इस प्रकार किसी शब्द को दो बार कहने पर दूसरी बार उच्चरित शब्द 'आम्रेडित' संज्ञक होगा ।

द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात्। (१११) कानाम्रेडिते ८।३।१२। कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते। काँस्कान्। कांस्कान्। (११२) छे च ६।१।७३। ह्रस्वस्य छे तुक्। स्वच्छाया। शिवच्छाया। (११३) आङ्माङोश्च ६।१।७४। तुक् छे। आच्छादयति मा च्छिदत्। (११४) दीर्घात् ६।१।७५। तुक् छे। म्लेच्छति। (११५) पदान्ताद्वा ६।१।७६। दीर्घात्पदान्तात् छे परे तुग्वा स्यात्। लक्ष्मीच्छाया। लक्ष्मीछाया।

इति हल्सन्धिः।

---

(१११) **कानाम्रेडित इति।** 'रु' इत्यनुवर्तते। 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषया कान्शब्दान्तस्य नस्येति लभ्यते। काँस्कानिति। 'कान्+कान्' इति स्थिते 'तस्य परमाम्रेडितम्' इत्यनेन द्वितीयस्य कान्नित्यस्याम्रेडितसंज्ञायां 'कानाम्रेडिते' इति आम्रेडिते परे प्रथमनकारस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'अत्रानुनासिकः०' इत्यनेन विकल्पेनानुनासिके 'काँर् कान्' इति जाते रेफस्य विसर्गे 'सम्पुंकानामि'ति सत्वे काँस्कान् इति। पक्षेऽनुस्वारे 'कांस्कान्' इति।

(११२) **छे च इति।** 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्यतः 'ह्रस्वस्य' 'तुक्' इति चानुवर्तते। **स्वच्छायेति।** 'स्व+छाया' इत्यत्र 'छे च' इति तुगागमेऽनुबन्धलोपे 'स्वत्

---

(१११) पद—कान्, आम्रेडिते। **अनुवृत्ति**—रुः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'कान्' के नकार के स्थान में 'रु' आदेश होता है, आम्रेडित परे रहते।

विमर्श—यहाँ 'मतुवसो०' सूत्र से आदेशवाचक पद 'रु' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार 'कान्' शब्द को द्वित्व (द्विरावृत्ति) होने पर पूर्व नकार के स्थान में 'रु' आदेश होता है। **उदाहरण**—कान्+कान् (प्रथम 'न्'='र्')—'का र् कान्', (पाक्षिक अनुनासिक)—'काँ र् कान्' (र्=विसर्ग)—काँः कान् (:=स्—'संपुंकानां सो वक्तव्यः') काँस्कान्। पक्ष में अनुस्वार—कांस्कान्। अर्थ—किन्हें-किन्हें।

(११२) पद—छे, च। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वस्य, तुक्, संहितायाम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ह्रस्व वर्ण के पश्चात् 'छ्' परे रहने पर संहिता के विषय में तुक् का आगम होता है।

विमर्श—यहाँ 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७१) से 'तुक्' तथा 'ह्रस्वस्य' पदों की अनुवृत्ति आती है। संहितायाम् (६।१।७२) का अधिकार है। अतः यह आगम सन्धि के विषय में ही प्रवृत्त होगा। **उदाहरण**—(१) 'स्व+छाया' (तुक्-त्) का आगम—कित् होने से ह्रस्व वर्ण (वकारोत्तरवर्ती अकार) का अन्तावयव)—'स्वत् छाया' (त्=द्—'श्चुत्व असिद्ध होने से 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व)—'स्वद् छाया', (द्=ज्—'खरि च' के असिद्ध होने से श्चुत्व)—'स्वज् छाया' (ज्=च्—'खरि च' से चर्त्व)=स्वच्छाया। अर्थ—अपनी छाया। (२) शिव+छाया (तुक् होकर पूर्ववत्)=शिवच्छाया। अर्थ—शिव की छाया।

(११३) पद—आङ्माङोः, च। **अनुवृत्ति**—छे तुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'आङ्' तथा 'माङ्' अव्ययों को तुक् का आगम होता है 'छ्' परे रहते।

विमर्श—यहाँ 'छे च' (६।१।७३) से 'छे' तथा 'ह्रस्वस्य पिति०' (६।१।७१) से 'तुक्' की

अथ विसर्गसन्धिः

(११६) विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४। खरि परे विसर्जनीयस्य सः। विष्णुस्त्राता। (११७) शर्परे विसर्जनीयः ८।३।३५। शर्परे खरि विसर्गस्य विसर्गो, न

छाया' इति जाते श्चुत्वस्याऽसिद्धत्वात् पूर्वं 'झलां जश् झशि' इत्यनेन जश्त्वेन तकारस्य दकारे, ततश्च श्चुत्वापेक्षया 'खरि चे'ति चर्त्वस्याऽसिद्धतया पूर्वं 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन दकारस्य जकारे ततः 'खरि च' इति चर्त्वेन चकारे कृते स्वच्छायेति।

(११५) पदान्ताद्वेति। अत्र तुक्, छे, दीर्घात् इत्यनुवर्तते। तदाह—**दीर्घादित्यादिना। लक्ष्मीच्छायेति।** 'लक्ष्मी + छाया' इति स्थिते 'पदान्ताद्वा' इत्यनेन विभाषया तुकि उको लोपे श्चुत्वेन तकारस्य चकारे 'लक्ष्मीच्छाया' इति। तुगागमाऽभावे च 'लक्ष्मीछाया' इति।

(११६) एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानात् 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यतो मण्डूकप्लुतया 'खरी'त्यनुवर्तते। तदाह—**खरि पर इत्यादि।**

अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ङकारेत्संज्ञक 'आङ्' तथा 'माङ्' को 'छ्' परे रहते 'तुक्' (त्) का आगम होता है।

उदाहरण—(१) 'आ + छादयति' ('त्' का आगम)—'आ त् छादयति' (त् = द्—('झलां जशोऽन्ते')—आ द् छादयति, द् = ज्—श्चुत्व)—आ ज् छादयति (ज् = च्-चर्त्व) = आच्छादयति। अर्थ—ढकता है। (२) मा + छिदत् (तुक्-त् का आगम)—मा + त् + छिदत् (त् = द्—जश्त्व)—मा द् छिदत् (द = ज्—श्चुत्व)—मा ज् छिदत् (ज् = च्—चर्त्व) = माच्छिदत्। अर्थ—मत ढको।

(११४) पद—दीर्घात्। **अनुवृत्ति**—**छे, तुक्। विधिसूत्र।**

मूलार्थ—दीर्घ को तुक् का आगम होता है, छकार परे रहते।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी पूर्ववत् 'छे' तथा 'तुक्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः दीर्घ को 'छ्' परे रहने पर उसका अन्तावयव (तुक्) 'त्' होता है।

उदाहरण—म्ले + छति (तुक् (त्)—दीर्घ का अन्तावयव)—म्ले त् छति, (त = द्) म्ले द् छति (द् = ज्, ज् = च्) म्लेच्छति।

(११५) पद—पदान्ताद्, वा। **अनुवृत्ति**—दीर्घात्, छे, तुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त दीर्घ को 'छ्' परे रहते विकल्प से तुक् का आगम होता है।

विमर्श—पूर्व सूत्र 'दीर्घात्' यहाँ अनुवृत्त होता है तथा 'छि' और 'तुक्' की पूर्ववद् अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार पद के अन्त में विद्यमान दीर्घ स्वर को विकल्प से 'त्' का आगम होगा, आगे 'छ्' वर्ण के परे रहते। **उदाहरण**—'लक्ष्मी + छाया' (तुक्-त्)—ईकार का अन्तावयव विकल्प से—'लक्ष्मी त् + छाया' (त् = द्)—लक्ष्मी द् + छाया (द् = ज—श्चुत्व)—लक्ष्मी ज् + छाया (ज् = च्—चर्त्व) = लक्ष्मीच्छाया। 'तुक्' के अभाव पक्ष में—लक्ष्मीछाया। अर्थ—लक्ष्मी की कान्ति।

हल्सन्धिप्रकरण समाप्त।

---

(११६) पद—विसर्जनीयस्य, सः। **अनुवृत्ति**—खरि। **विधिसूत्र।**

त्वन्यत् । कः त्सरुः । 'घनाघनः क्षोभणः' । (११८) वा शरि ८।३।३६ । शरि परे विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् । हरिः शेते । हरिश्शेते । *खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः* । हरि स्फुरति । हरिः स्फुरति ।

इति विसर्गसन्धिः ।

---

(११७) **शर्परे इति ।** विसर्जनीयस्येत्यनुवर्तते, खरि च । शर् परो यस्मादिति बहुव्रीहिः ।

(११८) **वा शरि इति ।** पूर्ववत् विसर्जनीयस्येति, विसर्जनीय इति चानुवर्तते । विसर्गस्य पाक्षिकं विसर्गविधानम् । **हरिःशेते इति ।** 'हरिः + शेते' इत्यवस्थायाम् 'वा शरि' इत्यनेन विकल्पेन विसर्गस्य विसर्गे कृते 'हरिःशेते' इति । पक्षे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे श्चुत्वेन सकारस्य शकारे कृते 'हरिश्शेते' इति । **खर्परे शरीति ।** खर् परो यस्मादिति बहुव्रीहिः । खर्परके शरि परे विसर्गस्य विकल्पेन लोपो वक्तव्य इत्यर्थः ।

इति विसर्गसन्धिः ।

मूलार्थ—'खर्' परे रहते विसर्ग के स्थान में 'स्' आदेश होता है ।

विमर्श—विसर्ग के साथ अन्य वर्णों के मिलने से पदों में जो परिवर्तन होते हैं, उनका विवेचन इस प्रकरण में किया जा रहा है--

प्रकृत सूत्र में 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खरि' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार 'विसर्ग' स्थानी है, 'स्' आदेश है और अनुवृत्त 'खर्' निमित्त है ।

(११७) पद—शर्परे, विसर्जनीयः । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, खरि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—शर् परक खर् परे रहते विसर्ग के स्थान में विसर्ग ही होता है, और कुछ नहीं ।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र से 'विसर्जनीयस्य' तथा 'खरवसानयो०' से 'खरि' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार विसर्ग के पश्चात् खर् प्रत्याहारस्थ वर्णों के पश्चाद्वर्ती शर् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण हों तो विसर्ग के स्थान में विसर्ग ही होता है । **उदाहरण**—(१) 'कः + त्सरुः'=कः त्सरुः (विसर्ग के अनन्तर 'त्' खर है, उसके बाद 'स्'-शर् प्रत्याहारान्तर्गत आता है, अतः विसर्ग=ः) । अर्थ—कौन-सी तलवार की मूँठ । (२) घनाघनः + क्षोभणः (ः = ः)=घनाघनः क्षोभणः । अर्थ—अरिघातक इन्द्र ।

यह सूत्र कुप्वोः ≍क≍ पौ च' का अपवाद है ।

(११८) पद—वा शरि । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, विसर्जनीयः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—शर् (श्, ष्, स्) परे रहते विसर्ग के स्थान में विसर्ग विकल्प से होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) से स्थानीवाचक—'विसर्जनीयस्य' तथा 'शर्परे विसर्जनीयः' (११७) से आदेशवाचक 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति आती है । विसर्ग के अनन्तर शर् का होना निमित्त है । **उदाहरण**—(१) 'हरिः + शेते (ः = ः —विसर्ग के पश्चात् 'श्' रहने से विकल्प से विसर्ग)=हरिः शेते । पक्ष में (ः=स्)—हरिस् शेते (स्=श्) —श्चुत्व=हरिश्शेते । अर्थ—हरि शयन करते हैं ।

अथ स्वादिसन्धिः

(११९) ससजुषो रुः ८।२।६६। पदान्तस्य सस्य सजुष्शब्दस्य च रुः स्यात्। **(१२०) अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३।** अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति। शिवोऽर्च्यः। अतः किम्? देवा अत्र। अतीति किम्? श्व आगन्ता।

---

(११९) **ससजुषो रु इति।** सश्च सजूश्च ससजुषौ तयोरिति विग्रहः। 'पदस्ये'-त्यधिकारः। स च सकारेण सजुष्शब्देन च विशेष्यते। तदन्तविधिः। सकारान्तं सजुष्शब्दान्तं च यत्पदं, तस्यान्त्यस्य रुः स्यादिति फलितोऽर्थः।

(१२०) 'ऋत उत' इत्यस्मात् सूत्रात् उदित्यनुवर्तते। 'एङः पदान्तादति' इत्यतः अतीत्यनुवर्तते। तदाह—**अप्लुतादित्यादिना। शिवोऽर्च्य इति।** शिवस् + अर्च्यः इत्यत्र 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्यनेन रोरुत्वे 'शिव + उ + अर्च्यः' इति जाते 'आद् गुणः' इत्यनेन गुणे (अ + उ = ओ) 'शिवो + अर्च्यः'

(वा०) खर् परक शर् परे रहते विसर्ग का विकल्प से लोप होता है। **उदाहरण**—हरिः + स्फुरति, (विसर्ग का वार्तिक से विकल्प से लोप) हरि स्फुरति। लोप के न होने पर पक्ष में 'वा शरि' से पाक्षिक : = : = हरिः स्फुरति। विसर्ग के न होने पर : = स् = हरिस्स्फुरति। अर्थ—हरि चलते हैं।

विसर्गसन्धि-प्रकरण समाप्त।

---

(११९) पद—ससजुषोः, रुः। **अनुवृत्ति**—पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त सकार और 'सजुष्' शब्द के षकार के स्थान में 'रु' आदेश होता है।

विमर्श—प्रातिपदिकसंज्ञक शब्दों से प्रथमादि सात विभक्तियों से सु, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्ययों का विधान किया जाता है। इन विभक्तियों के जोड़ने से जो सन्धि-विषयक परिवर्तन होते हैं, उनका विवेचन स्वादिसन्धि के अन्तर्गत किया गया है—

प्रकृत सूत्र में 'पदस्य' का अधिकार होने से 'ससजुषोः' विशेषण है और विशेषण में तदन्त विधि होती है। अतः पद के अन्त में विद्यमान 'स्' तथा 'सजुष्' शब्द के अन्तिम वर्ण 'ष्' के स्थान में रु (र्) आदेश होता है।

(१२०) पद—अतः, रोः, अप्लुतात्, अप्लुते। **अनुवृत्ति**—उत्, अति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अप्लुत (प्लुतभिन्न) अकार से परे रु के स्थान पर उ होता है, यदि रु के पश्चात् भी अप्लुत अत् (ह्रस्व अकार) परे हो तो।

विमर्श—यहाँ 'ऋत उत्' (६।१।१११) से आदेशवाचक 'उत्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०९) से 'अति' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार अप्लुत ह्रस्व अकार से परे 'रु' के स्थान में अप्लुत अकार के परे रहने पर उत् (उकार) होता है। **उदाहरण**—शिवस् + अर्च्यः (स् = रु (र)—'ससजुषो रुः')—शिव र् अर्च्यः, ('र' के पूर्व एवं पर में ह्रस्व 'अ' होने से र् = उ) शिव + उ + अर्च्यः, (उ + उ = 'ओ' गुण) शिवो + अर्च्यः (पूर्वरूप—पदान्तादति) = शिवोऽर्च्यः। अर्थ—शिवजी पूज्य हैं।

अप्लुतात्किम् ? एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि । प्लुतस्याऽसिद्धत्वादतः परोऽयम् । अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नाऽसिद्धत्वम् । तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यम्, दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात् । अप्लुत इति किम् ? तिष्ठतु पय अ३ग्निदत्त । (१२१) हशि च ६।१।११४ । अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्याद्धशि । शिवो वन्द्यः । (१२२)

इति जाते 'एङः पदान्तादति' इत्यनेनाकारस्य पूर्वरूपे कृते 'शिवोऽर्च्यः' इति । **अप्लुतादिति** । अत इति तपरकरणस्य दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वेन प्लुतनिवृत्तौ सामर्थ्याभावात् प्लुतेऽपि रुत्वं मा भूदित्यर्थम् अप्लुतादिति ग्रहणमित्याशयः । न च 'एहि सुस्रोत३ अत्र स्नाहि' इत्यत्र अतः परत्वाभावात् 'अतो रो०' इति सूत्रस्य प्राप्तिरेव नास्तीति वाच्यम्; प्लुतस्य त्रैपादिकत्वेनाऽसिद्धत्वादतः परत्वमस्त्येव । अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम् ।

(१२१) **हशि चेति** । 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्यतः पदत्रयमनुवर्तते । 'ऋत उदि'त्यतः उदिति चानुवर्तते । तदाह—**अप्लुतादित्यादिना** । **शिवो वन्द्य इति** । 'शिवस् + वन्द्यः' इत्यवस्थायाम् 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'हशि चे'त्यनेन रोरुत्वे 'शिव + उ + वन्द्यः' इति जाते 'आद् गुणः' इति गुणे शिवो वन्द्य इति ।

प्रत्युदाहरण—(१) प्रकृत सूत्र में 'अतः' पद न रखने पर 'देवास् + अत्र' यहाँ स्=रु (र्) होकर 'देवा र् अत्र' यहाँ र्=उ होने लगेगा, वह न हो इसलिए 'अतः' पद ग्रहण किया गया है। प्रक्रिया—देवा र् अत्र, (र्=य्—'भो भगो०') देवाय् अत्र ('य्' लोप—लोपः शाकल्यस्य) =देवा अत्र ।

(२) 'र्' के अनन्तर भी ह्रस्व अकार होने पर 'उ' होता है। अतः सूत्र में 'अति' का सन्निवेश किया गया है। 'अति' ग्रहण न करने पर 'श्वस् + आगन्ता'—(स्=रु-र्) श्वर् आगन्ता में र् के बाद दीर्घ आकार होने पर भी 'र्=उ' होने लगेगा। वह न हो इसलिए सूत्र में 'अति' पद सन्निविष्ट है।

(३) सूत्र में प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार से परे र् को उ होने से 'सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि' में प्लुतविधान असिद्ध होने से 'सुस्रोतस् + सु' में विभक्तिलोप होकर 'दूराद्धूते च' (८।२।८४) से टि (अस्) को प्लुत होने के अनन्तर 'सुस्रोत ३ र्' इस दशा में र्=उ प्राप्त होगा। 'अप्लुतात्' विशेषण ग्रहण करने पर उस पद की उपयोगिता से असिद्ध विधान नहीं माना जाता। अतः र्=य् होकर उसका लोप हो जाता है—सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि। क्योंकि केवल 'अतः' पद के तपरकरण से प्लुतभिन्न अर्थ नहीं लिया जा सकता। क्योंकि वह तपर तो दीर्घ की निवृत्ति में चरितार्थ हो चुका है। अतः 'अप्लुतात्' विशेष प्लुत के असिद्ध होने के कारण प्लुतयुक्त प्रयोगों में 'उ' प्राप्ति के निवारण के लिए आवश्यक है।

(४) 'र्' के अनन्तर भी 'अप्लुतेऽति' प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार की स्थिति अपेक्षित होने से 'तिष्ठतु पयस् + अ३ग्निदत्त' में स्=र् होने पर 'र्' के पश्चात् प्लुत अकार होने के कारण र्=उ की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ 'अ३ग्निदत्त' में 'गुरोरनृतो०' (८।२।८६) से अकार प्लुत हुआ है।

(१२१) पद—हशि च। **अनुवृत्ति**—अतः, रः, अप्लुतात्, उत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अप्लुत 'अत्' (ह्रस्व अकार) से परे रु (र्) के स्थान में 'उ' होता है, 'हश्' वर्ण परे रहते।

भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७। एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशः स्यादशि। देवा इह। देवायिह भोस्-भगोस्-अघोस् इति सान्ता निपाताः। तेषां रुत्वे, यत्वे च कृते। **(१२३) व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ८।३।१८।** पदान्तयोर्वकारयकारयोर्लघूच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे। यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं

---

(१२२) भो-भगो-अघो अ इत्येतेषां पदानां द्वन्द्वः, एते पूर्वे यस्मादिति बहुव्रीहिः। 'रोः सुपि' इत्यतो रोरित्यनुवर्तते। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति नियमात् पूर्वपदं प्रत्येकं सम्बध्यते। तदाह—**एतत्पूर्वस्येत्यादिना।**

(१२३) **लघुप्रयत्न इति।** लघुः प्रयत्नो यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नः। अतिशयितः लघुप्रयत्नः लघुप्रयत्नतरः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो रो०' (६।१।११३) से 'अतः, रः, अप्लुतात्' पदों की तथा 'ऋत उत्' से 'उत्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार के अनन्तर विद्यमान 'र्' के पश्चाद्वर्ती हश् वर्ण रहने पर 'र्' के स्थान में 'उ' आदेश होता है।

उदाहरण—'शिवस्+वन्द्यः' (स=रु (र्)—'ससजुषो रुः')—शिव र् वन्द्यः, (र्=उ) शिव+उ+वन्द्यः, (अ+उ='ओ'—गुण)=शिवो वन्द्यः।

(१२२) पद—भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य, यः, अशि। **अनुवृत्ति**—रोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक रु के स्थान में अश् परे रहते यकार आदेश होता है। भोस्, भगोस्, अघोस्—ये सकारान्त निपात हैं। इनके रु को 'य्' होने पर—

विमर्श—'रोः सुपि' (८।३।१६) सूत्र से यहाँ 'रु' पद की अनुवृत्ति आती है। भोश्च, भगोश्च, अघोश्च, अश्चेति भोभगोअघोआः—द्वन्द्वसमास है, तदनन्तर बहुव्रीहि—एते पूर्वे यस्मात्, तस्य भोभगोअघोअपूर्वस्य। द्वन्द्वसमास के अन्त में रहने वाले 'पूर्व' पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार भोस्, भगोस्, अघोस् तथा अवर्णपूर्वक 'रु' के स्थान पर अश् प्रत्याहारस्थ वर्ण परे रहते 'य्' आदेश होता है।

उदाहरण—देवास्+इह (स्=रु (र), देवा र्+इह (अवर्णपूर्वक र्=य्—अश् (इ) परे रहते) देवाय्+इह, ('लोपः शाकल्यस्य' से 'य्' का विकल्प से लोप)=देवा इह। य् लोप न होने पर पक्ष में—देवायिह।

(१२३) पद—व्योः, लघुप्रयत्नतरः, शाकटायनस्य। **अनुवृत्ति**—अशि, पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त यकार वकार (य्, व्) के स्थान में अश् परे रहते क्रमशः विकल्प से लघूच्चारण य्, व् होते हैं। जिसके उच्चारण में जिह्वा (जीभ) के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भाग की शिथिलता होती है, उसे लघु-उच्चारण कहते हैं।

विमर्श—पदस्य का अधिकार है। य्, व् का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर पदान्त य्, व् स्थानी हैं। पूर्वसूत्र (१२२) से 'अशि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार अश् प्रत्याहारस्थ वर्ण परे रहते पदान्त य्, व् के स्थान में लघुप्रयत्नवान् य् व् होते हैं। इस मत के उद्भावक आचार्य शाकटायन हैं। अतः अन्य आचार्यों का समर्थन न होने से विकल्प होता है।

'लघुप्रयत्नतरः' का अर्थ है—विशेष शीघ्रता से उच्चारण, जिसमें चौथाई मात्रा का समय अपेक्षित रहता है। इस प्रकार य् व् के उच्चारण करने में जीभ के अग्र, उपाग्र मध्य एवं मूलभाग में कुछ शिथिलता होती है।

जायते स लघूच्चारणः। (१२४) ओतो गार्ग्यस्य ८।३।२०। ओकारात्परस्य पदान्तस्याऽलघुप्रयत्नस्य यस्य नित्यं लोपः स्यात्। भो अच्युत। लघुप्रयत्नपक्षे—भोयच्युत। पदान्तस्य किम्? तोयम्। (१२५) हलि सर्वेषाम् ८।३।२२। भो-भगो-अघो अपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यस्य नित्यं लोपः स्याद्धलि। भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो

---

(१२४) गार्ग्यग्रहणस्य पूजार्थत्वेन लोपस्य नित्यत्वं ज्ञेयम्। तोयमिति। अत्र यकारस्य पदान्तत्वाभावात् यलोपो न भवति। यतो ह्यत्र पदान्तो मकारो न तु यकारः।

(१२५) हलि सर्वेषामिति। पूर्वसूत्रात् 'भोभगोअघो अपूर्वस्ये'त्यनुवर्तते 'व्योर्लघुप्रयत्ने'त्यतः वकारग्रहणञ्च। सर्वाचार्यसम्मततया नित्यो लोप इति भावः।

---

(१२४) पद—ओतः, गार्ग्यस्य। **अनुवृत्ति**—व्योः, लोपः, अशि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ओकार से परे (अनन्तर) पदान्त अलघूच्चारण य्, व् का अश् परे रहते नित्य लोप होता है। अलघुप्रयत्न पक्ष में—भो अच्युत। लघुप्रयत्नपक्ष में—भोयच्युत।

विमर्श—पूर्वसूत्र से 'व्योः' तथा 'भभोगो०' से 'अशि' की अनुवृत्ति आ रही है। 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार पदान्त में विद्यमान य्, व् से पूर्व ओकार होना आवश्यक है। य्, व् के पश्चात् अश् प्रत्याहारस्थ वर्ण रहने पर ही लोप होता है। सूत्र में 'गार्ग्य' पद का ग्रहण आचार्य के सम्मान के लिए है।

उदाहरण—भोस्+अच्युत (स्=र्)—भो र्+अच्युत (र्=य्—भोभगो०') भो य्+अच्युत (य् का नित्य लोप—'ओतो गार्ग्यस्य')=भो अच्युत। शाकटायन के मतानुसार लघुप्रयत्नवान (लघूच्चारण) 'य्' की स्थिति रहने पर य् लोप के अभाव पक्ष में—भोयच्युत।

प्रत्युदाहरण—सूत्रानुसार पदान्त य्, व् का रहना आवश्यक होने से 'तोयम्' में 'य्' का लोप नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ 'य' पद के अन्त में नहीं है।

(१२५) पद—हलि, सर्वेषाम्। **अनुवृत्ति**—भो, भगो, अघो, अपूर्वस्य, यस्य, लोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—भो, भगो, अघो और अवर्ण है पूर्व में जिसके, ऐसे यकार का लोप हल् परे रहते सभी के मत से अर्थात् नित्य होता है।

विमर्श—'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (१२२) से आती है। 'व्योर्लघु०' से यकार की अनुवृत्ति आती है तथा 'लोपः शाकल्यस्य' से 'लोपः' की। पदस्य का अधिकार है। इस प्रकार भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक पदान्त 'य्' का लोप सभी आचार्यों के मत से होता है, यदि 'य्' के पश्चात् कोई व्यञ्जन वर्ण हों तो।

उदाहरण—(१) भोस्+देवाः, (स्=र्)—भो र्+देवाः, (र्=य्)—भो य् देवाः, ('य्' का नित्य लोप) भो देवाः। अर्थ—हे देवगण। (२) भगोस्+नमस्ते (स्=र्) भगोर्+नमस्ते (र्=य्), भगो य्+नमस्ते, ('य्' लोप)=भगो नमस्ते। अर्थ—तुम्हें नमस्कार। (३) अघोस्+याहि (स्=र्), अघोर्+याहि (र्=य्) अघो य् याहि, ('य्' लोप)=अघो याहि। (४) देवास्+यान्ति (स्+र्) देवार्+यान्ति, (र्=य्) देवा य् यान्ति, (य् लोप)=देवा यान्ति।

याहि। देवा यान्ति। (१२६) रोऽसुपि ८।२।६९। अह्नो रेफादेशो न तु सुपि। अहरहः। अहर्गणः। असुपि किम्—अहोभ्याम्। अत्र 'अहन्' इति रुत्वम्। * रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम् *। अहो रूपम्। गतमहो रात्रिरेषा। एकदेशविकृतन्यायेन—अहो रात्रः। अहो रथन्तरम्। * अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः *। विसर्गापवादः। अहर्पतिः। गीर्पतिः। धूर्पतिः। पक्षे विसर्गोपध्मानीयौ—अहःपतिः।

---

(१२६) **रोऽसुपीति**। 'अहन्' इति सूत्रमनुवर्तते। तदाह—**अह्नो इत्यादिना**। **अहरह इति**। 'अहन् + अहः' इत्यत्र अलोऽन्त्यपरिभाषायाः सहकारेण 'रोऽसुपि' इत्यनेन नकारस्य रेफादेशे 'अहरहः' इति। अहन् + गणः। **रूपरात्रीति**। रूपरात्रिरथन्तरेषु पदेषु परेषु अहन्नकारस्य रुत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। **एकदेशविकृतन्यायेनेति**। एकदेशविकृतन्यायेन रात्रशब्दस्यापि रात्रिरूपत्वाद् रुत्वं भवतीत्यर्थः। अहश्च रात्रिश्चेति विग्रहः। **अहर्पति इति**। अह्नां पतिरिति विग्रहः। गिरां पतिः, धुरां पतिरिति विग्रहः। उभयत्रापि 'र्वोरुपधाया' इति दीर्घः।

---

(१२६) पद—रः, असुपि। **अनुवृत्ति**—अहन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अहन् शब्द के नकार के स्थान में रेफ आदेश होता है। किन्तु सुप् परे रहते 'र्' आदेश नहीं होता।

विमर्श—सूत्र में 'अहन्' (८।२।६८) से स्थानीवाचक पद 'अहन्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार अलोऽन्त्य परिभाषा के आश्रयण से अहन् के नकार को 'र्' आदेश होता है। किन्तु विभक्तिवाचक प्रत्ययों (सुप्) के परे रहते रेफादेश नहीं होता।

उदाहरण—(१) अहन् सु + अहन् सु (न्=र्), —अहर् (सु) + अहर् (सु), (सुलोप अन्तिम र् = : **खरवसानयोः**) = अहरहः। अर्थ—दिनों दिन। (२) अहन् + गणः (न्=र्) = अहर्गणः। **अर्थ—दिनों** का समूह।

प्रत्युदाहरण—'न्' के अनन्तर सुप् परे होने के कारण 'अहन् + भ्याम्' में न्=र् नहीं हुआ। अतः 'अहन्' **सूत्र से 'न्' = 'रु'**—अहर् भ्याम्, (र्=उ—'हशि च') अह + उ + भ्याम् ('आद्गुणः' से गुण) = अहोभ्याम्।

(१) (वा०)—**'अहन्'** के पश्चात् रूप, रात्रि तथा रथन्तर शब्दों के परे रहने पर 'न्' को 'रु' आदेश होता है। **उदाहरण**—(१) अहन् + रूपम् (न = रु (र)—वार्तिक से) अहर् + रूपम् (र् = उ—'हशि च') अह + उ + रूपम्—(अ + उ = ओ—गुण) = अहोरूपम्। अर्थ—दिन का रूप। (२) अहन् + रात्रिः (न्=रु (र्) अहर् + रात्रि (र् = उ) अह + उ + रात्रि (गुण) = अहोरात्रिः। गतमहो रात्रिरेषा। अर्थ—दिन गया और रात आयी। एकदेशविकृतन्याय से अहोरात्रः। समासान्त अच् प्रत्यय होने से 'अहोरात्रः' में रात्रि शब्द का परिवर्तित रूप रात्र हो जाने पर भी वार्तिक से न्=रु हो जाता है। क्योंकि व्यवहार में यह देखा गया है कि किसी अंग विशेष के विकृत हो जाने पर उसकी मूलावस्था भिन्न नहीं मानी जाती। अर्थ—रात-दिन। (३) अहन् = रथन्तरम् (न्=रु (र)—अहर् + रथन्तरम् (र = उ) अह + उ + रथन्तरम् (गुण) = अहो रथन्तरम्। अर्थ—साम विशेष।

(२) (वा०)—**पति आदि शब्दों के परे रहने पर अहर् आदि शब्दों के अन्तिम वर्ण के स्थान में विकल्प से रेफ आदेश होता है। यह विसर्ग का बाधक है।**

अह ≍ पतिः । (१२७) रो रि ८।३।१४ । रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् । **(१२८) ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११ ।** ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । **(१२९) ढो ढे लोपः ८।३।१३ ।** लीढः । अणः किम् ? तृढः । वृढः । 'मनस्-रथ' इत्यत्र रुत्वे कृते, 'हशि चे'त्युत्वे

---

(१२७) 'ढो ढे लोपः' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते ।

(१२८) **पुना रमत इति ।** 'पुनर् + रमते' इत्यवस्थायां 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यनेन लोपनिमित्तके रेफे परे नकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य दीर्घे कृते 'पुना रमते' इति । **अणः किमिति ।** ननु 'तृढः, वृढः' इत्यत्र ढ्रलोपस्यैवाभावाद् दीर्घाभावेऽण्ग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्र ढलोपं दर्शयितुमाह—**तृढः, वृढ इति ।** 'तृहू हिंसायाम्, वृहू उद्यमने' आभ्यां क्तप्रत्यये 'हो ढः' इत्यनेन हकारस्य ढत्वे 'झषस्तथोः०' इति तकारस्य धत्वे तस्य ष्टुत्वेन ढकारे 'तृ ढ् ढ, वृ ढ् ढ' इति जाते 'ढो ढे लोपः' इत्यनेन पूर्वढकारस्य लोपे विभक्तिकार्ये तृढः, वृढ इति रूपे । अत्र ढलोपनिमित्ते ढकारे परे ऋकारस्य दीर्घवारणायाऽण्ग्रहणमित्याशयः ।

उदाहरण—(१) (अह्नां पति=अहर्पतिः) 'अहन्+पति' (न्=रु—'अहन्' से)—अहर्+पतिः (र्=र्—प्रकृत वार्तिक द्वारा विकल्प से)—अहर् पतिः=अहर्पतिः । अर्थ—सूर्य । (२) गीर्+पतिः (र्=र्)=गीर्पतिः । अर्थ—बृहस्पति । (३) धूर्+पतिः—(र्=र्)=धूर्पतिः । अर्थ—भारवाहकों में उत्कृष्ट । रेफ का वैकल्पिक विधान होने के कारण पक्ष में रेफ के स्थान पर विसर्ग और पक्ष में जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय भी होंगे—अहः पतिः, अह ≍ पतिः ।

(१२७) पद—रो, रि । **अनुवृत्ति**—लोपः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—रेफ (र्) के पश्चात् रेफ (र्) परे रहते पूर्व (र्) का लोप होता है ।

विमर्श—'रः' षष्ठ्यन्त होने से स्थानी है । 'रि' सप्तम्यन्त होने से निमित्त है । 'ढो ढे लोपः' से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है ।

(१२८) पद—ढ्रलोपे, पूर्वस्य, दीर्घः, अणः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'ढ्' और 'र्' के लोप में निमित्त 'ढ्' और 'र्' परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है ।

विमर्श—यहाँ 'अण्' 'स्थानी' है और 'आदेश'—'दीर्घ' । इस प्रकार 'ढ्' और 'र्' का लोप करने में निमित्त 'ढ्' तथा 'र्' वर्णों के पश्चाद्वर्ती होने पर उनसे पूर्ववर्ती अण् (अ, इ, उ) के स्थान पर दीर्घ (आ, ई, ऊ) आदेश होते हैं ।

उदाहरण—(१) पुनर्+रमते ('र्' का लोप—'रोरि' से)—पुन+रमते (अ=आ—रमते के पूर्ववर्ती अकार का दीर्घ—'ढ्रलोपे०' से)=पुना रमते । अर्थ—फिर खेलता है । (२) हरिर्+रम्यः ('र्' का लोप—'रो रि')—हरि+रम्यः, (इ=ई—दीर्घ)=हरी रम्यः । अर्थ—हरि सुन्दर हैं । (३) शम्भुर्+राजते ('र्' का लोप) शम्भु+राजते (उ=ऊ 'दीर्घ') =शम्भू राजते । अर्थ—शिवजी सुशोभित हैं ।

(१२९) पद—ढो, ढे, लोपः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ढकार के परे रहते पूर्व ढकार का लोप होता है ।

विमर्श—'ढोः' पद षष्ठ्यन्त होने से स्थानी है । 'ढे' सप्तम्यन्त होने से निमित्त है । इस

'रोरी'ति लोपे च प्राप्ते। (१३०) **विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२।** तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते। 'पूर्वत्रासिद्धमिति 'रो री'त्यस्याऽसिद्धत्वादुत्वमेव—मनोरथः। (१३१) **एतत्तदो सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१३२।**

---

(१३०) विप्रतिषेध इति। विप्रतिपूर्वकात् सेधतेर्घञि विप्रतिषेधः=परस्परविरोधः, विरोधश्च तुल्यबलयोरेव लोके प्रसिद्धः। अत आह—**तुल्यबलविरोध इति।** अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाशयोरेकत्र युगपत्प्राप्तिस्तुल्यबलविरोधः। अत्र च 'पुना रमते' इत्यत्र 'रो री'त्यस्य, 'शिवो वन्द्यः' इत्यत्र च 'हशि चे'त्यस्य लब्धावकाशतया 'मनोरथः' इत्येकस्मिन् लक्ष्ये द्वयोः प्राप्तिरतोऽत्र विप्रतिषेधः। **मनोरथ इति।** 'मनस्+रथः' इत्यत्र 'ससजुषो रुः' इत्यनेन सकारस्य रुत्वे कृते 'हशि चे'त्युत्वे, 'रो रि' इति रलोपे च प्राप्ते 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इत्यनेनोत्वं प्रबाध्य परकार्ये रेफस्य लोपे प्राप्ते, 'पूर्वत्रासिद्धमि'त्यधिकारसूत्रबलेन 'हशि चे'ति दृष्ट्या 'रो रि' इत्यस्याऽसिद्धत्वे रोरुत्वे 'मन उ रथः' इति जाते, गुणे 'मनोरथः' इति सिद्धम्।

(१३१) सूत्रे नैकशेषः। 'सु' इति लुप्तषष्ठीकं पदम् एतत्तदोरित्यनेनान्वेति।

प्रकार 'ढ्' के परे रहने पर पूर्व 'ढ्' का लोप होता है। **उदाहरण**—√लिह्+क्त (त),—लिह्+त, (ह्=ढ—'होढः' से), लिढ्+त, (त=ध्—झषस्तथोर्धोऽधः'), लिण्+ध, (ध्=ढ्—'ष्टुत्व'), —लिढ्+ढ, ('ढ्' का लोप 'ढो ढे लोपः' से)—लिढः (इ=ई—'ढ्लोपे०' से 'दीर्घ') =लीढः। अर्थ—चाटा गया।

प्रत्युदाहरण—'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' **सूत्र** में 'अण्' पद ग्रहण करने से 'तृढः' 'वृढः' में अण् (अ, इ, उ) के अतिरिक्त **'ऋ' को दीर्घ नहीं हुआ। प्रक्रिया**—√तृह्+क्त (त) (ह्=ढ्)—तृढ्+त (त=ध्—**'झषस्तथोः०' से), तृढ्+ध्** (ध्=ढ्—'ष्टुत्व')—तृढ्+ढ ('ढ्' लोप) तृढ्+सु=तृढः। अर्थ—मरा हुआ। इसी प्रकार √वृह्+क्त=वृढः।

'मनस्+रथः' में (स्=र्—'ससजुषो रुः')—'मनर्+रथः' इस स्थिति में 'हशि च' (६।१।११४) से 'र्' के स्थान में 'उ' तथा 'रो रि' (८।३।१४) सूत्र से 'र्' का लोप दोनों एक साथ प्राप्त होने पर (उत्पन्न शंका का समाधान अग्रिम सूत्र द्वारा किया जा रहा है)।

(१३०) पद—विप्रतिषेधे, परं, कार्यम्। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—विप्रतिषेध (तुल्य बल के कारण परस्पर विरोध) में पर कार्य होता है। इस प्रकार उक्त उदाहरण (मनर्+रथः) में पर कार्य र् लोप की प्राप्ति होने पर 'पूर्वत्रासिद्धम्' की उपस्थिति से 'रो रि' शास्त्र के असिद्ध होने के कारण 'र्'='उ' होता है। मनोरथः।

विमर्श—विप्रतिषेध=तुल्यबल के कारण परस्पर विरोध होने पर कार्य होता है। समान शक्ति वालों का विरोध जगत्प्रसिद्ध है। यहाँ तुल्यबल विरोध का आशय यह है कि—'दो भिन्न-भिन्न स्थलों में लब्धावकाश (चरितार्थ) हुए सूत्रों का एक ही स्थल पर एक ही समय में प्राप्त होना।' इस प्रकार उक्त प्रयोग 'मनर्'+रथः' में प्राप्त 'हशि च' (६।१।११४) की अपेक्षा 'रो रि' (८।३।१४) पर होने से र् लोप की प्राप्ति होती है। परन्तु 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा की उपस्थिति होने से 'हशि च' (६।१।११४) की दृष्टि में 'रो रि' (८।३।१४) शास्त्र असिद्ध होने के कारण उत्व ('र्'='उ') ही होता है। मन+उ+रथः (अ+उ='ओ'-गुण)—मनोरथः।

(१३१) पद—एतद, तदोः, सुलोपः, अकोः, अनञ्समासे, हलि। विधिसूत्र।

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, न तु नञ्समासे। एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्? एषको रुद्रः। अनञ्समासे किम्? असः शिवः। हलि किम्? एषोऽत्र। (१३२) सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४। स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। 'सेमामविड्ढि प्रभृतिम्'। 'सैष दाशरथी रामः'। इति स्वादिसन्धिः।

॥ इति पञ्चसन्धिः ॥

एष विष्णुरिति। 'एषस्+विष्णुः' इत्यत्र 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' इत्यनेन सोर्लोपे कृते 'एष विष्णुः' इति।

(१३२) सोऽचीति। 'सस्' इति **प्रथमान्तानुकरणलुप्तषष्ठ्यन्तम्**। सुलोप इत्यनुवर्ततेऽत आह—**स इत्यस्येति।**

इति स्वादिसन्धिः।

मूलार्थ—नञ् समास के अतिरिक्त ककार रहित **एतत् और तत्** शब्द सम्बन्धी 'सु' का लोप हल् वर्ण परे रहते होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र स्वयं पूर्ण है। यह एतत् और '**तद्**' सम्बन्धी 'सु' विभक्ति का लोप करता है। अकच् प्रत्ययान्त इन शब्दों से सु-लोप नहीं होता। नञ्समास में भी सु-लोप नहीं होता है।

उदाहरण—(१) एतद्+सु (विष्णुः)—(द्=अ—'त्यदादीनामः') एत+अ+सु (अ+अ=अ—पररूप 'अतो गुणे') एत+सु, (त्=स्—'तदोः सः') एस+सु (स्=ष्–'आदेशप्रत्यययोः')=एषस्+विष्णुः (स् के अनन्तर हल् (व्) परे रहने पर स् (सु विभक्ति) का लोप)=एष विष्णुः। अर्थ—यह विष्णु हैं। (२) सस्+शम्भुः (स् के अनन्तर हल् (श्) परे रहने से सु विभक्ति का लोप)=स शम्भुः। अर्थ—वह शिव हैं।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'अकोः' पद का ग्रहण होने के कारण 'एषको रुद्रः' में 'अकच्' प्रत्यय होने से 'सु' का लोप नहीं हुआ। एषकस्+रुद्रः (स्=र्)—एषकर्+रुद्रः (र्=उ—'हशि च') एषक+उ+रुद्र (अ+उ=ओ–'गुण')=एषको रुद्रः। (२) सूत्र में 'अनञ्समासे' पद होने के कारण नञ्समास में सुलोप नहीं होता। 'अयस्+शिवः' (स्=र्—नञ्समास होने से सुलोप नहीं) अस र्+शिवः, (र्=:)=असः शिवः। (३) सूत्र में 'हलि' पद का ग्रहण होने के कारण 'अच्' वर्ण परे रहते 'सु' का लोप नहीं होता। 'एषस्+अत्र' में सुलोप न होने से (स्=र्) एषर्+अत्र, (र्=उ) एष+उ+अत्र (अ+उ=ओ 'गुण')=एषो+अत्र (पूर्वरूप)=एषोऽत्र।

(१३२) पद—सः, अचि, लोपे, चेत, पादपूरणम्। **अनुवृत्ति**—सुलोपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'तद्' शब्द सम्बन्धी 'सु' का लोप अच् परे रहते होता है। यदि लोप होने पर पाद की पूर्ति होती हो तो।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'एतत्तदोः' (६।१।१३२) सूत्र से 'सुलोपः' की अनुवृत्ति आती है।

अथाऽजन्ताः पुँल्लिङ्गाः

(१३३) अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५ । धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् । **(१३४) कृत्तद्धितसमासाश्च**

(१३३) सुप्तिङन्तपदचयरूपवाक्यनिमित्तकसन्धिप्रकरणानन्तरं सुबन्तजिज्ञासया 'स्वौजसमौडि'त्यादिना स्वादिप्रत्ययान् वक्ष्यति । तत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकादि'-त्यधिकृतम् । किं तत्प्रातिपदिकमित्याशङ्कायामाह—**अर्थवदिति** । अर्थोऽस्यास्तीति अर्थवत् अध्याहृतशब्दस्वरूपविशेष्यानुरोधेन नपुंसकत्वम् । अधातुरिति अप्रत्यय इति च तद्विशेषणम् । न धातुरिति नञ्तत्पुरुषः । 'अहन्' इत्यादौ नलोपाद्यापत्तिवारणाय

अच् के पश्चाद्वर्ती रहने पर सस् (तद् शब्द) सम्बन्धी 'सु' विभक्ति का लोप होता है । यह लोप उसी स्थिति में होगा, जब लोप होने से छन्द के पाद की पूर्ति हो रही हो ।

उदाहरण—(१) 'सेमामविड्ढि प्रभृति य ईशिषे' ऋग्वेद का यह उदाहरण 'जगती' छन्द का एक चरण है । यहाँ एक चरण में १२ अक्षर अपेक्षित हैं, 'स्' लोप होने से पाद की पूर्ति सम्भव है । अतः 'सस्+इमाम्' में 'तद्' शब्द सम्बन्धी (स्) सुलोप होने से 'स+इमाम्'—गुण होकर 'सेमाम्' पद निपन्न होता है । (२) लौकिक छन्द का उदाहरण—'सैष दाशरथी रामः[1] ।' यह 'अनुष्टुप्' छन्द का एक चरण है । इस छन्द के एक (पाद) चरण में ८ अक्षर अपेक्षित हैं । स् लोप होने से पादपूर्ति सम्भव है । अतः 'सस्+एषः' इस दशा में स् का लोप होने पर स+एषः=(अ+ए=ऐ—'वृद्धि')=सैषः ।

स्वादिसन्धि-प्रकरण समाप्त ।

'सुबन्त और तिङन्त पदों के समुदाय को वाक्य कहते हैं ।'[2] वाक्योपयोगी सन्धिप्रकरण का निरूपण करने के अनन्तर प्रथमतः सुबन्त की जिज्ञासा होने पर इस प्रकरण (षड्लिङ्ग-प्रकरण) का आरम्भ किया जा रहा है ।

स्वादि (सु आदि २१ प्रत्ययों) का प्रातिपदिक से विधान होने के कारण सर्वप्रथम प्रातिपदिकसंज्ञा का स्वरूप बतलाया जा रहा है—

(१३३) पद—अर्थवत् , अधातुः, अप्रत्ययः, प्रातिपदिकम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अर्थवान् शब्दस्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा होती है ।[3]

---

१. श्लोक इस प्रकार है—

सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः ।
सैष कर्णो महादानी, सैष भीमो महाबलः ॥

२. सुप्तिङन्तचयो वाक्यम् ।—अमरकोषः ।

३. अस्य सूत्रस्य विषये प्रश्नरूपेण सुभाषितमेतत् प्रसिद्धमस्ति ।

प्रश्नः—'विद्वान् कीदृग्वचो ब्रूते ? को रोगी ? कश्च नास्तिकः ? ।
कीदृक् चन्द्रं न पश्यन्ति ? सूत्रं तत् पाणिनेर्वद ॥'

१।२।४६ । कृत्तद्धितान्तौ, समासाश्च तथा स्युः । (१३५) प्रत्ययः ३।१।१ । आ पञ्चम-

---

—**अधातुरिति ।** 'अप्रत्ययः' इत्यत्र प्रत्ययपदमावर्त्यते, प्रत्ययभिन्नं प्रत्ययान्तभिन्नं च विवक्षितम् । तदाह—प्रत्ययं प्रत्ययान्तमित्यादि । प्रत्ययपर्युदासात् 'हरिषु' इत्यत्र सोर्न प्रातिपदिकत्वम् । प्रत्ययान्तपर्युदासेन समुदायस्य न संज्ञा ।

(१३४) कृच्च तद्धितश्च समासश्चेति विग्रहः । 'अर्थवदि'त्यतः प्रातिपदिक-मित्यनुवर्तते, बहुवचनान्ततया च विपरिणम्यते प्रत्ययग्रहणपरिभाषया कृत्तद्धितेति तदन्तग्रहणम्, तदाह—**कृत्तद्धितान्तावित्यादिना ।**

विमर्श—अर्थवान् शब्दों की ही प्रातिपदिक संज्ञा होती है । अतः सार्थक शब्दों से ही सु आदि प्रत्ययों का विधान होता है । इस प्रकार निष्पन्न शब्द 'सुबन्त' कहे जाते हैं । (१) अर्थ-वान् शब्द धातु से भिन्न होने चाहिए—अधातुः । अतः (√हन् + लङ्) 'अहन्' में (नलोप०) से 'न्' का लोप नहीं होता । (२) ये अर्थवान् शब्द प्रत्यय भिन्न भी हों । अतः 'हरिषु' में 'सुप्' प्रत्यय की प्रातिपदिकसंज्ञा न होने से 'षु' में 'सात्पदाद्योः' (८।३।१११) से षत्व का निषेध नहीं होता । (३) इसके साथ ही ये शब्द प्रत्ययान्त भिन्न भी होने चाहिए । अन्यथा 'हरिषु' इत्यादि स्थलों में प्रत्ययान्त समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७८) से सु का लोप हो जाता ।

(१३४) पद—कृत्तद्धितसमासाः च । **अनुवृत्ति**—प्रातिपदिकम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—कृदन्त, तद्धितान्त और समास की भी प्रातिपदिकसंज्ञा होती है ।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र (१३३) से अनुवृत्त 'प्रातिपदिक' पद **संज्ञा** है तथा सूत्रस्थ 'कृत्तद्धित-समासाः' **संज्ञी** । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा के अनुसार 'कृत्' और 'तद्धित' में तदन्त विधि होती है । इस प्रकार कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितप्रत्ययान्त और समास की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है ।

(१) कृत् और तद्धित प्रत्यय होने से **पूर्वसूत्र से अप्राप्त** प्रातिपदिकसंज्ञा का विधान प्रकृत सूत्र से किया गया है ।

(२) समास के अर्थवान् होने पर **पूर्वसूत्र से प्राप्त प्रातिपदिकसंज्ञा** का इस सूत्र से पुनः विधान करने का प्रयोजन यह है कि 'जिस शब्दसमूह में पूर्वभाग पद रहे तो उसकी प्रातिपदिक-संज्ञा समास में ही होती है । इस प्रकार प्रकृत सूत्र में समास पद के नियमार्थ होने के कारण वाक्य की प्रातिपदिकसंज्ञा नहीं होती ।

(१३५) पद—प्रत्ययः । **अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय की समाप्ति तक इस सूत्र का अधिकार है ।

विमर्श—तृतीयाध्याय के प्रारम्भ से लेकर पञ्चमाध्याय की समाप्ति तक इसका अधिकार होने से सु आदि विभक्तियाँ भी प्रत्यय हैं । 'स्वौजसमौट्०' (४।१।२) ।

उत्तरम्—'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' ।

हिन्दी अर्थ—(१) प्रश्न—विद्वान् कैसे वचन बोलता है ? उत्तर—अर्थवत् । (२) प्रश्न—रोगी कौन है ? उत्तर—अधातुः (निर्बल व्यक्ति) । (३) प्रश्न—नास्तिक कौन है ? उत्तर—अप्रत्ययः (ईश्वर पर विश्वास न करने वाला) । (४) प्रश्न—लोग कैसे चन्द्रमा को नहीं देखते ? उत्तर—प्रातिपदिकम् (प्रतिपदा के चन्द्रमा को लोग नहीं देखते) ।

परिसमाप्तेरधिकारोऽयम् । (१३६) परश्च ३।१।२ । अयमपि तथा । (१३७) ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१ । ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्यापञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम् । **(१३८) स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्-ङेभ्यांभ्यस्-ङसिभ्यांभ्यस्-ङसोसाम्-ङ्योस्सुप् ४।१।२ ।** ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः । सु औ जस्–प्रथमा । अम् औट् शस्–द्वितीया । टा भ्यां भिस्–तृतीया । ङे भ्यां भ्यस्–चतुर्थी । ङसि भ्यां भ्यस् पञ्चमी । ङस् ओस् आम्–षष्ठी । ङि ओस् सुप्–सप्तमी । **(१३९) सुपः १।४।१०३ ।** सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-

---

(१३८) **स्वौजसमौडिति ।** ङ्याप्प्रातिपदिकादित्यधिकृतं प्रत्ययः परश्चेति । यथायथं च विपरिणम्यते, तदाह—**ङ्यन्तादित्यादि ।** सूत्रे एकविंशतिः स्वादयः ।

(१३९) सुप्प्रत्याहारः । 'तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' इति सूत्रं 'तानी'-ति वर्जयित्वाऽनुवर्तते । 'तिङस्त्रीणि त्रीणि' इत्यतः त्रीणीत्यनुवर्तते । तदाह—**सुपस्त्रीणीत्यादि ।**

---

(१३६) पद—परः, च । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः । **परिभाषा-अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—इस सूत्र का पाँचवें अध्याय की समाप्ति तक अधिकार है ।

विमर्श—इस सूत्र के द्वारा प्रत्यय की स्थिति का नियम बतलाया जा रहा है कि जिसकी प्रत्यय संज्ञा की गई है वह, जिससे विधान किया जाय उससे, परः अर्थात् परे (अनन्तर) होता है ।

(१३७) पद—ङ्याप्प्रातिपदिकात् । **अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—इस सूत्र का भी पाँचवें अध्याय के अन्त तक अधिकार है । अतः इस सूत्र के पश्चात् पाँचवें अध्याय तक पठित प्रत्यय ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से विहित होते हैं ।

विमर्श—यहाँ ङ्यन्त से (ङी–स्त्रीप्रत्यय के तीन प्रत्यय—ङीप्, ङीष्, ङीन्) आबन्त से (आप्–तीन आकारान्त प्रत्यय—टाप्, डाप्, चाप्) अन्त में रहे, ऐसे शब्दों का तथा प्रातिपदिक से अर्थवान् पद, कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास का ग्रहण होता है ।

(१३८) पद—स्वौजसमौट्···सुप् । **अनुवृत्ति**—ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिकसंज्ञक से परे सु आदि प्रत्यय होते हैं ।

विमर्श—यह एकपद सूत्र है । द्वन्द्व समास में सुप् (इक्कीस) प्रत्ययों का संकलन किया गया है । उक्त तीनों अधिकारसूत्रों की यहाँ अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार ङीप्रत्ययान्त, आप् प्रत्ययान्त तथा प्रातिपदिक से परे सु, औ, जस् इत्यादि प्रत्यय होते हैं ।

(१३९) पद—सुपः । **अनुवृत्ति**—त्रीणि, एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि, एकशः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—सुप् के तीन-तीन वचन (त्रिक) क्रम से एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञक होते हैं ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' (१।४।१०२) सूत्र से 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' तथा 'एकशः' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'तिङस्त्रीणि त्रीणि०' (१।४।१०१) से 'त्रीणि' 'त्रीणि' की अनुवृत्ति आ रही है । 'सुपः' षष्ठ्यन्त पद है । तदनुसार

द्विवचन-बहुवचनसंज्ञानि स्युः । (१४०) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ । द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः । (१४१) विरामोऽवसानम् १।४।११० । वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात् । रुत्वविसर्गौ । रामः । * अयोगवाहानामकारस्योपरि शर्षु चेति वाच्यम् * ।

(१४०) पदार्थद्वयविवक्षायां द्विवचनम्, एवं तदर्थैकत्वविवक्षायामेकवचनम् ।

(१४१) विरम्यतेऽस्मिन्निति विरामः, स चात्र वर्णानामुच्चारणाभावात्मक एव । **राम इति ।** रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः = परमात्मा (दाशरथिश्च) । रामशब्दस्य अव्युत्पत्तिपक्षे 'अर्थवदधातुरप्रत्ययप्रातिपदिकम्' इति, व्युत्पत्तिपक्षे च

'सुप्' प्रत्याहार के इक्कीस प्रत्ययों को सात त्रिकों में विभाजित किया गया है । प्रत्येक त्रिक के ३ प्रत्ययों की क्रम से एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा होती है । इस प्रकार सातों विभक्तियों का त्रिकों में विभाजन निम्नलिखित चक्र में दर्शाया गया है—

'सुप्' प्रत्याहार-बोधक चक्र

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु	औ	जस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्
पंचमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्

विभक्तियों के इत्संज्ञकवर्ण रहित रूप

प्रथमा	— स् (:)	औ	अस् (:)
द्वितीया	— अम्	औ	अस् (:)
तृतीया	— आ	भ्याम्	भिस् (:)
चतुर्थी	— ए	भ्याम्	भ्यस् (:)
पंचमी	— अस् (:)	भ्याम्	भ्यस् (:)
षष्ठी	— अस् (:)	ओस् (:)	आम्
सप्तमी	— इ	ओस् (:)	सु

(१४०) पद—द्व्येकयोः, द्विवचनैकवचने । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन और एकत्व की विवक्षा में एकवचन होता है ।

विमर्श—उद्देश्य (द्व्येकयोः) और विधेय (द्विवचनैकवचने) दोनों समान संख्या वाले होने से यथासंख्यपरिभाषा की उपस्थिति से क्रमशः अन्वित हो जाते हैं । उदाहरण—द्विवचन—रामौ । एकवचन—रामः ।

(१४१) पद—विरामः, अवसानम् । **संज्ञासूत्र ।**

सूत्रार्थ—वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा होती है ।

यमाऽनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीया अयोगवाहाः। तेनेह विसर्गस्य यर्त्वादनचि चेति द्वित्वपक्षे रामः। (१४२) सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १।२।६४। एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते, अन्ये तु लुप्यन्ते। (१४३) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२। अकः प्रथमाद्वितीययोरचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एका-

---

'कृत्तद्धितसमासाश्चे'ति प्रातिपदिकसंज्ञायां 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति प्रातिपदिकसंज्ञकरामशब्दात् 'स्वौजसमौडि'ति 'खले कपोतन्यायेन' सर्वे स्वादयः प्राप्ताः तत्र सुपः इत्यनेन प्रथमादिसप्तम्यन्तत्रिके एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञाः विहिताः। तेषु प्रथमाविभक्तेः एकवचनविवक्षायां सु-प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'राम + स्' इति जाते 'ससजुषो रुः' इत्यनेन सकारस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'राम + र्' इति दशायां 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे कृते 'रामः' इति।

(१४३) 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यतोऽक इत्यनुवर्तते, 'इको यणचि' इत्यतोऽचीति। 'एकः पूर्वपरयो'रित्यधिकारः। राम + औ 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिः।

विमर्श—विरम्यतेऽनेनेति विरामः (वि + √रम् + घञ् (भाव में) = विरामः) जिस वर्ण पर उच्चारण रुक जाय, उसे विराम कहते हैं। सूत्र में 'विराम' संज्ञी और 'अवसान' संज्ञा है। अवसान का स्थल 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।१५) है। तदनुसार प्रातिपदिकसंज्ञक राम शब्द से एकत्व की विवक्षा में प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'सु' प्रत्यय आने पर राम सु (उ की इत्संज्ञा—'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से)—**'राम+स्'** (स् = र्, —'ससजुषो रुः') राम + र्, (र् = :—'खरवसानयोः०') = रामः। (वा०) 'अयोगवाहों का अक्षरसमाम्नाय (चतुर्दश माहेश्वरसूत्रों) में अकार के आगे तथा शर् प्रत्याहार में पाठ जानना चाहिए।'

यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को 'अयोगवाह' कहते हैं।

इस प्रकार यर् प्रत्याहारान्तर्गत विसर्ग का पाठ होने से 'अनचि च' सूत्र से विसर्ग का द्वित्व होकर 'रामः' रूप भी निष्पन्न हुआ।

(१४२) पद—सरूपाणाम्, एकशेषः, एकविभक्तौ। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—एक विभक्ति में जितने समान रूप देखे जायँ, उनमें से एक ही शेष रहता है। (अन्य का लोप हो जाता है)।

विमर्श—(एका चासौ विभक्तिः, तस्याम्) समान विभक्ति में समान रूप वाले शब्दों का एक रूप ही शेष रहता है। अर्थात् द्विवचन तथा बहुवचन की विवक्षा में दो या अधिक समान रूप वाले शब्दों के आगे समान विभक्तियों के आने पर उनमें से एक ही शब्द शेष रहता है। अन्य शब्दों का लोप हो जाता है।

(१४३) पद—प्रथमयोः, पूर्वसवर्णः। **अनुवृत्ति**—अकः, अचि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'अक्' से प्रथमा-द्वितीया सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है।

विमर्श—'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८४) का अधिकार है। 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) से 'अकः' तथा 'इको यणचि' (६।१।७७) से 'अचि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार अक् (अ इ उ ऋ ऌ) के अनन्तर प्रथमा, द्वितीया विभक्ति सम्बन्धी अच् (स्वर्) वर्ण परे रहते दोनों वर्णों के स्थान पर पूर्ववर्णस्वरूप 'सवर्णदीर्घ' एकादेश होता है।

देशः स्यात् । इति प्राप्ते । (१४४) नादिचि ६।१।१०४ । आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिरेचि । रामौ । (१४५) बहुषु बहुवचनम् १।४।२१ । बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात् । (१४६) चुटू १।३।७ । प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः । (१४७) विभक्तिश्च १।४।१०४ । सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः । (१४८) न विभक्तौ तुस्माः १।३।४ । विभक्तिस्थास्तुस्माः नेतः । इति सस्य नेत्वम् । रामाः । (१४९) एकवचनं

---

(१४५) बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यादित्यर्थः ।

(१४८) **रामा इति ।** रामश्च रामश्च रामश्चेति विग्रहे रामरामरामेति बहुत्वविवक्षायां प्रातिपदिकसंज्ञायां 'बहुषु बहुवचनम्' इत्येतत्सहकृतेन 'स्वौजसमौडि'ति

---

(१४४) पद—न, आत्, इचि । **अनुवृत्ति**—पूर्वसवर्णः । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—अवर्ण के अनन्तर इच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता । वृद्धिरेचि । रामौ ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'आत्' पद में पञ्चमी विभक्ति है । पूर्वसूत्र से 'पूर्वसवर्णः' की अनुवृत्ति आ रही है । 'आत्' में तपरकरण होने से ह्रस्व अकार के आगे इच् (इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) वर्ण परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता ।

उदाहरण—राम, राम+औ (द्वित्व की विवक्षा में प्रथमा विभक्ति का द्विवचन) 'सरूपाणामेक०' से एकशेष होकर—राम+औ, (इस स्थिति में 'अ+औ=औ' वृद्धिसन्धि का बाध कर 'प्रथमयोः०' (१४३) सूत्र से ('अ+औ=आ') पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति होती है । इच् (औ) परे होने से 'नादिचि' (१४४) सूत्र द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध हुआ । अतः 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होकर (अ+औ=औ)=रामौ ।

(१४५) पद—बहुषु, बहुवचनम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है ।

विमर्श—सूत्र स्वयं में पूर्ण है । दो या दो से अधिक की अपेक्षा में बहुवचन के प्रत्यय होते हैं ।

(१४६) पद—चुटू । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययस्य, आदिः, इत् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग और टवर्ग की इत्संज्ञा होती है ।

विमर्श—यहाँ 'ष-प्रत्ययस्य' से 'प्रत्ययस्य', 'आदिर्ञिटुडवः' से 'आदिः' तथा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'इत्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग और टवर्ग इत्संज्ञक होते हैं ।

(१४७) पद—विभक्तिः, च । **अनुवृत्ति**—सुप्, तिङ् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—सुप् और तिङ् की विभक्तिसंज्ञा होती है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१३८) से 'सुप्' तथा 'तिङस्त्रीणि०' (१।४।१०१) से 'तिङ्' की अनुवृत्ति आती है । सुप् और तिङ् प्रत्याहार हैं । 'सुप्' में २१ तथा 'तिङ्' में १८ प्रत्यय समाविष्ट हैं । इनकी विभक्तिसंज्ञा होती है ।

(१४८) पद—न, विभक्तौ, तुस्माः । **अनुवृत्ति**—उपदेशे, हलन्त्यम्, इत् । **संज्ञासूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—विभक्ति के तवर्ग, सकार और मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है । अतः स् की इत्संज्ञा नहीं हुई । रामाः ।

सम्बुद्धिः २।३।४९। सम्बोधने प्रथमायाः एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात्। (१५०) यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३। यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि-शब्दस्वरूपं तस्मिन्प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात्। (१५१) एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९। एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्। हे राम! हे रामौ! हे रामाः!

प्रथमाबहुवचने जसि 'राम राम राम जस्' इति जाते 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इत्यनेनैकस्य शेषे 'राम जस्' इत्यत्र 'चुटू' इत्यनेन जस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च कृते 'राम अस्' इति जाते, सकारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेन प्राप्तेत्संज्ञायाः 'विभक्तिश्च' इति विभक्तिसंज्ञापुरस्सरं 'न विभक्तौ तुस्माः' इत्यनेन निषेधे 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'खर-वसानयोः०' इति रेफस्य विसर्गे 'रामाः' इति सिद्धम्।

(१४९) **एकवचनमिति**। प्रातिपदिकार्थलिङ्गेत्यतः प्रथमेत्यनुवर्तते, षष्ठ्या च विपरिणम्यते। 'सम्बोधने च'त्यतः 'सम्बोधने' इत्यनुवर्तते। तदाह—**सम्बोधन इत्यादिना**।

(१५१) **एङ्ह्रस्वादिति**। एङ्ह्रस्वादित्यङ्गविशेषणत्वात् तदन्तविधिः। 'हल्-

---

विमर्श—अनुवृत्त पदों के द्वारा सूत्रार्थ पूर्ण होता है। तदनुसार तवर्ग=त्, थ्, द्, ध्, न, स् तथा म् यदि विभक्ति अर्थात् सुप् प्रत्ययों के अन्त में स्थित हों तो उनकी इत्संज्ञा नहीं होती। इत्संज्ञा का फल लोप का न होना है।

उदाहरण—बहुत्व की विवक्षा में राम शब्द से प्रथमा बहुवचन जस्,—'राम राम राम+जस्' (एकशेष होकर) राम+जस्, (ज् की इत्संज्ञा—'चुटू', लोप) राम+अस् ('स्' की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा प्राप्त 'विभक्तिश्च' से विभक्तिसंज्ञा होकर 'न विभक्तौ तुस्माः' से इत्संज्ञा का निषेध, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से अ+अ='आ' दीर्घ)—रामास् (स्=र्), रामार् (र्=ः)= रामाः।

(१४९) पद—एकवचनं, सम्बुद्धिः। **अनुवृत्ति**—प्रथमा, सम्बोधने। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन (सु) की सम्बुद्धि संज्ञा होती है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'प्रातिपदिकार्थ०' (२।३।४६) से 'प्रथमा' तथा 'सम्बोधने च' से 'सम्बोधने' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। 'प्रथमा' पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है—'प्रथमायाः'। इस प्रकार सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति के एकवचन की 'सम्बुद्धि' संज्ञा होती है। दूर से बुलाने पर प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति का दूसरा नाम सम्बोधन है।

(१५०) पद—यस्मात्, प्रत्ययविधिः, तदादि, प्रत्यये, अङ्गम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—जो प्रत्यय जिस (शब्द) से किया जाय, तदादि शब्द रूप की उस प्रत्यय के परे रहते 'अङ्ग' संज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ प्रत्यय को अङ्ग संज्ञा से निमित्त माना गया है—प्रत्यये इस प्रकार किसी शब्द से विधीयमान प्रत्यय परे रहते तदादि (प्रत्यय से पूर्व शब्दस्वरूप) अङ्गसंज्ञक होता है। यथा राम शब्द से 'सु' (प्रत्यय) आने पर उसके परे 'राम' की अङ्ग संज्ञा होती है।

(१५१) पद—एङ्ह्रस्वात्, सम्बुद्धेः। अनुवृत्ति—हल्, लोपः। विधिसूत्र।

(१५२) अमि पूर्वः ६।१।१०७ । अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् । रामौ । **(१५३) लशक्वतद्धिते १।३।८ ।** तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या ल-श-कवर्गा इतः स्युः ।

ङ्याब्भ्यः०' इत्यतो हलिति प्रथमान्तमनुवर्तते । 'लोपो व्योर्वलि' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते । ततश्च एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गात्परं यत् हल् सम्बुद्ध्यवयवभूतं तल्लुप्यत इति फलितार्थः । **हे राम इति ।** रामशब्दात् सम्बोधनार्थकप्रथमैकवचने सुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे राम+स् इति जाते 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सम्बुद्धिसंज्ञायां 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' इत्यनेन रामशब्दस्याङ्गत्वे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सकारस्य लोपे कृते 'हे राम !' इति ।

(१५२) **अमि पूर्व इति ।** 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यतोऽक इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते **'इको यणची'**त्यतोऽचीति च । 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिकारः । तथा चामोऽवयवेऽचि **परे इति फलितार्थः ।**

मूलार्थ—एङन्त, ह्रस्वान्त अङ्ग से परे 'सम्बुद्धि' के हल् का लोप होता है ।

विमर्श—'सम्बुद्धि' संज्ञा फल प्रकृत सूत्र द्वारा बतलाया जा रहा है । यहाँ 'हल्ङ्याब्भ्यो०' (६।१।६८) से 'हल्' तथा 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार एङ् तथा ह्रस्व से परे 'सम्बुद्धि' का 'हल्' लुप्त हो जाता है । **उदाहरण—हे राम**—यहाँ राम शब्द से सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन 'सु' प्रत्यय आने पर राम+सु (स्)—('एकवचनं सम्बुद्धिः' से सम्बुद्धि संज्ञा होकर 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से ह्रस्वान्त अङ्ग 'राम' के पश्चात् 'स्' का लोप)=हे राम !

(१५२) पद—अमि, पूर्वः । **अनुवृत्ति**—अकः, अचि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अक् से अम् सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्वरूप एकादेश होता है ।

विमर्श—अक्=(अ, इ, उ, ऋ, ऌ) के अनन्तर द्वितीया का एकवचन 'अम्' का अच् (अ) परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'अकः', 'इको यणचि' से 'अचि' की अनुवृत्ति आती है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है । यह सूत्र 'अकः सवर्णे०' 'अतो गुणे' और 'प्रथमयो०' का बाधक है ।

उदाहरण—(१) राम शब्द से द्वितीया का एकवचन 'अम्' प्रत्यय आने पर 'राम+अम्' (यहाँ मकारोत्तरवर्ती अकार 'अक्' है, उससे पर 'अम्' का अकार 'अच्' है, अतः 'अ+अ=अ'—पूर्वरूप होकर)=रामम् ।

(२) द्वितीया—द्विवचन 'औट्' प्रत्यय आने पर 'राम राम+औ' एकशेष होकर—'राम+औ'—(अ+औ=औ—'वृद्धिरेचि')=रामौ ।

(१५३) पद—लशकु, अतद्धिते । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययस्य, आदिः, इत् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—तद्धित को छोड़कर प्रत्यय के आदि में स्थित लकार, शकार और कवर्ग की इत्संज्ञा होती है ।

विमर्श—सूत्रार्थ के लिए 'षः प्रत्ययस्य' (१।३।६) से 'प्रत्ययस्य', 'आदिर्ञिटुडवः' (१।३।५) से 'आदिः' तथा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'इत्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार तद्धित भिन्न प्रत्यय के आदि वर्ण ल्, श्, कवर्ग=(क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) इत्संज्ञक होते हैं । (इत्संज्ञा का फल वर्णों का लोप होना है) ।

(१५४) तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३ । पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात्पुंसि । (१५५) अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२ । अट्-कवर्ग-पवर्ग-आङ्-नुम्-एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्समानपदे । इति प्राप्ते । (१५६) पदान्तस्य ८।४।३७ । नस्य णो न । रामान् । (१५७)

---

(१५४) **पूर्वसवर्णदीर्घादिति** । तच्छब्देनात्र सन्निहितस्य पूर्वसवर्णदीर्घस्यैव परामर्शः ।

(१५५) **अट्कुप्वाङिति** । 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति सम्पूर्णसूत्रमनुवर्तते । अट्कवर्ग-पवर्ग-आङ्-नुम् इत्येतेषां मध्ये प्रत्येकं व्यवधाने यथासम्भवमिलितद्व्यादिव्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णत्वं स्यादित्यर्थः ।

(१५६) **रामानिति** । रामशब्दाद् द्वितीयाबहुवचने शसि 'लशक्वतद्धिते' इति शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च राम + अस् इति जाते, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे 'रामास्' इत्यत्र 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सकारस्य नकारे कृते 'रामान्' इति । अत्र अट्कुप्वाङित्यादिना नस्य णत्वे प्राप्ते 'पदान्तस्ये'ति तन्निषेधे रामान्निति रूपम् ।

---

(१५४) पद—तस्मात्, शसः, नः, पुंसि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पूर्वसवर्ण दीर्घ से परे 'शस्' के सकार को पुँल्लिग में नकार होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र का 'तस्मात्' पद अपने समीपवर्ती पूर्वसवर्ण दीर्घ का परामर्शक है । अतः पूर्वसवर्ण दीर्घ होने के पश्चात् 'शस्' के स् स्थान में (पुंल्लिगवाचक शब्दों में) 'न्' होता है ।

(१५५) पद—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये, अपि । **अनुवृत्ति**—रषाभ्यां नः णः समानपदे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् का यथासम्भव सम्मिलित अथवा अलग-अलग व्यवधान होने पर भी समानपद (एकपद) में र्, ष् से परे 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है ।

विमर्श—'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) सम्पूर्ण सूत्र यहाँ अनुवृत्त होता है । इस प्रकार किसी एकपद में 'र्, ष्' के बाद अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् से व्यवधान सहित 'न्' के स्थान में 'ण्' होता है । अट्, कवर्ग आदि का यह व्यवधान अलग-अलग अथवा दो-तीन वर्णों का सम्मिलित भी हो सकता है ।

(१५६) पद—पदान्तस्य । **अनुवृत्ति**—नः, णः, न । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—पदान्त नकार को णकार नहीं होता ।

विमर्श—'रषाभ्यां नो०' (८।४।१) से 'नः' तथा 'णः' की, एवम् 'न भाभूपूकमि०' (८।४।३४) से 'न' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार पद के अन्त में स्थित 'न्' को 'ण्' नहीं होता । रामान् । **उदाहरण**—राम शब्द से द्वितीया का बहुवचन 'शस्' प्रत्यय आने पर 'राम+शस्' ('लशक्वतद्धिते' से 'श्' की इत्संज्ञा, लोप होने पर) राम+अस् (अ+अ='आ' दीर्घ—'प्रथमयोः०' से)—'रामास्' (स्=न्—'तस्माच्छसो नः पुंसि') रामान् ('अट्कुप्वाङ्' से न्=ण् प्राप्त; 'पदान्तस्य' से निषेध होकर)=रामान् ।

टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२। अदन्तात्टादीनामिनादयः क्रमात् स्युः। णत्वम्। रामेण। (१५८) **सुपि च ७।३।१०२।** यञादौ सुप्यतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात्। रामाभ्याम्। (१५९) **अतो भिस ऐस् ७।१।९।** अतोऽङ्गात्परस्य भिस ऐस् स्यात्। 'अनेकाल्शित्सर्वस्य'। रामैः। (१६०) **ङेर्यः ७।१।१३।** अतोऽङ्गात्परस्य ङेर्यदेशः

---

(१५७) **टाङसिङसामिति।** 'टा' इत्यस्य 'इन', 'ङसि' इत्यस्य 'आत्' 'ङस्' इत्यस्य 'स्य' इति स्यादित्यर्थः। **रामेणेति।** रामशब्दात् तृतीयैकवचने 'टा' विभक्तौ 'राम + टा' इति दशायां 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति टास्थाने इनादेशे 'आद् गुणः' इति गुणे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे 'रामेण' इति।

(१५९) **रामैरिति।** रामशब्दात् तृतीयाबहुवचनविवक्षायां भिस्प्रत्यये राम + भिस् इति जाते 'अतो भिस ऐस्' इति ऐसादेशे प्राप्ते क्व स्यादिति जिज्ञासायाम् 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'ति परिभाषया सर्वस्य भिसः स्थाने ऐसादेशे 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे च 'रामैः' इति रूपम्।

---

(१५७) **पद**—टाङसिङसाम्, इनात्स्याः। **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अदन्त अङ्ग से परे टा, ङसि, ङस के स्थान में क्रमशः इन्, आत् और स्य आदेश होते हैं। रामेण।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो भिस्०' (७।१।९) से 'अतः' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। जो पञ्चम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार 'अतः' पद अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से परे टा, ङसि, ङस के स्थान में क्रम से इन, आत्, स्य होते हैं। **उदाहरण**—राम शब्द से तृतीया-एकवचन 'टा' आने पर 'राम+टा' (टा=इन 'टाङसिङसाम्०') 'राम+इन' (अ+इ='ए' गुण)—रामेन (न्=ण्—अट्-कुप्वाङ्०')=रामेण।

(१५८) **पद**—सुपि, च। **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य, दीर्घः, यञि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—यञादि सुप् के परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। रामाभ्याम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आती है। 'यञि' सुपि का विशेषण है, तदादि-विधि होने पर 'यञादि सुप्' अर्थ होता है। इस प्रकार यञादि सुप् (भ्याम्, भिस्, भ्यस् तथा ङे) प्रत्यय परे रहते ह्रस्व अकारान्त अङ्ग को दीर्घ होता है। **उदाहरण**—राम शब्द से तृतीया-द्विवचन 'भ्याम्' प्रत्यय आने पर 'राम+भ्याम्' (अ='आ' दीर्घ—'सुपि च')=रामाभ्याम्।

(१५९) **पद**—अतः, भिसः, ऐस्। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अदन्त अङ्ग से परे 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश होता है। रामैः।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'अतः' अङ्गस्य का विशेषण है। यहाँ आदेश ऐस् और स्थानी भिस् दोनों अनेकाल् हैं। अतः 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषा के द्वारा सम्पूर्ण 'भिस्' के स्थान में 'ऐस्' आदेश होता है। **उदाहरण**—राम शब्द से तृतीया बहुवचन 'भिस्'—राम+भिस्-('भिस्'='ऐस्'—'अतो भिस ऐस्') राम+ऐस् (अ+ऐ=ऐ—वृद्धि)—रामैस्, (स्=र्)—रामैर्, (र=ः)=रामैः।

स्यात् । (१६१) **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५६।** आदेशः स्थानिवत्स्यान्न तु स्थान्यलाश्रयविधौ । आदेशोऽलाश्रयविधौ तु स्यादेव । इति स्थानिवत्त्वात्सुपि चेति

---

(१६०) **ङेर्य इति ।** ङेरिति चतुर्थ्येकवचनस्य ग्रहणम्, प्रतिपदोक्तत्वात् । न तु सप्तम्येकवचनस्य 'ङि' इत्यस्येति ।

(१६१) यथा लोके गुरुस्थानापन्ने गुरुपुत्रादौ स्थानापत्त्या तद्धर्मलाभः प्रसिद्धः, तथैवेह शास्त्रे आदेशः स्थानिना तुल्यो भवति—अर्थात् स्थानिधर्मको भवतीति । अलिति वर्णपर्यायः । अलाश्रयो विधिः अल्विधिः, एकवर्णाश्रितो विधिरित्यर्थः । न अल्विधिः अनल्विधिः, तस्मिन् अनल्विधौ । अलाश्रयभिन्ने कार्ये कर्तव्ये स्थानिवन्न भवतीति फलितार्थः । अल् चेह स्थान्यवयव एव गृह्यते । तदाह मूले—**न तु स्थान्यलाश्रयविधाविति ।** यथा 'क इष्टः' इत्यत्र यज्धातोः क्तप्रत्यये सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते 'इष्टः' इति रूपम् । अत्र स्थानिवद्भावात् इकारे यकारं मत्वा 'हशि चे'त्यनेन रोरुत्वं न भवति, स्थान्यलाश्रयविधित्वात् । **रामाय इति ।** रामशब्दात् चतुर्थ्येकवचने 'ङे' विभक्तौ 'ङेर्यः' इत्यनेन 'ङे' इत्यस्य स्थाने यकारादेशे कृते राम+य इति जाते, 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधावि'ति स्थानिवद्भावेन यकारे सुप्त्वमानीय 'सुपि चे'ति अदन्ताङ्गस्य दीर्घे 'रामाय' इति । अत्र दीर्घे कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषा तु न प्रवर्तते, 'कष्टाय क्रमणे' इत्यादिनिर्देशात् ।

---

(१६०) पद—ङेः, यः । **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अदन्त अङ्ग से परे 'ङ्' के स्थान में 'य' आदेश होता है ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) से 'अतः' पञ्चम्यन्त पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'य' आदेश 'य्+अ' अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'ङ्' के स्थान पर होता है ।

(१६१) पद—स्थानिवत्, आदेशः, अनल्विधौ । **अतिदेशसूत्र ।**

मूलार्थ—आदेश स्थानिवत् (स्थानी के समान) होता है, किन्तु स्थानी-सम्बन्धी एक अल् (वर्ण) को आश्रय मानकर विधि करनी हो तो स्थानिवद्भाव नहीं होता ।

विमर्श—छः प्रकार के सूत्रों में यह आरोपबोधक अतिदेशसूत्र है । आदेश से स्थानी का नाश हो जाने पर स्थानी की सत्ता नहीं रहती है, परन्तु प्रकृत सूत्र द्वारा स्थानी में रहने वाले धर्म का आदेश में आरोप हो जाता है । जैसे—राम+ङे (चतुर्थी एकवचन), ङे=य—'ङेर्यः', राम+य (यहाँ 'य' में सुप्त्व नहीं है, किन्तु इस अतिदेशसूत्र ने सुप्त्व के अभाव वाले 'य' में सुप्त्व का आरोप किया । अतः 'सुपि च' से दीर्घ होकर 'रामाय' प्रयोग हुआ ।

इस सूत्र में दो वाक्य हैं—(१) आदेशः स्थानिवत् और (२) अनल्विधौ । यहाँ अल्विधि का अर्थ है—अलाश्रय विधि । 'अल्' पद वर्ण का पर्याय है । नञ्तत्पुरुष समास है—न अल्विधिः 'अनल्विधिः' । अर्थात् एक अल् (वर्ण) के आश्रय से कुछ विधान हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता । 'अल्विधिः' पद में चार प्रकार से विग्रह हो सकता है—(१) अला विधिः (तृतीया तत्पुरुष), (२) अलः विधिः (पञ्चमी त०), (३) अलः विधिः (षष्ठी त०), (४) अलि विधिः (सप्तमी त०) । अत एव 'व्यूढोरस्केन, द्यौः, द्युकामः, क इष्टः' में स्थानिवद्भाव का अल्विधि होने से निषेध होने पर क्रमशः णत्व, विभक्तिलोप, वलोप और उत्व कार्य नहीं हुए ।

दीर्घः । रामाय । रामाभ्याम् । (१६२) बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३ । झलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यैकारः । रामेभ्यः । सुपि किम् ? पचध्वम् । (१६३) वाऽवसाने ८।४।५६ । अवसाने झलां चरो वा स्युः । रामात्–रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः ।

---

(१६२) 'सुपि चे'ति दीर्घस्यापवादोऽयम् । **सुपि किमिति** । पचध्वम् । पूर्वसूत्रतो यदि सुपीति नान्ववर्तिष्यत तदा ध्वमि परेऽनेन सूत्रेणैकारोऽभविष्यत् पचेध्वमिति स्यात् । नात्र सुप्, किन्तु (ध्वम्) तिङ् ।

(१६३) **रामादिति** । रामशब्दात् पञ्चम्येकवचने 'ङसि' विभक्तौ 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति ङसेरादादेशे 'अकः सवर्णे०' इति दीर्घे 'झलां जशोऽन्ते' इति तस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति दस्य विकल्पेन तत्वे 'रामात्' इति । पक्षे 'रामाद्' इति ।

---

(१६२) पद—बहुवचने, झल्येत् । **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य, सुपि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—झलादि बहुवचन 'सुप्' परे रहते अकारान्त अङ्ग को एकार आदेश होता है । रामेभ्यः । 'सुपि' क्यों कहा ?—पचध्वम् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) से अतः तथा 'सुपि च' से सुपि की अनुवृत्ति आती है । 'अतः' में अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । इसी प्रकार सुपि का विशेषण झलि होने से तदादिविधि होकर 'झलादि सुप्' अर्थ होता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा की उपस्थिति से बहुवचन में झलादि सुप् परे रहते ह्रस्व अकारान्त अङ्ग के अन्तिम अल् को 'ए' आदेश होता है ।

उदाहरण—राम शब्द से चतुर्थी बहुवचन 'भ्यस्' आने पर राम+भ्यस्, (अ=ए, झलादि सुप् (भ्यस्) परे रहते) रामेभ्यस् (स्=र्), रामेभ्यर् (र्= :)=रामेभ्यः ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'सुपि' पद की अनुवृत्ति आती है । अतः प्रस्तुत एकार का विधान 'सुप्' प्रत्याहार में ही होता है । अतः 'पचध्वम्' में तिङ् प्रत्यय (ध्वम्) होने से चकारोत्तरवर्ती अकार को एकार नहीं हुआ ।

(१६३) पद—वा, अवसाने । **अनुवृत्ति**—झलां चर । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अवसान में विद्यमान 'झल्' के स्थान में 'चर्' आदेश विकल्प से होता है । रामात् । रामाद् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) से 'झल्' तथा 'अभ्यासे चर्च' से 'चर्' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार अवसान (पद के अन्त में) विद्यमान् झल् वर्णों के स्थान में विकल्प से चर् हो जाता है ।

उदाहरण—(१) राम शब्द से पञ्चमी का एकवचन 'ङसि' प्रत्यय आने पर 'राम+ङसि' ङसि=आत्—'टाङसिङसाम्०' से) राम+आत् (अ+आ='आ' दीर्घ)=रामात् (त्=द् 'झलां जशोऽन्ते')—रामाद् (द्=त् 'वाऽवसाने')=रामात् । विकल्प होने के कारण पक्ष में रामाद् ।

(२) पञ्चमी द्विवचन 'भ्याम्' —राम+भ्याम् (दीर्घ—'सुपि च')=रामाभ्याम् ।

(३) पञ्चमी बहुवचन 'भ्यस्' —राम+भ्यस् (अ='ए'—'बहुवचने झल्येत्')—रामेभ्यस् (स्=र्)—रामेभ्यर् (र्= :)=रामेभ्यः ।

(४) षष्ठी एकवचन 'ङस्'—राम+ङस् (ङस्=स्य 'टाङसिङसा०' से)—रामस्य ।

रामस्य । **(१६४) ओसि च ७।३।१०४ ।** अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् । रामयोः । **(१६५) ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४ ।** ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्चाङ्गात्परस्याऽऽमो नुडागमः । **(१६६) नामि ६।४।३ ।** नामि परेऽजन्ताङ्गस्य दीर्घः । रामाणाम् । रामे ।

---

(१६६) **रामाणामिति** । रामशब्दात् षष्ठीबहुवचने आमि 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटयनुबन्धलोपे टित्वादाद्यवयवे राम + नाम् इति जाते 'नामि' इति दीर्घे णत्वे च कृते रामाणामिति ।

---

(१६४) पद—ओसि च । **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य एत् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अकारान्त अङ्ग को ओस् परे रहते एकार आदेश होता है ।

विमर्श—'अतो दीर्घो यञि' से 'अतः' तथा 'बहुवचने झल्येत्' से 'एत्' पद की अनुवृत्ति आती है 'अतः' पद अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्तविधि हो जाती है । इस प्रकार 'ओस्' विभक्ति के परे रहते ह्रस्व अदन्त अङ्ग अन्तिम वर्ण के स्थान में एकार आदेश हो जाता है ।

उदाहरण—राम शब्द से षष्ठी द्विवचन 'ओस्' विभक्ति आने पर राम+ओस्, (अ= 'ए'—'ओसि च') रामे+ओस् (ए=अय्)—रामयोस्, (स्=र्)—रामयोर्, (र्= :)= रामयोः ।

(१६५) पद—ह्रस्वनद्यापः, नुट् । **अनुवृत्ति**—आमि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आबन्त अङ्ग से परे 'आम्' को 'नुट्' का आगम होता है ।

विमर्श—'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (७।१।५२) से 'आमि' पद की अनुवृत्ति आती है । 'ह्रस्व-नद्यापः' में समाहारद्वन्द्व समास है (ह्रस्वश्च, नदी च, आप् च—एतेषां समाहारः) । 'अङ्गस्य' का अधिकार होने से ह्रस्व, नदी तथा आप् पदों में तदन्तविधि हो जाती है । 'आमि' पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है । 'नुट्' का आगम टित् होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा की उपस्थिति से 'आम्' का आद्यवयव होगा ।

उदाहरण—राम शब्द से षष्ठी बहुवचन आम्, राम+आम्, (नुट् (न्)—'सवर्ण दीर्घ का बाध कर 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से) राम न् आम् ।

(१६६) पद—नामि । **अनुवृत्ति**—दीर्घः, अच् , अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'नाम्' परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है ।

विमर्श—'ढ्लोपे पूर्वस्य०' (६।३।१११) से 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है । 'दीर्घ' पद से दीर्घ (अच्) विधान होने के कारण 'अचश्च' (५।२।२८) परिभाषा की उपस्थिति से 'अचः' पद अङ्गस्य का विशेषण हो जाता है । अतः अजन्ताङ्ग को नाम् परे रहने पर दीर्घ होता है ।

उदाहरण—(१) राम+नाम् (अ=आ—दीर्घ)—रामानाम् (न्=ण्—'अट्कुप्वाङ्०') =रामाणाम् । (२) राम शब्द से सप्तमी विभक्ति का एकवचन 'ङि'—राम+ङि (ङ् की इत्संज्ञा होकर) राम+इ (अ+इ='ए'—गुण)—रामे । (३) सप्तमी विभक्ति का द्विवचन 'ओस्' राम+ओस् (अ=ए—'ओसि च')=रामे+ओस् (ए=अय्)—रामयोस् (स्=र्)= रामयोर् (र्= :)=रामयोः । (४) सप्तमी विभक्ति के बहुवचन 'सुप्' प्रत्यय आने पर 'राम+ सुप्' ('प्' की इत्संज्ञा होकर) राम+सु (अ=ए—'बहुवचने झल्येत्')—रामे+सु ।

रामयोः। सुपि एत्वे कृते। (१६७) आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९। इण्कुभ्यां परस्याऽपदान्तस्याऽऽदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः। ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु। एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः। (१६८) सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७। सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः। सर्व। विश्व। उभ। उभय। डतर। डतम। अन्य। अन्यतर। इतर। त्वत्। त्व। नेम। सम। सिम।

---

(१६७) **आदेशप्रत्यययोरिति।** 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३।५५), 'इण्कोः' (८।३।५७) इत्यनयोरधिकारः। 'सहेः साडः सः' इत्यस्मात् 'सः' इत्यनुवर्तते। तच्च 'आदेशप्रत्यययोरि'त्यत्र द्विवचनान्ततया विपरिणम्य सम्बध्यते। एवञ्च इण्वर्गाभ्यां परयोः पदान्तयोरादेशात्मकप्रत्ययावयवात्मकयोः सकारयोः मूर्द्धन्यादेशः स्यादित्यर्थः।

(१६८) **सर्वादीनीति।** सर्वः आदिर्येषां तानि सर्वादीनि। तथा च सर्वादिगणपठितानि सर्वनामसंज्ञानि स्युरित्यर्थः।

---

(१६७) **पद**—आदेशप्रत्यययोः। **अनुवृत्ति**—सः, अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः, इण्कोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इण् और कवर्ग से परे अपदान्त आदेशरूप सकार तथा प्रत्यय के अवयव सकार के स्थान में मूर्धन्य 'ष्' आदेश होता है। ईषद्विवृत प्रयत्नवान् 'स्' के स्थान में तत्सदृश 'ष्' होता है। रामेषु।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) सूत्र से 'सः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' (८।३।५५) तथा 'इण्कोः' (८।३।५७) का अधिकार है। 'आदेशप्रत्यययोः' में द्वन्द्वसमास है (आदेशश्च प्रत्ययश्च तयोः) इस प्रकार इण् प्रत्याहार ('लण्' के 'ण्' तक) और कवर्ग से परे आदेश स्वरूप एवं प्रत्ययावयव 'स्' के स्थान पर मूर्द्धन्य (ष्) आदेश होता है। **उदाहरण**—रामे+सु (स्=ष्—यहाँ इण् (एकार) से परे अपदान्त प्रत्यय का अवयव 'स्' है। अतः मूर्द्धन्य 'ष्' हुआ)=रामेषु।

अकारान्त पुँल्लिङ्ग राम शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	रामः	रामौ	रामाः	पं०	रामात्	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
द्वि०	रामम्	रामौ	रामान्	ष०	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
तृ०	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः	स०	रामे	रामयोः	रामेषु
च०	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः	सं०	हे राम!	हे रामौ!	हे रामाः!

इसी प्रकार कृष्ण, मुकुन्द आदि अकारान्त पुंल्लिग शब्दों के रूप राम के सदृश समझे जायें।

(१६८) **पद**—सर्वादीनि, सर्वनामानि। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—सर्वादिगणपठित शब्दों की 'सर्वनाम' संज्ञा होती है।

विमर्श—'सर्वादीनि' पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है (सर्वः आदिः येषां तानि)। अन्यथा अन्य पदार्थ की प्रधानता के कारण बहुव्रीहि समास में 'सर्व' पद की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए शब्दस्वरूप पद का अध्याहार किया गया है। इस प्रकार

*** पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् * । * स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् * । * अन्तरं बहिर्योगोपसङ्ख्यानयोः * । त्यद् । तद् । यद् । एतद् । इदम् । अदस् । एक । द्वि । युष्मद् । अस्मद् । भवतु । किम् । एते पञ्चत्रिंशच्छब्दाः सर्वादयः । (१६९) जशः शी ७।१।१७ । अदन्तात्सर्वनाम्नो जशः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । सर्वे । (१७०) सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४ । अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै ।**

---

(१६९) **अनेकाल्त्वादिति ।** अत्रानेकाल्त्वात् सर्वादेशः न तु शित्त्वात्, सर्वादेशात्प्राक् शकारस्येत्संज्ञाया एवाभावात् । कृते सर्वादेशे तु स्थानिवद्भावेन प्रत्ययत्वात् 'लशक्वतद्धिते' इत्यनेनेत्संज्ञा । **सर्वे इति ।** सर्वशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि विभक्तौ 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञायां 'जशः शी' इत्यनेन अनेकाल्त्वात् सर्वस्य जसः स्थाने 'शी' इत्यादेशे 'लशक्वतद्धिते' इति शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सर्व + ई' इति जाते 'आद् गुणः' इति गुणे 'सर्वे' इति ।

(१७०) **सर्वनाम्न इति ।** 'अतो भिस॰' इत्यस्मादत इत्यनुवर्तते, 'ङेर्यः' इत्यतो ङेरिति च । तदाह—**अत इत्यादि ।**

सर्वादि गण में पढ़े हुए शब्द सवनामसंज्ञक होते हैं । सर्वादिगण में ३५ शब्द पढ़े गये हैं—सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर (प्रत्ययान्त), डतम (प्रत्ययान्त), अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम (आधा), सम (सभी), सिम (सभी), पूर्व, पर, अवर (पश्चिम), दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर (नीचे), स्व, अन्तर, त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, भवतु, किम् ।

पूर्वपरा॰ (गणसूत्र) पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इन सात शब्दों की व्यवस्था और संज्ञा में सर्वनाम संज्ञा होती है ।

स्वमज्ञाति॰—स्वशब्द की ज्ञाति (बान्धव) और धन अर्थ से भिन्न आत्मा और आत्मीय अर्थ में सर्वनाम संज्ञा होती है ।

अन्तरम्॰—बहिर्योग (बाह्य) और उपसंव्यान (परिधानीय) अर्थ में अन्तर शब्द की सर्वनाम संज्ञा होती है ।

(१६९) पद—जशः, शी । **अनुवृत्ति**—अतः, सर्वनाम्नः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे 'जश्' के स्थान में 'शी' आदेश होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो भिस॰' (७।१।९) से 'अतः' तथा 'सर्वनाम्नः स्मै' (७।१।१४) से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति आ रही है । 'अतः' पद 'सर्वनाम्नः' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । इस प्रकार ह्रस्व अकारान्त सर्वनाम से परे जश् के स्थान पर 'शी' आदेश होता है । 'शी' में 'श्+ई' दो वर्ण (अनेकाल्) होने से यह आदेश सम्पूर्ण जश् के स्थान में होता है ।

उदाहरण—सर्व शब्द से प्रथमा बहुवचन 'जस्' विभक्ति आने पर—'सर्व+जस्', (जस्=शी (ई) 'लशक्वतद्धिते' से 'श्' की इत्संज्ञा, लोप)—सर्व+ई (अ+ई='ए' गुण)=सर्वे ।

(१७०) पद—सर्वनाम्नः, स्मै । **अनुवृत्ति**—अतः, ङेः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे 'ङे' को 'स्मै' आदेश होता है । सर्वस्मै ।

विमर्श—यहाँ 'अतो भिस ऐस्' से 'अतः' तथा 'ङेर्यः' से 'ङे' की अनुवृत्ति आती है । अनुवृत्त 'अतः' पद सूत्रस्थ 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है । 'अतः' में तदन्तविधि होने से 'अदन्त'

सर्वस्मै । (१७१) ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७।१।१५ । अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः । सर्वस्मात्–सर्वस्माद् । **(१७२) आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२ ।** अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः । उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ–२ । उभाभ्याम् ३ । उभयोः २ । तस्येह पाठोऽकजर्थः । डतरडतमौ प्रत्ययौ । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमि'ति तदन्ता ग्राह्याः । नेम–इत्यर्धे । समः–सर्वपर्यायः । तुल्य-

---

(१७२) **सर्वेषामिति ।** सर्वनामसंज्ञकसर्वशब्दस्य प्रातिपदिकसंज्ञायां षष्ठीबहुवचनविवक्षायाम् आमि विभक्तौ 'सर्व + आम्' इत्यवस्थायां नुटं प्रबाध्य 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इत्यनेन सुडागमेऽनुबन्धलोपे 'सर्व + स् + आमि'ति जाते 'बहुवचने झल्येत्' इत्यनेन वकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यैत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे च कृते 'सर्वेषामि'ति सिद्धम् ।

सर्वनाम से परे ङे के स्थान में 'स्मै' आदेश होता है। 'स्मै' आदेश भी अनेकाल् होने के कारण सम्पूर्ण 'ङे' के स्थान में होता है।

उदाहरण—सर्वशब्द से चतुर्थी एकवचन ङे—'सर्व + ङे' (ङे = स्मै) = सर्वस्मै ।

(१७१) पद—ङसिङ्योः, स्मात्स्मिनौ । **अनुवृत्ति**—अतः सर्वनाम्नः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे 'ङसि' और 'ङि' के स्थान में क्रमशः 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश होते हैं। सर्वस्मात् ।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'अतः' तथा 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'ङसि' तथा 'ङि' स्थानी हैं और 'स्मात्' तथा 'स्मिन्' आदेश। दोनों की संख्या समान होने से यथासंख्य परिभाषा के बल से क्रमशः 'ङसि' को 'स्मात्' तथा 'ङि' को 'स्मिन्' आदेश होता है। स्मात् और स्मिन् आदेशों में 'न विभक्तौ तुस्माः' से निषेध हो जाने पर 'त्' और 'न्' की इत्संज्ञा नहीं होती। यह सूत्र 'टाङसिङसाम्०' का अपवाद है।

उदाहरण—सर्व शब्द से पञ्चमी एकवचन ङसि 'सर्व + ङसि' (ङसि = स्मात्) = सर्वस्मात् ।

(१७२) पद—आमि, सर्वनाम्नः सुट् । **अनुवृत्ति**—आत् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अवर्णान्त अङ्ग से परे सर्वनाम से विहित (किये गये) 'आम्' को 'सुट्' का आगम होता है। एत्व तथा षत्व होने पर सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेष रूप राम शब्द की तरह चलते हैं। इसी प्रकार विश्व आदि अकारान्त शब्दों के रूप भी चलते हैं। 'उभ' शब्द नित्य द्विवचनान्त है। उसका सर्वादिगण में पाठ 'अकच्' प्रत्यय होने के लिए किया गया है। इससे 'उभकौ' आदि रूपों की सिद्धि होती है। उभय शब्द द्विवचन नहीं है। डतर, डतम दोनों प्रत्यय हैं। अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ताः ग्राह्याः' परिभाषा से प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है। नेम का अर्थ आधा है। सम शब्द सर्व का पर्यायवाची है। तुल्य का पर्याय नहीं है, इस विषय में 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्र में 'समानाम्' का निर्देश ही प्रमाण है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आज्जसेरसुक्' (७।१।५०) से 'आत्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'आत्' 'सर्वनाम्नः' का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर अकारान्त का ग्रहण होता है। 'आमि'

पर्यायस्तु नेह—'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानामि'ति ज्ञापकात्। (१७३) पूर्वपरावर-दक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् १।१।३४। एषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणपाठात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे-पूर्वाः। स्वाभिधेया-

(१७३) पूर्वे, पूर्वा इति। पूर्वशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि विभक्तौ 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति प्राप्तां नित्यां सर्वनामसंज्ञायां प्रबाध्य 'पूर्वपरावर०' इत्यनेन विकल्पेन

पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। 'सुट्' में 'ट्' की इत्संज्ञा होने से 'आम्' का आदि अवयव होगा। तदनुसार अकारान्त सर्वनाम के अनन्तर आम् का आद्यवयव सुट् (स्) का आगम होता है।

उदाहरण—(१) सर्व शब्द से षष्ठी बहुवचन—आम्—'सर्व+आम् (सुट् (स्) का आगम)='सर्व+स्+आम्' (अ=ए 'बहुवचने झल्येत्')=सर्वे+साम् (स्=ष्–'आदेशप्रत्यययोः')=सर्वेषाम्। (२) सर्व शब्द से सप्तमी एकवचन में 'ङि' प्रत्यय आने पर 'सर्व+ङि' ('ङि'='स्मिन्'—'ङसिङ्योः०' से)=सर्वस्मिन्। शेष रूप राम शब्द की तरह चलते हैं।

अकारान्त पुंल्लिङ्ग सर्वनाम 'सर्व' शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सर्वः	सर्वौ	सर्वे	पं०	सर्वस्मात्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
द्वि०	सर्वम्	सर्वौ	सर्वान्	ष०	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
तृ०	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः	स०	सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु
च०	सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः	सं०	हे सर्व	हे सर्वौ	हे सर्वे

इसी प्रकार विश्व आदि अकारान्त सर्वनाम शब्दों की रचना-प्रक्रिया जानी जायँ। उभ शब्द नित्य द्विवचनान्त है। (१) उभ+औ (अ+औ=औ 'वृद्धि')=उभौ। (२) उभ+भ्याम् (दीर्घ)=उभाभ्याम्। (३) उभ+ओस् (एत्व) उभे+ओस् (ए=अय्)—उभयोस्, (स=र्)—उभयोर् (र्=ः)=उभयोः।

यहाँ आशङ्का यह होती है कि द्विवचन में सर्वनामप्रयुक्त कोई कार्य न होने पर भी सर्वादिगण में उभ शब्द का पाठ क्यों किया गया? इसका उत्तर है 'तस्येह पाठोऽकजर्थः।' अर्थात् उभ शब्द में भी 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' से सर्वनाम को विहित 'अकच्' प्रत्यय हो, इसलिए यहाँ उसका पाठ किया गया है। (उभ+अकच्=उभ्+अक—उभक+औ=उभकौ।)

डतर, डतम प्रत्यय हैं। प्रत्ययों की सर्वनाम संज्ञा का कोई प्रयोजन न होने से 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' से तदन्त विधि होकर डतरान्त और डतमान्त पद ग्रहण किये जाते हैं। अतः (किम्+डतर=) 'कतर' तथा (किम्+डतम=) 'कतम' आदि पदों की सर्वनाम संज्ञा होती है।

नेम शब्द का अर्थ 'आधा' है। 'सम' पद 'सर्व' का पर्याय है, तुल्य का नहीं। इसमें प्रमाण पाणिनि का 'समानाम्'[1] प्रयोग है।

(१७३) पद—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि, व्यवस्थायाम्, असंज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—सर्वनामानि, विभाषा, जसि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पूर्व आदि सात शब्दों की गणसूत्र से सर्वत्र नित्य प्राप्त सर्वनाम संज्ञा व्यवस्था

१. 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्'—पा० सू०।

ऽपेक्षाऽवधिनियमो व्यवस्था । व्यवस्थायां किम् ? दक्षिणा गाथकाः । कुशला इत्यर्थः । असंज्ञायां किम् ? उत्तराः कुरवः । (१७४) **स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् १।१।३५ ।** ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा । स्वे । स्वाः । आत्मीयाः, आत्मान इति वा । ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः । ज्ञातयोऽर्था वा । (१७५) **अन्तरं**

सर्वनामसंज्ञायाम् 'जसः शी' इति जसः 'शी' इत्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते पूर्व + ई इति जाते 'आद् गुणः' इति गुणे 'पूर्वे' इति । सर्वनामसंज्ञाया अभावपक्षे पूर्वसवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'पूर्वाः' इति । **स्वाभिधेयेति ।** स्वस्य पूर्वादिशब्दस्याभिधेयो दिग्देशादिरूपोऽर्थः तेनापेक्ष्यमाणो जिज्ञास्यमानो योऽवधेर्नियमः यथा—'काशी पूर्वा, कुतः पूर्वा ? प्रयागात् ।' इत्येवं रूपः स व्यवस्थेत्युच्यते ।

(१७४) **स्वमिति** । आत्मा, आत्मीयः, धनं ज्ञातिश्चेति स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः । तत्रात्मीयवाचिनः सर्वनामसंज्ञा न तु ज्ञातिधनवाचिनः ।

और असंज्ञा अर्थ में जस् के परे रहते विकल्प से होती है । पूर्वे–पूर्वाः । पूर्व आदि शब्दों के अर्थ से अपेक्षित अवधि के नियम को व्यवस्था कहते हैं । 'व्यवस्था' पद का ग्रहण क्यों किया ? दक्षिणा गाथकाः । अर्थात् दक्ष हैं । सूत्र में 'असंज्ञायाम्' का ग्रहण क्यों किया ? उत्तराः कुरवः ।

विमर्श—'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१।१।२७) से 'सर्वनामानि' तथा 'विभाषा जसि' (१।१।३२) से 'विभाषा' एवं 'जसि' दोनों पदों की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार 'पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर और अधर शब्दों की व्यवस्था और असंज्ञा में जस् परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है ।' गणसूत्र से नित्य प्राप्त सर्वनाम संज्ञा का प्रकृत सूत्र द्वारा विकल्प से विधान किया गया है ।

उदाहरण—पूर्व शब्द से विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होने पर पूर्व+जस्, (जस्=शी ई) पूर्व+ई (अ+ई=ए 'गुण')=पूर्वे । सर्वनाम संज्ञा के अभाव पक्ष में—पूर्व+जस्, (अस्) दीर्घ होकर—पूर्वास्, (स्=र्), पूर्वार्, (र्= :)=पूर्वाः । **स्वाभि०**—'यह किससे पूर्व है अथवा पर है ? इत्यादि अवधि के नियम की आकाङ्क्षा को यहाँ 'व्यवस्था' कहते हैं ।

प्रत्युदाहरण—(१) 'दक्षिणा गाथकाः' (गायक चतुर हैं) । यहाँ 'दक्षिण' शब्द का अर्थ 'चतुर' है, अतः अवधि की आकाङ्क्षा न होने से सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई । (२) सूत्र में 'असंज्ञायाम्' पद का ग्रहण होने से 'उत्तराः कुरवः' में सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई । क्योंकि यहाँ 'उत्तर' शब्द 'उत्तर कुरुदेश' की संज्ञा है ।

(१७४) पद—स्वम्, अज्ञातिधनाख्यायाम् । **अनुवृत्ति**—सर्वनामानि, विभाषा, जसि । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—ज्ञाति और धन से भिन्न अर्थ में (आत्मा, आत्मीय अर्थ में) स्व शब्द की गणसूत्र से नित्य प्राप्त सर्वनामसंज्ञा 'जस्' परे रहते विकल्प से होती है ।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'सर्वनामानि' तथा 'विभाषा जसि' की अनुवृत्ति आ रही है । 'स्व' पद के चार अर्थ हैं—१. आत्मा, २. आत्मीय, ३. धन एवं ४. ज्ञाति (बान्धव) । आत्मा तथा आत्मीय अर्थों में 'स्व' शब्द की जस् के परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है ।

उदाहरण—'स्व' शब्द से प्रथमा बहुवचन जस्—'स्व+जस् (विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होकर 'जसः शी' से जस्=शी–ई)=स्व+ई (अ+ई='ए'—गुण)=स्वे । सर्वनाम संज्ञा न

बहिर्योगोपसंव्यानयोः १।१।३६। बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। अन्तरे अन्तरा वा गृहाः। बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः। परिधानीया इत्यर्थः। (१७६) **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७।१।१६।** एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्-पूर्वात्। पूर्वस्मिन्-पूर्वे। एवं परादीनामपि। शेषं सर्ववत्। एकशब्दः संख्यायां नित्यैकवचनान्तः। संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः। सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि। अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मै अतिसर्वाय। तदन्तस्यापीयं संज्ञा 'द्वन्द्वे चे' ति ज्ञापकात्। * अन्तरमिति गणसूत्रेऽपुरीति वक्तव्यम् *।

---

(१७५) **अन्तरमिति।** अत्रापि सर्वनामानीति विभाषा जसीति चानुवर्तते। उपसंव्यानम्—परिधानीयम् (वस्त्रादिकमित्यर्थः)।

(१७६) **पूर्वस्मादिति।** पूर्वशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां 'ङसि' विभक्तौ 'पूर्व +ङसि' इति स्थिते 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वे'ति विकल्पेन ङसेः स्थाने 'स्मात्' इत्यादेशे पूर्वस्मादिति। पक्षे 'पूर्वात्' इति। **संज्ञोपसर्जनीति** आधुनिकसङ्केतः संज्ञा, अन्यविशेषण-

---

होने पर स्व+जस् (अस्), दीर्घ—स्वास्, (स्=र्) स्वार् (र्=ः)=स्वाः। ज्ञाति और धन अर्थ में केवल एक रूप 'स्वाः' ही रहेगा।

(१७५) पद—अन्तरम्, बहिर्योगोपसंव्यानयोः। **अनुवृत्ति**—सर्वनामानि, विभाषा, जसि। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—बाह्य और (उपसंव्यान) परिधानीय अर्थ में अन्तर शब्द की गणसूत्र से प्राप्त नित्यसर्वनाम संज्ञा जस् के परे रहते विकल्प से होती है।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'सर्वनामानि, विभाषा, जसि' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार अन्तर शब्द को जस् परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा का विधान किया गया है। 'अन्तर्' शब्द के अनेक अर्थों में से केवल बाह्य और परिधान अर्थ में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।

उदाहरण—(१) अन्तरे, अन्तराः वा गृहाः (बाहर के घर)। सर्वनाम संज्ञा (विकल्प से) होने पर अन्तर+जस् (जस्=शी-ई), अन्तर+ई (अ+ई=ए)=अन्तरे। सर्वनाम संज्ञा के अभाव पक्ष में 'अन्तराः'। इसी प्रकार (२) अन्तरे, अन्तरा वा शाटिका (नीचे पहनने योग्य वस्त्र)। यहाँ उपसंव्यान (परिधान) अर्थ में दो रूप होंगे।

(१७६) पद—पूर्वादिभ्यः, नवभ्यः, वा। **अनुवृत्ति**—ङसिङ्योः, स्मात्स्मिनौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पूर्वादि नौ शब्दों से परे 'ङसि' और 'ङि' के स्थान में क्रमशः 'स्मात्' तथा 'स्मिन्' आदेश विकल्प से होते हैं। पूर्वस्मात्-पूर्वात्। पूर्वस्मिन्-पूर्वे। इसी प्रकार परादि शब्दों के रूप भी होते हैं। शेष रचनाक्रम सर्व शब्द की तरह होगा। संज्ञा और उपसर्जन की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। जैसे 'सर्व' किसी का नाम है तो 'सर्वाय देहि'। 'अन्तरम्०' सूत्र में 'अपुरि' और कहना चाहिए। अन्तरायां पुरि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (७।१।१५) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार 'ङसि, ङि' स्थानी है तथा 'स्मात्, स्मिन्' आदेश। पूर्वोक्त सूत्रों (१७३, १७४, १७५) में जिन ९ शब्दों का समावेश हुआ है, उनका 'पूर्वादिभ्यः नवभ्यः' से ग्रहण होता है। गणसूत्रों से नित्य प्राप्त सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होने के कारण यहाँ विकल्प से आदेशों का विधान किया जा रहा है।

अन्तरायां पुरि। (१७७) तृतीयासमासे १।१।३०। अत्र सर्वनामता न। मास-

---

त्वेन स्वार्थोपस्थापकमुपसर्जनम्, तेषां सर्वादिगणे पाठो नास्तीति भावः। **अन्तरमिति सूत्रेऽपुरीति वक्तव्यमिति।** पुरिशब्देन सम्बन्धे सति अन्तरपदस्य सर्वनामसंज्ञा न भवतीत्यर्थः।

(१७७) सर्वादीनीत्यतः 'सर्वनाम' इति 'न बहुव्रीहौ' इत्यतो नेति चानुवर्तते। तदाह—**अत्रेत्यादि।**

उदाहरण—(१) पूर्व शब्द से पञ्चमी एकवचन में 'ङसि' आने पर पूर्व+ङसि ('ङसि'='स्मात्' विकल्प से—'पूर्वादिभ्यो०')=पूर्वस्मात्। पक्ष में—(ङसि=आत्) पूर्व+आत् (दीर्घ)=पूर्वात्।

(२) पूर्व शब्द से सप्तमी एकवचन में 'ङि' आने पर पूर्व+ङि ('ङि'='स्मिन्' विकल्प से) =पूर्वस्मिन्। पक्ष में पूर्व+इ (अ+इ='ए' 'गुण')=पूर्वे। इसी प्रकार 'पर' आदि शब्दों के रूप समझे जायँ।

पूर्वशब्द (पुंल्लिंग के रूप)

	एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा-	पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे, पूर्वाः
द्वितीया-	पूर्वम्	पूर्वौ	पूर्वान्
तृतीया-	पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः
चतुर्थी-	पूर्वस्मै	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
पञ्चमी-	पूर्वस्मात्, पूर्वात्-द्	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
षष्ठी-	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
सप्तमी-	पूर्वस्मिन्, पूर्वे	पूर्वयोः	पूर्वेषु
सम्बोधन-	हे पूर्व !	हे पूर्वौ	हे पूर्वे, पूर्वाः

संख्यावाचक एक शब्द नित्य एकवचनान्त है।

संज्ञा तथा उपसर्जनीभूत की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। अर्थात् संज्ञाबोधक 'सर्व' आदि शब्द तथा विशेषणीभूत सर्वादि शब्द सर्वनामसंज्ञक नहीं होते हैं। अत एव—(१) किसी व्यक्ति-विशेष का नाम 'सर्व' रखने पर सर्वनाम संज्ञा के अभाव में तत्प्रयुक्त कार्य भी नहीं होंगे। सर्व+ङे (ङे=य)=सर्व+य (दीर्घ)=सर्वाय देहि। (२) इसी प्रकार 'अतिसर्व' शब्द में सर्व शब्द विशेषण (उपसर्जन) के रूप में प्रयुक्त होने से (सर्वादि न होने से) चतुर्थी विभक्ति में 'अतिसर्वाय' ही रूप बनेगा।

'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' गणसूत्र में 'अपुरि' पद का समावेश भी होना चाहिए। अर्थात् स्त्रीत्वविशिष्ट नगरवाचक पद विशेष्य रहते 'अन्तर' शब्द को गणसूत्र से प्राप्त सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। अत एव 'अन्तरायां पुरि' में 'स्याट्' का आगम नहीं होता।

(१७७) पद—तृतीया समासे। **अनुवृत्ति**—सर्वादीनि सर्वनामानि, न। **संज्ञा-(निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ—तृतीया समास में तथा तृतीयासमासार्थ वाक्य में सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। मासपूर्वाय। मासेन पूर्वाय।

पूर्वाय । तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न । मासेन पूर्वाय । (१७८) **द्वन्द्वे च १।१।३१ ।** द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा न । वर्णाश्रमेतराणाम् । (१७९) **विभाषा जसि १।१।३२ ।** जसाधारं शीभावाख्यं यत्कार्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा वा स्यात् । वर्णाश्रमेतरे–वर्णाश्रमेतराः । (१८०) **प्रथमचरमतयाऽल्पार्धकतिपयनेमाश्च १।१।३३ ।** एते जस्युक्त-

---

(१७८) **वर्णाश्रमेतराणामिति ।** अत्र सर्वाद्यन्तत्वात्वात् प्राप्ता सर्वनामसंज्ञा निषिध्यते ।

(१७९) **विभाषा जसि इति ।** द्वन्द्वेऽप्राप्ता सर्वनामसंज्ञा जसि वा स्यादिति तदर्थः ।

(१८०) **तयप्प्रत्यय इति ।** 'संख्याया अवयवे तयप्' (५।२।४२) इति विहित

विमर्श—यहाँ 'सर्वादीनि सर्वनामानि' की तथा 'न बहुव्रीहौ' से 'न' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार तृतीया-तत्पुरुष समास में (सर्वादिगणपठित शब्दों की) सर्वनाम संज्ञा नहीं होती ।

उदाहरण—१. मासेन पूर्वाय=मासपूर्वाय 'मास+टा, पूर्व+सु' अलौकिक विग्रह । तृतीया-तत्पुरुष समास—'मासपूर्व+ङे' (सर्वनाम संज्ञा का निषेध होने से 'ङ' को 'स्मै' नहीं हुआ, (ङे='य'—दीर्घ होकर)=मासपूर्वाय ।

तृतीया समासार्थ विग्रह वाक्य में भी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती । अत एव 'मासेन पूर्वाय' इस असमास स्थल में भी सर्वनाम संज्ञा का निषेध होने से 'पूर्वस्मै' न होकर 'पूर्वाय' रूप ही बना ।

(१७८) पद—द्वन्द्वे, च । **अनुवृत्ति**—न, सर्वादीनि, सर्वनामानि । **संज्ञा (निषेध) सूत्र ।**

मूलार्थ—द्वन्द्व समास में सर्वनाम संज्ञा नहीं होती । वर्णाश्रमेतराणाम् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी पूर्ववत् 'सर्वादीनि, सर्वनामानि' तथा 'न' पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—द्वन्द्व समास में सर्वादि शब्द सर्वनामसंज्ञक नहीं होते ।

उदाहरण—(१) वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरे च=वर्णाश्रमेतराणाम् । वर्ण+जस्, आश्रम+जस्, इतर्+जस्=वर्णाश्रमेतर, (द्वन्द्व समास—'चार्थे द्वन्द्वः') वर्णाश्रमेतर+आम् (प्रकृत सूत्र से सर्वनाम संज्ञा का निषेध होने पर सुट् नहीं; 'नुट्' का आगम होकर णत्व)=वर्णाश्रमेतराणाम् ।

(१७९) पद—विभाषा, जसि । **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वे, सर्वादीनि, सर्वनामानि । **संज्ञा (निषेध) सूत्र ।**

मूलार्थ—जस् के स्थान में 'शी' आदेश किये जाने पर द्वन्द्व समास में सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है । वर्णाश्रमेतरे—वर्णाश्रमेतराः ।

विमर्श—'द्वन्द्वे च' सूत्र से द्वन्द्वसमास में सर्वनाम संज्ञा का निषेध कहा गया है । प्रकृत सूत्र द्वारा उक्त व्यवस्था में संकोच किया गया है । प्रथमा बहुवचन 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश कर्तव्य होने पर सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है ।

उदाहरण—(१) वर्णाश्रमेतर+जस् (सर्वनाम संज्ञा होने पर 'शी' ई)—वर्णाश्रमेतर+ई (अ+ई='ए' गुण)=वर्णाश्रमेतरे । (सर्वनाम संज्ञा के अभाव में) वर्णाश्रमेतर+जस् (अस्) दीर्घ—वर्णाश्रमेतरास्, (स्=र्)—वर्णाश्रमेतरार् (र्=ः)=वर्णाश्रमेतराः ।

(१८०) पद—प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः, च । **अनुवृत्ति**—विभाषा, जसि, सर्वनामानि । **संज्ञासूत्र ।**

संज्ञा वा स्युः। प्रथमे-प्रथमाः। तयप्प्रत्ययः। द्वितये-द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे-नेमाः। शेषं सर्ववत्। * तीयस्य ङित्सु वा वाच्या *। तीयप्रत्ययान्तस्य ङिद्वचनेषु सर्वनामसंज्ञा वा स्यात्। द्वितीयस्मै—द्वितीयायेत्यादि। एवं तृतीयः। निर्जरः।

इत्यर्थः। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमि'ति परिभाषयाऽत्र तयप्प्रत्ययान्ता ग्राह्याः। केवलप्रत्ययस्य सर्वनामत्वे प्रयोजनाभावात्। **तीयस्येति**। विभाषाप्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसङ्ख्यानमित्यर्थः। अर्थवद्ग्रहणपरिभाषया प्रत्ययस्यैव तीयस्य ग्रहणम्।

मूलार्थ—प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम शब्दों को जस् परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। प्रथमे-प्रथमाः। तयप् प्रत्यय है, तदन्त का ग्रहण होता है। द्वितये-द्वितयाः। शेष रचानाक्रम राम शब्द की तरह है। नेमे-नेमाः। शेष रूप सर्व शब्द के समान हैं। 'तीय' प्रत्ययान्त की 'ङित्' वचनों में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। द्वितीयस्मै-द्वितीयाय। निर्जरः।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'सर्वनामानि, विभाषा तथा जसि' पदों की अनुवृत्ति आ रही हैं। तदनुसार सूत्रोक्त प्रथम आदि शब्दों की 'जस्' के परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।

उदाहरण—(१) प्रथम+जस् (प्रकृत सूत्र से विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होने पर जस्=शी-ई)—प्रथम+ई (गुण)=प्रथमे। सर्वनाम संज्ञा के अभाव में—प्रथम+जस् (अस्) (दीर्घ, स् को रुत्वविसर्ग होकर)=प्रथमाः। (२) सूत्रोक्त तय पद प्रत्यय का बोधक है। तदन्तविधि होने से तयप्प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होता है। द्वितय+जस् (सर्वनाम संज्ञा होने पर—जस्=शी-ई)—द्वितय+ई, (गुण)=द्वितये। सर्वनाम संज्ञा के न होने पर-द्वितयाः। शेष रूप राम शब्द की तरह चलेंगे। (३) नेम+जस् (सर्वनाम संज्ञा होने पर—जस्=शी)—नेम+ई (गुण)=नेमे। सर्वनाम संज्ञा के अभाव में—नेमाः। शेष रूप सर्व शब्द के समान जाने जायँ।

(वा०) तीयप्रत्ययान्त शब्दों की ङित् (ङकारेत्संज्ञक) विभक्तियों के परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। ङे, ङसि, ङस् तथा ङि—ये चार ङिद् विभक्तियाँ हैं। उदाहरण—द्वितीय+ङे (सर्वनाम संज्ञा होने पर ङे=स्मै)=द्वितीयस्मै। सर्वनाम संज्ञा के अभाव पक्ष में द्वितीयाय। इसी प्रकार तृतीय शब्द के रूप बनेंगे।

'द्वितीय' शब्द के रूप

	एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा—	द्वितीयः	द्वितीयौ	द्वितीयाः
द्वितीया—	द्वितीयम्	द्वितीयौ	द्वितीयान्
तृतीया—	द्वितीयेन	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयैः
चतुर्थी—	द्वितीयस्मै, द्वितीयाय	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयेभ्यः
पञ्चमी—	द्वितीयस्मात्-द्, द्वितीयात्-द्	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयेभ्यः
षष्ठी—	द्वितीयस्य	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
सप्तमी—	द्वितीयस्मिन्, द्वितये	द्वितीययोः	द्वितीयेषु

(१८१) जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१ । जराया जरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ । *पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च* । *निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति* । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे प्राप्ते । एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाज्जरशब्दस्य जरस् । निर्जरसौ-निर्जरौ । निर्जरसः—इत्यादि । उपजीव्यविरोधान्न जरस् । निर्जरैः । पक्षे हलादौ च

---

(१८१) **जराया इति ।** जराशब्दस्य 'जरस्' आदेशो वा स्यादजादौ विभक्ताविति सूत्रार्थः । पदस्य अङ्गस्य चाधिकारे तस्य सूत्रोपात्तस्य तदन्तस्य च ग्रहणं भवति । तेनात्राङ्गाधिकारत्वेन निर्जरस्याप्यादेशो भवत्येव । **निर्दिश्यमानस्येति ।** यावन्मात्रस्य स्थानित्वेन सूत्रे निर्देशस्तावन्मात्रस्येत्यर्थः । **एकदेशेत्यादि ।** 'छिन्नेऽपि पुच्छे श्वा श्वैव, न चाश्वो न च गर्दभः' इति लौकिकन्यायादित्यर्थः । **निर्जरसाविति ।** निर्जरशब्दात् प्रथमाद्विवचने 'औ' विभक्तौ 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इत्यनेन जराशब्दस्य 'जरस्' इत्यादेशे 'निर्जरसौ' इति । ननु सूत्रे 'जरा'शब्दस्य जरसादेशविधाने-

---

निर्जर शब्द देवतार्थक है । 'निर्गता जरा यस्मात्' (जिसको बुढ़ापा नहीं आता) इस बहुव्रीहि समास में जरा को 'गोः स्त्रियोरुपसर्जनस्य' से ह्रस्व अकार होकर निर्जर; प्रातिपदिकसंज्ञा प्रथमा एकवचन में 'सु' आने पर निर्जर+सु (इत्संज्ञा लोप, स् को र्, विसर्ग होकर)=निर्जरः ।

(१८१) पद—जरायाः, जरस्, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—विभक्तौ, अचि । **विधिसूत्र ।** (विकल्प) ।

मूलार्थ—जरा शब्द के स्थान में अजादि विभक्ति परे रहते 'जरस्' आदेश विकल्प से होता है । (प०) (१) 'पदाधिकार और अङ्गाधिकार में जो कार्य जिसको कहे गये हैं, वे उसको और तदन्त को होते हैं ।' (२) 'सूत्र में जितने का निर्देश किया गया है, तावन्मात्र को ही आदेश होते हैं ।' (३) 'एक भाग में विकार होने पर भी वस्तु के अभिन्न समझे जाने से **'जर्'** के स्थान में 'जरस्' आदेश होता है । निर्जरसौ । निर्जरसः । उपजीव्य=निमित्त के विरोध से जरस् नहीं होता है—'निर्जरैः' । पक्ष में और हलादि विभक्ति में राम शब्द की तरह रूप बनेंगे ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) सूत्र से 'विभक्तौ' तथा 'अचि र ऋतः' (७।२।१००) से अचि की 'अनुवृत्ति' आ रही है । 'विभक्तौ' का विशेषण होने से 'अचि' में तदादिविधि होती है । तदनुसार—अजादि विभक्तियों के परे रहते जरा शब्द के स्थान में 'जरस्' आदेश विकल्प से होता है । सूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्' पद का 'विकल्प' अर्थ है । 'निर्जर' शब्द में स्थानी के सम्बन्ध में सन्देह होता है कि यहाँ सूत्रोक्त 'जरा' शब्द नहीं है, अपितु 'निर्जर' शब्द है । अतः जरस् आदेश कैसे होगा ? इसका समाधान परिभाषा द्वारा दिया जा रहा है—(१) 'पद और अङ्ग के अधिकार में विहित कार्य उस शब्द को, अथवा वह शब्द जिसके अन्त में रहे, तदन्त समुदाय को होता है ।' अतः तदन्त ('जरा' शब्दान्त) सम्पूर्ण निर्जर के स्थान में 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषा की उपस्थिति से जरस् आदेश प्राप्त हुआ । उसका निषेध दूसरी परिभाषा द्वारा किया जा रहा है—'(निर्दिश्यमान) सूत्रों में उच्चरित पदों को ही आदेशों का विधान होता है ।' इस प्रकार 'निर्जर' शब्दावयव 'जर' के स्थान में आदेश का विधान होता है । परन्तु यहाँ 'निर्जर' शब्द में जरा शब्द नहीं है, 'जर' है । फिर आदेश की प्रसक्ति होगी ? इसके समाधान हेतु एक लौकिकन्याय को प्रस्तुत किया जा रहा है—'किसी अंग के विकृत हो जाने पर भी अवयवी (वस्तु) भिन्न नहीं समझा जाता ।

रामवत्। (१८२) **पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु**

नात्र कथं जरसादेश इत्याशङ्कायां 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्ये'ति नियमेन जरसादेशस्याङ्गाधिकारतया तदन्तेऽपि प्रवृत्तिसम्भवात् तदन्तस्यापि स्यादिति प्राप्ते—'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति परिभाषया जराशब्दस्यैव जरसादेशः स्यादिति कथमत्र जरशब्दस्य जरस् इति शङ्कायाम् 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषोपस्थित्या जरशब्दस्यापि जरसादेशे 'निर्जरसौ' इति।

(१८२) **पद्दन्नोमासिति।** सूत्रे समाहारद्वन्द्वः। 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्य-

---

जैसे—पूँछ के कट जाने पर भी कुत्ता कुत्ता ही रहता है, अश्व आदि नहीं हो जाता। अतः 'जरा' के परिवर्तित रूप 'जर' (अंश) के स्थान पर 'जरस्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) निर्जर+औ (जर्=जरस्)=निर्जरसौ। (२) निर्जर+जस् (अस्) (जर=जरस्), निर्जरसस् (स्=र्), निर्जरसर् (र्=:)=निर्जरसः। 'निर्जरैः' में उपजीव्य (निमित्त) विरोध के कारण 'जरस्' आदेश नहीं होता। यथा—अदन्त को मानकर भिस् के स्थान में 'ऐस्' आदेश होता है। वह 'ऐस्' अजादि होकर अदन्तत्व के विनाशक जरसादेश के प्रति निमित्त होगा तो उपजीव्य विरोध होगा। जो जिसको निमित्त मानकर हुआ है, वह उसका विनाशक नहीं होता। अतः उपजीव्य विरोध के कारण यहाँ जरसादेश नहीं होता। निर्जर+भिस् (भिस्=ऐस् 'अतो भिस ऐस्') निर्जर+ऐस् (अ+ऐ=ऐ) निर्जरैस् (स् को रुत्व, विसर्ग)= निर्जरैः। जरसादेश न होने पर पक्ष में तथा हलादि विभक्तियों के परे रहने पर 'राम' शब्द की तरह रूप चलेंगे।

'निर्जर' शब्द के रूप (पुंल्लिंग)

	एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०—	निर्जरः	निर्जरसौ निर्जरौ	निर्जरसः निर्जराः
द्वि०—	निर्जरसम् निर्जरम्	निर्जरसौ निर्जरौ	निर्जरसः निर्जरान्
तृ०—	निर्जरसा निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
च०—	निर्जरसे निर्जराय	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
प०—	निर्जरसः निर्जरात्-द्	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
ष०—	निर्जरसः निर्जरस्य	निर्जरसोः निर्जरयोः	निर्जरसाम् निर्जराणाम्
स०—	निर्जरसि निर्जरे	निर्जरसोः निर्जरयोः	निर्जरेषु
सम्बो०—	हे निर्जर !	हे निर्जरसौ हे निर्जरौ	हे निर्जरसः हे निर्जराः

(१८२) **पद—**पद्दन्नोमास'''आसन्, शस्प्रभृतिषु। **अनुवृत्ति—**अन्यतरस्याम्। **विधिसूत्र।**

६।१।६३। पाद दन्त नासिका मास हृदय निशा असृज् यूष् दोष यकृत् शकृत् उदक आस्य—एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा। यत्तु 'आसनशब्दस्यासन्नादेश' इति काशिकायामुक्तं तत्प्रामादिकमेव। पादः। पादौ। पादाः। पादम्। पादौ। पदः—पादान्। पदा—पादेनेत्यादि। विश्वपाः। (१८३) **दीर्घाज्जसि च** ६।१।१०५। दीर्घाज्जसि इचि च न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिः। विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः। हे

तरस्यामि'त्यतोऽन्यतरस्यामित्यनुवर्तते। 'शस्प्रभृतिषु' इति निमित्तोपादानात् पदाद्यादेशानुरूपाः प्रकृतिरूपाः स्थानिन आक्षिप्यन्ते। यथासङ्ख्यपरिभाषया पादादीनां पदादय आदेशा वा स्युरित्यर्थः। **विश्वपा इति**। विश्वं पाति रक्षतीति विश्वपाः। अत्र 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति प्राप्ते 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्चे'ति चकाराद् विच्, तस्य लोपे कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, तस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'विश्वपाः' इति।

मूलार्थ—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष्, दोष्, यकृत, शकृत, उदक, आस्य शब्दों के स्थान में शसादि विभक्तियों के परे रहते विकल्प से क्रमशः पद्, दत, नस्, मास्, हृद्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन् तथा आसन् आदेश होते हैं। काशिका में 'आसन' शब्द् के स्थान पर 'आसन्' आदेश होने के विषय में जो कहा गया है, वह भ्रमात्मक है। पादः। पादौ इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अनुदात्तस्य०' (६।१।५९) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'पद्' आदि आदेशों का सूत्र में निर्देश है। अतः 'पद्' आदि के समान पाद आदि तदनुरूप स्थानीवाचक शब्दों का आक्षेप किया जाता है। 'शस्प्रभृतिषु' निमित्तवाचक है। तदनुसार—शस् से लेकर सुप् पर्यन्त विभक्तियों के परे रहने पर पादादि १३ शब्दो के स्थान में क्रम से पद् आदि आदेश विकल्प से होते हैं। 'यत्तु०' काशिका में ग्रन्थकार ने सादृश्य होने के कारण 'आसन' शब्द के स्थान में 'आसन्' आदेश होने की बात कही है। वह भ्रमपूर्ण है। क्योंकि वैदिक प्रयोगों में मुखवाचक 'आस्य' शब्द के स्थान में 'आसन्' आदेश देखा गया है। यथा—'हव्या जुहानि आसनि' (मुखे)। 'आसन्यं प्राणमूचुः' इत्यादि। **उदाहरण**—(१) प्रथमा एकवचन—पाद+सु, (स्=र्) पाद+र् (र=ः)=पादः। (२) प्रथमा द्वि० व०—पाद+औ (वृद्धि)=पादौ। (३) प्रथमा बहुवचन—पाद+जस् (अस्), (दीर्घ होकर) पादास् (रुत्व, विसर्ग)=पादाः। (४) द्वितीया ए० व०—पाद+अम्, (पूर्वरूप)=पादम्। (५) द्वितीया द्वि० व०—पाद+औट् (औ) वृद्धि=पादौ। (६) द्वितीया बहुव०—पाद+शस् (अस्) (पाद=पद् आदेश), पद्+अस्=पदस् (रुत्व, विसर्ग होकर)—पदः। पद् आदेश के विकल्प से होने के कारण पक्ष में पाद+अस् (दीर्घ)—पादास् (स्=न् 'तस्माच्छसो०')=पादान्। (७) तृतीया ए० व०—पाद+टा (आ) (पाद=पद् आदेश विकल्प से) पद्+आ=पदा। पक्ष में पाद+टा (टा=इन), पाद+इन (अ+इ=ए 'गुण')—पादेन। शेष रूप इसी प्रकार समझे जायें। विश्वपा+सु (स्=र्, र्=ः)=विश्वपाः। अर्थ—(विश्वं पाति) विश्व की रक्षा करने वाला (परमात्मा)।

(१८३) पद—दीर्घात्, जसि च। **अनुवृत्ति**—पूर्वसवर्णः, न, इचि। **विधिसूत्र**। (निषेध)।

विश्वपौ। हे विश्वपाः। (१८४) सुडनपुंसकस्य १।१।४३। स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य। सुडिति प्रत्याहारः। (१८५) स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १।४।१७। कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदं स्यात्।

---

(१८४) **सुडनपुंसकस्येति।** सुडिति 'सु' इत्यारभ्य औटश्टकारपर्यन्तं प्रत्याहारः। 'शि सर्वनामस्थानमि'त्यतः सर्वनामस्थानमित्यनुवर्तते। तदाह—**स्वादीत्यादि।**

(१८५) **स्वादिष्विति।** 'स्वौजसमौडि'त्येतत्सूत्रपठितशस्प्रत्ययमारभ्य कप्प्रत्ययान्तेषु प्रत्ययेषु ये यकारादयोऽजादयश्च तेषु परतः प्रकृतेर्भसंज्ञा। तद्भिन्नेषु प्रत्ययेषु परतः प्रकृतेः पदसंज्ञा भवतीति विवेकः।

मूलार्थ—दीर्घ के पश्चात् 'जस्' अथवा 'इच्' परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता। वृद्धि होकर—विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः। हे विश्वपौ। ह विश्वपाः।

विमर्श—यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'पूर्वसवर्णः' 'नादिचि' से 'न' तथा 'इच्' की अनुवृत्ति आती है। 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है। तदनुसार—'दीर्घ के अनन्तर 'जस्' अथवा 'इच्'—(इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता।'

उदाहरण—(१) विश्वपा+औ ('प्रथमयोः०' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर आ+औ='औ' वृद्धि—वृद्धिरेचि)=विश्वपौ।

(२) विश्वपा+जस् ('ज्' की इत्संज्ञा—अस्), विश्वपा+अस् (पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर आ+अ='आ' दीर्घ—'अकः सवर्णे दीर्घः' से)=विश्वपास् ('स्' को रुत्व-विसर्ग)=विश्वपाः।

(१८४) पद—सुट्, अनपुंसकस्य। **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थानम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—नपुंसकलिंग को छोड़कर स्वादि (सु, औ, जस्, अम्, औट्) पाँच वचनों की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होती है। सुट् प्रत्याहार है।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४२) से 'सर्वनामस्थानम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार पुंल्लिंग या स्त्रीलिंग शब्दों के पश्चाद्वर्ती सु आदि पाँच वचनों की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होती है।

(१८५) पद—स्वादिषु, असर्वनामस्थाने। **अनुवृत्ति**—पदम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—'सु' प्रत्यय से लेकर 'कप्' प्रत्यय-पर्यन्त सर्वनामस्थान-भिन्न प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) से संज्ञाबोधक पद 'पदम्' की अनुवृत्ति आती है। 'स्वादिषु' में सप्तमी विभक्ति होने से 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' परिभाषा की उपस्थिति होती है। तदनुसार सर्वनामस्थान से भिन्न सु आदि प्रत्ययों से पूर्ववर्ती शब्द की पद संज्ञा होती है (सु आदिर्येषां ते स्वादयः, तेषु 'स्वादिषु'—बहुव्रीहिः)। स्वादि प्रत्ययों के अन्तर्गत 'स्वौजसमौट्०' (४।१।२) से लेकर 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' (५।४।१५०) सूत्र तक सभी प्रत्यय आते हैं। इस प्रकार सु, औ, जस्, अम्, औट्—इन पाँच प्रत्ययों को छोड़कर अन्य सभी कप्-प्रत्ययपर्यन्त प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व समुदाय पदसंज्ञक होता है।

(१८६) यचि भम् १।४।१८। यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसंज्ञं स्यात्। **(१८७) आकडारादेका संज्ञा १।४।१।** इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्रागेकस्यैव संज्ञा ज्ञेया, या पराऽनवकाशा च। तेन शसादावचि भसंज्ञैव, न पदत्वम्। **(१८८) आतो धातोः ६।४।१४०।** आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः। अलोऽन्त्यस्य। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्यामित्यादि। एवं शङ्खध्मादयः। धातोः किम्? हाहान्

---

(१८८) **विश्वप इति।** विश्वपाशब्दात् शसि, अनुबन्धलोपे 'विश्वपा + अस्' इति जाते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति प्राप्तां पदसंज्ञां बाधित्वा 'आकडारादेका संज्ञा' इति सहकारेण परत्वानवकाशत्वाभ्यां 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां सत्याम् 'आतो धातोः' इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषया पकारोत्तरवर्तिन आकारस्य लोपे 'विश्वप् + अस्' इति जाते विभक्तिसकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'विश्वपः' इति।

---

(१८६) पद—यचि, भम्। **अनुवृत्ति**—स्वादिषु, असर्वनामस्थाने। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—'सु' से लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त सर्वनामस्थान से भिन्न यकारादि तथा अजादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व की भसंज्ञा होती है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र से 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१८५) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—सु, औ, जस्, अम्, औट् (सर्वनामस्थान) से भिन्न यकारादि और अजादि-स्वादि प्रत्ययों के परे रहने पर उससे पूर्ववर्ती शब्द-समुदाय की भसंज्ञा होती है। यह पद संज्ञा का अपवाद सूत्र है।

इस प्रकार (पूर्व विवेचन के अनुसार) 'सुप्' विभक्तियों में आरम्भ के ५ प्रत्यय सर्वनामस्थानसंज्ञक, ७ हलादि प्रत्यय पदसंज्ञक तथा शेष ९ अजादि प्रत्यय भसंज्ञक होते हैं।

(१८७) पद—आकडारात, एका, संज्ञा। **अधिकार सूत्र।**

मूलार्थ—यहाँ से 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) सूत्र से पूर्व तक एक की एक ही संज्ञा होती है; जो अष्टाध्यायी के क्रम से पर हो या अनवकाश हो। अतः शस् आदि अजादि-विभक्तियों में भसंज्ञा ही होती है, पद संज्ञा नहीं।

विमर्श—दो संज्ञाओं के एक ही स्थल में प्राप्त होने पर इस सूत्र द्वारा व्यवस्था की जा रही है—प्रकृत सूत्र (१।४।१) से लेकर 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) सूत्र तक जो सूत्र हैं, उनमें इस अधिकार सूत्र के प्रभाव से एक ही संज्ञा होगी, दो नहीं। कौन-सी संज्ञा हो? इसका समाधान यह है कि 'जो संज्ञा अष्टाध्यायी सूत्रक्रम में पर और निरवकाश हो अर्थात् जो अन्यत्र कहीं चरितार्थ न हुई हो।' अतः 'शस्' आदि अजादि (अस्) प्रत्ययों में पद संज्ञा तथा भसंज्ञा दोनों की प्राप्ति होने पर निरवकाश होने से भसंज्ञा के द्वारा पद संज्ञा का बाध हो जाता है। तथा सूत्र-क्रम से भी भसंज्ञा पर है, अतः भसंज्ञा ही होती है।

(१८८) पद—आतो धातोः। **अनुवृत्ति**—लोपः, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आकारान्त जो धातु तदन्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति से अन्त्य वर्ण का लोप होगा। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्याम्। इसी प्रकार 'शंखध्मा' आदि शब्दों के रूप बनेंगे। 'धातोः' क्यों कहा? हाहान्। सूत्र में 'आतः'—

'आत' इति योगविभागादधातोरप्याकारलोपः क्वचित् । क्त्वः । श्नः । हरिः । हरी । (१८९) जसि च ७।३।१०९ । ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः स्याज्जसि परे ।

आत इति । 'आतो धातोः' इत्यत्र 'आतः' इति योगो विभज्यते । तेन धातुभिन्न-स्याप्याकारान्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यादित्यर्थः । एवं क्त्वाश्नाशब्दस्य 'क्त्वः, श्नः' इति शसि रूपं सिद्ध्यति ।

(१८९) हरय इति । हरिशब्दाज्जसि अनुबन्धलोपे 'हरि+अस्' इत्यत्र प्राप्तं पूर्वसवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'अलोऽन्त्यस्ये'ति सहकारेण 'जसि चे'त्यनेन गुणे 'एचोऽयवा-यावः' इत्यनेन अयादेशे, सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'हरयः' इति ।

इस योगविभाग के करने से धातुभिन्न आकार का भी कहीं लोप होता है । क्त्वः । श्नः । हरिः । हरी ।

विमर्श—यहाँ 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है । 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'आतः' 'धातोः' का विशेषण है । अतः तदन्त विधि होकर 'आकारान्त' अर्थ होता है । इस प्रकार आकारान्त धातु जिसके अन्त में हो, तदन्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है । 'अलोऽन्त्य' परिभाषा से भसंज्ञक अङ्ग के अन्तिम वर्ण का लोप होता है ।

उदाहरण—(१) विश्वपा+शस् (अस्), विश्वपा+अस् (पद संज्ञा को बाध कर 'यचि भम्' से भसंज्ञा, यहाँ आकारान्त धातु पा है, तदन्त अङ्ग है 'विश्वपा', उसके अन्त्य वर्ण 'आ' का 'आतो धातोः' से लोप)=विश्वप्+अस्—विश्वपस् ('स्' को रुत्व-विसर्ग)=विश्वपः । (२) विश्वपा+टा (आ) ('आ' का लोप)=विश्वपा । (३) विश्वपा+भ्याम् (पदसंज्ञा)= विश्वपाभ्याम् । इसी प्रकार 'शङ्खध्मा' आदि शब्दों के रूप बनेंगे ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'धातोः' पद के ग्रहण के अभाव में अव्युत्पन्न आकारान्त हाहा शब्द से द्वितीया बहुवचन में 'हाहा+शस्' (अस्) में भी आकार का लोप होने लगेगा, जो अभिमत नहीं है ।

आत इति० । 'आतो धातोः' सूत्र में 'आतः' पद का योगविभाग किया जाता है । तदनुसार धातुभिन्न आकारान्त शब्दों में भी आकार का लोप होता है । यथा—क्त्वा से 'ङसि' आने पर क्त्वा+अस् (ङसि) ('आ' का लोप)=क्त्वस् ('स्' को रुत्व-विसर्ग)=क्त्वः । इसी प्रकार श्ना+अस् (ङसि)—'आ' का लोप, श्न्+अस् स्=र्, र्=ः श्नः ।

'विश्वपा' शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

एकव०	**द्वि० व०**	**बहुव०**
प्र०—विश्वपा	विश्वपौ	विश्वपाः
द्वि०—विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वपः
तृ०—विश्वपा	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः
च०—विश्वपे	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
पं०—विश्वपः	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
ष०—विश्वपः	विश्वपोः	विश्वपाम्
स०—विश्वपि	विश्वपोः	विश्वपासु
सम्बो०—हे विश्वपाः !	**हे विश्वपौ**	**हे विश्वपाः**

हरयः। (१९०) **ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८।** ह्रस्वस्य गुणः स्यात् सम्बुद्धौ। हे हरे। हरिम्। हरी। हरीन्। (१९१) **शेषो घ्यसखि १।४।७।** शेष इति स्पष्टार्थम्। अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात्। (१९२)

---

(१९०) **ह्रस्वस्य गुण इति।** 'सम्बुद्धौ चे'त्यतः 'सम्बुद्धावि'त्यनुवर्तते। तदाह—**ह्रस्वस्येत्यादिना।**

(१९१) **शेष इति।** 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इत्यतो 'यू' इत्यनुवर्तते, 'ङिति ह्रस्वश्चे'-त्यतो 'ह्रस्वः' इति च। प्रोक्तात् नदीसंज्ञकादन्य इति शेषः। शब्दस्वरूपमित्यध्याहार्यम्, तच्च यूभ्यां विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—**अनदीसंज्ञावित्यादि।**

---

(१) इकारान्त पुंल्लिङ्ग हरि शब्द से 'सु' विभक्ति आने पर हरि+सु 'उ' की इत्संज्ञा—हरि +स् (स्=र्), हरिर् (र्=ः)=हरिः। (२) हरि+औ (इ+औ=ई 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से दीर्घ)=हरी।

(१८९) पद—जसि, च। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वस्य गुणः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'जस्' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है। हरयः।

विमर्श—यहाँ 'ह्रस्वस्य गुणः' (७।३।१०८) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'ह्रस्व' पद अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है। अलोऽन्त्य परिभाषा द्वारा अङ्ग के अन्तिम वर्ण को गुण होता है। यह सूत्र पूर्वसवर्ण दीर्घ का अपवाद है।

उदाहरण—हरि+जस्, (ज् की इत्संज्ञा लोप) हरि+अस् (इ='ए' गुण—'जसि च') =हरे+अस् (ए='अय्' आदेश)=हरय्+अस् (स्=र्), हरयर्, (र्=ः)=हरयः।

(१९०) पद—ह्रस्वस्य, गुणः। **अनुवृत्ति**—सम्बुद्धौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन 'सु') परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है। हे हरे! हरिम्। हरीन्।

विमर्श—अर्थ की पूर्णता के लिए 'सम्बुद्धौ च' (७।३।१०६) से 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार—ह्रस्वान्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को सम्बुद्धि[1] परे रहते गुण होता है।

उदाहरण—(१) (हे) हरि+सु (स्)—(इ='ए'—गुण)—हरे+स् ('एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से 'स्' का लोप)=हे हरे! (२) हरि+अम् (इ+अ=इ—पूर्वरूप)=हरिम्। (३) हरि+औ (इ+औ='ई'—'पूर्वसवर्ण दीर्घ'=हरी। (४) हरि+शस् (अस्) (इ+ अ=ई 'पूर्वसवर्णदीर्घ')—हरीस् (स्=न्—'तस्माच्छसो नः पुंसि')=हरीन्।

(१९१) पद—शेषः, घि, असखि। **अनुवृत्ति**—यू, ह्रस्वः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—सखि शब्द को छोड़कर नदीसंज्ञक से भिन्न ह्रस्व इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों की 'घि' संज्ञा होती है।

विमर्श—सूत्रार्थ को पूर्ण करने के लिए 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) से 'यू' (इश्च उश्चेति यू) तथा 'ङिति ह्रस्वश्च' से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'शेष' पद का अर्थ 'उक्त नदीसंज्ञक से अन्य (भिन्न)' है। ह्रस्व इकारान्त शब्दों में 'सखि' शब्द इसका अपवाद है। अतः 'सखि'

---

१. एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४९)।

आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०। घेः परस्याऽऽङो ना स्यादस्त्रियाम्। 'आङि'ति टासंज्ञा प्राचाम्। हरिणा। हरिभ्याम् ३। हरिभिः। **(१९३) घेर्ङिति ७।३।१११।** घिसंज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः स्यात्। हरये। हरिभ्यः २। गुणे कृते। **(१९४) ङसिङसोश्च ६।१।११०।** एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्।

---

(१९२) **घेः परस्येति।** 'अच्च घेः' इत्यतो 'घि' इत्यस्यानुवृत्तेरित्यर्थः। **हरिणा इति।** हरिशब्दात् तृतीयैकवचने 'टा' प्रत्यये 'शेषो घ्यसखि' इत्यनेन घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इत्यनेन 'टा' इत्यस्य स्थाने नाऽऽदेशे 'अट्कुप्वाङि'त्यादिना णत्वे 'हरिणा' इति।

(१९३) **'घेर्ङिति' इति।** 'सुपि च' इत्यतः 'सुपि' इति 'ह्रस्वस्य गुणः' इत्यतो गुण इति चानुवर्तते, तदाह—**घिसंज्ञकस्येति।**

(१९४) 'एङः पदान्तादति' इत्यतः एङः इति, अति इति च, 'अमि पूर्वः' इत्यतः पूर्व इति चानुवर्तते। 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिक्रियते। अत आह—**एङो ङसिङसोरित्यादि।**

शब्द को छोड़कर नदी संज्ञा से भिन्न ह्रस्व इकारान्त एवं ह्रस्व उकारान्त शब्द घिसंज्ञक होते हैं।

(१९२) पद—आङः, ना, अस्त्रियाम्। **अनुवृत्ति**—घेः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—स्त्रीलिंग को छोड़कर घिसंज्ञक शब्दों से परे 'आङ्' के स्थान पर 'ना' आदेश होता है। प्राचीन आचार्यों ने 'टा' को 'आङ्' कहा है।[1] हरिणा। हरिभ्याम्। हरिभिः।

विमर्श—यहाँ 'अच्च घेः' सूत्र से 'घेः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—स्त्रीलिंग को छोड़कर (अस्त्रियाम्) अन्य लिङ्गों में 'घि'संज्ञक शब्द के पश्चाद्वर्ती आङ् (टा) के स्थान में 'ना' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) हरि+टा ('ट्' की इत्संज्ञा-'चुटू')=हरि+आ (घिसंज्ञा होकर आ=ना)—हरिना (न्=ण्)—'अट्कुप्वाङ्०' से)=हरिणा। (२) हरि+भ्याम्=हरिभ्याम्। (३) हरि+भिस्, हरिभिस् ('स्' को रुत्व-विसर्ग)=हरिभिः।

(१९३) पद—घेः, ङिति। **अनुवृत्ति**—सुपि, गुणः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ङित् 'सुप्' विभक्ति के परे रहते घिसंज्ञक को गुण होता है। हरये। हरिभ्यः।

विमर्श—सूत्रार्थ को पूर्ण करने के लिए 'सुपि च' से 'सुपि' तथा 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ङकारेत्संज्ञक 'सुप्' विभक्तियों के परे रहते अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से घिसंज्ञक शब्दों के अन्तिम वर्ण के स्थान में गुण आदेश होगा।

उदाहरण—(१) हरि+ङे (ए) (घिसंज्ञा होकर इ='ए' गुण—'घेर्ङिति')=हरे+ए, (ए=अय्)=हरये। (२) हरि+भ्यस्, हरिभ्यस् (स्=र्), हरिभ्यर् (र्=ः)=हरिभ्यः।

(१९४) पद—ङसिङसोः, च। **अनुवृत्ति**—एङः, अति, पूर्वरूपम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'एङ्' से ङसि तथा ङस् सम्बन्धी अकार परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। हरेः। हर्योः। हरीणाम्।

---

१. 'आङिति तृतीयैकवचनस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा'—रूपावतारः (पूर्वार्द्धः)।

हरेः २। हर्योः २। हरीणाम्। (१९५) अच्च घेः ७।३।११९। इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् घेरत् स्यात्। हरौ। हरिषु। एवं कव्यादयः। (१९६) अनङ् सौ

---

(१९५) अच्च घेरिति। अत्र 'इदुद्भ्याम्' इति 'औत्' इति च सूत्रमनुवर्तते। 'ङेरामि'त्यतो 'ङेः' इत्यनुवर्तते। तदाह—इदुद्भ्यामित्यादिना। हरौ इति। हरिशब्दात् सप्तम्येकवचने 'ङि' समागते ङस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'हरि+इ' इति स्थिते घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'अच्च घेः' इत्यनेन ङेः स्थाने औकारे इकारस्य अकारे च कृते 'हर+औ' इति जाते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'हरौ' इति रूपमिति।

(१९६) अनङ् साविति। 'सख्युरसम्बुद्धौ' इति सूत्रमनुवर्तते। 'अङ्गस्य' इत्यस्याधिकारः। तदाह—सख्युरित्यादिना।

विमर्श—यहाँ 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०९) से 'एङः' एवम् 'अति' तथा 'अमि पूर्वः' (६।१।१०७) से 'पूर्वः' (पूर्वरूपम्) की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार एङ् (ए, ओ) के पश्चात् ङसि अथवा ङस् सम्बन्धी अकार परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है।

उदाहरण—(१) हरि+अस् (ङसि) (इ='ए' गुण 'घेर्ङिति'=हरे+अस् (ए+अ=ए—पूर्वरूप 'ङसिङसोश्च' से), हरे स्, (स्=र्) हरेर्, (र्=ः) हरेः। इसी प्रकार षष्ठी एकवचन 'ङस्' में भी 'हरेः' रूप बनेगा। (२) हरि+ओस् (इ=य्—'यण्' हर्य्+ओस् (स्=र्) हर्योर्, (र्=ः)=हर्योः। (३) हरि+आम् (नुट् (न्) का आगम—'ह्रस्वनद्यापो नुट्') हरि+नाम् ('इ' को 'नामि' से दीर्घ)=हरीनाम् (न्=ण्)=हरीणाम्।

(१९५) पद—अत् च घेः। **अनुवृत्ति**—इदुद्भ्याम्, औत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इकार एवम् उकार से परे 'ङि' के स्थान पर औत् (औ) तथा घिसंज्ञक के स्थान पर अत् (अ) आदेश होता है। हरौ। हरिषु। इसी प्रकार कवि आदि शब्दों के रूप चलते हैं।

विमर्श—सूत्रार्थ करने के लिए 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७।३।११६) सूत्र से 'ङेः' तथा 'इदुद्भ्याम्' (७।३।११७) एवम् 'औत्' (७।३।११८) सूत्रों की यहाँ अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ह्रस्व इकार, उकार से पश्चाद्वर्ती 'ङि' के स्थान पर 'औ' तथा घिसंज्ञक शब्द के अन्तिम वर्ण को ह्रस्व अकार आदेश होता है।

उदाहरण—(१) हरि+ङि, (इ=अ तथा ङि=औ) हर+औ, (अ+औ=औ—'वृद्धिरेचि' से वृद्धि)=हरौ। (२) हरि+सुप् (सु), हरिसु (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः')=हरिषु।

हरि शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एकव०	द्विव०	बहु०		एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०—	हरिः	हरी	हरयः	प०—	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
द्वि०—	हरिम्	हरी	हरीन्	ष०—	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
तृ०—	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः	स०—	हरौ	हर्योः	हरिषु
च०—	हरये	हरिभ्याम्	हरिभ्यः	सं०—	हे हरे !	हे हरी !	हे हरयः !

इसी प्रकार कवि, रवि आदि इकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के रूप बनेंगे।

(१९६) पद—अनङ्, सौ। **अनुवृत्ति**—सख्युः, असम्बुद्धौ, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

७।१।९३। सख्युरङ्गस्याऽनङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ। (१९७) **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा** १।१।६५। अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासञ्ज्ञः स्यात्। (१९८) **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** ६।४।८। नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। (१९९) **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः**। १।२।४१। एकालप्रत्ययो यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्। (२००) **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** ६।१।६८। हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ,

---

(१९८) **सर्वनामस्थान इति**। 'नोपधायाः' इत्यनुवर्तते 'अङ्गस्ये'ति चाधिकाराल्लभ्यते। न इति लुप्तषष्ठीकं पदम् अङ्गस्य विशेषणम्। तदन्तविधिः। 'ढ्रलोपे पूर्वस्य' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते। तदाह—**नान्तस्येत्यादिना**।

(१९९) **अपृक्त इति**। एकालिति कर्मधारयः। असहायवाची एवात्र एकशब्दः। एकवर्णरूपः प्रत्ययोऽपृक्तसंज्ञः स्यादित्यर्थः।

(२००) **हल्ङ्याबिति**। 'लोपो व्योः' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते। हलन्तात्परं

मूलार्थ—अङ्गसंज्ञक सखि शब्द को अनङ् आदेश होता है, सम्बुद्धिभिन्न 'सु' के परे रहते।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में स्थानीवाचक पद का अभाव है, अतः 'सख्युरसम्बुद्धौ' (७।१।९२) सूत्र की यहाँ अनुवृत्ति आ रही है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। इस प्रकार सम्बुद्धिभिन्न अर्थात् प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'सु' परे रहते 'सखि' शब्द के अङ्ग के (ङित् होने से अन्त्य के स्थान पर) 'अनङ्' आदेश होता है।

(१९७) पद—अलः, अन्त्यात्, पूर्वः, उपधा। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है।

विमर्श—सूत्र पूर्ण है। 'अन्त्यादलः पूर्वः' सूत्रभाग संज्ञी है तथा 'उपधा' संज्ञा है।

(१९८) पद—सर्वनामस्थाने, च, असम्बुद्धौ। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, नः, उपधायाः, दीर्घः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान के परे रहने पर नकारान्त उपधा को दीर्घ होता है।

विमर्श—सूत्र में स्थानी और आदेशवाचक पद नहीं हैं, केवल निमित्तवाचक पद हैं। अतः 'नोपधायाः' (६।४।७) सूत्र की तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'नः' में षष्ठी विभक्ति है। वह अधिकार—'अङ्गस्य' का विशेषण है, तदन्त विधि होती है। तदनुसार—सम्बुद्धि से भिन्न सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय परे रहते नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है।

(१९९) पद—अपृक्तः, एकाल्, प्रत्ययः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—एकाल्=एक वर्ण रूप प्रत्यय की 'अपृक्त' संज्ञा होती है।

विमर्श—(एकश्चासौ अल् च—कर्मधारयः) एक शब्द यहाँ असहायवाची अर्थात् केवलार्थक है। इस प्रकार एकवर्णात्मक प्रत्यय अपृक्तसंज्ञक होता है।

(२००) पद—हल्ङ्याब्भ्यः, दीर्घात्, सुतिसि, अपृक्तं, हल्। **अनुवृत्ति**—लोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हलन्त से परे सु, ति, सि सम्बन्धी अपृक्त हल् और दीर्घ ङी, आप् तदन्त से परे 'सु' सम्बन्धी अपृक्तसंज्ञक हल् का लोप होता है।

तदन्ताच्च परं 'सुतिसी'त्येतदपृक्तं हल् लुप्यते। (२०१) प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १।१।६२। प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात्। (२०२) नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७। प्रातिपदिकसंज्ञं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा। (२०३) सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२। सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात्।

'सुतिसि' इत्येतदपृक्तं हल्लुप्यते, दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं 'सुतिसि' इत्येतदपृक्तं हल्लुप्यत इति भावः।

(२०२) **न लोप इति।** न इति लुप्तषष्ठ्यन्तं पृथक्पदम्, अन्तस्येति नस्य विशेषणम्। 'प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यत्र प्रातिपदिक इति लुप्तषष्ठ्यन्तम्, अधिकारप्राप्तस्य पदस्येत्यस्य विशेषणम्। तदाह—**प्रातिपदिकेत्यादिना। सखा इति।** सखिशब्दात्सौ अनुबन्धलोपे सखि + स् इति स्थिते, अङ्गसंज्ञायाम् 'ङिच्चे'ति सहकारेण 'अनङ् सौ' इत्यनेन इकारस्यानङ्ङादेशेऽनुबन्धलोपे 'सखन् + स्' इति जाते 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' इत्यनेन उपधासंज्ञायाम् 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धावि'ति दीर्घे 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इति सस्याऽपृक्तसंज्ञायाम् 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सस्य लोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नकारस्य लोपे 'सखे'ति रूपम्।

विमर्श—'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) सूत्र से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आती है। हल् च, ङी च, आप च् तेभ्यः='हल्ङ्याब्भ्यः।' द्वन्द्व समास है। पंचमी विभक्ति होने से 'पर' पद का अध्याहार किया जाता है। 'दीर्घात्' ङी, आप् का विशेषण है। सु ति सि से आक्षिप्त प्रकृति का विशेषण होने से 'हल्ङ्याब्भ्यः' में तदन्त विधि होकर—हलन्त, दीर्घ ईकारान्त तथा दीर्घ आबन्त से परे सुतिसि' सम्बन्धी अपृक्त हल् का लोप होता है। हलन्त से परे सु, ति, सि, तीनों प्रत्यय मिलते हैं। ङी (ङीप्, ङीष्, ङीन्) और आप् (टाप्, चाप्, डाप्) से परे केवल 'सु' ही मिलता है।

(२०१) पद—प्रत्ययलोपे, प्रत्ययलक्षणम्। **संज्ञासूत्र (नियम)।**

मूलार्थ—प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी तदाश्रित कार्य होता है।

विमर्श—(प्रत्ययः लक्षणं यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम्।) प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाला कार्य होता है।

(२०२) पद—नलोपः, प्रातिपदिकान्तस्य। **अनुवृत्ति**—पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रातिपदिकसंज्ञक पद के अन्तिम नकार का लोप होता है।

विमर्श—'नः' में षष्ठी विभक्ति है। 'अन्तस्य' 'नः' का विशेषण है। अधिकार द्वारा प्राप्त 'पदस्य' पद प्रातिपदिक का विशेषण है। अतः प्रातिपदिकसंज्ञक जो पद, तदन्त नकार (न्) का लोप होता है।

उदाहरण—सखि+सु (इ=अनङ्-अन् आदेश) 'स ख्+अन् स्' ('अ' की उपधासंज्ञा होकर, उपधासंज्ञक वर्ण अ='आ' दीर्घ—'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ')='सखान्+स्' ('स्' की अपृक्त संज्ञा होने पर—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से स् का लोप) सखान्, ('नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से 'न्' का लोप)=सखा। (मित्र)

(२०३) पद—सख्युः, असम्बुद्धौ। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, सर्वनामस्थाने, णित्। **अतिदेशसूत्र।**

(२०४) अचो ञ्णिति ७।२।११५ । अजन्ताङ्गस्य वृद्धिर्ञिति णिति च । **सखायौ । सखायः । हे सखे । सखायम् । सखायौ । सखीन् । सख्या । सखिभ्याम् । सखिभिः । सख्ये ।** **(२०५) ख्यत्यात्परस्य ६।१।११२ ।** खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृत-

---

(२०४) **'अचो'** इति । 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरित्यनुवर्तते । अधिकारलब्ध-मङ्गस्येति पदमचा विशेष्यते । तदन्तविधित्वादाह—**अजन्ताङ्गस्येति** ।

(२०५) कृतयणादेशयोः खि-खीशब्दयोरनुकरणं ख्य इति, ति-तीशब्दयोरनु-करणं 'त्य' इति । ख्यश्च त्यश्चेति समाहारद्वन्द्वः । 'एङः पदान्तादति' इत्यतः 'अति' इति 'ङसिङसोश्चे'त्यतः 'ङसिङसोः' इति चानुवर्तते । अतीति षष्ठ्या विपरिणम्यते ।

मूलार्थ—अङ्गसंज्ञक सखि शब्द से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान णिद्वत् (णित् के समान) हो जाता है ।

विमर्श—अधिकार से प्राप्त 'अङ्गस्य' को 'अङ्गात्' पंचमी विभक्ति में परिवर्तित कर दिया जाता है । 'गोतो णित्' से 'णित्' पद की अनुवृत्ति आती है तथा 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से 'सर्वनाम-स्थाने' की । अतिदेशसूत्र होने से यह सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) में यह णित् का आरोप करता है । अर्थात् ये प्रत्यय 'ण्' इत्संज्ञक के समान समझे जाँय । णित् सम्बन्धी कार्य होना 'णिद्वत्' का फल है ।

(२०४) पद—अचः, ञ्णिति । **अनुवृत्ति—**अङ्गस्य, वृद्धिः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ञित्, णित् प्रत्यय के परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है । सखायौ । सखायः । हे सखे । सखायम् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'मृजेर्वृद्धिः' से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति आ रही है । 'अङ्गस्य' इस अधिकार सूत्र का 'अचः' विशेषण होने से तदन्त विधि होती है । इस प्रकार ञकार-इत्संज्ञक तथा णकारेत्संज्ञक प्रत्ययों के परे रहने पर अजन्त अङ्ग के स्थान में वृद्धि होती है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति से अन्त्य वर्ण को वृद्धि होगी ।

उदाहरण—(१) सखि+औ (सर्वनामस्थान होने से औ को 'सख्युरसम्बुद्धौ' से णिद्वद्-भाव तथा 'अचो ञ्णिति' से इ=ऐ 'वृद्धि')=सखै+औ (ऐ=आय्)=सखायौ । (२) सखि+जस्, सखि+अस् (णिद्वद्भाव तथा वृद्धि)=सखै+अस्, (ऐ=आय्) सखायस् (स्=र्), सखायर् (र्=:)=सखायः । (३) हे सखि+सु (इ=ए-'ह्रस्वस्य गुणः')=सखे+सु (एङ् ह्रस्वात्०' से 'सु' का लोप)=हे सखे ! (४) सखि+अम् (णिद्वत् तथा वृद्धि)=सखै+अम् (ऐ=आय्)=सखायम् । (५) सखि+औट् (औ), सखि+औ, (णिद्वत्, वृद्धि) सखै+औ, (ऐ=आय्)=सखायौ । (६) सखि+शस् (अस्), सखि+अस् (पूर्वसवर्ण दीर्घ)=सखीस् (स्=न्)=सखीन् । (७) सखि+टा (ट् की इत्संज्ञा), सखि+आ (इ=य् 'यणादेश')= सख्या । (८) सखि+भ्याम्=सखिभ्याम् । (९) सखि+भिस्—सखिभिस् (स् को रुत्व-विसर्ग)=सखिभिः । (१०) सखि+ङे, ('ङ्' की इत्संज्ञा) सखि+ए (इ=य् 'यण्')= सख्ये ।

(२०५) पद—ख्यत्यात्, परस्य । **अनुवृत्ति—**अति, ङसिङसोः, उत् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यण् आदेश हो जाने पर ह्रस्व खि-ति शब्द और दीर्घ खी-ती शब्दों से परे ङसि, ङस् सम्बन्धी अकार के स्थान में उकार आदेश होता है । सख्युः ।

यणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः । सख्युः । (२०६) औत् ७।३।११८ । इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत् । सख्यौ । शेषं हरिवत् । (२०७) पतिः समास एव १।४।८ । पतिः समास एव घिसंज्ञः । पत्या । पत्ये । पत्युः २ । पत्यौ । शेषं हरिवत् । समासे तु–भूपतये ।

'ऋत उत्' इत्यत उदित्यनुवर्तते । तदाह—**खितिशब्दाभ्यामित्यादि । सख्युरिति ।** सखिशब्दात् 'ङसि' विभक्तौ ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे 'सखि + अस्' इति जाते 'इको यणचि' इतीकारस्य यणादेशे 'सख् य् अस्' इति स्थिते 'ख्यत्यात्परस्ये'त्यनेन असोऽकारस्य उकारे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'सख्युः' इति ।

(२०६) **'औत्' इति ।** इदुद्भ्यामि'त्यत्रैकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञयाऽऽह—**इत इति ।**

(२०७) **पति इति ।** 'शेषो घ्यसखि' इत्यतः 'घि' इत्यनुवर्तते । पतिशब्दः समास एव घिसंज्ञको भवति न तु केवल इत्यर्थः । **पत्या इति ।** पतिशब्दात् 'टा'

विमर्श—सूत्रार्थ करने के लिए 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०९) से 'अति' 'ङसिङसोश्च' (६।१।११०) से 'ङसिङसोः' तथा 'ऋत उत्' से 'उत्' की अनुवृत्ति आती है । परस्य के सामीप्य से अनुवृत्त 'अति' पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है । तदनुसार यणादेश हो जाने पर ह्रस्वान्त खि ति तथा दीर्घान्त खी ती शब्दों से परे ङसि, ङस् सम्बन्धी 'अ' के स्थान पर 'उ' हो जाता है ।

उदाहरण—सखि+ङसि (अस्)=सखि+अस्; (इ=य् 'यण्') सख्य्+अस् (अ=उ—'ख्यत्यात्परस्य')=सख्युस्, (स्=र्) सख्युर् (र्=ः)=सख्युः ।

(२०६) पद—औत् । **अनुवृत्ति**—इदुद्भ्याम्, ङे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ह्रस्व इकार-उकार से परे 'ङि' के स्थान पर 'औत्' आदेश होता है । सख्यौ । शेष रूप हरि शब्द की तरह चलेंगे ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र 'इदुद्भ्याम्' (७।३।११७) सम्पूर्ण सूत्र तथा 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (७।३।११६) से 'ङे' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार इ, उ के पश्चाद्वर्ती 'ङि' के स्थान पर 'औ' आदेश होता है ।

उदाहरण—सखि+ङि, ('ङि'='औ'—'औत्') सखि+औ (इ=य्—'यण्')=सख्यौ । अवशिष्ट रूप हरि शब्द के समान बनेंगे ।

सखि शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सखा	सखायौ	सखायः	प०	सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
द्वि०	सखायम्	सखायौ	सखीन्	ष०	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
तृ०	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः	स०	सख्यौ	सख्योः	सखिषु
च०	सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः	सं०	हे सखे !	हे सखायौ !	हे सखायः !

(२०७) पद—पतिः, समासः, एव । **अनुवृत्ति**—'घि' । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—पति शब्द की समास में ही घिसंज्ञा होती है । पत्या । पत्ये । पत्युः । समास में—भूपतये ।

कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। (२०८) बहुगणवतुडति संख्या १।१।२३। एते संख्यासंज्ञाः स्युः। (२०९) डति च १।१।२५। डत्यन्ता संख्या षट्संज्ञा स्यात्।

विभक्तौ टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च घिसंज्ञाया अभावे 'इको यणचि' इत्यनेन यणि कृते 'पत्या' इति।

(२०९) **डति चेति**। अत्र 'बहुगण०' इत्यतः 'संख्या' इति, 'ष्णान्ता षट्' इत्यतः षडिति चानुवर्तते। प्रत्ययत्वात् तदन्तग्रहणम्। तदाह—**डत्यन्तेत्यादिना**।

विमर्श—'शेषो घ्यसखि' से 'घि' की अनुवृत्ति आ रही है तथा इस सूत्र द्वारा प्राप्त घि-संज्ञा का नियमन किया जा रहा है। इस प्रकार इकारान्त पति शब्द की 'घि' संज्ञा समास में ही होती है, अन्यत्र नहीं।

उदाहरण—(१) पति+टा (आ) ('घि-संज्ञा' का प्रकृत सूत्र द्वारा निषेध होने से 'ना' आदेश नहीं हुआ इ=य् 'यणादेश')=पत्या। (२) पति+ङे (ए) ('घि' संज्ञा के अभाव में 'घेर्ङिति' से गुण नहीं हुआ, यण्)=पत्ये। (३) पति+ङसि (अस्) यण् होकर, पत्य्+अस् (अ=उ 'ख्यत्यात्परस्य') पत्युस्, (स्=र्) पत्युर् (र्=ः)=पत्युः। (४) पति+ङि, (ङि=औ) पति+औ (इ=य् 'यण्')=पत्यौ। शेष रूप हरि शब्द की तरह चलेंगे। समास स्थल में पति शब्द की घि-संज्ञा होने से भूपति शब्द के रूप हरि शब्द की तरह बनेंगे। भूपति+ङे, (ए) (घि-संज्ञा होकर 'घेर्ङिति' से गुण इ=ए) भूपते+ए (अयादेश)=भूपतये।

पति शब्द के रूप (इकारान्त पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पतिः	पती	पतयः	पं०	पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
द्वि०	पतिम्	पती	पतीन्	ष०	पत्युः	पत्योः	पतीनाम्
तृ०	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः	स०	पत्यौ	पत्योः	पतिषु
च०	पत्ये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः	सं०	हे पते !	हे पती !	हे पतयः !

'कति' शब्द नित्य बहुवचनान्त है।

(२०८) पद—बहुगणवतुडति, संख्या। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—'बहु' शब्द, 'गण' शब्द, वतु-प्रत्ययान्त और डति-प्रत्ययान्त शब्दों की संख्या संज्ञा होती है।

विमर्श—सूत्र में समाहारद्वन्द्व समास है। बहुश्च, गणश्च, वतुश्च, डतिश्च—तेषां समाहारः 'बहुगणवतुडति।'—यह पद संज्ञी है तथा संख्या संज्ञा। सूत्रस्थ वतु और डति प्रत्यय हैं।

(२०९) पद—डति, च। **अनुवृत्ति**—षट्, संख्या। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—डति-प्रत्ययान्त संख्यावाचक पद की 'षट्' संज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ 'बहुगणवतु०' (२०८) से 'संख्या' तथा 'ष्णान्ता षट्' (१।१।२४) से 'षट्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'षट्' संज्ञा है तथा 'डति' संज्ञी। इस प्रकार तदन्तविधि होने से डति प्रत्ययान्त पदों की षट् संज्ञा होती है। 'कति' (किम्+डति) शब्द डति-प्रत्ययान्त होने से षट्-संज्ञक हुआ।

(२१०) षड्भ्यो लुक् ७।१।२२ । जश्शसोः । प्रत्ययलोपे 'जसि चे'ति गुणे प्राप्ते । **(२११) प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६७ ।** लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययाऽदर्शनं क्रमात् तत्तत्संज्ञं स्यात् । **(२१२) न लुमताङ्गस्य १।१।६३ ।** लुक् श्लु लुप् एते लुमन्तः । लुमताशब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात् । कति–२ । कतिभिः । कतिभ्यः । कतिभ्यः । कतीनाम् । कतिषु । युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः । त्रिशब्दो नित्यं

---

(२१०) **षड्भ्यो लुगिति ।** 'जश्शसोः शी' इत्यतो जश्शसोरित्यनुवर्तते । तेन षट्संज्ञकेभ्यो जश्शसोर्लुक् स्यादित्यर्थः ।

(२१२) **न लुमतेति ।** अत्र 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमि'ति सूत्रमनुवर्तते । लु इत्यस्यास्तीति लुमान् लुक्शब्दः, श्लुशब्दः लुप्शब्दश्च । तेन लुका श्लुना लुपा वा प्रत्ययलोपे विहिते सति तन्निमित्तकमङ्गकार्यं न स्यादित्यर्थः । **कति इति ।** बहुत्व-विशिष्टवाचकत्वात् प्रथमाबहुवचने जस् प्रत्यये 'बहुगणवतुडति संख्या' इति सूत्रेण संख्यासंज्ञायां 'डति च' इत्यनेन षट्संज्ञायां ततः 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' इति लुक्

---

(२१०) पद—षड्भ्यः, लुक् । **अनुवृत्ति**—जश्शसोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—षट्संज्ञक शब्द से परे जस् और शस् का लोप होता है ।

विमर्श—यहाँ 'जश्शसोः शिः' (७।१।२०) से 'जश्शसोः' की अनुवृत्ति आती है ।

(२११) पद—प्रत्ययस्य, लुक्श्लुलुपः । **अनुवृत्ति**—अदर्शनम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—लुक्, श्लु, लुप् शब्दों से किया गया प्रत्यय का अदर्शन (लोप) वह क्रम से लुक्, श्लु और लुप् संज्ञक होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र का अर्थ करने के लिए 'अदर्शनं लोपः' (१।१।६४) से 'अदर्शनम्' की अनुवृत्ति आती है । वह अदर्शन (लोप) यदि लुक्, श्लु, लुप् द्वारा प्रत्यय का किया जाय तो उस लोप की क्रम से लुक्, श्लु और लुप् संज्ञा होती है ।

(२१२) पद—न, लुमता, अङ्गस्य । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययलोपे, प्रत्ययलक्षणम् । **विधिसूत्र ।** (निषेध) ।

मूलार्थ—लुक्, श्लु और लुप् शब्दों द्वारा जहाँ प्रत्यय का लोप हुआ हो वहाँ (प्रत्यय लक्षण से) तन्निमित्तक अङ्ग कार्य नहीं होता । कति–२ । कतिभिः । कतिभ्यः–३ । कतीनाम् । कतिषु । युष्मद्, अस्मद् तथा षट्संज्ञक शब्द तीनों लिङ्गों में समान होते हैं । 'त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त है । त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः–२ ।

विमर्श—लुक्, श्लु और लुप्—तीनों 'लु' शब्द बोध्य हैं । पूर्वसूत्र 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' की अनुवृत्ति आ रही है । अतः 'लु' शब्द द्वारा प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण द्वारा तदाश्रित अङ्ग कार्य का निषेध होता है ।

उदाहरण—(१) कति+जस् ('बहुगणवतुडति संख्या' से कति शब्द की 'संख्या' संज्ञा होने पर 'डति च' से षट् संज्ञा, 'प्रत्ययस्य लुक्०' से लुक् संज्ञा हुई, ततः 'षड्भ्यो लुक्' से जस् का लुक्) यहाँ 'प्रत्ययलोपे०' से प्रत्ययलक्षण मानकर 'जसि च' से 'गुण' प्राप्त होने पर 'न लुमताङ्गस्य' से अङ्गकार्य गुण का निषेध हो जाने से 'कति' रूप बना । (२) कति+भिस्, (स्=र्) कतिभिर्, (र्=ः)=कतिभिः । (३) कति+भ्यस्, (स्=र्) कतिभ्यर्,

बहुवचनान्तः । त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः २ । (२१३) त्रेस्त्रयः ७।१।५३ । आमि । त्रयाणाम् । त्रिषु । गौणत्वेऽपि—प्रियत्रयाणाम् । द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । (२१४) त्यदादीनामः ७।२।१०२ । एषामकारो विभक्तौ । *द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः* । द्वौ–२ । द्वाभ्याम्–३ । द्वयोः–२ । द्विपर्यन्तानां किम् ? भवान् । भवन्तौ । पाति लोक-

---

संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इत्यनेन जसो लुकि, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमि'ति प्रत्यय-लक्षणत्वात् 'जसि चे'ति गुणे प्राप्ते 'न लुमताङ्गस्ये'ति सूत्रेण प्रत्ययलक्षणनिषेधात् गुणाभावे 'कति' इति सिद्धम् ।

(२१३) त्रेस्त्रय इति । 'आमि सर्वनाम्नः' इत्यतः 'आमी'त्यनुवर्तते । त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामीति भावः ।

(२१४) त्यदादीनाम इति । 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतो 'विभक्तावि'त्यनुवर्तते ।

(र्=ः)=कतिभ्यः । (४) कति+आम् (नुट् (न्) का आगम—'ह्रस्वनद्यापोः०') कति+नाम्, (दीर्घ—'नामि')=कतीनाम् । (५) कति+सु (सुप्), (स्=ष्—'आदेश-प्रत्यययोः')=कतिषु ।

यहाँ प्रसङ्गतः यह बतलाया जा रहा है कि युष्मद्, अस्मद् तथा 'षट्संज्ञक' शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में समान होते हैं । त्रि शब्द बहुवचनान्त है । (१) त्रि+जस्, त्रि+अस्, ('इ' ='ए'—गुण—'जसि च') त्रे+अस्, (ए=अय् आदेश) त्रयस्, (स्=र्)—त्रयर्, (र्=ः)=त्रयः । (२) त्रि+शस्—त्रि+अस्, (इ+अ='ई'—'पूर्वसवर्णं दीर्घ') त्रीस् (स्=न्—'तस्माच्छसो)=त्रीन् । (३) त्रि+भिस्, (स्=र्) त्रिभिर्, (र=ः)= त्रिभिः । (४) त्रि+भ्यस् (स्=र्) त्रिभ्यर् (र्=ः)=त्रिभ्यः ।

(२१३) पद—त्रेः, त्रयः । **अनुवृत्ति**—आम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आम् (विभक्ति) के परे रहते 'त्रि' शब्द को त्रय आदेश होता है । त्रयाणाम् । त्रिषु । 'त्रि' शब्द के गौण=अप्रधान रहने पर भी त्रय आदेश होता है । प्रियत्रयाणाम् । द्वि शब्द नित्य द्विवचनान्त है ।

विमर्श—यहाँ 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (७।१।५२) से निमित्तवाचक पद 'आमि' की अनुवृत्ति आ रही है ।

उदाहरण—(१) त्रि+आम्, (त्रि=त्रय) त्रय+आम् (नुट् (न) का आगम) त्रय+नाम् (दीर्घ 'नामि')–त्रयानाम्, (न्=ण्)=त्रयाणाम् । (२) त्रि+सुप् (सु), (स्=ष्) =त्रिषु ।

(गौणत्वेऽपि)—'प्रियास्त्रयो यस्य' विग्रह में 'प्रियत्रि' शब्द में 'त्रि' के गौण (अप्रधान) होने पर भी 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्याय से 'प्रियत्रयाणाम्' में त्रयादेश का निषेध नहीं हुआ । क्योंकि इस न्याय की प्रवृत्ति केवल पदकार्य में ही होती है ।

'द्वि' शब्द का प्रयोग केवल द्विवचन में ही होता है ।

(२१४) पद—त्यदादीनाम्, अः । **अनुवृत्ति**—विभक्ती । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विभक्ति परे रहते त्यद् आदि को अकार अन्तादेश होता है । यह 'त्यद्' से लेकर द्विशब्दपर्यन्त 'त्यदादि' कहलाता है—**यह भाष्यकार को इष्ट है** । द्वौ । द्वाभ्याम् । द्वयोः । द्विप-

मिति पपीः—सूर्यः । पप्यौ । पप्यः । हे पपीः । पपाम् । पप्यौ । पपीन् । पप्या । पपीभ्याम्–३ । पपीभिः । पप्ये । पपीभ्यः–२ । पप्यः । पप्योः–२ । पप्याम् । ङौ च–पपी । पपीषु । एवं वातप्रम्यादयः । बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी । दीर्घङ्यन्तत्वाद्ध-

---

त्यद् इत्यारभ्य द्विपर्यन्तानामेव ग्रहणे भाष्यकृत इच्छेति—इष्टिः । द्वाविति । द्विशब्दात् प्रथमाद्विवचने 'औ' समागते 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे, पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते 'नादिचि' इति तन्निषेधे, 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ कृतायां 'द्वौ' इति ।

र्यन्त क्यों कहा ? भवान्, भवन्तौ । 'संसार की रक्षा करता है' इस अर्थ में पपीः (सूर्य) । पप्यौ । पप्य इत्यादि । इसी प्रकार 'वातप्रमी' आदि शब्दों के रूप बनेंगे ।

विमर्श—यहाँ 'अष्टन आ विभक्तौ' से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आ रही है । त्यदादि शब्द सर्वादिगण के अन्तर्गत आते हैं । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति से 'अ' आदेश अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है । 'त्यद् से लेकर द्वि-पर्यन्त त्यदादि हैं ।' यह भाष्यकार ने स्वीकार किया है । इस प्रकार त्यदादि में—'त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक और द्वि' शब्दों का परिगणन किया जाता है ।

उदाहरण—(१) द्वि+औ, (इ='अ'—'त्यदादीनामः') द्व+औ (प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'नादिचि' से निषेध, अ+औ=औ—'वृद्धिरेचि')=द्वौ । (२) द्वि+भ्याम् (इ=अ), द्व+भ्याम् (दीर्घ—'सुपि च')=द्वाभ्याम् । (३) द्वि+ओस्, (इ=अ), द्व+ओस्, (अ='ए'–'ओसि च') द्वे+ओस्, (ए=अय्) द्वयोस्, (स्=र्) द्वयोर्, (र्=ः)=द्वयोः ।

प्रत्युदाहरण—द्विशब्दपर्यन्त 'त्यदादि' स्वीकार किये जाने से द्वि के अनन्तर पढ़े गये 'भवत्' शब्द के 'त्' के स्थान पर अकारान्त आदेश नहीं होता । भवान् । भवन्तौ ।

पाति लोकम् (जो संसार की रक्षा करता है) अर्थ में पपीः (सूर्य) । (१) पपी+सु (स् को रुत्व विसर्ग होकर पपीः । (२) पपी+औ (पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होकर यणादेश ई=य्)=पप्यौ । (३) पपी+जस् (अस्) यणादेश पप्यस्, (स्=र्) पप्यर्, (र्=ः) =पप्यः । (४) हे पपी+सु (स्=र्, र्=ः)=हे पपीः । (५) पपी+अम् (ई=अ='ई' पूर्वरूप—'अमि पूर्वः')=पपीम् । (६) पपी+औट् (औ) ई=य् 'यण्')= पप्यौ । (७) पपी+शस् (अस्) ('ई+अ=ई'—पूर्वसवर्ण दीर्घ), पपीस्, (स्=न्)= पपीन् । (८) पपी+टा (आ), यण्=पप्या । (९) पपी+भ्याम्=पपीभ्याम् । (१०) पपी+भिस्, पपीभिस्, स्=र्, र्=ः)=पपीभिः । (११) पपी+ङे (ए), यण्=पप्ये । (१२) पपी+भ्यस् (स्=र्, र्=ः)=पपीभ्यः । (१३) पपी+ङसि, (अस्), इ=य् (यण्)= पप्यस्, (स=र्) पप्यर्, (र्=ः)=पप्यः । (१४) पपी+ओस् (यण्) पप्योस् (स्=र्, र्=ः)=पप्योः । (१५) पपी+आम् (दीर्घान्त न होने से दीर्घ नहीं हुआ, यण्)=पप्याम् । (१६) पपी+ङि (इ) (ई+इ='ई' सवर्णदीर्घ)=पपी । (१७) पपी+सुप् (सु) (स्=ष्) पपीषु । इसी प्रकार 'वातप्रमी' आदि शब्दों के रूप बनेंगे ।

बहुत श्रेष्ठ स्त्रियाँ हैं जिसकी, ऐसा पुरुष (बह्व्यः श्रेयस्यः यस्य सः—बहुव्रीहिः) इस अर्थ में 'बहुश्रेयसी' शब्द है । बहुश्रेयसी+सु (स्) (दीर्घङ्यन्त होने के कारण 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' का लोप=बहुश्रेयसी ।

लङ्याबिति सुलोपः । (२१५) यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३ । ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः । * प्रथमलिङ्गग्रहणं च * पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः । (२१६) अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७ । अम्बार्थानां नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ । हे बहुश्रेयसि । (२१७) आण्नद्याः ७।३।११२ । नद्यन्तात्

---

(२१५) यू स्त्र्याख्याविति । ईश्च ऊश्चेति 'यू' । 'स्त्र्याख्यौ' इत्युपस्थितस्त्रीवाचकशब्दस्य विशेष्यत्वात् तदन्तविधिः । स्त्रियमाचक्षात इति स्त्राख्यौ । तदाह—ईदूदन्ताविति । पूर्वमिति । यः शब्दः पूर्वं स्त्रीलिङ्गः, पश्चादुपसर्जनत्वे लिङ्गविपर्ययेऽपि तस्य नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः ।

(२१६) अम्बार्थनद्योरिति । अत्र 'सम्बुद्धौ चे'त्यतः सम्बुद्धावित्यनुवर्तते । अङ्गस्ये'त्यधिकारात् तदन्तविधिः । तदाह—अम्बार्थानामित्यादि ।

(२१७) आण्नद्या इति । 'घेर्ङिति' इत्यतो 'ङिति' इत्यनुवर्तते, 'ङिति' इति सप्तम्याः षष्ठ्या विपरिणामस्तदाह—नद्यन्तादिति ।

---

(२१५) पद—यू, स्त्र्याख्यौ, नदी । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—ईकारान्त, ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों की नदी संज्ञा होती है । शब्द की पूर्व (प्रथम) अवस्था का लिङ्ग ग्रहण किया जाता है अर्थात् जो शब्द पहले नित्य स्त्रीलिङ्ग हो, उपसर्जन होने से अन्य लिङ्ग हो जाने पर भी वह नदीसंज्ञक होता है ।

विमर्श—सूत्र में स्त्र्याख्यौ यू 'संज्ञी' है तथा नदी संज्ञा है । (ईश्च यूश्चेति यू–इतरेतरद्वन्द्व) 'यू' स्त्र्याख्यौ का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है ।

(वा०) 'प्रथम०'—शब्द का नियम से लिङ्ग-परिवर्तन हो जाने पर भी पूर्वावस्था का लिङ्ग ग्रहण किया जाता है । यथा—बहुश्रेयसी शब्द में 'श्रेयसी' ङीप् प्रत्ययान्त होने पर भी समास में 'बहुश्रेयसी' शब्द पुंल्लिङ्ग है । परन्तु वार्तिककार के अनुसार 'श्रेयसी' शब्द के मौलिक लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग) का ग्रहण होने से नदी संज्ञा हुई ।

(२१६) पद—अम्बार्थनद्योः, ह्रस्वः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, सम्बुद्धौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सम्बुद्धि के परे रहने पर अम्बार्थक और नदीसंज्ञक शब्द को ह्रस्व होता है । हे बहुश्रेयसि !

विमर्श—यहाँ 'सम्बुद्धौ च' से 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आ रही है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । तदनुसार—सम्बोधन के एकवचन 'सु' के परे रहते अम्बार्थक तथा नदी संज्ञा वाले शब्दों के अन्त्य वर्ण को ह्रस्व होता है । उदाहरण—हे बहुश्रेयसी+सु (स्) (नदीसंज्ञक होने से ई=इ 'ह्रस्व') हे बहुश्रेयसि+स् (स् का लोप—'एङ् ह्रस्वात०')=हे बहुश्रेयसि !

(२१७) पद—आट्, नद्याः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ङिति । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—नद्यन्त से परे ङिद्वचनों को 'आट्' का आगम होता है ।

विमर्श—सूत्र में 'घेर्ङिति' सूत्र से 'ङिति' की अनुवृत्ति आती है । 'ङिति' पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है । अधिकार प्राप्त अङ्गस्य का विशेषण 'नद्याः' पञ्चमी विभक्ति में होने से 'अङ्गस्य' में पञ्चमी होकर 'अङ्गात्' हो जाता है । विशेषण होने से 'नद्याः' में तदन्तविधि होती है । इस प्रकार नद्यन्त अङ्ग के अनन्तर ङित् विभक्तियों (ङे, ङसि, ङस्, ङि) को आट् (आ) का आगम होता है ।

परेषां ङितामाडागमः। **(२१८) आटश्च ६।१।९०।** आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः-२। बहुश्रेयसीनाम्। **(२१९) ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६।** नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च परस्य ङेराम् स्यात्। इह परत्वादाटा नुट् बाध्यते। 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव'। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपी-

---

(२१८) आटश्चेति। 'इको यणची'त्यतः 'अचि' इति, 'वृद्धिरेचि' इत्यतो वृद्धिरिति चानुवर्तते। 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारस्तदाह—**आटोऽचीत्यादिना। बहुश्रेयस्यै इति।** बहुश्रेयसीशब्दात् चतुर्थ्येकवचने 'ङे' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे 'प्रथमलिङ्गग्रहणं चे'ति वार्तिकेन नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इति ङेराडागमेऽनुबन्धलोपे 'बहुश्रेयसी+आ+ए' इति जाते 'आटश्चे'त्यनेन वृद्धौ कृतायां 'इको यणची'त्यनेन यणि कृते 'बहुश्रेयस्यै' इति।

(२१९) अङ्यन्तत्वादिति। ङीबन्तत्वाभावादित्यर्थः। लक्षेर्ण्यन्तात् 'लक्षेर्मुट् च' इत्युणादिसूत्रेण 'ई' प्रत्यये मुडागमे च 'लक्ष्मीः' तामतिक्रान्त इत्यर्थे 'अत्यादयः' इति समासः। अतः ङ्यन्तत्वाभावात् 'हल्ङ्याबि'ति सुलोपो न भवतीति।

---

(२१८) पद—आटः, च। **अनुवृत्ति**—अचि, पूर्वपरयोः, वृद्धिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'आट्' के पश्चात् 'अच्' परे रहते पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है। बहुश्रेयस्यै।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'इको यणचि' से 'अचि' तथा 'वृद्धिरेचि' से 'वृद्धि' की अनुवृत्ति आती है। 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है।

उदाहरण—(१) बहुश्रेयसी+ङे (ए), ('ए' से पूर्व 'आट्' (आ) का आगम-'आण्नद्याः') बहुश्रेयसी+आ+ए (आ+ए='ऐ'—'आटश्च' से वृद्धि) बहुश्रेयसी+ऐ (ई=य्—'यण्')= बहुश्रेयस्यै। (२) बहुश्रेयसी+ङसि (अस्) (आट् (आ) का आगम) बहुश्रेयसी+आ+अस्, (आ+अ='आ'—वृद्धि) बहुश्रेयसी+आस्, (यण्)—बहुश्रेयस्यास् (स्=र्, र्=:)= बहुश्रेयस्याः। (३) बहुश्रेयसी+आम्, (नुट् (न्) का आगम—'ह्रस्वनद्यापो नुट्')=बहुश्रेय-सीनाम्।

(२१९) पद—ङेः, आम्, नद्याम्नीभ्यः। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नद्यन्त, आबन्त और नी शब्द से परे 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है। यहाँ 'आट्' का आगम पर होने के कारण नुट् का बाधक है। बहुश्रेयस्याम्। शेष रूप पपी शब्द के समान बनेंगे। अङ्यन्त होने से 'सु' का लोप नहीं हुआ—अतिलक्ष्मीः। शेष रूप बहुश्रेयसी की तरह होंगे। प्रधीः।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है। अतः तदन्तविधि होती है। प्रत्यय में तदन्तविधि होने से 'आबन्त' होता है।

इस प्रकार नद्यन्त, आप्प्रत्ययान्त तथा नीशब्द के पश्चाद्वर्ती 'ङि' को आम् आदेश होता है।

उदाहरण—बहुश्रेयसी+ङि (ङि=आम्—'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः') बहुश्रेयसी+आम्, (आट् का आगम—'आण्नद्याः') बहुश्रेयसी+आ+आम् (आ+आ='आ'—वृद्धिः) बहु-श्रेयसी आम्, (ई=य्—'यण्')=**बहुश्रेयस्याम्। शेष रूप 'पपी' शब्द की तरह बनेंगे।**

वत्। अङचन्तत्वान्न सुलोपः। अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत्। प्रधीः। (२२०) **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७।** श्नुप्रत्ययान्तस्येवर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भ्रू इत्येतस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते। (२२१) **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६।४।८२।** धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे। प्रध्यौ। प्रध्यः।

---

(२२०) **अचि श्नु इति।** इश्च उश्च यू, तयोः य्वोरिवर्णोवर्णयोरित्यर्थः। श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्चेति द्वन्द्वः, तेषाम्। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया चात्र श्नुप्रत्ययान्तं गृह्यते। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। अचीति तद्विशेषणम्। तदाह—**श्नुप्रत्ययान्तस्येत्यादि।**

(२२१) **एरनेकाच इति।** अत्र 'इणो यण्' इत्यतः यण् इत्यनुवर्तते। 'ए' इति षष्ठ्यन्तं पदम्, इवर्णस्येत्यर्थः। 'अचि श्नुधातुभ्रुवामि'त्यतः धातुमात्रमनुवर्तते, 'अचि' इति च। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। ततश्च 'प्रत्यये परतः' इत्यर्थो लभ्यते। अचीति तद्विशेषणम्। तदादिविधिः। तदाह—**धात्ववयवेत्यादिना। प्रध्यौ इति।** प्रधीशब्दात्

'बहुश्रेयसी' शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः	पं०	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
द्वि०	बहुश्रेयसीम्	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयसीन्	ष०	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
तृ०	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः	स०	बहुश्रेयस्याम्	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीषु
च०	बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः	सं०	हे बहुश्रेयसि !	हे बहुश्रेयस्यौ !	हे बहुश्रेयस्यः

अतिलक्ष्मी+सु (यहाँ 'लक्ष्मी' शब्द ङ्यन्त नहीं है। अतः 'सु' का लोप नहीं होता।) अतिलक्ष्मी+स् (स्=र्, र्=:)=अतिलक्ष्मीः। अवशिष्ट रूप बहुश्रेयसी शब्द के समान बनते हैं। प्रधी+सु ('स्' को रुत्व-विसर्ग होकर)=प्रधीः।

(२२०) पद—अचि, श्नुधातुभ्रुवां, य्वोः, इयङुवङौ। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—श्नुप्रत्ययान्त तथा इवर्णान्त, उवर्णान्त धातु को और भ्रू शब्द के अङ्ग को इयङ्, उवङ् आदेश होता है, अजादि प्रत्यय के परे रहते। ङकार इत्संज्ञक होने से यह आदेश अन्तिम वर्ण के स्थान पर होगा।

विमर्श—सूत्रस्थ 'श्नुधातुभ्रुवाम्' पद में इतरेतर द्वन्द्व समास है (श्नुश्च, धातुश्च भ्रूश्च, तेषाम्)। 'य्वोः' पद में भी द्वन्द्व है—इश्च उश्च यू, तयोः। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा के अनुसार श्नुपद से श्नुप्रत्ययान्त का ग्रहण होता है। 'य्वोः' धातु का विशेषण है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार—श्नुप्रत्ययान्त, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु को तथा भ्रू रूप अंग को इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं। स्थानकृत सादृश्य को मानकर यहाँ इ=इयङ् तथा उ=उवङ् आदेश होंगे।

(२२१) पद—एः, अनेकाचः, असंयोगपूर्वस्य। **अनुवृत्ति**—यण्, अचि, धातोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—धातु के अवयवों का संयोग पूर्व में न हो, ऐसा जो इवर्ण तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अङ्ग, उसको अजादि प्रत्यय परे रहते यण् आदेश होता है।

प्रध्यम् । प्रध्यौ । प्रध्यः । प्रध्यि । शेषं पपीवत् । एवं ग्रामणीः । ङौ तु—ग्रामण्याम् । (२२२) गतिश्च १।४।६० । प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । * गतिकारकेतर-पूर्वपदस्य यण् नेष्यते * शुद्धधियौ । शुद्धधियः । (२२३) न भूसुधियोः ६।४।८५ ।

'औ' विभक्तौ 'प्रधी+औ' इति जाते प्राप्तस्य पूर्वसवर्णदीर्घस्य 'दीर्घाज्जसि च'त्यनेन निषेधे, 'इको यणची'ति यणि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'अचि श्नुधातुभ्रुवामि'त्यादिना इयङा-देशे प्राप्ते तं बाधित्वा 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि कृते 'प्रध्यौ' इति रूपम् ।

(२२२) **गतिकारकेति** । गतिकारकाभ्यामितरद्भिन्नं पूर्वपदं यस्य तस्याङ्गस्य यण् न भवतीत्यर्थः ।

(२२३) **न भूसुधियोरिति** । 'इको इणची'त्यतो 'यणि'ति, 'अची'ति चानुवर्तते

विमर्श—यहाँ 'इणो यण्' (६।४।८१) से आदेशवाचक 'यण्' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'अचि श्नु०' (२२०) से 'अचि' तथा 'धातोः' की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'धातोः' पद की आवृत्ति की जाती है । धातोः 'अङ्गस्य' तथा 'संयोग' का विशेषण है । इवर्ण धातु का विशेषण है, अतः तदन्तविधि होती है । तदनुसार—अजादि प्रत्ययों के परे रहने पर धातु का अवयव संयुक्त वर्ण पूर्व में न रहने पर जो इवर्णान्त धातु, तदन्त अनेकाच् अङ्ग के स्थान पर 'यण्' आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) प्रधी+औ (पूवसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर 'इको यणचि' से यण् की प्राप्ति, उसका बाधकर 'अचि श्नु०' से इयङ् आदेश प्राप्त है । उसको बाधकर 'एरनेकाचो०' से ई=य्—'यण्')=प्रध्यौ । (२) प्रधी+जस् (अस्) (ई=य्—यण्) प्रध्यस् (स्=र्, र्=ः)=प्रध्यः । (३) प्रधी+अम् (यण्)=प्रध्यम् । (४) प्रधी+औट् (औ) यण्=प्रध्यौ । (५) प्रधी+शस् (अस्), (यण्)—प्रध्यस् (स्=र्, र्=ः)= प्रध्यः । (६) प्रधी+ङि (इ) यण्=प्रध्यि । शेष रूप पपी शब्द के समान बनेंगे । इसी तरह 'ग्रामणीः' शब्द के रूप बनते हैं । 'ङि' विभक्ति में 'ग्रामण्याम्' रूप बनेगा । ग्रामणी+ ङि (ङि=आम्), ग्रामणी+आम् (यण्)=ग्रामण्याम् ।

(२२२) पद—गतिः, च । **अनुवृत्ति**—प्रादयः, क्रियायोगे । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—प्रादि (प्र, परा, आदि उपसर्गों) की क्रिया के योग में गतिसंज्ञा होती है । (वार्तिक) गति एवम् कारक से इतर (भिन्न) अन्य शब्द पूर्व में रहने पर यण् नहीं होता । शुद्धधियौ । शुद्धधियः ।

विमर्श—यहाँ 'प्रादयः' (१।४।५८) सूत्र तथा 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (१।४।५९) से 'क्रियायोगे' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार प्र आदि की क्रिया के योग में (उपसर्ग संज्ञा के अतिरिक्त) गति संज्ञा भी होती है ।

(वा०) 'गतिसंज्ञक एवं कारक से भिन्न शब्द पूर्वपद में रहने पर इवर्णान्त धातु को यण् नहीं होता ।'

उदाहरण—(१) शुद्धधी+औ (यहाँ 'धी' के पूर्व 'शुद्ध' शब्द के गतिसंज्ञक एवं कारक न होने से 'यण्' नहीं हुआ) ई=इयङ्, शुद्धधिय् औ=शुद्धधियौ । (२) शुद्धधी+जस् (यण् न होने से ई=इयङ्=इय्) शुद्धधिय्+अस् (स्=र्, र्=ः)=शुद्धधियः ।

(२२३) पद—न भूसुधियोः । **अनुवृत्ति**—यण्, अचि, सुपि । **विधिसूत्र (निषेध)** ।

एतयोरचि सुपि यण्न । सुधीः । सुधियौ । सुधियः—इत्यादि । सुखमिच्छतीति सुखीः । सुतीः । सुख्युः–२ । सुत्युः–२ । शेषं प्रधीवत् । शम्भुर्हरिवत् । एवं भान्वादयः । (२२४) तृज्वत्क्रोष्टुः ७।१।९५ । असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने 'क्रोष्टु' इत्यस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' प्रयोक्तव्यमित्यर्थः । (२२५) ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७।३।११० ।

'ओः सुपी'त्यतः 'सुपी'ति चानुवर्तते । तदाह—**एतयोरित्यादि** । 'इको यणची'त्यनेन प्राप्तं यणादेशं प्रबाध्य 'अचि श्नु०' इति इयङुवङौ प्राप्तौ, तौ बाधित्वा 'एरनेकाचो०' 'ओः सुपि' इति सूत्राभ्यां यणादेशः प्राप्तस्तस्यानेन सूत्रेण निषेधः ।

(२२४) **तृज्वत्क्रोष्टुरिति** । अत्र 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने' इति, 'सख्युरसम्बुद्धौ' इत्यतः 'असम्बुद्धौ' इति चानुवर्तते । एवमङ्गसंज्ञकः क्रोष्टु-शब्दस्तृज्वन्तवद्रूपं लभते असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे इत्यर्थः । रूपातिदेशोऽयम् ।

मूलार्थ—अजादि सुप् प्रत्यय परे रहने पर भू और सुधी शब्द को यण् नहीं होता । सुधी । सुधियौ । सुधियः—इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'अचि श्नु०' (२२०) से 'अचि' 'इणो यण्' (६।४।८१) से 'यण्' तथा 'ओः सुपि' से 'सुपि' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार अजादि सुप् विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती रहने पर भू और सुधी शब्दों के अन्तिम वर्ण के स्थान में यणादेश नहीं होता ।

उदाहरण—(१) सुधी+सु (स्=र्, र्= :)=सुधीः । (२) सुधी+औ ('गतिश्च' से गति संज्ञा होकर, 'एरनेकाचो०' से इ=य् 'यण्' की प्राप्ति, 'न भूसुधियोः' से निषेध होने पर 'अचि श्नु०' से ई=इयङ्)=सुधियौ । (३) सुधी+जस् (अस्) (पूर्ववत् यण् का निषेध होने पर इयङ्)—सुधियस् (स्=र्, र्= :)=सुधियः । सुष्ठु ध्यायतीति अथवा शोभना धीर्यस्येति सुधीशब्दः । (अच्छी बुद्धि है जिसकी, ऐसा पुरुष) ।

'सुधी' शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सुधीः	सुधियौ	सुधियः	पं०	सुधियः	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
द्वि०	सुधियम्	सुधियौ	सुधियः	ष०	सुधियः	सुधियोः	सुधियाम्
तृ०	सुधिया	सुधीभ्याम्	सुधीभिः	स०	सुधियि	सुधियोः	सुधीषु
च०	सुधिये	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः	सं०	हे सुधीः	हे सुधियौ	हे सुधियः

'सुख का इच्छुक' इस अर्थ में सुखी शब्द है । प्रथमा एकवचन में—सुखीः । इसी प्रकार पुत्र का इच्छुक अर्थ में 'सुती' शब्द है । प्रथमा एकवचन सुती+सु (स्)—(स्=र्, र्= :)= सुतीः । सुखी+ङसि तथा सुती+ङसि में 'सुख्युः' और 'सुत्युः' रूप बनते हैं । अविशिष्ट रूप प्रधी शब्द की तरह बनेंगे । शम्भु शब्द के रूप हरि शब्द के समान चलते हैं । इसी प्रकार भानु आदि शब्दों के रूप भी होंगे ।

(२२४) पद—तृज्वत्, क्रोष्टुः । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते क्रोष्टु शब्द को तृज्वद्भाव होता है । अर्थात् 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान में 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग होता है ।

ऋतोऽङ्गस्य गुणः स्याङ्ङौ, सर्वनामस्थाने च । इति प्राप्ते । (२२६) ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७।१।९४ । ऋदन्तानामुशनसादीनां चाऽनङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ । (२२७) अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ६।४।११ । अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टा-

---

(२२५) ऋतो ङीति । 'ह्रस्वस्य गुणः' इत्यतः गुण इत्यनुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम्, ऋत इत्यनेन विशेष्यते । तदन्तविधिस्तदाह—'ङौ इत्यादिना ।

(२२६) ऋदुशनस् इति । 'सख्युरसम्बुद्धावि'त्यतः 'असम्बुद्धौ' इति, 'अनङ् सौ' इत्यतो'ऽनङि'ति चानुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् ऋदादिभिर्विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—ऋदन्तानामित्यादि ।

(२२७) अत्र 'नोपधायाः' इत्यत उपधाया इति 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति सूत्रश्चानुवर्तते । क्रोष्टा इति । क्रोष्टुशब्दात्सौ 'तृज्वत्क्रोष्टुरि'ति सूत्रेण तृज्वद्-

---

विमर्श—यहाँ 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से 'सर्वनामस्थाने' तथा 'सख्युरसम्बुद्धौ' (७।१।९२) से 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार सम्बुद्धि-भिन्न (सम्बोधन में प्रथमा एकवचन 'सु' को छोड़कर) सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) के पश्चाद्वर्ती रहने पर क्रोष्टु शब्द के स्थान में 'क्रोष्टृ' आदेश होता है।

सात प्रकार के अतिदेश सूत्र माने गये हैं। उनमें यह रूपातिदेश का उदाहरण है। क्रोष्टु+सु (क्रोष्टु=क्रोष्टृ), क्रोष्टृ+स् स्थिति हो जायेगी ।

(२२५) पद—ऋतः, ङि, सर्वनामस्थानयोः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, गुणः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ङि और सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्ति के परे रहते ऋकारान्त अङ्ग को गुण होता है। इस सूत्र से गुण प्राप्त है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ह्रस्वस्य गुणः' से 'गुणः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'ऋतः' पद अधिकार-प्राप्त 'अङ्गस्य' का विशेषण है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के द्वारा अङ्ग के अन्तिम वर्ण के स्थान पर 'गुण' आदेश होगा।

(२२६) पद—ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, अनङ् सौ, असम्बुद्धौ ।

विधिसूत्र ।

मूलार्थ—ऋदन्त शब्द, उशनस्, पुरुदंशस् और अनेहस् शब्दों के अन्तिम वर्ण को अनङ् आदेश होता है, सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' के परे रहते ।

विमर्श—यहाँ 'अनङ् सौ' (७।१।९३) सम्पूर्ण सूत्र तथा 'सख्युरसम्बुद्धौ' से 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अनङ्' आदेश ङकार-इत्संज्ञक होने से अन्तिम वर्ण ऋ आदि के स्थान पर होता है। क्रोष्टृ+स् (ऋ=अनङ् (अन्)—'क्रोष्ट्+अन्+स्' यह स्थिति बनी ।

(२२७) पद—अप्तृन्तृच्…प्रशास्तृणाम् । **अनुवृत्ति**—उपधायाः, दीर्घः, सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अप् शब्द, तृन्, तृच् प्रत्ययान्त तथा स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ शब्दों की उपधा को सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान के परे रहते दीर्घ होता है। क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम्—इत्यादि ।

रम् । क्रोष्टारौ । क्रोष्टून् । (२२८) विभाषा तृतीयादिष्वचि ७।१।९७ । तृतीयादिष्वजादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत् । क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे । (२२९) ऋत

भावेन क्रोष्टुशब्दस्य क्रोष्टृभावे जाते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'ऋदुशनस्०' इत्यादिसूत्रेण ऋकारस्य स्थानेऽनङादेशेऽनुबन्धलोपे क्रोष्टन् + स् इति जाते 'अप्तृन्तृच्०' इत्यनेनोपधादीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' इति सुलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नलोपे कृते 'क्रोष्टा' इति ।

(२२८) **विभाषेति** । अत्र 'तृज्वत्क्रोष्टुरि'ति सूत्रमनुवर्तते । अचीति तृतीयादिविभक्तिविशेषणम् 'यस्मिन्विधौ' इति तदादिविधिस्तदाह—**तृतीयादिष्वित्यादि** । **'क्रोष्ट्रा–क्रोष्टुना' इति** । क्रोष्टुशब्दात् टा विभक्तौ, अनुबन्धलोपे 'क्रोष्टु + आ' इत्यत्र 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति विकल्पेन तृज्वद्भावे, यणि कृते 'क्रोष्ट्रा' इति । तृज्वद्भावाभावे तु 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इत्यनेन 'टा' इत्यस्य स्थाने नादेशे कृते 'क्रोष्टुना' इति रूपम् ।

विमर्श—यहाँ 'नोपधायाः' (६।४।७) से स्थानिवाचक 'उपधायाः' पद तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से आदेशवाचक 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है । 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से निमित्तवाचक 'सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान के परवर्ती होने की दशा में—अप् (जल) शब्द, तृन्, तृच्-प्रत्ययान्त शब्द, स्वसृ (बहन), नप्तृ (नाती), नेष्टृ (दान देने वाला), त्वष्टृ (बढ़ई), क्षत्तृ (द्वारपाल), होतृ (हवन-कर्ता), पोतृ (पवित्र करनेवाला) और प्रशास्तृ (शासक) शब्दों की उपधा को दीर्घ आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) क्रोष्टन्+स् (उपधा 'अ'='आ'—दीर्घ), क्रोष्टान्+स् (स् का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः'), क्रोष्टान् ('न्' का लोप—'नलोपः प्राति०')=क्रोष्टा । (२) क्रोष्टु+औ (तृज्वद्भाव), क्रोष्टृ+औ, (ऋ=गुण रपर्—'अर्'—'ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयोः') क्रोष्टर्+औ (उपधादीर्घ—'अप्तृन्तृच्०')=क्रोष्टारौ । (३) क्रोष्टु+अस् (जस्), (क्रोष्टु=क्रोष्टृ—तृज्वद्भाव)—क्रोष्टृ+अस्, (गुण, रपर्) क्रोष्टर्+अस् (स्=र्, र्= :)=क्रोष्टारः । (४) क्रोष्टु+अम्, (तृज्वद्भाव) क्रोष्टृ+अम्, (गुण—'अर्') क्रोष्टर्+अम् (उपधादीर्घ) =क्रोष्टारम् । (५) क्रोष्टु+औ (औट्) (तृज्वद्भाव)—क्रोष्टृ+औ (गुण—अर्, उपधा-दीर्घ)=क्रोष्टारौ । (६) क्रोष्टु+शस् (अस्), (पूर्वसवर्णदीर्घ) क्रोष्टूस् (स्=न्—'तस्माच्छसो०')=क्रोष्टून् ।

(२२८) पद—विभाषा, तृतीयादिषु, अचि । **अनुवृत्ति**—तृज्वत् क्रोष्टुः । अतिदेशसूत्र ।

मूलार्थ—अजादि तृतीयादि (टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि) विभक्ति परे रहते 'क्रोष्टु' शब्द को विकल्प से तृज्वद्भाव होता है ।

विमर्श—'तृज्वत्क्रोष्टुः' (२२४) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है । सूत्रस्थ 'अचि' पद 'तृतीयादिषु' का विशेषण होने से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा द्वारा तदादिविधि होती है ।

उदाहरण—(१) क्रोष्टु+टा (आ), (क्रोष्टु='क्रोष्टृ' विकल्प से–'विभाषा तृतीयादिष्वचि')

उत् ६।१।१११। ऋतो ङसिङसोरति परे पूर्वपरयोरुदेकादेशः स्यात्। रपरः। (२३०) रात्सस्य ८।२।२४। रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य। रस्य विसर्गः। क्रोष्टुः-२। क्रोष्टोः-२। क्रोष्ट्रोः-क्रोष्ट्वोः। * नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन *। क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च शम्भुवत्। हूहूः। हूह्वौ।

---

(२२९) **ऋत उदिति।** अत्र 'एङः पदान्तादति' इत्यतोऽतीति, 'ङसिङसोश्च' इत्यतो 'ङसिङसोरि'ति चानुवर्तते। ङसिङसोरित्यवयवषष्ठ्यन्तं विशेषणतया 'अती'-त्यत्रान्वेति। अङ्गस्येत्यधिकृतम्।

(२३०) 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनेनैव सस्य लोपे सिद्धे नियमार्थमिदं सूत्रम्। तदाह—**रेफात्परस्येति।** 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनुवर्तते। **नुमचिरेति** नुम्, 'अचि र ऋतः' तृज्वद्भावश्च—एतान् बाधित्वा पूर्वविप्रतिषेधेन नुडागमो भवती-

---

—क्रोष्टृ+आ (ऋ=र्—'यण्')=क्रोष्ट्रा। तृज्वद्भाव के न होने पर पक्ष में क्रोष्टु+आ (घिसंज्ञा होने से टा='ना'—'आङो नाऽस्त्रियाम्' से)=क्रोष्टुना। (२) क्रोष्टु+ङे (ए), (क्रोष्टु=क्रोष्टृ विकल्प से)—क्रोष्टृ+ए (ऋ=र्—'यण्')=क्रोष्ट्रे। पक्ष में क्रोष्टु+ए, (उ=ए गुण—'घेर्ङिति') क्रोष्टो+ए (ओ=अव् आदेश)=क्रोष्टवे।

(२२९) पद—ऋत उत्। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ङसिङसोः, अति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग से ङसि, ङस् सम्बन्धी अकार परे रहते पूर्व-पर (ऋ+अ) के स्थान में उकार आदेश होता है। रपर् होकर 'उर्' हो जाता है।

विमर्श—अधिकार से प्राप्त 'अङ्गस्य' का सूत्रस्थ 'ऋतः' पद विशेषण है। 'ऋतः' पद पञ्चम्यन्त है। अतः 'अङ्गस्य' भी पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है। तदन्तविधि होकर 'ऋकारान्त अङ्ग' अर्थ हो जाता है। 'एङः पदान्तादति' सूत्र से 'अति' तथा 'ङसिङसोश्च' से 'ङसिङसोः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है। अतः ऋकारान्त अङ्ग के पश्चात् ङसि, ङस् सम्बन्धी 'अ' परे रहते पूर्व-पर के स्थान में 'उ' (ऋ+अ=उर्) आदेश हो जाता है।

उदाहरण—क्रोष्टु+अस् (ङसि), ('क्रोष्टु'='क्रोष्टृ' विकल्प से—'विभाषा०') क्रोष्टृ+अस् (ऋ+अ='उ'—'ऋत उत्' रपर्)—'क्रोष्टुर् स्' इस दशा में 'संयोगान्तस्य लोपः' से अन्तिम वर्ण 'स्' के लोप की प्राप्ति होती है।

(२३०) पद—रात, सस्य। **अनुवृत्ति**—संयोगान्तस्य लोपः। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—रेफ से परे संयोगान्त लोप केवल सकार का ही होता है; अन्य का नहीं। रेफ का विसर्ग होकर क्रोष्टुः-२। क्रोष्टोः-२। (वा०) नुम्, अच् परे रहते र्—आदेश तथा तृज्वद्भाव की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से नुट् का आगम ही होता है। क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्ष में तथा हलादि विभक्तियों में शम्भु शब्द के समान रूप बनते हैं। हूहूः। 'अतिचमू' शब्द में नदीसंज्ञा-प्रयुक्त कार्य होते हैं। हे अतिचमु इत्यादि। खलपूः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में सम्पूर्ण 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार 'र्' से परे संयोगान्त सकार का ही लोप होता है; अन्य वर्ण का नहीं। 'संयोगान्तस्य लोपः' से प्राप्त स् के लोप का इस सूत्र द्वारा नियमन किया गया है।

उदाहरण—(१) क्रोष्टुर्+स् (इस स्थिति में 'रात्सस्य' से 'स्' का लोप होने पर)—क्रोष्टुर्

हूहूम् । हूहून् । इत्यादि । अतिचमू शब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु । अतिचम्वै । अतिचम्वाः-२ । अतिचमूनाम् । अतिचम्वाम् । खलपूः । (२३१) ओः सुपि

त्यर्थः । क्रोष्टूनामिति । 'क्रोष्टु + आम्' इत्यत्र तृज्वद्भावं बाधित्वा नुटि कृते 'नामि' इति दीर्घे 'क्रोष्टूनामि'ति रूपम् ।

(र्=:)=क्रोष्टुः । तृज्वद्भाव के अभाव पक्ष में—क्रोष्टु+अस् (गुण—'घेर्ङिति')-क्रोष्टो+अस्, (ओ+अ='ओ'—पूर्वरूप—'ङसिङसोश्च') क्रोष्टोस् (स=र् , र्=:)=क्रोष्टोः । (२) क्रोष्टु +ओस् (तृज्वद्भाव विकल्प से) क्रोष्टृ+ओस् (ऋ=र् 'यण्')=क्रोष्ट्रोस् (स्=र् , र्= :) —क्रोष्ट्रोः । पक्ष में क्रोष्टु+ओस् (उ=व्—'यण्'), क्रोष्ट्वोस् (स्=र् , र्=:)=क्रोष्ट्वोः ।

(वा०) नुम् , अच्-परक 'र' आदेश तथा तृज्वद्भाव की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से पहले 'आम्' को नुट् का आगम होता है ।

उदाहरण—(३) क्रोष्टु+आम् ('विभाषा०' से तृज्वद्भाव की प्राप्ति, 'नुमचिर०' वार्तिक के नियम द्वारा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नुट् का आगम)—क्रोष्टु+नाम् (उ=ऊ—दीर्घ—'नामि') =क्रोष्टूनाम् । (४) क्रोष्टु+ङि (इ), (तृज्वद्भाव—विकल्प से) क्रोष्टृ+इ, (ऋ=अर् 'ऋतो ङि०')=क्रोष्टरि । पक्ष में—क्रोष्टु+ङि (इ) (घिसंज्ञा होकर 'अच्च घेः' से ङि=औ, उ=अ) —क्रोष्ट+औ (अ+औ=औ 'वृद्धि')=क्रोष्टौ । तृज्वद्भाव के अभाव पक्ष में और हलादि विभक्तियों में शम्भु शब्द के समान रूप बनेंगे ।

क्रोष्टु (गीदड़, शृगाल) शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः	पं०	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः
द्वि०	क्रोष्टारम्	क्रोष्टारौ	क्रोष्टून्	ष०	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टूनाम्
तृ०	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः	स०	क्रोष्टरि, क्रोष्टौ	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टुषु
च०	क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः	सं०	हे क्रोष्टो	हे क्रोष्टारौ	हे क्रोष्टारः

(१) दीर्घ उकारान्त हूहू शब्द से प्रथमा एक व० 'सु' आने पर हूहू+सु (स् को रुत्व-विसर्ग)=हूहूः । (२) हूहू+औ (ऊ=व् 'यण्')=हूह्वौ । (३) हूहू+अम् (अ+अ= ऊ—'पूर्वरूप')=हूहूम् । (४) हूहू+शस् (अस्) (ऊ+अ='ऊ' पूर्वसवर्ण दीर्घ) हूहूस् (स=न्)=हूहून् । इत्यादि ।

'अतिचमू 'शब्द में समास होने से पूर्व दशा में 'चमू' नित्य स्त्रीलिङ्ग है । अतः 'प्रथमलिङ्ग-ग्रहणं च' के अनुसार नदीसंज्ञा होकर तत्प्रयुक्त कार्य भी होते हैं । (१) हे अतिचमू+सु (ऊ =उ—'ह्रस्व'—'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः') अतिचमु+स् (स् का लोप—'एङ्ह्रस्वात्०')=हे अति-चमु ! (२) अतिचमू+ङे (ए), (आट् का आगम) अतिचमू+आ+ए, (आ+ए='ऐ'— 'आटश्च' से वृद्धि)—अतिचमू+ऐ (ऊ=व्—'यण्')=अतिचम्वै । (३) अतिचमू+ङसि (अस्)—(आट् (आ) का आगम), अतिचमू+आ+अस् (अ+आ='आ'—'वृद्धि') अतिचमू+आस् (यण्)—अतिचम्वास् (स्=र् , र्= :)=अतिचम्वाः । (४) अतिचमू+ आम् (नुट् (न) का आगम) अतिचमू+नाम् (ऊ=ऊ 'दीर्घ')=अतिचमूनाम् । (५) अतिचमू+ङि, (ङि=आम्) अतिचमू+आम् (ऊ=व्—'यण्')=अतिचम्वाम् । शेष रूप 'हूहू' शब्द के समान बनते हैं । खलपू+सु (स्), (स्=र्) खलपूर् (र= :)=खलपूः ।

६।४।८३। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि। खलप्वौ। खलप्वः। एवं—सुल्वादयः। स्वयम्भूः। स्वयम्भुवौ। स्वयम्भुवः। एवं—स्वभूः। वर्षाभूः। (२३२) **वर्षाभ्वश्च** ६।४।८४। अस्य यण् स्यादचि सुपि। वर्षाभ्वावित्यादि। दृन्भूः। * दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः *। दृन्भ्वौ। दृन्भ्वः। खलपूवत्। एवं—करभूः। पुनर्भूः। दृन्भूकाराभूशब्दौ

---

(२३१) **ओः सुपीति**। एरिति पदरहितम् 'एरनेकाचः' इति सूत्रमनुवर्तते। 'अचि श्नु०' इत्यतः अचीत्यनुवृत्तम्, तेन सुपीति विशेष्यते। तदादिविधिः। 'इणो यण्' इत्यतः यणित्यनुवर्तते। तदाह—**धात्ववयवेत्यादि**।

(२३२) **वर्षाभ्वश्चेति**। अत्रापि 'ओः सुपी'ति सूत्रम् 'अचि श्नु०' इत्यतोऽचीति 'इणो यण्' इत्यतः यणित्यनुवर्तते। तदाह—**अस्येति**। वर्षाभूशब्दस्येत्यर्थः। **दृन्भ्वाविति**। दृन्भूः=ग्रन्थकर्ता। तस्मात् 'औ' विभक्तौ 'दृन्भू+औ' इत्यत्र 'ओः सुपि' इति

---

(२३१) पद—ओः, सुपि। **अनुवृत्ति**—अनेकाचः, असंयोगपूर्वस्य, अचि, यण्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—धातु का अवयव संयोग पूर्व में न हो, ऐसा जो उवर्णान्त धातु, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को अजादि सुप् विभक्तियों के परे रहते यण् आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'इणो यण्' (६।४।८१) सूत्र से आदेशवाचक 'यण्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'एरनेकाचः०' (६।४।८२) से 'अनेकाचः' और 'असंयोगपूर्वस्य' की तथा सूत्रस्थ सुपि का विशेषण—अचि, 'ओः' का विशेषण 'धातुः' पद 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्०' (६।४।७७) से अनुवृत्ति द्वारा लाये जाते हैं। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। अतः धातु का अवयव संयुक्त वर्ण पूर्व में न हो, ऐसा उवर्णान्त धातु, तदन्त अनेकाच् अङ्ग के अन्तिम वर्ण को अजादि सुप् विभक्ति के परवर्ती रहने पर यण् होता है।

उदाहरण—(१) खलपू+औ (यहाँ 'ऊ' से पूर्व धातु का अवयव संयुक्त नहीं है, तदन्त धातु–पू, तदन्त अनेकाच् अङ्ग—'खलपू' है। उससे परे अजादि विभक्ति 'औ' है। अतः प्राप्त 'उवङ्' का बाधकर ओः सुपि' से ऊ=व् 'यण्')=खलप्वौ। (२) खलपू+जस् (अस्), (ऊ=व् 'यण्') खलप्वस् (स्=र्, र्=:)=खलप्वः। इसी प्रकार 'सुलू' आदि शब्दों के रूप बनेंगे। 'सुष्ठु लुनाति' इति सुलू+क्विप्=सुलू+सु=सुलूः (अच्छी प्रकार काटने वाला)। (३) स्वयम्भू+सु=स्वयम्भूः (स्वयं उत्पन्न होने वाला)। (४) स्वयम्भू+औ ('ओः सुपि' से प्राप्त 'यण्' का 'न भूसुधियोः' से निषेध, 'अचि श्नु०' से ऊ=उवङ्)=स्वयम्भुवौ। (५) स्वयम्भू+जस् (ऊ=उवङ् (उव्) स्वयम्भुवस् (स्=र्, र्=:)—स्वयम्भुवः। इसी प्रकार स्वभू शब्द के रूप बनेंगे। वर्षाभू+सु (स्=र्, र्=:)=वर्षाभूः (मेढक)।

(२३२) पद—वर्षाभ्वः, च। **अनुवृत्ति**—ओः, सुपि, अचि, यण्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अजादि सुप् विभक्ति के परे रहते 'वर्षाभू' शब्द के अवयव अवर्ण के स्थान में यण् आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'अचि श्नु०' (६।४।७७) से 'अचि', 'इणो यण्' (६।४।८१) से 'यण्' तथा 'ओः सुपि' (२३१) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार 'अलोऽन्त्य' परिभाषा की उपस्थिति

स्वयम्भूवत् । धाता । हे धातः । धातारौ । धातारः । * ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् । * धातॄणाम् । एवं नप्त्रादयः । 'अप्तृन्नि'ति सूत्रे नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । तेनेह न–पिता । पितरौ । पितरः । पितरम् । पितरौ । शेषं धातृवत् । एवं

यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इति तस्य निषेधे कृते 'दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः' इति यणि कृते 'दृन्भ्वौ' इति । **नप्त्रादिग्रहणमिति** । व्युत्पत्तिपक्षे तृन्तृजन्तत्वादेव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं किमर्थमिति चेदुच्यते—'उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृच्प्रत्ययान्ताना-मुपधादीर्घश्चेत्तर्हि नप्त्रादीनामेवे'ति नियमार्थम्; तेन पितृभ्रातृप्रभृतिषु न दीर्घः ।

उक्तञ्च—'पिता माता ननान्दा च सव्येष्टृभ्रातृयातरः ।
जामाता दुहिता देवा तृन्तृज्भ्यां रहिता नव ॥'

से अजादि सुब्विभक्ति परे रहने पर वर्षाभू शब्द के ऊवर्ण के स्थान में यण् (ऊ=व्) आदेश होता है ।

उदाहरण—वर्षाभू+औ (पूर्वसवर्ण दीर्घ को बाधकर 'अचि श्नु०' से उवङ् की प्राप्ति, उवङ् का बाधकर 'ओः सुपि' से यण् की प्राप्ति 'न भूसुधियोः' से निषेध 'वर्षाभ्वश्च' से ऊ=व्—'यण्') =वर्षाभ्वौ । दृन्भू+सु=दृन्भूः । अर्थ—वृक्ष । (वा०)—'अजादि सुप् विभक्ति के परे रहते दृन्, ~ पुनः पूर्वक भू धातु के ऊवर्ण को यण् होता है ।'

—(१) दृन्भू+औ (ऊ=व् 'यण्') दृन्भ्वौ । (२) दृन्भू+जस् (अस्) ऊ=
(स्=र्, र्=:)=दृन्भ्वः । इसी शब्द के समान 'करभूः' शब्द के रूप
नर्भूः (पुनः उत्पन्न होने वाला), दृग्भू (दृष्टि से उत्पन्न होने
न्न होने वाला) शब्दों के रूप 'स्वयम्भू' शब्द के समान बनेंगे ।

(१) धातृ+ ... ०') धातन् स्, (अ='आ' दीर्घ—
'अप्तृन्तृच्०') धातान्+स्, ... धातान् ('न्' लोप)=धाता ।
(अर्थ=ब्रह्मा) । (२) हे धातृ+सु ... ') धातर्+स् ('स्'
का लोप) (र्=:)=हे धातः । (३) धा... +औ (उपधा-
दीर्घ—'अप्तृन्०')=धातारौ । (४) धातृ+जस् (... अस्,
(दीर्घ) धातारस् (स्=र्, र्=:)=धातारः । (वा० , ... ण्
(णत्व) होता है ।" (५) धातृ+आम् (नुट् का आगम—'ह्रस्व० ... से
दीर्घ) धातॄनाम् (न्=ण्)=धातॄणाम् । इसी प्रकार नप्तृ, होतृ आदि

'अप्तृन्निति'—'उणादि व्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं'—इस ... तृ
आदि शब्दों में 'दीर्घ' सिद्ध है, पुनः नप्त्रादि का ... सका
समाधान यह है कि—'उणादि से निष्प ... यदि उपधा-
दीर्घ होता है तो सूत्र-पठित ... को नहीं' इस प्रकार के
नियम के लिए 'नप्तृ' ... या है । फलतः पितृ, भ्रातृ आदि
शब्दों में ...
... =अनङ् (अन्)–'ऋदुशनस्०') पितन्+
...), पितान् स्, ('स्' लोप) पितान् ('न्' का लोप

जामात्रादयः । ना । नरौ । नरः । (२३३) नृ च ६।४।६ । अस्य नामि वा दीर्घः । नृणाम्–नृणाम् । (२३४) गोतो णित् ७।१।९० । ओकाराद्विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत् । ओतो णिदिति वाच्यम् । गौः । गावौ । गावः । (२३५) औतोऽम्शसोः

---

(२३३) **नृ चेति** । अत्र 'नामि' इति सूत्रम्, 'ढ्रलोपे०' इत्यतः 'दीर्घः' इति, 'छन्दस्युभयथा' इत्यतः 'उभयथा' इत्यनुवर्तते । **नृणामिति** । नृशब्दादामि, नुडागमेऽनुबन्धलोपे 'नामि' इति नित्यं दीर्घे प्राप्ते 'नृ च' इत्यनेन नामि परे वा दीर्घे 'नृणाम्' इति, पक्षे नृणामिति रूपम् ।

(२३४) **गोतो णिदिति** । अत्र 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने' इत्यनुवर्तते । तच्च प्रथमया विपरिणम्यते । तदाह—**ओकारादित्यादिना** । **गौरिति** ।

'नलोपः०')=पिता । (२) पितृ+औ (ऋ='अर्' गुण) पितर्+औ=पितरौ । (३) पितृ+जस् (अस्) (ऋ='अर्'—गुण)—पितरः । (४) पितृ+अम् (ऋ=अर्)=पितरम् । शेष रूप धातृ शब्द के समान बनेंगे ।

पितृ शब्द के रूप (पिता) पुंल्लिङ्ग

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०—	पिता	पितरौ	पितरः	प०—	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
द्वि०—	पितरम्	पितरौ	पितॄन्	ष०—	पितुः	पित्रोः	पितॄणाम्
तृ०—	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः	स०—	पितरि	पित्रोः	पितृषु
च०—	पित्रे	पितृभ्याम्	पितृभ्यः	सं०—	हे पितः !	हे पितरौ !	हे पितरः !

इसी प्रकार जामातृ आदि शब्दों के रूप बनेंगे । (१) नृ+सु (स्) (ऋ=अनङ् (अन्) 'ऋदुशनस्०') न्+अन् स् (दीर्घ—'सर्वनामस्थाने०') नान् स् ('स्' का लोप) नान् ('न्' का लोप)=ना (मनुष्य) । (२) नृ+औ ('अर्'—गुण)=नरौ । (३) नृ+जस् (अस्) ('अर्'—गुण) नरस् (स् को रुत्व-विसर्ग)=नरः ।

(२३३) पद—नृ च । **अनुवृत्ति**—नामि, दीर्घः, उभयथा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'नाम्' के परे रहते 'नृ' शब्द को विकल्प से दीर्घ होता है । नॄणाम्–नृणाम् ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता हेतु 'ढ्रलोपे पूर्वस्य' (६।३।१११) से 'दीर्घः', 'नामि' (६।४।४) सम्पूर्ण सूत्र तथा 'छन्दस्युभयथा' (६।४।५) से 'उभयथा' पद की अनुवृत्ति आती है । परिणामतः 'नाम् के परवर्ती होने पर नृ-शब्दावयव ऋ के स्थान में विकल्प से दीर्घ होता है' । यहाँ 'अचश्च' परिभाषासूत्र की उपस्थिति होती है ।

उदाहरण—नृ+आम्, (नुट् का आगम) नृ+नाम् (ऋ=ॠ—दीर्घ 'नृ च') विकल्प से—नॄनाम्, (न्=ण्)=नॄणाम् । दीर्घ के न होने पर—नृणाम् ।

(२३४) पद—गोतः, णित् । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—ओकार से विहित सर्वनामस्थान णिद्वत् होता है । 'गोतो णित्' के स्थान पर 'ओतो णित्' ऐसा कहना चाहिए । गौः । गावौ । गावः ।

विमर्श—यहाँ 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति आ रही है । अनुवृत्त 'सर्वनामस्थाने' पद प्रथमान्त में परिवर्तित हो जाता है । तदनुसार गोशब्द के

६।१।९३। 'आ-ओत' इतिच्छेदः। औतोऽम्शसोरचि आकार एकादेशः। गाम्। गावौ। गाः। गवा। गवे। गोः-२। (२३६) रायो हलि ७।२।८५। रैशब्दस्याऽऽकारादेशो हलि विभक्तौ। राः। रायौ। रायः। राभ्यामित्यादि। ग्लौः। ग्लावौ। ग्लावः। ग्लौभ्यामित्यादि।

इत्यजन्ताः पुँल्लिङ्गाः

गोशब्दात्सौ 'गोतो णित्' इति णिद्वद्भावे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'गौरि'ति रूपम्।

(२३५) **औतोऽम्शसोरिति**। 'आ ओतः' इति च्छेदः। 'इको यणची'त्यतः 'अची'त्यनुवर्तते। 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिकृतम्। तदाह—**ओकारादिति**।

(२३६) **रायो हलीति**। 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतः विभक्ताविति, आ इति चानुवर्तते। तदाह—**रैशब्दस्येत्यादिना**। **रा इति**। **आत्वे रुत्वविसर्गाविति**। राः धनमित्यर्थः।

इत्यजन्ताः पुंल्लिङ्गाः।

ओकार से विहित सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय (सु, औ, जस्, अम्, औट्) ण्-इत् के समान समझे जाते हैं। यह अतिदेश सूत्र है।

उदाहरण—(१) गो+सु (स्) (णिद्वद्भाव) फलतः 'अचो ञ्णिति' से 'ओ'='औ' वृद्धि) गौ स् (स्=र्, र्=:)=गौः। (२) गो+औ (णिद्वत, वृद्धि)-गौ+औ (औ=आव्) =गावौ। (३) गो+जस् (अस्), (णिद्वत, वृद्धि) गौ+अस् (औ=आव्) गावस् (स्=र्, र्=:)=गावः।

(२३५) पद—आ ओतः, अम्शसोः। **अनुवृत्ति**—अचि, एकः पूर्वपरयोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ओकार से अम् तथा शस् सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में आकार एकादेश होता है। गाम्। गावौ। गावः। गाः। गवा। गवे। गोः-२।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इको यणचि' (६।१।७७) से 'अचि' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है। तदनुसार ओकारान्त शब्द के अनन्तर अम् तथा शस् सम्बन्धी अच् वर्ण के परे रहते (ओ+अ=आ) आकार एकादेश होता है।

उदाहरण—(१) गो+अम् (ओ+अ='आ')=गाम्। (२) गो+औ=गावौ। (३) गो+शस् (अस्), (ओ+अ='आ') गास् (स्=र्, र्=:)=गाः। (४) गो+टा (आ), (ओ=अव् आदेश)=गवा। (५) गो+ङे (ए), (ओ=अव्) गवे। (६) गो+ङसि (अस्) (ओ+अ=ओ—पूर्वरूप—'ङसिङसोश्च') गोस् ('स्' को रुत्व-विसर्ग)=गोः।

(२३६) पद—रायः, हलि। **अनुवृत्ति**—आ, विभक्तौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—हलादि विभक्ति के परे रहने पर 'रै' शब्द का आकार अन्तादेश होता है। राः। रायौ। रायः। इत्यादि।

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गाः

रमा। (२३७) औङ आपः ७।१।१८। आबन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात्। 'औङ्' इत्यौकारविभक्तेः संज्ञा। रमे। रमाः। (२३८) सम्बुद्धौ च ७।३।१०६।

रमा इति। रमत इति रमा। 'रमु क्रीडायाम्' इति पचाद्यचि, टाप्। रमा + सु हल्ङ्याबिति सुलोपः। रमा = लक्ष्मीः।

(२३७) **औङ आपः।** 'आपः' इति पञ्चम्यन्तम्। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया आबन्तं विवक्षितम्। अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते 'जसः शी' इत्यतः 'शी' इत्यनुवर्तते। तदाह—**आबन्तादित्यादि। रमे इति।** 'रमा + औ' इति स्थिते 'औङ आपः' इत्यनेन औकारस्य स्थाने 'शी' इत्यादेशे, प्रत्ययत्वात् 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे 'आद् गुणः' इत्यनेन गुणे 'रमे' इति।

विमर्श—यहाँ निमित्तवाचक पद विभक्तौ तथा आदेशवाचक पद 'आ' दोनों 'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) से अनुवृत्ति द्वारा लाये जाते हैं। 'हलि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण होने से तदादि विधि होती है। यहाँ अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति होने से—'रै' शब्द के ऐकार के स्थान में 'आ' आदेश होगा।

उदाहरण—(१) रै+सु (स्)—(ऐ=आ) रा स्, (स्=र्)-रार्, (र्=:)=राः। (अर्थ—धन)। (२) रै+औ (ऐ=आय्)=रायौ। (३) रै+जस् (अस्) (ऐ=आय्)—रायस् (स्=र्, र्=:)=रायः। (४) रै+भ्याम् (ऐ=आ)—राभ्याम्।

औकारान्त ग्लौशब्द की रूप-सिद्धि का प्रकार—(१) ग्लौ+सु (स्) (स् को रुत्व-विसर्ग होकर) ग्लौः। (२) ग्लौ+औ (औ=आव्)=ग्लावौ। (३) ग्लौ+जस् (अस्) (औ=आव्) ग्लावस् (स्=र्, र्=:)=ग्लावः। (४) ग्लौ+भ्याम्=ग्लौभ्याम् इत्यादि। ग्लौः=चन्द्रमा।

अजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरण समाप्त।

पूर्व प्रकरण में माहेश्वर सूत्रों के क्रमानुसार अजन्त पुंलिङ्ग शब्द की रचना-प्रक्रिया बतलायी गयी। अब प्रस्तुत प्रकरण में भी उसी क्रम से सर्वप्रथम आकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'रमा' शब्द के रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की जा रही है।

रमा+सु (स्) (रमा—आबन्त (टाप्प्रत्ययान्त) होने से 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से 'स्' का लोप)=रमा (लक्ष्मी)।

(२३७) पद—औङः, आपः। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, शी। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आबन्त अङ्ग से परे औङ् (औ—विभक्ति) को शी आदेश होता है। प्राचीन आचार्यों के मत में औकारान्त विभक्तियों को 'औङ्' कहा जाता है। रमे। रमाः।

विमर्श—यहाँ 'जसः शी' से आदेशवाची पद 'शी' की अनुवृत्ति आती है। अङ्गस्य का अधिकार है। 'आपः' उसका विशेषण है, तदनुसार 'अङ्गस्य' पद भी पञ्चम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। तदन्तविधि होकर 'आबन्त' अर्थ हुआ। इस प्रकार आबन्त अङ्ग से 'औङ्' विभक्ति परे रहने पर (शित् होने से सम्पूर्ण) 'औ' के स्थान में 'शी' आदेश होता है।

आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ। हे रमे। हे रमे। हे रमाः। रमाम्। रमे। रमाः। (२३९) आङि चापः ७।३।१०५। आङि, ओसि चाऽऽप एकारः। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः। (२४०) याडापः ७।३।११३। आपः परस्य ङिद्वचनस्य

---

(२३८) हे रमा + स् इति स्थितौ। **सम्बुद्धौ चेति**। अत्र 'बहुवचने झल्येत्' इत्यतः 'एत्' इति, 'आङि चापः' इत्यतः 'आपः' इति चानुवर्तते। तदाह—**आप इत्यादि**।

(२३९) **आङि चाप इति**। अत्र 'ओसि च' इति, 'बहुवचने झल्येत्' इत्यतः 'एदि'ति चानुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। तदन्तविधिस्तदाह—**आङि ओसि चेत्यादिना**।

उदाहरण—(१) रमा + औ, (औ = शी-ई) रमा + ई, (आ + ई = ए 'गुण') = रमे। (२) रमा + जस् (अस्), (आ + अ = आ—'पूर्वसवर्णदीर्घ')—रमास्, (स् = र्) रमार् (र् = :) = रमाः।

(२३८) पद—सम्बुद्धौ, च। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, आपः, एत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सम्बुद्धि के परे रहते आबन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है। हे रमे!

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आङि चापः' (७।३।१०५) से स्थानिवाचक पद 'आपः' तथा 'बहुवचने झल्येत्' (७।३।१०३) से आदेशवाचक पद 'एत्' की अनुवृत्ति आ रही है। अधिकार से प्राप्त अङ्गस्य का 'आपः' विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। इस प्रकार सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन सु) के पश्चाद्वर्ती रहने पर आबन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण (अलोऽन्त्य परिभाषा द्वारा) के स्थान में 'ए' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) हे रमा + सु (स्), (आ = ए 'सम्बुद्धौ च') हे रमे + स् (स् का लोप —'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः') = हे रमे। (२) हे रमा + औ (औ = शी-ई)—(२३७), हे रमा + ई (आ + ई = 'ए'—गुण) = हे रमे। (३) हे रमा + जस् (अस्), (आ + अ = 'आ' दीर्घ)—रमास् (स् = र्)-रमार् (र् = :) = हे रमाः। (४) रमा + अम् (आ + अ = 'आ'—पूर्वरूप) = रमाम्। (५) रमा + औट् (औ) (औ = शी-ई)—रमा + ई, (आ + ई = 'ए' गुण) = रमे। रमा + शस् (अस्), (आ + अ = 'आ'—दीर्घ) रमास् (स्त्रीलिंग होने से स् = न् नहीं हुआ, स् = र्)—रमार् (र् = :) = रमाः।

(२३९) पद—आङि, च आपः। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ओसि, एत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—आङ् (टा) तथा ओस् परे रहते आबन्त अङ्ग को एकार होता है। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'बहुवचने झल्येत्' (७।३।१०३) से 'एत्' तथा 'ओसि च' से 'ओस्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है, उसका विशेषण होने से 'आपः' में तदन्त विधि होती है। तदनुसार आङ् (टा) तथा ओस् विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती होने पर आबन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण (अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से) के स्थान पर 'ए' आदेश होगा।

उदाहरण—(१) रमा + टा (आ), (आ = ए) रमे + आ (ए = अय्) = रमया। (२) रमा + भ्याम् = रमाभ्याम्। (३) रमा + भिस्, (स् = रुत्व-विसर्ग) = रमाभिः।

याडागमः । वृद्धिरेचि । रमायै । रमाभ्याम् । रमाभ्यः । रमायाः-२ । रमयोः-२ । रमाणाम् । रमायाम् । रमासु । एवं दुर्गादयः । (२४१) **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च** ७।३।११४ । आबन्तात्सर्वनाम्नो ङितः स्याड्, आपश्च ह्रस्वः । याटोऽपवादः । सर्वस्यै ।

---

(२४०) **याडाप इति** । आप इति पञ्चम्यन्तम् । 'घेर्ङिति' इत्यतो ङितीत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते । तदाह—**आपः परस्येत्यादि** । **रमायै इति** । 'रमा + ङे' इत्यत्र 'याडापः' इति याडागमेऽनुबन्धलोपे रमा + या + ए इति जाते 'वृद्धिरेची'त्यनेन वृद्धौ 'रमायै' इति रूपम् ।

(२४१) **सर्वनाम्न इति** । 'याडापः' इत्यतः पञ्चम्यन्तम् 'आपः' इत्यनुवृत्तम् । तच्च 'सर्वनाम्नः' इत्यस्य विशेषणम्, तेन तदन्तविधिः । 'घेर्ङिति' इत्यतः 'ङिती'-

---

(२४०) पद—याड् आपः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ङिति । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आबन्त अङ्ग से परे ङित् वचन (ङकारेत्संज्ञक विभक्तियों) को याट् का आगम होता है । वृद्धि । रमायै । रमाभ्याम् । रमाभ्यः । रमायाः-२ । रमयोः-२ । रमाणाम् । रमायाम् । रमासु । इसी प्रकार दुर्गा आदि शब्दों के रूप बनते हैं ।

विमर्श—यहाँ 'घेर्ङिति' (७।३।१११) से 'ङिति' की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । सूत्रस्थ 'आपः' पञ्चम्यन्त के अनुसार 'अङ्गस्य' भी पञ्चम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है । 'याट्' आगम **टकार**—इत्संज्ञक होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा द्वारा ङित (ङे, ङसि, ङस् तथा ङि) विभक्तियों के आदि अवयव के रूप में 'या' स्थित रहेगा ।

उदाहरण—(१) रमा + ङे (ए), (याट् (या) का आगम) रमा + या + ए (आ + ए = 'ऐ'—वृद्धि—'वृद्धिरेचि') = रमायै । (२) रमा + भ्याम् = रमाभ्याम् । (३) रमा + भ्यस् (स् को रुत्व-विसर्ग)—रमाभ्यः । (४) रमा + अस् (ङसि तथा ङस्), (याट् का आगम)—रमा + या + अस्, (आ + अ = 'आ'—दीर्घ)-रमायास् (स् = र्, र् = :) = रमायाः । (५) रमा + ओस् (आ = ए—'आङि चापः') रमे + ओस्, (ए = अय्)—रमयोस् (स् = र्, र् = :) = रमयोः । (६) रमा + आम् (नुट् (न्) का आगम), रमा + नाम्, (आ = आ—दीर्घ 'नामि') रमानाम् (न् = ण्) = रमाणाम् । (७) रमा + ङि (ङि = आम्—'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः')—रमा + आम्, (याट् का आगम) रमा या आम्, (आ + आ = 'आ'—सवर्णदीर्घ) = रमायाम् । (८) रमा + सुप् (सु) = रमासु ।

आकारान्त स्त्रीलिङ्ग—'रमा' शब्द के रूप (अर्थ—लक्ष्मी)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	रमा	रमे	रमाः	पं०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
द्वि०	रमाम्	रमे	रमाः	ष०	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः	स०	रमायाम्	रमयोः	रमासु
च०	रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्यः	सं०	हे रमे !	हे रमे !	हे रमाः !

इसी प्रकार दुर्गा, अम्बा आदि आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनते हैं ।

(२४१) पद—सर्वनाम्नः, स्याट्, ह्रस्वः, च । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, आपः, ङिति । **विधिसूत्र** ।

सर्वस्याः-२। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणादामि सर्वनाम्न इति सुट्। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। शेषं रमावत्। एवं विश्वादयोऽप्याबन्ताः। (२४२) विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ १।१।२८। अत्र सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै। उत्तरपूर्वायै। इत्यादि। 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति प्रतिपदोक्तस्यैव समासस्य ग्रहणान्नेह—योत्तरा सा

त्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते। ततश्च आबन्तात्सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यात्। ततश्चानुवृत्तम् 'आपः' इति पदमावर्त्तते, षष्ठ्यन्ततया च विपरिणम्यते आपश्च ह्रस्वो भवतीति तदर्थः। **सर्वस्यै इति**। 'सर्वा + ङे (ए) इत्यत्र 'याडापः' इति याडागमे प्राप्ते, तं प्रबाध्य 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि, आबन्तस्य च ह्रस्वे 'सर्व स्या ए' इति जाते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'सर्वस्यै' इति।

(२४२) **विभाषा दिक्समासे**। 'सर्वादीनि' इत्यतः सर्वनामग्रहणमनुवर्तते।

मूलार्थ—आबन्त सर्वनाम से परे ङकारेत्संज्ञक विभक्तियों को स्याट् का आगम होता है तथा आप् (आ) को ह्रस्व होता है। सर्वस्यै। सर्वस्याः। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। अवशिष्ट रूप रमा शब्द की तरह बनेंगे। इसी प्रकार विश्वा आदि आकारान्त सर्वनाम शब्दों के रूप बनते हैं।

विमर्श—सूत्रार्थ हेतु—'याडापः' (२४०) से 'आपः' घेर्ङिति (१९३) से 'ङिति' की अनुवृत्ति लायी जाती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'सर्वनाम्नः' पद का विशेषण होने से 'आपः' में तदन्तविधि होती है। अनुवृत्त ङिति पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। तदनुसार आबन्त सर्वनाम से परवर्ती ङित् विभक्तियों को स्याट् (स्या) का आगम होता है। सूत्र के द्वितीय वाक्यांश 'ह्रस्वश्च' में भी 'आपः' की अनुवृत्ति आने से 'आप्' (स्त्री-प्रत्ययान्त 'आ') को ह्रस्व होता है। यह सूत्र 'याट्' का अपवाद है।

उदाहरण—(१) सर्वा+ङे (ए), (स्याट् (स्या) का आगम तथा आ=अ—ह्रस्व)—सर्वस्या+ए (आ+ए='ऐ'-वृद्धि)=सर्वस्यै। (२) सर्वा+ङसि अथवा ङस् (अस्), (स्याट् का आगम तथा 'आ' को ह्रस्व) सर्वस्या+अस्, (आ+अ='आ'—दीर्घ) सर्वस्यास्, (स्=र्)—सर्वस्यार् (र्=:)=सर्वस्याः। (३) सर्वा+आम् (आम् के पूर्व सुट् (स्) का आगम—'आमि सर्वनाम्नः०') सर्वा+स्+आम्=सर्वासाम्। (४) सर्वा+ङि, (ङि=आम्), सर्वा+आम् (स्याट् का आगम व 'आ' को ह्रस्व), सर्वस्या+आम् (आ+आ='आ'—दीर्घ) =सर्वस्याम्। शेष रूपों की रचना-प्रक्रिया रमा शब्द की तरह होगी। इसी प्रकार आकारान्त स्त्रीलिंग 'विश्वा' आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

स्त्रीलिङ्ग 'सर्वा' शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वाः	पं०	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
द्वि०	सर्वाम्	सर्वे	सर्वाः	ष०	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः	स०	सर्वस्याम्	सर्वयोः	सर्वासु
च०	सर्वस्यै	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः	सं०	हे सर्वे !	हे सर्वे !	हे सर्वाः !

(२४२) पद—विभाषा, दिक्समासे, बहुव्रीहौ। **अनुवृत्ति**—सर्वादीनि सर्वनामानि। **संज्ञासूत्र**।

पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै उत्तरपूर्वायै । बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टार्थम् । अन्तरस्यै शालायै । अपुरीत्युक्तेर्नेह–अन्तरायै नगर्यै । तीयस्येति ङित्सु वा । द्वितीयस्यै । द्वितीयायै । एवं तृतीया । अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः । हे अम्ब । हे अक्क । हे अल्ल । * असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न * । हे अम्बाडे । हे अम्बाले । हे अम्बिके । जरा । जरसौ । जरे । इत्यादि । पक्षे हलादौ च रमावत् । गोपा–विश्वपावत् । मतीः । मत्या । (२४३)

दिग्वाचके बहुव्रीहिसमासे सर्वनामता वा स्यादित्यर्थः । **उत्तरपूर्वस्यै इति** । उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालम्–उत्तरपूर्वा, तस्यै उत्तरपूर्वस्यै, स्याड्ढ्रस्वौ । सर्वनामत्वाभावपक्षे याट्—'उत्तरपूर्वायै' इति । अत्र 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिसमासः ।

मूलार्थ—बहुव्रीहि समास में दिग्वाचक शब्दों की सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है। उत्तरपूर्वस्यै–उत्तरपूर्वायै । सूत्र में बहुव्रीहि पद स्पष्टार्थक है—अन्तरस्यै शालायै । 'अन्तरं बहिर्योग०' इस गणसूत्र में 'अपुरि' कहे जाने से सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई—'अन्तरस्यै नगर्यै' ।

विमर्श—यहाँ 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१।१।२७) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार दिशावाचक शब्दों के बहुव्रीहि समास में सर्वादिगण पठित शब्दों की सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती है।

उदाहरण—(विग्रह—उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालम्=उत्तरपूर्वा—उत्तर और पूर्व के बीच का कोण—ईशान)। उत्तरपूर्वा+ङे (ए)—(विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होने पर स्याट् (स्या) का आगम 'आ' को ह्रस्व) उत्तरपूर्वस्या+ए (आ+ए=ऐ—वृद्धि)=उत्तरपूर्वस्यै । सर्वनाम संज्ञा न होने पर (याट् का आगम, वृद्धि)—उत्तरपूर्वायै ।

यहाँ 'दिङ्नामान्यन्तराले' सूत्र से प्रतिपदोक्त (साक्षात्) दिशावाची शब्दों का विशेष अर्थ में बहुव्रीहि समास होने से उसी का ग्रहण होता है। अतः अन्यपदार्थप्रधान दिशावाची उत्तरपूर्वा शब्द के चतुर्थी एकवचन में 'उत्तरपूर्वायै' रूप बनेगा। यथा—या उत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै—उत्तरपूर्वायै । अर्थ=पूर्व को उत्तर दिशा समझने वाली मूर्ख स्त्री के लिए।

सूत्र में 'बहुव्रीहौ' कहने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि दिशावाची प्रतिपदोक्त समास बहुव्रीहि के अधिकार में प्रसिद्ध है। परन्तु यहाँ स्पष्ट प्रतीति के बहुव्रीहि का ग्रहण किया गया है।

'अन्तरा' शब्द का चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में 'अन्तरस्यै' रूप बनता है। क्योंकि अन्तर शब्द बाह्य तथा परिधान अर्थ में सर्वनाम है। अर्थ=बाहरी शाला। सर्वनाम संज्ञा के प्रकरण में 'अपुरीति वक्तव्यम्' कहा गया है। अर्थात् नगरी अर्थ से भिन्न अर्थ में 'अन्तरा' शब्द को सर्वनाम संज्ञा हो। अत एव नगरी अर्थ में अन्तरा शब्द का चतुर्थी एकवचन में 'अन्तरायै' रूप होगा।

तीयस्येति। तीय-प्रत्ययान्त शब्दों को ङित् विभक्तियों के परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। उदाहरण—द्वितीया+ङे (ए), (विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होने से स्याट् का आगम, 'आ' को ह्रस्व) द्वितीय+स्या+ए, (आ+ए=ऐ—'वृद्धि')—द्वितीयस्यै । पक्ष में (याट् का आगम) द्वितीया+या+ए (आ+ए='ऐ'—'वृद्धि')=द्वितीयायै । इसी प्रकार तृतीया शब्द के रूप बनेंगे।

'माता' अर्थ वाले अम्बा, अक्का तथा अल्ला शब्दों के सम्बोधन के एकवचन 'सु' विभक्ति में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' से ह्रस्व होने के बाद 'स्' (सु) का लोप होने पर क्रमशः हे अम्ब ! हे अक्क ! तथा हे अल्ल ! रूप बनते हैं।

ङिति ह्रस्वश्च १।४।६ । इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ च इ-उवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति । मत्यै—मतये । मत्याः-२—मतेः-२ । नदीत्वपक्षे परत्वात् 'औत्' इति ङेरौत्वे प्राप्ते । (२४४) **इदुद्भ्याम् ७।३।११७ ।**

---

(२४३) **ङिति ह्रस्वश्चेति ।** अत्र च-ग्रहणाद्वाक्यद्वयम् । 'ङिति' इत्येकम् । अत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इति, 'वामि' इत्यतो 'वे'ति, 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति सूत्रञ्च नञ्वर्जमनुवर्तते । इयङुवङोः स्थानं स्थितिर्योग्यता ययोस्ताविति विग्रहः । इयङुवङ्-प्राप्तियोग्यावित्यर्थः । तदाह—**इयङुवङ्स्थानावित्यादि ।** ह्रस्वश्चेति द्वितीयं वाक्यम् । अत्र 'यू' इति, 'नदी' इति, 'स्त्र्याख्यावि'ति, वेति चानुवर्तते । एवञ्च—'स्त्रीवाचकौ ह्रस्वौ चेदुतौ ङिति वा नदीसंज्ञौ स्तः' इति द्वितीयवाक्यार्थः । अप्राप्तविभाषेयम् । **मत्यै इति ।** 'मति+ङे' इत्यत्र 'ङिति ह्रस्वश्चे'त्यनेन विकल्पेन नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः'

(वा०) 'असंयुक्ता०'—अम्बार्थक शब्दों में ड, ल तथा क वर्णों के संयुक्त न होने पर उनको ह्रस्व नहीं होता है । अर्थात् इन वर्णों के संयुक्त होने पर ही ह्रस्व होता है । अतः अम्बार्थक अम्बाडा, अम्बाला तथा अम्बिका शब्दों में ह्रस्व नहीं हुआ ।

'जरा' (वृद्धावस्था) शब्द के विशेष रूपों का सिद्धि-प्रकार बतलाया जा रहा है—(१) जरा+सु (स्) (स् का लोप)=जरा । (२) जरा+औ (यहाँ जरसादेश तथा औ को 'शी' दोनों की युगपत् प्राप्ति होती है, परन्तु पर होने से जरा=जरस् आदेश होकर)=जरसौ । जरसादेश विकल्प से होने के कारण पक्ष में जरा+औ (औ=शी-ई)—जरा+ई (आ+ई =ए 'गुण')=जरे । जरसादेश न होने पर पक्ष में तथा हलादि विभक्तियों में 'रमा' शब्द की तरह रूप चलते हैं । 'गोपा' शब्द के रूप 'विश्वपा' शब्द के समान बनेंगे ।

इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में सर्वप्रथम 'मति' शब्द के विशेष रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की जा रही है । (१) मति+शस् (अस्), (इ+अ=ई 'पूर्वसवर्ण दीर्घ') मतीस् (स्=र्)— मतीर् (र्=ः)=मतीः । (२) मति+टा (आ) ('इ'='य्'—यण्)=मत्या ।

(२४३) पद—ङिति, ह्रस्वः, च । **अनुवृत्ति**—यू, स्त्र्याख्यौ, नदी, इयङुवङ्स्थानावस्त्री, वा । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—ङित् विभक्तियों के परे रहते इयङ्, उवङ् के स्थानी, स्त्रीशब्द से भिन्न, नित्य स्त्रीलिङ्गवाची ईकारान्त एवं ऊकारान्त तथा ह्रस्व इकारान्त व उकारान्त (शब्दों) की विकल्प से नदीसंज्ञा होती है । मत्यै–मतये । मत्याः–मतेः । 'ङि' विभक्ति में पर होने के कारण 'औत्' सूत्र से ङि='औ' प्राप्त है ।

विमर्श—इस सूत्र में चकार से दो वाक्य हैं—'ङिति' और 'ह्रस्वश्च' । प्रथम भाग में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) सूत्र, नञ्रहित 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' (१।४।४) सूत्र तथा 'वामि' (१।४।२) से 'वा' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'इयङुवङ्स्थानौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ नदीसंज्ञौ वा स्तो ङिति परे' 'ङिति' का अर्थ है । अर्थात्—इयङ्, उवङ् स्थानिक नित्य स्त्रीलिङ्ग स्त्री शब्द से भिन्न दीर्घ ईकार और ऊकार को ङित् विभक्ति के परे रहते विकल्प से नदीसंज्ञा होती है । 'ह्रस्वः' यह अपर वाक्य है । द्वितीय वाक्य में भी पूर्वोक्त 'यू स्त्र्याख्यौ नदी', 'इयङुवङ्स्थानौ' तथा 'वा' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीलिङ्गौ ह्रस्वौ च इदुतौ ङिति

नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् स्यात् । पक्षे—अच्च घेः । मत्याम्-मतौ । शेषं हरिवत् । एवं बुद्ध्यादयः । (२४५) त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९ । स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ । (२४६) अचि र ऋतः ७।२।१०० । तिसृ-

---

इत्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'मति + आ + ए' इति जाते 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणादेशे 'मत्यै' इति । पक्षे (नदीसंज्ञाऽभावे)—घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणेऽयादेशे 'मतये' इति ।

(२४४) **इदुद्भ्याम् इति** । अत्र 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति सूत्रात् 'ङेरामि'ति, 'नदी' इति चानुवर्तते । तदाह—**नदीसंज्ञकाभ्यामिति** । **एवं बुद्ध्यादय इति** । आदिना भूति-धृति-कान्ति-गति-रुचि-दीप्ति-श्रुति-स्मृतिप्रभृतयो ग्राह्याः ।

(२४५) **त्रिचतुर इति** । 'अष्टन आ विभक्तावि'त्यतो विभक्तावित्यनुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् ।

नदीसंज्ञकौ वा स्तः ।' अर्थात् इयङ्, उवङ् स्थानिक स्त्रीलिंगवाची ह्रस्व इ-उवर्णान्त शब्दों की ङित् विभक्तियों में विकल्प से नदीसंज्ञा होती है ।

उदाहरण—(१) मति + ङे (ए), (विकल्प से नदीसंज्ञा होने से आट् का आगम—'आण्नद्याः') मति + आ + ए, (आ + ए = 'ऐ'—वृद्धि—'आटश्च') मति + ऐ (इ = य् 'यण्') = मत्यै । नदीसंज्ञा न होने पर पक्ष में मति + ए (घिसंज्ञा, गुण, अयादेश) = मतये । (२) मति + अस् (ङसि, अथवा ङस्), (विकल्प से नदीसंज्ञा होकर 'आट्' का आगम) मति + आ + अस्, (वृद्धि) मति = आस्, (यण्) मत्यास्, (स् = र्) मत्यार्, (र् = :) = मत्याः । नदीसंज्ञा के अभाव पक्ष में—मति + अस् (घि संज्ञा, गुण, पूर्वरूप) = मतेः ।

(२४४) पद—इदुद्भ्याम् । **अनुवृत्ति**—नदी, ङे, आम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार, उकार से परे 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है । मत्याम्-मतौ ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से 'ङे, आम् तथा नदी' की अनुवृत्ति आती है । 'इदुद्भ्याम्' के अनुसार 'नदी' पद को भी पञ्चम्यन्त में परिवर्तित कर दिया जाता है । इस प्रकार नदीसंज्ञक ह्रस्व इकारान्त, उकारान्त से परे 'ङि' को 'आम्' आदेश होता है ।

उदाहरण—मति + ङि (ङि = आम्)—मति + आम् (यण्) = मत्याम् । नदीसंज्ञा के अभाव में मति + ङि (घि संज्ञा, 'अच्च घेः' से 'इ' = 'अ' तथा 'ङि' = 'औ')—मत + औ (अ + औ = 'औ'—वृद्धि) = मतौ । शेष रूप 'हरि' शब्द के समान बनेंगे ।

इकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'मति' शब्द के रूप (अर्थ = बुद्धि)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	मतिः	मती	मतयः	पं०	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
द्वि०	मतिम्	मती	मतीः	ष०	मत्याः, मतेः	मत्योः	मतीनाम्
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः	स०	मत्याम्, मतौ	मत्योः	मतिषु
च०	मत्यै, मतये	मतिभ्याम्	मतिभ्यः	सं०	हे मते	हे मती	हे मतयः

इसी प्रकार बुद्धि, श्रुति, स्मृति आदि शब्दों के रूप बनते हैं ।

(२४५) पद—त्रिचतुरः, स्त्रियां, तिसृचतसृ । **अनुवृत्ति**—विभक्तौ । **विधिसूत्र** ।

चतस्रो ऋतो रादेशोऽचि । गुणदीर्घोत्वानामपवादः । तिस्रः-२ । तिसृभिः । तिसृभ्यः-२ । आमि नुट् । (२४७) न तिसृचतसृ ६।४।४ । एतयोर्नामि दीर्घो न । तिसृणाम् । तिसृषु । द्वे-२ । द्वाभ्याम्-३ । द्वयोः-२ । गौरी । गौर्यौ । गौर्यः । हे गौरि ! गौर्यै—इत्यादि । शेषं बहुश्रेयसीवत् । एवं नद्यादयः । लक्ष्मीः । शेषं गौरीवत् । एवं

---

(२४६) **तिस्र इति ।** 'त्रिशब्दाज्जसि 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इत्यनेन तिसृ आदेशे 'तिसृ+अस्' इति जाते, प्राप्तं यणादेशं प्रबाध्य 'ऋतो ङि०' इत्यनेन गुणे प्राप्ते, तमपि प्रबाध्य 'अचि र ऋतः' इत्यनेन ऋकारस्य रेफादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'तिस्रः' इति रूपम् ।

(२४७) **न तिसृचतसृ इति ।** 'ढ्रलोपे' इत्यतः 'दीर्घः' इति, 'नामि' इति सूत्रश्चानुवर्तते । तदाह—**एतयोरिति ।**

मूलार्थ—विभक्ति के परे रहते स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान त्रि और चतुर् शब्दों को क्रमशः तिसृ और चतसृ आदेश होता है ।

विमर्श—इस सूत्र में 'अष्टन आ विभक्तौ' से निमित्तवाचक पद 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति आती है । स्थानी त्रि और चतुर् तथा आदेश तिसृ और चतसृ दोनों की संख्या समान होने से यथा-संख्य परिभाषा द्वारा क्रम से त्रि=तिसृ और चतुर्=चतसृ आदेश होते हैं ।

(२४६) पद—अचि, रः, ऋतः । **अनुवृत्ति—**तिसृचतसृ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अच् के परे रहने पर तिसृ, चतसृ शब्द के 'ऋ' के स्थान पर 'र्' आदेश होता है । गुण, दीर्घ तथा उत्व का यह अपवाद है । तिस्रः ।

विमर्श—सूत्र में स्थानीवाचक पद का अभाव है । अतः पूर्वसूत्र (२४५) से 'तिसृचतसृ' की अनुवृत्ति आती है । यह सूत्र 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' से प्राप्त गुण, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से प्राप्त दीर्घ तथा 'ऋत उत्' से प्राप्त उत्व विधि का बाधक है ।

उदाहरण—(१) त्रि+(अस्) जस् अथवा शस्, (त्रि=तिसृ—'त्रिचतुरोः स्त्रियाम्०') तिसृ+अस् ('ऋतो ङि०' से प्राप्त गुण को बाधकर 'अचि र ऋतः' से ऋ=र्)—तिस्रस् (स्=र्) तिस्रर् (र्=ः)=तिस्रः । (२) त्रि+भिस् (त्रि=तिसृ)—तिसृभिस् (स्=र्, र्=ः)=तिसृभिः । (३) त्रि+भ्यस् (त्रि=तिसृ) तिसृभ्यस् (स्=र्, र्=ः)=तिसृभ्यः ।

(२४७) पद—न, तिसृचतसृ । **अनुवृत्ति—**दीर्घः, नामि । **विधिसूत्र (निषेध) ।**

मूलार्थ—'नाम्' परे रहते तिसृ और चतसृ शब्द को दीर्घ नहीं होता ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ढ्रलोपे पूर्वस्य०' (६।३।१११) से 'दीर्घः' तथा 'नामि' (६।४।३) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है । इस प्रकार नाम् (नुम् सहित 'आम्' विभक्ति) के परवर्ती रहने पर तिसृ, चतसृ शब्द को दीर्घ नहीं होता ।

उदाहरण—(१) त्रि+आम्, (त्रि=तिसृ) तिसृ+आम् (नुट् का आगम) तिसृ+नाम् ('नामि' से प्राप्त दीर्घ का 'न तिसृचतसृ' से निषेध; ऋ के पश्चाद्वर्ती 'न्' को 'ण'—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्')=तिसृणाम् । (२) त्रि+सुप् (सु), (त्रि=तिसृ)—तिसृसु (स्=ष्)= तिसृषु ।

द्वि शब्द से प्रथमा द्विवचन में औ 'द्वि+औ' ('इ'='अ'—त्यदादीनामः) द्व+औ (टाप्

तरीतन्त्र्यादयः । स्त्री । हे स्त्रि ! (२४८) स्त्रियाः ६।४।७९ । अस्येयङजादौ प्रत्यये । स्त्रियौ । स्त्रियः । (२४९) वाऽम्शसोः ६।४।८० । अमि शसि च स्त्रिया इयङ्

---

(२४८) **स्त्रिया इति** । 'अचि श्नु०' इत्यतोऽचीति, इयङिति चानुवर्तते । तदाह—**स्त्रीशब्दस्येत्यादिना । स्त्रियाविति** । स्त्रीशब्दात् 'औ' विभक्तौ 'स्त्री + औ' इति जाते 'स्त्रियाः' इति इयङादेशे कृते 'स्त्रियौ' इति ।

(२४९) **वाऽम्शसोरिति** । स्त्रिया इति इयङ् इति चानुवर्तते । तदाह—**अमि शसि चेत्यादि । स्त्रीणामिति** । स्त्रीशब्दादामि 'स्त्री + आम्' इति स्थिते 'स्त्रियाः'

तथा दीर्घ)=द्वा+औ (औ=शी—'ई') द्वा+ई (आ+ई='ए'—'गुण')=द्वे । (२) द्वि+भ्याम् (इ=अ) द्व+भ्याम्, (टाप् तथा दीर्घ)=द्वाभ्याम् । (३) द्वि+ओस् (इ=अ) द्व+ओस्, (टाप् तथा दीर्घ) द्वा+ओस्, (आ=ए—'आङि चापः')—द्वे+ओस् (ए=अय् आदेश)=द्वयोस्, (स्=र्, र्=:)—द्वयोः ।

दीर्घ ईकारान्त गौरीशब्द—गौर+ङीष् स्त्रीप्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है । (१) गौरी+सु ('हल्ङ्याब्भ्यो०' से स् का लोप)=गौरी । (२) गौरी+औ, (पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध—'दीर्घाज्जसि च' यण्)=गौर्यौ । (३) गौरी+जस् (अस्) (इ='य्'-यण्)—गौर्यस्, (स्=र्, र्=:)=गौर्यः । (४) हे गौरी+सु (ई=इ—ह्रस्व—'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः') हे गौरि+स् (स् का लोप—'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः')=हे गौरि ! (५) गौरी+ङे (ए), (आट् का आगम) गौरी+आ+ए, (आ+ए=ऐ—'आटश्च' से वृद्धि) गौरी+ऐ (ई=य्—'यण्')=गौर्यै । इत्यादि । शेष रूप 'बहुश्रेयसी' शब्द की तरह बनते हैं । इसी प्रकार नदी, वाणी आदि शब्दों के रूप सिद्ध होंगे ।

लक्ष्मी+सु (यहाँ स्त्रीप्रत्यय सम्बन्धी ईकार न होने से सुलोप नहीं हुआ (स्=र्, र्=:) =लक्ष्मीः । अवशिष्ट रूप गौरी शब्द के समान बनते हैं । इसी प्रकार तरी=(नाव), तन्त्री=(वीणा) आदि शब्दों के रूप निष्पन्न होंगे ।

'स्त्री' शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) स्त्री+सु (स् का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः०')=स्त्री । (२) हे स्त्री+सु (ई=इ 'ह्रस्व'—'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः') हे स्त्रि+स् ('स्' का लोप—'एङ्ह्रस्वात्०')=हे स्त्रि ।

(२४८) पद—स्त्रियाः । **अनुवृत्ति**—इयङ्, अचि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अजादि प्रत्यय के परे रहने पर 'स्त्री' शब्द को 'इयङ्' आदेश होता है । स्त्रियौ । स्त्रियः ।

विमर्श—यहाँ 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) से आदेशवाचक पद—इयङ् तथा निमित्तवाची 'अचि' की अनुवृत्ति आती है । 'प्रत्यये' पद का अध्याहार करने पर 'अचि' में तदादि विधि होकर 'अजादि प्रत्यय परे होने पर स्त्री शब्द को इयङ् आदेश होता है । 'ङिच्च' सूत्र के द्वारा ई के स्थान पर 'इयङ्' होगा ।

उदाहरण—(१) स्त्री+औ (ई=इयङ्-इय्)=स्त्रियौ । (२) स्त्री+जस् (अस्), (ई=इय्) स्त्रिय्+अस् (स्=र्, र्= :)=स्त्रियः ।

(२४९) पद—वा, अम्शसोः । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाः, इयङ् । **विधिसूत्र** (विकल्प) ।

मूलार्थ—अम् और शस् विभक्ति के परे रहते 'स्त्री' शब्द को इयङ् आदेश विकल्प से होता है। स्त्रियम्-स्त्रीम् । स्त्रियः-स्त्रीः । इत्यादि ।

वा । स्त्रियम्–स्त्रीम् । स्त्रियः–स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । स्त्रियाः–२ । स्त्रियोः–२ । परत्वान्नुट्–स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् । स्त्रीषु । श्रीः । श्रियौ । श्रियः । श्रियम् । श्रियौ । श्रियः । श्रिया । श्रीभ्याम् । श्रीभिः । (२५०) नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १।४।४ । इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो न तु स्त्री । हे श्रीः । ङिति ह्रस्वश्चेति

इति प्राप्तम् इयङादेशं परत्वात् बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुडागमेऽनुबन्धलोपे पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या दीर्घे णत्वे च कृते 'स्त्रीणामि'ति ।

(२५०) नदीसंज्ञाया निषेधकमाह—**नेयङुवङिति** । अत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इत्यतो यू नदीत्यनुवर्तते । इयङुवङोः स्थाने स्थितिर्ययोरिति व्यधिकरणबहुव्रीहिः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में स्थानी तथा आदेशवाची पदों का अभाव है । अतः 'स्त्रियाः' (२४८) से स्त्री तथा 'अचि श्नु०' (२२०) से आदेशवाचक पद 'इयङ्' की अनुवृत्ति आती है । अतः द्वितीया एकवचन अम् तथा बहुवचन शस् परे रहते 'स्त्री' शब्द के 'ई' को इयङ् विकल्प से होगा ।

उदाहरण—(१) स्त्री+अम् (ई=इय्—विकल्प से)=स्त्रियम् । इयङ् न होने पर पक्ष में पूर्वरूप होकर—स्त्रीम् । (२) स्त्री+शस् (अस्), (ई=इय् विकल्प से) स्त्रियस्, (स्=र्, र्=ः)=स्त्रियः । पक्ष में—स्त्री+अस् (ई+अ='ई' पूर्वसवर्ण दीर्घ) स्त्रीस् (स्=र् , र्=ः) =स्त्रीः । (३) स्त्री+टा (आ), (ई=इय्)=स्त्रिया । (४) स्त्री+ङे (ए), (ई=इय्)—स्त्रिय्+ए, (आट् का आगम) स्त्रिय्+आ+ए (आ+ए='ऐ' वृद्धि—'आटश्च')=स्त्रियै । (५) स्त्री (ङसि अथवा ङस्)+अस् , (आट् का आगम) स्त्री+आ+अस् ('आटश्च' से वृद्धि) स्त्री+आस् (ई=इयङ्) स्त्रियास् (स्=र्, र्=ः)=स्त्रियाः । (६) स्त्री+ओस् (ई=इयङ्) स्त्रियोस् (स् को रुत्व-विसर्ग)=स्त्रियोः । (७) स्त्री+आम्, ('स्त्रियाः' से प्राप्त इयङ् को बाधकर पर होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नुट् (न्) का आगम) स्त्री+नाम् (दीर्घ, न्=ण्)= स्त्रीणाम् । (८) स्त्री+ङि (ङि=आम्), स्त्री+आम् (ई=इय्—'स्त्रियाः')=स्त्रियाम् । (९) स्त्री+सु (सुप्) (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः')=स्त्रीषु ।

ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'स्त्री' शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः	पं०	स्त्रियः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
द्वि०	स्त्रियम् , स्त्रीम्	स्त्रियौ	स्त्रियः, स्त्रीः	ष०	स्त्रियाः	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः	स०	स्त्रियाम्	स्त्रियोः	स्त्रीषु
च०	स्त्रियै	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः	सं०	हे स्त्रि !	हे स्त्रियौ	हे स्त्रियः

'श्री' (शोभा, लक्ष्मी) शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया बतलायी जा रही है । (१) √श्रि +क्विप्, दीर्घ—'क्विब्वचिप्रच्छि०')=श्री । श्री+सु (ङीप्-प्रत्ययान्त न होने से स् का लोप नहीं हुआ, स्=रुत्व-विसर्ग)=श्रीः । (२) श्री+औ (ई=इयङ् (इय्)—'अचि श्नु०')= श्रियौ । (३) श्री+जस् (अस्), (ई=इय्) श्रियस् (रुत्व-विसर्ग)=श्रियः । (४) श्री+अम् (ई=इय्)=श्रियम् । (५) श्री+औट् (औ), (ई=इय्)=श्रियौ । (६) श्री+शस् (अस्), (ई=इय्)—श्रियस् (स्=र्, र्=ः) श्रियः । (७) श्री+टा (आ), (ई=इय्) =श्रिया । (८) श्री+भ्याम्=श्रीभ्याम् । (९) श्री+भिस् (स् को रुत्व-विसर्ग)=श्रीभिः ।

(२५०) पद—न, इयङुवङ्स्थानौ, अस्त्री । **अनुवृत्ति**—यू, नदी । **संज्ञासूत्र** (निषेध) ।

वा नदीत्वम् । श्रियै–श्रिये । श्रियाः–श्रियः–२ । (२५१) वाऽऽमि १।४।५ । इयङ्-उवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तो, न तु स्त्री । श्रीणाम्–श्रियाम् । ङौ–

इयङुवङ्योग्याविति यावत् । **श्रियै इति** । 'श्री + ङे' इत्यत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इत्यनेन नदीसंज्ञायां प्राप्तायाम्, 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति निषेधे 'ङिति ह्रस्वश्चे'ति विकल्पेन नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इत्यादि 'आटश्चे'ति वृद्धौ 'अचि श्नु०' इत्यादिना इयङादेशे कृते 'श्रियै' इति । नदीसंज्ञाया अभावपक्षे तु—इयङि 'श्रिये' इति रूपम् ।

(२५१) **वाऽऽमीति** । अत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' नञ्वर्जं 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति सूत्रद्वयमनुवर्तते । वा आमीति छेदः । आमि नदीकार्याभावात् । **श्रीणामिति** । नदीत्वपक्षे आमि 'ह्रस्वनद्यापः' इति नुटि पर्जन्यवन्न्यायेन दीर्घे णत्वे च 'श्रीणाम्' इति । नदीत्वाभावे इयङि श्रियामिति ।

मूलार्थ—'स्त्री' शब्द को छोड़कर, इयङ्-उवङ् के स्थानी नित्य स्त्रीलिंग ईकार एवम् ऊकार की नदीसंज्ञा नहीं होती । हे श्रीः । 'ङिति ह्रस्वश्च' से विकल्प से नदीसंज्ञा होकर—श्रियै–श्रिये । श्रियाः–श्रियः–२ ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) से 'यू' तथा 'नदी' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार स्त्री शब्द से भिन्न इयङ्, उवङ् आदेश जिनके स्थान पर होते हों, ऐसे ही 'ई' और 'ऊ' को नदीसंज्ञा नहीं होती ।

उदाहरण—(१) हे श्री+सु (प्राप्त नदीसंज्ञा का निषेध होने से ह्रस्व नहीं हुआ तथा विभक्ति का लोप भी नहीं हुआ, स् को रुत्व-विसर्ग होकर)=हे श्रीः । (२) श्री+ङे (ए), ('ङिति ह्रस्वश्च' से विकल्प से नदीसंज्ञा होने पर 'आट्' का आगम) श्री+आ+ए, (आ+ए ='ऐ' वृद्धि—'आटश्च') श्री+ऐ (इयङ्)=श्रियै । नदीसंज्ञा न होने पर इयङ् होकर=श्रिये । (३) श्री+ङसि एवं ङस् (विकल्प से नदीसंज्ञा होने पर 'आट् का आगम) श्री+आ+अस्, (वृद्धि—'आटश्च') श्री+आस्, (ई=इयङ्) श्रियास् (स्=रुत्व-विसर्ग)=श्रियाः । नदीसंज्ञा न होने पर इयङ्=श्रियः ।

(२५१) पद—वा, आमि । **अनुवृत्ति**—यू स्त्र्याख्यौ नदी, इयङुवङ्स्थानौ, अस्त्री । **संज्ञासूत्र** (विकल्प) ।

मूलार्थ—'आम्' विभक्ति के परे रहते स्त्रीशब्द को छोड़कर, इयङ् उवङ् के स्थानी नित्य-स्त्रीलिङ्ग ईकार एवम् ऊकार की विकल्प से नदीसंज्ञा होती है । श्रीणाम्–श्रियाम् । श्रियाम्–श्रियि । धेनु शब्द के रूप मति शब्द के समान बनते हैं ।

विमर्श—यहाँ सम्पूर्ण 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' सूत्र तथा नञ् को छोड़कर 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' (२५०) सूत्र की अनुवृत्ति आती है ।

उदाहरण—(१) श्री+आम् (इयङ्स्थानिक नित्यस्त्रीलिङ्ग 'श्री' शब्द के ईकार को विकल्प से नदी संज्ञा होने पर 'नुट्' का आगम) श्री+नाम्, (दीर्घ, न्=ण्)=श्रीणाम् । नदीसंज्ञा के अभावपक्ष में 'इयङ्' होकर=श्रियाम् । (२) श्री+ङि ('ङिति ह्रस्वश्च' से विकल्प से नदी संज्ञा होने पर ङि=आम्) श्री+आम्, (ई=इय्)=श्रियाम् । नदीसंज्ञा न होने पर (ई=इयङ्)=श्रियि ।

श्रियाम्-श्रियि । धेनुर्मतिवत् । (२५२) स्त्रियाञ्च ७।१।९६ । स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्द-स्तृजन्तवद्रूपं लभते । (२५३) ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५ । ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् । क्रोष्ट्री–गौरीवत् । वधूः । शेषं नदीवत् । भ्रूः–श्रीवत् । स्वयम्भूः–पुंवत् । (२५४) न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१० । एभ्यो ङीप्टापौ न स्तः ।

---

(२५२) **स्त्रियाञ्चेति** । रूपातिदेशोऽयम् । 'तृज्वत्क्रोष्टुरि'ति सूत्रमनुवर्तते । तदाह—**क्रोष्टुशब्द इत्यादिना** ।

(२५३) **ऋन्नेभ्यो ङीप्** । 'स्त्रियामि'ति 'प्रातिपदिकादि'ति चाधिक्रियते । 'ऋन्नेभ्यः' इति प्रातिपदिकादित्यस्य विशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह—**ऋदन्तेभ्य इति** ।

ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग श्री=(लक्ष्मी) शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०—	श्रीः	श्रियौ	श्रियः	प०—	श्रियाः, श्रियः	श्रीभ्याम्	श्रीभ्यः
द्वि०—	श्रियम्	श्रियौ	श्रियः	ष०—	श्रियाः, श्रियः	श्रियोः	श्रीणाम्, श्रियाम्
तृ०—	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः	स०—	श्रियाम्, श्रियि	श्रियोः	श्रीषु
च०—	श्रियै, श्रिये,	श्रीभ्याम्	श्रीभ्यः	सं०—	हे श्रीः	हे श्रियौ	हे श्रियः

धेनु शब्द के रूप मति शब्द के समान बनेंगे ।

(२५२) पद—स्त्रियाम्, च । **अनुवृत्ति**—तृज्वत्क्रोष्टुः । **अतिदेश सूत्र ।**

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्गवाची 'क्रोष्टु' शब्द तृजन्त के सदृश रूप को प्राप्त करता है ।

विमर्श—यहाँ 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (७।१।९५) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आने से अर्थकृत सादृश्य को मानकर रूपातिदेश किया जा रहा है । तदनुसार—'स्त्रीलिङ्ग में भी 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान पर 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग होगा ।

(२५३) पद—ऋन्नेभ्यः, ङीप् । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ऋदन्त और नान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है । क्रोष्ट्री ।

विमर्श—'स्त्रियाम्' (४।१।१) का अधिकार है । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति आती है । 'प्रातिपदिकात्' को पञ्चमी बहुवचन में परिवर्तित कर दिया जाता है । विशेषण होने से 'ऋन्नेभ्यः' में तदन्तविधि होकर ऋकारान्त और नकारान्त प्रातिपदिकों से परे 'ङीप्' प्रत्यय होता है ।

उदाहरण—क्रोष्टु (तृज्वद्भाव) क्रोष्टृ, (ङीप्)—क्रोष्टृ+ई (ऋ=र् 'यण्')=क्रोष्ट्री+सु (स्)—(स् का लोप)=क्रोष्ट्री । 'क्रोष्ट्री' शब्द के रूप 'गौरी' शब्द के समान बनते हैं ।

ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'वधू' शब्द—वधू+सु (स् को रुत्व-विसर्ग)=वधूः । अवशिष्ट रूपसिद्धि 'नदी' शब्द की तरह होगी । भ्रू+सु (स्=रुत्व-विसर्ग)=भ्रूः । इसकी रूपावलि 'श्री' शब्द के समान जानी जाय । 'स्वयम्भू' शब्द के रूप पुंल्लिङ्ग के समान हैं ।

(२५४) पद—न, षट्स्वस्रादिभ्यः । **अनुवृत्ति**—ङीप्, टाप् । **विधिसूत्र (निषेध) ।**

मूलार्थ—षट्संज्ञक और स्वसृ आदि शब्दों से ङीप् और टाप् नहीं होते ।

विमर्श—यहाँ 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (२५३) से 'ङीप्' तथा 'टाबृचि' (४।१।९) से 'टाप्' की अनुवृत्ति आ रही है । 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार है । इस प्रकार षट्संज्ञक तथा

'स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥'

स्वसा । स्वसारौ । स्वसारः । माता पितृवत् । शसि—मातॄः । द्यौर्गोवत् । राः—पुंवत् । नौर्ग्लौवत् ।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

अथाजन्तनपुंसकलिङ्गाः

(२५५) अतोऽम् ७।१।२४ । अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम् । ज्ञानम् । 'एङ्ह्रस्वाद्' इति सम्बुद्धिलोपः । हे ज्ञान ! (२५६) नपुंसकाच्च ७।१।१९ । क्लीबा-

---

(२५४) न षट्स्वस्रादिभ्य इति । 'ऋन्नेभ्यः' इत्यतो ङीबिति, 'टावृचि' इत्यतः 'टाबि'ति चानुवर्तते । 'षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च ङीप्टापौ न स्तः' इति सूत्रार्थः ।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

---

(२५५) 'ज्ञान + सु' इत्यत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि प्राप्तेऽपवादशास्त्रमाह—अतोऽमिति । 'अतः' इत्यत्र पञ्चमी । अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते ।

स्वसृ आदि प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् तथा टाप् प्रत्यय नहीं होते। (स्वसृ, तिसृ, चतसृ, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ, मातृ—ये सात शब्द स्वस्रादि कहे गये हैं ।)

उदाहरण—(१) स्वसृ+सु (ङीप् प्राप्त, उसका **'न षट्स्वस्रादिभ्यः'** से निषेध होने पर 'ऋदुशनस्०' से ऋ=अनङ्) स्वस्+अन्+स्, ('अप्तृन्०' से दीर्घ) स्वसान्+स् (स् का लोप, न् का लोप)=स्वसा (बहिन)। (२) स्वसृ+औ (गुण, रपर, दीर्घ)=स्वसारौ। (३) स्वसृ+जस् (अस्)—(गुण, रपर, दीर्घ) स्वसारस् (स् को रुत्व-विसर्ग)=स्वसारः। मातृ+सु (ङीप् का निषेध, अनङ्)—मातन् स् , (दीर्घ) मातान् स् (स् का लोप, न् का लोप)=माता। शस् के अतिरिक्त अन्य रूप 'पितृ' शब्द के समान बनेंगे। मातृ+शस् (अस्), (ऋ+अ='ॠ'—पूर्वसवर्ण दीर्घ) मातॄ स् (स् को रुत्व-विसर्ग)=मातॄः। 'द्यो'=(स्वर्ग) शब्द के रूप 'गो' शब्द के समान होते हैं। 'रै' शब्द के रूप भी पुंल्लिङ्ग के समान बनते हैं। नौ (नाव) शब्द के रूप भी 'ग्लौ' शब्द के समान बनेंगे।

अजन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण समाप्त।

प्रस्तुत प्रकरण के आरम्भ में वर्णक्रमानुसार सर्वप्रथम अकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'ज्ञान' शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया का ज्ञान कराया जा रहा है।

(२५५) पद—अतः, अम्। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, स्वमोः, नपुंसकात्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अदन्त नपुंसक अङ्ग से परे 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश होता है। ज्ञानम्। 'एङ्ह्रस्वात्०' से सम्बुद्धि का लोप—हे ज्ञान !

विमर्श—यहाँ 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७।१।२३) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का

दौङः शी स्यात्। भसंज्ञायाम्। (२५७) यस्येति च ६।४।१४८। ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः। इत्यकारलोपे प्राप्ते। * औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः *

अत इत्यनेन विशेष्यत्वात्तदन्तविधिः। 'स्वमोर्नपुंसकादि'त्यनुवर्तते। तदाह—**अतोऽङ्गा-दित्यादि। ज्ञानमिति।** सोरमि 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे ज्ञानमिति।

(२५६) **नपुंसकाच्चेति।** अत्र 'जसः शी' इत्यतः 'शी' इति, 'औङ आपः' इत्यतः 'औङः' इति चानुवर्तते। तदाह—**क्लीबादित्यादि। भसंज्ञायामिति।** 'सुड-नपुंसकस्ये'ति नपुंसकवर्जमेव सुटः सर्वनामस्थानसंज्ञात्वात् 'यचि भम्' इति भसंज्ञाया-मित्यर्थः।

(२५७) **यस्येति चेति।** 'यस्य ईति' इतिच्छेदः। भस्येत्यधिक्रियते। चकारेण 'नस्तद्धिते' इत्यतस्तद्धिते इत्यनुवर्तते। तदाह—**भस्येत्यादिना। ज्ञाने इति।** 'ज्ञान **+औ**' इति स्थिते 'नपुंसकाच्च' इत्यनेनौकारस्य स्थाने 'शी' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'ज्ञान+ई' इति जाते भसंज्ञायां 'यस्येति च' इत्यकारलोपे प्राप्ते 'औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्तिकेन निषेधे, गुणे च कृते 'ज्ञाने' इति।

अधिकार है। 'अतः' के अनुसार 'अङ्गस्य' भी पञ्चम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। तदनुसार ह्रस्व अकारान्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे सु और अम् प्रत्यय के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) ज्ञान+सु, (सु=अम्)—ज्ञान+अम् (अ+अ='अ'—'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप)=ज्ञानम्। (२) हे ज्ञान+सु ('एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से सम्बुद्धिसंज्ञक 'सु' का लोप)=हे ज्ञान[1]।

(२५६) पद—नपुंसकात् च। **अनुवृत्ति**—औङः, शी। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नपुंसक अंग से परे 'औङ्' को 'शी' आदेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'औङ आपः' से स्थानिवाचक 'औङः' तथा 'जसः शी' से आदेश-वाचक 'शी' पद की अनुवृत्ति आती है। अङ्गस्य का अधिकार होने से क्लीब अङ्ग से परे औङ् (प्रथमा व द्वितीया का द्विवचन) के स्थान पर 'शी' आदेश होगा।

उदाहरण—ज्ञान+औ (औ=शी-ई)—'ज्ञान+ई'—यहाँ 'यचि भम्' से अङ्ग ज्ञान की भसंज्ञा होती है। उस (भसंज्ञा) का फल अग्रिम सूत्र द्वारा बतलाया जा रहा है।

(२५७) पद—यस्य, ईति, च। **अनुवृत्ति**—भस्य, लोपः, तद्धिते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ईकार और तद्धित प्रत्यय के परे रहते भसंज्ञक इवर्ण और अवर्ण का लोप होता है। इस प्रकार अकार का लोप प्राप्त होने पर—(वा०—औङ् स्थानिक 'शी' के परे रहते लोप नहीं होता।) ज्ञाने।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता हेतु 'भस्य' (६।४।१२९) सूत्र, 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) तथा 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति आ रही है।

उदाहरण—'ज्ञान+ई' (ईकार परे होने से भसंज्ञक 'अ' का लोप प्राप्त है—उसका वार्तिक

---

१. 'एङ्ह्रस्वादिति हल्मात्रलोपः—हे ज्ञान।'—सिद्धान्तकौमुदी सू०—३०९ (तदनुसार हे ज्ञान+सु (सु=अम्)—ज्ञान+अम् (पूर्वरूप)—हे ज्ञानम् ('म्' का लोप—'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः')=हे ज्ञान!)।

ज्ञाने । (२५८) जश्शसोः शिः ७।१।२० । क्लीबात्परयोर्जश्शसोः शिः स्यात् । (२५९) शि सर्वनामस्थानम् १।१।४२ । 'शि' इत्येतत्सर्वनामसंज्ञं स्यात् । (२६०) नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२ । झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात् सर्वनामस्थाने । (२६१) मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७ । अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात् । उपधादीर्घः । ज्ञानानि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । एवं

---

(२६०) **नपुंसकस्येति** । अत्र झल् च अच्चेति समाहारद्वन्द्वः । अङ्गस्येत्यधिकृतं विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'इदितो नुम्धातोः' इत्यतो नुमिति, 'उगिदचां सर्वनामस्थाने' इत्यतः सर्वनामस्थाने इति चानुवर्तते । तदाह—**झलन्तस्येत्यादिना** ।

(२६१) **ज्ञानानीति** । 'ज्ञान + जस्' इत्यत्र 'जश्शसोः शिः' इत्यनेन जसः श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति शास्त्रबलेन

(औ के स्थान में होने वाला 'शी' यदि परे हो तो भसञ्ज्ञक इवर्ण, अवर्ण का लोप नहीं होता) से निषेध), (अ+ई='ए' गुण)=ज्ञाने ।

(२५८) पद—जश्शसोः, शिः । **अनुवृत्ति**—नपुंसकात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—क्लीबन्त (नपुंसक) अङ्ग से परे जस् और शस् के स्थान पर 'शि' आदेश होता है ।

विमर्श—यहाँ 'नपुंसकाच्च' (२५६) से 'नपुंसकात्' की अनुवृत्ति आ रही है । अतः जस्-शस् के स्थान पर 'शि' आदेश केवल नपुंसकलिङ्ग में ही होता है ।

उदाहरण—ज्ञान+जस् (जस्='शि'-इ) 'ज्ञान+इ' (शेष प्रक्रिया—आगे बतलायी जा रही हैं—)

(२५९) पद—शि, सर्वनामस्थानम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है । इस प्रकार ज्ञान+'शि' इस स्थिति में 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा हुई ।

(२६०) पद—नपुंसकस्य, झलचः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, नुम्, सर्वनामस्थाने । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सर्वनामस्थान के परे रहते झलन्त और अजन्त क्लीब अङ्ग को नुम् का आगम होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' तथा 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) से 'सर्वनामस्थाने' पद की अनुवृत्ति आती है । अङ्गस्य का अधिकार होने से उसके विशेषणवाची पदों में तदन्तविधि होती है । तदनुसार—'सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय के परे होने पर झलन्त एवं अजन्तनपुंसकलिङ्ग—अङ्ग को नुम् (न्) का आगम होता है ।

(२६१) पद—मित्, अचः, अन्त्यात्, परः । **परिभाषासूत्र** ।

मूलार्थ—मित् ('म्' इत्संज्ञक) आगम, अचों मध्य में अन्त्य 'अच्' से परे और उसी का अन्तावयव होता है । उपधादीर्घ । ज्ञानानि ।

विमर्श—यहाँ 'अचः' पद में निर्धारण अर्थ में षष्ठी विभक्ति है । एकवचन का प्रयोग अच्त्व जाति का सूचक है । इस प्रकार 'अच्' समुदाय के अन्तिम अच् से परे मकारेत्संज्ञक आगम होता है और वह आगम उसी का अन्तिम अवयव होगा ।

धन-वन-फलादयः। (२६२) अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७।१।२५। एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्ड्डादेशः स्यात्। (२६३) टेः ६।४।१४३। डिति परे भस्य टेर्लोपः। कतरत्-कतरद्। कतरे। कतराणि। हे कतरत्। शेषं पुंवत्। एवं कतमत्। इतरत्। अन्यत्। अन्यतरत्। अन्यतमशब्दस्य तु अन्यतममित्येव। *एकतरात् प्रतिषेधो वाच्यः* एकतरम्।

'नपुंसकस्य झलचः' इत्यनेन ज्ञानशब्दान्त्यस्याचः परत्र नुमि, अनुबन्धलोपे 'सर्वनामस्थाने–' इति दीर्घे 'ज्ञानानि' इति सिद्धम्।

(२६२) **अद्ड्डतरादिभ्य इति।** डतर-डतम-अन्य-अन्यतर-इतररूपाः डतरादयः सर्वाद्यन्तर्गताः। 'स्वमोर्नपुंसकादि'त्यनुवर्तते। तदाह—**'एभ्यः' इति।** डित्करणं टिलोपार्थम्।

(२६३) **टेरिति।** अत्र 'तिविंशतेर्डिति' इत्यतः 'डिति' इति, 'अल्लोपोऽनः' इत्यतो लोप इति चानुवर्तते। भस्येति चाधिकृतम्। तदाह—**डिति परे इत्यादिना। कतरदिति।** 'कतर+सु' इत्यत्र 'अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इति सुस्थाने अद्ड्डादेशे डस्येत्संज्ञायां लोपे च 'कतर+अद्' इति जाते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'टेः' इति टिसंज्ञकस्य रेफोत्तरवर्त्यकारस्य लोपे 'कतरद्' इति, 'वाऽवसाने' इत्यनेन विकल्पेन चर्त्वे 'कतरत्' इति। पक्षे 'कतरद्' इति च रूपम्।

उदाहरण—ज्ञान+इ ('नपुंसकस्य झलचः' से यहाँ सर्वनामस्थान (इ) के परे रहते अजन्त अंग को नुम् का आगम, तथा 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा द्वारा वह 'ज्ञान' समुदाय का अन्तिम अवयव हुआ)—ज्ञान+न्+इ, (नान्त उपधा को दीर्घ—'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ') =ज्ञानानि। द्वितीया विभक्ति के रूप भी इसी तरह बनेंगे। तृतीया से सप्तमी विभक्ति तक के रूप 'राम' शब्द की तरह बनेंगे। इसी प्रकार धन, वन, फल आदि शब्दों के रूप भी 'ज्ञान' शब्द के समान होंगे।

(२६२) पद—अद्ड्, डतरादिभ्यः, पञ्चभ्यः। **अनुवृत्ति**—स्वमोः, नपुंसकात्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नपुंसकलिङ्ग में डतरादि पाँच से परे सु और अम् को 'अद्ड्' आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७।१।२३) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार 'डतरादि पाँच नपुंसकलिङ्ग शब्दों से परे 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अद्ड्' (अद्) आदेश होता है। डतरादि में 'डतर, डतम प्रत्ययान्त तथा अन्य, अन्यतर एवं इतर शब्दों का ग्रहण होता है।'

(२६३) पद—टेः। **अनुवृत्ति**—भस्य, लोपः, डिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—डित् प्रत्यय के परे रहने पर 'भ' संज्ञक टि का लोप होता है। कतरत्-कतरद्।

विमर्श—यहाँ सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए सम्पूर्ण 'भस्य' (६।४।१२९), 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'लोपः' तथा 'तिविंशतेर्डिति' से 'डिति' पदों की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार—'ड्' इत्संज्ञक प्रत्यय के परवर्ती होने पर भसंज्ञक अङ्ग की टि (अन्तिम अच् सहित वर्णसमुदाय) का लोप होता है।

उदाहरण—(१) कतर+सु, (सु=अद्ड् (अद्) कतर+अद् (टि='अ' का लोप ,—कतरद्, ('द्'='त्' विकल्प से—'वाऽवसाने')=कतरत्। पक्ष में—कतरद्। (२) कतर+औ,

(२६४) ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७ । अजन्तस्येत्येव । श्रीपं ज्ञानवत् ।
(२६५) स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३ । क्लीबादङ्गात् स्वमोर्लुक् स्यात् । वारि ।

---

(२६४) अथ आदन्ता निरूप्यन्ते । श्रियं पातीति श्रीपा शब्दो विश्वपावद् विजन्तः । **ह्रस्वो नपुंसके इति** । ह्रस्वपदश्रुत्या उपस्थितया अचश्चेति परिभाषया प्रातिपदिकस्य विशेषणात् तदन्तविधिः । नपुंसके विद्यमानस्याजन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्व इत्यर्थः । **श्रीपमिति** । 'श्रीपा + सु' इत्यत्र 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्ये'ति ह्रस्वत्वे 'अतोऽम्' इति सोरमि पूर्वरूपे 'श्रीपमि'ति ।

(२६५) **स्वमोर्नपुंसकादिति** । अत्र 'षड्भ्यो लुक्' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते । क्लीबादङ्गात्परयोः स्वमोर्लुक् स्यादित्यर्थः ।

(औङ्=शी) कतर+ई, (अ+ई='ए'-गुण)=कतरे । (३) कतर+जस् (जस्=शि)— कतर+इ, (नुम् का आगम) कतर+न्+इ (उपधादीर्घ, न्=ण्)=कतराणि । (४) हे कतर +सु' (सु=अद्)—कतर+अद्, (टि (अ) का लोप) हे कतरद् (द्=त् 'चर्त्व')=हे कतरत् ! अवशिष्ट रूप पुंलिङ्ग की तरह बनेंगे । कतर (=दो में से कौन-सा एक), कतम (किम् +डतमच्) (=बहुतों में कौन-सा एक) । प्रथमा एकवचन में कतम+सु, (सु=अद्) कतर+ अद् (टि (अ) का लोप)-कतरद् (द्=त् 'चर्त्व')=कतरत् । इसी प्रकार इतर (=दूसरा) से इतरत्, अन्य (=दूसरा) से अन्यत्, अन्यतर (=दो में से एक) से अन्यतरत् रूप प्रथमा एकवचन में बनते हैं ।

'अन्यतम' शब्द डतम-प्रत्ययान्त न होने से 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अद्ड्' आदेश नहीं होगा । अव्युत्पन्न प्रातिपदिक होने से—अन्यतम+सु (सु=अम्—पूर्वरूप)=अन्यतमम् ।

(वा०) डतर-प्रत्ययान्त शब्दों में एकतर (कोई एक) शब्द से परे 'सु' और 'अम्' को 'अद्ड्' आदेश नहीं होता । **उदाहरण**—एकतर+सु (प्राप्त 'अद्ड्' आदेश का वार्तिक से निषेध, सु=अम्) एकतर+अम् (पूर्वरूप)=एकतरम् ।

(२६४) पद—ह्रस्वः, नपुंसके, प्रातिपदिकस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान अजन्त प्रातिपदिक को 'ह्रस्व' होता है । श्रीपम् । ज्ञानवत् ।

विमर्श—यहाँ 'अचश्च' परिभाषासूत्र की उपस्थिति होती है । प्रातिपदिक का विशेषण होने से 'अचः' में तदन्तविधि होती है, तदनुसार—अजन्त प्रातिपदिक को नपुंसकलिङ्ग में ह्रस्व होगा ।

उदाहरण—श्रीपा+सु, (आ='अ' ह्रस्व) श्रीप+सु, (सु=अम्) श्रीप+अम् (पूर्व-रूप)=श्रीपम् (=सम्पत्ति वाला कुल) । शेष रूप ज्ञान शब्द की तरह बनेंगे ।

(२६५) पद—स्वमोः, नपुंसकात् । **अनुवृत्ति**—लुक् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—क्लीब अङ्ग से परे 'सु' और 'अम्' का लुक् होता है । वारि ।

विमर्श—यहाँ 'षड्भ्यो लुक्' (७।१।२२) से आदेशवाचक पद लुक् की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'नपुंसकात् के अनुसार 'अङ्गस्य' भी पञ्चम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है । इस प्रकार नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे सु तथा अम् प्रत्यय का लुक् हो जाता है ।

उदाहरण—वारि+सु ('सु' का लुक्-लोप)=वारि ।

(२६६) इकोऽचि विभक्तौ ७।१।७३ । इगन्तस्य क्लीबस्य नुमचि विभक्तौ । वारिणी । वारीणि । 'न लुमते'त्यस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः । हे वारे-हे वारि । 'घेर्ङिती'ति गुणे प्राप्ते । * वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन * वारिणे । वारिणः-२ । वारिणोः-२ । नुमचिरेति नुट् । वारीणाम् । वारिणि । हलादौ हरिवत् । **(२६७) तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ७।१।७४ ।**

---

(२६६) **इकोऽचीति ।** 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतो नुमिति, 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यतो नपुंसकस्येति चानुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । इका विशेष्यते । तेन तदन्तविधिस्तदाह—**इगन्तस्येति । वारिणी इति ।** 'वारि+औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्चे'ति औकारस्य 'शी' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'वारि + ई' इति जाते 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमागमेऽनुबन्धलोपे णत्वे कृते 'वारिणी' इति रूपम् ।

---

(२६६) पद—इकः, अचि, विभक्तौ । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, नपुंसकस्य, नुम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अजादि विभक्ति के परे रहने पर इगन्त अङ्ग को नुम् का आगम होता है । वारिणी । वारीणि । 'न लुमता०' सूत्र से विहित निषेध अनित्य होने के कारण पक्ष में सम्बुद्धिनिमित्तक गुण हुआ । हे वारि, हे वारे । 'घेर्ङिति' सूत्र से गुण की प्राप्ति होने पर (वा०) 'वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव तथा गुण की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से नुम् का आगम ही होता है ।' वारिणे । वारिणः । वारिणोः । 'नुमचिर०' के द्वारा नुट्—वारीणाम् । वारिणि । हलादि विभक्ति में 'हरि' शब्द के समान रूप बनते हैं ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' तथा 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) से 'नपुंसकस्य' की अनुवृत्ति आ रही है । अङ्गस्य का अधिकार है । तदनुसार—अजादि विभक्ति के परवर्ती रहने पर इगन्त (इ, उ, ऋ, लृ) नपुंसक अङ्ग को नुम् (न्) का आगम होगा । 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा के द्वारा यह नुम् अन्तिम् अच् का परवर्ती होकर अङ्ग का अवयव होगा ।

उदाहरण—(१) वारि+औ, (औ=शी) वारि+ई, (नुम् (न्) का आगम—'इकोऽचि विभक्तौ') वारिनी (न्=ण्)=वारिणी । (२) वारि+जस्, (जस्=शि)—वारि+इ, (नुम् का आगम) वारि+नि (उपधादीर्घ, णत्व)=वारीणि । (३) सम्बोधन एकवचन—हे वारि+सु ('सु' का लोप—'स्वमोर्नपुंसकात्')—हे वारि । यहाँ पक्ष में 'न लुमताङ्गस्य' से निषेध अनित्य होने के कारण प्रत्ययलक्षण होने से 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण होने पर 'हे वारे !' रूप बनता है । (४) वारि+ङे (ए), (घि संज्ञा होने से 'घेर्ङिति' से गुण प्राप्त है, उसका वार्तिक से निषेध होकर नुम् होता है । (वा०) 'वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण की अपेक्षा पूर्वशास्त्र की प्रबलता से नुम् का आगम होता है ।'—वारि+न्+ए (णत्व)—वारिणे । (५) वारि+अस् (ङसि तथा ङस्), (नुम्) वारिनस् (णत्व, रुत्व-विसर्ग)=वारिणः । (६) वारि+ओस् (नुम्)-वारि+न्+ओस् (न्=ण्, रुत्व-विसर्ग)=वारिणोः । (७) वारि+आम् (नुमचिर० वार्तिक के अनुसार नुट् (न्) का आगम)—वारि+न+आम्, (दीर्घ—'नामि') वारीनाम् (न्=ण्)=वारीणाम् । (८) वारि+इ (ङि), (नुम्) वारिनि (न्=ण्)=वारिणि । हलादि विभक्तियों में हरिशब्द के समान रूप बनते हैं ।

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद् वा टादावचि । अनादये–अनादिने इत्यादि । शेषं वारिवत् ।

'यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्त्तते ।
क्लीबवृत्ति तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥
पीलुर्वृक्षः, फलं पीलु, पीलुने, न तु पीलवे ।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः ॥'

पीलुर्वृक्षः, तत्फलं पीलु । तस्मै–पीलुने । अत्र न पुंवत् । प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् ।

---

(२६७) **तृतीयादिष्विति ।** भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तद् भाषितपुंस्कम्, शब्दस्वरूपं विशेष्यम् । अर्थात् नपुंसके लिङ्गान्तरे च यस्यैकमेव वाच्यतावच्छेदकं तच्छब्दस्वरूपं भाषितपुंस्कमिति यावत् । 'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यतः 'इकोऽची'ति, 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यतो नपुंसकस्येति चानुवर्तते । षष्ठी चात्र प्रथमया विपरिणम्यते । तदाह—**प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये इत्यादि । अनादये इति ।** अत्रादिरहितत्वप्रवृत्तिनिमित्तमादाय पुंसि नपुंसके च अनादिशब्दो वर्तते, अतः 'अनादि + ङे (ए)' इत्यत्र विकल्पेन पुंवद्भावे 'घेर्ङिति' इति गुणेऽयादेशे 'अनादये' इति हरिवद्रूपम् । पुंवद्भावस्याभावे नपुंसकत्वान्नुमि 'अनादिने' इति ।

---

(२६७) पद—तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं, पुंवद्गालवस्य । **अनुवृत्ति**—इकः, अचि, नपुंसकस्य । **अतिदेशसूत्र ।**

मूलार्थ—प्रवृत्ति-निमित्त एक होने पर भाषितपुंस्क इगन्त नपुंसकलिङ्ग शब्द को टकारादि अजादि विभक्ति परे रहते विकल्प से पुंवद्भाव होता है ।

विमर्श—यह अतिदेश सूत्र की स्पष्टता के लिए—'इकोऽचि विभक्तौ' (२६६) सूत्र से 'इकः' एवम् 'अचि' तथा 'नपुंसकस्य झलचः' (२६०) से 'नपुंसकस्य' की अनुवृत्ति आ रही है । 'इकः' तथा 'नपुंसकस्य' पद प्रथमा विभक्ति में परिवर्तित हो जाते हैं । तदनुसार तृतीयादि (टा आदि) अजादि विभक्ति के परवर्ती रहने पर इगन्त नपुंसकलिङ्ग शब्द जो पुँल्लिङ्ग में भी समान अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो (भाषितपुंस्कम्) उसको गालवाचार्य के मत से पुंवद्भाव (पुंल्लिङ्ग शब्द के समान कार्य) होता है । अन्य आचार्यों के मत में पुंवद्भाव नहीं होता ।

उदाहरण—अनादि + ङे (ए), (प्रकृत सूत्र से पुंवद्भाव होने पर गुण) अनादे + ए, (ए = अय्)—अनादये । पुंवद्भाव के अभाव पक्ष में 'नुम्' का आगम—अनादिने । शेष रूप 'वारि' शब्द की तरह बनेंगे ।

'भाषितपुंस्क' शब्द की व्याख्या दो प्राचीन कारिकाओं द्वारा स्पष्ट की गई है—'यन्निमित्तमुपादाये'त्यादि ।

जिस निमित्त (धर्म) को लेकर शब्द पुंलिङ्ग में प्रवृत्त होता है । नपुंसकलिङ्ग में भी यदि वही निमित्त रहे तो वह शब्द 'भाषितपुंस्क' कहलाता है । अनादि शब्द में इस प्रकार की समानता होने से वह भाषितपुंस्क है । परन्तु 'पीलु' शब्द पुंलिङ्ग में वृक्ष-विशेष निमित्त रखता है तथा नपुंसकलिङ्ग में तज्जन्य फल का बोध कराता है । 'पीलु' शब्द 'भाषितपुंस्क' नहीं है । इसलिए चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में 'पीलुने' रूप बनता है, 'पीलवे' नहीं ।

(२६८) अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७।१।७५ । टादावचि । (२६९) अल्लोपोऽनः ६।४।१३४ । अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः । दध्ना । दध्ने । दध्नः-२ । दध्नोः-२ । (२७०) विभाषा

---

(२६८) **अस्थिदधीति ।** सूत्रेऽस्मिन् 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कमि'त्यतः 'तृतीयादिषु' इति, 'इकोऽची'त्यतः 'अचि' इति, 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यतः 'नपुंसकस्ये'ति चानुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । नपुंसकस्येति अस्थ्यादीनां विशेषणम् । निष्कर्षमाह— **टादावचीति ।**

(२६९) **अल्लोपोऽन इति ।** अदिति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम् । 'अनः' इत्यवयवषष्ठ्यन्तम् । तच्चातो विशेषणम्—अनोऽवयवो योऽकारः तस्य लोप इति । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । तदप्यवयवषष्ठीकमतो विशेषणम्—**अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान इति ।** भस्येत्यधिकाराल्लभ्यते, तच्चानः इत्यत्रान्वेति, तेन यजादिस्वादिप्रत्यया आक्षिप्यन्ते । तदाह—**अङ्गावयव इत्यादिना । दध्ना इति ।** दधिशब्दात् टाविभक्तौ 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि प्राप्ते, तं प्रबाध्य 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्यनेन इकारस्य स्थाने अनङादेशेऽनुबन्धलोपे 'दधन् आ' इति जाते 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे 'दध्ना' इति रूपम् ।

---

(२६८) पद—अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्, अनङ्, उदात्तः । **अनुवृत्ति**—तृतीयादिषु, अचि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—टादि अजादि विभक्ति के परे होने पर अस्थि आदि शब्दों को अनङ् आदेश होता है ।

विमर्श—यहाँ 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कम्०' (२६७) से 'तृतीयादिषु' तथा 'इकोऽचि विभक्तौ' (२६६) से 'अचि' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—अजादि तृतीयादि विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती होने पर अस्थि (=हड्डी), दधि (=दही), सक्थि (=जंघा) तथा अक्षि (=आँख) को अनङ् आदेश होता है। वह आदेश उदात्त होता है। यह आदेश ङित् होने से अङ्ग के अन्त्य वर्ण 'इ' के स्थान में होगा ।

(२६९) पद—अत्, लोपः, अनः । **अनुवृत्ति**—भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अङ्ग का अवयव, सर्वनामस्थान से भिन्न यजादि-स्वादि प्रत्ययपरक जो 'अन्' उसके अकार का लोप होता है । दध्ना । दध्ने । दध्नः-२ । दध्नोः-२ ।

विमर्श—'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है। प्रकृत सूत्र द्वारा ह्रस्व अकार का लोप विधान किया गया है। 'भस्याङ्गस्य' के अधिकार से अकार भी सर्वनामस्थानभिन्न यजादि-स्वादि प्रत्ययपरक 'अन्' सम्बन्धी अपेक्षित है। यहाँ 'यजादि' में 'य्+अजादि' विच्छेद है। अर्थात् यादि और अजादि ।

उदाहरण—(१) दधि+टा (आ), (इ=अन्)—दधन्+आ, ('अ' का लोप—'अल्लोपोऽनः')=दध्ना । (२) दधि+ङे (ए), (इ=अन्) दधन्+ए ('अ' का लोप)=दध्ने । (३) दधि+अस् (ङसि, ङस्), (अनङ् आदेश) दधन्+अस्, ('अ' लोप)—दध्नस् (स्=

ङिश्योः ६।४।१३६। अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा, ङिश्योः। दध्नि-दधनि। शेषं वारिवत्। एवमस्थिसक्थ्यक्षि। सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे-हे सुधि। सुधिया-सुधिना। सुधिये-सुधिने इत्यादि। मधु। मधुनी। मधूनि। मधुना। हे मधो-हे मधु! एवमम्ब्वादयः। सुलु। सुलुनी। सुलूनि। सुल्वा-सुलुना। इत्यादि। धातृ। धातृणी। धातॄणि। हे धातः-हे धातृ। धात्रा। धातृणा। धातॄणाम्। एवं ज्ञातृकर्त्रादयः। (२७१) एच

---

(२७०) **विभाषेति।** ङिश्च, शीश्चेति विग्रहे इतरेतरयोगद्वन्द्वः। अत्र 'अल्लोपोऽनः' इत्यनुवर्तते। भस्याङ्गस्येति चाधिकाराल्लभ्यते। भस्येत्यनेन च असर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरत्वमाक्षिप्यते। तदाह—**अङ्गावयव इति। दध्नीति।** 'दधि+ङि' इत्यत्र इकारस्य स्थाने अनङादेशे 'दधन्+इ' इति जाते 'विभाषा ङिश्योः' इति विकल्पेन अकारस्य लोपे 'दध्नि' इति। अकारलोपाभावे तु 'दधनि' इति च रूपम्।

रुत्व-विसर्ग)=दध्नः। (४) दधि+ओस्, (इ=अन्) दधन्+ओस्, (अकार लोप) दध्नोस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=दध्नोः।

(२७०) पद—विभाषा, ङिश्योः। **अनुवृत्ति**—अल्लोपः, अनः, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अङ्ग के अवयव, सर्वनामस्थान से भिन्न, यजादि-स्वादि प्रत्ययपरक अन् के अकार का लोप 'ङि' और 'शि' के परे रहते विकल्प से होता है।

विमर्श—'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है। पूर्वसूत्र 'अल्लोपोऽनः' की अनुवृत्ति आती है। 'ङि' तथा 'शि' विभक्तियों के परे रहते अकारलोप का विकल्प किया जा रहा है।

उदाहरण—दधि+ङि, (इ=अन्)—दधन्+इ ('विभाषा ङिश्योः' से विकल्प से 'अ' का लोप)=दध्नि। लोप न होने पर—दधनि। शेष रूपों की सिद्धि 'वारि' शब्द के समान होगी।

इकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'दधि' शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि	पं०	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
द्वि०	दधि	दधिनी	दधीनि	ष०	दध्नः	दध्नोः	दध्नाम्
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः	स०	दध्नि, दधनि	दध्नोः	दधिषु
च०	दध्ने	दधिभ्याम्	दधिभ्यः	सं०	हे दधे!, हे दधि	हे दधिनी	हे दधीनि

इसी प्रकार अस्थि, सक्थि और अक्षि शब्दों के रूप जाने जायें। सुधि (शोभना धीर्यस्येति तत्कुलम्=सुबुद्धि युक्त कुल) शब्द के भी प्रथमा व द्वितीया विभक्ति में सुधि, सुधिनी, सुधीनि रूप बनते हैं। सम्बोधन एकवचन 'सु' में भी वारि शब्द की तरह 'हे सुधे!, हे सुधि' दो रूप होते हैं। सुधी+टा, ('यहाँ पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में शोभनध्यानकर्तृत्व रूप प्रवृत्ति-निमित्त समान होने के कारण 'तृतीयादिषु०' से विकल्प से पुंवद्भाव होकर 'इयङ्' आदेश)—सुधिया। पुंवद्भाव के अभाव में नुम् होकर—सुधिना। इसी प्रकार 'ङे' विभक्ति में—सुधिये-सुधिने' रूप बनेंगे।

एग्घ्रस्वादेशे १।१।४८। आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु मध्ये एच इगेव स्यात्। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि। प्रद्युना इत्यादि। प्ररि। प्ररिणी। प्ररीणि। प्ररिणा। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्'। प्रराभ्याम्। प्ररीणाम्। सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुना—इत्यादि।

इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः॥

---

(२७१) **एच इति।** आदिश्यते इत्यादेशः कर्मणि घञ्। 'आदेशे' इति निर्धारणे सप्तमी। सौत्रमेकवचनमिति। तदाह—'**आदिश्यमानेष्वि**'ति। **प्रद्यु इति।** प्रकृष्टा द्यौर्यस्येति विग्रहः। प्रद्योशब्दात् सौ 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्ये'ति ह्रस्वे 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति एज्रूपस्यौकारस्य उकारे कृते 'प्रद्यु+सु' इति जाते, 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लोपे 'प्रद्यु' इति।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

उकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों में—(१) मधु+सु (सु का लोप)=मधु। (२) मधु+औ (औ=शी (ई) और नुम्)=मधुनी। (३) मधु+जस् (जस्=शि (इ), नुम्, उपधादीर्घ)=मधूनि। सम्बोधन के एकवचन 'सु' में 'हे मधो !' तथा 'हे मधु !' वारि शब्द की तरह दो रूप बनते हैं। इसी प्रकार अम्बु (जल) आदि शब्दों के रूप होते हैं। (१) ऋकारान्त नपुंसकलिङ्ग धातृ (=धारण करनेवाला) शब्द से प्रथमा एकवचन सु–धातृ+सु (सु का लोप) =धातृ। (२) धातृ+औ (औ=शी, नुम्, णत्व)=धातृणी। (३) धातृ+जस् (जस्=शि, नुम्, उपधादीर्घ, णत्व)=धातॄणि। (४) हे धातृ+सु ('न लुमता०' से निषेध के अनित्य होने से पक्ष में गुण, रपर र्=:, 'स्' का लोप)=हे धातः। गुण के अभाव में—(सम्बुद्धि लोप) हे धातृ ! (५) धातृ+टा (आ)—('तृतीयादिषु' से विकल्प से पुंवद्भाव, यण्)=धात्रा। पुंवद्भाव न होने पर (नुम् तथा णत्व)=धातृणा। (६) धातृ+आम् (नुट्, 'नामि' से दीर्घ, णत्व)=धातॄणाम्।

इसी तरह ज्ञातृ (जानने वाला), कर्तृ (करने वाला) आदि शब्दों के रूप भी बनेंगे।

(२७१) पद—एचः, इक्, ह्रस्वादेशे। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—आदिश्यमान ह्रस्व होने पर एच् के स्थान में इक् ही ह्रस्व होता है। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि इत्यादि।

विमर्श—यह नियमसूत्र है। ह्रस्व का विधान होने पर एच्=ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर इक्=इ, उ, ऋ, ऌ ही ह्रस्व होता है।

उदाहरण—(१) प्रद्यो+सु, ('ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से ह्रस्व 'एच इग्घ्रस्वादेशे' नियम से ओ=उ) प्रद्यु+सु ('सु' का लोप—'स्वमोर्नपुंसकात्')=प्रद्यु। (२) प्रद्यो+औ, (ह्रस्व ओ=उ, औ=शी) प्रद्यु+ई, (नुम्)=प्रद्युनी। (३) प्रद्यो+जस् (जश्=शि, ह्रस्व), प्रद्यु+इ (नुम्, उपधादीर्घ)=प्रद्यूनि। प्रद्यो+टा (ओ=उ ह्रस्व) प्रद्यु+आ (नुम्)=प्रद्युना।

अथ हलन्तपुंल्लिङ्गाः

(२७२) हो ढः ८।२।३१। हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। 'हल्ङ्याबि'ति सुलोपः। पदान्तत्वाद्धस्य ढः। जश्त्वचर्त्वे। लिट्–लिड्। लिहौ–२। लिहः। लिड्-

---

(२७२) **हो ढ इति।** ह इति पदं षष्ठ्यन्तम्। अत्र पदस्येत्यधिक्रियते। 'झलो झलि' इत्यतः 'झली'ति, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यतोऽन्ते इत्यनुवर्तते। तदाह—**हस्येति।** झलि परतः पूर्वस्य हकारस्य, पदान्ते विद्यमानस्य हकारस्य च ढत्वमिति भावः। **लिडिति।** 'लिह् आस्वादने' इत्यतः कर्तरि क्विप्। प्रत्ययलक्षणेन कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वे सौ, तस्य लोपे प्रत्ययलक्षणेन पदत्वम् **'हो ढः'** इति हस्य ढत्वे 'झलां जश् झशि' इति ढस्य जश्त्वेन डकारे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'लिट्' इति। पक्षे 'लिडि'ति।

ऐकारान्त 'प्रै' शब्द में ह्रस्व होने पर—(१) प्ररि+सु (सु का लुक्)=प्ररि (अधिक धनवान्)। (२) औ—प्ररिणी। (३) जस्—प्ररीणि। (४) टा—प्ररिणा। (५) प्ररि+भ्याम् (एकदेशविकृतन्याय से ऐ को इ में परिवर्तित हो जाने पर भी 'रायो हलि' से रै=आत्व) =प्राराभ्याम्। (६) प्ररि+आम् ('नुमचिर०' वार्तिक के आश्रयण से 'नुट्' का आगम, दीर्घ तथा णत्व होकर)=प्ररीणाम्।

औकारान्त 'सुनौ' शब्द (शोभना नौर्यस्य—सुन्दर नौका वाला) के रूपों की रचना-प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) सुनौ+सु (औ=उ ह्रस्व—सुनु+सु, (सु का लुक्)=सुनु। (२) औ—सुनुनी। (३) जस्—सुनूनि। (४) टा—सुनुना इत्यादि। अवशिष्ट रूप 'मधु' शब्द के समान बनते हैं।

अजन्तनपुंसकलिङ्ग-प्रकरण समाप्त।

वर्णसमाम्नाय के अनुसार व्यञ्जनवर्णों में सर्वप्रथम 'ह्' का पाठ होने से यहाँ हकारान्त पुंल्लिङ्ग लिह् (=चाटने वाला) शब्द के रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की जा रही है—

(२७२) पद—हः, ढः। **अनुवृत्ति**—पदस्य, झलि, अन्ते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—झल् परे रहते और पदान्त में हकार के स्थान में ढकार (ढ्) आदेश होता है। 'हल्ङ्याप्०' से सु का लोप। पदान्त होने से ह्=ढ्। जश्त्व, चर्त्व होने पर—लिट्–लिड्। लिहौ। लिहः। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु–लिट्सु।

विमर्श—सूत्रार्थ के लिए—'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'पदस्य' (८।१।१६) का अधिकार है। तदनुसार—झल् प्रत्याहारस्थ वर्णों के परे रहने पर 'ह्' के स्थान में 'ढ्' आदेश होता है तथा पदान्त में स्थित 'ह्' के स्थान में 'ढ्' होता है।

उदाहरण—(१) लिह्+सु (स्), ('हल्ङ्याप्०' से विभक्ति लोप) लिह्, (पदान्त में ह्=ढ्)—लिढ्, (ढ्=ड्—'झलां जशोऽन्ते') लिड्, (ड्=ट् विकल्प से—'वाऽवसाने')= लिट्। पक्ष में—लिड्। (२) लिह्+औ=लिहौ। (३) लिह्+जस् (अस्)—लिहस् (स्= र्, र्=ः)=लिहः। (४) लिह्+भ्याम् (ह्=ढ्=ड्)=लिड्भ्याम्। (५) लिह्+सुप्

भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु। (२७३) दादेर्धातोर्घः ८।२।३२। झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः। (२७४) एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ८।२।३७। धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष्, से ध्वे पदान्ते च। इह व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद्भष्भावः। जश्त्वचर्त्वे। धुक्-धुग्। दुहौ। दुहः। दुहा। धुग्भ्याम्।

---

(२७३) **दादेर्धातोरिति**। अत्र 'हो ढः' इत्यतो ह इति, 'झलो झलि' इत्यतो 'झली'ति, 'स्कोः संयोगाद्योः०' इत्यतोऽन्ते इति चानुवर्तते। पदस्येत्यधिकृतम्। दादिपदं चौपदेशिकदादिपरमित्याह—**झलीत्यादिना**।

(२७४) **एकाचो बशो**। स् च ध्व् चेति विग्रहे द्वन्द्वः। बश इति स्थानषष्ठी। 'दादेर्धातोः०' इत्यतो धातोरित्यनुवृत्तमवयवावयविभावसम्बन्धेन एकाचि सम्बध्यते। झषन्तस्येत्यभेदेनैकाचो विशेषणम्। पदस्येत्यधिकृतम्। 'स्कोः' इत्यतः अन्ते चेत्यनुवर्तते। तदाह—**धातोरवयव इत्यादिना**। **व्यपदेशिवद्भावेनेति**। विशिष्टोऽपदेशो व्यपदेशः=मुख्यव्यवहारः, सोऽस्याऽस्तीति व्यपदेशी, तेन तुल्यं व्यपदेशिवत्। धातावेव धात्ववयवत्वव्यवहारो गौणः, 'राहोः शिरः' इत्यादिवत्—अमुख्ये मुख्यव्यवहार इति यावत्। **धुगिति**। दुह् प्रपूरणे' इत्यस्माद् क्विप्। 'दुह्+स्' इत्यत्र सलोपे 'हो ढः'

(सु), (ह्=ढ्)—लिढ्+सु, (ढ्=ड्—'झलां जशोऽन्ते')—लिड्+सु (धुट् (ध्) का आगम—'डः सि धुट्') लिड्+ध्+सु (ड्=ट्, पुनः ध्=त्—'खरि च')=लिट्त्सु। धुट् आगम वैकल्पिक होने से पक्ष में—लिट्सु।

(२७३) पद—दादेः, धातोः, घः। **अनुवृत्ति**—पदस्य, हः, झलि, अन्ते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—झल् परे रहते और पदान्त में—उपदेश अवस्था में दकारादि धातु के अवयव 'ह्' के स्थान में 'घ्' आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'हो ढः' (२७२) से 'हः' 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' तथा 'स्कोः०' (८।२।२९) से 'अन्ते' की अनुवृत्ति की जा रही है। 'पदस्य' का अधिकार है। यह सूत्र 'हो ढः' का अपवाद है। इस प्रकार—झल् वर्णों के परवर्ती रहने पर अथवा पदान्त में विद्यमान दकारादि धातु के 'ह' के स्थान में 'घ्' होता है।

(२७४) पद—एकाचः, बशः, भष्, झषन्तस्य, स्ध्वोः। **अनुवृत्ति**—पदस्य, धातोः, अन्ते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सकार या 'ध्व' शब्द के परे रहते अथवा पदान्त में—धातु का अवयव जो एकाच् झषन्त, तदवयव बश् के स्थान में 'भष्' आदेश होता है। व्यपदेशिवद्भाव से धातु का अवयव माने जाने से भष्भाव हुआ। जश्त्व, चर्त्व होने से—धुक्-धुग्। दुहौ। दुहः। दुहा। धुग्भ्याम्। धुक्षु।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'दादेर्धातोर्घः' (२७३) से 'धातोः' 'स्कोः०' से 'अन्ते' की अनुवृत्ति आती है। अवयवषष्ठ्यन्त 'धातोः' पद का सम्बन्ध 'एकाचः' के साथ होता है। 'झषन्तस्य' भी 'एकाचः' का विशेषण है। 'पदस्य' का अधिकार है। इस प्रकार 'स्' या 'ध्व' के परवर्ती होने पर अथवा पदान्त में जो झषन्त एकाच् धातु, उसका अवयव बश् (ब्, ग्, ड्, द्) वर्णों के स्थान में भष् (भ्, ढ्, ध्) आदेश होते हैं।

धुक्षु । (२७५) वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८।२।३३ । एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च । ध्रुक्-ध्रुग्, ध्रुट्-ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम्-ध्रुड्भ्याम् । ध्रुक्षु-ध्रुट्त्सु-

---

इति ढत्वे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'दादेधातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशो०' इत्यनेन दस्य धत्वे 'धुघ्' इति जाते 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'धुक्' इति । पक्षे 'धुगि'ति रूपम् ।

(२७५) **वा द्रुह इति ।** अत्र 'दादेरि'त्यतो घ इति, धातोरिति, झलीति, पदस्येति हस्येति च पूर्ववदनुवर्तते । तदाह—**एषामिति ।**

उदाहरण—(१) दुह्+सु, (ह्=घ्—'दादेर्धातोर्घः' स् का लोप) दुघ् (यहाँ दुह् धातु एकाच् है; धातु का अवयव एकाच् नहीं है। अतः धातु में धात्ववयव का गौण व्यवहार कर (व्यपदेशिवद्भाव से) 'दुघ्' को झषन्त एकाच् मानकर भष्भाव से (द्=ध्) धुघ् , (जश्त्व घ्=ग्)=धुग् । चर्त्व (ग्=क्—'वाऽवसाने')=धुक् । पक्ष में-धुग् । (२) दुह्+औ=दुहौ । (३) दुह्+जस् (अस्)—दुहस् (स्=र्, र्=ः)=दुहः । (४) दुह्+भ्याम् (ह्=घ्—'दादेः०') दुघ्+भ्याम्, (द्=ध्—भष्भाव) धुघ्+भ्याम् (घ्=ग्—'झलां जशोऽन्ते')= धुग्भ्याम् । (५) दुह्+सुप् (सु) (ह=घ्)—दुघ्+सु (द्=ध्—भष्भाव) धुघ्+सु (जश्त्व घ्=ग्) धुग्+सु (ग्=क्—चर्त्व—'खरि च') धुक्+सु (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः') (क्+ष्=क्ष्)=धुक्षु ।

हकारान्त पुँल्लिङ्ग दुह् शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धुक्-धुग्	दुहौ	दुहः	पं०	दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
द्वि०	दुहम्	दुहौ	दुहः	ष०	दुहः	दुहोः	दुहाम्
तृ०	दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः	स०	दुहि	दुहोः	धुक्षु
च०	दुहे	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः	सं०	हे धुक्-धुग्	हे दुहौ	हे दुहः

(२७५) पद—वा, द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् । **अनुवृत्ति**—पदस्य, झलि, अन्ते, घः । **विधिसूत्र** (विकल्प) ।

मूलार्थ—झल् परे रहते अथवा पदान्त में द्रुह्, मुह्, ष्णुह् और ष्णिह् के 'ह्' को 'घ्' विकल्प से होता है। ध्रुक्-ध्रुग्, ध्रुट्-ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम्-ध्रुड्भ्याम् । ध्रुक्षु-ध्रुट्त्सु-ध्रुट्सु ।

विमर्श—सूत्रार्थ के लिए—'झलो झलि' से 'झलि', 'स्कोः' से 'अन्ते' तथा 'दादेर्धातोर्घः' से 'घः' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'पदस्य' का अधिकार है। इस प्रकार—झल् वर्णों के परवर्ती रहने पर अथवा पदान्त में स्थित होने पर द्रुह् (=द्रोही), मुह् (=मुग्ध), ष्णुह् (=वमन करने वाला) तथा ष्णिह् (=प्रिय) शब्दों के 'ह्' के स्थान में 'घ्' आदेश विकल्प से होता है।

उदाहरण—(१) द्रुह्+सु (विभक्ति का लोप) द्रुह् (ह्=घ् आदेश विकल्प से—'वा द्रुह०') द्रुघ् (द्=ध्—'एकाचो बशो०') ध्रुघ्, (घ्=ग्—'जश्त्व') ध्रुग् (ग्=क् चर्त्व—'वाऽवसाने')=ध्रुक् । चर्त्व के अभाव में—ध्रुग् । घ् न होने पर पक्ष में 'हो ढः' से ह्=ढ् (जश्त्व तथा विकल्प से चर्त्व होकर)=ध्रुट्-ध्रुड् । (२) द्रुह्+औ=द्रुहौ । (३) द्रुह्+जस् (अस्), द्रुहस् (स्=र्, र्=ः)=द्रुहः । (४) द्रुह्+भ्याम् (ह्=घ् विकल्प से) द्रुघ्+भ्याम् (द्= ध्-भष्भाव) ध्रुघ्+भ्याम् (घ्=ग्—जश्त्व)=ध्रुग्भ्याम् । ह्=घ् न होने पर पक्ष में 'हो ढः' से

ध्रुट्सु । एवं मुहः । (२७६) धात्वादेः षः सः ६।१।६४ । उपदेशे धातोरादेः षस्य सः स्यात् । स्नुक्-स्नुग् । स्नुट्-स्नुड् । एवं ष्णिहः । **(२७७) इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५ ।** यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् सः सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात् । **(२७८) वाह ऊठ् ६।४।१३२ ।** भस्य वाहः सम्प्रसारणमूठ् । **(२७९) सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८ ।**

---

(२७६) **स्नुगिति ।** ष्णुह् धातोः षस्य सत्वे, निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इति 'ण्' इत्यस्य स्थाने नत्वम् । स्नुह्+सु' इत्यत्र सुलोपे 'वा द्रुह०' इत्यादिना हस्य घत्वे जश्त्वे 'वाऽवसाने' इति विभाषया चर्त्वे स्नुक् इति । चर्त्वाभावे स्नुगिति । घत्वाभावे च 'हो ढः' इति ढत्वे, जश्त्वे, विकल्पेन चर्त्वे 'स्नुट्' इति । चर्त्वाभावपक्षे 'स्नुड्' इति रूपम् ।

(२७८) **वाह ऊर्ठिति ।** अत्र 'भस्ये'त्यधिकृतम् । 'वसोः सम्प्रसारणमि'त्यतः 'सम्प्रसारणमि'त्यनुवर्तते । तच्च ऊठि अभेदेनान्वेति । तदाह—**भस्य इत्यादि ।**

(२७९) **सम्प्रसारणाच्चेति ।** अत्र 'इको यणचि' इत्यतोऽचीति, 'अमि पूर्वः'

ह्=ढ्, जश्त्व से (ढ्=ड्)=ध्रुड्भ्याम् । (५) द्रुह्+सुप् (सु), (ह्=घ् विकल्प से—'वा द्रुह०') द्रुघ्+सु (द्=ध्—भष्भाव) ध्रुघ्+सु, (घ्=ग्—जश्त्व) ध्रुग्+सु, (ग्=क्—चर्त्व 'खरि च') ध्रुक्+सु, (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः') (क्+ष्=क्ष)=ध्रुक्षु । घत्वाभाव पक्ष में ('हो ढः' से ह्=ढ्, जश्त्व से ढ्=ड्) ध्रुड्+सु, (धुट् (ध्) का आगम—विकल्प से)—ध्रुड्+ध्+सु, (ड्=ट्, ध्=त्—खरि च)=ध्रुट्त्सु । धुट् आगम न होने पर—ध्रुट्सु । इसी प्रकार मुह् आदि शब्दों के रूप भी बनते हैं ।

(२७६) पद—धात्वादेः षः सः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपदेश अवस्था में धातु के आदि 'ष्' के स्थान में 'स्' आदेश होता है ।

विमर्श—सूत्र पूर्ण है । (१) ष्णुह्+सु (विभक्ति का लोप) ष्णुह् (ष्=स्—'धात्वादेः षः सः') स्णुह् ('निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' अर्थात् निमित्त **(कारण)** ष् के हट जाने पर नैमित्तिक (कार्य) णत्व भी हट गया)=स्नुह् (ह्=घ् विकल्प से—'वा द्रुह०') स्नुघ् (घ्=ग् जश्त्व, 'वाऽवसाने' से चर्त्व विकल्प से)=स्नुक् । पक्ष में—स्नुग् । घत्व के अभाव पक्ष में ('हो ढः' से ह्=ढ्, जश्त्व से ढ=ड्, 'वाऽवसाने' से चर्त्व विकल्प से ड्=ट्)=स्नुट् । चर्त्व के अभाव में—स्नुड् । इसी प्रकार 'ष्णिह्' शब्द के रूप बनेंगे ।

(२७७) पद—इक्, यणः, सम्प्रसारणम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—'यण्' के स्थान में होने वाले 'इक्' की सम्प्रसारण संज्ञा होती है ।

विमर्श—यण्=य्, व्, र्, ल् तथा इक्=इ, उ, ऋ, लृ की संख्या समान होने से य् के स्थान में स्थानकृत सादृश्य से क्रमानुसार इ, व्=उ, ऋ=र् तथा लृ=ल् सम्प्रसारणसंज्ञक होंगे ।

(२७८) पद—वाहः, ऊठ् । **अनुवृत्ति**—भस्य, सम्प्रसारणम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—भसंज्ञक 'वाह्' को सम्प्रसारणसंज्ञक 'ऊठ्' आदेश होता है ।

विमर्श—'भस्य' (६।४।१२९) का अधिकार है । 'वसोः सम्प्रसारणम्' (६।४।१३१) सूत्र से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "भसंज्ञक 'वाह्' शब्द के 'व्' के स्थान पर 'ऊठ्' (ऊ) सम्प्रसारण होता है ।"

(२७९) पद—सम्प्रसारणात् च । **अनुवृत्ति**—पूर्वः, अचि, एकः पूर्वपरयोः । **विधिसूत्र ।**

सम्प्रसारणादचि परे पूर्वरूपमेकादेशः । वृद्धिः । विश्वौहः । इत्यादि । (२८०) चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८ । सर्वनामस्थाने । (२८१) सावनडुहः ७।१।८२ । अस्य

इत्यतः पूर्वं इति चानुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिक्रियते । तदाह—**सम्प्रसारणादचीत्यादि । विश्वौह इति ।** विश्ववाह्शब्दाच्छसि शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'इग्यणः सम्प्रसारणमि'ति यणः स्थाने इग्रूपस्य सम्प्रसारणसंज्ञायां 'वाह ऊठ्' इत्यनेन वकारस्य सम्प्रसारणे ऊकारे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपैकादेशे 'विश्व+ऊह्+अस्' इति जाते 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धौ संयोगे च कृते सस्य रुत्वे विसर्गे 'विश्वौहः' इति ।

(२८०) **चतुरनडुहोरामिति ।** अत्र 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने' इत्यनुवर्तते । चतुरनडुहोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे स चोदात्त इत्यर्थः ।

मूलार्थ—सम्प्रसारण से अच् परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । विश्वौहः । इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ हेतु यहाँ 'अमि पूर्वः' (१५२) से 'पूर्वः' तथा 'इको यणचि' (१५) से अचि की अनुवृत्ति आती है । 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८३) का अधिकार है । तदनुसार सम्प्रसारण (इ, उ, ऋ, लृ) के पश्चात् अच् वर्ण के परे रहते पूर्व-पर वर्णों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है ।

उदाहरण—विश्ववाह् (=परमात्मा) +शस् (अस्), ('इग्यणः सम्प्रसारणम्' से सम्प्रसारण संज्ञा होने पर 'वाह ऊठ्' से व=ऊठ् (ऊ)—सम्प्रसारण) विश्व+ऊ+आह्+अस्, (ऊ+आ=ऊ—पूर्वरूप 'सम्प्रसारणाच्च')—विश्व+ऊह्+अस् (अ+ऊ='औ' वृद्धि—'एत्येधत्यूठ्सु')—विश्वौह स् (स्=रुत्व-विसर्ग)=विश्वौहः ।

हकारान्त पुंल्लिङ्ग 'विश्ववाह्' (ईश्वर) शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	विश्ववाट्-ड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः	पं०	विश्वौहः	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः
द्वि०	विश्ववाहम्	विश्ववाहौ	विश्वौहः	ष०	विश्वौहः	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
तृ०	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः	स०	विश्वौहि	विश्वौहोः	विश्ववाट्त्सु, विश्ववाट्सु
च०	विश्वौहे	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः	सं०	हे विश्ववाट्-ड्	हे विश्ववाहौ	हे विश्ववाहः

इसी प्रकार पृष्ठवाह्, भारवाह् इत्यादि शब्दों के रूप बनेंगे ।

(२८०) पद—चतुरनडुहोः, आम्, उदात्तः । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सर्वनामस्थान परे रहते 'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्द को 'आम्' का आगम होता है और वह उदात्त भी होता है ।

विमर्श—यहाँ 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से 'सर्वनामस्थाने' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार चतुर् (=चार) और अनडुह् (=बैल) शब्द को आम् आगम होता है, सर्वनामस्थानसंज्ञक (सु, औ, जस्, अम्, औट्) प्रत्यय के परवर्ती रहने पर । 'आम्' में 'म्' की इत्संज्ञा होने के कारण 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा की उपस्थिति से अन्त्य अच् से परे 'आ' होगा ।

नुम् स्यात्सौ परे। 'आच्छीनद्योरि'ति सूत्रादादित्यधिकारादवर्णात् परोऽयं नुम्। अतो विशेषविहितेनापि नुमा आम् न बाध्यते। आमा नुम् न बाध्यते। सुलोपः। संयोगान्तस्य लोपः। नुम्विधिसामर्थ्याद्वसुस्रंस्विति दत्वं न। संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न। अनड्वान्। (२८२) अम् सम्बुद्धौ ७।१।९९। चतुरनडुहोः अम् स्यात् सम्बुद्धौ

---

(१८१) सावनडुह इति। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इत्यतो 'नुमि'त्यनुवर्तते। तदाह—अस्येति। अनडुह्शब्दस्येत्यर्थः। अनड्वानिति। 'अनुडुह्+स्' (सु) इति स्थिते 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यनेनामागमेऽनुबन्धलोपे 'अनडु+आ+ह+स्' इति जाते 'सावनडुहः' इति नुमि उमिगते अनडु 'आ न् ह स्' इति जाते, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इति सस्य लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनेन हकारस्य लोपे, यणि कृते अनड्वान् इत्यत्र 'नलोपः' इति नलोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धमि'ति संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात् लोपाभावे 'अनड्वान्' इति सिद्धम्।

(२८२) अमिति। 'चतुरनडुहोः' इत्यनुवर्तते। तदाह—चतुरनडुहोरिति। हे अनड्वन्निति। 'अम्सम्बुद्धावि'ति अम्, यण्, नुम्, सुलोपः संयोगान्तलोपश्च।

---

(२८१) पद—सौ, अनडुहः। **अनुवृत्ति**—नुम्, आत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सु' के परवर्ती रहने पर 'अनडुह्' शब्द को नुम् का आगम होता है। 'आच्छीनद्योः' से अनुवृत्त 'आत्' अधिकार होने के कारण यह नुम् अवर्ण से परे होता है। विशेष विधान होने के कारण 'नुम्' आम् का बाधक नहीं होता। अम् भी नुम् का बाधक नहीं होता है। सु का लोप। संयोगान्त लोप। नुम्-विधान के सामर्थ्य से 'वसुस्रंसु०' सूत्र से द् भी नहीं होता। संयोगान्त लोप असिद्ध होने के कारण 'नलोपः' से न लोप भी नहीं होता। अनड्वान्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७।१।८०) से 'नुम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार सु विभक्ति के परे रहते 'अनडुह्' शब्द को नुम् का आगम होता है। यह 'नुम्' मित् होने से अन्त्य अच् से परे होना चाहिए था। परन्तु यहाँ 'आच्छीनद्योर्नुम्' से अधिकार के रूप में 'आत्' पद की अनुवृत्ति आने से अनडुह् शब्द के अन्तिम अवर्ण से पर में नुम् (न्) होगा। अतः नुम् होने से पूर्व आ (आम्) किया जाता है। नुम् के प्रवृत्त होने में आम् उपजीव्य है। इस प्रकार नुम् शास्त्र में विशेषता होने पर भी वह आम्-विधायक शास्त्र का बाधक नहीं होता। सम्बोधन के एकवचन सु में होने वाला अम् भी नुम् का बाधक नहीं होता है।

उदाहरण—(१) अनडुह्+सु (स्) (अन्तिम अच् 'उ' के पश्चात् आम् (आ) का आगम—'चतुरनडुहोराम्०') अनडु+आह्+स्, (उ=व्—'यण्') अनड्वा+ह्+स्, (आ से पर 'नुम्'—'सावनडुहः') अनड्वा न् ह् स्, (स्—विभक्तिलोप)—अनड्वान् ह् (ह् का संयोगान्त लोप)=अनड्वान्। (यहाँ 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'संयोगान्तस्य लोपः' के असिद्ध हो जाने से 'नलोपः०' से 'न्' का लोप नहीं होता।

(२८२) पद—अम्, सम्बुद्धौ। **अनुवृत्ति**—चतुरनडुहोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सम्बुद्धिसंज्ञक प्रत्यय के परे रहते चतुर् और अनडुह् शब्द को अम् का आगम होता है।

विमर्श—यहाँ 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' (७।१।९८) से 'चतुरनडुहोः' की अनुवृत्ति आ रही

परतः । हे अनड्वन् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । अनडुहः । (२८३) **वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२ । सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् ? विद्वान् । पदान्ते किम् ? स्रस्तम् । ध्वस्तम् । (२८४)**

---

(२८३) वसुस्रंस्विति । अत्र वसोः प्रत्ययत्वेन 'प्रत्ययग्रहणे' इति परिभाषया तदन्तं गृह्यते । 'ससजुषो रुः' इत्यतः स इति लुप्तषष्ठ्यन्तं पदमनुवृत्तम्, तेन वसुर्विशेष्यते । तदन्तविधिः । सान्तत्वं स्रंसादेर्न विशेषणम् । अव्यभिचारात् सर्वत्र सान्तत्वस्यैव सत्वात् । पदस्येत्यधिकृतम् । फलितार्थमाह—**सान्तेत्यादि ।**

है । तदनुसार सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन) परवर्ती रहने पर चतुर् और अनडुह् शब्द को अम् (अ) का आगम होता है । यह सूत्र 'आम्' का अपवाद है ।

उदाहरण—(२) हे अनडुह्+सु (स्), ('उ' के बाद 'अम्' का आगम) अनडु+अह्+स्, (उ=व्—यण्) अनड्व ह् स्, (नुम् का आगम—'सावनडुहः') अनड्वन् ह् स्, (स् का लोप) अनड्वन् ह् (ह् का लोप—'संयोगान्तस्य लोपः') हे अनड्वन् ! (३) अनडुह्+औ ('आम्' का आगम) अनडु आह्+औ, (उ=व्—'यण्') अनड्वाहौ । (४) अनडुह्+जस् (अस्) (आम्—आगम) अनडु—आह्+अस्, (उ=व्) यण्—अनड्वाह स् (स्=रुत्व-विसर्ग)=अनड्वाहः । (५) अनडुह्+शस् (अस्), (सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्ति न होने से आम् नहीं) अनडुहस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=अनडुहः ।

(२८३) पद—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां, दः । **अनुवृत्ति**—पदस्य, सः, अन्ते । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त में सान्त वसु प्रत्ययान्त और स्रंसु आदि को द् आदेश होता है । अनडुद्भ्यामित्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'ससजुषो रुः' से 'सः' (षष्ठ्यन्त) की अनुवृत्ति आती है । 'पदस्य' का अधिकार है । उसे बहुवचन में परिवर्तित कर दिया जाता है । 'सः' पद 'वसु' का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है । 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से अनुवृत्त 'अन्ते' पद के साथ 'पदानाम्' का योग होता है । तदनुसार—'पदान्त में सकारान्त वसु प्रत्ययान्त शब्द, स्रंस्, ध्वंस् तथा अनडुह् के अन्तिम वर्ण के स्थान पर 'द्' आदेश होता है ।'

उदाहरण—(६) अनडुह्+भ्याम् (हलादि विभक्ति (भ्याम्) के परे होने पर 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'अनडुह्' की पद संज्ञा होने पर ह्=द्—'वसु०')=अनडुद्भ्याम् ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में सान्त पद वसु-प्रत्ययान्त का विशेषण है । अत एव वसु-प्रत्ययान्त 'विद्वान्' रूप सिद्ध पर यह सकारान्त न होने के कारण 'न्' के स्थान पर द् नहीं हुआ । (२) पदान्त में 'स्' होने की अपेक्षा होने से स्रस्तम्, ध्वस्तम् में 'क्त' प्रत्यय के बाद 'स्' पदान्त में न होने 'द्' नहीं हुआ ।

अनडुह् (=बैल) शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः	पं०	अनडुहः	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
द्वि०	अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनडुहः	ष०	अनडुहः	अनडुहोः	अनडुहाम्
तृ०	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः	स०	अनडुहि	अनडुहोः	अनडुत्सु
च०	अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः	सं०	हे अनड्वन्	हे अनड्वाहौ	हे अनड्वाहः

सहेः साडः सः ८।३।५६। साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। तुराषाट्-तुराषाड्। तुरासाहौ। तुराषाड्भ्यामित्यादि। **(२८५) दिव औत् ७।१।८४।** दिविति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात्सौ। सुद्यौः। सुदिवौ। **(२८६) दिव उत् ६।१।१३१।** दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते। सुद्युभ्यामित्यादि। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः।

---

(२८४) **सहेः साड इति।** 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' इत्यधिकृतम्। 'षह मर्षणे' इत्यस्माद्धातोरिक्प्रत्यये 'धात्वादेः०' इति षस्य सत्वे सहिपदम्। षह्धातोरित्यर्थः। सूत्रे साडिति कृतढत्वडत्ववृद्धेरनुकरणम्। तदाह मूले—**साड्रूपस्येति।** साड्रूपतामापन्नस्य सह्धातोरित्यर्थः। **तुराषाट् इति।** 'तुरासाह्+स्' इत्यत्र सलोपे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे तस्य जश्त्वेन डत्वे 'सहेः साडः सः' इति साड्रूपस्य सकारस्य षत्वे 'वाऽवसाने' इत्यनेन विकल्पेन चर्त्वे 'तुराषाट्' इति। चर्त्वाभावे तुराषाडिति।

(२८५) **दिव औदिति।** दिव इत्यनेनाव्युत्पन्नस्य 'दिवेर्डिविः' इत्युणादिनिष्पन्नस्य ग्रहणम्। 'सावनडुहः' इत्यतः सावित्यनुवर्तते। तदाह—**दिविति।**

(२८६) **दिव उदिति।** अत्र 'एङः पदान्तादति' इत्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते, तच्च सप्तम्या विपरिणम्यते। तदाह—**दिवोऽन्तादेश इत्यादिना।**

---

(२८४) पद—सहेः, साडः, सः। **अनुवृत्ति**—मूर्द्धन्यः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सह् के साड्रूप में परिवर्तित हो जाने पर सकार के स्थान में मूर्धन्य (षकार) हो जाता है।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' (८।३।५५) से 'मूर्द्धन्यः' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार जब सह् धातु 'साड्' रूप में परिवर्तित हो जाय तब उस 'स्' के स्थान पर मूर्द्धन्य (ष्) हो जाता है।

उदाहरण—(१) तुरासाह्+सु (स्), (विभक्ति स् का लोप) तुरासाह्, (ह्=ढ्)—तुरासाढ्, (ढ्=ड्) तुरासाड्, ('साड्' के स्=ष्) तुराषाड् ('वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व ड्=ट्)=तुराषाट्। पक्ष में—तुराषाड्। (२) तुरासाह्+औ=तुरासाहौ। (३) तुरासाह्+भ्याम्, (ह=ढ, ढ्=ड्—'जश्त्व') तुरासाड्+भ्याम् (स्=ष्)=तुराषाड्भ्याम्।

(२८५) पद—दिवः, औत। **अनुवृत्ति**—सौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सु' के परवर्ती होने पर दिव् शब्द को औकार अन्तादेश होता है। सुद्यौः। सुदिवौ।

विमर्श—यहाँ 'सावनडुहः' (२८१) सूत्र से 'सौ' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से 'सु' (प्रथमा एकवचन) के पर होने पर दिव् शब्द के व् केस्थान पर 'औ' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) सुदिव्+सु (स्), (व्=औ) सुदि+औ+स् (इ=य्—'यण्') सुद्यौ स् (स्=रुत्व-विसर्ग)=सुद्यौः। (२) सुदिव्+औ=सुदिवौ।

(२८६) पद—दिवः, उत। **अनुवृत्ति**—पदान्तात। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त में दिव् शब्द के उकार अन्तादेश होता है। सुद्युभ्याम्—इत्यादि। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः।

चतुर्भ्यः-२। **(२८७) षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५।** एभ्य आमो नुडागमः स्यात्। **(२८८) रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१। चतुर्णाम्। (२८९) रोः सुपि ८।३।**

---

(२८७) **षट्चतुर्भ्यश्चेति।** अत्र 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इत्यतः 'आमी'त्यनुवर्तते षष्ठ्यन्तेन विपरिणम्यते च। षडिति पदेन षट्संज्ञकमेव गृह्यते। 'ह्रस्वनद्यापो नुडि'-त्यतः 'नुट्' इत्यनुवर्तते। तदाह—**एभ्य इत्यादि।**

(२८८) **चतुर्णामिति।** चतुर्शब्दादामि 'षट्चतुर्भ्यश्चे'ति आमो नुडागमेऽनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे 'चतुर् न् आम्' इति जाते 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति णत्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति णकारस्य द्वित्वे कृते चतुर्ण्णामिति।

(२८९) रोः सुपीति। 'खरवसानयोः' इत्यतः 'खरि' इतिं, 'विसर्जनीयः' इति

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'एङः पदान्तादति' (४८) से 'पदान्तात्' की अनुवृत्ति आ रही है, जो सप्तम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार 'पदान्त में स्थित दिव् के 'व्' के स्थान पर 'उ' हो जाता है।

उदाहरण—(३) सुदिव्+भ्याम् ('सुदिव्' की पदसंज्ञा होने से व्=उ)—सुदि+उ+भ्याम् (इ=य् 'यण्')—सुद्युभ्याम्।

रकारान्त चतुर् (=चार) शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है। यह शब्द बहुवचनान्त है।

(१) चतुर्+जस् (अस्), (उ के बाद आम् (आ)—'चतुरनडुहोः०') चतु आर्+अस्, (उ=व् 'यण्')—चत्वारस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=चत्वारः। (२) चतुर्+शस् (अस्)—चतुरस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=चतुरः। (३) चतुर्+भिस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=चतुर्भिः। (४) चतुर्+भ्यस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=चतुर्भ्यः।

(२८७) पद—षट्, चतुर्भ्यः, च। **अनुवृत्ति**—नुट्, आमि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—षट्संज्ञक और चतुर् शब्द से पर आम् को 'नुट्' का आगम होता है।

विमर्श—यहाँ 'आमि सर्वनाम्नः' (७।१।५२) से 'आमि' (विभक्ति-विपरिणाम द्वारा आमः) तथा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१६५) से 'नुट्' की अनुवृत्ति लाई जाती है। नुट् में टकार की इत्संज्ञा होने से 'आम्' का आद्यवयव होगा। इस प्रकार—'षट्संज्ञक तथा चतुर् शब्द से परवर्ती आम् के आदि में 'न्' आगम होता है।

(२८८) पद—रषाभ्याम्, नः, णः समानपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—समानपद (एक पद) में रेफ और षकार से परे 'न्' के स्थान में 'ण्' आदेश होता है। चतुर्ण्णाम्।

विमर्श—सूत्र स्वतः पूर्ण है।

उदाहरण—(५) चतुर्+आम्, (नुट् का आगम) चतुर्+न् आम्, (न्=ण् 'रषाभ्याम०') चतुर्णाम्, (ण् को विकल्प से द्वित्व—'अचो रहाभ्यां द्वे')=चतुर्ण्णाम्। पक्ष में—चतुर्णाम्।

(२८९) पद—रोः, सुपि। **अनुवृत्ति**—खरि, विसर्जनीयः। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—सप्तमी बहुवचन 'सुप्' विभक्ति के परे रहते 'रु' सम्बन्धी रेफ के स्थान में ही विसर्ग होता है, अन्य रेफ को नहीं। चतुर्षु।

१६। रोरेव विसर्जनीयः सुपि, नान्यरेफस्य। चतुर्षु। (२९०) मो नो धातोः ८।२।६४। पदान्ते। प्रशान्। प्रशामौ। (२९१) किमः कः ७।२।१०३। विभक्तौ। कः। कौ। के। इत्यादि। (२९२) इदमो मः ७।२।१०८। इदमो मस्य मः स्यात्सौ

चानुवर्तते। तेन सुपीत्यनेन सप्तमीबहुवचनस्यैव ग्रहणम्, न तु प्रत्याहारस्य। तत्र 'खरवसानयोः' इत्येव विसर्गे सिद्धे नियमार्थमिदं सूत्रम्। अत एव 'चतुर्षु' इत्यत्र नानेन विसर्गः।

(२९०) **'मो नो धातोः' इति।** पदस्येत्यधिकृतम्। 'स्कोः' इत्यतः 'अन्ते' इत्यनुवर्तते। 'मान्तस्य धातोर्नः स्यात् पदान्ते' इति सूत्रार्थः।

(२९१) **किमः क इति। विभक्ताविति।** 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतस्तदनुवृत्ते-रिति भावः।

(२९२) **इदमो म इति।** अत्र 'तदोः सः सौ' इत्यतः 'सावि'त्यनुवर्तते। 'इदम्' शब्दस्य मस्य मः स्यात् सौ' इत्यर्थः। मकारस्य मकारविधानं 'त्यदादीनामः' इत्यत्व-बाधनार्थम्।

विमर्श—सूत्र में आदेशवाचक पद का अभाव है। अतः 'खरवसानयोः०' (८।३।१५) से 'विसर्जनीयः' पद की अनुवृत्ति आती है। यह नियम सूत्र है। तदनुसार सप्तमी एकवचन सुप् में 'रु' के स्थान पर ही विसर्ग होता है, अन्य रेफ को नहीं।

उदाहरण—(६) चतुर्+सुप् (सु), (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः') चतुर्षु ('खरव-सानयोः०' से र्= : की प्राप्ति 'रोः सुपि' नियम से विसर्ग नहीं हुआ) 'अचो०' से ष् को द्वित्व प्राप्त, उसका 'शरोऽचि' से निषेध)=चतुर्षु।

(२९०) पद—मः, नः, धातोः। **अनुवृत्ति**—पदस्य, अन्ते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त में मान्त धातु के 'म्' के स्थान में 'न्' आदेश होता है। प्रशान्।

विमर्श—'पदस्य' का अधिकार है। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से 'अन्ते' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—पद के अन्त में स्थित धातु सम्बन्धी 'म्' को 'न्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) प्रशाम्+सु, ('सु' विभक्ति का लोप) प्रशाम्, (म्=न्)=प्रशान्। (२) प्रशाम्+औ=प्रशामौ।

(२९१) पद—किमः, कः। **अनुवृत्ति**—विभक्तौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—विभक्ति के पर रहते 'किम्' के स्थान में 'क' आदेश होता है। कः। कौ। के।

विमर्श—यहाँ 'अष्टन आ विभक्तौ' (३२१) से निमित्त-वाचक 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आ रही है। क आदेश (क्+अ) अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'किम्' के स्थान में होगा।

उदाहरण—(१) किम्+सु (स्); (किम्=क)—क+स्, (स्=र्=:)=कः। (२) किम्+औ, (किम्=क)—क+औ (अ+औ='औ'—'वृद्धि')=कौ। (३) किम्+अस्, (किम्=क)—क+जस्, (जस्=शी)—क+ई, (अ+ई='ए'—गुण)=के। शेष रूप सर्व शब्द की तरह बनेंगे।

(२९२) पद—इदमः, मः। **अनुवृत्ति**—सौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सु' के पर रहते 'इदम्' शब्द के 'म्' के स्थान में 'म्' ही आदेश होता है। 'त्यदादीनामः' से प्राप्त अ आदेश का यह अपवाद है।

परे। त्यदाद्यत्वापवादः। (२९३) **इदोऽय् पुंसि ७।२।१११।** इदम इदोऽय् सौ पुंसि। अयम्। त्यदाद्यत्वे। (२९४) **अतो गुणे ६।१।९७।** अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः स्यात्। (२९५) **दश्च ७।२।१०९।** इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ। इमौ। इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः। (२९६) **अनाप्यकः ७।२।११२।**

---

(२९३) **इदोऽयिति।** 'यः सौ' इत्यतः सावित्यनुवर्तते। **अयमिति।** 'इदम् + सु' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इति प्राप्तमकारं प्रबाध्य 'इदमो मः' इति मस्य मकारे कृते 'इदम् + स्' इति स्थिते 'इदोऽय् पुंसि' इति इद्भागस्य अयादेशे, 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सस्य लोपे अयमिति।

(२९४) **अतो गुणे इति।** अत्र 'एङि पररूपमि'त्यतः पररूपमित्यनुवर्तते, 'उस्य-पदान्तादि'त्यत अपदान्तादिति च। तदाह—**अपदान्तादित्यादि।**

(२९५) **दश्चेति।** 'इदमो मः' इत्यत इदम इति, 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतः विभक्ताविति चानुवर्तते। तदाह—**इदमो दस्येत्यादिना। इमाविति।** 'इदम् + औ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इति मस्य अत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'इद + औ' इति जाते 'दश्चे'त्यनेन दकारस्य मकारे वृद्धौ च कृतायाम् 'इमौ' इति रूपम्।

विमर्श—यहाँ 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (७।२।१०६) से 'सौ' पद की अनुवृत्ति आने से—सु विभक्ति के परवर्ती होने पर इदम् शब्द के मकार के स्थान पर 'म्' ही आदेश होता है।

(२९३) पद—इदः, अय्, पुंसि। **अनुवृत्ति**—इदमः, सौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग को 'अय्' आदेश होता है, पुँल्लिङ्ग में 'सु' के परे रहते। अयम्।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'इदमो मः' (२९२) से 'इदमः' तथा 'यः सौ' (७।२।११०) से 'सौ' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार 'पुंल्लिङ्ग में सु विभक्ति के परे रहते 'इदम्' शब्दावयव इद् के स्थान पर 'अय्' आदेश होगा।

उदाहरण—इदम् + सु (इद् = अय्) अय्-अम् + स् ('स्' विभक्ति का लोप) = अयम्।

(२९४) पद—अतः, गुणे। **अनुवृत्ति**—अपदान्तात्, पररूपम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अपदान्त अकार से गुण पर रहते पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'उस्यपदान्तात्' (६।१।९६) से 'अपदान्तात्' तथा 'एङि पररूपम्' से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'पदान्त-भिन्न ह्रस्व अकार से गुणसंज्ञक वर्ण (अ, ए, ओ) पश्चाद्वर्ती रहने पर पूर्व-पर वर्णों के स्थान में परवर्ण रूप एकादेश हो जाता है।

(२९५) पद—दः, च। **अनुवृत्ति**—इदमः, मः, विभक्तौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—विभक्ति के परवर्ती रहने पर 'इदम्' शब्द सम्बन्धी दकार के स्थान में मकार आदेश होता है। इमौ। इमे। त्यदादि शब्दों का सम्बोधन में प्रयोग नहीं होता।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए—'इदमो मः' (२९२) सूत्र तथा 'अष्टन आ०' से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार (सुभिन्न) विभक्ति के परे रहते 'इदम्' शब्द के 'द्' के स्थान पर 'म्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) इदम् + औ (म् = अ 'त्यदादीनामः' इद अ + औ, (अ + अ = 'अ'

अककारस्य इदम इदोऽन्, आपि विभक्तौ । 'आबि'ति प्रत्याहारः । अनेन । (२९७) हलि लोपः ७।२।११३ । अककारस्य इदम इदो लोप आपि हलादौ । * नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे * । (२९८) आद्यन्तवदेकस्मिन् १।१।२१ । एकस्मिन् क्रिय-

---

(२९६) **अनाप्यक इति** । 'अन् + आपि + अकः' इति पदच्छेदः । न विद्यते कोऽस्येति अक् तस्य अकः ककाररहितस्येति भावः । 'इदमो मः' इत्यत इदम इति, 'इदोऽय्०' इत्यतः इद इति, 'अष्टन आ विभक्तावि'त्यतः विभक्ताविति चानुवर्तते । एवं ककाररहितस्य 'इदम्'शब्दस्य यः इद्भागस्तस्य 'अन्' आदेशः स्यादापि विभक्तौ परत इत्यर्थः । **अनेनेति** । 'इदम् + (टा) आ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे पररूपे 'इद + आ' इति जाते 'अनाप्यकः' इत्यद्भागस्य अनादेशे 'आद् गुणः' इति गुणे 'अनेन' इति रूपम् ।

(२९७) **हलि लोप इति** । पूर्वसूत्रादाप्यक इति, 'इदमो मः' इत्यतः 'इदमः' इति, 'इदोऽय्०' इत्यत इद इति 'अष्टन आ' इत्यतः विभक्ताविति चानुवर्तते । विभक्तौ हलीत्यस्य विशेषणत्वेन तदादिविधिस्तदाह—**अककारस्येत्यादि** । **नानर्थक इति** । अभ्यासविकारं वर्जयित्वाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिर्न भवतीत्यर्थः । अभ्यासविकारे त्वनर्थकेऽपि तत्प्रवर्त्तते यथा 'बिभर्ति' ।

पररूप—'अतो गुणे')—इद + औ (द्=म्—'दश्च') इम + औ (पूर्वसवर्णदीर्घ का बाधकर अ + औ = 'औ'—वृद्धि) = इमौ । (२) इदम् + जस् (म् = अ) इद + अ + जस् , (अ + अ = 'अ'—पररूप)—इद + जस् , (जस् = शी–ई)—इद + ई (द् = म्—'दश्च') इम + ई (अ + ई = 'ए'—गुण) = इमे ।

(२९६) पद—अन्, आपि, अकः । **अनुवृत्ति**—इदमः, इदः, विभक्तौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'आप्' विभक्ति के पर रहते ककाररहित इदम् शब्द के 'इद्'भाग को 'अन्' आदेश होता है । टा से लेकर 'सुप्' के पकार पर्यन्त 'आप्' प्रत्याहार है । अनेन ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए—'इदमो मः' (२९२) से 'इदमः', 'इदोऽय् पुंसि' (२९३) से 'इदः' तथा 'अष्टन आ विभक्तौ' (३२१) से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति लाई जा रही है । आप् प्रत्याहार के अन्तर्गत तृतीया एकवचन टा (आ) से लेकर सुप् (सप्तमी बहुवचन) पर्यन्त विभक्तियों का समावेश होता है ।

उदाहरण—(३) इदम् + टा (म् = अ, पररूप) इद + टा (इद् = अन्—'अनाप्यकः') अन + टा (टा = इन)—अन + इन (अ + इ = 'ए'—गुण) = अनेन ।

(२९७) पद—हलि, लोपः । **अनुवृत्ति**—आपि, अकः, इदमः, इदः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—हलादि आप् विभक्ति के पर रहते, ककार-रहित इदम् शब्द के इद्भाग का लोप होता है । ('अभ्यास-विकार को छोड़कर अनर्थक में अलोऽन्त्य परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती' परि०) ।

विमर्श—यहाँ—'इदमो मः' (२९२) से 'इदमः', 'इदोऽय्०' (२९३) से 'इद्', 'अनाप्यकः' (२९६) से 'आपि' एवं 'अकः', तथा 'अष्टन आ०' (३२१) से विभक्तौ पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार हलादि आप् (तृतीयादि) विभक्ति के पर रहने पर ककार रहित इदम् शब्द के अवयव 'इद्' का लोप होता है ।

माणं कार्यमादाविवात्त इव स्यात्। 'सुपि चे'ति दीर्घः। आभ्याम्। (२९९) नेद-मदसोरकोः ७।१।११। अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात्। एभिः। अस्मै।

---

(२९८) **आद्यन्तवदिति।** एकशब्दश्चात्राऽसहायवाची। सप्तम्यन्तात् 'तत्र तस्येव' इति वतिः, 'एकस्मिन्' इत्युपमेये सप्तमीदर्शनात्। वतिश्चोभाभ्यां सम्बध्यते; 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति नियमात्। तदाह—**एकस्मिन्निति।** तदादितदन्तयोः क्रियमाणं कार्यं तदादौ तदन्त इवाऽसहाये केवलेऽपि स्यादित्यर्थः। **आभ्यामिति।** 'इदम् + भ्याम्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे पररूपे 'इद + भ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इतीद्भागस्य लोपे प्राप्ते 'अन्लोऽन्त्यस्ये'ति अत्यस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' इति परिभाषयाऽलोऽन्त्यविध्यभावे इद्भागस्यैव लोपे 'अ + भ्यामि'ति स्थिते 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन्नेवाकारेऽन्तवद्भावेन अदन्तत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घे कृते 'आभ्यामि'ति।

(२९९) **नेदमदसोरकोरिति।** अत्र 'अतो भिस ऐस्' इत्यतो 'भिस ऐसि'त्यनु-

---

यहाँ अलोऽन्त्य परिभाषा की प्रवृत्ति इद्भाग के अनर्थक होने से नहीं हुई। क्योंकि—'अभ्यास (द्वित्व के पूर्व भाग) को छोड़कर अन्यत्र अनर्थक में अलोऽन्त्यपरिभाषा से विधि नहीं होती।'

(२९८) पद—आद्यन्तवद्, एकस्मिन्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ—एक (असहाय) में किया जाने वाला कार्य आदि और अन्त की तरह होता है। 'सुपि च' से दीर्घ—आभ्याम्।

विमर्श—यह अतिदेशसूत्र है। एक शब्द यहाँ असहायवाची है। इस प्रकार जहाँ एक ही वर्ण को मानकर आदि या अन्त सम्बन्धी कोई विधान करना हो तो ऐसी अवस्था में उसी (एक) में आदिवत् तथा अन्तवद्भाव हो जाता है। यह लोकन्याय से सिद्ध है। यथा—'देवदत्तस्यैक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव कनिष्ठः, स एव मध्यमः।' अर्थात् किसी व्यक्ति का एक ही पुत्र होने पर उसी में ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठादि का व्यवहार होता है। इसी को व्यपदेशिवद्भाव भी कहा जाता है।

उदाहरण—(४) इदम् + भ्याम्, (द्=अ, पररूप)—इद + भ्याम्, (अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से 'हलि लोपः' सूत्र द्वारा 'द्' के लोप की प्राप्ति, 'नानर्थके०' से निषेध होकर इद्भाग का लोप) अ + भ्याम्, ('आद्यन्तवदेकस्मिन्' से 'अ' को ही आदि और अन्त मानकर 'सुपि च' से अदन्त अंग 'अ'='आ'—दीर्घ=आभ्याम्।

(२९९) पद—न, इदमदसोः, अकोः। **अनुवृत्ति—**भिसः, ऐस्। **विधि (निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ—ककार रहित इदम् और अदस् शब्द से परे 'भिस्' को ऐस् नहीं होता। एभिः। अस्मै। एभ्यः। अस्मात्। अस्य। अनयोः। एषाम्। अस्मिन्। एषु।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो भिस ऐस्' (१५९) से 'भिसः' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ककार युक्त प्रत्ययों से रहित इदम् तथा अदस् शब्द से पश्चाद्वर्ती 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश नहीं होगा।

उदाहरण—(१) इदम् + भिस् (म्=अ—'त्यदादीनामः', पररूप)—इद + भिस् ('इद्'

एभ्यः-२। अस्मात्। अस्य। अनयोः। एषाम्। अस्मिन्। एषु। (३००) द्वितीयाटौस्स्वेनः २।४।३४। द्वितीयायां टौसोश्च परत इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे। किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम्-अन्वादेशः। यथा-'अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापये'ति। 'अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं

वर्तते। अकोरिति षष्ठी। तदाह—**अककारयोरित्यादिना। अस्मै इति।** 'इदम् ए' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे पररूपे स्मैभावे कृते हलि लोपः।

(३००) **द्वितीयाटौस्वेन इति।** द्वितीया च, टा च ओश्चेति द्वितीयाटौसः, तेष्विति द्वन्द्वः। 'इदमोऽन्वादेशे' इत्यत इदम इति, अन्वादेशे इति, 'एतदस्त्रतसोः' इत्यत एतदिति चानुवर्तते। तदाह— **द्वितीयायामित्यादि।**

का लोप-'हलि लोपः')—अ+भिस् ('अतो भिस०' से भिस्=ऐस् प्राप्त, उसका 'नेदमदसोरकोः' से निषेध, 'बहुवचने झल्येत्' से अ=ए)—ए भिस् (स्=रु=ः)=एभिः। (२) इदम्+ङे, (म्=अ, पररूप) इद+ङे, (ङे=स्मै)—इद+स्मै ('इद्'भाग का लोप)=अस्मै। (३) इदम्+भ्यस् (पूर्ववत्, एत्व)=एभ्यः। (४) इदम्+ङसि, (अ, पूर्वरूप)—इद+ङसि, (ङसि=स्मात्) इद+स्मात्, ('इद्' का लोप)=अस्मात्। (५) इदम्=ङस् (अ, पररूप) इद+ङस्, (ङस्=स्य)—इद+स्य, (इद्भाग का लोप)=अस्य। (६) इदम्+ओस् (म्=अ, पररूप)—इद+ओस्, इद्=अन्—'अनाप्यकः') अन्+अ+ओस् ('ओसि च' से अ=ए) अने+ओस् (ए=अय् आदेश)—अनयोस् (स्=रु=ः)=अनयोः। (७) इदम्+आम् (म्=अ, पररूप) इद+आम्, (सुट् (स्) का आगम)—इद+स्+आम्, (इद्भाग का लोप) अ+स्+अम् (अ=ए)—एसाम्, (स्=ष्)=एषाम्। (८) इदम्+ङि, (म्=अ, पररूप)—अद+ङि (ङि=स्मिन्, इद्भाग का लोप)=अस्मिन्। (९) इदम्+सुप् (सु), (अ, पररूप)—इद+सु (इद् का लोप, एत्व) एसु (स्=ष्)=एषु।

मकारान्त सर्वनाम इदम् (=यह) शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**		**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०—	अयम्	इमौ	इमे	पं०—	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि०—	इमम्	इमौ	इमान्	ष०—	अस्य	अनयोः	एषाम्
तृ०—	अनेन	आभ्याम्	एभिः	स०—	अस्मिन्	अनयोः	एषु
च०—	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः				

प्रचुरप्रयोगादर्शनात् त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति।

(३००) पद—द्वितीयाटौस्सु, एनः। **अनुवृत्ति—**एतदः, इदमः, अन्वादेशे, अनुदात्तः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अन्वादेश में द्वितीया विभक्ति एवम् टा और ओस् विभक्ति पर रहते इदम् और एतद् शब्द के स्थान में 'एन' आदेश होता है। किसी कार्य के विधान के लिए जिसका उपादान किया गया हो, उसी का कार्यान्तर विधान के लिए पुनः उपादान करना अन्वादेश है। जैसे—'इसने व्याकरण पढ़ लिया, अब छन्द पढ़ाओ'। 'इन दोनों का कुल बड़ा पवित्र है, इनके पास बहुत धन भी है।' एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः-२। राजा।

स्वमि'ति। एनम्। एनौ। एनान्। एनेन–२। एनयोः। राजा। (३०१) न ङिसम्बुद्ध्योः ८।२।८। नस्य लोपो न स्यात् ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्। * ङावुत्तरपदे प्रतिषेधः *। ङौ तुच्छन्दस्युदाहरणम्। परमे व्योमन् सर्वा भूतानि। ब्रह्मनिष्ठः। राजानौ। राजानः। राजानम्। राजानौ। जञोर्ज्ञः। अल्लोपोऽनः। चुत्वम्। राज्ञः।

---

(३०१) **न ङिसम्बुद्ध्योरिति।** 'नलोपः०' इत्यतः 'न' इति लुप्तषष्ठीकं 'लोपः' इति चानुवर्तते। तदुक्तं—**ङौ सम्बुद्धौ चेति। ङावुत्तरेति।** समासोत्तरपदे परतो यो ङिस्तस्मिन्परे 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति प्राप्तस्य निषेधस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इति निष्कृष्टोऽर्थः। तेन 'ब्रह्मनिष्ठः' इत्यत्र नलोपो भवत्येव, समासे 'निष्ठा' इत्यस्योत्तरपदत्वात्।

विमर्श—सूत्र में स्थानीवाचक पद का अभाव है। अतः 'इदमोऽन्वादेशे' (२।४।३२) से 'इदमः' तथा 'अन्वादेशे' एवम् 'एतदस्त्रतसोः' (२।४।३३) से 'एतदः' की अनुवृत्ति की जाती है। इस प्रकार द्वितीया विभक्ति, टा और ओस् के परवर्ती रहने पर अन्वादेश में इदम् तथा एतद् शब्द के स्थान पर 'एन' आदेश होता है। किसी कार्य के सम्पन्न करने में पूर्व में ही किसी की प्रवृत्ति हो चुकी हो, पुनः उसी को अन्य कार्य के लिए प्रेरित करना 'अन्वादेश' कहलाता है। अनेकाच् होने से 'एन' सर्वादेश है। उदाहरण—'अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापय' वाक्य में किसी ने अपने पुत्र आदि के व्याकरण अध्ययन के विषय में ज्ञात कराया। पुनः उसको वेद पढ़ाने के लिए निवेदन किया। यहाँ द्वितीय वाक्य में एन आदेश युक्त 'एनम्' पद का प्रयोग किया गया है। इदम्+अम् (इदम्=एन) एन+अम् (पूर्वरूप) =एनम्। इसी प्रकार—'अनयोः कुलं पवित्रम्, एनयोः प्रभूतं स्वमिति।' इस वाक्य में भी 'एनयोः' अन्वादेश का रूप है। षष्ठी द्विवचन में—एतद्+ओस्, (एतद्=एन)—एन+ओस् (अ=ए—'ओसि च') एने+ओस् (ए=अय् आदेश)—एनयोस् (स्=रु=ः)= एनयोः। इसी प्रकार अन्वादेश में एनौ (औ), एनान् (शस्), एनेन (टा) रूप बनेंगे।

नकारान्त पुंल्लिङ्ग राजन् (=राजा) शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है—राजन्+सु (उपधा दीर्घ)—राजान्+स्, ('स्' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः') राजान् ('न्' का लोप—'नलोपः प्राति०')=राजा।

(३०१) पद—न, ङि, सम्बुद्ध्योः। **अनुवृत्ति**—नलोप। **विधि (निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ—'ङि' और 'सम्बुद्धि' (सम्बोधन का एकवचन 'सु') के पर होने पर 'न्' का लोप नहीं होता। हे राजन्।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (२०२) से 'नलोपः' की अनुवृत्ति आती है। यह सूत्र 'नलोपः प्राति०' का बाधक है।

उदाहरण—हे राजन्+सु (स् का लोप हो जाने पर 'नलोपः प्राति०' से 'न्' के लोप की प्राप्ति, उसका 'न ङिसम्बुद्ध्योः' से निषेध)=हे राजन्!

(वा०) 'ङि' के विषय में उत्तरपद पर रहते 'न ङिसम्बुद्ध्योः' से प्राप्त नलोप के निषेध का प्रतिषेध कहना चाहिए। इस वार्तिक द्वारा ब्रह्मन्+निष्ठः='ब्रह्मनिष्ठः' इत्यादि समासयुक्त स्थान में नलोप हो जाने से इष्ट रूप निष्पन्न होता है।

(३०२) नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ८।२।२। सुब्विधौ, स्वरविधौ, संज्ञाविधौ, कृति-तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो, नान्यत्र —'राजाश्व' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः। राज्ञि-राजनि। यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः। **(३०३) न संयोगाद्वमन्तात् ६।४।१३७।** वमन्तसंयोगादनो-

---

(३०२) **नलोप इति।** सुप्च, स्वरश्च, संज्ञा च तुक् चेति द्वन्द्वः, तेषां विधयस्तेषु सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या समासः। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणमि'ति नियमेन विधिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः। 'पूर्वत्रासिद्धमि'त्यतः 'असिद्धमि'त्यनुवर्तते। तदाह— **सुब्विधाविति। राजभ्यामिति।** 'राजन्+भ्याम्' इत्यत्र नलोपे कृते 'नलोपः' इत्यादिना नलोपस्यासिद्धत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घो न भवति, राजभ्यामिति।

ङि प्रत्यय का उदाहरण वेद में प्राप्त होता है। 'परमे व्योमन्' यहाँ ङि विभक्ति 'सुपां सुलुक्०' से लोप होने पर 'न्' लोप प्राप्त था, उसका प्रकृत सूत्र द्वारा निषेध किया गया है।

(१) राजन्+औ (उपधादीर्घ)=राजानौ। (२) राजन्+जस् (अस्)—(उपधादीर्घ) —राजानस्, (स्=रु=:)=राजानः। (३) राजन्+अम् (उपधादीर्घ)—राजानम्। (४) राजन्+(औट्) औ (उपधादीर्घ)=राजानौ। (५) राजन्+(शस्) अस्, ('अन्' के 'अ' का लोप—'अल्लोपोऽनः') राज्न्+अस्, (न्=ञ्—श्चुत्व) राज्ञ्+अस् (ज्+ञ=ज्ञ्)—राज्ञस् (स=र्=:)=राज्ञः।

(३०२) पद—नलोपः, सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु, कृति। **अनुवृत्ति**—असिद्धः। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—सुप्विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि तथा कृत्प्रत्ययपरक तुक्विधि में न का लोप असिद्ध रहता है, अन्यत्र 'राजाश्वः' इत्यादि प्रयोगों में असिद्ध नहीं रहता। इस प्रकार नलोप असिद्ध होने से आत्व, एत्व तथा ऐस् विधियाँ नहीं होतीं। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः। राज्ञि। राजनि। यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः।

विमर्श—यहाँ 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (८।२।१) से विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा 'असिद्धः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार सुप्विधि (कार्य), स्वर्विधि, संज्ञाविधि तथा कृत्प्रत्यय पर रहने पर तुक् (आगम) विधि में 'न्' का लोप असिद्ध होता है। इनके अतिरिक्त दीर्घ आदि कार्यों में नलोप असिद्ध नहीं होता। यथा—(राज्ञः अश्वः) राजन्+अश्वः (न् लोप) राज+ अश्वः (न् का लोप असिद्ध न होने से सवर्णदीर्घ)=राजाश्वः।

उदाहरण—(१) राजन्+भ्याम् ('न्' लोप होने पर, प्रकृत सूत्र द्वारा नलोप असिद्ध हो जाने से 'सुपि च' से दीर्घ नहीं होता)=राजभ्याम्। (२) राजन्+भिस् ('न' का लोप) राजभिस् (स्=रु=:)=राजभिः (यहाँ न लोप असिद्ध होने से भिस्=ऐस् नहीं होता। (३) राजन्+भ्यस् (नलोप, स=र्=:)=राजभ्यः (यहाँ न् लोप असिद्ध होने से 'बहुवचने झल्येत्' से एत्व नहीं होता)। (४) राजन्+ङि (इ), ('अन्' के अ का विकल्प से लोप—'विभाषा ङिश्योः') राज्न्+इ (श्चुत्व न्=ञ्, ज्+ञ्=ज्ञ्)=राज्ञि। पक्ष में— राजनि।

(१) यज्वन् (=यज्ञकर्ता)+सु (स्), (उपधादीर्घ सु लोप) यज्वान् (न् का लोप) =यज्वा। (२) यज्वानौ (३) यज्वानः (राजन् शब्द की तरह बनते हैं)।

(३०३) पद—न संयोगात्, वमन्तात्। **अनुवृत्ति**—अल्लोपः, अनः। **विधि(निषेध)सूत्र।**

ऽकारस्य लोपो न। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा। **(३०४) इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ६।४।१२।** एषां शावेवोपधाया दीर्घः। **(३०५) सौ च ६।४।१३।** इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ। वृत्रहा। हे वृत्रहन्। **(३०६)**

---

(३०३) **न संयोगादिति।** वश्च मश्चेति द्वन्द्वः, वयावन्तौ यस्येति बहुव्रीहिः। 'अल्लोपोऽनः' इति सूत्रमनुवर्तते। अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्। तदाह—**वमन्तेत्यादिना।**

(३०४) **इन्हन्निति।** 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घ इति, 'नोपधायाः' इत्यत उपधाया इति चानुवर्तते। 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इत्येव दीर्घे सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह—**शावेति।**

(३०५) **सौ च इति।** 'शौ'वर्जं इन्हन्निति सूत्रम्, 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घ इति, 'सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'असम्बुद्धौ' इति चानुवर्तते। तदाह—**इन्नादीनामिति। वृत्रहा इति।** वृत्रं हतवानिति वृत्रहा इन्द्रः। 'वृत्रहन्+सु' इत्यत्र 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'सौ च' इति दीर्घे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नलोपे 'वृत्रहा' इति।

मूलार्थ—वकारान्त और मकारान्त संयोग से परे 'अन्' के अकार का लोप नहीं होता। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए सम्पूर्ण 'अल्लोपोऽनः' सूत्र की अनुवृत्ति लाई जा रही है। तदनुसार मकारान्त और वकारान्त संयोग से परवर्ती 'अन्' के 'अ' का लोप नहीं होता।

उदाहरण—(१) यज्वन्+शस् (अस्) ('अल्लोपोऽनः' से प्राप्त 'अ' लोप का प्रकृत सूत्र से निषेध, क्योंकि यहाँ वकारान्त संयोग से परे अन् है, लोप नहीं हुआ) यज्वनस् (स्=र्=:)=यज्वनः। (२) यज्वन्+टा ('अ' के लोप का निषेध)=यज्वना। (३) यज्वन्+भ्याम् (न् का लोप)=यज्वभ्याम्।

इसी प्रकार नकारान्त ब्रह्मन् शब्द से शस् में 'ब्रह्मणः' तथा 'टा' विभक्ति में 'ब्रह्मणा' रूप बनते हैं।

(३०४) पद—इन्हन्पूषार्यम्णां, शौ। **अनुवृत्ति—**दीर्घः, उपधायाः। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—केवल 'शि' के पर रहते—इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है; अन्यत्र नहीं।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए—'ढ्रलोपे०' (६।३।१११) से 'दीर्घः' तथा 'नोपधायाः (६।४।७) से 'उपधायाः' पदों की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ नकारान्त शब्दों में 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' सूत्र से स्वतः दीर्घ सिद्ध था; पुनः यह सूत्र नियम करता है कि इन् आदि शब्दों की उपधा को 'शि' परवर्ती होने पर ही दीर्घ हो, अन्यत्र नहीं।

(३०५) पद—सौ, च। **अनुवृत्ति—**इन्हन्पूषार्यम्णाम्, दीर्घः, उपधायाः, असम्बुद्धौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' के पर रहते इन् आदि की उपधा को दीर्घ होता है। वृत्रहा। हे वृत्रहन्।

विमर्श—यह पूर्वसूत्र का अपवाद है। 'इन्हन्पूषार्यम्णाम्', 'ढ्रलोपे' (६।३।१११) से 'दीर्घः', 'सर्वनामस्थाने' (६।४।८) से 'असम्बुद्धौ' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'सम्बुद्धि-भिन्न सु विभक्ति के परवर्ती होने पर इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है।

एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२। एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिस्थस्य नस्य णत्वं स्यात्। वृत्रहणौ। वृत्रहणः।
(३०७) हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४। ञिति णिति प्रत्यये ने च परे हन्तेर्हस्य कुत्वं

---

(३०६) **एकाजिति।** एकः अच् यस्मिन् तत् एकाच्। उत्तरपदश्च समासस्य चरमावयवे रूढः, तेन समास आक्षिप्यते। अत्र 'रषाभ्यां णो नः' इति, 'पूर्वपदात्संज्ञायामि'त्यतः 'पूर्वपदादि'ति, 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' इति चानुवर्तते। तदाह—**एकाजुत्तरपदमित्यादिना।** 'वृत्रहणावि'त्यत्र एकाजुत्तरपदं 'हन्' इति, तस्मिन्समासे 'वृत्रहन्नि'ति समुदायरूपे पूर्वपदं वृत्रेति, तत्र स्थितं निमित्तं रकारः, तस्मात्परस्य प्रातिपदिकान्तनकारस्य णकारः।

(३०७) **हो हन्तेरिति।** ह इति स्थानषष्ठी, हन्तेरित्यवयवषष्ठी। हन्तेरित्यत्र स्तिपा निर्देशाद् हन्धातोरिति लभ्यते। अङ्गस्येत्यधिकारात् ञ्णितोर्प्रत्ययत्वं लभ्यते। 'चजोः कु घिण्यतोः' इत्यतः 'कु' इत्यनुवर्तते। तदाह—**ञितीत्यादिना।**

उदाहरण—(१) वृत्रहन्+सु (उपधा दीर्घ)—वृत्रहान् स् (स् का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः') वृत्रहान् ('न्' का लोप)=वृत्रहा। (२) हे वृत्रहन्+सु (सम्बुद्धि परे होने से दीर्घ नहीं हुआ, नलोप का 'न ङि०' से निषेध, 'स्' का लोप)=हे वृत्रहन्।

(३०६) पद—एकाजुत्तरपदे णः। **अनुवृत्ति**—रषाभ्यां नः, पूर्वपदात्, प्रातिपदिकान्त-नुम् विभक्तिषु च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—एक अच् है उत्तरपद में जिसके, ऐसा जो समास, उसमें पूर्वपदस्थित निमित्त रेफ सकार से परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्ति में स्थित 'न्' को 'ण्' होता है। वृत्रहणौ। वृत्रहणः।

विमर्श—सूत्र में स्थानीवाचक पद का निर्देश नहीं किया गया है। अतः 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से 'रषाभ्याम् नः', 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' से 'पूर्वपदात्' तथा 'प्राति-पदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' सूत्र की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार सूत्र का आशय यह है कि "जिस समस्त पद में उत्तरपद एक अच् वर्णात्मक हो, उस समास युक्त शब्द के पूर्व पद में स्थित र्, ष् से परे प्रातिपदिक के अन्त्य नकार, 'नुम्' के नकार तथा विभक्ति के नकार के स्थान पर णकार होता है।"

उदाहरण—(१) वृत्रहन्+औ (दीर्घ नहीं हुआ (३०४), 'न्'='ण्'—'एकाजुत्तरपदे णः')=वृत्रहणौ। (२) वृत्रहन्+जस् (अस्) (न्=ण्, स्=र्=ः)=वृत्रहणः।

(३०७) पद—हः, हन्तेः, ञ्णिन्नेषु। **अनुवृत्ति**—'कु'। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ञित्, णित् प्रत्यय तथा नकार परे रहते हन् धातु के 'ह्' को कुत्व (कवर्ग) होता है।

विमर्श—यहाँ 'चजोः कु घिण्यतोः' (७।३।५२) से 'कु' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार ञ्-इत्संज्ञक, ण्-इत्संज्ञक अथवा 'न्' पर रहते ह् के स्थान पर (कु) कवर्गीय वर्ण 'घ्' होता है। क्योंकि कवर्गीय वर्णों में ह् के सदृश संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण प्रयत्नवान् 'घ्' ही है।

स्यात्। (३०८) हन्तेः ८।४।२२। उपसर्गस्थान्निमित्ताद्धन्तेर्नस्य णः। प्रहण्यात्। (३०९) अत्पूर्वस्य ८।४।२२। हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णो नान्यस्य। प्रघ्नन्ति। योग-विभागसामर्थ्यादनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो वेति न्यायं बाधित्वा 'कुमति चे'ति णत्वमपि निवर्त्तते। वृत्रघ्नः इत्यादि। एवं शार्ङ्गिन्। यशस्विन्। अर्यमन्। पूषन्। (३१०) मघवा बहुलम् ६।४।१२८। मघवन्शब्दस्य वा 'तृ' इत्यन्तादेशः। ऋ इत्।

---

(३०८) हन्तेरिति। 'हन्तेरत्पूर्वस्ये'ति सूत्रं योगविभागेन व्याचष्टे। 'रषाभ्यां णो नः' इति 'उपसर्गादसमासेऽपि' इत्यत उपसर्गादिति चानुवर्तते। तदाह—**उपसर्ग-स्थादिति।**

(३०९) **अत्पूर्वस्येति।** अत्र 'हन्तेः' इति, 'रषाभ्यां नो णः' इति चानुवर्तते। उपसर्गादिति तु निवृत्तम्। हन्तेरत्पूर्वस्य नस्य णः स्यादिति लभ्यते। 'हन्तेः' इत्यनेनैव णत्वे सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह—**हन्तेरत्पूर्वस्यैवेति।**

(३१०) **मघवेति।** 'अवर्णस्त्रसौ' इत्यतः तृ इत्यनुवर्तते। तदनुरोधात् 'मघवे'ति षष्ठ्यर्थे प्रथमा। तदाह—**मघवन्नित्यादि।**

---

(३०८) पद—हन्तेः। **अनुवृत्ति**—रषाभ्यां नः णः, उपसर्गात्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उपसर्गस्थ निमित्त से परे हन् धातु के 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है।

विमर्श—योगविभाग से 'हन्तेरत्पूर्वस्य' सूत्र को विभक्त कर प्रथम भाग 'हन्तेः' का विवेचन किया जा रहा है। सूत्रार्थ हेतु 'रषाभ्याम्' (८।४।१) से 'रषाभ्याम् नः णः' तथा 'उपसर्गाद-समासेऽपि' (८।४।१४) से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति लाई जा रही है। तदनुसार—"उपसर्ग में स्थित निमित्त 'र्' तथा 'ष्' से पर 'हन्' धातु के 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है।"

उदाहरण—'प्र+हन्+यात्' (यहाँ 'प्र' उपसर्ग में स्थित 'र्' से पर हन् धातु के न्=ण्) =प्रहण्यात्।

(३०९) पद—अत्पूर्वस्य। **अनुवृत्ति**—हन्तेः, रषाभ्यां नः णः, उपसर्गात्। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—हन् धातु के अत् (ह्रस्व अकार) पूर्वक 'न्' को ही 'ण्' होता है, अन्य को नहीं। सूत्र का योगविभाग करने से 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो वा' न्याय का बाधकर 'कुमति च' से प्राप्त णविधान की निवृत्ति हो जाती है। वृत्रघ्नः' इत्यादि।

विमर्श—'हन्तेरत्पूर्वस्य' के द्वितीय भाग की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। 'अत्पूर्वस्य' में 'हन्तेः', 'रषाभ्यां नो णः' तथा 'उपसर्गात्' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "ह्रस्व अकार के पूर्व में रहने पर ही हन् धातु के 'न्' को 'ण्' होता है।" सूत्र द्वितीय भाग के नियम के लिए है। पृथक् योगविभाग का फल यह है कि 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' अर्थात् अनन्तर=अव्यवहित को विधान या निषेध होता है। परिभाषा का बाधकर 'एकाजुत्तरपदे णः' (८।४।१२), 'कुमति च' (८।४।१३) तथा 'प्रातिपदिकान्त०' (८।४।११) से प्राप्त णत्व का भी यह निवर्तक होता है।

उदाहरण—वृत्रहन्+शस् (अस्), ('अ्' का लोप—'अल्लोपोऽनः')—वृत्रह् न्+अस् (ह्=घ्—'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु'—वृत्रघ् नस् (यहाँ 'अ' पूर्व न होने से णत्व नहीं—'अत्पूर्वस्य' स्=र्=ः)=वृत्रघ्नः। इसी प्रकार शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन् तथा पूषन् शब्दों के रूप बनेंगे।

(३१०) पद—मघवा, बहुलम्। **अनुवृत्ति**—'तृ'। **विधिसूत्र।**

(३११) उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७० । **अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुम् स्यात्सर्वनामस्थाने । मघवान् । इह उपधादीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न भवति, बहुलग्रहणात् । मघवन्तौ । मघवन्तः । मघवन्तम् । मघवन्तौ । मघवतः । मघवता । मघवद्भ्याम् । तृत्वाभावे सुटि—राजवत् । (३१२) श्वयुवमघो-**

---

(३११) **उगिदचामिति ।** उक् प्रत्याहार इद् येषान्ते उगितः, ते च अच्च उगिदचस्तेषाम् । 'अच्' इति लुप्तनकारस्य 'अञ्चु गतिपूजनयोः' इति धातोर्ग्रहणम् । अधातोरित्युगितामेव विशेषणम्, न त्वचः, असम्भवात् । 'इदितो नुम्धातोः' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । तदाह—**अधातोरुगित इत्यादि । मघवानिति ।** 'मघवन् + सु' इत्यत्र 'मघवा बहुलम्' इति विकल्पेन 'तृ' इत्यन्तादेशेऽनुबन्धलोपे मघवत् + स् इति जाते 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि 'मघवन् त् स्' इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सस्य लोपे, तकारस्य संयोगान्तलोपे उपधादीर्घे 'मघवान्' इति । तृत्वाभावपक्षे—'मघवा' इति ।

मूलार्थ—मघवन् शब्द को विकल्प से 'तृ' अन्तादेश होता है ।

विमर्श—'अर्वणस्त्रसावनञः' (६।४।१२७) सूत्र से 'तृ' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अलोऽन्त्य परिभाषा द्वारा मघवन् के अन्त्य वर्ण 'न्' के स्थान पर 'तृ' आदेश होता है; 'तृ' में ऋ की इत्संज्ञा होती है ।

(३११) पद—उगिदचां, सर्वनामस्थाने, अधातोः । **अनुवृत्ति**—नुम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सर्वनामस्थान के पर होने पर धातुभिन्न जो उगित् और नलोपी अञ्च् धातु को 'नुम्' का आगम होता है । मघवान् । सूत्र में 'बहुल' पद का ग्रहण होने से दीर्घ की कर्तव्यता में संयोगान्त लोप असिद्ध नहीं होता । मघवन्तौ । मघवतः । मघवता । तृत्व के अभाव में मघवा । सुट् में—राजन् की तरह ।

विमर्श—यहाँ 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' की अनुवृत्ति आती है । सूत्रस्थ उगित् का तात्पर्य है—जिसमें उक्—उ, ऋ, लृ वर्णों की इत्संज्ञा हो । 'अच्' पद से नलोप युक्त 'अञ्च्' धातु का ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्ययों के पश्चाद्वर्ती होने पर धातुभिन्न उगित् और नकार लोप वाले अञ्च् धातु को नुम् का आगम होता है । 'नुम्' मित् होने से अन्त्य अच् से परे होगा ।

उदाहरण—(१) मघवन् + औ, (न्=तृ=त्)—मघवत् + औ, (नुम् (न्) का आगम)—मघवन् त् + औ=मघवन्तौ । (२) मघवन् + जस् (अस्) (न्=त्), मघवत् + औ (नुम् का आगम)=मघवन्तस्, (स्=र्=ः)=मघवन्तः । (३) मघवन् + अम्=मघवन्तम् (पूर्ववत्प्रक्रिया) । (४) मघवन् + औट् (औ)=मघवन्तौ । (५) मघवन् + शस् (अस्) (सर्वनामस्थान परे न होने से नुम् नहीं हुआ)—मघवतस् (स्=र्=ः)=मघवतः । (६) मघवत् + टा (आ)=मघवता । (७) मघवन् + भ्याम् (न्=त्; त्=द्—जश्त्व)=मघवद्भ्याम् । तृ—अन्तादेश के वैकल्पिक होने से उसके अभाव में सुट् (सु, औ, जस्, अम्, औट्) में—राजन् शब्द की तरह रूप बनते हैं ।

नामतद्धिते ६।४।१३३ । अन्नन्तानां श्वानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात् । मघोनः मघवभ्यामित्यादि । एवं श्वन्, युवन् । (३१३) न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ६।१।

---

(३१२) **श्वयुवमघोनामिति ।** [1]श्वा च युवा च मघवा चेति द्वन्द्वस्तेषाम् । 'वसोः सम्प्रसारणमि'त्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते । 'अल्लोपोऽनः' इत्यत अन इत्यनुकृष्यते । तच्च त्रयाणां विशेषणम्, तदन्तविधिः । भस्येत्यधिकृतमित्याह—**अन्नन्ताना-**

---

(३१२) पद—श्वयुवमघोनाम्, अतद्धिते । **अनुवृत्ति**—अनः, भस्य, सम्प्रसारणम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—तद्धितभिन्न प्रत्यय के पर रहते अन्नन्त भसंज्ञक श्वन्, युवन् और मघवन् शब्द को सम्प्रसारण होता है । मघोनः । मघवभ्याम्—इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'अनः' तथा 'वसोः सम्प्रसारणम्' (६।४।१३१) से 'सम्प्रसारणम्' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'श्वयुवमघोनाम्' का 'अनः' पद विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । 'भस्य' का अधिकार है, विशेष्यानुसार बहुवचन में परिवर्तित हो जाता है । तदनुसार—तद्धितभिन्न प्रत्यय के परवर्ती रहने पर अन्नन्त भसंज्ञक श्वन् आदि को सम्प्रसारण होता है ।

उदाहरण—(१) मघवन्+शस् (अस्), (व्=उ—'सम्प्रसारण') मघ उ अन्+अस्, (उ+अ='उ'—पूर्वरूप) मघ उ नस् (अ+उ='ओ'—गुण)—मघोनस् (स्=र्=ः) =मघोनः । (२) मघवन्+भ्याम् (न् लोप)=मघवभ्याम् । इसी प्रकार श्वन् और युवन् शब्द के रूप बनते हैं ।

नकारान्त पुँल्लिङ्ग मघवन् (=इन्द्र) शब्द के रूप

'तृ' अन्तादेश पक्ष में			तृत्वाभाव पक्ष में		
एक०	**द्वि०**	**बहु०**	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०—मघवान्	मघवन्तौ	मघवन्तः	प्र०—मघवा	मघवानौ	मघवानः
द्वि०—मघवन्तम्	मघवन्तौ	मघवतः	द्वि०—मघवानम्	मघवानौ	मघोनः
तृ०—मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः	तृ०—मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः
च०—मघवते	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः	च०—मघोने	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
पं०—मघवतः	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः	पं०—मघोनः	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
ष०—मघवतः	मघवतोः	मघवताम्	ष०—मघोनः	मघोनोः	मघोनाम्
स०—मघवति	मघवतोः	मघवत्सु	स०—मघोनि	मघोनोः	मघवसु
सं०—हे मघवन्	हे मघवन्तौ	हे मघवन्तः	सं०—हे मघवा	हे मघवानौ	हे मघवानः

---

१. अस्मिन् सूत्रे सुभाषितमेतत्प्रसिद्धं वर्तते—

'काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नासि बाले किमिदं विचित्रम् । (प्रश्नः)
विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह ॥' (उत्तरम्)

हिन्दी अर्थ—माला गूँथती हुई बाला से किसी ने प्रश्न किया कि तुम काँच, मणि और स्वर्ण को एक ही माला में क्यों गूँथ रही हो ? यह तो बड़ी विचित्र स्थिति है । तब उस बाला ने उत्तर दिया कि विचारशील आचार्य पाणिनि ने भी एक ही सूत्र में श्वन् (कुत्ता), युवन् (युवक) और मघवन् (इन्द्र) को गूँथ दिया है ।

३७। सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति यकारस्य न सम्प्रसारणम्। यूनः। युवभ्यामित्यादि। अर्वा। हे अर्वन्! (३१४) अर्वणस्त्रसावनञः ६।४।१२७। नञा रहितस्यार्वन्नित्यस्य 'तृ' इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वन्तः।

मिति। मघोन इति। 'मघवन्+(शस्) अस्' इत्यत्र भसंज्ञायां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणे वकारस्य उकारे 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपैकादेशो 'मघ उ नस्' इति जाते 'आद् गुणः' इति गुणे, सस्य रुत्वे तस्य विसर्गे च कृते मघोनः' इति।

(३१३) न सम्प्रसारण इति। 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्ये'ति परिभाषया 'पूर्वस्ये'त्युपतिष्ठते। तदाह—**सम्प्रसारणे परत इत्यादि। यून इति।** 'युवन्+शस्' इत्यत्र शस्येत्संज्ञायां लोपे भसंज्ञायां 'श्वयुवमघोनामि'ति सम्प्रसारणे वकारस्योकारे पूर्वरूपे 'यु उन् अस्' इति जाते पुनः यकारस्य सम्प्रसारणे प्राप्ते, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणमि'त्यनेन निषेधे सवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'यूनः' इति।

(३१४) अर्वणस्त्रसावनञ इति। अर्वणः, तृ, असौ, अनञ इतिच्छेदः। न विद्यते नञ् यस्येति बहुव्रीहिः। अङ्गस्येत्यधिकृतम्, तच्चार्वणा विशेष्यते। तेन तदन्तविधिस्तदाह—**नञेत्यादिना।**

---

(३१३) पद—न सम्प्रसारणे, सम्प्रसारणम्। **विधि(निषेध)सूत्र।**

मूलार्थ—सम्प्रसारण पर रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता। अतः 'य्' को इकार सम्प्रसारण नहीं हुआ। यूनः। युवभ्याम्—इत्यादि।

विमर्श—सूत्र पूर्ण है। यहाँ 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' परिभाषा द्वारा 'पूर्वस्य' पद की उपस्थिति होती है। तदनुसार—यदि पूर्व वर्ण 'यण्' हो और पर वर्ण सम्प्रसारण हो तो पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता।

उदाहरण—(१) युवन्+शस् (अस्), (व=उ सम्प्रसारण—'श्वयुव०', पूर्वरूप) यु उ न्+अस्, (उ+उ=ऊ—'दीर्घ')—यूनस् (य् को सम्प्रसारण की प्राप्ति, उसका 'न सम्प्रसारणे०' से निषेध, स्=र्=ः)=यूनः। (२) युवन्+भ्याम् ('न्' का लोप)= युवभ्याम् इत्यादि।

अर्वन् (=घोड़ा) शब्द के विशिष्ट रूपों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) अर्वन्+सु (सुलोप, दीर्घ—'सर्वनामस्थाने०')—अर्वान् ('न्' का लोप—'नलोपः प्राति०')=अर्वा। (२) हे अर्वन्+सु ('स्' विभक्ति का लोप)=हे अर्वन्!

(३१४) पद—अर्वणः, तृ, असौ, अनञः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सु-भिन्न विभक्ति के पर रहते नञ् रहित अर्वन् शब्द को 'तृ' अन्तादेश होता है। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वतः। अर्वद्भ्याम्।

विमर्श—यहाँ 'अङ्गस्य' का अधिकार है। वह अर्वन् का विशेषण है। इस प्रकार नञ् रहित अर्वन् अङ्ग के स्थान पर 'तृ' अन्तादेश होता है, किन्तु 'सु' परे रहते नहीं होता।

उदाहरण—(१) अर्वन्+औ, (न्=तृ (त)—'अर्वणः०') अर्वत+औ, ('नुम्'—'उगिदचाम्') अर्वन् त औ=अर्वन्तौ। (२) अर्वन्+जस् (अस्) (न्=त, नुम्)—अर्वन्तस् (स्=र्=ः)=अर्वन्तः। (३) अर्वन्+ङसि अथवा ङस् (अस्), (न्=त)—अर्वतस्

अर्वतः । अर्वद्भ्याम् । (३१५) पथिमथ्यृभुक्षामात् ७।१।८५ । एषामकारोऽन्तादेशः स्यात्सौ परे । (३१६) इतोऽत्सर्वनामस्थाने ७।१।८६ । पथ्यादेरिकारस्याकारः स्यात्सर्वनामस्थाने । (३१७) थो न्थः ७।१।८७ । पथिमथोस्थस्य न्थादेशः सर्वनाम-

---

(३१५) **पथिमथ्यृभुक्षामादिति** । अत्र 'सावनडुहः' इत्यतः सावित्यनुवर्तते । 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषयाऽन्त्यस्यादेशो भवतीति आह—**एषामिति** ।

(३१६) **इतोऽदिति** । 'पथिमथ्यृभुक्षामि'त्यनुवर्तते । भाव्यमानत्वादेव सवर्णाग्राहकत्वे अदिति तपरकरणं स्पष्टार्थमेवेत्याह—**पथ्यादेरित्यादि** ।

(३१७) **थो न्थ इति** । 'थः' इति षष्ठ्यन्तम् । आदेशेऽकार उच्चारणार्थः । पूर्वसूत्रात् पथिमथिग्रहणमनुवर्तते 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने' इति च । तदाह—**पथिमथोरित्यादिना** । **पन्था इति** । 'पथिन् + सु' इत्यत्र 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इत्यनेन आकारान्तादेशे, 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यनेन चेकारस्याकारादेशे 'पथ आ सु' इति जाते 'थो न्थः' इति थस्य न्थादेशे, सवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'पन्थाः' इति रूपम् ।

(स्=रु=ः)=अर्वतः । (४) अर्वन्+भ्याम् (न्=त्=द्—जश्त्व)=अर्वद्भ्याम् । शेष रूप 'मघवत्' शब्द की तरह बनेंगे ।

(३१५) पद—पथिमथ्यृभुक्षाम्, आत् । **अनुवृत्ति**—सौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सुविभक्ति पर रहते पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्दों को आकार अन्तादेश होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए—'सावनडुहः' (२८१) से 'सौ' पद की अनुवृत्ति आती है ।

(३१६) पद—इतः, अत्, सर्वनामस्थाने । **अनुवृत्ति**—पथिमथ्यृभुक्षाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सर्वनामस्थान पर रहते पथिन् आदि शब्दों के इकार को अकार अन्तादेश होता है ।

विमर्श—यहाँ 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (३१५) से 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार सर्वनामसंज्ञक विभक्तियों के परवर्ती होने की स्थिति में पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों के इकार के स्थान में ह्रस्व अकार आदेश होता है ।

(३१७) पद—थः, न्थः । **अनुवृत्ति**—पथिमथोः, सर्वनामस्थाने । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सर्वनामस्थान पर रहते पथिन् और मथिन् के 'थ्' को 'न्थ्' आदेश होता है । पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः ।

विमर्श—यहाँ 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (३१६) से 'सर्वनामस्थाने' तथा 'मथिमथ्यृभुक्षामात्' (३१५) से 'पथिमथोः' की अनुवृत्ति आती है । 'ऋभुक्षिन्' में 'थ्' न होने से उसकी अनुवृत्ति नहीं आती । इस प्रकार सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्तियों के पर रहने पर पथिन्, मथिन् के शब्दावयव 'थ्' के स्थान पर न्थ् आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) पथिन्+सु (न्=आ 'पथिमथ्यृभुक्षामात्') पथि+आ+स्, (इ=अ —'इतोऽत्०') पथ आ+स् ('थ्'='न्थ्—'थो न्थः') पन्थ+आ+स् (अ+आ='आ' सवर्ण-

स्थाने । पन्थाः । हे पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः । (३१८) भस्य टेर्लोपः ७।१।८८। भस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात् । पथः । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । एवं मन्थाः । ऋभुक्षाः । (३१९) ष्णान्ता षट् १।१।२४ । षान्ता नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात् । पञ्च-२ । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः-२ । 'षट्चतुर्भ्यश्चे'ति नुट् । (३२०) नोपधायाः ६।४।७।

---

(३१८) **भस्य टेर्लोप इति** । 'पथिमथ्यृभुक्षामि'त्यनुवर्तते । तदाह—**भस्येति** । **पथ इति** । 'पथिन् अस्' इति स्थिते इनो लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च पथ इति ।

(३१९) **ष्णान्ता षडिति** । ष् च नश्च ष्णौ ष्टुत्वेन नकारस्य णकारः । ष्णौ अन्तौ यस्याः सा ष्णान्ता । 'बहुगण' इत्यतः 'संख्या' इत्यनुवर्तते । संख्याशब्देनात्र स्वरूपपरतया संख्याप्रकारकसंख्येयविशेष्यकबोधजनकाः पञ्चादयो गृह्यन्ते । तदाह—**षान्तेत्यादिना** । **पञ्च इति** । 'पञ्चन्+जस्' इत्यत्र 'ष्णान्ता षट्' इति पञ्चन्शब्दस्य षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि, 'नलोपः प्राति०' इति नकारस्य लोपे 'पञ्च' इति रूपम् । एवमेव शसि 'पञ्च' इति रूपम् ।

दीर्घ, स्=र्=ः)=पन्थाः । (२) इसी प्रकार—हे पन्थाः । (३) पथिन्+औ, (इ=अ—'इतोऽत्०' (पथ न्+औ, (थ्=न्थ्)—पन्थन्+औ (उपधादीर्घ)=पन्थानौ । (४) पथिन्+जस् (अस्), (इ=अ, थ्=न्थ्) पन्थन्+अस्, (उपधादीर्घ, स्=रु=ः)=पन्थानः ।

(३१८) पद—भस्य, टेः, लोपः । **अनुवृत्ति**—पथिमथ्यृभुक्षाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—भसंज्ञक पथिन् आदि की 'टि' का लोप होता है । पथः । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । एवम्—मन्थाः, ऋभुक्षाः ।

विमर्श—'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (३१५) से 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार 'भसंज्ञक पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् की टि (अन्त्य अच् वर्ण सहित समुदाय) का लोप होता है ।'

उदाहरण—(१) पथिन्+शस् (अस्) (टि-इन् का लोप)—पथ्+अस् (स्=र्=ः) =पथः । (२) पथिन्+भ्याम् ('न्' का लोप)=पथिभ्याम् । (३) पथिन्+भ्यस् ('न्' लोप, स्=र्=ः)=पथिभ्यः ।

पथिन् (=रास्ता) शब्द के रूप—पुँल्लिङ्ग

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः	पं०	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
द्वि०	पन्थानम्	पन्थानौ	पथः	ष०	पथः	पथोः	पथाम्
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः	स०	पथि	पथोः	पथिषु
च०	पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः	सं०	हे पन्थाः	हे पन्थानौ	हे पन्थानः

इसी प्रकार मथिन् (=मथने वाली रई) तथा ऋभुक्षिन् (=इन्द्र) शब्दों के रूप बनेंगे ।

(३१९) पद—ष्णान्ता, षट् । **अनुवृत्ति**—संख्या । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—षान्त, नान्त संख्यावाचक शब्दों की 'षट्' संज्ञा होती है । पञ्च । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः ।

विमर्श—यह संज्ञासूत्र है । यहाँ 'बहुगणवतुडति संख्या' से 'संख्या' पद की अनुवृत्ति आती है । संख्यावाची शब्द जो षकारान्त और नकारान्त हों—षट्संज्ञक होते हैं ।

नान्तस्योपधाया दीर्घो, नामि। पञ्चानाम्। पञ्चसु। **(३२१) अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४।** 'अष्टन्'शब्दस्याऽऽत्वं वा हलादौ। **(३२२) अष्टाभ्य औश् ७।१।२१।** कृताऽऽकारादष्टनो जश्शसोरौश्। 'अष्टभ्यः' इति वक्तव्ये कृताऽऽत्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। वैकल्पिकश्चेदमष्टन आत्वम्, 'अष्टनो दीर्घादि'ति ज्ञापकात्। अष्टौ-२। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः-२। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे-अष्ट। पञ्च-

---

(३२०) **नोपधाया इति।** नुटि नलोपे तु तस्याऽसिद्धत्वान्नामीति न प्रवर्तते, अत एवेदं सूत्रमारभ्यते। नेति लुप्तषष्ठीकं पदम्, तच्चाङ्गस्य विशेषणतया तदन्तग्राहकम्। 'ढ्रलोपे' इत्यतः 'दीर्घः' इति, 'नामि' इति सूत्रञ्चानुवर्तते। तदाह— **नान्तस्येत्यादि।**

(३२१) **अष्टन इति।** 'रायो हलि' इत्यतः 'हली'त्यपकृष्यते, तस्य विभक्तेर्विशेषणतया यस्मिन्विधिरिति परिभाषया तदादिविधिः। 'अष्टनो दीर्घादि'ति सूत्रे दीर्घग्रहणसामर्थ्यादस्य आत्वस्य वैकल्पिकत्वं ज्ञायते। तदाह—**अष्टनिति।**

(३२२) **अष्टाभ्य इति।** अत्र 'जश्शसोः शिः' इत्यतः जश्शसोरित्यनुवर्तते। यस्मिन्नष्टन् शब्दे आत्वं कृतं तस्मात्कृताकारादष्टाशब्दात्परयोर्जश्शसोरौश् स्यादित्यर्थः।

उदाहरण—(१) पञ्चन्+जस् (षट्संज्ञा होने पर जस् का लुक्—'षड्भ्यो लुक्')= पञ्च। इसी प्रकार 'शस्' में भी=पञ्च। (२) पञ्चन्+भिस् ('न्' का लोप, स्=र्=ः)= पञ्चभिः। (३) पञ्चन्+भ्यस् (न् का लोप, स्=रु=ः)=पञ्चभ्यः।

(३२०) पद—नः, उपधायाः। **अनुवृत्ति**—दीर्घः, नामि, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नाम् पर रहते नान्त की उपधा को दीर्घ होता है। पञ्चानाम्। पञ्चसु।

विमर्श—सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए—'ढ्रलोपे पूर्वस्य' (१२८) से 'दीर्घः' तथा 'नामि' (१६६) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। अङ्गस्य का अधिकार है। 'नः' पद उसका विशेषण है। अतः तदन्तविधि होती है। तदनुसार—नकारान्त अङ्ग की उपधा को 'नाम्' के पश्चाद्वर्ती रहने पर दीर्घ होता है।

उदाहरण—(१) पञ्चन्+आम्, (नुट् (न्) का आगम—'षट्चतुर्भ्यश्च') पञ्चन् न् आम्, (उपधादीर्घ—'नोपधायाः') पञ्चान् नाम्, (न् का लोप—'नलोपः प्राति०')=पञ्चानाम्। (२) पञ्चन्+सुप् (सु), (न् का लोप)=पञ्चसु।

(३२१) पद—अष्टनः, आ, विभक्तौ। **अनुवृत्ति**—हलि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—हलादि विभक्ति के पर रहते अष्टन् शब्द को विकल्प से आत्व होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'रायो हलि' से 'हलि' पद की अनुवृत्ति आती है। 'हलि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण होने से तदादि विधि होती है। इस प्रकार—हलादि विभक्ति के परवर्ती होने पर अष्टन् शब्द के अन्त्य वर्ण 'न्' को (अलोऽन्त्यपरिभाषा से) 'आ' आदेश होता है।

(३२२) पद—अष्टाभ्यः, औश्। **अनुवृत्ति**—जश्शसोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—कृताकार अष्टन् शब्द से परे जस्-शस् को औश् आदेश होता है। 'अष्टभ्यः' के स्थान पर 'अष्टाभ्यः' कहना जश्-शस् के विषय में आत्व विधि का ज्ञापन है। अष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्व के अभाव में—अष्ट। पञ्चन् शब्द की तरह।

वत्। (३२३) ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ३।२।५९। एभ्यः क्विन्। अञ्चेः सुप्युपपदे। युजिक्रुञ्चोः—केवलयोः क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ। **(३२४) कृदतिङ् ३।१।९३।** अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्।

अष्टौ। अष्टन्शब्दाज्जसि 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यनेनाकारान्तादेशे सवर्णदीर्घे 'अष्टा + जस्' इति जाते, 'अष्टाभ्य औश्' इति जसः स्थाने 'औश्' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अष्टौ' इति।

(३२३) **ऋत्विगिति।** अत्र 'धातोः' इत्यधिक्रियते। 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इत्यतः 'क्विन्' इत्यनुवर्तते, पञ्चम्यर्थेऽत्र षष्ठी। तदाह—**एभ्य इति।**

(३२४) **कृदतिङ् इति।** धातोरित्यधिक्रियते प्रत्यय इति च। धातोरिति विहितविशेषणम्, धातोर्विहितो यः प्रत्यय इति लभ्यते। तदाह—**अत्रेति।**

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'जश्शसोः शिः' से 'जश्शसोः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'आकार अन्तादेश होने पर अष्टन् शब्द से पर जस्, शस् के स्थान में 'औश्' (औ) आदेश होता है। यह सूत्र 'षड्भ्यो लुक्' का अपवाद है।

उदाहरण—(१) अष्टन्+जस् (न्=आ—'अष्टन आ') अष्ट आ+जस्, (जस्=औश् (औ)—'अष्टाभ्य ओश्') अष्ट आ+औ, (अ+आ='आ'—सवर्णदीर्घ)—अष्टा+औ (आ +औ=औ—'वृद्धि')=अष्टौ। शस् में भी पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार 'अष्टौ' रूप बनता है। (२) अष्टन्+भिस्, (न्=आ, सवर्णदीर्घ)—अष्टा+भिस् (स्=र्=ः)=अष्टाभिः। (३) अष्टन्+भ्यस् (न्=आ, दीर्घ, स्=रु=ः)=अष्टाभ्यः। (४) अष्टन्+आम्, (नुट् का आगम)—अष्टन्+नाम्, (नुट् होने पर हलादि विभक्ति मानकर न्=आ—सवर्णदीर्घ) =अष्टानाम्। (५) अष्टन्+सुप् (सु), (न्=आ, दीर्घ)=अष्टासु। आत्व के विकल्प से होने पर उसके अभाव में पञ्चन् शब्द की तरह रूप बनेंगे। जश्, शस् में—अष्ट-२।

(३२३) पद—ऋत्विक्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगन्चुयुजिक्रुञ्चां, च। **अनुवृत्ति**—धातोः, प्रत्ययः, परश्च, क्विन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ऋत्विज् आदि शब्द क्विन्प्रत्ययान्त निपातित होते हैं। अञ्च् धातु से सुप् उपपद रहते। युजि, क्रुञ्च् केवल धातु से क्विन् प्रत्यय होता है। क्रुञ्च् धातु से क्विन् और नलोप का अभाव भी निपातनात् होता है। क्विन् प्रत्यय में क् और न् की इत्संज्ञा लोप होता है।

विमर्श—यहाँ 'प्रत्ययः' 'परश्च' तथा 'धातोः' का अधिकार है। 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (३।२।५८) से 'क्विन्' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार सूत्रोक्त ऋत्विक्, दधृक्, स्रक्, दिक् और उष्णिक् शब्द क्विन्प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध होते हैं। √अन्चु, √युजि एवं √क्रुञ्च धातुओं से भी क्विन् प्रत्यय होता है। सूत्रोक्त सिद्ध रूपों के निर्देश से यह ज्ञात होता है कि तत्तत् रूपों में आचार्य पाणिनि को सूत्रों से विधान न किये गये कुछ अन्य कार्य भी स्वीकार्य हैं। इस प्रकार के कार्यों को 'निपातन'[1] कहा गया है। अतः अन्चु धातु से सुबन्त उपपद रहते ही क्विन् प्रत्यय होता है। युज् और क्रुञ्च् धातुओं से बिना उपपद के ही क्विन्प्रत्यय होता है। क्रुञ्च् में न् लोप के अभाव का भी निपातन होता है।

---

१. 'धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च।
अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम्॥'—महाभाष्यप्रदीपः (५।१।११४)

(३२५) वेरपृक्तस्य ६।१।६७। लोपः। (३२६) क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२।
क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात्पदान्ते। ऋत्विक्-ऋत्विग्। ऋत्विजौ।

---

(३२५) **वेरपृक्तस्येति**। 'लोपो व्योर्वलि' इत्यतः लोप इत्यनुवर्तते। विशब्देनात्र क्विन्क्विप्विन्नां ग्रहणम्, केवलस्य वेः प्रत्ययस्याभावादिति।

(३२६) **क्विन्प्रत्ययस्येति**। पदस्येत्यधिकृतम्। 'झलां जशोऽन्ते' इत्यतः 'अन्ते' इत्यनुवर्तते। क्विन्प्रत्ययो यस्मात्सः क्विन्प्रत्यय इति तद्गुणसंविज्ञो बहुव्रीहिः। तदाह—**क्विन्प्रत्यय इत्यादि**। **ऋत्विगिति**। ऋतुपदे उपपदे युज्धातोः 'ऋत्विग्दधृक्–' इत्यादिना क्विनि 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्येत्संज्ञायां, 'हलन्त्यमि'ति नकारस्येत्संज्ञायां तयोर्लोपे, इकारस्योच्चारणार्थत्वे 'वचिस्वपि०' इति यजेः सम्प्रसारणे पूर्वरूपैकादेशे 'कृदतिङ्' इति प्रत्ययस्य कृत्संज्ञायां 'वेरपृक्तस्य' इति वस्य लोपे 'ऋतु + इज्' इति जाते यणि कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ ऋत्विज् + स् इति स्थिते, 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कवर्गान्तादेशे जकारस्य गकारे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वेन ककारे ऋत्विक्, पक्षे ऋत्विगिति।

---

(३२४) पद—कृत, अतिङ्। **अनुवृत्ति**—धातोः, प्रत्ययः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—इस (सन्निहित) 'धातोः' के अधिकार में पठित तिङ्भिन्न प्रत्ययों की कृत्संज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ 'धातोः' (३।१।९२) तथा 'प्रत्ययः' (३।१।१) का अधिकार है। तदनुसार—'धातु के अधिकार में पठित तिङ्भिन्न प्रत्यय कृत्संज्ञक होते हैं।'

(३२५) पद—वेः, अपृक्तस्य। **अनुवृत्ति**—लोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अपृक्तसंज्ञक वकार का लोप होता है।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आती है।

(३२६) पद—क्विन्प्रत्ययस्य, कुः। **अनुवृत्ति**—पदस्य, अन्ते। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—क्विन्प्रत्यय जिससे किया जाय, उसको पदान्त में कवर्ग अन्तादेश होता है। ऋत्विक्-ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्।

विमर्श—'पदस्य' का अधिकार है। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'पदस्य' का अन्ते के साथ अन्वय होता है। इस प्रकार क्विन् प्रत्यय जिससे विहित हो, उसको पदान्त में कवर्ग अन्तादेश होगा।

उदाहरण—ऋतु + √यज् (क्विन्प्रत्यय—'ऋत्विग्दधृक्०' से, क्विन् में 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की तथा 'हलन्त्यम्' से न् की इत्संज्ञा होती है, इकार उच्चारणार्थक है। अवशिष्ट 'व' की कृत्संज्ञा 'कृदतिङ्' से। 'वेरपृक्तस्य' से व् का लोप) (उ=व्—यण्)=ऋत्विज् ('कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'सु') (१) ऋत्विज् (यज्ञकर्ता)+सु (स्), (स्—विभक्ति का लोप) ऋत्विज्, (ज्=ग्—'क्विन्प्रत्ययस्य कुः')—ऋत्विग् (ग्=क्—विकल्प से—'वाऽवसाने')=ऋत्विक्। पक्ष में—ऋत्विग्। (२) ऋत्विज्+औ=ऋत्विज्+भ्याम् (ज्=ग्)=ऋत्विग्भ्याम्।

ऋत्विग्भ्याम्। (३२७) युजेरसमासे ७।१।७१। युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे। सुलोपः। संयोगान्तस्य लोपः। कुत्वेन नस्य ङः। युङ्। युञ्जौ। युञ्जः। युग्भ्याम्-३। असमासे किम्? (३२८) चोः कुः ८।२।३०। चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च। सुयुक्-सुयुग्। सुयुजौ। सुयुजः। सुयुजा। सुयुग्भ्याम्। खन्। खञ्जौ।

---

(३२७) **युजेरसमासे इति।** अत्र 'उगिदचाम्०' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने' इति, 'इदितो नुम्' इत्यतः 'नुमि'त्यनुवर्तते। तदाह—**युजेरित्यादिना।**

(३२८) **चोः कुरिति।** अत्र 'पदस्ये'त्यधिक्रियते। 'स्कोः' इत्यतः 'अन्ते' इत्यनुवर्तते। तदाह—**चवर्गस्येत्यादिना।**

---

(३२७) पद—युजेः, असमासे। **अनुवृत्ति**—नुम्, सर्वनामस्थाने। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—समास के अतिरिक्त सर्वनामस्थान पर रहते युज् धातु को 'नुम्' होता है। सुलोप। संयोगान्त लोप। कुत्व से न्=ङ्। युङ्। युञ्जौ। युञ्जः। युग्भ्याम्। असमासे क्यों कहा?

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए—'उगिदचाम्०' (७।१।७०) से 'सर्वनामस्थाने' तथा 'इदितो नुम् धातोः' (७।१।८५) से 'नुम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार—समास-भिन्न क्विन्प्रत्ययान्त 'युज्' को नुम् का आगम होता है, सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय पर रहते।

उदाहरण—(१) √युज्+क्विन् (पूर्ववत् क्-न् की इत्संज्ञा लोप होने पर 'व्' की कृत्संज्ञा 'वेरपृक्तस्य' से व् का लोप)=युज् (=योग देने वाला)+सु (स्), (नुम् (न्) का आगम—'युजेरसमासे') युन् ज्+स् (स् का लोप, ज् का संयोगान्त लोप) युन् (न्=ङ् 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः')=युङ्। (२) युज्+औ, (नुम्)—यु न् ज्+औ (न्=अनुस्वार—'नश्चापदान्तस्य झलि', अनुस्वार='ञ्' परसवर्ण)=युञ्जौ। (३) युज्+जस्=युञ्जः (पूर्ववत्)। (४) युज्+भ्याम् (ज्=ग्—'कुत्व')=युग्भ्याम्।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'असमास में नुम् हो' ऐसा कहने से 'सुष्ठु युनक्ती'ति 'सुयुज्'—(सु+√युज्+क्विप्) में नुम् नहीं होता। पूर्वसूत्र से प्राप्त कुत्व असिद्ध होने के कारण कुत्व-विधायक सूत्र का उल्लेख किया जा रहा है।

(३२८) पद—चोः, कुः। **अनुवृत्ति**—झलि, अन्ते, पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—झल् पर रहते और पदान्त में चवर्ग को कवर्ग आदेश होता है। सुयुक्-सुयुग्। सुयुजौ। सुयुजः। सुयुजा। सुयुग्भ्याम्। खन्। खञ्जौ। खञ्जः।

विमर्श—सूत्र में निमित्तवाचक पदों का अभाव है। अतः 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' तथा 'स्कोः' (३३१) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आती है। 'पदस्य' का अधिकार है, उसका 'अन्ते' के साथ अन्वय होता है। इस प्रकार पदान्त में अथवा झल्-प्रत्याहारस्थ वर्णों के पर रहते 'च'-वर्ग के स्थान में 'क' वर्ग आदेश होता है।

उदाहरण—(१) सुयुज्+सु (स्), (विभक्ति का लोप, ज्=ग्)—सुयुग् (ग्=क्—'वैकल्पिक चर्त्व')=सुयुक्। पक्ष में=सुयुग्। (२) सुयुज्+औ=सुयुजौ। (३) सुयुज्+जस् (अस्), (स्=रु=ः)=सुयुजः। (४) सुयुज्+टा (आ)=सुयुजा। (५) सुयुज्+भ्याम् (ज्=ग्)=सुयुग्भ्याम्।

खञ्ज् (=लंगड़ा) शब्द की रूप-प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है—(√खजि+क्विप् (क्विप् का सर्वापहारी लोप नुम्) खन्ज् (अनुस्वार, परसवर्ण)=खञ्ज। (१) खञ्ज्+सु

खञ्जः । खन्भ्याम् । (३२९) व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८।२।३६ । व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षः स्याज्झलि, पदान्ते च । जश्त्वचर्त्वे । राट्-राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । एवं—विभ्राट् । देवेट् । विश्वसृट् । परिमृट् । * परौ व्रजेः षः पदान्ते * परावुपपदे व्रजेः क्विप् दीर्घश्च, पदान्ते षत्वमपि । परित्यज्य सर्वं व्रज-

---

(३२९) **व्रश्चेति** । 'झलो झलि' इत्यतः 'झलि' इति, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यतः 'अन्ते' इति चानुवर्तते । पदस्येत्यधिकृतम् । तदाह—**व्रश्चादीनामित्यादि** । **'राट्' इति** । राज्+सु इत्यत्र सोर्लोपे 'वश्चभ्रस्ज०' इति षकारान्तादेशे 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य डत्वे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन डस्य टत्वे 'राट्' इति । पक्षे 'राडि'ति रूपम् ।

(स्), (स्—विभक्ति का लोप, संयोगान्त ज् का लोप, ञ्=न्—'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' के अनुसार निमित्त ज् के हट जाने से, उसी के कारण होने वाले अनुस्वार-परसवर्ण भी हट गए)=खन् । (२) खञ्ज्+औ=खञ्जौ । (३) खञ्ज्+जस्=खञ्जः । (४) खञ्ज्+भ्याम् (ज् का लोप, ञ्=न्)=खन्भ्याम् ।

(३२९) पद—व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां, षः । **अनुवृत्ति—**झलि, अन्ते, पदस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—झल् पर रहते अथवा पदान्त में व्रश्च आदि सात धातुओं को तथा छकारान्त और शकारान्त को षकारान्त आदेश होता है । राट्-राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । (वा०—परिपूर्वक व्रज् धातु से क्विप् होता है, (उपधा अकार) को दीर्घ होता है तथा पदान्त में षत्व भी होता है ।) सब कुछ छोड़कर जाने वाला—अर्थ वाले परिव्राज् शब्द के 'सु' में परिव्राट् । परिव्राजौ ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए—'झलो झलि' से 'झलि' तथा 'स्कोः' (३३१) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'पदस्य' का अधिकार है । तदनुसार—"√व्रश्च् (=काटना), भ्रस्ज् (=भूनना), सृज् (=उत्पन्न करना), मृज् (=पवित्र करना), यज् (=यज्ञ करना), राज् (=शोभित होना), भ्राज् (=प्रदीप्त होना) धातुओं तथा छकारान्त और शकारान्त शब्दों के अन्त्यवर्ण के स्थान पर 'ष्' आदेश होगा ।"

उदाहरण—(१) (राज्+क्विप्)=राज्+सु (स्), (सु लोप, ज्=ष्—'व्रश्चभ्रस्ज०') राष्, (ष्=ड्—जश्त्व, ड=ट् विकल्प से—'वाऽवसाने')=राट् । पक्ष में=राड् । (२) राज्+औ=राजौ । (३) राज्+जस् (अस्), (स्=रु=ः)=राजः । (४) राज्+भ्याम् (ज्=ष्, जश्त्व से ष्=ड्)=राड्भ्याम् ।

इसी प्रकार विभ्राज् (=सूर्य), देवेज् (=देवताओं का पूजक), विश्वसृज् (=संसार का सृष्टिकर्ता) और परिमृज् (=शुद्ध करने वाला) शब्दों के प्रथमा एकवचन सु विभक्ति में क्रमशः—विभ्राट्, देवेट्, विश्वसृट् और परिमृट् रूप बनते हैं । (वा०) परि-उपसर्गपूर्वक √व्रज् धातु से क्विप् प्रत्यय दीर्घ तथा पदान्त में 'ष्' आदेश होता है । सर्वं परित्यज्य व्रजति (सब कुछ त्यागकर जाता है) अर्थ में 'परिव्राज्' शब्द है । (१) परिव्राज्+सु (स्), (स् लोप, ज्=ष्)—परिव्राष्, (ष्=ड् तथा वैकल्पिक चर्त्व ड्=ट्)=परिव्राट् । पक्ष में=परिव्राड् । (२) परिव्राज्+औ=परिव्राजौ ।

तीति—परिव्राट्। परिव्राजौ। (३३०) विश्वस्य वसुराटोः ६।३।१२८। विश्वस्य दीर्घः स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे। राडिति पदान्तोपलक्षणार्थम्। विश्वाराट्। विश्वराजौ। विश्वाराड्भ्याम्। (३३१) स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९। पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः। भृट्-भृड्। सस्य श्चुत्वेन शः। 'झलां जश् झशि' इति शस्य जः। भृज्जौ। भृज्जः। भृड्भ्याम्। त्यदाद्यत्वं, पररूप-

---

(३३०) **विश्वस्येति**। अत्र 'ढ्रलोपे पूर्वस्ये'त्यतः 'दीर्घः' इति सम्बध्यते।

(३३१) **'स्कोः संयोगाद्योरन्ते चे'ति**। पदस्येत्यधिक्रियते। चकारात् 'झलो झलि' इत्यतो झलीत्यनुवर्तते। 'संयोग' इति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम्। स् च् क् च स्कौ, तयोः स्कोरिति। 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यत 'लोपः' इत्यनुवर्तते। तदाह—**पदान्त इत्यादिना**। **भृट् इति**। भृस्ज्+सु इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सोर्लोपे 'स्कोः' इत्यादिना सकारस्य लोपे 'व्रश्चे'त्यादिना जकारस्य षकारे, तस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति डकारे 'वाऽवसाने' इति वैकल्पिकचर्त्वे 'भृट्' इति। पक्षे 'भृड्' इत्युभयं रूपं सिद्धम्।

---

(३३०) पद—विश्वस्य, वसुराटोः। **अनुवृत्ति**—दीर्घः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वसु और राट् शब्द के पर रहते विश्व शब्द को दीर्घ होता है।

विमर्श—यहाँ 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से आदेशवाची 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—वसु अथवा राट् शब्द के पश्चाद्वर्ती होने पर विश्व शब्द के अन्त्य अच् को दीर्घ विधान होगा। यहाँ राट् पदान्त का उपलक्षण है। इससे राट् और राड् का ग्रहण होगा।

उदाहरण—(विश्वराज्+क्विप्)—(१) विश्वराज्+सु, (सु लोप ज्=ष्) विश्वराष्, (ष्=ड्, वैकल्पिक चर्त्व से ड्=ट्, अ='आ' दीर्घ—'विश्वस्य')=विश्वाराट्-विश्वाराड्। (२) विश्वाराज्+औ=विश्वाराजौ। (३) विश्वराज्+भ्याम् (ज्=ष्, ष्=ड् दीर्घ)=विश्वाराड्भ्याम्।

(३३१) पद—स्कोः, संयोगाद्योः, अन्ते च। **अनुवृत्ति**—झलि, लोपः, पदस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पदान्त में अथवा झल् पर रहते संयोग के आदि में स्थित सकार और ककार का लोप होता है। भृट्, भृड्। भृजौ। भृजः। भृड्भ्याम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से 'लोपः' तथा 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' पद की अनुवृत्ति आती है। अधिकार से प्राप्त 'पदस्य' अन्ते के साथ अन्वित होता है।

उदाहरण—(१) भृस्ज्+सु ('सु'लोप, यहाँ पदान्त में स्थित संयोग के आदि वर्ण 'स्' का लोप—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च') भृज्, (ज्=ष्)—भृष्, (ष्=ड्, 'झलां जशोऽन्ते') भृड् (ड्=ट् 'वाऽवसाने')=भृट्। पक्ष में=भृड्। (२) भृस्ज्+औ, (स्=श्—श्चुत्व) भृश्ज्+औ, (श्=ज्—'झलां जश् झशि')=भृज्जौ। (३) इसी प्रकार जस् में=भृज्जः। (४) 'भ्याम्' में=भृड्भ्याम्।

त्वम् । (३३२) **तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६ ।** त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात्सौ । स्यः । त्यौ । त्ये । सः । तौ । ते । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः-२ । (३३३) **ङे प्रथमयोरम् ७।१।२८ ।** युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः । (३३४) **त्वाहौ सौ**

---

(३३२) **तदोः स इति ।** 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम् । 'त्यदादीनामः' इत्यतः 'त्यदादीनामि'त्यनुवर्तते । 'तदोरि'त्यत्र तकारादकारः 'सः' इत्यत्राकारश्च उच्चारणार्थः । तदाह—**त्यदादीनामित्यादि ।**

(३३३) **ङे प्रथमयोरमिति ।** 'ङे' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्, प्रथमापदेनात्र प्रथमाद्वितीययोर्ग्रहणं भवति । 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतो युष्मदस्मद्भ्यामित्यनुवर्तते, परशब्दोऽध्याहर्तव्य इत्याह—**युष्मदस्मद्भ्यामित्यादिना ।**

---

(३३२) पद—तदोः, सः, सौ, अनन्त्ययोः । **अनुवृत्ति**—त्यदादीनाम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'सु' पर रहते त्यदादिकों के अन्त्य भिन्न तकार व दकार को सकार होता है । स्यः । त्यौ । ते । सः । तौ । ते । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'त्यदादीनामः' (६।२।१०२) से 'त्यदादीनाम्' की अनुवृत्ति की जाती है । तदनुसार 'सु' विभक्ति के पर होने पर त्यदादि शब्दों के अन्त में न रहने वाले (अनन्त्य) 'त्' और 'द्' के स्थान पर 'स्' आदेश होगा ।

उदाहरण—(१) त्यद्+(सु)(द्=अ 'त्यदादीनामः', पररूप)—त्य+स्, (त्=स्-'तदोः') स्य+स् (स्=रु=ः)=स्यः । (२) त्यद्+औ, (द्=अ, पररूप) त्य+औ (वृद्धि)=त्यौ । (३) त्यद्+जस् (द्=अ, पररूप, जस्=शी-ई)=त्य+ई (अ+ई='ए'—गुण)=त्ये ।

तद् (=वह) शब्द के रूप भी इसी प्रकार—सः, तौ, ते बनते हैं ।

यत् (=जो) शब्द के रूप भी इसी प्रकार बनेंगे—यः, यौ, ये । एतद् (=वह)+सु (स्) (द्=अ, पररूप)—एत+स् (त्=स्—'तदोः') एस+स् (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः' स्=रुः)=एषः । एतद्+औ=एतौ । एतद्+जस्=एते ।

यहाँ 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' से द्वितीया विभक्ति और 'टा' 'ओस्' विभक्ति के परे अन्वादेश में 'एतद्' शब्द को 'एन' आदेश होने पर—एनम् (अम्), एनौ (औ), एनान् (शस्), एनेन (टा), एनयोः (ओस्) ।

युष्मद् (=तुम), अस्मद् (=मैं) शब्दों की रूप-प्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है—

(३३३) पद—ङे प्रथमयोः, अम् । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् शब्द से पर 'ङे' और प्रथमा, द्वितीया विभक्ति को 'अम्' आदेश होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' (७।१।२७) से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति आती है । सूत्रस्थ 'ङे' पद लुप्तषष्ठ्यन्त है । 'प्रथमयोः' पद प्रथमा-द्वितीया विभक्तियों के अर्थ में लाक्षणिक है । अतः युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परवर्ती 'ङे' (चतुर्थी एकवचन) तथा प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है ।

७।२।९४। अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ स्तः, सौ। (३३५) शेषे लोपः ७।२।९०। आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतोऽनयोष्टिलोपः। त्वम्। अहम्। (३३६) युवावौ

---

(३३४) **त्वाहौ सौ इति।** त्वश्चाहश्च त्वाहौ। 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतो युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते। 'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम्। तदाह—**अनयोरिति।**

(३३५) **शेष इति।** 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतः 'युष्मदस्मदोः' इति 'अष्टन आ' इत्यतः 'विभक्तावि'ति चानुवर्तते। उक्तादन्यस्य शेषपदार्थत्वेन प्रसिद्धत्वात् युष्मदस्मदोरनादेशे, द्वितीयायाञ्च, प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्, इत्येतैरात्वस्य 'योऽचि' इति यत्वस्य च पूर्वमुक्तत्वेन तद्विषयातिरिक्तविभक्तिरिह शेषपदार्थः। **त्वमिति।** युष्मत् + सु इति स्थिते 'ङे प्रथमयोरम्' इति सोरमादेशे 'त्वाहौ सौ' इत्यनेन युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे 'त्व अद् अमि'ति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'शेषे लोपः' इति दस्य लोपे त्व + अम् इति जाते 'अमि पूर्वः' इत्यनेन पूर्वरूपे कृते त्वमिति। एवमस्मच्छब्दादहमिति।

---

(३३४) पद—त्वाहौ, सौ। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सु' के पर रहते युष्मद्, अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'त्व' और 'अह' आदेश होते हैं।

विमर्श—'मपर्यन्तस्य' (७।२।९१) का अधिकार है। 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (७।२।८६) से स्थानिवाचक पद 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—युष्मद्-अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रम से 'त्व' और 'अह' आदेश होते हैं। अनेकाल् होने से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी को होता है।

(३३५) पद—शेषे, लोपः। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, विभक्तौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आत्व-यत्व निमित्त से भिन्न विभक्ति पर रहते युष्मद्-अस्मद् शब्दों की 'टि' का लोप होता है। त्वम्। अहम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में अर्थ की पूर्णता के लिए 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३४३) से 'युष्मदस्मदोः' तथा 'अष्टन आ विभक्तौ' (३२१) से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति आती है। उक्तादन्यः शेषः। अर्थात् पहले कहे हुए को छोड़कर अवशिष्ट भाग शेष कहलाता है। यहाँ सूत्र-क्रमानुसार 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (७।२।८६), 'द्वितीयायां च' (७।२।८७) और 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (७।२।८८) सूत्रों से आत्व तथा 'योऽचि' (७।२।८९) सूत्र से यत्व का विधान किया गया है। इस प्रकार 'शेषे' पद का आशय उन स्थलों से है, जहाँ उक्त आत्व और यत्व कार्य न हुए हों। इस प्रकार जहाँ आकार और यकार विधान न हुआ हो, ऐसे स्थलों पर युष्मद् और अस्मद् शब्द के अन्त्य वर्ण द् का लोप होगा।

उदाहरण—(१) युष्मद्+सु, (सु=अम् 'ङे प्रथमयोरम्') युष्मद्+अम्, (युष्म=त्व-'त्वाहौ सौ') त्व+अद्+अम्, ('द्' का लोप—शेषे लोपः) त्व+अ+अम्, (अ+अ=अ—पररूप—अतो गुणे) त्व+अम् (अ+अ='अ'—पूर्वरूप—'अमि पूर्वः')=त्वम्। (२) अस्मद्+सु (सु=अम्) अस्मद्+अम्, (अस्म=अह) अह+अद्+अम्, ('द्' का लोप) अह+अ+अम्, (अ+अ=अ—पररूप) अह+अम्, (अ+अ='अ'—पूर्वरूप)=अहम्।

द्विवचने ७।२।९२। द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ। **(३३७) प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७।२।८८।** औङ्चेतयोरात्वं लोके। **युवाम्। आवाम्। (३३८) यूयवयौ जसि ७।२।९३।** अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो, जसि।

---

(३३६) **युवावाविति।** 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतः 'युष्मदस्मदोः' इति, 'अष्टनः' इत्यतः 'विभक्तौ' इति चानुवर्तते। 'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम्। उक्तिर्वचनम्, द्वयोर्वचनं द्विवचनं तस्मिन्। अर्थाद् द्वित्वविशिष्टार्थवाचिनोः युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तावित्यर्थः।

(३३७) **प्रथमायाश्चेति।** 'अष्टन आ' इत्यत 'आ' इति, पूर्ववत् युष्मदस्मदोरिति चानुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। तदाह—**औङ्चेतयोरित्यादि। युवामिति।** 'युष्मद्+औ' इत्यत्र 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यनेनौकारस्य अमादेशे 'युवावौ द्विवचने' इति युष्मदोः मपर्यन्तस्य युव आदेशे युव+अद्+अमिति जाते पररूपे 'प्रथमायाश्चे'-त्यादिना आत्वे युव+आ+अमिति स्थिते सवर्णदीर्घे 'अमि पूर्वः' इत्यनेन पररूपैकादेशे 'युवामि'ति। एवम् अस्मद्+औ='आवामि'ति।

---

(३३६) पद—युवावौ, द्विवचने। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य विभक्तौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—द्वित्व की उक्ति में विभक्ति पर रहते युष्मद् और अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रमशः युव और आव् आदेश होते हैं।

विमर्श—'मपर्यन्तस्य' का अधिकार है। पूर्ववत् 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अष्टन आ' (३२१) से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'द्विवचन' में वचन पद कथनार्थक है, विभक्तिबोधक नहीं।

(३३७) पद—प्रथमायाश्च, द्विवचने, भाषायाम्। **अनुवृत्ति**—आ, युष्मदस्मदोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रथमा विभक्ति के द्विवचन पर रहते लोक में युष्मद्-अस्मद् शब्द को आकार होता है। युवाम्। आवाम्।

विमर्श—यहाँ पूर्ववत् स्थानीवाचक पद 'युष्मदस्मदोः' तथा आदेशवाचक 'अष्टन आ' (३२१) से 'आ' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति से 'लौकिक संस्कृत में प्रथमा के द्विवचन में युष्मद्-अस्मद् शब्द के अन्त्य वर्ण 'द्' के स्थान पर 'आ' आदेश होता है।'

उदाहरण—(१) युष्मद्+औ (औ=अम्)—युष्मद्+अम्, (युष्म=युव—'युवावौ द्विवचने') युव अद्+अम्, (द्=आ—'प्रथमायाश्च०') युव-अ-आ+अम्, (अ+अ='अ'—पररूप 'अतो गुणे') युव आ+अम्, (अ+आ=आ—'सवर्णदीर्घ) युवा+अम् (आ+अ=आ—पूर्वरूप 'अमि पूर्वः')=युवाम्। (२) इसी प्रकार—अस्मद्+औ, (औ=अम्) अस्मद्+अम्, (अस्म्=आव) आव अद्+अम्, (द्=आ) आव अ—आ+अम्-(पररूप)—आव आ+अम्, (दीर्घ) आवा+अम् (पूर्वरूप)=आवाम्।

(३३८) पद—यूयवयौ, जसि। अनुवृत्ति—मपर्यन्तस्य। विधिसूत्र।

यूयम् । वयम् । (३३९) त्वमावेकवचने ७।२।९७ । एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ । (३४०) द्वितीयायां च ७।२।८७ । अनयोरात् स्यात् । त्वाम् । माम् । (३४१) शसो नः ७।१।२९ । आभ्यां शसो नः स्यात् । अमोऽपवादः । आदेः

---

(३३८) **यूयवयाविति** । 'युष्मदस्मदोरि'त्यनुवर्तते । 'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम् । तदाह—**अनयोरित्यादिना** ।

(३३९) **त्वमावेकवचन इति** । 'मपर्यन्तस्य' इत्यधिक्रियते । 'युष्मदस्मदोः' इत्यनुवर्तते । एकवचनपदं यौगिकमेव । तदाह—**एकस्योक्तावित्यादि** ।

(३४०) **द्वितीयायां चेति** । 'युष्मदस्मदोः' इत्यतः 'युष्मदस्मदोः' इति, 'अष्टन आ' इत्यतः 'आ' इति चानुवर्तते । तदाह मूले—**अनयोरादिति** ।

(३४१) **शसो नेति** । अत्र 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतः 'युष्मदस्मद्भ्याम्'

मूलार्थ—जस् विभक्ति के पर रहते युष्मत्–अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रम से यूय और वय आदेश होते हैं । यूयम् । वयम् ।

विमर्श—'मपर्यन्तस्य' का अधिकार होने से उक्त अर्थ स्पष्ट होता है ।

उदाहरण—(१) युष्मद्+जस् (जस्=अम्)—युस्मद्+अम् (युष्म्=यूय)—यूय अद्+अम्, (अ+अ=अ 'पररूप') यूयद्+अम् (अद् 'टि' लोप)=यूयम् । (२) अस्मद्+जस्, (जस्=अम्) अस्मद्+अम् (अस्म्=वय—'यूयवयौ जसि')—वय-अद्+अम्, (अ+अ=अ—'पररूप') वयद्+अम् ('अद्' टि-लोप)=वयम् ।

(३३९) पद—त्वमौ, एकवचने । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—एकत्व की विवक्षा में युष्मद्–अस्मद् के मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं, विभक्ति पर रहते ।

विमर्श—पूर्ववत् 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आ रही है । 'मपर्यन्तस्य' का अधिकार है । तदनुसार—"एक का कथन होने पर, विभक्ति के पश्चाद्वर्ती रहने पर युष्मद्–अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होंगे ।"

(३४०) पद—द्वितीयायां च । **अनुवृत्ति**—आ युष्मदस्मदोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वितीया विभक्ति पर रहते युष्मद्–अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है । त्वाम् । माम् ।

विमर्श—पूर्ववत् 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आ रही है तथा आदेशवाचक पद के परिज्ञान के लिए 'अष्टन आ' (२२१) से 'आ' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से द्वितीया विभक्ति में युष्मद्–अस्मद् सम्बन्धी अन्त्य वर्ण (द्) के स्थान पर 'आ' आदेश होगा ।

उदाहरण—(१) युष्मद्+अम्, (युष्म्=त्व—'त्वमावेकवचने') त्व अद्+अम्, (द्=आ—'द्वितीयायां च') त्व अ–आ+अम्, (अ+अ=अ—'पररूप') त्व आ+अम्, (अ+आ='आ'—सवर्णदीर्घ) त्वा+अम् (आ+अ=आ—'पूर्वरूप')=त्वाम् । (२) अस्मद्+अम्, (अस्म्=म) म अद्+अम्, (द्=आ) म–अ–आ+अम्, (अ+अ=अ 'पररूप') म–आ+अम्, (दीर्घ) मा+अम् (पूर्वरूप)=माम् ।

(३४१) पद—शसः, नः । अनुवृत्ति—युष्मदस्मद्भ्याम् । विधिसूत्र ।

परस्य । संयोगान्तस्य लोपः । युष्मान् । अस्मान् । (३४२) योऽचि ७।२।८९ । अनयोर्यादेशोऽजादौ विभक्तौ । त्वया । मया । (३४३) युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२। ८६ । अनयोरात् स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः ।

इत्यनुवर्तते । तदाह—**आभ्यामित्यादिना । युष्मानिति ।** 'युष्मद् + शस्, अस्मद् + शस्' इत्यत्र 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शसो न' इति 'आदेः परस्ये'ति परिभाषया आद्याकारस्य नादेशे 'युष्मद् न् स्, अस्मद् न् स्' इति जाते 'संयोगान्तस्ये'ति सस्य लोपे 'द्वितीयायां चे'ति दमात्रस्याकारे सवर्णदीर्घे 'युष्मान्, अस्मान्' इति रूपम् ।

(३४२) **योऽचीति ।** अत्र 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति सूत्रम्, 'अष्टन आ विभक्तावि'त्यतः 'विभक्तावि'ति चानुवर्तते । 'अची'ति विभक्तिविशेषणम् । तदादिविधिस्तदाह—**अनयोरित्यादिना ।**

(३४३) **युष्मदस्मदोरिति ।** 'अष्टन आ' इत्यतः 'विभक्तावि'ति, 'आ' इति,

---

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् शब्द से पर 'शस्' के आदि को नकार आदेश होता है। संयोगान्त लोप । 'अम्' का अपवाद है । युष्मान् । अस्मान् ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'न' पद में विभक्ति का प्रयोग नहीं है। 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' (७।१।२७) से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति आती है। 'आदेः परस्य' परिभाषासूत्र की उपस्थिति होती है। तदनुसार—"युष्मद् और अस्मद् शब्द से परवर्ती शस् (अस्) के आदि वर्ण 'अ' के स्थान पर 'न्' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) युष्मद्+शस् (अस्), (अ=न्—'शसो न') युष्मद्+न् स्, (द्= आ—'द्वितीयायां च') युष्म आ+न् स्, (दीर्घ)—युष्मान् स् ('स्' का लोप—'संयोगान्तस्य लोपः')=युष्मान् । (२) इसी प्रकार—अस्मद्+शस् (अस्) पूर्ववत् कार्य होने पर=अस्मान् ।

(३४२) पद—यः, अचि । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, अनादेशे, विभक्तौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अनादेश (=आदेश रहित) अजादि विभक्ति पर रहते युष्मद्-अस्मद् शब्दों को यकार आदेश होता है । त्वया । मया ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३४३) सूत्र तथा 'अष्टन आ' (३२१) से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'अचि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण होने से तदादि विधि होती है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति होती है। तदनुसार—"आदेश रहित अजादि विभक्ति के पर होने पर युस्मद् और अस्मद् शब्दों के अन्त्य वर्ण (द्) के स्थान पर 'य्' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) युष्मद्+टा (आ), (युष्म्=त्व)—त्व-अद्+आ, (द्=य्) त्व-अय्+आ (अ+अ='अ'—पररूप)=त्वया। (२) अस्मद्+टा (आ), (अस्म्=म) म—अद्+आ, (द्=य्—'योऽचि') म अय्+आ (अ+अ='अ' पररूप)=मया ।

(३४३) पद—युष्मदस्मदोः, अनादेशे । **अनुवृत्ति**—आ, विभक्तौ, हलि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अनादेश (आदेश रहित) हलादि विभक्ति पर रहते युष्मद्-अस्मद् शब्द को आकार अन्तादेश होता है । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ।

अस्माभिः । (३४४) तुभ्यमह्यौ ङयि ७।२।९५ । अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् । (३४५) भ्यसोऽभ्यम् ७।१।३० । आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । (३४६) एकवचनस्य च ७।२।

'रायो हलि' इत्यतः 'हलि' इति चानुवर्तते । हलीति विभक्तिविशेषणम् । तेन तदादिविधिस्तदाह—**अनयोरित्यादिना । युवाभ्यामिति ।** 'युष्मद् + भ्याम्, अस्मद् + भ्याम्' इत्यत्र युवावादेशयोर्दकारस्य आत्वे सवर्णदीर्घ इति भावः ।

(३४४) **तुभ्यमह्याविति ।** सूत्रे 'ङयि' इति ङे इत्यस्य सप्तम्यां रूपम् । 'युष्मदस्मदोरि'त्यनुवर्तते । 'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम् । तदाह—**अनयोरिति । तुभ्यम्, मह्यमिति ।** 'युष्मद् + ङे, अस्मद् + ङे' इति स्थिते 'तुभ्यमह्यौ ङयि' इति मपर्यन्तस्य युष्मदः तुभ्यादेशे, अस्मदः मह्यादेशे 'तुभ्य अद् ङे, मह्य अद् ङे' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'शेषे लोपः' इति दकारस्य लोपे 'ङे प्रथमयोरम्' इति ङेरमादेशे पूर्वरूपे च कृते 'तुभ्यम्' इति 'मह्यम्' इति च रूपे निष्पन्ने ।

(३४५) **भ्यसोऽभ्यमिति ।** 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतः 'युष्मदस्मद्भ्यामि'-

---

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अष्टन आ विभक्तौ' (३२१) से 'आ' और 'विभक्तौ' तथा 'रायो हलि' से 'हलि' की अनुवृत्ति आ रही है । 'हलि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण होने से तदादि विधि होती है । इस प्रकार—"आदेश रहित हलादि विभक्ति के परवर्ती रहने पर युष्मद् और अस्मद् शब्द अन्त्य वर्ण के स्थान पर (अलोऽन्त्य परिभाषा से) 'आ' आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) युष्मद्+भ्याम्, (युष्म्=युव) युव अद्+भ्याम्, (द्=आ) युव अ आ+भ्याम्, (पररूप) युव आ+भ्याम् (अ+आ='आ' सवर्णदीर्घ)=युवाभ्याम् । (२) अस्मद्+भ्याम्, (अस्म्=आव)—आव अद्+भ्याम्, (द्=आ)—आव अ आ+भ्याम् (अ+अ=अ—पररूप) आव आ+भ्याम् (सवर्णदीर्घ)=आवाभ्याम् । (३) युष्मद्+भिस् (द्=आ) युष्म आ+भिस् (सवर्णदीर्घ, स्=रुः)=युष्माभिः । (४) अस्मद्+भिस् (द्=आ, सवर्णदीर्घ स्=रु=:)=अस्माभिः ।

(३४४) पद—तुभ्यमह्यौ, ङयि । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ङे विभक्ति के पर रहने पर युष्मद्–अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रम से तुभ्य और मह्य आदेश होते हैं । टिलोप । तुभ्यम् । मह्यम् ।

विमर्श—यहाँ 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३४३) से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति की जाती है । 'मपर्यन्तस्य' का अधिकार है । 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' के नियमानुसार 'ङे विभक्ति पर रहते युष्मद्–अस्मद् के मपर्यन्त सम्पूर्ण भाग के स्थान पर तुभ्य और मह्य आदेश होंगे ।

उदाहरण—(१) युष्मद्+ङे, (ङे=अम्)—युष्मद्+अम्, (युष्म=तुभ्य) तुभ्य अद्+अम्, ('अद्'—टि का लोप—'शेषे लोपः') पररूप=तुभ्यम् । (२) अस्मद्+ङे, (ङे=अम्)—अस्मद्+अम् (अस्मद्=मह्य)—मह्य अद्+अम्, (अ+अ='अ' पररूप) मह्यद्+अम् ('अद्' टि का लोप)=मह्यम् ।

(३४५) पद—भ्यसः, भ्यम् । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—युष्मद्–अस्मद् शब्दों से पर भ्यस् को भ्यम् अथवा अभ्यम् आदेश होता है । **'भ्यम्' आदेश मानने पर अन्त्य वर्ण 'द्' का लोप । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ।**

३२। आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्याऽत् स्यात्। त्वत्। मत्। (३४७) **पञ्चम्या अत्** ७।१।३१। आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत्। युष्मत्। अस्मत्। (३४८) **तवममौ ङसि** ७।२।९६। अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि। (३४९) **युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्**

त्यनुवर्तते। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यमादेशः स्यात्। अत्र मकारस्य नेत्वम्, 'न विभक्तावि'ति तन्निषेधात्।

(३४६) **एकवचनस्य चेति**। अत्र पूर्ववत् 'युष्मदस्मद्भ्यामि'ति, 'पञ्चम्या अत्' इति सूत्रञ्चानुवर्तते। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य पञ्चम्या एकवचनस्य अदादेशः स्यादित्यर्थः। तकारस्येत्संज्ञकत्वाभावादनेकाल्त्वेन ङसेः सर्वस्य अदादेशः।

(३४७) **पञ्चम्या इति**। 'युष्मदस्मद्भ्यामि'ति 'भ्यसोऽभ्यमि'त्यतो 'भ्यस्' इति चानुवर्तते। तदाह—**आभ्यामिति**।

विमर्श—यहाँ 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' (७।१।२७) से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "युष्मद्-अस्मद् शब्दों से पर भ्यस् के स्थान पर 'भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) युष्मद्+भ्यस्, (भ्यस्=अभ्यम्—'भ्यसोऽभ्यम्') युष्मद्+अभ्यम् ('अद्'—टि लोप)=युष्मभ्यम्। (२) अस्मद्+भ्यस्, (भ्यस्=अभ्यम्) अस्मद्+अभ्यम् (अद्—टिलोप)=अस्मभ्यम्।

(३४६) पद—एकवचनस्य, च। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम्, पञ्चम्याः, अत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् से पर पञ्चमी एकवचन 'ङसि' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। त्वत्। मत्।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए—'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' तथा 'पञ्चम्याः अत्' सूत्र की अनुवृत्ति की जाती है। 'अत्' आदेश 'अनेकाल्' होने से सम्पूर्ण 'ङसि' के स्थान पर होगा।

उदाहरण—(१) युष्मद्+ङसि, (ङसि=अत्)—युष्मद्+अत् (युष्म्=त्व)—त्व अद्+अत्, (पररूप) त्वद्+अत् ('अद्'—टिलोप)=त्वत्। (२) अस्मद्+ङसि, (ङसि= अत्) अस्मद्+अत्, (अस्म्=म) म अद्+अत्, (पररूप) मद्+अत् (अद् का लोप)= मत्।

(३४७) पद—पञ्चम्याः, अत्। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम्, भ्यसः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् से पर पञ्चमी के भ्यस् के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। युष्मत्। अस्मत्।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' तथा 'भ्यसः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण—(१) युष्मद्+भ्यस्, (भ्यस्=अत्) युष्मद्+अत्, (अद्—'टि' का लोप)=युष्मत्। (२) अस्मद्+भ्यस्, (भ्यस्=अद्) अस्मद्+अत्, (टि का लोप)= अस्मत्।

(३४८) पद—तवममौ, ङसि। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य। **विधिसूत्र**।

७।१।२७। तव। मम। युवयोः-२। आवयोः-२। (३५०) साम आकम् ७।१।३३। आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युष्मासु।

---

(३४८) **तवममाविति।** 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतः 'युष्मदस्मदोः' इति पदमनुवर्तते। 'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम्। तदाह— **अनयोरित्यादिना।**

(३४९) **युष्मदस्मद्भ्यामिति।** युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽश् स्यादिति स्पष्टमित्यर्थः।

(३५०) **साम आकमिति।** अत्र 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतः 'युष्मदस्मद्भ्यामि'त्यनुवर्तते। तदाह—**आभ्यामित्यादि। युष्माकम्, अस्माकमिति।** 'युष्मद् + आम्, अस्मद् + आम्' इत्यत्र 'साम आकम्' इत्यनेनामि साम्त्वमारोप्य आकमादेशे 'युष्मद् आकम्, अस्मद् आकमि'ति जाते, शेषे लोपः' इति 'द्' इत्यस्य लोपे सवर्णदीर्घे 'युष्माकम्, अस्माकमि'ति।

मूलार्थ—ङस् पर रहते युष्मद्-अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः 'तव' और 'मम' आदेश होते हैं।

विमर्श—'युष्मदस्मदोः' (३४३) पद की अनुवृत्ति आती है तथा 'मपर्यन्तस्य' का अधिकार है।

(३४९) पद—युष्मदस्मद्भ्याम्, ङसः, अश्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् से परे ङस् को अश् आदेश होता है। तव। मम। युवयोः-२। आवयोः-२।

विमर्श—'अश्' आदेश 'श्' इत्संज्ञक होने से सम्पूर्ण 'ङस्' के स्थान में होगा।

उदाहरण—(१) युष्मद्+ङस्, (युष्म=तव—'तवममौ ङसि') तव अद्+ङस्, (ङस्=अश्) तव अद्+अ, (पररूप) तवद्+अ, (अद् 'टि' का लोप)=तव। (२) अस्मद्+ङस्, (अस्म्=मम) मम अद्+ङस्, (ङस्=अश्) मम अद्+अ (पररूप) ममद्+अ, (टिलोप) =मम। (३) युष्मद्+ओस्, (युष्म=युव—'युवावौ द्विवचने') युव अद्+ओस्, (द्=य्—'योऽचि') युव अय्+ओस्, (अ+अ=अ—पररूप)=युवयोस् (स्=र्=ः)=युवयोः। (४) अस्मद्+ओस्, (अस्म्=आव) आव अद्+ओस्, (द्=य्, पररूप) आवयोस् (स्=र्=ः)=आवयोः।

(३५०) पद—सामः, आकम्। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् से पर साम् (सुट् सहित आम्) को 'आकम्' आदेश होता है। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युष्मासु। अस्मासु।

विमर्श—पूर्वसूत्र (३४९) से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों से पर 'साम्' के स्थान पर 'आकम्' आदेश होगा।

उदाहरण—(१) युष्मद्+आम्, (आम् में सुट्त्व का आरोप करके आम्=आकम्—'साम आकम्') युष्मद्+आकम्, (द् का लोप—शेषे लोपः) युष्म+आकम्, (अ+आ='आ'—सवर्णदीर्घ)=युष्माकम्। (२) अस्मद्+आम् (आम्=आकम्, द् का लोप) अस्म+आकम्, (दीर्घ)=अस्माकम्। (३) युष्मद्+ङि (इ), (युष्म्=त्व) त्व अद्+इ, (द्=य्—'योऽचि') त्व अय्+इ (अ+अ=अ—पररूप)=त्वयि। (४) अस्मद्+ङि (इ),

अस्मासु । (३५१) युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ८।१।२० । पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वान्नावौ । (३५२) बहुवचनस्य वस्नसौ ८।१।२१ । उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः ।

---

(३५१) **युष्मदस्मदोरिति** । षष्ठी च चतुर्थी च द्वितीया चेति द्वन्द्वः । षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाभिः सह तिष्ठत इति षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थौ तयोरिति विग्रहः । पदस्येत्यधिकृतम्, अपादादौ, पदादिति चेत्याह—**पदात्परयोरित्यादिना** ।

(३५२) **बहुवचनस्येति** । 'युष्मदस्मदोः' इति, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरिति चानुवर्तते । पदात्, पदस्य, 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' इति चाधिक्रियते । तदाह—**उक्तविधयोरिति** ।

(अस्म्=म) म अद्+इ (द्=य्, पररूप)=मयि । (५) युष्मद्+सुप् (सु), (द्=आ-'युष्मदस्मदोरनादेशे') युष्म आ+सु, (सवर्णदीर्घ)=युष्मासु । (६) अस्मद्+सुप् (सु), (द्=आ, दीर्घ)=अस्मासु ।

	[1]युष्मद् शब्द के रूप			अस्मद् शब्द के रूप		
	एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	—त्वम्	युवाम्	यूयम्	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि०	—त्वाम्, त्वा	युवाम्, वां,	युष्मान्, वः	माम्, मा	आवाम्, नौ	अस्मान्, नः,
तृ०	—त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	—तुभ्यम्, ते	युवाभ्याम्, वाम्	युष्मभ्यम्, वः	मह्यम्, मे,	आवाभ्याम्, नौ	अस्मभ्यम्, नः
प०	—त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
ष०	—तव, ते	युवयोः, वाम्	युष्माकम्, वः	मम, मे	आवयोः, नौ	अस्माकम्, नः
स०	—त्वयि	युवयोः	युष्मासु	मयि	आवयोः	अस्मासु

(३५१) पद—युष्मदस्मदोः, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, वाम्-नावौ । **अनुवृत्ति**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पद से परे किन्तु पाद (श्लोक के चरण) के आदि में न रहने वाले षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीयास्थ युष्मद्, अस्मद् शब्दों को क्रम से वाम् और नौ आदेश होते हैं ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'पदस्य' (८।१।१६), 'पदात्' (८।१।१७) तथा 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८।१।१८) का अधिकार है । 'पदस्य' को वचन-विपरिणाम द्वारा 'पदयोः' में परिवर्तित कर दिया गया है ।

(३५२) पद—बहुवचनस्य, वस्नसौ । **अनुवृत्ति**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तंसर्वमपादादौ, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पद से पर अपदादि में स्थित षष्ठ्यादि बहुवचनान्त युष्मद्-अस्मद् शब्द को क्रमशः वस् और नस् आदेश होते हैं ।

---

१. युष्मद् और अस्मद् शब्दों के रूप पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में समान ही बनते हैं (अलिङ्गे युष्मदस्मदी) । इन शब्दों का त्यदादिगण के अन्तर्गत पाठ होने से इनमें सम्बोधन नहीं होता (त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति) ।

वां-नावोरपवादः । (३५३) तेमयावेकवचनस्य ८।१।२२। उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः । **(३५४) त्वामौ द्वितीयायाः ८।१।२३।** उक्तविधयोरनयोर्द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा एतौ स्तः ।

श्रीशस्त्वाऽवतु 'मा'ऽपीह, दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः ।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वामपि नौ विभुः ॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः, पतिर्वामपि नौ हरिः ।
सोऽव्याद् 'वो' नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः ॥

---

(३५३) 'तेमयावि'ति । पूर्ववदधिकारः । 'युष्मदस्मदोरि'त्यनुवर्तते । अत्र द्वितीयाग्रहणं नानुवर्तते, तत्र त्वमादेशयोर्वक्ष्यमाणत्वात् । परिशेषात् षष्ठीचतुर्थ्येक-वचनान्तयोरेवैतद्विषयतयाऽऽह मूले—**उक्तविधयोरिति ।**

(३५४) **त्वामौ इति ।** तेमयोरपवादोऽयम् । त्वाश्च माश्चेति विग्रहः, 'एक-वचनस्ये'त्यनुवर्तते । तदाह—**उक्तविधयोरित्यादिना ।**

विमर्श—उपर्युक्त तीन अधिकारसूत्रों के अतिरिक्त—'युष्मदस्मदोः' (३५१) से 'युष्मद-स्मदोः तथा 'षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'बहुवचनस्य' पद 'युष्मद-स्मदोः' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । तदनुसार 'पद से परे किन्तु पद्य-रचना में पद के आदि में न रहने पर षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति में स्थित बहुवचनान्त युष्मद्–अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'वस्' और 'नस्' आदेश होंगे ।

(३५३) पद—तेमयौ, एकवचनस्य । **अनुवृत्ति**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तसर्वमपादादौ, षष्ठीचतुर्थीस्थयोः, युष्मदस्मदोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपर्युक्त स्थिति में विद्यमान युष्मद् और अस्मद् शब्द को षष्ठी और चतुर्थी के एक-वचन में क्रम से 'ते' और 'मे' आदेश होते हैं ।

विमर्श—पूर्ववत् तीनों अधिकारसूत्र अनुवृत्त किये जाते हैं । सूत्र (३५१) से—'युष्मद-स्मदोः' तथा 'षष्ठीचतुर्थीस्थयोः' की अनुवृत्ति आती है ।

(३५४) पद—त्वामौ, द्वितीयायाः । **अनुवृत्ति**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तसर्वमपादादौ, युष्मदस्मदोः, एकवचनस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पूर्ववत् स्थिति में विद्यमान द्वितीया एकवचनान्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान में क्रमशः 'त्वा' और 'मा' आदेश होते हैं ।

विमर्श—उपर्युक्त तीनों सूत्रों का अधिकार है । 'युष्मदस्मदोः' तथा 'तेमयावेकवचनस्य' (३५३) से 'एकवचनस्य' की अनुवृत्ति आ रही है । 'एकवचनस्य' पद 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । तदनुसार "पद से परे अपदादि में स्थित द्वितीया के एकवचनान्त युष्मद् तथा अस्मद् शब्द के स्थान पर क्रमशः 'त्वा' और 'मा' आदेश होते हैं ।"

श्लोकार्थ—लक्ष्मीपति (विष्णु) तुम्हारी तथा मेरी रक्षा करें । वह तुम्हारे लिए कल्याणकारी हों, वह तुम्हारे तथा मेरे स्वामी हैं । सर्वत्र व्यापक हरि तुम दोनों तथा हम दोनों की रक्षा करें । ईश्वर तुम दोनों और हम दोनों को सुख दें । विष्णु तुम दोनों तथा हम दोनों के स्वामी हैं । वह तुम सब तथा हम सब की रक्षा करें । वह तुम सब तथा हम सब के लिए कल्याणप्रद हों । वह तुम सब तथा हम सब के सेवनीय हैं ।

* एकवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः वक्तव्याः । एकतिङ् वाक्यम् * । तेनेह न—ओदनं पच, तव भविष्यति । इह तु स्यादेव—शालीनां ते ओदनं दास्यामि । * एते वान्नावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः * । अन्वादेशे तु नित्यं स्युः । धाता ते भक्तोऽस्ति, तव भक्तोऽस्तीति वा । तस्मै ते नम इत्येव । **(३५५) न चवाहाहैवयुक्ते ८।१।२४ ।** चादिपञ्चकयोगे नैते आदेशाः स्युः । हरिस्त्वां मां च रक्षतु । कथं

---

(३५५) चश्च वाश्च हाश्च अहश्च एवञ्चेति द्वन्द्वः । युक्त इति भावे क्तः, योगः सम्बन्धः । तदाह—**चादिपञ्चकयोगे इति** । अत्र चः समुच्चये, वा—विकल्पे, हा—अद्भुते, अह इति खेदे, एव इति निर्धारणेऽर्थे वर्तन्ते । अत्र वां-नावादयः सर्वे आदेशा अनुवर्तन्ते ।

उक्त श्लोक में द्वितीया एकवचन—(१) त्वाम्=त्वा, माम्=मा । (२) च० ए०—तुभ्यम्=ते, मह्यम्=मे । (३) ष० ए०–तव=ते, मम=मे । (४) द्वि० द्वि०—युवाम्=वाम्, आवाम्=नौ । (५) च० द्वि०—युवाभ्याम्=वाम्, आवाभ्याम्=नौ । (६) षष्ठी द्वि०—युवयोः=वाम्, आवयोः=नौ । (७) द्वि० ब०—युष्मान्=वः, अस्मान्=नः । (८) च० ब०—युष्मभ्यम्=वः, अस्मभ्यम्=नः । (९) षष्ठी ब०—युष्माकम्=वः, अस्माकम्=नः । ये उक्त आदेशों के उदाहरण हैं ।

(वा०) (१) (एकवाक्ये०) समान वाक्य में युष्मद्-अस्मद् शब्द को अनुदात्त और पूर्वोक्त 'वाम्' और 'नौ' आदेश होते हैं । (२) (एकतिङ०) एकतिङ्घटित को अर्थात् जिसमें एक क्रियापद रहे, उसको वाक्य कहते हैं । अत एव 'ओदनं पच तव भविष्यति' (=भात पकाओ, वह तुम्हारा होगा) में दो वाक्य हैं । समानवाक्य (एकवाक्य) न होने से 'तव' के स्थान पर 'ते' आदेश नहीं हुआ । इसके विपरीत एकतिङ्युक्त समानवाक्य 'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' (=शालिधान का भात तुम्हें दूँगा) में तव=ते आदेश हुआ । (३) (एते वान्नावादयः०) ये वाम्, नौ, वस्, नस् आदि आदेश अनन्वादेश में विकल्प से और अन्वादेश में नित्य होते हैं । **उदा०**—'धाता ते भक्तोऽस्ति, तव भक्तोऽस्तीति वा' (ब्रह्मा तुम्हारे भक्त हैं)—यहाँ तव=ते विकल्प से हुआ । पश्चात् इसी वाक्य से सम्बद्ध—'तस्मै ते नमः' (पूर्वोक्त आपको नमस्कार है)—इस वाक्य में 'तव'='ते' नित्य हुआ ।

(३५५) पद—न चवाहाहैवयुक्ते । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः वांनावौ, बहुवचनस्य वस्नसौ, तेमयौ एकवचनस्य, त्वामौ द्वितीयायाः । **विधि(निषेध)सूत्र ।**

मूलार्थ—च, वा, ह, अह और एव—इन पाँचों के योग में पूर्वोक्त वाम्, नौ आदि आदेश नहीं होते हैं । हरिस्त्वां मां च रक्षतु । कथं त्वां मां वा न रक्षेत्, इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में प्रकरणवश पूर्वोक्त (३५१ से ३५४) सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'युष्मद् और अस्मद् शब्दों की षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्तियों में विद्यमान वाम्, नौ, आदि आदेश च, वा, ह, अह, एव अव्ययों का योग होने पर नहीं होते ।'

उदाहरण—हरिः त्वां मां च रक्षतु (=हरि तुम्हारी और मेरी रक्षा करे)—यहाँ त्वां और माम् के साथ 'च' का योग है । 'कथं त्वां मां वा न रक्षेत' में 'वा' का योग है । अतः पूर्वोक्त सूत्र 'त्वामौ द्वितीयायाः' से प्राप्त त्वा, मा आदेश नहीं हुए ।

त्वां मां वा न रक्षेदित्यादि । (३५६) पश्यार्थैश्चानालोचने ८।१।२५ । अचाक्षुष-ज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे नैते आदेशाः स्युः । चेतसा त्वां समीक्षते । आलोचने तु—भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा । (३५७) सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ८।१।२६ । विद्यमानपूर्वात् प्रथमान्तादन्वादेशेऽप्येते आदेशा वा स्युः । 'भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम् ।' त्वा, मेति वा । (३५८) सामन्त्रितम् २।३।४८ । सम्बोधने या प्रथमा

---

(३५६) **पश्यार्थैश्चेति ।** अत्र 'दृशिर् प्रेक्षणे' इत्यस्माद् भावे शप्रत्ययः 'पाघ्राध्मा' इति पश्यादेशः । पश्यः दर्शनं येषां ते पश्यार्थाः, तैरिति विग्रहः । आलोचनं चाक्षुषज्ञानं तद्भिन्नमनालोचनं तत्र विद्यमानैर्दर्शनार्थकैरिति । दृशिरत्र ज्ञानसामान्ये वर्तते । तदाह—**अचाक्षुषेत्यादिना ।**

(३५७) **सपूर्वाया इति ।** सहशब्दोऽत्र विद्यमानवाची, विद्यमानं पूर्वं यस्याः सा सपूर्वा इति बहुव्रीहिः । प्रथमेत्यनेन तदन्तं गृह्यते । अन्वादेशेऽपि क्वचिद्विकल्पार्थमिदं सूत्रम् । वां-नावादय इत्यनुवर्तन्ते । तदाह—**सपूर्वाया इति ।**

(३५८) **सामन्त्रितमिति ।** सा इत्यनेन प्रातिपदिकार्थसूत्रे पठिता 'प्रथमे'ति

---

(३५६) पद—पश्यार्थैः, च अनालोचने। **अनुवृत्ति**—पूर्वोक्त चार सूत्र। **विधि (निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ—अचाक्षुष (आँख से देखने के अतिरिक्त) अर्थवाली धातुओं के योग में युष्मद्-अस्मद् शब्द से पूर्वोक्त 'वाम्' 'नौ' आदेश नहीं होते । चेतसा त्वां समीक्षते ।

विमर्श—पूर्वोक्त चारों सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—चक्षु से साक्षात्कार करने के अतिरिक्त अर्थ वाले धातुओं के योग में पूर्वोक्त त्वा, मा आदि आदेश प्रवृत्त नहीं होते ।

उदाहरण—'चेतसा त्वां समीक्षते' (=मन से तुमको देखता है)—इस वाक्य में 'समीक्षते' (=देखता है) पद सामान्यज्ञानार्थक है । अतः 'त्वा' आदेश नहीं हुआ ।

प्रत्युदाहरण—भक्तस्त्वा पश्यति । यहाँ दृश् धातु चाक्षुष ज्ञान (देखना) अर्थ का वाचक है । अतः 'त्वाम्'='त्वा' आदेश का निषेध नहीं हुआ ।

(३५७) पद—सपूर्वायाः, प्रथमायाः, विभाषा । **अनुवृत्ति**—पूर्वोक्त चार सूत्र । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—विद्यमानपूर्वक प्रथमान्त से पर युष्मद्-अस्मद् शब्दों को अन्वादेश में भी पूर्वोक्त आदेश विकल्प से होते हैं । भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते सः माम् । त्वामेति वा ।

विमर्श—पूर्वोक्त चार सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है । यहाँ 'सह' शब्द विद्यमानार्थक है । पहले अन्वादेश में नित्य त्वा, मा का विधान किया जा चुका है । अब विकल्प से विधान किया जा रहा है । तदनुसार—'अन्य प्रथमान्त शब्दों से पर षष्ठ्यादि विभक्तियों में विद्यमान युष्मद्, अस्मद् शब्दों को अन्वादेश में ते, मे आदि आदेश विकल्प से होंगे ।

उदाहरण—'भक्तस्त्वामप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम्'—इस वाक्य में त्वाम् तथा माम् के पूर्व क्रमशः 'हरिः' तथा 'सः' प्रथमान्त पद विद्यमान हैं । अतः अन्वादेश में त्वा, मा आदेश विकल्प से हुए ।

(३५८) पद—सा, आमन्त्रितम् । **अनुवृत्ति**—सम्बोधने, प्रथमा । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—सम्बोधन में प्रथमान्त की आमन्त्रित संज्ञा होती है ।

तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात् । (३५९) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ८।१।७२ । अग्ने तव । देवाऽस्मान्पाहि । (३६०) नाऽऽमन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् । ८।१।७३ । विशेष्यं समानाधिकरणे विशेषणे आमन्त्रिते परे नाऽविद्यमानवत् । हरे दयालो नः पाहि । सुपात्–सुपाद् । सुपादौ । (३६१) पादः पत् ६।४।१३० ।

परामृश्यते । 'सम्बोधने च' इत्यतः 'सम्बोधने' इत्यनुवर्तते । महासंज्ञाकरणात् संज्ञाविधावपि तदन्तग्रहणमित्याह—**सम्बोधने चेति ।**

(३५९) **आमन्त्रितमिति ।** पूर्वमामन्त्रितमविद्यमानवद् भवतीति सुस्पष्टोऽर्थः ।

(३६०) **नामन्त्रित इति ।** अत्र 'आमन्त्रितम्, अविद्यमानवत्' इति पदेऽनुवर्तेते । **हरे दयालो इति ।** अत्र दयालो इति समानाधिकरणविशेषणे परे हरिशब्दो नाविद्यमानवत् । ततश्च दयालो इत्यस्याऽविद्यमानत्वेऽपि हरे इति पदात् परत्वान्नसादेश इति भावः । **सुपादिति ।** शोभनौ पादौ यस्य स सुपात् ।

(३६१) **पादः पदिति ।** अङ्गस्य, भस्येति चाधिकृतम् । 'पादः' इत्यस्याङ्ग-

---

विमर्श—सूत्रस्थ तत् (सा) पद 'प्रातिपदिकार्थ०' सूत्र के 'प्रथमा' पद का परामर्शक है । 'सम्बोधने च' (२।३।४७) से 'सम्बोधने' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'सम्बोधन में प्रथमान्त पद की आमंत्रित संज्ञा होती है ।'

(३५९) पद—आमन्त्रितम् , पूर्वम् , अविद्यमानवत् । **अनुवृत्ति**—पदस्य । **अतिदेशसूत्र ।**

मूलार्थ—पूर्व में स्थित आमन्त्रित अविद्यमानवत् होता है । अग्ने तव । देवास्मान्पाहि ।

विमर्श—यह अतिदेश सूत्र है । 'पदस्य' (८।१।१६) की अनुवृत्ति आ रही है । इस प्रकार पूर्व पद में स्थित आमन्त्रितसंज्ञक अविद्यमान के समान होता है ।

उदाहरण—(१) अग्ने तव । यहाँ आमन्त्रितसंज्ञक पद 'अग्ने !' को अविद्यमानवद्भाव होने से तव=ते नहीं हुआ । (२) 'देवास्मान्पाहि' में 'देव' को अविद्यमानवद्भाव होने से अस्मान्='नः' आदेश नहीं हुआ ।

(३६०) पद—न, आमन्त्रिते, समानाधिकरणे, सामान्यवचनम् । **अनुवृत्ति**—आमन्त्रितं पूर्वम्, अविद्यमानवत्, पदस्य । **अतिदेश(निषेध)सूत्र ।**

मूलार्थ—समानाधिकरण आमन्त्रित विशेषण पर रहते विशेष्यवाचक पद अविद्यमानवत् नहीं होता । हरे ! दयालो नः पाहि । सुपात्-सुपाद् । सुपादौ ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (३५९) से 'आमन्त्रितम्, पूर्वम् , अविद्यमानवत्' की अनुवृत्ति आ रही है । पदस्य का अधिकार है । तदनुसार—समानविभक्तिक विशेषणवाची आमन्त्रित पद के पर रहने पर उससे पूर्ववर्ती विशेष्यवाचक पद (आमन्त्रित) को अविद्यमानवद्भाव नहीं होता । अर्थात् विद्यमान ही रहता है ।

उदाहरण—(१) 'हरे ! दयालो नः पाहि'—यहाँ 'दयालु' विशेषण है, हरिः विशेष्य है । उसको अविद्यमानवद्भाव नहीं हुआ । अतः अस्मद्='नः' हो गया ।

दकारान्त सुपाद् (=सुन्दर पैर वाला) शब्द के रूपों की प्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है । (१) सुपाद्+सु (स्), (विभक्ति का लोप) सुपाद् (द्=त्—विकल्प से 'वाऽवसाने') =सुपात् । पक्ष में—सुपाद् । (२) सुपाद्+औ=सुपादौ ।

(३६१) पद—पादः, पत् । **अनुवृत्ति**—भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः । सुपदः । सुपदा । सुपाद्भ्याम् । अग्निमत्–अग्निमद् । अग्निमथौ । अग्निमथः । अग्निमद्भ्याम् । (३६२-) अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४ । हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति, ङिति च । 'उगिदचामि'ति नुम् । संयोगान्तस्य लोपः । नस्य

विशेषणत्वेन तदन्तविधिस्तदाह—**पाच्छब्दान्तमित्यादिना । सुपादिति ।** 'सुपाद्+सु' इत्यत्रानुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन दस्य तत्वे 'सुपात्' इति । पक्षे 'सुपाद्' इति ।

(३६२) **अनिदितामिति ।** अत्र 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम् । तच्च 'अनिदितामि'ति बहुवचनान्तविशेषणत्वाद् बहुवचनेन विपरिणम्यते । हल इति तद्विशेषणम्, तेन तदन्तविधिः । इत्थं हलन्तानामिति, अनिदितामिति च 'अङ्गानामि'त्यस्य विशेषणम् । तदाह—**हलन्तानामित्यादि । प्राङ् इति ।** प्रकर्षेण अञ्चतीति विग्रहे 'प्र+अञ्च्' इत्यस्माद् 'ऋत्विग्' इत्यादिना क्विनि, तस्य सर्वापहारिलोपे, कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक-

---

मूलार्थ—'पाद्' शब्दान्त जो भसंज्ञक अंग, तदवयव पाद् शब्द को 'पद्' आदेश होता है । सुपदः । सुपदा । सुपाद्भ्याम् । अग्निमत् । अग्निमथौ । अग्निमद्भ्याम् ।

विमर्श—'अङ्गस्य' (६।४।१) तथा 'भस्य' (६।४।१२९) का यहाँ अधिकार है । सूत्रस्थ 'पादः' शब्द अधिकार प्राप्त 'अङ्गस्य' का विशेषण है । अतः तदन्त विधि होती है । पाद् शब्दान्त भसंज्ञक अङ्ग के अवयव 'पाद्' शब्द के स्थान पर 'पत्' आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) सुपाद्+शस् (अस्), (पाद्=पत्—'पादः पत्')—सुपत्+अस् (त्=द्, स्=र्=ः)=सुपदः । (२) सुपाद्+टा (आ), (पाद्=पत्) सुपत्+आ (त्=द्)=सुपदा । (३) सुपाद्+भ्याम्=सुपाद्भ्याम् ।

'अग्निं मथ्नाति' (=अग्नि को मथता है) इस अर्थ में 'अग्निमथ्' शब्द है । (१) अग्निमथ्+(सु) स् (विभक्ति का लोप, थ्=द्—'जश्त्व'), अग्निमद् (द्=त् विकल्प से—'वाऽवसाने')=अग्निमत् । पक्ष में—अग्निमद् । (२) अग्निमथ्+औ=अग्निमथौ । (३) अग्निमथ्+भ्याम् (थ्=द्—'जश्त्व')=अग्निमद्भ्याम् ।

(३६२) पद—अनिदितां, हलः, उपधायाः, क्ङिति । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, नलोपः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—हलन्त अनिदित ('इ'–इत्संज्ञकभिन्न) अङ्ग की उपधा के नकार का लोप होता है; कित्, ङित् प्रत्यय के परे रहते । 'उगिदचाम्' से नुम् । सयोगान्तलोप । कुत्व होकर न्=ङ् । प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'श्नान्नलोपः' (६।४।२३) से 'नलोपः' की अनुवृत्ति आती है । 'हलः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । तदनुसार—'क्-इत्संज्ञक तथा ङ्-इत्संज्ञक प्रत्यय पर रहते इकार-इत्संज्ञकभिन्न हलन्त अङ्ग की उपधा के 'न्' का लोप होता है ।'

उदाहरण—(१) प्राञ्च् (प्र+अ न् च् क्विन्, सर्वापहारी लोप), ('न्' का लोप 'अनिदिताम्')—प्र+अच्+सु (स्), (नुम्–न्—'उगिदचाम्०') प्र+अ न् च् स्, (दीर्घ, स्

कुत्वेन ङः । प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । (३६३) **अचः** ६।४।१३८ । लुप्तनकारस्याऽञ्चतेर्भस्याऽकारस्य लोपः । (३६४) **चौ** ६।३।१३८ । लुप्ताऽकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः । प्राचः । प्राचा । प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रत्यञ्चः । प्रतीचः

संज्ञायां सौ 'अनिदिताम्' इत्यनेन नलोपे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमागमे 'प्र अन् च् स्' इति जाते सोर्हल्ङ्यादिलोपे, चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य कुत्वेन ङकारे सवर्णदीर्घे 'प्राङ्' इति सिद्धम् ।

(३६३) **अचः इति** । 'अचः' इत्यञ्चुधातोः लुप्तनकारस्य षष्ठ्यन्तं पदम् । भस्येत्यधिकृतम् । 'अल्लोपोऽनः' इत्यतः 'अल्लोपः' इत्यनुवर्तते । तदाह—**लुप्तेति** ।

(३६४) **चाविति** । लुप्ताकारनकारस्य अञ्चुधातोः 'चौ' इति सप्तम्यन्तम् । 'ढ्रलोपे' इत्यतः 'पूर्वस्य, दीर्घः, अणः' इति पदत्रयमनुवर्तते । तदाह—**लुप्ताकारनकारस्येत्यादि** । **प्राच इति** । 'प्र+अच्+शस्' इति स्थिते शस्येत्संज्ञायां लोपे च भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारस्य लोपे 'चौ' इति प्र-अकारस्य दीर्घे संयोगे सस्य रुत्वे

विभक्ति का लोप)—प्रान् च्, ('च्' का लोप—'संयोगान्तस्य लोपः') प्रान्, (न्=ङ् 'कुत्व') =प्राङ् । (२) प्रान् च्+औ (न्=ञ् अनुस्वार—परसवर्ण—'नश्चा०')=प्राञ्चौ । (३) प्रान्च् +जस् (अस्) (न्=ं अनुस्वार='ञ्', परसवर्ण) प्राञ्चस् (स्=र् :)=प्राञ्चः ।

(३६३) पद—अचः । **अनुवृत्ति**—भस्य, अत् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुप्त नकार वाले 'अञ्चु' धातु के भसंज्ञक अकार का लोप होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए—'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'अत्' की अनुवृत्ति की जाती है । 'भस्य' का अधिकार है । तदनुसार—"लुप्त नकारवान् अञ्च् धातु के भसंज्ञक 'अ' का लोप होगा" ।

(३६४) पद—चौ । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य, दीर्घः, अणः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुप्त अकारवान् तथा लुप्त नकारवान् अञ्चु धातु के पर रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है । प्राचः । प्राचा । प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रत्यञ्चः । प्रतीचः । प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ ।

विमर्श—यहाँ 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) सूत्र से 'पूर्वस्य, दीर्घः तथा अणः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'लुप्त नकार एवम् लुप्त अकार वाले अञ्च् धातु पर रहते उससे पूर्व अण् (अ, इ, उ) को दीर्घ आदेश होगा ।'

उदाहरण—(१) प्र+अच्+शस् (अस्), ('अच्' के 'अ' का लोप—'अचः') प्रच्+अस्, (अञ्च् के न् तथा अ का लोप होने पर उससे पूर्व 'प्र' के 'अ' को दीर्घ—'चौ') प्राच्+अस् (स्=र्=:)=प्राचः । (२) प्र+अन् च्+टा (आ), (न् का लोप, अ का लोप)—प्रच्+आ (अ=आ—दीर्घ)=प्राचा । (३) प्राच्+भ्याम्, (च्=क्—'कुत्व') प्राक्+भ्याम्, (क्=ग्—'जश्त्व')=प्राग्भ्याम् ।

प्रत्यञ्च् (=पश्चिम) शब्द के रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है—(१) प्रति +अ न् च्+सु (स्), (न् का लोप) प्रति+अच् स्, (नुम् (न्) का आगम—'उगिदचाम्') प्रति अन् च् स्, ('स्' विभक्ति का लोप, 'च्' का संयोगान्त लोप) प्रति+अन् (इ=य्—

प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ । उदञ्चः । (३६५) उद ईत् ६।४।१३९ । उच्छब्दात् परस्य लुप्ताऽकारस्याऽञ्चतेर्भस्याऽकारस्य ईत् । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् । (३६६) समः समि ६।३।९३ । अप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे समः सम्यादेशः स्यात् । सम्यङ् ।

विसर्गे च कृते 'प्राचः' इति । यद्यप्यल्लोपस्य दीर्घस्य चाभावेऽपि 'प्राचः' इति सिद्धे 'प्रतीचः' इत्याद्यर्थं सूत्रमिति ।

(३६५) **उद ईत् इति ।** 'अचः' इति सूत्रम् 'अल्लोपः' इत्यतः 'अत्' इति चानुवर्तते । भस्येत्यधिकृतम् । तदाह—**उच्छब्दादित्यादिना ।**

(३६६) **समः समि इति ।** 'समि' इति नपुंसकत्वेन निर्देशात् लुप्तस्वन्तं पदम् । 'विश्वग्देवयोश्च' इत्यतः 'अञ्चतावप्रत्यये' इत्यनुवर्तते । तदाह—**अप्रत्ययान्तेऽञ्चताविन्यादि । समीच इति ।** 'सम्+अन् च्+शस्' इत्यत्र शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'अनिदिताम्०' इति नलोपे 'समः समि' इति सम्यादेशे 'समि अच्+अस्' इति जाते,

---

'यण्')—प्रत्यन् (न्=ङ्='क्विन्प्रत्ययस्य कुः')=प्रत्यङ् । (२) प्रत्यञ्चौ । (३) प्रत्यञ्चः (प्राञ्च् शब्द के समान प्रक्रिया) । (४) प्रति+अन् च्+शस् (अस्), (न् का लोप)— प्रति+अच्+अस् , ('अ' का लोप—'अचः')—प्रति च्+अस् , (इ को दीर्घ-'चौ') प्रतीचस् (स्=र्=ः)=प्रतीचः ।

क्विन्प्रत्ययान्त 'उदन्च्' (=उत्तर) शब्द की रूप-सिद्धि का उल्लेख किया जा रहा है— (१) उद न् च्+सु (स्), (न् का लोप)—उद् अ च्+स् , (नुम्—'उगिदचाम्') उद् अ न् च् स् (स् का 'हल्ङ्याब्भ्यः' से लोप) उद न् च् ('च्' का संयोगान्त लोप, न्=ङ् 'कुत्व')= उदङ् । (२) उदञ्चौ । (३) उदञ्चः ।

(३६५) पद—उदः, ईत् । **अनुवृत्ति**—भस्य, अचः, अत् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उत् शब्द से परे नलोप युक्त अन्चु धातु के भसंज्ञक अकार को ईत् (ई) आदेश होता है । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् ।

विमर्श—'भस्य' का अधिकार है । 'अल्लोपोऽनः' (२६९) से 'अत्' तथा 'अचः' (३६३) सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार—'उद्' से परवर्ती लुप्त नकारवान् अन्च् धातु के भसंज्ञक अङ्ग के 'अ' के स्थान पर 'ई' आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) उदच्+शस् (अस्) (अ=ई)—उदीचस् (स्=र्=ः)=उदीचः । (२) उदच्+टा (आ), (अ=ई)=उदीचा । (३) उदच्+भ्याम् (च्=क्—'कुत्व', क्=ग्—'जश्त्व')=उदग्भ्याम् ।

(३६६) पद—समः, समि । **अनुवृत्ति**—अञ्चतौ, अप्रत्यये । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अप्रत्ययान्त (क्विन् आदि प्रत्यय का लोप होने पर तदन्त) अन्च् पर रहते 'सम्' के स्थान पर 'समि' आदेश होता है । सम्यङ् । सम्यञ्चौ । समीचः । सम्यग्भ्याम् ।

विमर्श—इस सूत्र में 'विश्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' (६।३।९२) से 'अप्रत्यये' तथा 'अञ्चतौ' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—'लुप्त प्रत्ययान्त अन्च् के पर रहने पर 'सम्' के स्थान पर 'समि' आदेश होगा ।'

उदाहरण—(१) सम्-अन्च्+क्विन्, ('क्विन्' का सर्वापहारि लोप) सम्-अन्च् , (सम् =समि—'समः समि') समि+अनच् , (न् का लोप—'अनिदिताम्') समि+अच् (यण्)—

सम्यञ्चौ । सम्यञ्चः । समीचः । सम्यग्भ्याम् । (३६७) सहस्य सध्रिः ६।३।९५ । तथा । सध्र्यङ् । सध्र्यञ्चौ । सध्रीचः । सध्र्यग्भ्याम् । (३६८) तिरसस्तिर्यलोपे ६।३।९४ । अलुप्ताऽकारेऽञ्चतौ अप्रत्ययान्ते तिरसस्तिर्यादेशः । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ ।

भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति पूर्वस्याणो दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'समीचः' इति ।

(३६७) **सहस्येति** । अत्र 'अञ्चतावप्रत्यये' इत्यनुवर्तते । तेन सहस्य सध्रिः स्यादप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ पर इति व्याख्यानम् ।

(३६८) **तिरसस्तिर्यलोपे इति** । 'अप्रत्यये' इति, 'अञ्चतावि'ति चानुवर्तते । तिरि इति लुप्तप्रथमाकं पदम् । 'अलोपे' इत्यत्र पररूपेणाकारः प्रश्लिष्यते । तदाह— **अलुप्तेत्यादिना । तिर्यङ् इति** । तिरः अञ्चतीति विग्रहे, 'तिरस्+अन् च्' इत्यत्र 'ऋत्विग्०' इति क्विनि, 'अनिदिताम्' इति नलोपे क्विनः सर्वापहारिलोपे 'तिरसस्तिर्यलोपे' इति तिरसस्तिर्यादेशे 'इको यणचि' इति यणि 'तिर्यच्' इत्यस्मात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ नुमि हल्ङ्यादिना सुलोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे, नकारस्य कुत्वेन ङकारे 'तिर्यङ्' इति ।

सम्यच्+सु (स्), (नुम्) सम्य न् च् स् (स् का लोप)—सम्य् न् च् (च् का संयोगान्त लोप)—सम्यन् (न्=ङ्—'कुत्व')=सम्यङ् । (२) सम्यञ्चौ (औ), (३) समीचः ('अ' का लोप, दीर्घ)=समीचः (जस्) । (४) सम्यग्भ्याम् (भ्याभ्) ।

(३६७) पद—सहस्य, सध्रिः । **अनुवृत्ति**—अञ्चतौ, अप्रत्यये । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुप्त प्रत्ययान्त अञ्च् पर रहते 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होता है । सध्र्यङ् । सध्र्यञ्चौ । सध्रीचः । सध्र्यग्भ्याम् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी 'विश्वग्देवयोश्च०' से 'अञ्चतौ' तथा 'अप्रत्यये' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार लुप्त प्रत्ययान्त अञ्च् के पर रहने पर 'सह' के स्थान में 'सध्रि' आदेश होगा ।

उदाहरण—(१) सह+अच्+सु (स्), (सह=सध्रि) सध्रि=अच्+स्, (इ=य् 'यण्') सध्र्यच्+स, (नुम्) सध्र्यन् च्+स्; (स्—विभक्ति का लोप)—सध्र्य न् च्, ('च्' का संयोगान्त लोप) सध्र्यन् (न्=ङ् 'कुत्व')=सध्र्यङ् । (२) सध्र्यञ्चौ (औ) । (३) सध्रीचः (शस्) । (४) सध्र्यग्भ्याम् (भ्याम्) ।

(३६८) पद—तिरसः, तिरि, अलोपे । **अनुवृत्ति**—अञ्चतौ, अप्रत्यये । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अलुप्ताकार, अप्रत्ययान्त 'अञ्चु' धातु के पर रहते 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश होता है । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिरश्चः । तिरश्चा । तिर्यग्भ्याम् ।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में भी 'विश्वग्देवयोश्च' (६।३।९२) से 'अञ्चतौ' तथा 'अप्रत्यये' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—"अलुप्त अकार वाले तथा अविद्यमान प्रत्ययान्त √अञ्च् के पर रहते सम्पूर्ण 'तिरस्' के स्थान पर 'तिरि' आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) तिरस्+अञ्च्+क्विन्, (क्विन् का सर्वापहारी लोप) (तिरस्=तिरि) तिरि अ न् च्, ('न्' का लोप—'अनिदिताम्') तिरि अ च्+सु (स्), (नुम्) तिरि अ न् च् स्, (विभक्ति का लोप, 'च्' का संयोगान्त लोप) तिरि अ न् (यण्)—तिर्यन् (न्=ङ्—'कुत्व')

तिरश्चः। तिरश्चा। तिर्यग्भ्याम्। (३६९) नाञ्चेः पूजायाम् ६।४।३०। पूजार्थस्याऽञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्। प्राञ्चौ। नलोपाऽभावादल्लोपो न। प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्षु–प्राङ्क्षु। एवं पूजार्थे–प्रत्यङ्ङादयः। क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुञ्चः। क्रुङ्भ्याम्। पयोमुक्–पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुचः। पयोमुग्भ्याम्। मह पूजायाम्। वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च। एते निपात्यन्ते। शतृवच्चैषां कार्यं स्यात्। उगि-

---

(३६९) **नाञ्चेरिति।** 'अनिदिताम्' इत्यतः 'उपधाया, क्ङिति' इति 'श्नान्नलोपः' इत्यतः 'नलोपः' इति चानुवर्तते। पूजायामित्यत्र विषयसप्तमी, तेन यथाकथञ्चित्पूजायां गम्यमानायामञ्चतेरुपधायाः नकारस्य लोपो न भवतीत्यर्थः। **प्राङ् इति।** प्रपूर्वादञ्चतेः क्विन्। नलोपाभावे प्राञ्च् इत्यतः सुबुत्पत्तिः। 'प्राञ्च्+स्' इत्यत्र 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे, संयोगान्तस्य चकारस्य लोपे, ततः अनुस्वारपरसवर्णनिवृत्तौ नकारस्य कुत्वेन ङकारे 'प्राङ्' इति। पयोमुग्=मेघ इति।

=तिर्यङ् (=पक्षी)। (२) तिर्यञ्चौ (औ)। (३) तिरस्+अन् च्+शस् (न् का लोप—'अनिदिताम्') तिरस्+अच्+अस्, (भसंज्ञा) ('अचः' से अ का लोप) तिरस् चस् (स्=श्—'श्चुत्व' म्=र्=:)=तिरश्चः। (४) तिरश्चा (टा)। (५) तिर्यग्भ्याम् (भ्याम्—हलादि विभक्तियों में 'अ' का लोप न होने से तिरस्='तिरि' आदेश होता है)।

(३६९) **पद**—न अञ्चेः, पूजायाम्। **अनुवृत्ति**—उपधायाः, क्ङिति, नलोपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पूजार्थक अन्च् धातु की उपधा के नकार का लोप नहीं होता। प्राङ्। प्राञ्चौ। न् लोप न होने से 'अ' का लोप भी नहीं हुआ। प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्षु–प्राङ्क्षु। पूजा अर्थ में इसी प्रकार 'प्रत्यङ्' आदि होंगे। क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुञ्चः। क्रुङ्भ्याम्। पयोमुक्–ग्। पयोमुचः। पयोमुग्भ्याम्। 'मह्' धातु भी पूजा अर्थ में है। (वा०) वर्तमानकाल में पृषन्, महत्, बृहत्, जगत् ये निपातन से सिद्ध होते हैं। इनके कार्य शतृ प्रत्यय की तरह होते हैं। उक्-इत्संज्ञक होने से 'नुम्' का आगम।

विमर्श—यहाँ 'अनिदिताम्' (६।४।२४) सूत्र से 'उपधायाः' तथा 'क्ङिति' एवम्—'श्नान्नलोपः' से 'नलोपः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार—"पूजा अर्थ में 'अन्च्' की उपधा के 'न्' का लोप नहीं होता।"

उदाहरण—(१) प्र+अञ्च्=प्रान्च् (क्विन्, उसका सर्वापहारि लोप), प्रान् च्+सु—(विभक्ति का लोप, 'च्' का संयोगान्त लोप) प्रान् (न् के लोप का 'नाञ्चेः पूजायाम्' से निषेध) (न्=ङ् 'कुत्व')=प्राङ्। (२) प्रान्च्+औ=प्राञ्चौ। (३) प्रान् च्+जस् ('न्' का लोप न होने से 'अचः' से 'अ' का लोप भी नहीं हुआ। स्=र्=:)=प्राञ्चः। (४) प्राङ्भ्याम् (भ्याम्)। (५) सप्तमी बहुवचन में कुक् का आगम—प्राङ् क् सु, ('चयो द्वितीया०' से पाक्षिक क्='ख्' षत्व)=प्राङ्ख्षु। 'ख्' न होने पर (क्+ष्=क्ष्)=प्राङ्क्षु। कुगागम के अभाव में=प्राङ्षु। इस प्रकार तीन रूप बनते हैं।

इसी प्रकार 'पूजा करने वाला' अर्थ में—प्रति+√अन्च् से 'प्रत्यङ्' आदि रूप बनेंगे।

(क) √क्रुन्च् से कुटिलता अर्थ में 'ऋत्विग्०' से क्विन्प्रत्ययान्त निपातित 'क्रुन्च्' शब्द है। (१) क्रुञ्च्+सु (स्), (विभक्ति का लोप) क्रु न् च् ('संयोगान्तस्य लोपः' से च् का

स्त्वानुम् । (३७०) सान्तमहतः संयोगस्य ६।४।१० । सान्तसंयोगस्य, महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महतः । महद्भ्याम् । (३७१) अत्वसन्तस्य चाऽधातोः ६।४।१४ । अत्वन्त-

---

(३७०) सान्तमहत इति । अत्र 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति, 'नोपधायाः' इति, 'ढ्रलोपे' इत्यतः 'दीर्घः' इति चानुवर्तते । संयोगस्येति नकारेऽन्वेति । सान्तेति षष्ठ्यन्तं पदम्, षष्ठ्या आर्षः लुक् । एवं 'सान्तस्ये'ति संयोगेऽभेदेनान्वेति । 'महतः' इत्यवयवषष्ठ्यन्तं पदमपि नकारेऽन्वेति । तदाह—सान्तसंयोगस्येत्यादि । महान् इति । 'महत् + सु' इत्यत्रोकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सस्य लोपे 'उगिदचाम्०' इति नुमि 'महन् त्' इति जाते, 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्युपधायाः दीर्घे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तकारस्य लोपे 'महान्' इति ।

(३७१) अत्वसन्तस्येति । अत्र 'नोपधायाः' इत्यतः 'उपधायाः' इति, 'सर्वनाम-

---

लोप) क्रुन् (न्=ङ्—'कुत्व')=क्रुङ् । (२) क्रुञ्चौ (औ) । (३) क्रुञ्चः (जस्) । (४) क्रुङ्भ्याम् (भ्याम्) ।

(ख) पयोमुच् (=मेघ) शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया इस प्रकार है—(१) पयोमुच्+सु (स्), (विभक्तिलोप) पयोमुच् (च्=क्—'कुत्व', क्=ग्—'जश्त्व')—पयोमुग् (ग्=क्—'पाक्षिक चर्त्व')=पयोमुक् । पक्ष में=पयोमुग् । पयोमुचौ । पयोमुचः । पयोमुग्भ्याम् (पूर्ववत्) ।

(ग) √मह पूजायाम्' से 'वर्तमाने पृषन्महद्०' (उणादि सू० २४१) से शतृ प्रत्यय के समान निपातनात् 'महत्' शब्द सिद्ध होता है । अतः उगित् होने से नुम् होता है । महत्=बड़ा ।

(३७०) पद—सान्तमहतः, संयोगस्य । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने च, असम्बुद्धौ, न, उपधायाः, दीर्घः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—असम्बुद्धि (सम्बुद्धिभिन्न) सर्वनामस्थान के पर रहते, सान्त संयोग के और 'महत्' शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ आदेश होता है । महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महतः । महद्भ्याम् ।

विमर्श—सूत्रार्थ के लिए—'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' (१९८) सूत्र, 'नोपधायाः' (६।४।७) सूत्र तथा 'ढ्रलोपे' (१२८) से 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय के परवर्ती होने की दशा में सकारान्त संयोग के तथा 'महत्' शब्द के 'न्' की उपधा (अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण) को दीर्घ होगा ।"

उदाहरण—(१) महत्+सु (स्) ('उगिदचां०' से नुम्-'न्') मह न् त्+स्, (उपधादीर्घ—'सान्तमहतः') महान् त् स् (विभक्तिलोप, 'त्' का संयोगान्तलोप)=महान् । (२) महत्+औ (नुम्, उपधादीर्घ)=महान्तौ । (३) महत्+जस् (अस्), (नुम्, उपधादीर्घ स्=र्=ः)=महान्तः । (४) सम्बोधन के एकवचन में दीर्घ (३७०) न होने से 'हे महन् !' रूप बनता है । (५) शस् में=महतः । (६) भ्याम् में=महद्भ्याम् ।

(३७१) पद—अत्वसन्तस्य, च, अधातोः । **अनुवृत्ति**—उपधायाः, सौ, दीर्घः । **विधिसूत्र** ।

स्योपधाया दीर्घो, धातुभिन्नासन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ सौ । धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शसादौ महद्वत् । भातेर्डवतुः । डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । भवान् । भवन्तौ । शत्रन्तस्य तु भवन् । (३७२) उभे अभ्यस्तम् ६।१।५ । षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः । (३७३) नाभ्यस्ताच्छतुः ७।१।७८ ।

स्थाने' इत्यतः 'असम्बुद्धावि'ति, 'सौ च' इत्यतः 'सावि'ति 'ढ्रलोपे' इत्यतश्च 'दीर्घः' इति चानुवर्तते । तदाह—**अत्वन्तस्योपधाया इति ।**

(३७२) **उभे अभ्यस्तमिति ।** अत्र 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्यतः 'द्वे' इत्यनुवर्तते । 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वे'ति न्यायेन 'द्वे' इत्यनेन च षष्ठाध्यायविहितमेव द्वित्वं विवक्षितम् ।

मूलार्थ—सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' पर रहते अत्वन्त की उपधा को और धातुभिन्न असन्त की उपधा को दीर्घ होता है। धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शस् आदि में 'महत्' के समान रूप बनेंगे । √भा धातु से 'डवतु' प्रत्यय होने पर भवान्, भवन्तौ आदि । शतृ-प्रत्ययान्त शब्द को अत्वन्त न होने के कारण दीर्घ नहीं हुआ । भवन् ।

विमर्श—सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए—'सर्वनामस्थाने' (१९८) से 'असम्बुद्धा', 'सौ च' (६।४।१३) से 'सौ', 'नोपधायाः' (६।४।७) से 'उपधायाः' तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (१२८) से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति की जाती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'अतु' उसका विशेषण होने से तदन्त विधि होती है। इस प्रकार—"सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' विभक्ति पर रहते अत्वन्त अङ्ग की तथा असन्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ आदेश होता है।"

√धी+मतुप्=धीमत् (=बुद्धिमान्) की रूपसिद्धि का उल्लेख किया जा रहा है—(१) धीमत्+सु (स्) (नुम् का आगम, प्रकृत सूत्र से उपधादीर्घ)—धीमान् त्+स् (विभक्ति लोप)—धीमा न् त् ('त्' का संयोगान्तलोप)=धीमान् । (२) धीमत्+औ (नुम्)—धीम न् त्+औ=धीमन्तौ । (३) धीमत्+जस् (अस्), (नुम्) धीम न् त्+अस् (स्=र्=:) =धीमन्तः । (४) हे धीमन् (सम्बोधन में उपधा को दीर्घ नहीं होता) । (५) शस् आदि विभक्तियों में 'धीमतः' आदि 'महत्' शब्द के समान रूप बनेंगे ।

√भा+डवतु (अवत्)—भा+अवत् (डित् होने से अभसंज्ञक टि (आ) का लोप)= भवत् (=आप) । (१) भवत्+सु (स्), (दीर्घ—३७१) भवात्+स् (नुम्)—भवान् त्+स् (विभक्तिलोप, 'त्' का संयोगान्तलोप)=भवान् । (२) भवत्+औ (नुम्)=भवन्तौ । शतृ प्रत्ययान्त (भू+अत्) में 'अतु' अन्त में न होने से दीर्घ नहीं होता, वहाँ नुम् होकर 'भवन्' (=होता हुआ) रूप बनता है ।

(३७२) पद—उभे, अभ्यस्तम् । **अनुवृत्ति**—द्वे । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—छठे अध्याय के द्वित्व-प्रकरण में जो द्वित्व का विधान किये हैं, वे दोनों (द्वित्व) सम्मिलित अभ्यस्तसंज्ञक होते हैं ।

विमर्श—यहाँ 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६।१।१) सूत्र से 'द्वे' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—अष्टाध्यायी के षष्ठाध्याय में स्थित द्वित्व-प्रकरण के सम्मिलित दोनों रूपों की अभ्यस्त संज्ञा होती है।

अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न । ददत् । ददतौ । (३७४) जक्षित्यादयः षट् ६।१।६ । षड्धातवोऽन्ये, जक्षितिश्च सप्तमः एतेऽभ्यस्तसंज्ञाः स्युः । जक्षत् । जक्षतौ । जक्षतः । एवं—जाग्रत् । दरिद्रत् । शासत् । चकासत् । 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' । 'वेवीङ् वेतिना तुल्ये'—एतौ छान्दसौ । दीध्यत् । वेव्यत् ।

जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास्तथा ।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ॥ १ ॥

---

(३७३) **नाभ्यस्ताच्छतुरिति** । 'इदितो' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । तदाह—**अभ्यस्तादिति** । **ददिति** । 'ददत् + सु' इत्यत्र हल्ङ्यादिना सुलोपे नुमि प्राप्ते अभ्यस्त-संज्ञायां 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति निषेधे 'झलां जशोऽन्ते' इति तकारस्य दकारे 'वाऽवसाने' इति विभाषया दकारस्य तकारे 'ददत्' इति । पक्षे ददिति ।

(३७४) **जक्षित्यादय इति** । अत्र 'उभे अभ्यस्तम्' इत्यतः 'अभ्यस्तमि'त्यनुवृत्तं बहुवचनान्ततया विपरिणम्यते । 'जक्षित्यादयः' इत्यत्राऽतद्-गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहि-रित्यत आह मूले—**षडित्यादिना** । **जक्षदिति** । 'जक्षत् + सु' इत्यत्र 'उगिदचाम्०' इति नुमि प्राप्ते 'जक्षित्यादयः षट्' इति अभ्यस्तसंज्ञायां 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमो निषेधे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे पदसंज्ञायां जश्त्वेन तकारस्य दकारे 'वाऽवसाने' इति वैकल्पिकचर्त्वे 'जक्षत्' इति । पक्षे 'जक्षदि'ति ।

---

(३७३) पद—न, अभ्यस्तात्, शतुः । **अनुवृत्ति**—नुम् । **विधि(निषेध)सूत्र** ।

मूलार्थ—अभ्यस्तसंज्ञक से पर 'शतृ' को नुम् नहीं होता । ददत् । ददतौ ।

विमर्श—यहाँ 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से नुम् की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार—'अभ्यस्तसंज्ञक से परवर्ती शतृ प्रत्यय को नुम् आगम नहीं होता ।'

उदाहरण—(१) ददत्+सु (स्), ('उगिदचां०' से प्राप्त नुम् का 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से निषेध, क्योंकि यहाँ दा को द्वित्व होकर अभ्यस्त संज्ञा हुई है) ददत्+स्, ('स्' का लोप, त्=द्—जश्त्व) ददद् (द्=त्—'पाक्षिक चर्त्व')=ददत्–ददद् । (२) ददत्+औ=ददतौ ।

(३७४) पद—जक्षित्यादयः, षट् । **अनुवृत्ति**—अभ्यस्तम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—जागृ आदि छः धातु और जक्ष् धातु की अभ्यस्त संज्ञा होती है । जक्षत् । जक्षतौ । जक्षतः । जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत् तथा चकासत् भी इसी प्रकार बनते हैं । दीधीङ् और वेवीङ् धातु का प्रयोग वेद में ही होता है । इनके भी दीध्यत् और वेव्यत् रूप बनते हैं ।

अभ्यस्तसंज्ञक सात धातुओं का परिगणन प्रस्तुत कारिका में किया गया है । गुप्–गुब् । गुपौ । गुपः ।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में 'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्तम्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'जक्षि, जागृ, दरिद्रा, शास्, दीधीङ्, वेवीङ् तथा चकास्—ये सात धातुएँ अभ्यस्तसंज्ञक होती हैं ।'

उदाहरण—(१) जक्षत्+सु, ('उगिदचाम्०' से नुम् की प्राप्ति, 'जक्षित्यादयः षट्' से अभ्यस्त संज्ञा होकर 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् का निषेध, 'हल्ङ्याब्भ्य०' से विभक्ति का लोप) जक्षत्, (त्=द्—'झलां जशोऽन्ते') जक्षद् (द्=त् 'वाऽवसाने' से वैकल्पिक चर्त्व)=जक्षत्, जक्षद् । (२) जक्षतौ (औ) । (३) जक्षतः (जस्) । जक्षत्=खाता हुआ । इसी प्रकार जाग्रत्

गुप्–गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् । (३७५) त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३।२।६०। त्यदादिषूपपदेषु अज्ञानार्थात् दृशेर्धातोः कञ् स्यात्, चात्क्विन् । (३७६) आ सर्वनाम्नः ६।३।९१। सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृश्वतुषु । तादृक्–तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् । 'व्रश्चे'ति षः । जश्त्वचर्त्वे । विट्–

---

(३७५) त्यदादिष्विति । सूत्रस्थचकारेण 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इत्यतः क्विन् अनुकृष्यते । आलोचनमिह ज्ञानसामान्यम्, न तु चाक्षुषज्ञानम् । तदाह–त्यदादिष्विति ।

(३७६) आ सर्वनाम्न इति । आ इति लुप्तविभक्तिकं पदम् । 'दृग्दृश्वतुषु' इत्यनुवर्तते । तदाह—सर्वनाम्न इत्यादि ।

(=जागता हुआ), दरिद्रत् (=दुर्गति को प्राप्त होता हुआ), शासत् (=शासन करता हुआ), दीध्यत् (=देता हुआ), वेव्यत् (=देता हुआ) तथा चकासत् (=चमकता हुआ) शब्दों के रूप भी बनेंगे । इनमें दीधीङ् तथा वेवीङ् धातुओं के शतृ प्रत्ययान्त रूप वेद में ही होते हैं ।

क्विप् प्रत्ययान्त √ गुप् (=रक्षा करना) से गुप् शब्द के रूप इस प्रकार बनते हैं—(१) गुप्+सु (स्)—(विभक्ति का लोप)—गुप् (जश्त्व एवं पाक्षिक चर्त्व)=गुप्, गुब् । (२) गुपौ (औ) । (३) गुपः (जस्) । (४) गुब्भ्याम् ।

(३७५) पद—त्यदादिषु, दृशः, अनालोचने, कञ् च । **अनुवृत्ति**—क्विन् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—त्यदादि उपपद रहने पर अज्ञानार्थक दृश् धातु से कञ् प्रत्यय होता है और क्विन् भी ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'च' पद के द्वारा 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (३७८) से 'क्विन्' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार 'त्यद् आदि सर्वनाम शब्दों के उपपद रहने पर अज्ञानार्थक √दृश् से कञ् तथा क्विन् प्रत्यय होते हैं ।'

(३७६) पद—आ, सर्वनाम्नः । **अनुवृत्ति**—दृग्दृश्वतुषु । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दृग्, दृश् तथा वतु के पर रहने पर सर्वनाम को आकार अन्तादेश होता है । तादृक्–तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् । व्रश्चेति षः । विट्–विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम् ।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र 'दृग्दृश्वतुषु' (६।३।८९) की अनुवृत्ति आती है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति होने से—'दृग्, दृश् और वतु पर रहते सर्वनामवाची शब्दों के अन्त्य वर्ण के स्थान पर 'आ' आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) तद्+दृश्, (क्विन्—'त्यदादिषु०' उसका सर्वापहारी लोप) तद्+दृश्, (द्=आ 'आ सर्वनाम्नः') त आ+दृश्, (सवर्णदीर्घ) तादृश्+सु (स्)—(विभक्ति का लोप, श=ष्—'व्रश्च') तादृष् (ष्=ड्—'जश्त्व' ड्=ग्—कुत्व—'क्विन्प्रत्ययस्य कुः')—तादृग् (ग्=क्—'पाक्षिक चर्त्व—'वाऽवसाने')=तादृक् । पक्ष में=तादृग् (=वैसा) । (२) तादृश्+औ=तादृशौ । (३) तादृश्+जस् (अस्) (स्=र्=ः)=तादृशः । (४) तादृश्+भ्याम् (श्=ष्, ष्=ड्=ग्)=तादृग्भ्याम् ।

√विश् से क्विप् प्रत्यय होने पर विश् (=प्रवेश करने वाला) शब्द बनता है । (१) विश्+सु (स्), (विभक्ति का लोप, श्=ष्—'व्रश्च०') विष् (ष्=ड्—'जश्त्व' ड्=ट—

विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम् । (३७७) नशेर्वा ८।२।६३ । नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा पदान्ते । नक्–नग् । नट्–नड् । नशौ । नशः । नग्भ्याम्–नड्भ्याम् । (३७८) स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८ । अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् । घृतस्पृक्–घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः । दधृक्–दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् । रत्नमुट्–

---

(३७७) **नशेर्वा इति** । अत्र 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यतः 'कुरि'ति 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यतश्च 'अन्ते' इति चानुवर्तते । 'पदस्य' इत्यधिकृतम् । तदाह—**नशेः कवर्ग इत्यादि** । **नक्–नगिति** । कुत्वपक्षे जश्त्वचर्त्वाभ्यां रूपे । **नट्–नडिति** । षत्वपक्षे जश्त्वचर्त्वाभ्यां रूपे ।

(३७८) **स्पृशोऽनुदके इति** । 'सुपि स्थः' इत्यतः सुपीत्यनुवर्तते । **उदकशब्द**भिन्ने सुबन्ते उपपदे स्पृशेः क्विन् स्यादिति सूत्रार्थः । **घृतस्पृक् इति** । **घृतं स्पृशतीति**

'पाक्षिक चर्त्व')=विट् , विड् । (२) विशौ (औ) । (३) विशः (जस्) । (४) विड्भ्याम् (भ्याम्) ।

(३७७) पद—नशेः, वा । **अनुवृत्ति**—पदस्य, अन्ते, कुः । **विधिसूत्र** ।

सूलार्थ—पदान्त में नश् को विकल्प से कवर्ग अन्तादेश होता है । नक्–नट् । नट्–नड् । नशौ । नशः । नड्भ्याम्—नग्भ्याम् ।

विमर्श—यहाँ 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८।१।६३) से 'कुः' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (३३१) से 'अन्ते' की अनुवृत्ति आ रही है । 'पदस्य' का अधिकार है । इस प्रकार—'पद के अन्त में नश् के स्थान पर विकल्प से ('अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा द्वारा) क वर्ग अन्तादेश होता है ।'

उदाहरण—√नश् + क्विप्—नश् (=दिखलायी न देना) शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया इस प्रकार हैं—(१) नश्+सु (स्), (विभक्ति का लोप, श्=ष्)—नष् ('ष्'='ड्'—जश्त्व) नड्, (ड्=ग्—विकल्प से कुत्व—'नशेर्वा') नग् (ग्=क् 'विकल्प से चर्त्व')=नक् । चर्त्व के अभाव में=नग् । कुत्व के अभाव में पाक्षिक चर्त्व ड्=ट् होकर—नट्, नड् । (२) नशौ (औ) । (३) नशः (जस्) । (४) नड्भ्याम् (भ्याम्); यहाँ विकल्प से कुत्व होकर—नग्भ्याम्, नड्भ्याम् ।

(३७८) पद—स्पृशः, अनुदके, क्विन् । **अनुवृत्ति**—सुपि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उदक-भिन्न सुबन्त उपपद रहते 'स्पृश्' धातु से क्विन् प्रत्यय होता है । घृतस्पृक्–ग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः । दधृक्–ग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् । रत्नमुट्–ड् । रत्नमुषौ । रत्नमुषः । रत्नमुड्भ्याम् । षट्–षड् । षड्भिः । षण्णाम् । षट्त्सु, षट्सु । प्राचीन आचार्यों ने जो 'षण्णाम्, षड्णाम्' दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वह प्रमाद ही है; क्योंकि यहाँ 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से नित्य ड्=ण् होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'सुपि स्थः' (३।२।४) सूत्र से 'सुपि' की अनुवृत्ति आ रही है । अनुवृत्त 'सुपि' पद का 'अनुदके' के साथ अन्वय होता है । तदनुसार—'उदकपद-भिन्न सुबन्त उपपद रहते स्पृश् धातु से क्विन्प्रत्यय होता है ।'

उदाहरण—'घृतं स्पृशति' विग्रह में घृत उपपदपूर्वक स्पृश् धातु से क्विन्, उसका सर्वापहारी लोप, उपपद समास होकर—घृतस्पृश् (=घी का स्पर्श करने वाला) शब्द बनता है । (१)

रत्नमुड् । रत्नमुषौ । रत्नमुषः । रत्नमुड्भ्याम् । षट्-षड् । षड्भिः । षड्भ्यः-२ । षण्णाम् । षट्त्सु-षट्सु । यत्तु प्राचा षण्णां षड्णामित्युदाहृतं, तत्प्रामादिकमेव, प्रत्यये नित्यवचनात् । रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् ससजुषोरिति रुत्वम् । (३७९)

क्विन्, तस्य सर्वापहारिलोपे, उपपदसमासे सुब्लुकि घृतस्पृश्शब्दात् सौ, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वस्याऽसिद्धत्वात् पूर्वं 'व्रश्चे'ति शस्य षत्वे, जश्त्वेन तस्य डत्वे, तस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यनेन कुत्वे गकारे 'वाऽवसाने' इति वैकल्पिकचर्त्वेन ककारे 'घृतस्पृक्' इति । पक्षे 'घृतस्पृग्' इति । 'घृतस्पर्शकारी' इत्यर्थः ।

घृतस्पृश्+सु (स्), (विभक्ति का लोप, कुत्व असिद्ध होने से श्=ष, ष्=ड्—'जश्त्व', ड्=ग—'कुत्व', ग्=क्—पाक्षिक चर्त्व)=घृतस्पृक्, घृतस्पृग् । (२) घृतस्पृशौ (औ) । (३) घृतस्पृशः (जस्) ।

षकारान्त दधृष् शब्द की रूपसिद्धि प्रदर्शित की जा रही है—(धृष्णोतीति विग्रहे √धृष् (ञिधृषा)+क्विन् 'ऋत्विग्०' द्वित्व आदि निपातन से होकर दधृष् शब्द निष्पन्न होता है ।) (१) दधृष्+सु, (विभक्ति लोप, ष्=ड्—'जश्त्व') दधृड्, (ड्=ग्–'कुत्व') दधृग्, (ग्=क्—'पाक्षिक चर्त्व')=दधृक् । पक्ष में=दधृग् । (२) दधृषौ (औ) । (३) दधृषः (जस्) । (४) दधृग्भ्याम् (भ्याम्) इत्यादि ।

रत्नानि मुष्णाति (रत्न चुराने वाला) अर्थ में रत्न+मुष् धातु से क्विन् प्रत्यय होकर 'रत्नमुष्' शब्द बनता है । (१) रत्नमुष्+सु (स्), (विभक्ति का लोप, ष्=ड्) रत्नमुड्, (ड्=ट्—'पाक्षिक चर्त्व')=रत्नमुट्, रत्नमुड् । (२) रत्नमुष्+औ=रत्नमुषौ । (३) रत्नमुष्+(जस्) अस् (स्=र्=ः)=रत्नमुषः । (४) रत्नमुष्+भ्याम (ष्=ड्)=रत्न-मुड्भ्याम् ।

बहुवचनान्त संख्यावाचक 'षष्' शब्द की रूपसिद्धि का उल्लेख किया जा रहा है—(१) षष्+जस्, (षट् संज्ञा 'षड्भ्यो लुक्' से जस् का लुक्) षष्, (जश्त्व से ष्=ड्) षड्, (ड्=ट्—'पाक्षिक चर्त्व')=षट्, षड् । (२) षष्+भिस् (ष्=ड्—'जश्त्व', स्=र्=ः)=षड्भिः । (३) षष्+भ्यस् (ष्=ड्, स्=र्=ः)=षड्भ्यः । (४) षष्+आम्, (नुट् का आगम—'षट्चतुर्भ्यश्च') षष्+नाम्, ('ष्'='ड्'—'जश्त्व') षड्+नाम्, ('न्'='ण्' ष्टुत्व,) षड्+णाम् (ड्=ण्—'प्रत्यये भाषायां नित्यम्')=षण्णाम् । (५) षष्+सुप् (सु), (ष्=ड्)—षड्+सु, (विकल्प से धुट् (ध्) का आगम—'डः सि धुट्') षड्ध्+सु (ड्=ट्, ध्=त्-चर्त्व)=षट्त्सु । धुट् का आगम न होने पर ड्=ट् 'चर्त्व')=षट्सु ।

यहाँ षष्ठी विभक्ति में प्राचीन आचार्यों ने दो रूप षण्णाम् और 'षड्नाम्' उदाहृत किये हैं । वह उनका प्रमाद ही है । क्योंकि 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इस वार्तिक वचन से नित्य अनुनासिक ड्=ण् विधान किया जाता है ।

'पठितुमिच्छति' (पढ़ने की इच्छा करने वाला) अर्थ में 'पिपठिष्' शब्द है । पिपठिष्+सु (रु), (विभक्ति का लोप) पिपठिष् (यहाँ सन् सम्बन्धी स् के स्थान में विधीयमान 'ष्' रुत्व विधायक शास्त्र 'ससजुषो रुः' की दृष्टि में असिद्ध होने से ष्=स्=रु)—पिपठिर् (आगे दीर्घ विधायक शास्त्र का उल्लेख किया जा रहा है—

र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८।२।७६। रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः पदान्ते। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठिषः। पिपठीर्भ्याम्। (३८०) **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ८।३।५८।** एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपीण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः। पिपठीष्षु-पिपठीःषु। चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्षः। चिकीर्षु।

---

(३७९) **र्वोरुपधाया इति।** 'र् च व् चे'ति द्वन्द्वे 'र्वौ' तयोरिति विग्रहे 'र्वोः' इति। 'सिपि धातो रुर्वा' इत्यतो धातोरित्यनुवर्तते, 'स्कोः' इत्यत अन्ते इति चानुवर्तते। 'पदस्ये'त्यधिकृतम्। 'र्वोः' इति धातोरित्यस्य विशेषणम्, तेन तदन्तविधिस्तदाह—**रेफवान्तस्येत्यादिना। पिपठीरिति।** 'पिपठिष्+सु' इत्यत्र 'हल्ङ्याबि'ति सुलोपे रुत्वे कर्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धमि'ति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे पिपठिर् इति जाते 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति इकारस्य दीर्घे, रेफस्य विसर्गे कृते 'पिपठीः' इति।

(३८०) **नुम्विसर्जनीय इति।** अत्र 'इण्कोः' इति, मूर्द्धन्य इति चानुवर्तते। तदाह—**एतैरित्यादि। पिपठीष्षु इति।** पिपठिष्शब्दात् सुप्यनुबन्धलोपे 'पिपठिष्+सु' इत्यत्र 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः'

---

(३७९) पद—र्वोः, उपधायाः, दीर्घः, इकः। **अनुवृत्ति**—पदस्य, अन्ते, धातोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त में रेफान्त और वान्त धातु की उपधा को दीर्घ होता है। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठिषः। पिपठीर्भ्याम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सिपि धातो रुर्वा' (८।२।७४) से 'धातोः' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (३३१) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आती है। 'पदस्य' का अधिकार है। 'र्वोः' पद धातो का विशेषण होने से उसमें तदन्त विधि होती है। तदनुसार 'पदान्त में रकारान्त और वकारान्त धातु की उपधा के इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) को दीर्घ होता है।'

उदाहरण—(१) पूर्वोक्त रूप पिपठिर् (रेफान्त धातु की उपधा 'इ' को दीर्घ—'र्वोरुपधाया')—पिपठीर् (र्=ः)=पिपठीः। (२) पिपठिषौ (औ)। (३) पिपठिषः (जस्)। (४) पिपठीर्भ्याम् (दीर्घ)।

(३८०) पद—नुम् विसर्जनीयशर्व्यवाये, अपि। **अनुवृत्ति**—मूर्द्धन्यः, सः, इण्कोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नुम, विसर्ग और शर् इनमें किसी एक के व्यवधान होने पर भी इण्, कवर्ग से पर विसर्ग को 'ष्' होता है। पिपठीष्षु। 'वा शरि'। पिपठीःषु। चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्षः। चिकीर्षु। विद्वान्। विद्वांसौ। हे विद्वन्!

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' (८।३।५५) से 'मूर्द्धन्यः', 'सहेः साडः सः' (२८४) से 'सः', तथा 'इण्कोः' (८।३।५७) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"नुम्, विसर्ग तथा शर्—इनमें से किसी एक का व्यवधान होने पर इण् और कवर्ग से परवर्ती 'स्' के स्थान पर मूर्द्धन्य (ष्) आदेश होता है।"

उदाहरण—पिपठिष्+सु (सुप्), (रुत्व की कर्तव्यता में षत्व के असिद्ध होने से स्=र्) पिपठिर्+सु, (इ='ई' दीर्घ 'र्वोरुपधायाः') पिपठीर्+सु, (र्=ः 'खरवसानयोः') पिपठीः

विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् । (३८१) वसोः सम्प्रसारणम् ६।४।१३१ । वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणम् । विदुषः । वसुस्रंस्विति दत्वम् । विद्वद्भ्याम् । (३८२) पुंसोऽसुङ् ७।१।८९ । पुंसोऽसुङ् स्यात् सर्वनामस्थाने । पुमान् । हे पुमन् । पुमांसौ ।

इति रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति दीर्घे 'रोः सुपि' इति रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सुपः सकारस्य षत्वे 'ष्टुना ष्टुरि'ति पूर्वसकारस्य ष्टुत्वेन षकारे 'पिपठीष्षु' इति । पक्षे 'वा शरि' इति विसर्गस्य विसर्गे पिपठीःषु इति ।

(३८१) वसोः सम्प्रसारणमिति । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ताः ग्राह्याः' इति परिभाषयाऽत्र **वसोरिति तदन्तग्रहणम्** । 'भस्ये'त्यधिक्रियते । तदाह—**वस्वन्तस्येति** ।

(३८२) पुंसोऽसुङिति । अत्र 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने'

षु; ('नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' से स्=ष्)—पिपठीःषु ('वा शरि' से विकल्प से विसर्ग के स्थान में विसर्ग होने से पक्ष में विसर्ग के स्थान पर 'विसर्जनीयस्य सः' से स्, स्=ष् 'ष्टुत्व')=पिपठीष्षु ।

कर्तुमिच्छति (=करने की इच्छा वाला) अर्थ में चिकीर्ष् शब्द है । (१) चिकीर्ष्+सु (स्), (विभक्ति लोप)—चिकीर्ष् (षत्व के असिद्ध होने से स् का लोप 'रात्सस्य') चिकीर् (र्=ः)=चिकीः । (२) चिकीर्षौ (औ) । (३) चिकीर्षः (जस्) । (४) चिकीर्ष्+सु (स् का लोप, षत्व)=चिकीर्षु ।

विद्वस् शब्द की रूपसिद्धि का उल्लेख किया जा रहा है—(ज्ञानार्थक √विद्+लट्, (लट्= शतृ-अत) विद्+अत, (शप्)—विद् अ अत (शप् का लोप व शतृ=वस्)=विद्वस् =विद्वान् ।) (१) विद्वस्+सु (स्), (नुम् का आगम, 'उगिदचाम्') विद्वन् स्, (दीर्घ अ='आ'—'सान्तमहतः') विद्वान् स्+स् (विभक्तिलोप, स् का संयोगान्त लोप)=विद्वान् । (२) विद्वस्+औ (नुम्, दीर्घ न्=अनुस्वार)=विद्वांसौ । (३) हे विद्वस्+स् ('स्' का लोप, नुम् संयोगान्त लोप, यहाँ सम्बोधन में दीर्घ नहीं होता)=हे विद्वन् !

(३८१) पद—वसोः, सम्प्रसारणम् । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, भस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—वस्वन्त भसंज्ञक अंग को सम्प्रसारण होता है । विदुषः । 'वसुस्रंसु०' से द् । विद्वद्भ्याम् ।

विमर्श—यहाँ 'अङ्गस्य' तथा 'भस्य' का अधिकार है । 'वसोः' पद अङ्गस्य का विशेषण है । अतः तदन्त विधि होती है । इस प्रकार वस्वन्त भसंज्ञक अंग के स्थान पर सम्प्रसारण (व्=उ) होता है ।

उदाहरण—(१) विद्वस्+शस् (अस्), (व्=उ 'सम्प्रसारण') विद् उ अस्+अस्, (उ+अ=उ पूर्वरूप 'सम्प्रसारणाच्च') विदुस्+अस्, (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः') विदुषस् (स्=र्=ः)=विदुषः । (२) विद्वस्+भ्याम् (स्=द् 'वसुस्रंसु०')=विद्वद्भ्याम् ।

(३८२) पद—पुंसः, असुङ् । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सर्वनामस्थान की विवक्षा में पुंस् को 'असुङ्' होता है । पुमान् । पुमांसौ । पुंसः । पुंभ्याम् । पुंसु । 'ऋदुशनस्०' से अनङ् । उशना । उशनसौ । (वा०) इसके सम्बुद्धि में अनङ्

पुंसः । पुंभ्याम् । पुंसु । ऋदुशनेत्यनङ् । उशना । उशनसौ । * अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः * । हे उशन-हे उशनन्-हे उशनः ! उशनोभ्याम् । अनेहा । अनेहसौ । अनेहसः । हे अनेहः । वेधा । वेधसौ । वेधसः । वेधोभ्याम् ।

इत्यनुवर्तते । तदाह—**सर्वनामस्थान इत्यादि । पुमान् इति ।** पुंस्शब्दात्सौ 'ङिच्चे'-ति सूत्रबलात् 'पुंसोऽसुङ्' इति सकारस्य स्थानेऽसुङि 'पुमसुङ्+सु' इति जाते, ङकारोकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'पुमस्+सु' इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सोर्लोपे प्रत्ययलक्षणे 'उगिदचामि'ति नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे सस्य संयोगान्तलोपे 'पुमान्' इति ।

और नलोप भी विकल्प से होते हैं। हे उशन-हे उशनन्-हे उशनः ! उशनोभ्याम् । अनेहा । अनेहसौ । अनेहसः । हे अनेहः ! वेधा । वेधसौ । वेधसः । वेधोभ्याम् ।

विमर्श—यहाँ 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार 'सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) पर रहते पुंस् शब्द के अन्त्य वर्ण स् के स्थान पर (अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से) असुङ् (अस्) आदेश होगा।'

उदाहरण—(१) पुंस्+स्, (स्=असुङ्-अस्) पुम् अस्+स् (यहाँ अनुस्वार अपनी पूर्व स्थिति में आ गया—'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्युपायः') नुम् का आगम—पुमन् स्+स्, (दीर्घ—'सान्तमहतः') पुमान् स्+स् (विभक्तिलोप, स् का संयोगान्त लोप)=पुमान् (=पुरुष)। (२) पुंस्+औ, (स्=अस्) पुमस्+औ (नुम्, दीर्घ, न्=अनुस्वार)=पुमांसौ । (३) पुंस्+शस् (अस्) (यहाँ सर्वनामस्थान न होने से असुङ् नहीं हुआ, स्=र्=ः)=पुंसः । (४) पुंस्+भ्याम् (स् लोप तथा म् को अनुस्वार=परसवर्ण)=पुंभ्याम् । (५) पुंस्+सुप् (सु), (स् का संयोगान्तलोप म्=अनुस्वार)=पुंसु ।

उशनस् (=शुक्राचार्य) शब्द के रूपों की प्रक्रिया का प्रदर्शन किया जा रहा है—

(१) उशनस्+सु (स्), (स्=अन्—'ऋदुशनस्पुरुदंसः') उशनअन्+स्, (अ+अ=अ—'पररूप') उशनन्+स्, (उपधादीर्घ) उशनान् स् ('स्' विभक्ति का लोप, न् का लोप) =उशना । (२) उशनस्+औ=उशनसौ ।

(वा०)—उशनस् शब्द में सम्बुद्धि के विषय में अनङ् और नलोप भी विकल्प से होते हैं। (१) हे उशनस्+स्, (स्=अन् विकल्प से) पररूप तथा विभक्तिलोप होकर=हे उशनन् ! उक्त कार्यों के अतिरिक्त न् लोप होने पर=हे उशन ! अनङ् न होने पर विभक्तिलोप के बाद स्=र्=ः)=हे उशनः । (२) उशनस्+भ्याम् (स्=रु=उ, अ+उ=ओ 'गुण')=उशनोभ्याम् ।

सकारान्त अनेहस् (=काल) शब्द के रूप सम्बोधन के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में 'उशनस्' के समान बनते हैं। प्रथमा—अनेहा, अनेहसौ, अनेहसः । सम्बोधन में—अनेहस्+स् (विभक्तिलोप, दीर्घ का अभाव, स्=र्=ः)=हे अनेहः !

वेधस् (=ब्रह्मा) शब्द की रूप-प्रक्रिया इस प्रकार है—(१) वेधस्+सु (स्), ('अ'= 'आ' दीर्घ—'अत्वसन्तस्य चाधातोः') वेधास्+स्, (विभक्ति का लोप)—वेधास् (स्=र्=ः) =वेधाः । (२) वेधस्+औ=वेधसौ । (३) वेधस्+(जस्) अस् (स्=र्=ः)=वेधसः । (४) वेधस्+भ्याम् (स्=रु=उ) वेध उ भ्याम् (गुण)=वेधोभ्याम् ।

(३८३) अदस औ सुलोपश्च ७।२।१०७। अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे सुलोपश्च । 'तदोरि'ति सः । असौ । * औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः * । प्रतिषेधपक्षे सादुत्वं च । असकौ । असुकः । त्यदाद्यत्वं पररूपम् । वृद्धिः । **(३८४) अदसोऽसेर्दादु दो मः ८।२।८०।** अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः । दीर्घस्य ऊः । अमू । 'जशः शी' । गुणः । **(३८५)**

---

(३८३) **अदस औ इति ।** 'अदसः' इति षष्ठ्यन्तं पदम् । 'औ' इत्यविभक्तिक-निर्देशः । इह 'तदोः सः सावि'त्यतः सावित्यनुवर्तते । अलोऽन्त्यस्येति परिभाषेहोपतिष्ठते । तदाह—**अदस औकार इत्यादिना । असौ इति ।** 'अदस् + स्' इति स्थिते 'अदस औ सुलोपश्च' इति सकारस्यौत्वे सुलोपे च विहिते 'अद् + औ' इति जाते, 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति दस्य सत्वे 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ 'असौ' इति ।

(३८४) **अदसो इति ।** अत्र अदसः, असेः, दात्, उ, दः, मः इति पदच्छेदः । न विद्यते सि = सकारो यस्य सोऽसिस्तस्य सकाररहितस्येत्यर्थः । असेरिति अदसो

---

(३८३) पद—अदसः, औ, सुलोपः, च । **अनुवृत्ति**—सौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'सु' पर रहते अदस् को 'औ' अन्तादेश होता है और सु का लोप होता है । 'तदोः सः' से द् = स् । असौ । (वा०)—'अकच् सहित अदस् को औत्व का निषेध विकल्प से कहना चाहिए । निषेधपक्ष में सकार से उत्तरवर्ती वर्ण अकार को उत्व भी होता है ।' असकौ । असुकः ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (७।२।१०६) से 'सौ' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "सु विभक्ति के परवर्ती रहने पर अदस् शब्द के स् के स्थान पर 'औ' आदेश होता है तथा विभक्ति का लोप भी होता है ।"

उदाहरण—(१) अदस् + सु (स्), (स् = औ, और विभक्ति का लोप—'अदस औ') अद + औ, (द् = स्—'तदोः सः') अस औ, (अ + औ = औ—'वृद्धि') = असौ । (वा०)—"अकच् प्रत्यय सहित अदस् शब्द को 'औ' का विकल्प से निषेध होता है तथा से पर 'अ' के स्थान पर 'उ' भी विकल्प से होता है" । (२) अदस् + अकच् (अक्) = अद्—अक्—अस् + सु, (सु का लोप, स् = औ) **अदक + औ,** (द् = स्—'तदोः सः') असक औ (अ + औ = 'औ'-'वृद्धि') = असकौ । औकार न होने पर अदकस् + स् (स् = अ 'त्यदादीनामः' से पररूप) अदक + स्, (द् = स्) असक + स् (सकारोत्तरवर्ती अ = उ, विभक्ति के स् = र् = :) = असुकः ।

प्रसङ्गतः अकच् प्रत्यय सहित अदस् शब्द के रूपों की विशेषता का उल्लेख कर पुनः अदस् शब्द के अन्य रूपों का उल्लेख किया जा रहा है—

(३८४) पद—अदसः, असे, दात, उः, दः, मः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सान्त-भिन्न 'अदस्' शब्द के दकार से पर ह्रस्व को 'उ', दीर्घ को 'ऊ' और द् को म् आदेश होता है । अमू ।

विमर्श—सूत्र स्वयं में पूर्ण है । अतः यहाँ कोई अनुवृत्ति नहीं आती । 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र (परिभाषा) की उपस्थिति से—'सकारान्त-भिन्न अदस् शब्द के दकार से पर वर्ण को उ एवं ऊ (ह्रस्व को उ, दीर्घ को ऊ) आदेश तथा द् = म् आदेश होता है । यह प्रमाणकृत सादृश्य का उदाहरण है ।

एत ईद् बहुवचने ८।२।८१। अदसो दात्परस्यैत ईत् दस्य च मो, बह्वर्थोक्तौ। अमी। 'पूर्वत्राऽसिद्धमि'ति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां 'ना'भावः। **(३८६) न मु ने ८।२।३।** 'ना'भावे कर्तव्ये,

---

विशेषणम्। दादिति पञ्चमी, परस्येत्यध्याहार्यम्। तदाह—**अदसोऽसान्तस्येति। अमू इति।** 'अदस्+औ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे पररूपे 'अद+औ' इति जाते 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ 'अदसोऽसेर्दादुदोमः' इत्यौकारस्य ऊकारे दस्य मत्वे च 'अमू' इति रूपम्।

(३८५) एत ईदिति। अत्र 'अदसोऽसेर्दा दु दोमः' इत्यतः 'अदसः' इति, 'दादि'-ति, 'दः' इति, 'मः' इति पदचतुष्टयमनुवर्तते। तेन 'अदसो दात्परस्य एत ईत्स्यात् दस्य च मो बहुवचने' इत्यर्थः। **अमी इति।** 'अदस्+जस्' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे पररूपे 'जसः शी' इति जसः स्थाने 'शी' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे 'अदे' इति जाते, 'एत ईद् बहुवचने' इति ईत्वे दस्य मकारे च कृते 'अमी' इति सिद्धम्।

(३८६) न मु ने इति। 'पूर्वत्राऽसिद्धमि'त्यतः 'असिद्धमि'त्यनुवर्तते। म् च उश्चेति समाहारद्वन्द्वः। 'ने' इति नाशब्दस्य सप्तम्येकवचनम्। विषयसप्तमी चैषा। तथा च नाभावे कृते कर्तव्ये च लभ्यते। तदाह—**नाभाव इत्यादि। अमुना इति।**

उदाहरण—(१) अदस्+औ, (स्=अ—'त्यदादीनामः' से पररूप) अद+औ (अ+औ=औ—'वृद्धि')—अदौ (द्=म्, औ=ऊ 'अदसोऽसेर्दादु दो मः')=अमू।

(३८५) पद—एतः, ईत, बहुवचने। **अनुवृत्ति**—अदसः, दात, दः, मः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—बहुवचन में अदस् शब्द के द् से पर एकार को ईत तथा द् के स्थान पर म् आदेश होते हैं। अमी। 'पूर्वत्रासिद्धम्' के नियम के अनुसार पहले विभक्तिकार्य, पश्चात् उकार और मकार होते हैं। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्व हो जाने पर, घि संज्ञा होकर टा के स्थान पर 'ना' आदेश होगा।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए—'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३८४) से 'अदसः, दात, दः और मः' की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार "बहुवचन में अदस् शब्द के अवयव 'द्' से पर 'ए' के स्थान पर 'ई' (ईत्) आदेश होता है तथा द् के स्थान पर म् होता है।"

उदाहरण—(१) अदस्+जस् (स्=अ, पररूप)—अद+जस्, (जस्=शी-ई) अद+ई, (अ+ई=ए 'गुण') अदे (ए=ई, द्=म्—'एत ईद् बहुवचने')=अमी। (२) अदस्+अम् (स्=अ, पररूप) अद+अम्, (अ+अ='अ' 'अमि पूर्वः')—अदम् (द्=म्, अ=उ 'अदसोऽसेः')=अमुम्। (३) अदस्+औ='अमू' (पूर्ववत्)। (४) अदस्+शस् (स्=अ, पररूप)—अद+अस् (पूर्वसवर्णदीर्घ, स्=न् 'तस्माच्छसो')—अदान् (द्=म्, आ=ऊ)=अमून्।

(३८६) पद—न, मु, ने। **अनुवृत्ति**—असिद्धम्। **असिद्ध निषेधसूत्र।**

मूलार्थ—नाभाव कर्तव्य होने पर या कर चुकने पर मुभाव असिद्ध नहीं होता। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमुयोः। अमीषु।

कृते च मुभावो नाऽसिद्धः। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमुयोः। अमीषु।

॥ इति हलन्ताः पुंल्लिङ्गाः ॥

अदस्शब्दाट्टाविभक्तावनुबन्धलोपे त्यदाद्यत्वे पररूपे च 'अदसोऽसेः' इति अकारस्योत्वे दस्य मत्वे 'अमु+आ' इति जाते घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नाभावे कर्तव्ये मुत्वस्यासिद्धत्वे प्राप्ते 'न मु ने' इत्यनेन मुत्वस्याऽसिद्धत्वाऽभावबोधनात् 'टा' इत्यस्य नादेशे कृते 'अमुना' इति। अत्र मुत्वस्यासिद्धत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घस्तु न शङ्क्यः, तेनैव सूत्रेण नाभावे कृतेऽपि मुत्वस्याऽसिद्धत्वनिषेधादिति।

इति हलन्ताः पुंल्लिङ्गाः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र द्वारा असिद्ध विधान का निषेध किया जा रहा है। अतएव 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३४) से 'असिद्धम्' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्र का 'ने' पद सप्तमी का एकवचन है। यहाँ वैषयिक सप्तमी अभीष्ट है। अतः 'ना' आदेश के विषय में अथवा 'ना' हो जाने पर मुभाव ('म्' और 'उ' आदेश) असिद्ध नहीं होते।

उदाहरण—(१) अदस्+टा (स्=अ, पररूप)—अद+टा, (द्=म्, अ=उ—'अदसोऽसेः') अमु+टा (आ), (यहाँ 'आ' के स्थान पर 'ना' विधायक सूत्र—'आङो नाऽस्त्रियाम्' (७।२।११०) के प्रति त्रिपादीस्थ सूत्र—'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (८।२।८०) के द्वारा विधीयमान 'म्' और 'उ' असिद्ध होने से उकारान्त पद के अभाव में आ=ना प्राप्त नहीं है। किन्तु 'न मु ने' सूत्र द्वारा असिद्ध का निषेध होने से घिसंज्ञा होकर 'आ'='ना' आदेश हो जाता है)=अमुना। (२) अदस्+भ्याम्, (स्=अ, पररूप) अद+भ्याम्, (दीर्घ-'सुपि च') अदा+भ्याम् (द्=म्, आ=ऊ 'अदसोऽसेः')=अमूभ्याम्। (३) अदस्+भिस्, (अत्व, पररूप) अद+भिस् (अ=ए 'बहुवचने', द्=म्, ए=ई—'एत ईद् बहुवचने')—अमीभिस् (स्=र्=ः)=अमीभिः। (४) अदस्+ङे, (अत्व, पररूप) अद+ङे (ङे=स्मै 'सर्वनाम्नः स्मै')—अद+स्मै (द्=म्, अ=उ, स्=ष्)=अमुष्मै। (५) अदस्+भ्यस्, (स्=अ, पररूप) अद+भ्यस् (अ=ए—'बहुवचने झल्येत्')—अदे+भ्यस्, (द्=म्, ए=ई 'एत ईद्बहुवचने') अमीभ्यस् (स्=र्=ः)=अमीभ्यः। (६) अदस्+ङसि, (अत्व, पररूप) अद+ङसि, (ङसि=स्मात्) अद+स्मात् (द्=म्, अ=उ)=अमुस्मात्। (७) अदस्+ङस्, (अत्व, पररूप) अद+ङस् (ङस्=स्य)—अद+स्य (द्=म्, अ=उ)—अमुस्य (स्=ष्)=अमुष्य। (८) अदस्+ओस्, (अत्व, पररूप) अद+ओस्, (एत्व—'ओसि च' ए=अय्) अदयोस्, (मुत्व) अमुयोस् (स्=र्=ः)=अमुयोः। (९) अदस्+आम्, (अत्व, पररूप) अद+आम्, (सुट् का आगम—'आमि सर्वनाम्नः') अद स् आम्, (अ=ए—'बहुवचने झल्येत्') अदे+साम्, (द्=म्, ए=ई 'एत ईद् बहुवचने') अमी+साम् (स्=ष्)=अमीषाम्। (१०) अदस्+ङि, (अत्व, पररूप, ङि=स्मिन्) अद+स्मिन्, (द्=म्, अ=उ) अमुस्मिन् (स्=ष्)=अमुष्मिन्। (११) अदस्+ओस्=अमुयोः (पूर्ववत्)। (१२) अदस्+सुप् (सु,)

अथ हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः

(३८७) नहो धः ८।२।३४ । नहो हस्य धः स्यात् झलि पदान्ते च । (३८८) नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ६।३।११६ । क्विबन्तेष्वेषु पूर्वपदस्य दीर्घः । उपानत्-उपानद् । उपानहौ । उपानहः । उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । निपातनाद्धलोप-षत्वे । क्विबन्तत्वात्कुत्वेन हस्य घः । जश्त्वचर्त्वे । उष्णिक्-उष्णिग् । उष्णिहौ ।

---

(३८७) नहो ध इति । अत्र 'हो ढः' इत्यतः 'ह' इति, 'झलो झलि' इत्यतः 'झलि' इति 'स्कोः' इत्यतः 'अन्ते' इति चानुवर्तते । 'पदस्ये'त्यधिकृतम् । तदाह—**नहो हस्येति** ।

(३८८) नहिवृति इति । दीर्घविधिः, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यतस्तदनुवृत्तेः । तदाह—**क्विबन्तेष्वित्यादिना** ।

उपानत् इति । उपपूर्वकात् 'णह् बन्धने' इत्यतः 'णो नः' इति णस्य नत्वे उपनह्यते इति विग्रहे कर्मणि क्विपि 'नहिवृति' इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घे उपानह्शब्दः स्त्रीलिङ्गः । तस्मात्सौ 'उपानह्+स्' इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सोर्लोपे 'नहो

(अत्व, पररूप) अद+सु (एत्व)—अदे+सु, (द्=म् , ए=ई 'एत ईद०') अमीसु (स्=ष्)=अमीषु ।

सकारान्तपुंल्लिङ्ग अदस् (=वह) शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	असौ	अमू	अमी	पं०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
द्वि०	अमुम्	अमू	अमून्	ष०	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	स०	अमुष्मिन्	अमुयोः	अमीषु
च०	अमुष्मै	अमूभ्याम्	अमीभ्यः				

हलन्तपुँल्लिङ्ग-प्रकरण समाप्त ।

---

(३८७) पद—नहः, धः । **अनुवृत्ति**—हः, झलि, पदस्य, अन्ते । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—झल् पर रहते अथवा पदान्त में नह् धातु के हकार को धकार आदेश होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'हो ढः' (२७२) से 'हः', 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' तथा 'स्कोः' (८।२।२९) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आती है । 'पदस्य' का अधिकार है । तदनुसार—"झल्-प्रत्याहारस्थ वर्ण के पर रहते अथवा पदान्त में 'नह्' धातु के ह् के स्थान पर 'ध्' आदेश होता है ।"

(३८८) पद—नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु, क्वौ । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य, दीर्घः ।

मूलार्थ—क्विबन्त √नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातु के पर रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है । उपानत् । उपानहौ । उपानहः । उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । क्विबन्त होने के कारण कुत्व से ह्=घ् । जश्त्व तथा चर्त्व होकर—उष्णिक्-उष्णिग् । उष्णिहौ । उष्णिहः । उष्णि-

उष्णिग्भ्याम् । द्यौः । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम् । गीः । गिरौ । गिरः । एवं—पूः । चतस्रः-२ । चतसृभिः । चतसृभ्यः-२ । चतसृणाम् । चतसृषु । का । के । काः ।

धः' इति हस्य धत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन धकारस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'उपानत्' इति । पक्षे—'उपानद्' इति ।=पादत्राणमित्यर्थः ।

ग्भ्याम् । द्यौः । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम् । गीः । गिरौ । गिरः । इसी प्रकार—पूः । चतस्रः । चतसृभिः । चतसृभ्यः । चतसृणाम् । चतसृषु । का । के । काः । 'सर्वा' शब्द की तरह रूप बनते हैं।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (१२८) से 'पूर्वस्य' तथा 'दीर्घः' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'क्विप्-प्रत्ययान्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातुओं के परवर्ती रहने पर पूर्व अण् को दीर्घ होता है।'

उदाहरण—(१) उपानह् (=जूता) शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की जा रही है—उप+√नह् से कर्म में क्विप्, (क्विप् का सर्वापहारी लोप)—उपनह् (पकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ—'नहिवृति०')—उपानह्+सु (स्) (स् का हल्ङ्यादि लोप)—उपानह्, (ह्=ध्—'नहो धः') उपान ध्, ('ध्'='द्'—जश्त्व)—उपानद् (द्=त्—वैकल्पिक चर्त्व)=उपानत् । पक्ष में=उपानद् । (२) उपानह्+औ=उपानहौ । (३) उपानह्+जस् (अस्) (स्=र्=:)=उपानहः । (४) उपानह्+भ्याम् (ह्=ध्, ध्=द्)=उपानद्भ्याम् । (५) उपानह्+सुप् (सु) (ह्=ध्=द्=त्)=उपानत्सु ।

हकारान्त स्त्रीलिङ्ग उष्णिह् (=वैदिक छन्द) के रूपों का उल्लेख किया जा रहा है—(उत्+√स्निह्+क्विन्, निपातन से 'त्' का लोप=उष्णिह्) (१) उष्णिह्+सु (स्), (स् का लोप, ह्=घ् 'कुत्व'—'क्विन्प्रत्ययस्य कुः') उष्णिघ् (घ्=ग्—'जश्त्व')—उष्णिग् (ग्=क्—पाक्षिक चर्त्व)=उष्णिक् । पक्ष में—उष्णिग् । (२) उष्णिहौ (औ) । (३) उष्णिहः (जस्) । (४) उष्णिह्+भ्याम् (ह्=घ्—'कुत्व', घ्=ग्—'जश्त्व')=उष्णिग्भ्याम् ।

वकारान्त दिव् (=आकाश) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है। प्रथमा विभक्ति में—(१) दिव्+सु, (व्=औ 'दिव औत्') दि औ+स् (इ=य्—'यण्' स्=र्=:)=द्यौः । (२) दिवौ (औ) । (३) दिवः (जस्) । (४) द्युभ्याम् (भ्याम्) ।

रेफान्त गिर् (=वाणी) शब्द के विशेष रूपों का प्रदर्शन किया जा रहा है—'√गॄ+क्विप् (क्विप् का लोप ऋ=इर्=गिर् ।) (१) गिर्+सु (स्) ('स्' का लोप)—गिर् (उपधादीर्घ—'र्वोरुपधायाः', र्=:)=गीः । (२) गिरौ । (३) गिरः । इसी प्रकार पुर् (=नगरी) शब्द के 'पूः' आदि रूप बनते हैं।

संख्यावाचक चतुर् शब्द के रूप इस प्रकार सिद्ध होते हैं—(१) चतुर्+जस् (अस्), (चतुर्=चतसृ—'त्रिचतुरोः स्त्रियाम्') चतसृ+अस् (ऋ=र् 'यण्', स्=र्=:)=चतस्रः । द्वितीया बहुवचन में भी—चतस्रः । (२) चतसृभिः (भिस्) । (३) चतसृभ्यः (भ्यस्) । (४) चतसृणाम् (आम्) । (५) चतसृषु (सुप्) ।

'किम्' (=कौन) शब्द के स्त्रीलिङ्ग के रूप बतलाये जा रहे हैं—(किम्=क) क+टाप् (आ), क+आ (दीर्घ)=का । (१) का+सु (स्) (स् का लोप)=का । (२) का+औ (औ=शी, गुण)=के । (३) का+जस् (अस्) (पूर्वसवर्णदीर्घ, स्=र्=:)=काः । शेष रूप सर्वा शब्द की तरह बनेंगे ।

सर्वावत्। (३८९) यः सौ ७।२।११०। इदमो दस्य यः स्यात्सौ। 'इदमो मः'। इयम्। त्यदाद्यत्वम्। टाप्। 'दश्चे'ति मः। इमे। इमाः। इमाम्। इमे। इमाः। अनया। 'हलि लोपः'। आभ्याम्। आभिः। अस्यै। अस्याः-२। अनयोः-२। आसाम्। अस्याम्। आसु। अन्वादेशे तु—एनाम्। एने। एनाः। एनया। एनयोः-२। 'ऋत्विगा'दिना सृजेः क्विन्, अमागमश्च निपात्यते। स्रक्। स्रजौ। स्रजः। स्रग्भ्याम्। त्यदाद्यत्वे टाप्। स्या। त्ये। त्याः। एवम्-तद्। यद्। एतद्।

---

(३८९) **यः सौ इति।** अत्र 'इदमो मः' इत्यतः 'इदमः' इति, 'दश्चे'त्यतः 'दः' इति च षष्ठ्यन्तमनुवर्तते। तदाह—**इदमो दस्येत्यादिना। इयमिति।** 'इदम् + स्' इत्यत्र 'यः सावि'ति दकारस्य स्थाने यकारादेशे 'इयम् + स्' इति जाते, 'त्यदादीनामः' इति प्राप्तमकारं प्रबाध्य 'इदमो मः' इति मकारस्य मकारादेशे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति स्लोपे इयमिति।

---

(३८९) पद—यः, सौ। **अनुवृत्ति**—इदमः, दः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सु' पर रहते स्त्रीलिङ्ग में 'इदम्' शब्द के 'द्' को 'य्' आदेश होता है। 'इदमो मः' से म्=म्। इयम्। 'त्यदादि' सूत्र से 'अ', टाप्, 'दश्च' से द्=म्। इमे। इमाः। इमाम्। इमे। इमाः। अनया। आभ्याम्। आभिः। अस्यै। अस्याः-२। अनयोः। आसाम्। अस्याम्। आसु। अन्वादेश में—एनाम्, एने, एनाः, एनया, एनयोः। √सृज् से 'ऋत्विग्०' सूत्र से क्विन् तथा अम् का आगम निपातन से होता है। स्रक्-स्रग्, स्रजौ, स्रजः, स्रग्भ्याम्। 'त्यदादीनामः' से अ तथा टाप्—स्या, त्ये, त्याः। इसी तरह—तद्, यद्, एतद् शब्दों के रूप बनेंगे। वाक्-वाग्। वाचौ। वाचः। वाग्भ्याम्। अप् शब्द नित्य बहुवचनान्त है। 'अप्तृन्०' से दीर्घ। आपः। अपः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इदमो मः' (२९२) से 'इदमः' तथा 'दश्च' (२९५) से 'दः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'सु' पर रहते 'इदम्' शब्द के 'द्' के स्थान में 'य्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) इदम्+सु (स्), (द्=य् 'यः सौ') इयम्+स् (विभक्ति का लोप, 'त्यदादीनामः' से प्राप्त 'अ' को बाधकर म्=म्—'इदमो मः')=इयम्। (२) इदम्+औ, (म्=अ, पररूप) इद+औ, (टाप्, दीर्घ)—इदा+औ, (द्=म्) इमा+औ, (औ=शी 'औङ आपः') इमा+ई (आ+ई=ए 'गुण')=इमे। (३) इदम्+जस् (अस्), (अ, पररूप) इद+अस्, (टाप्, दीर्घ, द्=म्) इमा+अस् (पूर्वसवर्णदीर्घ, स्=र्=ः)=इमाः। (४) इदम्+अम्, (म्=अ, पररूप, टाप्, दीर्घ) इदा+अम् (द्=म, पूर्वरूप)=इमाम्। (५) इमे (औट्)। (६) इमाः (शस्)। (७) इदम्+टा (आ), (अत्व, पररूप, टाप् दीर्घ) इदा+आ, (इद्=अन् 'अनाप्यकः') अन् आ+आ, (आ=ए—'आङि चापः') अने+आ (ए=अय्)=अनया। (८) इदम्+भ्याम्, (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) इदा+भ्याम् ('इद्' का लोप 'हलि लोपः', दीर्घ)=आभ्याम्। (९) इदम्+भिस्, (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) इदा+भिस् ('इद्' का लोप, स्=र्=ः)=आभिः। (१०) इदम्+ङे (ए), (अ, पररूप, टाप्, दीर्घ) इदा+ए, ('इद्' का लोप, स्याट् का आगम तथा 'आप्' को ह्रस्व—'सर्वनाम्नः स्याड्०') अ+स्या+ए (आ+ए=ऐ 'वृद्धि')=अस्यै। (११) इदम्+(ङसि) अस्

वाक्–वाग् । वाचौ । वाचः । वाग्भ्याम् । अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । 'अप्तृन्नि'ति दीर्घः । आपः । अपः । (३९०) अपो भि ७।४।४८ । अपस्तकारो भादौ प्रत्यये । अद्भिः । अद्भ्यः–२ । अपाम् । अप्सु । दिक्–दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । त्यदादिष्विति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम् । दृक् । दृशौ । दृशः । दृग्भ्याम् ।

---

(३९०) **अपो भि इति** । अत्र 'अच उपसर्गात्तः' इत्यतः 'तः' इत्यनुवर्तते । 'अङ्गस्ये'त्यधिक्रियते । तच्च 'भि' इति सप्तम्यन्तेन विशेष्यते, तदादिविधिस्तदाह— **अपस्तकार इत्यादिना** । **अद्भिरिति** । नियतस्त्रीलिङ्गात् बहुवचनान्तात् अप्शब्दात् प्रातिपदिकात् तृतीयाबहुवचने भिसि प्रत्यये 'अप्+भिस्' इति जाते, 'अपो भि'

(अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ)—इदा+अस् (स्याट् का आगम, ह्रस्व, 'इद्' का लोप)—अस्या +अस् (दीर्घ—स्=र्=ः)=अस्याः । (१२) इदम्+ओस् , (अत्व, पररूप, टाप् , दीर्घ) इदा+ओस् , (इद्=अन्, आ=ए) अने+ओस् (ए=अय्, स्=र्=ः)=अनयोः । (१३) इदम्+आम्, (अत्व, पररूप, टाप् , दीर्घ) इदा+आम् (सुट् का आगम, इद् का लोप)= आसाम् । (१४) इदम्+ङि (अत्व, पररूप, टाप् , दीर्घ)—इदा+ङि (ङि=आम् , स्याट् का आगम तथा 'आ' को ह्रस्व, 'इद्' का लोप)=अस्याम् । (१५) इदम्+सुप् (सु), (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) इदा+सु ('इद्' का लोप)=आसु । अन्वादेश में 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' से एन आदेश होने पर, टाप् के पश्चात् 'एनाम्, एने, एनाः, एनया, एनयोः' रूप बनते हैं ।

जकारान्त स्रज् (=माला) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) स्रज्+ सु (स्) (विभक्ति का लोप)—स्रज् (ज्=ग्—'कुत्व') स्रग् (ग्=क्—'पाक्षिक चर्त्व')= स्रक्, स्रग् । (२) स्रजौ (औ) । (३) स्रजः (जस्) । (४) स्रग्भ्याम् (भ्याम्, कुत्व) ।

'त्यद्' शब्द के रूपों की प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) त्यद्+स् , (द्=अ, 'त्यदादीनामः', पररूप) त्य+स् , (टाप्, दीर्घ) त्या+स्, (त्=स्—'तदोः सः') स्या+स् (विभक्ति का लोप)=स्या । (२) त्यद्+औ, (अत्व, पररूप, टाप् , दीर्घ) त्या+औ, (औ=शी) त्या +ई (आ+ई=ए 'गुण')=त्ये । (३) त्यद्+जस् , (अत्व, पररूप, टाप् , दीर्घ) त्या+अस् (पूर्वसवर्णदीर्घ, स्=र्=ः)=त्याः । इसी प्रकार तद् , यद् , एतद् शब्दों के रूप बनेंगे ।

चकारान्त 'वाच्' (=वाणी) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) वाच् +सु (स्) (विभक्ति का लोप)—वाच् , (च्=क् 'चोः कुः') वाक् (क्=ग् 'पाक्षिक चर्त्व') =वाक्, वाग् । (२) वाच्+औ=वाचौ । (३) वाच्+जस् (अस्) (स्=र्=ः)=वाचः । (४) वाच्+भ्याम् (च्=क् 'कुत्व', क्=ग् 'जश्त्व')=वाग्भ्याम् ।

अप् (=जल) शब्द नित्य बहुवचनान्त है । (१) अप्+जस् (अस्), ('अ'='आ'— दीर्घ—'अप्तृन्०') आपस् (स्=र्=ः)=आपः । (२) अप्+शस् (अस्)—अपस् (स्= र्=ः)=अपः । सर्वनामस्थान न होने से दीर्घ की प्राप्ति नहीं है ।

(३९०) पद—अपः, भिः । **अनुवृत्ति**—तः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—भकार आदि प्रत्यय पर रहते 'अप्' शब्द को तकार अन्तादेश होता है । अद्भिः । अद्भ्यः । अपाम् । अप्सु । दिक्–दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । 'त्यदादिषु' सूत्र में √दृश् से क्विन्प्रत्यय विधान होने से अन्यत्र भी कुत्व होता है । दृक् । दृशौ । दृशः । दृग्भ्याम् । त्विट् । त्विषौ । त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु–त्विट्सु । 'ससजुषो रुः' से रुत्व होकर—सजूः । सजुषौ ।

त्विट् । त्विषौ । त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु–त्विट्सु । 'ससजुषोरु'रिति रुत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् । आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् । असौ । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । औङः शी । उत्वमत्वे । अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः । अमुष्याः–२ । अमुयोः–२ । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ।

इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

इत्यनेन पस्य तकारे 'झलां जशोऽन्ते' इति तस्य दत्वे 'अद् भिस्' इति स्थिते सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'अद्भिः' इति । **अमुष्यामिति** । 'अदस् + ङि' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे पररूपे, टापि, सवर्णदीर्घे 'अदा + ङि' इति स्थिते 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामादेशे 'सर्वनाम्नः' इति स्याडागमे पूर्वस्य ह्रस्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे 'अदसोऽसेः' इति अकारस्य उत्वे दस्य मत्वे च 'अमुष्या आम्' इति जाते सवर्णदीर्घे 'अमुष्यामि'ति सिद्धम् ।

इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

सजूर्भ्याम् ॥ आशीः । आशिषौ । आशिषः । आशीर्भ्याम् । असौ । 'त्यदादीनामः' से अत्व, टाप्, औ के स्थान पर शी आदेश, उकार तथा मकार होने पर अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः । अमुष्याः । अमुयोः । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ।

विमर्श—सूत्र में आदेशवाचक पद का अभाव है । अतः 'अच उपसर्गात्तः' से 'तः' पद की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । उससे 'प्रत्यये' का आक्षेप किया जाता है । 'भि' पद 'प्रत्यये' का विशेषण होने के कारण उससे तदादि विधि होती है । तदनुसार अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से—"भकारादि प्रत्यय पर रहते 'अप्' शब्द के 'प्' के स्थान पर 'त्' आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) अप्+भिस्, (प्=त् 'अपो भि')—अत् भिस्, (त्=द्—जश्त्व) अद्+भिस् (स्=र्=ः)=अद्भिः । (२) अप्+भ्यस् (प्=त, त्=द्)=अद्भ्यस् (स्=र्=ः)=अद्भ्यः । (३) अप्+आम्=अपाम् । (४) अप्+सु=अप्सु । (सुप्) । शकारान्त दिश् (=दिशा) शब्द के रूपभेद प्रदर्शित किये जा रहे हैं—(१) दिश्+स् (सु), (विभक्तिलोप)—दिश्, (कुत्व असिद्ध होने से 'श्'='ष्'—'व्रश्च') दिष्, (ष्=ड्—'जश्त्व', ड्=ग् 'कुत्व') दिग् (ग्=क्—'अवसान' में वैकल्पिक चर्त्व)=दिक् । पक्ष में=दिग् । (२) दिशौ । (३) दिशः । (४) दिश्+भ्याम् (श्=ष्=ड्=ग्)=दिग्भ्याम् ।

क्विप्प्रत्ययान्त दृश् (=आँख) शब्द के रूपभेदों की विशेषता बतलायी जा रही है—(१) दृश्+सु (स्), (विभक्तिलोप) दृश् (श्=ष्—'व्रश्च')—दृष्, (ष्=ड्—जश्त्व, ड्=ग् 'कुत्व'), दृग् (ग्=क्—विकल्प से 'वाऽवसाने')=दृक् । पक्ष में—दृग् । (२) दृशौ । (३) दृशः । (४) दृग्भ्याम् ।

त्विष् (=दीप्ति) शब्द की विशेष विभक्तियों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) त्विष्+स् (विभक्तिलोप, जश्त्व तथा पाक्षिक चर्त्व) त्विट्-त्विड् । (२) त्विषौ । (३) त्विषः । (४)

अथ हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः

स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत् । स्वनडुही । 'चतुरनडुहोरि'त्याम् । स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । वाः । वारी । वारि । वारा । वार्भ्याम् । चत्वारि । किम् ।

स्वनडुत् इति । सु—शोभनाः अनड्वाहः यस्येति विग्रहे स्वनडुह्शब्दात् प्रथमैकवचने सौ 'स्वनडुह्+स्' इति स्थिते 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लोपे 'वसुस्रंसुध्वंस्वन-

---

त्विष्+भ्याम् (ष्=ड्, जश्त्व)=त्विड्भ्याम् । (५) त्विष्+सुप् (सु), (ष्=ड्, धुट् का आगम, ध्=त् ड्=ट्, चर्त्व)=त्विट्त्सु । धुट् के अभाव पक्ष में—त्विट्सु ।

क्विबन्त सजुष् (=साथ में प्रीति करने वाले) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) सजुष्+सु (स्) (विभक्तिलोप ष्=र् 'ससजुषो रुः' उपधादीर्घः, र्=ः)=सजूः । (२) सजुषौ । (३) सजूर्भ्याम् (ष्=र्, उपधादीर्घ) ।

क्विप्प्रत्ययान्त आशिष् (=आशीर्वाद) शब्द के प्रमुख रूपों की विशेषता बतलाई जा रही है—(१) आशिष्+सु (स्), (विभक्तिलोप, ष् के असिद्ध होने से स्=रु) आशि र्, (उपधादीर्घ—'र्वोरुपधायाः') आशीर् (र्=ः)=आशीः । (२) आशिषौ । (३) आशिषः । (४) आशीर्भ्याम् ।

अदस् शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है—(१) अदस्+सु (स्)=असौ (पुंल्लिङ्ग के समान) । (२) अदस्+औ, (स्=अ—'त्यदादीनामः', अ+अ ='अ' पररूप—'अतो गुणे') अद+औ, (टाप्, दीर्घ) अदा+औ, (औ=शी, आ+ई=ए 'गुण') अदे (द्=म्, ए=ऊ 'अदसोऽसेः')=अमू । (३) अदस्+जस् (अस्), (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) अदा+अस् (पूर्वसवर्णदीर्घ), अदास् (आ=ऊ, द्=म्) अमूस् (स्= र्=ः)=अमूः । (४) अदस्+टा (आ), (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) अदा+आ (आ=ए 'आङि चापः' ऐ=अय्) अदया, (उत्व एवं मत्व)=अमुया । (५) अमूभ्याम् (अत्व, पररूप, टाप्, ऊत्व तथा मत्व) । (६) अमूभिः (भिस् में पूर्ववत्) । (७) अदस्+ङे, (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) अदा+ए, (स्याट् का आगम तथा 'आ' को ह्रस्व—'सर्वनाम्नः') अदस्या+ए (आ+ए='ऐ' वृद्धि) अदस्यै (उत्व, मत्व तथा षत्व होकर)=अमुष्यै । (८) अमूभ्यः । (९) अदस्+ङसि (अस्), (अत्व, पररूप, टाप्) अदा+अस् (स्याट् का आगम, 'आ' को ह्रस्व) अदस्या+अस् (उत्व, मत्व, सवर्णदीर्घ)—अमुस्यास् (षत्व, स्=र्=ः)=अमुष्याः । इसी प्रकार ङस् में भी 'अमुष्याः' । (१०) अमुयोः (अत्व, पररूप, टाप् होने पर आ=ए तथा अय् आदेश, मुभाव, स्=र्=ः) । (११) अदस्+आम्, (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ, सुट् का आगम) अदा+साम् (आ=ऊ, द्=म्, षत्व)=अमूषाम् । (१२) अमुष्याम् (ङि=आम्, शेष कार्य पूर्ववत् । (१३) अदस्+सुप् (सु) (अत्व, पररूप, टाप्, अत्व, मत्व तथा षत्व होकर)=अमूषाम् ।

हलन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण समाप्त ।

पूर्वोक्त क्रमानुसार सर्वप्रथम 'स्वनडुह्' शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(सु—शोभनाः अनड्वाहः यस्य कुलस्येति=अर्थात् सुन्दर बैल वाला कुल, बहुव्रीहि समास में

के। कानि। इदम्। इमे। इमानि। * अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः *। एनत्। एने। एनानि। एनेन। एनयोः-२। व्योम। व्योम्नी-व्योमनी। व्योमानि। ब्रह्म। * सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः *। हे ब्रह्म-हे ब्रह्मन्। ब्रह्मणी। ब्रह्माणि।

डुहां दः' इत्यनेन हस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति वैकल्पिकचर्त्वेन दस्य तत्वे 'स्वनडुत्, स्वनडुद्' इति रूपद्वयम्।

स्वनडुह् शब्द निष्पन्न होता है। (१) स्वनडुह्+सु (स्), (सु का लुक्—'स्वमोर्नपुंसकात्') स्वनडुह् (ह्=द्—'वसुस्रंसु०') स्वनडुद् (द्=त् 'पाक्षिक चर्त्व')=स्वनडुत्, पक्ष में=स्वनडुद्। (२) स्वनडुह्+औ (औ=शी—'नपुंसकाच्च') स्वनडुह्+ई=स्वनडुही। (३) स्वनडुह्+जस् (जस्=शि—'जश्शसोः शिः')—स्वनडुह्+इ, (आम् (आ) का आगम 'चतुरनडुहोरामुदात्तः') स्वनडु आह्+इ, (नुम् का आगम—'नपुंसकस्य झलचः' उ=व्—'यण्') स्वनड्वान् ह्+इ, (न्=अनुस्वार 'नश्चापदान्तस्य झलि')=स्वनड्वांहि। द्वितीया विभक्ति में भी इसी प्रकार रूप बनते हैं। तृतीयादि विभक्तियों में पुंलिङ्ग के समान रूप बनेंगे।

रेफान्त वार् (=जल) शब्द के रूपों की प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया जा रहा है—(१) वार्+सु ('सु' का लुक्, र्=ः)=वाः। (२) वार्+औ (औ=शी)=वारी। (३) वार्+जस् (जस्=शि)=वारि। (४) वार्+टा (आ)=वारा। (५) वार्+भ्याम्=वार्भ्याम्।

संख्यावाचक चतुर् शब्द से जस्—चतुर्+जस्, (जस्=शि) चतुर्+इ, ('उ' से पर आम् (आ) का आगम) चतु आ र्+इ (उ=व् 'यण्')=चत्वारि।

मकारान्त 'किम्' (=कौन) शब्द के विशिष्ट रूपों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) किम्+सु ('सु' का लुक्)=किम्। (२) किम्+औ, (औ=शी) किम्+ई, (किम्=क) क+ई (अ+ई=ए 'गुण')=के। (३) किम्+जस् (जस्=शि, किम्=क), क+इ (नुम् का आगम, उपधादीर्घ)=कानि।

इदम् शब्द के रूपभेदों की प्रक्रिया इस प्रकार है—(१) इदम्+सु ('सु' का लुक्)=इदम्। (२) इदम्+औ, (अत्व, पररूप) इद+औ (औ=शी)—इद+ई (गुण)—इदे (द्=म्—'दश्च')=इमे। (३) इदम्+जस्, (अत्व, पररूप) इद+जस्, (जस्=शि) इद+इ (नुम् का आगम, उपधादीर्घ, द्=म्)=इमानि।

(वा०)—नपुंसकलिङ्ग में अन्वादेश के विषय में इदम् और एतद् शब्द के स्थान पर 'एनत्' आदेश होता है। इदम्+अम् ('अम्' का लुक्, इदम्=एनत्)=एनत्। इसी प्रकार आगे एने। एनानि। एनेन। एनयोः आदि।

नकारान्त 'व्योमन्' शब्द के विशेष रूपों की रचना-प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) व्योमन्+सु (सु का लुक्, न् का लोप)=व्योम। (२) व्योमन्+औ, (औ=शी) व्योमन्+ई (विकल्प से उपधा 'अ' का लोप—'विभाषा ङिश्योः')=व्योम्नी। पक्ष में—व्योमनी। (३) व्योमन्+जस्, (जस्=शि) व्योमन्+इ (उपधादीर्घ)=व्योमानि।

नकारान्त प्रातिपदिक ब्रह्मन् (=वेद अथवा ब्रह्म) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) ब्रह्मन्+सु ('सु' का लुक् तथा 'न्' का लोप)=ब्रह्म। (२) हे ब्रह्मन्+सु (सु का लुक्, विकल्प से 'न्' का लोप—'सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः')=हे ब्रह्म।

'रोऽसुपि'। अहः। 'विभाषा ङिश्योः'। अह्नी-अहनी। अहानि। (३९१) अहन् ८।२।६८। अहन्नित्यस्य रुः पदान्ते। अहोभ्याम्। दण्डि। दण्डिनी। दण्डीनि। सुपथि। टिलोपः—सुपथी। सुपन्थानि। ऊर्क्। ऊर्जी। ऊर्न्जि। नरजानां संयोगः। त्यद्। त्ये। त्यानि। तत्। ते। तानि। यत्। ये। यानि। एतत्। एते। एतानि। 'अवङ् स्फोटायनस्ये'ति अवङ्।

---

(३९१) अहन्निति। अत्र 'ससजुषो रुः' इत्यतः 'रुः' इति, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यतः 'अन्ते' इति चानुवर्तते। 'अहन्' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्। 'पदस्ये'त्यधिक्रियते। तदाह—अहन्नित्यस्येत्यादि। अहोभ्याम् इति। 'अहन् + भ्याम्' इत्यत्र 'अहन्' इत्यनेन नस्य रुत्वे 'हशि चे'त्युत्वे 'आद् गुणः' इति गुणे 'अहोभ्याम्' इति।

'न्' का लोप न होने पर—हैं ब्रह्मन्। (३) ब्रह्मन्+औ (औ=शी)—ब्रह्मन्+ई (न्=ण्) =ब्रह्मणी। (४) ब्रह्मन्+जस् (जस्=शि, सर्वनामस्थान संज्ञा, उपधादीर्घ)=ब्रह्माणि।

अहन् (=दिन) शब्द की रूप-प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) अहन्+सु, ('सु' का लुक्, न्=र्—'रोऽसुपि') अहर् (र्=:)=अहः। (२) अहन्+औ, (औ=शी) अहन्+ई (भ संज्ञा, विकल्प से 'अन्' के 'अ' का लोप)=अह्नी। 'अ' का लोप न होने पर=अहनी। (३) अहन्+जस् (जस्=शि, उपधादीर्घ)=अहानि।

(३९१) पद—अहन्। **अनुवृत्ति**—रुः, अन्ते, पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त में अहन् शब्द के 'न्' को 'रु' होता है। अहोभ्याम्। दण्डि। दण्डिनी। दण्डीनि। सुपथि। टिलोप होकर—सुपथी। सुपन्थानि। ऊर्क्। ऊर्जी। ऊर्न्जि। न् र् ज् का संयोग है। त्यद्। त्ये। त्यानि। तद्। ते। तानि। यद्। ये। यानि। एतद्। एते। एतानि। 'अवङ् स्फोटायनस्य' से अवङ्।

कारिकार्थ—'गो' उपपदपूर्वक √अन्चु धातु से निष्पन्न गवाक् शब्द के नपुंसकलिङ्ग में (धातु के पूजा तथा गति अर्थों की भिन्नता से) सन्ध्यभाव, अवङ् आदेश, पूर्वरूप आदि होकर १०९ रूप बनते हैं। उसमें सु, अम् तथा सुप् में प्रत्येक के नौ रूप, भकारादि छः प्रत्ययों में प्रत्येक के छः रूप, जस् एवं शस् में प्रत्येक के तीन रूप तथा अन्य दस विभक्तियों में प्रत्येक के चार रूपों का योग करके १०९ रूप होते हैं।' गवाक्-ग्। गोची। गवाञ्चि। गोचा। गवाग्भ्याम्। यकृद्। शकृद्। शकृती। शकृन्ति। शकृद्भ्याम्। ददद्। ददती।

विमर्श—प्रकृत सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से 'रुः' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आती है। 'पदस्य' का अधिकार है। तदनुसार अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति द्वारा—"पद के अन्त में 'अहन्' शब्द के 'न्' के स्थान में 'रु' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) अहन्+भ्याम्, (न्=रु-'अहन्') अह रु+भ्याम्, (रु=उ 'हशि च') अह उ+भ्याम् (गुण)=अहोभ्याम्।

दण्डिन् (=दण्डधारी संन्यासी कुल) शब्द के रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की जा रही है—(१) दण्डिन्+सु (विभक्ति तथा 'न्' का लोप)=दण्डि। (२) दण्डिन्+औ=दण्डिनी। (३) दण्डिन्+जस्=दण्डीनि (पूर्ववद्)।

सुपथिन् (=सुन्दर मार्ग वाला नगर) शब्द के रूपों की प्रक्रिया इस प्रकार है—(१)

गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥ १ ॥
स्वमुसुप्सु नव, षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥ २ ॥

गवाक्-गवाग् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् । शकृत् । शकृत् । शकृती । शकृन्ति । शकृद्भ्याम् । ददत् । ददती । (३९२) वा नपुंसकस्य

सुपथिन्+सु (विभक्तिलोप तथा 'न्' का लोप)=सुपथि । (२) सुपथिन्+औ (औ=शी)—सुपथिन्+ई (भ-संज्ञा, टि (इन्) का लोप)=सुपथी । (३) सुपथिन्+जस् (जस्=शि)—सुपथिन्+इ (सर्वनामस्थान संज्ञा—'शि सर्वनामस्थानम्', इ=अ—'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' ; सुपथन्+इ (थ=न्थ—'थो न्थः', उपधादीर्घ)=सुपन्थानि ।

ऊर्ज् (=बलवान्) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) ऊर्ज्+सु ('सु' का लुक्)—ऊर्ज्, (ज्=ग्—'कुत्व') ऊर्ग् (ग्=क्—वैकल्पिक चर्त्व)=ऊर्क्, ऊर्ग् । (२) ऊर्ज्+औ (औ=शी)=ऊर्जी । (३) ऊर्ज्+जस् (जस्=शि)—ऊर्ज्+इ, ('ऊ' के अनन्तर नुम् का आगम) ऊर्न्जि (अनुस्वार, परसवर्ण)=ऊर्ञ्जि ।

सर्वनामवाचक त्यद् के रूप इस प्रकार है—(१) त्यद्+सु ('सु' का लुक्)=त्यद् । (२) त्यद्+औ (औ=शी)—त्यद्+ई (द्=अ, पररूप, गुण)=त्ये । (३) त्यद्+जस् (जस्=शि)—त्यद्+इ (अत्व, पररूप, नुम्, उपधादीर्घ)=त्यानि । इसी प्रकार—तद्, यद् तथा एतद् शब्द के रूप बनेंगे ।

(१) गो+√अन्च् (=गति और पूजा) से क्विन् प्रत्यय (क्विन् का लोप) (ओ=अवङ् (अव)—'अवङ् स्फोटायनस्य')—गव+अन्च् (सवर्णदीर्घ, 'अनिदिताम्' से न् का लोप)=गवाच्+सु, (विभक्ति का लुक्, च्=क् 'कुत्व'-'क्विन्प्रत्ययस्य कुः') गवाक्, (क्=ग्-जश्त्व) गवाग् (ग्=क् विकल्प से—'वाऽवसाने')=गवाक् । 'क्' न होने पर गवाग् । (२) गो+अन् च्+औ, ('न्' का लोप, औ=शी) गो अच्+ई, (भसंज्ञा, 'अचः' से अ का लोप)=गोची । (३) गो+अन् च्+जस्, ('न्' का लोप, जस्=शि) गो अच्+इ (नुम्)—गो अन् च्+इ (ओ=अवङ् (अव), सवर्णदीर्घ, 'न्' को अनुस्वार, परसवर्ण)=गवाञ्चि । (४) गोचा (टा) । (५) गवाग्भ्याम् (भ्याम्) ।

इस गवान्च् या गवाच् शब्द के १०९ रूप बनते हैं, यह मूलार्थ में स्पष्ट किया जा चुका है । √अन्चु धातु के दो अर्थ—गति तथा पूजन के कारण प्रकृतिभाव (असन्धि), अवङ् आदेश तथा पूर्वरूप के विधान होने से १०९ रूपों की सिद्धि होती है । जो इस प्रकार हैं—

गवाक्-गवाग्, गोअक्-गोअग्, गोऽक्-गोऽग्, गवाङ्, गोअङ्, गोऽङ् (९) । गोची, गवाञ्ची, गोअञ्ची, गोऽञ्ची (४) । गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि (३) । गोचा, गवाञ्चा, गोअञ्चा, गोऽञ्चा (४) । गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्, गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोऽङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम् (६) । गवाग्भिः, गोअग्भिः, गोऽग्भिः, गवाङ्भिः, गोअङ्भिः, गोऽङ्भिः (६) । गोचे, गवाञ्चे, गोअञ्चे, गोऽञ्चे (४) । गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्, गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्, गोऽङ्भ्याम् (६) । गवाग्भ्यः, गोअग्भ्यः, गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः, गोअङ्भ्यः, गोऽङ्भ्यः (६) । गोचः, गवाञ्चः, गोअञ्चः, गोऽञ्चः (४) । गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्, गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्, गोऽङ्भ्याम् (६) । गवाग्भ्यः, गोअग्भ्यः, गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः, गोअङ्भ्यः,

७।१।७९। अभ्यस्तात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य क्लीबस्य नुम्वा स्यात् सर्वनामस्थाने। ददन्ति–ददति। तुदत्। (३९३) आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०। अवर्णान्ताबङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्वा, शीनद्योः। तुदन्ती–तुदती। तुदन्ति।

---

(३९२) **वा नपुंसकस्येति।** अत्र 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति सूत्रं नञ्रहितमनुवर्तते। 'इदितो नुम्' इत्यतो 'नुमि'ति, 'उगिदचामि'त्यतः 'सर्वनामस्थाने' इति चानुवर्तते। तदाह—**अभ्यस्तादित्यादिना। ददन्ति इति।** 'ददत्+जस्' इत्यत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने 'शि' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्ये'ति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्ताच्छतुरि'ति निषेधे 'वा नपुंसकस्ये'ति विकल्पेन नुमि 'नश्चापदान्तस्ये'ति अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'ददन्ति' इति। नुमभावे 'ददति' इति।

(३९३) **आच्छीनद्योर्नुमिति।** 'नाभ्यस्तादि'त्यतः शतुरिति, 'वा नपुंसकस्ये'-त्यतो वेति चानुवर्तते। 'अङ्गस्ये'त्यधिक्रियते। तच्च पञ्चम्या विपरिणम्यते। आदित्यनेन विशेष्यत्वात् तदन्तविधिः। तदाह—**अवर्णान्तादित्यादि।**

गोऽङ्भ्यः (६)। गोचः, गवाञ्चः, गोअञ्चः, गोऽञ्चः (४)। गोचोः, गवाञ्चोः, गोअञ्चोः, गोऽञ्चोः, (४)। गोचाम्, गवाञ्चाम्, गोअञ्चाम्, गोऽञ्चाम् (४)। गोचि, गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि (४)। गोचोः, गवाञ्चोः, गोअञ्चोः, गोऽञ्चोः (४)। गवाक्षु, गोअक्षु, गोऽक्षु, गवाङ्क्षु, गोअङ्क्षु, गोऽङ्क्षु, गवांङ्षु, गोअङ्षु, गोऽङ्षु (९)=१०९ रूप हुए।

(३९२) पद—वा, नपुंसकस्य। **अनुवृत्ति**—अभ्यस्तात्, शतुः। नुम्, सर्वनामस्थाने। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अभ्यस्तसंज्ञक से पर शतृप्रत्ययान्त नपुंसक अङ्ग को विकल्प से नुम् का आगम होता है, सर्वनामस्थान पर रहते। ददन्ति–ददति। तुदत्।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) से 'अभ्यस्तात्' एवम् 'शतुः' 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' तथा 'उगिदचाम्०' (७।१।७०) से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। इस प्रकार 'अभ्यस्तसंज्ञक से पर शतृप्रत्ययान्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग को विकल्प से नुम् का आगम सर्वनामस्थान में होता है।'

उदाहरण—ददत्+जस् (जस्=शि)—ददत्+इ, (यहाँ द्वित्व होने से अभ्यस्त संज्ञा हुई है—'उभे अभ्यस्तम्' अतः 'वा नपुंसकस्य' से विकल्प से नुम् का आगम)=ददन्ति। नुम् न होने पर—ददति।

तुदत्+सु (विभक्ति का लुक् होने पर)=तुदत्।

(३९३) पद—आत्, शीनद्योः, नुम्। **अनुवृत्ति**—वा, नुम्, शतुः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अवर्णान्त अङ्ग से पर शतृप्रत्ययान्त शब्दस्वरूप को विकल्प से नुम् का आगम होता है—शी प्रत्यय और नदीसंज्ञक के पश्चाद्वर्ती रहने पर। तुदन्ती–तुदती। तुदन्ति। भात्, भाती, भान्ति। पचत्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) से 'शतुः', 'वा नपुंसकस्य' (३९२) से 'वा' तथा 'इदितो' (७।१।५८) से 'नुम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—"शी प्रत्यय अथवा नदीसंज्ञक के पर रहते अवर्णान्त अङ्ग के पश्चाद्वर्ती शतृप्रत्ययान्त शब्द को विकल्प से 'नुम्' का आगम होता है।"

भात् । भाती । भान्ति । पचत् । **(३९४) शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१ ।** शप्श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्, शीनद्योः । पचन्ती । पचन्ति । दीव्यत् । दीव्यन्ती । दीव्यन्ति । धनुः । धनुषी । 'सान्ते'ति दीर्घः । नुम्विसर्जनीयेति षः । धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । एवं चक्षुर्हविरादयः । पयः । पयसी । पयांसि । पयोभ्याम् । सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि । अदः । विभक्तिकार्यम् । उत्वमत्वे । अमू । अमूनि । शेषं पुंवत् ।

इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

---

(३९४) **शप्श्यनोर्नित्यमिति** । अत्र 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति सूत्रम्, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इत्यतः शतुरिति चानुवर्तते । अवयव इत्यध्याह्रियते । तदाह—**शप्श्यनोरादित्यादिना । धनूंषि इति ।** 'धनुष्+जस्' इत्यत्र जसः स्थाने 'शि' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमागमेऽनुबन्धलोपे 'सान्तमहतः' इत्युपधादीर्घे 'नश्चापदान्तस्ये'ति अनुस्वारे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सस्य षत्वे संयोगे च कृते 'धनूंषि' इति ।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

उदाहरण—(१) तुदत्+औ (औ=शी)—तुदत्+ई (विकल्प से नुम् का आगम—'आच्छीनद्योर्नुम्')=तुदन्ती । नुम् के अभाव में—तुदती । (२) तुदत्+जस् (जस्=शि)—तुदत्+इ (नुम्—'उगिदचाम्०')=तुदन्ति ।

दीप्त्यर्थक √भा से शतृ प्रत्यय करने पर तकारान्त भात् शब्द के रूपभेदों की प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) भात्+सु ('सु' लुक्)=भात् । (२) भात्+औ (औ=शी, विकल्प से नुम्)=भान्ती-भाति । (३) भात्+जस् (जस्=शि, नुम्)=भान्ति । √पच् से शतृ प्रत्यय से निष्पन्न 'पचत्' शब्द के विशेष रचना-क्रम का उल्लेख किया जा रहा है—पचत्+सु ('सु' का लुक्)=पचत् ।

(३९४) पद—शप्श्यनोः, नित्यम् । **अनुवृत्ति**—शीनद्योः, नुम्, शतुः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र !**

मूलार्थ—शप् और श्यन् सम्बन्धी अकार से पर शतृ के अवयवान्त **शब्दस्वरूप को नित्य** 'नुम्' का आगम होता है, शी अथवा नदीसंज्ञक पर रहते । पचन्ती । पचन्ति । **दीव्यत्**, दीव्यन्ती । दीव्यन्ति । धनुः । धनुषी । 'सान्तमहतः' से दीर्घ । **'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' से** षत्व । धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । इसी प्रकार चक्षुष्, हविष् आदि **शब्दों के रूप बनेंगे । पयः ।** पयसी । पयांसि । पयोभ्याम् । सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि । अदः । **विभक्तिकार्य, उत्व और** मत्व । अमू । अमूनि । शेष पुंल्लिङ्ग की तरह बनते हैं ।

विमर्श—यहाँ 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) से 'शतुः' तथा 'आच्छीनद्योर्नुम्' (३९३) से 'शनिद्योः' और 'नुम्' की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । इस प्रकार 'शी और

अथाव्ययानि

(३९५) स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३७ । स्वरादयो निपाताश्चाऽव्ययसंज्ञाः स्युः । स्वर् । अन्तर् । प्रातर् । पुनर् । सुनुतर् । उच्चैस् । नीचैस् । शनैस् । ऋधक् ।

---

(३९५) **स्वरादिनिपातमव्ययमिति** । स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः, ते च निपाताश्चेति समाहारद्वन्द्वः । फलितार्थमाह—**स्वरादय इत्यादिना** । स्वरादीनां चादीनां

नदीसंज्ञक के पश्चाद्वर्ती होने की स्थिति में शप् और श्यन् सम्बन्धी अकार से पर शतृ को नित्य नुम् का आगम होता है ।'

उदाहरण—(१) पचत्+औ (औ=शी)—पचत्+ई, (शतृ के अन्त्य अ से पर नुम्) पचन् त्+ई (अनुस्वार, परसवर्ण)=पचन्ती । (२) पचत्+जस्, (जस्=शि) पचत्+इ (नुम्—'उगिदचाम्')=पचन्ति ।

√दिव् से श्यन् प्रत्यय होकर निष्पन्न 'दीव्यत्' (=चमकता हुआ) शब्द के रूप भी 'पचत्' की तरह बनते हैं—दीव्यत्, दीव्यन्ती, दीव्यन्ति ।

√धन धातु से औणादिक उस् प्रत्यय होकर तथा स्=षत्व होकर धनुष् शब्द बनता है । (१) धनुष्+सु (सु का लुक्, षत्व के असिद्ध होने से स्=र्=ः)=धनुः । (२) धनुष्+औ (औ=शी)=धनुषी । (३) धनुष्+जस्, (जस्=शि) धनुष्+इ (नुम्, 'नपुंसकस्य झलचः') धनुन् ष्+इ ('सान्तमहतः' से उ=ऊ दीर्घ, न=ं)=धनूंषि । (४) धनुष्+टा =धनुषा । (५) धनुष्+भ्याम् (षत्व के असिद्ध होने से स्=र्)=धनुर्भ्याम् ।

इसी प्रकार चक्षुष् (=नेत्र) तथा हविष् (=होम पदार्थ) शब्दों के रूप बनेंगे ।

सकारान्त पयस् (=दूध अथवा जल) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) पयस्+सु ('सु' का लुक्, स्=र्=ः)=पयः । (२) पयस्+औ (औ=शी)= पयसी । (३) पयस्+जस् (जस्=शि)—पयस्+इ (नुम्, दीर्घ तथा म्=अनुस्वार)= पयांसि । (४) पयस्+भ्याम् (स्=रु=उ—'हशि च', गुण)=पयोभ्याम् ।

सुपुंस् (=अच्छे पुरुष वाला कुल) शब्द के रूपभेद प्रदर्शित किये जा रहे हैं—(१) सुपुंस्+सु (विभक्ति का लुक्, स् का संयोगान्त लोप 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' नियम से अनुस्वार=म्)=सुपुम् । (२) सुपुंस्+औ (औ=शी)=सुपुंसी । (३) सुपुंस्+जस् (जस्=शि) सुपुंस्+इ, (शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा होने से स्=अस् 'पुंसोऽसुङ्') सुपुमस् +इ (नुम्, दीर्घ न्=अनुस्वार 'नश्चा०')=सुपुमांसि ।

अदस् (=वह) शब्द के नपुंसकलिङ्ग में रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) अदस्+सु (विभक्ति का लुक्, स्=र्=ः)=अदः । (२) अदस्+औ (औ=शी)—अदस्+ ई, (स्=अ, पररूप) अद+ई (अ+ई=ए 'गुण')—अदे (ए=ऊ, द्=म्—'अदसोऽसेः') =अमू । (३) अदस्+जस्, (जस्=शि, अत्व, पररूप) अद+इ, (नुम्—'नपुंसकस्य झलचः') अद न्+इ, (उपधादीर्घ) अदानि (आ=ऊ, द्=म्—'अदसोऽसेः')=अमूनि । इसी प्रकार द्वितीया विभक्ति में भी रूप बनते हैं । अवशिष्ट विभक्तियों के रूप पुंल्लिङ्ग के समान बनेंगे ।

हलन्तनपुंसकलिङ्ग-प्रकरण समाप्त ।

---

(३९५) पद—स्वरादिनिपातम्, अव्ययम् । **संज्ञासूत्र ।**

ऋते । युगपत् । आरात् । पृथक् । ह्यस् । श्वस् । दिवा । रात्रौ । सायम् । चिरम् । मनाक् । ईषत् । जोषम् । तूष्णीम् । बहिस् । अवस् । समया । निकषा । स्वयम् । वृथा । नक्तम् । नञ् । हेतौ । इद्धा । अद्धा । सामि । ब्राह्मणवत् । क्षत्रियवत् । सना । सनत् । सनात् । तिरस् । उपधा । अन्तरा । अन्तरेण । ज्योक् । कम् । शम् । सहसा । विना । नाना । स्वस्ति । स्वाहा । स्वधा । अलम् । वषट् । श्रौषट् । वौषट् । अन्यत् । अस्ति । उपांशु । क्षमा । विहायसा । दोषा । मृषा । मिथ्या । मुधा । पुरा । मिथो । मिथस् । प्रायस् । मुहुस् । प्रबाहुकम् । प्रवाहिका । आर्यहलम् । अभीक्ष्णम् । साकम् । सार्धम् । नमस् । हिरुक् । धिक् । अथ । अम् । आम् । प्रताम् । प्रशाम् । प्रतान् ।

पृथक्पाठस्तु 'निपाता आद्युदात्ताः' इति स्वरभेदार्थः । एवञ्च चादीनामसत्त्ववाचिनामेवाव्ययत्वम्, स्वरादीनान्तु सत्त्ववाचिनामसत्त्ववाचिनां चाव्ययत्वमिति भावः ।

मूलार्थ—स्वरादिगणपठित शब्द एवं निपातसंज्ञक शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है ।

विमर्श—अजन्त आदि छः प्रकरणों में लिङ्ग, वचन तथा विभक्ति द्वारा शब्द-विषयक परिवर्तनों का निरूपण करने के अनन्तर प्रस्तुत अव्यय-प्रकरण में लिङ्गादिरहित अव्यय शब्दों का निर्वचन किया जा रहा है । अव्ययसंज्ञक शब्द तीनों लिङ्गों, वचनों तथा सभी विभक्तियों में एक रूप ही रहते हैं ।

स्वर् आदि शब्दों का परिगणन इस प्रकार है—(१) स्वर् (स्वः)=स्वर्ग । (२) अन्तर् (अन्तः)=मध्य । (३) प्रातर् (प्रातः)=प्रातःकाल । (४) पुनर् (पुनः)=फिर । (५) सुनुतर् (सुनुतः)=अन्तर्धान । (६) उच्चैस् (उच्चैः)=ऊँचा या ऊर्ध्वभाग में । (७) नीचैस् (नीचैः)=नीचा या अधोभाग में । (८) शनैस् (शनैः)=धीरे । (९) ऋधक्=सत्य । (१०) ऋते=विना । (११) युगपत्=एकसाथ । (१२) आरात्=दूर या समीप में । (१३) पृथक्=अलग । (१४) ह्यस् (ह्यः)=गत दिन । (१५) श्वस् (श्वः)=आगामी दिन । (१६) दिवा=दिन । (१७) रात्रौ=रात में । (१८) सायम्=सायंकाल । (१९) चिरम्=देर तक । (२०) मनाक्=थोड़ा, अल्प । (२१) ईषत्=बहुत थोड़ा । (२२) जोषम्=सुख से, चुपचाप । (२३) तूष्णीम्=चुप । (२४) बहिस् (बहिः)=बाहर । (२५) अवस्=बाहर । (२६) समया=समीप । (२७) निकषा=समीप (निकट) । (२८) स्वयम्=अपने से । (२९) वृथा=व्यर्थ । (३०) नक्तम्=रात में । (३१) नञ्=नहीं, निषेध । (३२) हेतौ=कारण । (३३) इद्धा=प्रकाश्य, स्पष्ट । (३४) अद्धा=स्पष्टता । (३५) सामि=आधा । (३६) वत्=तुल्य, तरह (ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत् इत्यादि) । (३७) सना=नित्य । (३८) सनत्=नित्य । (३९) सनात्=नित्य । (४०) उपधा=भेद, विभाग । (४१) तिरस्=टेढ़ा, अनादर । (४२) अन्तरा=मध्य, विना । (४३) अन्तरेण=बिना । (४४) ज्योक्=चिरकाल, शीघ्र, प्रश्न, सम्प्रति । (४५) कम्=जल, सुख, निन्दा । (४६) शम्=सुख, कल्याण । (४७) सहसा=अकस्मात्, अविचार । (४८) विना=छोड़कर । (४९) नाना=अनेक । (५०) स्वस्ति=कल्याण, मङ्गल । (५१) स्वाहा=देव-हविदान में । (५२) स्वधा=[illegible]रों को हव्यादि दान में । (५३) अलम्=निषेध । (५४) वषट् (५५) श्रौषट् (५६) वौषट्=देवसम्बन्धी हविदान में । (५७) अन्यत्=पुनः और दूसरा । (५८) अस्ति=वर्तमान । (५९) उपांशु=गुप्त, अप्रकटित उच्चारण । (६०) क्षमा=माफ करना । (६१) विहायसा=आकाश । (६२) दोषा,

मा । माङ् । आकृतिगणोऽयम् । च । वा । ह । अह । एव । एवम् । नूनम् । शश्वत् । युगपत् । भूयस् । कूपत् । सूपत् । कुवित् । नेत् । चेत् । चण् । यत्र । कच्चित् । नह । हन्त । माकिः । माकिम् । नकिः । नकिम् । आकीम् । माङ् । नञ् । यावत् । त्वै । न्वै । द्वै । रै । श्रौषट् । वौषट् । स्वाहा । स्वधा । अलम् । वषट् । तुम् । तथाहि । खलु । किल । अथ । सुष्ठु । स्म । आदह । (उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च ।) अवदत्तम् । अहंयुः । अस्तिक्षीरा । अ । आ । इ । ई । उ । ऊ । ए । ऐ । ओ । औ । पशु । शुकम् । यथा । कथाच । पाट् । प्याट् । अङ्ग । है । हे । भोः । अये । द्य । विषु । एकपदे । युत् । आतः । चादिरप्याकृतिगणः ।

=रात्रि । (६३) मृषा=असत्य । (६४) मिथ्या=असत्य । (६५) मुधा=व्यर्थ । (६६) पुरा=प्राचीन काल में, पहले । (६७) मिथस् (मिथः)=परस्पर । (६८) प्रायस् (प्रायः)= बहुधा, अधिकतर । (६९) मुहुस् (मुहुः)=बार-बार । (७०) प्रबाहुकम्=एक ही समय । (७१) आर्यहलम्=बलात् (७२) आभीक्ष्णम्=पुनः-पुनः या बार-बार । (७३) साकम् तथा (७४) सार्धम्=साथ । (७५) नमस्=नमस्कार । (७६) हिरुक्=बिना । (७७) धिक्= धिक्कार । (७८) अथ=अनन्तर । (७९) अम्=शीघ्रता । (८०) आम्=स्वीकार । (८१) प्रताम्=ग्लानि । (८२) प्रशाम्=समान । (८३) प्रतान्=विस्तार । (८४) मा, माङ्= नहीं, अस्वीकार । स्वरादि आकृति गण है । अतः इस प्रकार के अन्य शब्द भी स्वरादि के अन्तर्गत आते हैं । जैसे—**कामम्**=स्वच्छन्दता । आशु=शीघ्रता । संवत्=वर्ष । अवश्यम्=निश्चय । सपदि=शीघ्रता । रोदसी=पृथिवी–आकाश । झटिति=शीघ्र । ओम्=स्वीकार, ब्रह्म । वरम्= अच्छा । आदि ।

चादि अव्ययों का परिगणन किया जा रहा है—(१) च=और । (२) वा=विकल्प । (३) ह=प्रसिद्धि । (४) अह=निश्चय । (५) एव=ही, केवल । (६) एवम्=इस प्रकार । (७) नूनम्=निश्चय । (८) शश्वत्=निरन्तर । (९) युगपत्=एक साथ । (१०) भूयस् =बार-बार । (११) कूपत् तथा (१२) सूपत्=अच्छी तरह । (१३) कुवित्=अधिकता, प्रशंसा । (१४) नेत्=निषेध । (१५) चेत्=यदि । (१६) चण्=यदि । (१७) यत्र=जहाँ । (१८) नह=नहीं । (१९) हन्त=हर्ष, विषाद में । (२०) माकिः, माकिम्, नकिः= वर्जन में । (२१) नकिम्=नहीं । (२२) आकीम्=नहीं । (२३) माङ्=मत, नहीं । (२४) नञ्=नहीं । (२५) यावत्=जब तक । (२६) तावत्=तब तक । (२७) त्वै, न्वै, द्वै=तथा, सम्भवतः । (२८) रै=दान । (२९) श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा=देवताओं के हविर्दान में । (३०) अलम्=पर्याप्त । (३१) वषट्=पितृहविर्दान । (३२) तुम्=तुम । (३३) तथाहि=जैसे । (३४) खलु, किल=निश्चय । (३५) अथ=अनन्तर । (३६) सुष्ठु=अच्छा । (३७) स्म=भूतकाल । (३८) आदह=निन्दा ।

उपसर्ग०—उपसर्ग-प्रतिरूपक (सदृश), विभक्त्यन्त-सदृश एवं स्वर-सदृश शब्दों का भी चादिगण में पाठ समझना चाहिए । उदाहरण—(१) (उपसर्ग-सदृश) अवदतम्=दिया । (२) (सुबन्त-सदृश)—अहंयुः=अहङ्कारी । (३) (तिङन्त-सदृश) अस्तिक्षीरा=दूधवाली । (४) अ=सम्बोधन, निषेध । (५) आ=वाक्य, स्मरण । (६) इ=सम्बोधन । (७) ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ=सम्बोधन । (८) पशु=सम्यक् । (९) शुकम्=शीघ्र । (१०) यथा कथा च=जब कभी । (११) पाट्, प्याट्, अङ्ग, हे, है, भोः, अये=संबोधन । (१२) द्य=

(३९६) तद्धितश्चासर्वविभक्तिः १।१।३८। **यस्मात्सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात् । परिगणनं कर्तव्यम् । तसिलादयः प्राक् पाशपः । शस्प्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः । अम् । आम् । कृत्वोऽर्थाः । तसिवती । नानाञौ—इति । एतदन्तमप्यव्ययम् । अत इत्यादि ।** **(३९७) कृन्मेजन्तः १।१।३९।** **कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमप्यव्ययम् । स्मारं स्मारम् । जीवसे । पिबध्यै ।** **(३९८) क्त्वातोसुन्कसुनः**

---

(३९६) **तद्धितश्चेति ।** अत्र 'स्वरादिनिपातमव्ययमि'त्यतः 'अव्ययमि'त्यनुवर्तते । तद्धितपदेनात्र प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तद्धितान्ततदादेर्ग्रहणम् । असर्वविभक्तिरिति बहुव्रीहिः । तदाह—**यस्मात्सर्वा इति । तसिलादय इति ।** 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्यतः 'याप्ये पाशप्' इति पर्यन्तमित्यर्थः ।

(३९७) **कृन्मेजन्त इति ।** कृत् मेजन्त इति पदद्वयात्मकं सूत्रम् । म् च एच् चेति मेचौ, तौ अन्तौ यस्य कृतः स मेजन्त इति बहुव्रीहिरित्यत आह—**कृद्यो मान्त इति ।**

(३९८) **क्त्वातोसुन्कसुन इति ।** क्त्वा-तोसुन्-कसुन्— एतदन्तमव्ययसंज्ञं भवति ।

हिंसा । (१३) विषु=अनेक (१४) एकपदे=सहसा । (१५) युत्=निन्दा । (१६) आतः=यहाँ से ।

च—आदि भी आकृतिगण है । अतः इसके **अन्तर्गत** यत्, तत्, आहोस्वित्, इव, व आदि अव्यय शब्दों का पाठ समझना चाहिए ।

(३९६) पद—तद्धितः, च, असर्वविभक्तिः । **अनुवृत्ति**—अव्ययम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—जिससे सभी विभक्तियाँ न हों, ऐसा तद्धितान्त शब्द भी अव्ययसंज्ञक होता है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३९५) से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'जिस शब्द से सब विभक्तियाँ उत्पन्न न हों, ऐसा तद्धितान्त पद भी अव्ययसंज्ञक होगा' । ऐसे शब्दों का परिगणन करना चाहिए । (१) 'पञ्चम्यास्तसिल्' (५।३।७) से प्रारम्भ होकर 'याप्ये पाशप्' (५।३।४७) से पूर्व तक के प्रत्ययों का इसमें समावेश होता है । (२) इसी प्रकार 'बह्वल्पार्थात्······शस्' (५।४।५२) से लेकर 'समासान्ताः' (५।४।६८) से पूर्व तक के प्रत्ययों की भी अव्ययसंज्ञा होती है ।

उदाहरण—(१) अम्, आम्, कृत्वसुच्, सुच् आदि । (२) तसि, वति, इत्यादि । ना और नाञ् प्रत्ययों का भी परिगणन किया गया है । इस प्रकार उक्त-प्रत्ययान्त पद अव्ययसंज्ञक होते हैं । यथा—'अतः' (तसिल्) आदि ।

(३९७) पद—कृत्, मेजन्तः । **अनुवृत्ति**—अव्ययम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—मान्त और एदन्त कृत्प्रत्ययान्त शब्द की अव्यय संज्ञा होती है ।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र (३९५) से 'अव्ययम्' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार 'मकारान्त तथा एजन्त (ए, ओ, ऐ, औ वर्णान्त) कृत्प्रत्ययान्त शब्द भी अव्ययसंज्ञक होते हैं ।

उदाहरण—मकारान्त प्रत्यय—(१) स्मारं स्मारम् (=बार-बार स्मरण करके) । एजन्त प्रत्यय—(२) जीवसे (=जीने के लिए) । (३) पिबध्यै (=पीने के लिए) ।

(३९८) पद—क्त्वातोसुन्कसुनः । **अनुवृत्ति**—अव्ययम् । **संज्ञासूत्र ।**

१।१।४०। एतदन्तमप्यव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः। (३९९) अव्ययीभावश्च १।१।४१। अव्ययं स्यात्। अधिहरि। (४००) अव्ययादाप्सुपः २।४।८२। अव्ययाद्विहितस्याऽऽपः सुपश्च लुक्। तत्र शालायाम्। अथ। विहितविशेषणान्नेह— अत्युच्चैसौ। अव्ययसंज्ञायां यद्यपि तदन्तविधिरस्ति तथापि न गौणे। आप्ग्रहणं व्यर्थम्, अव्ययस्याऽलिङ्गत्वात्। तथा च श्रुतिः—

कृत्वेति। 'समानकर्तृकयोः' इति भावे क्त्वा प्रत्ययः। **उदेतोरिति**। उत्पूर्वादिणः 'भावलक्षणे' इत्यादिना तोसुन्प्रत्ययः। **विसृप इति**। विपूर्वकात्सृपेः 'सृपितृदोः कसुन्' इति भावे कसुन्प्रत्ययः।

(३९९) **अधिहरीति**। अत्राव्ययीभावसमासेऽव्ययत्वे च 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लुक्।

(४००) **अव्ययादाप्सुप इति**। अत्र 'ण्यक्षत्रियाऽऽर्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते। तदाह—**अव्ययाद्विहितस्येति**। **तत्रेति**। 'तत्र' इत्यतः स्त्रीत्वे टाप्, तस्य लुग्भवतीति।

मूलार्थ—क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्ययसंज्ञा होती है।

विमर्श—प्रकरणवश पूर्वसूत्र से 'अव्ययम्' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है।

उदाहरण—(१) कृत्वा (=करके)। (२) उदेतोः (=उठकर, उदय प्राप्त करने के लिए)। (३) विसृपः (=फैलकर)।

(३९९) पद—अव्ययीभावः, च। **अनुवृत्ति**—अव्ययम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—अव्ययीभाव समास की भी अव्ययसंज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ भी प्रकरणवश पूर्वसूत्र (३९५) से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'अव्ययीभाव समास भी अव्ययसंज्ञक होगा।'

उदाहरण—अधिहरि (=हरि में)।

(४००) पद—अव्ययात्, आप्सुपः। **अनुवृत्ति**—लुक्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अव्यय से विहित आप् और सुप् का लुक् होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ण्यक्षत्रियाऽऽर्ष०' (२।४।५८) से आदेशवाचक पद—'लुक्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'अव्यय से विहित आप् (=टाप्, डाप्, चाप्) तथा सुप् का लुक् (लोप) होता है।'

उदाहरण—(१) तत्र शालायाम् (=उस घर में)। यहाँ 'तत्र' शब्द त्रल्-प्रत्ययान्त है। उससे स्त्रीलिङ्गवाची टाप् प्रत्यय का प्रकृत सूत्र से लुक् हुआ। (२) अथ (=अनन्तर)। यहाँ भी प्रकृत सूत्र (अव्ययादाप्सुपः) से विभक्ति का लुक् हुआ।

यहाँ 'अव्ययात्' पद विहित विशेषण (अर्थात् 'अव्यय से विहित' इस प्रकार विशेषता सूचित करने से अत्युच्चैसौ (=ऊँचे स्थान का अतिक्रमण करने वाले दो जन) में सुप् (औ) का लुक् नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ 'औ' विभक्ति 'उच्चैस्' अव्यय से विहित नहीं है, किन्तु समस्त पद 'अत्युच्चैस्' से विहित है। यद्यपि अव्ययसंज्ञा में तदन्त विधि होती है। तो भी गौण में तदन्त विधि की प्रवृत्ति नहीं होती। 'अत्युच्चैस्' पद का अवयव 'उच्चैस्' समास में उपसर्जन होने से गौण हो गया है। अतः सुप् का लुक् नहीं होता।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ १ ॥
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥ २ ॥

अवगाहः । वगाहः । अपिधानम् । पिधानम् । इत्यव्ययानि ।

इति सुबन्तप्रकरणम् ।

सदृशमिति । त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु, सर्वेषु वचनेषु च यद्विकारं न प्राप्नोति, किन्तु सदृशम्, एकप्रकारमेव भवति तदव्ययमिति भाष्योक्ता आथर्वणश्रुतियोजना । **वष्टीति** । भागुरिनामक आचार्यः अव-अपि एतयोरुपसर्गयोः अकारस्य लोपं वष्टि—इच्छतीत्यर्थः । तथा च हलन्तानामपि पदानाम् आपं=टाप्प्रत्ययम् इच्छतीत्यर्थः । 'वाचा, निशा दिशा' इत्याद्युदाहरणानीति भावः । **वगाह इति** । एतदप्युदाहरणमात्रमिति शम् ।

इत्यव्ययप्रकरणम् ।

सूत्र में 'आप्' पद की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अव्यय लिङ्ग रहित होता है। अतः अव्ययवाची पदों से टाप् आदि स्त्री-प्रत्ययों की प्राप्ति ही नहीं होती । पूर्वोक्त 'तत्र' आदि उदाहरणों में विभक्ति का लुक् होना ही अव्यय का प्रयोजन है ।

प्रक्रिया-ग्रन्थकारों ने अव्यय-प्रकरण के अन्त में दो कारिकाओं द्वारा अव्ययवाचक पदों की विशेषता बतलायी है ।

कारिकार्थ—(१) जो शब्द तीनों लिङ्गों (पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग), सभी विभक्तियों तथा सभी वचनों में एक-सा रहता है, कुछ भी न बदले (न व्येति=न विकृतं भवति), वह अव्यय कहलाता है ।

(२) आचार्य भागुरि के मतानुसार—'अव' और 'अपि' उपसर्ग के आदि वर्ण अकार का लोप होता है । हलन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में (आप्) टाप् भी होता है ।

उदाहरण—(१) अव+√गाह्+घञ्=अवगाहः । 'अव' उपसर्ग के अकार का लोप होकर=वगाहः । लोप न होने पर=अवगाहः (स्नान, गोता) । (२) अपि+√धा+ल्युट्=अपिधानम् (=ढक्कन) । यहाँ 'अ' का लोप होकर=पिधानम् । पक्ष में=अपिधानम् ।

हलन्त पदों से 'टाप्' के उदाहरण—(१) वाच्+आ (टाप्)=वाचा (वाणी)। (२) निश्+आ (टाप्)=निशा (रात्रि) । (३) दिश्+आ (टाप्)=दिशा । 'आप्' के अभाव में वाच्, निश् तथा दिश् शब्द भी स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।

अव्यय-प्रकरण समाप्त ।

इति सुबोधिन्याख्यायां मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः संस्कृत-हिन्दीव्याख्याया-मव्ययप्रकरणान्तः प्रथमो भागः ।

वार्तिकादि-सूची

सूत्र-सूची

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१८५

श्रीवरदराजाचार्यविरचिता

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेता

(स्वादिगणादारभ्य चुरादिगणपर्यन्तो द्वितीयो भागः)

व्याख्याकार

डॉ० सुरेशचन्द्र शर्मा

व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी-एच्० डी०



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के. 37/117, गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष: 333431, 335263

द्वितीय संस्करण 1999 ई.

मूल्य 70.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

दूरभाष: 320404



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो. बा. नं. 2113

दिल्ली 110007

दूरभाष: 3956391

मुद्रक

ए. के. लिथोग्राफर

दिल्ली

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
185



MADHYASIDDHĀNTA-KAUMUDĪ

OF

ŚRĪ VARADARĀJĀCĀRYA

(Part 2 : Bhwadi to Churadigana)

Edited with

'Subodhini'-Sanskrit & Hindi Commentarie

By
Dr. Suresh Chandra Sharma
Vyakaranacharya, M. A., Ph. D.



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

Publishers :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi -221001

Tel. 335263, 333431

Also can be had of :

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Jawaharnagar, Bungalow Road
Post Box No. 2113
Delhi-110007

Tel. 3956391



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
Varanasi-221001
Tel. 320404

निवेदनम्

विदितमेव तत्रभवतां श्रीमतां यत्संस्कृतवाङ्मयज्ञानाय व्याकरणमेव मुख्यं साधनम्। ऐन्द्रचान्द्रादिषु नैकेषु व्याकरणेषु सत्स्वपि सर्वत्राधुना पाणिनीय-व्याकरणमेव प्रचलति। तच्च व्याकरणं लक्ष्यलक्षणात्मकम्। तत्र शब्दो हि लक्ष्यः, लक्षणन्तु सूत्रम्। अनयोः सम्यग्ज्ञानार्थं पाणिनीयाष्टाध्याय्या अध्ययनं परमावश्यकम्। अतः 'अष्टाध्यायी'ति ग्रन्थस्य गूढाभिप्रायं ज्ञातुं काशिकादि-वृत्तिग्रन्थानां पठनपाठनयोः परम्परा प्रचलिता। परिवर्तनशीलेऽस्मिन् युगेऽध्य-यनाध्यापनविधावपि परिवर्तनं स्वाभाविकमेव। अत एव सरलरीत्या व्याकरण-शास्त्रज्ञानाय अष्टाध्यायीक्रमस्थकाठिन्यनिवारणाय च प्रक्रियाक्रमस्यारम्भो जातः। रूपावतारादुद्गतेयं प्रक्रियापरम्परा रूपमालया प्रक्रियाकौमुद्या च पल्लविता, सिद्धान्तकौमुद्या च पुष्पिता तत्रैव पर्यवसिताऽपि। श्रीमद्भट्टोजि-दीक्षितविदुषा विरचिता वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रौढा पाण्डित्यपरिपूर्णा च वर्तते। अतः सुकुमारमतीनां बालानां प्रवेशोऽत्र दुष्कर इति विचार्य तच्छिष्येण पण्डितप्रवरेण वरदराजाचार्येण प्राथमिकाध्येतॄणां बालानामनायासेन बुद्धिप्रवेश-लाभाय लघुसिद्धान्तकौमुदी, लब्धकिञ्चित्प्रवेशानां माध्यमिकानाञ्च बालानां व्याकरणशास्त्रबोधसम्पत्तये मध्यसिद्धान्तकौमुदी विरचिता।

सेयं मध्यसिद्धान्तकौमुदी स्वल्पेन कालेन बहुबोधाधायिनीति विदन्त्येव विद्वांसः। ग्रन्थस्यास्य परमोपादेयतामभिलक्ष्य कैश्चिद्विश्वविद्यालयैः माध्यमिक-कक्षासु विनिर्धारितोऽयं ग्रन्थः। यद्यप्यद्यत्वे मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतानि नैकानि संस्करणानि प्रकाशितानि सन्ति। परं 'विद्यार्थि-जनोपयोगि सरलटीकोपेतं किञ्चित्संस्करणं नैव समुपलभ्यते' इत्यभावमनुभवता चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनाध्यक्षस्याग्रहवशंवदेन छात्रहितैषिणा मया 'सुबो-धिनी'ति संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतायाः मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः द्वितीयो भागः प्रकाशितः। तस्य लोकप्रियतामवेक्ष्य सम्प्रति द्वितीयो भागः प्रकाश्यते। आशासे यदनेन संस्करणेनापि छात्राणां नूनमेवोपकारो भविष्यति।

कार्येऽस्मिन् व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताद्यनेकशास्त्रमर्मविदुषां व्याकरण-विभागाध्यक्षाणां पूज्यगुरुवर्याणां श्रीमतां केशवदेवतिवारीमहाभागानां हार्दि-कीमधमर्णतामावहामि, यैरत्यन्तवात्सल्यभावेन पदे पदे काठिन्यं निरस्या-स्माकं साहाय्यं कृतम्। अत्र कियत्साफल्यमधिगतं मयेत्यत्र तु विद्वांसः प्रेक्षका एव प्रमाणम्। प्रमादेनात्र काश्चन त्रुटयः स्युस्ताः संशोध्य विद्वद्भिः सूचनीयो-ऽप्ययं जन इति शम्।

विदुषामाश्रवः—
सुरेशचन्द्र शर्मा

भूमिका

संस्कृत भाषा भारत की ही नहीं, अपितु विश्व की प्राचीनतम भाषा है। सभ्यता के उष:काल में इस भाषा का उदय हुआ और सर्वप्रथम भारत को ही इस उदय के दर्शन का श्रेय प्राप्त हुआ। 'वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं' यह सभी विद्वानों और ऐतिह्यविदों ने स्वीकार किया है।

किसी भी भाषा की सुरक्षा और उसका मौलिक ज्ञान उसके व्याकरण में निहित होता है। बिना व्याकरण के भाषा प्रायः विशृंखल और अपूर्ण रहती है। संस्कृत-वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का विशिष्ट स्थान है। 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।' अर्थात् जिससे साधु शब्दों का ज्ञान होता है, उसे **'व्याकरण'** की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। महाभाष्यकार ने इसी को **'शब्दानुशासन'**[1] भी कहा है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन षडङ्गों में 'व्याकरण' वेद का मुख रूप से प्रधान अङ्ग माना जाता है। जैसा कि पाणिनीयशिक्षा में कहा गया है—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्॥'[2]

भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—**'प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम्।'**[3]

व्याकरण-वाङ्मय में ऐन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है। शब्दोपदेश के लिए प्रकृति-प्रत्यय विभाग की कल्पना सर्वप्रथम सुरगुरु बृहस्पति के शिष्य इन्द्र ने की थी। देवराज इन्द्र से लेकर महर्षि पाणिनि पर्यन्त[4] अनेक आचार्यों ने व्याकरणशास्त्र का निर्माण किया था, परन्तु आज पाणिनीय व्याकरण ही सर्वाङ्ग परिपूर्ण उपलब्ध होता है। यद्यपि यह संस्कृत के प्राचीन आर्ष

---

१. 'अनुशिष्यन्ते अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधुशब्दा अनेनेत्यनुशासनम्, शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासनं सूत्रवार्तिकभाष्यव्याख्यानादिरूपं शास्त्रम्।'

२. पाणिनीय-शिक्षा (४१-४२)।

३. महाभाष्यम् (पस्पशाह्निकम्)।

४. बोपदेव ने इन्द्र आदि आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया है—

'इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥' (कविकल्पद्रुमः)

व्याकरणों में सबसे अन्तिम और संक्षिप्ततम है; तथापि लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के संस्कृत-वाङ्मय को आलोकित करने वाला एक महान् प्रकाश-स्तम्भ है। विश्व की किसी भी भाषा का व्याकरण इतना सरल और परिष्कृत नहीं बन सका है। संसार के सभी विद्वानों ने इसकी वैज्ञानिकता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। पाणिनीय व्याकरण का मूलग्रन्थ भगवान् पाणिनि की अष्टाध्यायी' है। इसमें ३९९५ सूत्र हैं।[1] इस अष्टाध्यायी के माध्यम से उन्होंने संस्कृत भाषा के परिष्कृत रूप को स्थायित्व प्रदान किया। कालान्तर में महर्षि कात्यायन ने 'अष्टाध्यायी' की समीक्षा करते हुए उसके पूरक के रूप में वार्तिकग्रन्थ की रचना की। सूत्र तथा वार्तिकों के पारस्परिक समन्वय को समझाने के लिए शेषावतार भगवान् पतञ्जलि ने विशद विवरणात्मक ग्रन्थ 'महाभाष्यम्' की रचना की। उन्होंने पूर्ववर्ती दोनों आचार्यों की रचनाओं में सत्यान्वेषण किया और सिद्धान्ततः निष्कर्ष प्रस्तुत किया, जिससे विद्वानों ने उनके सिद्धान्तों को विशेष मान्यता प्रदान की—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।' इस प्रकार सूत्रकार 'पाणिनि', वार्तिककार 'कात्यायन' और भाष्यकार 'पतञ्जलि' ये तीनों आचार्य व्याकरण के 'त्रिमुनि' कहलाते हैं।

पाणिनि

महर्षि पाणिनि के जन्मस्थान, जन्मकाल आदि के विषय में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। 'त्रिकाण्डशेष' कोष में पाणिनि के छह नामों का उल्लेख मिलता है। पाणिन, आहिक, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, पाणिनि और शालातुरीय। इन नामों द्वारा इनके गोत्र, माता-पिता तथा देश का निर्णय किया जा सकता है। इनमें पाणिन और पाणिनि दोनों नाम गोत्र-व्यपदेशज हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि 'आहिक' इनका मूल नाम है। इनकी माता का नाम दाक्षी था, अतः इनका एक नाम दाक्षीपुत्र भी है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है—'सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।' कुछ गवेषकों के अनुसार इनके पिता का नाम शलङ्क था। अतः इनको 'शालङ्कि' कहा गया। 'शालातुरीय' नाम इनके जन्मप्रदेश को स्पष्ट करता है। 'गणरत्नमहोदधि' नामक ग्रन्थ में 'शालातुरीय' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'**शलातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः।**' इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि का जन्मस्थान 'शलातुर' नामक ग्राम ही है, जो वर्तमान

---

१. 'चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह॥'
(स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका, श्लो० १५)

में 'लाहौर' नाम से प्रसिद्ध है और पाकिस्तान का विशाल नगर है। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सम्भवतः तक्षशिला में हुई थी, पश्चात् अपने ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए यह अन्यत्र चले गये। इनके गुरु का नाम उपवर्षाचार्य था, जो नालन्दा विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते थे। इन्होंने अपने अध्ययन काल में ही कठिन तपस्या करके आशुतोष भगवान् शङ्कर को प्रसन्न किया और उनके उपदेश से 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरणशास्त्र की रचना की। महर्षि पाणिनि की बन्दना में आचार्यों ने कहा भी है—

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥'

महर्षि पाणिनि के काल के सम्बन्ध में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। अष्टाध्यायी के 'कुमारः श्रमणादिभिः' (२।१।७०) सूत्र में 'श्रमण' पद प्रयुक्त हुआ है। इससे आलोचक पाणिनि को बुद्धकालीन अथवा तत्पश्चात्कालीन सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वान् 'इन्द्रवरुण०' (४।१।४९) सूत्र में 'यवन' पद को देखकर इन्हें 'सिकन्दर' के समकालीन स्वीकार करते हैं। परन्तु यह नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि वैदिक ब्राह्मणग्रन्थों में भी श्रमण पद का उल्लेख मिलता है।[1] इसी प्रकार सिकन्दर के भारतागमन से भारतीय लोग यवनों से परिचित हुए। यह भी भ्रम ही है, क्योंकि महाभारत में यवन सैनिकों के द्वारा युद्ध करने का प्रसङ्ग है।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि पाणिनि विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व हुए हैं। किन्तु भाण्डारकर और गोल्डस्टुकर ने पाणिनि का समय ५०० ई० पू० से पहले निश्चित किया है। इसी प्रकार भारतीय और पाश्चात्य मतों पर सम्यग् विचार करने के उपरान्त डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि का समय ५०० ई० पू० निश्चित किया है।[2]

कात्यायन

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर आवश्यकतानुसार अनेक आचार्यों ने वार्तिक-ग्रन्थ लिखे थे। उनमें महामुनि कात्यायन का स्थान प्रमुख है। पाणिनीय व्याकरण को सम्पूर्ण एवं समृद्ध बनाने के लिए कात्यायन का विशेष महत्त्व है। पाणिनि और कात्यायन समकालीन और सतीर्थ्य थे। इनका कात्यायन

---

१. 'अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः।' (शतपथब्राह्मण)

२. द्रष्टव्य—श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल : 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'। (पृ० ४७०–४८०)

नाम गोत्रज है। आपका मूल नाम 'वररुचि' था। महाभाष्य के प्रथमाह्निक में 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इस वार्तिक पर 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते।' इस पतञ्जलि-वचन से विदित होता है कि ये दाक्षिणात्य थे। ये केवल वार्तिककार ही नहीं अपितु महाकवि भी थे। इनके 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों में है। यथा—

'यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥'

महाभाष्यकार पतञ्जलि

इस समय पाणिनीय व्याकरण पर पतञ्जलि-विरचित एक ही भाष्य-ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यह विशालकाय होने से महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। भाष्य का तात्पर्य निम्नाङ्कित है—

'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥'

महामुनि पतञ्जलि एवं उनके महाभाष्य की सभी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उनका महाभाष्य न केवल व्याकरणशास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ है, अपितु अनेक विषयों का आकर ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि अत्यन्त सरल है, तथापि कहीं-कहीं भाव-गाम्भीर्य अत्यधिक है।

भगवान् पतञ्जलि ने मनोवाक्कायदोषनिरसनार्थ 'योगसूत्र', 'महाभाष्य' और 'चरकसंहिता' इन तीन विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की, जैसा कि किसी विद्वान् ने भगवान् पतञ्जलि की स्तुति करते हुए कहा है—

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥'

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने परिचय के विषय में कुछ नहीं लिखा है, किन्तु 'महाभाष्य' में कुछ स्थलों पर 'गोर्नदीयस्त्वाह' तथा 'गोणिकापुत्रः' का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि यह गोर्नद प्रदेश के निवासी थे। यह गोर्नद प्रदेश कहाँ है? इस पर आधुनिक विद्वान् गोण्डा जनपद को ही गोर्नद मानते हैं। इनके महाभाष्य में 'पुष्यमित्रो जयते, इह पुष्यमित्रं याजयामः' इत्यादि प्रयोग मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि ये राजा पुष्यमित्र के समकालिक थे। पुष्यमित्र का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी निश्चित किया गया है। भारतीय पौराणिक गणना के आधार पर पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने पतञ्जलि का समय विक्रम से १२०० वर्ष पूर्व निश्चित किया है।

पाणिनीय व्याकरण के ये तीनों आचार्य 'त्रिमुनि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आशुतोष भगवान् शंकर के डमरू से पाणिनि के चतुर्दशसूत्र प्राप्त हुए और उन्हीं सूत्रों के आधार पर उन्होंने अष्टाध्यायी की रचना की। उसकी पूर्ति के लिए कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की और भगवान् शेषावतार पतञ्जलि ने जिज्ञासु विद्यार्थियों और मनीषियों के हितार्थ 'महाभाष्य' का प्रवचन किया। ये तीनों व्याकरणशास्त्र के प्रवर्तक हैं।

अष्टाध्यायी के टीकाकार

पाणिनीय व्याकरण के मूल ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' पर अनेक वृत्तिग्रन्थ लिखे गये। वृत्तिकारों में श्वोभूति, व्याडि, कुणि, माथुर, वररुचि आदि प्रमुख हैं। परन्तु इस समय उपलब्ध वृत्ति-ग्रन्थों में वामन और जयादित्य द्वारा विरचित 'काशिकावृत्ति' अत्यन्त सराहनीय है। इसका निर्माणकाल विद्वानों ने वि० सं० ६५०-७०० के मध्य स्वीकार किया है।

इस प्रकार अध्येता को सर्वप्रथम सम्पूर्ण 'अष्टाध्यायी' कण्ठस्थ करके प्रयोग के लिए 'काशिका' का अध्ययन करना होता था। अनन्तर विशेष-ज्ञानार्थ महाभाष्य पढ़कर ही विशिष्ट पाण्डित्य प्राप्त होता था।

प्रक्रिया-क्रम

प्रौढ़ एवं विशेष परिश्रम न करने वाले विद्यार्थियों को उक्त प्रणाली में कष्ट और गौरव का अनुभव होने लगा था। अतः सरल रीति से व्याकरण-शास्त्र के ज्ञान के लिए तथा अष्टाध्यायी-क्रमस्थ कठिनाई को दूर करने के लिए सर्वप्रथम बौद्धमतावलम्बी धर्मकीर्ति ने वि० सं० १३०० में 'रूपावतार' नामक प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना की। पश्चात् विमल सरस्वती ने 'रूपमाला' और पं० रामचन्द्राचार्य ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की। किन्तु इन प्रक्रिया-ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनता की पूर्ति के लिए म० म० श्रीभट्टोजि दीक्षित ने 'वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी' की रचना की। विद्वानों ने भट्टोजि दीक्षित का समय वि० सं० १५०० से १५७५ के मध्य स्वीकार किया है। उक्त ग्रन्थ अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातु-पाठ से सर्वाङ्गपरिपूर्ण है। यह ग्रन्थ इतना उपयोगी सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन इसी के द्वारा होने लगा। 'सिद्धान्तकौमुदी' पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें दीक्षित जी की प्रौढमनोरमा, ज्ञानेन्द्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनी, वासुदेव दीक्षित की बालमनोरमा तथा नागेश का लघुशब्देन्दुशेखर प्रसिद्ध है।

आचार्य वरदराज

आचार्य वरदराज दाक्षिणात्य पण्डित थे। इनके पिता दुर्गातनय और गुरु भट्टोजिदीक्षित थे। अपने अध्ययन के पश्चात् इन्होंने पाणिनि-व्याकरण में प्रवेशार्थी सुकुमार मति वाले बालकों के लिए 'सिद्धान्तकौमुदी' का पथ-प्रदर्शक 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की। वरदराज का यह लघु प्रयास प्रारम्भिक छात्रों के लिए परमोपयोगी है।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

इस प्रकार 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' द्वारा साधारण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिए वरदराज ने द्वितीय सोपान रूप 'मध्य-सिद्धान्तकौमुदी' का प्रणयन किया। मध्यसिद्धान्तकौमुदी के अन्त में श्रीवरद-राज ने कहा है—

'कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी।
तस्याः सङ्ख्या तु विज्ञेया खबाणकरवह्निभिः॥'

यह किंवदन्ती है कि आचार्य वरदराज की इस कृति को देखकर गुरुवर भट्टोजिदीक्षित को सन्देह हो गया था कि मध्यकौमुदी को पढ़ने के पश्चात् मेरी 'सिद्धान्तकौमुदी' को कौन पढ़ेगा? क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी का सार-सर्वस्व मध्यसिद्धान्तकौमुदी है।

इस ग्रन्थ में सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा संक्षेप के अतिरिक्त प्रकरण-क्रम में भी भिन्नता है। वाक्य में सर्वप्रथम अर्थज्ञान के लिए पदच्छेद अपेक्षित होता है। अतः पूर्व में सन्धि-प्रकरण को रखा गया है। अनन्तर सुबन्त पदों के ज्ञान के लिए षड्लिङ्ग-प्रकरण और अव्यय-प्रकरण का संघटन किया गया है। इसके बाद स्त्रीप्रत्यय की अपेक्षा तिङन्त पदों के ज्ञान के लिए तिङन्त-प्रकरण का विन्यास सर्वथा उचित है। क्योंकि स्त्रीप्रत्यय कृत्तद्धित-समास के बाद ही अपेक्षित है। अतः अन्त में 'स्त्री-प्रत्यय' का होना ही उचित है। इसी प्रकार कारक का भी समास से पूर्व होना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। क्योंकि विभक्त्यर्थ-ज्ञान पर ही समास-प्रक्रिया आधारित है।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी की एक अत्यन्त प्राचीन टीका 'मध्यमनोरमा' है; ऐसा कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है। परन्तु इसका मुद्रित संस्करण अद्यावधि अप्राप्य है।

आजकल मध्यसिद्धान्तकौमुदी के संस्कृत-हिन्दी टीकाओं सहित अनेक संस्करण उपलब्ध हैं। उनमें पं० सदाशिव शास्त्री की 'सुधा' संस्कृत व्याख्या तथा पं० रामचन्द्र झा द्वारा रचित 'इन्दुमती' हिन्दी टीका का प्रमुख स्थान रहा है।

प्रस्तुत संस्करण में 'सुबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या का संक्षेप में वर्ण्यविषय इस प्रकार है—संस्कृत में जिज्ञासु छात्रों को सूत्रार्थ समझाना ही उद्देश्य रहा है। हिन्दी में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, अनुवृत्ति तथा सूत्रभेद प्रदर्शित कर विद्यार्थियों को सूत्रार्थ समझने की ओर स्वतः उन्मुख होने की प्रणाली बतलायी गई है। अनन्तर ग्रन्थ की 'वृत्ति' के अनुसार सूत्रार्थ किया गया है। 'विमर्श' में अनुवृत्त सूत्रों का उल्लेख करते हुए सूत्रस्थ पदों के साथ उनका सम्बन्ध प्रदर्शित कर सूत्रार्थ स्पष्ट किया गया है। प्रक्रियानुसार क्रम से उदाहरणों की सिद्धि की गई है और प्रत्युदाहरणों के द्वारा सूत्रस्थ पदों की सार्थकता दिखलायी गई है। प्रसङ्गवश कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण भी किया गया है। नवीन प्रकरणों के आरम्भ में पूर्वापर सङ्गति उपक्रम के रूप में की गई है। इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण की व्याख्या के विषय में गुण-दोषों का विवेचन सुधी पाठकजन ही करेंगे। मेरे प्रमाद एवं अज्ञानवश कुछ त्रुटियाँ हुई होंगी। अतः नीर-क्षीर-विवेकी विद्वानों से निवेदन है कि वे उन्हें सुधारकर सूचित करने का कष्ट करें। आशा एवं विश्वास है कि 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' के इस संस्करण से छात्रगण अवश्य ही लाभ उठायेंगे।

मकरसङ्क्रान्ति
२०४७ वि०

विदुषां वशंवदः
सुरेशचन्द्र शर्मा

प्रकरण-सूची

॥ श्रीः ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

अथ तिङन्ते भ्वादयः

(४०१) धातोः ३।१।९१ । अधिकारोऽयम् । वक्ष्यमाणाः प्रत्यया धातोर्ज्ञेयाः । लट् । लिट् । लुट् । लृट् । लेट् । लोट् । लङ् । लिङ् । लुङ् । लृङ् । एषु पञ्चमो लकार-

(४०१) धातोरिति । तृतीयाध्यायसमाप्तिपर्यन्तस्याधिकारः । पञ्चम इति । स्वोक्तक्रमेण पञ्चमो लकारो लेट् वेदविषयकोऽन्यथा प्रतिलोमसङ्ख्यया लोट्लकारेऽपि पञ्चत्वमापतेत् । 'लिङर्थे लेडि'ति सूत्रे 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इत्यतः 'छन्दसी'त्यनुवृत्तेः लेट्लकारस्य छन्दोमात्रविषयकत्वात् तस्य रूपाणीह न प्रदर्श्यन्त इति भावः ।

'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) सूत्रस्थ क्रम का अनुसरण करके पूर्वार्द्ध भाग में सुबन्त पदों का विवेचन किया गया । अब क्रमप्राप्त तिङन्त पदों के विवेचन हेतु सर्वप्रथम भ्वादि-प्रकरण का प्रारम्भ किया जा रहा है ।

(४०१) पद—धातोः । **अधिकारसूत्र ।**

सूत्रार्थ—यह अधिकार सूत्र है । आगे कहे गये तिङ् प्रत्यय धातु से विहित होते हैं ।

विमर्श—पाणिनीय अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय की समाप्ति तक 'धातोः' (३।१।९१) सूत्र का अधिकार है । लट् । लिट् । लुट् । लृट् । लेट् । लोट् । लङ् । लिङ् । लुङ् । और लृङ्—ये दश लकार हैं । इनमें पाँचवें लेट् लकार का प्रयोग केवल वेद में ही होता है, लोक में नहीं । इनके आदि में 'ल्' वर्ण होने से इनको 'लकार' कहा जाता है । इनमें पहले छः लकार टित् हैं और शेष चार ङित् । लकारों का प्रयोग धातुओं के आगे किया जाता है । अतः इनके द्वारा धातुवाच्य क्रिया के काल आदि का बोध होता है ।

लकारों का सामान्य अर्थ

१. लट्—वर्तमान काल ।
२. लिट्—परोक्ष अनद्यतन भूतकाल ।
३. लुट्—अनद्यतन भविष्यत् काल ।
४. लृट्—सामान्य भविष्यत् काल ।
५. लेट्—लिङर्थ में (वैदिक भाषा में) ।
६. लोट्—विधि (आज्ञा, प्रेरणा देना) आदि ।
७. लङ्—अनद्यतन भूतकाल ।

श्छन्दोमात्रगोचरः । (४०२) लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः ३।४।६९ । लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च । (४०३)

---

(४०२) लः कर्मणि इति । वाक्यद्वयं सूत्रम् । 'लः कर्मणि चे'ति प्रथमं वाक्यम् । ल इति प्रथमाबहुवचनान्तम् । चकारेण 'कर्तरि कृदि'त्यतः 'कर्तरि' इत्यनुकृष्यते । धातोरित्यधिकृतम् । लकारः कर्मणि कर्तरि च धातोः स्युरिति लभ्यते । एवं सकर्मकेभ्यो भावे लकारा न भवन्ति । 'भावे कर्मकेभ्यः' इति द्वितीयं वाक्यम् । अत्र चकारेण कर्त्रैवानुकृष्यते, न तु कर्म; असम्भवात् । तदाह—अकर्मकेभ्य इति । अत्र के सकर्मकाः के चाकर्मकाः? इति जिज्ञासायामुच्यते—फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम् ।

---

८. लिङ् (१) विधि, निमंत्रण आदि ।
(२) आशीर्वाद ।

९. लुङ्—सामान्य भूत ।

१०. लृङ्—हेतुहेतुमद्भाव अर्थात् लिङ् के अर्थ में जब क्रिया की असिद्धि अर्थ गम्यमान हो ।

(४०२) पद—लः कर्मणि च भावे च अकर्मकेभ्यः । अनुवृत्ति—कर्तरि । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्ता में लकार होते हैं ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में दो वाक्य हैं । 'लः कर्मणि च' यह प्रथम वाक्य है । यहाँ 'कर्तरि कृत्' (३।४।६७) पूर्वसूत्र से 'कर्तरि' पद की अनुवृत्ति आती है । 'धातोः' (३।१।९१) का अधिकार है । इस प्रकार लकार (सकर्मक) धातुओं से कर्म और कर्ता में होते हैं । 'भावे चाकर्मकेभ्यः' द्वितीय वाक्य है । यहाँ भी चकार पद से 'कर्तरि' पद की अनुवृत्ति होती है । अतः अकर्मक धातुओं से लकार भाव और कर्ता में होते हैं ।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि धातु के दो अर्थ होते हैं—फल और व्यापार । व्यापार का आश्रय कर्ता और फल का आश्रय कर्म होता है ।[1]

जिस उद्देश्य के लिए क्रिया की जाती है, उसे फल कहते हैं । यथा—'पचति' में विक्लित्ति (=गलना) के उद्देश्य से पाक क्रिया सम्पन्न की जाती है । अतः विक्लित्ति फल है । फल की सिद्धि के लिए जो क्रिया की जाती है, उसे व्यापार कहते हैं । जैसे 'पचति' में आग जलाना तथा पात्र को चूल्हे पर चढ़ाने से लेकर उतारने तक जो भी क्रिया की जाती है, वह सब व्यापार के अन्तर्गत आता है । फल कर्म में और व्यापार कर्ता में रहता है । 'पचति' में विक्लित्ति रूप फल का आश्रय तण्डुल है; अतः तण्डुल कर्म है और विक्लित्ति के साधक अग्नि प्रज्वलित करना आदि क्रिया के आश्रय देवदत्त आदि हैं; अतः वह कर्ता है ।

जिन धातुओं के फल और व्यापार के आश्रय भिन्न-भिन्न हों, उनको सकर्मक कहते हैं । यथा-'देवदत्तः तण्डुलं पचति' यहाँ विक्लित्ति रूप फल तण्डुल में और पाकानुकूल व्यापार देवदत्त में है; अतः पच् धातु सकर्मक है ।[2] जिन धातुओं के फल और व्यापार एक ही आश्रय में हों, उनको अकर्मक कहते हैं । यथा—'देवदत्तः शेते' यहाँ विश्राम रूप फल और चक्षुः-निमीलनादि रूप व्यापार एक ही आश्रय देवदत्त में हैं; अतः शीङ् धातु अकर्मक है ।[3]

---

१. "फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः ।"—वैयाकरण-भूषणसार, कारिका-२ ।
२. "फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम् ।"
३. "फल-समानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम् ।"

वर्तमाने लट् ३।२।१२३ । वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात् । अटावितौ । उच्चारणसामर्थ्यान्न लस्येत्वम् । भू सत्तायाम् । कर्तृविवक्षायां 'भू ल्' इति स्थिते । (४०४)

यथा—'देवदत्तः तण्डुलं पचति' इत्यत्र विक्लित्तिरूपं फलं तण्डुले, पाकानुकूलो व्यापारश्च देवदत्ते वर्तते । अतः पच्धातुः सकर्मकः । फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम् । यथा—'देवदत्तः शेते' इत्यत्र विश्रामरूपं फलं चक्षुर्निमीलनादिरूपो व्यापारश्चैकस्मिन् देवदत्त एव । अतः शीङ्धातुरकर्मकः ।

(४०३) **वर्तमाने** लडिति । धातोरित्यधिकृतम् । 'वर्तमाने' इति तत्रान्वेति । वर्तमानेऽर्थे विद्यमानाद्धातोः लडिति फलितार्थः । वर्तमानत्वञ्च प्रारब्धापरिसमाप्तिक्रियाश्रयत्वं कालगतं बोद्धव्यम् । भू सत्तायामिति । आत्मधारणं सत्ता, स्वरूपेणावस्थानमिति यावत् ।

सामान्यतया साकांक्षित क्रिया सकर्मक होती है । जैसे—'पठति, खादति' आदि में क्या पढ़ता है ? क्या खाता है ? की अपेक्षा रहती है । अतः पठ् आदि धातुएँ सकर्मक हैं एवं निराकांक्षित क्रिया अकर्मक होती है । जैसे—'शेते, हसति, जागर्ति' आदि में क्या सोता है ? क्या हँसता है ? क्या जागता है ? इत्यादि आकाङ्क्षा नहीं होती ।[1]

क्रिया के प्रकार को वाच्य कहते हैं, जो तीन प्रकार का है—

१. कर्तृवाच्य, २. कर्मवाच्य और ३. भाववाच्य ।

इन भ्वादि आदि दश गणों और प्रक्रियाओं में 'कर्तृवाच्य' के रूप ही प्रदर्शित किये गये हैं । केवल भावकर्म-प्रक्रिया में भाववाच्य और कर्मवाच्य के रूप बतलाये गये हैं । इस प्रकार सकर्मक और अकर्मक धातुओं से कर्ता में लकार आने से कर्ता उक्त (अभिहित) हुआ । कर्म में द्वितीया तथा कर्ता में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है । यथा—'देवदत्तः गृहं गच्छति' (कर्तृवाच्य) । कर्म में सकर्मक धातु से लकार आने से कर्मवाच्य होता है । कर्मवाच्य में कर्म में प्रथमा और कर्ता में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है तथा क्रिया के पुरुष-वचन कर्म के अनुसार होते हैं । यथा—'देवदत्तेन वेदाः पठयन्ते ।' अकर्मक धातु से भाव में लकार होने पर कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है । कर्म नहीं होता तथा क्रिया सदैव प्रथमपुरुष की एकवचनान्त ही होती है । यथा—'अस्माभिः स्थीयते' ।[2]

(४०३) पद—वर्तमाने लट् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वर्तमानकालिक क्रियावृत्ति धातु से लट् लकार होता है । लट् लकार के अकार और टकार की इत्संज्ञा होती है । उच्चारण-सामर्थ्य से 'ल्' की इत्संज्ञा नहीं होती । भू धातु का अर्थ सत्ता (होना) है । कर्ता की विवक्षा में (कर्तृवाच्य में) लकार आने पर 'भू ल्' इस प्रकार की स्थिति हुई ।

---

१. "क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षाम् ।
सकर्मकं तं सुधियो वदन्ति शेषस्ततो धातुरकर्मकः स्यात् ॥"

२. "प्रयोगे कर्तृवाच्यस्य कर्तरि प्रथमा भवेत् । द्वितीया कर्मणि तथा क्रियाकर्तृपदान्विता ॥
प्रयोगे कर्मवाच्यस्य तृतीया स्यात्तु कर्तरि । कर्मणि प्रथमा चैव क्रिया कर्मानुसारिणी ॥
कर्माभावः सदा भावे तृतीया चैव कर्तरि । प्रथमः पुरुषश्चैकवचनं च क्रियापदे ॥"
(हरिकारिका)

लस्य ३।४।७७ । इत्यधिकृत्य । **(४०५) तिप्तस्झि-सिप्थस्थ-मिब्वस्मस्-तातांझ-थासाथां ध्व-मिड्वहि-महिङ् ३।४।७८ ।** एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः । **(४०६) लः परस्मैपदम् १।४।९९ ।** लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः । **(४०७) तङानावात्मनेपदम् १।४।१०० ।** तङ् प्रत्याहारः शानच्कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः । पूर्वसंज्ञाऽपवादः ।

---

(४०५) तिप्तस्झि इति । तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्—एषां समाहारद्वन्द्वात् प्रथमैकवचनम् । अत्र सूत्रे महिङो ङकारस्तिङादिप्रत्याहारार्थः । लस्येति स्थानषष्ठ्यन्तमधिकृतम् । अत आह—**एत इति ।**

(४०६) ल इति । ल इति स्थानषष्ठी । आदेश इति पदमध्याहार्यम् । तदाह—**लादेशा इति ।**

(४०७) तङानाविति । तङ् च आनश्चेति द्वन्द्वः । पूर्वसूत्राल्ल इत्यनुवर्तते । आनग्रहणेनात्र शानच्कानचावेव गृह्येते । तदाह—**तङित्यादिना ।**

विमर्श—यहाँ 'धातोः' का अधिकार है । 'वर्तमाने' पद का 'धातोः' के साथ अन्वय होता है । इस प्रकार वर्तमान काल अर्थ में विद्यमान धातु से लट् लकार होता है ।

क्रिया के उस काल को वर्तमान कहते हैं, जिसमें क्रिया का आरम्भ होना तो पाया जाता हो, परन्तु समाप्त होना नहीं । जैसे—'सः गच्छति' इस वाक्य में गमन क्रिया का आरम्भ होना पाया जाता है, परन्तु समाप्त होना नहीं । अतः यह वर्तमानकालिक प्रयोग है ।

'लट्' लकार में अकार और टकार की इत्संज्ञा होने से उनका लोप होता है । लकार की इत्संज्ञा नहीं होती, उच्चारण-सामर्थ्य से । अन्यथा 'ल्' की इत्संज्ञा लोप होने से उच्चारण ही व्यर्थ हो जायेगा । भू धातु का अर्थ सत्ता (होना) है । कर्तृवाच्य में लट् लकार आने पर 'भू ल्' यह स्थिति हुई ।

(४०४) पद—लस्य । **अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—यह अधिकार सूत्र है ।

(४०५) पद—तिप् तस् झि सिप् थस् थ मिप् वस् मस् त आताम् झ थास् आथाम् ध्वम् इट् वहि महिङ् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लकार के स्थान में तिप्, तस् इत्यादि १८ आदेश होते हैं ।

विमर्श—'लस्य' का अधिकार है । अतः तिबादि १८ आदेश लकारों के स्थान में होते हैं । इन अठारहों को तिङ् कहते हैं । आरम्भ के 'ति' से लेकर अन्तिम 'ङ्' तक 'तिङ्' प्रत्याहार बनता है । प्रारम्भ के नौ प्रत्ययों को छोड़कर 'त' से लेकर 'महिङ्' के 'ङ्' तक 'तङ्' प्रत्याहार बनता है ।

(४०६) पद—लः परस्मैपदम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—लकार के स्थान में होने वाले आदेश की परस्मैपद संज्ञा होती है ।

विमर्श—'लः' पद में स्थानषष्ठी है । 'आदेश' पद का अध्याहार किया जाता है । इस प्रकार लकारों के स्थान में जो आदेश हों, उनकी परस्मैपद संज्ञा होती है । इससे पूर्वोक्त १८ लादेशों की परस्मैपद संज्ञा प्राप्त हुई ।

(४०७) पद—तङ् आनौ आत्मनेपदम् । **संज्ञासूत्र ।**

(४०८) अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२ । अनुदात्तेत उपदेशे यो ङित्तदन्ताच्च धातोर्लस्य स्थाने आत्मनेपदं स्यात् । (४०९) स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२ । स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले । (४१०)

---

(४०८) **अनुदात्तङित इति** । अनुदात्तश्च ङ् च अनुदात्तङौ । ताविती यस्य सः अनुदात्तङित्, तस्मात् अनुदात्तङितः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वादिच्छब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । अनुदात्तेतः ङितश्चेति लभ्यते । उपदेश इत्यनुवृत्तम् । 'भूवादयो धातवः' इत्यस्मादनुवृत्तं धातव इति पदं पञ्चम्या विपरिणम्यते । तदाह—**अनुदात्तेदित्यादिना** ।

(४०९) **स्वरितञित इति** । स्वरितश्च ञ् च स्वरितञौ, ताविती यस्य तस्मादिति बहुव्रीहिः । अत्रापि इच्छब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । अत आह—**स्वरितेत इत्यादिना** ।

मूलार्थ—तङ् प्रत्याहार और शानच्, कानच् की आत्मनेपद संज्ञा होती है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र से 'लः' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अतः लकारों के स्थान में होने वाले तङ् तथा शानच् और कानच् प्रत्ययों की आत्मनेपद संज्ञा होती है । 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' से विहित चानश् की लादेश होने के अभाव में आत्मनेपद संज्ञा नहीं होती । प्रकृत सूत्र पूर्व (परस्मैपद) संज्ञा का अपवाद (बाधक) है ।

(४०८) पद—अनुदात्तङित आत्मनेपदम् । **अनुवृत्ति**—उपदेशे, धातवः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—अनुदात्तेत् धातु और उपदेशावस्था में ङिदन्त धातु से लकार (ल्) के स्थान में आत्मनेपद होता है ।

विमर्श—'अनुदात्तश्च ङ् च इति अनुदात्तङौ, तौ इतौ यस्य स अनुदात्तेत्' इस विग्रह में पूर्व में द्वन्द्वसमास है । द्वन्द्व के अन्त में श्रूयमाण इत् शब्द का प्रत्येक के साथ अन्वय होता है । 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (१।३।२) सूत्र से 'उपदेशे' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'भूवादयो धातवः' (१।३।१) से अनुवृत्त 'धातु' पद पञ्चमी विभक्ति में परिणत होकर 'ङित्' का विशेष्य हो जाता है । विशेषण में तदन्त विधि से 'ङिदन्त धातु' अर्थ होता है । इस प्रकार अनुदात्तेत् (जिसका अनुदात्त अच् इत्संज्ञक हो) और उपदेशावस्था में जो ङित्, तदन्त जो धातु, उससे पर लकार के स्थान में आत्मनेपद होता है ।

(४०९) पद—स्वरितञितः, कर्त्रभिप्राये, क्रियाफले । **अनुवृत्ति**—धातोः, आत्मनेपदम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—स्वरितेत् और ञित् धातु से कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद होता है ।

विमर्श—'लस्य' का अधिकार है । पूर्वसूत्र से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है । क्रिया से उत्पन्न जो फल, वह यदि कर्ता को प्राप्त होता है, तो जिसका स्वरित अच् इत्संज्ञक हो ऐसा धातु और ञकार की इत्संज्ञा वाला जो धातु, उससे परवर्ती लकार के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय होते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि 'स्वरितेत्' और 'ञित्' धातु उभयपदी हैं । अर्थात् इनसे आत्मनेपद और परस्मैपद संज्ञक दोनों प्रकार के प्रत्यय आते हैं । किन्तु यहाँ यह व्यवस्था की गई है कि क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद और परगामी होने पर (कर्ता से भिन्न को प्राप्त होने पर) परस्मैपद होता है । जैसे—√'यज' धातु का जकारोत्तरवर्ती अकार स्वरित है

शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् १।३।७८। आत्मनेपदनिमित्तहीनाद्धातोः कर्तरि लस्य परस्मैपदं स्यात्। (४११) तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १।४।१०१। तिङ उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमादेतत्संज्ञाः स्युः। (४१२) तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः १।४।१०२। लब्धप्रथमादिसंज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि वचनानि प्रत्येक-

---

(४१०) शेषादिति। 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इति 'स्वरितञित' इति चोक्तादात्मनेपदविषयादन्यः शेषः, तस्मादिति।

(४११) तिङः षट् त्रिकाः, संज्ञास्तु तिस्र इति यथासङ्ख्येनासम्भवात् एकैकस्य त्रिकस्य तिसृषु संज्ञासु प्राप्तास्वाह—तिङ् उभयोः पदयोरिति।

(४१२) तान्येक इति। तच्छब्देनात्र पूर्वसूत्रोपात्तानि प्रथममध्यमोत्तमाख्यानि तिङस्त्रीणि त्रीणि परामृश्यन्ते। तदाह—लब्धप्रथमादिसंज्ञानीति।

और इत्संज्ञक भी है। अतः यदि स्वर्गादि फल यागकर्ता को प्राप्त रहे तो 'यजते'। अन्यत्र 'यजति' का प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'कृञ्' धातु 'ञित्' है। सन्ध्या-वन्दन आदि में क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद ही होता है। यथा—'सन्ध्यामहं करिष्ये।' 'यज्ञमहं करिष्ये।' यागकर्ता यदि किसी अन्य का यज्ञ करता हो; जैसे—पुरोहित अपने यजमान का यज्ञ किया करता है। तो 'यज्ञमहं करिष्यामि।' इस प्रकार परस्मैपद का ही प्रयोग किया जायेगा। क्योंकि जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए यजमान ने यज्ञ कराया है, वह (उद्देश्य की प्राप्ति रूप) फल यजमान को ही मिलेगा।

(४१०) **पद**—शेषात, कर्तरि, परस्मैपदम्। **अनुवृत्ति**—धातोः।

मूलार्थ—आत्मनेपद के निमित्त से हीन धातु से कर्ता (कर्तृवाच्य) में परस्मैपद होता है।

विमर्श—'लस्य' का अधिकार है। अनुदात्तेत्, ङित्, स्वरितेत् एवं ञित्, ये आत्मनेपद आदेश के निमित्त हैं। इनसे रहित धातु से कर्ता अर्थ में लकार के स्थान में परस्मैपदसंज्ञक आदेश होते हैं। इस प्रकार धातु के तीनों प्रकारों—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य में से केवल कर्तृवाच्य में ही परस्मैपद होता है, भाव और कर्म में नहीं। भाव और कर्मवाच्य में आत्मनेपद ही होता है। कर्तृवाच्य में दोनों पद आते हैं।

(४११) **पद**—तिङः, त्रीणि, त्रीणि, प्रथममध्यमोत्तमाः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—तिङ् के आत्मनेपद और परस्मैपद सम्बन्धी तीन-तीन त्रिकों की क्रम से प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञा होती है।

विमर्श—आत्मनेपद और परस्मैपद के नौ-नौ प्रत्यय होते हैं। उन नौ प्रत्ययों के तीन वर्ग बनते हैं। यथा—(परस्मैपद)

प्रथमपुरुष—तिप्, तस्, झि। मध्यमपुरुष—सिप्, थस्, थ। उत्तमपुरुष—मिप्, वस्, मस्। (आत्मनेपद—) प्रथमपु०—त, आताम्, झ। मध्यमपु०—थास्, आथाम्, ध्वम्। उत्तमपु०—इट्, वहि, महिङ्।

(४१२) **पद**—तानि, एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि, एकशः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—प्राप्त प्रथमादिसंज्ञक त्रिकों के तीन वचनों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है।

ऽनेकवचनादिसंज्ञानि स्युः। (४१३) युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः १।४।१०५। तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मद्यप्रयुज्यमाने प्रयुज्यमाने च मध्यमः। (४१४) अस्मद्युत्तमः १।४।१०७। तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः। (४१५) शेषे

---

(४१३) युष्मद्युपपद इति। उपोच्चरितं पदमुपपदम्; युष्मदि समीपोच्चारिते सतीत्यर्थः। सामानाधिकरण्यञ्चैकार्थबोधकत्वरूपं गृह्यते। स्थानिन्यपीत्यस्यार्थमाह—अप्रयुज्यमान इति। स्थानं=प्रसङ्गः, तद्वति युष्मदीत्यर्थात्। अपिना 'प्रयुज्यमाने' इति लभ्यते। एवञ्च—तिङ्वाच्यम्—कारकं, कर्ता, कर्म च, तद्वाचके युष्मच्छब्देऽप्रयुज्यमाने प्रयुज्यमाने च मध्यमः पुरुषो भवति। यथा—'त्वं भवसि। त्वमनुभूयसे।' इत्यादौ।

(४१४) अस्मद्युत्तम इति। तिङ्वाच्यकारकवाचिनि अस्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च सति उत्तमपुरुषो भवतीत्यर्थः।

विमर्श—उपर्युक्त प्रत्येक त्रिक में तीन-तीन प्रत्यय हैं। उनकी क्रम से एकवचन आदि संज्ञाओं का विधान प्रकृत सूत्र से होता है। जैसे—तिप् की एकवचन, तस् की द्विवचन और झि की बहुवचन संज्ञा हुई। जो निम्नलिखित चक्र से स्पष्ट हो जायेगा—

	परस्मैपद				आत्मनेपद		
	एक०	**द्वि०**	**बहु०**		**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्रथम-	तिप्	तस्	झि	प्रथम-	त	आताम्	झ
मध्यम-	सिप्	थस्	थ	मध्यम-	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम-	मिप्	वस्	मस्	उत्तम-	इट्	वहि	महिङ्

(४१३) पद—युष्मदि, उपपदे, समानाधिकरणे, स्थानिनि, अपि, मध्यमः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तिङ्वाच्य कारकवाची युष्मद् शब्द के प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान होने पर भी धातु से मध्यमपुरुष होता है।

विमर्श—'लस्य' का अधिकार है। सूत्रस्थ 'समानाधिकरणे' का अर्थ वृत्तिकार ने 'तिङ्वाच्यकारकवाचिनि' किया है। शब्द अर्थ में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से रहता है। अतः अर्थ शब्द का अधिकरण होता है। यहाँ तिङ् और युष्मद् का अर्थ एक ही कारक होता है। अतः समानाधिकरण होने से उक्त अर्थ किया गया है। 'स्थानिनि' का अर्थ 'अप्रयुज्यमान' है। क्योंकि—जिसके स्थान में आदेश किया जाता है, उसे स्थानी कहते हैं। आदेश हो जाने के पश्चात् स्थानी का लोप हो जाता है। अर्थात् उसका प्रयोग नहीं होता। 'अपि' का अर्थ 'प्रयुज्यमान' है।

इस प्रकार 'तिङ्' का वाच्य जो कारक (कर्तृ-कर्म रूप), उसका वाचक जो युष्मद् शब्द, उसके उपपद रहते हुए, उसका चाहे प्रयोग हुआ हो या न हुआ हो; वहाँ धातु से परवर्ती लकार के स्थान में मध्यमपुरुषसंज्ञक तिङ् प्रत्यय होते हैं। **उदाहरण**—'त्वं भवसि।' यहाँ युष्मद् शब्द का प्रयोग नियमतः अपेक्षित नहीं है। युष्मद् शब्द के प्रयोग के बिना भी 'भवसि' इत्यादि मध्यमपुरुष के प्रयोग होते हैं।

(४१४) पद—अस्मदि, उत्तमः। **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणे, स्थानिन्यपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तिङ् का वाच्य कारकवाची अस्मद् शब्द के प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान होने पर भी उत्तमपुरुष होता है।

प्रथमः १।४।१०८ । मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् । भू ति इति जाते । (४१६) **तिङ्शित्सार्वधातुकम्** ३।४।११३ । तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः । (४१७) **कर्तरि शप्** ३।१।६८ । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात् । (४१८) **सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः** ७।३।८४ । अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् । 'एचो-

---

(४१५) **शेष इति** । तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदस्मद्भिन्ने तदादिपदे प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च प्रथमः पुरुषः स्यादित्यर्थः । यथा—'सः भवती'त्यादौ ।

(४१७) **कर्तरि शप् इति** । शकारोऽत्र सार्वधातुकसंज्ञार्थः, तस्य 'लशक्वतद्धिते' इतीत्संज्ञायां लोपः । पकारोऽनुदात्तार्थः पित्कार्यार्थश्च । तस्य 'हलन्त्यमि'तीत्संज्ञायां लोपः । 'शप्'विकरणोऽयं धातुप्रत्ययमध्यपाती ।

(४१८) **सार्वधातुक इति** । 'इको गुणवृद्धी'ति परिभाषया इक पदमुपतिष्ठते, सोऽङ्गं विशिनष्टि । तदन्तविधिः । 'मिदेर्गुणः' इत्यतः 'गुणः' इत्यनुवर्तते । तदाह—**अनयोरित्यादिना** । **भवति** । सत्तार्थकाद् भूधातोः 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः'

विमर्श—पूर्व सूत्र (४१३) से 'समानाधिकरणे' तथा 'स्थानिन्यपि' पदों की अनुवृत्ति आ रही है । अतः तिङ् का वाच्य जो कारक, तद्वाचक जो अस्मद् शब्द, उसका प्रयोग रहे या न रहे—ऐसी दशा में भी लकार के स्थान में उत्तमपुरुषसंज्ञक तिङ् प्रत्यय होते हैं ।

(४१५) पद—शेषे, प्रथमः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—मध्यम और उत्तम पुरुष के अविषय में प्रथमपुरुष होता है ।

विमर्श—'भू' से यहाँ प्रथमपुरुष एकवचन में तिप् प्रत्यय आने पर—'भू+ति' । उक्त मध्यम और उत्तम पुरुष के विषय को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र लकार के स्थान में प्रथमपुरुषसंज्ञक 'तिङ्' प्रत्यय होते हैं ।

(४१६) पद—तिङ्, शित्, सार्वधातुकम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—'धातोः' (३।१।९१) के अधिकार में पठित तिङ् और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है ।

(४१७) पद—कर्तरि, शप् । **अनुवृत्ति**—सार्वधातुके, धातोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परे रहते धातु से 'शप्' प्रत्यय होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सार्वधातुके यक्' (१।३।६७) से 'सार्वधातुके' तथा 'धातोरेकाचः' (३।१।२२) से 'धातोः' पद की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार कर्ता अर्थ में विहित सार्वधातुक-संज्ञक प्रत्यय के परे रहते धातु से 'शप्' रूप विकरण होता है । शप् में शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा, पकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हो जाता है । शप्=अ शेष रहता है ।

(४१८) पद—सार्वधातुकार्धधातुकयोः । **अनुवृत्ति**—इक्, गुणः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सार्वधातुक तथा आर्धधातुक प्रत्यय के परवर्ती रहने पर इगन्त अङ्ग को गुण होता है । अवादेश । भवति । भवतः ।

विमर्श—यहाँ 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा द्वारा 'इक्' पद की उपस्थिति होती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'मिदेर्गुणः' (७।३।८२) से 'गुणः' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'इक्' पद

ऽयवायावः' इति अवादेशः। भवति। भवतः। (४१९) झोऽन्तः ७।१।३। प्रत्ययावयवस्य झस्यान्तादेशः स्यात्। अतो गुणे। भवन्ति। भवसि। भवथः। भवथ।

इति कर्तरि खले कपोतन्यायेन दशापि लकाराः प्राप्ताः। तत्रापि वर्तमानकालविवक्षायां 'वर्तमाने लट्' इति लटचनुबन्धलोपे, तस्य स्थाने 'तिप्तस्झि०' इत्यादिसूत्रेण सामान्येन तिबादिषु प्राप्तेषु अस्य धातोः परस्मैपदित्वात् 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' इति परस्मैपदे प्राप्ते तत्रापि युष्मदस्मद्व्यतिरिक्ते उपपदे समानाधिकरणे विवक्षिते 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषे प्राप्ते तत्रापि प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां तिपि, पकारस्येत्संज्ञायां 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे शित्त्वात्सार्वधातुकसंज्ञायाम्, भू + अ + ति इति जाते, 'सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः' इति भूघटकोकारस्य गुणे ओकारे 'एचोऽयवायावः' इति सूत्रेणावादेशे संयोगे च कृते 'भवती'ति सिद्धम्।

(४१९) **झोऽन्त इति।** 'आयनेयी'ति सूत्रात् प्रत्ययग्रहणमनुवर्तते, न त्वादिग्रहणम्, तेन 'शयान्तै' इत्यत्र शीङो झस्य 'लेटोऽडाटौ' इत्याटचपि झस्यान्तादेशसिद्धिः। प्रत्ययावयवझस्यान्तादेशस्वीकारेण उज्झितेत्यादौ धात्ववयवझकारस्यान्तादेशो न भवति। **भवन्तीति।** भू धातोः प्रथमपुरुषगतबहुत्वविवक्षायां झिप्रत्यये सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे गुणेऽवादेशे 'झोऽन्तः' इत्यनेन झकारस्य 'अन्त्' इत्यादेशे 'भव अन्ति' इति जाते 'अतो गुणे' इति द्वयोरकारयोः सवर्णदीर्घापवादे पररूपे कृते 'भवन्ती'ति सिद्धम्।

'अङ्गस्य' का विशेषण होने से तदन्त-विधि होती है। 'अङ्गस्य' में स्थानषष्ठी होने के कारण अलोऽन्त्य परिभाषा के बल से अङ्ग के अन्त्य इक् को ही गुण होगा। इस प्रकार—'सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय के परवर्ती रहने पर, पूर्व में जो इगन्त अङ्ग, उसके अन्त्य अल् को गुण होता है'।

उदाहरण—(१) √भू+लट् (ल्=प्रथमपुरुष का एकवचन तिप्-ति)—भू+ति ('तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा होने पर 'कर्तरि शप्' से शप्-अ)—भू+अ+ति (ऊ=ओ 'गुण'—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः')—भो+अ+ति (ओ=अव् 'एचोऽयवायावः')=भवति। (२) √भू+लट्-ल् (ल्=प्रथमपुरुष का द्विवचन 'तस्')—भू+तस् (शप्-'अ' प्रत्यय)—भू+अ+तस् (ऊ=ओ गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः')—भो अ तस् (ओ=अव्)—भवतस् (स्=र्=ः)=भवतः।

(४१९) पद—झः, अन्तः। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रत्यय के अवयव 'झ' के स्थान में 'अन्त्' आदेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (७।१।२) सूत्र से स्वरितत्व प्रतिज्ञा होने से केवल 'प्रत्यय' पद की अनुवृत्ति आती है। वह प्रत्यय पद षष्ठ्यन्त में परिणत हो जाता है। अतः प्रत्ययावयव जो झ (झ्), उसके स्थान में अन्त् आदेश होता है।

उदाहरण—(१) भू+लट् (ल्=प्रथमपुरुष का बहुवचन झि)—भू+झि (सार्वधातुक संज्ञा शप्-अ होने पर)—भू+अ+झि ('सार्वधातु०' से गुण, अवादेश होकर)—भव+झि

(४२०) अतो दीर्घो यञि ७।३।१०१ । अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञादौ सार्वधातुके परे । भवामि । भवावः । भवामः । स भवति । तौ भवतः । ते भवन्ति । त्वं भवसि । युवां भवथः । यूयं भवथ । अहं भवामि । आवां भवावः । वयं भवामः । **(४२१) शेषे**

---

(४२०) अतो दीर्घ इति । अङ्गस्येत्यधिकृतमता विशेष्यते । तेन तदन्तविधिः । 'तुरुस्तुशम्यम' इत्यस्मात्सार्वधातुक इत्यनुवर्तते यञा च विशेष्यते । तदादिविधिस्तदाह—**अतोऽङ्गस्येत्यादिना । भवामीति ।** भू धातोः उत्तमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां मिप्प्रत्यये-ऽनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि गुणेऽवादेशे 'भव मि' इति स्थिते 'अतो दीर्घो यञि' इत्यनेन दीर्घे 'भवामी'ति । एवं भवावः, भवाम इति । अथ प्रथममध्यमोत्तम-पुरुषव्यवस्थां स्मारयितुमाह—**स भवतीत्यादि ।**

('झोऽन्तः' से 'झ्'='अन्त्' आदेश)—भव+अन्ति ('अतो गुणे' से पररूप—अ+अ=अ)= भवन्ति । (२) भू+लट् (ल्=मध्यमपुरुष का एकवचन सिप्–सि)—भू+सि (शप्–श, गुण, अवादेश)=भवसि । (३) भू+लट् (ल्=मध्यमपुरुष का द्विवचन 'थस्')—भू+थस् (शप्–अ, गुण, अवादेश)—भवथस् (स्=र्=ः)=भवथः । (४) भू+लट् (ल्= मध्यमपुरुष का बहुवचन 'थ' प्रत्यय आने पर)—भू+थ (शप् , गुण, अवादेश)=भवथ ।

(४२०) पद—अतः, दीर्घः, यञि । **अनुवृत्ति**—सार्वधातुके । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—यञादि सार्वधातुक के परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है । भवामि । भवावः । भवामः ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' (७।२।९५) सूत्र से 'सार्व-धातुके' पद की अनुवृत्ति आती है । उसका 'यञादि' विशेषण होने से तदादि विधि होती है । इस प्रकार ह्रस्व अकार है अन्त में जिसके, ऐसा जो अङ्ग, उसके अन्त्य 'अच्' को दीर्घ आदेश होता है—यञादि सार्वधातुक प्रत्यय के परवर्ती रहने पर ।

उदाहरण—(१) भू+लट् (ल्=उत्तमपुरुष का एकवचन 'मिप्'-मि)—भू+मि (शप्–अ, गुण, अवादेश)—भव+मि ('अतो दीर्घो यञि' से वकारोत्तरवर्ती अ=आ दीर्घ)= भवामि । (२) भू+लट् (ल्=उत्तमपुरुष का द्विवचन—'वस्')—भू+वस् (शप् , गुण, अवादेश)—भव+वस् (अ='आ' दीर्घ)—भवावस् (स्=र्=ः)=भवावः । (३) भू+ लट् (ल्=उत्तमपुरुष का बहुवचन—'मस्') भू+मस् (शप् , गुण, अवादेश)—भव+मस् (दीर्घ)—भवामस् (स्=र्=ः)=भवामः ।

भू=होना लट् लकार (वर्तमानकाल) के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्रथमपुरुष	भवति	भवतः	भवन्ति
मध्यमपुरुष	भवसि	भवथः	भवथ
उत्तमपुरुष	भवामि	भवावः	भवामः

इस प्रकरण में पूर्वोक्त प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष की व्यवस्था का स्मरण दिलाने के लिए मूल में कहा गया है—सः भवति=वह उत्पन्न होता है । तौ भवतः=वे दोनों उत्पन्न होते हैं । ते भवन्ति=वे सब उत्पन्न होते हैं । त्वं भवसि=तुम उत्पन्न होते हो । युवां भवथः=तुम दोनों उत्पन्न होते हो । यूयं भवथ=तुम सब उत्पन्न होते हो । अहं भवामि=मैं

विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे ८।४।१८। उपदेशे कादिखादिषान्तवर्जे गदनदादेरन्यस्मिन्धातौ परे उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्णत्वं वा स्यात् । प्रणिभवति । प्रनिभवति । **(४२२) परोक्षे लिट् ३।२।११५ ।** भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात् । लस्य तिबादयः । **(४२३) परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ३।४।८२ ।** लिटस्ति-

---

(४२१) शेष इति । 'नेर्गदनद–' इति पूर्वसूत्रोक्तधातुभ्योऽन्यः शेषः । 'उपसर्गात्' इति वर्तते । तदाह—**उपदेश इत्यादि ।**

(४२२) **परोक्षे लिट् इति ।** अक्षिभ्यः परं परोक्षम्, तस्मिन्काले 'परोक्षे' इति । **अनद्यतन इति ।** 'अनद्यतने लङि'त्यस्मादनद्यतन इत्यनुवर्तते । 'भूते' इत्यधिकृतम् । व्यतीतायाः रात्रेरुत्तरार्धत आगामिन्याः रात्रेः पूर्वार्द्धपर्यन्तं कालोऽद्यतनः, तद्भिन्नोऽनद्यतनः । निष्कर्षमाह—**भूतेत्यादिना ।**

(४२३) लिटस्तझयोरित्यस्माद् 'लिटः' इत्यनुवर्तते । अत आह—**लिटस्तिबादी-**

उत्पन्न होता हूँ । आवां भवावः=हम दोनों उत्पन्न होते हैं । वयं भवामः=हम सभी उत्पन्न होते हैं ।

(४२१) पद—शेषे, विभाषा, अकखादौ, अषान्तः, उपदेशे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपदेशावस्था में ककारादि, खकारादि, षकारान्त एवं गद, नद आदि से भिन्न धातु से परे रहते उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती 'नि' के 'न्' को णत्व विकल्प से होता है ।

विमर्श—यहाँ 'शेष' पद का अभिप्राय 'नेर्गदनद–' (७।४।१७) सूत्र में पठित धातुओं से भिन्न धातुओं से है । इस प्रकार—'उपदेश में ककारादि, खकारादि एवं षकारान्त जो धातु, उनसे अतिरिक्त (भिन्न) गद्, नद् आदि धातुओं से भिन्न जो धातु, उनसे परे उपसर्गस्थ निमित्त (र्, ष्) से परवर्ती 'नि' के नकार को णकार विकल्प से होता है ।'

उदाहरण—(१) **'प्र नि+भवति'** (यहाँ उपसर्गस्थ निमित्त 'प्र' का रेफ है, उससे परवर्ती 'न' को ('न्'='ण्') णत्व प्रकृत सूत्र से विकल्प से हुआ)=प्रणिभवति । पक्ष में णकाराभाव है—प्रनिभवति ।

(४२२) पद—परोक्षे, लिट् । **अनुवृत्ति**—अनद्यतने । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—भूत अनद्यतन, परोक्षार्थवृत्ति धातु से लिट् लकार होता है । 'लिट्' में 'इट्' की इत्संज्ञा, लोप । लकार के स्थान में तिबादि आदेश होते हैं ।

विमर्श—यहाँ 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से 'अनद्यतने' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'भूते' का अधिकार है । परोक्षत्व धात्वर्थ का विशेषण है । अद्यतन एवं अनद्यतन दो प्रकार का 'काल' होता है । गत रात्रि के १२ बजे से आगामी रात्रि के १२ बजे तक काल को 'अद्यतन' कहते हैं । उससे भिन्न काल को 'अनद्यतन' कहते हैं । इस प्रकार—'जहाँ भूत अनद्यतन काल वृत्ति क्रिया के साधन (=कारक) रहे, वहाँ धातु से परे लिट् लकार होता है ।'

(४२३) पद—परस्मैपदानाम्, णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, वमाः । **अनुवृत्ति**—लिटः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लिट् के स्थान में तिबादि नौ के स्थान में णलादि नौ आदेश होते हैं । **'भू+अ'** इस स्थिति के होने पर··· ····· ।

बादीनां णलादयः स्युः । भू अ इति स्थिते । (४२४) भुवो वुग्लुङ्लिटोः ६।४।८८। भुवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोरचि । (४२५) एकाचो द्वे प्रथमस्य ६।१।१। (४२६) अजादेर्द्वितीयस्य ६।१।२ । इत्यधिकृत्य । (४२७) लिटिधातोरनभ्यासस्य ६।१।८। लिटि परेऽनभ्यासस्य धात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, अजादिभूतादचः परस्य तु

नामिति । णलादय इति । णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व, म इत्येते नव यथासङ्ख्यं स्युरित्यर्थः ।

(४२४) **भुवो वुगिति ।** 'अचि श्नुधात्वि'त्यतः 'अची'त्यनुवर्तते । अत आह— **भुवो वुगागम** इत्यादि ।

(४२७) **लिटि धातोरिति ।** हलादीनामेकाचामनेकाचां च धातूनां प्रथमावयवस्य द्वित्वम्, अजाद्यनेकाचां धातूनां तु द्वितीयावयवस्येत्यभिप्रायः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (३।४।८१) से 'लिटः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'लिट् के स्थान में आदेश तिप् , तस् , झि, सिप् , थस् , थ, मिप् , वस् , मस् के स्थान में क्रमशः णल् , अतुस् , उस्, थल् , अथुस् , अ, णल् , व, म आदेश होते हैं ।'

(४२४) पद—भुवः, वुक् , लुङ्लिटोः । **अनुवृत्ति**—अचि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लुङ् , लिट् सम्बन्धी अच् के परवर्ती रहने पर भू धातु को वुक् का आगम होता है ।

विमर्श—यहाँ 'अचि श्नुधातु०' (६।४।७७) सूत्र से 'अचि' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अतः 'भू धातु को वुक् (व्) का आगम होता है—लुङ् , लिट् सम्बन्धी अच् वर्ण के परे रहते ।'

(४२५) पद—एकाचः, द्वे, प्रथमस्य । **अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—यह अधिकार सूत्र है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्रस्थ 'एकाच्' पद में बहुव्रीहि समास है (एकोऽच् यत्र सः) । अन्य पदार्थ धातु है । द्वित्व-विधायक सूत्रों से एकवाक्यता होने पर 'एकाच् धातु में प्रथम अच् वर्ण का द्वित्व होता है ।' यह अर्थ सम्पन्न होता है ।

(४२६) पद—अजादेः, द्वितीयस्य । **अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—यह भी अधिकार सूत्र है ।

विमर्श—पूर्वोक्त विधि के अनुसार 'अजादि धातु में द्वितीय अच् का द्वित्व होता है ।' यह अर्थ बोधन कराता है ।

(४२७) पद—लिटि, धातोः, अनभ्यासस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लिट् के परवर्ती रहने पर अभ्यास रहित धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है और आदिभूत अच् से परे द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है । 'भूव् भूव् अ' ऐसी स्थिति होने पर ।

विमर्श—पूर्वोक्त दोनों सूत्र 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' और 'अजादेर्द्वितीयस्य' का अधिकार है । अतः दोनों सूत्रों की प्रकृत सूत्र से एकवाक्यता होने पर यह अर्थ होता है—'लिट् परे रहते अभ्यास रहित (जिसको द्वित्व न हुआ हो) धातु के अवयव प्रथम एकाच् (एक अवयव वाले भाग) को द्वित्व होता है । यदि अच् है आदि में जिसके, ऐसा दो अच् वाला धातु हो, तो वहाँ द्वितीय एकाच् का ही द्वित्व होता है । इस प्रकार हलादि धातु चाहे एकाच् हो अथवा अनेकाच्

द्वितीयस्य । भूव् भूव् अ इति स्थिते । (४२८) **पूर्वोऽभ्यासः ६।१।४ ।** अत्र ये द्वे तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात् । (४२९) **हलादिः शेषः ७।४।६० ।** अभ्यासस्याऽऽदिर्हल् शिष्यतेऽन्ये हलो लुप्यन्ते । इति वलोपः । (४३०) **ह्रस्वः ७।४।५९ ।** अभ्यासस्याऽचो ह्रस्वः स्यात् । (४३१) **भवतेरः ७।४।७३ ।** भवतेरभ्यासोकारस्य अः स्या-

---

(४२९) **हलादिः शेष इति ।** 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते ।

(४३०) ननु सातत्यगमनार्थके 'अत' धातौ आदिहलभावात् कथं सूत्रस्य प्रवृत्तिः स्यादिति चेन्न, 'ह्रस्वो हलादिशेषः' इति संहितापाठे अहलादि शेष इति छेदेन अभ्यासस्याऽहल् = हलभावो भवति, अर्थात् अभ्यासो हल्रहितो भवतीत्यर्थस्वीकारेण प्रवृत्तौ बाधकाभावात् ।

(४३१) **भवतेर इति ।** प्रयोगे दृष्टस्य भूशब्दस्यानुकरणं विधाय श्तिप्प्रत्ययः ।

उसके प्रथम एकाच् को ही द्वित्व होता है। अजादि धातु यदि अनेकाच् होगा, तो द्वितीय एकाच् को ही द्वित्व होगा। जैसे—अनेकाच् 'ऊर्णुञ्' धातु में द्वितीय एकाच् 'णु' को ही द्वित्व होता है।

उक्त नियमानुसार यहाँ 'भूव् अ' में प्रथम एकाच् भूव् को द्वित्व होकर 'भूव् भूव् अ' ऐसी स्थिति हुई।[1]

(४२८) पद—पूर्वः, अभ्यासः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—यहाँ जो दो किये गये हैं, उनमें से प्रथम की अभ्यास संज्ञा होती है।

विमर्श—यह सूत्र छठे अध्याय (द्वित्व-विधायक प्रकरण) का है। अतः द्वित्व विधान करके जो दो रूप बनाये गये हैं, उनमें से प्रथम की अभ्यास संज्ञा होती है।

(४२९) पद—हलादिः, शेषः । **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है। अन्य हलों का लोप होता है। 'भूव्' में 'व्' का लोप हुआ।

विमर्श—यहाँ 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' सूत्र से 'अभ्यासस्य' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार अभ्यास के आदि में स्थित हल् शेष रहता है। अर्थात् इससे भिन्न हल् वर्णों का लोप हो जाता है।

(४३०) पद—ह्रस्वः । **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अभ्यास के अच् को ह्रस्व होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' पद की अनुवृत्ति आती है। तथा सूत्र में 'ह्रस्व' शब्दोच्चारण से अच् विधान होने से 'अचश्च' (१।२।२८) परिभाषा द्वारा अच् पद की उपस्थिति होती है। तदनुसार—'अभ्यास के अच् को ह्रस्व होता है'। 'भु भूव् अ' ऐसी स्थिति हुई।

(४३१) पद—भवतेः, अः । **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य, लिटि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—भू धातु के अभ्यास के उकार को अकार आदेश होता है, लिट् के परवर्ती रहने पर।

विमर्श—यहाँ 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' तथा 'व्यथो लिटि'

---

१. प्रकृत में 'भू' से वुक् (व्) आगम सहित 'भूव्' का ग्रहण होता है। अतः 'भूव्' में भी धातुत्व है। 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते।' (परिभाषा)

ल्लिटि। (४३२) अभ्यासे चर्च ८।४।५४। अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च। 'झलां जशः, खयां चर' इति विवेकः। बभूव। बभूवतुः। बभूवुः। (४३३) लिट् च ३।४।

---

(४३२) अभ्यासे चर्च इति। 'झलां जश् झशी'त्यस्मात् झलामित्यनुवर्तते। चकारेण जश् समुच्चीयते। खयां चर इति। अयं विवेकोऽन्तरतमपरिभाषया लभ्यते। वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः खयः, तेषां चरः चटतकपा इत्यर्थः। अत्रापि यद्वद्वर्ग्याः स्थानिनः तत्तद्वर्ग्या आदेशा भवन्तीत्यपि बोध्यम्। बभूव इति। भू धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटयनुबन्धलोपे, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना सूत्रेण तिपि, तत्स्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' इति णलि, अनुबन्धलोपे नित्यत्वाद् गुणवृद्धी बाधित्वा 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति वुगागमेऽनुबन्धलोपे 'भूव् अ' इति स्थिते वृक्षप्रचलनन्यायेन भूव् इत्यस्य 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति सूत्रेण द्वित्वे 'भूव् भूव् अ' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यनेन प्रथमस्य भूव् इत्यस्याभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यनेन वकारस्य लोपे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवतेरः' इत्यभ्यासोकारस्य अकारे 'अभ्यासे चर्च' इत्यनेनाभ्याससंज्ञकस्य भकारस्य बकारे कृते 'बभूव' इति रूपम्।

(७।४।६८) से 'लिटि' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'लिट् के परे रहने पर भू धातु के अभ्यास में स्थित उ वर्ण को अकार आदेश होता है'।

(४३२) पद—अभ्यासे, चर्, च। **अनुवृत्ति**—झलाम्, जश्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अभ्यास में झल् के स्थान में जश् और चर् आदेश होते हैं। अर्थात् 'झल्' के स्थान में 'जश्' और 'खय्' के स्थान में 'चर्' आदेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) सूत्र से 'झलाम्' पद की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'च' द्वारा—उसी सूत्र से 'जश्' का समुच्चय किया जाता है। इस प्रकार झल् वर्णों के स्थान में जश् (ज्, ब्, ग्, ड्, द्) और खय् वर्णों के स्थान में चर् आदेश होते हैं। प्रकृत में झल् (भ्) चतुर्थ वर्ण के स्थान में जश् तृतीय वर्ण (ब्) होने पर बभूव प्रयोग सिद्ध हुआ।

उदाहरण—(१) भू+लिट् (ल्=प्रथमपुरुष एकवचन तिप्–ति)—भू+तिप् (परस्मै० से तिप्=णल्=अ)—भू+अ (वुक्–व् का आगम—'भुवो०')—भूव् अ ('लिटि धातो०' से द्वित्व)—भूव् भूव् अ (अभ्यास संज्ञा होकर 'हलादिः शेषः' से व् का लोप)—भू भूव् अ (ऊ=उ—'ह्रस्वः')—भु भूव् अ (उ=अ—'भवतेरः')—भभूव् अ (भ्=ब्—'अभ्यासे चर्च')=बभूव।

(२) भू+लिट् (ल्=प्र० पु० द्विवचन 'तस्' भू+तस् (तस्=अतुस्)—भू अतुस् (वुक्–व् का आगम)—भूव् अतुस् (द्वित्व)—भूव् भूव् अतुस् (अभ्यास संज्ञा, व् का लोप—'हलादिः शेषः')—भू भूव् अतुस् (ऊ=उ=अ)—भभूव् अतुस् (भ्=ब्)—बभूवतुस् (स्=र्=ः)=बभूवतुः।

(३) भू+लिट् (ल्=प्र० पु० बहुवचन 'झि')—भू झि (झि=उस्)—भू उस् (वुक्–व् का आगम, द्वित्व)—भूव् भूव् उस् (व् का लोप)—भू भूव् उस् (ऊ=उ=अ)—भभूव् उस् (भ्=ब्)—बभूवुस् (स्=र्=ः)=बभूवुः।

११५। लिडादेशस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात्। (४३४) आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः ७।२।३५। वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात्। बभूविथ। बभूवथुः। बभूव। बभूव।

---

(४३३) लिट् चेति। 'तिङ्शित्सार्वधातुकमि'त्यस्मात् तिङित्यनुवर्तते, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यस्मादार्धधातुकमिति चेत्याह--- लिडादेश इत्यादि।

(४३४) आर्धधातुकस्येड् इति। 'नेड्वशी'त्यस्मादनुवृत्त्यैव सिद्धे पुनरिड्ग्रहणं नेत्यस्य निवृत्त्यर्थम्। आर्धधातुकस्येति किम्? जुगुप्सति। बभूविथ। भूधातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटयनुबन्धलोपे तत्स्थाने मध्यमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां सिपि तस्य 'लिट् चे'ति सूत्रेणार्धधातुकसंज्ञायां 'परस्मैपदानां०' इत्यादिना सिपः स्थाने थलादेशेऽनुबन्धलोपे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति थकारस्येडागमेऽनुबन्धलोपे 'भू + इ + थ' इति जाते 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इत्यनेन वुगागमेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति सूत्रेण द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति वकारलोपे 'ह्रस्वः' इति

---

(४३३) पद—लिट्, च। **अनुवृत्ति**—तिङ्, आर्धधातुकम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—लिट् के स्थान में आदेश तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (४१६) से 'तिङ्' तथा 'आर्धधातुकं शेषः' (३।४।११४) से 'आर्धधातुकम्' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'लिट् के स्थान में जो आदेश तिङ् होता है, उसकी आर्धधातुक संज्ञा होती है। पूर्वोक्त सार्वधातुकसंज्ञा नहीं होती।'

(४३४) पद—आर्धधातुकस्य, इट्, वलादेः।

मूलार्थ—वलादि आर्धधातुक को 'इट्' (इ) का आगम होता है।

विमर्श—वल् प्रत्याहार बोध्य वर्ण के आदि में रहने पर आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्यय को इट् का आगम होता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से यह टित् आगम आगमी का आदि अवयव होता है। यहाँ 'नेड्वशि कृति' से इट् की अनुवृत्ति सम्भव थी, परन्तु फिर भी सूत्र में पुनः इट् ग्रहण किया गया। वह इट् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि इट् इट् ही रहता है, उसके स्थान में गुणादि कोई कार्य नहीं होते। अतः 'भवित् आ' यहाँ इट् (इ) का लघूपध गुण नहीं हुआ।

उदाहरण—(१) भू + लिट् (ल्=मध्यमपुरुष एकवचन 'सिप्', आर्धधातुकसंज्ञा—'लिट् च' सिप्=थल्-थ—'परस्मैपदानाम्०')—भू + थ (इट्-इ का आगम—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः')—भू इ थ (वुक्—व् का आगम)—भूव् इ थ (द्वित्व)—भूव् भूव् इ थ (अभ्याससंज्ञा, व् का लोप—'हलादिः शेषः')—भू भूव् इ थ (ऊ=उ—'ह्रस्वः', उ=अ—'भवतेरः', भ्=ब्—'अभ्यासे चर्च')=बभूविथ। (२) भू + लिट् (ल्=म० पु० द्वि० व० थस्=अथुस्)—भू + अथुस् (वुगादि कार्य पूर्ववत)—बभूवथुस् (स्=र्=ः)=बभूवथुः। (३) भू + लिट् (ल्=म० पु० बहुवचन 'थ', थ=अ)—भू + अ (वुक् आदि कार्य पूर्ववत)=बभूव। (४) भू + लिट् (ल्=उत्तमपुरुष एकवचन मिप्, मिप्=णल्=अ)—भू + अ (वुगादि कार्य पूर्ववत्)=बभूव। (५) भू + लिट् (ल्=उ० पु० द्विवचन 'वस्' वस्=व)—भू + व (यहाँ वलादि आर्धधातुक होने से इट्-इ का आगम—'आर्धधातुक०')—भू इ व (वुगादि कार्य पूर्ववत)=बभूविव। (६) भू + लिट् (ल्=उ० पु० बहुवचन 'मस्', मस्=म)—भू + म (इट् का आगम)—भू इ म, (वुगादि कार्य पूर्ववत)=बभूविम।

बभूविव । बभूविम । (४३५) अनद्यतने लुट् ३।३।१५ । भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट् । **(४३६) स्यतासी लृलुटोः ३।१।३३ ।** धातोरेतौ स्तो ऌलुटोः परतः । शबाद्यपवादः । 'ऌ' इति ऌङ्ऌटोर्ग्रहणम् । **(४३७) आर्द्धधातुकं शेषः ३।४।११४ ।** तिङ्शिद्भ्योऽन्यो 'धातोरि'ति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् । **(४३८) लुटः प्रथमस्य डारौरसः २।४।८५ ।** एते क्रमादादेशाः स्युः । डित्वसामर्थ्यादभस्यापि

सूत्रेणाभ्यासस्य ह्रस्वे 'भवतेरः' इत्यनेनोकारस्याकारे 'अभ्यासे चर्च' इति सूत्रेण भकारस्य जश्त्वेन बकारे वर्णसम्मेलने कृते 'बभूविथ' इति सिद्धम् ।

(४३६) **स्यतासीति ।** 'निरनुबन्धकग्रहणे सामान्यग्रहणम्' इति न्यायात् यद्यपीह ऌशब्देन ऌङ्ऌटोर्ग्रहणम्, तथापि यथासङ्ख्यं वाचकशब्दसाम्यात् ।

(४३८) **लुटः प्रथमस्येति ।** लुट इति स्थानषष्ठी, लुडादेशस्य प्रथमपुरुषस्येत्यर्थः ।

भू धातु लिट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	बभूव	बभूवतुः	बभूवुः
म० पु०	बभूविथ	बभूवथुः	बभूव
उ० पु०	बभूव	बभूविव	बभूविम

(४३५) पद—अनद्यतने, लुट् । **अनुवृत्ति**—भविष्यति । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—भविष्यत् अनद्यतन अर्थ में धातु से लुट् लकार होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'भविष्यति गम्यादयः' सूत्र से 'भविष्यति' पद की अनुवृत्ति आती है । काल का अन्वय क्रिया में ही होता है । जब भविष्यत्कालीन क्रिया का अनद्यतनत्व=आज का न होना, बतलाया जा रहा हो तो लुट् लकार का प्रयोग होता है ।

(४३६) पद—स्यतासी, ऌलुटोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—धातु से स्य और तासि प्रत्यय ऌ (ऌट्, ऌङ्) और लुट् के परे रहते । सूत्रस्थ ऌ से ऌट् और ऌङ् का ग्रहण होता है ।

विमर्श—'धातोः' का अधिकार है । 'निरनुबन्धकग्रहणे सामान्यग्रहणम्' (जहाँ अनुबन्ध रहित का ग्रहण किया जाता है, वहाँ सामान्य का ग्रहण होता है ।) इस परिभाषा के द्वारा यहाँ अनुबन्ध रहित 'ऌ' पद से 'ऌङ्' और 'ऌट्' का ग्रहण होता है । अतः ऌङ् और ऌट् के परवर्ती रहने पर धातु से 'स्य' और ऌट् के परवर्ती रहने पर धातु से 'तासि' प्रत्यय होता है ।

(४३७) पद—आर्धधातुकम्, शेषः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—तिङ् और शित् से भिन्न धातु से विहित प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होती है ।

विमर्श—'धातोः' का अधिकार है । पूर्वसूत्र (३।४।११३) में तिङ् और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा का विधान किया गया है । अतः प्रकृत सूत्रस्थ 'शेष' पद का तात्पर्य तिङ्, शित् से भिन्न प्रत्यय है । अतः 'धातोः' इस पञ्चम्यन्त का उच्चारण करके विधान किये गये तिङ्, शित् से भिन्न प्रत्ययों की 'आर्धधातुक' संज्ञा होती है ।

(४३८) पद—लुटः, प्रथमस्य, डारौरसः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'लुट्' के प्रथमपुरुष तिप्, तस्, झि के स्थान में क्रमशः डा, रौ, रस् आदेश होते हैं । भ संज्ञा न होने पर भी डकार की इत्संज्ञाकरण-सामर्थ्य से टिलोप हुआ । भविता ।

टेर्लोपः । भविता । (४३९) तासस्त्योर्लोपः ७।४।५० । सादौ प्रत्यये परे । (४४०) रि च ७।४।५१ । रादौ प्रत्यये तथा । भवितारौ । भवितारः । भवितासि । भवितास्थः ।

भविता इति । भूधातोः 'अनद्यतने लुट्' इति लुटि, तत्स्थाने प्रथमपुरुषस्यैकवचनविवक्षायां तिप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां प्राप्तं शप्प्रत्ययं प्रबाध्य **'स्यतासी ऌलुटोः'** इति तासि, तस्य **'आर्धधातुकं शेषः'** इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् **'आर्धधातुकस्येड् वलादेः'** इतीडागमेऽनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोरि'त्यनेन गुणेऽवादेशे 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इत्यनेन तिपो डादेशेऽनुबन्धलोपे डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'भविता' इति रूपम् ।

(४३९) **तासस्त्योर्लोप इति ।** तास् च अस्तिश्चेति द्वन्द्वात्षष्ठी 'सः स्यार्द्धधातुके' इत्यतोऽनुवृत्तेन 'सी'ति सप्तम्यन्तेनाऽधिकृताङ्गाक्षिप्तप्रत्ययस्य विशेषणात् तदादिविधिः । अत आह—**रादाविति ।**

(४४०) **रि चेति ।** अङ्गाक्षिप्तस्य रेफेण विशेषणात् 'यस्मिन् विधि०' इति तदादिविधिस्तदाह—**रादाविति ।**

विमर्श—परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी दोनों प्रकार की धातु के प्रथमपुरुष में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । अतः लुट् के स्थान में आदेश तिप्, तस्, झि या त, आताम्, झ के स्थान में क्रमशः डा, रौ, रस् आदेश होते हैं ।

डित्त्वेति—यह 'डा' यद्यपि स्वादि कप्-प्रत्ययान्तों के अन्तर्गत नहीं आता, अतः इसके परवर्ती रहने पर भसंज्ञा नहीं होती, फलतः 'टेः' सूत्र से टिलोप भी प्राप्त नहीं होता । तथा डित् (ड् की इत्संज्ञा) होने से भसंज्ञक न होने पर भी अङ्ग की 'टि' का लोप हो जाता है । अन्यथा डित्करण व्यर्थ होगा ।

उदाहरण—भू+लुट् ('अनद्यतने लुट्')—भू लुट् (ल्=प्रथमपुरुष एकवचन तिप्)—भू +ति (सार्वधातुक संज्ञा होने पर प्राप्त शप् प्रत्यय का बाधकर तास् प्रत्यय—'स्यतासी ऌलुटोः')—भू तास् ति (आर्धधातुक संज्ञा—'आर्धधातुकं शेषः' इट्=इ का आगम—'आर्धधातुकस्येड्०')—भू इ तास् ति ('ऊ'='ओ' गुण—'सार्वधातु०', ओ=अव्)—भवितास् ति (ति=डा 'लुटः प्रथमस्य०' डा=आ)—भवितास् आ (टि=आस् का लोप—'डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः') =भविता ।

(४३९) पद—तासस्त्योः, लोपः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सादि प्रत्यय के परवर्ती रहने पर तास् और अस्ति के सकार का लोप होता है ।

विमर्श—यहाँ 'स स्यार्धधातुके' (७।४।४९) से सप्तम्यन्त 'सि' की अनुवृत्ति आती है । तदादिविधि होकर स् है आदि में जिसके, ऐसे प्रत्यय के परे रहते तास् और अस्ति के 'स्' का लोप होता है । (यह सकार का लोप 'अलोऽन्त्य' परिभाषा के बल से होता है ।)

(४४०) पद—रि, च । **अनुवृत्ति**—तासस्त्योर्लोपः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—रकारादि प्रत्यय के परवर्ती होने पर भी तास् और अस् के 'स्' का लोप होता है । भवितारौ । भवितारः । इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र (४३९) की अनुवृत्ति आ रही है । अतः रकारादि प्रत्यय के परे होने पर भी पूर्ववत् तास् और अस् का लोप होता है । यहाँ भी 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्त्य स् का ही लोप होता है ।

भवितास्थ । भवितास्मि । भवितास्वः । भवितास्मः । (४४१) लृट् शेषे च ३।३।१३ । भविष्यदर्थाद्धातोर्लृट् क्रियार्थायां क्रियायामसत्यां सत्यां च । स्यः । इट् । भविष्यति । भविष्यतः । भविष्यन्ति । भविष्यसि । भविष्यथः । भविष्यथ । भविष्यामि । भवि-

---

(४४१) लृट् शेषे चेति । शेषः क्रियार्थोपपदादन्यः । क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्याः क्रियायाः सा क्रियार्था, सा उपपदं यस्मिन् भविष्यति काले ततोऽन्यो भविष्यदित्यर्थः । 'भविष्यती'ति । भूधातोः 'लृट् शेषे चे'ति सूत्रेण लृटचनुबन्धलोपे तत्स्थाने 'तिप्तस्झी'त्यादिना प्रथमपुरुषस्यैकवचनविवक्षायां तिप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुक-संज्ञायामपवादत्वेन शपं प्रबाध्य 'स्यतासी लृलुटोरि'त्यनेन स्यप्रत्यये 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यनेनार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीडागमेऽनुबन्धलोपे 'सार्व-धातुकार्धधातुकयोरि'ति इगन्ताङ्गस्य गुणेऽवादेशे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे कृते 'भविष्यती'ति सिद्धम् ।

उदाहरण—(१) भू+लुट् (ल्=प्रथमपुरुष द्विवचन—'तस्' प्रत्यय)—भू+तस् ('तास्' प्रत्यय—'स्यतासी०')—भू तास् तस् (आर्धधातुक संज्ञा होने पर इट् का आगम—'आर्ध-धातुकस्येड्०')—भू इ तास् तस् ('ऊ'='ओ'-गुण, ओ=अव्)—भवितास् तस् (तस्=रौ—'लुटः प्रथम०')—भवितास् रौ ('स्' का लोप—'रि च')=भवितारौ ।

(२) भू+लुट् (ल्=प्र० पु० बहुवचन—झि)—भू झि (पूर्वोक्त तास् आदि कार्य होने पर)—भवितास् झि (झि=रस्)—भवितास् रस् ('स्' का लोप)—भवितारस् (स्=र्=ः) =भवितारः । (३) भू+लुट् (ल्=मध्यम पु० एकवचन—सिप्='सि')—भू सि (पूर्वोक्त तास् आदि कार्य होने पर)—भवितास् सि ('स्' का लोप—'तासस्त्योर्लोपः')=भवितासि । इसी प्रकार—भवितास्थः, भवितास्थ । (४) भू+लुट् (उत्तमपुरुष एकवचन मिप्-मि) भू मि (पूर्वोक्त तास्, इट्, गुण, अवादेश होने पर)=भवितास्मि । (५) भू+लुट् (उ० पु० द्विवचन 'वस्' । पूर्वोक्त कार्य होने पर)—भवितास्वस् (स्=र्=ः)=भवितास्वः । (६) भू+लुट् (उ० पु० बहुवचन 'मस्') भू मस् (पूर्वोक्त तास् आदि कार्य होने पर)—भवितास्मस् (स्=र्=ः) =भवितास्मः ।

भू धातु के लुट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	भविता	भवितारौ	भवितारः
म० पु०	भवितासि	भवितास्थः	भवितास्थ
उ० पु०	भवितास्मि	भवितास्वः	भवितास्मः

(४४१) पद—लृट्, शेषे च । **अनुवृत्ति**—भविष्यति । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—क्रियार्थक क्रिया के रहने पर अथवा न रहने पर भविष्यत् अर्थ में धातु से लृट् लकार होता है । इट् होने पर । भविष्यति । भविष्यतः । इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'धातोः' का अधिकार है । 'भविष्यति गम्यादयः' सूत्र से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति आती है । 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) पूर्व सूत्र में 'क्रियार्थायां क्रियायाम्' (क्रियार्थक क्रिया उपपद रहने पर) अर्थ निर्देश है । उससे भिन्न 'शेष' पदार्थ है । अर्थात् क्रियार्थक क्रिया के न रहने पर भविष्यत् अर्थ में धातु से लृट् लकार होता है । सूत्रस्थ 'च' पद से क्रियार्थक क्रिया रहने पर भी भविष्यत्कालीन धातु से लृट् लकार होता है ।

ष्यावः । भविष्यामः । (४४२) लोट् च ३।३।१६२ । विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोट् । (४४३) आशिषि लिङ्लोटौ ३।३।१७३ । (४४४) एरुः ३।४।८६ । लोट इकारस्य उः । भवतु । (४४५) तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ७।१।३५ । आशिषि

---

(४४२) लोट् चेति । अत्र 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु' इत्यनुवर्तते । तदाह—विध्यादिष्विति ।

(४४५) अथाशिषि लोटो विशेषमाह—तुह्योस्तातङिति । तुश्च हिश्च तुही,

---

(एक क्रिया यदि दूसरी क्रिया के लिए की जा रही हो तो उस क्रिया को क्रियार्थक क्रिया कहते हैं । जैसे—'पठितुं गच्छति' । यहाँ गमन क्रिया पठन क्रिया के लिए की जा रही है । अतः गमन क्रिया क्रियार्थक क्रिया है ।)

उदाहरण—(१) भू+लृट् (ल्=प्रथमपुरुष एकवचन तिप्-ति)—भू+ति (सार्वधातुक संज्ञा 'शप्' का बाधकर 'स्य' प्रत्यय—'स्यतासी लृलुटोः')—भू स्य ति (आर्धधातुक संज्ञा—'आर्धधातुकं शेषः' इट्-इ—आर्धधातुकः)—भू इ स्य ति ('उ'='ओ'—गुण—'सार्वधातु०' 'ओ'='अव्')—भविस्यति (स्='ष्' षत्व—'आदेशप्रत्यययोः')=भविष्यति । (२) भू+लृट्=तस् (पूर्वोक्त कार्यों के होने पर)—भविष्यतस् (स्=रू=ः)=भविष्यतः । (३) भू+लृट्=प्र० पु० बहुवचन झि (उक्त कार्य—झ्=अन्त् आदेश)=भविष्यन्ति । (४) भू+लृट्=म० पु० एकवचन सिप्=भविष्यसि । (५) भू+लृट्=म० पु० द्विवचन थस्=भविष्यथः । (६) भू+लृट्=म० पु० बहुवचन थ=भविष्यथः । (७) भू+लृट्=उ० पु० एकवचन मिप्=भविष्यामि (दीर्घ) । (८) भू+लृट्=उ० पु० द्विवचन वस्=भविष्यावः । (९) भू+लृट्=उ० पु० बहुवचन मस्=भविष्यामः ।

भू धातु लृट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	भविष्यति	भविष्यतः	भविष्यन्ति
म० पु०—	भविष्यसि	भविष्यथः	भविष्यथ
उ० पु०—	भविष्यामि	भविष्यावः	भविष्यामः

(४४२) पद—लोट् च । **अनुवृत्ति**—विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—विधि आदि अर्थ में धातु से लोट् लकार होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'विधिनिमन्त्रणा०' (३।३।१६१) सूत्र से 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न, प्रार्थना, आशीर्वाद आदि अर्थों में धातु से लोट् लकार होता है' ।

(४४३) पद—आशिषि, लिङ्लोटौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—आशीर्वाद अर्थ में धातु से लिङ् और लोट् लकार होते हैं ।

(४४४) पद—एः, उः । **अनुवृत्ति**—लोटः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लोट् सम्बन्धी 'इ' के स्थान में 'उ' आदेश होता है । भवतु ।

विमर्श—यहाँ 'लोटो लङ्वत्' (३।४।८५) सूत्र से 'लोटः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार लोट् लकार के स्थान में आदेश इकार के स्थान में उकारादेश होता है ।

(४४५) पद—तुह्योः, तातङ्, आशिषि, अन्यतरस्याम् । **विधिसूत्र ।**

तुह्योस्तातङ् वा । परत्वात्सर्वादेशः । ननु 'ङिच्चे'त्यस्य क्वावकाश इति चेच्छृणु । अनन्यार्थङकारयुक्ताऽनङादिष्विति गृहाण । भवतात् । (४४६) लोटो लङ्वत् ३।४।८५ । लोटस्तामादयः सलोपश्च । (४४७) तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः ३।४।

तयोरिति । तातङि ङकार इत्, अकार उच्चारणार्थकः, तादित्येवावशिष्यते । अत्रानेकालत्वात्सर्वादिशता । नन्विति । 'ङिच्चे'त्यस्याऽनन्यार्थङित्वेषु 'अनङ्' आदिषु चरितार्थत्वान्न बाधकत्वम् । परत्वात्सर्वादेश एव । ङित्त्वप्रयोजनं तु 'युयात्' इत्यादौ गुणनिषेधः । भवतु । भूधातोः 'लोट् च' इति सूत्रेण 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति सूत्रेण वा लोटयनुबन्धलोपे तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तिप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि सकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकमि'ति शपोऽकारस्यापि सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'भवति' इति जाते ''एरुः' इति तिप इकारस्योत्वे 'भवतु' इति । आशिषि तु 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' इत्यनेन 'तु' इत्यस्य विकल्पेनानेकालत्वात्सर्वादेशे तातङि, अनुबन्धलोपे 'भवतात्' इति । तदभावे तु—'भवतु' इति च ।

(४४६) **लोटो लङ्वत्** । लङ् इव लङ्वत् 'तत्र तस्येवे'ति षष्ठ्यन्ताद्वतिः । लङ इति स्थानषष्ठ्यन्ताद्वतिप्रत्यये लङ्स्थानिकस्य कार्यस्यैवातिदेशः, न तु लङि

मूलार्थ—आशीर्वाद अर्थ में 'तु' और 'हि' के स्थान में विकल्प से 'तातङ्' आदेश होता है।

विमर्श—परत्वादिति—यहाँ पर होने के कारण 'तु' और 'हि' के स्थान में तातङ् (तात्) आदेश होता है।

यह 'तातङ्' आदेश ङित् है, जो 'ङिच्च' (१।१।५३) सूत्र से अन्त्य 'अल्' के स्थान में प्राप्त है। परन्तु 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से पर कार्य की प्रबलता सिद्ध होने के कारण 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (१।१।५५) से सम्पूर्ण स्थानी 'तु' के स्थान पर ही तातङ् आदेश होता है। यहाँ शङ्का होती है कि 'ङिच्च' सूत्र निरवकाश होने से अपवाद होकर प्रबल हो सकता है, फिर सर्वादेश क्यों हुआ ? **उत्तर**—प्रकृत में तातङ् का ङित् करना अन्त्यादेश विधान के अतिरिक्त अन्य कार्यों की सिद्धि के लिए है। अतः वह निरवकाश नहीं है। 'ङिच्च' सूत्र अनङ् आदि के विधान में चरितार्थ है। अतः उसकी अपवादता सिद्ध न होने से यहाँ उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इस 'तातङ्' के ङकार के 'युयात्' आदि में गुण-निषेध, 'इज्यात्' आदि में सम्प्रसारण आदि प्रयोजन हैं।

उदाहरण—भू+लोट् (ल्=प्रथमपुरुष एकवचन तिप्=ति)—भू+ति (सार्वधातुक संज्ञा, शप्–अ)—भू अ ति ('उ'='ओ' गुण—'सार्वधातु०', 'ओ'='अव्')—भवति ('इ'='उ'—'एरुः')=भवतु। आशीर्वाद अर्थ में (तु=तातङ्='तात्' विकल्प से—'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्')=भवतात्। तातङ् के अभाव पक्ष में—भवतु।

(४४६) **पद**—लोटः, लङ्वत्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—लोट् के स्थान में लङ् के समान कार्य (ताम् आदि आदेश और वस्, मस् के सकार का लोप) होते हैं।

विमर्श—यह आरोपबोधक अतिदेशसूत्र है। लोट् को लङ् के समान कार्य होता है। अतः

१०१। ङितश्चतुर्णां तसादीनां तामादयः स्युः। भवताम्। भवन्तु। (४४८) सेर्ह्यपिच्च ३।४।८७। लोटः सेर्हिः, सोऽपिच्च। (४४९) अतो हेः ६।४।१०५। लुक्।

विधीयमानस्य कार्यस्य। लङो यथा तामादयः सलोपश्च भवति तथैव लोटोऽपि भवेदित्यर्थः।

(४४७) **तस्थस्थमिपामिति।** 'ङित् लकारस्थानिकानां तस्-थस्-थ-मिप् इत्येषां ताम्-तम् त-अम् इत्येते आदेशाः क्रमेण भवन्तीत्यर्थः।

(४४८) **सेर्ह्यपिच्च।** 'हि' इति लुप्तप्रथमाकम्। 'लोटो लङ्वत्' इत्यतो लोट् इत्यनुवर्तते। **भव, भवतादिति।** आशिषि भूधातोः लोट्यनुबन्धलोपे मध्यमपुरुषैकवचनविवक्षायां सिप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि, शकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च गुणेऽवादेशे, 'सेर्ह्यपिच्च' इत्यनेन सेः स्थाने 'हि' इत्यादेशे 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' इति विभाषया हेस्तातङादेशेऽनुबन्धलोपे 'भवतात्' इति। तदभावपक्षे तु 'अतो हेः' इति हेर्लुकि सति 'भव' इति रूपं भवति।

'तस्' आदि के स्थान में 'ताम्' आदेश एवं उत्तमपुरुष में सकार का लोप लोट् लकार में भी होता है।

(४४७) पद—तस्-थस्-थ-मिपाम्, तान्तन्ताऽमः। **अनुवृत्ति**—ङितः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ङित् लकार के तसादि (तस्-थस्-थ-मिप्) के स्थान में क्रमशः तामादि (ताम्-तम्-त-अम्) चार आदेश होते हैं।

विमर्श—'नित्यं ङितः' (३।४।९९) सूत्र से यहाँ 'ङितः' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः ङित् लकार के स्थान में तसादि के स्थान में तामादि आदेश होते हैं।

उदाहरण—(१) भू+लोट् (ल्=प्र० पु० द्विवचन तस्)—भू तस् (शप्–'अ', ऊ='ओ'—गुण—'सार्वधातु०', ओ='अव्')—भवतस् ('लोटो लङ्वत्' सूत्र से लङ् कार्यातिदेश होने पर 'तस्'='ताम्'—'तस्थस्०')=भवताम्। (२) भू+लोट् (ल्=प्र० पु० बहुवचन झि)—भू+झि (शप्–अ, गुण, अवादेश, झ्='अन्त्'—'झोऽन्तः')—भवन्ति (इ=उ—'एरुः')=भवन्तु।

(४४८) पद—सेः, हि, अपित् च। **अनुवृत्ति**—लोटः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—लोट् सम्बन्धी 'सि' के स्थान में 'हि' आदेश होता है और वह आदेश अपित् कहलाता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र द्वारा अपित् (पित्-भिन्न) विधान करने से 'सार्वधातुकमपित्' से वह ङिद्वत् हो जाता है और उसके परवर्ती रहने पर ङित्त्वप्रयुक्त गुण-निषेध आदि कार्य होते हैं।

(४४९) पद—अतः, हेः। **अनुवृत्ति**—लुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अदन्त अङ्ग से परवर्ती 'हि' का लुक् होता है। भव। भवतात्। भवतम्। भवत।

विमर्श—यहाँ 'चिणो लुक्' (६।४।१०४) से 'लुक्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार होने से अदन्त अङ्ग से परे 'हि' का लुक् होता है।

उदाहरण—(१) भू+लोट् (ल्=म० पु० एकवचन—सिप्='सि')—भू सि (शप्, गुण, अवादेश 'सि'='हि'—'सेर्ह्यपिच्च')—भव हि (परत्वात् लुक् का बाधकर हि=तातङ्='तात्')=भवतात्। तातङ् के अभाव पक्ष में—भव+हि ('हि' का लुक्—'अतो हेः')=भव।

भव। भवतात्। भवतम्। भवत। (४५०) मेर्निः ३।४।८९। लोटः। (४५१) आडुत्तमस्य पिच्च ३।४।९२। लोडुत्तमस्याऽऽट् स्यात् पिच्च। हिन्योरुत्वं न, इकारोच्चारणसामर्थ्यात्। भवानि। (४५२) ते प्राग्धातोः १।४।८०। ते गत्युपसर्गसंज्ञका

---

(४५१) हिन्योरिति। अत्रेकारोच्चारणसामर्थ्यात् हिन्योरुत्वं न भवति। अन्यथा—'सेर्ह्यपिच्च, मेर्निः' इत्युभयत्रापि उत्वमेवोच्चरितं भवेत्। भवानि। भूधातोः 'लोट् च' इति लोटि, तत्स्थाने उत्तमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां तिप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकत्वे शप्यनुबन्धलोपे, शित्वात् सार्वधातुकसंज्ञायां गुणेऽवादेशे 'भव मि' इति जाते 'लोटो लङ्वत्' इति लङ्कार्यातिदेशेन 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' इति सूत्रेण मिपोऽमादेशे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'मेर्निः' इति मेर्न्यादेशे, इकारोच्चारणसामर्थ्यान्निरिकास्योत्वाभावे 'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्याडागमेऽनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'भवानी'ति सिद्धम्।

---

(२) भू+लोट् (ल्=म० पु० द्विवचन थस्, शप्, गुणावादेश)—भव थस् ('लोटो लङ्वत्' से लङ्वद्भाव होने पर थस्=तम्—'तस्थस्थमिपाम्०')=भवतम्। (३) भू+लोट् (ल्=म० पु० बहुवचन थ)—भू थ (शप्, गुणावादेश, लङ्वद्भाव, थ='त')=भवत।

(४५०) पद—मेः, निः। **अनुवृत्ति**—लोटः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—लोट् सम्बन्धी 'मि' के स्थान में 'नि' आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'लोटो लङ्वत्' (४४६) सूत्र से 'लोटः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"लोट् लकार के स्थान में आदेश 'मि' के स्थान में 'नि' आदेश होता है"।

(४५१) पद—आट्, उत्तमस्य, पित्, च। **अनुवृत्ति**—लोटः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—लोट् लकार सम्बन्धी उत्तमपुरुष को आट् का आगम होता है और वह आट् का आगम पित् होता है। इकारान्त आदेश विधान सामर्थ्य से यहाँ 'हि' एवं 'नि' के इवर्ण को 'एरुः' सूत्र से उकार आदेश नहीं होता। भवानि।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'लोटो लङ्वत्' से 'लोटः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः लोट् के उत्तमपुरुष को 'आट्' का आगम होता है। यह 'आट्' टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र के अनुसार प्रत्यय का आदि अवयव होता है। पित् होने से गुण आदि कार्य होते हैं। यहाँ 'हि' और 'नि' के इकार के स्थान में 'एरुः' (सू० ४४४) से 'उ' नहीं होता, इकार के उच्चारण सामर्थ्य से। अन्यथा आदेश विधान होने से 'हि' और 'नि' में इकारोच्चारण व्यर्थ हो जायेगा।

उदाहरण—भू+लोट् (ल्=उ० पु० एकवचन मिप्='मि')—भू मि (शप्, गुण, अवादेश 'मि'='नि'—'मेर्निः')—भव नि, (आट्='आ' का आगम)—भव आ नि (अ+आ='आ'—दीर्घ—'अकः सवर्णे दीर्घः')=भवानि।

(४५२) पद—ते, प्राक्, धातोः। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—गतिसंज्ञक और उपसर्गसंज्ञक प्र आदि का धातु से पहले प्रयोग करना चाहिए।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ते' पद आया है। उसका विवरण इस प्रकार है—इस सूत्र से पूर्व 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (१।४।५९) तथा 'गतिश्च' (१।४।६०) सूत्र पढ़े गये हैं। अतः 'ते' पद से उपसर्गसंज्ञक एवं गतिसंज्ञक प्र आदि शब्दों का ग्रहण होता है।

धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः । (४५३) आनि लोट् ८।४।१६ । उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य लोडादेशस्याऽऽनीत्यस्य नस्य णः स्यात् । प्रभवाणि । * दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः * । दुःस्थितिः । दुर्भवानि । * अन्तःशब्दस्याऽङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम् * । अन्तर्भवाणि । (४५४) नित्यं ङितः ३।४।९९ । सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः स्यात् । 'अलोऽन्त्यस्ये'ति सलोपः । भवाव । भवाम ।

---

(४५३) आनि लोट् । 'रषाभ्यां नो णः' इत्यनुवर्तते, 'उपसर्गादसमासेऽपी'त्यत उपसर्गादिति च । तदाह—उपसर्गस्थान्निमित्तादिति । प्रभवाणि । 'ते प्राग्धातोः' इति नियमादत्र प्रपूर्वकाद् भूधातोः लोटि, तत्स्थाने उत्तमपुरुषैकवचनविवक्षायां मिप्यनुबन्धलोपे शप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां गुणेऽवादेशे मेर्न्यादिशे आडागमे दीर्घे 'आनि लोट्' इति णत्वे 'प्रभवाणी'ति सिद्धम् ।

---

(४५३) पद—आनि, लोट् । **अनुवृत्ति**—नो णः, उपसर्गात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उपसर्गस्थ निमित्त (र्, ष्) से परे लोट् सम्बन्धी आनि के न् के स्थान पर ण् आदेश होता है । प्रभवाणि ।

विमर्श—यहाँ 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) सूत्र से 'रषाभ्यां नो णः' तथा 'उपसर्गादसमासेऽपि०' (८।४।१४) से 'उपसर्गात्' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"उपसर्ग में स्थित निमित्त से परवर्ती लोट् लकार सम्बन्धी जो 'आनि', उसके नकार के स्थान में णकार आदेश होता है" ।

उदाहरण—प्रभवाणि—यहाँ 'प्र+भवानि' दो पदों के मिलने के कारण समान अखण्ड पद न होने से 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व प्राप्त नहीं था । णत्व का निमित्त 'प्र' में 'र्' है, उससे परवर्ती 'आनि' के न्=ण्—'आनि लोट्'=प्रभवाणि ।

वा०—णत्व और षत्व के विषय में 'दुर्' को उपसर्ग का प्रतिषेध कहना चाहिए । (अर्थात् 'दुर्' की उपसर्गसंज्ञा नहीं होती ।)

उदाहरण—(१) दुःस्थितिः । यहाँ 'दुर्' उपसर्ग से परे 'स्था' के स् को 'उपसर्गात्सुनोति०' से षत्व प्राप्त है, जो वार्तिक से उपसर्गत्व का निषेध होने से नहीं होता ।

उदाहरण—(२) 'दुर्+भवानि' यहाँ 'आनि लोट्' से न्=ण् (णत्व) प्राप्त है, परन्तु 'दुरः०' वार्तिक से उपसर्गत्व का निषेध होने से नहीं होता । दुर्भवानि ।

वा०—अङ्विधि, किविधि और णत्वविधि के विषय में 'अन्तर्' शब्द की उपसर्ग संज्ञा होती है ।

उदाहरण—'अन्तर्+भवानि' (यहाँ वार्तिक से 'अन्तर्' शब्द की उपसर्ग संज्ञा होने से 'न्'='ण्'—'आनि लोट्')=अन्तर्भवाणि ।

(४५४) पद—नित्यम्, ङितः । **अनुवृत्ति**—स उत्तमस्य, लोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ङित् लकार सम्बन्धी सकारान्त उत्तमपुरुष का नित्य लोप होता है । भवाव । भवाम ।

विमर्श—यहाँ 'स उत्तमस्य' सूत्र की अनुवृत्ति आती है तथा 'इतश्च लोपः०' (३।४।९७) से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'ङित् लकार (लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्) सम्बन्धी उत्तमपुरुष का नित्य लोप होता है' । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के बल से अन्त्य अल् (सकार) का लोप किया जाता है ।

(४५५) अनद्यतने लङ् ३।२।१११ । अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् । **(४५६) लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ६।४।७१ ।** एष्वङ्गस्याट् । **(४५७) इतश्च ३।४।१०० ।** ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्तस्य लोपः । अभवत् । अभवताम् । अभवन् ।

---

(४५५) **अनद्यतने लङिति** । अत्र धातोरिति भूत इति चाधिकृतम् । भूत इति धात्वर्थे अन्वेति । तदाह—**अनद्यतनभूतार्थवृत्तेरिति** ।

(४५७) **'इतश्चे'ति** । लस्येत्यधिकृतम् । 'इतश्च लोपः परस्मैपदेष्वि'त्यस्मात् 'लोपः' इति 'परस्मैपदेष्वि'ति चानुवर्तते । परस्मैपदेष्विति षष्ठ्या विपरिणम्यते । अत आह—**ङितो लस्येत्यादि** । **अभवत्** । भूधातोः 'अनद्यतने लङ्' इति लङ्यनुबन्धलोपे, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना तिपि, पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शप्यनुबन्धलोपे शित्त्वात्सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽवादेशे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति

उदाहरण—(१)भू+लोट् (ल्=उ० पु० द्विवचन—वस्)—भू वस् (शप् , गुण् , अव् आदेश, आट्=आ, दीर्घ)—भवावस् ('लोटो लङ्वत्' के अतिदेश से 'नित्यं ङितः' द्वारा 'स्' का लोप)=भवाव । (२) भू+लोट् (ल्=उ० पु० बहुवचन—मस्)—भू मस् (पूर्वोक्त कार्य होकर)—भवामस् ('स्' का लोप—'नित्यं ङितः')=भवाम ।

भू धातु, लोट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	भवतु, भवतात्	भवताम्	भवन्तु
म० पु०—	भव, भवतात्	भवतम्	भवत
उ० पु०—	भवानि	भवाव	भवाम

(४५५) पद—अनद्यतने, लङ् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अनद्यतन भूतार्थवृत्ति धातु से लङ् लकार होता है ।

विमर्श—'धातोः' (३।१।९१) तथा 'भूते' (३।२।८४) का अधिकार है । अतः अनद्यतन= जो आज का न हो) भूतकाल में धातु से 'लङ्' लकार होता है ।

(४५६) पद—लुङ्-लङ्-लृङ्क्षु, अट् , उदात्तः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुङ् , लङ् और लृङ् के परे रहते अङ्ग को अट् का आगम होता है ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । अतः लुङ् , लङ् तथा लृङ् के परवर्ती रहते अङ्ग को अट् का आगम होता है । यह 'अट्' आगम उदात्त कहलाता है । 'अट्' में टकार इत्संज्ञक है । 'अट्' टित् होने से अङ्ग का आदि अवयव होगा ।

(४५७) पद—इतः, च । **अनुवृत्ति**—लोपः, परस्मैपदेषु । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ङित् लकार सम्बन्धी इकारान्त परस्मैपद के इकार का लोप होता है । अभवत् । अभवताम् । इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'लस्य' (३।४।७७) का अधिकार है । 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (३।४।९७) सूत्र से 'लोपः' और 'परस्मैपदेषु' पद की अनुवृत्ति आती है । 'परस्मैपदेषु' पद का षष्ठ्यन्त में विपरिणाम हो जाता है । तदनुसार—'ङित् लकारों के स्थान में आदेश जो परस्मैपद इकारान्त प्रत्यय, उसे अन्त्य अल् (अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा) का लोप होता है ।'

अभवः । अभवतम् । अभवत । अभवम् । अभवाव । अभवाम । (४५८) विधि-निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ३।३।१६१ । एष्वर्थेषु धातोर्लिङ् ।

सूत्रेणाङ्गस्याडागमे टस्येत्संज्ञायां लोपे च टित्त्वादाद्यावयवे जाते 'इतश्च' इतीकारलोपे 'अभवत्' इति रूपं सिद्धम् ।

(४५८) 'विधिनिमन्त्रणे'ति । 'धातोः' इत्यधिक्रियते । विधिः = प्रेरणम् = आज्ञाकरणम्, भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्त्तनम्, 'पठेत्, यजेत्' । निमन्त्रणम्=नियोगकरणम्,

---

उदाहरण—(१) भू+लङ् (ल्=प्रथमपुरुष एकवचन–तिप्=ति)—भू ति (सार्वधातुक संज्ञा होकर शप्–'अ'—'कर्तरि शप्')—भू अ ति (सार्वधातुक संज्ञा होकर 'ऊ' 'ओ' गुण—'सार्वधातु०' 'ओ'='अव्'—'एचोऽयवायावः')—भवति (अट्='अ' का आगम—'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः')—अ भ व ति ('इ' का लोप—'इतश्च')=अभवत् । (२) भू+लङ् (ल्=प्र० पु० द्विवचन–'तस्')—भू तस् (शप्, गुण, अवादेश, अट् का आगम)—अभव तस् (तस्=ताम्—'तस्थस्थमिपाम्०')=अभवताम् । (३) भू+लङ् (ल्=प्र० पु० बहुवचन—झि)—भू+झि (अट् तथा शेष कार्य लट् के समान)—अभवन्ति ('इ' का लोप–'इतश्च')—अ भ व न् त् ('त्' का लोप—'संयोगान्तस्य लोपः')=अभवन् । (४) भू+लङ् (ल्=म० पु० एकवचन सिप्=सि)—भू+सि (शप्, गुण, अवादेश, अट्, इकार लोप)—अभवस् (स्=र्=ः)=अभवः । (५) भू+लङ् (ल्=म० पु० द्विवचन–थस्)—भू+थस् (थस्=तम्, शप्, गुण, अवादेश, अट् का आगम)=अभवतम् । (६) भू+लङ् (ल्=म० पु० बहुवचन 'थ')—भू+थ (थ=त, शप्, गुण, अवादेश, 'अट्' का आगम)=अभवत । (७) भू+लङ् (ल्=उ० पु० एकवचन मिप्)—भू मिप् (मिप्='अम्' आदेश, शप्, गुण, अवादेश, अट्)—अ भ व अम् (अ+अ='अ' पररूप—'अतो गुणे')=अभवम् । (८) भू+लङ् (ल्=उ० पु० द्विवचन–वस्)—भू+वस् (अट्, शप्, गुण, अवादेश)—अभव वस् ('अ'='आ' दीर्घ—'अतो दीर्घो यञि')—अभवावस् ('स्' का लोप-'नित्यं ङितः')=अभवाव । (९) भू+लङ् (ल्=उ० पु० बहुवचन—'मस्')—भू+मस् (अट्, शप्, गुण, अवादेश, दीर्घ)—अभवामस् (पूर्ववत् 'स्' का लोप)=अभवाम ।

भू धातु, 'लङ्' लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अभवत्	अभवताम्	अभवन्
म० पु०	अभवः	अभवतम्	अभवत
उ० पु०	अभवम्	अभवाव	अभवाम

(४५८) पद—विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाऽधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु, लिङ् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट,[1] संप्रश्न और प्रार्थना अर्थों में धातु से 'लिङ्' लकार का प्रयोग होता है ।

---

१. "विधिः प्रेरणम्, भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्त्तनम् । निमन्त्रणं नियोगकरणम्, आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्त्तनम् । आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा । अधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः । 'प्रवर्त्तनायां लिङ्' इत्येव सुवचम् ।"—सिद्धान्तकौमुदी

(४५९) यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ३।४।१०३। लिङः परस्मैपदानां यासुडागमो ङिच्च । ङित्वोक्तेर्ज्ञायते —क्वचिदनुबन्धकार्येऽप्यनल्विधाविति प्रतिषेध इति । तेन

श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्त्तनम्, 'इह भुञ्जीत'। आमन्त्रणम्=कामचारानुज्ञा। अधीष्टः=सत्कारपूर्वको व्यापारः, 'पुत्रमध्यापयेद् भवान्'। सम्प्रश्नः=सम्प्रधारणम्=उचितानुचितपरिपृच्छा, 'भो वेदमधीयीय उत तर्कम्'। प्रार्थनम्=याञ्चा, 'भो भोजनं लभेय' इति।

(४५९) ङित्वोक्तेरिति। ननु लिङ्वृत्तिङित्त्वस्य यदागमन्यायेन तिप्यतिदेशेन पुनः यासुटः ङित्करणं व्यर्थमिति चेन्न, अनल्विधाविति तन्निषेधात्। न च 'प्रदाय, प्रधाये'त्यादौ क्त्वावृत्तिकित्त्वस्य ल्यबारोपे 'घुमास्थे'ति ईत्वप्राप्त्या 'न ल्यपी'ति व्यर्थं सज्ज्ञापयति 'अनुबन्धकार्येऽनल्विधाविति निषेधो न प्रवर्तत इति। तेन स्थानिवद्भावात्

विमर्श—विधि आदि छः अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है। विधि आदि का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

(१) **विधि**—विधि का अर्थ 'प्रेरणा' (=आज्ञा देना) है। आज्ञा अपने से पद या उम्र में छोटे भृत्य, शिष्य, पुत्र आदि को दी जाती है (भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्त्तनम्)। जैसे—'त्वं कार्यं कुरु, त्वं पठ पठेः वा, त्वं गच्छ गच्छेः वा'।

(२) **निमन्त्रण**—निमन्त्रण का अर्थ है—'नियोगकरण'। नियोग=प्रवृत्ति का करण अर्थात् जनक। आवश्यक श्राद्ध के भोजन में दौहित्र (कन्या के पुत्र) आदि की प्रवृत्ति का व्यापार करना। इस प्रकार की प्रेरणा को आग्रह कहते हैं। जैसे—'भो भागिनेय ! श्राद्धभोजने त्वमागच्छ आगच्छेः वा'।

(३) **आमन्त्रण**—'आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा' अर्थात् आमन्त्रण उस प्रेरणा को कहते हैं, जिसमें निमन्त्रण से कम बल रहता है। कामचार=स्वेच्छा के लिए प्रेर्यमाण व्यक्ति स्वतन्त्र होता है। अतः आमन्त्रित व्यक्ति जिस कार्य के लिए आमन्त्रित किया गया है, उसमें सम्मिलित होना या न होना उसकी इच्छा पर निर्भर होता है। जैसे—'मित्रवर ! भ्रातुः विवाहमुपलक्ष्य क्रियमाणे प्रीतिभोजोत्सवे भवान् आगच्छतु आगच्छेत् वा'। आजकल की भाषा में इसको 'अनुरोध' कहा जा सकता है।

(४) **अधीष्ट**—'अधीष्ट' का अर्थ है—सत्कारपूर्वक किसी कार्य में लगना। जैसे—किसी अध्यापक से सम्मानपूर्वक कहा जाता है कि 'भवान् मम पुत्रान् अध्यापयतु अध्यापयेत् वा'।

(५) **संप्रश्न**—'संप्रश्न' में प्रेरणा के साथ परामर्श का भाव भी रहता है। 'सम्प्रधारणं सम्प्रश्नः' अर्थात् निश्चय के लिए कहना। जैसे—'किं भो वेदमधीयीय उत वा न्यायशास्त्रम्' (मैं वेद पढ़ूँ या न्यायशास्त्र)।

(६) **प्रार्थना**—प्रार्थना अपने से बड़े जनों से की जाती है, इसमें याचना रहती है। जैसे—'अहं पुस्तकं लभे, लभेयं वा' (मुझे पुस्तक दीजिए)।

इस प्रकार उक्त विधि आदि (=प्रेरणा) अर्थों में लिङ् और लोट् दोनों लकारों का प्रयोग किया जाता है।

(४५९) पद—यासुट्, परस्मैपदेषु, उदात्तः, ङित् च। **अनुवृत्ति**—लिङः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—लिङ् के स्थान में होने वाले परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों को यासुट् का आगम होता है, वह उदात्त एवं ङिद्वद् भी होता है।

'वक्ष्यमाणे'त्यत्र टित्त्वादुगित्वाच्च ङीब्न। (४६०) **लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ७।२। ७९।** सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः। इति प्राप्ते। (४६१) **अतो येयः ७।२। ८०।** अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य 'यास्' इत्यस्य इय्। गुणः। 'लोपो व्योर्वलि'।

ङित्त्वप्रयुक्ते कार्ये सिद्धे 'यासुट्०' इत्यादिसूत्रे ङिद्ग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, 'क्वचिदनुबन्धकार्येऽपि अनल्विधाविति निषेधः प्रवर्त्तते' इति ज्ञापनार्थं तस्यावश्यकत्वात्। तेन 'वक्ष्यमाणे'त्यत्र टित्त्वादुगित्वाच्च ङीब्न। अन्यथा लृडादेशस्य शानचः स्थानिवत्वेन टित्त्वात् 'टिड्ढाणञि'ति ङीप् स्यादेव।

(४६०) **लिङः सलोपोऽनन्त्यस्येति।** सेति लुप्तषष्ठीकं पदम्। 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुक इत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते। अत आह—**सार्वधातुक इत्यादि।**

(४६१) **अतो येय इति।** अत्र 'या' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्। अत इति पञ्चमी। अनुवृत्तं सार्वधातुक इति पदमवयवषष्ठ्या विपरिणम्यते। तदाह—**अत इति। भवेदिति।**

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'लिङः सीयुट्' (३।४।१०२) से 'लिङः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"लिङ् के परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों को यासुट् (='यास्'-) का आगम होता है और वह उदात्त और ङित् भी होता है"।

ङित्वोक्तेरिति। भू+लिङ् (ल्=तिप्, शप्, गुण, अवादेश, यासुट्='यास्' का आगम)—भव यास् त्। यहाँ लिङ् वृत्ति ङित्त्व स्थानिवद्भाव से 'तिप्' में भी रहेगा। यह अतिदिष्ट ङित्त्व 'यास्' आगम से युक्त आगमी परस्मैपद में भी रहेगा। इस प्रकार यासुट् स्वतः ही ङित् है। पुनः इस सूत्र में ङित् ग्रहण क्यों किया? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि उपर्युक्त प्रकार से सूत्रस्थ यासुट् का ङिद् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "क्वचित् अनुबन्ध कार्य करने में भी 'अनल्विधौ' की प्रवृत्ति होती है"। अर्थात् 'अनल्विधौ' से स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। अतः 'वक्ष्यमाणा' में टित् और उगित् होने पर भी ङीप् नहीं होता, अन्यथा 'लृट्' के स्थान पर आदेश 'शानच्' को स्थानिवद्भाव से टित् और उगित् ('ऋ' की इत्संज्ञा) होने से 'ङीप्' हो जाता।

(४६०) पद—लिङः, सलोपः, अनन्त्यस्य। **अनुवृत्ति**—सार्वधातुके। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सार्वधातुक 'लिङ्' के अनन्त्य सकार का लोप होता है। 'स्' लोप के प्राप्त होने पर।

विमर्श—यहाँ 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (७।२।७६) से अनुवृत्त 'सार्वधातुके' पद का षष्ठ्यन्त में विपरिणाम होता है। अतः सार्वधातुक लिङ् सम्बन्धी अनन्त्य (जो अन्त में स्थित न हो) 'स्' का लोप होता है।

(४६१) पद—अतः, येयः। **अनुवृत्ति**—सार्वधातुके। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अत् से परवर्ती सार्वधातुक के अवयव 'यास्' के स्थान पर 'इय्' आदेश होता है। गुण। 'लोपो व्योर्वलि'। भवेत्। भवेताम्।

विमर्श—'या' लुप्तषष्ठ्यन्त पद है। 'अतः' पञ्चम्यन्त पद है। 'परस्य' का अध्याहार किया जाता है। 'रुदादिभ्यः०' (७।२।७६) से 'सार्वधातुके' पद की अनुवृत्ति आती है। जिसका अवयवषष्ठ्यन्त में विपरिणाम होता है। तदनुसार—"अत् से परे सार्वधातुकावयव 'यास्' को 'इय्' आदेश होता है"।

भवेत् । भवेताम् । (४६२) झेर्जुस् ३।४।१०८ । लिङो झेर्जुस् । (४६३) उस्यपदान्तात् ६।१।९६ । अपदान्तादवर्णादुसि परे पररूपमेकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । परत्वान्नित्यत्वाच्चाऽतो येय इति प्राञ्चः । यद्यप्यन्तरङ्गत्वात्पररूपं न्याय्यम्, तथापि 'यास्' इत्यस्य 'इय्' इति व्याख्येयम् । एवञ्च सलोपस्याऽपवाद इय् । 'अतो येय' इत्यत्र

भूधातोः 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' इति लिङ्यनुबन्धलोपे, तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शप्यनुबन्धलोपे शित्त्वात्सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽवादेशे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्चे'ति सूत्रेण यासुटयनुबन्धलोपे टित्त्वादाद्यवयवे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्ये'ति यासः सकारस्य लोपे प्राप्ते 'अतो येयः' इत्यनेन यासः स्थाने इयादेशे 'आद् गुणः' इति गुणे 'भवे य् त्' इति जाते 'लोपो व्योर्वलि' इति यकारस्य लोपे 'भवेत्' इति सिद्धम् ।

(४६३) **उस्येत्यादि** । 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिकृतम् । 'आद् गुणः' इत्यत 'आदि'त्यनुवर्तते, 'एङि पररूपमि'त्यस्मात् 'पररूपमि'ति । तदाह—**अपदान्तादिति** । **भवेयुः**। भूधातोः लिङ्यनुबन्धलोपे तत्स्थाने प्रथमपुरुषगतबहुत्वविवक्षायां 'झि'

उदाहरण—(१) भू+लिङ् (ल्=प्रथमपुरुष एकवचन तिप्=ति)—भू ति (सार्वधातुक संज्ञा होकर शप्-अ)—भू अ ति (सार्वधातुक संज्ञा होकर 'ऊ'='ओ'—गुण—'सार्वधातु०', 'ओ'='अव्' आदेश)—भव ति ('इ' का लोप—'इतश्च', यासुट्='यास्' का आगम—'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च')—भव यास् त ('लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से 'स्' लोप की प्राप्ति होने पर 'यास्'='इय्'—'अतो येयः' से)—भव इय् त (अ+इ='ए'—'आद् गुणः')—भवे य् त ('य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि')=भवेत । (२) भू+लिङ्=(ल्=प्र० पु० द्विवचन तस्)—भू तस् (शप्, गुण, अवादेश, यासुट्='यास्' का आगम)—भव यास् तस् (तस्=ताम्, यास्=इय्, गुण)—भवेय् ताम् ('य्' का लोप 'लोपो व्योर्वलि')=भवेताम् ।

(४६२) पद—झेः, जुस् । **अनुवृत्ति**—लिङ् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'लिङ्' लकार सम्बन्धी 'झि' के स्थान में जुस् आदेश होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'लिङः सीयुट्' (३।४।१०२) सूत्र से 'लिङः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"लिङ् लकार सम्बन्धी झि के स्थान पर जुस्='उस्' आदेश होता है" ।

(४६३) पद—उसि, अपदान्तात् । **अनुवृत्ति**—आत्, पररूपम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अपदान्त अवर्ण से 'उस्' के परवर्ती रहने पर पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है । भवेयुः । भवेः । भवेतम् । इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है । 'आद् गुणः' (६।१।८७) से 'आत्' तथा 'एङि पररूपम्' (६।१।९४) से 'पररूपम्' पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'अपदान्त अ वर्ण से उस् के परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में पररूप एक आदेश होता है' । "भव या उस्' यहाँ यद्यपि 'उस्यपदान्तात्' से पररूप की प्राप्ति हुई, तथापि पर एवं नित्य होने के कारण 'अतो येयः' से या=इय् आदेश हुआ" यह प्राचीन वैयाकरणों का मत है । जो उचित प्रतीत नहीं होता । क्योंकि पररूप अन्तरङ्ग होने के कारण पर एवं नित्य से भी प्रबल है । अतः पररूप होना

तु सन्धिरार्षः। भवेयुः। भवेः। भवेतम्। भवेत। भवेयम्। भवेव। भवेम। (४६४) लिङाशिषि ३।४।११६। आशिषि लिङस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात्। (४६५) किदा-

---

प्रत्यये सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे शित्त्वात् सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽवादेशे, 'झोऽन्तः' इति प्राप्तं झस्यान्तादेशं प्रबाध्य 'झेर्जुस्' इति झेर्जुसादेशेऽनुबन्धलोपे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुटचनुबन्धलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्ये'ति सकारस्य लोपे प्राप्ते 'अतो येयः' इति 'यास्' इत्यस्येयादेशे 'आद् गुणः' इति गुणे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते भवेयुरिति।

(४६४) आशीर्लिङि विशेषमाह—**लिङाशिषीति**। लिङिति लुप्तषष्ठीकं पदम्। 'तिङ्शित्सार्वधातुकमि'त्यतः 'तिङि'त्यनुवर्तते। अत आह—**आशिषीत्यादिना**।

ही उचित है। इस आशङ्का के समाधानार्थ 'अतो येयः' की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—"यास् को 'इय्' आदेश होता है।" अतएव "लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से प्राप्त सकार के लोप का बाधकर यास्=इय् आदेश हुआ। सूत्र 'अतो येयः' में (यास्+इय्) सौत्रत्वात् सलोप कर गुणसन्धि का विधान किया गया है।

उदाहरण—(१) भू+लिङ् (ल्=प्र० पु० बहुवचन झि)—भू झि (शप्, गुण, अवादेश, यासुट्=यास्, झि=जुस्=उस्)—भव यास् उस् ('उस्यपदान्तात्' से प्राप्त पररूप का बाधकर यास्=इय्—'अतो येयः')—भव इय् उस् (अ+इ='ए'—गुण, स्=र=ः)= भवेयुः। (२) भू+लिङ् (ल्=म० पु० एकवचन सिप्=सि)—भू सि (शप्, गुण, अवादेश, यासुट्, यास्=इय्, गुण)—भवे य् सि ('इ' का लोप—'इतश्च', 'य्' का लोप–'लोपो व्योर्वलि') —भवे स् (स्=र्=ः)=भवेः। (३) भू+लिङ् (ल्=म० पु० द्विवचन थस्)—भू थस् (शप्, गुणावादेश, यास्, थस्=तम्)—भव यास् तम् (यास्=इय्, गुण, य् का लोप) =भवेतम्। (४) भू+लिङ् (ल्=म० पु० बहुवचन थ)—भू थ (शप्, गुणावादेश, यास् =इय्, थ=त, गुण)—भवेय् त ('य्' का लोप)=भवेत। (५) भू+लिङ् (ल्=उ० पु० एकवचन मिप्=मि)—भू मि (शप्, गुणावादेश, यास्, यास्=इय्, गुण, मिप्=अम्) =भवेयम्। (६) भू+लिङ् (ल्=उ० पु० द्विवचन वस्)—भू वस् (पूर्वोक्त शप् आदि कार्य)—भवेय् वस् ('स्' का लोप—'नित्यं ङितः', 'य्' का लोप—'लोपो०')=भवेव। (७) भू+लिङ् (ल्=उ० पु० बहुवचन मस्)—भू मस् (पूर्वोक्त शप् आदि कार्य)—भवेय् मस् ('स्' का लोप 'नित्यं ङितः' 'य्' का लोप)=भवेम।

भू धातु, विधिलिङ् के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	भवेत्	भवेताम्	भवेयुः
म० पु०	भवेः	भवेतम्	भवेत
उ० पु०	भवेयम्	भवेव	भवेम

(४६४) **पद**—लिङ्, आशिषि। **अनुवृत्ति**—तिङ्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—आशीर्वाद अर्थ में लिङ् के तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होती है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (४१६) से 'तिङ्' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः आशीर्वाद अर्थ में लिङ् के स्थान में विहित तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होती है। फलस्वरूप आशीर्लिङ् में 'शप्' नहीं होता।

शिषि ३।४।१०४ । आशिषि लिङो यासुट् कित् स्यात् । स्कोरिति सलोपः । (४६६) क्ङिति च १।१।५ । गित्किन्ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः । भूयात् । भूयास्ताम् । भूयासुः । भूयाः । भूयास्तम् । भूयास्त । भूयासम् । भूयास्व । भूयास्म ।

---

(४६५) **किदाशिषि** । अत्र 'लिङः सीयुट्' इत्यतः लिङ इत्यनुवर्तते । 'यासुट् परस्मैपदेष्वि'त्यतः यासुडिति च । तदाह—**आशिषि लिङ इति** ।

(४६६) **क्ङिति च** । अत्र ग् क् ङ् इत्येषां समाहारद्वन्द्वः । कात्पूर्वं गकारस्य चर्त्त्वेन ककारः । अतः क् क् ङ् च इत् यस्येति विग्रहः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् इच्छब्दः प्रत्येकमन्वेति । 'इको गुणवृद्धी' इति सूत्रमनुवर्तते । 'न धातुलोप०' इत्यतः 'ने'त्यनुवर्तते । तदाह मूले—**गित्किन्ङिन्निमित्त इत्यादि** । **भूयात्** । भूधातोः 'आशिषि लिङ्लोटौ' इत्यनेन लिङ्यनुबन्धलोपे, तत्स्थाने 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, अनुबन्धलोपे 'लिङाशिषि' इत्यनेन तिपः आर्धधातुकसंज्ञायां शपोऽभावे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति सूत्रेण यासुडागमेऽनुबन्ध-

---

(४६५) पद—कित्, आशिषि । **अनुवृत्ति**—लिङ्, यासुट् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आशीर्वाद अर्थ में लिङ् सम्बन्धी यासुट् कित् होता है ।

विमर्श—यहाँ 'लिङः सीयुट्' (३।४।१०२) सूत्र से 'लिङः' तथा 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (४५९) से 'यासुट्' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'आशीर्वाद अर्थ में लिङ् को विहित यासुट् का आगम कित् होता है' ।

(४६६) पद—क्ङिति, च । **अनुवृत्ति**—इको गुणवृद्धी, न । **विधिसूत्र (निषेध)** ।

मूलार्थ—गित्, कित्, ङित् को निमित्त मानकर इग्लक्षण गुण और वृद्धि नहीं होते । भूयात् । भूयास्ताम् इत्यादि ।

विमर्श—'ग् क् ङ्' में समाहारद्वन्द्व है । सूत्रस्थ 'इत्' शब्द का प्रत्येक के साथ अन्वय होता है—गित्, कित्, ङित् । 'इको गुणवृद्धी' (१।३।३) सूत्र की तथा 'न धातुलोप आर्धधातुके' (१।१।४) सूत्र से 'न' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'गित्, कित् और ङित् प्रत्ययों के परवर्ती रहते इक्-लक्षण गुण और वृद्धि का निषेध होता है' ।

उदाहरण—(१) भू+आशीर्लिङ् (=प्रथमपुरुष एकवचन तिप्=ति)—भू ति ('लिङाशिषि' से तिप् की आर्धधातुक संज्ञा होने से 'शप्' का अभाव, यासुट्='यास्' का आगम)—भू यास् ति ('इ' का लोप—'इतश्च', सुट् का आगम—'सुट् तिथोः')—भूयास् स् त (दोनों 'स्' का लोप—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' 'सार्वधातु०' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध)= भूयात् । (२) भू+लिङ् (ल्=प्र० पु० द्विवचन तस्)—भू तस् ('तस्'='ताम्'—'तस्थस्थमिपाम्०' आर्धधातुक संज्ञा, शप् का अभाव, यासुट्=यास्)—भू यास् ताम् (सुट्='स्' का आगम, कित् होने से गुण-निषेध, 'स्' का लोप—'स्कोः०')=भूयास्ताम् । (३) भू+लिङ् (ल् =प्र० पु० बहुवचन 'झि')—भू झि (झि=जुस्=उस्, यासुट्=यास् आगम)—भू यास् उस् (कित् होने से गुण-निषेध, स्=र्=ः)=भूयासुः । (४) भू+लिङ् (ल्=म० पु० एकवचन सिप्=सि)—भू सि (यासुट्=यास् आगम, इकार लोप—'इतश्च')—भू यास् स् ('स्' का संयोगादि लोप, स्=र्=ः)=भूयाः । (५) भू+लिङ् (ल्=म० पु० द्विवचन थस्)—भू थस् (थस्=तम्, यासुट्, कित्त्व, गुण-निषेध)=भूयास्तम् । (६) भू+लिङ् (ल्=म० पु०

(४६७) लुङ् ३।२।११०। भूतार्थे धातोर्लुङ्। (४६८) माङि लुङ् ३।३।१७५। माङ्युपपदे धातोर्लुङ् स्यात्। सर्वलकारापवादः। (४६९) स्मोत्तरे लङ् च ३।३।१७६। स्मोत्तरे माङि लङ् स्याल्लुङ् च। (४७०) च्लि लुङि ३।१।४३। शबाद्यपवादः। (४७१) च्लेः सिच् ३।१।४४। इचावितौ। (४७२) गातिस्थाघुपाभूभ्यः

लोपे 'सुट् तिथोः' इति सुटि, अनुबन्धलोपे 'किदाशिषि' इत्यनेन कित्त्वे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सकारयोः लोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'क्ङिति च' इति सूत्रेण निषेधे 'भूयात्' इति सिद्धम्।

(४६८) माङि लुङ्। मास्तु इत्यादौ तु निषेधार्थो मा शब्दो न माङिति न दोषः। माङ्प्रयोगे सर्वलकाराणां स्थाने लुङेव भवतीत्यर्थः।

बहुवचन थ) भू थ (थ=त, यासुट् पूर्ववत्)=भूयास्त। (७) भू+लिङ् (ल्=उ० पु० एकवचन मिप्)—भू मिप् (मिप्=अम्, यासुट् आदि पूर्ववत्)=भूयासम्। (८) भू+लिङ् (ल्=उ० पु० द्विवचन 'वस्')—भू वस् (यासुट् आदि पूर्ववत्, 'स्' का लोप—'नित्यं ङितः') =भूयास्व। (९) भू+लिङ् (ल्=उ० पु० बहुवचन 'मस्')—भू मस् (यासुट् आदि पूर्ववत्, 'स्' का लोप)=भूयास्म।

'भू' धातु, आशीर्लिङ् के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०—	भूयात्	भूयास्ताम्	भूयासुः
म० पु०—	भूयाः	भूयास्तम्	भूयास्त
उ० पु०—	भूयासम्	भूयास्व	भूयास्म

(४६७) पद—लुङ्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—भूतार्थक धातु से 'लुङ्' लकार होता है।

विमर्श—भूत अर्थ में विद्यमान धातु से लुङ् लकार होता है। इस सूत्र की प्रवृत्ति सामान्यतः भूतमात्रविवक्षा में ही होती है, विशेष में नहीं।

(४६८) पद—माङि, लुङ्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'माङ्' उपपद रहते धातु से 'लुङ्' लकार होता है।

विमर्श—सभी लकारों का बाधकर निषेधार्थक 'माङ्' के उपपद रहने पर 'लुङ्' लकार का प्रयोग होता है।

(४६९) पद—स्म, उत्तरे, लङ्, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'स्म' उत्तरपरक 'माङ्' के उपपद रहते धातु से 'लुङ्' तथा चकारात् 'लङ्' लकार का प्रयोग होता है।

विमर्श—सूत्रस्थ 'च' पद से 'माङि लुङ्' (३।३।१७५) का अनुकर्षण होता है। तदनुसार—'स्म पद के परवर्ती रहने पर माङ् के योग में धातु से उत्तर लङ् और लुङ् लकार होता है'।

(४७०) पद—च्लि, लुङि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'लुङ्' के परवर्ती रहने पर धातु से च्लि प्रत्यय होता है। यह शप् आदि विकरण का अपवाद है।

(४७१) पद—च्लेः, सिच्। **विधिसूत्र।**

सिचः परस्मैपदेषु २।४।७७। एभ्यः परस्य सिचो लुक् स्यात्परस्मैपदेषु। गापाविहेणा-देशपिबती गृह्येते। (४७३) भूसुवोस्तिङि ७।३।८८। 'भू' 'सू' एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न। अभूत्। अभूताम्। अभूवन्। अभूः। अभूतम्। अभूत। अभूवम्।

---

(४७२) **गापाविहेति**। व्याख्यानात् इण् आदेशो 'गा', पिब् आदेशो यस्य भवति स पा गृह्यते। अत एव 'गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम्' इत्युक्तं भाष्ये।

(४७३) **भूसुवोस्तिङि**। 'मिदेर्गुणः' इत्यतः गुण इति 'नाभ्यस्तस्याचि पिती'-त्यतो नेति सार्वधातुक इति चानुवर्तते। **अभूत्**। भूधातोः 'लुङ्' इत्यनेन लुङ्चनु-बन्धलोपे तत्स्थाने प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां तिप्यनुबन्धलोपे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमे 'च्लि लुङि' इति च्लिप्रत्यये तस्य 'च्लेः सिच्' इति सिजादेशेऽनुबन्धलोपे 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' इत्यनेन सिचो लुकि 'इतश्च' इतीकारलोपे, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोरि'त्यनेन गुणे प्राप्ते 'भूसुवोस्तिङि' इति सूत्रेण निषेधे 'अभूत्' इति सिद्धम्।

मूलार्थ—'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश होता है। ('सिच्' में इकार और चकार की इत्संज्ञा होती है।

(४७२) पद—गातिस्थाघुपाभूभ्यः, सिचः, परस्मैपदेषु। **अनुवृत्ति**—लुक्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गा, स्था, घुसंज्ञक, पा और भू धातु से परे सिच् का लुक् होता है।

विमर्श—यहाँ 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' से 'लुक्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"गा, स्था, घुसंज्ञक, पा तथा भू धातुओं से परवर्ती 'सिच्' का लुक् होता है।"

गापाविहेति—'गा' से यहाँ इण् के स्थान में होने वाला 'गा' ('इणो गा लुङि') तथा 'पा' से पिब् आदेश वाला 'पा पाने' का ग्रहण होता है।[1]

(४७३) पद—भूसुवोः, तिङि। **अनुवृत्ति**—गुणः, न। **विधि(निषेध)सूत्र**।

मूलार्थ—'भू' तथा 'सू' धातुओं को सार्वधातुक तिङ् के परवर्ती रहने पर गुण नहीं होता है। अभूत्। अभूताम्। अभूवन् इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में मिदेर्गुणः' (७।३।८२) से 'गुणः' तथा 'नाभ्यस्तस्याचि पिति' (७।३।८७) से 'न' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः 'भू' एवं 'सू' धातुओं को सार्वधातुक तिङ् परे रहते गुण का निषेध होता है।

उदाहरण—(१) भू+लुङ् (ल्=प्रथमपुरुष एकवचन—तिप्=ति)—भू ति (शप् का बाधकर 'च्लि' प्रत्यय—'च्लि लुङि', च्लि=सिच्=स्—'च्लेः सिच्')—भू स् ति ('सिच्' का लुक्—'गातिस्था०' अट् का आगम—'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः', 'इ' का लोप—'इतश्च')—अभूत ('सावधातु०' से प्राप्त गुण का 'भूसुवोस्तिङि' से निषेध)=अभूत। (२) भू+लुङ् (ल्= प्र० पु० द्विवचन 'तस्'='ताम्'—'तस्थस्थमिपाम्०')—भू ताम् ('अट्'='अ' का आगम, च्लि, च्लि=सिच्, सिच् का लुक्)=अभूताम्। (३) भू+लुङ् (ल्=प्र० पु० बहुवचन 'झि')—भू झि ('अट्' का आगम, 'झ्'='अन्त्' आदेश—'झोऽन्तः')—अ भू अन्ति (वुक्='व्' का आगम, च्लि, च्लि=सिच्, सिच् का लुक्, 'इ' का लोप—'इतश्च' 'त्' का लोप—'संयोगान्तस्य

---

१. "गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम्"—महाभाष्यम्।

अभूव। अभूम। (४७४) न माङ्योगे ६।४।७४। माङ्योगे अडाटौ न स्तः। मा भवान्भूत्। मा स्म भवत्। मा स्म भूत्। (४७५) लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३।३।१३९। हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्निमित्तं, तत्र भविष्यदर्थाद्धातोर्लृङ्, क्रियाया

---

(४७४) मास्म भूदिति। मास्म-पूर्वाद् भूधातोः 'स्मोत्तरे लङ् च' इत्यनेन लुङ्यनुबन्धलोपे, तत्स्थाने तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, तस्य सिजादेशेऽनुबन्धलोपे, अडागमे प्राप्ते 'न माङ्योगे' इत्यनेन तन्निषेधे 'इतश्च' इतीकारलोपे, सिचो लुकि कृते 'मास्म भूत्' इति।

(४७५) लिङ्निमित्त इति। हेतुहेतुमतोर्लिङ्, इच्छार्थेषु 'लिङ्लोटावि'त्यादि। लिङो निमित्तं, तस्मिन् लिङ्निमित्ते, क्रियाया अतिपत्तिः=अनिष्पत्तिः, तस्यां क्रियातिपत्तौ, 'भविष्यति मर्यादावचने' इत्यतो भविष्यतीत्यनुवर्तते। एवं मूलोक्तार्थः निष्पद्यते। अभविष्यत्। भूधातोः 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति लृङि तत्स्थाने

लोपः')=अभूवन्। (४) भू+लुङ् (ल्=म० पु० एकवचन 'सिप्'='सि')—भू सि (अट् का आगम, च्लि=सिच्, सिच् का लुक्, 'इ' का लोप)—अभू स् (स्=र्=ः)=अभूः। (५) भू+लुङ् (ल्=म० पु० द्विवचन थस्)—भू थस् ('अट्' का आगम, थस्=तम्)—अभू तम् (च्लि=सिच्, सिच् का लुक्)=अभूतम्। (६) भू+लुङ् (ल्=म० पु० बहुवचन 'थ')—भू थ ('अट्' का आगम, थ=त, च्लि=सिच्, सिच् का लुक्, गुण-निषेध)=अभूत। (७) भू+लुङ् (ल्=उ० पु० एकवचन-मिप्=मि)—भू मि (अट्, मि=अम्, च्लि=सिच्, सिच् का लुक्, 'वुक्'='व्' का आगम—'भुवो वुग्०')=अभूवम्। (८) भू+लुङ् (ल्=उ० पु० द्विवचन वस्)—भू वस् ('अट्' का आगम, च्लि, सिच्, सिच् का लुक्)—अभूवस् ('स्' का लोप—'नित्यं ङितः')=अभूव। (९) भू+लुङ् (ल्=उ० पु० बहुवचन 'मस्')—भू मस् (अट् का आगम, च्लि=सिच्, सिच् का लुक्)—अभूमस् ('स्' का लोप)=अभूम।

भू धातु, लुङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अभूत्	अभूताम्	अभूवन्
म० पु०—	अभूः	अभूतम्	अभूत
उ० पु०—	अभूवम्	अभूव	अभूम

(४७४) पद—न, माङ्, योगे। **अनुवृत्ति**—अट्, आट्। **विधि(निषेध)सूत्र।**

मूलार्थ—'माङ्' के योग में 'अट्' और 'आट्' आगम नहीं होते।

विमर्श—यहाँ 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (सू० ४५६) से 'अट्' तथा 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) से 'आट्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—"निषेधार्थक 'माङ्' के योग में धातुओं को 'अट्' एवं 'आट्' आगम नहीं होते"।

उदाहरण—'मा भवान्भूत' में 'अट्' आगम प्राप्त था, उसका 'न माङ्योगे' से निषेध होने पर 'भूत्' ही रूप लुङ् के प्र० पु० एकवचन में हुआ। इसी प्रकार 'मास्म भवत्' और 'मास्म भूत्'।

(४७५) पद—लिङ्, निमित्ते, लृङ्, क्रियातिपत्तौ। **अनुवृत्ति**—भविष्यति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—क्रिया की अनिष्पत्ति गम्यमान रहने पर भविष्यत् अर्थ में विद्यमान धातु से हेतु-हेतुमद्भावादि अर्थ में 'लृङ्' लकार होता है। अभविष्यत्—इत्यादि।

३ म० द्वि०

अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम् । अभविष्यत् । अभविष्यताम् । अभविष्यन् । अभविष्यः । अभविष्यतम् । अभविष्यत । अभविष्यम् । अभविष्याव । अभविष्याम । 'सुवृष्टिश्चेद-भविष्यत्तदा सुभिक्षमभविष्यत्' इत्यादि ज्ञेयम् । 'प्रणिभवति' इत्यादौ उपसर्गाणाम-समस्तत्वेऽपि संहिता नित्या । तदुक्तम्—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥ १ ॥

तिप्यनुबन्धलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे प्राप्तं शपं प्रबाध्य 'स्यतासी ऌलुटोः' इति स्य-प्रत्यये 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीडागमे-ऽनुबन्धलोपे गुणेऽवादेशे अडागमेऽनुबन्धलोपे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'अभविष्यत्' इति । **संहितेति ।** एकपदे = अखण्डपदे संहिता (सन्धिः) नित्या = अवश्यं कर्तव्या ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'भविष्यति मर्यादावचने' (३।३।१३६) से 'भविष्यति' पद की अनुवृत्ति आती है। लिङ् का निमित्त हेतुहेतुमद्भावादि है, उसमें यदि क्रिया का भविष्यत् काल में होना प्रतीत हो तो धातु से 'ऌङ्' लकार होता है।

उदाहरण—(१) भू + ऌङ् (ल् = प्रथमपुरुष एकवचन तिप् = 'ति')—भू ति ('अट्' = 'अ' का आगम, 'इ' का लोप—'इतश्च')—अ भू त (शप् का बाधकर 'स्य' प्रत्यय—'स्यतासी ऌलुटोः', आर्धधातुक संज्ञा, इट् = 'इ' का आगम, 'उ' = 'ओ'—गुण, ओ = 'अव्' आदेश, स् = ष्—'आदेशप्रत्यययोः') = अभविष्यत् । (२) भू + ऌङ् (ल् = प्र० पु० द्विवचन तस्)—भू तस् (अट् का आगम, तस् = ताम्, स्य, इट्, गुण, अवादेश, षत्व पूर्वोक्त कार्य) = अभविष्यताम् । (३) भू + ऌङ् (ल् = प्र० पु० बहुवचन 'झि')—भू झि (अट्, इकारलोप, झ् = अन्त् आदेश, स्य, इट्, गुण, अवादेश, 'त्' का संयोगान्त लोप और षत्व होकर) = अभविष्यन् । (४) भू + ऌङ् (ल् = म० पु० एकवचन सिप् = 'सि')—भू सि (अट्, 'इ' का लोप, इट्, गुण, अवादेश, षत्व, स् = र् = ः) = अभविष्यः । (५) भू + ऌङ् (ल् = म० पु० द्विवचन थस्)—भू थस् (अट्, थस् = तम्, स्य, इट्, गुण, अवादेश, षत्व) = अभविष्यतम् । (६) भू + ऌङ् (ल् = म० पु० बहुवचन 'थ')—भू थ (अट्, थ = त, इट्, गुण, अवादेश, षत्व) = अभविष्यत । (७) भू + ऌङ् (ल् = उ० पु० एकवचन—'मिप्')—भू मिप् (अट्, मिप् = अम्, स्य, इट्, गुण, अवादेश, षत्व) = अभविष्यम् । (८) भू + ऌङ् (ल् = उ० पु० द्विवचन 'वस्')—भू वस् (अट्, स्य, इट्, गुण, अवादेश, षत्व, दीर्घ—'अतो दीर्घो यञि', 'स्' का लोप—'नित्यं ङितः') = अभविष्याव । (९) भू + ऌङ् (ल् = उ० पु० बहुवचन 'मस्')—भू मस् (अट्, स्य, इट्, गुण, अवादेश, षत्व, दीर्घ, 'स्' का लोप पूर्ववत्) = अभविष्याम ।

भू धातु ऌङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अभविष्यत्	अभविष्यताम्	अभविष्यन्
म० पु०—	अभविष्यः	अभविष्यतम्	अभविष्यत
उ० पु०—	अभविष्यम्	अभविष्याव	अभविष्याम

सुवृष्टिरिति । 'यदि अच्छी वृष्टि = वर्षा होगी तो सुकाल होगा।' यह उदाहरण क्रिया की असिद्धि स्पष्ट रूप से दिखलाने के लिए दिया गया है। 'प्रणिभवति' इत्यादि प्रयोगों में उपसर्गों के असमस्त होने पर भी सन्धि नित्य होती है। जैसा कि कहा गया है—

धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित् तमनुवर्तते ।
विशिनष्टि तमेवाऽर्थमुपसर्गगतिस्त्रिधा ॥ २ ॥ इति ।

सत्ताद्यर्थनिर्देशश्चोपलक्षणं, 'यागात्स्वर्गो भवती'त्यादौ 'उत्पद्यते' इत्याद्यर्थात् । उपसर्गास्त्वर्थविशेषस्य द्योतकाः । प्रभवति । पराभवति । सम्भवति । अनुभवति । अभिभवति । उद्भवति । परिभवति—इत्यादौ विलक्षणार्थावगतेः । उक्तञ्च—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥ १ ॥

तेन 'भवति, नायकः, पावकः' इत्यादौ नित्यमेव संहिताकार्यम् । धातूपसर्गयोः सतोः सन्धिरावश्यकः, यथा—प्रेजते, उपोषति इत्यादौ । समासेऽपि संहिता नित्या, तेन 'सुध्युपास्यः, सूर्योदयः' इत्यादौ नित्यमेव संहिताकार्यम् । किन्तु वाक्ये वक्तुर्विवक्षायां सत्यामेव सन्धिर्भवति । अर्थात् वाक्ये सन्धिकार्याणां विकल्पः सिद्ध्यति । यथा 'पश्यतीन्दुम्, पश्यति इन्दुमि'ति 'वा ।

धात्वर्थं बाधत इति । शाकटायनाचार्या उपसर्गाणां द्योतकत्वं स्वीकुर्वन्ति, गार्ग्याचार्यास्तेषां वाचकत्वं कथयन्ति । अपरे वैयाकरणास्तु द्योतकत्वमेव मन्वते । कश्चिदुपसर्गो धात्वर्थं बाधते । यथा—भूधातुः आत्मधारणानुकूलव्यापारे वर्तते, प्रोपसर्गेणात्मधारणानुकूलव्यापारस्य बाधो भवति । तेन 'प्रभवती'त्यस्योत्पत्त्यनुकूलो व्यापारोऽर्थः । कश्चिदुपसर्गो धात्वर्थस्यानुसरणं करोति । यथा 'अधीते' इत्यत्राधिरुपसर्गः । कश्चिदुपसर्गः तस्मिन् व्यापारे प्रकर्षं करोति । यथा 'प्रपचती'त्यत्र विक्लित्त्यनुकूले व्यापारे प्रकर्षं विदधाति ।

संहितैकेति । एक पद में, धातु और उपसर्ग की तथा समास में भी संहिता (=सन्धि) नित्य होती है । किन्तु वाक्य में वक्ता की इच्छा पर निर्भर रहती है । (यथा—'देवी उवाच' अथवा 'देव्युवाच' ।

धात्वर्थमिति । कोई उपसर्ग धातु के मुख्यार्थ का बाधकर नूतन अर्थ का बोध कराता है, कोई धात्वर्थ का ही अनुसरण करता है और कोई विशेषण होकर उसी धात्वर्थ को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है । इस प्रकार उपसर्ग की गति तीन प्रकार की होती है ।

सत्ताद्यर्थ०—सत्ता इत्यादि धातुओं के अर्थ-प्रदर्शन अन्य-अन्य अर्थों का भी उपलक्षण है । अर्थात् 'भू सत्तायाम्' इत्यादि धातुपाठ दर्शित ही अर्थ नहीं है, अपितु अन्य भी अर्थ है । 'यागात् स्वर्गो भवति' (याग से उत्पन्न अदृष्ट से स्वर्ग उत्पन्न होता है) यहाँ भू धात्वर्थ उत्पत्त्यनुकूल व्यापारार्थ है । उत्पत्ति रूप फल अन्य उसका व्यापारजनक है । उपसर्ग वाचक नहीं हैं । अर्थविशेष का वाचक धातु ही है । उपसर्ग तो केवल द्योतक हैं । निकटस्थ पद में रहने वाली शक्ति के बोधक को ही द्योतक कहते हैं । 'प्रभवति=उत्पन्न होता है, पराभवति=पराजित होता है, सम्भवति=सम्यक् उत्पन्न होता है, अनुभवति=अनुभव करता है, अभिभवति=सर्वतोभाव से उत्पन्न होता है । उद्भवति=उत्पन्न होता है, परिभवति=तिरस्कृत होता है ।' इस प्रकार एक ही भू धातु के अनेक विलक्षण अर्थ प्रतीत होते हैं । जैसा कि कहा भी गया है—

उपसर्गेणेति । उपसर्ग के बल से धात्वर्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगता है । जैसे—हरणार्थक 'हृ' धातु 'प्र' उपसर्ग लगने पर प्रहार (=आघात), 'आ' लगने पर आहार (=भोजन),

अत सातत्यगमने । अतति । अततः । अतन्ति । अतसि । अतथः । अतथ । अतामि । अतावः । अतामः । (४७६) अत आदेः ७।४।७० । अभ्यासस्याऽऽदेरतो दीर्घः स्यात् । पररूपापवादः । आत । आततुः । आतुः । आतिथ । आतथुः । आत । आत । आतिव ।

उपलक्षणमिति । उपलक्षणं नाम 'स्वार्थबोधकत्वे सति स्वेतरार्थबोधकत्वम्' । **उपसर्गेणेति ।** उपसर्गेण धातोः सम्बन्धे सति निर्दिष्टं यद्रूपं तदतिरिक्तरूपविशिष्टस्य प्रतीतिर्भवति । यथा 'हृ हरणे' इत्यस्य निर्दिष्टं रूपं हरणत्वं तदतिरिक्तं यद्रूपम्—आघातत्वं तद्विशिष्टाघातार्थो हृधातोः उपसर्गबलात्प्रतीयते । यथा प्रहारः=कशाद्याघातः, आहारः=भक्षणम्, संहारः=बधः, विहारः=क्रीडा, परिहारः=परित्यागः ।

(४७६) **अत आदेः ।** 'अत्र लोप०' इत्यस्मादभ्यासस्येत्यनुवर्तते । 'दीर्घं इण' इत्यतो दीर्घ इति च । तदाह—**अभ्यासस्येत्यादि । आत ।** 'अत सातत्यगमने' इत्यस्मा-

---

'सम्' उपसर्ग जोड़ने पर संहार (=विनाश), 'वि' लगने पर विहार (=क्रीडा) और 'परि' उपसर्ग लगने पर परिहार (=समाधान) इत्यादि । **अत[1] इति ।** 'अत्' धातु का अर्थ निरन्तर गमन (=जाना) है ।

उदाहरण—अत्+लट् (ल्=प्रथमपुरुष एकवचन तिप्=ति)—अत् ति (सार्वधातुक संज्ञा, शप्-अ)=अतति । इसी प्रकार अन्य रूप भी सिद्ध होते हैं ।

अत् धातु, लट् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०—	अतति	अततः	अतन्ति
म० पु०—	अतसि	अतथः	अतथ
उ० पु०—	अतामि	अतावः	अतामः

(४७६) पद—अतः, आदेः । **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य, दीर्घः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ होता है ।

विमर्श—यहाँ 'अत्र लोप०' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' तथा 'दीर्व इणः किति' से 'दीर्वः' पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ रूप आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) अत्+लिट् (ल्=प्रथमपुरुष एकवचन तिप्, तिप्=णल्='अ')—अत् अ (द्वित्व—'लिटि धातोरनभ्यासस्य' अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—अ अत् अ (अ+अ='आ' दीर्घ—'अत आदेः')=आत । (२) आततुः (लिट् प्र० पु० द्विवचन में पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध होता है । (३) इसी प्रकार प्र० पु० बहुवचन में—आतुः । (४) आतिथ (यहाँ वलादि आर्धधातुक होने से इट् का आगम । (५) आतिव, आतिम (यहाँ लिट् के उ० पु० द्विवचन, बहुवचन में वलादि होने से इट् का आगम विशेष ।

अत् धातु, लिट् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०—	आत	आततुः	आतुः
म० पु०—	आतिथ	आतथुः	आत
उ० पु०—	आत	आतिव	आतिम

---

१. यहाँ अन्त्य अकार उदात्त और इत्संज्ञक है । तदनुसार परस्मैपद होता है । यदि अनुदात्त होता तो 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद हो जाता ।

आतिम । अतिता । अतिष्यति । अततु । (४७७) आडजादीनाम् ६।४।७२ । अजादे-रङ्गस्याऽऽड् लुङ्लङ्लृङ्क्षु । आतत् । अतेत् । अत्यात् । अत्यास्ताम् । लुङि सिचि

द्धातोः लिटचनुबन्धलोपे तत्स्थाने तिपि 'परस्मैपदानामि'त्यादिना तिपो णलादेशेऽनु-बन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'अ अत् अ' इति जाते 'अत आदेः' इत्यभ्यासस्य दीर्घे आत इति ।

(४७७) **आडजादीनामिति** । 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यस्मात् 'लुङ्लङ्लृङ्क्षु' इत्यनुवर्तते । तदाह मूले—**अजादेरित्यादि** । **आतत्** । अत्धातोर्लङ्यनुबन्धलोपे

अतिता—अत्+लुट् (ल्=प्र० पु० एकवचन तिप्)—अत् तिप् ('तास्'—'स्यतासी लृलुटोः', आर्धधातुक संज्ञा, इट्, तिप्=डा='आ')—अत् इ तास् आ (टिलोप—'डित्त्वसामर्थ्या-दभस्यापि टेर्लोपः')=अतिता ।

अत् धातु, लुट् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	अतिता	अतितारौ	अतितारः
म० पु०	अतितासि	अतितास्थः	अतितास्थ
उ० पु०	अतितास्मि	अतितास्वः	अतितास्मः

अतिष्यति—अत्+लृट् (ल्=प्र० पु० एकवचन तिप्=ति)—अत् ति ('स्य'—'स्यतासी०', आर्धधातुक संज्ञा, इट्, षत्व)=अतिष्यति ।

अत् धातु लृट् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	अतिष्यति	अतिष्यतः	अतिष्यन्ति
म० पु०	अतिष्यसि	अतिष्यथः	अतिष्यथ
उ० पु०	अतिष्यामि	अतिष्यावः	अतिष्यामः

अततु—अत्+लोट् (ल्=प्र० पु० एकवचन तिप्=ति)—अत् ति (शप्, इ=उ)=अततु ।

अत् धातु, लोट् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	अततु, अततात्	अतताम्	अतन्तु
म० पु०	अत, अततात्	अततम्	अतत
उ० पु०	अतानि	अताव	अताम

(४७७) पद—आट्, अजादीनाम् । **अनुवृत्ति**—लुङ्लङ्लृङ्क्षु । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुङ्, लङ् और लृङ् के परवर्ती रहने पर अजादि अङ्ग को 'आट्' का आगम होता है । आतत् । अतेत् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (४५६) से 'लुङ्लङ्लृङ्क्षु' की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । तदनुसार—"अजादि अङ्ग को 'आट्' का आगम होता है; लुङ्, लङ् और लृङ् के परे होने पर" । यह सूत्र अट् आगम का बाधक है ।

उदाहरण—(१) अत्+लङ् (ल्=प्र० पु० एकवचन—तिप्=ति)—अत् ति (शप्—'अ', 'आट्'='आ' का आगम—'आडजादीनाम्' आ+अ='आ'—वृद्धि—'आटश्च')—आतति ('इ' का लोप—'इतश्च')=आतत् ।

इडागमे कृते (४७८) अस्तिसिचोऽपृक्ते ७।३।९६। विद्यमानात्सिचोऽस्तेश्च परस्यापृक्तस्य हल ईडागमः। (४७९) इट ईटि ८।२।२८। इटः परस्य सस्य लोपः स्या-

---

तत्स्थाने तिपि सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति प्राप्तमटं प्रबाध्य 'आडजादीनाम्' इत्याडागमे, 'आटश्चे'ति वृद्धौ 'इतश्च' इतीकारलोपे 'आतत्' इति सिद्धम्।

(४७८) **अस्तिसिचोऽपृक्ते।** सिच्च अस् चेति समाहारद्वन्द्वः, ततो विद्यमानार्थकास्तीत्यव्ययेन कर्मधारयः, अस्ति चासौ सिचः अस्तिसिचस्, ततः पञ्चम्याः सौत्रो लुक्। तथैवाह वृत्तौ—**विद्यमानात्सिच इत्यादि।**

अत् धातु लङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	—आतत्	आतताम्	आतन्
म० पु०	—आतः	आततम्	आतत
उ० पु०	—आतम्	आताव	आताम

(२) अत्+लिङ् (ल्=तिप्=ति)—अत् ति (शप्-अ, यासुट्=यास्)—अत् अ यास् ति (यास्=इय्, अ+इ='ए'—गुण, 'य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि' 'इ' का लोप—'इतश्च')=अतेत। (३) अत्+आशीर्लिङ् (ल्=प्र० पु० एकवचन तिप्=ति)—अत् ति ('लिङाशिषि' से आर्धधातुक संज्ञा होकर शप् का अभाव, यासुट्=यास्, इ का लोप सुट्='स्' का आगम—'सुट् तिथोः')—अत्यास् स् त (स्+स् का लोप—'स्कोः०')=अत्यात्। (४) अत्+आशीर्लिङ् (ल्=प्र० पु० द्विवचन तस्=ताम्)—अत् ताम् (यासुट्=यास्)= अत्यास्ताम्।

अत् धातु, लिङ् लकार के रूप

विधिलिङ्

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	—अतेत्	अतेताम्	अतेयुः
म० पु०	—अतेः	अतेतम्	अतेत
उ० पु०	—अतेयम्	अतेव	अतेम

आशीर्लिङ्

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	—अत्यात्	अत्यास्ताम्	अत्यासुः
म० पु०	—अत्याः	अत्यास्तम्	अत्यास्त
उ० पु०	—अत्यासम्	अत्यास्व	अत्यास्म

(४७८) पद—अस्तिसिचः, अपृक्ते। **अनुवृत्ति**—ईट्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—विद्यमान सिच् और अस् से परे अपृक्त हल् को ईट् का आगम होता है।

विमर्श—'ब्रुव ईट्' (७।३।९३) से 'ईट्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'सिच्च अस् च' समाहारद्वन्द्व है। अस्ति शब्द के साथ सिचस् का कर्मधारय समास है। इस प्रकार विद्यमान सिच् एवं अस् धातु से उत्तर में स्थित अपृक्तसंज्ञक हल् को ईट् (ई) का आगम होता है।

(४७९) पद—इटः, ईटि। **अनुवृत्ति**—सस्य, लोपः। **विधिसूत्र।**

दीटि । * सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः * । आतीत् । आतिष्टाम् । (४८०) सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३।४।१०९ । सिचोऽभ्यस्ताद्विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस् । आतिषुः । आतीः । आतिष्टम् । आतिष्ट । आतिषम् । आतिष्व । आतिष्म । आतिष्यत् । एवम्–अव रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति-तृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छा-

---

(४७९) **इट ईटि** । 'इटः' इत्यत्र पञ्चमी । 'रात्सस्ये'त्यतः सस्येति, 'संयोगान्तस्ये'त्यतो लोप इति चात्रानुवर्तते । तदाह—**इटः परस्येति । आतीत्** । अत् धातोर्लुङ्यनुबन्धलोपे तत्स्थाने तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिच्यनुबन्धलोपे 'अत् स् ति' इति जाते 'आडजादीनाम्' इत्यादि 'आटश्चे'ति वृद्धौ सिचः सकारस्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीडागमे 'आत् इ स् ति' इति स्थिते 'इतश्च' इतीकारलोपे 'त्' इत्यस्याऽपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'आत् इ स् ई त्' इति जाते 'इट ईटि' इति सलोपे, सलोपस्य त्रैपादिकत्वात् 'पूर्वत्राऽसिद्धमि'त्यसिद्धत्वेन दीर्घत्वाऽभावे प्राप्ते 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति वार्तिकेन सिज्लोपस्यासिद्धत्वाभावेन सवर्णदीर्घे 'आतीत्' इति रूपम् ।

(४८०) **सिजभ्यस्त इति** । झेर्जुसिति सूत्रमनुवर्तते । 'नित्यं ङितः' इत्यतः 'ङितः' इति चानुवर्तते । तदाह वृत्तौ—**सिचोऽभ्यस्तादित्यादि । आतिषुः** । अत् धातोः

मूलार्थ—इट् से परवर्ती सकार का लोप होता है, ईट् परे रहते ।

वा०—एकादेश करने में सिच् का लोप सिद्ध होता है । आतीत् । आतिष्टाम् ।

विमर्श—यहाँ 'रात्सस्य' (८।२।२४) से 'सस्य' एवं 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'इट् से परे सिच् के सकार का लोप होता है; ईट् के परवर्ती रहने पर ।

उदाहरण—(१) अत्+लुङ् (ल्=प्र० पु० एकवचन तिप्=ति)—अत् ति (च्लि, च्लि=सिच्=स्)—अत् स् ति (आट्='आ' का आगम—'आडजादीनाम्', आ+अ='आ' वृद्धि—'आटश्च')—आत् स् ति (आर्धधातुक संज्ञा होकर इट्='इ' का आगम, 'इ' का लोप)—आत् इ स् त् (अपृक्त संज्ञा, ईट्='ई' का आगम—'अस्तिसिचोऽपृक्ते' 'स्' का लोप—'इट ईटि' सलोप-विधायक सूत्र के त्रिपादी होने से 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' से असिद्ध होने पर दीर्घाभाव प्राप्त हुआ, 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' वार्तिक से सिच् लोप के सिद्ध होने पर इ+ई='ई'-सवर्णदीर्घ) =आतीत् । (२) अत्+लुङ् (ल्=प्र० पु० द्विवचन तस्=ताम्)—अत् ताम् (आट्, वृद्धि, च्लि=सिच्=स्, इट्, स्=ष्—'षत्व' 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)=आतिष्टाम् ।

(४८०) पद—सिजभ्यस्तविदिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—झेर्जुस्, ङितः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सिच्, अभ्यस्तसंज्ञक और विद् से परे ङित् सम्बन्धी 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश होता है । आतिषुः । आतीः । आतिष्टम् इत्यादि ।

विमर्श—'झेर्जुस्' (३।४।१०८) सूत्र तथा 'नित्यं ङितः' (३।४।९९) से 'ङितः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"सिच्प्रत्यय, अभ्यस्तसंज्ञक जागृ इत्यादि धातुओं और विद् धातु से परवर्ती ङित् लकार सम्बन्धी 'झि' को जुस् आदेश होता है" ।

उदाहरण—(१) अत्+लुङ् (ल्=प्र० पु० बहुवचन झि)—अत् झि (च्लि=सिच्=स्, आट्, वृद्धि, झि=जुस्='उस्'—'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इट्–'इ')—आतिस् उस् (स्=ष्, स्=र्=ः)=आतिषुः । 'आतीः' आदि अन्य रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होते हैं ।

दीप्त्यालिङ्गन-हिंसा-दान-भागवृद्धिषु । अवतीत्यादि । षिध गत्याम् । (४८१) पुगन्तलघूपधस्य च ७।३।८६। पुगन्तस्य लघूपधस्य चाङ्गस्येको गुणः, सार्वधातुकार्धधातुकयोः । 'धात्वादे'रिति सः । सेधति । षत्वम् । सिषेध ।

सेक्सृप्सृस्तृसृजस्तृस्त्यान्ये इन्त्याजन्तसादयः ।
एकाचः षोपदेशाः स्युः ष्वष्क्स्विद्स्वद्स्वञ्जस्वप्स्मिङः ॥

लुङ्चनुबन्धलोपे तत्स्थाने प्रथमपुरुषबहुवचनविवक्षायां झिप्रत्यये सार्वधातुकसंज्ञायां शपं प्रबाध्य च्लौ, तस्य सिच्यनुबन्धलोपे इडागमे षत्वे 'आडजादीनाम्' इत्यादि वृद्धौ 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्चे'ति झेर्जुसादेशेऽनुबन्धलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'आतिषुः' इति ।

(४८१) **पुगन्तलघूपधस्येति** । 'मिदेर्गुणः' इत्यतो गुण इत्यनुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतमवयवषष्ठ्यन्तमाश्रीयते । पुक् अन्ते यस्य तत्पुगन्तम्, लघ्वी उपधा यस्य तल्लघूपधम्, पुगन्तश्च लघूपधञ्चेत्यनयोः समाहारः पुगन्तलघूपधम्, तस्येति । सेधति । गत्यर्थक–षिध्धातोर्लटि तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तिपि, सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे शित्त्वात्सार्वधातुकसंज्ञायां 'धात्वादेः षः सः' इत्यनेन षकारस्य

अत् धातु, लुङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	आतीत्	आतिष्टाम्	आतिषुः
म० पु०	आतीः	आतिष्टम्	आतिष्ट
उ० पु०	आतिषम्	आतिष्व	आतिष्म

अत् धातु, लृङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	आतिष्यत्	आतिष्यताम्	आतिष्यन्
म० पु०	आतिष्यः	आतिष्यतम्	आतिष्यत
उ० पु०	आतिष्यम्	आतिष्याव	आतिष्याम

'अव' धातु रक्षण, गति, कान्ति, प्रीति, तृप्ति, ज्ञान, प्रवेश, श्रवण, स्वाम्यर्थ, याचन, क्रिया, इच्छा, दीप्ति, प्राप्ति, आलिङ्गन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि अर्थों में है । 'अवति' इत्यादि रूप बनते हैं । 'षिध्' धातु का अर्थ गति (=जाना) है ।

(४८१) पद—पुगन्तलघूपधस्य, च । **अनुवृत्ति**—गुणः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पुगन्त और लघूपध अङ्ग के अवयव इक् को सार्वधातुक-आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहने पर गुण होता है । सेधति इत्यादि ।

विमर्श—'मिदेर्गुणः' (७।३।८२) से 'गुणः' की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा द्वारा 'इक्' पद की उपस्थिति होती है । तदनुसार पूर्वोक्त अर्थ निष्पन्न होता है ।

उदाहरण—(१) षिध्+लट् (ल्=तिप्=ति)—षिध् ति (शप्-अ, 'ष्'='स्'—'धात्वादेः षः सः' इ='ए'—गुण—'पुगन्तलघूपधस्य च')=सेधति । (२) षिध्+लिट् (ल्=तिप्, ष=सत्व, 'लिट् च' से आर्धधातुक संज्ञा, शप् का अभाव, तिप्=णल्='अ')—सिध् अ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादि शेष, गुण—'पुगन्त०' स्=षत्व—'आदेशप्रत्यययोः')=सिषेध ।

दन्त्यः केवलदन्त्यो, न तु दन्त्योष्ठजोऽपि, ष्वष्कादीनां पृथग् ग्रहणात् । (४८२) **असंयोगाल्लिट् कित् १।२।५ । असंयोगात्परोऽपि लिट् कित्स्यात् । सिषिधतुः । सिषिधुः । सिषेधिथ । सिषिधथुः । सिषिध । सिषेध । सिषिधिव । सिषिधिम । सेधिता । सेधिष्यति । सेधतु । असेधत् । सेधेत् । सिध्यात् । असेधीत् । असेधिष्यत् ।**

सत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधस्य गुणे 'सेधति' इति सिद्धम् । **सिषेध इति ।** 'षिध्'धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटचनुबन्धलोपे तत्स्थाने तिपि, षस्य सत्वे, 'लिट् चे'त्यनेनार्धधातुकसंज्ञायां शपोऽभावे 'परस्मैपदानामि'त्यादिना सूत्रेण तिपः णलादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यनेन धकारस्य लोपे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'त्यनेन गुणे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे कृते सिषेध इति ।

(४८२) **असंयोगाल्लिट् कित् ।** 'सार्वधातुकमपित्' इत्यतः 'अपिदि'त्यनुवर्तते । तदाह—**असंयोगादित्यादिना । सिषिधतुः ।** षिध्धातोर्लिट्यनुबन्धलोपे तत्स्थाने प्रथमपुरुषद्विवचनविवक्षायां तस्प्रत्यये 'धात्वादेः षः सः' इति सत्वे, 'परस्मैपदानामि'-त्यादिना सूत्रेण तसः स्थाने अतुसादेशे 'लिट् चे'त्यार्धधातुकसंज्ञायां शपोऽभावे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यनेनातुसः कित्त्वे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'त्यनेन गुणे प्राप्ते 'क्ङिति चे'ति निषेधे, षत्वे रुत्वे विसर्गे च कृते 'सिषिधतुः' इति सिद्धम् ।

सेक्सृप् इति । कारिकार्थ—सेक्, सृप्, सृ, स्तृ, सृज्, स्तृ, स्त्यै—इनसे भिन्न जो दन्त्यान्त अथवा अजन्त सकारादि एकाच् धातु, वह षोपदेश है; तथा ष्वष्क्, स्विद्, स्वद्, स्वञ्ज्, स्वप्—ये भी षोपदेश हैं ।

(४८२) पद—असंयोगात, लिट्, कित । **अनुवृत्ति**—अपित । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—असंयोग से परे अपित (पित भिन्न) लिट् कित होता है । सिषिधतुः । सिषिधुः इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'सार्वधातुकमपित' (१।२।४) सूत्र से 'अपित' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'संयोग भिन्न से परवर्ती अपित लिट् कित होता है' ।

उदाहरण—षिध्+लिट् (ल्=प्र० पु० द्विवचन तस्)—षिध् तस् (ष्=स्, तस्=अतुस्) —सिध् अतुस् (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से अतुस् को कित्त्व होने पर 'इ'='ए'—गुण की प्राप्ति, कित होने से 'क्ङिति च' से गुण-निषेध, षत्व, स्=र्=ः)= सिषिधतुः । इसी प्रकार अन्य रूप सिद्ध होंगे—

लिट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	सिषेध	सिषिधतुः	सिषिधुः
म० पु०	सिषेधिथ	सिषिधथुः	सिषिध
उ० पु०	सिषेध	सिषिधिव	सिषिधिम

लुट् में—सेधिता, लृट् में—सेधिष्यति, लोट् में—सेधतु, लङ् में—असेधत, विधिलिङ् में—सेधेत, आशीर्लिङ् में—सिध्यात, लुङ् में—असेधीत एवं लृङ् में—असेधिष्यत ।

(४८३) सात्पदाद्योः ८।३।१११ । सातेः पदादेश्च सस्य षो न । इति निषेधे प्राप्ते । (४८४) उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ८।३।६५ । उपसर्गस्थान्निमित्तादेषां सस्य षः । (४८५) सदिरप्रतेः ८।३।६६ । प्रतिभिन्नादुपसर्गात्सदेः सस्य षः । (४८६) स्तन्भेः ८।३।६७ । स्तन्भेः

असेधीत् । षिध्धातोर्लुङि, तत्स्थाने तिपि, षस्य सत्वे सार्वधातुकसंज्ञायां प्राप्तं शपं प्रबाध्य च्लौ, च्लेः सिचि, इचोरित्संज्ञायां लोपे च कृते 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे सकारस्यार्धधातुकसंज्ञायाम् इडागमेऽनुबन्धलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे, तस्य 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति वार्तिकेन सिद्धत्वेन सवर्णदीर्घे 'असेधीत्' इति रूपम् ।

(४८३) **सात्पदाद्योरिति** । षश्च नेत्यनुवर्तते । तेन सातेः सस्य पदादेः सस्य च प्राप्तं षत्वं न भवति ।

(४८४) **उपसर्गादिति** । 'सहेः साडः सः' इत्यतः स इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकारात् सस्य षः स्यादित्यर्थो लभ्यते ।

(४८५) **सदिरप्रतेरिति** । अत्र 'निषीदति' इत्युदाहरणम् । सदिरिति षष्ठ्यर्थे प्रथमा ।

(४८६) **स्तन्भेरिति** । 'स्तन्भुस्तुन्भु' इति सूत्रनिर्दिष्टस्य नोपधस्येत्यर्थः । अत आह—**सौत्रस्येति** ।

---

(४८३) पद—सात्पदाद्योः । **अनुवृत्ति**—षः, न । **विधिसूत्र (निषेध)** ।

मूलार्थ—'साति' प्रत्यय के सकार और पदादि के सकार को षत्व नहीं होता ।

विमर्श—यहाँ 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' (८।३।५५) से 'मूर्धन्यः' तथा 'न रपर०' (८।३।११०) से 'न' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'साति प्रत्यय के सकार को तथा पदादि सकार को षकार नहीं होता' ।

(४८४) पद—उपसर्गात्, सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति-स्तोभति-स्था-से-नय-सेध-सिच्-सञ्ज-स्वञ्जाम् । **अनुवृत्ति**—सः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती सुनोतीत्यादि धातुओं के सकार को षकार (षत्व) होता है ।

विमर्श—'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से षष्ठ्यन्त 'सः' पद की अनुवृत्ति आती है । 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' का अधिकार होने से—'उपसर्गस्थ निमित्त से पर में स्थित सु, सू, सो, स्तु, स्तुभ्, स्था, सेनय्, सेध्, सिच्, सञ्ज् और स्वञ्ज धातुओं के सकार को षकार आदेश होता है ।'

(४८५) पद—सदिः, अप्रतेः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रति-भिन्न उपसर्ग से परे सद् धातु के सकार को षकार आदेश होता है ।

विमर्श—'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है । यहाँ भी 'उपसर्गस्थान्निमित्तात्' का अन्वय होता है । अतः प्रति से भिन्न उपसर्ग से परवर्ती 'सद्' के सकार को षत्व होता है ।

(४८६) पद—स्तन्भेः । **विधिसूत्र** ।

सौत्रस्य सस्य षः। (४८७) अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ८।३।६८। अवात्स्तम्भेरेतयोरर्थयोः सस्य षः। (४८८) वेश्च स्वनो भोजने ८।३।६९। व्यवाभ्यां स्वनतेः सस्य षो, भोजने। (४८९) परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् ८।३।७०। परिनिविभ्यः परेषामेषां सस्य षः स्यात्। निषेधति। (४९०) प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि ८।३।८३। 'सित्'-शब्दात्प्राग् य सुनोत्यादयस्तेषामड्व्यवायेऽपि

---

(४८७) अवाच्चेति। अवोपसर्गपूर्वकात्स्तन्भेः आलम्बनवैदूर्यार्थे गम्ये सस्य षत्वं भवतीत्यर्थः।

(४८८) वेश्चेति। अवादित्यनुकर्षणार्थश्चकारः।

(४८९) परिनिविभ्य इति। सेवेत्यकार उच्चारणार्थः। 'षेवृ सेवायामि'ति धातोर्ग्रहणम्। सितेत्यनेन 'षिञ् बन्धने' इति क्तान्तस्य ग्रहणम्। निषेधति। 'नि' इत्युपसर्गपूर्वकात् षिध्धातोर्लटचनुबन्धलोपे 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे, लटः स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'त्यनेन गुणे 'निसेधति' इति जाते 'उपसर्गात् सुनोती'त्यादिना षत्वे 'निषेधति' इति।

(४९०) प्राक्सितादिति। 'उपसर्गात्सुनोती'त्यादिसूत्रे स्थाधातुमारभ्य 'परिनिविभ्यः' इत्यत्र सितशब्दात्प्राक् ये धातव उपात्ताः तेषु दशस्वित्यर्थः। न्यषेधत्

मूलार्थ—उपसर्गस्थ निमित्त से परे सौत्र स्तम्भ धातु के 'स्' के स्थान पर 'ष्' आदेश होता है।

(४८७) पद—अवात्, च, आलम्बनाविदूर्ययोः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—आलम्बन (=आश्रय) एवं अविदूर्य्य (=समीप) अर्थ में अव् उपसर्गपूर्वक स्तम्भ धातु के सकार को षकार आदेश होता है।

(४८८) पद—वेः, च, स्वनः, भोजने। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'वि' एवं 'अव्' उपसर्गपूर्वक 'स्वन्' के सकार को मूर्धन्य (षकार) आदेश होता है, भोजन अर्थ में।

(४८९) पद—परिनिविभ्यः, सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—परि, नि और वि उपसर्गों से परवर्ती सेव सित आदि धातुओं के 'स्' के स्थान में 'ष्' आदेश होता है। निषेधति।

विमर्श—पूर्ववत् 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से षष्ठ्यन्त 'सः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है। अतः 'परि, नि, वि' इनसे परे सेव, सित, सय, सिवु, सह, सुट्, स्तु, स्वञ्ज् धातुओं के सकार को षकार आदेश होता है।

उदाहरण—नि+सेधति ('स्'='ष्'--'परिनिविभ्यः०')=निषेधति।

(४९०) पद—प्राक्, सितात्, अड्, व्यवाये, अपि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—सित शब्द से पूर्व सुनोति आदि धातु सम्बन्धी सकार को अट का व्यवधान रहने पर भी षत्व होता है। न्यषेधत्। न्यषेधीत्। न्यषेधिष्यत्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी पूर्ववत् षष्ठ्यन्त 'सः' की अनुवृत्ति आती है। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है। 'सेवसित०' में सित शब्द से पूर्व जो सुनोति आदि पन्द्रह धातुओं के सकार को अट् के व्यवधान में भी षकार आदेश होता है।

सस्य षः स्यात्। न्यषेधत्। न्यषेधीत्। न्यषेधिष्यत्। (४९१) स्थादिष्वभ्यासेन चाऽभ्यासस्य ८।३।६४। प्राक्-सितात्स्थादिष्वभ्यासेन व्यवायेऽपि षत्वं स्यात्, एषामेव चाऽभ्यासस्य न तु सुनोत्यादीनाम्। निषिषेध। निषिषिधतुः। (४९२) सेधतेर्गतौ ८।३।११३। गत्यर्थस्य सेधतेः सस्य षो न। गङ्गां विसेधति। एवम्—चिती संज्ञाने।

इत्यादि। 'नि + असेधत्, नि + असेधीत्, नि + असेधिष्यत्' इत्यत्र अडागमेन व्यवधानात् 'उपसर्गात्सुनोती'त्यादिना षत्वेऽप्राप्ते 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' इत्यनेनाऽटा व्यवधानेऽपि षत्वमित्युक्तरूपसिद्धिः।

(४९१) **स्थादिष्विति।** यद्यपि 'निषिषेध' इत्यत्राभ्यासस्य 'उपसर्गात्सुनोती'-त्यादिना षत्वं सिद्धम्, ततः परस्य सस्य 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेन षत्वं भविष्यतीति नास्य सूत्रस्य प्रयोजनं, तथापि 'अधितिष्ठौ' इत्यादौ अवर्णान्तोऽभ्यासस्तत्र षत्व-विधानार्थमिदमावश्यकमिति।

(४९२) **सेधतेर्गतौ।** 'न रपरे'त्यतो नेत्यनुवर्तते। **गङ्गां विसेधति।** 'वि + सेधति' इत्यवस्थायाम् 'उपसर्गात्सुनोती'त्यादिना षत्वे प्राप्ते 'सेधतेर्गतौ' इत्यनेन निषेधे 'विसेधति' इति सिद्धम्।

उदाहरण—(१) नि+असेधत् ('स्'='ष्'—'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि', 'इ'='य्'—'यण्')=न्यषेधत्। (२) नि+असेधीत् ('स्'='ष्', यण्)=न्यषेधीत्। (३) नि+असेधिष्यत् ('स्'='ष्' यण्)=न्यषेधिष्यत्।

(४९१) पद—स्थादिषु, अभ्यासेन, च, अभ्यासस्य। **अनुवृत्ति**—प्राक् सितात्, सः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सित शब्द से पूर्व स्था आदि धातुओं के सकार को अभ्यास के व्यवधान में भी षकार (मूर्धन्य) आदेश होता है। इन धातुओं के ही अभ्यास व्यवधान होने से षत्व होता है, अर्थात् सुनोति (सु) आदि के अभ्यास के व्यवधान में नहीं। निषिषेध। निषिषिधतुः।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र (४९०) से 'प्राक्सितात्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'सहेः साडः सः' से षष्ठ्यन्त 'सः' की अनुवृत्ति आती है। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार होने से उक्त सूत्रार्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण—(१) लिट्—प्र० पु० ए० व०—नि+सिसेध (पूर्व सकार का 'उपसर्गात्०' से षत्व)—नि षिसेध ('स्'='ष्'—'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य')=निषिषेध। (२) लिट्—प्र० पु० द्विवचन—नि+सिसिधतुः (पूर्व सकार का 'ष्'—'उपसर्गात्०')—नि षिसिधतुः ('स्'='ष्' 'स्थादिष्व०')=निषिषिधतुः।

(४९२) पद—सेधतेः, गतौ। **अनुवृत्ति**—सः, न। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—गत्यर्थक सिध धातु के 'स्' के स्थान में 'ष्' नहीं होता। गङ्गां विसेधति।

विमर्श—पूर्ववत् षष्ठ्यन्त 'सः' तथा 'न रपर०' (८।३।११०) सूत्र से 'न' पद की अनुवृत्ति आती है। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार होने से 'गति अर्थ युक्त सिध धातु के सकार को षकार आदेश नहीं होता।

उदाहरण—गङ्गां विसेधति (=गच्छति)—'वि+सेधति' ('स्'='ष्'—'उपसर्गात्सुनोति०' से प्राप्ति 'सेधतेर्गतौ' से निषेध होने पर)=विसेधति। इसी प्रकार 'चिती संज्ञाने' (=होश में आना), 'शुच शोके' (=चिन्ता या शोक करना) धातुओं के रूप भी बनते हैं। गद् धातु 'स्पष्ट

शुच शोके। गद व्यक्तायां वाचि। गदति। (४९३) नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च ८।४।१७। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्णः स्यात् गदादिषु परेषु। प्रणिगदति। (४९४) कुहोश्चुः ७।४।६२। अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः। (४९५) अत उपधायाः ७।२।११६। उपधाया अतो वृद्धिः स्यात् ञिति णिति च प्रत्यये। जगाद। जगदतुः। जगदुः।

---

(४९३) नेर्गद इति। अत्र 'रषाभ्यां नो णः' इति, 'उपसर्गादसमासेऽपि' इत्यत उपसर्गादिति चानुवर्तते। तदाह—उपसर्गस्थादित्यादि। प्रणिगदति। 'प्र+नि' इत्युपसर्गपूर्वकात् गद्धातोर्लटचनुबन्धलोपे तत्स्थाने तिपि, सार्वधातुकत्वे शप्यनुबन्धलोपे 'नेर्गदनद०' इति णत्वे 'प्रणिगदति' इति रूपम्।

(४९४) कुहोश्चुरिति। कुश्च हुश्च कुहू, तयोः कुहोः। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'-त्यत अभ्यासस्येत्यनुवर्तते। तदाह—अभ्यासस्येति।

(४९५) अत इति। अत्र 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतः 'वृद्धिरि'त्यनुवर्तते, 'अचो ञ्णिति' इत्यतः ञिति णिति चेति। तदाह—उपधाया इत्यादि। जगाद। गद्धातोर्लिटचनुबन्धलोपे, तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, 'परस्मैपदानामि'ति तिपो णलि, अनुबन्ध-

---

बोलना' अर्थ में है। √गद्+लट् (ल्=प्र० पु० एकवचन तिप्=ति)—गद् ति (शप्-अ) =गदति।

(४९३) पद—नेः, गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु, च। **अनुवृत्ति**—रषाभ्यां नो णः, उपसर्गात्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती 'नि' के नकार को णकार आदेश होता है; गदादि धातुओं के परे रहते। प्रणिगदति।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से 'रषाभ्यां नो णः' की तथा 'उपसर्गादसमासेऽपि०' (८।४।१४) से 'उपसर्गात्' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—"उपसर्गस्थ निमित्त (र्, ष्) से परे 'नि' उपसर्ग के नकार को णकार आदेश होता है; 'गद्, नद्' आदि धातुओं में से कोई धातु परे रहने पर।"

उदाहरण—प्र+नि+गदति ('न्'='ण्'—'नेर्गदनद०')=प्रणिगदति।

(४९४) पद—कुहोः, चुः। **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अभ्यास के कवर्ग और हकार को चवर्ग आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' पद की अनुवृत्ति आती है। (कुश्च हुश्च कुहू, तयोः=कवर्गहकारयोः) अभ्याससंज्ञक कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) के स्थान में क्रमशः चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) तथा 'ह्' के स्थान में आन्तरतम्य (बाह्य प्रयत्न देखकर) से 'झ्' होता है।

(४९५) पद—अतः, उपधायाः। **अनुवृत्ति**—वृद्धिः, ञिति, णिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ञित्, णित् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर उपधा के अकार को वृद्धि होती है। जगाद। जगदतुः। जगदुः। इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) से 'वृद्धिः' और 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'ञ्णिति' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'ञकारेत्संज्ञक और णकारेत्संज्ञक प्रत्ययों के परे रहने पर उपधा अकार को वृद्धि होती है'।

जगदिथ। जगदथुः। जगद। (४९६) णलुत्तमो वा ७।१।९१। उत्तमो णल् वा णित् स्यात्। जगाद। जगद। गदिता। गदिष्यति। गदतु। अगदत्। गदेत्। गद्यात्। (४९७) अतो हलादेर्लघोः ७।२।७। हलादेर्लघोरतो वृद्धिर्वेडादौ सिचि परस्मैपदे।

लोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'त्यनेन द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इत्यनेनाभ्यासगकारस्य चुत्वेन जकारे 'जगद् अ' इति जाते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ जगाद इति।

(४९६) **णलुत्तमो वा**। 'गोतो णिदि'त्यतः 'णिदि'त्यनुवर्तते।

(४९७) **अतो हलादेरिति**। अत्र 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेष्वि'त्यनुवर्तते। नेटीत्यस्मादीटि, 'ऊर्णोतेर्विभाषे'त्यतो विभाषेति च। अत आह मूले—हलादेरित्यादि। **अगादीत्**। गद्धातोर्लुङ्यनुबन्धलोपे प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां तिप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपं प्रबाध्य च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपेऽडागमे 'इतश्चे'तीकारलोपे, सस्यार्धधातुकसंज्ञायामिटि, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तकारस्येडागमेऽनुबन्धलोपे

उदाहरण—(१) √गद्+लिट् (ल्=प्र० पु० एकवचन तिप्)—गद् ति (तिप्=णल्='अ'—'परस्मैपदानाम्०' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'हलादिः शेषः'—'द्' का लोप)—ग गद् अ ('ग्'='ज्'—'कुहोश्चुः')—जगद् अ (वृद्धि—'अत उपधायाः')=जगाद। (२) √गद्+लिट्=तस्=अतुस् (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'द्' का लोप, 'ग्'='ज्'—'कुहोश्चुः')—जगदतुस् (स्=र्=ः)=जगदतुः। (३) √गद्+झि (=उस्, पूर्वोक्त कार्य)=जगदुः। (४) √गद्+लिट् (=सिप्)—गद् सि (सि=थल्=थ, उक्तकार्य, इट्)=जगदिथ। (५) √गद्+थस् (=अथुस्)=जगदथुः। (६) √गद्+थ (=णल्=अ)=जगद।

(४९६) पद—णल्, उत्तमः, वा। **अनुवृत्ति**—णित्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उत्तमपुरुष का णल् विकल्प से णित् होता है। जगाद, जगद इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'गोतो णित्' (७।१।९०) से 'णित्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"उत्तमपुरुष सम्बन्धी 'णल्' को विकल्प से णिद्भाव होता है"।

उदाहरण—(१) √गद्+लिट् (ल्=उ० पु० एकवचन मिप्=णल् 'अ')—गद् अ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'द्' का लोप, ग्=ज्, 'णलुत्तमो वा' से पाक्षिक णिद्भाव होने पर 'वृद्धि'—'अत उपधायाः')=जगाद। णित्व के अभाव में—जगद। (२) गदिता (लुट्)। (३) गदिष्यति (लृट्)। (४) गदतु (लोट्)। (५) अगदत् (लङ्)। (६) गदेत् (विधिलिङ्)। (७) गद्यात् (आशीर्लिङ्)।

(४९७) पद—अतः, हलादेः, लघोः। **अनुवृत्ति**—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, इटि, विभाषा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इडादि परस्मैपद सिच् के परवर्ती रहने पर हलादि धातु के ह्रस्व अकार को विकल्प से वृद्धि होती है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (७।२।१) सूत्र, 'नेटि' सूत्र से 'इटि' और 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (७।२।६) से 'विभाषा' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'इट् है आदि में जिसके, ऐसे परस्मैपदसंज्ञक सिच् के परे रहने पर हलादि अङ्ग के अवयव ह्रस्व अकार को विकल्प से वृद्धि होती है'।

अगादीत् । अगदीत् । अगदिष्यत् । णद अव्यक्ते शब्दे । (४९८) **णो नः ६।१।६५ ।** धात्वादेर्णस्य नः स्यात् । णोपदेशास्त्वनर्द-नाटि-नाथ-नाध-नन्द-नक्क-नॄ-नृतः । (४९९) **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ८।४।१४ ।** उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः स्यात्समासेऽसमासेऽपि । प्रणदति । प्रणिनदति । नदति । ननाद । (५००) **अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ६।४।१२० ।** लिण्निमित्तादेशादिकं न

'अगद् इ स् ई त्' इति जाते 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्लोपस्य सिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'अतो हलादेर्लघोः' इति विभाषया वृद्धौ 'अगादीत्', तदभावे च 'अगदीत्' इति सिद्धम् ।

(४९८) **णो न इति ।** ण इति षष्ठ्यन्तं पदम् । 'धात्वादेः षः सः' इत्यस्मात् 'धात्वादेरि'ति पदमनुवर्तते । तदाह—**धात्वादेरित्यादि ।**

(४९९) **उपसर्गादिति ।** 'रषाभ्यां नो णः' इत्यधिकृतम् । 'समासेऽङ्गुलेः०' इत्यतः समास इत्यनुवर्तते ।

(५००) **अत इति ।** 'घ्वसोरेद्धावि'त्यतः एदिति अभ्यासलोप इति चानुवर्तते ।

उदाहरण—(१) √गद्+लुङ् (ल्=प्र० पु० एकवचन तिप्=ति)—गद् ति (अट्, 'इ' का लोप—'इतश्च' च्लि=सिच्=स्, आर्धधातुक संज्ञा, इट्=इ, ईट्='ई'–'अस्तिसिचोऽपृक्ते') —अ गद् इ स् ई त् ('स्' का लोप—'इट ईटि' सवर्णदीर्घ, 'वृद्धि' विकल्प से—'अतो हलादेर्लघोः')=अगादीत् । वृद्धि के अभावपक्ष में—अगदीत् । लृङ् में—अगदिष्यत् ।

णद् धातु का अर्थ=अस्पष्ट शब्द अर्थात् पशु-पक्षियों का शब्द है ।

(४९८) पद—णः, नः । **अनुवृत्ति**—धात्वादेः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—धातु के आदि में स्थित 'ण्' के स्थान में 'न्' होता है । **णोपदेश इति ।** नर्द, नाटि, नाथ, नन्द, नक्क, नॄ, नृत धातुओं से भिन्न नकारादि धातुएँ णोपदेश हैं ।

विमर्श—यहाँ 'धात्वादेः षः सः' (६।१।६४) से 'धात्वादेः' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'धातु के आदि में स्थित धातु के अवयव णकार के स्थान में नकार आदेश होता है' । उपदेश अवस्था में णोपदेश धातुओं का परिगणन मूल में किया गया है ।

(४९९) पद—उपसर्गात्, असमासेऽपि, णोपदेशस्य । **अनुवृत्ति**—समासे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती णोपदेश धातु के 'न्' के स्थान में 'ण्' आदेश होता है; समास और असमास स्थल में । प्रणदति । प्रणिनदति । नदति । ननाद ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'रषाभ्यां नो णः' का अधिकार है । 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' (८।३।८०) से 'समासे' पद की अनुवृत्ति आने पर पूर्वोक्त अर्थ सम्पन्न होता है ।

उदाहरण—(१) √नद्+लट् ('ण्'='न्'—'णो नः' ल्=प्र० पु० एकवचन तिप्=ति, शप्–अ)=नदति । प्र+नदति ('न्'='ण्'—'उपसर्गादसमासेऽपि०')=प्रणदति । (२) प्र+नि+नदति (उपसर्ग के 'न्'='ण्'—'नेर्गदनद०')=प्रणिनदति । (३) √नद्+लट् (प्र० पु० ए० व० में)=नदति । (४) √णद्+लिट् (=प्र० पु० एकवचन तिप्=णल्=अ, ण्=न)—नद् अ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से द् का लोप, उपधावृद्धि—'अत उपधायाः')=ननाद ।

(५००) पद—अतः, एकहल्मध्ये, अनादेशादेः, लिटि । **अनुवृत्ति**—एत्, अभ्यासलोपः, क्ङिति ।

भवति यदङ्गं तदवयवस्याऽसंयुक्तहल्मध्यस्थस्याऽत एत्वमभ्यासलोपश्च किति लिटि। नेदतुः। नेदुः। (५०१) थलि च सेटि ६।४।१२१। इड्वति थलि च प्रागुक्तं स्यात्। नेदिथ। नेदथुः। नेद। ननाद। ननद। नेदिव। नेदिम। नदिता। नदिष्यति। नदतु। अनदत्। नदेत्। नद्यात्। अनादीत्। अनदीत्। अनदिष्यत्। श्च्युतिर् क्षरणे। * इर

'गमहने'त्यतः कितीत्यनुवर्तते। एकशब्द असहायवाची। तदाह—**लिण्निमित्तेत्यादिना।** **नेदतुः।** णद् धातोर्लिटि तत्स्थाने तसि, 'णो नः' इति णस्य नत्वे तसः अतुसि, द्वित्वेऽभ्यासकार्ये च कृते 'न नद् अतुस्' इति स्थिते 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इत्येत्वेऽभ्यासलोपे, सस्य रुत्वे, रेफस्य विसर्गे च कृते 'नेदतुः' इति रूपम्।

(५०१) **प्रागुक्तमिति।** लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गं तदवयवस्य संयुक्तहल्मध्यस्थस्यात एत्वं स्यादभ्यासलोपश्च सेटि थलीत्यर्थः। **नेदिथ।** णद्धातोर्लिटि,

---

मूलार्थ—लिट्-निमित्तक आदेश नहीं हुआ हो ऐसा जो 'अङ्ग' तदवयव जो असंयुक्त हल्-मध्यस्थ अकार को एकार आदेश होता है और अभ्यास का लोप होता है; कित् लिट् के परे रहते। नेदतुः। नेदुः।

विमर्श—यहाँ 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६।४।११९) से 'एत्' तथा 'अभ्यासलोपः' एवं 'गमहनजन०' (६।४।९८) से 'कित्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'लिट् को निमित्त मानकर जिस अङ्ग के आदि वर्ण के स्थान में आदेश न हुआ हो, उसके अवयव संयोग रहित हल् के साथ वर्तमान ह्रस्व अकार को एकार और अभ्यास का लोप होता है; कित् लिट् के परवर्ती रहने पर।

उदाहरण—(१) √णद्+लिट्=तस् (ण्=न्—'णो नः', तस्=अतुस्)—नद् अतुस् (द्वित्व, अभ्यासकार्य)—न नद् अतुस् (एत्व, अभ्यासलोप—'अत एकहल्मध्ये०' स्=र्=ः) =नेदतुः। (२) √णद्+लिट्=झि (ण्=न, झि=उस्, द्वित्व अभ्यासकार्य, एत्व, अभ्यास-लोप, स्=र्=ः)=नेदुः।

(५०१) पद—थलि, च, सेटि। **अनुवृत्ति**—अत एकहल्मध्येऽनादेशादेः लिटि। एत्, अभ्यासलोपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सेट् (इट् सहित) 'थल्' के परवर्ती रहने पर भी पूर्वोक्त प्रकार का एत्व और अभ्यास लोप होता है। नेदिथ। इत्यादि।

विमर्श—'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (५००) सूत्र एवं पूर्ववत् 'एत्' तथा 'अभ्यासलोपः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'सेट् थल् के परे रहते भी, लिट्-निमित्तक आदेश न हुआ हो ऐसा जो अङ्ग, उसका अवयव असंयुक्त एक हल् के मध्य में स्थित अकार के स्थान में एत्व और अभ्यास का लोप होता है।

उदाहरण—(१) √णद्+लिट्=सिप्=थल् ('ण्'='न')—नद् थ (द्वित्व, अभ्यास-कार्य, इट्='इ')—न न द् इ थ (एत्व, अभ्यासलोप—'थलि च सेटि')=नेदिथ।

णद् धातु, लिट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	ननाद	नेदतुः	नेदुः
म० पु०—	नेदिथ	नेदथुः	नेद
उ० पु०—	ननाद, ननद	नेदिव	नेदिम

इत्संज्ञा वाच्या * । श्च्योतति । (५०२) शर्पूर्वाः खयः ७।४।६१ । शिष्यन्तेऽभ्यासस्य । हलादिः शेषापवादः । चुश्च्योत । (५०३) इरितो वा ३।१।५७ । इरितो धातोश्च्लेरङ् वा, परस्मैपदे । अश्चुतत् । अश्च्योतीत् । यकाररहितोऽप्ययम् । श्चोतति । चुश्चोत । अश्चुतत् । अश्चोतीत् । च्युतिर् आसेचने । च्योतति । टुनदि समृद्धौ ।

तत्स्थाने सिप्यनुबन्धलोपे, तत्स्थाने 'परस्मैपदानामि'त्यादिना थलादेशे, णस्य नत्वे, द्वित्वेऽभ्यासकार्ये कृते 'ननद् इ थ' इति जाते 'थलि च सेटि' इत्येत्वेऽभ्यासलोपे च कृते 'नेदिथ' इति सिद्धम् । **श्च्योतति ।** श्च्युतिर् धातोः 'इर इत्संज्ञा वाच्या' इत्यनेन 'इर्' इत्यस्येत्संज्ञा कृते श्च्युतः लटि, तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे, सार्वधातुकत्वे शप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां 'पुगन्तलघूपधस्य चे'त्यनेन गुणे 'श्च्योतति' इति रूपम् ।

(५०२) शर्पूर्वा इति । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तत । शर्पूर्वो येभ्य इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन शर् न शिष्यन्ते । **चुश्च्योत ।** श्च्युतिर् धातोः इर इत्संज्ञा कृते श्च्युतः लिट्यनुबन्धलोपे प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां तिपि, 'परस्मैपदानामि'ति तिपः णलादेशेऽनुबन्धलोपे, धातोर्द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलादिशेषं बाधित्वा विशेषविहितत्वात् 'शर्पूर्वाः खयः' इति चकारशेषे 'चुश्च्युत् अ' इति जाते 'पुगन्तलघूपधस्य चे'त्यनेन गुणे संयोगे च कृते 'चुश्च्योत' इति ।

(५०३) इरितो वा । अत्र 'धातोरेकाचः' इत्यतः धातोरिति, 'च्लेः सिजि'त्यतः च्लेरिति, 'अस्यतिवक्ति०' इत्यतोऽङिति, 'पुषादिद्युताद्य्०' इत्यतः परस्मैपदेष्वित्यनु-

---

नदिता (लुट्), नदिष्यति (लृट्), नदतु (लोट्), अनदत् (लङ्), नदेत् (विधिलिङ्), नद्यात् (आशीर्लिङ्), अनादीत्-अनदीत् (लुङ्—विकल्प से वृद्धि), अनदिष्यत् (लृङ्) ।

√श्च्युतिर् धातु का अर्थ=क्षरण है ।

वा०—'इर्' की इत्संज्ञा होती है ।

उदाहरण— √श्च्युतिर्+लट् (इर् की इत्संज्ञा—'इर इत्संज्ञा वाच्या')—श्च्युत् लट्=तिप्=ति, शप्, गुण)=श्च्योतति ।

(५०२) पद—शर्, पूर्वाः, खयः । **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अभ्यास सम्बन्धी 'शर्' पूर्वक 'खय्' शेष रहता है । अन्य हल् का लोप होता है । चुश्च्योत ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"अभ्यास सम्बन्धी शर् पूर्वक 'खय्' प्रत्याहार का बोध्य वर्ण ही शेष रहता है । अन्य का लोप होता है" । यह सूत्र 'हलादिः शेषः' का बाधक है ।

उदाहरण—√श्च्युतिर् (इर् की इत्संज्ञा होने पर)—√श्च्युत्+लिट् (तिप्=णल्=अ)—श्च्युत् अ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'हलादिः शेषः' का बाधकर 'च्' का लोप—'शर्पूर्वाः खयः')—चुश्च्युत् अ (उ='ओ' गुण—'पुगन्त०')=चुश्च्योत ।

(५०३) पद—इर्, इतः, वा । **अनुवृत्ति**—धातोः, च्लेः, अङ्, परस्मैपदेषु । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—परस्मैपद में इर् इत्संज्ञक धातु से परवर्ती 'च्लि' को 'अङ्' आदेश विकल्प से होता है । अश्च्युतत्, अश्च्योतीत् इत्यादि ।

(५०४) आदिर्ञिटुडवः १।३।५ । उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः । **(५०५) इदितो नुम् धातोः ७।१।५८ ।** नन्दति । ननन्द । नन्दिता । नन्दिष्यति । नन्दतु ।

वर्तन्ते । **अश्च्युतत्, अश्च्योतीत् ।** इरित्संज्ञक-श्च्युत्धातोः लुङि तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे शपं प्रबाध्य 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सूत्रं बाधित्वा 'इरितो वा' इति विभाषयाऽङादेशे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे 'इतश्चे'-तीकारलोपे 'अश्च्युतत्' इति । अङभावे तु—'च्लेः सिच्' इति सिच्यनुबन्धलोपे आर्धधातुकसंज्ञायामिडागमे 'इतश्चे'तीकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्य ईटि 'श्च्युत् इ स ई त्' इति जाते, 'इट ईटि' इति सलोपे प्रत्ययलक्षणेन सिच आर्धधातुकमाश्रित्य लघूपधगुणेऽङ्गस्याडागमे सवर्णदीर्घे कृते 'अश्च्योतीत्' इति रूपम् ।

यकाररहितोऽपि०—क्षरणार्थक-श्च्युतिर् धातुः यकाररहितोऽपि दृश्यते । तेन 'श्चुतिर् क्षरणे' इति पाठः फलितः ।

(५०४) आदिरिति । अत्र 'भूवादयो धातवः' इत्यतः 'धातोः' 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यतः उपदेशे, इदिति चानुवर्तन्ते । तदाह—**उपदेश इति ।**

(५०५) नन्दति । 'टुनदि' इत्यत्र 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यनेन इकारस्येत्संज्ञायां लोपे 'टुनद्' इत्यस्य धातुसंज्ञायां 'टु' इत्यस्य 'आदिर्ञिटुडवः' इत्यनेनेत्संज्ञायां

विमर्श—यहाँ 'धातोरेकाचः०' (३।१।२२) सूत्र से 'धातोः', 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः', 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (३।१।५२) से 'अङ्' और 'पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु' (३।१।५५) से 'परस्मैपदेषु' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"इर् की इत्संज्ञा युक्त धातु से पर में स्थित च्लि को विकल्प से 'अङ्' आदेश होता है; परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय के परवर्ती रहने पर" ।

उदाहरण—√श्च्युतिर (इर् की इत्संज्ञा लोप)—√श्च्युत्+लुङ्=तिप्=ति, च्लि, सिच् का बाधकर च्लि=अङ्='अ' विकल्प से—'इरितो वा', अट् का आगम)—अ श्च्युत् अ ति ('इ' का लोप)=अश्च्युतत् । अङ् के अभाव पक्ष में (च्लि=सिच्='स्', आर्धधातुक संज्ञा, इट्, इ का लोप—'इतश्च', ईट् का आगम)—श्च्युत् इ स् ई त् ('स्' का लोप—'इट ईटि', लघूपधगुण, अट्, सवर्णदीर्घ)=अश्च्योतीत् ।

√श्च्युतिर् धातु का यकार रहित भी पाठ मिलता है (श्चुतिर् क्षरणे) । वहाँ श्चोतति (लट्), चुश्चोत (लिट्), अश्चुतत्–अश्चोतीत् (लुङ्) रूप बनते हैं ।

√च्युतिर् धातु का अर्थ=आसेचन (=सींचना) है । लट् प्र० पु० एकवचन में—च्योतति ।

√टुनदि धातु का अर्थ=समृद्धि (=आनन्द) है ।

(५०४) पद—आदिः, ञिटुडवः । **अनुवृत्ति**—धातोः, उपदेशे, इत् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—उपदेशावस्था में धातु के आदि में स्थित 'ञि, टु, डु' की इत्संज्ञा होती है ।

(५०५) पद—इदितः, नुम, धातोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—इदित् धातु को नुम् (=न्) का आगम होता है ।

विमर्श—यह नुम् (न्) का आगम 'मिदचोऽन्त्यात्परः' के नियम से अन्त्य अच् से पर धातु का अवयव होता है ।

उदाहरण—(१) √टुनदि ('इ' की इत्संज्ञा—'उपदेशेऽजनुनासिक इत्', लोप)—टुनद् (धातुसंज्ञा, 'टु' की इत्संज्ञा—'आदिर्ञिटुडवः' लोप)—नद्+लट्=तिप्='ति' नुम्–न्—

अनन्दत् । नन्देत् । इदित्त्वान्नलोपो न । नन्द्यात् । अनन्दीत् । अनन्दिष्यत् । एवं कुथि पुथि लुथि मथि हिंसासङ्क्लेशनयोः । बिदि अवयवे । बिन्दति । 'भिदी'ति पाठान्तरम् । भिन्दति । गडि वदनैकदेशे । गण्डति । चदि आह्लादने । चन्दति । त्रदि चेष्टायाम् । त्रन्दति । कदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने च । क्लिदि परिदेवने । तकि कृच्छ्रजीवने । युगि जुगि वुगि वर्जने । मघि मण्डने । शिघि आघ्राणे । मन्थ विलोडने । मन्थति । ममन्थ । किंत्त्वान्नलोपः । मथ्यात् । अर्च पूजायाम् । अर्चति । (५०६) तस्मान्नुड् द्विहलः ७।४।७१ । धातोर्दीर्घीभूताद-

---

लोपे च 'इदितो नुम्धातोः' इति नुमि, उमि गते, अनुस्वारे परसवर्णे च कृते लटि, तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे 'नन्दति' इति सिद्धम् । कुथि पुथि इति । कुथिप्रभृतीनां शिघिपर्यन्तानामेकोनविंशतेर्धातूनां सर्वत्राशीर्लिङि नलोपाभावे 'कुन्थ्यात्, पुन्थ्यात्' इत्यादीनि रूपाणि भवन्ति । मथ्यादिति । मन्थधातोः आशीर्लिङि तिपि, 'इतश्चे'तीकारलोपे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुडागमेऽनुबन्धलोपे, तस्य यदागमन्यायेन प्रत्ययत्वात् लिङ्त्वाच्च 'अनिदिताभि'त्यनेनोपधाभूतनकारस्य लोपे 'मथ्यात्' इति रूपम् ।

(५०६) तस्मान्नुडिति । द्वौ हलौ यस्य तस्येति विग्रहः । तच्छब्देन 'अत आदेः'

'इदितो नुम्धातोः' शप्–अ)=नन्दति । (२) ननन्द (लिट्) । (३) नन्दिता (लुट्) । (४) नन्दिष्यति (लृट्) । (५) नन्दतु (लोट्) । (६) अनन्दत् (लङ्) । (७) नन्देत् (विधिलिङ्) । (८) नन्द्यात् (आशीर्लिङ्) । (९) अनन्दीत् (लुङ्) । (१०) अनन्दिष्यत् (लृङ्) ।

√कुथि, पुथि, लुथि और मथि धातु 'हिंसा' और 'कष्ट पहुँचाने' अर्थ में हैं । इनके रूप भी 'टुनदि' की तरह बनते हैं । यथा लट् प्र० पु० ए० व० में—कुन्थति, पुन्थति, लुन्थति और मन्थति । √बिदि धातु का अर्थ अवयव है । बिन्दति (लट्) । इसका 'भिदि' पाठान्तर भी है—भिन्दति । √गडि धातु मुख का एक अवयव गण्डस्थल का प्रतिपादक है अर्थात् वदनैकदेशार्थक है । √गडि ('इ' की इत्संज्ञा, लोप—लट्=तिप्='ति', शप्-'अ')—गड् अ ति ('नुम्'—'इदितो नुम्धातोः' न्=– 'नश्चापदान्तस्य झलि' परसवर्ण 'ण्')=गण्डति ।

√चदि धातु आह्लादनार्थक है । चन्दति (लट्) । √त्रदि धातु चेष्टार्थक है । √कदि, क्रदि एवं क्लदि धातुएँ आह्वानार्थक=पुकारने के अर्थ में एवं रोदनार्थक है ।

√क्लिदि धातु परिदेवनार्थक=विलाप करने के अर्थ में है । √तकि धातु कष्टपूर्वक जीवन धारणार्थक है । √युगि, जुगि और वुगि धातुएँ वर्जनार्थक है । √मघि धातु मण्डनार्थक=भूषणार्थक है । मङ्घति । √'शिघि' का अर्थ आघ्राण=सूँघना है । शिङ्घति ।

√मन्थ धातु विलोडनार्थक है । (१) √मन्थ्=लट्=तिप्='ति' शप्-'अ'=मन्थति । (२) √मन्थ्+लिट् (तिप्=णल्='अ')—मन्थ् अ (द्वित्व, हलादिशेष)=ममन्थ । (३) √मन्थ्+आशीर्लिङ् (तिप्='ति')—मन्थ् ति ('इ' का लोप, यासुट्=यास्, 'न्' का लोप—'अनिदिताम्०')=मथ्यात् ।

√अर्च धातु पूजा अर्थ में है ।

√अर्च्+लट् (ल्=प्र० पु० एकवचन तिप्=ति)—अर्च् ति (शप्-अ)=अर्चति ।

(५०६) पद—तस्मात्, नुट्, द्विहलः । अनुवृत्ति—अत आदेः । विधिसूत्र ।

कारात्परस्य नुट्। आनर्च। आनर्चतुः। आनर्चुः। अर्चिता। अर्चिष्यति। अर्चतु। आर्चत्। अर्चेत्। अर्च्यात्। आर्चीत्। आर्चिष्यत्। एवम्–अर्द गतौ याचने च। अति अदि बन्धने। वन षण सम्भक्तौ। वनति। ववान। (५०७) न शसदद-

---

इति कृतदीर्घः परामृश्यते। तदाह—दीर्घीभूतादिति। आनर्च। अर्चधातोः लिटचनुबन्धलोपे, तत्स्थाने तिपि, 'परस्मैपदानामि'त्यादिना तिपः णलादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति लोपे, 'अत आदेः' इत्यभ्यासाकारस्य दीर्घे 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति नुडागमेऽनुबन्धलोपे 'आनर्च' इति। आर्चत्। अर्चधातोः लुङि तिपि

मूलार्थ—द्विहल् धातु के दीर्घीभूत अकार से परे नुट् का आगम होता है। (लिट् लकार में) आनर्च। आनर्चतुः। आनर्चुः। इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'तस्मात्' पद से पूर्ववर्ती सूत्र 'अत आदेः' (७।४।७०) का ग्रहण होता है। तदनुसार—'दो हल् युक्त धातु के दीर्घ आकार से परे नुट् (न्) का आगम होता है।'

उदाहरण—(१) √अर्च्+लिट् (ल्=तिप्=णल्=अ)—अर्च् अ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—अ अर्च् अ (पूर्व 'अ'='आ'—दीर्घ—'अत आदेः')—आ अर्च् अ ('नुट्'='न्' का आगम–'तस्मान्नुड् द्विहलः')=आनर्च। (२) √अर्च्+लिट् (ल्=तस्=अतुस्)—अर्च् अतुस् (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—अ अर्च् अतुस् (दीर्घ, नुट्)—आनर्चतुस् (स्=र्=ः)=आनर्चतुः। (३) √अर्च्+लिट् (ल्=झि=उस्)—अर्च् उस् (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, दीर्घ, नुट्)—आनर्चुस् (स्=र्=ः)=आनर्चुः।

अर्च धातु, लिट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	आनर्च	आनर्चतुः	आनर्चुः
म० पु०—	आनर्चिथ	आनर्चथुः	आनर्च
उ० पु०—	आनर्च	आनर्चिव	आनर्चिम

(४) √अर्च्+लुट् (ल्=तिप्=ति)—अर्च् ति (शप् का बाधकर 'तास्'—'स्यतासी०' आर्धधातुक संज्ञा, इट्–इ का आगम—'आर्धधातु०')—अर्च् इ तास् ति (ति=डा='आ'—'लुटः प्रथमस्य डारौरसः')—अर्च् इ तास् आ (टि का लोप)=अर्चिता।

अर्च धातु, लुट् लकार

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अर्चिता	अर्चितारौ	अर्चितारः
म० पु०—	अर्चितासि	अर्चितास्थः	अर्चितास्थ
उ० पु०—	अर्चितास्मि	अर्चितास्वः	अर्चितास्मः

(५) √अर्च्+लृट् (ल्=तिप्=ति)—अर्च् ति ('स्य'—'स्यतासी०', आर्धधातुक संज्ञा, इट्)—अर्चि स्य ति (षत्व)=अर्चिष्यति।

√अर्च लृट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	ब०
प्र० पु०—	अर्चिष्यति	अर्चिष्यतः	अर्चिष्यन्ति
म० पु०—	अर्चिष्यसि	अर्चिष्यथः	अर्चिष्यथ
उ० पु०—	अर्चिष्यामि	अर्चिष्यावः	अर्चिष्यामः

शपि 'आडजादीनाम्' इत्याडागमे 'आटश्चे'ति वृद्धौ 'इतश्चे'तीकारलोपे 'आर्चत्' इति रूपम् ।

(६) √अर्च् + लोट् (ल्=तिप्=ति)—अर्च् ति (शप्-अ, इ=उ)=अर्चतु ।

अर्च, लोट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अर्चतु, अर्चतात्	अर्चताम्	अर्चन्तु
म० पु०—	अर्च	अर्चतम्	अर्चत
उ० पु०—	अर्चानि	अर्चाव	अर्चाम

√अर्च् + विधिलिङ् (ल्=तिप्=ति)—अर्च् ति (शप्, यास्=इय्, गुण, इलोप, 'य्' का लोप)=अर्चेत् ।

√अर्च विधिलिङ्

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अर्चेत्	अर्चेताम्	अर्चेयुः
म० पु०—	अर्चेः	अर्चेतम्	अर्चेत
उ० पु०—	अर्चेयम्	अर्चेव	अर्चेम

√अर्च् + आशीर्लिङ् (ल्=तिप्=ति)—अर्च् ति (यासुट्=यास्, 'इ' लोप, 'स्' का लोप)=अर्च्यात् ।

√अर्च आशीर्लिङ्

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अर्च्यात्	अर्च्यास्ताम्	अर्च्यासुः
म० पु०—	अर्च्याः	अर्च्यास्तम्	अर्च्यास्त
उ० पु०—	अर्च्यासम्	अर्च्यास्व	अर्च्यास्म

√अर्च् + लुङ् (ल्=तिप्=ति)—अर्च् ति ('इ' लोप, आट्, वृद्धि, च्लि=सिच्, इट्, ईट्, स् लोप, सवर्णदीर्घ)=आर्चीत् ।

√अर्च लुङ्

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	आर्चीत्	आर्चिष्टाम्	आर्चिषुः
म० पु०—	आर्चीः	आर्चिष्टम्	आर्चिष्ट
उ० पु०—	आर्चिषम्	आर्चिष्व	आर्चिष्म

√अर्च् + लृङ् (ल्=तिप्)—अर्च् ति (स्य, इट्, आट्, वृद्धि, षत्व, 'इ' लोप)=आर्चिष्यत् ।

अर्च लृङ्

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	आर्चिष्यत्	आर्चिष्यताम्	आर्चिष्यन्
म० पु०—	आर्चिष्यः	आर्चिष्यतम्	आर्चिष्यत
उ० पु०—	आर्चिष्यम्	आर्चिष्याव	आर्चिष्याम

इसी प्रकार अर्द धातु गमनार्थक एवं याचनार्थक है । अत एवं अद् धातु बन्धनार्थक है । वन और षण धातु संभक्त्यर्थक है । वनति (लट्) । ववान (लिट्) ।

शसददवादिगुणानाम् ६।४।१२६ । शसेर्ददेर्वकारादीनां गुणशब्देन भावितो योऽत्, तस्य च एत्वाभ्यासलोपौ न स्तः । ववनतुः । ववनुः । सनति ।ससान । सेनतुः । सेनुः । (५०८) ये विभाषा ६।४।४३ । जनसनखनामात्वं वा स्यात्यादौ क्ङिति । सायात् । सन्यात् । वज व्रज गतौ । व्रजति । वव्राज । व्रजिता । व्रजिष्यति । व्रजतु ।

---

(५०७) न शसददवादिगुणानामिति । शस, दद, वादि, गुण—एषां द्वन्द्वः, अवयवषष्ठी । 'अत एकहल्मध्ये' इत्यतोऽत् इत्यनुवर्तते । 'घ्वसोरेद्धा' इत्यतश्च 'एत्' इत्यनुवर्तते । अभ्यासलोपश्चेत्यप्यनुषज्यते । तदाह—शसेरित्यादि । ववनतुः । वनधातोर्लिटि तत्स्थाने तसि, 'परस्मैपदानामि'त्यादिना तसः स्थाने अतुसि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'त्यनेन द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इत्येत्वाभ्यासलोपे प्राप्ते, 'न शसददवादिगुणानाम्' इत्यनेन निषेधे, सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'ववनतुरि'ति । सनति । षण सम्भक्ताविति धातोः 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे ततः लटि, तिपि सार्वधातुकसंज्ञायां शपि 'सनति' इति ।

(५०८) ये विभाषा । अत्र 'जनसनखनां सञ्झलोः' इत्यतः 'जनसनखनामि'ति 'क्ङिति चे'त्यतः किति ङिति इति चानुवर्तन्ते । ये इत्यलाश्रयत्वात् यस्मिन्विधिरिति परिभाषया तदादिविधिः । अत आह—जनसनखनामिति । सायादिति । षण्धातोः षस्य सत्वे आशीर्लिङ्यनुबन्धलोपे तत्स्थाने तिपि 'इतश्चे'तीकारलोपे यासुडागमेऽनु-

---

(५०७) पद—न, शसददवादिगुणानाम् । अनुवृत्ति—अतः, एत्, अभ्यासलोपः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—शस्, दद्, वकारादि धातु और गुण शब्द से विहित अकार को एत्व एवं अभ्यासलोप नहीं होता । ववनतुः । ववनुः । सनति । ससान इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'गुण' शब्द से विहित गुण ('अ' कार) का ग्रहण होता है । 'अत एकहल्मध्ये०' (६।४।१२०) से 'अतः' तथा 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६।४।११९) सूत्र से 'एत्' और 'अभ्यासलोपश्च' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'शस् धातु, दद् धातु, वकारादि धातु एवं गुण शब्द से विहित अकार के स्थान में एकार एवं अभ्यास का लोप नहीं होता' ।

उदाहरण—(१) √वन+लिट् (ल्=तस्=अतुस्)—वन अतुस् (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, एत्व-अभ्यासलोप का निषेध—'न शसददवादिगुणानाम्')—ववनतुस् (स्=र्=ः) =ववनतुः । (२) √वन+लिट् (=झि=उस् पूर्वोक्त कार्य)=ववनुः । (३) √षण (ष्=स्)—सन्+लट् (ल्=तिप्=ति, शप्)=सनति । लिट् में—ससान । सेनतुः । सेनुः । इत्यादि ।

(५०८) पद—ये, विभाषा । अनुवृत्ति—जनसनखनाम्, किति, ङिति । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—यकारादि कित् ङित् के परवर्ती रहने पर जन्, सन् और खन् धातु को विकल्प से आत्व होता है ।

विमर्श—यहाँ 'जनसनखनां सञ्झलोः' (६।४।४२) से 'जनसनखनाम्' 'क्ङिति च' से 'किति, ङिति' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'ये' अलाश्रय होने से तदादि विधि होती है । अतः पूर्वोक्त अर्थ निष्पन्न होता है ।

उदाहरण—(१) √षण् (ष्=स्)—सण्+आशीर्लिङ् (ल्=तिप्=ति, 'इ' का लोप,

अव्रजत् व्रजेत् । व्रज्यात् । (५०९) वदव्रजहलन्तस्याचः ७।२।३ । एषामचो वृद्धिः स्यात् परस्मैपदे सिचि । अव्राजीत् । अव्रजिष्यत् । कटे वर्षावरणयोः । कटति । चकाट । कटिता । कटिष्यति । कटतु । अकटत् । कटेत् । कटचात् । (५१०) ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् ७।२।५ । हमयान्तस्य, क्षणादेर्ण्यन्तस्य, श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्नेडादौ सिचि । अकटीत् । अकटिष्यत् । गुपू रक्षणे । (५११) गुपूधूप-

---

बन्धलोपे लिङः आर्धधातुकत्वेन शपोऽभावे आशीर्लिङः कित्त्वात् 'ये विभाषा' इति विकल्पेनात्वे 'स्कोः' इति सलोपे सवर्णदीर्घे 'सायात्' इति रूपम् ।

(५०९) **वदव्रज इति** । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेष्वि'त्यनुवर्तते । **अव्राजीत्** । व्रजधातोः लुङि तत्स्थाने तिपि, 'इतश्च' इतीकारलोपे, अडागमेऽनुबन्धलोपे च्लौ, तस्य सिजादेशेऽनुबन्धलोपे आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीटि, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे 'अव्राजीत्' इति ।

(५१०) **ह्म्यन्त०** । ह्, म्, य् इत्येते वर्णा येषामन्ते ह्म्यन्ताः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया णिग्रहणेन तदन्तग्रहणम् । 'सिचि वृद्धी'त्यतः सिचीति, 'नेटी'ति चानुवर्तते । तदाह—**हमयान्तस्येत्यादिना । अकटीत्** । कट्धातोः लुङस्तिपि, तिपः इकारस्य 'इतश्चे'ति लोपे, अडागमेऽनुबन्धलोपे, शपं प्रबाध्य च्लौ, च्लेः सिचि, आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीटि, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईडागमेऽनुबन्ध-

---

यासुट्=यास्)—सन् यास् त् (आशीर्लिङ् के कित होने से विकल्प से आत्व—'ये विभाषा' 'स्' का लोप—'स्कोः०')—स आ यत् (सवर्णदीर्घ)=सायात् । आत्व के अभाव पक्ष में—सन्यात् ।

वज और व्रज धातु गत्यर्थक हैं । लट्—व्रजति । लिट्—वव्राज । लुट्—व्रजिता । लृट्—व्रजिष्यति । लोट्—व्रजतु । लङ्—अव्रजत् । विधिलिङ्—व्रजेत् । आशीर्लिङ्—व्रज्यात् ।

(५०९) पद—वदव्रजहलन्तस्य, अचः । **अनुवृत्ति**—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—परस्मैपद सिच् के परवर्ती रहने पर वद, व्रज और हलन्त धातु के अङ्गावयव अच् को वृद्धि होती है ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । पूर्वसूत्र 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (७।२।१) की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार "परस्मैपद परक 'सिच्' के परवर्ती रहने पर वद, व्रज और हलन्त धातुओं के अङ्गावयव अच् को वृद्धि होती है" ।

उदाहरण—(१) व्रज्+लुङ् (ल्=तिप्=ति, 'इ' का लोप, अट्)—अ व्रज् त् (च्लि=सिच्=स्, आर्धधातुक संज्ञा, इट्, ईट्, अ='आ'—वृद्धि—'वदव्रज०' 'स्' का लोप, सवर्णदीर्घ)=अव्राजीत् । (२) लृङ् में—अव्रजिष्यत् ।

कटे वर्षाऽऽवरणयोः— √कट धातु का अर्थ वर्षा और आवरण=(ढँक देना) है । कटति (लट्) । चकाट (लिट्) । कटिता (लुट्) । कटिष्यति (लृट्) । कटतु (लोट्) । अकटत् (लङ्) । कटेत् (विधिलिङ्) । कट्यात् (आशीर्लिङ्) ।

(५१०) पद—ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्वि एदिताम् । **अनुवृत्ति**—सिचि, नेटि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इडादि सिच् के परवर्ती रहने पर हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त धातु तथा क्षण, श्वस, जागृ और ण्यन्त, श्वि एवं एदित् धातु को वृद्धि नहीं होती । अकटीत् । अकटिष्यत् ।

विच्छिपणिपनिभ्य आयः ३।१।२८ । एभ्य आय प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे । 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ती'ति न्यायात् । **(५१२) सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२ ।** सनादयः कर्मेणिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञाः स्युः ।

सन् क्यच् काम्यच् क्यङ् क्यषोऽथाऽऽचारक्विब् णिज्यङौ तथा ।
यगाय ईयङ् णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः ॥ १ ॥

'सनाद्यन्ता धातवः' इत्यस्यानन्तरं 'भूवादय' इत्येव सूत्रयितुं युक्तम् । धातुत्वाल्ल-

---

लोपे 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'ह्मयन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' इति तन्निषेधे 'इट ईटि' इति सलोपे सिज्लोपस्य सिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'अकटीत्' इति ।

(५११) **एभ्य इति ।** गुपू धूप विच्छि पणि पनि इत्येभ्य इत्यर्थः ।

(५१२) **सनाद्यन्ता इति ।** सन् आदिर्येषां ते सनादयः णिङ्प्रत्ययपर्यन्ताः, ते अन्ते येषां ते सनाद्यन्ता इति विग्रहः । तदाह—**सनादय इति । गोपायति ।** ऊदित्—गुप् धातोः 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इति आयप्रत्यये, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यनेनार्धधातुकसंज्ञायां 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति गुणे, 'गोपाय' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां, लटि तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'गोपायति' इति रूपम् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सिचि वृद्धिः०' (७।२।१) से 'सिचि' पद की और 'नेटि' (७।२।४) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा के द्वारा सूत्रस्थ 'णि' से तदन्त (ण्यन्त) का ग्रहण होता है । तदनुसार पूर्वोक्त सूत्रार्थ होता है ।

उदाहरण—(१) √कट्+लुङ् (ल्=तिप्=ति, अट्, 'इ' का लोप)—अ कट् त् (च्लि =सिच्, आर्धधातुक संज्ञा, इट्, ईट्)—अ क ट् इ स् ई त् ('अतो हलादेर्लघोः' से प्राप्त वृद्धि का 'ह्मयन्तक्षणश्वस०' से निषेध, 'स्' का लोप—'इट ईटि', सवर्णदीर्घ)=अकटीत् । (२) लृङ् में—अकटिष्यत् ।

√गुपू धातु का अर्थ रक्षा करना है ।

(५११) पद—गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्यः, आयः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—गुप्, धूप्, विच्छ्, पण्, पन् धातुओं से स्वार्थ में आय प्रत्यय होता है ।

विमर्श—स्वार्थ में विधान होने से 'आय' स्वार्थिक प्रत्यय है । स्वार्थ में वे प्रत्यय होते हैं, जिनका स्वतन्त्र अर्थ नहीं बतलाया गया है ।

(५१२) पद—सनाद्यन्ताः, धातवः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—'सन्' से लेकर 'कर्मेणिङ्' सूत्र से विहित 'णिङ्' प्रत्यय पर्यन्त बारह प्रत्ययान्तों की धातुसंज्ञा होती है ।

विमर्श—सन्क्यच्० इत्यादि कारिका में सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, आचार अर्थ में क्विप्, णिच्, यङ्, यक्, आय, ईयङ् और णिङ्—ये बारह सनादि प्रत्ययों का परिगणन किया गया है । ये सनादि प्रत्यय जिनके अन्त में हों उन शब्दों की धातुसंज्ञा होती है ।

वस्तुतः 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र के बाद 'भूवादयः' इतना ही सूत्र उचित है । क्योंकि 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातवः' पद की अनुवृत्ति आने से सूत्रार्थ पूर्ण हो जाता है ।

धातु संज्ञा होने पर लट् आदि लकारों की उपस्थिति होती है ।

उदाहरण—(१) √गुपू (ऊ की इत्संज्ञा)—गुप्+आय—('गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य

डादयः। गोपायति। (५१३) आयादय आर्धधातुके वा ३।१।३१। आर्धधातुकविवक्षायामायेयङ्णिङो वा स्युः। *कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिटि*। कास आम्विधानान्मस्य नेत्वम्। (५१४) अतो लोपः ६।४।४८। आर्द्धधातुकोपदेशे यददन्तं तस्यातो लोप आर्द्धधातुके। (५१५) आमः २।४।८१। आमः परस्य लुक्। (५१६) कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ३।१।४०। आमन्तात्लिट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयु-

---

(५१३) आयः आदिर्येषां ते आयादयः। आय इयङ् णिङ् चेति अत्र आयादयः।

(५१४) अतो लोप इति। 'अनुदात्तोपदेशवनती'त्यतः उपदेशग्रहणमनुवर्तते। 'आर्द्धधातुके' इत्यधिकृतम्। तदाह—आर्धधातुकोपदेश इति।

(५१५) आम इति। 'मन्त्रे घसह्वरे'त्यतः 'लेरि'ति; 'ण्यक्षत्रियार्ष०' इत्यतः लुगिति चानुवर्तते। तदाह—आमः परस्येति।

(५१६) कृञ्चानुप्रयुज्यत इति। कास्प्रत्ययादामित्यतः आमित्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणम्यते। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणम्। तदाह—आमन्तादिति।

आयः' आर्धधातुक संज्ञा, गुण—'पुगन्त०')—गोपाय (धातुसंज्ञा—'सनाद्यन्ता धातवः' लट्—ल्=तिप्=ति, सार्वधातुक संज्ञा, शप्-अ)—गोपाय अ ति (अ+अ='अ' पररूप 'अतो गुणे')=गोपायति।

(५१३) पद—आयादयः, आर्धधातुके, वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्यय की विवक्षा में आय, ईयङ् एवं णिङ् विकल्प से होता है।

वा०—लिट् के परवर्ती रहने पर 'कास्' धातु और 'अनेकाच्' धातु से 'आम्' प्रत्यय होता है। 'कास्' को 'आम्' विधान करने से 'म्' की इत्संज्ञा नहीं होती। यदि 'आम्' का मकार इत्संज्ञक हो तो मित् होने से 'आम्' अन्त्य अच् के आगे होगा और 'क्+आ+आ+स्' ऐसी अवस्था में सवर्णदीर्घ होने पर 'कास्' पूर्ववत् रूप ही रहेगा। इस प्रकार 'आम्' विधान ही व्यर्थ होगा। अतः 'कास्' को 'आम्' विधान सामर्थ्य से यह सूचित होता है कि 'आम्' के 'म्' की इत्संज्ञा नहीं होती।

(५१४) पद—अतः, लोपः। **अनुवृत्ति**—उपदेशः, आर्धधातुके। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आर्धधातुक उपदेशकाल में जो अकारान्त, उसके अकार का लोप होता है, आर्धधातुक के परे रहने पर।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में—'आर्धधातुके' (६।४।४६) का अधिकार है। 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) सूत्र से 'उपदेश' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'आर्धधातुक के उपदेश काल में जो अदन्त अङ्ग, उसके अकार का आर्धधातुक के परे रहने पर लोप होता है।

(५१५) पद—आमः। **अनुवृत्ति**—लेः, लुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'आम्' से परवर्ती 'लिट्' का लुक् होता है।

विमर्श—यहाँ 'मन्त्रे घसह्वर०' (२।४।८०) से 'लेः'[1] तथा 'ण्यक्षत्रियार्ष०' (२।४।५८) सूत्र से 'लुक्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'आम्' से परे लिट् का लुक् होता है।

(५१६) पद—कृञ्, च, अनुप्रयुज्यते, लिटि। **अनुवृत्ति**—आम्। **विधिसूत्र।**

---

१. 'लेः' इति निरनुबन्धग्रहणात् च्लि, लिट्, लि—सर्वं ग्राह्यम्।

ज्यन्ते । तेषां द्वित्वादि । (५१७) उरत् ७।४।६६ । अभ्यासस्य ऋतोऽत्स्यात्प्रत्यये । प्रत्यये किम् ? वव्रश्च । वृद्धिः । गोपायाञ्चकार । द्वित्वात्परत्वाद्यणि प्राप्ते । (५१८) द्विर्वचनेऽचि १।१।५९ । द्वित्वनिमित्तेऽचि परेऽच आदेशो न स्याद् द्वित्वे

---

(५१७) **उरदिति ।** 'उरि'ति ऋ इत्यस्य षष्ठ्येकवचनम् । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यतः अभ्यासस्येत्यनुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । **फलितमाह—अभ्यासस्येति । गोपायाञ्चकार ।** गुप्धातोः 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इति सूत्रेणायप्रत्यये प्राप्ते तं प्रबाध्य 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पेनायप्रत्यये कृते 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां गोपायधातोः लिटि 'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यः' इत्याम्प्रत्यये आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे 'आमः' इति लिटो लुकि, लिटः कृत्वात्प्रत्ययलक्षणेन गोपायामित्यस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुबुत्पत्तौ 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति सूत्रेण लिट्परककृञनुप्रयुज्यमाने 'गोपायाम् कृ लिट्' इति जाते, लिटस्तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यनेन अभ्यासऋवर्णस्याकारे 'उरण् रपरः' इति रपरे 'गोपायाम् कर् कृ अ' इति स्थिते, 'हलादिः शेषः' इति रेफलोपे 'कुहोश्चुः' इति ककारस्य चकारे, मकारस्यानुस्वारे 'वा पदान्तस्ये'ति सूत्रेण वैकल्पिकपरसवर्णे गुणे, रपरे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ गोपायाञ्चकार इति ।

(५१८) **द्विर्वचनेऽचीति ।** 'अचः परस्मिन्नि'त्यतः अच इति, 'स्थानिवदादेश'

मूलार्थ—आमन्त से परे लिट्परक कृ, भू और अस् धातुओं का अनुप्रयोग होता है। उन अनुप्रयुक्त कृ आदि को द्वित्व आदि कार्य होते हैं।

विमर्श—'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (३।१।३५) से अनुवृत्त 'आम्' पद का पञ्चमी में विपरिणाम होता है। प्रत्ययग्रहण परिभाषा से तदन्त का ग्रहण होने से—'आमन्त तदादि से परे लिट्परक कृ, भू, अस् का अनुप्रयोग होता है'। अनु=पश्चात्, प्रयोगः=उच्चारणम्।

(५१७) पद—उः, अत्। **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अभ्यास के ऋ वर्ण को अत् (अ) होता है।

विमर्श—यहाँ 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' पद की अनुवृत्ति आ रही है। ऋ का षष्ठी विभक्ति के एकवचन में 'उः' रूप बनता है। तदनुसार—"अभ्यास के 'ऋ' वर्ण के स्थान में अत् (=अ) आदेश होता है; प्रत्यय के परवर्ती रहने पर"। यहाँ 'अङ्गस्य' के अधिकार के कारण प्रत्यय के परे रहने पर ही 'ऋ' को 'अत्' होता है। प्रत्यय ग्रहण का फल 'वव्रश्च' है।

उदाहरण—(१) गुप् (लिट् को बाधकर 'आय' विकल्प से—'आयादय०' गुण)—गोपाय ('सनाद्यन्ता'० से धातुसंज्ञा, लिट्, आम्—'कास्यनेकाच् आम्वक्तव्यः', 'अ' का लोप—'अतो लोपः', लिट् का लुक्—'आमः')—गोपायाम् (लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग)—गोपायाम् कृ लिट् (ल्=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ऋ=अ, 'उरत्', रपर—'उरण् रपरः')—गोपायाम् कर् कृ अ ('र्' का लोप—'हलादिः शेषः', क्=च्—'कुहोश्चुः')—गोपायाम् च कृ अ (म्=ं-अनुस्वार, परसवर्ण, 'अचो ञ्णिति' से विहित वृद्धि का बाधकर 'सार्वधातु०' से गुण, रपर, अ='आ' वृद्धि—'अत उपधायाः')=गोपायाञ्चकार।

(५१८) पद—द्विर्वचने, अचि। **अनुवृत्ति**—अचः, आदेशः, न। **विधिसूत्र (निषेध)।**

कर्तव्ये । गोपायाञ्चक्रतुः । गोपायाञ्चक्रुः । (५१९) एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१० । उपदेशे यो धातुरेकाजनुदात्तश्च ततः परस्य वलादेरार्द्धधातुकस्येण्न ।

ऊदृदन्तैर्यौतिरुक्ष्णुशीङ्स्नुनुक्षुश्विडीङ्श्रिभिः ।
वृङ्वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ॥ १ ॥

इत्यत 'आदेश' इति, 'न पदान्ते'त्यतः नेति चानुवर्तते । द्विर्वचन इत्यावर्त्यते । तदाह—**द्वित्वनिमित्त इत्यादिना ।**

(५१९) **एकाच इति ।** 'ऋत इद्धातोः' इत्यस्माद् धातोरित्यनुवर्तते । 'नेड् वशि कृती'त्यतः नेति चेति । तदाह—**उपदेश इत्यादि ।** अनुदात्ताः के ? इत्याकाङ्क्षायामाह—**ऊदिति ।** ऊकारान्ताः, ॠकारान्ताः यु, रु, क्ष्णु, शीङ्, स्नु, णु, टुक्षु, टुओश्वि, डीङ्, श्रिञ्, वृङ्, वृञ्—एतान् धातून् वर्जयित्वा एकाचः अजन्तधातवः अनुदात्ता अनिट इत्यर्थः । अस्यां कारिकायां सेट्धातुसङ्ग्रहः । एतदग्रे चानिटां हलन्तानां

मूलार्थ—द्वित्व-निमित्तक अच् के परवर्ती रहने पर अच् को आदेश नहीं होता; यदि द्वित्व कर्तव्य रहे तो । गोपायाञ्चक्रतुः । गोपायाञ्चक्रुः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अचः परस्मिन्०' से 'अचः' 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१।१।५६) से 'आदेशः' और 'न पदान्त०' (१।१।५८) से 'न' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'द्वित्व-निमित्तक अच् (अजादिप्रत्यय) परे रहने पर अच् के स्थान में आदेश नहीं होता, द्वित्व करना हो तो' ।

उदाहरण—(१) पूर्ववत् गोपायाम् कृ+अतुस् (यहाँ धातु के एकाच् को द्वित्व और ऋ='र्' यण प्राप्त हुआ । द्वित्व की अपेक्षा पर होने से 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से यण् प्रबल होने के कारण प्राप्त हुआ, उसका 'द्विर्वचनेऽचि' से निषेध, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ' 'उरत्' रपर, हलादिशेष, 'क'='च्')—गोपायाम् च कृ अतुस् (अनुस्वार, परसवर्ण, ऋ=र् 'यण्', स्=र्=ः)=गोपायाञ्चक्रतुः । (२) लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन में—गोपायाञ्चक्रुः ।

(५१९) पद—एकाचः, उपदेशे, अनुदात्तात् । **अनुवृत्ति**—धातोः, न । **विधिसूत्र (निषेध)** ।

मूलार्थ—उपदेशावस्था में एकाच् और अनुदात्त धातु से परवर्ती आर्धधातुक को इट् का आगम नहीं होता ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ऋत इद्धातोः' (७।१।१००) से 'धातोः' और 'नेड् वशि कृति' (७।२।८) से 'न' पद की अनुवृत्ति आती है । प्रसङ्गवशात् 'आर्धधातुकस्येड्' का अनुकर्षण होता है । तदनुसार—'उपदेश अवस्था में जो धातु एकाच् और अनुदात्त हो, उससे परवर्ती आर्धधातुक को इट् का आगम नहीं होता ।

धातुपाठ में धातुओं का उपदेश किया गया है, उससे एकाच् और अनेकाच् धातुओं का परिज्ञान हो जाता है । परन्तु अमुक धातु अनुदात्त है या नहीं ? यह जानना कठिन है । क्योंकि किसी भी धातुपाठ में अनुदात्त अंकित नहीं है । अनुदात्त का कोई चिह्न-विशेष भी नहीं है । यह निर्णय भाष्यकार और वृत्तिकार आदि आचार्यों के कथनानुसार गुरु-परम्परया ही हो सकता है । अतः तदनुसार ही प्रकृत ग्रन्थ में परिगणन किया गया है—

ऊदृदिति—ऊकारान्त और ॠकारान्त धातु तथा 'यु' मिश्रणामिश्रणयोः (अदादि)=मिलाना, पृथक् करना, रु शब्दे (अदादि)=शब्द करना, क्ष्णु तेजने (अदादि)=तेज करना,

कान्तेषु शक्ल्‌ एकः। चान्तेषु पच्‌-मुच्‌-रिच्‌-वच्‌-विच्‌-सिचः षट्‌। छान्तेषु प्रच्छचेकः। जान्तेषु त्यज्‌-निजिर्‌-भज्‌-भञ्ज्‌-भुज्‌-भ्रस्ज्‌-मस्ज्‌-यज्‌-युज्‌-रुज्‌-रञ्ज्‌-विजिर्‌-सञ्ज्‌-स्वञ्ज्‌-सृजः पञ्चदश। दान्तेषु अद्‌-क्षुद्‌-खिद्‌-छिद्‌-तुद्‌-नुद्‌-पद्य-भिद्‌-विद्य-विनद्‌-विन्द्‌-शद्‌-सद्‌-स्विद्य-स्कन्द-हदः षोडश। धान्तेषु क्रुध्‌-क्षुध्‌-बुध्य-बन्ध्‌-युध्‌-रुध्‌-

---

धातूनां सङ्ग्रहः। यथा—कान्तेष्वित्यादि। गोपायाञ्चकर्थ। गोपायाम्‌ कृ थ इति स्थिते 'लिट्‌ च' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम्‌ 'आर्धधातुकस्येड्‌ वलादेः' इतीडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्‌' इति तन्निषेधे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्‌' इत्यत्वे रपरे हलादिशेषे चुत्वेऽनुस्वारे परसवर्णे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरत्वे 'गोपायाञ्चकर्थ'

शीङ्‌ स्वप्ने (अदादि)=सोना, स्नु प्रस्रवणे (अदादि)=चूना, नु स्तुतौ (अदादि)=स्तुति करना, टु क्षु शब्दे (अदादि)=शब्द करना, छींकना; टुओश्वि गतिवृद्ध्योः (भ्वादि)=जाना और बढ़ना, डीङ्‌ विहायसा गतौ (दिवादि)=उड़ना, श्रिञ्‌ सेवायाम्‌ (भ्वादि)=सेवा करना और आश्रय लेना, वृङ्‌ सम्भक्तौ (क्र्यादि)=सेवा करना, वृञ्‌ वरणे (स्वादि)=स्वीकार करना—इन बारह धातुओं को छोड़कर शेष अजन्त एवम्‌ एकाच्‌ धातु हैं। (इस कारिका में सेट्‌ धातुओं का संग्रह किया गया है। कारिका के 'निहता' पद का अर्थ अनुदात्त है। अतः उक्त धातुओं को छोड़कर शेष एकाच्‌ अजन्त धातुएँ अनुदात्त हैं।)

आगे हलन्त एकाच्‌ धातुओं का परिगणन किया गया है, जो इस प्रकार हैं—

१ ककारान्त—शक्लृ शक्तौ (स्वादि)=सकना।

६ चकारान्त—१. पच्‌ पाके (भ्वादि)=पकाना, २. मुच्‌ मोक्षणे (तुदादि)=छोड़ना, ३. रिच्‌ विरेचने (रुधादि)=दस्त होना, ४. वच्‌ परिभाषणे (अदादि)=निन्दा करना, ५. विच्‌ पृथग्भावे (रुधादि)=अलग होना, ६. सिच्‌ क्षरणे (तुदादि)=सींचना।

१ छकारान्त—पृच्छि ज्ञीप्सायाम्‌ (तुदादि)=पूछना।

१५ जकारान्त—१. त्यज्‌ हानौ (भ्वादि)=त्यागना, २. निजिर्‌ शौचपोषणयोः (जुहोत्यादि)=शुद्ध करना, बढ़ाना, ३. भज सेवायाम्‌ (भ्वादि)=सेवा करना, ४. भञ्ज्‌ आमर्दने (रुधादि)=तोड़ना, ५. भुज पालनाभ्यवहारयोः (रुधादि)=पालन करना, खाना, ६. भ्रस्ज्‌ पाके (तुदादि)=भूनना, ७. मस्ज्‌ शुद्धौ (तुदादि)=पवित्र करना, डुबकी लगाना, ८. यज्‌ देवपूजासु (भ्वादि)=यज्ञ करना, ९. युजिर्‌ योगे (रुधादि)=जोड़ना, १०. रुज भङ्गे (तुदादि)=तोड़ना, ११. रञ्ज्‌ रागे (दिवादि, भ्वादि)=रंगना, अनुरक्त होना, १२. विजिर्‌ पृथग्भावे (जुहोत्यादि)—अलग होना, १३. स्वञ्ज्‌ परिष्वङ्गे (भ्वादि)=आलिङ्गन करना, १४. सञ्ज सङ्गे (भ्वादि)=मिलना, १५. सृज्‌ विसर्गे (दिवादि)=छोड़ना।

१६ दकारान्त—१. अद्‌ भक्षणे (अदादि)=खाना, २. क्षुद्‌ सम्पेषणे (रुधादि)=पीसना, ३. खिद्‌ दैन्ये (दिवादि)=खेद प्रकट करना, ४. छिद्‌ द्वैधीभावे (रुधादि)=काटना, ५. तुद्‌ व्यथने (तुदादि)=कष्ट पहुँचाना, ६. नुद्‌ प्रेरणे (तुदादि)=प्रेरित करना, ७. पद्य गतौ (दिवादि)=जाना, ८. भिद्‌ विदारणे (रुधादि)=तोड़ना, ९. विद्‌ सत्तायाम्‌ (दिवादि)=होना, १०. विनद्‌ विचारणे (तुदादि)=विचार करना, ११. विन्द्‌ लाभे (तुदादि)=प्राप्त करना, १२. शद्‌ शातने (भ्वादि)=नष्ट करना, १३. सद्‌ विशरणगत्यादिषु (भ्वादि)=नष्ट होना, जाना, १४. स्विद्य्‌ गात्रप्रक्षरणे (दिवादि)=पसीजना, १५. स्कन्द्‌ गतिशोषणयोः (भ्वादि)=जाना, सुखाना, १६ हद्‌ पुरीषोत्सर्गे (भ्वादि) =मल त्याग करना।

राध्-व्यध्-शुध्-साध्-सिध्या एकादश। नान्तेषु मन्य-हनौ द्वौ। पान्तेषु आप्-क्षिप्-छुप्-तप्-तिप्-तृप्य-दृप्य-लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपः त्रयोदश। भान्तेषु यभ्-रभ्-लभस्त्रयः। मान्तेषु गम्-नम्-रम्-यमश्चत्वारः। शान्तेषु क्रुश्-दंश्-दिश्-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-लिश्-विश्-स्पृशो दश। षान्तेषु कृष्-त्विष्-तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्या एकादश। सान्तेषु घस् वसती द्वौ। हान्तेषु दह्-दुह्-दिह्-नह्-मिह-रुह-लिह-वहोऽष्टौ।

इति। आयप्रत्ययाभावे तु गुप्धातोः लिटि तत्स्थाने सिपि सिपः थलादेशेऽनुबन्ध-लोपे आर्धधातुकसंज्ञायां द्वित्वेऽभ्यासत्वेऽभ्यासकार्ये 'जुगुप् थ', इति जाते 'पुगन्त०' इति गुणे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति नित्यमिडागमे प्राप्ते, तं प्रबाध्य 'स्वरतिसूति-सूयतिधूञूदितो वा' इति वैकल्पिकेडागमे 'जुगोपिथ' इति। इडभावे तु 'जुगोप्थे'ति

---

११ धकारान्त—१. क्रुध् क्रोधे (दिवादि)=क्रोध करना, २. क्षुध् बुभुक्षायाम् (दिवादि) =भूख लगना, ३. बुध् अवगमने (दिवादि)=जानना, ४. बन्ध् बन्धने (क्र्यादि)=बाँधना, ५. युध् सम्प्रहारे (दिवादि)=युद्ध करना, ६. रुध् आवरणे (रुधादि)=रोकना, ७. राध् संसिद्धौ (दिवादि)=सिद्ध करना, ८. व्यध् ताडने (तुदादि)=मारना, ९. शुध् शौचे (दिवादि)=पवित्र होना, १०. साध् संसिद्धौ (दिवादि)=सिद्ध करना, ११. सिध्य् संराद्धौ (दिवादि)=सिद्ध होना।

२ नकारान्त—१. मन्ये ज्ञाने (दिवादि)=जानना, मानना, २. हन् हिंसागत्योः (अदादि) =मारना, जाना।

१३ पकारान्त—१. आप् व्याप्तौ (स्वादि)=प्राप्त करना, २. क्षिप् स्पर्शे (तुदादि)=छूना, ३. छुप् प्रेरणे (तुदादि)=फेंकना, ४. तप् सन्तापे (भ्वादि)=तपना, ५. तिप् क्षरणार्थे (भ्वादि)=टपकना, ६. तृप्य प्रीणने (दिवादि)=प्रसन्न करना, ७. लिप् दृप्तौ (दिवादि)= गर्वित होना, ८. लिप् उपदेहे (तुदादि)=लीपना, ९. लुप् छेदने (तुदादि)=काटना, १०. वप् बीजसन्ताने (भ्वादि)=बोना, ११. शप् उपालम्भे (भ्वादि)=शाप देना, १२ स्वप् शये (अदादि)=सोना, १३. सृप् गतौ (भ्वादि)=चलना।

३ भकारान्त—१. यभ् मैथुने (भ्वादि)=मैथुन करना, २. रभ् राभस्ये (भ्वादि)= प्रारम्भ करना, ३. लभ् प्राप्तौ (भ्वादि)=पाना।

४ मकारान्त—१. गम् गतौ (भ्वादि)=जाना, २. नम् प्रह्वत्वे शब्दे च (भ्वादि)= प्रणाम करना, शब्द करना, ३. यम् उपरमे (भ्वादि)=शान्त होना, ४. रम् क्रीडायाम् (भ्वादि)=रमण करना।

१० शकारान्त—१. क्रुश् आक्रोशे (भ्वादि)=चिल्लाना, २. दंश् दशने (भ्वादि)= डसना, ३. दिश् अतिसर्जने (तुदादि)=दान करना, ४. दृश् प्रेक्षणे (भ्वादि)=देखना, ५. मृश् आमर्शने (तुदादि)=स्पर्श करना, ६-७. रिश्, रुश् हिंसायाम् (तुदादि)=हिंसा करना, ८. लिश् अल्पीभावे (तुदादि)=घटना, ९. विश् प्रवेशने (तुदादि)=प्रवेश करना, १०. स्पृश् संस्पर्शे (तुदादि)=छूना।

११ षकारान्त—१. कृष् विलेखने (भ्वादि, तुदादि)=हल जोतना, खींचना, २. त्विष् कान्तौ (भ्वादि)=चमकना, ३. तुष् तृप्तौ (दिवादि)=तृप्त होना, ४. द्विष् अप्रीतौ (अदादि) =द्वेष करना, ५. दुष् वैकृत्ये (दिवादि)=दूषित होना, ६. पुष्य् पुष्टौ (दिवादि)=पुष्ट होना, ७. पिष् सञ्चूर्णने (रुधादि)=पीसना, ८. विष् सेचने (भ्वादि)=सींचना, ९. शिष्

अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम् ॥

गोपायाञ्चकर्थ । गोपायाञ्चक्रथुः । गोपायाञ्चक्र । गोपायाञ्चकार, गोपायाञ्चकर । गोपायाञ्चकृव । गोपायाञ्चकृम । गोपायाम्बभूव । गोपायामास । जुगोप । जुगुपतुः ।

रूपम् । **गोपायाम्बभूव** । गुप्धातोः पाक्षिकायप्रत्यये गुणे धातुत्वाल्लिटि आम्प्रत्यये-ऽल्लोपे 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकभूप्रयोगे लिटस्तिपो णलि वुकि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे ह्रस्वेऽत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वे च 'गोपायाम्बभूव' इति ।

असर्वोपयोगे (रुधादि) बचना । १०. शुष् शोषणे (दिवादि)=सूखना, ११. श्लिष् आलिङ्गने (दिवादि)=आलिङ्गन करना ।

२ सकारान्त—१. घस् अदने (भ्वादि)=खाना, २. वस् निवासे (भ्वादि)=रहना ।

८ हकारान्त—१. दह् भस्मीकरणे (भ्वादि)=जलाना, २. दिह् उपचये (अदादि)=बढ़ना, ३. दुह् प्रपूरणे (अदादि)=दुहना, ४. नह् बन्धने (दिवादि)=बाँधना, ५. मिह् सेचने (भ्वादि)=सींचना, ६. रुह् बीजप्रादुर्भावे (भ्वादि)=उगना, ७. लिह् आस्वादने (अदादि)=चाटना, ८. वह् प्रापणे (भ्वादि)=ले जाना ।

इस प्रकार हलन्त धातुओं में १०३ अनुदात्त हैं । अतः अनुदात्त होने से इनको इट् का आगम नहीं होता ।

उदाहरण—(१) √गुप्+आय (गुण)—गोपाय (धातु संज्ञा, लिट्, आम्प्रत्यय, 'अ' का लोप, लिट् का लुक्)—गोपायाम् (लिट्परक कृ का अनुप्रयोग, लिट्=म० पु० एकवचन सिप्, सिप्=थल्—'परस्मैपदानाम्०')—गोपायाम् कृ थ (आर्धधातुक संज्ञा, 'इट्' आगम की प्राप्ति, 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से निषेध, 'कृ' का द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'—'उरत्', रपर हलादिशेष, 'क्'='च्' अनुस्वार, परसवर्ण)—गोपायाञ्चकृ थ (गुण—'सार्वधातु०' रपर) =गोपायाञ्चकर्थ ।

(२-३) गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र (म० पु० द्विवचन थस्=अथुस् और थ=अ, यहाँ अपित् लिट् होने से 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् होने के कारण प्राप्त गुण का निषेध होने पर 'यण्' होकर उक्त रूप बने ।)

(४) गोपायाम्+कृ+लिट् (ल्=मिप्=णल्=अ)—गोपायाम् कृ अ (द्वित्वादि अभ्यासकार्य, णल्—विकल्प से णित्—'णलुत्तमो वा', वृद्धि—'अचो ञ्णिति' रपर)=गोपायाञ्चकार । णित्वाभावपक्ष मे (गुण, रपर)=गोपायाञ्चकर ।

(५-६) उ० पु० द्विवचन, बहुवचन में—(इट् निषेध, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् होने से, गुण-निषेध, शेष कार्य पूर्ववत्)=गोपायाञ्चकृव, गोपायाञ्चकृम ।

(७) गोपायाम् (लिट्परक 'भू' का अनुप्रयोग)—गोपायाम् भू लिट् (पूर्ववत् कार्य, प्र० पु० ए० व० में)=गोपायाम्बभूव ।

(८) लिट्परक अस् के अनुप्रयोग में—गोपायामास । इसके रूप इस प्रकार चलेंगे—

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	गोपायामास	गोपायामासतुः	गोपायामासुः
म० पु०—	गोपायामासिथ	गोपायामासथुः	गोपायामास
उ० पु०—	गोपायामास	गोपायामासिव	गोपायामासिम

जुगुपुः । (५२०) **स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा ७।२।४४ । स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात् । जुगोपिथ । जुगोप्थ । गोपायिता । गोपिता । गोप्ता । गोपायिष्यति । गोपिष्यति । गोप्स्यति । गोपायतु । अगोपायत् । गोपायेत् । गोपाय्यात् । गुप्यात् । अगोपायीत् । (५२१) नेटि ७।२।४ । इडादौ सिचि हलन्तलक्षणा**

---

(५२०) **स्वरतीति** । 'आर्धधातुकस्येड् वलादेरि'त्यनुवर्तते । स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् ऊदित् एषां समाहारद्वन्द्वात्पञ्चम्येकवचनम् । फलितमाह—**स्वरत्यादेरिति** ।

(५२१) **नेटि** । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेष्वि'त्यनुवर्तते । 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इत्यप्यनुवर्तते । तदाह—**इडादावित्यादि** । **अगोपीत्** । आयप्रत्ययाभावे गुप्धातोः

---

(९) आय प्रत्यय के अभाव पक्ष में √गुप्+लिट् (तिप्=णल्='अ')—गुप् अ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'ग्'='ज्'—'कुहोश्चुः', गुण—'पुगन्त०')=जुगोप ।

(१०) तस्=अतुस् (पूर्ववत् कार्य)=जुगुपतुः ।

(११) गुप्+लिट् (=झि=उस् ; द्वित्वादिकार्य स्=र्=ः)=जुगुपुः ।

(५२०) पद—स्वरति, सूति, सूयति, धूञ्, ऊदितः, वा । **अनुवृत्ति**—वलादेः, आर्धधातुकस्य, इट् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—स्वरत्यादि और ऊदित् धातु से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' का आगम होता है । जुगोपिथ, जुगोप्थ इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'स्वृ, षूङ् (अदादि), षूङ् (दिवादि), धूञ् और ऊदित् धातुओं से परवर्ती वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम होता है' । प्रकृत √गुपू धातु में ऊकार की इत्संज्ञा होने से वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् होगा ।

उदाहरण—(१) आय के अभाव पक्ष में √गुप्+लिट् (=सिप्=थल्=थ)—गुप् थ (द्वित्व, अभ्यासकार्य)—जुगुप् थ (आर्धधातुक संज्ञा, गुण, विकल्प से इट्)=जुगोपिथ । इट् के न होने पर—जुगोप्थ ।

(२) √गुप+आय (विकल्प से, गुण)—गोपाय (धातु संज्ञा, लुट्=तिप्, तास्, इट्, 'अ' का लोप—'अतो लोपः' तिप्=डा=आ, टिलोप)=गोपायिता । **आय** के अभाव पक्ष में ऊदित् होने से विकल्प से इट्—गोपिता । इट् के अभाव पक्ष में—गोप्ता ।

(३) गुप् (विकल्प से आय, गुण)—गोपाय (धातु संज्ञा, लृट्=तिप्, स्य, इट्, 'अ' का लोप, षत्व)=गोपायिष्यति । आय प्रत्यय के अभाव पक्ष में—विकल्प से इट्=गोपिष्यति । इट् न होने पर—गोप्स्यति ।

(४) लोट् में—गोपायतु । (५) लङ् में—अगोपायत् । (६) विधिलिङ् में—गोपायेत् । (७) आशीर्लिङ् में—आयपक्ष में—गोपाय्यात् । अभावपक्ष में—गुप्यात् (कित् होने से—गुणनिषेध) ।

(८) लुङ् में—अगोपायीत् । (आय पक्ष में)

(५२१) पद—न, इटि । **अनुवृत्ति**—सिचि, वृद्धिः, हलन्तस्याचः । **विधिसूत्र (निषेध)** ।

मूलार्थ—इडादि सिच् के परवर्ती रहने पर हलन्त लक्षण वृद्धि नहीं होती । अगोपीत्, अगौप्सीत् ।

वृद्धिर्न स्यात् । अगोपीत् । अगौप्सीत् । (५२२) झलो झलि ८।२।२६ । झलः परस्य सस्य लोपः स्याज्झलि परे । अगौप्ताम् । अगौप्सुः । अगौप्सीः । अगौप्तम् । अगौप्त । अगौप्सम् । अगौप्स्व । अगौप्स्म । अगोपायिष्यत् । अगोपिष्यत् । अगोप्स्यत् । क्षि क्षये । क्षयति । चिक्षाय । चिक्षियतुः । चिक्षियुः । 'एकाच' इति निषेधे प्राप्ते ।

लुङस्तिपि, अटि, च्लौ, च्लेः सिचि, अनुबन्धलोपे आर्धधातुकसंज्ञायां गुणे, 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति विकल्पेन इडागमेऽनुबन्धलोपे 'इतश्चे'ति तिपः इकारलोपे, ईटि, 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'नेटि' इति निषेधे 'अगोपीत्' इति रूपम् । इडभावे तु 'अ गुप् स् इ त्' इति स्थिते 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'अगौप्सीत्' इति रूपद्वयम् ।

(५२२) **झलो झलीति** । झल इत्यत्र पञ्चमी । 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यस्मात् 'लोपः' इति, 'रात्सस्ये'त्यतः 'सस्ये'ति चानुवर्तते । तदाह—झलः परस्येत्यादिना । **अगौप्ताम्** । गुप्धातोर्लुङस्तसि, अटि, ततस्तमादेशे च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'झलो झलि' इति सस्य लोपे अगौप्तामिति । **चिक्षाय इति** । क्षिधातोः लिटि तत्स्थाने तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से 'सिचि, वृद्धि' की अनुवृत्ति आती है । पूर्वसूत्र 'वदव्रजहलन्तस्याचः' (७।२।३) की अनुवृत्ति होने से—'इडादि सिच् के परे रहने पर हलन्त धातु के अच् को वृद्धि का निषेध होता है' ।

उदाहरण—√गुप्+लुङ् (=तिप्=ति, अट् , च्लि=सिच्=स्, इ का लोप)—अ गुप् स् त (आर्धधातुक संज्ञा, गुण, विकल्प से इट्—'स्वरतिसूति०', ईट्)—अ गुप् इ स् ई त ('स्' का लोप—'इट ईटि', सवर्णदीर्घ, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से प्राप्त वृद्धि का 'नेटि' से निषेध)= अगोपीत । इट् के अभाव पक्ष में—'अ गुप् स् इ त्' (वृद्धि—'वदव्रज०')=अगौप्सीत् ।

(५२२) पद—झलः झलि । **अनुवृत्ति**—लोपः, सस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'झल्' से परवर्ती सकार का लोप होता है, 'झल्' के परे रहने पर । अगौप्ताम् । अगौप्सुः इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से 'लोपः' और 'रात्सस्य' (८।२।२४) से 'सस्य' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'झलः' में पञ्चमी विभक्ति है । अतः झल् से परे सकार का लोप होता है, झल् परे रहने पर ।

उदाहरण—(१)√गुप्+लुङ् (ल्=तस्=ताम् , अट्)—अ गुप् ताम् (च्लि=सिच्= स्, वृद्धि—'वदव्रजहलन्तस्याचः', 'स्' का लोप—'झलो झलि')=अगौप्ताम् । (२)√गुप्+ लुङ् (=झि=जुस्—'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च', जुस्=उस्, अट्)—अ गुप् उस् (च्लि=सिच् , वृद्धि, स्=र्= :)=अगौप्सुः । (३) √गुप्+लुङ् (=सिप् , अट् , इ लोप, ईट्, वृद्धि आदि कार्य)=अगौप्सीः । (४) गुप्+लुङ् (=थस्=तम् , अट्, च्लि=सिच्, वृद्धि, स् का लोप— 'झलो झलि')=अगौप्तम् । (५) गुप्+लुङ् (=थ=त, उक्त कार्य)=अगौप्त । (६) मिप्= अम् में—अगौप्सम् । (७-८) वस्, मस् में—व, म आदेश होकर—अगौप्स्व, अगौप्स्म । लृङ् में आर्धधातुक होने से 'आय' का विकल्प तथा ऊदित होने से विकल्प से इट् होने से तीन रूप बनते हैं—अगोपायिष्यत्, अगोपिष्यत् और अगोप्स्यत् ।

(५२३) कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि ७।२।१३। क्रादिभ्य एव लिट इण्न स्यात्, अन्यस्मादनिटोऽपि स्यात्। (५२४) अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ७।२।६१। उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट् ततः परस्य थल इण्न स्यात्। (५२५)

'हलादिः शेषः' इति षलोपे 'कि क्षि अ' इति जाते 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आयादेशे च कृते चिक्षाय इति।

(५२३) **कृसृभृ इति।** लिटीत्यत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी। 'नेड् वशि कृती'त्यतो नेति इडिति चानुवर्तते। 'एकाच' इति 'श्र्युकः किति' इति च सिद्धे नियमार्थमिदं सूत्रमिति आह—**क्रादिभ्य एवेति।** क्रादीनां चतुर्णां ग्रहणं नियमार्थमित्यर्थः। नियमप्रकारश्चेत्थम्—प्रकृत्याश्रयः प्रत्ययाश्रयो वा यावान् इण्निषेधः स लिटि चेर्त्तर्हि क्रादिभ्य एव नान्येभ्य इति। ततश्चतुर्णां थलि भारद्वाजनियमप्रापितस्य वमादिषु क्रादिनियमप्रापितस्य चेटो निषेधार्थं ग्रहणम्।

(५२४) **अचस्तास्वदिति।** अत्र 'उपदेशेऽत्वतः' इत्युत्तरसूत्रादुपदेश इत्यपकृष्यते, 'तासि च क्लृपः' इत्यतस्तासि, 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' इत्यतः इडिति, 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इत्यतो नेति चानुवर्तते। तास्वदित्यत्र सप्तम्यन्ताद्वतिः। तदाह—**उपदेश इति।**

√'क्षि' धातु का अर्थ 'विनाश होना' है। (१) √क्षि+लट् (ल्=तिप्=ति)—क्षि ति (सार्वधातुक सज्ञा, शप्, गुण, ऐ='अय्' आदेश)=क्षयति। (२) √क्षि+लिट् (ल्=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—कि क्षि अ ('क्'='च्'—'कुहोश्चुः', वृद्धि—'अचो ञ्णिति' ऐ=आय्)=चिक्षाय। (३) 'तस्' में—'चिक्षियतुः'। झि में—चिक्षियुः।

'थल्' में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से इट् का निषेध प्राप्त होता है।

(५२३) पद—कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवः, लिटि। **अनुवृत्ति**—न, इट्। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—कृ आदि धातुओं से ही परे लिट् को इट् नहीं होता, अन्य अनिट् धातुओं से परे लिट् को इट् होता है।

विमर्श—यहाँ 'नेड् वशि कृति' (७।२।८) से 'न' और 'इट्' पदों की अनुवृत्ति आती है। यद्यपि 'एकाच उपदेशे०' से इट् का निषेध सिद्ध है, फिर भी 'सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति' (सिद्ध होने पर भी जिस कार्य का पुनः विधान किया गया है, वह विधान नियमार्थ होता है।) वचन के अनुसार यह सूत्र नियम करता है कि—कृ सृ भृ इत्यादि धातुओं से ही लिट् न हो, अन्य धातु को लिट् में इट् होता है, चाहे वे धातु अनिट् ही क्यों न हों। 'क्षि' धातु में अनिट् होने पर भी इट् प्राप्त है।

(५२४) पद—अचः, तास्वत्, थलि, अनिटः, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—तासि, इट्, न। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—उपदेशावस्था में जो अजन्त धातु वह यदि 'तास्' प्रत्यय के परे नित्य अनिट् हो तो उससे परे 'थल्' को इट् नहीं होता।

विमर्श—प्रकरणवशात् 'धातोः' पद की उपस्थिति होती है। 'अचः' उसका विशेषण है, अतः तदन्तविधि होती है। 'उपदेशेऽत्वतः' (७।२।६२) से 'उपदेशे' पद का अपकर्षण होता है। 'तासि च क्लृपः' (७।२।६०) से 'तासि', 'गमेरिट्' (७।२।५८) से 'इट्' और 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' (७।२।५९) से 'न' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"उपदेशावस्था में अजन्त एवं तास् में नित्य अनिट् धातु से परवर्ती 'थल्' को 'इट्' का आगम नहीं होता"।

उपदेशेऽत्वतः ७।२।६२। उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल इण्न। **(५२६) ऋतो भारद्वाजस्य ७।२।६३।** तासौ नित्यानिट ऋदन्तादेव थलो नेट् भारद्वाजस्य मतेन। तेनान्यस्य स्यादेव। अयमत्र सङ्ग्रहः—

अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।
ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्॥ १॥

---

(५२५) **उपदेशेऽत्वत इति।** 'अच इति वर्जं पूर्वसूत्रम्, तत्र यदनुवृत्तं तदप्यनुवर्तते। तदाह—**उपदेशेऽकारवत इत्यादिना।**

(५२६) **ऋतो भारद्वाजस्येति।** अत्रापि तासौ नित्यमनिट इति, थलीति, नेति इडिति चानुवर्तते। भारद्वाजस्याचार्यस्य मते ऋदन्ताद्धातोः परस्य नेडिति फलितार्थः। हृन्घृङदौ 'अचस्तास्वदि'त्येव सिद्धे नियमार्थमिदं सूत्रमित्याह—**ऋदन्तादेवेति। अजन्तोऽकारवान्वेति।** ऋदन्तभिन्नेष्वजन्तेषु अनिट्धातुषु क्रादिनियमात् लिटि सर्वत्र

---

(५२५) पद—उपदेशे, अत् वतः। **अनुवृत्ति**—तास्वत्थल्यनिटः, नित्यम्, इट्, न। **विधिसूत्र।** (निषेध)।

मूलार्थ—उपदेशावस्था में अकारवान् तथा 'तासि' प्रत्यय के परे रहते नित्य अनिट् जो धातु, उससे परवर्ती 'थल्' को 'इट्' का आगम नहीं होता।

विमर्श—'अचः' को छोड़कर पूर्वसूत्र (५२४) तथा उक्त सूत्र में जिन पदों की अनुवृत्ति आती है, वह प्रकृत सूत्र में भी आ रही है। तदनुसार—"उपदेश अवस्था में अकार से युक्त धातु से परे तथा तास् प्रत्यय के परे रहते नित्य अनिट् धातु से परे थल् को 'इट्' का आगम नहीं होता।"

(५२६) पद—ऋतः, भारद्वाजस्य। **अनुवृत्ति**—तासि. नित्यम्, अनिटः, थलि, इट्, न। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—'तासि' प्रत्यय के परे नित्य अनिट् जो ऋकारान्त धातु, उससे परवर्ती थल् को भारद्वाज के मत से 'इट्' का आगम नहीं होता। अन्य आचार्यों के मत से इट् होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी पूर्ववत् 'तासि, नित्यम्, अनिटः, थलि, इट् न' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"तास् प्रत्यय में नित्य अनिट् ऋदन्त धातु से परवर्ती थल् को भारद्वाज के मत से इट् नहीं होता। अतः ऋदन्त भिन्न धातु से परवर्ती थल् को इट् का आगम होता ही है"।

आचार्य पाणिनि ने 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' सूत्र से सभी अजन्तों को 'थल्' में 'इट्' का निषेध किया है। किन्तु भारद्वाज ऋषि केवल ऋदन्त को ही 'थल्' में इट् का निषेध स्वीकार करते हैं। अतः विकल्प से प्रयोग सिद्ध हुआ। प्रकृत सूत्र के विषय को भारद्वाज-नियम भी कहा जाता है। उक्त चारों सूत्रों से प्रतिपादित विषय का इस कारिका में संग्रह किया गया है।

अजन्त इत्यादि—(१) अजन्त (या, पा, वा आदि) अथवा अकारवान् (पच् आदि) धातु तथा 'तासि' प्रत्यय के परे नित्य अनिट् जो धातु, उसको थल् में विकल्प से इट् होता है। (२) तथा 'तासि' प्रत्यय के परे नित्य अनिट् ऋदन्त धातु को थल् में नित्य अनिट् ('इट्' का नित्य निषेध) होता है और (३) कृ-सृ-भृ आदि आठ धातुओं को छोड़कर सभी अनिट् धातुओं को लिट् में 'इट्' (सेट्) ही होता है।

प्रकृत 'श्वि' धातु अनिट् और अजन्त है। अतः इससे परवर्ती थल् को भारद्वाज-नियम से विकल्प से 'इट्' होता है। व तथा म को क्रादि नियम से नित्य इट् होता है।

चिक्षयिथ । चिक्षेथ । चिक्षियथुः । चिक्षिय । चिक्षाय-चिक्षय । चिक्षियिव । चिक्षियिम । क्षेता । क्षेष्यति । क्षयतु । अक्षयत् । (५२७) **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५ ।** अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्याद् यादौ प्रत्यये, न तु कृत्सार्वधातुकयोः । क्षीयात् । (५२८) **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७।२।१ ।** इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः परस्मैपदे सिचि । अक्षैषीत् । अक्षेष्यत् । तप सन्तापे । तपति । तताप । तेपतुः । तेपुः । तेपिथ । ततप्थ ।

नित्यमिट् प्राप्तः, स च अचस्तास्वदित्यादिना पाणिनिमतेन थलि निषिध्यते । परं 'ऋतो भारद्वाजस्ये'ति नियमाद् विधीयते । एवं ह्रस्वाकारवान् तासि नित्यानिट् यो धातुस्तस्मादपि थलि भारद्वाजस्य मतेन विकल्पेनेड् विधीयते । क्रमेणोदाहरणम्—चिक्षयिथ, चिक्षेथ इति । किञ्च ईदृक् तासो नित्यानिट् ऋदन्तो धातुस्थलि नित्यमनिड् भवति, प्राप्तस्येटः थलि अजन्तत्वात् 'अचस्तास्वदि'ति पाणिनिमतेन 'ऋतो भारद्वाजस्ये'ति भारद्वाजमतेनापीड् निषेधात् । यथा—जहर्थ इत्यादौ । यस्तु न स्यादजन्तो नाप्यकारवान् स च तासौ नित्यानिडपि लिटि सर्वे सेट् एव क्रादिनियमात् ।

(५२७) **अकृदिति ।** अङ्गस्येत्यधिकृतम् । 'अयङ् यी'त्यतः यीति सप्तम्यन्तमनुवर्तते । दीर्घश्रुत्या च 'अचः' इत्युपस्थितं भवति, अङ्गविशेषणत्वात् तदन्तविधिस्तदाह—**अजन्ताङ्गस्येति ।**

(५२८) **सिचि वृद्धि इति ।** अङ्गस्येत्यधिकृतम् । वृद्धिश्रुत्या इक इत्युपस्थित-

---

उदाहरण—(१) √क्षि+लिट् (ल्=सिप्=थल्='थ')—क्षि थ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, क्=च्)—चि क्षि थ (थल् को विकल्प से इट्=इ—'ऋतो भारद्वाजस्य' इ=ए—'गुणं', ए='अय्')=चिक्षयिथ । इट् के अभावपक्ष में गुण होकर—चिक्षेथ । (२) √क्षि+लिट् (=थस्=अथुस्, द्वित्वादि कार्य पूर्ववत्, 'अथुस्' अपित् लिट् होने से कित् है । अतः गुण-निषेध, इ=इयङ्)—चिक्षियथुस् (स्=र्=:)=चिक्षियथुः । इसी प्रकार—अ, व और म में भी गुण नहीं होता, अपितु इयङ् होता है । उ० पु० एकवचन में 'णलुत्तमो वा' से विकल्प से णित् होने से वृद्धि, पक्ष में गुण । क्रमशः **उदाहरण**—चिक्षिय । उ० पु०—चिक्षाय-चिक्षय । चिक्षयिव । चिक्षयिम ।

√क्षि+लुट् (=तिप्, तास्, प्राप्त इट् का निषेध—'एकाच उपदेशे०' गुण, तिप्=डा=आ)—क्षेतास् आ (टिलोप)=क्षेता । लृट्—क्षेष्यति । लोट्—क्षयतु । लङ्—अक्षयत् ।

(५२७) पद—अकृत्, सार्वधातुकयोः, दीर्घः । **विधिसूत्र ।**

सूत्रार्थ—यकारादि प्रत्यय के परवर्ती रहने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है, परन्तु यकारादि कृत् और सार्वधातुक के परवर्ती रहने पर दीर्घ नहीं होता । क्षीयात् ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'अयङ् यि०' (७।४।२२) सूत्र से सप्तम्यन्त 'यि' पद की अनुवृत्ति आती है । दीर्घ श्रुति से 'अचः' पद की उपस्थिति होने पर तदन्त विधि होती है । तदनुसार—उक्त सूत्रार्थ निष्पन्न होता है ।

उदाहरण—√क्षि+आशीर्लिङ् (ल्=तिप्=ति, यासुट्=यास्, आर्धधातुक संज्ञा—'लिङाशिषि')—क्षि यास् ति (दीर्घ—'अकृत्सार्वधातुकयोः', इ लोप, स् लोप)=क्षीयात् ।

(५२८) पद—सिचि, वृद्धिः, परस्मैपदेषु । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—परस्मैपदपरक 'सिच' के परे रहने पर इगन्त अङ्ग को वृद्धि होती है । अक्षैषीत् । अक्षेष्यत् ।

तप्ता । तप्स्यति । तपतु । अतपत् । तपेत् । तप्यात् । अताप्सीत् । अताप्ताम् । अतप्स्यत् । (५२९) **निसस्तपतावनासेवने** ८।३।१०२ । षः स्यात् । आसेवनं पौनः-पुन्यं, ततोऽन्यस्मिन्विषये । निष्टपति । क्रमु पादविक्षेपे । (५३०) **वा भ्राशभ्लाश-भ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः** ३।१।७० । एभ्यः श्यन्वा, कर्तरि सार्वधातुके । पक्षे शप् ।

मङ्गस्येत्यस्य विशेषणम्, तदन्तविधिस्तदाह—इगन्ताङ्गस्येत्यादिना । अक्षैषीत् । क्षिधातोर्लुङि तत्स्थाने तिपि, अडागमेऽनुबन्धलोपे च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे इडभावे तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमेऽनुबन्धलोपे—'अ क्षि स् ई त्' इति जाते 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ, सस्य षत्वे च कृते 'अक्षैषीदि'ति रूपम् ।

तेपतुः । तप्धातोर्तसि, तत्स्थानेऽतुसि द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'ततप् अतुस्' इति जाते, 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति लिटः कित्त्वे 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इत्येत्वेऽभ्यासलोपे च कृते 'तेपतुः' इति रूपम् ।

(५२९) **निसस्तपताविति** । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिक्रियते ।

(५३०) अत्र 'दिवादिभ्यः' इत्यस्मात् श्यन्निति, 'कर्तरि शबि'त्यतः 'कर्तरी'-ति, 'सार्वधातुके यगि'त्यतः सार्वधातुक इति चानुवर्तते । तदाह—एभ्य इति ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'वृद्धि' पद से वृद्धि का विधान होने से 'इकः' षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है । 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है । अतः 'इगन्त अङ्ग को वृद्धि होती है, परस्मैपद सिच् के परे रहने पर' ।

उदाहरण—(१) क्षि+लुङ् (ल्=तिप्=ति, अट्, च्लि=सिच्=स्, इ का लोप)—अ क्षि स त् (ईट्, वृद्धि—'सिचि वृद्धिः' स्=षत्व)=अक्षैषीत् । (२) क्षि+लृङ् (ल्=तिप्=ति, अट्, स्य, गुण)—अ क्षे स्य ति ('इ' का लोप, षत्व)=अक्षेष्यत् ।

√तप् धातु का अर्थ सन्तप्त होना=जलना है ।

(१) √तप्+लट् (=तिप्=ति, शप्)=तपति । (२) √तप्+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास-कार्य, उपधा को दीर्घ)=तताप । (३) एत्व, अभ्यासलोप, तस्=अतुस्=तेपतुः । (४) लिट्—'झि' में—तेपुः । (५) √तप्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास-कार्य, इट्, विकल्प से एत्व-अभ्यास का लोप)=तेपिथ । पक्ष में—ततप्थ । (६) लुट्—तप्ता । (७) लृट्—तप्स्यति । (८) लोट्—तपतु । (९) लङ्—अतपत् । (१०) विधिलिङ्—तपेत् । (११) आशीर्लिङ्—तप्यात् । (१२) लुङ्—अताप्सीत्, अताप्ताम् । (१३) लृङ्—अतप्स्यत् ।

(५२९) पद—निसः, तपतोः, अनासेवने । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पौनःपुन्य से भिन्न अर्थ में तप् धातु के परवर्ती रहने पर निस् के स् को ष् (षत्व) होता है । निष्टपति ।

विमर्श—'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है । 'आसेवनम्' का अर्थ पुनः-पुनः है । उससे भिन्न अर्थ में 'निस्' के सकार को षत्व होता है, तप् धातु के परवर्ती रहने पर ।

उदाहरण—निस्+√तप्+लट् (=तिप्=ति, शप्, स्=ष्—'निसस्तपतावनासेवने')=निष्टपति । √क्रमु धातु का अर्थ—चलना है ।

(५३०) पद—वा, भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि-लषः । **अनुवृत्ति**—श्यन्, कर्तरि, सार्वधातुके । **विधिसूत्र** ।

(५३१) क्रमः परस्मैपदेषु ७।३।७६। क्रमेर्दीर्घः, परस्मैपदे शिति। क्राम्यति। क्रामति। चक्राम। **(५३२) स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते ७।२।३६।** अत्रैवेट्। क्रमिता। क्रमिष्यति। क्राम्यतु। क्रामतु। अक्राम्यत्। अक्रामत्। क्राम्येत्। क्रामेत्। क्रम्यात्। अक्रमीत्। अक्रमिष्यत्। चमु छमु जमु झमु अदने। **(५३३) ष्ठिवुक्लमु-**

---

(५३१) **क्रम** इति। 'शमामष्टानामि'त्यतः 'दीर्घः' इत्यनुवर्तते। **क्राम्यति,** क्रामति। क्रम्धातोर्लटि तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां प्राप्तं शपं प्रबाध्य 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलसः' इति विकल्पेन श्यनि अनुबन्धलोपे 'क्रमः परस्मैपदेषु' इति क्रम उपधायाः दीर्घे 'क्राम्यति' इति। पक्षे शपि दीर्घे च कृते—'क्रामति' इति रूपम्।

(५३२) **स्नुक्रमोरिति।** स्नुक्रमोरित्यत्र पञ्चम्यर्थे षष्ठी। आत्मनेपदनिमित्ताभावे स्नुक्रम्भ्यां परस्य वलादेरार्धधातुकस्य इट् स्यादित्यर्थः। स्नुक्रमोरनुदात्तोपदेशान्तर्भावादिटि सिद्धे वचनमिदं नियमार्थमत आह—**अत्रैवेति।** तेन 'उपस्नोष्यते जलेन' इति भावार्थलकारे इण्न। **अक्रमीत्।** क्रम्धातोर्लुङ्स्तिपि, अडागमेऽनुबन्धलोपे,

---

मूलार्थ—कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परवर्ती रहने पर भ्राश् आदि धातुओं से विकल्प से 'श्यन्' प्रत्यय होता है। पक्ष में—'शप्'।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'दिवादिभ्यः श्यन्' (३।१।६९) से 'श्यन्', 'कर्तरि शप्' (४१७) से 'शप्' और 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से 'सार्वधातुके' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'भ्राश्, भ्लाश्, भ्रम्, क्रम्, क्लम्, त्रस्, त्रुट् और लष् धातुओं से विकल्प से श्यन् प्रत्यय होता है, कर्त्रर्थक (कर्तृवाच्य) सार्वधातुक के परवर्ती रहने पर।

(५३१) पद—क्रमः, परस्मैपदेषु। **अनुवृत्ति**—दीर्घः शिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—परस्मैपदपरक शित् के परवर्ती रहने पर क्रम् धातु को दीर्घ होता है।

विमर्श—यहाँ 'शमामष्टानाम्०' (७।३।८४) से 'दीर्घः' तथा 'ष्ठिवुक्लमु०' (५३३) से 'शिति' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'क्रम् धातु के अच् को दीर्घ होता है, परस्मैपद शित् प्रत्यय के परे रहने पर'।

उदाहरण—(१) √क्रम्+लट् (=तिप्=ति, सार्वधातुक संज्ञा, शप् का बाधकर विकल्प से श्यन्=य—'वा भ्राश०')—क्रम् य ति (उपधा को दीर्घ—'क्रमः परस्मैपदेषु')=क्राम्यति। श्यन् के अभाव पक्ष में शप्=क्रामति। लिट्—चक्राम।

(५३२) पद—स्नुक्रमोः, अनात्मनेपदनिमित्ते। **अनुवृत्ति**—आर्धधातुकस्येड् वलादेः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आत्मनेपद निमित्त हीन 'स्नु' और 'क्रम्' धातु से परे ही वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है। क्रमिता। क्रमिष्यति इत्यादि।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'आत्मनेपद निमित्त रहने पर स्नु एवं क्रम् धातु से परवर्ती वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है'।

उदाहरण—(१) √क्रम्+लुट् (=तिप्)—क्रम् ति (तास्, इट्, तिप्=डा='आ')—क्रमितास् आ (टि लोप)=क्रमिता। (२) लृट्—क्रमिष्यति। (३) लोट्—क्राम्यतु, क्रामतु ('वा भ्राश०'—विकल्प से श्यन्, पक्ष में शप्, दीर्घ)। (४) लङ्—अक्राम्यत्, अक्रामत्।

चमां शिति ७।३।७५। एषामचो दीर्घः स्याच्छिति । * आङि चम इति वक्तव्यम् * । आचामति । आङि किम्? चमति । विचमति । अचमीत् । स्खल सञ्चलने । स्खलति । चस्खाल । (५३४) **अतो ल्रान्तस्य ७।२।२।** अतः समीपौ यौ ल्रौ, तदन्तस्याङ्गस्यातो वृद्धिः परस्मैपदपरे सिचि । अस्खालीत् । अस्खलिष्यत् । त्सर छद्मगतौ ।

च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे, इटि, तिप इकारलोपे, ईटि, सलोपे 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायाम्, 'ह्म्यन्तक्षण०' इति निषेधे 'अक्रमीदि'ति ।

(५३३) **ष्ठिवुक्लमु इति ।** 'शमामष्टानामि'त्यतः दीर्घ इत्यनुवर्तते । दीर्घश्रुत्या च 'अचः' इत्युपतिष्ठते । तदाह—**एषामित्यादि ।**

(५३४) **अतो ल्रान्तस्येति ।** 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम् । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इत्यनुवर्तते । **अस्खालीत् ।** स्खल्धातोर्लुङि तत्स्थाने तिपि, च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इडागमेऽनुबन्धलोपेऽपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे 'अतो ल्रान्तस्ये'ति वृद्धौ इकारलोपे 'अस्खालीत्' इति ।

---

(५) विधिलिङ्—क्राम्येत्, क्रामेत् । (६) आशीर्लिङ्—क्रम्यात् । (७) लुङ्—अक्रमीत् । (८) लृङ्—अक्रमिष्यत् ।

√चमु, छमु, जमु और **झमु** धातुओं का अर्थ भक्षण (=खाना) है ।

(५३३) पद—ष्ठिवु-क्लमु-चमां, शिति । **अनुवृत्ति**—दीर्घः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ष्ठिवु, क्लमु और चम् धातुओं के 'अच्' को दीर्घ होता है, शित् के परवर्ती रहने पर । **वा०**—'आङ्' उपसर्गपूर्वक चम् धातु को दीर्घ होता है—ऐसा कहना चाहिए । आचामति इत्यादि ।

विमर्श—'शमामष्टानाम्०' (७।३।७४) से 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है । दीर्घ पद की श्रुति से 'अचः' षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है । तदनुसार—शित् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर ष्ठिवु, क्लमु और चम् धातु के अच् को दीर्घ होता है ।

उदाहरण—आ+√चम् (उकारेत्संज्ञक)+लट् (=तिप्=ति, शप्=अ, 'आङि चम इति वक्तव्यम्' इस वार्तिक के सहकार से 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' से दीर्घ)=आचामति ।

प्रत्युदाहरण—वार्तिक में आङ् पद का ग्रहण होने से केवल √चम् से लट् में दीर्घ नहीं हुआ—'चमति' । विचमति । लुङ्—अचमीत् ।

√स्खल् का अर्थ संचलन (=चलना) है । लट्—स्खलति । लिट्—चस्खाल ।

(५३४) पद—अतः, ल्रान्तस्य । **अनुवृत्ति**—सिचि, वृद्धिः, परस्मैपदेषु । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अत् के समीपवर्ती जो लकार रेफ, तदन्त अङ्ग के अत् को वृद्धि होती है, परस्मैपद 'सिच्' के परवर्ती रहने पर । अस्खालीत् ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (५२८) की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'परस्मैपदसंज्ञक सिच् के परवर्ती रहने पर अकार-समीपवर्ती लकारान्त, रेफान्त अङ्ग के अवयव अकार को वृद्धि होती है ।

उदाहरण—√स्खल्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि=सिच्=स्, आर्धधातुक संज्ञा, इट्, ईट्, 'स्' का लोप—'इट ईटि' सवर्णदीर्घ, अ='आ'—वृद्धि—'अतो ल्रान्तस्य')=अस्खालीत् ।

अत्सारीत् । पा पाने । (५३५) **पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छंधौशीयसीदाः ७।३।७८ ।** पादीनां पिबादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे । पिबादेशोऽदन्तस्तेन न गुणः । पिबति । (५३६) **आत औ णलः ७।१।३४ ।** आदन्ताद्धातोर्णल औकारादेशः स्यात् । पपौ । (५३७)

---

(५३५) **पाघ्राध्मेति ।** यथासंख्यमादेशा भवन्ति । 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिती'त्यतः शितीत्यनुवर्तते । अङ्गाक्षिप्तप्रत्ययविशेषणत्वात्तदादिविधिस्तदाह—**पादीनामित्यादि । पिबति ।** पाधातोः लटि, तत्स्थाने तिपि सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे 'पाघ्राध्मा०' इत्यादिना पास्थाने पिबादेशे, पिबादेशस्यादन्तत्वाद् गुणाभावे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'पिबती'ति ।

(५३६) **आत आवि'ति ।** अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते । 'आत' इति तद्विशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह—**आदन्तादिति । पपौ ।** पाधातोर्लिटि, तत्स्थाने तिपि, तिपो णलादेशे, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'प पा अ' इति जाते 'आत औ णलः' इति णलः स्थाने औत्वे वृद्धौ च कृतायाम् 'पपौ' इति सिद्धम् ।

लृङ्—अस्खलिष्यत् । √त्सर का अर्थ—कपटपूर्वक गमन है । लुङ् में वृद्धि होकर—अत्सारीत् । √'पा' धातु का अर्थ—पीना है ।

(५३५) पद—पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्य-र्ति-सर्ति-शद-सदाम्, पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्य-च्र्छ-धौ-शीय-सीदाः । **अनुवृत्ति**—शिति । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय के परे रहने पर पा आदि धातुओं को पिब् आदि आदेश होते हैं । पिबति ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' (५३३) से 'शिति' की अनुवृत्ति आती है । अतः इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय के परवर्ती रहने पर पा आदि धातुओं को क्रमशः पिब् आदि आदेश होते हैं । यथा—

पा=पिब्	दृश्=पश्य
घ्रा=जिघ्र	ऋ=ऋच्छ
ध्मा=धम	सृ=धौ
स्था=तिष्ठ	शद=शीय
म्ना=मन	सद=सीद
दाण्=यच्छ	

ये पिब आदि आदेश अकारान्त हैं । अतः उपधा न होने से इकार को लघूपध गुण नहीं होता ।

उदाहरण—(१) √पा+लट् (=तिप्=ति, शप्=अ, पा=पिब—'पाघ्राध्मा०')—पिब अ ति (अ+अ='अ' पररूप—'अतो गुणे')=पिबति ।

(५३६) पद—आतः, औ, णलः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—आदन्त धातु से परवर्ती णल् के स्थान में 'औ' आदेश होता है । पपौ ।

उदाहरण—(१) √पा+लिट् (=तिप्=णल्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, णल्='औ'—'आत औ णलः')—प पा औ (आ+औ='औ'—वृद्धि)=पपौ ।

आतो लोप इटि च ६।४।६४। अजाद्योरार्द्धधातुकयोः क्ङिदिटोः परयोरातो लोपः। पपतुः। पपुः। पपिथ। पपाथ। पपथुः। पप। पपौ। पपिव। पपिम। पाता। पास्यति। पिबतु। अपिबत्। पिबेत्। (५३८) **एर्लिङि ६।४।६७।** घुसंज्ञानां मास्थागापिबतिजहातिस्यतीनां चाऽऽत एत्वमार्द्धधातुके किति लिङि। पेयात्। 'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्।' तेन 'पा रक्षणे' इत्यस्य नैत्वम्। 'गातिस्थे'ति

---

(५३७) **आतो लोप** इति। 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम्। 'दीङो युडची'त्यतः अचि 'क्ङिती'ति चानुवर्तते, तदादिविधिः। क्ङिति अजाद्यार्धधातुके इटि च आतो लोप इति लभ्यते। **पपतुः।** पाधातोर्लिटि, तत्स्थाने तसि, तसः स्थाने अतुसि, द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां ह्रस्वे 'प पा अतुस्' इति जाते 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'पपतुः' इति।

(५३८) **एर्लिङीति।** 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम्। 'घुमास्थागापाजहातिसाम्' इत्यनुवर्तते। तदाह—**घुसंज्ञानामिति। अपात्।** पाधातोर्लुङि तत्स्थाने तिपि, च्लौ, च्लेः स्थाने सिजादेशेऽनुबन्धलोपे 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लोपे अडागमे तिप इकारलोपे 'अपात्' इति।

---

(५३७) पद—आतः, लोपः, इटि च। **अनुवृत्ति**—अचि क्ङिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अजादि कित् ङित् आर्धधातुक और इट् के परवर्ती रहने पर आकार का लोप होता है। पपतुः। इत्यादि।

विमर्श—'आर्धधातुके' का अधिकार है। 'दीङो युडचि' (६।४।६३) सूत्र से 'अचि' और 'क्ङिति' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'आर्धधातुक अजादि कित्, ङित् प्रत्यय और इट् के परे रहते धातु के अवयव आकार का लोप होता है'।

उदाहरण—(१) √पा+लिट् (=तस्=अतुस्, कित—'असंयोगाल्लिट् कित्' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष)—प पा अतुस् ('आ' का लोप—'आतो लोप इटि च' स्=र्=ः)=पपतुः। 'पपुः' में 'उस्' परे रहने पर आ का लोप। थल्, व, म में इट् होने से 'आ' का लोप हो जाता है। यह अजन्त अनिट् धातु होने से थल् में विकल्प से इट् होता है (भारद्वाज के नियम से)।

√पा धातु (=पीना) लिट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	पपौ	पपतुः	पपुः
म० पु०—	पपिथ—पपाथ	पपथुः	पप
उ० पु०—	पपौ	पपिव	पपिम

लुट्—पाता। लृट्—पास्यति। लोट्—पिबतु। लङ्—अपिबत्। विधिलिङ्—पिबेत्।

(५३८) पद—एः, लिङि। **अनुवृत्ति**—घुमास्थागापाजहातिसाम्, किति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—घुसंज्ञक धातु तथा—मा, छा, गै, पा, हा, औ, षो धातु को एत्व होता है, आर्धधातुक कित् लिङ् के परे रहते।

विमर्श—'घुमास्थागापाजहातिसाम्' (६।४।६६) की अनुवृत्ति आती है। 'दीङो युडचि' (६।४।६३) से किति की अनुवृत्ति आती है। 'आर्धधातुके' का अधिकार है। इस प्रकार—'आर्धधातुक कित् लिङ् के परवर्ती रहने पर घुसंज्ञक तथा मा स्था आदि धातु को एत्व होता है'।

सिचो लुक् । अपात् । अपाताम् । (५३९) आतः ३।४।११० । सिज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस् । (५४०) उस्यपदान्तात् ६।१।९६ । अपदान्तादवर्णादुसि पररूपमेकादेशः । अपुः । अपास्यत् । ग्लै म्लै हर्षक्षये । ग्लायति । (५४१) आदेच उपदेशेऽशिति । ६।१।४५ । उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्वं, न तु शिति । जग्लौ । ग्लाता । ग्लास्यति ।

---

(५३९) आत इति । 'झेर्जुस्' इति सूत्रमत्रानुवर्तते । 'आतः सिज्लुगन्तादि'ति वार्तिकात् सिज्लुकीति लभ्यते । पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थमिदं सूत्रम् ।

(५४०) उस्यपदान्तादिति । 'आद् गुणः' इत्यस्मात् आदित्यनुवर्तते, 'एङि पररूपमि'त्यस्मात्पररूपमिति च । तदाह—अपदान्तादिति ।

(५४१) आदेच इति । 'लिटि धातोः' इत्यत अनुवृत्तं धातोरिति पदमेचा विशेष्यते, तेन तदन्तविधिस्तदाह—उपदेशे एजन्तस्येति । जग्लौ । ग्लैधातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलादेशे, 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां ह्रस्वे 'हलादिः शेषः' इति ललोपे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेन गस्य जत्वे 'आत औ णलः' इत्यौत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'जग्लौ' इति रूपम् ।

उदाहरण—(१) पा+आशीर्लिङ् (=तिप्=ति, यासुट्=यास्, इ का लोप, यासुट् कित् 'किदाशिषि' से आ=ए—'एर्लिङि' 'स्' का लोप)=पेयात् ।

'लुग्विकरण और अलुग्विकरण धातुओं में अलुग्विकरण धातु का ही ग्रहण होता है ।' इस नियम से यहाँ 'पा पाने' धातु का ही ग्रहण होता है । अतः 'पा रक्षणे' धातु से लिङ् में एत्व नहीं होता । लुङ् में 'गातिस्था०' से सिच् का लुक् होने पर—अपात् । अपाताम् ।

(५३९) पद—आतः । **अनुवृत्ति**—झेर्जुस्, सिज्लुकि । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—सिच् का लुक् होने पर आदन्त धातु से परे ही 'झि' को जुस् होता है ।

विमर्श—यहाँ 'झेर्जुस्' (३।४।१०८) सूत्र की अनुवृत्ति आती है । **वार्तिक**—'आतः सिच्लुगन्तादिति वक्तव्यम्' से 'सिच्लुकि' पद का अनुवर्तन होता है । तदनुसार—"जहाँ सिच् का लोप हुआ हो वहाँ आदन्त धातु से परे ही 'झि' को जुस् होता है" ।

(५४०) पद—उसि, अपदान्तात् । **अनुवृत्ति**—आत्, पररूपम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अपदान्त अवर्ण से 'उस्' परे रहते पररूप एकादेश होता है । अपुः । अपास्यत् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आद् गुणः' से 'आत्' और 'एङि पररूपम्' से 'पररूपम्' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—अपदान्त अवर्ण से परे उस् हो तो पूर्व-पर दोनों के स्थान में पररूप एकादेश होता है ।

उदाहरण— √पा+लुङ् (=झि=जुस्=उस्—'आतः' अट्, च्लि=सिच्, सिच् का लुक्—'गातिस्था०')—अ पा उस् (आ+उ=उ—पररूप 'उस्यपदान्तात्')—अपुस् (स्=र्=ः)=अपुः । लृङ्—अपास्यत् ।

√ग्लै, म्लै धातुओं का अर्थ—हर्ष का क्षय (ग्लानि करना) है ।

उदाहरण—(१) √ग्लै+लट् (=तिप्=ति, शप्, ऐ=आय्)=ग्लायति ।

(५४१) पद—आत्, एचः, उपदेशे, अशिति । **अनुवृत्ति**—धातोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उपदेश में एजन्त धातु को आत्व होता है, किन्तु शित् के परे रहते आत्व नहीं होता । जग्लौ इत्यादि ।

ग्लायतु । अग्लायत् । ग्लायेत् । (५४२) वाऽन्यस्य संयोगादेः ६।४।६८ । घुमास्था-देरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्वं वा, आर्द्धधातुके किति लिङि । ग्लेयात्–ग्लायात् । (५४३) यमरमनमातां सक् च ७।२।७३ । एषां सक् स्यात्, एभ्यः सिच इट्, परस्मैपदेषु । अग्लासीत् । अग्लास्यत् । एवं म्लायतीत्यादि । धेट् पाने । धयति । दधौ ।

---

(५४२) **वाऽन्यस्येति** । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् । 'एर्लिङि' इति, 'आतो लोपः' इत्यत 'आत' इति चानुवर्तते । कस्मादन्यस्येत्यपेक्षायां 'घुमास्थागापाजहातिसां हली'ति पूर्वोपात्तत्वात् तेभ्योऽन्यस्येति फलति । तदाह—**घुमास्थादेरिति** । **ग्लेयात्, ग्लायात्** । ग्लैधातोराशीर्लिङस्तिपि तस्यार्धधातुकत्वे, यासुडागमेऽनुबन्धलोपे 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सकारलोपे 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' इत्येत्वे ग्लेयात् । एत्वाऽभावपक्षे ग्लायात् ।

(५४३) **यमरमेति** । आदित्यनेन आदन्तं गृह्यते । चकारेण 'इडत्यर्ति' इत्यतः इडिति 'स्तुसुधूञ्भ्य' इत्यतः 'परस्मैपदेष्वि'ति चानुकृष्यते, 'अञ्जेः सिची'त्यतः सिचीति च तच्चानुवृत्तं पदं षष्ठ्या विपरिणम्यते । तदाह—**एषामिति** । **अग्लासीत्** । ग्लैधातोर्लुङस्तिपि, च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे, अडागमे 'अ ग्लै स् त्' इति जाते

विमर्श—'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'धातोः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'शित् भिन्न प्रत्यय के परवर्ती रहने पर उपदेशावस्था में एजन्त धातु को आत्व होता है'।

उदाहरण—(१) √ग्लै+लिट् (=तिप्=णल्='अ', ऐ='आ'—'आदेच उपदेशेऽशिति'—ग्ला अ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष—'ल' लोप)—ग्ला अ (ग्=ज्—'कुहोश्चुः' णल्=औ—'आत औ णलः' वृद्धि)=जग्लौ । लुट्—ग्लाता । लृट्—ग्लास्यति । लोट्—ग्लायतु । लङ्—अग्लायत् । विधिलिङ्—ग्लायेत् ।

(५४२) पद—वा, अन्यस्य, संयोगादेः । **अनुवृत्ति**—एर्लिङि, आतः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आर्धधातुक लिङ् के परवर्ती रहने पर घुमास्थादि से अन्य संयोगादि धातु के अकार को विकल्प से एकार होता है । ग्लेयात्, ग्लायात् ।

विमर्श—'आर्धधातुके' का अधिकार है । एर्लिङि (५३९) **सूत्र** तथा 'आतो लोपः' (५३८) से 'आतः' पद की अनुवृत्ति आती है । प्रकृत सूत्र से **पूर्व** 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (६।४।६६) सूत्र पठित होने से 'अन्यस्य' पद से 'घुमास्थागापाहा से भिन्न धातु' का ग्रहण होता है । अतः पूर्वोक्त 'घु, मा, स्था आदि से भिन्न संयोगादि धातु के आकार को विकल्प से एकार होता है, आर्धधातुक कित् लिङ् के परे होने पर' ।

उदाहरण— √ग्लै+आशीर्लिङ् (=तिप्=ति, आर्धधातुक संज्ञा, यासुट्=यास्, ऐ=आ—'आदेच उपदेशे०' 'इ' का लोप)—ग्ला यास् त् (स् का लोप—'स्कोः०' आ=विकल्प से 'ए'—वाऽन्यस्य संयोगादेः')=ग्लेयात् । पक्ष में—ग्लायात् ।

(५४३) पद—यम-रम-नमातां, सक् च । **अनुवृत्ति**—इट्, परस्मैपदेषु, सिच् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यम्, रम्, नम् और आदन्त धातु को 'सक्' का आगम होता है और सिच् को परस्मैपद में 'इट्' का आगम होता है । अग्लासीत् इत्यादि ।

विमर्श—'आत्' पद से आदन्त धातुओं का ग्रहण होता है । चकार से 'इडत्यर्ति०' (७।२।६६) सूत्र से 'इट्' 'स्तुसुधूञ्भ्यः' (७।२।७२) से 'परस्मैपदेषु' तथा 'अञ्जेः सिचि' (७।२।७१) से 'सिचि' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'यम् (=निवृत्त होना), रम्

धाता । धास्यति । धयतु । अधयत् । धियेत् । (५४४) दाधा घ्वदाप् १।१।२० । दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञाः स्युर्दाप्दैपौ विना । धेयात् । (५४५) विभाषा धेट्श्व्योः ३।१।४९ । आभ्यां च्लेश्चङ् वा । (५४६) चङि ६।१।११ । अनभ्यास-धात्ववयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेर्द्वितीयस्य । अदधत् । अदधताम् । अदधन् ।

'आदेच उपदेशेऽशिति' इति ग्लैधातोरात्वे 'यमरमनमातां सक्च' इत्यङ्गस्य सकागमे इडागमे च कृते 'इतश्चे'तीकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'इट ईटि' इति सकारलोपे सवर्णदीर्घे 'अग्लासीत्' इति ।

(५४४) **दाधाघ्वेति ।** 'गा-मा-दाग्रहणेष्वविशेषः' इति परिभाषाग्रां दाग्रहणेन धारूपस्यापि ग्रहणम् । तेन धाग्रहणे 'धेट् पाने' इत्यादीनामपि ग्रहणम् ।

(५४५) **विभाषेति ।** अत्र 'च्लि लुङी'त्यनुवर्तते । 'णिश्रि' इत्यतः कर्तरि चङीति चानुवर्तते । तदाह—**आभ्यामिति ।**

(५४६) **चङीति ।** 'एकाचो द्वे प्रथमस्य', 'अजादेर्द्वितीयस्य' इति चाधिकृतम् । 'लिटि धातोरि'त्यतः 'धातोरनभ्यासस्ये'त्यनुवर्तते । तदाह मूले—**चङि पर इत्यादिना ।**

(=क्रीडा करना, रमण करना), नम् (=नम्र होना, प्रणाम करना) और आकारान्त धातुओं को सक् का आगम होता है तथा इससे परवर्ती सिच् को इट् का आगम होता है, परस्मैपद में' ।

उदाहरण—√ग्लै+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि=सिच्=स्, अट्, 'इ' लोप)—अ ग्लै स् त ('ऐ'='आ'—'आदेच उपदेशे०', सक्=स् और इट् का आगम—'यमरमनमातां सक्च')—अग्ला स् इ स् त् (ईट्, स् का लोप, सवर्णदीर्घ)=अग्लासीत् । अग्लासिष्टाम् । अग्लासिषुः इत्यादि ।

लृङ्—अग्लास्यत् । इसी प्रकार √म्लै+लट्=म्लायति इत्यादि ।

√धेट् का अर्थ—पीना है । √धे+लट् (=तिप्=ति, शप्, अय्)=धयति । लिट्—णल्='औ'—दधौ । लुट्—धाता । लृट्—धास्यति । लोट्—धयतु । लङ्—अधयत् । विधि-लिङ्—धियेत् ।

(५४४) पद—दा-धा-घु, अदाप् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—दाप्, दैप् को छोड़कर दारूप और धारूप धातुओं की घु संज्ञा होती है । धेयात् ।

विमर्श—यहाँ, 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' परिभाषा के द्वारा 'दा' के ग्रहण से डुदाञ् दाने, दाण् दाने और कृतात्व—'दो अवखण्डने, देङ् रक्षणे' आदि लाक्षणिक का भी ग्रहण होता है ।

उदाहरण—धे+आशीर्लिङ् (=तिप्=ति, इ का लोप, ए='आ'—'आदेच')—धा त् (यासुट्=यास्, घुसंज्ञा—'दाधाघ्वदाप्' आ='ए'—'एर्लिङि' 'स्' लोप)=धेयात् ।

(५४५) पद—विभाषा, धेट्श्व्योः । **अनुवृत्ति**—च्लेः, चङ् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'धेट्' धातु और श्वि धातु से परे 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' विकल्प से होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) सूत्र से 'च्लेः' तथा 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः' (३।१।४८) से 'चङ्' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"धेट् एवं श्वि से परवर्ती 'च्लि' को 'चङ्' विकल्प से होता है" ।

(५४६) पद—चङि । **अनुवृत्ति**—धातोः, अनभ्यासस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'चङ्' के परे रहने पर अनभ्यास धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है । अजादि धातु के अवयव द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है । अदधत् ।

(५४७) विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः २।४।७८। एभ्यः सिचो लुग्वा स्यात् परस्मैपदे । अधात् । अधाताम् । अधुः । पक्षे इट्सकौ । अधासीत् । अधासिष्टाम् । अधासिषुः । ग्लै न्यक्करणे । ग्लायति । द्रै स्वप्ने । द्रायति । ध्रै तृप्तौ । ध्रायति । ध्यै चिन्तायाम् । ध्यायति । दध्यौ । रै शब्दे । रायति । स्त्यै ष्टचै शब्दसङ्घातयोः ।

अदधत् । 'धेट् पाने' इत्यस्माद् धातोः 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे लुङि, तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे च्लौ 'विभाषा धेट्श्व्योः' इति च्लेश्चङि 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति धस्य दत्वे, अडागमेऽनुबन्धलोपे 'अ द धा अ त्' इति जाते 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपे कृते 'अदधत्' इति रूपं निष्पन्नम् ।

(५४७) **विभाषा घ्राधेडिति ।** 'ण्यक्षत्रियार्ष०' इत्यतः लुगिति, 'गातिस्था' इत्यतः 'सिचः परस्मैपदेष्वि'ति चानुवर्तते । तदाह—**एभ्य इत्यादिना ।**

अधादिति । धेट्धातोः 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे लुङि तत्स्थाने तिपि इकारलोपे, च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' इति विकल्पेन सिचो लोपे अङ्गस्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'अधात्' इति ।

विमर्श—'एकाचो द्वे प्रथमस्य' और 'अजादेर्द्वितीयस्य' का अधिकार है । 'लिटि धातोः' (४२७) से 'धातोरनभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'चङ् के परवर्ती रहने पर अनभ्यास धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है; अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है' ।

उदाहरण—(१) √धेट्+लुङ् (ल्=तिप्=ति, आत्व—'आदेच उपदेशेऽशिति')—धा ति (च्लि, च्लि=चङ्='अ' विकल्प से—'विभाषा धेट्श्व्योः', 'धा' को द्वित्व—'चङि' अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, ध्=द्—'अभ्यासे चर्च', अट् का आगम)—अ द धा अति ('इ' का लोप, 'आ' का लोप—'आतो लोप इटि च')=अदधत् । (२) प्र० पु० द्विवचन (तस्=ताम्, पूर्वोक्त कार्य)=अदधताम् । (३) प्र० म० बहुवचन झि—अदधन् ।

(५४७) पद—विभाषा, घ्राधेट्शाच्छासः । **अनुवृत्ति**—लुक्, सिचः, परस्मैपदेषु ।
विधिसूत्र ।

मूलार्थ—घ्रा, धेट्, शो, छो और षो धातुओं से परवर्ती 'सिच्' का विकल्प से लुक् होता है, परस्मैपद के परे रहते । अधात् । अधाताम् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ण्यक्षत्रियार्ष०' (२।४।५८) से 'लुक्' और 'गातिस्था०' (२।४।७७) से 'सिचः, परस्मैपदेषु' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय परवर्ती रहते—घ्रा, धेट्, शो, छो और षो से परे सिच् के सकार का विकल्प से लोप होता है' ।

उदाहरण—(१) धेट् (टकारेत्संज्ञक) (आत्व—'आदेच उपदेशे०')—धा+लुङ् (ल्=तिप्=ति, अट्, इ का लोप, च्लि, 'विभाषा धेट्श्व्योः' से च्लि=चङ् न होने पर पक्ष में—च्लि=सिच्, सिच् का विकल्प से लुक्—'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः')=अधात् ।

सिच् के लुक् के अभाव पक्ष में—अ धा स् त (अपृक्त संज्ञा, ईट्, सक् का आगम और इट्—'यमरमनमातां सक्च')—अ धा स्, इ स् ई त (स् का लोप—'इट ईटि' सवर्णदीर्घ)=अधासीत् । (२) लुङ् प्र० पु० द्वि० व०—अधाताम्, अधासिष्टाम् । (३) लुङ् प्र० पु० ब० व०—अधुः, अधासिषुः ।

स्त्यायति । षोपदेशस्यापि सत्वे कृते रूपं तुल्यम्, षोपदेशफलं तु 'तिष्टचासती'त्यादौ भविष्यति । खै खदने । खायति । क्षै जै षै क्षये । क्षायति । जायति । सायति । 'घुमास्थे'त्यत्र 'विभाषा घ्राधेट्' इत्यत्र च स्यतेरेव गहणं; न त्वस्य, तेन एत्वसिज्लुकौ न । सायात् । असासीत् । कै गै शब्दे । शै श्रै पाके । पै ओवै शोषणे । पायात् । अपासीत् । 'घुमास्थे'तीत्वं तदपवाद 'एर्लिङी'त्येत्वं 'गातिस्थे'ति सिज्लुक् च न, 'लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमि'ति पारूपस्य लाक्षणिकत्वात् । ष्टै वेष्टने । स्तायति । स्नै वेष्टने, शोभायां चेत्येके । स्नायति ।। दैप् शोधने । दायति । अघुत्वा-देत्वसिज्लुकौ न । दायात् । अदासीत् । घ्रा गन्धोपादाने । जिघ्रति । घ्रायात्—घ्रेयात् । अघ्रासीत् । अघ्रास्यत् । ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः । धमति । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । तिष्ठति ।

घुमास्थेत्यत्रेति । अत्र व्याख्यानमेव शरणम् । 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' इत्यत्र श्यन्विकरणाभ्यां साहचर्य्यम्—'सहचरिताऽसहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणमि'ति परिभाषाबलात् ।

√चै धातु का अर्थ=तिरस्कार करना है। (१) √चै+लट् (=तिप्=ति, शप्, ऐ=आय्)=चायति । √द्रै का अर्थ=स्वप्न है। द्रायति । √ध्रै का अर्थ=तृप्ति होना है। ध्रायति । √ध्यै का अर्थ=चिन्तन करना है। ध्यायति । लिट्—दध्यौ । √रै धातु का अर्थ=शब्द करना है। लट्—रायति । √स्त्यै और ष्ट्यै धातु—शब्द और संघात अर्थ में है। स्त्यायति । षोपदेश धातु के 'ष्' को सकारादेश होने पर समान ही रूप बनता है। फिर भी षोपदेश धातु का फल 'तिष्टचासति' इत्यादि में षत्व की प्रवृत्ति होना है।

√खै धातु का अर्थ=खदन=हिंसा है। खायति । √क्षै, जै, षै का अर्थ—क्षय होना है। क्षायति । जायति । सायति । 'घुमास्था०' एवं 'विभाषा घ्राधेट्०' सूत्रों में 'षोऽन्तकर्मणि' का ग्रहण किया गया है, इसका नहीं। अतः एकारादेश एवं सिच् का लुक् नहीं होता। लिङ्—सायात् । लुङ्०—असासीत् । √कै, गै धातु का अर्थ—शब्द करना है। √शै, श्रै का अर्थ—पाक है। √पै एवं 'ओ वै' धातु शोषण अर्थ में है। लिङ् (आत्व)—पायात् । लुङ्—अपासीत् । 'लक्षणप्रति-पदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' (लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है।) लक्षण=सूत्र, तद्द्वारा सम्पन्न को लाक्षणिक और उपदेशावस्था को प्रतिपदोक्त कहते हैं। यहाँ 'पै' का आकारादेश होकर 'पा' बना है, जो लाक्षणिक है। अतः ईत्व, एकारादेश और सिच्-लुक् कार्य नहीं होते।

√ष्टै का अर्थ=लपेटना है। स्तायति । √स्नै का अर्थ=लपेटना है। कुछ आचार्यों के मतानुसार इसका अर्थ 'शोभा' है । स्नायति । √दैप् का अर्थ=शोधन=शुद्ध करना है। दायति । घुसंज्ञा-विधायक सूत्र में 'अदाप्' (५४४) पद होने से इस धातु की घुसंज्ञा नहीं हुई। अतः एत्व एवं सिच् का लुक् भी नहीं हुआ। लिङ्—दायात् । लुङ्—अदासीत् ।

√'घ्रा' धातु का अर्थ—सूँघना है। (१) √घ्रा+लट् (=तिप्, शप्, घ्रा=जिघ्र, पररूप) =जिघ्रति । (२) आशीर्लिङ् में जिघ्र आदेश न होने पर—घ्रेयात्, घ्रायात् । (३) √घ्रा+लुङ् (=तिप्, इकार का लोप, च्लि=सिच्, सिच् का विकल्प से लोप—'विभाषा घ्राधेट्०' अट्)=अघ्रात् । सिच् लोप के अभावपक्ष में (इट्, सक्, ईट्, स् का लोप, सवर्णदीर्घ)=अघ्रासीत् । लृङ्—अघ्रास्यत् ।

√ध्मा धातु का अर्थ—शब्द एवं अग्निसंयोग है। √ध्मा+लट् (=तिप्=ति, शप्,

स्थादिष्विति षत्वम् । अधितिष्ठौ । 'उपसर्गादि'ति षत्वम् । अधिष्ठाता । स्थेयात् । सत्वे कृते प्रकृतिस्तवर्गः स्यात् । उक्तञ्च—

'नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु ।
सकारजः शकारश्च षाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥'

'गातिस्थे'ति सिचो लुक् । अस्थात् । म्ना अभ्यासे । मनति ॥ दाण् दाने । प्रणियच्छति । ह्वृ कौटिल्ये । ह्वरति । **(५४८) ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ७।४।१० ।** ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणो, लिटि । उपधाया वृद्धिः । जह्वार । जह्वरतुः । जह्वरुः ।

नकारजाविति । धातुषु झलि परतोऽनुस्वारः पञ्चमश्च ङकारो ञकारो णकारो नकारो मकारो वा नकाराज्जातौ अनुस्वारपञ्चमौ, तथा सकाराज्जातः शकारस्तथा च षकारात्परो विद्यमानः तवर्गाज्जातः टवर्गोऽपि प्रकृतस्थितिं लभत इत्यर्थः । तेन 'ष्ठा' इत्यत्र षकारात्परो तवर्गस्थकारो मूलस्थितिं प्राप्नोति, ठकारस्य थकाराज्जायमानत्वात् ।

(५४८) ऋतश्चेति । 'दयतेर्दिगि लिटि' इत्यतः लिटीत्यनुवर्तते । तदाह—**ऋदन्तस्येत्यादिना । जह्वार ।** ह्वृधातोः लिटस्तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यत्वे रपरे च जाते 'हलादिः शेषः'

ध्मा=धम, पररूप)=धमति । √ष्ठा का अर्थ=ठहरना है । √ष्ठा+लट् (=ति, शप्, ष्ठा=तिष्ठ, पररूप)=तिष्ठति । 'अधितष्ठौ' यहाँ लिट् में 'स्थादिषु०' सूत्र से अभ्यासोत्तर सकार को षकारादेश हुआ है । लुट्—'अधिष्ठाता' में 'उपसर्गात्सुनोति०' से षत्व हुआ । लिङ्—स्थेयात में 'वाऽन्यस्य' से एकारादेश होता है । 'ष्ठा' में 'धात्वादेः' से सत्व होने पर 'ठ्' भी अपनी मूल स्थिति तवर्ग-'थ्' को प्राप्त करता है । यथा (कारिकार्थ)—

नकारजाविति । धातुओं में झल् परे रहते जो अनुस्वार और पंचम वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) हैं, वे नकार के स्थान में ही हुए हैं । तथा च् छ् परे रहते शकार सकार-स्थानिक है और रेफ सकार से परे टवर्ग तवर्ग-स्थानिक है ।

लुङ् में 'गातिस्था०' से सिच् का लुक् होने पर—अस्थात् । √म्ना का अर्थ=अभ्यास करना है । (१) म्ना+लट् (=तिप्, शप्, म्ना=मन आदेश—'पाघ्राध्मा०', पररूप)=मनति । √दाण् का अर्थ—दान करना है । प्र+√नि+दाण्+लट् (=तिप्, शप्, दाण्=यच्छ, पररूप, णत्व—'नेर्गदनद०')=प्रणियच्छति ।

√ह्वृ धातु का अर्थ—कुटिल आचरण करना है । ह्वृ+लट् (=तिप्, शप्, सार्वधातुक गुण ऋ=अर्—रपर)=ह्वरति ।

(५४८) पद—ऋतः, च, संयोगादेः, गुणः । **अनुवृत्ति**—लिटि, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लिट् के परवर्ती रहने पर ऋदन्त संयोगादि अङ्ग को गुण होता है ।

विमर्श—यहाँ 'दयतेर्दिगि लिटि' (७।४।९) से 'लिटि' पद की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । तदनुसार—'संयोग है आदि में जिसके, ऐसे अङ्ग को भी लिट् परे रहते गुण होता है' ।

उदाहरण—(१) √ह्वृ+लिट् (=तिप्=णल्=अ, धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'—'उरत्' रपर)—ह्वर् ह्वृ अ (व् र् का लोप—'हलादिः शेषः' 'ह्'='झ्'—'कुहोश्चुः'

जह्वर्थ। जह्वरथुः। जह्वर। जह्वार-जह्वर। जह्वरिव। जह्वरिम। ह्वर्ता। (५४९) ऋद्धनोः स्ये ७।२।७०। ऋतो हन्तेश्च स्यस्य इट्। ह्वरिष्यति। ह्वरतु। अह्वरत्। ह्वरेत्। (५५०) गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः ७।४।२९। अर्तेः संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणो यकि, यादावार्द्धधातुके लिङि च। ह्वर्यात्। अह्वार्षीत्। अह्वरिष्यत्। स्वृ शब्दोपतापयोः। स्वरति। 'स्वरती'ति वेट्। सस्वरिथ-सस्वर्थ। वमयोस्तु स्वरत्यादिविकल्पं

इति वकारस्य रकारस्य च लोपे 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्चं' इति झस्य जकारे जह्व् अ' इति जाते 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इति गुणेऽकारे रपरे च कृते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'जह्वार' इति।

(५४९) **ऋद्धनोरिति।** ऋत् हन् अनयोर्द्वन्द्वः, पञ्चम्यर्थे षष्ठी, 'स्ये' इति षष्ठ्यर्थे सप्तमी। 'आर्धधातुकस्येडि'त्यतः इडित्यनुवर्तते। तदाह—**ऋत इत्यादिना।**

(५५०) **गुणोऽर्तीति।** अङ्गस्येत्यधिकृतम्। 'रीङृतः' इत्यत ऋत इत्यनुवर्तते। तस्याङ्गविशेषणत्वात्तदन्तविधिः। 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इत्यतोऽसार्वधातुकग्रहणमनुवर्तते, तेन 'आर्धधातुके' इति लभ्यते। 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इत्यतः यकि लिङीति च लभ्यते। 'अयङ् यि' इत्यतः 'यी'ति सप्तम्यन्तमनुवर्तते। तदाह—**अर्तेरित्यादि।** **ह्वर्यात्।** ह्वृधातोराशीर्लिङि, तत्स्थाने तिपि 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्चे'ति

झ्=ज्—'अभ्यासे चर्च')—ज ह् व् भ (ऋ='अ' गुण—'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' रपर, वृद्धि—'अत उपधायाः')=जह्वार। (२) लिट् (प्र० पु० द्विवचन तस्=अतुस्, पूर्वोक्त कार्य, गुण, रपर, स्=र्=ः)=जह्वरतुः। (३) लिट् (प्र० पु० बहुवचन झि=उस्, पूर्वोक्त कार्य)=जह्वरुः। (४) लिट् म० पु० ए० व०—जह्वर्थ। (५) लिट्—म० पु० द्वि० व०—जह्वरथुः। (६) लिट्—म० पु० बहुव०—जह्वर। (७) लिट् उ० पु० एक व०—जह्वार, 'णलुत्तमो वा' से णित्व के अभाव पक्ष में—जह्वर। (८) लिट् उ० पु० द्वि० व०—जह्वरिव। (९) लिट् उ० पु० ब० व०—जह्वरिम। (१०) √ह्वृ+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्)—ह्वृ तास् आ (ह्वृ धातु अजन्त है। 'ऊदृदन्तैः' संग्रह कारिका में ग्रहण न होने से यह अनुदात्त है। अतः वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम नहीं होता। गुण, रपर, टिलोप)=ह्वर्ता।

(५४९) पद—ऋद्धनोः, स्ये। **अनुवृत्ति**—इट्,। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ऋदन्त और हन् धातु से परे स्य को इट् (इ) का आगम होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "ऋकारान्त और 'हन्' धातु से परे 'स्य' को इट् का आगम होता है"।

उदाहरण—(१) √ह्वृ+लृट् (=तिप्=ति)—ह्वृ ति (स्य, इट्—'ऋद्धनोः स्ये' गुण, रपर)=ह्वरिष्यति। (२) लोट्—ह्वरतु। (३) लङ्—अह्वरत्। (४) विधिलिङ्—ह्वरेत्।

(५५०) पद—गुणः, अर्तिसंयोगाद्योः। **अनुवृत्ति**—ऋतः, असार्वधातुकस्य, यकि, लिङि, यि, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—यक् के परे रहने पर और यकारादि आर्धधातुक लिङ् के परे रहते ऋ धातु और संयोगादि ऋदन्त धातु को गुण होता है।

विमर्श—यहाँ 'रीङृतः (७।४।२७) सूत्र से 'ऋतः' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'अकृत्सार्वधातुकयोः' (७।४।२५) से 'असार्वधातुकस्य' की अनुवृत्ति आने से

बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यात् 'श्र्युकः किती'ति निषेधे प्राप्ते क्रादि-नियमान्नित्यमिट् । सस्वरिव । सस्वरिम । परत्वादृद्धनोरिति नित्यमिट् । स्वरिष्यति । अस्वारीत्, अस्वार्षीत् । स्मृ चिन्तायाम् । स्मरति । ह्वृ संवरणे । ह्वरति । सृ गतौ । क्रादित्वान्नेट् । ससार । ससर्थ । ससृव । ससृम । (५५१) रिङ्शयग्लिङ्क्षु ७।४। २८ । शे, यकि यादावार्द्धधातुके लिङि च ऋतो रिङ् । रीङि प्रकृते रिङ्विधानसाम-

---

यासुडागमेऽनुबन्धलोपे, 'इतश्चे'तीकारलोपे 'ह्व यात्' इति स्थिते कित्त्वाद्गुणनिषेधे प्राप्ते 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणे रपरे 'ह्वर्यादि'ति रूपम् ।

वमयोस्तु इति । 'स्वरतिसूति' इति विकल्पो यद्यपि परस्तथापि 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति विधिप्रकरणारम्भात् प्रागेव 'नेड् वशि कृति' (७।२।८) 'श्र्युकः किति' (७।२।११) इत्यादिनिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यात् अयं 'श्र्युकः किती'ति निषेधः स्वरत्यादिविकल्पं बाधते । लिटि वमयोस्तु निषेधमेतं क्रादिनियमो बाधत इति नित्य-मिट् भवतीति भावः ।

(५५१) रिङ्शयगिति । अत्र 'अयङ् यि क्ङिती'त्यतः 'यी'त्यनुवृत्तं लिङो विशेषणम् । तदादिविधिः । 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इत्यनुवृत्तमपि लिङ एव विशेषणम् । तदाह—**शे यकि इत्यादिना ।**

'आर्धधातुक' अर्थ का लाभ होता है । 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' (७।४।२८) से 'यकि' तथा 'लिङि' और 'अयङ् यि' (७।४।२२) से 'यि' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'ऋ और संयोगादि ऋदन्त धातु को गुण होता है, यक् और यकारादि आर्धधातुक लिङ् के परवर्ती रहने पर' ।

उदाहरण—(१) √हृ+आशीर्लिङ् (=तिप्=ति)—हृ ति (आर्धधातुक संज्ञा, 'लिङाशिषि' यासुट्=यास् , गुण—'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः', स् का लोप)=ह्रर्यात् । (२) हृ+ लुङ् (=तिप्=ति)—हृ ति (अट् , इलोप, च्लि=सिच्, ईट् , ऋ='आ'—वृद्धि—'सिचि वृद्धिः' रपर, स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः')=अह्वार्षीत् । (३) लृङ् में—ह्वरिष्यत् ।

√स्वृ का अर्थ—शब्द एवं उपताप है । (१) स्वृ+लट् (=तिप्=ति; शप्–अ, गुण, रपर)=स्वरति । (२) √स्वृ+लिट् (=सिप्=थल्=थ)—स्वृ थ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'स्वरतिसूति०' से विकल्प से इट्, गुण, रपर)=सस्वरिथ । इट् के अभाव पक्ष में—सस्वर्थ । (३) लिट् के उत्तमपुरुष वस् , मस् (=व, म) में 'स्वरतिसूति०' से विकल्प से इट् प्राप्त है । उसको प्रतिषेध के प्रथम करण के सामर्थ्य से बाधकर 'श्र्युकः किति' से निषेध प्राप्त हुआ । इस निषेध को बाधकर क्रादि-नियम से नित्य इट् हुआ—सस्वरिव । सस्वरिम । 'स्वरि-ष्यति' में परत्वात् 'ऋद्धनोः स्ये' से नित्य इट् हुआ । (४) स्वृ+लुङ् (=तिप्=ति)—ति (अट्, च्लि=सिच् , इट् विकल्प से 'स्वरति०' ईट्, 'स्' का लोप, वृद्धि, रपर)=अस्वारीत् । इट् के अभाव पक्ष में—वृद्धि—'सिचि वृद्धिः०' रपर, षत्व=अस्वार्षीत् ।

√स्मृ धातु—चिन्ता अर्थ में है । (१) √स्मृ+लट् (=तिप्=ति, शप्–अ, गुण, रपर) =स्मरति । √ह्वृ धातु—संवरण अर्थ में है । लट् प्र० पु० ए० व०—ह्वरति । √सृ धातु का अर्थ–गति (=जाना) है । यहाँ क्रादि-नियम से इट् का अभाव है । लिट् प्र० पु० ए० व०—ससार । लिट् म० पु० ए० व०—ससर्थ । लिट् उ० पु० द्वि० व०—ससृव । लिट् उ० पु० ब० व०—ससृम ।

(५५१) पद—रिङ् , शयग्लिङ्क्षु । **अनुवृत्ति**—ऋतः, असार्वधातुके, यि, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

र्थ्यान्न दीर्घः । स्त्रियात् । असार्षीत् । असरिष्यत् । शीघ्रगतौ तु 'पाघ्रे'ति शिति धौरादेशः । धावति । गृ घृ सेचने । गरति । घरति । ध्वृ हूर्च्छने । ध्वरति । दृशिर् प्रेक्षणे । पश्यति । ददर्श । ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन । ददृशतुः । ददृशुः । (५५२) विभाषा सृजिदृशोः ७।२।६५ । आभ्यां थल इड् वा । (५५३)

स्त्रियादिति । सृधातोराशीर्लिङि तिपि, 'इतश्चे'तीकारलोपे यासुडागमेऽनुबन्धलोपे 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशेऽनुबन्धलोपे रिङादेशविधानसामर्थ्याद् दीर्घाभावे 'स्त्रियादि'ति रूपम् ।

(५५२) विभाषेति । 'गमेरिट्' इत्यतः इडिति, 'अचस्तास्वत्' इत्यतश्च 'थली'ति अनुवर्तते । सृज्धातोः दृश्धातोश्च क्रादिनियमान्नित्यमिट् प्राप्तस्तत्र विभाषया इड् भवतीत्याह—आभ्यामिति ।

मूलार्थ—शकार, यक् और यकारादि आर्धधातुक लिङ् के परे रहते—ऋत् को रिङ् आदेश होता है । स्त्रियात् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'रीङ् ऋतः' (७।४।२७) से 'ऋतः' 'अकृत्सार्वधातुकयोः' (७।४।२५) से 'असार्वधातुके' तथा 'अयङ् यि' (७।४।२२) से 'यि' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । तदनुसार—'ऋकारान्त अङ्ग को श, यक् तथा यकारादि सार्वधातुक भिन्न लिङ् के परवर्ती रहने पर रिङ् आदेश होता है' । यहाँ रीङ् ऋतः' सूत्र से 'रीङ्' की अनुवृत्ति करके 'शयग्लिङ्क्षु' इतना ही सूत्र बनाया जाता और रीङ् का विधान किया जाना उचित था, पुनः सूत्र में रिङ् ग्रहण क्यों किया गया ? अतः ज्ञापन किया जाता है कि रिङ् आदेश के इकार को 'अकृत्सार्व०' से दीर्घ नहीं होता ।

उदाहरण—(१) √सृ + आशीर्लिङ् (=तिप्=ति, इ का लोप, यासुट्=यास्)—सृ यास् त ('स्' का लोप, ऋ=रिङ्-रि—'रिङ् शयग्लिङ्क्षु')=स्त्रियात् । (२) लुङ्—असार्षीत् । लृङ्—असरिष्यत् ।

√सृ धातु के शीघ्रगति (=दौड़ना) अर्थ में शित् प्रत्यय के परे रहते 'पाघ्राध्मा' से सृ के स्थान में 'धौ' आदेश होता है । लट् प्र० पु० ए० व०—धावति । √गृ, घृ सेचन अर्थ में हैं । गरति । घरति ।

√ध्वृ धातु का अर्थ हूर्च्छन (=कुटिलता) है । लट्—ध्वरति ।

√दृशिर् धातु का अर्थ—देखना है । √दृशिर् ('इर इत्संज्ञा वाच्या' से इर् की इत्संज्ञा लोप)—दृश्+लट् (=तिप्=ति, शप् , दृश्=पश्य्—'पाघ्राध्मा०')=पश्यति । लिट् प्र० पु० ए० व०—ददर्श । लिट् प्र० पु० द्वि० व०—ददृशतुः ।

ऋदुपधेभ्यः—ऋदुपध धातुओं से परवर्ती लिट् गुण की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से कित् होता है । अतः 'ददृशतुः' में गुण नहीं हुआ । लिट् प्र० पु० ब० व०—ददृशुः ।

(५५२) पद—विभाषा, सृजिदृशोः । **अनुवृत्ति**—इट्, थलि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सृज् तथा दृश् धातु से परवर्ती थल् को विकल्प से इट् होता है ।

विमर्श—यहाँ 'गमेरिट्०' (७।२।५८) से 'इट्' और 'अचस्तास्वत्०' (७।२।६१) से 'थलि' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'सृज् एवं दृश् धातु से परे थल् को विकल्प से इट् का आगम होता है' ।

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ६।१।५८। अनयोरमागमः स्याज्झलादावकिति। **दद्रष्ठ–दर्दशिथ। द्रष्टा। (५५४) षढोः कः सि** ८।२।४१। षस्य ढस्य च कः स्यात्सकारे परे। **द्रक्ष्यति। दृश्यात्। इरित्त्वादङ् वा। (५५५) ऋदृशोऽङि गुणः** ७।४।१६। ऋवर्णान्तानां दृशेश्च गुणः स्यादङि। **अदर्शत्।** अङभावे—**(५५६) न दृशः** ३।१।४७।

---

(५५३) **सृजिदृशोरिति।** नित्यार्थमिदं सूत्रम्। **दद्रष्ठ** इति। 'दृशिर् प्रेक्षणे' इत्यस्माद्धातोः' इरित्संज्ञायां लोपे च कृते लिटि, तत्स्थाने सिपि, सिपः थलादेशेऽनुबन्धलोपे, द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् उरदत्वे हलादिशेषे 'विभाषा सृजिदृशोः' इति विकल्पेन इडागमे 'ददृश् इ थ' इति जाते, लघूपधगुणे रपरे 'दर्दशिथ' इति। इडागमाभावपक्षे तु—'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इत्यमागमे मित्त्वादन्त्यादचः परे यणि द द्र श् थ इति जाते 'व्रश्चभ्रस्ज०' इति शकारस्य षकारे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे च कृते 'दद्रष्ठ' इति रूपम्।

(५५४) **द्रक्ष्यति।** दृश्धातोर्लृटि तिपि 'स्यतासी ऌलुटोः' इति स्यप्रत्यये 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादिना शकारस्य षत्वे 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इत्यमागमे यणि 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति स्यस्य सस्य षत्वे क्षयोः संयोगे क्षत्वे कृते द्रक्ष्यतीति।

(५५५) **ऋदृशोऽङि गुण इति। अदर्शत्।** दृश्धातोः लुङि तिपि, 'इतश्चे'ति इकारलोपे च्लौ, 'इरितो वा' इति च्लेः विभाषयाऽङादेशे 'ऋदृशोऽङि गुणः' इति गुणेऽङ्गस्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'अदर्शत्' इति।

---

(५५३) पद—सृजिदृशोः, झलि, अम्, अकिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय के परवर्ती रहने पर सृज् और दृश् धातु को 'अम्' आगम होता है।

विमर्श—यह अम् आगम मित् होने से अन्त्य अच् से परे होगा। ('मिदचोऽन्त्यात्परः')।

उदाहरण—(१) √दृश्+लिट् (=सिप्=थल्=थ)—दृश् थ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'—'उरत्', रपर, हलादिशेष, इट्=इ का आगम—विकल्प से—'विभाषा सृजिदृशोः') —द दृश् इ थ (गुण—'पुगन्त०'—रपर)=दर्दशिथ। इट् के अभाव पक्ष में (अम्—अ का आगम—'सृजिदृशोः०')—द दृ अ श् थ ('ऋ'='र'—यण्, श्=ष्—'व्रश्च०', थ्=ठ्—ष्टुत्व)=दद्रष्ठ।

(५५४) पद—षढोः, कः सि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सकार के परवर्ती रहने पर ष् और ढ् के स्थान में क् आदेश होता है।

उदाहरण—(१) √दृश्+लृट् (=तिप्=ति, स्य,)—दृश् स्य ति (श्=ष्—'व्रश्च०', 'अम्'='अ'—'सृजिदृशोः', यण्)—द्रष् स्य ति (ष्=क्—'षढोः कः सि', 'स्'='ष्'—'आदेशप्रत्यययोः' क्+ष्=क्ष्)=द्रक्ष्यति। लिङ्—दृश्यात्। यहाँ कित् होने से अम् नहीं हुआ।

(५५५) पद—ऋदृशः, अङि, गुणः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'अङ्' के परवर्ती रहने पर ऋवर्णान्त धातु और दृश् धातु को गुण होता है।

उदाहरण—(१) √दृश्+लुङ् (=तिप्=ति, 'इ' का लोप, अट्, च्लि, च्लि=अङ् विकल्प से—'इरितो वा')—अ दृ श् त ('ऋ'='अ'—गुण—'ऋदृशोऽङि गुणः', रपर)=अदर्शत्। अङ् के अभावपक्ष में—

दृशश्च्लेर्वक्ष्यमाणः क्सो न । अद्राक्षीत् । अद्रक्ष्यत् । श्रु श्रवणे । (५५७) श्रुवः शृ च ३।१।७४ । श्रुवः शृ आदेशः श्नुप्रत्ययश्च कर्तरि सार्वधातुके । शृणोति । (५५८) सार्वधातुकमपित् १।२।४ । अपित्सार्वधातुकं ङिद्वत् स्यात् । शृणुतः । (५५९)

---

(५५६) न दृश इति । 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति, 'शल इगुपधात्' इत्यतः क्स इति चानुवर्तते । तदाह—दृश इति ।

(५५७) श्रुव इति । चकारेणात्र 'स्वादिभ्यः श्नुः' इति सूत्रस्थः श्नुः समुच्चीयते । तदाह—श्रुवः शृ इत्यादेश इत्यादिना । शृणोतीति । श्रुधातोर्लटि तिपि शपि प्राप्ते 'श्रुवः शृ चे'त्यनेन 'श्रु' इत्यस्य 'शृ' इत्यादेशे श्नुप्रत्यये च कृतेऽनुबन्धलोपे श्नुप्रत्ययस्याऽपित्त्वेन ङित्त्वात् 'शृ' इत्येतस्य गुणाभावे, श्नु इत्यस्य उकारस्य गुणे 'शृणोति' इति ।

(५५८) सार्वधातुकमपिदिति । 'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यतः ङिदित्यनुवर्तते । तदाह—अपिदिति । तसादीनां ङित्त्वात् श्नोर्न गुणः । शृणुत इति ।

---

(५५६) पद—न, दृशः । **अनुवृत्ति**—च्लेः, क्सः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दृश् धातु से परे 'च्लि' को 'क्स' आदेश नहीं होता । अद्राक्षीत् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः' और 'शल इगुपधात्०' से 'क्सः' पदों की अनुवृत्ति आती है । अतः दृश् धातु से परवर्ती 'च्लि' को 'क्स' आदेश नहीं होता ।

उदाहरण—(१) अङ् के अभावपक्ष में—अ दृश् च्लि त ('शल इगुपधादनिटः क्सः' से प्राप्त क्स आदेश का 'न दृशः' से निषेध, च्लि=सिच्=स्, श्=ष्—'व्रश्च०', 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि', स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः' क्+ष्=क्ष्, ईट्, अम्, यण्, वृद्धि—'वदव्रज०') =अद्राक्षीत् । लृट्—अद्रक्ष्यत् ।

√श्रु धातु का अर्थ सुनना है ।

(५५७) पद—श्रुवः, शृ, च । **अनुवृत्ति**—श्नु । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परवर्ती रहते श्रु धातु को 'शृ' आदेश होता है और श्नु प्रत्यय होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्रस्थ 'च' पद से 'स्वादिभ्यः श्नुः' (३।१।७३) सूत्र से 'श्नु' पद की अनुवृत्ति होती है ।

उदाहरण—(१) √श्रु+लट् (=तिप्=ति)—श्रु ति ('श्रु'='शृ' और श्नु)—शृ नु ति ('उ'='ओ' गुण—'सार्वधातु०' 'न्'='ण्'—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्')=शृणोति । यहाँ श्नु प्रत्यय के अपित् होने से 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् होने पर 'शृ' के ऋकार को गुण नहीं होता ।

(५५८) पद—सार्वधातुकम्, अपित् । **अनुवृत्ति**—ङित् । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—पित्-भिन्न सार्वधातुक ङिद्वत् होता है । शृणुतः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिङित्' (१।२।१) से 'ङित्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार उक्त अर्थ निष्पन्न होता है ।

उदाहरण—(१) √श्रु+लट् (=तस्, श्रु=शृ, श्नु)—शृ नु तस् (णत्व, स्=र्=ः) =शृणुतः । यहाँ 'नु' के उकार को सार्वधातुक निमित्तक गुण प्राप्त होता है । तस् अपित्

हुश्नुवोः सार्वधातुके ६।४।८७। जुहोतेः श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽङ्गस्यासंयोगपूर्वोवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके। शृण्वन्ति। शृणोषि। शृणुथः। शृणुथ। शृणोमि। (५६०) **लोपश्चान्यतरस्यां म्वोः ६।४।१०७।** असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारस्य लोपो वा, म्वोः परयोः। शृण्वः-शृणुवः। शृण्मः-शृणुमः। शुश्राव। शुश्रव। शुश्रुव। शुश्रुम। श्रोता। श्रोष्यति। शृणोतु। शृणुयात्। शृणुताम्। शृण्वन्तु। (५६१)

---

(५५९) **हुश्नुवोरिति।** 'इणो यण्' इत्यतः यण् इत्यनुवर्तते, 'अचि श्नु' इत्यतः अचीति, 'ओः सुपी'त्यतः ओरिति, 'एरनेकाचः' इति सूत्रम् एरिति वर्जमनुवर्तते। तदाह—**जुहोतेरित्यादिना।**

(५६०) **लोपश्चेति।** अस्येत्यनेन 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' इति पूर्वसूत्रोक्त उकारः परामृश्यते। असंयोगपूर्वात् प्रत्ययादिति चोकारेऽन्वेति। तस्याङ्गविशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह—**असंयोगपूर्वस्येति।** **शृण्वः, शृणुवः।** श्रुधातोः लटो वसि 'श्रुवः शृ च' इति श्रुवः 'शृ' इत्यादेशे शब्विषये श्नुप्रत्यये च कृते सार्वधातुकसंज्ञायां

सार्वधातुक होने से 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्भाव हो जाता है। अतः 'क्ङिति च' से गुण का निषेध हो जाता है।

(५५९) पद—हुश्नुवोः, सार्वधातुके। **अनुवृत्ति**—अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य, अचि, यण्, ओः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अजादि सार्वधातुक प्रत्यय के परवर्ती रहने पर हु धातु और श्नु-प्रत्ययान्त जो अनेकाच् अङ्ग, तदवयव जो असंयोगपूर्वक उ वर्ण, उसको यण् आदेश होता है। शृण्वन्ति इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'इणो यण्' (६।४।८१) से 'यण्' 'अचि श्नु०' (६।४।७७) से अचि, 'ओः सुपि' (६।४।८३) से मण्डूकप्लुत्या 'ओः' तथा 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (६।४।८२) से 'अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"अजादि सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते 'हु' धातु तथा अनेकाच् श्नु-प्रत्ययान्त अङ्ग के असंयोगपूर्वक उवर्ण को यण् आदेश होता है"।

उदाहरण—(१) √श्रु+लट् (=झि, श्रु=शृ, श्नु=नु, झ्=अन्त)—शृ नु अन्ति ('अन्ति' को ङिद्भाव होने से गुण-निषेध, णत्व, उ=व् 'यण्'—'हुश्नुवोः सार्वधातुके')= शृण्वन्ति। (२) श्रु+लट् (=सिप्=सि, श्रु=शृ, श्नु, गुण, णत्व, षत्व)=शृणोषि। (३) शृणुथः, शृणुथ—'थस्' और 'थ' के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्भाव होने पर गुण-निषेध। (४) श्रु+लट् (=मिप्=मि, पूर्ववत)=शृणोमि।

(५६०) पद—लोपः, च, अन्यतरस्याम्, म्वोः। **अनुवृत्ति**—उतः, प्रत्ययात्, असंयोग-पूर्वात्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—वकार और मकार के परवर्ती रहने पर असंयोगपूर्वक प्रत्यय के उकार का विकल्प से लोप होता है। शृण्वः-शृणुवः इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (६।४।१०६) की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'मकारादि तथा वकारादि प्रत्ययों के परे रहते असंयोगपूर्वक प्रत्यय के उकार का विकल्प से लोप होता है'।

उदाहरण—(१) श्रु+लट् (=वस्, श्रु=शृ, श्नु)—शृ नु वस् (णत्व, 'उ' का विकल्प से लोप, णत्व)—शृण्वस्=(स्=रु, रु=ः)=शृण्वः। उकार का लोप न होने पर—शृणुवः।

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ६।४।१०६। असंयोगपूर्वात्प्रत्ययोतो हेर्लुक्। शृणु-शृणुतात्। शृणुतम्। शृणुत। गुणावादेशौ। शृणवानि। शृणवाव। शृणवाम। अशृणोत्। अशृणुताम्। अशृण्वन्। अशृणोः। अशृणुतम्। अशृणुत। अशृणवम्। अशृण्व-अशृणुव। अशृण्म-अशृणुम। शृणुयात्। शृणुयाताम्। (५६२) **उस्य-**

'सार्वधातुकमपित्' इति श्नोर्ङित्त्वे 'क्ङिति चे'ति गुणाभावे, णत्वे 'शृ णु व स्' इति जाते 'लोपश्चान्यतरस्यां म्वोः' इति विभाषया उकारलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'शृण्वः' इति। लोपाऽभावपक्षे 'शृणुवः' इति।

(५६१) **उतश्चेति।** 'चिणो लुगि'त्यतः 'लुगि'ति, 'अतो हेः' इत्यतश्च 'हेरि'-त्यनुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। तदाह—**असंयोगपूर्व इत्यादि। शृणुयात्।** श्रुधातो-र्लिङस्तिपि 'श्रुवः शृ च' इति श्रुवः श्रादेशे श्नुप्रत्यये च कृते णत्वे यासुडागमेऽनुबन्ध-लोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्ये'ति सलोपे 'इतश्चे'तीकारलोपे 'शृणुयात्' इति।

---

(२) लट् (मस्-पूर्ववत)=शृण्मः-शृणुमः। (३) श्रु+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यासकार्य, वृद्धि और 'आव्' आदेश)=शुश्राव। लिट् (वस्, मस्)=शुश्रुव, शुश्रुम। (४) लुट्—श्रोता (आर्धधातुक गुण)। (५) लृट्—श्रोष्यति। (६) श्रु+लोट् (=तिप्=ति, शप् के विषय में श्नु, श्रु=शृ, 'उ'='ओ'—गुण, णत्व)—शृणोति (ति=तातङ् विकल्प से) =शृणुतात्। पक्ष में (इ=उ)=शृणोतु। (७) ('तस्' के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वद्-भाव होने पर गुण-निषेध)=शृणुताम्। (८) श्रु+लोट् (=झि, झ्=अन्त, शृ, श्नु, णत्व)—शृणु अन्ति (उ=व्—'यण्'—'हुश्नुवोः')—शृण्वन्ति (इ=उ)=शृण्वन्तु।

(५६१) पद—उतः, च, प्रत्ययात्, असंयोगपूर्वात्। **अनुवृत्ति**—हेः, लुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—असंयोगपूर्वक प्रत्यय के उकार से परे 'हि' का लुक् होता है। शृणु-शृणुतात् इत्यादि।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'चिणो लुक्' (६।४।१०४) से 'लुक्' और 'अतो हेः' से 'हेः' पदों की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार—"असंयोगपूर्व जो प्रत्यय का उकार, तदन्त अङ्ग से परवर्ती 'हि' का लुक् हो जाता है"।

उदाहरण—(१) श्रु+लोट् (=सिप्=सि, श्रु=शृ, श्नु, णत्व, सि=हि)—शृणु हि (हि=तातङ्='तात्'—विकल्प से)=शृणुतात्। तातङ् के अभाव पक्ष में ('हि' का लुक्—'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्')=शृणु।

(२) मध्यमपुरुष 'थस्', 'थ' में 'तम्' और 'त' आदेश होने पर—शृणुतम्, शृणुत।

(३) श्रु+लोट् (=मिप्=मि, श्रु=शृ, श्नु, णत्व, मि=नि—'मेर्निः')—शृ णु नि (आट्='आ'—'आडुत्तमस्य पिच्च' 'उ=ओ'—गुण, ओ=आव्)=शृणवानि।

(४) उ० पु० वस्, मस् में—शृणवाव, शृणवाम।

लङ् लकार—(१) प्रथमपुरुष ए० व०—अशृणोत्। द्वि० व०—अशृणुताम्। ब० व०—यण् होकर—अशृण्वन्।

(२) मध्यमपुरुष ए० व०—अशृणोः। द्वि० व०—अशृणुतम्। ब० व०—अशृणुत।

(३) उत्तमपुरुष ए० व०—अशृणवम्। द्वि० व०, बहुवचन में विकल्प से उकार का लोप—'लोपश्चान्यतरस्याम्०'—अशृण्व-अशृणुव। अशृण्म-अशृणुम।

विधिलिङ्—(१) श्रु+लिङ् (=तिप्, श्रु=शृ, श्नु, णत्व, यासुट्=यास्)—शृणु यास् ति ('इ' का लोप, 'स्' का लोप)=शृणुयात्। (२) तस्—शृणुयाताम्।

पदान्तात् ६।१।९३। अपदान्तादवर्णादुसि पररूपमेकादेशः स्यात्। शृणुयुः। शृणुयाः। शृणुयातम्। शृणुयात। शृणुयाम्। शृणुयाव। शृणुयाम। श्रूयात्। अश्रौषीत्। अश्रोष्यत्। गम्लृ, सृप्लृ गतौ। **(५६३) इषुगमियमां छः** ७।३।७७। शिति।

---

(५६२) **उस्यपदान्तादिति**। अत्र 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम्। 'आद् गुणः' इत्यस्मादादित्यनुवर्तते, 'एङि पररूपम्' इत्यस्मात्पररूपमिति च। तदाह—**अपदान्तादिति**। **शृणुयुः**। श्रुधातोर्लिङः स्थाने झिप्रत्यये झेर्जुसादेशेऽनुबन्धलोपे 'श्रुवः शृ चे'-त्यनेन 'शृ'आदेशे श्नुप्रत्यये णत्वे यासुटि, सकारलोपे 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'शृणुयुः' इति।

(५६३) **इषुगमीति**। अत्र 'ष्ठिवुक्लमुचमामि'त्यतः 'शिती'त्यनुवर्तते। **गच्छति**। गम्धातोः लटि, तिपि, अनुबन्धलोपे 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इत्यनेन सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शप्यनुबन्धलोपे 'गम् अ ति' इति जाते 'इषुगमियमां छः' इति

---

(५६२) पद—उसि, अपदान्तात्। **अनुवृत्ति**—एकः पूर्वपरयोः, आत्, पररूपम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अपदान्त अवर्ण से 'उस्' परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। शृणुयुः। इत्यादि।

विमर्श—'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है। 'आद् गुणः' (६।१।८४) से 'आत्' तथा 'एङि पररूपम्' (६।१।९१) से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—"अपदान्त अवर्ण से (उत्तर में) 'उस' परे रहते पूर्व-पर (अ+उ) के स्थान में पररूप एकादेश होता है"।

उदाहरण—(१) श्रु=लिङ् (=झि=जुस्=उस्, श्रु=शृ, श्नु, णत्व)—शृ णु उस् (यासुट्=यास्, स् का लोप, आ+उ=उ—पररूप, स्=र्, र्=ः)=शृणुयुः। विधिलिङ् के रूप इस प्रकार हैं—

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	शृणुयात्	शृणुयाताम्	शृणुयुः
म० पु०—	शृणुयाः	शृणुयातम्	शृणुयात
उ० पु०—	शृणुयाम	शृणुयाव	शृणुयाम

(२) आशीर्लिङ् में 'अकृत्सार्व०' से दीर्घ होकर—श्रूयात्।

(३) लुङ् में 'सिचि वृद्धि०' से वृद्धि होकर—अश्रौषीत्।

लुङ् लकार के रूप—

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अश्रौषीत्	अश्रौष्टाम्	अश्रौषुः।
म० पु०—	अश्रौषीः	अश्रौष्टम्	अश्रौष्ट।
उ० पु०—	अश्रौषम्	अश्रौष्व	अश्रौष्म।

(४) लङ् लकार में—अश्रोष्यत्

√गम्लृ और √सृप्लृ धातुओं का अर्थ=जाना है।

(५६३) पद—इषुगमियमाम्, छः। **अनुवृत्ति**—शिति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'शित्' प्रत्यय के परवर्ती रहने पर इष्, गम् और यम् धातुओं को छकारान्त आदेश होता है।

गच्छति । जगाम । (५६४) **गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ६।४।९८ ।** एषामुपधाया लोपः स्यादजादौ क्ङिति, न त्वङि । जग्मतुः । जग्मुः । जगमिथ, जगन्थ । जग्मथुः । जग्म । जगाम-जगम । जग्मिव । जग्मिम । गन्ता । (५६५) **गमेरिट् परस्मैपदेषु ७।२।५८ ।** गमेः परस्य सादेरार्द्धधातुकस्येट् परस्मैपदेषु । गमिष्यति ।

'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषया अन्त्यस्य मकारस्य स्थाने छादेशे जाते 'छे च' इति तुकि 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वे 'गच्छति' इति रूपम् । **जगाम इति** । गम्धातोर्लिटि, तिपि, 'परस्मैपदानामि'त्यादिना तिपः स्थाने णलादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति गकारस्य जकारे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'जगाम' इति रूपम् ।

(५६४) **गमहनेति** । 'ऊदुपधायाः' इत्यतः 'उपधायाः' इत्यनुवर्तते । 'अचि श्नु०' इत्यस्मादनुवृत्तस्य अचीत्यस्य अङ्गाक्षिप्तप्रत्ययविशेषणतया तदादिविधिरित्याह—एषामित्यादिना ।

(५६५) **गमेरिडिति** । 'सेऽसिचि' इत्यस्मात् 'से' इत्यनुवर्तते । तेन आर्धधातु-

---

विमर्श—यहाँ 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' (७।३।७५) से 'शिति' पद की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार इष्, गम् और यम् धातुओं के अन्त्य अल् को 'छ्' आदेश होता है, शित् परे रहते ।

उदाहरण—(१) √गम्+लट् (=तिप्=ति, शप्-अ, 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के सहकार से 'इषुगमि०' से म्=छ् आदेश, तुक्, श्चुत्व)=गच्छति । (२) √गम्+लिट् (=तिप्=णल्=अ)—गम् अ, (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादि शेष, ग्=ज्—'कुहोश्चुः', वृद्धि—'अत उपधायाः')=जगाम ।

(५६४) पद—गमहनजनखनघसाम्, लोपः, क्ङिति, अनङि । **अनुवृत्ति**—अचि, उपधायाः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अजादि कित्, ङित् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर गम्, हन्, जन्, खन्, घस् धातुओं की उपधा का लोप होता है । किन्तु अङ् के परे लोप नहीं होता । जग्मतुः, जग्मुः । इत्यादि ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'अचि श्नु०' (६।४।७७) से 'अचि' तथा 'ऊदुपधाया गोहः' (६।४।८९) से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'अङ्-भिन्न अजादि कित्, ङित् प्रत्यय के परे रहते गम् आदि अङ्गों की उपधा का लोप हो जाता है' ।

उदाहरण—(१) √गम्+लिट् (=तस्=अतुस्)—गम् अतुस् (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, ग्=ज्)—जगम् अतुस् ('अ' उपधा का लोप—'गमहन०', स्=रु=ः)=जग्मतुः । लिट् के रूप इस प्रकार होते हैं—

√गम् लिट् लकार

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	—जगाम	जग्मतुः	जग्मुः
म० पु०	—जगमिथ-जगन्थ,	जग्मथुः	जग्म
उ० पु०	—जगाम-जगम,	जग्मिव	जग्मिम

(२) √गम्+लुट् (=तिप्, तास्, तिप्=डा=आ)—गम् तास् आ (म्=ं—'नश्चापदान्तस्य झलि', परसवर्ण—'अनुस्वारस्य ययि०')=गन्ता ।

(५६५) पद—गमेः, इट्, परस्मैपदेषु । **अनुवृत्ति**—से, आर्धधातुकस्य । **विधिसूत्र** ।

गच्छतु । अगच्छत् । गच्छेत् । गम्यात् । (५६६) **पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु** ३।१।५५ । श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेर्ऌदितश्च परस्य च्लेरङ्, परस्मैपदेषु । अगमत् । अगमिष्यत् । सर्पति । (५६७) **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्** ६।१।५८ । उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधस्तस्याम्वा, झलादावकिति । स्रप्ता–सर्प्ता । स्रप्स्यति–

कस्येत्यनुवृत्तं विशेष्यते । तदादिविधिस्तदाह—**गमेः परस्येत्यादि** । गमिष्यति । गम्-धातोर्ऌटि, तिपि 'स्यतासी ऌलुटोः' इति स्यप्रत्यये 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' इतीडागमेऽनुबन्धलोपे षत्वे कृते 'गमिष्यती'ति ।

(५६६) **पुषादीति** । अत्र 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति, 'अस्यतिवक्ति०' इत्यतः अङिति चानुवर्तते । पुषादिधातवस्तु दिवादय एव गृह्यन्ते । तदाह—**श्यन्विकरणेति** । **अगमत्** । गम्धातोर्लुङि तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपेऽडागमेऽनुबन्धलोपे च 'अगम् ति' इति जाते च्लौ 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' इति च्लेरङादेशे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'अगमत्' इति रूपम् ।

(५६७) **अनुदात्तस्येति** । अत्र 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इत्यस्मात् झलीति, अमिति, अकिति, 'उपदेशेऽज्०' इत्यतः उपदेश इति चानुवर्तते । अत आह—**उपदेश इत्यादिना** । **स्रप्तेति** । सृप्धातोः लुटि, तिपि 'स्यतासी ऌलुटोः' इति तास्प्रत्यये 'लुटः प्रथमस्ये'ति

मूलार्थ—परस्मैपद के परवर्ती रहने पर गम् धातु से परे सादि आर्धधातुक को 'इट' का आगम होता है । गमिष्यति इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) से 'आर्धधातुकस्य' तथा 'सेऽसिचि' (७।२।५७) से 'से' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अतः 'गम् धातु से उत्तर सकारादि आर्धधातुक को परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय के परे रहते इट् (इ) का आगम होता है' ।

उदाहरण—(१) √गम्+लृट् (=तिप्, स्य, इट् का आगम—'गमेरिट्०' षत्व)= गमिष्यति । (२) √गम्+लोट् (=तिप्=ति, शप्–अ, म्=छ्—'इषुगमि०' तुक्, श्चुत्व)—गच्छति (इ=उ—'एरुः')=गच्छतु । (३) लङ्—अगच्छत् । (४) विधिलिङ्—गच्छेत् । (५) आशीर्लिङ्—गम्यात् ।

(५६६) **पद**—पुषादिद्युताद्यॢदितः, परस्मैपदेषु । **अनुवृत्ति**—च्लेः, अङ् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—परस्मैपद के परे रहते श्यन्-विकरण पुषादि, द्युतादि तथा ऌदित् धातुओं से परे 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश होता है । अगमत् इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः' और 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (३।१।५२) से 'अङ्' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'पुषादि, द्युतादि और ऌदित् धातुओं से च्लि के स्थान में अङ् (=अ) आदेश होता है, परस्मैपद के परे रहते' ।

उदाहरण—(१) √गम्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि, इ का लोप, च्लि=अङ्= अ—'पुषादि०')=अगमत् । (२) लृङ्—अगमिष्यत् । (३) √सृप्+लट् (=तिप्=ति, शप्–अ, 'पुगन्त०' से गुण—ऋ=अ, रपर)=सर्पति ।

(५६७) **पद**—अनुदात्तस्य, च, ऋदुपधस्य, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—झल्यमकिति, उपदेशे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय के परे रहते उपदेशावस्था में जो अनुदात्त ऋदुपध धातु, उसको अम् (=अ) आगम विकल्प से होता है : स्रप्ता–सर्प्ता । असृपत् इत्यादि ।

सप्स्र्यति । असृपत् । ञिक्ष्विदा अव्यक्ते शब्दे । क्ष्वेदति । यभ मैथुने । यभति । वेट् । येभिथ । (५६८) झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४० । झषः परयोस्तथयोर्धः स्यान्न तु दधातेः । ययब्ध । यब्धा । णम प्रह्वत्वे, शब्दे च । नेमिथ–ननन्थ । नन्ता । नंस्यति । अनंसीत् । अनंसिष्टाम् । त्यज हानौ । त्यजति । तत्याज । तत्यजिथ–तत्यक्थ । त्यक्ता ।

तिपः डादेशे डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इति विकल्पेन अमागमे यणि 'स्रप्ता' इति। अमागमाऽभावे तु—लघूपधगुणे रपरे 'सर्प्ता' इति ।

(५६८) **झषस्तथोरिति** । झष इति पञ्चमी । तश्च थश्चेति द्वन्द्वः । 'अधः' इति षष्ठ्यन्तं पदम् । तेन धाधातुभिन्नस्येति लभ्यते । अत आह—**झषः परयोरिति** ।

नमिथ । णमधातोः 'णो नः' इति णस्य नत्वे लिटि सिपि थलि, द्वित्वे भारद्वाजमते वेटि एत्वेऽभ्यासलोपे च कृते 'नेमिथ' इति । इडागमाभावपक्षे तु 'ननम् थ' इति जाते मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'ननन्थ' इति ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' (६।१।५७) सूत्र से 'झलि, अम् , अकिति' तथा—'उपदेशेऽशिति' (६।१।४४) से 'उपदेशे' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'झलादि कित्-भिन्न प्रत्यय के परवर्ती रहने पर उपदेश अवस्था में अनुदात्त ऋकारोपध धातु को अम् (=अ) का आगम विकल्प से होता है' ।

उदाहरण—(१) √सृप्+लुट् (=तिप्, तास् , तिप्=डा=आ, टिलोप)—सृप् आ (विकल्प से अम्=अ आगम—'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्', ऋ=र्—यण्)=स्रप्ता । 'अम्' के अभावपक्ष में—गुण—ऋ=अ, रपर=सर्प्ता । (२) इसी प्रकार लृट् में—स्रप्स्यति, सप्र्स्यति । (३) √सृप्+लुङ् (=तिप्=ति, इलोप, च्लि, च्लि=अङ्=अ—'पुषादि-द्युताद्य०' ङित् होने से गुण का निषेध, अट् आगम)=असृपत् ।

√ञिक्ष्विदा का अर्थ—अस्पष्ट शब्द करना है । 'ञि' की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है । (१) √क्ष्विद्+लट् (तिप्=ति, शप्-अ, गुण—'पुगन्त०')=क्ष्वेदति ।

√यभ धातु मैथुन अर्थ में है । (१) लट्—यभति ।

(५६८) पद—झषः, तथोः, धः, अधः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'दधाति' को छोड़कर 'झष्' से परे 'त, थ' को 'ध' होता है ।

उदाहरण—(१) √यभ्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष—य यभ् थ (भारद्वाज-नियम से विकल्प से इट्, एत्व, अभ्यास का लोप—'थलि च सेटि)= येभिथ । इट् न होने पर पक्ष में—ययभ् थ (थ्=ध्—'झषस्तथोर्धोऽधः', भ्=ब्—जश्त्व)= ययब्ध । (२) √यभ्+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्)—यभ् तास् आ (टिलोप, त्=ध्—'झषस्तथोः' जश्त्व)=यब्धा ।

√णम धातु का अर्थ प्रह्वत्व और शब्द है ।

(१) णम् ('णो नः' से 'ण्'='न्')—नम्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—ननम् थ (भारद्वाज मत से विकल्प से इट्=इ, एत्व, अभ्यासलोप)= नेमिथ । इट् के अभावपक्ष में एत्वाभ्यासलोप न होने पर ('न नम् थ' म्=—अनुस्वार, परसवर्ण)=ननन्थ । (२) लुट्—नन्ता । (३) लृट्—नंस्यति । (४) लुङ्—अनंसीत, अनंसिष्टाम् ।

अत्याक्षीत् । अत्याक्ताम् अत्यक्ष्यत् । अक्षू व्याप्तौ । (५६९) अक्षोऽन्यतरस्याम् ३।१।७५ । श्नुः स्याद्वा कर्तरि सार्वधातुके । पक्षे–शप् । अक्ष्णोति । अक्षति । आनक्ष । आनक्षतुः । आनक्षुः । आनक्षिथ–आनष्ठ । अक्षिता–अष्टा । अक्षिष्यति । 'स्कोरि'ति कलोपः । (५७०) षढोः कः सि ८।२।४१ । अक्ष्यति । अक्ष्णोतु । अक्ष्णुहि । अक्ष्णवानि ।

---

(५६९) **अक्षोऽन्यतरस्यामिति ।** अत्र 'स्वादिभ्यः श्नुरि'त्यतः श्नुरिति 'कर्तरि शबि'त्यतः कर्तरीति 'सार्वधातुके यगि'त्यतः सार्वधातुक इति चानुवर्तते । **अक्ष्णोतीति ।** अक्ष्धातोर्लटि तिपि शपि प्राप्ते 'अक्षोऽन्यतरस्याम्' इति शपं बाधित्वा श्नुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां गुणे णत्वे 'अक्ष्णोती'ति । श्नुप्रत्ययस्याऽभावपक्षे शपि 'अक्षति' इति ।

अक्षिता । ऊदित्—अक्षूधातोर्लुटि तिपि, तिपः डादेशे, तासि, डित्त्वाट्टिलोपे 'स्वरतिसूति०' इति ऊदित्वाद् वैभाषिके इडागमे सति 'अक्षिता' इति । इडभावे च संयोगान्तलोपे कुत्वे 'अष्टा' इति ।

(५७०) **षढोः कः सीति ।** स्पष्टम् ।

√त्यज् धातु का अर्थ—हानि (=त्यागना) है । (१) लट्—त्यजति । (२) लिट्–तत्याज । (३) लिट् म० पु० ए० व०—विकल्प से इट् होकर—तत्यजिथ–तत्यक्थ । (४) लुट्—त्यक्ता । (५) लुङ् प्र० पु० एकव०—अत्याक्षीत् (हलन्तलक्षणा वृद्धि) । (६) लुङ् प्र० पु० द्वि० व०—अत्याक्ताम् । (७) लृङ्—अत्यक्ष्यत् ।

√अक्षू (ऊदित्) धातु का अर्थ—व्याप्त होना है ।

(५६९) पद—अक्षः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—श्नुः, कर्तरि, सार्वधातुके । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परे रहते अक्ष् धातु से विकल्प से श्नु प्रत्यय होता है । अक्ष्णोति–अक्षति ।

विमर्श—यहाँ—'स्वादिभ्यः श्नुः' (३।१।७३) से 'श्नुः', 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'कर्तरि' और 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—'कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते अक्ष् धातु से विकल्प से श्नु प्रत्यय होता है' ।

उदाहरण—(१) √अक्ष्+लट् (=तिप्=ति, प्राप्त 'शप्' का बाधकर विकल्प से श्नु =नु—'अक्षोऽन्यतरस्याम्' सार्वधातुक संज्ञा, गुण, णत्व)=अक्ष्णोति । 'श्नु' के अभावपक्ष में शप्—अक्षति । (२) अक्ष्+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—अ अक्ष् अ (अभ्यास को दीर्घ—'अत आदेः' नुट्=न्—'तस्मान्नुड् द्विहलः')=आनक्ष । (३) लिट् प्र० पु० द्वि० व०—आनक्षतुः । (४) लिट् प्र० पु० ब० व०—आनक्षुः । (४) लिट् म० पु० ए० व०—भारद्वाज-मत में विकल्प से इट् होकर—आनक्षिथ । 'इट्' के अभावपक्ष में—आ न क्ष् थ (संयोगान्त लोप, ष्टुत्व)=आनष्ठ ।

(५) √अक्ष्+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्)—अक्ष् तास् आ (विकल्प से इट्='इ' का आगम—'स्वरतिसूति०', टिलोप)=अक्षिता । इट् के अभाव में—अक्ष् ता ('स्कोः' से 'क्' का लोप, ष्टुत्व—त=ट्)=अष्टा ।

(६) लृट्—अक्षिष्यति (विकल्प से इट्) ।

(५७०) पद—षढोः, कः सि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सकार के परे रहते ष् और ढ् के स्थान में 'क्' आदेश होता है ।

आक्ष्णोत् । आक्ष्णवम्–अक्ष्णुयात् । अक्ष्णुयाताम् । अक्ष्णुयुः । अक्ष्यात् । आक्षीत् । आक्षिष्टाम् । आष्टाम् । आक्षिषुः । तक्षू त्वक्षू तनूकरणे । (५७१) तनूकरणे तक्षः ३।१।७६ । श्नुर्वा शब्विषये । तक्ष्णोति, तक्षति वा काष्ठम् । ततक्ष । ततक्षिथ–ततष्ठ । अतक्षीत् । अतक्षिष्टाम् । अताक्षीत् । अताष्टाम् । तनूकरणे किम् ? वाग्भिः सन्तक्षति ।

---

(५७१) **तनूकरण इति ।** अत्र 'स्वादिभ्यः श्नुरि'त्यतः श्नुरिति, 'कर्तरि शबि'-त्यतः कर्तरीति, 'सार्वधातुके यगि'त्यतश्च सार्वधातुके इति चानुवर्तते । तनूकरणेऽर्थे विद्यमानाद्धातोः श्नुः स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे इति फलितार्थः । **तक्ष्णोति ।** तक्ष-धातोर्लटि तिपि, प्राप्तं शपं प्रबाध्य 'तनूकरणे तक्षः' इति विकल्पेन श्नुप्रत्ययेऽनुबन्ध-

---

उदाहरण—लृट् में 'इट्' के अभावपक्ष में—अक्ष् स्य ति ('क्' का लोप—'स्कोः०', षत्व, 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि', क् ष्=क्ष्)=अक्ष्यति ।

(२) अ√क्ष्=लोट् (=तिप्=ति, विकल्प से श्नु=नु)—अ क्ष् नु ति (णत्व, गुण, 'इ'='उ'—'एरुः')=अक्ष्णोतु । (३) लोट् म० पु० ए० व०—अक्ष्णुहि । (४) लोट् उ० पु० ए० व०—अक्ष्णवानि । (५) अक्ष्+लङ्=आक्ष्णोत् । (६) लङ्—उ० पु० एकवचन—आक्ष्णवम् । (७) विधिलिङ् प्र० पु० ए० व०—अक्ष्णुयात् । द्वि० व०—अक्ष्णुयाताम् । ब० व०—अक्ष्णुयुः । (८) आशीर्लिङ्—अक्ष्यात् । (९) लुङ् प्र० पु० ए० व०—आक्षीत् । (१०) अक्ष्+लुङ् (=तस्=ताम्, च्लि=सिच्=स्, विकल्प से इट्)—अक्ष् इ स् ताम् (आट्, वृद्धि, षत्व, ष्टुत्व)=आक्षिष्टाम् । इट् न होने पर पक्ष में—आक्ष् स् ताम् ('झलो झलि' से 'स्' का लोप, 'स्कोः०' से 'क्' का लोप, ष्टुत्व से 'त्'='ट्')=आष्टाम् ।

(११) लुङ् प्र० पु० ब० व०—आक्षिषुः, आक्षुः ।

√तक्षू , त्वक्षू धातु तनूकरण (=कम करना) अर्थ में हैं ।

(५७१) पद—तनूकरणे, तक्षः । **अनुवृत्ति**—श्नुः, कर्तरि, सार्वधातुके । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—तनूकरण (सूक्ष्म) अर्थ में तक्ष् धातु से विकल्प से श्नु होता है, शप् के विषय में । तक्ष्णोति, तक्षति वा काष्ठम् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'स्वादिभ्यः श्नुः' (३।१।७३) से 'श्नुः' 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'कर्तरि' और 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से 'सार्वधातुके' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'अक्षोऽन्यतरस्याम्' (३।१।७५) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—'तक्ष् धातु से तनूकरण (=सूक्ष्म करना, छीलना) अर्थ में कर्तृवाची सार्वधातुक के परवर्ती रहने पर विकल्प से 'श्नु' प्रत्यय होता है ।

उदाहरण—(१) √तक्ष्+लट् (=तिप्=ति, विकल्प से 'श्नु'—'तनूकरणे तक्षः')—तक्ष् नु ति (गुण—उ=ओ, णत्व)=तक्ष्णोति । 'श्नु' के अभाव पक्ष में (शप्–अ)=तक्षति । (२) लिट् प्र० पु० ए० व०—ततक्ष । (३) लिट् म० पु० ए० व० (विकल्प से इट्)=ततक्षिथ । इट् के अभाव में—ततष्ठ । (४) √तक्ष्+लुङ् (=तिप्=ति, इ का लोप, अट्, च्लि=सिच्=स्)—अ तक्ष् स् त् (विकल्प से इट्, ईट्, 'स्' का लोप, प्राप्त हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' से निषेध)=अतक्षीत् । इट् के अभाव पक्ष में वृद्धि—अताक्षीत् । (५) लुङ् प्र० पु० द्वि० व०—अतक्षिष्टाम् , अताष्टाम् (विकल्प से इट्) ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र के द्वारा तनूकरण (=छीलना) अर्थ में ही श्नु प्रत्यय होता है । अतः 'भर्त्सना' अर्थ में श्नु नहीं होता । 'वाग्भिः सन्तक्षति ।'

भर्त्सयतीत्यर्थः। रक्ष पालने। रक्षति। णिक्ष चुम्बने। प्रणिक्षति। वक्ष रोषे। सङ्घाते इत्येके। वक्षति। मृक्ष सङ्घाते। मक्ष इत्येके। तक्ष त्वचने। त्वचनं संवरणम्, त्वचो ग्रहणं च। पक्ष परिग्रहे इत्येके। सूर्क्ष आदरे। सूर्क्षति। सुसूर्क्ष। काक्षि वाक्षि माक्षि काङ्क्षायाम्। द्राक्षि ध्राक्षि ध्वाक्षि घोरवाशिते च। चूष पाने। तूष तुष्टौ। पूष वृद्धौ। पूषति। मूष स्तेये। लूष रूष भूषायाम्। शूष प्रसवे। यूष हिंसायाम्। जूष च। भूष अलङ्कारे। जि जये। जयति। (५७२) सन्लिटोर्जेः ७।३।५७। सन्लिण्निमित्तादभ्यासात्परस्य जेः कुत्वम्। जिगाय। जिग्यतुः। जिगयिथ–जिगेथ। जीव प्राणधारणे। जीवति। पीव् मीव तीव णीव स्थौल्ये। पीवति। पिपीव। मुर्वी

लोपे 'तक्ष् नु ति' इति जाते, गुणे णत्वे च कृते 'तक्ष्णोति' इति। श्नोरभावे तु—शपि 'तक्षति' इति।

(५७२) सन्लिटोर्जे इति। सूत्रेऽस्मिन् 'सन्लिटोरि'त्यत्र निमित्तसप्तमी, अभ्यासेऽन्वेति। 'अभ्यासाच्चे'ति सूत्रात् 'अभ्यासात्' चजोः कु घिण्ण्यतोः' इत्यस्मात् 'कु' इति चानुवर्तते। तदाह मूले—सन्लिण्निमित्त इत्यादिना। जिगाय। जिधातोर्लिटि, तत्स्थाने तिपि, तिपः णलादेशेऽनुबन्धलोपे, धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'जि जि अ' इति जाते 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आयादेशे 'सन्लिटोर्जेः' इति जकारस्य कुत्वेन गकारे कृते 'जिगाय' इति सिद्धम्।

√रक्ष् धातु का अर्थ—पालन करना है। रक्षति।

√णिक्ष् धातु का अर्थ—चुम्बन करना है। प्रणिक्षति।

√वक्ष धातु का अर्थ—क्रोध करना है। कोई आचार्य संघात अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं। √मृक्ष संघात अर्थ में है। कोई 'म्रक्ष' को संघात में कहते हैं।

√तक्ष्—त्वचन अर्थ में है। त्वचन का अर्थ—संवरण है। √त्वच् का अर्थ—ग्रहण करना है। √सूर्क्ष का अर्थ—आदर करना है। लट्—सूर्क्षति। लिट् में—सुसूर्क्ष।

√काक्षि, वाक्षि, माक्षि—आकाङ्क्षा अर्थ में हैं। √द्राक्षि, ध्राक्षि और ध्वाक्षि—घोर शब्द करना अर्थ में हैं। √चूष धातु का अर्थ—चूषना है। √तूष का अर्थ—तुष्टि प्राप्त करना है। √पूष का अर्थ—बढ़ना है। √मूष् का अर्थ—चोरी करना है। √लूष, रूष—भूषा (=सँवरना) अर्थ में हैं। √शूष का अर्थ—प्रसव है। √यूष और जूष धातुएँ—हिंसा अर्थ में हैं। भूष् का अर्थ—अलंकृत होना है।

√जि धातु का अर्थ—जीतना है।

(५७२) पद—सन्लिटोः, जेः। **अनुवृत्ति**—अभ्यासात्, कु। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सन् और लिट् निमित्तक अभ्यास से परवर्ती 'जि' धातु को कुत्व होता है। जिगाय इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'अभ्यासाच्च' (७।३।५५) सूत्र से 'अभ्यासात्' और 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (७।३।५२) से 'कु' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"सन् और लिट् निमित्तक अभ्यास से परे 'जि' के अङ्ग को क-वर्ग आदेश होता है"।

उदाहरण—√जि+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा)—जिजी अ (इ=ऐ—वृद्धि—'अचो ञ्णिति', ऐ=आय्, अभ्यास से परवर्ती—ज्=ग्—'सन्लिटोर्जेः')=जिगाय।

बन्धने। (५७३) **उपधायां च ८।२।७८।** धातोरुपधाभूतयोः रेफवकारयोर्हल्परयोः परत इको दीर्घः स्यात्। मूर्वति। पूर्व पर्व मर्व पूरणे। पूर्वति। पर्वति। मर्वति। चर्व अदने। चर्वति। कष खष शिष जष झष शष वष मष रुष रिष हिंसार्थाः। शेषति। शिशेष। शेष्टा। (५७४) **शल इगुपधादनिटः क्सः ३।१।४५।** इगुपधो

---

(५७३) **उपधायां चेति।** अत्र 'सिपि धातोरि'त्यतः 'धातोरि'ति, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इत्यतः र्वोरिक इति, दीर्घ इति, 'हलि चे'त्यतः हलीति चानुवर्तते। तदाह—**धातोरित्यादि।**

(५७४) **शल इगुपधेति।** च्लेरित्यनुवर्तते। शल इति पञ्चमी। अत आह—**इगुपध इति। अशिक्षत्।** शिष्धातोः लुङि, तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे, 'इतश्चे'तीकारलोपे च्लौ, 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः क्सादेशेऽनुबन्धलोपे अङ्गस्याडागमे

---

(२) लिट् प्र० पु० द्वि० व०—जिग्यतुः। (३) अजन्त होने से 'थल्' में विकल्प से इट् होकर—जिगयिथ, जिगेथ।

√जीव धातु का अर्थ—प्राण धारण करना है। लट्—जीवति।

√पीव, मीव, तीव, णीव धातु—'स्थूलता' अर्थ में हैं। पीवति। लिट्—पिपीव।

√मुर्वी धातु—बन्धन अर्थ में हैं।

(५७३) पद—उपधायाम्, च। **अनुवृत्ति**—धातोः, र्वोरिकः, दीर्घः, हलि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—धातु के उपधाभूत हल्परक रेफ और वकार से परवर्ती इक् को दीर्घ आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'सिपि धातोः०' (८।२।७४) से 'धातोः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (८।२।७६) से र्वोः, इकः, दीर्घः एवं 'हलि च' से 'हलि' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'हल् के परवर्ती रहने पर उपधाभूत रेफ एवं वकार से परे इक् को दीर्घ होता है।

उदाहरण—मुर्व्+लट् (=तिप्=ति, शप्-अ, उ=ऊ-'दीर्घ'—'उपधायां च')= मूर्वति।

√पूर्व, पर्व और मर्व धातुओं का अर्थ—पूरण है। लट् प्र० पु० ए० व०—पूर्वति। पर्वति। मर्वति।

√चर्व धातु—भक्षणार्थक है। चर्वति।

√कष, खष, शिष, जष, झष, शष, वष, मष, रुष और रिष धातुएँ—हिंसार्थक हैं।

√शिष्+लट् (=तिप्, शप्, गुण)=शेषति। लिट् प्र० पु० ए० व०—शिशेष। लुट्—प्र० पु० ए० व०—शेष्टा।

(५७४) पद—शलः, इगुपधात्, अनिटः, क्सः। **अनुवृत्ति**—च्लेः। लुङि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इगुपध शलन्त धातु से अनिट 'च्लि' के स्थान में 'क्स' आदेश होता है। अशिक्षत्।

विमर्श—'धातोः' का अधिकार है। 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'लुङि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लेः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः शलन्त इक् उपधावाली धातु से अनिट् 'च्लि' के स्थान में 'क्स' (स) आदेश होता है।

उदाहरण—(१) √शिष्+लुङ् (=तिप्=ति, इकार का लोप, च्लि, च्लि=क्स=

यः शलन्तस्तस्मादनिटश्च्लेः क्सादेशः। अशिक्षत्। (५७५) तीषसहलुभरुषरिषः ७।२।४९। इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्द्धधातुकस्येड् वा। रोषिता–रोष्टा। रेषिता–रेष्टा। भष भर्त्सने। इह भर्त्सनं–श्वरवः। पुष पुष्टौ। पोषिता। अनुदात्तेषु 'पुष्ये'ति श्यना निर्देशादयमुदात्तः। अङ्विधौ दैवादिकस्य ग्रहणान्नाङ्। अपोषीत्। श्रिषु श्लिषु प्रुषु प्लुषु दाहे। श्रेषति। श्लेषति। प्रोषति। प्लोषति।

इति परस्मैपदप्रक्रिया।

'अ शिष् स त्' इति जाते, 'षढोः कः सि' इति षकारस्य ककारे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सकारस्य षत्वे उभयोः संयोगेन क्षत्वे 'अशिक्षत्' इति सिद्धम्।

(५७५) **तीषसहेति**। तीति सप्तम्युपादानात्तदादिविधिः। 'आर्धधातुकस्ये'त्यतः 'आर्धधातुकस्येड्' इति, 'स्वरतिसूती'त्यतश्च वेत्यनुवर्तते। तदाह—**इच्छत्यादेः परस्ये-त्यादिना। रोषितेति**। रुषधातोः लुटि, तिपि, तासि, तिपः स्थाने डादेशेऽनुबन्धलोपे डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'तीषसहलुभरुषरिषः' इति विकल्पेन इडागमेऽनुबन्धलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'त्यनेन गुणे 'रोषिता' इति। इडभावे तु ष्टुत्वे कृते 'रोष्टा' इति रूपम्।

'स')—शिष् स त (अट्, 'क्' का लोप, पूर्व 'ष्'—'क्'—'षढोः कः सि', 'स'='ष'—'आदेश-प्रत्यययोः')—अ शिक् ष त (क्+ष्=क्ष्)=अशिक्षत।

(२७९) पद—ति, इषसहलुभरुषरिषः। **अनुवृत्ति**—वा, आर्धधातुकस्य इट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इष्, सह्, लुभ्, रुष् और रिष् धातुओं से परवर्ती तादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' का आगम होता है।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) से—'आर्धधातुक-स्येड्' तथा 'स्वरतिसूति' (७।२।४४) से 'वा' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'ति' सप्तम्यन्त होने से तदादिविधि होती है। तदनुसार—'इष्, सह्, लुभ्, रुष् और रिष् धातुओं से परवर्ती तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम होता है।

उदाहरण—(१) √रुष्+लुट् (=तिप्, तास्, तिप्=डा=आ, 'टि' का लोप)—रुष् ता (विकल्प से इट्='इ' का आगम—'तीषसहलुभ०' 'उ'='ओ'—गुण—'पुगन्त०')=रोषिता। 'इट्' के अभाव पक्ष में—रुष् ता (ष्टुत्व, गुण)=रोष्टा।

(२) √रिष् धातु से लुट् प्र० पु० ए० व०—रेषिता, रेष्टा।

√भष धातु भर्त्सन अर्थ में है। कुत्ते के शब्द को भर्त्सन कहते हैं।

√पुष धातु का 'पुष्टि' अर्थ है। लुट् में—पोषिता।

अनुदात्त धातुओं के परिगणन (अनिट् कारिका) में 'पुष्य' में श्यन् निर्देश से दिवादिगण पठित अनिट् है और यह शप्-विकरण (भ्वादि) वाली पुष् धातु उदात्त (सेट्) है। अतः दिवादि गण में पुषादि सूत्र से होने वाला 'च्लि' को अङ् आदेश यहाँ नहीं होता।

√पुष+लुङ् (=तिप्=ति, 'इ' का लोप, अट्, च्लि=सिच्=स्)—अ पुष् स् त (इट्, ई, 'स्' का लोप, दीर्घ, प्राप्त वृद्धि का 'नेटि' से निषेध, गुण)=अपोषीत्।

√श्रिष्, श्लिष्, प्रुष् और प्लुष् धातुएँ—दाह अर्थ में हैं। लट्—श्रेषति। श्लेषति। प्रोषति। प्लोषति।

इति परस्मैपद-प्रक्रिया।

अथात्मनेपदम्

एध वृद्धौ। (५७६) टित आत्मनेपदानां टेरे ३।४।७९। टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम्। एधते। (५७७) आतो ङितः ७।२।८१। अतः परस्य ङितामात

---

(५७६) टित आत्मनेपदानामिति। 'लस्ये'त्यधिकृतम्। तदाह मूले—टितो लस्येति। एधते। 'एध् वृद्धौ' इत्यस्माद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटचनुबन्धलोपे 'तिप्तस्झी'त्यादिना लस्य स्थाने सर्वे आदेशाः प्राप्ताः। 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इति एध् धातोरनुदात्तत्वात् 'तङानामात्मनेपदम्' इति त आताम् झेत्यादीनामात्मनेपदसंज्ञत्वात् तेषां प्राप्तिर्जाता। तत्र प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां 'त' प्रत्यये 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शप्यनुबन्धलोपे 'एध् अ त' इति जाते, तकारोत्तरवर्तिन अकारस्य टिसंज्ञायां 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टिसंज्ञकस्याकारस्य एत्वे 'एधते' इति सिद्धम्।

(५७७) आतो ङित इति। 'अतो येयः' इत्यस्मात् 'अतः' इति, इय इति चानुवर्तते। यकारादकार उच्चारणार्थः। तदाह—अतः परस्येति।

भ्वादि-प्रकरण में परस्मैपदी धातुओं के रूपों की साधनिका प्रदर्शित करने के पश्चात् आत्मनेपदी धातुओं की साधनिका (=सिद्धि-प्रकार) का आरम्भ √एध् (=बढ़ना) धातु से करते हैं।

(५७६) पद—टितः, आत्मनेपदानाम्, टेः, ए। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'टित्' लकार सम्बन्धी आत्मनेपद प्रत्ययों की 'टि' को एत्व होता है। एधते।

विमर्श—'लस्य' का अधिकार है। अतः "टित् लकारों के स्थान में जायमान आत्मनेपद प्रत्ययों की 'टि' को एकार आदेश होता है"।

'एध्' धातु से कर्ता अर्थ में 'लट्' लकार होने पर इसके स्थान में आत्मनेपदी तङ् प्रत्यय होते हैं। 'एध' धातु का अकार इत्संज्ञक और अनुदात्त है। अतः 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' सूत्र के अनुसार 'तिप्तस्झि०' इत्यादि सूत्र से क्रमशः त, आतान्, झ इत्यादि आदेश होते हैं।

उदाहरण—(१) √एध्+लट् (=प्र० पु० ए० व०—त)—एध् त, (सार्वधातुक संज्ञा होकर शप्-'अ'—'कर्तरि शप्')—एध् अ त (अ—'टि'=ए—'टित आत्मनेपदानां टेरे')=एधते।

(५७७) पद—आतः, ङितः। **अनुवृत्ति**—अतः, इयः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अत (=ह्रस्व अकार) से परवर्ती ङित् सम्बन्धी आकार को इय् आदेश होता है। एधेते। एधन्ते।

विमर्श—यहाँ 'अतो येयः' (७।२।८०) से 'अतः' और 'इयः' पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अतः अकार से परवर्ती ङित् प्रत्ययों के आकार के स्थान में 'इय्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) √एध्+लट् (ल्=प्र० पु० द्वि० व०—आताम्, शप्—'अ')—एध् अ आताम् ('आताम्' अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है। अतः 'आ'='इय्'—'आतो ङितः')—एध इय् ताम् (अ+इ='ए'—गुण, 'य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि' 'टि' आम्=ए—'टित आत्मनेपदानाम्०')=एधेते। (२) √एध्+लट् (=प्र० पु० ब० व०—झ, शप्—अ, झ्=अन्त्—'झोऽन्तः')—एध अन्त ('टि'=अ=एत्व, अ+अ='अ'—पररूप)=एधन्ते।

इय् स्यात् । एधेते । एधन्ते । (५७८) थासः से ३।४।८० । टितो लस्य थासः से स्यात् । एधसे । एधेथे । एधध्वे । एधे । एधावहे । एधामहे । (५७९) इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ३।१।३६ । इजादिर्यो धातुर्गुरुमानृच्छत्यन्यस्तत आम् लिटि । (५८०) आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य १।३।६३ । आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्य-

---

(५७८) **थासः से** । लस्येत्यधिकृतम् । 'टित आत्मनेपदानामि'त्यतः 'टितः' इत्यनुवर्तते । तदाह—**टितो लस्येति** ।

(५७९) **इजादेश्चेति** । 'धातोरेकाच' इत्यतो धातोरित्यनुवर्तते, 'कास्प्रत्ययादि'-त्यतः आमिति लिटीति चानुवर्तते । अत आह मूले—**इजादिरित्यादिना** ।

(५८०) **आम्प्रत्ययवदिति** । तृतीयान्ताद्वतिः । "आम्प्रत्ययवदि'त्यत्र अतद्गुण-

---

(५७८) पद—थासः, से । **अनुवृत्ति**—टितः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'टित्' लकार सम्बन्धी 'थास्' के स्थान में 'से' आदेश होता है । एधसे इत्यादि ।

विमर्श—'लस्य' का अधिकार है । 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३।४।७९) से 'टितः' पद की अनुवृत्ति आने से—टित् लकारों के 'थास्' के स्थान में 'से' आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) √एध्+लट् (=म० पु० ए० व०—थास्, शप्-अ, थास्='से'—'थासः से')=एधसे । (२) एध्+लट् (=म० पु० द्वि० व०—आथाम्)—एध् आथाम् (शप्-अ, आ=इय्—'आतो ङितः', अ+इ='ए' गुण, (टि=) आम्=ए—'टित आत्मने०')= एधेथे । (३) √एध्+लट् (=म० पु०—ब० व०—ध्वम्, शप्=अ)—एध् अ ध्वम् ('टि' =अम्=ए)=एधध्वे । (४) √एध्+लट् (=उ० पु० ए० व०—इट्, शप्)—एध् अ इ (इ=ए)—एध ए (अ+ए=ए—पररूप—'अतो गुणे')=एधे । (५) √एध्+लट् (=उ० पु० द्वि० व०—वहि, शप्)—एध् अ वहि ('टि'—इ=ए, अ='आ'—दीर्घ—'अतो दीर्घो यञि')=एधावहे । (६) √एध्+लट् (=उ० पु० ब० व०—महि, शप्)—एध् अ महि (टि—इ=ए, दीर्घ)=एधामहे ।

√एध् (=बढ़ना) लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	एधते	एधेते	एधन्ते
म० पु०	एधसे	एधेथे	एधध्वे
उ० पु०	एधे	एधावहे	एधामहे

(५७९) पद—इजादेः, च, गुरुमतः, अनृच्छः । **अनुवृत्ति**—धातोः, आम्, लिटि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ऋच्छ् धातु से भिन्न इजादि और गुरुमान् धातु से 'आम्' प्रत्यय होता है, लिट् के परे रहते ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'धातोरेकाचः' (३।१।२२) से 'धातोः' तथा—'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' से 'आम्' और 'लिटि' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'लिट् लकार के परवर्ती रहने पर इजादि तथा गुरुमान् (गुरु संज्ञा युक्त) धातु से (ऋच्छ् को छोड़कर) 'आम्' प्रत्यय होता है ।

(५८०) पद—आम्प्रत्ययवत्, कृञः, अनुप्रयोगस्य । **अनुवृत्ति**—आत्मनेपदम् । **विधिसूत्र** ।

मानात्कृञोऽप्यात्मनेपदं स्यात्। (५८१) लिटस्तझयोरेशिरेच् ३।४।८१। लिडा-देशयोस्तझयोरेश् इरेच् एतौ स्तः। एकारोच्चारणं ज्ञापकं—'तङादेशानां टेरेत्वं ने'ति। तेन डारौरसां न। एधाञ्चक्रे। एधाञ्चक्राते। एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे। एधा-

---

संविज्ञानो बहुव्रीहिः, तेन आम्प्रत्ययविनिर्मुक्तः, आम्प्रत्ययस्य प्रकृतिभूतो धातुरेव गृह्यते। अनुप्रयुज्यत इत्यनुप्रयोगः। पञ्चम्यर्थे षष्ठी। तदाह—आम्प्रकृत्येत्यादिना।

(५८१) लिटस्तझयोरिति। स्पष्टम्। 'एश्' इत्यत्र शित्त्वात्सर्वादेशार्थं शित्करणम्। एधाञ्चक्रे। एध् धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परके कृञोऽनुप्रयोगे 'एध् आम् कृ लिट्' इति स्थिते, लिटः स्थाने प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां तादेशे 'लिट् चे'त्यनेन आर्धधातुकसंज्ञायां 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इत्यनेन तकारस्य स्थाने एशा-देशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'त्यनेन द्वित्वे प्राप्ते, तं परत्वात् प्रबाध्य 'इको यणची'ति यणादेशे प्राप्ते, तस्य 'द्विर्वचनेऽची'ति निषेधे, पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् धातो-

---

मूलार्थ—आम् प्रकृति के तुल्य 'कृञ्' धातु से भी आत्मनेपद होता है।

विमर्श—यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'आम्प्रत्ययवत्' में 'वत्' प्रत्यय 'इव' के अर्थ में है। यहाँ अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। 'आम् प्रत्ययो यस्मात्' (=आम् प्रत्यय हुआ है जिससे) विग्रह है। कृञ् धातु ञित् होने से उभयपदी है। अतः कर्तृभिन्न परगामी क्रिया का फल होने पर परस्मैपद की प्राप्ति होती है। तब प्रकृत सूत्र द्वारा व्यवस्था की जाती है कि जिस धातु से आम् हुआ है, वह धातु यदि आत्मनेपद है तो अनुप्रयुक्त √कृञ् से भी आत्मनेपद होता है; अन्यथा नहीं। अतएव प्रकृत में आम् √एध् (आत्मनेपदी) से हुआ है, इसलिए अनुप्रयुक्त कृञ् से भी आत्मनेपद होता है। 'गोपायाञ्चकार' में आत्मनेपद नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ आम् की प्रकृति 'गुप्' धातु परस्मै-पदी है।

(५८१) पद—लिटः, तझयोः, एशिरेच्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—लिट् के स्थान में आदेश हुए 'त' और 'झ' के स्थान में क्रमशः 'एश्' और 'इरेच्' आदेश होता है। एधाञ्चके इत्यादि।

विमर्श—'एश्' में शकार इत्संज्ञक होने से सम्पूर्ण 'त' के स्थान में आदेश होता है। 'इरेच्' में चकार इत्संज्ञक है। अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'झ' के स्थान में होता है।

एकारोच्चारणमिति—यहाँ आशङ्का होती है कि सूत्र में 'एश्' के स्थान में 'इश्' का लाघवार्थ उच्चारण किया जाता, 'टित आत्मनेपदानाम्' से एत्व होकर रूप सिद्धि हो जाती, पुनः 'एश्' आदेश में एकार का उच्चारण क्यों किया? वह एकारोच्चारण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि तङादेश की 'टि' को एकारादेश नहीं होता। अतः 'डा, रौ रस्' की टि को भी एकार आदेश नहीं हुआ।

उदाहरण—(१) एध्+लिट् (आम्—'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' लिट् का लोप—'आमः') —एध् आम् (लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग)—एध् आम् कृ लिट् ('आम्प्रत्ययवत्०' से आत्मनेपद होने पर लिट्=प्र० पु० ए० व०—'त')—एधाम् कृ त (आर्धधातुक संज्ञा, त=एश् =ए—'लिटस्तझयोरेशिरेच्')—एधाम् कृ ए ('लिटि धातोः०' से द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'उरत्'

थाथे। (५८२) इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ८।३।७८। इणन्तादङ्गात्परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढः। एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे। एधाञ्चकृवहे। एधाञ्चकृमहे। एधाम्बभूव। एधामास। अनुप्रयोगसामर्थ्यादस्तेर्भूभावो न। अन्यथा हि—'कृञ्चानु-

---

द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्य अत्वे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे 'एध् आम् कर् कृ ए' इति जाते, हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति ककारस्य चकारे, लिटः कित्त्वात् 'क्ङिति चे'त्यनेन गुणनिषेधे 'इको यणची'ति यणि 'मोऽनुस्वारः' इति मकारस्यानुस्वारे 'वा पदान्तस्ये'ति विकल्पेन परसवर्णे 'एधाञ्चक्रे' इति।

(५८२) इण इति। षीध्वं लुङ्लिट् एषां द्वन्द्वः। इण इत्यङ्गविशेषणत्वात् तदन्तविधिः। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम्। धकारस्य ढकारो मूर्धन्यः। अत आह—इणन्तादिति। एधाञ्चकृढ्वे। एध्धातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि, 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परके कृञनुप्रयोगे, लिटः स्थाने मध्यमपुरुषबहुवचनविवक्षायां ध्वमि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति कृञो द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरे हलादिशेषे 'एधाम् क कृ ध्वम्' इति जाते

से ऋ=अ, रपर, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः', 'ऋ'='र्'—'यण्')—एधाम् चक्रे (म =अनुस्वार ं='ञ्' परसवर्ण—'वा पदान्तस्य')=एधाञ्चक्रे।

(२) √एध्+लिट् (आम्, लिट् का लोप)—एधाम् (लिट्परक कृ का अनुप्रयोग, लिट्=प्र० पु० द्वि० व०—आताम्, पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य 'टि'=आम्=ए)=एधाञ्चक्राते। (३) प्र० पु० ब० व० 'झ' में—झ=इरेच् (=इरे) आदेश होने पर (शेष पूर्ववत् कार्य)= एधाञ्चक्रिरे। (४) म० पु० ए० व० में थास्='से' आदेश (थासः से') होने पर षत्व, वलादि आर्धधातुक होने से प्राप्त 'इट्' का 'कृसृभृवृस्तु०' से निषेध)=एधाञ्चकृषे। (५) म० पु० द्वि० व०—आथाम् (पूर्ववत् कार्य, टि आम् को एत्व)=एधाञ्चक्राथे।

(५८२) पद—इणः, षीध्वंलुङ्लिटाम्, धः, अङ्गात्। **अनुवृत्ति**—अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इणन्त अङ्ग से परवर्ती 'षीध्वम्' और लुङ्, लिट् सम्बन्धी धकार को ढकार (मूर्द्धन्य) आदेश होता है। एधाञ्चकृढ्वे इत्यादि।

विमर्श—'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३५५) का अधिकार है। तदनुसार उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण—(१) √एध्+लिट् (आम्, लिट् का लुक्)—एध् आम् (लिट्परक कृ का अनुप्रयोग)—एधाम् कृ लिट् (ल=म० पु० ब० व०—ध्वम्, 'कृ' धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ऋ='अ'—'उरत्', रपर, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः')—एधाम् च कृ ध्वम् ('ध्' ='ढ्'—'इणः षीध्वम्०', अम्=एत्व, अनुस्वार, परसवर्ण)=एधाञ्चकृढ्वे। (२) 'एध्' से लिट् उ० पु० ए० व०—इट् में 'टि' को एत्व (शेष कार्य पूर्ववत्)=एधाञ्चक्रे। (३) लिट् उ० पु० द्वि० व० 'वहि' में—पूर्ववत् कार्य एत्व होकर—एधाञ्चकृवहे। (४) लिट् उ० पु० ब० व० 'महि' में—एधाञ्चकृमहे।

—भूधातु के अनुप्रयोग में एधाम्बभूव आदि और अस् के अनुप्रयोग में 'एधामास' आदि रूप बनते हैं।

प्रयुज्यते' इति, 'कृञ्विति' वा ब्रूयात् । एधिता । एधितारौ । एधितारः । एधितासे । एधितासाथे । (५८३) धि च ८।२।२५ । धादौ प्रत्यये परे सलोपः स्यात् । एधिताध्वे । (५८४) ह एति ७।४।५२ । तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे । एधिताहे । एधितास्वहे । एधितास्महे । एधिष्यते । एधिष्येते । एधिष्यन्ते । एधिष्यसे । एधिष्येथे ।

'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्' इति धकारस्य ढकारे मकारस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इत्यमः टिसंज्ञकस्यैत्वे 'एधाञ्चकृढ्वे' इति रूपम् । अनुप्रयोगसामर्थ्यादिति । अन्यथा—असमेव वा भुवमेव वा अनुप्रयुञ्जीत ।

(५८३) 'धि चे'ति । 'सः स्यार्धधातुके' इत्यतः स इत्यनुवर्तते । 'तासस्त्योः' इत्यतो लोप इति । अङ्गाक्षिप्तप्रत्ययो धीत्यनेन विशेष्यते, तेन तदादिविधिस्तदाह—धादाविति । एधिताध्वे । एध्धातोर्लुटचनुबन्धलोपे लः स्थाने मध्यमपुरुषबहुवचने ध्वमि, तासि, आर्धधातुकत्वात् इडागमे 'धि चे'ति सलोपे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इत्यनेन टिसंज्ञकस्यामः एत्वे 'एधिताध्वे' इति ।

(५८४) ह एति । ह इति प्रथमान्तम् । स इति, तासस्त्योरिति चानुवर्तते ।

√एध् लिट् लकार ('कृ' का अनुप्रयोग) के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	एधाञ्चक्रे	एधाञ्चक्राते	एधाञ्चक्रिरे
म० पु०	एधाञ्चकृषे	एधाञ्चक्राथे	एधाञ्चकृढ्वे
उ० पु०	एधाञ्चक्रे	एधाञ्चकृवहे	एधाञ्चकृमहे

अनुप्रयोगसामर्थ्यादिति । अनुप्रयुज्यमान √अस् के स्थान में अनुप्रयोग सामर्थ्य से भू आदेश (अस्तेर्भूः) नहीं होता । अन्यथा 'कृस्' कहने से ही कार्य निर्वाह हो जाता । अनुप्रयोगार्थ भू ग्रहण व्यर्थ होगा । अथवा 'कृभू' के अनुप्रयोग के लिए 'कृभू चानुप्रयुज्येते' ऐसा सूत्र किया जाता । पृथक् अस् ग्रहण व्यर्थ हो जाता ।

(१) एध्+लुट् (ल्=प्र० पु० ए० व०—'त')—एध् त (तास्—'स्यतासी लृलुटोः', त=डा='आ'—'लुटः प्रथमस्य०' इट्)—एधितास् आ ('टि' आस् का लोप)=एधिता । (२) लुट् प्र० पु० द्वि० व० (परस्मैपदी धातु के समान)—एधितारौ । (३) लुट्—प्र० पु० ब० व०—एधितारः । (४) म० पु० ए० व०—थास्=से, 'तासस्त्योर्लोपः' से 'स्' का लोप होकर—एधितासे । (५) म० पु० द्वि० व०—आथाम् में 'टि' आम् को एत्व होकर—एधितासाथे ।

(५८३) पद—धि, च । **अनुवृत्ति**—सः, लोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—धकारादि प्रत्यय के परवर्ती रहने पर सकार का लोप होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सः स्यार्धधातुके' (७।४।४९) से 'सः' तथा 'तासस्त्योर्लोपः' (७।४।५०) से 'लोपः' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'धकारादि प्रत्यय के परे रहते सकार का लोप होता है' ।

उदाहरण—√एध्+लुट् (ल्=म० पु० ब० व०—ध्वम्, तास्, इट्)—एधितास् ध्वम् ('स्' का लोप—'धि च', 'अम्'='ए'—'टित आत्मनेपदानाम्०')=एधिताध्वे ।

(५८४) पद—ह, एति । **अनुवृत्ति**—सः, तासस्त्योः । **विधिसूत्र** ।

एधिष्यध्वे । एधिष्ये । एधिष्यावहे । एधिष्यामहे । (५८५) आमेतः ३।४।९० । लोट एत आम् । एधताम् । एधेताम् । एधन्ताम् । (५८६) सवाभ्यां वामौ ३।४।

अत आह—तासस्त्योरिति । एधिताहे । एध्धातोः लुटि, तत्स्थाने उत्तमपुरुषैकवचने इटि, तासि, इडागमे, इट इकारस्यैत्वे 'ह एति' इति सकारस्य हकारे कृते 'एधिताहे' इति रूपम् ।

(५८५) आमेत इति । 'लोटो लङ्वदि'त्यतः लोट इत्यनुवर्तते । तदाह—लोट इति । एधताम् । एध्धातोर्लोटि, तत्स्थाने प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां तादेशे,

---

मूलार्थ—एकार के परवर्ती रहने पर 'तास्' और 'अस्ति' के सकार को हकार आदेश होता है ।

विमर्श—यहाँ 'सः स्यार्धधातुके' से 'सः' तथा 'तासस्त्योर्लोपः' (७।४।५०) से 'तासस्त्योः' की अनुवृत्ति आती है । अतः "एकार के परे रहते 'तास्' और 'अस्' के सकार को हकार आदेश होता है" ।

उदाहरण—(१) एध्+लुट् (ल्=उ० पु० ए० व०—इट्, तास्, इट्)—एधितास् इ (इ=ए—'टित आत्मने०', 'स्'='ह्'—'ह एति')=एधिताहे । (२) लुट्—उ० पु० द्वि० व० —एधितास्वहे । (३) लुट् उ० पु० ब० व०—एधितास्महे ।

√एध्, लुट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	एधिता	एधितारौ	एधितारः
म० पु०	एधितासे	एधितासाथे	एधिताध्वे
उ० पु०	एधिताहे	एधितास्वहे	एधितास्महे

लृट् लकार के रूपों की साधनिका बतलाई जा रही है—

(१) √एध्+लृट् (ल्=प्र० पु० ए० व० 'त' 'स्य'—'स्यतासी लृलुटोः' आर्धधातुक संज्ञा होकर इट्='इ' आगम)—एधि स्य त ('स्'='ष्'—'आदेशप्रत्यययोः' 'अ'='ए'—'टित आत्मने०')=एधिष्यते । इस प्रकार यहाँ विशेष कार्य 'टि' को एकार आदेश होता है । (२) एध्+लृट्—प्र० पु० द्वि० व०—आताम् (स्य, इट्, आम्=ए, 'आ'='इय्'—'आतो ङितः', 'य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि', अ+इ='ए'—गुण, षत्व)=एधिष्येते । (३) लृट् प्र० पु० ब० व०—एधिष्यन्ते । (४) लृट् म० पु० ए० व०—एधिष्यसे । (५) लृट् म० पु० द्वि० व०—एधिष्येथे । (६) लृट् म० पु० ब० व०—एधिष्यध्वे । (७) लृट् उ० पु० ए० व०—एधिष्ये । (८) लृट् उ० पु० ब० व०—वहि ('टि' को एत्व, स्य, इट्, दीर्घ—'अतो दीर्घो यञि' षत्व)=एधिष्यावहे । (९) लृट् उ० पु० ब० व०—एधिष्यामहे ।

√एध् धातु लृट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	एधिष्यते	एधिष्येते	एधिष्यन्ते
म० पु०	एधिष्यसे	एधिष्येथे	एधिष्यध्वे
उ० पु०	एधिष्ये	एधिष्यावहे	एधिष्यामहे

(५८५) पद—आम्, एतः । **अनुवृत्ति**—लोटः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लोट् लकार सम्बन्धी एकार को 'आम्' आदेश होता है । एधताम् इत्यादि ।

९१। सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद्वाऽमौ स्तः। एधस्व। एधेथाम्। एधध्वम्।
(५८७) एत ऐ ३।४।९३। लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात्। आमोऽपवादः। एधै। एधावहै। एधामहै। आटश्च। ऐधत। ऐधेताम्। ऐधन्त। ऐधेथाः। ऐधेथाम्। ऐधध्वम्।

सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इत्यनेन शप्यनुबन्धलोपे, शित्त्वात् सार्वधातुकत्वे 'टित आत्मनेपदानामि'ति तकाराकारस्यैत्वे 'आमेतः' इति एकारस्यामादेशे 'एधताम्' इति।

(५८६) सवाभ्यामिति। सश्च वश्चेति सवौ, ताभ्याम्, वश्च अम् च वामौ। 'लोटो लङ्वत्' इत्यतः लोट इति, 'आमेतः' इत्यतश्च एत इत्यनुवर्तते। अत आह—सवाभ्यां परस्येति। एधस्व। एध्धातोर्लोटि, तत्स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने थासि, शपि, 'थासः से' इति थासः स्थाने 'से' इत्यादेशे 'सवाभ्यां वामौ' इत्यनेन सकारात्परस्यैकारस्य वादेशे 'एधस्वे'ति सिद्धम्।

(५८७) एत ऐ। 'लोटो लङ्वदि'त्यस्मात् लोट इति, 'आडुत्तमस्ये'त्यस्मादुत्तमस्य चेत्यनुवर्तते। तदाह—लोडुत्तमस्येति। एधै। एध्धातोर्लिटि, लः स्थाने उत्तम-

---

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'लोटो लङ्वत्' (३।४।८५) सूत्र से 'लोटः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अत एव—लोट् लकार के एकार के स्थान में 'आम्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) √एध्+लोट् ('ल्'=प्र० पु० ए० व०—'त' शप्-'अ')—एध् अ त ('अ'='ए'—'टित आत्मनेपदानां टेरे')—एधते ('ए'='आम्'—'आमेतः')=एधताम्। (२) √एध्+लोट् (प्र० पु० द्वि० व०—आताम्, लट् के समान कार्य होकर—एधेते—ए=आम्)=एधेताम्। (३) एध्+लोट् (=झ, शप्, झ्=अन्त, अ=एत्व, पररूप, ए=आम्) =एधन्ताम्।

(५८६) पद—सवाभ्याम्, वामौ। **अनुवृत्ति**—लोटः, एतः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सकार और वकार से परवर्ती लोट् लकार सम्बन्धी एकार को क्रमशः 'व' और 'अम्' आदेश होते हैं। 'एधस्व' इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'लोटो लङ्वत्' (३।४।८५) से 'लोटः' और 'आमेतः' (५८६) से 'एतः' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"सकार और वकार से परे लोट् लकार के एकार को क्रम से 'व' और 'अम्' आदेश होते हैं"।

उदाहरण—(१) √एध्+लोट् (=म० पु० ए० व०—'थास्', शप्, 'थास्'='से'—'थासः से')—एधसे ('ए'='व'—'सवाभ्यां वामौ')=एधस्व। (२) √एध्+लोट् (=म० पु० द्वि० व०—'आथाम्' शप्, आ=इय्, गुण, 'य्' का लोप)=एधेथाम्। (३) √एध्+लोट् (=म० पु० ब० व०—'ध्वम्' शप्, 'टि' अम्=एत्व)—एधध्वे ('ए'='अम्'—'सवाभ्याम्०') =एधध्वम्।

(५८७) पद—एतः, ऐ। **अनुवृत्ति**—लोटः, उत्तमस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—लोट् लकार सम्बन्धी उत्तमपुरुष के एकार को ऐकार आदेश होता है। एधै इत्यादि।

विमर्श—'लोटो लङ्वत्' (३।४।८५) से 'लोटः' तथा 'आडुत्तमस्य पिच्च' (३।४।९२) से 'उत्तमस्य' पदों की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार लोट् लकार के उत्तमपुरुष के एकार के स्थान में 'ऐ' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) √एध्+लोट् (=उ० पु० ए० व०—इट्='इ', शप्-'अ')—एध

ऐधै । ऐधावहि । ऐधामहि । (५८८) लिङः सीयुट् ३।४।१०२ । 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्ये'ति सलोपः । (५८९) लोपो व्योर्वलि ३।१।६६ । एधेत । एधेयाताम् ।

पुरुषैकवचने इटि, सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति इकारस्यैत्वे एकारस्य 'एत ऐ' इति ऐत्वे 'आडुत्तमस्य पिच्चे'त्याडामेऽनुबन्धलोपे 'एध आ ऐ' इति जाते, 'आटश्चे'ति वृद्धौ 'एध ऐ' इति स्थिते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'एधै' इति रूपम् ।

(५८८) लिङः सीयुडिति । स्पष्टम् ।

अ इ ('इ'='ए'—'टित आत्मने०', ए=ऐ—'एत ऐ', आट्='आ' आगम—'आडुत्तमस्य पिच्च')—एध आ ऐ (आ+ऐ='ऐ' वृद्धि—'आटश्च')—एध ऐ (अ+ऐ=ऐ—वृद्धि—'वृद्धिरेचि')=एधै । (२) √एध्+लोट् (=उ० पु० द्वि० व०—'वहि' शप् , आट्)—एध् अ आ वहि (अ+आ='आ'—सवर्णदीर्घ, टि इ=ए, ए='ऐ'—'एत ऐ')=एधावहै । (३) √एध्+लोट् (उ० पु० ब० व०—महि, शप्, आट्, दीर्घ, एत्व, ए=ऐ)=एधामहै ।

√एध् धातु लोट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	एधताम्	एधेताम्	एधन्ताम्
म० पु०	एधस्व	एधेथाम्	एधध्वम्
उ० पु०	एधै	एधावहै	एधामहै

लङ् लकार के रूपों की प्रक्रिया बतलाई जा रही है—

(१) √एध्+लङ् (ल्=प्र० पु० ए० व०—'त', सार्वधातुक संज्ञा, शप्='अ', आट्='आ' का आगम—'आडजादीनाम्')—आ एध् अ त (आ+ए='ऐ'—वृद्धि—'आटश्च')=ऐधत । (लङ् लकार में अजादि होने से 'आडजादीनाम्' से अङ्ग को 'आट्' का आगम होता है । 'आटश्च' से वृद्धि एकादेश होकर रूप बनते हैं ।) (२) √एध्+लङ् (प्र० पु० द्वि० व०—आताम्, शप्, आ=इय, गुण, 'य्' का लोप, आट्, वृद्धि)=ऐधेताम् । (३) √एध्+लङ् (=झ, शप्, 'झ्'='अन्त्' पररूप, आट्, वृद्धि)=ऐधन्त । (४) लङ् म० पु० ए० व०—ऐधथाः । (५) लङ् म० पु० द्वि० व०—ऐधेथाम् । (६) लङ् म० पु० ब० व०—ऐधध्वम् । (७) लङ् उ० पु० ए० व०—ऐधे । (८) लङ् उ० पु० द्वि० व०—ऐधावहि । (९) लङ् उ० पु० ब० व०—ऐधामहि ।

√एध् लङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	ऐधत	ऐधेताम्	ऐधन्त
म० पु०	ऐधथाः	ऐधेथाम्	ऐधध्वम्
उ० पु०	ऐधे	ऐधावहि	ऐधामहि

(५८८) पद—लिङः, सीयुट् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लिङ् के स्थान में आदेश हुए आत्मनेपद प्रत्ययों को 'सीयुट्' का आगम होता है । 'सीयुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है । 'सीय्' अवशिष्ट रहता है ।

सलोप इति । 'विधिलिङ्' में 'सीयुट्' के सकार का 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से लोप हो जाता है ।

(५९०) झस्य रन् ३।४।१०५। लिङो झस्य रन्। एधेरन्। एधेथाः। एधेयाथाम्। एधेध्वम्। (५९१) इटोऽत् ३।४।१०६। लिङादेशस्य इटोऽत्

---

(५९०) झस्येति। 'लिङः सीयुडि'त्यतो लिङ इत्यनुवर्तते। तदाह—**लिङो झस्येति।**

(५९१) इटोऽदिति। इट् अत् इति च्छेदः। 'लिङः सीयुडि'त्यतः लिङः इत्यनुवर्तते। तदाह—**लिङादेशस्येति। एधेय।** एध्धातोर्लिङि, तत्स्थाने उत्तमपुरुषैक-वचने इटि, तस्य 'इटोऽत्' इत्यनेन अकारादेशे 'लिङः सीयुट्' इति सीयुडागमेऽनुबन्ध-

---

(५८९.) पद—लोपः, व्योः, वलि। **त्रिधिसूत्र।**

मूलार्थ—'वल्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के परवर्ती रहने पर यकार और वकार का लोप होता है।

उदाहरण—(१) √एध्+विधिलिङ् (ल्=प्र० पु० ए० व०—'त' शप्-अ)—एध् अ त (सीयुट्='सीय्' का आगम—'लिङः सीयुट्' 'स्' का लोप—'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य')—एध ई य् त ('य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि', अ+ई=ए गुण—'आद् गुणः')=एधेत। (२) √एध्+विधिलिङ् (=प्र० पु० द्वि० व० आताम्, शप्, सीयुट्=सीय्, 'स्' का लोप)—एध ईय् आताम् (अ+ई=ए—गुण)=एधेयाताम्।

(५९०) पद—झस्य, रन्। **अनुवृत्ति**—लिङः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—लिङ् लकार सम्बन्धी 'झ' के स्थान में 'रन्' आदेश होता है।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'लिङः सीयुट्' (५८९) से 'लिङः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—लिङ् के 'झ' के स्थान में 'रन्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) √एध्+विधिलिङ् (ल्=प्र० पु० ब० व०—झ, शप्, सीयुट्=सीय्, 'स्' का लोप)—एध ई य् झ ('झ'='रन्'—'झस्य रन्' 'य्' का लोप, अ+ई='ए'—गुण) =एधेरन्। (२) म० पु० ए० व०—एधेथाः। (३) म० पु० द्वि० व०—एधेयाथाम्। (४) म० पु० ब० व०—एधेध्वम्।

(५९१) पद—इटः, अत्। **अनुवृत्ति**—लिङः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—लिङादेश 'इट्' के स्थान में 'अत्' आदेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी 'लिङः सीयुट्' (५८९) से 'लिङः' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार—"लिङ् के स्थान में आदेश हुए 'इट्' को 'अत्' (=अ) आदेश होता है"।

उदाहरण—(१) एध्+विधिलिङ् (ल्=उ० पु० ए० व०—'इट्' शप्, सीयुट्=सीय्, 'स्' का लोप)—एध ईय् इ (अ+ई='ए'—गुण, इ=अत्='अ'—'इटोऽत्')=एधेय। (२) एध्+विधिलिङ् (ल्=उ० पु० द्वि० व०—'वहि' शप्, सीयुट् 'स्' का लोप)—एध ईय् वहि (अ+ई='ए' गुण, 'य्' का लोप—'लोपो व्योः०')=एधेवहि। (३) एध्+विधिलिङ् (ल्=उ० पु० ब० व०—महि, शप्, सीयुट्, 'स्' का लोप, अ+ई='ए'—गुण, 'य्' का लोप) =एधेमहि।

√एध् धातु विधिलिङ् के रूप

एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०–एधेत	एधेयाताम्	एधेरन्
म० पु०–एधेथाः	एधेयाथाम्	एधेध्वम्
उ० पु०–एधेय	एधेवहि	एधेमहि

स्यात्। एधेय। एधेवहि। एधेमहि। (५९२) सुट् तिथोः ३।४।१०७। लिङस्तथोः सुट् स्यात्। यलोपः। एधिषीष्ट। एधिषीयास्ताम्। एधिषीरन्। एधिषीष्टाः। एधिषीयास्थाम्। एधिषीध्वम्। एधिषीय। एधिषीवहि। एधिषीमहि। ऐधिष्ट। ऐधिषाताम्। (५९३) आत्मनेपदेष्वनतः ७।१।५।

लोपे, शपि, 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्ये'ति सकारस्य लोपे 'आद् गुणः' इति गुणे 'एधेय' इति सिद्धम्।

(५९२) सुट् तिथोरिति। तिश्च थ् चेति द्वन्द्वात् षष्ठीद्विवचनम्। 'लिङः सीयुट्' इत्यतो लिङ इत्यनुवर्तते। तदाह—लिङ इत्यादिना। एधिषीष्ट। एध् धातोः 'आशिषि लिङ्लोटौ' इत्यनेन आशिषि लिङि, अनुबन्धलोपे, लः स्थाने आत्मनेपदे प्रथमपुरुषैकवचने त प्रत्यये 'लिङाशिषि' इत्यार्धधातुकसंज्ञायां 'लिङः सीयुट्' इति सीयुडागमेऽनुबन्धलोपे 'सुट् तिथोः' इति सुडागमेऽनुबन्धलोपे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इत्यनेन इडागमे 'एधि सी स् त' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेनोभयोः सकारयोः षत्वे ष्टुत्वेन तकारस्य टकारे 'एधिषीष्ट' इति। ऐधिष्ट।

---

(५९२) पद—सुट्, तिथोः। अनुवृत्ति—लिङः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—लिङ् लकार सम्बन्धी तकार-थकार को सुट् (=स्) का आगम होता है। एधिषीष्ट इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'लिङः सीयुट्' से 'लिङः' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः लिङ् के स्थान में जायमान तकार एवं थकार को 'सुट्' का आगम होता है।

उदाहरण—(१) √एध्+आशीर्लिङ् (=ल्=प्र० पु० ए० व०—'त' आर्धधातुक संज्ञा सीयुट्='सीय्'—'लिङः सीयुट्')—एध् सीय् त (सुट्='स्' का आगम—'सुट् तिथोः', 'य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि', इट्='इ' का आगम, दोनों 'स्'='ष्'—'आदेशप्रत्यययोः', 'त्'='ट्'—'ष्टुत्व')=एधिषीष्ट। (२) एध्+आशीर्लिङ् (=ल्=प्र० पु० द्वि० व०—'आताम्' सीयुट्=सीय्, आर्धधातुक संज्ञा, इट्, सुट्='स्' का आगम)—एध् इ सीय् आ स् ताम् ('स्'='ष्'—'आदेशप्रत्यययोः')=एधिषीयास्ताम्। (३) प्र० पु० ब० व०—एधिषीरन् (झ=रन)। (४) म० पु० ए० व०—एधिषीष्ठाः। (५) म० पु० द्वि० व०—एधिषीयास्थाम्। (६) म० पु० ब० व०—एधिषीध्वम्। (७) उ० पु० ब० व०—एधिषीय। (८) उ० पु० द्वि० व०—एधिषीवहि। (९) उ० पु० ब० व०—एधिषीमहि।

√एध् धातु, आशीर्लिङ् के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	एधिषीष्ट	एधिषीयास्ताम्	एधिषीरन्
म० पु०—	एधिषीष्ठाः	एधिषीयास्थाम्	एधिषीध्वम्
उ० पु०—	एधिषीय	एधिषीवहि	एधिषीमहि

'लुङ्' लकार के रूपों की प्रक्रिया बतलाई जा रही है—(१) √एध्+लुङ् (ल्=प्र० पु० ए० व०-त, शप् का बाधकर 'च्लि'—'च्लि लुङि', च्लि=सिच्='स्'—'च्लेः सिच्')—एध् स् त (आर्धधातुक संज्ञा, इट्, स्=षत्व, 'त'='ट्'—ष्टुत्व, आट्='आ'—आगम—'आडजादीनाम्', 'आ'+'ए'='ऐ'—वृद्धि—'आटश्च')=ऐधिष्ट। (२) लुङ् प्र० पु० द्वि० व०—आताम्, च्लि=सिच्, इट्, आट्, वृद्धि, षत्व)=ऐधिषाताम्।

अनकारात्परस्याऽऽत्मनेपदेषु झस्य अत् स्यात्। ऐधिषत। ऐधिष्ठाः। ऐधिषाथाम्। ऐधिढ्वम्। ऐधिषि। ऐधिष्वहि। ऐधिष्महि। ऐधिष्यत। ऐधिष्येताम्। ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः। ऐधिष्येथाम्। ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये। ऐधिष्यावहि। ऐधिष्यामहि।

एध् धातोः 'लुङ्' इति लुङि, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने त प्रत्यये 'आडजादीनाम्' इत्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इत्यनेन च्लेः स्थाने सिच्यनुबन्धलोपे 'आ एध् स् त' इति जाते 'आटश्चे'ति वृद्धौ 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इडागमेऽनुबन्धलोपे 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेन सकारस्य मूर्धन्यादेशे 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन ष्टुत्वे संयोगे च कृते 'ऐधिष्ट' इति।

(५९३) आत्मनेपदेष्विति। आत्मनेपदेष्विति षष्ठ्यर्थे सप्तमी। 'झोऽन्तः' इत्यतो झ इत्यनुवर्तते। 'अदभ्यस्तात्' इत्यतः अदित्यनुवर्तते। अत आह—**अनकारात्परस्येति।**

---

(५९३) पद—आत्मनेपदेषु, अनतः। **अनुवृत्ति**—झः, अत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अनकार से परवर्ती आत्मनेपद सम्बन्धी 'झ' के स्थान में 'अत्' आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'झोऽन्तः' (७।१।३) सूत्र से 'झः' और 'अदभ्यस्तात्' (७।१।४) से 'अत्' की अनुवृत्ति आती है। 'आत्मनेपदेषु' में षष्ठी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है। अतः अनकारान्त अङ्ग से परवर्ती आत्मनेपद में वर्तमान 'झ' के स्थान में 'अत्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) √एध्+लुङ् (=ल्=प्र० पु० ब० व०—'झ' च्लि, च्लि=सिच्='स्')—एध् स् त (आर्धधातुक संज्ञा, इट्, 'झ'='अत्'—'आत्मनेपदेष्वनतः')=एध् इ स् अत् (आट्='आ'—'आडजादीनाम्', 'आ'+'ए'='ऐ'—'आटश्च', षत्व)=ऐधिषत। (२) एध्+लुङ् (=म० पु० ए० व०—थास्, सिच्, इट्, आट्, वृद्धि, षत्व, ष्टुत्व, स्=र्=:)= ऐधिष्ठाः। (३) म० पु० द्वि० व०—ऐधिषाथाम्। (४) म० पु० ब० व०—ध्वम्, च्लि=सिच्, इट्, आट्, वृद्धि—ऐधि स् ध्वम् ('स्' का लोप—'धि च' 'ध्'='ढ्'—'इणः षीध्वम्०')= ऐधिढ्वम्। (५) उ० पु० ए० व०—'इट्' (च्लि=सिच्, इट्, आट्, वृद्धि, षत्व)=ऐधिषि। (६) उ० पु० द्वि० व०—ऐधिष्वहि। (७) उ० पु० ब० व०—ऐधिष्महि।

√एध् धातु 'लुङ्' लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	ऐधिष्ट	ऐधिषाताम्	ऐधिषत
म० पु०	ऐधिष्ठाः	ऐधिषाथाम्	ऐधिढ्वम्
उ० पु०	ऐधिषि	ऐधिष्वहि	ऐधिष्महि

अब 'लृङ्' लकार के रूपों की रचना-प्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है—(१) √एध्+लृङ् (ल्=प्र० पु० ए० व०—'त' स्य—'स्यतासी लृलुटोः' आर्धधातुक संज्ञा, इट्, षत्व)—एध् इ ष् य त (आट्, आ+ए=ऐ—वृद्धि—'आटश्च')=ऐधिष्यत। (यहाँ 'टित्' लकार न होने से 'टि' को एकार नहीं होता। (२) √एध्+लृङ् (=प्र० पु० द्वि० व०—आताम्, स्य, इट्, आट्, वृद्धि, षत्व, आ=इय्, गुण, 'य्' का लोप)=ऐधिष्येताम्। (३) प्र० पु० ब० व०—ऐधिष्यन्त। (४) म० पु० ए० व०—ऐधिष्यथाः। (५) म० पु० द्वि० व०—ऐधिष्येथाम्। (६) म० पु० ब० व०—ऐधिष्यध्वम्। (७) उ० पु० ए० व०—ऐधिष्ये। (८) उ० पु० द्वि० व०—ऐधिष्यावहि। (९) उ० पु० ब० व०—ऐधिष्यामहि।

कमु कान्तौ। (५९४) कमेर्णिङ् ३।१।३०। स्वार्थे। कामयते। (५९५) अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ६।४।५५। एषु णेरय् आदेशः। कामयाञ्चक्रे। 'आयादय' इति वा

ऐधिषत। एध्धातोः लुङि, तत्स्थाने प्रथमपुरुषबहुवचने 'झ' प्रत्यये 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्य 'अत्' आदेशे 'एध् अत् अ' इति जाते 'आडजादीनाम्' इत्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'आटश्चे'ति वृद्धौ, च्लौ, तत्स्थाने 'च्लेः सिच्' इति सिच्यनुबन्धलोपे, आर्धधातुकसंज्ञायाम् इडागमे 'ऐध् इ स् अ त' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति सकारस्य षत्वे ष्टुत्वे च कृते 'ऐधिषत' इति।

(५९४) **कमेर्णिङिति।** शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—**स्वार्थ** इति। **कामयते।** उकारेत्संज्ञक-'कमु कान्तौ' इति धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङ्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लटचनुबन्धलोपे 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इत्यनेन कर्त्रर्थे 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इत्यनेन आत्मनेपदे तप्रत्यये, सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे 'कामि अ त' इति जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इतीकारस्य गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अयादेशे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इत्यनेन टेरेत्वे 'कामयते' इति सिद्धम्।

(५९५) **अयामन्तेति।** 'णेरनिटि' इत्यतो णेरित्यनुवर्तते। आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु इत्येषु णेरयादेशः स्यादित्यर्थः।

√एध् धातु 'लृङ्' लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	ऐधिष्यत	ऐधिष्येताम्	ऐधिष्यन्त
म० पु०	ऐधिष्यथाः	ऐधिष्येथाम्	ऐधिष्यध्वम्
उ० पु०	ऐधिष्ये	ऐधिष्यावहि	ऐधिष्यामहि

√'कमु' का अर्थ—'इच्छा करना' है।

(५९४) पद—कमेः, णिङ्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'कम्' धातु से स्वार्थ में 'णिङ्' प्रत्यय होता है।

उदाहरण—(१) √कम्+णिङ् (='इ'—'कमेर्णिङ्', अ='आ'—'वृद्धि'—'अत उपधायाः')—कामि (धातुसंज्ञा—'सनाद्यन्ता धातवः'—लट्=ल्=प्र० पु० ए० व० त, सार्वधातुक संज्ञा, शप्='अ')—कामि अ त (इ='ए' गुण—'सार्वधातु०' ए='अय्'—'एचोऽयवायावः' एत्व—'टित आत्मनेपदानां टेरे')=कामयते।

(५९५) पद—अय्, आम्, अन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु। **अनुवृत्ति**—णेः, आर्धधातुके। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णु के परवर्ती रहने पर 'णि' के स्थान में 'अय्' आदेश होता है।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'णेरनिटि' (६।४।५१) से 'णेः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'आर्धधातुके' (६।४।४६) का अधिकार है। अतः आम् आदि के परे रहते 'णि' को 'अय्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) √कम्+णिङ् विकल्प से—'आयादयः' (='इ', अ='आ' वृद्धि) =कामि (धातु संज्ञा—लिट्, आम्—'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यः' 'णेरनिटि' से प्राप्त 'णि' के

णिङ् । चकमे । चकमाते । चकमिरे । चकमिषे । चकमाथे । चकमिध्वे । चकमे । चकमिवहे । चकमिमहे । कामयिता । कमिता । कामयिष्यते । कमिष्यते । कामयताम् ।

कामयाञ्चक्रे । कम् धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि प्राप्ते 'आयादयः' इति वा णिङि, अनुबन्धलोपे, 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते, धातुसंज्ञायां 'परोक्षे लिट्' इति लिटि 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' इत्यामि 'णेरनिटि' इति णिङो लोपे प्राप्ते, तम्प्रबाध्य 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' इति णिङः इकारस्य अयादेशे 'कामय् आम् लिट्' इति जाते 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यनेन लिट्परके कृञोऽनुप्रयोगे लिटः लकारस्य स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तप्रत्यये, तस्य स्थाने 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति कृञो द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इति ऋवर्णस्याकारे 'उरण् रपरः' इति रपरे 'कामयाम् क र् कृ ए' इति स्थिते हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे 'इको यणचि' इति यणि, मकारस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'कामयाञ्चक्रे' इति रूपम् । **चकमे इति** । 'आयादयः आर्धधातुके वा' इति णिङ्प्रत्ययाभावपक्षे

लोप का बाधकर इ=अय्-'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु')—कामय् आम् लिट् (लिट् का लुक् - 'आमः', लिट्परक √कृ का अनुप्रयोग)—कामयाम् कृ लिट् (ल्=प्र० पु० ए० व० 'त', त= एश् ='ए'—'लिटस्तझयोरेशिरेच्', 'कृ' को द्वित्व—'लिटि धातोः०' अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'—'उरत्' रपर)—कामयाम् कर् कृ ए ('र्' का लोप—'हलादिः शेषः' क्='च्'—'कुहोश्चुः' ऋ=र्—'यण्'—'इको यणचि' म्=-ं-अनुस्वार, परसवर्ण)=कामयाञ्चक्रे । णिङ् प्रत्यय के अभाव पक्ष में—कम्+लिट् (=प्र० पु० ए० व०—त, त=एश्='ए' द्वित्व)—कम् कम् ए (अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, क्='च्'—'कुहोश्चुः')=चकमे । प्र० पु० द्वि० व०—चकमाते । इत्यादि रूप णिङ् के अभाव पक्ष में बनते हैं ।

√कमु (उकारेत्संज्ञक) धातु 'लिट्' लकार के रूप णिङ् पक्ष में—

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	कामयाञ्चक्रे	कामयाञ्चक्राते	कामयाञ्चक्रिरे
म० पु०	कामयाञ्चकृषे	कामयाञ्चक्राथे	कामयाञ्चकृढ्वे
उ० पु०	कामयाञ्चक्रे	कामयाञ्चकृवहे	कामयाञ्चकृमहे

णिङ् के अभावपक्ष में—

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	चकमे	चकमाते	चकमिरे
म० पु०	चकमिषे	चकमाथे	चकमिध्वे
उ० पु०	चकमे	चकमिवहे	चकमिमहे

अब लुट् लकार के रूपों की प्रक्रिया का निर्देश किया जा रहा है ।

(१) √कम्+णिङ् ('इ' विकल्प से, 'आयादयः०' उपधावृद्धि)—कामि (धातुसंज्ञा, लुट्=ल्=प्र० पु० ए० व०—'त' तास्—'स्यतासी लृलुटोः' आर्धधातुक संज्ञा, इट्,)—कामि इ तास् त, ('इ'='ए' गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' ए=अय्, त=डा='आ'—'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' 'टि' (आस्) का लोप—'डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः')=कामयिता । 'णिङ्' के न होने पर पक्ष में—कमिता ।

अकामयत। कामयेत। कामयिषीष्ट। कमिषीष्ट। (५९६) णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् ३।१।४८। ण्यन्तात्, श्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् कर्त्रर्थे लुङि। अ कामि अ त इति स्थिते—(५९७) णेरनिटि ६।४।५१। अनिडादावार्द्धधातुके परे णेर्लोपः। (५९८) णौ

'कम्+लिट्' इत्यत्र लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तप्रत्यये तस्य एशादेशेऽनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वे 'कम् कम् ए' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे संयोगे च कृते **'चकमे'** इति।

(५९६) प्रत्ययग्रहणपरिभाषया णीति तदन्तग्रहणम्। 'च्लि लुङि' इत्यतो लुङीति, 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति चानुवर्तते। अत आह—**ण्यन्तादित्यादिना।**

(५९७) निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणमिति न्यायात् णेरित्यनेन णिङ्णिचोर्ग्रहणम्।

---

(२) √कम्+णिङ्='इ' विकल्प से, वृद्धि—कामि+लृट् (ल्=प्र० पु० ए० व०—त, स्य—'स्यतासी०', आर्धधातुक संज्ञा, इट्, गुण, ए=अय्,)—कामयि स्य त (षत्व, एत्व)= कामयिष्यते। 'णिङ्' के अभावपक्ष में—कमिष्यते।

(३) √कम्+णिङ् (='इ' वृद्धि)—कामि+लोट् (=प्र० पु० ए० व० त, सार्वधातुक संज्ञा, शप्=अ)—कामि अ त ('इ'='ए'—गुण, अयादेश, अ=ए—'टित आत्मनेपदानाम्०' ए=आम्—'आमेतः')=कामयताम्।

(४) √कम्+णिङ्, वृद्धि—कामि+लङ् (ल्=प्र० पु० ए० व० त, शप्=अ, सार्वधातुक संज्ञा, गुण, अयादेश)—कामयत (अट्='अ' का आगम)=अकामयत।

(५) √कम्+णिङ्, वृद्धि—कामि+विधिलिङ् (ल्=प्र० पु० ए० व०—त, सार्वधातुक संज्ञा, शप्, 'इ'='ए'—गुण, अयादेश)—कामय त (सीयुट्='सीय'—'लिङः सीयुट्' 'स्' का लोप—'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' अ+ई='ए' गुण, 'य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि')= कामयेत।

(६) √कम्+णिङ् (विकल्प से), वृद्धि—कामि+आशीर्लिङ् (ल्=प्र० पु० ए० व० त, आर्धधातुक संज्ञा, सीयुट्='सीय्')—कामि सीय् त (इट्—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' गुण, अय् आदेश, षत्व 'त' को सुट्=स् का आगम—'सुट् तिथोः', 'य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि' स्= षत्व, त्='ट्'—ष्टुत्व)='कामयिषीष्ट'। 'णिङ्' के अभावपक्ष में—'कमिषीष्ट'।

(५९६) पद—णिश्रिद्रुस्रुभ्यः, कर्तरि, चङ्। **अनुवृत्ति**—च्लेः, लुङि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ण्यन्त धातु तथा श्रि, द्रु और स्रु धातुओं से परवर्ती 'च्लि' को 'चङ्' आदेश होता है, कर्त्रर्थक लुङ् लकार के परे रहते।

विमर्श—सूत्रस्थ 'णि' पद से 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा के द्वारा तदन्त (ण्यन्त) का ग्रहण होता है। 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'लुङि' और 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"ण्यन्त और श्रि, द्रु तथा स्रु धातु से परवर्ती 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' (=अ) आदेश होता है, कर्त्रर्थक (कर्तृवाच्य) लुङ् परे रहते"।

'अ कामि अ त' ऐसी स्थिति होने पर—

(५९७) पद—णेः, अनिटि। **अनुवृत्ति**—लोपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अनिडादि आर्धधातुक के परे रहते 'णि' का लोप होता है।

विमर्श—'आर्धधातुके' (६।४।४६) का अधिकार है। 'अतो लोपः' (६।४।४८) से 'लोपः'

णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ७।४।१। चङ्परे णौ यदङ्गं, तस्योपधाया ह्रस्वः चङि। (५९९) सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ७।४।९३। चङ्परे णौ यदङ्गं, तस्य योऽभ्यासो लघुपरस्तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावग्लोपेऽसति। (६००) सन्यतः ७।४।७९। अभ्यासस्यात इत्सनि। (६०१) दीर्घो लघोः ७।४।९४। लघोरभ्यासस्य दीर्घः, सन्वद्भावविषये। अचीकमत। णिङभावपक्षे—* कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः * णेरभावान्न दीर्घसन्वद्भावौ।

---

(५९९) सन्वल्लघुनि इति। अनग्लोप इति च्छेदः। चङ्परो यस्मादिति बहुव्रीहिः। बहुव्रीहिगम्यो णिः, अङ्गस्येति चानुवर्तते। एवं चङ्परे णौ यदङ्गं तस्य योऽभ्यासे लघुपरस्तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावग्लोपेऽसति। णावग्लोपः—णिज्निमित्तकोऽक्प्रत्याहारघटितवर्णलोपः यदि न भूतः स्यादित्यर्थः।

(६००) सन्यतः। 'अत्र लोपः' इत्यत अभ्यासस्येत्यनुवर्तते। 'भृञामिदि'त्यस्मात् इदिति। तदाह—अभ्यासस्येति।

(६०१) दीर्घो लघोरिति। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यतः 'अभ्यासस्ये'त्यनुवर्तते। 'सन्वल्लघुनी'ति सूत्रं सन्वच्छब्दवर्जमनुवर्तते। तदाह—लघोरभ्यासस्येति। अचीकमत। कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति नित्ये णिङ् प्राप्ते 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यनेन

की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "अनिडादि (जिसके आदि में इट् न हो) आर्धधातुक के परवर्ती रहते 'णि' का लोप होता है"।

(५९८) **पद**—णौ, चङि, उपधायाः, ह्रस्वः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—चङ्-परक 'णि' के परे रहते अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'चङि' तथा 'णौ' में सप्तमी विभक्ति होने से 'चङ्-परक जो णि, उसके परे रहते' अर्थ होता है। इस प्रकार—"चङ् है परे जिससे, ऐसे 'णि' के परे रहते जो अङ्ग, उसकी उपधा को ह्रस्व होता है"।

(५९९) **पद**—सन्वत्, लघुनि, चङ्परे, अनग्लोपे। **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—चङ्-परक 'णि' परे रहते जो अंग, उसके अवयव लघुपरक अभ्यास को सन्वद्भाव होता है, यदि 'णि' परे रहते 'अक्' का लोप न हुआ हो।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' पद की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। इस प्रकार—"चङ्-परक 'णि' परे रहते जो अङ्ग, उसका अवयव जो लघुपरक अभ्यास, उसको सन्वद्भाव (=सन् परे रहने के समान कार्य) होता है, यदि 'णि' को निमित्त मानकर अङ्ग के 'अक्' का लोप न हुआ हो तो"।

(६००) **पद**—सनि, अतः। **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य, इत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सन्' के परवर्ती रहने पर अभ्यास के अत् को इत्व होता है।

विमर्श—यहाँ 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' तथा 'भृञामित्' (७।४।७६) से 'इत्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'सन् परे रहते अभ्यास के अकार को इकार होता है।'

(६०१) **पद**—दीर्घः, लघोः। **अनुवृत्ति**—लघुनि, चङ्परेऽनग्लोपे, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अभ्यास के अवयव लघु को दीर्घ होता है, सन्वद्भाव के विषय में।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में—'अत्र लोपः०' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' तथा 'सन्वत्' पद को

अचकमत। अकामयिष्यत। अकमिष्यत। भाम क्रोधे। भामते। बभामे। क्षमूष् सहने। क्षमते। चक्षमे। चक्षमिषे-चक्षंसे। चक्षमाथे। चक्षमिवहे। (६०२) ष्ठिवोऽ

विकल्पेन णिङ्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे उपधावृद्धौ 'कामि' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'लुङ्' इति लुङ्लकारेऽनुबन्धलोपे तत्स्थाने आत्मनेपदे प्रथमपुरुषैकवचने तप्रत्यये 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः सिचि प्राप्ते 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इत्यनेन च्लेः चङादेशेऽनुबन्धलोपे अङ्गस्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'अ कामि अ त' इति जाते, 'णेरनिटि' इत्यनेन णिलोपे, 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्यनेन उपधाह्रस्वे, अ कम् अ त इति स्थिते 'चङि' इत्यनेन द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यनेन हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इत्यनेनाभ्यासककारस्य चकारे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इत्यनेन सन्वद्भावे 'सन्यतः' इत्यनेनाभ्यासस्य इत्वे 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासेकारस्य दीर्घे संयोगे च कृते 'अचीकमत' इति। णिङभावपक्षे—अ कम् त इति स्थिते, च्लौ, च्लेः सिचि प्राप्ते 'कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः' इत्यनेन च्लेः चङादेशेऽनुबन्धलोपे 'चङि' इत्यनेन द्वित्वेऽभ्यासकार्ये हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इत्यभ्यासककारस्य चकारे 'अ च कम् अ त' इति जाते संयोगे च कृते 'अचकमत' इति सिद्धम्।

छोड़कर 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' (५९९) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। अतः—'चङ्-परक णि परे रहते जो अङ्ग, उसके लघु अभ्यास को दीर्घ होता है।'

वा०—"कम् से परे 'च्लि' को चङ् आदेश होता है।" 'णिङ्' विकल्प से होता है। अतः उसके अभाव पक्ष में च्लि को 'चङ्' आदेश एवं द्वित्वादि होते हैं। यहाँ 'णि' के अभाव से दीर्घ एवं सन्वद्भाव की प्राप्ति नहीं होती।

उदाहरण—(१) √कम्+णिङ् विकल्प से (=इ, उपधावृद्धि)—कामि (धातुसंज्ञा+लुङ्=ल्=प्र० पु० ए० व०—'त' च्लि, च्लि=चङ्='अ'—'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०')—काम् इ अ त (णि='इ' का लोप—'णेरनिटि' उपधा को ह्रस्व—'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' अङ्ग को अट् का आगम)—अ कम् अ त ('कम्' को द्वित्व—'चङि' 'पूर्वोऽभ्यासः' से अभ्यास संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से 'म्' का लोप, अभ्यास के 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः' 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' से सन्वद्भाव होकर 'सन्यतः' से अभ्यास के 'अ'='इ' 'इ'='ई'—दीर्घ—'दीर्घो लघोः')=अचीकमत। 'णिङ्' के अभाव पक्ष में—अचकमत (वा० से च्लि=चङ्)।

(२) √कम्+लृङ् प्र० पु० ए० व०—'णिङ्' पक्ष में—अकामयिष्यत। 'णिङ्' के अभावपक्ष में—अकमिष्यत।

√भाम धातु का अर्थ—'क्रोध करना' है। लट्—भामते। लिट्—बभामे। √क्षमूष् धातु का अर्थ—'सहन करना है।' (१) लट् प्र० पु० ए० व०—क्षमते। (२) ऊकारेत्संज्ञक √क्षमूष्+लिट् (=प्र० पु० ए० व०—त, त=एश्=ए, धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'क्'='च्' चत्व)=चक्षमे। (३) क्षम्+लिट् (ल्=म० पु० ए० व०—थास्, थास्=से—'थासः से' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, चत्व)—च क्षम् से (विकल्प से इट्—'स्वरतिसूति०' षत्व) =चक्षमिषे। इट् के अभावपक्ष में 'म्' को अनुस्वार होने पर—चक्षंसे। लिट् म० पु० द्वि० व०—चक्षमाथे। लिट्—उ० पु० द्वि० व०—चक्षमिवहे।

८।२।६५। मान्तस्य धातोर्मस्य नः स्यात् म्वोः परयोः। चक्षण्वहे। चक्षमिमहे। चक्षण्महे। गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च। गाधते। बाधृ लोडने। लोडनं प्रतिघातः। बाधते। नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याऽऽशीःषु। * आशिषि नाथ इति वाच्यम् *। अस्याऽऽशिष्येवात्मनेपदं स्यात्। नाथते। अन्यत्र नाथति। नाधते। दध धारणे। दधते। स्कुदि आप्रवणे। आप्रवणम् उत्प्लवनमुद्धरणं च। स्कुन्दते। चुस्कुन्दे। श्विदि

---

(६०२) म्वोश्चेति। 'मो नो धातोरि'त्यनुवर्तते। तदाह—मान्तस्येति। चक्षण्वहे। 'क्षमूष् सहने' इत्यस्माद्धातोरनुबन्धलोपे लिटि, तत्स्थाने उत्तमपुरुषद्विवचने वहिप्रत्यये 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति धातोः द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम्, हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति चर्त्वे 'च क्षम् वहि' इति जाते 'स्वरतिसूतिसूयति०' इति विकल्पेन इडागमेऽनुबन्धलोपे टेरेत्वे 'चक्षमिवहे' इति। इडभावपक्षे 'म्वोश्च' इति मकारस्य नकारे 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति नकारस्य णत्वे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'चक्षण्वहे' इति।

चुस्कुन्दे। स्कुदि धातोः नुमि लिटि, तत्स्थाने आत्मनेपदे त प्रत्यये, धातोर्द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां 'शर्पूर्वाः खयः' इति सलोपे 'अभ्यासे चर्च' इति चकारे 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशादेशे 'चुस्कुन्दे' इति।

---

(६०२) पद—म्वोः, च। अनुवृत्ति—मो नो धातोः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—मकार और नकार के परवर्ती रहते मान्त धातु के मकार को नकार आदेश होता है। चक्षण्वहे। चक्षमिवहे। चक्षण्महे इत्यादि।

विमर्श—'मो नो धातोः' (८।२।६४) की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण—(१) √क्षम्+लिट् (ल्=उ० पु० द्विवचन--वहि)--क्षम् वहि (धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'क्'='च्'--चर्त्व—'कुहोश्चुः')—च क्षम् वहि, (विकल्प से इट्='इ' आगम—'स्वरतिसूति०', 'इ'='ए'—'टित आत्मनेपदानाम्०')=चक्षमिवहे।, इट् के अभावपक्ष में ('म्'='न्'—'म्वोश्च' 'न्'='ण्'—'रषाभ्याम्' णत्व)=चक्षण्वहे। (२) लिट्—उ० पु० बहुवचन में पूर्ववत् चक्षमिमहे। इट् के अभावपक्ष में चक्षण्महे।

√गाधृ धातु का अर्थ—प्रतिष्ठा, लिप्सा (=लाभ प्राप्ति की इच्छा) और ग्रन्थजनक व्यापार है। (१) लट् प्र० पु० एकवचन—गाधते। √बाधृ का अर्थ—प्रतिघात करना है। बाधते।

√नाथृ, नाधृ धातुओं का अर्थ—याचना करना, कष्ट पहुँचाना, ऐश्वर्य प्राप्त करना एवं आशीर्वाद देना है।

वा०—नाथ धातु से आशीर्वाद अर्थ में ही आत्मनेपद होता है।

उदाहरण—(१) आशीर्वाद अर्थ में आत्मनेपद—नाथते। अन्य अर्थ में—परस्मैपद—नाथति। (२) नाधृ+लट्=नाधते।

√दध् धातु का अर्थ—धारण करना है। (१) दध्+लट् (=प्र० पु० ए० व०—त, शप्, टि=एत्व)=दधते।

√स्कुदि का अर्थ—आप्रवरण=उत्प्लवन एवं उद्धरण है। यहाँ इकार की इत्संज्ञा लोप होता है। (१) स्कुदि+लट् (=प्र० पु० ए० व०—त, इकार की इत्संज्ञा लोप, नुम्='न्' का

श्वैत्ये । श्विन्दते । शिश्विन्दे । वदि अभिवादनस्तुत्योः । वन्दते । ववन्दे । भदि कल्याणे सुखे च । भन्दते । बभन्दे । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । मन्दते । ममन्दे । स्पदि किञ्चिच्चलने । स्पन्दते । स्पन्देते । पस्पन्दे । मुद हर्षे । मोदते । मुमुदे । उर्द माने क्रीडायां च । ऊर्दते । ऊर्दाञ्चक्रे । कुर्द खुर्द गुर्द गुद क्रीडायामेव । कूर्दते । खूर्दते । गूर्दते । गोदते । जुगुदे । षूद क्षरणे । सूदते । सुषूदे । ह्राद अव्यक्ते शब्दे । ह्रादते । जह्रादे । ह्लादी सुखे च । चादव्यक्ते शब्दे । ह्लादते । स्वाद आस्वादने । स्वादते । पर्द कुत्सिते शब्दे । गुदरवे इत्यर्थः । पर्दते । पपर्दे । यती प्रयत्ने । यतते । येते । श्रथि शैथिल्ये । श्रन्थते । ग्रथि कौटिल्ये । ग्रन्थते । कत्थ श्लाघायाम् । कत्थते ।

मोदत इति । मुदधातोर्लटि तत्स्थानेऽऽत्मनेपदे तप्रत्यये शपि, शपः शित्त्वात्सार्वधातुकसंज्ञायां 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति लघूकारस्य गुणे टेरेत्वे कृते 'मोदते' इति रूपम् ।

आगम—'इदितो नुम् धातोः' शप्=अ, टि=एत्व)=स्कुन्दते । (२) स्कुदि+लिट् (नुम्, ल्=त, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'स्' का लोप—'शर्पूर्वाः खयः' 'क्'='च्'—'शर्पूर्वाः खयः' 'त' ='एश्'—'लिटस्तझयोः')=चुस्कुन्दे ।

√श्विदि का अर्थ—श्वैत्य—श्वेतता होना है । इदित् होने से नुम् । श्विन्दते । लिट् में—शिश्विन्दे ।

√वदि का अर्थ—अभिवादन तथा स्तुति करना है । (१) वदि (इदित् होने से नुम्)+ लट् (='त' शप्=अ, टि=एत्व)=वन्दते । (२) लिट् प्र० पु० ए० व०—ववन्दे ।

√भदि धातु का अर्थ—कल्याण एवं सुखजनक व्यापार है । (१) लट्—भन्दते । लिट्—बभन्दे ।

√मदि धातु—स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, इच्छा एवं गति अर्थ में है । (१) लट्—प्र० पु० ए० व०—मन्दते । लिट्—प्र० पु० ए० व०—ममन्दे ।

√स्पदि का अर्थ—ईषत् (कुछ) चलना है । (१) लट्—प्र० पु० ए० व०—स्पन्दते । लट्—प्र० पु० द्वि० व०—स्पन्देते । लिट्—प्र० पु० ए० व०—पस्पन्दे ।

√मुद धातु—हर्ष (=प्रसन्न होना) अर्थ में है । (१) मुद+लट् (=प्र० पु० ए० व०—त, शप्, सार्वधातुक संज्ञा, 'उ'='ओ'—गुण='पुगन्तलघूपधस्य च')=मोदते । (२) मुद्+लिट् प्र० पु० ए० व०—मुमुदे ।

√उर्द धातु मान एवं क्रीडा अर्थ में है । (१) उर्द्+लट् (=प्र० पु० ए० व०—त, शप्, टि=एत्व, 'उ'='ऊ'—'दीर्घ'—'उपधायां च')=ऊर्दते । (२) उर्द—दीर्घ—'उपधायां च' +लिट् ('आम्'—'इजादेश्च०' लिट् का लुक्—'आमः')—ऊर्दाम् (लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग, ल्=त, त=एश्, धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ऋ='अ', रपर, हलादिशेष, चर्त्व, यण्, अनुस्वार, परसवर्ण)=ऊर्दाञ्चक्रे ।

√कुर्द, खुर्द, गुर्द और गुद् धातु का अर्थ—क्रीडा करना है । **उदाहरण**—लट् लकार प्रथम पुरुष ए० व० क्रमशः—कूर्दते । खूर्दते । गूर्दते । गोदते । गुद्+लिट् प्र० पु० ए० व०—जुगुदे ।

√षूद् धातु क्षरणार्थक है । उदा०—लट् प्र० पु० ए० व०—सूदते । लिट्—सुषूदे इत्यादि ।

√ह्राद धातु का अर्थ—अस्पष्ट शब्द करना है । लट्—ह्रादते । लिट्—जह्रादे ।

√ह्लादी धातु—अस्पष्ट शब्दार्थक एवं सुखार्थक है । लट्—ह्लादते ।

√स्वाद धातु आस्वादन अर्थ में है । लट् स्वादते ।

चकत्थे। श्लोकृ सङ्घाते। सङ्घातो ग्रन्थः। स चेह ग्रथ्यमानस्य व्यापारो ग्रन्थितुर्वा। आद्येऽकर्मको, द्वितीये सकर्मकः। श्लोकते। शुश्लोके। शकि शङ्कायाम्। शङ्कते। शशङ्के। अकि लक्षणे। अङ्कते। आनङ्के। ककि वकि श्वकि त्रकि ढौकृ त्रौकृ ष्वष्क वस्क मस्क टिकृ टीकृ तिकृ तीकृ रघि लघि गत्यर्थाः। कङ्कते। वङ्कते। श्वङ्कते। त्रङ्कते। ढौकते। डुढौके। त्रौकते। तुत्रौके। * सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां सत्वनिषेधः * ष्वष्कते। षष्वष्के। वस्कते। ववस्के। मस्कते। ममस्के। टेकते। टीकते। तेकते। तीकते। रङ्घते। लङ्घते। श्लाघृ कत्थने। श्लाघते। शश्लाघे। पचि व्यक्तीकरणे। पञ्चते। पपञ्चे। ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु। अर्जते। नुड्विधौ ऋकारैकदेशो रेफो हल्त्वेन गृह्यते। तेन द्विहल्त्वान्नुट्। आनृजे। ऋजि भृजी भर्जने। ऋञ्जते। ऋञ्जाञ्चक्रे। आर्ञ्जत। भर्जते। एजृ भ्रेजृ भ्राजृ दीप्तौ। एजते। एजा-

---

आनृजे। ऋजधातोः लिटि तत्स्थाने तप्रत्यये, द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इति ऋवर्णस्याकारादेशे रपरत्वे हलादिशेषे 'अ ऋ ज् त' इति जाते 'अत आदेः' इति पूर्वाकारस्य दीर्घे ऋज्धातोरेकहल्त्वेऽपि 'नुड्विधौ ऋकारैकदेशो हल्त्वेन गृह्यते' इति

√पर्द धातु—कुत्सित शब्दार्थक है अर्थात् गुदास्थान से निःसृत शब्द में है। लट्—पर्दते। लिट्—पपर्दे।

√यती धातु का अर्थ—प्रयत्न करना है। लट्—यतते। लिट्—येते।

√ श्रिथि का अर्थ—शिथिलता करना है। इदित् होने से नुम्। लट्—श्रन्थते।

√ग्रथि का अर्थ—कुटिलता है। इदित् होने से नुम्। लट्—ग्रन्थते। √कत्थ का अर्थ—श्लाघा (=प्रशंसा) करना है। लट्—कत्थते। लिट्—चकत्थे। √श्लोकृ धातु—संघात अर्थ में है। संघात का अर्थ—ग्रन्थ निर्माण करना है।

यहाँ 'ग्रथ्यमान=ग्रथन क्रिया के कर्म का व्यापार अथवा ग्रन्थनिर्माणकर्ता का व्यापार' यह दो अर्थ प्रकृत धातु के सम्भव हैं। प्रथम अर्थ में यह अकर्मक है और द्वितीय अर्थ में फल=ग्रंथन ग्रन्थ में रहने से और व्यापार निर्माणकर्ता में रहने से (फलव्यधिकरणव्यापारवाचक होने से) सकर्मक है। लट्—श्लोकते। लिट्—शुश्लोके।

√शकि धातु का अर्थ—आशङ्का करना है। इदित् होने से नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण। लट्—शङ्कते। लिट्—शशङ्के।

√अकि धातु—चिह्नार्थक है। नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण। लट्—अङ्कते। अङ्क्+लिट् (=प्र० पु० ए० व०—त, धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास के 'अ' को दीर्घ—'अत आदेः', नुट्—'तस्मान्नुड् द्विहलः', त=एश्)=आनङ्के।

√ककि, वकि, श्वकि, त्रकि, ढौकृ, त्रौकृ, ष्वष्क, वस्क, मस्क, टिकृ, टीकृ, तिकृ, तीकृ, रघि और लघि—ये १५ धातुएँ गमनार्थक हैं। इदित् धातुओं में नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण। उदा०—लट् क्रमशः—कङ्कते। वङ्कते। श्वङ्कते। त्रङ्कते। ढौकते। लिट्—डुढौके। त्रौकते। लिट्—तुत्रौके।

वा०—सुब्धातु (=नामधातु), ष्ठिव् धातु तथा 'ष्वष्क' धातु सम्बन्धी षकार को सत्व नहीं होता।

—ष्वष्क् धातु में प्राप्त 'धात्वादेः षः सः' से सत्व का प्रकृत वार्तिक से निषेध हुआ। लट्—ष्वष्कते। लिट्—षष्वस्के। वस्कते। लिट्—ववस्के। मस्कते। लिट्—ममस्के। टेकते। टीकते। तेकते। तीकते। रङ्घते। लङ्घते।

ञ्चक्रे । भ्रेजते । बिभ्रेजे । भ्राजते । बभ्राजे । वेष्ट वेष्टने । वेष्टते । विवेष्टे । चेष्ट चेष्टायाम् । चेष्टते । चिचेष्टे । स्फुट विकसने । स्फोटते । पुस्फुटे । टुवेपृ कम्पने । वेपते । कपि चलने । कम्पते । भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च । भिक्षते । बिभिक्षे । दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु । दीक्षते । दिदीक्षे । भाष व्यक्तायां वाचि । भाषते । बभाषे । वर्ष स्नेहने । वर्षते । ववर्षे । ईह चेष्टायाम् । ईहते । ईहाञ्चक्रे । गर्ह गल्ह कुत्सायाम् । गर्हते । गल्हते । काश्र्‌ दीप्तौ । काशते । ऊह वितर्के । ऊहते । ऊहाञ्चक्रे । कथम्—'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः' इति । अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम् । अनुदात्तेतश्चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकात् । तेन-'उदयति यदि भानुः',

---

वार्तिकवचनात् 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति दीर्घीभूतात्परस्य नुटि 'लिटस्तझयोरि'ति तकारस्य स्थाने एशादेशे 'आनृजे' इति ।

√श्लाघृ धातु का अर्थ—कत्थन अर्थात् अपने गुणों को प्रकट करना है। लट्—श्लाघते (=स्वगुणान् प्रकटीकरोति)। लिट्—शश्लाघे।

√पचि धातु—व्यक्तीकरण (=स्पष्टार्थक) में है। इदित्वान्नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण। लट्—पञ्चते। लिट्—पपञ्चे।

√ऋज धातु गत्यर्थक तथा स्थान का अर्जन और उपार्जनार्थक है। लट्—अर्जते। ऋज धातु से लिट् में ऋकार का अवयव 'वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते' से रेफ एक हल् एवं जकार एक हल् =दो हल् युक्त धातु होने से 'तस्मान्नुट्०' से नुट् हुआ। ऋज्+लिट् (=द्वित्व, ऋ=अ—'उरत्' रपर, हलादिशेष)—अ ऋज्+लिट् (अ='आ'—दीर्घ—'अत आदेः' नुट्='न्'—'तस्मान्नुड् द्विहलः' त=एश्=ए)=आनृजे।

√ऋजि तथा भृजी धातु पाकार्थक हैं। लट्—ऋञ्जते। लिट् में (आम् एवं कृञ् का अनुप्रयोग आदि कार्य)=ऋञ्जाञ्चक्रे। लङ्—आर्ञ्जत। भृज्+लट्=भर्जते।

√एजृ, भेजृ, भ्राजृ धातु दीप्त्यर्थक हैं। क्रमशः उदाहरण—लट्–एजते। लिट्—एजाञ्चक्रे। भ्रेजते। लिट्—बिभ्रेजे। भ्राजते। लिट्—बभ्राजे।

√वेष्ट धातु का अर्थ वेष्टन=लपेटना है। वेष्टते। लिट्–विवेष्टे। √चेष्ट धातु चेष्टार्थक है। लट्-चेष्टते। लिट्—चिचेष्टे। √स्फुट का अर्थ विकसित=खिलना है। लट्—स्फोटते। लिट्—पुस्फुटे। √टुवेपृ का अर्थ—काँपना है। वेपते। √कपि धातु गत्यर्थक है। लट्—कम्पते। √भिक्ष धातु भिक्षा के लाभ या अलाभ अर्थ में है। भिक्षते। लिट्—बिभिक्षे। √दीक्ष का अर्थ—मुण्डन करना, इज्या =यज्ञ करना, उपनयन=यज्ञोपवीत धारण करना, नियम एवं व्रतादेश है। लट्—दीक्षते। लिट्—दिदीक्षे। √भाष धातु का अर्थ—स्पष्ट बोलना है। भाषते। लिट्—बभाषे। √वर्ष का अर्थ–बरसना है। लट्—वर्षते। लिट्—ववर्षे। √ईह धातु चेष्टा (चाहना) अर्थ में है। ईहते। लिट्—ईहाञ्चक्रे। √गर्ह और **गल्ह** धातु कुत्सा अर्थ में हैं। गर्हते। गल्हते। √काश्र्‌ धातु दीप्त्यर्थक है। लट्—काशते। √ऊह वितर्क अर्थ में है। ऊहते। लिट्—ऊहाञ्चक्रे।

कथमिति। 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः' के 'ऊहति' पद में ऊह् धातु के अनुदात्त होने से आत्मनेपद होना चाहिए। परन्तु 'ऊहति' परस्मैपद का प्रयोग क्यों किया गया? इस शङ्का के समाधान के लिए कहा गया है—'अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्'। अनुदात्तेत्व प्रयुक्त आत्मनेपद अनित्य होता है। चक्षिङ् धातु में अनुदात्त होने से ही आत्मनेपद सिद्ध था, पुनः ङित् क्यों किया? वह ङित्करण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है—'अनुदात्तेत्वलक्षणम्०'। उससे

'स्फायान्निर्मोकसन्धिरि'त्यादि सिद्धमित्याहुः। अय गतौ। अयते। (६०३) उपसर्गस्यायतौ ८।२।१९। अयतावुपसर्गरेफस्य लत्वम्। प्लायते। पलायते। (६०४) दयायासश्च ३।१।३७। एभ्य आम्लिटि। अयाञ्चक्रे। अयिता। अयिष्यते। अयताम्।

---

(६०३) पलायत इति। परा उपसर्गात् अयधातोः लटि, आत्मनेपदे तप्रत्यये 'उपसर्गस्यायतौ' इत्यनेन रकारस्य लकारे पलाय् त इति जाते सार्वधातुकसंज्ञायां शप्यनुबन्धलोपे टेरेत्वे संयोगे च 'पलायते' इति।

(६०४) दयायासश्चेति। दय अय अस् इत्येषां समाहारद्वन्द्वात्पञ्चम्येकवचनम्। 'कास्प्रत्ययादि'त्यतः 'आम् लिटी'त्यनुवर्तते। अत आह—एभ्य आमित्यादि। अयाञ्चक्रे। अयधातोः लिटि 'दयायासश्चे'ति आमि कृते—'अय आम् लिट्' इति जाते 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परके कृञोऽनुप्रयोगे, लिटो लस्य स्थाने तप्रत्यये, तत्स्थाने 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इत्येशि अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वे 'अयाम् कृ कृ ए' इति स्थिते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्याकारे रपरे च कृते हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे 'इको यणचि' इति यणि, अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'अयाञ्चक्रे' इति।

उत्पूर्वक अय धातु से परस्मैपद में 'उदयति' और 'स्फायी वृद्धौ' इस अनुदात्त इत्संज्ञक धातु से लट् के स्थान में 'शतृ' आदेश होने पर 'स्फायान्' रूप सिद्ध होते हैं।

√अय धातु गत्यर्थक है। अयते।

(६०३) पद—उपसर्गस्य, अयतौ। **अनुवृत्ति**—रो लः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अय् धातुपरक उपसर्ग के रेफ को लकार होता है।

विमर्श—यहाँ 'कृपो रो लः' (८।२।१८) सूत्र से 'रो लः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—अय् धातु के परे रहते उपसर्ग के रेफ को लकारादेश (=लत्व) होता है।

उदाहरण—(१) प्र+अयते (लट्) (र्=ल्—'उपसर्गस्यायतौ')—प्ल अयते (अ+अ='आ' दीर्घ)=प्लायते।

(२) परा+अयते (र्=ल्)—पला+अयते (दीर्घ)=पलायते।

(६०४) पद—दयायासः, च। **अनुवृत्ति**—आम्, लिटि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दय्, अय् और आस् धातुओं से 'आम्' होता है, लिट् के परे रहते। अयाञ्चक्रे इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (३।१।३५) सूत्र से 'आम्' और 'लिटि' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"लिट् लकार के परवर्ती रहते दय्, अय् तथा आस् धातु से 'आम्' होता है।"

उदाहरण—(१) अय्+लिट् ('आम्'—'दयायासश्च')—अय् आम् लिट् ('आमः' से 'लिट्' का लुक्, लिट्परक √कृ का अनुप्रयोग—'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' ल्=प्र० पु० ए० व०—त, त=एश्=ए, धातु को द्वित्व)—अयाम् कृ कृ ए (अभ्यास संज्ञा, 'उरत्' से ऋ=अ, रपर, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः' 'ऋ'='र्'—यण, म्=ं अनुस्वार, परसवर्ण—'वा पदान्तस्य')=अयाञ्चक्रे। (२) लुट्—अयिता। (३) लृट्—अयिष्यते। (४) लोट्—अयताम्। (५) लङ्—आयत। (६) विधिलिङ्—अयेत। (७) आशीर्लिङ्—अयिषीष्ट।

आयत । अयेत । अयिषीष्ट । (६०५) विभाषेटः ८।३।७९ । इणः परो य इट्, ततः परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य वा ढः । अयिषीढ्वम् । अयिषीध्वम् । आयिष्ट । आयिढ्वम् । आयिध्वम् । आयिष्यत । द्युत दीप्तौ । द्योतते । (६०६) द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् ७।४।६७ । अभ्यासस्य । दिद्युते । द्योतिता । द्योतिष्यते । द्योतताम् ।

---

(६०५) विभाषेट इति । 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धः' इति, 'अपदान्तस्ये'त्यतो मूर्धन्य इति चानुवर्तते । तदाह—इणः पर इत्यादिना । अयिषीढ्वम् । अय्धातोः आशीर्लिङि, लस्य स्थाने मध्यमपुरुषबहुवचने ध्वमि, 'लिङः सीयुट्' इति सीयुडागमेऽनुबन्धलोपे, यकारलोपे, आर्धधातुकत्वात् सलोपाभावे, इडागमेऽनुबन्धलोपे "विभाषेटः' इति विकल्पेन धस्य मूर्धन्यादेशे ढकारे षत्वे 'अयिषीढ्वम्' इति । ढत्वाभावे तु—'अयिषीध्वमि'ति ।

(६०६) द्युतिस्वाप्योरिति । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यतः 'अभ्यासस्ये'त्यनुवर्तते । तदाह—अभ्यासस्येति । दिद्युते । द्युत्धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिट्यनुबन्धलोपे, लः स्थाने प्रथमपुरुषगतैकवचने तादेशे 'लिट् चे'त्यार्धधातुकसंज्ञायां तस्य स्थाने एशि,

---

(६०५) पद—विभाषा, इटः । **अनुवृत्ति**—इणः षीध्वंलुङ्लिटां धः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—इण् से परवर्ती जो इट्, उससे परे षीध्वम् और लुङ्, लिट् के 'ध्' को विकल्प से मूर्धन्य (ढ्) आदेश होता है । अयिषीढ्वम् । अयिषीध्वम् इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्' (८।३।७८) से 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धः' की अनुवृत्ति आती है । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३।५५) का अधिकार होने से उक्त सूत्रार्थ होता है ।

उदाहरण—(१) अय्+आशीर्लिङ् (ल्=म० पु० ब० व०—ध्वम् , सीयुट्=सीय्)—अय् सीय् ध्वम् ('य्' का लोप, इट्; 'ध्'='ढ्'—विकल्प से—'विभाषेटः, षत्व)=अयिषीढ्वम् । मूर्धन्यादेश (ढत्व) के अभावपक्ष में—अयिषीध्वम् । (२) लुङ्—प्र० पु० ए० व०—आयिष्ट । (३) अय्+लुङ् म० पु० ब० व० में (विकल्प से 'ध्'='ढ्')—आयिढ्वम् , आयिध्वम् । (४) लङ्—आयिष्यत ।

√द्युत धातु का अर्थ दीप्ति (=चमकना) है । (१) द्युत्+लट् (=प्र० पु० ए० व०—त, शप्=अ, 'उ'='ओ'—गुण 'पुगन्तलघूपधस्य च' एत्व—'टित आत्मने०')=द्योतते ।

(६०६) पद—द्युतिस्वाप्योः, सम्प्रसारणम् । **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—द्युत धातु और स्वापि (णिजन्त) के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है । दिद्युते ।

विमर्श—यहाँ 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आती है । अतः द्युत और ण्यन्त स्वप् (स्वापि) के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है ।

उदाहरण—(१) द्युत्+लिट् (=प्र० पु० ए० व०—त, आर्धधातुक संज्ञा, त=एश्=ए, धातु को द्वित्व)—द्युत् द्युत् ए (अभ्यास संज्ञा, 'य्'='इ'—सम्प्रसारण—'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' 'उ' का पूर्वरूप, हलादिशेष)=दिद्युते । (२) लुट्—द्योतिता । (३) लृट्—द्योतिष्यते । (४) लोट्—द्योतताम् । (५) लङ्—अद्योतत । (६) विधिलिङ्—द्योतेत । (७) आशीर्लिङ्—द्योतिषीष्ट ।

अद्योतत । द्योतेत । द्योतिषीष्ट । (६०७) द्युद्भ्यो लुङि १।३।९१ । द्युतादिभ्यः परस्मैपदं वा स्याल्लुङि । 'पुषादी'त्यङ् । अद्युतत् । अद्योतिष्ट । अद्योतिष्यत । एवम्— श्विता वर्णे । ञिमिदा स्नेहने । ञिष्विदा स्नेहनमोचनयोः । मोहनयोरित्येके । ञिक्ष्विदा चेत्येके । रुच दीप्तावभिप्रीतौ च । घुट परिवर्तने । शुभ दीप्तौ । क्षुभ सञ्चलने । णभ तुभ हिंसायाम् । स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु अवस्रंसने । ध्वंसु गतौ च । स्रम्भु विश्वासे । वृतु वर्तने । वर्तते । * ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन * ।

शस्येत्संज्ञायां लोपे च, धातोर्द्वित्वे 'द्युत् द्युत् ए' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यास-संज्ञायां 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' इत्यभ्यासयकारस्य सम्प्रसारणे इकारे 'सम्प्रसा-रणाच्च' इत्युकारस्य पूर्वरूपे 'दित् द्युत् ए' इति जाते 'हलादिः शेषः' इति तलोपे 'दिद्युते' इति ।

(६०७) **द्युद्भ्यो लुङीति** । 'शेषात्कर्तरि' इत्यतः परस्मैपदमित्यनुवर्तते । **अद्युतत्** । द्युत् धातोर्लुङि, लः स्थाने 'द्युद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदे तिप्यनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ तस्य 'च्लेः सिच्' इति सिचि प्राप्ते, तं प्रबाध्य 'पुषादिद्युताद्य्-लृदितः' इत्यङादेशेऽनुबन्धलोपे ङित्वाद् गुणाभावे अडागमे 'इतश्चे'ति इकारस्य लोपे 'अद्युतत्' इति रूपम् ।

---

(६०७) पद—द्युद्भ्यः, लुङि । **अनुवृत्ति**—परस्मैपदम् , वा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्युतादि से परवर्ती लुङ् को विकल्प से परस्मैपद होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८) से 'परस्मैपदम्' तथा 'वा क्यषः' (१।३।७) से 'वा' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—द्युतादि धातुओं से लुङ् को विकल्प से परस्मैपद होता है । 'द्युद्भ्यः' में बहुवचन निर्देश होने से द्युत् से लेकर कृपू पर्यन्त धातुओं का ग्रहण होता है ।

उदाहरण—(१) द्युत्+लुङ् (=प्र० पु० ए० व० 'द्युद्भ्यो लुङि' से विकल्प से परस्मैपद होने पर तिप्=ति)—द्युत् ति (च्लि, च्लि को प्राप्त सिच् आदेश का बाधकर 'च्लि'='अङ्'—'पुषादि०', अडागम, 'इ' का लोप—'इतश्च')=अद्युतत् । परस्मैपद के अभावपक्ष में आत्मने-पद—अद्योतिष्ट । (२) लृङ्—अद्योतिष्यत ।

√श्विता धातु का अर्थ—श्वेत रंग में रंगना है । श्वेतते इत्यादि । √ञिमिदा का अर्थ—'चिकना होना' है । मेदते इत्यादि । √ञिष्विदा (=स्विद्) का अर्थ—पसीना आना और छोड़ना है । कुछ विद्वान् इसका अर्थ 'मोहित होना' कहते हैं । लट्—स्वेदते । कुछ आचार्य **'ञिष्विदा'** के स्थान पर **'ञिक्ष्विदा'** पाठ बतलाते हैं ।

√रुच् का अर्थ—'चमकना और अच्छा लगना' है । रोचते । √घुट का अर्थ—'घोंटना' है । घोटते । √शुभ का अर्थ—'चमकना, शोभित होना' है । शोभते । √क्षुभ का अर्थ—'व्याकुल होना, विचलित होना' है । क्षोभते । √णभ, तुभ का अर्थ—'हिंसा करना' है । नभते । तोभते । √स्रंसु, ध्वंसु और भ्रंसु (उदित्) का अर्थ—'गिरना' है । स्रंसते । भ्रंसते । ध्वंसते इत्यादि । √ध्वंसु धातु का अर्थ—'जाना' भी है । √स्रम्भ का अर्थ—'विश्वास करना' है । स्रम्भते ।

√वृत् का अर्थ—'होना' है । (१) वृत्+लट् (=प्र० पु० ए० व०—त, शप्=अ, 'ऋ' ='अ'—गुण, रपर 'टि' को एत्व)=वर्तते ।

ववृते। वर्तिता (६०८) **वृद्भ्यः स्यसनोः १।३।९२।** वृतादिभ्यः पञ्चभ्यो वा परस्मैपदं, स्ये सनि च। (६०९) **न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ७।२।५९।** वृतुवृधुशृधुस्यन्दूभ्यः सादेरार्धधातुकस्येण्न स्यात्तङानयोरभावे। वत्स्यति। वर्तिष्यते। वर्तताम्। अवर्तत। वर्तेत। वर्तिषीष्ट। अवृतत्। अवर्तिष्ट। अवर्त्स्यत्। अवर्तिष्यत। एवं—वृधु वृद्धौ।

---

(६०८) **वृद्भ्य इति।** अत्र 'शेषात्कर्तरी'त्यतः परस्मैपदम्, 'वा क्यषः' इत्यतो वेति चानुवर्तते। तदाह—**वृतादिभ्य इति।**

(६०९) **न वृद्भ्य इति।** 'सेऽसिची'त्यतः 'से' इति 'आर्धधाकतुस्येड् वलादेः' इत्यत 'आर्धधातुकस्येड्' इति चानुवर्तते। तदाह—**एभ्य इत्यादि।** **वत्स्यति।** वृत्

ऋदुपधेभ्यः०—ऋदुपध (ह्रस्व ऋकार है उपधा में जिनके, ऐसी) धातुओं से परवर्ती जो लिट् (लिट्स्थानिक आदेश), उसको गुणप्राप्ति से पूर्व ही (पूर्वविप्रतिषेध से) कित्त्व हो जाता है।

उदाहरण—(२) वृत्+लिट् (=प्र० पु० ए० व०—त, त=एश्=ए)—वृत् ए (धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ऋ=अ—'उरत्' रपर, हलादिशेष)—व वृत् ए ('पुगन्त०' से गुण की प्राप्ति, 'ऋदुपधेभ्यो०' से लिट् के कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध)=ववृते। (३) वृत्+लुट् (=प्र० पु० ए० व०—त, तास्, इट्, गुण, रपर, त=डा=आ, टिलोप) =वर्तिता।

(६०८) **पद**—वृद्भ्यः, स्यसनोः। **अनुवृत्ति**—परस्मैपदम्, वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—वृत् आदि पाँच धातुओं[1] से विकल्प से परस्मैपद होता है, 'स्य' और 'सन्' के परवर्ती रहने पर।

विमर्श—यहाँ शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८) से 'परस्मैपदम्' तथा 'वा क्यषः' (१।३।९०) से 'वा' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'स्य' और 'सन्' के परवर्ती रहने पर वृत् आदि पाँच धातुओं से विकल्प से परस्मैपद होता है।

(६०९) **पद**—न, वृद्भ्यः, चतुर्भ्यः। **अनुवृत्ति**—परस्मैपदेषु, से, आर्धधातुकस्येड्। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—वृत् आदि चार धातुओं से परवर्ती सकारादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता, 'तङ्' और 'आन' (शानच्, कानच्) के अभाव में अर्थात् परस्मैपद में।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' (७।२।५८) से 'परस्मैपदेषु' 'सेऽसिचि०' (७।२।५७) से 'से' तथा 'आर्धधातु०' (७।२।३५) से 'आर्धधातुकस्येड्' की अनुवृत्ति आने पर पूर्वोक्त अर्थ सम्पन्न होता है।

उदाहरण—(१) वृत्+लृट् (=प्र० पु० ए० व०—'वृद्भ्यः स्यसनोः' से विकल्प से परस्मैपद होने पर—तिप्='ति' स्य—'स्यतासी०')—वृत् स्य ति ('आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'इट्' की प्राप्ति, उसका 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' से निषेध, लघूपधगुण, रपर)=वर्त्स्यति। परस्मैपद के अभावपक्ष में आत्मनेपद—वर्तिष्यते। (२) लोट्—वर्तताम्। (३) लङ्—अवर्तत। (४) विधिलिङ्—वर्तेत। (५) आशीर्लिङ्—वर्तिषीष्ट। (६) लुङ्—अवृतत्, अवर्तिष्ट (यहाँ 'द्युद्भ्यो लुङि' से विकल्प से परस्मैपद होने से 'च्लि' को 'पुषादि०' से 'अङ्' होने पर 'अवृतत्') (७) लृङ्—अवर्त्स्यत्, अवर्तिष्यत। (विकल्प से परस्मैपद)। उपसर्ग के योग में √वृत से—

---

१. 'वृतु, वृधु, शृधु, स्यन्दू और कृपू' ये पाँच धातु वृतादि हैं।

शृधु शब्दकुत्सायाम् । स्यन्दू प्रस्रवणे । स्यन्दते । सस्यन्दे । सस्यन्दिषे । सस्यन्त्से । सस्यन्दिध्वे । सस्यन्ध्वे । स्यन्दिता । स्यन्ता । 'वृद्भ्यः स्यसनोरि'ति परस्मैपदे कृते ऊदिल्लक्षणमन्तरङ्गमपि विकल्पं बाधित्वा चतुर्ग्रहणसामर्थ्यान्न वृद्भ्य इति निषेधः । स्यन्त्स्यति । स्यन्दिष्यते । स्यन्त्स्यते । स्यन्देत । स्यन्दिषीष्ट । स्यन्त्सीष्ट । 'द्युद्भ्यो लुङी'ति परस्मैपदपक्षेऽङ् । नलोपः । अस्यदत् । अस्यन्दिष्ट । अस्यन्त । अस्यन्त्साताम् । अस्यन्त्सत । अस्यन्त्थाः । अस्यन्दध्वम् । अस्यन्त्सि । अस्यन्त्स्यत् । अस्यन्दिष्यत । अस्यन्त्स्यत । (६१०) अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु ८।३।७२ । एभ्यः परस्याप्राणिकर्तृकस्य स्यन्दतेः सस्य षो वा । अनुष्यन्दते, अनुस्यन्दते वा जलम् ।

धातोर्लृटि, 'वृद्भ्यः स्यसनोः' इति वा परस्मैपदे लः स्थाने प्रथमपुरुषगतैकवचने तिप्यनुबन्धलोपे, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये, आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीडागमे प्राप्ते 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इति तन्निषेधे, लघूपधगुणे रपरे च कृते 'वर्त्स्यति' इति । परस्मैपदाभावे आत्मनेपदपक्षे 'वर्तिष्यते' इति रूपम् ।

(६१०) अनुविपर्यभिनिभ्य इति । 'सहेः साडः सः' इत्यतः स इति षष्ठ्यन्त-

---

लट्—प्रवर्तते (=प्रवृत्त होता है), अनुवर्तते (=पीछे चलता है), प्रत्यावर्तते=(लौटता है), परिवर्तते (=बदलता है) तथा निवर्तते (=विरत होता है, लौटता है) इत्यादि रूप बनते हैं ।

√वृधु धातु का अर्थ—'बढ़ना' है । वर्धते । √शृधु का अर्थ—'कुत्सित शब्द निकलना' है । शर्धते ।

√स्यन्दू धातु का अर्थ—'प्रस्रवण=चूना, रिसना' है । लट्—स्यन्दते । लिट्—सस्यन्दे । लिट्—म० पु० ए० व० में (थास्=से, धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, विकल्प से इट्—'स्वरतिसूति०', षत्व)=सस्यन्दिषे । इट् के अभावपक्ष में—सस्यन्द् से ('द्'='त्'—'चर्त्व')=सस्यन्त्से । लिट् म० पु० ब० व० (ध्वम्, द्वित्वादि कार्य, विकल्प से इट्, एत्व)= सस्यन्दिध्वे । इडभाव पक्ष में—सस्यन्ध्वे । लुट्—प्र० पु० ए० व० (त, तास्, विकल्प से इट्, त=डा=आ, टिलोप)=स्यन्दिता । इट् न होने पर चर्त्व—स्यन्ता । लृट् लकार में 'वृद्भ्यः स्यसनोः' से वैकल्पिक परस्मैपद होने पर ऊदित्लक्षण 'स्वरतिसूति०' से अन्तरङ्ग वैकल्पिक इट् नहीं हुआ, किन्तु बहिरङ्ग 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' ने वैकल्पिक इट् का बाध किया । इसमें प्रमाण सूत्रस्थ चतुर्ग्रहण ही है । अन्यथा वैकल्पिक इट् बोधन करने पर उसका वैयर्थ्य स्पष्ट ही है । अतः परस्मैपद पक्ष में केवल एक ही रूप—स्यन्त्स्यति । आत्मनेपद में वैकल्पिक इट्—स्यन्दिष्यते । इडभाव पक्ष में—स्यन्त्स्यते । विधिलिङ्—स्यन्देत । आशीर्लिङ्—वै० इट्—स्यन्दिषीष्ट, स्यन्त्सीष्ट । लुङ्—प्र० पु० ए० व०—'द्युद्भ्यो लुङि' से परस्मैपद पक्ष में (तिप्=ति, अडागम, च्लि=अङ्=अ, नलोप, इकारलोप)=अस्यदत् । आत्मनेपद पक्ष में—विकल्प से इट्—अस्यन्दिष्ट । इट् न होने पर—अस्यन्त । लृङ्—प्र० पु० ए० व०—परस्मैपद में इट् न होने पर—अस्यन्त्स्यत् । आत्मनेपद पक्ष में—अस्यन्दिष्यत । अस्यन्त्स्यत ।

(६१०) पद—अनुविपर्यभिनिभ्यः, स्यन्दते अप्राणिषु । **अनुवृत्ति**—सः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अनु, वि, परि, अभि और नि उपसर्गों से परवर्ती अप्राणिकर्तृक 'स्यन्द्' धातु के सकार को विकल्प से षत्व होता है । अनुष्यन्दते अनुस्यन्दते वा जलम् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से 'सः' की अनुवृत्ति आती है । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३।५५) का अधिकार है । तदनुसार पूर्वोक्त सूत्रार्थ निष्पन्न होता है ।

अप्राणिषु किम् ? अनुस्यन्दते हस्ती । कृपू सामर्थ्ये । (६११) कृपो रो लः ८।२।१८। कृपः उः रः लः इति च्छेदः । कृपेः रेफस्य लः । कृपेर्ऋकारस्यावयवो यो रः=रेफसदृशस्तस्य च लः=लकारसदृशः स्यात् । कल्पते । चक्लृपे । चक्लृपिषे । चक्लृप्से । इत्यादि 'स्यन्दि'वत् । (६१२) लुटि च क्लृपः १।३।९३ । लुटि स्यसनोश्च क्लृपेः परस्मैपदं

मनुवर्तते । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकाराल्लभ्यते । तदाह—एभ्य इत्यादिना । अनुष्यन्दत इति । अनूपसर्गपूर्वकात् स्यन्द धातोर्लटि, तत्स्थाने 'त' इत्यादेशे, शपि, टेरेत्वे, 'अनुविपर्यभिनिभ्यः०' इति विकल्पेन षत्वे 'अनुष्यन्दते' इति । षत्वाभावे तु—'अनुस्यन्दते' इति रूपम् ।

(६११) कृपो रो ल इति । कृप इति लुप्तविभक्तिकं पदम् । ऋकारस्य षष्ठ्येकवचने 'उः' इति रूपम् । रः इति षष्ठ्यन्तम् । कल्पत इति । 'कृपू सामर्थ्ये' इत्यस्माद्धातोः लटि तत्स्थाने 'त' इति प्रत्यये, शपि, 'पुगन्त०' इति गुणे, रपरत्वे 'क र् प् अ त' इति जाते 'कृपो रो लः' इति रस्य लत्वे टेरेत्वे कृते 'कल्पते' इति ।

(६१२) लुटि चेति । अत्र चकारात् 'वृद्भ्यः स्यसनोः' इत्यतः स्यसनोरित्यनुकृष्यते । 'शेषात्कर्तरि' इत्यतः परस्मैपदमिति, 'वा क्यषः' इत्यतो वेति च । तदाह—**लुटि स्यसनोरित्यादिना ।**

उदाहरण—(१) अनु+स्यन्द्+लट् (=प्र० पु० ए० व०—त, शप्=अ, एत्व, 'स्'='ष्' विकल्प से—'अनुविपर्यभिनिभ्यः०')=अनुष्यन्दते । षत्वाभाव पक्ष में—अनुस्यन्दते वा जलम् । अर्थ—जल बहता है । यहाँ प्राणिभिन्न जल अचेतन कर्ता है । अतः षत्व हुआ । सूत्र में अप्राणिषु=चेतन न हो—कहा गया है, अतः 'अनुस्यन्दते हस्ती'=हाथी पसीज रहा है । यहाँ षत्व नहीं हुआ ।

√कृपू धातु का अर्थ—'सामर्थ्य=समर्थ, दक्ष होना' है ।

(६११) पद—कृपः, रः, लः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कृप् धातु के रेफ को लकार आदेश होता है । तथा 'कृप्' के ऋकारावयव जो रेफ सदृश भाग, उसको लकार सदृश आदेश होता है । कल्पते इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ स्पष्ट है । 'कृप उः' ऐसा पदच्छेद है । 'कृप' यह लुप्तषष्ठीक पद है ।

उदाहरण—(१) कृप्+लट् (=प्र० पु० ए० व०—त, शप्=अ, 'पुगन्त०' से गुण ऋ=अ, रपर)—क र् प् अ त ('र्'='ल्'—'कृपो रो लः' 'टि' को एत्व)=कल्पते । (२) कृप्+लिट् (=प्र० पु० ए० व०—त, त=एश्=ए, धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, उरत्, रपर, हलादि शेष, 'क्'='च्'—कुहोश्चुः)—च कृ प् ए (ऋकारावयव रेफसदृश को लकार सदृश लकार—'कृपो रो लः')=चक्लृपे । (२) कृप्+लिट् (=म० पु० ए० व०—थास्=से, द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, इट् पक्ष में—लत्व, षत्व)=चक्लृपिषे । इट् न होने पर—चक्लृप्से । अन्य रूप 'स्यन्द्' धातु के समान बनेंगे ।

(६१२) पद—लुटि, च, क्लृपः । **अनुवृत्ति**—स्यसनोः, वा, परस्मैपदम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लुट् 'स्य' और 'सन्' के परवर्ती रहने पर कृप् धातु से विकल्प से परस्मैपद होता है ।

विमर्श—यहाँ 'वृद्भ्यः स्यसनोः' (६०९) से 'स्यसनोः' 'वा क्यषः' (१।३।९०) से 'वा' तथा 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८) से 'परस्मैपदम्' पदों की अनुवृत्ति आती है । तद-

वा । (६१३) तासि च क्लृपः ७।२।६० । क्लपेः परस्य तासेः, सादेरार्द्धधातुकस्येण्न, तङानयोरभावे । कल्प्तासि । कल्पितासे । कल्प्तासे । कल्प्स्यति । कल्पिष्यते । कल्प्स्यते । कल्पिषीष्ट । (६१४) लिङ्सिचावात्मनेपदेषु १।२।११ । इक्समीपाद्धलः परौ झलादी लिङ्, आत्मनेपदपरः सिच्चेत्येतौ कितौ स्तः । क्लृप्सीष्ट । अक्लृपत् । अकल्पिष्ट । अक्लृप्त । अकल्प्स्यत् । अकल्पिष्यत । अकल्प्स्यत । इति द्युतादयः ।

---

(६१३) तासि चेति । 'सेऽसिचि०' इत्यतः से इति 'आर्धधातुकस्य' इत्यतः आर्धधातुकस्येडिति चानुवर्तते । 'न वृद्भ्यः' इत्यतो नेति, 'गमेरिट्' इत्यतः परस्मैपदमिति चानुवर्तते । तदाह—क्लृपेः परस्येति । कल्प्तासि । कृप्धातोर्लुटि 'लुटि च क्लृपः' इति वैभाषिके परस्मैपदे सिपि, तासि, 'स्वरति' इति वैभाषिकेडागमे प्राप्ते 'तासि च क्लृपः' इति इडागमाभावे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति गुणे रपरत्वे 'कृपो रो लः' इति लत्वे 'कल्प्तासि' । आत्मनेपदे तु—थासि, 'थासः से' इति 'से' आदेशे तासि, 'स्वरती'ति वेटि, कल्पितासे । इडभावपक्षे—'कल्प्तासे' इति रूपद्वयम् ।

(६१४) लिङ्सिचाविति । इक्समीपादिति, झलादीति, किदिति चानुवर्तते । कल्पिषीष्ट, क्लृप्सीष्ट इति । कृप्धातोः आशिषि लिङि लस्य स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये

नुसार—"लृट् लकार में 'स्य' एवं 'सन्' प्रत्यय के विषय में क्लृप् से परे लकार के स्थान में परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय आदेश विकल्प से होते हैं" ।

(६१३) पद—तासि, च, क्लृपः । **अनुवृत्ति**—न, से, आर्धधातुकस्येट् । **विधिसूत्र (निषेध)।**

मूलार्थ—क्लृप् से परवर्ती तास् और सादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता, तङ् और आन (शानच्-कानच्) के अभाव में ।

विमर्श—इस सूत्र में—'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' (७।२।५९) से 'न', 'सेऽसिचि०' (७।२।५७) से 'से' और 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) से 'आर्धधातुकस्येट्' पदों की अनुवृत्ति आती है । अतः क्लृप् से परवर्ती तास् तथा सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम नहीं होता, परस्मैपद के परे रहते ।

उदाहरण—(१) √कृप्+लुट् (प्राप्त आत्मनेपद का बाधकर 'लुटि च क्लृपः' से विकल्प से परस्मैपद होने पर म० पु० ए० व०—सिप्='सि', तास्, 'स्वरति०' से विकल्प से इट् की प्राप्ति 'तासि च क्लृपः' से निषेध 'पुगन्त०' से 'ऋ'='अ'—गुण, रपर, 'र्'='ल्'—'कृपो रो लः')= कल्प्तासि । आत्मनेपद पक्ष में (थास्=से, तास्, विकल्प से इट्, गुण, रपर, लत्व)=कल्पितासे । इडभाव पक्ष में—कल्प्तासे ।

(२) लृट् में परस्मैपद होने पर प्र० पु० ए० व०—(तिप्=ति, स्य, विकल्प से इट् की प्राप्ति, 'तासि च क्लृपः' से निषेध, गुण, रपर, लत्व)=कल्प्स्यति । परस्मैपद के अभावपक्ष में—विकल्प से इट्—कल्पिष्यते-कल्प्स्यते ।

(६१४) पद—लिङ्सिचौ, आत्मनेपदेषु । **अनुवृत्ति**—हलन्तात्, इको झल्, कित् । **अतिदेश सूत्र ।**

मूलार्थ—इक् समीप हल् से परवर्ती जो झलादि लिङ् और आत्मनेपदपरक सिच्, ये दोनों कित् होते हैं । क्लृप्सीष्ट इत्यादि ।

अथात्मनेपदम्

दद दाने। ददते। ददद्दे। ददद्दाते। दददिरे। ददिता। ददिष्यते। ददताम्। अददत। ददेत। ददिषीष्ट। अददिष्ट। अददिष्यत। त्रपूष् लज्जायाम्। त्रपते।

'लिङः सीयुट्' इति सीयुडागमेऽनुबन्धलोपे, 'सुट् तिथोः' इत्यनेन सुटि, अनुबन्धलोपे 'कृप् सीय् स् त' इति जाते आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति गुणे रपरे 'कृपो रो लः' इति रकारस्य लकारे 'स्वरतिसूति॰' इत्यादिना विकल्पेन इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेनोभयोः सकारयोः षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन ष्टुत्वे 'लोपो व्योर्वलि' इति यकारलोपे संयोगे 'कल्पिषीष्ट' इति। इडभावपक्षे तु—'क्लृप् सीय् स् त' इति जाते यलोपे, 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेन सस्य षत्वे 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्त्वे 'क्ङिति चे'त्यनेन गुणनिषेधे 'क्लृप्सीष्ट' इति सिद्धम्।

दद दाने। दानञ्च—स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोपादानम्। **ददद्दे।** दद्धातोर्लिटि, तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, 'त' इत्यस्य स्थाने 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इत्यनेन एशादेशेऽनुबन्धलोपे, द्वित्वेऽभ्यासकार्ये च जाते, 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इत्येत्वेऽभ्यासलोपे च प्राप्ते 'न शशददवादिगुणानाम्' इति निषेधे 'ददद्दे' इति रूपम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इको झल्' (१।२।९) सूत्र, 'हलन्ताच्च' (१।२।१०) से हलन्तात् और 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—इक् के समीप जो हल्, उससे परवर्ती झलादि लिङ् और सिच् आत्मनेपद के विषय में किद्वत् होते हैं।

उदाहरण—(१) √कृप्+आशीर्लिङ् (=प्र० पु० ए० व०—त, 'सीयुट्'='सीय्', सुट्='स्') —कृप् सीय् स् त (गुण, रपर, लत्व—'कृपो रो लः', विकल्प से 'इट्'—'स्वरतिसूति॰', षत्व, ष्टुत्व, यकार का लोप—'लोपो व्योः॰')=कल्पिषीष्ट। इट् के अभाव पक्ष में—कृप् सी स् त (लत्व, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण की प्राप्ति, 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से लिङ् के किद्वत् होने से 'क्ङिति च' से गुणनिषेध, षत्व, ष्टुत्व)=क्लृप्सीष्ट। (२) √कृप् 'द्युद्भ्यो लुङि' से परस्मैपद पक्ष में—तिप्=ति, इकारलोप, च्लि='अङ्'='अ'—'पुषादिद्युतादि॰' अडागम, लत्व, ङित् होने से गुण का अभाव=अक्लृपत्। आत्मनेपद पक्ष में (च्लि=सिच्='स्', विकल्प से इट्—'स्वरतिसूति॰')—अ क्लृप् इ स त ('पुगन्त॰' से गुण, षत्व, ष्टुत्व)=अकल्पिष्ट। इट् के अभावपक्ष में—अक्लृप् स् त ('स्' का लोप—'झलो झलि')=अक्लृप्त। (३) लृङ् में भी तीन रूप बनते हैं—अकल्प्स्यत् (परस्मैपद पक्ष में), अकल्पिष्यत, अकल्प्स्यत।

द्युतादिगण समाप्त।

√दद धातु का अर्थ—'देना' है। (१) लट्, प्र० पु० ए० व०—ददते।

√दद् धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	ददते	ददेते	ददन्ते
म० पु०	ददसे	ददाथे	ददध्वे
उ० पु०	ददे	ददावहे	ददामहे

(६१५) तॄफलभजत्रपश्च ६।४।१२२। **एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च, किति लिटि, सेटि थलि च। त्रेपे।** त्रपिता। त्रप्ता। त्रपिष्यते। त्रप्स्यते। त्रपताम्। अत्रपत। त्रपेत। त्रपिषीष्ट। त्रप्सीष्ट। अत्रपिष्ट। अत्रप्त। अत्रपिष्यत। अत्रप्स्यत। घट चेष्टायाम्। घटते। जघटे। व्यथ भयसञ्चलनयोः। व्यथते। **(६१६) व्यथो लिटि ७।४।६८। व्यथेरभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्याल्लिटि परे। हलादिः शेषापवादः। विव्यथे।**

---

(६१५) तॄफलभजत्रपश्चेति। 'अत एकहल्मध्ये' इत्यत अत इति, लिटीति चानुवर्तते। 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चे'त्यतः एदिति, अभ्यासलोपश्चेति च, 'गमहन' इत्यतः कितीति, 'थलि च सेटि' इति सूत्रश्चानुवर्तते। तदाह—**एषामत इत्यादि। त्रेपे।** त्रप्धातोर्लिटि तत्स्थाने प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां तप्रत्यये, तस्य स्थाने 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि, अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'तॄफलभजत्रपश्चे'त्यनेन त्रप अकारस्यैत्वे अभ्यासलोपे च कृते 'त्रेपे' इति।

(६१६) **व्यथो लिटीति।** अत्र अभ्यासस्येति सम्प्रसारणमिति चानुवर्तते। तदाह—

---

(२) दद्+लिट् (=त=एश्='ए', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' से एत्व और अभ्यासलोप की प्राप्ति, उसका 'न शसददवादिगुणानाम्'-से निषेध, हलादिशेष) =दददे। (३) लिट् प्र० पु० द्वि० व०—दददाते। (४) लिट्—प्र० पु० ब० व०—दददिरे। (४) लुट्—ददिता। (५) लृट्—ददिष्यते। (६) लोट्—ददताम्। (७) लङ्—अददत। (८) विधिलिङ्—ददेत। (९) आशीर्लिङ्—ददिषीष्ट। (१०) लुङ्—अददिष्ट। (११) लृङ्—अददिष्यत।

√त्रपूष् (=त्रप्) धातु का अर्थ 'लज्जित होना' है।

(६१५) पद—तॄफलभजत्रपः, च। **अनुवृत्ति—**अतः, लिटि, एत्, अभ्यासलोपः, किति, थलि च सेटि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तॄ, फल, भज् और त्रप्—इन धातुओं के अत् को एत्व और अभ्यास का लोप होता है, कित् लिट् और सेट् थल् के परवर्ती रहने पर। त्रेपे इत्यादि।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए—'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (६।४।१२०) सूत्र से 'अतः' 'लिटि' 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६।४।११९) से 'एत्' और 'अभ्यासलोपः' 'गमहन०' से 'किति' तथा 'थलि च सेटि' (६।४।१२१) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—तॄ (=तैरना), फल् (=फलना), भज् (=सेवा करना) और त्रप् (=लज्जित होना) धातुओं के ह्रस्व अकार को एत्व और अभ्यास का लोप होता है, कित् लिट् और सेट् थल् के परे रहते।

उदाहरण—(१) त्रप्+लिट् (=त=एश्='ए' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'अ'='ए', अभ्यास का लोप—'तॄफलभजत्रपश्च')=त्रेपे। (२) त्रप्+लुट् (=त=डा='आ', तास्)—त्रप् तास् आ (विकल्प से इट्—'स्वरतिसूतिसूयति०', टिलोप)=त्रपिता। इट् के अभावपक्ष में—त्रप्ता। (३) लृट्—त्रपिष्यते, त्रप्स्यते। (४) लोट्—त्रपताम्। (५) लङ्—अत्रपत। (६) विधिलिङ्—त्रपेत। (७) आशीर्लिङ्—त्रपिषीष्ट, त्रप्सीष्ट (विकल्प से इट्)। (८) लुङ्—अत्रपिष्ट, अत्रप्त। (९) लृङ्—अत्रपिष्यत, अत्रप्स्यत।

√घट् धातु का अर्थ—'चेष्टा करना' है। (१) लट्—घटते। (२) लिट्—जघटे।

√व्यथ धातु भय एवं सञ्चलन (=दुःखी होना) अर्थ में है। (१) लट्—व्यथते।

(६१६) पद—व्यथः, लिटि। **अनुवृत्ति—**अभ्यासस्य, सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र।**

प्रथ प्रख्याने । प्रथते । पप्रथे । प्रस विस्तारे । प्रसते । पप्रसे । म्रद मर्दने । म्रदते । स्खद स्खदने । स्खदनं—विद्रावणम् । स्खदते । क्रप कृपायाम्, गतौ च । क्रपते । ञित्वरा सम्भ्रमे । त्वरते । टुभ्राजृ, टुभ्राशृ, टुभ्लाशृ दीप्तौ । भ्राजते । (६१७) **फणां च सप्तानाम् ६।४।१२५'।** फण्-राज्-भ्राज्-भ्राशृ-भ्लाशृ-स्यमु-स्वन् एषां वा एत्वाभ्यासलोपौ स्तः, किति लिटि, सेटि थलि च । भ्रेजे । बभ्राजे । 'वा भ्राशे'ति

व्यथेरभ्यासस्येति । **विव्यथ इति ।** व्यथ्धातोर्लिटि तत्स्थाने तप्रत्यये 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति सूत्रमपवादत्वात् बाधित्वा 'व्यथो लिटि' इत्यनेन सम्प्रसारणे व् इ थ् व्यथ् त इति जाते 'हलादिः शेषः' इति थकारलोपे 'लिटस्तझयोः' इति 'त' इत्यस्य स्थाने एशादेशेऽनुबन्धलोपे 'विव्यथे' इति ।

(६१७) **फणां चेति ।** फणामिति षष्ठीबहुवचनम् । एत्वाभ्यासलोपौ, किति लिटीति चानुवर्तते । **भ्रेज** इति । 'टु भ्राजृ दीप्तौ' इत्यस्माद्धातोः अनुबन्धलोपे लिटि प्रथमपुरुषैकवचने तप्रत्यये तस्य 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इत्यनेन एशादेशेऽनुबन्धलोपे

मूलार्थ—लिट् के परवर्ती रहते व्यथ् धातु को सम्प्रसारण होता है । 'हलादिः शेषः' का यह अपवाद है । विव्यथे इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' तथा 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' (७।४।६७) से 'सम्प्रसारणम्' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'लिट् के परे रहते व्यथ् धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है' ।

उदाहरण—(१) व्यथ्+लिट् (=त, धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'हलादिः शेषः' का बाधकर, 'य्'='इ'—सम्प्रसारण—'व्यथो लिटि', हलादिशेष, त=एश्='ए')=विव्यथे ।

√प्रथ का अर्थ 'बोधन करना' है । (१) लट्—प्रथते । (२) लिट्—पप्रथे ।

√प्रस् धातु का अर्थ—'विस्तार करना' है । (१) लट्—प्रसते । (२) लिट्—पप्रसे ।

√म्रद का अर्थ—'मर्दन करना' है । (१) लट्—म्रदते ।

√स्खद् का अर्थ—विद्रावण='बिगाड़ना' है । लट्—स्खदते ।

√क्रप् का अर्थ—'कृपा करना, जाना' है । लट्—क्रपते ।

√ञित्वरा का अर्थ—'घबरा कर शीघ्रता करना' है । लट्—त्वरते ।

√टुभ्राजृ, टुभ्राशृ, टुभ्लाशृ का अर्थ—दीप्ति='चमकना' है । 'टु' इत् का फल है 'ट्वितोऽथुच्' । (१) भ्राज्+लट्=भ्राजते ।

(६१७) पद—फणां, च, सप्तानाम् । **अनुवृत्ति**—वा, अतः, लिटि, एत्, अभ्यासलोपः, किति, थलि च सेटि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—फण् आदि सात धातुओं को एत्व और अभ्यास का लोप विकल्प से होता है, कित् लिट् और सेट् थल् परे रहते । भ्रेजे । बभ्राजे इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'वा जृभ्रमुत्रसाम्' (६।४।१२४) से 'वा', 'अत एकहल्मध्ये' (६।४।१२०) से 'अतः', और 'लिटि', 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६।४।११९) से 'एत्' और 'अभ्यासलोपः', 'गमहन' से 'किति' तथा 'थलि च सेटि' (६।४।१२१) सूत्र की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—'फण् आदि सात धातुओं के अवर्ण के स्थान में भी विकल्प से एत्व और अभ्यास का लोप होता है, कित् लिट् तथा सेट् थल् के परवर्ती रहते ।

उदाहरण—(१) टुभ्राजृ (अनुबन्धलोप)—भ्राज्+लिट् (=त, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा'

श्यन्वा। भ्राश्यते। भ्राशते। भ्रेशे। बभ्राशे। भ्लाश्यते। भ्लाशते। भ्लेशे। बभ्लाशे। रमु क्रीडायाम्। रमते। रेमे। रन्ता। जभी जृभि गात्रविनामे। (६१८) रधिजभोरचि ७।१।६१। रधिजभोरचि नुम्। जम्भते। जजम्भे। जृम्भते। जजृम्भे। इत्यात्मनेपदिनः।

अथोभयपदिनः

श्रिञ् सेवायाम्। श्रयति। श्रयते। शिश्राय। शिश्रिये। श्रयितासि। श्रयितासे। श्रयिष्यति। श्रयिष्यते। श्रयतु। श्रयताम। अश्रयत्। अश्रयत। श्रयेत्। श्रयेत।

'भ्राज् ए' इति स्थिते धातोर्द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे हलादिशेषे भ्रा भ्राज् ए इति जाते 'ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वत्वे 'फणां च सप्तानाम्' इत्यनेन अभ्यासलोपे उपधा-एत्वे च 'भ्रेजे' इति सिद्धम्।

(६१८) **रधिजभोरचीति**। 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतः नुमित्यनुवर्तते। तेन 'रधिजभोर्धात्वोर्नुमागमः स्यात् अचि परतः' इत्यर्थो निष्पद्यते। **जम्भते**। जभ् धातोर्लटि तङि 'रधिजभोरचि' इति नुमि अनुस्वारे परसवर्णे, शपि, टेरेत्वे च कृते 'जम्भते' इति।

शिश्राय इति। श्रिधातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, लः स्थाने परस्मैपदे प्रथम-

---

एत्व तथा अभ्यासलोप विकल्प से—'फणां च सप्तानाम्', त=एश्='ए')=भ्रेजे। एत्वाभ्यास-लोप के अभावपक्ष में (हलादिशेष, 'भ्'='ब्'—जश्त्व)=बभ्राजे।

(२) भ्राश्+लट् (=त, 'वा भ्राश०' से विकल्प से श्यन्=य, एत्व)=भ्राश्यते। श्यन् के अभावपक्ष में शप्=अ, 'टि' को एत्व=भ्राशते। (३) भ्राश्+लिट् में (विकल्प से एत्वाभ्यास लोप होने पर)=भ्रेशे। बभ्राशे।

√भ्लाश्+लट् (=त, विकल्प से श्यन्, एत्व)=भ्लाश्यते। पक्ष में शप्—भ्लाशते। लिट् में—भ्लेशे, बभ्लाशे।

√रमु धातु का अर्थ—'रमण करना' है। (१) लट्—रमते। (२) लिट्—रेमे। (३) लुट्—रन्ता।

√जभी, जृभि का अर्थ—'अँगड़ाई लेना या जम्हाई लेना' है।

(६१८) पद—रधिजभोः, अचि। **अनुवृत्ति**—नुम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अजादि प्रत्यय के परवर्ती रहने पर रध् और जभ् धातु को 'नुम्' का आगम होता है। जम्भते।

विमर्श—यहाँ—'इदितो नुम् धातोः' (७।१।५८) सूत्र से 'नुम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'रध् और जभ् धातु को नुम् होता है, अजादि प्रत्यय के परे रहते।

उदाहरण—(१) जभ्+लट् (=त, नुम्='न्'—'रधिजभोरचि', अनुस्वार, परसवर्ण, शप्, 'टि' को एत्व)=जम्भते। (२) लिट्—जजम्भे। (३) जृभ्+लट्=जृम्भते। (४) जृभ्+लिट् प्र० पु० ए० व०—जजृम्भे।

अब उभयपदी धातुओं की रूप-सिद्धि का विवेचन किया जा रहा है—

√श्रिञ् धातु का अर्थ—'सेवा करना' है। (१) लट् (परस्मैपद) प्र० पु० ए० व०—श्रयति। आत्मनेपद—श्रयते। (२) श्रि+लिट् (=परस्मैपद प्र० पु० ए० व०—तिप्=णल्=

श्रीयात् । श्रयिषीष्ट । चङ् । अशिश्रियत् । अशिश्रियत । अश्रयिष्यत् । अश्रयिष्यत ।
भृञ् भरणे । भरति । भरते । बभार । बभ्रतुः । बभ्रुः । बभर्थ । बभृव । बभृम ।
बभ्रे । बभृषे । भर्तासि । भर्तासे । भरिष्यति । भरिष्यते । भरतु । भरताम् । अभरत् ।

पुरुषगतैकत्वविवक्षायां तिपि, 'परस्मैपदानामि'त्यादिना तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति धातोः द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासंज्ञायां हलादिशेषे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अयादेशे 'शिश्रय् अ' इति जाते 'अत उपधायाः' इत्युपधाकारस्य वृद्धौ 'शिश्राय' इति । आत्मनेपदे तु—'शिश्रित' इति जाते 'त' इत्यस्य स्थाने एशादेशेऽनुबन्धलोपे 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' इति इयङि 'शिश्रिये' इति । **अशिश्रियत् ।** 'श्रिञ् सेवायाम्' इत्यस्माद्धातोः लुङि प्रथमपुरुषैकवचने तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इत्यनेन सिजादेशे प्राप्ते 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इत्यनेन च्लेः स्थाने चङादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'शिश्रि अ ति' इति जाते 'इतश्चे'त्यनेन तिप इकारलोपे अडागमेऽनुबन्धलोपे 'अचि श्नु०' इत्यनेन इयङादेशेऽनुबन्धलोपे 'अशिश्रियत्' इति ।

'अ', धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—शि श्रि अ (गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' 'ए'='अय्' आदेश)—शिश्रय् अ ('अ'='आ'—वृद्धि—'अत उपधायाः')=शिश्राय आत्मनेपद में—(त, त=एश्=ए, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—शि श्रि ए (इ=इयङ्=इय्'='अचि श्नु०')=शिश्रिये ।

√श्रिञ् धातु लिट् लकार के रूप (परस्मैपद में)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	शिश्राय	शिश्रियतुः	शिश्रियुः
म० पु०	शिश्रयिथ	शिश्रियथुः	शिश्रिय
उ० पु०	शिश्राय	शिश्रियिव	शिश्रियिम

√श्रिञ् लिट् लकार (आत्मनेपद में)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	शिश्रिये	शिश्रियाते	शिश्रियिरे
म० पु०	शिश्रियिषे	शिश्रियाथे	शिश्रियिध्वे
उ० पु०	शिश्रिये	शिश्रियिवहे	शिश्रियिमहे

(३) लुट् म० पु० ए० व०—श्रयितासि (परस्मैपद)। आत्मनेपद—श्रयितासे (४) लृट्—परस्मैपद—श्रयिष्यति । आत्मनेपद—श्रयिष्यते । (५) लोट्—परस्मैपद—श्रयतु । आ० प०—श्रयताम् । (६) लङ्—प० प०—अश्रयत् । आ० प०—अश्रयत । (७) विधिलिङ्—प० प०—श्रयेत् । आ० प०—श्रयेत । (८) आशीर्लिङ् प० प०—श्रीयात् । आ० प०—श्रयिषीष्ट । (९) श्रि+लुङ् (=परस्मैपद तिप्=ति, च्लि='चङ्'='अ'—'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः' धातु को द्वित्व—'चङि' अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—शि श्रि अ ति (इकारलोप—'इतश्च' अट्='अ'—'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः', इ=इयङ्=इय्—'अचि श्नु०')=अशिश्रियत । आत्मनेपद में—**अशिश्रियत ।** (१०) लृङ्—प० प०—अश्रयिष्यत् । आ० प०—अश्रयिष्यत ।

√भृञ् का अर्थ—'पालन करना' है । (१) लट्—भरति, भरते । (२) भृ+लिट् (=परस्मैपद तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'—'उरत्' रपर, हलादिशेष)—भ भृ अ

अभरत। भरेत्। भरेत। भ्रियात्। (६१९) उश्च १।२।१२। ऋवर्णात्परौ झलादी लिङ्आत्मनेपदपरः सिच्चेत्येतौ कितौ स्तः। भृषीष्ट। भृषीयास्ताम्। अभार्षीत्। (६२०) ह्रस्वादङ्गात् ८।२।२७। सिचो लोपो, झलि। अभृत। अभरिष्यत्। अभरिष्यत।

(६१९) उश्चेति। 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति सूत्रमत्रानुवर्तते, 'इको झल्' इत्यतो झलिति च। तदाह—**ऋवर्णादिति। भृषीष्ट।** भृधातोराशीर्लिङि लः स्थाने तप्रत्यये, सीयुटि, उटि गते, यकारलोपे 'सुट् तिथोः' इति सुडागमेऽनुबन्धलोपे 'भृसी स् त' इति जाते, प्राप्तस्य इटः 'एकाच उपदेशे' इति निषेधे 'उश्चे'ति कित्त्वात् प्राप्त-गुणस्य 'क्ङिति च' इति निषेधे षत्वे पुनः षत्वे ष्टुत्वे च कृते 'भृषीष्ट' इति।

('भ्'='ब्'—'अभ्यासे चर्च', ऋ='अ'—गुण, रपर, 'अ'='आ'—वृद्धि-'अत उपधायाः')= बभार। आत्मनेपद में (त=एश्=ए, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ऋ=अ, रपर, हलादिशेष, चर्त्व) —बभृ ए (ऋ=र्—'यण्')=बभ्रे।

√भृञ् धातु लिट् लकार परस्मैपद के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	बभार	बभ्रतुः	बभ्रुः
म० पु०	बभर्थ	बभ्रथुः	बभ्र
उ० पु०	बभार-बभर	बभृव	बभृम

√भृञ् लिट् लकार (आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	बभ्रे	बभ्राते	बभ्रिरे
म० पु०	बभृषे	बभ्राथे	बभृढ्वे
उ० पु०	बभ्रे	बभृवहे	बभृमहे

(३) लुट् (प० प०) म० पु० ए० व०—भर्तासि। आ० प०—भर्तासे। (४) लृट्—भरिष्यति, भरिष्यते। (५) लोट्—भरतु। भरताम्। (६) लङ् (प० प०)—अभरत्। आ० प०—अभरत। (७) विधिलिङ्—भरेत्। भरेत। (८) आशीर्लिङ् (प० प०) भ्रियात्।

(६१९) पद—उः, च। **अनुवृत्ति**—लिङ्सिचावात्मनेपदेषु, झल्, कित्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ—ऋवर्ण से परवर्ती झलादि लिङ् और सिच् किद्वत् होते हैं, आत्मनेपद के विषय में। भृषीष्ट इत्यादि।

विमर्श—सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए—'इको झल्' (१।२।९) से 'झल्' 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' तथा 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' सूत्र की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'ऋवर्णान्त धातुओं से परवर्ती भी झलादि लिङ् और सिच् आत्मनेपद के विषय में किद्वत् होते हैं'।

उदाहरण—(१) भृ+आशीर्लिङ् (ल्=त, सीयुट्=सीय्, यकार का लोप, सुट्='स्'—'सुट् तिथोः')—भृ सी स् त (प्राप्त 'इट्' का 'एकाच उपदेशे०' से निषेध, 'उश्च' से कित् होने से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, 'स्'—'ष', पुनः षत्व, ष्टुत्व)=भृषीष्ट। (२) आशीर्लिङ् प्र० पु० द्वि० व०—भृषीयास्ताम्। (३) भृ+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि=सिच्='स्', अट्, इकारलोप)—अ भृ स् त ('ऋ'='आ' वृद्धि—'सिचि वृद्धिः' रपर, षत्व)=अभार्षीत्।

(६२०) पद—ह्रस्वात्, अङ्गात्। **अनुवृत्ति**—झलि, सस्य, लोपः। **विधिसूत्र।**

हृञ् हरणे। हरति। हरते। जहार। जह्रतुः। जह्रुः। जहर्थ। जह्रिव। जह्रिम। जह्रे। जह्रिषे। हर्ता। हर्तासि। हर्तासे। हरिष्यति। हरिष्यते। धृञ् धारणे। धरति। णीञ् प्रापणे। नयति। नयते। निनाय। डुपचष् पाके। पचति। पचते। पपाच। पेचिथ। पपक्थ। पेचे। पक्ता। पक्ष्यति। पक्ष्यते। अपक्त। अपक्षाताम्। भज सेवायाम्। भजति। भजते। भेजे। भक्ता। भक्तासि। भक्तासे। भक्ष्यति। भक्ष्यते।

---

(६२०) ह्रस्वादिति। सिच इति भाष्यम्। 'झलो झलि' इत्यतो झलीति, 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यतो लोप इति चानुवर्तते। अत आह—सिचो लोप इति।

जहार इति। हृधातोः लिटि, लः स्थाने परस्मैपदे तिपि, तिपः णलादेशेऽनुबन्धलोपे धातोः द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यनेन अभ्यास ऋकारस्य अकारे रपरत्वे हलादिशेषे 'ह हृ अ' इति जाते 'कुहोश्चुः' इत्यनेन हकारस्य झकारे 'अभ्यासे चर्च' इत्यनेन चर्त्वेन जकारे 'अचो ञ्णिति' इत्यनेन वृद्धौ रपरत्वे संयोगे च कृते जहार इति।

मूलार्थ—ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सिच् के सकार का लोप होता है, 'झल्' के परवर्ती रहते। अभृत इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से लोपः तथा 'रात्सस्य' (८।२।२४) से 'सस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। महाभाष्योक्त व्याख्यान से यहाँ सिच् के सकार का ग्रहण होता है। अतः ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तरवर्ती सिच् (सकार) का झल् के परे रहते लोप होता है।

उदाहरण—(१) भृ+लुङ् (=प्र० पु० ए० व०—त, च्लि=सिच्='स्', अट् का आगम)—अ भृ स् त ('स्' का लोप--'ह्रस्वादङ्गात्')=अभृत। (२) लृङ् (प० प०)—अभरिष्यत्। (आ० प०) **अभरिष्यत।**

√हृञ् धातु का अर्थ—'हरण करना, ले जाना, चुराना' है।

√हृञ् धातु के लिट् लकार के व, म, से, वहि और महि प्रत्ययों में क्रादिनियम से इट् हो जाता है। शेष रूप √भृञ् की तरह बनते हैं।

(१) लट्—हरति। हरते। (२) लिट् (प० प०) प्र० पु० ए० व०—जहार। द्वि० व०—जह्रतुः। ब० व०—जह्रुः। म० पु० ए० व०--जहर्थ। उ० पु० द्वि० व०—जह्रिव। उ० पु० ब० व०—जह्रिम। आत्मनेपद प्र० पु० ए० व०—जह्रे। म० पु० ए० व०--जह्रिषे। (३) लुट् (प० प०)--हर्ता। लुट् म० पु० ए० व०—हर्तासि। (आ० प०)--हर्तासे। (४) लृट्—हरिष्यति। हरिष्यते।

√धृञ् का अर्थ--'धारण करना' है। लट्—धरति। धरते।

√णीञ् धातु का अर्थ--'ले जाना' है। यह धातु अजन्त एकाच् है। और सेट् कारिका 'ऊदृदन्तै०' में ग्रहण न होने से अनिट् है। 'णो नः' से धातु के 'ण्' के स्थान में 'न्' आदेश हो जाता है। (१) लट् (प० प०)—नयति। आ० प०—नयते। (२) लिट्—निनाय।

√डुपचष् (=पच्) धातु का अर्थ—'पकाना' है। स्वरितेत् होने से उभयपदी है। (१) लट्--पचति। पचते। (२) लिट्—प्र० पु० ए० व०--पपाच। (३) पच्+लिट् (=सिप्=थल्='थ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)--पपच् थ (आर्धधातुक संज्ञा, 'आर्धधातुकस्येड्०' से प्राप्त इट् का 'एकाच उपदेशे' से निषेध क्रादि-नियम से नित्य प्राप्त इट् का बाधकर भारद्वाज नियम से विकल्प से इट्, एत्व और अभ्यास का लोप—'थलि च सेटि')—पेचिथ। इट् के

भजतु । भजताम् । अभाक्षीत् । अभक्त । अभक्षाताम् । अभक्ष्यत् । अभक्ष्यत । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु । यजति । यजते । **(६२१) लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** ६।१।१७ । वच्यादीनां, ग्रह्यादीनां चाभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्याल्लिटि । इयाज । **(६२२) वचिस्वपियजादीनां किति** ६।१।१५ । वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं, किति ।

---

(६२१) लिट्यभ्यासस्येति । 'ष्यङः सम्प्रसारणमि'त्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते । उभयपदेनात्र 'वचिस्वपियजादीनाम्' इति सूत्रोपात्ताः 'ग्रहिज्यावयि' इति सूत्रोपात्ताश्च गृह्यन्ते । इयाज । यज्धातोर्लिटि, लः स्थाने तिपि तस्य स्थाने णलादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'य यज् अ' इति जाते 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यनेनाभ्यासस्य यकारस्य सम्प्रसारणे 'इ अ यज' इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इत्यनेन पूर्वरूपे 'अत उपधायाः' इत्यनेन उपधावृद्धौ संयोगे च कृते 'इयाज' इति ।

(६२२) वचिस्वपीति । आदिशब्दोऽत्र यजिनैव सम्बध्यते, न तु वचिस्वपिभ्याम् । 'सम्प्रसारणमि'त्यनुवर्तते । तदाह—**वचिस्वप्योर्यजादीनामिति** । **इयजिथ** । यज्धातो-

---

अभावपक्ष में—प पच् थ ('च्'='क्'—कुत्व—'चोः कुः')=पपक्थ । लिट् आत्मनेपद—पेचे । (४) लुट्—पक्ता । (५) लृट्—पक्ष्यति । पक्ष्यते । (६) लुङ् आत्मनेपद—अपक्त । लुङ् आ० प० प्र० पु० द्वि० व०—अपक्षाताम् ।

√भज् का अर्थ—'सेवा करना' है । भज् धातु के रूप 'पच्' के समान ही बनते हैं । यहाँ केवल जकार को प्रथम 'चोः कुः' से कुत्व गकार होता है और फिर उसको 'खरि च' से ककार । यह धातु भी अनिट् है । (१) लट्—भजति । भजते । (२) लिट् आ० प०—भेजे । (३) लुट्—भक्ता । (४) लुट् म० पु० ए० व०—भक्तासि, भक्तासे । (५) लृट्—भक्ष्यति, भक्ष्यते । (६) लोट्—भजतु । भजताम् । (७) लुङ् (प० प०)—अभाक्षीत् । आ० प०—अभक्त । लुङ् आ० प० प्र० पु० द्वि० व०—अभक्षाताम् । (८) लृङ्—अभक्ष्यत् । आ० प०—अभक्ष्यत ।

√यज् धातु का अर्थ—'देवपूजा, यज्ञ करना और दान करना' है । (१) लट् (प० प०)—यजति । (आ० प०)—यजते ।

(६२१) पद—लिटि, अभ्यासस्य, उभयेषाम् । **अनुवृत्ति**—सम्प्रसारणम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वच् आदि और ग्रह् आदि धातुओं के अभ्यास को लिट् के परवर्ती रहते सम्प्रसारण होता है । इयाज ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आ रही है । सूत्रस्थ 'उभयेषाम्' पद से 'वचिस्वपियजादीनाम्' तथा 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' सूत्रोक्त धातुओं का ग्रहण होता है । अतः वच्यादि और ग्रह्यादि दोनों धातुओं के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है, लिट् के परे रहते ।

उदाहरण—(१) यज्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—य यज् अ ('य्'='इ'—सम्प्रसारण—'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' पूर्वरूप—'सम्प्रसारणाच्च')—इ यज् अ ('अ'='आ'—वृद्धि—'अत उपधायाः')=इयाज ।

(६२२) पद—वचिस्वपियजादीनाम्, किति । **अनुवृत्ति**—सम्प्रसारणम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कित् के परवर्ती रहते वच्, स्वप् और यजादि धातु को सम्प्रसारण होता है ।

९ म० हि०

यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिर्वेञ् व्येञ् इत्यपि ।
ह्वेञ्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव ॥ १ ॥

ईजतुः । ईजुः । इयजिथ–इयष्ठ । ईजे । यष्टा । 'षढोः कः सि' । यक्ष्यति यक्ष्यते । यजतु । यजताम् । अयजत् । अयजत । यजेत् । यजेत । इज्यात् । यक्षीष्ट । अयाक्षीत् । अयष्ट । वह प्रापणे । वहति । वहते । उवाह । ऊहतुः । ऊहुः । उवहिथ ।

लिटि, लः स्थाने सिपि, 'परस्मैपदाना मि'त्यादिना सिपः थलादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिट् च' इत्यार्धधातुकसंज्ञायां सिपः पित्त्वात् कित्त्वाभावे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'यज् यज् थ' इति जाते 'लिटचभ्यासस्योभयेषाम्' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे हलादिशेषे 'इयज् थ' इति भूते, प्राप्तस्येटः 'एकाच उपदेशे' इत्यनेन निषेधे भारद्वाजनियमेन वैभाषिके इडागमेऽनुबन्धलोपे इयजिथ इति । इडागमाभावे 'इयज् थ' इत्यत्र 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयज०' इत्यादिना षत्वे, थकारस्य 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे कृते 'इयष्ठ' इति ।

विमर्श—'ष्यङः सम्प्रसारणम्०' (६।१।१३) से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार वच्, स्वप् तथा यजादि धातुओं को कित् प्रत्यय के परे रहते सम्प्रसारण होता है।

यजिर्वपिरिति। यज्, वप्, वह्, वस्, वेञ्, व्येञ्, ह्वेञ्, वद और श्वि—ये नौ धातुएँ यजादि कहलाती हैं।

उदाहरण—(१) यज्+लिट् (=तस्=अतुस्, प्राप्त धातु के द्वित्व का बाधकर 'य्'= 'इ'—सम्प्रसारण—'वचिस्वपियजादीनां किति', पूर्वरूप)—इज् अतुस् ('पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्सिद्धम्' परिभाषा के बल से द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—इ इज् अतुस् (इ+इ= 'ई'—सवर्णदीर्घ, स्=र्=ः)=ईजतुः। (२) लिट् प्र० पु० ब० व०—ईजुः। (३) यज्+ लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'य्'='इ'—सम्प्रसारण—'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' पूर्वरूप)—इ यज् थ (भारद्वाज नियम से विकल्प से इट्)=इयजिथ। इट् के अभावपक्ष में—इ यज् थ ('ज्'='ष्'—'व्रश्चभ्रस्ज०', थ्='ठ्'—ष्टुत्व)=इयष्ठ। (४) यज्+लिट् (=आत्मनेपद—त, 'य्'='इ' सम्प्रसारण—'वचि०', पूर्वरूप)—इज् त (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—इ इज् त (इ+इ='ई' दीर्घ, त=एश्='ए'—'लिटस्तझयोरेशिरेच्')=ईजे। (५) यज्+लुट् प्र० पु० ए०—यष्टा। (६) यज्+लृट् (=तिप्=ति, स्य)—यज् स्य ति ('ज्'='ष्'—'व्रश्चभ्रस्ज०' 'स्'='ष्'—'आदेशप्रत्यययोः', 'ष्'='क्'— 'षढोः कः सि', क्+ष्=क्ष्)=यक्ष्यति। आत्मनेपद में—यक्ष्यते। (७) लोट्—यजतु। यजताम्। (८) लङ्—अयजत्। अयजत। (९) विधिलिङ्—यजेत्। यजेत। (१०) आशीर्लिङ् परस्मैपद मे 'किदाशिषि' से यासुट् के कित् होने से 'वचिस्वपियजादीनाम्०' से सम्प्रसारण होकर 'इज्यात्' रूप बनता है। आत्मनेपद में—यक्षीष्ट।

(११) यज्+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि=सिच्=स्, इकारलोप, अट् का आगम, ईट्= 'ई'—'अस्तिसिचोऽपृक्ते')—अयज् ई त् (ज्=ष्—'व्रश्च०' 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि', स्= ष्—'आदेशप्रत्यययोः' क्+ष्=क्ष्, यकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि—'वदव्रजहलन्तस्याचः') =अयाक्षीत्। आत्मनेपद में—अयष्ट।

√वह् धातु का अर्थ—'ले जाना' है। (१) लट्—वहति। वहते। वह् धातु के लिट् लकार में यज् के समान रूप बनते हैं। यजादि होने से सम्प्रसारण होता है। णल् और थल् में 'लिट्य-

'हो ढः'। (६२३) झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४० । झषः परयोस्तथोर्धः स्यान्न तु दधातेः । 'ष्टुना ष्टुः' । (६२४) ढो ढे लोपः ८।३।१३ । ढस्य लोपः स्याड्ढे परे । (६२५) सहिवहोरोदवर्णस्य ६।३।११२ । अनयोरवर्णस्य ओत्स्यात् ढ्लोपे । उवोढ । ऊहे । वोढा । वक्ष्यति । वक्ष्यते । वहतु । वहताम् । अवहत् । अवहत । वहेत् । वहेत । उह्यात् । वक्षीष्ट । अवाक्षीत् । अवोढाम् । अवाक्षुः । अवाक्षीः । अवोढम् । अवोढ । अवाक्षम् । अवाक्ष्व । अवाक्ष्म । अवोढ । अवक्षाताम् । अवक्षत । अवोढाः । अवक्षा-

---

(६२३) झषस्तथोरिति । 'झषः' इति पञ्चमी । तश्च थश्चेति द्वन्द्वः । 'अधः' इति षष्ठ्यन्तम् । तेन धाधातुभिन्नस्येति लभ्यते । अत आह—झषः परयोरिति ।

(६२४) ढो ढे लोप इति । स्पष्टम् ।

(६२५) सहिवहोरिति । 'ढ्लोपे पूर्वस्ये'त्यतः 'ढ्लोपे' इत्यनुवर्तते । तदाह—अनयोरवर्णस्येति । उवोढ । वह्धातोर्लिटि, लः स्थाने सिपि, सिपस्थलि 'एकाच उपदेशे' इति इडभावे प्राप्ते क्रादिनियमान्नित्यमिटि प्राप्ते 'उपदेशेऽत्वतः' इति इटो निषेधे, थलः स्थानिवत्वेन पित्त्वात् किदभावे सम्प्रसारणाभावे च, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषामि'ति अभ्यासवकारस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे कृते हलादिशेषे 'उ वह् थ' इति जाते 'हो ढः' इति हकारस्य ढकारे, 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति थकारस्य धकारे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन धस्य ढत्वे 'ढो ढे लोपः' इति ढकारलोपे, 'ढ्लोपे

भ्यासस्योभयेषाम्' से अभ्यास को सम्प्रसारण होता है। अन्य में कित् होने से 'वचिस्वपि' से द्वित्व से पूर्व ही सम्प्रसारण होता है। (२) वह्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, अभ्यास के 'व्'='उ'—सम्प्रसारण—'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' पूर्वरूप, हलादिशेष)—उ वह् अ (उपधावृद्धि)=उवाह। (३) लिट् प्र० पु० द्वि० व०=ऊहतुः। (४) लिट् प्र० पु० ब० व०—ऊहुः।

(६२३) पद—झषः, तथोः, धः, अधः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—झष् से परवर्ती 'त्' और 'थ्' को 'ध्' होता है। परन्तु धा धातु के अवयव झष् से परवर्ती को 'ध्' नहीं होता।

(६२४) पद—ढः, ढे, लोपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ढकार के परवर्ती रहने पर ढकार का लोप होता है।

(६२५) पद—सहिवहोः, ओत्, अवर्णस्य। **अनुवृत्ति**—ढ्लोपे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सह् और वह् धातु के अकार को ओकार आदेश होता है, ढकार के लोप होने पर। उवोढ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।११०) से 'ढ्लोपे' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'ढलोप होने पर सह और वह धातुओं के अवर्ण को ओकार हो जाता है।'

उदाहरण—(१) वह्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'व्'='उ'—सम्प्रसारण 'लिट्यभ्यासस्य' पूर्वरूप, हलादिशेष)—उ वह् थ (भारद्वाज नियम से वैकल्पिक इट्)=उवहिथ। इट् के अभाव पक्ष में—उ वह् थ ('ह्'='ढ्'—'हो ढः', 'थ्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः' ष्टुत्व से 'ध्'='ढ्')—उ व ढ् ढ ('ढ्' का लोप—'ढो ढे लोपः', 'अ'='ओ'—'सहिवहोरोदवर्णस्य')=उवोढ।

थाम् । अवोढ्वम् । अवक्षि । अवक्ष्वहि । अवक्ष्महि । अवक्ष्यत् । अवक्ष्यत । डुवप् बीजसन्ताने । बीजसन्तानं=क्षेत्रे विकिरणं गर्भाधानं च । अयं छेदनेऽपि । केशान्वपति । वपते । उवाप । ऊपे । वप्ता । वप्स्यति । वप्स्यते । उप्यात् । वप्सीष्ट । प्रण्यवाप्सीत् ।

पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति पूर्वस्याणो दीर्घे प्राप्ते 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इत्यकारस्य ओकारे कृते 'उवोढ' इति रूपं सिद्धम् । **अवाक्षीत्** । वह्धातोर्लुङि, लः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे, च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे, तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'अ वह् स् ई त्' इति जाते 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वकाराकारस्य वृद्धौ 'हो ढः' इति हकारस्य ढकारे 'षढोः कः सि' इति ढस्य कत्वे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सिचः सस्य षत्वे क् ष् संयोगे च कृते 'अवाक्षीदि'ति ।

√वह् लिट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	उवाह	ऊहतुः	ऊहुः
म० पु०	उवहिथ-उवोढ	ऊहथुः	ऊह
उ० पु०	उवाह-उवह	ऊहिव	ऊहिम

(आत्मनेपद)

प्र० पु०	ऊहे	ऊहाते	ऊहिरे
म० पु०	ऊहिषे	ऊहाथे	ऊहिध्वे-ऊहिढ्वे
उ० पु०	ऊहे	ऊहिवहे	ऊहिमहे

(२) वह्+लुट् (=तिप्, तास्, तिप्=डा 'आ')—वह् तास् आ ('ह्'='ढ्' 'त्'='ध्'—'झषस्तथोः' 'ध्'='ढ्'—ष्टुत्व, ढलोप)—वढ् आस् आ (टिलोप, 'अ'='ओ'—'सहिवहोरोदवर्णस्य')=वोढा । (३) लृट्—वक्ष्यति । वक्ष्यते । (४) लोट्—वहतु । वहताम् । (५) लङ्—अवहत् । अवहत । (६) विधिलिङ्—वहेत् । वहेत । (७) आशीर्लिङ्—उह्यात् । वक्षीष्ट । (८) वह्+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि=सिच्=स्, अट्, इकारलोप, ईट्—'अस्तिसिचः')—'अवह् स् ई त्' (अ='आ'—वृद्धि—'वदव्रज०' 'ह्'='ढ्'—'हो ढः' ढ्=क्—'षढोः कः सि' षत्व, क्+ष्=क्ष्)=अवाक्षीत् ।

√वह् धातु लुङ् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अवाक्षीत्	अवोढाम्	अवाक्षुः
म० पु०	अवाक्षीः	अवोढम्	अवोढ
उ० पु०	अवाक्षम्	अवाक्ष्व	अवाक्ष्म

(आत्मनेपद)

प्र० पु०	अवोढ	अवक्षाताम्	अवक्षत
म० पु०	अवोढाः	अवक्षाथाम्	अवोढ्वम्
उ० पु०	अवक्षि	अवक्ष्वहि	अवक्ष्महि

लृङ् में—अवक्ष्यत् । आ० प०—अवक्ष्यत ।

√डुवप् (=वप्) धातु बीजसन्तान अर्थ में है । बीजसन्तान का अर्थ—'बीज को खेत में फैलाना और गर्भाधान करना' है । इस धातु का अर्थ 'काटना' भी है । (१) केशान्वपति

अवप्त । वेञ् तन्तुसन्ताने । वयति । वयते । (६२६) **वेञो वयिः २।४।४१** । स्यात्लिटि । इकार उच्चारणार्थः । उवाय । (६२७) **ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ६।१।१६** । चात्किति सम्प्रसारणम् । इति यकार-

---

(६२६) **वेञो वयि इति** । 'लिटचन्यतरस्यामि'त्यनुवर्तते । लिटि वेञ्धातोर्वयादेशः स्यादित्यर्थः । **उवायेति** । वेञ्धातोर्लिटि, लः स्थाने तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे 'वेञो वयिः' इति वयादेशे, धातोर्द्वित्वे, अभ्यासत्वे 'लिटचभ्यासस्योभयेषाम्' इति सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे, हलादिशेषे 'उ वय् अ' इति जाते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'उवाय' इति रूपम् ।

(६२७) **ग्रहिज्येति** । 'ष्यङः सम्प्रसारणमि'त्यस्मात्सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते । चकारेणात्र 'वचिस्वपियजादीनामि'त्यतः कितीति समुच्चीयते । तेन ग्रहिज्यादिधातूनां किति ङिति च सम्प्रसारणं स्यादित्यर्थो निष्पद्यते । **ऊयतुरिति** । वेञ्धातोर्लिटि, तसि, तसः स्थानेऽतुसि 'वेञो वयिः' इति वयादेशे, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'लिटचभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्याससम्प्रसारणे पूर्वरूपे, हलादिशेषे वकारस्यापि 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' इत्यादिना सूत्रेण सम्प्रसारणे पूर्वरूपे सवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'ऊयतुः' इति । नन्वत्र 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणमि'ति ज्ञापकेन 'ग्रहिज्या' इत्यनेन प्राप्तं सम्प्रसारणं यकारस्यैव स्यान्न तु वकारस्येति चेन्न, लिटि वयो यः' इत्यनेन सम्प्रसारणनिषेधात् ।

(=बालों को काटता है)। आ० प०—वपते । (२) लिट्—उवाप । आ० प०—ऊपे । (३) लुट्—वप्ता । (४) लृट्—वप्स्यति । आ० प०—वप्स्यते । (५) आशीर्लिङ्—उप्यात् । आ० प०—वप्सीष्ट । (६) लुङ्—अवाप्सीत् । आ० प०—अवप्त । प्रनि+अवाप्सीत ('नेर्गदनद०' से णत्व, षण्)=प्रण्यवाप्सीत् ।

√वेञ् धातु का अथ 'बुनना' है । (१) लट्—वयति । वयते ।

(६२६) पद—वेञः, वयिः । **अनुवृत्ति**—लिट्यन्यतरस्याम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लिट् के परवर्ती रहने पर 'वेञ्' धातु को 'वय्' आदेश विकल्प से होता है । उवाय ।

विमर्श—यहाँ 'लिट्यन्यतरस्याम्' (२।४।४०) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है । अतएव—"लिट् के परवर्ती रहते 'वेञ्' धातु को विकल्प से 'वय्' आदेश हो जाता है" ।

उदाहरण—वेञ्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', 'वेञ्'='वय्'—'वेञो वयिः')—वय् अ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'व्'='उ' सम्प्रसारण—'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' पूर्वरूप, हलादिशेष)—उ वय् अ ('अ'='आ'—उपधावृद्धि)=उवाय ।

(६२७) पद—ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनाम् , ङिति, च । **अनुवृत्ति**—किति, सम्प्रसारणम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कित, ङित के परवर्ती रहते ग्रहि, ज्या आदि सूत्रोक्त नौ धातुओं को सम्प्रसारण होता है । इस सूत्र से यकार का सम्प्रसारण प्राप्त होने पर—

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) से 'सम्प्रसारणम्' तथा 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से 'किति' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—

च प्राप्ते । (६२८) लिटि वयो यः ६।१।३८ । वयो यस्य सम्प्रसारणं न स्याल्लिटि । ऊयतुः । ऊयुः । (६२९) वश्चास्यान्यतरस्यां किति ६।१।३९ । वयो यस्य वो वा स्यात्किति लिटि । ऊवतुः । ऊवुः । वयस्तासावभावात्थलि नित्यमिट् । उवयिथ । स्थानिवत्त्वेन ञित्त्वात्तङ् । ऊये । ऊवे । वयादेशाभावे—(६३०) वेञः ६।१।४० ।

---

(६२८) लिटीति । 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणमि'त्यतः 'न सम्प्रसारणमि'त्यनुवर्तते । तदाह—**वयो यस्येति ।**

(६२९) वश्चास्येति । अत्र 'लिटि वयो यः' इत्यनुवर्तते । तदाह—**वयो यस्येति ।**

(६३०) वेञ इति । 'लिटि वयो यः' इत्यतो लिटीति, 'न सम्प्रसारणे

'ग्रह, ज्या, वय (वेञ्), व्यध, वश, व्यच, ओव्रश्चू, प्रच्छ्, भ्रस्ज धातुओं को सम्प्रसारण होता है, कित् तथा ङित् प्रत्यय के परवर्ती रहते' ।

(६२८) पद—लिटि, वयः, यः । **अनुवृत्ति**—न सम्प्रसारणम् । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—लिट् के परे रहते 'वय्' के यकार को सम्प्रसारण नहीं होता । ऊयतुः । ऊयुः ।

विमर्श—यहाँ 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (६।१।३६) से 'न सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आ रही है । अतः लिट् लकार के परवर्ती रहते 'वय्' के यकार को सम्प्रसारण नहीं होता ।

उदाहरण—√वेञ्+लिट् (=तस्=अतुस्, 'वेञ्'='वय्'—'वेञो वयिः', धातु को द्वित्व, पूर्व की अभ्यास संज्ञा, 'व्'='उ'—सम्प्रसारण—'लिट्यभ्यासस्य०', पूर्वरूप, हलादिशेष)—उवय् अतुस् ('व्'='उ'—सम्प्रसारण—'ग्रहिज्या०', पूर्वरूप, उ+उ='ऊ'—दीर्घ) —ऊयतुस् (स्=र्=:)=ऊयतुः । यहाँ 'ग्रहिज्या०' से पुनः यकार का सम्प्रसारण प्राप्त होता है, उसका 'लिटि वयो यः' से निषेध हो जाता है ।

(६२९) पद—वः, च, अस्य, अन्यतरस्याम्, किति । **अनुवृत्ति**—लिटि वयो यः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कित् लिट् के परवर्ती रहने पर 'वय्' के यकार को वकार आदेश विकल्प से होता है । ऊवतुः । ऊवुः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'लिटि वयो यः' (६।१।३८) की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—"कित् लिट् के परे रहते 'वय्' के यकार को वकारादेश विकल्प से होता है" ।

उदाहरण—लिट्—प्र० पु० द्वि०—ऊयतुस् (विकल्प से 'य्'='व्'—'वश्चान्यतरस्यां किति')—ऊवतुस् (स्=र्=:)=ऊवतुः । लिट् प्र० पु० ब० व०—ऊवुः । 'वेञ्' को 'वय्' आदेश केवल लिट् में ही होता है, लुट् में नहीं । अतः 'तास्' में यह अनिट् न होने के कारण 'उपदेशेऽत्वतः' की प्रवृत्ति न होने से 'थल्' में नित्य 'इट्' का आगम हुआ । उवयिथ । वेञ् धातु वृत्ति ञित्व के स्थानिवद्भाव से 'वय्' आदेश में आ जाने से आत्मनेपद भी होता है । वय् के यकार को वकार आदेश विकल्प से होता है ।

√वेञ्+लिट् (=त, वेञ्='वय्' विकल्प से, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा 'व्'='उ'—सम्प्रसारण, पूर्वरूप, हलादिशेष)—उ वय् त (त=एश्='ए', 'व्'='उ'—सम्प्रसारण 'ग्रहिज्या', पूर्वरूप, दीर्घ, 'य्'='व्' विकल्प से—'वश्चान्यतरस्यां किति')=ऊवे । 'व्' आदेश के अभाव पक्ष में—ऊये । 'वय्' आदेश भी विकल्प से होता है । उसके अभावपक्ष में रूपसिद्धि के लिए सूत्र कहा जा रहा है—

(६३०) पद—वेञः । **अनुवृत्ति**—लिटि, न, सम्प्रसारणम् । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

वेञः सम्प्रसारणं न स्याल्लिटि । ववौ । ववतुः । ववुः । वविथ । ववाथ । ववे । ववाते वविरे । वाता । ऊयात् । वासीष्ट । इट्सकौ । अवासीत् । अवासिष्टाम् । अवासिषुः । अवास्त । अवासाताम् । व्येञ् संवरणे । व्ययति । व्ययते । (६३१) न व्यो लिटि ६।१।४६ । व्येञ आत्वं न स्याल्लिटि । परमपि हलादेः शेषं बाधित्वा यस्य सम्प्र-

---

सम्प्रसारणमि'त्यतो न सम्प्रसारणमिति चानुवर्तते । तदाह्—वेञ इति । **ववौ** । वेञ्-धातोर्लिटि तिपि, तिपः णलादेशे वयादेशाभावपक्षे 'वेञः' इति सम्प्रसारणनिषेधे 'आदेच उपदेशे' इत्यात्वे 'आत औ णलः' इति णलः स्थाने औत्वे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'ववौ' इति ।

मूलार्थ—लिट् लकार के परवर्ती रहते 'वेञ्' धातु को सम्प्रसारण नहीं होता । ववौ । ववतुः इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए 'लिटि वयो यः' (६२८) से 'लिटि' तथा 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (६।१।३६) से 'न, सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'वेञ् धातु को लिट् के परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता' ।

उदाहरण—(१) √वेञ्+लिटि (तिप्=णल्, 'वय्' आदेश के अभावपक्ष में—प्राप्त सम्प्रसारण का 'वेञः' से निषेध, 'ए'='आ'—आत्व—'आदेच उपदेशे', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, णल्='औ'—'आत औ णलः', आ+औ='औ'=वृद्धि—'वृद्धिरेचि')=ववौ । (२) लिट् प्र० पु० द्वि० व०—ववतुः । (३) बहुव०—ववुः । (४) म० पु० एकव०—वविथ-ववाथ । (५) म० पु० द्वि० व०—ववथुः । (६) म० पु० ब० व०—वव । (७) उ० पु० ए० व०—ववौ । (८) उ० पु० द्वि०—वविव (९) उ० पु० ब० व०—वविम । लिट् (आत्मनेपद) में—ववे, ववाते, वविरे इत्यादि । लुट्—वाता । लिङ्—ऊयात्, वासीष्ट ।

√वेञ् धातु, लुङ् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०–	अवासीत्	अवासिष्टाम्	अवासिषुः
म० पु०–	अवासीः	अवासिष्टम्	अवासिष्ट
उ० पु०–	अवासिषम्	अवासिष्व	अवासिष्म

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०–	अवास्त	अवासाताम्	अवासत
म० पु०–	अवास्थाः	अवासाथाम्	अवास्ध्वम्
उ० पु०–	अवासि	अवास्वहि	अवास्महि

√व्येञ् का अर्थ 'संवरण' (='घेरना', ढकना, वश में करना) है । (३) लट्—व्ययति, व्ययते ।

(६३१) पद—न, व्यः, लिटि । **अनुवृत्ति**—आदेचः, उपदेशे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लिट् के परवर्ती रहते 'व्येञ्' धातु को आत्व नहीं होता ।

सारणम्, 'उभयेषां' ग्रहणसामर्थ्यात् । अन्यथा वच्यादीनां, ग्रह्यादीनां चानुवृत्त्यैव सिद्धे, किं तेन ? विव्याय । विव्यतुः विव्युः । (६३२) इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम् ७।२।६६ । अद् ऋ व्येञ् एभ्यस्थलो नित्यमिट् । विव्ययिथ । विव्यथुः । विव्य । विव्याय । विव्यय । विव्यिव । विव्यिम । विव्ये । व्याता । व्यास्यति । वीयात् । व्यासीष्ट । अव्यासीत् । अव्यास्त । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च । ह्वयति । ह्वयते । (६३३) अभ्यस्तस्य च

---

(६३१) न व्यो लिटि । 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यस्मात् आदित्यनुवर्तते । अत आह—व्येञ आत्वमित्यादि ।

(६३२) इडत्यर्तीति । 'अचस्तास्वदि'त्यतः थलीत्यनुवर्तते । तदाह—अद्-ऋ-व्येञ् एभ्यस्थल इत्यादि । विव्ययिथ । व्येञ् धातोः लिटि सिपि थलि धातोर्द्वित्वे अभ्याससम्प्रसारणे 'इडत्यर्तिव्ययतीनाम्' इति थल इडागमेऽनुबन्धलोपे अयादेशे 'विव्ययिथ' इति रूपम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४५) से 'आदेचः, उपदेशे' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—'उपदेश में एजन्त व्येञ् धातु को लिट् के परे रहते आत्व नहीं होता' । लिट् में द्वित्व के अनन्तर अभ्यास संज्ञा, तत्पश्चात् सम्प्रसारण एवं हलादिशेष दोनों की युगपत् (एक साथ) प्राप्ति होती है, पर होने के कारण हलादिशेष की प्राप्ति होती है; किन्तु 'उभयेषाम्' से 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' ज्ञापन होने से प्रथमतः सम्प्रसारण ही होता है । अन्यथा 'लिट्यभ्यासस्य' इतना ही सूत्र बनाकर आचार्य उसमें वच्यादि और ग्रह्यादि की अनुवृत्ति करते । 'उभयेषां' ग्रहण व्यर्थ ही होता ।

(१) व्येञ्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'य्'='इ'—सम्प्रसारण—'लिट्यभ्यासस्य', पूर्वरूप)—वि व्ये अ (ए='ऐ'—वृद्धि, ऐ='आय्' आदेश)=विव्याय । प्राप्त आत्व का 'न व्यो लिटि' से निषेध । (२) व्येञ्+लिट् (=तस्=अतुस्, य्=इ—सम्प्रसारण, पूर्वरूप, वि को द्वित्व)—वि वि अतुस् (इ=य्—'यण्', स्=र्=ः)=विव्यतुः । (३) लिट् प्र० पु० बहुवचन—विव्युः ।

(६३२) पद—इट्, अत्यर्तिव्ययतीनाम् । **अनुवृत्ति**—थलि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अत्, ऋ और व्येञ् से परवर्ती थल् को नित्य इट् का आगम होता है । विव्ययिथ । विव्यथुः । इत्यादि ।

विमर्श—'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' (७।२।६१) सूत्र से 'थलि' पद की अनुवृत्ति आती है । अतः 'अद भक्षणे, ऋ गतौ और व्येञ् संवरणे' धातुओं से परवर्ती 'थल्' को नित्य इट् (=इ) का आगम होता है ।

उदाहरण—(१) √व्ये+लिट् (=सिप्=थल्='थ', द्वित्व, अभ्यास को सम्प्रसारण 'य्'='इ'—पूर्वरूप, हलादिशेष, इट्='इ' का आगम—'इडत्यर्तिव्ययतीनाम्')—वि व्ये इ थ ('ए'='अय्' आदेश)=विव्ययिथ । (२) लिट्—म० पु० द्वि०—विव्यथुः । (३) लिट्—म० पु० बहु०—विव्य । (४) लिट् म० पु० ए० व०—विव्याय-विव्यय (णलुत्तमो वा) । (५) लिट् उ० पु० द्वि० व०—विव्यिव । (६) लिट् उ० पु० बहु०—विव्यिम । (७) लिट्—(आत्मनेपद) प्र० पु० ए० व०—विव्ये । (८) लुट्—व्याता । (९) लृट्—व्यास्यति (१०) व्ये+लिङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, यासुट्, सम्प्रसारण—'ग्रहिज्या' पूर्वरूप)—वि यास् त

६।१।३३। अभ्यस्तीभविष्यतो ह्वेञः सम्प्रसारणं स्यात्। जुहाव। जुहुवे। ह्वाता। ह्वास्यति। ह्वास्यते। (६३४) लिपिसिचिह्वश्च ३।१।५३। च्लेरङ्। (६३५) आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ३।१।५४। अह्वत्। अह्वताम्। अह्वन्। अह्वत-अह्वास्त। राजृ दीप्तौ। राजति। राजते। रराज। रेजतुः। रराजतुः। रेजुः। रराजुः। रेजे।

---

(६३३) अभ्यस्तस्य चेति। ह्वेञ इति, सम्प्रसारणं चेत्यनुवर्तते। तदाह—अभ्यस्तीभविष्यत इत्यादिना। जुहाव। ह्वेञ्धातोर्लिटि, तिपि, तिपः णलादेशे अनुबन्धलोपे 'अभ्यस्तस्य चे'ति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आवादेशे च कृते 'जुहाव' इति।

(६३४) लिपिसिचीति। लिपि सिचि ह्वा इत्येषां समाहारद्वन्द्वात्पञ्चम्येकवचनम्। च्लेः अङिति चानुवर्तते। तदाह—च्लेरङिति।

(६३५) आत्मनेपदेष्विति। 'लिपिसिचिह्वश्चे'ति सूत्रम्, च्लेरङ् चानुवर्तते। आत्मनेपदे च्लेरङ् वा स्यादित्यर्थः। अह्वदिति। ह्वेञ्धातोर्लुङि, तिपि, 'इतश्चे'तीकारलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'लिपिसिचिह्वश्चे'त्यनेन च्लेरङि अनुबन्धलोपे,

---

('स्' का लोप—'स्कोः', 'इ'='ई'—दीर्घ—'अकृत्सार्वधातुकयोः')=वीयात्। आत्मनेपद—व्यासीष्ट। (११) लुङ्—अव्यासीत्। आत्मनेपद में—अव्यास्त।

√ह्वेञ् धातु का अर्थ—'स्पर्धा करना, जोर से बुलाना' है। लट्—ह्वयति। ह्वयते।

(६३३) पद—अभ्यस्तस्य, च। **अनुवृत्ति**—ह्वेञः, सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अभ्यस्त हो रहे (अभ्यस्त संज्ञा की संभावना होने पर) ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण होता है। जुहाव। जुहुवे। इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ह्वेञः सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'अभ्यस्त के निमित्त ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण होता है'।

उदाहरण—(१) ह्वे+लिट् (तिप्=णल्='अ', 'व्'='उ'—सम्प्रसारण, पूर्वरूप)—हु अ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'कुहोश्चुः' से चुत्व, जश्त्व, वृद्धि)=जुहाव। आत्मनेपद—जुहुवे। (२) लुट्—ह्वाता। (३) लृट्—ह्वास्यति। ह्वास्यते।

(६३४) पद—लिपिसिचिह्वः, च। **अनुवृत्ति**—च्लेः, अङ्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातु से परवर्ती 'च्लि' को अङ् आदेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में—'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः' और 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (३।१।५२) से 'अङ्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातु से भी परवर्ती 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश होता है।"

(६३५) पद—आत्मनेपदेषु, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—लिपिसिचिह्वः, अङ्, च्लेः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आत्मनेपद में लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातु से परवर्ती 'च्लि' को 'अङ्' आदेश विकल्प से होता है। **अह्वत**–अह्वास्त इत्यादि।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'लिपिसिचिह्वश्च' (६३५) से 'लिपिसिचिह्वः' 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः' तथा 'अस्यतिवक्ति' (३।१।५२) से 'अङ्' की अनुवृत्ति आने से—"आत्मनेपद में लिप् इत्यादि धातुओं से परे 'च्लि' के स्थान में विकल्प से 'अङ्' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) √ह्वे+लुङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, च्लि, च्लि=अङ्='अ'—

रराजे । हिक्क अव्यक्ते शब्दे । हिक्कति । हिक्कते । अञ्चु गतौ याचने च । अञ्चति । अञ्चते । अच इत्येके । 'अचि' इत्यपरे । टुयाचृ याच्ञायाम् । याचति । याचते । बुधिर् बोधने । बोधति । बोधते । इरित्त्वादङ् वा । अबुधत्-अबोधीत् । अबोधिष्ट । खनु अवदारणे । खनति । खनते । चखान । चख्नतुः । चख्नुः । चख्ने । खायात् । खन्यात् । चीवृ आदानसंवरणयोः । चीवति । चीवते । चायृ पूजानिशामनयोः । चायति । चायते । व्यय गतौ । व्ययति । व्ययते । विव्याय । विव्यये । दाशृ दाने । दाशति । दाशते । भेषृ भये । गतावित्येके । भेषति । भेषते । अस गतिदीप्त्यादानेषु । असति । असते । आस । आसे । अयं षान्तोऽपि । स्पश बाधनस्पर्शनयोः । स्पर्शनं ग्रन्थनम् । स्पशति । स्पशते । लष कान्तौ । लष्यति-लषति । लष्यते-लषते । चष भक्षणे । चषति । चषते । झष आदानसंवरणयोः । झषति । झषते । दासृ दाने । दासति । दासते । धावु गतिशुद्धयोः । धावति । धावते ।

इति भ्वादिप्रकरणम् ।

अङ्गस्याडागमे, आत्त्वे, 'अ ह्वा अ त्' इति जाते 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपे 'अह्वत्' इति । आत्मनेपदे—'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इत्यनेन विभाषया अङादेशे 'अह्वत' इति । अङभावे तु च्लेः सिचि 'अ ह्वा स् त' इति जाते संयोगे कृते 'अह्वास्त' इति ।

'लिपिसिचिह्वश्च', आत्व, अट् का आगम)—अ ह्वा अ त् ('आ' का लोप—'आतो लोप इटि च') =अह्वत् । आत्मनेपद में √ह्वे+लुङ् (=त, अट् का आगम, आत्व, च्लि, च्लि=अङ्='अ'—विकल्प से—'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्'—आकारलोप)=अह्वत । अङ् के अभाव पक्ष में—अह्वास्त ।

√राजृ धातु का अर्थ 'दीप्ति' (=प्रकाशित होना) है । (१) लट्—राजति । राजते । (२) लिट् प्र० पु० ए० व० (प० प०)—रराज । (३) लिट्—प्र० पु० द्वि० व०—रेजतुः, रराजतुः (यहाँ 'फणां च सप्तानाम्' से विकल्प एत्व और अभ्यास का लोप होने से दो रूप बनते हैं) । (४) लिट्—प्र० पु० बहुव०—रेजुः । रराजुः । आत्मनेपद, लिट् प्र० पु० एकव०—रेजे । रराजे ।

√हिक्क का अर्थ—'हिचकी आना' है । लट्—हिक्कति । हिक्कते । √अञ्चु धातु का अर्थ—'जाना, माँगना' है । कुछ विद्वानों के अनुसार यहाँ 'अच' पाठ है । अन्य आचार्य 'अचि' पाठ मानते हैं ।

√'टु याचृ' का अर्थ—'माँगना' है । लट्—याचति । याचते । √बुधिर् (=बुध्) का अर्थ—'बोधन' (=समझना) है । (१) लट्—बोधति । बोधते । (२) √बुध्+लुङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, अट्, च्लि, च्लि=अङ्='अ'—विकल्प से—'इरितो वा')=अबुधत् । अङ् के अभावपक्ष में—(च्लि=सिच्='स्' इट्, ईट्)—अबुध् इ स् ई त् ('स्' का लोप—'इट ईटि', गुण)=अबोधीत् । आत्मनेपद में—अबोधिष्ट । √खनु का अर्थ—'अवदारण' (=खोदना) है । (१) लट्—खनति । खनते । (२) लिट् प्र० पु० ए० व०—चखान । (३) खन्+लिट् (=तस्=अतुस्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादि शेष)—ख खन् अतुस् (चुत्व, 'अ' उपधा का

अथ अदादिप्रकरणम्

(६३६) ऋतेरीयङ् ३।१।२९। स्वार्थे। ऋतिः सौत्रः। जुगुप्सायामिति बहवः। कृपायां चेत्येके। ऋतीयते। ऋतीयाञ्चक्रे। 'आयादय' इति ईयङभावपक्षे शेषत्वात्पर-

---

लष कान्ताविति। लष्यति–लषति, लष्यते–लषते। अत्र 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः' इति श्यन्विकल्पः।

इति भ्वादिप्रकरणम्।

(शब्विकरणनिरूपणं समाप्तम्।)

शब्विकरणधातुनिरूपणानन्तरं लुग्विकरणान् धातून् निरूपयितुमुपक्रमते—

(६३६) **ऋतेरीयङिति।** ऋतेर्धातुपाठेऽदर्शनादाह—ऋतिः सौत्रः। **स्वार्थ इति।**

लोप—'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि', स्=र्=:)=चख्नतुः। (४) लिट् प्र० पु० बहुव०—चख्नुः। आत्मनेपद में—चख्ने, चख्नाते, चख्निरे। इत्यादि। (५) आशीर्लिङ् में 'ये विभाषा' से विकल्प से आत्व—खायात्–खन्यात्। आत्मनेपद में—खनिषीष्ट।

√चीवृ (=चीव्) धातु का अर्थ—'लेना, ढकना' है। लट्—चीवति। चीवते। √चायृ (=चाय्) का अर्थ 'स्वागत, पूजा करना और चाहना' है। (१) लट्—चायति। चायते। √व्यय धातु का अर्थ 'गमन'=(जाना व्यय करना) है। लट्—व्ययति। व्ययते। √दाशृ (=दाश्) धातु का अर्थ 'दान करना' है। लट्—दाशति। दाशते। √भेषृ (=भेष्) का अर्थ—'डरना' है। कुछ आचार्यों के अनुसार इस धातु का अर्थ 'गति'=(जाना) है। लट्—भेषति। भेषते। √अस् धातु का अर्थ—'जाना, चमकना, लेना' है। (१) लट्—असति। असते। (२) लिट् प्र० पु० ए० व०—आस। आत्मनेपद में—आसे। यह धातु षकारान्त भी है। √स्पश् धातु का अर्थ बाधन और स्पर्शन (=गूँथना) है। लट्—स्पशति। स्पशते। √लष् का अर्थ—'चमकना, इच्छा करना' है। लट्—लष्यति-लषति (यहाँ 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमु०' से विकल्प से श्यन् होता है। पक्ष में शप्)। आत्मनेपद में—लष्यते-लषते। √चष धातु का अर्थ—'चखना, खाना' है। लट्—चषति। चषते। √झष् धातु का अर्थ—'आदान, ढकना' है। लट्—झषति। झषते। √दास् का अर्थ 'देना' है। लट्—दासति। दासते। √धावु (=धाव्) धातु का अर्थ—'दौड़ना और शुद्ध होना' है। लट्—धावति। धावते।

भ्वादिप्रकरण समाप्त।

भ्वादि-प्रकरण में शप् विकरण वाली धातुओं की रूपसिद्धि का विवेचन किया गया। अब अदादि-प्रकरण में (शप् का) लुक् विकरण वाली धातुओं की रूपसिद्धि की प्रक्रिया बतलायी जा रही है—

(६३६) पद—ऋतेः, ईयङ्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'ऋत' धातु से स्वार्थ में ईयङ् प्रत्यय होता है। √'ऋति' यह सूत्रपठित धातु है। कुछ आचार्य √'ऋत' धातु का अर्थ—'निन्दा करना' मानते हैं और कुछ 'कृपा करना' अर्थ

स्मैपदम् । द्वित्वेऽभ्यासलोपे च जाते, 'उरत्' । 'तस्मान्नुड्द्वी'ति नुट् । गुणः । आनर्त्त । अर्तिष्यतीत्यादि । अद भक्षणे । (६३७) अदिप्रभृतिभ्यः शपः २।४।७२ । लुक् स्यात् । अत्ति । अत्तः । अदन्ति । अत्सि । अत्थः । अत्थ । अद्मि । अद्वः । अद्मः । (६३८)

अर्थविशेषनिर्देशाभावादिति भावः । **ऋतीयत इति ।** ऋत् धातोर्लटि, तङि, शपि, 'ऋतेरीयङ्' इत्यनेन ईयङि, पररूपे टेरेत्वे च कृते 'ऋतीयते' इति ।

(६३७) **अदिप्रभृतिभ्य इति ।** 'ण्यक्षत्रियार्षञितः' इत्यतो 'लुगि'त्यनुवर्तते । अदिप्रभृतिभ्यः परस्य शपो लुगित्यर्थः । **अत्ति ।** अद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लः स्थाने प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां तिप्यनुबन्धलोपे 'अद् ति' इति जाते सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि जाते 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि 'खरि चे'ति दस्य चर्त्वेन तकारे 'अत्ति' इति रूपं सिद्धम् ।

इसका प्रयोग करते हैं । ऋतीयते । ऋतीयाञ्चक्रे । आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में 'ईयङ्' विकल्प से होता है । ईयङ् के अभाव पक्ष में परस्मैपद लिट् में—आनर्त । लृट् में—अर्तिष्यति इत्यादि ।

विमर्श—'धातोः, प्रत्ययः परश्च' का अधिकार है । अतः 'ऋति' धातु से स्वार्थ में ईयङ् प्रत्यय होता है । "अर्थ निर्देश से रहित प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं ।" इस नियम से 'ईयङ्' भी स्वार्थ में होता है । इस प्रकार ऋत्+ईयङ् (=ईय)—'ऋतीय' की 'सनाद्यन्ताः' से धातुसंज्ञा हुई ।

उदाहरण—(१) √ऋत्+ईयङ् (=ईय)—ऋतीय (धातुसंज्ञा होकर)+लट् (=त, शप्='अ'—पररूप, एत्व)=ऋतीयते । (२) √ऋत्+ईयङ्=ऋतीय+लिट् (=आम्—'कास्यनेकाचः', 'आमः' से लिट् का लुक्, लिट्परक √कृ का अनुप्रयोग—'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि')—ऋतीय कृ लिट् (=त=एश्=ए, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ऋ='अ'—'उरत्' रपर, हलादि शेष, अभ्यास को चर्त्व, यण्, अनुस्वार, परसवर्ण)=ऋतीयाञ्चक्रे । 'आयादय आर्धधातुके वा' से 'ईयङ्' विकल्प से होने के कारण अभावपक्ष में—√ऋत्+लिट् (शेषत्वात् परस्मैपद प्र० पु० एकव०—तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा ऋ='अ'—'उरत्', रपर, हलादिशेष)—अ ऋत् अ (अभ्यास को दीर्घ 'अत आदेः', नुट्='न्'—'तस्मान्नुड् द्विहलः', 'ऋ'='अ'—गुण 'पुगन्त०' रपर)=आनर्त । (३) लृट्—अर्तिष्यति । इत्यादि ।

√अद धातु का अर्थ—भक्षण (=खाना) है ।

(६३७) पद—अदिप्रभृतिभ्यः, शपः । **अनुवृत्ति**—लुक् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अदादि-गण में पठित धातुओं से परवर्ती 'शप्' का लुक् होता है । अत्ति, अत्तः, अदन्ति इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' (२।४।५८) से 'लुक्' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'अद् आदि धातुओं से परे शप् विकरण का लुक् (=अदर्शन) हो जाता है' ।

उदाहरण—(१) √अद्+लट् (=तिप्=ति, सार्वधातुक संज्ञा, शप्—'कर्तरि शप्' शप् का लुक्—'अदिप्रभृतिभ्यः शपः')—अद् ति ('द्'='त्'—'खरि च')=अत्ति । (२) लट् प्र० पु० द्विव०—अत्तः । (३) प्र० पु० बहुव०-अदन्ति (झ्='अन्त' आदेश) । (४) म० पु० ए० व०—अत्सि । (५) √अद्+लट् (=थस्, शप् का लुक्, चर्त्व—'द'='त' स्=र्=:)

लिट्यन्यतरस्याम् २।४।४०। अदो घस्लृ वा स्याल्लिटि। जघास। उपधालोपः। घस्य चर्त्वे। (६३९) शासिवसिघसीनां च ८।३।६०। इण्कुभ्यामेषां सस्य षः। जक्षतुः। जक्षुः। घसस्तासावभावात्थलि नित्यमिट्–जघसिथ। आद। आदतुः। आदुः। 'इडत्य-

(६३८) लिटयन्यतरस्यामिति। 'अदो जग्धिः' इत्यस्मात् अद इति, 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इत्यतो घस्लृ इति चानुवर्तते। तदाह—अद इति। जघास इति। अद्धातोः लिटि, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे 'लिटयन्यतरस्यामि'ति अदो 'घस्लृ' आदेशे लृकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'घस् अ' इति जाते 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति घस्य झकारे, 'अभ्यासे चर्चे' इति झस्य जत्वे 'अत उपधायाः' इति घकाराकारस्य वृद्धौ 'जघास' इति। 'घस्लृ' इत्यादेशाभावपक्षे तु 'आद' इति।

(६३९) 'शासिवसि इति। 'इण्कोः' इति, 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इति चाधिकृतम्। 'सहेः साडः सः' इत्यतः स इत्यनुवर्तते। तदाह—इण्कुभ्यामिति। जक्षतुः। 'अद भक्षणे' इत्यस्माद् धातोः लिटि, लः स्थाने प्रथमपुरुषगतद्विवचनविवक्षायां तसि, तसः स्थाने 'परस्मैपदानामि'त्यादिना अतुसादेशे, 'लिटयन्यतरस्यामि'ति विकल्पेन

=अत्थः। (६) म० पु० बहु०—अत्थ। लट् उ० पु० मिप्, वस्, मस् में 'द्' को चर्त्व नहीं होता।

√अद्=खाना, लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अत्ति	अत्तः	अदन्ति
म० पु०—	अत्सि	अत्थः	अत्थ
उ० पु०—	अद्मि	अद्वः	अद्मः

(६३८) पद—लिटि, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—अदः, घस्लृ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—लिट् के परवर्ती रहने पर 'अद्' के स्थान में विकल्प से 'घस्लृ' आदेश होता है। जघास।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' (२।४।३६) से 'अदः' तथा 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (२।४।३७) से 'घस्लृ' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"लिट् परे रहते 'अद्' के स्थान में विकल्प से 'घस्लृ' आदेश होता है"।

उदाहरण—(१) अद्+लिट् (=प्र० पु० एकव०—तिप्=णल्=अ, अद्=घस्लृ=घस्—विकल्प से—'लिट्यन्यतरस्याम्')—घस् अ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'स्' का लोप—'हलादिः शेषः' 'घ'='झ्'—'कुहोश्चुः' 'झ्'='ज्'—'अभ्यासे चर्च' 'अ'='आ'—वृद्धि—'अत उपधायाः')=जघास।

(६३९) पद—शासिवसिघसीनाम्, च। **अनुवृत्ति**—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इण्-कवर्ग से परवर्ती शास् और वस् धातु को सकार के स्थान में (मूर्धन्य) षकार आदेश होता है। जक्षतुः। जक्षुः। इत्यादि।

र्तिव्ययतीनामि'ति नित्यमिट् । आदिथ । अत्ता । अत्स्यति । अत्तु । अत्तात् । अत्ताम् ।

अदो 'घस्लृ' आदेशेऽनुबन्धलोपे, द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये कृते, 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे 'ज घस् अतुस्' इति जाते 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यनेन कित्त्वे 'गमहनजन०' इत्युपधाकारलोपे 'खरि चे'त्यनेन घकारस्य ककारे 'शासिवसिघसीनाञ्चे'त्यनेन सकारस्य षत्वे संयोगे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'जक्षतुः' इति । घस्लृ-आदेशाऽभावे तु—'आदतुः' इति रूपम् ।

विमर्श—'इण्कोः' और 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है । 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से 'सः' पद की अनुवृत्ति आ रही है । इस प्रकार—'इण् तथा कवर्ग से उत्तर शास् , वस् तथा घस् के सकार को भी मूर्धन्य आदेश होता है' ।

उदाहरण—(१) √अद्+लिट् (=तस्=अतुस् , अद्=घस्लृ='घस्' विकल्प से)—घस् अतुस् (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'व'='झ्'—'कुहोश्चुः' 'झ्'='ज्'—अभ्यासे चर्च')—जघस् अतुस् (उपधा अकार का लोप—'गमहनजन०' 'स्'='ष्'—'शासिवसिघसीनां च' 'व्'='क्'—'खरि च')—जक् ष् अतुस् (क्+ष्=क्ष् , स्=र्=:)=जक्षतुः । (२) लिट् प्र० पु० **बहु०**—जक्षुः ('घस्लृ' आदेश होने पर) । (३) लिट् म० पु० एकव०—जघसिथ । यहाँ नित्य इट् होता है, **क्योंकि** घस् आदेश के लिट् और लुङ् में ही होने के कारण तास् में प्रयोग नहीं होता । अतः 'उपदेशेऽत्वतः' की अप्रवृत्ति से थल् में नित्य 'इट्' हो जाता है ।

'घस्लृ' आदेश के अभाव पक्ष में—'आद, आदतुः, आदुः' इत्यादि । √अद् धातु के थल् को उपदेश में अकारवान् होने से वैकल्पिक इट् की प्राप्ति होती है; परन्तु 'इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम्' से नित्य इट् होकर—आदिथ ।

√अद् लिट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	जघास	जक्षतुः	जक्षुः
म० पु०	जघसिथ	जक्षथुः	जक्ष
उ० पु०	जघास-जघस	जक्षिव	जक्षिम

घस्लृ आदेश के अभाव पक्ष में—

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	आद	आदतुः	आदुः
म० पु०	आदिथ	आदथुः	आद
उ० पु०	आद	आदिव	आदिम

√अद् लुट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अत्ता	अत्तारौ	अत्तारः
म० पु०	अत्तासि	अत्तास्थः	अत्तास्थ
उ० पु०	अत्तास्मि	अत्तास्वः	अत्तास्मः

अदन्तु । (६४०) हुझल्भ्यो हेर्धिः ६।४।१०१ । होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात् । अद्धि । अत्तात् । अत्तम् । अत्त । अदानि । अदाव । अदाम । (६४१) अदः सर्वेषाम् ७।३। १०० । अदः परस्यापृक्तसार्वधातुकस्य अट् स्यात्, सर्वमतेन । आदत् । आत्ताम् ।

---

(६४०) हुझल्भ्य इति । अङ्गविशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह—होर्झलन्तेभ्य इति । अद्धि इति । अद्धातोर्लोटि, लः स्थाने सिपि, 'सेर्ह्यपिच्च' इत्यनेन 'हि' इत्यादेशे 'अद् हि' इति स्थिते, शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्यामि'ति हेः स्थाने विकल्पेन तातङादेशेऽनुबन्धलोपे चर्त्वे 'अत्तादि'ति । पक्षे—'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इत्यनेन हेः स्थाने 'धि' आदेशे 'अद्धि' इति ।

(६४१) अदः सर्वेषामिति । 'अद' इति पञ्चम्येकवचनम् । 'तस्मादित्युत्तरस्ये'ति परिभाषया परस्येति लभ्यते । 'गुणोऽपृक्ते' इत्यतोऽपृक्ते इति, 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते । 'अड् गार्ग्यगालवयोः' इत्यतः अडित्यनुवर्तते । अत आह—अदः परस्येति । आदत् । अद्धातोर्लङि, लः स्थाने तिप्यनुबन्ध-

---

√अद् लृट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अत्स्यति	अत्स्यतः	अत्स्यन्ति
म० पु०	अत्स्यसि	अत्स्यथः	अत्स्यथ
उ० पु०	अत्स्यामि	अत्स्यावः	अत्स्यामः

लोट् लकार में भी शप् का 'अदिप्रभृतिभ्यः' से लुक् होता है। √अद् धातु से लोट् लकार प्रथमपुरुष में—अत्तु-अत्तात् । अत्ताम् । अदन्तु ।

(६४०) पद—हुझल्भ्यः, हेः, धिः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—हु धातु और झलन्त धातुओं से परवर्ती 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश होता है। अद्धि-अत्तात् इत्यादि ।

उदाहरण—(१) √अद्+लोट् (=सिप्=‘हि’—'सेर्ह्यपिच्च', हि=तातङ्=‘तात्’—विकल्प से—'तुह्योः' चर्त्व)=अत्तात् । 'तातङ्' के अभावपक्ष में—अद् हि ('हि'='धि'—'हुझल्भ्यो हेर्धिः')=अद्धि ।

√अद् धातु लोट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अत्तु-अत्तात्	अत्ताम्	अदन्तु
म० पु०	अद्धि-अत्तात्	अत्तम्	अत्त
उ० पु०	अदानि	अदाव	अदाम

(६४१) पद—अदः, सर्वेषाम् । **अनुवृत्ति**—अट्, अपृक्ते, सार्वधातुके । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अद्' धातु से परवर्ती अपृक्त सार्वधातुक को सभी आचार्यों के मत से 'अट्' का आगम होता है । आदत् । आत्ताम् इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६) से 'अपृक्ते', 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' से 'सार्वधातुके' और 'अड् गार्ग्यगालवयोः' से 'अट्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"अद् से परे अपृक्त सार्वधातुक को सभी आचार्यों के मतानुसार 'अट्' आगम होता है ।"

आदन् । आदः । आत्तम् । आत्त । आदम् । आद्व । आद्म । अद्यात् । अद्याताम् । अद्युः । अद्यात् । अद्यास्ताम् । अद्यासुः । (६४२) लुङ्सनोर्घस्लृ २।४।३७। अदः ऌदित्त्वादङ् ।

लोपे, इकारलोपे, शपि, तस्य 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति लुकि आडागमेऽनुबन्धलोपे 'आटश्चे'ति वृद्धौ 'अदः सर्वेषामि'ति अटचनुबन्धलोपे 'आदत्' इति ।

(६४२) **लुङ्सनोरिति** । 'अदो जग्धिः' इत्यस्मात् 'अदः' इत्यनुवर्तते । तदाह—**अद इति । अघसत्** । अद्धातोर्लुङि, लः स्थाने प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां तिपि, अनुबन्धलोपे, 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इत्यनेन अदः स्थाने घस्लृ आदेशे ऌकारस्येत्संज्ञायां

उदाहरण—(१) √अद्+लङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, शप्, शप् का लुक्, आट्—'आडजादीनाम्' आ+अ='आ' वृद्धि—'आटश्च')—आद् त (अट्='अ'—आगम—'अदः सर्वेषाम्')=आदत् ।

√अद् लङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	—आदत्	आत्ताम्	आदन्
म० पु०	—आदः	आत्तम्	आत्त
उ० पु०	—आदम्	आद्व	आद्म

विधिलिङ् में सार्वधातुक संज्ञा होने से 'यासुट्' के सकार का लोप 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से हो जाता है। (१) √अद्+लिङ् (=तिप्=ति, शप् का लुक्, यासुट्=यास्)—अद् यास् ति ('स्' का लोप, इकार का लोप—'इतश्च')=अद्यात् ।

√अद् विधिलिङ् के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अद्यात्	अद्याताम्	अद्युः
म० पु०	अद्याः	अद्यातम्	अद्यात
उ० पु०	अद्याम्	अद्याव	अद्याम

आशीर्लिङ् के आर्धधातुक होने के कारण सकार का लोप नहीं होता ।

√अद् आशीर्लिङ् के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	—अद्यात्	अद्यास्ताम्	अद्यासुः
म० पु०	—अद्याः	अद्यास्तम्	अद्यास्त
उ० पु०	—अद्यासम्	अद्यास्व	अद्यास्म

(६४२) पद—लुङ्सनोः, घस्लृ । **अनुवृत्ति**—अदः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुङ् और सन् के परे रहते 'अद्' धातु को 'घस्लृ' आदेश होता है। अघसत् इत्यादि ।

विमर्श—सूत्र में स्थानीवाचक पद का अभाव है। अतः 'अदो जग्धिः' (२।४।३६) से 'अदः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"लुङ् और सन् के परवर्ती रहने पर 'अद्' के स्थान में 'घस्लृ' (=घस्) आदेश होता है"।

उदाहरण—√अद्+लुङ् (ल्=प्र० पु० एकव०—तिप्=ति, अद्=घस्लृ='घस्'—'लुङ्सनोर्घस्लृ')—घस् ति (च्लि, प्राप्त 'सिच्' का बाधकर च्लि=अङ्='अ'—'पुषादि०', अट्, इकारलोप)=अघसत् ।

अघसत् । आत्स्यत् । हन हिंसागत्योः । हन्ति । (६४३) अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६।४।३७। 'अनुनासिके'ति लुप्तषष्ठीकं, वनतीतरेषां विशेषणम् । अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्झलादौ क्ङिति परे । यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः । तनु-षणु-क्षणु-क्षिणु-ऋणु-तृणु-घृणु-वनु-मनु-तनोत्यादयः । हतः । घ्नन्ति । हंसि । हथः । हथ । हन्मि । हन्वः ।

लोपे च च्लौ, प्राप्तं सिजादेशं प्रबाध्य 'पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु' इति च्लेः स्थाने अङ्यनुबन्धलोपे अङ्गस्य अडागमे 'इतश्चे'तीकारलोपे 'अघसत्' इति ।

(६४३) अनुदात्तोपदेशेति । अनुनासिक इति लुप्तषष्ठीकं पदं वनतीतरेषां विशेषणम् । घ्नन्ति । हन्धातोर्लटि, लः स्थाने झिप्रत्यये, शपो लुकि, 'झोऽन्तः' इति झस्यान्तादेशे 'हन् अन्ति' इति जाते सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकमपित्' इत्यन्तेः ङिद्वद्भावे 'गमहनजन०' इत्यादिना हन उपधालोपे 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इति हकारस्य कुत्वेन घकारे 'घ्नन्ति' इति ।

√अद् धातु लुङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अघसत्	अघसताम्	अघसन्
म० पु०—	अघसः	अघसतम्	अघसत
उ० पु०—	अघसम्	अघसाव	अघसाम

(२) √अद्+लृङ् (=तिप्=ति, स्य, आट् का आगम, वृद्धि—'आटश्च' इकारलोप, 'द्'='त्'—चर्त्वं)=आत्स्यत् ।

√अद् धातु लृङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	आत्स्यत्	आत्स्यताम्	आत्स्यन्
म० पु०—	आत्स्यः	आत्स्यतम्	आत्स्यत
उ० पु०—	आत्स्यम्	आत्स्याव	आत्स्याम

√हन् धातु का अर्थ—'मारना, जाना' है । (१) √हन्+लट् (=ति, सार्वधातुक संज्ञा, शप्—शप् का लुक्—'अदिप्रभृतिभ्यः' न्=ं-अनुस्वार—'नश्चापदान्तस्य झलि'—='न्' परसवर्ण—'अनुस्वारस्य ययि०')=हन्ति ।

(६४३) पद—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् , अनुनासिकस्य, लोपः, झलि, क्ङिति । विधिसूत्र ।

सूत्रार्थ—अनुदात्तोपदेश, अनुनासिकान्त वन तथा तनोत्यादि धातुओं के अनुनासिक का लोप होता है, झलादि कित, ङित् के परे रहते ।

विमर्श—यहाँ 'अनुनासिक' पद लुप्तषष्ठ्यन्त है । अतः उसका सम्बन्ध 'लोपः' के साथ और 'अनुदात्तोपदेश' के साथ है । अतः—"अनुदात्तोपदेश (जो उपदेशावस्था में अनुदात्त पढ़े गए हों) और अनुनासिकान्त वन् और 'तन्' आदि धातुओं के अनुनासिक का झलादि कित ङित प्रत्ययों के परवर्ती रहते लोप होता है" ।

हन्मः । **(६४४) वमोर्वा ८।४।२३ ।** उपसर्गस्थान्निमित्ताद्धन्तेर्नस्य णो वा स्याद्वमोः परयोः । प्रहण्मि–प्रहन्मि । प्रहण्वः–प्रहन्वः । प्रहण्मः–प्रहन्मः । जघान । जघ्नतुः ।

---

(६४४) वमोर्वा । 'उपसर्गादसमासेऽपी'ति सूत्रात् उपसर्गादित्यनुवर्तते । 'रषाभ्यां नो णः' इति सूत्रमनुवर्तते, 'हन्तेरत्पूर्वस्य' इत्यतो हन्तेरिति । तदाह—**उपसर्गस्थान्निमित्तादित्यादिना ।**

यमि इति । अनुदात्तोपदेश निम्नलिखित छः धातुएँ हैं—

(१) यम उपरमे । (२) रम क्रीडायाम् । (३) णम् पह्वत्वे । (४) गम गतौ । (५) हन हिंसागत्योः । (६) मन ज्ञाने ।

'तन्' आदि अनुनासिकान्त आठ धातुएँ हैं—

(१) तन विस्तारे । (२) क्षण् हिंसायाम् । (३) क्षिण् हिंसायाम् । (४) ऋण् गतौ । (५) तृण् अदने । (६) घृण् दीप्तौ । (७) मनु अवबोधने (८) वनु याचने ।

(१) √हन्+लट् (=तस्, शप् का लुक्, 'तस्' अपित्सार्वधातुक होने से 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत्, अतः अनुनासिकान्त 'हन्' धातु के नकार का लोप—'अनुदात्तोपदेश०')—हतस् (स्=र्=:)=हतः । (२) √हन्+लट् (=झि, शप् का लुक्, 'झ्'='अन्त्'—'झोऽन्तः' सार्वधातुक संज्ञा, ङिद्वत्, अकार (उपधा) का लोप—'गमहनजन०' 'ह्'='घ्'—'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु')=घ्नन्ति ।

√हन् धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	हन्ति	हतः	घ्नन्ति
म० पु०—	हंसि	हथः	हथ
उ० पु०—	हन्मि	हन्वः	हन्मः

(६४४) पद—वमोः, वा । **अनुवृत्ति**—उपसर्गात्, हन्तेः, रषाभ्यां नो णः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती हन् धातु के नकार के स्थान में विकल्प से णकार आदेश होता है, वकार-मकार के परे रहते । प्रहण्मि–प्रहन्मि ।

विमर्श—सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए—'उपसर्गादसमासेऽपि०' (८।४।१४) से 'उपसर्गात्', 'हन्तेरत्पूर्वस्य' (८।४।२१) से 'हन्तेः' और 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से 'रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'उपसर्ग में स्थित निमित्त (र्, ष्) से उत्तरवर्ती हन् धातु के नकार के स्थान में विकल्प से व तथा म के परवर्ती रहते णकार आदेश होता है' ।

उदाहरण—(१) प्र+हन्मि ('न्'='ण्'—विकल्प से—'वमोर्वा')=प्रहण्मि । णकार आदेश के अभावपक्ष में—प्रहन्मि । इसी प्रकार—प्रहण्वः–प्रहन्वः । प्रहण्मः–प्रहन्मः । (२) √हन्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—ह हन् अ (ह्='झ्'—'कुहोश्चुः', झ्='ज्'—'अभ्यासे चर्च' 'अत उपधायाः' से वृद्धि, 'ह्'='घ्'—'हो हन्तेः')=जघान । (३) √हन्+लिट् (=तस्=अतुस्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, चुत्व, चर्त्व)—जहन् अतुस् (उपधा अकार का लोप—'गमहन०' ह्='घ्'—'हो हन्तेः')—जघ्नतुस् (स्=र्=:)=जघ्नतुः । (४) लिट् प्र० पु० बहु०—जघ्नुः ।

जघ्नुः । (६४५) अभ्यासाच्च ७।३।५५ । अभ्यासात्परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात् । जघनिथ–जघन्थ । जघ्नथुः । जघ्न । जघान–जघन । जघ्निव । जघ्निम । हन्ता । हनिष्यति । हन्तु–हतात् । हताम् । घ्नन्तु । (६४६) हन्तेर्जः ६।४।३६ । हन्तेर्जः स्यात् हौ परे । (६४७) असिद्धवदत्राऽऽभात् ६।४।२२ । इत ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्ते-राभीयम् । समानाश्रये तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धं स्यात् । —इति जस्यासिद्धत्वाद्धेर्लुक् ।

---

(६४५) अभ्यासाच्चेति । 'हो हन्तेः' इत्यनुवर्तते, 'चजोः कु घिण्यतोः' इत्यतः 'कु' इति पदञ्च । तदाह—अभ्यासात्परस्येति । जघनिथ । हन्धातोः लिटि, लः स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, सिपः स्थाने थलादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'ह हन् थ' इति जाते 'कुहोश्चुः' इति हकारस्य झकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति जकारे 'अभ्यासाच्च' इत्यनेन हकारस्य कुत्वेन घकारे 'ऋतो भारद्वाजस्ये'ति नियमेन वैकल्पिके इडागमेऽनुबन्धलोपे 'जघनिथ' इति । इडभावपक्षे—'जघन्थ' इति ।

(६४६) हन्तेर्ज इति । 'शा हौ' इत्यतः 'हौ' इत्यनुवृत्तिमभिप्रेत्य सूत्रं व्याचष्टे—हन्तेर्जः स्यादिति ।

(६४७) असिद्धवदत्रेति । षष्ठाध्यायस्य चतुर्थपादे इदं सूत्रम् । आभादित्यभि-विधावाङ् । भस्येत्यधिकारमभिव्याप्येत्यर्थः । भाधिकारश्च आपादपरिसमाप्तेरिति । तथा च आपादपरिसमाप्तेरिति लभ्यते । यद्यत्सूत्रे इदमनुवर्तते तत्तदाभीयकार्यं

---

(६४५) पद—अभ्यासात्, च । अनुवृत्ति—हो हन्तेः, कु । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अभ्यास से परे हन् धातु के हकार को कुत्व होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (७।४।५४) से 'हो हन्तेः' तथा 'चजोः कु घिण्यतोः' (७।४।५२) से 'कु' पदों की अनुवृत्ति आ रही है । अतः अभ्यास से उत्तरवर्ती भी हन् धातु के हकार को कवर्ग आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) √हन्+लिट् (=म० पु० एक०—सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास के 'ह्'='झ्'—'कुहोश्चुः', 'झ्'='ज्'—'अभ्यासे चर्च')—जहन् थ (विकल्प से इट्—'ऋतो भारद्वाजस्य', 'ह्'='घ्'—'अभ्यासाच्च')=जघनिथ । इट् के अभावपक्ष में—जघन्थ । (२) लिट्—म० पु० द्वि०—जघ्नथुः (उपधालोप) । (३) लिट् म० पु० बहु०—जघ्न । (४) लिट् उ० पु० ए० व०—जघान-जघन । (५) लिट् उ० पु० द्वि०—जघ्निव । (६) लिट् उ० पु० बहु०—जघ्निम । (७) लुट्—हन्ता । (८) लृट्—हनिष्यति । (९) लोट् प्र० पु० एक०—हन्तु, हतात् । (१०) लोट् प्र० पु० द्वि०—हताम् । (११) लोट् प्र० पु० बहु० (उपधालोप कुत्व)—घ्नन्तु ।

(६४६) पद—हन्तेः, जः । अनुवृत्ति—हौ । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'हि' के परवर्ती रहते 'हन्' धातु को 'ज' आदेश होता है ।

विमर्श—'शा हौ' (६।४।३५) सूत्र से निमित्तवाचक पद 'हौ' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'हि' के परे रहते हन् धातु के स्थान में 'ज' आदेश होता है ।

(६४७) पद—असिद्धवत्, अत्र, आभात् । अधिकारसूत्र ।

मूलार्थ—इस सूत्र से लेकर अष्टाध्यायी के षष्ठाध्याय की समाप्ति पर्यन्त 'आभीय' कहलाता है । समानाश्रय आभीय कार्य कर्तव्य हो तो पूर्वकृत आभीयशास्त्र असिद्ध होता है । इस प्रकार

जहि–हतात् । हतम् । हत । हनानि । हनाव । हनाम । अहन् । अहताम् । अघ्नन् । अहन् । अहतम् । अहत । अहनम् । अहन्व । अहन्म । हन्यात् । (६४८) आर्द्धधातुके २।४।३५ ।

कर्तव्येऽसिद्धमित्यर्थः । जहि । हन्धातोर्लोटि, लः स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, 'हन् सि' इति स्थिते, शपो लुकि, 'सेर्ह्यपिच्च' इत्यनेन सेः 'हि' इत्यादेशे 'हन्तेर्जः' इति हनः जादेशे 'जहि' इति रूपम् । अत्र 'अतो हेः' इति अतः परस्य हेर्लुक् न भवति, 'असिद्धवदत्राभादि'ति जादेशस्यासिद्धत्वादिति ।

(६४८) आर्धधातुके । अधिकारोऽयम् ।

'ज' आदेश के असिद्ध होने से 'अतो हेः' से प्राप्त 'हि' का लुक् नहीं हुआ । जहि–हतात् । हतम् इत्यादि । —

विमर्श—'आभात्' में आङ् अभिविधि अर्थ में है । इस प्रकार 'आभात्' का तात्पर्य–'भस्य (६।४।१२९) का अधिकार जहाँ तक जाता है अर्थात् पाद की समाप्ति पर्यन्त' है । अत एव प्रकृत सूत्र से प्रारम्भ कर चतुर्थ पाद की समाप्ति तक सूत्रों से विहित कार्य 'आभीय' है ।

"समानाश्रय आभीय कार्य करना हो तो पूर्व का किया हुआ आभीय कार्य असिद्धवत् हो जाता है ।" समानाश्रय का तात्पर्य है—समान है आश्रय जिसका अर्थात् जिन कार्यों के निमित्त समान हों, उन्हें समानाश्रय कहते हैं । यहाँ 'ज' आदेश और 'हि' का लुक् आभीय कार्य हैं तथा समान आश्रय वाले भी हैं । क्योंकि 'ज' आदेश और 'हि' के लोप का आश्रय 'हन्' और प्रत्यय 'हि' दोनों हैं । अतः दोनों के समानाश्रय आभीय कार्य होने से पूर्व किया हुआ 'ज' आदेश 'हि' लोप की कर्तव्यता में असिद्धवत् हो जाता है । इस प्रकार अदन्त के अभाव में लोप नहीं होता ।

उदाहरण—√हन्+लोट् (=सिप्, शप्, लुक्, सि='हि' 'सेर्ह्यपिच्च' 'हन्'='ज'—'हन्तेर्जः')=**जहि** । यहाँ 'अतोः हेः' से 'हि' का लुक् प्राप्त है, परन्तु 'असिद्धवदत्राभात्' से 'ज' आदेश के असिद्धवत् होने से अदन्त के अभाव में 'हि' का लुक् नहीं होता । तातङ् पक्ष में—हतात् ।

√हन् धातु लोट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	हन्तु–हतात्	हताम्	घ्नन्तु
म० पु०	जहि–हतात्	हतम्	हत
उ० पु०	हनानि	हनाव	हनाम

हन् धातु लङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अहन्	अहताम्	अघ्नन्
म० पु०	अहन्	अहतम्	अहत
उ० पु०	अहनम्	अहन्व	अहन्म

√हन्+विधिलिङ् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, यासुट्='यास्', इकारलोप)—हन् यास् त ('स्' का लोप—'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य')=हन्यात् ।

(६४८) पद—आर्धधातुके । अधिकारसूत्र ।

सूत्रार्थ—यह अधिकार सूत्र है ।

इत्यधिकृत्य । (६४९) हनो वध लिङि २।४।४२ । (६५०) लुङि च २।४।४३ । वधादेशोऽदन्तः । 'आर्द्धधातुके' इति विषयसप्तमी, तेनार्द्धधातुकोपदेशेऽकारान्तत्वादतो लोपः । वध्यात् । वध्यास्ताम् । अवधीत् । अहनिष्यत् । यु मिश्रणामिश्रणयोः ।

---

(६४९) हनो वध इति । हनो वधादेशः स्यादार्धधातुके लिङीत्यर्थः ।

(६५०) लुङि चेति । लुङि चापि हनो वधादेशः स्यादिति भावः । अवधीत् । हन्धातोर्लुङि 'लुङि चे'ति हनः स्थाने वधादेशे लः स्थाने तिपि, च्लौ, च्लेः स्थाने सिजादेशेऽनुबन्धलोपे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यटि, 'इतश्चे'तीकारलोपे 'अ वध् स् त्' इति जाते 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इटि 'अतो लोपः' इति अकारस्य लोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमेऽनुबन्धलोपे 'इट ईटि' इति सकारलोपे 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्लोपस्य सिद्धत्वात्सवर्णदीर्घे 'अवधीत्' इति रूपम् ।

('वा यौ (२।४।५७) सूत्र तक 'आर्धधातुक के विषय में' का अधिकार जाता है ।)

(६४९) पद—हनः, वध, लिङि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लिङ् के परवर्ती रहने पर हन् धातु को 'वध' आदेश होता है ।

विमर्श—'आर्धधातुके' का अधिकार है । अतः आर्धधातुक लिङ् के परे रहते √हन् को वध आदेश होता है ।

(६५०) पद—लुङि च । **अनुवृत्ति**—हनो वध । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'लुङ्' के परवर्ती रहने पर भी 'हन्' धातु को 'वध' आदेश होता है । वध्यात् इत्यादि ।

विमर्श—'आर्धधातुके' (६४९) का अधिकार है । चकार से पूर्वसूत्र (६५०) से 'हनो वध' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"आर्धधातुक लुङ् के विषय में भी 'हन्' धातु के स्थान में 'वध' आदेश होता है" । यह 'वध' आदेश अदन्त है ।

'आर्धधातुके' इति । अधिकार सूत्र 'आर्धधातुके' में विषयसप्तमी है । अर्थात् वैषयिक आधार के विषय में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है । आशय यह है कि यहाँ आर्धधातुक के परवर्ती रहने की आवश्यकता नहीं है, अपितु आर्धधातुक के विषय में यह आदेश होता है अर्थात् आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्यय के आने से पूर्व ही यह आदेश हो जाता है । तत्पश्चात् वध से आर्धधातुक प्रत्यय आता है । इससे आर्धधातुक के उपदेशकाल में अदन्त होने से 'अतो लोपः' से अकार का लोप हो जाता है ।

उदाहरण—(१) √हन्+आशीर्लिङ् (=तिप्=ति, आर्धधातुक संज्ञा, 'हन्'='वध'—'हनो वध लिङि', यासुट्='यास्'—किदाशिषि)—वध यास् ति ('अ' का लोप 'अतो लोपः' इ का लोप—'इतश्च', 'स्' का लोप—'स्कोः')=वध्यात् । (२) 'आशीर्लिङ्—प्र० पु० द्वि०—वध्यास्ताम् । (३) √हन्+लुङ् ('हन्'='वध'—'लुङि च' ल=तिप्='ति' च्लि, च्लि= सिच्='स्', अट्, इकार लोप-'इतश्च')—अ वध स् त (आर्धधातुक संज्ञा, इट्, 'अ' का लोप—'अतो लोपः' इट्—'अस्तिसिचोऽपृक्ते' 'स्' का लोप—'इट ईटि', इ+ई='ई'—सवर्णदीर्घ)= अवधीत् । (४) लृङ्—अहनिष्यत् ।

√यु धातु का अर्थ—'मिलाना, अलग करना' है ।

(६५१) उतो वृद्धिर्लुकि हलि ७।३।८९ । लुग्विषये उतो वृद्धिः स्यात्पिति हलादौ सार्वधातुके, न त्वभ्यस्तस्य । यौति । युतः । युवन्ति । यौषि । युथः । युथ । यौमि । युवः । युमः । युयाव । युयुवतुः । युयुवुः । युयविथ–युयोथ । युयुवथुः । युयुव । युयाव–युयव । युयुविव । युयुविम । यविता । यविष्यति । यौतु–युतात् । अयौत् ।

---

(६५१) उतो वृद्धि इति । 'लुकि' इत्यत्र विषयसप्तमी । 'नाभ्यस्तस्याचि

---

(६५१) पद—उतः, वृद्धिः, लुकि, हलि । **अनुवृत्ति**—नाभ्यस्तस्य पिति, सार्वधातुके । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय के परवर्ती रहने पर लुक् के विषय में धातु के उकार को वृद्धि होती है, परन्तु अभ्यस्तसंज्ञक उकार को वृद्धि नहीं होती । यौति, युतः इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में अचि रहित 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' (७।३।८७) सूत्र की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'लुक् के विषय में उकार को वृद्धि होती है, हलादि पित् सार्वधातुक के परे रहते, परन्तु अभ्यस्तसंज्ञक को वृद्धि नहीं होती' ।

उदाहरण—(१) √यु+लट् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, 'उ'='औ'—वृद्धि—'उतो वृद्धिर्लुकि हलि')=यौति । (२) लट्—प्र० पु० द्वि० व०—युतः (यहाँ तस् में अपित् सार्वधातुक होने से वृद्धि नहीं हुई । (३) √यु+लट् (=प्र० पु० बहु०—झि, स्='अन्त्' आदेश—'झोऽन्तः' शप्, लुक्, अपित् होने से वृद्धि का अभाव, उ=उवङ्=उव)—युव अन्ति (अ+अ='अ' पररूप)=युवन्ति ।

√यु धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	यौति	युतः	युवन्ति
म० पु०	यौषि	युथः	युथ
उ० पु०	यौमि	युवः	युमः

(१) यु+लिट् (=तिप्=णल्='अ' द्वित्व, अभ्यासकार्य)—यु यु अ ('उ'='औ'—वृद्धि—'अचो ञ्णिति' औ='आव्' आदेश)=युयाव ।

√यु धातु लिट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	युयाव	युयुवतुः	युयुवुः
म० पु०	युयविथ	युयुवथुः	युयुव
उ० पु०	युयाव–युयव	युयुविव	युयुविम

(२) लुट्—यविता । (३) लृट्—यविष्यति । लोट्—यौतु । युतात् । लङ् लकार में 'तिप्' और सिप् में हलादि पित् होने के कारण वृद्धि होगी । 'मिप्' में अम्' आदेश हो जाने पर हलादि प्रत्यय के न रहने के कारण वृद्धि नहीं होती ।

√यु लङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अयौत्	अयुताम्	अयुवन्
म० पु०	अयौः	अयुतम्	अयुत
उ० पु०	अयवम्	अयुव	अयुम

अयुताम् । अयुवन् । युयात् । इह वृद्धिर्न, भाष्ये 'पिच्च ङिन्न ङिच्च पिन्ने'ति व्याख्यानात् । विशेषविहितेन ङित्वेन पित्त्वस्य बाधात् । युयाताम् । युयुः । यूयात् । यूयास्ताम् । यूयासुः । अयावीत् । अयाविष्यत् । या प्रापणे । याति । यातः । यान्ति । ययौ । याता । यास्यति । यातु । अयात् । अयाताम् । (६५२) **लङः शाकटायनस्यैव** ३।४।१११ । आदन्ताल्लङो झेर्जुस् वा । अयुः । अयान् । यायात् । यायाताम् । यायुः । यायात् । यायास्ताम् । यायासुः । अयासीत् । अयासिष्टाम् । अयास्यत् । एवं–वा गति-

---

पिति सार्वधातुके' इति सूत्रमचिवर्जमनुवर्तते । तदाह—**लुग्विषय इत्यादि । यौति ।** युधातोर्लटि, लः स्थाने तिपि, शपि, शपो लुकि, 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इत्युकारस्य वृद्धौ 'यौति' इति ।

(६५२) **लङः शाकटायनस्येति ।** झेर्जुस् इति, आत इति चानुवर्तते । तदाह—**आदन्तादिति । अयुः ।** याधातोः लङि परस्मैपदे झिप्रत्यये अडागमेऽनुबन्धलोपे 'लङः शाकटायनस्यैव' इत्यनेन विकल्पेन झेर्जुसि अनुबन्धलोपे 'अ या उस्' इति जाते

विधिलिङ् में—युयात । यहाँ 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' सूत्र से 'यासुट्' को ङित्व विधान भी होने के कारण वृद्धि नहीं होती । इस प्रकार विशेषरूप से ङित् के द्वारा सामान्य पित् का बाध हो जाता है । इसी आशय से भगवान् भाष्यकार ने कहा है—"ङिच पिन्न, पिच्च ङिन्न" अर्थात् ङित् पित् नहीं होता और पित् ङित् नहीं होता । विधिलिङ् प्र० पु० द्वि० व०—युयाताम् । बहु०—युयुः । आशीर्लिङ् में—यूयात , यूयास्ताम्, यूयासुः इत्यादि । (यहाँ 'अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होता है ।) (१) √यु+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि=सिच्='स्', अट्, इकारलोप, इट्, ईट्, 'स्' का लोप—'इट ईटि', इ+ई='ई'—सवर्णदीर्घ)—अ यु ई त (उ='औ'—वृद्धि —'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' औ='आव्' आदेश)=अयावीत । (२) लृङ्—अयाविष्यत ।

√या धातु का अर्थ—'पहुँचना, जाना' है । (१) √या+लट् (=तिप्=ति, शप्, लुक्) =याति । (२) लट् द्विव०—यातः । (३) लट् बहु०—यान्ति । (४) √या+लिट् (=तिप् =णल्='औ'—'आत औ णलः' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व)—य या औ (आ+औ='औ'— वृद्धि—'वृद्धिरेचि')=ययौ । (५) लुट्—याता । (६) लृट्—यास्यति । (७) लोट्—यातु । (८) लङ् प्र० पु० एकव०—अयात । (९) लङ् प्र० पु० द्विव०—अयाताम् ।

(६५२) पद—लङः शाकटायनस्य; एव । **अनुवृत्ति**—झेर्जुस् , आतः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—आदन्त धातु से उत्तरवर्ती लङ् सम्बन्धी 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश होता है । अयुः, अयान् इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'झेर्जुस्' (३।४।१०८) तथा 'आतः' (३।४।११०) सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है । अतः—"आकारान्त धातुओं से परवर्ती लङ् के 'झि' के स्थान में आचार्य शाकटायन के मत में 'जुस्' आदेश होता है" ।

उदाहरण—(१) √या+लङ् (=झि, शप् , लुक, अट्)—अ या झ (झि=जुस्='उस्'— विकल्प से—'लङः शाकटायनस्यैव', आ+उ='उ'—पररूप—'उस्यपदान्तात' स्=र्= :) =अयुः । जुस् के अभावपक्ष में—अ या झि (झ्='अन्त'—'झोऽन्तः' इकार लोप, 'त' का संयोगान्त लोप, सवर्णदीर्घ)=अयान् । (२) विधिलिङ्—यायात, यायाताम् , यायुः इत्यादि । (३) आशीर्लिङ्—यायात , यायास्ताम् , यायासुः । (४) √या+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि=

गन्धनयोः। भा दीप्तौ। ष्णा शौचे। 'वाऽन्यस्य संयोगादेरि'त्येत्वम्। स्नेयात्। स्नायात्। श्रा पाके। द्रा कुत्सायां गतौ। प्सा भक्षणे। पा रक्षणे। रा दाने। ला आदाने। दाप् लवने। ख्या प्रकथने। अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः। ख्याति। विद ज्ञाने। (६५३) विदो लटो वा ३।४।८३। वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्युः। वेद। विदतुः। विदुः। वेत्थ। विदथुः। विद। वेद। विद्व। विद्म। पक्षे-

---

'उस्यपदान्तात्' इत्यनेन पररूपे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'अयुः' इति। जुसभावपक्षे तु 'झोऽन्तः' इति झस्यान्तादेशे 'इतश्च' इत्यनेन इकारलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तकारलोपे सवर्णदीर्घे संयोगे च कृते 'अयान्' इति।

(६५३) विदो लटो वेति। अत्र 'परस्मैपदानां णलतुस' इत्यादिसूत्रमनुवर्तते। तदाह—वेत्तेर्लट इत्यादि। वेद। विद्धातोर्लटि, लः स्थाने तिपि, 'विदो लटो वा' इति तिपः स्थाने णलि, अनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति इकारस्य गुणे वेद इति। णलभावपक्षे तु—'विद् ति' इति स्थिते, चर्त्वेन दकारस्य तकारे गुणे 'वेत्ति' इति।

सिच्='स्' अट्, इकारलोप)—अ या स् त ('इट्' का आगम, सक्='स्'—'यमरमनमातां सक्च', ईट्—'अस्तिसिचोऽपृक्ते' 'स्' का लोप—'इट ईटि' सवर्णदीर्घ)=अयासीत्। (५) लुङ्—द्विव०—अयासिष्टाम्। (६) लृङ्—अयास्यत्।

√वा का अर्थ—'चलना, वहना, सूचित करना' है। लट्—वाति। √भा धातु का अर्थ—'चमकना' है। लट्—भाति। √ष्णा (स्ना) का अर्थ—'स्नान करना' है। लट्—स्नाति। आशीर्लिङ् में संयोगादि होने से 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' से विकल्प से एत्व होता है। स्नेयात्। स्नायात्। √श्रा का अर्थ—'पकाना' है। लट्—श्राति। √द्रा का अर्थ—'कुत्सित गति'—(बुरी चाल चलना) है। लट्—द्राति। √प्सा का अर्थ—'खाना' है। लट्—प्साति। √पा का अर्थ—'रक्षा करना' है। लट्—पाति। √रा का अर्थ—'देना' है। लट्—राति। √ला का अर्थ—'लेना' है। लट्—लाति। √दाप् का अर्थ—'काटना' है। लट्—दाति। √ख्या का अर्थ—कहना है। लट्—ख्याति। इस धातु का सार्वधातुक में ही प्रयोग करना चाहिए।

√विद धातु का अर्थ—'जानना' है।

(६५३) पद—विदः, लटः, वा। **अनुवृत्ति**—परस्मैपदानाम्.........वमाः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'विद्' धातु से परवर्ती लट् लकार सम्बन्धी परस्मैपद को णल् आदि आदेश विकल्प से होते हैं। वेद। विदतुः। विदुः इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' (३।४।८२) की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'विद् धातु से परवर्ती लट् के परस्मैपद प्रत्ययों को णल् आदि आदेश विकल्प से होते हैं'।

उदाहरण—(१) √विद्+लट् (=तिप्=ति, तिप्=णल्='अ' विकल्प से—'विदो लटो वा' सार्वधातुक संज्ञा शप्, शप् का लुक्—'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' 'इ'='ए'—गुण 'पुगन्त-लघूपधस्य च')=वेद। णल् के अभावपक्ष में—विद्+ति (शप् का लुक्, गुण, 'द्'='त्' चर्त्व)=वेत्ति। (२) लट् प्र० पु० द्विव०—विदतुः (अतुस्)। पक्ष में—वेत्तः। (३) लट् प्र० पु० बहु०—विदुः। पक्ष में—विदन्ति।

वेत्ति । वित्तः । विदन्ति । (६५४) **उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्** ३।१।३८ । एभ्यो लिटचाम् वा स्यात् । विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि न गुणः । विदाञ्चकार । विवेद । वेदिता । वेदिष्यति । (६५५) **विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्** ३।१।४१ ।

---

(६५४) **उषविदजागृभ्य** इति । 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' इत्यतः आम् लिटीत्यनुवर्तते । अत आह—**एभ्य इति** । **विदाञ्चकार** । विद्धातोर्लिटि 'उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' इत्यामि 'आमः' इति लिटो लुकि, विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानात् उपधायाः लघूपधगुणाभावे, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परककृञोऽनुप्रयोगे 'विदाम् कृ लिट्' इति जाते, लः स्थाने तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति ऋवर्णस्याकारे रपरत्वे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इत्यभ्यासस्य चुत्वेन चकारे 'विदाम् च कृ अ' इति जाते, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, रपरे च कृते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ मकारस्यानुस्वारे परसवर्णे कृते 'विदाञ्चकार' इति ।

√विद् धातु के लट् लकार के रूप

(णलादि पक्ष में)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	वेद	विदतुः	विदुः
म० पु०—	वेत्थ	विदथुः	विद
उ० पु०—	वेद	विद्व	विद्म

(णलादि के अभाव पक्ष में)—

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	वेत्ति	वित्तः	विदन्ति
म० पु०—	वेत्सि	वित्थः	वित्थ
उ० पु०—	वेद्मि	विद्वः	विद्मः

(६५४) पद—उषविदजागृभ्यः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—आम्, लिटि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'लिट्' के परवर्ती रहने पर उष, विद और जागृ धातु से परे विकल्प से 'आम्' होता है । विदाञ्चकार ।

विमर्श—यहाँ 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (३।१।३५) से 'आम्' तथा 'लिटि' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"लिट् परे रहते उष (=जलाना), विद् (=जानना), जागृ (=जागना) धातुओं से विकल्प से 'आम्' होता है" ।

विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानात्० विद् धातु को अकारान्त स्वीकार किया गया है । अकार का 'अतो लोपः' से लोप हो जाता है । अकार लोप के स्थानिवद्भाव होने पर लघूपध न मिलने के कारण 'आम्' के परवर्ती रहते 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण नहीं होता ।

उदाहरण—(१) √विद्+लिट् ('आम्'—उषविदजागृभ्यः०' 'लिट्' का लुक्—'आमः' लिट्परक √कृ का अनुप्रयोग)—विदाम् कृ लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा ऋ='अ'—'उरत्' रपर, हलादिशेष 'क्'='च्'—कुहोश्चुः)—विदाम् च कृ अ (गुण, रपर, 'अत उपधायाः' से वृद्धि, अनुस्वार, परसवर्ण)—विदाञ्चकार । आम् के अभावपक्ष में—विवेद । (२) लुट्—वेदिता । (३) लृट्—वेदिष्यति ।

वेत्तेर्लोटयाम्, गुणाभावो लोटो लुक्, लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते । पुरुषवचने न विवक्षिते । इति शब्दात् । (६५६) तनादिकृञ्भ्य उः ३।१।७९ । तनादेः कृञश्च उप्रत्ययः स्यात् । शपोऽपवादः । विदाङ्करोतु । (६५७) अत उत्सार्वधातुके ६।४। ११० । उत्प्रत्ययान्तस्य कृञोऽत उत्स्यात् सार्वधातुके क्ङिति । विदाङ्कुरुतात् । विदाङ्कुरुताम् । विदाङ्कुर्वन्तु । 'उतश्चे'ति हेर्लुक् । आभीयत्वेन लुकोऽसिद्धत्वादुत्वम् ।

---

(६५५) **विदाङ्कुर्वन्त्वित्ति ।** इतिशब्दोऽत्र प्रकारे । एवं जातीयकं वैकल्प्येन प्रत्येतव्यमित्यर्थः ।

(६५६) **तनादिकृञ्भ्य इति ।** 'सार्वधातुके यगि'त्यतः 'सार्वधातुके' इति, 'कर्तरि शप्' इत्यतः 'कर्तरी'त्यनुवर्तते । तदाह—**तनादेरिति । विदाङ्करोतु ।** विद्धातोर्लोटि, 'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिके आमि, 'आमः' इति लोटो लुकि, लोट्परके कृञि प्रयुक्ते, लः स्थाने तिपि, शपि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युकारे कृते 'विदाम् कृ उ ति' इति जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति उभयत्र गुणे 'एरुः' इति तिपः उकारस्य उत्वे मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे कृते 'विदाङ्करोतु' इति ।

(६५७) **अत उत् इति । उप्रत्ययान्तस्येति ।** 'उतश्च प्रत्ययादि'त्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः ।

---

(६५५) पद—विदाङ्कुर्वन्तु, इति, अन्यतरस्याम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लोट् के परवर्ती रहते विद् धातु से आम् तथा गुण का अभाव और लोट् का लुक् होता है । लोट्परक √कृ का अनुप्रयोग भी विकल्प से होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र द्वारा 'विदाङ्कुर्वन्तु' यह रूप लोट् के प्रथमपुरुष के बहुवचन में निपातन किया जाता है ।

'विदाङ्कुर्वन्तु' में पुरुष और वचन विवक्षित नहीं हैं । अर्थात् प्रथमपुरुष के बहुवचन में ही पूर्वोक्त कार्य नहीं होते, अपितु लोट् लकार के सभी पुरुषों और वचन में उक्त चारों कार्य होते हैं ।

(६५६) पद—तनादिकृञ्भ्यः, उः । **अनुवृत्ति**—सार्वधातुके, कर्तरि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—तनादि और कृञ् धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है ।

विमर्श—यहाँ—'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से 'सार्वधातुके' तथा 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'कर्तरि' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"कर्तृवाची सार्वधातुक के परवर्ती रहते तनादि और कृञ् धातुओं से 'उ' प्रत्यय होता है" ।

उदाहरण—(१) √विद्+लोट् ('आम्' विकल्प से—'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' लोट् का लुक्—'आमः', लोट्परक कृ का अनुप्रयोग)—विदाम् कृ लोट् (=तिप्=ति, शप् का बाधकर 'उ'—'तनादिकृञ्भ्य उः' आर्धधातुक संज्ञा, 'ऋ'='अर्'—गुण 'उ'='ओ'—गुण—'सार्वधातु०' 'इ'='उ'—'एरुः' म्=अनुस्वार=परसवर्ण)='विदाङ्कुर्वन्तु' ।

(६५७) पद—अतः, उत, सार्वधातुके । **अनुवृत्ति**—करोतेः, उतः प्रत्ययाव, क्ङिति । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सार्वधातुक कित् ङित् के परवर्ती रहते उप्रत्ययान्त कृञ् धातु के 'अ' को 'उ' आदेश होता है । विदाङ्कुरुतात् ।

विदाङ्कुरु । विदाङ्करवाणि । वेत्तु । अवेत् । अवित्ताम् । अविदुः । (६५८) दश्च ८।२।७५ । धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि रुर्वा । अवेः । अवेत् । विद्यात् । विद्याताम् । विद्युः । विद्यात् । विद्यास्ताम् । विद्यासुः । अवेदीत् । अवेदिष्यत् । अस् भुवि । अस्ति । (६५९) श्नसोरल्लोपः ६।४।१११ । श्नस्यास्तेश्चातो लोपः सार्वधातुके क्ङिति । स्तः । सन्ति । 'तासस्त्योरि'ति सलोपः । असि । स्थः । स्थ । अस्मि । स्वः । स्मः ।

---

(६५८) **दश्चेति** । 'सिपि धातोरुर्वा' इत्यनुवर्तते । पदस्येत्यधिकृतम् । तदाह—**धातोर्दस्येति** । **अवेः** । विद्धातोर्लङः सिपि, शपो लुकि अटि, इकारस्य 'इतश्च' इत्यनेन लोपे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति गुणे 'अवेद् स्' इति जाते, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सिपः सस्य लोपे 'दश्च' इति विदेर्दस्य वा रुत्वे रेफस्य विसर्गे कृते 'अवेः' इति ।

(६५९) **श्नसोरल्लोप इति** । 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके 'गमहन०' इत्यतः क्ङितीति चानुवर्तते । तदाह—**श्नस्यास्तेश्चात इति** । **स्त** इति । अस्धातो-

---

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'नित्यं करोतेः' (६।४।१०८) से 'करोतेः', 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (६।४।१०६) से 'उतः, प्रत्ययात्' तथा 'गमहन०' (६।४।९८) से 'क्ङिति' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"कित् ङित् सार्वधातुक के परे रहते √कृ के अकार के स्थान में उत्व होता है ।"

उदाहरण—(१) विदाम् कृ लोट् (=तिप्=ति, 'इ'='उ'—'एरुः' तु=तातङ्=तात्, 'उ'—'तनादिकृञ्भ्य उः', गुण, रपर्, 'अ'='उ'—'अत उत्सार्वधातुके' अनुस्वार, परसवर्ण)= विदाङ्कुरुतात् । (२) लोट् प्र० पु० द्विव०—विदाङ्कुरुताम् । (३) बहु०—विदाङ्कुर्वन्तु । (४) लोट् म० पु० एकव० सिप् 'सि'='हि' 'हि' का 'उतश्च प्रत्ययात्' से लुक् । (आभीयत्वेन लुक् के असिद्ध होने से उत्व)—विदाङ्कुरु । (५) उ० पु० एक० में आट्, गुण, अवादेश, णत्व—विदाङ्करवाणि । पूर्वोक्त चार कार्यों के अभावपक्ष में—वेत्तु–वित्तात्, वित्ताम्, विदन्तु इत्यादि रूप बनेंगे । (६) लङ् में—अवेत्, अवित्ताम्, अविदुः (प्र० पु०) ।

(६५८) पद—दः, च । **अनुवृत्ति**—सिपि धातोरुर्वा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'सिप्' के परवर्ती रहते धातु के पदान्त दकार को विकल्प से 'रु' होता है । अवेः, अवेत् ।

विमर्श—यहाँ 'सिपि धातोरुर्वा' (८।२।७४) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है । 'पदस्य' का अधिकार है । अतः—"सिप् परे रहते धातु के पदान्त दकार को विकल्प से 'रु' हो जाता है" ।

उदाहरण—(७) विद्+लङ् (=सिप्=सि, शप् का लुक्, अट्, इकार का लोप, उपधा गुण)—अवेद् स् ('स्' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः०', द्=रु—'दश्च'=र्=ः)=अवेः । रुत्व के अभावपक्ष में—अवेत् । विधिलिङ् (प्र० पु०)—विद्यात्, विद्याताम्, विद्युः । आशीर्लिङ् (प्र० पु०)—विद्यात्, विद्यास्ताम्, विद्यासुः । लुङ्—अवेदीत् । लृङ्—अवेदिष्यत् ।

√अस् का अर्थ—'होना' है । (१) √अस्+लट् (=तिप्=ति, शप्, लुक्)=अस्ति ।

(६५९) पद—श्नसोः, अल्लोपः । **अनुवृत्ति**—सार्वधातुके, क्ङिति । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—श्न और अस्ति के अकार का लोप होता है सार्वधातुक कित् ङित् के परे रहते ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अत उत्सार्वधातुके' (६५८) से सार्वधातुके तथा 'गमहन०' से

(६६०) अस्तेर्भूः २।४।५२ । अस्तेर्भूः आर्धधातुके । बभूव । भविता । भविष्यति । अस्तु-स्तात् । स्ताम् । सन्तु । **(६६१) घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ६।४।११९ ।** घोरस्तेश्चैत्वं हौ, अभ्यासलोपश्च । आभीयत्वाद्धेर्धिः । एधि-स्तात् । स्तम् । स्त । असानि । असाव । असाम । आसीत् । आस्ताम् । आसन् । स्यात् । स्याताम् । स्युः ।

लटि, लः स्थाने तसि, शपो लुकि 'श्नसोरल्लोपः' इत्यस्तेरकारस्य लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'स्तः' इति ।

(६६०) अस्तेर्भूरिति । 'अस्धातोर्भूभावः स्यादार्धधातुके' इत्यर्थः ।

(६६१) घ्वसोरेदिति । घु अस् इत्यनयोर्द्वन्द्वः । एत् हौ इति च्छेदः । एधि । अस्धातोर्लोटि, लः स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, 'सेर्ह्यपिच्च' इति सिपः स्थाने

'क्ङिति' की अनुवृत्ति आती है । अतः "कित् ङित् सार्वधातुक के परवर्ती रहते श्नम् प्रत्यय तथा अस् धातु के अकार का लोप होता है" ।

उदाहरण—(२) √अस्+लट् (=तस्, शप्, लुक्, 'अ' का लोप—'श्नसोरल्लोपः' स् =र्=:) =स्तः । (३) प्र० पु० बहु०—सन्ति । (४) अस्+लट् (=सिप्=सि, शप्, लुक्, 'स्' का लोप—'तासस्त्योर्लोपः')=असि ।

√अस् धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अस्ति	स्तः	सन्ति
म० पु०	असि	स्थः	स्थ
उ० पु०	अस्मि	स्वः	स्मः

(६६०) पद—अस्तेः, भूः । **अनुवृत्ति**—आर्धधातुके । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'आर्धधातुक' के परवर्ती रहते 'अस्' धातु को 'भू' आदेश होता है ।

विमर्श—'आर्धधातुके' का अधिकार है । अतः आर्धधातुक के विषय में अस् धातु को भू आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) √अस्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', आर्धधातुक संज्ञा 'लिट् च', अस् ='भू'—'अस्तेर्भूः' वुक्='व्' का आगम—'भुवो वुग् लुङ्लिटोः', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, 'उ'='अ'—भवतेरः, 'भ्'='ब्'—'अभ्यासे चर्च')=बभूव । (२) लुट्—भविता । (३) लृट्—भविष्यति । लोट् प्र० पु०—अस्तु-स्तात् । स्ताम् । सन्तु ।

(६६१) पद—घ्वसोः, एत्, हौ, अभ्यासलोपः, च । **अनुवृत्ति**—क्ङिति । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'हि' के परवर्ती रहने पर घुसंज्ञक धातु और अस् धातु को एत्व और अभ्यास का लोप होता है ।

विमर्श—यहाँ 'गमहन०' (६।४.९८) सूत्र से 'क्ङिति' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'हि' तथा कित्, ङित् प्रत्यय के परवर्ती रहते घुसंज्ञक धातु एवं अस् धातु को एकारादेश और अभ्यास का लोप होता है ।"

आभीयत्वादिति । प्रकृत सूत्र द्वारा विहित एत्व के आभीय कार्य होने से झल् परे होने के कारण 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश हो जाता है ।

भूयात् । अभूत् । अभविष्यत् । (६६२) **उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ८।३।८७ ।** उपसर्गेणः प्रादुषश्च परस्यास्तेः सस्य षो यकारेऽचि च परे । निःष्यात् । प्रादुःष्यात् । निःषन्ति । प्रादुःषन्ति । यच्परे किम् ? अभिस्तः । रु शब्दे । (६६३) **तुरुस्तु-**

अपित् 'हि' इत्यादेशे 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति सस्य एत्वे, एत्वस्याभीयत्वेनासिद्धत्वात् 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धौ 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'एधि' इति रूपम् ।

(६६२) **उपसर्गप्रादुर्भ्यामिति** । 'इण्कोरि'त्यधिकृतम् । तत्र इण इत्युपसर्गेण सम्बध्यते । 'सहेः साडः सः' इत्यतः स इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । 'मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । तदाह—**उपसर्गेण इति** । यकारपरकत्वे उदाहरति—**निःष्यात्, प्रादुःष्यादिति ।**

उदाहरण—(१) √अस्+लोट् (ल्=सिप्='हि'—'सेर्ह्यपिच्च' 'स्'='ए'—'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' आभीयत्वेन एकार के असिद्ध होने से 'हि'='धि'—'हुझल्भ्यो हेर्धिः', 'अ' का लोप—'श्नसोरल्लोपः')=एधि । हि=विकल्प से तातङ्=तात (इस पक्ष में एत्व नहीं होता । क्योंकि 'तातङ्' आदेश होने पर 'हि' के न मिलने से एत्व की प्राप्ति ही नहीं होती । अकारलोप) =स्तात । उत्तमपुरुष में 'आट्' का आगम होता है, जो 'पित्' है । अतः वहाँ अकार का लोप भी नहीं होता । असानि इत्यादि ।

√अस् धातु लोट् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०—	अस्तु	स्ताम्	सन्तु
म० पु०—	एधि-स्तात	स्तम्	स्त
उ० पु०—	असानि	असाव	असाम

(२) अस्+लङ् (तिप्=ति, इकारलोप, आट्,)—आ अस् त (शप् लुक्, ईट्—'अस्तिसिचोऽपृक्ते', आ+अ='आ'—वृद्धि—'आटश्च')=आसीत । (३) लङ् प्र० पु० द्विव०—आस्ताम् । (४) लङ् प्र० पु० बहु०—आसन् । म० पु०—आसीः, आस्तम् , आस्त । उ० पु०—आसम् , आस्व, आस्म । विधिलिङ्—स्यात, स्याताम्, स्युः इत्यादि । आशीलिंङ् तथा शेष लकारों में आर्धधातुक होने से 'भू' आदेश हो जाता है । भूयात । लङ्—अभूत । लृङ्—अभविष्यत ।

(६६२) पद—उपसर्गप्रादुर्भ्याम्, अस्ति, यच्परः । **अनुवृत्ति**—सः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपसर्ग सम्बन्धी 'इण्' से परे और 'प्रादुस्' से परे 'अस्ति' के सकार को मूर्धन्य (सकार) होता है, आगे यकार और अच् के परवर्ती रहते ।

विमर्श—'इण्कोः' का अधिकार है । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का भी अधिकार आ रहा है । 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से 'सः' पद की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—"उपसर्ग सम्बन्धी इण् से उत्तर तथा 'प्रादुस्' से उत्तरवर्ती यकारपरक एवम् अच्परक अस् धातु के सकार को मूर्धन्य षकार आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) निस्+स्यात (स्=र्=:)—निः स्यात ('स्'='ष्'—'उपसर्गप्रादुर्भ्याम्')=निःष्यात । (२) प्रादुः+स्यात (षत्व)=प्रादुःष्यात । (३) नि+सन्ति, प्रादुः+सन्ति (षत्व)=निःषन्ति, प्रादुःषन्ति । सूत्र में 'यच्परे' कहा गया है । अतः 'अभिस्तः' में षत्व नहीं हुआ ।

√रु का अर्थ—'शब्द करना' है ।

शम्यमः सार्वधातुके ७।३।९५। एभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य हलादेस्तिङ ईड् वा स्यात्। 'नाभ्यस्तस्ये'त्यतोऽनुवृत्तिसम्भवे पुनः सार्वधातुकग्रहणमपिदर्थम्। रवीति। रौति। रुवीतः। रुतः। हलादेः किम्? रुवन्ति। तिङः किम्? शाम्यति। सार्वधातुके किम्? आशिषि—रूयात्। विध्यादौ तु—रुयात्। रुवीयात्। अरावीत्। अरविष्यत्। 'तु' इति सौत्रो धातुः गतिवृद्धिहिंसासु। तवीति। तौति। तुवीतः। तुतः। तुवन्ति। तुताव। तोता। तोष्यति। णु स्तुतौ। नौति। नुनाव। नविता। टु क्षु शब्दे। क्षौति। चुक्षाव। क्षविता। क्ष्णु तेजने। क्ष्णौति। क्ष्णविता।

---

(६६३) **तुरुस्तुशम्यम इति।** तु रु स्तु शमि अम् इत्येतेषां समाहारद्वन्द्वात्पञ्चम्येकवचनम्। 'उतो वृद्धिः' इत्यतो हलीति, 'भूसुवोः' इत्यतस्तिङीति, 'ब्रुव ईडि'त्यतः ईडिति, 'यङो वा' इत्यस्माद् वेति चानुवर्तते। तदाह—**एभ्य इत्यादिना। रवीति, रौति।** रुधातोर्लटि, तिपि, शपि, शपो लुकि, 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके'

---

(६६३) पद—तुरुस्तुशम्यमः, सार्वधातुके। **अनुवृत्ति**—तिङि वा, ईट्, हलि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तु, रु, स्तु, शमि और यम् धातुओं से परवर्ती हलादि तिङ् सार्वधातुक को विकल्प से ईट् का आगम होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'भूसुवोस्तिङि' (७।३।८८) से 'तिङि', 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (७।३।८९) से 'हलि', 'ब्रुव ईट्' (७।३।९३) से 'ईट्' तथा 'यङो वा' (७।३।९४) से 'वा' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"तु, रु, ष्टुञ्, शम् तथा अम धातुओं से परवर्ती हलादि तिङ् सार्वधातुक को विकल्प से 'ईट्' का आगम होता है।" यहाँ 'नाभ्यस्तस्य' से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति कर अर्थवशात् षष्ठ्यन्त में विपरिणाम करके कार्य निर्वाह हो जाता। पुनः सूत्र में 'सार्वधातुके' का ग्रहण क्यों किया? इसका उत्तर है कि—अनुवृत्त सार्वधातुक पित् सम्बद्ध आता, तब अपित् तिङ् को ईट्, जो इष्ट है, वह नहीं होता। अतः यहाँ 'सार्वधातुके' का ग्रहण किया गया है।

उदाहरण—(१) √रु+लट् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, ईट्='ई' आगम विकल्प से—'तुरुस्तुशम्यमः०' गुण, अवादेश)=रवीति। ईट् के अभावपक्ष में—रु ति ('उ'='औ'—वृद्धि—'उतो वृद्धिर्लुकि हलि')=रौति। (२) √रु+लट् (=तस्, शप्, लुक्, ईट्—विकल्प से, 'उ'='उवङ्'='उव'—'अचि श्नु०', स्=र्=:)=रुवीतः। इडभावपक्ष में—रुतः। सूत्र में 'हलादि' ग्रहण किया गया है, अतः—रु+लट् (=झि, झ्='अन्त')—'रु अन्ति' (यहाँ हलादि न होने से ईट् नहीं हुआ। 'उवङ्' होकर, पररूप)=रुवन्ति। 'तिङ्' पद के ग्रहण होने से 'शाम्यति' में 'ईट्' नहीं हुआ। 'सार्वधातुके' का ग्रहण होने से आशीर्लिङ् में 'ईट्' नहीं हुआ—रूयात्। विधिलिङ्—रुयात्, रुवीयात् (विकल्प से इट्)। लुङ्—अरावीत्। लृङ्—अरविष्यत्।

√तु यह सौत्र धातु है। यह गति, वृद्धि एवं हिंसा अर्थ में है। (१) तु+लट् (=तिप्=ति, शप् लुक्, विकल्प से ईट्='ई'—'तुरुस्तुशम्यमः' गुण, अवादेश)=तवीति। इट् के अभावपक्ष में वृद्धि—'उतो वृद्धिः'=तौति। (२) प्र० पु० द्विव०—तुवीतः। तुतः। (३) बहु०—तुवन्ति। (४) लिट्—तुताव। (५) लुट्—तोता। (६) लृट्—तोष्यति। √णु धातु का अर्थ—'स्तुति करना' है। 'णो नः' से नकार आदेश, 'उतो वृद्धिः' से वृद्धि। (१) प्र० पु० एक०—नौति। (२) लिट्—नुनाव। (३) लुट्—नविता।

अक्ष्णावीत् । ष्णु प्रस्रवणे । स्नौति । सुष्णाव । स्नविता । षु प्रसवैश्वर्ययोः । प्रसवोऽभ्यनुज्ञानम् । सौति । सुतः । सुषाव । सोता । असौषीत् । कु शब्दे । कौति । चुकाव । कोता । इण् गतौ । एति । इतः । (६६४) इणो यण् ६।४।८१ । अजादौ प्रत्यये परे । इयङोऽपवादः । यन्ति । (६६५) अभ्यासस्यासवर्णे ६।४।७८ । अभ्यासस्य इ-उवर्णयोरियङुवङौ स्तोऽसवर्णेऽचि परे । इयाय । (६६६) दीर्घं

इति वैकल्पिके ईडागमेऽनुबन्धलोपे गुणेऽवादेशे 'रवीति' इति । ईडभावे तु—'रु ति' इत्यत्र 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इत्यनेन वृद्धौ 'रौति' इति ।

(६६४) इणो यणिति । 'अचि श्नु०' इत्यतोऽचीत्यनुवर्तते । तस्याङ्गाक्षिप्तप्रत्ययविशेषणत्वात्तदादिविधिस्तदाह—अजादाविति ।

(६६५) अभ्यासस्येति । 'अचि श्नु' इत्यतोऽचीति, य्वोरियङुवङाविति चानुवर्तते । अत आह—अभ्यासस्येति । इयाय । इण्धातोर्लिटि, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वे 'इ इ अ' इति जाते वृद्धौ, आयादेशे 'अभ्यासस्यासवर्णे' इत्यभ्यास-इवर्णस्य स्थाने इयङादेशेऽनुबन्धलोपे दीर्घे 'इयाय' इति ।

√टु क्षु का अर्थ—'शब्द करना' है । (१) लट्—क्षौति । (२) लिट्—चुक्षाव । (३) लुट्—क्षविता । √क्ष्णु का अर्थ—'तेज करना' है । (१) लट्—क्ष्णौति । (२) लुट्—क्ष्णविता । (३) लुङ्—अक्ष्णावीत् । √ष्णु का 'प्रस्रवण' अर्थ है । (१) लट्—स्नौति । (२) लिट्—सुष्णाव । (३) लुट्—स्नविता । √षु धातु प्रसव और ऐश्वर्य अर्थ में है । प्रसव का अर्थ—'अभ्यनुज्ञान'=आज्ञा प्राप्त करना है । 'ष्'='स'—'धात्वादेः' । (१) लट्—सौति । सुतः । (२) लिट्—सुषाव । (३) लुट्—सोता । (४) लुङ्—असौषीत् । √'कु' धातु का अर्थ 'शब्द करना' है । (१) लट्—कौति । (२) लिट्—चुकाव । (३) लुट्—कोता ।

√'इण्' का अर्थ—'जाना' है । (१) √इण् (इ)+लट् (=तिप्=ति, शप् लुक्, ङित्वाभाव होने से गुण)=एति । (२) इ+लट् (=तस्, शप् का लुक्, स्=र्= :)=इतः ।

(६६४) पद—इणः, यण् । **अनुवृत्ति**—अचि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अजादिप्रत्यय के परवर्ती रहते इण् को यण् आदेश होता है । यन्ति ।

विमर्श—यहाँ 'अचि श्नु०' (६।४।७७) सूत्र से 'अचि' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'अचि' अङ्ग से आक्षिप्त प्रत्यय का विशेषण होने से तदादिविधि होती है । अतः अजादि प्रत्यय के परे रहते 'इण्' धातु को 'यण्' होता है ।

उदाहरण—(३) √इ+लट् (=झि, 'झ्'='अन्त्' शप् लुक्, 'इ'='य्'—'इणो यण्') =यन्ति ।

(६६५) पद—अभ्यासस्य, असवर्णे । **अनुवृत्ति**—अचि, य्वोः, इयङुवङौ ।

मूलार्थ—असवर्ण अच् के परवर्ती रहते अभ्यास सम्बन्धी 'इवर्ण-उवर्ण' को 'इयङ्-उवङ्' आदेश होता है । इयाय ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्र 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) से 'अचि, य्वोः और इयङुवङौ' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"सवर्णभिन्न अच् के परे रहते अभ्यास के इवर्ण, उवर्ण को क्रमशः 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश होते हैं ।"

इणः किति ७।४।६९। इणोऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात्किति लिटि परे। **ईयतुः। ईयुः। इययिथ। इयेथ। एता। एष्यति। एतु। ऐत्। ऐताम्। आयन्। इयात्। ईयात्।** (६६७) **एतेर्लिङि** ७।४।२४। उपसर्गात्परस्य इणोऽणो ह्रस्वः स्यादार्धधातुके किति लिङि। **निरियात्।** (६६८) **अन्तादिवच्च** ६।१।८५। योऽय-

---

(६६६) **दीर्घ इण इति।** 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यतः 'अभ्यासस्ये'ति 'व्यथो लिटी'त्यतः 'लिटी'ति चानुवर्तते। अत आह—'**इणोऽभ्यासस्ये**'ति। **ईयतुः।** इण् धातोर्लिटि लः स्थाने तसि, तसोऽतुसादेशे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'इ इ अतुस्' इति जाते 'इणो यण्' इति यणि 'दीर्घ इणः किति' इति दीर्घे रुत्वे विसर्गे च कृते 'ईयतुः' इति। **इययिथ।** इण्धातोर्लिटि तत्स्थाने सिपि, सिपस्थलि द्वित्वे भारद्वाजनियमात् वैकल्पिके इटि, गुणेऽयादेशे 'अभ्यासस्यासवर्णे' इतीयङि 'इययिथ' इति। इडागमाभावपक्षे तु गुणे अभ्यासस्य इयङादेशे 'इयेथ' इति।

(६६७) **एतेर्लिङि।** अत्र 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' इत्यस्मात् 'उपसर्गाद्ध्रस्वः' इति, 'केऽणः' इत्यस्मादण इति, 'अयङ् यि किति' इत्यस्मात् 'किती'ति चानुवर्तते। तदाह—**उपसर्गात्परस्येति। निरियात्।** निरुपसर्गपूर्वकादिण्धातोराशीर्लिङि, लः

उदाहरण—(१) √इ+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा)—इ इ अ ('इ' ='ऐ'—वृद्धि, 'आय्' आदेश)=इयाय।

(६६६) **पद**—दीर्घः, इणः, किति। **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य, लिटि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—कित् लिट् के परवर्ती रहते 'इण्' धातु के अभ्यास को दीर्घ होता है। ईयतुः। ईयुः इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' तथा 'व्यथो लिटि' (७।४।६८) से 'लिटि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"कित् लिट् के परे रहते 'इण्' धातु के अभ्यास को दीर्घ होता है।"

उदाहरण—(१) √इण्=इ+लिट् (=तस्=अतुस्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा)—इ इ अतुस् ('इ'='य्'—यण्—'इणो यण्', 'दीर्घ'—'इ'='ई'—'दीर्घ इणः किति')=ईयतुस् (स्= र= :)=ईयतुः। (२) लिट् प्र० पु० बहु०—ईयुः। (३) इ+लिट् (=सिप्=थल्='थ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, भारद्वाज नियम से विकल्प से इट्, गुण, अय् आदेश, इ=इयङ्='इय'—'अभ्यासस्यासवर्णे')=इययिथ। इट् के अभाव पक्ष में—'इ इ थ' (—'इ'='ए'—गुण, इ=इयङ् ='इय्')=इयेथ। (४) लुट्—एता। (५) लृट्—एष्यति। (६) लोट्—एतु। (७) इ+लङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, शप्, लुक्, आट्='आ'—आडजादीनाम्, आ+इ='ऐ' वृद्धि—'आटश्च')=ऐत्। (८) लङ् प्र० पु० द्वि०—ऐताम्। (९) इ+लङ् (=झि, इकारलोप, झ्='अन्त्' आदेश, संयोगान्त लोप)—इ अन् ('इ'='य्'—'इणो यण्')—यन् (आभीय होने से यण् के असिद्ध होने पर अजादि मानकर 'आट्' आगम)=आयन्। (१०) विधिलिङ्—इयात्। (११) आशीर्लिङ्—ईयात् ('अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ)।

(६६७) **पद**—एतेः, लिङि। **अनुवृत्ति**—उपसर्गाद्ध्रस्वः, अणः, किति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उपसर्ग से परवर्ती 'इण्' धातु के 'अण्' को ह्रस्व होता है, आर्धधातुक कित् लिङ् के परे रहते। निरियात्।

मेकादेशः सः पूर्वस्यान्तवत्परस्यादिवत्स्यात् । *उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्* । अभी-यात् । अणः किम् ? समेयात् । 'समीयादि'ति प्रयोगस्तु भौवादिकस्य । (६६९) **इणो गा लुङि २।४।४५** । इणो गादेशः स्याल्लुङि । 'गातिस्थे'ति सिचो लुक् । अगात् । अगाताम् । अगुः । ऐष्यत् । इक् स्मरणे । अयमधिपूर्व एव, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणी'-ति लिङ्गात् । अन्यथा हीगर्थेत्येव ब्रूयात् । * इण्वदिक इति वक्तव्यम् * । अधियन्ति ।

स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे यासुडागमेऽनुबन्धलोपे तस्यार्धधातुकत्वे कित्त्वे सलोपे 'अकृत्सा-र्वधातुकयोः' इति दीर्घे 'एतेर्लिङि' इति ह्रस्वे 'निरियादि'ति रूपम् ।

(६६८) **अन्तादिवच्च** । 'एकः पूर्वपरयोरि'ति सूत्रमनुवर्तते । 'अन्तादिवदि'-त्यस्य यथासंख्यपरिभाषया क्रमेणान्वयः ।

(६६९) **इणो गा लुङि** । सूत्रार्थः स्पष्टः । **अगात्** । इण्धातोर्लुङि तिप्यनु-बन्धलोपे 'इणो गा लुङि' इत्यनेन इणः स्थाने 'गा' इत्यादेशे, च्लौ, च्लेः सिच्यनु-

---

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता हेतु 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' (७।४।२३) से 'उपसर्गात् ह्रस्वः', 'केऽणः' (७।४।१३) से 'अणः' तथा 'अयङ् यि क्ङिति' से 'किति' पदों की अनुवृत्ति आती है । अतः "उपसर्ग से उत्तर—'इण्' धातु के 'अण्' को कित् लिङ् के परवर्ती रहते 'ह्रस्व' होता है" ।

उदाहरण—(१) √निर् + इ + लिङ् (=तिप्='ति', इकारलोप, यासुट्='यास्' आर्ध-धातुक संज्ञा, कित्, 'स्' का लोप, 'इ'='ई'—दीर्घ—'अकृत्सार्वधातुकयोः' ह्रस्व—'एतेर्लिङि')= निरियात् ।

(६६८) पद—अन्तादिवत्, च । **अनुवृत्ति**—एकः पूर्वपरयोः । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्व-पर के स्थान में जो एकादेश होता है, वह पूर्व के अन्त के समान और पर के आदि के समान होता है ।

विमर्श—यह अतिदेश सूत्र है । अतः आरोप का विधान किया जा रहा है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है । अतः 'अन्तादिवत्' का अन्वय 'यथासंख्य' परिभाषा के सहकार से 'पूर्वपरयोः' के साथ किया जाता है । इस प्रकार सूत्र का आशय यह है कि—"पूर्व और पर के स्थान में होने वाला एकादेश क्रमशः पूर्ववर्ती वर्ण-समुदाय के अन्त के समान और परवर्ती वर्ण-समुदाय के आदि के समान समझा जाता है" ।

(प०) **उभयत इति** । उभयत आश्रयण में अन्तादिवद्भाव नहीं होता । अर्थात् पूर्ववद्भाव और अन्तवद्भाव दोनों एकसाथ नहीं होते । **अभीयात्** । अभि+ईयात् । यहाँ उक्त परिभाषा के अनुसार ह्रस्व नहीं होता । यदि प्रकृत सूत्र से पूर्वान्तवद्भाव से 'अभी' में उपसर्गत्व धर्म माना जाय तो आगे 'यात्' में इण् नहीं मिलता । यदि परादिवद्भाव से 'ईयात्' में इणत्व लाया जाय तो पूर्व में 'अभ्' शेष रहता है, जो उपसर्ग नहीं है । यदि पूर्वान्तवद्भाव से एकादेश युक्त 'अभी' में उपसर्गत्व और 'भीयात्' में इण् धातुत्व का आश्रयण किया तो ह्रस्व हो सकता है । परन्तु दोनों विरुद्ध कार्य एक साथ नहीं होते । अतः यहाँ ह्रस्व नहीं होता ।

अणः किम् ? समेयात् । 'एतेर्लिङि' सूत्र में 'अणः' पद का ग्रहण होने से 'समेयात्' में सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । सम्+आ+ईयात् (आ+ई='ए'—गुण)=समेयात् । 'समीयात्' प्रयोग भ्वादिगणीय धातु का है ।

(६६९) पद—इणः, गा, लुङि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुङ् के परवर्ती रहते 'इण्' के स्थान में 'गा' आदेश होता है ।

अध्यगात् । केचित्तु आर्धधातुकाधिकारोक्तस्यैवातिदेशमाहुः । तन्मते यण्न । तथा च भट्टिः—'ससीतयो राघवयोरधीयन्नि'ति । वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु । प्रजनो गर्भग्रहणम् । असनं क्षेपणम् । वेति । वीतः । वियन्ति । वेषि । वेमि । वीहि । अवेत् । अवीताम् । अवियन् । अटि सत्यनेकाच्त्वाद्यणिति केचित् । अव्यन् । अत्र ईकारोऽपि धात्वन्तरं प्रश्लिष्यते । एति । ईतः । इयन्ति । ईयात् । ऐषीत् । वच परिभाषणे । वक्ति । वक्तः । अयमन्तिपरो न प्रयुज्यते । बहुवचनपर इत्यन्ये । झिपर इत्यपरे ।

बन्धलोपे, तिप इकारलोपे 'अ गा स् त्' इति जाते 'गातिस्थे'ति सिचो लुकि 'अगात्' इति ।

(६७०) अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् । 'च्लेः सिच्' इत्यतः 'च्लेरि'त्यनुवर्तते । तदाह—एभ्यश्च्लेरिति ।

उदाहरण—(१) √इ+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, 'इ'='गा'—'इणो गा लुङि') अ गा त् (च्लि=सिच्, सिच् का लुक्—'गातिस्था०')=अगात् ।

इण् धातु लुङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०-	अगात्	अगाताम्	अगुः
म० पु०-	अगाः	अगातम्	अगात
उ० पु०-	अगाम्	अगाव	अगाम

(२) लृङ्—ऐष्यत् ।

√इक् धातु का अर्थ—'स्मरण करना' है । यह 'अधि' उपसर्गपूर्वक ही है । 'अधीगर्थ' सूत्रकरण से यह ज्ञापन होता है । अन्यथा 'इगर्थ' ऐसा ही सूत्र का निर्माण आचार्य पाणिनि करते ।

वा०—इण् धातु के समान इक् को भी कार्य हो—ऐसा कहना चाहिए ।

(१) अधि+इक् (इ)+लट् (=झि, झ्='अन्त' आदेश, यण्—'इणो यण्')=अधियन्ति । (२) लुङ्—अधि+अगात् (यण्)=अध्यगात् । कुछ आचार्यों का कथन है कि "आर्धधातुक के अधिकार में कथित कार्य का ही अतिदेश होता है । उनके मत में यहाँ 'इणो यण्' से यण् नहीं होता । अतएव भट्टिकाव्य में 'अधीयन्' प्रयोग ही मिलता है" ।

√वी धातु गति, व्याप्ति, प्रजन, कान्ति, अशन और खादन अर्थ में है । प्रजन का अर्थ—'गर्भ ग्रहण करना' है । 'असन' का अर्थ—'फेंकना है । (१) √वी+लट् (=तिप्=ति, शप् लुक्, गुण)=वेति । (२) प्र० पु० द्विव०—वीतः । (३) √वी+लट् (=झि, झ्=अन्त, शप्, लुक्, ई=इयङ्='इय')=वियन्ति । (४) म० पु० एकव०—वेषि । (५) उ० पु० एक०—वेमि । (६) लोट् म० पु० ए० व०—वीहि । (७) लङ्—अवेत्, अवीताम्, अवियन् । 'उपदेशकालिक एकाच् धातु के अडागम करने पर अनेकाच् होने से यण् होता है' ऐसा कुछ आचार्यों का मत है । वहाँ—अव्यन् । कुछ विद्वान् ईकार का प्रश्लेष होने से 'ई' धातु को स्वतन्त्र मानते हैं । ई धातु से लट् में एति, ईतः, इयन्ति । लिङ्—ईयात् । लुङ्—ऐषीत् ।

√वच धातु का अर्थ—'भाषण करना' है । (१) लट् प्र० पु० एक०—वक्ति । (२) प्र० पु० द्वि व०—वक्तः ('च्'='ग्'—'जश्त्व', 'ग्'='क्'—चर्त्व) । यह 'अन्ति' में शिष्टजनों द्वारा अप्रयुक्त है । कुछ आचार्यों का कथन है कि 'झि' में इसका प्रयोग नहीं होता । (३) वच्+लट्

वक्तु । वग्धि । वच्यात् । उच्यात् । (६७०) **अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ३।१।५२ ।** एभ्यश्च्लेरङ् स्यात् । (६७१) **वच उम् ७।४।२० ।** वच उमागमः स्यात् अङि । अवोचत् । अवक्ष्यत् । मृजू शुद्धौ । (६७२) **मृजेर्वृद्धिः ७।२।११४ ।** मृजेरिको वृद्धिः स्याद्धातुप्रत्यये । 'व्रश्चे'ति षः । मार्ष्टि । मृष्टः । * क्ङित्यजादौ वेष्यते * । मार्जन्ति । मृजन्ति । मार्क्षि । ममार्ज । ममृजतुः । ममार्जतुः । ममार्जिथ । ममार्ष्ट । मार्जिता ।

---

(६७१) **वच उमिति** । 'ऋदृशोऽङि' इत्यतः 'अङि' इत्यनुवर्तते । तदाह—**वच इति । अवोचत्** । वच् धातोर्लुङि तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे तिप इकारलोपेऽडागमेऽनुबन्धलोपे च्लौ, च्लेः सिचि प्राप्ते 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इति च्लेरङि 'अवच् अ त्' इति जाते 'वच उम्' इत्युमि मित्त्वादन्त्यावयवे गुणे कृते 'अवोचत्' इति ।

(६७२) **मृजेर्वृद्धिः** । 'इको गुणवृद्धी' इति परिभाषया इक इति षष्ठ्यन्तमुपतिष्ठते । तदाह—**मृजेरिको वृद्धिरिति । मार्ष्टि** । मृज्धातोः तिपि, शपि, शपो लुकि,

---

(=सिप्=सि='हि' 'सेर्ह्यपिच्च', 'हि'='धि' 'हुझल्भ्यः०' जश्त्व, चर्त्व)=वग्धि । (४) विधिलिङ्—वच्यात् । (५) आशीर्लिङ्—उच्यात् ('वचिस्वपि' से सम्प्रसारण) ।

(६७०) पद—अस्यतिवक्तिख्यातिभ्यः, अङ् । **अनुवृत्ति**—च्लेः, लुङि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—असु, वच और ख्याञ् धातुओं से परवर्ती 'च्लि' को 'अङ्' आदेश होता है ।

विमर्श—सूत्र में स्थानीवाचक पद का अभाव है । अतः 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः' की अनुवृत्ति आती है । 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'लुङि' पद की अनुवृत्ति आ रही है । इस प्रकार—"असु, वच और ख्याञ् धातुओं से उत्तरवर्ती 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश होता है, 'लुङ्' के परे रहते" ।

(६७१) पद—वचः, उम् । **अनुवृत्ति**—अङि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अङ्' के परवर्ती रहते 'वच' को 'उम्' का आगम होता है । अवोचत् ।

विमर्श—यहाँ 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७।४।१६) से 'अङि' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अतः 'अङ्' के परवर्ती रहते 'वच्' को 'उम्' (=उ) का आगम होता है ।

उदाहरण—(१) √वच्+लुङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, अट् (='अ' आगम, च्लि)—अ वच् च्लि त् (च्लि='अङ्'='अ'—'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' उम्='उ' का आगम, गुण) =अवोचत् । (२) लृङ्—अवक्ष्यत् ।

√मृजू (ऊदित्) धातु का अर्थ—'शुद्ध करना, माँजना' है ।

(६७२) पद—मृजेः, वृद्धिः । **अनुवृत्ति**—इकः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—धात्वधिकार विहित प्रत्यय के परे रहते मृज् के 'इक्' को वृद्धि होती है ।

विमर्श—'इको गुणवृद्धी' परिभाषा के द्वारा 'इकः' षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है । तदनुसार—'मृज्' के 'इक्' के स्थान में वृद्धि होती है ।

उदाहरण—(१) √मृज्+लट् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, ऋ='आ' वृद्धि—'मृजेर्वृद्धिः' रपर 'ज्'='ष्'—'व्रश्चभ्रस्ज०')=मार्ष्टि । (२) लट् प्र० पु० द्विव०—मृष्टः ।

वा०—अजादि कित् ङित् प्रत्यय के परवर्ती रहते 'मृज्' के इक् को विकल्प से वृद्धि होती है । (३) मृज्+लट् (=झि, 'झ्'='अन्त्', ऋ='आ'—वृद्धि विकल्प से—'क्ङित्यजादौ वेष्यते', रपर)=मार्जन्ति । वृद्धि के अभावपक्ष में—मृजन्ति । (४) लट् म० पु० एक०—मार्क्षि ।

मार्ष्टा । मार्ष्टु । मृड्ढि । अमार्ट् । अमार्ड् । अमार्जम् । अमार्जीत् । 'षढोः कः सि' । अमार्क्षीत् । अमार्क्ष्यत् । अमार्जिष्यत् । रुदिर् अश्रुविमोचने । (६७३) रुदादिभ्यः सार्वधातुके ७।२।७६ । रुद् स्वप् श्वस् अन् जक्ष् एभ्यो वलादेः सार्वधातुकस्येट् स्यात् । रोदिति । रुदितः । हौ परत्वादिटि धित्वं न । रुदिहि । (६७४) रुदश्च पञ्चभ्यः ७।३।९८ । रुदादेः परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्यापृक्तस्य ईट् स्यात् । (६७५)

'मृजेर्वृद्धिः' इति ऋकारस्य वृद्धौ रपरत्वे 'व्रश्चभ्रस्ज०' इति षत्वे तकारस्य ष्टुत्वेन टकारे 'मार्ष्टि' इति ।

(६७३) **रुदादिभ्य इति ।** 'ईड्वलादेरि'त्यनुवर्तते । अत आह—**एभ्यः वलादेरिति । रोदिति ।** रुद्धातोर्लटि, तिपि, शपि, शब्लुकि 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इति इडागमेऽनुबन्धलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति गुणे 'रोदिति' इति रूपम् ।

(६७४) **रुदश्चेति ।** सूत्रेऽस्मिन् 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः पिति सार्वधातुके इति,

---

(५) लिट् प्र० पु० एकव०—ममार्ज । (६) प्र० पु० द्वि०—विकल्प से वृद्धि—ममार्जतुः । ममृजतुः । (७) म० पु० ए० व० में ऊदित् होने से विकल्प से इट्—ममार्जिथ । ममार्ष्ट (षत्व, ष्टुत्व) । (८) लुट्—मार्जिता, मार्ष्टा (विकल्प से इट्) । (९) लोट्—मार्ष्टु । (१०) मृज्+लोट् (=सिप्='सि', 'सि'='हि')—मृज् हि (शप्, लुक्, 'ज्'='ष्'—'व्रश्च०' 'हि'='धि'-'हुझल्भ्यः' 'ध्'='ढ्'—'ष्टुत्व' 'ष्'='ड्'—'जश्त्व')=मृड्ढि । (११) मृज्+लङ् (=तिप्=ति, शप् लुक्, 'इ'लोप, अट्)—अ मृज् त् (ऋ='आ'—'मृजेर्वृद्धिः' रपर 'त्' का लोप—'संयोगान्तस्य लोपः' 'ज्'='ट्' विकल्प से-'वाऽवसाने')=अमार्ट् । टत्व के अभावपक्ष में जश्त्व—अमार्ड् । (१२) लङ् उ० पु० एकव०—अमार्जम् । (१३) मृज्+लुङ् (=तिप्=ति, 'इ' का लोप, अट्, च्लि=सिच्='स्', इट्, ईट्, ऋ='आ' वृद्धि—'मृजेर्वृद्धिः' रपर, 'स्' लोप—'इट ईटि', सवर्णदीर्घ)=अमार्जीत् । इट् के अभावपक्ष में—अमार्क्षीत् । (१४) लृङ् में—अमार्क्ष्यत् । अमार्जिष्यत् (इट् विकल्प) ।

√रुदिर् ('इर्' इत्संज्ञक) धातु का अर्थ—'रोना' है ।

(६७३) पद—रुदादिभ्यः, सार्वधातुके । **अनुवृत्ति**—ईट्, वलादेः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—रुदादि पाँच धातुओं से परवर्ती वलादि सार्वधातुक को इट् का आगम होता है । रोदिति इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'इट्, वलादेः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—"रुद्, स्वप्, श्वस्, अन और जक्ष् धातुओं से परवर्ती वल् आदि सार्वधातुक को 'इट्' का आगम होता है ।"

उदाहरण—(१) √रुद्+लट् (=तिप्=ति, शप्, शप् का लुक्, इट्='इ' का आगम—'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' 'उ'='ओ'—गुण—'पुगन्त०')=रोदिति । (२) लट् प्र० पु० द्वि०—रुदितः । (३) लोट् म० पु० ए० व० में 'हुझल्भ्यः' के पर होने से बाधकर 'इट्' । अतः 'हि'='धि'—रुदिहि ।

(६७४) पद—रुदः, च, पञ्चभ्यः । **अनुवृत्ति**—अपृक्ते, हलि, सार्वधातुके । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—रुदादि पाँच धातुओं से परवर्ती अपृक्त संज्ञक हलादि पित् सार्वधातुक को 'ईट्' का आगम होता है ।

अड् गार्ग्यगालवयोः ७।३।९९। अरोदीत्–अरोदत्। अरुदिताम्। अरुदन्। अरोदीः। अरोदः। प्रकृतिप्रत्ययविशेषापेक्षाभ्यामडीड्भ्यामन्तरङ्गत्वाद्यासुट्, 'असिद्धं बहिरङ्ग-मन्तरङ्गे' इति परिभाषणात्। रुद्यात्। अरुदत्–अरोदीत्। अरोदिष्यत्। ञिष्वप्

'उतो वृद्धिः' इत्यतो 'हली'ति, 'गुणोऽपृक्ते' इत्यतः अपृक्ते इति, 'ब्रुव ईट्' इत्यतः ईडिति चानुवर्तते। 'रुदः' इत्यत्र पञ्चमी। रुदादिभ्य इत्यभिप्रायः। अत आह–**हलादेः पित इत्यादि**।

(६७५) **अड् गार्ग्येति**। गार्ग्यगालवयोराचार्ययोः मते रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य अपृक्तस्य अडागमः स्यादिति सूत्रार्थः। **अरोदीत्**। रुद धातोर्लुङि तिपि, अनुबन्धलोपे, 'इतश्चे'तीकारलोपे, अटि, च्लौ, च्लेः सिचि 'रुदश्च पञ्चभ्यः' इतीडागमेऽनुबन्धलोपे 'अ रुद् ई स् त्' इति जाते, इटि, सलोपे 'पुगन्त०' इति गुणे 'अरोदीत्' इति। 'अड् गार्ग्यगालवयोः' इत्यट्पक्षे तु —'अरोददि'ति। **रुद्या-दिति**। रुद्धातोः लिङि तिपि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषया अन्तरङ्ग-

---

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'नाभ्यस्तस्य'० (७।३।८७) से पिति, सार्वधातुके, 'उतो वृद्धिः' (७।३।८९) से 'हलि' 'गुणोऽपृक्ते' (७।३।९१) से 'अपृक्ते' तथा 'ब्रुव ईट्' (७।३।९३) से 'ईट्' की अनुवृत्ति आती है। अतः "रुद् आदि पाँच धातुओं से उत्तरवर्ती हलादि सार्वधातुक को भी 'ईट्' का आगम होता है"।

(६७५) पद—अट्, गार्ग्यगालवयोः। **अनुवृत्ति**—रुदः, पञ्चभ्यः, अपृक्ते, हलि, सार्वधातुके। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—रुदादि पाँच धातुओं से परवर्ती अपृक्त संज्ञक हलादि पित् सार्वधातुक को गार्ग्य और गालव आचार्य के मत से 'अट्' का आगम होता है। अरोदीत। अरोदत इत्यादि।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र 'रुदश्च पञ्चभ्यः' (६७४) तथा उसमें अनुवृत्त 'अपृक्ते', 'हलि' तथा 'सार्वधातुके' पदों की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार—"रुद् आदि पाँच धातुओं से उत्तरवर्ती हलादि अपृक्त सार्वधातुक को गार्ग्य तथा गालव आचार्य के मत में 'अट्' का आगम होता है"।

उदाहरण—(१) √रुद्+लङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, अट्, शप्, शप् का लुक्)—अ रुद् त ('अट्'='अ'—'अड् गार्ग्यगालवयोः' गुण)=अरोदत। अट् के अभाव पक्ष में—अ रुद् त ('ईट्'—'रुदश्च पञ्चभ्यः', गुण—'पुगन्त०')=अरोदीत। (२) लङ् प्र० पु० द्वि०—अरुदिताम् (इट्—'रुदादिभ्यः')। (३) लङ् प्र० पु० बहु०—अरुदन्। (४) रुद्+लङ् (=सिप्=सि, अट्, इकारलोप)—अ रुद् स् (शप्, लुक्, 'अट्'='अ' का आगम—'अड् गार्ग्यगालवयोः'—विकल्प से, गुण, स्=र्=ः)=अरुदः। अट् के अभावपक्ष में ('रुदश्च पञ्चभ्यः' से 'ईट्')=अरोदीः। (५) √रुद्+लिङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, अन्तरङ्ग होने से 'ईट्' और 'अट्' का बाधकर यासुट्='यास्', 'स्' का लोप—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च')=रुद्यात।

यहाँ 'यासुट्' अन्तरङ्ग है। प्रकृति और प्रत्यय विशेष की अपेक्षा रखने वाला 'अट्' एवम् 'ईट्' बहिरङ्ग है। अतः अन्तरङ्ग होने से 'यासुट्' ही हुआ। क्योंकि अन्तरङ्ग कार्य की कर्तव्यता में बहिरङ्ग असिद्ध होता है।

(६) √रुद्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि=अङ्='अ'—विकल्प से—'इरितो वा',

शये । स्वपिति । स्वपितः । सुष्वाप । सुषुपतुः । सुष्वपिथ–सुष्वप्थ । (६७६) सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः ८।३।८८ । एभ्यः सुप्यादेः सस्य षः स्यात् । 'पूर्वं धातु-रुपसर्गेण युज्यते' । किति लिटि—परत्वात्सम्प्रसारणे, षत्वे च कृते द्वित्वम् । **पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने ।** सुषुषुपतुः । सुषुषुपुः । अकिति तु—द्वित्वेऽभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । षत्वस्यासिद्धत्वात् ततः पूर्वं 'हलादिः शेषः' नित्यत्वाच्च । ततः सुपिरूपाभावान्न षः । सुसुष्वाप । सुस्वप्ता । अस्वपीत्–अस्वपत् । स्वप्यात् । सुप्यात् । सुप्यास्ताम् । सुषुप्यात् ।

त्वादीटमटं च प्रबाध्य यासुडागमेऽनुबन्धलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते चे'ति सलोपे कृते 'रुद्यात्' इति रूपम् ।

(६७६) **सुविनिर्दुर्भ्य इति ।** 'सहेः साडः सः' इत्यस्मात् स इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते, 'मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । सूत्रे सुपीत्यनेन कृतसम्प्रसारणस्य स्वप्धातोः, सूतीत्यनेन सूतिशब्दः कृदन्तो गृह्यते । समेत्यनेनापि समपदस्य ग्रहणम् । तदाह—**एभ्य इति । पूर्वत्रासिद्धीयमिति ।** ननु 'सुषुषुपतुः' इत्यत्र परत्वात्सम्प्रसारणे षत्वे विहितेऽपि तस्य त्रैपादिकत्वेनाऽसिद्धत्वात्षकारोपलक्षितस्य द्वित्वं न स्यादित्याह—**पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने**

इकारलोप, ङित्वात् गुणाभाव)=अरुदत् । 'अङ्' के अभावपक्ष में—अरुद् च्लि त् (च्लि=सिच्='स', ईट्—'रुदश्च', इट्, 'स्' लोप, सवर्णदीर्घ, गुण)=अरोदीत् । (७) लृङ्—अरोदिष्यत् ।

ञिष्वप् (=स्वप्) धातु का अर्थ—'शयन'=(सोना) है । (१) √स्वप्+लट् (=तिप्=ति, शप् का लुक्, इट्='इ' आगम—'रुदादिभ्यः सार्वधातुके')=स्वपिति । (२) लट् प्र० पु० द्वि०—स्वपितः । (३) √स्वप्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, प्राप्त हलादिशेष का बाधकर, अभ्यास के 'व्'='उ'—सम्प्रसारण—'लिट्यभ्यासस्य०' पूर्वरूप—'सम्प्रसारणाच्च')—सु स्वप् अ (उपधावृद्धि—'अत उपधायाः' षत्व—'आदेशप्रत्यययोः')=सुष्वाप । (४) लिट् प्र० पु० द्वि०—सुषुपतुः । (५) लिट् म० पु० एक०—सुष्वपिथ–सुष्वप्थ (भारद्वाज के मत से वैभाषिक—इट्) ।

(६७६) **पद**—सुविनिर्दुर्भ्यः, सुपिसूतिसमाः । **अनुवृत्ति**—सः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सु, वि, निर्, दुर् उपसर्गों से परवर्ती सुपि, सूति और सम के सकार को षकार आदेश होता है ।

विमर्श—यहाँ 'सहेः साडः सः' से 'सः' पद की अनुवृत्ति आती है । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है । तदनुसार—'सु, वि, निर् तथा दुर् उपसर्गों से उत्तरवर्ती सुपि (=स्वप्), सूति तथा सम के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है' ।

(१) प्रथमतः धातु उपसर्ग के साथ सम्बद्ध होता है । अतः धातु और उपसर्ग निमित्तक कार्य अन्तरङ्ग होता है । कित् लिट् में सम्प्रसारण एवं तदाश्रित कार्य के बलवान् होने से द्वित्व से पूर्व सम्प्रसारण कर 'सुप्' रूप निष्पन्न होने से षत्व करने के पश्चात् उसका द्वित्व प्रयुक्त 'तस्' में रूप—**सुषुषुपतुः** । (२) कित् भिन्न में पूर्व में द्वित्व होने पर अभ्यास संज्ञा के अनन्तर द्वित्व, षत्व 'हलादिः शेषः' की दृष्टि में असिद्ध है और नित्य भी । अतः षकार निवृत्ति के पश्चात् सुप् परत्वाभाव होने से षत्व नहीं हुआ—सुसुष्वाप । (३) लुट् में—सु+स्वप्ता=सुस्वप्ता । (४) लङ्—अस्वपत्, अस्वपीत् ('अड् गार्ग्यगालवयोः' से विकल्प से 'अट्' आगम होने से दो रूप

अस्वाप्सीत्–अस्वप्स्यत् । श्वस प्राणने । प्राणनं जीवनम् । श्वसिति । श्वसितः । शश्वास । श्वसिता । श्वसिष्यति । श्वसितु । अश्वसीत्–अश्वसत् । अश्वसिताम् । अश्वसन् । श्वस्यात् । श्वस्यास्ताम् । श्वस्युः । श्वस्यात् । श्वस्यास्ताम् । श्वस्यासुः । 'ह्म्यन्ते'ति न वृद्धिः । अश्वसिष्यत् । अन च । अनिति । आन । अनिता । अनिष्यति । आनीत्–आनत् । (६७७) अनितेः ८।४।१९ । उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्यानितेर्नस्य णः स्यात् । प्राणिति । जक्ष भक्षहसनयोः । जक्षिति । जक्षितः । (६७८) अदभ्यस्तात् ७।१।४ ।

इति । अर्थाद् द्विर्वचने कर्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धमि'ति सूत्रं न प्रवर्तते । श्वसिति । 'श्वस प्राणने' इत्यस्माद्धातोर्लटि, तिपि, शपि, शब्लुकि 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीडागमे 'श्वसिति' इति ।

(६७७) अनितेरिति । 'उपसर्गादसमासेऽपी'त्यतः 'उपसर्गादि'ति 'रषाभ्यां नो णः' इति सूत्रञ्चानुवर्तते । तदाह—उपसर्गस्थादिति । प्राणिति । प्रोपसर्गपूर्वक-अन्-धातोर्लटि, तिपि, शपि, शब्लुकि, सवर्णदीर्घे 'रुदादिभ्यः' इति तिपः इडागमेऽनुबन्ध-लोपे 'अनितेः' इत्यनेन णत्वे 'प्राणिति' इति ।

बनते हैं ।) (५) लिङ्—स्वप्यात् । सुप्यास्ताम् । (६) सु+सुप्यात्=सुषुप्यात् (षत्व—'सुविनिर्दुर्भ्यः') । (७) लुङ्—अस्वाप्सीत् । (८) लृङ्—अस्वप्स्यत् ।

√श्वस् धातु का अर्थ 'प्राणन' है । प्राणन का अर्थ—जीवन (=जीवित रहना) है । (१) √श्वस्+लट् (=तिप्=ति, शप्, शप् का लुक्, इट्='इ' का आगम—'रुदादिभ्यः सार्वधातुके')=श्वसिति । (२) लट्—प्र० पु० द्विव०—श्वसितः । (३) लिट्—शश्वास । (४) लुट्—श्वसिता । (५) लृट्—श्वसिष्यति । (६) लोट्—श्वसितु । (७) लङ्—अश्वसीत्, अश्वसत् (विकल्प से अट्, अडभाव पक्ष में—ईट्) । (८) लङ् प्र० पु० द्विव०—अश्वसिताम् । (९) लङ् प्र० पु० बहु०—अश्वसन् । (१०) लिङ्—श्वस्यात्, श्वस्यास्ताम्, श्वस्युः । (११) आशीर्लिङ्—श्वस्यात्, श्वस्यास्ताम्, श्वस्यासुः । (१२) लुङ्—'ह्म्यन्त०' से वृद्धि नहीं होती—अश्वसीत् । (१३) लृङ्—अश्वसिष्यत् ।

√अन धातु भी प्राणन (=जीवित रहना) अर्थ में है । (१) लट्—अनिति । (२) लिट्—आन । (३) लुट्—अनिता । (४) लृट्—अनिष्यति । (५) लङ्—आनीत्, आनत् (विकल्प से 'अट्', पक्ष में 'ईट्') ।

(६७७) पद—अनितेः । **अनुवृत्ति**—उपसर्गात्, रषाभ्यां नो णः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उपसर्गस्थ निमित्त (र्, ष्) से परवर्ती 'अन्' धातु के नकार के स्थान में णकार आदेश होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'उपसर्गादसमासेऽपि' (८।४।१४) से 'उपसर्गात्' तथा 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से 'रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"उपसर्ग में स्थित निमित्त (र्, ष्) से उत्तरवर्ती 'अन' धातु के नकार को णकार आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) प्र+√अन्+लट् (=तिप्=ति, शप्, शप् का लुक्, सवर्णदीर्घ, इट्='इ' का आगम—'रुदादिभ्यः सार्वधातुके')—प्रानिति ('न्'='ण्'—णत्व—'अनितेः')=प्राणिति ।

√जक्ष धातु का अर्थ—'खाना, हँसना' है । (१) √जक्ष्+लट् (=तिप्=ति, शप् का लुक्, 'इट्'—'रुदादिभ्यः')=जक्षिति । (२) लट्—प्र० पु० द्विव०—जक्षितः ।

अभ्यस्तात्परस्य झस्य अत्स्यात् । अन्तापवादः । जक्षति । अजक्षीत्-अजक्षत् । अजक्षताम् । 'सिजभ्यस्ते'ति झेर्जुस् । अजक्षुः । जागृ निद्राक्षये । जागर्ति । जागृतः । जाग्रति । 'उषविदे'त्याम्वा । जागराञ्चकार । जजागार । (६७९) जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु ७।३।८५ । जागर्तेर्गुणः स्याद्विचिण्णल्ङिद्भ्योऽन्यस्मिन्वृद्धिविषये प्रतिषेध-

---

(६७८) अदभ्यस्तादिति ।'झोऽन्तः' इत्यतः 'झः' इत्यनुवर्तते । अभ्यस्तसंज्ञकात् परस्य झस्यात्स्यादित्यर्थः । जक्षति । जक्ष्धातोर्लटि, तिपि, शपि, शपो लुकि, 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इति इडागमेऽनुबन्धलोपे 'जक्षिति' इति । जक्षतीति । जक्ष्-धातोर्लटि, लः स्थाने झौ, 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्याससंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति झस्य स्थाने 'अत्' इत्यादेशे 'जक्षति' इति रूपम् ।

(६७९) जाग्रोऽविचिण्णिति । वि-चिण्-णल्-ङित् एषां द्वन्द्वे नञ्समासः । 'मिदेर्गुणः' इत्यतः गुण इत्यनुवर्तते । तदाह—जागर्तेरिति । जजागरतुः । जागृधातोर्लिटि

---

(६७८) पद—अत्, अभ्यस्तात् । अनुवृत्ति—झः, प्रत्ययस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अभ्यस्त संज्ञक से उत्तरवर्ती 'झ' के स्थान में 'अत्' आदेश होता है । यह 'झोऽन्तः' का अपवाद है । जक्षति इत्यादि ।

विमर्श—सूत्र में स्थानीवाचक पद का अभाव है । अतः 'झोऽन्तः' (७।१।३) से 'झः' पद की अनुवृत्ति आती है । 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (७।१।२) से स्वरितत्वात् एकदेश 'प्रत्ययस्य' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—''अभ्यस्त संज्ञक से परवर्ती प्रत्यय के अवयव 'झ्' के स्थान में 'अत्' आदेश होता है ।''

उदाहरण—(१) √जक्ष्+लट् (=झि, शप् लुक्, 'जक्षित्यादयः षट्' से अभ्यस्त संज्ञा, 'झ्'='अत्'—'अदभ्यस्तात्')=जक्षति । (२) लङ् प्र० पु० एक०—अजक्षीत्, अजक्षत् ('अड् गार्ग्य०' से विकल्प से अट्, पक्ष में 'रुदश्च' से ईट्) । (३) लङ् प्र० पु० द्वि०—अजक्षताम् । (४) जक्ष्+लङ् (=झि, शप्, शप् का लुक्, अट्, अभ्यस्त संज्ञा, झि=जुस्='उस्', स्=र्=:)=अजक्षुः ।

√जागृ धातु का अर्थ—'जागना' है । (१) √जागृ+लट् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, ऋ='अ'—गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' रपर)=जागर्ति । (२) लट्—प्र० पु० द्विव०—जागृतः । (३) √जागृ+लट् (=झि, शप् का लुक्, अभ्यस्त संज्ञा 'झ्'='अत्'='अदभ्यस्तात्', 'ऋ'='र्'-यण्)=जाग्रति । (४) √जागृ+लिट् ('आम्'—'आयादयः०', आर्धधातुक संज्ञा, गुण, रपर, 'लिट् का लुक्'—'आमः')—जागराम् (लिट्परक √कृ का अनुप्रयोग—'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि', लिट्=तिप्=णल्='अ')—जागराम् कृ अ (धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'—'उरत्' रपर, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'अभ्यासे चर्च')—जागराम् च कृ अ (म्=—अनुस्वार=परसवर्ण, 'ऋ'='आ'—वृद्धि—'अचो ञ्णिति', रपर)=जागराञ्चकार । (५) 'आयादय आर्धधातुके वा' से 'आम्' के अभावपक्ष में—जागृ+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व)—जजागृ अ ('ऋ'='आ'—वृद्धि—'अचो ञ्णिति' रपर)=जजागार ।

(६७९) पद—जाग्रः, अविचिण्णल्ङित्सु । अनुवृत्ति—सार्वधातुकार्धधातुकयोः, गुणः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—जागृ धातु को गुण होता है, विन्, चिण् तथा णल् से भिन्न वृद्धि-विषयक प्रत्यय

विषये च। जजागरतुः। जजागरुः। जागरिता। जागरिष्यति। अजागः। अजागृताम्। अभ्यस्तत्वाज्जुस्। (६८०) जुसि च ७।३।८३। अजादौ जुसि इगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात्। अजागरुः। अजादौ किम्? जागृयुः। आशिषि तु—जागर्यात्। जागर्यास्ताम्। जागर्यासुः। अजागरीत्। दरिद्रा दुर्गतौ। दरिद्राति। (६८१) इद्दरिद्रस्य

तसि, तसोऽतुसादेशे, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे, हलादिशेषे, ह्रस्वे 'जजागृ अतुस्' इति जाते 'जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु' इति गुणे, रपरत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'जजागरतुः' इति।

(६८०) जुसि चेति। 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम्। 'मिदेर्गुणः' इत्यतः गुण इत्यनुवर्तते। 'इको गुणवृद्धी' इति परिभाषया 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते। तेन अङ्गस्य विशेषणात्तदन्तविधिः। 'क्सस्याची'त्यतोऽनुवृत्तेन 'अचि' इति पदेन जुसीत्यस्य विशेषणात्तदादिविधिस्तदाह—**अजादाविति। अजागरुः।** जागृधातोर्लङि झौ, 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायाम्, अङ्गस्याडागमेऽनुबन्धलोपे, झेर्जुसादेशेऽनुबन्धलोपे 'जुसि चे'ति गुणे, रपरे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'अजागरुः' इति।

और ङित् से भिन्न निषेध-विषयक प्रत्यय के परवर्ती रहते। जजागरतुः। ,जजागरुः। जागरिता इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में आदेश-वाचक पद का अभाव है। अतः 'मिदेर्गुणः' (७।३।८२) से 'गुणः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) सूत्र भी यहाँ अनुवृत्त होता है। अत एव—'विन् चिण् णल् से भिन्न वृद्धि-विषयक प्रत्यय एवं ङित् से भिन्न प्रतिषेध-विषयक प्रत्यय के परवर्ती रहने पर जागृ धातु के अङ्ग को गुण होता है'।

उदाहरण—(१) √जागृ+लिट् (=तस्=अतुस्, धातु को द्वित्व, पूर्व की अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, ह्रस्व)—जजागृ अतुस् ('ऋ'='अ'—गुण—'जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु', रपर, स्=र्=ः)=जजागरतुः। (२) लिट्—प्र० पु० बहु०—जजागरुः। (३) लुट्—जागरिता। (४) लृट्—जागरिष्यति। (५) √जागृ+लङ् (=तिप्=ति, इकारलोप—'इतश्च', अट्)—अ जागृ त् (शप् का लुक्, 'त्' का हल्ङ्यादिलोप, र्=ः)=अजागः। (६) लङ् प्र० पु० द्विव०—अजागृताम्। बहुवचन में 'झि' को अभ्यस्त संज्ञक 'जुस्' होने पर—

(६८०) पद—जुसि, च। **अनुवृत्ति**—गुणः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अजादि 'जुस्' प्रत्यय के परवर्ती रहते इगन्त अङ्ग को गुण होता है। अजागरुः।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'मिदेर्गुणः' (७।३।८२) से 'गुणः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा के द्वारा षष्ठ्यन्त 'इकः' पद की उपस्थिति होती है। तदन्त विधि होकर—"अजादि जुस् के परवर्ती रहते इगन्त अङ्ग को गुण होता है।"

उदाहरण—(७) √जागृ+लङ् (=झि=जुस्='उस्', शप् लुक्, अभ्यस्त संज्ञा—'जक्षित्यादयः षट्' 'ऋ'='अ'—गुण 'जुसि च', रपर, स्=र्=ः)=अजागरुः। सूत्र में 'अजादि' ग्रहण होने से 'जागृयुः' में गुण नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ अजादि जुस् नहीं है। आशीर्लिङ् में 'जाग्रो०' से गुण—जागर्यात्। जागर्यास्ताम्। जागर्यासुः। लुङ्—अजागरीत्।

√दरिद्रा धातु 'दुर्गति' अर्थ में है। (१) लट्—दरिद्राति।

(६८१) पद—इत, दरिद्रस्य। **अनुवृत्ति**—हलि, आतः, सार्वधातुके, क्ङिति। **विधिसूत्र।**

६।४।११४। दरिद्रातेरिकारः स्याद्धलादौ क्ङिति सार्वधातुके। दरिद्रितः। (६८२) श्नाभ्यस्तयोरातः ६।४।११२। श्नाभ्यस्तयोरातो लोपः स्यात् क्ङिति सार्वधातुके दरिद्रति। अनेकाच्त्वादाम्। दरिद्राञ्चकार। 'आत औ णलः' इत्यत्र 'ओ' इत्येव सिद्धे 'औ' विधानं दरिद्रातेरालोपे कृते श्रवणार्थम्, अत एव ज्ञापकादाम्नेत्येके। ददरिद्रौ। * दरिद्रातेरार्द्धधातुके विवक्षिते आलोपो वाच्यः। लुङि वा *। * सनि, ण्वुलि, ल्युटि

---

(६८१) इद्दरिद्रस्येति। 'गमहन०' इत्यस्मात् क्ङितीत्यनुवर्तते, 'ई हल्यघोः' इत्यतः 'हलि' इति, 'अत उत्' इत्यत 'सार्वधातुके' इति च। तदाह—दरिद्रातेरिति। दरिद्रितः। दरिद्राधातोः लटि, तसि, शपि, शपो लुकि, 'दरिद्रा तस्' इति जाते 'इद्दरिद्रस्य' इत्याकारस्य इकारे, सस्य रुत्वे विसर्गे च 'दरिद्रितः' इति।

(६८२) श्नाभ्यस्तयोरात इति। अत्र 'गमहन०' इत्यतः क्ङिति, लोप इति चानुवर्तते; 'अत उत्' इत्यतः 'सार्वधातुके' इति च। दरिद्रति। दरिद्राधातोर्लटि,

---

मूलार्थ—हलादि कित्-ङित् सार्वधातुक के परवर्ती रहते दरिद्रा धातु 'आत्' को 'इत्' आदेश होता है। दरिद्रितः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ई हल्यघोः' (६।४।११३) से 'हलि', 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६८३) से 'आतः', 'अत उत्सार्वधातुके' (६।४।११०) से 'सार्वधातुके' तथा 'गमहन०' (६।४।९८) से 'क्ङिति' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"हलादि कित्-ङित् सार्वधातुक के परवर्ती रहते 'दरिद्रा' धातु के आकार के स्थान में इकार (इत्) आदेश हो जाता है।"

उदाहरण—(१) √दरिद्रा+लट् (=तस्, शप्, लुक, 'आ'='इ'—'इद्दरिद्रस्य', स्=र्=:)=दरिद्रितः।

(६८२) पद—श्नाभ्यः, तयोः, आतः। **अनुवृत्ति**—लोपः, सार्वधातुके, क्ङिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—कित्-ङित् सार्वधातुक के परवर्ती रहते 'श्ना' प्रत्यय और अभ्यस्त संज्ञक धातु के आकार का लोप होता है। दरिद्रति इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) से 'लोपः', 'अत उत्सार्वधातुके' (६।४।११०) से 'सार्वधातुके' और 'गमहन०' (६।४।९८) से 'क्ङिति' की अनुवृत्ति आती है। अतः "कित् ङित् सार्वधातुक के परवर्ती रहते श्ना तथा अभ्यस्त संज्ञक के आकार का लोप होता है।"

उदाहरण—(१) √दरिद्रा+लट् (=झि, अभ्यस्त संज्ञा, शप्, शप् का लुक्, 'झ्'='अत्'—'अदभ्यस्तात्', 'आ' का लोप—'श्नाभ्यस्तयोरातः')=**दरिद्रति**। लिट् लकार में अनेकाच् लक्षण 'आम्' होने से—दरिद्राञ्चकार। 'आत औ णलः' सूत्र से 'ओ' विधान कर, वृद्धि होकर 'ममौ, पपौ' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि हो सकती थी, परन्तु 'औ'कार विधान इसलिए किया गया है कि दरिद्रा धातु के आकार का लोप होने पर 'औ' का श्रवण रहे। अत एव यहाँ 'आम्' भी नहीं होता। इस पक्ष में—ददरिद्रौ। कोई आचार्य इसका णल् में 'ददरिद्र' रूप मानते हैं। वह निर्मूल है।

वा०—आर्धधातुक की विवक्षा में 'दरिद्रा' धातु के आकार का (नित्य) लोप होता है। परन्तु 'लुङ्' के परे रहते विकल्प से 'आ' का लोप होता है।

च न * । दरिद्रिता । अदरिद्रात् । अदरिद्रिताम् । अदरिद्रुः । दरिद्रियात् । दरिद्रयात् । दरिद्रीत् । पक्षे—इट्सकौ । अदरिद्रासीत् । चकासृ दीप्तौ । चकास्ति । चकास्तः । चकासति । चकासाञ्चकार । चकासिता । चकास्तु । 'धि चे'ति सलोपः सिच एवेत्येके । तन्मते—चकाद्धि । 'चकाधि' इत्येव तु भाष्यम् । (६८३) तिप्यनस्तेः ८।२।७३। पदान्तस्य सस्य दः स्यात्तिपि, न त्वस्तेः । अचकात्–अचकाद् । अचकास्ताम् । अच-

---

तत्स्थाने 'झि' प्रत्यये 'जक्षित्यादयः' इत्यभ्यस्तसंज्ञायां, झस्य 'अदभ्यस्तात्' इत्यदादेशे 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपे 'दरिद्रति' इति ।

(६८३) तिप्यनस्तेरिति । 'पदस्ये'त्यधिकृतम् । न अस्ति अनस्तिस्तस्येति विग्रहः । 'झलां जशोऽन्ते' इत्यतः 'अन्ते' इत्यनुवर्तते । 'ससजुषो' इत्यतः स इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । 'वसुस्रंसु०' इत्यतः द इति । अत आह—**पदान्तस्येति । अचकाद् ।** चकासृधातोर्लङि तिपि 'इतश्चे'ति इकारलोपे अङ्गस्याडागमेऽनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिलोपे 'तिप्यनस्तेः' इति सस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन तकारे 'अचकात्' इति । पक्षे—'अचकादि'ति ।

वा०—सन्, ण्वुल् और ल्युट् के परे रहते 'दरिद्रा' धातु के आकार का लोप नहीं होता ।

(१) लुट्—दरिद्रिता ('आ' का लोप)। (२) लङ्—अदरिद्रात, अदरिद्रिताम्, अदरिद्रुः। (३) विधिलिङ्—दरिद्रियात। (४) आशीर्लिङ्—दरिद्रयात। (५) लुङ्—आलोप पक्ष में—अदरिद्रीत। पक्ष में इट्, सक्—अदरिद्रासीत।

√चकास् (=चकास्) धातु का अर्थ—'दीप्ति' (=चमकना) है। (१) √चकास्+लट् (=तिप्=ति, शप्, लुक्)=चकास्ति। (२) लट् प्र० पु० द्विव०—चकास्तः। (३) √चकास्+लट् (=झि, झ्='अत्' शप्, लुक्)=चकासति। (४) लिट् में अनेकाच् लक्षण आम्, कृ का अनुप्रयोग—चकासाञ्चकार। (५) लुट्—चकासिता। (६) लोट्—चकास्तु। (७) √चकास्+लोट् (=सिप्=सि, शप् लुक् 'सि'='हि')—चकास् हि ('हि'='धि'—'हुझल्भ्यः' 'स्'='द्'—जश्त्व)=चकाद्धि। "यहाँ 'धि च' से सकार का लोप होता है" यह पक्ष ही भाष्यसम्मत है। अतः 'चकाधि' रूप बनता है।

(६८३) पद—तिपि, अनस्तेः। **अनुवृत्ति**—सः, दः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'तिप्' के परवर्ती रहते पदान्त सकार को दकार आदेश होता है। 'अस्' धातु के सकार को दकार नहीं होता ? अचकात्–अचकाद्।

विमर्श—इस सूत्र में स्थानी और आदेश वाचक पदों का अभाव है। अतः 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से षष्ठ्यन्त 'सः' तथा 'वसुस्रंसु०' (८।२।७२) से 'दः' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"अस् धातु को छोड़कर सकारान्त पद को दकार आदेश होता है, तिप् के परवर्ती रहने पर।"

उदाहरण—(१) √चकास्+लङ् (=तिप्=ति, इकार का लोप—'इतश्च', अट्, 'त' का हल्ङ्यादि लोप, 'स्'='द्'—'तिप्यनस्तेः', 'द्'='त' विकल्प से—'वाऽवसाने')=अचकात। पक्ष में—अचकाद्। (२) लङ् प्र० पु० द्विव०—अचकास्ताम्। (३) लङ् प्र० पु० बहु०—अचकासुः।

कासुः। (६८४) **सिपि धातो रुर्वा ८।२।७४।** पदान्तस्य धातोः सस्य रुर्वा स्यात्सिपि। पक्षे दः। अचकाः। अचकात्–अचकाद्। शासु अनुशिष्टौ। शास्ति। (६८५) **शास इदङ्हलोः ६।४।३४।** शास उपधाया इत्स्यादङि, हलादौ। क्ङिति च। 'शासिवसी'ति षः। ष्टुत्वम्। शिष्टः। शासति। शशास। शशासतुः। शास्तु–शिष्टात्। शिष्टाम्। शासतु। (६८६) **शा हौ ६।४।३५।** शास्तेः शादेशः स्याद्धौ

---

(६८४) **सिपि धातोरिति।** 'पदस्ये'त्यधिकृतम्। 'झलां जशोऽन्ते' इत्यतः 'अन्ते' इति, 'ससजुषो' इत्यतः स इति लुप्तषष्ठीकमनुवर्तते। तदाह—**पदान्तस्येति। अचका इति।** चकासृधातोर्लङि सिपि शपि, शपो लुकि, अडागमेऽनुबन्धलोपे 'इतश्चे'ति इकारलोपे हल्ङ्यादिलोपे 'सिपि धातोरुर्वा' इति वैकल्पिके सस्य रुत्वे विसर्गे 'अचकाः' इतिं। रुत्वाभावपक्षे 'तिप्यनस्तेः' इति सस्य दकारे कृते 'अचकाद्' इति।

(६८५) **शास इदङ्हलोरिति।** 'अनिदिताम्' इत्यत 'उपधाया क्ङिति' इत्यनुवर्तते। अत आह—**शास उपधाया इति। शिष्ट इति।** शास्धातोर्लटि, तसि, शब्लुकि, 'शास इदङ्हलोः' इतीत्वे, सस्य षत्वे, ष्टुत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'शिष्टः' इति।

---

(६८४) पद—सिपि, धातोः, रुः, वा। **अनुवृत्ति**—सः, दः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सिप्' के परवर्ती रहते धातु के पदान्त सकार को विकल्प से 'रु' आदेश होता है। पक्ष में—दकार भी होता है। अचकाः। अचकात् इत्यादि।

विमर्श—पूर्वसूत्र की तरह यहाँ भी 'सः' और 'दः' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"सिप् के परवर्ती रहते पदान्त धातु के 'स्' को 'रु' विकल्प से होता है"। पक्ष में दकार भी होता है।

उदाहरण—(१) √चकास्+लङ् (=सिप्=सि, शप्, शब्लुक्, इकारलोप, 'स्' का हलङ्यादि लोप, अट् का आगम, स्=रु='र्' विकल्प से—'सिपि धातो रुर्वा', र्=ः)=अचकाः। रुत्वाऽभावपक्ष में ('स्'='द्' 'द्'='त्'—विकल्प से—'वाऽवसाने')=अचकात्। तत्व के अभाव में=अचकाद्।

√शास् धातु का अर्थ—'शासन करना' है। (१) लट्—शास्ति।

(६८५) पद—शासः, इत्, अङ्-हलोः। **अनुवृत्ति**—उपधायाः, क्ङिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'अङ्' और हलादि कित्-ङित् प्रत्यय के परवर्ती रहते शास् धातु की उपधा को 'इत्व' होता है। शिष्टः। इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से 'उपधायाः' और और 'क्ङिति' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—"अङ् तथा हलादि कित् ङित् प्रत्यय के परवर्ती रहते 'शास्' की उपधा को इकारादेश हो जाता है।"

उदाहरण—(१) √शास्+लट् (=तस्, शप्, लुक्, 'आ'='इ'—इत्व—'शास इदङ्-हलोः' 'स्'='ष्'—षत्व 'शासिवसि०', ष्टुत्व, स्=र्=ः)=शिष्टः। (२) √शास्+लट् (=झि, शप्, लुक्, 'जक्षित्यादयः षट्' से अभ्यस्त संज्ञा होकर, 'झ्'='अत्'—'अदभ्यस्तात्')=शासति। (३) लिट्—शशास। (४) लिट् प्र० पु० द्वि०—शशासतुः। (५) लोट् प्र० पु०—शास्तु–शिष्टात्, शिष्टाम्, शासतु।

परे। तस्याऽऽभीयत्वेनाऽसिद्धत्वाद्धेर्धिः। शाधि। अशात्-अशाद्। अशिष्टाम्। अशासुः। अशाः। अशात। शिष्यात्। (६८७) सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च ३।१।५६। एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्कर्त्रर्थे लुङि। अशिषत्। अशासिष्यत्।

इति परस्मैपदप्रक्रिया।

---

(६८६) शा हौ इति। 'शास इदङ्' इत्यस्मात् शास इत्यनुवर्तते। तदाह—शास्तेरिति। शाधि। शास्धातोर्लोटि, सिपि, अनुबन्धलोपे, 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्ह्यादेशे 'शा हौ' इत्यनेन शास्तेः शादेशे 'शा हि' इति जाते, सलोपस्याऽसिद्धत्वात् 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धित्वे 'शाधि' इति रूपम्।

(६८७) सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्चेति। च्लेरिति, अङिति चानुवर्तते। तदाह—एभ्य इति। अशिषत्। शास्धातोः लुङि, तिपि, 'इतश्चे'तीकारलोपे, अडागमेऽनुबन्धलोपे 'शास इदङ्हलोः' इति इदादेशे च्लौ, च्लेः स्थाने 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्चे'त्यनेन अङादेशेऽनुबन्धलोपे षत्वे 'अशिषत्' इति।

इति परस्मैपदम्।

---

(६८६) पद—शा, हौ। अनुवृत्ति—शासः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'शास्' धातु को 'हि' के परवर्ती रहने पर 'शा' आदेश हो जाता है।

विमर्श—पूर्वसूत्र (६८५) से 'शासः' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः "'हि' के परे रहते 'शास्' के स्थान में 'शा' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) √शास्+लोट् (=सिप्=सि, शप्, लुक्, 'सि'='हि'—'सेर्ह्यपिच्च')—शास् हि (शास्='शा'—'शा हौ' 'शा' आदेश को आभीयत्वेन असिद्ध मानकर 'हि'='धि'—'हुझल्भ्यो हेर्धिः')=शाधि। (२) लङ्—अशात्-अशाद्, अशिष्टाम्, अशासुः, अशाः, अशात् (तत्व, दत्व विकल्प) इत्यादि। (३) विधिलिङ्—शिष्यात्।

(६८७) पद—सर्तिशास्त्यर्तिभ्यः, च। अनुवृत्ति—अङ्, कर्तरि, च्लेः, लुङि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—कर्त्रर्थक लुङ् के परवर्ती रहते सृ, शास् और ऋ धातु से परवर्ती 'च्लि' को 'अङ्' आदेश होता है। अशिषत्। अशासिष्यत्।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु—'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (३।१।५२) से 'अङ्', 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः' (३।१।४८) से 'कर्तरि', 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः' तथा 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'लुङि' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"शासु (शास्), सर्ति (सृ) और अर्ति (ऋ) धातुओं से परवर्ती 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश होता है, कर्तृवाची लुङ् के परे रहते।"

उदाहरण—(१) √शास्+लुङ् (=तिप्='ति', इकारलोप, 'इतश्च' 'अट्' का आगम, 'आ'='इ'—'शास इदङ्हलोः', च्लि, च्लि='अङ्'='अ'—'सर्तिशास्ति०' षत्व)=अशिषत्। (२) लृङ्—अशासिष्यत्।

इति परस्मैपद-प्रक्रिया।

अथात्मनेपदप्रक्रिया । शीङ् स्वप्ने । (६८८) शीङः सार्वधातुके गुणः ७।४।२१ । शीङो गुणः स्यात्सार्वधातुके । 'क्ङिति चे'त्यस्यापवादः । शेते । शयाते । **(६८९) शीङो रुट् ७।१।६ ।** शीङः परस्य झादेशस्यातो रुट् । शेरते । शेषे । शयाथे । शेध्वे ।

---

(६८८) **शीङः सार्वधातुक इति ।** सूत्रार्थः स्पष्टः । **शेते ।** शीङ्धातोर्लटि, शीङो ङित्त्वात् तत्स्थाने 'अनुदात्तङित०' इत्यात्मनेपदे प्रथमपुरुषगतैकत्वविवक्षायां 'त' इति प्रत्यये, शपि, शपो लुकि, 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति ईकारस्य गुणे एकारे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे कृते 'शेते' इति ।

(६८९) **शीङो रुडिति ।** 'झोऽन्तः' इत्यस्मात् 'झ' इत्यनुवर्तते । 'अदभ्यस्तादि'-त्यस्मात् अदित्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते । तदाह—**शीङः परस्येति । शेरते ।** शीङ्-धातोः लटि, तत्स्थाने झप्रत्यये, शपो लुकि 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे

अदादि गण के परस्मैपदी धातुओं की रूपसिद्धि के विवेचन के अनन्तर आत्मनेपदी धातुओं के रूपों की प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है—

√शीङ् धातु का अर्थ—'शयन' (=सोना) है ।

(६८८) पद—शीङः, सार्वधातुके, गुणः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सार्वधातुक प्रत्यय के परवर्ती रहते 'शीङ्' धातु को गुण होता है । शेते । शयाते ।

विमर्श—'शीङ्' धातु ङित् होने से 'अनुदात्तङित०' से आत्मनेपदी है । अतः 'त' आदि प्रत्यय आते हैं । वे अपित् होने से 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् हो जाते हैं । उन प्रत्ययों के परवर्ती रहते—'क्ङिति च' से गुण का निषेध प्राप्त होता है । उसका अपवाद प्रकृत सूत्र है ।

उदाहरण—(१) √शी+लट् (=त, शप्, शप् का लुक्, ङिद्वत् होने से गुणाभाव प्राप्त, उसका बाधकर 'ई'='ए'—गुण—'शीङः सार्वधातुके गुणः' टि 'अ'='ए'—एत्व—'टित आत्मनेपदानाम्')=शेते । (२) √शी+लट् (=आताम्, शप्, लुक्, गुण, अयादेश, आम्=एत्व)=शयाते ।

(६८९) पद—शीङः, रुट् । **अनुवृत्ति**—झः, अत् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'शीङ्' से परवर्ती 'झ' के स्थान में आदेश 'अत्' को 'रुट्' का आगम होता है । शेरते इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'झोऽन्तः' (७।१।३) से 'झः' तथा 'अदभ्यस्तात्' (७।१।४) से 'अत्' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"शीङ् धातु से उत्तरवर्ती झ के स्थान में आदेश 'अत्' को रुट् (=र्) का आगम होता है ।"

उदाहरण—(१) √शी+लट् (='झ', शप् का लुक्, 'ई'='ए'—गुण 'शीङः सार्वधातुके गुणः', 'झ्'='अत्'—'आत्मनेपदेष्वनतः' टि—'अ'='ए'—'टित आत्मने०', रुट्='र्' 'शीङो रुट्')=शेरते । (२) शी+लट् म० पु० एक०—शेषे ।

शीङ् धातु 'लट्' लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	शेते	शयाते	शेरते
म० पु०—	शेषे	शयाथे	शेध्वे
उ० पु०—	शये	शेवहे	शेमहे

शये । शेवहे । शेमहे । शिश्ये । शयिता । शयिष्यते । शेताम् । अशेत । अशयाताम् । अशेरत । शयीत । शयीयास्ताम् । शयीरन् । शयिषीष्ट । अशयिष्ट । अशयिष्यत । इङ् अध्ययने । इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । अधीते । अधीयाते । अधीयते ।

'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्य तादेशे 'शीङो रुट्' इति रुडागमेऽनुबन्धलोपे टेरेत्वे 'शेरते' इति रूपम् । **शयीत** । शीङ्धातोर्लिङि तत्स्थाने 'त' प्रत्यये, शपो लुकि, 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि, उटि गते, टित्त्वादाद्यावयवे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्ये'ति सलोपे, एकारस्य स्थाने अयादेशे यलोपे च कृते 'शयीत' इति । **अधीते** । अध्युपसर्गपूर्वकात् इङ्धातोर्लटि, तादेशे, शपो लुकि, टेरेत्वे च कृते 'इको यणचि' इति प्राप्तं यणं प्रबाध्य **सवर्णदीर्घे** 'अधीते' इति ।

---

(३) शी+लिट् (=त, त=एश्=‘ए’—‘लिटस्तझयोरेशिरेच्’ धातु को द्वित्व; अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, ‘ई’=‘य्’—‘यण्’-‘एरनेकाचः’)=शिश्ये । (४) लुट्—शयिता । (५) लृट्—शयिष्यते । (६) शी+लोट् (=त, शप्, शप् का लुक्, गुण—‘शीङः सार्वधातुके०’, टि=एत्व, ‘ए’=‘आम्’—‘आमेतः’)=शेताम् ।

'शीङ्' धातु लोट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	शेताम्	शयाताम्	शेरताम्
म० पु०—	शेष्व	शयाथाम्	शेध्वम्
उ० पु०—	शयै	शयावहै	शयामहै

(७) शी+लङ् (=त, शप्, शप् का लुक्, अट्, गुण—‘शीङः सार्वधातुके’)=अशेत ।

'शीङ्' धातु लङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अशेत	अशयाताम्	अशेरत
म० पु०—	अशेथाः	अशयाथाम्	अशेध्वम्
उ० पु०—	अशयि	अशेवहि	अशेमहि

(८) शी+विधिलिङ् (=त, शप्, शप् का लुक्, ई=‘ए’—गुण ‘शीङः सार्वधातुके’ सीयुट्=सीय्) शे सीय् त (‘स्’ का लोप—‘लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य’ ‘ए’=‘अय्’—आदेश य् का लोप)=शयीत ।

शीङ् धातु विधिलिङ् के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	शयीत	शयीयाताम्	शयीरन्
म० पु०—	शयीथाः	शयीयाथाम्	शयीध्वम्
उ० पु०—	शयीय	शयीवहि	शयीमहि

(९) शी+आशीर्लिङ् (=त, सीयुट्=सीय्, ‘ई’=‘ए’ ‘गुण’, इट्, अयादेश)—‘शय् इ सीय् त’ (‘य्’ का लोप—‘लोपो व्योर्वलि’, ‘सुट्’=‘स्’—‘सुट्तिथोः’ ‘स्’=‘ष्’—षत्व, ष्टुत्व)=शयिषीष्ट ।

(६९०) गाङ् लिटि २।४।४९। इङो गाङ् स्याल्लिटि। अधिजगे। अध्येता। अध्येष्यते। अधीताम्। अधीष्व। अधीयाथाम्। अधीध्वम्। अध्ययै। अध्ययावहै। अध्ययामहै। अध्यैत। अध्यैयाताम्। अध्यैयत। अध्यैथाः। अध्यैयाथाम्। अध्यैध्वम्।

(६९०) गाङ् लिटीति। 'इङश्चे'त्यतः 'इङः' इत्यनुवर्तते। अधिजगे। अधिपूर्वकात् इङ्धातोर्लिटि 'गाङ् लिटि' इत्यनेन इङो गाङादेशेऽनुबन्धलोपे, लः स्थाने

शीङ् धातु आशीर्लिङ् के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	शयिषीष्ट	शयिषीयास्ताम्	शयिषीरन्
म० पु०	शयिषीष्ठाः	शयिषीयास्थाम्	शयिषीढ्वम्–शयिषीध्वम्
उ० पु०	शयिषीय	शयिषीवहि	शयिषीमहि

(१०) शी+लुङ् (=त, च्लि, च्लि=सिच्='स्' गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' 'ए'='अय्' आदेश, 'स्'='ष्'—'षत्व' ष्टुत्व, अट्)=अशयिष्ट।

√शीङ्धातु लुङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अशयिष्ट	अशयिषाताम्	अशयिषत
म० पु०	अशयिष्ठाः	अशयिषाथाम्	अशयिढ्वम्–अशयिध्वम्
उ० पु०	अशयिषि	अशयिष्वहि	अशयिष्महि

(११) लृङ् में अशयिष्यत इत्यादि।

√इङ् धातु का अर्थ—'पढ़ना' है। 'इङ् अध्ययने' और 'इक् स्मरणे' धातुओं का अधि उपसर्ग के बिना प्रयोग नहीं होता। पूर्व में धातु से प्रत्यय आने पर समस्त प्रक्रियागत कार्य हो जाते हैं। अनन्तर सिद्ध रूप के साथ उपसर्ग का योग होता है। जैसे—इते, इयाते, इयते रूप लट् लकार प्र० पु० में निष्पन्न होने के बाद 'अधि' उपसर्ग जोड़ा जाता है। सवर्णदीर्घ होकर—अधीते, अधीयाते, अधीयते इत्यादि।

(१) अधि+इ+लट् (=त, शप् लुक्, 'टि' को एत्व, इ+इ='ई'—सवर्णदीर्घ)= अधीते।

√अधि+'इङ्' धातु, लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अधीते	अधीयाते	अधीयते
म० पु०	अधीषे	अधीयाथे	अधीध्वे
उ० पु०	अधीये	अधीवहे	अधीमहे

(६९०) पद—गाङ्, लिटि। **अनुवृत्ति**—इङः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'लिट्' के परवर्ती रहने पर 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश होता है। अधिजगे। अध्येता इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'इङश्च' (२।४।४८) सूत्र से 'इङः' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः "लिट् लकार परे रहते 'इङ्' को 'गाङ्' (=गा) आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) अधि+√इ+लिट् (इ='गाङ्'='गा'—'गाङ् लिटि', ल्=त=एश्='ए' धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, चुत्व, 'आ' का लोप—'आतो लोप इटि च')=अधिजगे।

अध्यैयि । अध्यैवहि । अध्यैमहि । अधीयीत । अधीयीयाताम् । अधीयीरन् । अधीयीध्वम् । अध्येषीष्ट । (६९१) विभाषा लुङ्लृङोः २।४।५० । इणो गाङ् । (६९२)

तादेशे, तस्य एशि, अनुबन्धलोपे, 'गा' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासत्वे, ह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेन गकारस्य जकारे 'आतो लोप इटि चे'त्याकारलोपे '**अधिजगे**' इति ।

(६९१) **विभाषा लुङ्लङोरिति** । 'इङश्चे'त्यतः इङ इति, 'गाङ् लिटी'त्यतः 'गाङ्' इति चानुवर्तते । तदाह—**इङो गाङिति** ।

(२) अधि+√इ+लुट् (=त, तास्)—अधि इ तास् त (त=डा='आ'—'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' 'इ'='ए'—गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' 'टि'—आस् का लोप—'डित्वसामर्थ्याद-भस्यापि 'टेर्लोपः' यण्,)=अध्येता । (३) अधि+√इ+लृट् (=त, स्य, 'टि' को एत्व, षत्व, गुण—'सार्वधातु०' यण्)=अध्येष्यते । (४) अधि+√इ+लोट् (=त, शप्, शप् का लुक्, 'टि' को एत्व, ए='आम्'—'आमेतः' सवर्णदीर्घ)=अधीताम् ।

अधि+√इङ् धातु 'लोट्' लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अधीताम्	अधीयाताम्	अधीयताम्
म० पु०—	अधीष्व	अधीयाथाम्	अधीध्वम्
उ० पु०—	अध्ययै	अध्ययावहै	अध्ययामहै

(५) अधि+√इ+लङ् (=त, शप्, शप् का लुक्, आट्, वृद्धि, यण्)=अध्यैत ।

अधि+√इङ् धातु 'लङ्' लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अध्यैत	अध्यैयाताम्	अध्यैयत
म० पु०—	अध्यैथाः	अध्यैयाथाम्	अध्यैध्वम्
उ० पु०—	अध्यैयि	अध्यैवहि	अध्यैमहि

(६) अधि+√इ+लिङ् (=त, शप् का लुक्, सीयुट्=सीय्, 'स्' का लोप, 'य्' का लोप, इयङ्=इय्, दीर्घ)=अधीयीत ।

अधि+√'इङ्' धातु विधिलिङ् के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अधीयीत	अधीयीयाताम्	अधीयीरन्
म० पु०—	अधीयीथाः	अधीयीयाथाम्	अधीयीध्वम्
उ० पु०—	अधीयीय	अधीयीवहि	अधीयीमहि

(७) अधि+√इ+आशीर्लिङ् (=त, सीयुट्='सीय्' 'य्' का लोप, 'इ'='ए'—गुण—'सार्वधातु०')—अधि ए सी त (सुट्='स्'—'सुट् तिथोः' यण्, उभयसकार का षत्व, ष्टुत्व) अध्येषीष्ट ।

अधि+√'इङ्' धातु आशीर्लिङ् के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अध्येषीष्ट	अध्येषीयास्ताम्	अध्येषीरन्
म० पु०—	अध्येषीष्ठाः	अध्येषीयास्थाम्	अध्येषीढ्वम्
उ० पु०—	अध्येषीय	अध्येषीवहि	अध्येषीमहि

(६९१) पद—विभाषा, लुङ्लृङोः । **अनुवृत्ति**—इणः, गाङ् । **विधिसूत्र** ।

गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् १।२।१। गाङादेशात्कुटादिभ्यश्चाऽञ्णितः प्रत्यया ङितः स्युः। (६९३) **घु-मा-स्था-गा-पा-जहातिसां हलि ६।४।६६।** एषामात ईत्स्यात् हलादौ क्ङित्यार्धधातुके। अध्यगीष्ट। अध्यैष्ट। अध्यगीष्यत। अध्यैष्यत। ईर गतौ कम्पने च। ईर्ते। ईराञ्चक्रे। ईरिता। ईरिष्यते। ईर्ताम्। ईर्ष्व। ईर्ध्वम्। ऐरिष्ट।

---

(६९२) **गाङ्कुटादिभ्य इति।** ञ्च ण्च ञ्णौ, तौ इतौ यस्य स ञ्णित्, स न भवतीति अञ्णित्। गाङ् च कुटादिभ्यश्चेति पञ्चमी। 'गाङ्' इत्यनेनात्र गाङादेशस्य ग्रहणमत आह—**गाङादेशादिति।**

(६९३) **घुमास्थागापाजहातिसामिति।** 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम्। 'आतो लोप इटि चे'त्यतः आत इति, 'ईद्यति' इत्यतः 'ईदि'ति, 'दीङो युडचि' इत्यतः 'क्ङिति' इति चानुवर्तते। अत आह—**एषामात इत्यादिना। अध्यगीष्ट।** अधिपूर्वकादिङ्धातो-र्लुङि तत्स्थाने तप्रत्यये 'विभाषा लुङ्लृङोः' इतीङो गाङादेशेऽनुबन्धलोपे, च्लौ, च्लेः

मूलार्थ—'लुङ्' और 'लृङ्' के परवर्ती रहने पर 'इङ्' के स्थान में विकल्प से 'गाङ्' आदेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में स्थानी और आदेश वाचक पदों का अभाव है। अतः 'इङश्च' (२।४।४८) से स्थानिवाचक 'इङः' तथा 'गाङ् लिटि' (६९०) से आदेशवाचक 'गाङ्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "लुङ् तथा लृङ् लकार के परे रहते 'इङ्' धातु को विकल्प से 'गाङ्' आदेश होता है।"

(६९२) पद—गाङ्कुटादिभ्यः, अञ्णिन्ङित्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ—इङ्-स्थानिक गाङ् धातु और कुटादि से परवर्ती ञित् णित् से भिन्न प्रत्यय ङित् होते हैं।

(६९३) पद—घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-साम्, हलि। **अनुवृत्ति**—ईत्, क्ङिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—हलादि कित् ङित् आर्धधातुक के परवर्ती रहते घुसंज्ञक धातु तथा मा, स्था, पा, गा, हा और षो धातु के आकार को ईत्व (ई) होता है। अध्यगीष्ट। अध्यैष्ट इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ईद्यति' (६।४।६५) से 'ईत्' तथा 'दीङो युडचि क्ङिति' (६।४।६३) से 'क्ङिति' की अनुवृत्ति आती है। 'आर्धधातुके' का अधिकार है। अतः "घुसंज्ञक धातु, मा, स्था, गा, पा, हा और षो धातुओं के आकार को ईकार हो जाता है, हलादि कित् ङित् आर्धधातुक के परे रहते।"

उदाहरण—(१) अधि+√इ+लुङ् (=त, 'इ'=गाङ्='गा'—विकल्प स 'विभाषा लुङ्लृङोः', च्लि, च्लि=सिच्='स्', 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' से 'सिच्' को ङिद्वद्भाव, 'आ' ='ई'—'घुमास्थागापा०', 'अट्' का आगम, षत्व, ष्टुत्व, यण्)=अध्यगीष्ट। 'गाङ्' के अभावपक्ष में—आट्, वृद्धि, सिच्, षत्व, ष्टुत्व—अध्यैष्ट। (२) अधि+√इ+लृङ् (=त, विकल्प से 'इ'='गा'—'विभाषा लङ्लृङोः' स्य, ङिद्वद्भाव, 'आ'='ई'—'घुमास्था०' अट्, षत्व, यण्)= अध्यगीष्यत। 'गाङ्' आदेश के अभाव पक्ष में—आ इ स्य त (—वृद्धि, षत्व, ष्टुत्व, यण्)= अध्यैष्यत।

√ईर धातु का अर्थ—'जाना, काँपना' है। (१) लट्—ईर्ते। (२) लिट्—ईराञ्चक्रे। (३) लुट्—ईरिता। (४) लृट्—ईरिष्यते। (५) लोट्—ईर्ताम्। (६) लोट् म० पु० बहु०—ईर्ध्वम्। (७) लुङ्—ऐरिष्ट।

कश गतिशासनयोः । कष्टे । कशाते । ईड स्तुतौ । ईट्टे । (६९४) ईशः से ७।२। ७७। (६९५) ईडजनोर्ध्वे च ७।२।७८। ईशीड्जनां सेध्वेशब्दयोः सार्वधातुकयो-रिट् स्यात् । योगविभागो वैचित्र्यार्थः । ईडिषे । ईडिध्वे । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्— ईडिष्व । ईडिध्वम् । विकृतिग्रहणेन प्रकृतेरग्रहणात्—ऐड्ढ्वम् । ईश ऐश्वर्ये । ईष्टे । ईशिषे । ईशिध्वे । आस उपवेशने । आस्ते । 'दयायासश्च'त्याम् । आसाञ्चक्रे । आस्स्व । आध्वम् । आसिष्ट । आङः शासु इच्छायाम् । आशास्ते । आशासाते ।

स्थाने सिचि, 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' इति सिचो ङित्त्वे 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इति ईत्वे यणि षत्वे ष्टुत्वे च कृते 'अध्यगीष्ट' इति ।

(६९४) ईशः से । 'इडत्त्यर्ति' इत्यतः इडिति, 'रुदादिभ्यः' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते । तेन ईशधातोः सार्वधातुकस्य सेपदस्येट् स्यादित्यर्थः ।

(६९५) ईडजनोर्ध्वे चेति । 'इडि'ति, 'सार्वधातुके' इति चानुवर्तते । तेन ईड-जनधातुभ्यामुत्तरस्य 'ध्वे' इत्येतस्य च सार्वधातुकस्येड् भवतीति सूत्रार्थः । ईडिषे ।

√कश् धातु का अर्थ—'जाना, शासन करना' है । (१) √कश्+लट् (=त, शप्, शप् का लुक्, 'टि' को एत्व, श्=ष्—'व्रश्च०' ष्टुत्व)=कष्टे । (२) लट् प्र० पु० द्वि०—कशाते ।

ईड् धातु का अर्थ—'स्तुति करना' है । (१) लट्—ईट्टे ।

(६९४) पद—ईशः, से । अनुवृत्ति—इट्, सार्वधातुके । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'ईश्' धातु से परवर्ती 'से' सार्वधातुक को इट् का आगम होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इडत्यर्तिव्ययतीनाम्' (७।२।६६) से 'इट्' तथा—'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (७।२।७६) से 'सार्वधातुके' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"ईश धातु से उत्तरवर्ती सार्वधातुक 'से' को 'इट्' का आगम होता है ।"

(६९५) पद—ईडजनोः, ध्वे, च । अनुवृत्ति—से, सार्वधातुकस्य, इट् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—ईड और जन धातु से परवर्ती सार्वधातुक 'से, ध्वे' को 'इट्' का आगम होता है । ईडिषे । ईडिध्वे ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (६९४) से 'से' 'इडत्यर्ति०' (७।२।६६) से 'इट्' तथा 'रुदादिभ्यः' (७।२।७६) से 'सार्वधातुके' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"ईड् और जन् धातु से परवर्ती सार्वधातुक 'से' और 'ध्वे' को 'इट्' (=इ) का आगम होता है" ।

योगविभाग—यहाँ योगविभाग (अर्थात्—पृथक् दो सूत्रों की रचनाकरण) विचित्रता रूप अर्थ का बोधक है । विचित्रता इस प्रकार की है कि—पूर्वसूत्र से 'से' की अनुवृत्ति उत्तरसूत्र में है तथा उत्तरसूत्र से 'ध्वे' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (६९४) में है । विशेषतया उत्तरसूत्र से पूर्वसूत्र में अनुवृत्ति करना ही विलक्षणता है ।

उदाहरण—(१) √ईड्+लट् (=थास्, थास्='से'—'थासः से')—ईश से (इट्='इ' का आगम—'ईडजनोर्ध्वे च' षत्व)=ईडिषे । (२) √ईड्+लट् (=ध्वम्, अम्='ए'—'टित आत्मनेपदानाम्', 'इट्'='इ' का आगम—'ईडजनोर्ध्वे च')=ईडिध्वे । (३) 'ईडिष्व' में से नहीं है तथापि एकदेशविकृतन्याय से 'से' मानकर 'इट्' का आगम होता है । (४) √ईड्+लोट् (=ध्वम्, शप् का लुक्, इट्)=ईडिध्वम् । (५) लङ् म० पु० बहु०—ऐड्ढ्वम् । यहाँ विकृति (=ध्वे) का ग्रहण होने से प्रकृति (ध्वम्) का ग्रहण नहीं होता । अतः इट् भी नहीं होता—ऐड्ढ्वम् ।

आशासे । वस आच्छादने । वस्ते । वस्से । वध्वे ववसे । वसिता । णिसि चुम्बने । निस्ते । णिजि शुद्धौ । 'चोः कुः' । निङ्क्ते । निङ्क्षे । निनिञ्जे । निञ्जिता । निञ्जिष्यते । वृजी वर्जने । वृक्ते । वृजाते । इदिदित्यन्ये । वृङ्क्ते । पृची सम्पर्चने । पृक्ते । पपृचे । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । सूते । सुषुवे । सुषुवाते । सुषुविरे । सुषुविषे । सोता । सविता । 'भूसुवोरि'ति गुणनिषेधः । सुवै । सविषीष्ट–सोषीष्ट । असविष्ट–

ईड्धातोर्लटि तत्स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने 'थास्' प्रत्यये, 'थासः से' इत्यनेन थासः स्थाने 'से' इत्यादेशे, शब्लुकि, 'ईशः से' इति इडागमेऽनुबन्धलोपे षत्वे 'ईडिषे' इति ।

√ईश धातु—'ऐश्वर्य' अर्थ में है । (१) √ईश्+लट् (=त, शप्, लुक्, 'श्'='ष्', ष्टुत्व) =ईष्टे । (२) √ईश्+लट् (=थास्=से, शप्, लुक्, 'टि' को एत्व, इट्='इ' का आगम—'ईशः से' षत्व)=ईशिषे । (३) √ईश्+लट् (=ध्वम्, शप्, लुक्, 'टि' को एत्व, 'इट्' का आगम—'ईडजनोर्ध्वे च')=ईशिध्वे ।

√आस् धातु का अर्थ 'बैठना' है । (१) √आस्+लट् (=त, शप्, लुक् 'टि' को एत्व) =आस्ते ।

√आस् धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	आस्ते	आसाते	आसते
म० पु०	आस्से	आसाथे	आध्वे
उ० पु०	आसे	आस्वहे	आस्महे

(२) लिट् में—आसाञ्चक्रे ('दयायासश्च' से आम्, लिट्परक √कृ का अनुप्रयोग)। (३) √आस्+लोट् (=म० पु० एक०—थास्=से, शप् लुक्)—आस् से (ए='व'—'सवाभ्यां वामौ')=आस्व । (४) √आस्+लोट् (=ध्वम्, शप्, लुक्, 'स्' का लोप—'धि च', एत्व, ए=अम्—'सवाभ्यां वामौ')=आध्वम् । (५) लुङ्—आसिष्ट ।

√आङ् उपसर्गपूर्वक शास् धातु का अर्थ—'इच्छा करना' है । (१) आ+√शास्+लट् (=त, शप्, लुक् 'टि' को एत्व)=आशास्ते । (२) लट् प्र० पु० द्विव०—आशासाते । (३) लट् म० पु० एक०—आशासे । √वस् धातु का अर्थ 'आच्छादन' (=ढकना) है । (१) लट् प्र० पु० एक०—वस्ते । (२) लट् म० पु० एक०—वस्से । (३) लट् प्र० पु० बहु०—वध्वे । (४) लिट्—ववसे । (५) लुट्—वसिता ।

√णिसि धातु का अर्थ—'चुम्बन करना' है । ('णो नः' से 'ण्'='न्')—निस्+लट् (=त, शप्, लुक् 'टि' को एत्व)=निस्ते । √णिजि (=निज्) धातु का अर्थ—'शुद्ध होना' है । (१) √निज्+लट् (=त, शप्, लुक् 'टि' को एत्व)—निज् ते (नुम्='न्', 'ज्'='ग्'—कुत्व—'चोः कुः', 'ग्'='क्'—'खरि च' न्=-अनुस्वार, परसवर्ण—'ङ्')=निङ्क्ते । (२) लट् म० पु० एक०—निङ्क्षे । (३) लिट्—निनिञ्जे । (४) लुट्—निञ्जिता । (५) लृट्—निञ्जिष्यते ।

√वृजी धातु का अर्थ 'वर्जन' (रोकना, मना करना) है । (१) √वृज्+लट् (=त, शप्, लुक् 'टि' को एत्व, 'ज्'='ग्'—कुत्व, 'ग्'='क्'—'खरि च')=वृक्ते । (२) लट् प्र० पु० द्वि०—वृजाते । 'यह धातु इदित है' ऐसा कुछ आचार्यों का मत है । वहाँ ह्रस्व इकार की इत्संज्ञा होने से नुम्—वृङ्क्ते । √पृची (=पृच्) धातु 'सम्पर्चन' (=सम्बन्ध) अर्थ में है । (१) लट्—पृक्ते । (२) लिट्—पपृचे ।

असोष्ट । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । अयं दर्शनेऽपि । इकारोऽनुदात्तो युजर्थः । नुम्तु न, 'अन्त्येदित' इति व्याख्यानात् । ङकारस्तु 'अनुदात्तेत्वप्रयुक्तमात्मनेपदमनित्यमि'ति ज्ञापनार्थः । तेन 'स्फायन्निर्मोकसन्धिरि'त्यादिसिद्धिः । 'स्कोरि'ति कलोपः । चष्टे । चक्षाते । 'आर्धधातुके' । (६९६) चक्षिङः ख्याञ् २।४।५४ । (६९७) वा लिटि २।४।५५ । अत्र भाष्ये 'ख्शादिर'यमादेशः । असिद्धकाण्डे–'शस्य यो वा' इति स्थितम् । ञित्वात्पदद्वयम् । चख्यौ । चख्ये । चक्शौ । चक्शे । 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरि'-

---

(६९६) चक्षिङः ख्याञ् इति । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् । चक्षिङ्धातोः ख्याञ् आदेशो भवति, आर्धधातुकविषये ।

(६९७) वा लिटीति । 'चक्षिङः ख्याञ्' इति पूर्वसूत्रमनुवर्तते । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् । लिटचार्धधातुके चक्षिङः ख्याञ् आदेशो वा भवतीति सूत्रार्थः । **असिद्धकाण्ड इति ।** त्रिपादीप्रकरणे णत्वप्रकरणानन्तरमसिद्धकाण्ड इति । तेन 'प्रख्यानमि'त्यादौ

√षूङ् धातु प्रसवार्थक है । ('धात्वादेः षः सः' से सत्व) । (१) लट्—सूते (२) लिट्—सुषुवे (उवङ्) । (३) लोट्—सोता, सविता ('स्वरति-सूति०' से विकल्प से इट्) । (४) सू+लोट् (=उ० म० ए० व०—'इ' शप् लुक् 'आट्'='आ' वृद्धि, 'आट्' आगम के पित् होने से 'भूसुवोः' से गुण का निषेध)=सुवै । (५) आशीर्लिङ् में—सविषीष्ट, सोषीष्ट (विकल्प से इट्) । (६) लुङ् में—असविष्ट, असोष्ट ।

√चक्षिङ् धातु का अर्थ—'स्पष्ट बोलना' है । यह धातु 'दर्शन' अर्थ में भी है । धातु में स्थित इकार अनुदात्त है । अनुदात्त होने से 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' से युच् प्रत्यय होता है । यथा—'विचक्षणः प्रथयन्' । अतः प्रकृत में इकार की इत्संज्ञा होने पर भी 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् नहीं हुआ । क्योंकि 'इदितो' सूत्र के व्याख्यान में यह स्पष्ट किया गया है कि जहाँ ह्रस्व इकार अन्त में इत्संज्ञक रहे वहाँ ही धातु को नुम् का आगम होता है । वह अन्तिम अच् से परे धातु का अवयव होता है । यहाँ अन्तिम इत्संज्ञक इकार नहीं है, क्योंकि यहाँ ङकार की इत्संज्ञा है, जो आत्मनेपद विधान के लिए है ।

यहाँ आशङ्का होती है कि इकार के अनुदात्त होने से आत्मनेपद विधान हो जाता, पुनः ङकार क्यों किया ? वह ङकार व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'अनुदात्तेत्वलक्षण प्रयुक्त आत्मनेपद अनित्य होता है ।' उक्त ज्ञापन का फल यह है कि 'स्फायन्' में 'लट्' को 'शानच्' न होकर 'शतृ' हुआ । यहाँ स्फायी धातु वृद्ध्यर्थक अनुदात्तेत् है ।

(१) चक्ष्+लट् (=त, शप्, लुक्, 'क्' का लोप—'स्कोः', 'टि' को एत्व, ष्टुत्व)= चष्टे । (२) चक्ष्+लट् (=आताम्, शप्, लुक्, 'टि' को एत्व)=चक्षाते ।

(६९६) पद—चक्षिङः, ख्याञ् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—आर्धधातुक के विषय में 'चक्षिङ्' धातु को 'ख्याञ्' (=ख्या) आदेश होता है ।

विमर्श—'आर्धधातुके' का अधिकार है ।

(६९७) पद—वा लिटि । **अनुवृत्ति**—चक्षिङः, ख्याञ् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लिट् आर्धधातुक के परवर्ती रहते 'चक्षिङ्' धातु को विकल्प से 'ख्याञ्' आदेश होता है ।

विमर्श—'आर्धधातुके' का अधिकार है । पूर्वसूत्र 'चक्षिङः ख्याञ्' (६९६) की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—"लिट् आर्धधातुक के परवर्ती रहते 'चक्षिङ्' धातु के स्थान में 'ख्याञ्'

ति तु न, चर्त्वस्यासिद्धत्वात्। चचक्षे। ख्याता। क्शाता। ख्यास्यति। ख्यास्यते। क्शास्यति। क्शास्यते। चष्टाम्। अचष्ट। चक्षीत। ख्यायात्। ख्येयात्। क्शायात्। क्शेयात्। 'अस्यतिवक्ती'त्यङ्। अख्यत्। अख्यत। 'यमरमे'तीट्-सकौ। अक्शासीत्। अक्शास्त। * वर्जने ख्शाञ् नेष्टः *। समचक्षिष्टेत्यादि।

इत्यात्मनेपदप्रक्रिया।

अथोभयपदप्रक्रिया

द्विष अप्रीतौ। द्वेष्टि। द्विष्टे। दिद्वेष। दिद्विषे। द्वेष्टा। द्वेक्ष्यति। द्वेष्टु-द्विष्टात्। द्विड्ढि। द्विक्ष्व। द्वेषाणि। द्वेषै। अद्वेट्। (६९८) द्विषश्च ३।४।११२।

यत्वस्याऽसिद्धत्वेन न णत्वम्। अन्यथा यकारव्यवधानस्य सत्त्वात् णत्वं स्यादेवेति। चख्यौ। चक्षिङ्धातोर्लिटि 'वा लिटी'ति चक्षिङः स्थाने ख्याञ् आदेशेऽनुबन्धलोपे लिटः स्थाने परस्मैपदविवक्षायां तिपि, तिपो णलादेशे, 'आत औ णलः' इति णलः स्थाने औकारे, धातोः द्वित्वेऽभ्यासत्वे, ह्रस्वे, हलादिशेषे, चर्त्वे, वृद्धौ 'चख्यौ' इति। आत्मनेपदे तु 'चख्ये' इति।

इत्यात्मनेपदप्रक्रिया।

---

(६९८) द्विषश्चेति। 'लङः' इति 'झेर्जुस्' इति चानुवर्तते। तदाह—द्विषः परस्येति। अद्विषुः। द्विष्धातोर्लङि, लङः स्थाने झिप्रत्यये शब्लुकि, 'द्विषश्चे'ति वा

आदेश विकल्प से होता है।" महाभाष्य में 'ख्शाञ्' आदेश है, यह स्वीकार किया गया है। असिद्ध काण्ड में स्थित 'शस्य यो वा' से शकार को यकार आदेश विकल्प से होता है। 'ख्याञ्' में ञकार की इत्संज्ञा होने से 'स्वरितञितः' सूत्र से उभयपद होता है।

उदाहरण—(१) √चक्षिङ्+लिट् (चक्षिङ्=ख्याञ्='ख्या' विकल्प से, ल्=परस्मैपद प्र० पु० एकव०—तिप्=णल्=औ—'आत औ णलः' धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, चुत्व, जश्त्व, वृद्धि)=चख्यौ। आत्मनेपद पक्ष में—चख्ये (त=एश्, 'आ'लोप इत्यादि कार्य)। भाष्योक्त 'ख्शाञ्' आदेश स्वीकार करने पर—चक्शौ। चक्शे। चर्त्व के असिद्ध होने से प्रकृत प्रयोगों में 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' की प्रवृत्ति नहीं होती। 'ख्याञ्' आदेश के अभावपक्ष में—चचक्षे। (२) लुट्—ख्याता। 'ख्या' के अभावपक्ष में—क्शाता। (३) लृट्—ख्यास्यति, ख्यास्यते। क्शास्यति, क्शास्यते। (४) लोट्—चष्टाम्। (५) लङ्—अचष्ट। (६) विधिलिङ्—चक्षीत। (७) आशीर्लिङ् में 'ख्या' आदेश पक्ष में—ख्यायात, ख्येयात ('वाऽन्यस्य' से विकल्प से एत्व)। 'ख्शा' आदेश पक्ष में—क्शायात, क्शेयात। (९) लुङ्—'ख्या' आदेश पक्ष में—अख्यत, अख्यत ('अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' से च्लि=अङ्='अ')। क्शादेशपक्ष में—'यमरम' से इट्, सक्—अक्शासीत। आत्मनेपद पक्ष में—अक्शास्त।

वा०—"वर्जन अर्थ में 'चक्षिङ्' के स्थान में 'ख्शाञ्' आदेश नहीं होता।" तदनुसार लुङ् में—अचक्षिष्ट।

आत्मनेपदप्रक्रिया समाप्त।

√द्विष् धातु का अर्थ—'द्वेष करना' है। (१) द्विष्+लट् (=परस्मैपद तिप्=ति, शप्, लुक्, ष्टुत्व)=द्वेष्टि। आत्मनेपद में त, शप्, लुक्, ष्टुत्व, 'टि' को एत्व)=द्विष्टे। (२) लिट्—

द्विषः परस्य लङो झेर्जुस् वा । अद्विषुः । अद्विषन् । अद्विष्टम् । अद्विषम् । द्विषीत । द्विक्षीष्ट । 'शल इगुपधे'ति क्सः । अद्विक्षत् । अद्वेक्ष्यत । दुह प्रपूरणे । 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घः । 'झषस्तथोर्धोऽधः' । दोग्धि । दुग्धः । दुहन्ति । 'एकाचो बशो भष्' इति दकारस्य धकारः । धोक्षि । दुग्धः । दुग्ध । दोह्मि । दुह्वः । दुह्मः । दुग्धे । दुहाते । दुहते । धुक्षे । दुहाथे । धुग्ध्वे । दुहे । दुह्वहे । दुह्महे । दुदोह । दुदुहे । दोग्धा । धोक्ष्यति । धोक्ष्यते । दोग्धु–दुग्धात् । दुग्धाम् । दुहन्तु । दुग्धि–दुग्धात् ।

झेर्जुसादेशेऽनुबन्धलोपे, अटयनुबन्धलोपे, सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'अद्विषुः' इति । जुसादेशाऽभावपक्षे तु—'अद्विषन्' इति । दोग्धि । दुह्धातोर्लटस्तिपि, शपि, शपो लुकि, 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'दुघ् धि' इति जाते 'झलां जश् झशि' इत्यनेन घस्य गकारे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति गुणे 'दोग्धि' इति रूपम् ।

धोक्ष्यति । 'दुह् प्रपूरणे' इत्यस्माद्धातोर्लृटस्तिपि, स्यप्रत्यये, 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति गुणे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशो भष०' इति भष्भावेन दस्य धत्वे 'खरि चे'त्यनेन घस्य कत्वे, षत्वे, क् ष् संयोगे क्षे जाते 'धोक्ष्यती'ति सिद्धम् । आत्मनेपदपक्षे तु 'धोक्ष्यते' इति ।

दिद्वेष, **आत्मनेपद**—दिद्विषे । (३) लुट्—द्वेष्टा । (४) लृट्—द्वेक्ष्यति । (५) लोट्—द्वेष्टात्–द्वेष्टु । (६) लोट्—म० पु० एकव० (सिप्='सि', 'सि'='हि', 'हि'='धि' 'हुझल्भ्यो०' 'ष्'='ड्' जश्त्व, 'ध्'='ढ्'—ष्टुत्व)=द्विड्ढि । आत्मनेपद में—द्विक्ष्व । (७) लोट् उ० पु० एकव०—द्वेषाणि (गुण, णत्व) । आत्मनेपद में—द्वेषै । (८) द्विष्+लङ् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, गुण, इकारलोप, 'त्' का हल्ङ्यादिलोप, जश्त्व से 'ष्'='ड्' 'ड्'='ट्' विकल्प से—'वाऽवसाने', अट् का आगम)=अद्वेट् ।

(६६८) पद—द्विषः, च । **अनुवृत्ति**—लङः, शाकटायनस्य, झेर्जुस् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्विष् धातु से परवर्ती लङ् सम्बन्धी 'झि' को जुस् आदेश विकल्प से होता है । अद्विषुः । अद्विषन् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'लङः शाकटायनस्यैव' (३।४।१११) सूत्र से 'लङः' और 'शाकटायनस्य' तथा 'झेर्जुस्' (३।४।१०८) की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"द्विष् धातु से परवर्ती लङादेश 'झि' के स्थान में जुस् आदेश आचार्य शाकटायन के मत में होता है, अन्य आचार्यों के मत में नहीं ।"

उदाहरण—(१) √द्विष्+लङ् (=झि, शप्, शप् का लुक्, झि=जुस्='उस्' विकल्प से—'द्विषश्च', अट्, स्=र्=ः)=अद्विषुः । जुस् के अभाव पक्ष में—अद्विषन् । (२) विधिलिङ् परस्मैपद—द्विष्यात् । आत्मनेपद—द्विषीत । (३) आशीर्लिङ् आत्मनेपद—द्विक्षीष्ट । (४) लुङ्—परस्मैपद—अद्विक्षत् ('शल इगुपधात्' से च्लि='क्स') । (५) लृङ् आत्मनेपद—अद्वेक्ष्यत ।

√दुह् धातु का अर्थ—दुहना है । (१) दुह्+लट् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, 'ह्'='घ्'—'दादेर्धातोर्घः', 'त्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः')—दुघ् धि ('घ्'='ग्'—'झलां जश् झशि' 'उ'='ओ'—गुण—'पुगन्तलघूपधस्य च')=दोग्धि । (२) दुह्+लट् (=तस्, शप्, लुक् 'ह्'='घ्'—'दादेर्धातोर्घः' 'त्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः' 'घ्'='ग्'—जश्त्व, स्=र्=ः)

दुग्धम् । दुग्ध । दोहानि । दुग्धाम् । दुहाताम् । दुहताम् । धुक्ष्व । दुहाथाम् । धुग्ध्वम् । दोहै । दोहावहै । दोहामहै । अधोक्-अधोग् । अदुग्धाम् । अदुहन् । अदोहम् । अदुग्ध । अदुहाताम् । अदुहत । अदुग्धाः । अदुहाथाम् । अधुग्ध्वम् । दुह्यात् । दुहीत । लिङ्-

---

अधोक् इति । दुह्धातोर्लङि, तत्स्थाने तिपि, शपो लुकि, अङ्गस्याडागमे लघूपधगुणे, 'इतश्चे'ति तिप इकारलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घादि'ति तलोपे 'दादेर्धातोर्घः' इत्यनेन हकारस्य घकारे 'एकाचो बशो भष्' इति भष्भावेन दस्य धत्वे, जश्त्वेन गकारे, तस्य 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्पेन ककारे 'अधोक्' इति । पक्षे—'अधोगि'ति । अधुक्षदिति । दुह्धातोर्लुङि, तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः स्थाने क्सादेशेऽनुबन्धलोपे 'दादेर्धातोर्घः' इत्यनेन हकारस्य घकारे 'एकाचो०' इति भष्भावेन दस्य धत्वे 'खरि चे'त्यनेन घस्य कत्वे

=दुग्धः । (३) दुह्+लट् (=झि, शप्, लुक्, 'झ्'='अन्त्'—'झोऽन्तः')=दुहन्ति। (४) दुह्+लट् (=सिप्='सि' 'ह्'='घ्', 'घ्'='क्'—चर्त्व—'खरि च', 'द्'='ध्'—'एकाचो बशो भष्०' गुण, षत्व, क्+ष्='क्ष्')=धोक्षि । यहाँ अजादि और हलादि अजादि प्रत्ययों के परवर्ती रहते और वकारादि तथा मकारादि प्रत्ययों के परवर्ती रहते उक्त 'दादेधातोर्घः, झलां जश् झशि, झषस्तथोर्धोऽधः, एकाचो बशो भष्' इत्यादि सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती। केवल हलादि यथा—तकारादि और थकारादि प्रत्ययों के परे रहते उक्त सूत्रों की प्रवृत्ति होती है। सकारादि प्रत्ययों के परे रहने पर भी उक्त कार्य होते हैं।

√दुह् धातु लट् लकार (परस्मैपद) के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	दोग्धि	दुग्धः	दुहन्ति
म० पु०	धोक्षि	दुग्धः	दुग्ध
उ० पु०	दोह्मि	दुह्वः	दुह्मः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	दुग्धे	दुहाते	दुहते
म० पु०	धुक्षे	दुहाथे	धुग्ध्वे
उ० पु०	दुहे	दुह्वहे	दुह्महे

(५) लिट्—परस्मैपद—दुदोह। (६) आत्मनेपद—दुदुहे। (७) लुट्—दोग्धा। (८) दुह्+लृट् (=तिप्=ति, स्य, गुण—'पुगन्तलघूपधस्य च', 'ह्'='घ्'—'दादेर्धातोर्घः', 'द्'='ध्'—'एकाचो बशो भष्', 'घ्'='क्'—'खरि च', षत्व, क् ष्=क्ष्)=धोक्ष्यति। आत्मनेपद में—धोक्ष्यते। (९) लोट्—दोग्धु, दुग्धात्। इत्यादि। आत्मनेपद में—दुग्धाम्, दुहाताम्, दुहताम् इत्यादि। (१०) दुह्+लङ् (=तिप्=ति, शप्, शप् का लुक्, अट् का आगम, 'उ'=गुण—'पुगन्त०', इकारलोप—'इतश्च', 'त्' का लोप 'हल्ङ्याब्भ्यो०', 'ह्'='घ्'—'दादेर्धातोर्घः' 'द्'='ध्'—भष्भाव—'एकाचो०', 'ध्'='ग्', 'ग्'='क्' चर्त्व विकल्प से)=अधोक्। चर्त्व के अभावपक्ष में—अधोग्। लङ् प्र० पु० द्विव०—अदुहाताम्। बहुव०—अदुहन्। आत्मनेपद पक्ष में—अदुग्ध, अदुहाताम्, अदुहत इत्यादि। (झ्='अत्'—'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्')।

सिचावात्मनेषु । धुक्षीष्ट । 'शल इगुपधे'ति क्सः । अधुक्षत् । (६९९) लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये ७।३।७३ । एषां क्सस्य लुग्वा दन्त्ये तङि । अधुक्षत–अदुग्ध । (७००) क्सस्याचि ७।३।७२ । अजादौ तङि क्सस्य लोपः स्यात् । अधुक्षाताम् । अधुक्षन्त । अधुक्षथाः–अदुग्धाः । अधुक्षाथाम् । अधुक्षध्वम्–अधुग्ध्वम् ।

अङ्गस्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'इतश्चे'ति तिप इकारलोपे षत्वे, कषोः संयोगे क्षे कृते 'अधुक्षत्' इति ।

(६९९) **लुग्वेति** । 'क्सस्याची'त्यतः 'क्सस्ये'त्यनुवर्तते । अत आह—**एषां क्सस्येति । अदुग्ध इति** । दुह्धातोर्लुङि तत्स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये, च्लौ, च्लेः स्थाने 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति क्सादेशे 'लुग्वा दिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' इति विभाषया क्सस्य लुकि, 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धकारे 'झलां जश् झशि' इत्यनेन घस्य गत्वे, अडागमेऽनुबन्धलोपे 'अदुग्ध' इति । क्सस्य लुगभावपक्षे तु—'अधुक्षत' इति ।

(७००) **क्सस्याचीति** । 'घोलोपो लोटि वा' इत्यस्माल्लोप इत्यनुवर्तते । अचीत्यस्याङ्गाक्षिप्तविशेषणत्वात्तदादिविधिः । तदाह—**अजादावित्यादिना । अधुक्षाताम्** । दुह्धातोर्लुङि तत्स्थानेऽऽत्मनेपदे प्रथमपुरुषद्विवचने आतामि, च्लौ, च्लेः

---

(११) विधिलिङ्—दुह्यात् । दुहीत । (१२) दुह्+आशीर्लिङ् (=त, सीयुट्=सीय्, 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से किद्वद्भाव, 'क्ङिति च' से गुणनिषेध 'य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि' 'ह्'='घ्', 'द्'='ध्'—भष्भाव, 'घ्'='क्' 'खरि च' षत्व, क्+ष्=क्ष्, सुट्='स्'-'सुट् तिथोः' षत्व, ष्टुत्व)=धुक्षीष्ट । (१३) दुह्+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि, च्लि=क्स्='स'—'शल इगुपधादनिटः क्सः' 'ह्'='घ्', 'द्'='ध्'—भष्भाव)—धुघ् स ति ('घ्'='क्'—'खरि च' अट् का आगम, इकारलोप, षत्व, क्+ष्='क्ष्')=अधुक्षत ।

(६९९) पद—लुक्, वा, दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे, दन्त्ये । **अनुवृत्ति**—क्सस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—दन्त्य 'तङ्' के परवर्ती रहने पर दुह् आदि धातुओं से उत्तर स्थित 'क्स' का लुक् विकल्प से होता है । अधुक्षत । अदुग्ध ।

विमर्श—यहाँ 'क्सस्याचि' (७।३।७२) से 'क्सस्य' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—दुह्, दिह्, लिह् और गुह् धातुओं से उत्तरवर्ती 'क्स' का विकल्प से लुक् होता है, दन्त्य तङ् के परे होने पर ।

उदाहरण—(१) दुह्+लुङ् (=त, 'च्लि'='क्स' 'शल इगुपधात०', 'क्स' का विकल्प से लुक्—'लुग्वा दुहदिह' 'ह्'='घ्'—'दादेर्धातोर्घः' 'त्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः' 'घ्'='ग्'—'झलां जश् झशि', अट्)=अदुग्ध । लुक् के अभाव पक्ष में—अधुक्षत ।

(७००) पद—क्सस्य, अचि । **अनुवृत्ति**—लोपः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अजादि 'तङ्' के परवर्ती रहते क्स (=स) का लोप होता है । अधुक्षाताम् इत्यादि ।

विमर्श—'घोर्लोपो लेटि वा' (७।३।७०) से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—"अजादि तङ् के परे रहते 'क्स' का लोप होता है" ।

अधुक्षि । अधुक्षावहि–अदुह्वहि । अधुक्षामहि । अधोक्ष्यत् । अधोक्ष्यत । एवं दिह उपचये । उपचयो वृद्धिः । प्रणिदेग्धि । देग्धु–दिग्धि । लिह आस्वादने । 'हो ढः' । ढो ढे लोपः । लेढि । लीढः । लिहन्ति । लेक्षि । लीढे । लिहाते । लिहते । लिक्षे ।

क्सादेशेऽनुबन्धलोपे 'दुह् स आताम्' इति जाते 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषासहकारेण 'क्सस्याची'त्यनेन अकारलोपे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे, दस्य भष्भावेन धत्वे, 'खरि चे'ति चर्त्वेन घस्य कत्वे, सस्य षत्वे क्षोः संयोगे क्षे जाते, अङ्गस्याडागमेऽनुबन्धलोपे, क्सादेशस्य कित्त्वाद् गुणनिषेधे 'अधुक्षाताम्'ति । **अलीढ** । लिह् धातोर्लुङि, तत्स्थाने आत्मनेपदसंज्ञके 'त' प्रत्यये, च्लौ, च्लेः स्थाने 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति क्सादेशेऽनुबन्धलोपे 'लुग्वा' इति विकल्पेन क्सस्य लुकि 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे, तकारस्य धत्वे, ष्टुत्वे 'ढो ढे लोपः' इति ढलोपे, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति पूर्व-

---

उदाहरण—(१) दुह्+लुङ् (=आताम्, च्लि, च्लि=क्स='स'—'शल इगुपधात्')- दुह् स् आताम् ('अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के सहकार से 'क्सस्याचि' से अकार का लोप, 'ह्'='घ्'—'दादेर्धातोर्घः' 'द्'='ध्'—भष्भाव, 'घ्'='क्'—'खरि च' षत्व, 'क्'+'ष्'='क्ष्', अट्) =**अधुक्षाताम्** ।

(२) लुङ् प्र० पु० बहु०—अधुक्षन्त (झ्='अन्त्' आदेश, क्स के अकार का लोप) ।

√दुह् धातु लङ् लकार के रूप

(परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अधुक्षत्	अधुक्षताम्	अधुक्षन्
म० पु०	अधुक्षः	अधुक्षतम्	अधुक्षत
उ० पु०	अधुक्षम्	अधुक्षाव	अधुक्षाम

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अदुग्ध, अधुक्षत	अधुक्षाताम्	अधुक्षन्त
म० पु०	अदुग्धाः, अधुक्षथाः	अधुक्षाथाम्	अधुग्ध्वम् , अधुक्षध्वम्
उ० पु०	अधुक्षि	अदुह्वहि, अधुक्षावहि	अधुक्षामहि

(३) दुह+लृङ् (=तिप्=ति, स्य, 'उ'='ओ'—गुण—'पुगन्तलघूपधस्य च' 'ह्'='घ्'—'दादेर्धातोर्घः', 'द्'='ध्'—भष्भाव, 'घ्'='क्'—चर्त्व, षत्व, क्+ष्='क्ष्' इकारलोप—'इतश्च' अट्)=अधोक्ष्यत् । आत्मनेपद में—अधोक्ष्यत ।

इसी प्रकार √दिह् (=बढ़ना) धातु के भी रूप बनते हैं। √लिह् धातु का अर्थ—'चाटना' है ।

(१) लिह्+लट् (=तिप्=ति, शप्, शप् का लुक्, गुण, 'ह्'='ढ्'—'हो ढः' 'त्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः' 'ध्'='ढ'—'ष्टुत्व' 'ढ्' का लोप—'ढो ढे लोपः')=लेढि । (२) लिह्+लट् (=तस्, शप् का लुक्, 'ह्'='ढ्', 'त्'='ध्', 'ध्'='ढ्'—'ष्टुत्व' ढकारलोप, 'इ'='ई' दीर्घ—'ढ्रलोपे' पूर्वस्य दीर्घोऽणः' स्=र्=ः)=लीढः । (३) लिह्+लट् (=झि, शप् का लुक्, 'झ्'='अन्त्')=लिहन्ति ।

लिहाथे। लीढ्वे। लेढु–लीढात्। लीढाम्। लिहन्तु। लीढि। लेहानि। लीढाम्। अलेट्–अलेड्। अलीढाम्। अलिक्षत्। अलिक्षत। अलीढ। अलेक्ष्यत्। अलेक्ष्यत। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। (७०१) ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ३।४।८४। ब्रुवो

स्याणो दीर्घे 'अलीढ' इति। लुगभावपक्षे—हस्य ढत्वे 'षढोः कः सि' इति ढकारस्य ककारे षत्वे क्षोः संयोगे 'क्षे' जाते 'अलिक्षत' इति।

(७०१) ब्रुवः पञ्चानामिति। 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' इत्यत

√लिह् धातु लट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०–	लेढि	लीढः	लिहन्ति
म० पु०–	लेक्षि	लीढः	लीढ
उ० पु०–	लेह्मि	लिह्वः	लिह्मः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०–	लीढे	लिहाते	लिहते
म० पु०–	लिक्षे	लिहाथे	लीढ्वे
उ० पु०–	लिहे	लिह्वहे	लिह्महे

(४) लोट्—लेढु–लीढात् (विकल्प से तातङ्=(तात्) आदेश।

लिह् धातु लोट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	लेढु–लीढात्	लीढाम्	लिहन्तु
म० पु०—	लीढि–लीढात्	लीढम्	लीढ
उ० पु०—	लेहानि	लेहाव	लेहाम

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	लीढाम्	लिहाताम्	लिहताम्
म० पु०—	लिक्ष्व	लिहाथाम्	लीढ्वम्
उ० पु०—	लेहै	लेहावहै	लेहामहै

(५) √लिह्+लङ् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, इकारलोप, 'त्' का हलङ्यादि लोप, गुण, ह्='ढ्' अट्, विकल्प से चर्त्व)=अलेट्, अलेड्। (६) लङ् प्र० पु० द्विव०—अलीढाम्। (७) लिह्+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि, च्लि=क्स='स'—'शल इगुपधात्०' ह्='ढ्'= 'क्'—'षढोः कः सि' षत्व, क्+ष्=क्ष्, अट्)=अलिक्षत्। आत्मनेपद में—√लिह्+लुङ् (='त', च्लि='क्स्' 'क्स' का विकल्प से लुक्—'लुग्वा दुहदिह०' 'ह्'='ढ्', 'त'='ध्' ष्टुत्व, 'ढ्' का लोप, 'इ'='ई'—दीर्घ—'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः')=अलीढ। क्स के लुक् के अभावपक्ष में 'ह्'='ढ्' 'ढ्'='क्'—'षढोः कः सि' षत्व)=अलिक्षत। (८) लृङ्—अलेक्ष्यत्। आत्मनेपद—अलेक्ष्यत।

√ब्रूञ् धातु का अर्थ 'स्पष्ट बोलना' है।

(७०१) पद—ब्रुवः, पञ्चानाम्, आदितः, आहः, ब्रुवः। अनुवृत्ति—लटो वा, परस्मै-

लटस्तिबादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युर्ब्रुवश्चाऽऽहादेशः । अकार उच्चारणार्थः । आह । आहतुः । आहुः । (७०२) आहस्थः ८।२।३५ । चर्त्वम् । आत्थ । आहथुः । (७०३) ब्रुव ईट् ७।३।९३ । ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात् । ब्रवीति । ब्रूतः ।

उत्तरसूत्रमिदम् । 'विदो लटो वा' इत्यतः लटो वेत्यनुवर्तते । अत आह—**ब्रुवो लट इति । आह ।** ब्रूधातोर्लटि, तत्स्थाने तिपि, शपो लुकि 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इति तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे ब्रुव आहादेशे च कृते 'आह' इति रूपम् ।

(७०२) **आहस्थ इति ।** 'झलो झलि' इत्यतः 'झली'त्यनुवर्तते । तदाह—**झलि परे इति । आत्थ ।** ब्रूधातोर्लटि, लः स्थाने सिपि, शपो लुकि 'ब्रुवः पञ्चानामि'ति सिपस्थलादेशे, ब्रुव आहादेशे च कृते 'आहस्थः' इत्यनेन हस्य थत्वे 'खरि चे'ति चर्त्वेन तकारे **'आत्थ'** इति ।

(७०३) **ब्रुव इडिति ।** 'नाभ्यस्तस्ये'त्यतः पितीति, 'उतो वृद्धिः' इत्यतो हलीति चानुवर्तते । तदाह—**ब्रुवः परस्येति । ब्रवीति ।** ब्रूधातोर्लटि, लः स्थाने तिपि, शपो

पदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'ब्रू' धातु से परवर्ती लट् लकार सम्बन्धी तिप् आदि पाँच के स्थान में विकल्प से णल् आदि आदेश होते हैं और 'ब्रू' के स्थान में 'आह' आदेश भी होता है । 'आह' आदेश का अकार उच्चारण की सुगमता के लिए है । आह । आहतुः । आहुः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'विदो लटो वा' (३।४।८३) से 'लटो वा' की अनुवृत्ति आती है तथा 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' (३।४।८२) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "ब्रू धातु से परवर्ती जो लट् लकार, उसके स्थान में परस्मैपदसंज्ञक पाँच प्रत्ययों (तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्) के स्थान में क्रमशः णलादि (णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्) आदेश विकल्प से होते हैं तथा 'ब्रू' धातु को 'आह' आदेश भी होता है ।"

उदाहरण—(१) ब्रू+लट् (=तिप्, शप्, लुक्, तिप्=णल्='अ' 'ब्रू'='आह'—'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः')=आह । (२) ब्रू+लट् (=तस्, शप्, लुक्, तस्=अतुस्, 'ब्रू'='आह्', स्=र्=:)=आहतुः । (३) ब्रू+लट् (=झि, शप्, लुक् 'झि'='उस्', 'ब्रू' ='आह्', स्=र्=:)=आहुः ।

(७०२) पद—आहः, थः । **अनुवृत्ति**—हः, झलि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'झल्' के परवर्ती रहते 'आह्' को थकारान्त आदेश होता है । आत्थ । आहथुः ।

विमर्श—यहाँ 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' तथा 'हो ढः' (८।२।३) से षष्ठ्यन्त 'हः' पदों की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—"झल् के परवर्ती रहते आह् के हकार के स्थान में थकार आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) ब्रू+लट् (=सिप्, शप्, लुक्, सिप्=थल्=थ, 'ब्रू'='आह्'—'ब्रुवः पञ्चानाम्०' 'ह्'='थ्'—'आहस्थः' 'थ्'='त्'—चर्त्व—'खरि च')=आत्थ । (२) लट् म० पु० द्विव०—आहथुः ।

(७०३) पद—ब्रुवः, ईट् । **अनुवृत्ति**—पिति, हलि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'ब्रूञ्' धातु से परवर्ती हलादि पित् को 'ईट्' का आगम होता है । ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति इत्यादि ।

ब्रुवन्ति । ब्रूते । ब्रुवाते । ब्रुवते । (७०४) ब्रुवो वचिः २।४।५३ । ब्रुवो वच्यादेशः स्यादार्द्धधातुके । उवाच । ऊचतुः । ऊचुः । उवचिथ–उवक्थ । ऊचे । वक्ता । वक्ष्यति । वक्ष्यते । ब्रवीतु–ब्रूतात् । ब्रूताम् । ब्रुवन्तु । ब्रूहि–ब्रूतात् । ब्रूतम् । ब्रूत । ब्रवाणि ।

लुकि, आहादेशाभावपक्षे 'ब्रुव ईट्' इति तिप ईटि, अनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ब्रुव उकारस्य गुणेऽवादेशे च कृते 'ब्रवीति' इति ।

(७०४) ब्रुवो वचिरिति । ब्रुवो वचिरादेशः स्यादार्धधातुके इति सूत्रार्थः । इकार उच्चारणार्थः । उवाच । ब्रूधातोर्लिटि तत्स्थाने तिपि, 'लिट् च'त्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'ब्रुवो वचिः' इत्यनेन 'ब्रू' इत्यस्य स्थाने 'वच्' इत्यादेशे, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'वच् वच् अ' इति स्थिते 'लिटयभ्यासस्योभयेषामि'ति अभ्यासवचः सम्प्रसारणे उकारे 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपे 'हलादिः शेषः' इति च्लोपे

विमर्श—'नाभ्यस्तस्याचि पिति०' (७।३।८७) से 'पिति' तथा 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (७।३।८९) से 'हलि' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"ब्रूधातु से परवर्ती हलादि पित प्रत्यय को ईट् (=ई) का आगम होता है।"

उदाहरण—(१) ब्रू+लट् (=तिप्, शप्, शप् का लुक्, पूर्वसूत्र (७०१) से आह आदेश के अभावपक्ष में—ईट्='ई'—'ब्रुव ईट्' 'उ'='ओ'—गुण 'सार्वधातु०', 'ओ'='अव्' आदेश) =ब्रवीति। (२) ब्रू+लट् (=तस्, शप्, लुक्, स्=र्=ः)=ब्रूतः। (३) ब्रू+लट् (=झि, झ='अन्त' आदेश, शप्, लुक् 'उ'='उवङ्'='उव्')=ब्रुवन्ति। आत्मनेपद में—(१) ब्रू+लट् (=त, शप्, लुट् 'टि'—'अ'='ए'—'टित आत्मनेपदानाम्')=ब्रूते, इत्यादि।

√ब्रूञ् धातु लट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	आह, ब्रवीति	आहतुः, ब्रूतः	आहुः, ब्रुवन्ति
म० पु०	आत्थ, ब्रवीषि	आहथुः, ब्रूथः	ब्रूथ
उ० पु०	ब्रवीमि	ब्रूवः	ब्रूमः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	ब्रूते	ब्रुवाते	ब्रुवते
म० पु०	ब्रूषे	ब्रुवाथे	ब्रूध्वे
उ० पु०	ब्रुवे	ब्रूवहे	ब्रूमहे

(७०४) पद—ब्रुवः वचिः। **अनुवृत्ति**—आर्धधातुके। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आर्धधातुक के परवर्ती रहते 'ब्रू' धातु को 'वचि' (=वच्) आदेश होता है। उवाच। ऊचतुः इत्यादि।

विमर्श—'आर्धधातुके' (२।४।३५) का अधिकार है। अतः "आर्धधातुक प्रत्यय के परवर्ती रहते 'ब्रू' को 'वच्' आदेश हो जाता है"।

उदाहरण—(१) ब्रू+लिट् (=तिप्, 'लिट् च' से आर्धधातुक संज्ञा, 'ब्रू'='वच्'—'ब्रुवो वचिः' तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा)—वच् वच् अ (अभ्यास के 'व्'='उ'—सम्प्रसारण—'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' पूर्वरूप—'सम्प्रसारणाच्च', 'च्' का लोप—'हलादिः शेषः', 'अ'='आ' वृद्धि—'अत उपधायाः')=उवाच। (२) ब्रू+लिट् (=तस्=अतुस्, 'ब्रू'=

ब्रवाव । ब्रवाम । ब्रूताम् । ब्रवै । अब्रवीत् । अब्रूताम् । अब्रूत । ब्रूयात् । ब्रुवीत । उच्यात् । वक्षीष्ट । अवोचत् । अवोचत । अवक्ष्यत् । * चर्करीतञ्च * । 'चर्करीतमि'ति यङ्लुगन्तं तददादौ बोध्यम् । ऊर्णुञ् आच्छादने । (७०५) ऊर्णोतेर्विभाषा ७।३।९०।

' अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'उवाच' इति । अवोचत् । ब्रूधातोर्लुङि तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'ब्रुवो वचिः' इति वचादेशे 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इति च्लेरङादेशे 'वच् अ ति' इति जाते तिप इकारलोपे 'वच उम्' इति उमि, मकारलोपे, गुणे अटि च कृते 'अवोचत्' इति रूपम् ।

'वच्' कित् प्रत्यय होने से वचिस्वपियजादीनां किति' से द्वित्व से पूर्व सम्प्रसारण 'व्'='उ' पूर्वरूप, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, सवर्णदीर्घ, स्=र्=:)=ऊचतुः । (३) लट् प्र० पु० बहुव०—ऊचुः । (४) ब्रू+लिट् (=सिप्=थल्='थ' 'ब्रू'='वच्' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'व्'='उ'—सम्प्रसारण, पूर्वरूप, भारद्वाज नियम से विकल्प से इट्)=उवचिथ । इट् के अभाव पक्ष में—'च्'='क्'—'चोः कुः'=उवक्थ ।

ब्रू धातु, लिट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	उवाच	ऊचतुः	ऊचुः
म० पु०	उवचिथ-उवक्थ	ऊचथुः	ऊच
उ० पु०	उवाच-उवच	ऊचिव	ऊचिम

(४) लोट्—वक्ता । (५) लृट्—वक्ष्यति । वक्ष्यते । (६) ब्रु+लोट् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, ईट्='ई'—'ब्रुव ईट्' 'उ'='ओ'—गुण—'सार्वधातु०', ओ='अव्' आदेश, 'इ'='उ'—'एरुः')=ब्रवीतु ('तु'=विकल्प से तातङ्=तात्)=ब्रूतात् (तातङ्पक्ष में) ।

ब्रू धातु लोट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	ब्रवीतु-ब्रूतात्	ब्रूताम्	ब्रुवन्तु
म० पु०	ब्रूहि-ब्रूतात्	ब्रूतम्	ब्रूत
उ० पु०	ब्रवाणि	ब्रवाव	ब्रवाम

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	ब्रूताम्	ब्रुवाताम्	ब्रुवताम्
म० पु०	ब्रूष्व	ब्रुवाथाम्	ब्रूध्वम्
उ० पु०	ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै

(७) ब्रू+लङ् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, अट्, 'ईट्'='ई'—'ब्रुव ईट्' गुण, अवादेश, इकारलोप)=अब्रवीत् ।

√ब्रू धातु, लङ् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अब्रवीत्	अब्रूताम्	अब्रुवन्
म० पु०	अब्रवीः	अब्रूतम्	अब्रूत
उ० पु०	अब्रवम्	अब्रूव	अब्रूम

ऊर्णोतेर्वृद्धिर्वा स्याद्धलादौ पिति सार्वधातुके। ऊर्णौति–ऊर्णोति। ऊर्णुतः। ऊर्णुवन्ति। ऊर्णुते। ऊर्णुवाते। ऊर्णुवते। * ऊर्णोतेराम्नेति वाच्यम् *। **(७०६) नन्द्राः संयोगादयः ६।१।३।** अचः परा संयोगादयो न-द-रा द्विर्न भवन्ति। 'नु'शब्दस्य द्वित्वम्।

---

(७०५) **ऊर्णोतेर्विभाषा** इति। 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इत्यतो वृद्धिरिति हलीति च 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः 'पिति सार्वधातुके' इति चानुवर्तते। तदाह—**ऊर्णोतेर्वृद्धिरिति। ऊर्णौति।** ऊर्णुञ्धातोर्लटस्तिपि, शपि, शपो लुकि, 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इति वृद्धौ 'ऊर्णौति' इति।

(७०६) **नन्द्रा इति।** अच्चासौ आदिश्चेति कर्मधारयात्पञ्चमीं न् द् र् एषां द्वन्द्वः। 'एकाचो द्वे' इत्यनुवर्तते 'अजादेर्द्वितीयस्ये'त्यतः अजादेरिति च। **ऊर्णुनाव।**

---

(८) विधिलिङ्—ब्रूयात्। (९) आशीर्लिङ्—उच्यात् (वच् आदेश सम्प्रसारण)। आत्मनेपद—वक्षीष्ट। (१०) ब्रू + लुङ् (= तिप् = ति, च्लि, 'ब्रू' = 'वच्'—'ब्रुवो वचिः' च्लि = अङ् = 'अ'—'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्')—वच् अ ति (इकारलोप, 'उम्' = 'उ'—'वच उम्')—व उ च् अ त् (अ + उ = 'ओ'—गुण, अट्) = अवोचत्। आत्मनेपद में—अवोचत। (११) लङ् में—अवक्ष्यत्।

ग० सू०—'चर्करीतम्' 'यङ्लुगन्त' को कहते हैं। उसको अदादि गण में समझना चाहिए[1]। अर्थात् शप् का लुक् आदि कार्य-जो अदादि गण में होते हैं, वह यङ्लुगन्त धातुओं को भी होते हैं।

√ऊर्णुञ् धातु का अर्थ—'ढँकना' है।

(७०५) पद—ऊर्णोतेः, विभाषा। **अनुवृत्ति**—वृद्धिः, हलि, पिति सार्वधातुके। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—हलादि पित् सार्वधातुक के परवर्ती रहते 'ऊर्णु' धातु को विकल्प से वृद्धि होती है। ऊर्णौति। ऊर्णोति इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (७।३।८९) से 'वृद्धि' और 'हलि' तथा 'नाभ्यस्तस्य०' (७।३।८७) से 'पिति' और 'सार्वधातुके' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—हलादि पित् सार्वधातुक के परे रहने पर ऊर्णु धातु को विकल्प से वृद्धि होती है। ('अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के द्वारा यह वृद्धि अन्त्य अल् उकार को होगी।)

उदाहरण—(१) ऊर्णु + लट् (= तिप् = ति, शप्, लुक्, उ = 'औ' वृद्धि विकल्प से—'ऊर्णोतेर्विभाषा') = ऊर्णौति। वृद्धि के अभावपक्ष में—गुण—ऊर्णोति। (२) लट् प्र० पु० द्विव०—ऊर्णुतः। (३) प्र० पु० ब० व०—ऊर्णुवन्ति। आत्मनेपद में—ऊर्णुते। ऊर्णुवाते। ऊर्णुवते।

वा०—लिट् के परे रहते ऊर्णु धातु को 'आम्' नहीं होता। (ऊर्णु धातु इजादि गुरुमान् होने से 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' से 'आम्' प्राप्त था, उसका प्रकृत वार्तिक से निषेध किया गया है।)

(७०६) पद—नन्द्राः, संयोगादयः। **अनुवृत्ति**—अजादेर्द्वितीयस्य, एकाचः द्वे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अच् से परवर्ती संयोगादि नकार, दकार और रेफ को द्वित्व नहीं होता।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६।१।१) से 'एकाचः द्वे' तथा 'अजादेर्द्वितीयस्य' से 'अजादि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'अच् से परवर्ती संयोगादि नकार, दकार

---

१. 'चर्करीतमिति यङ्लुगन्तस्य संज्ञा' इति प्राचीनाः। यङ्लुगन्तप्रक्रियायां शब्लुगादिकमदादिगणकार्यं भवतीत्यर्थः।

णत्वस्यासिद्धत्वात् । 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इति त्वनित्यम्, 'उभौ साभ्यासस्ये'ति लिङ्गात् । ऊर्णुनाव । ऊर्णुनुवतुः । ऊर्णुनुवुः । (७०७) **विभाषोर्णोः १।२।३ ।** ऊर्णोतेः पर इडादिप्रत्ययो वा ङित् स्यात् । ऊर्णुनुविथ–ऊर्णुनविथ । ऊर्णुविता–उर्णविता । ऊर्णौतु–ऊर्णोतु । ऊर्णवानि । ऊर्णवै । (७०८) **गुणोऽपृक्ते ७।३।९१ ।** ऊर्णोतेर्गुणः स्यादपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके । वृद्धयपवादः । और्णोत् । और्णोः ।

ऊर्णुधातोर्लिटि तत्स्थाने तिपि समागते, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे 'इजादेश्चे'त्यादिना आमि प्राप्ते 'ऊर्णोतेराम्नेति वाच्यम्' इति वार्तिकेन तन्निषेधे 'अजादेर्द्वितीयस्य' इति सरेफस्य णोर्द्वित्वे प्राप्ते 'नन्द्राः संयोगादयः' इति रेफस्य द्वित्वाभावे 'णु' इत्यस्य द्वित्वे प्रथमनकारस्य 'रषाभ्यामि'ति णत्वे, प्राप्तं गुणं प्रबाध्य 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आवादेशे च कृते 'ऊर्णुनाव' इति ।

(७०७) **विभाषोर्णोरिति ।** 'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यतः ङिदिति, 'विज इट्' इत्यतः इडिति चानुवर्तते । तदाह—**इडादीति ।**

(७०८) **गुणोऽपृक्त इति ।** 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इत्यत उर्णोतेरिति, 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः 'पिति सार्वधातुके' इति, 'उतो वृद्धिः' इत्यतः हलीति चानुवर्तते । तदाह—

और रेफ को द्वित्व नहीं होता' । 'ऊर्णु' में रेफ–'अच्' ऊकार से परवर्ती है और संयोगादि 'ण्' है । अतः प्रकृत सूत्र से प्राप्त द्वित्व का निषेध हो जाता है । अतः 'नु' शब्द को द्वित्व होता है । द्वित्व के प्रति णत्व के असिद्ध होने से 'नु' शब्द को ही द्वित्व होता है । यहाँ 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र का बाधक वचन 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' की प्रवृत्ति होनी चाहिए । द्वित्व कार्य करने में 'पूर्वत्रासिद्धम्' की प्रवृत्ति नहीं होती है । वह वचन अनित्य है । अतः यहाँ उसकी प्रवृत्ति नहीं होती । अनित्यता में प्रमाण 'उभौ साभ्यासस्य' सूत्र है ।

उदाहरण—(१) ऊर्णु+लिट् (=तिप्=णल्='अ', 'इजादेश्च' से प्राप्त 'आम्' का 'ऊर्णोतेराम्नेति वाच्यम्' से निषेध, 'अजादेर्द्वितीयस्य' से रेफ सहित 'र्णो' के द्वित्व की प्राप्ति, 'नन्द्राः संयोगादयः' से रेफ के द्वित्व का निषेध, णत्व के असिद्ध होने से 'उ' का द्वित्व, प्रथम 'न्'='ण्' णत्व–'रषाभ्याम्', 'उ'='औ'—वृद्धि—'अचो ञ्णिति' 'औ'='आव्' आदेश)=ऊर्णुनाव । (२) लिट्, प्र० पु० द्वि०—ऊर्णुनुवतुः । (३) लिट् प्र० पु० ब० व०—ऊर्णुनुवुः ।

(७०७) पद—विभाषोः, णोः । **अनुवृत्ति**—ङित्, इट् । **अतिदेशसूत्र ।**

मूलार्थ—'ऊर्णु' धातु से परवर्ती इडादि प्रत्यय विकल्प से ङिद्वत् होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (१।२।१) से 'ङित्' तथा 'विज इट्' (१।२।२) से 'इट्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"ऊर्णुञ्' धातु से परवर्ती इडादि प्रत्यय विकल्प से ङिद्वत् होता है ।"

उदाहरण—(१) ऊर्णु+लिट् (=सिप्=थल्=थ, 'नु' को द्वित्व, प्रथम 'न्' को णत्व, इट्, विकल्प से ङिद्वद्भाव—'विभाषोर्णोः', ङित्व पक्ष में प्राप्त गुण का निषेध, उवङ्=उव्)= ऊर्णुनुविथ । ङित्व के अभाव पक्ष में—(गुण, अव् आदेश)=ऊर्णुनविथ । (२) लुट् में—ऊर्णुविता, उर्णविता । (३) लोट्—ऊर्णौतु, ऊर्णोतु (विकल्प से वृद्धि) । (४) लोट् उ० पु० एकव०—ऊर्णवानि । आत्मनेपद में—ऊर्णवै ।

(७०८) पद—गुणः, अपृक्ते । **अनुवृत्ति**—ऊर्णोतेः, पिति, सार्वधातुके, हलि । **विधिसूत्र ।**

और्णुतम् । ऊर्णुयात् । ऊर्णुयाताम् । ऊर्णुयुः । ऊर्णुयाः । इह वृद्धिर्न, 'ङिच्च पिन्ने'ति व्याख्यानात् । ऊर्णुयात् । ऊर्णुयास्ताम् । ऊर्णुयासुः । ऊर्णुविषीष्ट–ऊर्णविषीष्ट । और्णुवीत् । और्णुविष्टाम् । (७०९) ऊर्णोतेर्विभाषा ७।२।६ । ऊर्णोतेरिडादौ परस्मैपदपरे सिचि वा वृद्धिः स्यात् । पक्षे गुणः । और्णावीत् । और्णाविष्टाम् । और्णवीत् । और्णविष्टाम् ।

इत्यदादिप्रकरणम् ।

ऊर्णोतेर्गुण· इत्यादिना । और्णोत् । ऊर्णुधातोर्लङि तिपि, शपो लुकि, आडागमेऽनुबन्धलोपे इकारलोपे 'उतो वृद्धिर्लुकि हली'ति प्राप्ते तं प्रबाध्य 'गुणोऽपृक्ते' इति गुणे 'आटश्चे'ति वृद्धौ 'और्णोत्' इति ।

(७०९) ऊर्णोतेर्विभाषा । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति सूत्रम्, 'नेटि' इत्यत इटीति चानुवर्तते । तदाह—ऊर्णोतेरिडादाविति । और्णावीत् । ऊर्णुधातोर्लुङि लः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे, आडागमे 'आटश्चे'ति वृद्धौ, च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे, तिप इकारलोपे 'और्णु स् त्' इति जाते सकारस्य इडागमेऽनुबन्धलोपे ईटि च 'विभाषोर्णोः' इतीटो ङित्त्वाद् गुणाभावे उवङि 'इट ईटि' इति सलोपे दीर्घे च कृते 'और्णुवीत्' इति । ङित्त्वाभावपक्षे गुणं प्रबाध्य 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इति विकल्पेन वृद्धौ, आवादेशे कृते 'और्णावीत्' इति ।

इति अदादिप्रकरणम् ।

मूलार्थ—अपृक्तसंज्ञक हलादि सार्वधातुक के परवर्ती रहते 'ऊर्णु' धातु को गुण होता है । और्णोत् ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए—'ऊर्णोतेर्विभाषा' (७।३।९०) से 'ऊर्णोतेः' 'नाभ्यस्तस्य' (७।३।८७) से 'पिति, सार्वधातुके' और 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (७।३।८९) से 'हलि' पदों की अनुवृत्ति आती है । अतः 'अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक के परे रहते ऊर्णु धातु को गुण होता है' ।

उदाहरण—(१) ऊर्णु+लङ् (=तिप्=ति, शप्, लुक्, आट्, वृद्धि—'आटश्च', इकारलोप, प्राप्त वृद्धि का बाधकर 'उ'='ओ'-गुण—'गुणोऽपृक्ते')=और्णोत् । (२) म० पु० एकव०—और्णोः । (३) म० पु० द्विव०—और्णुतम् । (४) विधिलिङ्—और्णुयात्, और्णुयाताम्, और्णुयुः । और्णुयाः । (५) आशीर्लिङ्—ऊर्णूयात्, ऊर्णूयास्ताम्, ऊर्णुयासुः इत्यादि । (यहाँ 'अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होता है ।) आत्मनेपद में—ऊर्णुविषीष्ट । ऊर्णविषीष्ट ।

(७०९) पद—ऊर्णोतेः, विभाषा । **अनुवृत्ति**—सिचि, वृद्धिः, परस्मैपदेषु, इटि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इडादि परस्मैपदपरक सिच् के परवर्ती रहते ऊर्णु धातु को विकल्प से वृद्धि होती है । पक्ष में गुण । और्णावीत् इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (७।२।१) सूत्र तथा 'नेटि' (७।२।४) से 'इटि' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"इडादि परस्मैपद सिच् के परे रहते 'ऊर्णु' धातु को विकल्प से वृद्धि होती है" ।

अथ जुहोत्यादिप्रकरणम्

हु दानाऽऽदनयोः । (७१०) जुहोत्यादिभ्यः श्लुः २।४।७५ । जुहोत्यादिभ्यः परस्य शपः श्लुः स्यात् । (७११) श्लौ ६।१।१० । धातोर्द्वे स्तः श्लौ । जुहोति ।

अथ श्लुविकरणा धातवो निरूप्यन्ते—

(७१०) जुहोत्यादिभ्य इति । 'अदिप्रभृतिभ्य' इत्यतः 'शपः' इत्यनुवर्तते । तदाह—जुहोत्यादिभ्य इत्यादि ।

(७११) श्लौ इति । 'एकाचो द्वे प्रथमस्ये'त्यतः 'द्वे' इति, 'लिटि धातोः' इत्यतश्च 'धातोरि'त्यनुवर्तते । अत आह—धातोर्द्वे स्त इति । जुहोति । हुधातोः लटि, परस्मैपदे प्रथमपुरुषैकवचने तिप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि 'जुहोत्यादिभ्यः

उदाहरण—(१) ऊर्णु+लुङ् (=तिप्=ति, आट्, वृद्धि, च्लि, च्लि=सिच्='स्', इकारलोप)—और्णु स् त (ईट्='इ', ईट्='ई', 'विभाषोर्णोः' 'इट्' को विकल्प से ङिद्वद्भाव होने से गुण का अभाव, 'उ'='उवङ्'='उव्' 'स्' का लोप—'इट ईटि', दीर्घ)=और्णुवीत् । ङित्व के अभावपक्ष में—('ऊर्णोतेर्विभाषा' से विकल्प से 'उ'='औ' वृद्धि, 'औ'='आव्' आदेश)=और्णावीत् । वृद्धि के अभाव पक्ष में गुण—और्णवीत् । (२) लुङ्—प्र० पु० द्विव०—और्णाविष्टाम्, और्णविष्टाम् । इत्यादि । लुङ् आत्मनेपद में—और्णुविष्ट, और्णविष्ट इत्यादि । लृङ् लकार में—और्णुविष्यत्, और्णविष्यत् । आत्मनेपद में—और्णुविष्यत, और्णविष्यत इत्यादि ।

अदादि-प्रकरण समाप्त ।

अदादि प्रकरण में 'शप्' के 'लुक्' विकरण वाली धातुओं के रूपों की साधनिका प्रदर्शित की गई । अब जुहोत्यादि प्रकरण में 'श्लु' विकरण वाली धातुओं की रूपसिद्धि की प्रक्रिया का विवेचन किया जा रहा है—

√हु धातु का अर्थ—'दान करना' तथा 'खाना' है ।

(७१०) पद—जुहोत्यादिभ्यः, श्लुः । **अनुवृत्ति**—शपः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—जुहोत्यादिगणपठित धातुओं से परे 'शप्' का 'श्लु' (लोप) होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शपः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"जुहोत्यादिगण पठित धातुओं से परवर्ती 'शप्' को 'श्लु' होता है ।" यहाँ प्रत्यय के अदर्शन की श्लु संज्ञा है । अतः 'शप्' का 'श्लु' (=लोप) होता है ।

(७११) पद—श्लौ । **अनुवृत्ति**—धातोः, द्वे ।

मूलार्थ—श्लु होने पर धातु को द्वित्व होता है । जुहोति । जुहुतः ।

विमर्श—'एकाचो द्वे प्रथमस्य' से अधिकार प्राप्त 'द्वे' की अनुवृत्ति आती है । 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'धातोः' पद की अनुवृत्ति आने पर श्लु के परे रहते धातु को द्वित्व होता है ।

उदाहरण—(१) √हु+लट् (=तिप्=ति, शप्, शप् का 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से श्लु, धातु को द्वित्व—'श्लौ')—हु हु ति (अभ्यास संज्ञा, 'ह्'='झ्'—'कुहोश्चुः', 'झ्'='ज्'—'अभ्यासे चर्च', 'उ'='ओ'—गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः')=जुहोति । (२) √हु+लट्

जुहुतः । 'हुश्नुवोरि'ति यण् । जुह्वति । (७१२) भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ३।१।३९ । एभ्यो लिटयाम् वा स्यादामि श्लाविव कार्यं च । जुहवाञ्चकार । जुहाव । होता । होष्यति । जुहोतु-जुहुतात् । जुहुताम् । जुह्वतु । हेर्द्धिः । जुहुधि । आटि परत्वाद्

श्लुः' इति शपः श्लौ 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वे 'हु हु ति' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां 'कुहोश्चुः' इत्यनेन हकारस्य झकारे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वेन जकारे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे ओकारे कृते 'जुहोति' इति ।

(७१२) भीह्रीभृहुवामिति । 'कास्प्रत्ययादि'त्यत आम् लिटीत्यनुवर्तते । तदाह—एभ्य इति । जुहवाञ्चकार । हुधातोर्लिटि 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इति विकल्पेन आम्प्रत्यये श्लुवत्कार्ये च 'हु आम् लिटि' इति जाते 'श्लौ' इति 'द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेन हकारस्य झकारे 'अभ्यासे चर्च' इति जकारे गुणेऽवादेशे 'आमः' इत्यनेन लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यनेन लिट्परक-

---

(=तस्, शप्, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ह्'='झ्',—कुत्व, 'झ्'='ज्'—'चर्त्व' स्=र्=ः)=जुहुतः । (३) √हु+लट् (=झि, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ह्'='झ्', 'झ्'='ज्')—जु हु झि ('उभेऽभ्यस्तम्' से अभ्यस्त संज्ञा, झ्=अत्—'अदभ्यस्तात्', उ=व्—यण्—'हुश्नुवोः सार्वधातुके')=जुह्वति ।

√हु धातु, लट् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	—जुहोति	जुहुतः	जुह्वति
म० पु०	—जुहोषि	जुहुथः	जुहुथ
उ० पु०	—जुहोमि	जुहुवः	जुहुमः

(७१२) पद—भी-ह्री-भृ-हुवाम् , श्लुवत्, च । **अनुवृत्ति**—आम्, लिटि, अन्यतरस्याम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—भी, ह्री, भृ तथा हु धातु से लिट् के परवर्ती रहने पर विकल्प से 'आम्' प्रत्यय होता है और 'आम्' के परे श्लु के समान द्वित्व आदि कार्य भी होते हैं । जुहवाञ्चकार । जुहाव ।

विमर्श—यहाँ 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (३।१।३५) से 'आम्, लिटि' तथा 'उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' (३।१।३८) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—"भी ह्री, भृ तथा हु धातु से लिट् के परे रहते विकल्प से 'आम्' प्रत्यय होता है तथा श्लुवत् कार्य (श्लु के होने पर द्वित्वादि कार्य) भी होते हैं ।"

उदाहरण—(१) √हु+लिट् (=विकल्प से आम्, श्लुवद्भाव—'भीह्रीभृहुवाम्', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ह्'='झ्'—'कुहोश्चुः', 'झ्'='ज्'—'अभ्यासे चर्च', 'उ'='ओ'—गुण, 'ओ'='अव्'—आदेश, 'लिट्' का लुक्—'आमः', लिट्परक √कृ का अनुप्रयोग—'कृञ्चानुप्रयुज्यते०')—जुहाम् कृ+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व—'लिटि धातोः', अभ्यास संज्ञा 'ऋ'='अ'—'उरत्', रपर, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः', 'ऋ'='अ'—गुण, रपर, 'अ'='आ'—वृद्धि—'अत उपधायाः' म्=ं-अनुस्वार, विकल्प से परसवर्ण 'वा पदान्तस्य')=जुहवाञ्चकार । **'आम्' के अभावपक्ष में**—√हु+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, कुत्व, चर्त्व, उ='औ'—वृद्धि—'अचो ञ्णिति' औ='आव्' आदेश)=जुहाव ।

गुणः । जुहवानि । अजुहोत् । अजुहुताम् । परत्वाज्जुसि चेति गुणः । अजुहवुः । जुहुयात् । हूयात् । अहौषीत् । अहोष्यत् । ञिभी भये । बिभेति (७१३) भियोऽन्य-

---

कृञोऽनुप्रयोगे लिटस्तिपो णलि अनुबन्धलोपे द्वित्वे, 'उरत्' इत्यत्वे रपरे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इत्यनेन ककारस्य चकारे गुणे, रपरे 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ अनुस्वारे 'वा पदान्तस्ये'ति पाक्षिके परसवर्णे 'जुहवाञ्चकार' इति । आमोऽभावपक्षे लिटि तिपि, तिपः णलादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ, आवादेशे 'जुहाव' इति रूपम् ।

√हु धातु लिट् लकार के रूप

आम् पक्ष में

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	जुहवाञ्चकार	जुहवाञ्चक्रतुः	जुहवाञ्चक्रुः
म० पु०	जुहवाञ्चकर्थ	जुहवाञ्चक्रथुः	जुहवाञ्चक्र
उ० पु०	जुहवाञ्चकार, जुहवाञ्चकर	जुहवाञ्चकृव	जुहवाञ्चकृम

'आम्' के अभाव पक्ष में—

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	जुहाव	जुहुवतुः	जुहुवुः
म० पु०	जुहोथ, जुहविथ	जुहुवथुः	जुहुव
उ० पु०	जुहाव, जुहव	जुहुविव	जुहुविम

(२) √हु + लुट् प्र० पु० ए० व०—होता । (३) लृट्—होष्यति, इत्यादि । (४) √हु + लोट् (= तिप् = ति, शप् = श्लु, द्वित्व—'श्लौ', अभ्यास संज्ञा, 'ह्' = 'झ्'—'कुहोश्चुः', 'झ्' = 'ज्'—'अभ्यासे चर्च', गुण, 'इ' = 'उ'—'एरुः' तु = तातङ् = 'तात्'—विकल्प से) = जुहुतात् । तातङ् के अभावपक्ष में—जुहोतु । (५) √हु + लोट् (= तस् = ताम्, शप्, शप् = श्लु, द्वित्व—'श्लौ' अभ्यास संज्ञा, कुत्व, चर्त्व) = जुहुताम् । (६) √हु + लोट् (= झि, शप् = श्लु, द्वित्व, चर्त्व, अभ्यस्त संज्ञा, 'झ्' = 'अत्'—'अदभ्यस्तात्')—जुहु अति ('उ' = 'व्'—'यण्', 'इ' = 'उ'—'एरुः') = जुह्वतु । (७) √हु + लोट् (= सिप् = सि, शप् = श्लु, द्वित्व, कुत्व, चर्त्व, 'सि' = 'हि'—'सेर्ह्यपिच्च', 'हि' = 'धि'—'हुझल्भ्यो हेर्धिः') = जुहुधि । (८) √हु + लोट् (= मिप् = मि, शप् = श्लु, द्वित्व, अभ्यासकार्य)—जुहु मि ('मि' = 'नि'—'मेर्निः' 'आट्' = 'आ'—'आडुत्तमस्य पिच्च')—जुहु आ नि (यहाँ यण् का बाधकर पर होने से गुण, 'ओ' = 'अव्' आदेश) = जुहवानि ।

√हु धातु लोट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	जुहोतु, जुहुतात्	जुहुताम्	जुह्वतु
म० पु०	जुहुधि	जुहुतम्	जुहुत
उ० पु०	जुहवानि	जुहवाव	जुहवाम

तरस्याम् ६।४।११५। भिय इद्वा स्याद्धलादौ सार्वधातुके क्ङिति। बिभितः-बिभीतः। 'एरनेकाच' इति यण्। बिभ्यति। बिभयाञ्चकार। बिभाय। भेता। भेष्यति। बिभेतु-बिभितात्-बिभीतात्। बिभिताम्-बिभीताम्। अबिभेत्।

(७१३) **भियोऽन्यतरस्याम्**। 'इद्दरिद्रस्य' इत्यतः इदिति, 'गमहन' इत्यस्मात् 'क्ङिति' इति 'ई हल्यघोः' इत्यतः हलीति, 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यस्मात्सार्वधातुके इति चानुवर्तते। तदाह—**भिय इद्वेति**। **बिभितः**। 'ञिभी भये' इत्यस्माद्धातोः लटि, तत्स्थाने तसि, शपि, शपः श्लौ, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे, ह्रस्वे भस्य बत्वे 'भियोऽन्यतरस्याम्' इति ईकारस्य इकारे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'बिभितः' इति। **बिभ्यति**।

(९) √हु+लङ् (=तिप्=ति, अट्='अ', शप्=श्लु, द्वित्व, कुत्व, चर्त्व, इकारलोप—'इतश्च' 'उ'='ओ'—गुण)=अजुहोत्। (१०) हु+लङ् (प्र० पु० द्विवचन)=अजुहुताम्। (११) √हु+लङ् (=झि=जुस्='उस्'—'सिजभ्यस्त' शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यासकार्य, अट्='अ' आगम, यण् का बाधकर पर होने से 'उ'='ओ'—गुण—'जुसि च' 'ओ'='अव्' आदेश, स्=र्=ः)=अजुहवुः।

√हु धातु लङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अजुहोत्	अजुहुताम्	अजुहवुः
म० पु०—	अजुहोः	अजुहुतम्	अजुहुत
उ० पु०—	अजुहवम्	अजुहुव	अजुहुम

(१२) विधिलिङ्—जुहुयात्, जुहुयाताम्, जुहुयुः इत्यादि।

(१३) आशीर्लिङ्—'अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होकर—हूयात् इत्यादि।

(१४) √हु+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि, च्लि=सिच्=स्, 'इ' का लोप, ईट्='ई', 'उ'='औ'—वृद्धि—'सिचि वृद्धिः' षत्व)=अहौषीत्।

हु धातु लुङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अहौषीत्	अहौष्टाम्	अहौषुः
म० पु०—	अहौषीः	अहौष्टम्	अहौष्ट
उ० पु०—	अहौषम्	अहौष्व	अहौष्म

(१५) लृङ्—अहोष्यत् इत्यादि।

√ (ञि) भी धातु का अर्थ—'डरना' है। (१) भी+लट् (=तिप्=ति, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, भ्='ब्'—'अभ्यासे चर्च' 'ई'='ए'—गुण—'सार्वधातु०')=बिभेति।

(७१३) पद—भियः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—इत्, क्ङिति, हलि, सार्वधातुके। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हलादि कित् ङित् सार्वधातुक के परवर्ती रहते भी धातु को विकल्प से इत्व होता है। बिभितः। बिभीतः। इत्यादि।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'इद्दरिद्रस्य' (६।४।११४) से इत्, 'गमहन' (६।४।९८) से 'क्ङिति', 'ई हल्यघोः' (६।४।११३) से 'हलि' तथा 'अत उत्' (६।४।११०) से 'सार्वधातुके'

बिभियात्–बिभीयात् । भीयात् । अभैषीत् । अभेष्यत् । ह्री लज्जायाम् । जिह्रेति । जिह्रीतः । जिह्रियति । जिह्रयाञ्चकार । जिह्राय । ह्रेता । ह्रेष्यति । जिह्रेतु । जिह्रीयात् । अजिह्रेत् । जिह्रीयात् । ह्रीयात् । अह्रैषीत् । अह्रेष्यत् । पॄ पालन-

---

भीधातोर्लटि तत्स्थाने झिप्रत्यये श्लौ, धातोर्द्वित्वे, ह्रस्वत्वे भस्य बत्वे 'उभेऽभ्यस्तम्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायाम्, 'अदभ्यस्तात्' इति झेरति, एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि **'बिभ्यति'** इति ।

जिह्रेति । ह्रीधातोः लटि तिपि शपि 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' इति शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्याचो ह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जकारे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'जिह्रेति' इति । **अह्रैषीत्** । 'ह्री लज्जायाम्' इत्यस्माद्धातोः लुङि तिपि, च्लौ, च्लेः

पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"कित् अथवा ङित् हलादि सार्वधातुक के परवर्ती रहते 'भी' धातु के ईकार को विकल्प से इकार आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) √भी+लट् (=तस्, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व—'भ्'='ब्'—'अभ्यासे चर्च' 'ई'='इ' विकल्प से, स्=र्=ः)=बिभितः । इकार के अभावपक्ष में—बिभीतः । (२) भी+लट् (=झि, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, चर्त्व, 'झ्'='अत्' –'अदभ्यस्तात्' 'ई'='य्'—'यण्'—'एरनेकाचः')=बिभ्यति ।

√भी धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	बिभेति	बिभितः, बिभीतः	बिभ्यति
म० पु०—	बिभेषि	बिभिथः, बिभीथः	बिभिथ, बिभीथ
उ० पु०—	बिभेमि	बिभिवः, बिभीवः	बिभिमः, बिभीमः

(३) √भी+लिट् ('भीह्रीभृहुवाम्' से 'आम्' तथा श्लुवद्भाव, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, चर्त्व, लिट् का लुक्—'आमः')—बि भी आम् (गुण, अय् आदेश, लिट्परक √कृ का अनुप्रयोग—'कृञ्चानुप्रयुज्यते')—बिभयाम् कृ+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, उरत्, रपर, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः' गुण, रपर, वृद्धि—'अत उपधायाः' अनुस्वार, परसवर्ण)=बिभयाञ्चकार । 'आम्' के अभावपक्ष में—भी+लिट् (=तिप्=णल्=अ, धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, चर्त्व, वृद्धि—'अचो ञ्णिति'—'ऐ'='आय्' आदेश)= **बिभाय ।**

√भी धातु लिट् लकार के रूप

आम् और श्लुवद्भाव पक्ष में—बिभयाञ्चकार इत्यादि ।

'आम्' के अभाव पक्ष में—(अनुप्रयोग के अभावपक्ष में)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	बिभाय	बिभ्यतुः	बिभ्युः
म० पु०—	बिभयिथ, बिभेथ	बिभ्यथुः	बिभ्य
उ० पु०—	बिभाय, बिभय	बिभ्यिव	बिभ्यिम

पूरणयोः । (७१४) अर्त्तिपिपर्त्योश्च ७।४।७७ । अभ्यासस्य इत्स्यात् श्लौ ।

सिचि, सिचो लोपे, तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि, सस्य षत्वे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ, अडागमेऽनुबन्धलोपे 'अह्रैषीत्' इति रूपम् ।

(७१४) अर्तिपिपर्त्योश्चेति । 'अत्र लोपः' इत्यत अभ्यासस्येति, 'भृञामित्' इत्यत इदिति, 'निजां त्रयाणामि'त्यतः श्लाविति चानुवर्तते । तदाह—अभ्यासस्येति । पिपर्ति । पृधातोर्लटस्तिपि, शपि, शपः श्लौ, 'श्लावि'ति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिशेषे प पृ ति इति जाते, 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इत्यभ्यासस्येकारान्तादेशे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरे 'पिपर्ति' इति सिद्धम् ।

(४) लुट्—भेता । (५) लृट्—भेष्यति । लोट् लकार में हलादि प्रत्ययों में विकल्प से ह्रस्व होता है ।

√भी धातु लोट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	बिभेतु, बिभितात् बिभीतात्	बिभिताम्, बिभीताम्	बिभ्यतु
म० पु०—	बिभिहि, बिभितात् बिभीतात्	बिभितम्, बिभीतम्	बिभित, बिभीत
उ० पु०—	बिभयानि	बिभयाव	बिभयाम

(६) लङ्—अबिभेत् । (७) विधिलिङ्—बिभियात्, बिभीयात् । (८) आशीर्लिङ्—भीयात् । (९) लुङ्—अभैषीत् । (१०) लृङ्—अभेष्यत् ।

√ह्री धातु का अर्थ—'लजाना' है । (१) √ह्री+लट् (=तिप्=ति, शप्, शप्=श्लु, धातु को द्वित्व—श्लौ)—ह्री ह्री ति (अभ्यास संज्ञा, ई='इ'—'ह्रस्व', 'ह्'='झ्'—'कुहोश्चुः' 'झ्'='ज्' 'अभ्यासे चर्च' 'ई'='ए'—गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः')=जिह्रेति । (२) लट् प्र० पु० द्विव०—जिह्रीतः । (३) √ह्री+लट् (=झि, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, कुत्व, चर्त्व)—जि ह्री झि ('झ्'='अत्', संयोगपूर्व होने से 'एरनेकाचः' से यण् नहीं होता । ई=इयङ्=इय्—'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्०')=जिह्रियति ।

√ह्री धातु के रूपों की साधनिका प्रायः 'भी' धातु के समान है ।

(४) लिट्—जिह्रयाञ्चकार, जिह्राय इत्यादि । (५) लुट्—ह्रेता । (६) लृट्—ह्रेष्यति । (७) लोट्—जिह्रेतु । लङ्—अजिह्रेत् । विधिलिङ्—जिह्रीयात् । आशीर्लिङ्—ह्रीयात् । लुङ्—अह्रेष्यत् ।

√पॄ धातु का अर्थ—'पालन करना, पूर्ण करना' है ।

(७१४) पद—अर्तिपिपर्त्योः, च । **अनुवृत्ति—**अभ्यासस्य, इत्, श्लौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—श्लु के विषय में—ऋ धातु और पॄ धातु के अभ्यास को इत्व होता है । पिपर्ति ।

विमर्श—यहाँ 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' 'भृञामित्' (७।४।७६) से इत् तथा 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' (७।४।७५) से 'श्लौ' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"ऋ तथा पॄ धातु के अभ्यास को भी श्लु होने पर इकार आदेश होता है ।"

पिपर्ति । (७१५) उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७।१।१०२ । अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ऋत्तदन्तस्याङ्गस्य उत्स्यात् । (७१६) हलि च ८।२।७७ । रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि । पिपूर्त्तः । पिपुरति । पपार । (७१७) शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा ७।४।१२ ।

---

(७१५) **उदोष्ठ्यपूर्वस्येति ।** 'ऋत इद्धातोः' इत्यत ऋत इत्यनुवर्तते, अङ्गस्येत्यधिकृतम्, तदत्रानुवर्तते । एकमोष्ठ्यस्य विशेषणम्, अपरं तु ऋता विशेष्यते । तदन्तविधिस्तदाह—**अङ्गावयवेत्यादिना ।**

(७१६) **हलि च ।** अत्र 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इत्यनुवर्तते । 'सिपि धातोरि'त्यतो धातोरिति च । तच्च र्वोरित्यनेन विशेष्यते । तेन तदन्तविधिस्तदाह—**रेफवान्तस्येति । पिपूर्तः ।** पॄधातोर्लटि, तसि, श्लौ, 'श्लावि'ति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इत्यभ्यासाकारस्य इकारान्तादेशे, रपरत्वे हलादिशेषे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्युत्वे रपरत्वे 'हलि चे'ति दीर्घे, सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'पिपूर्तः' इति ।

उदाहरण—(१) √पॄ+लट् (=तिप्=ति, शप्, शप्=श्लु, द्वित्व—'श्लौ' अभ्यास संज्ञा, ऋ='अ'—'उरत्' रपर, हलादिशेष)—प पॄ ति ('अ'='इ'—'अर्तिपिपर्त्योश्च' ऋ='अ' गुण—'सार्वधातु०' रपर) =पिपर्ति ।

(७१५) पद—उत् ओष्ठ्यपूर्वस्य । **अनुवृत्ति**—ऋतः, धातोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अङ्गावयव-ओष्ठ्यपूर्वक ऋदन्त अङ्ग को 'उत्' आदेश होता है ।

विमर्श—'ऋत इद्धातोः' (७।१।१००) से 'ऋतः' पद की अनुवृत्ति आती है । अधिकार प्राप्त 'अङ्गस्य' पद की आवृत्ति की जाती है । प्रथम 'अङ्गस्य' 'ओष्ठ्यस्य' का विशेषण है, दूसरा 'ऋतः' का । इस प्रकार—"अङ्ग का अवयव ओष्ठ्य (जिसका स्थान ओष्ठ हो) वर्ण पूर्व में जिस ऋकार के, तदन्त ऋकार को उकार अन्तादेश होता है ।"

(७१६) पद—हलि, च । **अनुवृत्ति**—र्वोरुपधाया दीर्घ इकः, धातोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—रेफान्त और वान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ होता है, हल् के परवर्ती रहते । पिपूर्तः । पिपुरति । पपार ।

विमर्श—सूत्रस्थ चकार से पूर्वसूत्र—'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (८।२।७६) सूत्र की अनुवृत्ति आती है । 'सिपि धातोरुर्वा' (८।२।७४) से 'धातोः' पद की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—"हल् के परवर्ती होने पर रेफान्त और वकारान्त धातु की उपधा के 'इक्' को दीर्घ होता है ।"

उदाहरण—(१) √पॄ+लट् (=तस्, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ', रपर, हलादिशेष)—प पॄ तस् ('अ'='इ'—'अर्तिपिपर्त्योश्च', 'ॠ'='उ'—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' रपर, 'हलि च' से 'उ'='ऊ'—दीर्घ, स्=र्=ः)=पिपूर्तः । (२) √पॄ+लट् (=झि, शप्, श्लु, द्वित्व, अभ्यासकार्य, इत्व. 'ॠ'='उ'—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य', रपर)—पिपुर् झि ('झ्'='अत्')=पिपुरति ।

√पॄ धातु, लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	पिपर्ति	पिपूर्तः	पिपुरति
म० पु०	पिपर्षि	पिपूर्थः	पिपूर्थ
उ० पु०	पिपर्मि	पिपूर्वः	पिपूर्मः

शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा स्यात्किति लिटि। पप्रतुः। पप्रुः। (७१८) ऋच्छत्यॄताम् ७।४।११। तौदादिक-ऋच्छेर्ऋधातोर्ऋतां च गुणो, लिटि। पपरतुः। पपरुः। (७१९) वॄतो वा ७।२।३८। वृङ्वृञ्भ्यामॄदन्ताच्चेटो दीर्घो वा स्यान्न तु लिटि। परिता–परीता। परिष्यति–परीष्यति। पिपर्तु। पिपुरतु। पिपूर्हि। अपिपः।

---

(७१७) **शॄदॄप्रामिति।** शॄ दॄ पॄ इत्येषां द्वन्द्वः। 'दयतेर्दिगि लिटि' इत्यतः 'लिटि' इत्यनुवर्तते। तदाह—**शॄदॄप्रां ह्रस्वो वेत्यादि।**

(७१८) **ऋच्छत्यॄतामिति।** 'दयतेर्दिगि लिटि' इत्यतो 'लिटी'ति, 'ऋतश्चे'त्यतः गुण इत्यनुवर्तते। अत आह—**तौदादिकऋच्छेरित्यादि। पप्रतुः।** पॄधातोर्लिटि लिटः स्थाने तसि, तसः अतुसादेशे, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'पपॄ अतुस्' इति स्थिते 'शॄदॄप्रां ह्रस्वो वे'ति ऋकारस्य ह्रस्वे, यणि, सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'पप्रतुः' इति। ह्रस्वाभावपक्षे—'ऋच्छत्यॄताम्' इति ऋकारस्य गुणेऽकारे रपरे, सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'पपरतुरि'ति।

---

(४) पॄ+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'--'उरत्' रपर, हलादिशेष, 'ॠ'='अ'—गुण—'ऋच्छत्यॄताम्' रपर)--प पर् अ (उपधादीर्घ—'अत उपधायाः')=पपार।

(७१७) पद—शॄ-दॄ-प्राम्, ह्रस्वः, वा। **अनुवृत्ति**—क्किति, लिटि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—कित् लिट् के परवर्ती रहते शॄ, दॄ और पॄ धातु को विकल्प से ह्रस्व होता है। पप्रतुः पप्रुः।

विमर्श—'शॄ च दॄ च पॄ च=शॄदॄप्रः, तेषाम्'--इतरेतरद्वन्द्वसमास है। 'दयतेर्दिगि लिटि' (७।४।९) से 'लिटि' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार—"शॄ, दॄ तथा पॄ धातु के अङ्ग को लिट् के परे रहते विकल्प से ह्रस्व होता है।"

उदाहरण—(१) पॄ√+लिट् (=तस्=अतुस्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, उरत्, रपर, हलादिशेष)—पपॄ अतुस् (ऋ=र् --'यण्' स्=र्=ः)=पप्रतुः। लिट् प्र० पु० बहु०—पप्रुः।

(७१८) पद—ऋच्छत्यॄताम्। **अनुवृत्ति**—गुणः, लिटि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'ऋच्छ' धातु, 'ऋ' धातु और दीर्घ ऋकारान्त धातु को गुण होता है, लिट् के परवर्ती रहते। पपरतुः। पपरुः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में--'दयतेर्दिगि लिटि' (७।४।९) से 'लिटि' तथा 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' (७।४।१०) से 'गुणः' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार—"तुदादिगण की 'ऋच्छ्' धातु, ऋ धातु और ॠदन्त धातु को लिट् के परे रहते गुण होता है।"

उदाहरण—(१) पूर्वसूत्र (७१७) से ह्रस्व के अभावपक्ष में—पपॄ+अतुस् (ॠ='अ' गुण--'ऋच्छत्यॄताम्' रपर, स्=र्=ः)=पपरतुः। (२) प्र० पु० बहु०--पपरुः।

(७१९) पद—वॄतः, वा। **अनुवृत्ति**—इटः, अलिटि दीर्घः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—वृङ्, वृञ् और दीर्घ ॠदन्त धातु से परवर्ती 'इट्' को विकल्प से दीर्घ होता है, लिट् के परवर्ती रहने पर दीर्घ नहीं होता। परिता, परीता इत्यादि।

अपिपूर्ताम् । अपिपरुः । पिपूर्यात् । पिपूर्युः । पूर्यात् । अपारीत् । (७२०) सिचि च

---

(७१९) वृतो वा इति । 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' इत्यस्मादलिटि दीर्घ इत्यनुवर्तते । वॄ च ऋत् च वॄत् तस्मादिति विग्रहः । अत आह—**वृङ्वृञ्भ्यामिति ।**

विमर्श—'वॄतः' पद में समाहार द्वन्द्व समास है । (वॄ च ऋत् च वॄत्, तस्मात्) 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७।२।३७) से 'अलिटि दीर्घः' तथा 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—वॄ[1] तथा ऋकारान्त धातुओं से उत्तरवर्ती इट् को विकल्प से दीर्घ होता है, लिट् के परे रहते दीर्घ नहीं होता ।

उदाहरण—(१) पॄ+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, इट्, गुण, रपर)—पर् इ तास् आ ('इ'='ई' विकल्प से दीर्घ—'वॄतो वा' टिलोप)=परीता । दीर्घ के अभावपक्ष में—परिता । (२) लृट् में विकल्प से दीर्घ—परीष्यति, परिष्यति । (३) लोट् में (लट् के समान पिपर्ति 'इ'='उ'—'एरुः')=पिपर्तु । (४) लोट् प्र० पु० बहुव०—**पिपुरतु ।**

√पॄ धातु, लोट् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	पिपर्तु-पिपूर्तात्	पिपूर्ताम्	पिपुरतु
म० पु०	पिपूर्हि-पिपूर्तात्	पिपूर्तम्	पिपूर्त
उ० पु०	पिपराणि	पिपराव	पिपराम

(५) पॄ+लङ् (=तिप्=ति, शप्, द्वित्व—'श्लौ' अभ्यास संज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष, अभ्यास को इत्व—'अर्तिपिपर्त्योश्च', इकारलोप—'इतश्च', गुण, रपर)—अपि पर् त् ('त्' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः', र्=ः)=अपिपः ।

√पॄ धातु, लङ् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	अपिपः	अपिपूर्ताम्	अपिपरुः
म० पु०	अपिपः	अपिपूर्तम्	अपिपूर्त
उ० पु०	अपिपरम्	अपिपूर्व	अपिपूर्म

(६) विधिलिङ् में यासुट् के ङित् होने से गुण नहीं होता । ऋकार को 'उर्' 'हलि च' से दीर्घ होकर **प्र० पु० एक०**—पिपूर्यात् । प्र० पु० बहु०—पिपूर्युः ।

पॄ धातु, विधिलिङ् के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	पिपूर्यात्	पिपूर्याताम्	पिपूर्युः
म० पु०	पिपूर्याः	पिपूर्यातम्	पिपूर्यात
उ० पु०	पिपूर्याम्	पिपूर्याव	पिपूर्याम

(७) आशीर्लिङ्—पूर्यात् इत्यादि ।

(८) पॄ+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि, च्लि=सिच्=स्, इट्, इकारलोप, ईट्—'अस्तिसिचोऽपृक्ते', 'स्' का लोप—'इट ईटि', अट् का आगम, सवर्णदीर्घ, 'ॠ'='आ'—वृद्धि—'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु', रपर)=अपारीत् ।

---

१. सूत्रस्थ 'वॄ' से वृङ् तथा वृञ् दोनों धातुओं का ग्रहण होता है ।

परस्मैपदेषु ७।२।४०। अत्र वृत इटो न दीर्घः। अपारिष्टाम्। अपरिष्यत्-अपरीष्यत्। ओहाक् त्यागे। जहाति। (७२१) जहातेश्च ६।४।११६। इत्स्याद्वा हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। जहितः। (७२२) ई हल्यघोः ६।४।११३। श्नाभ्यस्तयोरात ईत्स्यात्सार्वधातुके क्ङिति हलि। जहीतः। जहति। जहौ। हाता। हास्यति। जहातु–

---

(७२०) अत्रेति। परस्मैपदपरके सिचि वृङ्वृञ्भ्याम् ऋदन्ताच्च परस्येटो दीर्घो न भवतीत्यर्थः।

(७२१) जहातेश्चेति। 'इद्दरिद्रस्य इत्यस्मादिदिति, 'भियोऽन्यतरस्यामि'त्यस्मादन्यतरस्यामिति, 'गमहन' इत्यस्मात् क्ङिति इति, 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः हलीति चानुवर्तते। अत आह—इत्स्याद्वेत्यादि।

(७२२) ई हल्यघोः। ई इति लुप्तप्रथमान्तम्। 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इति, 'गमहन' इत्यतः क्ङितीति, 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते।

√पृ धातु, लुङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अपारीत्	अपारिष्टाम्	अपारिषुः
म० पु०	अपारीः	अपारिष्टम्	अपारिष्ट
उ० पु०	अपारिषम्	अपारिष्व	अपारिष्म

(७२०) पद—सिचि, च, परस्मैपदेषु। अनुवृत्ति—न, वृतः, दीर्घः, इट्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—परस्मैपदपरक 'सिच्' के परवर्ती रहते वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातु से पर इट् को दीर्घ नहीं होता।

विमर्श—यहाँ 'न लिङि' (७।२।३९) से 'न', 'वृतो वा' (७१९) से 'वृतः', 'ग्रहोऽलिटि' (७।२।३७) से 'दीर्घः' तथा 'आर्धधातुकस्येड्' (७।२।३५) से 'इट्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार पूर्वोक्त सूत्रार्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण—(१) लुङ् प्र० पु० द्वि०—अपारिष्टाम् (दीर्घ का निषेध)।

√ओहाक् (हा) धातु का अर्थ—'त्यागना, छोड़ना' है।

(१) √हा+लट् (=तिप्=ति, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यासकार्य)=जहाति।

(७२१) पद—जहातेः, च। अनुवृत्ति—इत, अन्यतरस्याम्, क्ङिति, हलि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—हलादि कित् ङित् के परवर्ती रहते 'हा' धातु को विकल्प से इत्व होता है। जहितः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इद्दरिद्रस्य' (६।४।११४) से 'इत्', 'भियोऽन्यतरस्याम्' (६।४।११५) से 'अन्यतरस्याम्' 'ई हल्यघोः' (६।४।११३) से 'हलि' तथा 'गमहन' से 'क्ङिति' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"हलादि कित्, ङित् के परे रहते 'ओहाक्' धातु को विकल्प से इकार अन्तादेश होता है।"

(७२२) पद—ई, हलि, अघोः। अनुवृत्ति—श्नाभ्यस्तयोरातः, क्ङिति, सार्वधातुके। विधिसूत्र।

मूलार्थ—हलादि कित् ङित् सार्वधातुक के परवर्ती रहते श्ना प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक आकार को ईत्व होता है। जहीतः इत्यादि।

जहितात्–जहीतात्। (७२३) आ च हौ ६।४।११७। जहातेर्हौ परे आत्स्यात्। चादीदितौ। जहाहि–जहिहि–जहीहि। अजहात्। अजहुः। (७२४) लोपो यि

तदाह—**श्नाभ्यस्तयोरित्यादिना। जहितः।** हा धातोर्लटि, तसि, शपि, शपः श्लौ 'श्लावि'ति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे, हस्य झत्वे, झस्य जत्वे, 'सार्वधातुकमपित्' इति तसो ङिद्वद्भावे 'जहातेश्चे'त्यनेन आकारस्य विकल्पेन इकारादेशे, सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'जहितः' इति। इत्वाऽभावपक्षे 'ई हल्यघोः' इत्याकारस्य ईकारे कृते 'जहीतः' इति रूपद्वयम्।

(७२३) **आ च हाविति।** 'जहातेश्चे'ति सूत्रमत्रानुवर्तते। तदाह—**जहातेरिति। जहाहि।** हाधातोर्लोटि, तत्स्थाने सिपि, 'सेर्ह्यपिच्च' इति सिपः स्थाने 'हि' इत्यादेशे, शपि, शपः श्लौ, 'श्लावि'ति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम्, 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे, चुत्वेन हस्य झत्वे, 'अभ्यासे चर्चे' इति झस्य जत्वे 'आ च हौ' इत्यनेन आत्वे 'जहाहि' इति। चकारेण इकारे विहिते जहिहि। ईकारे विहिते तु—'जहीहि' इति।

विमर्श—'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) सूत्र की 'गमहन०' (६।४।९८) से क्ङिति, 'अत उत्सार्वधातुके' (६।४।११०) से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"हलादि कित् अथवा ङित् सार्वधातुकसंज्ञक प्रत्यय के परवर्ती रहते 'श्ना' के आकार के स्थान में ईकार आदेश होता है"।

उदाहरण—(१) √हा + लट् (=तस्, शप्, शप्=श्लु, धातु को द्वित्व—'श्लौ' ह्रस्व, 'ह्'='झ्', 'झ्'='ज्' तस् को ङिद्वद्भाव—'सार्वधातुकमपित्', 'आ'='इ'—विकल्प से—'जहातेश्च' स्=र्=:)=जहितः। इत्व के अभाव पक्ष में—'आ'='ई'—'ई हल्यघोः')= जहीतः। (२) √हा+लट् (=झि, शप्, श्लु, द्वित्व, अभ्यासकार्य)—ज हा झि ('झ्'= 'अत्' 'आ' का लोप 'श्नाभ्यस्तयोरातः')=जहति।

√ओहाक् (हा) धातु लट् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	जहाति	जहितः, जहीतः	जहति
म० पु०	जहासि	जहीथः, जहिथः	जहीथ, जहिथ
उ० पु०	जहामि	जहिवः, जहीवः	जहिमः, जहीमः

(३) √हा+लिट् (तिप्=णल्, द्वित्व—'लिटि धातोरनभ्यासस्य', अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, 'ह्'='झ्'—'कुहोश्चुः', 'झ्'='ज्', णल्=औ—'आत औ णलः' आ+औ=औ—'वृद्धिरेचि')=जहौ। (४) लुट्—हाता। (५) लृट्—हास्यति। (६) लोट्—जहातु। जहितात, जहीतात।

(७२३) पद—आ, च, हौ। **अनुवृत्ति**—जहातेः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—हा धातु को आत्व होता है तथा पक्ष में इत्व और ईत्व भी होता है। जहाहि, जहिहि, जहीहि इत्यादि।

विमर्श—पूर्वसूत्र (७२१) से 'जहातेः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'हि' के परवर्ती रहते हा धातु के आकार को आकार आदेश होता है। चकारात् आकार को इकार और ईकार दोनों आदेश होते हैं।

६।४।११८। जहातेराल्लोपो यादौ सार्वधातुके। जह्यात्। 'एर्लिङि'। हेयात्। अहासीत्। अहास्यत्। ऋ गतौ। 'अर्तिपिपर्त्योश्चे'त्यभ्यासस्य इकारः। अभ्यासस्यासवर्णे'

---

(७२४) लोपो यि। 'यि' इति सप्तम्यन्तम्। सार्वधातुकविशेषणत्वात्तदादिविधिः। 'जहातेश्चे'त्यतो जहातेरिति, 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्यत आत इति, 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः 'सार्वधातुके' इति चानुवर्तते। तदाह—**जहातेरिति। अहासीत्।** हाधातोर्लुङि तिपि, अडागमेऽनुबन्धलोपे च्लौ, च्लेः सिचि इचो लोपे, तिप इकारलोपे, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि, 'यमरमनमातां सक्च' इति सगागमेऽनुबन्धलोपे, सिच इटि, 'इट ईटि' इति सकारलोपे सवर्णदीर्घे 'अहासीत्' इति सिद्धम्।

उदाहरण—(१) √हा+लोट् (=सिप्=सि, 'सि'='हि'—'सेर्ह्यपिच्च', शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, 'ह्'='झ्'—'चुत्व', 'झ्'='ज्' 'आ'='आ'—'आ च हौ')= जहाहि। चकारात् इकार होने पर—जहिहि। ईकार पक्ष में—जहीहि।

√हा धातु लोट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	जहातु, जहितात्, जहीतात्	जहिताम्, जहीताम्	जहतु
म० पु०—	जहाहि, जहिहि, जहीहि	जहितम्, जहीतम्	जहीत
उ० पु०—	जहानि	जहाव	जहाम

√हा धातु लङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अजहात्	अजहिताम्, अजहीताम्	अजहुः
म० पु०—	अजहाः	अजहितम्, अजहीतम्	अजहीत
उ० पु०—	अजहाम्	अजहिव, अजहीव	अजहिम, अजहीम

(७२४) पद—लोपः, यि। **अनुवृत्ति**—जहातेः, आतः, सार्वधातुके। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—यकारादि सार्वधातुक के परवर्ती रहते 'हा' धातु के आकार का लोप होता है। जह्यात् इत्यादि।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'जहातेश्च' (७२१) से 'जहातेः', 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) से 'आतः' तथा 'अत उत्सार्वधातुके' (६।४।११०) से 'सार्वधातुके' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'यि' पद सप्तम्यन्त है। सार्वधातुक का विशेषण होने से तदादि विधि होती है। अतः "यकारादि सार्वधातुक के परे रहते 'हा' धातु के आकार का लोप होता है।"

उदाहरण—(१) √हा+विधिलिङ् (=तिप्=ति, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यासकार्य)—जहा ति (इकारलोप, यासुट्=यास्, 'स्' का लोप)—जहायात् ('आ' का लोप—'लोपो यि') =जह्यात्। (२) √हा+आशीर्लिङ् (=तिप्=ति, यासुट्=यास्, 'स्' का लोप, इकारलोप, 'आ'='ए' एत्व—'एर्लिङि')=हेयात्। (३) √हा+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि, च्लि=सिच् ='स्' इकारलोप, ईट्='ई'—'अस्तिसिचोऽपृक्ते', धातु को सक्='स्' का आगम तथा इट्='इ' 'यमरमनमातां सक्च', 'स्' का लोप—'इट ईटि' इ+ई='ई'—सवर्णदीर्घ)=अहासीत्। (४) लृङ्—अहास्यत्।

√ऋ धातु का अर्थ 'गति=जाना' है।

इयर्ति । इयृतः । इयृति । आर । आरतुः । आरुः । 'इडत्यर्ती'ति नित्यमिट् । आरिथ । अर्ता । अरिष्यति । इयर्तु । इयराणि । ऐयः । ऐयृताम् । ऐयरुः । इयृयात् । 'गुणोऽर्त्ती'ति गुणः । अर्यात् । 'सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्चे'त्यङ् । आरत् । 'ऋद्धनोः स्ये' । आरिष्यत् । इति परस्मैपदिनः ।

अथात्मनेपदिनः । माङ् माने शब्दे च । (७२५) भृञामित् ७।४।७६ । भृञ्, माङ्, ओहाङ् एषामभ्यासस्येत्स्याच्छ्लौ । 'ई हल्यघोः' । मिमीते । मिमाते । 'श्ना-

---

इयर्ति । ऋधातोर्लटि तिपि, शपि, शपः श्लौ, 'श्लौ' इति द्वित्वे 'ऋ ऋ ति' इति जाते 'अर्तिपिपर्त्योश्चे'त्यनेन अभ्यासस्येकारादेशे रपरत्वे हलादिशेषे 'इ ऋ ति' इति स्थिते 'अभ्यासस्यासवर्णे' इति इयङि गुणे रपरे च इयर्ति इति ।

(७२५) भृञामिदिति । अत्र 'लोपोऽभ्यासस्ये'त्यतः अभ्यासस्येति, 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यतः त्रयाणां श्लावित्यनुवर्तते । अत आह—भृञ् माङित्या-

---

(१) √ऋ+लट् (=तिप्=ति, शप्, शप्=श्लु, द्वित्व)—ऋ ऋ ति (अभ्यास के 'ऋ'='इ' रपर—'अर्तिपिपर्त्योश्च', इ=इयङ्=इय्—'अभ्यासस्यावर्णे')—इय् ऋ ति ('ऋ'='अ'—गुण, रपर)=**इयर्ति** । (२) लट् प्र० पु० द्विव०—इयृतः । (३) लट् प्र० पु० बहुव०—इयृति । (४) लिट् प्र० पु०—आर, आरतुः, आरुः । म० पु० एकव० में 'इडत्यर्ति' से नित्य इट् होने पर—आरिथ । (५) लुट्—अर्ता । (६) लृट्—अरिष्यति । (७) लोट् प्र० पु० एकव०—इयर्तु । (८) लोट् उ० पु० एकव०—इयराणि । (९) √ऋ+लङ् (=तिप्=ति, इकार-लोप-'इतश्च', शप्=श्लु, धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, अभ्यास के 'ऋ'='इ'—'अर्तिपिपर्त्योश्च' रपर, हलादिशेष, इ=इयङ्=इय्)—इय् ऋ त (आट्='आ' का आगम, आ+इ='ऐ' वृद्धि—'आटश्च', 'ऋ'='अ' गुण, रपर, 'त' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः' र्=ः)=ऐयः । (१०) लङ् प्र० पु० द्विव०—ऐयृताम् । (११) प्र० पु० बहुव०—ऐयरुः । (१२) विधिलिङ्—इयृयात् । (१३) आशीर्लिङ् प्र० पु० एकव० में ('गुणोऽर्ति' से गुण, रपर)—अर्यात् । (१४) लुङ् में 'सर्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्च' से 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश होता है—आरत् । (१५) लृङ् में 'ऋद्धनोः स्ये' से इट् होकर—आरिष्यत् । जुहोत्यादिगण की परस्मैपदी धातुओं की रूपसिद्धि का विवेचन करने के अनन्तर आत्मनेपदी धातुओं के रूपों की साधनिका का निर्देश करते हैं—

√माङ् (मा) धातु का अर्थ—'मापना और शब्द करना' है ।

(७२५) पद—भृञाम्, इत् । **अनुवृत्ति**—त्रयाणाम्, श्लौ, अभ्यासस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—भृञ्, माङ् और ओहाङ् धातु के अभ्यास को श्लु के विषय में इत्व होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' (७।४।७५) से 'त्रयाणाम्, श्लौ' तथा 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"भृञ् (=पालन करना), माङ् (नापना) और ओहाङ् (=जाना) इन तीन धातुओं के अभ्यास को इकार आदेश होता है श्लु के विषय में ।"

उदाहरण—(१) √मा+लट् (=त, शप्, शप्=श्लु, द्वित्व—'श्लौ' अभ्यास संज्ञा, अभ्यास के 'आ'='इ' इत्व—'भृञामित्', 'आ'='ई'—'ई हल्यघोः' टि 'अ'=एत्व—टित आत्मनेपदानां टेरे')=मिमीते । (२) लट् प्र० पु० द्विव०='आताम्' में 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार का लोप होकर—मिमाते । (३) लट् प्र० पु० बहुव०—मिमते ।

भ्यस्ते'ति आतो लोपः । मिमते । ममे । माता । मास्यते । मिमीताम् । अमिमीत । मिमीत । मासीष्ट । अमास्त । अमास्यत । ओहाङ् गतौ । जिहीते । जिहाते । जिहते । जहे । हाता । हास्यते । जिहीताम् । अजिहीत । जिहीत । हासीष्ट । अहास्त । अहास्यत । इत्यात्मनेपदिनः ।

अथोभयपदिनः । डुभृञ् धारणपोषणयोः । बिभर्ति । बिभृतः । बिभ्रति । बिभृते । बिभ्राते । बिभ्रते । बिभराञ्चकार । बभार । बभर्थ । बभृव । बभृम । बिभराञ्चक्रे ।

दिना । मिमीते । माङ्धातोर्लटि तत्स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये, शपि, शपः श्लौ, द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'भृञामित्' इत्यभ्यासस्य इत्वे 'ई हल्यघोः' इत्याकारस्य ईत्वे, 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'मिमीते' इति ।

बिभर्ति । भृञ्धातोर्लटि, तिपि, शपि, शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इत्यनेन धातोर्द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम्, 'भृञामित्' इति इत्वे, रपरत्वे, हलादिशेषे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य

√मा धातु, लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	मिमीते	मिमाते	मिमते
म० पु०	मिमीषे	मिमाथे	मिमीध्वे
उ० पु०	मिमे	मिमीवहे	मिमीमहे

(४) लिट्—ममे । (५) लुट्—माता । (६) लृट्—मास्यते । (७) लोट्—मिमीताम् । (८) लङ्—अमिमीत । (९) विधिलिङ्—मिमीत । (१०) आशीर्लिङ्=मासीष्ट । (११) √मा+लुङ् (=त, अट्='अ'—आगम, च्लि, च्लि=सिच्='स्')=अमास्त । (१२) लृङ्—अमास्यत ।

√ओहाङ् (हा) धातु का अर्थ—'जाना' है ।

(१) √हा+लट् (=त, शप्=श्लु, द्वित्व—श्लौ, अभ्यासकार्य)—जहा त (अभ्यास को इकार अन्तादेश—'भृञामित्', 'त' के अपित्सार्वधातुक होने से ङिद्वत् होने के कारण 'आ'='ई'—'ई हल्यघोः', टि=एत्व)=जिहीते ।

√हा धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	जिहीते	जिहाते	जिहते
म० पु०	जिहीषे	जिहाथे	जिहीध्वे
उ० पु०	जिहे	जिहीवहे	जिहीमहे

(२) लिट्—जहे । (३) लुट्—हाता । (४) लृट्—हास्यते । (५) लोट्—जिहीताम् । (६) लङ्—अजिहीत । (७) हा+विधिलिङ् (=त, शप्=श्लु, द्वित्व—'श्लौ' अभ्यासकार्य)—जहा त (सीयुट्=सीय्, 'य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि', 'स्' का लोप—'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' 'आ' का लोप—'श्नाभ्यस्तयोरातः')=जिहीत । (८) आशीर्लिङ्—हासीष्ट । (९) लुङ्—अहास्त । (१०) लृङ्—अहास्यत ।

जुहोत्यादि गण की उभयपदी धातुओं की रूपसिद्धि प्रदर्शित की जा रही है—

√डुभृञ् (भृ) धातु का अर्थ—'धारण करना, पालन करना' है ।

बभ्रे। भर्ता। भरिष्यति। भरिष्यते। बिभर्तु। बिभृहि। बिभराणि। बिभृताम्। बिभृध्वम्। अबिभः। अबिभृताम्। अबिभरुः। अबिभृत। बिभृयात्। बिभ्रीत।

बत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः', इति गुणे अकारे रपरे च कृते 'बिभर्ति' इति। **बिभराञ्चकार इति।** भृञ्धातोर्लिटि 'भीह्रीभृहुवामि'त्यामि, श्लुवद्भावे, द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'भृञामित्' इतीत्वे धातोः गुणे रपरे च कृते 'आमः' इत्यनेन लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परक-कृञोऽनुप्रयोगे लिटः स्थाने तिपि, तिपो णल्यनुबन्धलोपे, द्वित्वेऽभ्यासत्वे, अत्वे, रपरत्वे, हलादिशेषे, 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेन ककारस्य चकारे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, रपरे उपधावृद्धौ, मकारस्य अनुस्वारे 'वा पदान्तस्ये'ति परसवर्णे बिभराञ्चकार इति। आमोऽभावपक्षे तु—

---

(१) भृ+लट् (=तिप्=ति, शप्, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ऋ=इ—'भृञामित्' रपर, हलादिशेष, 'भ्'='ब्'—'अभ्यासे चर्च', 'ऋ'='अ'—गुण—'सार्वधातु०' रपर)=बिभर्ति। (२) लट् प्र० पु० द्विव० में 'तस्' के अपित् होने के कारण 'ङित्' होने से गुण का निषेध हो जाता है—बिभृतः।

√भृ धातु, लट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	बिभर्ति	बिभृतः	बिभ्रति
म० पु०—	बिभर्षि	बिभृथः	बिभृथ
उ० पु०—	बिभर्मि	बिभृवः	बिभृमः

आत्मनेपद के सभी प्रत्यय 'अपित्' होने से ङिद्वत् होने के कारण उनमें गुण का निषेध हो जाता है।

√भृ धातु, लट् लकार आत्मनेपद के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	बिभृते	बिभ्राते	बिभ्रते
म० पु०—	बिभृषे	बिभ्राथे	बिभृध्वे
उ० पु०—	बिभ्रे	बिभृवहे	बिभृमहे

(३) √भृ+लिट् ('आम्'—'भीह्रीभृहुवाम्' श्लुवद्भाव, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, इत्व—'भृञामित्' रपर, हलादिशेष, 'भ्'='ब्'—'अभ्यासे चर्च' गुण, रपर, लिट् का लुक्—'आमः')—बिभराम् (लिट्परक कृ का अनुप्रयोग; लिट्=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, गुण, रपर, उपधावृद्धि; म्=—अनुस्वार, परसवर्ण)=बिभराञ्चकार। 'आम्' के अभावपक्ष में=बभार। आत्मनेपद में—बिभराञ्चक्रे। 'आम्' के अभाव में—बभ्रे। (४) लुट्—भर्ता। (५) लृट् में 'ऋद्धनोः स्ये' से 'इट्' होता है। भरिष्यति, भरिष्यते। (६) लोट् प्र० पु० ए० व०—बिभर्तु। (७) लोट्—म० पु० एकव० विभृहि। (८) लोट् उ० पु० एकव०—बिभराणि। आत्मनेपद में बिभृताम्, बिभ्राताम्, बिभ्रताम् इत्यादि। (९) लङ् लकार के प्रथम और मध्यम पुरुष के एकवचन में गुण होने से अपृक्तसंज्ञक 'त्' और 'स्' का 'हल्ङ्याब्भ्यः' से लोप होता है। 'र्' का विसर्ग भी होता है। बहुवचन 'झि' में अभ्यस्त होने से झि=जुस् और 'जुसि च' से गुण।

'रिङ्शये'ति रिङ् । भ्रियात् । (उश्च) भृषीष्ट । अभार्षीत् । 'ह्रस्वादङ्गात्' । अभृत । अभरिष्यत् । अभरिष्यत । डुदाञ् दाने । प्रणिददाति । दत्तः । ददति । दत्ते । ददाते । ददते । ददौ । ददे । दाता । दास्यति । दास्यते । ददातु । 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' ।

धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे, रपरे, हलादिशेषे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे परत्वात्सार्वधातुकगुणे रपरे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'बभार' इति । अबिभः इति । भृञ्धातोर्लङि, तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे 'इतश्चे'ति इकारलोपे, शपि, शपः श्लौ, 'श्लौ' इत्यनेन धातोर्द्वित्वे 'अ भृ भृ त्' इति जाते 'भृञामित्' इत्यभ्यासऋकारस्य इत्वे रपरत्वे हलादिशेषे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वेन भकारस्य बकारे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन ऋकारस्य गुणे अकारे, रपरे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' इत्यनेन तकारस्य लोपे रकारस्य विसर्गे च कृते 'अबिभः'

√भृ धातु, लङ् लकार (परस्मैपद) के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अबिभः	अबिभृताम्	अबिभरुः
म० पु०—	अबिभः	अबिभृतम्	अबिभृत
उ० पु०—	अबिभरम्	अबिभृव	अबिभृम

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अबिभृत	अबिभ्राताम्	अबिभ्रत
म० पु०—	अबिभृथाः	अबिभ्राथाम्	अबिभृध्वम्
उ० पु०—	अबिभ्रि	अबिभृवहि	अबिभृमहि

(१०) विधिलिङ् (परस्मैपद) में—बिभृयात । आत्मनेपद में—बिभ्रीत । (११) आशीर्लिङ् (परस्मैपद में) 'रिङ्शय०' से रिङ् होकर—भ्रियात । आत्मनेपद में 'उश्च' से सीयुट् के कित होने के कारण गुण का निषेध—भृषीष्ट । (१२) √भृ=लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि, च्लि=सिच्=स्, ईट्—'ई'—अस्तिसिचोऽपृक्ते', ऋ='आ'—वृद्धि—'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' रपर, इकारलोप, षत्व) =अभार्षीत । आत्मनेपद में 'ह्रस्वादङ्गात्' से 'सिच्' का लोप हो जाता है—अभृत । (१३) लृङ् में—अभरिष्यत । अभरिष्यत ।

√डुदाञ् (दा) धातु का अर्थ—'देना' है । (१) √दा+लट् (=तिप्=ति, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व)=ददाति । आत्मनेपद में—(त, 'टि'=एत्व, द्वित्व, अभ्यासकार्य, ह्रस्व, 'आ' का लोप='श्नाभ्यस्तयोरातः', 'द्'='त'—'खरि च') =दत्ते ।

√दा धातु लट् लकार (परस्मैपद) के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	ददाति	दत्तः	ददति
म० पु०—	ददासि	दत्थः	दत्थ
उ० पु०—	ददामि	दद्वः	दद्मः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	दत्ते	ददाते	ददते
म० पु०—	दत्से	ददाथे	दद्ध्वे
उ० पु०—	ददे	दद्वहे	दद्महे

देहि । दत्ताम् । अददात् । अदत्ताम् । अददुः । अदत्त । दद्यात् । ददीत । 'एर्लिङि' । देयात् । दासीष्ट । 'गातिस्थे'ति सिचो लुक् । अदात् । अदाताम् । अदुः । (७२६) स्थाघ्वोरिच्च १।२।१७ । अनयोरिदन्तादेशः स्यात्, सिच्च कित्स्यादात्मनेपदेषु ।

इति रूपम् । **अदात्** इति । दाधातोर्लुङि, तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिप्यनुबन्धलोपे, अडागमेऽनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति च्लेः स्थाने सिच्यनुबन्धलोपे 'अदास् ति' इति जाते 'इतश्चे'तीकारलोपे 'दाधाघ्वदाप्' इत्यनेन घुसंज्ञायाम् 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' इत्यनेन सिचो लोपे 'अदात्' इति ।

(७२६) **स्थाघ्वोरिच्चेति** । अत्र 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यतः किदिति, 'हनः

---

(२) √दा+लिट् (=तिप्=णल्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, 'णल्'='औ'—'आत औ णलः' आ+औ='औ'—'वृद्धि')=ददौ । आतमनेपद पक्ष में—ददे । (३) लुट्—दाता । (४) लृट्—दास्यति, दास्यते । (५) लोट्—ददातु । (६) √दा+लोट् (=सिप्=सि=हि, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, आ='ए'—एत्व तथा अभ्यास का लोप—'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च=देहि । आतमनेपद में—दत्ताम्, ददाताम्, ददताम् इत्यादि ।

√दा धातु, लोट् लकार (परस्मैपद) के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	ददातु, दत्तात्	दत्ताम्	ददतु
म० पु०	देहि	दत्तम्	दत्त
उ० पु०	ददानि	ददाव	ददाम

(आत्मनेपद)

प्र० पु०	दत्ताम्	ददाताम्	ददताम्
म० पु०	दत्स्व	ददाथाम्	दद्ध्वम्
उ० पु०	ददै	ददावहै	ददामहै

(७) √दा+लङ् (=तिप्=ति, अट्, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, इकार-लोप—'इतश्च')=अददात् ।

+दा धातु, लङ् लकार (परस्मैपद) के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अददात्	अदत्ताम्	अददुः
म० पु०	अददाः	अदत्तम्	अदत्त
उ० पु०	अददम्	अदद्व	अदद्म

(आत्मनेपद)

प्र० पु०	अदत्त	अददाताम्	अददत
म० पु०	अदत्थाः	अददाथाम्	अदद्ध्वम्
उ० पु०	अददि	अदद्वहि	अदद्महि

(८) विधिलिङ्—दद्यात् । आतमनेपद—ददीत । (९) आशीर्लिङ्—देयात् । आत्मनेपद-दासीष्ट । (१०) √दा+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि=सिच्='स्' 'दाधाघ्वदाप्' से घुसंज्ञा, 'गातिस्था०' से सिच् का लुक्, 'इ' का लोप—'इतश्च')=अदात्, अदाताम्, अदुः ।

(७२६) पद—स्थाघ्वोः, इत् च । **अनुवृत्ति**—कित्, सिच्, आत्मनेपदेषु । **विधिसूत्र ।**

अदित । अदास्यत् । अदास्यत । डुधाञ् धारणपोषणयोः । दधाति । (७२७) दधस्तथोश्च ८।२।३८ । द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धाञो बशो भष्, तथयोः स्ध्वोश्च परतः । धत्तः । दधति । दधासि । धत्थः । धत्ते । दधाते । धत्से । धद्ध्वे । 'घ्वसोरि'त्येत्वम् ।

सिच्' इत्यतः सिजिति चानुवर्तते । अत आह—अनयोरित्यादिना । अदित इति । दाधातोर्लुङि, लुङः स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये, च्लौ, च्लेः स्थाने सिचि 'दाधाघ्वदाप्' इति घुसंज्ञकत्वात् 'स्थाघ्वोरिच्चे'ति इदन्तादेशे सिच कित्त्वे च 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचः सलोपे 'अदित' इति ।

(७२७) दधस्तथोश्चेति । 'दधः' इति षष्ठ्यन्तम् । 'एकाचो बशो' इत्यतो 'बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इत्यनुवर्तते । तदाह—द्विरुक्तस्येत्यादिना । धत्तः । धाधातोर्लटि, तत्स्थाने तसि, शपः श्लुत्वे 'श्लावि'ति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, ह्रस्वे, 'अभ्यासे चर्चं' इति धकारस्य दकारे 'दधा तस्' इति जाते 'दधस्तथोश्चे'ति दस्य धत्वे 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपे 'खरि चे'ति धस्य तत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'धत्तः' इति । धेहि । धाधातोर्लोटि, मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, 'सेर्ह्यपिच्चे'ति सेर्हि आदेशे, शपि, शपः

मूलार्थ—आत्मनेपद के परवर्ती रहने पर 'स्था' धातु और घुसंज्ञक धातु को इदन्त आदेश होता है और धातु से उत्तरवर्ती सिच् कित (किद्वत्) होता है । अदित इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'असंयोगाल्लिट्' (१।२।५) से 'कित्' तथा 'हनः सिच्' (१।२।१४) से 'सिच्' की अनुवृत्ति आती है । अतः 'स्था' और घुसंज्ञक धातुओं को इकार अन्तादेश होता है तथा सिच् कित् होता है, आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय के परे रहते ।

उदाहरण—(१) √दा + लुङ् (=त, च्लि, च्लि=सिच्, घुसंज्ञा, 'आ'='इ' 'सिच्' को कित्—'स्थाघ्वोरिच्च', 'स्' का लोप—'ह्रस्वादङ्गात')=अदित । (२) लृङ्—अदास्यत् । आत्मनेपद में—अदास्यत ।

√डुधाञ् (धा) धातु का अर्थ—'धारण करना, पोषण करना' है ।

(१) √धा + लट् (=तिप्=ति, शप्=श्लु, द्वित्व—'श्लौ' अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, 'ध्'='द्'—'अभ्यासे चर्च')=दधाति ।

(७२७) पद—दधः, तथोः, च । **अनुवृत्ति**—बशो, भष्, झषन्तस्य, स्ध्वोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्विरुक्त झषन्त 'धा' धातु के बश् के स्थान में भष् होता है; त-थ और स्-ध्व के परवर्ती रहते । धत्त इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' (८।२।३७) से 'बशो भष्, झषन्तस्य स्ध्वोः' की अनुवृत्ति आती है । सूत्र में 'दधः' डुधाञ् धातु का द्विर्वचन निर्देश है । तदनुसार—"द्विरुक्त (जिसको द्वित्व किया गया हो) झषन्त धाञ् धातु के बश् को भष् होता है; तकार, थकार; सकार और ध्व के परवर्ती रहने पर।"

उदाहरण—(१) √धा + लट् (=तस्, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, 'ध्'='द्'—'अभ्यासे चर्च') दधा + तस् ('द्'='ध्'—'दधस्तथोश्च', 'आ' का लोप 'श्नाभ्यस्तयोरातः', 'ध्'='त्'—'खरि च', स्=र्=ः)=धत्तः । (२) लट् प्र० पु० बहुव०—दधति (आकारलोप) । यहाँ भष्भाव के अतिरिक्त अन्य रूपों की साधनिका 'दा' धातु के समान ही है ।

धेहि । अदधात् । अधत्ताम् । अदधुः । अदधाः । अधत्तम् । अधत्त । अदधाम् । अदध्व । अदध्म । अधत्त । अदधाताम् । अदधत । अधत्थाः । अदधाथाम् । अधद्ध्वम् । अदधि । अदध्वहि । अदध्महि । दध्यात् । दधीत । दधीयाताम् । धेयात् । धासीष्ट । अधात् । अधाताम् । अधित । अधिषाताम् । अधास्यत् । अधास्यत । णिजिर् शौच-पोषणयोः । (७२८) निजां त्रयाणां गुणः श्लौ ७।४।७५ । णिज्-विज्-विषाम-भ्यासस्य गुणः स्याच्छ्लौ । नेनेक्ति । नेनिक्तः । नेनिजति । नेनिक्ते । निनेज ।

श्लौ, द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे 'दाधाघ्वदाप्' इति घुसंज्ञायाम् 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्यनेन अभ्यासलोपे अनभ्यासस्य एत्वे च कृते 'धेहि' इति सिद्धम् । अधादिति । दा-धातोर्लुङि तिपि, अटि, तिप इकारलोपे, च्लौ, च्लेः सिचि 'गातिस्थे'ति सिचो लोपे 'अधादि'ति ।

(७२८) निजामिति । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यत 'अभ्यासस्ये'त्यनुवर्तते । निजामिति बहुवचनात् 'णिजिर्-विजिर्-विष्लृ' इति धातूनां ग्रहणम् । नेनेक्ति इति । णिजिर्धातोर्लटि, तिपि 'णो नः' इति णस्य नकारे 'इर इत्संज्ञा वाच्या' इति 'इर्' इत्यस्येत्संज्ञायां लोपे 'निज् + ति' इति जाते, शपि, शपः श्लौ, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये

√धा धातु लट् लकार (परस्मैपद) के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	दधाति	धत्तः	दधति
म० पु०	दधासि	धत्थः	धत्थ
उ० पु०	दधामि	दध्वः	दध्मः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	धत्ते	दधाते	दधते
म० पु०	धत्से	दधाथे	दद्ध्वे
उ० पु०	दधे	दध्वहे	दध्महे

(३) लोट् म० पु० एक०—देहि ('घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से एत्व तथा अभ्यास का लोप)। (४) लङ्—अदधात् इत्यादि । आत्मनेपद में—अधत्त इत्यादि । (५) विधिलिङ्, परस्मैपद—दध्यात् । आत्मनेपद—दधीत, दधीयाताम् इत्यादि । (६) आशीर्लिङ्, परस्मैपद—धेयात् । आत्मनेपद—धासीष्ट । (७) लुङ्, परस्मैपद—अधात्, अधाताम् इत्यादि । आत्मनेपद-अधित, अधिषाताम् इत्यादि । (८) लृङ्, परस्मैपद—अधास्यत् । आत्मनेपद—अधास्यत ।

√णिजिर् (निज्) धातु का अर्थ—'धोना तथा पोषण करना' है ।

(७२८) पद—निजाम्, त्रयाणाम्, गुणः, श्लौ । **अनुवृत्ति**—अभ्यासस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—श्लु के विषय में णिज्, विज् और विष् धातु के अभ्यास को गुण होता है ।

विमर्श—'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' पद की अनुवृत्ति आती है । सूत्रोक्त 'त्रयाणाम्' पद से 'विजिर् पृथग्भावे' (=अलग होना), 'णिजिर् शौचपोषणयोः' (=शुद्ध करना व पोषण करना) तथा 'विष्लृ व्याप्तौ' (व्याप्त होना) धातुओं का ग्रहण होता है । तदनुसार—"णिजिर् आदि तीन धातुओं के अभ्यास को श्लु होने पर गुण होता है ।"

निनिजे । नेक्ता२ । नेक्ष्यति । नेक्ष्यते । नेनेक्तु । नेनिग्धि । **(७२९) नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ७।३।८७ ।** अभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके लघूपधगुणो न । नेनिजानि । नेनिक्ताम् । अनेनेक् । अनेनिक्ताम् । अनेनिजुः । अनेनिजम् । अनेनिक्त । नेनिज्यात् । नेनिजीते । निज्यात् । निक्षीष्ट । अनिजत् । अनैक्षीत् । अनिक्त । अनेक्ष्यत् । अनेक्ष्यत । एवं विजिर् पृथग्भावे । विष्लृ व्याप्तौ । इति जुहोत्यादिः ।

इति जुहोत्यादिप्रकरणम् ।

'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यनेनाभ्यासस्य गुणे एकारे, 'चोः कुः' इति जस्य गत्वे, 'खरि च' इति गस्य कत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'नेनेक्ति' इति ।

(७२९) **नाभ्यस्तस्याचीति ।** 'पुगन्त०' इत्यतो लघूपधस्येति, 'मिदेर्गुणः' इत्यतो गुण इति चानुवर्तते । अत आह—**अभ्यस्तस्याचि इत्यादिना । नेनिजानि ।** निज्धातोर्लोटि, उत्तमपुरुषैकवचने मिपि, अनुबन्धलोपे 'मेर्निः' इति मेर्न्यादेशे 'आडुत्तमस्य पिच्च' इति आटि, शपः श्लौ, द्वित्वेऽभ्यासकार्ये जकारलोपे 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यभ्यासस्याचो गुणे, 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे प्राप्ते 'नाभ्यस्तस्याचि पिति

उदाहरण—(१) √णिजिर्+लट् ('इर्' की इत्संज्ञा, लोप—'इर इत्संज्ञा वाच्या' 'ण्'='न्'—'णो नः' ल्=तिप्=ति, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यासकार्य)—निनिज् ति ('इ'='ए'—गुण—'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ,' 'ज्'='ग्'—'चोः कुः' 'ग्'='क्'—'खरि च', गुण—'पुगन्त०')=नेनेक्ति । (२) लट् प्र० पु० द्वि० में—नेनिक्तः (यहाँ 'तस्' के 'ङित्' होने से गुण नहीं होता) । (३) लट्, प्र० पु० बहु० में—नेनिजति ('अदभ्यस्तात्' से 'झ्'='अत्') ।

√णिजिर् धातु, लट् लकार (परस्मैपद) के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	नेनेक्ति	नेनिक्तः	नेनिजति
म० पु०—	नेनेक्षि	नेनिक्थः	नेनिक्थ
उ० पु०—	नेनेज्मि	नेनिज्वः	नेनिज्मः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	नेनिक्ते	नेनिजाते	नेनिजते
म० पु०—	नेनिक्षे	नेनिजाथे	नेनिग्ध्वे
उ० पु०—	नेनिज़े	नेनिज्वहे	नेनिज्महे

(४) लिट्, परस्मैपद—निनेज । आत्मनेपद—निनिजे । (५) लुट्—नेक्ता । (६) लृट्, परस्मैपद—नेक्ष्यति । **आत्मनेपद—नेक्ष्यते ।** (७) लोट्, परस्मैपद प्र० पु० एक०—नेनेक्तु, नेनिक्तात् । (८) लोट्, म० पु० एक०—नेनिग्धि (झलन्त होने से 'हि'='धि'—'हुझल्भ्यो हेर्धिः') ।

(७२९) पद—न, अभ्यस्तस्य, अचि, पिति, सार्वधातुके । **अनुवृत्ति**—लघूपधस्य, गुणः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अजादि पित् सार्वधातुक के परवर्ती रहते अभ्यस्तसंज्ञक धातु को लघूपध गुण नहीं होता ।

अथ दिवादिप्रकरणम्

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । (७३०) दिवादिभ्यः श्यन् ३।१।६९। दिवादिभ्यः श्यन्प्रत्ययः स्यात्कर्तरि सार्वधातुके । शपो-

---

सार्वधातुके' इति तन्निषेधे 'नेनिजानि' इति । अनिजर्दिति । निज्धातोर्लुङि तिपि, च्लौ, 'इरितो वा' इति विभाषया च्लेरङि तिप इकारलोपे 'अनिजत्' इति । अङभावपक्षे तु—च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'चोः कुः' इति कुत्वेन गत्वे, 'खरि चे'ति गस्य कत्वे, सिचः सस्य षत्वे, क्ष् संयोगे क्षकारे, अटि च 'अनैक्षीदि'ति ।

इति जुहोत्यादिः ।

अथ श्यन्विकरणान् धातून् निरूपयितुमुपक्रमते—

(७३०) दिवादिभ्य इति । 'कर्तरि शप्' इत्यतः कर्तरीति, 'सार्वधातुके यगि'-

---

विमर्श—यहाँ 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से 'लघूपधस्य' तथा 'मिदेर्गुणः' (७।३।८२) से 'गुणः' पद की अनुवृत्ति आती है । अतः "अजादि पित् सार्वधातुक के परे होने पर अभ्यस्त-संज्ञक धातु को लघूपध गुण नहीं होता ।"

उदाहरण—(१) √निज्+लोट् (=मिप्=मि=नि—'मेर्निः' 'आट्'='आ'—'आडुत्तमस्य पिच्च', शप्, शप्=श्लु, द्वित्व, अभ्यासकार्य='ज्' का लोप)—नि निज् आ नि ('इ'='ए'—गुण—'निजां त्रयाणाम्०', 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का 'नाभ्यस्तस्याचि०' से निषेध)=नेनिजानि ।

आत्मनेपद में—(१) नेनिक्ताम् । (२) लङ्, परस्मैपद प्र० पु०—अनेनेक्, अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः । उ० पु० एक०—अनेनिजम् । आत्मनेपद—अनेनिक्त । (३) विधिलिङ्, परस्मैपद—नेनिज्यात् । आत्मनेपद—नेनिजीत । (४) आशीर्लिङ्, परस्मैपद—निज्यात् । आत्मनेपद—निक्षीष्ट । (५) √निज्+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि, च्लि=अङ्='अ' विकल्प से—'इरितो वा' इकारलोप—'इतश्च')=अनिजत् । 'अङ्' के अभावपक्ष में (च्लि=सिच्='स्', ईट्, वृद्धि—'वदव्रजहलन्तस्याचः', 'ज्'='ग्'—'चोः कुः' 'ग्'='क्'—'खरि च' षत्व, क्+ष्=क्ष्, अट्)=अनैक्षीत् । आत्मनेपद में—√निज्+लुङ् (=त, अट्, च्लि, च्लि=सिच्='स्', 'स्' का लोप—'झलो झलि', 'ज्'='ग्'—'चोः कुः', 'ग्'='क्'—'खरि च')=अनिक्त । (६) लृङ्, परस्मैपद—अनेक्ष्यत् । आत्मनेपद—अनेक्ष्यत । इसी प्रकार विजिर् (=अलग होना) और विष्लृ (=व्याप्त होना) इत्यादि धातुओं के रूप भी जानने चाहिए ।

जुहोत्यादि प्रकरण समाप्त ।

'श्लु' विकरणवाली धातुओं की रूपसिद्धि प्रदर्शित करने के अनन्तर अब 'श्यन्' (य) विकरण वाली धातुओं के रूपों की साधनिका का विवेचन किया जा रहा है—

√दिवु (दिव्) धातु का अर्थ—"क्रीडा, जुआ खेलना, व्यवहार, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, नशा करना, सोना, इच्छा करना और जाना है ।"

(७३०) पद—दिवादिभ्यः, श्यन् । **अनुवृत्ति**—कर्तरि, सार्वधातुके । **विधिसूत्र ।**

ऽपवादः । 'हलि चे'ति दीर्घः । दीव्यति । दिदेव । देविता । देविष्यति । दीव्यतु । अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् । अदेवीत् । अदेविष्यत् । एवं षिवु तन्तुसन्ताने ।

त्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते । इत्यभिप्रेत्य आह—**दिवादिभ्यः श्यन्नित्यादि ।** दीव्यति । उकारेत्संज्ञक-दिवुधातोः लटि प्रथमपुरुषैकवचने तिप्यनुबन्धलोपे, प्राप्तं शपं प्रबाध्य 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'हलि चे'त्यनेन इकारस्य दीर्घे 'दीव्यति' इति सिद्धम् ।

मूलार्थ—कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परवर्ती रहते दिवादिगण पठित धातुओं से श्यन् प्रत्यय होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'कर्तरि शप्' (१।३।६८) से 'कर्तरि' तथा 'सार्वधातुके यक्' (१।३।६७) से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते दिवादिगण की धातुओं से श्यन् प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—(१) √दिव्+लट् (=तिप्=ति, सार्वधातुक संज्ञा, प्राप्त 'शप्' का बाधकर श्यन्='य'—'दिवादिभ्यः श्यन्', 'इ'='ई'—दीर्घ—'हलि च')=दीव्यति । इसी प्रकार—दीव्यतः, दीव्यन्ति इत्यादि रूप बनते हैं । (२) लिट् प्र० पु० एकव०—दिदेव ।

√दिव् धातु लिट् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	दिदेव	दिदिवतुः	दिदिवुः
म० पु०	दिदेविथ	दिदिवथुः	दिदिव
उ० पु०	दिदेव, दिदिव	दिदिविव	दिदिविम

सेट् धातु होने से वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है । (३) लुट्—देविता । (४) लृट्—देविष्यति । लोट्, लङ् और विधिलिङ् में श्यन् होने पर 'हलि च' से दीर्घ होता है । (५) लोट्—दीव्यतु । (६) लङ्—अदीव्यत् । (७) विधिलिङ्—दीव्येत् । (८) आशीर्लिङ्—दीव्यात् । (९) √दिव्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्' इट्—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः', ईट्='अस्तिसिचोऽपृक्ते', 'स्' का लोप—'इट ईटि' लघूपध गुण)=अदेवीत् ।

√दिव् धातु लुङ् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	अदेवीत्	अदेविष्टाम्	अदेविषुः
म० पु०	अदेवीः	अदेविष्टम्	अदेविष्ट
उ० पु०	अदेविषम्	अदेविष्व	अदेविष्म

(१०) लृङ्—अदेविष्यत् ।

√षिवु (=सिव्) धातु का अर्थ—'सिलाई करना, कपड़ा बुनना' है । इसके रूप भी पूर्वोक्त 'दिव्' धातु के समान बनते हैं । लट्—सीव्यति । लिट्—सिषेव । लुट्—सेविता । लृट्—सेविष्यति । लोट्—सीव्यतु । लङ्—असीव्यत् । विधिलिङ्—सीव्येत् । आशीर्लिङ्—सीव्यात् । लुङ्—असेवीत् । लृङ्—असेविष्यत् ।

(७३१) सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि ८।३।७१ । परिनिविभ्यः परेषामेषामड्व्यवायेऽपि वा सस्य षः । पर्यषीव्यत् । पर्यसीव्यत् । नृती गात्रविक्षेपे । नृत्यति । ननर्त । नर्तिता । **(७३२) सेऽसिचि कृतचृतछृदतृदनृतः ७।२।५७ ।** एभ्यः सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात् । नर्तिष्यति–नर्त्स्यति । नृत्यात् । अनर्तीत् । अनर्तिष्यत्–अनर्त्स्यत् । त्रसी उद्वेगे । 'वा भ्राशे'ति श्यन् वा । त्रस्यति–त्रसति । तत्रास ।

---

(७३१) सिवादीनामिति । 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' इत्यधिकृतम् । 'परिनिविभ्यः' इत्यतः 'परिनिविभ्यः' इत्यनुवर्तते । तदाह—**सस्य ष इति । पर्यषीव्यदिति ।** 'परि + असीव्यत्' इत्यवस्थायां 'सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि' इति वैभाषिके सस्य षत्वे 'पर्यषीव्यत्' इति । षत्वाभावे—'पर्यसीव्यदि'ति ।

(७३२) सेऽसिचि इति । 'उदितो वा' इत्यतो वेति, 'आर्धधातुकस्येडि'ति चानुवर्तते । तदाह—**एभ्य इत्यादि । नर्तिष्यति इति ।** ईकारेत्संज्ञकनृतीधातोर्लृटि तत्स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यप्रत्यये 'नृत् स्य ति' इति जाते

---

(७३१) पद—सिवादीनाम्, वा, अट्, व्यवाये, अपि । **अनुवृत्ति**—परिनिविभ्यः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—परि, नि और वि से परवर्ती सिवादि धातुओं के सकार को अट् के व्यवधान में भी विकल्प से षत्व होता है । पर्यषीव्यत इत्यादि ।

विमर्श—'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' का अधिकार है । 'परिनिविभ्यः' (८।३।७१) से 'परिनिविभ्यः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"परि, नि और वि' उपसर्गों से परे सिवादि (सिवु, सह, सुट्, स्तु और स्वञ्ज) के 'स्' के स्थान में विकल्प से 'अट्' के व्यवधान में भी षकार होता है ।"

उदाहरण—(१) परि+असीव्यत ('स्'='ष्'—विकल्प से—'सिवादीनाम्०') = पर्यषीव्यत । षत्व के अभावपक्ष में—पर्यसीव्यत ।

√नृती (=नृत) धातु का अर्थ 'नाचना' है । (१) लट्—नृत्यति । (२) नृत+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'—'उरत्' रपर, हलादिशेष)—न नृत अ (गुण, रपर)=ननर्त । (३) लुट्—नर्तिता (वलादि आर्धधातुक को इट्) ।

(७३२) पद—से, असिचि, कृतचृतछृदतृदनृतः । **अनुवृत्ति**—वा, आर्धधातुकस्येड् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कृत, चृत, छृद्, तृद् तथा नृत धातुओं से परवर्ती सिच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' का आगम होता है । नर्तिष्यति, नर्त्स्यति इत्यादि ।

विमर्श—'उदितो वा' (७।२।५६) से 'वा' तथा—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) से 'आर्धधातुकस्येड्' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—"कृती, चृती, उच्छृदिर्, उतृदिर् तथा नृती धातुओं से उत्तरवर्ती सिच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम होता है ।"

उदाहरण—(१) √नृत+लट् (=तिप्=ति, स्य)—नृत स्य ति (आर्धधातुक संज्ञा, विकल्प से इट्='इ', लघूपध गुण, रपर, षत्व)=नर्तिष्यति । इट् के अभावपक्ष में—नर्त्स्यति । (२) आशीर्लिङ्—नृत्यात । (३) √नृत+लुङ् (=तिप्=ति, च्लि=सिच्='स्' इट्,

(७३३) वा जृभ्रमुत्रसाम् ६।४।१२४ । एषां किति लिटि सेटि थलि च एत्वाभ्यासलोपौ वा स्तः । त्रेसतुः-तत्रसतुः । त्रेसिथ-तत्रसिथ । त्रसिता । शो तनूकरणे ।
(७३४) ओतः श्यनि ७।३।७१ । ओतो लोपः स्यात् श्यनि । श्यति । श्यतः । श्यन्ति । 'आदेच उपदेशेऽशिति' । शशौ । शशतुः । शशुः । शाता । शास्यति । श्यतु । अश्यत् ।

आर्धधातुकसंज्ञायां 'सेऽसिचि कृतचृतछृदतृदनृतः' इत्यनेन विकल्पेन इडागमेऽनुबन्धलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति उपधागुणे रपरे, सस्य षत्वे 'नर्तिष्यति' इति । इडभावपक्षे—'नर्त्स्यति' इति सिद्धम् ।

(७३३) **वा जृभ्रमुत्रसामिति ।** अत्र 'अत एकहल्मध्ये' इत्यतो लिटि इति, 'थलि च सेटि' इति, 'घ्वसोरेद्धावि'त्यत एदिति 'गमहन' इत्यतः कितीति चानुवर्तते । अत आह—**एषां कितीति । त्रेसतुरिति ।** त्रस्धातोर्लिटि तसि, तसः स्थानेऽतुसादेशे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'वा जृभ्रमुत्रसामि'त्यनेन विभाषया एत्वेऽभ्यासलोपे च कृते सस्य रुत्वे विसर्गे 'त्रेसतुः' इति । पक्षे 'तत्रसतुः' इति ।

(७३४) **ओतः श्यनीति ।** 'घोर्लोपो लेटि वा' इत्यस्माल्लोप इत्यनुवर्तते । तदाह—**ओतो लोप इति । श्यति ।** 'शो तनूकरणे' इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि 'दिवा-

---

'ति' के इकार का लोप—'इतश्च' ईट्—'अस्तिसिचोऽपृक्ते', 'स्' का लोप—'इट ईटि', अट्, गुण, रपर)=अनर्तीत् । (४) लृङ् में विकल्प से इट्—अनर्तिष्यत् । अनर्त्स्यत् ।

√त्रसी (त्रस्) धातु का अर्थ—'घबराना, डरना' है । (१) त्रस्+लट् (=तिप्=ति, प्राप्त शप् का बाधकर विकल्प से श्यन्=य—'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः')=त्रस्यति । श्यन् के अभावपक्ष में—शप्—त्रसति । लिट्—तत्रास ।

(७३३) पद—वा, जृभ्रमुत्रसाम् । **अनुवृत्ति**—लिटि, थलि च सेटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, किति । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कित् लिट् और सेट् थल् के परवर्ती रहते जृ, भ्रम् और त्रस् धातु को विकल्प से एत्व और अभ्यास का लोप होता है । त्रेसतुः । तत्रसतुः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (६।४।१२०) से लिटि, 'थलि च सेटि' (६।४।१२१) सूत्र 'घ्वसोरेद्धा०' (६।४।११९) से 'एत्, अभ्यासलोपश्च' तथा 'गमहन' (६।४।९८) से 'किति' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"कित् लिट् तथा सेट् थल् के परे रहते जृ, भ्रमु और त्रस् के अकार के स्थान में एत्व और अभ्यास का लोप विकल्प से होता है ।"

उदाहरण—(१) त्रस्+लिट् (=तस्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'अ'='ए' तथा अभ्यास का लोप विकल्प से—'वा जृभ्रमुत्रसाम्', स्—र्=ः) त्रेसतुः । एत्व और अभ्यासलोप के अभावपक्ष में—तत्रसतुः । (२) लिट् म० पु० एकव० में विकल्प से एत्व, अभ्यासलोप, इट्—त्रेसिथ, तत्रसिथ । (३) लुट्—त्रसिता ।

√शो धातु का अर्थ—'पतला करना, कम करना' है ।

(७३४) पद—ओतः, श्यनि । **अनुवृत्ति**—लोपः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'श्यन्' के परवर्ती रहते ओकार का लोप होता है । श्यति इत्यादि ।

श्येत् । शायात् । 'विभाषा घ्राधेडि'ति सिचो वा लुक् । अशात् । अशाताम् । लुगभावे-'यमरमे'ति इट्सकौ । अशासीत् । अशासिष्टाम् । अशास्यत् । छो छेदने । छ्यति । चच्छौ । चच्छतुः । षो अन्तकर्मणि । स्यति । ससौ । अभिष्यति । अभिससौ । साता । सास्यति । स्यतु । अभ्यष्यत् । सेयात् । दो अवखण्डने । द्यति । ददौ । प्रणिदाता । दास्यति । देयात् । अदात् । अदास्यत् । व्यध ताडने । 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसा-

---

दिभ्यः श्यन्' इति श्यनि, अनुबन्धलोपे 'ओतः श्यनि' इति ओकारस्य लोपे 'श्यति' इति । **'अशादि'ति** । शोधातोर्लुङि, तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे, अटि, 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यनेन ओकारस्य आकारादेशे, च्लौ, च्लेः सिचयनुबन्धलोपे, 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' इत्यनेन विकल्पेन सिचो लोपे 'इतश्च' इति इकारलोपे 'अशात्' इति । लोपाऽभावपक्षे—'अशा स् त्' इति जाते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईटि, अनुबन्धलोपे 'अशासीत्' इति रूपम् ।

विमर्श—'यहाँ 'घोर्लोपो लेटि वा' (७।३।७०) से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अतः "श्यन् (य) के परे रहते 'ओ' का लोप होता है ।"

उदाहरण—(१) शो+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य', 'ओ' का लोप—'ओतः श्यनि') =श्यति । (२) लट् प्र० पु० द्वि—श्यतः । (३) लट् प्र० पु० बहु०—श्यन्ति । (४) शो+लिट् (=तिप्=णल्, 'ओ'='आ'—'आदेच उपदेशे०', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, 'णल्' ='औ'—'आत औ णलः' आ+औ='औ' वृद्धि—'वृद्धिरेचि')=शशौ ।

√शो धातु, लिट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	शशौ	शशतुः	शशुः
म० पु०	शशिथ, शशाथ	शशथुः	शश
उ० पु०	शशौ	शशिव	शशिम

(५) लुट्—शाता । (६) लृट्—शास्यति । (७) लोट्—श्यतु । (८) लङ्—अश्यत् । (९) विधिलिङ्—श्येत् । आशीर्लिङ्—शायात् । (१०) √शो+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि=सिच्='स' इकारलोप—'इतश्च' आत्व)—अ शा स् त् (सिच्='स्' का विकल्प से लुक्—'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः')=अशात् । लुक् के अभावपक्ष में ('यमरम' से इट् और सक्='स्')—अ शा इ स् स् त् (ईट्, स् का लोप—'इट ईटि' दीर्घ)=अशासीत् । (११) लुङ् प्र० पु० द्वि०—अशाताम् । लुक् के अभावपक्ष में—अशासिष्टाम् । (१२) लृङ्—अशास्यत् ।

√छो धातु का अर्थ—'काटना' है । (१) √छो+लट् (=तिप्=ति, श्यन्, 'ओ' का लोप—'ओतः श्यनि') =छ्यति । (२) लिट्—चच्छौ । (३) लिट् प्र० पु० द्विवचन—चच्छतुः ।

√षो (=सो) धातु का अर्थ—'नाश करना' है । (१) √सो+लट् (=तिप्=ति, श्यन्, ओकार का लोप—'ओतः श्यनि')=स्यति । (२) लिट्—ससौ । (३) अभि+स्यति (षत्व)=अभिष्यति । (४) लुट्—साता । (५) लृट्—सास्यति (६) लोट्—स्यतु । (७) लङ्—'अस्यत्' अभि+अस्यत् (यण्, षत्व)=अभ्यष्यत् । (८) आशीर्लिङ्—सेयात् ।

रणम् । विध्यति । विव्याध । विविधतुः । विविधुः । विव्यद्ध । विव्यधिथ–व्यद्ध । व्यत्स्यति । विध्येत् । विध्यात् । अव्यात्सीत् । पुष पुष्टौ । पुष्यति । पुपोष । पुपोषिथ । पोष्टा । पोक्ष्यति । 'पुषादी'त्यङ्–आपरस्मैपदात् । अपुषत् । अपोक्ष्यत् । शुष शोषणे । शुष्यति । शुशोष । शोष्टा । शोक्ष्यति । शुष्यतु । अशुष्यत् । अशुषत् । अशोक्ष्यत् ।

विव्याध इति । 'व्यध ताडने' इत्यस्माद्धातोर्लिटि, लिटः स्थाने तिपि, 'तिपो णल्यनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, हलादिशेषे, 'व्य व्यध् अ' इति जाते 'लिटचभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'व्, इ् व्यध् अ' इति स्थिते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'विव्याध' इति । 'अपुषत्' इति । पुष्धातोर्लुङि, तत्स्थाने तिपि, अटि, तिप इकारलोपे, च्लौ, च्लेः स्थाने 'पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु' इत्यनेन अङि अनुबन्धलोपे, ङित्त्वाद् गुणाभावे 'अपुषत्' इति ।

√दो धातु का अर्थ—'काटना' है। (१) लट्—द्यति। (२) लिट्—ददौ। (३) लुट्—प्रनि+दाता (णत्व)=प्रणिदाता। (४) लृट्—दास्यति। (५) लिङ्—देयात् ('एर्लिङि' से एत्व)। (६) लुङ् में 'सिच्' का 'गातिस्था' से लुक्—अदात्। (७) लृङ्—अदास्यत्।

√व्यध् धातु का अर्थ—'बेधना' है। (१) √व्यध्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य', श्यन् के अपित् होने से 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वद्भाव, 'य्'='इ' सम्प्रसारण—'ग्रहिज्या०' 'अ'='इ' में सम्मिलित पूर्वरूप—'सम्प्रसारणाच्च')=विध्यति। (२) √व्यध्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)–व्य व्यध् अ (अभ्यास के 'य्'='इ' सम्प्रसारण—'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' पूर्वरूप)—वि व्यध् अ (उपधावृद्धि—'अत उपधायाः')=विव्याध। (३) अतुस् आदि कित् प्रत्ययों में 'सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्' परिभाषा के द्वारा द्वित्व से पूर्व सम्प्रसारण होने पर द्वित्व होकर—विविधतुः, विविधुः आदि रूप बनते हैं। (४) लिट् म० पु० एकवचन 'थल्' में भारद्वाज नियम से वैकल्पिक इट् होता है—विव्यधिथ। इट् के अभावपक्ष में 'थ्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः' 'ध्'='द्'—जश्त्व)=व्यद्ध। (५) लृट्—व्यत्स्यति (चर्त्व)। (६) विधिलिङ्—विध्येत्। (७) आशीर्लिङ्—विध्यात्। (८) √व्यध्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्=स्, ईट्, 'अ'='आ' वृद्धि—'वदव्रजहलन्तस्याचः', 'ध्'='त्'—'खरि च')=अव्यात्सीत्।

√पुष धातु का अर्थ—पुष्ट होना है। (१) √पुष्+लट् (=तिप्=ति, शप् का बाधकर श्यन्='य')=पुष्यति। (२) लिट्—पुपोष। (३) लिट्—म० पु० एकवचन—पुपोषिथ। (४) लुट्—पोष्टा। (५) लृट्—पोक्ष्यति। (६) √पुष्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि=अङ्—'पुषादि०')=अपुषत्। (७) लृङ्—अपोक्ष्यत्।

√शुष् धातु का अर्थ—'सूखना' है। (१) लट्—शुष्यति। (२) लिट्—शुशोष। (३) लुट्—शोष्टा ('पुगन्त०' से गुण)। (४) लृट्—शोक्ष्यति। (५) लोट्—शुष्यतु। (६) लङ्—अशुष्यत्। (७) लुङ्—अशुषत्। (८) लृङ्—अशोक्ष्यत्।

√णश् (नश्) धातु का अर्थ—'नाश होना' है। (१) णश् ('ण्'='न्'—'णो नः')—नश्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य')=नश्यति। (२) लिट्—ननाश। (३) (लिट् के प्र० पु० द्विवचन तथा बहुवचन में 'अत एकहल्मध्ये०' से एत्व, अभ्य का लोप)—नेशतुः, नेशुः।

णश अदर्शने । नश्यति । ननाश । नेशतुः । नेशुः । (७३५) रधादिभ्यश्च ७।२।४५। रध्-नश्-तृप्-दृप्-द्रुह्-मुह्-ष्णुह्-ष्णिह्-एभ्यो वलाद्यार्धधातुकस्य वेट् स्यात् । नेशिथ । (७३६) मस्जिनशोर्झलि ७।१।६०। मस्जिनशोर्नुम् स्याज्झलि । ननंष्ठ । नेशिव-नेश्व । नेशिम-नेश्म । नशिता-नंष्टा । नशिष्यति-नङ्क्ष्यति । नश्यतु । अनश्यत् । नश्येत् । नश्यात् । अनशत् । प्रणश्यति । (७३७) नशेः षान्तस्य ८।४।३६। षान्तस्य नशेर्णत्वं न स्यात् । प्रनंष्टा । अन्तग्रहणं भूतपूर्वप्रतिपत्त्यर्थम् । प्रनङ्क्ष्यति । रध हिंसा-

---

(७३५) रधादिभ्यश्चेति । 'आर्धधातुकस्येड् वलादेरि'त्यनुवर्तते । 'स्वरतिसूति०' इत्यतो वेति चानुवर्तते । अत आह—**रधनशित्यादिना** ।

(७३६) **मस्जिनशोर्झलीति** । 'इदितो नुम्' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । तदाह—**मस्जिनशोर्नुमिति । नेशिथ, ननंष्ठ** । नश्धातोर्लिटि मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, सिपः थलादेशेऽनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'रधादिभ्यश्चे'त्यनेन विभाषया इडागमेऽनुबन्धलोपे 'थलि च सेटि' इति एत्वेऽभ्यासलोपे च कृते 'नेशिथ' इति । इडभावपक्षे—'न नश् थ' इति स्थिते 'मस्जिनशोर्झलि' इति नुमि 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादिना षत्वे, ष्टुत्वे अनुस्वारे च कृते 'ननंष्ठ' इति ।

---

(७३५) पद—रधादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—वलादेः, अर्धधातुकस्य, इट्, वा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—रध् आदि धातुओं से परवर्ती वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट्='इ' का आगम होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) सूत्र तथा 'स्वरतिसूति०' (७।२।४४) से 'वा' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"रध् आदि आठ धातुओं से परवर्ती वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को विकल्प से 'इट्' का आगम होता है ।"

(७३६) पद—मस्जिनशोः, झलि । **अनुवृत्ति—**नुम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—झलादि प्रत्यय के परवर्ती रहते 'मस्ज्' तथा 'नश्' धातु को 'नुम्' का आगम होता है ।

विमर्श—'इदितो नुम् धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार पूर्वोक्त अर्थ होता है ।

उदाहरण—(१) √नश्+लिट् (=सिप्=थल्='थ' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, विकल्प से इट्='इ'—'रधादिभ्यश्च')—न नश् इ थ (एत्व, अभ्यास का लोप—'थलि च सेटि') =नेशिथ । 'इट्' के अभावपक्ष में—'न नश् थ' (नुम्='न्'—'मस्जिनशोर्झलि', न्=ं—अनुस्वार—'नश्चापदान्तस्य झलि', 'श्'='ष्'—षत्व, 'थ्'='ठ्'—ष्टुत्व)=ननंष्ठ । (२) लिट् उ० पु० द्विवचन तथा बहुवचन में विकल्प से इट्—नेशिव, नेश्व । नेशिम, नेश्म । (३) लुट्—नशिता, नंष्टा (विकल्प से इट्) । (४) लृट् इट् पक्ष में—नशिष्यति । इट् के अभावपक्ष में—नश् स्य ति (श्=ष्—'व्रश्चभ्रस्ज०', स्=ष्—षत्व, ष्=क्—'षढोः कः सि', क्+ष्=क्ष्, नुम्=ं=परसवर्ण)=नङ्क्ष्यति । (५) लोट्—नश्यतु । (६) लङ्—अनश्यत् । (७) विधिलिङ्—नश्येत् । (८) आशीर्लिङ्—नश्यात् । (९) लुङ् में—च्लि=अङ्—अनशत् । (१०) प्र+नश्यति (णत्व)=प्रणश्यति ।

(७३७) पद—नशेः, षान्तस्य । **अनुवृत्ति**—णः, न । **विधिसूत्र**।

संराद्धयोः । रध्यति । (७३८) **रधिजभोरचि ७।१।६१ ।** रधिजभोरचि नुम् स्यात् । ररन्ध । ररन्धतुः । ररन्धिथ–ररद्ध । ररन्धथुः । ररन्धिव–ररन्ध्व । (७३९) **नेट्यलिटि रधेः ७।१।६२ ।** लिड्वर्जे इटि रधेर्नुम् न स्यात् । रधिता–रद्धा । रधिष्यति–

---

(७३७) **'नशेः षान्तस्ये'ति ।** 'रषाभ्यामि'त्यतो ण इति, 'न भाभूपू०' इत्यतः नेति चानुवर्तते । तदाह—**णत्वं न स्यादिति ।**

(७३८) **रधिजभोरचीति ।** 'इदितो नुम्' इत्यस्मान्नुमीत्यनुवर्तते । अत आह—**नुम् स्यादिति ।**

(७३९) **नेट्यलिटि रधेरिति ।** 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । तदाह—**लिड्वर्जे इटीति ।**

मूलार्थ—षान्त 'नश्' धातु को णत्व का निषेध होता है ।

विमर्श—'रषाभ्यां नो णः' से 'णः' तथा 'न भाभूपू०' (८।४।३३) से 'न' पदों की अनुवृत्ति आती है । अतः 'षकारान्त नश् धातु को णत्व नहीं होता ।'

उदाहरण—(१) प्र+नंष्टा ('उपसर्गादसमासेऽपि' से प्राप्त णत्व का 'नशेः षान्तस्य' से निषेध)=प्रनंष्टा ।

यहाँ शंका होती है कि सूत्र में अन्तग्रहण क्यों किया ? 'षान्तस्य' के स्थान में 'षस्य' होने पर भी 'पदस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर 'षान्तस्य पदस्य' अर्थ हो सकता था । इसका समाधान है कि अन्त ग्रहण भूतपूर्व षान्त लाभार्थ है । अतः सम्प्रति षकारान्त न होने पर भी (पूर्व में षकारान्त रहने पर भी) नकार के स्थान में णकार आदेश का अभाव हुआ । 'प्र+नङ्क्ष्यति' यहाँ 'ष्'='क्' हो जाने पर भी भूतपूर्व षान्त होने से णत्व का अभाव हुआ ।

√रध् धातु का अर्थ—'हिंसा करना, सिद्ध होना' है । (१) रध्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य')=रध्यति ।

(७३८) **पद**—रधिजभोः, अचि । **अनुवृत्ति**—नुम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अजादि प्रत्यय के परवर्ती रहते रध् और जभ् धातु को नुम् का आगम होता है ।

विमर्श—यहाँ 'इदितो नुम् धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' पद की अनुवृत्ति आती है ।

उदाहरण—(१) √रध्+लिट् (=तिप्=णल्=अ, नुम्='न्'—'रधिजभोरचि' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)=ररन्ध । (२) रध्+लिट् (=तस्=अतुस् , नुम्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, स्=र्=ः)=ररन्धतुः । (३) √रध्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, विकल्प से इट्—'रधादिभ्यश्च', नुम्—'रधिजभोरचि' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)= ररन्धिथ । इट् के अभावपक्ष में—रध्+थ (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—ररध् थ ('थ्'= 'ध्' 'ध्' 'द्')=ररद्ध । (४) लिट् म० पु० द्विव०—ररन्धथुः । (५) लिट् उ० पु० द्विवचन में 'रधादिभ्यश्च' से विकल्प से इट्—ररन्धिव । इडभावपक्ष में—एत्व, अभ्यास का लोप—रेध्व ।

(७३९) **पद**—न, इटि, अलिटि, रधेः । **अनुवृत्ति**—नुम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—लिट्-भिन्न इट् के परवर्ती रहते रध् धातु को नुम् नहीं होता ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इदितो नुम्०' (७।१।५८) से 'नुम्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"लिट् सम्बन्धी इट् को छोड़कर अन्य इट् में रध् धातु को नुम् का आगम नहीं होता ।"

रत्स्यति । अङि नुम् । 'अनिदिताम्'िति नलोपः । अरधत् । तृप प्रीणने । तृप्यति । ततर्प । ततृपतुः । ततृपुः । रधादित्वाद्वेट् । ततर्पिथ–तत्रप्थ–ततर्प्थ । तर्पिता–तर्प्ता–त्रप्ता । * स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः * । अतर्पीत्–अत्राप्सीत्–अतार्प्सीत्–अतृपत् । दृप हर्ष-मोहनयोः । मोहनं गर्वः । दृप्यति इत्यादि । 'रधादित्वादिमौ वेट्कावमर्थमनुदात्तता ।' द्रुह जिघांसायाम् । द्रुह्यति । दुद्रोह । दुद्रुहतुः । दुद्रुहुः ।

अतर्पीदिति । 'तृप प्रीणने' इत्यस्माद्धातोः लुङि, तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिप्यनुबन्धलोपे, अडागमेऽनुबन्धलोपे 'अ तृप् ति' इति जाते च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि प्राप्ते 'स्पृशमृशकृषतृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः' इति विकल्पेन सिचि, 'रधादिभ्यश्च' इति विकल्पेन इडागमेऽनुबन्धलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईटि, 'पुगन्तलघूपधस्य च' इत्यनेन उपधागुणे रपरे, 'इट ईटि' इत्यनेन सिचो लोपे 'इतश्च' इत्यनेन तिप इकारलोपे संयोगे च 'अतर्पीत्' इति । सिजभावपक्षे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्'…

उदाहरण—(१) √रध्+लुट् (=तिप्, तास्, तिप्=डा=आ)—रध् तास् आ (विकल्प से इट्—'रधादिभ्यश्च' 'रधिजभोरचि' से प्राप्त नुम् का 'नेट्यलिटि रधेः' से निषेध, टिलोप)=रधिता । इट् के अभावपक्ष में—रध् ता ('त्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः' 'ध्'='द्')= रद्धा । (२) (लृट् में भी विकल्प से इट्, नुम् का निषेध)—रधिष्यति । इट् के अभावपक्ष में ('ध्'='त्')—रत्स्यति । (३) रध्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप 'च्लि'='अङ्'—'पुषादि०', नुम्—'रधिजभोरचि' 'न्' का लोप—'अनिदिताम्०')=अरधत् ।

√तृप् धातु का अर्थ—'तृप्त होना' है । (१) √तृप्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य') =तृप्यति । (२) √तृप्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा 'ऋ'='अ'—'उरत्', रपर, हलादिशेष, गुण, रपर) =ततर्प । (३) लिट् प्र० पु० द्वि०—ततृपतुः । (४) लिट् प्र० पु० बहु०—ततृपुः । (५) √तृप्+लिट् (=सिप्=थल्='थ', द्वित्व, अभ्यासकार्य, हलादिशेष)—त तृप् थ (विकल्प से इट्—'रधादिभ्यश्च' गुण, रपर)=ततर्पिथ । इट् के अभावपक्ष में विकल्प से अम्='अ'—'अनुदात्तस्य', यण्)=तत्रप्थ । इट् तथा अम् के अभावपक्ष में—गुण, रपर—ततर्प्थ । (६) √तृप्+लुट् (=तिप्=ति, तास्, ति=डा='आ' विकल्प से इट्—'रधादिभ्यश्च')—तृप् इ तास् आ (गुण, रपर, 'टि' का लोप—'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः')=तर्पिता । इट् के अभावपक्ष में विकल्प से अम्='अ' यण्)=त्रप्ता । इट् तथा अम् के अभावपक्ष में—तर्प्ता । (७) √तृप्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि=सिच्='स्' विकल्प से—'स्पृशमृशकृषतृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः', विकल्प से इट्—'रधादिभ्यश्च', ईट्, 'स्' का लोप—'इट ईटि' उपधागुण, रपर; इकारलोप)=अतर्पीत् । सिच् तथा इट् के अभावपक्ष में—विकल्प से अम्='अ'—'अनुदात्तस्य')—अ तृ अ प् स् ई त (यण्, उपधावृद्धि—'वदव्रज०') =अत्राप्सीत् । अम् तथा इट् के अभावपक्ष में—अ तृप् स् ई त (उपधावृद्धि, रपर)—अतार्प्सीत् । सिच् के अभाव में (च्लि=अङ्='अ'—'पुषादि०')—अ तृप् अ त=अतृपत् ।

√दृप् धातु का अर्थ—'प्रसन्न होना, गर्व करना' है । (१) लट्—दृप्यति । **रधादित्वादिति** । दोनों धातुओं (तृप्, दृप्) का रधादिगण में पाठ होने से ये दोनों धातु वेट् (विकल्प से इट् वाली) हैं । केवल आगम मात्र होने के लिए इनका अनुदात्त धातुओं में पाठ किया गया है ।

√द्रुह धातु का अर्थ—जिघांसा='नाश करने की इच्छा करना' है । (१) लट्—द्रुह्यति ।

'वा द्रुहे'ति वा घः। पक्षे ढः। 'झषस्तथोर्धोऽधः' दुद्रोहिथ–दुद्रोग्ध–दुद्रोढ। दुद्रुहथुः। दुद्रुह। दुद्रोह। दुद्रुहिव। दुद्रुहिम। द्रोहिता–द्रोग्धा–द्रोढा। द्रोहिष्यति–ध्रोक्ष्यति। ढत्वघत्वयोस्तुल्यं रूपम्। अद्रुहत्। अद्रोहिष्यत्–अध्रोक्ष्यत्। मुह वैचित्ये। वैचित्यम् अविवेकः। मुह्यति। मुमोह। मुमुहतुः। मुमुहुः। मुमोहिथ–मुमोग्ध–मुमोढ। मोहिता–मोग्धा–मोढा। मोहिष्यति–मोक्ष्यति। मुह्यतु। अमुह्यत्। मुह्येत्। मुह्यात्। अमुहत्। अमोहिष्यत्–अमोक्ष्यत्। ष्णुह उद्गिरणे। स्नुह्यति। सुष्णोह। सुष्णुहतुः। सुष्णुहुः। सुष्णोहिथ–सुष्णोग्ध–सुष्णोढ। सुष्णुहथुः। सुष्णुह। सुष्णोह। सुष्णुहिव–

रस्याम्' इत्यनेन विकल्पेन अमागमे अनुबन्धलोपे 'रधादिभ्यश्च' इति इडभावपक्षे च 'अ तृ अ प् स ई त्' इति जाते 'इको यणचि' इति यणि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति उपधावृद्धौ संयोगे **'अत्राप्सीत्'**। अमोऽभावपक्षे इडभावपक्षे च 'अतृप् स् ई त्' इति जाते, उपधावृद्धौ रपरत्वे संयोगे च कृते **'अतार्प्सीत्' इति**। सिजभावपक्षे च 'पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु' इति च्लेरङादेशे **'अतृपत्'** इति चत्वारि रूपाणि भवन्तीति।

---

(२) लिट् में--दुद्रोह, दुद्रुहतुः, दुद्रुहुः--इत्यादि। (३) √द्रुह्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—दुद्रु ह् थ (विकल्प से इट्='इ'—'रधादिभ्यश्च', गुण 'उ'='ओ'—'पुगन्त०')=दुद्रोहिथ। इट् के अभावपक्ष में—'ह्'='घ्' विकल्प से—'वा द्रुह-मुहष्णुहष्णिहाम्', 'थ्'='ध्'--'झषस्तथोर्धोऽधः', 'घ्'='ग्'--'झलां जश् झशि')=दुद्रोग्ध। घत्व के अभावपक्ष में—दुद्रुह् थ ('ह्'='ढ्'--'हो ढः', 'थ्'='ध्'—'झषस्तथो०', 'ध्'='ढ्'—ष्टुत्व, 'ढ्' का लोप—'ढो ढे लोपः', 'उ'='ओ' गुण—'पुगन्त०')=दुद्रोढ।

√द्रुह् धातु लिट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	दुद्रोह	दुद्रुहतुः	दुद्रुहुः
म० पु०	दुद्रोहिथ, दुद्रोग्ध, दुद्रोढ	दुद्रुहथुः	दुद्रुह
उ० पु०	दुद्रोह	दुद्रुहिव	दुद्रुहिम

(४) लुट् में विकल्प से इट्--द्रोहिता। इट् के अभावपक्ष में—(पूर्ववत् विकल्प से 'ह्'='घ्', 'त'='ध्', 'घ्'='ग्' गुण)—द्रोग्धा। इट् तथा घत्व के अभावपक्ष में—द्रोढा। (५) लृट्—द्रोहिष्यति, ध्रोक्ष्यति। ढत्व और घत्व दोनों पक्ष में समान रूप बनते हैं। (६) लुङ् में—च्लि=अङ्, गुणाभाव—अद्रुहत्। (७) लृङ् में इट् विकल्प—अद्रोहिष्यत्, अध्रोक्ष्यत्।

√मुह् धातु—'अविवेक' अर्थ में है। (१) लट्—मुह्यति। (२) लिट् प्र० पु०—मुमोह, मुमुहतुः, मुमुहुः। (३) लिट् म० पु० एकव०—पूर्ववत् विकल्प से इट्—मुमोहिथ। इट् के अभाव पक्ष में विकल्प से घत्व, पूर्ववत् कार्य—मुमोग्ध। घत्व के अभाव में ढत्व—मुमोढ। (४) लुट्—मोहिता, मोग्धा, मोढा। (५) लृट्—मोहिष्यति, मोक्ष्यति। (६) लोट्—मुह्यतु। (७) लङ्—अमुह्यत्। (८) विधिलिङ्—मुह्येत्। (९) आशीर्लिङ्—मुह्यात्। (१०) लुङ् में अङ्—अमुहत्। (११) लृङ्—अमोहिष्यत्, अमोक्ष्यत्।

√ष्णुह् धातु उद्गिरण (वमन) अर्थ में है। (१) √ष्णुह् (ष्=स्—'धात्वादेः षः सः', 'ण्'='न्'—'णो नः')—स्नुह्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य')=स्नुह्यति। (२) √स्नुह्

सुष्णुह्व । सुष्णुहिम–सुष्णुह्म । स्नोहिता–स्नोग्धा–स्नोढा । स्नोहिष्यति–स्नोक्ष्यति । स्नुह्यतु । अस्नुहत् । अस्नोहिष्यत्–अस्नोक्ष्यत् । ष्णिह प्रीतौ । स्निह्यति । सिष्णेह । सिष्णिहतुः । सिष्णिहुः । सिष्णेहिथ–सिष्णेग्ध–सिष्णेढ । स्नेहिता–स्नेग्धा–स्नेढा । स्नेहिष्यति–स्नेक्ष्यति । स्निह्यतु ।.अस्निहत् । अस्नेहिष्यत्–अस्नेक्ष्यत् । वृत् । रधादयः समाप्ताः । तुष तुष्टौ । तुष्यति । तुतोष । तोष्टा । तोक्ष्यति । तुष्यतु । दुष वैकृत्ये । दुष्यति । दुदोष । दोष्टा । दोक्ष्यति । दुष्यतु । श्लिष आलिङ्गने । श्लिष्यति ।

(७४०) श्लिष आलिङ्गने ३।१।४६ । श्लिषश्च्लेः क्सः स्यादालिङ्गने । 'अश्लिक्षत् कन्यां देवदत्तः' । आलिङ्गने किम् ? समश्लिषज्जतु काष्ठम् । प्रत्यासत्ताविह श्लिषिः ।

दुष वैकृत्ये । वैकृत्यं विकारः, दुष्यति विकृतो भवतीत्यर्थः ।

(७४०) **श्लिष इति ।** च्लेरिति, 'शल इगुपधादि'त्यतः क्स इत्यनुवर्तते । तदाह—'**श्लिषश्च्लेरिति ।** **अश्लिक्षदिति ।** श्लिष्धातोर्लुङि तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने

+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—सुस्नुह् अ (गुण, षत्व, णत्व)=सुष्णोह । (३) लिट् प्र० पु० द्विवचन—सुष्णुहतुः । (४) लिट् प्र० पु० बहुव०—सुष्णुहुः । (५) लिट् म० पु० एकव०—सुष्णोहिथ, सुष्णोग्ध, सुष्णोढ । (६) म० पु० द्विव०—सुष्णुहथुः । (७) म० पु० बहुव०—सुष्णुह । (८) लिट् उत्तमपुरुष—सुष्णोह, सुष्णुहिव–सुष्णुह्व, सुष्णुहिम–सुष्णुह्म (इट् विकल्प) । (९) लुट्—स्नोहिता, स्नोग्धा, स्नोढा । (१०) लृट्—स्नोहिष्यति, स्नोक्ष्यति । (११) लोट्—स्नुह्यतु । (१२) लङ्—अस्नुहत । (१३) लृङ्—अस्नोहिष्यत, अस्नोक्ष्यत ।

√**ष्णिह्** (स्निह्) धातु का अर्थ 'प्रीति करना' है । (१) लट्—स्निह्यति । (२) लिट् प्र० पु०—सिष्णेह, सिष्णिहतुः, सिष्णिहुः । (३) लिट् म० पु० एकवचन (पूर्ववत् इट् विकल्प, पक्ष में विकल्प से घत्व)—सिष्णेहिथ, सिष्णेग्ध, सिष्णेढ । (४) लुट्—स्नेहिता, स्नेग्धा, स्नेढा । (५) लृट्—स्नेहिष्यति, स्नेक्ष्यति । (६) लोट्—स्निह्यतु । (७) लङ्—अस्निहत । (८) लृङ्—अस्नेहिष्यत, अस्नेक्ष्यत । **रधादिगण समाप्त हुआ ।**

√**तुष्** धातु का अर्थ—'सन्तुष्ट होना' है । (१) लट्—तुष्यति । (२) लिट्—तुतोष । (३) लुट्—तोष्टा । (४) √तुष्+लृट् (=तिप्=ति, स्य)—तुष् स्य ति ('ष्'='क्' 'स्' ='ष्'—षत्व, क्+ष='क्ष्' गुण)=तोक्ष्यति । (५) लोट्—तुष्यतु ।

√**दुष्** धातु का अर्थ—'विकृत होना' है । (१) लट्—दुष्यति । (२) लिट्—दुदोष । (३) लुट्—दोष्टा । (४) लृट्—दोक्ष्यति । (५) लोट्—दुष्यतु ।

√श्लिष् धातु का अर्थ—'आलिङ्गन करना' है । (१) लट्—श्लिष्यति ।

(७४०) पद—श्लिषः, आलिङ्गने । **अनुवृत्ति**—च्लेः, क्सः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—आलिङ्गन अर्थ में श्लिष् धातु से उत्तरवर्ती 'च्लि' के स्थान में क्स (=स) आदेश होता है । 'अश्लिक्षत' इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः' तथा 'शल इगुपधात' (३।१।४५) से 'क्सः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—"श्लिष् धातु से परे 'च्लि' के स्थान में 'क्स' आदेश होता है, आलिङ्गन अर्थ में ।"

उदाहरण—(१) √श्लिष्+लुङ् (=तिप्=ति, इकारलोप—'**इतश्च**', च्लि, च्लि=क्स

क्रुध क्रोधे । क्रुध्यति । चुक्रोध । क्रोद्धा । क्रोत्स्यति । क्रुध्यतु । क्षुध बुभुक्षायाम् । क्षुध्यति । चुक्षोध । क्षोद्धा । क्षोत्स्यति । शुध शौचे । शुध्यति । शुशोध । शोद्धा । शोत्स्यति । षिधु संराद्धौ । सिध्यति । सिषेध । सेद्धा । सेत्स्यति । असिधत् । असेत्स्यत् । शमु उपशमे । (७४१) शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ७।३।७४ । शम्-तम्-दम्-श्रम्-भ्रम्-क्षम्-क्लम्-मदामष्टो दीर्घः श्यनि । प्रणिशाम्यति । शशाम । शेमतुः । शेमुः ।

तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्चे'तीकारलोपे, अटि, च्लौ, 'श्लिष आलिङ्गने' इति क्सादेशेऽनुबन्धलोपे 'अश्लिष् स् त्' इति जाते 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे उभयोः संयोगेन क्षत्वे 'अश्लिक्षत्' इति रूपम् ।

(७४१) शमामष्टानामिति । स्पष्टम् । शाम्यति । शम्धातोर्लटि, तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिप्यनुबन्धलोपे 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि, अनुबन्धलोपे 'शमा-

---

'स'—'श्लिष आलिङ्गने' अट्='अ' का आगम)—अ श्लिष् स त ('ष्'='क्'—'षढोः कः सि'='स्'='ष्'—'आदेशप्रत्यययोः', क्+ष्+क्ष्)=अश्लिक्षत्कन्यां देवदत्तः (देवदत्त ने वात्सल्य से कन्या का आलिङ्गन किया ।)

प्रत्युदाहरण—(१) सम् अश्लिषत् जतु काष्ठम् (=लाख ने काठ के साथ संयोग किया ।) यहाँ संयोग सम्बन्धार्थक श्लिष् धातु का प्रयोग है । अतः प्रकृत सूत्र से 'क्स' नहीं हुआ । क्योंकि यहाँ अनालिङ्गन अर्थ है ।

√'क्रुध्' धातु का अर्थ—'क्रोध करना' है । (१) √क्रुध्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य')=क्रुध्यति । (२) √क्रुध+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः', गुण)=चुक्रोध । (३) लुट्—क्रोद्धा । (४) लृट्—क्रोत्स्यति । (५) लोट्—क्रुध्यतु ।

क्षुध् धातु का अर्थ—'भूख लगना' है । (१) लट्—क्षुध्यति । (२) लिट्—चुक्षोध । (३) लुट्—क्षोद्धा । (४) लृट्—क्षोत्स्यति ।

√शुध् धातु का अर्थ—'पवित्र होना' है । (१) लट्—शुध्यति । (२) लिट्—शुशोध । (३) लुट्—शोद्धा । (४) लृट्—शोत्स्यति ।

√षिधु धातु का अर्थ—'सिद्ध होना' है । (१) √षिध् ('ष्'='स्'—'धात्वादेः षः सः')—सिध्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य')=सिध्यति । (२) लिट्—सिषेध । (३) लुट्—सेद्धा । (४) लृट्—सेत्स्यति । (५) √सिध्+लुङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, च्लि, च्लि=अङ्='अ', अट्)=असिधत् । (६) लृङ्—असेत्स्यत् ।

√शमु (उकारेत्संज्ञक) धातु—'शान्त होना' है ।

(७४१) पद—शमाम्, अष्टानाम्, दीर्घः, श्यनि । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—शम् आदि आठ धातुओं के अङ्ग को दीर्घ होता है, श्यन् के परवर्ती रहते । 'प्रणिशाम्यति' इत्यादि ।

उदाहरण—(१) √शम्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य' 'अ'='आ'—दीर्घ—'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि')=शाम्यति । प्रनि+शाम्यति (णत्व—'नेर्गद०')=प्रणिशाम्यति । (२) लिट् प्र० पु० एकव०—शशाम । (३) लिट् प्र० पु० द्विव०—शेमतुः (एत्व तथा अभ्यास का लोप) । (४) लिट् प्र० पु० बहुव०—शेमुः । (५) लिट् म० पु० एकव०—शेमिथ ।

शेमिथ । शमिता । शमिष्यति । शाम्यतु । अशमत् । अशमिष्यत् । तमु काङ्क्षायाम् । ताम्यति । ततान । तमिता । तमिष्यति । ताम्यतु । अतमत् । अतमिष्यत् । दमु उपशमे । दाम्यति । ददाम । दमिता । दमिष्यति । दाम्यतु । अदमत् । अदमिष्यत् । श्रमु तपसि खेदे च । श्राम्यति । शश्राम । श्रमिता । श्रमिष्यति । श्राम्यतु । अश्रमत् । अश्रमिष्यत् । भ्रमु अनवस्थाने । 'वा भ्राशे'ति श्यन्वा । भ्राम्यति-भ्रमति । 'वा जॄभ्रमुत्रसाम्' । भ्रेमतुः-बभ्रमतुः । पुषादित्वादङ् । अभ्रमत् । शेषं भ्वादिवत् । क्षमू सहने । क्षाम्यति । चक्षाम । चक्षमतुः । चक्षमुः । चक्षमिथ-चक्षन्थ । चक्षमिव-चक्षण्व । चक्षमिम-चक्षण्म । क्षमिता-क्षन्ता । क्षमिष्यति-क्षंस्यति । क्षाम्यतु । अयं

मष्टानां दीर्घः श्यनि' इति दीर्घे 'शाम्यति' इति । **क्षमू सहने** । ऊदित्वात् थलि वमादौ च विकल्पेन इड् भवति । अत आह—**चक्षमिथ इत्यादि** । षित्वाऽषित्वयोः

---

(६) लुट्—शमिता । (७) लृट्—शमिष्यति । (८) लोट्—शाम्यतु । (९) लुङ्—अशमत (अङ्) । (१०) लृङ्—अशमिष्यत ।

√तमु धातु का अर्थ—'आकाङ्क्षा करना' है । (१) √तम्+लट् (=तिप्=ति, श्यन् 'य', दीर्घ)=ताम्यति । (२) लिट्—तमाम । (३) लुट्—तमिता । (४) लृट्—तमिष्यति । (५) लोट्—ताम्यतु । (६) लुङ्—अतमत । (७) लृङ्—अतमिष्यत ।

√**दमु** धातु का अर्थ—'शान्त करवाना' है । (१) लट्—दाम्यति (दीर्घ) । (२) लिट्—ददाम । (३) लुट्—दमिता । (४) लृट्—दमिष्यति । (५) लोट्—दाम्यतु । (६) लुङ्—अदमत । (७) लृङ्—अदमिष्यत ।

√श्रमु धातु—'तपस्या करना और खेद करना' अर्थ में है । (१) लट्—श्राम्यति (दीर्घ) । (२) लिट्—शश्राम । (३) लुट्—श्रमिता । (४) लृट्—श्रमिष्यति । (५) लोट्—श्राम्यतु । (६) लुङ्—अश्रमत (अङ्) । (७) अश्रमिष्यत ।

√भ्रमु धातु का अर्थ—'भ्रमण करना, घूमना' है । (१) √भ्रमु (उकार की इत्संज्ञा लोप) —भ्रम्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य' विकल्प से—'वा भ्राश०' दीर्घ—'शमामष्टानाम्') =भ्राम्यति । 'श्यन्' के अभावपक्ष में शप्—भ्रमति । (२) √भ्रम्+लिट् (=तस्=अतुस्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'भ्'='ब्'—'अभ्यासे चर्च', एत्व अभ्यास का लोप विकल्प से—'वा जॄभ्रमुत्रसाम्' स्=र्=ः)=भ्रेमतुः । एत्व अभ्यासलोप के अभावपक्ष में—बभ्रमतुः । (३) √भ्रम्+लुङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, अट् च्लि=अङ्='अ')=अभ्रमत । शेष रूप भ्वादिगण की तरह बनते हैं ।

√क्षम् (ऊदित) का अर्थ—'सहन करना' है । (१) क्षम्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य', दीर्घ) =क्षाम्यति । (२) √क्षम्+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः')—चक्षम् अ (वृद्धि)—चक्षाम । (३) लिट् प्र० पु० द्विवचन—चक्षमतुः । (४) लिट् प्र० पु० बहुवचन—चक्षमुः । (५) √क्षम्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, चुत्व)—चक्षम् थ (विकल्प से इट्='इ'—'स्वरतिसूति०')=चक्षमिथ । इट् के अभावपक्ष में—अनुस्वार, परसवर्ण—चक्षन्थ । (६) √क्षम्+लिट् (=वस्=व, द्वित्व, अभ्यासकार्य)—चक्षम् व (विकल्प से इट्)=चक्षमिव । इट् के अभावपक्ष में (म्=ं अनुस्वार='ण्' परसवर्ण)=चक्षण्व । (७) लिट् उ० पु० बहुवचन—चक्षमिम, चक्षण्म । (८) लुट्—क्षमिता, क्षन्ता (विकल्प से इट्) । (९) लृट्—क्षमिष्यति,

न षित्। 'अषितः क्षाम्यतेः क्षान्तिः क्षमूषः क्षमतेः क्षमा'। क्लमु ग्लानौ। 'ष्ठिवुक्लमु-चमामि'ति दीर्घः। क्लाम्यति। चक्लाम। क्लमिता। क्लमिष्यति। क्लाम्यतु। अक्लमत्। अक्लमिष्यत्। मदी हर्षे। माद्यति। ममाद। मदिता। अमदत्। असु क्षेपणे। अस्यति। आस। असिता। असिष्यति। (७४२) अस्यतेस्थुक् ७।४।१७। अस्यतेस्थुक् स्यात् अङि। 'अस्यती'त्यङ्। आस्थत्। यसु प्रयत्ने। (७४३) यसो-

---

फलभेदं श्लोकार्द्धेन सङ्गृह्णाति—अषित इति। अषितः क्षाम्यतेः = श्यन्विकरणपठितस्य क्षम्धातोः क्तिनि क्षान्तिरिति रूपम्। अषित्वात् 'षिद्भिदादिभ्यः' इत्यनेनाङ् न भवतीत्यर्थः। क्षमूषस्तु भौवादिकात् षितः क्तिनं प्रबाध्य षित्वादङि 'क्षमा' इति रूपम्।

(७४२) अस्यतेस्थुगिति। 'ऋदृशोऽङि' इत्यत 'अङि' इत्यनुवर्तते। अतः शेषं पूरयति—अङि पर इति।

क्षंस्यति। (१०) लोट्—क्षाम्यतु। यह धातु षित् नहीं है। भ्वादिगण पठित 'क्षमूष्' धातु षित् है।

अषित इत्यादि। अषित √क्षमू धातु का क्तिन् प्रत्यय से 'क्षान्तिः' रूप हुआ, 'अनुनासिकस्य०' से उपधादीर्घ। षकारेत्संज्ञक क्षमूष् का 'षिद्भिदादिभ्यः' से अङ् तथा स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टाप्' होकर 'क्षमा' रूप बनता है।

√क्लमु धातु का अर्थ—'ग्लानि होना' है। (१) क्लम्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्= ='य', 'ष्ठिवुक्लमुचमाम्०' से दीर्घ)=क्लाम्यति। (२) लिट्—चक्लाम। (३) लुट्—क्लमिता। (४) लृट्—क्लमिष्यति। (५) लोट्—क्लाम्यतु। (६) लुङ्—अक्लमत् (च्लि =अङ्)। (७) लृङ्—अक्लमिष्यत्।

√मदी धातु का अर्थ 'प्रसन्न होना' है। (१) मद् (ईकारेत्संज्ञक)+लट् (=तिप्= ति, श्यन्='य', दीर्घ—'शमामष्टानाम्०') =माद्यति। (२) लिट्—ममाद। (३) लुट्—मदिता। (४) लङ्—अमदत्।

√असु (उकारेत्संज्ञक) धातु का अर्थ—क्षेपण (=फेंकना) है। (१) √अस्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य') =अस्यति। (२) अस्+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—अ अस् अ (अभ्यास के 'अ'='आ'—दीर्घ—'अत आदेः', आ+ अ='आ' सवर्णदीर्घ)—आस। (३) लुट्—असिता। (४) लृट्—असिष्यति।

(७४२) पद—अस्यतेः, थुक्। अनुवृत्ति—अङि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'अङ्' के परवर्ती रहते अस् धातु को थुक् का आगम होता है। आस्थत्।

विमर्श—यहाँ 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७।४।१६) से 'अङि' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"अङ् के परे रहते 'अस्' धातु को थुक् (=थ) का आगम होता है।"

उदाहरण—(१) √अस्+लुङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, आट्='आ'—'आडजादीनाम्', च्लि, च्लि=अङ्='अ')—आ अस् अ त ('थुक्'='थ्' का आगम—'अस्यतेस्थुक्' आ+अ='आ' वृद्धि—'आटश्च')=आस्थत्।

√यसु धातु का अर्थ—'प्रयत्न करना' है।

(७४३) पद—यसः, अनुपसर्गात्। अनुवृत्ति—वा, श्यन्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उपसर्ग रहित 'यस्' धातु से विकल्प से श्यन् प्रत्यय होता है।

ऽनुपसर्गात् ३।१।७१। (७४४) संयसश्च ३।१।७२। यसोऽनुपसर्गात्, संयसश्च श्यन्वा। यस्यति–यसति। संयस्यति–संयसति। अनुपसर्गात्किम्? प्रयस्यति। जसु मोक्षणे। जस्यति। जजास। अजसत्। तसु उपक्षये। दसु च। तस्यति। ततास। अतसत्। दस्यति। ददास। अदसत्। वसु स्तम्भे। वस्यति। 'न शसददे'ति निषेधः। ववास। ववसतुः। 'वशादिरि'ति मते तु–बेसतुः। बेसुः। व्युष विभागे। व्युष्यति। वुव्योष। विस प्रेरणे। विस्यति। विवेस। अविसत्। कुस संश्लेषणे। कुस्यति। चुकोस। कोसिता। अकुसत्। वुस उत्सर्गे। वुस्यति। वुवोस। अवुसत्। मुस खण्डने।

(७४३, ७४४) 'यसोऽनुपसर्गात्' 'संयसश्च' इति। सूत्रद्वयमिदम्। 'दिवादिभ्यः श्यन्' इत्यतः 'श्यन्' इति, 'वा भ्राश०' इत्यतः 'वे'ति चानुवर्तते। अनुपसर्गाद्यसः श्यन्वा स्यादिति प्रथमसूत्रार्थः। सम्पूर्वात् यशेर्नित्यमेव श्यनः प्राप्तौ वा श्यन्

विमर्श—यहाँ 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः' (३।१।७०) से 'वा' तथा 'दिवादिभ्यः श्यन्' (३।१।६९) से 'श्यन्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"अनुपसर्गक 'यस्' धातु से विकल्प से श्यन् प्रत्यय होता है।"

(७४४) पद—संयसः, च। **अनुवृत्ति**—वा, श्यन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सम्' पूर्वक 'यस्' धातु से श्यन् प्रत्यय विकल्प से होता है।

विमर्श—पूर्ववत् 'वा' तथा 'श्यन्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः 'सम्' उपसर्गपूर्वक यस् धातु से विकल्प से श्यन् (=य) होता है।

उदाहरण—(१) √यस्+लट् (=तिप्=ति, विकल्प से श्यन्='य्'—'यसोऽनुपसर्गात्') =यस्यति। श्यन् के अभावपक्ष में शप्='अ'—यसति। (२) सम्+यस्+लट् (=तिप् ति, विकल्प से श्यन्='य'—'संयसश्च')=संयस्यति। श्यन् के अभावपक्ष में शप्—संयसति।

प्रत्युदाहरण—प्र+यस्+लट् (=ति, 'यसोऽनुपसर्गात्' सूत्र द्वारा उपसर्ग रहित यस् धातु से विकल्प से श्यन् किये जाने से यहाँ (७४३ से) श्यन् नहीं हुआ, अपितु दिवादित्वात् नित्य श्यन्=य)=प्रयस्यति।

√जसु धातु का अर्थ—मोक्षण (छुड़ाना) है। (१) लट्—जस्यति। (२) लिट्—जजास। (३) लुङ्—अजसत् (अङ्)। **√तसु** (उदित्) धातु 'उपक्षय'=(क्षीण होना) अर्थ में है। (१) लट्—तस्यति। (२) लिट्—ततास। (३) लुङ्—अतसत्। **√दसु** (उकारेत्संज्ञक) धातु भी 'उपक्षय' अर्थ में है। (१) लट्—दस्यति। (२) लिट्—ददास। (३) लुङ्—अदसत्।

√वसु (उदित्) धातु स्तम्भ (रोकना) अर्थ में है। (१) लट्—वस्यति। (२) लिट्—ववास, ववसतुः (प्राप्त एत्वाभ्यास लोप का निषेध—'न शसददवादिगुणानाम्')। कुछ आचार्य वशादि मानकर एत्व और अभ्यास का लोप-विधान करते हैं। उनके मत में 'बेसतुः' 'बेसुः' रूप बनते हैं।

√'व्युष' धातु का अर्थ—'विभाग करना' है। (१) लट्—व्युष्यति। (२) लिट्—वुव्योष। **√विस्** का अर्थ 'प्रेरणा देना' है। (१) लट्—विस्यति। (२) लिट्—विवेस। (३) लुङ्—अविसत्। **√कुस्** का अर्थ—संश्लेषण (चिपकना) है। (१) लट्—कुस्यति। (२) लिट्—चुकोस। (३) लुट्—कोसिता (इट्, गुण)। (४) लुङ्—अकुसत्। **√वुस्**

बुस्यति । बुबोस । मसी परिणामे । परिणामो विकारः । मस्यति । ममास । अमसत् । लुठ विलोडने । लुठ्यति । लुलोठ । उच समवाये । उच्यति । गुणः । 'अभ्यासस्यासवर्णे' । उवङ् । उवोच । ऊचतुः । ऊचुः । मा भवानुचत् । भृशु भ्रंशु अधःपतने । भृश्यति । बभर्श । अभृशत् । 'अनिदिताम्'िति नलोपः । भ्रश्यति । बभ्रंश । अभ्रशत् । वृश वरणे । वृश्यति । ववर्श । अवृशत् । कृश तनूकरणे । कृश्यति । चकर्श । ञितृषा पिपासायाम् । तृष्यति । ततर्ष । हृष तुष्टौ । श्यन्ङौ भ्वादिकाद्विशेषः । हृष्यति । जहर्ष । अहृषत् । रुष रिष हिंसायाम् । रुष्यति । रुरोष । रिष्यति । रिरेष । 'तीषसहे'ति वेट् ।

भवतीति द्वितीयसूत्रस्यार्थः । उवोच । उच्धातोर्लिटि तिपि, तिपो णल्यनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'अभ्यासस्यासवर्णे' इत्युवङि, गुणे 'उवोच' इति ।

अभ्रशदिति । भ्रंश्धातोर्लुङि तिपि, अनुबन्धलोपे, तिप इकारलोपे अडागमेऽनुबन्धलोपे 'अभ्रंश् त्' इति जाते, च्लौ, च्लेः स्थाने पुषादित्वादङि अनुबन्धलोपे, 'अनिदिताम्'िति नलोपे 'अभ्रशत्' इति रूपम् ।

धातु का अर्थ 'त्याग करना' है। (१) लट्—बुस्यति। (२) लिट्—बुबोस। (३) लुङ्—अबुसत्। √मुस् धातु का अर्थ—'खण्डन करना' है। (१) लट्—मुस्यति। (२) लिट्—मुमोस। √मसी धातु—'विकार' अर्थ में है। (१) लट्—मस्यति। (२) लिट्—ममास। (३) लुङ्—अमुसत्। √लुठ धातु का अर्थ विलोडन='मथना' है। (१) लट्—लुठ्यति। (२) लिट्—लुलोठ।

√उच धातु 'समवाय' अर्थ में है। (१) लट्—उच्यति। (२) √उच्+लिट् (=तिप्=णल्='अ' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—उ उच् अ ('उ'='ओ'—गुण, उ=उवङ्='उव्'—'अभ्यासस्यासवर्णे')=उवोच। (३) √उच्+लिट् (=तस्=अतुस्, द्वित्व, अभ्यासकार्य)—उ उच् अतुस् (उ+उ='ऊ' दीर्घ, स्=र्=:) =ऊचतुः। (४) लिट् प्र० पु० बहु०—ऊचुः। (५) मा भवान् उचत् (लुङ्, अट् का निषेध)।

√भृशु तथा भ्रंशु धातु का अर्थ—'नीचे गिरना' है। (१) भृश्+लट् (=ति, श्यन्= ='य')=भृश्यति। (२) √भृश्+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा 'ऋ'= 'अ'—'उरत्', रपर, हलादिशेष, 'भ्'='ब्'—अभ्यासे चर्च)—ब भृ श् अ (गुण, रपर)= बभर्श। (३) लुङ्—अभृशत्। (१) भ्रंश्+लट् (=ति, श्यन्, 'न्' का लोप—'अनिदिताम्')=भ्रश्यति। (२) लिट्—बभ्रंश। (३) लुङ्—अभ्रशत्। √कृश् धातु का अर्थ 'तनूकरण=दुर्बल होना' है। (१) लट्—कृश्यति। (२) लिट्—चकर्श।

√ञितृषा का अर्थ पिपासा='प्यास लगना' है। (१) √तृष्+लट् (=तिप्—ति, श्यन्—'य')=तृष्यति। (२) लिट्—ततर्ष।

√हृष् धातु का अर्थ—'प्रसन्न होना' है। यह धातु भ्वादिगण में भी पठित है, किन्तु दिवादि में इसका पाठ होने से 'श्यन्' विकरण होता है; लुङ् में च्लि के स्थान में 'अङ्' होता है। यही विशेष है। (१) लट्—हृष्यति। (२) √हृष्+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष 'ह्'='झ्', 'झ्'='ज्' गुण, रपर)=जहर्ष। (३) लुङ्—अहृषत्।

√रुष, रिष धातु 'हिंसा' अर्थ में है। (१) लट्—रुष्यति। (२) लिट्—रुरोष। इसी प्रकार—रिष्यति। रिरेष। (३) लुट् में 'तीषसह०' से विकल्प से 'इट्' होता है—रोषिता,

रोषिता–रोष्टा। रेषिता–रेष्टा। कुप क्रोधे। कुप्यति। चुकोप। गुप व्याकुलत्वे। गुप्यति। जुगोप। लुभ गार्ध्ये। गार्ध्यमाकाङ्क्षा। लुभ्यति। लुलोभ। लोभिता–लोब्धा। लोभिष्यति। लुभ्यतु। भ्वादेरवृत्कृतत्वाल्लोभतीत्यप्याहुः। क्षुभ सञ्चलने। क्षुभ्यति। चुक्षोभ। णभ तुभ हिंसायाम्। क्लिदू आर्द्रीभावे। क्लिद्यति। चिक्लेद। चिक्लेदिथ–चिक्लेत्थ। चिक्लिदिव–चिक्लिद्व। चिक्लिदिम–चिक्लिद्म। क्लेदिता–क्लेत्ता। क्लेदिष्यति–क्लेत्स्यति। ञिमिदा स्नेहने। (७४५) मिदेर्गुणः ७।३।८२। मिदेरिको गुणः। स्यादित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे। मेद्यति। मिमेद। अमिदत्। ञिक्ष्विदा स्नेहन-मोचनयोः। क्ष्विद्यति। चिक्ष्वेद। ऋधु वृद्धौ। ऋध्यति। आनर्ध।

भ्वादेरवृत्कृतत्वादिति। भ्वादिगणस्याऽवृत्करणात्=समाप्तेरभावात् (भ्वादेराकृतिगणत्वात्) शपि 'लोभती'त्यपि रूपम्।

(७४५) **मिदेर्गुण इति।** 'इको गुणवृद्धी' इत्यत इक इति षष्ठ्यन्तमुपतिष्ठते। तदाह—**मिदेरिक इति। मेद्यति।** मिद्धातोर्लटि तिपि श्यनि, अनुबन्धलोपे 'मिदेर्गुणः' इति गुणे 'मेद्यति' इति।

रोष्टा। रेषिता, रेष्टा। **√कुप्** धातु का अर्थ—'क्रोध करना' है। (१) लट्—कुप्यति। (२) लिट्—चुकोप। **√गुप्** धातु का अर्थ—'व्याकुल होना' है। (१) लट्—गुप्यति। (२) लिट्—जुगोप।

√लुभ धातु 'आकाङ्क्षा' अर्थ में है। (१) लट्—लुभ्यति। (२) लिट्—लुलोभ। (३) लुट् में विकल्प से इट्—लोभिता। इट् के अभावपक्ष में—लोब्धा। (४) लृट्—लोभिष्यति। (५) लोट्—लुभ्यतु। भ्वादिगण की समाप्ति न होने से (आकृतिगण होने से) शप्='अ' विकरण, गुण—लोभति।

√क्षुभ धातु का अर्थ 'सञ्चलन' (=क्षुभित होना) है। (१) लट्—क्षुभ्यति। (२) लिट्—चुक्षोभ। **√णभ, तुभ** धातु 'हिंसा' अर्थ में हैं।

√क्लिद् धातु का अर्थ—'गीला होना' है। (१) लट्—क्लिद्यति। (२) लिट्—चिक्लेद। (३) √क्लिद्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः' विकल्प से इट्='इ'—'स्वरतिसूति', गुण)=चिक्लेदिथ। इट् के अभावपक्ष में—चिक्लेत्थ। (४) लिट् उ० पु० द्विव०—चिक्लिदिव, चिक्लिद्व (विकल्प से इट्)। (५) लिट् उ० पु० बहुव०—चिक्लिदिम, चिक्लिद्म। (६) लुट्—क्लेदिता, क्लेत्ता (विकल्प से इट्, गुण)। (७) लृट्—क्लेदिष्यति, क्लेत्स्यति।

ञिमिदा (=मिद्) धातु 'स्नेहन' अर्थ में है।

(७४५) पद—मिदेः, गुणः। **अनुवृत्ति**—शिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय के परवर्ती रहते मिद् धातु सम्बन्धी 'इक्' को गुण होता है।

विमर्श—'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' (७।३।७५) से 'शिति' पद की अनुवृत्ति आती है। 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा द्वारा षष्ठ्यन्त 'इकः' पद की उपस्थिति होती है। तदनुसार—'इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय के परे रहते मिद के इक् के स्थान में गुण होता है।"

उदाहरण—(१) √मिद्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य' 'इ'='ए'—गुण—'मिदे-

आर्द्धत्। गृधु अभिकाङ्क्षायाम्। गृध्यति। जगर्द्ध। अगृधत्। वृत्। पुषादयः समाप्ताः। इति परस्मैपदिनः।

अथात्मनेपदिनः। षूङ् प्राणिप्रसवे। सूयते। सुषुवे। 'स्वरती'ति विकल्पं बाधित्वा 'श्र्युकः किती'ति निषेधे प्राप्ते। क्रादिनियमान्नित्यमिट्। सुषुविषे। सुषुविवहे। सुषुविमहे। सोता। सविता। सविष्यते। सोष्यते। दूङ् परितापे। दूयते। दुदुवे। दीङ् क्षये। दीयते। (७४६) दीङो युडचि क्ङिति ६।४।६३। दीङः परस्याजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट् स्यात्। * वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ *। दिदीये। (७४७)

सूयते। 'षूङ् प्राणिप्रसवे' इत्यस्माद्धातोः लटि तत्स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि, अनुबन्धलोपे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे 'सूयते' इति सिद्धम्।

(७४६) दीङो युडचीति। 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतमचा विशेष्यते, तेन तदादिविधिः। 'अची'त्यत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी। अत आह—**दीङः परस्येत्यादिना। दिदीये।** दीङ्धातोर्लिटि तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तप्रत्यये. 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति 'त'

गुणः')=मेद्यति। (२) लिट्—मिमेद (३) लुङ्—अमिदत् (अङ्)। **√ञिक्ष्विदा** (क्ष्विद्) धातु 'स्नेहन एवं मोचनार्थक' है। (१) लट्—क्ष्विद्यति। (२) लिट्—चिक्ष्वेद।

√ऋधु धातु का अर्थ—'बढ़ना' है। (१) लट्—ऋध्यति। (२) √ऋध्+लिट् (=तिप् =णल्=अ, द्वित्व, अभ्यासत्व, अत्व, रपर, हलादिशेष)—अ ऋ ध् अ (अ='आ' दीर्घ—'अत आदेः' नुम्—'इजादेश्च', गुण, रपर)=आनर्ध। (३) लुङ्—आर्धत्। **'गृधु'** धातु 'अभिकाङ्क्षा' अर्थ में है। (१) लट्—गृध्यति। (२) लिट्—जगर्ध। (३) लुङ्—अगृधत् (च्लि=अङ्)। **पुषादिगण समाप्त हुआ।** परस्मैपदी धातुओं के रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया समाप्त हुई।

√षूङ्=(सू) धातु का अर्थ 'पैदा होना' (=जन्म लेना) है। (१) √षू ('ष्'='स्'—'धात्वादेः षः सः')—सू+लट् (=आत्मनेपद 'त' श्यन्='य'—'दिवादिभ्यः श्यन्' 'अ'='ए'—'टित आत्मनेपदानां टेरे')=सूयते। (२) √सू+लिट् (=त=एश्=ए, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, उवङ्=उव्, षत्व)=सुषुवे। (३) √सू+लिट् (=थास्=से—'थासः से', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व)—सुसू से ('स्वरतिसूति' से विकल्प से प्राप्त इट् का 'श्र्युकः किति' से निषेध प्राप्त होने पर क्रादिनियम से नित्य इट्='इ', उवङ्, षत्व)=सुषुविषे। (४) लिट् उ० पु० द्विवचन, बहुवचन में क्रादिनियम से नित्य इट्—सुषुविवहे। सुषुविमहे। (५) सू+लुट् (=त=डा=आ, तास्)—सू तास् आ (विकल्प से इट्—'स्वरतिसूति०' 'उ'='ओ' गुण, 'ओ'='अव्' आदेश, टिलोप)=सविता। इट् के अभावपक्ष में—सोता। (६) लृट्—सविष्यते, सोष्यते (विकल्प से इट्)।

√दूङ् (=दू) धातु का अर्थ 'दुःखी होना' है। इस धातु के रूप भी 'षूङ्' के समान ही बनते हैं। केवल विकल्प से इट् नहीं होता। यह धातु सेट् भी है। (१) लट्—दूयते (२) लिट्—दुदुवे।

√दीङ् धातु का अर्थ 'क्षय' (=नाश होना) है। (१) लट्—दीयते।

(७४६) पद—दीङः, युट्, अचि, क्ङिति। **अनुवृत्ति**—आर्धधातुके।

मूलार्थ—दीङ् धातु से परवर्ती अजादि कित ङित् आर्धधातुक को युट् का आगम होता है।

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ६।१।५०। एषामात्वं ल्यपि, चाद् अशित्येज्निमित्ते। दाता। दास्यते। अदास्त। डीङ् विहायसा गतौ। डीयते। डिड्ये। पीङ् पाने। पीयते। पिप्ये। माङ् माने। मायते। ममे। माता। प्रीङ् प्रीतौ। अकर्मकः। प्रीयते।

इत्यस्य स्थाने एशादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वत्वे 'दि दी ए' इति जाते, युटि प्राप्ते, परत्वात् 'एरनेकाचः' इति यणि प्राप्ते 'वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ' इति नित्यत्वात्—'दीङो युडचि क्ङिति' इत्यनेन युडागमेऽनुबन्धलोपे 'दिदीये' इति रूपम्।

(७४७) **मीनातिमिनोतीति।** 'आदेच उपदेशेऽशिति' त्यतः आदित्यनुवर्तते। तदाह—**एषामात्वं स्यादिति। अदास्त।** दीङ्धातोर्लुङि तत्स्थाने तादेशे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यनेन अडागमेऽनुबन्धलोपे 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि चे'त्यनेन ईकारस्य आत्वे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इत्यनेन सिच्यनुबन्धलोपे 'अदास्त' इति। अत्र 'दाधाघ्वदाप्' इति घुसंज्ञायां 'स्थाघ्वोरिच्चे'त्याकारस्य इदादेशे प्राप्ते 'स्थाघ्वोरित्वे प्रतिषेधो वाच्यः' इतीत्वनिषेधो भवति।

विमर्श—'आर्धधातुके' का अधिकार है। अतः "दीङ् धातु से परे अजादि कित् और ङित् आर्धधातुक को युट्='य्' का आगम होता है।"

(वा०) **वुग्युटाविति।** उवङ् और यण् के विषय में वुक् और युट् सिद्ध होते हैं।

उदाहरण—(१) √दी+लिट् (=त, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, त=एश्='ए'—'लिटस्तझयोरेशिरेच्', 'दीङो युडचि क्ङिति' से युट् प्राप्त होने पर, परत्वात् 'एरनेकाचः०' से यण् की प्राप्ति 'वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ' से युट् को सिद्ध विधान करने से 'यण्' का प्रतिषेध, युट्='य्')=दिदीये।

(७४७) **पद**—मीनातिमिनोतिदीङाम्, ल्यपि, च। **अनुवृत्ति**—आत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—मीञ् (हिंसा करना), नि (फेंकना) और दीङ् धातु को ल्यप् के परवर्ती रहने पर आत्व होता है। चकारात् एच्-निमित्तक अशित् प्रत्यय के विषय में भी आत्व होता है। दाता, दास्यते इत्यादि।

विमर्श—'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४४) से 'आत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"मीञ्, मिञ् और दीङ् धातु को 'ल्यप्' परवर्ती रहते आत्व होता है, चकारात् (सूत्र में 'च' पद होने से) शित्-भिन्न एच्-निमित्त प्रत्यय के परवर्ती रहते भी आत्व होता है।" यहाँ तास्, स्य आदि प्रत्यय शित्-भिन्न हैं तथा गुण, वृद्धि के हेतु भी हैं। अतः इनके परवर्ती रहते भी उक्त धातुओं को आकार आदेश होता है।

उदाहरण—(१) √दी+लुट् (=त=डा='आ' तास्)—दी तास् आ ('ई'='आ'—'मीनातिमिनोति०' टिलोप)=दाता। (२) लृट्—दास्यते। (३) √दी+लुङ् (=त, च्लि, च्लि=सिच्='स्', आत्व—'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च', 'स्थाघ्वोरिच्च' से प्राप्त इत्व का 'स्थाघ्वोरित्वे दीङः प्रतिषेधः' से निषेध, अट्)=अदास्त।

√डीङ् (=डी) धातु का अर्थ—'उड़ना' है। (१) लट्—डीयते। (२) √डी+लिट् (=त=एश्=ए, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व)—डि डी ए ('ई'='य्'—यण्—'एरनेकाचः') =डिड्ये। **√पीङ्** धातु का अर्थ—'पीना' है। (१) लट्—पीयते। (२) लिट्—पिप्ये

पिप्रिये । जनी प्रादुर्भावे । (७४८) ज्ञाजनोर्जा ७।३।७९ । अनयोर्जादेशः स्यात् शिति परे । जायते । 'गमहनजने'त्युपधायाः लोपः । 'स्तोः श्चुना श्चुः' । जज्ञे । जनिता । जनिष्यते । (७४९) दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ३।१।६१ । एभ्यश्च्लेश्चिण्वा स्यादेकवचने तशब्दे परे । (७५०) चिणो लुक् ६।४।१०४ । चिणः परस्य त-शब्दस्य लुक् स्यात् । 'अत उपधाया' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् । (७५१)

---

(७४८) ज्ञाजनोर्जा । 'ष्ठिवुक्लमुचमामि'त्यतः शितीत्यनुवर्तते । तदाह—अनयोरित्यादि । जायते । जन्धातोर्लटि तादेशे टेरेत्वे 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि अनुबन्धलोपे 'ज्ञाजनोर्जा' इत्यनेन 'जन्' इत्यस्य स्थाने जादेशे 'जायते' इति ।

(७४९) दीपजनेत्यादि । 'च्लेः सिच्' इत्यस्मात् च्लेरिति, 'चिण् ते पदः' इत्यस्मात् 'चिण् ते' इति चानुवर्तते । तदाह—एभ्यश्च्लेरिति ।

(७५०) चिणो लुगिति । स्पष्टम् ।

(यण्) । √माङ् (मा) धातु का अर्थ—'मापना' है । (१) लट्—मायते । (२) लिट्—ममे । (३) लुट्—माता । √प्रीङ् (प्री) धातु का अर्थ 'प्रेम करना' है । (१) लट्—प्रीयते । लिट्—पिप्रिये (इयङ्) ।

√जनी (जन्) धातु का अर्थ—'उत्पन्न होना' है ।

(७४८) पद—ज्ञाजनोः, जा । **अनुवृत्ति**—शिति । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—शित् प्रत्यय के परे रहते ज्ञा और जन् धातु को 'जा' आदेश होता है । जायते इत्यादि ।

विमर्श—'ष्ठिवुक्लमु०' (७।३।७५) से 'शिति' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अतः "शकारेत्संज्ञक प्रत्यय के परवर्ती रहते ज्ञा और जनी धातु के स्थान में 'जा' आदेश हो जाता है ।"

उदाहरण—(१) √जन्+लट् (=त, श्यन्='य', 'जन्'='जा'—'ज्ञाजनोर्जा' 'टि' को एत्व)=जायते । (२) √जन्+लिट् (=त, द्वित्व, अभ्यासत्व, हलादिशेष)—ज जन् त (त=एश्='ए'—'लिटस्तझयोरेशिरेच्', उपधा 'अ' का लोप—'गमहन०')—ज जन् ए ('न्' ='ञ्'—श्चुत्व—'स्तोः श्चुना श्चुः', ज्+ञ्=ज्ञ्)=जज्ञे । (३) लुट्—जनिता । (४) लृट्—जनिष्यते ।

(७४९) पद—दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्यः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—च्लेः, चिण् ते । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दीप आदि धातुओं से उत्तरवर्ती च्लि को चिण् आदेश होता है, एकवचन त शब्द के परे विकल्प से ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः' तथा 'चिण् ते पदः' (३।१।६०) से 'चिण् ते' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"दीप् (=चमकना), जन् (=उत्पन्न होना), बुध् (=जानना), पूरी (=भरना), ताय् (=फैलना), प्याय् (=फूलना), इन धातुओं से परवर्ती च्लि के स्थान में विकल्प से चिण् (='इ') आदेश होता है, एकवचन 'त' शब्द के परे रहते ।

(७५०) पद—चिणः, लुक् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—चिण् से परवर्ती 'त' शब्द का लुक् होता है । 'अत उपधायाः' से वृद्धि प्राप्त होने पर··· ।

जनिवध्योश्च ७।३।३५ । जनिवध्योश्च न वृद्धिश्चिणि, ञ्णिति कृति च । अजनि । अजनिष्ट । अजनिष्यत । दीपी दीप्तौ । दीप्यते । दिदीपे । दीपिता । अदीपि । अदीपिष्ट । अदीपिष्यत । पद गतौ । पद्यते । पेदे । पत्ता । पद्येत । पत्सीष्ट । (७५२) **चिण्ते पदः ३।१।६० ।** पदश्च्लेश्चिण् स्यात्तशब्दे परे । अपादि । अपत्साताम् ।

---

(७५१) **जनिवध्योश्चेति ।** 'अत उपधायाः' इत्यत उपधाया इति 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरिति 'नोदात्तोपदेश०' इत्यतो नेति, 'आतो युक्' इत्यतः चिण्कृतोरिति 'अचो ञ्णिति' इत्यतो ञ्णिति चानुवर्तते । अत आह—**जनिवध्योरिति । अजनि, अजनिष्ट ।** 'जनी प्रादुर्भावे' इत्यस्माद्धातोर्लुङि तप्रत्यये अडागमेऽनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्' इति विभाषया च्लेश्चिणि अनुबन्धलोपे 'अ जन् इ त' इति जाते 'अत उपधायाः' इत्यनेन उपधावृद्धौ प्राप्तायाम् 'जनिवध्योश्च' इत्यनेन तन्निषेधे 'चिणो लुक्' इत्यनेन तप्रत्ययस्य लोपे 'अजनि' इति । चिणभावपक्षे च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इत्यनेन इडागमेऽनुबन्धलोपे 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेन सस्य षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन ष्टुत्वे 'अजनिष्ट' इति ।

(७५२) **चिण्ते पद इति ।** 'च्लेस्सिच्' इत्यस्मात् च्लेरित्यनुवर्तते । तदाह—**पदश्च्लेरिति । अपादि ।** पदधातोर्लुङि तादेशे च्लौ 'चिण्ते पदः' इति च्लेः चिणादेशेऽनुबन्धलोपे 'चिणो लुक्' इति तलोपे, अटि, 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'अपादि' इति ।

---

(७५१) पद—जनिवध्योः, च । **अनुवृत्ति—**न, चिण्कृतोः, ञ्णिति, वृद्धिः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—चिण् और ञित, णित, कृत के परवर्ती रहते जन् और वध् को वृद्धि नहीं होती । अजनि, अजनिष्ट इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता हेतु 'नोदात्तोपदेशस्य' (७।३।३४) से 'न', 'आतो युक् चिण्कृतोः' (७।३।३३) से 'चिण्कृतोः', 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'ञ्णिति' तथा 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति आती है । अतः "जन् और वध् धातुओं की उपधा को वृद्धि नहीं होती, चिण् तथा ञित् , णित् , कृत् प्रत्यय परे रहते ।"

उदाहरण—(१) √जन् + लुङ् (=त, च्लि, च्लि=चिण्='इ' विकल्प से—'दीपजनबुध०', 'अत उपधायाः' से प्राप्त वृद्धि का 'जनिवध्योश्च' से निषेध, अट्='अ' का आगम, 'त' का लुक्—'चिण् ते पदः')=अजनि । चिण् के अभावपक्ष में (च्लि=सिच्='स्')—अ जन् स् त (इट्='इ'—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' षत्व, ष्टुत्व)=अजनिष्ट । (२) लृङ्—अजनिष्यत ।

√दीपी (=दीप्) धातु का अर्थ—'चमकना' है । (१) लट्—दीप्यते । (२) लिट्—दिदीपे । (३) लुट्—दीपिता (इट्) । (४) लुङ् में विकल्प से च्लि=चिण्—अदीपि, अदीपिष्ट । (५) लृङ्—अदीपिष्यत ।

√पद धातु का अर्थ 'जाना' है । (१) लट्—पद्यते । (२) लिट्—पेदे (एत्व, अभ्यास का लोप) । (३) लुट्—पत्ता । (४) विधिलिङ्—पद्येत । (५) आशीर्लिङ्—पत्सीष्ट ।

(७५२) पद—चिण् , ते, पदः । **अनुवृत्ति**—च्लेः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'त' शब्द के परवर्ती रहते पद धातु से उत्तरवर्ती 'च्लि' के स्थान में 'चिण्' आदेश होता है । अपादि । अपत्साताम् इत्यादि ।

अपत्सत । खिद दैन्ये । खिद्यते । चिखेद । खेत्ता । खेत्स्यते । विद सत्तायाम् । विद्यते । विविदे । वेत्ता । वित्सीष्ट । अवित्त । बुध अवगमने । बुध्यते । बुबुधे । बोद्धा । 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्ये'ति भष्भावः । भोत्स्यते । भुत्सीष्ट । अबोधि । अबुद्ध । अभुत्साताम् । अभोत्स्यत । युध सम्प्रहारे । युध्यते । युयुधे । योद्धा । अयुध्यत ।

बोद्धा । 'बुध अवगमने' इत्यस्माद्धातोर्लुटि तत्स्थाने तादेशे, तासि, 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति 'त' इत्यस्य स्थाने डादेशेऽनुबन्धलोपे टेर्लोपे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वेन दकारे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'त्यनेन गुणे 'बोद्धा' इति । अबोधि । बुध्धातोर्लुङि आत्मनेपदे 'त' प्रत्यये 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'दीपजनबुध०' इत्यादिना विकल्पेन च्लेः चिणादेशेऽनुबन्धलोपे लघूपधगुणे 'चिणो लुक्' इत्यनेन तप्रत्ययस्य लोपे संयोगे च कृते 'अबोधि' इति । चिणोऽभावपक्षे 'अ बुध् त' इति स्थिते, च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिच्यनुबन्धलोपे 'झलो झलि' इत्यनेन सिचः सकारलोपे 'झषस्तथोर्धोऽधः'

विमर्श—सूत्र में स्थानिवाचक पद का अभाव है। अतः 'च्लेः सिच्' से 'च्लेः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"पद धातु से उत्तरवर्ती 'च्लि' के स्थान में 'चिण्' आदेश होता है, एकवचन 'त' शब्द के परे रहते।"

उदाहरण—(१) √पद्+लुङ् (=त, अट्, च्लि, च्लि=चिण्='इ'—'चिण्ते पदः') —अ पद् इ त ('त' का लोप—'चिणो लुक्', उपधावृद्धि)=अपादि। (२) √पद्+लुङ् (=आताम्, अट्, च्लि, च्लि=सिच्='स्', 'द्'='त्'—'चर्त्व')=अपत्साताम्। (३) √पद्+लुङ् ((=झ, अट्, च्लि, च्लि=सिच्='स', झ्=अत्—'आत्मनेपदेष्वनतः' 'द्'='त्')=अपत्सत।

√खिद धातु का अर्थ—'खिन्न होना' है। (१) लट्—खिद्यते। (२) लिट्—चिखेद। (३) लुट्—खेत्ता। (४) लृट्—खेत्स्यते।

√विद धातु का 'सत्ता' (होना) अर्थ है। (१) लट्—विद्यते। (२) लिट्—विविदे। (३) लुट्—वेत्ता। (४) √विद्+आशीर्लिङ् (=त, सीयुट्=सीय्, 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से सीयुट् के कित् हो जाने से प्राप्त गुण का निषेध, सुट्='स')—विद् सीय् स् त ('य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि', 'द्'='त्', षत्व, ष्टुत्व)=वित्सीष्ट। (५) लुङ्—अवित्त ('स्' का लोप)।

√बुध् धातु का अर्थ—'जानना' है। (१) लट्—बुध्यते। (२) लिट्—बुबुधे। (३) √बुध्+लुट् (=त, तास्, त=डा='आ'—'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' 'टि'—आस् का लोप—'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः', 'त'='ध्'—झषस्तथोर्धोऽधः' प्रथम 'ध्'='द्'—जश्त्व—'झलां जश् झशि' उ='ओ'—गुण—'पुगन्त०')=बोद्धा। (४) √बुध्+लृट् (=त, स्य)—बुध् स्य त ('ब्'='भ्' भष्भाव—'एकाचो बशो भष्०' आर्धधातुक संज्ञा, इट्='इ', लघूपध गुण, चर्त्व—'खरि च')=भोत्स्यते। (५) आशीर्लिङ्—भुत्सीष्ट। (६) √बुध्+लुङ् (=त, अट्, च्लि, च्लि=विकल्प से चिण्=इ, 'त' का लोप—'चिणो लुक्' लघूपध गुण)=अबोधि। 'चिण्' के अभावपक्ष में—'च्लि=सिच्='स्'—'अबुध् स त' ('स' का लोप—'झलो झलि', 'त'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः' 'ध्'='द्'—'झलां जश् झशि')=अबुद्ध।

युध्येत । युत्सीष्ट । अयुद्ध । अयुत्स्यत । कथं युध्यतीति । युधमिच्छतीति क्यच् । 'अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यमि'ति वा । सृज विसर्गे । अकर्मकः । सृज्यते । ससृजे । 'सृजिदृशोर्झल्यमकिती'त्यमागमः । स्रष्टा । स्रक्ष्यते । स्रक्षीष्ट । 'लिङ्सिचावि'-ति कित्त्वम् । असृष्ट । असृक्षाताम् । मीङ् हिंसायाम् । हिंसाऽत्र प्राणवियोगः । मीयते । मिम्ये । मीयताम् । अमीयत । मीयेत । मेषीष्ट । अमेष्ट । अमेषाताम् ।

इत्यनेन तकारस्य धकारे 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वेन धकारस्य दकारे 'अबुद्ध' इति ।

स्रक्ष्यते । सृजधातोर्लृटि तादेशे 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यप्रत्यये टेरेत्वे 'सृजि-दृशोर्झल्यमकिति' इत्यमि अनुबन्धलोपे 'मिदिचोऽन्त्यात्परः' इति मित्त्वेनाऽन्त्यादचः परोऽकारो जातः, 'सृ अ ज् स्य ते' इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणि 'व्रश्चे'त्यादिना जकारस्य षकारे 'षढोः कः सि' इति कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे क्-ष् संयोगे क्षे जाते, 'स्रक्ष्यते' इति ।

√बुध् धातु, लुङ् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अबोधि, अबुद्ध	अभुत्साताम्	अभुत्सत
म० पु०	अबुद्धाः	अभुत्साथाम्	अभुद्ध्वम्
उ० पु०	अबोधिषि	अभुत्स्वहि	अभुत्स्महि

(७) लृङ्—अभोत्स्यत ।

√युध धातु का अर्थ—'युद्ध करना' है । (१) लट्—युध्यते । (२) लिट्—युयुधे । (३) लुट्—योद्धा । (४) लङ्—अयुध्यत । (५) विधिलिङ्—युध्येत । (६) आशीर्लिङ्—युत्सीष्ट । (७) √युध्+लुङ् (=त, अट्, च्लि, च्लि=सिच्='स्' 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से कित् होने से प्राप्त गुण का निषेध, 'स्' का लोप—'झलो झलि')—अ युध् त ('त्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः' प्रथम ध्'='त्' चर्त्व)=अयुद्ध । (८) लृङ्—अयुत्स्यत ।

कथं युध्यतीति । यहाँ आशंका होती है कि जब यह धातु आत्मनेपदी है, तो—'युध्यति' यह परस्मैपद प्रयोग कैसे हुआ ? इसके समाधान के लिए कहा गया है कि योधनं युध् में क्विप् प्रत्यय विधान कर कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा, द्वितीया विभक्ति एकवचन में युधम् युधम् से क्यच्-'सुप आत्मनः क्यच्'=युध्यति (=युद्ध करने की इच्छा करता है) । इस प्रकार नामधातु का 'युध्यति' प्रयोग है । अथवा—'अनुदात्त की इत्संज्ञा-निमित्तक आत्मनेपद अनित्य है' ऐसा √चक्षिङ् के ङित्करण से ज्ञापन किया गया है । अतः यहाँ भी आत्मनेपदसंज्ञक तङ् नहीं हुआ, अपितु परस्मैपद—**युध्यति** ।

√सृज् धातु का अर्थ—'छोड़ना, त्यागना' है । (१) लट्—सृज्यते । (२) √सृज्+लिट् (=त, त=एश्='ए', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ऋ='अ'—'उरत्' रपर, हलादिशेष)=ससृजे । (३) √सृज्+लुट् (=त=डा=आ, तास्)—सृज् तास् आ (अम्='अ' आगम—'सृजि-दृशोर्झल्यमकिति' ऋ=र्—यण्, टिलोप 'ज्'='ष्'='व्रश्च०' 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)=स्रष्टा । (४) √सृज्+लृट् (=त, स्य, अम्='आ' 'सृजि०')—सृ अ ज् स्य त ('ऋ'='र्'—यण्, ज्=ष्—व्रश्च०' 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि', षत्व—'आदेशप्रत्यययोः', क्+ष्=क्ष्)—स्रक्ष्यत (टि=एत्व)=स्रक्ष्यते । (५) √सृज्+आशीर्लिङ् (=त, सीयुट्=सीय्, सुट्='स्'—

रीङ् स्रवणे। रीयते। लीङ् श्लेषणे। लीयते। (७५३) विभाषा लीयतेः ६।१।५१। 'लीयतेरि'ति यका निर्देशो, न तु श्यना। 'लीलीङोरात्वं वा स्यादेज्विषये, ल्यपि च। लेता। लाता। लेष्यते। लास्यते। एज्विषये किम्? लीयते। लिल्ये। व्रीङ् वृणोत्यर्थे। व्रीयते। विव्रिये। इत्यात्मनेपदिनः।

---

(७५३) **विभाषेति**। 'मीनातिमिनोती'त्यतः ल्यपीति, 'आदेच उपदेशे' इत्यतः 'आदि'ति, एच इति चानुवर्तते। तदाह—**लीलीङोरित्यादिना**। **लीयतेरिति**। 'सार्वधातुके यक्' इति विहितेन यका न तु श्यना निर्देशः, अन्यथा लीङित्येवं ब्रूयात्। तेन लीलीङोरुभयोरप्यात्वमिति भावः। **लेता इति**। 'लीङ् श्लेषणे' इत्यस्माद्धातोर्लुटि तप्रत्यये, 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इत्यनेन तप्रत्ययस्य डादेशेऽनुबन्धलोपे 'स्यतासी लृलुटोः' इत्यनेन तास्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे डित्त्वादभस्यापि टेर्लोपे 'विभाषा लीयते' इत्यनेन विकल्पेन ईकारस्यात्वे 'लाता' इति। आत्वाऽभावपक्षे आर्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे एकारे 'लेता' इति रूपम्।

'सुट् तिथोः')—सृज् सीय् स् त (ज='ष्'—'व्रश्च०', 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि' 'य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि:०' 'स्'='ष्'—'आदेश०', क्+ष्='क्ष्', 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से कित् होने से गुणनिषेध—'क्ङिति च', ष्टुत्व)=सृक्षीष्ट। (६) √सृज्+लुङ् (=त, अट्, च्लि, च्लि=सिच्=स्' कित्वाद् गुण का निषेध, 'स्' का लोप—'झलो झलि', 'ज्'='ष्' 'व्रश्च०', ष्टुत्व)=असृष्ट।

√मीङ् धातु 'हिंसा' अर्थ में हैं। यहाँ हिंसा का अर्थ—'प्राणवियोग' है। (१) लट्—मीयते। (२) लिट्—मिम्ये (यण्)। (३) लोट्—मीयताम्। (४) लङ्—अमीयत। (५) विधिलिङ्—मीयेत। (६) आशीर्लिङ्—मेषीष्ट। (७) लुङ्—अमेष्ट। अमेषाताम् इत्यादि। **√रीङ्** धातु श्रवण (=सुनना) अर्थ में है। (१) लट्—रीयते।

√लीङ् धातु का अर्थ—श्लेषण (आलिङ्गन करना) है। (१) लट्—लीयते।

(७५३) पद—विभाषा, लीयतेः। **अनुवृत्ति**—ल्यपि, आदेचः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ली और और लीङ् धातु को विकल्प से आत्व होता है, एच् के विषय में तथा ल्यप् के परवर्ती रहते। लेता, लाता। लेष्यते। लास्यते इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४४) से 'आदेचः' तथा 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च'. (६।१।४९) से 'ल्यपि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"ली तथा लीङ् धातु को ल्यप् परे रहते और एच् के विषय में विकल्प से आत्व होता है।" सूत्र में यक् प्रत्यय करके 'लीयते' यह निर्देश है। अतः 'लीङ् श्लेषणे' और क्र्यादिगण पठित 'ली श्लेषणे' दोनों धातुओं का आत्वविधान में ग्रहण किया जाता है।

उदाहरण—(१) √ली+लुट् (=त, तास्, त=डा=आ, टिलोप, 'इ'='आ'—विकल्प से—'विभाषा लीयतेः')=लाता। आत्व के अभावपक्ष में (गुण)—लेता। (२) लृट्—लास्यते, लेष्यते (षत्व)।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'एज्विषये' का ग्रहण किया गया है। अतः 'लीयते' में एज्विषयता के अभाव में आत्व नहीं हुआ।

(२) लिट्—लिल्ये (यण्)।

अथोभयपदिनः । मृष तितिक्षायाम् । मृष्यति । मृष्यते । ममर्ष । मर्मषिथ । ममृषे । ममृषिषे । मर्षितासि । मर्षितासे । मर्षिष्यति । मर्षिष्यते । मृष्यतु । णह बन्धने नह्यति । नह्यते । ननाह । नेहिथ । 'नहो धः' इति धः । ननद्ध । नेहे । नद्धा । नत्स्यति । नत्स्यते । अनात्सीत् । अनद्ध । रञ्ज रागे । 'अनिदिताम्' इति नलोपः । रज्यति । रज्यते । ररञ्ज । ररञ्जे । ररङ्क्थ । रङ्क्ता । शप आक्रोशे । शप्यति । शप्यते । शशाप । शेपतुः । शेपुः । शेपे । शेपाते । शक विभाषितो मर्षणे । विभाषित इति उभयपदीत्यर्थः । शक्यति, शक्यते हरिं द्रष्टुं भक्तः । शशाक । शेकिथ । शशक्थ । शेके । शक्ता । शक्ष्यति । शक्ष्यते । पुषादित्वादङ् । अशकत् । अशक्त । सेट्कोऽयमित्येके । तन्मते नाऽनिट्केषु लंदित्पठितः । शकिता । शकिष्यति । शकिष्यते ।

इति दिवादिप्रकरणम् ।

नेहिथ, ननद्ध इति । 'णह् बन्धने' इत्यस्माद्धातोर्लिटि 'णो नः' इति णस्य नत्वे लिटः स्थाने सिपि, सिपस्थलादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'न नह थ' इति जाते 'ऋतो भारद्वाजस्ये'ति नियमाद् विकल्पेन

√व्रीङ् धातु का अर्थ--'वरण करना' है। (१) लट्--व्रीयते। (२) √व्री+लिट् (=ल=एश्='ए', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व)--वि व्री ए (ई=इयङ्=इय्)=विव्रिये।

आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन समाप्त हुआ। अब उभयपदी धातुओं के रूपों की साधनिका का निर्देश किया जा रहा है--

√मृष धातु का अर्थ--'सहन करना' है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी है। (१) √मृष्+लट् (=तिप्=ति, श्यन्='य')=मृष्यति। आत्मनेपद में—मृष्+लट् (=त, श्यन् ='य', अ (टि)=एत्व) =मृष्यते। (२) √मृष्+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'--'उरत्' रपर, हलादिशेष, गुण--'पुगन्त', रपर)=ममर्ष। आत्मनेपद में—ममृषे। (३) म० पु० एकवचन (परस्मैपद)--ममर्षिथ (इट्)। (४) √मृष्+लिट् (=थास्='से', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, उरत्, रपर, हलादिशेष)--ममृष् से (क्रादिनियम से नित्य इट्, षत्व)--ममृषिषे। (५) लुट् म० पु० एकवचन--मर्षितासि। आत्मनेपद में--मर्षितासे। (६) लृट्--मर्षिष्यति, मर्षिष्यते। (७) लोट्--मृष्यतु।

√णह् ('णो नः' से 'ण्' 'न्')=नह् धातु का अर्थ--'बाँधना' है। (१) लट्--नह्यति। आत्मनेपद—नह्यते। (२) √नह्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यासत्व, हलादिशेष)—ननह् अ (वृद्धि— अत उपधायाः')=ननाह। (३) √नह्+लिट् (=सिप्=थल्='थ' द्वित्व, अभ्यासकार्य)—न नह् थ (भारद्वाज नियम से वैकल्पिक इट्='इ', एत्व और अभ्यास का लोप—'थलि च सेटि')=नेहिथ। इट् के अभावपक्ष में--न नह् थ ('ह्'='ध्'—'नहो धः', 'थ्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः', पूर्व 'ध्'='द्' जश्त्व)=ननद्ध। (४) आत्मनेपद में—√नह्+लिट् (त=एश्=ए, द्वित्व, अभ्यासकार्य)—न नह् ए (एत्व, अभ्यासलोप)=नेहे। नेहाते। नेहिरे इत्यादि। (५) √नह्+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, टिलोप)—नह् ता ('ह्'='ध्'--'नहो धः', 'त्'='ध्'-'झषस्तथोर्धोऽधः', प्रथम 'ध्'='द्'—'जश्त्व')=नद्धा। (६) लृट्--नत्स्यति। नत्स्यते ('ह्'='ध्' 'ध्'='त्'—'चर्त्व')। (७) √नह्+

अथ स्वादिप्रकरणम्

षुञ् अभिषवे । अभिषवः--स्नपनं, पीडनं, स्नानं सुरासन्धानं च । तंत्र स्नाने-ऽकर्मकः । (७५४) स्वादिभ्यः श्नुः ३।१।७३ । स्वादिभ्यः श्नुः स्यात् कर्तरि सार्व-

---

इटि 'झलि च सेटि' इत्येत्वेऽभ्यासलोपे च कृते 'नेहिथ' इति । इडभावपक्षे 'न नह् थ' इति स्थिते 'नहो धः' इति हकारस्य धकारे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इत्यनेन थकारस्य धकारे 'झलां जश् झशि' इत्यनेन पूर्वधकारस्य दकारे संयोगे च 'ननद्ध' इति ।

इति दिवादिप्रकरणम् ।

श्यन्विकरणान् धातून्निरूप्येदानीं श्नुविकरणा धातवो निरूप्यन्ते—षुञ् अभिषव इति । षोपदेशोऽयं धातुः । अनिट् । ञित्वादुभयपदी ।

लुङ् (तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', ईट्='ई'—'अस्तिसिचो-ऽपृक्ते')—अनह् स् ई त् (वृद्धि—'वदव्रजहलन्तस्याचः', 'ह्'='ध्'—'नहो धः', 'ध्'='त्'—'खरि च')=अनात्सीत । आत्मनेपद में—अनद्ध ('स्' का लोप) ।

√रञ्ज धातु 'राग' अर्थ में है । (१) √रञ्ज्+लट् (=तिप्='ति', श्यन्='य' 'न्' का लोप--'अनिदिताम्'०)=रज्यति । आत्मनेपद में—रज्यते । धातु में झल् वर्ण परवर्ती रहते अनुस्वार अथवा वर्ग का पञ्चम वर्ण रहे तो वह नकार से जन्य होता है[1] । अतः यहाँ नकार का अनुस्वार एवं परसवर्ण से ञकार हुआ है । 'अनिदिताम्' सूत्र की दृष्टि में अनुस्वार एवं परसवर्ण असिद्ध होने से नकार मानकर उसका लोप हुआ : (२) लिट्—ररञ्ज । आ० प०—ररञ्जे । (३) लिट् म० पु० एकव०—ररङ्क्थ । (४) लुट्—रङ्क्ता ।

√शप धातु का अर्थ 'आक्रोश' (=निन्दा करना, शाप देना) है । (१) लट्—शप्यति । आ० प०—शप्यते । (२) लिट् प० प०—शशाप, शेपतुः, शेपुः । आ० प०—शेपे, शेपाते, शेपिरे ।

√शक धातु का अर्थ 'सकना' 'समर्थ होना' है । यह धातु अमर्षण अर्थ में उभयपदी है । (१) लट्—शक्यति, शक्यते हरिं द्रष्टुं भक्तः=भक्त हरि को देखने में समर्थ है । (२) लिट् प० प०—शशाक । आ० पा०—शेके । (३) लिट् म० पु० एकवचन—शेकिथ (विकल्प से इट्, एत्वाभ्यासलोप) । इडभावपक्ष में—शशक्थ । (४) लुट्—शक्ता । (५) लृट्—शक्ष्यति । शक्ष्यते । (६) √शक्+लुङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, अट्, च्लि, च्लि=अङ्—'पुषादि०') =अशकत् । आत्मनेपद में—अशक्त ('स्' का लोप) । कुछ आचार्य इस धातु को सेट् मानते हैं । उनके मत में—अनिट्-कारिका में 'शक्लृ' लृकारेत्संज्ञक ही पठित है । तदनुसार लुट्—शकिता । लृट्—शकिष्यति । शकिष्यते ।

दिवादि-प्रकरण समाप्त ।

दिवादि प्रकरण में 'श्यन्' विकरण वाली 'दिव्' आदि धातुओं के रूपों की साधनिका का विवेचन करने के अनन्तर प्रस्तुत प्रकरण में 'श्नु' विकरण वाली धातुओं के रूपों की प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है—

---

१. 'नकारजावनुस्वारः पञ्चमो झलि धातुषु'—महाभाष्यम् ।

धातुके । शपोऽपवादः । सुनोति । सुनुतः । 'हुश्नुवोरि'ति यण् । सुन्वन्ति । सुनोषि । सुनुथः । सुनुथ । सुनोमि । 'लोपश्चास्ये'ति प्रत्ययोतो लोपः । सुन्वः-सुनुवः । सुन्मः-सुनुमः । सुनुते । सुन्वाते । सुन्वते । सुनुषे । सुन्वाथे । सुनुध्वे । सुन्वे । सुन्वहे-सुनुवहे । सुन्महे-सुनुमहे । सुषाव । सुषुवे । सोता । सोता । सोष्यति । सोष्यते । सुनोतु ।

---

(७५४) स्वादिभ्यः श्नुरिति । 'कर्तरि', 'सार्वधातुके' इति चानुवर्तते । तेन कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे स्वादिभ्यः श्नुः स्यादित्यर्थः । सुनोति । षुञ्धातोर्लटि तिपि, 'स्वादिभ्यः श्नुः' इति श्नुविकरणे शस्येत्संज्ञायां लोपे 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सकारे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन उकारस्य गुणे ओकारे 'सुनोति' इति रूपं सिद्धम् ।

√षुञ् (=सु) धातु का अर्थ—'अभिषव' है । अभिषव=स्नान करना, निचोड़ना, स्नान करना और सुरासन्धान (सुरा उत्पन्न करना)। यह धातु उपदेशावस्था में षकारादि है, ञकारेत्संज्ञक है, अतः उभयपदी है । 'स्नान करना' अर्थ में यह धातु अकर्मक है । धातु के आदि मूर्धन्य षकार के स्थान में 'धात्वादेः षः सः' से सकार आदेश होता है ।

(७५४) पद—स्वादिभ्यः, श्नुः । **अनुवृत्ति**—कर्तरि, सार्वधातुके । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परवर्ती रहते स्वादिगण पठित धातुओं से 'श्नु' (विकरण) होता है । यह 'शप्' का अपवाद है । सुनोति । सुनुतः इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'कर्तरि' तथा 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"कर्तृरूपार्थक सार्वधातुक प्रत्यय के परवर्ती रहते स्वादिगणपठित धातुओं से श्नु (=नु) विकरण प्रत्यय होता है ।" यह 'श्नु' प्रत्यय शप् का बाधक है ।

उदाहरण—(१) √षु+लट् ('ष्'='स्'—'धात्वादेः षः सः' ल्=तिप्=ति, श्नु='नु'—'स्वादिभ्यः श्नुः', 'उ'='ओ' गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः')=सुनोति । (२)=सु+लट् (=तस्, श्नु='नु'—'स्वादिभ्यः श्नुः')—सु नु तस् ('तस्' अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है, अतः गुण का निषेध, स्=र्=ः) =सुनुतः । (३) √सु+लट् (=झि, 'झ्'='अन्त्'—'झोऽन्तः', श्नु='नु')—सु नु अन्ति ('उ'='व्' यण्—'हुश्नुवोः सार्वधातुके')=सुन्वन्ति । (४) लट् म० पु०—सुनोषि, सुनुथः, सुनुथ । (५) लट् उ० पु० एकव०—सुनोमि । (६) √सु+लट् (=वस्, श्नु='नु')—सु नु वस् ('उ' का विकल्प से लोप—'लोपश्चान्यतरस्यां म्वोः' स्=र्=ः)=सुन्वः । उकार के लोप के अभावपक्ष में—सुनुवः । (७) लट् उ० पु० बहुव०—सुन्मः, सुनुमः ।

षु (=सु) धातु, लट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	सुनोति	सुनुतः	सुन्वन्ति
म० पु०	सुनोषि	सुनुथः	सुनुथ
उ० पु०	सुनोमि	सुन्वः, सुनुवः	सुन्मः, सुनुमः

आत्मनेपद में—(१) √सु+लट् (=त, श्नु=नु, 'टि' को एत्व—'टित आत्मनेपदानां टेरे')=सुनुते । (२) √सु+लट् (=आताम्, श्नु)—सु नु आताम् ('उ'='व्' यण्—'हुश्नुवोः', टि=एत्व)=सुन्वाते । (३) सु+लट् (=झ, श्नु='नु', 'झ्'='अत्'—'आत्मने-

'उतश्चे'ति हेर्लुक् । सुनु । सुनवानि । सुनवाव । सुनवाम । सुनुताम् । सुनवै । सुनवावहै । सुनवामहै । असुन्वि । सुनुयात् । सूयात् । सोषीष्ट । (७५५) स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ७।२।७२ । एभ्यः सिच इट् स्यात्परस्मैपदे । असावीत् । असोष्ट ।

---

(७५५) स्तुसुधूञ्भ्य इति । अत्र 'इडत्यर्ति' इत्यस्मात् इडित्यनुवर्तते । 'अञ्जेः सिची'त्यस्मात् सिजित्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते । अत आह—एभ्यः

पदेष्वनतः', यण् टि=एकार)=सुन्वते । उ० पु० द्विव० तथा बहुव० में 'उ' का विकल्प से लोप होकर दो रूप बनते हैं—सुन्वहे, सुनुवहे । सुन्महे, सुनुमहे ।

√षु (=सु) धातु, लट् लकार के रूप (आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	सुनुते	सुन्वाते	सुन्वते
म० पु०	सुनुषे	सुन्वाथे	सुनुध्वे
उ० पु०	सुन्वे	सुन्वहे, सुनुवहे	सुन्महे, सुनुमहे

(१) सु+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)=सु सु अ (उ='औ' 'वृद्धि'—'अचो ञ्णिति', 'औ'='आव्' आदेश, षत्व)=सुषाव । आत्मनेपद पक्ष में—√सु+लट् (=त=एश्=ए, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा)—सु सु ए (षत्व, उ=उवङ्='उव्') =सुषुवे । इत्यादि । (२) लट् प्र० एकव०—सोता (दोनों पदों में) । (३) लृट्—सोष्यति । आ० प०—सोष्यते । (४) लोट् प० प० में—सुनोतु, सुनुतात् । सुनुताम् । सुन्वन्तु । (५) सु +लोट् (=सिप्='हि'—'सेर्ह्यपिच्च', श्नु=नु)—सु नु हि ('हि' का लोप—'उतश्च प्रत्ययाद-संयोगपूर्वात्')=सुनु । (६) सु+लोट् (मिप्=मि, श्नु='नु' 'मि'='नि'—'मेर्निः' आट्='आ'—आगम)—सु नु आ नि (उ='ओ'—'गुण', 'ओ'='अव्' आदेश)=सुनवानि । (७) लोट् उ० पु० द्विव०, बहुव०—सुनवाव, सुनवाम । आत्मनेपद में—सुनुताम् । (८) सु+लोट् (=इट्='इ', श्नु='नु', आट्='आ' का आगम, इ='ए'—'टित आत्मनेपदानाम्')=सुनु आ ए ('ए'='ऐ'—'एत ऐ', आ+ऐ='ऐ'—'वृद्धि', उ='ओ'=गुण, 'ओ'='अव्' आदेश)=सुनवै ।

√षु (=सु) धातु, लोट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	सुनोतु, सुनुतात्	सुनुताम्	सुन्वन्तु
म० पु०	सुनु	सुनुतम्	सुनुत
उ० पु०	सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम

(आत्मनेपद)

प्र० पु०	सुनुताम्	सुन्वाताम्	सुन्वताम्
म० पु०	सुनुष्व	सुन्वाथाम्	सुनुध्वम्
उ० पु०	सुनवै	सुनवावहै	सुनवामहै

(९) लङ्—असुनोत्, असुनुताम्, असुन्वन् इत्यादि । (१०) विधिलिङ्—सुनुयात् । (११) आशीर्लिङ् में (यासुट् होने पर 'स्' का संयोगादि लोप 'अ' को दीर्घ—'अकृत्सार्वधातुकयोः')=सूयात् (१२) आत्मनेपद आशीर्लिङ् में—सोसीष्ट ।

(७५५) पद—स्तुसुधूञ्भ्यः, परस्मैपदेषु । अनुवृत्ति—इट्, सिचि । विधिसूत्र ।

अभिषुणोति । 'प्राक्सितादि'ति. षत्वम् । अभ्यषुणोत् । (७५६) सुनोतेः स्यसनोः ८।३।११७ । स्ये सनि च परे सुञः सस्य षो न स्यात् । विसोष्यति । षिञ् बन्धने । विसिनोति । सिनुते । सिषाय । सिष्ये । चिञ् चयने । प्रणिचिनोति । चिनुते । (७५७)

सिच इत्यादिना । असावीत् । षुधातोः 'धात्वादेः षः सः' इत्यनेन षस्य सत्वे, लुङि लकारे, तत्स्थाने परस्मैपदे प्रथमपुरुषैकवचने तिप्यनुबन्धलोपे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यनेनाडागमेऽनुबन्धलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे, च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिच्यनुबन्धलोपे 'अ सु स् त्' इति जाते 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' इति सिच इटि अनुबन्धलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'इट ईटि' इति सिचो लोपे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ, अवादेशे सवर्णदीर्घे संयोगे च कृते 'असावीत्' इति । आत्मनेपदे तु—'अ सु स् त' इति स्थिते, सिच आर्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे ओकारे 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेन षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे 'असोष्ट' इति ।

(७५६) सुनोतेः स्यसनोरिति । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । 'न रपर' इत्यस्मान्नेत्यनुवर्तते । तदाह—स्ये सनीत्यादि । विसोष्यति । 'वि + सोष्यति' इत्यत्र

मूलार्थ—परस्मैपद के विषय में स्तु, सु, धू धातुओं से परवर्ती 'सिच्' को इट्='इ' होता है । असावीत् । असोष्ट इत्यादि ।

विमर्श—'इडत्यर्तिव्ययतीनाम्' (७।२।६६) से आगमवाचक पद 'इट्' तथा 'अञ्जेः सिचि' (७।२।७१) से 'सिचि' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'ष्टुञ्, षुञ् तथा धूञ् से परस्मैपद परे रहते सिच् को इट् (=इ) का आगम होता है' ।

उदाहरण—(१) √षु ('ष्'='स्'—'धात्वादेः')—सु+लट् (=तिप्=ति, अट्='अ', इकारलोप—'इतश्च' च्लि, च्लि=सिच्='स्', इट्='इ' आगम—'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु', ईट्='ई'—'अस्तिसिचोऽपृक्ते', 'स्' का लोप—'इट ईटि' 'उ'='औ' वृद्धि—'सिचि वृद्धिः' इ+ई='ई'—सवर्णदीर्घ)=असावीत् । आत्मनेपद में—असोष्ट (गुण, षत्व, ष्टुत्व) । (२) अभि+सुनोति ('स्'='ष्' षत्व—'उपसर्गात्सुनोति०', णत्व—'अट्कुप्वाङ्०')=अभिषुणोति । (३) अभि+असुनोत् (यण्, यहाँ अट् के व्यवधान में भी षत्व—'अडभ्यासव्यवायेऽपि' णत्व)=अभ्यषुणोत् ।

(७५६) पद—सुनोतेः, स्यसनोः । **अनुवृत्ति**—न । **विधिसूत्र (निषेध)** ।

मूलार्थ—'स्य' और 'सन्' के परवर्ती रहते 'सुञ्' धातु सम्बन्धी सकार को षत्व नहीं होता । विसोष्यति ।

विमर्श—'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' का अधिकार है । 'न रपर०' (८।३।११०) से 'न' पद की अनुवृत्ति आती है । अतः "स्य प्रत्यय या सन् प्रत्यय के परवर्ती रहते उपसर्ग से परे 'सुञ्' धातु के अवयव सकार के स्थान में षकार आदेश नहीं होता ।"

उदाहरण—(१) वि+सोष्यति (लृट्)—यहाँ 'उपसर्गात्सुनोति' से प्राप्त षत्व का 'सुनोतेः स्यसनोः' से निषेध ।

√**'षिञ्'** धातु का अर्थ 'बाँधना' है । (१) √षि+लट् ('ष्'='स्'—'धात्वादेः', ल्=तिप्=ति, श्नु='नु' गुण)=सिनोति । वि+सिनोति (प्राप्त षत्व का 'सुनोतेः स्यसनोः' से निषेध)=विसिनोति । आत्मनेपद में—सिनुते । (२) √षि+लिट् (सत्व, ल्=तिप्=णल्='अ' द्वित्व, वृद्धि, 'आय्' आदेश, षत्व)=सिषाय । आत्मनेपद—सिष्ये ।

विभाषा चेः ८।३।५८। अभ्यासाच्चेः कुत्वं वा स्यात्सनि लिटि च। चिकाय-चिचाय। चिक्ये-चिच्ये। अचैषीत्। अचेष्ट। स्तृञ् आच्छादने। स्तृणोति। स्तृणुते। तस्तार। तस्तरतुः। तस्तरुः। 'ऋतश्च संयोगादेरि'ति गुणः। तस्तरे। 'गुणोऽर्ती'ति

'उपसर्गात्सुनोति' इत्यनेन प्राप्तं षत्वं 'सुनोतेः स्यसनोः' इत्यनेन निषिध्यते। **चिनोति।** 'चिञ् चयने' इत्यस्माद्धातोर्लटि, तिपि, 'स्वादिभ्यः श्नुः' इति श्नौ, शलोपे 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वे गुणाभावे, श्नोरुकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन गुणे 'चिनोति' इति। आत्मनेपदे—'चिनुते' इति।

(७५७) **विभाषा चेरिति।** अत्र 'चजोः कुः घिण्ण्यतोः' इत्यतः कुग्रहणमनुवर्तते, 'अभ्यासाच्च' इत्यतः 'अभ्यासादि'ति 'सन्लिटोर्जेः' इत्यतः सन्लिटोरिति च। तदाह—**अभ्यासादिति। चिकाय, चिचाय।** चिधातोर्लिटि तत्स्थाने तिपि, तिपो णलादेशेऽनु-

---

√चिञ् (चि) धातु का अर्थ—'चुनना' है। (१) लट्—चिनोति। आ० प०—चिनुते।

√चिञ् धातु, लट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	चिनोति	चिनुतः	चिन्वन्ति
म० पु०	चिनोषि	चिनुथः	चिनुथ
उ० पु०	चिनोमि	चिन्वः, चिनुवः,	चिन्मः, चिनुमः

(आत्मनेपद)

प्र० पु०	चिनुते	चिन्वाते	चिन्वते
म० पु०	चिनुषे	चिन्वाथे	चिनुध्वे
उ० पु०	चिन्वे	चिन्वहे, चिनुवहे	चिन्महे, चिनुमहे

(७५७) पद—विभाषा चेः। **अनुवृत्ति**—कु, अभ्यासात्, सन्लिटोः।

मूलार्थ—अभ्यास से उत्तरवर्ती 'चि' धातु के अवयव चकार को विकल्प से कुत्व होता है, सन् और लिट् के परवर्ती रहते। चिकाय-चिचाय, चिक्ये इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में—'चजोः कुः घिण्ण्यतोः' (७।३।५२) से 'कु', 'अभ्यासाच्च' (७।३।५५) से 'अभ्यासात्' और 'सन्लिटोर्जेः' (७।३।५७) से 'सन्लिटोः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"अभ्यास से परवर्ती चि धातु के चकार को कुत्व (क-वर्ग) विकल्प से होता है, सन् तथा लिट् के परे रहते।"

उदाहरण—(१) √चि+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'च्'='क्' आदेश विकल्प से—'विभाषा चेः')—चि कि अ ('इ'='ऐ' 'वृद्धि'—'अचो ञ्णिति', ऐ='आय्' आदेश)=चिकाय। कुत्व के अभावपक्ष में—चिचाय। आत्मनेपद में भी विकल्प से कुत्व—चिक्ये, चिच्ये।

लुट्—चेता। **लृट्**—चेष्यति, चेष्यते। **लोट्**—चिनोतु, चिनुताम्। **लङ्**—अचिनोत्। अचिनुत। **विधिलिङ्**—चिनुयात्। आ० प०—चिन्वीत। आशीर्लिङ्—चीयात्। आ० प०—चेषीष्ट। (२) √चि+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्=स)—अचि स् त (ईट्='ई', वृद्धि—'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु', षत्व)=**अचैषीत्। आ० प० में—अचेष्ट (सिच्, गुण, षत्व, ष्टुत्व)।**

गुणः । स्तर्यात् । (७५८) **ऋतश्च संयोगादेः ७।२।४३ ।** ऋदन्तात्संयोगादेर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात् तङि । स्तरिषीष्ट—स्तृषीष्ट । अस्तरिष्ट—अस्तृत । धुञ् कम्पने । धुनोति । धुनुते । दुधाव । दुधुवे । अधौषीत् । अधोष्यत् । धूञ् कम्पने । धूनोति ।

बन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'त्यनेन द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'विभाषा चेः' इत्यनेन विकल्पेन कुत्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आयादेशे च कृते 'चिकाय' इति । कुत्वाऽभावपक्षे तु 'चिचाय' इति रूपम् ।

(७५८) **ऋतश्चेति** । 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इत्यनुवर्तते, 'इट् सनि वे'त्यतः इड्वेति च । तदाह—**ऋदन्तादित्यादिना । स्तरिषीष्ट** । 'स्तृञ्धातोराशीर्लिङि त प्रत्यये 'लिङः सीयुट्' इत्यनेन सीयुटि अनुबन्धलोपे, 'सुट् तिथोः' इत्यनेन सुटचनुबन्धलोपे 'स्तृ सीय् स् त' इति जाते 'लोपो व्योर्वलि' इत्यनेन यकारलोपे 'ऋतश्च संयोगादेः' इति विकल्पेन इडागमेऽनुबन्धलोपे 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणे रपरे, उभयोः सकारयोः

√स्तृञ् (स्तृ) धातु का अर्थ—आच्छादन (=ढँकना) है । (१) √स्तृ+लट् (=तिप् =ति, श्नु=नु, गुण, 'न्'='ण्'—णत्व—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्')=स्तृणोति । आ० पद में—स्तृणुते । (२) √स्तृ+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'—'उरत्' रपर 'शर्पूर्वाः खयः' से खय् शेष, 'स्' का लोप—'हलादिः शेषः')—त स्तृ अ ('ऋ'='अ'—गुण—'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' रपर, वृद्धि—'अत उपधायाः')=तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरुः । आत्मनेपद में—तस्तरे । तस्तराते । तस्तरिरे । (३) √स्तृ+आशीर्लिङ् (=तिप्=ति, यासुट्='यास्' 'स्' का लोप, इकारलोप)—स्तृ या त् ('ऋ'='अ'—गुण—'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः', रपर)=स्तर्यात् ।

(७५८) पद—ऋतः, च, संयोगादेः । **अनुवृत्ति**—लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु, इट्, वा । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—आत्मनेपद के विषय में संयोगादि ऋदन्त धातु से परवर्ती लिङ् और सिच् को विकल्प से 'इट्' का आगम होता है । स्तरिषीष्ट । स्तृषीष्ट । अस्तरिष्ट इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' (७।२।४२) सूत्र तथा 'इट् सनि वा' (७।२।४१) से 'इट्' और 'वा' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"आत्मनेपद के विषय में संयोग है आदि में जिसके, ऐसे ऋकारान्त धातु से उत्तरवर्ती लिङ् सिच् को विकल्प से इट् (=इ) का आगम होता है ।"

उदाहरण—(१) √स्तृ+आशीर्लिङ् (=त, सीयुट्='सीय्', सुट्='स्'—'सुट् तिथोः' यकारलोप)—स्तृ सी स् त (विकल्प से इट्='इ'—ऋतश्च संयोगादेः' 'ऋ'='अ'—गुण—'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' रपर, दोनों सकार के स्थान में षत्व, ष्टुत्व)=स्तरिषीष्ट । 'इट्' के अभावपक्ष में—स्तृषीष्ट ('उश्च' से कित् होने से गुण का अभाव) । (२) √स्तृ+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', ईट्—'अस्तिसिचोऽपृक्ते', वृद्धि—'वदव्रज०' रपर, षत्व)=अस्तार्षीत् । आत्मनेपद में—√स्तृ त (च्लि, च्लि=सिच्='स्' अट्, गुण—'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः', विकल्प से इट्, षत्व, ष्टुत्व)=अस्तरिष्ट । इट् के अभावपक्ष में—अ स्तृ स् त ('स्' का लोप—'ह्रस्वादङ्गात्' कित् होने से गुण का अभाव)—अस्तृत ।

√धुञ् (धू) धातु का अर्थ—'कँपाना, हिलाना' है । (१) लट्—प० प०—धुनोति । आ० प०—धुनुते । (२) √धू+लिट् (=तिप्=णल्='अ' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ध्'='द्'—

धूनुते । 'स्वरतिसूती'ति वेट् । दुधविथ-दुधोथ । किति लिटि तु । (७५९) श्र्युकः किति ७।२।११ । श्रिञ, एकाच उगन्ताच्च गित्किनोरिण्न स्यात् । इति प्राप्ते । क्रादिनियमान्नित्यमिट् । दुधुविव । दुधुविम । अधावीत् । अधविष्ट-अधोष्ट । कृञ् हिंसायाम् । कृणोति । कृणुते । चकार । चकर्थ । चक्रे । क्रियात् । कृषीष्ट । अकार्षीत् ।

षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन ष्टुत्वे संयोगे च 'स्तरिषीष्ट' इति । इडभावपक्षे— 'स्तृषीष्ट' इति ।

(७५९) **श्र्युकः कितीति** । 'एकाच उपदेशे' इत्यतः एकाच इति, 'नेड् वशि कृति' इत्यतो नेडित्यनुवर्तते । तदाह—**श्रिञ इत्यादिना । अधावीत् ।** धूञ्धातोर्लुङि तिप्यनुबन्धलोपे च्लौ, च्लेः स्थाने सिच्यनुबन्धलोपे 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' इत्यनेन इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईटि, 'इट ईटि' इति सकारलोपे, 'इतश्चे'तीकारलोपे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति उकारस्य वृद्धौ आवादेशे सवर्णदीर्घे संयोगे च 'अधावीत्' इति सिद्धम् ।

'अभ्यासे चर्च')—दु धू अ ('ऊ'='औ' वृद्धि—'अचो ञ्णिति', 'औ'='आव्')=दुधाव । आ० पद में—दुधुवे (उवङ्) । (३) लुङ्—अधौषीत् । लृङ्—अधोष्यत् ।

√धूञ् धातु का भी 'कँपाना' अर्थ है । (१) लट्—धूनोति । आ० प०—धूनुते । (२) √धू+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, 'ध्'='द्'—'अभ्यासे चर्च')—दुधू थ (विकल्प से इट्='इ'—'स्वरतिसूति०', गुण, अव् आदेश)—दुधविथ । 'इट्' के अभाव-पक्ष में—दुधोथ ।

(७९६) पद—श्र्युकः, किति । **अनुवृत्ति**—एकाचः, न । **विधिसूत्र (निषेध) ।**

मूलार्थ—श्रिञ्, एकाच् और उगन्त धातुओं से परवर्ती गित् कित् प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता । निषेध की प्राप्ति होने पर क्रादिनियम से नित्य इट् । दुधुविव । दुधुविम । अधावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'एकाच उपदेशे०' (७।२।१०) से 'एकाचः' तथा 'नेड् वशि कृति' (२।७।८) से 'न' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अतः "श्रि और एकाच् उगन्त धातु से परवर्ती गित् कित् प्रत्यय को 'इट्' का आगम नहीं होता ।"

उदाहरण—(१) √धू+लिट् (वस्=व, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, जश्त्व)—दु धू व ('स्वरति०' से वैकल्पिक इट् की प्राप्ति, 'श्र्युकः किति' से निषेध प्राप्त होने पर, उसका बाधकर क्रादिनियम से नित्य इट्='इ' उवङ्='उव्')=दुधुविव । (२) लिट् उ० पु० बहु०—दुधुविम । (३) √धू+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्')—अ धू स् त (इट्='इ'—'स्तुसुधूञ्भ्यः', ईट्='ई', 'स्' का लोप—'इट ईटि' वृद्धि—'सिचि वृद्धि०' आव् आदेश)=अधावीत् । आत्मनेपद में—अधविष्ट । अधोष्ट । (विकल्प से इट्—'स्वरतिसूति०') ।

√कृञ् (कृ) धातु का अर्थ—'हिंसा करना' है । (१) √कृ+लट् (=तिप्=ति, श्नु=नु, गुण, णत्व—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्')=कृणोति । आ० प०—कृणुते (२) लिट्—चकार । आ० प०—चक्रे । (३) लिट् म० पु० एकव०—चकर्थ । (४) आशीर्लिङ् (प० प०)—क्रियात् । आ० प०—कृषीष्ट । (५) लुङ् प० प०—अकार्षीत् । आ० प०—अकृत ।

√वृञ् धातु का अर्थ—'वरण करना' है । (१) लट् (प० प०)—वृणोति । आ० प०—वृणुते ।

अकृत । वृञ् वरणे । वृणोति । वृणुते । (७६०) बभूथाऽऽततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे ७।२।६४। एषां वेद इडभावो निपात्यते । तेन भाषायां थलीट् । ववरिथ-ववृथ । ववृव । ववृम । ववृवहे । 'वृतो वा' । वरीता-वरिता । (७६१) लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ७।२।४२। वृङ्वृञ्भ्यामृदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात्तङि । (७६२) न लिङि ७।२।३९। वृतो लिङ इटो न दीर्घः । वरिषीष्ट-वृषीष्ट । अवारीत् । अवरिष्ट-

---

(७६०) बभूथेति । निगमो वेदः । वेदे—बभूथ, आततन्थ, जगृम्भ, ववर्थ एते निपाताः स्युरित्यर्थः ।

(७६१) लिङ्सिचोरिति । 'इट् सनि वे'त्यतः 'इड्वा' इति, 'वृतो वा' इत्यतः 'वृतः' इति चानुवर्तते । तदाह—वृङ्वृञ्भ्यामित्यादि ।

(७६२) न लिङीति । 'वृतो वे'त्यतः वृत इत्यनुवर्तते । 'लिङी'त्यत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी । 'आर्धधातुकस्येट्' इत्यत 'इडि'त्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्या विपरिणम्यते । 'ग्रहो-

---

(७६०) पद—बभूथाततन्थजगृम्भववर्थ इति, निगमे । **अनुवृत्ति**—थलि, न, इट् । **विधिसूत्र (निषेध)।**

मूलार्थ—बभूथ, आततन्थ, जगम्भ और ववर्थ—इन वेद के प्रयोगों में इट् का अभाव निपातित है । अतः लौकिक भाषा में थल् में इट् होता है । ववरिथ इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'आर्धधातुकस्येड्०' (७।२।३५) से 'इट्', 'न वृद्भ्यः' (७।२।५९) से 'न' तथा 'अचस्तास्वत्०' (७।२।६१) से 'थलि' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'वेद के विषय में बभूथ आदि शब्द थल् परे रहते निपातित किये जाते हैं ।' अर्थात् 'बभूथ' आदि में क्रादिनियम से प्राप्त इट् का अभाव हो जाता है । इससे यह ज्ञात होता है कि भाषा में √वृ को थल् में इट्, नित्य होता है ।

उदाहरण—(१) √वृ+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, इट्, गुण, रपर)—व व र् इ थ (उक्त सूत्र द्वारा वेद-विषयक निपातन होने से यहाँ इट् का अभाव नहीं हुआ, अपितु क्रादिनियम से नित्य इट्)=ववरिथ । (२) लिट्—उ० पु० द्वि० व०, बहुव०—ववृव, ववृम । आ० प०—ववृवहे । (३) √वृ+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्)—वृ तास् आ (इट्='इ' गुण, रपर, टि का लोप)—वरिता ('वृतो वा' से विकल्प से दीर्घ)=वरीता । दीर्घ के अभावपक्ष में—वरिता ।

(७६१) पद—लिङ्सिचोः, आत्मनेपदेषु । **अनुवृत्ति**—वा, वृतः, इट् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—वृङ्, वृञ् तथा दीर्घ ऋकारान्त धातु से परवर्ती लिङ् और सिच् को विकल्प से इट् होता है, आत्मनेपद के विषय में ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'इट् सनि वा' (७।२।४१) से 'इट् वा' तथा 'वृतो वा' से 'वृतः' पद की अनुवृत्ति आती है । अतः "वृङ्, वृञ् तथा दीर्घ ऋकारान्त धातुओं से उत्तरवर्ती आत्मनेपद-परक लिङ् तथा सिच् को विकल्प से इट् का आगम होता है ।"

(७६२) पद—न, लिङि । **अनुवृत्ति**—वृतः, दीर्घः, इट् । **विधिसूत्र (निषेध)।**

मूलार्थ—वृङ्, वृञ् और दीर्घ ऋकारान्त धातु से परवर्ती लिङ् सम्बन्धी इट् को दीर्घ नहीं होता । वरिषीष्ट, वृषीष्ट इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'वृतो वा' (७।२।३८) से 'वृतः' 'आर्धधातुकस्येड्०' (७।२।३५)

अवरोष्ट । अवृत । अवरिष्यत–अवरीष्यत । टुदु उपतापे । दुनोति । दुनुतः । दुन्वन्ति । दुदाव । दोता । हि गतौ वृद्धौ च । (७६३) हिनुमीना ४।८।१५ । उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्यैतयोर्नस्य णः स्यात् । प्रहिणोति । (७६४) हेरचङि ७।३।५६ । अभ्यासात् परस्य हिनोतेर्हस्य कुत्वं स्यान्न तु चङि । जिघाय । आप्लृ व्याप्तौ । आप्नोति ।

ऽलिटि दीर्घः' इत्यस्माद् दीर्घ इत्यनुवर्तते । तदाह—**वृत इति । वरिषीष्ट ।** इट्पक्षे 'वृत्तो वे'ति प्राप्तो दीर्घो 'न लिङि' इत्यनेन निषिध्यते । वृषीष्टेति । इडभावपक्षे 'उश्चे'ति कित्त्वान्न गुणः ।

(७६३) **हिनुमीना ।** 'रषाभ्यां नो णः' इत्यनुवर्तते, 'उपसर्गादसमासेऽपी'त्यत उपसर्गादिति च । अत आह—**उपसर्गस्थादिति ।**

(७६४) **हेरचङीति ।** 'चजोः कुः' इत्यतः कुरित्यनुवर्तते; 'अभ्यासाच्चे'त्यत अभ्यासादिति, 'हो हन्तेरि'त्यत ह इति चानुवर्तते । तदाह—**अभ्यासात्परस्येति ।**

से 'इट्' तथा 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७।२।३७) से 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"वृङ्, वृञ् और दीर्घ ऋकारान्त धातुओं से परवर्ती लिङ् सम्बन्धी इट् को दीर्घ नहीं होता ।"

उदाहरण—(१) √वृ+आशीर्लिङ् (=त, सीयुट्='सीय्', सुट्='स्', 'य्' का लोप)—वृ सी स् त (विकल्प से इट्='इ'—'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' गुण, रपर, दोनों 'स्' को षत्व, ष्टुत्व, 'वृतो वा' से प्राप्त दीर्घ का 'न लिङि' से निषेध)=वरिषीष्ट । इट् के अभावपक्ष में 'उश्च' से कित्त्व, गुण का अभाव—वृषीष्ट । (२) लुङ् प० प०—अवारीत् । आ० पद में—अ वृ त (च्लि=सिच्='स्' इट् विकल्प से—'लिङ्सिचो', गुण, रपर, षत्व, ष्टुत्व, विकल्प से दीर्घ—'वृतो वा')=अवरीष्ट । दीर्घ के अभावपक्ष में—अवरिष्ट । इडागम के अभावपक्ष में (कित्त्व, 'स्' का लोप, गुणाभाव)=अवृत । (३) लृङ् (आ० पद)—अवरिष्यत । अवरीष्यत (विकल्प से दीर्घ) ।

√ टुदु (=दु) धातु का अर्थ—'उपताप' (कष्ट देना) है । 'टु' की इत्संज्ञा, लोप—'आदिर्ञिटुडवः' । (१) √दु+लट् (=तिप्=ति, श्नु='नु' गुण)=दुनोति । दुनुतः । दुन्वन्ति । (२) लिट्—दुदाव । (३) लोट्—दोता ।

√हि धातु का अर्थ 'जाना, बढ़ना' है ।

(७६३) पद—हिनुमीना । **अनुवृत्ति**—रषाभ्यां नो णः, उपसर्गस्थात । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपसर्ग में स्थित निमित्त से परवर्ती 'हिनु' और 'मीना' सम्बन्धी नकार को णकार होता है । प्रहिणोति ।

विमर्श—'उपसर्गादसमासेऽपि०' (८।४।१४) से 'उपसर्गात्' तथा 'रषाभ्यां नो णः' (८।४।१) से 'रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति आती है । अतः "उपसर्ग में स्थित निमित्त (र्, ष्) से परवर्ती 'हिनु' तथा 'मीना' के नकार के स्थान में णकार आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) प्र+√हि+लट् (=तिप्='ति', श्नु='नु' गुण, 'न्'='ण्' 'हिनुमीना')=प्रहिणोति ।

(७६४) पद—हेः, अचङि । **अनुवृत्ति**—अभ्यासात , हः, कुः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अभ्यास से परवर्ती हिनोति (हि) धातु के हकार को कुत्व होता है, चङ् के परे कुत्व नहीं होता । जिघाय इत्यादि ।

आप्नुतः। आप्नुवन्ति। आप्नुवः। आप्ता। आप्नुहि। लृदित्त्वादङ्। आपत्। शक्लृ शक्तौ। शक्नोति। शशाक। अशकत्। राध साध संसिद्धौ। राध्नोति। (७६५) **राधो हिंसायाम् ६।४।१२३।** राधो हिंसायाम् एत्वाभ्यासलोपौ स्तः, किति, लिटि, सेटि थलि च। अपरेधतुः। अपरेधुः। रेधिथ। राद्धा। साध्नोति। ससाध। साद्धा। असात्सीत्। असाद्धाम्। असात्स्यत्। ञिधृषा प्रागल्भ्ये। धृष्णोति। दधर्ष। धर्षिता।

जिघाय। हिधातोर्लिटि तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्ये'ति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अभ्यासे चर्चे'ति चर्त्वे 'हेरचङि' इति हकारस्य कुत्वेन घकारे वृद्धौ आयादेशे 'जिघाय' इति।

(७६५) **राधो हिंसायामिति।** 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चे'त्यत एदिति, अभ्यास-

---

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'अभ्यासाच्च' (७।३।५५) से 'अभ्यासात्', 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (७।३।५४) से 'हः' तथा 'चजोः कुः' (७।३।५२) से 'कुः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—"अभ्यास से उत्तरवर्ती 'हि' धातु के हकार को कवर्गादेश होता है; किन्तु चङ् परे हो तो कुत्व नहीं होता।"

उदाहरण—(१) √हि+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व—'लिटि धातोरनभ्यासस्य' अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, चर्त्व—'अभ्यासे चर्च')—जि हि अ ('ह्'='घ्'—कुत्व—'हेरचङि' वृद्धि, आय् आदेश)=जिघाय।

√आप्लृ (=आप्) धातु का अर्थ—'व्याप्त होना' है। (१) √आप्+लट् (=तिप्=ति, श्नु, गुण)=आप्नोति, आप्नुतः, आप्नुवन्ति इत्यादि। (२) लुट्—आप्ता। (३) लोट् म० पु० एकव०—आप्नुहि। (४) √आप्+लुङ् (=तिप्=ति, आट्, वृद्धि—'आटश्च', च्लि, च्लि=अङ्='अ' 'पुषादि०' इकारलोप)=आपत्।

√शक्लृ (=शक्) धातु का अर्थ—'सकना' है। (१) √शक्+लट् (=तिप्=ति, श्नु =नु, गुण)=शक्नोति। (२) लिट्—शशाक। (३) लुङ्—अशकत्।

√राध और साध का अर्थ—'सिद्ध होना' है।

(७६५) **पद**—राधः, हिंसायाम्। **अनुवृत्ति**—थलि, च, सेटि, अतः, लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, किति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—हिंसार्थक राध् धातु को एत्व और अभ्यास का लोप होता है, कित् लिट् सेट् थल् के परवर्ती रहते। अपरेधतुः, अपरेधुः इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'थलि च सेटि' (६।४।१२१) सूत्र, 'अत एक०' (६।४।१२०) से 'अतः लिटि', 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६।४।११९) से एत्, 'अभ्यासलोपश्च' तथा 'गमहन०' (६।४।९८) से 'किति' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"कित् लिट् अथवा सेट् थल् के परवर्ती रहते हिंसार्थक राध् धातु को एत्व और अभ्यास का लोप होता है।"

(वा०) श्रन्थि०—श्रन्थ, ग्रन्थ, दम्भ और स्वञ्ज धातु से परवर्ती लिट् विकल्प से कित् होता है।

(वा०) दम्भेश्च०—कित् लिट् और सेट् थल् के परवर्ती रहते दम्भ् धातु को एत्व और अभ्यास का लोप होता है।

उदाहरण—(१) अप+√राध्+लिट् (=तस्=अतुस्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष)—र राध् अतुस् ('आ'='ए' एत्व और अभ्यास का लोप—'राधो हिंसायाम्', स्

दम्भु दम्भने । 'अनिदितामि'ति नलोपः । दभ्नोति । ददम्भ । * श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वा * । कित्त्वपक्षे नलोपः । तस्याऽऽभीयत्वादसिद्धत्वेनैत्वाभ्यासलोपयोरप्राप्तौ । * दम्भेश्च एत्वाभ्यासलोपौ वक्तव्यौ * । देभतुः । ददम्भतुः । देभुः । ददम्भुः । दम्भिष्यति । दभ्यात् । तृप प्रीणने । (७६६) **क्षुभ्नादिषु च ८।४।३९** । क्षुभ्नादिषु नस्य न णत्वम् । तृप्नोति । ततर्प । तर्पिता । अशू व्याप्तौ, सङ्घाते च । अश्नुते । (७६७) **अश्नोतेश्च ६।४।७२** । दीर्घादभ्यासावर्णात्परस्य नुम् स्यात् । आनशे । अशिता । 'व्रश्चे'ति षः । अष्टा । अशिष्यते–अक्ष्यते । अश्नुताम् । आश्नुत । अश्नुवीत । अक्षीष्ट । अशिषीष्ट । आशिष्ट–आष्ट । आक्षाताम् । आशिष्यत–आक्ष्यत ।

इति स्वादिप्रकरणम् ।

लोप इति, 'गमहन०' इत्यतः कितीति, 'अत एकहल्मध्ये' इत्यतः लिटीति 'थलि च सेटी'ति सूत्रं चानुवर्तते । अत आह—**एत्वेत्यादिना** ।

(७६६) **क्षुभ्नादिषु चेति** । क्षुभ्नादिगणपठितानां धातूनां णत्वं न भवतीति सूत्रार्थः ।

(७६७) **अश्नोतेश्चेति** । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यत 'अभ्यासस्ये'त्यनुवर्तते ।

=र्=:)=अपरेधतुः । (२) लिट् प्र० पु० बहुव०—अपरेधुः । (३) √राध्+लिट् (सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष, क्रादिनियम से नित्य इट्='इ', एत्व, अभ्यास का लोप—'राधो हिंसायाम्')=रेधिथ । (४) लुट्—राद्धा ।

(१) √साध्+लट् (=तिप्=ति, श्नु='नु' गुण)=साध्नोति । (२) लिट्—ससाध । (३) लुट्—साद्धा । (४) लुङ्—असात्सीत् । (५) लृङ्—असात्स्यत् ।

√ञिधृषा (=धृष्) धातु—'प्रागल्भ्य' अर्थ में है । (१) √धृष्+लट् (=तिप्=ति, श्नु=नु, गुण, णत्व)=धृष्णोति । (२) लिट्—दधर्ष । (३) लुट्—धर्षिता ।

√दम्भु (=दम्भ्) का अर्थ 'दम्भ करना' है । (१) √दम्भ्+लट् (=तिप्=ति, श्नु=नु, गुण, 'न्' का लोप—'अनिदिताम्०')=दभ्नोति । (२) लिट्—ददम्भ । (३) √दम्भ्+लिट् (=तस्=अतुस्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—द दम्भ् अतुस् (विकल्प से कित्त्व—'श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वा', 'म्' का लोप—'अनिदिताम्०' नलोप-विधायक सूत्र आभीय होने के कारण असिद्ध होने से एत्वाभ्यास लोप की प्राप्ति न होने पर 'दम्भेश्च एत्वाभ्यासलोपौ वक्तव्यौ' वार्तिक से एत्व और अभ्यास का लोप, स्=र्=:)=देभतुः । कित्त्व के अभावपक्ष में—द दम्भ् अतुस् (स्=र्=:)=ददम्भतुः । (४) लिट् प्र० पु० बहुव०—देभुः, ददम्भुः । (५) लृट्—दम्भिष्यति । (६) आशीर्लिङ्—दभ्यात् ।

√तृप का अर्थ—'तृप्त होना' है ।

(७६६) **पद**—क्षुभ्नादिषु च । **अनुवृत्ति**—न, रषाभ्यां नो णः । **विधिसूत्र** । (निषेध) ।

मूलार्थ—क्षुभ्नादि गण पठित शब्दों में नकार को णकार नहीं होता । तृप्नोति ।

विमर्श—'न भाभू०' (८।४।३३) से 'न' तथा 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से 'रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति आती है । अतः "क्षुभ्नादिगण पठित शब्दों के नकार को भी णकार आदेश नहीं होता ।"

अथ तुदादिप्रकरणम्

तुद व्यथने । **(७६८) तुदादिभ्यः शः ३।१।७७ ।** शपोऽपवादः । तुदति । तुदतः । तुदते । तुतोद । तुतोदिथ । तुतुदे । तोत्ता । तोत्स्यति । तोत्स्यते । तुदतु ।

तस्मान्नुट्' इति च । तच्छब्देनात्र 'अत आदेः' इति कृतदीर्घ अकारः परामृश्यते । अत आह—**दीर्घादित्यादि । आनशे ।** अश्धातोर्लिटि तङि धातोर्द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'अत आदेः' इत्यभ्यासाकारस्य दीर्घे 'अश्नोतेश्च' इति नुटि 'लिटस्तझयोः' इत्यनेन 'त' इत्यस्य स्थाने एशादेशेऽनुबन्धलोपे 'आनशे' इति सिद्धम् ।

इति स्वादिप्रकरणम् ।

अथ शविकरणा धातवो निरूप्यन्ते—

(७६८) तुदादिभ्यः श इति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे तुदादिभ्यः स्वार्थे शः

उदाहरण—(१) √तृप्+लट् (=तिप्=ति, श्नु=नु, गुण, प्राप्त णत्व का 'क्षुभ्नादिषु च' से निषेध)=तृप्नोति । (२) लिट्—ततर्प । (३) लुट्—तर्पिता ।

√अशू (=अश्) धातु का अर्थ—'व्याप्त होना व संघात' है । (१) √अश्+लट् (=त, श्नु='नु' 'टि' को एत्व)=अश्नुते ।

(७६७) पद—अश्नोतेः, च । **अनुवृत्ति**—तस्मान्नुट्, अभ्यासस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अश् धातु के अभ्यास सम्बन्धी दीर्घ आकार से परे नुट् का आगम होता है । आनशे । अशिता इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (७।४।७१) से 'तस्मात्' तथा 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आती है । 'तत्' शब्द से 'अत आदेः' से विहित दीर्घ आकार का ग्रहण होता है । इस प्रकार—"अश् धातु के अवयव दीर्घ आकार से परे नुट् का आगम होता है ।"

उदाहरण—(२) √अश्+लिट् (=त=एश्='ए', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास के 'अ'='आ' दीर्घ—'अत आदेः')—आ अश् ए (नुट्='न्'—'अश्नोतेश्च')= आनशे । (३) लुट्—अशिता (इट् विकल्प) । (४) इट् के अभावपक्ष में—√अश्+लुट् (=त=डा='आ', तास्, 'श्'='ष्'—'व्रश्च०' 'त्'='ट्'—ष्टुत्व, टिलोप)=अष्टा । (५) √अश्+लृट् (=त, स्य, विकल्प से इट्—'स्वरतिसूति०' षत्व, 'टि' को एत्व)=अशिष्यते । इट् के अभावपक्ष में—अश् स्य ते ('श्'='ष्'—'व्रश्च', 'ष्'='क्'—'षढोः०' षत्व, क्+ष्= क्ष्)=अक्ष्यते । (६) लोट्—अश्नुताम् । (७) लङ्—आश्नुत । (८) विधिलिङ्—अश्नुवीत । (९) आशीर्लिङ् में विकल्प से इट्—अशिषीष्ट, अक्षीष्ट । (१०) लुङ् में विकल्प से इट्—आशिष्ट । इट् के अभावपक्ष में 'झलो झलि' से 'स्' का लोप—आष्ट । (११) लुङ् प्र० पु० द्वि०—आक्षाताम् । (१२) लृङ् विकल्प से इट्—आशिष्यत, आक्ष्यत ।

स्वादि-प्रकरण समाप्त ।

प्रस्तुत प्रकरण में 'श' विकरण वाली धातुओं के रूपों की रचना-प्रक्रिया का निर्देशन किया जा रहा है ।

तुदताम् । अतौत्सीत् । अतुत्त । णुद प्रेरणे । नुदति । नुदते । नुनोद । नुनुदे । नोत्ता । नोत्स्यति । नोत्स्यते । भ्रस्ज पाके । 'ग्रहिज्यावयी'ति सम्प्रसारणम् । सस्य श्चुत्वेन

स्यादिति सूत्रार्थः । **तुदतीति** । तुद्धातोर्लटि तिपि, सार्वधातुकसंज्ञायां लघूपधगुणं बाधित्वा नित्यत्वात् 'तुदादिभ्यः शः' इत्यनेन शे कृते अनुबन्धलोपे, तस्य अपित्त्वात् 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वाद् गुणाभावे 'तुदति' इति । आत्मनेपदे—तुदते इति ।

√तुद धातु का अर्थ—'पीडा पहुँचाना' है । 'स्वरितेत्' होने से यह धातु उभयपदी है ।

(७६८) पद्—तुदादिभ्यः, शः । **अनुवृत्ति**—कर्तरि, सार्वधातुके । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तुदादिगण पठित धातुओं से 'श' विकरण होता है । यह शप् का अपवाद है । तुदति । तुदते इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'कर्तरि' तथा 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परवर्ती रहते तुदादिगण की धातुओं से श (=अ) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—(१) √तुद्+लट् (=तिप्=ति, शप् का बाधकर श='अ'—'तुदादिभ्यः शः', 'श' के अपित् होने से ङिद्वद्भाव—'सार्वधातुकमपित्' अतः गुण का निषेध)=तुदति । आत्मनेपद में 'टि' को एत्व—तुदते । (२) √तुद्+लिट् (=तिप्=णल्='अ' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, गुण)=तुतोद । आ० प० में—तुतुदे । (३) √तुद्+लिट् (=सिप्=थल्='थ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—तु तुद् थ (क्रादिनियम से नित्य इट्='इ', गुण)= तुतोदिथ । (४) √तुद्+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, टिलोप, लघूपध गुण, 'द्'='त्' चर्त्व)=तोत्ता । (५) लृट् प० प०—तोत्स्यति । आ० प०—तोत्स्यते । (६) लोट्—तुदतु । आ० पद में—तुदताम् । (७) √तुद्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप—'इतश्च' च्लि, च्लि=सिच्='स्' ईट्='ई'—'अस्तिसिचोऽपृक्ते')—अ तुद् स् ई त् ('उ'='औ' वृद्धि—'वदव्रज०', 'द्'='त्'—चर्त्व—'खरि च')=अतौत्सीत् । आत्मनेपद में—अतुत्त ।

√तुद् धातु लुङ् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अतौत्सीत्	अतौत्ताम्	अतौत्सुः
म० पु०	अतौत्सीः	अतौत्तम्	अतौत्त
उ० पु०	अतौत्सम्	अतौत्स्व	अतौत्स्म

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अतुत्त	अतुत्साताम्	अतुत्सत
म० पु०	अतुत्थाः	अतुत्साथाम्	अतुद्ध्वम्
उ० पु०	अतुत्सि	अतुत्स्वहि	अतुत्स्महि

णुद् (=नुद्) धातु का अर्थ—'प्रेरणा देना' है । (१) लट् प० प०—नुदति । आ० प०—नुदते । (२) लिट् प० प०—नुनोद । आ० प०—नुनुदे । (३) लुट्—नोत्ता । (४) लृट्—नोत्स्यति । आ० प०—नोत्स्यते ।

√भ्रस्ज् धातु का अर्थ—'भूनना' है । यह धातु भी अनिट् है । (१) √भ्रस्ज्+लट् (=तिप्=ति, श='अ'—'तुदादिभ्यः शः', 'र्'='ऋ'—सम्प्रसारण—'ग्रहिज्या०', पूर्वरूप,

शः। तस्य जश्त्वेन जः। भृज्जति। भृज्जते। (७६९) **भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्** ६।४।४७। भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वा स्यादार्धधातुके। मित्वादन्त्यादचः परः। स्थानषष्ठीनिर्देशाद्रोपधयोर्निवृत्तिः। बभर्ज। बभर्जतुः। बभर्जुः। बभर्जिथ–बभर्ष्ठ। रमभावपक्षे—बभ्रज्ज। बभ्रज्जतुः। बभ्रज्जुः। बभ्रज्जिथ। 'स्कोरि'ति सलोपः। 'व्रश्चे'ति षः। बभ्रष्ठ। बभर्जे। बभर्जाते। बभर्जिरे।

---

(७६९) **भ्रस्जो रोपधयोरिति।** 'भ्रस्जः' इत्यत्रावयवषष्ठी, 'रोपधयोरि'त्यत्र स्थानषष्ठी। रश्च उपधा च तयोरिति विग्रहः। रेफादकार उच्चारणार्थः। 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम्। तदाह—**'भ्रस्जे' इत्यादिना। बभर्ज।** भ्रस्ज्धातोर्लिटि, तत्स्थाने तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'अभ्यासे चर्च' इति भकारस्य बकारे 'ब भ्रस्ज् अ' इति जाते, 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' इति रेफस्य उपधाभूतसकारस्य च स्थाने रमि प्राप्ते, 'मिदचोऽन्त्यात्परः'

'स्'='श्'--श्चुत्व, 'श्'='ज्'--'झलां जश् झशि')=भृज्जति। आत्मनेपद पक्ष में 'टि' को एत्व—भृज्जते।

(७६९) पद—भ्रस्जः, रोपधयोः, रम्, अन्यतरस्याम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आर्धधातुक के परवर्ती रहते 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ और उपधा के स्थान में विकल्प से 'रम्' का आगम होता है। बभर्ज इत्यादि।

विमर्श—'आर्धधातुके' (६।४।४६) का अधिकार है। अतः "आर्धधातुक के परे रहते 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ तथा उपधा दोनों के स्थान में विकल्प से 'रम्' का आगम होता है।"

मित्वादिति। 'मित्' होने के कारण 'रम्' अन्त्य अच् से परे होता है।

स्थानषष्ठी—सूत्रस्थ 'रोपधयोः' में स्थानषष्ठी है। अतः 'रम्' होने पर रेफ और उपधा सकार की निवृत्ति हो जाती है। अन्यथा स्थानषष्ठी का उच्चारण व्यर्थ हो जाता।

उदाहरण—(१) √भ्रस्ज्+लिट् (=तिप्=णल्='अ' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'भ्'='ब्'—'अभ्यासे चर्च')—ब भ्रस्ज् अ (रम्='र्' का विकल्प से आगम, रकारोत्तरवर्ती अकार से परे और रेफ तथा उपधा सकार की निवृत्ति)=बभर्ज। रम् के अभावपक्ष में—ब भ्रस्ज् अ ('स्'='श्'—श्चुत्व, 'श्'='ज्'—'झलां जश् झशि')=बभ्रज्ज। (२) लिट् प्र० पु० द्विवचन में विकल्प से 'रम्' होने पर—बभर्जतुः। रम् के अभावपक्ष में—बभ्रज्जतुः। (३) लिट् प्र० पु० बहुवचन में 'रम्' होने पर—बभर्जुः। रम् के अभावपक्ष में—बभ्रज्जुः। (४) √भ्रस्ज्+लिट् (=सिप्=थल्='थ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'भ्'='ब्'—चर्त्व)—ब भ्रस्ज् थ (रम्='र्' का आगम विकल्प से, 'र्' 'स्' की निवृत्ति, भारद्वाज-नियम से इट्='इ')=बभर्जिथ। इट् के अभावपक्ष में—ब भ्रस्ज् थ ('ज्'='ष्'—'व्रश्च०', 'र्, स्'=रम्='र्'—'भ्रस्जो०')—ब भ र् ष् थ ('थ्'='ठ्'—ष्टुत्व)=बभर्ष्ठ। रम् के अभाव तथा इट् के अभाव पक्ष में—ब भ्रस्ज् थ (ज्='ष्'—'व्रश्च०', 'स्' का लोप—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च', 'थ्'='ठ्'—ष्टुत्व=बभ्रष्ठ। (५) आत्मनेपद में विकल्प से 'रम्' आगम होने पर—बभर्जे, बभर्जाते, बभर्जिरे। रम् के अभावपक्ष में—बभ्रज्जे, बभ्रज्जाते, बभ्रज्जिरे। (६) √भ्रस्ज्+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, टिलोप)—भ्रस्ज् ता (विकल्प से रम्='र्' का आगम, रेफ सकार की निवृत्ति, 'ज्'='ष्'—'व्रश्च०', 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)=भर्ष्टा। रम् के अभावपक्ष में—

बभ्रज्जे । बभ्रज्जाते । बभ्रज्जिरे । भर्ष्टा–भ्रष्टा । भर्क्ष्यति–भ्रक्ष्यति । * क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन * । भृज्ज्यात् । भृज्ज्यास्ताम् । भृज्ज्यासुः । भर्क्षीष्ट–भ्रक्षीष्ट । अभार्क्षीत्–अभ्राक्षीत् । अभर्ष्ट–अभ्रष्ट । अभर्क्ष्यत्–अभ्रक्ष्यत् । अभर्क्ष्यत–अभ्रक्ष्यत । कृष विलेखने । कृषति । कृषते । चकर्ष । चकृषे । 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' । क्रष्टा–कर्ष्टा । कृक्षीष्ट । 'स्पृशमृशे'ति सिज्वा ।

इत्यकारात्परस्यैव रमागमेऽनुबन्धलोपे उपधायाः सस्य रेफस्य च निवृत्तौ 'बभर्ज' इति । रमोऽभावपक्षे तु—'भ्रस्ज् भ्रस्ज् अ' इति स्थिते हलादिशेषे 'अभ्यासे चर्च' इति भकारस्य बकारे, सस्य श्चुत्वेन शत्वे, 'झलां जश् झशि' इति शस्य जश्त्वेन जत्वे, बभ्रज्ज इति रूपम् । अक्राक्षीत् । कृषधातोर्लुङि तिपि अनुबन्धलोपे, तिप इकारलोपे अङ्गस्य अडागमेऽनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति नित्ये सिचि प्राप्ते, तं प्रबाध्य 'स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विकल्पेन सिच्यनुबन्धलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईडागमे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्'

भ्रस्ज् ता ('स्' का लोप—'स्कोः०' 'ज्'='ष्' ष्टुत्व)=भ्रष्टा। (६) लृट्—(विकल्प से 'रम्')—भर्क्ष्यति, भ्रक्ष्यति ।

वा०—कित्, ङित् आर्धधातुक के परवर्ती रहते रम् आगम का बाधकर पूर्वविप्रतिषेध से सम्प्रसारण ही होता है ।

(७) √भ्रस्ज्+आशीर्लिङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, यासुट्=यास्)—भ्रस्ज् यास् त ('किदाशिषि' से यासुट् कित्, यहाँ सम्प्रसारण और रम् का आगम दोनों की प्राप्ति होती है । 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र बल से 'रम्' आगम पर होने से बलवान् है । तथापि 'क्ङिति रमागमं बाधित्वा०' वार्तिक से पहले सम्प्रसारण होता है । 'स्'='श्'—श्चुत्व, 'श्'='ज्'—जश्त्व, स् का लोप)=भृज्ज्यात् । भृज्ज्यास्ताम्, भृज्ज्यासुः इत्यादि । (८) आत्मनेपद में—भ्रस्ज् सीय् त (सुट्='स्', 'य्' का लोप, विकल्प से रम्='र्' रेफ, सकार की निवृत्ति, ज्='ष्'—'व्रश्च०', 'ष्'='क्', षत्व, ष्टुत्व, क्+ष्='क्ष्')=भर्क्षीष्ट । रम् के अभावपक्ष में-भ्रक्षीष्ट । (९) √भ्रस्ज्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्' विकल्प से रम्='र्'—'भ्रस्जो रोपधयो०' रेफ और सकार की निवृत्ति, 'ज्'='ष्'—'व्रश्च०', 'ष्'='क्'—'षढोः०', 'स्'='ष्'—'षत्व' ईट्='ई', वृद्धि—'वदव्रज०')=अभार्क्षीत् । रम् के अभावपक्ष में—अ भ्रस्ज् स् त ('स्' का लोप—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च', ईट्, 'ज्'='ष्', 'ष्'='क्', 'स्'='ष्'—षत्व, क्+ष्='क्ष्', वृद्धि)=अभ्राक्षीत् । (१०) आत्मनेपद में—अ भ्रस्ज् त (च्लि, च्लि=सिच्='स्', विकल्प से 'रम्', रेफ सकार की निवृत्ति, 'स्' का लोप—'झलो झलि' 'ज्'='ष्'—'व्रश्च०' ष्टुत्व)=अभर्ष्ट । रम् के अभावपक्ष में—अ भ्रस्ज् स् त ('स्' का लोप—'झलो झलि', 'ज्'='ष्'—'व्रश्च०' 'त्'='ट्'—ष्टुत्व, धातु के 'स्' का लोप—'स्कोः')=अभ्रष्ट । (११) लृङ् परस्मैपद में—अभर्क्ष्यत्, अभ्रक्ष्यत् (विकल्प से 'रम्')। आत्मनेपद में—अभर्क्ष्यत, अभ्रक्ष्यत ।

√कृष् धातु का अर्थ—'हल चलाना, खींचना' है । यह धातु स्वरितेत् होने से उभयपदी है । अनुदात्तोपदेश धातुओं में पाठ होने से यह अनिट् है । (१) √कृष्+लट् (तिप्=ति, श='अ', श के अपित् होने से ङिद्वद्भाव, गुण का निषेध)=कृषति । आ० प०—कृषते । (२) √कृष्+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ऋ=अत्='अ' रपर, हलादिशेष, 'क्'=

पक्षे क्सः। सिचि अम्वा। अक्राक्षीत्-अकार्क्षीत्। अकृक्षत्-अकृष्ट। अकृक्षाताम्। अकृक्षत। क्सपक्षे—अकृक्षत। अकृक्षाताम्। अकृक्षन्त। मिल सङ्गमे। मिलति। मिलते। मिमेल। मिमिले। मेलिता। अमेलीत्। मुच्लृ मोक्षणे। (७७०) शे मुचादीनाम् ७।१।५९। मुच्लुप्विद्लिप्सिच्कृत्खिद्पिशां नुम्। मुञ्चति। मुञ्चते। मुमुचे।

इत्यनेन विकल्पेन अमागमेऽनुबन्धलोपे—'अ क्र अ ष् स् ई त्' इति जाते 'इको यणची'त्यनेन ऋकारस्य स्थाने रकारे यणादेशे 'वदव्रज०' इत्यनेनोपधावृद्धौ 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे, संयोगे कृते 'अक्राक्षीत्' इति। अमोऽभावपक्षे—'अ कृष् स् ई त्' इति स्थिते उपधावृद्धौ रपरत्वे, 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे संयोगे 'अकार्क्षीत्' इति। सिजभावपक्षे—'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः क्सादेशेऽनुबन्धलोपे 'अ कृष् स् त्' इति जाते, षस्य कत्वे सकारस्य षत्वे संयोगे च 'अकृक्षत्' इति।

(७७०) शे मुचादीनामिति। 'इदितो नुम्' इत्यतः 'नुमि'त्यनुवर्तते। तदाह—

'च्'—'कुहोश्चुः' 'ऋ'='अ'—गुण—'पुगन्त०' रपर)=चकर्ष। आ० पद में—√कृष्+लिट् (=त=एश्='ए', द्वित्व, अभ्यासकार्य, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः' 'ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन' से कित्व पहले हो जाने से गुण का अभाव)=चकृषे।

अनुदात्तस्येति०—उपदेशावस्था में अनुदात्त जो ऋदुपध धातु, उसको विकल्प से 'अम्' आगम होता है, झलादि कित्-भिन्न आर्धधातुक के परवर्ती रहते।

(३) √कृष्+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, टिलोप)—कृष् ता (विकल्प से अम्='अ'—'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' 'ऋ'='र्'—यण्, 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)=क्रष्टा। अम् के अभावपक्ष में—कृष् ता (आर्धधातुक-गुण, रपर, ष्टुत्व)=कर्ष्टा। (४) आत्मनेपद आशीर्लिङ् में—कृक्षीष्ट। (५) √कृष्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, प्राप्त सिच् का बाधकर वार्तिक से विकल्प से सिच्='स्'—'स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः', विकल्प से अम्='अ'—आगम—'अनुदात्तस्य०')—अ कृ अ ष् स् त ('ऋ'='र्'—यण्, 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि' 'स्'='ष्'—षत्व, ईट्='ई', वृद्धि—'वदव्रज०', क्+ष्='क्ष्')=अक्राक्षीत्। 'अम्' के अभावपक्ष में—हलन्तलक्षणा वृद्धि, रपर—अकार्क्षीत्। 'सिच्' के अभावपक्ष में (च्लि=क्स='स्' 'ष्'='क्', षत्व, गुणाभाव, क्+ष्='क्ष्')=अकृक्षत्। आत्मनेपद में—√कृष्+लुङ् (=त, च्लि, च्लि=सिच्='स्', 'स्' का लोप—'झलो झलि' 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)=अकृष्ट। अकृक्षाताम्। अकृक्षत इत्यादि। सिच् के अभावपक्ष में 'क्स' होने पर—अकृक्षत। अकृक्षाताम्। अकृक्षन्त इत्यादि।

√मिल धातु का अर्थ—'मिलना' है। इस धातु का अनुदात्तोपदेश धातुओं में परिगणन नहीं किया है, अतः यह 'सेट्' है। (१) √मिल्+लट् (=तिप्=ति, श='अ')=मिलति। आत्मनेपद में—मिल् त (श='अ' 'टि' को एत्व)=मिलते। (२) लिट्—मिमेल। आ० पद—मिमिले। (३) लुट्—मेलिता। (४) √मिल्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकार-लोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', 'इ'='ए'—गुण—'पुगन्त०' इट्='इ', ईट्='ई', 'स्' का लोप—'इट ईटि')=अमेलीत्।

√मुच्लृ (=मुच्) धातु का अर्थ—'छोड़ना' है। यह अनिट् है।

(७७०) पद—शे, मुचादीनाम्। अनुवृत्ति—नुम्। विधिसूत्र।

मोक्ता-२। मोक्ष्यति। मोक्ष्यते। मुच्यात्। 'लिङ्सिचावि'ति कित्त्वम्। मुक्षीष्ट। अमुचत्। अमुक्त। अमुक्षाताम्। लुप्लृ छेदने। लुम्पति। लुम्पते। लुलोप। लुलुपे। लोप्ता-२। लोप्स्यति। लोप्स्यते। अलुपत्। अलुप्त। विद्लृ लाभे। विन्दति। विन्दते। विवेद। व्याघ्रभूतिमते सेट्। वेदिता-२। वेदिष्यति। वेदिष्यते। भाष्य-

---

मुचित्यादि। **मुञ्चति।** 'मुच्लृ मोक्षणे' इत्यस्माद्धातोर्लटि, तिपि, अनुबन्धलोपे 'तुदादिभ्यः शः' इति शेऽनुबन्धलोपे ङित्त्वाद् गुणाभावे, 'शे मुचादीनाम्' इति नुमि, अनुबन्धलोपे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति अनुस्वारे, परसवर्णे कृते 'मुञ्चति' इति। **अमुचदिति।** मुच्धातोर्लुङि तिप्यनुबन्धलोपे, अटि, च्लौ 'पुषादिद्युताद्य्लृदितः' इति च्लेरङि अनुबन्धलोपे, ङित्त्वाद् गुणाभावे 'इतश्चे'ति तिप इकारलोपे, अमुचत् इति। आत्मनेपदे—'अ मुच् त' इति स्थिते, च्लौ, च्लेः सिचयनुबन्धलोपे 'झलो झलि' इति सकारलोपे 'चोः कुः' इति चस्य कत्वे 'अमुक्त' इति।

मूलार्थ—'श' प्रत्यय के परवर्ती रहते मुचादि धातुओं को 'नुम्' का आगम होता है। मुञ्चति। मुञ्चते इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' पद्र की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"श प्रत्यय होने पर मुच् (त्यागना), लिप् (=लीपना), विद् (=प्राप्त करना), लुप् (=लोप करना), सिच् (=सींचना), कृत (=काटना), खिद् (=खिन्न करना) और पिश् (=पीसना) धातुओं को 'नुम्' का आगम होता है।"

उदाहरण—(१) √मुच्+लट् (=तिप्='ति', श='अ'—'तुदादिभ्यः शः')—मुच् अ ति (नुम्='न्'—'शे मुचादीनाम्', न्=ं-अनुस्वार—'नश्चापदान्तस्य झलि' ं='ञ्' परसवर्ण—'अनुस्वारस्य ययि०')=मुञ्चति। आत्मनेपद में 'टि' को एत्व—मुञ्चते। (२) लिट् परस्मैपद—मुमोच, मुमुचतुः, मुमुचुः इत्यादि। लिट् आत्मनेपद—मुमुचे, मुमुचाते, मुमुचिरे। (३) लुट्—मोक्ता (कुत्व)। (४) लृट् प० प०—मोक्ष्यति। आ० प०—मोक्ष्यते। (५) आशीर्लिङ् प० प०—मुच्यात्। आत्मनेपद में ('लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से सीयुट् के कित् नहीं होने से गुण नहीं होता, 'च्'='क्'—कुत्व, 'स्'='ष्'—षत्व, क्+ष्='क्ष्')=मुक्षीष्ट। (६) √मुच्=लुङ् (=तिप्='ति', अट्, इकारलोप, च्लि; च्लि=अङ्='अ'—'पुषादिद्युताद्य्लृदितः', ङित् होने से गुण का अभाव)=अमुचत्। आत्मनेपद में—अ मुच् त (च्लि=सिच्='स्', 'स्' का लोप—'झलो झलि', 'च्'='क्'—'चोः कुः')=अमुक्त। लुङ् प्र० पु० द्विवचन—अमुक्षाताम्।

√लुप्लृ (लुप्) धातु का अर्थ—'लोप करना' है। यह धातु भी अनिट् है। मुचादि में होने से 'शे मुचादीनाम्' से 'नुम्' होता है। (१) √लुप्+लट् (=तिप्='ति', श='अ', नुम्='न्'—'शे मुचादीनाम्' न्=ं-अनुस्वार='म्' 'परसवर्ण')=लुम्पति। आ० पद—लुम्पते। (२) लिट्—लुलोप। आ० प०—लुलुपे। (३) लुट्—लोप्ता। (४) लृट् प० प०—लोप्स्यति। आ० प०—लोप्स्यते। (५) लृदित् होने से लुङ् परस्मैपद में 'च्लि' के स्थान में अङ्='अ' होता है—अलुपत्। आत्मनेपद में—अलुप्त।

√विद्लृ (=विद्) धातु का अर्थ—'प्राप्त करना' है। इस धातु के रूप 'मुच्' के समान चलते हैं। यह भी उभयपदी है। व्याघ्रभूति आचार्य के मत में इसका अनुदात्तोपदेश धातुओं में पाठ होने से यह सेट् है। भाष्यकार के मत से यह अनिट् है। (१) √विद्+लट् (=तिप्

मतेऽनिट् । परिवेत्ता । परिवर्जने । ज्येष्ठं परित्यज्य दारानग्नींश्च लब्धवानित्यर्थः । षिच क्षरणे । सिञ्चति । सिञ्चते । सिषेच । सिषिचे । 'लिपिसिचो'त्यङ् । असिचत् । तङि तु वा । असिचत-असिक्त । लिप उपदेहे । उपदेहो वृद्धिः । लिम्पति । लिम्पते । लिलेप । लिलिपे । लेप्ता । लेप्स्यति । लेप्स्यते । 'लिपिसिचिह्वश्चे'त्यङ् । अलिपत् । अलिपत-अलिप्त । इत्युभयपदिनः ।

अथ परस्मैपदिनः । कृती छेदने । कृन्तति । चकर्त्त । कर्तिता । 'सेऽसिचो'ति वेट् । कर्तिष्यति-कर्त्स्यति । अकर्तीत् । खिद परिदेवने । खिन्दति । चिखेद । खेत्ता ।

विद्लृ लाभ इति । चत्वारो विद्धातवः, तत्रैवं रूपभेदः—

"'वेत्ति' रूपं विद ज्ञाने 'विन्ते' विद विचारणे ।
'विद्यते' विद सत्तायाम्, विद्लृ लाभे च 'विन्दति' ॥"

='ति', श='अ', नुम्=न्=-अनुस्वार='न्'—परसवर्ण)=विन्दति । आ० प०—विन्दते । (२) लिट्—विवेद (३) लुट्—वेदिता (व्याघ्रभूति के मतानुसार इट्) । (४) लृट् प० प०—वेदिष्यति । आ० प०—वेदिष्यते । (५) परि+विद्+लुट्—परिवेत्ता । (भाष्यकार के मत में इट् का अभाव) । 'परि' का यहाँ 'वर्जन' अर्थ है । ज्येष्ठ भ्राता का विवाह होने से पूर्व ही जो कनिष्ठ भ्राता विवाह कर लेता है, उसको 'परिवेत्ता' कहा जाता है ।

√षिच् (=सिच्) धातु का अर्थ—'सींचना' है । यह षोपदेश धातु है । धातु के आदि 'ष्'='स्'—'धात्वादेः षः सः' । (१) √सिच्+लट् (=तिप्=ति, श='अ', नुम्=-अनुस्वार='ञ्'—परसवर्ण)=सिञ्चति । आत्मनेपद में—सिञ्चते । (२) लिट् प० पद—सिषेच (षत्व) । आ० पद—सिषिचे । (३) √सिच्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=अङ्='अ'—'लिपिसिचिह्वश्च')=असिचत् । आत्मनेपद में—अ सिच् त (च्लि, च्लि=विकल्प से अङ्='अ'—'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्')=असिचत । अङ् के अभावपक्ष में (च्लि=सिच्='स्')—अ सिच् स् त ('स्' का लोप—'झलो झलि', 'च्'='क्'—'चोः कुः') =असिक्त ।

√लिप धातु का अर्थ—'लीपना' है । (१) √लिप्+लट् (=तिप्=ति, श='अ' नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण)=लिम्पति । आ० प०—लिम्पते । (२) लिट्—प० प०—लिलेप । आ० प०—लिलिपे । (३) लुट्—लेप्ता । (४) लृट् प० प०—लेप्स्यति । आ० प०—लेप्स्यते । (५) √लिप्+लुङ् (=तिप्='ति' 'अट्', इकारलोप, च्लि, च्लि=अङ्='अ'—'लिपिसिचिह्वश्च')=अलिपत् । आत्मनेपद पक्ष में विकल्प से अङ्—अलिपत । अङ् के अभावपक्ष में (च्लि=सिच्='स्', 'स्' का लोप—'झलो झलि')=अलिप्त ।

अब परस्मैपदी धातुओं के रूपों की साधनिका प्रदर्शित की जा रही है—

√कृती (=कृत) धातु का अर्थ—'काटना' है । (१) √कृत+लट् (=तिप्=ति, श='अ', नुम्='न्'—'शे मुचादीनाम्' अनुस्वार, परसवर्ण)=कृन्तति । (२) √कृत+लिट् (=तिप्=णल्='अ' द्वित्व, अभ्यासकार्य, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः', 'ऋ'='अ' गुण—'पुगन्त०' रपर, 'त्' को द्वित्व—'अचो रहाभ्यां द्वे')=चकर्त्त । (३) लुट्—कर्तिता । (४) लृट्—कर्तिष्यति, कर्त्स्यति ('सेऽसिचि०' से विकल्प से इट्) । (५) √कृत+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्' इट्='इ', ईट्='ई'—'अस्तिसिचोऽपृक्ते' 'स्' का लोप—'इट ईटि', गुण—'पुगन्त०' रपर)=अकर्तीत् ।

खेत्स्यति । पिश अवयवे । पिंशति । पिपेश । पेशिता । ओव्रश्चू छेदने । 'ग्रहिज्या' । वृश्चति । 'लिटयभ्यासस्ये'ति सम्प्रसारणं रेफस्य ऋकारः । 'उरत्' । तस्य 'अचः परस्मिन्' इति स्थानिवद्भावात् 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणमि'ति वस्योत्वं न । वव्रश्च । वव्रश्चिथ-वव्रष्ठ । व्रश्चिता-व्रष्टा । व्रश्चिष्यति-व्रक्ष्यति । वृश्चतु । वृश्च्यात् । अव्रश्चीत्-अव्राक्षीत् । व्यच व्याजीकरणे । विचति । विव्याच । विविचतुः । विविचुः । व्यचिता । व्यचिष्यति । विच्यात् । अव्याचीत्-अव्यचीत् । 'व्यचेः कुटादित्वमनसी'ति तु नेह

वृश्चतीति । व्रश्च्धातोर्लटि, तिपि अनुबन्धलोपे 'तुदादिभ्यः शः' इति शेऽनुबन्धलोपे 'ग्रहिज्या०' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते 'वृश्चति' इति । आनर्च्छ इति । ऋच्छ्धातोर्लिटि प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, तिपः णलादेशेऽनुबन्धलोपे 'ऋच्छ् अ' इति जाते, धातोर्द्वित्वे 'उरत्' इत्यभ्यास ऋकारस्य अकारादेशे रपरत्वे हलादिशेषे 'अ ऋच्छ् अ' इति जाते 'अत आदेः' इत्यभ्यासस्य दीर्घे आत्वे 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति नुटयनुबन्धलोपे 'ऋच्छत्यृताम्' इति ऋकारस्य गुणे अकारे रपरे संयोगे कृते 'आनर्च्छ' इति ।

√खिद् धातु का अर्थ—'खिन्न करना' है। (१) √खिद्+लट् (=तिप्=ति, श='अ' नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण)=खिन्दति। (२) लिट्—चिखेद। (३) लुट्—खेत्ता। (४) लृट्—खेत्स्यति।

√पिश का अर्थ—'पीसना' है। (१) √पिश्+लट् (=तिप्=ति, श='अ', नुम्, अनुस्वार)=पिंशति। (२) लिट्—पिपेश। (३) लुट्—पेशिता।

√ओव्रश्चू (=व्रश्च्) धातु का अर्थ—'काटना' है। (१) √व्रश्च्+लट् (=तिप्=ति, श='अ')—व्रश्च् अ ति ('श' के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वद्भाव होने के कारण उसको निमित्त मानकर 'र्'='ऋ'—सम्प्रसारण—'ग्रहिज्या०', 'अ' का पूर्वरूप—'सम्प्रसारणाच्च')=वृश्चति। (२) √व्रश्च्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, अभ्यास के 'र्'='ऋ' सम्प्रसारण—'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' पूर्वरूप, 'ऋ'='अ' 'उरत्', रपर, हलादिशेष)=वव्रश्च। (यहाँ वकार को भी उकार सम्प्रसारण प्राप्त होता है, परन्तु 'उरत्' सूत्र से विहित अकार में 'अचः परस्मिन्०' से आरोप बोधन कर अकार रूप सम्प्रसारण यहाँ पर में है। अतः 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से वकार के सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है।) (३) √व्रश्च्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, अभ्यास के 'र्' को सम्प्रसारण 'ऋ'—'लिटयभ्यासस्योभयेषाम्' पूर्वरूप)—वृश्च् व्रश्च् थ (ऋ='अ'—'उरत्', रपर, हलादिशेष, विकल्प से इट्='इ'—'स्वरतिसूति०')=वव्रश्चिथ। इट् के अभावपक्ष में—व व्रश्च् थ ('स्' का लोप—'स्कोः०', 'च्'='ष्' 'व्रश्चभ्रस्ज०' 'थ्'='ठ्'—ष्टुत्व)=वव्रष्ठ। (४) लुट्—व्रश्चिता (विकल्प से इट्)। इट् के अभावपक्ष में (स् का लोप, षत्व, ष्टुत्व)—व्रष्टा। (५) लृट्—व्रश्चिष्यति, व्रक्ष्यति। (६) लोट्—वृश्चतु। (७) लिङ्—वृश्च्यात्। (८) लुङ् इट् पक्ष में—अव्रश्चीत्। इट् के अभावपक्ष में—अव्राक्षीत्।

√व्यच धातु का अर्थ—'उगना' है। (१) √व्यच्+लट् (=तिप्=ति, श='अ', 'श' के अपित् होने से ङिद्वद्भाव—'सार्वधातुकमपित्' 'य्'='इ'—सम्प्रसारण—'ग्रहिज्या', पूर्वरूप—'सम्प्रसारणाच्च')=विचति। (२) √व्यच्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास

प्रवर्तते, 'अनसी'ति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात्। उछि उञ्छे। 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलमि'ति यादवः। उञ्छति। उञ्छाञ्चकार। उञ्छिता। ऋछ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु। 'छे च'। ऋच्छति। 'ऋच्छत्यृतामि'ति गुणः परत्वाण्णल्यपि भवति। द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्। आनर्च्छ। आनर्च्छतुः। ऋच्छिता। उज्झ उत्सर्गे। उज्झति। उज्झाञ्चकार। लुभ विमोहने। लुभति। लुलोभ। 'तीषसहे'ति वेट्। लोभिता-लोब्धा। लोभिष्यति। तृप तृम्फ तृप्तौ।

लोभिता, लोब्धा। लुभधातोर्लुटि तिपि तासि प्रत्यये, तस्यार्धधातुकत्वे 'तीषसहलुभरुषरिषः' इति विकल्पेन इडागमेऽनुबन्धलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य चे'ति गुणे 'लुटः प्रथमस्ये'ति तिपः स्थाने डादेशे अनुवन्धलोपे टिलोपे च लोभिता इति। इडभावे

संज्ञा, अभ्यास के 'य्'='इ' सम्प्रसारण--'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्', पूर्वरूप)—वि व्यच् अ (वृद्धि—'अत उपधायाः')=विव्याच। (३) लिट् प्र० पु० द्विव०--विविचतुः। (४) लिट् प्र० पु० बहु०--विविचुः। (५) लुट्--व्यचिता। (६) लृट्--व्यचिष्यति। (७) आशीर्लिङ्--विच्यात्। (८) √व्यच्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि, च्लि=सिच्='स्', इट्, इकारलोप—'इतश्च', ईट्='ई'--'अस्तिसिचो०' 'स्' का लोप—'इट ईटि', विकल्प से वृद्धि—'अतो हलादेर्लघोः')=अव्याचीत्। वृद्धि के अभावपक्ष में--अव्यचीत्।

व्यचेरिति—"व्यच धातु कुटादि है, अस्-भिन्न प्रत्यय के परवर्ती रहते।" यह वार्तिक अस्-भिन्न सिच् आदि प्रत्यय के स्थल में (अव्याचीत् आदि में) प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि 'अनसि' में नञ् पर्युदास है[1]। वह सदृशग्राही होता है। इसका विषय केवल कृत्प्रत्यय है। अर्थात् अस्-भिन्न अस् सदृश कृत्प्रत्यय परवर्ती हो तो कुटादि व्यच् धातु को मानकर 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' से ङिद्वद्भाव बोधन होता है। प्रकृत में नहीं।

√उछि धातु का अर्थ--'उञ्छवृत्ति से निर्वाह करना' है। यह धातु 'इदित्' है। अतः 'इदितो नुम्धातोः' से नुम् होकर, अनुस्वार परसवर्ण 'उञ्छ्' हो जाता है। "कण-कण का संग्रह करना 'उञ्छ' कहलाता है। इसी संग्रह को 'शिल' भी कहते हैं।" यह यादव-कोष का वचन है। (१) √उञ्छ्+लट् (=तिप्=ति, 'श'='अ')=उञ्छति। (२) लिट्—उञ्छाञ्चकार (आम्, √कृ का अनुप्रयोग आदि)।

√ऋछ धातु का अर्थ—'जाना, इन्द्रियों का नाश, तथा निश्चेष्ट होना' है। (१) √ऋछ+लट् (=तिप्=ति, श=अ, तुक्='त्'—'छे च', 'त्'='च्'--श्चुत्व)=ऋच्छति। (२) ऋच्छ्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'—'उरत्', रपर, हलादिशेष)—अ ऋच्छ् अ (अभ्यास को आत्व—'अत आदेः', 'ऋ'='अ' गुण--'ऋच्छत्यृताम्', रपर)—आ अ र् च्छ् अ ('तस्मान्नुड् द्विहलः' में 'द्विहल्' का उपादान एक से अधिक हल् बोधित करने के लिए होने से प्रकृत में नुट्='न्' का आगम)=आनर्च्छ। (३) लिट् प्र० पु० द्विव०--आनर्च्छतुः। (४) लुट्—ऋच्छिता।

---

१. पर्युदास और प्रसज्य भेद से नञ् दो प्रकार का होता है। पर्युदास सदृश का ग्रहण कराता है और प्रसज्य अभाव का बोध कराता है—

"द्वौ नञौ हि समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥"

तृपति । ततर्प । तर्पिता । अतर्पीत् । तृम्फति । शस्य ङित्त्वादनिदितामिति नलोपः । * शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः * । आदिशब्दः प्रकारे । प्रकारो भेदसादृश्ये । तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः । ततृम्फ । तृफ्यात् । मृड सुखने । पृड च । मृडति । पृडति । ममर्ड । शुन गतौ । शुनति । शुशोन । इष इच्छायाम् । 'इषुगमी'ति छः । इयेष । 'तीषे'ति वेट् । एषिता-एष्टा । एषिष्यति । इष्यात् । ऐषीत् । ऐषिष्यत् । कुट कौटिल्ये । 'गाङ्कुटादी'ति ङित्त्वम् । चुकुटिथ । चुकोट ।

'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति भस्य बत्वे गुणे कृते 'लोब्धा' इति ।

√उज्झ का अर्थ—'छोड़ना' है । (१) लट्—उज्झति । (२) लिट्—उज्झाञ्चकार ।

√लुभ धातु का अर्थ—'मोहित होना, लोभ करना' है । (१) =लुभ्+लट् (=तिप्=ति, श='अ')=लुभति । (२) लिट्—लुलोभ । (३) √लुभ्+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, आर्धधातुक संज्ञा, विकल्प से इट्='इ'—'तीषसहलुभरुषरिषः', 'उ'='ओ'—गुण—'पुगन्त०', टिलोप)=लोभिता । इट् के अभावपक्ष में—लुभ् ता ('त'='ध्'—'झषस्तथो०' 'भ्'='ब्'—'झलां जश् झशि' गुण)=लोब्धा । (४) लृट्—लोभिष्यति ।

√तृप, तृम्फ का अर्थ—'तृप्ति करना' है । (१) √तृप्+लट् (=तिप्=ति, 'श'='अ')=तृपति । (२) लिट्—ततर्प । (३) लुट्—तर्पिता । (४) √तृप्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', इट्='इ', ईट्='ई'—'अस्तिसिचो', 'स्' का लोप—'इट ईटि', इ+ई='ई'—दीर्घ, गुण, रपर)=अतर्पीत ।

(१) √तृम्फ्+लट् (=तिप्=ति, 'श'='अ'—तृम्फति । यहाँ 'श' विकरण सार्वधातुकसंज्ञक होने से ङित है । अतः 'अनिदिताम्०' से नकार का लोप कर 'शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः' से नुम्='न्'=-अनुस्वार—'नश्चापदान्तस्य झलि' — = 'म्' परसवर्ण—'अनुस्वारस्य ययि')=तृम्फति ।

वार्तिकार्थ—शप्रत्यय के परे रहते 'तृम्फ्' आदि धातुओं को नुम् का आगम होता है ।

प्रकृत वार्तिक में 'आदि' शब्द प्रकार अर्थात् सदृशवाचक है । अतः इस प्रकरण में जिन धातुओं के साथ नकार जुड़ा हो, वे सब तृम्फादि हैं । (२) लिट्—ततृम्फ । (३) आशीर्लिङ्—तृफ्यात (नकारलोप—'अनिदिताम्०') ।

√मृड पृड धातु का अर्थ—'सुख देना' है । (१) लट्—मृडति । पृडति । (२) लिट्—ममर्ड । पपर्ड ।

√शुन धातु का अर्थ—'जाना' है । (१) लट्—शुनति । (२) लिट्—शुशोन ।

√इष धातु का अर्थ—'इच्छा करना' है । यह धातु सेट् है । (१) √इष्+लट् (=तिप्=ति, 'श'='अ', 'ष्'='छ्'—'इषुगमियमां छः', तुक्='त'—'छे च', 'त'='च्'—श्चुत्व)=इच्छति । (२) √इष्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—इ इष् अ (इ=इयङ्=इय—'अभ्यासस्यासवर्णे', गुण)=इयेष । (३) √इष्+लुट् (=तिप्=डा='आ', तास्, विकल्प से इट्='इ'—'तीषसह०', गुण, टिलोप)=एषिता । इट् के अभावपक्ष में—एष् ता ('त्'='ट्'—ष्टुत्व)=एष्टा । (४) लृट्—एषिष्यति । (५) विधिलिङ्—इच्छेत । (६) आशीर्लिङ्—इष्यात । (७) लुङ्—ऐषीत , ऐषिष्टाम्, ऐषिषुः इत्यादि ।

√कुट का अर्थ—'कुटिलता करना' है । (१) लट्—कुटति । (२) √कुट्+लिट् (=

चुकुट। कुटिता। पुट संश्लेषणे। पुटति। पुपोट। पुटिता। स्फुट विकसने। स्फुटति। पुस्फोट। स्फुटिता। स्फुर स्फुल सञ्चलने। स्फुरति। स्फुलति। (७७१) **स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः ८।३।७६।** निर्निविभ्यः परयोः स्फुरति स्फुलत्योः सस्य षत्वं वा स्यात्। निःष्फुरति-निःस्फुरतीत्यादि। णू स्तवने। 'परिणूतगुणोदयः'। नुवति। नुवतः। नुवन्ति। नुनाव। नुविता। इति कुटादयः। टुमस्जो शुद्धौ। मज्जति। ममज्ज। 'मस्जिनशोरि'ति नुम्। * मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः *। संयोगादिलोपः। ममङ्क्थ-ममज्जिथ। मङ्क्ता। मङ्क्ष्यति। 'चोः

इच्छति इति। इषधातोर्लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे 'इषुगमियमां छः' इति षकारस्य छकारे 'छे चे'ति तुक्यनुबन्धलोपे श्चुत्वेन तकारस्य चकारे 'इच्छति' इति रूपम्।

(७७१) **स्फुरतीत्यादि।** 'मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम्। 'सिवादीनां वे'त्यतो 'वा' इत्यनुवर्तते। तदाह—**निर्निविभ्य इत्यादिना।** **निःष्फुरतीति।** निर्पूर्वकस्फुर्धातोर्लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' इति विकल्पेन सस्य षत्वे 'निःष्फुरति' इति। षत्वाभावे निःस्फुरति इति। **ममज्जिथ, ममङ्क्थ इति।** मस्ज्-

---

सिप्=थल=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः' इट्='इ', 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' से थल् के ङित् होने से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध)=चुकुटिथ। (३) लुट्—कुटिता।

√पुट् का अर्थ—'जोड़ना' है। (१) लट्—पुटति। (२) लुट्—पुटिता (यहाँ कुटादि होने से 'गाङ्कुटादिभ्यः' से 'तास्' के 'ङित्' होने के कारण गुण का निषेध होता है।) **√स्फुट** का अर्थ—'खिलना' है। (१) लट्—स्फुटति। (२) लिट्—पुस्फोट। (३) लुट्—स्फुटिता।

√स्फुर, स्फुल का अर्थ='चेष्टा करना, हिलना-डुलना' है। (१) लट्—स्फुरति, स्फुलति।

(७७१) पद—स्फुरति-स्फुलत्योः, निर्निविभ्यः। **अनुवृत्ति**—वा मूर्धन्यः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—निर्, नि और वि उपसर्ग से परवर्ती स्फुर् और स्फुल् धातुओं के सकार को विकल्प से षत्व होता है। निःष्फुरति, निःस्फुरति इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है। 'सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि' से 'वा' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'निर्, नि तथा वि उपसर्ग से उत्तरवर्ती स्फुरति और स्फुलति के सकार को विकल्प से मूर्धन्य (ष्) आदेश होता है।'

उदाहरण—(१) निः+स्फुरति ('स्'='ष्' विकल्प से—'स्फुरतिस्फुलत्योः०') = निःष्फुरति। षत्व के अभावपक्ष में—निःस्फुरति।

√णू का अर्थ 'स्तुति करना' है।

परिणूतेति—'परिणूतः प्रशस्तः गुणानामुदयो यस्य' अर्थात् जिसके गुण प्रशंसा के योग्य हैं। (१) √णू ('ण्'='न्'—'णो नः')—नू+लट् (=तिप्=ति, श='अ' श के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्भाव और गुण का निषेध, ऊ=उवङ्='उव्'—'अचि श्नु०')=नुवति। (२) लट् प्र० पु० द्विव०—नुवतः। (३) लट् प्र० पु० बहुव०—नुवन्ति। (४) लिट्—नुनाव। (५) लुट्—नुविता। **कुटादि समाप्त।**

√टुमस्जो (मस्ज्) धातु का अर्थ—'शुद्ध करना, स्नान करना' है। (१) √मस्ज्+लट् (=तिप्=ति, श='अ', 'स्'='श्'—श्चुत्व, 'श्'='ज्'—'झलां जश् झशि')=मज्जति।

कुरि'ति कुत्वेन जस्य गः। तस्य 'खरि चे'ति कः। 'अनुस्वारस्य ययी'त्यनुस्वारस्य ङः। अमाङ्क्षीत्। अमाङ्क्ताम्। अमाङ्क्षुः। रुजो भङ्गे। रुजति। रुरोज। रोक्ता। रोक्ष्यति। अरौक्षीत्। भुजो कौटिल्ये। भुजति। बुभोज इत्यादि। रुजिवत्। विश प्रवेशने। विशति। विवेश। वेष्टा। अविक्षत्। मृश आमर्शने। आमर्शनं स्पर्शः।

धातोर्लिटि सिपि, सिपः स्थाने थलादेशेऽनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'ऋतो भारद्वाजस्ये'ति विभाषया इडागमेऽनुबन्धलोपे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन सकारस्य शकारे 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वेन जकारे 'ममज्जिथ' इति। इडभावपक्षे 'ममस्ज् थ' इति स्थिते 'मस्जेरन्त्यात् पूर्वो नुम्वाच्यः' इति वार्तिकबलेन 'मस्जिनशोर्झलि' इत्यनेन जकारात्पूर्वे नुमि अनुबन्धलोपे 'म मस्न् ज् थ' इति जाते 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते चे'त्यनेन सकारलोपे 'चोः कुः' इति जस्य गकारे 'खरि चे'ति गकारस्य ककारे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनेन

---

(२) √मस्ज्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—म मस्ज् अ ('स्'='श्'—श्चुत्व, 'श्'='ज्'—जश्त्व—'झलां जश् झशि')=ममज्ज।

वा०—'मस्ज्' धातु के अन्त्य (जकार) से पूर्व नुम्=(न्) का आगम होता है।

उदाहरण—(३) √मस्ज्+लिट् (=सिप्=थल्='थ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, भारद्वाज-नियम से विकल्प से इट्='इ')—म मस्ज् इ थ ('स्'='श्'—श्चुत्व, 'श्'='ज्'—जश्त्व)=ममज्जिथ। इट् के अभावपक्ष में—म मस्ज् थ ('मिदचोऽन्त्यात्परः' के नियम द्वारा 'मस्जिनशोर्झलि' से अन्त्य अच् मकारोत्तरवर्ती अकार से परे नुम् प्राप्त हुआ, परन्तु—'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः' वार्तिक से अन्त्य वर्ण 'ज्' से पूर्व नुम् होने पर)—म म स् न् ज् थ ('स्' का लोप—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च', 'ज्'='ग्'—'चोः कुः', 'ग्'='क्'—'खरि च')—म मन् क् थ (न्=ं-अनुस्वार—'नश्चापदान्तस्य झलि', ं='ङ्'—परसवर्ण—'अनुस्वारस्य०')=ममङ्क्थ। (४) √मस्ज्+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः' वार्तिक बल से 'मस्जिनशो०' से अन्त्य 'ज्' से पूर्व नुम्='न्', टिलोप)—मस् न्ज्ता ('स्' का लोप—'स्कोः०', 'ज्'='ग्'='क्' अनुस्वार, परसवर्ण)=मङ्क्ता। (५) √मस्ज्+लृट् (=तिप्=ति, स्य, 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः' नियम से 'मस्जिनशोर्झलि' से 'ज्' से पूर्व नुम्='न्', 'स्' का लोप—'स्कोः')—मन्ज्स्य ति ('ज्'='ग्'—कुत्व, 'ग्'='क्'—चर्त्व, न्=अनुस्वार='ङ्' —परसवर्ण, षत्व, क्+ष्='क्ष्')=मङ्क्ष्यति। (६) √मस्ज्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', ईट्='ई', 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः' वार्तिकबल से 'ज्' से पूर्व नुम्='न्')—अ म स् न् ज् स् ई त् ('स्' का लोप—'स्कोः', 'ज्'='ग्'='क्', न्=ं-अनुस्वार—'नश्चापदान्तस्य०' ं='ङ्' परसवर्ण, 'स्'='ष्' षत्व—'आदेशप्रत्यययोः', क्+ष्='क्ष्', वृद्धि—'वदव्रज०')=अमाङ्क्षीत्। (७) लुङ् प्र० पु० द्वि०—अमाङ्क्ताम्। (८) लुङ् प्र० पु० बहु०—अमाङ्क्षुः।

√रुज धातु का अर्थ—'तोड़ना' है। यह धातु अनिट् और ओदित् है। (१) लट्—रुजति। (२) लिट्—रुरोज। (३) √रुज्+लुट् (=तिप्=डा='आ', तास्, टिलोप)—रु ज् ता ('उ'='ओ'—लघूपध गुण, 'ज्'='ग्'—कुत्व, 'ग्'='क्'—चर्त्व)=रोक्ता। (४) लृट्—रोक्ष्यति। (५) √रुज्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', ईट्='ई', 'ज्'='ग्'—कुत्व, 'ग्'='क्'—'खरि च', षत्व, क्+ष्='क्ष्', 'उ'='औ' वृद्धि—

मृशति । ममर्श । म्रष्टा–मर्ष्टा । म्रक्ष्यति–मर्क्ष्यति । मृशतु । अमृशत् । मृशेत् । मृश्यात् । 'अनुदात्तस्य चर्दुपधे'त्यम् । 'स्पृशमृशे'ति च्लेः सिज्वा । अम्राक्षीत्–अमार्क्षीत् । 'शल इगुपधे'ति क्सः । अमृक्षत् । षद्ऌ विशरणगत्यवसादनेषु । विशरणं

अनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इत्यनेन परसवर्णे 'ममङ्क्थ' इति । **अरौक्षीदिति** । रुजधातोर्लुङि तिपि अनुबन्धलोपे, अटि, च्लौ, च्लेः स्थाने सिच्यनुबन्धलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'चोः कुः' इति जस्य गत्वे 'खरि चे'ति गस्य कत्वे 'इतश्चे'ति तिप इकारलोपे सकारस्य षत्वे, क् + ष् संयोगे क्षत्वे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'अरौक्षीत्' इति रूपम् ।

अम्राक्षीदिति । मृशधातोर्लुङि, लः स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे अटि, च्लौ 'स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः' इति वार्तिकेन विकल्पेन च्लेः स्थाने सिच्यनुबन्धलोपे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इति वैकल्पिकेऽमि मकारलोपे, तिप इकारलोपे 'अ मृ अ श् स् त्' इति जाते, यणि 'व्रश्च०' इति शस्य षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे, सस्य षत्वे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रज०' इति वृद्धौ 'अम्राक्षीत्' इति । अमोऽभावपक्षे—हलन्तलक्षणावृद्धौ रपरत्वे 'अमार्क्षीत्' इति । सिजभावे च 'शल इगुपधात्' इति च्लेः स्थाने क्सादेशेऽनुबन्धलोपे 'व्रश्च०' इति षत्वे 'षढोः कः सि' इति शस्य कत्वे क्-ष् संयोगे क्षे कृते 'अमृक्षदि'ति ।

'वदव्रज०')=अरौक्षीत् । √भुज् धातु का अर्थ—'कुटिल होना' है । यह धातु ओदित् तथा अनिट् है । (१) लट्—भुजति । (२) लिट्—बुभोज इत्यादि । इसके रूप रुज् के समान चलते हैं ।

√विश् का अर्थ—'प्रवेश करना' है । (१) लट्—विशति । (२) लिट्—विवेश । (३) लुट्—वेष्टा । (४) लुङ्—अविक्षत् ।

√मृश् धातु का अर्थ—'स्पर्श करना' है । 'आमर्शन' स्पर्श को कहते हैं । (१) लट्—मृशति । (२) लिट्—ममर्श । (३) √मृश्+लुट् (=तिप्=डा='आ', तास्, टिलोप)—मृश् ता (विकल्प से अम्='अ'—'अनुदात्तस्य०')—मृ अ श् ता ('ऋ'='र्'—यण्, 'श्'='ष्'—'व्रश्च०', 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)=म्रष्टा । अम् के अभावपक्ष में ('ऋ'='अ' गुण—'पुगन्त०' रपर)=मर्ष्टा । (४) लट्—म्रक्ष्यति, मर्क्ष्यति (विकल्प से अम्) । (५) लोट्—मृशतु । (६) लङ्—अमृशत् । (७) विधिलिङ्—मृशेत् । आशीर्लिङ्—मृश्यात् । (८) √मृश्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्' विकल्प से—'स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः', विकल्प से अम्='अ'—'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्०)—अ मृ अ श् स् त ('श्'='ष्'—'व्रश्च०', 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि' 'स्'='ष्'—षत्व, ईट्='ई', 'ऋ'='र्'— यण्, वृद्धि—'वदव्रज०')=अम्राक्षीत् । 'अम्' के अभाव में (च्लि=वैकल्पिक सिच्, हलन्तलक्षणा वृद्धि, रपर)=अमार्क्षीत् । सिच् के अभावपक्ष में (च्लि=क्स='स्'—'शल इगुपधादनिटः क्सः' 'श्'='ष्'—'व्रश्च०', 'ष्'='क्'—'षढोः०', षत्व, क्+ष्='क्ष्')='अमृक्षत्' ।

√षद्ऌ (=सद्) धातु का अर्थ—'दुःखी होना, जाना, फटना' है । विशरण का अर्थ—'दुःख' है । (१) √सद्+लट् (=तिप्=ति, श='अ', षद्='सीद्'—'पाघ्राध्मा०')=सीदति ।

दुःखम् । 'पाघ्राध्मे'ति सीदादेशः । सीदति । (७७२) **सदिरप्रतेः ८।३।६६** । निषीदति । न्यषीदत् । (७७३) **सदेः परस्य लिटि ८।३।११८** । सदेरभ्यासात्परस्य सस्य षत्वं न स्याल्लिटि । निषसाद । ससाद । सेदतुः । सेदुः । सेदिथ–ससत्थ । सत्ता । सत्स्यति । लृदित्त्वादङ्–असदत् । शद्लृ शातने (७७४) **शदेः शितः १।३।६०** । शिद्भाविनोऽस्मात्तङानौ स्तः । शीयते । शीयताम् । अशीयत । शीयेत । शशाद । शत्ता

---

(७७२) 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । प्रतिभिन्नादुपसर्गात्सदेः सस्य षः स्यादित्यर्थः । **निषीदति** । निपूर्वकात् षद्धातोर्लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे 'पाघ्राध्मा०' इति धातोः सीदादेशे 'सीदति' इति । 'नि + सीदती'त्यत्र 'सदिरप्रतेः' इति सस्य षत्वे 'निषीदति' इति ।

(७७३) **सदेः परस्येति** । 'मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । 'न रपर' इत्यतः नेत्यनुवर्तते । तदाह—**सदेरभ्यासात्परस्येति** ।

(७७४) **शदेः शित इति** । 'अनुदात्तङित' इत्यस्मादात्मनेपदमित्यनुवर्तते । श् इत् यस्य सः शित् । शिति विवक्षिते सतीत्यर्थः । तदाह—**शिद्भाविन इति** ।

---

(७७२) पद—सदिः, अप्रतेः । **अनुवृत्ति**—उपसर्गात्, मूर्धन्यः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रति-भिन्न उपसर्ग से परे सद् धातु के सकार को षत्व होता है । निषीदति इत्यादि ।

विमर्श—'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३।५५) का अधिकार है । 'उपसर्गात्सुनोति०' (८।३।६५) से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"प्रति-भिन्न उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती सद् धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) सद्+लट् (=तिप्=ति, शप्=अ, 'सद्'='सीद्'—पाघ्राध्मा०')= सीदति । नि+सीदति ('स्'='ष्'—'सदिरप्रतेः')=निषीदति । (२) लङ्—न्यषीदत् ।

(७७३) पद—सदेः, परस्य, लिटि । **अनुवृत्ति**—न, सः, मूर्धन्यः । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—लिट् के परवर्ती रहते अभ्यास से परे सद् के सकार को षकार नहीं होता । निषसाद । ससाद इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'न रपर०' (८।३।११०) से 'न', 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से 'सः' की अनुवृत्ति आती है । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है । तदनुसार—"लिट् के परवर्ती रहते षद् धातु के पर वाले सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ।"

उदाहरण—(१) लिट्—ससाद (प्राप्त षत्व का 'सदेः परस्य लिटि' से निषेध) । नि+ससाद (षत्व—'सदिरप्रतेः')=निषसाद । (२) लिट्—प्र० पु० द्विव०—सेदतुः (एत्वाभ्यासलोप) । (३) लिट् प्र० पु० बहु०—सेदुः । (४) लिट् म० पु० ए० व०—सेदिथ, ससत्थ । (५) लुट्—सत्ता । (६) लृट्—सत्स्यति । (७) लुङ्—असदत् (च्लि=अङ्—'पुषादि०') ।

√शद्लृ का अर्थ—'नाश होना' है ।

(७७४) पद—शदेः, शितः । **अनुवृत्ति**—आत्मनेपदम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—शिद्भावी शद् धातु से आत्मनेपद और 'आन' होता है । शीयते ।

विमर्श—'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है । अतः शिद्भावी अर्थात् शद् धातु से जब शित् (शकारेत्संज्ञक) प्रत्यय आने वाला हो तब उससे तङ् (=आत्मनेपद) और आन (आत्मनेपद प्रत्यय) आते हैं ।

शत्स्यति । अशदत् । अशत्स्यत् । कॄ विक्षेपे । (७७५) ॠत इद्धातोः ७।१।१०० । ॠदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत्स्यात् । किरति । * इत्वोत्वाभ्यां गुणवृद्धी विप्रतिषेधेन * । वृद्धिः । चकार । चकरतुः । चकरुः । 'वृतो वा' । करिता–करीता । 'हलि चे'ति दीर्घः । कीर्यात् । अकारीत् । (७७६) किरतौ लवने ६।१।१४० । उपात्किरतेः सुट् स्याच्छेदनेऽर्थे । उपस्किरति । * अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम् * । उपा-

---

(७७५) ॠत इद्धातोरिति । 'ॠत्' इति धातोर्विशेषणम् । तदन्तविधिः । 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम् । तदाह—ॠदन्तस्येति । किरति । कॄधातोर्लटि, तिपि शेऽनुबन्धलोपे 'ॠत इद्धातोः' इति ॠत इदादेशे रपरे च कृते 'किरति' इति ।

(७७६) किरताविति । 'उपात्प्रतियत्ने' इत्यतः 'उपादि'ति, 'सुट् कात्पूर्वः' इत्यतः 'सुट्' इति चानुवर्तते । अत आह—'उपात्किरतेः' इत्यादिना । उपस्किरतीति । 'उप + किरति' इत्यत 'किरतौ लवने' इति सुटयनुबन्धलोपे टित्त्वादाद्यावयवे 'उपस्किरति' इति ।

उदाहरण—(१) शद्+लट् ('शदेः शितः' से आत्मनेपदत्व 'त' 'श'='अ', 'शद्'='सीय्'–'पाघ्राध्मा०', टि=एत्व)=शीयते । (२) लिट्—शशाद, शेदतुः, शेदुः । (३) लोट्—शीयताम् । (४) लङ्—अशीयत । (५) विधिलिङ्—शीयेत । (६) लुङ्—अशदत् (च्लि=अङ्='अ'–'पुषादि०') । (७) लृङ–अशत्स्यत् ।

√कॄ धातु का अर्थ—'बिखेरना' है ।

(७७५) पद—ॠतः, इत्, धातोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ॠदन्त धातु के अङ्ग को इत्व होता है । किरति ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'ॠतः' पद 'धातोः' का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है । तदनुसार—"दीर्घ ॠकारान्त धातु के अङ्ग को 'इत्' आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) √कॄ+लट् (=तिप्=ति, 'श'='अ', 'ॠ'='इ'–'ॠत इद्धातोः' रपर)=किरति ।

वा०—इत्व और उत्व की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से गुण और वृद्धि होती है ।

(२) कॄ+लिट् (=तिप्=णल्=अ, ॠ='अ' गुण—'ॠच्छत्यॄताम्' रपर, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'अ'='आ' वृद्धि—'अत उपधायाः')=चकार । (३) लिट् प्र० पु० द्विव०—चकरतुः । (४) लिट् प्र० पु० बहु०—चकरुः । (५) लुट्—करिता, करीता ('वृतो वा' से इट् को विकल्प से दीर्घ) । (६) आशीर्लिङ् में यासुट् के कित् होने से 'ॠत इद्धातोः' से इत्व, रपर, 'हलि च' से दीर्घ—कीर्यात् । (७) √कॄ+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', आर्धधातुक संज्ञा, इट्='इ', ईट्='ई', 'स्' का लोप—'इट ईटि' इ+ई='ई' सवर्णदीर्घ, ॠ='आ' वृद्धि—'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु', रपर)=अकारीत् ।

(७७६) पद—किरतौ, लवने । **अनुवृत्ति**—उपात्, सुट् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—छेदन अर्थ में उप से परवर्ती 'कॄ' धातु को सुट् (=स्) होता है । उपस्किरति ।

विमर्श—यहाँ 'उपात्प्रतियत्न०' (६।१।१३४) से 'उपात्' तथा 'सुट् कात्पूर्वः' (६।१।१३१) से 'सुट्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"लवन=काटने के अर्थ में उप उपसर्ग से परे 'कॄ' धातु को सुट् (=स्) का आगम होता है ।"

स्किरत् । उपचस्कार । (७७७) हिंसायां प्रतेश्च ६।१।१४१ । उपात्प्रतेश्च किरतेः सुट् स्यात् हिंसायाम् । उपस्किरति । प्रतिस्किरति । गॄ निगरणे । (७७८) अचि विभाषा ८।२।२१ । गिरते रेफस्य लत्वं वा स्यादजादौ प्रत्यये परे । गिरति–गिलति । जगार–जगाल । जगरिथ–जगलिथ । गरिता–गरीता–गलिता–गलीता । प्रच्छ

---

(७७७) **हिंसायामिति** । चकारादुपादिति समुच्चीयते । 'सुट् कात्पूर्वः' इत्यतः सुडित्यनुवर्तते । तदाह—**उपादिति** ।

(७७८) **अचि विभाषा** । 'ग्रो यङी'त्यतः 'ग्रः' इत्यनुवर्तते । 'कृपो रो लः' इत्यतः ल इति च । अत आह—**गिरते इति** ।

उदाहरण—(१) उप+किरति (सुट्='स्'—'किरतौ लवने')=उपस्किरति ।

वा०—अट् और अभ्यास के व्यवधान में भी उप से परवर्ती कॄ धातु को सुट् का आगम होता है । यह सुट् ककार से पूर्व होता है ।

उदाहरण—(१)√कॄ+लङ् (=तिप्=ति, अट्, श='अ', इकारलोप, अट्, ॠ='इ' 'ॠत इद्धातोः' रपर)=अकिरत । उप+अकिरत (यहाँ वार्तिक से सुट्='स्')=उपास्किरत । लिट् में—उपचस्कार ।

(७७७) पद—हिंसायाम्, प्रतेः, च । **अनुवृत्ति**—किरतौ, उपात्, सुट् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उप तथा प्रति उपसर्ग से परवर्ती कॄ धातु को हिंसा अर्थ में सुट् (='स्') आगम होता है । उपस्किरति इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'किरतौ लवने' (७७६) से 'किरतौ', 'उपात्प्रतियत्न०' (६।१।१३४) से 'उपात्' तथा 'सुट् कात्पूर्वः' (६।१।१३१) से 'सुट्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"उप तथा प्रति उपसर्ग से कॄ धातु के परवर्ती रहते हिंसा के विषय में ककार से पूर्व सुट् (='स्') का आगम होता है ।"

उदाहरण—(१) उप+किरति (सुट्='स्', ककार से पूर्व—'हिंसायां प्रतेश्च')=उपस्किरति । (२) प्रति+किरति (सुट्)=प्रतिस्किरति ।

√गॄ धातु का अर्थ 'निगलना' है ।

(७७८) पद—अचि, विभाषा । **अनुवृत्ति**—ग्रः, रो लः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अजादि प्रत्यय के परवर्ती रहते गॄ धातु के रेफ को लत्व होता है । गिरति, गिलतीत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'ग्रो यङि' (८।२।२०) से 'ग्रः' तथा 'कृपो रो लः' (८।२।१८) से 'रो लः' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—"अजादि प्रत्यय के परे रहते गॄ धातु के रेफ को लत्व विकल्प से होता है ।"

उदाहरण—(१) √गॄ+लट् (=तिप्='ति', श='अ', 'ॠ'='इ'—'ॠत इद्धातोः' रपर)—गिर् अ ति ('र्'='ल्' विकल्प से—'अचि विभाषा')=गिलति । लत्व के अभावपक्ष में—गिरति । (२) √गॄ+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष, वृद्धि, रपर, विकल्प से लत्व—'अचि विभाषा')=जगाल । लत्व के अभावपक्ष में—जगार । (३) लिट् म० पु० एकव०—जगरिथ, जगलिथ (विकल्प से लत्व) । (४) लुट् प्र० पु० एकव० में इट् के दीर्घ विकल्प और रेफ के लत्व विकल्प से चार रूप बनते हैं—गलीता, गलिता । गरीता, गरिता ।

ज्ञीप्सायाम् । 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणम् । पृच्छति । पप्रच्छ । पप्रच्छतुः । पप्रच्छुः । प्रष्टा । प्रक्ष्यति । अप्राक्षीत् । इति परस्मैपदिनः ।

अथाऽऽत्मनेपदिनः । दृङ् आदरे । आद्रियते । आदद्रे । आदद्रिषे । आदर्ता । आदरिष्यते । धृङ् अवस्थाने । ध्रियते । दध्रे । मृङ् प्राणत्यागे । (७७९) म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च १।३।६१ । लुङ्लिङोः शितश्च प्रकृतिभूतान्मृङस्तङानौ, नान्यत्र । ङित्त्वं स्वरार्थम् । 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' । इयङ् । म्रियते । ममार । ममर्थ । मम्रिव । मम्रिम ।

पृच्छतीति । प्रच्छ्धातोर्लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वात् 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणे ऋकारे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'पृच्छति' इति ।

(७७९) म्रियतेर्लुङ्लिङोश्चेति । 'अनुदात्तङित आत्मनेपदमि'त्यत 'आत्मनेपदमि'त्यनुवर्तते । चकारेण 'शदेः शितः' इत्यस्मात् शित इत्यनुकृष्यते । प्रकृतिभूतादित्यध्याह्रियते । तदाह—लुङ्लिङोरिति । म्रियते । ङकारेत्संज्ञक-मृङ्धातोर्लटि

√प्रच्छ् धातु का अर्थ—'जानने की इच्छा, पूछना' है। (१) √प्रच्छ्+लट् (=तिप्=ति, श='अ' 'र्'='ऋ'—सम्प्रसारण—'ग्रहिज्या०', पूर्वरूप—'सम्प्रसारणाच्च')=पृच्छति । (२) लिट्—पप्रच्छ । (३) लिट् प्र० पु० द्विव०—पप्रच्छतुः । (४) लिट् प्र० पु० बहु०—पप्रच्छुः । (५) √प्रच्छ्+लुट् (=तिप्=डा='आ', तास्, टिलोप)—प्रच्छ् ता ('च्छ्'='ष्'—'व्रश्चभ्रस्ज०' 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)=प्रष्टा । (६) √प्रच्छ्+लृट् (=तिप्=ति, स्य)—प्रच्छ् स्य ति ('च्छ्'='ष्' 'व्रश्च०', 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि', 'स्'='ष्' षत्व, क्+ष्='क्ष्')=प्रक्ष्यति । (७) √प्रच्छ्+लुङ् (=तिप्='ति' अट्, च्लि, च्लि=सिच्='स्', इकारलोप, 'छ्'='ष्'—'व्रश्च०', 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि' 'स्'='ष्'—षत्व, ईट्='ई'—'अस्तिसिचो', वृद्धि 'वदव्रज०')=अप्राक्षीत् ।

अब आत्मनेपदी धातुओं के रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की जा रही है—

√दृङ् धातु का अर्थ—'आदर करना' है। (१) आ+√दृ+लट् (=त, 'श'='अ', ऋ=रिङ्='रि'—'रिङ्शयग्लिङ्क्षु', इ=इयङ्='इय्', टि को एत्व—'टित आत्मनेपदानां टेरे')=आद्रियते । (२) आ+√दृ+लिट् (=त=एश्='ए', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष)—आद दृ ए ('ऋ'='र्'—यण्)=आदद्रे । (३) लिट् म० पु० एकव०—आदद्रिषे । (४) लुट्—आदर्त्ता । (५) लृट्—आदरिष्यते । √धृङ् (=धृ) का अर्थ—'धारण करना' है । (१) लट्—ध्रियते । (२) लिट्—दध्रे ।

√मृङ् का अर्थ—'प्राणत्याग' (=मरना) है ।

(७७९) पद—म्रियतेः, लुङ्लिङोः, च । **अनुवृत्ति**—आत्मनेपदम्, शितः । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—लुङ्, लिङ् और शित् प्रत्यय के प्रकृतिभूत 'मृङ्' धातु से ही तङ् तथा आन (आत्मनेपद) हों, अन्यत्र नहीं । ङित्करण स्वर के लिए है । म्रियते । ममार इत्यादि ।

विमर्श—'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है । सूत्रस्थ चकार से—'शदेः शितः' से 'शितः' पद का लाभ होता है । 'प्रकृतिभूतात्' पद का अध्याहार किया जाता है । इस प्रकार—"लुङ्, लिङ् और शित् के प्रकृतिभूत अर्थात् सार्वधातुक के विषय में मृ धातु से आत्मनेपद होता है, अन्यत्र नहीं । अर्थात् मृङ् धातु से लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्, आशीर्लिङ् और लुङ् में आत्मनेपद तथा लिट्, लुट्, लृट् और लृङ् में परस्मैपद होता है ।"

मर्ता । मरिष्यति । मृषीष्ट । अमृत । अमरिष्यत् । पृङ् व्यायामे । प्रायेणायं 'व्याङ्' पूर्वः । व्याप्रियते । व्यापप्रे । व्यापप्राते । व्यापरिष्यते । 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सिज्लोपः । व्यापृत । व्यापृषाताम् । जुषी प्रीतिसेवनयोः । जुषते । जुजुषे । जोषिता । ओविजी भयसञ्चलनयोः । प्रायेणायमुत्पूर्वः । उद्विजते । (७८०) विज इट् १।१।२ । विजेः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत् स्यात् । उद्विजिता । उद्विजिष्यते । ओलजी ओलस्जी व्रीडायाम् । लजते । लेजे । लज्जते । ललज्जे ।

इति तुदादिप्रकरणम् ।

लः स्थाने 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्चे'ति आत्मनेपदे त प्रत्यये 'तुदादिभ्यः शः' इति शेऽनुबन्धलोपे 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशे 'अचि श्नुधातुभ्रुवामि'ति इयङि 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'म्रियते' इति ।

(७८०) विज इडिति । 'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यतः ङिदित्यनुवर्तते । अत आह— विजेः पर इत्यादिना । उद्विजिता । उत्पूर्वकाद्विज्धातोः लुटि तादेशे तासि, इटि, तिपः

उदाहरण—(१) √मृ+लट् ('ल' के स्थान में 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' से आत्मनेपद 'त', 'श'='अ', ऋ=रिङ्='रि'—'रिङ्शयग्लिङ्क्षु', इ=इयङ्='इय्'—'अचि श्नु०', टि को एत्व)=म्रियते । (२) √मृ+लिट् (=परस्मैपद तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष)—म मृ अ ('ऋ'='अ' गुण–'सार्वधातु०', रपर, वृद्धि—'अत उपधायाः')= ममार । (३) लिट् म० पु० एकव०—ममर्थ । (४) लिट् उ० पु० द्विव०, बहु०—मम्रिव, मम्रिम । (५) लुट्—मर्ता । (६) लृट्—मरिष्यति । (७) आशीर्लिङ्—मृषीष्ट । (८) लुङ्—अमृत (सिच् का लोप—'ह्रस्वादङ्गात्')—(९) लृङ्—अमरिष्यत् ।

√पृङ् धातु का अर्थ—'व्यायाम, चेष्टा करना' है । इस धातु के पूर्व में प्रायः वि और आङ् उपसर्ग जुड़ता है । (१) वि+आ+√पृ+लट् (=त, श='अ', ऋ=रिङ्='रि', इ= इयङ्=इय्—'अचि श्नु०', एत्व)=व्याप्रियते । (२) व्या+√पृ+लिट् (=त=एश्=ए, द्वित्व, अभ्यासत्व, अत्व, रपर, हलादिशेष)—व्या प पृ ए (ऋ='र्'—यण्)=व्यापप्रे । (३) लिट् प्र० पु० द्विव०—व्यापप्राते । (४) लृट्—व्यापरिष्यते । (५) लुङ्—व्यापृत (सिच् का लोप—'ह्रस्वादङ्गात्') । (६) लुङ्—प्र० पु० द्विव०—व्यापृषाताम् ।

√जुषी (=जुष्) का अर्थ—'प्रीति और सेवन करना' है । (१) लट्—जुषते । (२) लिट्—जुजुषे । (३) लुट्—जोषिता ।

√ओविजी (विज्) का अर्थ—'भय तथा काँपना' है । यह धातु ओदित् और ईदित् है । इसका प्रयोग प्रायः 'उत्' उपसर्गपूर्वक होता है । (१) लट्—उद्विजते ।

(७८०) पद—विजः, इट् । **अनुवृत्ति**—ङित् । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—'विज्' धातु से परवर्ती इडादिप्रत्यय ङिद्वत् होते हैं । उद्विजिता इत्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् ' (१।२।१) से 'ङित्' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार—"विज् से परे इडादि प्रत्यय ङिद्वत् होता है ।" ङित् होने का फल गुण का निषेध होना है ।

उदाहरण—(१) उद्+√विज्+लुट् (=त, तास्, इट्, त=डा=आ, टिलोप)—

अथ रुधादिप्रकरणम्

तत्रोभयपदिनः । रुधिर् आवरणे । (७८१) रुधादिभ्यः श्नम् ३।१।७८ । रुधादिभ्यः श्नम् स्यात् कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । मित्त्वादन्त्यादचः परः । नित्यत्वाद् गुणं बाधते । रुणद्धि । 'श्नसोरल्लोपः' । 'झरो झरी'ति धलोपः । णत्वस्या-

---

स्थाने डादेशेऽनुबन्धलोपे ङित्त्वाट्टिलोपे, 'विज इट्' इति इटो ङिद्वद्भावे, तेन गुणनिषेधे 'उद्विजिता' इति ।

इति तुदादिप्रकरणम् ।

शविकरणान् धातून्निरूप्येदानीं श्नम्विकरणा धातवो निरूप्यन्ते—

(७८१) **रुधादिभ्य इति ।** कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे रुधादिभ्यः स्वार्थे श्नम्प्रत्ययः स्यादिति सूत्रार्थः । **रुणद्धि इति ।** 'रुधिर् आवरणे' इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि, प्राप्तं शब्विकरणं प्रबाध्य 'रुधादिभ्यः श्नम्' इति श्नमि अनुबन्धलोपे 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति अन्त्यादचः परे श्नमि 'रु न ध् ति' इति जाते 'अट्कुप्वाङ्' इत्यादिना णत्वे

'विज इट्' से ङित् होने से प्राप्त गुण का निषेध—'क्ङिति च')—उद्विजिता । (२) लृट्—उद्विजिष्यते ।

√ओलजी, ओलस्जी (= लज्, लस्ज्) धातुओं का अर्थ—'लज्जित होना' है । (१) √लज्+लट् (=त, श='अ' एत्व)=लजते । (२) लिट्—लेजे । (१) √लस्ज्+लट् (=त, श='अ', 'स्'='श्'—श्चुत्व, 'श्'='ज्'—'झलां जश् झशि', 'टि' को एत्व)=लज्जते । (२) लिट्—ललज्जे ।

तुदादि-प्रकरण समाप्त ।

तुदादिगण में 'श' विकरण वाली धातुओं की रूपसिद्धि प्रदर्शित करने के अनन्तर प्रस्तुत प्रकरण में 'श्नम्' विकरण वाली धातुओं के रूपों की प्रक्रिया बतलाई जा रही है—

√रुधिर् (=रुध्) धातु का अर्थ—'रोकना' है । यह 'इर्' इत्संज्ञक तथा अनिट् है ।

(७८१) पद—रुधादिभ्यः, श्नम् । **अनुवृत्ति**—कर्तरि, सार्वधातुके । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परवर्ती रहते रुधादिगण पठित धातुओं से श्नम् (=न) प्रत्यय होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में—'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'कर्तरि' तथा 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार—"कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते रुधादिगण पठित धातुओं से 'श्नम्' (न) विकरण होता है ।" यह 'श्नम्' शप् प्रत्यय का अपवाद है । 'श्नम्' में शकार, मकार की इत्संज्ञा लोप होता है । 'मित्' होने से 'मिदचोऽन्त्यात्परः' सूत्र से अन्त्य अच् से परे 'न' होता है । यह विकरण 'न' नित्य होने से लघूपध गुण का बाध करता है ।

उदाहरण—(१) √रुध्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न'—'रुधादिभ्यः श्नम्' अन्त्य अच् से परे—'मिदचोऽन्त्यात्परः')—रु न ध् ति ('न्'='ण्'—णत्व—'अट्कुप्वाङ्०', 'त्'=

सिद्धत्वादनुस्वारः । परसवर्णः । तस्यासिद्धत्वाण्णत्वं न । 'न पदान्ते'ति सूत्रेणानुस्वार-परसवर्णयोरल्लोपो न स्थानिवत् । रुन्द्धः । रुन्धन्ति । रुणत्सि । रुन्द्धः । रुन्द्ध । रुणध्मि । रुन्ध्वः । रुन्ध्मः । रुन्धे । रुन्धाते । रुन्धते । रुन्त्से । रुन्धाथे । रुन्द्ध्वे । रुन्धे । रुन्ध्वहे । रुन्ध्महे । रुरोध । रुरुधे । रोद्धा । रोत्स्यति । रोत्स्यते । रुणद्धु-रुन्धात् । रुन्द्धाम् । रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि । रुणधाव । रुणधाम । रुन्धाम् । रुन्धाताम् । रुन्धताम् । रुन्त्स्व । रुणधै । रुणधावहै । रुणधामहै । अरुणत्-द् । अरुन्धाम् । अरुन्धन् । 'दश्चे'ति रुः । अरुणः-अरुणत्-द् । अरुन्धम् । अरुन्द्ध ।

'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति धस्य दत्वे 'रुणद्धि' इति । अरुणत्, अरुणद् । रुध्धातोर्लङि, लः स्थाने तिपि, अटि, तिप इकारलोपे 'रुधादिभ्यः श्नम्' इति श्नमि अनुबन्धलोपे, मित्त्वादन्त्यादचः परे 'अ रु न ध् त्' इति जाते, णत्वे,

---

'ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः', 'ध्'='द्' 'झलां जश् झशि')=रुणद्धि । (२) √रुध्+लट् (= तस्, श्नम्=न)—रु न ध् तस् (अकार का लोप—'श्नसोरल्लोपः', 'त्'='ध्'—'झषस्तथो-र्धोऽधः', प्रथम 'ध्' का विकल्प से लोप—'झरो झरि सवर्णे', स्=र्=ः)=रुन्धः । यहाँ णत्व के असिद्ध होने से 'न्' के स्थान में 'नश्चापदान्तस्य' से अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण नकार होता है । परसवर्ण के असिद्ध होने से पुनः णत्व नहीं होता । धकारलोप के अभावपक्ष में—रु न् ध् ध् स् (पूर्व 'ध्'='द्'—जश्त्व, स्=र्=ः)=रुन्द्धः । (३) √रुध् +लट् (=झि, श्नम्='न', 'झ्'='अन्त्'—'झोऽन्तः' 'अ' का लोप—'श्नसोरल्लोपः' न्=ं-अनुस्वार='न्' परसवर्ण)=रुन्धन्ति । (४) √रुध्+लट् (=सिप्=सि, श्नम्='न', णत्व, 'ध्'='त्'—चर्त्व)=रुणत्सि । (५) √रुध्+लट् (=थस्, श्नम्='न', अकारलोप)—रु न् ध् थस् ('ध्'='ध्'—'झषस्तथो०', 'ध्' का लोप विकल्प से, स्=र्=ः)=रुन्धः । लोप के अभावपक्ष में—'ध्'='द्'—रुन्द्धः । (६) लट् म० पु० बहुव०—रुन्द्ध । (७) लट् उ० पु०—रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः । आत्मनेपद में—(८) √रुध्+लट् (=त, श्नम्='न')—रु न ध् त (अकारलोप—'श्नसोरल्लोपः' अ=एत्व—'टित आत्मनेपदानाम्०' 'त्'='ध्'—'झषस्तथो०' धकारलोप, अनुस्वार, परसवर्ण)=रुन्धे ।

√रुधिर् (रुध्) धातु लट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	—रुणद्धि	रुन्द्धः	रुन्धन्ति
म० पु०	—रुणत्सि	रुन्द्धः	रुन्द्ध
उ० पु०	—रुणध्मि	रुन्ध्वः	रुन्ध्मः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	—रुन्धे	रुन्धाते	रुन्धते
म० पु०	—रुन्त्से	रुन्धाथे	रुन्द्ध्वे
उ० पु०	—रुन्धे	रुन्ध्वहे	रुन्ध्महे

(९) √रुध्+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'उ'='ओ'—गुण—'पुगन्त०')=रुरोध । (१०) आत्मनेपद में—रुरुधे । (११) √रुध्+लुट् (=तिप्=

अरुणधम् । अरुन्ध्व । अरुन्ध्म । अरुन्द्ध । अरुन्धाताम् । अरुन्धत । अरुन्द्धाः । अरुन्धाथाम् । अरुन्ध्वम् । अरुन्धि । अरुन्ध्वहि । अरुन्ध्महि । समानाश्रये आभीयत्वेन अल्लोपस्यासिद्धत्वादनिदितामिति नलोपो न । रुन्ध्यात् । रुन्धीत । रुध्यात् । रुत्सीष्ट । अरुधत् । अरौत्सीत् । 'लिङ्सिचावि'ति कित्त्वम् । अरुद्ध । अरोत्स्यत् । अरोत्स्यत । भिदिर् विदारणे । भिनत्ति । भिन्ते । छिदिर् द्वैधीकरणे । छिनत्ति । छिन्ते । युजिर्

'हल्ङ्याब्भ्यो०' इति तलोपे 'जलां जशोऽन्ते' इति धस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन दकारस्य तकारे 'अरुणत्' इति । चर्त्वाभावपक्षे 'अरुणद्' इति । **युनक्ति** युज्धातोर्लटि तिपि, श्नमि, अनुबन्धलोपे 'चोः कुः' इति जकारस्य गकारे 'खरि चे'ति गकारस्य ककारे 'युनक्ति' इति । **चच्छर्द** । छृद्धातोर्लिटि तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्ध-

---

डा=आ, तास् , टिलोप)—रुध् ता ('त्'='ध्'—'झषस्तथो०', 'ध्'='द्'—'जश्त्व', गुण)= रोद्धा । (१२) लृट् प० प०—रोत्स्यति । आ० प०—रोत्स्यते । (१३) √रुध्+लोट् (=तिप् =ति, श्नम्='न')—रु न ध् ति (णत्व, 'त्'='ध्', 'ध्'='द्', 'इ'='उ'—'एरुः')=रुणद्धु । तातङ् पक्ष में—रु न ध् तात् (अकारलोप, अनुस्वार, परसवर्ण, 'त्'='ध्', 'ध्' का लोप) =रुन्धात् । (१४) लोट् प्र० पु० द्विव०—रुन्द्धाम् । (१५) लोट् प्र० पु० बहुव०—रुन्धन्तु ।

√रुध् धातु लोट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	रुणद्धु, रुन्धात्	रुन्द्धाम्	रुन्धन्तु
म० पु०	रुन्द्धि, रुन्धात्	रुन्द्धम्	रुन्द्ध
उ० पु०	रुणधानि	रुणधाव	रुणधाम

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	रुन्द्धाम्	रुन्धाताम्	रुन्धताम्
म० पु०	रुन्त्स्व	रुन्धाथाम्	रुन्द्ध्वम्
उ० पु०	रुणधै	रुणधावहै	रुणधामहै

(१६) √रुध्+लङ् (=तिप्=ति, अट् , इकारलोप, श्नम्='न')—अ रु न ध् त् ('न्' ='ण्'—णत्व—'अट्कुप्वाङ्०', 'त्' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः०, 'ध्'='द्'—'झलां जशोऽन्ते', 'द्'='त्' विकल्प से—'वाऽवसाने')=अरुणत् । तकार के अभावपक्ष में—अरुणद् ।

√रुध् धातु लङ् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अरुणत्, अरुणद्	अरुन्द्धाम्	अरुन्धन्
म० पु०	अरुणः, अरुणत्-द्	अरुन्द्धम्	अरुन्द्ध
उ० पु०	अरुणधम्	अरुन्ध्व	अरुन्ध्म

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	अरुन्द्ध	अरुन्धाताम्	अरुन्धत
म० पु०	अरुन्द्धाः	अरुन्धाथाम्	अरुन्द्ध्वम्
उ० पु०	अरुन्धि	अरुन्ध्वहि	अरुन्ध्महि

योगे । युनक्ति । युङ्क्ते । रिचिर् विरेचने । रिणक्ति । रिङ्क्ते । रिरेच । रिरिचे । रेक्ता अरिणक् । अरिचत् । अरैक्षीत् । अरिक्त । विचिर् पृथग्भावे । विनक्ति । विङ्क्ते । क्षुदिर् सम्पेषणे । क्षुणत्ति । क्षुन्ते । क्षोत्ता । अक्षुदत् । अक्षौत्सीत् । अक्षुत्त ।

लोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति ऋकारस्य अत्वे, रपरत्वे हलादिशेषे 'पुगन्त०' इति गुणे, रपरे 'अभ्यासे चर्चं' इति छस्य चर्त्वे 'छे च' इति तुक्यनुबन्धलोपे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन तस्य चर्त्वे 'चच्छर्द' इति ।

---

(१७) √रुध्+विधिलिङ् (=तिप्=ति, यासुट्='यास्', इकारलोप, श्नम्='न', अकारलोप, 'स्' का लोप)=रुन्ध्यात् (यहाँ आभीयत्वेन अकारलोप के असिद्ध होने से 'अनिदिताम्०' से 'न्' का लोप नहीं होता)। आ० प०—रुन्धीत। (१८) आशीर्लिङ् प० प०—रुध्यात्। आ० प०—रुत्सीष्ट ('लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से 'सीयुट्' के कित् होने से गुण का निषेध)। (१९) √रुध्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=अङ्='अ' विकल्प से—'इरितो वा')=अरुधत्। अङ् के अभावपक्ष में—(च्लि=सिच्=स्; ईट्='ई' वृद्धि 'ध्'='त)=अरौत्सीत्। आत्मनेपद पक्ष में—अ रुध् त (च्लि=सिच्='स्', 'स्' का 'झलो झलि' से लोप, 'त्'='ध्'—'झषस्तथो०' 'ध्'='द्'—जश्त्व)=अरुद्ध। (२०) लृट् प० प०—अरोत्स्यत्। आ० प०—अरोत्स्यत।

√भिदिर् (=भिद्) धातु का अर्थ—'तोड़ना' है। (१) √भिद्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न', 'द्'='त्'—'खरि च')=भिनत्ति। आत्मनेपद में—भिन्ते।

√छिदिर् (=छिद्) का अर्थ—'काटना' है। (१) लट्—छिनत्ति। लट् आ० प०—छिन्ते।

प्रकृत धातु से उपसर्गों का योग होने पर—परिछिनत्ति=नापता है। उच्छिनत्ति=नाश करता है।

√युजिर् (=युज्) धातु का अर्थ—'मिलना' है। (१) √युज्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न')—यु न ज् ति ('ज्'='ग्—'चोः कुः', 'ग्'='क्'—'खरि च')=युनक्ति। आ० प० में—युङ्क्ते।

उपसर्ग का योग होने पर—प्रयुङ्क्ते=प्रयोग करता है। उद्युङ्क्ते=उद्योग करता है। अनुयुङ्क्ते=प्रश्न करता है। वियुनक्ति=नियुक्त करता है। उपयुङ्क्ते=उपयोग करता है। वियुनक्ति=पृथक् होता है।

√रिचिर् (=रिच्) धातु का अर्थ 'रिक्त होना' है। (१) √रिच्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न')—रि न च् ति ('च्'='क्'—'चोः कुः' 'न्'='ण्'—णत्व)=रिणक्ति। आ० पद में—रिच् त (एत्व, श्नम्='न' अकारलोप—'श्नसोरल्लोपः')—रि न् च् ते ('च्'='क्'—कुत्व, न्=-अनुस्वार='ङ्' परसवर्ण)=रिङ्क्ते। (२) लिट् प० प०—रिरेच। आ० पद—रिरिचे। (३) लुट्—रेक्ता। (४) √रिच्+लङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, श्नम्='न' 'त्' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यो')—अ रि न च् (णत्व, 'च्'='क्'—'कुत्व')=अरिणक्। (५) √रिच्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=अङ्='अ' विकल्प से—'इरितो वा')=अरिचत्। अङ् के अभावपक्ष में—(च्लि=सिच्='स्', ईट्, वृद्धि, 'च्'='क्' 'कुत्व, षत्व, क्+ष्='क्ष्')=अरैक्षीत्। आ० पद में—अरिक्त।

√विचिर् का अर्थ—'अलग होना' है। इसके रूप √'रिचिर्' के समान चलते हैं। (१) लट्—विनक्ति। आ० प०—विङ्क्ते।

उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः। छृणत्ति। छृन्ते। चच्छर्द। 'सेसिचौ'ति वेट्। चच्छृदिषे-चच्छृत्से। छर्दिता। छर्दिष्यति-छर्त्स्यति। अच्छृदत्। अच्छर्दीत्। अच्छर्दिष्ट। उतृदिर् हिंसाऽनादरयोः। तृणत्ति। तृन्ते।

अथ परस्मैपदिनः। कृती वेष्टने। कृणत्ति। आर्द्धधातुके तौदादिकवत्। तृह हिसि हिंसायाम्। (७८२) तृणह इम् ७।३।९२। तृहः श्नमि कृते इम् स्याद्धलादौ पिति। तृणेढि। तृण्ढः। ततर्ह। तर्हिता। अतृणेट्। (७८३) श्नान्नलोपः ६।४।२३।

---

(७८२) तृणह इमिति। 'तृणह' इति कृतश्नमः तृह्धातोः षष्ठी। 'नाभ्यस्तस्ये'-त्यतः पितीति, 'उतो वृद्धिः' इत्यतः हलीति चानुवर्तते। तदाह—तृह इत्यादिना। तृणेढि। तृहधातोर्लटि तिपि अनुबन्धलोपे, प्राप्तं शपं प्रबाध्य 'रुधादिभ्यः श्नम्' इत्यनेन श्नमि अनुबन्धलोपे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इत्यनेन णत्वे 'तृ ण ह् ति' इति जाते 'तृणह इम्' इति इमागमेऽनुबन्धलोपे 'आद् गुणः' इति गुणे, 'झषस्तथो-र्धोऽधः' इत्यनेन तकारस्य धकारे 'हो ढः' इति हकारस्य ढकारे 'तृणेढ धि' इति जाते,

---

√क्षुदिर् का अर्थ 'संपेषण' (मसल डालना) है। (१) लट्—क्षुणत्ति। आ० प०—क्षुन्ते। (२) लुट्—क्षोत्ता। (३) लुङ्—अक्षुदत्, अक्षौत्सीद् (विकल्प से अङ्)। आ० पद में—अक्षुत्त (सिच् का लोप)।

√उच्छृदिर् (—छृद्) धातु का अर्थ—'चमकना, जुआ खेलना' है। (१) लट् प० प०—छृणत्ति। आ० प०—छृन्ते। (२) √छृद्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, 'छ्'='च्'—'अभ्यासे चर्च')—च छृद् अ ('ऋ'='अ'—गुण—'पुगन्त०', रपर, तुक्='त्'—'छे च', 'त्'='च्'—श्चुत्व)=चच्छर्द। (३) √छृद्+लिट् (आत्मनेपद म० पु० एकव०—थास्='से', द्वित्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, चर्त्व, विकल्प से इट्='इ'—'सेऽसिचिकृतचृतछृदतृदनृतः' तुक्, श्चुत्व, षत्व)=चच्छृदिषे। इट् के अभावपक्ष में—चच्छृत्से ('द्'='त्')। (४) लुट्—छर्दिता। (५) लृट्—छर्दिष्यति, छर्त्स्यति (विकल्प से ईट्)। (६) लुङ् प० प०—अच्छृदत् (विकल्प से अङ्)। अङ् के अभावपक्ष में (च्लि=सिच्='स्', गुण, ईट्)—अच्छर्दीत्। आ० पद—अच्छर्दिष्ट।

√उतृदिर् (=तृद्) का अर्थ—'हिंसा और अनादर करना' है। (१) √तृद्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न')—तृ न द् ति (णत्व, 'द्'='त्'—'खरि च')=तृणत्ति। आत्मनेपद पक्ष में—तृ न द् त ('टि' को एत्व, 'अ' का लोप—'श्नसोरल्लोपः', 'द्'='त्'—'खरि च', 'त' का विकल्प से लोप—'झरो झरि सवर्णे')=तृन्ते।

√**कृती** (=कृत) धातु का अर्थ—'लपेटना, घेरना' है। (१) लट्—कृणत्ति।

√**तृह, हिसि** का अर्थ 'हिंसा करना' है।

(७८२) पद—तृणहः, इम्। **अनुवृत्ति**—हलि, पिति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हलादि पित् प्रत्यय के परवर्ती रहते तृह् धातु से श्नम् करने पर 'इम्' आगम होता है।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (७।३।८९) से 'हलि' तथा 'नाभ्य-स्तस्य०' (७।३।८७) से 'पिति' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'श्नम्' विकरण सहित तृह् धातु से हलादि पित् के परे रहते इम्=('इ') आगम होता है।

श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात् । हिनस्ति । जिहिंस । हिंसिता । उन्दी क्लेदने । उनत्ति । उन्तः । उन्दन्ति । उन्दाञ्चकार । औनत् । औन्ताम् । औन्दन् । औनः-औनत् । औनदम् । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । अनक्ति । अङ्क्तः । अञ्जन्ति ।

'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन धकारस्य ढकारे 'ढो ढे लोपः' इत्यनेन पूर्वढकारस्य लोपे 'तृणेढि' इति सिद्धम् । अतृणेट् । तृह्धातोर्लङि तिपि, अटि, तिप इकारलोपे, श्नमि अनुबन्धलोपे 'तृणह इम्' इत्यनेन इमागमेऽनुबन्धलोपे, गुणे, णत्वे, 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति तलोपे 'झलां जशोऽन्ते' इति ढस्य डत्वे 'वाऽवसाने' इति डस्य टत्वे 'अतृणेट्' इति ।

(७८३) श्नान्नलोप इति । 'श्नादि'ति पञ्चमी । नेति लुप्तषष्ठीकं पदम् । तदाह—श्नमः परस्येति । हिनस्ति । हिस्धातोर्लटि तिपि, श्नमि अनुबन्धलोपे 'इदितो नुम् धातोः' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'श्नान्नलोपः' इति नकारस्य लोपे—'हिनस्ति' इति ।

औनत् । उन्द्धातोर्लुङि तिपि 'आडजादीनाम्' इत्यनेन आडागमेऽनुबन्धलोपे

उदाहरण—(१) √तृह्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न', 'न्'—'ण्' णत्व—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्')—तृ ण ह् ति (इम्='इ' आगम—'तृणह इम्', अ+इ='ए'—गुण, 'ह्'='ढ्'—'हो ढः' 'त्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः', 'ध्'='ढ्'—ष्टुत्व', पूर्व 'ढ्' का लोप—'ढो ढे लोपः')=तृणेढि ।-(२) लट् प्र० पु० द्विवचन=तृण्ढः (अकारलोप; शेष कार्य पूर्ववत्)।

√तृह् धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	—तृणेढि	तृण्ढः	तृंहन्ति
म० पु०	=तृणेक्षि	तृण्ढः	तृण्ढ
उ० पु०	—तृणेह्मि	तृंह्वः	तृंह्मः

(३) लिट्—ततर्ह । (४) लुट्—तर्हिता (५) √तृह्+लङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, श्नम्='न', इम्='इ' आगम—'तृणह इम्')—अ तृ न ह् त् (णत्व, अ+इ='ए'—गुण, 'ह्'='ढ्'—'हो ढः', 'त्' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'ढ्'='ड्'—'झलां जशोऽन्ते', 'ड्'='ट्' विकल्प से—'वाऽवसाने')=अतृणेट् ।

(८८३) पद—श्नात्, नलोपः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—श्नम् से उत्तरवर्ती नकार का लोप होता है । हिनस्ति इत्यादि ।

विमर्श—'श्नात्' पञ्चम्यन्त पद है और 'न' पद लुप्तषष्ठ्यन्त है । अतः 'श्नम्' से परे नकार का लोप होता है ।

उदाहरण—(१) √हिसि (इदित्)—हिस्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न', नुम्='न्'—'इदितो नुम् धातोः')—हि न न् स् ति ('न्' का लोप—'श्नान्नलोपः')=हिनस्ति ।

√हिसि धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	—हिनस्ति	हिंस्तः	हिंसन्ति
म० पु०	—हिनस्सि	हिंस्थः	हिंस्थ
उ० पु०	—हिनस्मि	हिंस्वः	हिंस्मः

आनञ्ज । आनञ्जिथ–आनङ्क्थ । अञ्जिता–अङ्क्ता । अङ्ग्धि । अनजानि । आनक् । (७८४) अञ्जेः सिचि ७।२।७१ । अञ्जेः सिचो नित्यमिट् । आञ्जीत् ।

'आटश्चे'ति वृद्धौ, श्नमि अनुबन्धलोपे, 'औ न न् द् ति' इति जाते 'इतश्चे'ति तिप इकारलोपे 'श्नान्नलोपः' इति परनकारस्य लोपे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इत्यादिना तकारस्य लोपे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'औनत्' इति । पक्षे 'औनदि'ति ।

(७८४) अञ्जेः सिचीति । 'इडत्यर्ति' इत्यत 'इडि'त्यनुवर्तते । ऊदित्वादेव इट्

---

(२) लिट्—जिहिंस । (३) लुट्—हिंसिता ।

√उन्दी (उन्द्) धातु का अर्थ—'गीला करना' है । (१) √उन्द्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न', 'न्' का लोप—'श्नान्नलोपः' 'द्'='त्'—'खरि च')=उनत्ति । (२) √उन्द्+लट् (=तस्, श्नम्=न)—उ न न् द् तस् ('न्' का लोप—'श्नान्नलोपः', अकारलोप, 'द्' का लोप—'झरो झरि सवर्णे' स्=र्=:) उन्तः । (३) लट् प्र० पु० बहुव०—उन्दन्ति । (४) लिट्—उन्दाञ्चकार (इजादि गुरुमान् होने से आम्, तब √कृ का अनुप्रयोग आदि कार्य) । (५) √उन्द्+लङ् (=तिप्=ति, आट्='आ', वृद्धि—'आटश्च', श्नम्='न', इकारलोप)—औ न न् द् त् ('न्' का लोप—'श्नान्नलोपः', 'द्'='त्'—'खरि च', पूर्व तकार का लोप—'झरो झरि सवर्णे')=औनत् ।

√उन्द् धातु लङ् लकार के रूप

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	औनत्–द्	औन्ताम्	औन्दन्
म० पु०	औनः, औनत्–द्	औन्तम्	औन्त
उ० पु०	औनदम्	औन्द्व	औन्द्म

√अञ्जू (ऊदित) धातु का अर्थ—'स्पष्ट होना, स्वच्छ होना, इच्छा करना और जाना' है । (१) √अञ्ज्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न', 'न्' का लोप—'श्नान्नलोपः')—अ न ज् ति ('ज्'='ग्'—'चोः कुः', 'ग्'='क्'—चर्त्व)—अनक्ति । (२) √अञ्ज्+लट् (=तस्, श्नम्='न' नकारलोप, अकारलोप)—अ न् ज् तस् ('ज्'='ग्'—कुत्व, 'ग्'='क्'—चर्त्व, न्=ं–अनुस्वार='ङ्'—परसवर्ण, स्=र्=:)=अङ्क्तः । (३) लट् प्र० पु० बहुव०—अञ्जन्ति (श्नम्, नकारलोप, अनुस्वार, परसवर्ण ।) (४) अञ्ज्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—अ अञ्ज् अ ('अ'='आ' दीर्घ—'अत आदेः', आ+अ='आ'—सवर्णदीर्घ, नुट्—'न्' आगम—'तस्मान्नुड् द्विहलः')=आनञ्ज । (५) लिट् म० पु० एकवचन—आनञ्जिथ, आनङ्क्थ (ऊदित होने से विकल्प से इट्) । (६) लुट्—अञ्जिता, अङ्क्ता । (७) √अञ्ज्+लोट् (=सिप्=हि='धि'—'हुझल्भ्यो०' श्नम्='न', 'न्' का लोप, अकारलोप)—अ न् ज् धि ('ज्'='ग्'—कुत्व, न्=ं–अनुस्वार=ङ्—'परसवर्ण')=अङ्ग्धि । (८) लोट् उ० पु० एकव०—अनजानि (यहाँ आट् के पित् होने से श्नम् के अकार का लोप नहीं हुआ) । (९) √अञ्ज्+लङ् (=तिप्=ति, आट्, वृद्धि, इकारलोप, श्नम्='न' धातु के 'न्' का लोप—'श्नान्नलोपः', 'त्' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्य०', 'ज्'='ग्'—'चोः कुः', 'ग्'='क्'—'वाऽवसाने')=आनक् ।

(७८४) पद—अञ्जेः, सिचि । **अनुवृत्ति—**इट् । **विधिसूत्र ।**

तञ्चू सङ्कोचने । तनक्ति । तङ्क्ता–तञ्चिता । ओविजी भयसञ्चलनयोः । विनक्ति । विङ्क्तः । 'विज इडि'ति ङित्वम् । विविजिथ । विजिता । अविनक् । अविजीत् । शिष्ऌ विशेषणे । शिनष्टि । शिष्टः । शिंषन्ति । शिनक्षि । शिशेष । शिशेषिथ । शेष्टा । शेक्ष्यति । हेर्धिः । जश्त्वम् । ष्टुत्वम् । 'झरो झरी'ति वा डलोपः । 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' । शिण्ढि–शिण्ड्ढि । शिनषाणि । अशिनट् । शिष्यात् । शिष्यात् ।

सिद्धे नित्यार्थमिदं सूत्रम् । तदाह—अञ्जेरित्यादिना । आञ्जीत् । अञ्ज्धातोर्लुङि, लः स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे 'आडजादीनाम्' इत्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'आटश्चे'ति वृद्धौ च्लौ, च्लेः स्थाने सिच्यनुबन्धलोपे 'अञ्जेः सिचि' इत्यनेन ईटि, अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति इडागमेऽनुबन्धलोपे 'आञ्ज् इ स् ई ति' इति स्थिते, 'इट ईटि' इति सलोपे 'इतश्चे'ति तिप इकारलोपे सवर्णदीर्घे 'आञ्जीत्' इति ।

शिण्ढि । शिष्धातोर्लोटि तत्स्थाने सिप्यनुबन्धलोपे श्नमि अनुबन्धलोपे 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्ह्यादेशे 'श्नसोरल्लोपः' इत्यकारलोपे 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धिभावे

मूलार्थ—'अञ्ज्' धातु से परवर्ती सिच् को नित्य इट् का आगम होता है। आञ्जीत् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इडत्त्यर्ति०' (७।२।६६) से 'इट्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"अञ्ज् धातु से परे सिच् को नित्य इट्='इ' आगम होता है।" ऊदित् होने से विकल्प से प्राप्त इट् का प्रकृत सूत्र से नित्य विधान किया गया है ।

उदाहरण—(१०) √अञ्ज्+लुङ् (=तिप्=ति, आट्=आ, आ+अ='आ' वृद्धि—'आटश्च', च्लि, च्लि=सिच्='स्', तिप् के इकार का लोप—'इतश्च', ईट्='ई', नित्य इट्='इ'—'अञ्जेः सिचि', 'स्' का लोप—'इट ईटि', ई+'इ'='दीर्घ')=आञ्जीत् ।

√तञ्चू (ऊदित्) धातु का अर्थ—'संकुचित करना' है। (१) लट्—तनक्ति । (२) लुट्—तङ्क्ता । तञ्चिता (विकल्प से इट्) ।

√ओविजी (ओदित्, ईदित्) का अर्थ—'डरना और हिलना' है। (१) √विज्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न', 'ज्'='ग्'—'चोः कुः', ग्='क्'—'खरि च')=विनक्ति। (२) लट् प्र० पु० द्वि०—विङ्क्तः। (३) √विज्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, इट्='इ', 'विज इट्' से 'इट्' के ङित् होने से गुण का निषेध)=विविजिथ। (४) लुट्—विजिता। (५) लङ्—अविनक्। (६) √विज्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', इट्, ईट्, 'स्' का लोप—'इट ईटि', 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' से स्लोप के सिद्ध होने पर—इ+ई='ई'—सवर्णदीर्घ)=अविजीत् ।

√शिष्ऌ (ऌदित्) धातु का अर्थ—'विशेषता बतलाना' है। (१) √शिष्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न', 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)=शिनष्टि ।

√शिष् धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	शिनष्टि	शिंष्टः	शिंषन्ति
म० पु०	शिनक्षि	शिंष्ठः	शिंष्ठ
उ० पु०	शिनष्मि	शिंष्वः	शिंष्मः

लृदित्त्वादङ् । अशिषत् । अशेक्ष्यत् । एवं पिष्लृ सञ्चूर्णने । पिनष्टि । पिपेष । भञ्जो आमर्दने । भनक्ति । बभञ्ज । बभञ्जिथ-बभङ्क्थ । भङ्क्ता । भुज पालनाभ्यवहारयोः । भुनक्ति । बुभोज । भोक्ता । भोक्ष्यति । भुनक्तु । अभुनक् । (७८५) भुजोऽनवने १।३।६६ । भुजोऽनवने तङानौ स्तः । ओदनं भुङ्क्ते । अनवने किम् ? महीं भुनक्ति ।

'झलां जश् झशि' इति षस्य डत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन धस्य ढत्वे 'झरो झरि सवर्णे' इति डलोपे नस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'शिण्ढि' इति । बभञ्जिथ । भञ्जधातोर्लिटि सिपि, सिपः स्थाने थलि, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे, हलादिशेषे 'अभ्यासे चर्चं' इति अभ्यासभकारस्य बकारे 'ऋतो भारद्वाजस्ये'ति नियमात् विभाषया इटि 'बभञ्जिथ' इति । इडभावे—'बभञ्ज् थ' इति स्थिते, जस्य गत्वे, गस्य कत्वे, अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'बभङ्क्थ' इति ।

(७८५) भुजोऽनवने । अवनम्—रक्षणम्, ततोऽन्यत्र भुजधातोरात्मनेपदं स्यादित्यर्थः ।

भुङ्क्ते । भुज्धातोर्लटि 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदे तप्रत्यये, श्नमि अनुबन्धलोपे

---

(२) लिट् प्र० पु० एकव०—शिशेष । (३) लिट् म० पु० एकव०—शिशेषिथ । (४) लुट्—शेष्टा । (५) लृट्—शेक्ष्यति । (६) √शिष्=लोट् (=सिप्=सि=हि, श्नम्= 'न्')—शि न ष् हि ('अ' का लोप—'श्नसोरल्लोपः', 'हि'='धि'—'हुझल्भ्यो हेर्धिः', 'ष्'= 'ड्'—'झलां जश् झशि', 'ध्'='ढ्'-ष्टुत्व, 'ड्' का लोप—'झरो झरि सवर्णे', न्=ं-अनुस्वार ='ण्'—परसवर्ण)=शिण्ढि । 'ड्' के लोप के अभावपक्ष में—शिण्ड्ढि । (७) लोट् उ० पु० एकव०—शिनषाणि (आट् के पित् होने से श्नम् के अकार का लोप नहीं होता) ।

(८) √शिष्+लङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, श्नम्='न', 'त्' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यो०' 'ष्'='ड्'-'झलां जशोऽन्ते', 'ड्'='ट्' विकल्प से—'वाऽवसाने')=अशिनट्-ड् । (९) √शिष्+विधिलिङ् (=तिप्=ति, श्नम्='न', यासुट्='यास्')—शि न ष् यास् ति (इकारलोप, यासुट् के ङित् होने से श्नम् के अकार का लोप, 'स्' का लोप, अनुस्वार)= शिंष्यात् । (१०) आशीर्लिङ् में आर्धधातुक होने से श्नम् नहीं होता—शिष्यात् । (११) √शिष् +लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=अङ्='अ'—'पुषादिद्युताद्य्०'=अशिषत् । (१२) लृङ्—अशेक्ष्यत् ।

√पिष्लृ (लृदित्) धातु का अर्थ—'पीसना' है । इसके रूप शिष् धातु की तरह बनते हैं । (१) लट्—पिनष्टि । (२) लिट्—पिपेष ।

√भञ्ज् (ओदित्) धातु का अर्थ—'तोड़ना' है । (१) लट्—भनक्ति । (२) लिट् प्र० पु० एकव०—बभञ्ज । (३) √भञ्ज्+लिट् (=सिप्=थल्=थ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'भ्'='ब्'—'अभ्यासे चर्च', प्राप्त इट् का 'उपदेशेऽत्वतः' से निषेध, 'ऋतो भारद्वाजस्य' नियम से विकल्प से इट्='इ')=बभञ्जिथ । इट् के अभावपक्ष में ('ज्'='ग्' कुत्व, 'ग्'= 'क्'—चर्त्व, न्=ं-अनुस्वार='ङ्'—परसवर्ण)=बभङ्क्थ । (४) लुट्—भङ्क्ता ।

√भुज धातु का अर्थ 'पालन करना और खाना' है । यह धातु—'पालन करना' अर्थ में

अथात्मनेपदिनः। ञिइन्धी दीप्तौ। इन्द्धे। इन्धाते। इन्धते। इन्त्से। इन्धाञ्चक्रे। इन्धिता। इन्द्धाम्। इन्धाताम्। इन्धताम्। इनधै। ऐन्ध। ऐन्धाताम्। ऐन्धत। ऐन्द्धाः। विद विचारणे। विन्ते। वेत्ता। खिद दैन्ये। खिन्ते। चिखिदे। खेत्ता। खेत्स्यते। खिन्ताम्। अखिन्त।

इति रुधादिप्रकरणम्।

'श्नसोरल्लोपः' इत्यकारलोपे 'चोः कुः' इति कुत्वेन गकारे 'खरि चे'ति चर्त्वे, अनुस्वारे, परसवर्णे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'भुङ्क्ते' इति।

इति रुधादिप्रकरणम्।

परस्मैपदी तथा 'खाना' अर्थ में आत्मनेपदी है। (१) √भुज्+लट् (=तिप्=ति, श्नम्='न', 'ज्'='ग्'—कुत्व—'चोः कुः', 'ग्'='क्'—'खरि च')=भुनक्ति।

√भुज् धातु लट् लकार के रूप (परस्मैपदी)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	भुनक्ति	भुङ्क्तः	भुञ्जन्ति
म० पु०	भुनक्षि	भुङ्क्थः	भुङ्क्थ
उ० पु०	भुनज्मि	भुञ्ज्वः	भुञ्ज्मः

(२) लिट्—बुभोज। (३) लुट्—भोक्ता। (४) लृट्—भोक्ष्यति। (५) लोट्—भुनक्तु। (६) लङ्—अभुनक्।

(७२९) पद—भुजः, अनवने। **अनुवृत्ति**—आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—रक्षण से भिन्न अर्थ में भुज धातु से आत्मनेपद होता है। ओदनं भुङ्क्ते इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। अतः 'अनवन (=रक्षण, पालन से भिन्न भक्षण आदि अर्थों में) भुज् धातु से आत्मनेपद के प्रत्यय आते हैं'।

उदाहरण—'ओदनं भुङ्क्ते'। यहाँ √भुज धातु का अर्थ 'भोजन करना' है। अतः प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होता है। (१) √भुज्+लट् (='भुजोऽनवने' से आत्मनेपद त, श्नम्='न', 'अ' का लोप—'श्नसोरल्लोपः', 'ज्'='ग्'—'चोः कुः', 'ग्'='क्'—'खरि च', न्=ं अनुस्वार='ङ्' परसवर्ण, टि को एत्व)=भुङ्क्ते।

प्रत्युदाहरण—अनवने किम्? 'रक्षण से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है' ऐसा क्यों कहा? इसका समाधान ग्रन्थकार लिखते हैं—'महीं भुनक्ति' (=पृथ्वी का पालन करता है)। यहाँ रक्षण (पालन) अर्थ होने से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद नहीं हुआ।

अब आत्मनेपदी धातुओं की रूपसिद्धि का उल्लेख किया जा रहा है—

√ञिइन्धी (ञीदित, ईदित) धातु का अर्थ—'चमकना' है। (१) **√इन्ध्+लट्** (=त, श्नम्='न', नकारलोप, अकारलोप—'श्नसोरल्लोपः', 'त्'='ध्'—'झषस्तथोर्धोऽधः', पूर्व 'ध्' का विकल्प से लोप—'झरो झरि सवर्णे'; 'टि' को एत्व—'टित आत्मनेपदानाम्')=इन्धे। 'ध्' लोप के अभावपक्ष में (—पूर्व 'ध्'='द्'—जश्त्व)=इन्द्धे।

अथ तनादिप्रकरणम्

(अथ स्वरितेतो, ञितश्च—उभयपदिनः)

तनु विस्तारे। (७८६) तनादिकृञ्भ्य उः ३।१।७९। तनादेः, कृञश्च उः प्रत्ययः स्यात् कर्त्रर्थे सार्वधातुके। तनोति। तनुते। ततान। तेने। तनिता। तनिष्यति।

अथ उविकरणान् धातून्निरूपयितुमुपक्रमते—अथ सप्त इति।

(७८६) तनादिकृञ्भ्य उः। 'कर्तरि शप्' इत्यतः कर्तरीति 'सार्वधातुके यक्'

√इन्ध् धातु लट् लकार के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	इन्धे, इन्द्धे	इन्धाते	इन्धते
म० पु०	इन्त्से	इन्धाथे	इन्ध्वे
उ० पु०	इन्धे	इन्ध्वहे	इन्ध्महे

(२) √इन्ध्+लिट् ('आम्'--'इजादेश्च०', लिट् का लुक्--'आमः')--इन्धाम् (लिट्-परक √कृ का अनुप्रयोग, ल्=त)--इन्धाम् कृ त (धातु को द्वित्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, 'क्'='च्'--'कुहोश्चुः, त=एश्='ए'--'लिटस्तझयोरेशिरेच्', 'ऋ'='र्'--यण्, म्=ं-अनुस्वार='ञ्'—परसवर्ण)=एधाञ्चक्रे। (३) लुट्--इन्धिता। (४) √इन्ध्+लोट् (=त, श्नम्='न', नकारलोप--'श्नान्नलोपः' अकारलोप)--इ न् ध् त ('टि' को एत्व, 'त्'='ध्'—'झषस्तथो०' पूर्व 'ध्'='द्'—जश्त्व, ए='आम्'—'आमेतः')=इन्द्धाम्। (५) लोट् प्र० पु० द्विव०--इन्धाताम्। (६) लोट् प्र० पु० बहु०—इन्धताम्। (७) लोट् उ० पु० एकवचन—इनधै (श्नम्, धातु के नकार का लोप, आट्, वृद्धि)। (८) √इन्ध्+लङ् (=त, आट्, वृद्धि, श्नम् 'न्' का लोप, श्नम् के अकार का लोप, 'त्'='ध्'—'झषस्तथो', पूर्व 'ध्' का लोप --'झरो झरि०')=ऐन्ध। (९) लङ् प्र० पु० द्विव०—ऐन्धाताम्। (१०) लङ् प्र० पु० बहु-वचन--ऐन्धत। (११) √इन्ध्+लङ् (=थास्, आट्, वृद्धि, श्नम्, धातु के 'न्' का लोप, 'श्नम्' के 'अ' का लोप, 'थ्'='ध्'—'झषस्तथो०', पूर्व 'ध्' का विकल्प से लोप--'झरो झरि सवर्णे', स्=र्=:)=ऐन्धाः। लोप के अभावपक्ष में—'ध्'='द्'--जश्त्व=ऐन्द्धाः।

√विद् धातु का अर्थ—'विचार करना' है। (१) √विद्+लट् (=त, श्नम्=न)—विन द् त ('अ' का लोप—'श्नसोरल्लोपः', 'द्'='त्'—'खरि च', पूर्व 'त' का लोप—'झरो झरि सवर्णे', टि को एत्व)=विन्ते। (२) लुट्—वेत्ता।

√खिद धातु का अर्थ—'खिन्न होना, दुःखी होना' है। (१) लट्—खिन्ते। (२) लिट्--चिखिदे। (३) लुट्—खेत्ता। (४) लृट्—खेत्स्यते। (५) लोट्—खिन्ताम्। (६) लङ्—अखिन्त।

रुधादि-प्रकरण समाप्त।

पूर्व प्रकरण में 'श्नम्' विकरण वाली धातुओं का निरूपण करने के अनन्तर प्रस्तुत प्रकरण में 'उ' विकरण वाली धातुओं की रूपसिद्धि का निरूपण किया जा रहा है। प्रकरण के आरम्भ में उभयपदी धातुओं की रूपसिद्धि प्रदर्शित की जा रही है—√तनु (उकारेत्संज्ञक) धातु का अर्थ—'विस्तार करना, फैलाना' है।

(७८६) पद—तनादिकृञ्भ्यः, उः। **अनुवृत्ति**—कर्तरि, सार्वधातुके। **विधिसूत्र।**

तनिष्यते । तनोतु । तनुताम् । अतनोत् । अतनुत । तनुयात् । तन्वीत । तन्यात् । तनिषीष्ट । अतनीत् । अतानीत् । (७८७) तनादिभ्यस्तथासोः २।४।७९ । तनादेः

इत्यतः 'सार्वधातुके' इति चानुवर्तते । तदाह—**तनादेरित्यादिना । तनोति ।** उकारेत्संज्ञक-तनुधातोर्लटि, तिपि, प्राप्तं शपं प्रबाध्य तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युप्रत्यये 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्युकारस्य गुणे ओकारे कृते 'तनोति' इति । आत्मनेपदे—**तनुते** इति । अत्र तप्रत्ययस्य सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वाद् गुणाभावः । **अतानीत् ।** तन्धातोर्लुङि तिपि, अटि, अनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिजादेशेऽनुबन्धलोपे, इटि, तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'इट ईटि' इत्यनेन सकारलोपे, सवर्णदीर्घे 'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पेन वृद्धौ अतानीत् इति । वृद्धयभावपक्षे—अतनीत् इति ।

मूलार्थ—कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परवर्ती रहते तनादिगण पठित और कृञ् धातु से 'उ' प्रत्यय होता है । तनोति । तनुते इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'कर्तरि' तथा 'सार्वधातुके यक्' (१।३।६७) से 'सार्वधातुके' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परे रहते तन् आदि धातु और कृ धातु से 'उ' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—(१) √तन्+लट् (=तिप्=ति, शप् का बाधकर 'उ' प्रत्यय—'तनादिकृञ्भ्य उः', 'उ'='ओ'—गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः')=तनोति । (२) √तन्+लट् (=आत्मनेपद 'त', उ, 'त' के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् हो जाने से गुण का निषेध—'सार्वधातुकमपित्', 'टि'='अ'='ए'—'टित आत्मनेपदानां टेरे')=तनुते ।

√तन् धातु लट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	तनोति	तनुतः	तन्वन्ति
म० पु०	तनोषि	तनुथः	तनुथ
उ० पु०	तनोमि	तनुवः	तनुमः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	तनुते	तन्वाते	तन्वते
म० पु०	तनुषे	तन्वाथे	तनुध्वे
उ० पु०	तन्वे	तनुवहे	तनुमहे

(३) √तन्+लिट् (=तिप्=णल्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, उपधावृद्धि) =ततान । आत्मनेपद—√तन्+लिट् (=त, द्वित्व, अभ्यासत्व, हलादिशेष, एत्व, अभ्यासलोप, त=एश्='ए')=तेने ।

√तन् धातु लिट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	ततान	तेनतुः	तेनुः
म० पु०	तेनिथ	तेनथुः	तेन
उ० पु०	ततान	तेनिव	तेनिम

सिचो वा लुक् स्यात्तथासोः। 'अनुदात्तोपदेशे'ति नलोपः। अतत-अतनिष्ट। अतथाः-अतनिष्ठाः। अतनिष्यत्। अतनिष्यत। षणु दाने। सनोति। सनुते। 'ये विभाषे'-

(७८७) तनादिभ्य इति। 'गातिस्थे'त्यतः सिच इति, 'ण्यक्षत्रियार्ष' इत्यतः लुगिति, 'विभाषा घ्राधेट्' इत्यतो विभाषेति चानुवर्तते। अत आह—तनादेरित्यादिना।

अतत। तन् धातोर्लुङि, तत्स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये, अडागमेऽनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'चलेः सिच्' इति-सिजादेशेऽनुबन्धलोपे 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति विभाषया सिचो लुकि, 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति'

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	तेने	तेनाते	तेनिरे
म० पु०	तेनिषे	तेनाथे	तेनिध्वे
उ० पु०	तेने	तेनिवहे	तेनिमहे

(४) लुट्—तनिता। (५) लृट्—तनिष्यति। आ० पद—तनिष्यते। (६) लोट् प० प०—तनोतु। आ० पद—तनुताम्। (७) लङ् प० पद—अतनोत्। आ० पद—अतनुत। (८) विधिलिङ् प० पद—तनुयात्। आ० पद—तन्वीत। (९) आशीर्लिङ् प० पद—तन्यात्। आ० पद—तनिषीष्ट। (१०) √तन्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', इट्, ईट्='ई'—'अस्तिसिचोऽपृक्ते', 'स्' का लोप—'इट ईटि', इ+ई='ई'—सवर्णदीर्घ, 'अ'='आ' विकल्प से वृद्धि—'अतो हलादेर्लघोः')=अतानीत्। वृद्धि के अभावपक्ष में—अतनीत्।

(७८७) **पद**—तनादिभ्यः, तथासोः। **अनुवृत्ति**—सिचः, लुक्, विभाषा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तनादि से परवर्ती सिच् का विकल्प से लुक् (लोप) होता है, 'त' और 'थास्' के परे रहते। अतत। अतनिष्ट इत्यादि।

विमर्श—'गातिस्था०' (२।४।७७) से 'सिचः', 'ण्यक्षत्रियार्ष०' (२।४।५८) से 'लुक्' तथा 'विभाषा घ्राधेट्' (२।४।७८) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"तन् आदि धातुओं से परे सिच् का विकल्प से लुक् होता है, 'त' और 'थास्' परे रहते।"

उदाहरण—(११) √तन्+लुङ् (=आत्मनेपद प्र० पु० एकव०—त, अट्, च्लि, च्लि=सिच्='स्', 'स्' का विकल्प से लुक्—'तनादिभ्यस्तथासोः', 'न्' का लोप—'अनुदात्तोपदेश०')=अतत। सिच् लोप के अभावपक्ष में—अ तन् स् त (इट्='इ', 'स्'='ष्'—षत्व, 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)=अतनिष्ट। (१२) √तन्+लुङ् (=म० पु० ए० व०—थास्, च्लि=सिच्='स्', 'स्' का विकल्प से लुक्, स्=र्=:)—अतथाः। सिच् लोप के अभावपक्ष में—अ तन् स् थास् (इट्='इ', षत्व, ष्टुत्व, स्=र्=:)=अतनिष्ठाः। (१३) लृङ्—अतनिष्यत। अतनिष्यत।

√षणु (सन्) धातु का अर्थ 'दान देना' है। (१) √षण्+लट् ('ष्'='स्'—'धात्वादेः षः सः', 'ण्'='न्'—'णो नः', ल्=प्र० पु० ए० व० तिप्=ति, उ, गुण)=सनोति। आ० पद—√सन् त ('उ', 'टि' को एत्व)=सनुते। (२) √षण्+आशीर्लिङ् ('ष्'='स्', 'ण्'='न्' ल्=तिप्=ति, यासुट्=यास्, 'स्' का लोप—'स्कोः०', 'ति' के इकार का लोप—'इतश्च', 'न्'='आ'—'ये विभाषा', सवर्णदीर्घ)=सायात्। आत्व के अभावपक्ष में—सन्यात्।

त्यात्वम् । सायात् । सन्यात् । (७८८) जनसनखनां सञ्झलोः ६।४।४२। एषामाकारोऽन्तादेशः स्याज्झलादौ सनि, झलादौ क्ङिति च। असात-असनिष्ट । असाथाः-असनिष्ठाः । क्षणु हिंसायाम् । क्षणोति । क्षणुते । 'ह्म्यन्ते'ति न वृद्धिः। अक्षणीत् । अक्षत-अक्षणिष्ट । अक्षथाः-अक्षणिष्ठाः । क्षिणु च । उप्रत्यये लघूपधगुणो वा । क्षिणोति-क्षेणोति । क्षेणिता । अक्षेणीत् । अक्षित-अक्षेणिष्ट । तृणु

इत्यनुनासिकनकारस्य लोपे 'अतत' इति । लोपाभावपक्षे—'अतन् स् त' इति स्थिते, इटि, सस्य षत्वे ष्टुत्वे च कृते—'अतनिष्ट' इति ।

(७८८) **जनसनखनामिति** । 'विड्वनोरि'त्यतः आदित्यनुवर्तते । 'अनुदात्तोपदेश' इत्यतः 'झलि क्ङिती'त्यनुवर्तते । तत्र 'झली'त्यनेन सन् विशेष्यते । तदादिविधिः । 'क्ङिती'त्यनुवृत्तं तु झला विशेष्यते, तेन तदादिविधिः । तदाह—**एषामित्यादि । असात्** । षण्धातोः 'धात्वादेः षः सः' इत्यनेन षस्य सत्वे 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इत्यनेन णस्य नत्वे लुङि, लः स्थाने आत्मनेपदे त-प्रत्यये, अडागमेऽनुबन्धलोपे, च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति विकल्पेन सिचो लोपे

---

(७८८) पद—जनसनखनाम्, सञ्झलोः । **अनुवृत्ति**—आत्, झलि, क्ङिति । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—जन्, सन् और खन् धातु को आकारान्त आदेश होता है; झलादि सन् और झलादि कित् ङित् प्रत्यय के परवर्ती रहते । असात । असनिष्ट इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (६।४।४१) से 'आत्' तथा 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) से मण्डूकप्लुतया 'झलि, क्ङिति' पदों की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार—'झलादि सन् और झलादि कित् ङित् प्रत्यय के परवर्ती रहते जन्, सन् और खन् धातुओं को आकार अन्तादेश होता है।'

उदाहरण—(१) √षण् (सन्)+लुङ् (=आ० पद—त, अट्, च्लि, च्लि=सिच्='स्', सिच् का लुक्—'तनादिभ्यस्तथासोः', 'न्'='आ'—'जनसनखनां सञ्झलोः', अ+आ='आ'—सवर्णदीर्घ)=असात । सिच् लुक् के अभावपक्ष में—अ सन् स् त (इट्='इ'—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' षत्व, ष्टुत्व)=असनिष्ट । (२) लुङ् म० पु० एकवचन—असाथाः, असनिष्ठाः (विकल्प से सिच् का लुक्, शेष कार्य पूर्ववत्)।

√क्षणु (उदित) धातु का अर्थ—'हिंसा करना' है। (१) लट् प० पद—क्षणोति । आ० पद—क्षणुते । (२) √क्षण्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', इट्, ईट्, 'स्' का लोप—'इट ईटि', सवर्णदीर्घ, 'वदव्रज०' से प्राप्त हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' से निषेध । पुनः 'अतो हलादेर्लघोः' से प्राप्त वैकल्पिक वृद्धि का 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' से निषेध)=अक्षणीत । आत्मनेपद—अ क्षण् त (च्लि=सिच्='स्', 'स्' का वैकल्पिक लोप—'तनादिभ्यस्तथासोः', 'ण्' का लोप—'अनुदात्तोपदेश०')=अक्षत । सिच् लोप के अभावपक्ष में (इट्, षत्व, ष्टुत्व)—अक्षणिष्ट । (३) लुङ् आ० पद० म० पु० एकव०—अक्षथाः, अक्षणिष्ठाः ।

√क्षिणु (उदित) धातु का अर्थ—'हिंसा करना' है। 'उ' प्रत्यय परे रहते लघूपध गुण विकल्प से होता है। तात्पर्य यह है कि 'ओर्गुणः' सूत्र में 'ओरव्' न्यास करते, पुनः गुण ग्रहण सामर्थ्य से 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' (संज्ञानिमित्तक विधि अनित्य होती है) परिभाषा

अदने । तृणोति–तर्णोति । तृणुते–तर्णुते । घृणु दीप्तौ । घृणोति–घर्णोति । डुकृञ् करणे । करोति । 'अत उत्सार्वधातुके' । कुरुतः । 'हलि चे'ति दीर्घे प्राप्ते—।

(७८९) न भकुर्छुराम् ८।२।७९। भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया न दीर्घः । कुर्वन्ति ।

(७९०) नित्यं करोतेः ६।४।१०८। करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपो, म्वोः ।

'जनसनखनां सञ्झलोः' इत्यात्वे सवर्णदीर्घे च कृते 'असात' इति । सिचो लोपाभावे 'अ सन् स् त' इति स्थिते, इडागमेऽनुबन्धलोपे, सस्य षत्वे, तकारस्य ष्टुत्वेन टकारे 'असनिष्ट' इति ।

करोति । कृधातोर्लटि तिपि 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युप्रत्यये 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन ऋकारस्य गुणे, रपरत्वे, तिप्रत्ययस्य सार्वधातुकत्वात् उकारस्य गुणे ओकारे 'करोति' इति ।

(७८९) **न भकुर्छुरामिति ।** 'र्वोरुपधायाः' इत्यत उपधाया इति, दीर्घ इति चानुवर्तते । तदाह—**'भस्ये'त्यादिना ।**

(७९०) **नित्यं करोतेरिति ।** 'उतश्च प्रत्ययात्' इत्यनुवर्तते, 'लोपश्चान्यतरस्याम्' इत्यतो लोपः, म्वोः इति च । तदाह—**करोतेरिति । कुर्वः ।** कृधातोर्लटि, लः स्थाने

ज्ञापित होती है । 'पुगन्तलघूपधस्य च' विधि भी उपधासंज्ञा निमित्तक होने से अनित्य है, अतः गुण नहीं होता । परन्तु यह अनित्यता भाष्य में प्रतिपादित न होने से गुण भी होता है । इस प्रकार लघूपध गुण विकल्प से होता है । (१) लट्—क्षिणोति, क्षेणोति । (२) लुट्—क्षेणिता । (३) लुङ् प० पद—अक्षेणीत् । आ० पद में—अक्षित । अक्षेणिष्ट । (विकल्प से सिच् का लुक्) ।

√तृणु (उदित) धातु का अर्थ—'खाना' है । (१) लट्—तृणोति, तर्णोति (विकल्प से लघूपध गुण) । आत्मनेपद में—तृणुते, तर्णुते । **√घृणु** धातु का अर्थ—'चमकना' है । (१) लट्—घृणोति, घर्णोति ।

√डुकृञ् ('डु' इत, ञित) धातु का अर्थ 'करना' है । (१) √कृ+लट् (=तिप्=ति, 'उ'—तनादिकृञ्भ्य उः', 'ऋ'='अ' गुण, रपर, 'उ'='ओ' गुण—'सार्वधातु०')=करोति । (२) √कृ+लट् (=तस्, उ, 'ऋ'='अ' गुण, रपर)—क र् उ तस् (अपित सार्वधातुक होने के कारण 'अ'='उ'—'अत उत्सार्वधातुके', स्=र्=ः)=कुरुतः ।

(७८९) पद—न, भकुर्छुराम् । **अनुवृत्ति**—उपधायाः, दीर्घः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—भसंज्ञक और कुर्, छुर् की उपधा को दीर्घ नहीं होता ।

विमर्श—यहाँ 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (८।२।७६) से 'उपधायाः' और 'दीर्घः' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"भसंज्ञक, तथा 'कुर्' और 'छुर्' की उपधा को दीर्घ नहीं होता ।"

उदाहरण—(३) √कृ+लट् (=झि, उ, 'झ्'='अन्त्' आदेश, ऋ='अ' गुण, रपर, 'अ'='उ'—'अत उत्सार्वधातुके', 'हलि च' से प्राप्त दीर्घ का 'न भकुर्छुराम्' से निषेध, 'उ'='व्'—यण्)=कुर्वन्ति ।

(७९०) पद—नित्यम्, करोतेः । **अनुवृत्ति**—लोपः, म्वोः, उतः प्रत्ययात् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—वकार, मकार के परवर्ती रहते कृ धातु के प्रत्यय सम्बन्धी उकार का नित्य लोप होता है । कुर्वः । कुर्मः इत्यादि ।

कुर्वः । कुर्मः । कुरुते । चकार । चकर्थ । चकृव । चकृम । चक्रे । कर्ता । करिष्यति । करिष्यते । करोतु । कुरुताम् । अकरोत् । अकुरुत । (७९१) ये च ६।४।१०९ । कृञ उलोपो, यादौ प्रत्यये । कुर्यात् । कुर्वीत । क्रियात् । कृषीष्ट । अकार्षीत् । अकृत ।

'वस्' इत्यादेशे उविकरणे, तस्यार्धधातुकत्वात् 'सार्वधातु०' इत्यनेन ऋकारस्य गुणे, रपरे 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यनेनाकारस्य उकारे 'लोपश्चान्यतरस्याम्' इत्युकारस्य लोपविकल्पे प्राप्ते 'नित्यं करोतेः' इत्यनेन उकारस्य नित्यलोपे, सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'कुर्वः' इति ।

(७९१) **ये चेति ।** 'लोपश्चान्यतरस्याम्' इत्यतो लोप इति, अस्येति, 'नित्यं करोते' इत्यतः करोतेरिति चानुवर्तते । अस्येत्यनेन उत इति परामृश्यते । अङ्गाक्षिप्तः प्रत्ययो यकारेण विशेष्यते, तेन तदादिविधिस्तदाह—**कृञ इत्यादिना । कुर्यात् ।**

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता हेतु 'लोपश्चान्यतरस्यां म्वोः' (६।४।१०७) से 'लोपः' और 'म्वोः' तथा 'उतश्च प्रत्ययात्०' (६।४।१०६) से 'उतः प्रत्ययात्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"वकारादि, मकारादि प्रत्यय के परे रहते कृ धातु से उत्तरवर्ती उकार का नित्य लोप होता है ।"

उदाहरण—(४) √कृ+लट् (=वस्, उ, ऋ='अ'—गुण, रपर)—क र् उ व स् ('अ'='उ'—'अत उत्सार्वधातुके', 'उ' का लोप—'नित्यं करोतेः', स्=र्=:)=कुर्वः । (५) लट् उ० पु० बहुव०—कुर्मः । (६) √कृ+लट् (=आत्मनेपद—त, उ, 'ऋ'='अ'—गुण, रपर, 'अ'='उ'—'अत उत्सार्वधातुके', 'टि' को एत्व)=कुरुते ।

√कृ धातु लट् लकार के रूप (परस्मैपदी)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	करोति	कुरुतः	कुर्वन्ति
म० पु०—	करोषि	कुरुथः	कुरुथ
उ० पु०—	करोमि	कुर्वः	कुर्मः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	कुरुते	कुर्वाते	कुर्वते
म० पु०—	कुरुषे	कुर्वाथे	कुरुध्वे
उ० पु०—	कुर्वे	कुर्वहे	कुर्महे

(७) √कृ+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ऋ='अ'—'उरत्' रपर, हलादिशेष, 'क्'='च्'—'कुहोश्चुः')—च कृ अ (ऋ='आ'—वृद्धि, रपर)=चकार । (८) लिट् म० पु० एकव०—चकर्थ । (९) लिट् उ० पु० द्विव०, बहुव०—चकृव, चकृम । (१०) लिट् आत्मनेपद—चक्रे, चक्राते, चक्रिरे इत्यादि । (११) लुट्—कर्ता । (१२) लृट् प० पद—करिष्यति । आ० पद—करिष्यते । (१३) लोट् प० पद—करोतु । लोट् आ० पद—कुरुताम् । (१४) लङ् प० पद—अकरोत् । आ० पद—अकुरुत ।

(७९१) पद—ये, च । **अनुवृत्ति**—नित्यं करोतेः, लोपः, अस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—यकारादि प्रत्यय के परवर्ती रहते कृ धातु सम्बन्धी उकार का लोप होता है । कुर्यात् । कुर्वीत इत्यादि ।

विमर्श—'नित्यं करोतेः' (७९०) सूत्र तथा 'लोपश्चान्यतरस्याम्०' (६।४।१०७) से 'लोपः'

अकरिष्यत् । अकरिष्यत । **(७९२) सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे ६।१।१३७ । (७९३) समवाये च ६।१।१३८ ।** आभ्यां परस्य करोतेः सुट्, भूषणे सङ्घाते चार्थे । संस्करोति । अलङ्करोतीत्यर्थः । संस्कुर्वन्ति । सङ्घीभवन्तीत्यर्थः । सम्पूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपि सुट् । 'संस्कृतं भक्षाः' इति ज्ञापकात् । **(७९४) उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च ६।१।१३९ ।** कृञः सुट् स्याच्चात्प्रागुक्तयोरर्थयोः । प्रतियत्नो गुणाधानम् ।

कृधातोर्विधिलिङि तिपि, अनुबन्धलोपे, इकारलोपे उविकरणे गुणे, रपरे 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यकारस्य उकारे, यासुटि अनुबन्धलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्ये'ति सकारलोपे 'कु रु या त्' इति जाते, 'ये च' इति उकारस्य लोपे कृते 'कुर्यात्' इति ।

(७९२) **सम्परिभ्यामिति** । (७९३) **समवाये चेति** । उभयत्र 'सुट्कात्पूर्वः' इत्यतः सुडिति अनुवर्तते । अत आह—**आभ्यां परस्येति** । **संस्करोति** । सम्पूर्वकस्य कृधातोः 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुटि अनुबन्धलोपे 'संस्करोति' इति ।

(७९४) **उपात्प्रतियत्न इति** । 'सुडिति' 'करोतेः' इति चानुवर्तते । तदाह—

और 'अस्य' की अनुवृत्ति आती है । अनुवृत्त 'अस्य' पद से 'उतः प्रत्ययात्' का ग्रहण होता है । तदनुसार—"यकारादि प्रत्यय के परवर्ती रहते भी कृ धातु से परे उ प्रत्यय का लोप होता है ।"

उदाहरण—(१५) √कृ+विधिलिङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, उ, गुण, रपर, 'अ'= 'उ'—'अत उत्सार्वधातुके', यासुट्=यास्, 'स्' का लोप—'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य', 'उ' का लोप —'ये च')=कुर्यात् । आ० पद—कुर्वीत । (१६) √कृ+आशीर्लिङ् (=तिप्, यासुट्=यास्, सकार का लोप, ऋ=रिङ्='रि'—'रिङ्शयग्लिङ्क्षु', इकारलोप)=क्रियात् । आ० पद—कृषीष्ट ('उश्च' से सीयुट् के कित् होने से गुण-निषेध) । (१७) √कृ+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि, च्लि=सिच्='स्', इट् की प्राप्ति, उसका 'एकाच उपदेशे' से निषेध, इकारलोप, ईट्='ई', ऋ= 'आ'—वृद्धि—'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' रपर, षत्व)=अकार्षीत् । आत्मनेपद में—अकृत । (सिच् का लोप—'ह्रस्वादङ्गात्') । (१८) लृङ् प० पद—अकरिष्यत् । आ० पद—अकरिष्यत ।

(७९२) पद—सम्परिभ्याम्, करोतौ, भूषणे । **अनुवृत्ति**—सुट् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सम् और परि पूर्वक कृ धातु को भूषण अर्थ में सुट् होता है ।

(७९३) पद—समवाये, च । **अनुवृत्ति**—सम्परिभ्याम् सुट्, करोतेः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सम् और परिपूर्वक कृ धातु को संघात अर्थ में भी सुट् होता है ।

विमर्श—उक्त सूत्रों में 'सुट्कात्पूर्वः' (६।१।१३१) से 'सुट्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार दोनों सूत्रों का अर्थ इस प्रकार है—"सम् तथा परि उपसर्ग से उत्तरवर्ती कृ धातु को ('क्' से पूर्व) सुट् (=स्) का आगम होता है, भूषण और संघात अर्थ में ।"

उदाहरण—(१) सम्+करोति (यहाँ भूषण अर्थ होने से सुट्='स्'—'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे')=संस्करोति (सजाता है) । (२) सम्+कुर्वन्ति (संघात अर्थ में सुट्— 'समवाये च')=संस्कुर्वन्ति (एकत्रित होते हैं) ।

सम्पूर्वस्येति—सम् पूर्वक √कृ को कहीं भूषण से भिन्न अर्थ में भी सुट् हो जाता है । 'संस्कृतं भक्षाः' (४।२।१६) सूत्र के ज्ञापक से यह ज्ञात होता है । क्योंकि उक्त सूत्र में भूषण अर्थ नहीं, अपितु संस्कार करना अर्थ है । अतः 'अन्नं संस्करोति' में भी सुट् हो जाता है ।

(७९४) पद—उपात्, प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु, च । **अनुवृत्ति**—करोतौ, सुट्, भूषणे, समवाये । **विधिसूत्र** ।

विकृतमेव वैकृतं–विकारः। वाक्याध्याहारः—आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम्। उपस्कृता कन्या। उपस्कृता ब्राह्मणाः। एधोदकस्योपस्कुरुते। उपस्कृतं भुङ्क्ते। उपस्कृतं ब्रूते।

(अथ द्वावनुदात्तेतौ) वनु याचने। वनुते। ववने। मनु अवबोधने। मनुते। मेने। मनिता। मनिष्यते। मनुताम्। अमनुत। मन्वीत। मनिषीष्ट।

इति तनादिप्रकरणम्।

उपात्कृञ इत्यादिना। उपस्कुरुते। गुणान् आधत्ते इत्यर्थः। उपपूर्वकात् कृधातोः लटि, आत्मनेपदे त प्रत्यये 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युविकरणे टेरेत्वे, ऋकारस्य गुणे रपरे 'अत उत्सार्वधातुके' इति अकारस्य उकारे 'उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च' इत्यनेन सुटि अनुबन्धलोपे 'उपस्कुरुते' इति।

मन्वीत। मन्धातोर्विधिलिङि, लः स्थाने तादेशे 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युविकरणे, सीयुटि, अनुबन्धलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्ये'ति सलोपे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'मन् उ ई त' इति जाते 'इको यणचि' इति यणि कृते 'मन्वीत' इति।

इति तनादिप्रकरणम्।

मूलार्थ—प्रतियत्न आदि अर्थों में, चकारात् भूषण और सङ्घात अर्थ में उप उपसर्ग से परे कृ धातु को सुट् (=स्) होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सुट्कात्पूर्वः' (६।१।१३१) से सुट्, 'सम्परिभ्याम्' (७९२) से 'करोतौ, भूषणे' और 'समवाये च' (७९३) से 'समवाये' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"उप उपसर्ग से परवर्ती कृ धातु को सुट् का आगम होता है, प्रतियत्न (=गुण ग्रहण करना), वैकृत (=विकार) और वाक्याध्याहार (=वाक्य में जिसकी आकांक्षा हो उस एकदेश (भाग) को पूर्ण करना) अर्थों में। चकार से पूर्वोक्त भूषण और संघात अर्थों में भी सुट् होता है।"

उदाहरण—(१) उपस्कृता कन्या (सजाई गई कन्या)। यहाँ भूषण अर्थ होने से उक्त सूत्र से सुट् हुआ। (२) उपस्कृताः ब्राह्मणाः (ब्राह्मण एकत्रित हुए)। यहाँ संघात अर्थ होने से उप से परे √कृ को सुट् हुआ। (३) एधोदकस्योपस्कुरुते (लकड़ी जल में रंग उत्पन्न करती है)। यहाँ गुण का आधान होने से सुट् हुआ। (४) उपस्कृतं भुङ्क्ते (विकृत वस्तु को खाता है)। यहाँ विकार अर्थ में उप+√कृ को सुट् हुआ। (५) उपस्कृतं ब्रूते (वाक्य का अध्याहार करते हुए बोलता है)। यहाँ वाक्याध्याहार में उप+√कृ को सुट् हुआ।

अब दो अनुदात्तेत (=आत्मनेपदी) धातुओं की रूपसिद्धि बतलायी जा रही है—

√वनु (उदित) धातु का अर्थ 'माँगना' है। (१) लट्—वनुते (२) √वन्+लिट् (=त=एश्=ए, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'अत एकहल्मध्ये' से प्राप्त एत्वाभ्यासलोप का 'न शशददवादिगुणानाम्' से निषेध)=ववने।

√मनु (उदित) धातु का अर्थ—'जानना' है। (१) लट्—मनुते। (२) √मन्+लिट् =(त=एश्=ए, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, एत्व, अभ्यास लोप)=मेने। (३) लुट्—मनिता। (४) लृट्—मनिष्यते। (५) लोट्—मनुताम्। (६) लङ्—अमनुत। (७) √मन्+विधिलिङ् (=त, उ, सीयुट्=सीय्, 'स्' का लोप—'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य', 'य्',

अथ क्र्यादिप्रकरणम्

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये (७९५) **क्र्यादिभ्यः श्ना ३।१।८१।** क्र्यादिभ्यः श्ना स्यात्, कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे। शपोऽपवादः। क्रीणाति। 'ई हल्यघोः'। क्रीणीतः। 'श्नाभ्यस्तयोरातः'। क्रीणन्ति। क्रीणासि। क्रीणीथः। क्रीणीथ। क्रीणामि। क्रीणीवः। क्रीणीमः। क्रीणीते। क्रीणाते। क्रीणते। क्रीणीषे। क्रीणाथे। क्रीणीध्वे। क्रीणे। क्रीणीवहे। क्रीणीमहे। चिक्राय। चिक्रियतुः। चिक्रियुः। चिक्रयिथ–चिक्रेथ। चिक्रिये।

अथ श्नाविकरणधातवो निरूप्यन्ते—डुक्रीञिति।

(७९५) **क्र्यादिभ्य इति।** कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे क्र्यादिभ्यः श्ना स्यात्स्वार्थे इत्यर्थः। **क्रीणाति।** क्रीधातोर्लटि, तिपि, शपि प्राप्ते, तं प्रबाध्य 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, ईकारस्य गुणे प्राप्ते 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वात् 'क्ङिति चे'त्यनेन गुणनिषेधे, नकारस्य णत्वे कृते 'क्रीणाति' इति। **चिक्राय।** क्रीधातोर्लिटि, लः स्थाने तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः'

का लोप—'लोपो व्योर्वलि')—मनु ई त ('उ'='व्'—यण्)=मन्वीत। (८) आशीर्लिङ्—मनिषीष्ट।

तनादि-प्रकरण समाप्त।

√डुक्रीञ् (ड्वित, ञित, उभयपदी) धातु का अर्थ—'खरीदना' है।

(७९५) पद—क्र्यादिभ्यः, श्ना। **अनुवृत्ति**—कर्तरि, सार्वधातुके। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्यय के परवर्ती रहते क्र्यादिगण पठित धातुओं से 'श्ना' प्रत्यय होता है। यह शप् का अपवाद है। 'श्ना' में शकार इत् है। क्रीणाति इत्यादि।

विमर्श—इस सूत्र में 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'कर्तरि' तथा 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"क्री आदि धातुओं से 'श्ना' विकरण होता है, कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परे रहते।"

उदाहरण—(१) √क्री+लट् (=तिप्=ति, प्राप्त शप् का बाधकर—श्ना='ना'—'क्र्यादिभ्यः श्ना', 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् होने से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, णत्व)=क्रीणाति। (२) √क्री+लट् (=तस्, श्ना='ना'—'क्र्यादिभ्यः श्ना' 'आ'='ई'—'ई हल्यघोः', णत्व, स्=र्=ः)=क्रीणीतः। (३) √क्री+लट् (=झि, 'झ्'='अन्त्', श्ना='ना'—'क्र्यादिभ्यः 'श्ना', 'आ' का लोप—'श्नाभ्यस्तयोरातः', णत्व)=क्रीणन्ति। थस्, थ, वस् और मस् अपित्सार्वधातुक होने से 'ङिद्वत्' हो जाने पर 'श्ना' के आकार के स्थान में 'ई हल्यघोः' से ईत्व)='क्रीणीथः' इत्यादि।

आत्मनेपद में—(४) √क्री+लट् (=त, श्ना='ना'—'क्र्यादिभ्यः श्ना', 'आ'='ई'—'ई हल्यघोः', णत्व, 'टि' को एत्व—'टित आत्मनेपदानां टेरे')=क्रीणीते। (५) √क्री+लट् (=आताम्, श्ना='ना', 'आ' का लोप—'श्नाभ्यस्तयोरातः', 'टि' को एत्व, णत्व)=क्रीणाते। (६) √क्री+लट् (=झ, झ्='अत्', श्ना='ना', एत्व, 'आ' का लोप, णत्व)=क्रीणते। अजादि प्रत्यय के परवर्ती रहते आकार का लोप होकर अन्य रूप भी बनते हैं।

क्रेता । क्रेष्यति । क्रेष्यते । क्रीणातु । क्रीणीतात् । क्रीणीताम् । क्रीणाताम् । क्रीणताम् । क्रीणीयात् । क्रीणीत । क्रीयात् । क्रेषीष्ट । अक्रैषीत् । अक्रेष्ट । अक्रेष्यत् । अक्रेष्यत । प्रीञ् तर्पणे, कान्तौ च । प्रीणाति । प्रीणीते । श्रीञ् पाके । श्रीणाति । श्रीणीते । मीञ् हिंसायाम् । प्रमीणाति । प्रमीणीते । 'हिनुमीना' इति णत्वम् । 'मीनाती'त्यात्वम् ।

इति ह्रस्वे, हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे, वृद्धौ 'एचोऽयवायावः' इत्यायादेशे च कृते 'चिक्राय' इति । आत्मनेपदे तु 'चिक्रिये' इति रूपम् ।

अक्रैषीत् । क्रीधातोर्लुङि, लः स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे, अडागमे च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे षत्वे, 'इतश्चे'त्यनेन इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि, 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अक्रैषीत्' इति । आत्मनेपदे—'अ क्री त' इति स्थिते, च्लौ, च्लेः स्थाने सिचि अनुबन्धलोपे, गुणे, सस्य षत्वे, ष्टुत्वे च कृते 'अक्रेष्ट' इति । **ममौ ।**

√क्री धातु लट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	क्रीणाति	क्रीणीतः	क्रीणन्ति
म० पु०	क्रीणासि	क्रीणीथः	क्रीणीथ
उ० पु०	क्रीणामि	क्रीणीवः	क्रीणीमः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	क्रीणीते	क्रीणाते	क्रीणते
म० पु०	क्रीणीषे	क्रीणाथे	क्रीणीध्वे
उ० पु०	क्रीणे	क्रीणीवहे	क्रीणीमहे

(७) √क्री + लिट् (= तिप् = णल् = 'अ', धातु को द्वित्व—'लिटि धातो०' अभ्यास संज्ञा, अभ्यास की ई = 'इ' ह्रस्व—'ह्रस्वः', 'क्' = 'च्'—'कुहोश्चुः' हलादिशेष)—चि क्री अ ('ई' = 'ऐ'—वृद्धि, 'ऐ' = 'आय्' आदेश—'एचोऽयवायावः') = चिक्राय । (८) √क्री + लिट् (= तस् = अतुस्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, चुत्व, हलादिशेष)—चि क्री अतुस् ('असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् होने से गुण का निषेध, ई = इयङ् = 'इय्', स् = र् = :) = चिक्रियतुः । (९) लिट् प्र० पु० बहुव०—चिक्रियुः । (१०) √क्री + लिट् (= सिप् = थल् = 'थ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष, चुत्व, भारद्वाज नियम से विकल्प से इट् = 'इ', गुण, अय् आदेश) = चिक्रयिथ । इट् के अभावपक्ष में—'चिक्रेथ' । (११) √क्री + लिट् (= आत्मनेपद—त, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष, चुत्व)—चि क्री त (त = एश् = 'ए', ई = इयङ् = 'इय्'—'अचि श्नु०') = चिक्रिये । (१२) लुट्—क्रेता । (१३) लृट्—क्रेष्यति । आ० पद—क्रेष्यते । (१४) **लोट् परस्मैपद**—क्रीणातु, क्रीणीतात् । क्रीणीताम् । क्रीणन्तु इत्यादि । **लोट् आत्मनेपद**—क्रीणीताम्, क्रीणाताम्, क्रीणताम् इत्यादि । (१५) विधिलिङ् प० पद—क्रीणीयात ('यासुट्' के ङित् होने से 'श्ना' के आ = ई—'ई हल्यघोः') । **आत्मनेपद**—क्रीणीत ('श्ना' के आकार का 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से लोप) । (१६) आशीर्लिङ् प० पद—क्रीयात । आत्मनेपद—क्रेषीष्ट । (१७) √क्री + लुङ् (= तिप् = ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि = सिच् = 'स्', ईट् = 'ई'—'अस्तिसिचोऽपृक्ते', वृद्धि—'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु', षत्व) = अक्रैषीत । (१८) √क्री + लुङ् (= आ० पद प्र० पु० एकव०—त, अट्, च्लि, च्लि = सिच् = 'स्', 'ई' = 'ए' गुण,

ममौ । मिम्यतुः । ममिथ-ममाथ । मिम्ये । माता । मास्यति । मीयात् । मासीष्ट । अमासीत् । अमासिष्टाम् । अमास्त । षिञ् बन्धने । सिनाति । सिनीते । सिषाय । सिष्ये । सेता । स्कुञ् आप्रवणे । (७९६) स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कम्भु-स्कुम्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च ३।१।८२ । स्तन्भ्वादिभ्यः श्नुः स्यात् । चात् श्ना । स्कुनोति । स्कुनुते । स्कुनाति ।

मीधातोर्लिटि तिपि, तिपो णलादेशे 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि चे'त्यनेन मीधातोरात्वे द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां ह्रस्वे, हलादिशेषे, 'आत औ णलः' इति णल औकारे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'ममौ' इति ।

(७९६) **स्तन्भु-स्तम्भ्विति ।** 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इत्यतः श्ना इत्यनुवर्तते । अत आह—**स्तन्भ्वादिभ्य इति । स्कुनोति ।** ञकारेत्संज्ञक-स्कुञ्धातोर्लटि, तिपि, शपि प्राप्ते,

---

'स्'='ष्' षत्व, 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)=अक्रेष्ट । (१९) लृङ् प० पद—अक्रेष्यत् । आ० पद—अक्रेष्यत ।

√प्रीञ् (ञित्) धातु का अर्थ 'प्रसन्न करना और इच्छा करना' है । इसके रूप भी 'क्री' धातु के समान बनते हैं । (१) √प्री+लट् (=तिप्=ति, श्ना—'क्र्यादिभ्यः श्ना', णत्व) =प्रीणाति । (२) आ० पद लट् प्र० पु० एक०—प्रीणीते । **√श्रीञ्** (ङित, उभयपदी) धातु का अर्थ—'पकाना' है । (१) लट् प० पद—श्रीणाति । लट् आ० पद—श्रीणीते ।

√मीञ् (ञित, उभयपदी) धातु का अर्थ—'हिंसा करना' है । (१) प्र+√मी+लट् (=तिप्=ति, श्ना='ना'—'क्र्यादिभ्यः श्ना', 'न्'='ण्' णत्व—'हिनुमीना')=प्रमीणाति । आ० पद—प्रमीणीते । (२) √मी+लिट् (=तिप्=णल्, ई='आ' आत्व—'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष, णल्='औ'—'आत औ णलः')—म मा औ (आ+औ='औ' वृद्धि—'वृद्धिरेचि')=ममौ । (३) √मी+लिट् (=तस्=अतुस्, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष, 'ई'='य्'—यण्, स्=र्=ः)=मिम्यतुः । (४) √मी+लिट् (=सिप्=थल्=थ, आत्व—'मीनातिमिनोति०', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष)—म मा थ (इट् विकल्प से—'ऋतो भारद्वाजस्य', 'आ' का लोप—'आतो लोप इटि च') =ममिथ । इट् के अभावपक्ष में—ममाथ । (५) √मी+लिट् (=आ० पद० प्र० पु० एकव०—त=एश्='ए', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष, 'ई'='य्'—यण्)=मिम्ये । (६) लुट्—माता (आत्व) । (७) लृट्—मास्यति । (८) आशीर्लिङ्—प० प०—मीयात् । आ० पद—मासीष्ट । (९) √मी+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, आत्व—'मीनाति०', च्लि, च्लि=सिच्=स्, इट्='इ' और सक्=स्—'यमरमनमातां सक् च', ईट्, सिच् का लोप, दीर्घ)=अमासीत् । (१०) लुङ् प्र० पु० द्विव०—अमासिष्टाम् । (११) √मी+लुङ् (=आत्मनेपद प्र० पु० एकव०—त, अट्, आत्व, च्लि=सिच्='स्')=अमास्त ।

√षिञ् (ञित, उभयपदी) धातु का अर्थ—'बाँधना' है । (१) √षि+लट् (=तिप्=ति, 'ष्'='स्'—'धात्वादेः षः सः', श्ना='ना'—'क्र्यादिभ्यः श्ना')=सिनाति । आ० पद में (ईत्व, टि को एत्व)=सिनीते । (२) लिट् प० प०—सिषाय । आ० पद—सिष्ये । (३) लुट्—सेता ।

√स्कुञ् (ञित, उभयपदी) धातु का अर्थ—'चारों ओर कूदना' है ।

(७९६) पद—स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः, श्नुः, च । **अनुवृत्ति**—श्ना । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—स्तन्भु आदि धातुओं से श्नु प्रत्यय होता है । चकारात् श्ना प्रत्यय भी होता है । स्कुनोति । स्कुनुते । स्कुनाति इत्यादि ।

स्कुनीते । चुस्काव । चुस्कुवे । स्कोता । अस्कौषीत् । अस्कोष्ट । **स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः ।**

अथोभयपदिनः । (७९७) **हलः श्नः शानज्झौ ३।१।८३ ।** हलः परस्य श्नः शानजादेशः स्याद्धौ परे । स्तभान । (७९८) **जॄ-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च**

तं प्रबाध्य 'स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कम्भु-स्कुम्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्चे'त्यनेन श्नुप्रत्यये श्नाप्रत्यये च, क्रमशः 'स्कु नु ति, स्कु ना ति' इति जाते, सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन उकारस्य गुणे ओकारे 'स्कुनोति' इति । श्नापक्षे—'स्कुनाति' इति ।

(७९७) हलः श्न इति । स्पष्टम् । **स्तभान ।** उकारेत्संज्ञक-स्तन्भुधातोर्लोटि, लः स्थाने सिपि 'सेर्ह्यपिच्च' इत्यनेन सेर्ह्यादेशे, शपं प्रबाध्य 'स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यश्च' इत्यनेन श्नुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे श्नाप्रत्यये च कृते, तत्र श्नापक्षे 'हलः श्नः शानज्झौ' इत्यनेन 'श्ना' इत्यस्य स्थाने शानजादेशेऽनुबन्धलोपे 'अनिदितां हल उपधाया क्ङिति' इति नलोपे 'अतो हेः' इति हेर्लुकि 'स्तभान' इति । श्नुप्रत्ययपक्षे—'स्तम्भ् नु हि' इति स्थिते 'अनिदिताम्०' इति नकारलोपे 'स्तभ्नुहि' इति ।

विमर्श—सूत्रस्थ चकार से 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (७९५) से 'श्ना' की अनुवृत्ति यहाँ आ रही है । अतः "स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु, स्कुन्भु और स्कुञ् धातुओं से श्नु विकरण होता है और श्ना भी ।" इस प्रकार √स्कुञ् धातु के रूप स्वादि और क्र्यादि दोनों के समान बनते हैं ।

उदाहरण—(१) √स्कु+लट् (=परस्मैपद प्र० पु० एकव०—तिप्=ति, श्नु='नु'—'स्तन्भुस्तुन्भु०', उ='ओ' गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः')=स्कुनोति । चकारात् श्ना='ना' पक्ष में—स्कुनाति । आत्मनेपद में—√स्कु+लट् (=त, श्नु='नु'—'स्तन्भु०' 'टि' को एत्व, ङित् होने से गुणनिषेध)=स्कुनुते । 'श्ना' पक्ष में—आ='ई' ईत्व—'ई हल्यघोः'—स्कुनीते । (२) √स्कु+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, चुत्व) चुस्कु अ (वृद्धि, औ='आव्' आदेश)=चुस्काव । आ० पद पक्ष में—चु स्कु त ('त'=एश्='ए' उ=उवङ्='उव्')=चुस्कुवे । (३) लुट्—स्कोता । (४) √स्कु+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', ईट् , षत्व, वृद्धि—'सिचि वृद्धिः०')=अस्कौषीत् । आत्मनेपद में—अ स्कु स् त (गुण, षत्व, ष्टुत्व)=अस्कोष्ट ।

स्तन्भ्वादयः०—स्तन्भु आदि चार सौत्र धातुएँ हैं । अर्थात् इन चार धातुओं का उल्लेख सूत्र में ही हुआ है, धातुपाठ में नहीं । ये चार धातुओं का अर्थ 'रोकना' है तथा ये परस्मैपदी हैं ।

(७९७) पद—हलः, श्नः, शानच्, झौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'हल्' से परे 'श्ना' के स्थान में 'शानच्' आदेश होता है, 'हि' के परवर्ती रहते । स्तभान ।

उदाहरण—(१) √स्तन्भ्+लोट् (=सिप्='सि', श्ना='ना', सि='हि'—'सेर्ह्यपिच्च', 'न्' का लोप—'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति', 'श्ना'='शानच्'='आन'—'हलः श्नः शानज्झौ', 'हि' का लुक्—'अतो हेः')=स्तभान ।

३।१।५८। एभ्यश्च्लेरङ् वा। व्यष्टभत्। अस्तम्भीत्। युञ् बन्धने। युनाति। युनीते। योता। क्नूञ् शब्दे। क्नूनाति। क्नूनीते। क्नविता। द्रूञ् हिंसायाम्। द्रूणाति। द्रूणीते। पूञ् पवने। (७९९) प्वादीनां ह्रस्वः ७।३।८०। पूञ्-लूञ्-स्तॄञ्-कॄञ्-वृञ्-धूञ्-शॄ-पॄ-वॄ-भॄ-मॄ-दॄ-जॄ-झॄ-धॄ-नॄ-कॄ-ऋ-गॄ-ज्या-री-ली-ब्ली-प्ली एषां चतुर्विंशतेर्ह्रस्वः स्यात् शिति।

---

(७९८) जॄस्तन्भु इति। अत्र 'च्लेः सिच्' इत्यस्माच्च्लेरिति, 'अस्यतिवक्ति०' इत्यस्मादङिति, 'इरितो वे'त्यस्माद् वेति चानुवर्तते। तदाह—एभ्यश्च्लेरिति। व्यष्टभत्। विपूर्वकात् स्तन्भ्धातोर्लुङि, तिपि अटि अनुबन्धलोपे, च्लौ, च्लेः सिचि प्राप्ते, तं प्रबाध्य 'जॄस्तन्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्चे'त्यनेन विकल्पेन अङि कृते 'अनिदिताम्'इति नलोपे 'स्तन्भेः' इति सस्य षत्वे ष्टुत्वे कृते, तिप इकारलोपे, यणि 'व्यष्टभत्' इति। अङोऽभावपक्षे—च्लेः सिचि अनुबन्धलोपे, इटि, ईटि च 'इट ईटि' इति सलोपे दीर्घे 'अस्तम्भीत्' इति।

(७९९) प्वादीनामिति। 'ष्ठिवुक्लमुचमामि'त्यतः शितीत्यनुवर्तते। तदाह—

---

(७९८) पद—जॄ-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—च्लेः, अङ्, वा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जॄ आदि धातुओं से परवर्ती 'च्लि' के स्थान में विकल्प से 'अङ्' आदेश होता है। व्यष्टभत्। अस्तम्भीत् इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः', 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (३।१।५२) से 'अङ्' तथा 'इरितो वा' (३।१।५७) से 'वा' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"जॄष्, स्तम्भु, म्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु, ग्लुञ्चु और श्वि धातुओं से उत्तरवर्ती 'च्लि' के स्थान में विकल्प से 'अङ्' (=अ) आदेश होता है।"

उदाहरण—(२) वि+√स्तम्भ्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, च्लि, प्राप्त सिच् का बाधकर 'च्लि'='अङ्'='अ' विकल्प से—'जॄस्तन्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च', 'न्' का लोप—'अनिदिताम्०', 'स्'='ष्'—षत्व—'स्तन्भेः', ष्टुत्व, इकारलोप—'इतश्च', यण्)=व्यष्टभत्। अङ् के अभावपक्ष में (च्लि=सिच्='स्')—अ स्तम्भ् स् त (इट्, ईट्, 'स्' का लोप—'इट ईटि', इ+ई='ई' सवर्णदीर्घ)=अस्तम्भीत्।

√युञ् धातु (ञित्) का अर्थ 'बाँधना' है। (१) लट् प० पद—युनाति। आ० पद—युनीते। (२) लुट्—योता।

√क्नूञ् (ञित्) धातु का अर्थ—'शब्द करना' है। (१) लट् प० पद—क्नूनाति। आ० पद—क्नूनीते। (२) लुट्—क्नविता।

√द्रूञ् (ञित्) धातु का अर्थ—'हिंसा करना' है। लट् प० पद—द्रूणाति। आ० पद—द्रूणीते।

√पूञ् (ञित्) धातु का अर्थ 'पवित्र करना' है।

(७९९) पद—प्वादीनाम्, ह्रस्वः। **अनुवृत्ति**—शिति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शित् प्रत्यय के परवर्ती रहते पूञ् आदि धातुओं को ह्रस्व होता है। पुनाति। पुनीते इत्यादि।

पुनाति । पुनीते । पविता । लूञ् छेदने । लुनाति । लुनीते । स्तॄञ् आच्छादने । स्तृणाति । स्तृणीते । तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरे । स्तरिता-स्तरीता । स्तृणीयात् । स्तृणीत । 'ॠत इद्धातोः' । स्तीर्यात् । स्तरिषीष्ट-स्तीर्षीष्ट । 'सिचि च परस्मैपदेषु' । अस्तारीत् । अस्तारिष्टाम् । अस्तारिषुः । अस्तरिष्ट-अस्तीर्ष्ट । कॄञ् हिंसायाम् । कृणाति ।

पूञ्लूञ् इत्यादिना । पुनाति । ञकारेत्संज्ञक-पूञ्धातोर्लटि, तिपि, शपं प्रबाध्य 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाविकरणेऽनुबन्धलोपे 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'पुनाति' इति ।

स्तरिषीष्ट, स्तीर्षीष्ट । स्तॄधातोराशीर्लिङि, लः स्थाने तप्रत्यये, सीयुटि अनुबन्धलोपे, 'सुट् तिथोः' इत्यनेन सुटि अनुबन्धलोपे 'स्तॄ सीय् स् त' इति जाते, 'लोपो

विमर्श—यहाँ 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' (७।३।७५) से 'शिति' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"पूञ् (पवित्र करना), लूञ् (काटना), स्तॄञ् (ढकना), कॄञ् (हिंसा करना), वॄञ् (=वरण करना), धूञ् (कँपाना), शॄ (हिंसा करना), पॄ (पालन करना), भॄ (भरना), मॄ (मरना), दॄ (हिंसा करना), जॄ (जीर्ण होना), झॄ (जीर्ण होना), धॄ (धारण करना), नॄ (विनाश करना), कॄ (हिंसा करना), ॠ (जाना), गॄ (निगलना), ज्या (वृद्ध होना), री (हिंसा करना), ली (मिलना), व्ली (स्वीकार करना) और प्ली (जाना), इन चौबीस धातुओं को ह्रस्व होता है, शित् प्रत्यय के परवर्ती रहते।"

उदाहरण—(१) √पू+लट् (=तिप्=ति, श्ना='ना', 'ऊ'='उ' ह्रस्व—'प्वादीनां ह्रस्वः')=पुनाति । आ० पद— पू ना त ('ऊ'='उ'—'प्वादीनां ह्रस्वः', आ='ई' ईत्व, 'टि' को एत्व)=पुनीते । (२) लुट्—पविता ।

√लूञ् (ञित्) धातु का अर्थ—'काटना' है। (१) लट् प० पद—लुनाति । आ० पद—लुनीते (ह्रस्व)।

√स्तॄञ् (ञित्) धातु का अर्थ—'ढकना' है। (१) √स्तॄ+लट् (=तिप्=ति, श्ना=ना, ह्रस्व—'प्वादीनां ह्रस्वः', णत्व)=स्तृणाति । आ० पद—स्तृणीते । (२) √स्तॄ+लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, 'शर्पूर्वाः खयः' से अभ्यास में खर (त) शेष, उत्तर भाग ॠ='अ' गुण—'ॠच्छत्यॄताम्', रपर, वृद्धि—'अत उपधायाः')=तस्तार । (३) लिट् प्र० पु० द्विव०—तस्तरतुः । आत्मनेपद—तस्तरे । (४) √स्तॄ+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, टिलोप, इट्='इ', गुण, रपर, दीर्घ विकल्प से 'वॄतो वा')=स्तरीता । दीर्घ के अभावपक्ष में—स्तरिता । (५) विधिलिङ् प० पद—स्तृणीयात् (ह्रस्व, ईत्व)। आ० पद—स्तृणीत । (६) √स्तॄ+आ० लिङ् (=तिप्=ति, यासुट्=यास्, 'ॠ'='इर्'—'ॠत इद्धातोः', 'इ'='ई' दीर्घ—'हलि च', 'स्' का लोप, इकारलोप)=स्तीर्यात् । (७) √स्तॄ+आ० लिङ् (=आ० पद—त, सीयुट्='सीय्', 'य्' का लोप—'लोपो व्योर्वलि', सुट्='स्'—'सुट् तिथोः' विकल्प से इट्='इ'—'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' ॠ='अ' गुण, रपर, 'वॄतो वा'—से प्राप्त दीर्घ का 'न लिङि' से निषेध, दोनों 'स्'='ष्' षत्व, ष्टुत्व)=स्तरिषीष्ट । इट् के अभावपक्ष में—स्तॄ सी स् त (इत्व-'ॠत इद्धातोः' रपर, इ='ई' दीर्घ-'हलि च', 'उश्च' से कित् होने से गुण का निषेध, षत्व, ष्टुत्व) =स्तीर्षीष्ट । (८) √स्तॄ+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', इट्, ईट्, 'स्' का लोप—'इट ईटि', 'वॄतो वा' से इट् को प्राप्त दीर्घ का 'सिचि च परस्मैपदेषु' से निषेध, इ+ई='ई' सवर्णदीर्घ, वृद्धि, रपर)=अस्तारीत् । (९) प्र० पु० द्विव०, बहुव०—अस्तारिष्टाम्,

कृणीते । चकार । चकरे । वृञ् वरणे । वृणाति । वृणीते । ववार । ववरे । वरिता-वरीता । 'उदोष्ठ्ये'त्युत्वम् । वूर्यात् । वरिषीष्ट-वूर्षीष्ट । अवारीत् । अवारिष्टाम् । अवरिष्ट-अवरीष्ट-अवूर्ष्ट । धूञ् कम्पने । धुनाति । धुनीते । दुधविथ-दुधोथ । दुधुविव । धोता-धविता । 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' । अधावीत् । अधविष्ट-अधोष्ट ।

व्योर्वलि' इति यकारलोपे 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इति विकल्पेन इटि 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन गुणे रपरे 'आदेशप्रत्यययोः' इत्युभयोः सकारयोः षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे 'स्तरिषीष्ट' इति । इडभावपक्षे 'उश्चे'त्यनेन कित्त्वाद् गुणाभावे 'ॠत इद्धातोः' इत्यनेन ॠकारस्य इकारे रपरे च 'हलि चे'त्यनेन इकारस्य दीर्घे 'स्तीर्षीष्ट' इति सिद्धम् ।

अस्तारिषुः । (१०) √स्तॄ+लुङ् (=आ० पद प्र० पु० एकव०—त, अट्, च्लि, च्लि=सिच्=‘स्', विकल्प से इट्='इ'—'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु', ॠ='अ' गुण, रपर, 'इ'='ई' दीर्घ विकल्प से—'वृतो वा' षत्व, ष्टुत्व)=अस्तरीष्ट । दीर्घ के अभाव में—अस्तरिष्ट । इट् के अभावपक्ष में ('उश्च' से कित् होने से गुण का निषेध, ॠ='इ'—'ॠत इद्धातोः', रपर, दीर्घ—'हलि च', षत्व, ष्टुत्व)=अस्तीर्ष्ट ।

√कॄञ् धातु का अर्थ—'हिंसा करना' है । (१) √कॄ+लट् (=तिप्=ति, श्ना=ना, ह्रस्व—'प्वादीनां ह्रस्वः', णत्व)=कृणाति । आ० पद—कृणीते । (२) लिट् प० पद—चकार । आ० पद—चकरे ।

√वृञ् (ञित्) धातु का अर्थ—'वरण करना' है । इसके रूप भी स्तॄञ् के समान बनते हैं । (१) लट् प० पद—वृणाति । आ० पद—वृणीते । (२) लिट् प० प०—ववार । आ० पद—ववरे । (३) √वॄ+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, डित्त्वात् टि का लोप, इट्='इ', 'ॠ'='अ' गुण—'सार्वधातु०', रपर, दीर्घ विकल्प से—'वृतो वा')=वरीता । दीर्घ के अभावपक्ष में—वरिता । (४) √वॄ+आशीर्लिङ् (=तिप्=ति, यासुट्=यास्, इकारलोप, 'स्' का लोप—'स्कोः०', यासुट् के कित् होने से गुण का अभाव, 'ॠ'='उ'—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य', दीर्घ—'हलि च')=वूर्यात् । (५) आशीर्लिङ् आ० पद—वरिषीष्ट (विकल्प से इट्—'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु') । इट् के अभाव पक्ष में—वॄ सी स् त (ॠ='उ'—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' रपर, दीर्घ—'हलि च' षत्व, ष्टुत्व)=वूर्षीष्ट । (६) लुङ् परस्मैपद—अवारीत्, अवारिष्टाम् इत्यादि । आत्मनेपद में—(स्तॄञ् के समान) अवरीष्ट, अवरिष्ट, अवूर्ष्ट ।

√धूञ् (ञित्) धातु का अर्थ—'कँपाना' है । (१) लट् प० पद—धुनाति । आ० पद—धुनीते । (२) लिट् म० पु० एकव०—दुधविथ, दुधोथ (विकल्प से इट्—'स्वरतिसूति०') । (३) लुट्—धविता, धोता । (४) √धू+लुङ् (=प० पद प्र० पु० एकव०—तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', नित्य इट्='इ'—'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु', ईट्='ई', 'स्' का लोप—'इट ईटि' सवर्णदीर्घ, वृद्धि, 'औ'='आव्' आदेश)=अधावीत् । आत्मनेपद में विकल्प से इट्—अधविष्ट । अधोष्ट । √ग्रह् धातु का अर्थ—'ग्रहण करना' है ।

(१) √ग्रह्+लट् (=तिप्=ति, श्ना=ना, शित्त्वात् सार्वधातुक संज्ञा, 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वद्भाव—'र्' = 'ऋ'—सम्प्रसारण—'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' पूर्वरूप—'सम्प्रसारणाच्च' णत्व)—गृह्णाति । आ० पद—गृह्णीते ।

ग्रह उपादाने । गृह्णाति । गृह्णीते । जग्राह । जगृहे । (८००) ग्रहोऽलिटि दीर्घः ७।२।३७ । एकाचो ग्रहो विहितस्येटो दीर्घो, न तु लिटि । ग्रहीता । गृह्णातु । गृहाण । गृह्यात् । ग्रहिषीष्ट । 'ह्म्यन्ते'ति न वृद्धिः । अग्रहीत् । अग्रहीष्टाम् । अग्रहीष्ट । अग्रहीषाताम् । इत्युभयपदिनः ।

---

(८००) ग्रहोऽलिटि दीर्घ इति । 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इत्यतः इडित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । 'एकाच उपदेशे' इत्यस्मात् एकाच इति चानुवर्तते । अत आह—एकाच इत्यादिना । ग्रहीता । ग्रहधातोर्लुटि, लः स्थाने तिपि, तिपो डादेशेऽनुबन्धलोपे, डित्वाट्टिलोपे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीडागमे 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' इति इटो दीर्घे 'ग्रहीता' इति ।

√ग्रह धातु लट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	गृह्णाति	गृह्णीतः	गृह्णन्ति
म० पु०	गृह्णासि	गृह्णीथः	गृह्णीथ
उ० पु०	गृह्णामि	गृह्णीवः	गृह्णीमः

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	गृह्णीते	गृह्णाते	गृह्णते
म० पु०	गृह्णीषे	गृह्णाथे	गृह्णीध्वे
उ० पु०	गृह्णे	गृह्णीवहे	गृह्णीमहे

(२) लिट्—जग्राह । आ० पद—जगृहे ।

(८००) पद—ग्रहः, अलिटि, दीर्घः । **अनुवृत्ति**—इट्, एकाचः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लिट् को छोड़कर एकाच् ग्रह धातु से विहित 'इट्' को दीर्घ होता है । ग्रहीता इत्यादि ।

विमर्श—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' की अनुवृत्ति आती है, जो षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है । 'एकाच उपदेशे०' (७।२।१०) से 'एकाचः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"एकाच् ग्रह धातु से विहित इट्=(इ) को दीर्घ होता है, परन्तु लिट् परे रहते दीर्घ नहीं होता ।"

उदाहरण—(१) √ग्रह्+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, टिलोप, इट्='इ'—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः', इ='ई' दीर्घ—'ग्रहोऽलिटि दीर्घः')=ग्रहीता । (२) लृट्—ग्रहीष्यति । आ० पद—ग्रहीष्यते । (३) लोट् प० पद—गृह्णातु, गृह्णीताम्, गृह्णन्तु इत्यादि । लोट् आ० पद—गृह्णीताम्, गृह्णाताम्, गृह्णताम् इत्यादि । (४) √ग्रह्+लोट् (=प० पद म० पु० एकव०—सिप्=सि='हि'—'सेर्ह्यपिच्च', श्ना=ना, 'र्'='ऋ'—सम्प्रसारण, पूर्वरूप, श्ना=शानच्='आन', णत्व, 'हि' का लुक्—'अतो हेः')=गृहाण । (५) √ग्रह+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', इट्, ईट्, स् का लोप, सवर्णदीर्घ, 'अतो हलादेर्लघोः' से प्राप्त वृद्धि का 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' से निषेध)=अग्रहीत् । (६)

अथ परस्मैपदिनः । कुष निष्कर्षे । कुष्णाति । कोषिता । (८०१) निरः कुषः ७।२।४६ । निरुपपदात् कुषो वलादेरार्द्धधातुकस्येड् वा स्यात् । निष्कोषिता–निष्कोष्टा । निरकोषीत् । 'शल इगुपधादि'ति क्सः । निरकुक्षत् । अश भोजने । अश्नाति । आश । अशिता । अशिष्यति । अश्नातु । अशान । ज्ञा अवबोधने । 'ज्ञाजनोरि'ति जादेशः । जानाति । जज्ञौ । 'वाऽन्यस्ये'त्येत्वम् । ज्ञेयात् । ज्ञायात् । पॄ पालनपूरणयोः । पृणाति ।

---

(८०१) **निरः कुष इति ।** 'स्वरतिसूती'त्यतः वेति, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेरि'ति चानुवर्तते । तदाह—**निरुपपदादित्यादिना । निष्कोषिता ।** निरुपपदात्कुषधातोर्लुटि, तिपि, तसि, तिपः स्थाने डादेशेऽनुबन्धलोपे डित्त्वाट्टिलोपे 'निरः कुषः' इति विभाषया इटि अनुबन्धलोपे 'पुगन्त०' इति लघूपधगुणे, रस्य विसर्गे 'इदुपधस्ये'ति षत्वे 'निष्कोषिता' इति । इडभावपक्षे षत्वे ष्टुत्वे च कृते 'निष्कोष्टा' इति ।

लुङ् प्र० पु० द्विव०—अग्रहीष्टाम् । (७) लुङ् आ० पद—अग्रहीष्ट, अग्रहीषाताम्, अग्रहीषत इत्यादि । उभयपदी धातुओं की रूपसिद्धि समाप्त हुई ।

√कुष धातु का अर्थ—'निष्कर्ष निकालना' है । (१) लट्—कुष्णाति । (२) लुट्—कोषिता ।

(८०१) पद—निरः, कुषः । **अनुवृत्ति**—वा, आर्धधातुकस्येड् वलादेः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—निर् उपसर्गपूर्वक 'कुष्' धातु से परवर्ती वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम होता है । निष्कोषिता । निष्कोष्टा इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में—'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' (७।२।४४) से 'वा' पद तथा 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) सूत्र की अनुवृत्ति आने से—"निर् पूर्वक √कुष् से उत्तरवर्ती वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् (=इ) का आगम होता है ।"

उदाहरण—(१) निर्+√कुष्+लुट् (=तिप्=डा=आ, तास्, टिलोप, विकल्प से इट् ='इ'—'निरः कुषः', 'उ'='ओ'—गुण—'पुगन्त०', र्=ः=ष्—'इदुपधस्य चाप्रत्ययस्य')= निष्कोषिता । इट् के अभावपक्ष में—निर् कुष् ता (गुण, र्=ः=ष्, 'त्'='ट्'—ष्टुत्व)= निष्कोष्टा । (२) निर्+कुष्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्=स, विकल्प से इट्—'निरः कुषः', ईट्='ई', 'स्' का लोप—'इट ईटि')—निर् कुष् इ ई त (इ+ ई='ई'—सवर्णदीर्घ, 'उ'='ओ'—गुण—'पुगन्त०')=निरकोषीत् । इट् के अभावपक्ष में च्लि =क्स='स'—'शल इगुपधात्०' 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि')—निर कुक् स त ('स्'='ष्'-षत्व, क्+ष्='क्ष्')=निरकुक्षत् ।

√अश धातु का अर्थ—'भोजन करना' है । (१) लट्—अश्नाति । (२) लिट्—आश । (३) लुट्—अशिता । (४) लृट्—अशिष्यति । (५) लोट्—अश्नातु । (६) √अश्+ लोट् (=म० पु० एकव०—सिप्=सि, सि=हि—'सेर्ह्यपिच्च', श्ना, श्ना=शानच्=आन— 'हलः श्नः शानज्झौ', 'हि' का लुक्—'अतो हेः')=अशान ।

√ज्ञा धातु का अर्थ 'जानना' है । (१) √ज्ञा+लट् (=तिप्=ति, श्ना='ना', 'ज्ञा' ='जा'—'ज्ञाजनोर्जा')=जानाति । (२) लिट्—जज्ञौ । (३) √ज्ञा+आशीर्लिङ् (=तिप् =ति, यासुट्=यास्, इकारलोप)—ज्ञा यास् त ('आ'='ए' एत्व विकल्प से—'वाऽन्यस्य संयोगादेः' 'स्' का लोप—स्कोः०')=ज्ञेयात् । एत्व के अभावपक्ष में—ज्ञायात् ।

शॄ हिंसायाम् । शृणाति । 'शॄदॄप्रां ह्रस्वो वे'ति ह्रस्वपक्षे यण् । शश्रतुः । शशरतुः । दॄ विदारणे । दृणाति । दद्रतुः । ददरतुः । जॄ वयोहानौ । जृणाति । मुष स्तेये । मुष्णाति । मोषिता । पुष पुष्टौ । पुष्णाति । पोषिता । बन्ध बन्धने । बध्नाति । बबन्ध । बबन्धिथ–बबन्द्ध । बन्द्धा । भन्त्स्यति । अभान्त्सीत् । अबान्धाम् । अभान्त्सुः । क्लिशू विबाधने । क्लिश्नाति । क्लेशिता–क्लेष्टा । अक्लेशीत्–अक्लिक्षत् । इति परस्मैपदिनः ।

अथात्मनेपदिनः । वृङ् सम्भक्तौ । वृणीते । वव्रे । ववृषे । ववृढ्वे । वरिता–वरीता । अवरिष्ट–अवरीष्ट । अवृत ।

इति क्र्यादिप्रकरणम् ।

अक्लेशीत् । क्लिश्धातोर्लुङि तिपि, अटि, च्लौ, च्लेः स्थाने सिच्यनुबन्धलोपे 'इतश्चे'तीकारलोपे, 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वे'ति विकल्पेन इटि, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे 'पुगन्त०' इति गुणे 'अक्लेशीत्' इति । इडभावपक्षे 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः स्थाने क्सादेशेऽनुबन्धलोपे 'व्रश्चे'त्यादिना शकारस्य षत्वे 'षढोः कः सि' इत्यनेन षकारस्य ककारे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य मूर्धन्यादेशे 'अक्लिक् षत्' इति जाते, संयोगे कृते 'अक्लिक्षत्' इति ।

इति क्र्यादिप्रकरणम् ।

√पॄ धातु का अर्थ—'पालन करना' है। (१) √पॄ+लट् (=तिप्=ति, श्ना='ना' ॠ=ऋ—ह्रस्व—'प्वादीनां ह्रस्वः', णत्व)=पृणाति ।

√शॄ धातु का अर्थ—'हिंसा करना' है। (१) लट्—शृणाति । (२) लिट् प्र० पु० द्विव०—शश्रतुः, शशरतुः ('शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा' से विकल्प से ह्रस्व, ह्रस्व पक्ष में यण्) ।

√दॄ धातु का अर्थ—'विदीर्ण करना' है। (१) लट्—दृणाति । (२) लिट्—प्र० पु० द्विव०—दद्रतुः, ददरतुः (वि० से ह्रस्व, यण्) ।

√जॄ धातु का अर्थ—'जीर्ण होना' है । (१) लट्—जृणाति ।

√मुष धातु का अर्थ—'चुराना' है । (१) लट्—मुष्णाति । (२) लुट्—मोषिता ।

√पुष धातु का अर्थ—'पुष्ट करना' है । (१) लट्—पुष्णाति । (२) लुट्—पोषिता ।

√बन्ध् धातु का अर्थ—'बाँधना' है । (१) लट्—बध्नाति । (२) लिट् प्र० पु० एकव०—बबन्ध । (३) लिट् म० पु० एकव०—बबन्धिथ (भारद्वाज-नियम से विकल्प से इट्) । इट् के अभावपक्ष में—बबन्ध् थ ('थ्'='ध्'—'झषस्तथो०' 'ध्'='द्' जश्त्व)=बबन्द्ध । (४) लुट्—बन्द्धा । (५) लृट्—भन्त्स्यति । (६) √बन्ध्+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्=स्, ईट='ई')—अ बन्ध् स् त ('भ्'='ब्'—'एकाचो बशो भष्०', उपधावृद्धि—'वदव्रज०', 'ध्'='त्'—'खरि च') =अभान्त्सीत् । (७) लुङ् प्र० पु० द्विव०—अबान्धाम् । (८) लुङ् प्र० पु० बहुव०—अभान्त्सुः ।

अथ चुरादिप्रकरणम्

चुर स्तेये। (८०२) सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच् ३।१।२५। एभ्यो णिच् स्यात्स्वार्थे। 'पुगन्ते'ति गुणः। 'सनाद्यन्ता'

अथ स्वार्थिकणिजन्ताः चुरादिगणधातवो निरूप्यन्ते—

(८०२) **सत्यापपाशेति**। सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच, वर्मन्, वर्ण, चूर्ण, चुरादि एषां द्वन्द्वात्पञ्चमी। तदाह—एभ्य इत्यादि। चोरयति। चुर्धातोः 'सत्यापपाशरूपवीणा०' इति चुरादित्वात् स्वार्थे णिच्यनुबन्धलोपे 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायां 'पुगन्तलघूपधस्य चे'त्यनेन उपधागुणे 'चोरि' इति जाते, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां, धातुत्वाल्लटि, तिपि, सार्वधातुकसंज्ञायां

√क्लिश् धातु का अर्थ—'क्लेश होना' है। (१) लट्—क्लिश्नाति। (२) लुट्—क्लेशिता। क्लेष्टा (विकल्प से इट्)। (३) √क्लिश्+लुङ् (=तिप्='ति', अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=सिच्='स्', ईट्='ई', विकल्प से इट्='इ'—'स्वरतिसूति०', 'स्' का लोप—'इट ईटि', उपधागुण—'पुगन्त०')=अक्लेशीत्। इट् के अभावपक्ष में—च्लि=क्स='स', 'श्'='ष्'—'व्रश्च०' 'ष्'='क्'—'षढोः कः सि' 'स्'='ष्' षत्व—'आदेशप्रत्यययोः', क्+ष्='क्ष्')=अक्लिक्षत्।

आत्मनेपदी धातुओं की रूपसिद्धि प्रदर्शित की जा रही है—

√वृङ् (=वृ) धातु का अर्थ—'सेवा करना' है। (१) √वृ+लट् (=त, श्ना='ना', 'आ'='ई' ईत्व, टि को एत्व, णत्व)=वृणीते। (२) लिट्—वव्रे। (३) √वृ+लिट् (=म० पु० एकव० थास्=से, द्वित्व, ऋ='अ'—'उरत्' रपर, हलादिशेष, षत्व)=ववृषे। (४) लिट् म० पु० बहुव०—ववृढ्वे। (प्राप्त इट् का 'कृसृभृवृ०' से निषेध)। (५) √वृ+लुङ् (=त, अट्, च्लि, च्लि=सिच्='स्')—अ वृ स् त (इट् विकल्प से—'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु'। ऋ='अ' गुण, रपर, 'इ'='ई' दीर्घ विकल्प से—'वृतो वा', षत्व, ष्टुत्व)=अवरीष्ट। दीर्घ के अभावपक्ष में—अवरिष्ट। इट् के अभावपक्ष में—अ वृ स् त ('स्' का लोप—'ह्रस्वादङ्गात्')=अवृत। इस प्रकार तीन रूप बनते हैं।

क्र्यादि-प्रकरण समाप्त।

क्र्यादिगण में 'श्ना' विकरण वाली धातुओं की रूपसिद्धि प्रदर्शित करने के पश्चात् प्रस्तुत चुरादि-प्रकरण में स्वार्थिक णिजन्त धातुओं के रूपों की रचना-प्रक्रिया बतलाई जा रही है—

√चुर धातु का अर्थ 'चोरी करना' है।

(८०२) पद—सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यः, णिच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सत्याप आदि शब्दों से तथा चुरादिगण पठित धातुओं से णिच् प्रत्यय होता है। चोरयति इत्यादि।

णिच् में णकार और चकार इत्संज्ञक हैं। इकार शेष रहता है।

उदाहरण—(१) √चुर्+णिच् (='इ', उपधा उ='ओ' गुण—'पुगन्तलघूपधस्य च')

इति धातुत्वम् । तिप्शबादि । गुणायादेशौ । चोरयति । (८०३) णिचश्च १।३।७४ । णिजन्तादात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले । चोरयते । चोरयामास । चोरयिता । चोर्यात् । चोरयिषीष्ट । 'णिश्रि'ति चङ् । 'णौ चङी'ति ह्रस्वः । 'चङी'ति द्वित्वम् । 'हलादिः शेषः' । 'दीर्घो लघोरि'त्यभ्यासस्य दीर्घः । अचूचुरत् । चिति स्मृत्याम् ।

'कर्तरि शप्' इति शप्यनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति इकारस्य गुणे एकारे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'चोरयति' इति ।

(८०३) **णिचश्चेति** । 'अनुदात्तङित०' इत्यस्मादात्मनेपदमिति, 'स्वरितञितः०' इत्यस्मात्कर्त्रभिप्राये क्रियाफले इति चानुवर्तते । प्रत्ययग्रहणपरिभाषयाऽत्र णिजन्तादिति लभ्यते । अत आह—**णिजन्तादित्यादिना** । **अचूचुरत्** । चुर्धातोः 'सत्यापपाशे'त्यादिना स्वार्थे णिच्यनुबन्धलोपे, उपधाया गुणे 'चोरि' इति जाते, धातुत्वाल्लुङि, लः स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे, अटि, 'इतश्चे'ति तिप इकारलोपे, च्लौ;

=चोरि (धातुसंज्ञा—'सनाद्यन्ता धातवः')—चोरि+लट् (=तिप्=ति, शप्='अ'—'कर्तरि शप्', 'इ'='ए'—गुण—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः', 'ए'='अय्' आदेश—'एचोऽयवायावः')= चोरयति ।

(८०३) पद—णिचः, च । **अनुवृत्ति**—आत्मनेपदम्, कर्त्रभिप्राये क्रियाफले । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कर्तृगामी क्रियाफल के होने पर णिजन्त से आत्मनेपद होता है । चोरयते । चोरयामास इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' तथा 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (१।३।७२) से 'कर्त्रभिप्राये, क्रियाफले' की अनुवृत्ति आती है । 'णिच्' से 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा द्वारा तदन्त (णिजन्त) का ग्रहण होता है । तदनुसार—"जब क्रिया का फल कर्तृगामी हो, तब णिजन्त से आत्मनेपद होता है ।"

उदाहरण—(१) णिजन्त √'चोरि' से 'णिचश्च' से आत्मनेपद+त, शप्=अ, गुण, अय् आदेश, टि='अ'='ए'—एत्व=चोरयते ।

√चुर धातु लट् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	**द्वि०**	**बहु०**
प्र० पु०	चोरयति	चोरयतः	चोरयन्ति
म० पु०	चोरयसि	चोरयथः	चोरयथ
उ० पु०	चोरयामि	चोरयावः	चोरयामः

(आत्मनेपद)

प्र० पु०	चोरयते	चोरयेते	चोरयन्ते
म० पु०	चोरयसे	चोरयेथे	चोरयध्वे
उ० पु०	चोरये	चोरयावहे	चोरयामहे

(२) √चुर्+णिच्='इ' (स्वार्थ में—'सत्यापपाश०', गुण)—चोरि (धातुसंज्ञा, लिट्, आम्—'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यः' आर्धधातुक संज्ञा, 'इ'='ए'—गुण, 'अय्' आदेश, 'लिट्' का लुक्—'आमः')—चोरयाम् (लिट्-परक √अस् का अनुप्रयोग—'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि')—चोरयाम् अस् लिट् (=तिप्=णल्=अ, द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, अ='आ' दीर्घ—'अत आदेः', आ

चिन्तयति । अचिचिन्तत् । 'चिन्ते'ति पठितव्ये इदित्करणं णिचः पाक्षिकत्वे लिङ्गम् । तेन 'चिन्त्यादि'त्यादौ नलोपो न । चिन्तति । चिन्तेत्यादि । यत्रि सङ्कोचे । यन्त्रयति । 'यन्त्रे'ति पठितुं शक्यम् । यत्तु 'इदित्करणाद्यन्त्रती'ति माधवेनोक्तं, तच्चिन्त्यम् । एवं—कुद्रि अनृतभाषणे । तत्रि कुटुम्बधारणे । मत्रि गुप्तपरिभाषणे । तन्त्रयते । मन्त्रयते ।

'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेः स्थाने चङि अनुबन्धलोपे, 'णेरनिटि' इति णिलोपे, स्थानिवद्भावेन 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्यनेन उपधाया ह्रस्वे 'अ चुर् अ त्' इति जाते, 'चङि' इति 'चुर्' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासोकारस्य दीर्घे ऊकारे 'अचूचुरत्' इति ।

चिन्तयति । इकारेत्संज्ञक-चितिधातोः इदित्वान्नुमि 'सत्यापपाश०' इति णिच्यनुबन्धलोपे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लटि तिपि, शपि अनुबन्धलोपे गुणेऽयादेशे 'चिन्तयति' इति । कर्तृगामिनि क्रियाफले तु आत्मनेपदम्—'चिन्तयते' इति ।

+अ='आ'-सवर्णदीर्घ)=चोरयामास। (३) लुट्—चोरयिता। (४) √चुर्+णिच् (='इ'-'सत्यापपाश०' गुण)—चोरि (धातुसंज्ञा, आशीर्लिङ्=तिप्='ति', यासुट्='यास्', इकारलोप, 'स्' का लोप, णिच्='इ' का लोप—'णेरनिटि')=चोर्यात्। आत्मनेपद में—√चोरि+आशीर्लिङ् (=त, सीयुट्='सीय्', सुट्='स्', 'य्' का लोप, इ='ए' गुण, अय् आदेश, षत्व, ष्टुत्व) =चोरयिषीष्ट। (५) √चुर्+णिच्=('इ' गुण)—चोरि (धातुसंज्ञा, लुङ्—तिप्='ति', अट्, इकारलोप—'इतश्च', च्लि, च्लि=चङ्='अ'—'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्', णि='इ' का लोप—'णेरनिटि', णिलोप के स्थानिवद्भाव से उपधा 'ओ'='उ' ह्रस्व—'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः')—अ चुर् अ त (धातु को द्वित्व—'चङि', अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, सन्वद्भाव—'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे', अभ्यास के 'उ'='ऊ'—दीर्घ—'दीर्घो लघोः')=अचूचुरत्। आत्मनेपद में—अचूचुरत।

√चुर धातु लुङ् लकार के रूप (परस्मैपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अचूचुरत्	अचूचुरताम्	अचूचुरन्
म० पु०—	अचूचुरः	अचूचुरतम्	अचूचुरत
उ० पु०—	अचूचुरम्	अचूचुराव	अचूचुराम

(आत्मनेपद)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०—	अचूचुरत	अचूचुरेताम्	अचूचुरन्त
म० पु०—	अचूचुरथाः	अचूचुरेथाम्	अचूचुरध्वम्
उ० पु०—	अचूचुरे	अचूचुरावहि	अचूचुरामहि

√चिति धातु का अर्थ—'चिन्तन करना, सोचना' है।

(१) √चिति (इदित, नुम्='न्'—'इदितो नुम् धातोः')—चिन्त्+णिच् (='इ'—'सत्यापपाश०' धातुसंज्ञा, लट्=तिप्=ति, शप्='अ' गुण, 'ए'='अय्' आदेश)=चिन्तयति। कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर 'णिचश्च' से आत्मनेपद—चिन्तयते। (२) √चिन्त्+णिच्='इ'

(एतौ आत्मनेपदिनौ) । स्फुडि परिहासे । स्फुण्डयति । पीड अवगाहे । (८०४) भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् ७।४।३ । एषामुपधाया ह्रस्वो वा, चङ्परे णौ । अपीपिडत्-अपिपीडत् । प्रथ प्रख्याने । प्रथयति (८०५) अत्स्मृदॄत्वर-

---

(८०४) **भ्राज-भास इति ।** 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति सूत्रमनुवर्तते । नित्ये ह्रस्वे प्राप्तेऽनेन विकल्पो विधीयते । **अपिपीडत् ।** पीडधातोः 'सत्यापपाश०' इत्यादिना णिचि 'पीडि' इति जाते, धातुसंज्ञायां लुङि, लः स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे, अटि, 'इतश्चे'ति इकारलोपे, च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे 'अ पीड् इ इ अत्' इति जाते 'भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम्' इत्यनेन विकल्पेन ह्रस्वे 'णेरनिटि' इति इलोपे, प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य 'चङि' इति द्वित्वे, पूर्वस्य अभ्याससंज्ञायां, हलादिशेषे 'सन्वल्लघुनि०' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अपीपिडत्' इति । उपधाह्रस्वाभावपक्षे—'अपिपीडत्' इति ।

—चिन्ति+धातुसंज्ञा, लुङ् (=तिप्=ति, अट् , च्लि, च्लि=चङ्='अ', द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—अ चि चिन्त् अ त्=अचिचिन्तत् ।

यहाँ यह शंका होती है कि धातुपाठ में 'चिन्त' ऐसा ही पाठ किया जाता, पुनः 'चिति' पाठ कर इदित्करण क्यों किया ? वह इदित्करण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि यहाँ णिच् विकल्प से होता है । अतः आशीर्लिङ् में 'चिन्त्यात्' यह णिच् रहित रूप बनता है । यहाँ 'अनिदिताम्' से नकार का लोप नहीं हुआ । णिच् के अभावपक्ष में—चिन्तति । वि० लि०—चिन्तेत् इत्यादि ।

√यत्रि (इदित्) धातु का अर्थ—'संकोच करना' है । (१) लट्—यन्त्रयति । 'यन्त्र' ऐसा भी पाठ किया जा सकता था । माधव ने णिच् विकल्प करके 'यन्त्रति' प्रयोग सिद्ध किया है, वह चिन्त्य है । √कुद्रि (इदित्, नुम्) धातु का अर्थ—असत्य बोलना है ।

√तत्रि (इदित्) का अर्थ 'कुटुम्ब धारण' है । लट्—तन्त्रयते । √मत्रि (इदित्) का अर्थ—'गुप्त सम्भाषण करना' है । लट्—मन्त्रयते । उक्त दोनों धातुएँ आत्मनेपदी हैं ।

√स्फुडि (इदित्) धातु का अर्थ—'परिहास करना' है । लट्—स्फुण्डयति, स्फुण्डति ।

√पीड धातु का अर्थ—'अवगाहन (स्नान) करना' है ।

(८०४) पद—भ्राज-भास-भाष-दीप-जीव-मील-पीडाम् , अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—णौ, चङि, उपधायाः, ह्रस्वः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—चङ्परक णि के परवर्ती रहते भ्राज आदि धातुओं की उपधा को विकल्प से ह्रस्व होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) सूत्र की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"भ्राज, भास, भाष, दीप, जीव, मील और पीड धातुओं की उपधा को विकल्प से ह्रस्व होता है, चङ्परक णि के परे रहते ।"

उदाहरण—(१) √पीड+णिच् (='इ' धातुसंज्ञा)—पीडि+लुङ् (=तिप्=ति, अट् , इकारलोप, च्लि, च्लि=चङ्='अ'—'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः', ई='इ' उपधा को विकल्प से ह्रस्व—'भ्राजभासभाष०', 'इ' का लोप—'णेरनिटि', प्रत्ययलक्षण का आश्रयण कर धातु को द्वित्व—'चङि', अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, सन्वद्भाव—'सन्वल्लघुनि०', 'इ'='ई'—दीर्घ—'दीर्घो लघोः') =अपीपिडत् । ह्रस्व के अभावपक्ष में—सन्वद्भाव की अप्राप्ति, दीर्घ का अभाव—अपिपीडत् ।

√प्रथ धातु का अर्थ—'प्रख्यान' है । (१) लट्—प्रथयति ।

प्रथम्रदस्तृस्पशाम् ७।४।९५। एषामभ्यासस्याकारश्चङ्परे णौ। इत्वापवादः। अपप्रथत्। पृथ प्रक्षेपे। पर्थयति। (८०६) **उर्ऋत् ७।४।७।** उपधाया ऋवर्णस्य ऋद्वा, चङ्परे णौ। इररारामपवादः। अपीपृथत्–अपपर्थत्। लुण्ठ स्तेये। लुण्ठयति।

---

(८०५) अत्स्मृदृत्वरेति। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यतः अभ्यासस्येति, 'सन्वल्लघुनि चङ्परे' इत्यतः चङ्परे इति चानुवर्तते। **अपप्रथत्।** प्रथ्धातोः स्वार्थे णिच्यनुबन्धलोपे 'प्रथि' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लुङि तिपि अनुबन्धलोपे अटि, इकारलोपे, च्लौ, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेः चङ्यनुबन्धलोपे 'णेरनिटि' इति णिलोपे तस्य स्थानिव-

---

(८०५) पद—अत, स्मृ-दृ-त्वर-प्रथ-म्रद-स्तृ-स्पशाम्। **अनुवृत्ति**—'अभ्यासस्य', चङ्परे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—चङ्परक णि के परवर्ती रहते स्मृ, दृ आदि धातुओं के अभ्यास को अकारान्त आदेश होता है। यह सूत्र इत्व का बाधक है। अपप्रथत् इत्यादि।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' तथा 'सन्वल्लघुनि चङ्परे' (७।४।९३) से 'चङ्परे' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार—"स्मृ, दृ, ञित्वरा, प्रथ, म्रद, स्तृञ्, स्पश धातुओं के अभ्यास को अकारादेश होता है, चङ्परक णि के परे रहते।"

उदाहरण—(१) √प्रथ+णिच्=इ=प्रथि (धातुसंज्ञा, लुङ्=तिप्=ति, अट्, इकार-लोप, च्लि, च्लि=चङ्='अ'—'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः', 'णि' का लोप—'णेरनिटि', स्थानिवद्भाव से धातु को द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष)—अ प प्रथ् अ त (सन्वद्भाव, 'सन्यतः' से प्राप्त इत्व का बाधकर अभ्यास को अकारान्त आदेश—'अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम्')=अपप्रथत्।

√**पृथ** का अर्थ—'फेंकना' है। लट्—पर्थयति।

(८०६) पद—उः, ऋत्। **अनुवृत्ति**—णौ, चङि, उपधायाः, वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—चङ्परक णि के परवर्ती रहते उपधा ऋ वर्ण को विकल्प से ऋत् (ऋ) आदेश होता है। यह सूत्र इर्, अर् और आर् का अपवाद है। अपीपृथत्।

विमर्श—यहाँ 'णौ चङ्युपधाया' (७।४।१) से 'णौ, चङि, उपधायाः' तथा 'जिघ्रतेर्वा' (७।४।६) से 'वा' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"चङ्परक णि के परे रहते उपधा ऋ वर्ण के स्थान में ऋत (ऋकारादेश) होता है।" ऋकार के स्थान में ऋकार विधान क्यों किया? इस शंका के निवारण के लिए ग्रन्थकार ने लिखा है कि यह सूत्र इर्, अर, आर् का अपवाद है। प्रकृत सूत्र में ऋकारोपध धातुओं के ऋकार को गुण होकर 'अर्' प्राप्त था, उसको बाधकर 'अत्' हुआ।

उदाहरण—(१) √पृथ्+णिच् (=इ+लुङ्=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=चङ्='अ'—'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०', 'इ' का लोप—'णेरनिटि', णिच् का आश्रयण कर प्राप्त गुण का बाधकर विकल्प से 'ऋ'='ऋ'—'उर्ऋत्', द्वित्व—'चङि', पूर्व की अभ्यास संज्ञा, 'ऋ'='अ'—'उरत्' रपर, हलादिशेष, सन्वद्भाव, 'अ'='इ'—'सन्यतः' दीर्घ—'दीर्घो लघोः')=अपीपृथत्। ऋत्व के अभावपक्ष में—गुण, रपर—अपपर्थत्।

√**लुण्ठ्** धातु का अर्थ—'लूटना' है। (१) लट्—लुण्ठयति। (२) लुङ्—अलुलुण्ठत्।

√**तड्** धातु का अर्थ—'पीटना' है। √तड्+णिच् (='इ', वृद्धि, 'अत उपधायाः')—ताडि+लट्=(तिप्=ति, शप्='अ', गुण, अयादेश)=ताडयति। (२) लुङ्—अतीतडत्।

अलुलुण्ठत् । तड आघाते । ताडयति । अतीतडत् । मडि भूषायां हर्षे च । मण्डयति अममण्डत् । भडि कल्याणे । भण्डयति । अबभण्डत् । छर्द वमने । छर्दयति । अचच्छर्दत् । चुद सञ्चोदने । चोदयति । अचूचुदत् । पाल रक्षणे । पालयति । अपीपलत् । पूज पूजायाम् । पूजयति । अपूपुजत् । कृत संशब्दने । (८०७) उपधायाश्च ७।१। १०१ । धातोरुपधाया ऋत इत् । रपरत्वम् । 'उपधायां चे'ति दीर्घः । कीर्त्तयति ।

त्वात् 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये, सन्वद्भावे 'सन्यतः' इत्यभ्यासस्य इत्वे प्राप्ते 'अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तॄस्पशाम्' इत्यनेन अत्वे 'अपप्रथत्' इति ।

(८०६) उर्ऋत् इति । उरिति षष्ठ्यन्तम् । 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्यतः 'णौ चङ्युपधायाः' इत्यनुवर्तते । 'जिघ्रतेर्वा' इत्यतो वेति चानुवर्तते । तदाह— उपधाया इति ।

अपीपृथत् । पृथ्धातोः स्वार्थे णिचि धातुसंज्ञायां लुङि तिपि अडागमेऽनुबन्धलोपे, तिप इकारलोपे, च्लौ, च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे, 'णेरनिटि' इति इकारलोपे 'उर्ऋत्' इति विकल्पेन ऋवर्णस्य ऋदादेशे 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरे, हलादिशेषे सन्वद्भावे 'सन्यतः' इति इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अपीपृथत्' इति । ऋदादेशाभावे णिचमाश्रित्य लघूपधगुणे रपरे 'अपपर्थत्' इति ।

(८०७) उपधायाश्चेति । 'ऋत इद्धातोः' इत्यनुवर्तते । तदाह—धातोरित्यादि ।

√मडि (इदित) धातु 'सजाना, प्रसन्न होना' है । (१) √मडि (इकार की इत्संज्ञा लोप, इदित्वात् नुम्=न्, अनुस्वार, परसवर्ण, णिच्=इ)—मण्डि+लट् (=तिप्=ति, शप्='अ', गुण, अय् आदेश)=मण्डयति । (२) लुङ्—अममण्डत् ।

√भडि (इदित, नुम्) धातु का अर्थ—'कल्याण करना' है । (१) लट्—भण्डयति । (२) लुङ्—अबभण्डत् ।

√छर्द धातु का अर्थ—'वमन करना' है । (१) लट्—छर्दयति । (२) लुङ्—अचच्छर्दत् ।

√चुद धातु का अर्थ—'प्रेरित करना' है । (१) √चुद्+णिच् (='इ', 'उ'='ओ'—गुण—'पुगन्त०')—चोदि+लट् (=तिप्=ति, शप्='अ' गुण, अयादेश)=चोदयति । (२) लुङ्—अचूचुदत् ।

√पाल धातु का अर्थ 'रक्षा करना' है । (१) लट्—पालयति । (२) लुङ्—अपीपलत् ।

√पूज धातु का अर्थ—'पूजा करना' है । (१) लट्—पूजयति । (२) लुङ्—अपूपुजत् ('भ्राजभास०' से ह्रस्व) ।

√कृत धातु का अर्थ—'संशब्दन, कीर्तन करना' है ।

(८०७) पद— उपधायाः, च । **अनुवृत्ति**—ऋतः, इद् धातोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—धातु के उपधा में स्थित ऋकार के स्थान में इत् आदेश होता है । 'उपधायां च' से दीर्घ । कीर्तयति ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'ऋत इद्धातोः' (७।१।१००) सूत्र की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"धातु के उपधा ऋकार के स्थान में इकारादेश होता है ।"

उदाहरण—(१) √कृत् + णिच् (='इ', 'ऋ'='इ'—'उपधायाश्च' रपर, 'इ'='ई'—

अचीकृतत्–अचिकीर्त्तत् । म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि । म्लेच्छयति । अमिम्लेच्छत् । ईड स्तुतौ । ईडयति । ऐडिडत् । पिडि सङ्घाते । पिण्डयति । रुध रोषे । रोषयति । अरूरुषत् । तुल उन्माने । तोलयति । अतूतुलत् । शुल्ब माने । शुल्बयति । अशुशुल्बत् । घुषिर् विशब्दने । घोषयति । अजूघुषत् । पट पुट लुट तुजि मिजि पिजि लुजि भजि लघि त्रसि पिसि कुसि दसि कुशि घट घटि बृहि बर्ह बल्ह गुप धूप विच्छ चीव पुथ लोकृ लोचृ णद कुप तर्क वृतु वृधु भाषार्थाः । पाटयति । पोट-

---

कीर्त्तयति । कृतधातोर्णिचि धातुसंज्ञायां लटि, तिपि अनुबन्धलोपे 'उपधायाश्चे'त्यनेन इत्वे रपरत्वे 'उपधायां च' इति दीर्घे शपि गुणेऽयादेशे 'कीर्तयति' इति सिद्धम् ।

'दीर्घ—'उपधायां च')=कीर्त्ति+लट् (=तिप्=ति, शप्='अ', 'इ'='ए' गुण, ऐ='अय्' आदेश)=कीर्तयति । (२) लुङ् में 'उर्ऋत्' से विकल्प से ऋकार आदेश—अचीकृतत् । ऋत्व के अभावपक्ष में 'उपधायाश्च' से इत्व—अचिकीर्तत् ।

√म्लेच्छ धातु का अर्थ—'अस्पष्ट बोलना' है । (१) लट्—म्लेच्छयति । (२) लुङ्—अमिम्लेच्छत् ।

√ईड धातु का अर्थ—'स्तुति करना' है । (१) लट्—ईडयति । (२) लुङ्—ऐडिडत् ।

√पिडि (इदित, नुम्) धातु का अर्थ 'संघात' है । (१) लट्—पिण्डयति ।

√रुष धातु का अर्थ—'क्रोध करना' है । (१) लट्—रोषयति । (२) लुङ्—अरूरुषत् ।

√तुल धातु का अर्थ—'तौलना' है । (१) लट्—तोलयति । (२) लुङ्—अतूतुलत् ।

√शुल्ब धातु का अर्थ—'मान करना' है । (१) लट्—शुल्बयति । (२) लुङ्—अशुशुल्बत् ।

√घुषिर् (इरित्संज्ञक) धातु का अर्थ—'घोषणा करना' है । (१) लट्—घोषयति । (२) लुङ्—अजूघुषत् ।

√पट्, पुट्, लुट्, तुजि (इदित), मिजि, पुजि, लुजि, भजि, लघि, त्रसि, पिसि, कुसि, दसि, कुशि (इदित), घट्, घटि, बृहि (इदित), बर्ह, वल्ह्, गुप्, धूप्, विच्छ्, चीव्, पुथ्, लोकृ (ऋदित), लोचृ (ऋदित), णद्, कुप्, तर्क्, वृतु (उदित), वृधु (उदित)—ये सभी धातुएँ भाषा अर्थ में हैं । (१) √पट्+णिच्, वृद्धि=पाटि+लट् (=तिप्=ति, शप्, गुण, अयादेश) =पाटयति । (२) √पुट्—पोटयति । (३) √लुट्—लोटयति । (४) √तुजि—तुञ्जयति, तुञ्जति । (५) √मिजि—मिञ्जयति, मिञ्जति । (६) √पिजि—पिञ्जयति, पिञ्जति । (७) √लुजि—लुञ्जयति, लुञ्जति । (८) √भजि—भञ्जयति, भञ्जति । (९) √लघि—लङ्घयति, लङ्घति । (१०) √त्रसि—त्रंसयति, त्रंसति । (११) √पिसि—पिंसयति, पिंसति । (१२) √कुसि—कुंसयति, कुंसति । (१३) √दसि—दंसयति, दंसति । (१४) √कुशि—कुंशयति, कुंशति । (१५) √घट्—घाटयति । (१६) √घटि—'घण्टयति, घण्टति । (१७) √बृहि—बृंहयति, बृंहति । (१८) √बर्ह—बर्हयति । (१९) √बल्ह्—बल्हयति । (२०) √गुप्—गोपयति । (२१) √धूप—धूपयति । (२२) √विच्छ्–विच्छयति । (२३) √जीव—जीवयति । (२४) √पुथ—पोथयति । (२५) √लोकृ—लोकयति । (२६) √लोचृ—लोचयति । (२७) √णद्—नादयति । (२८) √कुप्—कोपयति । (२९) √तर्क—तर्कयति । (३०) √वृतु—वर्तयति, वर्तति । (३१) √वृधु—वर्धयति, वर्धति । लिट् आदि अन्य लकारों में पूर्ववत् रूप बनते हैं ।

यति । लोटयति । तुञ्जयति । एवं परेषाम् । घाटयति । घण्टयति । (८०८) नाग्लोपिशास्वृदिताम् ७।४।२ । णिच्यग्लोपिनः शास्तेर्ऋदितां चोपधाया ह्रस्वो न, चङ्परे णौ । अलुलोकत् । अलुलोचत् । वर्तयति । वर्द्धयति । 'आ धृषाद्वा' (ग०) । इत ऊर्ध्वं विभाषितणिचो, धृषधातुमभिव्याप्य । युज पृच संयमने । योजयति–योजति । अयौक्षीत् । पर्चयति–पर्चति । पर्चिता । अपर्चीत् । अर्च पूजायाम् । अर्चयति । षह मर्षणे । साहयति । 'स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम्' । वृञ् आवरणे । वारयति ।

---

(८०८) नाग्लोपीति । 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति सूत्रमनुवर्तते । णावित्यावर्तते । तच्चाग्लोपिन इत्यत्रान्वेति । तदाह—णिच्यग्लोपिन इत्यादि । अलुलोकत् । ऋकारेत्संज्ञक-लोकृधातोः स्वार्थे णिच्यनुबन्धलोपे, 'लोकि' इत्यस्य धातुसंज्ञायाम्, लुङि तिपि अटि अनुबन्धलोपे 'इतश्चे'ति इकारलोपे, च्लौ, सिचि प्राप्ते, तं प्रबाध्य 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इत्यनेन च्लेः चङादेशेऽनुबन्धलोपे 'चङि' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासस्य ह्रस्वे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वे प्राप्ते

---

(८०८) पद—न, अग्लोपिशास्वृदिताम् । **अनुवृत्ति**—णौ, चङ्युपधायाः, ह्रस्वः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—णिच्परक अग् लोप युक्त धातु, शास् धातु तथा ऋदित् धातु की उपधा को ह्रस्व नहीं होता, चङ्परक णि के परे रहते । अलुलोकत् । अलुलोचत् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) की अनुवृत्ति आती है । अनुवृत्त 'णौ' पद की आवृत्ति की जाती है । प्रथम 'णौ' पद 'अग्लोपिनः' पद के साथ अन्वित होता है । द्वितीय निषेध में परनिमित्त होता है । तदनुसार—"णिच् परे रहते अक् लोप युक्त धातु, शास् धातु तथा ऋकारान्त धातु की उपधा को ह्रस्व नहीं होता, चङ्परक णि के परवर्ती रहते ।"

उदाहरण—(१) √लोकृ (ऋदित्)+णिच् (=इ)—√लोकि, धातुसंज्ञा+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, प्राप्त सिच् का बाधकर च्लि=चङ्='अ'—'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः', धातु को द्वित्व—'चङि', अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष, 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से प्राप्त ह्रस्व का 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' से निषेध, 'णि' का लोप—'णेरनिटि')=अलुलोकत् । (२) √लोचृ लुङ् प्र० पु० एकव०—अलुलोचत् । (३) √वृतु (उदित्)+णिच्='इ', गुण, रपर=वर्ति+धातुसंज्ञा, लट् (=तिप्=ति, शप्='अ' गुण, अय् आदेश)=वर्तयति । (४) √वृधु+लट्=वर्धयति ।

आधृषाद्वा—'युज पृच संयमने' से लेकर 'धृष प्रहसने' तक सभी धातुओं से विकल्प से णिच् होता है ।

√युज्, √पृच् धातुओं का अर्थ 'संयमन करना, जोड़ना' है । (१) लट्—योजयति, योजति । (२) लुङ्—अयौक्षीत् । (३) √पृच्+लट्=पर्चयति, पर्चति (विकल्प से णिच्) । (४) पृच्+लुङ्—अपर्चीत् ।

√अर्च का अर्थ 'पूजा करना' है । (१) लट्—अर्चयति, अर्चति ।

√षह् धातु का अर्थ—'सहन करना' है । (१) षह् ('ष्'='स्'='धात्वादेः षः सः')+णिच्=इ, वृद्धि—साहि+लट् (=तिप्=ति, शप्, गुण, अयादेश)=साहयति, सहति (विकल्प से णिच्) ।

वारयते । वरति । वरते । जॄ वयोहानौ । जारयति–जरति । शिष असर्वोपयोगे । शेषयति–शेषति । शेष्टा । अशिक्षत् । तप दाहे । तापयति–तपति । तप्ता । तृप तृप्तौ । तर्पयति–तर्पति । हिसि हिंसायाम् । हिंसयति–हिंसति । अर्ह पूजायाम् । आर्हयति । छद्र अपवारणे । छादयति–छदति । छदते । धूञ् कम्पने । * धूञ्-प्रीञो-र्नुक् * णौ । धूनयति–धवति । धवते । केचित्तु 'धूञ्प्रीणोरि'ति पठित्वा प्रीणाति-साहचर्याद् धूनातेरेव नुकमाहुः । धावयति । अयं स्वादौ, क्र्यादौ तुदादौ च । स्वादौ ह्रस्वश्च । तथा च कविरहस्ये—

'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' इत्यनेन निषेधे 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'अलुलोकत्' इति । **षह मर्षणे ।** साहयति, सहति । धातोरस्य विभाषितणिच्त्वम् । यथोक्तं **'स एवायं नागः सहति' इत्यादिना ।**

अर्ह पूजायाम् । आर्हयति । लुङि आर्हिहत्—अत्र णिचा सह द्वित्वात्सन्वद्भावो न भवति, तेन तद्विषये विहितो यो 'दीर्घो लघोरि'ति दीर्घः, स न प्रवर्तते ।

'यहाँ विकल्प से णिच् होता है ।' इसका समर्थन ग्रन्थकार उदाहरण द्वारा करते हैं—"स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम् ।" (यह वह हाथी है, जो अपने बच्चों से अपना पराभव सहन करता है !)

√वृञ् धातु का अर्थ 'आवरण, ढँकना' है । (१) लट्—वारयति । आ० पद—वारयते (विकल्प से णिच्) । णिच् के अभावपक्ष में—वरति । वरते ।

जॄ धातु का अर्थ—'वय हानि, वृद्ध होना' है । (१) √जॄ+णिच्=(इ, वृद्धि, रपर)= जारि+धातुसंज्ञा, लट् (=तिप्=ति, शप् , गुण, अय् आदेश)=जारयति । णिच् के अभावपक्ष में—जरति ।

√शिष् धातु 'असर्व उपयोग' (शेष रहना) अर्थ में है । (१) लट्—शेषयति । शेषति । (२) लुट्—शेष्टा । (३) लुङ्—अशिक्षत् ।

√तप् धातु का अर्थ—'तपाना' है । (१) लट्—तापयति, तपति (विकल्प से णिच्) । (२) लुट्—तप्ता ।

√तृप धातु का अर्थ 'तृप्त होना' है । (१) लट्—तर्पयति । तर्पति ।

√हिसि (इदित्, नुम्) धातु का अर्थ 'हिंसा करना' है । (१) लट्—हिंसयति, हिंसति (णिच् विकल्प) ।

√अर्ह् धातु का अर्थ 'पूजा करना' है । (१) लट्—अर्हयति, अर्हति ।

√छद् धातु का अर्थ 'ढँकना' है । (१) लट्—छादयति, छदति (णिच् विकल्प) । आत्मनेपद—छदते ।

√धूञ् (ञिदित्) धातु का अर्थ—'कम्पित करना' (कँपाना) है ।

वा०—णिच् के परवर्ती रहते धूञ् और प्रीञ् धातु को नुक् का आगम होता है ।

(१) √धू+णिच् विकल्प से (नुक्='न्'—'धूञ्प्रीञोर्नुक्')=धूनि, धातुसंज्ञा+लट् (=तिप्=ति, शप्='अ' गुण, 'अय्' आदेश)=धूनयति । णिच् के अभावपक्ष में—धवति । आ० पद—धवते ।

कोई आचार्य—"धूञ्प्रीणोः' ऐसा पाठ मानकर प्री धातु के साहचर्य से श्ना विकरण वाली

'धूनोति चम्पकवनानि, धुनोत्यशोकं, चूतं धुनाति, धुवति स्फुटितातिमुक्तम् ।
वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून्, यत्कानने धवति चन्दनमञ्जरीश्च ॥'

प्रीञ् तर्पणे । प्रीणयति । प्रीणयते । प्रयति । प्रयते । वच परिभाषणे । वाचयति—वाचति । वक्ता । अवाक्षीत् । मान पूजायाम् । मानयति । मानति—मानिता । भू प्राप्तौ । आत्मनेपदी । भावयते—भवते । णिच्सन्नियोगेनैवात्मनेपदमित्येके । भवति । मार्ग अन्वेषणे । धृष प्रसहने । धर्षयति—धर्षति ।

अथादन्ताः । कथ वाक्यप्रबन्धे । अल्लोपः । **(८०९) अचः परस्मिन्पूर्वविधौ १।५।५७ ।** परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत् स्यात्, स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य

---

(८०९) अचः परस्मिन्निति । अल्विध्यर्थमिदं सूत्रम् । स्थानिवदादेशोऽनल्विधावि'त्यतः स्थानिवदादेश इत्यनुवर्तते । 'अचः' इति पदमादेश इत्यनेनान्वेति । परस्मिन्निति सप्तमी, ततश्च परनिमित्तक इति लभ्यते । विधिः कार्यम्, पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः । तदाह—परनिमित्तोऽजादेश इत्यादिना । कथयति । कथ 'इत्यकारान्ताद्धातोः'

√धून् को ही नुक् (='न्') का आगम होता है" । ऐसा मानते हैं । तदनुसार नुक् न होने पर—धावयति । यह धातु स्वादि, क्रयादि और तुदादि में पठित है । स्वादि में ह्रस्व उकार वाली है । जैसा कि 'कविरहस्य' नामक ग्रन्थ में पढ़ा गया है—"चम्पा के वनों को वायु कम्पित करता है—धूनोति । अशोक वृक्ष को कँपाता है—धुनोति । आम के वृक्ष को कँपाता है—धुनाति । चम्पा के पुष्पों की धूलि को कम्पित करता है—धूनयति । उस वन में वायु चम्पा की कलियों को कम्पित करता है—धवति । चन्दन की मञ्जरियों को भी वायु कँपाता है ।"

√प्रीञ् (ञिदित) धातु का अर्थ 'तृप्त करना, प्रसन्न करना' है । (१) √प्री+(णिच्='इ', नुक्=न्, णत्व)—प्रीणि+धातु संज्ञा, लट् (=तिप्=ति, शप्, गुण, अयादेश) =प्रीणयति । आ० पद—प्रीणयते । णिच् के विकल्प से होने से पक्ष में—प्रयति । प्रयते ।

√मान् धातु का अर्थ 'पूजा करना, सम्मान करना' है । (१) लट्—मानयति । मानति (विकल्प से इट्) । (२) लुट्—मानिता ।

√भू धातु का अर्थ 'प्राप्त करना' है । यह धातु आत्मनेपदी है । लट्—भावयते । भवते (णिच् विकल्प) । कुछ आचार्यों के अनुसार—णिच् के साहचर्य से ही यह धातु आत्मनेपदी है । अतः तदनुसार णिच् के अभावपक्ष में परस्मैपद—भवति ।

√मार्ग धातु का अर्थ—'अन्वेषण, खोजना' है । (१) लट्—मार्गयति, मार्गति ।

√धृष् धातु का अर्थ—'प्रहसन' (=पराभूत करना) है । (१) लट्—धर्षयति, धर्षति । (विकल्प से णिच्) ।

√कथ धातु का अर्थ—'वाक्य-प्रबन्ध' (=कथा कहना) है ।

(८०९) पद—अचः, परस्मिन्, पूर्वविधौ । **अनुवृत्ति**—स्थानिवदादेशः । **अतिदेशसूत्र ।**

मूलार्थ—परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् हो जाता है, स्थानिभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्ट को यदि कोई कार्य कर्तव्य हो तो । कथयति इत्यादि ।

विमर्श—एक वर्ण (अल्) का आश्रय होने पर भी स्थानिवद्भाव विधान करने के लिए यह सूत्र है । पूर्वसूत्र 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१।१।५६) से 'स्थानिवदादेशः' की अनुवृत्ति आती है । 'अचः' स्थानी है । 'परस्मिन्' में निमित्त सप्तमी है । 'पूर्वविधौ' पद में विषय-सप्तमी है ।

विधौ कर्तव्ये । इति स्थानिवत्त्वान्नोपधावृद्धिः । कथयति । अग्लोपित्वाद्दीर्घसन्वद्भावौ न । अचकथत् । गण सङ्ख्याने । गणयति । (८१०) ई च गणः ७।४।९७ । गणेरभ्यासस्य ईत्स्यात्, चादत्, चङ्परे णौ । अजीगणत्–अजगणत् । रच प्रतियत्ने । रचयति । अररचत् । कल गतौ सङ्ख्याने च । कलयति । अचकलत् । मह पूजायाम् । महयति ।

'सत्यापपाश०' इत्यादिना णिच्यनुबन्धलोपे 'अतो लोपः' इत्यकारलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' इति अल्लोपस्य स्थानिवत्वात् तदभावे जाते, धातुसंज्ञायाम् लटि, लः स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायाम् शपि, अनुबन्धलोपे गुणेऽयादेशे च कृते 'कथयति' इति सिद्धम् ।

(८१०) **ई च गण इति ।** 'सन्वल्लघुनि' इत्यतः 'चङ्परे' इति, 'अत्र लोपः' इत्यत अभ्यासस्येति चानुवर्तते । 'अत्स्मृदृ०' इति पूर्वसूत्रात् चकारादत् अनुकृष्यते । अत आह—**गणेरभ्यासस्येति । अजगणत्, अजीगणत् ।** गणधातोर्णिचि अल्लोपे 'अचः परस्मिन्निति' स्थानिवद्भावात् वृद्ध्यभावे लुङि, लः स्थाने तिपि अनुबन्ध-

---

तदनुसार—"पूर्वविधि में पर को निमित्त मानकर किसी अच् वर्ण के स्थान में होने वाला आदेश स्थानिवत् (स्थानी के समान) होता है, यदि उससे पहले कोई विधि (कार्य) करना हो तो।"

उदाहरण—(१) √कथ+णिच् (='इ', 'अ' का लोप—'अतो लोपः', 'अत उपधायाः' से वृद्धि की प्राप्ति होने पर अकार लोप का स्थानिवद्भाव—'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ')—कथि (धातु संज्ञा—'सनाद्यन्ता धातवः' लट्, ल्=तिप्='ति' सार्वधातुक संज्ञा शप्='अ', 'इ'='ए' गुण, अय् आदेश)=कथयति । अक् का लोप होने से कथ धातु के लुङ् लकार में दीर्घ और सन्वद्भाव नहीं होता । (२) √कथ+णिच् (='इ' अकारलोप, स्थानिवद्भाव होने से वृद्धि का अभाव) कथि+लुङ् (=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=चङ्='अ'—'णिश्रिद्रु०', 'चङि' से द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'क्'='च्' चुत्व, णिलोप)—'अ च क थ अत्' ('अक्' का लोप होने से सन्वद्भाव के अभाव में ईत्व और दीर्घ नहीं होते)=अचकथत् । √गण धातु का अर्थ—'गिनना' है । (१) √गण+णिच्=इ; अकारलोप, स्थानिवद्भाव होने से उपधावृद्धि का अभाव+लट्=तिप्='ति', शप्='अ', गुण, अय् आदेश)=गणयति ।

(८१०) पद—ई च गणः । **अनुवृत्ति**—अत्, चङ्परे, अभ्यासस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—चङ्-परक णि के परवर्ती रहते गण धातु के अभ्यास को ईत्व होता है । चकारात् 'अत्' भी होता है । अजीगणत् । अजगणत् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अत स्मृदृत्वर०' (७।४।९५) से 'अत्' 'सन्वल्लघुनि चङ्परे' (७।४।९३) से 'चङ्परे' तथा 'अत्र लोपः' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—"चङ्परक णि के परे रहते गण धातु के अभ्यास को ईकार आदेश होता है । चकार कहने से पक्ष में अकार आदेश भी होता है ।"

उदाहरण—(१) √गण+णिच् (=इ, अकारलोप, स्थानिवद्भाव होने से वृद्धि का अभाव, लुङ्=तिप्=ति, अट्, इकारलोप, च्लि, च्लि=चङ्='अ'—'णिश्रि०' द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, चुत्व, णिलोप)—'अ ज गण् अ त्' (अभ्यास के अ='ई'—'ई च गणः')=अजीगणत् । पक्ष में—अत्='अ'—अजगणत् ।

√रच धातु का अर्थ 'रचना करना' है । (१) लट्—रचयति । (२) लुङ्—अररचत् ।

सूच पैशुन्ये । सूचयति । अषोपदेशत्वान्न षः । असुसूचत् । कुमार क्रीडायाम् । कुमारयति । अचुकुमारत् । ऊन परिहाणे । ऊनयति । 'ओः पुयण्जी'ति सूत्रे 'पयोरि'ति वक्तव्ये वर्गप्रत्याहारजग्रहो लिङ्गं—'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये' इति । यत्र द्विरुक्तावभ्यासोत्तरखण्डस्याद्योऽच् प्रक्रियायां, परिनिष्ठितरूपे वा अवर्णो लभ्यते तत्रैवायं निषेधः, ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वात् । तेनाचिकीर्त्तदित्यादि सिद्धम् । प्रकृते तु 'न' शब्दस्य द्वित्वम् । तत उत्तरखण्डे अल्लोपः । औननत् । ध्वन शब्दे । ध्वनयति ।

लोपे, अटि, इकारलोपे, च्लेश्चङि, द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'कुहोश्चु' इति चुत्वेन गकारस्य जकारे अग्लोपित्वाद्दीर्घसन्वद्भावयोरभावे 'ई च गणः' इत्यभ्यासस्य ईत्वे 'अजीगणत्' इति । अत्पक्षे—'अजगणत्' इति ।

औननदिति । उनधातो णिचि लुङि तिपि 'इतश्चे'ति इकारलोपे, च्लौ, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः' इति च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे, 'णेरनिटि' इति णिचो लोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य 'चङि' इत्यनेन 'न' इत्यस्य द्वित्वे 'अ न न अ त्' इति जाते, अङ्गस्याडागमे 'आट-

---

√**कल** धातु का अर्थ 'जाना, गिनना' है । (१) लट्—कलयति । (२) लुङ्—अचकलत् । √**मह** धातु का अर्थ—'पूजा करना' है । (१) लट्—महयति । √**सूच** धातु का अर्थ—'सूचना देना' है । (१) लट्—सूचयति । (२) लुङ्—असुसूचत् (यह धातु षोपदेश नहीं है, अतः षत्व नहीं हुआ) ।

√कुमार धातु का अर्थ—'क्रीडा करना' है । (१) लट्—कुमारयति । (२) लुङ्—अचुकुमारत् ।

√**ऊन** धातु का अर्थ 'परिहाण' (घटना, कम होना) है । (१) लट्—ऊनयति ।

'ओः पुयण्जी'ति । 'ओः पुयण्ज्यपरे' (=सन् परे रहते जो अंग, उसका अवयव जो अभ्यास का उकार, उसको इकारादेश होता है, अवर्णपरक पवर्ग या यण् या जकार के परवर्ती रहते) सूत्र में 'पिपविषति' इत्यादि में अभ्यास उकार को द्वित्व करने के अनन्तर इकारादेश के लिए ग्रन्थकार 'पयोः' इतना ही उल्लेख करते हुए 'पु'=पवर्ग ग्रहण एवं जकार ग्रहण क्यों किया ? वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि णिच् में अच् के स्थान में आदेश नहीं होता, यदि द्वित्व कर्तव्य हो तो ।

उक्त ज्ञापन के स्वीकार कर लेने पर 'अचकीर्तत्' इस अनिष्ट रूप की सिद्धि होगी । इस आशङ्का के निवारणार्थ ग्रन्थकार कहते हैं—"जिस धातु की द्विरुक्ति (द्वित्व) होने पर अभ्यास के उत्तर खण्ड का आदि अच् प्रक्रियादशा अथवा परिनिष्ठित रूप में अवर्ण प्राप्त रहे, उस धातु में 'णिच्यच आदेशो न द्वित्वे कर्तव्ये' यह निषेध होता है । क्योंकि ज्ञापक समानजातीय की अपेक्षा करता है । अतः 'अचिकीर्त्तत्' यह रूप सिद्ध होता है ।

√ऊन+णिच् (=इ)+लुङ् (=तिप्=ति, इकारलोप, च्लि, च्लि=चङ्='अ'—'णिश्रि०', णि का लोप, प्रत्ययलक्षण का आश्रयण कर 'न' का द्वित्व—'चङि')—ऊ न न अ त (आट्='आ' आगम—'आडजादीनाम्', आ+ऊ='औ' वृद्धि—'आटश्च', 'अ' का लोप—'अतो लोपः')=औननत् । यहाँ यह शंका होती है कि √ऊन से णिच्, च्लि=चङ्='अ', द्वित्व से पर एवम् अन्तरंग होने के अकारलोप (अतो लोपः) होने पर 'अजादेर्द्वितीयस्य' से 'नि' पद का द्वित्व होने से 'औनिनत्' इस अनिष्ट रूप की सिद्धि होगी । इष्ट रूप 'औननत्' सिद्ध नहीं हो

अदध्वनत् । सूत्र वेष्टने । सूत्रयति । मूत्र प्रस्रवणे । मूत्रयति । अदन्तत्वसामर्थ्याण्णिज्विकल्पः । मूत्रति ।

आगर्वादात्मनेपदिनः । पद गतौ । पदयते । अपपदत । गृह ग्रहणे । गृहयते । मृग अन्वेषणे । मृगयते । शूर वीर विक्रान्तौ । शूरयते । वीरयते । गर्व माने । गर्वयते ।

इति चुरादिप्रकरणम् ।

श्चे'ति वृद्धौ 'अतो लोपः' इत्यकारस्य लोपे 'औननत्' इति । ननु 'आ ऊन इ अ त्' इत्यत्र द्वित्वात्पूर्वमल्लोपे कृते इकारविशिष्टस्य द्वित्वे सति, 'औनिनत्' इति रूपं साधुः स्यादिति चेन्न, 'णिच्यजादेशो न द्वित्वे कार्ये' इति द्वित्वात्प्रागेवाजादेशनिषेधात् ।

न चास्मि-व्याख्याने किम्प्रमाणमिति वाच्यम्; 'ओः पुयण्ज्यपरे' इति सूत्रे 'ओः पययोरि'त्येव वक्तव्ये वर्गप्रत्याहारजकारग्रहणं णिच्यजादेशो नेति ज्ञापकस्य प्रमाणसत्वादिति ।

इति चुरादिप्रकरणम् ।

सकेगा। अतः ग्रन्थकार ने कहा है कि—"णिच् में अजादेश नहीं होता, यदि द्वित्व कर्तव्य हो तो"। इस ज्ञापक से अकारलोप का निषेध होने से 'औननत्' रूप सिद्ध होता है।

√ध्वन धातु का अर्थ—'शब्द करना' है। (१) लट्—ध्वनयति। (२) लुङ्—अदध्वनत्।

√सूत्र धातु का अर्थ 'वेष्टन' (=लपेटना) है। (१) लट्—सूत्रयति। **√मूत्र** धातु का अर्थ 'प्रस्रवण' (=मूतना) है। (१) लट्—मूत्रयति। अदन्त होने से उक्त धातुओं से विकल्प से णिच् होता है। पक्ष में—'मूत्रति' इत्यादि।

अब गर्व धातु तक आत्मनेपदी धातुओं की रूपसिद्धि बतलायी जा रही है—

√पद धातु का अर्थ—'जाना' है। (१) √पद+(णिच्='इ', अकारलोप)—पदि+लट् (=त, शप्='अ', गुण, अय् आदेश, 'अ'='ए' एत्व—'टित आत्मनेपदानां टेरे')=पदयते। (२) लुङ्—अपपदत।

√गृह धातु का अर्थ—'ग्रहण करना' है। लट्—गृहयते। **√मृग** धातु का अर्थ—'अन्वेषण' (=खोजना) है। लट्—मृगयते। **√शूर, वीर** का अर्थ—'पराक्रम प्रदर्शित करना' है। **लट्**—शूरयते, वीरयते। **√गर्व** धातु का अर्थ—'गर्व करना' है। लट्—गर्वयते।

चुरादि-गण समाप्त।

सूत्र-सूची

सूत्राणि	पृष्ठाङ्काः

धातु-सूची

वार्तिक-सूची

॥ श्रीः॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१८५



श्रीवरदराजाचार्यविरचिता

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुबोधिनी' - संस्कृत - हिन्दीव्याख्याद्वयोपेता

(णिजन्तादिकारकान्तो तृतीयो भागः)

व्याख्याकार

डॉ॰ सुरेशचन्द्र शर्मा

व्याकरणाचार्य, एम॰ ए॰ पी-एच॰ डी॰



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के. 37/117, गोपालमन्दिर लेन

पो॰ बा॰ नं॰ 1129, वाराणसी 221 001

दूरभाष : 333431

प्रथम संस्करण 1997

मूल्य : 80-00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर

पो॰ बा॰ नं॰ 2113

दिल्ली 110007

दूरभाष : 236391

●

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो॰ बा॰ नं॰ 1069, वाराणसी 221001

दूरभाष : 320404

अक्षर - संयोजक
जौहरी प्रॉसेस
वाराणसी

मुद्रक
महावीर प्रेस
वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
185



MADHYASIDDHĀNTAKAUMUDĪ

OF

ŚRĪ VARADARĀJĀCĀRYA

(Part 3 : Ṇijanta to Kāraka)

Edited with
'Subodhini' Sanskrit & Hindi Commentaries

By
Dr. Suresh Chandra Sharma
Vyakaranacharya, M. A., Ph. D.



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI - 221001
Telephone : 333431

First Edition
1997

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 320404

निवेदनम्

विदितमेव तत्रभवतां श्रीमतां यत्संस्कृतवाङ्मयज्ञानाय व्याकरणमेव मुख्यं साधनम्। ऐन्द्रचान्द्रादिषु नैकेषु व्याकरणेषु सत्स्वपि सर्वत्राधुना पाणिनीयव्याकरणमेव प्रचलति। तच्च व्याकरणं लक्ष्यलक्षणात्मकम्। तत्र शब्दो हि लक्ष्यः, लक्षणन्तु सूत्रम्। अनयोः सम्यग्ज्ञानार्थं पाणिनीयाष्टाध्याय्या अध्ययनं परमावश्यकम्। अतः 'अष्टाध्यायी'ति ग्रन्थस्य गूढाभिप्रायं ज्ञातुं काशिकादिवृत्तिग्रन्थानां पठनपाठनयोः परम्परा पुरा प्रचलिता। परिवर्तनशीलेऽस्मिन्युगेऽध्ययनाध्यापनविधावपि परिवर्तनं स्वाभाविकमेव। अत एव सरलरीत्या व्याकरणशास्त्रज्ञानाय अष्टाध्यायीक्रमस्थकाठिन्यनिवारणाय च प्रक्रियाक्रमस्यारम्भो जातः। धर्मकीर्तिकृतरूपावतारादुद्गतेयं प्रक्रियापरम्परा रूपमालया प्रक्रियाकौमुद्या च पल्लविता, सिद्धान्तकौमुद्या च पुष्पिता तत्रैव पर्यवसिताऽपि। श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविदुषा विरचिता वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रौढा पाण्डित्यपरिपूर्णा वर्तत इति जानन्त्येव विद्वांसः। अतः सुकुमारमतीनां बालानां प्रवेशोऽत्र दुष्कर इति विचार्य तच्छिष्येण पण्डितप्रवरेण वरदराजाचार्येण प्राथमिकाध्येतॄणां बालानामनायासेन बुद्धिप्रवेशलाभाय लघसिद्धान्तकौमुदी, लब्धकिञ्चित्प्रवेशानां माध्यमिकानाञ्च बालानां व्याकरणशास्त्रबोध-सम्पत्तये मध्यसिद्धान्तकौमुदी विरचिता।

सेयं मध्यसिद्धान्तकौमुदी स्वल्पेन कालेन बहुबोधाधायिनीति विदन्त्येव विद्वांसः। ग्रन्थस्यास्य परमोपादेयतामभिलक्ष्य कैश्चिद्विश्वविद्यालयैः माध्यमिककक्षासु वा विनि-र्धारितोऽयं ग्रन्थः। यद्यप्यद्यत्वे मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः संस्कृतहिन्दीव्याख्योपेतानि नैकानि संस्करणानि प्रकाशितानि सन्ति। परं 'विद्यार्थिजनोपयोगि सरलटीकोपेतं किञ्चित्संस्करणं नैव समुपलभ्यते' इत्यभावमनुभवता चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनाध्यक्षस्याग्रहवशंवदेन छात्रहितैषिणा मया 'सुबोधिनी'ति संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतायाः मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः भागद्वयं प्रकाशितम्। तस्य लोकप्रियतामवेक्ष्य सम्प्रति द्वितीयो भागः प्रकाश्यते। आशासे यदनेन संस्करणेनापि छात्राणां नूनमेवोपकारो भविष्यति।

कार्येऽस्मिन् व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताद्यनेकशास्त्रमर्मविदुषां मैनपुरीस्थसंस्कृत-महाविद्यालये व्याकरणविभागाध्यक्षाणां पूज्यगुरुवर्याणां श्रीमतां केशवदेवतिवारीमहाभागानां हार्दिकीमधमर्णतामावहामि, तेषां चरणयोः विनतभावेन प्रणामाञ्जलिं च समर्पयामि, यैरत्यन्तवात्सल्यभावेन पदे पदे काठिन्यं निरस्यास्माकं साहाय्यं कृतम्। अस्याः व्याख्यायाः लेखनादिकार्ये ममानुजेन डॉ. महेशचन्द्रेण यत्साहाय्यं कृतं तदर्थं तमपि शुभाशीर्वचनैः सभाजयामि। अत्र कियत्साफल्यमधिगतं मयेत्यत्र तु विद्वांसः प्रेक्षका एव प्रमाणम्। प्रमादेनात्र काश्चन त्रुटयः स्युस्ताः संशोध्य विद्वद्भिः संसूचनीयोऽप्ययं जन इति शम्।

विदुषामाश्रवः

सुरेशचन्द्र शर्मा

भूमिका

संस्कृत भाषा भारत की ही नहीं, अपितु विश्व की प्राचीनतम भाषा है । सभ्यता के उष:काल में इस भाषा का उदय हुआ और सर्वप्रथम भारत को ही इस उदय के दर्शन का श्रेय प्राप्त हुआ । 'वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं' यह सभी विद्वानों और ऐतिह्य विदों ने स्वीकार किया है ।

किसी भी भाषा की सुरक्षा और उसका मौलिक ज्ञान उसके व्याकरण में निहित होता है । बिना व्याकरण के भाषा प्राय: विशृंखल और अपूर्ण रहती है । संस्कृत-वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का विशिष्ट स्थान है । 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् ।' अर्थात् जिससे साधु शब्दों का ज्ञान होता है, उसे 'व्याकरण' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । महाभाष्यकार ने इसी को 'शब्दानुशासन'[१] भी कहा है । शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द: और ज्यौतिष—इन षडङ्गों में 'व्याकरण' वेद का मुख रूप से प्रधान अङ्ग माना जाता है; जैसा कि पाणिनीयशिक्षा में कहा गया है—

'छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।।[२]

भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—'प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम् ।[३]

व्याकरण-वाङ्मय में ऐन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है । शब्दोपदेश के लिए प्रकृति-प्रत्यय विभाग की कल्पना सर्वप्रथम सुरगुरु बृहस्पति के शिष्य इन्द्र ने की थी । देवराज इन्द्र से लेकर महर्षि पाणिनि पर्यन्त[४] अनेक आचार्यों ने व्याकरणशास्त्र का निर्माण किया था, परन्तु आज पाणिनीय व्याकरण ही सर्वाङ्ग परिपूर्ण उपलब्ध होता है । यद्यपि यह संस्कृत के प्राचीन आर्ष व्याकरणों में सबसे अन्तिम और संक्षिप्ततम है; तथापि लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के संस्कृत-वाङ्मय को आलोकित करने वाला एक महान् प्रकास्तम्भ है। विश्व की किसी भी भाषा का व्याकरण इतना सरल और परिष्कृत नहीं बन सका है । संसार के सभी विद्वानों ने इसकी वैज्ञानिकता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है । पाणिनीय व्याकरण का मूलग्रन्थ भगवान् पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है । इसमें

---

१. 'अनुशिष्यन्ते अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधुशब्दा अनेनेत्यनुशासनम्, शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासनं सूत्रवार्तिकभाष्यव्याख्यानादिरूपं शास्त्रम् ।'

२. पाणिनीय-शिक्षा (४१-४२) ।

३. महाभाष्यम् (पस्पशाह्निकम्) ।

४. बोपदेव ने इन्द्र आदि आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया है—

'इन्द्रश्चान्द्र: काशकृत्स्नापिशली शाकटायन: ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा: जयन्त्यष्टादिशाब्दिका: ।। (कविकल्पद्रुम:)

३९९५ सूत्र हैं ।[१] इस अष्टाध्यायी के माध्यम से उन्होंने संस्कृत भाषा के परिष्कृत रूप को स्थायित्व प्रदान किया । कालान्तर में महर्षि कात्यायन ने 'अष्टाध्यायी' की समीक्षा करते हुए उसके पूरक के रूप में वार्तिक ग्रन्थ की रचना की । सूत्र तथा वार्तिकों के पारस्परिक समन्वय को समझाने के लिए शेषावतार भगवान् पतञ्जलि ने विशद विवरणात्मक ग्रन्थ 'महाभाष्य' की रचना की । उन्होंने पूर्ववर्ती दोनों आचार्यों की रचनाओं में सत्यान्वेषण किया और सिद्धान्ततः निष्कर्ष प्रस्तुत किया, जिससे विद्वानों ने उनके सिद्धान्तों को विशेष मान्यता प्रदान की—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् ।' इस प्रकार सूत्रकार 'पाणिनि', वार्तिककार 'कात्यायन' और भाष्यकार 'पतञ्जलि' ये तीनों आचार्य व्याकरण के 'त्रिमुनि' कहलाते हैं ।

पाणिनि

महर्षि पाणिनि के जन्मस्थान, जन्मकाल आदि के विषय में इतिहासकार एकमत नहीं हैं । 'त्रिकाण्डशेष' कोष में पाणिनि के छः नामों का उल्लेख मिलता है — पाणिन, आहिक, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, पाणिनि और शालातुरीय । इन नामों द्वारा इनके गोत्र, माता-पिता तथा देश का निर्णय किया जा सकता है । इनमें पाणिन और पाणिनि दोनों नाम गोत्र-व्यपदेशज हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि 'आहिक' इनका मूल नाम है । इनकी माता का नाम दाक्षी था, अतः इनका एक नाम दाक्षीपुत्र भी है । महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है—'सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।' कुछ गवेषकों के अनुसार इनके पिता का नाम शलङ्क था, अतः इनको 'शालङ्कि' कहा गया । 'शालातुरीय' नाम इनके जन्मप्रदेश को स्पष्ट करता है । 'गणरत्नमहोदधि' नामक ग्रन्थ में 'शालातुरीय' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—**'शलातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः ।'** इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि का जन्मस्थान 'शलातुर' नामक ग्राम ही है, जो वर्तमान में 'लाहौर' नाम से प्रसिद्ध है और पाकिस्तान का विशाल नगर है । इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सम्भवतः तक्षशिला में हुई थी, पश्चात् अपने ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए यह अन्यत्र चले गये । इनके गुरु का नाम उपवर्षाचार्य था, जो नालन्दा विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते थे । इन्होंने अपने अध्ययन काल में ही कठिन तपस्या करके आशुतोष भगवान् शङ्कर को प्रसन्न किया और उनके उपदेश से 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरणशास्त्र की रचना की । महर्षि पाणिनि की वन्दना में आचार्यों ने कहा भी है—

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

---

१. 'चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता ।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह ॥
(स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका, श्लो० १५)

महर्षि पाणिनि के काल के सम्बन्ध में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। अष्टाध्यायी के 'कुमारः श्रमणादिभिः' (२.१.७०) सूत्र में 'श्रमण' पद प्रयुक्त हुआ है। इससे आलोचक पाणिनि को बुद्धकालीन अथवा तत्पश्चात्कालीन सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वान् 'इन्द्रवरुण०' (४.१.४९) सूत्र में 'यवन' पद को देखकर इन्हें 'सिकन्दर' के समकालीन स्वीकार करते हैं, परन्तु यह नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि वैदिक ब्राह्मणग्रन्थों में भी श्रमण पद का उल्लेख मिलता है।[1] इसी प्रकार सिकन्दर के भारतागमन से भारतीय लोग यवनों से परिचित हुए। यह भी भ्रम ही है, क्योंकि महाभारत में यवन सैनिकों के द्वारा युद्ध करने का प्रसङ्ग है।

पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि पाणिनि विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व हुए हैं। किन्तु भाण्डारकर और गोल्डस्टुकर ने पाणिनि का समय ५०० ई॰ पू॰ से पहले निश्चित किया है। इसी प्रकार भारतीय और पाश्चात्य मतों पर सम्यग् विचार करने के उपरान्त डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि का समय ५०० ई॰ पू॰ निश्चित किया है।[2]

कात्यायन

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर आवश्यकतानुसार अनेक आचार्यों ने वार्तिकग्रन्थ रचे थे। उनमें महामुनि कात्यायन का स्थान प्रमुख है। पाणिनीय व्याकरण को सम्पूर्ण एवं समृद्ध बनाने के लिए कात्यायन का विशेष महत्त्व है। पाणिनि और कात्यायन समकालीन और सतीर्थ्य थे। इनका कात्यायन नाम गोत्रज है। आपका मूल नाम 'वररुचि' था। महाभाष्य के प्रथमाह्निक में 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इस वार्तिक पर 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते।' पतञ्जलि के इस वचन से विदित होता है कि ये दाक्षिणात्य थे। ये केवल वार्तिककार ही नहीं अपितु महाकवि भी थे। इनके 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों में मिलती है। यथा—

'यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥'

महाभाष्यकार पतञ्जलि

इस समय पाणिनीय व्याकरण पर पतञ्जलि-विरचित एक ही भाष्य-ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यह विशालकाय होने से महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। भाष्य का तात्पर्य निम्नाङ्कित है —

---

१. 'अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, श्रमणोऽश्रमणः तापसोऽतापसः।' (शतपथब्राह्मण)

२. द्रष्टव्य—श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल : 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'। (पृ॰ ४७०-४८०)

'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥'

महामुनि पतञ्जलि एवं उनके महाभाष्य की सभी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उनका महाभाष्य न केवल व्याकरणशास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ है, अपितु अनेक विषयों का आकर ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि अत्यन्त सरल है, तथापि कहीं-कहीं भावगाम्भीर्य अत्यधिक है।

भगवान् पतञ्जलि ने मनोवाक्कायदोषनिरसनार्थ 'योगसूत्र', 'महाभाष्य' और 'चरकसंहिता' इन तीन विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की, जैसा कि किसी विद्वान् ने भगवान् पतञ्जलि की स्तुति करते हुए कहा है—

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥'

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने परिचय के विषय में कुछ नहीं कहा है, किन्तु 'महाभाष्य' में कुछ स्थलों पर 'गोर्नदीयस्त्वाह' तथा 'गोणिकापुत्रः' का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि यह गोर्नद प्रदेश के निवासी थे। यह गोर्नद प्रदेश कहाँ है ? इस पर आधुनिक विद्वान् गोण्डा जनपद को ही गोर्नद मानते हैं। इनके महाभाष्य में 'पुष्यमित्रो जयते, इह पुष्यमित्रं याजयामः' इत्यादि प्रयोग मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि ये राजा पुष्यमित्र के समकालिक थे। पुष्यमित्र का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी निश्चित किया गया है। भारतीय पौराणिक गणना के आधार पर पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक ने पतञ्जलि का समय विक्रम से १२०० वर्ष पूर्व निश्चित किया है।

पाणिनीय व्याकरण के ये तीनों आचार्य 'त्रिमुनि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आशुतोष भगवान् शंकर के डमरू से पाणिनि के चतुर्दशसूत्र प्राप्त हुए और उन्हीं सूत्रों के आधार पर उन्होंने अष्टाध्यायी की रचना की। उसकी पूर्ति के लिए कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की और भगवान् शेषावतार पतञ्जलि ने जिज्ञासु विद्यार्थियों और मनीषियों के हितार्थ 'महाभाष्य' का प्रवचन किया। ये तीनों व्याकरणशास्त्र के प्रवर्तक हैं।

अष्टाध्यायी के टीकाकार

पाणिनीय व्याकरण के मूल ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' पर अनेक वृत्तिग्रन्थ लिखे गये। वृत्तिकारों में श्वोभूति, व्याडि, कुणि, माथुर, वररुचि आदि प्रमुख हैं। परन्तु इस समय उपलब्ध वृत्ति-ग्रन्थों में वामन और जयादित्य द्वारा विरचित 'काशिकावृत्ति' अत्यन्त सराहनीय है। इसका निर्माणकाल विद्वानों ने वि॰ सं॰ ६५०-७०० के मध्य स्वीकार किया है।

इस प्रकार अध्येता को सर्वप्रथम सम्पूर्ण 'अष्टाध्यायी' कण्ठस्थ करके प्रयोग के लिए 'काशिका' का अध्ययन करना होता था। अनन्तर विशेष ज्ञानार्थ महाभाष्य पढ़कर ही विशिष्ट पाण्डित्य प्राप्त होता था।

प्रक्रिया-क्रम

प्रौढ़ एवं विशेष परिश्रम न करने वाले विद्यार्थियों को उक्त प्रणाली में कष्ट और गौरव का अनुभव होने लगा था। अत: सरल रीति से व्याकरणशास्त्र के ज्ञान के लिए तथा अष्टाध्यायी-क्रमस्थ कठिनाई को दूर करने के लिए सर्वप्रथम बौद्धमताबलम्बी धर्मकीर्ति ने वि० सं० १३०० 'रूपावतार' नामक प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना की। पश्चात् विमल सरस्वती ने 'रूपमाला' और पं० रामचन्द्राचार्य ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की। किन्तु इन प्रक्रिया-ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनता की पूर्ति के लिए म० म० श्रीभट्टोजि दीक्षित ने 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' की रचना की। विद्वानों ने भट्टोजि दीक्षित का समय वि० सं० १५०० से १५७५ के मध्य स्वीकार किया है। उक्त ग्रन्थ अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातुपाठ से सर्वाङ्ग परिपूर्ण है। यह ग्रन्थ इतना उपयोगी सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन इसी के माध्यम से होने लगा। 'सिद्धान्तकौमुदी' पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें दीक्षित जी की प्रौढमनोरमा, ज्ञानेन्द्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनी, वासुदेव दीक्षित की बालमनोरमा तथा नागेश की लघुशब्देन्दुशेखर प्रसिद्ध है।

आचार्य वरदराज

आचार्य वरदराज दाक्षिणात्य पण्डित थे। इनके पिता दुर्गातनय और गुरु भट्टोजिदीक्षित थे। अपने अध्ययन के पश्चात् इन्होंने पाणिनि-व्याकरण में प्रवेशार्थी सुकुमार मति वाले बालकों के लिए 'सिद्धान्तकौमुदी' का पथप्रदर्शक 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की। वरदराज का यह लघु प्रयास प्रारम्भिक छात्रों के लिए परमोपयोगी है।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

इस प्रकार 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' द्वारा साधारण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिए वरदराज ने द्वितीय सोपान रूप 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' का प्रणयन किया। मध्यसिद्धान्तकौमुदी के अन्त में श्रीवरदराज ने कहा है—

'कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी।
तस्या: सङ्ख्या तु विज्ञेया खबाणकरवह्निभि: ॥'

यह किंवदन्ती है कि आचार्य वरदराज की इस कृति को देखकर गुरुवर भट्टोजिदीक्षित को सन्देह हो गया था कि मध्यकौमुदी को पढ़ने के पश्चात् मेरी 'सिद्धान्तकौमुदी' को कौन पढ़ेगा? क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी का सार-सर्वस्व मध्यसिद्धान्तकौमुदी है।

इस ग्रन्थ में सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा संक्षेप के अतिरिक्त प्रकरण-क्रम में भी भिन्नता है। वाक्य में सर्वप्रथम अर्थज्ञान के लिए पदच्छेद अपेक्षितं होता है। अतः पूर्व में सन्धि-प्रकरण को रखा गया है। अनन्तर सुबन्त पदों के ज्ञान के लिए षड्लिङ्ग प्रकरण और अव्यय-प्रकरण का संघठन किया गया है। इसके बाद स्त्रीप्रत्यय की अपेक्षा तिङन्त पदों के ज्ञान के लिए तिङन्त-प्रकरण का विन्यास सर्वथा उचित है। क्योंकि स्त्रीप्रत्यय कृत्तद्धित-समास के बाद ही अपेक्षित है। अतः अन्त में 'स्त्री-प्रत्यय' का होना ही उचित है। इसी प्रकार कारक का भी समास से पूर्व होना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि विभक्त्यर्थ-ज्ञान पर ही समास-प्रक्रिया आधारित है।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी की एक अत्यन्त प्राचीन टीका 'मध्यमनोरमा' है; ऐसा कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है। परन्तु इसका मुद्रित संस्करण अद्यावधि अप्राप्य है।

आजकल मध्यसिद्धान्तकौमुदी के संस्कृत-हिन्दी टीकाओं सहित अनेक संस्करण उपलब्ध हैं। उनमें पं० रामचन्द्र झा द्वारा रचित 'इन्दुमती' हिन्दी टीका का प्रमुख स्थान रहा है।

प्रस्तुत संस्करण में 'सुबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या का संक्षेप में वर्ण्यविषय इस प्रकार है—संस्कृत में जिज्ञासु छात्रों को सूत्रार्थ समझाना ही उद्देश्य रहा है। हिन्दी में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, अनुवृत्ति तथा सूत्रभेद प्रदर्शित कर विद्यार्थियों को सूत्रार्थ समझने की ओर स्वतः उन्मुख होने की प्रणाली बतलायी गई है। अनन्तर ग्रन्थ की 'वृत्ति' के अनुसार सूत्रार्थ किया गया है। 'विमर्श' में अनुवृत्त सूत्रों का उल्लेख करते हुए सूत्रस्थ पदों के साथ उनका सम्बन्ध प्रदर्शित कर सूत्रार्थ स्पष्ट किया गया है। प्रक्रियानुसार क्रम से उदाहरणों की सिद्धि की गई है और प्रत्युदाहरणों के द्वारा सूत्रस्थ पदों की सार्थकता दिखलायी गई है। प्रसङ्गवश कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण भी किया गया है। नवीन प्रकरणों के आरम्भ में पूर्वापर सङ्गति उपक्रम के रूप में की गई है। इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण की व्याख्या के विषय में गुण-दोषों का विवेचन सुधी पाठकजन ही करेंगे। मेरे प्रमाद एवं अज्ञानवश कुछ त्रुटियाँ हुई होंगी। अतः नीर-क्षीर-विवेकी विद्वानों से निवेदन है कि वे उन्हें सुधारकर सूचित करने का कष्ट करें। आशा एवं विश्वास है कि 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' के इस संस्करण से छात्रगण अवश्य ही लाभ उठायेंगे।

विदुषां वशंवदः

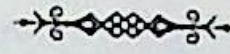
सुरेशचन्द्र शर्मा

प्रकरण-सूची

॥ श्रीः ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता



अथ णिजन्तप्रक्रिया

(८११) स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४। क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्। **(८१२) तत्प्रयोजको हेतुश्च १।४।५५।** कर्तृप्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च

भ्वाद्यदादिदशगणान्निरूप्येदानीं ण्यन्तप्रकरणमारभते

(८११) **स्वतन्त्रः कर्तेति।** कारकाधिकारात् क्रियाजनने स्वातन्त्र्यं = प्राधान्यमत्र विवक्षितम्।

(८१२) 'हेतुमति चे'त्यनेन णिज्विधिं वक्ष्यन् हेतुसंज्ञामाह–**तत्प्रयोजको हेतुश्चेति।** तच्छब्देनात्र पूर्वसूत्रोपात्तः कर्ता परामृश्यते। तस्य कर्तुः, प्रयोजकः प्रेरकः। तदाह–**कर्तृप्रयोजक इत्यादि।**

भ्वादि से लेकर चुरादिपर्यन्त दश गणों में विभिन्न धातुओं के रूपों की दस लकारों में साधनिका प्रदर्शित करने के अनन्तर प्रस्तुत प्रकरण में प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय के द्वारा बने धातुरूपों की प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है।

(८११) **पद**–स्वतन्त्रः, कर्ता। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ– क्रिया में स्वतन्त्रता से विवक्षित अर्थ (कारक) की कर्तृसंज्ञा होती है।

विमर्श– क्रिया (धातुवाच्य व्यापार) का आश्रय तथा क्रिया में स्वतन्त्र रूप से जो विवक्षित हो, उसे कर्ता कहते हैं। आशय यह है कि कर्ता विवक्षाधीन है। 'यज्ञदत्तः पचति, अग्निः पचति, इन्धनं पचति' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार जिसे 'कर्ता' कहना चाहें वही कर्ता होता है।

(८१२) **पद**– तत्, प्रयोजकः, हेतुः, च। **अनुवृत्ति**– कर्ता। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ– कर्ता का प्रयोजक (प्रेरणा करने वाला) की 'हेतु' संज्ञा और 'कर्ता' संज्ञा होती है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'स्वतन्त्रः कर्ता' (८११) से 'कर्ता' पद की अनुवृत्ति आती है। जब कर्ता को किसी कार्य में प्रेरित करने वाला कोई दूसरा होता है तब उस अन्य व्यक्ति को कर्ता तो कहा ही जाता है, इसके अलावा उसे 'हेतु' भी कहा जाता है। जैसे– 'देवदत्तः कटं करोति' (देवदत्त चटाई बनाता है, इस वाक्य में देवदत्त 'करना / बनाना' क्रिया का कर्ता है। 'तं यज्ञदत्तः प्रेरयति' = यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति। (यज्ञदत्त देवदत्त से चटाई बनवाता है।) इस वाक्य में देवदत्त कर्ता का प्रेरक यज्ञदत्त है। इसकी हेतु और कर्तृ संज्ञा भी होती है। प्रथम कर्ता को 'प्रयोज्य' कहा जाता है और प्रेरणा के कर्ता को 'प्रयोजक'।

स्यात्। (८१३) हेतुमति च ३।१।२६ । प्रयोजकव्यापारे प्रेरणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात्। भवन्तं प्रेरयति भावयति। (८१४) ओः पुयण्ज्यपरे ७।४।८० । सनि परे यदङ्ग

---

(८१३) **हेतुमति चेति।** 'सत्यापपाश०' इत्यादितो णिजित्यनुवर्तते। हेतुः = प्रेरकः कर्ता आधारतया अस्यास्तीति हेतुमान् प्रयोजकनिष्ठः प्रेषणादिव्यापारः, तस्मिन् वाच्ये धातोर्णिच् स्यादित्यर्थः। भवन्तं प्रेरयति भावयति। देवदत्तो यज्वा भवति, याजकस्तं प्रेरयति इत्याद्यर्थे भूधातोः 'हेतुमति चे'ति णिचि अनुबन्धलोपे, वृद्धौ आवादेशे च 'भावि' इति णिजन्तम्। तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लटि, तिपि, शपि, गुणेऽयादेशे च कृते 'भावयति' इति।

(८१४) **ओः पुयणिति।** 'ओः' इति षष्ठ्यन्तम्। 'पुयण्जि अपरे' इति च्छेदः। पुश्च यण् च ज् च इति समाहारद्वन्द्वात्सप्तमी। 'सन्यतः' इत्यतः सनीत्यनुवर्तते। 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम्। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यतः 'अभ्यासस्ये'ति, 'भृञामिदि'त्यत इदित्यनुवर्तते। तदाह–**सनि परे यदङ्गमित्यादिना। अबीभवत्**– भूधातोः 'हेतुमति चे'ति णिचि अनुबन्धलोपे वृद्धौ प्राप्तायाम् 'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये' इति निषेधात् पूर्ववृद्ध्यभावे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम्, लुङि, तत्स्थाने तिप्यनुबन्धलोपे, अटि, च्लौ, सिचि प्राप्ते 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इत्यनेन च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे 'णेरनिटि' इत्यनेन णेर्लोपे 'अ भू अ ति' इति जाते, 'चङि' इत्यनेन धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इत्यनेन अभ्यासस्य चर्त्वेन बकारे प्रत्ययलक्षणत्वाद् वृद्धाववादेशे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे 'ओः पुयण्ज्यपरे' इत्यनेन अभ्यासोकारस्य इत्वे 'अ बि भव् अ ति' इति जाते 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'इतश्चे'त्यनेन तिप इकारलोपे 'अबीभवत्' इति रूपम्।

---

(८१३) **पद**– हेतुमति, च। **अनुवृत्ति**– णिच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– प्रयोजक का व्यापार प्रेषण (प्रेरणा) आदि वाच्य रहने पर धातु से 'णिच्' प्रत्यय होता है।

विमर्श– यहाँ 'सत्यापपाश०' (३।१।२५) सूत्र से 'णिच्' पद की अनुवृत्ति आ रही है। स्वतन्त्र कर्ता के प्रयोजक (प्रेरक) को हेतु कहते हैं। उसका जो प्रेरणादि लक्षण-व्यापार हेतुमान् हुआ, उस हेतुमान् के अभिधेय होने से धातु से णिच् (= इ) प्रत्यय होता है। इस प्रकार प्रेरणा अर्थ में धातु से णिच् होता है। णिच् प्रत्यय से शुद्ध धातु के अर्थ में प्रेरणा का अंश आ जाता है। जैसे– यज्ञदत्त देवदत्त से चटाई बनवा रहा है (यज्ञदत्तः देवदत्तेन कटं कारयति)। यहाँ शुद्ध धातु का अर्थ– 'बनाना / करना' है। णिच् प्रत्यय के द्वारा प्रेरणा अर्थ के बढ़ जाने से 'बनवाना/कराना' अर्थ हो गया।

उदाहरण– (१) **भावयति**– 'भवन्तं प्रेरयति'(कश्चित्) इस विग्रह में ✓ भू + णिच् (= इ – 'हेतुमति च' 'ऊ' = 'औ' – वृद्धि–'अचो ञ्णिति', औ = 'आव्' आदेश)–भावि (धातुसंज्ञा– 'सनाद्यन्ता धातवः' लट्, ल् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश) = भावयति।

(८१४) **पद**– ओः, पुयण्जि, अपरे। **अनुवृत्ति**–सनि, इत्, अभ्यासस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ– अवर्णपरक कवर्ग, यण् और जकार के परवर्ती रहते सन्परक जो अंग, तदवयव अभ्यास के उकार को इत्व (इकार) होता है।

विमर्श– 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'सन्यतः' (७।४।७९) से सनि, 'भृञामित्' (७।४।७६) से इत् तथा 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार

तदवयवाऽभ्यासोवर्णस्य इत्स्यात्पवर्गयण्जकारेष्ववर्णपरेषु परतः। अबीभवत्। अपीपवत्। 'मूङ् बन्धने'। अमीमवत्। अयीयवत्। रु शब्दे। अरीरवत्। अलीलवत्। अजीजवत्। 'पुयण्जी'ति किम्? नुनावयिषति। अपरे किम्? बुभूषति। **(८१५) स्रवति-शृणोति-द्रवति-प्रवति-प्लवति-च्यवतीनां वा ७।४।८१ ।** एषामभ्यासोकारस्येत्वं वा

---

(८१५) **स्रवतिशृणोति इति।** पवर्गजकारयोरसम्भवात् पूर्वसूत्रादत्र 'अपरे' इत्यनुवर्तते। स्रवत्यादौ यणः सत्वेऽपि अव्यभिचारात्। **असिस्रवत्**–स्रुधातोर्णिचि अनुबन्धलोपे, धातुत्वाल्लुङि, तिपि तिप इकारलोपे अटि, च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे प्रत्ययलोपमाश्रित्य वृद्धौ आवादेशे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'स्रवतिशृणोतिद्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा' इति पाक्षिकेऽभ्यासत्वे असिस्रवत्। इत्वाभावपक्षे–'असुस्रवत्' इति।

चोरयति– स्वार्थणिजन्ताच्चुर्धातोः प्रेरणार्थके णिचि 'चुर् इ इ' इत्यत्र 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे प्राप्ते, 'अचो ञ्णिति' इति परत्वाद् वृद्धौ प्राप्तायाम् 'ण्यल्लोपावियङ्यण्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः

''अवर्णपरक (जिनके आगे अवर्ण हो ऐसे) पवर्ग, यण् और जवर्ण के परे रहते सन्प्रत्ययपरक जो अङ्ग, उसके अवयव अभ्यास के उकार के स्थान में इकार होता है।''

उदाहरण (१) ✓ भू + णिच् (= 'इ'– 'हेतुमति च' 'णिच्यच आदेशो न द्वित्वे कर्तव्ये' इस परिभाषा के बल से पहले वृद्धि का निषेध, धातुसंज्ञा, लुङ् (= ल् = तिप् = ति, इकारलोप– 'इतश्च' अट् = 'अ', च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', णि का लोप– 'णेरनिटि')–अ भू अ त् (द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, 'भ्' = ब्' – 'अभ्यासे चर्च') – अ बु भू अ त् ('ऊ' = 'औ' वृद्धि, 'औ' = 'आव्' आदेश, 'आ' = 'अ'–उपधाह्रस्व–'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः')– अ बु भ व् इ त् (सन्वद्भाव–'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे', अभ्यास के 'उ' = 'इ'–'ओः पुयण्ज्यपरे', 'इ' = 'ई'–दीर्घ–'दीर्घो लघोः') = अबीभवत्। (२) ✓ पू + णिच् (= 'इ' + लुङ् = तिप् = ति, इकारलोप, अट्, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', धातु को द्वित्व–'चङि', ह्रस्व, णिच् का आश्रयण कर वृद्धि–'अचो ञ्णिति', 'औ' = 'आव्' आदेश, उपधाह्रस्व, 'उ' = 'इ'–'ओः पुयण्ज्यपरे', दीर्घ–'दीर्घो लघोः') = अपीपवत्। (३) ✓ मूङ् धातु का अर्थ–'बँधना' है। लुङ् लकार प्रेरणा अर्थ में–अमीमवत्। (४) ✓ यु + णिच्, लुङ् प्र० पु० ए० व०–अयीयवत्। (५) रु = शब्द करना धातु से णिच्, लुङ् प्र० पु० ए० व० – अरीरवत्। (६) ✓ लू + णिच्, लुङ् प्र० पु० ए० व०– अलीलवत्। (७) ✓ जु + णिच् , लुङ् प्र० पु० ए० व०– अजीजवत्।

प्रत्युदाहरण– (१) नुनावयिषति– सूत्र में 'पुयण्जि' पद ग्रहण किया गया है, प्रकृत प्रत्युदाहरण में अभ्यास का उकार पवर्ग यण् जकारपरक नहीं है। अतः 'ओंः पुयण्जि' सूत्र से उकार को इकार नहीं होता। (२) बुभूषति– सूत्र में 'अपरे' पद का ग्रहण होने से अभ्यास उकार के पवर्गपरक होने पर भी पवर्ग के अकारपरक न होने से 'बुभूषति' में उकार के स्थान में इकार नहीं हुआ।

(८१५) **पद–** स्रवति-शृणोति-द्रवति-प्रवति-प्लवति-च्यवतीनां, वा। **अनुवृत्ति–**ओः, अपरे, सनि, इत्, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सन् के परे तथा अवर्णपरक धात्वक्षर के परे रहते स्रवत्यादि धातुओं के अभ्यास सम्बन्धी उकार को इकार होता है।

विमर्श– यहाँ 'ओः पुयण्ज्यपरे' (८१४) से 'ओः' तथा 'अपरे' की अनुवृत्ति आती है। पूर्वसूत्रवत्

स्यात्सनि अवर्णपरे धात्वक्षरे परे। असिस्रवत्। असुस्रवत्। इत्यादि। अवर्णपरे किम्? शुश्रूषते। णिजन्ताण्णिच् परत्वाद् वृद्धौ प्राप्तायां 'ण्यल्लोपावियङ्यण्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेने'ति णिलोपः। चोरयति। 'णौ चङी'ति ह्रस्वः। 'दीर्घो लघोरि'ति दीर्घः। न चाग्लोपित्वाद् द्वयोरप्यसम्भवः, ण्याकृतिनिर्देशात्। अचूचुरत्। 'टु ओश्वि' गतिवृद्ध्योः।

(८१६) णौ च संश्चङोः ६।१।३१। सन्परे चङ्परे च णौ श्वयतेः सम्प्रसारणं वा स्यात्। 'सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्' इति वचनात्सम्प्रसारणम्।

पूर्वविप्रतिषेधेने'ति वार्तिकेन वृद्धेः पूर्वं णिलोपविधानसामर्थ्यात् पूर्वणेर्लोपे धातुत्वे लटि तिपि शपि 'पुगन्त०' इति गुणे तथा 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे च कृते 'चोरयति' इति।

(८१६) **णौ चेति।** 'विभाषा श्वेः' इति सूत्रमनुवर्तते 'ष्यङः सम्प्रसारणमि'ति च। अत आह–**'सन्परे' इत्यादि। अशूशवदिति।** श्विधातोर्णिचि अनुबन्धलोपे धातुत्वाल्लुङि तिपि, अटि, इकारलोपे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवदि'ति

'सनि', 'इत्' और 'अभ्यासस्य' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अतः स्रु, श्रु, द्रु, प्रु, प्लु और च्यु धातुओं के अभ्यास के उकार के स्थान में विकल्प से इकार आदेश होता है; सन् के परे तथा अवर्णपरक धात्वक्षर के परे रहते।

उदाहरण– (१) ✓ स्रु + णिच् (= 'इ' + लुङ् = तिप् = ति, इकारलोप– 'इतश्च', अट्, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', स्रु को द्वित्व–'चङि', णि का लोप, प्रत्ययलोप का आश्रयण कर 'उ' = 'औ' वृद्धि, 'औ' = 'आव्', ह्रस्व–'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः')–अ सु स्र व् अ त् ('उ' = 'इ' विकल्प से–'स्रवतिशृणोति०') = असिस्रवत्। इत्व के अभाव पक्ष में– असुस्रवत्।

प्रत्युदाहरण–(१) शुश्रूषते– सूत्र में 'अवर्ण है परे जिससे ऐसे धात्वक्षर के परे रहते' का ग्रहण किया गया है। शुश्रूषते में वर्णपरक धात्वक्षर न होने से इत्व नहीं होता। (२) ✓ चुर् + णिच् (= 'इ' स्वार्थ में– 'सत्यापपाश०' धातुसंज्ञा, णिच् = 'इ' प्रेरणा अर्थ में–'हेतुमति च')–चुर् इ इ, ('णेरनिटि' से पूर्व णि के लोप की प्राप्ति, उसका बाध कर परत्वात् 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि की प्राप्ति होने पर 'ण्यल्लोपावियङ् यण्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन' (इयङ्, यण्, गुण, वृद्धि, दीर्घ की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से णिलोप और अकार का लोप होता है।) नियम से पूर्व 'णि' (इ) का लोप)–चुर् इ (+ धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'उ' = 'आ'–गुण–'पुगन्त०' 'ओ' = 'अय्' आदेश) = चोरयति। (३) ✓ चुर् + स्वार्थिक णिच् (= 'इ' + प्रेरणार्थक णिच् = 'इ', वृद्धि का बाध कर पूर्वविप्रतिषेध से णिलोप, 'उ' = 'ओ' गुण–'पुगन्त०')–चोरि (धातुसंज्ञा, लुङ् = तिप् = ति, अट्, इकारलोप–'इतश्च' च्लि, च्लि = चङ् = 'अ'–'णिश्रिद्रु०')–अ चोर् इ अ त् ('ओ' = 'उ' ह्रस्व–'णौ चङ्युपधाया०', णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि' द्वित्व–'चङि' अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, सन्वद्भाव–'सन्वल्लघुनि०' 'उ' = 'ऊ' दीर्घ–'दीर्घो लघोः') = अचूचुरत्। यहाँ शंका यह है कि द्वितीय णि (इ) के परे प्रथम णि के लोप को लेकर अग्लोपी होने से 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' से ह्रस्व का निषेध होने पर 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से ह्रस्व और 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' से सन्वद्भाव–दोनों की यहाँ प्रवृत्ति असम्भव है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं– 'ण्याकृतिनिर्देशात्'। 'चङ्परे णौ' में चङ् परक णित्व जाति का ग्रहण किया जाता है अर्थात् णि के सदृश है आकृति जिसकी; उसके परे रहते ह्रस्व और सन्वद्भाव का विधान किया जाता है। तदनुसार प्रकृत में ह्रस्व और दीर्घ की प्रवृत्ति होती है।

(८१६) **पद–**णौ, च, संश्चङोः। **अनुवृत्ति–** विभाषा, श्वेः, सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र।**

पूर्वरूपम्। अशूशवत्। अलघुत्वान्न दीर्घः। अशिश्वयत्। (८१७) स्तम्भुसिवुसहां चङि ८।३।११६ । उपसर्गनिमित्त एषां सस्य षो न स्याच्चङि। अवातस्तम्भत्। पर्यसीषिवत्।

वार्तिकबलात् 'णौ च संश्चङोः' इत्यनेन पूर्वं पाक्षिके सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपे 'णेरनिटि' इति णिलोपे च्लौ, च्लेः स्थाने चङि 'चङि' इति द्वित्वे 'अ शु शु अ त्' इति जाते, प्रत्ययलोपमाश्रित्य वृद्धौ आवादेशे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासस्य दीर्घे संयोगे कृते 'अशूशवत्' इति। सम्प्रसारणाभावपक्षे अलघुत्वान्न दीर्घः-'अशिश्वयत्' इति।

(८१७) **स्तम्भुसिवुसहामिति।** 'उपसर्गनिमित्तस्य प्रतिषेधः' इति वार्तिकम्। 'सहेः साडः सः' इत्यस्मात् स इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते 'न रपर०' इत्यतः नेति च। 'मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम्। तदाह-**उपसर्गनिमित्त इत्यादि।**

मूलार्थ– सन्परक और चङ्परक णि के परवर्ती रहने पर 'श्वि' धातु को विकल्प से सम्प्रसारण होता है। (सम्प्रसारण और सम्प्रसारणाश्रित कार्य बलवान् होता है।) अशूशवत् इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'विभाषा श्वेः' (६।१।३०) सूत्र तथा 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) से 'सम्प्रसारणम्' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः सन् परे हो अथवा चङ् परे हो जिससे, ऐसे णिच् (णि) के परवर्ती रहते भी टुओश्वि धातु को विकल्प से सम्प्रसारण होता है।

(वा०) ''सम्प्रसारणम्०''– सम्प्रसारण और सम्प्रसारण के आश्रित कार्य बलवान् होता है।

उदाहरण– ✓ श्वि + णिच् (= इ, धातुसंज्ञा, लुङ् = ल् = तिप् = ति, इकारलोप, अट्, 'सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्' इस वार्तिक के बल से वृद्धि का बाध कर 'व्' = 'उ' सम्प्रसारण- 'णौ च संश्चङोः', पूर्वरूप-'सम्प्रसारणाच्च' 'च्लि' = 'चङ्', णि = 'इ' का लोप-'णेरनिटि', द्वित्व- 'चङि')-अ शु शु अ त् (प्रत्ययलोप का आश्रयण कर 'उ' = 'औ'-'वृद्धि' 'औ' = 'आव्', ह्रस्व, सन्वद्भाव, 'उ' = 'ऊ'-दीर्घ - 'दीर्घो लघोः') = अशूशवत्। सम्प्रसारण के अभावपक्ष में- अ शिव शिव अ त्, (हलादिशेष, 'इ' = 'ऐ' वृद्धि, आय् आदेश, ह्रस्व-'णौ चङि०') = अशिश्वयत्।

(८१७) **पद–** स्तम्भुसिवुसहाम्, चङि। **अनुवृत्ति–** सः, न। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ– उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती स्तम्भु आदि धातु के सकार के स्थान में षकार नहीं होता, चङ् के परे रहते। अवातस्तम्भत्। पर्यसीषिवत् इत्यादि।

विमर्श– 'इण्कोः' और 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है। 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से 'सः' तथा 'न रपर०' (८।३।११०) से 'न' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''चङ् के परे रहते उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती स्तम्भु, षिवु तथा सह् धातु के सकार को मूर्धन्य (ष्) आदेश नहीं होता।''

उदाहरण– (१) अव + ✓ स्तम्भ् + णिच् (= 'इ' धातुसंज्ञा, लुङ् = ल् = तिप् = 'ति', 'इ' का लोप- 'इतश्च' च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', णि = 'इ' का लोप-'णेरनिटि', धातु को द्वित्व-'चङि', अट् = 'अ' आगम, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, अ + अ = 'आ'-दीर्घ) = अवातस्तम्भत्। यहाँ 'अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः' से प्राप्त षत्व का 'स्तम्भुसिवुसहां चङि' से निषेध। (२) परि + सिव् + णिच् (= 'इ', लुङ् = ल् = तिप् = ति, इकारलोप, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ' द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, अट्)-परि अ सि सिव् अ त् (सन्वद्भाव, दीर्घ-'दीर्घो लघोः', द्वितीय सकार को षत्व-

न्यसीषहत्। (८१८) **स्वापेश्चङि** ६।१।१८ । ण्यन्तस्य स्वापेश्चङि सम्प्रसारणं स्यात्। असूषुपत्। (८१९) **हनस्तोऽचिण्णलोः** ७।३।३२ । हन्तेस्तकारोऽन्तादेशः स्याच्चिण्णल्वर्जे ञिति णिति च परे। घातयति। (८२०) **अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां**

---

(८१८) **स्वापेश्चङीति।** 'ष्यङः सम्प्रसारणमि'त्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते। 'ण्यन्तस्य स्वापेः सम्प्रसारणं स्याच्चङि' इति सूत्रार्थः। **असूषुपदिति।** ण्यन्तात्स्वप्धातोर्लुङि तिपि 'इतश्चे'तीकारलोपे, च्लौ, च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे 'स्वापेश्चङि' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपे 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'चङि' इति द्वित्वे हलादिशेषे, अङ्गस्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'अ सु सु प् अ त्' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे, सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'असूषुपदि'ति रूपम्।

(८१९) **हनस्तोऽचिणिति।** स्पष्टम्। **घातयति–** हन्धातोर्णिचि धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इति हनस्तकारान्तादेशे 'हो हन्तेरि'ति कुत्वेन हस्य घत्वे 'अत उपधायाः' इत्यनेन दीर्घे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे च कृते 'घातयति' इति।

(८२०) **अर्तिह्रीव्लीरी इत्यादि।** अर्त्यादीनां षण्णामादन्तानां च पुक् स्याण्णौ।

'आदेशप्रत्यययोः', 'इ'='य्'-यण्) = पर्यसीषिवत्। यहाँ 'परिनिविभ्यः०' से प्राप्त षत्व का 'स्तम्भुसिवुसहां चङि' से निषेध होता है। (३) नि + षह् + णिच् (= 'इ', लुङ् = तिप् = ति, इकारलोप, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', अट्, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)–नि अस सह् अत् (सन्वद्भाव, ईत्व–'सन्यतः', दीर्घ–'दीर्घो लघोः' द्वितीय 'स्' = 'ष्'–'आदेश०') = न्यसीषहत्। यहाँ प्रथम सकार का 'परिनिविभ्यः' से प्राप्त षत्व का प्रकृत सूत्र से निषेध होता है।

(८१८) **पद–** स्वापेः, चङि। **अनुवृत्ति–** सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– चङ् परे रहते ण्यन्त स्वप् धातु को सम्प्रसारण होता है। असूषुपत्।

विमर्श– 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) से 'सम्प्रसारणम्' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''चङ् के परवर्ती रहते ण्यन्त स्वप् (स्वापि) धातु को सम्प्रसारण होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ स्वप् + णिच् (= 'इ' धातुसंज्ञा, लुङ् = तिप् = 'ति', इकारलोप– 'इतश्च', च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', 'व्' = 'उ'– सम्प्रसारण–'स्वापेश्चङि', 'अ' = 'उ' पूर्वरूप– 'सम्प्रसारणाच्च' णि = 'इ' का लोप– 'णेरनिटि' धातु को द्वित्व– 'चङि', हलादिशेष, अट् का आगम)– अ सु सु प् अ त् (षत्व–'आदेश०', सन्वद्भाव 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ–'दीर्घो लघोः') = असूषुपत्।

(८१९) **पद–** हनः, तः, अचिण्णलोः। **अनुवृत्ति–**ञ्णिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– चिण् तथा णल् वर्जित ञित्, णित् प्रत्यय के परवर्ती रहते हन् धातु को तकार अन्तादेश होता है। घातयति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'ञ्णिति' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– ''हन् धातु को तकार अन्तादेश होता है, चिण् और णल् से भिन्न ञित्, णित् प्रत्यय के परे रहते।''

उदाहरण– (१) ✓ हन् + णिच् (= 'इ', धातुसंज्ञा, लट् = ल् = तिप् = ति, शप् = 'अ')– हन् इ अ ति ('न्' = 'त्'–'हनस्तोऽचिण्णलोः', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्तेः०' 'अ' = 'आ'–वृद्धि–'अत उपधायाः')–घाति अ ति ('इ' = 'ए' गुण– 'सार्वधातु०', 'ए' = 'अय्') = घातयति।

(८२०) **पद–** अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्याताम्, पुक्, णौ। **विधिसूत्र।**

पुग्णौ ७।३।३६ । एषां पुक् स्याण्णौ। स्थापयति। (८२१) तिष्ठतेरित् ७।४।५ । तिष्ठतेरुपधाया इदादेशः स्याच्चङ्परे णौ। अतिष्ठिपत्। घ्रापयति। (८२२) जिघ्रतेर्वा

---

(८२१) **तिष्ठतेरित्।** 'णौ चङ्युपधायाः' इत्यनुवर्तते। अत आह- **तिष्ठतेरुपधाया इति। अतिष्ठिपत्**- स्थाधातोर्णिचि 'अर्ती'त्यादिना पुकि अनुबन्धलोपे, लुङि तिपि, तिप इकारलोपे, अटि, च्लौ, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति चङि अनुबन्धलोपे 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'शर्पूर्वाः खयः' इति सलोपेऽभ्यासह्रस्वे चर्त्वे, 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति उपधाह्रस्वे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे, इत्वे, 'तिष्ठतेरित्' इत्यनेन तिष्ठतेरुपधाया इत्वे षत्वे ष्टुत्वे च 'अतिष्ठिपत्' इति रूपम्।

(८२२) **जिघ्रतेर्वा।** घ्राधातोरुपधाया इद्वा स्याच्चङ्परे णावित्यर्थः।

मूलार्थ- 'णि' के परवर्ती रहने पर ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी और आदन्त धातुओं को 'पुक्' का आगम होता है। स्थापयति।

विमर्श- सूत्रार्थ स्पष्ट है।

उदाहरण- (१) ✓ ष्ठा (स्था) + णिच् (= 'इ' प्रेरणा अर्थ में-'हेतुमति च' पुक् = 'प्'- 'अर्तिह्रीव्लीरी०')-स्थापि (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'-गुण-'सार्वधातु०' 'ए' = 'अय्' आदेश) = स्थापयति।

(८२१) **पद**- तिष्ठतेः, इत्। **अनुवृत्ति**- णौ चङ्युपधायाः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- चङ्परक णि के परवर्ती रहते स्था धातु की उपधा को इत्व होता है। अतिष्ठिपत्।

विमर्श- यहाँ 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) से 'णौ चङ्युपधायाः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''ष्ठा (स्था) धातु की उपधा को चङ् परक णि के परे रहते (इत्) इकारादेश होता है।''

उदाहरण- (१) ✓ ष्ठा ('ष्' = 'स्'-'धात्वादेः षः सः', 'ठ्' = 'थ्'-ष्टुत्वाभाव-'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः')-स्था + णिच् (= 'इ', पुक् = 'प्'-'अर्तिह्रीव्लीरी०')-स्थापि (धातुसंज्ञा, लुङ् = ल् = तिप् = ति, अट् = 'अ', इकारलोप, च्लि, प्राप्त सिच् का बाध कर च्लि = चङ् = 'अ'- 'णिश्रिद्रु०')-अ स्थापि अ त् (धातु को द्वित्व-'चङि', अभ्याससंज्ञा, 'स्' का लोप-'शर्पूर्वाः खयः' ह्रस्व, 'थ्' = 'त्'-'अभ्यासे चर्च', सन्वद्भाव, 'अ' = 'इ'-'सन्यतः')-अ ति स्था पि अत् (उपधा ह्रस्व-'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' 'अ' = 'इ'-'तिष्ठतेरित्', णि' का लोप-'णेरनिटि', 'स्' = 'ष्' षत्व, 'थ्' = 'ठ्'-ष्टुत्व) = अतिष्ठिपत्। (२) ✓ घ्रा + णिच् (= 'इ', पुक् = 'प्' आगम-'अर्तिह्री०')-घ्रापि (धातुसंज्ञा + लट् = ल् = तिप् = ति, शप् = 'अ' 'इ' = 'ए'-गुण, अय् आदेश) = घ्रापयति।

(८२२) **पद**- जिघ्रतेः, वा। **अनुवृत्ति**- इत्, णौ चङ्युपधायाः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- चङ्परक णि के परवर्ती रहते घ्रा धातु की उपधा को विकल्प से इत्व होता है। अजिघ्रिपत्। अजिघ्रपत्।

विमर्श- सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) से 'णौ चङ्युपधायाः' की तथा 'तिष्ठतेरित्' (८२१) से 'इत्' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः '''घ्रा गन्धोपादाने' धातु की उपधा को चङ्परक णि के परे रहते विकल्प से इकारादेश होता है।''

उदाहरण- (१) ✓ घ्रा + णिच् (= 'इ', पुक् = 'प्'-'अर्तिह्रीव्लीरी०')-घ्रापि (धातुसंज्ञा, लुङ् = ल् = तिप् = 'ति', अट् = 'अ', इकारलोप-'इतश्च', च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', धातु को द्वित्व- 'चङि', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, उपधाह्रस्व-'णौ चङि' अभ्यास के 'आ' = 'अ' ह्रस्व-'ह्रस्वः',

७।४।६। जिघ्रतेरुपधाया इत्वं वा स्याच्चङ्परे णौ। अजिघ्रिपत्। अजिघ्रपत्। (८२३) शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् ७।३।३७। एषां युक् स्याण्णौ। शाययति। अशीशयत्। ह्वाययति। (८२४) ह्वः सम्प्रसारणम् ६।१।३२। सन्परे चङ्परे णौ ह्वः सम्प्रसारणं स्यात्। * काण्यादीनां वेति वक्तव्यम् *। काण्यादीनां चङ्परे णौ उपधाया ह्रस्वो वा स्यात्। ण्यन्ताः कणरणभणश्रणलुपहेठाः षड् भाष्ये उक्ताः। ह्वायिवाणिलोठिलोपयश्चत्वारोऽधिका न्यासे। चाणिलोढी अप्यन्यत्र। इत्थं काण्यादयो

---

(८२३) **शाच्छासेति।** पुकोऽपवादः। **शाययतीति।** 'शो तनूकरणे' इत्यस्माद्धातोः णिच्यनुबन्धलोपे 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यनेन आत्वे 'शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्' इत्यनेन युगागमेऽनुबन्धलोपे 'शायि' इत्यस्य धातुसंज्ञायां लटि, तिपि, शप्यनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन गुणेऽयादेशे संयोगे च कृते 'शाययति' इति।

(८२४) **ह्वः सम्प्रसारणमिति।** ह्व इति षष्ठी। 'णौ च संश्चङोरि'त्यनुवर्तते।

'घ्' = 'ग्'–'अभ्यासे चर्च', 'ग्' = 'ज्'–'कुहोश्चुः', सन्वद्भाव, 'अ' = 'इ' इत्व–'सन्यतः')– अ जि घ्र पि अ त् ('अ' = 'इ' विकल्प से–'जिघ्रतेर्वा', णि = 'इ' का लोप) = अजिघ्रिपत्। इत्व के अभाव पक्ष में–अजिघ्रपत्।

(८२३) **पद–** शाच्छासाह्वाव्यावेपाम्, युक्। **अनुवृत्ति–**णौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– णि के परवर्ती रहते शो, छो, षो, ह्वेञ्, व्येञ्, वेञ् और पा धातु को युक् = ('य्') का आगम होता है। शाययति। अशीशयत् इत्यादि।

विमर्श– यहाँ पूर्वसूत्र (८२०) से 'णौ' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार–''णि के परे रहते शो, छो आदि धातु को युक् (= य्) का आगम होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ शो + णिच् (= 'इ', 'ओ' = 'आ'–आत्व–'आदेच उपदेशेऽशिति', युक् = 'य्'–'शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्')–शायि (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'इ' = 'ए' गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश) = शाययति। (२) ✓ शो + णिच् (= इ, आत्व, युक् = 'य्'–'शाच्छासा०')–शायि (धातुसंज्ञा, लुङ् = तिप् = ति, अट् = 'अ' च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', द्वित्व–'चङि', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'आ' = 'अ'–ह्रस्व, उपधा के आ = 'अ'–ह्रस्व–'णौ चङ्युपधायाः')–अ श शय् इ अ ति (सन्वद्भाव, 'अ' = 'इ' –'सन्यतः', णि का लोप–'णेरनिटि', 'इ' का लोप–'इतश्च', अभ्यास की 'इ' = 'ई'–दीर्घ–'दीर्घो लघोः') = अशीशयत्। (३) ✓ ह्वेञ् = ह्वे + णिच् (= 'इ', आत्व, युक् = 'य्'–'शाच्छासा०')–ह्वायि (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, अय् आदेश) = ह्वाययति।

(८२४) **पद–** ह्वः, सम्प्रसारणम्। **अनुवृत्ति–** णौ च संश्चङोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सन्परक और चङ्परक णि के परे रहते ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'णौ च संश्चङोः' (६/१/३१) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। अतः सन्परक तथा चङ्परक णि के परे रहते ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण होता है।

(वा०) काणि आदि बारह धातुओं की उपधा को चङ्परक णि के परे रहते विकल्प से ह्रस्व होता है।

काणि आदि धातुओं का परिगणन इस प्रकार है– ण्यन्त, कण्, रण्, भण्, श्रण्, लुप् और हेठ्–

द्वादश। अजूहवत्। अजुहावत्। पाययति। (८२५) लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य ७।४।४। पिबतेरुपधाया लोपः स्यादभ्यासस्य ईदन्तादेशश्च चङ्परे णौ। अपीप्यत्। * पातेर्णौ लुग्वक्तव्यः *। पुकोऽपवादः। पालयति। (८२६) वो विधूनने जुक्

---

(८२५) **लोपः पिबतेरिति।** 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्यतः णौ चङीति अनुषज्यते। तदाह– **पिबतेरुपधाया इत्यादि। अपीप्यदिति।** पाधातोर्णिचि अनुबन्धलोपे 'शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्' इति युगागमेऽनुबन्धलोपे 'पायि' इत्यस्य धातुसंज्ञायां लुङि तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्चे'ति इकारलोपे च्लौ, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०' इति च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे अङ्गस्याडागमे 'अ पायि अ त्' इति जाते, 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'चङि' इत्यनेन द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्ये'त्यनेनाभ्यासस्य इदादेशे धातोश्चोपधालोपे 'अपीप्य् अ त्' इति जाते, संयोगे कृते अपीप्यदिति।

(८२६) **वो विधूनन इति।** 'अर्तिह्री०' इत्यतो णावित्यनुवर्तते। **वाजयति–** 'वा

ये छः धातुएँ भाष्य में पढ़ी गई हैं। उक्त छः के अतिरिक्त ह्वायि, वाणि, लोटि और लोपि (ण्यन्त) चार धातुओं का पाठ न्यास में मिलता है। चाणि और लोठि दो धातुएँ अन्यत्र पठित हैं। इस प्रकार काण्यादि १२ धातुएँ हैं।

उदाहरण– (१) ✓ ह्वे + णिच् (= इ, आत्व, युक् = 'य्'–'शाच्छासा०')–ह्वायि (धातुसंज्ञा, लुङ् = तिप् = ति, इकारलोप, अट्, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ')–अ ह्वा इ अ त् ('व्' = 'उ' सम्प्रसारण–'ह्वः सम्प्रसारणम्', पूर्वरूप–'सम्प्रसारणाच्च', 'हु' का द्वित्व–'चङि', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'उ' = 'औ'–वृद्धि, 'औ' = 'आव्' आदेश, उपधा को विकल्प से ह्रस्व–'काण्यादीनां वेति वक्तव्यम्' 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ) = अजूहवत्। ह्रस्व के अभावपक्ष में–अजुहावत्। (२) ✓ पा + णिच् (= इ, युक् = 'य्'–'शाच्छासा०')–पायि (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = अ, 'इ' = 'ए'–गुण 'ए' = 'अय्' आदेश) = पाययति।

(८२५) **पद–** लोपः, पिबतेः, ईत्, च, अभ्यासस्य। **अनुवृत्ति–**णौ चङि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– चङ्परक णि के परवर्ती रहते पा धातु की उपधा का लोप होता है और अभ्यास को ईकारान्त आदेश होता है। अपीप्यत्।

विमर्श– यहाँ 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) से 'णौ चङ्युपधायाः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– ''चङ्परक णि (इ) के परे रहते पा धातु की उपधा का लोप होता है और अभ्यास को 'ईत्' अन्तादेश होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ पा + णिच् (= 'इ', युक् = 'य्'–'शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्')–पायि (धातुसंज्ञा, लुङ् = तिप् = ति, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ'–'णिश्रिद्रु०', अट् = 'अ', णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि', धातु को द्वित्व–'चङि', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)–अ पा पाय् अ ति (अभ्यास के आ = ईत् = 'ई', उपधा 'आ' का लोप–'लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य')–अ पी प् य् अ ति ('इ' का लोप–'इतश्च') = अपीप्यत्।

(वा०) 'पा धातु को लुक् का आगम होता है, णि के परे रहते'।

उदाहरण– (१) ✓ पा + णिच् (= 'इ', पुक् का बाध कर लुक् = 'ल्'–'पातेर्णौ लुग्वक्तव्यः')–पालि (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, अय् आदेश) = पालयति।

(८२६) **पद–** वः, विधूनने, जुक्। **अनुवृत्ति–** णौ। **विधिसूत्र।**

७।३।३८ । वातेर्जुक् स्याण्णौ कम्पेऽर्थे। वाजयति। विधूनने किम्? केशान्वापयति। (८२७) सदेरगतौ तः ७।३।४२ । शदेर्णौ तोऽन्तादेशः स्यान्न तु गतौ। शातयति। गतौ तु– गाः शादयति गोविन्दः। गमयतीत्यर्थः। (८२८) रुहः पोऽन्यतरस्याम् ७।३।४३ । रुहः पकारोऽन्तादेशो वा स्याण्णौ। रोपयति। रोहयति। (८२९) दोषो णौ

गतिगन्धनयोरि'त्यस्माद्धातोर्णौ 'वो विधूनने जुक्' इति जुगागमेऽनुबन्धलोपे 'वाजि' इत्यस्य धातुत्वे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'वाजयति' इति रूपम्। केशान्वापयतीति। अत्र न जुक् विधूननाभावात्। यतो हि नात्र विधूननं = कम्पनम् अर्थः, किन्तु सुगन्धीकरणं छेदनं वार्थः।

(८२७) **सदेरगताविति**। अत्र णावित्यनुवर्तते। तदाह–**शदेर्णाविति**। **शातयति**– 'शद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इत्यस्माद्धातोः णिचि 'शदेरगतौ तः' इत्यनेन दस्य स्थाने तकारादेशे उपधादीर्घे 'शाति' इत्यस्य धातुसंज्ञायां लटि, तिपि, शपि अनुबन्धलोपे गुणेऽयादेशे 'शातयति' इति रूपम्।

(८२८) **रुह इति**। णावित्यनुवर्तते। **रोपयति**– रुह्धातोर्णिचि अनुबन्धलोपे 'रुहः

मूलार्थ– णि के परवर्ती रहते 'वा' धातु को विधूनन (कम्पन) अर्थ में जुक् (ज्) का आगम होता है। वाजयति इत्यादि।

विमर्श– 'अर्तिह्रीव्लीरी०' (८२०) सूत्र से 'णौ' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–"विधूनन (कम्पन) अर्थ में विद्यमान 'वा' धातु को णि के परे रहते जुक् (ज्) का आगम होता है।"

उदाहरण– ✓ वा + णिच् (= 'इ', जुक् = 'ज्'–'वो विधूनने जुक्')–वाजि (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ' 'इ' = 'ए'–गुण, अय् आदेश) = वाजयति।

प्रत्युदाहरण– सूत्र में विधूनन (कम्पन) पद का ग्रहण क्यों किया गया? उक्त पद का ग्रहण होने से कम्पन के अतिरिक्त अन्य अर्थ में जुक् का आगम नहीं होता। 'केशान्वापयति' (केशों को कटवाता है या सुगन्धित कराता है।) यहाँ कम्पन अर्थ न होने से जुक् नहीं हुआ।

(८२७) **पद**– सदेः, अगतौ, तः। **अनुवृत्ति**– णौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– णि के परवर्ती रहते गति से भिन्न अर्थ में शद्लृ (शद्) धातु को तकार अन्तादेश होता है। शातयति। गति अर्थ में– 'गाः शादयति गोविन्दः'।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अर्तिह्रीव्लीरी०' (८२०) सूत्र से 'णौ' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–'णि' के परवर्ती रहने पर अगति (गति अर्थ से भिन्न) अर्थ में वर्तमान शद् धातु को तकार अन्तादेश होता है।

उदाहरण– ✓ शद् + णिच् (= 'इ', 'द्' = 'त्'–'शदेरगतौ तः', 'अ' = 'आ'–उपधादीर्घ–'अत उपधायाः')–शाति, (धातुसंज्ञा, लट्, तिप् = ति, शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश) = शातयति। गति अर्थ में–शादयति।

(८२८) **पद**– रुहः, पः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**–णौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'णि' के परवर्ती रहने पर रुह् धातु को विकल्प से पकारान्त आदेश होता है। रोपयति, रोहयति।

विमर्श– पूर्ववत् 'णौ' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "णि के परे रहते रुह् धातु के हकार के स्थान में विकल्प से पकार आदेश होता है।"

६।४।९०। दुष्यतेरुपधाया ऊत्स्याण्णौ। दूषयति। (८३०) वा चित्तविरागे ६।४।९१। दुष्यतेरुपधाया ऊत्स्याद्वा णौ चित्तविरागे। विरागोऽप्रीतता। दुष वैकृत्ये। चित्तं दूषयति, दोषयति वा कामः। (८३१) उभौ साभ्यासस्य ८।४।२१। साभ्यासस्यानितेरुभौ नकारौ णत्वं प्राप्नुतो निमित्ते सति। प्राणिणत्। (८३२) णौ

पोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन हस्य पत्वे गुणे 'रोपि' इत्यस्य धातुत्वे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'रोपयति' इति।

(८२९) **दोषो णाविति।** दुष्धातोरुपधाया ऊदादेशः स्याण्णौ परत इति सूत्रार्थः।

(८३०) **वा चित्तविराग इति।** 'दोषो णावि'ति सूत्रमनुवर्तते। तदाह–**दुष्यतेरुपधाया इत्यादि।**

(८३१) **उभौ साभ्यासस्येति।** 'रषाभ्यां नो णः' इत्यधिकृतम्। अनितेरित्यनुवर्तते, 'उसर्गादसमासेऽपी'त्यतः उपसर्गादित्यनुवर्तते। तदाह–**साभ्यासस्येति।**

उदाहरण– ✓ रुह् + णिच् (= इ, 'ह्' = 'प्'–विकल्प से–'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' 'उ' = 'ओ'–गुण–'पुगन्त०' + लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश) = रोपयति। पकारान्त आदेश के अभाव पक्ष में–रोहयति।

(८२९) **पद–** दोषः, णौ। **अनुवृत्ति–** ऊत्, उपधायाः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– णि के परे रहते 'दुष्' धातु की उपधा को 'ऊत्' आदेश होता है। दूषयति।

विमर्श– यहाँ 'ऊदुपधाया गोहः' (६।४।८९) से 'ऊत्' और 'उपधायाः' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''णि के परवर्ती रहने पर दुष् धातु की उपधा को ऊत् (ऊ) आदेश होता है।''

उदाहरण– ✓ दुष् + णिच् = 'इ', 'उ' = 'ऊ'–'दोषो णौ' + लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्'–आदेश) = दूषयति।

(८३०) **पद–** वा, चित्तविरागे। **अनुवृत्ति–** दोषो णौ, ऊत्, उपधायाः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– णि के परे रहते चित्तविराग अर्थ में दुष् धातु की उपधा को विकल्प से ऊत्व होता है। विराग का अर्थ अप्रीति (विकार) है। 'चित्तं दूषयति दोषयति वा कामः' (काम चित्त को दूषित कराता है = विकार उत्पन्न कराता है)।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'ऊदुपधाया गोहः' (६।४।८९) से 'ऊदुपधायाः' तथा 'दोषो णौ' (८२९) की अनुवृत्ति आती है। अतः ''चित्त के विराग (अप्रीति, विकार) अर्थ में दुष् की उपधा को णि के परे रहते विकल्प से ऊकार आदेश होता है।''

उदाहरण– ✓ दुष् + णिच् (= 'इ', 'उ' = 'ऊ' विकल्प से चित्तविराग अर्थ में–'वा चित्तविरागे' + लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, अय् आदेश) = दूषयति। 'ऊत्' के अभाव पक्ष में–दोषयति।

(८३१) **पद–** उभौ साभ्यासस्य। **अनुवृत्ति–** अनितेः, उपसर्गात् रषाभ्यां नो णः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– उपसर्ग में स्थित निमित्त से परे अन् धातु के अभ्यास सहित दोनों नकारों को णत्व होता है। प्राणिणत्।

विमर्श– 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से 'रषाभ्यां नो णः', 'उपसर्गादसमासेऽपि' (८।४।१४) से 'उपसर्गात्' तथा 'अनितेरन्तः' (८।४।१९) से 'अनितेः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–

गमिरबोधने २।४।४६ । इणो गमिः स्याण्णावबोधने। गमयति। बोधने तु– प्रत्याययति। घट चेष्टायाम्। (ग०) घटादयो मितः जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च। एते मितः। (ग०) ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद्वा। अनुपसर्गादेषां मित्वं वा। ग्लास्नावनुवमां च। अनुपसर्गादेषां मित्वं वा। न कम्यमिचमाम्। अमन्तत्वात्प्राप्तं मित्वमेषां न। यमोऽपरिवेषणे। यच्छतेर्भोजनतोऽन्यत्र मित्वं न। स्खदिखपरिभ्यां च। स्खदिखपरिभ्यां परीभूतो मित् न।

(८३३) मितांह्रस्वः ६।४।९२ । घटादीनां ज्ञपादीनां च णावुपधाया ह्रस्वः। घटयति।

---

(८३२) **णौ गमिरिति।** अत्र 'इणो गा लुङि' इत्यतः इण इत्यनुवर्तते। अत आह–**इणो गमिरिति। गमयति–** इण् धातोर्णिचि अनुबन्धलोपे 'णौ गमिरबोधने' इति इणः गम्यादेशे, धातुसंज्ञायां लटि तिपि शप्यनुबन्धलोपे गुणेऽयादेशे संयोगे 'गमयति' इति।

घटादय इति। घटादिगणपठिता धातवो मित्संज्ञका भवन्ति। एतदाद्यानि सप्तगणसूत्राणि मूले पठितानि।

(८३३) **मितां ह्रस्व इति।** णावित्यनुवर्तते। तदाह–**ज्ञपादीनामिति। अजिज्ञपदिति।**

''उपसर्ग में स्थित निमित्त र् और ष् से परवर्ती अभ्यास सहित अन् धातु के दोनों नकारों को णकार आदेश होता है।''

उदाहरण– प्र + ✓ अन् + णिच् (= 'इ' + लुङ् = तिप् = ति, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ')– प्र अन् इ अ ति ('नि' को द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, 'णि' का लोप–'णेरनिटि', आट् = 'आ', आ + अ = 'आ'–वृद्धि, अ + आ = 'आ' दीर्घ, दोनों 'न्' = 'ण्'–'उभौ साभ्यासस्य', 'इ' का लोप– 'इतश्च') = प्राणिणत्।

(८३२) **पद–** णौ, गमिः, अबोधने। **अनुवृत्ति–** इणः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अवबोधन से भिन्न अर्थ में 'णि' के परवर्ती रहते 'इण्' धातु को 'गम्' आदेश होता है। गमयति। बोधन अर्थ में– प्रत्याययति। घट धातु चेष्टा अर्थ में है।

(ग०) **घटादय इति–** भ्वाद्यन्तर्गत घटादिगणपठित धातुएँ मित्संज्ञक हैं।

जनीजृष्०– जनी, जृष्, क्नसु, रञ्ज् धातुएँ और अमन्त धातुएँ मित्संज्ञक होती हैं।

(ग०) **ज्वलह्वल०–** उपसर्ग रहित ज्वल्, ह्वल्, ह्मल् धातुएँ विकल्प से मित्संज्ञक होती हैं।

ग्लास्ना०– अनुपसर्गक (उपसर्ग रहित) ग्ला, स्ना आदि धातुएँ विकल्प से मित हैं।

न कम्य०– अमन्त होने पर भी कम्, चम् धातुएँ मित् नहीं हैं।

यमो०– अपरिवेषण (परिवेषण से भिन्न) अर्थ में यम् धातु मित् नहीं है।

स्खदि०– अव और परि उपसर्ग से परे स्खद् धातु मित् नहीं है।

विमर्श– यहाँ 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) से 'इणः' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः ''णि के परवर्ती रहते इण् धातु को अवबोधन से भिन्न अर्थ में 'गम्' आदेश होता है।''

उदाहरण– ✓ इण् + णिच् (= 'इ' (प्रेरणा अर्थ में), 'इण्' = 'गम्'–'णौ गमिरबोधने', धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश) = गमयति। (२) बोधन अर्थ में–प्रति ✓ इण् + णिच् (= इ, 'इणो यण्' से परत्वात् यण् का बाध कर 'इ' = 'ऐ'– वृद्धि, ऐ = आय्)–प्रति आय् इ + लट् (= तिप् = 'ति', शप् = 'अ' 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्'– आदेश, इ = य्–'यण्') = प्रत्याययति।

(८३३) **पद–**मिताम्, ह्रस्वः। **अनुवृत्ति–**णौ उपधायाः। विधिसूत्र।

अजीघटत्। ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च। ज्ञपयति। अजिज्ञपत्। (८३४) रभेरशब्लिटोः ७।१।६३। रभेर्नुमचि, न तु शब्लिटोः। (८३५) लभेश्च ७।१।६४। लभेर्नुम् स्यादचि, न तु शब्लिटोः। अररम्भत्। अललम्भत्। ईर्ष्ययति। * ईर्ष्यतेस्तृतीयस्येति

ज्ञप्धातोर्णिचि उपधावृद्धौ 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वे धातुसंज्ञायां लुङि तिपि, तिप इकारलोपेऽटि च्लौ, च्लेश्चङि 'णेरनिटि' इत्यनेन णिलोपे 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये, सन्वद्भावे 'सन्यतः' इत्यभ्यासाकारस्येत्वे लघुत्वाभावाद्दीर्घाभावे 'अजिज्ञपत्' इति।

(८३४) **रभेरशब्लिटोरिति।** 'इदितो नुम्धातोः' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते, 'रधिजभोरची'त्यतः अचि इत्यनुवर्तते। अत आह– **रभेर्नुमचीति।**

(८३५) **लभेश्चेति।** नुम्, अचि चेत्यनुवर्तेते। पूर्वसूत्रादशब्लिटोरित्यनुवर्तते। तदाह–

मूलार्थ– णि के परवर्ती रहते ज्ञपादि और घटादि मित्संज्ञक धातुओं की उपधा को ह्रस्व होता है। घटयति। अजीघटत् इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'ऊदुपधाया गोहः' (६।४।८९) से 'उपधायाः' तथा 'दोषो णौ' (८२९) से 'णौ' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''ज्ञपादि और घटादि मित्संज्ञक धातुओं की उपधा को ह्रस्व होता है, णि के परे रहते।''

उदाहरण– (१) ✓ घट् + णिच् (= 'इ', उपधावृद्धि, 'आ' = 'अ'–ह्रस्व–'मितां ह्रस्वः')–ज्ञपि (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्') = घटयति। (२) ✓ घट् + णिच् (= 'इ', 'अ' = 'आ'–उपधावृद्धि–'अत उपधायाः', मित्व–'घटादयो मितः', 'आ' = 'अ'–ह्रस्व–'मितां ह्रस्वः')–घटि (धातुसंज्ञा, लुङ् = प्र० पु० ए० व०–तिप् = ति, अट् = 'अ' आगम, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ')–अ घटि अ ति (णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि', द्वित्व–'चङि', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'घ्' = 'झ्'–'कुहोश्चुः', 'झ्'–'ज्'–'अभ्यासे चर्च')–अ ज घट् अ ति (सन्वद्भाव, 'अ' = 'इ' इत्व–'सन्यतः', 'इ' = 'ई'–दीर्घ–'दीर्घो लघोः', इकारलोप–'इतश्च') = अजीघटत्। (३) ✓ ज्ञप् + णिच् (= 'इ', उपधावृद्धि, मित्व–'ज्ञप मिच्च', 'आ' = 'अ'–ह्रस्व–'मितां ह्रस्वः', धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ' 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश) = ज्ञपयति। (४) ✓ ज्ञप् + णिच् (= इ, उपधावृद्धि, मित्वात् 'आ' = 'अ'–ह्रस्व–'मितां ह्रस्वः')–ज्ञपि (धातुसंज्ञा, + लुङ् = तिप् = ति, अट् = 'अ', च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', णि = 'इ' का, लोप–'णेरनिटि' द्वित्व–'चङि', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)–अ ज ज्ञप् अ ति (सन्वद्भाव, 'अ' = 'इ'–'सन्यतः', 'ति' की 'इ' का लोप–'इतश्च') = 'अजिज्ञपत्'।

(८३४) **पद**–रभेः, अशब्लिटोः। **अनुवृत्ति**–अचि, नुम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– शप् और लिट् सम्बन्धी से भिन्न अजादि प्रत्यय के परवर्ती रहते रभ् धातु को नुम् का आगम होता है।

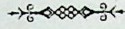
विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'इदितो नुम् धातोः' (७/१/५८) से 'नुम्' तथा 'रधिजभोरचि' (७/१/६१) से 'अचि' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''शप् और लिट् वर्जित अजादि प्रत्यय के परे रहते रभ् को नुम् (= न्) का आगम होता है।''

(८३५) **पद–** लभेः, च। **अनुवृत्ति–** अशब्लिटोः, अचि, नुम्। **विधिसूत्र।**

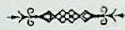
मूलार्थ– शप् और लिट् से भिन्न अजादि प्रत्यय के परे रहते लभ् धातु को भी नुम् का आगम होता है। अररम्भत्। अललम्भत्। ईर्ष्ययति इत्यादि।

वक्तव्यम्*। तृतीयव्यञ्जनस्य तृतीयैकाच इति वार्थः। आद्ये षकारस्य द्वित्वं वारयितुमिदम्। द्वितीये त्वजादेर्द्वितीयस्येत्यस्याऽपवादतया सन्नन्ते प्रवर्तते। ऐर्ष्यियत्। द्वितीयव्याख्यायां णिजन्ताच्चङि षकार एवाभ्यासे श्रूयते, हलादिःशेषात्। द्वित्वं तु द्वितीयस्यैव तृतीयभावेन प्रकृतवार्तिकाऽप्रवृत्तेः। ऐर्षिष्यत्।

इति ण्यन्तप्रकरणम् ।



लभेर्नुमिति। ऐर्ष्यियदिति– ईर्ष्यधातोर्णिचि अनुबन्धलोपे धातुत्वाल्लुङि तिपि 'इतश्चे'ति तिप इकारलोपे 'आडजादीनामि'त्यनेन आडागमेऽनुबन्धलोपे, च्लौ, च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे 'आ ईर्ष्य् इ अ त' इति जाते षकारविशिष्टस्य द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वे प्राप्ते 'ईर्ष्यतेस्तृतीयस्येति वाच्यम्' इति वार्तिकेन यकारविशिष्टेकारस्य द्वित्वे 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'आ ईर्ष्यि य् अ त्' इति जाते 'आटश्चे'ति वृद्धौ संयोगे 'ऐर्ष्यियत्' इति। यदा षकारविशिष्टस्य द्वित्वमिति पक्षः स्वीक्रियते, तदा–'आ ईर्ष्यि ष्यि अ त्' इति जाते हलादिशेषे यकारलोपे णेर्लोपे 'आटश्चे'ति वृद्धौ 'ऐर्षिष्यत्' इति रूपम्।



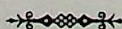
विमर्श– पूर्वसूत्र (८३४) से 'अशब्लिटोः' तथा पूर्ववत् 'अचि' और 'नुम्' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''शप् तथा लिट् से भिन्न अजादि प्रत्ययों के परवर्ती रहते लभ् धातु को भी नुम् (='न्') का आगम होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ रभ् + णिच् (='इ', नुम् = 'न्' आगम–'रभेरशब्लिटोः')–र न् भ् इ (न् = अनुस्वार–'नश्चापदान्तस्य झलि', = 'म्'– परसवर्ण–'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः')–रम्भि (धातुसंज्ञा, लुङ् = तिप् = ति, अट्, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि', द्वित्व–'चङि', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)– अ र रम्भ् अ ति ('इ' का लोप–'इतश्च') = अररम्भत्। (२) ✓ लभ् + णिच् (= 'इ', नुम् = 'न्'–'लभेश्च', अनुस्वार, परसवर्ण)–लम्भि (लुङ् = तिप् = ति, अट्, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ', णि' = 'इ' का लोप, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'इ' का लोप–'इतश्च') = अललम्भत्। (३) ✓ ईर्ष्य + णिच् (= 'इ'–ईर्ष्यि (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्') = ईर्ष्ययति।

(वा०) 'ईर्ष्ययति' के तृतीय व्यञ्जन या तृतीय एकाच् को द्वित्व होता है। षकारविशिष्ट के द्वित्व का निषेध करने के लिए यह वार्तिक है। द्वितीय अर्थ से इस वार्तिक की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि यहाँ तृतीय एकाच् का अभाव है, किन्तु 'अजादेर्द्वितीयस्य' का अपवाद होने से यह वार्तिक सन्नन्त में प्रवृत्त होता है।

उदाहरण– (१) ✓ ईर्ष्य + णिच् (= 'इ')–ईर्ष्यि (धातुसंज्ञा + लुङ् = तिप् = ति, आट् = 'आ'–'आडजादीनाम्', च्लि, च्लि = चङ् = 'अ')–आ ईर्ष्य इ अ ति (षकारविशिष्ट द्वितीय एकाच् के द्वित्व की प्राप्ति होने पर–'यि' का द्वित्व–'ईर्ष्यतेस्तृतीयस्येति वाच्यम्', णि = 'इ' का लोप, आ + इ = ऐ–वृद्धि–'आटश्च' इकारलोप) = ऐर्ष्यियत्। जब तृतीय का अभाव होने से प्रकृत वार्तिक की प्रवृत्ति नहीं होती तो षकारविशिष्ट का ही द्वित्व होता है। इस पक्ष में–आ ईर्ष्यि ष्यि अ त् ('य्' का लोप–'हलादिः शेषः', णि = 'इ' का लोप, आ + ई = 'ऐ'–वृद्धि–'आटश्च') = 'ऐर्षिष्यत्'।

ण्यन्त-प्रकरण समाप्त।



अथ सन्नन्तप्रकरणम्

(८३६) धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ३।१।७ । इषिकर्मणो धातोरिषिणैककर्तृकात्सन्वेच्छायाम्। धातोर्विधेरिह सन आर्द्धधातुकत्वम्। पठ व्यक्तायां वाचि। इट्। **(८३७) सन्यङोः ६।१।९ । सन्नन्तस्य यङन्तस्य च प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य।** 'सन्यतः'। पठितुमिच्छति पिपठिषति। कर्मणः किम्? गमनेनेच्छति इति करणान्मा भूत्। समानकर्तृकात् किम्? 'शिष्याः पठन्त्वि'तीच्छति गुरुः। 'वा'ग्रहणात्पक्षे वाक्यमपि—

हेतुमण्णिचो निरूपणानन्तरं सन्प्रक्रिया निरूप्यन्ते—

(८३६) **धातोः कर्मण इति।** अत्र 'गुप्तिज्किद्भ्यः' इत्यतः सन्नित्यनुवर्तते। इच्छायाः श्रुतत्वात्तां प्रत्येव कर्मत्वं विवक्षितम्। समानकर्तृत्वमपि इच्छानिरूपितमेव विवक्षितम्। तथा च इषिणैककर्तृत्वादिषिकर्मीभूतव्यापारवाचकाद् धातोरिच्छायां सन् वा स्यादित्यर्थः। तदाह— **इषिकर्मण इति। पिपठिषति।** पठ्धातोः 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' इति विकल्पेन सनि अनुबन्धलोपे आर्धधातुकसंज्ञायाम्, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीडागमेऽनुबन्धलोपे 'सन्यङोरि'ति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'प पठ् इ स' इति जाते 'सन्यतः' इत्यभ्यासस्येत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सकारस्य षत्वे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लटस्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे '**पिपठिषति**' इति रूपम्।

(८३७) **सन्यङोरिति।** 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' 'अजादेर्द्वितीयस्य' इत्यधिक्रियेते, अत आह— **सन्नन्तस्येति।**

शैषिकादिति। शेषाधिकारे विहितः शैषिकः। भवार्थे अध्यात्मादित्वात् ठञ्।

णिच्प्रत्ययान्त धातुओं की साधनिका निरूपित करने के बाद इच्छार्थक सन्प्रत्ययान्त धातुओं के रूपों की प्रक्रिया का निर्देश किया जा रहा है—

(८३६) **पद–** धातोः, कर्मणः, समानकर्तृकात्, इच्छायाम्, वा। **अनुवृत्ति–** सन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– इच्छा क्रिया के कर्मीभूत और इच्छा के साथ एक कर्ता वाले धातु से इच्छा अर्थ में विकल्प से सन् प्रत्यय होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३।१।५) से 'सन्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''इच्छा क्रिया के कर्म का अवयव जो धातु इच्छा क्रिया का समानकर्तृक (अर्थात् इच्छा का जो कर्ता हो वही उस धातुवाच्य क्रिया का हो) धातु से इच्छा अर्थ में विकल्प से सन् (= स) प्रत्यय होता है।''

✓ पठ् धातु का अर्थ– 'पढ़ना, स्पष्ट उच्चारण करना' है।

(८३७) **पद–** सन्यङोः। **अनुवृत्ति–** एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सन्नन्त और यङन्त धातुओं के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व होता है तथा अजादि धातुओं के द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व होता है। पठितुमिच्छति (पढ़ना चाहता है) पिपठिषति इत्यादि।

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः, सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥

तेन पिपठिषितुमिच्छतीति वाक्यमेव।'लुङ्सनोर्घस्लृ'।(८३८) सः स्यार्द्धधातुके

शैषिकात् = शेषाधिकारभवप्रत्ययान्तात्, शैषिकः सरूपः = समानरूपः प्रत्ययो न भवति। यथा-शालायां भवः 'शालीयः' इत्यत्र 'वृद्धाच्छः' इति शैषिकश्छः। ततश्च शालीये भव इत्यर्थे शालीय-शब्दात्पुनः शैषिकश्छो न भवति, तेन शालीये भव इति वाक्यमेव। विरूपस्तु भवत्येव। अहिच्छत्रे भवः 'आहिच्छत्रः' इत्यत्र भवार्थेऽण्। तदन्तादाहिच्छत्रे भव इति वाक्यार्थे वृद्धाच्छो भवति, आहिच्छत्रीयः। एवम् मतुबर्थीयात् सरूपो मतुबर्थकः प्रत्ययो न भवति। यथा-धनमस्यास्तीति 'धनवान्' इत्यत्र मतुप्। ततश्च धनवानस्यास्तीति मतुबन्तात्सरूपो मतुब् न। विरूपस्तु स्यादेव। यथा— दण्डोऽस्यास्तीति 'दण्डी'त्यत्र इनिप्रत्ययः। ततश्च दण्डिनः सन्त्यस्यां शालायामित्यर्थे 'दण्डिमती' इत्यत्र इन्नन्तान्मतुब् भवत्येव। एवं सन्नन्तात्सरूपः सन्नेष्यते। अतः पिपठिषितुमिच्छतीति वाक्यमेव। स्वार्थसन्नन्तादिच्छासन् तु विरूपत्वात्स्यादेव। यथा— जुगुप्सिषते, मीमांसिषते इति।

विमर्श– 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६।१।१) तथा 'अजादेर्द्वितीयस्य' (६।१।२) का अधिकार है। तदनुसार ''सन्नन्त और यङन्त धातु के प्रथम एकाच् को और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।''

पठितुमिति– 'पठितुमिच्छति' यह सन्नन्त प्रयोग का विग्रह = अर्थ है। जिस धातु से सन् प्रत्यय किया जाता है उसके तुमुन् प्रत्ययान्त रूप के साथ 'इच्छति' क्रिया जोड़ कर सन्प्रत्ययान्त रूप का अर्थ प्रकट किया जाता है।

उदाहरण– (१) ✓ पठ् + सन् (= स – 'धातोः कर्मणः ०') – पठ् स (आर्धधातुकसंज्ञा, इट् = 'इ' – 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः', धातु को द्वित्व-'सन्यङोः')– पठ् पठ् इ स (अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष-'ठ्' का लोप, 'अ' = 'इ'-'सन्यतः' 'स्'='ष्' षत्व-'आदेशप्रत्यययोः', धातुसंज्ञा-'सनाद्यन्ता धातवः', लट् = ल् = तिप् = ति, शप् = 'अ')-पिपठिष अ ति (अ + अ = 'अ'-पररूप-'अतो गुणे') = पिपठिषति। सन् प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होती है। सन्नन्त धातु के लिट् आदि लकारों में इस प्रकार के रूप बनते हैं— .

लिट्- पिपठिषाञ्चकार, पिपठिषाम्बभूव, पिपठिषामास। लुट्-पिपठिषिता। लृट्-पिपठिषिष्यति। लोट्-पिपठिषतु। लङ्-अपिपठिषत्। वि० लिङ्-पिपठिषेत्। आ० लिङ्-पिपठिष्यात्। लुङ्-अपिपठिषीत्। लृङ्-अपिपठिषिष्यत्।

कर्मण इति। सूत्र में ''इच्छा का कर्म जब धातु हो तब उससे सन् प्रत्यय होता है'' कहा गया है। अतः 'गमनेनेच्छति' (जाने के द्वारा चाहता है।) यहाँ गमन क्रिया का कर्म नहीं अपितु करण है। अतः सन् प्रत्यय नहीं होता।

समानकर्तृकादिति– सूत्र में 'समानकर्तृकात्' ग्रहण से इच्छा का कर्ता और सन्प्रत्यय के प्रकृतिभूत धातु का कर्ता समान (एक) होना चाहिए, अतः ''शिष्याः पठन्तु इतीच्छति गुरुः'' इस वाक्य में ✓ पठ् से सन् नहीं होगा। क्योंकि यहाँ पठ् क्रिया इच्छा का कर्म तो है, परन्तु इच्छा का कर्ता गुरु है और पठन का कर्ता-शिष्य। अतः समानकर्तृक (एक कर्ता) न होने से यहाँ 'सन्' नहीं होता।

७।४।४९। सस्य तः स्यात्सादावार्द्धधातुके। अत्तुमिच्छति जिघत्सति। 'ईर्ष्यतेस्तृतीय-स्ये'ति यिसनोर्द्वित्वम्। ईर्ष्यियिषति। 'एकाच' इति नेट्। (८३९) अज्झनगमां सनि

---

(८३८) **सः स्यार्धधातुक इति।** 'अच उपसर्गात्तः' इत्यस्मात्त इत्यनुवर्तते। तदाह- **'सस्ये'त्यादिना। जिघत्सति**- अत्तुमिच्छतीत्यर्थे अद्धातोः 'धातोः कर्मणः' इति सन्प्रत्यये 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इत्यदो घस्लादेशेऽनुबन्धलोपे आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति तन्निषेधे 'सन्यङोरि'ति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये 'जघस' इति जाते 'सः स्यार्द्धधातुके' इत्यनेन अभ्याससकारस्य तकारे 'सनाद्यन्ताः' इति धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते 'जिघत्सति' इति रूपम्।

(८३९) **अज्झनगमामिति।** अच्, हन्, गम् इत्येषां द्वन्द्वः। 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम्

वा ग्रहणादिति। सूत्र में वा ग्रहण से सन् प्रत्यय विकल्प से होता है। अतः पक्ष में वाक्य का भी प्रयोग होगा-'पठितुमिच्छति'।

शैषिकादिति- ''शैषिक प्रत्ययान्त से पुनः समानरूप शैषिक प्रत्यय नहीं होता और मत्वर्थिक मतुप् आदि प्रत्ययान्त से भी सरूप मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं होता तथा सन्नन्त से पुनः सरूप सन् प्रत्यय नहीं होता।''

सन्नन्त से पुनः समानरूप सन्प्रत्यय न होने से 'पिपठिषितुमिच्छति' वाक्य ही रहता है, सन् प्रत्यय नहीं होता।

(८३८) **पद-** सः, सि, आर्धधातुके। **अनुवृत्ति-** तः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- सकारादि आर्धधातुके के परे रहते सकार के स्थान में तकार आदेश होता है। जिघत्सति इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'अच उपसर्गात्तः' (७।४।४७) से आदेशवाचक पद 'तः' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''सकारादि आर्धधातुक के परवर्ती रहते सकार को तकार आदेश होता है।''

उदाहरण- (१) अत्तुमिच्छति (खाना चाहता है) ✓ अद् + सन् (= 'स'—'धातोः कर्मणः०', अद् = घस्लृ = 'घस्'-'लुङ्सनोर्घस्लृ', आर्धधातुक संज्ञा, 'आर्धधातुकस्येड्०' से प्राप्त इट् का 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से निषेध, धातु को द्वित्व-'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, इत्व)-जघस् स (अभ्यास के 'स'='त्'-'सः स्यार्द्धधातुके')-जिघत्स (धातुसंज्ञा, लट् = ल् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', अ + अ = 'अ' पररूप-'अतो गुणे') = जिघत्सति।

ईर्ष्यतेरिति। 'ईर्ष्यतेस्तृतीयस्य' वार्तिक के अनुसार 'तृतीय व्यञ्जन को द्वित्व होता है, पक्ष में-'य्' को द्वित्व होकर-ईर्ष्यियिषति। 'तृतीय एकाच् को द्वित्व होता है।' इस पक्ष में स को द्वित्व होकर-'ईर्ष्यिषिषति'।

(८३९) **पद-** अज्झनगमां सनि। **अनुवृत्ति-** दीर्घः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- अजन्त धातु, हन् और अजादेश गम् धातु को दीर्घ होता है, झलादि सन् के परे रहते।

विमर्श- 'अङ्गस्य' का अधिकार है। यहाँ अजादि धातु (इण्, इक्, इङ्) धातु के स्थान में आदेश गम् का ग्रहण होता है। 'ढ्रलोपे पूर्वस्य' से 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार ''अजन्त तथा हन् धातु और अजादि धातु के स्थान में आदेश 'गम्' को झलादि सन् के परे रहते दीर्घ होता है।

६।४।१६ । अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो, झलादौ सनि। (८४०) इको झल् १।२।९ । इगन्ताज्झलादिः सन् कित्स्यात्। कर्तुमिच्छति चिकीर्षति। जिघांसति। (८४१) सनि च २।४।४७ । इणो गमिः स्यात्सनि, न तु बोधने। जिगमिषति। बोधने तु

अचस्तद्विशेषणत्वात्तदन्तविधिः। गम्धातुरिह अजादेश एव विवक्षित इति प्रकृतसूत्रस्य भाष्ये स्पष्टम्। 'ढ्रलोपे पूर्वस्य' इत्यस्माद्दीर्घ इत्यनुवर्तते। तदाह—**अजन्तानामिति।**

(८४०) **इको झल्।** अत्र 'रुदविदमुष०' इत्यतः 'संः' इति, 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यतः कित् इति चानुवर्तेते। सना आक्षिप्तधातुविशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह-**इगन्तादित्यादिना। चिकीर्षति**- कर्तुमिच्छतीत्यर्थे कृधातोः 'धातोः कर्मणः' इत्यादिना सनि आर्धधातुकसंज्ञायाम्, इडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इतीण्निषेधे 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घे, गुणे प्राप्ते 'इको झल्' इति कित्त्वाद्गुणाभावे 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रपरे 'किर् स' इति जाते, द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'हलि चे'ति दीर्घे षत्वे च कृते 'चिकीर्ष' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते 'चिकीर्षति' इति।

(८४१) **सनि चेति।** 'णौ गमिरबोधने' इति सूत्रमत्रानुवर्तते, 'इणो गा लुङि' इत्यत इण इति च। तदाह-**इणो गमि इत्यादि।**

---

(८४०) **पद**–इकः, झल्। **अनुवृत्ति**–संः, कित्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ– इगन्त धातु से परवर्ती झलादि सन् कित् होता है।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च' (१।२।८) से 'संः' तथा 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''इक् अन्त वाले धातु से परवर्ती झलादि सन् किद्वत् होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ कृ + सन् (= 'स'–'धातोः कर्मणः०' आर्धधातुक संज्ञा, प्राप्त इट् का 'एकाच उपदेशे०' से निषेध, 'ऋ'='ॠ' दीर्घ–'अज्झनगमाम्०', 'इको झल्' से किद्वद्भाव होने से गुण का अभाव, 'ॠ'='इ'–'ऋत इद्धातोः', रपर)–किर् स (द्वित्व, अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, 'क्' = 'च्'–'कुहोश्चुः', 'इ'='ई'–दीर्घ–'हलि च', षत्व)–चिकीर्ष (धातुसंज्ञा, लट्=ल्=तिप्='ति', शप् = 'अ', अ + अ = 'अ'–पररूप) = चिकीर्षति। (२) 'हन्तुमिच्छति' विग्रह में ✓ हन् + सन् (= स, उपधादीर्घ–'अज्झनगमाम्०', धातु को द्वित्व–'सन्यडोः', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'ह्'='झ्'– 'कुहोश्चुः', 'झ्'='ज्'–'अभ्यासे चर्च', 'ह्' = 'घ्'–'अभ्यासाच्च', न् = ं अनुस्वार–'नश्चा०')–जिघांस (धातुसंज्ञा, लट्=ल्=तिप्=ति, शप्='अ', अ + अ = 'अ'–पररूप) = जिघांसति।

(८४१) **पद**– सनि, च। **अनुवृत्ति**– इणः, गमिः, अबोधने। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सन् के परे रहते इण् को 'गम्' आदेश होता है, किन्तु बोधन अर्थ में नहीं होता। जिगमिषति।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु इस सूत्र में 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) से 'इणः' तथा 'णौ गमिरबोधने' (२।४।४६) से 'गमिरबोधने' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार–''सन् प्रत्यय के परवर्ती रहते भी अबोधनार्थक इण् धातु को 'गम्' आदेश होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ इण् (इ) + सन् (= स, इ = गम्–'सनि च', धातु को द्वित्व–'सन्यडोः', अभ्यास संज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास के 'ग्' = 'ज्', 'अ' = 'इ'–'सन्यतः', इट् = 'इ' —

प्रतीषिषति। (८४२) इङश्च २।४।४८ । इणो गमिः स्यात्सनि। अधिजिगांसते। (८४३) रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च १।२।८ । एभ्यः संश्च, क्त्वा च कितौ स्तः। रुरुदिषति। विविदिषति। मुमुषिषति। (८४४) सनि ग्रहगुहोश्च ७।२।१२ ।

---

(८४२) **इङश्चेति**। 'णौ गमिः' इत्यतः 'गमिः' इति, 'सनि चे'त्यतः सनि इति चानुवर्तते। अत आह-**इङो गमिरिति**। **अधिजिगांसते**- अधिपूर्वकादिङ्धातोः 'धातोः कर्मणः' इति सनि 'इङश्चे'ति गमादेशे 'सन्यङोरि'ति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वेन गकारस्य जत्वे 'सन्यतः' इति इत्वे 'अधिजिगम् स' इति जाते 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अज्झन०' इति दीर्घे 'अधिजिगांस' इति धातुत्वाल्लटि 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदत्वेन तङि 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे, शपि पररूपे 'अधिजिगांसते' इति रूपम्।

(८४३) **रुदविदेति**। 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यतः किदित्यनुवर्तते। अत आह- **एभ्य इत्यादिना**।

'आर्धधातुकस्येड्वलादेः', षत्व)-जिगमिष (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', अ + अ = 'अ') = जिगमिषति।

बोधने तु- 'सनि च' सूत्र द्वारा बोधन अर्थ से भिन्न अर्थ में ही इण् को गम् आदेश होता है। अतः बोधन अर्थ में इण् को गम् नहीं होता। उदा०-प्रतीषिषति।

(८४२) **पद**- इङः, च। **अनुवृत्ति**- गमिः, सनि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'सन्' के परवर्ती रहते 'इङ्' धातु को भी 'गम्' आदेश होता है। अधिजिगांसते।

विमर्श- सूत्र में आदेशवाचक व निमित्तवाचक पदों का अभाव है। अतः 'णौ गमिरबोधने' (२।४।४६) से 'गमिः' तथा 'सनि च' (२।४।४७) से 'सनि' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार ''सन् प्रत्यय के परे रहते 'इङ्' धातु के स्थान में भी 'गम्' आदेश हो जाता है।''

उदाहरण- (१) अधि + ✓ इङ् (इ) + सन् (= स, 'इ' = 'गम्'-'इङश्च', द्वित्व-'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'ग्' = 'ज्', 'अ' = 'इ' इत्व-'सन्यतः')-अधिजिगम् स (म् = ं अनुस्वार-'नश्चा०', 'अ' = 'आ' दीर्घ-'अज्झनगमां०')-अधिजिगांस (धातुसंज्ञा-लट्, आत्मनेपदत्व-'पूर्ववत्सनः' ल् = त, 'अ' = 'ए'-एत्व-'टित आत्मनेपदानां टेरे', शप् = 'अ' पररूप) = अधिजिगांसते।

(८४३) **पद**- रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः, संः, च। **अनुवृत्ति**- क्त्वा, कित्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ- रुद् आदि धातुओं से परवर्ती सन् और क्त्वा कित् होते हैं। रुरुदिषति इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' तथा 'मृडमृदगुधकुष०' (१।२।७) से 'क्त्वा' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार- ''रुद्, विद्, मुष्, ग्रह्, स्वप् तथा प्रच्छ् धातुओं से परवर्ती सन् और क्त्वा प्रत्यय किद्वत् होते हैं।''

उदाहरण- (१) ✓ रुद् + सन् (= स, इट् = 'इ', द्वित्व-'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, षत्व)-रुरुदिष (धातुसंज्ञा, लट्=ल्=तिप्=ति, शप्='अ', पररूप) = रुरुदिषति। (२) इसी प्रकार 'वेदितुमिच्छति'- विविदिषति।

(३) मोषितुमिच्छति- मुमुषिषति। यहाँ प्राप्त लघूपध गुण का 'रुदविदमुष०' से सन् के किद्वद् होने से 'क्ङिति च' से निषेध हो जाता है।

ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण्न स्यात्। 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणम्। सनः षत्वस्यासिद्धत्वाद्भष्भावः। जिघृक्षति। (८४५) हलन्ताच्च १।२।१० । इक्समीपाद्धलः परो झलादिः सन्कित्।

---

(८४४) **सनिग्रहगुहोश्चेति।** 'श्र्युकः किति' इत्यस्मात् 'उकः' इत्यनुवर्तते। 'नेड् वशि कृति' इत्यतः नेडिति चानुवर्तते। तदाह–**ग्रहेरित्यादिना। जिघृक्षति**–ग्रह् धातोः सनि 'रुदविदमुष०' इत्यादिना सनः कित्त्वे 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणेन रेफस्य ऋत्वे 'ग्रह् स' इति जाते 'हो ढः' इत्यनेन हकारस्य ढकारे 'एकाचो बशो भष्०' इति भष्भावेन गकारस्य घकारे 'षढोः कः सि' इत्यनेन ढस्य ककारे, सस्य षत्वे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे, अभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'उरत्' इति चर्त्वेन गकारे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेन जकारे 'सन्यतः' इत्यनेनेत्वे 'जिघृक् ष' इति संयोगे जिघृक्ष इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां, लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे संयोगे कृते 'जिघृक्षति' इति सिद्धम्।

(८४५) **हलन्ताच्चेति।** हलिति लुप्तपञ्चमीकं पदम्। अन्तपदं समीपार्थकम्। 'इको झल्' इति सूत्रमत्रानुवर्तते, 'रुदविद०' इत्यतः सनिति, 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यतः किदिति च। अत आह– **इक्समीपादित्यादि। जुघुक्षति–** गूहितुमिच्छतीति विग्रहे गुहू धातोः सनि अनुबन्धलोपे

---

(८४४) **पद–** सनि, ग्रहगुहोः, च। **अनुवृत्ति–** उकः, नेट्। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ– ग्रह्, गुह् और उगन्त धातुओं से परवर्ती 'सन्' को 'इट्' नहीं होता। जिघृक्षति।

विमर्श– यहाँ पूर्वसूत्र 'श्र्युकः किति' (७।२।११) से 'उकः' तथा 'नेड् वशि कृति' (७।२।८) से 'नेट्' पदों की अनुवृत्ति आती है। अतः "ग्रह्, गुह् तथा उगन्त धातुओं के सन् के परवर्ती रहते इट् (इ) आगम नहीं होता।"

उदाहरण (१) 'ग्रहीतुमिच्छति' विग्रह में ✓ ग्रह् + सन् (= 'स', सन् को किद्वद्भाव-'रुदविदमुष०', 'र्' = 'ऋ'–सम्प्रसारण–'ग्रहिज्या०', 'ह्' = 'ढ्'–'हो ढः', 'ग्'='घ्'–भष्भाव-'एकाचो बशो भष्०', 'ढ्' = 'क्'–'षढोः कः सि', षत्व–'आदेशप्रत्यययोः')–घृक् ष (द्वित्व-'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास ऋ='अ'–'उरत्', रपर, हलादिशेष, 'घ्'='ग्'–चर्त्व, 'ग्'='ज्'–'कुहोश्चुः', 'अ'='इ' इत्व–'सन्यतः', क्+ष=क्ष)–जिघृक्ष (धातुसंज्ञा, लट्=ल्=तिप् = ति, शप् = 'अ', अ + अ = 'अ'–पररूप)= जिघृक्षति।

(८४५) **पद–** हलन्तात्, च। **अनुवृत्ति–** इको झल्, सन्, कित्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ– इक्-समीप हल् से परवर्ती झलादि सन् कित् होता है। जुघुक्षति इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'इको झल्' (१।२।९) सूत्र, 'रुदविदमुष' (१।२।८) से 'सन्' तथा 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' की अनुवृत्ति आती है। सूत्र में प्रयुक्त अन्त शब्द समीपार्थक है, अवयवार्थक नहीं। अतः "इक् के समीप जो हल्, उससे परवर्ती झलादि सन् कित्वत् होता है।

उदाहरण– (१) 'गूहितुमिच्छति' विग्रह में ऊदित ✓ गुहू + सन् (= 'स', प्राप्त गुण का 'हलन्ताच्च' से किद्वद्भाव होने से 'क्ङिति च' से निषेध, 'स्वरति०' से विकल्प से इट् प्राप्त, उसका 'सनि ग्रहगुहोश्च' से निषेध)–गुह् स ('ह्' = 'ढ्'–'हो ढः', 'ढ्' = 'क्'–'षढोः कः सि', 'स्' = 'ष्'–षत्व, 'ग्' = 'घ्'–भष्भाव–'एकाचो०', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)–घु घुक् ष ('घ्' = 'झ्'–'कुहोश्चुः', 'झ्' = 'ज्'–'अभ्यासे चर्च', धातुसंज्ञा, लट् = ल् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ')–जुघुक्ष अ ति (अ + अ = 'अ'–पररूप–'अतो गुणे') = जुघुक्षति। (२) ✓ स्वप् + सन् (= स,

गुहू संवरणे। जुघुक्षति। सुषुप्सति। (८४६) किरश्च पञ्चभ्यः ७।२।७५ । कृ गृ दृ धृङ् प्रच्छ एतेभ्यः सन इट्। पिपृच्छिषति। चिकरिषति। जिगरिषति। जिगलिषति। अत्रेटो दीर्घो नेष्टः। (८४७) पूर्ववत्सनः १।३।६२ । सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं

'हलन्ताच्चे'त्यनेन सनः कित्त्वेन गुणाऽभावे ऊदित्वात् 'स्वरतिसूतिसूयति०' इत्यादिना विकल्पेन इटि प्राप्ते 'सनि ग्रहगुहोश्चे'ति निषेधे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'षढोः कः सि' इति ढस्य ककारे षत्वे 'एकाचो०' इत्यनेन भष्भावेन गस्य घत्वे 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति घकारस्य झकारे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वेन जकारे 'जुघुक् ष' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'जुघुक्षति' इति।

(८४६) **किरश्चेति।** किर इति पञ्चमी। 'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' इत्यतः सनि इति 'इडत्त्यर्ति' इत्यतश्च इडित्यनुवर्तेते। तदाह– **कृ गृ इत्यादिना। पिपृच्छिषतीति।** प्रच्छ्धातोः सनि 'रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्चे'ति सनः कित्त्वात् 'ग्रहिज्या०' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'सन्यङोः' इत्यनेन द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासे 'उरत्' इत्यत्वे रपरे हलादिशेषे 'सन्यतः' इतीत्वे, लटि तिपि शपि पररूपे 'किरश्च पञ्चभ्यः' इति सन इडागमेऽनुबन्धलोपे षत्वे 'पिपृच्छिषती'ति रूपम्।

(८४७) **पूर्ववत्सन इति।** 'अनुदात्तङित' इत्यत आत्मनेपदमित्यनुवर्तते। पूर्वपदेनात्र धातुर्गृह्यते। अत आह–**सन इति।**

'रुदविद०' से कित्त्व होने पर 'व्' = 'उ' सम्प्रसारण–'वचिस्वपि०', पूर्वरूप, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, षत्व)–सुषुप्स (धातुसंज्ञा, लट् = ल् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = **सुषुप्सति।**

(८४६) **पद–** किरः, च, पञ्चभ्यः। **अनुवृत्ति–** सनि, इट्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कृ आदि पाँच धातुओं से परवर्ती सन् को इट् होता है। पिपृच्छिषति इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' (७।२।७४) से सनि तथा 'इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम्' (७।२।६६) से 'इट्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''कृ, गृ, दृङ्, धृङ् और प्रच्छ् से परवर्ती सन् को इट् होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ प्रच्छ् + सन् (= स, 'रुदविद०' से सन् के कित्वत् होने से 'र्' = 'ऋ' सम्प्रसारण–'ग्रहिज्या०', पूर्वरूप, द्वित्व–'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, 'ऋ'='अ'–'उरत्', रपर, हलादिशेष, 'अ' = 'इ'–इत्व–'सन्यतः', इट्='इ'–'किरश्च पञ्चभ्यः', धातुसंज्ञा, लट् = ल् = तिप् = 'ति', शप् 'अ', पररूप, षत्व) = पिपृच्छिषति। (२) ✓ कृ + सन् (= स, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष, 'क्' = 'च्')–चकृ स (इट् = 'इ' –'किरश्च पञ्चभ्यः', 'ॠ' = 'अ'–गुण–'सार्वधातु०', रपर, इत्व, षत्व)–चिकरिष (धातुसंज्ञा, लट् = ल् = तिप् = ति, शप् = 'अ', पररूप)= चिकरिषति। (३) ✓ 'गृ' से–जिगरिषति। यहाँ 'अचि विभाषा' से विकल्प से 'र्' = 'ल्' लत्व = जिगलिषति। यहाँ 'वृतो वा' से प्राप्त वैकल्पिक दीर्घ नहीं होता।

(८४७) **पद–** पूर्ववत्, सनः। **अनुवृत्ति–** आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सन् की प्रकृतिभूत धातु के तुल्य ही सन्नन्त से आत्मनेपद होता है। दिदरिषते इत्यादि।

विमर्श– 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''सन् प्रत्यय के आने से पूर्व जो धातु आत्मनेपदी रही हो, तो सन्नन्त से भी आत्मनेपद होता है।''

सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात्। दिदरिषते। दिधरिषते। बुभूषति। (८४८) **सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् ७।२।४९ ।** इवन्तेभ्य ऋधादिभ्यश्च सन इड् वा। इडभावे– 'हलन्ताच्चे'ति कित्त्वम्। (८४९) **च्छ्वोः शूडनुनासिके च ६।४।१९ ।** सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् श् ऊठ् एतावादेशौ स्तोऽनुनासिके, क्वौ, झलादौ क्ङिति च। यण्। द्वित्वम्। दुधूषति। दिदेविषति। (८५०) **स्तौतिण्योरेव**

---

(८४८) **सनीवन्तर्ध०।** इवन्त, ऋध, भ्रस्ज, दम्भु, श्रि, स्वृ, यु, ऊर्णु, भर, ज्ञपि, सन् एषां द्वन्द्वः। 'स्वरति' इत्यतः वेति, 'इण्निष्ठायाम्' इत्यत इडिति चानुवर्तते। तदाह– **इवन्तेभ्य इत्यादि।**

(८४९) **च्छ्वोः शूडेति।** चकारेण तुगागमोऽनुमीयत अत आह–**सतुक्कस्येति। दिदेविषति**– दिव्धातोः सनि 'सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम्' इत्यनेन विकल्पेन इटि 'सन्यडोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, हलादिशेषे 'सन्यतः' इतीत्वे 'पुगन्त०' इति गुणे, षत्वे लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे पररूपे 'दिदेविषति' इति। इडभावपक्षे तु 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इति वस्य ऊठि यणि 'द्यू स' इति जाते द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'दु द्यू स' इत्यवस्थायां षत्वे धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'दुद्यूषति' इति सिद्धम्।

उदाहरण– (१) ✓ दृङ् (ङित्) + सन् (= 'स', इट् = 'इ'–'किरश्च०', द्वित्व, अभ्यास-संज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष, 'अ' = 'इ' इत्व–'सन्यतः', गुण, रपर, षत्व)–दिदरिष (लट् 'पूर्ववत्सनः' से आत्मनेपद, ल् = त, शप् = 'अ', 'अ' = 'ए'–एत्व–टित आत्मनेपदानाम्०', पररूप) = दिदरिषते। (२) ✓ धृङ्–दिधरिषते। (३) ✓ भू + सन् = बुभूषति।

(८४८) **पद**– सनि, इवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम्। **अनुवृत्ति**–वा, इट्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– इवन्त और ऋधु आदि धातुओं से परवर्ती 'सन्' को विकल्प से 'इट्' होता है।

विमर्श– यहाँ 'स्वरतिसूति०' (७।२।४४) से 'वा' तथा 'इण्निष्ठायाम्' (७।२।४७) से 'इट्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''इवन्त धातुओं से तथा ऋधु वृद्धौ, भ्रस्ज पाके, दम्भु दम्भे, श्रिञ् सेवायाम्, स्वृ शब्दोपतापयोः, यु मिश्रणे, ऊर्णुञ् आच्छादने, भृञ् भरणे, ज्ञपि, सन् (षणु दाने तथा षण सम्भक्तौ) धातुओं से परवर्ती 'सन्' को विकल्प से इट् का आगम होता है।''

(८४९) **पद**– च्छ्वोः, शूठ्, अनुनासिके, च। **अनुवृत्ति**– क्विझलोः, क्ङिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– तुक् सहित छकार और वकार को क्रमशः 'श्' और 'ऊठ्' आदेश होते हैं, यदि अनुनासिक अथवा क्विप् या झलादि कित् ङित् परे हो तो। दुधूषति इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अनुनासिकस्य०'(६।४।१५) से 'क्विझलोः' तथा 'क्ङिति' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''तुक् (त्) सहित छकार को और वकार को क्रम से 'श्' और 'ऊठ्' आदेश अनुनासिक वा क्विप् अथवा झलादि कित् ङित् के परवर्ती रहते होते हैं।''

उदाहरण– (१) ✓ दिव् + सन् (= स, विकल्प से इट् = 'इ'–'सनीवन्तर्द्ध०', 'इ' = 'ए'–गुण–'पुगन्त०')–देव् इ स (द्वित्व–'सन्यडोः', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, ह्रस्व, षत्व)–दिदेविष (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', पररूप) = दिदेविषति। इट् के अभावपक्ष में–दिव् स (व् = ऊ–'च्छ्वोः शूडनुनासिके च', 'इ' = 'य्'–यण्)–द्यू स (द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, ह्रस्व, षत्व)–दु द्यू ष (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', अ + अ = 'अ'–पररूप) = दुद्यूषति।

षण्यभ्यासात् ८।३।६१ । अभ्यासेण: परस्य स्तौतिण्यन्तयोरेव सस्य ष:, षभूते सनि, नान्यस्य। तुष्टूसति। 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' इत्युत्वम्। सुष्वापयिषति। सिसाधयिषति। स्तौतिण्योः किम्? सुस्यूषति। सिसेविषति। **(८५१) आप्ज्ञप्यृधामीत् ७।४।५५ ।** एषामच ईत्स्यात्सादौ सनि। **(८५२) अत्र लोपोऽभ्यासस्य ७।४।५८ ।** 'सनि मीमे'-

---

(८५०) **स्तौतिण्योरेवेति।** 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्य:' इत्यधिकृतम् 'इण्को:' इति च।

(८५१) **आप्ज्ञप्यृधामिति।** 'सनि मीमाघुरभ' इत्यत: सनीति अच इति चानुवर्तते। 'स: स्यार्द्धधातुके' इत्यत: सीत्यनुवृत्तं पदं सनो विशेषणम्, तेन तदादिविधिस्तदाह-**एषामच इत्यादिना।**

(८५२) **अत्र लोप इति।** अत्रेत्यनेन पूर्वसूत्रचतुष्टयविहितकार्यं परामृश्यते। अयमर्थ:-

---

(८५०) **पद–** स्तौतिण्यो:, एव, षणि, अभ्यासात्। **अनुवृत्ति**–स:। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– षभूत 'सन्' के परवर्ती रहते अभ्यास सम्बन्धी इण् से परे स्तु धातु और ण्यन्त धातु के ही सकार को षत्व होता है, अन्य धातु के सकार को षत्व नहीं होता। तुष्टूसति इत्यादि।

विमर्श– 'इण्को:' (८।३।५७) तथा 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्य:' (८।३।५५) का अधिकार है। 'सहे: साड: स:' (८।३।५६) सूत्र से 'स:' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अत: ''अभ्यास के इण् से उत्तरवर्ती स्तु (ष्टुञ्) तथा ण्यन्त धातुओं के आदेश सकार को ही षत्वभूत सन् के परवर्ती रहते मूर्द्धन्य आदेश होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ स्तु + सन् (= 'स', 'स्' = 'ष्' षत्व–'स्तौतिण्यो:०', 'त्' = 'ट्'–ष्टुत्व, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ–'अज्झन०', षत्व)–तुष्टूष (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = तुष्टूषति। (२) ण्यन्त ✓ स्वप्–स्वाप् इ + सन् (= स, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, 'व्' = 'उ'–सम्प्रसारण–'द्युतिस्वाप्यो: सम्प्रसारणम्', इट् = 'इ', 'इ' = 'ए'–गुण, ए = 'अय्', 'स्' = 'ष्'–षत्व–'स्तौतिण्यो:०')–सुष्वापयिष (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = सुष्वापयिषति। (३) ण्यन्त ✓ साध् इ + सन् (= स, द्वित्व–'सन्यडो:', अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष, 'अ' = 'इ' इत्व–'सन्यत:', इट् = इ, 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश, षत्व– 'स्तौतिण्योरेव०')–सिसाधयिष (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = सिसाधयिषति।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में स्तु और ण्यन्त धातु का ग्रहण किया गया है, अत: 'सुस्यूषति' और 'सिसेविषति' सन्नन्त प्रयोगों में षत्व नहीं होता।

(८५१) **पद–** आप्ज्ञप्यृधाम्, ईत्। **अनुवृत्ति–** अच:, सनि, स:। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सकारादि सन् के परवर्ती रहते आप्, ज्ञप् और ऋध धातुओं के अच् को ईत्व होता है।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'सनि मीमाघुर०' (७।४।५४) से 'सनि' और 'अच:' तथा 'स: स्यार्धधातुके' (७।४।४९) से 'स:' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''सकारादि सन् प्रत्यय के परे रहते आप्, ज्ञप् तथा ऋध् धातुओं के अच् के स्थान में (ईत्) ईकार आदेश होता है।''

(८५२) **पद–** अत्र, लोप:, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– 'सनि मीमा०' सूत्र से लेकर जो चार (इस, ईत्व, इत्, गुण) कार्य कहे गये हैं, वहाँ (उन कार्यों के होने पर) अभ्यास का लोप होता है। आप्तुमिच्छति–ईप्सति इत्यादि।

त्यारभ्य यदुक्तं तत्राभ्यासस्य लोपः स्यात्। आप्सुमिच्छति ईप्सति। अर्द्धितुमिच्छति ईर्त्सति। अर्दिधिषति। बिभ्रज्जिषति। बिभर्जिषति। बिभ्रक्षति। बिभर्क्षति। (८५३) दम्भ इच्च ७।४।५६ । दम्भेरच इत्स्यात्, ईच्च सादौ सनि। 'हलन्तादि'त्यत्र हल्ग्रहणं जातिपरम्।

'सनि मीमे'ति सूत्रम्, 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इति सूत्रम्, 'दम्भ इच्च' इति सूत्रम्, 'मुचोऽकर्मकस्य' इति सूत्रञ्च यत्र प्रवर्तते तत्राऽभ्यासस्य लोपो भवति। **ईप्सति–** 'आप्सुमिच्छति' इति विग्रहे आप्लृधातोः सनि अनुबन्धलोपे 'सन्यडोः' इति द्वित्वात्पूर्वं 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीत्वे, द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'ई ईप् स' इति जाते 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'ति अभ्यासलोपे 'ईप्स' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे पररूपे संयोगे 'ईप्सति' इति।

(८५३) **दम्भ इच्च इति।** 'सनि सीमा' इत्यतः सनि अच इति चानुवर्तते। चकारात् 'आप्ज्ञप्यृधामि'त्यत ईदिति समुच्चीयते। 'सः सी'त्यतः सीत्यनुवृत्तं सनो विशेषणम्। तेन

विमर्श– सूत्रोक्त 'अत्र' पद 'सनिमीमा०' (७।४।५४ से लेकर 'मुचोऽकर्मकस्य (७।४।५७) तक सूत्रों द्वारा विहित चार कार्यों (इस, ईत्, इत् और गुण) का बोधक है। इस प्रकार "यहाँ सन् के परवर्ती रहते जो कार्य कहा है अर्थात् पूर्वोक्त चार सूत्रों द्वारा इस्, ईत् आदि का विधान किया गया है, उनके अभ्यास का लोप होता है।"

उदाहरण– (१) ✓ आप् + सन् (= स, 'सन्यडोः' से प्राप्त द्वित्व से पूर्व–'आ' = 'ई' ईत्व–'आप्ज्ञप्यृधामीत्', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)– ई ईप् स ('ई', अभ्यास का लोप–'अत्र लोपोऽभ्यासस्य')–ईप्स (धातुसंज्ञा, लट् = ल् = तिप् = ति, शप् = 'अ', अ + अ = 'अ'–पररूप) = ईप्सति।

(२) ✓ ऋध् + सन् (= स, इट् = 'इ'–विकल्प से–'सनीवन्तर्ध०', आर्धधातुकसंज्ञा, 'ऋ' = 'अ'–गुण–'पुगन्त०', रपर)–अर्धिस (धि का द्वित्व–'सन्यडोः', अभ्याससंज्ञा, 'ध्' = 'द्'–चर्त्व–'अभ्यासे चर्च')–अर् दि धि स (षत्व)–अर्दिधिष (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = अर्दिधिषति। **इट् के अभाव पक्ष में–** ऋध् स ('ऋ' = 'ई'–'आप्ज्ञप्यृधामीत्', रपर, 'ध्' = 'त्'–'खरि च')– ईर्त्स ('नन्द्राः संयोगादयः' से रेफ का द्वित्व-निषेध होने से 'त्स' का द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अभ्यास का लोप–'अत्र लोपः०')–ईर्त्स (धातुसंज्ञा, लट्=तिप्='ति', शप् = 'अ', अ + अ = 'अ' –पररूप–'अतो गुणे') = ईर्त्सति।

(३) ✓ भ्रस्ज् + सन् (= 'स', विकल्प से इट् = 'इ'–'सनीव०', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'भ्' = 'ब्'–'अभ्यासे चर्च', 'अ' = 'इ'–'सन्यतः', 'स्' = 'श्'–श्चुत्व, श् = 'ज्'–जश्त्व, षत्व)– बिभ्रज्ज् इ ष (धातुसंज्ञा, लट् = ल् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = बिभ्रज्जिषति। 'भ्रस्जो रोपधयोः०' से पाक्षिक रम् = 'र्' आगम होने पर– बिभर्जिषति। इट् तथा रमागम के अभाव पक्ष में–बिभ्रक्षति। रम् आगम पक्ष तथा इडभावपक्ष में– **बिभर्क्षति।**

(८५३) **पद–** दम्भः, इत्, च। **अनुवृत्ति–** ईत्, अचः, सनि, सः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सकारादि सन् के परवर्ती रहते 'दम्भ्' धातु के 'अच्' को इत्व होता है, पक्ष में ईत् भी होता है। "हलन्ताच्च" सूत्र में हल् ग्रहण जातिपरक है, अतः यहाँ भी सन् किद्वत् हो जाता है। फलतः 'न्' का लोप– धिप्सति, धीप्सति इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८५१) से 'ईत्', 'सनि मीमा०' (७।४।५४) से 'अचः' तथा 'सनि' और

तेन सनः कित्त्वान्नलोपः। धिप्सति। धीप्सति। दिदम्भिषति। शिश्रीषति। शिश्रयिषति। 'उदोष्ठ्ये'त्युत्वम्। सुस्वूर्षति। सिस्वरिषति। युयूषति। यियविषति। 'विभाषोर्णोः' इति ङित्।

तदादिविधिस्तदाह- **दम्भेरच इति। धिप्सति-** दम्भधातोः सनि 'सनीवन्तर्ध०' इत्यादिना विकल्पेन इटि 'सन्यङोः' इत्यनेन द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'सन्यतः' इत्यभ्यासाकारस्य इत्वे, षत्वे 'दिदम्भिष' इति जाते, धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे पररूपे 'दिदम्भिषति' इति।

'सः स्या०' (७।४।४९) से 'सः' की अनुवृत्ति आती है।

तदनुसार- ''सकारादि सन् प्रत्यय के परे रहते 'दम्भ्' के अच् के स्थान में 'इत्' (इकार आदेश) होता है। चकार से 'ईत्' (ईकार) आदेश भी होता है।''

उदाहरण- (१) ✓ दम्भ् + सन् (= स, विकल्प से इट् = 'इ'-'सनीवन्तर्ध०', द्वित्व-सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास 'अ' = 'इ'-इत्व-'सन्यतः', षत्व)-दिदम्भिष (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = दिदम्भिषति। **इट् के अभाव पक्ष में-** दम्भ् स ('अ' = 'इ' इत्-'दम्भ इच्च', 'हलन्ताच्च' से कित्त्व होने पर 'न्' का लोप, 'द्' = 'ध्'-'एकाचो बशो भष्०', 'भ्' = 'प्'-'खरि च')-धिप् स (द्वित्व, अभ्यासकार्य)-धि धिप् स ('धि' अभ्यास का लोप-'अत्र लोपोऽभ्यासस्य')-धिप्स (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = धिप्सति। ईत्व पक्ष में-धीप्सति।

(२) ✓ श्रिञ् (श्रि) + सन् (= स, विकल्प से इट् = 'इ'-'सनीव०', 'इ')- श्रि इ स (द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)- शि श्रि इ स ('इ' = 'ए'-गुण, ए = अय् आदेश, षत्व)- शिश्रयिष (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = शिश्रयिषति। इट् के अभाव पक्ष में- श्रि स (द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)- शिश्रि स ('इ' = 'ई'-दीर्घ-'अज्झन०', षत्व, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', अ + अ = 'अ'-पररूप) = शिश्रीषति।

(३) ✓ स्वृ + सन् (= 'स', विकल्प से इट्, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, 'ऋ' = 'अ'-'उरत्' रपर, हलादिशेष, 'अ' = 'इ'-'सन्यतः')- सि स्वृ इ स ('ऋ' = 'अ' गुण, रपर, षत्व, धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ' पररूप) = सिस्वरिषति। इट् के न होने पर पक्ष में स्वृ स, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, 'ऋ' = 'उ'-'उदोष्ठ्यपूर्वस्य', रपर, 'उ' = 'ऊ' दीर्घ- 'उपधायां च', लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = सुस्वूर्षति।

(४) ✓ यु + सन् (= 'स', विकल्प से इट् = 'इ'-'सनीव०', 'यु' का द्वित्व-'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा)- यु यु इ स ('उ' = 'ओ'-गुण, 'ओ' = 'अव्'-आदेश, अभ्यास के 'उ' = 'इ'-'ओः पुयण्ज्यपरे', षत्व)- यियविष (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = यियविषति। **इट् के न होने पर पक्ष में-** यु स ('उ' = 'ऊ'-दीर्घ-'अज्झन०', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, षत्व)-यु यूष (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = युयूषति।

(५) ✓ ऊर्णुञ् (ऊर्णु) + सन् (= **'स'**, विकल्प से इट् = 'इ'-'सनीव०', ङित्व-'विभाषोर्णोः', 'नु' का द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, उ = उवङ् = 'उव्', षत्व)- उर्णुनुविष (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ' पररूप)-ऊर्णुनुविषति। **ङिद्वद्भाव के अभाव पक्ष में-** गुण, अव् आदेश- उर्णुनविषति। **इट् के अभाव पक्ष में-** 'अज्झन०' से दीर्घ, 'इको झल्' से सन् के कित्वत् होने से गुण का निषेध-ऊर्णुनूषति।

(६) ✓ भृञ् (भृ) + सन् (= 'स', विकल्प से इट् = 'इ', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, 'ऋ' =

ऊर्णुनूषति। ऊर्णुनुविषति। ऊर्णुनविषति। बुभूर्षति। बिभरिषति। ज्ञीप्सति। जिज्ञपयिषति। सिषासति। सिसनिषति। * आशङ्कायां सन्वक्तव्यः *। श्वा मुमूर्षति। * तनिपतिदरिद्रातिभ्यः सनो वेड् वाच्यः *। **(८५४) तनोतेर्विभाषा ६।४।१७** । तनोतेरुपधाया दीर्घो

इडभावपक्षे- 'दम्भ स' इति स्थिते 'दम्भ इच्च' इत्यनेन इत्वे 'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वे 'अनुनासिकस्ये'त्यादिना मलोपे 'एकाचो बशो भष्' इति भष्भावेन दस्य धत्वे 'खरि चे'ति चर्त्वेन भस्य पत्वे द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'अत्र लोपः' इत्यभ्यासलोपे संयोगे 'धिप्स' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे पररूपे 'धिप्सति' इति। 'दम्भ इच्च' इति ईत्वपक्षे 'धीप्सति' इति।

आशङ्कायामिति। आशङ्काविषयक्रियावृत्तेर्धातोः स्वार्थे सन्नित्यर्थः।

(८५४) **'तनोतेर्विभाषे'ति।** 'नोपधायाः' इत्यतः 'उपधायाः' इति, 'ढ्रलोपे पूर्वस्ये'-त्यतः 'दीर्घः' इति चानुवर्तते। 'अनुनासिकस्ये' त्यतः झलीति 'अज्झन०' इत्यतश्च सनीत्यनुवर्तेते। तदाह-**तनोतेरुपधाया इति। तितांसतीति।** तनितुमिच्छतीति विग्रहे 'तनु विस्तारे' इत्यस्माद्धातोः

'अ'-'उरत्', रपर, हलादिशेष, 'भ्' = 'ब्'-'अभ्यासे चर्च', 'अ' = 'इ'- 'सन्यतः')- बि भृ इ स ('ऋ' = 'अ'-गुण, रपर, षत्व)-बिभरिष (धातुसंज्ञा, लट् = ल् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = बिभरिषति। **इट् के अभाव पक्ष में-** भृ स ('ऋ' = 'ॠ'-दीर्घ-'अज्झन०', 'ॠ' = 'उ'-'उदोष्ठ्यपूर्वस्य', रपर, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'उ' = 'ऊ'-दीर्घ, षत्व)- बुभूर्ष (लट् = ल् = तिप् = ति, शप् = 'अ', अ + अ = 'अ' पररूप) = बुभूर्षति।

(७) ✓ ज्ञपि + सन् (= स, विकल्प से इट् = 'इ', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'अ' = 'इ' इत्व- 'सन्यतः', 'इ' = 'ए'-गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश, षत्व)- जिज्ञपयिष (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ' पररूप) = जिज्ञपयिषति। इट् के न होने पर पक्ष में- ज्ञप् स (अ = 'ई' ईत्-'आप्ज्ञप्यृधामीत्', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अभ्यास का लोप-'अत्र लोपः')- ज्ञीप्स (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ' पररूप) = ज्ञीप्सति।

(८) ✓ सन् + सन् (= स, विकल्प से इट् = 'इ'-'सनीव', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'अ' = 'इ'-'सन्यतः', षत्व)- सिसनिष (लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ' पररूप) = सिसनिषति। इट् के अभावपक्ष में (आत्व-'जनसन०', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, 'अ' = इत्व-'इ' षत्व) सिषास (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ' पररूप) = सिषासति।

(वा०)- आशङ्का अर्थ में भी धातु से सन् प्रत्यय होता है, ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण- श्वा मुमूर्षति। ✓ मृङ् (मृ) + सन् (= 'स'- 'आशङ्कायां सन्वक्तव्यः', 'ऋ' = ऊठ् = 'ऊ', रपर, द्वित्व, अभ्यासंज्ञा, हलादिशेष, ह्रस्व, षत्व)- मुमूर्ष (धातुसंज्ञा, लट् = ल् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = मुमूर्षति।

(वा०)- तन्, पत् और दरिद्रा धातु से परवर्ती सन् को विकल्प से इट् = 'इ' होता है।

(८५४) **पद-** तनोतेः, विभाषा। **अनुवृत्ति-** सनि, झलि, उपधायाः, दीर्घः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- झलादि सन् के परवर्ती रहते तन् धातु की उपधा को विकल्प से दीर्घ होता है। तितांसति। तितंसति। तितनिषति। कूलं पिपतिषति।

विमर्श- सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'अज्झनगमां सनि' (६।४।१६) से 'सनि', 'अनुनासिकस्य०'

वा स्याज्झलादौ सनि। तितांसति। तितंसति। तितनिषति। कूलं पिपतिषति। (८५५) **सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् ७।४।५४** । एषामच इस् स्यात् सादौ सनि। अभ्यासलोपः। सलोपः। पित्सति। दिदरिद्रिषति। दिदरिद्रासति। (८५६) **मुचोऽकर्मकस्य**

'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' इत्यनेन सनि अनुबन्धलोपे 'तनिपतिदरिद्रातिभ्यः सनो वा इड् वाच्यः' इति वैकल्पिके इटि 'सन्यडोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, हलादिशेषे 'त तन् इ स्' इति जाते 'सन्यतः' इत्यनेन अभ्यासाकारस्येत्वे, षत्वे 'तितनिष्' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लटि तिपि शप्यनुबन्धलोपे पररूपे 'तितनिषति' इति रूपम्। **इडभावपक्षे**–'तनोतेर्विभाषा' इत्युपधादीर्घे, द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'सन्यतः' इत्यनेन इत्वे 'तितान् स' इति जाते, नस्यानुस्वारे लटि तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि शपि पररूपे 'तितांसति' इति। **दीर्घाभावे इडभावे च** 'तितंसती'ति तृतीयं रूपम्।

(८५५) **सनि मीमेति**। अत्र 'सः स्यार्द्धधातुके' इत्यतः 'सि' इत्यनुवर्तते। अत आह– **एषामच इत्यादिना। पित्सतीति**। पत् धातोः सनि 'तनिपतिदरिद्रातिभ्यः०' इति वेटि द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'सन्यतः' इतीत्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे च कृते 'पिपतिषति' इति। इडभावपक्षे तु– 'सनि मीमे'त्यनेन अचः स्थाने इसादेशे द्वित्वे 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'ति अभ्यासलोपे 'स्कोरि'ति सलोपे 'पित्स' इति जाते लटि तिपि शपि पररूपे 'पित्सति' इति रूपम्।

(६।४।१५) से 'झलि', 'नोपधायाः' (६।४।६) सूत्र से 'उपधायाः' तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।११०) से 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार–''झलादि सन् के परवर्ती रहते तन् धातु के अङ्ग की उपधा को विकल्प से दीर्घ होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ तन् + सन् (= 'स', इट् = 'इ' विकल्प से–'तनिपतिदरिद्रातिभ्यः०')– तन् इ स (द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'अ' = 'इ'–इत्व–'सन्यतः', षत्व)– तितनिष् (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', अ + अ = 'अ'–पररूप) = तितनिषति। इट् के अभाव पक्ष में (उपधादीर्घ विकल्प से, न् = ं अनुस्वार, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', पररूप) = तितांसति। दीर्घ और इट् के अभाव पक्ष में–'तितंसति'।

(८५५) **पद**– सनि, मीमाघुरभलभशकपतपदाम्, अचः, इस्। **अनुवृत्ति**–सि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– सकारादि 'सन्' के परवर्ती रहते मी आदि धातुओं के अच् के स्थान में 'इस्' (=इ) आदेश होता है। पित्सति। दिदरिद्रिषति। दिदरिद्रासति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'सः स्यार्द्धधातुके' (७।४।४९) सूत्र से 'सि' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः ''सकारादि सन् प्रत्यय के परे रहते मी, मा तथा घुसंज्ञक एवं रभ, लभ, शक्, पत् और पद के 'अच्' के स्थान में 'इस्' (='इ') आदेश होता है।

उदाहरण– (१) ✓ पत् + सन् (= **स**, विकल्प से इट् = 'इ'–'तनिपति०', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'अ' = 'इ'–'सन्यतः', षत्व)–पिपतिष (लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', पररूप) = पिपतिषति। **इट् के अभाव पक्ष में**– पत् स ('अ' = 'इ'–'सनि मीमा०', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अभ्यास का लोप–'अत्र लोपः०', 'स्' का लोप–'स्कोः०')–पित्स (लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', अ + अ = 'अ') = पित्सति। (२) ✓ दरिद्रा + सन् (=स, विकल्प से इट् = 'इ'–'तनिपति०', 'आ'

गुणो वा ७।४।५७ । मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा स्यात्सादौ सनि। अभ्यासलोपः। मोक्षते मुमुक्षते वा वत्सः स्वयमेव। अकर्मस्य किम्? मुमुक्षति वत्सं कृष्णः। **(८५७) इट् सनि वा ७।२।४१ ।** वृङ्वृञ्भ्यामृदन्ताच्च सन इड् वा। विवरिषते। विवरीषते। वुवूर्षते।

---

(८५६) **मुचोऽकर्मकस्ये'ति।** 'सः स्यार्द्धधातुके' इत्यतः सि इति 'सनि मीमे'त्यतः सनीति चानुवर्तते। तदाह–**मुचोऽकर्मकस्येति। मोक्षत इति।** मुच्लृधातोः सनि 'मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा' इति विकल्पेन गुणे द्वित्वे 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'ति अभ्यासलोपे 'चोः कुः' इति कुत्वेन चकारस्य ककारे, सस्य षत्वे संयोगेन क्षत्वे लटि 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदे तङि टेरेत्वे, शपि पररूपे च कृते 'मोक्षते' इति रूपम्। गुणाभावपक्षे तु अभ्यासलोपाभावे 'मुमुक्षते' इति। सूत्रेऽकर्मकस्येत्युक्ते कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायामयं विकल्पोऽन्यत्र तु 'मुमुक्षति वत्सं कृष्णः'।

(८५७) **इट् सनीति।** 'वृतो वे'त्यतः 'वृतः' इत्यनुवर्तते। तदाह– **वृङ्वृञ्भ्यामिति। विवरिषते–** वृङ्धातोः सनि 'इट् सनि वे'ति वैभाषिके इटि गुणे रपरत्वे द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'सन्यतः' इतीत्वे षत्वे तङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'विवरिषते' इति। 'वृतो वा' इति दीर्घपक्षे– 'विवरीषते' इति रूपम्। इडागमाभावपक्षे– 'उदोष्ठ्यपूर्वस्ये'ति उत्वे 'हलि चे'ति दीर्घे द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे हलादिशेषे षत्वे लटि तङि शपि टेरेत्वे पररूपत्वे 'वुवूर्षते' इति। परस्मैपदे तु विवरिषति, विवरीषति, वुवूर्षति इति।

का लोप–'आतो लोप इटि च', द्वित्व, 'अ' = 'इ'–'सन्यतः', षत्व)–दिदरिद्रिष (लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ' पररूप) = दिदरिद्रिषति। **इडागम के अभाव पक्ष में–** दिदरिद्रासति।

(८५६) **पद–** मुचः, अकर्मकस्य, गुणः, वा। **अनुवृत्ति–** सनि, सः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सकारादि सन् के परवर्ती रहते अकर्मक मुच् धातु को विकल्प से गुण होता है। मोक्षते, मुमुक्षते वा वत्सः स्वयमेव।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८५५) से 'सनि' तथा 'सः स्यार्द्धधातुके' (७।४।४९) से 'सि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''सकारादि सन् प्रत्यय के परे रहते अकर्मक मुच्लृ धातु को विकल्प से गुण होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ मुच् + सन् (=स, 'उ' = 'ओ'–गुण विकल्प से–'मुचोऽकर्मकस्य०', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अभ्यास का लोप–'अत्र लोपः०', 'च्' = 'क्'– 'चोः कुः', षत्व, क् + ष् = क्ष्)– मोक्ष (लट् = आत्मनेपद त, शप् = 'अ', एत्व) = मोक्षते। गुण के अभावपक्ष में अभ्यासलोप भी नहीं होता– मुमुक्षते।

प्रत्युदाहरण– सूत्र में 'अकर्मकस्य' पद का ग्रहण होने से अकर्मक ✓ मुच् को ही गुण होता है। 'मुमुक्षति वत्सं कृष्णः' वाक्यघटक सकर्मक 'मुमुक्षति' में गुण नहीं होता।

(८५७) **पद–** इट्, सनि, वा। **अनुवृत्ति–** वृतः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– वृङ्, वृञ् और ॠदन्त धातुओं से परवर्ती सन् को विकल्प से इट् होता है। विवरिषते। विवरीषते। वुवूर्षते इत्यादि।

विमर्श– 'वृतो वा' (७।२।३८) से 'वृतः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''वृ तथा ॠकारान्त धातु से परे सन् को विकल्प से इट् (इ) का आगम होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ वृञ् + सन् (= 'स', विकल्प से इट् = 'इ', 'ऋ' = 'अ'–'गुण',

विवरिषति। तितरिषति। तितरीषति। तितीर्षति। **(८५८) स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि ७।२।७४ ।** स्मिङ्-पूङ्-ऋ-अञ्जु-अश्-एभ्यः सन इट्। सिस्मयिषते। पिपविषते। अरिरिषति। अञ्जिजिषति। अशिशिषति। गुप गोपने। तिज निशाने। कित निवासे रोगापनयने च। मान पूजायाम्। बध बन्धने। दान खण्डने। शान तेजने। **(८५९) गुप्तिज्किद्भ्यः सन् ३।१।५ । (८६०) मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य**

---

(८५८) **स्मिपूङिति।** 'इडत्यर्तिव्ययतीनामि'त्यतः इडित्यनुवर्तते। अत आह-'**स्मिपूङि**'-त्यादिना। **सिस्मयिषते**- स्मिङ्धातोः सनि 'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' इति इटि, गुणेऽयादेशे द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'सन्यतः' इतीत्वे षत्वे लटि तङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'सिस्मयिषते' इति।

(८५९) **गुप्तिज्किद्भ्यः सन्।** स्पष्टम्।

(८६०) **मान्बधेति।** 'गुप्तिज्०' इत्यतः सनिति अनुकृष्यते। मान्बधदान्शान्भ्यो धातुभ्यः

रपर, हलादिशेष, 'अ' = 'इ'-'सन्यतः' षत्व, विकल्प से दीर्घ)-विवरिष + लट् (= आत्मनेपद 'त', शप् = 'अ', टि' को एत्व, पररूप) = विवरिषते। 'वृतो वा' से दीर्घ के अभाव पक्ष में- विवरिषते। परस्मैपद पक्ष में- विवरीषति। विवरिषति। इडागम के अभाव पक्ष में- वृ स ('ऋ' = 'उ'-'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' रपर, 'उ' = 'ऊ'-दीर्घ-'हलि च' द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, हलादिशेष, षत्व)-वुवूर्ष + लट् (= 'त', शप् = 'अ', टि को एत्व, पररूप) = वुवूर्षते। परस्मैपद पक्ष में- वुवूर्षति।

(२) ✓ तृ + सन् (= स, विकल्प से 'इट्'-'इट्'-'इट् सनि वा', गुण, रपर, द्वित्व, हलादिशेष, इत्व, विकल्प से दीर्घ-'इ' = 'ई'-'वृतो वा')- तितरीष (लट् = तिप् = 'ति', 'शप्' = 'अ', पररूप) = तितरीषति। दीर्घ के अभावपक्ष में-तितरिषति। इडागम के अभाव पक्ष में- तृ + स ('ऋ' = 'इ'-'ॠत इद्धातोः', रपर, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हल् का लोप, दीर्घ)-तितीर्ष (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = तितीर्षति।

(८५८) **पद**- स्मिपूङ्रञ्ज्वशाम्, सनि। **अनुवृत्ति**- इट्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- स्मिङ् आदि धातुओं से परवर्ती 'सन्' को इट् (= इ) का आगम होता है। सिस्मयिषते इत्यादि।

विमर्श- यहाँ 'इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम्' (७।२।६६) से 'इट्' की अनुवृत्ति आती है। अतः "स्मिङ्, पूङ्, ऋ, अञ्जू और अशू धातुओं के सन् को इट् (इ) का आगम होता है।"

उदाहरण- (१) ✓ स्मिङ् + सन् (= स, इट्-'स्मिपूङ्०', 'इ' = 'ए'-गुण, 'ए' = 'अय्', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'अ' = 'इ' इत्व, षत्व)- सिस्मयिष (लट् = आत्मनेपद-'पूर्ववत्सनः'-'त', शप् = 'अ' एत्व, पररूप) = सिस्मयिषते। (२) ✓ पू + सन् (= स, इट्-'स्मिपूङ्०' गुण, अव् आदेश, द्वित्व, हलादिशेष, इत्व)-पिपविष (लट् = 'त', शप् = अ, एत्व, पररूप पिपविषते। (३) ✓ ऋ + सन् (= स, इट् = 'इ'-'स्मिपूङ्' ऋ = 'अ'-गुण, रपर, 'रि' को द्वित्व, षत्व)-अरिरिष (लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ' पररूप) = अरिरिषति। (४) ✓ अञ्ज् + सन् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = अञ्जिजिषति। (५) ✓ अश् + सन् = अशिशिषति।

(८५९) **पद**- गुप्तिज्किद्भ्यः, सन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- गुप्, तिज् और कित् धातुओं से सन् प्रत्यय होता है।

(८६०) **पद**- मान्बधदान्शान्भ्यः, दीर्घः, च, अभ्यासस्य। **अनुवृत्ति**-सन्। **विधिसूत्र।**

३।१।६ । सूत्रद्वयोक्तेभ्यः सन् स्यात् मानादीनामभ्यासस्येकारस्य दीर्घश्च। गुपेर्निन्दायाम्। तिजेः क्षमायाम्। कितेर्व्याधिप्रतीकारे, निग्रहे, अपनयने, नाशने संशये च। मानेर्जिज्ञासायाम्। बधेश्चित्तविकारे। दानेरार्जवे। शानेर्निशाने। गुपिप्रभृतयः किद्भिन्ना निन्दाद्यर्थका एवानुदात्तेतो, दानशानौ तु स्वरितेतौ। एष्वर्थेषु एते नित्यसन्नन्ताः। अर्थान्तरे त्वननुबन्धकाश्चुरादयः। अनुबन्धस्य केवलेऽचरितार्थत्वात् सन्नन्तात् पदव्यवस्था।

सन् स्यात्सनि चाभ्यासस्य दीर्घः स्यादित्यर्थः। **अनुबन्धस्येति**। केवले ह्यचरितार्थं लिङ्गं समुदायोपकारकं भवतीति न्यायात् सन्नन्तेभ्यः तत्तदनुबन्धानुसारं पदव्यवस्था आत्मनेपदं परस्मैपदं वेति। **जुगुप्सते–** गुप्धातोर्निन्दायां 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इत्यनेन सनि 'हलन्ताच्च' इति कित्त्वाद्गुणाभावे द्वित्वेऽभ्यासकार्ये च 'गुगुप् स' इति जाते 'कुहोश्चुः' इति गस्य जत्वे धातुसंज्ञायां 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदे लटि तप्रत्यये शपि टेरेत्वे पररूपे च कृते 'जुगुप्सते'

मूलार्थ– मान्, बध, दान् और शान् धातुओं से सन् प्रत्यय होता है और अभ्यास के इकार को दीर्घ होता है।

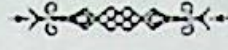
विमर्श– पूर्वसूत्र (८५९) से 'सन्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–"मान्, बध, दान् और शान् धातुओं से सन् (= स) प्रत्यय होता है तथा अभ्यास के इकार को दीर्घ आदेश हो जाता है।"

सूत्र (८५९) में पठित ✓ गुप् धातु से निन्दा अर्थ में, ✓ तिज् से क्षमा अर्थ में, ✓ कित् से रोग के दूरीकरण अर्थ में तथा निग्रह (पकड़ना), हटाना, नष्ट करना और संशय अर्थ में सन् प्रत्यय होता है। इसी प्रकार प्रकृत सूत्र में पठित धातु ✓ मान् से जिज्ञासा अर्थ में, ✓ बध से चित्तविकार अर्थ में, ✓ दान् से आर्जव (सरलता) अर्थ में तथा ✓ शान् से तेज करना अर्थ में सन् होता है। ✓ गुप् इत्यादि कित् से भिन्न निन्दाद्यर्थक ही अनुदात्तेत् हैं। दान् और शान् स्वरितेत् हैं। उक्त अर्थों में ही ✓ गुप् आदि धातुओं से सन् प्रत्यय होता है, इच्छा अर्थ में नहीं। तत्तदर्थ-विशेष में अनुबन्ध रहित धातुएँ चुरादिगण-पठित हैं। सन्नन्त से तत्तद् अनुबन्ध के अनुसार ही आत्मनेपद या परस्मैपद की व्यवस्था की जाती है। यह सन् धातु से विहित नहीं है। अतः आर्द्धधातुक संज्ञा न होने से इट् और गुण नहीं होता।

उदाहरण– (१) ✓ गुप् + सन् (= 'स' निन्दा अर्थ में– 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'ग्' = 'ज्'–चर्त्व, 'हलन्ताच्च' से कित् होने के कारण प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध)–जुगुप्स + लट् (= आत्मनेपद 'त' शप् = 'अ', 'टि' को एत्व, पररूप) = जुगुप्सते। (२) ✓ तिज् + सन् (= स, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, कित्त्व होने से गुणाभाव, 'ज्' = 'क्' कुत्व–'चोः कुः', षत्व, क् + ष् = क्ष्)– तितिक्ष + लट् (= त, शप् = अ, पररूप, एत्व) = तितिक्षते। (३) ✓ कित् + सन् (=स, द्वित्व, अभ्यासकार्य, कुत्व, कित्त्व होने से गुणाभाव)– चिकित्स (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = चिकित्सति। (४) ✓ मान् + सन् (= 'स'– जिज्ञासा अर्थ में– 'मान्बध०' द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, ह्रस्व, 'अ' = 'इ'–'सन्यतः', दीर्घ–'मान्बधदान्०', अनुस्वार)– मीमांस (+ लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = मीमांसते। (५) ✓ बध् + सन् (= 'स'–चित्तविकार अर्थ में, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, इत्व–'सन्यतः', दीर्घ–'मान्बध०', 'ब्' = 'भ्'–भष्भाव–'एकाचो०', 'ध्' = 'त्'–चर्त्व–'खरि च')–बीभत्स (लट् = 'त', शप् = 'अ',

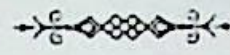
'धातोरि'त्यविहितत्वात्सनोऽत्र नार्द्धधातुकत्वम्। तेनेड्गुणौ न। जुगुप्सते। तितिक्षते। चिकित्सति। मीमांसते। बीभत्सते। दीदांसति। दीदांसते। शीशांसति। शीशांसते। णिचि तु गोपायति। गोपायते इत्यादि।

इति सन्नन्तप्रकरणम् ।



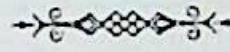
इति रूपम्। **मीमांसते–** मान्धातोर्जिज्ञासायां 'मान्बधदान्शान्भ्य:' इति सनि, द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे हलादिशेषे 'सन्यत:' इतीत्वे 'मान्बधे'ति दीर्घे, लटि तङि शपि टेरेत्वे पररूपे 'मीमांसते' इति। एवं बीभत्सते इत्यादि।

इति सन्नन्तप्रकरणम् ।



पररूप, एत्व) = बीभत्सते। (६) ✓ दान् धातु से लट् में– दीदांसते, दीदांसति। (७) ✓ शान् से— लट् आ० प०–शीशांसते। प० प०–शीशांसति। (८) ✓ गुप् धातु से णिच् प्रत्यय होने पर लट् लकार में– गोपायते। गोपायति।

सन्नन्त-प्रकरण समाप्त ।



अथ यङन्तप्रकरणम्

(८६१) धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ३।१।२२ । पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ्। **(८६२) गुणो यङ्लुकोः ७।४।८२ ।** अभ्यासस्य 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वाल्लडादयः। ङिदन्तत्वादात्मनेपदम्। पुनः पुनरतिशयेन वा भवति बोभूयते। बोभूयाञ्चक्रे। अबोभूयिष्ट। धातोः किम्? आर्द्धधातुकत्वं

सन्प्रक्रियां निरूप्येदानीं यङन्तप्रकरणमारभते–

(८६१) **धातोरेकाच इति। द्योत्य इति**। क्रियासमभिव्याहारे भृशार्थे द्योत्ये इति मूलार्थकथनम्। अन्यथा वाच्यत्वे प्रत्ययवाच्यस्य प्रधानतया सन्नन्ते इच्छया इव तस्य विशेष्यत्वं स्यादिति भावः।

(८६२) **गुणो यङ्लुकोरिति**। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यस्मादभ्यासस्येत्यनुवर्तते। तदाह–**अभ्यासस्येति। बोभूयते**— पुनः पुनरतिशयेन वा भवतीत्यस्मिन्विग्रहे भूधातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' इत्यनेन यङ्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये, बु भू य इति जाते 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यनेनाभ्यासस्य गुणे 'बोभूय' इत्यस्य

सन्नन्त-प्रकरण के अनन्तर यङन्त धातुरूपों की साधनिका बतायी जा रही है–

(८६१) **पद**– धातोः, एकाचः, हलादेः, क्रियासमभिहारे, यङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– पौनःपुन्य (बार-बार) और भृशार्थ (अत्यधिकता) के द्योत्य होने पर एकाच् हलादि धातु से 'यङ्' प्रत्यय होता है।

विमर्श– एकाच् और हलादि धातु से विधान होने के कारण अनेकाच् और अजादि धातुओं से 'यङ्' प्रत्यय नहीं होता। 'यङ्' का विकल्प से विधान होने के कारण धातु के साथ 'पुनः-पुनः' या 'भृशम्' को जोड़कर भी अर्थ प्रकट किया जाता है। जैसे– 'बोभूयते' के स्थान पर 'पुनः पुनर्भवति, अतिशयेन भृशं वा भवति' का भी प्रयोग किया जाता है।

(८६२) **पद**– गुणः, यङ्लुकोः। **अनुवृत्ति**– अभ्यासस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'यङ्' के परवर्ती रहते और यङ्लुक् के विषय में अभ्यास को गुण होता है।

विमर्श– यहाँ 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' पद की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'लुक्' पद से समीपस्थ यङ् के लुक् का ही ग्रहण होता है। अतः ''यङ् के परे रहते तथा 'यङ्लुक्' के विषय में अभ्यास को गुण होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ भू + यङ् (= 'य'–'धातोरेकाचो हलादेः०', द्वित्व–'सन्यङोः', अभ्यास संज्ञा, ह्रस्व, 'भ्' = 'ब्'–चर्त्व, अभ्यास के 'उ' = 'ओ'–गुण–'गुणो यङ्लुकोः')– बोभूय (धातुसंज्ञा, 'यङ्' के ङित् होने से आत्मनेपद लट् = 'त', शप् = 'अ')– बोभूय अ त ('अ' = 'ए' एत्व– 'टित आत्मनेपदानां टेरे', अ + अ = 'अ' पररूप) = बोभूयते। (२) ✓ भू + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्यासकार्य पूर्ववत्)– बोभूय + लिट् (आम् प्रत्यय, लिट् का लुक्, लिट्परक कृ का अनुप्रयोग 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' लिट् = त = एश् = 'ए')– बोभूयाम् कृ ए (द्वित्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, चर्त्व, अनुस्वार, परसवर्ण, 'ऋ' = 'र्'–यण्) = बोभूयाञ्चक्रे। (३) ✓ भू + यङ् (= 'य', द्वित्व,

यथा स्यात्। तेन 'ब्रुवो वचिरि'त्यादि। एकाचः किम्? पुनः पुनर्जागर्ति। हलादेः किम्? भृशमीक्षते। (८६३) नित्यं कौटिल्ये गतौ ३।१।२३ । गत्यर्थात् कौटिल्ये एव यङ् न तु क्रियासमभिहारे। (८६४) दीर्घोऽकितः ७।४।८३ । अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो, यङ्यङ्लुकोः। कुटिलं व्रजति वाव्रज्यते। (८६५) यस्य हलः ६।४।४९ । यस्येति

'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां ङित्त्वादात्मनेपदे लटि तत्स्थाने तप्रत्यये शप्यनुबन्धलोपे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपे संयोगे कृते 'बोभूयते' इति।

(८६३) **नित्यमिति**। 'धातोरेकाच' इत्यतः धातोरिति यङिति चानुवर्तते। अत आह- **गत्यर्थादित्यादिना**।

(८६४) **दीर्घोऽकितः**। 'अत्र लोपः' इत्यस्मादभ्यासस्येति, 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यतः 'यङ्लुकोः' इति चानुवर्तते। तदाह-**अकितोऽभ्यासस्येति**। **वाव्रज्यते**- व्रजधातोः 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' इति यङ्प्रत्यये द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'दीर्घोऽकितः' इत्यभ्यासाकारस्य दीर्घे

अभ्यासकार्य, गुण पूर्ववत्)-बोभूय + लुङ् (= आत्मनेपद 'त', अट् = 'अ' का आगम)-अबोभूय त (च्लि, च्लि = सिच् = 'स्', आर्धधातुकसंज्ञा, 'अ' का लोप-'अतो लोपः', इट् = 'इ'- 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः', 'स्' = 'ष्'-षत्व, 'त्' = 'ट्'-ष्टुत्व) = अबोभूयिष्ट।

प्रत्युदाहरण- (१) **धातोः किम्?** —सूत्र (८६१) में 'धातोः' पद का ग्रहण आर्धधातुकत्व के लिए है। क्यों? आर्धधातुकसंज्ञा में धातु से विहित व्याख्यान मिलता है। अतः 'ब्रुवो वचिः' सूत्र द्वारा आर्धधातुक के विषय में ब्रूञ् धातु को 'वच्' आदेश होता है। (२) **एकाचः किमिति**- 'पुनः पुनर्जागर्ति' सूत्र में एकाच् धातु से यङ् का विधान होने से अनेकाच् ✓ 'जागृ निद्राक्षये' से यङ् नहीं होता। (३) **हलादेः किमिति**- 'भृशमीक्षते'। सूत्रस्थ 'हलादेः' पद का ग्रहण होने से अजादि 'ईक्ष्' धातु से यङ् नहीं होता।

(८६३) **पद**- नित्यम्, कौटिल्ये, गतौ। **अनुवृत्ति**- धातोः, यङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- गत्यर्थक धातुओं से कौटिल्य (वक्रगति) अर्थ में ही यङ् होता है; क्रियासमभिहार अर्थ में यङ् नहीं होता।

विमर्श- सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु (८६१) सूत्र से 'धातो' और 'यङ्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''गत्यर्थक धातुओं से वक्रगति गम्यमान होने पर ही 'यङ्' प्रत्यय होता है। क्रियासमभिहार (बार-बार, भृशार्थ) में नहीं।''

(८६४) **पद**- दीर्घः, अकितः। **अनुवृत्ति**- यङ्लुकोः, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- यङ् के परवर्ती रहते और यङ्लुक् के विषय में कित्-भिन्न अभ्यास को दीर्घ होता है। वाव्रज्यते।

विमर्श- पूर्वसूत्र (८६२) से 'यङ्लुकोः' की तथा 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''यङ् तथा यङ्लुक् के परे रहते कित्-भिन्न अभ्यास को दीर्घ होता है।''

उदाहरण- (१) ✓ व्रज् + 'यङ्' (= 'य'-'नित्यं कौटिल्ये गतौ', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास के 'अ' = 'आ' दीर्घ-'दीर्घोऽकितः')- वाव्रज्य (धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ', अ + अ = 'अ'-पररूप, टि 'अ' = 'ए'-एत्व) = वाव्रज्यते।

सङ्घातग्रहणम्। हलः परस्य यशब्दस्य लोपः स्यादार्द्धधातुके। 'आदेः परस्य'। 'अतो लोपः'। वाव्रजाञ्चक्रे। वाव्रजिता। (८६६) रीङृतः ७।४।२७ । अकृद्यकारे असार्वधातुकयकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः। डुकृञ् करणे। चेक्रीयते।

'वाव्रज्य' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लटि प्रथमपुरुषैकवचने तप्रत्यये टेरेत्वे शपि पररूपे 'वाव्रज्यते' इति।

(८६५) **यस्येति**। 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम्। 'अतो लोपः' इत्यतः 'लोपः' इत्यनुवर्तते। तदाह मूले- **हलः परस्येत्यादिना। वाव्रजाञ्चक्रे**- व्रज्धातोः यङि द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'दीर्घोऽकितः' इत्यभ्यासस्य दीर्घे 'वाव्रज्य' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लिटि अनेकाच्त्वादाम्प्रत्यये 'आदेः परस्ये'ति सूत्रबलात् 'यस्य हलः' इत्यनेन यकारलोपे 'अतो लोपः' इत्यकारलोपे 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यनेन कृञोऽनुप्रयोगे लिटि तत्स्थाने तप्रत्यये तस्य 'लिटस्तझयोरेशिरेचि'त्यनेन एशादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासकार्ये, वाव्रजाम् च कृ ए इति जाते, मस्यानुस्वारे परसवर्णे ऋकारस्य यणादेशे संयोगे च 'वाव्रजाञ्चक्रे' इति।

(८६६) **रीङृत्त इति**। रीडित्यादेशकथनम्। अत्र 'च्वौ चे'त्यतः 'च्वावि'ति, 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इत्यतः 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति 'अयङ् यि' इत्यतश्च 'यि' इति पदमनुवर्तते। 'ऋतः' इति षष्ठी। अत आह- **अकृद्यकार इत्यादि। चेक्रीयते**-पुनः पुनः करोतीति

---

(८६५) **पद**- यस्य, हलः। **अनुवृत्ति**- लोपः, आर्द्धधातुके। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- आर्धधातुक के परवर्ती रहते हल् से उत्तरवर्ती 'य' का लोप होता है। वाव्रजाञ्चक्रे। वाव्रजिता।

विमर्श- 'आर्द्धधातुके' (६।४।४६) का अधिकार है। 'अतो लोपः' (६।४।४८) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार- ''हल् से उत्तर स्थित 'य' का लोप होता है, आर्द्धधातुक के परे रहते।''

उदाहरण- (१) ✓ व्रज् + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास 'अ' = 'आ' दीर्घ)- वाव्रज्य + लिट् (अनेकाच् होने से 'आम्' प्रत्यय-'कास्यनेकाच०', 'य्' का लोप- 'यस्य हलः', 'अ' का लोप, लिट् का लुक्-'आमः')- वाव्रजाम् (लिट्परक ✓ कृ का अनुप्रयोग- 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि', लिट् = त = एश् = 'ए', धातु को द्वित्व, 'ऋ' = 'अ', रपर, हलादिशेष, 'क्' = 'च्'- चर्त्व, म् = ं अनुस्वार, ं = 'ञ्'-परसवर्ण, 'ऋ' = 'र्'-यण्) = वाव्रजाञ्चक्रे। (२) ✓ व्रज् + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्यासकार्य, दीर्घ)-वाव्रज्य + लुट् (= त = डा = आ, तास्, 'य्' का लोप-'यस्य हलः', 'अ' का लोप, इट्, टि 'आस्' का लोप) = वाव्रजिता।

(८६६) **पद**- रीङ्, ऋतः। **अनुवृत्ति**- च्वौ, अकृत्सार्वधातुकयोः, यि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- कृद्-भिन्न यकार तथा असार्वधातुक यकार तथा च्वि प्रत्यय के परवर्ती रहते ऋदन्त अङ्ग को 'रीङ्' आदेश होता है। चेक्रीयते।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'च्वौ च' (७।४।२६) से 'च्वौ', 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७।४।२५) से 'अकृत्सार्वधातुकयोः' तथा 'अयङ् यि०' (७।४।२२) से 'यि' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार ''कृत्-भिन्न एवं सार्वधातुक-भिन्न यकार अथवा 'च्वि' प्रत्यय के परे रहते ऋकारान्त अङ्ग को रीङ् (री) आदेश होता है।

(८६७) रीगृदुपधस्य च ७।४।९०। ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो यङ्यङ्लुकोः। वरीवृत्यते। वरीवृताञ्चक्रे। वरीवृतिता। 'क्षुभ्नादिषु च'। एषु णत्वं न। नरीनृत्यते। जरीगृह्यते। * रीगृत्वत इति वाच्यम् *। वरीवृश्च्यते। (८६८)

विग्रहे कृधातोः यङि 'रीङ् ऋतः' इति ऋकारस्य स्थाने रीङादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे ह्रस्वे चर्त्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासस्य गुणे 'चेक्रीय' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लटि आत्मनेपदे तप्रत्यये टेरेत्वे शपि अनुबन्धलोपे पररूपे 'चेक्रीयते' इति रूपम्।

(८६७) **रीगृदुपधस्येति**। अत्र 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यस्माद्यङ्लुकोरिति, 'अत्र लोपः' इत्यस्मादभ्यासस्येति चानुवर्तते। तदाह–**ऋदुपधस्येति**। **वरीवृत्यते**– 'पुनः पुनरतिशयेन भृशं वा वर्तते' इत्यस्मिन् विग्रहे वृत्धोतोर्यङि द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिशेषे 'ववृत् य' इति जाते 'रीगृदुपधस्य चे'त्यनेनाभ्यासस्य रीगागमेऽनुबन्धलोपे धातुत्वे लटि प्रथमपुरुषैकवचने तप्रत्यये टेरेत्वे शपि अनुबन्धलोपे पररूपे 'वरीवृत्यते' इति रूपम्।

उदाहरण– (१) ✓ कृ + यङ् (= 'य', 'ऋ' = रीङ् = 'री', 'क्री' को द्वित्व, अभ्यासकार्य, ह्रस्व, 'क्' = 'च्'– 'कुहोश्चुः' अभ्यास-स्थित 'इ' = 'ए'–गुण–'गुणो यङ्लुकोः')–चेक्रीय (धातुसंज्ञा, लट् = आत्मनेपद 'त', एत्व, शप् = 'अ', पररूप) = चेक्रीयते।

(८६७) **पद–** रीक्, ऋदुपधस्य। **अनुवृत्ति–** यङ्लुकोः, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– यङ् और यङ्लुक् के विषय में ऋदुपध धातु के अभ्यास को रीक् (=री) का आगम होता है। वरीवृत्यते। वरीवृताञ्चक्रे। वरीवृतिता इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८६२) से 'यङ्लुकोः' तथा 'अत्र लोपः०' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''ऋकारोपध धातुं के अभ्यास को रीक् (= री) का आगम होता है, यङ् के परवर्ती रहते और यङ्लुक् के विषय में।''

उदाहरण– ✓ (१) वृत् + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, 'ऋ' = 'अ'–'उरत्', रपर, हलादिशेष, रीक् = 'री' का आगम)– वरीवृत्य (धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, 'अ' = 'ए'–एत्व) = वरीवृत्यते। (२) ✓ वृत् + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्यासत्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, रीक् = 'री' का आगम–'रीगृदुपधस्य च')–वरीवृत्य (+ धातुसंज्ञा, लिट्, अनेकाच्त्वात् आम्, 'य्' का लोप–'यस्य हलः', अकारलोप–'अतो लोपः', लिट् का लुक्–'आमः', लिट्परक ✓ कृ का अनुप्रयोग, लिट् = त = एश् = 'ए', द्वित्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, चुत्व)– वरीवृताम् च कृ ए म् (=ं = 'ञ्' परसवर्ण, 'ऋ' = 'र्'–यण्) = वरीवृताञ्चक्रे। (३) लुट्–वरीवृतिता। (४) ✓ नृत् + यङ् (= 'य' द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष)– न नृत्य (रीक् = 'री'–'रीगृदुपधस्य च' धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ', अ + अ = 'अ' पररूप (एत्व) = नरीनृत्यते। यहाँ 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से प्राप्त 'न्' = 'ण्' णत्व का 'क्षुभ्नादिषु च' से निषेध हो जाता है। (५) ग्रह् + यङ् (= 'य', 'र्' = 'ऋ'–सम्प्रसारण, पूर्वरूप–'सम्प्रसारणाच्च')– गृह् य (द्वित्व, अभ्यासत्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, चर्त्व, रीक् = 'री' का आगम)–जरीगृह्य (धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ' पररूप, एत्व) = जरीगृह्यते।

(वा०)– 'ऋकारवान् धातु के अभ्यास को रीक् आगम होता है' ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण– ✓ ओ व्रश्चू (व्रश्च्) + यङ् (= 'य', 'र्' = 'ऋ'–सम्प्रसारण–'ग्रहिज्या०', पूर्वरूप–

लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायाम् ३।१।२४। एभ्यो धात्वर्थगर्हायामेव यङ् स्यात्। गर्हितं लुम्पति लोलुप्यते। सासद्यते। **(८६९) चरफलोश्च ७।४।८७।** अनयोरभ्यासस्याऽतो नुक् यङ्यङ्लुकोः। 'नुगि'त्यनेनानुस्वारो लक्ष्यते। स च पदान्तवद्वाच्यः। 'वा पदान्तस्ये'ति यथा स्यात्। **(८७०) उत्परस्यातः ७।४।८८।**

---

(८६८) **लुपसदचरेति**। 'धातोरेकाचः' इत्यतः 'यङि' त्यनुवर्तते। भावः धात्वर्थः, तद्गता गर्हा = निन्दा, भावगर्हा, तस्यामित्यर्थः। **लोलुप्यते**– 'गर्हितं लुम्पती'त्यर्थे लुप्धातोः 'लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायामि'त्यनेन यङि, द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलो लोपे, 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे 'लोलुप्य' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लटि तङि टेरेत्वे शपि अनुबन्धलोपे पररूपे च कृते 'लोलुप्यते' इति।

(८६९) **'चरफलोश्चे'ति**। 'अत्र लोपः' इत्यस्मादभ्यासस्येत्यनुवर्तते। 'नुगितोऽनुनासिकान्तस्ये'त्यतः नुगिति, 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यतः यङ्लुकोरिति चानुवर्तते। अत आह– **अनयोरभ्यासस्येत्यादिना**।

(८७०) **उत्परस्येति**। अत्र 'चरफलोश्चे'ति सूत्रम्, पूर्ववदभ्यासस्येति यङ्लुकोरिति चानुवर्तेते। अनुवृत्तमभ्यासस्येति पदं पञ्चम्यन्ततया विपरिणम्यते। तदाह– **चरफलोरित्यादि**।

'सम्प्रसारणाच्च', द्वित्व, अत्व, रपर, हलादिशेष)– व वृश्च्य (रीक् = 'री' का आगम–'रीगृत्वत इति वाच्यम्' + लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = वरीवृश्च्यते।

(८६८) **पद**– लुप-सद-चर-जप-जभ-दह-दश-गृभ्यः, भावगर्हायाम्। **अनुवृत्ति**– यङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– लुप्, सद् आदि धातुओं से धात्वर्थ निन्दा अर्थ में ही 'यङ्' होता है। लोलुप्यते। सासद्यते।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८६१) से 'धातोः' तथा 'यङ्' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– ''लुप्, सद्, चर्, जप्, जभ्, दह, दश और गृ धातुओं से भावगर्हा (धात्वर्थ निन्दा) अर्थ में ही 'यङ्' प्रत्यय होता है।'' लोलुप्यते (=काटता है) में काटने की क्रिया खराब ढंग से करता है, वही भावगर्हा है।

उदाहरण– (१) ✓ लुप् + यङ् (= 'य'–'लुपसदचर०' द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'उ' = 'ओ'–गुण–'गुणो यङ्लुकोः')–लोलुप्य (लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = लोलुप्यते। (२) ✓ सद् + यङ् (= 'य' भावगर्हा अर्थ में– 'लुपसदचर', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'अ'= 'आ'–दीर्घ–'दीर्घोऽकितः')– सा सद् य (लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = सासद्यते।

(८६९) **पद**– चरफलोः च। **अनुवृत्ति**– अभ्यासस्य, नुक्, यङ्लुकोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'यङ्' के परवर्ती रहते और यङ्लुक् के विषय में चर् और फल् सम्बन्धी अभ्यास के 'अत्' को नुक् (= न्) का आगम होता है। 'नुक्' से यहाँ अनुस्वार लक्षित होता है। 'वा पदान्तस्य' से विकल्प से परसवर्ण हो जाता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अत्र लोपः'० (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य', 'नुगितोऽनुनासिकान्तस्य' (७।४।८५) से 'नुक्' तथा (८६२) सूत्र से 'यङ्लुकोः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''यङ् तथा यङ्लुक् के परे रहते चर् और फल के अभ्यास को भी 'नुक्' का आगम होता है।''

(८७०) **पद**– उत्, परस्य, अतः। **अनुवृत्ति**– चरफलोः, यङ्लुकोः, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र**।

चरफलोरभ्यासात्परस्याऽत उत्स्याद्यङ्यङ्लुकोः। 'हलि चे'ति दीर्घः। चञ्चूर्यते। पंफुल्यते पम्फुल्यते। **(८७१) जपजभदहदशभञ्जपशां च ७।४।८६ ।** एषामभ्यासस्य नुक् स्याद्यङ्यङ्लुकोः। गर्हितं जपति जञ्जप्यते। **(८७२) न कवतेर्यङि ७।४।६३ ।**

चञ्चूर्यते–चर्धातोर्यङि द्वित्वेऽभ्यासकार्ये च चर् य इति जाते 'चरफलोश्चे'ति नुगागमेऽनुबन्धलोपे 'नुगि'त्यनेनानुस्वारो लक्ष्यते स पदान्तवद्वाच्यः इत्यनेन पदान्तत्वे 'वा पदान्तस्ये'त्यनेन विकल्पेन परसवर्णे 'चञ्चर् य' इति जाते 'उत्परस्याऽतः' इत्यनेनोपधाऽकारस्य उकारे 'हलि चे'त्यनेन दीर्घे संयोगे धातुसंज्ञायां लटि तप्रत्यये शप्यनुबन्धलोपे पररूपे टेरेत्वे 'चञ्चूर्यते' इति। परसवर्णाभावपक्षे– 'चंचूर्यते' इति।

(८७१) **जपजभेति**। 'चरफलोश्चे'ति सूत्रे यदनुवृत्तं तत्सर्वमेवात्रापि अनुवर्तते। तदाह– **'एषामभ्यासस्ये'ति**।

(८७२) **न कवतेर्यङिति**। 'कुहोश्चुरि'त्यतः चुरिति, 'अत्र लोपः' इत्यत अभ्यासस्येति

मूलार्थ– यङ् और यङ्लुक् के विषय में ✓ चर् और फल् सम्बन्धी अभ्यास के 'अत्' के स्थान में 'उत्' आदेश होता है। चञ्चूर्यते। चंचूर्यते इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए पूर्वसूत्र (८६९) से 'चरफलोः' (८६२) से 'यङ्लुकोः' तथा 'अत्र लोपः' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''यङ् अथवा यङ्लुक् के परे रहते चर् तथा फल् धातुओं के अभ्यास से परवर्ती अत् (अकार) के स्थान में उत् (उकार) आदेश होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ चर् + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)–च चर् य (नुक् = 'न्'–'चरफलोश्च', न् = ं 'अनुस्वार' = 'ञ्'–परसवर्ण, विकल्प से–'वा पदान्तस्य', अभ्यास के परवर्ती 'अ' = 'उ'–'उत्परस्याऽतः', 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ–'हलि च')– चञ्चूर्य (लट् = 'त', शप् = 'अ', अ + अ = 'अ' पररूप, एत्व) = चञ्चूर्यते। परसवर्ण के अभावपक्ष में-चंचूर्यते। (२) ✓ फल् + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्यासत्व, हलादिशेष, चर्त्व)– प फल् य (नुक् = 'न्' का आगम, न् = अनुस्वार = 'म्' विकल्प से परसवर्ण, अभ्यास से उत्तर 'अ' = 'उ'– 'उत्परस्याऽतः') पम्फुल्य (लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = पम्फुल्यते। परसवर्ण के अभाव पक्ष में- पंफुल्यते।

(८७१) **पद**– जप-जभ-दह-दश-भञ्ज-पशाम्, च। **अनुवृत्ति**– नुक्, यङ्लुकोः, अभ्यास। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– यङ् तथा यङ्लुक् के विषय में जप्, जभ् आदि धातुओं के अभ्यास को 'नुक्' का आगम होता है। जञ्जप्यते।

विमर्श– पूर्ववत् 'अभ्यासस्य', 'नुक्' तथा 'यङ्लुकोः' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– 'यङ्' तथा 'यङ्लुक्' के परवर्ती रहते जप्, जभ्, दह्, दश्, भञ्ज् और पश् धातुओं के अभ्यास को नुक् (= 'न्' का) आगम होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ जप् + यङ् (= 'य'–'लुपसदचर०' द्वित्व, अभ्यासकार्य)– ज ज प् य (नुक् = 'न' का आगम–'जपजभ०', अनुस्वार, परसवर्ण)–जञ्जप्य (लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = जञ्जप्यते। परसवर्ण के अभाव पक्षं में-जंजप्यते।

(८७२) **पद**– न, कवतेः, यङि। **अनुवृत्ति**– चुः, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र**।

कवतेरभ्यासस्य चुत्वं न स्याद्यङि। कोकूयते। कौतिकुवत्योस्तु चोकूयते। (८७३) ग्रो यङि ८।२।२० । गिरते रेफस्य लत्वं स्यात् यङि। गर्हितं गिलति जेगिल्यते। * सूचिसूत्रिमूत्र्यटत्यर्त्यशूर्णोतिभ्यो यङ् वाच्यः *। सोसूच्यते। सोसूत्र्यते। मोमूत्र्यते। अट

चानुवर्तते। अत आह- **कवतेरभ्यासस्येति। जञ्जप्यते**- गर्हितं जपतीति विग्रहे जप्धातोर्यङि द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां हलो लोपे 'जपजभदहदशभञ्जपशां चे'ति सूत्रेणाभ्यासस्य नुगागमेऽनुबन्धलोपे, पदान्तत्वे विभाषया परसवर्णे धातुत्वे लटि तप्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे पररूपे टेरेत्वे 'जञ्जप्यते' इति। परसवर्णाभावे-'जंजप्यते' इति।

(८७३) **ग्रो यडीति**। 'ग्रः' इति षष्ठ्येकवचनम्। 'कृपो रो लः' इत्यतः 'रो लः' इत्यनुवर्तते। तदाह- **गिरते इत्यादिना। जेगिल्यते**- गृधातोर्यङि 'ॠत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये हलादिशेषे 'कुहोश्चुरि'त्यनेन गकारस्य जकारे 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यनेनाभ्यासस्य गुणे 'ग्रो यङि' इत्यनेन रेफस्य लकारे 'जेगिल्य' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लटि प्रथमपुरुषैकवचने 'त'प्रत्यये शपि पररूपे टेरेत्वे 'जेगिल्यते' इति रूपम्।

मूलार्थ- 'यङ्' के परवर्ती रहते 'कु' धातु के अभ्यास को चुत्व नहीं होता। कोकूयते।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से 'चुः' तथा 'अत्र लोपः'० (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''कुङ् धातु के अभ्यास को यङ् परे रहते चवर्ग आदेश नहीं होता।''

उदाहरण- (१) ✓ कु + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अभ्यास के 'उ' = 'ओ'-गुण) को कुय (उ = ऊ = दीर्घ-'अकृत्सार्व०', 'कुहोश्चुः' से प्राप्त 'क्' = 'च्' चुत्व का 'न कवतेर्यङि' से निषेध)-कोकूय (लट् - 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) कोकूयते।

(प्रकृत सूत्र में 'कवतेः' निर्देश होने से शप् विकरण वाली धातु का ही ग्रहण किया गया है। लुग् विकरण और श विकरण वाली धातुओं का यहाँ ग्रहण नहीं होता। कौति (लुग्विकरण) और कुवति (श-विकरण) सम्बन्धी कु धातु में चुत्व का निषेध भी नहीं होता। चोकूयते।

(८७३) **पद**- ग्रः, यङि। **अनुवृत्ति**- 'रो लः'। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'यङ्' के परवर्ती रहते गृ धातु के रेफ को लत्व ('र्' = 'ल्') होता है। जेगिल्यते।

विमर्श- सूत्र में स्थानी व आदेश वाचक पदों का अभाव है। अतः 'कृपो रो लः' (८।२।१८) सूत्र से 'रो ल' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''यङ् के परे रहते गृ धातु सम्बन्धी रेफ (र्) के स्थान में 'ल्' आदेश हो जाता है।''

उदाहरण- ✓ गृ + यङ् (= 'य'- 'लुपसदचर०', 'ॠ' = 'इ' इत्व-'ॠत इद्धातोः', रपर, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)- गि गिर् य ('ग्' = ज्'-'कुहोश्चुः', अभ्यास-स्थित 'इ' = 'ए'-गुण-'गुणो यङ्लुकोः', 'र्' = 'ल्'-'ग्रो यङि')- जेगिल्य (लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = जेगिल्यते।

(वा०)- सूचि, सूत्रि आदि धातुओं से अनेकाच् और अजादि होने पर भी क्रियासमभिहार अर्थ में 'यङ्' हो जाता है।

उदाहरण- (१) ✓ सूचि + यङ् (= 'य'-'सूचिसूत्रि०' वार्तिक से, द्वित्व, अभ्यासत्व, हलादिशेष, ह्रस्व, 'उ' = 'ओ'-गुण-'गुणो यङ्लुकोः')- सोसूच्य (लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप,

पट गतौ। अटाट्यते। **(८७४) यङि च ७।४।३० ।** अर्तेः संयोगादेश्च ऋदन्ताङ्गस्य गुणो यङि। यकारपरस्य रेफस्य न द्वित्वनिषेधः। 'अरार्यते' इति भाष्योदाहरणात्। अरारिता। आशाश्यते। ऊर्णोनूयते। **(८७५) सिचि यङि ८।३।११२ ।** सिचः सस्य

---

(८७४) **यङि चेति**। अत्र 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति सूत्रमनुवर्तते, 'रीङ् ऋतः' इत्यस्मात् ऋत इति च। अत आह– **अर्तेरित्यादि**। **अरार्यते**– ऋधातोर्यङि 'यङि चे'त्यनेन गुणे अकारे रपरे 'सन्यङोः' इत्यनेन रेफविशिष्टस्य द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे धातुसंज्ञायां, लटि तङि शपि पररूपे टेरेत्वे संयोगे च कृते 'अरार्यते' इति।

(८७५) **सिचो यङीति**। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम्। 'सहेः साडः सः' इत्यस्मात्स इति 'न रपर०' इत्यस्माच्च न इति चानुवर्तते। तदाह– **सिचः सस्येति**। **निसेसिच्यते** –

एत्व) = सोसूच्यते। इसी प्रकार (२) ✓ सूत्रि + यङ् (उक्तवत् कार्य) = सोसूत्र्यते। (३) ✓ मूत्रि + यङ् = मोमूत्र्यते। (४) ✓ अट् + यङ् = अटाट्यते।

(८७४) **पद**– यङि, च। **अनुवृत्ति**– गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः, ऋतः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'ऋ' धातु और संयोगादि ऋदन्त अङ्ग को गुण होता है, 'यङ्' के परवर्ती रहते। 'धातोरेकाचः' सूत्र के भाष्य में 'अरार्यते' उदाहरण दृष्टिगोचर होने से यह ज्ञात होता है कि यकारपरक रेफ ('र्') के द्वित्व का निषेध नहीं होता। अरारिता। आशाश्यते। ऊर्णोनूयते।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' (७।४।२९) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आती है। 'रीङ् ऋतः' (७।४।२७) से 'ऋतः' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार "यङ् के परवर्ती रहते 'ऋ' तथा संयोगादि ऋकारान्त अङ्ग को भी गुण होता है।"

उदाहरण– (१) ✓ ऋ + यङ् (= 'य', 'ऋ' = 'अ'–गुण–'यङि च', रपर, रेफ-विशिष्ट **यकार** को द्वित्व–'सन्यङोः')– अ र्य रय (हलादिशेष, 'अ' = 'आ'–दीर्घ–'दीर्घोऽकितः')–अरार्य (लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) - अरार्यते। (यहाँ 'अजादेर्द्वितीयस्य' से द्वितीय एकाच् 'रय' को द्वित्व प्राप्त होने पर 'नन्द्राः संयोगादयः' से 'र्' को छोड़कर केवल 'य' को द्वित्व प्राप्त हुआ, परन्तु 'अरार्यते' यह महाभाष्य में प्रयोग होने से यहाँ यकारपरक रेफ को द्वित्व का निषेध नहीं हुआ।) (२) ✓ ऋ + यङ् (पूर्ववत् कार्य)–अरार्य (+ धातुत्व लुट् = डा = 'आ', तास्, टि का लोप)–अरार्य ता ('य्' का लोप–'यस्य हलः', अ का लोप, इट् = 'इ' आगम) = अरारिता। (३) ✓ अश् + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)– अ श श् य (दीर्घ, धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = अशाश्यते। (४) ✓ ऊर्णुञ् (ऊर्णु) + यङ् (= 'य', 'नु' को द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'उ' = 'ओ'–गुण–'गुणो यङ्लुकोः', णत्व, अभ्यास के 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ)– ऊर्णोनूय (धातुत्व लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = ऊर्णोनूयते।

(८७५) **पद**– सिचः, यङि। **अनुवृत्ति**– अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः, सः न। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'यङ्' के परवर्ती रहते 'सिच्' धातु सम्बन्धी सकार को षत्व नहीं होता। निसेसिच्यते इत्यादि।

विमर्श– 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' का अधिकार है। 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) सूत्र से 'सः' तथा 'न रपरसृपिसृजि०' (८।३।११०) से 'न' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "यङ् के परे रहते 'सिच्' के सकार को मूर्द्धन्य आदेश (षत्व) नहीं होता।"

षो न स्याद्यङि। निसेसिच्यते। * हन्तेर्हिंसायां यङि हनीभावो वाच्यः *। जेघ्नीयते। **(८७६) नुगतोऽनुनासिकान्तस्य ७।४।८५** । अनुनासिकान्तस्य अदन्ताभ्यासस्य नुक् स्याद्यङ्यङ्लुकोः। जङ्घन्यते। **(८७७) अयङ् यि क्ङिति ७।४।२२** ।

'सिचिर् क्षरणे' इत्यस्माद्धातोर्यङि रूपम्। अत्र अभ्याससकारस्य 'उपसर्गात्सुनोति०' इत्यनेन ततः परस्य च 'स्थादिष्वभ्यासस्य चे'त्यनेन प्राप्तं षत्वमनेन निषिध्यते।

(८७६) **नुगत इति**। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। 'अत्र लोपः' इत्यत अभ्यासस्येति, 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यतः 'यङ्लुकोः' इति चानुवर्तते। तदाह-**अनुनासिकान्तस्येत्यादिना**। **जङ्घन्यत इति**। हन्धातोर्यङि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेन हस्य झकारे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वे 'अभ्यासाच्च' इति हस्य कुत्वेन घकारे 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्ये'ति नुगागमेऽनुबन्धलोपे 'नश्चापदान्तस्ये'ति अनुस्वारे परसवर्णे कृते 'जङ्घन्य' इत्यस्य धातुत्वे, लटि तङि शपि पररूपे टेरेत्वे कृते 'जङ्घन्यते' इति।

(८७७) **अयङ् यीति**। 'शीङः सार्वधातुके' इत्यस्मात् 'शीङः' इति पदमनुवर्तते। अत आह-**शीङोऽयङादेश इति**। **शाशय्यते**- शीङ्धातोर्यङि 'अयङ् यि क्ङिति' इत्यनेन अयङादेशे

उदाहरण- (१) नि + ✓ सिच् + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्यासत्व, हलादिशेष, 'इ' = 'ए'-गुण-'गुणो यङ्लुकोः')- नि + सेसिच्य (धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = निसेसिच्यते। (यहाँ 'उपसर्गात्०' से प्राप्त षत्व का 'सिचो यङि' से निषेध हो जाता है।

(वा०)- 'यङ्' के परवर्ती रहते हिंसा अर्थ में 'हन्' धातु के स्थान में 'हनी' आदेश होता है ।

उदाहरण- (१) ✓ हन् + यङ् (= 'य', 'हन्' = 'हनी'-'हन्तेर्हिंसायां यङि हनीभावो वाच्यः' द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, 'घ्' = 'झ्'-'कुहोश्चुः', 'झ्' = 'ज्'-'अभ्यासे चर्च')- जि घ्नी य ('इ' = 'ए'-गुण-'गुणो यङ्लुकोः', धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = जेघ्नीयते। हनीभाव केवल हिंसा अर्थ में ही होता है। हिंसा के अतिरिक्त अन्य अर्थ में-जङ्घन्यते।

(८७६) **पद**- नुक्, अतः, अनुनासिकान्तस्य। अनुवृत्ति- यङ्लुकोः, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- यङ् और यङ्लुक् के विषय में अनुनासिकान्त अङ्ग के अदन्त अभ्यास को नुक् ('न्') का आगम होता है। जङ्घन्यते।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'गुणो यङ्लुकोः' (७।४।८२) से 'यङ्लुकोः' तथा 'अत्र लोपः०' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''यङ् तथा यङ्लुक् के परे रहते अनुनासिकान्त अङ्ग का जो अकारन्त अभ्यास, उसको नुक् (न्) का आगम होता है।''

उदाहरण- (१) ✓ हन् + यङ् (= 'य', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'ह्' = 'झ्'-'कुहोश्चुः', 'झ्' = 'ज्'-'अभ्यासे चर्च', 'ह्' = 'घ्'-कुत्व-'अभ्यासाच्च', नुक् = 'न्' का आगम-'नुगतो०', न् = ं अनुस्वार-'नश्चा०', परसवर्ण)-जङ्घन्य (धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = जङ्घन्यते।

(८७७) **पद**- अयङ्, यि, क्ङिति। **अनुवृत्ति**- शीङः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- यकारादि कित्-ङित् प्रत्यय के परवर्ती रहते 'शीङ्' को 'अयङ्' आदेश होता है। शाशय्यते।

शीङोऽयङादेशः स्याद् यादौ क्ङिति। शाशय्यते। (८७८) स्वपिस्यमिव्येञां यङि ६।१।१९ । स्वपिस्यमिव्येञां यङि सम्प्रसारणं स्यात्। सोषुप्यते। सेसिम्यते। वेवीयते। (८७९) न वशः ६।१।२० । वशः सम्प्रसारणं न स्याद्यङि। वावश्यते। (८८०)

अनुबन्धलोपे 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'श श य्' इति जाते 'दीर्घोऽकितः' इत्यभ्यासदीर्घे, लटि तङि शपि अनुबन्धलोपे, पररूपे टेरेत्वे 'शाशय्यते' इति।

(८७८) **स्वपिस्यमीति**। अत्र 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इत्यतः सम्प्रसारणमिति लभ्यते। तदेवाह–**स्वपिस्यमिव्येञामिति**। **सोषुप्यत इति**। स्वप्धातोर्यङि 'स्वपिस्यमिव्येञां यङि' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे अभ्यासस्य गुणे षत्वे 'सोषुप्य' इत्यस्य धातुत्वे लटि तङि, शपि, पररूपे टेरेत्वे 'सोषुप्यते' इति रूपम्।

(८७९) **न वश इति**। पूर्वसूत्राद्यङीति 'ष्यङः सम्प्रसारणमि'त्यतः सम्प्रसारणमिति चानुवर्तते। 'ग्रहिज्ये'ति प्राप्तं सम्प्रसारणमनेन निषिध्यते।

विमर्श– सूत्र में स्थानीवाचक पद का अभाव है। अतः 'शीङः सार्वधातुके गुणः' (७।४।२१) से 'शीङः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''यकारादि कित्-ङित् प्रत्यय के परे रहते शीङ् धातु के ईकार के स्थान में 'अयङ्' (अय्) आदेश हो जाता है।''

उदाहरण– (१) ✓ शी + यङ् (= 'य', ई = अयङ् = 'अय्')–शय् य (द्वित्व–'सन्यङोः', अभ्यासत्व, हलादिशेष, अभ्यास को दीर्घ–'दीर्घोऽकितः')– शाशय्य (धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = शाशय्यते।

(८७८) **पद**– स्वपि-स्यमि-व्येञाम्, यङि। **अनुवृत्ति**– सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'यङ्' के परवर्ती रहते स्वप्, स्यम् और व्येञ् धातु को सम्प्रसारण होता है। सोषुप्यते। सेसिम्यते इत्यादि।

विमर्श– यहाँ 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) से 'सम्प्रसारणम्' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः ''यङ् के परवर्ती रहते स्वप्, स्यम् तथा व्येञ् धातु को सम्प्रसारण हो जाता है।''

उदाहरण– (१) ✓ स्वप् + यङ् (= 'य', 'व्' = 'उ'–सम्प्रसारण, पूर्वरूप–'सम्प्रसारणाच्च', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास को गुण, षत्व)–सोषुप्य (धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = सोषुप्यते। (२) ✓ स्यम् + यङ् (= 'य', 'य्' = 'इ'–सम्प्रसारण–'स्वपिस्यमि०', पूर्वरूप, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'इ' = 'ए'–गुण)– सेसिम्य (धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = सेसिम्यते। (३) ✓ व्ये + यङ् (= 'य', 'य्' = 'इ'–सम्प्रसारण–'स्वपिस्यमि०', पूर्वरूप, दीर्घ, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, अभ्यास को गुण)– वे वीय (धातुत्व लट् = 'त', शप्, पूर्वरूप, एत्व) = वेवीयते।

(८७९) **पद**– न, वशः। **अनुवृत्ति**– यङि, सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'यङ्' के परवर्ती रहते वश् को सम्प्रसारण नहीं होता। वावश्यते।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८७८) से 'यङि' तथा 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) से '**सम्प्रसारणम्**' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''यङ् परे रहते वश् धातु को सम्प्रसारण नहीं होता।

उदाहरण– (१) ✓ वश् + यङ् (= 'य', 'ग्रहिज्या०' से प्राप्त सम्प्रसारण का 'न वशः' से निषेध, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'अ' = 'आ' दीर्घ–'दीर्घोऽकितः')–वावश्य (धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप्, पररूप, एत्व) = वावश्यते।

चायः की ६।१।२१ । चायः की स्याद्यङि। चेकीयते। **(८८१) ई घ्राध्मोः ७।४।३१ ।** अनयोरीत्स्याद्यङि। जेघ्रीयते। देध्मीयते। **(८८२) नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ७।४।८४ ।** एषामभ्यासस्य नीगागमः स्याद्यङ् यङ्लुकोः। 'अकित'

---

(८८०) **चायः कीति**। 'यङी'ति लभ्यते। तदाह–**चाय इति**। **चेकीयत इति**। 'चिञ् चयने' इत्यस्माद्धातोः यङि 'चायः की' इत्यनेन 'की' इत्यादेशे, द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां ह्रस्वे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इत्यनेन चकारस्य ककारे 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासगुणे धातुसंज्ञायां लटि तप्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे पररूपे टेरेत्वे 'चेकीयते' इति।

(८८१) **ई घ्राध्मोरिति**। 'यङी'ति अनुवर्तते। **जेघ्रीयत इति**। घ्राधातोर्यङि 'ई घ्राध्मोः' इत्यनेन आकारस्य 'ई' इत्यादेशे द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे 'अभ्यासे चर्च' इत्यनेन चर्त्वेन जकारे ह्रस्वे गुणे धातुसंज्ञायां लटि तङि शपि पररूपे टेरेत्वे 'जेघ्रीयते' इति।

(८८२) **नीग्वञ्चु इति**। 'अत्र लोपः' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते। तदाह–**एषामिति**। **वनीवच्यते**– वञ्चुधातोर्यङि अनुबन्धलोपे ङित्त्वात् 'अनिदितामि'ति नलोपे द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'ववच् य' इति जाते 'नीग्वञ्चुस्रंसु०' इत्यादिना अभ्यासस्य नीगागमेऽनुबन्धलोपे 'वनीवच्य'

---

(८८०) **पद**– चायः, की। **अनुवृत्ति**– 'यङि'। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'यङ्' के परवर्ती रहते 'चाय्' धातु को 'की' आदेश होता है। चेकीयते।

विमर्श– पूर्ववत् 'यङि' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण– (१) चायृ (चाय्) + यङ् (= 'य', 'चाय्' = 'की'–'चायः की', द्वित्व, अभ्यासत्व, ह्रस्व, 'क्' = 'च्'–'कुहोश्चुः', 'इ' = 'ए'–गुण)– चेकीय (धातुसंज्ञा, लट् = त, शप्, पररूप, एत्व) = चेकीयते।

(७८१) **पद**– ई, घ्राध्मोः। **अनुवृत्ति**– यङि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'यङ्' के परवर्ती रहते 'घ्रा' और 'ध्मा' धातु को ईकार अन्तादेश होता है। जेघ्रीयते। देध्मीयते।

विमर्श– यहाँ 'यङि च' (७।४।३०) से 'यङि' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''घ्रा' और 'ध्मा' धातु को ईत् अन्तादेश होता है, यङ् के परे रहते।''

उदाहरण– (१) ✓ घ्रा + यङ् (= 'य', 'आ' = ईत् = 'ई'–'ई घ्राध्मोः', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, ह्रस्व, 'घ्' = 'झ्'–'कुहोश्चुः', 'झ्' = 'ज्'–'अभ्यासे चर्च', गुण)–जेघ्रीय (धातुत्व, लट् = 'त', शप्, पररूप, एत्व) = जेघ्रीयते। (२) ✓ ध्मा + यङ् (पूर्ववत् कार्य)–देध्मीयते।

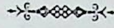
(७८२) **पद**– नीक्, वञ्चु-स्रंसु-ध्वंसु-भ्रंसु-कस-पत-पद-स्कन्दाम्। **अनुवृत्ति**– यङ्लुकोः, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'यङ्' के परवर्ती रहते तथा 'यङ्लुक्' के विषय में वञ्चु आदि धातुओं के अभ्यास को नीक् (नी) का आगम होता है। वनीवच्यते इत्यादि।

विमर्श–'गुणो यङ्लुकोः' (८६२) सूत्र से 'यङ्लुकोः' की तथा 'अत्र लोपः' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार–''यङ् तथा यङ्लुक् के परे रहते वञ्चु, स्रंसु, ध्वंसु, भ्रंसु, कस, पत्लृ, पद और स्कन्दिर् धातुओं के अभ्यास को 'नीक्' का आगम होता है।

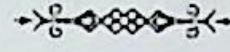
इत्युक्तेर्न दीर्घः। नलोपः। वनीवच्यते। सनीस्रस्यते। दनीध्वस्यते। बनीभ्रस्यते। चनीकस्यते। पनीपत्यते। पनीपद्यते। चनीस्कद्यते।

इति यङन्तप्रकरणम् ।



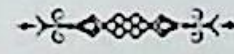
इत्यस्य धातुत्वे लटि तप्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे पररूपे टेरेत्वे संयोगे 'वनीवच्यते' इति। एवं सनीस्रस्यते, दनीध्वस्यते इति।

इति यङन्तप्रकरणम् ।



उदाहरण– (१) ✓ वञ्चु + यङ् (= 'य', अनुनासिक का लोप–'अनिदितां हल०', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास को नीक् = 'नी' का आगम)– वनीवच्य (धातुसंज्ञा, लट् = 'त', शप्, पररूप, एत्व) = वनीवच्यते। ('दीर्घोऽकितः' सूत्र में 'अकितः' (कित्-भिन्न) पद का ग्रहण होने से प्रकृत प्रयोग में अभ्यास को दीर्घ नहीं होता। क्योंकि यहाँ अभ्यास का अवयव 'नीक्' कित् है।) (२) ✓ स्रंस् + यङ् (= 'य', अनुनासिकलोप, द्वित्व, अभ्यासत्व, हलादिशेष, अभ्यास को नीक् = 'नी' आगम)–सनीस्रस्य (धातुसंज्ञा, लट् = त, शप्, पररूप, एत्व) = सनीस्रस्यते। (३) ✓ ध्वंसु + यङ् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = दनीध्वस्यते। (४) ✓ भ्रंसु + यङ् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = बनीभ्रस्यते। (५) ✓ कस् + यङ् = चनीकस्यते। (६) ✓ पत् + यङ् = पनीपत्यते। (७) ✓ पद् + यङ् = पनीपद्यते। (८) ✓ स्कन्द् + यङ् = चनीस्कद्यते।

यङन्त-प्रकरण समाप्त ।



अथ यङ्लुगन्तप्रकरणम्

(८८३) यङोऽचि च २।४।७४ । यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्, चकारात्तं विनापि क्वचित्। अनैमित्तिकोऽयमन्तरङ्गत्वादादौ भवति। ततः प्रत्यक्षलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वम्। अभ्यासकार्यम्। धातुत्वाल्लडादयः। 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'। 'चर्करीतं चे'त्यादौ पाठाच्छपो लुक्। **(८८४) यङो वा ७।३।९४** । यङन्तात्परस्य हलादेः पितः

यङन्तप्रकरणानन्तरं यङ्लुगन्तप्रक्रियां निरूपयितुमुपक्रमते–

(८८३) **यङोऽचीति**। 'ण्यक्षत्रियार्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते, 'बहुलं छन्दसी'त्यतो बहुलमिति च। 'अची'त्यत्र प्रत्ययग्रहणं न तु प्रत्याहारग्रहणं यङः साहचर्यात् 'सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणं भवती'ति न्यायात्। तदाह–**यङोऽचीत्यादि**। **चकारात्तं विनापीति**। अच्प्रत्ययाऽभावेऽपीत्यर्थः। **तत इति**। यङो लुगन्तरमित्यर्थः।

(८८४) **यङो वेति**। 'ब्रुव ईट्' इत्यत ईट् इत्यनुवर्तते। 'नाभ्यस्तस्याची'त्यतः 'पिति सार्वधातुके' इति 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इत्यतः 'हलि' इति चानुवर्तते। तदाह–'**यङन्तात्परस्ये**'–

यङन्त-प्रक्रिया का निरूपण करने के बाद अब यङ्लुगन्त-प्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है–

(८८३) **पद**– यङः, अचि, च। **अनुवृत्ति**– बहुलम्, लुक्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'अच्' प्रत्यय के परवर्ती रहते 'यङ्' प्रत्यय का लुक् (अदर्शन) होता है। चकार से कहीं अच् प्रत्यय के बिना भी लुक् होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७३) से 'बहुलम्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'ण्यक्षत्रियार्ष०' (२।४।५८) से 'लुक्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "अच् प्रत्यय के परे रहते यङ् का लुक् हो जाता है। चकार से बहुल करके अच् परे न भी हो तो भी लुक् हो जाता है।"

अनैमित्तिक इति– अनैमित्तिक होने से अन्तरङ्ग होने के कारण यह पहले हो जाता है। अर्थात् यङ् प्रत्यय का लुक् निमित्त के बिना होता है, अतः यह अनैमित्तक होने से अन्तरङ्ग है। सर्वप्रथम यङ् का लुक् हो जाता है। 'यङ्' का लोप होने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से धातु यङन्त ही रहता है। तदनन्तर द्वित्व और अभ्यासकार्य होते हैं, उसके बाद धातुसंज्ञा होकर लट् आदि आते हैं।

'यङ्' के ङित्व का आश्रयण कर यङ्लुगन्त से आत्मनेपद नहीं होता। ङित्व के प्रत्ययाऽप्रत्यय साधारण होने से यङ्लुगन्त में प्रत्ययलक्षण की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः यहाँ 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद के ही प्रत्यय आते हैं। इसलिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यङ्लुक् के प्रयोग केवल परस्मैपद में ही होते हैं।

चर्करीतमिति– 'चर्करीत' यङ्लुक् को कहते हैं। इसका अदादिगण में पाठ किया गया है। अतः 'यङ्लुक्' में शप् का लोप हो जाता है।

(८८४) **पद**– यङः, वा। **अनुवृत्ति**– ईट्, हलि, पिति, सार्वधातुके। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– यङ्लुगन्त से परे हलादि पित् सार्वधातुक को विकल्प से ईट् का आगम होता है।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'ब्रुव ईट्' (७।३।९३) से 'ईट्', 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि'

सार्वधातुकस्य ईड् वा स्यात्। 'भूसुवोरि'ति निषेधो यङ्लुकि भाषायां न, 'बोभूतु तेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात्। बोभवीति। बोभोति। बोभूतः। बोभुवति। बोभवीषि। बोभोषि। बोभूथः। बोभूथ। बोभवीमि। बोभोमि। बोभूवः। बोभूमः। बोभवाञ्चकार। बोभवाम्बभूव।

त्यादिना। निपातनादिति। वैदिकप्रक्रियायां 'छन्दसी'त्यनुवृत्तौ 'दाधर्तिदर्धर्तिदर्धर्षिबोभूतुतेतिक्ते' इत्यादिसूत्रे भूधातोर्यङ्लुगन्तस्य गुणाभावो निपात्यते। तत्र 'भूसुवोरि'त्येव गुणनिषेधे सिद्धे पुनः गुणाभावनिपातनं नियमार्थम् 'यङ्लुकि छन्दस्येवायं गुणाभाव' इति। अतो लोके भूधातोर्यङ्लुकि गुणो भवतीति विज्ञायते। **बोभवीति–** पुनः पुनरतिशयेन भृशं वा भवतीति विग्रहे भूधातोर्यङि 'यङोऽचि च'त्यनेन यङो लुकि, पुनः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वमादाय द्वित्वादिकार्ये 'बुभू' इति जाते 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासगुणे 'बोभू' इत्यस्य धातुसंज्ञायां, लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'चर्करीतञ्च' इत्यत्र यङ्लुगन्तस्यादादौ पाठात् 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि 'यङो वा' इत्यनेन पाक्षिके ईटि अनुबन्धलोपे 'दाधर्तिदर्धर्ति०' इत्यादिसूत्रे छन्दसि निपातनात्

(७।३।८९) से 'हलि' तथा 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' (७।३।८७) से 'पिति, सार्वधातुके' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''यङ् से उत्तरवर्ती हलादि पित् सार्वधातुक को विकल्प से ईट् (= ई) का आगम होता है।''

भूसुवोरिति– 'भूसुवोस्तिङि' से होने वाला गुण का निषेध यङ्लुक् में एवं भाषा में नहीं होता। क्योंकि 'बोभूतुतेतिक्ते' इत्यादि सूत्र में 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आने से भू धातु को यङ्लुक् में गुण-निषेध (गुणाभाव) का निपातन किया गया है। आशय यह है कि यदि उक्त सूत्र से गुण-निषेध हो जाता, तो निपातन की आवश्यकता नहीं रहती। अतः निपातन से यह ज्ञात होता है कि उक्त गुणनिषेध भाषा में और यङ्लुक् में नहीं होता।

उदाहरण– (१) ✓ भू + यङ् ('यङ्' का लुक्–'यङोऽचि च', प्रत्ययलक्षण से यङन्त मानकर धातु को द्वित्व–'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, 'भ्' = 'ब्'–'अभ्यासे चर्च', गुण–'गुणो यङ्लुकोः')– बोभू (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'चर्करीतञ्च' यङ्लुगन्त का अदादि में पाठ होने से शप् का लुक्– 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः', विकल्प से ईट् = 'ई'–'यङो वा', यङ्लुक् में गुणनिषेध की प्रवृत्ति न होने से 'ऊ' = 'ओ'–गुण, 'ओ' = 'अव्' आदेश) = बोभवीति। ईट् के अभाव पक्ष में– 'बोभोति'। (२) ✓ भू + यङ् ('यङ्' का लुक्–'यङोऽचि च', प्रत्ययलक्षण से यङन्त होने से द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, चर्त्व, गुण)– बोभू (धातुसंज्ञा, लट् = प्र० पु० द्वि० व० 'तस्' स् = र् = :) = बोभूतः। यहाँ अपित् सार्वधातुक होने से 'तस्' ङिद्वत् है, अतः गुण नहीं हुआ। (३) ✓ भू + यङ् (यङ् का लुक्, पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यासकार्य)– बोभू (धातुसंज्ञा, लट् = प्र० पु० ब० व० 'झि', 'झ' = अत्–'अदभ्यस्तात्', अपित् सार्वधातुक होने से गुण का अभाव, ऊ = उवङ् = 'उव्'– 'अचि श्नु०') = बोभुवति।

✓ भू धातु लट् लकार (यङ्लुगन्त) के रूप

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु० –	बोभवीति, बोभोति	बोभोतः	बोभुवति
म० पु० –	बोभवीषि, बोभोषि	बोभूथः	बोभूथ
उ० पु० –	बोभवीमि, बोभोमि	बोभूवः	बोभूमः

बोभवामास। बोभविता। बोभविष्यति। बोभवीतु। बोभोतु। बोभूतात्। बोभूताम्। बोभुवतु। बोभूहि। बोभूतात्। बोभवानि। बोभवाव। बोभवाम। अबोभवीत्। अबोभोत्। अबोभूताम्। अबोभवुः। बोभूयात्। बोभूयाताम्। बोभूयुः। बोभूयात्। बोभूयास्ताम्। बोभूयासुः।

'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधस्य यङ्लुकि भाषायामप्रवृत्त्या सार्वधातुकत्वाद् गुणे अवादेशे 'बोभवीती'ति। ईडभावपक्षे-'बोभोति' इति रूपम्।

अबोभूवीदिति। भूधातोर्यङि 'यङोऽचि च' इत्यनेन यङो लुकि प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलः शिष्टे, ह्रस्वे, चर्त्वे अभ्यासस्य गुणे 'बोभू' इत्यस्य धातुसंज्ञायां लुङि प्रथमपुरुषैकवचने तिपि अडागमेऽनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचि गते, 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुकि 'यङो वे'ति विभाषया ईडागमेऽनुबन्धलोपे गुणं प्रबाध्य नित्यत्वाद् 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति वुगागमे अनुबन्धलोपे 'इतश्चे'त्यनेन तिप इकारलोपे 'अबोभूवीत्' इति। इडभावपक्षे गुणे-'अबोभोत्' इति। **जङ्गमीति-** गम्धातोर्यङि 'यङोऽचि चे'ति तस्य लुकि प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्ये'ति नुगागमेऽनुबन्धलोपे-ऽनुस्वारे परसवर्णे धातुत्वे लटि तिपि शपि यङ्लुगन्तस्य अदादौ पाठाच्छपो लुकि 'यङो वा' इति पाक्षिके ईडागमेऽनुबन्धलोपे 'जङ्गमीति' इति। इडागमाभावपक्षे 'जङ्गन्ति' इति रूपम्।

---

(४) भू + यङ् (यङ् का लुक्, द्वित्वादि अभ्यासकार्य)- बोभू (धातुसंज्ञा, लिट्, अनेकाच्त्वात्-'आम्', लिट् का लुक्-'आमः', लिट्परक ✓ कृ का अनुप्रयोग, लिट् = तिप् = णल् = 'अ', गुण, अवादेश)- बोभवाम् कृ अ (द्वित्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, चुत्व, ऋ = 'आ'-वृद्धि, रपर, म् = अनुस्वार = 'ञ्'-परसवर्ण) = बोभवाञ्चकार। भू के अनुप्रयोग में- बोभवाम्बभूव। 'अस्' के अनुप्रयोग में-बोभवामास। (५) भू + यङ् (यङ् का लुक्, द्वित्व, अभ्यासकार्य पूर्ववत्)-बोभू (धातुसंज्ञा, लुट् = तिप् = डा = 'आ', तास्, इट् = 'इ', 'ऊ' = 'ओ'-गुण, ओ = 'अव्' टि का लोप) = बोभविता।

(६) भू + यङ् ('यङ्' का लुक्, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अभ्यासकार्य)- बोभू (धातुसंज्ञा, लृट् = तिप् = ति, स्य, इट् = 'इ', गुण, अवादेश, षत्व) = बोभविष्यति। (७) ✓ भू + यङ् (यङ्-लुक्, द्वित्व, पूर्ववत् अभ्यासकार्य)- बोभू (धातुसंज्ञा, लोट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', विकल्प से ईट् = 'ई'-'यङो वा' 'ऊ' = 'ओ'-गुण, ओ = अव्) = बोभवीति ('इ' = 'उ'-'एरुः') = बोभवीतु। ईट् के अभावपक्ष में-बोभोतु। तु = तातङ् = 'तात्'-विकल्प से। अतः 'तातङ्' पक्ष में-बोभूतात्।

✓ भूधातु यङ्लुडन्त लोट् लकार के रूप

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र० पु०-	बोभवीतु, बोभोतु, बोभूतात्	बोभूताम्	बोभुवतु
म० पु०-	बोभूहि, बोभूतात्	बोभूतम्	बोभूत
उ० पु०-	बोभवानि	बोभवाव	बोभवाम

(८) ✓ भू + यङ् (यङ् का लुक्-'यङोऽचि च', द्वित्व, पूर्ववत् अभ्यासकार्य)- बोभू (धातुसंज्ञा, लङ् = तिप् = ति, शप्, 'शप्' का लुक्-'अदिप्रभृतिभ्यः शपः', विकल्प से ईट् = 'ई'-'यङो वा', 'ऊ' = 'ओ'-गुण-'सार्वधातु०', 'ओ' = 'अव्'-आदेश, 'इ' का लोप-'इतश्च', अट् का

'गातिस्थे'ति सिचो लुक्। 'यङो वे'तीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक्। अबोभूवीत्। अबोभोत्। अबोभूताम्। अबोभुवुः। अबोभविष्यत्। जङ्गमीति। जङ्गन्ति। 'अनुदात्तस्ये'-त्यनुनासिकलोपः। जङ्गतः। जङ्ग्मति। 'म्वोश्च'। जङ्गन्मि। जङ्गन्वः।

''श्तिपा शिपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव, पञ्चैतानि न यङ्लुकि॥१॥''

श्तिपा शपेति। 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इत्यादिना निर्दिष्टम्। श्तिपा निर्दिष्टं यङ्लुकि न, यथा 'जङ्घहि' इति। शपा निर्दिष्टं यङ्लुकि न, यथा-'भवतेरः' इत्यादि। यच्चानुबन्धेन निर्दिष्टं तत्र यङ्लुकि, यथा- 'अजङ्गमीत्' इत्यत्र लृकारानुबन्धनिर्दिष्टत्वाच्च्लेरङ् न। गणनिर्दिष्टमपि यङ्लुकि न, यथा-'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इतीनिण्णषेधो न। ववर्तिष्यति। यत्रैकाज्ग्रहणं तदपि

आगम) = अबोभवीत्। ईट् आगम के अभाव में-अबोभोत्। (९) ✓ भू + यङ् (यङ् का लुक्, द्वित्व, अभ्यासकार्य)- बोभू (धातुत्व, लङ् = प्र० पु० द्वि० व०-'तस्' = 'ताम्', अट्, अपित् सार्वधातुक 'तस्' के ङिद्वत् होने से गुण का निषेध) = अबोभूताम्। (१०) ✓ भू + यङ् (यङ्लुक्, द्वित्व, अभ्यासकार्य)- बोभू (धातुसंज्ञा, लङ् = प्र० पु० ब० व०-'झि', 'झि' = 'जुस्' = 'उस्'- 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च', ऊ = उवङ् = 'उव्', स् = र् = :, अट्) = अबोभुवुः। (११) यङ्लुगन्त ✓ बोभू (विधिलिङ् प्र० पु० ए० व० तिप् = 'ति', शप्, अदादित्वात् शप् का लुक्, यासुट् = यास्, इकारलोप-'इतश्च', 'स्' का लोप-'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य') = बोभूयात्। (१२) वि० लि० प्र० पु० द्वि० व०-बोभूयाताम्। (१३) वि० लि० प्र० पु० ब० व०-बोभूयुः। (१४) यङ्लुगन्त बोभू (आशीर्लिङ् = तिप् = ति, यासुट् = 'यास्', इकारलोप, 'स्' का लोप-'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च') = बोभूयात्। (१५) आ० लि० प्र० पु० द्वि० व०-बोभूयास्ताम्। (१६) आ० लि० प्र० पु० ब० व०-बोभूयासुः। (१७) यङ्लुगन्त बोभू (धातुसंज्ञा, लुङ् = तिप् = ति, च्लि, च्लि = सिच् = 'स्')-बोभू स् ति (इकारलोप-'इतश्च' सार्वधातुकसंज्ञा, सिच् के 'स्' का लोप-'गातिस्था०', विकल्प से ईट् = 'ई', वुक् = 'व्' का आगम, अट् = 'अ' का आगम) = अबोभूवीत्। ईट् के अभावपक्ष में- अबोभोत्। (१८) लुङ् प्र० पु० द्वि० व०-अबोभूताम्। (१९) लुङ् प्र० पु० ब० व०-अबोभुवुः। (२०) लृङ्-अबोभविष्यत्। (२१) ✓ गम् + यङ् ('यङ्' का लुक्-'यङोऽचि च', प्रत्ययलक्षण से धातु को द्वित्व-'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'ग्' = 'ज्'-'कुहोश्चुः', नुम् = 'न्' आगम- 'नुगतो०', न् = ं अनुस्वार = 'ङ्' परसवर्ण)-जङ्गम् (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप्, शप् का लुक्-'अदिप्रभृतिभ्यः', विकल्प से ईट्-'यङो वा') = जङ्गमीति। ईट् के अभाव पक्ष में-जङ्गम् ति (न् = ं अनुस्वार-'नश्चा०', परसवर्ण) = जङ्गन्ति। (२२) यङ्लुगन्त ✓ जङ्गम् (लट् = प्र० पु० द्वि० व० 'तस्', अनुनासिकलोप-'अनुदात्तोपदेश'०, स् = र् = :) = जङ्गतः। (२३) यङ्लुगन्त ✓ जङ्गम् (लट् = प्र० पु० ब० व० 'झि', 'झ्' = 'अत्'-'अदभ्यस्तात्', शप् का लुक्, उपधा 'अ' का लोप-'गमहन०') = जङ्ग्मति।

✓ गम् धातु यङ्लुगन्त लट् लकार के रूप

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र० पु०-	जङ्गमीति, जङ्गन्ति	जङ्गतः	जङ्ग्मति
म० पु०-	जङ्गमीषि, जङ्गंसि	जङ्गथः	जङ्गथ
उ० पु०-	जङ्गमीमि, जङ्गन्मि	जङ्गन्वः	जङ्गन्मः

इति वचनान्न इणिनषेधः। जङ्गमिता। अनुनासिकलोपस्याऽऽभीयत्वेनाऽसिद्धत्वान्न हेर्लुक्। जङ्गहि। 'मो नो धातोः'। अजङ्गन्। अनुबन्धनिर्देशान्न च्लेरङ्–अजङ्गमीत्।

(८८५) रुग्रिकौ च लुकि ७।४।९१ । ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रुक्, रिक्, रीक्–एते स्युर्यङ्लुकि। **(८८६) ऋतश्च ७।४।९२** । ऋदन्ताद्धातोरपि तथा। वर्वृतीति। वरिवृतीति। वरीवृतीति। वर्वर्ति। वरिवर्ति। वरीवर्ति। वर्वृतः ३। वर्वृतति ३।

यङ्लुकि न, यथा–'जङ्गमिते'त्यत्र 'एकाच उपदेशे' इतीण्निषेधो न। तेन सर्वेऽप्यनिट्का धातवो यङ्लुकि सेट्का भवन्तीति।

(८८५) **रुग्रिकाविति**। 'रीगृदुपधस्य चे'त्यतः 'ऋदुपधस्ये'त्यनुवर्तते, चकारेण 'रीगि'-त्यपि। 'अत्र लोपः' इत्यस्मादभ्यासस्येत्यनुवर्तते। तदाह–**ऋदुपधस्येत्यादिना**।

(८८६) **ऋतश्चेति**। पूर्ववत् 'रुग्रिकौ, लुकि, रीक्, अभ्यासस्ये'ति पदान्यत्रानुवर्तन्ते। अभ्यासस्य रुक्-रिक्-रीक् इत्यागमा भवन्तीत्यर्थः। **वर्वृतीति**– 'पुनः पुनः अतिशयेन वा वर्तते'

शितपाशपेति– शितप्-निर्दिष्ट कार्य, शप् से निर्दिष्ट कार्य, अनुबन्ध-निर्दिष्ट, गण-निर्दिष्ट और जिसमें एकाच् ग्रहण हो ऐसे सूत्र से निर्दिष्ट कार्य– ये पाँचों कार्य यङ्लुक् में नहीं होते।

(२४) ✓ गम् (यङ्, यङ्लुक्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, नुक्, अनुस्वार, परसवर्ण)– जङ्गम् (धातुसंज्ञा, लुट् = तिप् = डा = 'आ', तास्, इट्, टिलोप) = जङ्गमिता (यहाँ यङ्लुक् होने से उक्त कारिका के अनुसार 'एकाच उपदेशे०' से प्राप्त इट् का निषेध नहीं होता)। (२५) यङ्लुगन्त ✓ जङ्गम् (धातुसंज्ञा, लोट् = सिप् = सि = 'हि'–'सेर्ह्यपिच्च', 'म्' अनुनासिक का लोप–'अनुदात्तोपदेश०') = जङ्गहि। (यहाँ अकार से परे 'हि' होने से उसका 'अतो हेः' से लोप प्राप्त हुआ, परन्तु पूर्व में विहित 'म्' का लोप आभीयत्वेन असिद्ध होने के कारण (अकार से परे न होने से) 'हि' का लोप नहीं होता। (२६) ✓ गम् + यङ् (यङ्लुक्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, नुक्, अनुस्वार, परसवर्ण)– जङ्गम् (धातुत्व, लङ् = तिप् = ति, शप्, शप् का लुक्, विकल्प से ईट् = 'ई', अट्, इकारलोप–'इतश्च') = अजङ्गमीत्। ईट् न होने पर–'अजङ्गम् त्' ('त्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः', 'म्' = 'न्'–'मो नो धातोः') = अजङ्गन्। (२७) ✓ गम् (यङ्लुक्, पूर्ववत् कार्य)– जङ्गम् (धातुसंज्ञा, लुङ् = तिप् = ति, अट्, इकारलोप)– अजङ्गम् त् (च्लि, च्लि = सिच् = 'स्', इट् = 'इ' आगम, ईट् = 'ई' का आगम–'अस्तिसिचोऽपृक्ते', 'स्' का लोप–'इट ईटि', इ + ई = 'ई'–दीर्घ) = अजङ्गमीत्।

(८८५) **पद**– रुग्रिकौ, च, लुकि। **अनुवृत्ति**– ऋदुपधस्य, रीक्, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– यङ्लुक् के विषय में ऋकारोपध धातु के अभ्यास को क्रमशः रुक्, रिक् और रीक् का आगम होता है।

विमर्श– यहाँ 'रीगृदुपधस्य च' (७।४।९०) सूत्र तथा 'अत्र लोपः' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''यङ्लुक् में ऋकार उपधा वाले अङ्ग के अभ्यास को क्रम से रुक् (= र्), रिक् (= रि) तथा रीक् (= री) आगम होते हैं।''

(८८६) **पद**– ऋतः, च। **अनुवृत्ति**– रुग्रिकौ, लुकि, रीक्, अभ्यासस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ऋदन्त धातु के अभ्यास को भी यङ्लुक् में रुक्, रिक् और रीक् आगम होते हैं। वर्वृतीति, वरीवृतीति, वरीवर्ति इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८८५) से 'रुग्रिकौ, लुकि', 'रीगृदुपधस्य च' (७।४।९०) से 'रीक्' तथा

वर्वर्तामास ३। वर्वर्तिता ३। गणनिर्दिष्टत्वान्न वृद्भ्यश्चतुर्भ्य इति न। वर्वर्तिष्यति ३। अवर्वृतीत् ३। अवर्वर्त ३। सिपि 'दश्चे'ति रुत्वपक्षे– 'रो रि'। अवर्वाः ३। गणनिर्दिष्टत्वादङ् न। अवर्वर्तीत् ३। चर्करीति। चरिकरीति। चरीकरीति। चर्कर्ति।

इत्यस्मिन्नर्थे 'वृतु' धातोर्यङि, 'यङोऽचि चे'त्यनेन यङो लुकि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिशेषे 'रुग्रिकौ च लुकि' इत्यनेन क्रमशः रुक्, रिक्, रीगागमे जाते पूर्वं रुगागमेऽनुबन्धलोपे प्रत्ययलक्षणेन धातुत्वे लटि प्रथमपुरुषैकवचने तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'चर्करीतञ्चे'ति अदादौ पाठात् 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इत्यनेन शपो लुकि 'यङो वा' इति विभाषया ईटि अनुबन्धलोपे–'वर्वृतीति' इति। रिक्पक्षे–'वरिवृतीति' इति रूपम्। रीक्पक्षे 'वरीवृतीति' इति त्रीणि रूपाणि भवन्ति। 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति निषेधान्नात्र 'पुगन्ते'ति गुणः। ईडभावपक्षे–'पुगन्तलघूपधस्य चे'त्यनेन उपधागुणे रपरे सति रुक्पक्षे 'वर्वर्ति' इति, रिक्पक्षे- 'वरिवर्ति' इति, रीक्पक्षे च–'वरीवर्ति' इति त्रीणि रूपाणि भवन्ति। इत्थं षड्रूपाणि जायन्ते। **चर्करीति इति**। कृधातोर्यङि यङ्लुकि द्वित्वे उरदत्वे रपरत्वे हलादिशेषे चर्त्वे 'ऋतश्चे'त्यनेन

'अत्र लोपः०' (७।४।५८) से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– ''ऋकारान्त धातु के अभ्यास को भी यङ्लुक् होने पर रुक्, रिक् तथा रीक् का आगम होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ वृतु (वृत्) + यङ् (यङ् का लुक्–'यङोऽचि च', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, 'ऋ' = 'अ'–'उरत्' रपर, हलादिशेष, 'रुक्' = 'र्' का आगम–'रुग्रिकौ च लुकि')– वर्वृत् (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप्, शप् का लुक्–'अदिप्रभृतिभ्यः', विकल्प से ईट् = 'ई'–'यङो वा') = वर्वृतीति। रिक् (= रि) पक्ष में–वरिवृतीति। रीक् (= री) पक्ष में– वरीवृतीति। यहाँ 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से निषेध होने से 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण नहीं होता। ईट् के अभावपक्ष में (उपधागुण, रपर, रुक् होने पर)–वर्वर्ति। रिक् पक्ष में–वरिवर्ति। रीक् पक्ष में–वरीवर्ति। (२) ✓ वृत् (यङ्लुक्, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष, रुक् (= र्) का आगम)– वर्वृत् (धातुसंज्ञा, लट् = तस्, स् = र् = :) = वर्वृतः। रिक्पक्ष में–वरिवृतः। रीक्पक्ष में– वरीवृतः। इस प्रकार तीन रूप सिद्ध होते हैं। (३) ✓ वृत् (यङ्लुक्, अभ्यासकार्य होकर)– ववृत् (धातुसंज्ञा, लट् = 'झि' 'झ्' = 'अत्', रुक् 'र्' का आगम–'रुग्रिकौ च लुकि') = वर्वृतति। रिक्पक्ष में–वरिवृतति। रीक्पक्ष में– वरीवृतति। (४) लिट् में– वर्वर्तामास, वरिवर्तामास तथा वरीवर्तामास। (५) लुट् में– वर्वर्तिता, वरिवर्तिता, वरीवर्तिता। (६) लृट् प्र० पु० ए० व० में– वर्वर्तिष्यति, वरिवर्तिष्यति तथा वरीवर्तिष्यति (यहाँ वृतादिगण गण-निर्दिष्ट होने के कारण 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' से इट् का निषेध नहीं होता।) (७) ✓ ववृत् (यङ्लुगन्त, धातुसंज्ञा, लङ् = तिप् = ति, अट्, इकारलोप, 'रुक्' = 'र्' का आगम, शप्, शब्लुक्, विकल्प से ईट् = 'ई') = अवर्वृतीत्। ईट् के अभावपक्ष में (गुण, रपर)–अवर्वर्त। (उक्तवत् तीन-तीन रूप बनते हैं।) (८) ✓ वृत् (यङ्लुक्, प्रत्ययलक्षण से यङन्त होने से द्वित्व, अत्व, रपर, हलादिशेष)–ववृत् (धातुसंज्ञा, लङ् = सिप् = 'सि', अट् = 'अ', शप्, शप् का लुक्, अभ्यास को रुक् = 'र्' का आगम–'रुग्रिकौ च लुकि', 'ऋ' = 'अ'–उपधागुण, रपर)–अ वर् वर्त् सि ('त्' = 'द्'–जश्त्व, द् = रु = र्–विकल्प से–'दश्च')– अ व र् व र् र् सि (पूर्व 'र्' का लोप–'रो रि', इकारलोप–'इतश्च', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः', अ = आ–दीर्घ–'ढ्रलोपे पूर्वस्य०', र् = :) = अवर्वाः। रिक्पक्ष में–अवरिवाः। रीक्पक्ष में– अवरीवाः। 'द्' के स्थान में रुत्व के अभावपक्ष में

चरिकर्ति। चरीकर्ति। चर्कृतः ३। चर्क्रति ३। चर्कराञ्चकार ३। चर्करिता ३। अचर्करीत् ३। अचर्कः ३। चर्कृयात् ३। आशिषि रिङ्- चर्क्रियात् ३। अचर्कारीत् ३। 'ऋतश्चे'ति तपरत्वान्नेह- कॄ विक्षेपे। चाकर्ति। चाकरीति। चाकीर्तः। चाकीर्हि। चाकराणि।

क्रमशः 'रुक् रिक् रीक्' इत्यागमेषु पूर्वं रुगागमेऽनुबन्धलोपे, प्रत्ययलक्षणेन धातुत्वाल्लटि तिपि, शपि अनुबन्धलोपे, शब्लुकि 'यङो वे'त्यनेन पाक्षिके ईटि अनुबन्धलोपे 'चर्करीति' इति। रिक्पक्षे-चरिकरीति, रीक्पक्षे च-'चरीकरीति' इति। ईडभावपक्षे गुणे रपरे कृते चर्कति, चरिकर्ति चरीकर्ति च रूपत्रयम्।

अचाकारीत्। कॄधातोर्यङि यङो लुकि प्रत्ययलक्षणेन द्वित्वेऽभ्यासत्वे उरदत्वे रपरे हलादिशेषे चुत्वे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे 'चाकॄ' इत्यस्य धातुत्वे लुङि तिपि अनुबन्धलोपे,

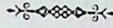
---

विकल्प से चर्त्व-अवर्वर्त्, अवरिवर्त्, अवरीवर्त्। अवर्वर्द्, अवरिवर्द्, अवरीवर्द् रूप बनते हैं। (९) लुङ् प्र० पु० ए० व० में-अवर्वर्तीत्, अवरिवर्तीत्, अवरीवर्तीत्। 'पुषादिद्युतादि०' सूत्र में गण-निर्दिष्ट होने से ✓ वृत् का द्युतादि में पाठ होने से यहाँ च्लि के स्थान में 'अङ्' नहीं होता। (१०) ✓ कृ + यङ्लुक् (द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष, 'क्' = 'च्'-'कुहोश्चुः')-चकृ (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप्, शप् का लुक्, विकल्प से ईट् = 'ई'-'यङो वा', रुक् = 'र्', रिक् = 'रि', रीक् = 'री' का क्रमशः आगम-'ऋतश्च' गुण, रपर) = चर्करीति। रिक्पक्ष में-चरिकरीति। रीक्पक्ष में-चरीकरीति। ईट् के अभाव पक्ष में- चर्कर्ति, चरिकर्ति, चरीकर्ति। (११) लट् प्र० पु० द्विवचन-चर्कृतः, चरिकृतः, चरीकृतः। (१२) लट् प्र० पु० बहुवचन-चर्क्रति, चरिक्रति, चरीक्रति। (१३) लिट् प्र० पु० एकवचन-चर्कराञ्चकार, चरिकराञ्चकार, चरीकराञ्चकार। (१४) लुट् प्र० पु० ए० व०-चर्करिता, चरिकरिता, चरीकरिता। (१५) लङ् प्र० पु० ए० व०-अचर्करीत्। ईट् के अभाव पक्ष में- अचर्करत् ('त्' का लोप-'हल्ङ्यादिभ्यः', र् = :) = अचर्कः। (१६) विधिलिङ्-चर्कृयात्, चरिकृयात्, चरीकृयात्। (१७) आशीर्लिङ्-चर्क्रियात्, चरिक्रियात्, चरीक्रियात्। (१८) लुङ् प्र० पु० एकवचन-अचर्कारीत्, अचरिकारीत्, अचरीकारीत्।

'ऋतश्च' सूत्र में तपरकरण होने से दीर्घ ॠकारान्त 'कॄ विक्षेपे' इत्यादि धातुओं के अभ्यास को रुक्, रिक् तथा रीक् का आगम नहीं होता। यथा- (१) ✓ कॄ (यङ्लुक्, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष, 'क्' = 'च्'-चुत्व-'कुहोश्चुः', 'अ' = 'आ'-दीर्घ-'दीर्घोऽकितः')- चाकॄ (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = ति, शप्, विकल्प से ईट् = 'ई'-'यङो वा', 'ॠ' = 'अ'-गुण, रपर, शप् का लुक्) = चाकरीति। ईट् के अभावपक्ष में-चाकर्ति। (२) ✓ कॄ + (यङ्, यङ्लुक्, द्वित्व, पूर्ववत् अभ्यासकार्य, दीर्घ)-चाकॄ (धातुसंज्ञा, लट् = तस्, शप, शब्लुक्, 'तस्' के ङित् होने से गुण का निषेध-'सार्वधातुकमपित्', 'ॠ' = 'इत्'-इत्व, रपर, 'इ' = 'ई'-दीर्घ-'हलि च', स् = र् = :) = चाकीर्तः। (३) लट् प्र० पु० बहुवचन-चाकिरति। (४) लोट् म० पु० एकवचन-चाकीर्हि। (५) लोट् उ० पु० एकवचन-चाकराणि (६) ✓ कॄ + यङ्लुक् (द्वित्व, पूर्ववत् अभ्यासकार्य, दीर्घ)-चाकॄ (धातुसंज्ञा, लङ् = तिप् = ति, अट्, शप्, शप् का लुक्, 'ईट्' = 'ई'-विकल्प से-'यङो वा', 'ॠ' = 'अ'-गुण, रपर, इकारलोप-'इतश्च')-अचाकरीत्। ईट् के अभाव पक्ष में- अ चा क र् त् ('त्' का लोप-'हल्ङ्यादिभ्यः', र् = :) = अचाकः। (७) यङ्लुगन्त चाकॄ (लङ् = तस् = 'ताम्', अट्, शप्, लुक्, ङित्त्वात् गुणाभाव, 'ॠ' = 'इ' इत्व, रपर, दीर्घ) = अचाकीर्ताम्। (८) पूर्ववत् यङ्लुगन्त चाकॄ (धातुसंज्ञा, लङ् = झि = जुस् = 'उस्'-'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च', शप्, लुक्, 'ॠ' = 'अ'-

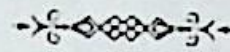
अचाकरीत्। अचाकः। अचाकीर्ताम्। अचाकरुः। अचाकारीत्। अचाकारिष्टाम्। अचाकारिषुः। तातर्त्ति। तातरीति इत्यादि।

इति यङ्लुगन्तप्रकरणम् ।



अडागमे, च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे 'अ चा कृ स ति' इति जाते, 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति ऋकारस्य वृद्धौ रपरे 'आर्धधातुकस्ये'त्यनेन इटि, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीटि 'इट ईटि' इत्यनेन सिचो लोपे 'इतश्चे'त्यनेन इकारलोपे–'अचाकारीत्' इति।

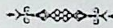
इति यङ्लुगन्तप्रकरणम् ।



गुण, रपर, स् = र् = :) = अचाकरुः। (९) ✓ कृ + पूर्ववत् यङ्लुगन्त चाकृ (धातुसंज्ञा, लुङ् = तिप् = 'ति', अट्, च्लि, च्लि = सिच् = 'स्', इकारलोप)– अ चाकृ स् त् (इट्, ईट् = 'ई'– 'अस्तिसिचः०', 'ऋ' = 'आ'–वृद्धि–'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु', 'स्' का लोप–'इट ईटि', इ + ई = 'ई'–दीर्घ) = अचाकारीत्। (१०) लुङ् प्र० पु० द्विवचन–अचाकारिष्टाम्।

(१) ✓ तृ प्लवनतरणयोः (यङ्, यङ्लुक्, द्वित्व, अभ्यासत्व, अत्व, रपर, हलादिशेष, 'अ' = 'आ'–दीर्घ–'दीर्घोऽकितः')–तातृ (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप्, शप् का लुक्, विकल्प से ईट् = 'ई'–'यङो वा', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर) = तातरीति। ईट् के अभाव पक्ष में–तातर्ति।

यङ्लुगन्त-प्रकरण समाप्त ।



अथ नामधातुप्रकरणम्

(८८७) सुप आत्मनः क्यच् ३।१।८ । इषिकर्मण एषितुरात्मसम्बन्धिनः, सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यज्वा स्यात्। **(८८८) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१ ।** एतयोरवयवस्य सुपो लुक् स्यात्। **(८८९) क्यचि च ७।४।३३ ।** अवर्णस्य ईत्स्यात्। आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति। * मान्तप्रकृतिकसुबन्तादव्ययाच्च क्यज्न *। किमिच्छति।

अथेदानीं नामधातुरूपाणां प्रक्रिया प्रोच्यते–

(८८७) **सुप आत्मन इति**। 'सुपः' इति पदात्प्रत्ययग्रहणपरिभाषया सुबन्तादिति लभ्यते। 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वे'त्यतः 'कर्मणः, इच्छायां वा' इत्यनुवर्तते। 'कर्मणः' इति पञ्चमी। आत्मन्शब्दोऽत्र स्वपर्यायः। स्वश्चेच्छायां सन्निधापितत्वादेषितैव विवक्षितः। तदाह– **इषिकर्मण इत्यादि**।

(८८८) **सुपो धातुप्रातिपदिकयोरिति**। 'ण्यक्षत्रियार्ष०' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते। तदाह– **एतयोरित्यादि**।

(८८९) **क्यचि चेति**। 'ई घ्राध्मोरि'त्यत 'ई' इति, 'अस्य च्वौ' इत्यतः 'अस्ये'ति चानुवर्तते। अत आह–**अवर्णस्येति**। **पुत्रीयति**– आत्मनः पुत्रमिच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तपुत्रशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' इत्यनेन क्यचि 'सनाद्यन्ता धातवः' इत्यनेन धातुसंज्ञायां 'सुपो

यङन्त और यङ्लुगन्त धातुरूपों की साधनिका के अनन्तर नाम(शब्द)धातुरूपों की प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है।

(८८७) **पद**– सुपः, आत्मनः, क्यच्। **अनुवृत्ति**– कर्मणः, इच्छायां वा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– इष् धातु के कर्म और इच्छा कर्ता के सम्बन्धी के वाचक सुबन्त से इच्छा अर्थ में विकल्प से 'क्यच्' (= य) होता है।

विमर्श– यहाँ (८३६) सूत्र से 'कर्मणः', 'इच्छायाम्' और 'वा' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा के द्वारा 'सुपः' पद से 'सुबन्ताद्' अर्थ लिया जाता है। 'कर्मणः' पञ्चम्यन्त पद है। अतः ''इच्छा करने वाले के आत्म सम्बन्धी इच्छा के कर्म सुबन्त से इच्छा अर्थ में विकल्प से क्यच् प्रत्यय होता है।''

(८८८) **पद**– सुपः, धातुप्रातिपदिकयोः। **अनुवृत्ति**– लुक्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– धातु और प्रातिपदिक के अवयव सुप् का लुक् होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'ण्यक्षत्रियार्ष०' (२।४।५८) सूत्र से 'लुक्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार उक्त अर्थ सम्पन्न होता है।

(८८९) **पद**– क्यचि, च। **अनुवृत्ति**– अस्य, ई। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– क्यच् प्रत्यय के परवर्ती रहते अवर्ण के स्थान में ईकार अन्तादेश होता है। आत्मनः पुत्रमिच्छति–पुत्रीयति।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'अस्य च्वौ' (७।४।३२) से 'अस्य' की तथा 'ई घ्राध्मोः' (७।४।३१) से 'ई' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''क्यच् के परे रहते भी अवर्णान्त अङ्ग को ईकार आदेश होता है।''

इदमिच्छति। (८९०) अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्द्धेषु ७।४।३४ । एते क्यजन्ता निपात्यन्ते बुभुक्षादिष्वर्थेषु। अशनायति। उदन्यति। धनायति। बुभुक्षादौ किम्? अशनीयति। उदनीयति। धनीयति। **(८९१) अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि ७।१।५१ ।** एषां क्यचि असुक्। * अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम् *। अश्वस्यति

धातुप्रातिपदिकयो:' इत्यनेन सुपो (अमो) लुकि, 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्येत्संज्ञायां 'हलन्त्यमि'ति चस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोप:' इति कचयोर्लोपे 'क्यचि चे'त्यनेन पुत्रशब्दे अकारस्य ईत्वे 'पुत्रीय' इति जाते, लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इत्यनेन पररूपे 'पुत्रीयति' इति रूपम्।

(८९०) **अशनायेति**। क्यज्विशिष्टिमेतेषां निपातनं भवतीत्यर्थ:। 'सुप आत्मन: क्यच्' इत्यनेनैव सिद्धे उदकशब्दस्योदन्नादेशार्थं तथान्येषां दीर्घत्वनिपातनार्थमपि सूत्रमित्यवगन्तव्यम्। तच्च सूत्रनिर्दिष्टार्थेष्वेव नान्यार्थेषु। **अशनायति**– अशनमिच्छतीत्यर्थे 'अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षा-पिपासागर्द्धेषु' इति निपातनात्क्यचि अनुबन्धलोपे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:' इति सुब्लुकि निपातनादेव दीर्घे धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे, पररूपे 'अशनायति' इति रूपम्।

(८९१) **अश्वक्षीरेति**। सूत्रेऽस्मिन् 'आज्जसेरसुक्' इत्यस्मादसुक् इत्यनुवर्तते। तदाह–

उदाहरण– आत्मन: पुत्रमिच्छति (अपना पुत्र चाहता है) अर्थ में द्वितीयान्त पुत्र + क्यच् (= 'य'–'सुप आत्मन: क्यच्', धातुसंज्ञा–'सनाद्यन्ता धातव:', सुप् का लुक्–'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:')– पुत्र य ('अ' = 'ई'–'क्यचि च', लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', अ + अ = 'अ'–पररूप– 'अतो गुणे') = पुत्रीयति।

(वा०)– मकारान्त प्रकृतिक सुबन्त और अव्यय से क्यच् नहीं होता।

उदाहरण– किमिच्छति (क्या चाहता है)? इदमिच्छति (यह चाहता है)।

(८९०) **पद**– अशनायोदन्यधनाया:, बुभुक्षा-पिपासा-गर्द्धेषु। **अनुवृत्ति**– क्यचि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– बुभुक्षा, पिपासा और गर्द्ध (निन्दा) अर्थ में क्रमश: अशनाय, उदन्य और धनाय-क्यजन्त निपातन होते हैं। अशनायति। उदन्यति। धनायति।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८८९) से 'क्यचि' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''क्यच् परे रहते उक्त अर्थों में अशनाय, उदन्य और धनाय निपातित होते हैं।''

उदाहरण– (१) 'अशनम् इच्छति' (खाना चाहता है) इस अर्थ में– अशन + क्यच् (= 'य'–निपातनात्– 'अशनायोदन्यधनाया०', अम् (सुप्) का लुक्–'सुपो धातु०', 'अ' = 'आ'–निपातन से दीर्घ)–अशनाय + लट् (= तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = अशनायति। (२) उदक + क्यच् (= 'य', उदक् = 'उदन्')–उदन्य + लट् (= तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = उदन्यति। (३) धन + क्यच् (= 'य', दीर्घ–निपातन से)– धनाय + लट् (= तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = धनायति।

प्रत्युदाहरण– बुभुक्षादौ किमिति? प्रकृत सूत्र में बुभुक्षादि अर्थ का ग्रहण किया गया है, अत: इन अर्थों के अतिरिक्ति अर्थ में निपातन नहीं होता। वहाँ 'क्यचि च' से ईकारादेश होकर अशनीयति, उदनीयति, धनीयति रूप बनते हैं।

(८९१) **पद**– अश्वक्षीरवृषलवणानाम्, आत्मप्रीतौ, क्यचि। **अनुवृत्ति**– असुक्। **विधिसूत्र**।

वडवा। वृषस्यति गौः। * क्षीरलवणयोर्लालसायाम् *। क्षीरस्यति बालः। लवणस्यत्युष्ट्रः। * सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुकौ *। दधिस्यति। दध्यस्यति। (८९२) **नः क्ये १।४।१५** । क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं स्यान्नान्यत्। 'न्'लोपः। राजीयति। नान्तमेवेति किम्? वाच्यति। 'हलि च'। गीर्यति। पूर्यति। 'धातोरि'त्येव। तेनेह न-

---

एषामिति। **अश्वस्यतीति**। वडवा मैथुनमिच्छतीत्यर्थे अश्वशब्दात् क्यचि अनुबन्धलोपे, 'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' इति वार्तिकसहयोगेन 'अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि' इत्यनेनासुगागमे अनुबन्धलोपे 'अश्व + अस् + य' इति जाते, सवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'अतो गुणे' इति पररूपे धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे पररूपे कृते 'अश्वस्यति' इति।

(८९२) **नः क्ये इति**। 'सुप्तिङन्तं पदमि'त्यतः पदमित्यनुवर्तते। तेन क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं नान्यदिति नियमः। **राजीयति**– आत्मानं राजानमिच्छतीति विग्रहे क्यच्यनुबन्धलोपे धातुत्वे सुपो लुकि 'नः क्ये' इति नियमेन पदत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नकारलोपे 'क्यचि चे'त्यनेन अकारस्य ईत्वे, 'राजीय' इत्यस्य धातुत्वाल्लटि तिपि, शपि अनुबन्धलोपे, पररूपे 'राजीयति' इति।

मूलार्थ– आत्मप्रीति अर्थ में 'क्यच्' के परवर्ती रहते अश्व, क्षीर, वृष और लवण शब्दों से असुक् का आगम होता है।

विमर्श– इस सूत्र में 'आज्जसेरसुक्' (७।१।५१) से 'असुक्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– "आत्मा की प्रीति विषय में क्यच् के परे रहते अश्व, क्षीर, वृष तथा लवण शब्दों को 'असुक्' (= अस्) का आगम होता है।"

उदाहरण– (१) 'वडवा मैथुनमिच्छति' अर्थ में– अश्व + क्यच् (= 'य', असुक् = 'अस्' आगम–'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' वार्तिक के सहयोग से 'अश्वक्षीरवृष०' से)–अश्व अ स् य (अ + अ = 'अ' पररूप–'अतो गुणे')– अश्वस्य (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = अश्वस्यति। (२) वृष + क्यच् (= 'य', असुक् = 'अस्', पररूप)– वृषस्य (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = वृषस्यति।

(वा०)– क्षीर और लवण शब्दों से लालसा अर्थ में 'असुक्' आगम होता है।

उदाहरण– (१) क्षीर + क्यच् (= 'य', असुक् = अस्–'क्षीरलवणयोर्लालसायाम्' वार्तिक के सहयोग से 'अश्वक्षीर०' से पररूप)– क्षीरस्य (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ' पररूप) = क्षीरस्यति। (२) लवण + क्यच् (= 'य', असुक् = 'अस्', पररूप)– लवणस्य (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = लवणस्यति उष्ट्रः।

(वा०)– लालसा अर्थ में सभी प्रातिपदिकों से 'सुक्' और 'असुंक्' का आगम होता है।

उदाहरण– (१) दधि + क्यच् (= 'य', सुक् = 'स्' का आगम–'सर्वप्रातिपदिकानाम्०')– दधिस्य + लट् (= तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = दधिस्यति। असुक् पक्ष में– दधि अस् य ('इ' = 'य्'-यण्, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = दध्यस्यति।

(८९२) **पद**– नः, क्ये। **अनुवृत्ति**– पदम्। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ– 'क्यच्' और 'क्यङ्' के परवर्ती रहते नान्त शब्द की ही पदसंज्ञा होती है; अन्य की नहीं। नलोप। राजीयति।

दिवमिच्छति दिव्यति। समिध्यति। (८९३) क्यस्य विभाषा ६।४।५० । हलः परयोः क्यच्क्यङोर्लोपो वाऽऽर्द्धधातुके। 'आदेः परस्य'। 'अतो लोपः'। तस्य

---

(८९३) **क्यस्येति**। 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम्। 'अतो लोपः' इत्यतो लोप इति, 'यस्य हलः' इत्यतो हल इति चानुवर्तते। अत आह–**हलः परयोरित्यादि**। **समिधिता**– आत्मनः समिधमिष्टा इत्यस्मिन्विग्रहे क्यचि अनुबन्धलोपे धातुसंज्ञायां सुपो लुकि, धातुत्वाल्लुटि तिपि, 'स्यतासी लृलुटोः' इति तास्प्रत्यये, तिपः डादेशेऽनुबन्धलोपे, डित्त्वाट्टिलोपे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इत्यनेन इटि अनुबन्धलोपे 'क्यस्य विभाषे'ति विभाषया यकारलोपे 'अतो लोपः' इत्यकारलोपे 'समिधिता' इति। यलोपाऽभावपक्षे–'समिध्यिता' इति।

विमर्श– 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) से 'पदम्' की अनुवृत्ति आती है। 'क्य' से क्यच् और क्यङ् का सामान्यतया ग्रहण किया जाता है। तदनुसार– ''क्यच् और क्यङ् के परे रहते नकारान्त शब्द की ही पदसंज्ञा होती है; अन्य की नहीं।''

उदाहरण– राजन् + क्यच् (= 'य'–'सुप आत्मनः क्यच्', धातुसंज्ञा, सुप् का लुक्)– राजन् य ('राजन्' की पदसंज्ञा–'नः क्ये', 'न्' का लोप–'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य', 'अ' = 'ई'– 'क्यचि च')– राजीय + लट् (= तिप् = ति, शप् = 'अ' पररूप) = राजीयति।

नान्तमेवेति। उक्त सूत्र में 'नः' से नान्त अर्थ लिया जाता है। तदनुसार नान्त पदों की ही पदसंज्ञा होने से 'वाच्यति' में 'वाच्' की पदसंज्ञा नहीं होती। अन्यथा यहाँ कुत्व और जश्त्व की प्रवृत्ति हो जाती।

उदाहरण– (१) 'आत्मनः गिरम् इच्छति' गिर् अम् + क्यच् (= 'य', धातुसंज्ञा, सुप् (अम्) का लुक्, 'इ' = 'ई'– उपधादीर्घ–'हलि च')– गीर्य + लट् (= तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = गीर्यति। (२) पुर् अम् + क्यच् (उक्तवत् प्रक्रिया)= पूर्यति। '**धातोरि**'त्येवेति– 'हलि च' सूत्र के द्वारा 'रेफ' और 'व्' अन्तवाले पदों की उपधा को दीर्घ विधान किया जाता है। परन्तु 'र्' और 'व्' दोनों वर्ण धातु के अवयव होने चाहिए। ✓ गॄ धातु से (क्विप्, इत्व, रपर) = गिर्। ✓ पॄ + क्विप् (उत्व, रपर) = पुर्। इनमें धातु का रेफ 'व्' होने से उसकी उपधा को दीर्घ हो जाता है। 'दिवमात्मन इच्छति' अर्थ में दिव् अम् सुबन्त से क्यच् (= 'य', सुप् का लुक्, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = दिव्यति। धातु का वकार न होने से 'हलि च' से उपधादीर्घ नहीं हुआ।

(८९३) **पद**– क्यस्य, विभाषा। **अनुवृत्ति**– हलः, लोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आर्धधातुक के परवर्ती रहते हल् से परे क्यच् और क्यङ् का विकल्प से लोप होता है। समिधिता।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'यस्य हलः' (६।४।४९) से 'हलः' तथा 'अतो लोपः' (६।४।४८) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''आर्धधातुक परे रहते हल् से उत्तरवर्ती 'क्यच्' और 'क्यङ्' (= **य**' का लोप विकल्प से होता है।''

उदाहरण– (१) आत्मनः समिधमिष्टा (अपनी समिधा चाहेगा) अर्थ में– समिध् अम् + क्यच् (= 'य', सुप् (अम्) का लुक्–'सुपो धातु०')– समिध् य + लुट् (= तिप् = डा = 'आ', तास्, डित्त्वात् टिलोप, इट् = 'इ'–'आर्धधातुकस्येड्०')– समिध् **य** इ ता ('य्' का विकल्प से लोप– 'आदेः परस्य' के निर्देश से 'क्यस्य विभाषा', 'अ' का लोप–'अतो लोपः') = समिधिता। 'य्' लोप के अभावपक्ष में ('अ' का लोप–'अतो लोपः') = समिध्यिता।

स्थानिवद्भावान्नोपधायाः गुणः। समिधिता। **(८९४) काम्यच्च ३।१।९।** उक्तविषये काम्यच्। पुत्रमात्मन इच्छति पुत्रकाम्यति। पुत्रकाम्यिता। **(८९५) उपमानादाचारे ३।१।१०।** उपमानात्कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यच् स्यात्। पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति च्छात्रम्। विष्णूयति द्विजम्। * सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः *। 'अतो गुणे'। कृष्ण

---

(८९४) **'काम्यच्चे'ति**। 'धातोः कर्मणः' इत्यस्मात् 'कर्मणः, इच्छायां वे'त्यनुवर्तते, 'सुप आत्मनः' इत्यस्मात्सुप इति च। अत आह– **उक्तविषय इति**। **पुत्रकाम्यति**– आत्मनः पुत्रमिच्छतीत्यर्थे पुत्र अम् इति सुबन्तात् 'काम्यच्च' इत्यनेन काम्यच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे धातुसंज्ञायाम् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि 'पुत्रकाम्य' इति धातोर्लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे पररूपे 'पुत्रकाम्यति' इति।

(८९५) **उपमानादिति**। 'सुप आत्मनः क्यच्' इत्यतः 'सुपः, क्यच्' इत्यनुवर्तते। तदाह– **उपमानादिति**। **पुत्रीयति च्छात्रम्**– पुत्रमिवाचरतीति विग्रहे 'पुत्र अम्' इति उपमानवाचककर्मणः 'उपमानादाचारे' इत्यनेन क्यचि अनुबन्धलोपे, धातुसंज्ञायां सुपो लुकि, 'क्यचि चे'त्यनेन अकारस्य ईत्वे 'पुत्रीय' इति धातोर्लटि तिपि शपि 'अतो गुणे' इति पररूपे 'पुत्रीयति' इति।

सर्वप्रातिपदिकेभ्य इति। अयं क्विप् आचारेऽर्थे, कर्तरि, उपमानवाचकाद् भवति।

अकारलोप का स्थानिवद्भाव होने से यहाँ लघूपध गुण नहीं होता। क्योंकि स्थानिवद्भाव होने के कारण उपधा में लघु नहीं मिलता।

(८९४) **पद**– काम्यच्, च। **अनुवृत्ति**– सुपः, कर्मणः, इच्छायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– उक्त विषय अर्थात् 'क्यच्' के वषय में काम्यच् प्रत्यय भी होता है। पुत्रकाम्यति। पुत्रकाम्यिता।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८८७) से 'सुपः' तथा 'धातोः कर्मणः०' (८३६) से 'कर्मणः' और 'इच्छायाम्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''आत्मसम्बन्धी सुबन्त कर्म से इच्छा अर्थ में काम्यच् (= काम्य) प्रत्यय भी होता है।

उदाहरण– (१) पुत्रमात्मन इच्छति (अपना पुत्र चाहता है) अर्थ में– पुत्र अम् + काम्यच् (= काम्य–'काम्यच्च', धातुसंज्ञा, अम् (सुप्) का लोप–'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः')– पुत्रकाम्य + लट् (= तिप् = 'ति', शप् 'अ', अ + अ = 'अ'– पररूप) = पुत्रकाम्यति। (२) नामधातु उक्तवत्– पुत्रकाम्य + लुट् (= तिप् = डा = 'आ', 'तास्'–'स्यतासी लृलुटोः', इट् = 'इ', 'अ' का लोप– 'अतो लोपः', डित्त्वाट्टिलोप) = पुत्रकाम्यिता।

(८९५) **पद**– उपमानात्, आचारे। **अनुवृत्ति**– सुपः, क्यच्, कर्मणः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– उपमानवाचक कर्मसंज्ञक सुबन्त से 'आचार' अर्थ में क्यच् प्रत्यय होता है। पुत्रीयति च्छात्रम्। विष्णूयति द्विजम् इत्यादि।

विमर्श– उक्तसूत्रवत् यहाँ भी पूर्वसूत्रों से 'सुपः, क्यच् तथा कर्मणः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'प्रत्ययः, परश्च' का अधिकार है। इस प्रकार ''उपमानवाची सुबन्त कर्म से आचार अर्थ में क्यच् (य) प्रत्यय होता है''। आचार का अर्थ– 'आचरण करना या व्यवहार करना है'। अतः सुबन्त को आचार का कर्म होते हुए उपमान भी होना चाहिए। पूर्वसूत्र 'सुप आत्मनः क्यच्' से विहित क्यच् को इच्छा-क्यच् और प्रकृत सूत्र द्वारा विहित क्यच् को आचार-क्यच् कहा जाता है।

इवाचरति कृष्णाति। स्व इवाचरति स्वति। सस्वौ। (८९६) अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ६।४।१५ । अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात् क्वौ, झलादौ क्ङिति च। इदमिवाचरति इदामति। राजेवाचरति राजानति। 'इन्हन्नि'ति नियमान्नेहोपधादीर्घः–पन्था

---

(८९६) **अनुनासिकस्येति।** 'ढ्रलोपे' इत्यतः दीर्घ इति, 'नोपधायाः' इत्यत 'उपधायाः' इति चानुवर्तते। तदाह– **अनुनासिकान्तस्येति। इदामति–** इदमिवाचरतीत्यर्थे इदमिति प्रातिपदिकात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इति क्विपि तस्य सर्वापहारे लोपे धातुसंज्ञायाम् 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इति उपधायाः दीर्घे, इदामितिधातोर्लटि तिपि, शपि अनुबन्धलोपे संयोगे कृते **इदामति इति।**

उदाहरण– (१) 'पुत्रमिव आचरति' (पुत्र के समान आचरण करता है) अर्थ में– पुत्र अम् + क्यच् (= 'य'–'उपमानादाचारे', धातुसंज्ञा, 'अम्' (सुप्) का लुक्, 'अ' = 'ई'–'क्यचि च')– पुत्रीय (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = पुत्रीयति। (२) विष्णुमिवाचरति द्विजम् (ब्राह्मण के साथ विष्णु के समान आचरण करता है)– विष्णु अम् + (क्यच् = 'य', सुफ् का लुक्, 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ–'अकृत्सार्वधातुकयोः') विष्णु अम् + क्यच् (= 'य', सुप् का लुक्, 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ– 'अकृत्सार्वधातुकयोः')– विष्णूय (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = विष्णूयति।

(वा०)— सभी प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में विकल्प से क्विप् प्रत्यय होता है।

('क्विप्' प्रत्यय का सर्वापहारी लोप हो जाता है। प्रत्ययगत ककार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा, पकार की 'हलन्त्यम्' से और इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा हो जाती है। अतः 'तस्य लोपः' से लोप हो जाता है। अवशिष्ट वकार का 'वेरपृक्तस्य' से लोप हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप हो जाने से केवल धातु का रूप ही शेष रह जाता है।)

उदाहरण– (१) 'कृष्ण इव आचरति' (कृष्ण के समान आचरण करता है) अर्थ में– कृष्ण + क्विप् (क्विप् का सर्वापहार लोप, धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = कृष्णति। (२) 'स्व इवाचरति' (अपने अथवा आत्मीय के समान आचरण करता है)– स्व + क्विप् (सर्वापहार लोप, धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = कृष्णति। (३) क्विबन्त नामधातु ✓ स्व + लिट् (= 'तिप्' = 'णल्', 'अ' = 'आ'–वृद्धि–'अचो ञ्णिति', 'णल्' = 'औ'– 'आत औ णलः', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा– हलादिशेष, ह्रस्व)– सस्वा औ (आ + औ = 'औ'–वृद्धि) = सस्वौ।

(८९६) **पद–** अनुनासिकस्य, क्विझलोः, क्ङिति। **अनुवृत्ति–** उपधायाः, दीर्घः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– क्विप् और झलादि कित्–डित् के परवर्ती रहते अनुनासिकान्त की उपधा को दीर्घ होता है। इदामति। राजानति।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य०' (६।३।११०) से 'दीर्घः' और 'नोपधायाः' (६।४।७) से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "क्वि और झलादि कित्–डित् के परे रहते अनुनासिकान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ रूप आदेश होता है।"

उदाहरण– (१) 'इदमिवाचरति' (इसके समान आचरण करता है।) अर्थ में–इदम् + 'क्विप्'– 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' (क्विप् का सर्वापहार लोप, प्रत्ययलक्षण से क्विबन्त मानकर धातुसंज्ञा, 'अ' = 'आ'–उपधादीर्घ–'अनुनासिकस्य०')–इदाम् + लट् (= तिप् = 'ति', शप् = 'अ')

इवाचरति पथीनति। मथीनति। (८९७) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च ३।१।११ । उपमानात्कर्तुः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यङ् वा स्यात्, सान्तस्य कर्तृवाचकस्य लोपो वा स्यात्। 'क्यङ् वे'त्युक्तेः पक्षे वाक्यम्। 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिरि'ति क्यङ्सलोपयोः सहैव प्रवृत्तिः। लोपश्च व्यवस्थितः। * ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां विभाषया *। कृष्ण इवाचरति कृष्णायते। ओजायते। अप्सरायते। यशायते। यशस्यते।

---

(८९७) **कर्तुरिति**। 'उपमानादाचारे' इति सूत्रम्, 'सुपो धातु०' इत्यतः सुप इति चानुवर्तेते। अत आह– **उपमानात्कर्तुरित्यादिना**। **कृष्णायते**– कृष्ण इवाचरतीत्यर्थे कृष्णशब्दात् 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे'त्यनेन विभाषया क्यङि प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इत्यकारस्य दीर्घे 'कृष्णाय' इत्यस्य धातुत्वे लटि तप्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे टेरेत्वे, पररूपे 'कृष्णायते' इति।

= इदामति। (२) 'राजेव आचरति' (राजा के समान आचरण करता है) अर्थ में– राजन् + क्विप् (सर्वापहार लोप, प्रत्ययलक्षणेन क्विबन्तत्वात् धातुसंज्ञा, उपधादीर्घ–'अनुनासिकस्य०')– राजान् (+ लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ') = राजानति। (३) 'पन्था इवाचरति' (मार्ग के समान आचरण करता है) अर्थ में– पथिन् + क्विप् (सर्वापहार लोप, प्रत्ययलक्षणेन धातुसंज्ञा, उपधादीर्घ, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ') = पथीनति। (४) 'मन्था इवाचरति' (रई के डंडे के समान आचरण करता है) अर्थ में मथिन् + क्विप् (क्विप् का सर्वापहारलोप, प्रत्ययलक्षणेन धातुसंज्ञा, उपधादीर्घ)–मथीन् + लट् (= तिप् = 'ति', शप् = 'अ') = मथीनति।

इन्हन्निति– 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' सूत्र के अनुसार इन्प्रत्ययान्त शब्दों की उपधा को 'शि' विभक्ति के परवर्ती रहते ही दीर्घ होता है। अतः इस नियम के अनुसार पथिन् और मथिन् (इन्प्रत्ययान्त) शब्दों की उपधा को दीर्घ नहीं होता। यह कुछ विद्वानों का मत है। अतः मतान्तर में दीर्घ के अभाव में गुण होकर 'पथेनति, मथेनति' प्रयोग होते हैं।

(८९७) **पद**– कर्तुः, क्यङ्, सलोपः, च। **अनुवृत्ति**– उपमानादाचारे, सुपः वा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– उपमानवाची कर्तृसंज्ञक सुबन्त से आचार अर्थ में विकल्प से क्यङ् प्रत्यय होता है तथा सकारान्त कर्तृवाचक के सकार का लोप भी विकल्प से होता है। विकल्प से 'क्यङ्' का विधान होने से अभावपक्ष में वाक्य का ही प्रयोग होता है।

सन्नियोगेति– ''सन्नियोगशिष्टों की साथ ही प्रवृत्ति होती है और साथ ही निवृत्ति होती है।'' इस नियम के अनुसार 'क्यङ्' और सकारलोप की प्रवृत्ति साथ-साथ ही होती है, परन्तु लोप को अग्रिम वार्तिक द्वारा व्यवस्थित किया गया है।

(वा०) – 'ओजस्' तथा 'अप्सरस्' शब्द के सकार का नित्य लोप होता है। शेष (अन्य) सकारान्त शब्दों के सकार का विकल्प से लोप होता है।

कृष्ण इवाचरति कृष्णायते इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में (८८७) से 'सुपः', 'धातोः कर्मणः०' (८३६) से 'वा' तथा 'उपमानादाचारे' (८९५) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– ''उपमानवाची सुबन्त कर्ता से आचार अर्थ में विकल्प से 'क्यङ्' (= य) प्रत्यय होता है तथा सकारान्त शब्दों के सकार का लोप भी विकल्प से होता है।''

उदाहरण– (१) 'कृष्ण इवाचरति' (कृष्ण के समान आचरण करता है) अर्थ में– कृष्ण + क्यङ् (= 'य', 'अ' = 'आ'–दीर्घ)– कृष्णाय + लट् (= 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = कृष्णायते। (२) 'ओज इवाचरति' (ओजस्वी की तरह आचरण करता है) अर्थ में– ओजस् + क्यङ्

विद्वायते। व्रिद्वस्यते। * आचारेऽवगल्भक्लीबहोडेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः *। वा-ग्रहणाद्वाक्यमपि। अवगल्भादयः पचाद्यजन्ताः। क्विप्सन्नियोगेनानुदात्तत्वमनुनासिकत्वं चाऽच्प्रत्ययस्य प्रतिज्ञायते। तेन तङ्। अवगल्भते। क्लीबते। होडते। भूतपूर्वादप्यनेकाच आम्, एतद्वार्तिकारम्भसामर्थ्यात्। अवगल्भाञ्चक्रे। क्लीबाञ्चक्रे। होडाञ्चक्रे। उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक् क्रियते। तेन

भूतपूर्वादपीति। अन्त्याकारस्येत्संज्ञायां लुप्तत्वात् क्विप्प्रत्यये धातूनामनेकाच्त्वात् कास्यनेकाच इत्यस्याऽप्रवृत्तेः, अवगल्भाञ्चक्रे, क्लीबाञ्चक्रे इत्यादौ कथमाम् (अवगल्भ इत्यत्र 'अव' इत्यस्य उपसर्गसमानाकारत्वेन पृथक्करणादनेकाच्त्वं नास्ति) अत आह–**भूतपूर्वादपीति**। 'साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिरि'ति न्यायेन क्विप्प्रत्ययोत्पत्तेः प्राक्तनमेवाच्त्वमाश्रयणीयमिति।

(= 'य'–'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च', 'ओजसोऽप्सरसोः नित्यमितरेषां विभाषया' इस वार्तिक-सहयोग से 'स्' का नित्य लोप, 'अ' = 'आ'–दीर्घ–'अकृत्सार्व०')– ओजाय (लट् = 'त', शप् = 'अ', एत्व, पररूप) = ओजायते। (३) अप्सरस + क्यङ् (प्रक्रिया ओजायतेवत्) = अप्सरायते। (४) 'यशस्वीवाऽऽचरते' (यशस्वी के समान आचरण करता है) अर्थ में–यशस् + क्यङ् (='य', 'स्' का विकल्प से लोप–'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च', 'अ' = 'आ'–दीर्घ)–ओजाय (लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = यशायते। सकारलोप के अभाव पक्ष में–यशस्यते। (५) 'विद्वानिवाचरति' (विद्वान् की तरह आचरण करता है)–विद्वस् + क्यङ् (= 'य', विकल्प से 'स्' का लोप, दीर्घ)– विद्वाय + लट् (= 'त', शप् = 'अ', एत्व, पररूप) = विद्वायते। 'स्' लोप के अभावपक्ष में–विद्वस्यते।

(वा०) आचारे०– आचार अर्थ में अवगल्भ, क्लीब और होड शब्द से विकल्प से 'क्विप्' प्रत्यय होता है। वा = विकल्प का ग्रहण होने से पक्ष में वाक्य का भी प्रयोग होता है। (अवगल्भ आदि पचादिगणपठित अजन्त पद हैं। क्विप् प्रत्यय के सन्नियोग से अन्त्य अकार (अच्प्रत्यय) को अनुदात्तत्व और अनुनासिकत्व की प्रतिज्ञा की जाती है। अतः अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपद होता है।)

उदाहरण– (१) 'अवगल्भ इवाचरति' अर्थ में– अवगल्भ + क्विप् (विकल्प से–'आचारेऽवगल्भक्लीबहोडेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः', क्विप् का सर्वापहार लोप)– अवगल्भ + लट् (= 'त', शप् = 'अ', एत्व, पररूप) = अवगल्भते। (२) 'क्लीब इवाचरति' (नपुंसक की तरह आचरण करता है) अर्थ में– क्लीब + क्विप् (सर्वापहार लोप, लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = क्लीबते। (३) 'होड इवाचरति' अर्थ में– होड + क्विप् (लोप, लट् = 'त', शप्, पररूप, एत्व) = होडते।

अव + गल्भ आदि में अन्त्य अकार की इत्संज्ञा और लोप होने से 'क्विप्' होने पर धातु के अनेकाच् न होने से 'कास्यनेकाच्०' से 'आम्' नहीं होगा। 'आम्' न होने पर 'अवगल्भाञ्चक्रे', 'क्लीबाञ्चक्रे' और 'होडाञ्चक्रे' आदि लिट्–प्रयोगों की सिद्धि किस प्रकार होगी? इस प्रश्न की आशङ्का में ग्रन्थकार कहते हैं–.

भूतपूर्वादपीति। 'साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः' इस न्याय से 'क्विप्' प्रत्यय से पूर्व के अनेकाच्त्व का आश्रयण कर 'आम्' हो जायेगा। इसमें प्रमाण प्रकृत वार्तिक का आरम्भ ही है। क्योंकि 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा' वार्तिक से क्विप् प्रत्यय का विधान कर 'अवगल्भते' आदि प्रयोगों की सिद्धि हो जाती। पुनः प्रकृत वार्तिक ('आचारेऽवगल्भ०') द्वारा क्विप् का विधान और क्विप्-सन्नियोग से अन्त्य वर्ण को अनुदात्त और अनुनासिक प्रतिज्ञान किया। वह ज्ञापित करता है कि "भूतपूर्व गति

'गल्भ'शब्दावतप्रागट्। अवागल्भत। अवागल्भिष्ट। **(८९८) लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् ३।१।१३ ।** लोहितादिभ्यो डाजन्ताच्च भवत्यर्थे क्यष् स्यात्। **(८९९) वा क्यषः १।३।९० ।** क्यषन्तात्परस्मैपदं वा स्यात्। अलोहितो लोहितो भवति लोहितायति। लोहितायते। ननूच्चारणसामर्थ्यात् काम्यच इव क्यषोऽपि ककारः कुतो न श्रूयते? इति चेच्छृणु। तस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात्। पटपटायति। पटपटायते। **(९००) कष्टाय क्रमणे**

---

(८९८) **लोहितादिडाज्भ्य इति**। डाजन्ताल्लोहितादिगणात्क्यष् स्यादिति भावः।

(८९९) **वा क्यष इति**। 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदमि'त्यतः परस्मैपदमित्यनुवर्तते। तदाह– **क्यषन्तादिति**। **लोहितायति**– 'अलोहितो लोहितो भवती'त्यर्थे लोहितशब्दात् 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इत्यनेन क्यषि अनुबन्धलोपे 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घे 'वा क्यषः' इति विभाषया परस्मैपदे लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे पररूपे 'लोहितायति'। परस्मैपदाभावे आत्मनेपदे– 'लोहितायते'।

से अनेकाच्त्व का आश्रयण किया जाता है।'' आम् होने पर–'अवगल्भाञ्चक्रे, क्लीबाञ्चक्रे और होडाञ्चक्रे लिट् में रूप बनते हैं।

क्विबन्त अवगल्भ शब्द से लङ् लकार में 'अव' से पूर्व अट् = 'अ' आगम की प्राप्ति होने पर उत्तर में कहा गया है– **उपसर्गसमानाकार इति**। ''धातुसंज्ञा के प्रयोजक सन्, णिच्, क्विप् इत्यादि प्रत्ययों का विधान करना इष्ट होने पर उपसर्ग के समानाकार पूर्व पद अलग कर दिया जाता है।'' इस नियम से यहाँ 'अवगल्भ' से क्विप् का विधान होने पर 'अव' को पृथक् करके 'गल्भ' मात्र की ही अङ्गसंज्ञा होती है और गल्भ से पूर्व ही 'अट्' आगम होता है। लङ् प्र०पु० एकव०–अवागल्भत। लुङ्–अवागल्भिष्ट।

(८९८) **पद**– लोहितादिडाज्भ्यः, क्यष्। **अनुवृत्ति**– भुवि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– लोहितादि और डाजन्त पदों से 'भवति' अर्थ में क्यष् प्रत्यय होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में– 'भृशादिभ्यो०' (३।१।१२) से 'भुवि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''लोहितादि तथा डाजन्त शब्दों से भू धातु के अर्थ में क्यष् (=य) प्रत्यय होता है।''

(८९९) **पद**– वा, क्यषः। **अनुवृत्ति**– परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– क्यष् प्रत्ययान्त से विकल्प से परस्मैपद होता है। लोहितायति, लोहितायते इत्यादि।

विमर्श– यहाँ 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८) से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''क्यषन्त से विकल्प से परस्मैपद होता है।'' **ननूच्चारणसामर्थ्यादिति**– ''जैसे उच्चारणसामर्थ्य से 'काम्यच्' प्रत्ययगत ककार का लोप नहीं होता, उसी तरह 'क्यष्' में भी ककार का लोप नहीं होना चाहिए। इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि महाभाष्य में क्यष् के ककार का प्रत्याख्यान किया गया है। यदि प्रयोगों में क्यष् के ककार का श्रवण भाष्यकार को इष्ट होता तो वह ककार का प्रत्याख्यान ही क्यों करते?''

उदाहरण– (१) 'अलोहितः लोहितो भवति' अर्थ में– लोहित + क्यष् (= 'य'– 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्', 'अ' = 'आ'–दीर्घ)– लोहिताय + लट् (विकल्प से परस्मैपद– 'वा क्यषः', तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = लोहितायति। परस्मैपद के अभाव पक्ष में– आत्मनेपद–लोहितायते। (२) पटत् + डाच् (= 'आ', द्वित्व–'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्')– पटत् पटत् आ (पूर्व 'त्' का पररूप 'नित्यमाम्रेडिते डाचि' डित्त्वात् टि = 'अत्' का लोप)–पटपटा + क्यष् (= 'य'–'लोहितादि०')

३।१।१४। चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात्। कष्टाय क्रमते कष्टायते। पापं कर्तुमुत्सहत इत्यर्थः। * सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायामिति वक्तव्यम् *। कण्व पापम्। पापं चिकीर्षति– सत्रायते। कक्षायते। **(९०१) कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः ३।१।१५।** रोमन्थतपोभ्यां कर्मभ्यां क्रमेण वर्तनायां चरणे चार्थे क्यङ् स्यात्। रोमन्थं वर्तयति रोमन्थायते। * हनुचलन इति वाच्यम् *। चर्वितस्याऽऽकृष्य

---

(९००) **कष्टायेति**। अत्र स्वरितत्वात् 'कर्तुः क्यङि'त्यतः क्यङ एवानुवृत्तिर्न तु क्यषः। अत आह–**चतुर्थ्यन्तादिति**। **कष्टायते**– 'कष्ट ङे' इति चतुर्थ्यन्तात्क्रमते इत्यर्थे 'कष्टाय क्रमणे' इत्यनेन क्यङि अनुबन्धलोपे धातुसंज्ञायां सुपः = ङेर्लुकि, 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इत्यजन्ताङ्गस्य दीर्घे 'कष्टाय' इति जाते, ङित्त्वादात्मनेपदे लटि 'त'प्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे पररूपे टेरेत्वे 'कष्टायते' इति रूपम्।

(९०१) **कर्मणो रोमन्थ इति**। 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे'त्यतः क्यङित्यनुवर्तते। **रोमन्थायते**– रोमन्थं वर्तयतीति विग्रहे रोमन्थपदात् 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इत्यनेन क्यङि अनुबन्धलोपे 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति अकारस्य दीर्घे धातुत्वाल्लटि ङित्त्वादात्मनेपदे तप्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे पररूपे टेरेत्वे कृते 'रोमन्थायते' इति।

– पटपटाय (विकल्प से परस्मैपद, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = पटपटायति। आत्मनेपद में–पटपटायते।

(९००) **पद**– कष्टाय, क्रमणे। **अनुवृत्ति**– क्यङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से 'उत्साह' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है। कष्टाय क्रमते–कष्टायते (पाप कार्य करने के लिए उत्साहित होता है।)

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'कर्तुः क्यङ्०' (८९७) सूत्र से 'क्यङ्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''चतुर्थी विभक्त्यन्त शब्द से उत्साह अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है।''

पापं कर्तुमिति– कष्ट का अर्थ यहाँ 'पाप' है। 'पाप करने के लिए उत्साह करता है' इस अर्थ में 'कष्ट' शब्द से क्यङ् (= 'य') प्रत्यय होता है।

उदाहरण– कष्ट ङे + क्यङ् (= 'य'–'कष्टाय क्रमणे', धातुसंज्ञा, सुप् (ङे) का लुक्, 'अ' = 'आ'-दीर्घ–'अकृत्०')–कष्टाय (लट् = आत्मनेपद 'त', शप् = 'अ' पररूप, एत्व) = कष्टायते।

(वा०)– सत्र, कक्ष, कष्ट, कृच्छ्र और गहन शब्दों से पापचिकीर्षा (पाप करने की इच्छा) अर्थ में क्यङ् (= 'य') प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) 'कण्वं = पापं चिकीर्षति' इस अस्वपद विग्रह में– सत्र + क्यङ् (= 'य'– 'सत्रकक्ष०' वार्तिक से, 'अ' = 'आ' दीर्घ–'अकृत्०')–सत्राय + लट् (= 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = सत्रायते। (२) कक्ष + क्यङ् (उक्तवत् प्रक्रिया) = कक्षायते।

(९०१) **पद**– कर्मणः, रोमन्थतपोभ्याम्, वर्तिचरोः। **अनुवृत्ति**– क्यङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मभूत 'रोमन्थ' और 'तपस्' शब्द से वर्तना (वर्तयति) तथा चरण (चरति) अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है। रोमन्थायते।

विमर्श– पूर्ववत् (८८७) सूत्र से 'क्यङ्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''रोमन्थ' और 'तपस्' शब्द (जो कर्म हों) से क्रमशः 'वर्तन' तथा 'चरण' अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है।''

पुनश्चर्वणे इत्यर्थः। नेह– कीटो रोमन्थं वर्तयति। * तपसः परस्मैपदञ्च *। तपश्चरति तपस्यति। (९०२) बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने ३।१।१६ । आभ्यां कर्मभ्यां क्यङ् स्यादुद्वमने। बाष्पमुद्वमति बाष्पायते। ऊष्माणमुद्वमति ऊष्मायते। * फेनाच्चेति वक्तव्यम् *। फेनमुद्वमति फेनायते। (९०३) शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे ३।१।१७ । एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात्। शब्दं करोति शब्दायते। * सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्च *।

---

(९०२) **बाष्पोष्मेति**। 'कर्मणः, क्यङ्' इत्यनुवर्तते। **बाष्पायते**– बाष्पमुद्वमतीति विग्रहे 'बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने' इति क्यङि अनुबन्धलोपे 'अकृत्०' इति दीर्घे ङित्त्वादात्मनेपदे लटि तङि शपि अनुबन्धलोपे टेरेत्वे पररूपे कृते 'बाष्पायते' इति।

(९०३) **शब्दवैर इति**। 'कर्मणः, क्यङ्' इत्यनुवर्तते। तदाह– **एभ्यः कर्मभ्य इति**। **शब्दायते**– शब्दं करोतीत्यर्थे शब्दपदात् 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' इत्यनेन क्यङि

उदाहरण– (१) रोमन्थं वर्तयति (जुगाली करती है) अर्थ में– रोमन्थ अम् + क्यङ् (= 'य'–'कर्मणो रोमन्थ०', 'अ' = 'आ'–दीर्घ–'अकृत्०')–रोमन्थाय + लट् (= 'त', शप् = अ, पररूप, एत्व) = रोमन्थायते।

(वा०)– हनुचलन (चर्वित का पुनः चबाना अर्थात् 'जुगाली') अर्थ में ही 'रोमन्थ' शब्द से 'क्यङ्' होता है।

(२) 'कीटो रोमन्थं वर्तयति।' यहाँ 'कीट मल का भक्षण करता है' अर्थ में 'जुगाली' (चर्वित चर्वण) अर्थ न होने से 'क्यङ्' नहीं होता।

(वा०)– क्यङन्त 'तपस्' शब्द से परस्मैपद होता है।

उदाहरण– (३) 'तपः चरति' (तप का आचरण करता है) अर्थ में– तपस् अम् + क्यङ् (='य'–'कर्मणो०', सुप् का लुक्)–तपस् (परस्मैपद–'तपसः परस्मैपदं च', लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', पररूप) = तपस्यति।

(९०२) **पद**– बाष्पोष्मभ्याम्, उद्वमने। **अनुवृत्ति**– कर्मणः, क्यङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मभूत बाष्प और ऊष्म शब्द से उद्वमन अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है। बाष्पायते। ऊष्मायते इत्यादि।

विमर्श– 'धातोः कर्मणः०' (८३६) सूत्र से 'कर्मणः' तथा 'कर्तुः क्यङ्०'(८९७) से 'क्यङ्' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार– ''बाष्प और ऊष्म पद (कर्मभूत) से उद्वमन (उगलना, निकालना) अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) बाष्पमुद्वमति (भाप को ऊपर फेंकता है) अर्थ में–बाष्प + क्यङ् (= 'य', दीर्घ)–बाष्पाय + लट् (= 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = बाष्पायते। (२) ऊष्माणम् उद्वमति (ऊष्मा को निकालता है) अर्थ में– ऊष्म + क्यङ् (= 'य' – 'बाष्पोष्म०', दीर्घ)– ऊष्माय + लट् (= 'त', शप्, पररूप, एत्व) = ऊष्मायते।

(वा०)– 'फेन शब्द से भी उद्वमन अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है।' ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण– (३) 'फेनमुद्वमति' अर्थ में– फेन + क्यङ् (= 'य'–'फेनाच्चेति०', दीर्घ)–फेनाय + लट् (= 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = फेनायते।

(९०३) **पद**– शब्द-वैर-कलहाभ्र-कण्व-मेघेभ्यः, करणे। **अनुवृत्ति**– कर्मणः, क्यङ्। **विधिसूत्र**।

सुदिनायते। दुर्दिनायते। नीहारायते। * प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च *। प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच्स्यात् इष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद्भावरभाव-

---

अनुबन्धलोपे सुपो लुकि, अकारस्य दीर्घे धातुत्वाल्लटि तङि शपि अनुबन्धलोपे टेरेत्वे पररूपे 'शब्दायते' इति।

अपीपटत् इति। 'पटुमाचष्टे' इत्यर्थे पटुशब्दात् "प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्चे"ति वार्तिकेन णिचि, सुपो लुकि इष्ठवद्भावात्पूर्वं टिलोपे प्राप्ते तं प्रबाध्य परत्वात् 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ सत्यां टे: = औकारस्य लोपे धातुत्वाल्लुङि तिपि अडागमेऽनुबन्धलोपे, च्लौ, च्ले: सिचि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'णिश्रिद्रुस्रुभ्य: कर्तरि चङ्' इत्यनेन च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'अ प पट् इ अ ति' इति जाते 'सन्वल्लघुनि' इत्यनेन सन्वद्भावे 'सन्यत:' इत्यनेन अभ्यासस्य इत्वे 'दीर्घो लघो:' इति दीर्घे 'इतश्चे'त्यनेन तिप इकारलोपे 'अपीपटत्' इति। भाष्ये तु 'वृद्धेर्लोपो बलीयानि'ति निर्दिष्टत्वात् णौ वृद्धिं प्रबाध्य टे: = उकारस्यैव

मूलार्थ– कर्मभूत शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ शब्द से 'करोति' अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है। शब्दायते।

विमर्श– उक्तवत् 'कर्मण:' तथा 'क्यङ्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''कर्मकारक-शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ से करने (करोति) अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) 'शब्दं करोति' (शब्द करता है) अर्थ में– शब्द अम् + क्यङ् (= 'य', धातुसंज्ञा, अम् (सुप्) का लुक्, 'अ' = 'आ'–दीर्घ)–शब्दाय (लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = शब्दायते।

(वा०)– कर्मभूत सुदिन, दुर्दिन और नीहार शब्दों से भी 'करोति' अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) 'सुदिनं करोति' (सुहावना दिन करता है) अर्थ में– सुदिन अम् + क्यङ् (= 'य'–'सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्च' वार्तिक से, सुप् (अम्) का लुक्, अ = 'आ'–दीर्घ–'अकृत्सार्व०')– सुदिनाय (लट्, ङित्त्वात् आत्मनेपद ल् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = सुदिनायते। (२) दुर्दिन + क्यङ् (उक्तवत् प्रक्रिया) = दुर्दिनायते। (३) नीहार + क्यङ् = नीहारायते।

(वा०)– प्रातिपदिक से धातु के अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय बहुलता से होता है और यह णिच् (= इ) इष्ठन् प्रत्यय के समान होता है। अर्थात् ''इष्ठन् (= इष्ठ) प्रत्यय के परवर्ती रहते प्रातिपदिक को पुंवद्भाव, रभाव, टिलोप, विन् और मतुप् का लोप, यणादिलोप तथा प्र, स्थ, स्फ आदि आदेश और भसंज्ञा आदि कार्य होते हैं।'' इसी प्रकार 'णिच्' के परे रहते भी ये कार्य होते हैं।

उदाहरण– (१) पटुमाचष्टे (पटु बनाता है) अर्थ में– पटु + णिच् (= 'इ'–'प्रातिपदिकाद्धात्व-र्थे बहुलमिष्ठवच्च' इष्ठवद्भाव, इ = ऐ– वृद्धि, इष्ठवद्भाव होने से टिलोप)– पट् इ (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश) = पटयति। (२) पटु अम् + णिच् (= 'इ'– 'प्रातिपदिकात्०' सुप् का लुक्, इष्ठवद्भाव, परत्वात् 'इ' = 'ऐ'–वृद्धि–'अचो ञ्णिति' टि = 'ऐ' का लोप)– पट इ (धातुसंज्ञा, लुङ्, तिप् = 'ति', अट् = 'अ' का आगम, च्लि, प्राप्त 'सिच्' का बाध कर च्लि = चङ् = 'अ', द्वित्व–'चङि', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)– अ पपट् इ अ ति (सन्वद्भाव–'सन्वल्लघुनि०', 'अ' = 'इ'–'सन्यत:', 'इ' = 'ई'–दीर्घ–'दीर्घो लघो:', 'इ' का लोप–'इतश्च') = अपीपटत्। (महाभाष्य के कथन 'वृद्धेर्लोपो बलीयान्' (वृद्धि से लोप बलवान् होता

टिलोपविन्मतुब्लोपयणादिलोपप्रस्थस्फाद्यादेशभसंज्ञास्तद्वण्णावपि स्युः। पटुमाचष्टे पटयति। परत्वाद् वृद्धौ सत्यां टिलोपः। अपीपटत्। 'णौ चङी'त्यत्र भाष्ये तु 'वृद्धेर्लोपो बलीयानि'ति स्थितम्। अपपटत्। **(९०४) पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ् ३।१।२०।** * पुच्छादुदसने, व्यसने पर्यसने च *। विविधं विरुद्धं चोत्क्षेपणं व्यसनम्। उत्पुच्छयते। परिपुच्छयते। विपुच्छयते। * भाण्डात्समाचयने *। सम्भाण्डयते। समवभाण्डत। * चीवरादर्जने परिधाने च *। सञ्चीवरयते भिक्षुः। **(९०५) मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् ३।१।२१।** कृञर्थे। मुण्डं करोति

लोपस्तेनायं भवत्यग्लोपी, अतो न सन्वद्भावदीर्घौ। तत्र–'अपपटत्' इति।

(९०४) **पुच्छभाण्डेति**। स्पष्टम्। **उत्पुच्छयते**– उत्पुच्छशब्दात् 'पुच्छादुदसने' इति वार्तिकसहयोगेन 'पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्०' इति णिङि अतो लोपे 'उत्पुच्छि' इति जाते, तङि शपि अनुबन्धलोपे गुणेऽयादेशे टेरेत्वे 'उत्पुच्छयते' इति।

(९०५) **मुण्डमिश्रेति**। मुण्डादिभ्यः कृञर्थे णिच्भवतीत्यर्थः। **मुण्डयति**–मुण्डं करोतीति विग्रहे मुण्डशब्दात् 'मुण्डमिश्रश्लक्ष्ण०' इत्यादिना णिचि, सुपो लुकि इष्ठवद्भावात् टेर्लोपे 'मुण्डि'

है) के अनुसार 'णिच्' होने पर वृद्धि का बाध कर टि = उकार का ही लोप होता है। अतः अग्लोपी होने से यहाँ दीर्घ और सन्वद्भाव नहीं होते। तदनुसार लुङ् में 'अपपटत्' रूप भी बनता है।

(९०४) **पद**– पुच्छ-भाण्ड-चीवरात्, णिङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ–कर्मभूत पुच्छ, भाण्ड और चीवर शब्द से णिङ् (= इ) प्रत्यय होता है।

(वा०)– "पुच्छ शब्द से उदसन, व्यसन और पर्यसन अर्थ में णिङ् प्रत्यय होता है।" विविध अथवा विरुद्ध उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना) को 'व्यसन' कहते हैं।

उदाहरण– (१) उत्पुच्छ् + णिङ् (= 'इ'–'पुच्छादुदसने' वार्तिक के सहयोग से– 'पुच्छभाण्ड०', 'अ' का लोप)– उत्पुच्छि (लट् = 'त', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्', एत्व) = उत्पुछयते। (२) परिपुच्छ + णिङ् (उक्तवत् प्रक्रिया) = परिपुच्छयते। (३) विपुच्छ + णिङ् = विपुच्छयते।

(वा०)– भाण्ड शब्द से समायाचन (एकत्रित करना या सजाकर रखना) अर्थ में ही 'णिङ्' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (४) संभाण्ड + णिङ् (= 'इ'–'भाण्डात्समायाचने' वार्तिक-सहयोग से 'पुच्छभाण्ड०' अकारलोप)– संभाण्डि (लट् = 'त', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए' गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश, एत्व) = संभाण्डयते। (५) लुङ्–समवभाण्डत (उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञानिमित्ते प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक् क्रियते' नियम से भाण्ड से पूर्व अट् = 'अ' का आगम)।

(वा०)– 'चीवर' शब्द से अर्जन और परिधान अर्थ में ही णिङ् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (६) सं चीवर + णिङ् (= 'इ' 'चीवरात्०' वार्तिक-सहयोग से 'पुच्छभाण्ड०' 'अ' का लोप, लट् = 'त', शप् = 'अ', गुण, 'अय्' आदेश, एत्व) = संचीवरयते।

(९०५) **पद**– मुण्ड-मिश्र-श्लक्ष्ण-लवण-व्रत-वस्त्र-हल-कल-कृत-तूस्तेभ्यः, णिच्। **अनुवृत्ति**– कर्मणः, करणे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– मुण्ड, मिश्र आदि शब्दों से कृधात्वर्थ (करोति) में णिच् (= 'इ') प्रत्यय होता है।

मुण्डयति। * व्रताद्भोजनतन्निवृत्त्योः *। पयः शूद्रान्नं वा व्रतयति। * वस्त्रात्समाच्छादने *। संवस्त्रयति। * हल्यादिभ्यो ग्रहणे *। हलिकल्योरदन्तत्वं च निपात्यते। हलिं कलिं वा गृह्णाति हलयति। कलयति। महद्धलं हलिः। कृतं गृह्णाति कृतयति। तूस्तानि विहन्ति

इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे सार्वधातुकगुणेऽयादेशे 'मुण्डयति' इति।

सत्यापयति इति। 'सत्यमाचष्टे' इति विग्रहे सत्यशब्दात् 'सत्यापपाश०' इत्यादिना णिचि अनुबन्धलोपे 'सत्यार्थवेदानामापुग्वक्तव्यः' इत्यनेन आपुगागमेऽनुबन्धलोपे, सुपो लुकि,

---

मुण्डयति इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'धातोः कर्मणः०' (८३६) से 'कर्मणः' तथा 'शब्दवैर०' (९०३) से 'करणे' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''कर्मभूत मुण्ड, मिश्र, श्लक्ष्ण, लवण, व्रत, वस्त्र, हल, कल, कृत, तूस्त शब्दों से 'करना' अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) 'मुण्डं करोति' (मुण्डन करता है) अर्थ में–मुण्ड अम् + णिच् (= 'इ'– 'मुण्डमिश्र०', सुप् का लुक्, 'अ' का लोप)– मुण्डि (+ लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्'–आदेश) = मुण्डयति।

(वा०)– व्रत शब्द से 'भोजन' और 'भोजननिवृत्ति' दोनों अर्थों में णिच् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (२) व्रत अम् + णिच् (= 'इ'–'व्रताद्भोज०' वार्तिक-सहयोग से–'मुण्डमिश्र०', सुब्लुक्, 'अ' का लोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', गुण, अय् आदेश) = व्रतयति पयः शूद्रान्नं वा (दूध का व्रत करता है अथवा शूद्रान्न का परित्याग करता है)।

(वा०)– 'वस्त्र' शब्द से समाच्छादन (ढकना) अर्थ में 'णिच्' होता है।

उदाहरण– (३) संवस्त्र + णिच् (= 'इ'–'वस्त्रात्समाच्छादने' वार्तिक-सहयोग से 'मुण्डमिश्र', सुब्लुक्, अकारलोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्') = संवस्त्रयति।

(वा०)– हल्यादि शब्दों से 'ग्रहण' अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय होता है। हलि और कलि को निपातन से अदन्तत्व भी होता है।

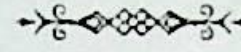
उदाहरण– (४) हलि + णिच् (= 'इ', निपातन से अदन्त, टि = 'अ' का लोप)– हलि + लट् (= तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्') = हलयति। (५) कलि + णिच् (= 'इ', निपातन से अदन्त 'इ' = 'अ', टिलोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', गुण, अय् आदेश) = कलयति। महत् = बड़े हल को 'हलि' कहते हैं। (६) 'कृतं गृह्णाति' अर्थ में– कृत + णिच् (= 'इ', 'हल्यादिभ्यो ग्रहणे' वार्तिक-सहकार से– 'मुण्डमिश्र', अकारलोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', गुण, अय् आदेश) = कृतयति (उपकार स्वीकार करता है)। (७) 'तूस्तानि विहन्ति' इस अर्थ में–वितूस्त + णिच् (= 'इ'–'मुण्डमिश्र०', 'अ' लोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', गुण, अयादेश) = वितूस्तयति। कुछ आचार्य 'तूस्त' का अर्थ 'केश' करते हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार तूस्त का अर्थ जटाओं से युक्त केश है तथा अन्य के अनुसार–'पाप' अर्थ है।

(वा०)–'णिच्' प्रत्यय के परवर्ती रहते सत्य, अर्थ और वेद शब्दों को आपुक् (= आप्) का आगम होता है।

उदाहरण– (८) 'सत्यमाचष्टे' (सत्य का आचरण करता है) अर्थ में– सत्य + अम् + णिच् (= 'इ'–'सत्यापपाश०', आपुक् = 'आप्'–'सत्यार्थवेदानामापुग्वक्तव्यः', सुप् (अम्) का लुक्)– सत्यापि (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण–'सार्वधातु०', 'ए' = 'अय्'–

वितूस्तयति। तूस्तं केशा इत्येके। जटीभूताः केशा इत्यन्ये। पापमित्यपरे। * सत्याऽर्थवेदानामापुग्वक्तव्यः *। सत्यापयति। अर्थापयति। वेदापयति। पाशं विमुञ्चति विपाशयति। रूपं पश्यति रूपयति। वीणयोपगायति उपवीणयति। तूलेनानुकृष्णाति अनुतूलयति तृणाग्रम्। तूलेनाऽनुघट्टयतीत्यर्थः। श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति। सेनयाऽभियाति अभिषेणयति। लोमान्यनुमार्ष्टि अनुलोमयति। त्वच संवरणे। पचाद्यच्। त्वचं गृह्णाति त्वचयति। वर्मणा सन्नह्यति संवर्मयति। वर्णं गृह्णाति वर्णयति। चूर्णैरवध्वंसते अवचूर्णयति।

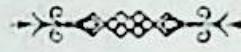
इति नामधातुप्रकरणम् ।



सत्यापिधातोर्लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे सार्वधातुकगुणेऽयादेशे 'सत्यापयति' इति रूपम्।

अनुतूलयतीति। 'तूलेनानुकृष्णाति' इति विग्रहे अनुतूलपदात् 'सत्याप' इत्यादिना णिचि अकारलोपे, सुब्लुकि, धातुत्वाल्लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे गुणेऽयादेशे 'अनुतूलयति' इति।

इति नामधातुप्रकरणम् ।



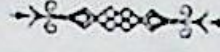
'एचोऽयवायावः') = सत्यापयति। (९) 'अर्थं करोति आचष्टे वा' अर्थ में (णिच्, आपुक्, शेष पूर्ववत् प्रक्रिया) = अर्थापयति। (१०) 'वेदं करोति आचष्टे वा' अर्थ में = वेदापयति। (११) 'पाशं विमुञ्चति' (पाश = जाल को त्यागता है) अर्थ में– विपाश + णिच् (= 'इ'–'प्रातिपदिकात् धात्वर्थे', 'अ' का लोप)– विपाशि (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्') = विपाशयति। (१२) रूपं पश्यति (रूप को देखता है) अर्थ में– रूप + णिच् (= 'इ'–'सत्यापपाशरूप०', 'अ' का लोप)– रूपि (लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्') = रूपयति। (१३) 'वीणया उपगायति' (वीणा से गाता है) अर्थ में– उपवीणा + णिच् (= 'इ'–'सत्याप०', टि 'आ' का लोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'– गुण, 'ए' = 'अय्') = उपवीणयति। (१४) 'तूलेन अनुकुष्णाति' (रुई से रगड़ता है) अर्थ में– अनुतूल + णिच् (= 'इ' – 'सत्याप०', 'अ' का लोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', गुण, 'अय्' आदेश) = अनुतूलयति। (१५) 'श्लोकैः उपस्तौति' (श्लोकों से स्तुति करता है) अर्थ में– उप + श्लोक + णिच् (= 'इ'–'सत्याप०', 'अ' लोप, लट् = तिप् = ति, शप्, गुण, अयादेश) = उपश्लोकयति। (१६) 'सेनया अभियाति' (सेना के साथ अभियान करता है) अर्थ में– अभि + सेना + णिच् (= 'इ'–'सत्याप०', 'आ' का लोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'अय्' आदेश, 'स्' = 'ष्'– षत्व–'उपसर्गात्सुनोति०', णत्व) = अभिषेणयति। (१७) 'लोमानि अनुमार्ष्टि' अर्थ में– अनुलोम + णिच् (= 'इ'–'सत्याप०', 'अ' लोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', गुण, अय् आदेश) = अनुलोमयति। 'त्वच संवरणे' धातु से 'पचाद्यच्' से अच् होकर त्वच शब्द बनता है। (१८) 'त्वचं गृह्णाति' अर्थ में– त्वच + णिच् (= 'इ'–'सत्याप०', 'अ' का लोप, लट् = तिप् = 'ति', 'शप्' = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'अय्' आदेश) = त्वचयति। (१९) 'वर्मणा सन्नह्यति' अर्थ में– संवर्म + णिच् ('इ'– 'सत्याप०', अलोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', गुण, 'अय्' आदेश) = संवर्मयति। (२०) 'वर्णं गृह्णाति' अर्थ में– वर्ण + णिच् (= 'इ', 'अ' का लोप, लट् = तिप् = 'ति', 'शप्' = 'अ', गुण, अयादेश) = वर्णयति। (२१) 'चूर्णैरवध्वंसते' अर्थ में– अव + चूर्ण + णिच् (= 'इ', 'अ' लोप, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'अय्' आदेश) = अवचूर्णयति।

नामधातुप्रकरण समाप्त ।

अथ कण्ड्वादिप्रकरणम्

(९०६) कण्ड्वादिभ्यो यक् ३।१।२७ । एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात् स्वार्थे। कण्डूञ् गात्रविघर्षणे। कण्डूयति। कण्डूयते इत्यादि।

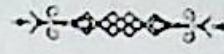
इति कण्ड्वादिप्रकरणम् ।



---

(९०६) **कण्ड्वादिभ्य इति**। 'धातोरेकाच:' इत्यत: धातोरित्यनुवर्तते। तदाह–**एभ्य इत्यादि**। **नित्यमिति**। वाग्रहणस्य निवृत्त्यर्थं नित्यमिति। **कण्डूयति**– ञकारेत्संज्ञक 'कण्डूञ्' धातो: 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इत्यनेन यक्प्रत्यये 'कण्डूय' इत्यस्य धातुसंज्ञायां लटि तिपि, शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते 'कण्डूयति' इति। आत्मनेपदे 'कण्डूयते' इति रूपम्।

इति कण्ड्वादिप्रकरणम् ।



क्रमप्राप्त कण्ड्वादि-प्रकरण का विवेचन किया जा रहा है–

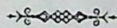
(९०६) **पद**– कण्ड्वादिभ्य:, यक्। **अनुवृत्ति**– धातो:, नित्यम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कण्ड्वादिगणपठित धातुओं से स्वार्थ में नित्य यक् (= य) प्रत्यय होता है। कण्डूञ् गात्रविघर्षणे (= शरीर ख़ुजलाना)। कण्डूयति। कण्डूयते।

विमर्श– 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) सूत्र से 'धातो:' पद की अनुवृत्ति आती है। 'धातो:' का ग्रहण होने से यहाँ कण्ड्वादि धातु ही ली जाती है। 'नित्य' पद की अनुवृत्ति 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' (३।१।२३) से आ रही है। अत: ''कण्ड्वादि धातुओं से नित्य यक् (= य) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) कण्डू + यक् (= 'य'–'कण्ड्वादिभ्यो यक्')–कण्डूय + लट् (= तिप् = 'ति', शप् = 'अ', अ + अ = 'अ'–पररूप) = कण्डूयति। 'ञ्' की इत्संज्ञा होने के कारण यह धातु उभयपदी है। अत: आत्मनेपद पक्ष में– कण्डूयते।

कण्ड्वादि प्रकरण समाप्त ।



अथात्मनेपदप्रकरणम्

(९०७) कर्तरि कर्मव्यतिहारे १।३।१४ । क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्त्तर्यात्मनेपदं स्यात्। व्यतिलुनीते। अन्यस्य योग्यं लवनम् अन्यः करोतीत्यर्थः। **(९०८) न गतिहिंसार्थेभ्यः १।३।१५ ।** गतिहिंसार्थेभ्यः कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न स्यात्।

---

(९०७) **कर्तरि कर्मेति**। 'अनुदात्तङित्त आत्मनेपदमि'त्यतः 'आत्मनेपदमि'त्यनुवर्तते। सूत्रे 'कर्मव्यतिहारः' इत्यत्र कर्मपदं क्रियापरं व्यतिहारपदं च विनिमयपरं च वर्तते। तदाह- **क्रियाविनिमये द्योत्य इति**। **व्यतिलुनीते**- वि + अतिपूर्वकात् लूञ्धातोः 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यनेनात्मनेपदं भवति। लटि प्रथमपुरुषैकवचने 'त'प्रत्यये 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'प्वादीनां ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वे, 'ई हल्यघोः' इत्यनेन आकारस्य ईत्वे टेरेत्वे संयोगे च 'व्यतिलुनीते' इति।

(९०८) **न गति इति**। 'अनुदात्तङित०' इत्यत आत्मनेपदम् 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यतः 'कर्मव्यतिहारे' इति चानुवर्तते। अत आह- **गतिहिंसार्थेभ्य इति**। **हरतेरिति**।

धातुओं (क्रियापदों) के आत्मनेपद तथा परस्मैपद से सम्बन्धित सामान्य नियमों की विशद चर्चा तिङन्त-प्रकरण (भ्वादिगण) के आरम्भ में की जा चुकी है। प्रकृत 'आत्मनेपद-प्रकरण' में आत्मनेपद के सम्बन्ध में कुछ विशेष नियमों का उल्लेख किया गया है। ये नियम मुख्यतया दो प्रकार के हैं- (१) उभयपदी धातुओं से परगामी क्रियाफल होने पर भी आत्मनेपद विधान करने का नियम। (२) परस्मैपदी धातुओं से उपसर्ग के योग में आत्मनेपद विधान करने का नियम।

उक्त नियमों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है-

(९०७) **पद**- कर्तरि, कर्मव्यतिहारे। **अनुवृत्ति**- आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- क्रिया का विनिमय (अदला-बदली) अर्थ द्योत्य हो तो कर्ता अर्थ में धातु से आत्मनेपद होता है। व्यतिलुनीते = दूसरे के योग्य काटने को काट रहा है। अर्थात् दूसरे के बदले काटने का कार्य कर रहा है। अतः यहाँ 'क्रिया-विनिमय' अर्थ द्योत्य है।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'अनुदात्तङित्त आत्मनेपदम्' (१।३।१२) सूत्र से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''क्रिया के व्यतिहार (विनिमय) अर्थ में कर्तृवाच्य में धातु से आत्मनेपद होता है।'' यहाँ 'कर्म' पद क्रियावाची है।

उदाहरण- (१) वि + अति + लूञ् = लू (+ लट्, आत्मनेपद-'कर्तरि कर्मव्यतिहारे', लट् = 'त', श्ना = 'ना'-'क्र्यादिभ्यः श्ना', सार्वधातुकसंज्ञा, 'ऊ' = 'उ'-ह्रस्व-'प्वादीनां ह्रस्वः', 'आ' = 'ई'-'ई हल्यघोः', 'टि' को एत्व-'टित आत्मनेपदानाम्०', 'वि + अति' में 'इ' = 'य्'-यण्) = व्यतिलुनीते।

(९०८) **पद**- न, गतिहिंसार्थेभ्यः। **अनुवृत्ति**- कर्मव्यतिहारे, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'क्रिया-विनिमय' अर्थ में गत्यर्थक और हिंसार्थक धातुओं से आत्मनेपद नहीं होता। व्यतिगच्छन्ति। व्यतिघ्नन्ति।

विमर्श- पूर्वसूत्र (९०७) से 'कर्मव्यतिहारे' तथा 'अनुदात्तङित०' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''गत्यर्थक और हिंसार्थक धातुओं से कर्म-व्यतिहार (क्रिया-विनिमय)

व्यतिगच्छन्ति। व्यतिघ्नन्ति। * हरतेरप्रतिषेधः *। सम्प्रहरन्ते राजानः। **(९०९) इतरेतरान्योऽन्योपपदाच्च १।३।१६ ।** * परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम् *। इतरेतरस्याऽन्योऽन्यस्य, परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति। **(९१०) नेर्विशः १।३।१७ ।** नेर्विश

हरतेर्हिंसार्थस्य नात्मनेपदनिषेध इत्यर्थः। **सम्प्रहरन्ते राजानः–** सम्पूर्वकात् हृधातोर्लटि 'हरतेरप्रतिषेधः' इत्यनेन आत्मनेपदस्य निषेधाभावे आत्मनेपदे 'झि' प्रत्यये, झस्यान्तादेशे, शपि, गुणे, रपरत्वे 'सम्प्रहरन्ते' इति।

(९०९) **इतरेतरेति**। 'इतरेतरमन्योऽन्यमि'त्येतयोरुपपदयोः सतोः क्रियाविनिमये द्योत्ये धातोरात्मनेपदं नेत्यर्थः। **परस्परेति**। अस्मात्परस्मादपि धातोरात्मनेपदं न भवतीति भावः। इतरेतरस्य, अन्योऽन्यस्य परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति। अत्र 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यनेन प्राप्तस्यात्मनेपदस्य 'परस्पराच्चेति वक्तव्यमि'ति वार्तिकसहयोगेन 'इतरेतराऽन्योऽन्योपपदाच्चे'ति सूत्रेण निषेधो भवति। अतः परस्मैपदमेव।

(९१०) **नेर्विश इति**। 'आत्मनेपदम्' इति अनुवर्तते। तदाह– **नेर्विश इति**।

अर्थ में प्राप्त आत्मनेपद नहीं होता।''

उदाहरण–(२) वि + अति पूर्वक ✓ गम् + लट् प्र० पु० बहुवचन में– व्यतिगच्छन्ति। यहाँ क्रिया-विनिमय अर्थ में गत्यर्थक धातु ✓ गम् से 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' से प्राप्त आत्मनेपद का प्रकृत सूत्र 'न गति०' से निषेध हो जाता है। (३) वि + अति पूर्वक ✓ हन् + लट् प्र० पु० बहुवचन– व्यतिघ्नन्ति। उक्तवत् आत्मनेपद का निषेध।

(वा०) (सोपसर्गक हिंसार्थक) ✓ हृ धातु से उक्त अर्थ में आत्मनेपद का निषेध नहीं होता।

उदाहरण– (४) सम् + प्र + ✓ हृ + लट् प्र० पु० बहुवचन = 'सम्प्रहरन्ते राजानः'। यहाँ 'सं + प्र' उपसर्गपूर्वक ✓ हृ (हिंसार्थक) धातु से 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' से प्राप्त आत्मनेपद के निषेध का 'हरतेरप्रतिषेधः' से प्रतिषेध हो जाता है। अतः आत्मनेपद ही होता है।

(९०९) **पद–** इतरेतरान्योऽन्योपपदात्, च। **अनुवृत्ति–** न, कर्मव्यतिहारे, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ– 'इतरेतर' और 'अन्योऽन्य' उपपदपूर्वक धातु से क्रियाविनिमय अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता।

विमर्श– यहाँ पूर्वसूत्र (९०८) से 'न', (९०७) से 'कर्मव्यतिहारे' तथा 'अनुदात्तङित' से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– '''इतरेतर' तथा 'अन्योऽन्य' शब्द उपपद हों तो भी धातु से 'क्रिया-विनिमय' अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता।''

(वा०)– 'परस्पर' उपपदक धातु से भी क्रिया-विनिमय अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता।

उदाहरण– (१) इतरेतरस्य, अन्योऽन्यस्य परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति (एक-दूसरे का काटते हैं)– यहाँ 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' से प्राप्त आत्मनेपद का निषेध हुआ।

(९१०) **पद–** नेः, विशः। **अनुवृत्ति–** आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'नि' उपसर्गपूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद होता है। निविशते।

विमर्श– 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार उक्त अर्थ सम्पन्न होता है।

आत्मनेपदं स्यात्। निविशते। (९११) **परिव्यवेभ्यः क्रियः १।३।१८** । परिव्यवेभ्यः क्रिय आत्मनेपदं स्यात्। परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते। (९१२) **विपराभ्यां जेः १।३।१९** । विपराभ्यां जेरात्मनेपदं स्यात्। विजयते। पराजयते। (९१३) **क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च १।३।२१** । अनुसंपरिभ्यः क्रीडतेरात्मनेपदं स्यात्। चादाङः। अनुक्रीडते। संक्रीडते। परिक्रीडते। आक्रीडते। * **समोऽकूजने** *। संक्रीडते। कूजने तु

---

(९११) **परिव्यवेभ्य इति**। 'आत्मनेपदमि'त्यनुवर्तते। अत आह–**परिव्यवेभ्य इति**। उदाहरति– **परिक्रीणीते इत्यादि**।

(९१२) **विपराभ्यामिति**। 'आत्मनेपदमि'त्यनुवर्त्याह– **विपराभ्यां जेरित्यादि**। **विजयते**– विपूर्वकजिधातोर्लटः स्थाने 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदे 'त'प्रत्यये, शपि, गुणेऽयादेशे च टेरेत्वे 'विजयते' इति।

(९१३) **क्रीडोऽनुसमिति**।'अनु-सं-परि चकारादाङ्' इत्युपसर्गपूर्वकक्रीडधातोरात्मनेपदं स्यादित्यर्थः। **समोऽकूजने इति**। सम्पूर्वकात्क्रीड्धातोरकूजन एवात्मनेपदमन्यत्र परस्मैपदमेव। 'संक्रीडते' इति 'अकूजने' एव रूपम्। **आगमेरिति**। आङ्पूर्वकात् ण्यन्तात् गमिधातोः

उदाहरण– (१) नि + ✓ विश् + लट् प्र० पु० एकवचन = निविशते। (यहाँ 'नेर्विशः' से आत्मनेपद का विधान किया गया है। ✓ विश् परस्मैपदी है, 'नि' उपसर्ग के योग में प्रकृत सूत्र द्वारा आत्मनेपद का विधान है।)

(९११) **पद**– परिव्यवेभ्यः, क्रियः। **अनुवृत्ति**– आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– परि, वि और अव उपसर्गपूर्वक क्री धातु से आत्मनेपद होता है। परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते।

विमर्श– 'अनुदात्तङित०' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– "परि, वि और अव उपसर्गपूर्वक ✓ डुक्रीञ् (खरीदना, क्र्यादि उभ०) धातु से आत्मनेपद होता है।"

उदाहरण– (१) परि + ✓ क्री से 'परिव्यवेभ्यः क्रियः' से आत्मनेपद, लट् प्र० पु० एकवचन = परिक्रीणीते। (२) वि + ✓ क्री–आत्मनेपद, लट् प्र० पु० ए० व०–विक्रीणीते। (३) अव + ✓ क्री–आत्मनेपद, लट् प्र० पु० ए० व०–अवक्रीणीते।

(✓ डुक्रीञ् ञकारेत्संज्ञक होने से उभयपदी धातु है। अतः कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद इससे सिद्ध है, परन्तु प्रकृत सूत्र से परि, वि और अव उपसर्गों के योग में परगामी क्रिया का फल होने पर भी आत्मनेपद का विधान किया गया है।)

(९१२) **पद**– विपराभ्याम्, जेः। **अनुवृत्ति**– आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'वि' और 'परा' उपसर्गपूर्वक 'जि' धातु से आत्मनेपद होता है।

विमर्श– उक्तवत् 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आने से उक्त अर्थ होता है।

उदाहरण– (१) 'वि' + ✓ जि धातु से 'विपराभ्यां जेः' से आत्मनेपद, लट् प्र० पु० एकवचन– विजयते। (२) 'परा' + जि आत्मनेपद, लट् प्र० पु० ए० व०– पराजयते।

(९१३) **पद**– क्रीडः, अनुसम्परिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**– आङः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अनु, सम्, परि और आङ् उपसर्ग पूर्व रहते ✓ क्रीड् धातु से आत्मनेपद होता है। अनुक्रीडते। संक्रीडते। परिक्रीडते। आक्रीडते।

संक्रीडति चक्रम्। * आगमेः क्षमायाम् *। ण्यन्तस्येदं ग्रहणम्। आगमयस्व तावत्। मा त्वरिष्ठा इत्यर्थः। * शिक्षेर्जिज्ञासायाम् *। धनुषि शिक्षते। धनुर्विषयज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीत्यर्थः। (९१४) वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः १।३।३८। एष्वर्थेषु क्रम आत्मनेपदं स्यात्। वृत्तिरप्रतिबन्धः। ऋचि क्रमते बुद्धिः। सर्ग उत्साहः। अध्ययनाय क्रमते। क्रमन्तेऽस्मिञ्छास्त्राणि। स्फीतानि भवन्तीत्यर्थः। (९१५) आङ उद्गमने १।३।४०।

तितिक्षायामात्मनेपदं भवतीत्यर्थः। **शिक्षते इति।** शिक्षधातोर्लटि 'शिक्षेर्जिज्ञासायामि'त्यात्मनेपदे तङि शपि टेरेत्वे रूपम्।

(९१४) **वृत्तिसर्गेति।** एतेष्वर्थेषु क्रमधातोरात्मनेपदं भवतीति भावः। **अध्ययनाय क्रमते–** 'क्रमु पादविक्षेपे' इति धातोः 'वृत्तिसर्गतायनेषु' इत्यनेन आत्मनेपदे लटि तप्रत्यये टेरेत्वे, शपि अनुबन्धलोपे संयोगे 'क्रमते' इति।

विमर्श– सूत्रस्थ चकार से पूर्वसूत्र 'आङो दोऽनास्यविहरणे' (१।३।२०) से 'आङः' तथा 'अनुदात्तङित०' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "अनु, सम्, परि और आङ् उपसर्गपूर्वक– ✓ क्रीड धातु से आत्मनेपद होता है।"

उदाहरण– (१) अनु + ✓ क्रीड् ('क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च' से आत्मनेपद, लट् प्र० पु० एकवचन = अनुक्रीडते। (२) सं + ✓ क्रीड्– आत्मनेपद, लट् प्र० पु० एकवचन = संक्रीडते (३) परि + ✓ क्रीड् (आत्मनेपद, लट् प्र० पु० ए० व०)–परिक्रीडते। (४) आ + ✓ क्रीड् (आत्मनेपद, लट् प्र० पु० ए० व०)–आक्रीडते।

(वा०)– 'सम्' उपसर्गपूर्वक क्रीड् धातु से कूजन-भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है।

उदाहरण– (५) संक्रीडते। 'कूजन' (= चहचहाना) अर्थ में– 'संक्रीडति चक्रम्'। यहाँ परस्मैपद ही हुआ।

(वा०)– क्षमा (= सहन) अर्थ में आङ् (आ) उपसर्गपूर्वक ण्यन्त गम् धातु से आत्मनेपद होता है।

उदाहरण– आ + ✓ गमि (ण्यन्त) (आत्मनेपद, लोट्, म० पु० ए० व०)–'आगमयस्व तावत्'।

(वा०)– सन्नन्त ✓ शक् धातु से जिज्ञासा अर्थ में आत्मनेपद होता है।

उदाहरण– ✓ शिक्ष (सन्नन्त)–आत्मनेपद, लट् प्र० पु० एकवचन–धनुषि शिक्षते (धनुर्विद्या के ज्ञान में समर्थ होना चाहता है।)

(९१४) **पद–** वृत्तिसर्गतायनेषु, क्रमः। **अनुवृत्ति–** आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– वृत्ति (अप्रतिबन्ध, बिना रुकावट), सर्ग (उत्साह) और तायन (वृद्धि) अर्थ में क्रम धातु से आत्मनेपद होता है। 'ऋचि क्रमते बुद्धिः' इत्यादि।

विमर्श– प्रकरण-प्राप्त 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– "वृत्ति (= बिना रुकावट), सर्ग (= उत्साह) और तायन (= वृद्धि, विस्तार) अर्थ में विद्यमान ✓ क्रम धातु से आत्मनेपद होता है।"

उदाहरण– (१) ✓ क्रम (आत्मनेपद, लट् प्र० पु० एकवचन) = क्रमते। **'ऋचि क्रमते बुद्धिः** (ऋचाओं में इसकी बुद्धि खूब चलती है, रुकती नहीं)। (२) अध्ययनाय क्रमते (पढने में उत्साहित होता है)। (३) क्रमन्तेऽस्मिञ्छास्त्राणि (इसमें शास्त्र समृद्ध होते हैं)।

आङः परस्मात्क्रम आत्मनेपदं स्यादुद्गमने। आक्रमते सूर्यः । * ज्योतिरुद्गमन इति वाच्यम् *। नेह– आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्। (९१६) वेः पादविहरणे १।४।४१ । वेः परस्मात्क्रमतेरात्मनेपदं स्यात्पादविहरणे। साधु विक्रमते वाजी। (९१७) प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् १।३।४२ । समर्थाभ्यां प्रोपाभ्यां परस्मात्क्रमतेरात्मनेपदं स्यात्। प्रारम्भेऽनयोस्तुल्यार्थता। प्रक्रमते। उपक्रमते। समर्थाभ्यां किम्? प्रक्रामति। गच्छतीत्यर्थः।

---

(९१५) **आङ उद्गमने**। पूर्वसूत्रात्क्रम इत्यनुवर्तते। तदाह– **आङः परस्मादिति। आक्रमते सूर्य इति**। आङ्पूर्वकात्क्रमधातोः 'आङ उद्गमने' इत्यनेनात्मनेपदे शपि टेरेत्वे 'आक्रमते' इति।

(९१६) **वेः पादविहरण इति**। अत्र 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' इत्यतः क्रम इति, 'अनुदात्तङित' इत्यत आत्मनेपदमिति चानुवर्तते। तदाह– **वेः परस्मादिति। साधु विक्रमते वाजी**– 'वि' इत्युपसर्गपूर्वक क्रमधातोरात्मनेपदे लटि 'त'प्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे टेरेत्वे 'विक्रमते' इति। अश्वः सम्यक् पादसञ्चालनं करोतीत्यर्थः।

(९१७) **प्रोपाभ्यामिति**। क्रमः, आत्मनेपदमि'ति चानुवर्तते। समावर्थौ ययोस्तौ समर्थौ,

---

(९१५) **पद**– आङः, उद्गमने। **अनुवृत्ति**– क्रमः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'आङ्' उपसर्ग से परवर्ती क्रम धातु से उद्गमन (ऊपर उठना, जाना) अर्थ में आत्मनेपद होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (९१४) से 'क्रमः' तथा 'अनुदात्तङित०' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''आङ्पूर्वक क्रम धातु से उद्गमन अर्थ में आत्मनेपद होता है।''

(वा०)– ज्योति (प्रकाश) का उद्गमन (उदय) अर्थ में ही ✓ क्रम से आत्मनेपद होता है, ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण– आ + ✓ क्रम (आत्मनेपद, लट् प्र० पु० एकवचन) = आक्रमते सूर्यः। (सूर्योदय होता है।)

प्रत्युदाहरण– 'आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्' (अट्टालिका से धुँआ निकलता है)– उक्त वार्तिक के अनुसार ज्योति (प्रकाश) के उद्गमन में ही आत्मनेपद विधान होने से यहाँ आत्मनेपद नहीं होता; क्योंकि धूम ज्योति नहीं है, अतः परस्मैपद ही हुआ।

(९१६) **पद**– वेः, पादविहरणे। **अनुवृत्ति**– क्रमः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'वि' उपसर्ग से परवर्ती क्रम् धातु से पाद-विहरण अर्थ में आत्मनेपद होता है। साधु विक्रमते वाजी (घोड़ा सुन्दर कदम उठाता है)।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'वृत्तिसर्गता०' (९१४) से 'क्रमः' तथा 'अनुदात्तङित०' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''पाद-विहरण (पैर उठाने) अर्थ में 'वि' पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण– वि + ✓ क्रम (आत्मनेपद– 'वेः पादविहरणे', लट् = 'त', शप् = 'अ', 'टि को एत्व) = विक्रमते।

(९१७) **पद**– प्रोपाभ्याम्, समर्थाभ्याम्। **अनुवृत्ति**– क्रमः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– प्र तथा उप पूर्वक क्रम धातु से प्रारम्भ अर्थ में आत्मनेपद होता है। प्रक्रमते इत्यादि।

उपक्रामति। आगच्छतीत्यर्थः। **(९१८) अनुपसर्गाद्वा १।३।४३ ।** अनुपसृष्टात्क्रमतेरात्मनेपदं वा स्यात्। क्रामति। क्रमते। **(९१९) अपह्नवे ज्ञः १।३।४४ ।** अपह्नवे

ताभ्यामित्यर्थः। प्रारम्भेऽनयोस्तुल्यार्थता। तदाह- **समर्थाभ्यामित्यादि**। प्रक्रमते, उपक्रमते इति। तङि रूपे। प्रारभते इत्यर्थः।

(९१८) **अनुपसर्गाद्वेति**। 'क्रमः, आत्मनेपदमि'ति चानुवर्तते। तेन उपसर्गरहितात् क्रमधातोरात्मनेपदं वेति भावः। **क्रामति, क्रमते-** क्रमधातोः 'अनुपसर्गाद्वा' इति विकल्पेन आत्मनेपदे लटि 'त' प्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे टेरेत्वे 'क्रमते' इति। आत्मनेपदाभावे लटः स्थाने तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'क्रमः परस्मैपदेषु' इति दीर्घे 'क्रामति' इति रूपम्।

(९१९) **अपह्नवे ज्ञ इति**। अपपूर्वाज्ज्ञाधातोरात्मनेपदं स्यादपह्नवे = अपलापे गोपने इति भावः। **अपजानीते-** अपपूर्वकात् ज्ञाधातोः 'अपह्नवे ज्ञः' इत्यनेनात्मनेपदे 'त' प्रत्यये 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाविकरणे 'ज्ञाजनोर्जा' इति जादेशे 'ई हल्यघोः' इतीत्वे टेरेत्वे कृते 'अपजानीते' इति रूपम्।

विमर्श- उक्तवत् 'क्रमः' तथा 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। समौ = तुल्यौ अर्थौ ययोस्तौ समर्थौ ताभ्यां समर्थाभ्याम् = तुल्यार्थाभ्याम् इति। अर्थात् 'प्र' तथा 'उप' उपसर्ग यदि समानार्थक-तुल्य अर्थ वाले हों। प्रारम्भे० अर्थात् कार्य की प्रारम्भिक अवस्था को कहने में दोनों तुल्यार्थक होते हैं। अतः ''आरम्भ अर्थ में वर्तमान 'प्र' तथा 'उप' उपसर्गपूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण- (१) प्र + ✓ क्रम् (आत्मनेपद-'प्रोपाभ्याम्०' लट् = 'त्', शप् = 'अ', एत्व) = प्रक्रमते। (२) उप + ✓ क्रम् (आत्मनेपद-'प्रोपाभ्याम्०', लट् = 'त', शप् = 'अ', एत्व) = उपक्रमते (आरम्भ करता है।)

प्रत्युदाहरण- (१) **समर्थाभ्यां किमिति** - सूत्र में 'समर्थाभ्यां' का ग्रहण किया गया है, तदनुसार- प्रारम्भ अर्थ में ही प्र + ✓ क्रम् और उप + ✓ क्रम् से आत्मनेपद का विधान होने से 'गमन' अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता, परस्मैपद होता है। प्रक्रामति। उपक्रामति। प्रकामति (= जाता है), उपक्रामति (= आता है)।

(९१८) **पद-** अनुपसर्गात्, वा। **अनुवृत्ति-** क्रमः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- उपसर्ग रहित क्रम् धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है। क्रामति। क्रमते।

विमर्श- 'क्रमः' तथा 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति यहाँ भी आ रही है। तदनुसार उक्त सूत्रार्थ होता है।

उदाहरण- (१) ✓ क्रम् (विकल्प से आत्मनेपद-'अनुपसर्गाद्वा', लट् = 'त', शप् = 'अ', एत्व) = क्रमते। आत्मनेपद के अभावपक्ष में परस्मैपद, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'अ' = 'आ'-दीर्घ-'क्रमः परस्मैपदेषु') = क्रामति।

(९१९) **पद-** अपह्नवे, ज्ञः। **अनुवृत्ति-** आत्मनेपदम्।

मूलार्थ- अपह्नव (अपलाप) अर्थ में ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है। शतमपजानीते। (सौ रुपये के लिए झूठ बोलता है।)

विमर्श- 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''अपलाप अर्थात् मिथ्या भाषण में वर्तमान ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण- (१) अप + ✓ ज्ञा (आत्मनेपद- 'अपह्नवे ज्ञः', लट् = 'त', श्ना = 'ना'-

जानातेरात्मनेपदं स्यात्। शतमपजानीते। अपलपतीत्यर्थः। **(९२०) अकर्मकाच्च १।३।४५।** अकर्मकाज्ज्ञानातेरात्मनेपदं स्यात्। सर्पिषो जानीते। सर्पिषोपायेन प्रवर्त्तत इत्यर्थः। **(९२१) समवप्रविभ्यः स्थः १।३।२२।** एभ्यस्तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यात्। सन्तिष्ठते। अवतिष्ठते। प्रतिष्ठते। वितिष्ठते। * आङः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम् *। शब्दं नित्यमातिष्ठते। **(९२२) प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च १।३।२३।** तिष्ठतेरात्मनेपदं

---

(९२०) **अकर्मकाच्चेति**। कर्मरहितादपि ज्ञाधातोरात्मनेपदे भवतीत्यर्थः।

(९२१) **समवप्रविभ्य इति**। 'सम्-अव-प्र-वि' इत्येतदुपसर्गपूर्वकात् स्थाधातोरात्मनेपदमित्यर्थः। **सन्तिष्ठते इति**। सम्पूर्वात् स्थाधातोः 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यनेन आत्मनेपदे लटि 'त' प्रत्यये 'स्था' इत्यस्य तिष्ठादेशे शपि अनुबन्धलोपे मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'सन्तिष्ठते' इति।

(९२२) **प्रकाशनेति**। 'समवप्रविभ्यः' इत्यतः 'स्थः' इति, आत्मनेपदं चानुवर्तते। तदाह–**तिष्ठतेरिति**। **तिष्ठते**– स्थाधातोः प्रकाशनार्थे 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चे'ति आत्मनेपदे 'त'-प्रत्यये तिष्ठादेशे शपि टेरेत्वे 'तिष्ठते' इति रूपम्।

क्र्यादिभ्यः श्ना', 'ज्ञा' = 'जा'–'ज्ञाजनोर्जा', 'आ' = 'ई'–'ई हल्यघोः', टि को एत्व) = अपजानीते।

(९२०) **पद**– अकर्मकात्, च। **अनुवृत्ति**– ज्ञः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अकर्मक ज्ञा धातु से भी आत्मनेपद होता है। सर्पिषो जानीते (= घी समझ कर प्रवृत्त होता है)।

विमर्श– पूर्वसूत्र (९१९) से 'ज्ञः' तथा 'अनुदात्तङित०' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अकर्मक ज्ञा धातु से भी आत्मनेपद होता है।

उदाहरण– (१) ✓ ज्ञा (आत्मनेपद लट्, सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत्) = जानीते।

(९२१) **पद**– समवप्रविभ्यः, स्थः। **अनुवृत्ति**– आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– सम्, अव, प्र तथा वि उपसर्ग से परवर्ती स्था धातु से आत्मनेपद होता है।

विमर्श– 'आत्मनेपद' की अनुवृत्ति आने से उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

(वा०)– आङ् (= आ) उपसर्गपूर्वक स्था धातु से प्रतिज्ञा अर्थ में भी आत्मनेपद होता है।

उदाहरण–(१) सम् + ✓ स्था (आत्मनेपद–'समवप्रविभ्यः स्थः', लट् = 'त', शप् = 'अ', 'स्था' = 'तिष्ठ' आदेश, म् = ं 'अनुस्वार' = 'न्'–परसवर्ण, एत्व) = सन्तिष्ठते (समाप्त होता है)। (२) अव + ✓ स्था (आत्मनेपद–'समवप्रविभ्यः', लट् = 'त', शप् = 'अ', 'स्था' = 'तिष्ठ' आदेश, 'टि' को एत्व) = अवतिष्ठते (अवस्थित होता है)। (३) प्र + ✓ स्था (आत्मनेपद-प्रक्रिया उक्तवत्) = प्रतिष्ठते (प्रस्थान करता है)। (४) वि + ✓ स्था (आत्मनेपद लट् प्रक्रिया उक्तवत्) = वितिष्ठते (विशेष रूप से स्थित होता है)। (५) आ + ✓ स्था (आत्मनेपद– 'आङः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम्', लट् = 'त', शप् = 'अ', स्था = 'तिष्ठ'– 'पाघ्राध्मा०', एत्व) = आतिष्ठते।

(९२२) **पद**– प्रकाशनस्थेयाख्ययोः, च। **अनुवृत्ति**– स्थः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– प्रकाशन (= स्वाभिप्राय-प्रकाशन) और स्थेय (= विवाद पद-निर्णय) अर्थ में स्था धातु से आत्मनेपद होता है। गोपी कृष्णाय तिष्ठते (= गोपी कृष्ण को अपना आशय प्रकट करती है) इत्यादि।

स्यादनयोरर्थयोः। गोपी कृष्णाय तिष्ठते। आशयं प्रकाशयतीत्यर्थः। 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः'। कर्णादीन्निर्णेतृत्वेनाश्रयतीत्यर्थः। (९२३) उदोऽनूर्ध्वकर्मणि १।३।२४। उदः परस्मात्तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यादनूर्ध्वकर्मणि। मुक्तावुत्तिष्ठते। अनूर्ध्वेति किम्? पीठादुत्तिष्ठति। (९२४) उपान्मन्त्रकरणे १।३।२५। उपात्तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यान्मन्त्रकरणे। आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते। मन्त्रकरणे किम्? भर्त्तारमुपतिष्ठति यौवनेन। * उपाद्देवपूजा-सङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम् *। आदित्यमुपतिष्ठते। गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते।

---

(९२३) **उदोऽनूर्ध्वकर्मणि इति**। 'स्थः' इत्यनुवर्तते, आत्मनेपदमिति च। तदाह- **उदः परस्मादिति। मुक्तावुत्तिष्ठते**- उत्पूर्वकात्स्थाधातोर्लटि तङि टेरेत्वे शपि तिष्ठादेशे रूपम्। मुक्ताविति विषयसप्तमी। गुरूपगमनादिना यतते इत्यर्थः।

(९२४) **उपादिति**। मन्त्रकरणार्थे गम्ये उपपूर्वात्स्थाधातोरात्मनेपदं भवतीति भावः।

विमर्श- पूर्वसूत्र (९२१) से 'स्थः' की अनुवृत्ति आती है। 'आत्मनेपदम्' की भी अनुवृत्ति पूर्ववत् आती है। तदनुसार- ''प्रकाशन = (अपने भाव के प्रकाशन में) तथा स्थेयाख्या (विवाद के निर्णय को कहने) अर्थ में भी स्था धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण- (१) ✓ स्था (प्रकाशन अर्थ में आत्मनेपद- 'प्रकाशनस्थेया०', लट् = 'त', शप्, तिष्ठ आदेश, एत्व) = तिष्ठते गोपी कृष्णाय। (२) संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' (कर्ण आदि पर निर्णेता के रूप में आश्रित है)।

(९२३) **पद**- उदः, अनूर्ध्वकर्मणि। **अनुवृत्ति**- स्थः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'उत्' उपसर्गपूर्वक स्था धातु से ऊर्ध्वकर्म (ऊपर उठने से भिन्न अर्थ) में आत्मनेपद होता है। मुक्तावुत्तिष्ठते (= मुक्ति हेतु उन्नति करता है)।

विमर्श- यहाँ 'समवप्र०' (९२१) से 'स्थः' तथा 'अनुदात्तङित०' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''ऊपर उठने से भिन्न अर्थ में वर्तमान 'उत्' पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है।

उदाहरण- (१) उत् + ✓ स्था (आत्मनेपद-'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि', लट् = 'त', शप् = 'अ', 'स्था' = तिष्ठ, एत्व) = उत्तिष्ठते। मुक्तावुत्तिष्ठते। 'मुक्तौ' पद में विषयसप्तमी है।

प्रत्युदाहरण- (१) अनूर्ध्वेति किम्? प्रकृत सूत्र में 'अनूर्ध्व' पद का ग्रहण क्यों किया गया? आशय यह है कि ऊपर उठने से भिन्न अर्थ में ही आत्मनेपद होता है। ऊर्ध्वकर्म (उठना) अर्थ में तो परस्मैपद ही होता है। 'पीठादुत्तिष्ठति' (चौकी से उठता है)।

(९२४) **पद**- उपात्, मन्त्रकरणे। **अनुवृत्ति**- स्थः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'उप' उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातु से मन्त्रकरण (स्तुति) अर्थ में आत्मनेपद होता है। आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते। इत्यादि।

विमर्श- पूर्ववत् 'स्थः' और 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार-''मन्त्रकरण (स्तुति) अर्थ में विद्यमान 'उप' पूर्वक 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण- (१) उप + ✓ स्था (आत्मनेपद- 'उपान्मन्त्रकरणे', लट् = 'त', शप् = 'अ', स्था = तिष्ठ, एत्व) = उपतिष्ठते। आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते (अग्निदेवता वाली ऋचा का उच्चारण कर आग्नीध्र के पास जाता है)।

रथिकानुपतिष्ठते। मित्रीकरोतीत्यर्थः। पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते। प्राप्नोतीत्यर्थः। * वा लिप्सायामिति वक्तव्यम् *। भिक्षुकः प्रभुमुपतिष्ठति उपतिष्ठते वा। **(९२५) उद्विभ्यां तपः १।३।२७** । उद्विभ्यां तप आत्मनेपदं स्यात्। 'अकर्मकादि'त्येव। उत्तपते। वितपते। दीप्यत इत्यर्थः। * स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम् *। उत्तपते वितपते पाणिम्। नेह- सुवर्णमुत्तपति। **(९२६) आङो यमहनः १।३।२८** । आङः पराभ्यामाभ्यामात्मनेपदं

---

(९२५) **उद्विभ्यामिति**। 'आत्मनेपदमि'त्यनुवर्तते। 'अकर्मकाच्चे'त्यतोऽकर्मकादिति अनुषज्यते। अत आह-**उद्विभ्यामित्यादि**। **उत्तपते**- उत्पूर्वात्तपधातोस्तङि शपि टेरेत्वे रूपम्।

(९२६) **आङो यमहन इति**। आत्मनेपदमित्यनुवर्तते। तदाह- **आङः पराभ्यामिति**। **आयच्छते**- आङ्पूर्वकात् यमधातोः 'आङो यमहनः' इत्यनेनात्मनेपदे लटि 'त'प्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे 'इषुगमि०' इति छादेशे तुकि अनुबन्धलोपे जश्त्वे चर्त्वे कृते टेरेत्वे 'आयच्छते' इति।

प्रत्युदाहरण- (१) **मन्त्रकरणे किमिति**- सूत्र में 'मन्त्रकरणे' पद का ग्रहण होने से 'भर्त्तारमुपतिष्ठति यौवनेन' प्रयोग में आत्मनेपद नहीं होता। क्योंकि यहाँ मन्त्रकरण (वैदिक स्तुति) अर्थ नहीं है।

(वा०)- देवपूजा, संगतिकरण, मित्रकरण और मार्ग अर्थ में भी उपपूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है।

उदाहरण- (१) 'आदित्यमुपतिष्ठते' (सूर्य की उपासना करता है)। (२) गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते (= गङ्गा यमुना का आलिङ्गन करती है)। (३) रथिकानुपतिष्ठते (मित्रता करता है)। (४) पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते (मार्ग आगरा जाता है)।

(वा०)- 'उंप' पूर्वक 'स्था' धातु से लिप्सा अर्थ में विकल्प से आत्मनेपद होता है।

उदाहरण- (१) भिक्षुकः प्रभुमुपतिष्ठति, उपतिष्ठते वा (भिक्षुक स्वामी के पास जाता है)। यहाँ लिप्सा अर्थ में विकल्प से आत्मनेपद हुआ।

(९२५) **पद**- उद्विभ्याम्, तपः। **अनुवृत्ति**-अकर्मकात्, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'उत्' और 'वि' उपसर्ग से परवर्ती अकर्मक तप धातु से आत्मनेपद होता है। उत्तपते। वितपते इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'अकर्मकाच्च' (१।३।२६) से 'अकर्मकात्' तथा 'अनुदात्तङित०' १।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- "'उत्' तथा 'वि' पूर्वक अकर्मक तप धातु से आत्मनेपद होता है।"

उदाहरण- (१) उत् + ✓ तप् (आत्मनेपद- 'उद्विभ्यां तपः', लट् = 'त', शप् = अ, एत्व) = उत्तपते (अत्यन्त तपता है)। (२) वि + तप् = वितपते (विशेष रूप से गरम होता है)।

(वा०)- 'स्वाङ्गकर्मक और अकर्मक तप धातु से ही आत्मनेपद होता है' ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण- (१) उत्तपते वितपते पाणिम् (यहाँ कर्मकारक पाणि शब्द के अङ्गवाची होने से 'तप्' धातु से आत्मनेपद हुआ)।

'सुवर्णमुत्तपति' में 'स्वाङ्गकर्मक' तप् धातु न होने से आत्मनेपद नहीं हुआ। परस्मैपद-'उत्तपति'।

(९२६) **पद**- आङः, यमहनः। **अनुवृत्ति**- अकर्मकात्, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

स्यात्। आयच्छते। आहते। 'अकर्मकात्स्वाङ्गकर्मकादि'त्येव। नेह-परस्य शिर आहन्ति। **(९२७) आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् २।४।४४ ।** आत्मनेपदेषु परेषु हनो वधादेशो वा स्याल्लुङि। आऽवधिष्ट। आऽवधिषाताम्। आऽवधिषत। **(९२८) हनः सिच् १।२।१४ ।** हनः सिच् कित् स्यात्। अनुनासिकलोपः। आहत। आहसाताम्। आहसत।

---

(९२७) **आत्मनेपदेष्विति**। 'हनो वध लिङि' इत्यतः 'हनो वध' इति, 'लुङि च'त्यतः 'लुङी'ति चानुवर्तते। तदाह-**आत्मनेपदेषु परत इति। आवधिष्ट इति**। आङ्पूर्वात् हन्धातोः 'आङो यमहनः' इत्यात्मनेपदे लुङि तप्रत्यये च्लौ, च्लेः सिचि इटि अनुबन्धलोपे 'आत्मनेपदष्वन्यतरस्यामि'ति विकल्पेन हनो वधादेशे अडागमे 'आ + अ व ध् स् इ त' इति जाते सवर्णदीर्घे षत्वे ष्टुत्वे आवधिष्ट इति। वधादेशाऽभावपक्षे 'आ अ हन् स् त' इति स्थिते 'हनः सिच्' इत्यनेन सिचः कित्त्वात् 'अनुदात्तोपदेश' इत्यादिना नलोपे 'ह्रस्वादङ्गात्०' इत्यनेन सिचो लोपे सवर्णदीर्घे 'आहत' इति रूपम्।

(९२८) **हनः सिच्**। किदित्यनुवर्तते। अत आह-**हन इति**।

मूलार्थ– 'आङ्' उपसर्गपूर्वक यम् और हन् धातु से आत्मनेपद होता है। (यह आत्मनेपद अकर्मक और स्वाङ्गकर्मक से ही होता है' ऐसा कहना चाहिए।) आयच्छते। आहते।'

विमर्श– प्रकृत सूत्र में भी पूर्ववत् 'अकर्मकात्' और 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''अकर्मक आङ् उपसर्गपूर्वक यम् और हन् धातुओं से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण– (१) आ + यम् (आत्मनेपद-'आङो यमहनः', लट् = 'त', शप् = अ, 'म्' = 'छ्'-'इषुगमि०', तुक् = 'त्' का **आगम**, 'त्' = 'च्'-श्चुत्व, 'टि' को एत्व) = आयच्छते।

(२) आ + हन् (आत्मनेपद 'त', शप् = 'अ', शप् = 'अ' का लुक्-'अदिप्रभृतिभ्यः०', 'न्' का लोप-'अनुदात्तोपदेश०', एत्व) = आहते।

प्रत्युदाहरण– स्वाङ्गकर्मक का ग्रहण होने से 'परस्य शिर आहन्ति' (दूसरे के शिर पर मारता है) में आत्मनेपद नहीं होता।

(९२७) **पद–** आत्मनेपदेषु, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति–** हनो वधः, लुङि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– लुङ्-सम्बन्धी आत्मनेपद में हन् धातु को विकल्प से 'वध' आदेश होता है। आवधिष्ट इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'हनो वध लिङि' (२।४।४२) से 'हनो वधः' तथा 'लुङि च' (२।४।४३) से 'लुङि' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''लुङ् लकार में आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय के परवर्ती रहते विकल्प से हन् धातु को वध आदेश होता है।''

उदाहरण– (१) आ + ✓ हन् (आत्मनेपद-'आङो यमहनः', लुङ् = 'त', च्लि, च्लि = सिच् = 'स्', इट् = 'इ', विकल्प से 'हन्' = 'वध्'-'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्', अट् = 'अ' का आगम)- आ अ वध् इ स् त (आ + अ = 'आ'-सवर्णदीर्घ, 'स्' = 'ष्'-षत्व, 'त्' = 'ट्'- ष्टुत्व) = आवधिष्ट। (२) आ + ✓ हन (आत्मनेपद, लुङ् प्र० पु० द्विवचन)-आवधिषाताम्। (३) लुङ् प्र० पु० बहुवचन-आऽवधिषत।

(९२८) **पद–** हनः, सिच्। **अनुवृत्ति–** कित्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ– हन् धातु से परवर्ती 'सिच्' कित् होता है। अनुनासिकलोप। आहत। आहसाताम्। इत्यादि।

(९२९) यमो गन्धने १।२।१५ । यमः परः सिच् कित् स्याद्गन्धने। गन्धनं सूचनम्, परदोषाविष्करणम्। उदायत। गन्धने किम्? उदायंस्त पादम्। आकृष्टवानित्यर्थः।
(९३०) समो गम्यृच्छिभ्याम् १।३।२९ । समो गम्यृच्छिभ्यामात्मनेपदं स्यात्।

---

(९२९) **यमो गन्धन इति**। 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यतः किदिति, 'हनः सिच्' इत्यतः 'सिच्' इति चानुवर्तते। तदाह- **यमः पर इत्यादिना**।

उदायतेति। उदाङ्पूर्वकात् यमधातोः 'आङो यमहनः' इत्यात्मनेपदे लुङि तत्स्थाने 'त'-प्रत्यये च्लौ, च्लेः सिचि अनुबन्धलोपे 'यमो गन्धने' इति सिचः कित्त्वे 'अनुदात्तोपदेश०' इत्यादिना अनुनासिकलोपे 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सिचो लोपे, यमः प्रगडागमेऽनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'उदायत' इति रूपम्।

(९३०) **सम इति**। आत्मनेपदमित्यनुवर्तते। 'अकर्मकाच्चे' त्यतोऽनुवृत्तमकर्मकादिति पदं विपरिणम्यते। तेन अकर्मकाभ्यां सम्पूर्वात् गम्यृच्छिभ्याम् आत्मनेपदं भवतीत्यर्थः। **सङ्गच्छते-**

विमर्श- सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः "हन् धातु से परे सिच् किद्वत् होता है।"

उदाहरण- (१) पूर्वसूत्र (९२७) से हन् = 'वध्' आदेश के अभाव पक्ष में- आ + ✓ हन् (आत्मनेपद-'आङो यमहनः', लुङ् = 'त', च्लि, च्लि = सिच् 'स्', किद्वद्भाव-'हनेः सिच्', 'न्' का लोप-'अनुदात्तोपदेश०', 'स्' का लोप- 'ह्रस्वादङ्गात्', अट् = 'अ' आगम, आ + अ = 'आ'-दीर्घ) = आहत। (२) लुङ् प्र० पु० द्विवचन (वधादेश के अभावपक्ष में)- आ अ हन् स् आताम् (कित्त्व-'हनः सिच्', 'न्' का लोप, दीर्घ) = आहसाताम्। (३) लुङ् प्र० पु० बहुवचन- आहसत।

(९२९) **पद-** यमः, गन्धने। **अनुवृत्ति-** सिच् कित्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ- गन्धन (परदोषाविष्करण) अर्थ में यम धातु से परवर्ती सिच् कित् होता है। उदायत इत्यादि।

विमर्श- पूर्वसूत्र (९२८) से 'सिच्' तथा 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- "गन्धन अर्थ में वर्तमान यम् धातु से परे 'सिच्' प्रत्यय किद्वत् होता है।" गन्धन का अर्थ- सूचना देना या परदोषाविष्करण = चुगली करना है।

उदाहरण- (१) उत् + आ + ✓ यम् (आत्मनेपद- 'आङो यमहनः' से गन्धन अर्थ में, लुङ् = 'त', च्लि, च्लि = सिच् = 'स्'- किद्वत्-'यमो गन्धने', 'म्' अनुनासिक का लोप- 'अनुदात्तोपदेश०', 'स्' का लोप-'ह्रस्वादङ्गात्', ✓ यम् से पूर्व अट् = 'अ' का आगम, आ + अ = 'आ'-सवर्णदीर्घ) = उदायत।

प्रत्युदाहरण- प्रकृत सूत्र में 'गन्धने' (गन्धन अर्थ में) पद का ग्रहण क्यों किया गया? उक्त पद के ग्रहण से गन्धन-भिन्न अर्थ में 'सिच्' को किद्वत् भाव नहीं होता। वहाँ 'अनुदात्तोपदेश०' से अनुनासिक का लोप भी नहीं होता। उदायंस्त पादम् (अनुस्वार) = 'पैर को खींचा' अर्थ है।

(९३०) **पद-** समः, गम्यृच्छिभ्याम्। **अनुवृत्ति-** अकर्मकात्, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'सम्' उपसर्ग से परवर्ती अकर्मक 'गम्' और 'ऋच्छ्' धातु से आत्मनेपद होता है। सङ्गच्छते।

'अकर्मकाभ्यामि'त्येव। सङ्गच्छते। (९३१) वा गमः १।२।१३ । गमः परौ झलादी लिङ्सिचौ वा कितौ स्तः। सङ्गसीष्ट। सङ्गंसीष्ट। समगत। समगंस्त। समृच्छते। अकर्मकाभ्यां किम्? ग्रामं सङ्गच्छति। * विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम् *। वेत्तेरेव

सम्पूर्वाद् गम्धातोः 'समो गम्यृच्छिभ्यामि'त्यात्मनेपदे लटि तङि शपि अनुबन्धलोपे टेरेत्वे 'इषुगमियमां छः' इति छादेशे तुकि श्चुत्वे मकारस्यानुस्वारे परसवर्णे कृते 'सङ्गच्छते' इति।

(९३१) **वा गम इति**। 'लिङ् सिचौ' इत्यतो लिङ्सिचाविति, 'असंयोगादि' त्यतः किदिति, 'इको झल्' इत्यतः झलिति चानुवर्तन्ते। तदाह- **गमः पराविति। सङ्गसीष्ट इति।** सम्पूर्वाद् गम्धातोः 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' इत्यात्मनेपदे लिङि तङि 'लिङः सीयुट्' इति सीयुडागमेऽनुबन्धलोपे 'सुट् तिथोः' इति सुटि, 'सम् गम् सी स् त' इति जाते 'वा गमः' इति लिङः कित्त्वे 'अनुदात्तोपदेश०' इत्यादिना गमो मकारलोपे, समो मस्यानुस्वारे षत्वे ष्टुत्वे परसवर्णे 'सङ्गषीष्ट' इति। किद्भावाऽभावपक्षे मलोपाभावादनुस्वारे 'सङ्गंषीष्ट' इति रूपम्।

विमर्श- सूत्र 'अकर्मकाच्च (९२०) से 'अकर्मकात्' तथा 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। अतः 'सम्' उपसर्गपूर्वक अकर्मक 'गम्' तथा 'ऋच्छ्' धातुओं से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण- (१) सम् + ✓ गम् (आत्मनेपद- 'समो गम्यृच्छिभ्याम्', लट् = 'त', शप् = 'अ', 'म्' = 'छ्'-आदेश-'इषुगमियमां छः', तुक् = 'त्'-'छे च', 'त्' = 'च्'-श्चुत्व, टि = एत्व, म् = ं = 'ङ्'-परसवर्ण) = सङ्गच्छते।

(९३१) **पद**- वा, गमः। **अनुवृत्ति**- लिङ्सिचौ, झल् कित्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ- गम् धातु से परवर्ती झलादि लिङ् और सिच् विकल्प से कित् होते हैं।

विमर्श- सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (१।२।११) से 'लिङ्सिचौ', 'इको झल्' (१।२।९) से 'झल्' तथा 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''गम् धातु से परवर्ती झलादि लिङ् और 'सिच्' विकल्प से किद्वत् होता है।''

उदाहरण- (१) सम् + ✓ गम् (आत्मनेपद- '**समो गमि०**', लिङ् = 'त', सीयुट् = 'सीय्'- 'लिङः सीयुट्', सुट् = 'स्'-'सुट् तिथोः')- सम् गम् सीय् स् त (विकल्प से 'लिङ्' को कित्त्व, 'म्' का लोप-'अनुदात्तोपदेश०', 'य्' का लोप-'लोपो व्योर्वलि', म् = अनुस्वार, परसवर्ण, षत्व, ष्टुत्व) = सङ्गषीष्ट। किद्वत् के अभावपक्ष में 'म्' का लोप नहीं होता- सङ्गंषीष्ट (अनुस्वार)। (२) सम् + ✓ गम् (आत्मनेपद-'समो०', लुङ् = 'त', च्लि, च्लि = सिच् = 'स्', विकल्प से किद्वत्- 'वा गमः')- 'सम् गम् स् त' (धातु के 'म्' का लोप-'अनुदात्तोपदेश०', 'स्' का लोप-'ह्रस्वादङ्गात्', अट् = 'अ' का आगम) = समगत। (३) सम् + ✓ ऋच्छ् (आत्मनेपद, लट् = त, श = 'अ'- 'तुदादिभ्यः शः', टि को एत्व) = समृच्छते।

प्रत्युदाहरण- (१) अकर्मकाभ्यां किमिति- 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' सूत्र में 'अकर्मकाभ्याम्' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः सकर्मक ✓ गम् और ✓ ऋच्छ से आत्मनेपद नहीं होता। 'ग्रामं सङ्गच्छति' में परस्मैपद ही होता है।

(वा०)- 'सम्' उपसर्ग से परवर्ती 'विद्', 'प्रच्छ' और 'स्तृ' धातु से आत्मनेपद होता है। परस्मैपद के साहचर्य से 'विद् ज्ञाने' का ही यहाँ ग्रहण होता है।

ग्रहणम्। संवित्ते। संविदाते। **(९३२) वेत्तेर्विभाषा ७।१।७ ।** वेत्तेः परस्य झादेशस्याऽतो रुडागमो वा स्यात्। संविद्रते। संविदते। सम्पृच्छते। संस्वरते। [*** अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम् ***। 'अर्ति' इति द्वयोरेव ग्रहणम्। अङ्विधौ त्वियर्त्तेरेवेत्युक्तम्। मा समृत। मा समृषाताम्। मा समृषतेति। समार्त्त। समार्षाताम्।

---

(९३२) **वेत्तेर्विभाषेति**। अत्र 'झोऽन्तः' इत्यस्माज्झ इति, 'अदभ्यस्तादि'त्यस्मादत इति, 'शीङो रुट्' इत्यस्मात् रुडिति चानुवर्तन्ते। तदाह- **वेत्तेः परस्येति**। **संविद्रते**- सम्पूर्वाद्विद्धातोर्लटि 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानमि'ति वार्तिकेनात्मनेपदे झप्रत्यये झस्य स्थाने अदादेशे 'वेत्तेर्विभाषा' इत्यनेन विभाषया रुडागमेऽनुबन्धलोपे टेरेत्वे 'संविद्रते' इति। रुडागमाभावपक्षे 'संविदते' इत्यपरं रूपम्। **अथाऽस्मिन्निति**। ननु 'आङो यमहनः' इत्यादौ 'अकर्मकादि'त्यनुवर्तते। तत्र हनिगम्यादीनां सकर्मकत्वात् कथमकर्मकतेति प्रश्नः समुदेति। तत्रोत्तरमुच्यते-**धातोरर्थान्तरे इति**। 'धातोरर्थान्तरे वृत्तेः, धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्, प्रसिद्धेः,

---

उदाहरण- (१) सम् + ✓ विद् (आत्मनेपद-'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्', लट् =- 'त', शप्, शप् का लुक्-'अदिप्रभृतिभ्यः शपः', टि को एत्व, 'द्' = 'त्'-चर्त्व, 'म्' = अनुस्वार) = संवित्ते। (२) सम् + ✓ विद् (आत्मनेपद लट् प्र० पु० द्विव०) = संविदाते।

(९३२) **पद-** वेत्तेः, विभाषा। **अनुवृत्ति-** झः, अतः, रुट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'विद्' धातु से परवर्ती झादेश अत् को विकल्प से रुट् = 'र्' का आगम होता है।

विमर्श- सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'झोऽन्तः' (७।१।३) से 'झः', 'अदभ्यस्तात्' (७।१।४) से 'अतः' तथा 'शीङो रुट्' (७।१।६) से 'रुट्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''विद् धातु से परे झ् के स्थान में हुआ जो अत् आदेश, उसको विकल्प से रुट् (= र्) आगम होता है।''

उदाहरण- (१) सम् + ✓ विद् (आत्मनेपद-'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्', लट् = झ, शप्, शप् का लुक्-'अदिप्रभृतिभ्यः शपः', 'झ' = 'अत्' आदेश-'आत्मनेपदेष्वनतः', 'अत्' को विकल्प से रुट् = 'र्' का आगम-'वेत्तेर्विभाषा', 'टि' को एत्व, म् = अनुस्वार) = संविद्रते। 'रुट्' के अभावपक्ष में-संविदते। (२) सम् + ✓ प्रच्छ् (आत्मनेपद-'विदिप्रच्छि०', लट् = 'त', 'श' = 'अ', 'र्' = 'ऋ'-सम्प्रसारण-'ग्रहिज्या०', पूर्वरूप, एत्व, म् = अनुस्वार) = संपृच्छते। (३) सम् + ✓ स्वृ (आत्मनेपद लट् = 'त', शप् = 'अ', ऋ = 'अ'-गुण, रपर, एत्व, अनुस्वार) = संस्वरते।

(वा०)- ऋ, श्रु और दृश् धातु से भी (सम् उपसर्गपूर्वक होने पर) आत्मनेपद होता है। यहाँ 'अर्ति' पद से 'ऋ गतौ-भ्वादि तथा 'ऋ गतौ-जुहोत्यादि दोनों धातुओं का ग्रहण होता है। अङ्विधि (लुङ्) में इयर्ति (ऋ) जुहोत्यादि का ही ग्रहण होता है।

उदाहरण- (१) सम् + ✓ ऋ (आत्मनेपद लुङ्, 'मा' के योग में अट् का अभाव- 'न माङ्योगे', लुङ् = 'त', च्लि, च्लि = सिच् = 'स्' का लोप)- मा समृत। (२) लुङ् प्र० पु० द्वि०- मा समृषाताम्। (३) लुङ् प्र० पु० बहुव०-मा समृषत। जुहोत्यादि की ✓ 'ऋ गतौ' से (४) आत्मनेपद- मा समरत। मा समरेताम्। मा समरत। समारत। समारेताम्। समारन्त। (५) सम् + ✓ श्रु (आत्मनेपद लट्, प्र० पु० एकवचन) = संश्रृणुते। (६) सम् + दृश् (आत्मनेपद लट्, प्र० पु० एकवचन) = सम्पश्यते।

हन्, गम् आदि धातुओं के सकर्मक होने पर भी यहाँ ये धातुएँ अकर्मक कैसे होती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है-**धातोरर्थान्तरेति**। धातोरर्थान्तरे वृत्तेः, धात्वर्थेनोपसंग्रहात्, प्रसिद्धेः, **अविवक्षातः कर्मणः अकर्मिका क्रिया भवतीत्यन्वयः।**

समार्षतेति च–भ्वादेः। इयर्त्तेस्तु–मा समरत। मा समरेताम्। मा समरन्त। समारत। समारेताम्। समारन्त इति। संशृणुते। सम्पश्यते।] अथाऽस्मिन्नकर्मकाधिकारे हनिगम्यादीनां कथमकर्मकते'ति चेत्, शृणु–

''धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया''॥

वहति भारम्। नदी वहति। स्यन्दत इत्यर्थः। जीवति। नृत्यति। प्रसिद्धिर्यथा–मेघो वर्षति। कर्मणोऽविवक्षातो यथा– 'हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः'। (९३३) **सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः १।३।३६ ।** एष्वर्थेषु निय आत्मनेपदं स्यात्। शास्त्रे नयते। शास्त्रस्थं सिद्धान्तं शिष्येभ्यः प्रापयतीत्यर्थः। तेन

अविवक्षातः' इति वाक्यचतुष्टयम्। 'अकर्मिका क्रिये'ति सर्वत्र सम्बद्ध्यते। धातोरर्थान्तरे– धातुपाठपठितादन्यत्रार्थे वर्तनात्क्रिया अकर्मिका भवति। यथा–प्रापणार्थक-वह्धातोः 'भारं वहती'त्यादौ सकर्मकत्वेऽपि प्रस्रवणरूपार्थान्तरप्रयोगे 'नदी वहती'त्यादौ अकर्मकता भवति। धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्–अर्थात् यस्य धातोः कर्म धात्वर्थान्तर्गतं स्यात्तस्याप्यकर्मकता, यथा– जीवति = प्राणान् धारयति। नृत्यति = गात्रं विक्षिपति। एवं कर्मणः प्रसिद्धेः क्रिया अकर्मिका भवति। यथा 'मेघो वर्षती'त्यादौ वर्षकर्मणो जलस्य प्रसिद्धत्वम्। तथा कर्मणोऽविवक्षातोऽपि क्रिया–या अकर्मकत्वं भवति। यथा–'हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः' इति। स्वहितस्यात्र कर्मत्वेऽपि तस्याऽविवक्षयाऽकर्मकत्वमिति भावः।

(९३३) **सम्माननेति।** 'आत्मनेपदमि'त्यनुवर्तते। तदाह– **एष्वर्थेष्विति। नयते**– निधातोः सम्मानार्थे 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण०' इत्यादिना आत्मनेपदे लटि तङि टेरेत्वे शपि अनुबन्धलोपे गुणेऽयादेशे 'नयते' इति।

---

(१) **धातोरर्थान्तरे वृत्तेः**– सकर्मक धातु यदि अर्थान्तर को कहने लगे तो वह अकर्मक हो जाती है। यथा 'भारं वहति' में प्रापणार्थक ✓ वह् सकर्मक है, परन्तु अर्थान्तर (प्रस्रवण = वहना) अर्थ में प्रवृत्त होकर अकर्मक हो जाती है। यथा– 'नदी वहति'।

(२) **कर्मणः धात्वर्थेनोपसंग्रहात्**– यदि कर्म धात्वर्थ के अन्तर्गत हो जाय तो भी धातु अकर्मक हो जाती है। जैसे–जीवति, नृत्यति। यहाँ ✓ जीव का अर्थ– प्राण धारण करना और ✓ नृत् का अर्थ– अङ्गविक्षेप करना (नाचना) है। दोनों धातुओं में कर्म–प्राणधारण और अङ्गविक्षेप रूप कर्म का धात्वर्थ में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः दोनों धातु अकर्मक हैं।

(३) **कर्मणः प्रसिद्धेः**– कहीं कर्म के प्रसिद्ध रहने पर भी धातु अकर्मक हो जाती है। यथा– 'मेघो वर्षति' (= जलं वर्षति) यहाँ जल रूप कर्म प्रसिद्ध है, परन्तु धातु अकर्मक कही जाती है।

(४) **कर्मण अविवक्षातः**– कर्म की अविवक्षा से भी धातु अकर्मक हो जाती है। यथा– 'हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः।' (= हितात्पुरुषात् यः न संशृणुते = स्वहितं न मन्यते स किं प्रभुः = कुत्सित इत्यर्थः)। यहाँ स्वहित रूप कर्म की अविवक्षा करने पर धातु अकर्मक हो जाती है।

(९३३) **पद**– सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु, नयः। **अनुवृत्ति**– आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– संमानन आदि अर्थों में भी धातु से आत्मनेपद होता है। शास्त्रे नयते इत्यादि।

शिष्यसम्माननं फलितम्। उत्सञ्जने–दण्डमुन्नयते। उत्क्षिपतीत्यर्थः। माणवकमुपनयते। विधिना आत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। उपनयनपूर्वकेणाध्यापनेन हि उपनेतरि आचार्यत्वं क्रियते। ज्ञाने तत्त्वं नयते। निश्चिनोतीत्यर्थः। कर्मकरानुपनयते। भृतिदानेन स्वसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। विगणनमृणादेर्नियतिनम्। करं विनयते। राज्ञे देयं भागं परिशोधयतीत्यर्थः। शतं विनयते। धर्मार्थं विनियुङ्क्ते इत्यर्थः। * उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम् *। बन्धान्निरस्यति। निरस्यते। समूहति। समूहते। **(९३४) उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः**

---

(९३४) **उपसर्गादिति**। 'अयङ् यि क्ङिति' इत्यतो 'यि क्ङिति' इत्यनुवर्तते। अत आह–
उपसर्गादिति। 'अयङ् यि क्ङिति' इत्यतो 'यि क्ङिति' इत्यनुवर्तते। अत आह–
उपसर्गादूहतेरिति। ब्रह्म समुह्यादिति। समुपसर्गक-ऊह्धातोः 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' इत्यनेन विभाषया आत्मनेपदे लिङि 'सम् ऊह् या त्' इति जाते 'उपसर्गाद्ध्रस्वः' इति ह्रस्वे 'समुह्यादि'ति रूपम्।

विमर्श– यहाँ 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''संमानन (= पूजा), उत्सञ्जन (= उछालना), आचार्यकरण (= आचार्य क्रिया, संस्कार), ज्ञान (= तत्त्वनिश्चय), विगणन (= ऋणादि का चुकाना) और व्यय (= व्यय करना) अर्थों में वर्तमान णीञ् (नी) धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ नी ('संमानन' अर्थ में आत्मनेपद, लट् = 'त', शप् = 'अ', 'ई' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्', एत्व) = नयते। शास्त्रे नयते (शास्त्र के सिद्धान्त को आचार्य शिष्य को प्राप्त कराता है।)– इससे यहाँ शिष्य का सम्मान फलित होता है। (२) दण्डमुन्नयते (दण्ड को उछालता है)– यहाँ उत्सञ्जन अर्थ में आत्मनेपद। (३) माणवकम् **उपनयते** (बच्चे का उपनयन करता है)– यहाँ आचार्य विधिपूर्वक बालक को अपने पास लाता है। उपनयन संस्कारपूर्वक अध्यापन करने से ही आचार्यत्व होता है। अतः यहाँ 'आचार्यकरण' अर्थ में आत्मनेपद हुआ। (४) 'तत्त्वं **नयते**' (तत्त्व का निश्चय करता है)– यहाँ 'ज्ञान' अर्थ में आत्मनेपद है। (५) कर्मकरानुपनयते (नौकरों को वेतनादि देकर अपने अनुकूल करता है)– यहाँ 'भृति' अर्थ में आत्मनेपद है। (६) 'विगणन' का अर्थ–'ऋणादि का चुकाना' है। 'करं विनयते' (राजा को देय भाग 'कर' चुकाता है) में 'विगणन' अर्थ में आत्मनेपद। (७) शतं विनयते (धमार्थ सौ रुपये देता है)– यहाँ 'व्यय' अर्थ में आत्मनेपद का प्रयोग है।

(वा०)– उपसर्ग से परवर्ती ✓ अस् और ✓ ऊह से विकल्प से आत्मनेपद होता है।

उदाहरण– (१) निर् + ✓ अस् (विकल्प से आत्मनेपद–'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्', लट् = 'त', श्यन् = 'य'–'दिवादिभ्यः श्यन्', एत्व) = निरस्यते। आत्मनेपद के अभावपक्ष में– निरस्यति। (२) सम् + ✓ ऊह् (विकल्प से आत्मनेपद)–समूहते। समूहति।

(९३४) **पद–** उपसर्गात्, ह्रस्वः, ऊहतेः। **अनुवृत्ति–** यि क्ङिति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ–उपसर्ग से परवर्ती 'ऊह्' धातु के अच् को ह्रस्व होता है, यकारादि कित् ङित् प्रत्यय के परे रहते। ब्रह्म समुह्यात्। अग्निं समुह्य।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अयङ् यि क्ङिति' (७।४।२२) से 'यि क्ङिति' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''यकारादि कित् ङित् प्रत्यय के परे रहते उपसर्ग से उत्तर 'ऊह्' के अच् को ह्रस्व होता है।''

७।४।२३। उपसर्गादूहतेर्ह्रस्वः स्यात् यादौ किति। ब्रह्म समुह्यात्। अग्निं समुह्य। **(९३५) निसमुपविभ्यो ह्वः १।३।३०** । एभ्यो ह्व आत्मनेपदं स्यात्। निह्वयते। **(९३६) स्पर्द्धायामाङः १।३।३१** । आङो ह्व आत्मनेपदं स्यात् स्पर्द्धायाम्। कृष्णश्चाणूरमाह्वयते। स्पर्द्धायां किम्? पुत्रमाह्वयति। **(९३७) उदश्चरः सकर्मकात् १।३।५३** । उत्पूर्वात्सकर्मकाच्चरतेरात्मनेपदं स्यात्। धर्ममुच्चरते। उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः।

---

(९३५) **निसमुपेति**। आत्मनेपदमित्यनुवर्तते। तेन 'नि-सम्-उप-वि' एभ्यः परस्मात् ह्वेञ्धातोः आत्मनेपदं स्यादित्यर्थः। **निह्वयते**- 'नि'पूर्वात् ह्वेञ्धातोः 'निसमुपविभ्यो ह्वः' इत्यात्मनेपदे लटि 'त'प्रत्यये शपि अनुबन्धलोपेऽयादेशे टेरेत्वे कृते 'निह्वयते' इति।

(९३६) **स्पर्द्धायामाङ इति**। 'निसमुपविभ्यो ह्वः' इत्यतः 'ह्वः' इत्यनुवर्तते, 'अनुदात्तङित आत्मनेपदमि'त्यत 'आत्मनेपदमि'ति च। तदाह-**आङो ह्व इति**। **कृष्णश्चाणूरमाह्वयते**- 'आ'पूर्वक-ह्वेञ्धातोः 'स्पर्धायामाङः' इत्यनेनात्मनेपदे लटि तप्रत्यये शपि, अयादेशे टेरेत्वे 'आह्वयते' इति। स्पर्धाभावे परस्मैपदम्-आह्वयति।

(९३७) **उदश्चर इति**। आत्मनेपदमित्यनुवर्तते। **धर्ममुच्चरते**- उत्पूर्वात् चर्धातोः 'उदश्चरः सकर्मकात्' इत्यात्मनेपदे लटि तप्रत्यये शपि टेरेत्वे 'उच्चरते' इति।

उदाहरण- (१) सम् + ऊह् (विकल्प से आत्मनेपद, लिङ् = तिप् (परस्मैपद पक्ष में) = ति, यासुट् = 'यास्', इकारलोप)- सम् ऊह् यास् त् ('ऊ' = 'उ'-ह्रस्व-'उपसर्गाद्ध्रस्वः', सकारलोप) = समुह्यात्। (२) ल्यबन्त उदाहरण-अग्निं समुह्य (ह्रस्व)।

(९३५) **पद**- निसमुपविभ्यः, ह्वः। **अनुवृत्ति**- आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- नि, सम्, उप और वि उपसर्ग से परवर्ती ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद होता है। निह्वयते।

विमर्श- यहाँ 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "नि, सम्, उप और वि उपसर्गपूर्वक ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद होता है।"

उदाहरण- नि + ह्वेञ् (ह्वे)-आत्मनेपद-'निसमुपविभ्यो ह्वः', लट् = 'त', श = 'अ', 'ए' = 'अय्' आदेश, 'टि' को एत्व) = निह्वयते (= निश्चय रूप से बुलाता है)।

(९३६) **पद**- स्पर्द्धायाम्, आङः। **अनुवृत्ति**- ह्वः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'आङ्' उपसर्गपूर्वक ह्वेञ् धातु से स्पर्धा अर्थ में आत्मनेपद होता है। कृष्णश्चाणूरमाह्वयते (= कृष्ण चाणूर को स्पर्धा हेतु ललकारते हैं) इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (९३५) से 'ह्वः' की तथा 'अनुदात्तङित०' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- "स्पर्धा अर्थ में आङ्पूर्वक ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद होता है।"

उदाहरण- आ + ✓ ह्वे (आत्मनेपद-'स्पर्द्धायामाङः', लट् = 'त', शप् = 'अ', 'ए' = 'अय्' एत्व) = आह्वयते।

प्रत्युदाहरण- प्रकृत सूत्र में 'स्पर्धायाम्' पद का ग्रहण होने से 'स्पर्धा' से भिन्न-विषयक आह्वान में आत्मनेपद नहीं होता। पुत्रमाह्वयति (= पुत्र को बुलाता है)।

(९३७) **पद**- उदः, चरः, सकर्मकात्। **अनुवृत्ति**- आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'उत्' उपसर्ग से परवर्ती सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद होता है। धर्ममुच्चरते (= धर्म का उल्लंघन करके जाता है)।

(९३८) समस्तृतीयायुक्तात् १।३।५४ । तृतीयान्तेन युक्तात् सम्पूर्वाच्चरतेरात्मनेपदं स्यात्। रथेन सञ्चरते। **(८३९) दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १।३।५५** । समो दाणस्तृतीयान्तेन युक्तायुक्तं स्यात्तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे। दास्या संयच्छते कामी। **(९४०) उपाद्यमः स्वकरणे १।३।५६** । उपपूर्वाद्यम आत्मनेपदं स्यात्स्वकरणे। स्वकरणं

---

(९३८) **समस्तृतीयेति**। सकर्मकादिति निवृत्तम्। 'उदश्चरः' इत्यनुवर्तते। तदाह- **तृतीयान्तेनेति**। **रथेन सञ्चरते**- अत्र सम्पूर्वक-चर्धातोः 'रथेन' इति तृतीयान्तेन युक्तात् आत्मनेपदमिति भावः।

(९३९) **दाणश्चेति**। 'समस्तृतीयायुक्तात्' इत्यनुवर्तते। **दास्या संयच्छते कामी**- अत्र 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' इति वार्तिकेन 'दास्या' इत्यत्र तृतीया। ततश्च तृतीयान्तयुक्तात् सम्पूर्वाद्दाण्धातोः 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' इति आत्मनेपदे तप्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे 'पाघ्राध्मे'ति दाणो यच्छादेशे टेरेत्वे कृते 'संयच्छते' इति रूपम्।

(९४०) **उपाद्यम इति**। आत्मनेपदमित्यनुवर्तते। तेन स्वीकारेऽर्थे उपाद्यम आत्मनेपदं

विमर्श- यहाँ 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''उत्पूर्वक सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण- उत् + ✓ चर् (आत्मनेपद-'उदश्चरः सकर्मकात्', लट् = 'त', शप् = 'अ', 'टि' को एत्व, 'त्' = 'च्'-श्चुत्व) = उच्चरते।

(९३८) **पद**- समः, तृतीयायुक्तात्। **अनुवृत्ति**- चरः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- तृतीयान्त पद से युक्त सम्पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद होता है। रथेन सञ्चरते (= रथ से चलता है)।

विमर्श- पूर्वसूत्र (९३७) से 'चरः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''तृतीयान्त पद से युक्त 'सम्' पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण- सम् + ✓ चर् (आत्मनेपद-'समस्तृतीयायुक्तात्', लट् = 'त', शप् = 'अ', टि को एत्व, म् = अनुस्वार = 'ञ्'-'परस्वर्ण') = रथेन सञ्चरते।

(९३९) **पद**- दाणः, च, सा, चेत्, चतुर्थ्यर्थे। **अनुवृत्ति**- समस्तृतीयायुक्तात्, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ-तृतीयान्त से युक्त 'सम्' उपसर्गपूर्वक दाण् धातु से आत्मनेपद होता है; यदि वह तृतीया चतुर्थी के अर्थ में हुई हो तो। दास्या संयच्छते कामी।

विमर्श- यहाँ 'समस्तृतीयायुक्तात्' (९३८) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार- ''तृतीया विभक्त्यन्त सम्पूर्वक दाण् धातु से आत्मनेपद होता है; यदि वह तृतीया चतुर्थी के अर्थ में हुई हो।''

उदाहरण- 'दास्या संयच्छते कामी' (= कामी पुरुष दासी को देता है)- यहाँ 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' वार्तिक से 'अशिष्टव्यवहार' अर्थ में ✓ दाण् के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति (दास्या) होती है। अत यहाँ सम् + ✓ दाण् (आत्मनेपद-'दाणश्च सा०', लट् = 'त', शप् = 'अ', 'दाण्' = 'यच्छ'-'पाघ्राध्मा०', एत्व, अनुस्वार) = संयच्छते।

(९४०) **पद**- उपात्, यमः, स्वकरणे। **अनुवृत्ति**- आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

स्वीकारः। भार्यामुपयच्छते। **(९४१) विभाषोपयमने १।२।१६** । यमः सिच् किद्वा स्याद्विवाहेऽर्थे। रामः सीतामुपायत, उपायंस्त वा। उदवोढेत्यर्थः। **(९४२) ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः १।३।५७** । सन्नन्तानामेषां प्राग्वत्। धर्मं जिज्ञासते। शुश्रूषते। सुस्मूर्षते। दिदृक्षते।

भवतीत्यर्थः। **भार्यामुपयच्छते**– उपपूर्वात् यम्धातोः 'उपाद्यमः स्वकरणे' इत्यात्मनेपदे लटि तप्रत्यये शपि 'इषुगमियमां छः' इत्येनन छादेशे तुकि श्चुत्वे टेरेत्वे 'उपयच्छते' इति सिद्धम्।

(९४१) **विभाषेति**। 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यतः किदित्यनुवर्तते। तदाह–**यम इत्यादि**। **उपायत इति**। सिचः कित्त्वादनुनासिकलोपो 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सिचो लोपः। कित्त्वाभावपक्षे–'उपायंस्त' इति।

(९४२) **ज्ञाश्रु इति**। सन्नन्तानां ज्ञाश्रुस्मृदृशामात्मनेपदमित्यर्थः। **धर्मं जिज्ञासते**– ज्ञाधातोः सनि 'सन्यङोः' इत्यनेन द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे चर्त्वे 'सन्यतः' इत्यभ्यासस्येत्वे, ततो लटि 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदे तङि शपि अनुबन्धलोपे पररूपे टेरेत्वे 'जिज्ञासते' इति।

मूलार्थ–'उप' उपसर्गपूर्वक यम धातु से स्वीकार अर्थ में आत्मनेपद होता है। स्वकरण का अर्थ–'स्वीकार' है। भार्यामुपयच्छते।

विमर्श– 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– उप + ✓ यम् (स्वीकार अर्थ में आत्मनेपद–'उपाद्यमः', लट् = 'त', शप् = 'अ', 'म्' = 'छ्' आदेश–'इषुगमियमां छः', तुक् = 'त्', 'त्' = 'च्'-श्चुत्व, टि को एत्व) = उपयच्छते। भार्यामुपयच्छते (= पत्नी को स्वीकार करता है)।

(९४१) **पद**– विभाषा, उपयमने। **अनुवृत्ति**– यमः, सिच्, कित्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ– विवाह अर्थ में यम् धातु से परवर्ती सिच् विकल्प से कित् होता है। रामः सीतामुपायत उपायंस्त वा (= राम ने सीता से विवाह किया)।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'यमो गन्धने' (९२९) से 'यमः', 'हनः सिच्'(९२८) से 'सिच्' तथा 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''उपयमन (विवाह) अर्थ में यम् से परे 'सिच्' विकल्प से किद्वत् होता है।''

उदाहरण– उप + ✓ यम् (आत्मनेपद–'उपाद्यमः', लुङ् = 'त', अट् = 'अ' आगम, च्लि, च्लि = सिच् = 'स्', विकल्प से किद्वत्–'विभाषोपयमने', 'म्' का लोप–'अनुदात्तोपदेश०', 'स्' का लोप–'ह्रस्वादङ्गात्', अ + अ = 'आ'–सवर्णदीर्घ) = उपायत। कित्त्व के अभाव पक्ष में अनुनासिक-लोप तथा सकार का लोप नहीं होता–उपायंस्त।

(९४२) **पद**– ज्ञाश्रुस्मृदृशाम्, सनः। **अनुवृत्ति**– आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ–सन्नन्त ज्ञा, श्रु, स्मृ और दृश् धातु से आत्मनेपद होता है। धर्मं जिज्ञासते।

विमर्श– यहाँ 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''सन्नन्त उक्त धातुओं से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ ज्ञा + सन् (= स, द्वित्व–'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, ह्रस्व, 'अ' = 'इ'–'सन्यतः')– जिज्ञास (आत्मनेपद–'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः', लट् = 'त', शप् = 'अ', एत्व, अ + अ = 'अ'–पररूप–'अतो गुणे') = जिज्ञासते। (२) ✓ श्रु + सन् (= स, द्वित्व, अभ्यासत्व,

(९४३) नाऽनोर्ज्ञः १।३।५८ । अनुपूर्वाज्जानातेः सन्नन्तादात्मनेपदं न स्यात्। पुत्रमनुजिज्ञासति। **(९४४) प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु १।३।६४ ।** प्रयुङ्क्ते। उपयुङ्क्ते। * स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वाच्यम् *। उद्युङ्क्ते। नियुङ्क्ते। अयज्ञपात्रेषु किम्? द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ति। **(९४५) समः क्ष्णुवः १।३।६५ ।** सम्पूर्वात्क्ष्णुव

---

(९४३) **नाऽनोरिति**। 'सनः' आत्मनेपदमिति चानुवर्तते। तदाह- **अनुपूर्वादिति**।

(९४४) **प्रोपाभ्यामिति**। प्रोपाभ्यां परस्य युजेरयज्ञपात्रविषयादात्मनेपदमित्यर्थः। **प्रयुङ्क्ते**- प्रपूर्वात् युज्धातोः 'प्रोपाभ्यामि'त्यात्मनेपदे लटि तङि 'रुधादिभ्यः श्नम्' इति श्नमि अनुबन्धलोपे अल्लोपेऽनुस्वारे परसवर्णे टेरेत्वे 'प्रयुङ्क्ते' इति।

(९४५) **समः क्ष्णुव इति**। आत्मनेपदमित्यनुवर्त्याह-**सम्पूर्वादिति**।

हलादिशेष, ह्रस्व, षत्व) = शुश्रूष (आत्मनेपद-'ज्ञाश्रु०', ल् = 'त', शप् = 'अ', टि को एत्व, पररूप) = शुश्रूषते। (३) ✓ स्मृ + सन् (= सुस्मूर्ष, आत्मनेपद लट् = त, शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = सुस्मूर्षते। (४) ✓ दृश् + सन् (= दिदृक्ष (आत्मनेपद, लट् = 'त', शप् = 'अ', पररूप, एत्व) = दिदृक्षते।

(९४३) **पद**- न, अनोः, ज्ञः। **अनुवृत्ति**- सनः, आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ- 'अनु' उपसर्ग से परवर्ती ज्ञा धातु से आत्मनेपद नहीं होता। पुत्रमनुजिज्ञासति।

विमर्श- पूर्वसूत्र (९४२) से 'सनः' की अनुवृत्ति आती है। 'अनुदात्तङित०' से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार- ''अनु उपसर्गपूर्वक सन्नत ज्ञा धातु से आत्मनेपद नहीं होता।''

उदाहरण- पुत्रमनुजिज्ञासति (पुत्र को अनुमति देना चाहता है)-यहाँ 'ज्ञाश्रु०' से प्राप्त आत्मनेपद का 'नाऽनोर्ज्ञः' से निषेध। परस्मैपद हुआ।

(९४४) **पद**- प्रोपाभ्याम्, युजेरयज्ञपात्रेषु। **अनुवृत्ति**- आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'प्र' और 'उप' उपसर्ग से परवर्ती 'युज्' धातु से यज्ञपात्र से भिन्न विषय में आत्मनेपद होता है। प्रयुङ्क्ते। उपयुङ्क्ते।

विमर्श- 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः '' यज्ञपात्र से भिन्न प्रयोग में प्र, उप उपसर्गपूर्वक युज् धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण- (१) प्र + ✓ युज् (आत्मनेपद-'**प्रोपाभ्याम्०**', लट् = 'त', श्नम् = न')- प्र युन ज् त ('टि' को एत्व, 'अ' का लोप, 'न्' = ं अनुस्वार = 'ङ्'-परसवर्ण, 'ज्' = 'ग्'-'चोः कुः' 'ग्' = 'क्'-'खरि च') = प्रयुङ्क्ते। (२) उप + ✓ युज् आत्मनेपद, लट् प्र० पु० एकवचन (प्रक्रिया पूर्ववत्) = उपयुङ्क्ते।

(वा०)- 'स्वरादि और स्वरान्त उपसर्ग से परवर्ती युज् धातु से भी अयज्ञपात्र विषय में आत्मनेपद होता है।' ऐसा कहना चाहिए।

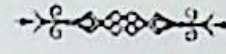
उदाहरण- (१) उत् + ✓ युज् (आत्मनेपद-'स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वाच्यम्', लट् प्र० पु० एकवचन) = उद्युङ्क्ते। (२) नि + ✓ युज् (आत्मनेपद, लट्, प्र० पु० ए० व०) = नियुङ्क्ते।

प्रत्युदाहरण- प्रकृत सूत्र में 'अयज्ञपात्रेषु' पद का ग्रहण होने से तद्भिन्न अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता; परस्मैपद ही होता है। यथा- द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ति।

(९४५) **पद**- समः, क्ष्णुवः। **अनुवृत्ति**- आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

आत्मनेपदं स्यात्। संक्ष्णुते शस्त्रम्। **(९४६) गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः १।३।३२** । एषु कृञ आत्मनेपदं स्यात्। गन्धनं हिंसा। उत्कुरुते। सूचयतीत्यर्थः। अवक्षेपणं भर्त्सनम्। श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते। भर्त्सयतीत्यर्थः। हरिमुपकुरुते। सेवते। परदारान्प्रकुरुते। तेषु सहसा प्रवर्त्तते। एधोदकस्योपस्कुरुते। गुणमाधत्ते। कथाः प्रकुरुते। प्रकथयतीत्यर्थः। शतं प्रकुरुते। धमार्थं विनियुङ्क्ते। एषु किम्? कटं करोति।

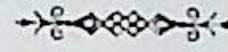
इत्यात्मनेपदप्रकरणम् ।



---

(९४६) **गन्धनावक्षेपणेति**। आत्मनेपदमित्यनुवर्तते। अत आह-**एष्विति**। **उत्कुरुते**- उत्पूर्वात्कृधातोः गन्धनार्थे 'गन्धनावक्षेपण' इत्यादिना आत्मनेपदे लटि तङि रूपम्।

इत्यात्मनेपदप्रकरणम् ।



मूलार्थ– 'सम्' उपसर्ग से परवर्ती 'क्ष्णु' धातु से आत्मनेपद होता है। संक्ष्णुते शस्त्रम् (= शस्त्र को तेज करता है)।

विमर्श–'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''सम् पूर्वक 'क्ष्णु तेजने' धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण– सम् + ✓ क्ष्णु (आत्मनेपद- 'समः क्ष्णुवः', लट् = 'त', शप्, लुक्- 'अदिप्रभृतिभ्यः', एत्व, म् = – अनुस्वार) = संक्ष्णुते।

(९४६) **पद**– गन्धनावक्षेपण-सेवन-साहसिक्य-प्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु, कृञः।

अनुवृत्ति–आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– गन्धन आदि अर्थों में कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है। 'गन्धनम्' का अर्थ हिंसा या सूचना देना है। उत्कुरुते इत्यादि।

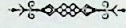
विमर्श– 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आने से गन्धन (=हिंसा, सूचना या शिकायत करना), अवक्षेपण (= भर्त्सना करना, धमकाना), सेवन (=सेवा करना), साहसिक्य (बलप्रयोग करना, जबरदस्ती करना), प्रतियत्न (किसी गुण को भिन्न गुण में बदलना), प्रकथन (= बढ़ा-चढ़ाकर कहना, कथा करना) और उपयोग (= धर्मादि कार्यों में लगाना) अर्थ में कृञ् (कृ) धातु से आत्मनेपद होता है।''

उदाहरण– (१) उत् + ✓ कृ (गन्धन (= सूचना देना) अर्थ में आत्मनेपद–'गन्धनाव०', लट् = 'त', 'उ'– 'तनादिकृञ्भ्य उः', ऋ = 'अ'–गुण, रपर, 'अ' = 'उ'–'अत उत्सार्वधातुके', एत्व) = उत्कुरुते (सूचना देता है, शिकायत करता है)। (२) श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते (= बाज बटेर को धमकाता है)– उद् + आ + ✓ कृ (भर्त्सन अर्थ में आत्मनेपद, लट् प्र० पु० ए० व० (प्रक्रिया पूर्ववत्) = उदाकुरुते। (३) हरिम् उपकुरुते (= हरि की सेवा करता है)– यहाँ उप + ✓ कृ से 'सेवा' अर्थ में आत्मनेपद। (४) परदारान्प्रकुरुते (= परस्त्रियों के विषय में साहस करता है)– यहाँ प्र + ✓ कृ (साहसिक्य अर्थ में आत्मनेपद, लट्, प्र० पु० एकवचन) = प्रकुरुते। (५) एधोदकस्योपस्कुरुते (= ईंधन (लकड़ी) जल के गुण को बदलता है या रंग उत्पन्न करता है)– यहाँ उप + ✓ कृ से

कगुणाधान अर्थ में आत्मनेपद। (६) कथाः प्रकुरुते (कथाएँ कहता है)- यहाँ प्रकथन अर्थ में प्र + ✓ कृ से आत्मनेपद हुआ है। (७) शतं प्रकुरुते (= धर्मार्थं विनियुङ्क्ते-'धर्मकार्य के लिए लगाता है')- यहाँ विनियोग अर्थ में प्र + ✓ कृ से आत्मनेपद।

प्रत्युदाहरण– एषु किमिति– सूत्र में कहे हुए गन्धन आदि अर्थों में ही कृ धातु से आत्मनेपद होने से अन्य अर्थों में आत्मनेपद नहीं होता। यथा–'कटं करोति' (चटाई बनाता है) में परस्मैपद ही हुआ।

आत्मनेपद-प्रकरण समाप्त ।



अथ परस्मैपदप्रकरणम्

'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'। 'श्वि'। श्वयति। (९४७) विभाषा श्वेः ६।१।३०। श्वयतेः सम्प्रसारणं वा स्याल्लिटि, यङि च। शुशाव। शुशुवतुः। * श्वयतेर्लिट्यभ्यास-लक्षणप्रतिषेधः *। शिश्वाय। शिश्वियतुः। शिश्वियुः। शूयात्। 'जृस्तम्भ्वि'त्यङ् वा।

आत्मनेपदव्यवस्थां प्रदर्श्येदानीं परस्मैपदव्यवस्थां निर्दिश्यते-

शेषादिति। उक्तादन्यः शेषः। आत्मनेपदनिमित्तमुक्तम्, तद्भिन्नो विषयः शेषस्तस्मात् शेषात् अर्थात् आत्मनेपदनिमित्तहीनाद् धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यादित्यर्थः।

(९४७) **विभाषेति**। 'लिड्यङोश्चे'त्यतः लिड्यङोरिति, 'ष्यङः सम्प्रसारणमि'त्यतः 'सम्प्रसारणमि'ति चानुवर्तते। तदाह-**श्वयतेरिति**। **शुशाव इति**। श्विधातोः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदमि'ति परस्मैपदे लिटि 'विभाषा श्वेः' इत्यनेन विकल्पेन सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपे, लिटः स्थाने तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वे वृद्धावादेशे 'शुशाव' इति।

आत्मनेपद-व्यवस्था के सूत्रों की व्याख्या के अनन्तर परस्मैपद-व्यवस्था का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है-

'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८) से आत्मनेपद के निमित्त से रहित धातु से कर्ता अर्थ में परस्मैपद होता है।

उदाहरण- ✓ श्वि + लट् (परस्मैपद-'शेषात्कर्तरि', लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'-गुण, 'ए' = 'अय्'-आदेश) = श्वयति

(९४७) **पद**- विभाषा, श्वेः। **अनुवृत्ति**- लिट्यङोः, सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- लिट् और यङ् के परवर्ती रहते श्वि धातु को विकल्प से सम्प्रसारण होता है। शुशाव। शुशुवतुः इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'लिड्यङोश्च' (६।१।२९) से 'लिड्यङोः' की तथा 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''लिट् तथा यङ् के परवर्ती रहते टु ओ श्वि (श्वि) धातु को विकल्प से सम्प्रसारण (व् = उ) होता है।''

उदाहरण- (१) ✓ श्वि (परस्मैपद लिट् = तिप् = णल् = 'अ', 'व्' = 'उ'-सम्प्रसारण, पूर्वरूप 'सम्प्रसारणाच्च' द्वित्व, 'उ' = 'औ'-वृद्धि-'अचो ञ्णिति', 'औ' = 'आव्'-आदेश) = शुशाव। सम्प्रसारण के अभाव पक्ष में-(श्वि का द्वित्व) श्वि श्वि अ ('लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से प्राप्त अभ्यास के सम्प्रसारण का 'श्वयतेर्लिट्यभ्यासलक्षणप्रतिषेधः' से निषेध, हलादिशेष, वृद्धि, आय् आदेश) = शिश्वाय। (२) श्वि + लिट् (= तस् = अतुस्, विकल्प से सम्प्रसारण-'विभाषा श्वेः', द्वित्व)- शु शु अतुस् (उ = उवङ् = उव्, स् = र् = :) = शुशुवतुः। सम्प्रसारण के अभावपक्ष में-(द्वित्व, अभ्यासत्व, हलादिशेष)- शि श्वि अतुस् (इयङ् = इय्, स् = र् = :) = शिश्वियतुः। (३) लिङ्-शूयात् (सम्प्रसारण, दीर्घ)।

(वा०)- लिट् के परवर्ती रहते श्वि धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण नहीं होता।

(९४८) श्वयतेरः ७।४।१८ । श्वयतेरिकारस्य अकारः स्यात् अङि। अश्वत्। अश्वः। 'विभाषा धेट्श्व्योरि'ति चङ् वा। अशिश्वियत्। अश्वयीत्। (९४९) अनुपराभ्यां कृञः १।३।७९ । अनुपराभ्यां कृञः कर्तृगे फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात्। अनुकरोति। पराकरोति। (९५०) अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः

(९४८) **श्वयतेर इति**। अत्र 'ऋदृशोऽङि गुणः' इत्यतोऽङि इत्यनुवर्तते। तदाह- **श्वयतेरिति**। **अश्वदिति**। श्विधातोर्लुङि तिपि च्लौ 'जृस्तम्भु' इत्यादिना विभाषया च्लेरङि 'श्वयतेरः' इत्यनेनेकारस्य अकारे अडागमेऽनुबन्धलोपे 'इतश्चे'त्यनेन इकारलोपे 'अश्वत्' इति। अङभावे विभाषया च्लेश्चङि द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे अटि इयङि 'अशिश्वियदि'ति। यदा चङपि न स्यात्तदा च्लेः सिचि इडागमे 'अस्तिसिच' इत्यनेन ईटि 'इट ईटि' इत्यनेन सकारलोपे गुणेऽयादेशे सवर्णदीर्घे इकारलोपे 'अश्वयीत्' इति तृतीयं रूपम्।

(९४९) **अनुपराभ्यामिति**। परस्मैपदमित्यनुवर्तते। तदाह- **अनुपराभ्यां कृञ इति**। **अनुकरोति**- अत्र 'गन्धनावक्षेपण' इत्यादिनाऽऽत्मनेपदे प्राप्ते 'अनुपराभ्यां कृञः' इत्यनेनापवादेन परस्मैपदम्।

(९५०) **अभिप्रत्यतिभ्य इति**। 'परस्मैपदमि'त्यनुवर्त्य आह- **अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिप इति**।

---

(९४८) **पद**- श्वयतेः, अः। **अनुवृत्ति**- अङि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- अङ् के परवर्ती रहते श्वि धातु के इकार के स्थान में अकार आदेश होता है। अश्वत्। अश्वः इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७।४।१६) से 'अङि' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः- ''अङ् के परे रहते टु ओ श्वि धातु के इकार को अकार आदेश होता है।''

उदाहरण- (१) ✓ श्वि (+ परस्मैपद, लुङ् = तिप् = 'ति', इकारलोप-'इतश्च', च्लि, च्लि = अङ् = 'अ'-विकल्प से-'जृस्तम्भु०', अट् = 'अ', 'इ' = 'अ'-'श्वयतेरः', अ + अ = 'अ'-पररूप) = अश्वत्। **अङ् के अभाव पक्ष में**- च्लि = चङ् = 'अ'-'विभाषा', श्वि को द्वित्व- 'चङि', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष)- अ शि श्वि अ त् (इ = इयङ् = 'इय्') = अशिश्वियत्। **चङ् के अभाव पक्ष में**- च्लि = सिच् = 'स्', इट् = 'इ', ईट् = 'ई'-'अस्तिसिचो०', 'स्' का लोप-'इट ईटि', 'इ' + 'ई' = 'ई'-दीर्घ, धातु के इ = 'ए'-गुण, 'ए' = 'अय्'-आदेश) = अश्वयीत्।

(९४९) **पद**- अनुपराभ्याम्, कृञः। **अनुवृत्ति**-परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'अनु' और 'परा' उपसर्ग पूर्व रहते कृञ् धातु से कर्तृगामी क्रियाफल में और गन्धन आदि अर्थों में भी परस्मैपद होता है। अनुकरोति। पराकरोति।

विमर्श- यहाँ 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आती है। अतः उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण- (१) अनु + ✓ कृ ('गन्धनावक्षेपण०' से आत्मनेपद की प्राप्ति होने पर अपवादसूत्र- 'अनुपराभ्यां कृञः' से परस्मैपद, लट् = तिप् = ति, 'उ'-तनादिकृञ्भ्य उः', 'ऋ' = 'अ'-गुण- 'सार्वधातु०', रपर, 'उ' = 'ओ'-गुण) = अनुकरोति। (२) परा + ✓ कृ (परस्मैपद-'अनुपराभ्यां कृञः', लट् प्र० पु० ए० व०) = पराकरोति।

(९५०) **पद**- अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः। **अनुवृत्ति**- परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

१।३।८० । अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः परस्मैपदं स्यात्। क्षिप प्रेरणे। **स्वरितेत्। अभिक्षिपति। (९५१) प्राद्वहः १।३।८१ । प्राद्वहतेः परस्मैदं स्यात्। प्रवहति। (९५२) परेर्मृषः १।३।८२ । परिपूर्वान्मृष्यतेः कर्तृगेऽपि फले परस्मैपदं स्यात्। परिमृष्यति। (९५३) व्याङ्परिभ्यो रमः १।३।८३ । व्याङ्परिभ्यो रमः परस्मैपदं स्यात्। विरमति। आरमति।**

(९५१) **प्राद्वह इति**। प्रपूर्वाद् वह्धातोः परस्मैपदम्भवतीत्यर्थः।

(९५२) **परेर्मृष इति**। परस्मैपदमित्यनुवर्तते। अत आह– **परिपूर्वादिति**।

(९५३) **व्याङ्परिभ्य इति**। वि आङ् परि इत्युपसर्गपूर्वाद्रमतेः परस्मैपदं भवतीत्यर्थः। **विरमति**– विपूर्वात् रम्धातोः 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इत्यनेन परस्मैपदे लटि तिपि शपि विरमति इति। विरतो भवतीत्यर्थः।

मूलार्थ– अभि, प्रति और अति पूर्वक क्षिप् धातु से भी परस्मैपद होता है। ✓ क्षिप धातु 'प्रेरणा' अर्थ में है। अभिक्षिपति।

विमर्श– 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८) से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार–''अभि, प्रति और अति उपसर्ग पूर्व रहते क्षिप् धातु से परस्मैपद होता है।'' क्षिप् धातु के स्वरितेत् होने से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद प्राप्त था, प्रकृत सूत्र द्वारा परस्मैपद का विधान किया जाता है।

उदाहरण– अभि + ✓ क्षिप् (परस्मैपद–'अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः', लट् प्र० पु० एकवचन) = अभिक्षिपति (= इधर-उधर फेंकता है)।

(९५१) **पद**– प्रात्, वहः। **अनुवृत्ति**– परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– प्र उपसर्ग से परवर्ती 'वह्' धातु से परस्मैपद होता है। प्रवहति।

विमर्श– 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आने से ''प्र पूर्वक वह् धातु से परस्मैपद होता है।''

उदाहरण– प्र + ✓ वह् (परस्मैपद–'प्राद्वहः', लट् प्र० पु० एकवचन) = प्रवहति। (यहाँ भी स्वरितेत् होने से पूर्ववत् आत्मनेपद प्राप्त था।) अर्थ– बहता है।

(९५२) **पद**– परेः, मृषः। **अनुवृत्ति**–परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– परि उपसर्ग से परवर्ती मृष् धातु से भी परस्मैपद होता है। परिमृष्यति।

विमर्श– पूर्ववत् 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''परि पूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद होता है।''

उदाहरण– (१) परि + मृष् (परस्मैपद–'परेर्मृषः', लट् प्र० पु० एकवचन) = परिमृष्यति (= सब प्रकार से सहन करता है)।

(९५३) **पद**–व्याङ्परिभ्यः, रमः। **अनुवृत्ति**– परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– वि, आङ् और परि उपसर्ग से परवर्ती रम् धातु से परस्मैपद होता है। विरमति। आरमति। परिरमति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''वि, आङ् और परि पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद होता है।''

उदाहरण– (१) वि + ✓ रम् (परस्मैपद– **'व्याङ्परिभ्यो रमः'**, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ') = विरमति (= रुकता है)। (२) आ + ✓ रम् (परस्मैपद, लट् प्र० पु० ए० व०) = आरमति (= खेलता है)। (३) परि + ✓ रम् (परस्मैपद, लट् प्र० पु० ए० व०) = परिरमति (= चारों ओर खेलता है)।

परिरमति। **(९५४) उपाच्च १।३।८४** । उपपूर्वाद्रमेः परस्मैपदं स्यात्। देवदत्तो यज्ञदत्तमुपरमति। उपरमयतीत्यर्थः। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्। **(९५५) विभाषाऽकर्मकात् २।३।८५** । उपाद्रमेरकर्मकात् परस्मैपदं वा स्यात्। उपरमति। उपरमते। निवर्त्तत इत्यर्थः। **(९५६) बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः १।३।८६** । एभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं स्यात्। 'णिचश्चे'त्यस्यापवादः। बोधयति पद्मम्। योधयति काष्ठानि। नाशयति दुःखम्।

---

(९५४) **उपाच्चेति**। उपपूर्वात् रम्धातोः परस्मैपदं भवति। ननु उपरमतेः विरामार्थकत्वात्कथं सकर्मकता भवतीत्यत आह– **उपरमयतीत्यर्थः**। अत्र णिजभावात्कथमयमर्थो लभ्यत अत आह–**अन्तर्भावितण्यर्थोऽयमिति**।

(९५५) **विभाषेति**। 'व्याङ्परिभ्यः' इत्यतः रम इति, 'उपाच्चे'त्यत उपादिति चानुवर्तते। अत आह– **उपाद्रमेरिति**। **उपरमति**। अत्र 'विभाषाऽकर्मकात्' इत्यनेन विकल्पेन परस्मैपदं भवति। परस्मैपदाभावे आत्मनेपदम्– 'उपरमते' इति रूपम्।

(९५६) **बुधयुधेति**। परस्मैपदमित्यनुवर्तते। तदाह– **एभ्यो ण्यन्तेभ्य इत्यादिना**।

---

(९५४) **पद**– उपात्, च। **अनुवृत्ति**– परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'उप' उपसर्ग से परवर्ती रम् धातु से परस्मैपद होता है। देवदत्तो यज्ञदत्तमुपरमति (देवदत्त यज्ञदत्त को हटाता है)।

विमर्श–पूर्ववत् 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार–''उपपूर्वक रम् धातु से भी परस्मैपद होता है।''

उदाहरण– उप + ✓ रम् (परस्मैपद, लट्, प्र० पु० ए० व०) = उपरमति।

उपरमयतीति। यहाँ 'उपरमति' का अर्थ 'उपरमयति' (= विनाश करना, हटाना) किया गया है। अतः यहाँ रम् धातु अन्तर्भावित ण्यर्थ है। अर्थात् 'णि' का प्रेरणा अर्थ उसके अन्दर होने से धातु सकर्मक हो गया है।

(९५५) **पद**– विभाषा, अकर्मकात्। **अनुवृत्ति**– उपात्, रमः, परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'उप' उपसर्ग से परवर्ती अकर्मक रम् धातु से विकल्प से परस्मैपद होता है। उपरमति। उपरमते इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'व्याङ्परिभ्यो रमः' (९५३) से 'रमः', 'उपाच्च' (९५४) से 'उपात्' तथा 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८) से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''अकर्मक उप पूर्वक रम् धातु से विकल्प से परस्मैपद होता है।

उदाहरण– उप + ✓ रम् (विकल्प से परस्मैपद–'विभाषाऽकर्मकात्', लट् प्र० पु० एकवचन) = उपरमति। परस्मैपद के अभाव पक्ष में आत्मनेपद–उपरमते (निवृत्त होता है)।

(९५६) **पद**– बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यः, णेः। **अनुवृत्ति**– परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– बुध, युध आदि ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद होता है। यह सूत्र 'णिचश्च' का अपवाद है। बोधयति पद्मम्।

विमर्श– 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''बुध, युध्, नश्, जन्, इङ्, प्रु, द्रु और स्रु–इन ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद होता है।'' इन धातुओं (ण्यन्त) में 'णिचश्च' से आत्मनेपद प्राप्त है। अपवादभूत प्रकृत सूत्र द्वारा परस्मैपद का विधान किया जाता है।

जनयति सुखम्। प्रावयति। प्रापयतीत्यर्थः। द्रावयति। विलापयतीत्यर्थः। स्रावयति। स्यन्दयतीत्यर्थः। **(९५७) क्रीङ्जीनां णौ ६।१।४८** । क्रीङ्जीनां णौ आत्वं स्यात्। अध्यापयति। **(९५८) णौ च संश्चङोः २।५।५१** । सन्परे चङ्परे च णौ इङो गाङ् वा स्यात्। अध्यजीगपत्। अध्यापिपत्। क्रापयति। जापयति। **(९५९)**

बोधयति– बुध्धातोर्णिचि 'पुगन्त' इति गुणे धातुसंज्ञायां 'बुधयुधे'त्यादिना परस्मैपदे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'बोधयति' इति रूपम्।

(९५७) **क्रीङ्जीनामिति**। 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यत आदेच इत्यनुवर्तते। तदाह– **क्रीङ्जीनामिति**। **अध्यापयतीति**। अधिपूर्वात् 'इङ् अध्ययने' इत्यस्माद्धातोः णिचि वृद्धौ 'अधि ऐ' इति जाते, 'क्रीङ्जीनां णौ' इत्यनेनात्वे 'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग्णौ' इत्यनेन पुगागमेऽनुबन्धलोपे यणि 'अध्यापि' इत्यस्य धातुसंज्ञायां 'बुधयुधनश' इत्यादिना परस्मैपदे लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे गुणेऽयादेशे 'अध्यापयती'ति रूपम्।

(९५८) **णौ चेति**। विषयसप्तमीयम्, 'णौ विवक्षिते' इत्यर्थः। 'इङश्चे'त्यत इङ इति, 'गाङ् लिटि' इत्यतः गाङ् इति, 'विभाषा लुङ्लृङोः' इत्यतो विभाषेति चानुवर्तते। अत आह– **सन्पर इत्यादिना**। **अध्यजीगपदिति**। अधिपूर्वादिङः णौ 'णौ च संश्चङोः' इत्यनेन विभाषया

उदाहरण– (१) ✓ बुध् + णिच् (= 'इ', 'उ' = 'ओ'–गुण)–बोधि (परस्मैपद–'**बुधयुध०**', लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए' गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश) = बोधयति (=बोध कराता है)। (२) ✓ युध् + णिच् (= 'इ', गुण)– योधि (परस्मैपद, लट् प्र० पु० ए० व०) = योधयति काष्ठानि (लकड़ियों को लड़ाता है)। (३) ✓ नश् + णिच् (= इ, वृद्धि)–नाशि (परस्मैपद, लट् प्र० पु० ए० व०) = नाशयति दुःखम् (= दुःख का नाश करता है)। (४) ✓ जन् + णिच् (इ) जनि + लट् प्र० पु० ए० व० = जनयति सुखम् (= सुख उत्पन्न करता है)। (५) ✓ प्रु + णिच् (= 'इ', वृद्धि, 'आव्' आदेश)–प्रावि + लट् (प्र० पु० ए० व० = प्रावयति (= प्राप्त कराता है)। (६) ✓ द्रु + णिच् (= 'इ', वृद्धि, आव् आदेश)–द्रावि + लट् (परस्मैपद, प्र० पु० ए० व०) = द्रावयति (= पिघलाता है)। (७) ✓ स्रु + णिच् (= इ, वृद्धि, 'आव्' आदेश)–स्रावि (परस्मैपद, लट्, प्र० पु० ए० व०) = स्रावयति (= टपकाता है)।

(९५७) **पद**– क्रीङ्जीनाम्, णौ। **अनुवृत्ति**– आदेचः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– णि के परवर्ती रहते क्री, इङ् और जि धातु को आकार अन्तादेश होता है। अध्यापयति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४४) से 'आदेचः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये', 'इङ् अध्ययने' और 'जि जये' धातुओं के एच् के स्थान में णिच् के परे रहते आकार (आ) आदेश हो जाता है।"

उदाहरण– अधि + ✓ इ + णिच् (= इ, 'इ' = 'ऐ'–वृद्धि, 'ऐ' = 'आ'–'**क्रीङ्जीनां णौ**', पुक् = 'प्' आगम–'अर्तिह्रीव्लीरी०', 'इ' = 'य्'–यण्)–अध्यापि + लट् (परस्मैपद–'**बुधयुध०**', लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्'–आदेश) = अध्यापयति।

(९५८) **पद**– णौ, च, संश्चङोः। **अनुवृत्ति**– इङ, गाङ्, विभाषा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– सन्परक अथवा चङ्परक णि के परवर्ती रहते विकल्प से 'इङ्' धातु को 'गाङ्'

निगरणचलनार्थेभ्यश्च १।३।८७ । निगरणार्थेभ्यश्चलनार्थेभ्यश्च ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं स्यात्। निगारयति। चलयति। * अदेः प्रतिषेधः *। आदयते देवदत्तेन। (९६०)

इङो गाङादेशे 'अर्तिह्रीव्लीरी' इत्यादिना पुकि 'अधि गापि' इत्यस्य धातुत्वे 'बुधजन' इत्यनेन परस्मैपदे लटि तिपि अडागमेऽनुबन्धलोपे च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इत्यनेन च्लेश्चङि 'चङि' इत्यनेन द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वे 'सन्यतः' इत्यनेनाभ्यासस्य इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अधि अ जि गपि अ ति' इति जाते 'णेरनिटि' इत्यनेन णेर्लोपे 'इतश्चे'त्यनेन तिप इकारलोपे यणि कृते 'अध्यजीगपत्' इति। गाङादेशाभावे 'अधि इ इ अ त्' इति स्थिते 'क्रीङ्जीनां णौ' इत्यात्वे पुकि आटि वृद्धौ यणि पिशब्दस्य द्वित्वे णेर्लोपे 'अध्यापिपत्' इति।

(९५९) **निगरणेति**। निगरणं भक्षणम्, चलनं कम्पनम्, एतदर्थकेभ्यो ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः परस्मैपदं स्यादित्यर्थः। **निगारयति**– निपूर्वाद् गृधातोर्णिचि वृद्धौ रपरे 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च'

आदेश होता है। अध्यजीगपत्। अध्यापिपत्। क्रापयति। जापयति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में स्थानी व आदेश वाचक दोनों पदों का अभाव है। अतः 'इङश्च' (२।४।४८) से 'इङः', 'गाङ् लिटि' (२।४।४९) से 'गाङ्' तथा विभाषा लुङ्लृङोः' (२।४।५०) से 'विभाषा' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''सन् परे है जिससे तथा चङ् परे है जिससे, ऐसा जो णिच्, उसके परे रहते इङ् धातु के स्थान में विकल्प से गाङ् (=गा) आदेश होता है।''

उदाहरण– (१) अधि + ✓ इङ् (णिच् = 'इ', इङ् = गाङ् = 'गा' आदेश विकल्प से– 'णौ च संश्चङोः', पुक् = 'प्' आगम–'अर्तिह्रीव्लीरी०)–अधि गापि (धातुसंज्ञा, परस्मैपद–'बुधयुध०', लुङ् = तिप् = 'ति', अट् = 'अ' आगम, च्लि, च्लि = चङ् = 'अ'–'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्', द्वित्व–'चङि', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, ह्रस्व, 'ग्' = 'ज्'–चुत्व)– अधि अ ज गापि अ ति (उपधाह्रस्व–'णौ चङ्युपधायाः', सन्वद्भाव, 'अ' = 'इ'–'सन्यतः', 'इ' = 'ई'–दीर्घ–'दीर्घो लघोः', णि = 'इ' का लोप–णेरनिटि, 'इ' का लोप–'इतश्च')– अधि अ जी गप् अ त् ('इ' = 'य्'–यण्) = अध्यजीगपत्। गाङ् आदेश के अभाव पक्ष में–अधि ऐ इ ('ऐ' = 'आ'–'क्रीङ्जीनां णौ', पुक् = 'प्' आगम)–अधि आपि (धातुसंज्ञा, परस्मैपद, लुङ् = तिप् = 'ति', आट् = 'आ' आगम– 'आडजादीनाम्', आ + वृद्धि–'आटश्च', च्लि = चङ् = 'अ'–'णिश्रिद्रु०', 'अजादेर्द्वितीयस्य' नियम से 'पि' को द्वित्व–'चङि')– अधि आ पि पि अ ति (णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि', 'इ' का लोप– 'इतश्च', 'इ' = 'य्'–यण्) = अध्यापिपत्। (२) ✓ क्री + णिच् (= 'इ', 'ई' = 'आ'–आत्व–'क्रीङ्जीनां णौ', पुक् = 'प्' आगम–'अर्तिह्रीव्लीरी०')– क्रापि (धातुसंज्ञा, परस्मैपद, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, अय् आदेश) = क्रापयति। (३) ✓ जि + णिच् (= इ, 'इ' = 'आ'– 'क्रीङ्जीनाम्०', पुक् = 'प्' आगम)–जापि (परस्मैपद, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', गुण, अय् आदेश) = जापयति।

(९५९) **पद**– निगरणचलनार्थेभ्यः, च। **अनुवृत्ति**–णेः, परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ण्यन्त निगरणार्थक और चलनार्थ धातुओं से परस्मैपद होता है। निगारयति। चलयति।

विमर्श– यहाँ पूर्वसूत्र 'बुधयुधनश०' (९५६) से 'णेः' की तथा 'शेषात्कर्तरि' (१।३।७८) से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''निगरण अर्थात् निगलने अर्थ वाले तथा चलनार्थक ण्यन्त धातुओं से भी परस्मैपद होता है।''

अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् १।३।८८ । अणौ यो धातुरकर्मकश्चित्तवत्कर्तृकश्च तस्माण्ण्यन्तात्परस्मैपदं स्यात्। शेते कृष्णः, तं गोपी शाययति। **(९६१) न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः १।३।८९ ।** एभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं न स्यात्।

इत्यनेन परस्मैपदे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'निगारयति' इति।

(९६०) **अणावकर्मकादिति**। परस्मैपदमित्यनुवर्तते। तदाह– **अणावित्यादिना**।

(९६१) **न पादम्याङ्यम्**। ण्यन्तेभ्यः पा-दम-आङ्यम्-आयस्-परिमुह्-रुच्-नृत्-वद्-वस्-एभ्यः धातुभ्यः परस्मैपदं न भवतीत्यर्थः। **पाययत इति**। पाधातोर्णिचि 'आतो युक्' इत्यनेन

उदाहरण– (१) नि + ✓ गृ + णिच् (= 'इ', 'ऋ' = 'आ'–वृद्धि, रपर)–निगारि (धातु-संज्ञा, 'णिचश्च' से प्राप्त आत्मनेपद का बाध कर परस्मैपद–'निगरणचलनार्थेभ्यश्च', लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्') = निगारयति। (२) ✓ चल + णिच् (= 'इ', 'अ' का लोप)– चलि (धातुसंज्ञा, लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', गुण, अय् आदेश) = चलयति।

(९६०) **पद–** अणौ, अकर्मकात्, चित्तवत्कर्तृकात्। **अनुवृत्ति–** णेः, परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अण्यन्तावस्था में अकर्मक और चित्तवत्कर्तृक धातु से ण्यन्तावस्था में परस्मैपद होता है। शेते कृष्णः, तं गोपी शाययति (कृष्ण सोते हैं, गोपी उन्हें सुलाती है)।

विमर्श– पूर्ववत् 'णेः' और 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अण्यन्त अवस्था में जो अकर्मक हो तथा चेतन कर्ता वाला हो, उस धातु से ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद होता है।''

उदाहरण– अण्यन्त अवस्था में– 'शेते कृष्णः' (कृष्ण सोते हैं)। ण्यन्त में– **'गोपी तं शाययति'** (गोपी उन्हें सुलाती है)। यहाँ शीङ् धातु अकर्मक है और उसका चेतन कर्ता कृष्ण है। अतः ण्यन्त अवस्था में प्रकृत सूत्र से परस्मैपद हो गया। ✓ शी + णिच् (= इ, वृद्धि, आय् आदेश)– शायि (लट्, परस्मैपद–'अणौ०', लट् = तिप् = 'ति', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्'–आदेश) = शाययति।

(९६१) **पद–** न, पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः। **अनुवृत्ति–** णेः, परस्मैपदम्। **विधिसूत्र**।

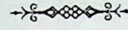
मूलार्थ– पा, दम् आदि धातुओं से ण्यन्तावस्था में परस्मैपद नहीं होता। पाययते इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में भी 'णेः' तथा 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। ''पा, दमि, आङ्पूर्वक यम, आङ्पूर्वक यस, परिपूर्वक मुह्, रुचि, नृति, वद और वस– इन ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद नहीं होता।'' पूर्व दो सूत्रों में ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद का विधान किया गया है; उसका यह प्रतिषेध सूत्र है।

उदाहरण– (१) ✓ पा + णिच् (= 'इ', युक् = 'य्'–'आतो युक्')–पायि (धातुसंज्ञा, 'अणावकर्मकात्०' से प्राप्त परस्मैपद का 'न पाद०' से निषेध, आत्मनेपद, लट् = 'त', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्', एत्व) = पाययते। (२) ✓ दम् + णिच् (= 'इ', धातुसंज्ञा, प्राप्त परस्मैपद का 'न पाद०' से निषेध, आत्मनेपद, लट् = 'त', शप्, गुण, अय् आदेश, एत्व) = दमयते। (३) आ + ✓ यस् + णिच् (= 'इ', वृद्धि)– आयासि (परस्मैपद का निषेध, लट् = 'त'–आत्मनेपद, शप्, गुण, अय् आदेश, एत्व)–आयासयते। (४) परि + ✓ मुह् + णिच् (= 'इ', गुण)–परिमोहि (धातुत्व, परस्मैपद का निषेध, आत्मनेपद, लट् = 'त', शप् = 'अ', गुण, अय् आदेश, एत्व) =

पाययते। 'मितां ह्रस्वः'। दमयते। आयामयते। आयासयते। परिमोहयते। रोचयते। नर्त्तयते। वादयते। वासयते। * धेट उपसंख्यानम् *। धापयते। 'अकर्त्रभिप्राये शेषादि'ति परस्मैपदं स्यादेव। वत्सान् पाययति पयः।

इति परस्मैपदप्रकरणम् ।



युकि अनुबन्धलोपे 'पायि' इत्यस्य धातुत्वे 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकादि'त्यनेन परस्मैपदे प्राप्ते 'न पादम्याङ्' इत्यादिना निषेधे आत्मनेपदे लटि त प्रत्यये शपि गुणेऽयादेशे टेरेत्वे 'पाययते' इति।

इति परस्मैपदप्रकरणम् ।



परिमोहयते। (५) ✓ रुच् + णिच् (= 'इ', गुण)–रोचि (धातुसंज्ञा, परस्मैपद का निषेध, आत्मनेपद, लट् = 'त', शप्, गुण, अयादेश, एत्व) = रोचयते। (६) ✓ नृत् + णिच् (= 'इ', गुण, रपर)– नर्ति (धातुसंज्ञा, परस्मैपद का निषेध, लट् = 'त', शप्, गुण, अयादेश, एत्व) = नर्तयते। (७) ✓ वद् + णिच् (= 'इ', वृद्धि)–वादि (धातुसंज्ञा, परस्मैपद का निषेध, लट् = 'त', शप्, गुण, अयादेश, एत्व) = वादयते। (८) ✓ वस् + णिच् (= 'इ', वृद्धि)–वासि (प० प० का निषेध, लट् = 'त', शप्, गुण, अयादेश, एत्व) = वासयते।

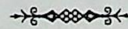
(वा०)– ण्यन्त धेट् धातु से भी परस्मैपद नहीं होता।

उदाहरण– (९) धेट् (धे) + णिच् (= 'इ', 'ए' = 'आ'–आत्व–'आदेच०', पुक् = 'प्')– धापि (प्राप्त परस्मैपद का 'धेट् उपसंख्यानम्' से निषेध, आत्मनेपद, लट् = 'त', शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' एत्व) = धापयते।

अकर्त्रभिप्राय इति। 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' न्याय से 'न पाद०' सूत्र पूर्वसूत्र ५५९, ५६० से प्राप्त परस्मैपद का ही निषेध करता है, 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' का निषेध नहीं करता। अतः 'वत्सान् पाययति पयः' में परस्मैपद हो जाता है।

(१०) ✓ पा + णिच् (= 'इ', युक् = 'य्'–'आतो युक्')–पायि (परस्मैपद, लट् = तिप् = ति, शप् = 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्') = पाययति।

परस्मैपद-प्रकरण समाप्त ।



अथ भावकर्मप्रकरणम्

(९६२) भावकर्मणोः ३।१।१३ । भावकर्मणोर्लस्य तङानौ स्तः। **(९६३) सार्वधातुके यक् ३।१।६७ ।** भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके परे धातोर्यक् स्यात्। भावः–भावना, उत्पादना, क्रिया। सा च धातुत्वेन सकलधातुवाच्या भावार्थकल-

---

'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' इत्यत्र सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्मणि कर्तरि च, अकर्मकेभ्यस्तु भावे कर्तरि च लकाराः विहितास्तेषु कर्तरि लकाराः निरूपिताः। अथेदानीं भावकर्मणोर्लकाराः निरूप्यन्ते–

(९६२) **भावकर्मणोरिति।** भावे कर्मणि च यो लकारस्तस्यात्मनेपदमित्यर्थः।

(९६३) **सार्वधातुके यगिति।** 'चिण्भावकर्मणोरि'त्यतः 'भावकर्मणोः' इति, 'धातोरेकाचः' इत्यतः धातोरिति चानुवर्तते। तदाह– **भावकर्मवाचिनीत्यादि।** अत्र भावशब्दो भावनाया यौगिक इत्यत आह– **भावो भावनेति। उत्पादना।** उत्पत्त्यनुकूलो व्यापार इत्यर्थः।

'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि–''लकार सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता में और अकर्मक धातुओं से भाव और कर्ता में होते हैं।'' तदनुसार भ्वादि से चुरादि पर्यन्त दश गणों में कर्ता अर्थ में लकारों का निरूपण किया गया। प्रकृत प्रकरण में भाव और कर्म अर्थ में लकारों का निरूपण किया जा रहा है। अर्थात् भाववाच्य और कर्मवाच्य में धातुरूपों की रचना-प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है—

(९६२) **पद–** भावकर्मणोः। **अनुवृत्ति–** आत्मनेपदम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– भाव और कर्म में धातु के लकार के स्थान में आत्मनेपद होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में धातु से आत्मनेपद होता है।'' अतः भाववाच्य और कर्मवाच्य में सभी धातु सदा आत्मनेपदी ही होते हैं।

(९६३) **पद–** सार्वधातुके, यक्। **अनुवृत्ति–** भावकर्मणोः, धातोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– भाववाची और कर्मवाची सार्वधातुक के परवर्ती रहते धातु से 'यक्' प्रत्यय होता है। भावः, भावना इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'चिण्भावकर्मणोः' (३।१।६६) से 'भावकर्मणोः' तथा 'धातोरेकाचः' (३।१।१२) से 'धातोः' की अनुवृत्ति यहाँ आती है। तदनुसार– ''भाव और कर्म में विहित सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते धातु से यक् (= य) प्रत्यय होता है।''

भाव इति। भाव, भावना, उत्पादना और क्रिया भाव के पर्यायवाची शब्द हैं। वह क्रिया धातु होने से समस्त धातुओं का अर्थ है और उस क्रिया का भावार्थक लकार से अनुवाद किया जाता है। आशय यह है कि भाववाच्य में लकार भाव अर्थ में आता है। भाव क्रिया को कहते हैं। वह क्रिया धातु का भी अर्थ है। अतः धातु से ही क्रिया का बोध हो जाता है। जब भाव में लकार आता है, तब वह लकार धातुवाच्य क्रिया का अनुवाद करता है।

युष्मदस्मद्भ्यामिति। युष्मद् का लकार के साथ सामानाधिकरण्य एकार्थता होने पर मध्यमपुरुष होता है और अस्मद् का लकार के साथ सामानाधिकरण्य होने पर उत्तमपुरुष होता है; परन्तु भाववाच्य

कारेणानूद्यते। युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात्प्रथमः पुरुषः। तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादिकम्। किन्तु–एकवचनमेवोत्सर्गतः। त्वया मया अन्यैश्च भूयते। बभूवे। **(९६४) स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ६।४।६२** । उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनाञ्च चिणीवाऽङ्गकार्यं वा स्यात्स्यादिषु परेषु, भावकर्मणोर्गम्यमानयोः स्यादीनामिडागमश्च।

भावशब्देनात्र क्रियाऽपि गृह्यते। **तिङ्वाच्येति**। तिङ्वाच्या या भावना क्रिया तस्य लिङ्गसंख्याद्यनन्वयात् अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वादिसंख्याद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादिकं किन्तु एकवचनमेव। **त्वया मयेति**। त्वत्कर्तृकं मत्कर्तृकम् अन्यकर्तृकं भवनमित्यर्थः। **भूयते**– भूधातोः 'भावकर्मणोः' इत्यनेन आत्मनेपदे लटि प्रथमपुरुषैकवचने तप्रत्यये सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुके यक्' इत्यनेन यक् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे टेरेत्वे 'भूयते' इति रूपम्।

(९६४) **स्यसिच् इति**। अच् हन् ग्रह् दृश्–एषां द्वन्द्वात्षष्ठी, उपदेश इत्यच एव विशेषणम्, नेतरेषामित्यत आह–**उपदेशे योऽजिति**। अजिति लुप्तषष्ठीकं पदम्। चिण्वदिति सप्तम्यन्ताद्वतिः 'स्यसिच्सीयुट्तासिषु' इत्युपमेयतः सप्तमीदर्शनात्। तदाह– **चिणीवेति**।

में युष्मद् और अस्मद् से सामानाधिकरण्य न होने से 'शेषे प्रथमः' से केवल प्रथमपुरुष ही होता है। अर्थात् भाव अर्थ में लकार होने से उसकी युष्मद्, अस्मद् से समानार्थता नहीं हो सकती। अतः मध्यम और उत्तमपुरुष नहीं होते। प्रथमपुरुष तो सामान्य रूप से हो जाता है।

तिङ्वाच्येति। तिङ्वाच्य क्रिया के द्रव्य रूप न होने से द्वित्व आदि की प्रतीति नहीं होती। अतः भाववाच्य में द्विवचन और बहुवचन नहीं आते, किन्तु स्वभावतः एकवचन ही आता है। तात्पर्य यह है कि एकवचन संख्या की अपेक्षा नहीं करता। प्रथमपुरुष की तरह एकवचन भी सामान्य रूप से होता है।

इस प्रकार भाववाच्य में एक लकार में धातु का रूप एक ही बनता है, जो प्रथमपुरुष एकवचन का रूप होता है।

उदाहरण– (१) त्वया मया अन्यैश्च भूयते– ✓ भू (भाव में लकार-लट्, आत्मनेपद-'भावकर्मणोः', लट् = प्र० पु० ए० व०–त, यक् = 'य'–'सार्वधातुके यक्', टि को एत्व) = भूयते। (२) ✓ भू + लिट् (भाववाच्य में आत्मनेपद, त = एश् = ए, भू को द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, 'उ' = 'अ'–'भवतेरः', चर्त्व) = बभूवे।

(भू धातु के अकर्मक होने से भाव में ही लकार होता है।)

(९६४) **पद**– स्यसिच्सीयुट्तासिषु, भावकर्मणोः, उपदेशे, अज्झनग्रहदृशाम्, वा, चिण्वद्, इट्, च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ–उपदेश अवस्था में जो अच्, तदन्त जो धातु और हन्, ग्रह्, दृश् धातु को स्य, सिच्, सीयुट् और तास् के परवर्ती रहते, भाव और कर्म अर्थ गम्यमान रहने पर विकल्प से चिण् के समान अङ्गकार्य होते हैं। साथ ही स्य आदि को इट् का आगम भी होता है।

यह इट् चिण्वद्भाव पक्ष में ही होता है। चिण्वद्भाव के अभावपक्ष में प्रकृत सूत्र से इट् नहीं होता है। अतः चिण्वद्भाव के अभावपक्ष में यदि धातु सेट् होगा तो वलादिलक्षण इट् ही होगा। चिण्वद्भाव होने पर ही वृद्धि होती है।

विमर्श–सूत्रस्थ 'उपदेशे' पद 'अचः' का ही विशेषण है, अन्य का नहीं। अतः

चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट्। चिण्वद्भावाद् वृद्धिः। भाविता। भविता। भाविष्यते। भविष्यते। भूयताम्। अभूयत। भूयेत। भाविषीष्ट। भविषीष्ट। (९६५) चिण्भावकर्मणोः ३।१।६६। च्लेश्चिण् स्यात् भावकर्मवाचिनि 'त'शब्दे परे। अभावि। अभाविष्यत। अभविष्यत। अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात्सकर्मकः। अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण, त्वया मया च।

भावितेति। भूधातोः 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे लुटि प्रथमपुरुषैकवचने तप्रत्यये तासि, तप्रत्ययस्य स्थाने डादेशेऽनुबन्धलोपे डित्त्वाट्टिलोपे 'स्यसिच्' इत्यादिना विकल्पेन चिण्वद्भावे इटि च कृते चिण्वद्भावाद् वृद्धावावादेशे 'भाविता' इति। चिण्वद्भावाऽभावपक्षे-'भू त् आ' इति स्थिते 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यनेन इटि गुणेऽवादेशे कृते 'भविता' इति।

(९६५) **चिण्भावकर्मणोरिति**। 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति, 'चिण्ते पदः' इत्यतस्ते इति चानुवर्तते। तदाह-**च्लेश्चिणिति**। **अभावि**- भूधातोर्भावे लुङि 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे

"उपदेशावस्था में जो अच्, तदन्त जो धातु, उसको तथा हन्, ग्रह् और दृश् धातुओं को चिण् के परे रहते जो-जो अङ्गकार्य होते हैं, वे कार्य स्य, सिच्, सीयुट् और तास् के परे रहते भाव तथा कर्म अर्थ गम्यमान रहने पर (अर्थात् भाववाच्य और कर्मवाच्य में) विकल्प से होते हैं। स्य, सिच्, सीयुट् और तास् को चिण्वद्भावपक्ष में इट् (= इ) का आगम भी होता है।"

उदाहरण- (१) ✓ भू (भाववाच्य में आत्मनेपद लुट् = त, तास्, चिण्वद्भाव, तास् को इट् = 'इ'-विकल्प से-'स्यसिच्०', त = डा = 'आ', डित्वात् टिलोप)- भू इ त् आ ('ऊ' = 'औ'-वृद्धि, 'औ' = 'आव्'-आदेश) = भाविता। चिण्वद्भाव के अभाव पक्ष में- भू त् आ (इट् = 'इ'-'आर्धधातुकस्येड्वलादेः', 'इ' = 'ए'- गुण, 'ए' = 'अय्') = भविता। (२) ✓ भू (भाववाच्य में आत्मनेपद, लृट् = त, स्य, चिण्वद्भाव और स्य को इट् = 'इ' विकल्प से-'स्यसिच्०', वृद्धि, आव् आदेश, टि को एत्व, षत्व) = भविष्यते। चिण्वद्भाव के अभाव पक्ष में-भू स्य त (इट् = 'इ'-'आर्धधातुकस्येड्०', गुण, अय् आदेश, एत्व, षत्व) = भविष्यते। (३) लोट्-भूयताम् (आत्मनेपद, यक्)। (४) लङ्-अभूयत। (५) विधिलिङ्-भूयेत। (६) ✓ भू (भाववाच्य आशीर्लिङ् = त, सीयुट् = 'सीय्', सुट् = 'स्')- भू सीय् स् त (विकल्प से चिण्वद्भाव और इट् = 'इ'-'स्यसिच्०', 'ऊ' = 'औ'-वृद्धि, औ = 'आव्' आदेश, 'य्' का लोप, दोनों स् = 'ष्'-षत्व, 'त्' = 'ट्'-ष्टुत्व) = भाविषीष्ट। चिण्वद्भाव के अभाव पक्ष में वलादि आर्धधातुक इट्-भू इ षीष्ट ('ऊ' = 'ओ'-गुण, ओ = 'अव्' आदेश) = भविषीष्ट।

(९६५) **पद**- चिण्, भावकर्मणोः। **अनुवृत्ति**-च्लेः, ते। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- भावकर्मवाची त शब्द के परवर्ती रहते च्लि के स्थान पर णिच् (इ) आदेश होता है। अभावि। अभाविष्यत इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः' तथा 'चिण् ते पदः' (३।१।६०) से 'ते' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- "भाव और कर्म अर्थ में 'त' के परे रहते च्लि के स्थान में चिण् (= इ) आदेश होता है।"

उदाहरण- (१) ✓ भू + भाववाच्य में लुङ् (आत्मनेपद, ल् = 'त', च्लि, च्लि = चिण् = 'इ'-'चिण् भावकर्मणोः', 'ऊ' = 'औ'-वृद्धि-'अचो ञ्णिति', 'औ' = 'आव्' आदेश, 'त' का लुक्-'चिणो लुक्', अट् = 'अ' आगम) = अभावि। (२) ✓ भू + भाव में लृङ् (आत्मनेपद-'त', अट् = 'अ', स्य, विकल्प से चिण्वद्भाव और इट् = 'इ'-'स्यसिच्०')- अभूइस्य त ('ऊ'

अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वमनुभूयसे। अहमनुभूये। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्। अन्वभविषाताम्। णिलोपः। भाव्यते। भावयाञ्चक्रे। भावयाम्बभूवे। भावयामासे। चिण्वदिट आभीयत्वेनासिद्धत्वाण्णिलोपः। भविता। भावयिता। भाविष्यते। भावयिष्यते। भाव्यताम्। अभाव्यत। भाव्येत। भाविषीष्ट। भावयिषीष्ट। अभावि। अभावयिषाताम्।

तप्रत्यये, च्लौ, च्लेः स्थाने 'चिण् भावकर्मणोः' इत्यनेन चिणि अनुबन्धलोपे, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ 'एचोऽयवायावः' इत्यावादेशे 'चिणो लुक्' इति तप्रत्ययस्य लुकि 'लुङ्-लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यनेनाडागमेऽनुबन्धलोपे 'अभावि' इति। **अकर्मकोऽपीति**। यद्यपि भूधातुरकर्मकस्तथाप्युपसर्गवशादर्थान्तरवृत्तेः सकर्मको भवति। तेन कर्मणि लकारः। 'अनुभूयते

= 'औ'-वृद्धि, औ = 'आव्', षत्व) = अभाविष्यत। चिण्वद्भाव और इट् के अभाव पक्ष में-वलादि लक्षण इट्, गुण, अव् आदेश = अभविष्यत।

अकर्मकोऽपीति। अकर्मक धातु भी उपसर्ग के योग से भिन्न अर्थ हो जाने से सकर्मक हो जाता है। प्रकृत में ✓ भू अकर्मक है। अनु उपसर्ग के योग में 'अनुभव करना' अर्थ हो जाने पर यह सकर्मक हो जाता है तब कर्म में लकार आता है।

उदाहरण– (३) अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण (चैत्र के द्वारा आनन्द का अनुभव किया जाता है) –अनु + ✓ भू + कर्म में लट् (आत्मेपद त, यक् = 'य', एत्व) = अनुभूयते। यहाँ कर्म में लकार आने से कर्म उक्त हुआ। अतः कर्म में प्रथमा विभक्ति हुई–'आनन्दः'। कर्ता यहाँ अनुक्त होने से 'चैत्रेण' में तृतीया विभक्ति हुई।

कर्मवाच्य में लकार का अर्थ कर्म होने से उसका युष्मद् और अस्मद् के साथ सामानाधिकरण्य हो जाता है। अतः इसमें तीनों पुरुष होते हैं। कर्म के द्रव्य होने के कारण उसके साथ संख्या का अन्वय भी होता है। अतः सभी वचन भी होते हैं। 'अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च'– यहाँ त्वया मया के द्वारा यह ज्ञात होता है कि कर्मवाच्य में पुरुष और वचन कर्म के अनुसार ही होते हैं, कर्ता के अनुसार नहीं।

(४) अनु + ✓ भू (कर्मवाच्य लट्, प्र० पु० द्विवचन) = अनुभूयेते। (५) अनु + ✓ भू (कर्मवाच्य लट्, म० पु० ए० व०) = अनुभूयसे त्वम्। कर्म के यहाँ मध्यमपुरुष होने से क्रिया भी म० पु० ए० व० की हुई। (५) अनु + ✓ भू (कर्मवाच्य लट्, उ० पु० ए० व०) = अनुभूये अहम् (उ० पु० में कर्म उक्त होने से प्रथमा, क्रिया भी कर्म के अनुसार उ० पु० ए० व०)।

अनु + ✓ भू (कर्मवाच्य) लट् लकार के रूप

	एकव०	द्वि०	बहुव०
प्रथमपुरुष	अनुभूयते	अनुभूयेते	अनुभूयन्ते
मध्यमपुरुष	अनुभूयसे	अनुभूयेथे	अनुभूयध्वे
उत्तमपुरुष	अनुभूये	अनुभूयावहे	अनुभूयामहे

(६) अनु + ✓ भू (कर्मवाच्य आत्मनेपद लुङ्, प्र० पु० एकवचन, प्रक्रिया पूर्ववत्, यण्) = अन्वभावि। (७) अनु + ✓ भू (कर्मवाच्य लुङ्, प्र० पु० द्विवचन, विकल्प से चिण्वद्भाव इट्) = अन्वभाविषाताम्। चिण्वद्भाव के अभाव पक्ष में वलादिलक्षण इट्–अन्वभविषाताम्। (८) ✓ भू + णिच् (= इ, 'ऊ' = 'औ'–वृद्धि, 'औ' = 'आव्'–आदेश)–भावि (धातुसंज्ञा, कर्मवाच्य लट्, आत्मनेपद, ल् = 'त', यक् = 'य'–'सार्वधातुके यक्', णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि', टि को एत्व) = भाव्यते।

अभाविषाताम्। बुभूष्यते। बुभूषाञ्चक्रे। बुभूषिता। बुभूषिष्यते। बोभूय्यते।। 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'। स्तूयते विष्णुः। स्ताविता। स्तोता। स्ताविष्यते। स्तोष्यते। अस्तावि। अस्ताविषाताम्। अस्तोषाताम्। 'गुणोर्त्ती'ति गुणः। अर्यते। स्मर्यते।

आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया चे'त्यत्र कर्मणोऽनुक्तत्वाऽभावान्न द्वितीया किन्तु प्रातिपादिकार्थमात्रे प्रथमा। कर्तुश्चाऽनुक्तत्वात्तृतीया भवति। **भाव्यत इति।** ण्यन्ताद् भूधातोः वृद्धावावादेशे 'भावि' इत्यस्य धातुसंज्ञायां कर्मणि लटि 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे तप्रत्यये सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुके यक्' इति यकि ककारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'टित

---

(९) ण्यन्त ✓ भावि + कर्म में लिट् ('आम्'-'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः', 'इ' = 'अय्'-'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु')-भावयाम् लिट् (लिट् का लुक्-'आमः', लिट्परक ✓ कृ का अनुप्रयोग, ल् = आत्मनेपद, त = एश् = 'ए', द्वित्व-'लिटि धातो०', अभ्याससंज्ञा, अत्व, रपर, हलादिशेष, 'क्' = 'च्'-'कुहोश्चुः', 'ऋ' = 'र्'-यण्, म् = ं अनुस्वार = 'ञ्'-परसवर्ण) = भावयाञ्चक्रे। ✓ भू के अनुप्रयोग में- भावयाम्बभूवे। ✓ अस् के अनुप्रयोग में-भावयामासे। (१०) ण्यन्त ✓ भू = भावि (धातुसंज्ञा, कर्मवाच्य में लुट् = त, तास्, डित्वाट्टिलोप)- भा वि ता (चिण्वद्भाव, इट्, इट् के आभीय होने से 'असिद्धवदत्राभात्' से असिद्ध होने के कारण 'णि' का लोप-'णेरनिटि') = भाविता। चिण्वद् इट् के अभाव पक्ष में वलादिलक्षण इट्, इ = 'ए'-गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश)-भावयिता। (११) ण्यन्त ✓ भू = भावि (धातुसंज्ञा, कर्मवाच्य लृट् = 'त', चिण्वद्भाव, इट् = 'इ'-विकल्प से, स्य, एत्व, षत्व, णि का लोप) = भाविष्यते। चिण्वद्भाव के अभाव पक्ष में-इट्, गुण, अयादेश) = भावयिष्यते। (१२) लोट्-भाव्यताम्। (१३) लङ्- अभाव्यत। (१४) विधिलिङ्-भाव्येत। (१५) आशीर्लिङ् में विकल्प से चिण्वदिट्-भाविषीष्ट, भावयिषीष्ट। (१६) लुङ् प्र० पु० ए० व०-अभावि। (१७) लुङ् प्र० पु० द्विव०-अभाविषाताम्, अभावयिषाताम् (विकल्प से चिण्वदिट्)। (१८) सन्नन्त ✓ भू = बुभूष् (धातुसंज्ञा, भाव में लट् = 'त', यक् = 'य', 'अ' का लोप, एत्व) = बुभूष्यते। (१९) सन्नन्त बुभूष् (भाव में लिट् प्र० पु० ए० व०) = बुभूषाञ्चक्रे। (२०) लुट्-बुभूषिता। (२१) लृट्-बुभूषिष्यते। (२२) ✓ भू + यङ् (= य, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, चर्त्व, अभ्यास को गुण-'उ' = 'ओ'-'गुणो यङ्लुकोः')-बोभूय (धातुसंज्ञा, भाव में लट्, आत्मनेपद, ल् = 'त', सार्वधातुक संज्ञा, यक् = य, 'अ' का लोप-'अतो लोपः', टि को एत्व) = बोभूय्यते। (२३) ✓ ष्टुञ् (ष्टु) +कर्म में लट् (ष्= 'स्'-'धात्वादेः षः सः', 'ट्' = 'त्'-'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः', आत्मनेपद-'भावकर्मणोः', ल् = 'त', यक् = 'य')- स्तु य त ('उ' = 'ऊ'-दीर्घ, टि को एत्व) = स्तूयते विष्णुः (विष्णु की स्तुति की जाती है)। (२४) ✓ स्तु + कर्मवाच्य में लुट् (= त, तास्, त = डा = 'आ', डित्त्वात् टि का लोप)- स्तु ता (विकल्प से चिण्वद्भाव तथा इट् = 'इ', 'उ' = 'औ'-वृद्धि, 'औ' = 'आव्') = स्ताविता। चिण्वद् इट् के अभाव पक्ष में- ('उ' = 'ओ'-गुण) = स्तोता। यहाँ ✓ ष्टुञ् के अनिट् होने के कारण इट् नहीं होता। (२५) ✓ स्तु + कर्मवाच्य में लृट्, प्र० पु० ए० व०-स्ताविष्यते। स्तोष्यते (विकल्प से चिण्वदिट्, प्रक्रिया पूर्ववत्)। (२६) ✓ स्तु + कर्म में लुङ् (आत्मनेपद 'ल्' = 'त', च्लि, च्लि = चिण् = 'इ'-'चिण् भावकर्मणोः', 'उ' = औ-वृद्धि, 'औ' = 'आव्'-आदेश, 'त्' का लुक्-'चिणो लुक्', अट् = 'अ' का आगम) = अस्तावि। (२७) ✓ स्तु + कर्म में लुङ् (= आताम्, च्लि, च्लि = सिच् = 'स्', चिण्वद्भाव तथा इट् = 'इ' विकल्प से- 'स्यसिच्०', 'उ' = 'औ'-वृद्धि, 'औ' = 'आव्', अट् = 'अ' का आगम) = अस्ताविषाताम्। चिण्वद्भाव के अभाव पक्ष

'ऋच्छत्यृतामि'ति गुणः। आरे। सस्मरे। परत्वान्नित्यत्वाच्च गुणे, रपरे च कृतेऽजन्तत्वाभावेऽपि उपदेशग्रहणाच्चिण्वदिट्। आरिता। अर्त्ता। स्मारिता। स्मर्त्ता। नलोपः। स्रस्यते। सस्रंसे। इदितस्तु–नन्द्यते। इज्यते। **(९६६) तनोतेर्यकि ६।४।४४।** तनोतेर्यकि

आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे कृते 'भाव्यते' इति। **बोभूय्यते**– यङन्ताद् भूधातोः भावे लटि आत्मनेपदे तप्रत्यये यकि 'आतो लोपः' इति यङोऽकारस्य लोपे टेरेत्वे 'बोभूय्यते' इति सिद्धम्। **अर्यत इति**। ऋधातोर्कर्मणि लटि आत्मनेपदे तप्रत्यये यकि अनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते 'क्ङिति चे'त्यनेन निषेधे 'गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्योः' इत्यनेन गुणे अकारे रपरत्वे टेरेत्वे कृते 'अर्यते' इति।

(९६६) **तनोतेरिति**। अत्र 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इत्यत आदिति, 'ये विभाषा' इत्यतः विभाषेति चानुवर्तते। तदाह– **आदन्तादेशो वेति**।

में–अस्तोषाताम्। (२८) ✓ ऋ + कर्मवाच्य में लट् (= आत्मनेपद 'त', यक् = 'य', सार्वधातुक संज्ञा, 'सार्वधातु०' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, 'ऋ' = 'अ'–गुण–'गुणोऽर्तिसयोगाद्योः', रपर, टि को एत्व) = अर्यते (जाया जाता है)। (२९) ✓ स्मृ + कर्मवाच्य में लट् (= त, यक् = 'य', 'ऋ' = 'अ'–गुण–'गुणोऽर्ति०', रपर, एत्व) = स्मर्यते (= याद किया जाता है)। (३०) ✓ ऋ + कर्म में लिट्, प्र० पु० ए० व०–आरे। (३१) ✓ स्मृ + कर्म में लिट्, प्र० पु० ए० व०–सस्मरे।

परत्वादिति। ✓ ऋ धातु को कर्मणि लुट् में पर और नित्य होने से 'सार्वधातु०' से गुण, रपर होकर 'अर् ता'। इस स्थिति में अजन्त न होने पर भी उपदेशावस्था में अजन्त होने के कारण चिण्वद् इट् हो जाता है। क्योंकि 'स्यसिच्०' सूत्र से उपदेश में जो अच् तदन्त को चिण्वद् इट् का विधान किया गया है। यहाँ उपदेश अवस्था में ऋ धातु अच् रूप है और व्यपदेशिवद्भाव से तदन्त भी है। अतः विकल्प से चिण्वद् इट् होता है।

(३२) ✓ ऋ + लुट् (= 'त', तास्, त = डा = आ, डित्त्वात् टिलोप, 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, उपदेश अवस्था में अजन्त होने से वैकल्पिक चिण्वद्भाव, इट् = 'इ' वृद्धि) = आरिता। चिण्वदिट् के अभाव पक्ष में–अर्ता। (३३) ✓ स्मृ + लुट् प्र० पु० ए० व०–स्मारिता। स्मर्ता (प्रक्रिया पूर्ववत्)। (३४) ✓ स्रंस् + भाववाच्य में लट् (= त, यक् = 'य', 'न्' अनुनासिकलोप–'अनिदिताम्०', एत्व) = स्रस्यते। (३५) ✓ स्रंस् + भाव में लिट् (प्र० पु० ए० व०)–सस्रंसे। **इदितस्तु**। इदित् धातुओं के 'न्' का लोप नहीं होता। क्योंकि 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' सूत्र में 'अनिदिताम्' पद द्वारा इदित् धातु के नकारलोप का निषेध कर दिया गया है। (३६) टुनदि (नदि) + कर्मवाच्य लट् (= 'त', इदित् होने से नुम् = 'न्', यक् = 'य', एत्व) = नन्द्यते। (३७) ✓ यज् + कर्मवाच्य लट् (= त, यक् = 'य', धातु के 'य्' = 'इ' सम्प्रसारण, पूर्वरूप, एत्व) = इज्यते।

(९६६) **पद**– तनोतेः, यकि। **अनुवृत्ति**– आत्, विभाषा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– यक् के परवर्ती रहते तन् धातु को विकल्प से आकार अन्तादेश होता है। तायते। तन्यते।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'ये विभाषा' (६।४।४३) से 'विभाषा' तथा 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (६।४।४१) से 'आत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''यक् के परे रहते विकल्प से तन् धातु को आकारान्त आदेश होता है।''

उदाहरण– ✓ तन् + कर्मवाच्य में लट् (= प्र० पु० ए० व०–त, यक् = 'य', 'न्' = 'आ'–

अदन्तादेशो वा स्यात्। तायते-तन्यते। (९६७) तपोऽनुतापे च ३।१।६५। तपश्च्लेश्चिण्‌ न स्यात्, कर्मकर्तरि अनुतापे च। अन्वतप्त पापेन। 'घुमास्थे'तीत्वम्। दीयते। धीयते। ददे। दधे। (९६८) आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३। आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि, ञ्णिति कृति च। दायिता। दाता। दायिषीष्ट। दासीष्ट। अदायि। अदायिषाताम्।

---

(९६७) **तपोऽनुताप इति।** 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति, 'चिण्ते पदः' इत्यतः चिणिति, 'न रुधः' इत्यतो नेति चानुवर्तते। चकारात् 'अचः कर्मकर्तरि' इत्यस्मात्कर्मकर्तरीति समुच्चीयते। अत आह–**तपश्च्लेरित्यादिना। अन्वतप्त इति।** अनुपूर्वात् तपधातोः कर्मणि लुङि आत्मनेपदे तप्रत्यये अडागमे च्लौ 'चिण् भावकर्मणोः' इत्यनेन च्लेश्चिणि प्राप्ते 'तपोऽनुतापे चे'त्यनेन तन्निषेधे च्लेः सिचि अनुबन्धलोपे, 'अनु अ तप् स् त्' इति जाते; 'झलो झली'त्यनेन सकारलोपे यणादेशे 'अन्वतप्त' इति। 'अन्वतप्त पापेने'त्यत्र कर्तरि तृतीया।

(९६८) **आतो युगिति।** 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम्, विशेषणत्वात्तदन्तविधिः। ञ्णितीत्यनुवृत्तं

आदेश विकल्प से, दीर्घ, एत्व) = तायते। आकारान्तादेश के अभावपक्ष में–तन्यते।

(९६७) **पद–** तपः, अनुतापे, च। **अनुवृत्ति–** च्लेः, चिण्, न। **विधिसूत्र (निषेध)।**

मूलार्थ– कर्म, कर्ता में और अनुताप अर्थ में तप् धातु से परवर्ती च्लि के स्थान में चिण् आदेश नहीं होता। अन्वतप्त पापेन इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से च्लेः, 'चिण्ते पदः' (३।१।६०) से चिण्, 'न रुधः' (३।१।६४) से 'न' तथा चकार से 'अचः कर्मकर्तरि' (३।१।६२) से 'कर्मकर्तरि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''कर्मकर्ता और अनुताप अर्थ में तप् धातु से उत्तर च्लि के स्थान में चिण् (= इ) आदेश नहीं होता।''

उदाहरण– (१) अनु + ✓ तप + कर्म में लुङ् (आत्मनेपद, ल् = त, च्लि, 'चिण्भावकर्मणोः' से प्राप्त च्लि = चिण् का 'तपोऽनुतापे च' से निषेध, च्लि = सिच् = 'स्', 'स्' का लोप–'झलो झलि', अट् का आगम, यण्) = अन्वतप्त पापेन (पापी द्वारा प्रायश्चित्त किया गया)। (२) ✓ दा + कर्मवाच्य में लट् (= आत्मनेपद–त, यक् = 'य', आ = 'ई'–'घुमास्थागापाजहातिसां हलि', टि को एत्व) = दीयते। (३) ✓ धा + कर्मवाच्य लट् (= 'त', यक् = 'य', आ = 'ई'–ईत्व, एत्व) = धीयते। (४) ✓ दा + कर्म में लिट् (प्र० पु० ए० व०) = ददे। (५) ✓ धा + कर्मवाच्य में लिट् (प्र० पु० ए० व०) = दधे।

(९६८) **पद–** आतः, युक्, चिण्कृतोः। **अनुवृत्ति–** ञ्णिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– चिण् और ञित् णित् कृत् प्रत्यय के परवर्ती रहते आदन्त धातुओं को युक् (य) का आगम होता है। दायिता। दाता इत्यादि।

विमर्श–प्रकृत सूत्र में 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'ञ्णिति' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''आकारान्त अङ्ग को चिण् तथा ञित्, णित् तथा कृत् प्रत्यय परे रहते युक् (य्) का आगम होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ दा + कर्मवाच्य में लुट् (आत्मनेपद ल् = त, तास्, विकल्प से चिण्वद्भाव और इट् = 'इ', युक् = 'य्' का आगम, त = डा = 'आ', डित्त्वात् टिलोप) = दायिता। चिण्वदिट् के अभावपक्ष में– दाता। (२) ✓ दा + कर्म में आ० लिङ् (= 'त', सीयुट् = सीय्, सुट् = स्)– दा सीय् स् त (विकल्प से चिण्वद्भाव और इट् = 'इ'– 'स्यसिच्०', युक् = 'य्' का आगम–'आतो

'स्थाघ्वोरिच्चे'तीत्वम्। अदिषाताम्। शम्यते मोहो मुकुन्देन। **(९६९) चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम् ६।४।९३** । चिण्परे णमुल्परे च णौ मितामुपधाया दीर्घो वा स्यात्। **शामिता। शमिता। शमयिता। शामिष्यते। शमिष्यते। शमयिष्यते। ण्यन्तत्वाभावे–शम्यते मुनिना। (९७०) नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ७।३।३४** । उदात्तोपदेशस्य

कृत एव विशेषणम्, न तु चिणः; तस्य णित्त्वेनाव्यभिचारात्। तदाह– **आदन्तानामिति। दायितेति।** चिण्वद्भावादिटि युक्। चिण्वद्भावाभावपक्षे–दाता इति।

(९६९) **चिण्णमुलोरिति।** अत्र 'दोषो णावि'त्यतो णाविति, 'ऊदुपधाया गोहः' इत्यत उपधाया इति, 'मितां ह्रस्वः' इत्यतः मितामिति चानुवर्तते। अत आह– **चिण्पर इत्यादि। शामिता–** शम्धातोर्णिचि शमीत्यतो लुटि तङि 'लुटः प्रथमस्ये'त्यनेन डादेशेऽनुबन्धलोपे चिण्वदिटि, तासि प्रत्यये टेर्लोपे 'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन विकल्पेन दीर्घे 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे–शामिता। दीर्घाऽभावे–'शमिता' इति। चिण्वत्त्वाऽभावे वलादिलक्षणे इटि गुणेऽयादेशे कृते 'शमयिता' इति।

(९७०) **नोदात्तोपदेशस्येति।** 'मृजेर्वृद्धिरि'त्यतो वृद्धिरिति, 'अत उपधायाः' इत्यत

युक्०', 'सीय्' के 'य्' का लोप, षत्व, ष्टुत्व) = दायिषीष्ट। चिण्वदिट् के अभावपक्ष में–दासीष्ट। (३) ✓ दा + कर्म में लुङ् (= त, अट्, च्लि, च्लि = चिण् = 'इ'–'चिण् भावकर्मणोः', युक् = 'य्' आगम– 'आतो युक्०', 'त' का लुक्– 'चिणो लुक्') = अदायि। (४) ✓ दा + कर्म में लुङ् (= प्र० पु० द्वि० व०–आताम्, अट्, च्लि, च्लि = सिच् = 'स्', विकल्प से चिण्वद्भाव तथा इट् = 'इ', युक् = 'य्' आगम, 'स्' = 'ष्'–षत्व) = अदायिषाताम्। चिण्वदिट् के अभावपक्ष में–('स्थाघ्वोरिच्च' से 'आ' = 'इ'–इत्व होकर) = अदिषाताम्। (५) ✓ शम् + कर्मवाच्य में लट् (आत्मनेपद, ल् = त, यक् = 'य'–'सार्वधातुके यक्', टि को एत्व) = शम्यते मोहो मुकुन्देन (कृष्ण के द्वारा मोह दूर किया जाता है)।

(९६९) **पद–** चिण्णमुलोः, दीर्घः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति–** मिताम्, उपधायाः, णौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– चिण्परक और णमुल्परक णि के परवर्ती रहते मित् धातुओं की उपधा को विकल्प से दीर्घ होता है। शामिता। शमिता। शमयिता। शामिष्यते इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) से 'मिताम्', 'ऊदुपधाया गोहः' (६।४।८९) से 'उपधायाः' तथा 'दोषो णौ' (६।४।९०) से 'णौ' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''चिण्परक तथा णमुल्परक णि के परे रहते विकल्प से मित् धातुओं की उपधा को दीर्घ होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ शम् + णिच् (= इ)–शमि (धातुसंज्ञा, कर्म में लुट् = 'त', तास्, त = डा = 'आ', टिलोप, विकल्प से चिण्वद्भाव, इट् = 'इ')– शमि इ ता (णि = 'इ' का लोप– 'णेर-निटि', मित्त्वात् विकल्प से दीर्घ–'चिण्णमुलोः') = शामिता। दीर्घ के अभाव पक्ष में– शमिता। चिण्वदिट् के अभाव पक्ष में (णिलोप का अभाव, गुण, 'अय्' आदेश) = शमयिता। (२) ✓ शम् + णिच् (= 'इ')–शमि (धातुसंज्ञा, कर्मणि लृट् = त, स्य, विकल्प से चिण्वद्भाव और इट् = 'इ')– शमि इ स्य त (णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि', विकल्प से दीर्घ–'चिण्णमुलोः', 'स्' = 'ष्'–षत्व, टि को एत्व) = शामिष्यते। दीर्घ के अभाव पक्ष में–शमिष्यते। चिण्वदिट् के अभाव पक्ष में (णिलोप का अभाव, गुण, अय् आदेश) = शमयिष्यते। ण्यन्त के अभाव में दीर्घ भी नहीं होता–शम्यते मुनिना।

(९७०) **पद–** न, उदात्तोपदेशस्य, मान्तस्य, अनाचमेः। **अनुवृत्ति–** चिण्कृतोः, ञ्णिति,

मान्तस्य उपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि, ञ्णिति कृति च, न त्वाचमेः। अशमि। अदमि। उदात्तोपदेशस्येति किम्? अगामि। मान्तस्येति किम्? अवादि। अनाचमेरिति किम्? आचामि। * अनाचमिकमिवमीनामिति वक्तव्यम् *। अकामि। अवामि। भज्यते। (९७१)

उपधाया इति, 'अचो ञ्णिति' इत्यतो ञ्णितीति, 'आतो युगि'त्यतश्चिण्कृतोः इति चानुवर्तते। तदाह- **उदात्तोपदेशस्येत्यादिना। अशमि इति।** शम्धातोर्लुङि आत्मनेपदे तप्रत्यये च्लौ, 'चिण् भावकर्मणोः' इति च्लेश्चिणि अडागमेऽनुबन्धलोपे 'अ शम् इ त' इति जाते 'चिणो लुक्' इति तलोपे 'अशमि' इति। अत्र 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' इति निषेधान्नोपधावृद्धिः।

वृद्धिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– चिण् के परवर्ती रहते और ञित् णित् कृत्प्रत्यय के परवर्ती रहते आङ्पूर्वक चम् धातु को छोड़कर उदात्तोपदेश मान्त धातु की उपधा को वृद्धि नहीं होती। अशमि। अदमि इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'आतो युक्०' (९६८) से 'चिण्कृतोः', 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'ञ्णिति' तथा 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) से 'वृद्धिः' पद की अनुवृत्ति आती है।

तदनुसार– ''आङ्पूर्वक चर् धातु से भिन्न उपदेशावस्था में जो उदात्त तथा मकारान्त धातु, उसकी उपधा को चिण् तथा ञित् णित् कृत् प्रत्यय के परे रहते वृद्धि नहीं होती।''

उदाहरण– (१) ✓ शम् + कर्मवाच्य में लुङ् (आत्मनेपद 'ल्' = 'त', अट् = 'अ' आगम, च्लि, च्लि = चिण् = 'इ'–'चिण् भावकर्मणोः')– अ शम् इ त (त का लुक्–'चिणो लुक्', णित्त्वेन प्राप्त उपधावृद्धि का 'नोदात्तोपदेशस्य' से निषेध) = अशमि। (२) ✓ दम् + कर्म में लुङ् (प्र० पु० ए० व०, प्रक्रिया उक्तवत्) = अदमि।

प्रत्युदाहरण-- (१) **उदात्तोपदेशस्येति किम्?**– प्रकृत सूत्र में 'उदात्तोपदेशस्य' पद के न होने पर गम् धातु, जो अनुदात्तोपदेश है, से भी चिण् में दीर्घ का अभाव होने से 'अगमि' रूप बनेगा। अतः अनिष्ट रूप के निवारण के लिए सूत्र में 'उदात्तोपदेशस्य' का पाठ किया गया है। 'अगामि' में प्रकृत से निषेध नहीं हुआ।

(२) **मान्तस्येति किमिति?**– सूत्र में 'मान्तस्य' पद का ग्रहण होने से उदात्तोपदेश मान्त धातु की उपधा को ही वृद्धि का निषेध होता है। ✓ वद् के मान्त न होने से वृद्धि का निषेध नहीं हुआ। अवादि।

(३) **अनाचमेरिति–** प्रकृत सूत्र में 'अनाचमेः' पद का ग्रहण करने से आङ्पूर्वक चम् धातु को छोड़कर उदात्तोपदेश मान्त धातु को वृद्धि का निषेध विधान किया गया है। अतः आ + ✓ चम् को वृद्धि का निषेध नहीं होता–आचामि।

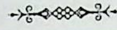
(वा०)– 'आङ् उपसर्गपूर्वक चम्, कम् और वम् धातु से भिन्न जो मान्त उदात्तोपदेश धातु, उसकी उपधा को वृद्धि नहीं होती' ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण– (१) ✓ कम् + णिच् (= 'इ', 'नोदात्तोपदेशस्य' से प्राप्त उपधावृद्धि के निषेध का 'अनाचमि' वार्तिक से प्रतिषेध, 'अ' = 'आ'–वृद्धि–'अत उपधायाः')– कामि (आत्मनेपद, लुङ्–'त', अट् = 'अ', च्लि, च्लि = चिण् = 'इ', 'त' का लुक्–'चिणो लुक्', णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि') = अकामि। (२) ✓ वम् + णिच् + कर्म में लुङ् (प्र० पु० ए० व०, प्रक्रिया पूर्ववत्) = अवादि। (३) ✓ भञ्ज् कर्मवाच्य में लट् (= त, यक् = 'य', 'न्' अनुनासिकलोप–'अनिदिताम्', टि को एत्व) = भज्यते।

भञ्जेश्च चिणि ६।४।३३ । भञ्जेश्च चिणि नलोपो वा स्यात्। अभाजि। अभञ्जि। लभ्यते।

(९७२) विभाषा चिण्णमुलोः ७।१।६९ । लभेर्नुम् वा स्याच्चिण्णमुलोः परतः। अलम्भि। अलाभि।

इति भावकर्मप्रकरणम् ।

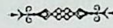


---

(९७१) **भञ्जेश्चेति**। 'श्नान्न लोपः' इत्यतो नेति लोप इति चानुवर्तते। 'जान्तनशां विभाषा' इत्यतो विभाषेति च। अत आह–**भञ्जेश्चेत्यादि**। **अभाजि**– भञ्ज्धातोः कर्मणि लुङि आत्मनेपदे तप्रत्यये अडागमे, च्लौ 'चिण्भावकर्मणोः' इत्यनेन च्लेश्चिणि 'अ भञ्ज् इ त' इति जाते 'भञ्जेश्च चिणि' इत्यनेन विभाषया नलोपे उपधावृद्धौ 'चिणो लुक्' इत्यनेन तलोपे 'अभाजि' इति। नलोपाऽभावे–'अभञ्जि' इति।

(९७२) **विभाषेति**। 'लभेश्चे'त्यतो लभेरिति, 'इदितो नुम्' इत्यतो नुमिति चानुवर्तते। तदाह–**लभेर्नुमिति**।

इति भावकर्मप्रकरणम् ।



---

(९७१) **पद**– भञ्जेः, च, चिणि। **अनुवृत्ति**– न, लोपः, विभाषा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– चिण् के परवर्ती रहते भञ्ज् धातु के नकार का लोप विकल्प से होता है। अभाजि। अभञ्जि इत्यादि।

विमर्श– इस सूत्र में 'जान्तनशां विभाषा' (६।४।३२) से 'विभाषा' तथा 'श्नान्न लोपः' (६।४।२३) से 'न लोपः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''णिच् प्रत्यय के परे रहते भञ्ज् धातु के नकार का लोप भी विकल्प से होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ भञ्ज् + कर्म में लुङ् (आत्मनेपद, 'ल्' = 'त', च्लि, च्लि = चिण् = 'इ'–'चिण् भावकर्मणोः', 'त' का लुक्–'चिणो लुक्')– अ भञ्ज् इ (विकल्प से 'न्' का लोप– 'भञ्जेश्च चिणि', उपधावृद्धि) = अभाजि। 'न्' के लोप के अभावपक्ष में– अभाञ्जि। (२) ✓ लभ् + कर्मवाच्य लट् (प्र० पु० ए० व०) = लभ्यते।

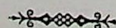
(९७२) **पद**– विभाषा, चिण्णमुलोः। **अनुवृत्ति**– लभेः, नुम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– चिण् और णमुल् के परवर्ती रहते लभ् धातु को विकल्प से नुम् (= न्) का आगम होता है। अलम्भि। अलाभि।

विमर्श– यहाँ 'लभेश्च' (७।१।६४) से 'लभेः' तथा 'इदितो नुम् धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''चिण् तथा णमुल् परे रहते लभ् धातु को विकल्प से 'नुम्' का आगम होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ लभ् + कर्मवाच्य में लुङ् (= त, अट् = 'अ' आगम, च्लि, च्लि = चिण् = इ)– अ लभ् इ त ('त' का लुक्–'चिणो लुक्', विकल्प से नुम् = न् = ं = 'ञ्' परसवर्ण) = अलम्भि। 'नुम्' के अभावपक्ष में (णित्त्वात् उपधावृद्धि) = अलाभि।

भावकर्म-प्रकरण समाप्त ।



अथ कर्मकर्तृप्रकरणम्

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं, तदा सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वात्कर्त्तरि भावे च लकारः। (९७३) **कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः ३।१।८७** । **कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत्स्यात्। कार्यातिदेशोऽयम्। तेन यक्, आत्मनेपदं, चिण्**

अथ कर्मकर्तृप्रक्रियायां कर्मणः कर्तृत्वं साधयितुमाह-**यदेति**। 'यदा सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते तदा कारकान्तराण्यपि स्वव्यापारे स्वतन्त्रत्वात् कर्तृसंज्ञां लभन्ते' इति सिद्धान्ते यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं स्यात्तदा कर्माभावात्सकर्मका अपि धातवोऽकर्मका एव भवन्ति तेभ्यः कर्तरि भावे च लकारा भवन्ति।

(९७३) **कर्मवत्कर्मणेति**। 'कर्तरि शप्' इत्यतः 'कर्तरी'त्यनुवर्तते, तच्च प्रथमया विपरिणम्यते। तुल्या क्रिया यस्य सः तुल्यक्रियः कर्ता। 'कर्मणे'त्यनेन कर्मकारकस्था क्रिया विवक्षिता। तदाह- **कर्मस्थस्येत्यादिना। कार्यातिदेशोऽयमिति**। यद्यपि शास्त्राति-

---

भावकर्म-प्रक्रिया के अनन्तर कर्मकर्तृ-प्रक्रिया का निरूपण किया जा रहा है।

यदेति। जब कर्म को ही कर्ता कहना इष्ट हो अर्थात् सौकर्यातिशय (अत्यन्त सरलता) बताने के लिए कर्ता के व्यापार की अविवक्षा कर कर्म को ही अपने व्यापार में स्वतन्त्र मान कर कर्ता मान लिया जाता है, तब सकर्मक धातुएँ भी अकर्मक (कर्म न रहने से) हो जाती हैं और 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' से लकार कर्ता या भाव अर्थ में होते हैं।

'क्रियां बड़ी सरलता से हो रही है' इस भाव को व्यक्त करने में जब कर्म ही कर्ता हो जाता है अर्थात् क्रिया का कर्तृत्व में कर्म में आरोपित हो जाता है, तो कर्मकर्ता में प्रथमा विभक्ति होती है। कर्म पद का अभाव हो जाता है तथा क्रिया का रूप कर्मवाच्य की क्रिया के समान होता है। यथा- 'पच्यते ओदनः स्वयमेव'।

(९७३) **पद**- कर्मवत्, कर्मणा, तुल्यक्रियः। **अनुवृत्ति**- कर्तरि। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ- कर्म में वर्तमान क्रिया के साथ समान क्रिया वाला कर्ता कर्मवत् होता है। यह अतिदेश कार्यातिदेश है। अतः कर्मवाच्य के समान यक्, आत्मनेपद, चिण्वदिट् यहाँ भी होंगे। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम् इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'कर्तरि' पद की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुतगति से आ रही है, जिसका प्रथमा में विपरिणाम (कर्ता) हो जाता है। 'तुल्यक्रियः' में तुल्यपद समानता का वाचक है। तदनुसार- ''कर्म में स्थित जो क्रिया, उसके साथ तुल्य क्रियावाला कर्ता कर्मवत् (कर्म के सदृश) हो जाता है।''

जहाँ क्रिया द्वारा होने वाला व्यापार-विशेष कर्म में हो वहाँ क्रिया कर्मस्थ होती है। यथा 'पच्यते ओदनः' में पाक क्रिया के द्वारा होने वाला 'गल जाना' (विक्लित्ति) कर्म ओदन में है। अतः यहाँ क्रिया कर्मस्थ है। जब कर्म को कर्ता बनाया जाता है, तब जो क्रिया कर्मदशा में होती है वही कर्तृदशा में भी होती है। ऐसे तुल्य क्रियास्थलों में कर्मवद्भाव होता है।

इस कार्यातिदेश के चार प्रयोजन हैं- यक्, आत्मनेपद, चिण् और चिण्वद्भाव।

चिण्वदिट् च स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। भावे–भिद्यते काष्ठेन। * भूषावाचिनां, किरादीनां सन्नन्तानां च यक्चिणौ चिण्वदिट् च नेति वक्तव्यम् *। अलङ्कुरुते कन्या। अलमकृत। अवकिरते हस्ती। अवाकीर्ष्ट। अवाकरिष्ट। गिरते। अगीर्ष्ट। अगरिष्ट। आद्रियते। आद्रित। किरादिस्तुदाद्यन्तर्गणः। चिकीर्षते कटः।

देशकार्यातिदेशयोः न कोऽपि फलभेदस्तथापि शास्त्रातिदेशस्यापि कार्यातिदेशार्थत्वात् प्रामुख्यात्कार्यातिदेशपक्ष एवाश्रयणीय इत्यर्थः। **तेनेति**। तेन कार्यातिदेशेन कर्मणि प्रवर्तमानं यगात्मनेपदादि कर्मकर्तर्यपि प्रवर्तते इति। **पच्यते फलमिति**। 'कालः फलं पचती'त्यत्र यदा सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते तदा फलरूपस्य कर्मण एव कर्तृत्वात् पच्धातुरकर्मकः। तस्मात् कर्तरि लटि कर्तुरुक्तत्वात्प्रथमायां 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' इति कर्मवद्भावाद् 'भावकर्मणोः' इत्यनेनात्मनेपदे लः स्थाने तप्रत्यये 'सार्वधातुके यक्' इत्यनेन यकि अनुबन्धलोपे टेरेत्वे संयोगे च कृते 'पच्यते फलमि'ति।

उदाहरण– (१) **पच्यते फलम्** (फल स्वयं पक रहा है)– यहाँ 'कालेन फलं पच्यते' इस दशा में 'फल' कर्म था। सरलता का अतिशय बताने के लिए 'काल क्या पका रहा है? फल तो स्वयं ही पक रहा है।' यहाँ कर्म (फल) को कर्ता बना दिया। तब ✓ पच् से भाव और कर्ता में लकार की उत्पत्ति होती है। भाव में 'फलेन पच्यते' रूप बनेगा। कर्ता में लकार आने पर ✓ पच् + लट् (कर्मवद्भाव–'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः', आत्मनेपद–'भावकर्मणोः', ल् = 'त', यक् = 'य'– 'सार्वधातुके यक्', 'अ' = 'ए' एत्व–टित आत्मने०') = पच्यते। कर्तृवाच्य होने से उक्त कर्ता में प्रथमा विभक्ति होती है–पच्यते फलम्।

(२) **भिद्यते काष्ठम्**– ''देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति, किं देवदत्त? काष्ठन्तु स्वयमेव भिद्यते।'' (देवदत्त लकड़ी विदीर्ण करता है (फाड़ता है)। देवदत्त लकड़ी क्या फाड़ता है, लकड़ी तो स्वयं फटती है।) इस प्रकार सुगमता की अधिकता दिखाने के लिए कर्म 'काष्ठ' को कर्ता बना दिया जाता है। तदनुसार– ✓ भिद् से कर्ता में लकार लट् (कर्मवद्भाव, आत्मनेपद, लट् = ल् = 'त', यक् = 'य', टि को एत्व) = भिद्यते। (३) ✓ पच् + लुङ्–कर्मकर्तृवाच्य में (लुङ् = त, अट् = 'अ' आगम, च्लि, कर्मवद्भाव–'कर्मवत्कर्मणा०', 'च्लि' = 'चिण्' = 'इ', 'त' का लुक्–'चिणो लुक्', अ = 'आ'– वृद्धि) = अपाचि। (४) ✓ भिद् + कर्मकर्तृवाच्य में लुङ् (= त, अट् = 'अ', च्लि, कर्मवद्भाव, च्लि = चिण् = 'इ'–'चिण् भावकर्मणोः', त, का लुक्, 'इ' = 'ए'–गुण) = अभेदि। (५) भावे– **भिद्यते काष्ठेन**। भाव में लकार आने पर भाववाच्य के समान रूप बनता है। इसमें कर्ता के अनुक्त होने से उसमें तृतीया विभक्ति होती है। ✓ भिद् + भाव में लट् = भिद्यते (प्रक्रिया पूर्ववत्)।

(वा०)– भूषावाची धातु, किरादि धातु और सन्नन्त धातुओं से कर्मकर्ता में यक्, चिण् तथा चिण्वदिट् नहीं होते।

उदाहरण– (१) अलम् + कृ + कर्मकर्ता में लट् (कर्मवद्भाव, आत्मनेपद, लट् = त, प्राप्त यक् का–'भूषावाचिनां किरादीनाम्०' वार्तिक से निषेध, 'उ'–'तनादिकृञ्भ्य उः', ऋ = 'अ'–गुण, रपर, 'अ' = 'उ'–'अत उत्सार्वधातुके', टि को एत्व) = कुरुते (म् = ं = 'ङ्' परसवर्ण) = अलङ्कुरुते कन्या (कन्या स्वयं सजती है)। (२) अलम् + कृ + कर्मकर्ता में लुङ् (आत्मनेपद, लुङ् = त, अट् = 'अ', च्लि, प्राप्त च्लि = चिण् का 'भूषावाचिनाम्०' वार्तिक से निषेध, च्लि = सिच् = 'स्', 'स्'

अचिकीर्षिष्ट। **(९७४) तपस्तपःकर्मकस्यैव ३।१।८८ ।** तपःकर्मकस्यैव तपः कर्ता कर्मवत्स्यात्। तप्यते तपस्तापसः। अर्जयतीत्यर्थः। अतप्त। तपःकर्मकस्यैवेति किम्? उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः। * **सकर्मकाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः** *। अजा ग्रामं नयति।

भूषावाचिनामिति। कर्मवद्भावात्प्राप्तं यक्चिणादि वार्तिकेनानेन निषिध्यते। **अलङ्कुरुते कन्येति**। अन्यप्रयत्नं विना स्वयमेव भूषणक्रियावती इति तदर्थः। अत्र भूषावाचित्वात् यक् न भवति, कर्मकर्तरि आत्मनेपदमेव।

(९७४) **तपस्तप इति**। आद्यं 'तपः' इति पदं षष्ठ्यन्तम्। 'कर्तरि शप्' इत्यतः 'कर्तरी'त्यनुवृत्तं प्रथमान्ततया विपरिणम्यते। 'कर्मवत्कर्मणे'त्यतः कर्मवदिति अनुवर्तते। तदाह– **तपःकर्मकस्यैवेति। तप्यते तपस्तापस इति**। प्राजापत्यादि कृच्छ्राद्यात्मकं तपः सम्पादयतीत्यर्थः। सम्पादनस्यात्मकर्तृत्वात् तपोरूपकर्मस्थत्वाभावात् 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' इत्यनेनाप्राप्तं कर्मत्वं 'तपस्तपः कर्मकस्यैवे'त्यनेन विधीयते। तेन आत्मनेपदत्वं यगादिकञ्च सिध्यतः।

का लुक्) = अलमकृत। (३) अव + कृ + कर्मकर्तृवाच्य में लट् (आत्मनेपद लट् = त, 'श' = 'अ'–'तुदादिभ्यः शः', 'ॠ' = 'इ'–'ॠत इद्धातोः', रपर, एत्व) = अवकिरते। (यहाँ प्राप्त यक् का 'भूषावाचिनाम्' वार्तिक से निषेध। (४) अव + कृ + कर्मकर्ता अर्थ में लुङ् (आत्मनेपद, 'ल्' = 'त', च्लि, च्लि = चिण् की प्राप्ति, उसका 'भूषावाचिनाम्' से निषेध, च्लि = सिच् = 'स्', विकल्प से इट् = 'इ'–'लिङ्सिचोरात्मनेपदे', 'ॠ' = 'अ'–गुण, रपर, 'स्' = 'ष्'–षत्व, 'त्' = 'ट्'–ष्टुत्व) = अकरिष्ट। अव + अकरिष्ट (अ + अ = 'आ') = अवाकरिष्ट। इट् के अभाव पक्ष में–'ॠ' = 'इ'– 'ॠत इद्धातोः' रपर, दीर्घ–'हलि च', षत्व, षटुत्व) = अवाकीर्ष्ट।

(५) गॄ + कर्मकर्तृवाच्य में लट्, (आत्मनेपद, लट् = 'त', प्राप्त यक् का वार्तिक 'भूषावा०' से निषेध, 'श' = 'अ', इत्व, रपर, एत्व) = **गिरते ओदनः स्वयमेव**। (६) गॄ + कर्मकर्ता में लुङ् (आत्मनेपद, ल् = 'त', अट्, च्लि, प्राप्त चिण् का वार्तिक से निषेध, च्लि = सिच् = 'स्', विकल्प से इट् = 'इ'–'लिङ्सिचोः', ॠ = 'अ'–गुण, रपर, षत्व, ष्टुत्व) = अगरिष्ट। इट् के अभावपक्ष में ('ॠ' = 'इ'–इत्व, रपर, दीर्घ, षत्व, ष्टुत्व) = अगीर्ष्ट। (७) आ + ✓ दृ + कर्मकर्तृवाच्य में लट् (आत्मनेपद, लट् = त, 'श' = 'अ'–'तुदादिभ्यः शः', ऋ = रिङ् = 'रि'–'रिङ्शयग्लिङ्क्षु', 'इ' = इयङ् = 'इय्', टि को एत्व) = आद्रियते। (८) आ + ✓ दृ (कर्मकर्तृवाच्य में लुङ्, आत्मनेपद 'ल्' = 'त', च्लि, प्राप्त चिण् का वार्तिक से निषेध, च्लि = सिच् = 'स्', अट् = 'अ', 'स्' का लुक्–'ह्रस्वादङ्गात्', आ + अ = 'आ'–दीर्घ) = आदृत। किरादि तुदादि के अन्तर्गत गण है।

(९) सन्नन्त ✓ चिकीर्ष + कर्मकर्ता में लट् (आत्मनेपद लट् = 'त', प्राप्त यक् का 'भूषावाचिनां०' वार्तिक से निषेध, 'श' = 'अ', पररूप, टि को एत्व) = चिकीर्षते कटः।

(१०) सन्नत ✓ चिकीर्ष + (कर्मकर्ता में लुङ् = आत्मनेपद 'त', अट् = 'अ', च्लि, प्राप्त च्लि = चिण् का वार्तिक से निषेध, च्लि = सिच् = 'स्', इट् = 'इ', षत्व, ष्टुत्व) = अचिकीर्षिष्ट।

(९७४) **पद–** तपः, तपःकर्मकस्य, एव। **अनुवृत्ति–** कर्मवत्। **अतिदेश (नियम) सूत्र**।

मूलार्थ– तपकर्मक तप् धातु का ही कर्ता कर्मवत् होता है, अन्यकर्मक तप् धातु का कर्ता कर्मवत् नहीं होता। तप्यते तपस्तापसः (तपस्वी तप को सम्पादित करता है)। अतप्त इत्यादि।

*** दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोरिति वाच्यम् *। (९७५) न दुहस्नुनमां यक्चिणौ ३।१।८९ ।** एषां कर्मकर्त्तरि यक्चिणौ न स्तः। शप्। तस्य लुक्। गौः पयो दुग्धे। **(९७६) अचः कर्मकर्तरि ३।१।६२ ।** अजन्ताच्चलेश्चिण् वा स्यात्कर्मकर्तरि तशब्दे

---

(९७५) **न दुहेति।** 'कर्मवत्कर्मणे'त्यतः 'कर्मवदि'त्यनुवर्तते। फलितमाह- **'एषां कर्मकर्तरीति। गौ पयो दुग्धे-** गौः स्वयमेव पयः उत्सृजतीत्यर्थः। अत्र 'दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोरिति वाच्यम्' इति कर्मकर्तृभूतायां गवि सत्यां दुह्धातोर्लटि 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे तप्रत्यये यकि प्राप्ते 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' इत्यनेन निषेधे, शपि, शब्लुकि टेरेत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इत्यनेन तकारस्य धकारे 'वा द्रुहमुह०' इति हकारस्य घकारे जश्त्वेन घस्य गकारे संयोगे 'दुग्धे' इति।

(९७६) **अच इति।** 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति, 'चिण्ते पदः' इत्यतश्चिण्ते इति

विमर्श- पूर्वसूत्र (९७३) से 'कर्मवत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार-''तप कर्मवाली 'तप सन्तापे' धातु के कर्ता को कर्मवद्भाव हो जाता है, अन्य कर्मवाली तप धातु को नहीं।''

उदाहरण- (१) 'तपांसि तापसं तपन्ति'- यहाँ ✓ तप् का कर्म 'तापसम्' जब पूर्वोक्त प्रक्रिया से कर्ता बन जाता है, तो 'तप्यते तपस्तापसः' (तपस्वी स्वयमेव स्वर्गादि कामना के लिए तप को प्राप्त करता है।)- यहाँ कर्मवद्भाव हो जाता है। ✓ तप् + कर्मकर्तृवाच्य (आत्मनेपद, लट् = त, कर्मवद्भाव-'तपस्तपः कर्मकस्यैव', यक् = 'य', टि को एत्व) = तप्यते तपस्तापसः। (पूर्वोक्त कर्म अवस्था में 'तपन्ति' का अर्थ- 'दुःख देना' है और कर्मकर्ता हो जाने पर 'प्राप्त होना' अर्थ है। अतः तुल्यक्रियत्व के अभाव में 'कर्मवत्कर्मणा०' से कर्मवद्भाव की यहाँ प्राप्ति नहीं थी। अतः प्रकृत सूत्र से 'कर्मवत्' का अप्राप्त विधान किया गया।) (२) ✓ तप् + कर्मकर्तृवाच्य लुङ् (आत्मनेपद, ल् = 'त', अट् = 'अ', च्लि, 'चिण्भावकर्मणोः' से प्राप्त 'च्लि' = 'चिण्' का 'तपोऽनुतापे च' से निषेध, च्लि = सिच् = 'स्', 'स्' का लोप-'झलो झलि') = अतप्त।

प्रत्युदाहरण- तपः कर्मकस्यैवेति। प्रकृत सूत्र में 'तपः कर्मकस्यैव' (तप कर्मवाले ✓ तप से ही) पद का ग्रहण होने से तप कर्म से अन्य कर्म वाले धातु के कर्ता को कर्मवत् नहीं होता। यथा- 'उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः'। यहाँ तपकर्मक तप धातु नहीं है। अतः कर्मवत् नहीं होता।

(वा०)- सकर्मक धातुओं का कर्ता कर्मवत् नहीं होता।

उदाहरण- 'अजां ग्रामं नयति'-यहाँ ✓ नी के सकर्मक होने से प्राप्त कर्मवद्भाव का वार्तिक से निषेध हो जाता है। अतः यगादि भी नहीं होते।

(वा०)- सकर्मक दुह् और पच् धातु का कर्ता विकल्प से कर्मवत् होता है।

(९७५) **पद-** न, दुहस्नुनमाम्, यक्चिणौ। **अनुवृत्ति-** कर्मवत्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ- दुह्, स्नु और नम् धातु से कर्मकर्ता से यक् और चिण् नहीं होते। **गौः पयो दुग्धे।**

विमर्श- यहाँ पूर्वसूत्र (९७३) से 'कर्मवत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''कर्मकर्ता में दुह्, स्नु और नम् धातुओं से कर्मद्भाव से होने वाले यक् और चिण् नहीं होते।''

उदाहरण- ✓ दुह् + कर्मकर्तृवाच्य में लट् (कर्मवद्भाव, आत्मनेपद, ल् = त, प्राप्त यक् का 'न दुहस्नुनमां०' से निषेध, टि को एत्व, शप्, शप् का लुक्, 'त्' = 'ध्'-'झषस्तथोः', 'ह्' = 'घ्'-'वा द्रुह०', 'घ्' = 'ग्'-'झलां जश्०') = दुग्धे।

(९७६) **पद-** अचः कर्मकर्तरि। **अनुवृत्ति-** च्लेः, चिण्ते, अन्यतरस्याम्। **विधिसूत्र।**

परे। अकारि। अकृत। (९७७) दुहश्च ३।१।६३ । तथा। अदोहि। पक्षे क्सः। अदुग्ध। 'लुग्वे'ति पक्षे लुक्। अधुक्षत। उदुम्बरः फलं पच्यते। (९७८) कुषिरजोः प्राचां

'दीपजन' इत्यतोऽन्यतरस्यामिति चानुवर्तते। 'धातोरेकाचः' इत्यतोऽनुवृत्तं धातुग्रहणस्याचा विशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह–**अजन्तादित्यादिना**। **अकारि**– कटः स्वयमेवेति शेषः। कृधातोः कर्मकर्तरि लुङि तङि च्लौ 'अचः कर्मकर्तरि' इति विकल्पेन च्लेश्चिणि, णित्त्वाद् वृद्धौ 'चिणो लुक्' इति तलोपेऽटि कृते 'अकारि' इति। चिणभावपक्षे–'ह्रस्वादङ्गादि'ति सिचः सकारलोपे– 'अकृत' इति रूपम्।

(९७७) **दुहश्चेति**। अच इति वर्जं पूर्वसूत्रं तत्रानुवृत्तं चेहाप्यनुवर्तते। 'दुहेश्च्लेश्चिण्वा कर्मकर्तरि तशब्दे परे' इत्यर्थः। **अदोहि इति**। दुह्धातोः कर्मकर्तरि लुङ्लकारे तङि च्लौ 'दुहश्चे'ति विभाषया च्लेः स्थाने चिणि 'पुगन्त०' इति गुणेऽटि आगमे 'चिणो लुक्' इति 'त' इत्यस्य लुकि 'अदोहि' इति। चिणभावे 'शल इगुपधात्' इत्यनेन क्सादेशेऽनुबन्धलोपे 'दादेरि'ति घत्वे 'लुग्वे'ति क्सलुकि 'झषस्तथोः' इति तस्य धत्वे जश्त्वे–'अदुग्ध' इति।

मूलार्थ–कर्मकर्ता में अजन्त धातु से परवर्ती च्लि के स्थान में विकल्प से चिण् आदेश होता है त शब्द के परे रहते। अकारि। अकृत।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लेः', 'चिण् ते पदः' (३।१।६०) से 'चिण्ते' तथा 'दीपजन०' (३।१।६१) से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अजन्त धातुओं से कर्मकर्ता में 'त' के परवर्ती रहते 'च्लि' के स्थान में 'चिण्' आदेश विकल्प से होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ कृ + लुङ्– कर्मकर्ता में (आत्मनेपद, 'ल्' = 'त', च्लि, विकल्प से च्लि = चिण् = 'इ', 'ऋ' = 'आ'–वृद्धि, रपर, 'त' का लुक्–'चिणो लुक्', अट् = 'अ') = अकारि। चिण् के अभावपक्ष में (च्लि = सिच् = 'स्' 'स्' का लुक्–'ह्रस्वादङ्गात्') = अकृत।

(९७७) **पद**– दुहः, च। **अनुवृत्ति**– च्लेः, चिण्ते, अन्यतरस्याम्, कर्मकर्तरि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ–कर्मकर्ता में दुह् धातु से 'त' शब्द के परवर्ती रहते 'च्लि' के स्थान में विकल्प से 'चिण्' आदेश होता है। अदोहि। पक्ष में क्स। अदुग्ध इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (९७६) से 'कर्मकर्तरि' तथा उसमें अनुवृत्त 'चिण् ते', 'अन्यतरस्याम्' और 'च्लेः' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः ''कर्मकर्ता में 'त' के परे रहते दुह् धातु से उत्तर 'च्लि' के स्थान में विकल्प से 'चिण्' आदेश होता है।''

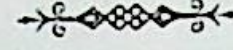
उदाहरण– (१) ✓ दुह् + कर्मकर्ता में लुङ् (आत्मनेपद, 'ल्' = 'त', च्लि, च्लि = चिण् = 'इ'–विकल्प से– 'दुहश्च', 'उ' = 'ओ'–गुण, अट् = 'अ'–आगम, 'त' का लुक्– 'चिणो लुक्') = अदोहि। चिण् के अभाव पक्ष में (च्लि = 'क्स', क्स का विकल्प से लुक्–'लुग्वा०')– अ दुह् त ('त्' = 'ध'–'झषस्तथो०', 'ह्' = 'घ्'–'वा द्रुह०', 'घ्' = 'ग्'–जश्त्व) = अदुग्ध। 'क्स' के लुक् के अभाव पक्ष में– अ दुह् स त (ह् = 'क्'–'षढोः०', 'स्' = 'ष्'–षत्व, क् + ष् = 'क्ष्', 'ह्' = 'ध्'–भष्भाव) = अधुक्षत।

(२) **उदुम्बरः फलं पच्यते** (गूलर स्वयमेव फल को पकाता है)– यहाँ ✓ दुह् + कर्मकर्ता में लट् ('दुहिपच्योर्बहुलम्' से कर्मवद्भाव, आत्मनेपद, 'ल्' = '**त**', यक् = 'य', एत्व) = पच्यते।

(९७८) **पद**– कुषिरजोः, प्राचाम्, श्यन्, परस्मैपदम्, च। **अनुवृत्ति**– न यक्। **विधिसूत्र**।

श्यन्परस्मैपदं च ३।१।९० । अनयोः कर्मकर्तरि न युक्, किन्तु श्यन्परस्मैपदं च। आत्मनेपदापवादः। कुष्यति, कुष्यते पादः। रज्यति, रज्यते वस्त्रम्। यगविषये तु नास्य प्रवृत्तिः। कोषिषीष्ट। रंक्षीष्ट।

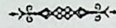
इति कर्मकर्तृप्रकरणम् ।



---

(९७८) **कुषिरजोरिति**। श्यन्नित्यनेन यग्वार्यते। प्राचां ग्रहणाद्विकल्पः स्यादत आह-- **अनयोरिति**। **कुष्यति, कुष्यते**। कुष् धातोः कर्मकर्तरि लटि 'कुषिरजोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं चे'त्यनेन परस्मैपदत्वे तिपि श्यनि अनुबन्धलोपे 'कुष्यति' इति। तदुभयाभावे आत्मनेपदे यकि च-'कुष्यते' इति रूपम्।

इति कर्मकर्तृप्रकरणम् ।



मूलार्थ– कुष् और रञ्ज् धातु से कर्मकर्ता में यक् नहीं होता, किन्तु प्राचीन आचार्यों के मत में 'श्यन्' और परस्मैपद होता है। आत्मनेपद का अपवाद है। कुष्यति, कुष्यते पादः इत्यादि।

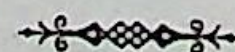
विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'न दुह०' (९७५) से 'न' तथा 'यक्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''कर्मकर्ता में कुष् और रज् धातु से यक् नहीं होता, किन्तु विकल्प से (प्राचीन आचार्यों के मत में) परस्मैपद और 'श्यन्' हो जाता है।''

उदाहरण–(१) ✓ कुष् + लट् कर्मकर्ता में (प्राप्त यक् का निषेध, विकल्प से परस्मैपद, ल् = तिप् = 'ति', श्यन् = 'य'–'कुषिरजोः') = कुष्यति। परस्मैपद के अभाव पक्ष में आत्मनेपद– कुष्यते पादः (पैर स्वयं खींचता है।) (२) रज्यति, रज्यते वा वस्त्रम् (वस्त्र स्वयं रंगा जा रहा है।) (प्रक्रिया पूर्ववत्)।

यगविषये इति। प्राप्त यक् का निषेध कर उसके स्थान में श्यन् का विधान करने के कारण यक् के अविषय (जहाँ यक् का विषय नहीं है) में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

उदाहरण– (३) ✓ कुष् + लिङ् कर्मकर्ता में (ल् = 'त', सीयुट् = 'सीय्', सुट् = 'स्')– कुष् सीय् स् त (इट्, 'य्' का लोप, 'उ' = 'ओ'–गुण, षत्व, ष्टुत्व) = कोषिषीष्ट। (४) ✓ रञ्ज् + लिङ् कर्मकर्ता में (आत्मनेपद, ल् = 'त', सीयुट् = 'सीय्', सुट् = 'स्', अनुस्वार, 'य्' का लोप, ज् = ग् = 'क्', 'स्' = 'ष्', क् + ष् = क्ष्) = रंक्षीष्ट।

कर्मकर्तृ-प्रकरण समाप्त ।



अथ लकारार्थप्रकरणम्

(९७९) अभिज्ञावचने लृट् ३।२।११२ । स्मृतिबोधिन्युपपदे भूतानद्यतने धातोर्लृट् स्यात्। लङोऽपवादः। वस निवासे। स्मरसि कृष्ण! गोकुले वत्स्यामः। एवं बुध्यसे, चेतयसे इत्यादिप्रयोगेऽपि। **(९८०) न यदि ३।२।११३ ।** यद्योगे उक्तं न

अथ लकारार्थप्रक्रिया निरूप्यते–

(९७९) **अभिज्ञावचन** इति। 'भूते' इत्यधिकृतम्। 'अनद्यतने लङ्' इत्यतोऽनद्यतने इत्यनुवर्तते। अभिज्ञा = स्मृतिः सा उच्यतेऽनेनेति अभिज्ञावचनं तस्मिन्, अर्थात् स्मृतिबोधके पदे समीपे प्रयुज्यमाने सति भूतानद्यतने धातोर्लृट् स्यादित्यर्थः। **स्मरसीति**। हे कृष्ण! गोकुले अवसामेति यत्तत् स्मरसीत्यर्थः। अत्र 'स्मरसि' इत्युपपदात् वस् धातोः 'अभिज्ञावचने लृट्' इति लृटि, मसि, स्यप्रत्यये 'सः स्यार्धधातुके' इत्यनेन सस्य तकारे, दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'वत्स्यामः' इति।

(९८०) **न यदीति**। 'अभिज्ञावचने लृट्' इति लृट् न भवतीत्यर्थः। **अभिजानासीति**। 'अभुञ्ज्महो'त्यत्र 'न यदी'ति प्रतिषेधादुत्सर्गो लङ् प्रवर्तते।

लकारों के अर्थ-विशेष को प्रदर्शित करने के लिए लकारार्थ-प्रकरण का निरूपण किया जा रहा है–

(९७९) **पद**– अभिज्ञावचने, लृट्। **अनुवृत्ति**– अनद्यतने। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ–स्मृतिबोधक पद के उपपद रहने पर भूत अनद्यतन अर्थ में धातु से लृट् लकार होता है। यह सूत्र लङ् का अपवाद है। स्मरसि कृष्ण गोकुले वत्स्यामः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से 'अनद्यतने' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– ''अभिज्ञावचन = स्मृतिबोधक (स्मृति को कहने वाला) कोई शब्द उपपद हो तो अनद्यतन भूतकाल में धातु से लृट् लकार होता है।''

उदाहरण– स्मरसि कृष्ण! गोकुले वत्स्यामः' (हे कृष्ण! आपको याद है–हम गोकुल में रहते थे।)– यहाँ स्मृतिबोधक 'स्मरसि' उपपद है। अतः ✓ वस् धातु से अनद्यतन भूत अर्थ में लृट् लकार का प्रयोग हुआ– वत्स्यामः (✓ वस् + लृट् उ० पु० बहुवचन)।

इसी प्रकार 'बुध्यसे, चेतयसे' इत्यादि स्मरणार्थक क्रियापदों के उपपद रहने पर भी प्रकृत सूत्र से अनद्यतन भूत अर्थ में लृट् लकार होगा।

(९८०) **पद**– न, यदि। **अनुवृत्ति**– अभिज्ञावचने, लट्, अनद्यतने। **विधिसूत्र**। (निषेध)

मूलार्थ– स्मृतिबोधक उपपद रहने पर 'यत्' शब्द के योग में धातु से अनद्यतन भूत में लृट् लकार नहीं होता। अभिजानासि कृष्ण! यद्वने अभुञ्ज्महि।

विमर्श–'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से 'अनद्यतने' और 'अभिज्ञावचने लृट्' (९७९) की यहाँ अनुवृत्ति आती है। अतः '''यत्' के योग में स्मरणार्थक उपपद रहते धातु से अनद्यतन भूत अर्थ में लृट् लकार नहीं होता।''

उदाहरण– 'अभिजानासि कृष्ण! यद्वने अभुञ्ज्महि' (हे कृष्ण! तुम्हें स्मरण है कि हमने वन में खाया था।)– यहाँ 'यत्' का प्रयोग होने से 'अभिज्ञावचने लृट्' से प्राप्त लृट् का 'न यदि' से निषेध

स्यात्। अभिजानासि कृष्ण यद्वने अभुञ्ज्महि?। **(९८१) विभाषा साकाङ्क्षे ३।२।११४ ।** उक्तविषये लृट् वा स्याल्लक्ष्यलक्षणभावेन साकाङ्क्षश्चेद्धात्वर्थः। स्मरसि कृष्ण वने वत्स्यामस्तत्र गाश्चारयिष्यामः?। वासो लक्षणं, चारणं लक्ष्यम्। पक्षे लङ्। परोक्षे लिट्। चकार। उत्तमपुरुषे चित्तविक्षेपादिना पारोक्ष्यम्। 'सुप्तोऽहं किल विललाप'। अत्यन्तापह्नवे लिड् वक्तव्यः। कलिङ्गेष्ववात्सीः?। नाहं कलिङ्गान् जगाम। **(९८२) प्रश्ने चाऽऽसन्नकाले ३।२।११७ ।** आसन्नकाले पृच्छ्यमानेऽर्थे लिड्विषये लङ्लिटौ स्तः।

---

(९८१) **विभाषेति**। 'अभिज्ञावचने लृट्' इति सूत्रम्, तत्र यदनुवृत्तं तदिहाप्यनुवर्तते। तदाह- **उक्तविषये इति**। **उत्तमपुरुष इति**। उत्तमपुरुषे अहमर्थस्य प्रत्यक्षत्वात् परोक्षत्वाभावेन लिट उत्तमपुरुषप्रयोगः कथं स्यादित्यत आह-**चित्तविक्षेपादिनेति**। **विललाप इति**। अत्र सुप्तावस्थायां चित्तस्य विक्षेपात्पारोक्ष्ये लिडिति भावः।

(९८२) **प्रश्ने चेति**। पञ्चवर्षातीतं कालमनासन्नकालमिति वृत्तिकाराः। प्रयोक्तुर्दृष्टि-

---

होने से यथाप्राप्त लङ् लकार का ही प्रयोग होगा। 'अभुञ्ज्महि'।

(९८१) **पद**– विभाषा, साकाङ्क्षे। **अनुवृत्ति**– अभिज्ञावचने, लृट्, अनद्यतने। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– लक्ष्य-लक्षणभाव से धात्वर्थ साकांक्ष हो तो स्मृतिबोधक उपपद रहने पर धातु से अनद्यतन भूत अर्थ में विकल्प से लृट् लकार होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। 'अभिज्ञावचने लृट्' और 'अनद्यतने' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- "स्मृतिबोधक उपपद रहने पर उक्त अर्थ में धातु से विकल्प से लृट् लकार होता है, यदि धात्वर्थ लक्ष्य-लक्षणभाव से साकांक्षित हो।"

उदाहरण– 'स्मरसि कृष्ण! वने वत्स्यामस्तत्र गाश्चारयिष्यामः' (हे कृष्ण! तुम्हें स्मरण है कि हम लोग वन में रहते थे और गायें चराते थे।)- यहाँ वास = निवास लक्षण है और चारण लक्ष्य है। 'वन में रहते थे' यहाँ 'क्या करते थे?' यह बताने की आकांक्षा प्रयोक्ता को है। अतः उक्त वाक्य में लक्ष्य-लक्षणभाव से धात्वर्थ के साकांक्षित होने पर विकल्प से लृट्-वत्स्यामः। लृट् के अभाव-पक्ष में लङ्।

परोक्षे लिट्–अनद्यतन (= जो आज का न हो) परोक्ष (= जो अपनी इन्द्रिय आँखों से न देखा गया हो) अर्थ में वर्तमान धातु से लिट् लकार होता है। चकार (✓ कृ + लिट् प्र० पु० ए० व०)।

उत्तमपुरुष इति। उत्तमपुरुष में अहम् (स्व) अर्थ का प्रत्यक्ष होने से परोक्ष का अभाव होता है। अतः लिट् लकार में उत्तमपुरुष का प्रयोग कैसे होगा? इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने कहा है- 'उत्तमपुरुषे चित्तविक्षेपादिना पारोक्ष्यम्' अर्थात् उत्तमपुरुष में चित्त के विक्षेप आदि से स्वक्रिया स्वयं भी परोक्ष हो जाती है। अतः 'सुप्तोऽहं किल विललाप' में लिट् लकार होता है।

(वा०)- अत्यन्तापह्नव (= अत्यन्त छिपाना) अर्थ में धातु से लिट् लकार होता है, ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण– 'कलिङ्गेष्ववात्सीः' (तुमने कलिङ्ग में निवास किया था?)- इस प्रश्न के उत्तर में- **'नाहं कलिङ्गान् जगाम'** (मैं कलिङ्ग देश में गया ही नहीं)। यहाँ गमन के अभाव से वास का अभाव स्वतः सिद्ध हुआ। यह अत्यन्तापह्नवोक्ति है। अतः प्रकृत वार्तिक द्वारा लिट् लकार-जगाम।

(९८२) **पद**– प्रश्ने, च, आसन्नकाले। **अनुवृत्ति**– परोक्षे, अनद्यतने, लङ्, लिट्। **विधिसूत्र**।

अगच्छत्किम्? जगाम किम्? आसन्नकाले किम्? कंसं जघान किम्? **(९८३) लट् स्मे ३।२।११८ ।** लिटोऽपवादः। यजति स्म युधिष्ठिरः। **(९८४) अपरोक्षे च ३।२।११९ ।** अपरोक्षे भूतानद्यतने लट् स्यात्स्मयोगे। एवं स्म पिता ब्रवीति। **(९८५)**

पथातिक्रान्तत्वमनासन्नकालत्वमिति मनोरमाकाराभिमतम्। प्रश्ने = प्रष्टव्यविषये लिट्विषये लङ्लिटौ भवत इत्यर्थः।

(९८३) **लट् स्म इति**। स्मेत्यव्ययम्। तद्योगे लिड्विषये लट् भवतीत्यर्थः। **यजति स्मेति**। अत्र स्मशब्दो भूतकालद्योतकः, तद्योगे 'लट् स्मे' इत्यनेन लट् भवति।

(९८४) **अपरोक्षे चेति**। 'लट् स्मे' इत्यनुवर्तते। तदाह- **भूतानद्यतन इति**।

मूलार्थ– समीपकालिक प्रष्टव्य अर्थ में लिट् के विषय में लङ् और लिट् लकार होता है। अगच्छत् किम्? जगाम किम् इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से 'अनद्यतने', 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से 'परोक्षे' और 'लिट्' तथा 'हशश्वतोर्लङ् च' से 'लङ्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– समीपकाल में पृच्छ्यमान (जिज्ञासाविषयीभूत) अर्थ में–लिट् के विषय में लङ् और लिट् लकार होते हैं।

उदाहरण– अगच्छत् किम्, जगाम किम्? (अभी गया क्या?)– यहाँ समीपकालिक प्रष्टव्य अर्थ होने से लङ् और लिट् दोनों का क्रमशः प्रयोग हुआ। अगच्छत्, जगाम।

प्रत्युदाहरण– आसन्नकाले किमिति। प्रकृत सूत्र में 'आसन्नकाले' (समीपकाल में) पद का ग्रहण होने से 'कंसं जघान किम्?' इस अनासन्नकालिक प्रयोग में प्रकृत सूत्र से लङ्, लिट् का प्रयोग नहीं होता। परोक्ष अर्थ में लिट् लकार ही होता है।

(९८३) **पद**– लट्, स्मे। **अनुवृत्ति**– परोक्षे, अनद्यतने। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ–'स्म' के योग में लिट् का अपवाद लट् लकार होता है। यजति स्म इत्यादि।

विमर्श–पूर्ववत् 'परोक्षे' और 'अनद्यतने' पदों की यहाँ अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार–''परोक्ष अनद्यतन भूतकाल अर्थ में 'स्म' के योग में धातु से लट् लकार होता है।'' यह 'परोक्षे लिट्' से होने वाले लिट् का अपवाद है।

उदाहरण–'यजति स्म युधिष्ठिरः' (युधिष्ठिर ने यज्ञ किया)– यहाँ 'स्म' के योग में परोक्ष अनद्यतन भूत अर्थ में ✓ यज् से लट् लकार हुआ। यजति स्म।

(९८४) **पद**– अपरोक्षे, च। **अनुवृत्ति**– अनद्यतने, लट् स्मे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– स्म के योग में अनद्यतनभूत अपरोक्षकालिक क्रियावाची धातु से लट् लकार होता है। एवं स्म पिता ब्रवीति।

विमर्श– यहाँ 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से 'अनद्यतने' तथा 'लट् स्मे' (९८३) की अनुवृत्ति आती है। अतः 'अपरोक्ष अनद्यतन भूतकाल में भी वर्तमान धातु से 'स्म' के योग में लट् लकार होता है।''

उदाहरण–एवं स्म पिता ब्रवीति (इस प्रकार पिता ने कहा था)–प्रकृत सूत्र से परोक्ष-भिन्न अनद्यतन भूतकाल में 'स्म' के योग में लट्।

ननौ पृष्टप्रतिवचने ३।२।१२० । ननावुपपदे पृष्टप्रतिवचने भूते लट् स्यात्। अकार्षीः किम्?। ननु करोमि भोः। **(९८६) नन्वोर्विभाषा ३।२।१२१** । अकार्षीः किम्? न करोमि। नाकार्षम्। अहं नु करोमि। अहं न्वकार्षम्। **(९८७) पुरि लुङ् चास्मे ३।२।१२२** । पुरायोगे भूतानद्यतने वा लुङ् स्याच्चाल्लट्, न तु स्मयोगे। पक्षे यथाप्राप्तम्। वसन्तीह पुरा छात्राः। अवात्सुः, अवसन्, ऊषुर्वा। अस्मे इति किम्? यजति स्म पुरा।

---

(९८५) **ननाविति**। भूतार्थे ननुप्रयोगे लट् स्यादित्यर्थः। **अकार्षीः किमिति** प्रश्नः, 'ननु करोमी'त्युत्तरम्। अत्र भूतार्थे 'ननु' इत्यस्य प्रयोगे लट्। अकार्षमित्यर्थः।

(९८६) **नन्वोरिति**। अत्र 'न, नु' इत्यनयोर्द्वन्द्वः। नशब्दे नुशब्दे च लट् वा स्यादित्यर्थः।

(९८७) **पुरि लुङिति**। अस्मे इतिच्छेदः पुरेत्याकारान्तमव्ययम्। पुरायोगे भूतानद्यतने वा लुङ् चाल्लडित्यर्थः।

---

(९८५) **पद**– ननौ, पृष्टप्रतिवचने। **अनुवृत्ति**– लट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'ननु' उपपदक भूतकालिक क्रियावाची धातु से पृष्टप्रतिवचन (प्रश्न का उत्तर) अर्थ में लट् लकार होता है। अकार्षीः किम्? ननु करोमि भोः।

विमर्श– पूर्वसूत्र (९८३) से 'लट्' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः "'ननु' के योग में प्रत्युत्तर अर्थ में भूतकाल में वर्तमान धातु से लट् लकार होता है।"

उदाहरण– अकार्षीः कटं किम्? (क्या तुमने चटाई बना ली?)– इस प्रश्न के उत्तर में 'ननु करोमि भोः' (जी हाँ, बनायी है।) यह पृष्टप्रतिवचन हुआ। 'ननु' उपपद है, अतः प्रकृत सूत्र में लट् लकार हुआ–करोमि।

(९८६) **पद**– नन्वोः, विभाषा। **अनुवृत्ति**–पृष्टप्रतिवचने, लट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– पृष्टप्रतिवचन अर्थ में 'न' और 'नु' के योग में भूतकालिक क्रियावाची धातु से लट् लकार होता है। अकार्षीः किम्? न करोमि इत्यादि।

विमर्श– 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (९८५) से 'पृष्टप्रतिवचने' और 'लट् स्मे' (९८३) से 'लट्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "प्रत्युत्तर अर्थ में 'न' तथा 'नु' उपपद रहते भूतकालिक धातु से विकल्प से लट् लकार होता है।"

उदाहरण– (१) अकार्षीः किम्? न करोमि। नाकार्षम् (क्या तुमने (कार्य) किया? हाँ, मैंने किया।)– यहाँ प्रत्युत्तर अर्थ में 'न' उपपद रहते ✓ कृ से प्रकृत सूत्र द्वारा विकल्प से लट् लकार–न करोमि। पक्ष में लुङ्–न अकार्षम्। (२) 'अहं नु करोमि, अहं नु अकार्षम्'– यहाँ 'नु' के उपपद रहते विकल्प से उक्त अर्थ में लट्।

(९८७) **पद**–पुरि, लुङ्, च, अस्मे। **अनुवृत्ति**–विभाषा, लट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'पुरा' के योग में अनद्यतन भूतकालिक क्रियावाची धातु से विकल्प से लुङ् लकार होता है। चकार से लट् भी होता है, किन्तु 'स्म' के योग में नहीं होता।

विमर्श– पूर्वसूत्र (९८६) से 'विभाषा' और 'लट् स्मे' (९८३) से लट् की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। अतः "(अस्मे) = 'स्म' शब्द से रहित 'पुरा' पद के उपपद रहते अनद्यतन भूतकाल में धातु से लुङ् विकल्प से होता है। चकार से लट् भी होता है।

उदाहरण– वसन्तीह पुरा छात्राः। अवात्सुः, अवसन् ऊषुर्वा (यहाँ पहले छात्र रहते थे।)– प्रकृत

'भविष्यती'त्यनुवर्तमाने-(९८८) **यावत्पुरानिपातयोर्लट्** ३।३।४ । अनयोरुपपदयोर्भविष्यति लट् स्यात्। यावद् भुङ्क्ते। पुरा भुङ्क्ते। निपातयोः किम्? यावद्दास्यते तावद्भोक्ष्यते। करणभूतया-पुरा यास्यति। (९८९) **विभाषा कदाकर्ह्योः** ३।३।५ । कदाकर्ह्योरुपपदयोर्भविष्यति लट् वा स्यात्। कदा कर्हि वा भुङ्क्ते, भोक्ष्यते, भोक्ता वा। (९९०) **वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा** ३।३।१३१ । वर्तमाने ये

(९८८) **यावदिति**। अनयोर्निपातयोर्योगे भविष्यदर्थे लट् स्यादित्यर्थः। **'यावद्भुङ्क्ते'** -अत्र यावद्योगे भविष्यति काले लट्प्रयोगः।

(९८९) **विभाषेति**। अत्र 'भविष्यति' इति लृट् इति चानुवर्तते। अत आह- **कदाकर्ह्योरिति। कदा कर्हि वा भुङ्क्ते, भोक्ष्यते भोक्ता वेति**। अत्र 'कदा, कर्हि' एतयोर्योगे 'विभाषा कदाकर्ह्योः' इत्यनेन विकल्पेन लटि 'भुङ्क्ते' इति। पक्षे लुट्लृटौ 'भोक्ता, भोक्ष्यते' इति।

(९९०) **वर्तमानसामीप्य इति**। समीपमेव सामीप्यम्। स्वार्थे ष्यञ्। 'वर्तमाने लट्'

सूत्र से विकल्प से लुङ्-अवात्सुः। चकार से लट्-वसन्ति। लुङ् के अभाव पक्ष में यथाप्राप्त लङ् और लिट्-अवसन्, ऊषुः।

प्रत्युदाहरण- अस्म इति। प्रकृत सूत्र में 'अस्मे' पद का ग्रहण होने से 'स्म' पद से रहित 'पुरा' के योग में ही विकल्प से लुङ् होता है। अतः 'यजति स्म पुरा' में लुङ् नहीं हुआ। 'लट् स्मे' से लट् होता है।

(९८८) **पद-** यावत्पुरानिपातयोः, लट्। **अनुवृत्ति-** भविष्यति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'यावत्' और 'पुरा' निपातों के योग में धातु से भविष्यत् अर्थ में लट् लकार होता है। यावद् भुङ्क्ते। पुरा भुङ्क्ते इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'भविष्यति गम्यादयः' (३।३।३) से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार-''यावत् और पुरा निपात के उपपद रहते भविष्यत् काल में धातु से लट् लकार होता है।''

उदाहरण- (१) यावद् भुङ्क्ते (जितना खायेगा)- प्रकृत सूत्र से 'यावत्' के योग में भविष्यत् अर्थ में लट्-भुङ्क्ते। (२) पुरा भुङ्क्ते (पहले खायेगा)-पुरा के योग में लट्।

प्रत्युदाहरण-निपातयोः किमिति- प्रकृत सूत्र में 'यावत्पुरानिपातयोः' का ग्रहण होने से इन निपातों से भिन्न के योग में लट् लकार नहीं होता। यथा-यावद्दास्यते तावद् भोक्ष्यते। करण तृतीयान्त 'पुरा' के योग में भी लट् नहीं होता-'पुरा यास्यति' (लृट्)।

(९८९) **पद-** विभाषा, कदाकर्ह्योः। **अनुवृत्ति-**लट्, भविष्यति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'कदा' और 'कर्हि' के योग में भविष्यत् अर्थ में धातु से लट् लकार विकल्प से होता है। कदा कर्हि वा भुङ्क्ते, भोक्ष्यते भोक्ता वा।

विमर्श- पूर्वसूत्र (९८८) से 'लट्' तथा 'भविष्यति गम्यादयः' (३।३।३) से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति आ रही है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार-''यदि कदा और कर्हि उपपद हों तो धातु से भविष्यत् काल में विकल्प से लट् लकार होता है।''

उदाहरण- कदा कर्हि वा भुङ्क्ते (कब खायेगा?)-यहाँ 'विभाषा कदाकर्ह्योः' से विकल्प से लट्-भुङ्क्ते। लट् के अभावपक्ष में लृट् तथा लुट्-भोक्ष्यते, भोक्ता।

(९९०) **पद-** वर्तमानसामीप्ये, वर्तमानवत्, वा। **विधिसूत्र**।

प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसमीपे भूते भविष्यति च वा स्युः। कदा आगतोऽसि? अयमागच्छामि, आगमं वा। कदा गमिष्यसि? एष गच्छामि गमिष्यामि वा। (९९१) आशंसायां भूतवच्च ३।३।१३२ । भविष्यत्काले भूतवद्वर्तमानवच्च प्रत्यया वा स्युराशंसायाम्। देवश्चेदवर्षीत्, वर्षति वर्षिष्यति वा धान्यमवाप्स्म, वपामो वप्स्यामो वा। (९९२) क्षिप्रवचने लृट् ३।३।१३३ । क्षिप्रपर्याये उपपदे पूर्वविषये लृट् स्यात्।

इत्यारभ्य आपादसमाप्तेः 'उणादयो बहुलम्' इति तृतीयपदादिमसूत्रात् प्राक् वर्तमानाधिकारः। अस्मिन्नधिकारे येन विशेषणेन याभ्यः प्रकृतिभ्यो वर्तमाने प्रत्यया विहिताः, ते सर्वे तेनैव विशेषणेन ताभ्यः प्रकृतिभ्यो वर्तमानसमीपकाले, भूते भविष्यति च वा भवन्तीत्यर्थः।

(९९१) **आशंसायामिति**। अप्राप्तस्य प्रियस्य प्राप्तमिच्छा आशंसा। आशंसायां वर्तमानत्वेऽपि तद्विषयस्य भविष्यत्कालसम्बन्धाद्भविष्यत्काल इत्युक्तम्। अत आह– **भविष्यत्काल इत्यादिना।**

(९९२) **क्षिप्रवचन इति**। सूत्रे वचनग्रहणात्क्षिप्रपर्याये इति लभ्यते। **पूर्वविषय इति**। आशंसायामित्यर्थः।

मूलार्थ–वर्तमानकाल में जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे वर्तमान के समीप भूत और वर्तमान के समीप भविष्यत् अर्थ में विकल्प से होते हैं। कदा आगतोऽसि? (कब आये?) अयमागच्छामि आगमं वा (अभी आया हूँ) इत्यादि।

विमर्श–'धातोः' का अधिकार है। अतः ''वर्तमानकाल में होने वाले प्रत्यय वर्तमान-समीप (निकट) भूत और भविष्यत्काल में भी विकल्प से होते हैं।''

उदाहरण– (१) कदा आगतोऽसि? (कब आये?) अयमागच्छामि आगमं वा (अभी आया हूँ)– यहाँ वर्तमान-समीप भूतकाल में प्रकृत सूत्र (९९०) से विकल्प से आ + ✓ गम् से लट् – आगच्छामि। पक्ष में भूतकाल में लङ्–आगमम्। (२) कदा गमिष्यसि? (कब जाओगे?) एष गच्छामि गमिष्यामि वा (अभी जाऊँगा)– यहाँ निकट भविष्यत् काल में विकल्प से लट्–गच्छामि। पक्ष में लृट्–गमिष्यामि।

(९९१) **पद**– आशंसायाम्, भूतवत्, च। **अनुवृत्ति**– वर्तमानवद्वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– आशंसा (अप्राप्त की प्राप्ति हेतु इच्छा) अर्थ गम्यमान रहते भविष्यत् काल में भूतवत् और वर्तमानवत् प्रत्यय विकल्प से होते हैं। देवश्चेदवर्षीत् वर्षति वर्षिष्यति वा धान्यमवाप्स्म, वपामो वप्स्यामो वा।

विमर्श–सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए पूर्वसूत्र (९९०) से 'वर्तमानवद्वा' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''आशंसा अर्थ गम्यमान (प्रतीयमान) होने पर धातु से भविष्यत् काल में भूतकाल के समान तथा वर्तमानकाल के समान भी प्रत्यय विकल्प से होते हैं।'' अप्राप्त प्रिय वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा को आशंसा कहते हैं।

उदाहरण– देवश्चेदवर्षीत्, वर्षति वर्षिष्यति वा धान्यमवाप्स्म वपामो वप्स्यामो वा (यदि देव वर्षा करेंगे तो धान बोयेंगे।)– यहाँ आशंसा अर्थ गम्यमान होने पर 'आशंसायां भूतवच्च' से भविष्यत् अर्थ में विकल्प से भूतवत्, चकार से वर्तमानवत् प्रत्यय होने पर–अवर्षीत्, वर्षति। पक्ष में–वर्षिष्यति अवाप्स्म, वपामः तथा वप्स्यामः।

(९९२) **पद**– क्षिप्रवचने, लृट्। **अनुवृत्ति**– आशंसायाम्। **विधिसूत्र।**

वृष्टिश्चेत्क्षिप्रमाशु त्वरितं वा आयास्यति, शीघ्रं धान्यं वप्स्यामः। **(९९३) आशंसावचने लिङ् ३।३।१३४ ।** आशंसावाचिन्युपपदे भविष्यति लिङ् स्यात्, न भूतवत्। गुरुश्चेदुपेयाद् आशंसे अधीयीय। **(९९४) हेतुहेतुमतोर्लिङ् ३।३।१५६ ।** भविष्यत्यर्थे हेतुहेतुमतोर्लिङ् वा स्यात्। कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात्। कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति। * भविष्यत्येवेष्यते *। नेह–हन्तीति पलायते **(९९५) इच्छार्थेषु**

---

(९९३) **आशंसावचन इति।** आशंसायाः प्रतीच्छाया भूते असम्भवात् भविष्यतीति लभ्यते। तदाह- **आशंसावाचिनीति।** 'उपेयात्, अधीयीय' इत्यत्र लिङिति भावः।

(९९४) **हेतुहेतुमतोरिति।** कार्यकारणभावे द्योत्ये भविष्यत्यर्थे वा लिङ् स्यादित्यर्थः। **कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति-** अत्र कृष्णनतिः सुखप्राप्तौ हेतुः। अतः 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' इत्यनेन विभाषया लिङ्–नमेत्, यायादिति। पक्षे लृट्–नंस्यति, यास्यतीति।

मूलार्थ– आशंसा अर्थ गम्यमान हो तो क्षिप्र (शीघ्र) वाचक पद के उपपद रहने पर भविष्यत् काल में लृट् लकार होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (९९१) से 'आशंसायाम्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार- ''यदि शीघ्रवाची पद उपपद हों तो आशंसा अर्थ गम्यमान होने पर धातु से लृट् लकार होता है।''

उदाहरण–वृष्टिश्चेत्क्षिप्रमाशु त्वरितं वा आयास्यति, शीघ्रं धान्यं वप्स्यामः (यदि वर्षा शीघ्र आयेगी तो हम शीघ्र धान बोयेंगे।)- यहाँ 'शीघ्र'वाची 'क्षिप्र', आशु और त्वरित पदों के उपपद रहते आशंसा अर्थ में लृट्–आयास्यति, वप्स्यामः।

(९९३) **पद–** आशंसावचने, लिङ्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– आशंसावाचक उपपद रहने पर भविष्यत्काल में लिङ् लकार होता है। भूतवत् प्रत्यय नहीं होता।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''आशंसावाची शब्द के उपपद रहते धातु से लिङ् लकार होता है।'' आशंसा के भविष्यत्काल–विषयक होने से प्रकृत सूत्र 'आशंसायां भूतवच्च' का अपवाद है।

उदाहरण– गुरुश्चेदुपेयाद् आशंसे अधीयीय (गुरुजी यदि आ जायेंगे तो आशा है- पढेंगे।)- यहाँ लिङ् लकार का प्रयोग हुआ–उपेयात्, अधीयीय।

(९९४) **पद–** हेतुहेतुमतोः, लिङ्। **अनुवृत्ति–** विभाषा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– हेतुहेतुमद्भाव (कार्य-कारणभाव) अर्थ गम्यमान हो तो भविष्यत्काल में विकल्प से लिङ् लकार होता है। कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात् इत्यादि।

विमर्श– 'विभाषा धातौ०' (३।३।१५५) से 'विभाषा' पद की यहाँ अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''हेतुहेतुमत् अर्थ में वर्तमान धातु से लिङ् लकार विकल्प से होता है।''

उदाहरण– कृष्णं नमेच्चत् सुखं यायात्' (यदि कृष्ण को नमन करेगा तो सुख पावेगा)- यहाँ कार्य-कारणभाव अर्थ में विकल्प से लिङ्- नमेत्, यायात्। पक्ष में लृट्–कृष्णं नंस्यति चेत् सुखं यास्यति।

भविष्यत्येवेति– उक्त अर्थ में भविष्यत्काल में ही लिङ् होता है। अतः 'हन्तीति पलायते' (मारता है, अतः भागता है) में लिङ् नहीं होता।

लिङ्लोटौ ३।३।१५७ । इच्छार्थेषूपपदेषु धातोर्लिङ् लोटौ वा स्तः। इच्छामि भुञ्जीत भुङ्क्तां वा भवान्। एवं कामये, प्रार्थये। * कामप्रवेदने इति वक्तव्यम् *। नेह—इच्छन्करोति।
(९९६) लिङ् च ३।३।१५९ । समानकर्तृकेषु इच्छार्थेषु उपपदेषु धातोर्लिङ् स्यात्। भुञ्जीयेतीच्छति। 'विधिनिमन्त्रणे'ति लिङ्। विधिः प्रेरणम्, भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्। यजेत। निमन्त्रणं नियोगकरणम्, आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्। इह भुञ्जीत। आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा। इहाऽऽसीत। अधीष्टः—सत्कारपूर्वको व्यापारः।

---

(९९५) **इच्छार्थेष्विति**। 'विभाषा धातावि'त्यतः विभाषेत्यनुवर्तते। तदाह—**इच्छार्थेषूपपदेष्विति**। सर्वलकाराणामपवादः। 'लिङ् चे'त्यनेन समानकर्तृकेषु लिङो विधानादिह लिङ्-लोटावसमानकर्तृकेषु भवतः।

(९९६) **लिङ् चेति**। समानकर्तृकेष्विति इच्छार्थेष्विति चानुवर्तते। तदाह—**समानेत्यादि**। **भुञ्जीयेतीच्छतीति**। भोक्तुरेव इषिकर्तृत्वात्समानकर्तृत्वम्। अतः 'लिङ् चे'त्यनेन लिङ् भवति। **कामप्रवेदन इति**। परम्प्रति स्वकीयाभिप्रायाविष्करणं कामप्रवेदनम्।

---

(९९५) **पद**— इच्छार्थेषु, लिङ्लोटौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ— इच्छार्थक शब्द के उपपद रहते विकल्प से लिङ् और लोट् लकार होते हैं। इच्छामि भुञ्जीत भुङ्क्तां वा भवान्। इत्यादि।

विमर्श— सूत्रार्थ स्पष्ट है।

उदाहरण— इच्छामि भुञ्जीत, भुङ्क्तां वा भवान् (मैं चाहता हूँ कि आप भोजन करें)—यहाँ प्रकृत सूत्र (९९५) से विकल्प से लिङ्—भुञ्जीत, लोट्—भुङ्क्ताम्। इसी प्रकार 'कामये' और 'प्रार्थये' उपपद रहने पर भी लिङ्, लोट् होते हैं।

(वा०)— 'कामप्रवेदन (दूसरों के प्रति अपने अभिप्राय का स्पष्टीकरण) अर्थ में ही लिङ्-लोट् होते हैं' ऐसा कहना चाहिए।)

प्रत्युदाहरण—'इच्छन्करोति' (इच्छा करता हुआ करता है) में कामप्रवेदन अर्थ न होने से लिङ्-लोट् का प्रयोग नहीं होता।

(९९६) **पद**— लिङ् च। **अनुवृत्ति**—समानकर्तृकेषु, इच्छार्थेषु। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ— समानकर्तृक इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहते लिङ् लकार होता है। 'भुञ्जीये'तीच्छति।

विमर्श— प्रकृत सूत्र में 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' (३।३।१५८) से 'समानकर्तृकेषु' तथा (९९५) से 'इच्छार्थेषु' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—''समानकर्तृक इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहते लिङ् लकार होता है।''

उदाहरण— 'भुञ्जीये'तीच्छति' (खाऊँ, ऐसा चाहता है)— यहाँ प्रकृत सूत्र (९९६) से लिङ् हुआ—'भुञ्जीय'।

विधिनिमन्त्रणेति— विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थना अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है।

(१) **विधि**— विधि का अर्थ 'प्रेरणा' (अपने से छोटे भृत्य, शिष्य, पुत्र आदि को किसी कार्य में प्रवृत्त करना) है। यथा—यजेत (यज्ञ करो)—लिङ् लकार।

(२) **निमन्त्रण**— निमन्त्रण का अर्थ है— 'नियोगकरण'। नियोग = प्रवृत्ति का करण अर्थात्

पुत्रमध्यापयेत्। सम्प्रश्नः–सम्प्रधारणम्। किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्? प्रार्थनं-याच्ञा। भो भोजनं लभेय। एवं लोट्। **(९९७) प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च ३।३।१६३।** एष्वर्थेषु कृत्यप्रत्ययाः स्युः। चाल्लोट्। प्रैषो विधिः। अतिसर्गः– कामचारानुज्ञा। भवता यष्टव्यम्। चाल्लोटोऽनुकर्षणं प्राप्तकालार्थम्। भवान् यजताम्। **(९९८) अर्हे कृत्यतृचश्च ३।३।१६९।** अर्हे कृत्यप्रत्ययः स्यात्तृच्प्रत्ययश्च। चाल्लिङ्।

---

(९९७) **प्रैषातिसर्गेति**। विधिग्रहणे कर्तव्ये प्रैषग्रहणं शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थम्। 'कृत्याः' इत्यनेन तदधिकारस्थाः प्रत्यया उपलक्ष्यन्ते। चकाराल्लोट् भवतीति।

(९९८) **अर्हे इति**। योग्ये कर्तरि गम्ये कृत्यप्रत्ययस्तृच्प्रत्ययश्च भवति, चकाराल्लिङपि भवतीत्यर्थः। त्वं कन्यां वहेरिति। कन्या विवाहस्य योग्येत्यर्थः।

जनक। आवश्यक श्राद्ध के भोजन आदि में दौहित्र (कन्या के पुत्र) आदि की प्रवृत्ति करना। इस प्रकार की प्रेरणा को 'आग्रह' कहते हैं। यथा– भो भागिनेय! इह भुञ्जीत (लिङ्)।

(३) **आमन्त्रण**–आमन्त्रण का अर्थ है–'कामचारानुज्ञा'। अर्थात् आमन्त्रण उस प्रेरणा को कहते हैं जिसमें निमन्त्रण से कम बल रहता है। कामचार = प्रेर्यमाण व्यक्ति अपनी इच्छा से कार्य करता है। अतः आमन्त्रित व्यक्ति जिस कार्य के लिए आमन्त्रित किया गया है, उसमें सम्मिलित होना या न होना उसकी इच्छा पर निर्भर होता है। यथा–इहाऽऽसीत।

(४) **अधीष्ट**– अधीष्ट का अर्थ है– 'सत्कारपूर्वक किसी कार्य में प्रवृत्त होना'। जैसे किसी आचार्य से सम्मानपूर्वक कहा जाता है–'भवान् मम पुत्रमध्यापयेत्।'

(५) **सम्प्रश्न**– 'सम्प्रधारणं सम्प्रश्नः'। संप्रश्न में प्रेरणा के साथ परामर्श का भाव भी रहता है। सम्प्रधारणम् अर्थात् निश्चय के लिए कहना। यथा–किं भो वेदमधीयीय, उत तर्कम्? (मैं वेद पढ़ूँ या न्यायशास्त्र?)

(६) **प्रार्थना**–प्रार्थना अपने से बड़ों से की जाती है। इसमें याचना का भाव रहता है। यथा– भो भोजनं लभेय (भोजन चाहिए)।

इस प्रकार उक्त विधि आदि अर्थों में लिङ् और लोट् दोनों लकारों का प्रयोग होता है।

(९९७) **पद**– प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु, कृत्याः, च। **अनुवृत्ति**–लोट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– प्रैष (विधि), अतिसर्ग (कामचारानुज्ञा) और प्राप्तकाल अर्थों में कृत्य प्रत्यय होते हैं और लोट् लकार भी होता है। 'भवता यष्टव्यम्' इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में चकारात् 'लोट् च' (३।३।१६२) से 'लोट्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''प्रैष (= प्रेरणा देना), अतिसर्ग (= कामचारपूर्वक आज्ञा देना) और प्राप्तकाल (= समय आ जाना) अर्थों में धातु से कृत्यसंज्ञक प्रत्यय होते हैं तथा लोट् लकार भी होता है।''

उदाहरण– 'भवता यष्टव्यम्' (आपको यज्ञ करना चाहिए)–यज् + तव्यत् (कृत्य प्रत्यय) –सूत्रस्थ चकार से प्राप्तकाल अर्थ के लिए लोट् की अनुवृत्ति आती है। अतः 'भवान् यजताम्' (आप यज्ञ करें) में लोट् का प्रयोग हुआ।

(९९८) **पद**– अर्हेः, कृत्यतृचः च। **अनुवृत्ति**– लिङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'अर्ह' (योग्य) अर्थ में कृत्य प्रत्यय और तृच् प्रत्यय होता है और लिङ् लकार का प्रयोग भी होता है। त्वं कन्यां वहेः।

त्वं कन्यां वहेः। (९९९) **शकि लिङ् च ३।३।१७२** । शक्तौ लिङ् स्यात् चात्कृत्याः। त्वं भारं वहेः। (१०००) **धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ३।४।१** । धात्वर्थानां सम्बन्धे यत्र काले प्रत्यया उक्तास्ततोऽन्यत्रापि स्युः। तिङन्तवाच्यक्रियायाः प्राधान्यात्तदनुरोधेन गुणभूतक्रियावाचिभ्यः प्रत्ययाः। वसन्ददर्श। भूते लट्। अतीतवासकर्तृकर्तृकं दर्शनमित्यर्थः। सोमयाज्यस्य पुत्रो भविता। सोमेन यक्ष्यमाणो यः पुत्रस्तत्कर्तृकं भवनम्। (१००१)

---

(९९९) **शकि लिङ् चेति**। शक् इति भावे क्विबन्तम्। शक्यार्थे गम्ये लिङ् चात्कृत्या इत्यर्थः। **त्वं भारं वहेरिति**। वोढुं शक्त इत्यर्थः। अत्र 'वहेरि'त्यत्र लिङ्।

(१०००) **धातुसम्बन्ध इति**। धातुपदेनात्र धात्वर्थो लक्ष्यते। सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वात् धात्वोः सम्बन्ध इति विग्रहः। तथा च धात्वर्थयोः सम्बन्धे सति प्रत्ययाः स्युरिति। कस्मिन्नर्थे इत्याकाङ्क्षायां काले इति गम्यते। '**वर्तमानसामीप्ये**' इति सूत्रे यस्मिन् काले ये प्रत्यया उक्तास्ते धात्वर्थयोः सम्बन्धे सति ततोऽन्यस्मिन्नपि काले स्युरित्यर्थः। तथा च '**वसन्ददर्श**' इत्यत्र लडादेशः भूतकालेऽपि शतृप्रत्ययः। **तिङन्तवाच्येति**। 'वसन्ददर्श' इत्यादौ तिङन्तवाच्या दर्शनादिक्रिया प्रधाना, वासादिक्रिया तु दर्शनादिक्रियार्थत्वाद् गुणभूता। अतः प्रधानभूतदर्शनादिक्रियानुसारेण गुणभूतवासादिक्रियावाचिभ्य एवेह कालान्तरेषु प्रत्यया विधीयन्त इत्यर्थः।

विमर्श– यहाँ 'लिङ् यदि' (३।३।१६८) से 'लिङ्' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''योग्य कर्ता वाच्य हो तो धातु से कृत्यसंज्ञक तथा तृच् प्रत्यय होते हैं और चकार से लिङ् लकार भी होता है।''

उदाहरण– 'त्वं कन्यां वहेः'– यहाँ 'वहेः' में चकारात् लिङ् लकार हुआ।

(९९९) **पद**– शकि, लिङ्, च। **अनुवृत्ति**–कृत्याः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– शक्य अर्थ में लिङ् और कृत्य प्रत्यय होते हैं।

विमर्श– 'कृत्याश्च' (३।३।१७१) से 'कृत्याः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''शक्यार्थ के गम्यमान होने पर धातु से लिङ् लकार होता है और कृत्यसंज्ञक प्रत्यय भी होते हैं।''

उदाहरण– 'त्वं भारं वहेः' (तुम भार वहन कर सकते हो)– यहाँ 'वहेः' में लिङ् लकार प्रकृत सूत्र से हुआ है।

(१०००) **पद**– धातुसम्बन्धे, प्रत्ययाः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– धात्वर्थों का सम्बन्ध गम्यमान होने पर जो प्रत्यय जिस-जिस काल में कहे गये हैं, वे प्रत्यय उससे भिन्न काल में भी होते हैं। तिङन्तवाच्य क्रिया प्रधान रहेगी, तदनुसार गौण क्रियावाची धातु से उक्त से अतिरिक्ति काल में भी प्रत्यय होंगे। वसन्ददर्श। लट् इत्यादि।

विमर्श– 'धात्वोः सम्बन्धो धातुसम्बन्धः, तस्मिन्' विग्रह में षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'धात्वर्थानाम्' में विषयगत बहुत्व का आरोप करके बहुवचन का प्रयोग है। तदनुसार–''दो धातुओं के अर्थ का सम्बन्ध होने पर भिन्न काल में विहित प्रत्यय भी कालान्तर में साधु होते हैं। तिङन्त धातु से वाच्य जो क्रिया उसके प्रधान होने पर गुणभूत क्रियावाचक धातु से भिन्न काल में भी प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण– (१) **वसन्ददर्श**–यहाँ भूतकाल में लट् हुआ। ''अतीतकालिक (भूतकालिक) वास का जो कर्ता, वह है कर्ता जिसका, ऐसा दर्शन'' अर्थ है। (२) **सोमयाज्यस्य पुत्रो भविता**– 'सोमयाजी' में 'करणे यजः' से णिनि प्रत्यय है। 'भविता' में ✓ भू से अनद्यतन भविष्यत्काल में लुट्, णिनि तथा लृट् भिन्नकालोक्त प्रत्यय हैं, जो प्रकृत सूत्र द्वारा साधु हैं। 'भविष्यत् काल में सोमयज्ञ करने वाला पुत्र उत्पन्न होगा' यह अर्थ है।

क्रियासमभिहारे लोट्, लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः ३।४।२। पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोर्लोट् स्यात्। तस्य च हिस्वौ स्तः। तिङामपवादः। तौ च हिस्वौ क्रमेण परस्मैपदात्मनेपदसंज्ञौ स्तः, तिङ्संज्ञौ च। तध्वमोर्विषये तु हिस्वौ वा स्तः। पुरुषैकवचनसंज्ञे नानयोरतिदिश्येते, हिस्वविधानसामर्थ्यात्। तेन सकलपुरुषवचनविषये परस्मैपदिभ्यो हिः कर्तरि, आत्मनेपदिभ्यः स्वो भावकर्मकर्तृषु। (१००२) **समुच्चयेऽन्यतरस्याम् ३।४।३।** अनेकक्रियासमुच्चये द्योत्ये प्रागुक्तं वा स्यात्। (१००३) **यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन् ३।४।४।** आद्ये लोड्विधाने लोट्प्रकृतिभूत

(१००१) **क्रियासमभिहारेति।** पौनःपुन्यं भृशार्थश्च क्रियासमभिहारस्तस्मिन्द्योत्ये तध्वमोः परतो हिस्वावादेशावित्यर्थः।

(१००२) **समुच्चय इति।** समभिहार इति पदविरहितं 'क्रिया लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' इति पूर्वसूत्रमनुवर्तते। क्रियेति लुप्तषष्ठीकं बहुवचनान्तं पदम्, तच्च 'समुच्चये' इत्यत्रान्वेति। तदाह–**अनेकक्रियासमुच्चय इति।**

(१००३) **यथाविधीति।** विधिमनतिक्रम्य यथाविधि। आद्ये = प्रथमेऽर्थात् क्रिया-समभिहारे इत्यादिसूत्रेण कृत इत्यर्थः।

(१००१) **पद–** क्रियासमभिहारे, लोट्, लोटः, हिस्वौ, वा, च, तध्वमोः। **अनुवृत्ति–**धातुसम्बन्धे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– 'पौनःपुन्य' और 'भृशम्' अर्थ में धातु से सर्वलकारापवाद लोट् होता है। उस लोट् के स्थान में तिङापवाद 'हि' और 'स्व' आदेश होता है। 'हि' और 'स्व' की क्रमशः परस्मैपद और आत्मनेपद संज्ञा होती है और तिङ् संज्ञा भी होती है। किन्तु 'त' और 'ध्वम्' के विषय में 'हि' और 'स्व' विकल्प से होते हैं। यहाँ पुरुष और वचन का अतिदेश नहीं होता। अन्यथा हि-स्व विधान व्यर्थ हो जायेगा। आशय यह है कि सभी पुरुष और वचनों के विषय में परस्मैपदी धातुओं के कर्ता में 'हि' होगा तथा आत्मनेपदी धातुओं से भाव, कर्म और कर्ता में 'स्व' होगा।

विमर्श–क्रियायाः समभिहारः, तस्मिन् (ष०त०)– क्रिया का पौनःपुन्य (बारम्बार) और भृशम् (अतिशय) अर्थ गम्यमान हो तो सभी कालों में लोट् लकार होता है। उस लोट् के स्थान में (सभी पुरुषों व वचनों में) 'हि' और 'स्व' आदेश होते हैं तथा 'त' और 'ध्वम्' के विषय में लोट् के स्थान में 'हि' और 'स्व' आदेश विकल्प से होते हैं। यहाँ परस्मैपदी धातुओं के लोट् के स्थान में 'हि' तथा आत्मनेपदी धातुओं के लोट् के स्थान में 'स्व' आदेश होते हैं।

(१००२) **पद–** समुच्चये, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति–** लोटो हिस्वौ, लोट्, वा, च, तध्वमोः, धातुसम्बन्धे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ–अनेक क्रियाओं का समुच्चय द्योत्य होने पर पूर्वोक्त कार्य विकल्प से होते हैं।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१००१) से 'लोट्, लोटो हिस्वौ, वा, च तध्वमोः' तथा 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' (१०००) से धातु- सम्बन्धे' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''समुच्चीयमान क्रियाओं को कहने वाली धातु से विकल्प से लोट् होता है और उस लोट् के स्थान में 'हि' और 'स्व' विकल्प से होते हैं; परन्तु त, ध्वम् के विषय में लोट् को विकल्प से हि, स्व आदेश होते हैं। पक्ष में त-ध्वम् ही श्रुतिगोचर होते हैं।''

(१००३) **पद–** यथाविधि, अनुप्रयोगः, पूर्वस्मिन्। **अनुवृत्ति–**धातोः। **विधिसूत्र।**

एव धातुरनुप्रयोज्यः। (१००४) **समुच्चये सामान्यवचनस्य ३।४।५** । समुच्चये लोड्विधौ सामान्यार्थस्य धातोरनुप्रयोगः स्यात्। अनुप्रयोगाद्यथायथं लडादयस्तिबादयश्च। ततः संख्याकालयोः, पुरुषविशेषार्थस्य चाभिव्यक्तिः। * क्रियासमभिहारे द्वे वाच्ये *। याहि याहीति–याति। पुनः पुनरतिशयेन वा यानं ह्यन्तस्यार्थः। एककर्तृकं वर्तमानं यानं 'याती'त्यस्य। 'इति'शब्दस्तु अभेदान्वये तात्पर्यं ग्राहयति। एवं–यातः। यान्ति। यासि। याथः। याथ। यात यातेति यूयं याथ। याहि याहीत्ययासीत्। यास्यति वा। अधीष्वाधीष्वेत्यधीते। 'ध्वं'विषये तु पक्षे–'अधीध्वमधीध्वमि'ति यूयमधीध्वे। समुच्चये तु–सक्तून्पिब धानाः खादेत्यभ्यवहरति। अन्नं भुङ्क्ष्व दाधिकमास्वादस्वेति–अभ्यवहरते। तध्वमोस्तु–पिबत खादतेति–अभ्यवहरथ। भुङ्ग्ध्वमास्वादध्वमिति अभ्यवहरध्वे। पक्षे हिस्वौ। अत्र समुच्चीयमानविशेषाणामनुप्रयोगार्थेन सामान्येनाभेदान्वयः। पक्षे–सक्तून् पिबति। धानाः खादति। अन्नं भुङ्क्ते। दाधिकमास्वादते। एतेन–

''पुरीमवस्कन्द, लुनीहि नन्दनं, मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली, य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः''॥

(१००४) **समुच्चय इति**। उच्यत इति वचनः। समुच्चये सामान्यवचनस्य धातोरनुप्रयोगः कर्तव्य इत्यर्थः। अनुप्रयुज्यमानाद् धातोः लडादयस्तिबादयश्च। **क्रियेति**। क्रियासमभिहारे पौनःपुन्ये भृशार्थे च धातोर्द्वित्वं वाच्यमित्यर्थः। **एतेनेति**। 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्', 'समुच्चये सामान्यवचनस्ये'ति च सूत्रद्वयेन तदुदाहरणप्रदर्शनेन च 'पुरीमवस्कन्दे'त्यादि-माघकाव्यस्थं श्लोकं व्याख्यातमित्यर्थः। **पुरीमवस्कन्देति**। बली = रावणः, नमुचिद्विषा =

मूलार्थ– क्रियासमभिहार अर्थ में लोट् का विधान होने पर लोट्-प्रकृतिभूत धातु का ही अनुप्रयोग होता है।

विमर्श– पूर्व के लोट्-विषयक 'क्रियासमभिहारे' सूत्र में जिस धातु से लोट् का विधान किया गया हो उसी धातु का अनुप्रयोग होता है।

(१००४) **पद**– समुच्चये, सामान्यवचनस्य। **अनुवृत्ति**–अनुप्रयोगः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'समुच्चय' अर्थ में लोट् का विधान होने पर सामान्यार्थवाची धातु का अनुप्रयोग होता है। अनुप्रयुज्यमान धातु से यथाप्राप्त लट् और तिप् आदि होते हैं। उन्हीं से संख्या और काल की तथा पुरुष-विशेष की प्रतीति होती है।

(वा०)– क्रियासमभिहार में लोडन्त को द्वित्व होता है, ऐसा कहना चाहिए। याहि याहीति याति इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१००३) से 'अनुप्रयोगः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'धातोः' का अधिकार है। अतः– ''जहाँ समुच्चय अर्थ में लोट् का विधान होता है, वहाँ सामान्यार्थक धातु का अनुप्रयोग होता है। अनुप्रयोग के धातु से यथायोग्य लट् आदि एवं तिप् आदि होते हैं। उनसे संख्या, काल और पुरुष के विशेषार्थ की प्रतीति होती है''।

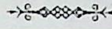
(वा०)– क्रियासमभिहार अर्थात् पौनःपुन्य और भृशम् अर्थ के द्योत्य होने पर लोडन्त धातु को द्वित्व होता है।

उदाहरण– (१) 'पुनः पुनः अतिशयेन वा याति' विग्रह में– ✓ या से समुच्चय अर्थ में लोट् (१००३), म०पु०ए०व० – याहि (वा० से द्वित्व)– याहि याहि (✓ या का अनुप्रयोग – 'समुच्चये०',

इति (माघपद्यं) व्याख्यातम्। अवस्कन्दनलवनादिरूपा भूतानद्यतनपरीक्षा एककर्तृका अस्वास्थ्यक्रियेत्यर्थात्। 'इह पुनः पुनश्चस्कन्देत्यादिरर्थ' इति व्याख्यानं भ्रममूलकमेव, द्वितीयसूत्रे क्रियासमभिहारे इत्यस्याननुवृत्तेश्च। 'पुरीमवस्कन्दे'त्यादि मध्यमपुरुषैकवचनमित्यपि केषाञ्चिद् भ्रम एव, पुरुषवचनसंज्ञे इह नेत्युक्तत्वात्।

इति लकारार्थप्रकरणम् ॥

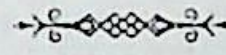
। इति तिङन्तप्रकरणम् ।



इन्द्रेण सह, विगृह्य = विरोधं प्राप्य, पुर्याः = अमरावत्याः, अवस्कन्दनम् = पीडनम्, नन्दनवनस्य लवनम् = कर्त्तनम्, रत्नानां मोषणम्, अमराङ्गनानां हरणमित्येवम्प्रकारेण अहर्दिवं = अहन्यहनि, दिवः = स्वर्गस्य अस्वास्थ्यं चक्रे = कृतवान्नित्यर्थः। फलितमाह- **अवस्कन्दनलवनादिरूपेति।**

इति लकारार्थप्रकरणम् ।

तिङन्तप्रक्रिया समाप्ता ।

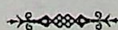


लट् प्र०पु०ए०व०) – **याति। याहि याहि इति याति।** 'पुनः पुनः अतिशयेन यानम्' यह ह्यन्त का ही अर्थ है। 'एककर्तृकं वर्तमानकालिकं यानम्' यह याति का अर्थ है। 'इति' पद अभेदान्वय में तात्पर्य का ग्राहक है। इसी प्रकार- यातः। यान्ति। यासि। याथः। याथ आदि। याहि याहीति-आसीत् (लुङ्)। यास्यति (लृट्)। (४) अधीष्व अधीष्वेति अधीते (लट्)। (३) ध्वम् पक्ष में अधीध्वमधीध्वमिति यूयमधीध्वे। समुच्चय विषय में इस प्रकार रूप बनते है-(५) सक्तून् पिब धाना खाद इति अभ्यवहरति (सत्तू पीता है, धान खाता है, यह सब खाता है)। (६) अन्नं भुङ्क्ष्व दाधिकमास्वादस्वेति अभ्यवहरते (अन्न खाता है, दही से बने पदार्थ का आस्वादन करता है, यह सब खाता है)। (७) त, ध्वम् का उदाहरण- पिबत खादत इति अभ्यवहरथ। भुङ्ध्वमास्वादध्वमिति-अभ्यवहरध्वे। पक्ष में हि एवं स्व आदेश होते हैं। यहाँ समुच्चीयमान विशेष का अनुप्रयोगार्थ सामान्य के साथ अभेदान्वय होता है। पक्ष में (विकल्प से लोट् विधान होने से) – सक्तून् पिबति, धाना खादति, अन्नं भुङ्क्ते, दाधिकमास्वादते इत्यादि। समुच्चय के विषय में शिशुपालवध का श्लोक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है-

पुरीमवस्कन्देति-(प्रबली रावण ने इन्द्र से बैर कर स्वर्ग (अमरावती) को घेर लिया। नन्दन वन को काट दिया, रत्नों को चुरा लिया और देवाङ्गनाओं का भी हरण कर लिया। इस प्रकार उसने दिन-रात स्वर्ग को अस्वस्थ (अस्त-व्यस्त) कर डाला।)। यहाँ 'अवस्कन्दन-लवनादिरूपा भूतानद्यतन परोक्षा एककर्तृका अस्वास्थ्यक्रिया' यह अर्थ है। द्वितीय सूत्र (समुच्चये०) में 'क्रियासमभिहार' की अनुवृत्ति नहीं है। अतः 'पुनः पुनः चस्कन्द' यह व्याख्या उचित नहीं है। 'पुरीमवस्कन्द' में मध्यमपुरुष एकवचन की व्याख्या किसी ने की है, वह भी भ्रममूलक ही है। क्योंकि पुरुष एवं वचन संज्ञा नहीं होते, ऐसा पूर्व में कहा जा चुका है।

लकारार्थ-प्रकरण समाप्त ।

तिङन्तप्रक्रिया समाप्त ।



अथ पूर्वकृदन्तप्रकरणम्
तत्र कृदन्ते कृत्यप्रकरणम्

(१००५) धातोः ३।१।९१ । आतृतीयाध्यायान्तं ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः। 'कृदतिङि'ति कृत्संज्ञा। **(१००६) वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ३।१।९४** । अस्मिन् धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादः प्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात्, स्त्र्यधिकारोक्तं विना।

तिङन्तप्रकरणनिरूपणानन्तरं कृत्प्रत्ययान्निरूपयिष्यन्नधिकारविशेषमाह–

(१००५) **धातोरिति**। आतृतीयाध्यायपरिसमाप्तेरधिकारः। तेन सर्वेऽपि कृत्प्रत्यया धातोः परे भवन्ति।

'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गः प्रवर्त्तते' इति न्यायमनुसृत्य अपवादः = विशेषविधिः, उत्सर्गस्य = सामान्यविधेः, सर्वत्र नित्यं बाधको भवति। तथैवात्र अपवादेनोत्सर्गस्य नित्यं बाधे प्राप्ते व्यवस्थामाह–

(१००६) **वाऽसरूप इति**। परिभाषासूत्रमिदम्। 'स्त्रियाम्' इत्यधिकारविहितप्रत्ययं वर्जयित्वा 'धातोः' इत्यधिकारेऽसमानोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य विकल्पेन बाधको भवतीत्यर्थः।

भ्वादि प्रकरण से लेकर लकारार्थ-पर्यन्त तिङन्त-प्रकरण का निरूपण किया गया। अब कृत्प्रत्ययों का विवेचन करने से पूर्व प्रसङ्गवश कृत्यप्रत्ययों का निरूपण किया जा रहा है।

(१००५) **पद**– धातोः। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ– प्रकृत सूत्र से तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त 'धातोः' का अधिकार है। अतः वक्ष्यमाण तव्यत् आदि प्रत्यय धातु से परे होते हैं। इस 'धातोः' के अधिकार में तिङ्-भिन्न प्रत्ययों की कृत्संज्ञा होती है। (सू०–'कृदतिङ्' ३।१।९३)

(१००६) **पद**– वा, असरूपः, अस्त्रियाम्। **परिभाषासूत्र**।

मूलार्थ– 'धातोः' इस सूत्र के अधिकार में असरूप अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है; 'स्त्रियाम्' इस अधिकार को छोड़कर।

विमर्श– यहाँ 'धातोः' का अधिकार है। प्रकृत सूत्र परिभाषासूत्र है। 'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गः प्रवर्तते' इस न्याय के अनुसार अपवाद (विशेष विधि) उत्सर्ग (सामान्य विधि) का नित्य बाधक होता है। तदनुसार प्रस्तुत प्रकरण में भी अपवाद द्वारा उत्सर्ग का नित्य बाध प्राप्त होने पर प्रकृत परिभाषासूत्र से व्यवस्था की जाती है कि '''धातोः' के अधिकार में असमान रूप अपवाद उत्सर्ग का विकल्प से बाध करता है, किन्तु 'स्त्रयाम्' के अधिकार युक्त प्रत्ययों में यह नियम लागू नहीं होता अर्थात् उन प्रत्ययों में अपवाद उत्सर्ग का नित्य बाधक होता है।'' अतः 'अचो यत्', 'ऋहलोर्ण्यत्' इत्यादि अपवाद के विषय में उत्सर्ग (सामान्य) तव्यत् आदि भी होते हैं। क्योंकि यत्, ण्यत् असरूप अपवाद प्रत्यय हैं, जो सामान्य का उक्त नियम से विकल्प से बाध करते हैं। अण् एवं क आदि में अनुबन्ध णकार, ककार से इतर 'अ अ' का परस्पर सारूप्य ही है। अतः वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। क प्रत्यय अपने विषय में अण् का नित्य बाध करता है।

(१००७) **कृत्याः ३।१।९५** । 'ण्वुल्तृचावि'ति सूत्रतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः। (१००८) **कर्तरि कृत् ३।४।६७** । कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात्। इति प्राप्ते। (१००९) **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०** । एते भावकर्मणोरेव स्युः। (१०१०) **तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६** । धातोरेते स्युः। एधितव्यम्, एधनीयं त्वया। भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वं च। चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया। * केलिमर

(१००७) **कृत्या इति**। अधिकारोऽयम्। 'ण्वुल्तृचौ' इति यावत्ये प्रत्ययाः ते कृत्यसंज्ञका भविष्यन्तीति वेदितव्यमिति।

(१००८) **कर्तरि कृदिति**। 'धातोरि'त्यधिकारे कृत्संज्ञका प्रत्ययाः कर्तरि कारके भवन्तीत्यर्थः।

(१००९) **तयोरेवेति**। 'तयोरेवे'त्यनेन 'लः कर्मणी'त्यस्मात् 'कर्मणि भावे चाकर्मकेभ्यः' इति परामृश्यते। तेन भावकर्मणोरेव कृत्यसंज्ञकाः, क्तः खलर्थाश्च प्रत्ययाः भवन्ति।

(१०१०) **तव्यत्तव्येति**। धातोरित्यधिक्रियते। धातोः तव्यत् तव्य अनीयर् इत्येते प्रत्यया भवन्तीत्यर्थः। तव्यत्तव्ययोः 'तित्स्वरितमि'ति स्वरे भेदः। **एधितव्यमिति**। 'एध वृद्धौ' इत्यस्माद्धातोः 'धातोः' इत्यधिकारसूत्रेण धातोः परे भवितव्यतां विधाय 'कृदतिङ्' इत्यनेन कृत्संज्ञायां 'कृत्याः' इति कृत्यसंज्ञायां 'कर्तरि कृत्' इति कर्त्तर्यर्थे प्राप्ते 'तयोरेव कृत्यक्त-

---

(१००७) **पद**– कृत्याः। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ–यहाँ से 'ण्वुल्तृचौ' सूत्र से पूर्व तक के प्रत्ययों की कृत्यसंज्ञा होती है।

विमर्श– 'ण्वुलतृचौ' (३।१।१३) सूत्र के पूर्व तक 'कृत्याः' इस पद का अधिकार है। अतः इस अधिकार के प्रत्ययो की कृत्यसंज्ञा होती है।

(१००८) **पद**–कर्तरि, कृत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कृत्प्रत्यय कर्ता में होते हैं।

विमर्श– 'धातोः' और 'प्रत्ययः' का अधिकार है। अतः '''धातोः' के अधिकार में विहित कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्ता-कारक में होते हैं।''

(१००९) **पद**–तयोः, एव, कृत्यक्तखलर्थाः। **अनुवृत्ति**–कर्मणि भावे चाकर्मकेभ्यः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में ही होते हैं।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (३।४।६९) से 'कर्मणि भावे चाकर्मकेभ्यः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''कृत्यसंज्ञक प्रत्यय, क्त तथा खल् अर्थवाले प्रत्यय भाव और कर्म में ही होते हैं। अर्थात् अकर्मक धातुओं से कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्यय भाव में होते हैं और सकर्मक धातुओं से कर्म में।''

(१०१०) **पद**– तव्यत्तव्यानीयरः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– धातु से तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं। एधितव्यम्, एधनीयं त्वया। भाव में कृदन्त से स्वाभाविक एकवचन और नपुंसकत्व रहता है। चेतव्यः, चयनीयो वा धर्मस्त्वया इत्यादि।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार–''धातु से तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं।'' ये प्रत्यय भाव और कर्म में होते हैं। 'तव्यत्' में 'त्' की इत्संज्ञा तित् स्वरार्थ है। 'अनीयर्' में रित् ('र्' की इत्संज्ञा) 'उपोत्तमं रिति' से मध्योदात्त करने के लिए है।

उपसंख्यानम् *। पचेलिमा माषाः। पक्तव्या इत्यर्थः। भिदेलिमाः सरलाः। कर्मणि प्रत्ययः। * वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च *। वसतीति वास्तव्यः। (१०११) कृत्यचः ८।४।२९ ।

खलर्थाः' इत्यनेनाकर्मकाद् धातोर्भावे सकर्मकाच्च कर्मणि कृत्यक्तखलर्थानां प्राप्तौ सत्यां 'तव्यत्तव्यानीयरः' इत्यनेन अकर्मकाद्धातोर्भावे तव्यत्प्रत्यये तकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'एध तव्य' इति जाते आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमेऽनुबन्धलोपे 'कृत्तद्धितसमासाश्चे'त्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचने सौ 'भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वमि'ति नियमात् क्लीबत्वे सोरमि पूर्वरूपे च कृते 'एधितव्यमि'ति।

केलिमर इति। भावकर्मणोः धातोः केलिमर्प्रत्ययोऽपि वक्तव्य इत्यर्थः। **पचेलिमा माषा इति**। पच्धातोः 'तयोरेवे'ति कर्मणि 'केलिमर उपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन केलिमर्-प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां जसि विभक्तिकार्ये 'पचेलिमाः' इति।

वसेस्तव्यदिति। वस्धातोः कर्तरि तव्यत्प्रत्ययो भवति, स च णिद्वद् वक्तव्य इत्यर्थः।

वास्तव्य इति। वस्धातोः 'वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च' इत्यनेन तव्यति णित्वे च कृते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ सो रुत्वे विसर्गे कृते 'वास्तव्यः' इति।

उदाहरण– (१) ✓ एध + तव्यत् (= 'तव्य'–भाव अर्थ में–'तव्यत्तव्यानीयरः')– एध् तव्य (आर्धधातुकसंज्ञा, इट् = 'इ'–'आर्धधातुकस्येड्वलादेः', प्रातिपदिकसंज्ञा–'कृत्तद्धितसमासाश्च', प्र०वि०ए०व०–'सु', 'सु' = 'अम्'–'अतोऽम्', अ + अ = 'अ' पूर्वरूप–'अमि पूर्वः') = एधितव्यम्।

भावे औत्सर्गिकमिति। भाववाच्य में कृदन्त से स्वाभाविक एकवचन एवं नपुंसकलिङ्ग होता है। भाव में कृत्प्रत्यय का विधान होने से अनुक्त कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है–'त्वया'।

(२) ✓ चि + तव्यत् (= 'तव्य'–कर्म में–'तव्यत्तव्यानीयरः')– चि तव्य ('इ' = 'ए'–गुण, प्रातिपदिकसंज्ञा, प्र०वि०ए०व० सु = स् = र् = :) = चेतव्यः। कर्मवाच्य में तव्यत् अथवा तव्य होने पर कर्मवाचक धर्म शब्द से प्रथमा विभक्ति तथा कर्ता अनुक्त होने से कर्तृवाचक से तृतीया विभक्ति हुई–चेतव्यो धर्मः त्वया।

(३) ✓ चि + अनीयर् (= अनीय–'कर्म में', 'इ' = 'ए'–गुण– 'सार्वधातु०', 'ए' = 'अय्') –चयनीय (प्रातिपदिकसंज्ञा, सु = स्, स् = र् = :) = चयनीयः।

(वा०)– धातु से भाव और कर्म अर्थ में केलिमर् प्रत्यय भी होता है।

उदाहरण– (४) ✓ पच् + केलिमर् (= 'एलिम' – कर्म में–'केलिमर उपसंख्यानम्')– पचेलिम (प्राति० संज्ञा, प्र० बहुवचन जस् = अस्, अ + अ = 'आ'–दीर्घ, स् = र् = :) = पचेलिमाः। यहँ 'केलमर्' प्रत्यय के कित् होने से उपधागुण नहीं हुआ।

(५) ✓ भिद् + केलमर् (= 'एलिम'–कर्म में)–भिदेलिम (प्राति० संज्ञा, 'जस्' = 'अस्', अ + अ = 'आ'–दीर्घ, स् = र् = :) = **भिदेलिमाः सरलाः** (वृक्ष–विशेष)।

(वा०)– वस् धातु से कर्ता अर्थ में 'तव्यत्' प्रत्यय होता है और वह णिद्वत् होता है।

उदाहरण– ✓ वस् + तव्यत् (= 'तव्य' कर्ता में–'वसेस्तव्यत्कर्त्तरि णिच्च', णिद्वद्भाव होने से 'अ' = 'आ'–वृद्धि–'अत उपधायाः')–वास्तव्य (प्रा० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = वास्तव्यः।

(१०११) **पद**– कृति, अचः। **अनुवृत्ति**– उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः।

विधिसूत्र।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्याऽच उत्तरस्य कृत्यस्य नस्य णत्वं स्यात्। प्रयाणीयम्। अचः किम्? प्रमग्नः। * निर्विण्णस्योपसंख्यानम् *। (१०१२) णेर्विभाषा ८।४।३०। प्राग्वत्। प्रयापणीयम्। प्रयापनीयम्। (१०१३) हलश्चेजुपधात् ८।४।३१।

(१०११) **कृत्यच इति।** उपसर्गस्थणत्वनिमित्तात्परस्य अच उत्तरस्य कृत्यप्रत्ययावयवस्य नस्य णत्वं स्यादित्यर्थः। **प्रयाणीयमिति।** प्रपूर्वकयाधातोः अनीयर्प्रत्यये 'प्र या अनीय' इति जाते, दीर्घे 'कृत्यचः' इति णत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'प्रयाणीयमि'ति।

(१०१२) **णेर्विभाषेति।** उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य ण्यन्ताद् विहितो य कृत्यप्रत्यय-स्तस्यावयवस्य नस्य णत्वं वा स्यादित्यर्थः।

(१०१३) **हलश्चेति।** धातोर्विशेषणत्वेनाह-**हलादेरिजुपधादिति।**

मूलार्थ– उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती अच् से उत्तर कृत्प्रत्यय के नकार को णत्व होता है। प्रयाणीयम्। अचः किम्? प्रमग्नः।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'उपसर्गाद् बहुलम्' (८।४।२८) से 'उपसर्गात्', 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (८।४।२) सूत्र तथा 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से 'रषाभ्यां नो णः' की यहाँ अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– ''उपसर्ग में स्थित निमित्त (र्, ष्) से परवर्ती जो अच्, उससे परे जो कृत्प्रत्यय का नकार, उसको णकार आदेश होता है।''

उदाहरण– प्र + ✓ या + अनीयर् (= 'अनीय', कृदन्तत्वात् प्राति० संज्ञा, सु, सु = अम्)– प्र या अनीय अम् (आ + अ = 'आ'–दीर्घ, अ + अ = 'अ'–पूर्वरूप, 'न्' = 'ण्'–णत्व–'कृत्यचः') = प्रयाणीयम्।

प्रत्युदाहरण– प्रमग्नः। प्रकृत सूत्र में 'अचः' पद का ग्रहण होने से अच् से उत्तरवर्ती कृत्प्रत्यय के नकार को ही णत्व होता है। 'प्रमग्नः' में अच् से उत्तर नकार न होने से णत्व नहीं होता है।

(वा०)– 'निर्विण्ण' में णत्व कहना चाहिए। अर्थात् 'निर्विण्णम्' पद में भी णत्व होता है।

उदाहरण– 'निर्विण्णम्' में अच् से उत्तर नकार न होने से पूर्वसूत्र में णत्व प्राप्त नहीं है। अतः अप्राप्त णत्व के विधान के लिए वार्तिक का निर्माण किया गया है। प्रक्रिया– निर् + ✓ विद् + क्त (= 'त', 'त्' = 'न्', 'द्' = 'न्'–'रदाभ्यां निष्ठातो०')– निर् विन् न (परवर्ती कृत्प्रत्यय के 'न्' = 'ण्'–'निर्विण्णस्योपसंख्यानम्', पूर्व 'न्' = 'ण्'–ष्टुत्व, प्राति० संज्ञा, 'सु', सु = 'अम्', पूर्वरूप) = निर्विण्णम्।

(१०१२) **पद–** णेः, विभाषा। **अनुवृत्ति–** कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ–ण्यन्त से पूर्ववत् णत्व विकल्प से होता है। प्रयापणीयम्। प्रयापनीयम्।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'कृत्यचः' (१०११) सूत्र तथा पूर्ववत् 'उपसर्गात्', 'अट्कुप्वा-ङ्नुम्व्यवायेऽपि' तथा 'रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''उपसर्ग में स्थित निमित्त र्, ष् से उत्तरवर्ती ण्यन्त से विहित जो कृत्प्रत्यय सम्बन्धी नकार, उसको विकल्प से णत्व होता है।''

उदाहरण– प्र + ✓ या + णिच् (= 'इ', पुक् = 'प्' आगम)– प्र या पि + अनीयर् (= 'अनीय', णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि', 'न्' = 'ण्'–णत्व विकल्प से–'णेर्विभाषा', कृदन्तत्वात् प्राति० संज्ञा, 'सु' 'सु' = 'अम्' पूर्वरूप) = प्रयापणीयम्। णत्व के अभाव पक्ष में–प्रयापनीयम्।

हलादेरिजुपधाद्धातोः परस्य कृन्नस्याऽचः परस्य णो वा स्यात्। प्रकोपणीयम्। प्रकोपनीयम्। हलः किम्? प्रोहणीयम्। इजुपधात्किम्? प्रवपणीयम्। (१०१४) इजादेः सनुमः ८।४।३२ । सनुमश्चेद्भवति तर्हि इजादेर्हलन्ताद्विहितो यः कृत्तत्स्थस्यैव। इखि गतौ–प्रेङ्खणीयम्। इजादेः किम्? 'मगि सर्पणे'। प्रमङ्गनीयम्। (१०१५) वा

(१०१४) **इजादेरिति**। 'कृत्यचः' इत्येव सिद्धे नियमार्थमिदं सूत्रम्। तदेवाह– **सनुमश्चेद्भवतीति। प्रेङ्खणीयमिति**। प्रपूर्वाद् 'ईखि'धातोः अनीयर्प्रत्यये गुणे इदित्त्वान्नुमि अनुस्वारे परसवर्णे 'इजादेः' इति णत्वे सौ, सोरमि पूर्वरूपे 'प्रेङ्खणीयमि'ति।

(१०१३) **पद**– हलः, च, इजुपधात्। **अनुवृत्ति**– विभाषा, कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, 'रषाभ्यां नो णः'। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– हलादि इजुपध धातु से परवर्ती अजुत्तर कृत्प्रत्यय के नकार को विकल्प से णत्व होता है। प्रकोपणीयम्। प्रकोपनीयम्। इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'णेर्विभाषा' (१०१२) से 'विभाषा', 'कृत्यचः' (१०११) तथा पूर्ववत् 'उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'इजुपधात्' में 'इच् उपधा यस्य स इजुपधः, तस्मात्' बहुव्रीहि समास है। अतः "इच् उपधा वाले हलादि धातु से परवर्ती कृत्प्रत्यय में स्थित अच् से उत्तर नकार को भी (उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर) णत्व विकल्प से होता है।"

उदाहरण– प्र + ✓ कुप् + अनीयर् (= 'अनीय', 'उ' = 'ओ'–गुण, 'न्' = 'ण्'–णत्व विकल्प से– 'हलश्चेजुपधात्', कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा, 'सु' = 'अम्', अ + अ = 'अ'–पूर्वरूप) = प्रकोपणीयम्। णत्व के अभावपक्ष में–प्रकोपनीयम्।

प्रत्युदाहरण– (१) प्र + ✓ ऊह् + अनीयर् (= 'अनीय', अ + ऊ = 'ओ'–गुण, 'न्' = 'ण्'–णत्व–'कृत्यचः', सु = अम्, पूर्वरूप) = प्रोहणीयम्। (ऊह् धातु हलादि न होने से 'हलश्चेजुपधात्' से विकल्प से णत्व नहीं हुआ, किन्तु 'कृत्यचः' से नित्य णत्व होकर रूप बना।) (२) प्र + ✓ वप् + अनीयर् (= 'अनीय', 'न्' = 'ण्'–णत्व–'कृत्यचः', प्रा० सं०, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = प्रवपणीयम्। (यहाँ 'वप्' धातु के इजुपध न होने से वैकल्पिक णत्व नहीं हुआ अपितु नित्य णत्व हुआ।)

(१०१४) **पद**– इजादेः, सनुमः। **अनुवृत्ति**– हलः, कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ– सनुम् (नुम् सहित) धातु से परे यदि णत्व होता है, तो इजादि और हलन्त से विहित कृत्प्रत्यय स्थित नकार को ही होता है। प्रेङ्खणीयम् इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१०१३) से 'हलः' तथा पूर्ववत् 'कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' एवं 'रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति आ रही है। यहाँ पूर्वसूत्र 'कृत्यचः' (१०११) से णत्व सिद्ध था, पुनः 'सिद्धौ सत्यामारभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति' न्याय के अनुसार प्रकृत सूत्र द्वारा पुनर्वचन नियमार्थ है। अर्थात् "नुम् सहित इजादि तथा हलन्त धातुओं से उत्तरवर्ती कृत्प्रत्यय में स्थित नकार को ही णत्व होता है; अन्यों से उत्तर नहीं"।

इकारेत्संज्ञक ✓ इखि धातु गत्यर्थक है।

उदाहरण– प्र + ✓ इखि ('इ' की इत्संज्ञा, लोप, नुम् = 'न्'–'इदितो नुम्धातोः', न् = अनुस्वार

निंसनिक्षनिन्दाम् ८।४।३३ । एषां नस्य णो वा स्यात् कृति। प्रणिंसितव्यम्। (१०१६) न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम् ८।४।३४ । एभ्यः कृन्नस्य णो न स्यात्।

(१०१५) **वा निंसेति**। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्येत्यादि पूर्ववदवगन्तव्यम्।

(१०१६) **न भाभू इति**। 'कृत्यचः' इति णत्वे प्राप्ते निषेधोऽयम्। एभ्यः कृतो नस्य न णत्वमित्यर्थः। **ण्यन्तेति**। ण्यन्तानां भा-भू-पू-कमि-गमि-प्यायी-वेपां न णत्वमिति वक्तव्यमित्यर्थः।

-'नश्चापदान्तस्य०', ं = 'ङ्' परसवर्ण-'अनुस्वारस्य०)- प्र + इङ्ख् + अनीयर् (= 'अनीय', अ + इ = 'ए'-गुण, 'न्' = 'ण्'-णत्व-'इजादेः सनुमः', कृदन्तत्वात् प्रा० संज्ञा, सु, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = प्रेङ्खणीयम्।

प्रत्युदाहरण- इजादेः किमिति? प्र + मगि ('इ' की इत्संज्ञा, लोप, नुम् = 'न्' अनुस्वार, परसवर्ण) प्रमङ्ग् + अनीयर् (= 'अनीय', प्रा० संज्ञा, सु, सु = अम्, पूर्वरूप) = प्रमङ्गनीयम्। (प्रकृत सूत्र में 'इजादेः' पद का ग्रहण होने से ✓ मगि के इजादि न होने के कारण णत्व नहीं हुआ।)

(१०१५) **पद-** वा, निंस-निक्ष-निन्दाम्। **अनुवृत्ति-** कृति, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- निंस, निक्ष और निन्द धातुओं के उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तरवर्ती नकार को णकार विकल्प से होता है, कृत्प्रत्यय के परे रहते। प्रणिंसितव्यम्। प्रनिंसितव्यम्।

विमर्श- यहाँ 'उपसर्गाद् बहुलम्' (८।४।२८) से उपसर्गात्, 'कृत्यचः' (१०११) से कृति तथा पूर्ववत् 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तरवर्ती निंस, निक्ष और निन्द धातु के नकार को विकल्प से णकारादेश होता है।''

उदाहरण- प्र + ✓ निंस् + तव्यत् (= तव्य, इट् = 'इ', 'न्' = 'ण्'-णत्व विकल्प से-'वा निंसनिक्षनिन्दाम्' प्रा० संज्ञा, सु, सु=अम्, पूर्वरूप) = प्रणिंसितव्यम्। णत्व न होने पर-प्रनिंसितव्यम्।

(१०१६) **पद-** न, भा-भू-पू-कमि-गमि-प्यायी-वेपाम्। **अनुवृत्ति-** कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ- भा भू आदि धातुओं से परवर्ती कृत्प्रत्यय के नकार को णत्व नहीं होता। प्रभानीयम्। प्रभवनीयम्।

विमर्श- पूर्ववत् 'कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि तथा रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार-''उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तरवर्ती भा, भू, पूञ्, कमि, गमि, ओप्यायी तथा टुवेपृ धातुओं से विहित कृत्प्रत्यय-स्थित नकार को अच् से उत्तर णकार आदेश नहीं होता।''

उदाहरण- (१) प्र + ✓ भा + अनीयर् (= 'अनीय', आ + अ = 'आ'-दीर्घ, प्राति० संज्ञा, सु, सु = 'अम्', पूर्वरूप, 'कृत्यचः' से प्राप्त णत्व का 'न भाभू०' से निषेध) = प्रभानीयम्। (२) प्र + ✓ भू + अनीयर् (= 'अनीय', 'ऊ' = 'ओ'-गुण, 'ओ' = 'अव्' आदेश, सु, सु = 'अम्', पूर्वरूप, प्राप्त णत्व का 'न भाभू०' से निषेध) = प्रभवनीयम्।

(वा०)- ण्यन्त भा आदि धातु से भी उत्तरवर्ती कृत्स्थ नकार को णत्व नहीं होता।

उदाहरण- (३) प्र + ✓ भापि (ण्यन्त) + अनीयर् = ('अनीय', णि = 'इ' का लोप, प्राप्त णत्व का 'ण्यन्तभादीनाम्०' वार्तिक से निषेध, सु, सु = अम्, पूर्वरूप) = प्रभापनीयम्।

प्रभानीयम्। प्रभवनीयम्। * ण्यन्तभादीनामुपसंख्यानम् *। प्रभापनीयम्। (१०१७) कृत्यल्युटो बहुलम् ३।३।११३ ।

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

स्नात्यनेन स्नानीयं चूर्णम्। दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः।

(१०१७) **कृत्यल्युट इति**। कृत्याश्च ल्युट् च कृत्यल्युटः, इतरेतरद्वन्द्वः। कृत्यसंज्ञकाः प्रत्यया ल्युट् च बहुलमर्थेषु भवन्ति।

क्वचित्प्रवृत्तिरिति। अप्राप्तस्यापीति शेषः, यथा 'स्नानीयं चूर्णमि'त्यत्र करणेऽप्राप्तस्याप्यनीयर्प्रत्ययस्य प्रवृत्तिः। **क्वचिदप्रवृत्तिः**–प्राप्तस्यापीति शेषः, यथा– 'रामो जामदग्न्यः' इत्यत्र 'विशेषणं विशेष्येण बहुलमि'ति सूत्रे बहुलग्रहणात्समासाप्रवृत्तिः। **क्वचिद्विभाषेति**। विकल्पः यथा–'मघवा बहुलमि'ति विकल्पः। **क्वचिदन्यदेव**–विकल्पप्राप्तस्यापि नित्यत्वादिकम्। यथा–'उन्मत्तगङ्गम्' इत्यत्र नित्यमम्भावः; 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलमि'ति बहुलग्रहणादिति।

(१०१७) **पद**– कृत्यल्युटः, बहुलम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कृत्य प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय बहुल प्रकार से होते हैं।

विमर्श– कृत्याश्च ल्युट् च इति कृत्यल्युटः (इतरेतरद्वन्द्वः)। बहून् अर्थान् लाति = आदत्त इति बहुलम् (बहु + ✓ ला + क = 'अ', 'आ' का लोप–'आतो लोप इटि च' विभक्तिकार्य) = बहुलम्)। अर्थात् अनेक अर्थों को ग्रहण या प्रकट करने वाला। आशय यह है कि आचार्य पाणिनि ने जिसके साथ 'बहुलम्' का प्रयोग किया है वहाँ अनेक बातों से उनका तात्पर्य है। 'क्वचित्प्रवृत्ति' इत्यादि पद्य में चार प्रकार से 'बहुलम्' का वर्गीकरण किया गया है–

श्लोकार्थ– ''कहीं प्रवृत्त होना और कहीं प्रवृत्त न होना, कहीं विकल्प से प्रवृत्त होना और कहीं अन्यदेव = प्रकृति और अर्थ की भिन्नता में भी होना। इस प्रकार अनेक तरह से सूत्रों का विधान समझकर शास्त्रज्ञों ने 'बहुल' के चार भेद कहे हैं।'' विवरण इस प्रकार है–

(१) **क्वचित्प्रवृत्तिः**– 'बहुलम्' से निर्देशित कार्य कहीं प्रवृत्ति के अयोग्य स्थानों पर भी प्रवृत्त हो जाता है। जैसे– कृत्य प्रत्ययों का भाव और कर्म अर्थों में विधान किया गया है। परन्तु ये भाव और कर्म के अतिरिक्त करण, सम्प्रदान आदि कारकों में भी हो जाते हैं–(१) स्नाति अनेनेति स्नानीयम् (इसके द्वारा स्नान किया जाता है, वह उबटन 'स्नानीय' कहलाता है)– ✓ ष्णा (स्ना) + अनीयर् (= 'अनीय'–करण अर्थ में, आ + अ = 'आ'–दीर्घ, प्राति० संज्ञा, सु = 'अम्', पूर्वरूप) = स्नानीयं चूर्णम्। (२) दीयते अस्मै इति दानीयो विप्रः (जिसे दान दिया जाता है वह ब्राह्मण 'दानीयः' कहलाता है। ✓ दा + अनीयर् (= 'अनीय', सम्प्रदान में कृत्य प्रत्यय, आ + अ = 'आ'–दीर्घ, सु = रु = र् = :) = दानीयः।

इसी प्रकार ल्युट् प्रत्यय 'करणाधिकरणयोश्च' सूत्र से करण और अधिकरण में विधान किया गया है। परन्तु प्रकृत सूत्र में 'बहुलम्' प्रयोग होने से अन्य कारकों में भी हो जाता है। यथा– प्रस्कन्दति अस्मादिति प्रस्कन्दनम् (जहाँ से कूदते हैं वह स्थान-विशेष)– प्र + ✓ स्कन्द् + ल्युट् (= यु = 'अन्'- अपादान अर्थ में, सु = अम्) = प्रस्कन्दनम् इत्यादि।

(२) **क्वचिदप्रवृत्तिः**– कहीं प्रवृत्ति के योग्य स्थानों पर भी 'बहुलम्' निर्देशित कार्य प्रवृत्त

(१०१८) ऋदुपधाच्चाऽक्लृपिचृतेः ३।१।११० । क्यप् स्यात्। वृत्–वृत्यम्। वृध्–वृद्ध्यम्। क्लृपिचृत्योस्तु–कल्प्यम्। चर्त्यम्। (१०१९) अचो यत् ३।१।९७ । अजन्ताद्धातोर्यत् स्यात्। चेयम्। जेयम्। (१०२०) ईद्यति ६।४।६५ ।

(१०१८) **ऋदुपधादिति**। ऋदुपधा यस्य धातोरित्याशयः। क्लृपिचृतिभिन्नस्य ऋदुपधाद् धातोः क्यप् स्यादित्यर्थः। **वृत्यमिति**। 'वृतु वर्तने' इत्यस्मात्क्यपि 'वृत्यम्', कित्त्वान्नोपधागुणः।

(१०१९) **अचो यत्**। स्पष्टम्। **चेयम्**– 'चिञ् चयने' इति धातोः 'अचो यत्' इति यति कृते अनुबन्धलोपे आर्धधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वे सौ, सोरमि पूर्वरूपे कृते 'चेयमि'ति।

नहीं होता। यथा–'रामो जामदग्न्यः' प्रयोग में 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' सूत्र में 'बहुल' ग्रहण के कारण समास की प्रवृत्ति नहीं हुई।

(३) **क्वचिद्विभाषा**– 'बहुलम्' निर्देशित कार्य कहीं विकल्प से प्रवृत्त हो जाता है। यथा– 'मघवा बहुलम्' से विकल्प से मघवन् शब्द को 'तृ' अन्तादेश होता है।

(४) **क्वचिदन्यदेव**– 'बहुलम्' वाले स्थान पर कहीं कुछ और भी कार्य हो सकता है। अर्थात् 'अन्यदेव' का क्षेत्र व्यापक है। इसमें कहीं प्रकृति बदल जाती है तो कहीं प्रत्यय। कहीं प्राप्त गुण, वृद्धि आदि का अभाव हो जाता है। कहीं प्राप्त विकल्प का नित्य हो जाता है। जैसे– 'उन्मत्तगङ्गम्' में 'तृतीयासप्तम्योबर्हुलम्' सूत्रस्थ 'बहुलम्' निर्देश से नित्य अम्भाव हो जाता है।

(१०१८) ऋत्, उपधात्, च, अक्लृपिचृतेः। **अनुवृत्ति**– धातोः, क्यप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– क्लृप् और चृत् धातु को छोड़कर ऋदुपध धातु से क्यप् प्रत्यय होता है। वृत्यम्, वृद्ध्यम् इत्यादि। क्लृप् और चृत् धातुओं से– कल्प्यम्, चर्त्यम् (ण्यत्)।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। 'एतिस्तु०' (३।१।१०९) से 'क्यप्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''क्लृप् और चृत् धातुओं को छोड़कर ऋकार उपधा वाली धातुओं से भी क्यप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण–(१) ✓ वृत् + क्यप् (= य्– 'ऋदुपधात्०', प्राति०संज्ञा, सु = 'अम्' पूर्वरूप) = वृत्यम्। (यहाँ 'क्यप्' प्रत्यय के कित् होने से उपधागुण नहीं होता।) (२) वृध् + क्यप् (= य– 'ऋदुपधात्०', सु = 'अम्', पूर्वरूप) = वृद्ध्यम्। (३) ✓ क्लृप् और ✓ चृत् धातु से ण्यत् (= 'य'– 'ऋहलोर्ण्यत्', लृ, ऋ = 'अ', उपधागुण, क्रमशः लपर तथा रपर, सु = 'अम्', पूर्वरूप) = कल्प्यम्। चर्त्यम्।

(१०१९) **पद**– अचः, यत्। **अनुवृत्ति**– धातोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है। चेयम्। जेयम्।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। 'अचः' पद 'धातोः' का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है। तदनुसार–''अजन्त धातु से परे यत् (= य) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ चि + यत् (= 'य'–'अचो यत्', 'इ' = 'ए'–गुण– 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः', प्राति० संज्ञा, सु, 'सु' = 'अम्', अ + अ = 'अ'–पूर्वरूप) = चेयम् (चुनने योग्य)। (२) ✓ जि + यत् (पूर्वोक्त प्रक्रिया) = जेयम् (जीतने योग्य)।

(१०२०) **पद**– ईत्, यति। **अनुवृत्ति**– आतः। **विधिसूत्र**।

यति परे आत ईत्स्यात्। गुणः। देयम्। ग्लेयम्। (१०२१) पोरदुपधात् ३।१।९८ । पवर्गान्तादुपधाद्यत्। ण्यतोऽपवादः। शप्यम्। लभ्यम्। (१०२२) आङो यि ७।२।६५ । आङः परस्य लभेर्नुम् स्याद्यादौ प्रत्यये। आलम्भ्यो गौः। (१०२३)

(१०२०) **ईद्यतीति**। 'आतो लोपः' इत्यस्मादात इत्यनुवर्तते। तदाह–**यति पर इत्यादिना। देयमिति**। दाधातोः यत्प्रत्यये, ईत्वे, सार्वधातुकगुणे सौ, सोरमि पूर्वरूपे देयमिति।

(१०२१) **पोरदुपधादिति**। 'अचो यदि'त्यतः यदित्यनुवर्तते। 'ऋहलोर्ण्यत्' इति प्राप्तस्य ण्यतोऽपवाद इत्यर्थः।

(१०२२) **आङो यीति**। अत्र 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतः नुमिति, 'लभेश्चे'त्यतः लभेरिति चानुवर्तेते। तदाह–**आङः परस्येति। आलम्भ्यो गौरिति**। आङ्पूर्वाल्लभ्धातोः 'पोरदुपधात्' इति यति 'आङो यी'ति नुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'आलम्भ्यः' इति।

मूलार्थ– यत् प्रत्यय के परवर्ती रहते आत् को ईत् होता है। देयम्। ग्लेयम्।

विमर्श–प्रकृत सूत्र में 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) से 'आतः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'आतः' 'अङ्गस्य' का विशेष होने से तदन्तविधि होती है। तदनुसार– ''आकारान्त अङ्ग के स्थान पर यत् प्रत्यय परे रहते ईत् (ईकार) आदेश हो जाता है''। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के अनुसार यह आदेश आकारान्त अङ्ग के अन्त्य अल् (आकार) को ही होता है।

उदाहरण– (१) ✓ दा + यत् (= 'य'–'अचो यत्', 'आ' = 'ई'–ईद्यति', 'ई' = 'ए'–गुण–'सार्वधातुकार्धधातुकयोः', प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = देयम् (देने योग्य)। (२) ✓ ग्लै + यत् (= 'य', 'ऐ' = 'आ'–आत्व–'आदेच उपदेशेऽशिति')– ग्ला य ('आ' = 'ई'–ईत्व–'ईद्यति', 'ई' = 'ए'–गुण, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = ग्लेयम् (= खिन्न होना)।

(१०२१) **पद–** पोः, अदुपधात्। **अनुवृत्ति–** यत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अदुपध पवर्गान्त धातु से यत् प्रत्यय होता है। 'ऋहलोर्ण्यत्' से प्राप्त ण्यत् का यह सूत्र अपवाद है। शप्यम्। लभ्यम्।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। 'अचो यत्' (१०१९) से 'यत्' की अनुवृत्ति आ रही है। अत् उपधा यस्य सः अदुपधः, तस्मात् अदुपधात् (बहुव्रीहि समास)। 'पोः' पद 'धातोः' का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है। तदनुसार– ''जिसके अन्त में पवर्ग और उपधा में अत् (अ) हो, उस धातु से यत् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ शप् + यत् (= 'य'–'पोरदुपधात्', विभक्ति–'सु', 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = शप्यम् (= शाप के योग्य)। (२) ✓ लभ् + यत् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = लभ्यम् (= प्राप्त करने योग्य)।

(१०२२) **पद–** आङः, यि। **अनुवृत्ति–** लभेः, नुम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– 'आङ्' से परे लभ् धातु को नुम् आगम होता है, यकारादि प्रत्यय के परवर्ती रहते। आलम्भ्यो गौः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'लभेश्च' (७।१।६४) से 'लभेः' तथा 'इदितो नुम् धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' की अनुवृत्ति आती है। 'यि' में विषयसप्तमी होने से 'यकारादिप्रत्ययविषये' अर्थ होता है। इस प्रकार– ''आङ् से परवर्ती यकारादि प्रत्यय के विषय में लभ् धातु को नुम् (= न्) आगम होता है।''

उपात्प्रशंसायाम् ७।१।६६ । उपपूर्वाल्लभेर्नुम् स्यात्प्रशंसायाम्। उपलम्भ्यः साधुः। स्तुतौ किम्? उपलब्धुं शक्यः–उपलभ्यः। **(१०२४) शकिसहोश्च ३।१।९९ ।** शक्यम्। सह्यम् **(१०२५) गदमदचरयमश्चानुपसर्गे ३।१।११० ।** एभ्योऽनुपसर्गेभ्यो यत् स्यात्। गद्यम्। मद्यम्। चर्यम्। *** चरेराङि चाऽगुरौ *।** आचर्यो देशः। अगुरौ किम्? आचार्यो

(१०२३) **उपादिति।** प्रशंसायामुपपूर्वाल्लभेर्नुम् स्यादित्यर्थः। **उपलम्भ्यः**– उपपूर्वकाद् लम्भ्धातोः 'पोरदुपधादि'ति यति, 'उपात्प्रशंसायाम्' इत्यनेन नुमि, अनुस्वारे, परसवर्णे, सौ, रुत्वे विसर्गे कृते 'उपलम्भ्यः' इति सिद्धम्।

(१०२४) **शकीति।** यत्स्यादित्यर्थः।

(१०२५) **गदमदेति।** यत्स्यादिति शेषः। **चरेरिति।** आङि उपसर्गे सत्यपि चरधातोः गुरुभिन्नार्थे यत्स्यादित्यर्थः। आचर्यो देशः = गन्तव्य इत्यर्थः। गुरुवाचकत्वे तु–आचार्यः। ण्यति रूपम्।

उदाहरण– आ + ✓ लभ् + यत् (= 'य'–'पोरदुपधात्', नुम् = 'न्'– 'आङो यि', न् = –अनुस्वार = 'म्'–परसवर्ण, सु = र् = :) = आलम्भ्यः (आलम्भन करने योग्य)।

(१०२३) **पद**– उपात्, प्रशंसायाम्। **अनुवृत्ति**– यि, लभेः, नुम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– प्रशंसा अर्थ में 'उप' उपसर्ग से परवर्ती लभ् धातु को नुम् का आगम होता है, यकारादि प्रत्यय की विवक्षा में। उपलम्भ्यः साधुः, इत्यादि।

विमर्श– यहाँ 'आङो यि' (१०२२) से 'यि', 'लभेश्च' से 'लभेः' तथा 'इदितो नुम्०' से 'नुम्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''प्रशंसा अर्थ गम्यमान होने पर 'उप' उपसर्ग से उत्तरवर्ती लभ् धातु को यकारादि प्रत्यय के परे रहते नुम् होता है।''

उदाहरण– उप + ✓ लभ् + यत् (= 'य'–'पोरदुपधात्', नुम् = 'न्'–'उपात्प्रशंसायाम्', न् = अनुस्वार = 'म्'–परसवर्ण, सु = स् = र् = :) = उपलम्भ्यः (= प्राप्त करने योग्य साधु है अर्थात् 'साधु का सान्निध्य प्राप्त करने योग्य है'। यहाँ प्रशंसा व्यक्त की जा रही है।)।

प्रत्युदाहरण– स्तुतौ किमिति? सूत्र में 'प्रशंसायाम्' पद स्तुतिपरक होने से अन्य अर्थ में नुम् नहीं होता। यथा 'प्राप्त होने योग्य' अर्थ में उप + लभ् + यत् = 'उपलभ्यः'। यहाँ 'नुम्' नहीं होता, क्योंकि यहाँ प्रशंसा व्यक्त नहीं की जा रही है।

(१०२४) **पद**– शकिसहोः, च। **अनुवृत्ति**– यत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– शक् और सह् धातु से यत् प्रत्यय होता है। शक्यम्। सह्यम्।

विमर्श– पूर्वोक्त सूत्र 'अचो यत्' (१०१९) से 'यत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''शक् और सह् धातुओं से यत् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ शक् + यत् (= 'य'–'शकिसहोश्च', प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = शक्यम्। (२) ✓ सह् + यत् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = सह्यम् (= सहन करने योग्य)।

(१०२५) **पद**– गद-मद-चर-यमः, च, अनुपसर्गे। **अनुवृत्ति**– यत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– उपसर्ग रहित गद् आदि धातुओं से 'यत्' प्रत्यय होता है। गद्यम्। मद्यम्। चर्यम् इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'अचो यत्' (१०१९) से 'यत्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''उपसर्ग सहित गद, मद, चर और यम धातुओं से भी यत् (= य) प्रत्यय होता है।''

गुरुः। यम्यम्। (१०२६) अवद्यपण्यवर्यागर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु ३।१।१०१ । अवद्यादयस्त्रयो निपात्यन्ते, क्रमाद् गर्ह्यादिष्वर्थेषु। अवद्यं पापम्। पण्यं विक्रेयम्। शतेन वर्या कन्या। (१०२७) वह्यं करणम् ३।१।१०२ । वह्यमिति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते,

---

(१०२६) **अवद्यपण्येति**। यदन्ता निपात्यन्ते इति भावः।

(१०२७) **वह्यमिति**। 'अचो यदि'त्यतो 'यदि'त्यनुवर्तते। तेन करणार्थे वह्धातोः यत् निपात्यते इत्यर्थः। अन्यत्र ण्यति वाह्यमिति।

उदाहरण– (१) ✓ गद् + यत् (= 'य'–'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे', 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = गद्यम् (= बोलने योग्य)। (२) ✓ मद् + यत् (प्रक्रिया पूर्ववत्) = मद्यम् (= प्रसन्नता योग्य)। (३) ✓ चर् = यत् = चर्यम् (खाने योग्य)। (४) ✓ यम् + यत् = यम्यम् (= शान्त करने योग्य)।

(वा०)– आङ् उपसर्ग से परवर्ती चर् धातु से यत् प्रत्यय अगुरु = (गुरु-भिन्न) अर्थ में होता है।

उदाहरण–आ + ✓ चर् + यत् (= 'य'–'चरेराङि चाऽगुरौ' वार्तिक से, सु = स् = र् = :) = आचर्यः (= गन्तव्य देश)। **प्रत्युदाहरण– अगुरौ किमिति**। वार्तिक में 'अगुरौ' पद का ग्रहण होने से गुरु-भिन्न अर्थ में ही यत् प्रत्यय होता है। अतः गुरु अर्थ में यत् नहीं होता। आ + ✓ चर् + ण्यत् (= 'य'–गुरु अर्थ में–'ऋहलोर्ण्यत्', 'अ' = 'आ'–वृद्धि–'अत उपधायाः', सु = स् = र् = :) = आचार्यः (= गुरु)।

(१०२६) **पद**– अवद्यपण्यवर्याः, गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु। **अनुवृत्ति**– यत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– गर्ह्य, पणितव्य और अनिरोध अर्थ में क्रमशः अवद्य, पण्य और वर्य शब्द यत्प्रत्ययान्त निपातित होते हैं। अवद्यम् = पापम् इत्यादि।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (१०१९) से 'यत्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार–'अवद्य', 'पण्य' और 'वर्य' शब्द क्रमशः 'गर्ह्य (निन्दनीय), पणितव्य (बेचने योग्य) और वर्य (अप्रतिबन्ध) अर्थों में यत्प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं।

उदाहरण– (१) नञ् (अ) + ✓ वद् (यहाँ 'वदः सुपि क्यप् च' से यत् और क्यप् प्राप्त होने पर गर्हा अर्थ में 'अवद्यपण्यवर्याः०' सूत्र से यत् ही निपातन से होता है। अ वद् + यत् (= 'य', 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = अवद्यम् पापम् (= निन्दनीय, न करने योग्य)। (२) ✓ पण् + ण्यत् प्राप्त होने पर निपातनात् यत् (= 'य', पूर्ववत् प्रक्रिया) = पण्यम् (= बेचने योग्य)। (३) ✓ वृ + 'क्यप्' प्राप्त होने पर निपातनात् यत् (= 'य', ऋ = 'अ'–गुण, रपर, स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' = 'आ', दीर्घ) = वर्या (= वरण करने योग्य)।

(१०२७) **पद**– वह्यम्, करणम्। **अनुवृत्ति**– यत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– करण अर्थ में यत्प्रत्ययान्त 'वह्य' शब्द निपातित होता है।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्वसूत्र 'अचो यत्' (१०१९) से 'यत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''करण अर्थ में वह् धातु से यत्प्रत्ययान्त 'वह्य' निपातन किया जाता है।''

उदाहरण– ✓ वह् + यत् (= 'य' निपातनात्–'वह्यं करणम्' ण्यत् का बाधकर, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = वह्यम्। करण-भिन्न अर्थ में ✓ वह् + ण्यत् (= 'य'–'ऋहलोर्ण्यत्', 'अ' = 'आ'–वृद्धि, विभक्तिकार्य) = वाह्यम्।

करणेऽर्थे। वहन्त्यनेनेति—वह्यं शकटम्। वाह्यमन्यत्। **(१०२८) अर्यः स्वामिवैश्ययोः ३।१।१०३** । 'अर्य' इति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, स्वामिवैश्ययोरर्थयोः। अनयोः किम्? आर्यो ब्राह्मणः। **(१०२९) उपसर्या काल्या प्रजने ३।१।१०४** । उपसर्येति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, गर्भग्रहणे प्राप्तकाला चेदित्यर्थः। उपसर्या गौः। गर्भाधानार्थं वृषभेणोपगन्तुं योग्येत्यर्थः। प्रजने काल्येति किम्? उपसार्या काशी। प्राप्तव्येत्यर्थः। **(१०३०) अजर्यं सङ्गतम् ३।१।१०५**। 'अजर्यमि'ति नञ्पूर्वाज्जीर्यतेर्यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, सङ्गतं विशेष्यं चेत्। न जीर्यतीत्यजर्यम्—सतां सङ्गतम्। **(१०३१) वदः**

(१०२८) **अर्य इति**। स्वामिनि वैश्ये चार्थे ऋधातोः ण्यतोऽपवादो यत् निपात्यते। अन्यत्र ण्यति वृद्धौ 'आर्यः' इति।

(१०२९) **उपसर्या इति**। उपपूर्वकात् सृधातोर्यन्निपात्यते।

(१०३०) **अजर्यमिति**। नञ्पूर्वकाद् जृष्धातोः कर्तरि यत्प्रत्ययो निपात्यते, सङ्गतं चेद् विशेष्यं स्यादित्यर्थः।

(१०२८) **पद**— अर्यः, स्वामिवैश्ययोः। **अनुवृत्ति**— यत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ— स्वामी और वैश्य अर्थ में यत्प्रत्ययान्त 'अर्य' शब्द निपातित होता है।

विमर्श— पूर्ववत् 'यत्' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः ''स्वामी और वैश्य अर्थ अभिधेय हो तो 'ऋ' धातु से यत्प्रत्ययान्त 'अर्य' निपातन होता है।''

उदाहरण— ✓ ऋ + यत् (= 'य'– निपातनात् 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, सु = स् = र् = :) = अर्यः।

प्रत्युदाहरण— अनयोः किमिति?— सूत्र में पठित स्वामी और वैश्य अर्थ से भिन्न अर्थों में यत्प्रत्ययान्त निपातन नहीं होगा। अतः 'आर्यो ब्राह्मणः' में ✓ ऋ + ण्यत् = ('य', ऋ = 'आ'–वृद्धि, रपर, विभक्तिकार्य) = आर्यः।

(१०२९) **पद**— उपसर्या, काल्या, प्रजने। **अनुवृत्ति**— यत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ— गर्भग्रहण प्राप्तकाल अर्थ में 'उपसर्या' यह यत्प्रत्ययान्त निपातन होता है। उपसर्या गौः (गर्भाधान के लिए वृषभ (= बैल) के पास जाने के योग्य) इत्यादि।

विमर्श— पूर्ववत् 'यत्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः '' 'उपसर्या' पद उप + ✓ सृ धातु से यत्प्रत्ययान्त प्रथम गर्भग्रहण समय अर्थ में निपातित होता है।''

उदाहरण— उप + ✓ सृ + यत् (= 'य' निपातनात्–'उपसर्या०', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ', दीर्घ, सु, सुलोप) = उपसर्या गौः (गर्भाधानार्थ वृषभ के पास जाने योग्य गाय)।

प्रत्युदाहरण— प्रजने काल्येति किम्?— सूत्र में 'प्रजने काल्या' क्यों ग्रहण किया है? इस पद के अभाव में 'उपसार्या काशी' में भी यत् होने लगेगा। अतः उक्त पद की सार्थकता है। अन्य अर्थ में– उप + ✓ सृ + ण्यत् (= 'य', वृद्धि, रपर, टाप्, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = उपसार्या काशी (प्राप्तव्य काशी)।

(१०३०) **पद**— अजर्यम्, सङ्गतम्। **अनुवृत्ति**— यत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ— सङ्गत विशेष्य रहते 'अजर्य' शब्द निपातित होता है।

सुपि क्यप् च ३।१।१०६ । अनुपसर्गे सुप्युपपदे वदेर्भावे क्यप् स्यात्। चाद्यत्। ब्रह्मोद्यम्। ब्रह्मवद्यम्। **(१०३२) भुवो भावे ३।१।१०७** । भुवः क्यप् स्याद्भावे। ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयम्। **(१०३३) हनस्त च ३।१।१०८** । अनुपसर्गे सुप्युपपदे हन्तेर्भावे तकारोऽन्तादेशः स्यात्। चात्क्यप्। ब्रह्मणो हननं ब्रह्महत्या। **(१०३४)**

(१०३१) **वदः सुपीति**। 'गदमदचर०' इत्यतः मण्डूकप्लुतगत्या 'अनुपसर्गे' इत्यनुवर्तते, 'अचो यत्' इत्यतो 'यत्' इति च। **तदाह–'अनुपसर्गे' इत्यादिना। ब्रह्मोद्यमिति**। ब्रह्मपूर्वक-वद्धातोः 'वदः सुपि क्यप् चे'त्यनेन क्यपि यजादित्वात्सम्प्रसारणे उत्वे 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपे गुणे, सावमि, पूर्वरूपे 'ब्रह्मोद्यमि'ति। चाद्यति कृते 'ब्रह्मवद्यमि'ति रूपम्।

(१०३२) **भुवो भावे**। 'वदः सुपी'त्यतः सुपि क्यप् चानुवर्तेते। तदाह–**भुव इति**।

(१०३३) **हनस्त चेति**। अनुपसर्गे सुप्युपपदे हन्धातोर्भावे क्यप् स्यात् तकार-श्चान्तादेशः। **ब्रह्महत्या इति**। हन्धातोः 'हनस्त चे'ति क्यपि नकारस्य तकारे स्त्रीत्वविवक्षायां टापि सौ 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'ब्रह्महत्या' इति।

विमर्श– पूर्ववत् 'यत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''यदि सङ्गत विशेष्य हो तो नञ्-पूर्वक जृष् धातु से यत्प्रत्ययान्त 'अजर्य' निपातन किया जाता है।''

उदाहरण– नञ् = अ + जृ + यत् (= 'य' निपातनात्–'अजर्यं सङ्गतम्', 'ॠ' = 'अ'-गुण, रपर, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = अजर्यम्। (कभी न पुरानी होने वाली आर्य-सङ्गति)।

(१०३१) **पद–** वदः, सुपि, क्यप्, च। **अनुवृत्ति–** यत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– उपसर्ग-भिन्न सुबन्त उपपद रहते वद् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है। चकार से पक्ष में यत् प्रत्यय भी होता है। ब्रह्मोद्यम् इत्यादि।

विमर्श– यहाँ 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे' (३।१।१००) से मण्डूकप्लुतगत्या 'अनुपसर्गे' तथा 'अचो यत्' (१०१९) से 'यत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अनुपसर्ग सुबन्त उपपद रहते वद् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है तथा चकार से यत् भी होता है।

उदाहरण– ब्रह्म + ✓ वद् + क्यप् (= 'य'–'वदः सुपि क्यप् च', 'व्' = 'उ'–सम्प्रसारण, पूर्वरूप, अ + उ = 'ओ'–गुण, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = ब्रह्मोद्यम्। यत्प्रत्यय पक्ष में–ब्रह्मवद्यम् (ब्रह्म का कथन)।

(१०३२) **पद–** भुवः, भावे। **अनुवृत्ति–** सुपि, क्यप्, अनुपसर्गे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अनुपसर्ग सुबन्त उपपदक भू धातु से भाव अर्थ में क्यप् प्रत्यय होता है।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। 'गदमद०' (३।१।१००) से 'अनुपसर्गे' तथा 'वदः सुपि०'(१०३१) से 'सुपि' और 'क्यप्' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार–''अनुपसर्ग सुबन्त उपपद रहने पर भू धातु से भाव अर्थ में क्यप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– ब्रह्म + ✓ भू + क्यप् (= 'य'–'भुवो भावे', प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = ब्रह्मभूयम् (= ब्रह्मत्व)।

(१०३३) **पद–** हनः, त, च। **अनुवृत्ति–** भावे, सुपि, क्यप्, अनुपसर्गे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अनुपसर्ग सुबन्त उपपदक हन् धातु को तकार अन्तादेश होता है, चकारात् भाव अर्थ में क्यप् भी होता है।

एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ३।१।१०९ । एभ्यः क्यप् स्यात्। (१०३५) **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१ ।** ह्रस्वस्य तुगागमः स्यात् पिति कृति। इत्यः। स्तुत्यः। शिष्यः। 'वृ' इति वृञो ग्रहणं, न तु वृङः। वृत्यः। वृङस्तु–वार्या ऋत्विजः। आदृत्यः। जुष्यः। पुनः क्यबुक्तिः परस्यापि ण्यतो बाधनार्था। अवश्यस्तुत्यः। (१०३६) **मृजेर्विभाषा**

(१०३४) **एतिस्तु इत्यादि।** इण्, ष्टुञ्, शासु, वृञ्, दृङ्, जुषी इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्यप् प्रत्ययो भवतीत्यर्थः।

(१०३५) **ह्रस्वस्येति।** स्पष्टम्। **इत्य इति।** 'इण् गतौ' इत्यस्माद्धातोः 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' इति क्यपि, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्यनेन तुगागमेऽनुबन्धलोपे सौ, रुत्वे विसर्गे च कृते 'इत्यः' इति।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०३२) से 'भावे', 'वदः सुपि' (१०३१) से 'सुपि, क्यप्' तथा 'गदमदचर०' से पूर्ववत् 'अनुपसर्गे' पदों की अनुवृत्ति प्रकृत सूत्र में आती है। तदनुसार–"उपसर्ग-भिन्न सुबन्त उपपद रहने पर हन् धातु से भाव अर्थ में क्यप् प्रत्यय होता है और हन् को तकार अन्तादेश भी होता है।"

उदाहरण– ब्रह्म + ✓ हन् + क्यप् (= 'य', 'न्' = 'त्'–'हनस्त च', स्त्रीत्व विवक्षा में–टाप् = 'आ', अ + आ = 'आ'–दीर्घ, सु, लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०') = ब्रह्महत्या।

(१०३४) **पद–** एतिस्तुशास्वृदृजुषः, क्यप्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– इण्, ष्टुञ्, शासु, वृञ्, दृङ् और जुषी धातुओं से क्यप् प्रत्यय होता है।

विमर्श– सूत्रस्थ 'एति' यह 'इण् गतौ' धातु का श्तिप् प्रत्ययान्त रूप है। एति च, स्तु च, शास् च, वृ च, दृ च, जुष् च एतिस्तुशास्वृदृजुष्; तस्मात् (समाहारद्वन्द्व)। अतः "इण्, स्तु, शास्, वृ[1], दृ और जुष् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है।"

(१०३५) **पद–** ह्रस्वस्य, पिति, कृति, तुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ह्रस्व को तुक् = (त्) आगम होता है, पित्-कृत्प्रत्यय के परवर्ती रहते।

विमर्श– प् इत् यस्य सः पित्, तस्मिन् पिति (बहु०)। "पकारेत्संज्ञक कृत् प्रत्यय के परवर्ती रहते ह्रस्व को तुक् (= त्) आगम हो जाता है।" तुक् में उकार और ककार की इत्संज्ञा लोप होने पर 'त्' शेष बचता है। कित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषानुसार ह्रस्व का अन्तावयव होगा।

उदाहरण– (१) ✓ इण् = इ + क्यप् (= 'य'–'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्', तुक् = 'त्' आगम–'ह्रस्वस्य पिति०', कृदन्तत्वात् प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = इत्यः (गमन योग्य)। (२) ✓ स्तु + क्यप् (= 'य', तुक् = 'त्', प्रा० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = स्तुत्यः (प्रशंसा के योग्य)। (३) ✓ शास् + क्यप् (= 'य', 'आ' = 'इ' – 'शास इदङ्हलोः', 'स्' = 'ष्' –षत्व–'शासिवसिघसीनां च' विभक्तिकार्य) = शिष्यः (शिक्षा देने योग्य, छात्र)। (४) ✓ वृ + क्यप् (= 'य', तुक् = 'त्', विभक्तिकार्य) = वृत्यः (चुनने योग्य)। यहाँ 'वृञ् वरणे' धातु का ही ग्रहण होता है। अतः ✓ वृङ् से ण्यत् होता है। ✓ वृ + ण्यत् (= 'य', ॠ = 'आ'–वृद्धि, रपर, विभक्तिकार्य, बहुवचन में) = वार्याः। (५) आ + ✓ दृ + क्यप् (= 'य', तुक् = 'त्' आगम, विभक्तिकार्य) = आदृत्यः (आदर करने योग्य)। (६) ✓ जुष् + क्यप् (= 'य', सु = स् = र् = :) = जुष्यः (सेवन करने योग्य)।

---

१. सूत्रस्थ 'वृ' से यहाँ 'वृञ् वरणे' धातु का ग्रहण किया जाता है। 'वृङ् सम्भक्तौ' (क्र०) का नहीं। 'क्यब्विधौ वृञ्ग्रहणम्' (महाभाष्यम् ३।१।१०९)।

३।१।११३ । मृजेः क्यब्वा स्यात्। मृज्यः। (१०३७) ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४ । ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च ण्यत् स्यात्। (१०३८) चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२ । चजोः कुत्वं स्याद् घिति ण्यति च। * निष्ठायामनिट इति वक्तव्यम् *। तेनेह न। गर्ज्यम्।

(१०३६) **मृजेर्विभाषेति**। मृज्धातोर्ऋदुपधत्वात् 'ऋदुपधाच्चे'त्यादिना नित्यं क्यपि प्राप्ते विकल्पार्थमिदं सूत्रम्।

(१०३७) **ऋहलोर्ण्यत्**। स्पष्टम्।

(१०३८) **चजोः कु घिण्ण्यतोः**। चकारजकारयोः स्थाने कवर्गादेशो भवति घिति ण्यति च प्रत्यये परत इत्यर्थः। **मृज्यः, मार्ग्य इति**। मृज्धातोः 'मृजेर्विभाषा' इत्यनेन विकल्पेन क्यपि,

---

पुनः क्यबुक्तिरिति। 'एतिस्तु०' सूत्र में 'वदः सुपि' (३।१।१०६) सूत्र से 'क्यप्' की अनुवृत्ति आ रही थी, पुनः सूत्रस्थ 'क्यप्' पद का पाठ व्यर्थ है? इस आशंका का समाधान करने के लिए ग्रन्थकार ने कहा है– **पुनः क्यबुक्तिरित्यादि**। पुनः क्यप् पद का कथन होने पर 'ण्यत्' का भी बाध करने के लिए है। अर्थात् 'ओरावश्यके' (३।१।१२५) का ण्यत् 'अवश्यलाव्यम्' में लब्धावकाश (चरितार्थ) है। 'एतिस्तु०' का क्यप् भी 'इत्यः', 'स्तुत्यः' इत्यादि में प्राप्तावकाश है। इस प्रकार 'अवश्यस्तुत्यः' में लब्धावकाश दोनों सूत्रों द्वारा विहित कार्यों की युगपत् (एक साथ) प्राप्ति होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' नियमानुसार परकार्य 'ण्यत्' ही प्राप्त होता है। वह न हो, क्यप् ही हो, अतः सूत्र में पुनः 'क्यप्' का पाठ किया गया है। अवश्यम् + ✓ स्तु + क्यप् (= 'य', तुक् = 'त्' आगम, 'म्' का लोप, विभक्तिकार्य) = अवश्यस्तुत्यः (अवश्य प्रशंसा योग्य)।

(१०३६) मृजेः, विभाषा। **अनुवृत्ति**– क्यप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– मृज् धातु से क्यप् प्रत्यय विकल्प से होता है। मृज्यः।

विमर्श– 'एतिस्तु०' (३०३४) सूत्र से 'क्यप्' की अनुवृत्ति आती है। 'मृजेः' में इक् प्रत्यय धातु-निर्देश के लिए जोड़ा गया है। 'ऋदुपधाच्च०' सूत्र से नित्य प्राप्त क्यप् को यहाँ विकल्प से किया जा रहा है। यथा ''मृज् धातु से विकल्प से क्यप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– ✓ मृज् + क्यप् (= 'य' विकल्प से–'मृजेर्विभाषा', 'मृजेर्वृद्धिः' से प्राप्त क्यप् का 'क्ङिति च' से निषेध), प्राति० संज्ञा, सु = स् = ₹ = :) = मृज्यः (शुद्ध करने योग्य)।

क्यप् के अभाव पक्ष में प्रवृत्त होने वाले सूत्र का उल्लेख करते हैं–

(१०३७) **पद**– ऋहलोः, ण्यत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ऋवर्णान्त और हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है।

विमर्श–'धातोः' का अधिकार है। सूत्रस्थ 'ऋहलोः' में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है। 'ऋहलः' पद 'धातोः' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। अतः ''ऋवर्णान्त तथा हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है।'' ण्यत् में 'चुटू' से णकार की तथा 'हलन्त्यम्' से 'त्' की इत्संज्ञा होती है। लोप होने पर 'य' शेष रहता है।

(१०३८) **पद**– चजोः, कु, घिण्ण्यतोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– घित् और ण्यत् प्रत्यय के परवर्ती रहते चकार और जकार को कुत्व होता है।

निष्ठायामिति। 'निष्ठा में अनिट् धातु के ही चकार को कुत्व होता है' ऐसा कहना चाहिए। अतः 'गर्ज्यम्' में कुत्व (ज् = ग्) नहीं होता। मार्ग्यः।

मार्ग्यः। **(१०३९) ओरावश्यके ३।१।१२५** । उवर्णान्ताद्धातोर्ण्यत् स्यादावश्यके। लाव्यम्। पाव्यम्।

"लुम्पेदवश्यमः कृत्ये, तुं काममनसोरपि।
समो वा हिततत्योर्मांसस्य पचि युड्घञोः"॥

प्रातिपदिकत्वात् सौ रुत्वे विसर्गे 'मृज्यः' इति। क्यपोऽभावपक्षे 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'मृजेर्वृद्धिः' इति वृद्धौ, रपरत्वे 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति कुत्वे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'मार्ग्यः' इति।

(१०३९) **ओरावश्यके इति**। 'ऋहलोर्ण्यदि'त्यतो 'ण्यदि'त्यनुवर्तते। अत आह- **उवर्णान्तादिति। लाव्यमिति**। लूञ्धातोः 'ओरावश्यके' इति ण्यति वृद्धावादेशे सावमि, पूर्वरूपे 'लाव्यमि'ति। **लुम्पेदिति**। कृत्यप्रत्यये परे अवश्यमः = अवश्यंशब्दस्य अन्त्यं मकारं लुम्पेत् = लोपयेदित्यर्थः। यथा-अवश्यलाव्यम्। 'तुम्' इत्यस्य काममनसोः परयोः मकारं लुम्पेत्। यथा-कर्तुकामो गन्तुमना इत्यादि। एवं हितशब्दे तशब्दे च परे समो मकारं लुम्पेत्। यथा 'संहितम्' इत्यस्य सहितम्। सन्ततम्, सततमिति। तथा पचि युड्घञोः = युड्प्रत्ययान्ते घञ्प्रत्ययान्ते च पच् धातौ परे मांसपदस्यान्त्यमकारं लुम्पेत्। यथा मांस्पचनम्, मांस्पाक इति।

विमर्श- 'घ' इत् यस्य स घित्, घित् च ण्यत् च-घिण्ण्यतौ, तयोः घिण्ण्यतोः। इस प्रकार घित् अथवा ण्यत् प्रत्यय के परे रहते चकार अथवा जकार के स्थान पर कवर्ग आदेश हो जाता है। स्थानकृत आन्तर्य के द्वारा यहाँ चकार (विवार, श्वास, अघोष अल्पप्राण) के स्थान पर वैसा ही ककार तथा जकार (संवाद, नाद, घोष, अल्पप्राण) के स्थान पर वैसा ही गकार होता है।

उदाहरण- 'मृजेर्विभाषा' से विहित क्यप् के अभाव पक्ष में- ✓ मृज् + ण्यत् (= 'य'- 'ऋहलोर्ण्यत्', 'ज्' = 'ग्'-कुत्व-'चजोः कु घिण्ण्यतोः')- मृग् य (प्राप्त लघूपध गुण का बाध कर 'ऋ' = 'आ'-वृद्धि-'मृजेर्वृद्धिः', रपर, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = मार्ग्यः।

(१०३९) **पद**-ओः, आवश्यके। **अनुवृत्ति**- ण्यत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- उवर्णान्त धातु से आवश्यक अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होता है। लाव्यम्। पाव्यम्।

विमर्श- पूर्वसूत्र (३०३७) से 'ण्यत्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। अतः "उवर्णान्त धातु से आवश्यक अर्थ द्योतित होने पर ण्यत् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण- (१) ✓ लू + ण्यत् (= 'य'-'ओरावश्यके', 'लू' = 'औ'-वृद्धि-'अचो ञ्णिति', 'औ' = 'आव्'-'वान्तो यि प्रत्यये', विभक्तिकार्य) = लाव्यम्। (२) ✓ पू + ण्यत् (= 'य', वृद्धि, आव् आदेश, विभक्तिकार्य) = पाव्यम्।

लुम्पेदिति। "कृत्य प्रत्यय के परे रहते 'अवश्यम्' शब्द के अन्त्य वर्ण मकार का लोप करना चाहिए। 'काम' और 'मनस्' शब्द के परे रहने पर 'तुम्' के मकार का भी लोप होना चाहिए। 'हित' और 'तत' शब्द के परवर्ती रहते 'सम्' के अन्त्य वर्ण मकार का तथा युडन्त तथा घञन्त पच् धातु के परे रहते 'मांस' के अन्त्य वर्ण अकार का भी लोप होता है।"

(३) अवश्यम् + लू + ण्यत् (= 'य'-'ओरावश्यके', 'ऊ' = 'औ'-वृद्धि, 'औ' = 'आव्', 'म्' का लोप-कारिकोक्त नियम द्वारा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = अवश्यलाव्यम्।

अवश्यलाव्यम्। (१०४०) भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा ३।४।६८ । एते कृत्यान्ताः कर्तरि वा निपात्यन्ते। भवतीति भव्यः। भव्यमनेन वा। **(१०४१) भोज्यं भक्ष्ये ७।३।६९ ।** भोग्यमन्यत्। **(१०४२) वचोऽशब्दसंज्ञायाम् ७।३।६७ ।** न कुत्वम्। वाच्यम्। वाक्यमन्यत्। **(१०४३) राजसूयसूर्यमृषोद्य-**

(१०४०) **भव्यगेय इति**। कृत्यान्ता निपात्यन्ते। यथा हि–भवतीति **भव्यः**, कर्तरि यत्। गायतीति **गेयः**, कर्तरि यत् 'ईद्यती'ति ईत्वे, सार्वधातुकगुणः। प्रवक्तीति **प्रवचनीयः**, कर्तरि अनीयर्। उपतिष्ठत इति **उपस्थानीयः**, कर्तरि अनीयर्। जायते इति **जन्यः**, कर्तरि यत्। आप्लवतेऽसौ **आप्लाव्यः**, कर्तरि ण्यत्। आपतत्यसौ **आपात्यः**, 'ऋहलोरि'ति कर्तरि ण्यत्।

(१०४१) **भोज्यं भक्ष्य इति**। भक्ष्ये गम्ये ण्यति भुज्धातोः कुत्वाभावो निपात्यते।

(१०४२) **वचोऽशब्देति**। कुत्वं नेत्यर्थः। **वाच्यमिति**। वच्धातोः 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यति 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'चजोः०' इति कुत्वे प्राप्ते 'वचोऽशब्दसंज्ञायामि'त्यनेन कुत्वाभावनिपातने सावमि पूर्वरूपे 'वाच्यमि'ति।

(१०४०) **पद–** भव्य-गेय-प्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्याः, वा। **अनुवृत्ति**–कर्तरि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– भव्य-गेय आदि शब्द कर्ता अर्थ में कृत्य-प्रत्ययान्त विकल्प से निपातित होते हैं। भवतीति भव्यः। भव्यमनेन वा।

विमर्श– 'कर्तरि कृत्' (३।४।६७) से 'कर्तरि' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– ''भव्य, गेय, प्रवचनीय, उपस्थानीय, जन्य, आप्लाव्य तथा आपात्य कृत्य-प्रत्ययान्त शब्द कर्ता अर्थ में विकल्प से निपातन किये जाते हैं।'' कृत्यसंज्ञक होने से ये शब्द 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' से भाव और कर्म में ही प्राप्त थे। प्रकृत सूत्र द्वारा कर्ता में विकल्प से निपातन होने से पक्ष में भावकर्म में भी ये शब्द होंगे।

उदाहरण– ✓ भू + यत् (= 'य', कर्ता में निपातनात्–'भव्यगेय०', 'ऊ' = 'ओ'–गुण, 'ओ' = 'अव्' आदेश, सु = स् = र् = :) = भव्यः। पक्ष में भाव में यत् होकर 'भव्यमनेन'। अनुक्त कर्ता में तृतीया विभक्ति हुई।

(१०४१) **पद–** भोज्यम्, भक्ष्ये। **अनुवृत्ति–** ण्ये, चजोः कु, न। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– भक्ष्य अर्थ में 'भोज्य' शब्द निपातित होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'ण्य आवश्यके' (७।३।६५) से 'ण्ये', 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (७।३।५२) से 'चजोः कु' तथा 'न क्वादेः' (७।३।५९) से 'न' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''भक्ष्य अभिधेय होने पर 'भोज्यम्' शब्द निपातन किया जाता है। अर्थात् यहाँ कुत्व का अभाव ही निपातन होता है।''

उदाहरण– भुज् + ण्यत् (= 'य', 'उ' = 'ओ'–गुण, 'भोज्यं भक्ष्ये' से निपातनात् कुत्व का अभाव, विभक्तिकार्य) = भोज्यम्। भक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ में कुत्वाभाव नहीं होता, कुत्व होकर–भोग्यम्।

(१०४२) **पद–** वचः, अशब्दसंज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**–ण्ये, चजोः कु, न। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– शब्दसंज्ञा को छोड़कर 'वच्' धातु के चकार को कुत्व नहीं होता।

विमर्श– पूर्वसूत्रवत् प्रकृत सूत्र में भी 'ण्ये, चजोः, कु' एवं 'न' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''यदि शब्द की संज्ञा न हो तो वच् धातु के चकार को कुत्व नहीं होता।''

रुच्यकुप्यकृष्टपच्याऽव्यथ्याः ३।१।११४ । एते सप्त क्यबन्ता निपात्यन्ते। **(१०४४) भिद्योध्यौ नदे ३।१।११५ ।** नदे किम्? भेत्ता। उज्झिता। **(१०४५) पुष्यसिध्यौ नक्षत्रे ३।१।११६ ।** अधिकरणे क्यब्निपात्यते। पुष्यन्त्यस्मिन्नर्थाः–पुष्यः। सिध्यन्त्यस्मिन्

(१०४३) **राजसूयेति**। 'क्यप्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते' इत्यर्थः। **राजसूयमिति**। राजपूर्वकात् सुञ्धातोः क्यप्प्रत्यये दीर्घश्च निपात्यते राजसूयम् = यज्ञविशेष इति।

(१०४४) **भिद्योध्यौ नदे**। नदविशेषे कर्तरि भिदेरुज्झेश्च क्यप् निपात्यते इत्यर्थः।

(१०४५) **पुष्यसिध्याविति**। पुष्धातोः सिध्धातोश्च नक्षत्रे वाच्येऽधिकरणे क्यप् निपात्यत इत्यर्थः।

उदाहरण– ✓ वच् + ण्यत् (= 'य', 'चजोः कु०' से प्राप्त 'च्' = 'क्'–कुत्व का निषेध–'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्', 'अ' = 'आ'–वृद्धि, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = वाच्यम् (= कहने योग्य)। शब्द संज्ञा में कुत्व होकर–'वाक्यम्' (शब्द-समूह)।

(१०४३) **पद–** राजसूय-सूर्य-मृषोद्य-रुच्य-कुप्य-कृष्टपच्याऽव्यथ्याः। **अनुवृत्ति–** क्यप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– राजसूय आदि शब्द क्यप्-प्रत्ययान्त निपातित होते हैं।

विमर्श– यहाँ 'वदः सुपि०' (१०३१) से 'क्यप्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–'राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रुच्य, कुप्य, कृष्टपच्य और अव्यथ्य–ये सात शब्द क्यप्प्रत्ययान्त निपातित होते हैं।

उदाहरण– (१) राज + षुञ् (धात्वादेः षः सः) = सु + क्यप् (= 'य', तुक् का आभाव तथा दीर्घ 'उ' = 'ऊ' निपातनात्–'राजसूयसूर्य०', 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = राजसूयम् (= यज्ञ-विशेष)। (२) सरत्याकाशे इति सूर्यः। ✓ सृ + क्यप् (= 'य' कर्ता में, 'ऋ' = 'उ', उत्व और दीर्घ-निपातनात्, सु = स् = र् = :) = सूर्यः। (३) मृषा + ✓ वद् + क्यप् (= 'य'–निपातन से, 'व' = 'उ'–सम्प्रसारण, पूर्वरूप, आ + उ = 'ओ'–गुण, विभक्तिकार्य) = मृषोद्यम् (= झूठा वचन)। (४) ✓ रुच् + क्यप् (= 'य', विभक्तिकार्य) = रुच्यः (= सुन्दर)। (५) ✓ गुप् + क्यप् (= 'य', 'प्' = 'क्'–निपातन से) = कुप्यः। (६) कृष्ट + ✓ पच् + क्यप् (= 'य' कर्मकर्ता में) = कृष्टपच्याः (कृष्टे स्वयमेव पच्यन्ते = जोती हुई भूमि में जो स्वयं ही पक जाते हैं)। (७) नञ् = अ + ✓ व्यथ् + क्यप् (= 'य') = अव्यथ्यः। न व्यथतेऽव्यथ्यः (= जो व्यथित नहीं होता)।

(१०४४) **पद–** भिद्योद्ध्यौ, नदे। **अनुवृत्ति–** क्यप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– नद अर्थ में क्यप्-प्रत्ययान्त भिद्य और उद्ध्य शब्द निपातित होते हैं।

विमर्श– पूर्ववत् 'क्यप्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार–''नद = नदी अभिधेय हो तो क्यप्प्रत्ययान्त 'भिद्य' और 'उद्ध्य' निपातन किया जाता है।''

उदाहरण– (१) ✓ भिद् + क्यप् (= 'य'–निपातनात्–'भिद्योद्ध्यौ नदे', विभक्तिकार्य) = भिद्यः (तटों को तोड़ने वाली नदी)। (२) ✓ उज्झ + क्यप् (= 'य', धकार अन्तादेश, 'ज्' = 'द्'–निपातन से, सु = स् = र् = :) = उद्ध्यः (= जल का परित्याग करने वाला नद)।

(१०४५) **पद–** पुष्यसिध्यौ, नक्षत्रे। **अनुवृत्ति–** क्यप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– नक्षत्र वाच्य रहते अधिकरण में क्यबन्त पुष्य और सिध्य शब्द निपातित होते हैं।

विमर्श– पूर्ववत् क्यप् की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''नक्षत्र अभिधेय होने पर अधिकरण कारक में पुष्य और सिध्य शब्द क्यप्-प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं।''

सिद्ध्यः। (१०४६) **विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु ३।१।११७** । विपूयो मुञ्जः। विनीयः कल्कः। जित्यो हलिः। (१०४७) **प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः ३।१।११८** । * छन्दसीति वक्तव्यम् *। प्रतिगृह्यम्। अपिगृह्यम्। लोके तु–प्रतिग्राह्यम्। अपिग्राह्यम्। (१०४८) **पदाऽस्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च ३।१।११९** । अवगृह्यं, प्रगृह्यं–पदम्। अस्वैरी–परतन्त्रः। गृह्यकाः–शुकाः। ग्रामगृह्या–सेना। आर्यैर्गृह्यते–आर्यगृह्यः।

(१०४६) **विपूयेति**। क्यबन्तानां निपातनम्।

(१०४७) **प्रत्यपिभ्यामिति**। क्यप् स्यादित्यर्थः।

(१०४८) **पदाऽस्वैरीति**। पदाऽस्वैरि-बाह्यापक्ष्येष्वर्थेषु ग्रह्धातोः क्यप् स्यादित्यर्थः। **अवगृह्यमिति**। अवपूर्वकग्रह्धातोः 'पदाऽस्वैरिबाह्यापक्ष्येषु चे'त्यनेन क्यपि सम्प्रसारणे पूर्वरूपे प्रातिपदिकत्वात्सौ सोरमि पूर्वरूपे कृते 'अवगृह्यमि'ति।

उदाहरण–(१) ✓ पुष् + क्यप् (–अधिकरण में निपातनात्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = पुष्यः (नक्षत्र-विशेष)। (२) षिध् = ✓ सिध् + क्यप् (= 'य'–निपातनात्) = सिध्यः (नक्षत्र)।

(१०४६) **पद**–विपूयविनीयजित्याः, मुञ्जकल्कहलिषु। **अनुवृत्ति**– क्यप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– मुञ्ज, कल्क और हलि अर्थ में क्रमशः विपूय, विनीय और जित्य क्यप्प्रत्ययान्त निपातन होते हैं।

विमर्श– पूर्ववत् 'क्यप्' की अनुवृत्ति प्रकृत सूत्र में भी आ रही है। तदनुसार ''वि-पूर्वक पू धातु से मुञ्ज अर्थ में 'विपूय', वि-पूर्वक नी धातु से कल्क अर्थ में 'विनीय' तथा जि धातु से हलि अर्थ में 'जित्य' शब्द क्यप्-प्रत्ययान्त निपातित होते हैं।''

उदाहरण– (१) वि + ✓ पू + क्यप् (= 'य' निपातनात्, सु = स् = र् = :) = विपूयो मुञ्जः (मूँज)। (२) वि + ✓ नी + क्यप् = विनीयः कल्कः (औषधि की पीठी)। (३) ✓ जि + क्यप्, तुक् = जित्यः हलिः (बड़ा हल)।

(१०४७) **पद**– प्रत्यपिभ्याम्, ग्रहेः। **अनुवृत्ति**– क्यप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– प्रति और अपि उपसर्ग से परवर्ती ग्रह् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है।

(**वा०**)–यह क्यप् वेद में हो–ऐसा कहना चाहिए। प्रतिगृह्यम्। अपिगृह्यम् इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् क्यप् की अनुवृत्ति यहाँ भी आ रही है। तदनुसार–''प्रति और अपि उपसर्गपूर्वक ग्रह् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) प्रति + ✓ ग्रह् + क्यप् (= 'य'–'प्रत्यपिभ्याम्०', 'र्' = 'ऋ'–सम्प्रसारण–'ग्रहिज्या०', पूर्वरूप, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = प्रतिगृह्यम्। (२) अपि + ✓ ग्रह् + क्यप् (पूर्ववत्प्रक्रिया) = प्रतिगृह्यम्। उक्त वार्तिकानुसार ये दोनों प्रयोग वेद में ही बनेंगे। लोक में क्यप् नहीं होगा। प्रति + ✓ ग्रह् + ण्यत् (= 'य', वृद्धि) = प्रतिग्राह्यम्।

(१०४८) **पद**– पदाऽस्वैरिबाह्यापक्ष्येषु, च। **अनुवृत्ति**– ग्रहेः क्यप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– पद, अस्वैरी, बाह्या और पक्ष्य अर्थों में भी ग्रह् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है। अवगृह्यम्, प्रगृह्यं पदम् इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१०४७) से 'ग्रहेः' तथा 'वदः सुपि०' (१०३१) से 'क्यप्' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार– ''पद, अस्वैरी, बाह्या और पक्ष्य अर्थ में भी ग्रह् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है।''

तत्पक्षाश्रित इत्यर्थः। **(१०४९) विभाषा कृवृषोः ३।१।१२०** । कृवृषोः क्यब्वा स्यात्। कृत्यम्। वृष्यम्। कार्यम्। वर्ष्यम्। **(१०५०) युग्यं च पत्रे ३।१।१२१** । युग्यमिति क्यबन्तं निपात्यते पत्रे। पत्रम्–वाहनम्। योग्यमन्यत्। **(१०५१) अमावस्यदन्यतरस्याम् ३।१।१२२** । अमोपपदाद्वसेरधिकरणे ण्यत्, वृद्धौ सत्यां

(१०४९) **विभाषेति**। कृञः ऋदन्तत्वात् नित्यं ण्यति प्राप्ते वृष्धातोर्ऋदुपधत्वान्नित्यं क्यपि प्राप्ते च क्यप्विकल्पोऽयमिति। **कृत्यमिति**। कृधातोः 'विभाषा कृवृषोः' इत्यनेन विभाषया क्यपि, अनुबन्धलोपे, तुकि अनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वात्सौ, सोरमि पूर्वरूपे कृत्यमिति। पक्षे ण्यति, वृद्धौ, रपरत्वे विभक्तिकार्ये 'कार्यमि'ति रूपम्।

(१०५०) **युग्यमिति**। युज्धातोः 'युग्यं च पत्रे' इत्यनेन क्यप् कुत्वं च वाहनेऽर्थे निपात्यते। अन्यत्र ण्यत्प्रत्यये 'चजोः' इति कुत्वं योग्यमिति।

(१०५१) **अमावस्येति**। वैकल्पिकं निपातनम्।

उदाहरण–(१) अव + ✓ ग्रह् + क्यप् (= 'य', सम्प्रसारण, पूर्वरूप, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = अवगृह्यम् (अवग्रह के योग्य पद)। (२) प्र + ✓ ग्रह् + क्यप् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = प्रगृह्यम् (प्रगृह्यसंज्ञक पद)। (३) ✓ ग्रह् + क्यप् = गृह्य + क (स्वार्थिक) = गृह्यकाः शुकाः (पिंजड़े में बन्द तोते)। (४) बाह्य अर्थ में ग्राम + ✓ ग्रह् + क्यप् (सम्प्रसारणादि पूर्ववत्, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्, दीर्घ) = ग्रामगृह्या सेना (= गाँव से बाहर स्थित सेना)। (५) आर्य + ✓ ग्रह् + क्यप् (पूर्ववत्प्रक्रिया) = आर्यगृह्यः (सज्जनों का पक्ष लेने वाले)।

(१०४९) **पद**– विभाषा, कृवृषोः। **अनुवृत्ति**– क्यप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कृ तथा वृष् धातु से विकल्प से क्यप् प्रत्यय होता है। कृत्यम् इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०३१) से 'क्यप्' की अनुवृत्ति आती है। अतः "कृ और वृष् धातु से विकल्प से क्यप् प्रत्यय होता है। पक्ष में ण्यत् होता है।"

उदाहरण– (१) ✓ कृ + क्यप् (= 'य' विकल्प से–'विभाषा कृवृषोः', तुक् = 'त्'– 'ह्रस्वस्य०', प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = कृत्यम् (करने योग्य)। पक्ष में ✓ कृ + ण्यत् (= 'य', 'ऋ' = 'आ'–उपधावृद्धि, रपर, विभक्तिकार्य) = कार्यम्। (२) ✓ वृष् + क्यप् (= 'य' विकल्प से, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = वृष्यम्। क्यप् के अभावपक्ष में ण्यत् होने पर–'वर्ष्यम्' (उपधागुण)। वर्ष्यम् = सन्तानोत्पत्ति के योग्य।

(१०५०) **पद**– युग्यम्, च, पत्रे। **अनुवृत्ति**– क्यप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– पत्र (वाहन) अर्थ में 'युग्य' निपातित होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'क्यप्' की अनुवृत्ति यहाँ भी आ रही है। तदनुसार "पत्र (वाहन) अर्थ में यज् धातु से क्यप् और कुत्व निपातन होता है।"

उदाहरण– ✓ युज् + क्यप् (= 'य', 'ज्' = 'ग्'–कुत्व निपातन से, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = युग्यम् (जोतने योग्य वाहन)। वाहन-भिन्न अर्थ में ✓ युज् + ण्यत् (= 'य', 'ज्' = 'ग्'–कुत्व, गुण) = योग्यम्।

(१०५१) **पद**– अमावस्यत्, अन्यतरस्याम्। **विधिसूत्र**।

पाक्षिको ह्रस्वश्च निपात्यते। अमा सह वसतोऽस्यां चन्द्रार्कांविति अमावस्या अमावास्या वा। (१०५२) **अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः ३।१।१३१** । अग्नावेते साधवः। (१०५३) **क्रतौ कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ ३।१।१३०** । क्रतुविशेषे एतौ निपात्येते। कुण्डेन पीयतेऽस्मिन् सोमः–कुण्डपाय्यः। सञ्चीयतेऽसौ–सञ्चाय्यः। (१०५४)

(१०५२) **अग्नाविति**। अग्न्यर्थे परिचाय्य-उपचाय्य-समूह्या इत्येते निपात्यन्ते इत्यर्थः।

(१०५३) **क्रताविति**। क्रत्वर्थे कुण्डपाय्य-सञ्चाय्यौ निपात्येते।

(१०५४) **चित्येति**। चित्यः, अग्निचित्या इति चाग्नौ निपात्येते। **चित्य इति**। चिधातोः

मूलार्थ– 'अमा' उपपद रहते वस् धातु से अधिकरण अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होता है, वृद्धि हो जाने पर पाक्षिक ह्रस्व भी निपातन से होता है। 'अमा' पद सह के अर्थ में प्रयुक्त है। जिस काल में सूर्य और चन्द्रमा साथ-साथ रहते हैं वह काल अमावस्या है।

विमर्श– 'अमा' शब्द उपपद रहते वस् धातु से अधिकरण अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होता है तथा वृद्धि हो जाने पर विकल्प से ह्रस्व निपातन होता है।''

उदाहरण–अमा + ✓ वस् + ण्यत् (= 'य्', 'अ' = 'आ'–वृद्धि, निपातन से पाक्षिक ह्रस्व, स्त्रीत्वात् टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य = अमावस्या। ह्रस्वाभावपक्ष में– अमावास्या (तिथि)।

(१०५२) **पद–** अग्नौ, परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः। **अनुवृत्ति–** ण्यत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अग्नि अर्थ में परिचाय्य, उपचाय्य और समूह्य शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०३७) से 'ण्यत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अग्नि अर्थ में 'परिचाय्य, उपचाय्य और समूह्य' शब्द ण्यत्प्रत्ययान्त निपातन से बनते हैं।''

उदाहरण– (१) परि + ✓ चि + ण्यत् (= 'य', 'इ' = 'आय्'–आदेश निपातन से–'अग्नौ०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = परिचाय्यः (यज्ञ की अग्नि जहाँ स्थापित की जाती है)। (२) उप + ✓ चि + ण्यत् (आय् आदेश निपातन से) = उपचाय्यः (यज्ञ में संस्कारित अग्नि)। (३) सम् + ✓ वह् + ण्यत् (= 'य'–कर्मणि, 'व्' = 'उ'–सम्प्रसारण, पूर्वरूप, दीर्घ–निपातन से) = समूह्यः (यज्ञाग्नि)।

(१०५३) **पद–** क्रतौ, कुण्डपाय्य-संचाय्यौ। **अनुवृत्ति–** ण्यत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– क्रतु अर्थ में 'कुण्डपाय्य और संचाय्य' शब्द निपातित होते हैं।

विमर्श– पूर्ववत् 'ऋहलोर्ण्यत्' (१०३७) से 'ण्यत्' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''क्रतु (यज्ञ-विशेष) अभिधेय हो तो कुण्डपाय्य और संचाय्य शब्द ण्यत्प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध किये जाते हैं।''

उदाहरण–(१) कुण्ड + ✓ पा + ण्यत् (= 'य', युक् = 'य्' का आगम निपातन से, विभक्ति-कार्य) = कुण्डपाय्यः (जिसमें कुण्ड के द्वारा सोमपान किया जाता है वह यज्ञ)। (२) सम् + ✓ चि + ण्यत् (= 'य', 'इ' = 'ऐ'–वृद्धि, आय् आदेश, युक् = 'य्' आगम–निपातन से) = संचाय्यः (जिसमें सोम का संग्रह किया जाता है, वह यज्ञ)।

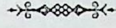
(१०५४) **पद–** चित्याग्निचित्ये, च। **अनुवृत्ति–** ण्यत्, अग्नौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अग्नि अर्थ में ण्यत्प्रत्ययान्त चित्य और अग्निचित्य शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०५२) से 'अग्नौ' तथा 'ऋहलोर्ण्यत्' (१०३७) से 'ण्यत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''अग्न्याधार अर्थ में चित्य और अग्निचित्य शब्द निपातित होते हैं।''

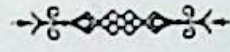
चित्याऽग्निचित्ये च ३।१।१३२ । एतौ निपात्येते। चित्योऽग्निः। अग्नेश्चयनम्–अग्निचित्या।

इति कृदन्ते कृत्यप्रकरणम् ।



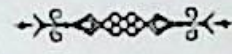
'चित्याग्निचित्ये चे'त्यनेन कर्मणि ण्यत् तुकि च कृते, प्रातिपदिकत्वात् सौ रुत्वे विसर्गे 'चित्यः' इति।

इति कृदन्ते कृत्यप्रकरणम् ।



उदाहरण– (१) ✓ चि + ण्यत् (= 'य', तुक् = 'त्'–निपातन से, सु = स् = र् = :) = चित्यः (अग्नि)। (२) अग्नि + ✓ चि + ण्यत् (= 'य', तुक् = 'त्' आगम–निपातन से, स्त्रीत्वात् टाप्) = अग्निचित्या।

कृत्य-प्रकरण समाप्त ।



अथ कृदन्ते कृत्प्रकरणम्

(१०५५) ण्वुल्तृचौ ३।१।१३३ । धातोरेतौ स्तः। 'कर्तरि कृदि'ति कर्त्रर्थे। **(१०५६) युवोरनाकौ ७।१।१ ।** 'यु' 'वु' एतयोरनुनासिकयोरेतौ स्तः।

कृत्यप्रक्रियायां कृत्यप्रत्ययनिरूपणानन्तरं कृत्प्रकरणमारभते-

(१०५५) **ण्वुल्तृचाविति**। धातोरित्यधिकृतम्। धातोः ण्वुल्तृचौ स्त इत्यर्थः।

(१०५६) **युवोरनाकाविति**। स्पष्टम्। **कारक इति**। करोतीति विग्रहे कृधातोः 'कर्तरि कृदि'ति कर्त्रर्थे 'ण्वुल्तृचौ' इत्यनेन ण्वुल्प्रत्यये 'चुटू' इति णस्येत्संज्ञायां, 'हलन्त्यमि'त्यनेन लस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इत्यनेन णलयोर्लोपे 'युवोरनाकौ' इत्यनेन 'वु' इत्यस्य स्थाने अकादेशे 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायां, प्राप्तं गुणं प्रबाध्य 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ 'उरण् रपरः' इति रपरे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'कारकः' इति।

कृदन्त के अन्तर्गत कृत्य-प्रक्रिया का निरूपण करने के पश्चात् अब कृत्प्रकरण में स्थित पूर्वकृदन्तप्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है।

विषय-विभाजन की दृष्टि से सम्पूर्ण कृदन्त-प्रकरण को ग्रन्थकार ने चार भागों में विभक्त किया है- (१) कृत्प्रक्रिया, (२) पूर्वकृदन्त-प्रकरण, (३) उणादि-प्रकरण और (४) उत्तरकृदन्त-प्रकरण। इनमें से प्रथम दो पूर्वकृदन्त के अन्तर्गत तथा अन्तिम दो उत्तरकृदन्त-प्रकरण के अन्तर्गत माने जाते हैं। प्राचीन प्रक्रिया-ग्रन्थों में उक्त प्रकार से विभाजन का उल्लेख नहीं किया गया है।

(१०५५) **पद**- ण्वुल्तृचौ। **अनुवृत्ति**- धातोः (अधिकारः)। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते हैं- कर्ता अर्थ में।

विमर्श- 'धातोः' सूत्र का अधिकार है। ण्वुल् च तृच् च 'ण्वुल्तृचौ'- इतरेतरद्वन्द्वः। तदनुसार- ''धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते हैं।'' ये दोनों प्रत्यय 'कृदतिङ्' के अधिकार के अन्तर्गत होने से कृत्संज्ञक हैं। अतः 'कर्तरि कृत्' (१००८) से कर्ता अर्थ में होते हैं। 'ण्वुल्' प्रत्यय में स्थित णकार की 'चुटू' से तथा 'ल्' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। 'वु' शेष रहता है। इसी प्रकार 'तृच्' में चकार की इत्संज्ञा होती है तथा 'तस्य लोपः' से लोप होकर 'तृ' शेष रहता है।

(१०५६) **पद**- युवोः, अनाकौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'यु' और 'वु' को क्रमशः 'अन' और 'अक' आदेश होते हैं।

विमर्श- 'अन' और 'अक' दोनों आदेश अदन्त हैं। अनेकाल् होने से 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' के द्वारा सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं। यथासंख्या परिभाषा के द्वारा क्रम से 'यु' को 'अन' तथा 'वु' को अक आदेश हो जाता है।

उदाहरण- (१) ✓ कृ + ण्वुल् (= 'वु'-'ण्वुल्तृचौ', 'वु' = 'अक'-'युवोरनाकौ')-कृ अक (ण्वुल् के णित् होने से स्थानिवद्भाव द्वारा 'अक' में भी णित्त्व का आरोप कर 'ऋ' = 'आ'-वृद्धि-'अचो ञ्णिति', रपर)-कारक (प्रातिपदिक संज्ञा, सु = स् = र् = :) = कारकः (करने वाला)। (२) ✓ कृ + तृच् (= तृ-'ण्वुल्तृचौ', प्राप्त इट् का 'एकाच उपदेशे०' से निषेध, 'ऋ' = 'अ'-गुण-'सार्वधातुकार्धधातुकयोः', रपर, कृदन्तत्वात् प्राति० संज्ञा, सु, अनङ् = 'अन्')- कर्तन् स् (दीर्घ, 'स्' और 'न्' का लोप होने पर) = कर्ता।

कारकः। कर्ता। **(१०५७) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४ ।** नन्द्यादेर्ल्युर्ग्रह्यादेर्णिनिः पचादेरच्स्यात्। नन्दयतीति नन्दनः। जनार्दनः। लवणः। गणे निपातनाण्णत्वम्। ग्राही। स्थायी। मन्त्री। पचः। आकृतिगणोऽयम्। (१०५८)

(१०५७) **नन्दिग्रहीति**। नन्दिश्च ग्रहिश्च पच् च नन्दिग्रहिपच् समाहारद्वन्द्वः। नन्दिग्रहिपच् आदिर्येषां ते नन्दिग्रहिपचादयः तेभ्य इति द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः। आदिपदमत्र प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते। ल्युश्च, णिनिश्च अच् च ल्युणिन्यचः, इतरेतरद्वन्द्वः। तदाह– **नन्द्यादेरिति**। **नन्दनः**– 'टुनदि समृद्धौ' इति धातोरनुबन्धलोपे इदित्त्वान्नुमि अनुस्वारे परसवर्णे 'नन्द्' इति जाते तस्मात् 'हेतुमति च' इति णिच्यनुबन्धलोपे 'सनाद्यन्ताः' इति धातुसंज्ञायां 'नन्दि' इत्यस्मात् कर्त्रर्थे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इति ल्युप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'युवोरनाकौ' इति योरनादेशे 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे विभक्तिकार्ये 'नन्दनः' इति।

(१०५७) **पद**– नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यः, ल्युणिन्यचः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– नन्द्यादि धातुओं से 'ल्यु', ग्रह्यादि से 'णिनि' तथा पचादि धातुओं से 'अच्' प्रत्यय होता है।

विमर्श– नन्दिश्च ग्रहिश्च पच् च नन्दिग्रहिपच् आदिर्येषां ते नन्दिग्रहिपचादयः, तेभ्यः। आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते। ल्युश्च णिनिश्च अच् च ल्युणिन्यचः– इतरेतरद्धन्द्वः। यहाँ उक्त तीन गणों से तीन प्रत्यय यथासंख्य परिभाषा द्वारा क्रम से होते हैं।

उदाहरण– (१) ✓ टुनदि (नद्) + धातु के इदित् होने से नुम् = ('न्' आगम–'इदितो नुम् धातोः', न् = अनुस्वार = 'न्' परसवर्ण, णिच् = 'इ'–हेतुमति च') = ✓ नन्दि + ल्यु (= 'यु'– 'नन्दिग्रहि०', णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि', 'यु' = 'अन'–'युवोरनाकौ', प्रथमा ए० व० सु = स् = र् = :) = नन्दनः (प्रसन्न करने वाला)। (२) जनमर्दयति इति जनार्दनः (जन्म-बन्धन को काटने वाले भगवान् हरि)– जन् + ✓ अर्द + णिच् = 'इ' चौरादिक– ✓ अर्दि + ल्यु (= 'यु'– 'नन्दिग्रहि०', 'यु' = 'अन'–'युवोरनाकौ', णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि') = अर्दना ('जन ङस् अदर्न'–उपपदसमास, प्राति० संज्ञा, सुप्–'ङस्' का लुक्, अ + अ = 'आ'–सवर्णदीर्घ, प्राति० संज्ञा, सु= स् = र् = :) = जनार्दनः। (३) लुनातीति लवणः (नमक, राक्षस)– ✓ लू + ल्यु (= 'यु' = 'अन', 'ऊ' = 'ओ'–गुण–'सार्वधातु०', 'ओ' = 'अव्'–आदेश, निपातनाद् णत्व, सु = स् = र् = :) = लवणः। (४) ✓ ग्रह् + णिनि (= इन्–'नन्दि-ग्रहि०', अ = 'आ' –वृद्धि–'अत उपधायाः')– ग्राहिन् (प्राति० संज्ञा, 'सु'='स्', 'इ' = 'ई' उपधादीर्घ–'सौ च', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः', 'न्' का लोप–'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य') = ग्राही (ग्रहण करने वाला)। (५) तिष्ठतीति स्थायी। ✓ ष्ठा (स्था) + णिनि (= इन्, युक् = 'य्' का आगम–'आतो युक् चिण्कृतोः')–स्थायिन् (पूर्ववत् विभक्तिकार्य) = स्थायी (ठहरने वाला)। (६) मन्त्रयत इति मन्त्री। ✓ मत्रि चौरादिक णिजन्त + नुम् (= 'न्' इदित् होने से)–मन्त्रि + णिनि (= इन्, णिलोप)– मन्त्रिन् (विभक्तिकार्य) = मन्त्री (मन्त्रणा करने वाला)। (७) पचतीति पचः। ✓ पच् + अच् (= 'अ', 'नदिग्रहि०', प्राति० सं०, सु = स् = र् = :) = पचः (पकाने वाला)।

आकृतिगणोऽयमिति। यद्यपि पचादिगण का गणपाठ में उल्लेख किया गया है तथापि यह आकृतिगण है। आकृति से ही इस गण की पहचान होती है। अर्थात् जहाँ-जहाँ कर्ता में अच् दृष्टिगोचर हो वहाँ उसे विधान करने वाला कोई सूत्रादि न हो तो उसे पचादिगण के अन्तर्गत समझ लेना चाहिए।

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ३।१।१३५। एभ्यः कः स्यात्। क्षिपः। बुधः। कृशः। ज्ञः। प्रियः। किरः। **(१०५९) आतश्चोपसर्गे १।३।१३६।** प्रज्ञः। सुग्लः। **(१०६०) पाघ्राध्माधेट्दृशः शः ३।१।१३७।** एभ्यः शः स्यात्। पिबः। जिघ्रः। धमः। धयः।

(१०५८) **इगुपधज्ञेति।** **प्रिय इति।** प्रीणातीति प्रियः। प्रीञ् धातोः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्यये 'लशक्कतद्धिते' इति ककारस्येत्संज्ञायां लोपे 'अचि श्नु०' इति इयङि अङो लोपे विभक्तिकार्ये 'प्रियः' इति।

(१०५९) **आतश्चेति।** सोपसर्गात् आदन्ताद्धातोः कप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **प्रज्ञ इति।** प्र-पूर्वकात् ज्ञाधातोः 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्यये 'आतो लोपः' इत्याकारलोपे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'प्रज्ञः' इति।

(१०६०) **पाघ्रेति।** कर्त्रर्थे शः स्यादित्यर्थः। **पिबः**–पिबतीति विग्रहे पाधातोः 'पाघ्राध्मा-

---

(१०५८) **पद–** इगुपधज्ञाप्रीकिरः, कः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– इगुपध धातु और ज्ञा, प्री तथा कृ धातुओं से क प्रत्यय होता है। क्षिपः। बुधः इत्यादि।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। 'इक् उपधा यस्य स इगुपधः' (बहुव्रीहिः)। अतः ''उपधा अर्थात् अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण में इक् (इ, उ, ऋ, लृ) वाली इगुपध धातु तथा ज्ञा, प्री और कृ धातु से 'क' प्रत्यय होता है''। 'क' में 'क्' 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। 'अ' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ क्षिप् + क (= 'अ'–'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः', 'क' प्रत्यय के कित् होने से प्राप्त लघूपध गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, कृदन्तत्वात् प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = क्षिपः (= फेंकने वाला)। (२) ✓ बुध् + क (= 'अ', विभक्तिकार्य) = बुधः (जानने वाला, विद्वान्)। (३) ✓ कृश् + क (उक्तवत् प्रक्रिया) = कृशः (कमजोर)। (४) ज्ञा + क (= 'अ' 'आ' का लोप- 'आतो लोप इटि च', विभक्तिकार्य) = ज्ञः (जाननेवाला)। (५) ✓ प्रीञ् (प्री) + क (= 'अ', कित्त्वाद् गुणनिषेध, ई = इयङ् = 'इय'–'अचि श्नु०', विभक्तिकार्य) = प्रियः (प्रसन्न करने वाला)। (६) ✓ कृ + क (= 'अ', कित्त्वात् गुणनिषेध, 'ॠ' = 'इ'–'ॠत इद् धातोः', रपर) = किरः (बिखेरने वाला)।

(१०५९) **पद–** आतः, च, उपसर्गे। **अनुवृत्ति–** कः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– उपसर्गपूर्वक आदन्त धातु से क प्रत्यय होता है। प्रज्ञः। सुग्लः।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०५८) से 'कः' की अनुवृत्ति यहाँ आ रही है। सूत्रस्थ 'आतः' पद अधिकृत 'धातोः' का विशेषण है। अतः तदन्तविधि होकर 'आदन्ताद्धातोः' हो जाता है। तदनुसार– ''उपसर्ग के उपपद रहते आदन्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) प्रजानातीति प्रज्ञः। प्र + ✓ ज्ञा + क (= 'अ' – 'आतश्चोपसर्गे, 'आ' का लोप – 'आतो लोप०', प्रा० सं०, विभक्तिकार्य) = प्रज्ञः (पण्डित, अधिक जानने वाला)। (२) सुग्लायतीति सुग्लः। सु + ✓ ग्लै ('ऐ' = 'आ' – 'आदेच उपदेशे०' + क = 'अ', 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सुग्लः (खिन्न)।

(१०६०) **पद–** पाघ्राध्माधेट्दृशः, शः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– पा, घ्रा, ध्मा, धेट् और दृश् धातुओं से 'श' प्रत्यय होता है। पिबः। जिघ्रः इत्यादि।

पश्यः। **(१०६१) अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च ३।१।१३८** । लिम्पः। विन्दः। धारयः। पारयः। वेदयः। उदेजयः। चेतयः। सातयः। साहयः। अनुपसर्गात् किम्? प्रलिपः। * गवादिषु विन्देः संज्ञायाम् *। गोविन्दः। अरविन्दमः। **(१०६२) ददातिदधात्योर्विभाषा ३।१।१३९** । ददः। दधः। पक्षे–वक्ष्यमाणो णः।

धेट्दृशः शः' इति शप्रत्यये तस्य शित्त्वेन सार्वधातुकत्वात् 'पाघ्राध्मा०' इति पिबादेशे शपि पररूपे 'पिब' इति, प्रातिपदिकत्वात्सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'पिबः' इति।

(१०६१) **अनुपसर्गादिति**। शः स्यादित्यर्थः।

(१०६२) **ददातीति**। दाञ्धाञ्धातुभ्यां शप्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः।

विमर्श– 'श' प्रत्यय के आदि वर्ण शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है। 'तस्य लोपः' से 'श्' का लोप होता है, 'अ' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ पा + श (= 'अ' – 'पाघ्राध्मा०', शित्त्वात् सार्वधातुकसंज्ञा, 'पा' = 'पिब्' आदेश–'पाघ्राध्मा०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = पिबः (पीने वाला)। (२) ✓ घ्रा + श (= 'अ', 'घ्रा' = 'जिघ्र'–'पाघ्राध्मा०', विभक्तिकार्य) = जिघ्रः (सूँघने वाला)। (३) ✓ ध्मा + श (= 'अ', ध्मा = धम्', विभक्तिकार्य) = धमः (४) ✓ धेट् = धे + श (= 'अ', 'ए' = 'अय्'–आदेश) = धयः (पीने वाला)। (५) ✓ दृश् + श (= 'अ', 'दृश्' = 'पश्य'–'पाघ्राध्मा०', विभक्तिकार्य) = पश्यः (देखने वाला)।

(१०६१) **पद–** अनुपसर्गात्, लिम्प–विन्द–धारि–पारि–वेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च। **अनुवृत्ति–** शः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– उपसर्ग रहित लिम्प्, विन्द् आदि धातुओं से 'श' प्रत्यय होता है। लिम्पः। विन्दः इत्यादि।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (१०६०) से 'शः' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''उपसर्ग से रहित लिप्, विद्लृ, णिच्प्रत्ययान्त धृ, पृ, विद्, उत्पूर्वक एजृ, चिती, साति, षह धातुओं से भी श प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ लिप् + श (= 'अ'–'अनुपसर्गाल्लिम्प०', नुम् = 'न्'–'शे मुचादीनाम्', न् = ं = 'म्'–परसवर्ण, विभक्तिकार्य) = लिम्पः। (२) ✓ विन्द + श = विन्दः (प्राप्त करने वाला)। (३) ण्यन्त ✓ धारि + श (= 'अ', 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्', विभक्तिकार्य) = धारयः (धारण करने वाला)। (४) ✓ ण्यन्त ✓ पारि + श (उक्तवत् प्रक्रिया) = पारयः। (५) ण्यन्त ✓ वेदि + श (उक्तवत् प्रक्रिया) = वेदयः। (६) ण्यन्त उत् + ✓ एजि + श = उदेजयः। (७) ण्यन्त चेति + श = चेतयः। (८) ✓ साति + श = सातयः। (९) ✓ साहि + श = साहयः।

प्रत्युदाहरण– अनुपसर्गात्किमिति?– प्रकृत सूत्र में 'अनुपसर्गात्' पद होने से उपसर्गपूर्वक लिप् आदि धातु से श नहीं होता। अतः प्र + ✓ लिप् + क (= 'अ'–'इगुपधज्ञा०', सु = :) = प्रलिपः। यहाँ प्रकृत सूत्र (१०६१) से 'श' नहीं हुआ।

(वा०)– गो आदि शब्द उपपद रहते विन्द् धातु से संज्ञा में श प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) गो + ✓ विन्द् + श (= 'अ'–'गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्') = गोविन्दः। (२) अर + ✓ विन्द् + श (= 'अ' विभक्तिकार्य) = अरविन्दम् (कमल)।

(१०६२) **पद–** ददातिदधात्योः, विभाषा। **अनुवृत्ति–** अनुपसर्गात्, शः। **विधिसूत्र।**

(१०६३) ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः ३।१।१४० । वा स्यात्। ज्वालः। ज्वलः। चालः। चलः। **(१०६४) श्याऽऽद्व्यधाऽऽस्रुसंस्र्वतीणवसाऽवहृलिहश्लिषश्वसश्च ३।१।१४१ ।** अवश्यायः। आत्—दायः। धायः। व्याधः। आस्रावः। संस्रावः। अत्यायः। अवसायः। अवहारः। लेहः। श्लेषः। श्वासः। **(१०६५) विभाषा ग्रहः ३।१।१४३ ।**

(१०६३) **ज्वलितीति**। ज्वलादिभ्यः कसन्तेभ्यो णप्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः। **ज्वाल इति**। ज्वल्धातोः 'ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः' इति विभाषया णप्रत्यये उपधावृद्धौ 'ज्वालः' इति। पक्षेऽच्-प्रत्यये 'ज्वलः' इति।

(१०६४) **श्याद्व्यधेति**। श्या-आत-व्यध-आस्रु-संस्रु-अतीण्-अवसा-अवहृ-लिह्-श्लिष्-श्वसेत्येकादशभ्योऽनुपसर्गेभ्यो नित्यं णः स्यादित्यर्थः। **अवश्याय इति**। अवपूर्वक-श्यैङ्

मूलार्थ– दा और धा धातु से विकल्प से श प्रत्यय होता है। ददः। दधः।

विमर्श– 'धातोः' का उक्तवत् अधिकार है। पूर्वसूत्र (१०६१) से 'अनुपसर्गात्' तथा (१०६०) से 'शः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'ददाति' आदि में श्तिपा निर्देश है। इस प्रकार–''उपसर्ग रहित डुदाञ् और डुधाञ् धातुओं से विकल्प से श प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ दा + श (= 'अ' विकल्प से–'ददातिदधात्योर्विभाषा', शप् = श्लु, धातु को द्वित्व–'श्लौ', अभ्यासत्व, ह्रस्व, 'आ' का लोप–'आतो लोप०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = ददः (देने वाला)। (२) ✓ धा + श (पूर्वोक्त प्रक्रिया) = दधः (धारण करने वाला)। श के अभाव पक्ष में 'श्याद्व्यध०' से ण प्रत्यय होता है।

(१०६३) **पद–** ज्वलितिकसन्तेभ्यः, णः। **अनुवृत्ति–** विभाषा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ज्वलादि कसन्त धातुओं से ण प्रत्यय विकल्प से होता है। ज्वालः। ज्वलः इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०६२) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''ज्वल दीप्तौ' से लेकर 'कस गतौ' धातु-पर्यन्त जितनी धातुएँ हैं, उनसे ण प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ ज्वल् + ण (= 'अ'–विकल्प से–'ज्वलिति०', 'अ' = 'आ'–उपधावृद्धि, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = ज्वालः (जलने वाला)। ण के अभाव पक्ष में अच् प्रत्यय होकर-ज्वलः। (२) ✓ चल् + ण (विकल्प से, प्रक्रिया पूर्ववत्) = चालः। पक्ष में– चलः (अच्) (=चलने वाला)।

(१०६४) **पद–** श्याद्व्यधास्रुसंस्र्वतीणवसाऽवहृलिहश्लिषश्वसः, च। **अनुवृत्ति–** णः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– श्यैङ् और आदन्त तथा व्यध् आदि धातुओं से ण प्रत्यय होता है। अवश्यायः। दायः इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०६३) से 'णः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''श्यैङ्, आकारान्त धातु तथा व्यध्, आङ् और सम्पूर्वक स्रु, अतिपूर्वक इण्, अवपूर्वक षो, अवपूर्वक हृ, लिह्, श्लिष्, श्वस् धातुओं से भी ण प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ श्यैङ् = श्यै + ण (= 'अ'–'श्याद्व्यधा०', ऐ = 'आ'–आत्व, युक् = य्'–आगम–'आतो युक्०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अवश्यायः। (२) ✓ दा + ण (= 'अ', युक् = 'य', विभक्तिकार्य) = दायः। (३) ✓ धा + ण (पूर्ववत् प्रक्रिया) = धायः। (४) ✓

व्यवस्थितविभाषेयम्। तेन–जलचरे ग्राहः। ज्योतिषि–ग्रहः। (१०६६) गेहे कः ३।१।१४४ । गृह्णाति धान्यादिकमिति–गृहम्। (१०६७) शिल्पिनि ष्वुन् ३।१।१४५ । क्रियाकौशलं शिल्पम्, तद्वत्कर्तरि ष्वुन् स्यात्। (१०६८) षः प्रत्ययस्य

धातोः 'श्याऽऽद्व्यधे'त्यादिना णप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'आदेच०' इत्यात्वे 'आतो युक्०' इति युगागमेऽनुबन्धलोपे विभक्तिकार्ये अवश्यायः (नीहार इत्यर्थः)।

(१०६५) **विभाषेति**। ग्रह् धातोर्णः वा स्यादित्यर्थः। **व्यवस्थितेति**। व्यवस्था = अत्र विधिरेवात्र निषेध एवेत्येवंरूपा सञ्जाता अस्या इति व्यवस्थिता, सा चासौ विभाषेति व्यवस्थितविभाषा। तेन जलचरे मत्स्यादौ वाच्ये ग्रह्धातोः णप्रत्यये उपधावृद्धौ विभक्तिकार्ये ग्राह इति। ज्योतिषि सूर्यचन्द्रादौ वाच्येऽच्प्रत्यये 'ग्रहः' इत्येव रूपम्।

(१०६६) **गेहे क इति**। गेहे कर्तरि ग्रह्धातोः कप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१०६७) **शिल्पिनीति**। स्पष्टम्।

व्यध् + ण (= 'अ', उपधावृद्धि) = व्याधः। (५) आ + स्रु + ण (= 'अ', 'उ' = 'औ'–वृद्धि–'अचो ञ्णिति', 'औ' = 'आव्' आदेश) = आस्रावः। (६) सम् + स्रु + ण (उक्तवत् प्रक्रिया) = संस्रावः। (७) अति + ✓ इ + ण (वृद्धि, आय् आदेश, यण् आदि) = अत्यायः। (८) अव + ✓ षो (सो) + ण (आत्व, युक्) = अवसायः। (९) अव + ✓ हृ + ण (= अ, वृद्धि, रपर) = अवहारः। (१०) ✓ लिह् + ण = लेहः। (११) ✓ श्लिष् + ण = श्लेषः। (१२) ✓ श्वस् + ण = श्वासः।

(१०६५) **पद**– विभाषा, ग्रहः। **अनुवृत्ति**– णः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ग्रह् धातु से ण प्रत्यय विकल्प से होता है। यह व्यवस्थित विभाषा है। जलचर अर्थ में–ग्राहः। अन्यत्र–ग्रहः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में भी पूर्वसूत्र (१०६३) से 'णः' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः 'ग्रह् धातु से विकल्प से ण प्रत्यय होता है। यह व्यवस्थित विभाषा है। अर्थात् ''यहाँ विधि-विधान होता है और यहाँ निषेध ही होता है।'' इस प्रकार की व्यवस्था जहाँ होती है वह व्यवस्थित विभाषा कहलाती है।

उदाहरण– ✓ ग्रह् + ण (= 'अ'–'विभाषा ग्रहः', उपधावृद्धि) = ग्राहः। व्यवस्थित विभाषा होने से जलचर मत्स्य आदि वाच्य होने पर ही ण होता है। अन्यत्र ज्योतिष आदि में नक्षत्रवाच्य होने पर 'अच्' होकर–'ग्रहः'।

(१०६६) **पद**– गेहे, कः। **अनुवृत्ति**– ग्रहः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– गेह कर्ता होने पर ग्रह् धातु से 'क' प्रत्यय होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०६५) से 'ग्रहः' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''ग्रह् धातु से गेह कर्तावाच्य होने पर क प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– ग्रह् + क (= 'अ'–'गेहे कः', 'र्' = 'ऋ' = सम्प्रसारण–'ग्रहिज्या', पूर्वरूप, प्रा० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = गृहम्।

(१०६७) **पद**– शिल्पिनि, ष्वुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– शिल्पी अर्थ में धातु से ष्वुन् प्रत्यय होता है।

विमर्श– क्रिया-विषयक निपुणता को शिल्प कहते हैं। 'शिल्पकलावान् कर्ता' अर्थ में धातु से ष्वुन् प्रत्यय होता है।

१।३।६ । प्रत्ययस्य आदिः ष इत्स्यात्। * नृतिखनिरञ्जिभ्य एव *। नर्तकः। खनकः। * असि, अकेऽने च रञ्जेर्नलोपो वाच्यः *। रजकः। रजकी। (१०६९) गस्थकन् ३।१।१४६ । गायतेस्थकन् स्यात्। गाथकः। (१०७०) ण्युट् च ३।१।१४७ ।

(१०६८) **षः प्रत्ययस्येति**। इत्स्यादित्यर्थः। **नर्तक इति**। नृत्यतीति विग्रहे नृत् धातोः 'शिल्पिनि ष्वुन्' इति ष्वुनि 'षः प्रत्ययस्ये'ति इत्वे षलोपे 'युवोरनाकौ' इति वोरकादेशे, 'पुगन्त॰' इति गुणे, रपरे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'नर्तकः' इति।

(१०६९) **गस्थकन्निति**। 'गायतेस्थकन्स्यात् कर्तरी'त्यर्थः। **गाथक इति**। गै धातोः 'गस्थकन्' इति थकन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'आदेच उपदेशे' इत्यात्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'गाथकः' इति।

(१०७०) 'ण्युट् चे'ति। गायतेः कर्तरि ण्युडपि स्यादित्यर्थः।

(१०६८) **पद–** षः प्रत्ययस्य। **अनुवृत्ति–** आदिः, उपदेशे, इत्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ– प्रत्यय-सम्बन्धी आदि षकार की इत्संज्ञा होती है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (१।३।२) से 'उपदेशे, इत्' तथा 'आदिर्ञिटुडवः' (१।३।५) से 'आदिः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''उपदेश में प्रत्यय के आदि में स्थित षकार की इत्संज्ञा होती है।''

(वा॰)– नृत्, खन् और रञ्ज् धातुओं से ही ष्वुन् प्रत्यय होता है।

(वा॰)– अस्, अक् और अन् के परवर्ती रहते रञ्ज् धातु के नकार का लोप होता है, ऐसा कहना चाहिए।

इस प्रकार–'ष्वुन्' प्रत्यय के आदि षकार की 'षः प्रत्ययस्य' से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा, लोप होने पर 'वु' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ नृत् + ष्वुन् (= 'वु'–'शिल्पिनि ष्वुन्', 'वु' = 'अक', 'ऋ' = 'अ'–गुण–'पुगन्त॰', रपर, प्राति॰ संज्ञा, सु = स् = र् = :) = नर्तकः। (२) ✓ खन् + ष्वुन् (= 'वु' = अक) = खनकः। (३) ✓ रञ्ज् + ष्वुन् (= 'वु' = 'अक', 'न्' का लोप–'असि, अकेऽने॰' वार्तिक से, विभक्तिकार्य) = रजकः। स्त्रीत्व विवक्षा में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् होकर–रजकी।

(१०६९) **पद–** गः, थकन्। **अनुवृत्ति–** शिल्पिनि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– गै धातु से थकन् प्रत्यय होता है। गाथकः।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (१०६७) से 'शिल्पिनि' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''गै धातु से थकन् (=थक) प्रत्यय होता है, शिल्पी कर्ता वाच्य हो तो।''

उदाहरण– ✓ गै + थकन् (= '**थक**'–'गस्थकन्', 'ऐ' = 'आ'–आत्व–'आदेच॰', प्राति॰ संज्ञा, सु = स् = र् = :) = गाथकः।

(१०७०) **पद–** ण्युट्, च। **अनुवृत्ति–** गः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– गै धातु से ण्युट् प्रत्यय भी होता है। गायनः।

विमर्श– पूर्वोक्त (१०६९) सूत्र से 'गः' पद की अनुवृत्ति यहाँ आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''गै धातु से ण्युट् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– ✓ गै + ण्युट् (= 'यु'– 'ण्युट् च', 'यु' = '**अन**'–'युवोरनाकौ', ऐ = 'आय्' आदेश, प्राति॰ संज्ञा, सु = स् = र् = :) = गायनः।

गायनः। **(१०७१) प्रसृल्वः समभिहारे वुन् ३।१।१४९** । एभ्यः समभिहारे वुन् स्यात्। समभिहारग्रहणेन साधुकारित्वं लक्ष्यते। प्रवकः। सरकः। लवकः। **(१०७२) आशिषि च ३।१।१५०** । आशिषि वुन् स्यात्। जीवतात्–जीवकः। **(१०७३) तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३।१।९२** । सप्तम्यन्ते पदे–'कर्मणी'त्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत्कुम्भादि, तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात्। **(१०७४) कर्मण्यण् ३।२।१** ।

(१०७१) **प्रसृल्व** इति। पौनःपुन्यं भृशार्थश्च क्रियासमभिहारः परमत्र साधुकारित्वं लक्ष्यते, तस्मिन्द्योत्ये प्रु-सृ-लू-एभ्यो युन् स्यादित्यर्थः।

(१०७२) **आशिषि चेति**। आशीर्विषयार्थवृत्तेर्धातोर्वुन् स्यात्कर्तरि। **जीवक इति**। जीव्धातोः 'आशिषि चे'ति वुन् प्रत्यये वोरकादेशे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'जीवकः' इति।

(१०७३) **तत्रोपपदमिति**। स्पष्टम्। 'उपपदमतिङ्' इति समास उपपदसंज्ञायाः फलमिति।

(१०७४) **कर्मण्यण् इति**। **कुम्भकार इति**। कुम्भं करोतीति विग्रहे 'कुम्भ' इति कर्मण्युपपदे कृधातोः 'कर्मण्यण्' इत्यणि, अनुबन्धलोपे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ, रपरे कृते

(१०७१) **पद–** प्रसृल्वः, समभिहारे, वुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– साधुकारी अर्थ में प्रु, सृ और लू धातु से वुन् प्रत्यय होता है। प्रवकः। सरकः। लवकः।

विमर्श– सूत्रस्थ 'समभिहार' शब्द से ठीक-ठीक कार्य करना अर्थ लिया जाता है। अतः ''साधुकारी (सम्यक् विचारेण क्रिया करणम्) अर्थ में प्रु, सृ, लू धातुओं से 'वुन्' प्रत्यय होता है।'' 'वुन्' में नकार की इत्संज्ञा होने पर 'वु' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ प्रु + वुन् (= 'वु'–'प्रसृल्वः०', 'वु' = 'अक', 'उ' = 'ओ'–गुण, 'ओ' = 'अव्', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = प्रवकः (साधु प्रवते = अच्छी प्रकार चलने वाला)। (२) ✓ सृ + वुन् ('वु', 'वु' = 'अक', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, विभक्तिकार्य) = सरकः (अच्छी तरह सरकने वाला)। (३) ✓ लू + वुन् (= 'वु' = 'अक', 'ऊ' = 'ओ'–गुण, 'ओ' = 'अव्') = लवकः (अच्छी प्रकार काटने वाला)।

(१०७२) **पद–** आशिषि, च। **अनुवृत्ति–** वुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आशीर्वाद अर्थ में धातु से वुन् प्रत्यय होता है। जीवकः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१०७१) से 'वुन्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– ''आशीर्विषयार्थवृत्ति धातु से वुन् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– जीवतात् इति। ✓ जीव् + वुन् (= 'वु'–'आशिषि च', 'वु' = 'अक', सु = स् = र् = :) = जीवकः (जो चिरकाल तक जीवित रहे)।

(१०७३) **पद–** तत्र, उपपदम्, समीपस्थम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– सप्तम्यन्त कर्मणि इत्यादि पदों में वाच्यत्वेन स्थित जो कुम्भ आदि, तद्वाचक पद की उपपद संज्ञा होती है।

विमर्श– तत्र अर्थात् 'धातोः' के अधिकार में जो सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट पद है उसकी उपपद संज्ञा होती है। उपपद समास होना इस संज्ञा का फल है।

(१०७४) **पद–** कर्मणि, अण्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्म उपपद रहने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है। कुम्भकारः।

कर्मण्युपपदे धातोरण् स्यात्। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। (१०७५) आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३ । कर्मण्युपपदे आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कः स्यात्। नाऽण्। अणोऽपवादः। गोदः। कम्बलदः। अनुपसर्गे किम्? गोसन्दायः। * मूलविभुजादिभ्यः कः *। मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः। आकृतिगणोऽयम्। महीध्रः। कुध्रः। (१०७६) सुपि

'कुम्भ अम् कार' इत्यत्र ''गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः'' इति सुबुत्पत्तेः प्रागेव 'उपपदमतिङ्' इति समासे, समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, समुदायात्सौ, रुत्वे विसर्गे च कृते 'कुम्भकारः' इति।

(१०७५) **आतोऽनुपसर्गे क इति**। 'कर्मण्यण्' इत्यतः 'कर्मणी'त्यनुवर्तते। तदाह- **कर्मण्युपपद इति**।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। 'तत्रोपपदं समीपस्थम्' (१०७३) के अनुसार 'कर्मणि' सप्तम्यन्त पद उपपदसंज्ञक है। अतः ''कर्म के उपपद रहने पर धातु से अण् (= 'अ') प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– 'कुम्भं करोति' अर्थ में कुम + ✓ कृ + अण् (= 'अ'–'कर्मण्यण्', 'ऋ' = 'आ' वृद्धि–'अचो ञ्णिति', रपर) = कार (कृदन्त के योग में षष्ठी[1] विभक्ति आने पर)– कुम्भ ङस् कार ('गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' परिभाषानुसार समास– 'उपपदमतिङ्', 'ङस्' का लुक्–'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' प्राति० संज्ञा, सु, सु = स् = र् = :) = कुम्भकारः (= कुम्हार)।

(१०७५) **पद**– आतः, अनुपसर्गे, कः। **अनुवृत्ति**– कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्म उपपद रहने पर अनुपसर्गक आदन्त धातु से क प्रत्यय होता है। गोदः। कम्बलदः इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। अतः 'अनुपसर्ग आकारान्त धातु से कर्म के उपपद रहते क प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) गां ददातीति गोदः। गो + दा + क (प्राप्त अण् का बाध कर क = 'अ'– 'आतश्चोपसर्गे', 'आ' का लोप–'आतो लोपः', प्राति०संज्ञा, सु = स् = र् = :) = गोदः (गौ देने वाला)।

(२) कम्बल + ✓ दा + क (= 'अ', 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = कम्बलदः (कम्बल देने वाला)। यहाँ 'गो' कर्म में उक्तवत् षष्ठी विभक्ति होकर समास, विभक्तिलुक् आदि कार्य होते हैं।

प्रत्युदाहरण– अनुपसर्गे किमिति? प्रकृत सूत्र में अनुपसर्ग = 'उपसर्ग रहित' पद इसलिए पठित है कि उपसर्गयुक्त दशा में आकारान्त धातु से क प्रत्यय न हो। यथा 'गां ददाति इति गोसन्दायः'। गो + सं + ✓ दा + 'क' न होकर अण् (= 'अ'–'कर्मण्यण्', युक् = 'य्'–'आतो युक्', कर्म में षष्ठी, समास–'उपपदमतिङ्', विभक्तिकार्य) = गोसन्दायः (गायों का अच्छी तरह दान करने वाला)।

(वा०)– मूलविभुज आदि शब्दों से क प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) मूलानि विभुजतीति–मूल + वि + ✓ भुज् + क (= 'अ'–'मूलविभुजादिभ्यः कः', कित्त्वात् लघूपध गुणनिषेध, कृद्योग में षष्ठी)–मूल आम्, विभुज (उपपद समास, विभक्तिलुक्, विभक्तिकार्य) = मूलविभुजो रथः (वृक्षों की जड़ों को तोड़ने वाला रथ)।

---

१. 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५)।

स्थः ३।२।४ । सुबन्ते उपपदे स्थाधातोः कः स्यात्। समस्थः। विषमस्थः। 'सुपी'ति योगविभागादन्यस्मादपि। द्वाभ्यां पिबतीति द्विपः। **(१०७७) अम्बाम्ब-गोभूमिसव्याऽपद्वित्रिकुशेकुशङ्क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमेबर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ८।३।९७ ।** एभ्यः स्थस्य सस्य षः। द्विष्ठः। त्रिष्ठः। **(१०७८) तुन्दशोकयोः**

(१०७६) **सुपि स्थ इति।** पूर्वसूत्रात् क इत्यनुवर्तते। तेन सुप्युपपदे स्थाधातोः कप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **समस्थ इति।** समे तिष्ठतीत्यर्थः। समपूर्वकस्थाधातोः 'सुपि स्थः' इति कप्रत्यये सुब्लुकि 'आतो लोप इटि चे'त्याकारलोपे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'समस्थः' इति।

(१०७७) **अम्बाम्बेति।** अम्बादिभ्यः स्थाधातोः सकारस्य षत्वं स्यादित्यर्थः। **द्विष्ठ इति।** द्वयोः तिष्ठतीति विग्रहे 'सुपि स्थः' इति कप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'आतो लोप०' इत्याकारलोपे 'अम्बाम्ब' इत्यादिना षत्वे ष्टुत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे द्विष्ठ इति।

आकृतिगणोऽयमिति। यह मूलविभुजादि आकृतिगण है। इसका परिगणन नहीं किया गया है। आकृति से ही यह जाना जाता है। अतः जहाँ क प्रत्यय हो और वह किसी सूत्र या वचनादि से विधान न किया गया हो तो उसे मूलविभुजादि के अन्तर्गत मान लेना चाहिए।

अन्य उदाहरण– (२) महीं धरतीति महीध्रः। मही + धृ + क (= 'अ', 'ऋ' = 'र्'–'यण्', कृद्योग में षष्ठी होकर समास, विभक्तिकार्य) = महीध्रः (पर्वत)। (३) इसी प्रकार– कुं = पृथ्वीं धरतीति कुध्रः (पर्वत)।

(१०७६) **पद–** सुपि, स्थः। **अनुवृत्ति–** कः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सुबन्त उपपद रहते स्था धातु से क प्रत्यय होता है। समस्थः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१०७५) से 'कः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''सुबन्त पद के उपपद रहने पर स्था धातु से क प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) समे तिष्ठितीति। सम + ✓ स्था + क (= 'अ'– 'सुपि स्थः', 'आ' का लोप–'आतो लोपः', विभक्तिकार्य) = समस्थः (सम में ठहरने वाला) (२) विषम + स्था + क (उक्तवत् प्रक्रिया) = विषमस्थः (विषम में ठहरने वाला)। प्रकृत सूत्र में 'सुपि' का योगविभाग करने से सुबन्त उपपद रहते अन्य आदन्त धातुओं से भी क प्रत्यय हो जाता है। जैसे– (३) द्वाभ्यां पिबति इति द्विपः। द्वि + पा + क (= 'अ', आकारलोप) = द्विपः (= हाथी)।

(१०७७) **पद–** अम्बाम्ब-गो-भूमि-सव्याप-द्वि-त्रि-कुशे-कु-शङ्क्वङ्गु-मञ्जि-पुञ्जि-परमे-बहिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः। **अनुवृत्ति–** सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अम्बाम्ब, ग़ोभूमि आदि शब्दों से परवर्ती क-प्रत्ययान्त स्था के सकार को मूर्धन्य षकार होता है। द्विष्ठः। त्रिष्ठः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' (८।३।५५) का अधिकार है। 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से 'सः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''अम्ब, आम्ब, गो, भूमि, सव्य, अप, द्वि, त्रि, कु, शेकु, शङ्कु, अङ्गु, मञ्जि, पुञ्जि, परमे, बर्हिस्, दिवि और अग्नि शब्दों से उत्तरवर्ती 'स्था' के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।''

उदाहरण– (१) द्वि + स्था + क (= 'अ'–'सुपि स्थः', आकारलोप, 'स्' = 'ष्' षत्व–'अम्बाम्ब०', ष्टुत्व, प्राति० संज्ञा, विभक्तिकार्य) = द्विष्ठः। (२) इसी प्रकार– त्रिष्ठः।

परिमृजापनुदोः ३।२।५ । तुन्दशोकयोः कर्मणोरुपपदयोराभ्यां कः स्यात्। * आलस्यसुखाहरणयोरिति वक्तव्यम् *। तुन्दपरिमृजोऽलसः। शोकापनुदः सुखस्याहर्ता। **(१०७९) प्रे दाज्ञः ३।२।६** । प्रे उपपदे आभ्यां कः स्यात्। सर्वप्रदः। पथिप्रज्ञः। **(१०८०) समि ख्यः ३।२।७** । समि उपपदे ख्यः कः स्यात्। गोसंख्यः। **(१०८१)**

(१०७८) **तुन्दशोकयोरिति**। 'आतोऽनुपसर्गे कः' इत्यतः क इत्यनुवर्तते। अत आह– **तुन्दशोकयोरिति**।

(१०७९) **प्रे दाज्ञ इति**। प्रपूर्वकाद् दाधातोः ज्ञाधातोश्च कर्मण्युपपदे कः प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१०८०) **समि ख्य इति**। क इत्यनुवर्तते। तदाह–**समीत्यादिना**। **गोसंख्य इति**। गाः सञ्चष्टे इति। सम्पूर्वकात् चक्षिङः ख्याञादेशे रूपम्। 'समि ख्यः' इति कप्रत्यये, आलोपे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'गोसंख्यः' इति।

(१०७८) **पद**– तुन्दशोकयोः, परिमृजापनुदोः। **अनुवृत्ति**– कः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मसंज्ञक तुन्द और शोक उपपद रहते परि-पूर्वक मृज् और अप-पूर्वक नुद् से क प्रत्यय होता है।

(वा०)– 'तुन्दशोकयोः' सूत्र से विहित क प्रत्यय आलस्य और सुखाहरण अर्थ में होता है, ऐसा कहना चाहिए। तुन्दपरिमृजः इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०७४) से 'कर्मणि' तथा 'आतोऽनुप०' (१०७५) से 'कः' की अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार–''तुन्द और शोक कर्म उपपद रहने पर क्रमशः परि-पूर्वक मृज् एवं अप-पूर्वक नुद् धातु से क प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) तुन्दमुदरं परिमार्ष्टि इति। तुन्द + परि + ✓ मृज् + क (= 'अ'– 'तुन्दशोकयोः' वार्तिक-सहयोग से, कित् होने से गुण का अभाव, विभक्तिकार्य) = तुन्दपरिमृजः (= आलसी)। (२) शोकमपनुदति– शोक + अप् + ✓ नुद् + क (= 'अ', कित्त्वात् गुणनिषेध, उक्तवत्) = शोकापनुदः (शोक को दूर करने वाला)।

(१०७९) **पद**– प्रे, दाज्ञः। **अनुवृत्ति**– कः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्म उपपद होने पर प्र-पूर्वक दा और ज्ञा धातु से क प्रत्यय होता है। सर्वप्रदः। पथिप्रज्ञः।

विमर्श– उक्तवत् 'कर्मणि' और 'कः' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''प्र-पूर्वक ज्ञा तथा दा धातु से कर्म उपपद रहते क प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) सर्वं प्रदातीति। सर्व + प्र + ✓ दा + क (= 'अ'–'प्रे दाज्ञः', अकारलोप, सु = स् = र् = :) = सर्वप्रदः (सब देने वाला)। (२) पथि + प्र + ✓ ज्ञा + क (= 'अ', आकारलोप) = पथिप्रज्ञः (मार्ग को जानने वाला)।

(१०८०) **पद**– समि, ख्यः। **अनुवृत्ति**– कः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्म उपपद रहते सम्-पूर्वक ख्या से 'क' प्रत्यय होता है। गोसंख्यः।

विमर्श– पूर्ववत् 'कर्मणि' तथा 'कः' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''कर्म उपपद रहते सम्-पूर्वक ख्याञ् धातु से क प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– गाः सञ्चष्टे इति गोसङ्ख्यः। सम् + चक्षिङ् = ख्याञ् = ✓ ख्या + क (= 'अ'– 'समि ख्यः', 'आ' का लोप, सु = स् = र् = :) = गोसंख्यः (गायों को गिनने वाला)।

गापोष्टक्। ३।२।८। कर्मण्युपपदे गापोष्टक् स्यात्। सामगः। * पिबतेः सुराशीध्वोरिति वाच्यम् *। सुरापी। शीधुपी। अन्यत्र–क्षीरपा ब्राह्मणी। **(१०८२) हरतेरनुद्यमनेऽच् ३।२।९ ।** कर्मण्युपपदे हरतेरच् स्यादनुद्यमेऽर्थे। अंशहरः। अनुद्यमने किम्? भारहारः। * शक्तिलाङ्गूलाङ्कुशतोमरयष्टिघटघटीधनुष्षु ग्रहेरुपसंख्यानम् *। शक्तिग्रहः।

(१०८१) **गापोरिति। सामग इति।** साम गायतीत्यर्थे गैधातोः 'गापोष्टक्' इति टक्प्रत्यये आत्वे, आकारलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'सामगः' इति।

(१०८२) **हरतेरिति।** अनुद्यमने विद्यमानात्कर्मण्युपपदे हृञ्धातोरच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **अंशहर इति।** अंशं हरतीत्यर्थे हृधातोः 'हरतेरनुद्यमनेऽच्' इत्यच्प्रत्यये गुणे रपरत्वे, सुब्लुकि, सौ, रुत्वे विसर्गे च कृते 'अंशहरः' इति।

(१०८१) **पद**– गापोः, टक्। **अनुवृत्ति**– कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कर्म उपपद रहते गा और पा धातु से 'टक्' प्रत्यय होता है। सामगः।

(वा०)– पा धातु से सुरा और शीधु उपपद रहते टक् प्रत्यय होता है, ऐसा कहना चाहिए। सुरापी। शीधुपी।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०७४) से 'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार–''कर्म उपपद रहते गा और पा धातु से टक् प्रत्यय होता है।'' टक् में 'ट्' और 'क्' की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। 'अ' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) साम + ✓ गा + टक् (= 'अ'–'गापोष्टक्', 'आ' का लोप–'आतो लोपः०' प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = सामगः। (२) सुरा + ✓ पा + टक् (= 'अ'– वार्तिक-सहकार से, 'गापोष्टक्' आ का लोप, स्त्रीत्व विवक्षा में टित्त्वात् ङीप् = 'ई', विभक्तिकार्य) = सुरापी (सुरा को पीने वाली)। (३) शीधु + पा + टक् (प्रक्रिया पूर्ववत्, ङीप् आदि) = शीधुपी (ईख का रस पीने वाली)। सुरा, शीधु से अन्य उपपद रहने पर टक् नहीं होता।–क्षीरपा ब्राह्मणी।

(१०८२) **पद**– हरतेः, अनुद्यमने, अच्। **अनुवृत्ति**– कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कर्म उपपद रहने पर अनुद्यमन अर्थ में हृ धातु से अच् प्रत्यय होता है। अंशहरः इत्यादि।

(वा०)–शक्ति, लाङ्गूल आदि कर्म उपपद हो तो ग्रह् धातु से अच् प्रत्यय होता है–ऐसा कहना चाहिए।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''कर्म उपपद रहते हृ धातु से उद्यमन-भिन्न अर्थ में 'अच्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– अंश + हृ + अच् (= 'अ'–'हरतेरनुद्यमनेऽच्', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, समास, सुप् का लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अंशहरः (हिस्सा ले जाने वाला)।

प्रत्युदाहरण– (१) **अनुद्यमने किमिति?**– प्रकृत सूत्र द्वारा उद्यमन से भिन्न अर्थ में हृ धातु को अच् विधान किये जाने से उद्यम अर्थ में अच् नहीं होता। अतः भार + हृ + अण् (= अ', 'ऋ' = 'आ'–वृद्धि, रपर, समास, सुब्लक, विभक्तिकार्य) = भारहारः (भार ढोने वाला)। (२) शक्ति + ग्रह् + अच् (= 'अ'–'शक्तिलाङ्गूलाङ्कुश०' वार्तिक से, अच् में कित्त्व का अभाव होने से सम्प्रसारण नहीं होता। सुब्लुक्, विभक्तिकार्य) = शक्तिग्रहः।

(१०८३) वयसि च ३।२।१० । वयसि गम्ये कर्मण्युपपदे हरतेरच् स्यात्। उद्यमनार्थं सूत्रम्। कवचहरः कुमारः। **(१०८४) आङि ताच्छील्ये ३।२।११ ।** आङ्पूर्वाद्धरतेः कर्मण्युपपदेऽच् स्यात्ताच्छील्ये। पुष्पाण्याहरति तच्छीलः पुष्पाहरः। **(१०८५) अर्हः ३।२।१२ ।** अर्हतेरच्स्यात् कर्मण्युपपदे। पूजार्हा ब्राह्मणी। **(१०८६) स्तम्बकर्णयो**

(१०८३) **वयसि चेति**। पूर्वसूत्रात् हरतेरिति अजिति चानुवर्तेते। तदाह–**वयसीति**। **कवचहर इति**। कवचं हरतीत्यर्थे अचि, सुब्लुकि, गुणे रपरत्वे 'कवचहरः' इति। कवचधारणयोग्यत्वेनात्र कुमारावस्था गम्यते।

(१०८४) **आङीति**। पूर्ववदेवात्रापि 'हरतेः, अच्, कर्मणी'ति चानुवर्तन्ते। तदाह– **आङ्पूर्वादिति**। ताच्छील्यं = तत्स्वभावता।

(१०८५) **अर्ह इति**। अत्र अजिति कर्मणीति चानुवर्तते। अत आह–**अर्हतेरित्यादिना**। **पूजार्हा इति**। पूजामर्हतीत्यर्थे पूजा + अर्ह्धातो 'अर्हः' इत्यनेनाच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे सुब्लुकि, दीर्घे स्त्रियां टापि दीर्घे विभक्तिकार्ये कृते पूजार्हा इति।

(१०८३) **पद**– वयसि, च। **अनुवृत्ति**– हरतेः, अच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अवस्था अर्थ गम्यमान रहने पर कर्म उपपदक हृ धातु से उद्यमनार्थ में अच् प्रत्यय होता है। कवचहरः।

विमर्श–पूर्वसूत्र (१०८२) से 'हरतेरच्' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः ''अवस्था गम्यमान हो तो कर्म उपपद रहते हृ धातु से अच् प्रत्यय होता है।'' उद्यम अर्थ में प्रत्यय-विधान के लिए प्रकृत सूत्र है।

उदाहरण– कवच + हृ + अच् = ('अ'–'वयसि च', गुण, रपर, समास, सुब्लुक्, विभक्तिकार्य) = कवचहरः (कवच को धारण करने वाला कुमार)।

(१०८४) **पद**– आङि, ताच्छील्ये। **अनुवृत्ति**– हरतेरच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आङ्-पूर्वक हृ धातु से कर्म उपपद रहते ताच्छील्य अर्थ में अच् प्रत्यय होता है। पुष्पाहरः।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है तथा पूर्ववत् 'हरतेः, अच्, कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''आङ्-पूर्वक हृञ् धातु से कर्म उपपद रहते ताच्छील्य (ऐसा उसका स्वभाव ही है) अर्थ में अच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– **पुष्पाणि आहरतीति तच्छीलः**। पुष्प + आ + हृ + अच् (= 'अ'–'आङि ताच्छील्ये', गुण, रपर, समास, सुब्लुक्, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = पुष्पाहरः (फूलों को लाने वाला)।

(१०८५) **पद**– अर्हः। **अनुवृत्ति**– अच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'कर्म' उपपद रहते हृ धातु से अच् प्रत्यय होता है। पूजार्हा ब्राह्मणी।

विमर्श– पूर्ववत् 'अच्' तथा 'कर्मणि' की प्रकृत सूत्र में अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– '''अर्ह पूजायाम्' धातु से कर्म उपपद रहते अच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– पूजा + ✓ अर्ह् + अच् (= 'अ'–'अर्हः' समास, विभक्ति का लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = पूजार्हः, (स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्, दीर्घ) = पूजार्हा (पूजा के योग्य)।

रमिजपोः ३।२।१३ । स्तम्बकर्णयोरुपपदयो रमिजपोरच् स्यात्। * हस्तिसूचकयोरिति वक्तव्यम् *। स्तम्बेरमो हस्ती। कर्णेजपः सूचकः। **(१०८७) अधिकरणे शेतेः ३।२।१५ ।** अधिकरणे उपपदे शेतेरच् स्यात्। खे शेते–खशयः। * पार्श्वादिषूपसंख्यानम् *। पार्श्वाभ्यां शेते–पार्श्वशयः। पृष्ठशयः। उदरशयः। **(१०८८) चरेष्टः ३।२।१६ ।** अधिकरणे उपपदे चरेष्टः स्यात्। कुरुचरः। **(१०८९) भिक्षासेनाऽऽदायेषु**

(१०८६) **स्तम्बकर्णयोरिति।** स्तम्बपूर्वकात् रमुधातोः कर्णपूर्वकात् जपधातोश्च हस्तिसूचकयोरर्थयोरच्स्यादित्यर्थः। **स्तम्बेरम इति।** स्तम्बे = दर्भादितृणनिचये रमते क्रीडतीत्यर्थे स्तम्ब + रम्धातोः 'स्तम्बकर्णयोः रमिजपोः' इत्यनेनाच्प्रत्यये, समासत्वात् सुब्लुकि प्राप्ते 'तत्पुरुषे कृति बहुलमि'ति सप्तम्या अलुकि सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'स्तम्बेरमः' इति।

(१०८७) **अधिकरण इति।** सुबन्तेऽधिकरणवाचिन्युपपदे शीङ्धातोरच् स्यादित्यर्थः।

(१०८८) **चरेष्ट इति।** 'अधिकरणे शेतेः' इत्यतः 'अधिकरणे' इत्यनुवर्तते। तदाह–

(१०८६) **पद–** स्तम्बकर्णयोः, रमिजपोः। **अनुवृत्ति–** अच्, सुपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– स्तम्बपूर्वक रम् धातु से और कर्णपूर्वक जप धातु से अच् प्रत्यय होता है।

(वा०)– हस्ति और सूचक अर्थ में उक्त प्रत्यय हो– ऐसा कहना चाहिए। स्तम्बेरमः इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०८२) से 'अच्' तथा 'सुपि स्थः' (१०७६) से 'सुपि' की यहाँ अनुवृत्ति आती है। अतः "स्तम्ब और कर्ण सुबन्त उपपद रहते क्रमशः रम् तथा जप् धातुओं से 'अच्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण– (१) स्तम्बे रमति– स्तम्ब + ✓ रम् + अच् (= 'अ', वार्तिक-सहकार से 'स्तम्बकर्णयोः', समास, सुप् का लुक् प्राप्त, 'हलदन्तात्सप्तम्याः' से सप्तमी विभक्ति का अलुक्, विभक्ति-कार्य) = स्तम्बेरमः (= हाथी)। (२) कर्णे जपतीति = सूचकः। कर्ण + ✓ जप् + अच् (उक्तवत्, समास, विभक्ति का अलुक्) = कर्णेजपः (चुगलखोर)।

(१०८७) **पद–** अधिकरणे, शेतेः। **अनुवृत्ति–** अच्, सुपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अधिकरणवाचक सुबन्त उपपद रहते शीङ् धातु से अच् प्रत्यय होता है। खशयः।

विमर्श– पूर्वसूत्रवत् 'अच्' तथा 'सुपि' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– "अधिकरण सुबन्त उपपद रहते शीङ् धातु से अच् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण– (१) खे शेते इति खशयः। ख + ✓ शी + अच् (= 'अ'–'अधिकरणे शेतेः' गुण, अयादेश, समास, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = खशयः (आकाश में सोने वाला)।

(वा०)– पार्श्व आदि उपपद रहते भी शीङ् धातु से अच् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (२) पार्श्वाभ्यां शेते इति। पार्श्व + ✓ शी + अच् (= 'अ'–'पार्श्वादिषूपसंख्यानम्' 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्'–आदेश, समास, सुब्लुक्, विभक्तिकार्य) = पार्श्वशयः। (३) उदरेण शेते– उदर + शी + अच् (प्रक्रिया पूर्ववत्) = उदरशयः। (४) पृष्ठेन शेते इति पृष्ठशयः (पूर्ववत् प्रक्रिया)।

(१०८८) **पद–** चरेः, टः। **अनुवृत्ति–** अधिकरणे, सुपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अधिकरणवाचक सुबन्त उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय होता है। कुरुचरः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१०८७) से 'अधिकरणे' तथा 'सुपि स्थः' (१०७६) से 'सुपि' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "अधिकरणवाचक सुबन्त के उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय होता है।" सूत्रस्थ 'चरेः' धातु-निर्देश में इगन्त 'चरि' का पञ्चम्यन्त रूप है। 'ट' प्रत्यय में 'ट्' का 'चुटू' से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। 'अ' मात्र शेष रहता है।

च ३।२।१७ । एषूपपदेषु चरेष्टः स्यात्। भिक्षाचरः। सेनाचरः। 'आदाये'ति ल्यबन्तम्। आदायचरः। **(१०९०) कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ३।२।२०** । एषु द्योत्येषु कृञष्टः स्यात्। **(१०९१) अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ८।३।४६** । अत उत्तरस्याऽनव्ययविसर्गस्य, समासे नित्यं सादेशः स्यात्करोत्यादिषु। अयस्कारः। अयस्कामः। अयस्कंसः। अयस्कुम्भः। अयस्पात्रम्। अयःसहिता कुशा–

अधिकरण इत्यादि। कुरुचर इति। कुरुषु चरतीति विग्रहे कुरु + चर्धातोः 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'कुरुचरः' इति।

(१०८९) **भिक्षासेनेति।** 'चरेष्टः' इत्यनुवर्तते। अत आह–**एषूपपदेष्विति।**

(१०९०) **कृञ इति।** 'चरेष्टः' इत्यस्मात् ट इत्यनुवर्तते। तदाह– **एष्विति।**

(१०९१) **अतः कृकमि इति।** 'सोऽपदादौ' इत्यतः स इति, 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यतः विसर्जनीयस्येति 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्ये'ति सूत्रं चात्रानुवर्तन्ते। तदाह– **अत उत्तरस्येति। यशस्करी विद्या–** यशः करोतीति विग्रहे 'यशः' इत्युपपदे 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु'

उदाहरण– कुरुषु चरति– कुरु + ✓ चर् + ट (= 'अ'–'चरेष्टः')–कुरु सुप् चर् अ (समास–'उपपद०', सुप् का लुक्, प्रातिपदिक संज्ञा, सु = स् = र् = :) = कुरुचरः (कुरुदेश में घूमने वाला)। 'ट' प्रत्यय को टित् करने का प्रयोजन स्त्रीत्व विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' से ङीप् करना है–कुरुचरी।

(१०८९) **पद–** भिक्षा-सेनादायेषु, च। **अनुवृत्ति–**चरेष्टः, सुपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– भिक्षा, सेना और आदाय सुबन्त उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय होता है। भिक्षाचरः। सेनाचरः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'चरेष्टः' (१०८८) तथा 'सुपि स्थः' (१०७६) से 'सुपि' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''भिक्षा, सेना और आदाय सुबन्तों के उपपद रहने पर भी चर् धातु से ट प्रत्यय हो जाता है।''

उदाहरण– (१) भिक्षां चरतीति। भिक्षा + ✓ चर् + ट (= 'अ'–'भिक्षासेना०', कृद्योग में भिक्षा कर्म में षष्ठी)– भिक्षा ङस् चर (समास–'उपपद०', सुप् = ङस् का लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = भिक्षाचरः (भिक्षार्थ घूमने वाला)। (२) सेनां चरति = प्रविशतीति– सेना + ✓ चर् + ट (= 'अ', समास, विभक्तिलुक् आदि) = सेनाचरः (सेना में प्रवेश करने वाला)। (३) आ + ✓ दा धातु से क्त्वा = ल्यप् होने से 'आदाय' पद निष्पन्न होता है। आदाय चरतीति। आदाय + ✓ चर + ट (= 'अ', उक्तवत् समासादि) = आदायचरः (लेकर घूमने वाला)।

(१०९०) **पद–** कृञः, हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु। **अनुवृत्ति–** टः, कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– हेतु आदि अर्थ गम्यमान होने पर कर्म उपपद रहते कृ धातु से ट प्रत्यय होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र 'चरेष्टः' (१०८८) से 'टः' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''कर्म उपपद रहते कृ धातु से हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य अर्थ प्रतीयमान हो तो ट प्रत्यय होता है।''

(१०९१) **पद–** अतः, कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीषु, अनव्ययस्य। **अनुवृत्ति–** विसर्जनीयस्य, सः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अ वर्ण से उत्तरवर्ती अव्यय-भिन्न विसर्ग के स्थान में नित्य सकार आदेश होता है; समास में कृ, कमि आदि के परवर्ती रहते। अयस्करः। अयस्कामः इत्यादि।

अयस्कुशा अयस्कर्णी। अतः किम्? गीःकारः। अनव्ययस्य किम्? स्वःकारः। अनुत्तरपदस्य किम्? परमयशःकारः। यशस्करी विद्या। श्राद्धकरः। वचनकरः।
(१०९२) दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भास्करान्ताऽनन्ताऽऽदिबहुनान्दी-किं-

---

इत्यनेन टप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे गुणे अकारे, रपरे, कर इति जाते 'यशस् अस् कर' इत्यलौकिकविग्रहे उपपदसमासे, सुपो लुकि, प्रातिपदिकत्वात्सौ स्त्रीत्वविवक्षायां 'टिड्ढाणञ्०' इति ङीपि अनुबन्धलोपे 'यस्येति चे'त्यकारलोपे सौ, सकारस्य 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति लोपे, यशसः सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'अतः कुकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्ये'ति विसर्गस्य सत्वे 'यशस्करी' इति।

(१०९२) **दिवाविभेति।** 'कृञो हेतु०' इत्यतः कृञ इति, 'चरेष्टः' इत्यतः ट इति

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) से 'विसर्जनीयस्य' तथा 'सोऽपदादौ' (८।३।३८) से 'सः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अत् से परे अव्यय-भिन्न विसर्ग को समास में नित्य सकार आदेश हो जाता है; यदि कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी– इनमें से कोई शब्द परे हो तो।''

उदाहरण– (१) अयस् + ✓ कृ (+ ट = 'अ'–'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु', ऋ = 'अ'–गुण, रपर, कृद्योग में षष्ठी आने पर)– यशस् ङस् कर (उपपदसमास, सुप् का लुक्, लुप्त सुप् को प्रत्ययलक्षण द्वारा मान कर सकार के पदान्त हो जाने से 'स् = रु = र्'–'ससजुषो रुः', 'र् = ':' विसर्ग–'खरवसानयोर्विसर्जनीयः', 'कुप्वोः≍कः≍पौ च' से प्राप्त पाक्षिक जिह्वामूलीय का बाध कर = 'स्'–'अतः कृकमि०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अयस्करः (लोहार)। (२) अयस्कामः (लोहे को चाहने वाला)। (३) अयस्कंसः (लोहे का प्याला)। (४) अयस्कुम्भः (लोहे का घड़ा)। (५) अयस्पात्रम् (लोहे का बर्तन)। (६) अयस्कुशा (लोहे से युक्त कुशा)। (७) अयस्कर्णी (लोहे की भाँति कठोर कानों वाली)। इनमें सर्वत्र विसर्ग को सकार आदेश हुआ है।

प्रत्युदाहरण– (१) प्रकृत सूत्र में 'अतः' पद रहने से अकार-भिन्न कोई दूसरा वर्ण रहने पर विसर्ग के स्थान पर 'स्' नहीं होता। अतः 'गीःकारः' (वाणी का प्रतिपादक) में स् नहीं हुआ। (२) सूत्र में 'अन्व्यय' पद होने से अव्यय शब्दावयव विसर्ग के स्थान पर 'स्' नहीं होता। 'स्वःकारः' में 'स्' नहीं हुआ। (३) सूत्र में 'अनुत्तरपदस्थस्य' पद अनुवृत्त होने से 'परमयशःकारः' में सकार नहीं हुआ। यहाँ कर्मधारय समास में 'यशः' पद की स्थिति उत्तरपद में है।

उदाहरण– (१) यशः करोतीति यशस्करी। यशस् + ✓ कृ + **ट** (= 'अ'–'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, कृद्योग में षष्ठी लाने पर)– यशस् ङस् कर (उपपद समास, ङस् का लुक्–'सुपो धातु०', स् = र् = 'ससजुषो रुः', र् = ':'– 'खरवसान०')– यशः कर (प्राप्त पाक्षिक जिह्वामूलीय का बाध कर : = स्–'अतः कृकमि०', स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् = 'ई'–'टिड्ढाणञ्०', भसंज्ञा, 'अ' का लोप–'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = यशस्करी विद्या (यश का कारण विद्या)।

(२) श्राद्धं करोतीति तच्छील इति श्राद्धकरः (श्राद्ध करना जिसका स्वभाव है वह)– पूर्ववत् (श्राद्ध + ✓ कृ + ट) = श्राद्धकरः। (३) वचनं करोतीति वचनकरः (आज्ञाकारी)–आनुलोम्य अर्थ में ट प्रत्यय।

(१०९२) **पद–** दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भास्कराऽन्ताऽनन्ताऽऽदिबहुनान्दी-किं-लिपि-लिबि-

लिपि-लिबि-बलि-भक्ति-कर्तृ-चित्र-क्षेत्र-संख्या-जङ्घा-बाह्वहर्यत्तद्धनुररुष्षु ३।२।२१ । एषु कृञष्टोऽहेत्वादावपि। दिवाकरः। विभाकरः। निशाकरः। कस्कादित्वात्सः। भास्करः। बहुकरः। एककरः। द्विकरः। अहस्करः। धनुष्करः। अरुष्करः। **(१०९३) न शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु ३।२।२३ ।** एषु कृञष्टो न स्यात्। शब्दकारः। **(१०९४) स्तम्बशकृतोरिन् ३।२।२४ ।** स्तम्बशकृतोः कर्मणोरुपपदयोः कृञ इन् स्यात्। * व्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम् *। स्तम्बकरिर्व्रीहिः।

चानुवर्तते। तदाह- **एष्विति। दिवाकर इति।** 'दिवा' इत्युपपदे कृधातोः 'दिवाविभे'त्यादिना टप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे गुणे रपरे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'दिवाकरः' इति।

(१०९३) **न शब्देति।** अत्रापि कृञ इति ट इति चानुवर्तेते। अत आह–**एषु कृञ इत्यादि।**

(१०९४) **स्तम्बशकृतोरिति।** अनयोरुपपदयोः कृञ्धातोः इन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। नकार इत्संज्ञकः। वार्तिकसहकारेण व्रीहौ वत्से एव वाच्ये इन्स्यादिति। **स्तम्बकरिः**– स्तम्बं करोतीत्यर्थे

बलि-भक्ति-कर्तृ-चित्र-क्षेत्र-संख्या-जङ्घा-बाह्व-हर्यत्तद्धनुररुष्षु। **अनुवृत्ति**– कृञः, टः, कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– दिवा, विभा आदि कर्म उपपद रहते हेतुताच्छील्य आदि से अतिरिक्त अर्थों में भी कृञ् धातु से ट प्रत्यय होता है। दिवाकरः, विभाकरः इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'कर्मणि' (१०७४), 'कृञः' (१०९०) तथा 'टः' (१०८८) पदों की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। इस प्रकार– ''दिवा, विभा इत्यादि कर्म उपपद रहते कृञ् धातु से ट प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) दिवा + ✓ कृ + ट = 'अ'–'दिवाविभा०', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, समास में सुब्लुक्, सु = स् = र् = :) = दिवाकरः (सूर्य)। (२) इसी प्रकार विभाकरः (सूर्य), भास्करः (सूर्य)–'कस्कादिषु च' से विसर्ग का सकार होता है। बहुकरः (बहुत करने वाला), एककरः (एक बनाने वाला), द्विकरः, अहस्करः (= सूर्य), धनुष्करः (धनुष बनाने वाला), अरुष्करः (घाव करने वाला) इत्यादि।

(१०९३) **पद**– न, शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु। **अनुवृत्ति**– कृञः, टः, कर्मणि। विधिसूत्र (निषेध)।

मूलार्थ– शब्द, श्लोकादि कर्म उपपद रहते कृ धातु से ट प्रत्यय नहीं होता।

विमर्श– पूर्ववत् 'कृञः', 'टः' तथा 'कर्मणि' पदों की प्रकृत सूत्र में अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''शब्द, श्लोक आदि कर्म उपपद रहते कृञ् धातु से ट प्रत्यय नहीं होता।''

उदाहरण– शब्दं करोति– शब्द + ✓ कृ + कृञो हेतुताच्छील्य०' से प्राप्त 'ट' का 'न शब्द०' से निषेध, अण् (= 'अ'–'कर्मण्यण्', ऋ = 'आ'–वृद्धि–'ऋहलोर्ण्यत्', रपर, समास में सुप् का लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = शब्दकारः (वैयाकरण)।

(१०९४) **पद**– स्तम्बशकृतोः, इन्। **अनुवृत्ति**– कृञः, कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– स्तम्ब और शकृत् कर्म उपपद रहते कृञ् धातु से इन् प्रत्यय होता है।

(वा०) उक्त सूत्र से विहित इन् प्रत्यय व्रीहि और वत्स अर्थ में ही होता है, ऐसा कहना चाहिए। स्तम्बकरिर्व्रीहिः। शकृत्करिर्वत्सः।

शकृत्करिर्वत्सः। (१०९५) हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ ३।२।२५ । दृतिनाथयोः कर्मणोरुपपदयोर्हरतेरिनिः स्यात् पशौ कर्तरि। दृतिहरिः। नाथं–नासारज्जुं, हरतीति नाथहरिः पशुः। पशौ किं ? दृतिहरः। नाथहरः। (१०९६) फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च ३।२।२६ । एतौ निपात्येते। चात्कुक्षिम्भरिः। चान्द्रास्तु–'आत्मोदरकुक्षिष्वि'ति पेठुः।

स्तम्बपूर्वक-कृधातोः 'स्तम्बशकृतोरिन्' इति इनि, अनुबन्धलोपे गुणे रपरत्वे सुब्लुकि, सौ रुत्वे विसर्गे 'स्तम्बकरिः' इति।

(१०९५) **हरतेरिति**। पूर्वसूत्रादिन् इत्यनुवर्तते। तदाह– **दृतिनाथयोरिति**।

(१०९६) **फलेग्रहिरिति**। निपातनम्। **फलेग्रहिरिति**। फलानि गृह्णातीत्यर्थे फलपूर्वकग्रह्धातोः 'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्चे'त्यनेन निपातनाद् इन्प्रत्यये उपपदस्येदन्तत्वे, विभक्तिकार्ये 'फलेग्रहिरि'ति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्ववत् 'कृञः' तथा 'कर्मणि' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार–''स्तम्ब और शकृत् कर्म उपपद हों तो कृ धातु से 'इन्' प्रत्यय होता है।'' उक्त वार्तिक से व्रीहि और वत्स अर्थ गम्यमान होने पर ही यथाक्रम से इन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) स्तम्ब + ✓ कृ + इन् (= 'इ'–'व्रीहि' अर्थ में–'स्तम्बशकृतोरिन्', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, समास, सुब्लुक्, प्राति०संज्ञा, सु = स् = र् = :) = स्तम्बकरिः (धान-विशेष)। (२) 'शकृत् करोति' अर्थ में– शकृत् + ✓ कृ + इन् (= 'इ', गुण, रपर, समास, सुब्लुक्, विभक्ति-कार्य) = शकृत्करिः (बछड़ा)।

(१०९५) **पद–** हरतेः, दृतिनाथयोः, पशौ। **अनुवृत्ति–** इन्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– पशु अर्थ में दृति और नाथ कर्म उपपद रहते हृञ् धातु से इन् प्रत्यय होता है। दृतिहरिः इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०९४) से 'इन्' तथा 'कर्मण्यण् (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''दृति और नाथ कर्म उपपद रहते हृञ् धातु से पशु कर्ता होने पर 'इन्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) दृतिं हरति– दृति + ✓ हृ + इन् (= 'इ'–'हरतेर्दृति०', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, समास, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = दृतिहरिः (= मशक ले जाने वाला पशु)। (२) नाथं हरति– नाथ + ✓ हृ + इन् (= 'इ', उक्तवत्प्रक्रिया) = नाथहरिः (स्वामी को ले जाने वाला पशु)। मूलानुसार–नाथ–पशु के नाक में डालने वाली रस्सी को कहते हैं, अतः (नाथ को वहन करने वाला पशु)।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में 'पशौ' पद का प्रयोग होने से पशु–भिन्न अर्थ में इन् प्रत्यय नहीं होता। दृतिहरः। नाथहरः।

(१०९६) **पद–** फलेग्रहिः, आत्मम्भरिः, च। **अनुवृत्ति–** इन्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– फलेग्रहि, आत्मम्भरि तथा चकार से कुक्षिम्भरि शब्द इन्प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं।

चान्द्राचार्य के मतानुसार– ''आत्मन्, उदर और कुक्षि शब्द उपपद रहते भृञ् धातु से इन् प्रत्यय होता है।'' अनर्घराघव में मुरारि कवि ने 'उदरम्भरयः' प्रयोग किया है।

विमर्श– पूर्ववत् 'इन्' तथा 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– '''फलेग्रहि' एवं 'आत्मम्भरि' शब्द इन्प्रत्ययान्त निपातित किये जाते हैं। यहाँ 'फल' के अकार को एकार एवं ग्रह से

'ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोराः' इति मुरारिः। (१०९७) **एजेः खश् ३।२।२८।** ण्यन्तात् एजेः खश् स्यात्। (१०९८) **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ६।३।६७।** अरुषो, द्विषतोऽजन्तस्य च मुम् स्यात्खिदन्ते उत्तरपदे न त्वव्ययस्य। शित्त्वाच्छबादि। जनमेजयतीति जनमेजयः। * वातशुनीतिलशर्द्धेष्वजधेट्तुदजहातिभ्यः खश् *। वातमजा मृगाः।

(१०९७) **एजेः खश्।** ण्यन्तादेजेः खश् स्यादित्यर्थः।

(१०९८) **अरुर्द्विषदिति।** अत्र 'खित्यनव्ययस्ये'ति सूत्रमनुवर्तते। तदाह–**अरुष इत्यादिना। जनमेजय इति।** जनमेजयतीति विग्रहे जनोपपदात् ण्यन्तात् ऐजिधातोः 'एजेः खश्' इत्यनेन खश्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे समासे सुपो लुकि 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमेऽनुबन्धलोपे गुणेऽयादेशे प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'जनमेजयः' इति।

इन् निपातन होता है। आत्मन् को मुम् (म्) का आगम होता है। चकार से 'कुक्षिम्भरिः' प्रयोग भी सिद्ध होता है।''

उदाहरण– (१) फल + ✓ ग्रह् + इन् (= 'इ', 'अ' = 'ए'–निपातन से–'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च', सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = फलेग्रहिः (वृक्ष)। (२) आत्मानं बिभर्ति– आत्मन् + ✓ भृ + 'इन्' (मुम् = 'म्' आगम–निपातन से, समास, सुब्लुक्, 'न' का लोप, विभक्तिकार्य) = आत्मम्भरिः (अपना भरण-पोषण करने वाला)। (३) उक्तवत्–कुक्षिम्भरिः इत्यादि।

(१०९७) **पद–** एजेः, खश्। **अनुवृत्ति–** कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कर्मोपपदक ण्यन्त एज् धातु से खश् प्रत्यय होता है।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। 'कर्मण्यण्' (१०७४) सूत्र से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''ण्यन्त 'एजृ कम्पने' धातु से कर्म उपपद रहते खश् प्रत्यय होता है।'' खश् में 'हलन्त्यम्' से शकार तथा 'लशक्वतद्धिते' से खकार इत्संज्ञक है। उनका 'तस्य लोपः' से लोप हो जाता है। 'अ' मात्र शेष रहता है। शित्करण का प्रयोजन सार्वधातुक संज्ञा तथा खित्करण का प्रयोजन मुम् = (म्) आदि करना है।

(१०९८) **पद–** अरुर्द्विषदजन्तस्य, मुम्। **अनुवृत्ति–** खिति, अनव्ययस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– खिदन्त परे रहते अव्यय-भिन्न– अरुष्, द्विषद् और अजन्त को मुम् (=म्) का आगम होता है। जनमेजयः इत्यादि।

(वा०)– वात, शुनी आदि कर्म उपपद रहते अज्, धेट् आदि धातुओं से 'खश्' प्रत्यय होता है।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु यहाँ 'खित्यनव्ययस्य' (१०९९) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। 'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) से 'उत्तरपदे' का अधिकार है। अरुश्च द्विषच्च अजन्तश्चेति अरुर्द्विषदजन्तं तस्येति समाहारद्वन्द्वः। 'खिति' शब्द 'उत्तरपदे' का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है। तदनुसार– ''खिदन्त उत्तरपद के परे होने पर अरुस्, द्विषत् और अजन्त शब्दों को 'मुम्' का आगम हो जाता है; परन्तु अव्यय को यह आगम नहीं होता''। 'मुम्' का मकार 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञक है तथा उकार उच्चारणार्थ है। 'म्' शेष रहता है। 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा के अनुसार–मित् होने से 'मुम्' आगम अन्त्य अच् से परे होगा और उसका अन्त्य अवयव माना जायेगा।

उदाहरण– (१) जनम् एजयतीति– जन + ✓ एजि (ण्यन्त) + खश् (= 'अ'–'एजेः खश्', शप् = 'अ'–'कर्तरि शप्', कृद्योग में षष्ठी)– जन ङस् एजि अ अ (अ + अ = 'अ'–पररूप, 'इ'

(१०९९) खित्यनव्ययस्य ६।३।६६ । खिदन्ते उत्तरपदे पूर्वपदस्य ह्रस्वः। ततो मुम्। शुनिन्धयः। तिलन्तुदः। शर्द्धञ्जहा माषाः। **(११००) नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः ३।२।२९ ।** नासिकास्तनयोरुपपदयोर्ध्माधेटोः खश् स्यात्। * स्तने धेटो, नासिकायां ध्मश्चेति वक्तव्यम् *। स्तनन्धयः। टित्त्वात्–स्तनन्धयी। **(११०१) नाडीमुष्ट्योश्च**

(१०९९) **खितीति।** खिति अव्ययभिन्नस्य पूर्वपदस्य ह्रस्वः स्यादित्यर्थः। **शुनिन्धयः–** शुनीं धयतीति विग्रहे 'वातशुनि०' इति वार्तिकेन खश्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, समासे सुब्लुकि 'खित्यनव्ययस्ये'ति ह्रस्वे 'अरुर्द्विषदजन्तस्ये'ति मुमागमेऽनुबन्धलोपे अनुस्वारे परसवर्णेऽयादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'शुनिन्धयः' इति।

(११००) **नासिकेति।** खश् स्यादित्यर्थः। **स्तनन्धय इति।** स्तनं धयतीति विग्रहे स्तनपूर्वक-धेट्धातोः 'नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः' इत्यनेन खशि, सुब्लुकि, अयादेशे 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे 'स्तनन्धयः' इति।

= 'ए'–गुण–'सार्वधातु०', 'ए' = 'अय्'–आदेश, उपपद समास, सुब्लुक्, मुम् = 'म्'– 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्', प्रातिपदिक संज्ञा, सु = स् = र् = :) = जनमेजयः (= लोगों को कँपा देने वाला, परीक्षित का पुत्र)। (२) वातमजन्ति = क्षिपन्तीति–वात + ✓ अज् + खश् (= 'अ'–'वातशुनीति०' वार्तिक से, शप्, पररूप, समास, सुब्लुक्, विभक्तिकार्य) = वातमजाः मृगाः (= मृग-विशेष)

(१०९९) **पद–** खिति, अनव्ययस्य। **अनुवृत्ति–** ह्रस्वः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– खिदन्त उत्तरपद के परवर्ती रहते पूर्वपद को ह्रस्व होता है, किन्तु अव्यय को ह्रस्व नहीं होता। शुनिन्धयः तिलन्तुदः इत्यादि।

विमर्श– 'उत्तरपदे' का अधिकार है। 'इको ह्रस्वो०' (६।३।६०) से 'ह्रस्वः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''खिदन्त शब्द के उत्तरपद में रहने पर अव्यय-भिन्न पूर्वपद को ह्रस्व हो जाता है।''

उदाहरण– (१) शुनीं धयतीति। शुनी + ✓ धेट् = धे + खश् (= 'अ'–'वातशुनी०' 'ई' = 'इ'–ह्रस्व– 'खित्यनव्ययस्य', मुम् = 'म्'–'अरुर्द्विषदजन्तस्य', म् = ं अनुस्वार, परसवर्ण, ए = 'अय्' आदेश, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = शुनिन्धयः। (२) तिलानि तुदतीति तिलन्तुदः (पूर्ववत्प्रक्रिया)। (३) शर्द्धं = अपानशब्दं जहतीति शर्द्धञ्जहाः माषाः (उड़द, प्रक्रिया पूर्ववत्)।

(११००) **पद–** नासिकास्तनयोः, ध्माधेटोः। **अनुवृत्ति–** खश्, कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– नासिका और स्तन कर्म के उपपद रहते ध्मा और धेट् धातु से खश् प्रत्यय होता है।

(वा०)– स्तन पूर्व रहते धेट् से तथा नासिका पूर्व रहते ध्मा धातु से खश् होता है, ऐसा कहना चाहिए।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। यहाँ 'एजेः खश्' (१०९७) से 'खश्' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''नासिका तथा स्तन कर्म उपपद रहते ध्मा और धेट् धातुओं से खश् प्रत्यय होता है। उक्त वार्तिक की व्यवस्थानुसार 'स्तन' उपपद रहते धेट् धातु से तथा 'नासिका' उपपद रहते ध्मा और धेट् से खश् प्रत्यय होगा।

उदाहरण– स्तन + ✓ धेट् + खश् (= 'अ'–'नासिका०', समास, सुब्लुक्, 'ए' = 'अय्', मुम् = 'म्'–'अरुः०', म् = ं = 'न्'–परसवर्ण, प्राति० संज्ञा, सु = र् = :) = स्तनन्धयः (स्तनपान करने वाला)। स्त्रीत्व विवक्षा में टित् होने से ङीप् होकर–स्तनन्धयी।

३।२।३० । ध्माधेटोः खश् स्यात्। * यथासंख्यं नेष्यते *। नाडिन्धमः। नाडिन्धयः। मुष्टिन्धमः। मुष्टिन्धयः। (११०२) उदि कूले रुजिवहोः ३।२।३१ । कूलमुद्रुजः। कूलमुद्वहः। (११०३) वहाभ्रे लिहः ३।२।३२ । वहः–स्कन्धः, तं लेढीति–

(११०१) **नाडीति**। ध्माधेटोः खश् स्यादित्यर्थः।

(११०२) **उदीति**। उत्पूर्वाभ्यां रुजिवहिभ्यां कूले कर्मण्युपपदे खश् स्यादित्यर्थः। **कूलमुद्रुज इति**। 'कूलमुद्रुजति' इति विग्रहे उत्पूर्वक-रुज्धातोः 'उदि कूले रुजिवहोः' इति खशि समासे सुब्लुकि, 'अरुर्द्विषदजन्तस्ये'ति मुमि सौ रुत्वे विसर्गे 'कूलमुद्रुजः' इति।

(११०३) **वहाभ्र इति**। वहे अभ्रे च कर्मण्युपपदे लिह्धातोः खश् स्यादित्यर्थः। **अभ्रंलिह इति**। अभ्रं लेढीति विग्रहे अभ्रोपपदात् लिह्धातोः 'वहाभ्रे लिहः' इत्यनेन खशि, अनुबन्धलोपे,

---

(११०१) **पद**– नाडीमुष्ट्योः, च। **अनुवृत्ति**– ध्माधेटोः, खश्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मसंज्ञक नाडी और मुष्टि शब्द उपपद रहते ध्मा और धेट् धातुओं से खश् प्रत्यय होता है।

(**वा०**)– प्रकृत सूत्र में यथासंख्य परिभाषा की प्रवृत्ति इष्ट नहीं है। नाडिन्धमः इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११००) से 'ध्माधेटोः', 'एजेः खश्' (१०९७) से 'खश्' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''नाडी और मुष्टि कर्म उपपद रहते ध्मा तथा धेट् धातुओं से 'खश्' प्रत्यय होता है। यथासंख्य यहाँ नहीं होता।''

उदाहरण– (१) नाडीं धमति धयति वा– नाडी + ✓ ध्मा + खश् (= 'अ'–'नाडीमुष्ट्योश्च', सुब्लुक्, ह्रस्व–'खित्यनव्ययस्य', मुम् = 'म्' अनु०, परसवर्ण–'अरुः०', 'ध्मा' = 'धम्'–'पाघ्राध्मा०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = नाडिन्धमः (नाडी को बजाने वाला)। (२) नाडिन्धयः (नाडी को पीने वाला)। (३) मुष्टिन्धमः। (४) मुष्टिन्धयः (प्रक्रिया पूर्ववत्)।

(११०२) **पद**– उदि, कूले, रुजिवहोः। **अनुवृत्ति**– खश्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कूल कर्म उपपद रहते उत्पूर्वक रुज् और वह् धातु से खश् प्रत्यय होता है। कूलमुद्रुजः। कूलमुद्वहः।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'एजेः खश्' (१०९७) से 'खश्' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार–''उत्पूर्वक रुज् तथा वह् धातुओं से कूल कर्म उपपद रहते खश् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) कूलमुद्रुजति– कूल + उत् + ✓ रुज् + खश् (= 'अ'–'उदिकूले०', समास, सुब्लुक्, मुम् = 'म्'–'अरुः०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = कूलमुद्रुजः (किनारों को काटने वाला रथ)। (२) कूलमुद्वहति– कूल + उत् + ✓ वह् + खश् (उक्तवत् प्रक्रिया) = कूलमुद्वहः (किनारे को प्राप्त कराने वाला)।

(११०३) **पद**– वहाभ्रे, लिहः। **अनुवृत्ति**– कर्मणि, खश्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– वह और अभ्र कर्म उपपद रहते लिह् धातु से खश् प्रत्यय होता है। वहंलिहो गौः। अभ्रंलिहो वायुः।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'एजेः खश्' (१०९७) से 'खश्' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' पदों की यहाँ अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का पूर्ववत् अधिकार है। तदनुसार– ''वह तथा अभ्र कर्म के उपपद रहते लिह् धातु से खश् प्रत्यय होता है।

वहंलिहो गौः। अभ्रंलिहो वायुः। (११०४) परिमाणे पचः ३।२।३३ । प्रस्थम्पचा स्थाली। खारिम्पचः कटाहः। **(११०५) मितनखे च ३।२।३४ ।** एतयोः कर्मणोरुपपदयोः पचेः खश् स्यात्। मितम्पचा ब्राह्मणी। नखम्पचा यवागूः। **(११०६)**

सुपो लुकि, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमि, अनुबन्धलोपे, मस्यानुस्वारे, प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'अभ्रंलिहः' इति।

(११०४) **परिमाण इति।** 'खशि'त्यनुवर्तते। तेन परिमाणे कर्मण्युपपदे पचेः खश् स्यादित्यर्थः।

(११०५) **मितनखे चेति।** पच इति खशिति चानुवर्तते। तदाह–**एतयोरिति। मितम्पचेति।** मितं पचतीति विग्रहे मितोपपदात् पच्धातोः 'मितनखे चे'ति खशि, अनुबन्धलोपे, मुमि अनुस्वारे परसवर्णे सुब्लुकि स्त्रीत्वाट्टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'मितम्पचा' इति।

उदाहरण– (१) वहं लेढीति– वह् + ✓ लिह् + खश् (= 'अ'–'वहाभ्रे लिहः', समास, सुब्लुक्, मुम् = 'म्' आगम, अनुस्वार, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = वहंलिहः (= कंधे को चाटने वाला बैल)। (२) अभ्रं लेढीति– अभ्र + ✓ लिह् + खश् (पूर्ववत्प्रक्रिया) = अभ्रंलिहः (= बादल तक पहुँचने वाला वायु)।

(११०४) **पद–** परिमाणे, पचः। **अनुवृत्ति–**खश्, कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– परिमाणवाचक कर्म उपपद रहते पच् धातु से खश् प्रत्यय होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्रवत् 'खश्' तथा 'कर्मणि' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''परिमाणी कर्म उपपद हो तो पच् धातु से खश् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) प्रस्थं पचतीति– प्रस्थ + ✓ पच् + खश् (= 'अ'–'परिमाणे पचः', सुब्लुक्, मुम् = 'म्' आगम–'अरुः०', म् = = 'म्'–परसवर्ण, प्राति० संज्ञा, टाप् = 'आ', दीर्घ, सु, सु = 'स्', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः') = प्रस्थम्पचा (सेरभर अन्न पकाने वाली बटलोई)। (२) खारीं पचतीति– खारी + ✓ पच् + खश् (= 'अ'–'परिमाणे पचः', सुब्लुक्, 'ई' = 'इ'– ह्रस्व–'खित्यनव्ययस्य', मुम् = 'म्', अनुस्वार, परसवर्ण, सु = र् = :) = खारिम्पचः कटाहः (खारीभर पका सकने वाला कढ़ाह)।

(११०५) **पद–** मितनखे, च। **अनुवृत्ति–** पचः, खश्, कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– मित और नख कर्मोपपदक पच् धातु से भी खश् प्रत्यय होता है। मितम्पचा ब्राह्मणी। नखम्पचा यवागूः।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११०४) से 'पचः', 'एजेः खश्' (१०९७) से 'खश्' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति यहाँ आ रही है। तदनुसार– ''मित और नख कर्म उपपद हों तो भी पच् धातु से खश् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) मितं पचति– मित + ✓ पच् + खश् (= 'अ'–'मितनखे च', सुब्लुक्, मुम् = 'म्' आगम, अनुस्वार, परसवर्ण, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ', दीर्घ, प्राति० संज्ञा, सु, स् का लोप) = मितम्पचा ब्राह्मणी (= परिमित अन्न पकाने वाली ब्राह्मणी)। (२) नखं पचति– नख + ✓ पच् + खश् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = नखम्पचा यवागूः (गरम-गरम गीला हलुआ)।

विध्वरुषोस्तुदः ३।२।३५ । विधुन्तुदः। अरुन्तुदः। **(११०७) असूर्य-ललाटयोर्दृशितपोः ३।२।३६** ।'असूर्य'मित्यसमर्थसमासः, दृशिना नञः सम्बन्धात्। असूर्यम्पश्या राजदाराः। ललाटन्तपः सूर्यः। **(११०८) प्रियवशे वदः खच्**

(११०६) **विध्वरुषोरिति**। विधु, अरुस् इत्यनयोः कर्मणोरुपपदयोः तुदः खश् स्यादित्यर्थः। **विधुन्तुद इति**। विधुं तुदतीति विग्रहे 'विध्वरुषोस्तुदः' इत्यनेन विधूपपदात् तुद्धातोः खश्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, समासे, सुपो लुकि, मुमि, अनुस्वारे परसवर्णे च कृते, प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'विधुन्तुदः' इति सिद्धम्।

(११०७) **असूर्येति**। असूर्ये ललाटे च कर्मण्युपपदे दृशेः तपेश्च खश् स्यादित्यर्थः। **असूर्यम्पश्येति**। न सूर्यं पश्यन्तीत्यर्थे दृश्धातोः 'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' इति खशि अनुबन्धलोपे निपातान्नञ्समासे नलोपे, सुब्लुकि, 'अरुः' इत्यादिना मुमि, अनुस्वारे 'पाघ्राध्मे'ति दृशः पश्यादेशे परसवर्णे स्त्रीत्वाट्टापि, दीर्घे प्रातिपदिकत्वे जसि पूर्वसवर्णदीर्घे रुत्वे विसर्गे च कृते 'असूर्यम्पश्याः' इति रूपम्।

(११०६) **पद**– विध्वरुषोः, तुदः। **अनुवृत्ति**– खश्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– विधु और अरुस् कर्म उपपद रहते तुद् धातु से खश् प्रत्यय होता है। विधुन्तुदः। अरुन्तुदः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में भी पूर्ववत् 'खश्' तथा 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। अतः "विधु और अरुस् कर्म उपपद हों तो तुद् धातु से भी खश् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण– (१) विधुं = चन्द्रं तुदति– विधु + ✓ तुद् + खश् (= 'अ'–'विध्वरुषोस्तुदः', सुब्लुक्, मुम् = 'म्' = अनुस्वार = 'न्'– परसवर्ण, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = विधुन्तुदः (चन्द्रमा को व्यथित करने वाला)। (२) अरुः तुदति– अरुस् + ✓ तुद् + खश् (= 'अ', उकार से परे मुम् = 'म्', सुब्लुक्, 'स्' का संयोगान्तलोप, म् = ं अनुस्वार = परसवर्ण 'न्', विभक्तिकार्य) = अरुन्तुदः (मर्मवेधी)।

(११०७) **पद**– असूर्यललाटयोः, दृशितपोः। **अनुवृत्ति**– खश्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– असूर्य और ललाट कर्म के उपपद रहते क्रमशः दृश् और तप् धातु से खश् होता है। 'असूर्य' यह सामर्थ्याभाव में भी समास है, क्योंकि 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' में सूर्य के साथ नञ् (अ) का सम्बन्ध नहीं है। 'सूर्यं न पश्यन्ति' अर्थ में नञ् का दृश् के साथ अन्वय होने से सूर्य के साथ नञ् का अन्वय नहीं होता। ललाटन्तपः सूर्यः।

विमर्श– पूर्वसूत्रवत् 'खश्' और 'कर्मणि' की इस सूत्र में भी अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "असूर्य और ललाट कर्म उपपद हों तो यथासंख्य से दृशिर् और तप् धातुओं से खश् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण– (१) न सूर्यं पश्यन्ति– असूर्य + ✓ दृश् + खश् (= 'अ'–'असूर्यललाटयो-र्दृशितपोः', निपातनात् नञ्समास, 'न्' का लोप, सुब्लुक्, मुम् = 'म्', अनुस्वार, 'दृश्' = 'पश्य'–'पाघ्राध्मा०', परसवर्ण, टाप् = 'आ'–दीर्घ, प्राति० संज्ञा, जस् = अस्, आ + अ = 'आ'–पूर्वसवर्णदीर्घ, स् = र् = :) = असूर्यम्पश्याः राजदाराः (सूर्य को न देखने वाली राजाओं की स्त्रियाँ)। (२) ललाटं तपति– ललाट + ✓ तप् + खश् (= 'अ', मुम् = 'म्', अनुस्वार, परसवर्ण, विभक्तिकार्य) = ललाटन्तपः सूर्यः (माथे को तपाने वाला सूर्य)।

३।२।३८ । प्रियंवदः। वशंवदः। * गमेः सुपि वाच्यः *। मितङ्गमो हस्ती। * विहायसो विह च, खच्च डिद्वा वाच्यः *। विहङ्गमः। विहङ्गः। भुजङ्गमः। भुजङ्गः। (११०९) द्विषत्परयोस्तापे ३।२।३९ । (१११०) खचि ह्रस्वः ६।४।९४ । खचि परे णौ

(११०८) **प्रियवश इति**। प्रिये वशे च कर्मण्युपपदे वद्धातोः खच् स्यादित्यर्थः। **प्रियंवद इति**। प्रियं वदतीत्यस्मिन् विग्रहे प्रियोपपदाद् वद्धातोः 'प्रियवशे वदः खच्' इत्यनेन खच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे उपपदसमासे सुपो लुकि, 'अरुः०' इत्यनेन मुमि अनुबन्धलोपेऽनुस्वारे प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'प्रियवदः' इति सिद्धम्।

(११०९) **द्विषदिति**। 'प्रियवशे' इत्यतः खचित्यनुवर्तते। अतो द्विषति परे च कर्मण्युपपदे तापेः खच् स्यादित्यर्थः।

(११०८) **पद**– प्रियवशे, वदः, खच्। **अनुवृत्ति**– कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– प्रिय और वश कर्म उपपद रहते वद् धातु से खच् प्रत्यय होता है। प्रियंवदः। वशंवदः।

(वा०)– सुबन्त कर्म उपपद रहते गम् धातु से खच् होता है। मितङ्गमो हस्ती।

(वा०)– 'विहायस्' शब्द उपपद रहते गम् धातु से खच् प्रत्यय होता है और विहायस् को विह् आदेश होता है तथा खच् प्रत्यय विकल्प से डित्वत् होता है। विहङ्गमः इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार–''प्रिय या वश कर्म के उपपद रहने पर वद् धातु से खच् प्रत्यय होता है''। 'खच्' प्रत्यय में खकार की 'लशक्वतद्धिते' से तथा चकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। 'अ' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) प्रियं वदति– प्रिय + ✓ वद् + खच् (= 'अ'–'प्रियवशे वदः खच्', कृद्योग में षष्ठी)– प्रिय ङस् वद् अ (उपपद समास, सुब्लुक्, मुम् = 'म्' का आगम–'अरुः०', म् = ं अनुस्वार, परसवर्ण, विभक्तिकार्य) = प्रियंवदः (प्रिय बोलने वाला, मधुरभाषी)। (२) वशं वदतीति– वश + ✓ वद् + खच् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = वशंवदः (= वशवर्ती, आज्ञाकारी)। (३) मितं गच्छति– मित + ✓ गम् + खच् (= 'अ'–'गमेः सुपि वाच्यः', समास, सुब्लुक्, मुम् = 'म्', अनुस्वार, परसवर्ण, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = मितङ्गमः (हाथी)। (४) विहायसा गच्छति– विहायस् + ✓ गम् + खच् (= 'अ', विहायस् = 'विह'–आदेश, खच् को डिद्वद्भाव विकल्प से–'विहायसो विह च, खच्च डिद्वा वाच्यः', समास, सुब्लुक्, मुम्, अनुस्वार, परसवर्ण, डित्त्वसामर्थ्य से टि = 'अम्' का लोप, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = विहङ्गः। डित्त्वाभावपक्ष में–विहङ्गमः (पक्षी)। (५) भुजैर्गच्छति– भुज + ✓ गम् + खच् (आदि पूर्ववत्) = भुजङ्गः। भुजङ्गमः (= सर्प)।

(११०९) **पद**– द्विषत्परयोः, तापेः। **अनुवृत्ति**– खच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मसंज्ञक द्विषत् और पर शब्द उपपद होने पर तापि (ण्यन्त) धातु से खच् प्रत्यय होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११०८) से 'खच्' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''द्विषत् तथा पर कर्म उपपद हों तो ण्यन्त तप धातु से खच् प्रत्यय होता है।''

उपधाया ह्रस्वः स्यात्। द्विषन्तं, परं वा तापयति– द्विषन्तपः, परन्तपः। (१११११) वाचि यमो व्रते ३।२।४० । खच्। (१११२) वाचंयमपुरन्दरौ च ६।३।६९ । वाक्पुरो रमन्तत्वं निपात्यते। वाचंयमो मौनव्रती। व्रते किम्? अशक्त्यादिना वाचं

(१११०) **खचीति**। खचि परे णौ उपधाया ह्रस्वत्वमिति। **द्विषन्तप इति**। द्विषन्तं तापयतीति विग्रहे द्विषदुपपदात् ण्यन्तात् तापि धातोः 'द्विषत्परयोस्तापे' इति खचि समासे सुपो लुकि 'खचि ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वत्वे 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'अरुः' इति मुमि, अनुबन्धलोपे मस्यानुस्वारे परसवर्णे, द्विषन् तप इति जाते, 'संयोगान्तस्य लोपः' इति पूर्वतकारस्य लोपे संयोगे प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'द्विषन्तपः' इति।

(११११) **वाचीति**। वाक्पदे उपपदे व्रते गम्ये यम्धातोः खच् स्यादित्यर्थः।

(१११२) **वाचंयम इति**। खचि परतोऽमन्तत्वं निपात्यत इत्यर्थः। **वाचंयमः**– वाचं यच्छतीति विग्रहे 'वाचि यमो व्रते' इति खचि, अनुबन्धलोपे सुपो लुकि 'वाचंयमपुरन्दरौ चे'त्यनेन निपातनादमन्तत्वे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'वाचंयमः' इति।

(१११०) **पद**– खचि, ह्रस्वः। **अनुवृत्ति**– णौ, उपधायाः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– खच्परक णि के परवर्ती रहते धातु की उपधा को ह्रस्व होता है। द्विषन्तपः। परन्तपः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'ऊदुपधाया गोहः' (६।४।८९) से 'उपधायाः' तथा 'दोषो णौ' (६।४।९०) से 'णौ' की अनुवृत्ति आती है। अतः "खच् परे है जिससे, ऐसे णि के परे रहते उपधा को ह्रस्व होता है।"

उदाहरण– (१) द्विषन्तं तापयति– द्विषत् + ✓ तापि (ण्यन्त) + खच् (= 'अ'– 'द्विषत्परयोस्तापेः', समास, सुप् का लुक्, 'आ' = 'अ'–उपधाह्रस्व–'खचि ह्रस्वः', णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि', मुम् = 'म्', अनुस्वार, परसवर्ण)– द्विषन् तप (पूर्व 'त्' का लोप–'संयोगान्तस्य लोपः' प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = द्विषन्तपः (शत्रुओं को तपाने वाला)। (२) इसी प्रकार– परन्तपः।

(११११) **पद**– वाचि, यमः, व्रते। **अनुवृत्ति**–खच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मभूत वाच् शब्द के उपपद रहते यम् धातु से खच् प्रत्यय होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११०८) से खच् तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आ रही है। 'धातोः' का अधिकार है। अतः "वाच् कर्म उपपद हो तो यम् धातु से व्रत अर्थ गम्यमान होने पर खच् प्रत्यय होता है।"

(१११२) **पद**– वाचंयम-पुरन्दरौ, च। **अनुवृत्ति**– अम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– वाच् और पुर् को अमन्तत्व निपातन होता है। वाचंयमः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'इच एकाचो०' (६।३।६८) से 'अम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "वाचंयम और पुरन्दर शब्दों में भी पूर्वपदों को अम् आगम निपातन किया जाता है।"

उदाहरण– वाचं यच्छति– वाच् + ✓ यम् + खच् (= 'अ'–'वाचि यमो व्रते', समास, सुप् का लुक्, निपातनात् अमन्तत्व–'वाचंयमपुरन्दरौ च' प्राति० संज्ञा, सु = र् = :) = वाचंयमः (= वाणी पर संयम रखने वाला, मौनव्रती)।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में 'व्रते' पद का ग्रहण होने से व्रतार्थ से भिन्न अर्थ में 'खच्' नहीं होता। वाक् + ✓ यम् + अण् (= 'अ'–'कर्मण्यण्', सुब्लुक्, उपधावृद्धि, विभक्तिकार्य) = वाग्यामः (असामर्थ्य से न बोलने वाला)।

यच्छतीति वाग्यामः। (१११३) पूःसर्वयोर्दारिसहोः ३।२।४१ । खच् स्यात्। पुरं दारयतीति पुरन्दरः। सर्वंसहः। भगं दारयतीति भगन्दर इति कथम्? बाहुलकात्। (१११४) सर्वकूलाऽभ्रकरीषेषु कषः ३।२।४२ । सर्वङ्कषः खलः। कूलङ्कषा नदी। अभ्रङ्कषो वायुः। करीषङ्कषा वात्या। (१११५) मेघर्तिभयेषु कृञः ३।२।४३ ।

(१११३) **पूः सर्वयोरिति**। पुर्शब्दे सर्वशब्दे च कर्मवाचिन्युपपदे दारेः सहेश्च खच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **पुरन्दर इति**। पुरं दारयतीति विग्रहे ण्यन्ताद् दारेः 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे सुब्लुकि, णिलोपे 'वाचंयमपुरन्दरौ चे'ति निपातनादमन्तत्वेऽनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'पुरन्दरः' इति।

(१११४) **सर्वकूलेति**। एषूपपदेषु सत्सु कष्धातोः खच्भवतीत्यर्थः। **सर्वङ्कष इति**। सर्वं कषतीति विग्रहे सर्वोपपदात् कष्धातोः 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' इति खचि अनुबन्धलोपे सुब्लुकि, मुम्यनुस्वारे, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'सर्वङ्कषः' इति रूपम्।

(१११३) **पद**– पूःसर्वयोः, दारिसहोः। **अनुवृत्ति**– खच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मभूत पुर् और सर्व शब्दों के उपपद रहते क्रमशः दारि और सह् धातु से खच् प्रत्यय होता है। पुरन्दरः। सर्वंसहः इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् 'खच्' तथा 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–"पुर् और सर्व पद उपपद हों तो 'दॄ विदारणे' (ण्यन्त–दारि) तथा सह धातु से क्रमशः खच् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण– (१) पुरं दारयति– पुर् + ✓ दारि(ण्यन्त) + खच् (= 'अ'–'पूःसर्वयोर्दारिसहोः', णि = 'इ' का लोप, उपधाह्रस्व–'खचि ह्रस्वः', समास, सुप् का लुक्, 'अम्' निपातन से–'वाचंयम०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = पुरन्दरः (किले को तोड़ने वाला)। (२) सर्वं सहते– सर्व + ✓ सह् + खच् (= 'अ', समास, सुब्लुक्, अमन्तत्व निपातन से, अनुस्वार, विभक्तिकार्य) = सर्वंसहः (= सब कुछ सहन करने वाला)। (३) **भगं दारयतीति**– यहाँ उक्त सूत्रों से खच् आदि सम्भव नहीं है तो 'भगन्दरः' प्रयोग कैसे सिद्ध होता है? इस आशङ्का के निवारणार्थ मूलकार ने 'बाहुलकात् खच्' कहा है। अर्थात् बहुल ग्रहण से अप्राप्त खच् भी यहाँ होता है।[1]

(१११४) **पद**–सर्वकूलाऽभ्रकरीषेषु, कषः। **अनुवृत्ति**– खच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मसंज्ञक, सर्व, कूल, अभ्र और करीष सुबन्त उपपद रहते कष् धातु से खच् प्रत्यय होता है। सर्वङ्कषः खलः। कूलङ्कषा नदी इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् 'खच्' तथा 'कर्मणि' की प्रकृत सूत्र में अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "सर्व, कूल, अभ्र और करीष कर्म उपपद होने पर कष् धातु से खच् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण– (१) सर्वं कषति– सर्व + ✓ कष् + खच् (= 'अ'–'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः', समास, सुब्लुक्, मुम् = 'म्'–'अरु:०', म् = अनुस्वार = 'ङ्'–परसवर्ण, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = सर्वङ्कषः (सबको पीडा पहुँचाने वाला दुष्ट)। (२) कूल + ✓ कष् + खच् (आदि उक्तवत्, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्, दीर्घ, सुलोप) = कूलङ्कषा नदी (किनारे को तोड़ने वाली नदी)। (३) अभ्र + ✓ कष् + खच् (आदि उक्तवत् प्रक्रिया) = अभ्रङ्कषः वायुः (= गगनचुम्बी वायु)। (४) करीष + ✓ कष् + खच् आदि = करीषङ्कषा वात्या (शुष्क गोबर को भी उड़ा ले जाने वाली आँधी)।

---

१. 'भगे च दारेः'–काशिका ।

मेघङ्करः। ऋतिङ्करः। भयङ्करः। भयशब्देन तदन्तविधिः। अभयङ्करः। (१११६) क्षेमप्रियमद्रेऽण् च ३।२।४४। एषु कृञोऽण् स्यात्। चात्खच्। क्षेमङ्करः। क्षेमकारः। प्रियङ्करः। प्रियकारः। मद्रङ्करः। मद्रकारः। कथं तर्हि–'अल्पारम्भाः क्षेमकराः' इति? कर्मणः शेषत्वविवक्षायां पचाद्यच्। एवं गङ्गाधर-भूधरादयः। (१११७) आशिते

(१११५) **मेघर्तिभयेष्विति**। एषूपपदेषु कृञः खच्स्यादित्यर्थः। **भयशब्देनेति**। भयशब्दान्ते उपपदेऽपि खच् भवतीति भावः।

(१११६) **क्षेमप्रियेति**। एषूपपदेषु कृञः खजणौ भवतः। **क्षेमङ्करः**– क्षेमं करोतीति विग्रहे क्षेमोपपदात् कृधातोः 'क्षेमप्रियमद्रेऽण् चे'ति चकारात् खचि अनुबन्धलोपे, सुब्लुकि, मुमि अनुस्वारे, परसवर्णे, गुणे रपरे, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'क्षेमङ्करः' इति। अण्पक्षे वृद्धौ रपरत्वे मुमभावे सौ रुत्वे विसर्गे 'क्षेमकारः' इति च रूपम्।

(१११५) **पद**– मेघर्तिभयेषु, कृञः। **अनुवृत्ति**– खच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मभूत मेघ, ऋति और भय शब्दों के उपपद रहते कृ धातु से खच्प्रत्यय होता है। मेघङ्करः। ऋतिङ्करः इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११०८) से खच् तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''मेघ, ऋति और भय कर्म उपपद हों तो कृञ् धातु से खच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) मेघं करोति– मेघ + ✓ कृ + खच् (= 'अ'- 'मेघर्त्तिभयेषु कृञः', समास, सुब्लुक्, मुम् = 'म्' = अनुस्वार, परसवर्ण, 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = मेघङ्करः (= बादल बनाने वाला)। (२) उक्तवत्–ऋतिङ्करः (स्पर्धा करने वाला)। (३) भयङ्करः (= भीषण)। **भयशब्देनेति**। भय शब्द से तदन्तविधि होती है। तदनुसार– भय शब्दान्त से भी खच् प्रत्यय होता है। (४) अभयङ्करः (= अभय करने वाला)।

(१११६) **पद**– क्षेमप्रियमद्रे, अण्, च। **अनुवृत्ति**– कृञः, खच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– क्षेम, प्रिय और मद्र कर्म के उपपद रहते कृ धातु से अण् प्रत्यय होता है, पक्ष में खच् प्रत्यय भी होता है। क्षेमङ्करः। क्षेमकारः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१११५) से 'कृञः', 'प्रियवशे वदः०' (११०८) से 'खच्' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''क्षेम, प्रिय और मद्र कर्म उपपद हों तो कृ धातु से अण् प्रत्यय होता है, चकार से 'खच्' भी होता है।''

उदाहरण– (१) क्षेमं करोति– क्षेम + ✓ कृ + अण् (= 'अ'–'क्षेमप्रियमद्रेऽण् च', ऋ = 'आ'–वृद्धि, रपर, मुम्, अनुस्वार, परसवर्ण, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = क्षेमकारः। खच् पक्ष में–क्षेमङ्करः (= कुशलता करने वाला)। (२) उक्तवत् प्रियङ्करः, प्रियकारः (= प्रिय करने वाला)। (३) मद्रङ्करः, मद्रकारः (= भला करने वाला)।

कथं तर्हीति। प्रकृत सूत्र से क्षेम कर्म उपपद होने पर ✓ कृ से अण् तथा खच् विधान होने पर 'अल्पारम्भाः क्षेमकराः' प्रयोग कैसे सिद्ध होगा? इस आशङ्का के निवारणार्थ कहा गया है कि क्षेमरूप कर्म की शेषत्व विवक्षा कर यहाँ 'पचाद्यच्' से अच् प्रत्यय करने से 'क्षेमकरः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'गङ्गाधरः, भूधरः' इत्यादि प्रयोग निष्पन्न होते हैं।

भुवः करणभावयोः ३।२।४५ । खच् स्यात्। आशितो भवत्यनेन आशितम्भव ओदनः। आशितस्य भवनम् आशितम्भवः। **(१११८) संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः ३।२।४६ ।** खच् स्यात्। विश्वं बिभर्त्तीति–विश्वम्भरः। रथन्तरं साम। शत्रुञ्जयो हस्ती। युगन्धरः पर्वतः। शत्रुंसहः। शत्रुन्तपः। अरिन्दमः। **(१११९) गमश्च ३।२।४७ ।** सुतङ्गमः। **(११२०) अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः**

(१११७) **आशित इति**। खचित्यनुवर्तते। आशितशब्दे उपपदे करणे भावे चार्थे भूधातोः खच् स्यादित्यर्थः।

(१११८) **संज्ञायामिति**। खचित्यनुवर्तते। सुबन्तोपपदेषु भृतॄवृजीत्यादिधातुषु सत्सु संज्ञायां खच् भवतीत्यर्थः। **विश्वम्भर इति**। विश्वं बिभर्त्तीति विग्रहे विश्वोपपदाद् भृधातोः 'संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः' इत्यनेन खच्यनुबन्धलोपे समासे सुपो लुकि, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमि, अनुबन्धलोपे मस्यानुस्वारे परसवर्णे, गुणे रपरत्वे प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, रुत्वे विसर्गे 'विश्वम्भरः' इति।

(१११९) **गमश्चेति**। संज्ञायां गम्धातोरपि खच् स्यादित्यर्थः।

(१११७) **पद–** आशिते, भुवः, करणभावयोः। **अनुवृत्ति**–खच्, सुपि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– सुबन्त आशित शब्द उपपद हो तो करण और भाव अर्थ में भू धातु से खच् प्रत्यय होता है। आशितम्भवः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'सुपि स्थः' (१०७६) से 'सुपि' तथा 'प्रियवशे०' (११०८) से 'खच्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''आशित सुबन्त उपपद हो तो भू धातु से करण और भाव अर्थ में खच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– आशितो भवत्यनेनेति– आशित + ✓ भू + खच् (= 'अ'–करणार्थ में– 'आशिते०', सुब्लुक्, मुम् = 'म्', अनुस्वार, परसवर्ण, 'ऊ' = 'ओ'–गुण, ओ = 'अव्' आदेश, सु = स् = र् = :) = आशितम्भवः ओदनः (जिसके द्वारा तृप्त हुआ जाता है, ऐसा भात)। भाव अर्थ में–आशितस्य भवनम् (तृप्त होना)।

(१११८) **पद–** संज्ञायाम्, भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः। **अनुवृत्ति–** खच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्म उपपद रहते भृ, तॄ आदि धातुओं से संज्ञा अर्थ में खच् प्रत्यय होता है। विश्वम्भरः इत्यादि।

विमर्श– उक्तवत् 'खच्' तथा 'कर्मणि' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''संज्ञा अर्थ में कर्म के उपपद रहते भृ, तॄ, वृ, जि, धारि, सह्, तप् और दम् धातुओं से खच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) विश्वं बिभर्ति– विश्व + ✓ भृ + खच् (= 'अ'–'संज्ञायाम्०', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, सुब्लुक्, मुम् = म् = अनुस्वार = परसवर्ण, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = विश्वम्भरः (विश्व का भरण–पोषण करने वाला, परमेश्वर)। (२) रथ + ✓ तॄ + खच् (उक्तवत् प्रक्रिया) = रथन्तरं साम (सामगान-विशेष)। (३) शत्रु + ✓ जि + खच् = शत्रुञ्जयः (शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हाथी)। (४) युग + ✓ धृ + खच् = युगन्धरः (पर्वत)। (५) शत्रु + ✓ सह् + खच् = शत्रुंसहः (शत्रु को सहन करने वाला)। (६) शत्रु + ✓ तप् + खच् = शत्रुन्तपः (शत्रु को तपाने वाला)। (७) अरि + ✓ दम् + खच् = अरिन्दमः (शत्रु का दमन करने वाला)।

(१११९) **पद–** गमः, च। **अनुवृत्ति–** संज्ञायाम्, खच्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

३।२।४८ । गमेर्डः स्यात्। अन्तगः। * सर्वत्र पन्नयोरिति वाच्यम् *। सर्वत्रगः। पन्नं = पतितं गच्छतीति पन्नगः। * उरसो लोपश्च *। उरसा गच्छतीति उरगः। * सुदुरोरधिकरणे *। सुखेन गच्छत्यत्र–सुगः। दुर्गः। * अन्यत्रापि दृश्यत इति वाच्यम् *। ग्रामगः। * डे च विहायसो विहादेशो वाच्यः *। विहगः।(११२१) आशिषि हनः ३।२।४९ ।

(११२०) **अन्तात्यन्तेति**। 'गमश्चे'त्यतो गम इत्यनुवर्तते। तदाह–**गमेर्ड इति। अन्तग इति**। अन्तं गच्छतीति विग्रहे 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इत्यनेन डप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, डित्त्वाट्टिलोपे सुब्लुकि, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'अन्तगः' इति।

मूलार्थ– कर्मोपपदक गम् धातु से भी संज्ञा अर्थ में खच् प्रत्यय होता है। सुतङ्गमः।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु पूर्वसूत्र (१११८) से 'संज्ञायाम्', 'प्रियवशे०' (११०८) से 'खच्' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की यहाँ अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''संज्ञा अर्थ में कर्म उपपद रहते गम् धातु से भी खच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– सुतं गच्छति– सुत + ✓ गम् + खच् (= 'अ'–'गमश्च', सुब्लुक्, मुम् = 'म्'–अनुस्वार, परसवर्ण, सु = स् = र् = :) = सुतङ्गमः (व्यक्ति-विशेष)।

(११२०) **पद–** अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु, डः। **अनुवृत्ति–** गमः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मभूत अन्त, अत्यन्त आदि सुबन्त उपपद रहें तो गम् धातु से ड प्रत्यय होता है। अन्तगः।

(वा०)– सर्वत्र और पन्न कर्म उपपद में हों तो गम् धातु से ड प्रत्यय होता है, ऐसा कहना चाहिए। सर्वत्रगः। पन्नगः।

(वा०)– 'उरस्' शब्दपूर्वक गम् धातु से भी ड प्रत्यय होता है और टि का लोप होता है। उरगः।

(वा०)– सु और दुर् उपपद रहते अधिकरण अर्थ में गम् धातु से ड प्रत्यय होता है। सुगः। दुर्गः।

(वा०)– अन्य सुबन्त उपपद रहते भी गम् धातु से ड प्रत्यय होता है। ग्रामगः।

(वा०)– ड प्रत्यय के परवर्ती रहते 'विहायस्' शब्द को विह आदेश होता है। विहगः।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१११९) से 'गमः' की अनुवृत्ति प्रकृत सूत्र में आती है। पूर्ववत् 'कर्मणि' की भी अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार– ''अन्त, अत्यन्त, अध्व, दूर, पार, सर्व और अनन्त कर्म उपपद रहते गम् धातु से ड प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) अन्तं गच्छति– अन्त + ✓ गम् + ड (= 'अ'–'अन्तात्यन्ताध्व०', सुब्लुक्, डित्त्व-सामर्थ्य से टि = 'अम्' का लोप– 'डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अन्तगः (अन्त को प्राप्त करने वाला)। (२) सर्वत्र + ✓ गम् + ड (= 'अ'–'सर्वत्रपन्नयोरिति वाच्यम्' वा० से, टिलोप, विभक्तिकार्य) = सर्वत्रगः। (३) पन्न + ✓ गम् + ड = पन्नगः (सर्प)। (४) उरस् + ✓ गम् + ड = ('अ'–'उरसो लोपश्च' वा० से ही टि 'अस्' का लोप, सुब्लुक्, विभक्ति-कार्य) = उरगः (सर्प)। (५) सु + ✓ गम् + ड (= 'अ'–'सुदुरोरधिकरणे' टिलोप, विभक्तिकार्य) = सुगः (सुखपूर्वक जाने वाला)। (६) दुर् + गम् + ड = दुर्गः (= कष्टपूर्वक गमनवाला)। (७) ग्राम + ✓ गम् + ड = ग्रामगः (गाँव जाने वाला)। (८) विहायसि गच्छति– विहायस् + ✓ गम् + ड (= 'अ', विहायस् = विह–'डे च विहायसो विहादेशो वाच्यः', टिलोप, सु = स् = र् = :) = विहगः (पक्षी)।

हन्तेः कर्मण्युपपदे डः स्यादाशिषि। शत्रुं वध्यात्–शत्रुहः। आशिषि किम्–शत्रुघातः। * दारावाहनोऽणन्तस्य च टः संज्ञायाम् *। दारुशब्दे उपपदे आङ्पूर्वाद्धन्तेरण् स्याट्-टकारश्चान्तादेशो वक्तव्य इत्यर्थः। दार्वाघाटः। * चारौ वा *। चार्वाघाटः। चार्वाघातः। **(११२२) अपे क्लेशतमसोः ३।२।५०।** क्लेशतमसोः कर्मणोरुपपदयोरपपूर्वाद्धन्ते र्डः। अनाशीरर्थमिदम्। क्लेशापहः पुत्रः। तमोपहः सूर्यः। **(११२३) कुमारशीर्षयोर्णिनिः**

(११२१) **आशिषीति**। 'ड' इति 'कर्मणि' इति चानुवर्तेते। तदाह–**हन्तेरित्यादिना**। **शत्रुहः**– शत्रुं वध्यादित्यर्थे शत्रुशब्दोपपदात् हन्धातोः 'आशिषि हनः' इति डप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे टेर्लोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'शत्रुहः' इति।

(११२२) **अप इति**। 'आशिषि हनः' इत्येव सिद्धे आशीर्वादभिन्नविषयार्थमिदं सूत्रम्। हन इति ड इति चानुवर्तते। तदाह–**क्लेशतमसोरिति। क्लेशापह इति**। क्लेशमपहन्तीति विग्रहे क्लेशापपूर्वाद्धन्तेः 'अपे क्लेशतमसोः' इत्यनेन डप्रत्यये टेर्लोपे, सौ रुत्वे विसर्गे 'क्लेशापहः' इति।

(११२१) **पद**– आशिषि, हनः। **अनुवृत्ति**– डः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्म उपपद रहते हन् धातु से आशीर्वाद अर्थ में ड प्रत्यय होता है। शत्रुहः। आशिषि किम्? शत्रुघातः।

(वा०)– कर्मभूत दारु शब्द उपपद हो तो आङ्पूर्वक हन् धातु से अण् प्रत्यय होता है। हन् को टकार अन्तादेश भी होता है। दार्वाघाटः।

(वा०)– चारु शब्द उपपद रहते आङ्पूर्वक हन् धातु से अण् और टकारान्त आदेश विकल्प से होते हैं। चार्वाघाटः। चार्वाघातः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (११२०) से 'डः' की तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''आशीर्वाद अर्थ गम्यमान होने पर कर्म उपपद रहते हन् धातु से ड प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– शत्रुं वध्यात्– शत्रु + ✓ हन् + ड (= 'अ'–'आशिषि हनः', सुब्लुक्, टि = 'अन्' का लोप, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = शत्रुहः (शत्रु को मारने वाला)।

प्रत्युदाहरण– (१) प्रकृत सूत्र में 'आशिषि' पद का ग्रहण होने से आशीर्वाद-भिन्न अर्थ में 'ड' नहीं होता। शत्रु + ✓ हन् + अण् (= 'अ'–'कर्मण्यण्', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्ते०', 'न्' = 'त्'–'हनस्त०', उपधावृद्धि, सुब्लुक्, विभक्तिकार्य) = शत्रुघातः। (२) दारु आहन्तीति– दारु + आ + हन् + अण् (= 'अ', 'न्' = 'ट्'–'दारावाहनो०', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्तेः', 'उ' = 'व्'–यण्, उपधावृद्धि, सुब्लुक्, सु = स् = र् = :) = दार्वाघाटः। (३) चारु + आ + ✓ हन् + अण् (= 'अ', 'न्' = 'ट्' विकल्प से–'चारौ वा', 'ह्' = 'घ्', यण्, उपधावृद्धि, विभक्तिकार्य) = चार्वाघाटः। टकारान्त आदेश के अभाव पक्ष में–**चार्वाघातः**।

(११२२) **पद**– अपे, क्लेशतमसोः। **अनुवृत्ति**– हनः, डः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– क्लेश और तम कर्म उपपद रहते अप-पूर्वक हन् धातु से ड प्रत्यय होता है। आशीर्वाद से भिन्न अर्थ में ड विधान करने के लिए यह सूत्र है। क्लेशापहः पुत्रः। तमोऽपहः सूर्यः।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११२०) से 'डः', 'आशिषि हनः' (११२१) से 'हनः' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''क्लेश तथा तमस् कर्म उपपद रहते अप उपसर्गपूर्वक हन् धातु से ड प्रत्यय होता है।''

३।२।५१ । कुमारशीर्षयोः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेर्णिनिः स्यात्। कुमारघाती। शिरसः शीर्षभावो निपात्यते। शीर्षघाती। (११२४) लक्षणे जायापत्योष्टक् ३।२।५२ । जायापत्योः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेष्टक् स्याल्लक्षणवति कर्तरि। जायाघ्नो ना। पतिघ्नी

(११२३) **कुमारेति**। अनयोरुपपदयोर्हन्तेर्णिनिः स्यादित्यर्थः। **कुमारघाती**– कुमारं हन्तीति विग्रहे कुमारोपपदाद् हन्धातोः 'कुमारशीर्षयोर्णिनिः' इति णिनिप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'हनस्तो' इति नकारस्य तकारे, 'हो हन्ते०' इति घत्वे सुब्लुकि, उपधावृद्धौ प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, 'सौ च' इति दीर्घे सोर्लोपे नलोपे 'कुमारघाती' इति।

(११२४) **लक्षण इति**। 'आशिषि हनः' इत्यतो हन इत्यनुवर्तते। तदाह– **जायापत्योरिति। जायाघ्न इति**। जायां हन्तीति विग्रहे जायोपपदाद् हन्धातोः 'लक्षणे जायापत्योष्टक्' इति टकि, अनुबन्धलोपे सुब्लुकि 'गमहन०' इत्युपधालोपे 'हो हन्ते०' इति कुत्वेन घत्वे, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'जायाघ्नः' इति।

उदाहरण– (१) क्लेशम् अपहन्ति– क्लेश + अप + ✓ हन् + ड (= 'अ'–'अपे क्लेशतमसोः', टिलोप, अ + अ = 'आ'–दीर्घ, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = क्लेशापहः पुत्रः (क्लेश को दूर करने वाला पुत्र)। (२) तमोऽपहन्ति– तमस् + अप + हन् + ड (= 'अ', पूर्ववत्प्रक्रिया) = तमोऽपहः (अन्धकार मिटाने वाला सूर्य)।

(११२३) **पद**– कुमारशीर्षयोः, णिनिः। **अनुवृत्ति**– हनः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कुमार और शिरस् कर्मोपपदक हन् धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है। निपातन से 'शिरस्' के स्थान पर 'शीर्ष' आदेश हो जाता है। कुमारघाती। शीर्षघाती।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वोक्त सूत्र 'आशिषि हनः' (११२१) से 'हनः' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आ रही है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''कुमार तथा शीर्ष कर्म उपपद हों तो हन् धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है तथा निपातन से शिरस् शब्द को शीर्ष हो जाता है''। 'णिनि' में आदि णकार की 'चुटू' से तथा अन्त्य इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा होती है। लोप होने पर इन् मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) कुमारं हन्ति– कुमार + ✓ हन् + णिनि (= 'इन्'–'कुमारशीर्षयोर्णिनिः', 'न्' = 'त्'–'हनस्तो०', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्तेः०' सुब्लुक्, उपधावृद्धि, प्रा० संज्ञा, 'सु' = 'स्', 'इ' = 'ई'–दीर्घ–'सौ च', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'न्' का लोप–'नलोपः०') = कुमारघाती। (२) शिरो हन्ति– शिरस् + ✓ हन् + णिनि ('शिरस्' = 'शीर्ष'–निपातन से, उक्तवत् प्रक्रिया) = शीर्षघाती।

(११२४) **पद**– लक्षणे, जायापत्योः, टक्। **अनुवृत्ति**– हनः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– लक्षणवान् कर्ता अर्थ गम्यमान हो तो जाया और पति कर्मोपपद हन् धातु से टक् प्रत्यय होता है। जायाघ्नः। पतिघ्नी इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वोक्त सूत्र 'आशिषि हनः' (११२१) से 'हनः' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का पूर्ववत् अधिकार है। तदनुसार– ''लक्षणवान् कर्ता अभिधेय होने पर जाया तथा पति कर्म के उपपद रहते हन् धातु से टक् प्रत्यय होता है''। 'टक्' में आदि टकार की 'चुटू' से तथा ककार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञकों का लोप हो जाने पर 'अ' शेष रहता है।

स्त्री। **(११२५) अमनुष्यकर्तृके च ३।२।५३** । अमनुष्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद्धन्तेः कर्मण्युपपदे टक् स्यात्। जायाघ्नस्तिलकालकः। पतिघ्नी पाणिरेखा। पित्तघ्नं घृतम्। अमनुष्येति किम्? आखुघातः शूद्रः। अथ कथं 'बलभद्रः प्रलम्बघ्नः, शत्रुघ्नः, कृतघ्नः' इत्यादि? मूलविभुजादित्वात्सिद्धम्। 'चोरघातो नगरघातो हस्ती'ति तु बाहुलकादण्। **(११२६) शक्तौ हस्तिकपाटयोः ३।२।५४** । शक्तौ गम्यायां हस्तिकपाटयोः

(११२५) **अमनुष्येति**। टगिति कर्मणीति चानुवर्तते। अत आह–**अमनुष्यकर्तृकेऽर्थ इत्यादि। अथ कथमिति**। प्रलम्बं हन्तीति 'प्रलम्बघ्नः', कृतं हन्तीति 'कृतघ्नः'– उभयत्रापि हन्तेर्मनुष्यकर्तृकतया कथं टगिति प्रश्नः? उत्तरमाह–**मूलविभुजादित्वात्सिद्धमिति**। मूलविभुजादिगणपाठात् कप्रत्यये कृते सति 'गमहन०' इत्युपधालोपे 'प्रलम्बघ्नः' इत्यादिरूपसिद्धिरिति भावः।

(११२६) **शक्ताविति**। हन इति टगिति चानुवर्तते। अत आह–**शक्तौ गम्यायामिति**।

उदाहरण– (१) जायां हन्ति– जाया + ✓ हन् + टक् (= 'अ'–'लक्षणे जायापत्योष्टक्', सुब्लुक्, उपधा 'अ' का लोप–'गमहन०', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्ते०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = जायाघ्नः (स्त्री को मारने वाला पुरुष)। (२) पति + ✓ हन् + टक् (= 'अ', सुब्लुक्, उपधालोप, 'ह्' = 'घ्'–घत्व, स्त्रीत्वात् ङीप्–'टिड्ढाणञ्०', प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः')= पतिघ्नी (पति को मारने वाली स्त्री)।

(११२५) **पद–** अमनुष्यकर्तृके, च। **अनुवृत्ति–** टक्, हनः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मसंज्ञक सुबन्तोपपदक हन् धातु से मनुष्यकर्तृक से भिन्न अर्थ में टक् प्रत्यय होता है। जायाघ्नस्तिलकः इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११२४) से 'टक्' तथा पूर्ववत् 'हनः' एवं 'कर्मणि' पदों की यहाँ अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''मनुष्य से भिन्न कर्ता अर्थ गम्यमान होने पर कर्म उपपद रहते हन् धातु से भी टक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) जाया + ✓ हन् + टक् (= 'अ'–'अमनुष्यकर्तृके च', सुब्लुक्, उपधा 'अ' का लोप–'गमहन०', 'ह्' = 'घ्'–घत्व, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = जायाघ्नः तिलकालकः (स्त्रीनाशक तिलक-चिह्न)। (२) पति + हन् + टक् (उक्तवत् प्रक्रिया, स्त्रीत्वात् ङीप्) = पतिघ्नी पाणिरेखा (पतिनाशक हस्तरेखा)। (३) पित्त + हन् + टक् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = पित्तघ्नं घृतम् (पित्त-नाशक घी)।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में 'अमनुष्यकर्तृके' पद का ग्रहण होने से मनुष्यकर्ता अर्थ में टक् प्रत्यय नहीं होता। आखु + ✓ हन् + अण् (= 'अ'–'कर्मण्यण्', सुब्लुक्, 'न्' = 'त्'–'हनस्तो०', 'ह्' = 'घ्', उपधावृद्धि, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = आखुघातः (चूहों को मारने वाला)।

अथ कथमिति। 'प्रलम्बं = प्रलम्बनामानमसुरं हन्तीति प्रलम्बघ्नः = बलभद्रः। कृतं हन्तीति कृतघ्नः।' इन दो प्रयोगों में मनुष्यकर्तृक अर्थ होने पर टक् क्यों होता है? इस प्रश्न के समाधानार्थ मूलकार का कथन है कि उक्त प्रयोगों में मूलविभुजादिगणपाठ से क प्रत्यय, उपधालोप इत्यादि कार्य होते हैं। तदनुसार उक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं। चोरघातः, नगरघातः, हस्ती इत्यादि में बहुल ग्रहण से अण् प्रत्यय होता है।

(११२६) **पद–** शक्तौ, हस्तिकपाटयोः। **अनुवृत्ति–** टक्, हनः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेष्टक्। मनुष्यकर्तृकार्थमिदम्। हस्तिघ्नो ना। कपाटघ्नश्चोरः। 'कवाटे'ति पाठान्तरम्। **(११२७) पाणिघताडघौ शिल्पिनि ३।२।५५** । एतौ निपात्येते शिल्पिनि कर्तरि। पाणिघः। ताडघः। शिल्पिनि किम्? पाणिघातः। * राजघ उपसंख्यानम् *। राजानं हन्ति राजघः। **(११२८) आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन् ३।२।५६** । एषु च्व्यर्थेष्वच्व्यन्तेषु

(११२७) **पाणिघताडघाविति**। पाणिताडयोरुपपदयोः हन्तेष्टक् टिलोपो घत्वं च निपात्यते शिल्पिनि गम्ये इत्यर्थः।

(११२८) **आढ्यसुभगेति**। कर्मणीत्यनुवर्तते। तदाह– **एष्विति**। ख्युन्नित्यत्र ख इत्, खित्त्वान्मुम् भवति, 'यु' इत्यस्यानादेशः। नित्वं स्वरार्थमिति विज्ञेयम्। **आढ्यङ्करणी–** अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्त्यनयेति विग्रहे आढ्योपपदात् कृधातोः 'आढ्यसुभगे'त्यादिना ख्युनि,

---

मूलार्थ– हस्ती और कपाट कर्म उपपद रहते शक्ति अर्थ द्योत्य होने पर हन् धातु से टक् प्रत्यय होता है। मनुष्यकर्तृक अर्थ में टक् विधान करने के लिए यह सूत्र है। हस्तिघ्नो ना इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् 'टक्, हनः और कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''हस्ति तथा कपाट कर्म उपपद रहते शक्ति अर्थ गम्यमान हो तो हन् धातु से टक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) हस्तिनं हन्ति– हस्ति + ✓ हन् + टक् (= 'अ'–'शक्तौ हस्तिकपाटयोः', सुब्लुक्, 'अ'–उपधालोप–'गमहन०', 'ह्' = 'घ्'– 'हो हन्तेः०' प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = **हस्तिघ्नः** (हाथी को मारने वाला मनुष्य)। (२) कपाट + हन् + टक् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = कपाटघ्नः चौरः (= किवाड़ तोड़ने वाला चोर)।

(११२७) **पद–** पाणिघताडघौ, शिल्पिनि। **अनुवृत्ति–** हनः, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– शिल्पि अर्थ में 'पाणिघ' और 'ताडघ' ये दोनों निपातन होते हैं। पाणिघः। ताडघः। शिल्पिनि किम्? पाणिघातः।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए पूर्वसूत्र (११२१) से 'हनः' तथा 'कर्मण्यण्' (१०७४) से 'कर्मणि' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''शिल्पि कर्ता वाच्य हो तो पाणिघ, ताडघ शब्दों में पाणि तथा ताड कर्म उपपद रहते हन् धातु से टक् प्रत्यय, धातु के टि अर्थात् 'अन्' भाग का लोप एवं 'ह्' के स्थान में 'घ्' निपातन किया जाता है।''

उदाहरण– (१) पाणि + ✓ हन् + टक् (= 'अ', सुब्लुक्, टि = 'अन्' का लोप, 'ह्' = 'घ्' निपातन से–पाणिघताडघौ शिल्पिनि', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = पाणिघः (मृदङ्ग बजाने वाला)। (२) ताड + हन् (टक् आदि उक्तवत् कार्य) = ताडघः।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में 'शिल्पिनि' पद का पाठ होने से शिल्पि-भिन्न अर्थ में पूर्वोक्त निपातन नहीं होते। अतः पाणि + ✓ हन् + अण् (= 'अ'–'कर्मण्यण्', 'न्' = 'त्'–'हनस्तो०', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्ते०', उपधावृद्धि, विभक्तिकार्य) = पाणिघातः।

(११२८) **पद–** आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु, च्व्यर्थेषु, अच्वौ, कृञः, करणे, ख्युन्। **अनुवृत्ति–** कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– च्व्यर्थक = अभूततद्भावार्थक अच्व्यन्त आढ्य, सुभग आदि कर्म उपपद रहते कृञ् धातु से ख्युन् प्रत्यय होता है। आढ्यङ्करणी इत्यादि।

कर्मसूपपदेषु कृञः ख्युन्। अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्त्यनया–आढ्यङ्करणी। अच्वौ किम्? आढ्यीकुर्वन्त्यनेन। (११२९) कर्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ ३।२।५७। आढ्यादिषु च्व्यर्थेष्वच्व्यन्तेषु भवतेरेतौ स्तः। अनाढ्य आढ्यो भवति–आढ्यम्भविष्णुः।

अनुबन्धलोपे सुब्लुकि, 'युवोरनाकौ' इत्यनेनानादेशे ऋकारस्य गुणे अत्वे रपरत्वे, खित्त्वात् पूर्वपदस्य मुमि, अनुस्वारे परसवर्णे, नस्य णत्वे ङीपि सौ, हल्ङ्यादिलोपे 'आढ्यङ्करणी' इति रूपम्।

(११२९) **कर्तरि भुव इति**। आढ्यसुभग इत्यतः च्व्यर्थेष्वच्वावित्यनुवर्तते। तदेवाह–**आढ्यादिष्विति**। **आढ्यम्भविष्णुरिति**। आढ्यपूर्वकात् भूधातोः 'कर्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ' इति खिष्णुच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे गुणे इडागमेऽवादेशे, खित्त्वान्मुमि, अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे कृते, आढ्यम्भविष्णुरिति। खुकञ्प्रत्यये कृते मुमि वृद्धावावादेशे 'आढ्यम्भावुकः' इति रूपम्।

विमर्श– पूर्ववत् 'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार–''च्व्यर्थ = अभूततद्भाव अर्थ में वर्तमान किन्तु अच्व्यन्त (च्विप्रत्ययान्त न हों) आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध और प्रिय कर्म उपपद रहते कृञ् धातु से ख्युन् प्रत्यय होता है''। 'ख्युन्' में आदि 'ख्' की 'लशक्वतद्धिते' से तथा नकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञकों का लोप होने पर 'यु' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्त्यनया, आढ्य + ✓ कृ + ख्युन् (= 'यु'–'आढ्यसुभग०'– सुब्लुक्, 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, 'यु' = 'अन', 'मुम्' = 'म्'–'अरुः', अनुस्वार, परसवर्ण, 'न्' = 'ण्'– णत्व, स्त्रीत्वात् ङीप् = 'ई'–'नञस्नञीकक्०', अकारलोप, सु = 'स्' का लोप) = आढ्यङ्करणी (धनवान् बनाने वाली)।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में 'अच्वौ' पद ग्रहण होने से च्वि प्रत्यय होने पर ख्युन् नहीं होता–आढ्यीकुर्वन्ति अनेन।

(११२९) **पद–** कर्तरि, भुवः, खिष्णुच्खुकञौ। **अनुवृत्ति–** आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अभूततद्भाव-विषयक अच्व्यन्त आढ्य आदि कर्ता उपपद रहते भू धातु से खिष्णुच् और खुकञ् प्रत्यय होते हैं। आढ्यम्भविष्णुः। आढ्यम्भावुकः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (११२८) से–'आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु, च्व्यर्थेष्वच्वौ' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। इस प्रकार–''च्व्यर्थ में विद्यमान अच्वन्त आढ्य आदि उपपद हों तो कर्ता कारक में भू धातु से खिष्णुच् तथा खुकञ् प्रत्यय होते हैं।'' दोनों प्रत्ययों के आदि खकार की 'लशक्वतद्धिते' से तथा अन्त्य वर्ण की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है। क्रमशः इष्णु तथा उक शेष रहता है।

उदाहरण– (१) अनाढ्य आढ्यो भवति– आढ्य + ✓ भू + खिष्णुच् (= 'इष्णु'–'कर्तरि भुवः०', सुब्लुक्, मुम् = 'म्'–'अरुः', म् = अनुस्वार, परसवर्ण, इट् = 'इ' आगम, 'उ' = 'ओ'–गुण, 'ओ' = 'अव्' आदेश, प्राति०संज्ञा, सु = स् = र् = ः) = आढ्यम्भविष्णुः (= धनवान् होने वाला)। (२) आढ्य + ✓ भू + खुकञ् (= उक, मुम् = 'म्', वृद्धि, आवादेश आदि) = आढ्यम्भावुकः।

आढ्यम्भावुकः। (११३०) सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप् ३।२।६१ । एभ्यः क्विप्स्यादुपसर्गे सत्यसति च सुप्युपपदे। द्युसत्। 'सदिरप्रतेरि'ति षः। उपनिषत्। अण्डसूः। प्रसूः। मित्रद्विट्। प्रद्विट्। मित्रध्रुक्। प्रध्रुक्। गोधुक्। प्रधुक्। अश्वयुक्। प्रयुक्। वेदवित्। निवित् इत्यादि। * **अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो**

(११३०) **सत्सूद्विषेति।** अपिसामर्थ्यादसत्युपसर्गेऽपीति परिज्ञायते। **द्युसदिति।** दिवि सीदतीति विग्रहे सद्धातोः 'सत्सूद्विषे'त्यादिना क्विप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, वकारस्य 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' इत्यनेनापृक्तसंज्ञायां 'वेरपृक्तस्ये'ति वकारलोपे सुब्लुकि 'दिव उत्' इति उदन्तादेशे यणि प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'द्युसदि'ति।

(११३०) **पद**– सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजाम्, उपसर्गे, अपि, क्विप्। **अनुवृत्ति**– सुपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– उपसर्ग अथवा अनुपसर्ग सुबन्त उपपद रहते सद्, सू, द्विष आदि धातुओं से क्विप् प्रत्यय होता है। द्युसत् इत्यादि।

(वा०)– अग्र तथा ग्राम शब्द से परवर्ती नी धातु के नकार को णकार होता है। अग्रणीः। ग्रामणीः।

विमर्श– 'सुपि' पद की यहाँ अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''सोपसर्गक तथा उपसर्ग रहित सद्, सू, द्विष्, द्रुह्, दुह्, युज्, विद्, भिद्, छिद्, जि, णीञ् और राज् धातुओं से सुबन्त उपपद रहते क्विप् प्रत्यय होता है।'' क्विप् में अन्त्य वर्ण 'प्' की 'हलन्त्यम्' से, 'इ' कार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है तथा 'तस्य लोपः' से लोप होता है। 'व्' शेष रहता है। उसकी अपृक्त संज्ञा होकर 'वेरपृक्तस्य' से लोप हो जाता है। इस प्रकार क्विप् का सर्वापहार (लोप) हो जाता है।

उदाहरण– (१) दिवि सीदति– दिव् + ✓ सद् + क्विप् (–'सत्सूद्विष०', 'प्' की इत्संज्ञा– 'हलन्त्यम्', 'क्' की इत्संज्ञा–'लश०', 'इ' की इत्संज्ञा–'उपदेशे०', इत्संज्ञकों का लोप, 'व्' की अपृक्तसंज्ञा–'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः', 'व्' का लोप–'वेरपृक्तस्य', सुब्लुक्, 'व्' = 'उ'–'दिव उत्', 'इ' = 'य्'–'यण्', प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'द्' = 'त्' चर्त्व) = द्युसत्। (२) उप + नि + ✓ सद् + क्विप् (क्विप् का सर्वापहार लोप उक्तवत्, 'स्' = 'ष्'–षत्व–'सदिरप्रतेः', सु = 'स्'–हल्ङ्यादिलोप) = उपनिषत्। (३) अण्ड सूते– अण्ड + षू (धात्वादेः षः सः) + क्विप् (क्विप् का सर्वापहारलोप, सुब्लुक्, सु = स् = ₹ = :) = अण्डसूः। (४) प्र + ✓ सू + क्विप् = प्रसूः। (५) मित्रं द्वेष्टि– मित्र + ✓ द्विष् + क्विप् ('क्विप्' का लोप, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः', 'ष्' = 'ड्'–जश्त्व, 'ड्' = 'ट्'–विकल्प से 'वाऽवसाने') = मित्रद्विट्-ड्। (६) प्र + ✓ द्विष् + क्विप् (उक्तवत् प्रक्रिया) = प्रद्विट्। (७) मित्राय द्रुह्यति– मित्र + ✓ द्रुह् + क्विप् ('क्विप्' का सर्वापहारी लोप, सुब्लुक्, सु = 'स्', 'ह्' = 'घ्' विकल्प से–'वा द्रुहमुह०', 'द्' = 'ध्' भष्भाव–'एकाचो बशो भष्०', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'घ्' = 'ग्' जश्त्व, 'ग्' = 'क्'– विकल्प से चर्त्व) = मित्रध्रुक्, मित्रध्रुग्। कुत्व (वा द्रुह०) के अभाव पक्ष में–'ह्' = 'ढ्'– 'हो ढः', 'ढ्' = 'ड्'–जश्त्व, 'ड्' = 'ट्'–विकल्प से) = मित्रध्रुट्, मित्रध्रुड्। (८) प्र + ✓ द्रुह् + क्विप् (उक्तवत् प्रक्रिया) = प्रध्रुक्, प्रध्रुड् इत्यादि। (९) गो + दुह् + क्विप् (सर्वापहार लोप, सुब्लुक्, सु = 'स्', 'ह्' = 'घ्'–'दादेः०', 'द्' = 'ध्'–भष्भाव, 'घ्' = 'ग्'–जश्त्व, 'ग्' = 'क्'–चर्त्व, 'स्'

वाच्यः *। अग्रणीः। ग्रामणीः। **(११३१) भजो ण्विः ३।२।६२ ।** भजेरुपसर्गेऽनुपसर्गेऽपि सुबन्ते उपपदे च ण्विः स्यात्। अंशभाक्। प्रभाक्। **(११३२) अदोऽनन्ने ३।२।६८ ।** अदेरनन्ने सुबन्त उपपदे विट् स्यात्। आममत्तीति–आमात्। सस्यात्। अनन्ने

(११३१) **भजो ण्विरिति।** सुपि उपसर्गे चोपपदे भजधातोर्ण्विप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **अंशभाक्**– अंशं भजतीति विग्रहे अंशपूर्वकाद् भज्धातोः 'भजो ण्विः' इति ण्विप्रत्यये ण्वेर्लोपे, णित्त्वात् 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ सुब्लुकि, सौ, हल्ङ्यादिलोपे 'चोः कुः' इति कुत्वे, विभाषया कत्वे कृते 'अंशभाक्' इति।

(११३२) **अद इति।** अन्नभिन्नोपपदेऽदेर्विट् स्यादित्यर्थः। **आमादिति।** आमम् अत्तीति विग्रहे अद्धातोः 'अदोऽनन्ने' इति विटि, विटो लोपे सुब्लुकि, प्रातिपदिकत्वे सौ, 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सोर्लोपे सवर्णदीर्घे चर्त्वे कृते 'आमात्' इति।

का लोप) = गोधुक्। (१०) प्रदोग्धि इति प्र + ✓ दुह् + क्विप् = प्रधुक्। (११) अश्वं युनक्ति– अश्व + ✓ युज् + क्विप् (= लोप, सुब्लुक्, सु = 'स्', 'ज्' = 'क्'–'चोः कुः', 'स्' का लोप) = अश्वयुक्। (१२) उक्तवत्– प्रयुक्। (१३) वेदं वेत्ति– वेद + ✓ विद् + क्विप् (= लोप, सुब्लुक्, सु = 'स्' का लोप, 'द्' = 'त्' विकल्प से चर्त्व) = वेदवित्। (१४) नि + विद् + क्विप् = निवित् इत्यादि। (१५) अग्रं नयति– अग्र + ✓ नी + क्विप् (= लोप, 'न्' = 'ण्'–'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः', सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' = र् = :) = अग्रणीः। (१६) ग्रामं नयति– ग्राम + ✓ नी + क्विप् (प्रक्रिया उक्तवत्) = ग्रामणीः।

(११३१) **पद–** भजः, ण्विः। **अनुवृत्ति–** उपसर्गेऽपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– उपसर्ग अथवा उपसर्ग रहित सुबन्त उपपद रहते भज् धातु से ण्वि प्रत्यय होता है। अंशभाक्। प्रभाक्।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११३०) से 'उपसर्गेऽपि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–"उपसर्ग अथवा उपसर्ग-भिन्न सुबन्त उपपद रहते भज् धातु से 'ण्वि' प्रत्यय होता है। 'ण्वि' का भी क्विप् की तरह सर्वापहार लोप हो जाता है।

उदाहरण– (१) अंशं भजति– अंश + ✓ भज् + 'ण्वि' (–'भजो ण्विः', 'ण्वि' का सर्वापहार लोप, 'अ' = 'आ'–उपधावृद्धि, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'स्', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'ज्' = 'ग्'–'चोः कुः', 'ग्' = 'क्'–'वाऽवसाने') = अंशभाक्, अंशभाग्। (२) प्र + ✓ भज् + ण्वि (उक्तवत् प्रक्रिया) = प्रभाक्।

(११३२) **पद–** अदः, अनन्ने। **अनुवृत्ति–**विट्, सुपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अन्न से भिन्न सुबन्त उपपद रहते अद् धातु से विट् प्रत्यय होता है। आमात्। सस्यात् इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'सुपि स्थः' (१०७६) से 'सुपि' तथा 'जनसनखन०' (३।२।६७) से 'विट्' की अनुवृत्ति आती है। अतः "अन्न से भिन्न सुबन्त उपपदक अद् धातु से विट् प्रत्यय होता है।" 'विट्' में अन्त्य टकार की 'हलन्त्यम्' से, इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा होती है। लोप होकर 'व्' की अपृक्त संज्ञा होती है तथा 'व्' का 'वेरपृक्तस्य' से लोप हो जाता है।

उदाहरण– (१) आमम् अत्ति– आम + ✓ अद् + 'विट्' (–'अदोऽनन्ने', 'विट्' का सर्वापहारि लोप, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०', अ + अ = 'आ'–

किम्? अन्नादः। (११३३) क्रव्ये च ३।२।६९ । कर्मसंज्ञके क्रव्यशब्दे उपपदे अदेर्विट्। पूर्वेण सिद्धे वचनं वाऽसरूपेति प्राप्ताऽण्बाधनार्थम्। क्रव्यात्-आममांसभक्षकः। **(११३४) दुहः कप् घश्च ३।२।७० ।** दुहेः सुप्युपपदे कप् स्यात्

(११३३) **क्रव्ये चेति।** अद इति विट् इति चानुवर्तते। अत आह- **कर्मसंज्ञक इति।** क्रव्यस्यान्नभिन्नत्वेन 'अदोऽनन्ने' इत्यनेनैव विट्सिद्धे पुनर्विड्विधानं किमर्थमित्यत आह- वाऽसरूपेति। वाऽसरूपन्यायेन पक्षेऽण्प्रत्ययोऽपि प्राप्तस्तद्बाधनार्थं सूत्रमिति भावः।

(११३४) **दुह इति।** सोपपदात् दुह्धातोः कप् स्यात् प्रकृतेर्घश्चान्तादेश इत्यर्थः। **कामदुघा-** 'कामं दोग्धि' इति विग्रहे दुह्धातोः 'दुहः कप् घश्चे'ति कप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे हस्य घत्वे सुब्लुकि, कित्त्वाद् गुणाभावे स्त्रीत्वविवक्षायां टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे कृते 'कामदुघा' इति।

सवर्णदीर्घ, 'द्' = 'त्'-विकल्प से, आमात्, आमाद् (कच्चा खाने वाला)। (२) सस्यम् अत्ति- सस्य + ✓ अद् + विट् (उक्तवत् कार्य) = सस्यात्।

प्रत्युदाहरण- प्रकृत सूत्र में 'अनन्ने' पद पठित होने से अन्न शब्द उपपद रहते अद् धातु से विट् नहीं होता। अन्न + ✓ अद् + अण् ('अ'-'कर्मण्यण्', सुब्लुक्, उपधावृद्धि, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = अन्नादः (अन्न को खाने वाला)।

(११३३) **पद-** क्रव्ये, च। **अनुवृत्ति-** अदः, विट्, सुपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- क्रव्य सुबन्त उपपद रहते भी अद् धातु से विट् प्रत्यय होता है।

क्रव्यस्येति। क्रव्य (= मांस) के अन्न से भिन्न होने से क्रव्य कर्मोपपदक अद् धातु से पूर्वसूत्र (११३२) से विट् सिद्ध है, पुनः प्रकृत सूत्र द्वारा विट् का विधान क्यों किया जा रहा है? इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार ने कहा है कि वाऽसरूपन्याय से पक्ष में अण् भी प्राप्त होता है। उस अण् का बाध करने के लिए पुनः विट् विधान किया गया है। आशय यह है कि यहाँ 'विट्' ही होता है, अण् नहीं।

विमर्श- पूर्ववत् 'अदः', 'सुपि' और 'विट्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार-''क्रव्य सुबन्त उपपद रहते भी अद् धातु से विट् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण- क्रव्यम् अत्ति- क्रव्य + ✓ अद् + 'विट्' (-'क्रव्ये च', 'विट्' का सर्वापहार लोप, सुब्लुक्, सु = 'स्' का लोप, अ + अ = 'आ'-सवर्णदीर्घ, विकल्प से चर्त्व) = क्रव्यात्, क्रव्याद् (= मांस खाने वाला)।

(११३४) **पद-** दुहः, कप्, घः, च। **अनुवृत्ति-** सुपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- सुबन्त उपपद रहते दुह् धातु से कप् प्रत्यय होता है और घ अन्तादेश होता है।

विमर्श- पूर्ववत् 'सुपि' की अनुवृत्ति यहाँ आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार-''सुबन्त उपपदक दुह् धातु से कप् प्रत्यय होता है तथा अन्त्य हकार को घकार आदेश होता है। 'कप्' में इत्संज्ञक क्, प् का लोप हो जाता है।

उदाहरण- काम दोग्धि। काम + ✓ दुह् + कप् (= 'अ', 'ह्' = 'घ्'-घान्तादेश-'दुहः कप् घश्च', प्रत्यय कित् होने से गुण का निषेध-'क्ङिति च', सुब्लुक्, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ'-'अजाद्यतष्टाप्', प्राति० संज्ञा सु = 'स्' का लोप- 'हल्ङ्याब्भ्यः', दीर्घ) = कामदुघा (इच्छा पूर्ण करने वाली गौ)।

घश्चान्तादेशः। कामदुघा। **(११३५) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ३।२।७५** । मनिन् क्वनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः। **(११३६) नेड् वशि कृति ७।२।८** । वशादेः कृत इण्न स्यात्। सुशर्मा। प्रातरित्वा। **(११३७) विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् ६।४।४१** । अनुनासिकस्याऽऽत् स्याद्विड्वनोः परयोः। विजायत इति विजावा। ओणृ

(११३५) **अन्येभ्य इति**। 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्चे'त्यतः 'मनिन्क्वनिब्वनिपः' इत्यस्य 'विजुपे छन्दसी'त्यतः 'विच्' इत्यस्य चानुवृत्तिर्विधीयते। धातोरित्यधिकृतम्। तदाह–**मनिन्निति**।

(११३६) **नेड् वशीति**। वशादौ कृति प्रत्यये परत इडागमो न भवतीत्यर्थः। **सुशर्मा**– सुष्ठु शृणातीति विग्रहे सुपूर्वकशृधातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति मनिन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, आर्धधातुकसंज्ञायां गुणे अकारे रपरे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीटि प्राप्ते 'नेड् वशि कृति' इत्यनेन निषेधे, उपपदसमासे सुब्लुकि प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्युपधादीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नलोपे 'सुशर्मा' इति।

(११३७) **विड्वनोरिति**। स्पष्टम्।

(११३५) **पद**– अन्येभ्यः, अपि, दृश्यन्ते। **अनुवृत्ति**– मनिन्क्वनिब्वनिपः, विच्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अन्य धातुओं से भी मनिन्, क्वनिप्, वनिप् और विच् प्रत्यय होते हैं।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' (३।२।७४) से 'मनिन्क्वनिब्वनिपः' की तथा 'विजुपे छन्दसि' (३।२।७३) से 'विच्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''पूर्वसूत्रोक्त आकारान्त धातुओं से भिन्न धातुओं से भी मनिन्, क्वनिप्, वनिप् और विच् प्रत्यय देखे जाते हैं।'' सूत्रकार आचार्य पाणिनि ने यहाँ 'दृश्यन्ते' क्रियापद का प्रयोग किया है। अतः प्राचीन शिष्टग्रन्थों में यदि उक्त प्रत्ययान्त शब्द दिखाई दें तो उनका साधुत्व समझना चाहिए। उक्त प्रत्ययान्त नवीन शब्दों की रचना व उनका प्रयोग वर्जित है।

(११३६) **पद**– न, इट्, वशि, कृति। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ– वशादि कृत्प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता। सुशर्मा। प्रातरित्वा।

विमर्श– सूत्रोक्त 'वशि' पद 'कृति' का विशेषण है। वश् प्रत्याहार होने से अल्ग्रहण है। अतः 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा से तदादि विधि होती है। वशादौ कृति। अतः ''जिस कृत्प्रत्यय के आदि में वश् प्रत्याहारस्थ वर्ण हो उसको इट् का आगम नहीं होता।''

उदाहरण– (१) सुष्ठु शृणाति– सु + ✓ शृ + मनिन् (= 'मन्'–'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते', 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से प्राप्त इट् का निषेध–'नेड्वशि कृति', 'ॠ' = 'अ'–गुण–'सार्वधातु०', रपर, समास, सुब्लुक्)– सुशर्मन् (प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' उपधादीर्घ–'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यो०', 'न्' का लोप–'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य') = सुशर्मा (= अच्छी तरह हिंसा करने वाला)। (२) प्रातर् एति– प्रातर् + ✓ इ (इण्) + क्वनिप् (= 'वन्'–'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते', प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, तुक् = 'त्' का आगम–'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्', उपपद समास, सुब्लुक्)– प्रातरित्वन् (प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' उपधादीर्घ, पूर्ववत् 'स्' और 'न्' का लोप होकर) = प्रातरित्वा (= प्रातःकाल जाने वाला)।

(११३७) **पद**– विड्वनोः, अनुनासिकस्य, आत्। **विधिसूत्र**।

अपनयने। अवावा। रोट्। रेट्। सुगण्। (११३८) क्विप् च ३।२।७६ । अयमपि दृश्यते। उखास्रत्। पर्णध्वत्। वाहभ्रट्। (११३९) अन्तः ८।४।२० । पदान्तस्याऽनितेर्नस्य णत्वं

(११३८) **क्विप् चेति**। धातुभ्यः क्विप्स्यादित्यर्थः। **उखास्रदिति**। उखायाः स्रंसत इति विग्रहे उखापूर्वकस्रंस्धातोः 'क्विप् चे'ति क्विपि क्विपः सर्वापहारे लोपे 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति नकारलोपे समासे, सुपो लुकि, सौ तस्य लोपे, 'वसुस्रंसुध्वंस्०' इत्यनेन सस्य दत्वे चर्त्वे कृते 'उखास्रत्' इति रूपम्।

मूलार्थ– विट् और वन् प्रत्यय के परवर्ती रहते अनुनासिक को आत् (आकार आदेश) होता है। विजावा। अवावा आदि।

विमर्श– 'अङ्गस्य' का अधिकार है। सूत्रस्थ 'अनुनासिकस्य' पद अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। तदनुसार– ''विट् अथवा विन् प्रत्यय के परे होने पर अनुनासिकान्त अङ्ग के स्थान पर आत् (= दीर्घ आकार) आदेश हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के द्वारा यह आदेश अनुनासिकान्त अङ्ग के अन्त्य अल् के स्थान में होता है।''

उदाहरण– (१) विजायत इति– वि + ✓ जन् + वनिप् (= 'वन्'–'अन्येभ्योऽपि०', 'न्' = 'आ'–'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' अ + आ = 'आ'–सवर्णदीर्घ, समास, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', उपधादीर्घ, 'स्' का लोप, 'न्' का लोप) = विजावा। (२) ओणतीति– ✓ ओण + वनिप् (= 'वन्', प्राप्त 'इट्' का 'नेड् वशि कृति' से निषेध, 'ण्' = 'आ'–'विड्वनोः०')– ओ आ वन् (ओ = 'अव्' आदेश, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' उपधादीर्घ, 'स्' तथा 'न्' का लोप) = अवावा (अपहरण करने वाला)। (३) रोषतीति। ✓ रुष् + विच् (= 'व्'–'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते', 'व्' की अपृक्त संज्ञा होकर लोप–'वेरपृक्तस्य', प्रत्ययलक्षण द्वारा लुप्त विच् आर्धधातुक को मानकर 'उ' = 'ओ'–गुण–'पुगन्तलघूपधस्य च', प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ड्याब्भ्यः', 'ष्' = 'ड्'–जश्त्व, 'ड्' = 'ट्' चर्त्व विकल्प से) = रोट्, रोड्। (४) रेषति = हिनस्तीति। ✓ रिष् + विच् (पूर्ववत्प्रक्रिया) = रेट्, रेड् (= हिंसा करने वाला)।

(११३८) **पद**– क्विप्, च। **अनुवृत्ति**– दृश्यते। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– धातुमात्र से क्विप् प्रत्यय भी देखा जाता है। उखास्रत्। पर्णध्वत्। वाहभ्रट्।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११३५) से वचनविपरिणाम द्वारा 'दृश्यते' क्रियापद की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''पूर्ववत् शिष्ट प्रयोगों के अनुसार धातु से क्विप् प्रत्यय भी हो जाता है।'' क्विप् का सर्वापहार लोप होता है।

उदाहरण– (१) उखाया स्रंसत इति– उखा + ✓ स्रंस् + 'क्विप्' (–'क्विप् च', क्विप् का सर्वापहार लोप, 'न्' का लोप–'अनिदिताम्०', उपपद समास, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ड्याब्भ्यः', 'स्' = 'द्'–'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः', 'द्' = 'त्'– विकल्प से–'वाऽवसाने') = उखास्रत्, उखास्रद् (उखा नामक यज्ञपात्र से गिरने वाला)। (२) पर्णाद् **ध्वंसत** इति– पर्ण + ✓ ध्वंस् + क्विप् (उक्तवत् प्रक्रिया) = पर्णध्वत् (पत्ते से गिरने वाला)। (३) वाहाद् भ्रंसते– वाह + ✓ भ्रंश् + 'क्विप्' (सर्वापहार लोप, 'न्' का लोप, समास, सुब्लुक्)– वाहभ्रश् (प्रा० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप, 'श्' = 'ष्'–'व्रश्चभ्रस्ज०', 'ष्' = 'ड्'–'झलां जशोऽन्ते', 'ड्' = 'ट्' विकल्प से–'वाऽवसाने') = वाहभ्रट्, वाहभ्रड् (वाहन से गिरने वाला)।

स्यादुपसर्गस्थान्निमित्तात्परश्चेत्। हे प्राण्। * आशासः क्वावुपधाया इत्वं वाच्यम् *। आशीः। इत्त्वोत्त्वे। गीः। पूः। 'मो नो धातोः'। प्रतान्। प्रशान्। (११४०) गमः क्वौ ६।४।४० । अनुनासिकलोपः स्यात्। अङ्गत्। * गमादीनामिति वक्तव्यम् *। पुरीतत्। संयत्। * ऊङ् च गमादीनामिति वक्तव्यम् *। लोपश्च। अग्रेगूः। अग्रेभूः। (११४१)

(११३९) **हे प्राण्**– प्रपूर्वादन् धातोः 'क्विप् चे'ति क्विपि क्विपो लोपे दीर्घे 'अन्तः' इति णत्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'हे प्राण्' इति।

(११४०) **गम इति।** 'अनुदात्तोपदेश' इत्यतः 'अनुनासिकलोपः' इत्यनुवर्तते। अत आह– **गमः क्वावित्यादिना।**

(११३९) **पद**– अन्तः। **अनुवृत्ति**– अनितेः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः। विधिसूत्र।

मूलार्थ– उपसर्ग में स्थित निमित्त (र्, ष्) से परवर्ती अन् धातु के पदान्त नकार को णत्व होता है। हे प्राण्।

(वा०)– क्विप् के परवर्ती रहते आङ् पूर्वक शास् धातु की उपधा को इत्व होता है। आशीः, गीः इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु प्रकृत सूत्र में 'अनितेः' (८।४।१९) सूत्र, 'उपसर्गादसमासेऽपि' (८।४।१४) से 'उपसर्गात्', 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (८।४।२) तथा 'रषाभ्यां नो णः' (८।४।१)सूत्रों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तरवर्ती पदान्त में वर्तमान अन् धातु के नकार को णकार आदेश होता है।''

उदाहरण– (१) प्र + ✓ अन् + 'क्विप्' (सर्वापहार लोप, सुब्लुक्, 'न्' = 'ण्'–'अन्तः', अ + अ = 'आ'–दीर्घ, सु = 'स्'–हल्ङ्यादिलोप) = हे प्राण्।

(२) आ + ✓ शास् + 'क्विप्'–लोप, उपधा 'आ' = 'इ'–इत्व–'आशासः क्वावुपधाया इत्वं वाच्यम्')– आशिस् (प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप, 'स्' = 'र्'–'इ' = 'ई'–दीर्घ–'र्वोरुपधायाः', र् = :) = आशीः। (३) ✓ गृ + क्विप् (लोप, 'ॠ' = 'इ'–'ॠत इद्धातोः', रपर)–गिर् ('सु' = 'स्' का लोप, 'इ' = 'ई'–दीर्घ, र् = :) = गीः। (४) ✓ पृ + 'क्विप्' (–लोप, 'ॠ' = 'उ'–'उदोष्ठ्यपूर्वस्य', रपर, सु, 'स्' का लोप, दीर्घ, र् = :) = पूः। (५) प्र + ✓ तम् + 'क्विप्' (लोप, सु = 'स्' का लोप, 'म्' = 'न्'–'मो नो धातोः', उपधादीर्घ) = प्रतान्। (६) प्र + ✓ शम् + क्विप् (उक्तवत् कार्य) = प्रशान्।

(११४०) **पद**– गमः, क्वौ। **अनुवृत्ति**– अनुनासिकलोपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– क्विप् के परवर्ती रहते गम् धातु के अनुनासिक का लोप होता है। अङ्गत्।

(वा०)– ''गम् आदि धातुओं के अनुनासिक का लोप होता है, क्विप् के परे''– ऐसा कहना चाहिए। पुरीतत्। संयत्।

(वा०)– ऊङ् चेति। क्विप् के परवर्ती रहते गम् आदि धातुओं की उपधा को ऊङ् होता है और अनुनासिक का लोप भी होता है। अग्रेगूः। अग्रेभूः।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) से यहाँ 'अनुनासिकलोपः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''क्विप् के परे रहते गम् के अनुनासिक का लोप होता है।''

स्थः क च ३।२।७७ । स्थाधातोः सुप्युपपदे कः स्यात्। चात्क्विप्। शंस्थः। शंस्थाः। **(११४२) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ३।२।७८ ।** अजात्यर्थे सुबन्ते उपपदे धातोर्णिनिः स्यात्ताच्छील्ये द्योत्ये। उष्णभोजी। शीतभोजी। **(११४३) मनः**

(११४१) **स्थः क चेति**। सुप्युपपदे स्थाधातोः कप्रत्ययः कप् च स्यादित्यर्थः। **शंस्थ इति**। शं तिष्ठतीति विग्रहे शम्पूर्वकात् स्थाधातोः 'स्थः क चे'ति कप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'आतो लोपः' इत्याकारलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'शंस्थः' इति। चकारात् क्विपि कृते 'शंस्थाः' इति।

(११४२) **सुप्यजाताविति**। **उष्णभोजी**- उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति विग्रहे उष्णोपपदाद् भुज्धातोः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, लघूपधगुणे, उपपदसमासे सुब्लुकि सौ, उपधादीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'नलोपः' इति नकारलोपे 'उष्णभोजी' इति सिद्धम्।

उदाहरण- (१) अङ्गं गच्छतीति। अङ्ग + ✓ गम् + 'क्विप्' (सर्वापहारलोप, 'म्' अनुनासिक का लोप-'गमः क्वौ', सुब्लुक्, तुक् = 'त' का आगम-'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्', सु = 'स्' का लोप- 'हल्ङ्याब्भ्यः०') = अङ्गगत्। (२) पुरिः = हृदयः, तं तनोति = आच्छादयतीति। पुरि + ✓ तन् + 'क्विप्' (लोप, अनुनासिकलोप-'गमादीनामिति वक्तव्यम्', तुक् = 'त्', दीर्घ-'नहिवृति०', सु = 'स्'-हल्ङ्यादिलोप) = पुरीतत्। (३) सं + ✓ यम् + क्विप् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = संयत्। (४) अग्रे गच्छतीति- गम् + क्विप् (लोप, अनुनासिक 'म्' का लोप, 'अ' = 'ऊ'-'ऊङ् च गमादीनामिति वक्तव्यम्', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अग्रेगूः। (५) इसी प्रकार-अग्रे + भ्रम् + क्विप् = अग्रेभूः।

(११४१) **पद**- स्थः, क, च। **अनुवृत्ति**- क्विप्, सुपि, उपसर्गेऽपि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- सुबन्त उपपद रहते स्था धातु से क प्रत्यय तथा चकारात् क्विप् प्रत्यय भी होता है। शंस्थः। शंस्थाः।

विमर्श- पूर्वसूत्र 'क्विप् च' (११३८) से 'क्विप्', 'सत्सूद्विष०' (११३०) से 'उपसर्गेऽपि' तथा 'सुपि स्थः' (१०७६) से 'सुपि' पदों की अनुवृत्ति आती है। तंदनुसार- ''सुबन्त उपपद रहते सोपसर्गक अथवा निरुपसर्गक स्था धातु से क तथा क्विप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण- शं तिष्ठतीति- शं + ✓ स्था + क (= 'अ'-'स्थः क च', 'आ का लोप-'आतो लोप इटि च', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = शंस्थः। क्विप् पक्ष में-शं + ✓ स्था + 'क्विप्' (क्विप् का लोप, सु = स् = र् = :) = शंस्थां: (= कल्याण वाला)।

(११४२) **पद**- सुपि, अजातौ, णिनिः, ताच्छील्ये। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- अजात्यर्थक सुबन्त उपपद रहते ताच्छील्य अर्थ में धातु से णिनि प्रत्यय होता है। उष्णभोजी। शीतभोजी।

विमर्श- 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार- जाति-भिन्न अर्थ में सुबन्त के उपपद रहते धातु से णिनि प्रत्यय होता है, ताच्छील्य (= ऐसा उसका स्वभाव है) अर्थ गम्यमान होने पर''। 'णिनि' में आदि णकार की 'चुटू' से तथा अन्त्य इकार की 'उपदेश०' से इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञकों का लोप होकरं 'इन्' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण- (१) उष्णं भुङ्क्ते, तच्छील इति, उष्ण + ✓ भुज् + णिनि (= 'इन्'-'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये', 'उ' = 'ओ'-लघूपधगुण, उपपद समास, सुब्लुक् - उष्णभोजिन् (प्राति० संज्ञा,

३।२।८२ । सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात्। दर्शनीयमानी। **(११४४) आत्ममाने खश्च ३।२।८३ ।** स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात्। चाण्णिनिः। पण्डितमात्मानं मन्यते–पण्डितंमन्यः। पण्डितमानी। **(११४५) इच एकाचोऽम् प्रत्ययवच्च ६।३।६८ ।** इजन्तादेकाचोऽम् स्यात्स च स्वाद्यम्वत्, खिदन्ते परे। 'औतोऽम्शसोः'। गांमन्यः। 'वाऽम्शसोः'। स्त्रियंमन्यः। स्त्रींमन्यः। नृ–नरंमन्यः। भुवंमन्यः।

(११४३) **मन इति**। 'सुप्यजातावि'त्यतः 'सुपि' इति, 'णिनिरि'ति चानुवर्तेते। तदाह–सुपीत्यादिना।

(११४४) **आत्ममान इति**। सुपीति, 'णिनिः' इति चात्रानुवर्तते। अतः आत्मानं मन्यते इति स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात् चाण्णिनिरित्यर्थः। **पण्डितंमन्य इति**। पण्डितमात्मानं मन्यते इत्यस्मिन् विग्रहे मन्धातोः 'आत्ममाने खश्च' इति खशि अनुबन्धलोपे शित्त्वात्सार्वधातुकत्वे 'दिवादिभ्यः श्यन्' इत्यनेन श्यनि अनुबन्धलोपे, समासे सुपो लुकि मुमि, अनुस्वारे वैकल्पिके परसवर्णे 'पण्डितम्मन्यः' इति। परसवर्णाभावे–'पण्डितंमन्यः' इति।

(११४५) **इच एकाच इति**। इजन्तादेकाचोऽम् स च स्वाद्यन्तर्गतो यथा अम् तथा स्यात् खिदन्ते परे इत्यर्थः। **गांमन्यः**– गामात्मानं मन्यते इत्यर्थे मन्धातोः खशि, श्यन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे,

---

सु = 'स्', उपधादीर्घ, 'स्' का लोप–'हल्ड्याब्भ्यः', 'न्' का लोप–'नलोपः०') = उष्णभोजी। (२) इसी प्रकार–शीतभोजी (= ठण्डा खाने के स्वभाव वाला)।

(११४३) **पद–** मनः। **अनुवृत्ति–** सुपि, णिनिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सुबन्त उपपद रहते मन् धातु से णिनि प्रत्यय होता है। दर्शनीयमानी।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'सुप्यजातौ०' (११४२) से 'सुपि' तथा 'णिनिः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''सुबन्त उपपद रहते मन् धातु (दिवादि) से 'णिनि' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– दर्शनीयं मन्यते– दर्शनीय + ✓ मन् + णिनि (= इन्, अ = 'आ' उपधावृद्धि, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = स्, दीर्घ, 'स्' का लोप–'हल्ड्याब्भ्यः', 'न्' का लोप–'नलोपः') = दर्शनीयमानी (देखने योग्य मानने वाला)।

(११४४) **पद–** आत्ममाने, खश्, च। **अनुवृत्ति–** मनः, णिनिः, सुपि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सुबन्त उपपद रहते स्वकर्मक मनन अर्थ में वर्तमान मन् धातु से खश् प्रत्यय होता है। चकार से णिनि भी होता है। पण्डितंमन्यः। पण्डितमानी।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए पूर्वसूत्र ११४३ से 'मनः' तथा सूत्र ११४२ से 'सुपि' तथा 'णिनिः' पदों की अनुवृत्ति आती है। अतः ''सुबन्त उपपद रहते 'अपने आपको मानना' इस अर्थ में विद्यमान मन् धातु से खश् प्रत्यय होता है। चकार से णिनि भी होता है।'' खश् का 'अ' तथा णिनि का 'इन्' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– पण्डितमात्मानं मन्यते– पण्डित + ✓ मन् + खश् (= 'अ'–आत्ममाने खश्च', सुब्लुक्, मुम् = 'म्'–'अरुः', म् = ं अनुस्वार = 'म्' परसवर्ण–विकल्प से, शित्वात् सार्वधातुक संज्ञा, श्यन् = 'य'–'दिवादिभ्यः श्यन्', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = पाण्डितम्मन्यः। परसवर्ण के अभावपक्ष में–पडितंमन्यः (अपने आप को पण्डित मानने वाला)। णिनि पक्ष में– पण्डितमानी।

(११४५) **पद–** इचः एकाचः, अम्, प्रत्ययवत्। **अनुवृत्ति–** खिति। **विधिसूत्र।**

श्रियमात्मानं मन्यते–श्रिमन्यं कुलम्। भाष्यकारप्रयोगाच्छ्रीशब्दस्य ह्रस्वो मुममोरभावश्च। (११४६) भूते ३।२।८४ । अधिकारोऽयं 'वर्तमाने लडि'ति यावत्। (११४७) करणे यजः ३।२।८५ । करणे उपपदे भूतार्थाद्यजेर्णिनिः स्यात्कर्तरि। सोमेनेष्टवान्–

सुपो लुकि 'इच एकाचोऽम् प्रत्ययवच्चे'ति गोशब्दादमि स्वाद्यम्वत्वात् मस्य नेत्वे 'औतोऽम्शसोः' इत्यनेनोकारस्य आकारे, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'गाम्मन्यः' इति।

भाष्यकारप्रयोगादिति। श्रिमन्यं कुलमित्यत्र मननक्रियां प्रति कुलत्वेन रूपेण कुलं कर्तृ, तस्यैवाध्यारोपितश्रीत्वेन रूपेण कर्मत्वं च। एवञ्च श्रीशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गस्यापि कुले लक्षणया वृत्तेर्नपुंसकत्वम्। तेन 'ह्रस्वो नपुंसके०' इत्यनेन ह्रस्व इत्यर्थः। मुममोरभावश्च वाचनिक इत्यर्थः।

(११४६) **भूते इति**। मूले स्पष्टम्।

(११४७) **करणे यज इति**। 'णिनिः' इति 'कर्तरि' इति चानुवर्तेते। 'भूते' इत्यधिकृतम्। तदाह– **करण इति**। **सोमयाजी**– सोमेनेष्टवान् इत्यर्थे सोमेनेति करणे उपपदे यज्धातोः 'करणे यजः' इति णिनिप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ, उपपदसमासे सुपो लुकि,

---

मूलार्थ– खिदन्त प्रत्यय के उत्तरवर्ती रहते इजन्त एकाच् को 'अम्' आगम होता है और वह स्वादि के 'अम्' के समान होता है। स्त्रियम्मन्यः। स्त्रींमन्यः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'खित्यनव्ययस्य' (६।३।६५) से 'खिति' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''खकारेत्संज्ञक पद के उत्तरवर्ती रहते इजन्त एकाच् को 'अम्' आगम होता है और वह अम् स्वादि प्रत्यय के समान भी माना जाता है''।

उदाहरण– (१) गामात्मानं मन्यते– गो + ✓ मन् + खश् (= 'अ'–'आत्ममाने खश्च', श्यन् = 'य', सुब्लुक्, अम्–'इच एकाचः०' स्वाद्यम्वत् होने से प्राप्त 'म्' की इत्संज्ञा का निषेध–'न विभक्तौ तुस्माः', 'ओ' = 'आ'–'औतोऽम्शसोः', प्राति० संज्ञा, सु= स् = र् = :)= गाम्मन्यः। (२) स्त्रियमात्मानं मन्यते– स्त्री + ✓ मन् + खश् (= 'अ', श्यन् = 'य', सुब्लुक्, अम्–'इच एकाच०', ई = इयङ् = 'इय'–विकल्प से–'वाऽम्शसोः', अ + अ = 'अ'–पूर्वरूप–'अमि पूर्वः', सु = स् = र् = :) = स्त्रियंमन्यः। इयङ् के अभावपक्ष में–स्त्रींमन्यः (अपने को स्त्री मानने वाला)। (३) नृ + ✓ मन् + खश् (= 'अ', श्यन्, सुब्लुक्, अम्, ऋ = 'अ'–गुण– 'ऋतो ङि०', रपर, अनुस्वार, प्राति० सं०, सु = स् = र् = :) = नरंमन्यः। (४) भुवम् आत्मानं मन्यते (पूर्ववत्प्रक्रिया) = भुवंमन्यः। (५) श्रियमात्मानं मन्यते– श्री + मन् + खश् (= 'अ', श्यन्, सुब्लुक्, अम्, भाष्यकार के प्रयोग से श्रीशब्द को ह्रस्व तथा अम् = 'अ', प्राति० संज्ञा, सु = अम्, पूर्वरूप) = श्रिमन्यं कुलम्।

(११४६) **पद**– भूते। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ– 'वर्तमाने लट्' तक 'भूते' का अधिकार है।

विमर्श– यहाँ से आगे 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) तक 'भूते' का अधिकार है। अतः वहाँ तक जितने प्रत्यय होंगे वे सभी भूतकाल में होंगे– ऐसा जानना चाहिए।

(११४७) **पद**– करणे, यजः। **अनुवृत्ति**– णिनिः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– करण उपपद रहते भूतार्थवृत्ति यज् धातु से णिनि प्रत्यय होता है। सोमयाजी।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'भूते' तथा 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''करण उपपद रहते यज् धातु से भूतकाल में णिनि प्रत्यय होता है।''

सोमयाजी। **(११४८) कर्मणि हनः ३।२।८६ ।** कर्मण्युपपदे भूतार्थाद्धन्तेर्णिनिः स्यात्। पितृव्यघाती। **(११४९) ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् ३।२।८७ ।** ब्रह्मादिषूपपदेषु भूतार्थाद्धन्तेः क्विप् स्यात्। ब्रह्महा। भ्रूणहा। वृत्रहा। 'क्विप् चे'त्येव सिद्धे 'ब्रह्मादिष्वेव' 'क्विब्बेवे'ति द्विविधनियमार्थमिदम्। एवमग्रेऽपि। **(११५०) सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु**

प्रातिपदिकत्वे सौ, उपधादीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे 'नलोपः' इति नलोपे कृते 'सोमयाजी' इति ।

(११४८) **कर्मणि हन इति।** कर्मण्युपपदे भूतार्थवृत्तेर्हन्धातोर्णिनिः स्यादित्यर्थः।

(११४९) **ब्रह्मभ्रूणेति।** 'कर्मणि हनः' इत्यतो हन इत्यनुवर्तते। तदाह–**ब्रह्मादिष्विति। ब्रह्महा**– ब्रह्म हतवान्नित्यर्थे 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' इति क्विपि, क्विपो लोपे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ 'सौ च' इति दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे 'नलोपः' इति नकारलोपे 'ब्रह्महा' इति रूपम्।

उदाहरण– सोम + ✓ यज् + णिनि (= 'इन्'–'करणे यजः', सुब्लुक्, 'अ' = 'आ'–वृद्धि–'अत उपधायाः') – सोमयाजिन् (सु = 'स्', उपधादीर्घ–'सौ च', 'स्' का लोप –'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'न्' का लोप– 'नलोपः०') = सोमयाजी (सोमलता से यज्ञ कर चुका)।

(११४८) **पद–** कर्मणि, हनः। **अनुवृत्ति–** णिनिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कर्म उपपद रहने पर हन् धातु से णिनि प्रत्यय होता है। **पितृव्यघाती।**

विमर्श– पूर्ववत् 'भूते' तथा 'धातोः' का अधिकार है। अतः 'कर्म उपपद रहते हन् धातु से भूतकाल में णिनि प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– पितृव्यं हतवान्– पितृव्य + ✓ हन् + णिनि (= 'इन्'–'कर्मणि हनः', सुब्लुक्, 'न्' = 'त्'–'हनस्तोऽचिण्णलोः', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्ते०' उपधादीर्घ)–पितृव्यघातिन् (सु = 'स्', उपधादीर्घ, 'स्' तथा 'न्' का पूर्ववत् लोप) = पितृव्यघाती।

(११४९) **पद–** ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु, क्विप्। **अनुवृत्ति–** कर्मणि, हनः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ब्रह्म, भ्रूण और वृत्र कर्म उपपद रहते हन् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय होता है। ब्रह्महा। भ्रूणहा। वृत्रहा इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र 'कर्मणि हनः' (११४८) की यहाँ अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''ब्रह्म, भ्रूण और वृत्र कर्म के उपपद रहने पर हन् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय होता है।''

क्विप्चेत्येवेति– यहाँ 'क्विप् च' सूत्र से क्विप् सिद्ध था, पुनः प्रकृत सूत्र द्वारा क्विप् विधान क्यों किया? इस प्रश्न के समाधानार्थ ग्रन्थकार का कथन है कि यह सूत्र दो प्रकार का नियम करता है– (१) ब्रह्म आदि कर्म के उपपद रहते ही होता है और (२) क्विप् ही होता है, अन्य प्रत्यय नहीं। इसी प्रकार क्विप् के विषय में आगे भी जानना चाहिए।

उदाहरण– (१) ब्रह्म हतवान्– ब्रह्म + ✓ हन् + 'क्विप्' (–'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्', क्विप् का सर्वापहारलोप, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', 'अ' = 'आ'–उपधादीर्घ– 'सौ च', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'न्' का लोप– 'नलोपः०') = ब्रह्महा। (२) भ्रूण + ✓ हन् + क्विप् (उक्तवत् प्रक्रिया) = भ्रूणहा। (३) वृत्र + ✓ हन् + क्विप् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = वृत्रहा।

(११५०) **पद–** सुकर्म-पाप-मन्त्र-पुण्येषु, कृञः। **अनुवृत्ति–** क्विप्, कर्मणि। **विधिसूत्र।**

कृञः ३।२।८९ । स्वादिषु कर्मसूपपदेषु कृञः क्विप् स्याद्भूते। सुकृत्। कर्मकृत्। पापकृत्। मन्त्रकृत्। पुण्यकृत्। **(११५१) सोमे सुञः ३।२।९० ।** सोमे कर्मण्युपपदे सुनोतेः क्विप् स्याद्भूते। सोमसुत्। **(११५२) अग्नौ चेः ३।२।९१ ।** अग्नौ कर्मण्युपपदे चिनोतेः क्विप् स्याद्भूते। अग्निचित्। **(११५३) कर्मण्यग्न्याख्यायाम्**

(११५०) **सुकर्मेति**। क्विप्स्यादित्यर्थः। **सुकृदिति**। सुष्ठु कृतवान् इत्यर्थे 'सुकर्म-पापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति क्विपि क्विपो लोपे, क्विपः पित्त्वात् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुकि अनुबन्धलोपे सुब्लुकि, सौ हल्ङ्यादिलोपे 'सुकृत्' इति।

(११५१) **सोमे सुञ इति**। क्विप्स्यादित्यर्थः।

(११५२) **अग्नाविति**। क्विप् स्यादित्यर्थः। **अग्निचित्–** अग्निं चितवान् इत्यर्थे अग्निपूर्वकचिधातोः 'अग्नौ चेः' इत्यनेन क्विपि, क्विपो लोपे 'ह्रस्वस्ये'ति तुकि, सुब्लुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'अग्निचित्' इति रूपम्।

मूलार्थ– सु और कर्म आदि उपपद रहते कृ धातु से क्विप् प्रत्यय होता है। सुकृत्। कर्मकृत् इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (११४८) से 'कर्मणि' तथा (११४९) से 'क्विप्' की यहाँ अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार– ''सु, कर्म, पाप, मन्त्र, पुण्य कर्म उपपद हों तो कृञ् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) सुष्ठु कृतवान्– सु + ✓ कृ + 'क्विप्' (–'सुकर्मपाप०', क्विप् का सर्वापहार लोप, तुक् = 'त्'–'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्', सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः') = सुकृत् (अच्छा कर चुका)। (२) कर्म कृतवान्–कर्म + ✓ कृ + क्विप् (उक्तवत् प्रक्रिया) = कर्मकृत् (कार्य कर चुका)। (३) पापं कृतवान्– पाप + ✓ कृ + क्विप् (उक्तवत् प्रक्रिया) = पापकृत् (पाप कर चुका)। (४) मन्त्र + ✓ कृ + क्विप् = मन्त्रकृत् (मन्त्रों की रचना कर चुका)। पुण्य + ✓ कृ + क्विप् = पुण्यकृत् (पुण्य कर चुका)।

(११५१) **पद–** सोमे, सुञः। **अनुवृत्ति–** क्विप्, कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सोम कर्म उपपद रहते सुञ् धातु से क्विप् प्रत्यय होता है। सोमसुत्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में भी 'धातोः' तथा 'भूते' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (११४८) से 'कर्मणि' तथा (११४९) से 'क्विप्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''सोम कर्म उपपद रहते षुञ् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– सोमं सुतवान्– सोम + ✓ षु (धात्वादेः षः सः) + क्विप् (–'सोमे सुञः', क्विप् का लोप, तुक् = 'त्'–'ह्रस्वस्य पिति कृति०', सुब्लुक्, सु = 'स्' का लोप) = सोमसुत्।

(११५२) **पद–** अग्नौ, चेः। **अनुवृत्ति–** क्विप्, कर्मणि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अग्नि कर्मोपपदक चि धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय होता है। अग्निचित्।

विमर्श– पूर्ववत् 'भूते' तथा 'धातोः' का अधिकार है तथा पूर्वसूत्रों से 'क्विप्' तथा 'कर्मणि' की प्रकृत सूत्र में अनुवृत्ति आती है। अतः ''अग्नि कर्म उपपद रहते चिञ् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– अग्नि + ✓ चि + 'क्विप्' (–'अग्नौ चेः', क्विप् का लोप, तुक् = 'त्', सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप) = अग्निचित् (अग्नि का चयन कर चुका)।

३।२।८९ । कर्मण्युपपदे कर्मण्येव कारके चिनोतेः क्विप् स्यात्, अग्न्याधारस्थल-विशेषस्याऽऽख्यायाम्। श्येन इव चितः–श्येनचित्। (११५४) कर्मणीनि विक्रियः ३।२।९३ । कर्मण्युपपदे विपूर्वात्क्रीणातेरिनिः स्यात्। * कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम् *। सोमविक्रयी। घृतविक्रयी। (११५५) दृशेः क्वनिप् ३।२।९४ । दृशेः क्वनिप् स्यात्

(११५३) **कर्मणीति**। पूर्वसूत्रेभ्यः 'चेः' इति, कर्मणीति, क्विप् इति चानुवर्तन्ते। तदाह–**कर्मण्युपपदे इत्यादिना**। **श्येनचित्**– 'श्येन इव चितः' इत्यर्थे श्येनपूर्वकचिञ्धातोः 'कर्मण्यग्न्याख्यायाम्' इति क्विपि, क्विपो लोपे सुब्लुकि 'ह्रस्वस्ये'ति तुकि, अनुबन्धलोपे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'श्येनचित्' इति।

(११५४) **कर्मणीनीति**। स्पष्टम्। **कुत्सितग्रहणमिति**। कुत्सिते कर्मण्युपपदे इनि प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। **सोमविक्रयी**– सोमं विक्रीतवान् इत्यर्थे 'सोम' इत्युपपदक-विपूर्वकात्क्रीधातोः 'कर्मणीनि विक्रियः' इति इनिप्रत्यये सुब्लुकि गुणेऽयादेशे, प्रातिपदिकत्वे सौ 'सौ चे'ति दीर्घे, हल्ङ्यादिलोपे नलोपे 'सोमविक्रयी' इति रूपम्।

(११५५) **दृशेरिति**। कर्मणीत्यनुवर्तते। 'भूते' इत्यधिकृतम्। तदाह–**दृशेः क्वनिप् स्यादिति**।

(११५३) **पद**– कर्मणि, अग्न्याख्यायाम्। **अनुवृत्ति**– चेः, क्विप्, कर्मणि **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अग्नि कर्म उपपद रहते चिञ् धातु से क्विप् प्रत्यय होता है। अग्निचित्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (११५२) से 'चेः', 'ब्रह्मभ्रूण०' (११४९) से 'क्विप्' तथा 'कर्मणि हनः' (११४८) से 'कर्मणि' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''कर्म उपपद रहते चिञ् धातु से कर्म कारक में क्विप् प्रत्यय होता है, अग्नि की आख्या अभिधेय होने पर।''

उदाहरण– श्येन इव चितः– श्येन + ✓ चि + 'क्विप्' (–'कर्मण्यग्न्याख्यायाम्', क्विप् का सर्वापहार लोप, सुब्लुक्, तुक् = 'त्' आगम–'ह्रस्वस्य पिति०', प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०') = श्येनचित् (श्येन = बाज पक्षी के आकार की तरह ईंटों से चुनी गई अग्निवेदी)।

(११५४) **पद**– कर्मणि, इनि, विक्रियः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्म उपपदक विपूर्वक क्री धातु से भूतकाल में इनि प्रत्यय होता है।

(वा०)– उपर्युक्त इनि प्रत्यय कुत्सित (निन्दित) अर्थ में ही होता है। सोमविक्रयी। घृतविक्रयी।

विमर्श– पूर्ववत् 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''कर्म उपपद रहते विपूर्वक क्रीञ् धातु से भूतकाल में इनि प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) सोमं विक्रीतवान्– सोम + वि + ✓ क्री + 'इनि' (–'कर्मणीनि विक्रियः', सुब्लुक्, 'ई' = 'ए'–'गुण', ए = 'अय्' आदेश)–सोमविक्रयिन् (प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', 'इ' = 'ई'–दीर्घ–'सौ च', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'न्' का लोप–'नलोपः०') = सोमविक्रयी (सोम को बेचने वाला)। (२) घृतं विक्रीतवान्– घृत + वि + ✓ क्री + इनि (= इन् पूर्ववत् प्रक्रिया) = घृतविक्रयी (घी को बेचने वाला)।

(११५५) **पद**– दृशेः, क्वनिप्। **अनुवृत्ति**– कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्म उपपद रहते दृश् धातु से भूतकाल में क्वनिप् प्रत्यय होता है। पारदृश्वा।

विमर्श– पूर्वसूत्र से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है। 'भूते' तथा 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''कर्म के उपपद रहते भूतकाल के अर्थ में वर्तमान दृश् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है।''

कर्मणि भूते। पारं दृष्टवान्–पारदृश्वा। **(११५६) राजनि युधिकृञः ३।२।९५।** राजञ्छब्दे कर्मण्युपपदे युध्यतेः करोतेश्च क्वनिप् स्यात्। 'युधि'रन्तर्भावितण्यर्थः। राजानं योधितवान्–राजयुध्वा। राजकृत्वा। **(११५७) सहे च ३।२।९६।** सहे उपपदे युधिकृञोः क्वनिप् स्यात्। सहयुध्वा। सहकृत्वा। **(११५८) सप्तम्यां जनेर्डः**

(११५६) **राजनीति**। पूर्वसूत्रात्क्वनिप् इत्यनुवर्तते। अत आह–**राजञ्छब्द** इति। **युधिरिति**। ण्यर्थोऽत्रान्तर्भूतः, तथैव विग्रहः।

(११५७) **सहे चेति**। सहशब्दे उपपदे युधिकृञ्भ्यां क्वनिप् स्यादित्यर्थः।

कृत्संज्ञक होने से यह कर्ता अर्थ में होता है। 'क्वनिप्' में आद्य ककार और अन्त्य पकार इत्संज्ञक हैं। इकार उच्चारणार्थ है। 'वन्' शेष रहता है।

उदाहरण– पारं दृष्टवान्– पार + ✓ दृश् + 'क्वनिप्' (= 'वन्'–'दृशेः क्वनिप्', कृद्योग में कर्मणि षष्ठी लाने पर)– पार ङस् दृश् वन् (उपपद समास, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप, उपधादीर्घ, 'न्' का लोप) = पारदृश्वा (= पारंगत, निष्णात)।

(११५६) **पद**– राजनि, युधिकृञः। **अनुवृत्ति**– क्वनिप्, कर्मणि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मसंज्ञक राजन् शब्द उपपद रहते युध् और कृञ् धातु से भूतकाल में 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है। **युधि०**– युध् धातु के अर्थ में णिच् का अर्थ भी सम्मिलित है। राजयुध्वा। राजकृत्वा।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्र (११५५) से 'क्वनिप्' तथा 'कर्मणि हनः' (११४८) से 'कर्मणि' पदों की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'भूते' तथा 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''राजन् कर्म के उपपद होने पर युध् और कृञ् धातुओं से भूतकाल में 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) राजानं योधितवान्– राजन् + ✓ युध् + क्वनिप् (= 'वन्'–'राजनि युधिकृञः', कित् होने से प्राप्त लघूपध गुण का निषेध, कृद्योग में कर्मणि षष्ठी, उपपद समास, सुब्लुक्)–राजयुध्वन् (प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', उपधादीर्घ, 'स्' और 'न्' का लोप होने पर) = राजयुध्वा (राजा को युद्ध करा चुका व्यक्ति)। (२) राजानं कृतवान्– राजन् + ✓ कृ + क्वनिप् (= 'वन्', तुक् = 'त्' आगम- 'ह्रस्वस्य०', कृद्योग में षष्ठी, उपपदसमास, सुब्लुक्)–राजकृत्वन् (प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', उपधादीर्घ, 'स्' और 'न्' का लोप) = राजकृत्वा (= राजा को बनाने वाला व्यक्ति)।

(११५७) **पद**– सहे, च। **अनुवृत्ति**–युधिकृञः, क्वनिप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– सह के उपपद होने पर युध् और कृञ् धातु से भूतकाल में क्वनिप् प्रत्यय होता है। सहयुध्वा। सहकृत्वा।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु पूर्वसूत्र (११५६) से 'युधिकृञः' तथा 'दृशेः क्वनिप्' (११५५) से 'क्वनिप्' की अनुवृत्ति आती है। यहाँ 'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति नहीं आती। पूर्ववत् 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार ''सह उपपद रहते युध् और कृञ् धातु से भूतकाल में क्वनिप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) सह युद्धवान्– सह + ✓ युध् + क्वनिप् (= 'वन्'–'सहे च', उपपद समास, सुब्लुक्)–सहयुध्वन् ('सु' आने पर पूर्ववत् कार्य) = सहयुध्वा (= साथ-साथ जिसने युद्ध किया)। (२) सह कृतवान्– सह + ✓ कृ + क्वनिप् (= 'वन्', तुक् = 'त्' आगम, उपपद समास, सुब्लुक्, विभक्तिकार्य) = सहकृत्वा (साथ कार्य कर चुका व्यक्ति)।

(११५८) **पद**– सप्तम्याम्, जनेः, डः। **विधिसूत्र**।

३।२।९७। सप्तम्यन्ते उपपदे जनेर्डः स्यात्। (११५९) तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६।३।१४ । तत्पुरुषे समासे कृदन्ते उत्तरपदे बहुलं डेरलुक्। सरसिजम्। सरोजम्। (११६०) उपसर्गे च संज्ञायाम् ३।२।९९ । उपसर्गे उपपदे जनेर्डः स्यात्संज्ञायाम्।

(११५८) **सप्तम्यामिति**। सप्तम्यन्ते उपपदे जनेर्भूतार्थात् डप्रत्ययो भवतीत्यर्थः।

(११५९) **तत्पुरुष इति**। 'हलदन्तात्सप्तम्याः' इत्यतः 'सप्तम्याः' इति पदमनुवर्तते। निष्कर्षमाह–**तत्पुरुष इत्यादिना**। **सरसिजमिति**। सरसि जातमिति विग्रहे सप्तम्यन्ते 'सरसि' इत्युपपदे जन्धातोः 'सप्तम्यां जनेर्डः' इत्यनेन डप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे डित्त्वाट्टिलोपे, उपपदसमासे सुपो लुकि प्राप्ते 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यनेन विकल्पेन डेरलुकि, प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'सरसिजमि'ति। डेर्लुकिं पक्षे 'सरोजमि'ति रूपम्।

(११६०) **उपसर्गे चेति**। 'सप्तम्यां जनेर्डः' इत्यतः जनेर्ड इत्यनुवर्तते। तदाह–**उपसर्ग इत्यादिना**। **प्रजा**– प्रजायन्ते स्मेति विग्रहे प्रपूर्वाज्जन्धातोः 'उपसर्गे च संज्ञायामि'ति डप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे डित्त्वाट्टिलोपे, सुब्लुकि प्रातिपदिकत्वे सौ, हल्ङ्यादिलोपे स्त्रीत्वाट्टापि कृते 'प्रजाः' इति।

मूलार्थ– सप्तम्यन्त उपपदक जन् धातु से भूतकाल में ड प्रत्यय होता है।

विमर्श– 'भूते' तथा 'धातोः' का अधिकार है। सूत्रस्थ 'सप्तम्याम्' पद प्रत्यय के लिए होने से 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' के अनुसार सप्तम्यन्त का ग्रहण होता है। तदनुसार–''सप्तम्यन्त के उपपद होने पर भूतकाल में वर्तमान जन् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है''। 'ड' प्रत्यय के आदि वर्ण 'ड्' की 'चुटू' से इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञक का लोप हो जाने पर 'अ' मात्र शेष रहता है।

(११५९) **पद**– तत्पुरुषे, कृति, बहुलम्। **अनुवृत्ति**– सप्तम्याः, अलुक्, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कृदन्त उत्तरपद परे रहते तत्पुरुष समास में सप्तमी का बहुल से अलुक् होता है। सरसिजम्। सरोजम्।

विमर्श– यहाँ 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' (६।३।८) से 'सप्तम्याः' तथा 'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) से 'अलुक्' तथा 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'कृति' पद 'उत्तरपदे' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। इस प्रकार– ''तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद परे रहते बहुल से सप्तमी का अलुक् होता है।'' बहुल से अलुक् होने पर कहीं पर लुक् हो जाता है।

उदाहरण– सरसि जातम्– सरसि + ✓ जन् + ड (= 'अ'–'सप्तम्यां जनेर्डः', टि = 'अन्' का लोप–'डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः')– सरस् ङि + ज (उपपद समास, सुप् = 'ङि' का लुक् प्राप्त होने पर बहुल से अलुक्–'तत्पुरुषे कृति बहुलम्', प्राति० संज्ञा, सु = 'अम्'–'अतोऽम्', अ + अ = 'अ'–पूर्वरूप) = सरसिजम्। लुक् पक्ष में–स् = रु = 'उ'– 'हशि च', अ + उ = ओ–गुण, विभक्तिकार्य = सरोजम् (तालाब में उत्पन्न कमल)।

(११६०) **पद**– उपसर्गे, च, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**– जनेर्डः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– उपसर्ग उपपद रहते जन् धातु से भूतकाल में ड प्रत्यय होता है, संज्ञा के विषय में। प्रजा।

विमर्श– यहाँ पूर्वसूत्र (११५८) से 'जनेर्डः' की अनुवृत्ति आती है। 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''उपसर्ग उपपद रहते संज्ञा विषय में जन् धातु से भूतकाल में ड प्रत्यय होता है।''

प्रजा। **(११६१) अनौ कर्मणि ३।२।१००** । अनुपूर्वाज्जनेः कर्मण्युपपदे डः स्यात्। पुमांसमनुरुध्य जाता पुमनुजा। **(११६२) अन्येष्वपि दृश्यते ३।२।१०१** । अन्येष्वपि कारकेषूपपदेषु जनेर्डः स्यात्। अजः। द्विजः। ब्राह्मणजः। 'अपि'शब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः। तेन धात्वन्तरादपि, कारकान्तरेष्वपि क्वचित्। परितः खाता परिखा। **(११६३) पञ्चम्यामजातौ ३।२।९८** । जातिशब्दवर्जिते पञ्चम्यन्ते जनेर्डः

(११६१) **अनाविति**। 'जनेर्डः' इत्यनुवर्त्य आह–**अनुपूर्वादिति**।

(११६२) **अन्येष्वपीति**। 'जनेर्डः' इत्यनुवर्तते। तदाह–**अन्येष्वपीत्यादि**। **द्विज इति**। द्विजति इति भूतार्थवृत्तेः जन्धातोः 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्यये, डित्त्वाट्टिलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'द्विजः' इति।

(११६३) **पञ्चम्यामिति**। 'जनेर्डः' इत्यत्राप्यनुवर्तते। तदाह–**जातिशब्दवर्जित इति**।

उदाहरण– प्र + ✓ जन् + ड (= 'अ'–'उपसर्गे च संज्ञायाम्', डित्त्व के कारण जन् की टि = 'अन्' का लोप, उपपदसमास)– प्रज + टाप् (= 'आ'–'अजाद्यतष्टाप्', अ + आ = 'आ'– सवर्णदीर्घ, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप) = प्रजा (= सन्तति)।

(११६१) **पद–** अनौ, कर्मणि। **अनुवृत्ति–** जनेर्डः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्म उपपद रहते अनुपूर्वक जन् धातु से भूतकाल में ड प्रत्यय होता है। पुमनुजा।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्र (११५८) से 'जनेर्डः' की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'धातोः' तथा 'भूते' का अधिकार है। तदनुसार– ''कर्म के उपपद रहने पर अनुपूर्वक जन् धातु से भूतकाल में ड (अ) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– पुमांसमनुरुध्य जाता– पुमस् + अनु + ✓ जन् + ड (= 'अ'– 'अनौ कर्मणि', टिलोप, सुब्लुक्, पुम्स् के 'स्' का लोप– 'संयोगान्तस्य लोपः', अदन्तत्वात् टाप् = 'आ', अ + आ = 'आ'– दीर्घ, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः') = पुमनुजा।

(११६२) **पद–** अन्येषु, अपि, दृश्यते। **अनुवृत्ति–** जनेर्डः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्म से अन्य कारक उपपद रहते जन् धातु से ड प्रत्यय होता है। अजः। द्विजः। संस्कारजः। सूत्र में 'अपि' पद का ग्रहण होने से जन् से अतिरिक्त अन्य धातु से तथा कर्म से भिन्न कारक उपपद होने पर भी ड प्रत्यय हो जाता है। परिखा।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में भी पूर्ववत् 'जनेर्डः' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' और 'भूते' का अधिकार है। अतः ''पूर्वसूत्रों में जिनके उपपद रहते जन् धातु से ड विधान किया गया है, उनसे अन्य उपपद रहते भी जन् धातु से ड प्रत्यय होता है। 'अपि' के कथन से जन् धातु से भिन्न धातु से भी ड प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) न जातः– न + ✓ जन् + ड (= 'अ'–'अन्येष्वपि दृश्यते', डित्त्वात् 'अन्' टिलोप, नञ्समास, सुब्लुक्, 'न्' का लोप, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अजः (परमेश्वर)। (२) द्वाभ्यां जातः– द्वि + ✓ जन् + ड (= 'अ', टिलोप, सुब्लुक्, विभक्तिकार्य) = द्विजः। (३) ब्राह्मणाज्जातः– ब्राह्मण + ✓ जन् + ड (पूर्ववत् प्रक्रिया) = ब्राह्मणजः (ब्राह्मण से उत्पन्न)। (४) परितः खाता– परि + ✓ खन् + ड (= 'अ'–'अन्येष्वपि०', टिलोप, सुब्लुक्, टाप्, विभक्तिकार्य) = परिखा।

(११६३) **पद–** पञ्चम्याम्, अजातौ। **अनुवृत्ति–** जनेर्डः। **विधिसूत्र**।

स्यात्। संस्कारजः। अदृष्टजः। (११६४) क्तक्तवतू निष्ठा १।१।२६ । एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः। (११६५) निष्ठा ३।२।१०२ । भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात्। तत्र 'तयोरेवे'ति भावकर्मणोः क्तः। 'कर्तरि कृदि'ति कर्तरि क्तवतुः। स्नातं मया। स्तुतस्त्वया विष्णुः।

संस्कारज इति। संस्काराज्जात इति विग्रहे 'पञ्चम्यामजातौ' इति जन्धातोर्डप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे टिलोपे सुब्लुकि प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'संस्कारजः' इति।

(११६४) **क्तक्तवतू निष्ठेति**। स्पष्टम्।

(११६५) **निष्ठेति**। 'भूते' इति 'धातोरि'ति चाधिक्रियेते। तदाह–**भूतार्थवृत्तेरित्यादिना। स्नातं मयेति**। भावे प्रत्यये कर्तुरनुक्तत्वात् 'मये'त्यत्र तृतीया।

मूलार्थ– जातिवाचक से भिन्न पञ्चम्यन्त उपपद रहते जन् धातु से ड प्रत्यय होता है। संस्कारजः। अदृष्टजः।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११५८) से 'जनेर्डः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'धातोः' और 'भूते' का अधिकार है। न जातिः = अजातिः (नञ्तत्पुरुषः), तस्याम्। इस प्रकार– ''जातिभिन्न पञ्चम्यन्त उपपद हो तो जन् धातु से ड प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) संस्काराज्जातः– संस्कार + ✓ जन् + ड (= 'अ'–'पञ्चम्यामजातौ', 'अन्' टि का लोप, सुब्लुक्, सु = स् = र् = :) = संस्कारजः (संस्कार से उत्पन्न)। (२) अदृष्टाज्जातः– अदृष्ट + ✓ जन् + ड (पूर्ववत्प्रक्रिया) = अदृष्टजः (अदृष्ट से उत्पन्न)।

(११६४) **पद–** क्तक्तवतू, निष्ठा। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ– 'क्त' और 'क्तवतु' की निष्ठा संज्ञा होती है।

विमर्श– 'क्तश्च क्तवतुश्च क्तक्तवतू'– इतरेतरद्वन्द्वः। क्त और क्तवतु प्रत्यय निष्ठासंज्ञक होते हैं। जहाँ 'निष्ठा' पद का उच्चारण किया जायेगा वहाँ 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्ययों का ही ग्रहण किया जायेगा।

(११६५) **पद–** निष्ठा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– भूतार्थवृत्ति धातु से निष्ठासंज्ञक प्रत्यय होता है। उनमें 'क्त' प्रत्यय 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र द्वारा भाव और कर्म में तथा 'क्तवतु' प्रत्यय कर्ता में ('कर्तरि कृत्' के अनुसार) होता है। स्नातं मया इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'भूते' और 'धातोः' का पूर्ववत् अधिकार है। अतः ''भूतकाल में वर्तमान धातु से निष्ठासंज्ञक (क्त और क्तवतु) प्रत्यय होता है। क्त और क्तवतु प्रत्ययों का आदि 'क्' वर्ण 'लशक्वतद्धिते' से तथा 'क्तवतु' का अन्त्य उकार 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। इस प्रकार क्त का 'त्' तथा 'क्तवतु' का 'तवत्' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ स्ना ('ष्णा शौचे–'धात्वादेः षः सः') + क्त ('त'–'निष्ठा'–भाव में निष्ठासंज्ञक प्रत्यय, कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा, सु, 'सु' = 'अम्'–'अतोऽम्', अ + अ = 'अ'– पूर्वरूप–'अमि पूर्वः') = स्नातं मया (मुझसे स्नान किया गया)। (२) ✓ स्तु (ष्टुञ्) + क्त (= 'त' कर्म अर्थ में निष्ठासंज्ञक प्रत्यय–'निष्ठा', 'आर्धधातु०' से प्राप्त इट् का 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से निषेध, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = स्तुतस्त्वया विष्णुः (तुमने विष्णु की स्तुति की)। (३) ✓ कृ + क्तवतु (= 'तवत्', कर्ता अर्थ में–'निष्ठा' कित् होने से प्राप्त गुण का निषेध– 'क्ङिति च', प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', उपधादीर्घ–'अत्वसन्तस्य चाऽधातोः', नुम् = 'न्' आगम–'उगिदचां

विष्णुर्विश्वं कृतवान्। (**११६६) अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति २।४।३६** । ल्यपि तादौ किति च। इकार उच्चारणार्थः। जग्धम्। (**११६७) निष्ठायामण्यदर्थे ६।४।६०** । ण्यदर्थो भावकर्मणी, ततोऽन्यत्र निष्ठायां क्षियो दीर्घः स्यात्। (**११६८) क्षियो दीर्घात् ८।२।४६** । निष्ठातस्य नः। क्षीणवान्। भावकर्मणोस्तु क्षितः कामो मया।

(११६६) **अदो जग्धिरिति**। अदो जग्धिरादेशः स्याल्ल्यपि तादौ किति चेत्यर्थः। **जग्धमिति**। अद्धातोः 'निष्ठा' इति क्तप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' इत्यनेन अदः स्थाने जग्धादेशे 'झषस्तथोर्धोऽधः इति तकारस्य धत्वे 'झरो झरि सवर्णे' इति पूर्वधकारस्य लोपे प्रातिपदिकत्वे सौ, अमि पूर्वरूपे 'जग्धमि'ति रूपम्।

(११६७) **निष्ठायामिति**। अत्र 'युप्लुवोर्दीर्घः' इत्यतः 'दीर्घः' इति, 'क्षियः' इति सूत्रञ्चानुवर्तेते। अत आह- **ण्यदर्थ इत्यादि**।

(११६८) **क्षिय इति**। दीर्घाकृतात् क्षियः परस्य निष्ठासंज्ञकस्य तस्य नः स्यादित्यर्थः। **क्षीणवान्**- क्षिधातोः 'निष्ठा' इत्यनेन क्तवतु-प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'निष्ठायामण्यदर्थे' इति दीर्घे 'क्षियो दीर्घात्' इति तस्य नत्वे प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ 'उगिदचामि'ति नुमि 'सर्वनामस्थाने'

सर्वनामस्थानेऽधातोः', 'स्' का लोप-'हल्ङ्याब्भ्यो०', 'त्' का लोप-'संयोगान्तस्य लोपः') = कृतवान् विश्वं विष्णुः (विष्णु ने विश्व को बनाया)।

(११६६) **पद**- अदः, जग्धिः, ल्यप्, ति, किति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- ल्यप् प्रत्यय परे रहते अथवा तादि कित् परे रहते 'अद्' के स्थान में 'जग्ध्' आदेश होता है। 'जग्धि' में इकार उच्चारणार्थ है। जग्धम्।

विमर्श- 'आर्धधातुके' का अधिकार है। तदनुसार- ''अद् को 'जग्ध्' आदेश होता है, ल्यप् तथा तकारादि कित् आर्धधातुक के परवर्ती रहते''। 'जग्धि' में इकार उच्चारण के लिए जोड़ा गया है।

उदाहरण- ✓ अद् + क्त ('त'-'निष्ठा', 'अद्' = 'जग्ध्'-'अदो जग्धिर्ल्यप्ति०'; 'त्' = 'ध्'-'झषस्तथोर्धोऽधः', पूर्व 'ध्' का लोप- 'झरो झरि सवर्णे', प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = जग्धम्।

(११६७) **पद**- निष्ठायाम्, अण्यदर्थे। **अनुवृत्ति**- क्षियः, दीर्घः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- भावकर्म से अन्य अर्थ में विहित निष्ठा प्रत्यय के परवर्ती रहते क्षि धातु को दीर्घ होता है।

विमर्श- सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्र 'क्षियः' (६।४।५९) तथा 'युप्लुवोर्दीर्घः०' (६।४।५८) से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''ण्यदर्थ (= भावकर्म) से भिन्न अर्थ में वर्तमान 'निष्ठा' के परवर्ती रहते 'क्षि' अङ्ग को दीर्घ होता है।''

(११६८) **पद**- क्षियः, दीर्घात्। **अनुवृत्ति**- निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- दीर्घ क्षि धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है। क्षीणवान्। भावकर्म में-क्षितः कामो मया।

(वा०)- **'ऊर्णु' धातु को णुवद्भाव होता है, ऐसा कहना चाहिए। ऊर्णुतः।**

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' (११६९) से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''दीर्घ क्षि धातु से उत्तरवर्ती निष्ठा के तकार के स्थान में नकार आदेश होता है।''

* ऊर्णोतेर्णुवद्भावो वाच्यः *। तेन एकाच्त्वान्नेट्। ऊर्णुतः। **(११६९) रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८।२।४२ ।** रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नो निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च। शृ-शीर्णः। भिन्नः। छिन्नः। **(११७०) संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ८।२।४३ ।** यण्वत्संयोगादेरादन्तान्निष्ठातस्य नः। द्राणः। ग्लानः। **(११७१) ल्वादिभ्यः**

इत्यनेनोपधायाः दीर्घे 'क्षीणवान् त् स्' इति जाते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तकारस्य लोपे 'क्षीणवान्' इति।

(११६९) **रदाभ्यामिति** । रेफदकाराभ्यामुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने नकारादेशो भवति, पूर्वस्य दकारस्य च स्थाने नत्वं भवति। **शीर्णः**- शृधातोः क्तप्रत्यये 'ॠत इद्धातोः' इतीत्वे रपरत्वे 'हलि चे'ति दीर्घे 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति तकारस्य नत्वे, णत्वे विभक्तिकार्ये 'शीर्णः' इति।

(११७०) **संयोगादेरिति**। स्पष्टम्।

उदाहरण– (१) ✓ क्षि + क्तवतु (= 'तवत्'-'निष्ठा', इ = 'ई'-दीर्घ- 'निष्ठायामण्यदर्थे', 'त्' = 'न्'-'क्षियो दीर्घात्', प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', नुम् = 'न्' आगम-'उगिदचाम्०', उपधादीर्घ, 'स्' तथा 'त्' का पूर्ववत् लोप) = क्षीणवान्। (२) भाव और कर्म में सूत्र ११६७ से दीर्घ नहीं होता। ✓ क्षि + क्त = क्षितः। (३) ✓ ऊर्णुञ् (ऊर्णु) + क्त (= 'त', णुवद्भाव-'ऊर्णोतेर्णुवद्भावो वाच्यः' वार्तिक से, एकाच् होने से प्राप्त इट् का 'श्र्युकः किति' से निषेध, सु = स् = र् = :) = ऊर्णुतः।

(११६९) **पद**– रदाभ्याम्, निष्ठातः, नः, पूर्वस्य च, दः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– रेफ-दकार से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है और निष्ठा की अपेक्षा पूर्व धातु के दकार को भी नकार आदेश होता है। शीर्णः। भिन्नः। छिन्नः।

विमर्श– सूत्रस्थ 'पूर्वस्य' पद से 'निष्ठा' का ग्रहण होता है। इस प्रकार- ''रेफ या दकार से परवर्ती निष्ठा के 'त्' के स्थान पर 'न्' आदेश हो जाता है तथा निष्ठा से पूर्व धातु के 'द्' के स्थान पर 'न्' आदेश हो जाता है।''

उदाहरण– (१) ✓ शृ + क्त (= 'त'-'निष्ठा', 'ॠ' = 'इ'-'ॠत इद्धातोः', रपर, 'इ' = 'ई'-दीर्घ-'हलि च')-शीर् त ('त्' = 'न्'-'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः', 'न्' = 'ण्'-णत्व- 'रषाभ्यां नो णः समानपदे', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = शीर्णः (हिंसित)। (२) ✓ भिद् (भिदिर्) + क्त (= 'त'-'निष्ठा', 'त्' = 'न्', 'द्' = 'न्'-'रदाभ्यां निष्ठातो०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = भिन्नः (तोड़ा गया)। (३) ✓ छिद् (छिदिर्) + क्त (पूर्ववत्प्रक्रिया) = छिन्नः (काटा गया)।

(११७०) **पद**– संयोगादेः, आतः, धातोः, यण्वतः। **अनुवृत्ति**– निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– संयोगादि यण्वान् आदन्त धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है। द्राणः। ग्लानः।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११६९) से यहाँ 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''संयोग जिसके आदि में है ऐसी जो यण्वान् आकारान्त धातु, उससे परवर्ती निष्ठा के 'त्' के स्थान में 'न्' आदेश हो जाता है।''

उदाहरण– (१) ✓ द्रा + क्त (= 'त्'-'निष्ठा', प्राप्त इट् का निषेध-'एकाच०', 'त्' = 'न्'- 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः', 'न्' = 'ण्'-णत्व- 'अट्कुप्वाङ्०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :)

८।२।४४ । एकविंशतेर्लूञादिभ्यः प्राग्वत्। लूनः। ज्या–'ग्रहिज्या'। (११७२) हलः ६।४।२ । अङ्गावयवाद्धलः परं यत्सम्प्रसारणं तदन्तस्याङ्गस्य दीर्घः। जीनः। * दुग्वोर्दीर्घश्च *। दु गतौ। दूनः। गु पुरीषोत्सर्गे। गूनः। * पूञो विनाशे *। पूना यवाः। विनष्टा इत्यर्थः। पूतमन्यत्। * सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्य *। सिनो ग्रासः। ग्रासेति किम्? सिता पाशेन सूकरी। कर्मकर्तृकेति किम्? सितो ग्रासो देवदत्तेन। (११७३) ओदितश्च

(११७१) **ल्वादिभ्य इति**। एकविंशतेर्लूञादिभ्यः निष्ठातकारस्य नकारो भवतीत्यर्थः। **लूनः**– लूञ्धातोः 'निष्ठा' इति क्तप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'ल्वादिभ्यः' इति निष्ठातकारस्य नत्वे विभक्तिकार्ये 'लूनः' इति रूपम्।

(११७२) **हल इति**। 'हलः' इत्यत्र पञ्चमी। 'सम्प्रसारणस्ये'ति सूत्रमनुवर्तते। 'अङ्गस्ये'-त्यधिकृतम्। 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते। तदाह–**अङ्गावयवादित्यादिना**। **दूनः**–दुधातोः

= द्राणः (= कुत्सित)। (२) ✓ ग्लै + क्त (= 'त', 'ऐ' = 'आ'–आत्व–'आदेच उपदेशेऽशिति', 'त्' = 'न्'–'संयोगादे०', सु = स् = र् = :) = ग्लानः (= खिन्न, दुःखी)।

(११७१) **पद**– ल्वादिभ्यः। **अनुवृत्ति**– निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– इक्कीस लू आदि धातुओं से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है। लूनः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (११६९) से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''पाणिनीय धातुपाठ में पठित २१ लूञ् आदि धातुओं से परवर्ती निष्ठा के 'त्' के स्थान पर 'न्' आदेश होता है।''

उदाहरण– ✓ लूञ् (लू) + क्त (= 'त'–'निष्ठा', प्राप्त इट् का निषेध, 'त्' = 'न्'–'ल्वादिभ्यः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = लूनः (काटा हुआ)।

(११७२) **पद**– हलः। **अनुवृत्ति**– सम्प्रसारणस्य, दीर्घः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अङ्ग के अवयव हल् से परवर्ती जो सम्प्रसारण, तदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। जीनः।

(वा०)– दु और गु धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार होता है तथा दीर्घ भी होता है। इनः। गूनः।

(वा०)– विनाशार्थक पूञ् धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है तथा दीर्घ होता है। पूनाः यवाः। पूतमन्यत्।

(वा०)– ग्रास कर्म-कर्ता हो तो षिञ् धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो जाता है। 'सिनो ग्रासः' इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'सम्प्रसारणस्य' (६।३।१३८) सूत्र तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।११०) से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है, उसकी आवृत्ति की जाती है। एक 'अङ्गस्य' अवयवावयविभाव से 'हलः' के साथ सम्बद्ध होता है। दूसरे 'अङ्गस्य' का 'सम्प्रसारणस्य' विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। इस प्रकार– ''अङ्ग के अवयव हल् से परे जो सम्प्रसारण, तदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है''। 'अचश्च' और 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषाओं के द्वारा यह दीर्घ अन्त्य अच् को ही होता है।

उदाहरण– (१) ✓ ज्या + क्त (= 'त'–'निष्ठा', 'य्' = 'इ'–सम्प्रसारण–'ग्रहिज्या०')– ज् इ आ त (इ + आ = 'इ'–पूर्वरूप–'सम्प्रसारणाच्च')– जि त (प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध,

८।२।४५ । प्राग्वत्। भुजो–भुग्नः। टुओश्वि–उच्छूनः। (११७४) द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः ६।१।२४ । द्रवस्य मूर्तौ काठिन्ये, स्पर्शे चार्थे श्यैङः सम्प्रसारणं स्यान्निष्ठायाम्।

'निष्ठा' इति क्तप्रत्यये 'दुग्वोर्दीर्घश्चे'ति वार्तिकेन दीर्घे, चकारेण तस्य नत्वे, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'दूनः' इति।

(११७३) **ओदितश्चेति**। ओदितो धातोः परस्य निष्ठातकारस्य नत्वं भवतीत्यर्थः। **शूनः**– टुओश्वि धातोः 'निष्ठा' इति क्तप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'वचिस्वपियजादीनामि'ति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'श्वीदितो निष्ठायामि'त्यनेन इण्निषेधे 'हलः' इत्यनेन दीर्घे, 'ओदितश्चे'ति तकारस्य नकारे संयोगे 'शूनः' इति। उदुपसर्गे तु छत्वे श्चुत्वे कृते 'उच्छूनः' इति।

(११७४) **द्रवमूर्तीति**। द्रवस्य मूर्तिः काठिन्यं, द्रवमूर्तिश्च स्पर्शश्चेति द्रवमूर्तिस्पर्शौ, तयोः द्रवमूर्तिस्पर्शयोः। अत्र 'सम्प्रसारणम्, निष्ठायामि'ति पदेऽनुवर्तेते। तदाह–**द्रवस्येत्यादि**।

'इ' = 'ई'–दीर्घ–'हलः', 'त्' = 'न्'–'ल्वादिभ्यः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = जीनः (जीर्ण हो चुका)। (२) ✓ दु + क्त (= 'त', उ = 'ऊ'–दीर्घ, 'त्' = 'न्'–''दुग्वोर्दीर्घश्च' वार्तिक से, सु = स् = र् = :) = दूनः (जा चुका)। (३) ✓ गु + क्त (पूर्ववत् प्रक्रिया) = गूनः (मल परित्याग कर चुका)। (४) ✓ पूञ् (पू) + क्त (= 'त', 'त्' = 'न्'–वा०–'पूञो विनाशे', प्रा० संज्ञा, जस् = अस्, अ + अ = 'आ'–दीर्घ, स् = र् = :) = पूनाः। विनाश से अन्य अर्थ में नत्व नहीं होता– पूतम्। (५) ✓ षिञ् (सि–'धात्वादेः षः सः') + क्त (= त, 'त्' = 'न्'– **वा०**– 'सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्य', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = सिनः।

प्रत्युदाहरण– (१) वार्तिक के अनुसार ग्रास रूप कर्म-कर्ता होने पर ही निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है। 'सिता पाशेन शूकरी'– यहाँ नत्व नहीं हुआ। ✓ सि + क्त = सित + टाप्, विभक्तिकार्य = सिता (बाँधी गयी)। (२) 'कर्मकर्तृक' पद ग्रहण होने से ग्रास कर्मकर्ता हो तभी षिञ् धातु से परे त् को न् होने से 'सितो ग्रासो देवदत्तेन' में नत्व नहीं होता।

(११७३) **पद**– ओदितः, च। **अनुवृत्ति**– निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ओदित् धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है। भुग्नः। उच्छूनः।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'रदाभ्यां०' (११६९) सूत्र से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति यहाँ आती है। निष्ठा का धातु से विधान होने से 'ओदितः' से ओकारेत्संज्ञक धातु का ही ग्रहण होता है। तदनुसार– ''ओकार इत्संज्ञक धातु से परवर्ती निष्ठा के 'त्' के स्थान पर 'न्' आदेश होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ भुजो (भुज्) + क्त (= 'त', 'त्' = 'न्'–'ओदितश्च', 'ज्' = 'ग्'– कुत्व– 'चोः कुः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = भुग्नः (टेढ़ा किया गया)। (२) उद् + ✓ टु ओ श्वि (श्वि) + क्त (= 'त', प्राप्त इट् का 'श्वीदितो निष्ठायाम्' से निषेध, 'व्' = 'उ'–सम्प्रसारण– 'वचिस्वपि०', पूर्वरूप)– उद् शु त ('त्' = 'न्'–ओदितश्च', 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ–'हलः', 'द्' = 'ज्'– श्चुत्व, 'ज्' = 'च्'– चर्त्व–'खरि च', 'श्' = 'छ्' विकल्प से– 'शश्छोऽटि', विभक्तिकार्य) = उच्छूनः। छत्वाभावपक्ष में– उच्शूनः (फूला हुआ)।

(११७४) **पद**– द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः। **अनुवृत्ति**– निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– द्रव पदार्थ की कठिनता और स्पर्श अर्थ में श्यैङ् धातु को सम्प्रसारण होता है, निष्ठा के परवर्ती रहते।

(११७५) श्योऽस्पर्शे ८।२।४७ । श्यैङो निष्ठातस्य नः स्यादस्पर्शेऽर्थे। शीनं घृतम्। अस्पर्शे किम्? शीतं जलम्। द्रवमूर्तिस्पर्शयोरिति किम्? संश्यानो वृश्चिकः, शीतात् सङ्कुचित इत्यर्थः। **(११७६) प्रतेश्च ६।१।२५ ।** सम्प्रसारणं निष्ठायाम्। प्रतिशीनः। **(११७७) विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य ६।१।२६ ।** तथा। अभिश्यानं घृतम्। अभिशीनम्।

(११७५) **श्योऽस्पर्शे**। श्यैङः श्य इति निर्देशः। 'निष्ठातो नः' इत्यनुवर्तते। अत आह– **श्यैङ इत्यादिना**। **शीनमिति**। श्यैङ्धातोः क्तप्रत्यये 'द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः' इति यकारस्य सम्प्रसारणे इकारे 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपे 'श्योऽस्पर्शे' इति नत्वे, दीर्घे सौ अमि पूर्वरूपे 'शीनमि'ति रूपम्।

(११७६) **प्रतेश्च**। प्रतिपूर्वात् श्यैङः सम्प्रसारणं स्यान्निष्ठायामित्यर्थः।

(११७७) **विभाषेति**। श्यैङः निष्ठायां वा सम्प्रसारणं स्यादित्यर्थः। **अभिश्यानम्**–

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'स्फायः स्फी निष्ठायाम्' (६।१।२२) से 'निष्ठायाम्' तथा 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) से 'सम्प्रसारणम्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''निष्ठासंज्ञक प्रत्यय के परवर्ती रहते तरल पदार्थ के काठिन्य और स्पर्श अर्थ में वर्तमान श्यैङ् धातु को सम्प्रसारण हो जाता है।''

(११७५) **पद**– श्यः, अस्पर्शे। **अनुवृत्ति**– निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– श्यैङ् धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है, स्पर्श-भिन्न अर्थ में। शीनं घृतम् इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (११६९) से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''स्पर्श अर्थ को छोड़कर श्यैङ् धातु से उत्तरवर्ती निष्ठा के तकार के स्थान में नकार आदेश होता है।''

उदाहरण– ✓ श्यै + क्त (= 'त'–'निष्ठा', 'य्' = 'इ'–सम्प्रसारण–'द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः', पूर्वरूप–'सम्प्रसारणाच्च', 'त्' = 'न्'–'श्योऽस्पर्शे', 'इ' = 'ई'–दीर्घ– 'हलः', प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', अ + अ = 'अ'– पूर्वरूप) = शीनम् (घनीभूत)।

प्रत्युदाहरण– (१) प्रकृत सूत्र (११७५) में 'अस्पर्शे' पद का पाठ होने से स्पर्श-भिन्न अर्थ में ही निष्ठा तकार को नकार आदेश होता है। स्पर्श अर्थ में नकार नहीं होता–शीतं जलम् (ठण्डा पानी)। (२) सूत्र ११७४ में 'द्रवमूर्तिस्पर्शयोः' का ग्रहण होने से 'द्रवीभूत पदार्थ के काठिन्य और स्पर्श' अर्थ में ही श्यैङ् को सम्प्रसारण होता है, अन्य अर्थ में नहीं होता। यथा संकुचित अर्थ में– सम् + ✓ श्यै + क्त (= 'त', 'ऐ' = 'आ' आत्व–'आदेच०', 'त्'= 'न्', 'सु' = स् = र् = :) = संश्यानः वृश्चिकः (ठण्ड के कारण सिकुड़ा हुआ बिच्छू)।

(११७६) **पद**– प्रतेः च। **अनुवृत्ति**– श्यः, निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– निष्ठा के परवर्ती रहते प्रतिपूर्वक श्यैङ् धातु को सम्प्रसारण होता है। प्रतिशीनः।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११७४) से 'श्यः', 'स्फायः स्फी०' (६।१।२२) से 'निष्ठायाम्' तथा 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''प्रति उपसर्गपूर्वक श्यैङ् धातु को निष्ठासंज्ञक प्रत्यय के परवर्ती रहते सम्प्रसारण होता है।''

उदाहरण– प्रति + ✓ श्यैङ् (श्यै) + क्त (= 'त', 'य्' = 'इ'–सम्प्रसारण– 'प्रतेश्च', पूर्वरूप, दीर्घ 'त्' = 'न्'–'श्योऽस्पर्शे', सु = स् = र् = :) = प्रतिशीनः (= पिघला हुआ)।

(११७७) **पद**– विभाषा, अभ्यवपूर्वस्य। **अनुवृत्ति**– श्यः, निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र**।

अवश्यानः–अवशीनो वृश्चिकः। व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनेह न–समवश्यानः। (११७८) अञ्चोऽनपादाने ८।२।४८ । निष्ठातस्य नः। (११७९) यस्य विभाषा ७।२।१५ । यस्य क्वचिद्विभाषयेड्विहितस्ततो निष्ठाया इण् न। 'उदितो वे'ति क्त्वायां वेट्त्वादिह नेट्। समक्नः। अनपादाने किम्–उदक्तमुदकं कूपात्। (११८०)

अभिपूर्वात् श्यैङ्धातोः क्तप्रत्यये 'विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'श्योऽस्पर्शे' इति तस्य नत्वे, दीर्घे विभक्तिकार्ये 'अभिशीनमि'ति। सम्प्रसारणाऽभावपक्षे आत्वे, तस्य नत्वे, सौ अमि पूर्वरूपे 'अभिश्यानमि'ति रूपम्।

(११७८) **अञ्चोऽनपादाने**। अपादानभिन्नार्थे अञ्चेः परस्य निष्ठातस्य नकारः स्यादित्यर्थः।

(११७९) **यस्येति**। 'नेड् वशि कृती'त्यतः नेडिति, 'श्वीदितो निष्ठायामि'त्यतश्च 'निष्ठायामि'त्यनुवर्तते। तदाह– **यस्य क्वचिदित्यादि**। **समक्नः**– सम्पूर्वकादञ्चुधातोः क्तप्रत्यये इटो निषेधे 'अनिदितामि'ति नलोपे चकारस्य कुत्वेन ककारे विभक्तिकार्ये 'समक्नः' इति।

मूलार्थ– अभि और अव उपसर्गपूर्वक श्यै धातु को निष्ठा के परवर्ती रहते विकल्प से सम्प्रसारण होता है। अभिश्यानं घृतम्। अभिशीनम् इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११७४) से 'श्यः' तथा पूर्ववत् 'निष्ठायाम्' एवं 'सम्प्रसारणम्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अभि और अव पूर्वक श्यैङ् धातु को विकल्प से सम्प्रसारण होता है, निष्ठासंज्ञक प्रत्यय के परे रहते।''

उदाहरण– (१) अभि + ✓ श्यै + क्त (= 'त', 'य्' = 'इ'–सम्प्रसारण विकल्प से– 'विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य', पूर्वरूप–'सम्प्रसारणाच्च', दीर्घ, 'त्' = 'न्'–'श्योऽस्पर्शे', प्राति० सं०, सु = 'अम्', पूर्वरूप) = अभिशीनम्। सम्प्रसारण के अभाव पक्ष में आत्व होकर–अभिश्यानं घृतम् (पिघला घी)। (२) अव + ✓ श्यै + क्त (विकल्प से सम्प्रसारण, पक्ष में दीर्घ, नत्व होकर) = अवशीनः। सम्प्रसारण के अभाव में आत्व–अवश्यानः। (३) यहाँ व्यवस्थित विभाषा होने से– सम् + अव + ✓ श्यै + क्त = 'समवश्यानः' में सम्प्रसारण नहीं होता।

(११७८) **पद–** अञ्चः, अनपादाने। **अनुवृत्ति–** निष्ठातो नः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अपादान से भिन्न अर्थ में अञ्चु धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में ११६९ सूत्र से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''अञ्चु धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है, अपादान में नहीं होता।''

(११७९) **पद–** यस्य, विभाषा। **अनुवृत्ति–** निष्ठायाम्, नेटि। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ– जिस धातु को विकल्प से कहीं भी इट् विधान किया गया है उससे परे निष्ठा को इट् नहीं होता। समक्नः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७।२।१४) से 'निष्ठायाम्' तथा 'नेड् वशि कृति' (७।२।१) से 'नेट्' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार– जिस धातु को कहीं भी इट् विधान विकल्प से किया गया है, उसको निष्ठा के परवर्ती रहते इट् नहीं होता।''

उदाहरण– सम् + ✓ अञ्चु + क्त (= 'त'–'निष्ठा', 'न्' का लोप– 'अनिदिताम्०', प्राप्त इट् का निषेध = 'यस्य विभाषा', 'च्' = 'क्' कुत्व, 'त्' = 'न्'–अञ्चोऽनपादाने', सु = स् = र्

दिवोऽविजिगीषायाम् ८।२।४९ । द्यूनः। विजिगीषायां तु–द्यूतम्। **(११८१) निर्वाणोऽवाते ८।२।५० ।** अवाते इति च्छेदः। निपूर्वाद्वातेर्निष्ठातस्य नत्वं स्याद् वातश्चेत्कर्ता न। निर्वाणोऽग्निर्मुनिर्वा। वाते तु–निर्वातो वातः। **(११८२) शुषः कः ८।२।५१ ।** निष्ठातस्य कः। शुष्कः। **(११८३) पचो वः ८।२।५२ ।** पक्वः।

(११८०) **दिव इति**। दिवः परस्य निष्ठातस्य नकारः स्यादविजिगीषायामित्यर्थः। **द्यून इति**। दिव्धातोः क्तप्रत्यये 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च'त्यूठि, यणि 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इति तस्य नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'द्यूनः' इति सिद्धम्।

(११८१) **निर्वाणोऽवात इति**। निपूर्वाद् वाधातोः क्तप्रत्यये, तस्य नत्वे णत्वे निपातनं भवति। वाते तु–'निर्वातः' इति रूपम्।

(११८२) **शुषः क इति**। शुषः परस्य निष्ठातस्य कः स्यादित्यर्थः। **शुष्कः**– शुष्धातोः क्तप्रत्यये 'शुषः कः' इति तकारस्य स्थाने ककारे विभक्तिकार्ये 'शुष्कः' इति।

= :) = समक्नः। (यहाँ क्त्वा प्रत्यय होने पर विकल्प से 'ऊदितो वा' से इट् होने से प्रकृत सूत्र से इट् निषेध हो जाता है।)

प्रत्युदाहरण– सूत्र 'अञ्चोऽनपादाने' (११७८) में 'अनपादाने' (अपादान से भिन्न) पद का ग्रहरण होने से अपादान में नत्व नहीं होता। उद् + अञ्च् + क्त (= 'त', इट्-निषेध, 'न्' का लोप, 'च्' = 'क्'–कुत्व, विभक्तिकार्य) = उदक्तम्, उदकं कूपात् (कुएँ से निकला जल)।

(११८०) **पद**– दिवः, अविजिगीषायाम्। **अनुवृत्ति**– निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– दिव् धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है, यदि अविजिगीषा (विजय प्राप्त करने की इच्छा न) हो। द्यूनः। विजिगीषा अर्थ में–द्यूतम्।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११६९) से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। अतः "जीतने की इच्छा से भिन्न अर्थ में वर्तमान दिव् धातु से उत्तर निष्ठा के तकार के स्थान में नकार आदेश होता है।"

उदाहरण– (१) ✓ दिव् + क्त (= 'त', व् = ऊठ् = 'ऊ', 'इ' = 'य्'–यण्, 'त्' = 'न्'– 'दिवोऽविजिगीषायाम्', सु = स् = र् = :) = द्यूनः। (२) विजिगीषा (विजय-प्राप्ति की इच्छा) अर्थ में नत्व नहीं होता–द्यूतम्।

(११८१) **पद**– निर्वाणः, अवातेः। **अनुवृत्ति**– निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– निर्पूर्वक 'वा' धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है, यदि वात (वायु) कर्ता न हो तो। निर्वाणः इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। अतः "निर्पूर्वक वा धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है, यदि वात अभिधेय न हो।"

उदाहरण– (१) निर् + ✓ वा + क्त (= 'त', 'त्' = 'न्', 'न्' = 'ण्'–निपातन से–'निर्वाणोऽवाते', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = निर्वाणः (शान्त)। (२) 'वात' अर्थ में उक्त निपातन नहीं होता–निर्वातः।

(११८२) **पद**– शुषः, कः। **अनुवृत्ति**– निष्ठातः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– शुष् धातु से परवर्ती निष्ठा के 'त्' को 'क्' आदेश होता है। शुष्कः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (११६९) से 'निष्ठातः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "शुष् धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार के स्थान में ककार आदेश होता है।"

(११८४) क्षायो मः ८।२।५३ । क्षामः। **(११८५) स्त्यः प्रपूर्वस्य ६।१।२३ ।** प्रात् स्त्यः सम्प्रसारणं निष्ठायाम्। **(११८६) प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् ८।२।५४ ।** निष्ठातस्य मो वा। प्रस्तीमः। प्रस्तीतः। प्रात्किम्? स्त्यानः। **(११८७) अनुपसर्गात्**

(११८३) **पचो व इति** । पचः परस्य निष्ठातस्य वः स्यादित्यर्थः।

(११८४) **क्षायो म इति** । क्षैधातोः परस्य निष्ठातस्य मः स्यादित्यर्थः। **क्षामः**- क्षैधातोः क्तप्रत्यये 'क्षायो मः' इति तकारस्य स्थाने मकारे 'आदेच उपदेशे' इत्यात्वे विभक्तिकार्ये 'क्षामः' इति।

(११८५) **स्त्य इति** । 'स्त्यः' इति षष्ठ्यन्तम्। 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इत्यतः सम्प्रसारणमिति, 'स्फायः स्फी' इत्यतः निष्ठायामिति चानुवर्तते। तदाह-**प्रादित्यादि**।

(११८६) **प्रस्त्य इति**। 'क्षायो मः' इत्यतः म इत्यनुवर्तते। तदाह- **निष्ठातस्येति**। **प्रस्तीमः**- प्रपूर्वात् स्त्यैधातोः क्तप्रत्यये 'स्त्यः प्रपूर्वस्ये'ति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपे 'हलः' इति दीर्घे 'प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्' इति विभाषया तस्य मत्वे, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'प्रस्तीमः' इति। मत्वाऽभावपक्षे-'प्रस्तीतः' इति।

उदाहरण- ✓ शुष् + क्त (= 'त', 'त्' = 'क्'-'शुषः कः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = शुष्क (सूखा हुआ)।

(११८३) **पद**- पचः, वः। **अनुवृत्ति**- निष्ठातः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- पच् धातु से परवर्ती निष्ठा के 'त्' को 'व्' होता है। पक्वः।

विमर्श- पूर्ववत् (११६९) से 'निष्ठातः' की अनुवृत्ति आने से ''पच् धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को वकार आदेश होता है।''

उदाहरण- ✓ पच् + क्त (= 'त', 'त्' = 'व्'-'पचो वः', विभक्तिकार्य) = पक्वः (पकाया गया)।

(११८४) **पद**- क्षायः, मः। **अनुवृत्ति**- निष्ठातः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- क्षै धातु से परवर्ती निष्ठा सम्बन्धी तकार को मकार आदेश होता है। क्षामः।

विमर्श- उक्तवत् 'निष्ठातः' पद की अनुवृत्ति आती है। अतः '''क्षै क्षये' धातु से उत्तरवर्ती निष्ठा के तकार के स्थान में मकार आदेश होता है।''

उदाहरण- ✓ क्षै + क्त (= 'त', 'ऐ' = 'आ'-आत्व-'आदेच उपदेशेऽशिति', 'त्' = 'म्'-'क्षायो मः', विभक्तिकार्य) = क्षामः (क्षीण, कृश)।

(११८५) **पद**- स्त्यः, प्रपूर्वस्य। **अनुवृत्ति**- निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- निष्ठा के परवर्ती रहते प्रपूर्वक स्त्यै धातु को सम्प्रसारण होता है।

विमर्श- यहाँ 'स्फायः स्फी निष्ठायाम्' (६।१।२२) से 'निष्ठायाम्' तथा 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''प्रपूर्वक स्त्यै धातु को निष्ठा के परे रहते सम्प्रसारण होता है।''

(११८६) **पद**- प्रस्त्यः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**- मः, निष्ठातः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- प्रपूर्वक स्त्यै धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को विकल्प से मकार आदेश होता है। प्रस्तीमः। प्रस्तीतः इत्यादि।

फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः ८।२।५५ । एते निपात्यन्ते। ञिफला–फुल्लः। निष्ठातस्य लत्वं निपात्यते। क्तवत्वेकदेशस्यापीदं निपातनमिष्यते। फुल्लवान्। अनुपसर्गात्किम्? **(११८८) आदितश्च ७।२।१६ ।** आकारेतो निष्ठाया इण्न। **(११८९) ति च ७।४।८९ ।** चरफलोरत उत्स्यात् तादौ किति। प्रफुल्तः। प्रक्षीबितः। प्रकृशितः। प्रोल्लाघितः।

(११८७) **अनुपसर्गादिति**। 'अनुपसर्गादेते निपात्यन्ते' इत्यर्थः।

(११८८) **आदितश्चेति**। यस्य धातोराकार इत्संज्ञकस्ततः परस्य निष्ठाया इण्न भवतीत्यर्थः।

(११८९) **ति चेति**। 'उत्परस्यातः' इत्यतः 'उत् अतः' इत्यनुवर्तते, 'चरफलोश्चे'त्यतः चरफलोरिति च। तदाह– **चरफलोरित्यादिना**। **प्रफुल्तः**– प्रपूर्वात्फल्धातोः क्तप्रत्यये

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (११८४) से 'मः' तथा 'रदाभ्यां०' (११६९) से 'निष्ठातः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''प्रपूर्वक स्त्यै धातु से उत्तरवर्ती निष्ठा के 'त्' के स्थान में विकल्प से 'म्' आदेश होता है।''

उदाहरण– प्र + ✓ स्त्यै + क्त (= 'त', 'य्' = 'इ' सम्प्रसारण– 'स्त्यः प्रपूर्वस्य', इ + ऐ = 'इ'–पूर्वरूप–'सम्प्रसारणाच्च', 'इ' = 'ई'–दीर्घ–'हलः', 'त्' = 'म्' विकल्प से– 'प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्', प्रा० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = प्रस्तीमः। मत्व के अभाव पक्ष में प्रस्तीतः।

प्रत्युदाहरण– उक्त दोनो सूत्रों में 'प्रात्' (प्र उपसर्गपूर्वक) का ग्रहण होने से उपसर्ग रहित 'स्त्यानः' में सम्प्रसारण और वैकल्पिक मत्व नहीं होता।

(११८७) **पद–** अनुपसर्गात्, फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः। **अनुवृत्ति–** निष्ठातः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– उपसर्ग रहित फुल्ल, क्षीब, कृश और उल्लाघ शब्द निष्ठान्त निपातित होते हैं। फुल्लः इत्यादि।

विमर्श– यहाँ पूर्ववत् 'निष्ठातः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''उपसर्ग से उत्तरवर्ती न होने पर फुल्ल, क्षीब, कृश तथा उल्लाघ शब्द निष्ठान्त निपातित किये जाते हैं।''

उदाहरण– (१) ✓ ञिफला (फल्) + क्त (= 'त', 'अ' = 'उ'–'ति च', 'त्' = 'ल्' निपातन से–'अनुपसर्गात् फुल्ल०', सु = स् = र् = :) = फुल्लः। (२) 'क्तवतु' प्रत्यय के एक भाग 'त्' = 'ल्' निपातन भी होता है– फुल्लवान्। (३) 'अनुपसर्गात्' पद सूत्र में ग्रहण होने से सोपसर्ग 'प्रफुल्तः' में लत्व नहीं होता।

(११८८) **पद–** आदितः, च। **अनुवृत्ति–** निष्ठायाम्, नेट्। **विधिसूत्र** (नि०)।

मूलार्थ– आदित् धातु से परवर्ती निष्ठा को इट् नहीं होता।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'श्वीदितो०' (११९१) से 'निष्ठायाम्' तथा 'नेड् वशि०' (७।२।८) से 'नेट्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''आकार इत्संज्ञक धातु से परवर्ती निष्ठा को इट् आगम नहीं होता।

(११८९) **पद–** ति च। **अनुवृत्ति–** उत् अतः, चरफलोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तादि कित् प्रत्यय के परवर्ती रहते चर् और फल् धातु के अत् को उत् आदेश होता है। प्रफुल्तः। प्रक्षीबितः। प्रोल्लाघितः।

(वा०)– उत्फुल्ल और संफुल्ल निपातन से सिद्ध होते हैं।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'उत्परस्यातः' (७।४।८८) से 'उत् अतः' की तथा 'चरफलोश्च' (७।४।८७) से 'चरफलोः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''तकारादि प्रत्यय के परवर्ती रहते चर् तथा फल् धातु के अकार के स्थान में उकार आदेश होता है।''

*** उत्फुल्लसंफुल्लयोरुपसंख्यानम् *। (११९०) नुदविन्दोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् ८।२।५६ । निष्ठातस्य नः। नुन्नः। नुत्तः। विन्नः। वित्तः। उन्दी– (११९१) श्वीदितो निष्ठायाम् ७।२।१४ । श्वयतेरीदितश्च निष्ठाया इण्न। उन्नः। उत्त इत्यादि। (११९२) न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम् ८।२।५७ । एभ्यो निष्ठातस्य नो न। ध्यातः। ख्यातः। पूर्तः।**

अनुबन्धलोपे तस्यार्धधातुकत्वेन इटि प्राप्ते 'आदितश्चे'ति तन्निषेधे 'ति च' इत्यनेन उदादेशे सो रुत्वे विसर्गे कृते 'प्रफुल्तः' इति।

(११९०) **नुदेति**। एभ्यो वा निष्ठातस्य नत्वं भवतीत्यर्थः। **नुन्नः**– णुद्धातोः क्तप्रत्यये 'णो नः' इत्यनेन णस्य नकारे 'नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन विकल्पेन निष्ठातस्य नकारे दकारस्य नकारे अनुस्वारे परसवर्णे विभक्तिकार्ये 'नुन्नः' इति। नकाराभावे चर्त्वेन तकारे 'नुत्तः' इति।

(११९१) **श्वीदित इति**। 'नेड् वशि कृती'त्यतः नेडित्यनुवर्तते। अत आह– **श्वयतेरिति**।

(११९२) **न ध्याख्येति**। 'रदाभ्यामि'त्यतः 'निष्ठातो नः' इत्यनुवर्त्याह–**एभ्य इति**।

उदाहरण– (१) प्र + ✓ फल् + क्त (= 'त', 'आर्धधातुकस्येड्०' से प्राप्त इट् का 'आदितश्च' से निषेध, 'अ' = 'उ'–'ति च', सु = स् = र् = :) = प्रफुल्तः (फूला हुआ)। (२) प्र + ✓ क्षीब् + क्त (= **'त'**, निपातन से इट् = 'इ'–अनुपसर्गात्०', विभक्तिकार्य) = प्रक्षीबितः। (३) प्र + ✓ कृश् + क्त (= 'त', निपातन से इट्, विभक्तिकार्य) = प्रकृशितः। (४) प्र + उद् + लाघि + क्त (= 'त', 'द्' = 'ल्' निपातन से) = प्रोल्लाघितः। (५) इसी प्रकार वार्तिक से 'उत्फुल्लः, सम्फुल्लः' भी निपातन से सिद्ध किये जाते हैं।

(११९०) **पद–** नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्यः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति–** निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– नुद्, विद् आदि धातुओं से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार विकल्प से होता है। नुन्नः। नुत्तः। विन्नः। वित्तः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'रदाभ्याम्०' (११६९) सूत्र से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। अतः "नुद्, विद्, उन्दी, त्रैङ्, घ्रा, ह्री धातुओं से परवर्ती निष्ठा के तकार को विकल्प से नकार आदेश होता है।"

उदाहरण– (१) ✓ नुद् + क्त (= 'त', 'द्' = 'न्', 'त्' = 'न्' विकल्प से– 'नुदविदोन्दत्राघ्राह्री-भ्योऽन्यतरस्याम्', सु= स् = र् = :) = नुन्नः। नत्व के अभाव पक्ष में–चर्त्व–नुत्तः। (२) ✓ विद् + क्त (पूर्ववत् प्रक्रिया) = विन्नः। पक्ष में– वित्तः।

(११९१) **पद–** श्वीदतः, निष्ठायाम्। **अनुवृत्ति–** नेट्। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ– श्वि और ईदित् धातु से परवर्ती निष्ठा को इट् नहीं होता। उन्नः। उत्तः।

विमर्श– यहाँ 'नेड् वशि कृति' (७।२।८) से 'नेट्' की अनुवृत्ति आती है। अतः "टु ओ श्वि तथा ईकारेत्संज्ञक धातु से परे निष्ठा को इट् आगम नहीं होता।"

उदाहरण– ✓ उन्दी (उन्द्) + क्त (= 'त', प्राप्त इट् आगम का निषेध– 'श्वीदितो निष्ठायाम्' विकल्प से, 'त्' = 'न्', 'द्' = 'न्'– 'नुदविदोन्द०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = उन्नः। नत्व के अभाव पक्ष में ('द्' = 'त्'– चर्त्व) = उत्तः।

(११९२) **पद–** न, ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्। **अनुवृत्ति–** निष्ठातस्य नः। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ– ध्या, ख्या आदि धातुओं से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार नहीं होता। ध्यातः। ख्यातः। पूर्तः।

(११९३) राल्लोपः ६।४।२१ । राच्छ्वोर्लोपः स्यात् क्वौ झलादावनुनासिकादौ च प्रत्यये। मूर्त्तः। मत्तः। **(११९४) वित्तो भोगप्रत्यययोः ८।२।५८ ।** विन्दतेर्निष्ठान्तस्य निपातोऽयं भोग्ये प्रतीते चार्थे। वित्तः पुरुषः। अनयोः किम्? विन्नः। **(११९५) भित्तं**

पूर्तः– पृधातोः क्तप्रत्यये 'श्र्युकः किती'ति इण्निषेधे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्ये'ति उत्वे रपरत्वे 'रदाभ्यामि'ति तकारस्य नत्वे प्राप्ते 'न ध्याख्यापृमूर्च्छिमदाम्' इति निषेधे 'हलि चे'ति दीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे 'पूर्तः' इति।

(११९३) **राल्लोप इति**। अत्र 'च्छ्वोः शूडनुनासिके चे'त्यतः 'च्छ्वोः अनुनासिके' इत्यस्य, 'अनुनासिकस्ये'त्यतः 'क्विझलोः क्ङिति' इत्यस्य चानुवृत्तिः। रादिति पञ्चमी। अत आह–**राच्छ्वोर्लोप इत्यादि**।

(११९४) **वित्त इति**। 'वित्तः' इति निष्ठान्तो निपात्यते भोग्ये प्रतीते चार्थे। **वित्तः**– विद्धातोः क्तप्रत्यये 'नुदविदोन्दे'ति प्राप्तस्य वैकल्पिकनत्वस्याऽभावनिपातने विभक्तिकार्ये 'वित्तः' इति।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११६९) से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''ध्यै, ख्या, पृ, मूर्च्छा, मदी धातुओं के निष्ठा तकार को नकार आदेश नहीं होता।''

उदाहरण– (१) ✓ ध्यै + क्त (= 'त', 'ऐ' = 'आ'–आत्व प्राप्त, 'त्' = 'न्' का निषेध– 'न ध्याख्यापृमूर्च्छिमदाम्', विभक्तिकार्य) = ध्यातः। (२) ✓ ख्या + क्त (= 'त', नत्व का निषेध, विभक्तिकार्य) = ध्यातः। (३) पृ + क्त (= 'त', 'ॠ' = 'उ'–'उदोष्ठ्यपूर्वस्य', रपर, नत्व का निषेध– 'न ध्याख्या०', 'उ' = 'ऊ' दीर्घ–'हलि च', विभक्तिकार्य) = पूर्तः।

(११९३) **पद**– रात्, लोपः। **अनुवृत्ति**– छ्वोः, अनुनासिके, क्विझलोः, क्ङिति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– रेफ से परे छकार और वकार का लोप होता है, क्वि के विषय में झलादि अथवा अनुनासिक प्रत्यय परवर्ती रहते। मूर्त्तः। मत्तः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (६।४।१९) से 'च्छ्वोः, अनुनासिके' की तथा 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' (६।४।१५) से 'क्विझलोः क्ङिति' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''क्विप् तथा झलादि अनुनासिक प्रत्ययों के परवर्ती रहते रेफ से उत्तरवर्ती छकार, वकार का लोप हो जाता है।''

उदाहरण– ✓ मुर्छा (मुर्छ्) + क्त (= 'त', प्राप्त इट् का 'आदितश्च' से निषेध, 'छ्' का लोप–'राल्लोपः', 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ–'हलि च', 'रदाभ्यां' से प्राप्त नत्व का 'न ध्याख्या०' से निषेध, विभक्तिकार्य) = मूर्तः। (२) ✓ मद् + क्त (= 'त', प्राप्त इट् का निषेध–'श्वीदितो निष्ठायाम्', 'द्' = 'त्'–चर्त्व, जिभक्तिकार्य) = मत्तः।

(११९४) **पद**– वित्तः, भोगप्रत्यययोः। **अनुवृत्ति**– न, निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– भोग और प्रत्यय (प्रसिद्धि) अर्थ में निष्ठान्त 'वित्त' शब्द निपातित होता है। वित्तः पुरुषः। अनयोः किम्? विन्नः।

विमर्श– यहाँ 'न ध्याख्या०' (११९२) से 'न' तथा 'रदाभ्यां०' (११६९) से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''भोग तथा प्रत्यय अभिधेय होने पर विद् धातु से उक्त क्त को नत्वाभाव निपातित होता है।''

शकलम् ८।२।५९ । भिन्नमन्यत्। **(११९६) ऋणमाधमर्ण्ये ८।२।६० ।** ऋतमन्यत्। **(११९७) स्फायः स्फी निष्ठायाम् ६।१।२२ ।** स्फीतः। **(११९८) इण्निष्ठायाम् ७।२।४७ ।** निरः कुषो निष्ठाया इट्। 'यस्य विभाषे'ति निषेधे प्राप्ते

(११९५) **भित्तमिति**। शकलार्थे वाच्ये भिदेः क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते।

(११९६) **ऋणमाधमर्ण्ये**। अधमं दुःखप्रदं ऋणं यस्य सोऽधमर्णः, तस्य भावः कर्म वा आधमर्ण्यम्, तस्मिन् विषये ऋधातोः क्तप्रत्यये ऋणमिति रूपं निपात्यते। (अप्राप्तस्य नत्वस्य निपातनमत्र भवति।)

(११९७) **स्फायः स्फीति**। स्पष्टम्। **स्फीतः**– 'स्फायी वृद्धौ' इत्यस्माद् धातोः क्तप्रत्यये 'स्फायः स्फी निष्ठायामि'त्यनेन स्फी आदेशे विभक्तिकार्ये 'स्फीतः' इति।

(११९८) **इण्निष्ठायामिति**। 'निरः कुषः' इत्यनुवर्तते। तदाह–**निर इत्यादिना**।

उदाहरण– ✓ विद् + क्त (= 'त', 'रदाभ्यां०' से प्राप्त नत्व का निपातन से अभाव– 'वित्तो भोगप्रत्यययोः', 'द्' = 'त्'–चर्त्व, सु = स् = र् = :)= वित्तः।

प्रत्युदाहरण– सूत्र में 'भोगप्रत्यययोः' का ग्रहण होने से इन दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ अभिधेय होने पर नत्व का अभाव नहीं होता। नत्व होने पर–'विन्नः'।

(११९५) **पद–** भित्तम्, शकलम्। **अनुवृत्ति–** न, निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– खण्ड अर्थ में 'भित्तम्' निपातन होता है। अन्यत्र– भिन्नम्।

विमर्श– पूर्ववत् 'न' तथा 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''शकल = खण्ड अर्थ में भिद् धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नत्वाभाव निपातन होता है।''

उदाहरण– ✓ भिद् + क्त (= 'त', 'रदाभ्यां०' से प्राप्त नत्व का निपातन से अभाव, 'द्' = 'त्'– चर्त्व, विभक्तिकार्य) = भित्तम्। अन्य अर्थ में–भिन्नम्।

(११९६) **पद–** ऋणम्, आधमर्ण्ये। **अनुवृत्ति–** निष्ठातो नः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आधमर्ण्य (कर्ज देने) अर्थ में 'ऋण' शब्द निपातित होता है। अन्यत्र– ऋतम्।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११६९) से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''आधमर्ण्य विषय में ऋ धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकार आदेश निपातन होता है।''

उदाहरण– ✓ ऋ + क्त (= 'त', 'त्' = 'न्' = 'ण्'–निपातन से– 'ऋणमाधमर्ण्ये', विभक्तिकार्य) = ऋणम्। अन्य अर्थ में–ऋतम्।

(११९७) **पद–** स्फायः, स्फी, निष्ठायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– निष्ठा में स्फायी धातु के स्थान पर स्फी आदेश होता है। स्फीतः।

विमर्श– निष्ठा के परवर्ती रहते स्फाय् को स्फी आदेश होता है।

उदाहरण– स्फाय् + क्त = 'त', 'स्फाय्' = 'स्फी'–'स्फायः स्फी निष्ठायाम्', सु = स् = र् = :) = स्फीतः।

(११९८) **पद–** इण्, निष्ठायाम्। **अनुवृत्ति–** निरः कुषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– निर्पूर्वक कुष् धातु से परवर्ती निष्ठा को इट् (इ) आगम होता है। निष्कुषितः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'निरः कुषः' (७।२।४६) की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''निर् उपसर्गपूर्वक कुष् धातु से उत्तरवर्ती निष्ठा को इट् आगम होता है।''

पुनर्विधिः। निष्कुषितः। **(११९९) वसतिक्षुधोरिट् ७।२।५२ ।** आभ्यां क्त्वानिष्ठयोर्नित्यमिट्। उषितः। क्षुधितः। **(१२००) अञ्चेः पूजायाम् ७।२।५३ ।** क्त्वानिष्ठयोरिट्। अञ्चितः। गतौ तु–अक्तः। **(१२०१) लुभो विमोहने ७।२।५४ ।** क्त्वानिष्ठयोरिट्, न तु गार्ध्ये। लुभितः। गार्ध्ये तु–लुब्धः। **(१२०२) क्लिशः**

(११९९) **वसतीति**। अत्र 'क्लिषः क्त्वानिष्ठयोः' इत्यतः 'क्त्वानिष्ठयोरि'त्यनुवर्तते। तदाह–**आभ्यामिति**। **उषितः**– वस्धातोः क्तप्रत्यये यजादित्वात्सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'वसतिक्षुधोरिट्' इतीटि 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वे, सौ रुत्वे विसर्गे 'उषितः' इति।

(१२००) **अञ्चेः पूजायामिति**। इडिति, क्त्वानिष्ठयोरिति चानुवर्तते। **अञ्चितः**– अञ्चधातोः क्तप्रत्यये 'अञ्चेः पूजायामि'ति इटि विभक्तिकार्ये 'अञ्चितः' इति।

(१२०१) **लुभ इति**। इडिति, क्त्वानिष्ठयोरिति चानुवर्तते। तदाह–**क्त्वानिष्ठयोरिति**। **लुभितः**– लुभ्धातोः क्तप्रत्यये 'लुभो विमोहने' इतीटि, सौ रुत्वे विसर्गे 'लुभितः' इति।

उदाहरण– निर् + ✓ कुष् + क्त (= 'त', इट् = 'इ'–'इण्निष्ठायाम्', र् = : = 'ष्'–'इदुपधस्य०', सु = स् = र् = :) = निष्कुषितः।

(११९९) **पद**– वसतिक्षुधोः, इट्। **अनुवृत्ति**– क्त्वानिष्ठयोः, इट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– वस् और क्षुध् धातु से परवर्ती क्त्वा और निष्ठा को नित्य इट् आगम होता है। उषितः। क्षुधितः।

विमर्श– यहाँ 'इण्निष्ठायाम्' (११९८) से 'इट्' तथा 'क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः' (७।२।५०) से 'क्त्वानिष्ठयोः' की अनुवृत्ति आती है। प्रकृत सूत्र में इट् की अनुवृत्ति आ रही है तो सूत्र में पुनः इट् का ग्रहण इसलिए किया गया है कि 'स्वरति०' से 'वा' पद की अनुवृत्ति न हो अर्थात् नित्य इट् का विधान हो। इस प्रकार– ''वस् और क्षुध् धातु के क्त्वा और निष्ठा को नित्य इट् आगम होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ वस् + क्त (= 'त', 'व्' = 'उ'–सम्प्रसारण– 'वचिस्वपि०', पूर्वरूप, इट् = 'इ'–'वसतिक्षुधोरिट्', 'स्' = 'ष्'–षत्व–'शासिवसिघसीनां च', सु = स् = र् = :) = उषितः। (२) ✓ क्षुध् + क्त (= 'त', इट्, विभक्तिकार्य) = क्षुधितः।

(१२००) **पद**– अञ्चेः, पूजायाम्। **अनुवृत्ति**– क्त्वानिष्ठयोः, इट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अञ्च् धातु से परवर्ती क्त्वा और निष्ठा को इट् का आगम होता है, पूजा अर्थ में। अञ्चितः।

विमर्श– पूर्वसूत्र (११९९) से 'इट्' तथा 'क्लिशः क्त्वा०' (१२०२) से 'क्त्वानिष्ठयोः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''पूजा अर्थ में अञ्च् धातु से परवर्ती क्त्वा और निष्ठा को इट् आगम होता है।''

उदाहरण– ✓ अञ्च् + क्त (= 'त', इट् = 'इ' आगम–'अञ्चेः पूजायाम्', सु = स् = र् = :) = अञ्चितः (पूजित)। गति अर्थ में इट् नहीं होता। ✓ अञ्च् + क्त (= 'त', 'न्' का लोप–'अनिदिताम्०', 'च्' = 'क्'–कुत्व, विभक्तिकार्य) = अक्तः।

(१२०१) **पद**– लुभः, विमोहने। **अनुवृत्ति**– क्त्वानिष्ठयोः, इट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– लुभ् धातु से परवर्ती क्त्वा और निष्ठा को इट् आगम होता है, विमोहन (व्याकुल) करने अर्थ में। गार्ध्य (कामेच्छा) अर्थ में इट् नहीं होता। लुभितः। गार्ध्य अर्थ में–लुब्धः।

क्त्वानिष्ठयोः ७।२।५० । इड् वा। क्लिशितः। क्लिष्टः। **(१२०३) पूङश्च ७।२।५१** । क्त्वानिष्ठयोरिड् वा। **(१२०४) पूङः क्त्वा च १।२।२२** । निष्ठा सेट् किन्न स्यात्। पवितः। पूतः। क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थम्। 'नोपधादि'त्यत्र हि क्त्वैव सम्बध्यते। (१२०५)

गार्ध्येऽर्थे तु-'लुभ् त' इति जाते 'झषस्तथोः' इति तस्य धत्वे 'झलां जश्' इति भस्य बत्वे, सौ रुत्वे विसर्गे 'लुब्धः' इति।

(१२०२) **क्लिश इति**। 'स्वरतिसूतिसूयति०' इत्यतो वेत्यनुवर्तते। तदाह-**इट् वेति**।

(१२०३) **पूङश्चेति**। पूङ्धातोः क्त्वानिष्ठयोः परतोः इड् वा स्यादित्यर्थः।

(१२०४) **पूङः क्त्वेति**। 'असंयोगाल्लिट् किदि'त्यतः किदिति, 'न क्त्वा सेडि'त्यतः 'न सेडि'ति, 'निष्ठा शीङि'त्यादितः 'निष्ठे'ति चानुवर्तते। तदाह-**सेट् निष्ठेति**। **पवितः**- 'पूङ् पवने' इत्यस्माद्धातोः 'निष्ठा' इत्यनेन क्तप्रत्यये 'पूङश्चे'ति विकल्पेन इडागमे 'पूङः क्त्वा च' इत्यनेन कित्त्वनिषेधे, गुणेऽवादेशे संयोगे विभक्तिकार्ये 'पवितः' इति। इडभावे तु 'पूतः' इति।

विमर्श- पूर्ववत् 'इट्' तथा 'क्त्वानिष्ठयोः' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- '''लुभ विमोहने' धातु से उत्तरवर्ती क्त्वा तथा निष्ठा को इट् आगम होता है। 'लुभ गार्ध्ये' धातु से इट् नहीं होता।''

उदाहरण- ✓ लुभ् + क्त (= 'त', इट् = 'इ' आगम- 'लुभो विमोहने', विभक्तिकार्य) = लुभितः। गार्ध्य (कामेच्छा) अर्थ में- ✓ लुभ् + क्त (= 'त', इट् का अभाव, 'त्' = 'ध्'- 'झषस्तथोः०', 'भ्' = 'ब्'-'झलां जश् झशि', विभक्तिकार्य) = लुब्धः।

(१२०२) **पद**- क्लिशः, क्त्वानिष्ठयोः। **अनुवृत्ति**- वा इट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- क्लिश् धातु से परवर्ती क्त्वा और निष्ठा को विकल्प से इट् आगम होता है। क्लिशितः। क्लिष्टः।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' तथा 'स्वरतिसूति०' (७।२।४४) से 'वा' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''क्लिश् धातु से परवर्ती क्त्वा तथा निष्ठा को इट् आगम विकल्प से होता है।''

उदाहरण- ✓ क्लिश् + क्त (= 'त', इट् = 'इ' आगम विकल्प से- 'क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः', सु = स् = र् = :) = क्लिशितः। इट् के अभाव पक्ष में- क्लिश् + 'त', 'श्' = 'ष्'-षत्व-'व्रश्च०', 'त्' = 'ट्'-ष्टुत्व, विभक्तिकार्य) = क्लिष्टः।

(१२०३) **पद**- पूङः, च। **अनुवृत्ति**- क्त्वानिष्ठयोः, वा, इट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- पूङ् धातु से परे क्त्वा और निष्ठा को विकल्प से इट् का आगम होता है।

विमर्श- पूर्वसूत्र (१२०२) से 'क्त्वानिष्ठयोः', 'स्वरतिसूति०' (७।२।४४) से 'वा' तथा 'आर्धधातु०' (७।२।३५) से 'इट्' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''पूङ् धातु से परे भी क्त्वा और निष्ठा को इट् का आगम होता है।''

(१२०४) **पद**- पूङः, क्त्वा, च। **अनुवृत्ति**- निष्ठा, न, सेट्, कित्। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ- पूङ् धातु से परवर्ती सेट् निष्ठा कित् नहीं होती। पवितः। पूतः। प्रकृत सूत्र में 'क्त्वा' पद का ग्रहण उत्तरसूत्र 'नोपधात्०' में अनुवृत्ति के लिए है। क्योंकि 'नोपधात्०' में क्त्वा प्रत्यय की ही अनुवृत्ति होती है।

निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः १।२।१९ । सेट् किन्न। शयितः। * आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या *। **(१२०६) आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च ३।४।७१ ।** चाद्भावकर्मणोः। **(१२०७) विभाषा भावादिकर्मणोः ७।२।१७ ।** आदितो निष्ठाया इड् वा। प्रस्वेदितश्चैत्रः। प्रस्वेदितं तेन। ञिष्विदेति भ्वादिरत्र गृह्यते, ञीद्भिः

(१२०५) **निष्ठेति** । 'न क्त्वा सेट्' इत्यतो नेति सेडिति चानुवर्तते। तदाह–**सेट् किन्नेति**। **शयितः**– शीङ्धातोः क्तप्रत्यये इटि 'निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः' इति कित्त्वनिषेधे, गुणेऽयादेशे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'शयितः' इति।

(१२०६) **आदिकर्मणीति** । आदिकर्मणि क्रियाया भूतकालविवक्षया विहितः क्तप्रत्ययः कर्तरि स्यात् चकाराद्भावकर्मणोरपीत्यर्थः।

(१२०७) **विभाषेति** । 'आदितः' इत्यस्मादादित इति, 'श्वीदितः' इत्यतो निष्ठायामिति, 'नेड्वशी'त्यतो नेति चानुवर्तते। तेन भावे आदिकर्मणि च आदितो निष्ठाया इड् वा स्यादिति

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'निष्ठा शीङ्०' (१२०५) से 'निष्ठा', 'न क्त्वा सेट्' (१।२।१८) से 'न, सेट्' तथा 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''पूङ् धातु से परवर्ती सेट् निष्ठा तथा सेट् क्त्वा प्रत्यय भी कित् नहीं होता।''

उदाहरण– ✓ पूङ् + क्त (= 'त', विकल्प से इट् = 'इ' आगम–'पूङश्च', कित्त्व का निषेध–'पूङः क्त्वा च', 'ऊ' = 'ओ'–गुण, 'औ' = 'अव्' आदेश, सु = स् = र् = :) = पवितः (पवित्र किया हुआ)। इट् के अभाव पक्ष में–पूतः।

(१२०५) **पद**– निष्ठा, शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः। **अनुवृत्ति**– न, सेट्, कित्। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ– शीङ् आदि धातुओं से परवर्ती सेट् क्त्वा और निष्ठा कित् नहीं होता। शयितः।

(**वा०**)– आदिकर्म = आरम्भकालिक क्रिया अर्थ में वर्तमान धातु से भी निष्ठासंज्ञक प्रत्यय होता है, ऐसा कहना चाहिए।

विमर्श– पूर्ववत् 'न क्त्वा सेट्' (१।२।१८) से 'न सेट्' तथा 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' पदों की यहाँ अनुवृत्ति आती है। अतः ''शीङ्, स्विद्, मिद्, क्ष्विद् तथा धृष् धातुओं से परवर्ती सेट् निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता।''

उदाहरण– ✓ शीङ् (शी) + क्त (= 'त', इट् = 'इ' आगम, कित्त्व का निषेध–'निष्ठा शीङ्०', 'ई' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश–'एचोऽयवायावः', सु = स् = र् = :) = शयितः (सोया हुआ)।

(१२०६) **पद**– आदिकर्मणि, क्तः, कर्तरि च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आदि कर्म में किया गया क्त प्रत्यय कर्ता और भावकर्म अर्थ में होता है।

विमर्श– आदिकर्म (= क्रिया के आरम्भ के आदि क्षण में) विहित कर्ता में तथा भावकर्म में होता है।

(१२०७) **पद**– विभाषा, भावादिकर्मणोः। **अनुवृत्ति**– आदितः, निष्ठायाम्, नेटि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आदिकर्म और भाव में आदित् धातु से विहित निष्ठा को विकल्प से इट् आगम होता है। प्रस्वेदितश्चैत्रः। प्रस्वेदितं तेन। 'निष्ठा शीङ्०' सूत्र में 'ञिष्विदा' भ्वादिगण की धातु का ही ग्रहण किया गया है। ष्विदा धातु दिवादि की है– स्विदित। ञिमिदा और ञिक्ष्विदा धातु से दिवादि और भ्वादि का ग्रहण होता है। प्रमेदितः। प्रक्ष्वेदितः इत्यादि।

साहचर्यात्। स्विद्यतेस्तु 'स्विदित' इत्येव। ञिमिदा ञिक्ष्विदा दिवादी भ्वादी च। प्रमेदितः। प्रक्ष्वेदितः। प्रधर्षितः। धर्षितं तेन। सेट् किम्? प्रस्विन्नः। प्रस्विन्नं तेन इत्यादि। (१२०८) मृषस्तितिक्षायाम् १।२।२० । सेण् निष्ठा किन्न। मर्षितः। तितिक्षायां किम्? अपमृषितं वाक्यम्, अविस्पष्टमित्यर्थः। (१२०९) उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् १।२।२१ । उदुपधात्परा भावादिकर्मणोः सेण्निष्ठा वा किन्न। द्युतितम्। द्योतितम्।

सूत्रार्थः। **प्रस्वेदितः**– प्रपूर्वकात् स्विद्धातोः 'आदिकर्मणि निष्ठा वाच्ये'ति क्तप्रत्यये 'विभाषा भावादिकर्मणोः' इति विकल्पेन इटि 'निष्ठा शीङि'ति कित्त्वनिषेधे 'पुगन्त०' इति गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'प्रस्वेदितः' इति।

(१२०८) **मृष इति**। निष्ठेति, नेति, सेडिति किदिति चानुवर्तते। तेन मृष्धातोः सेट् निष्ठा किन्न भवति तितिक्षायामित्यर्थः।

(१२०९) **उदुपधादिति**। कित्त्वनिषेधो विभाषयेत्यर्थः। **शब्विकरणेभ्य इति**। भ्वादिभ्य एवेत्यर्थः। तेन दिवादिगणस्थस्य गुध्यतेर्गुधितमिति रूपम्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'आदितश्च' (१११८) सूत्र से 'आदितः', 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (११९१) से 'निष्ठायाम्' तथा 'नेड् वशि०' (७।२।८) से 'नेट्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''आदिकर्म और भाव में वर्तमान आदित् (आकारेत्संज्ञक) धातु से विहित निष्ठा को विकल्प से इट् आगम होता है।''

उदाहरण– (१) प्र + ✓ स्विद् + क्त (= 'त'–'आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या', विकल्प से इट् = 'इ'–'विभाषा भावादिकर्मणोः', कित्त्व-निषेध–'निष्ठा शीङ्०', 'इ' = 'ए'–गुण–'पुगन्त०', सु = स् = र् = :) = प्रस्वेदितः चैत्रः। भाव में–प्रस्वेदितं तेन। (२) प्र + ञिमिदा (मिद्) + क्त (= 'त'–वा० 'आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या', विकल्प से इट्–'विभाषा भावादिकर्मणोः', कित्त्वनिषेध–'निष्ठा शीङ्०', 'इ' = 'ए'–गुण, सु = स् = र् =:) = प्रमेदितः। (३) प्र + ✓ ञिक्ष्विदा (क्ष्विद्) + क्त (पूर्ववत् प्रक्रिया) = प्रक्ष्वेदितः। (४) प्र + ✓ धृष् + क्त (पूर्ववत् प्रक्रिया) = प्रधर्षितः। इट् के अभाव पक्ष में कित्त्व का निषेध न होने से गुण नहीं होता– प्र + स्विद् + क्त = प्रस्विन्नः इत्यादि।

(१२०८) **पद**– मृषः, तितिक्षायाम्। **अनुवृत्ति**– निष्ठा, न, सेट्, कित्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तितिक्षा (क्षमा) अर्थ में मृष् धातु से परवर्ती सेट् निष्ठा कित् नहीं होती। मर्षितः इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु–'निष्ठा शीङ्०' (१२०५) से निष्ठा, 'न क्त्वा सेट्' (१।२।१८) से 'न सेट्' तथा 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'कित्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''क्षमा अर्थ में वर्तमान मृष् धातु से परवर्ती सेट् निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता।''

उदाहरण– ✓ मृष् + क्त (= 'त', इट् = 'इ' आगम, कित्त्व का निषेध–'मृषस्तितिक्षायाम्', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, सु = स् = र् = :) = मर्षितः (क्षमा किया)।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में 'तितिक्षायाम्' पद का ग्रहण होने से 'अपमृषितं वाक्यम्' में कित्त्व-निषेध नहीं हुआ। अतः गुण भी नहीं हुआ।

(१२०९) **पद**– उदुपधात्, भावादिकर्मणोः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**– निष्ठा न सेट् कित्। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मुदितम्, मोदितं साधुना। प्रद्योतितः, प्रद्युतितः। प्रमुदितः, प्रमोदितः साधुः। उदुपधात्किम्? विदितम्। भावेत्यादि किम्? रुचितं कार्षापणम्। सेट् किम्? क्रुष्टम्। * शब्विकरणेभ्य एवेष्यते *। नेह–गुध्यतेर्गुधितम्। (१२१०) निष्ठायां सेटि ६।४।५२। णेर्लोपः। भावितः। भावितवान्। (१२११) दृढः स्थूलबलयोः

(१२१०) **निष्ठायामिति**। 'णेरनिटी'त्यतः णेरिति, 'अतो लोपः' इत्यतः लोप इति चानुवर्तते। तदाह– **णेर्लोप इति**। **भावितः–** भूधातोर्णिचि वृद्धावावादेशे 'भावि' इत्यस्य धातुसंज्ञायां भूते कर्मणि क्तप्रत्यये 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीटि 'भावि त' इति जाते 'निष्ठायां सेटि' इति णेर्लोपे, सौ रुत्वे विसर्गे 'भावितः' इति।

मूलार्थ– उकारोपध धातु से परवर्ती भाव और आदिकर्म में विहित सेट् निष्ठा विकल्प से कित् नहीं होती। द्युतितम्। द्योतितम् इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२०८) की तरह प्रकृत सूत्र में भी 'निष्ठा, न, सेट्, कित्' पदों की अनुवृत्ति आती है। अतः "उकार जिसकी उपधा है, ऐसी धातु से परवर्ती भाववाच्य तथा आदिकर्म में वर्तमान सेट् निष्ठा प्रत्यय विकल्प से कित् नहीं होता।"

उदाहरण– (१) द्युत् + क्त (= 'त', विकल्प से इट् = 'इ'–'विभाषा भावादिकर्मणोः', कित्त्व-निषेध विकल्प से–'उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्', 'उ' = 'ओ'–गुण, प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = द्योतितम्। कित्त्व-निषेध के अभाव पक्ष में गुण नहीं होता–द्युतितम् (प्रकाशित हुआ)। (२) ✓ मुद् + क्त (पूर्ववत् प्रक्रिया)– कित्त्व-निषेध पक्ष में गुण = मोदितम्। कित्त्व-निषेध न होने पर- मुदितम् (=प्रसन्न हुआ)। (३) आदिकर्म अर्थ में– प्र + ✓ द्युत् + क्त (पूर्ववत् प्रक्रिया) = प्रद्योतितः, प्रद्युतितः। (४) प्र + ✓ मुद् + क्त (आदिकर्म अर्थ में, शेष पूर्ववत् प्रक्रिया, कित्त्व-निषेध पक्ष में गुण) = प्रमोदितः। पक्ष में–प्रमुदितः।

प्रत्युदाहरण– सूत्र में 'उदुपधात्' पद का पाठ होने से उकार उपधा से रहित धातु से परवर्ती निष्ठा को कित्त्व-निषेध नहीं होता। विद् + क्त (= 'त', इट् = 'इ' आगम, विभक्तिकार्य) = विदितम्। प्रकृत सूत्र में 'भावकर्मणोः' पद का ग्रहण होने से भाव तथा आदिकर्म से भिन्न अर्थ में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। ✓ रुच् + क्त (= 'त'–कर्म में, इट्) = रुचितम्। सूत्र में 'सेट्' पद का ग्रहण होने से अनिट् निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता। ✓ क्रुश् + क्त (= 'त', षत्व, ष्टुत्व) = क्रुष्टम्।

शब्विकरणेभ्य इति। शप् विकरण वाली भ्वादिगणीय धातुओं का ही प्रकृत सूत्र में ग्रहण किया जाता है। अतः उकारोपध दिवादिगणीय गुध् धातु से निष्ठा में कित्त्व-निषेध नहीं होता। गुधितम्।

(१२१०) **पद–** निष्ठायाम्, सेटि। **अनवृत्ति–** णेः, लोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– सेट् निष्ठा के परवर्ती रहते णि का लोप होता है। भावितः। भावितवान्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'णेरनिटि' (६।४।५१) से 'णेः' तथा 'अतो लोपः' (६।४।४८) से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार– "सेट् निष्ठा के परवर्ती रहने पर णि (= 'इ') का लोप हो जाता है।"

उदाहरण– (१) ✓ भू + णिच् (= 'इ'–'हेतुमति च', 'ऊ' = 'औ'–वृद्धि– 'अचो ञ्णिति', 'औ'–'आव्'–'एचोऽयवायावः', धातुसंज्ञा– 'सनाद्यन्ता धातवः') – ✓ भावि + क्त (= 'त'–'निष्ठा', आगम– 'आर्धधातुकस्येड्०', णि = 'इ' का लोप–'निष्ठायां सेटि', कृदन्तत्वात् प्राति० संज्ञा, सु = स्

७।२।२० । स्थूले बलवति च निपात्यते। (१२१२) दधातेर्हिः ७।२।४२ । तादौ किति। निहितम्। (१२१३) दो दद्घोः ७।४।४६ । घुसंज्ञकस्य दा इत्यस्य दद् तादौ

(१२११) **दृढः इति।** स्थूले बलवति च 'दृढ:' इति निपात्यते। **दृढः**- दृह्धातोः क्तप्रत्यये 'दृढ: स्थूलबलयो:' इत्यनेन इडभावे निष्ठातकारस्य ढत्वं हकारस्य लोपश्च निपात्यते, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'दृढ:' इति।

(१२१२) **दधातेर्हिः**। 'द्यतिस्यती'त्यतः ति कितीत्यनुवर्तते। तादौ किति धा-धातोः हिरादेशः स्यादित्यर्थः। **हितम्**- 'डुधाञ् धारणपोषणयो:' इत्यस्माद्धातोः 'निष्ठे'ति क्तप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'दधातेर्हि:' इत्यनेन 'हि' आदेशे विभक्तिकार्ये 'हितमि'ति।

(१२१३) **दो दद्घोः**। 'द्यतिस्यती'त्यतः 'ति किती'ति अनुवर्तते। तदाह-**घुसंज्ञकस्येति।**

= र् = :) = भावित: (२) ण्यन्त ✓ भावि + क्तवतु (= तवत्-'निष्ठा', इट् = 'इ', णि = 'इ' का लोप-'निष्ठायां सेटि')-भावितवत् (प्रा० संज्ञा, 'सु' = 'स्', उपधादीर्घ-'अत्वसन्तस्य चाऽधातो:', नुम् = 'न्' आगम-'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातो:', 'स्' का लोप-'हल्ड्याब्भ्यो०', 'त्' का लोप-'संयोगान्तस्य लोप:') = भावितवान्।

(१२११) **पद**- दृढः, स्थूलबलयोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- स्थूल और बलवान् अर्थ में 'दृढ' शब्द निपातित होता है।

विमर्श- बलमस्त्यस्येति बल:; 'अर्शआदिभ्योऽच्' से मत्वर्थीय अच् प्रत्यय। अत: "स्थूल अथवा बलवान् अर्थ में 'दृढ:' शब्द प्रयुक्त (निपातन से) होता है।"

उदाहरण- (१) ✓ दृह् + क्त (= 'तं', धातु के सेट् होने पर इट् का अभाव, 'ह्' का लोप तथा 'त्' = 'ढ्' निपातन से-'दृढ: स्थूलबलयो:', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = दृढ: (मोटा, बलवान्)।

(१२१२) **पद**- दधातेः, हि। **अनुवृत्ति**- ति, किति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- तकारादि कित् प्रत्यय के परवर्ती रहते 'धा' धातु के स्थान पर 'हि' आदेश होता है। हितम्।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'द्यतिस्यति' (१२१५) से 'ति किति' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'ति' किति का विशेषण होने से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा द्वारा तदादिविधि होकर 'तकारादौ किति' हो जाता है। तदनुसार- "तकारादि कित् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर धा धातु के स्थान पर 'हि' आदेश हो जाता है।"

उदाहरण- धा + क्त (= 'त'-'निष्ठा', 'धा' = 'हि'-'दधातेर्हि:', प्राति० संज्ञा, सु = 'अम्' पूर्वरूप) = हितम् (= धारण किया)।

(१२१३) **पद**- दः, दद्, घोः। **अनुवृत्ति**- ति, किति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- तकारादि कित् प्रत्यय के परवर्ती रहते घुसंज्ञक दा धातु को 'दद्' आदेश होता है। दत्तः।

विमर्श-पूर्ववत् (१२१५) सूत्र से 'ति किति' की अनुवृत्ति आती है। 'ति' किति का विशेषण होने से पूर्ववत् तदादिविधि होती है। इस प्रकार- "तकार जिसके आदि में है ऐसे कित् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर घुसंज्ञक दा धातु के स्थान पर 'दद्' आदेश हो जाता है।"

किति। चर्त्वम्। दत्तः। (१२१४) **गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च ३।४।७२** । एभ्यः कर्तरि क्तः स्याद्भावकर्मणोश्च। गङ्गां प्राप्तः। ग्लानः सः। लक्ष्मीमाश्लिष्टो हरिः। शेषमधिशयितः। (१२१५) **द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति १।४।४०** । एषामित्तादौ किति। वैकुण्ठमधिष्ठितः। शिवमुपासितः। हरिदिनमुपोषितः। राममनुजातः। गरुडमारूढः। विश्वमनुजीर्णः। पक्षे–प्राप्ता गङ्गा तेनेत्यादि। (१२१६)

(१२१४) **गत्यर्थेति**। 'लः कर्मणि च भावे' इत्यतो भावे कर्मणीति 'आदिकर्मणी'त्यतः कर्तरीति चानुवर्तते। अत आह–**एभ्यः कर्तरीति**। **गङ्गां प्राप्तः**– प्रपूर्वक-आप्लृधातोः 'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्चे'ति कर्तरि क्तप्रत्यये, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'प्राप्तः' इति।

(१२१५) **द्यतिस्यतीति**। एषामित्स्यात्तकारादौ प्रत्यये परतः। **अधिष्ठितः**– अधिपूर्वात् स्थाधातोः क्तप्रत्यये 'द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति' इति आकारस्य स्थाने इत्वे षत्वे ष्टुत्वे, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'अधिष्ठितः' इति।

उदाहरण– दा + क्त (= 'त', 'घुमास्था०' से प्राप्त ईत्व का बाध कर 'दा' = 'दद्'– आदेश– 'दोः दद्घोः', 'द्' = 'त्'– चर्त्व–'खरि च', सु = स् = र् = :) = दत्तः (= दिया गया)।

(१२१४) **पद**– गत्यर्थाकर्मक–श्लिष–शीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यः, च।

अनुवृत्ति– क्तः, कर्मणि, भावे चाकर्मकेभ्यः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– गत्यर्थक, अकर्मक और श्लिष्, शीङ्, स्था, आस्, वस्, जन, रुह तथा जृ धातुओं से कर्ता, भाव और कर्म में क्त प्रत्यय होता है। गङ्गां प्राप्तः। ग्लानः इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु प्रकृत सूत्र में 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' (१२०६) से 'क्तः, कर्तरि' की तथा 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (३।४।६९) से 'कर्मणि, भावे चाकर्मकभ्यः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''गत्यर्थक, अकर्मक एवं श्लिष्, शीङ्, स्था, आस्, वस्, जन्, रुह् तथा जृ धातुओं से विहित क्त प्रत्यय कर्ता, कर्म तथा भाव में भी होता है।'' इस सूत्र द्वारा कर्ता अर्थ में अप्राप्त क्त का विधान किया गया है।

उदाहरण– (१) प्र + ✓ आप्लृ (आप्) + 'क्त' (= 'त'–'गत्यर्थाकर्मक०' कर्ता में, विभक्तिकार्य, 'अ' + 'आ' = 'आ' दीर्घ) = प्राप्तः। (२) ✓ ग्लै + क्त (= 'त', अकर्मक धातु से भाव में–'गत्यर्थाकर्मक०', 'ऐ' = 'आ'–आत्व, 'त्' = 'न्'–'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः', सु = स् = र् = :) ग्लानः। (३) आ + श्लिष् + क्त (–कर्म में प्रत्यय, 'त्' = 'ट्'–ष्टुत्व, विभक्तिकार्य) = लक्ष्मीमाश्लिष्टः हरिः। (४) अधि + शीङ् (शी) + 'क्त' (–कर्म. अर्थ में, इट् = 'इ' आगम, 'इ' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश, विभक्तिकार्य) = शेषम् अधिशयितः।

(१२१५) **पद**– द्यति-स्यति-मास्थाम्, इत्, ति, किति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तकारादि कित् प्रत्यय के परवर्ती रहते दो, षो, मा और स्था धातु को इत् (इ) अन्तादेश होता है। वैकुण्ठमधिष्ठितः। शिवमुपासितः इत्यादि।

विमर्श– '''दो अवखण्डने', 'षोऽन्तकर्मणि', मा तथा स्था धातुओं को तकारादि कित् प्रत्यय के परवर्ती रहते इकार अन्तादेश होता है।''

उदाहरण– (१) अधि + ✓ स्था + क्त (= 'त'–'गत्यर्थाकर्मक०', 'आ' = 'इ' इत्व–

क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः ३।४।७६ । एभ्योऽधिकरणे क्तः चाद्यथाप्राप्तम्।

''मुकुन्दस्यासितमिदमिदं यातं रमापतेः।
भुक्तमेतदनन्तस्येत्यूचुर्गोप्यो दिदृक्षवः''॥

पक्षे– आसेरकर्मकत्वात्कर्तरि भावे च–आसितो मुकुन्दः आसितं तेन। * गत्यर्थेभ्यः कर्तरि कर्मणि च *। रमापतिरिदं यातः, तेनेदं यातम्। * भुजेः कर्मणि *।

(१२१६) **क्तोऽधिकरण इति**। ध्रौव्यम् = स्थैर्यम्, गतिः प्रत्यवसानं च, एषामर्थः तेषामिति भावः। एभ्योऽधिकरणे क्तः, चकाराद्यथाप्राप्तमित्यर्थः। **मुकुन्दस्येति। उदाहरणानीति।** यथा ध्रौव्यस्योदाहरणम्–मुकुन्दस्यासितमिदमिति। आस्यतेऽस्मिन्निति आसितम् = आसन-मित्यर्थः। गत्यर्थस्योदाहरणम्–इदं यातं रमापतेः। यायते = गम्यतेऽत्रेति यातं = मार्गः। प्रत्यवसानस्योदाहरणम्–भुक्तमेतदनन्तस्येति। भुज्यतेऽस्मिन्निति भुक्तम् = भोजनस्थानमित्यर्थः। 'अधिकरणवाचिनश्चे'ति त्रिष्वपि कर्तरि षष्ठी। दिदृक्षवः = दर्शनाभिलाषिण्यो गोप्य इति पूर्वोक्तमूचुः। इति।

'द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति', 'स्' = 'ष्'–षत्व, 'थ्' = 'ढ्'–ष्टुत्व, सु = स् = र् = :) = अधिष्ठितः। (२) उप + आ + ✓ षो (सत्व) + क्त (= 'त', 'ओ' = 'इ'–'द्यतिस्यति०', विभक्तिकार्य) = उपासितः। (३) उप + ✓ वस् + क्त (= 'त', इट् = 'इ'–'वसतिक्षुधोरिट्', 'व्' = 'उ'–सम्प्रसारण = 'वचिस्वपि०', पूर्वरूप, षत्व, विभक्तिकार्य, अ + उ = 'ओ'–गुण) = उपोषितः। (४) अनु + ✓ जन् + क्त (= 'त', 'त्' = 'आ'–आत्व, अ + आ = 'आ'– दीर्घ, सु = स् = र् = :) = अनुजातः। (५) आ + रुह् + क्त (= 'त', 'ह्' = 'ढ्'– 'हो ढः', 'त्' = 'ध्'–'झषस्तथोर्धोऽधः', 'ध्' = 'ढ्'–ष्टुत्व, पूर्व 'ढ्' का लोप–'ढो ढे लोपः', 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ–'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः', विभक्तिकार्य) = आरूढः। (६) अनु + जॄ + क्त (= 'त', 'ॠ' = 'इ'–'ॠत इद्धातोः', रपर, 'इ' = 'ई'–दीर्घ–'हलि च', 'त्' = 'न्'–'रदाभ्याम्०', 'न्' = 'ण्' णत्व–'रषाभ्याम्०', विभक्तिकार्य) = अनुजीर्णः। कर्ता में प्रत्यय के अभाव पक्ष में 'प्राप्ता गङ्गा तेन' यह प्रक्रिया-वाक्य है।

(१२१६) **पद–** क्तः, अधिकरणे, च, ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ध्रौव्य = स्थिरता, गति = चलना, प्रत्यवसान = भोजन–अर्थों में विद्यमान धातुओं से अधिकरण अर्थ में भी क्त प्रत्यय होता है। मुकुन्दस्यासितमिदमित्यादि।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''ध्रौव्यादि अर्थवाचक धातुओं से अधिकरण अर्थ में क्त प्रत्यय होता है। चकार ग्रहण से यथाप्राप्त भाव आदि अर्थों में भी क्त प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– मुकुन्दस्यासितमिदम्। ''यह मुकुन्द भगवान् का आसित = बैठने का स्थान है। यह रमापति का यात = आने-जाने का स्थान है। यह अनन्त भगवान् का भुक्त = भोजन करने का स्थान है। दर्शनाभिलाषी गोपियाँ इस प्रकार (कृष्ण का अन्वेषण करती हुईं) कह रही थीं''।

(१) ✓ आस् + क्त (= 'त', अधिकरण अर्थ में– 'क्तोऽधिकरणे०', इट् = 'इ' आगम, सु = अम्, पूर्वरूप) = आसितम्। (२) ✓ या + क्त (= 'त', विभक्तिकार्य) = यातम्। (३) ✓ भुज् + क्त (= 'त', 'ज्' = 'ग्'–जश्त्व, 'ग्' = 'क्'–चर्त्व, विभक्तिकार्य) = भुक्तम्। चकार ग्रहण से पक्ष में आस् धातु के अकर्मक होने से कर्ता और भाव अर्थ में क्त प्रत्यय होता है। यथा– आसितः मुकुन्दः। आसितं तेन।

अनन्तेनेदं भुक्तम्। 'वर्तमाने' इत्यधिकृत्य। **(१२१७) ञीतः क्तः ३।२।१८७।** क्ष्विण्णः। **(१२१८) मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ३।२।१८८।** राज्ञां मतः। इष्टः। बुद्धः। विदितः। पूजितः। अर्चितः। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। 'शीलितो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि' इत्यादि। **(१२१९) नपुंसके भावे क्तः ३।३।११४।** क्लीबत्वविशिष्टे

(१२१७) **ञीतः क्तः**। 'वर्तमाने' इत्यधिकृतम्। ञि इत् यस्य तस्माद् वर्तमान-क्रियावृत्तेर्धातोः क्तप्रत्ययो भवतीत्यर्थः। **क्ष्विण्णः**– 'ञिक्ष्विदा' धातोः 'ञीतः क्तः' इति वर्तमाने क्तप्रत्यये 'रदाभ्यामि'त्यनेन तकारस्य दकारस्य च नत्वे 'आदितश्चे'ति इडागमनिषेधे णत्वे ष्टुत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'क्ष्विण्णः' इति।

(१२१८) **मतिबुद्धीति**। मतिरत्रेच्छा पृथग्ग्रहणात्। एभ्यः वर्तमाने क्तः स्यादित्यर्थः। **इष्टः**– इष्धातोः 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्चे'त्यनेन वर्तमाने क्तप्रत्यये 'तीषसहे'ति वेट्कत्वादिडभावे ष्टुत्वे विभक्तिकार्ये 'इष्टः' इति। **चकार इति**। सूत्रेऽनुक्तार्थेभ्योऽपीत्यर्थः।

(वा०)– गत्यर्थक धातुओं से कर्ता और कर्म अर्थ में क्त प्रत्यय होता है। रमापतिरिदं यातः। तेनेदं यातम्।

(वा०)– भज् धातु से कर्म में क्त प्रत्यय होता है। अनन्तेनेदं भुक्तम्। 'वर्तमाने' का अधिकार आगे के सूत्रों में जाता है।

(१२१७) **पद**– ञीतः, क्तः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ञीदित् धातु से वर्तमान काल में क्त प्रत्यय होता है। क्ष्विण्णः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'वर्तमाने' तथा 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार '' 'ञि' इत्संज्ञक धातु से वर्तमान काल में क्त प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– ✓ ञि क्ष्विदा (क्ष्विद्) + क्त (= 'त'–'ञीतः क्तः', 'त्' = 'न्'–'रदाभ्याम्०', इट् का निषेध–'आदितश्च', 'न्' = 'ण्'–णत्व, ष्टुत्व, विभक्तिकार्य) = क्ष्विण्णः।

(१२१८) **पद**– मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यः, च। **अनुवृत्ति**–क्तः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– मति = इच्छा, बुद्धि और पूजार्थक धातुओं से वर्तमानकाल में क्त प्रत्यय होता है। राज्ञां मतः, इष्टः, बुद्धः इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२१७) से 'क्तः' की अनुवृत्ति आती है। 'वर्तमाने' का अधिकार है। तदनुसार– ''मत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक तथा पूजार्थक धातुओं से भी वर्तमान काल में क्त प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ मन् + क्त (= 'त'–'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च', 'न्' का लोप-'अनुदात्तोपदेश०', सु = स् = र् = :) = मतः। (२) ✓ इष् + क्त (= 'त'–'मतिबुद्धि०', 'त्' = 'ट्'– ष्टुत्व) = इष्टः। (३) ✓ बुध् + क्त (= 'त', 'त्' = 'ध्'–'झषस्तथोः', 'ध्' = 'द्'– 'झलां जश् झशि', विभक्तिकार्य) = बुद्धः। (४) ✓ विद् + क्त (= 'त', इट् = 'इ' आगम, विभक्तिकार्य) = विदितः। (५) ✓ अर्च् + क्त (= 'त', इट्, विभक्तिकार्य) = अर्चितः। सूत्रस्थ चकार अनुक्त अर्थों के समुच्चय के लिए है। (६) शील् + क्त (= 'त', इट्, विभक्तिकार्य) = शीलितः। (७) ✓ रक्ष् + क्त = रक्षितः। (८) ✓ क्षम् + क्त = क्षान्तः। (९) आङ् + ✓ क्रुश् + क्त (= 'त', 'श्' = 'ष्'–षत्व–'व्रश्च०', ष्टुत्व) = आक्रुष्टः। (१०) ✓ जुष् + क्त (= 'त', ष्टुत्व) = जुष्टः।

(१२१९) **पद**– नपुंसके, भावे, क्तः। **विधिसूत्र**।

भावे कालसामान्ये क्तः। जल्पितम्। हसितम्। (१२२०) सुयजोर्ङ्वनिप् ३।२।१०३ । भूते। सुत्वा। यज्वा। (१२२१) जीर्यतेरतृन् ३।२।१०४ । जरन्। जरन्तौ।

(१२१९) **नपुंसके भावे क्तः**। भावस्तु नपुंसकत्वविशिष्टः। तदाह-**क्लीबत्वेति**। **जल्पितमिति**। जल्पधातोः 'नपुंसके भावे क्तः' इति क्तप्रत्यये वलादित्वादिटि सुबादिकार्ये 'जल्पितमि'ति रूपम्।

(१२२०) **सुयजोरिति**। 'भूते' इत्यधिकृतम्। भूतार्थक्रियावृत्तेः सुञ्धातोः यज्धातोश्च ङ्वनिप् स्यादित्यर्थः। **सुत्वेति**। 'षुञ् अभिषवे' इत्यस्माद्धातोः 'धात्वादेः षः सः' इति षकारस्य सकारे 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इत्यनेन ङ्वनिप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'ह्रस्वस्यं पिति कृति तुक्' इति तुगागमेऽनुबन्धलोपे 'सुत्वन्' इति जाते, सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे, नान्तत्वादुपधादीर्घे, नलोपे 'सुत्वा' इति सिद्धम्।

(१२२१) **जीर्यतेरिति**। **जरन्**- जृधातोः 'जीर्यतेरतृन्' इति अतृन्प्रत्यये ऋनयोर्लोपे गुणे रपरत्वे 'जरत्' इति जाते, सौ 'उगिदचामि'ति नुमि सकारस्य हल्ङ्यादिना लोपे तकारस्य 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे, तस्याऽसिद्धत्वेन नलोपाभावे 'जरन्' इति रूपम्।

मूलार्थ- नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव और काल सामान्य में धातु से क्त प्रत्यय होता है। जल्पितम्। हसितम्।

विमर्श- 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''नपुंसकलिङ्ग भाव में धातु से क्त प्रत्यय होता है।''

उदाहरण- (१) ✓ जल्प् + क्त (= 'त'-'नपुंसके भावे क्तः', इट् = 'इ'-'आर्धधातुकस्येड्०', प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = जल्पितम्। (२) ✓ हस् + क्त (= 'त', इट्, विभक्तिकार्य) = हसितम्।

(१२२०) **पद**- सुयजोः, ङ्वनिप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- सु और यज् धातु से भूतकाल में ङ्वनिप् प्रत्यय होता है। सुत्वा।

विमर्श- 'धातोः' और 'भूते' का अधिकार है। तदनुसार- ''सु और यज् धातु से भूतकाल में ङ्वनिप् प्रत्यय होता है''। 'ङ्वनिप्' के आदि वर्ण 'ङ्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है। अन्तिम वर्ण 'प्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'इ' की 'उपदेशे०' से इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञकों का लोप होकर 'वन्' शेष रहता है।

उदाहरण- (१) ✓ सु + ङ्वनिप् (= 'वन्'- भूतकाल में-'सुयजोर्ङ्वनिप्', तुक् = 'त्' आगम-'ह्रस्वस्य पिति०', प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', उपधादीर्घ-'सर्वनामस्थाने०', 'स्' का लोप-'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'न्' का लोप-'नलोपः०') = सुत्वा। (२) ✓ यज् + ङ्वनिप् (= 'वन्', सु, उपधादीर्घ आदि पूर्ववत्) = यज्वा।

(१२२१) **पद**- जीर्यतेः, अतृन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- जृ धातु से भूतकाल में अतृन् प्रत्यय होता है। जरन्। जरन्तौ इत्यादि।

विमर्श- पूर्ववत् 'धातोः' और 'भूते' का अधिकार है। अतः '''जृष् वयोहानौ' धातु से भूतकाल में 'अतृन्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण- ✓ जृ + अतृन् (= 'अत्'-भूतकाल में-'जीर्यतेरतृन्', 'ऋ' = 'अ'-गुण, रपर, 'सु' = 'स्', नुम् = 'न्' आगम-'उगिदचाम्०', 'स्' का लोप, 'त्' का लोप-'संयोगान्तस्य लोपः') = जरन्। यहाँ 'संयोगान्तस्य लोपः' के असिद्ध होने से न का लोप नहीं होता।

वाऽसरूपन्यायेन निष्ठापि। जीर्णः। जीर्णवान्। **(१२२२) छन्दसि लिट् ३।२।१०५। (१२२३) लिटः कानज्वा ३।२।१०६। (१२२४) क्वसुश्च ३।२।१०७।** भूतसामान्ये छन्दसि लिट्। तस्य कानच्क्वसू वा स्तः। 'तङानात्मनेपदम्'। चक्राणः।

(१२२२) **छन्दसि लिट्**। स्पष्टम्।

(१२२३) **लिटः कानज्वेति**। छन्दसि विषये लिटः स्थाने कानज्वा भवतीत्यर्थः।

(१२२४) **क्वसुश्चेति**। उक्तविषये लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवतीत्यर्थः। **चक्राणः**- कृधातोर्लिटि 'लिटः कानज्वा' इत्यनेन विभाषया लिटः स्थाने कानजादेशेऽनुबन्धलोपे,

---

वासरूपेति। यहाँ निष्ठा प्रत्यय उत्सर्ग है। अतृन् प्रत्यय अपवाद है। अतः 'वाऽसरूप न्याय से अपवाद (अतृन्) उत्सर्ग (निष्ठा प्रत्यय) का विकल्प से बाध करेगा। अतः पक्ष में क्त और क्तवतु प्रत्यय भी भूतकाल में होते हैं।

(१) ✓ जॄ + क्त (= 'त', 'ॠ' = 'इ'- इत्-'ॠत इद्धातोः', रपर, 'इ' = 'ई'-दीर्घ, 'हलि च', 'त्' = 'न्'-'रदाभ्याम्०', 'न्' = 'ण्'- णत्व-'रषाभ्याम्०', विभक्तिकार्य) = जीर्णः। (२) जॄ + क्तवतु (=तवत्, इत्व, रपर, दीर्घ, नत्व, णत्व पूर्ववत्, सु= 'स्', उपधादीर्घ-'अत्वसन्तस्य०', नुम् = 'न्' आगम-'उगिदचाम्०', 'स्' का लोप-'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'त्' का संयोगान्तलोप) = जीर्णवान् (वृद्ध हो गया)।

(१२२२) **पद**- छन्दसि, लिट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- वेद में भूतसामान्य में लिट् लकार होता है।

विमर्श- पूर्ववत् 'धातोः' और 'भूते' का अधिकार है। अतः "वेद विषय में भूतकाल सामान्य में धातुमात्र से लिट् प्रत्यय होता है।"

(१२२३) **पद**- लिटः, कानच्, वा। **अनुवृत्ति**- छन्दसि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- वेद में सामान्य भूत में विहित लिट् के स्थान में कानच् प्रत्यय विकल्प से होता है।

विमर्श- 'धातोः' और 'भूते' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (१२२२) से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- "वेद विषय में भूतकाल में विहित लिट् के स्थान पर विकल्प से कानच् आदेश होता है।"

(१२२४) **पद**- क्वसुः, च। **अनुवृत्ति**- लिटः, वा छन्दसि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- वेद विषय में पक्ष में लिट् को क्वसु होता है। चक्राणः। 'म्वोश्च'। जगन्वान् इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में पूर्ववत् 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (१२२२) से 'छन्दसि' और 'लिटः कानज्वा' (१२२३) से 'लिटः, वा' की अनुवृत्ति आती है। अतः "वेद के विषय में सामान्य भूतकालिक लिट् के स्थान पर विकल्प से 'क्वसु' आदेश होता है।" इस प्रकार लिट् के स्थान में कानच् और क्वसु आदेश विकल्प से होते हैं। इत्संज्ञक वर्णों का लोप होकर कानच् के स्थान पर 'आन' तथा क्वसु = 'वस्' शेष रहता है। 'कानच्' 'तङानामात्मनेपदम्' के अनुसार आत्मनेपदसंज्ञक है। अतः आत्मनेपदी धातुओं से ही लिट् के स्थान में कानच् का विधान होगा।

उदाहरण- (१) ✓ कृ + लिट् (-'छन्दसि लिट्', लिट् = कानच् = 'आन'- विकल्प से- 'लिटः कानज्वा', कानच् को स्थानिवत्त्वेन लिट् मानकर धातु को द्वित्व-'लिटि धातोरनभ्यासस्य', 'ऋ' = 'अ'-'उरत्', रपर, हलादिशेष, 'क्' = 'च्'-'कुहोश्चुः')- चकृ आन ('ऋ' = 'र्'-'यण्', 'न्'

'म्वोश्च'। जगन्वान्। कवयस्तु बाहुलकाल्लोकेऽपि प्रयुञ्जते। 'तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे', 'श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते' इत्यादि। (१२२५) वस्वेकाजाद्घसाम् ७।२।६७। कृतद्विर्वचनानामेकाचामादन्तानां घसेश्च वसोरिट् स्यान्नान्येषाम्। आदिवान्। आरिवान्। ददिवान्। जक्षिवान्। एषां किम्? बभूवान्। (१२२६) भाषायां सदवसश्रुवः

द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, उरदत्वे रपरत्वे, हलादिशेषे चुत्वे, चकृ + आन इति जाते, कित्त्वाद् गुणाभावे, यणि णत्वे विभक्तिकार्ये 'चक्राणः' इति।

(१२२५) **वस्वेकाजादिति**। 'आर्धधातुकस्येडि'त्यतः इडित्यनुवर्तते। अत्र कृतेऽपि द्विर्वचने एकाच एव येऽवशिष्यन्ते तेषामेकाचामित्यर्थः। अत आह– **कृतद्विर्वचनानामिति**।

= 'ण्'– णत्व–'अट्कुप्वाङ्०', सु = स् = र् = :) = चक्राणः (= कर चुका)। (२) ✓ गम्लृ (गम्) + लिट् (–'छन्दसि लिट्', लिट् = क्वसु = 'वस्'–'क्वसुश्च', स्थानिवद्भाव से क्वसु को लिट् मानकर धातु को द्वित्व, अभ्यासकार्य, हलादिशेष, 'ग्' = 'ज्'–'कुहोश्चुः')– जगम् वस् ('आर्धधातुकस्येड्०' से प्राप्त इट् का 'नेड् वशि०' से निषेध, विकल्प से इट् = 'इ'– 'विभाषा गमहनविदविशाम्'। इट् के अभावपक्ष में 'म्' = 'न्'–'म्वोश्च', प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', 'नुम्' = 'न' आगम–'उगिदचाम्०', उपधादीर्घ, 'स्' तथा 'त्' का लोप होकर) = जगन्वान्। इट् पक्ष में–जगमिवान् (जा चुका)। वैदिक लिट् के स्थान में विधीयमान कानच् और क्वसु भी वैदिक ही हैं। परन्तु इनमें से द्वितीय वैदिक आदेश 'क्वसु' का प्रयोग लोक में भी कवियों द्वारा किया गया है। यथा– 'तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे' (रघुवंश ५।६१), 'श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते' (रघु० ५।३४) इत्यादि।

(१२२५) **पद**– वसु, एकाजाद्, घसाम्। **अनुवृत्ति**– इट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कृतद्विर्वचन एकाच् आकारान्त धातु और घस् से परे ही वसु को इट् आगम होता है, अन्य से परे नहीं। आदिवान्। आरिवान् इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' की अनुवृत्ति आती है। एकाच् च आत् च घश्चेति एकाजाद्धसः, तेषाम् (द्वन्द्वः)। इस प्रकार ''एकाच् (द्विर्वचन कर लेने के पश्चात्) धातु तथा आकारान्त एवं घस् से उत्तरवर्ती वसु को ही इट् का आगम होता है।''

उदाहरण– (१) अद् + लिट् (= क्वसु = 'वस्'–'क्वसुश्च', धातु को द्वित्व–'लिटि धातो०', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, अभ्यास के 'अ' = 'आ'–दीर्घ–'अत आदेः', 'आ' + 'अ' = 'आ' सवर्णदीर्घ)– आद् वस् (इट् = 'इ' आगम–'वस्वेकाजाद्घसाम्', सु = स्, नुम् = 'न्' आगम–'उगिदचाम्०', 'अ' = 'आ'–दीर्घ–'सान्तमहतः०', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः', संयोगान्तलोप) = आदिवान्। (२) ✓ ऋ + लिट् (= क्वसु = 'वस्', द्वित्वादि, इट् = 'इ'–'वस्वेकाजाद्घसाम्', विभक्त्यादि कार्य) = आरिवान्। (३) ✓ दा + लिट् (= क्वसु = 'वस्', द्वित्वादि कार्य)– ददावस् (इट् = 'इ', 'आ' का लोप–'आतो लोप इटि च', सु, नुम् = 'न्';–'उगिदचाम्०', दीर्घ, 'स्' का लोप, संयोगान्तलोप) = ददिवान्। (४) ✓ अद् + लिट् (= क्वसु = 'वस्', अद् = घस्लृ = घस्, द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, इट्, उपधालोप–'गमहन०')– जक्षिवस्, सु (नुम्, दीर्घ स् का लोप, संयोगान्तलोप) = जक्षिवान्।

प्रत्युदाहरण– सूत्रोक्त धातुओं से ही इट् होने से भू धातु से इट् नहीं होता। ✓ भू + लिट् = (क्वसु = 'वस्', द्वित्व, अभ्यासकार्य, इट् का अभाव)– बभूवस् (प्रथमा एकवचन में उक्तवत् कार्य) = बभूवान्।

(१२२६) **पद**– भाषायाम्, सदवसश्रुवः। **अनुवृत्ति**– लिटः, वा, क्वसुः। **विधिसूत्र**।

३।२।१०८ । सदादिभ्यो भूतसामान्ये भाषायां लिड् वा स्यात्, तस्य च नित्यं क्वसुः। 'निषेदुषीमासनबन्धधीरः', 'अध्यूषुषस्तामभवज्जनस्य'। **शुश्रुवान्।** **(१२२७) उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च ३।२।१०९ ।** एते निपात्यन्ते। उपपूर्वादिणो लिड् वा, तस्य क्वसुः। इट्, उपेयिवान्। नात्रोपसर्गस्तन्त्रम्। ईयिवान्। नञोऽश्नातेः क्वसोरिडभावश्च। अनश्वान्। अनोर्वचेः कर्तरि कानच्। वेदस्यानुवचनं कृतवाननूचानः। **(१२२८) लटः**

(१२२६) **भाषायामिति** । 'लिटः कानज्वे'त्यतः लिटः वेति, 'क्वसुश्चे'त्यतः क्वसुरिति चानुवर्तते। तदाह-**सदादिभ्य इति**। **शुश्रुवान्-** श्रुधातोर्लिटि, लिटः स्थाने क्वसुप्रत्यये-ऽनुबन्धलोपे, द्वित्वेऽभ्यासत्वे, हलादिशेषे सौ, उगित्त्वान्नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे, सस्य लोपे संयोगान्तलोपे 'शुश्रुवान्' इति।

(१२२७) **उपेयिवानिति** । एते निपात्यन्त इत्यर्थः। **अनूचान इति**। अनुपूर्वाद् वच्धातोः 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'त्यनेन निपातनेन कानच्प्रत्यये, कित्त्वात्सम्प्रसारणे पूर्वरूपे सवर्णदीर्घे, विभक्तिकार्ये 'अनूचानः' इति ।

मूलार्थ- सद्, वस् और श्रु धातुओं से भाषा में भूतसामान्य में विकल्प से लकार होता है और उस लिट् के स्थान में नित्य क्वसु आदेश हो जाता है। 'निषेदुषीमासनबन्धधीरः' इत्यादि।

विमर्श- पूर्वसूत्र (१२२३) से 'लिट् वा' तथा 'क्वसुश्च' (१२२४) से 'क्वसुः' की अनुवृत्ति आती है। 'भूते' और 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''सद्, वस् और श्रु धातुओं से भूतसामान्य अर्थ में लोक में विकल्प से लिट् होता है और उसको नित्य 'क्वसु' आदेश होता है।''

उदाहरण- (१) नि + ✓ सद् + लिट् (= 'क्वसु' = 'वस्'-'भाषायां सदवसश्रुवः', द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, एत्व, अभ्यासलोप-'अत एकहल्मध्ये०', 'व्' = 'उ'-सम्प्रसारण, पूर्वरूप, षत्व, ङीप् = 'ई'-'स्त्रीत्व विवक्षा में', अम्, पूर्वरूप) = 'निषेदुषीम्'। (२) अधि + वस् + लिट् (= क्वसु = 'वस्'-'भाषायाम्०', व् = 'उ'-सम्प्रसारण-'वचिस्वपि०', पूर्वरूप, 'उस्' का द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, उ + उ = 'ऊ'-सवर्णदीर्घ, 'इ' = 'य्'-यण्, षत्व)- अध्यूष्वस् (प्राति० संज्ञा, हलादिशेष)- शुश्रुवस् (प्राति० संज्ञा, शस् = 'अस्', 'व्' = 'उ'- सम्प्रसारण, पूर्वरूप, स् = रु = र् = :) = अध्यूषुषः। (३) ✓ श्रु + लिट् (= क्वसु = 'वस्'- 'भाषायाम्०', धातु को द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष) शुश्रुवस् (प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', नुम् = 'न्'-'उगिदचाम्०', दीर्घ-'सान्तमहतः०', 'स्' का लोप, संयोगान्तलोप) = शुश्रूवान्।

(१२२७) **पद-** उपेयिवान्, अनाश्वान्, अनूचानश्च। **अनुवृत्ति-** लिटः वा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- उपेयिवान्, अनाश्वान् और अनूचान् शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं। उपेयिवान्। यहाँ उपसर्ग का ग्रहण अतन्त्र (= अविवक्षित) है। ईयिवान्। नञ्पूर्वक अश् और क्वसु को इट् का अभाव भी निपातन होता है। अनाश्वान्। अनुपूर्वक वच् धातु से कर्ता में कानच् भी निपातन से होता है। वेदस्यानुवचनं कृतवान्-अनूचानः।

विमर्श- पूर्ववत् **'लिटः वा'** की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''उपेयिवान् अनश्वान् और अनूचान शब्द भी निपातन किये जाते हैं। भूतसामान्य अर्थ में इन निपातनों में विकल्प से लिट् होकर नित्य ही क्वसु आदि आदेश होते हैं। अतः पक्ष में यथाप्राप्त भूतकालीन लुङ् आदि होते हैं।''

उदाहरण- (१) उप + ✓ इण् (इ) + लिट् (= क्वसु = 'वस्' निपातन से-'उपेयिवान-नाश्वाननूचानश्च'. धातु को द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, अभ्यास की इ = 'ई'-दीर्घ-'दीर्घः इणः किति')- उप

शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३।२।१२४ । **अप्रथमान्तेन सामानाधिकरण्ये लट एतौ वा स्तः।** शबादि। पचन्तं चैत्रं पश्य। **(१२२९) आने मुक् ७।२।८२ ।** **अङ्गस्यातः।** पचमानं चैत्रं पश्य। लडित्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात्प्रथमासामानाधि-

---

(१२२८) **लटः शतृशानचाविति** । 'वर्तमाने' इति 'धातोरि'ति चाधिक्रियते। तदाह- **अप्रथमान्तेनेति** । **पचन्तमिति** । पच्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि 'लटः शतृशानचावप्रथमा-समानाधिकरणे' इति लटः स्थाने शतृप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, सार्वधातुकसंज्ञायां शपि, प्रातिपदिकत्वे द्वितीयैकवचने अमि 'उगिदचामि'ति नुमि अनुबन्धलोपे पचन्तमिति। पचन्तं चैत्रं पश्येति।

(१२२९) **आने मुगिति**। आने परे अङ्गस्यातो मुमागमः स्यादित्यर्थः।

ई इ वस् (निपातन से 'इ' = 'य्'-यण्, इट् = 'इ' आगम-'वस्वेकाजाद्घसाम्', अ + ई = 'ए'-गुण, प्राति० संज्ञा, सु)- उपेयिवस् सु (नुम् = 'न्'-'उगिदचाम्०', दीर्घ, 'स्' का लोप-'हल्ङ्याब्भ्यः', 'स्' का संयोगान्तलोप) = उपेयिवान्। सूत्र में 'उप' उपसर्ग का ग्रहण आवश्यक न होने से उपसर्गरहित 'ईयिवान्' प्रयोग भी बनता है। (२) नञ् (अ) + ✓ वस् + लिट् (= क्वसु = वस्, इट् का अभाव-निपातन से, धातु को द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, अ + अ = 'आ'-दीर्घ)- आश् वस् ('न्' का लोप-'नलोपो नञ्', नुट् = 'न्' आगम-'तस्मान्नुडचि', प्रा० संज्ञा, सु = 'स्', नुम् = 'न्'-'उगिदचाम्')- अन्आश् व न् स् स् ('स्' का हल्ङ्यादि लोप, संयोगान्तलोप) = अनाश्वान्। (३) अनु + ✓ वच् + कानच् (= 'आन' कर्ता अर्थ में निपातन से, 'व्' = 'उ' सम्प्रसारण-'वचिस्वपि०', पूर्वरूप, द्वित्व, अभ्यासत्व, हलादिशेष)- उ उच् आन (उ + उ = 'ऊ' दीर्घ, उ + ऊ = 'ऊ', सु = स् = र् = :) = अनूचानः (विद्वान्)।

(१२२८) **पद-** लटः, शतृशानचौ, अप्रथमासमानाधिकरणे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य यदि हो तो लट् के स्थान में शतृ और शानच् आदेश होते हैं। शबादि। पचन्तं चैत्रं पश्य।

विमर्श- 'वर्तमाने' और 'धातोः' का अधिकार है। अतः "अप्रथमान्त अर्थात् द्वितीयान्त आदि के साथ समान अधिकरण (वाच्य) हो तो लट् के स्थान पर शतृ और शानच् आदेश हो जाते हैं।" शतृ के अन्त्य ऋकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा होती है। शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञकों का लोप होकर 'अत्' शेष रहता है। इसी प्रकार 'शानच्' में भी 'च्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'श्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। 'आन' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण- ✓ पच् + 'लट्' (- कर्ता में-'वर्तमाने लट्', ल् = शतृ = 'अत्'-'लटः शतृ-शानचावप्रथमासमानाधिकरणे', सार्वधातुकसंज्ञा, शप् = 'अ'-'कर्तरि शप्')- पच् अ अत् (अ + अ = 'अ' पररूप-'अतो गुणे', प्रा० संज्ञा, कर्म की विवक्षा में द्वितीया एकवचन-'अम्', नुम् = 'न्' आगम-'उगिदचाम्०', न् = ं = 'न्' परसवर्ण) = पचन्तं चैत्रं पश्य (पकाते हुए चैत्र को देखो)।

(१२२९) **पद-** आने, मुक्। **अनुवृत्ति-** अतः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- अङ्ग के अवयव अत् को मुक् (= म्) आगम होता है- 'आन' के परवर्ती रहते। पचमानं चैत्रं पश्य।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'अतो येयः' (७।२।८०) से 'अतः' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार- "'आन' के परवर्ती रहने पर अङ्ग के अवयव अत् को मुक् आगम हो

करण्येऽपि क्वचित्। सन्द्विजः। (१२३०) ईदासः ७।२।८३ । आनस्य। 'आदेः परस्य'। आसीनः। (१२३१) विदेः शतुर्वसुः ७।१।३६ । वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा।

(१२३०) **ईदासः**। आसधातोः परस्याऽऽनस्य ईत्स्यादित्यर्थः। 'आदेः परस्ये'ति परिभाषया 'आन' इत्याद्यावयवीभूतस्याकारस्य 'ईत्' भवतीत्यर्थः। **आसीनः**– आङ्पूर्वकात् अस्धातोः लटि, लः स्थाने शानचि अनुबन्धलोपे, शपि 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इत्यनेन शपो लुकि, सवर्णदीर्घे 'आ सान' इति जाते 'ईदासः' इत्यनेनाकारस्य स्थाने ईदादेशे, प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ रुत्वे विसर्गे 'आसीनः' इति।

(१२३१) **विदेरिति**। अत्र 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्यामि'त्यत 'अन्यतरस्यामि'-त्यनुवर्तते। अत आह–**वेत्तेः परस्येति**। **विद्वान्**– विद्धातोर्लटि, लः स्थाने शतृप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'विदेः शतुर्वसुः' इत्यनेन विकल्पेन शत्रोः वसुरादेशे, शपि 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इत्यनेन शपो

जाता है"। मुक् में ककार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होकर लोप होता है। उकार उच्चारणार्थक है। 'म्' मात्र शेष रहता है। कित् होने से यह अदन्त अङ्ग का अन्तावयव होता है (आद्यन्तौ टकितौ)।

उदाहरण– ✓ पच् + लट् = शानच् (= आन–'लटः शतृशानचा०', शप् = 'अ')–पच आन (मुक् = 'म्' आगम–'आने मुक्', प्रा० संज्ञा, द्वितीया एकवचन में 'अम्', पूर्वरूप) = पचमानं चैत्रं पश्य।

'लटः शतृशानचावप्रथमा०' में 'वर्तमाने लट्' से 'लट्' की अनुवृत्ति आ रही है। पुनः सूत्र में लट् ग्रहण होने से कहीं-कहीं प्रथमासामानाधिकरण्य में भी लट् = शतृ, शानच् हो जाते हैं।

उदाहरण– ✓ अस् + लट् = ल् = शतृ (= 'अत्', शप्, 'शप्' का 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से लुक्, 'अस्' के 'अ' का लोप–'श्नसोरल्लोपः')– सत् (प्रा० संज्ञा, सु = 'स्', नुम् = 'न्' आगम–'उगिदचाम्०', हल्ङ्यादिलोप, संयोगान्तलोप) = सन् द्विजः (ब्राह्मण है)।

(१२३०) **पद–** ईत्, आसः। **अनुवृत्ति–** आने। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आस् धातु से परवर्ती आन को ईत् होता है। आसीनः।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२३९) से 'आने' पद की अनुवृत्ति आती है। 'आसः' में पञ्चमी होने के कारण 'तस्मादित्युत्तरस्य' के नियम से अनुवृत्त 'आने' पद षष्ठ्यन्त में बदल जाता है। तदनुसार– "आस् से उत्तरवर्ती आन को ईत् (ईकार) आदेश होता है।" यह ईत्व 'आदेः परस्य' परिभाषानुसार पर आन के आदि वर्ण 'आ' को ही होता है।

उदाहरण– ✓ आ + अस् + लट् (= शानच् = 'आन'–'लटः शतृशानचाव०', शप्, शप् का लुक्–'अदिप्रभृतिभ्यः शपः', आ + अ = 'आ' सवर्णदीर्घ, 'आ' = 'ई'–'ईदासः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = आसीनः।

(१२३१) **पद–** विदेः, शतुः, वसुः। **अनुवृत्ति–** अन्यतरस्याम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– विद् से परवर्ती शतृ के स्थान में 'वसु' आदेश विकल्प से होता है। विद्वान्। विदन्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्' (७।१।३५) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "'विद ज्ञाने' धातु से उत्तरवर्ती 'शतृ' के स्थान पर 'वसु' आदेश विकल्प से होता है।"

उदाहरण– ✓ विद् + लट् (= 'शतृ'–'लटः०', शप्, शप् का लुक्, विकल्प से शतृ = वसु = 'वस्'–'विदेः शतुर्वसुः', प्राति० संज्ञा, सु, नुम् = 'न्'–'उगिदचाम्०', 'अ' = 'आ' दीर्घ–

विद्वान्। विदन्। **(१२३२) तौ सत् ३।२।१२७** । तौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः। **(१२३३) लटः सद्वा ३।३।१४** । करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य। **(१२३४) ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् ३।२।१२९** । अग्नौ जुह्वानः। कवचं बिभ्राणः।

लुकि 'विद्वस्' इति जाते, प्रातिपदिकत्वे सौ, उगित्त्वान्नुमि 'सान्तमहतः०' इति दीर्घे, हल्ङ्यादिना सुलोपे संयोगान्तलोपे कृते 'विद्वान्' इति। वस्वादेशाभावपक्षे 'विद अत्' इति स्थिते, शपि, शपो लुकि प्रातिपदिकत्वे सौ, उगित्त्वान्नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे च 'विदन्' इति रूपम्।

(१२३२) **ताविति**। 'शतृशानचौ सत्संज्ञकौ स्तः' इत्यर्थः।

(१२३३) **लृट इति**। लृटः स्थाने सत्संज्ञकौ शतृशानचौ वा भवतः।

(१२३४) **ताच्छील्येति** । तच्छीलमस्य तस्य भावस्तस्मिन्। **जुह्वानः**– हुधातोर्लोटि, ताच्छील्ये 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' इति चानशि, शित्त्वात् सार्वधातुकत्वे शपि 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' इति श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये, यणि सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'जुह्वानः' इति।

'सान्तमहतः०', 'स्' का हल्ङ्यादिलोप, संयोगान्तलोप) = विद्वान्। शतृ के स्थान पर वसु आदेश के अभाव पक्ष में– विद् अत् (शप् का लुक्, सु, नुम्, हल्ङ्यादिलोप, संयोगान्तलोप) = विदन्।

(११३२) **पद**– तौ, सत्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– शतृ और शानच् की सत् संज्ञा होती है।

विमर्श– यहाँ 'तौ' पद से पूर्वसूत्रोक्त 'शतृशानचौ' का निर्देश है। तदनुसार– ''शतृ और शानच् सत्संज्ञक होते हैं।

(१२३३) **पद**– लृटः, सत्, वा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– लृट् को शतृ और शानच् आदेश विकल्प से होते हैं। करिष्यन्तं करिष्यमाणं वा पश्य।

विमर्श– लट् के स्थान पर 'शतृ-शानच्' का विधान करने के अनन्तर अब भविष्यत्कालिक लृट् के स्थान पर भी उनका विधान किया जा रहा है– ''लृट् के स्थान पर सत्संज्ञक = शतृ, शानच् विकल्प से होते हैं।''

उदाहरण– (१) ✓ डुकृञ् (कृ) + 'लृट्' (–'लृट् शेषे च', लृट् = 'ल्', 'स्य'–'स्यतासी लृलुटोः', आर्धधातुक संज्ञा, इट् = 'इ' आगम–'ऋद्धनोः स्ये', 'ऋ' = 'अ'–गुण, 'सार्वधातु०', रपर, षत्व)– करिष्य ल् (लृट् = शतृ = 'अत्' विकल्प से–'लृटः सद्वा', अ + अ = 'अ'– पररूप– 'अतो गुणे', प्राति० संज्ञा, द्वितीया एकवचन 'अम्', नुम् = 'न्' आगम–'उगिदचाम्०', अनुस्वार, परसवर्ण) = करिष्यन्तम्। ञित् होने से कृञ् धातु उभयपदी है। क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद संज्ञक शानच् प्रत्यय होगा। करिष्य + शानच् (= आन, मुक् = 'म्' आगम– 'आने मुक्', णत्व, प्राति० संज्ञा, अम्, पूर्वरूप) = करिष्यमाणं पश्य (भविष्य में करने वाले को देखो।)

(१२३४) **पद**– ताच्छील्य–वयोवचन–शक्तिषु, चानश्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ताच्छील्य, वयोवचन और शक्ति अर्थ में धातु से कर्ता में चानश् प्रत्यय होता है। अग्नौ जुह्वानः इत्यादि।

विमर्श– 'वर्तमाने' तथा 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''तत्स्वभावता, वयः = शरीरावस्था-कथन और शक्ति अर्थों में धातु से वर्तमान काल में चानश् प्रत्यय होता है''। 'चानश्' में चकार व शकार की इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञकों का लोप होने पर 'आन' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ हु + चानश् (= 'आन'–'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्', शित् होने

शत्रुं निघ्नानः। (१२३५) आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ३।२।१३४। क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः। (१२३६) तृन् ३।२।१३५। कर्ता कटान्। (१२३७) स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् ३।२।१५८।

(१२३५) **आ क्वेस्तच्छील इति**। अधिकारसूत्रमिदम्।

(१२३६) **तृन्निति**। तच्छीलादिषु कर्तृषु वर्तमाने धातोः तृन्प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। **कर्ता कटान्**– करोति तच्छील इत्यस्मिन्नर्थे कृधातोः 'तृन्' इति तृन्प्रत्यये, आर्धधातुकसंज्ञायां गुणे, अकारे रपरत्वे सौ 'सुडनपुंसकस्ये'ति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां चे'त्यनङि, अङो लोपे उपधादीर्घे सुलोपे नलोपे कृते 'कर्ता' इति।

(१२३७) **स्पृहिगृहीति**। एभ्यः आलुच् स्यात् तच्छीलादिषु। **स्पृहयालुः**– ण्यन्तात्

से सार्वधातुक संज्ञा, शप् = श्लु–'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः', धातु को द्वित्व–'श्लौ', अभ्यासत्व, चुत्व आदि) जुहू आन ('उ' = 'व्'–'यण्', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = जुह्वानः। (२) ✓ भृ + चानश् (= 'आन'– वयोवचन अर्थ में, शप् = श्लु, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, 'ऋ' = 'इ' इत्व–'भृञामित्', रपर, हलादिशेष, 'भ्' = 'ब्'–चर्त्व)– बिभृ आन ('ऋ' = 'र्'–'यण्', णत्व, सु = स् = र् = :) = बिभ्राणः। (३) नि + ✓ हन् + चानश् (= 'आन' शक्ति अर्थ में, शप् का लुक्–'अदिप्रभृतिभ्यः', उपधा 'अ' का लोप–'गमहन०', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्तेः०', सु = स् = र् = :) = निघ्नानः।

(१२३५) **पद**– आ, क्वेः, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ– यहाँ से क्विप् प्रत्यय तक जो प्रत्यय कहे गये हैं वे तच्छील आदि कर्ता अर्थ में होते हैं।

विमर्श– यह अधिकारसूत्र है। अष्टाध्यायी में प्रकृत सूत्र से आगे 'भ्राजभास०' (३।२।१७७) सूत्र से विहित क्विप् प्रत्यय पर्यन्त जितने प्रत्यय हैं, वे सब तच्छील (तत्स्वभावता), तद्धर्म (अपना धर्म समझ कर प्रवृत्त होने वाला) और तत्साधुकारी (कुशलता से करने वाला) कर्ता अर्थों में ही होते हैं।''

(१२३६) **पद**– तृन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तच्छील आदि अर्थों में धातु से तृन् प्रत्यय होता है। कर्ता कटान्।

विमर्श– 'तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु' तथा 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ताओं के वाच्य होने पर धातु से तृन् प्रत्यय होता है।'' इत्संज्ञक 'न्' का लोप होने पर तृन् का 'तृ' शेष रहता है।

उदाहरण– ✓ कृ + तृन् (= 'तृ' – 'तृन्', आर्धधातुक संज्ञा, ऋ = 'अ'–गुण, रपर, प्राप्त ईट् का निषेध–'एकाच०', प्राति० संज्ञा–सु, ऋ = अनङ् = 'अन्'–'ऋदुशनस्पुरुदंशः०', उपधादीर्घ, 'स्' का हल्ङ्यादि लोप, 'न्' का लोप–'नलोपः०') = कर्ता कटान् (चटाइयों के बनाने के स्वभाव वाला)।

(१२३७) **पद**– स्पृहि-गृहि-पति-दयि-निद्रा-तन्द्रा-श्रद्धाभ्यः, आलुच्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– स्पृहि, गृहि आदि धातुओं से तच्छील आदि अर्थों में आलुच् प्रत्यय होता है। प्रथम तीन धातु चुरादिगणीय अदन्त हैं। स्पृहयालुः।

(वा०)– शीङ् धातु से भी तच्छीलादि अर्थ में आलुच् प्रत्यय होता है। शयालुः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु', 'वर्तमाने' और 'धातोः' का अधिकार

आद्यास्त्रयश्चुरादावदन्ताः। स्पृहयालुः। * शीङो वाच्यः *। शयालुः। (१२३८) **अलंकृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच् ३।२।१३६** । अलङ्करिष्णुः। (१२३९) **ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः ३।२।१३९** । गिदयं न तु कित्। तेन स्थ ईत्वं न। ग्लास्नुः। गित्त्वान्न गुणः। जिष्णुः। स्थास्नुः। चाद्भुवः। 'श्र्युकः

स्पृहिधातोः 'स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्' इत्यनेन आलुच्प्रत्यये अनुबन्धलोपे, गुणेऽयादेशे, प्रातिपदिकत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे कृते 'स्पृहयालुः' इति।

(१२३८) **अलंकृञ् इति**। सूत्रोक्तेभ्यः तच्छीलादिषु कर्तृषु इष्णुच् स्यादित्यर्थः। **अलङ्करिष्णुः**– अलङ्करोति तच्छील इति विग्रहे अलंपूर्वात् कृञ्धातोः 'अलंकृञ्' इत्यादिना इष्णुच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, गुणे रपरत्वे, सौ रुत्वे विसर्गे, अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'अलङ्करिष्णुः' इति।

(१२३९) **ग्लाजिस्थेति**। तच्छीलादिषु कर्तृषु एभ्यः ग्स्नुप्रत्ययो भवतीत्यर्थः। **जिष्णुः**– जिधातोः 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इत्यनेन ग्स्नुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, सस्य ष्टुत्वेन षकारे, नस्य णकारे, प्रातिपदिकत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे 'जिष्णुः' इति।

है। तदनुसार– ''ण्यन्त स्पृहि, गृहि, पति और दयि धातु से एवं नि + प्रा, तद्पूर्वक द्रा, श्रव अव्यय-पूर्वक धा धातु से तच्छीलादि अर्थ में आलुच् प्रत्यय होता है।'' 'आलुच्' के अन्त्य वर्ण चकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है। लोप होकर 'आलु' शेष रहता है।

उदाहरण– ✓ स्पृहि (ण्यन्त) + आलुच् (= 'आलु'–'स्पृहिगृहि०', 'इ' = 'ए' गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = स्पृहयालुः।

(**वा०**)– शीङ् धातु से भी उक्त अर्थों में आलुच् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ शी + आलुच् (= 'आलु'–'शीङो वाच्यः' वा० से, 'ई' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्', सु = स् = र् = :) = शयालुः।

(१२३८) **पद**– अलंकृञ्–निराकृञ्–प्रजनोत्पचोत्पतोन्मद–रुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अलं-पूर्वक कृञ् आदि से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में इष्णुच् प्रत्यय होता है। अलङ्करिष्णुः।

विमर्श– पूर्ववत् 'तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्तमाने और धातोः' का अधिकार है। अतः ''अलम् पूर्वक कृञ्, निर्–आङ् पूर्वक कृञ्, प्र–पूर्वक जन, उत्पूर्वक पच्, उत्पूर्वक पत्, उत्–पूर्वक मद, अपपूर्वक त्रप तथा वृत्, वृध्, सह् और चर् धातुओं से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में इष्णुच् प्रत्यय होता है।'' इत्संज्ञक 'च्' का लोप होने से 'इष्णु' शेष रहता है।

उदाहरण– अलम् + ✓ कृ + इष्णुच् (= 'इष्णु'–'अलंकृञ्०', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, म् = = 'ङ्'–परसवर्ण, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अलङ्करिष्णुः।

(१२३९) **पद**– ग्लाजिस्थः, च, ग्स्नुः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ग्ला, जि, स्था और चकारात् भू धातु से 'ग्स्नु' प्रत्यय होता है, तच्छीलादि अर्थ में। ग्लास्नुः। यह प्रत्यय गित् है, कित् नहीं। अतः कित् एवं ङित् में विधीयमान 'स्था' को 'घुमास्था०' से ईत्व नहीं हुआ। जिष्णुः। स्थास्नुः। चकार से भू धातु का ग्रहण किया गया है। 'श्र्युकः किति' में गकार का प्रश्लेष होने से इडागम नहीं होता–भूष्णुः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्ववत् 'तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्तमाने तथा धातोः' का अधिकार है। पूर्वसूत्र 'भुवश्च' से 'भुवः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''तच्छीलादि कर्ता अर्थ में ग्ला, जि,

कितीत्यत्र गकारप्रश्लेषान्नेट्। भूष्णुः। (१२४०) त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः ३।२।१४० । त्रस्नुः। गृध्नुः। क्षिप्नुः। (१२४१) शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् ३।२।१४१ । उकार उच्चारणार्थ इति काशिका। अनुबन्ध इति भाष्यम्। तेन 'शमिनितरा शिमिनीतरे'-त्यत्र 'उगितश्चे'ति ह्रस्वविकल्पः। न चैवं शमी शमिनावित्यादौ नुम्प्रसङ्गः। झल्ग्रहण-

---

(१२४०) **त्रसिगृधीति**। एभ्यः क्नुः स्यात्तच्छीलादिषु। **त्रस्नुः**– 'त्रस्यति तच्छीलः' इति विग्रहे 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' इति क्नुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'त्रस्नुः' इति।

(१२४१) **शमित्येति**। शमादिभ्योऽष्टभ्यो घिनुण् स्यादित्यर्थः। **शमी**– शम्धातोः 'शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्' इत्यनेन घिनुण्प्रत्यये, घकारोकारणकाराणामित्वे, सौ 'सौ च' इति दीर्घे, हल्ङ्याब्भ्यादिलोपे नलोपे 'शमी' इति।

स्था तथा चकार से भू धातु से भी 'ग्स्नु' प्रत्यय होता है।'' आदि वर्ण गकार की इत्संज्ञा होती है। उसका लोप होने पर 'स्नु' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ गै + 'ग्स्नु' (= 'स्नु'–'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः', 'ऐ' = 'आ'–आत्व-'आदेच०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = ग्लास्नुः। (प्रत्यय के गित् होने से कित्त्व लक्षण 'घुमास्था०' से यहाँ ईत्व नहीं होता।) (२) जि + ग्स्नुः (= 'स्नु', 'स्' = 'ष्'–षत्व, 'न्' = 'ण्'–ष्टुत्व, विभक्तिकार्य) = जिष्णुः ('क्ङिति च' में गकार का प्रश्लेष होने से प्राप्त गुण का निषेध हो जाता है।) (३) ✓ स्था + 'ग्स्नु' (= 'स्नु', विभक्तिकार्य) = स्थास्नुः। **चकार** से पूर्वसूत्र द्वारा 'भुवः' की अनुवृत्ति आने से भू धातु से भी 'ग्स्नु' प्रत्यय हो जाता है। (४) ✓ भू + ग्स्नु (= स्नु, षत्व, ष्टुत्व, सु = स् = र् = :) = भूष्णुः। ('श्र्युकः किति' इस सूत्र में गकार का भी प्रश्लेष होने से प्राप्त इट् का निषेध होता है।)

(१२४०) **पद**– त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः, क्नुः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तच्छीलादि कर्ता अर्थ में त्रस् आदि धातुओं से क्नु प्रत्यय होता है। त्रस्नुः। गृध्नुः इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् 'तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्तमाने और धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''त्रसी उद्वेगे, गृधु अभिकाङ्क्षायाम्, ञिधृषा प्रागल्भ्ये, क्षिप प्रेरणे' धातुओं से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में 'क्नु' प्रत्यय होता है''। 'क्नु' में आदि ककार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञक का लोप होने पर 'नु' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ त्रस् + क्नु (= 'नु'–'त्रासगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = त्रस्नुः। (२) ✓ गृध् + क्नु (= 'नु', विभक्तिकार्य) = गृध्नुः। (३) ✓ क्षिप् + क्नु = क्षिप्नुः (पूर्ववत् प्रक्रिया)।

(१२४१) **पद**– शमिति, अष्टाभ्यः, घिनुण्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तच्छीलादि कर्ता अर्थ में शम् आदि धातुओं से घिनुण् प्रत्यय होता है। 'प्रत्ययघटक उकार शुद्ध उच्चारण के लिए है' यह काशिकाकार का मत है। भाष्यकार के मतानुसार उकार अनुबन्ध है, जो उगितत्व-सम्पादनार्थ है। अतः शम् धातु से घिनुण् प्रत्यय होने पर (शम् + घिनुण् = 'इन्', ङीप् = 'ई', 'ऋन्नेभ्यो ङीप्', अतिशय अर्थ में तरप् प्रत्यय = 'तर', टाप् = 'आ', अ + आ = 'आ' दीर्घ, विकल्प से ह्रस्व–'उगितश्च') = शमिनितरा, शमिनीतरा। (यहाँ उगितत्व होने से विकल्प से ह्रस्व होता है। इत्यादि।

मपकृष्य झलन्तानामेव तद्विधानात्। 'नोदात्तोपदेशस्ये'ति वृद्धिनिषेधः। शमी। तमीत्यादि। **(१२४२) सम्पृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिसृसंसृजपरिदेविसंज्वरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषद्रुहदुहयुजाक्रीडविविचत्यजरजभजातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च ३।२।१४२** । घिनुण् स्यात्। सम्पर्कीत्यादि। **(१२४३) वौ कषलसकत्थस्रम्भः ३।२।१४३** । विकाषी। **(१२४४) अपे च लषः**

(१२४२) **सम्पृचेति**। एभ्यो घिनुण् स्यादित्यर्थः। **सम्पर्की**– सम्पृच्शब्दात् घिनुण्-प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'चजोः कुः' इति कुत्वे 'पुगन्ते'ति गुणे, रपरे सौ 'सौ चे'ति दीर्घे, हल्ङ्यादिना सुलोपे नकारस्य लोपे 'सम्पर्की' इति।

(१२४३) **वाविति**। विपूर्वेभ्यः सूत्रोक्तेभ्यः तच्छीलादिषु कर्तृषु घिनुण् स्यादित्यर्थः।

विमर्श– पूर्ववत् अधिकार है। अतः ''दिवादिस्थ 'शम्, तम्, दम्, श्रम्, भ्रम्, क्षम्, क्लम् और मद्' इन आठ धातुओं से घिनुण् प्रत्यय तच्छीलादि कर्ता हों तो वर्तमान काल में होता है''। 'घिनुण्' में घ्, उ और ण् इत्संज्ञक हैं। 'इन' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ शम् + घिनुण् (= 'इन्'–'शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्', प्राति० संज्ञा, सु, दीर्घ– 'सौ च', 'सु' का हल्ङ्यादि लोप, 'न्' का लोप–'नलोपः०') = शमी। (२) तम् + घिनुण् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = तमी। (यहाँ उकार अनुबन्ध पक्ष में 'उगिदचाम्०' सूत्र से 'नुम्' आगम की प्राप्ति होती है। अतः 'नपुंसकस्य झलचः' सूत्र से 'झल्' का अपकर्ष करके 'झलन्त उगिदन्त को नुम् होता है' ऐसा अर्थ करने से 'नुम्' का वारण हो जाता है। 'अत उपधायाः' से प्राप्त वृद्धि का 'नोदात्तोपदेशस्य' से निषेध हो जाता है।)

(१२४२) **पद**– सम्पृचानुरुधाङ्यमाङ्यस-परिसृ-संसृज-परिदेवि-संज्वर-परिक्षिप-परिरट-परिवद-परिदह-परिमुह-दुष-द्विष-द्रुह-दुह-युजाक्रीड-विविच-त्यज-रजभजातिचरापचरामुषाभ्याहनः, च। **अनुवृत्ति**– घिनुण्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तच्छीलादि कर्ता अर्थ में सम्पूर्वक पृच् आदि धातुओं से घिनुण् प्रत्यय होता है। सम्पर्की इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२४१) से 'घिनुण्' की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् तच्छीलादि का अधिकार है। अतः ''सम्पूर्वक पृच्, अनुपूर्वक रुध्, आङ्पूर्वक यम्, आङ्पूर्वक यस्, परिपूर्वक सृ, सम्पूर्वक सृज्, परिपूर्वक देवृ, सम्पूर्वक ज्वर्, परिपूर्वक क्षि, परिपूर्वक रट्, परिपूर्वक वद्, परिपूर्वक दह्, परिपूर्वक मुह्, दुष्, द्विष्, द्रुह्, दुह्, युज्, आङ्पूर्वक क्रीड्, विपूर्वक विच्, त्यज्, रज्, भज्, अतिपूर्वक चर्, अपपूर्वक चर्, आङ्पूर्वक मुष्, अभिपूर्वक हन्, आङ्पूर्वक हन् धातुओं से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में घिनुण् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– सम् + ✓ पृच् + घिनुण् (= 'इन्'–'संपृचानु०', 'च्' = 'क्'–'चजोः कु०', 'ऋ' = 'अ'–गुण–'पुगन्त०', रपर)–सम्पर्किन् (प्राति० संज्ञा, सु, दीर्घ– 'सौ च', 'स्' का लोप– 'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'न्' का लोप– 'नलोपः') = सम्पर्की।

(१२४३) **पद**– वौ, कषलसकत्थस्रम्भः। **अनुवृत्ति**– घिनुण्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– विपूर्वक कष्, लष्, कत्थ और स्रम्भ् धातु से तच्छीलादि अर्थ में घिनुण् प्रत्यय होता है। विकाषी।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२४१) से 'घिनुण्' की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् तच्छीलादि का अधिकार

हनकमगमशृभ्य उकञ् ३।२।१५४ । लाषुकः। पातुकः। (१२५०) जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन् ३।२।१५५ ।जल्पाकः।(१२५१) सनाशंसभिक्ष

'देविक्रुशोश्चोपसर्गे' इति वुञि अनुबन्धलोपे 'युवोरनाकौ' इत्यनेन 'वु' इत्यस्य अकादेशे 'पुगन्त०' इति गुणे, विभक्तिकार्ये 'आदेवकः' इति रूपम्।

(१२४९) **लषपतेति**। एभ्य उकञ् स्यादित्यर्थः। **पातुकः**– 'पतति तच्छीलः' इति विग्रहे पत्धातोः 'लषपतपद' इत्यादिना उकञ्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इत्यनेनोपधादीर्घे, प्रातिपदिकत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे 'पातुकः' इति।

(१२५०) **जल्पभिक्षेति**। **जल्पाकः**– 'जल्पति तच्छीलः' इत्यस्मिन् विग्रहे जल्पधातोः 'जल्पभिक्षकुट्टलुण्ठवृङः षाकन्' इति षाकन्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे विभक्तिकार्ये 'जल्पाकः' इति।

(१२५१) **सनाशंसेति**। एभ्य उः स्यादित्यर्थः। **चिकीर्षुः**– चिकीर्ष इति सन्नन्ताद् धातोः

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१२४७) से 'वुञ्' की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' तथा 'धातोः' का अधिकार है। ''तच्छीलादि कर्ता अर्थ में उपसर्गपूर्वक दिव् और क्रुश् धातु से वुञ् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) आङ्(आ) + ✓ दिव् + वुञ् = ('वु'–'देविक्रुशोश्चोपसर्गे', 'वु' = 'अक'– 'युवोरनाकौ', 'इ' = 'ए'–गुण– 'पुगन्त०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = आदेवकः। (२) आ + क्रुश् + वुञ् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = आक्रोशकः।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में 'उपसर्गे' पद का ग्रहण होने से उपसर्ग रहित दिव् और क्रुश् धातु से 'वुञ्' नहीं होता। तृच् होकर–देवयिता। क्रोष्टा।

(१२४९) **पद**– लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– लष्, पत्, पद् आदि धातुओं से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में उकञ् प्रत्यय होता है। लाषुकः। पातुकः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्ववत् तच्छीलादि का अधिकार है। अतः ''तच्छीलादि अर्थ में लष्, पत्, पद्, स्था, भू, वृष्, हन्, कम्, गम् एवं शृ धातुओं से उकञ् प्रत्यय होता है''। 'उकञ्' में अन्त्य 'ञ्' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है। उसका लोप होने पर 'उक' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ लष् + उकञ् (= 'उक'–'लषपतपद०', 'अ' = 'आ'–'अत उपधायाः', प्राति संज्ञा, सु = स् = र् = :) = लाषुकः। (२) ✓ पत् + उकञ् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = पातुकः।

(१२५०) **पद**– जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः, षाकन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– जल्प्, भिक्ष् आदि धातुओं से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में षाकन् प्रत्यय होता है। जल्पाकः।

विमर्श– पूर्ववत् 'तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु', 'धातोः' आदि का यहाँ अधिकार है। सूत्रस्थ जल्प आदि में अकार उच्चारणार्थ है। तदनुसार– ''तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थों में जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट्, लुण्ट् और वृङ् धातु से षाकन् प्रत्यय होता है''। 'षाकन्' में नकार 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। आदि वर्ण 'ष्' की 'षः प्रत्ययस्य' से इत्संज्ञा होती है। 'तस्य लोपः' से लोप होने पर 'आक' मात्र अवशिष्ट रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ जल्प + षाकन् (= 'आक'–'जल्पभिक्ष०', कृदन्तत्वात् प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = जल्पाकः (बोलने के स्वभाव वाला, व्यर्थप्रलापी)।

(१२५१) **पद**– सनाशंसभिक्षः, उः। **विधिसूत्र**।

उः ३।२।१६८ । चिकीर्षुः। आशंसुः। भिक्षुः। (१२५२) स्थेशभासपिसकसो वरच् ३।२।१७५ । स्थावरः। भास्वर इत्यादि। (१२५३) यश्च यङः ३।२।१७६ । यातेर्यङन्ताद्वरच्। अतो लोपः। तस्याचः परस्मिन्निति स्थानिवद्भावे प्राप्ते। (१२५४) न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु १।१।५८ । पदस्य

'सनाशंसभिक्ष उः' इत्यनेन उप्रत्यये 'अतो लोपः' इत्यकारलोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे कृते 'चिकीर्षुः' इति।

(१२५२) **स्थेशेति**। एभ्यो वरच् स्यादित्यर्थः। **स्थावरः**– 'तिष्ठति तच्छीलः' इत्यस्मिन् विग्रहे 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इति धातोः 'स्थेशभासपिकसो वरच्' इत्यनेन वरच्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे 'धात्वादेः' इति सत्वे 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इति नियमेन वकारस्य थकारे, विभक्तिकार्ये 'स्थावरः' इति।

(१२५३) **यश्चेति**। 'स्थेशभास' इत्यतो 'वरच्' इत्यनुवर्तते। तदाह–**यातेरिति**।

(१२५४) **न पदान्तेति**। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधावि'त्यतः स्थानिवदादेश इति, 'अचः

मूलार्थ– सन्नन्त, आङ्पूर्वक शंस् तथा भिक्ष् धातु से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में 'उ' प्रत्यय होता है। चिकीर्षुः। आशंसुः। भिक्षुः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्ववत् तच्छीलादि का अधिकार है। 'सन् च आशंसश्च भिक्ष् च सनाशंसभिक्षः, तस्मात्' (समाहारद्वन्द्व समास)। आशंस में अकार उच्चारणार्थ है। अतः ''सन्प्रत्ययान्त, आङ्पूर्वक शंस् तथा भिक्ष् धातु से परे तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थों में 'उ' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) सन्प्रत्ययान्त ✓ चिकीर्ष + 'उ' (–'सनाशंसभिक्ष उः', 'अ' का लोप– 'अतो लोपः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = चिकीर्षुः (करने की स्वभावतः इच्छा वाला)। (२) आङ् + ✓ शसि (इदित्त्वान्नुम्, अनुस्वार) = आशंस् + 'उ' (–'सनाशंस०', विभक्तिकार्य) = आशंसुः (इच्छा वाला)। (३) ✓ भिक्ष् + उ (पूर्ववत् प्रक्रिया) = भिक्षुः (भिखारी, साधु)।

(१२५२) **पद**– स्थेशभासपिसकसः, वरच्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तच्छीलादि कर्ता अर्थ में स्था, ईश् आदि धातुओं से वरच् प्रत्यय होता है। स्थावरः। भास्वरः।

विमर्श– पूर्ववत् तच्छीलादि का अधिकार है। तदनुसार– ''स्था, ईश्, भास्, पिस् और कस् धातु से परे वरच् प्रत्यय होता है– तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी अर्थों में''। 'वरच्' में अन्त्य वर्ण 'च्' 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। 'वर' मात्र अवशिष्ट रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ स्था + वरच् (= वर–'स्थेशभासपिसकसो वरच्', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = स्थावरः। (२) ✓ भास् + वरच् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = भास्वरः (चमकने वाला)।

(१२५३) **पद**– यः, च, यङः। **अनुवृत्ति**– वरच्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तच्छीलादि कर्ता अर्थ में यङन्त 'या' धातु से वरच् प्रत्यय होता है।

विमर्श– पूर्ववत् तच्छीलादि अधिकृत है। तदनुसार– ''यङन्त 'या' धातु से तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में 'वरच्' प्रत्यय होता है।

(१२५४) **पद**– न, पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्णानुस्वार-दीर्घजश्चर्विधिषु। **अनुवृत्ति**– अचः परस्मिन्, स्थानिवदादेशः। **अतिदेश (निषेध) सूत्र**।

चरमावयवे द्विर्वचनादौ च कर्तव्ये परनिमित्तोऽजादेशो न स्थानिवत्। इति यलोपं प्रति स्थानिवत्त्वनिषेधात् 'लोपो व्योर्वली'ति यलोपः। अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वमाश्रित्याल्लोपे प्राप्ते। * वरे लुप्तं न स्थानिवत् *। यायावरः। (१२५५) भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप् ३।२।१७७। विभ्राट्। भाः। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः। दृशिग्रहणस्यापकर्षणाज्जवतेर्दीर्घः। जूः। ग्रावस्तुत्। * क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकट-

---

परस्मिन्पूर्वविधौ' इत्यतः 'अचः परस्मिन्' इति चानुवर्तते। पदान्तश्च द्विर्वचनं च वरे च यलोपश्च स्वरश्च सवर्णश्च अनुस्वारश्च दीर्घश्च जश्च चर्चेति द्वन्द्वः, तेषां विधयः। कर्मणि षष्ठ्या समासः। वर इत्यनेन वरे योऽजादेशः सः विवक्षितः। विधिशब्दः प्रत्येकमन्वेति। तदाह–**पदस्य चरमावयव इत्यादिना। यायावरः**– 'यायाय' इति यङन्ताद् धातोः 'यश्च यङः' इत्यनेन वरच् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'अतो लोपः' इत्यकारलोपे, तस्य स्थानिवद्भावे प्राप्ते 'न पदान्त०' इत्यादिना तन्निषेधे 'लोपो व्योर्वलि' इत्यनेन यलोपे, विभक्तिकार्ये 'यायावरः' इति। अत्र आलोपे कर्तव्ये अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वे प्राप्ते 'वरे लुप्तं न स्थानिवत्' इति वार्तिकेन स्थानिवद्भावनिषेध इति भावः।

(१२५५) **भ्राजभासेति**। एभ्यः क्विप्स्यादित्यर्थः। **विभ्राट्**– विशेषेण भ्राजते तच्छील इति विग्रहे विपूर्वकभ्राज्धातोः 'भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप्' इत्यनेन क्विपि, क्विपः

मूलार्थ– पदान्त कार्य अथवा द्विर्वचनादि कार्य कर्तव्य हों तो परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् नहीं होता।

वरे०– वरच् प्रत्यय के परवर्ती रहते लोप को स्थानिवद्भाव नहीं होता।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' (१।१।५६) से 'अचः परस्मिन्' तथा 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१।१।५५) से 'स्थानिवदादेशः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश् और चर् विधियों में परनिमित्तक अच् के स्थान पर हुआ आदेश स्थानिवत् नहीं होता।''

उदाहरण– यायायते तच्छीलः– ✓ या + यङ् (= 'य'–नित्यं कौटिल्ये गतौ', धातु को द्वित्व–'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व–'ह्रस्वः', अभ्यास के अ = 'आ'–दीर्घ–'दीर्घोऽकितः') = यायाय (धातुसंज्ञा, वरच् = 'वर'–'यश्च यङः', 'अ' का लोप–'अतो लोपः', 'अ' लोप के प्राप्त स्थानिवद्भाव का 'न पदान्तद्विर्वचन०' से निषेध, 'य्' का लोप–'लोपो व्योर्वलि', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = यायावरः। यहाँ 'अतो लोपः' से विहित 'अ' लोप का स्थानिवद्भाव से 'आतो लोप इटि च' से आकार का लोप प्राप्त हुआ, किन्तु 'वरे लुप्तं न स्थानिवत्' एतदर्थ 'न पदान्त०' सूत्र में 'वरे' ग्रहण से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से आकारलोप नहीं होता।

(१२५५) **पद**– भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जुग्रावस्तुवः क्विप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तच्छीलादि कर्ता अर्थ में भ्राज्, भास् आदि धातुओं से क्विप् प्रत्यय होता है। विभ्राट्। भाः। धूः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' तथा 'धातोः' का अधिकार है। भ्राज, भास और द्युत में अकार उच्चारणार्थ है। ऊर्जि और धुर्वि में इक् जोड़ा गया है। इस प्रकार–''भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत्, ऊर्ज्, पॄ, जु और ग्रावस्तु (ग्रावन् + ष्टुञ् = स्तु) धातु से परे तच्छीलादि कर्ता अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) वि + ✓ भ्राज् + 'क्विप्' (–'भ्राजभास०', क्विप् का सर्वापहार लोप, प्राति०

प्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च *। वक्तीति वाक्। पृच्छतीति प्राट्। आयतं स्तौतीति आयतस्तूः। कटं प्रवते कटप्रूः। जूरुक्तः। श्रयति हरिमिति श्रीः। * ध्यायतेः सम्प्रसारणं

सर्वापहारे लोपे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, सौ उगते सस्य 'हल्ङ्याब्भ्यः' इत्यादिना लोपे, 'व्रश्चभ्रस्ज०' इति जस्य षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य डत्वे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन टत्वे कृते 'विभ्राट्' इति। पक्षे 'विभ्राडि'ति।

संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'ज्' = 'ष्'–'व्रश्चभस्जसृजमृजयजराजभाजच्छषां षः', 'ष्' = 'ड्'–'झलां जशोऽन्ते', 'ड्' = 'ट्' विकल्प से–'वाऽवसाने') = विभ्राट्। विभ्राड् (चमकने वाला)। (२) ✓ भास् + क्विप् (क्विप् का सर्वापहार लोप, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का हल्ङ्यादिलोप, स् = र् = :) = भाः (चमकने के स्वभाव वाला)। (३) ✓ धुर्व् + क्विप् (सर्वापहारलोप, 'व्' का लोप–'राल्लोपः', प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का हल्ङ्यादिलोप, 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहाति' के अनुसार धातुत्व रहने से 'उ' = 'ऊ'–दीर्घ–'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः', र् = :) = धूः (हिंसा करने के स्वभाव वाला)। (४) वि + ✓ द्युत् + 'क्विप्' (उसका सर्वापहार लोप, प्राप्त लघूपध गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः') = विद्युत् (चमकने के स्वभाव वाली, बिजली)। (५) ✓ ऊर्ज् + क्विप् (सर्वापहारलोप, 'सु' का लोप, 'ज्' = 'ग्'–'चोः कुः', 'ग्' = 'क्' विकल्प से–'वाऽवसाने) = ऊर्क्, ऊर्ग् (बलशाली)। (६) पृ + क्विप् (उसका सर्वापहार लोप, 'ॠ' = 'उ'–'उदोष्ठ्यपूर्वस्य', रपर, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप, 'उ' = 'ऊ' उपधादीर्घ–'र्वोरुपधायाः०', र् = :) = पूः (नगरी)।

दृशिग्रहणस्येति। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।२।१७८) सूत्र में से दृशिग्रहण (दृश्यते) (देखा जाता है) पद का अपकर्षण कर यह स्वीकार किया जाता है कि कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो लोक में देखे जाते हैं परन्तु सूत्रों द्वारा विहित नहीं हैं, उनकी स्वीकृति भी 'दृश्यते' द्वारा जानी जाती है। अतः लोक में दीर्घ ऊकारान्त 'जू' शब्द प्रचलित होने से यहाँ भी 'उ' = 'ऊ' दीर्घ हो जाता है। (७) जु + क्विप् (सर्वापहार लोप, 'उ' = 'ऊ' दीर्घ– उक्त नियम से, सु = स् = र् = :) = जूः (वेग से चलने के स्वभाव वाला)। (८) ग्रावन् + स्तु (ष्टुञ्) + क्विप् (उसका सर्वापहार लोप, कृद्योग में कर्म में षष्ठी लाकर– ग्रावन् ङस् स्तु (समास, विभक्ति का लुक्, 'न्' का लोप–'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य', तुक् = 'त्' आगम–'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्', प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'स्' का लोप– 'हल्ङ्याब्भ्यः') = ग्रावस्तुत् (सोम अभिषव के साधन प्रस्तर की स्तुति करने के स्वभाव वाला)।

(**वा०**)– वच्, प्रच्छ्, आयतपूर्वक स्तु, कटपूर्वक प्रु, जु और श्रि धातुओं से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में क्विप् प्रत्यय और इन धातुओं को दीर्घ होता है तथा सम्प्रसारण का अभाव भी होता है।

उदाहरण– (९) वक्तीति– ✓ वच् + क्विप् (–'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च' वार्तिक से, सर्वापहारी लोप, 'अ' = 'आ' दीर्घ, 'वचिस्वपि०' से प्राप्त सम्प्रसारण का अभाव–वा० से, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः', 'च्' = 'क्'–कुत्व) = वाक् (= वाणी)। (१०) पृच्छति तच्छीलः– ✓ प्रच्छ् + क्विप् (अ = 'आ'–दीर्घ, सम्प्रसारण का अभाव– 'क्विब्वचि०' वा० से, क्विप् का सर्वापहार लोप, 'च्छ्' = 'श्' आदेश–'च्छ्वोः शूडनुनासिके च')– प्राश् (प्रा० संज्ञा, प्र० वि० ए० व० सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः', 'श्' = 'ष्'–'व्रश्चभ्रस्ज०', 'ष्' = 'ड्'–'झलां जशोऽन्ते', 'ड्' = 'ट्' विकल्प से–'वाऽवसाने')–प्राट्, प्राड् (पूछने के स्वभाव वाला)। (११) आयतं स्तौति तच्छीलः– आयत + ✓ स्तु + क्विप् (धातु को दीर्घ, क्विप् का सर्वापहार लोप, समास, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु = र् = :) = आयतस्तूः (= विस्तार से स्तुति करने के स्वभाव

च *। धीः। (१२५६) **दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ३।२।१८२** ।दाबादेः ष्ट्रन् करणेऽर्थे। दान्त्यनेन दात्रम्। नेत्रम्। (१२५७) **तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च ७।२।९** । एषां दशानां कृत्प्रत्यायानामिण्न। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम्।

(१२५६) **दाम्नीति**। सूत्रे 'दाप् लवने' इत्यस्य पकारस्य स्थाने 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इति कृतमकारस्य निर्देशः। **दात्रमिति**। दान्त्यनेनेति विग्रहे दाधातोः 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे' इत्यनेन ष्ट्रन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'दात्रमि'ति।

(१२५७) **तितुत्रतथसीति**। 'नेड् वशि कृती'त्यतः नेडिति कृतीति चानुवर्तते। तदाह– **एषामिति**। **शस्त्रमिति**। शसन्ति अनेनेति विग्रहे शस्धातोः 'दाम्नीशस' इत्यादिना ष्ट्रनि

वाला)। (१२) कटं प्रवते– ✓ कट + प्रु + क्विप् (उसका सर्वापहार लोप, धातु के 'उ' = 'ऊ'– दीर्घ–वा० से, समास, सुब्लुक्, प्रा० संज्ञा, विभक्तिकार्य) = कटप्रूः (कट = श्मशान में रहने के स्वभाव वाला)। (१३) जूः (पूर्ववत्)। (१४) श्रयति हरिं तच्छीलः– ✓ श्रि (श्रिञ्) + क्विप् (दीर्घ, क्विप् का सर्वापहार लोप, विभक्तिकार्य) = श्रीः (= लक्ष्मी)।

(वा०)– ध्यै धातु से क्विप् होता है और सम्प्रसारण भी होता है।

उदाहरण– ✓ ध्यै + क्विप् (लोप, 'य्' = 'इ' सम्प्रसारण–'ध्यायतेः सम्प्रसारणं च', पूर्वरूप–'सम्प्रसारणाच्च', 'इ' = 'ई'–दीर्घ–'हलः', विभक्तिकार्य) = धीः (बुद्धि)।

(१२५६) **पद–** दाम्नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः, करणे। **अनुवृत्ति–** ष्ट्रन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– दाप्, नी, शस् आदि धातुओं से करण अर्थ में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है। दात्रम्। नेत्रम्।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। 'धः कर्मणि ष्ट्रन्' (३।२।१८१) से 'ष्ट्रन्' की अनुवृत्ति आती है। शस, युज, तुद, सिच, मिह, पत और दश में अकार उच्चारणार्थ है। दाप् + नी में 'प्' = 'ब्'– जश्त्व, 'ब्' = 'म्' अनुनासिक– 'यरोऽनुनासिके' से होकर 'दाम्नी'। इस प्रकार– ''दाप्, नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दश् और नह् धातुओं से करण अर्थ में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है''। 'ष्ट्रन्' का अन्त्य नकार 'हलन्त्यम्' से तथा आदि षकार 'षः प्रत्ययस्य' से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। षकार के चले जाने पर उसके कारण उत्पन्न टकार को भी तकार हो जाता है।[1] 'त्र' मात्र अवशिष्ट रहता है।

उदाहरण– दाप् (= दा) + ष्ट्रन् (= 'त्र'–'दाम्नीशस०', प्राति० संज्ञा, सु, 'सु' = 'अम्'– 'अतोऽम्', पूर्वरूप–'अमि पूर्वः') = दात्रम् (काटना)। ✓ णीञ् (नी) + ष्ट्रन् (= 'त्र'–'दाम्नीशस०', 'ई' = 'ए'–गुण–'सार्वधातुकार्धधातुकयोः', सु = अम्, पूर्वरूप) = नेत्रम् (ले जाना)।

(१२५७) **पद–** तितुत्रतथसिसुसरकसेषु, च। **अनुवृत्ति–** नेट्, कृति। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ– ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क और स–इन दश कृत्प्रत्ययों को इट् आगम नहीं होता। शस्त्रम्। योत्रम् इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'नेड् वशि कृति' (७।२।८) से 'नेट्, कृति' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–'ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क और स–इन दश कृत्प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर भी इट् नहीं होता।'' इन प्रत्ययों को 'आर्धधातु०' से प्राप्त इट् का निषेध किया गया है।

१. 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः।'

स्तोत्रम्। तोत्रम्। सेत्रम्। सेक्त्रम्। मेढ्रम्। पत्रम्। दंष्ट्रा। नद्ध्री। (१२५८) हलसूकरयोः पुवः ३।२।१८३ । पूङ्पूञोः करणे ष्ट्रन्। तच्चेत्करणं हलसूकरयोरवयवः। हलस्य सूकरस्य वा–पोत्रम्। मुखमित्यर्थः। (१२५९) अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः

अनुबन्धलोपे, इटि प्राप्ते 'तितुत्रतथसिसुरकसेषु च' इत्यनेन तन्निषेधे, प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'शस्त्रम्' इति।

(१२५८) **हलसूकरयोरिति**। 'घः कर्मणि ष्ट्रन्' इत्यतः 'ष्ट्रन्' इति 'दाम्नी०' इत्यतः 'करणे' इति चानुवर्तते। अत आह–**पूङ्पुञोरिति**।

(१२५९) **अर्तीति**। 'करणे' इत्यनुवर्तते। एभ्यः करणे इत्रप्रत्ययो भवतीत्यर्थः। **लवित्रम्**–

उदाहरण– (१) ✓ शस् + ष्ट्रन् (= 'त्र'–'दाम्नीशस०', 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से प्राप्त इट् = 'इ' आगम का निषेध–'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च', प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = शस्त्रम् (हिंसा करना)। (२) ✓ यु + ष्ट्रन् (= त्र–करण अर्थ में–'दाम्नीशस०', प्राप्त इट् आगम का निषेध–'तितुत्र०', 'उ' = 'ओ'–गुण, विभक्तिकार्य) = योत्रम् (मिलाने की रस्सी)। (३) ✓ युज् + ष्ट्रन् (= 'त्र', धातु के अनिट् होने से इट् का 'एकाच उपदेशे०' से निषेध, 'ज्' = 'ग्'–'चोः कुः', 'ग्' = 'क्'–'खरि च', लघूपध गुण, विभक्तिकार्य) = योक्त्रम्। (४) ✓ स्तु + ष्ट्रन् (= त्र, आर्धधातुक गुण, विभक्तिकार्य) = स्तोत्रम् (स्तोत्र)। (५) ✓ तुद् + ष्ट्रन् (= त्र, लघूपध गुण, 'द्' = 'त्' चर्त्व, विभक्तिकार्य) = तोत्रम् (अंकुश)। (६) ✓ षिञ् (सि) + ष्ट्रन् (= 'त्र', 'इ' = 'ए'–गुण, इट् का निषेध–'एकाच०', विभक्तिकार्य) = सेत्रम्। (७) ✓ सिच् + ष्ट्रन् (= 'त्र', लघूपध गुण, 'च्' = 'क्'–कुत्व– 'चोः कुः', विभक्तिकार्य) = सेक्त्रम्। (८) ✓ मिह + ष्ट्रन्– करण में (= 'त्र', लघूपध गुण, 'ह्' = 'ढ्'–'हो ढः', 'त्' = 'ध्'–'झषस्तथोर्धोऽधः', 'ध्' = 'ढ्'–ष्टुत्व, प्राति० संज्ञा, सु = अम्, पूर्वरूप) = मेढ्रम् (सींचने का पात्र)। (९) ✓ पत् + ष्ट्रन् ('त्र', प्राप्त इट् का निषेध–'तितुत्र०', विभक्तिकार्य) = पत्त्रम् (= पंख)। (१०) ✓ दंश् + ष्ट्रन् (= 'त्र', 'श्' = 'ष्'–'व्रश्चभ्रस्ज०', 'त्' = 'ट्'–ष्टुत्व, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ'–'अजाद्यतष्टाप्', अ + आ = 'आ'–सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य) = दंष्ट्रा (दाढ़)। (११) ✓ नह् + ष्ट्रन् (= 'त्र', 'ह्' = 'ध्'–'नहो धः', त्र के 'त्' = 'ध्'–'झषस्तथोर्धोऽधः', पूर्व 'ध्' = 'द्'–'झलां जश् झशि', प्राप्त इट् का निषेध–'एकाच०', स्त्रीत्व विवत्रा में ङीप् = 'ई'–'षिद्गौरादिभ्यश्च', भ संज्ञा, 'अ' का लोप–'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = नद्ध्री (चमड़े की रस्सी)।

(१२५८) **पद**– हलसूकरयोः, पुवः। **अनुवृत्ति**– करणे, ष्ट्रन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– पूङ् और पूञ् धातु से करण में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है, यदि वह करण हल तथा सूकर का अवयव हो। पोत्रम्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'घः कर्मणि ष्ट्रन्' (३।२।१८१) से 'ष्ट्रन्' तथा 'दाम्नी०' (१२५६) से 'करणे' की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'वर्तमाने' और 'धातोः' का अधिकार है। अतः "पूङ् और पूञ् धातु से करण अर्थ में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है, यदि करण कारक हल तथा सूकर का अवयव हो।"

उदाहरण– हलस्य सूकरस्य वा पोत्रम् = मुखम्– ✓ पू + ष्ट्रन् (= 'त्र'–'हलसूकरयोः पुवः', 'ऊ' = 'ओ'–गुण, विभक्तिकार्य) = पोत्रम् (हल का अग्रभाग, सुअर के मुख का अगला भाग)।

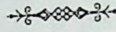
(१२५९) **पद**– अर्तिलूधूसूखनसहचरः, इत्रः। **अनुवृत्ति**– करणे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह् और चर– इन सात धातुओं से करण में इत्र प्रत्यय होता है। अरित्रम्। लवित्रम्। धवित्रम् इत्यादि।

३।२।१८४ । अरित्रम्। लवित्रम्। धवित्रम्। सवित्रम्। खनित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

(१२६०) पुवः संज्ञायाम् ३।२।१८५ । पवित्रम् ।

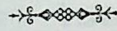
इति पूर्वकृदन्तप्रकरणम् ।



लुनात्यनेनेति विग्रहे लूञ्धातोः 'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' इत्यनेन इत्रप्रत्यये, इडागमे गुणेऽवादेशे प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'लवित्रमि'ति।

(१२६०) **पुव इति**। पूर्वसूत्रात् 'इत्रः' इत्यनुवर्तते। तेन पूङ्पूञोः संज्ञायामित्रः स्यादित्यर्थः। **पवित्रम्**– पुनाति अनेनेति विग्रहे 'पूञ् पवने' इत्यस्माद्धातोः 'पुवः संज्ञायामि'–त्यनेन इत्रप्रत्यये इडागमे, गुणेऽवादेशे, प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'पवित्रमि'ति सिद्धम्।

इति पूर्वकृदन्तप्रकरणम् ।



विमर्श– पूर्वसूत्र (१२५६) से 'करणे' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' पद अधिकृत है। 'अर्ति' में ऋ धातु का शितप् निर्देश किया गया है। खन और सह के अन्त्य अकार उच्चारणार्थ हैं। इस प्रकार "ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह् और चर् धातुओं से करण अर्थ में इत्र प्रत्यय होता है।"

उदाहरण– (१) ✓ ऋ +'इत्र' (–करण अर्थ में–'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः', ऋ = 'अ'–गुण–'सार्वधातु०', रपर, प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = अरित्रम् (नौका चलाने में सहायक दण्ड, चप्पू)। (२) ✓ लू + 'इत्र' (–'अर्ति०', 'ऊ' = 'ओ'–गुण–'सार्वधातु०', 'ओ' = 'अव्' आदेश– 'एचोऽयवायावः', विभक्तिकार्य) = लवित्रम् (चाकू)। (३) ✓ धू + 'इत्र' (प्राप्त गुण का 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्डित्' से ङिद्वद्भाव होने से निषेध, ऊ = उवङ्–'उव्'–'अचि श्नु०', विभक्तिकार्य) = धुवित्रम्। कतिपय वैयाकरणों के मतानुसार कुटादित्वेन ङिद्वद्भाव को अनित्य मानते हैं। तदनुसार गुण, अवादेश होकर = धवित्रम् (पंखा)। (४) सू + इत्र (गुण, अवादेश, विभक्तिकार्य) = सवित्रम् (प्रेरणा देने वाला)। (५) ✓ खन् + इत्र (विभक्तिकार्य) = खनित्रम् (फावड़ा)। (६) ✓ सह् + इत्र (विभक्तिकार्य) = सहित्रम् (सहन करने वाला)। (७) ✓ चर् + इत्र (विभक्तिकार्य) = चरित्रम् (आचरण)।

(१२६०) **पद**– पुवः, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**– इत्रः, करणे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– संज्ञा अर्थ में पूङ् और पू धातु से इत्र प्रत्यय होता है। पवित्रम्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१२५९) से 'इत्रः' तथा 'दाम्नीशस०'(१२५६) से 'करणे' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। अतः "पूङ् तथा पू धातु से संज्ञा गम्यमान हो तो इत्र प्रत्यय होता है।"

उदाहरण– ✓ पू + 'इत्र' (–'पुवः संज्ञायाम्', 'ऊ' = 'ओ'–गुण–'सार्वधातु०', 'ओ' = 'अव्' आदेश, विभक्तिकार्य) = पवित्रम् (पवित्र या शुद्ध करने वाला दर्भ आदि)।

पूर्वकृदन्त-प्रकरण समाप्त ।



अथोणादिप्रकरणम्

(१) कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्। करोतीति कारुः। वायुः। पायुर्गुदम्। जायुरौषधम्। मायुः पित्तम्। स्वादुः। साध्नोति परकार्यमिति साधुः। अश्नुते– आशु = शीघ्रम्। **(२) हरिमितयोर्द्रुवः।** द्रु गतौ। अस्मात् हरिमितयोरुपपदयोः कुः स च डित्। हरिभिर्द्रूयते हरिद्रुर्वृक्षः। मितं द्रवतीति मितद्रुः–समुद्रः। **(३) शते च।**

अथेदानीमुणादिप्रकरणमारभते–

(१) **कृवापाजीति।** एभ्य उण् स्यादित्यर्थः। **कारु इति।** कृधातोः 'कृवापाजिमिस्वदि-साध्यशूभ्य उण्' इत्यनेन उण् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, णित्त्वाद् वृद्धौ, रपरत्वे विभक्तिकार्ये 'कारुः' (= शिल्पी) इति।

(२) **हरिमितयोरिति।** एतयोरुपपदयोः द्रुधातोः कुप्रत्ययः स्यादिति भावः। **हरिद्रुः–**

प्रसङ्गतः प्राप्त उणादि-प्रकरण का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। उण् आदि प्रत्ययों का विधान उणादि सूत्रों द्वारा किया गया है। इसके लिए पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' में 'उणादयो बहुलम्' (३।३।१) केवल एक ही सूत्र का उल्लेख मिलता है। उणादिसूत्रों को शाकटायन मुनि द्वारा प्रणीत माना जाता है। इनके दो प्रकार के पाठ आजकल उपलब्ध हैं– पञ्चपदी और दशपदी। परन्तु शास्त्रकारों ने प्रायः पञ्चपदी पाठ को ही आधार माना है। इन पाँच पादों में लगभग ३२५ प्रत्ययों का प्रतिपादन किया गया है।[१] कुछ विद्वान् उणादि सूत्रों को पाणिनीय प्रणीत मानते हैं। ये सूत्र पाणिनीय व्याकरण के अङ्ग के रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि'। अर्थात् महर्षि पाणिनि के मत में औणादिक शब्द अव्युत्पन्न हैं, परन्तु शाकटायन आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के मतानुसार उन्होंने 'उणादयो बहुलम्' कहकर व्युत्पत्तिपक्ष को भी स्वीकार किया है। आचार्य वरदराज ने प्रस्तुत प्रकरण में केवल १५६ सूत्रों का विवेचन किया है। प्रकरण के आरम्भ में 'उण्' प्रत्यय-विधायक सूत्र का उल्लेख किया जा रहा है–

(१) **पद–** कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्यः, उण्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध् और अश् धातुओं से उण् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) करोतीति। ✓ कृ + उण् (= 'उ'–'कृवापाजि॰', णित् होने से 'ऋ' = 'आ'–वृद्धि, रपर, प्राति॰ संज्ञा, सु = स् = र् = ः) = कारुः। (२) ✓ वा + उण् (= 'उ', युक् = 'य्' आगम–'आतो युक्', विभक्तिकार्य) = वायुः (हवा)। (३) ✓ जा + उण् (= 'उ', युक्, विभक्तिकार्य) = जायुः (औषधि)। (४) ✓ मा + उण् (पूर्ववत्प्रक्रिया) = मायुः (पित्त)। (५) ✓ स्वद् + उण् (= 'उ', वृद्धि, विभक्तिकार्य) = स्वादुः (शर्करा)। ✓ साध् + उण् = साधुः (परोपकारी)। (६) ✓ अश् + उण् (= 'उ', वृद्धि, विभक्तिकार्य) = आशुः (= शीघ्र)।

(२) **पद–** हरिमितयोः, द्रुवः। **अनुवृत्ति–** कुः, डित्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– हरि और मित उपपदक द्रु धातु से कु प्रत्यय होता है और वह डित् होता है। हरिद्रुः। मितद्रुः।

---

१. 'उणादिप्रत्ययाः सन्ति पादोत्तरशतत्रयम्'। ('तत्त्वबोधिनी'–सि॰ कौ॰ टीका)

शतधा द्रवतीति शतद्रुर्नदीभेदः। (४) **अन्दूदृन्भूजम्बूकफेलूकर्कन्धूदिधिषूः।** एते कूप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। (५) **शमेर्ढः।** बाहुलकात् इत्संज्ञा ढस्य एयादेश इट् च न भवति। 'शण्ढः स्यात्पुंसि गोपतौ'। शण्ढः। (६) **कमेरठः।** 'कमठः कच्छपे पुंसि

द्रुधातोः 'हरिमितयोर्द्रुवः' इति कुप्रत्यये कलोपे डित्वे च, डित्त्वसामर्थ्यादभस्य टेर्लोपे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'हरिद्रुः' इति।

(३) **शत इति।** द्रुवः कुः स्यादित्यर्थः। **शतद्रुः**– शतधा द्रवतीत्यर्थे 'शते चे'त्यनेन कुप्रत्यये डित्वे च कृते, डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे, सौ रुत्वे च कृते 'शतद्रुः' इति।

(४) **अन्दू इति।** कूप्रत्ययान्ता निपात्यन्त इति।

(५) **शमेर्ढ इति।** शम्धातोर्ढः स्यादित्यर्थः। **शण्ढ इति।** शम्धातोर्ढप्रत्यये मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते, सौ रुत्वे विसर्गे 'शण्ढः' इति।

(६) **कमेरिति।** **कमठः**– कम्धातोरठप्रत्यये, सौ रुत्वे विसर्गे 'कमठः' इति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र से 'कु' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''हरि और मित उपपद रहते द्रु धातु से कु प्रत्यय होता है और वह डिद्वत् होता है।'' कु प्रत्यय के आदि वर्ण 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होने पर उसका लोप हो जाता है। 'उ' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) हरि + ✓ द्रु + कु (= 'उ'–'हरिमितयोर्द्रुवः', डिद्वत् होने से टि 'उ' का लोप, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = हरिद्रुः (वृक्ष-विशेष)। (२) मित + ✓ द्रु + कु (= 'उ', डित्त्वाट्टिलोप, विभक्तिकार्य) = मितद्रुः (समुद्र)।

(३) **पद**– शते, च। **अनुवृत्ति**– द्रुवः, कुः, डित्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– शत उपपद रहते द्रु धातु से भी कु प्रत्यय होता है और वह डित् होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (२) से 'द्रुवः' की तथा पूर्ववत् 'कुः' और 'डित्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''शत शब्द उपपदक द्रु धातु से भी कु प्रत्यय होता है तथा वह डिद्वत् होता है।''

उदाहरण– (१) शत + ✓ द्रु + कु (= 'उ', डित्त्वाट्टिलोप, विभक्तिकार्य) = शतद्रुः (नदी-विशेष)।

(४) **पद**– अन्दू-दृन्भू-जम्बू-कफेलू-कर्कन्धू-दिधिषूः। **अनुवृत्ति**– कूः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अन्दू, दृन्भू आदि शब्द कूप्रत्ययान्त निपातित हैं।

विमर्श– पूर्वसूत्र से 'कू' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''अन्दू, दृन्भू, जम्बू, कफेलू, कर्कन्धू और दिधिषू शब्द कूप्रत्ययान्त निपातित होते हैं।''

उदाहरण– (१) ✓ अदि + कू (= 'ऊ'–'अन्दूदृन्भू०', इदित्त्वान्नुम् = 'न्', विभक्तिकार्य) = अन्दूः (बन्धन)। (२) ✓ दृभी (दृभ) + कू (= 'ऊ' निपातन से, नुम् = 'न्' निपातन से तथा अनुस्वार का अभाव, विभक्तिकार्य) = दृन्भूः। (३) ✓ जनी (जन्) + कू (= 'ऊ' निपातन से, धुक् = 'ध्' आगम, न् = ं अनुस्वार = 'म्'–परसवर्ण, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = जम्बूः (जामुन)। (४) कफं लातीति। कफ + ✓ ला + कू (= 'ऊ'–निपातन से, 'अ' = 'ए' एत्व निपातन से, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = कफेलूः (लसूढ़ा)। (५) कर्कं बदरीफलं दधाति। कर्क + ✓ धा + कू (= 'ऊ', नुम् = 'न्' निपातन से, विभक्तिकार्य) = कर्कन्धूः (बेर का वृक्ष)। (६) दिधिं धैर्यं स्यति-त्यजतीति। दिधि + ✓ षो + कू (= 'ऊ', निपातनात् टिलोप, विभक्तिकार्य) = दिधिषूः।

(५) **पद**– शमेः, ढः। **विधिसूत्र।**

भाण्डभेदे नपुंसकम्' इति मेदिनी। **(७) रमेर्वृद्धिश्च।** रामठं हिङ्गु। **(८) शमेः खः।** शङ्खः। **(९) कणेष्ठः।** कण्ठः। **(१०) ञमन्ताड्डः।** ञमिति प्रत्याहारः। 'दण्डोऽस्त्री लगुडेऽपि स्यात्' इत्यमरः। 'रण्डा मूषिकपर्ण्यां च विधवायां च योषिति' इति मेदिनी। 'खण्डोऽस्त्री शकले नेक्षुविकारमणिभेदयोः' इति मेदिनी। मन ज्ञाने। 'मण्डः पञ्चा-

---

(७) **रमेरिति**। पूर्वसूत्रादठ इत्यनुवर्तते। तेन रमेरठः स्यात् वृद्धिश्चेत्यर्थः।

(८) **शमेरिति**। स्पष्टम्। **शङ्खः**– 'शबु उपशमे' इति धातोः 'शमेः खः' इत्यनेन ख-प्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे च कृते विभक्तिकार्ये 'शङ्खः' इति।

(९) **कणेरिति**। कणधातोः ठ भवतीत्यर्थः।

(१०) **ञमन्तादिति**। ञम्प्रत्याहारोऽत्रापेक्षते। ञमन्ताद् धातोः डः स्यादित्यर्थः। बाहुलकात् डस्येत्वं न भवति। **'दण्डः'**– दम्धातोर्डप्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे च सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'दण्डः' इति।

मूलार्थ– शम् धातु से ढ प्रत्यय होता है। बाहुलकात् 'चुटू' से 'ढ्' की इत्संज्ञा, 'आयनेयी०' से एय् आदेश तथा वलाद्यार्धधातुक होने पर 'ढ' को इट् नहीं होता।

उदाहरण– (१) ✓ शम् + 'ढ' (–'शमेर्ढः', म् = ं अनुस्वार = 'ण्' परसवर्ण, सु = स् = र् = :) = शण्ढः (साँड़)।

(६) **पद**– कमेः, अठः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कम् धातु से 'अठ्' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ कम् + 'अठ'–'कमेरठः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = कमठः (= कछुआ–पु०)

(७) **पद**– रमेः, वृद्धिः, च। **अनुवृत्ति**– अठ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– रम् धातु से अठ प्रत्यय होता है तथा वृद्धि होती है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (६) से 'अठ' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''रम् धातु से अठ् प्रत्यय होता है और चकार से वृद्धि भी होती है।''

उदाहरण– (१) ✓ रम् + 'अठ', (अ = 'आ'–वृद्धि–'रमेर्वृद्धिश्च', विभक्तिकार्य) = रामठम् (= हींग)।

(८) **पद**– शमेः, खः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– शम् धातु से ख प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ शम् + 'ख' (–'शमेः खः', म् = अनुस्वार = 'ङ्'–परसवर्ण, विभक्तिकार्य) = शङ्खः।

(९) **पद**– कणेः, ठः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– **कण्** धातु से ठ प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ **कण्** + 'ठ' (–'कणेष्ठः', विभक्तिकार्य) = कण्ठः।

(१०) **पद**– ञमन्तात्, डः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ञमन्त धातुओं से 'ड' प्रत्यय होता है।

विमर्श– 'ञम्' प्रत्याहार का प्रकृत सूत्र में ग्रहण किया जाता है। अतः ''ञमन्त धातुओं से 'ड' प्रत्यय होता है।''

ङ्गुले शङ्कुभेदे क्लीबं तु वस्तुनि' इति मेदिनी। **(११) पतिचण्डिभ्यामालञ्।** 'पातालं नागलोके स्याद् विवरे वडवानले' इति मेदिनी । चण्डालो मातङ्गः। प्रज्ञादित्वादणि चाण्डालोऽपीत्युज्ज्वलदत्तः। तन्न; 'कुलालवरुडकर्मारनिषादचण्डालमित्राऽमित्रेभ्य-श्छन्दसि' इति चण्डालशब्दात्स्वार्थेऽणं विदधता वार्तिकेन तद्भाष्येण च सह विरोधात्। **(१२) गन्गाम्यद्योः।** गङ्गा । अद्गः = पुरोडाशः। **(१३) भृञः किन्नुट् च ।** भृञो गन्कित्स्यात्तस्य नुट् च । 'भृङ्गाः षिङ्गालिधूम्याटाः' इति विश्वः। **(१४) शृणातेर्ह्रस्वश्च।**

---

(११) **पतिचण्डीति**। आभ्यामालञ् स्यादिति। **चण्डालः**– चडि धातोः आलञ्-प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, इदित्त्वान्नुमि, अदुपधत्वाभावाद् वृद्ध्यभावे, अनुस्वारे परसवर्णे च विभक्तिकार्ये 'चण्डालः' इति।

(१२) **गनिति**। गमि-अदिभ्यां गन् स्यादित्यर्थः।

(१३) **भृञ इति**। पूर्वसूत्रात् 'गनि'त्यनुवर्तते। **भृङ्गा इति**। भृञ्धातोः 'भृञः कित् नुट् च'त्यनेन गन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे कित्त्वे नुडागमे च अनुस्वारे परसवर्णे, प्रथमा बहुवचने 'भृङ्गाः' इति।

उदाहरण– (१) ✓ दमु (दम्) + 'ड' (–'ञमन्ताड्डः', म् = अनुस्वार = 'ण्' परसवर्ण, सु = स् = र् = :) = दण्डः (डण्डा)। (२) ✓ रमु (रम्) + 'ड', (अनुस्वार, परसवर्ण, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = 'रण्डा' (विधवा स्त्री)। (३) ✓ खनु (खन्) + 'ड', (अनुस्वार, परसवर्ण, वि० का०) = खण्डः (भाग, खाँड़)। (४) ✓ मन् + 'ड', (अनुस्वार, परसवर्ण, वि० का०) = मण्डः।

(११) **पद–** पतिचण्डिभ्याम्, आलञ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– पत् और चण्ड् धातु से आलञ् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ पत् + आलञ् (= 'आल'–'पतिचण्डिभ्यामालञ्', ञित् होने से उपधा-वृद्धि, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = पातालः (पाताल, वडवाग्नि)। (२) ✓ चडि + आलञ् (= 'आल', इदित् होने से नुम् = 'न्', अनुस्वार, परसवर्ण, विभक्तिकार्य) = चण्डालः (मातङ्ग)।

यहाँ 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' से अण् प्रत्यय होकर आदिवृद्धि = 'चाण्डालः' भी प्रयोग होता है। यह श्री उज्ज्वलदत्त का मत है, जो उचित नहीं है। क्योंकि 'कुलालवरुणकर्मारनिषादचण्डालमित्राऽमित्रे-भ्यश्छन्दसि' वार्तिक से चण्डाल शब्द से ण प्रत्यय (स्वार्थ में) विधान कियां जाता है। अतः उक्त मत का वार्तिक और उसके भाष्य से स्पष्ट विरोध है।

(१२) **पद–** गन्, गम्यद्योः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– गम् और अद् धातु से 'गन्' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ गम् + गन् (= 'ग'–'गन्गाम्यद्योः', म् = अनुस्वार = 'ङ्'–परसवर्ण, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = गङ्गा। (२) अद् + गन् (= 'ग', विभक्तिकार्य) = अद्गः (पुरोडाश)।

(१३) **पद–** भृञः, कित्, नुट्, च। **अनुवृत्ति–** 'गन्'। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– भृञ् धातु से गन् प्रत्यय होता है, जो कित् होता है और उसको नुट् होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२) से 'गन्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "भृञ् धातु से 'गन्' प्रत्यय होता है। वह 'गन्' किद्वत् होता है और उस 'गन्' को नुट् का आगम भी होता है।"

शृङ्गम्। **(१५) अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्।** एभ्यश्चतुर्दशभ्यो मन्। अर्मश्चक्षूरोगः। स्तोमः सङ्घातः। सोमः। होमः। सर्मो गमनम्। धर्मः। क्षेमं कुशलम्। क्षौमम्। भाम आदित्यः। यामः। 'वामः शोभनदुष्टयोः'। पद्मम्। यक्ष्मो रोगराजः। नेमः। **(१६) अवतेष्टिलोपश्च।** मन्प्रत्ययस्यायं टिलोपो न तु प्रकृतेः। अन्यथा डिदित्येव ब्रूयात्। **(१७) ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च ६।४।२०।** एषामुपधावकारयोरूठ् क्वौ

---

(१४) **शृणातेरिति।** किन्नुटावनुवर्तेते। शृणातेः गन् स्यात् नुडागमश्च। तस्मिन्परतः ह्रस्वश्चेत्यर्थः।

(१५) **अर्तीति।** मन् स्यादिति भावः। **अर्मः**– ऋधातोः 'अर्तिस्तु' इत्यादिना मन्प्रत्यये-ऽनुबन्धलोपे, गुणे रपरे विभक्त्यादिकार्ये 'अर्मः' इति।

(१६) **अवतेरिति।** 'मन्' इत्यनुवर्तते। अव्धातोः मन्प्रत्ययः टिलोपश्चेत्यर्थः।

उदाहरण– ✓ भृञ् (भृ) + गन् (= 'ग', कित् होने से गुण का अभाव, नुट् = 'न्' आगम-'भृञः कित् नुट् च', न् = अनुस्वार = 'ङ्' परसवर्ण, प्रथमा बहुवचन में) = भृङ्गाः (भ्रमर)।

(१४) **पद–** शृणातेः, ह्रस्वः, च। **अनुवृत्ति–** गन्, कित्, नुट्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– शृ धातु से गन् प्रत्यय होता है तथा नुट् का आगम होता है। गन् कित् भी होता है। शृङ्गम्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१२) से 'गन्' तथा 'भृञः किन्नुट् च' (१३) से 'कित्', नुट् की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''शृ धातु से गन् प्रत्यय तथा नुट् होता है। वह किद्वत् होता है और धातु को ह्रस्व भी होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ शॄ + गन् (= 'ग', नुट् = 'न्' आगम, किद्वद्भाव, 'ॠ' = 'ऋ'-ह्रस्व-'शृणातेर्ह्रस्वश्च', विभक्तिकार्य) = शृङ्गम्।

(१५) **पद–** अर्ति-स्तु-सु-हु-सृ-धृ-क्षि-क्षु-भा-या-वा-पदि-यक्षि-नीभ्यः, मन्।

मूलार्थ– ऋ, स्तु, सु, हु, सृ, धृ, क्षि, क्षु, भा, या, वा, पद्, यक्ष और नी–इन १४ धातुओं से 'मन्' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ ऋ + मन् (= 'म'–'अर्तिस्तु०', 'ऋ' = 'अ'-गुण, रपर, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अर्मः (नेत्ररोग)। (२) ✓ स्तु + मन् (= 'म', गुण, वि० कार्य) = स्तौमः। (३) ✓ सु + मन् = सोमः (पूर्ववत्प्रक्रिया)। (४) ✓ हु + मन् = होमः। (५) ✓ सृ + मन् (गुण, रपर) = सर्मः (गमन)। (६) ✓ क्षि + मन् (गुण) = क्षेमः। (७) ✓ क्षु + मन् (गुण) = क्षोमम्। (८) क्षोम + अण् (= 'अ'–'प्रज्ञादिभ्यश्च', आदिवृद्धि, वि० कार्य) = क्षौमम्। (९) ✓ भा + मन् = भामः (सूर्य)। (१०) ✓ या + मन् = यामः। (११) ✓ वा + मन् = वामः। (१२) ✓ पद् + मन् = पद्मम्। (१३) ✓ यक्ष् + मन् = यक्ष्मः। ✓ नी + मन् (गुण) = नेमः।

(१६) **पद–** अवतेः, टिलोपः, च। **अनुवृत्ति–** मन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अव् धातु से मन् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय की टि का लोप होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१५) से 'मन्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अव् धातु से मन् प्रत्यय होता है और मन् प्रत्यय की टि का लोप होता है।''

(१७) **पद–** ज्वरत्वरस्रिव्यविमवाम्, उपधायाः, च। **अनुवृत्ति–** ऊठ्, क्विझलोः, अनुनासिके। **विधिसूत्र।**

झलादावनुनासिकादौ च प्रत्यये। अत्र क्ङितीति नानुवर्तते। अवतेस्तुनि कृते ओतुरिति दर्शनात्। स्वरादिपाठादव्ययत्वम्। अवतीति ओम्। (१८) **ग्रसेरा च।** ग्रासः। (१९) **अविसिविसिशुषिभ्यः कित्।** एभ्यो मन्। ऊमं नगरम्। स्यूमो रश्मिः। सिमः सर्वः। शुष्ममग्निसमीरयोः। धर्मः। धृधातोर्निपातोऽयम्। ग्रीष्मः। ग्रसतेर्निपातोऽयम्। (२०)

---

(१७) **ज्वरत्वरेति। अत्र क्ङितीति।** क्ङितीत्यनुवर्तमाने उपधावकारयोरूठोऽभावेन 'ओतुः' इति न स्यादिति भावः। **ओमिति।** अवधातोः 'अवतेष्टिलोपश्चे'त्यनेन मन्प्रत्यये तत्प्रत्ययस्य टिलोपे 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' इत्यनेनाकारसहितवकारस्य ऊठि, गुणे विभक्तिकार्ये 'ओम्' इति।

(१८) **ग्रसेरिति।** ग्रसधातोः मन्स्याद्धातोराकारान्तादेशश्चेत्यर्थः।

(१९) **अवीति।** एभ्यो मन्स्यात्स च किद्भवतीत्यर्थः। **ऊममिति।** अव्धातोः

मूलार्थ– ज्वरादि धातुओं की उपधा और वकार को ऊठ् होता है, क्विप् तथा झलादि और अनुनासिक प्रत्यय के परवर्ती रहते। यहाँ 'क्ङिति च' की अनुवृत्ति नहीं आती; अव् धातु से तुन् प्रत्यय होने पर गुण सहित 'ओतुः' प्रयोग देखा जाने से। 'ओम्' आदि का स्वरादि में पाठ होने से 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' सूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (६।४।१९) से 'ऊठ', 'अनुनासिके' तथा 'अनुनासिकस्य क्विझलोः' (६।४।१५) से 'क्विझलोः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''ज्वर, त्वर, स्रिवि, अव, मव के वकार तथा उपधा के स्थान में ऊठ् आदेश होता है; क्वि तथा झलादि एवं अनुनासिकादि प्रत्ययों के परे रहते।''

उदाहरण– ✓ अव् + मन् (– टि = 'अन्' का लोप– 'अवतेष्टिलोपश्च', अव् = ऊठ् = 'ऊ'–'ज्वरत्वर०', 'ऊ' = 'ओ'–गुण, अव्ययसंज्ञा, सु का लुक्) = ओम्।

(१८) **पद–** ग्रसेः, आ, च। **अनुवृत्ति–** मन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ग्रस् धातु से मन् प्रत्यय तथा आकार अन्तादेश होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१५) से 'मन्' की अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार– ''ग्रस धातु से मन् प्रत्यय होता है तथा आकार अन्तादेश होता है''।

उदाहरण– ✓ ग्रस् + मन् (= 'म', 'स्' = 'आ'–'ग्रसेरा च', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = ग्रामः।

(१९) **पद–** अवि-सिवि-सि-शुषिभ्यः, कित्। **अनुवृत्ति–** मन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अव् आदि धातुओं से मन् प्रत्यय होता है तथा वह कित् होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'मन्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अव्, सिव्, सि और शुष् धातुओं से मन् प्रत्यय होता है। वह किद्वत् भी होता है।''

उदाहरण– (१) ✓ अव् + मन् (= 'म', किद्वद्भाव–'अविसिविसिशुषिभ्यः कित्', अव् = ऊठ् = 'ऊ', 'ज्वरत्वर०', विभक्तिकार्य) = ऊमम् (= नगर)। (२) ✓ सिव् + मन् (= 'म', व् = ऊठ् = 'ऊ'–'च्छ्वोः०', 'इ' = 'य्'–यण्, वि० कार्य) = स्यूमः (= किरण)। (३) ✓ सिञ् (सि) + मन् (= 'म', वि० कार्य) = सिमः। इन सभी प्रयोगों में किद्वद्भाव होने से गुण नहीं होता–'क्ङिति च'। (४) ✓ धृ + मन् (= 'म', गुण–निपातन से, रपर, विभक्तिकार्य) = धर्मः। (५) ग्रस् + मन (= म, ईत्व–निपातन से, षत्व, वि० कार्य) = ग्रीष्मः।

अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्। अश्वः। 'प्रुष्वः स्यादृतुसूर्ययोः'। लट्वा पक्षिभेदः फलं च। कण्वं पापम्। खट्वा। विश्वम्। **(२१) कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः।** यौतीति युवा। वृषा इन्द्रः। तक्षा राजा। धन्वा मरुः। धन्व शरासनम्। द्युवा = सूर्यः। प्रतिदीव्यत्यस्मिन् प्रतिदिवा दिवसः। **(२२) उषिकुषिगर्तिभ्यः स्थन्।** ओष्ठः। कोष्ठः। गाथा। अर्थः–'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः। **(२३)**

'अविसिविसिशुषिभ्यः कित्' इत्यनेन मन्प्रत्यये 'ज्वरत्वर' इत्युपधावकारयोरूठि, सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये 'ऊमम्' इति।

(२०) **अशू इति।** एभ्यः क्वन् स्यादित्यर्थः। **अश्व इति।** 'अशू व्याप्तौ' इति धातोः 'अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्' इति क्वन्प्रत्यये कनावितौ, सुबादिकार्ये 'अश्वः' इति।

(२१) **कनिन्निति।** युवृषीत्यादिभ्यः कनिन् स्यादित्यर्थः। **युवा**– युधातोः 'कनिन् युवृषि' इत्यादिना कनिन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे युधातोरवङि सौ 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे, सस्य लोपे नलोपे 'युवा' इति।

(२२)**उषीति।** एभ्यः स्थन्स्यादित्यर्थः। **ओष्ठ इति।** उषधातोः 'उषिकृषिगर्तिभ्यः स्थन्' इत्यनेन स्थन्प्रत्यये नस्येत्वे गुणे ष्टुत्वे 'ओष्ठः' इति।

---

(२०) **पद**– अशू-प्रुषि-लटि-कणि-खटि-विशिभ्यः, क्वन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अश्, प्रुष्, लट्, कण्, खट् और विश् धातुओं से क्वन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ अश् + क्वन् (= 'व'–'अशूप्रुषि०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अश्वः। (२) ✓ प्रुष् + क्वन् (= 'व', विभक्तिकार्य) = प्रुष्वः (ऋतु, सूर्य)। (३) ✓ लट् + क्वन् (= 'व', स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ', दीर्घ, वि० कार्य) = लट्वा। (४) ✓ कण् + क्वन् (= 'व', वि० का०) = कण्वम् (= पाप) (५) ✓ खट् + क्वन् (= 'व', टाप्, दीर्घ, वि० का०) = खट्वा। (६) विश् + क्वन् (= 'व', टाप्, दीर्घ, वि० का०) = विश्वा (अतिविषा औषधि-विशेष)।

(२१) **पद**– कनिन्, यु-वृषि-तक्षि-राजि-धन्वि-द्यु-प्रतिदिवः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– यु, वृष्, तक्ष्, राज्, धन्वि, द्यु और प्रतिपूर्वक दिव् धातु से कनिन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ यु + कनिन् ('क्' तथा टि = 'इन्' का लोप = 'अन्', उ = उवङ् = 'उव्') = युवन् (प्रथमा एकवचन सु, उपधादीर्घ–'सर्वनामस्थाने०', 'स्' तथा 'न्' का लोप) = युवा। (२) ✓ वृष् + कनिन् (= 'अन्'–''कनिन् युवृषि०')–वृषन् (प्रा० सं०, विभक्तिकार्य) = वृषा (= इन्द्र)। (३) ✓ तक्ष् + कनिन् (= 'अन्')–तक्षन् (प्रा० सं०, विभक्तिकार्य) = तक्षा। (४) ✓ राज् + कनिन् (= 'अन्')–राजन् (प्रथमा एकवचन में उक्तवत्कार्य) = राजा। (५) ✓ धन्वि (धन्व्) + कनिन् (= 'अन्')– धन्वन् (विभक्तिकार्य) = धन्वा (धनुष)। (६) ✓ द्यु + कनिन् (= 'अन्')–द्युवन् (प्रथमा ए० व०) = द्युवा (सूर्य)। (७) प्रति + दिव् + कनिन् (= 'अन्')–प्रतिदिवन् (प्रथमा ए० व०) = प्रतिदिवा (प्रत्येक दिन)।

(२२) **पद**– उषिकुषिगर्तिभ्यः, स्थन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– उष्, कुष् तथा गै धातु से स्थन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ उष् + स्थन् (= 'थ'– 'उषकुषिगर्तिभ्यः स्थन्', 'उ' = 'ओ'–गुण, ष्टुत्व, विभक्तिकार्य) = ओष्ठः। (२) ✓ कुष् + स्थन् (= 'थ', 'उ' = 'ओ'–गुण–'पुगन्त०', ष्टुत्व, वि० कार्य) = कोष्ठः। (३०) गै + स्थन् (= 'थ', 'ऐ' = 'आ'–'आदेच०', स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = 'गाथा'।

पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्। 'पीथो रविर्घृतं पीथम्'। 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु। अवतारर्षिजुष्टाम्भःस्त्रीरजःसु च विश्रुतम्'॥ इति विश्वः। तुत्थोऽग्निः। उक्थं सामभेदः। रिक्थम्। बाहुलकादृचेरपि–ऋक्थम्। 'रिक्थमृक्थं धनं वसु'। सिक्थम्। **(२४) ग्लानुदिभ्यां डौः।** ग्लौः। नौः। **(२५) च्विरव्ययम्।** डौरित्येव। ग्लौकरोति। 'कृन्मेजन्तः' इति सिद्धे नियमार्थमिदम्–उणादिप्रत्ययान्तश्च्व्यन्त एवेति। **(२६) गमेर्डोः।**

''गौर्नाऽऽदित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः।
स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ तु सुरभावपि ॥
नृस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु''॥ इति ।

---

(२३) **पेति**। पा पाने, तृ प्लवनतरणयोः, तुद व्यथने, वच परिभाषणे, रिचिर् विरेचने, षिचिर् क्षरणे–इत्येतेभ्यो धातुभ्यः स्थक्प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। **'पीथः' इति**। पाधातोः 'पातृतुदी'त्यादिना स्थक्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'घुमास्था' इतीत्वे, विभक्तिकार्ये 'पीथः' इति।

(२४) **ग्लेति**। ग्लैनुदिभ्यां डौप्रत्ययो भवतीत्यर्थः। **ग्लौः**– ग्लैधातोः 'ग्लानुदिभ्यां डौः' इत्यनेन डौप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, डित्त्वाट्टिलोपे सुबादिकार्ये 'ग्लौः' इति।

(२५) **च्विरिति**। डौप्रत्ययान्तं च्व्यन्तं चेदव्ययसंज्ञं स्यादित्यर्थः।

---

(२३) **पद**– पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यः, थक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– पा, तृ, तुद्, वच्, रिचिर्, षिचिर् धातुओं से थक् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ पा + थक् (= 'थ'–'पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्', 'आ' = 'ई'–ईत्व–'घुमास्था०', विभक्तिकार्य) = पीथः (सूर्य, घी)। (२) ✓ तृ + थक् (= 'थ', ॠ = 'इ'–इत्व–'ॠत इद्धातोः', रपर, दीर्घ, वि० कार्य) = तीर्थम्। (३) ✓ तुद् + थक् (= 'थ', चर्त्व, वि० का०) = तुत्थः। (४) ✓ वच् + थक् (= 'थ', 'व्' = 'उ' सम्प्रसारण, पूर्वरूप, वि० का०) = उक्थम्। (५) ✓ रिचिर् (रिच्) + थक् (= 'थ', कुत्व, वि० का०) = रिक्थम्। (६) बाहुलकात् 'ऋचिर्' धातु से थक् = ऋक्थम् (= धन)। (७) सिचिर् (सिच्) + थक् (= 'थ', कुत्व, वि० का०) = सिक्थम्।

(२४) **पद**– ग्लानुदिभ्याम्, डौः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ग्लै और नुद् धातु से डौ प्रत्यय होता है। 'ड्' की इत्संज्ञा लोप होने पर 'औ' शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ ग्लै + डौ (= 'आ'–'ग्लानुदिभ्यां डौः', डित्त्वाट्टिलोप, विभक्तिकार्य) = ग्लौः। (२) ✓ नुद् + डौ (= 'औ', 'टि'–'उद्' का लोप, वि० कार्य) = नौः।

(२५) **पद**– च्विः, अव्ययम्। **अनुवृत्ति**–डौः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ– डौ प्रत्ययान्त शब्द यदि च्विप्रत्ययान्त हो तो उसकी अव्यय संज्ञा होती है।

विमर्श– पूर्वसूत्र से 'डौ' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''डौप्रत्ययान्त शब्द–स्वरूप यदि च्व्यन्त हो तो वह अव्ययसंज्ञक होता है''। 'ग्लौ' एजन्त होने से 'कृन्मेजन्तः' से अव्यय संज्ञा प्राप्त थी, पुनः प्रकृत सूत्र द्वारा अव्यय संज्ञा का विधान नियमार्थ है। 'डौ' उणादिप्रत्ययान्त की अव्यय संज्ञा हो तो च्विप्रत्ययान्त की ही हो।

उदाहरण– ग्लौकरोति (अव्ययसंज्ञा, 'सु' का लुक्) = ग्लौकरोति।

बाहुलकात् द्युतेरपि डोः। "द्यौः स्त्रीस्वर्गान्तरिक्षयोः"। (२७) रातेर्डैः। राः। (२८) भ्रमेश्च डूः। भ्रूः। चादगमेः–अग्रेगूः। (२९) उन्देर्नलोपश्च। चाद्युच्। ओदनः। (३०) गमेर्गश्च। चाद्युच्। गगनम्। (३१) कृपृवृजिमन्दिनिधाञः क्युः। किरणः।

---

(२६) **गमेरिति**। गम्धातोः डो प्रत्ययः स्यादिति। **गौरिति**। गम्धातोः 'गमेर्डोः' इत्यनेन डोप्रत्यये टिलोपे, गोशब्दात् सौ, णिद्वद्भावे वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे 'गौरि'ति।

(२७) **रातेरिति। रा इति**। राधातोर्डैप्रत्यये, डित्त्वाट्टिलोपे विभक्तिकार्ये रैशब्दात्प्रथमैकवचने 'राः' इति।

(२९) **उन्देरिति**। उन्द्धातोः युच् स्यात् नकारस्य लोपश्च स्यादित्यर्थः। **ओदनः**– उन्द्धातोः 'उन्देर्नलोपश्च' इत्यनेन युच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'यु' इत्यस्यानादेशे, उपधागुणे सौ रुत्वे विसर्गे च 'ओदनः' **इति**।

(३०) **गमेरिति**। गमेर्युच् स्यात् गश्चान्तादेश इत्यर्थः।

---

(२६) **पद**– गमेः, डोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– गम् धातु से डो प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ गम् + डो (= 'ओ', टिलोप)–गो (सु = 'स्', णिद्वद्भाव, वृद्धि, स् = र् = :) = गौः। 'बहुलम्' की अनुवृत्ति आने से द्युत् से भी डो प्रत्यय हो जाता है। (२) ✓ द्युत् + डो (= 'ओ', डित्त्वसामर्थ्य से टिलोप)– द्यो + सु (= 'स्', णिद्वद्भाव, वृद्धि, स् = र् = :) = द्यौः।

(२७) **पद**– रातेः, डै। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– रा धातु से डै प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ रा + डै (= 'ऐ'–'रातेर्डैः', 'टि' का लोप)–रै + सु (= 'स्', 'ऐ' = 'आ'– 'रायो हलि', स् = र् = :) = राः।

(२८) **पद**– भ्रमेः, च, डूः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– भ्रम् धातु से डू प्रत्यय होता है। चकार से गम् धातु से भी डू प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ भ्रम् + डू (= 'ऊ'–'भ्रमेश्च डूः', डित्त्वात् टिलोप, वि० कार्य) = भ्रूः। (२) अग्रे + ✓ गम् + डू = ('ऊ', टिलोप, वि० कार्य) = अग्रेगूः।

(२९) **पद**– उन्देः, नलोपः, च। **अनुवृत्ति**– युच्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– उन्द् धातु से युच् प्रत्यय होता है और 'न्' का लोप होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'युच्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "उन्द् धातु के नकार का लोप होता है तथा चकार ग्रहण से युच् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण– ✓ उन्द् + युच् (= 'यु', 'न्' का लोप–'उन्देर्नलोपश्च', 'यु' = 'अन' आदेश– 'युवोरनाकौ', उपधागुण, सु = स् = र् = :) = ओदनः।

(३०) **पद**– गमेः, गः, च। **अनुवृत्ति**– युच्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– गम् धातु को गकार अन्तादेश होता है और युच् प्रत्यय होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'युच्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "गम् धातु को गकार अन्तादेश होता है और चकार से युच् प्रत्यय भी होता है"।

उदाहरण– ✓ गम् + युच् (= 'यु', 'म्' = 'ग्'–'गमेर्गश्च', विभक्तिकार्य) = गगनम्।

(३१) **पद**– कृ-पृ-वृजि-मन्दि-निधाञः, क्युः। **विधिसूत्र**।

पुरणः समुद्रः। वृजनमन्तरिक्षम्। मन्दनं स्तोत्रम्। निधनं कुशनाशयोः। **(३२) धृषेर्धिष् च संज्ञायाम्।** धिषणो गुरुः। धिषणा धीः। **(३३) तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ।** शंसेः क्षदादिभ्यश्च क्रमात्तृन्तृचौ स्तः, तौ चाऽनिटौ। शंस्ता। शंस्तरौ। शंस्तरः। 'क्षदिः' सौत्रो धातुः। 'क्षत्ता स्यात्सारथौ द्वाःस्थे वेश्यायामपि शूद्रजे'। **(३४) बहुलमन्यत्रापि।** मन्, मन्ता। हन्, हन्ता इत्यादि। **(३५) नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-होतृ-**

---

(३१) **कृपृ इति।** एभ्यः क्युः भवतीति। **किरण इति।** कृधातोः 'कृपृवृजिमन्दिनिधाञः क्युः' इति क्युप्रत्यये 'यु' इत्यस्यानादेशे 'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे, रपरे णत्वे विभक्तिकार्ये 'किरणः' इति।

(३२) **धृषेरिति। धिषणः–** धृष्धातोः 'धृषेर्धिष् च संज्ञायाम्' इत्यनेन क्युप्रत्यये धातोः धिषादेशे 'यु' इत्यस्यानादेशे णत्वे विभक्तिकार्ये 'धिषणः' इति।

(३३) **तृन्तृचाविति।** क्रमात्तृन्तृचौ स्याताम्। **शंस्ता–** शंस्धातोः 'तृन्तृचावि'त्यादिना तृनि नलोपे, सौ 'ऋदुशनस्०' इत्यनङि 'अप्तृन्निति' दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे नलोपे 'शंस्ता' इति।

(३४) **बहुलमिति।** तृन्तृचौ स्त इत्यर्थः।

मूलार्थ– कृ, पृ, वृज्, मन्द् और निपूर्वक धा धातु से क्यु प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ कृ + क्यु (= 'यु'–'कृपृवृजि०', 'यु' = 'अन' आदेश, 'ॠ' = 'इ'–'ऋत इद्धातोः', रपर, णत्व, सु = स् = र् = :) = किरणः। (२) ✓ पृ + क्यु (= यु = 'अन', ॠ = 'उ'–'उदोष्ठ्यपूर्वस्य', रपर, णत्व, वि० कार्य) = पुरणः (समुद्र)। (३) ✓ वृज् + क्यु (= यु = 'अन', वि० का०) = वृजनम् (अन्तरिक्ष)। (४) ✓ मन्द् + क्यु (= 'यु' = 'अन', वि० का) = मन्दनम् (स्तोत्र)। (५) नि + ✓ धा + क्यु (= 'यु' = 'अन', 'आ' का लोप, वि० का०) = निधनम्।

(३२) **पद–** धृषेः, धिष्, च, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति–** क्युः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– धृष् धातु से क्यु प्रत्यय और धिष् आदेश होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'क्युः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''संज्ञा अर्थ में 'धृष्' के स्थान पर धिष् आदेश होता है और क्यु प्रत्यय होता है''।

उदाहरण– (१) ✓ धृष् + क्यु (= 'यु' = 'अन' आदेश, 'धृष्' = 'धिष्', णत्व, सु = स् = र् = :) धिषणः (गुरु)। (२) ✓ धृष् + क्यु (= यु = 'अन', धिष् आदेश, णत्व, टाप्, दीर्घ, वि० का०) = धिषणा (बुद्धि)।

(३३) **पद–** तृन्तृचौ, शंसिक्षदादिभ्यः, संज्ञायाम्, च, अनिटौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– शंस् और क्षदादि धातुओं से क्रमशः तृन् और तृच् प्रत्यय संज्ञा अर्थ में होते हैं और वे अनिट् होते हैं।

उदाहरण– शंस् + तृन् (= 'तृ'–'तृन्तृचौ०', सु = 'स्', ऋ = अनङ् = 'अन्'– 'ऋदुशनस्०', अ = 'आ'–दीर्घ–'अप्तृन्०', 'स्' का लोप–'हल्ङ्यादिभ्यः०', 'न्' का लोप–'नलोपः०') = शंस्ता। प्र० द्वि० व०–शंस्तरौ। प्र० बहुव०–शंस्तरः। क्षदि धातु सौत्र है। ✓ क्षद् + तृच् (= 'तृ' अनङ्, दीर्घ, सु = स्, स् तथा न् का उक्तवत् लोप) = क्षत्ता।

(३४) **पद–** बहुलम्, अन्यत्र, अपि। **अनुवृत्ति–** तृन्तृचौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– बाहुलकात् अन्य धातुओं से भी तृन् और तृच् प्रत्यय होते हैं।

पोतृ-भ्रातृ-जामातृ-मातृ-पितृ-दुहितृ। एते तृजन्ता निपात्यन्ते। नप्ता इत्यादि। **(३६) सावसेर्ऋन्।** स्वसा। **(३७) यतेर्वृद्धिश्च।** 'भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम्'। **(३८) नञि च नन्देः।** न नन्दतीति ननान्दा। इह वृद्धिर्नानुवर्तत इत्येके। 'ननान्दा तु स्वसा पत्युर्ननान्दा नन्दिनी च सा' इति शब्दार्णवः। **(३९) दिवेर्ऋः।** देवा,

---

(३५) **नप्तृ इति।** एते तृजन्ताः निपात्यन्ते।

(३६) **सावसेरिति।** सावुपपदे असुधातोः ऋन् स्यादित्यर्थः।

(३७) **यतेरिति।** 'यती प्रयत्ने' इति धातोः ऋन्प्रत्ययो वृद्धिश्चेत्यर्थः।

(३८) **नञीति।** 'ऋन्' इति 'वृद्धिरि'ति चानुवर्तते।

(३९) **दिवेरिति।** दिव्धातोः ऋप्रत्ययः स्यात्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'तृन्तृचौ' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–'बहुलतया अन्य धातुओं से भी तृन् और तृच् प्रत्यय होते हैं''।

उदाहरण– (१) ✓ मन् + तृन् (= 'तृ', सु = 'स्', ऋ = अनङ् = 'अन्', दीर्घ, 'स्' और 'न्' का लोप) = मन्ता। (२) ✓ हन् + तृच् (= 'तृ', सु = 'स्', ऋ = अनङ् = 'अन्', दीर्घ, 'स्' और 'न्' का पूर्ववत् लोप) = हन्ता।

(३५) **पद–** नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-होतृ-पोतृ-भ्रातृ-जामातृ-मातृ-पितृ-दुहितृ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– नप्तृ, नेष्टृ इत्यादि शब्द तृच्प्रत्ययान्त निपातित होते हैं।

उदाहरण– न + पत् + तृच् (= 'तृ' निपातन से, प्रा० संज्ञा, सु = 'स्', ऋ = अनङ् = 'अन्', उपधादीर्घ, 'स्' तथा 'न्' का लोप) = नप्ता इत्यादि।

(३६) **पद–** सौ, असेः, ऋन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सु पूर्वक अस् धातु से ऋन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– सु + ✓ अस् (यण्-स्वस्) + ऋन् (= 'ऋ', सु = स्, अनङ् = 'अन्', दीर्घ-'अप्तृन्०', 'स्' और 'न्' का लोप) = स्वसा।

(३७) **पद–** यतेः, वृद्धिः, च। **अनुवृत्ति–** ऋन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– 'यती' धातु से ऋन् प्रत्यय होता है और वृद्धि होती है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (३६) से यहाँ 'ऋन्' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ यत् + ऋन् (= 'ऋ', 'अ' = 'आ'-वृद्धि, रपर-'यातेर्वृद्धिश्च', प्रथमा बहु व०) = यातरः।

(३८) **पद–** नञि, च, नन्देः। **अनुवृत्ति–** ऋन्, वृद्धि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– नञ्पूर्वक नन्द् धातु से ऋन् प्रत्यय होता है तथा वृद्धि भी होती है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (३६) से 'ऋन्' तथा 'यतेर्वृद्धिश्च' (३७) से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''नञ् उपपदक नन्द् धातु से ऋन् प्रत्यय होता है और वृद्धि भी होती है।''

उदाहरण– न + ✓ नन्द् + ऋन् (= 'ऋ', अ = 'आ'-वृद्धि)– ननान्दृ + सु (= स्, अनङ् = 'अन्', उपधादीर्घ, 'स्' तथा 'न्' का लोप) = ननान्दा।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्रकृत सूत्र में 'वृद्धि' पद की अनुवृत्ति नहीं आती।

(३९) **पद–** दिवेः, ऋः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– दिव् धातु से 'ऋ' प्रत्यय होता है।

देवरः। 'स्वामिनौ देवृदेवरौ'। **(४०) नयतेर्डिच्च।** ना। नरौ। नरः। **(४१) अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिच्छर्दिभ्य इसिः।** अर्चिः। 'अर्चिः शोचिरुभे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः'। हविः सर्पिः। **(४२) इस्मन्त्रन्क्विषु च** ६।४।९७। छादेर्ह्रस्वः स्यात्। छदिः पटलम्। छर्दिः। **(४३) बृंहेर्नलोपश्च।** 'बर्हिर्ना कुशशुष्मणोः'। **(४४)**

---

(४०) **नयतेरिति।** नीधातोः ऋप्रत्ययः स्यात्, स च डित् इत्यर्थः।

(४१) **अर्चीति।** एभ्यः इसिः स्यादित्यर्थः। **अर्चिः**- अर्चधातोः 'अर्चिशुची'त्यादिना इस्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, सौ रुत्वे विसर्गे 'अर्चिः' इति।

(४२) **इस्मनिति।** एषु परेषु छादेर्ह्रस्वः स्यादिति। **छदिः**- छाद्धातोः 'अर्चिशुचि०' इति इसि 'इस्मन्त्रन्क्विषु चे'त्यनेन धातोर्ह्रस्वे सुबादिकार्ये 'छदिः' इति।

(४३) **बृंहेरिति।** बृंहेः इस्प्रत्ययः स्यान्नलोपश्चेत्यर्थः।

उदाहरण- ✓ दिव् + 'ऋ' (-'दिवेर्ऋः')- दिवृ + सु (= 'स्', अनङ् = अन्, गुण, उपधादीर्घ, 'स्' और 'न्' का लोप) = देवा।

(४०) **पद**- नयतेः, डित्, च। **अनुवृत्ति**- ऋः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- णीञ् धातु से ऋ प्रत्यय होता है और वह डित् होता है।

विमर्श- पूर्वसूत्र (३९) से 'ऋः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''नी धातु से ऋ प्रत्यय होता है और वह डित् होता है।

उदाहरण- नी + 'ऋ' (डिद्वद्भाव-'नयतेर्डिच्च', टिलोप)-नृ (प्र० ए० व०) = ना। प्र० द्वि० व०-नरौ।

(४१) **पद**- अर्चि-शुचि-हु-सृ-पिच्छादिच्छर्दिभ्यः, इसिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- अर्च् आदि धातुओं से इस् प्रत्यय होता है।

उदाहरण- (१) ✓ अर्च् + इस् (= 'इ'-'अर्चिशुचि०', विभक्तिकार्य) = 'अर्चिः' (= प्रकाश)। (२) शुच् + इस् = शुचिः (पूर्ववत् प्रक्रिया)। (३) हु + इस् (= 'इ', उ = 'ओ'-गुण, अवादेश, वि० का०) = हविः। (४) सृप् + इस् (= 'इ', गुण, रपर, वि० का०) = सर्पिः।

(४२) **पद**- इस्मन्त्रन्, क्विषु, च। **अनुवृत्ति**- छादेः, ह्रस्वः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- इसादि प्रत्यय के परवर्ती रहने पर छादि धातु की उपधा को ह्रस्व होता है।

विमर्श- 'छादेः, ह्रस्वः' की यहाँ अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''इस्, मन्, त्रन् और क्विप् प्रत्यय परे रहते छादि धातु की उपधा को ह्रस्व होता है''।

उदाहरण- (१) ✓ छाद् + इस् (= 'इ'-'अर्चिशुचि०', 'आ' = 'अ'-ह्रस्व-'इस्मन्०', वि० का०) = छदिः। (२) ✓ छृद् + इस् (= 'इ', ऋ = 'आ'-गुण-'पुगन्त०', रपर, प्रा० सं०, सु = स् = र् = :) = छर्दिः।

(४३) **पद**- बृंहेः, नलोपः, च। **अनुवृत्ति**- इसिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ- बृंह् धातु से इस् प्रत्यय होता है और नकार का लोप होता है।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'अर्चिशुचि०' (४१) से 'इसिः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''बृंह् धातु से इस् प्रत्यय होता है तथा 'न्' का लोप होता है''।

उदाहरण- बृंह् + इस् (= 'इ', न् का लोप-'बृंहेर्नलोपश्च', 'ऋ' = 'अ'-उपधागुण, रपर, प्रा० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = बर्हिः।

द्युतेरिसिन्नादेशश्च जः। ज्योतिः। **(४५) जनेरुसिः।** 'जनुर्जननजन्मानि' इत्यमरः। **(४६) अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्।** अरुः। परुर्ग्रन्थिः। वपुः। यजुः। तनुः। धनुः। धनुरस्त्रियाम्। 'तपुः सूर्याग्निशत्रुषु'। **(४७) एतेर्णिच्च।** आयुः। आयुषी। **(४८) चक्षेः शिच्च।** चक्षुः। **(४९) मुहेः किच्च।** मुहुः। मुहुरव्ययम्। **(५०)**

---

(४४) **द्युतेरिति।** द्युत्धातोरिसिन्प्रत्ययः स्यात् आदेर्दकारस्य च जादेशः। **ज्योतिः–** द्युत् धातोः 'द्युतेरिसिन्नादेशश्च जः' इत्यनेन इसिन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे आदेर्दकारस्य जत्वे 'पुगन्त०' इति गुणे, सौ हल्ङ्यादिलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'ज्योतिः' इति।

(४५) **जनेरिति।** जन्धातोरुस्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(४६) **अर्तीति।** एभ्य उसिः स्यात्स च नित् भवतीति।

(४७) **एतेरिति।** इण्धातोरुस् स्यात्स च णिद्वद्भवतीति। **आयुः–** इण्धातोः 'एतेर्णिच्चे'-त्यनेन उसि णित्त्वेन वृद्धावायादेशे, सौ सलोपे रुत्वे विसर्गे 'आयुः' इति।

(४८) **चक्षेरिति।** चक्षिङ्धातोः उसिप्रत्ययः स्यात् स च शिद्भवतीत्यर्थः।

---

(४४) **पद–** द्युतेः, इसिन्, आदेः, च, जः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– द्युत् धातु से इसिन् प्रत्यय होता है और आदि दकार के स्थान पर जकार आदेश भी होता है।

उदाहरण– ✓ द्युत् + इसिन् (= 'इस्', 'द्' = 'ज्'–'द्युतेरिसिन्नादेशश्च जः', 'उ' = 'ओ'– गुण– 'पुगन्त०', सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०', स् = र् = :) = ज्योतिः।

(४५) पद– जनेः, उसिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– जन् धातु से 'उसि' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ जन् + उसि (= 'उस्'–'जनेरुसिः', प्रा० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप– 'हल्ङ्याब्भ्यः०', स् = र् = :) = जनुः (जन्म)।

(४६) **पद–** अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यः, नित्। **अनुवृत्ति–** उसिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अर्ति (ऋ) आदि धातुओं से उसि प्रत्यय होता है और यह नित् होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (४५) से 'उसिः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार–''ऋ, पृ, यज्, वप्, तन्, धन् और तप् धातुओं से 'उसि' प्रत्यय होता है। यह नित् होता है''।

उदाहरण– (१) ✓ ऋ + उसि (= 'उस्'–'अर्तिपृवपि०', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, सु = 'स्' का लोप, स् = र् = :) = अरुः। (२) ✓ पृ + उसि (= उस्, ॠ = 'अ'–गुण, रपर, सु = 'स्' का लोप, स् = र् = :) = परुः (ग्रन्थि)। (३) वप् + उसि = वपुः। (४) यज् + उस् = यजुः। (५) तन् + उस् = तनुः। (६) धन् + उस् = धनुः। (७) तप् + उस् = तपुः।

(४७) **पद–** एतेः, णित्, च। **अनुवृत्ति–** उसिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– इण् धातु से उसि प्रत्यय होता है और वह णिद्वत् होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (४५) से 'उसिः' की अनुवृत्ति आने पर उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण– ✓ इण् (इ) + उसि (= 'उस्', णिद्वद्भाव–'एतेर्णिच्च', 'इ' = 'ऐ'–वृद्धि, 'ऐ' = 'आय्'–आदेश, सु = 'स्' का हल्ङ्यादिलोप, स् = र् = :) = आयुः। प्र० द्वि० व०–आयुषी।

(४८) **पद–** चक्षेः, शित्, च। **अनुवृत्ति–** उसिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– चक्षिङ् धातु से उसि प्रत्यय होता है और वह शित् होता है।

पानीविषिभ्यः पः। पाति रक्षत्यस्मादात्मानमिति पापम्, तद्योगात्पापः। नेपः पुरोहितः। वेष्पः पानीयम्। **(५१) स्तुवो दीर्घश्च।** स्तूपः समुच्छ्रायः। **(५२) सुशृभ्यां निच्च।** चात्कित्। सूपः। बाहुलकादुत्वम्। शूर्पः। **(५३) कुयुभ्यां च।** कुवन्ति मण्डूका

---

(४९) **मुहेरिति।** मुह्धातोः उसिप्रत्ययः स्यात्स च किद्भवतीति।

(५०) **पानीति।** एभ्यः पप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **पापम्**– पाधातोः 'पानीविषिभ्यः पः' इत्यनेन पप्रत्यये विभक्तिकार्ये 'पापमि'ति।

(५१) **स्तुव इति।** स्तुधातोः पप्रत्ययो दीर्घश्च भवतीत्यर्थः।

(५२) **सुशृभ्यामिति।** पः स्यात् स च नित् किच्चेत्यर्थः।

(५३) **कुयुभ्यां चेति।** 'कु शब्दे, यु मिश्रणे' इत्याभ्यां पप्रत्ययः स्यात्स च नित् धातोर्दीर्घश्च भवतीति। **कूपः**– कुधातोः पप्रत्यये दीर्घे सुबादिकार्ये 'कूपः' इति।

विमर्श– पूर्ववत् सूत्र ४५ से 'उसिः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ चक्षिङ् (चक्ष्) + उसि (= 'उस्', शिद्वद्भाव–'चक्षेः शिच्च', सु = 'स्' का लोप, स् = र् = :) = चक्षुः।

(४९) **पद**– मुहेः, कित्, च। **अनुवृत्ति**– उसिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– मुह् धातु से उस् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है।

विमर्श– पूर्ववत् प्रकृत सूत्र में भी 'उसिः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ मुह् + उसि (= उस्, किद्वद्भाव–'मुहेः किच्च', कित्त्वात् गुण का निषेध, सु = 'स्' का लोप, स् = र् = :) = मुहुः।

(५०) **पद**– पानीविषिभ्यः, पः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– पा, नी और विष् धातु से 'प' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ पा + 'प' (–'पानीविषिभ्यः पः', विभक्तिकार्य) = पापम्। (२) ✓ नी + 'प' ('ई' = 'ए'–गुण, वि० का०) = नेपः (पुरोहित)। (३) ✓ विष् + 'प' (गुण, वि० कार्य) = वेष्पः (पानी)।

(५१) **पद**– स्तुवः, दीर्घः, च। **अनुवृत्ति**– पः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– स्तु धातु से 'प' प्रत्यय होता है और दीर्घ भी होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (५०) से 'प' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''स्तु धातु से प प्रत्यय होता है और दीर्घ भी होता है''।

उदाहरण– ✓ स्तु + 'प' ('उ' = 'ऊ'–दीर्घ) = **स्तूपः।**

(५२) **पद**– सुशृभ्याम्, नित्, च। **अनुवृत्ति**– पः, दीर्घः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सु और शृ धातु से 'प' प्रत्यय होता है, वह नित् होता है तथा धातु को दीर्घ भी होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (५०) से 'पः' तथा 'स्तुवो दीर्घश्च' (५१)से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– (१) ✓ सु + 'प' ('उ' = 'ऊ'–दीर्घ, वि० का०) = सूपः। (२) ✓ शृ + 'प' (–'सुशृभ्यां निच्च बाहुलकात्', 'ॠ' = 'ऊ' ऊत्व, रपर, वि० का०) = शूर्पः।

(५३) **पद**– कुयुभ्याम्, च। **अनुवृत्ति**– पः, दीर्घः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कु और यु धातु से भी 'प' प्रत्यय होता है और धातु को दीर्घ होता है।

अस्मिन्निति कूपः। युवन्ति बध्नन्ति अस्मिन्निति यूपः। (५४) खष्पशिल्पशष्प-बाष्परूपपर्पतल्पाः। सप्तैते पप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। (५५) स्तनिहृषिपुषिगदि-मदिभ्यो णेरित्नुच्। 'अयामन्ते'ति णेरय्। स्तनयित्नुः। हर्षयित्नुः। पोषयित्नुः। गदयित्नु-र्वावदूकः। मदयित्नुः मदिरा। (५६) अशेः सरः। अक्षरम्। (५७) वसेश्च। वत्सरः।

---

(५४) **खष्पेति**। एते पप्रत्ययान्ता निपात्यन्त इति।

(५५) **स्तनीति**। एभ्यो ण्यन्तेभ्य इत्नुच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(५६) **अशेरिति**। अश्धातोः सरप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **अक्षरमिति**। अश्धातोः 'अशेः सरः' इति सरप्रत्यये 'व्रश्चे'त्यादिना शस्य षत्वे 'षढोः कः सि' इति कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे, उभयोः संयोगे क्षत्वे विभक्तिकार्ये 'अक्षरमि'ति।

(५७) **वसेश्चेति**। सरप्रत्ययः स्यादिति।

विमर्श– पूर्ववत् 'पः' और 'दीर्घः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण– (१) ✓ कु + 'प' (–'उ' = 'ऊ'–दीर्घ–'कुयुभ्यां च', वि० का०) = कूपः। (२) ✓ यु + प = यूपः।

(५४) **पद–** खष्प-शिल्प-शष्प-बाष्प-रूप-पर्प-तल्पाः। **अनुवृत्ति–** पः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– खष्प आदि सात शब्द प-प्रत्ययान्त निपातित होते हैं।

उदाहरण– (१) ✓ खन् + 'प', ('न्' = 'ष्'–निपातन से–'खष्पशिल्प०', विभक्तिकार्य) = खष्पः (क्रोध)। (२) शील + 'प' (ह्रस्व, वि० का०) = शिल्पम् (कौशल)। इत्यादि।

(५५) **पद–** स्तनि-हृषि-पुषि-गदि-मदिभ्यः, णेः, इत्नुच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ण्यन्त स्तन्, हृष् आदि धातुओं से 'इत्नुच्' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ स्तनि (ण्यन्त) + इत्नुच् (= 'इत्नु'–'स्तनिहृषि०', 'इ' = 'अय्' आदेश–'अयामन्ता०', प्रा० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = स्तनयित्नुः (बादल)। (२) हृष् (णिच्, गुण, रपर)–✓ हर्षि + इत्नुच् (= 'इत्नु', 'इ' = 'अय्', वि० का०) = हर्षयित्नुः। (३) ✓ पुषि (ण्यन्त) + इत्नुच् (= 'इत्नु', गुण, 'इ' = 'अय्', वि० का०) = पोषयित्नुः। (४) गदि (ण्यन्त) + इत्नुच् (= इत्नुः, 'इ' = 'अय्', वि० का०) = गदयित्नुः। (५) ✓ मदि (ण्यन्त) + इत्नुच् (= इत्नुः, इ = अय्, वि० का०) = मदयित्नुः (= मदिरा)।

(५६) **पद–** अशेः, सरः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– 'अश्' धातु से सर प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ अश् + 'सर' (–'अशेः सरः', 'श्' = 'ष्'–'व्रश्चभ्रस्ज०', 'ष्' = 'क्'–'षढोः कः सि', 'स्' = 'ष्' षत्व–'आदेशप्रत्यययोः', क् + ष् = 'क्ष्', वि० कार्य) = अक्षरम्।

(५७) **पद–** वसेः, च। **अनुवृत्ति–** सरः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– वस् धातु से भी सर प्रत्यय होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (५६) से 'सरः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ वस् + 'सर' (–'वसेश्च', धातु के 'स्' = 'त्'–'सः स्यार्धधातुके', वि० का०) = वत्सरः।

(५८) संपूर्वाच्चित्। संवत्सरः। परिवत्सरः। **(५९) कृशृशलिकलिगर्दिभ्योऽभच्।** करभः। शरभः। शलभः। कलभः करिशावकः। गर्दभः। **(६०) ऋषिवृषिभ्यां कित्।** ऋषभः। वृषभः। **(६१) रासिवल्लिभ्यां च।** रासभः। वल्लभः। **(६२) नियो मिः।**

---

(५८) **संपूर्वादिति।** यत्किञ्चित्पूर्वपदात् वसेरपि सरप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(५९) **कृश् इति।** एभ्योऽभच्प्रत्ययः स्यात्।

(६०) **ऋषीति।** 'अभच्' इत्यनुवर्तते। तेन अभच्प्रत्ययः स्यात्स च किदित्यर्थः। **ऋषभ इति।** ऋष् धातोः 'ऋषिवृषिभ्यां किदि'त्यनेन अभच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे किद्वद्भावे गुणनिषेधे विभक्तिकार्ये 'ऋषभः' इति।

(६१) **रासीति।** अभच् स्यादिति भावः।

(६२) **निय इति।** मिः स्यादित्यर्थः। **नेमिः**– नीधातोः 'नियो मिः' इति मिप्रत्यये, गुणे विभक्तिकार्ये 'नेमिः' इति।

---

(५८) **पद**– सम्, पूर्वात्, चित्। **अनुवृत्ति**– सरः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सम्पूर्वक वस् धातु से भी सर प्रत्यय होता है। वह चित् होता है।

उदाहरण– सम् + ✓ वस् + सर (–'सम्पूर्वाच्चित्', 'स्' = 'त्', वि० का०) = संवत्सरः। परिपूर्वक ✓ वस् से भी सर प्रत्यय होता है– परिवत्सरः।

(५९) **पद**– कृशृशलिकलिगर्दिभ्यः, अभच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कृ, शृ आदि धातुओं से अभच् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ कृ + अभच् (= 'अभ'–'कृशृ०', ऋ = 'अ'–गुण, रपर, वि० का०) = करभः (२) ✓ शृ + अभच् (= 'अभ', गुण, रपर, वि० का०) = शरभः। (३) ✓ शल् + अभच् (= 'अभ', वि० का०) = शलभः। (४) कल् + अभच् (= 'अभ', वि० का०) = कलभः (हाथी का बच्चा)। (५) गर्द् + अभच् (= 'अभ', वि० का०) = गर्दभः।

(६०) **पद**– ऋषिवृषिभ्याम्, कित्। **अनुवृत्ति**– अभच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ऋष् और वृष् धातुओं से अभच् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (५९) से 'अभच्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण– (१) ✓ ऋष् + अभच् (= 'अभ', 'ऋषिवृषिभ्यां कित्', किद्वद्भाव होने से गुण का अभाव, प्रा० सं०, वि० का०) = ऋषभः। (२) वृष् + अभच् = वृषभः।

(६१) **पद**– रासिवल्लिभ्याम्, च। **अनुवृत्ति**– अभच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– रास् और वल्ल् धातु से भी अभच् प्रत्यय होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'अभच्' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– (१) ✓ रास् + अभच् (= 'अभ'–'रासिवल्लिभ्यां च', वि० का०) = रासभः। (२) ✓ वल्ल् + अभच् = वल्लभः।

(६२) **पद**– नियः, मिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– नी धातु से 'मि' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ नी + 'मि' (–'नियो मिः', 'ई' = 'ए'–गुण, वि० का०) = नेमिः।

नेमिः। **(६३) अर्तेरूच्च।** ऊर्मिः। **(६४) भुवः कित्।** भूमिः। **(६५) अङ्गेर्निनलोपश्च।** अग्निः। **(६६) वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्।** वह्निः। श्रेणिः। श्रोणिः। योनिः। द्रोणिः। ग्लानिः। हानिः। तूर्णिः। **(६७) पातेर्डतिः।** पतिः। **(६८) सूङः क्रिः।** सूरिः। **(६९) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्।** अद्रिः। शद्रिः

---

(६३) **अर्तेरिति।** मिप्रत्ययः स्याद्धातोः ऊदादेशश्चेत्यर्थः। **ऊर्मिः–** ऋधातोः मिप्रत्यये धातोः ऊदादेशे रपरत्वे विभक्तिकार्ये 'ऊर्मिः' इति।

(६४) **भुव इति।** भूधातोर्मिप्रत्ययः स्यात्स च किदिति भावः।

(६५) **अङ्गेरिति।** अङ्गधातोर्निः स्याद्धातोर्नलोपश्चेत्यर्थः। **अग्निः–** अङ्गधातोर्निप्रत्यये धातोर्नलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'अग्निः' इति।

(६६) **वहीति।** एभ्यो निप्रत्ययो नित् इत्यर्थः।

(६७) **पातेरिति।** पाधातोर्डतिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **पतिः–** पाधातोः 'पातेर्डतिः' इत्यनेन डतिप्रत्यये, डित्त्वाट्टिलोपे विभक्तिकार्ये 'पतिः' इति।

---

(६३) **पद–** अर्तेः, ऊत् च। **अनुवृत्ति–** मि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ऋ धातु से 'मि' प्रत्यय होता है और धातु को ऊत् होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (६२) से 'मि' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ ऋ + 'मि' (ऋ = ऊत् = 'ऊ', रपर, वि० का०) = ऊर्मिः।

(६४) **पद–** भुवः, कित्। **अनुवृत्ति–** मि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– भू धातु से मि प्रत्यय होता है और वह कित् होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'मि' की अनुवृत्ति आ रही है।

उदाहरण– ✓ भू + 'मि' (किद्वद्भाव–'भुवः कित्', कित्त्वात् गुण का अभाव, वि०का०) = भूमिः।

(६५) **पद–** अङ्गेः, नि, नलोपः, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अङ्ग धातु से नि प्रत्यय होता है और 'न्' का लोप होता है।

उदाहरण– ✓ अगि (इदित्, नुम्)– अङ्ग + 'नि' ('न्' का लोप, वि० का०) = अग्निः।

(६६) **पद–** वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यः, नित्। **अनुवृत्ति–** नि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– वह् आदि धातुओं से नि प्रत्यय होता है और वह नित् होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (६५) से 'नि' की अनुवृत्ति आती है। नित्व स्वरार्थ है।

उदाहरण– (१) ✓ वह् + 'नि' (वि० का०) = वह्निः। (२) ✓ श्रि + 'नि' ('इ' = 'ए'–गुण, वि० का०) = श्रेणिः। (३) ✓ श्रु + 'नि' (गुण, वि० का०) = श्रोणिः। (४) ✓ यु + नि, (गुण, वि० का०) = योनिः। (५) द्रु + नि, (गुण, वि० का०) = द्रोणिः। (६) ✓ ग्लै + 'नि' (आत्व, वि० का०) = ग्लानिः। (७) हा + नि (वि० का०) = हानिः। (८) ✓ त्वर् + 'नि' (व = ऊठ् = 'ऊ'– 'ज्वरत्वर०', रपर, वि० का०) = तूर्णिः।

(६७) **पद–** पातेः, डतिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– पा धातु से डति प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ पा + डति (= 'अति'–'पातेर्डतिः', वि० का०) = पतिः।

(६८) **पद–** सूङः, क्रिः। **विधिसूत्र।**

शर्करा। भूरि प्रचुरम्। शुभ्रिः ब्रह्मा। (७०) **वलिमलितनिभ्यः कयन्।** वलयः। मलयः। तनयः। (७१) **माछाससिभ्यो यः।** पाया। छाया। सस्यम्। बाहुलकात् सव्यं दक्षिणवामयोः। (७२) **जनेर्यक्।** 'ये विभाषा'। जन्यं युद्धम्। जाया। भार्या। (७३) **सार्वधातुभ्य इन्।** पचिरग्निः। तुडिः। तुण्डिः। वलिः। वटिः। यजिः। काशत इति काशिः। यतिः। मल्लिः, मल्ली। केलिः। 'मसी परिणामे'। मसिः। बोधिः। नन्दिः। कलिः।

---

(६८) **सूङ इति।** 'षूङ् प्राणिप्रसवे' इत्यस्मात् क्रिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(६९) **अदीति।** एभ्यः क्रिन् स्यात्। **अद्रिः–** अद्धातोः 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्' इत्यनेन क्रिन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे सुबादिकार्ये 'अद्रिः' इति।

(७०) **वलीति।** एभ्यः कयन् स्यात्।

(७१) **माछेति।** एभ्यो यः स्यादित्यर्थः। **माया–** माधातोः 'माछाससिभ्यो यः' इत्यनेन यप्रत्यये टापि सुबादिकार्ये 'माया' इति।

(७२) **जनेरिति।** जन्धातोर्यक् स्यादित्यर्थः।

(७३) **सर्वधातुभ्य इति।** इन् स्यादिति। **पचिरिति।** पच्धातोरिन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे विभक्तिकार्ये 'पचिः' इति।

मूलार्थ– सूङ् धातु से क्रि प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ षूङ् (स्) + क्रि (= 'रि'–'सूङः क्रिः', विभक्तिकार्य) = सूरिः।

(६९) **पद–** अदिशदिभूशुभिभ्यः, क्रिन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अद्, शद्, भू और शुभ धातुओं से क्रिन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ अद् + क्रिन् (= 'रि', वि० का०) = अद्रिः। (२) ✓ शद् + क्रिन् (= 'रि', वि० का०) = शद्रिः (= शर्करा)। (३) ✓ भू + क्रिन् (= रि. वि० का०) = भूरिः। (४) ✓ शुभ् + क्रिन् (= रिः, वि० का०) = शुभ्रिः (ब्रह्मा)।

(७०) **पद–** वलिमलितनिभ्यः, कयन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– वल् आदि धातुओं से कयन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ वल् + कयन् (= 'अय', वि० का०) = वलयः। (२) ✓ मल् + कयन् (= 'अय', वि० का०) = मलयः। (३) तन् + कयन् (= 'अय', वि० का०) = तनयः।

(७१) **पद–** माछाससिभ्यः, यः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– मा, छा और सस् धातुओं से 'य' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ मा + 'य' (स्त्रीत्वात् टाप् = 'आ', दीर्घ, वि० का०) = माया। (२) ✓ छा + 'य' (टाप्, दीर्घ, वि० का०) = छाया। (३) ✓ षस् (सस्) + 'य' (वि० का०) = सस्यम्।

(७२) **पद–** जनेः, यक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– जन् धातु से यक् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ जन् + यक् (= 'य'–'जनेर्यक्', वि० का०) = जन्यम् (युद्ध)। (यहाँ 'ये विभाषा' से वैकल्पिक आत्व का अभाव हुआ है।) (२) ✓ जन् + यक् (= 'य', आत्व, टाप्, दीर्घ, वि० का०) = जाया।

(७३) **पद–** सर्वधातुभ्यः, इन्। **विधिसूत्र।**

"हरिर्विष्णावहाविन्द्रे भेके सिंहे हये रवौ।
चन्द्रे कीले प्लवङ्गे च यमे वाते च कीर्तितः"॥ इति।

(७४) इगुपधात्कित्। ऋषिः। शुचिः। **(७५) मनेरुच्च।** मुनिः। **(७६) जनिघसिभ्यामिण्।** जनिर्जननम्। घासिर्भक्ष्यमग्निश्च। **(७७) अच इः।** रविः। तरिः। पविः।

---

(७४) **इगुपधादिति।** इगुपधाद्धातोः इन्प्रत्ययः स्यात्स च किदित्यर्थः।

(७५) **मनेरिति।** मन्धातोः इन्प्रत्ययः धातोरकारस्य च उकारादेशश्चेत्यर्थः।

(७६) **जनीति।** आभ्यामिण् स्यादित्यर्थः।

(७७) **अच इति।** अजन्ताद् धातोः इप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

मूलार्थ– सभी धातुओं से इन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ पच् + इन् (= 'इ', वि० का०) = 'पचिः' (अग्नि)। (२) ✓ तुड् + इन् (= 'इ', वि० का०) = तुडिः। (३) ✓ तुण्ड् + इन् (= 'इ', वि० का०) = तुण्डिः। (४) ✓ वल् + इन् (= इ, वि० का०) = वलिः। (५) वट् + इन् (पूर्ववत्कार्य) = वटिः। (६) ✓ यज् + इन् = यजिः। (७) काश् + इन् = काशिः। (८) ✓ यत् + इन् = यतिः। (९) ✓ मल्ल् + इन् = मल्लिः। (१०) किल् + इन् (= 'इ', गुण, वि० का०) = केलिः। (११) ✓ मस् + इन् = मसिः। (१२) बुध् + इन् (गुण) = बोधिः। (१३) ✓ नन्द् + इन् = नन्दिः। (१४) कल् + इन् = कलिः।

(७४) **पद–** इगुपधात्, कित्। **अनुवृत्ति–** इन्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ– इगुपध धातु से इन् प्रत्यय कित् होता है।

उदाहरण– (१) ✓ ऋष् + इन् (= 'इ'– 'सर्वधातुभ्य इन्'–किद्वद्भाव–'इगुपधात् कित्', कित् होने से गुण का निषेध– 'क्ङिति च', वि० का०) = ऋषिः। (२) शुच् + इन् (= 'इ', कित्त्वात् गुण-निषेध, वि० का०) = शुचिः।

(७५) **पद–** मनेः, उत्, च। **अनुवृत्ति–** इन्, कित्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– मन् धातु से इन् प्रत्यय होता है। वह कित् होता है तथा अकार को उकार आदेश भी होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (७३) से 'इन्' तथा 'इगुपधात् कित्' (७४) से 'कित्' की अनुवृत्ति आने पर उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण– ✓ मन् + इन् (= 'इ', कित्, 'अ' = 'उ', वि० का०, कित्त्वात् गुण का अभाव) = मुनिः।

(७६) **पद–** जनिघसिभ्याम्, इण्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– जन् और घस् धातु से इण् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ जन् + इण् (= 'इ', प्राप्त वृद्धि का 'जनिवध्योश्च' से निषेध, सु = स् = र् = :) = जनिः (जन्म)। (२) ✓ घस् + इण् (= 'इ', उपधावृद्धि, वि० का०) = घासिः।

(७७) **पद–** अचः, इः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अजन्त धातुओं से 'इ' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ रु + 'इ' (–'अच इः', उ = 'ओ'–गुण, 'ओ' = 'अव्' आदेश, वि० का०) = रविः। (२) ✓ तृ + इ (गुण, रपर, वि० का०) = तरिः। (३) ✓ पू + इ (गुण, अवादेश, वि० का०) = पविः। (४) कु + इ (गुण, अवादेश) = कविः। (५) ऋ + इ (गुण, रपर, वि० का०) = अरिः।

कविः। अरिः। **(७८) कुण्डिकम्प्योर्नलोपश्च।** कुडिः देहः। कपिः। **(७९) इषेः क्सुः।** इक्षुः। **(८०) कृषेर्वर्णे।** नक् स्यात्। कृष्णः। **(८१) दाभाभ्यां नुः।** दानुः = दाता। भानुः। **(८२) विषेः किच्च।** विष्णुः। **(८३) सितनिजनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन्।** सेतुः। तन्तुः। जन्तुः। गन्तुः। मस्तुर्दधिमण्डम्। सक्तुः। ओतुः।

---

(७८) **कुण्डीति।** इप्रत्ययो नलोपश्चेति भावः।

(७९) **इषेरिति। इक्षुः–** इष्धातोः 'इषेः क्सुः' इति क्सुप्रत्यये कस्येत्संज्ञायां लोपे, षस्य 'षढोः कः सी'ति कत्वे परस्य सस्य षत्वे, कृषूसंयोगे क्षत्वे विभक्तिकार्ये 'इक्षुः' इति।

(८०) **कृषेरिति।** नक्प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। कित्त्वान्नोपधागुणः।

(८१) **दाभेति।** नुः स्यात्। **दानुः–** दाधातोः 'दाभाभ्यां नुः' इत्यनेन नुप्रत्यये विभक्तिकार्ये 'दानुः' इति।

(८२) **विषेरिति।** विष्लृधातोर्णुप्रत्ययः स्यात्स च कित् स्यादित्यर्थः।

(८३) **सितनीति।** एभ्यस्तुन् स्यात्।

---

(७८) **पद–** कुण्डिकम्प्योः, नलोपः, च। **अनुवृत्ति–** इः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कुण्ड् और कम्प् धातु से इ प्रत्यय और 'न्' का लोप होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (७७) से 'इः' की अनुदृत्ति आती है।

उदाहरण– (१) ✓ कुण्ड् + 'इ' ('न्' का लोप–'कुण्डिकम्प्योर्नलोश्च', वि० का०) = कुडिः। (२) ✓ कम्प् + इ ('न्' का लोप, वि० का०) = कपिः।

(७९) **पद–** इषेः, क्सुः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– इष् धातु से क्सु (सु) प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ इष् + क्सु (= 'सु'–'इषेः क्सुः', 'ष्' = 'क्'–'षढोः कः सि', 'स्' = 'ष्' षत्व–'आदेशप्रत्यययोः', क् + ष् = क्ष्, वि० का०) = इक्षुः।

(८०) **पद–** कृषेः, वर्णे। **अनुवृत्ति–** नक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– वर्ण अर्थ में कृष् धातु से नक् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ कृष् + नक् (= 'न'–'कृषेर्वर्णे', णत्व, वि० का०) = कृष्णः।

(८१) **पद–** दाभाभ्याम्, नुः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– दा और भा धातु से 'नु' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ दा + 'नु' (–'दाभाभ्यां नुः', वि० का०) = दानुः (दाता)। (२) ✓ भा + नु (वि० का०) = भानुः (सूर्य)।

(८२) **पद–** विषेः, कित् च। **अनुवृत्ति–** नु। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– विष् धातु से नु प्रत्यय होता है और वह कित् होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८१) से 'नुः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– (१) ✓ विष् + 'नु' (कित्व–'विषेः किच्च', णत्व, कित्त्वात् गुणनिषेध, वि० का०) = विष्णुः।

(८३) **पद–** सितनिजनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यः, तुन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सि, तन्, जन्, गम्, मस्, सच्, अव्, धाञ् और क्रुश् धातुओं से तुन् प्रत्यय होता है।

धातुः। क्रोष्टा। **(८४) अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः।** अवीर्नारी रजस्वला। तरीः। स्तरीः। तन्त्रीः। **(८५) यापोः किद् द्वे च।** ययीरश्वः। 'पपीः स्यात्सोमसूर्ययोः'। **(८६) वातप्रमीः।** निपातोऽयम्। **(८७) लक्षेर्मुट् च।** लक्ष्मीः। **(८८) सर्वधातुभ्यो**

---

(८४) **अवीति।** एभ्यः ईः स्यादित्यर्थः। **अवीः**– अव्धातोः ईप्रत्यये विभक्तिकार्ये 'अवीः' इति।

(८५) **येति।** याधातोः पाधातोश्च ईप्रत्ययः स्यात् कित् द्वित्वं चेत्यर्थः। **ययीरिति।** याधातोः 'ई' प्रत्यये धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे, कित्त्वाद् 'आतो लोपः' इत्याकारलोपे विभक्तिकार्ये 'ययी' इति।

(८६) **वातप्रमीरिति।** ईप्रत्ययान्तोऽयं निपात्यत इति।

(८७) **लक्षेरिति।** लक्ष्धातोः ईप्रत्ययो मुडागमश्चेति भावः। **लक्ष्मीः**– लक्ष्धातोः 'लक्षेर्मुट् चे'त्यनेन ईप्रत्यये मुडागमेऽनुबन्धलोपे विभक्तिकार्ये 'लक्ष्मीः' इति।

उदाहरण– (१) ✓ सि + तुन् (= 'तु'–'सितनिजनि०', इ = 'ए'–गुण, वि० का०) = सेतुः। (२) ✓ तन् + तुन् (= तु, वि० का०) = तन्तुः। (३) ✓ जन् + तुन् = जन्तुः। (४) ✓ गम् + तुन् (= तु, अनुस्वार, परसवर्ण, वि० का०) = गन्तुः। (५) ✓ मस् + तुन् = मस्तुः (दही, माँड़)। (६) ✓ सच् + तुन् (कुत्व, वि० का०) = सक्तुः। (७) ✓ अव् + तुन् (= 'तु', व् = ऊठ् = 'ऊ'–'ज्वरत्वर०', गुण, वि० का०) = ओतुः। (८) ✓ धा + तुन् = धातुः। (९) क्रुश् + तुन् (= तु, षत्व) = क्रोष्टु (सु = स्, तृज्वद्भाव, वि० का०) = क्रोष्टा।

(८४) **पद–** अवितृस्तृतन्त्रिभ्यः, ईः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अव् आदि धातुओं से ई प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ अव् + 'ई' (–'अवितृ०', वि० का०) = अवीः। (२) ✓ तृ + ई ('ॠ' = 'अ'–गुण, रपर, वि० का०) = तरीः। (३) ✓ स्तृ + ई (गुण, रपर, वि० का०) = स्तरीः। (४) ✓ तन्त्र् + ई (वि० का०) = तन्त्रीः।

(८५) **पद–** यापोः, किद्, द्वे, च। **अनुवृत्ति–** ईः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– या और पा धातु से ई प्रत्यय होता है और वह कित् होता है तथा धातु को द्वित्व भी होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८४) से 'ईः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण– (१) ✓ या + 'ई' (कित्त्व, धातु को द्वित्व–'यापोः किद् द्वे च', अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व, कित्त्वाद् 'आ' का लोप–'आतो लोपः', विभक्तिकार्य) = ययीः। (२) ✓ पा + 'ई' (कित्त्व, द्वित्व, अभ्याससत्व, ह्रस्व, कित्त्वेन 'आ' का लोप, सु = स् = र् = :) = पपीः (सूर्य, चन्द्र)।

(८६) **पद–** वातप्रमीः। **अनुवृत्ति–** ईः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– वातप्रमी शब्द ई–प्रत्ययान्त निपातित है।

विमर्श– उक्तवत् 'ईः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– वात + प्र + ✓ मा + 'ई' (निपातन से, आ का लोप, वि० का०) = वातप्रमीः।

(८७) **पद–** लक्षेः, मुट् च। **अनुवृत्ति–** ईः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– लक्ष् धातु से ई प्रत्यय और मुट् का आगम होता है।

विमर्श– उक्त सूत्र (८४) से 'ईः' की अनुवृत्ति आती है। अतः पूर्वोक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

मनिन्। कर्म। चर्म। भस्म। जन्म। शर्म। स्थाम। **(८९) बृंहेर्नोऽच्च।** नकारस्य अकारः। 'ब्रह्मतत्त्वं तपो वेदो ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः।' **(९०) नामन् सीमन् व्योमन् रोमन् लोमन् पाप्मन् ध्यामन्।** सप्तैते निपात्यन्ते। **(९१) साऽतिभ्यां मनिन्मनिणौ।** साम। आत्मा। **(९२) हनिमशिभ्यां सिकन्।** 'हंसिका हंसयोषिति'। मक्षिका। **(९३) गिर**

---

(८८) **सर्वेति।** मनिन् स्यात्।

(८९) **बृंहेरिति।** बृंह्धातोर्मन्प्रत्ययो नुमो नकारस्य अकारादेशश्च भवतीत्यर्थः।

(९०) **नामन्निति।** मनिन्नन्ता एते निपात्यन्त इत्यर्थः।

(९१) **सातिभ्यामिति।** षोधातोः अतधातोश्च क्रमात् मनिन्-मनिणौ स्यातामित्यर्थः।

(९२) **हनीति।** हनमशधातुभ्यां सिकन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

उदाहरण– ✓ लक्ष् + 'ई' (मुट् = 'म्' का आगम, प्राति० सं०, सु= स् = र् = :) = लक्ष्मीः।

(८८) **पद–** सर्वधातुभ्यः, मनिन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सभी धातुओं से मनिन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ कृ + मनिन् (= 'मन्', 'ऋ' = 'अ'– गुण, रपर) – कर्मन् ('सु', 'सु' का लुक्, 'न्' का लोप) = कर्म। (२) ✓ चर् + मनिन् (= 'मन्', वि० का०) = चर्म। (३) ✓ भस् + मनिन् (= मन्, वि० का०) = भस्म। (४) ✓ जन् + मनिन् (= मन्, वि० का०) = जन्म। (५) शृ + मनिन् (= मन्, गुण, रपर, वि० का०) = शर्म।

(८९) **पद–** बृंहेः, नः, अत्, च। **अनुवृत्ति–** मनिन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– बृंह् धातु से मनिन् प्रत्यय होता है और धातु के (नुम् के) नकार को अकार आदेश होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (८८) से मनिन् की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ बृहि (नुम्, अनु०)– बृंह् + मनिन् (= 'मन्', 'न्' = 'अ' आदेश– 'बृंहेर्नोऽच्च', 'ऋ' = 'र्'–यण्)– ब्रह्मन् (वि० कार्य) = ब्रह्म।

(९०) **पद–** नामन् सीमन् व्योमन् रोमन् लोमन् पाप्मन् ध्यामन्। **अनुवृत्ति–** मनिन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– नामन् आदि शब्द मनिन्-प्रत्ययान्त निपातित होते हैं।

विमर्श– 'सर्वधातुभ्यः मनिन्' (८८) सूत्र से 'मनिन्' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ म्ना + मनिन् (= मन्, 'म्ना' = 'ना' निपातन से) = नामन् इत्यादि।

(९१) **पद–** साऽतिभ्याम्, मनिन्मनिणौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ✓ षो (सत्व)–सो + मनिन् (= 'मन्'–'सातिभ्याम्०', 'ओ' = 'आ'–'आदेच०')– सामन् (वि० का०) = साम। (२) ✓ अत् + मनिन् (= 'मन्', णित् होने से उपधावृद्धि)– आत्मन् (प्र० ए० व०) = आत्मा।

(९२) **पद–** हनिमशिभ्याम्, सिकन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– हन् और मश् धातु से सिकन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ हन् + सिकन् (= सिक, न् = अनुस्वार, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ', दीर्घ, वि० का०) = हंसिका (= हंसिनी)। (२) मश् + सिकन् (= सिक, 'श्' = 'ष्' षत्व–'व्रश्च०', 'ष्' = 'क्'–'षढोः कः सि', द्वितीय 'स्' = 'ष्'– 'आदेशप्रत्यययोः', क् + ष् = 'क्ष्', स्त्रीत्वात् टाप् = 'आ', दीर्घ, वि० का०) = मक्षिका।

उडच्। गरुडः। **(९४) शृदृभसोऽदिः।** शरत्। 'शरद्धृदयकूलयोः'। भसज्जघनम्। **(९५) त्यजितनियजिभ्यो डित्।** त्यद्। तद्। यद्। **(९६) एतेस्तुट् च।** एतत्। **(९७) युष्यसिभ्यां मदिक्।** त्वम्। अहम्। **(९८) इन्देः कमिर्नलोपश्च।** इदम्।

---

(९३) **गिर इति। गरुड इति।** गृधातोः उडच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे गुणे विभक्तिकार्ये गरुड इति।

(९४) **शृद् इति।** एभ्यः अदिः स्यात्। इकारोच्चारणार्थः।

(९५) **त्यजीति।** त्यजादिभ्यः अदिः स्यात्स च डिदित्यर्थः। **त्यदिति।** त्यज्धातोः 'त्यजितनियजिभ्यो डित्' इत्यनेन अदिप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे डिति च डित्त्वाट्टिलोपे विभक्तिकार्ये 'त्यद्' इति।

(९६) **एतेरिति।** इण्धातोः अदिप्रत्ययः तुडागमश्चेत्यर्थः।

(९७) **युष्येति।** युष्धातोः असुधातोश्च मदिक्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(९८) **इन्देरिति।** इन्दिधातोः कमिः स्यान्नलोपश्च। **इदमिति।** इन्द्धातोः कमिप्रत्यये नलोपे विभक्तिकार्ये 'इदमि'ति।

---

(९३) **पद–** गिरः, उडच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– गृ धातु से उडच् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ गृ + उडच् (= 'उड'–'गिर उडच्', 'ऋ'= 'अ'–गुण, रपर, वि० का०) = गरुडः।

(९४) **पद–** शृदृभसः, अदिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– शृ, दृ और भस् धातु से अदि प्रत्यय होता है। आदि में इकार उच्चारणार्थक है।

उदाहरण– (१) शृ + अदि (= 'अद्'–'शृदृभसोऽदिः', 'द्' = 'त्'–'वाऽवसाने', वि० का०) = शरत्, शरद्। (२) ✓ भस् + अदि (= 'अद्', 'द्' = 'त्' विकल्प से, वि० का०) = भसत्।

(९५) **पद–** त्यजितनियजिभ्यः, डित्। **अनुवृत्ति–** अदिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– त्यज्, तन् और यज् धातु से अदि प्रत्यय होता है। वह डित् होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वोक्त सूत्र (९४) से 'अदिः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– (१) ✓ त्यज् + अदि (= अद्, डिद्वद्भाव, टि = 'अज्' का लोप, वि० का० = त्यद्। (२) ✓ तन् + अदि (= अद्, डित्–'त्यजितनि०', टि का लोप, वि० का०) = तद्। (३) ✓ यज् + अदि (= अद्, डित्, टिलोप, वि० का०) = यद्।

(९६) **पद–** एतेः, तुट्, च। **अनुवृत्ति–** अदिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– इण् धातु से अदि प्रत्यय होता है और तुट् का आगम होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'अदिः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ इण् (इ) + अदि (= 'अद्', तुट् = 'त्' का आगम, 'इ' = 'ए'–गुण, वि० का०) = एतद्।

(९७) **पद–** युष्यसिभ्याम्, मदिक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– 'युष्' और 'अस्' धातु से मदिक् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ युष् + मदिक् (= मद–'युष्यसिभ्यां मदिक्') – **युष्मद् (प्र० ए० व०)** = त्वम्। (२) अस् + मदिक (= मद्, प्रथमा ए० व०) '= अहम्।

(९९) कायतेर्डिमिः। किम्। **(१००) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्।** वस्त्रम्। अस्त्रम्। शास्त्रम्। **(१०१) अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः।** अन्त्रम्। चित्रम्। मित्रम्। शस्त्रम्। **(१०२) पुवो ह्रस्वश्च।** पुत्रः। **(१०३) स्त्यायतेर्ड्रट्।** स्त्री। **(१०४) सूचेः स्मन्।** सूक्ष्मम्।

---

(९९) **कायतेरिति।** कैधातोर्डिमिः स्यादिति।

(१००) **सर्वेति।** ष्ट्रन् स्यात्। **वस्त्रम्–** वस्धातोः ष्ट्रनि षस्य नस्य चेत्संज्ञायां लोपे विभक्तिकार्ये वस्त्रमिति।

(१०१) **अमीति।** क्त्रः स्यात्। कित्त्वाद् गुणाभावः।

(१०२) **पुव इति।** क्त्रप्रत्यये पूधातोः ह्रस्वो भवतीत्यर्थः।

(१०३) **स्त्यायतेरिति।** स्त्यैधातोर्ड्रट् स्यादित्यर्थः। **स्त्री–** स्त्यैधातोः 'स्त्यायतेर्ड्रट्' इत्यनेन ड्रट्प्रत्यये, डित्त्वाट्टिलोपे स्त्रीत्वाट्टापि, दीर्घे विभक्त्यादिकार्ये 'स्त्री' इति।

(१०४) **सूचेरिति।** स्मन् स्यात्।

---

(९८) **पद–** इन्देः कमिः, नलोपः, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– इन्द् धातु से 'कमि' प्रत्यय होता है और धातु के नकार का लोप होता है।

उदाहरण– इन्द् + कमि (= 'अम्', 'न्' का लोप–'इन्देर्कमिः नलोपश्च', वि० का०) = इदम्।

(९९) **पद–** कायतेः, डिमिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कै धातु से डिमि प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ कै + डिमि (= 'इम्'–'कायतेर्डिमिः', डित्त्वात् टि का लोप, वि० का०) = किम्।

(१००) **पद–** सर्वधातुभ्यः, ष्ट्रन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सभी धातुओं से ष्ट्रन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ वस् + ष्ट्रन् (= 'त्र', वि० का०) = वस्त्रम्। (२) ✓ अस् + ष्ट्रन् (= 'त्र', वि० का०) = अस्त्रम्। (३) ✓ शास् + ष्ट्रन् = शास्त्रम्।

(१०१) **पद–** अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अम् आदि धातुओं से क्त्र प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ अम् + क्त्र (= 'त्र'–'अमिचि०', इदित्त्वान्नुम् = 'न्', वि० का०) = अन्त्रम्। (२) ✓ चि + क्त्र = चित्रम्। (३) ✓ मिद् + क्त्र = मित्रम्। (४) ✓ शस् + क्त्र = शस्त्रम्।

(१०२) **पद–** पुवः, ह्रस्वः, च। **अनुवृत्ति–** क्त्रः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– पू धातु से क्त्र प्रत्यय होता है तथा धातु को ह्रस्व भी होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०१) से 'क्त्रः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ पू + क्त्र (= त्र, ह्रस्व– 'ऊ' = 'उ'–'पुवो ह्रस्वश्च', वि० का०) = पुत्रः।

(१०३) **पद–** स्त्यायतेः, ड्रट्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– स्त्यै धातु से ड्रट् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ स्त्यै + ड्रट् (= 'र'–'स्त्यायतेर्ड्रट्', डित्त्वात् टिलोप, 'य्' का लोप)– स्त्र (स्त्रीत्व विवक्षा में टित् होने से ङीप् = 'ई', वि० का०) = स्त्री।

(१०४) **पद–** सूचेः, स्मन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सूच् धातु से स्मन् प्रत्यय होता है।

(१०५) पातेर्डुम्सुन्। पुमान्। **(१०६) वसेस्तिः।** 'वस्तिर्नाभेरधो द्वयोः'। **(१०७) सावसेः।** स्वस्ति। **(१०८) वौ तसेः।** 'वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः' इत्यमरः। **(१०९) सर्वधातुभ्योऽसुन्।** चेतः। सरः। पयः। सद इत्यादि। **(११०) अशेर्देवने युट् च।**

---

(१०५) **पातेरिति।** पाधातोर्डुम्सुन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१०६) **वसेरिति।** वस्धातोः तिः स्यात्।

(१०७) **साविति।** सुपूर्वादस्तेस्तिप्रत्ययः स्यात्।

(१०८) **वाविति।** विपूर्वात्तस्धातोः तिप्रत्ययः स्यात्।

(१०९) **सर्वेति।** असुन् स्यात्। **चेतः**– चित्धातोः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इत्यनेनासुनि, गुणे सुबादिकार्ये 'चेतः' इति।

(११०) **अशेरिति।** असुन् स्याद्धातोर्युडागमश्चेत्यर्थः। **यशः**– अश्धातोरसुनि धातोः युडागमेऽनुबन्धलोपे विभक्तिकार्ये 'यशः' इति।

उदाहरण– ✓ सूच् + स्मन् (= 'स्म', 'च्' = 'क्'–कुत्व– 'चोः कुः', षत्व, क् + ष् = 'क्ष्', वि० का०) = सूक्ष्म।

(१०५) **पद–** पातेः, डुम्सुन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– पा धातु से डुम्सुन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ पा + डुम्सुन् (= 'उम्स्'–'पातेर्डुम्सुन्', डित्त्वात् टि 'आ' का लोप)–पुम्स् (सु = स्, असुङ् = अस्, वि० का०) = पुमान्।

(१०६) **पद–** वसेः, तिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– वस् धातु से ति प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ वस् + 'ति' (वि० का०) = वस्तिः।

(१०७) **पद–** सौ, असेः। **अनुवृत्ति–** तिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सुपूर्वक अस् धातु से ति प्रत्यय होता है।

उदाहरण– सु + ✓ अस् + 'ति' (यण्, वि० का०) = स्वस्तिः।

(१०८) **पद–** वौ, तसेः। **अनुवृत्ति–** तिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– विपूर्वक तस् धातु से ति प्रत्यय होता है।

विमर्श– उक्त सूत्र (१०६) से 'तिः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– वि + ✓ तस् + 'ति' (सु = स् = र् = :) = वितस्तिः (= १२ अङ्गुल)।

(१०९) **पद–** सर्वधातुभ्यः, असुन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सभी धातुओं से असुन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ चिती (चित्) + असुन् (= अस्, 'इ'–'ए'–गुण, सु का लुक्, 'स्' = र् = :) = चेतः। (२) ✓ सृ + असुन् (= अस्, ऋ = 'अ'–गुण, रपर, वि० का०) = सरः। (३) ✓ पीङ् (पी) + असुन् (= 'अस्', 'ई' = 'ए'–गुण, 'ए' = 'अय्' आदेश, वि० का०) = पयः। (४) ✓ सद् + असुन् (= अस्, वि० का०) = सदः।

(११०) **पद–** अशेः, देवने, युट्, च। **अनुवृत्ति–** असुन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अश् धातु से स्तुति अर्थ में असुन् प्रत्यय होता है और युट् का आगम होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१०९) से 'असुन्' की अनुवृत्ति आती है।

देवने–स्तुतौ। यशः।(१११) **उब्जेर्बले बलोपश्च**। ओजः।(११२) **श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च**। श्रयतेः शिर आदेशोऽसुन्किच्च। शिरः। (११३) **अर्तेरुच्च**। उरः। (११४) **भूरञ्जिभ्यां कित्**। भुवः। रजः। (११५) **वसेर्णिच्च**। वासो वस्त्रम्।

---

(१११) **उब्जेरिति**। उब्जेरसुन् स्यात् बलोपश्चेति।

(११२) **श्रयतेरिति**। श्रिधातोरसुन् स्यात् धातोः शिरादेशश्च।

(११३) **अर्तेरिति**। ऋधातोरसुन्प्रत्ययः स्याद्धातोरुच्च। **उरः**– ऋधातोरसुनि अनुबन्धलोपे धातोरुदादेशे, रपरत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'उरः' इति।

(११४) **भूरञ्जिभ्यामिति**। असुन् स्यात् स च किदित्यर्थः।

(११५) **वसेरिति**। असुन्प्रत्ययो भवति स च णिद्भवतीत्यर्थः।

उदाहरण– ✓ अश् + असुन् (= अस्, युट् = 'य्' का आगम)– यशस् (सु = 'स्' का लोप, स् = र् = :) = यशः।

(१११) **पद**– उब्जेः, बले, बलोपः, च। **अनुवृत्ति**– असुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– उब्ज् धातु से 'असुन्' प्रत्यय होता है तथा बकार का लोप होता है बल अर्थ में।

विमर्श– पूर्ववत् 'असुन्' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ उब्ज् + असुन् (= अस्, 'ब्' का लोप–'उब्जेर्बले बलोपश्च', 'उ' = 'ओ'– गुण– 'पुगन्त०', वि० का०) = ओजः।

(११२) **पद**– श्रयतेः, स्वाङ्गे, शिरः, कित्, च। **अनुवृत्ति**– असुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– श्रि धातु से स्वाङ्ग अर्थ में असुन् प्रत्यय और धातु को शिर् आदेश होता है तथा प्रत्यय कित् होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'असुन्' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ श्रि + असुन् (= 'अस्', श्रि = शिर्, किद्वद्भाव–'श्रयतेः स्वाङ्गे०', कित्त्व होने से गुण का निषेध)–शिरस् (सु = 'स्' का लोप, स् = र् = :) = शिरः।

(११३) **पद**– अर्तेः, उत्, च। **अनुवृत्ति**– असुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ऋ धातु से असुन् प्रत्यय और धातु को उत् आदेश होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में भी पूर्ववत् 'असुन्' की अनुवृत्ति आती है, तदनुसार उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण– ✓ ऋ + असुन् (= 'अस्', ऋ = उत् = 'उ', रपर, वि० का०) = उरः।

(११४) **पद**– भूरञ्जिभ्याम्, कित्। **अनुवृत्ति**– असुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– भू और रञ्ज् धातु से असुन् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'असुन्' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– (१) ✓ भू + असुन् (= अस्, कित्–'भूरञ्जिभ्यां कित्', कित्त्व होने से गुण का अभाव, 'ऊ' = उवङ् = 'उव्', सु = 'स्' का लोप, स् = र् = :) = भुवः। (२) ✓ रञ्ज् + असुन् (= अस्, कित्त्वेन गुणाभाव, 'न्' का लोप, वि० का०) = रजः।

(११५) **पद**– वसेः, णित्, च। **अनुवृत्ति**– असुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– वस् धातु से असुन् प्रत्यय होता है और वह णित् होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'असुन्' की अनुवृत्ति आती है।

(११६) चन्देरादेश्च छः। छन्दः। **(११७) पचिवचिभ्यां सुट् च।** 'पक्षसी तु स्मृतौ पक्षौ'। वक्षः। **(११८) नञि हन एह च।** अनेहा। अनेहसौ। **(११९) विधाञो वेध च।** वेधाः। **(१२०) चन्द्रे मो डित्।** चन्द्रोपपदान्माङोऽसिः च स डित्। चन्द्रमाः।

---

(११६) **चन्देरिति**। असुन् स्यात् आदेश्च चस्य छो भवति। **छन्दः**- चन्दधातोरसुनि चस्य छत्वे सुबादिकार्ये 'छन्दः' इति।

(११७) **पचीति**। असुन् स्यात्सुट् च।

(११८) **नञीति**। नञ्पूर्वात् हन्धातोरसुन्प्रत्ययः, हन एहादेशश्चेत्यर्थः।

(११९) **विधाञ इति**। विपूर्वाद् धाञ्धातोरसुन् प्रकृतेः वेधादेशश्चेत्यर्थः। विदधातीति वेधाः।

(१२०) **चन्द्र इति**। चन्द्रपूर्वान्माङोऽसुनि स च डिद्भवतीत्यर्थः।

उदाहरण- ✓ वस् + असुन् (= अस्, णित्व-'वसेर्णिच्च', उपधावृद्धि, विभक्तिकार्य) = वासः।

(११६) **पद**- चन्देः, आदेः, च, छः। **अनुवृत्ति**- असुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- चन्द् धातु से असुन् प्रत्यय होता है और धातु के आदि को 'छ' आदेश होता है।

उदाहरण- ✓ चन्द् + असुन् (= अस्, 'च्' = 'छ्' आदेश, सु = 'स्' का लुक्, स् = र् = :) = छन्दः।

(११७) **पद**- पचिवचिभ्याम्, सुट् च। **अनुवृत्ति**- असुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- पच् और वच् धातु से असुन् प्रत्यय होता है और सुट् = ('स्') का आगम होता है।

विमर्श- पूर्वसूत्र (१०९) से 'असुन्' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण- (१) ✓ पच् + असुन् (= 'अस्', सुट् = 'स्' का आगम)- पच् स् अस् ('च्' = 'क्'-कुत्व, 'स्' = 'ष्'-षत्व, क् + ष् = क्ष, सु = 'स्' का लोप, स् = र् = :) = पक्षः। (२) ✓ वच् + असुन् (= अस्, पूर्ववत् प्रक्रिया) = वक्षः।

(११८) **पद**- नञि, हनः, एहः, च। **अनुवृत्ति**- असुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- नञ्पूर्वक हन् धातु से असुन् प्रत्यय होता है और धातु को 'एह्' आदेश होता है।

विमर्श- पूर्ववत् असुन् की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण- (१) नञ् + ✓ हन् + असुन् (= 'अस्', 'हन्' = 'एह्' आदेश- 'नञि हन०', 'न्' का लोप-'नलोपो नञः', नुट् = 'न्' का आगम)-अनेहस् (सु = स्, अनङ् = 'अन्', उपधादीर्घ, 'स्' का लोप, 'न्' का लोप) = अनेहाः। (२) प्रथमा द्वि० व०-अनेहसौ।

(११९) **पद**- विधाञः, वेध, च। **अनुवृत्ति**- असुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- विपूर्वक धा धातु से असुन् प्रत्यय होता है और प्रकृति को 'वेध' आदेश होता है।

विमर्श- उक्तवत् 'असुन्' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण- वि + ✓ धा + असुन् (= अस्, प्रकृति-वि + धा = वेध आदेश-'विधाञो०')- वेधस् (वि० का०) = वेधाः।

(१२०) **पद**- चन्द्रे, मः, डित्। **अनुवृत्ति**- असिः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- चन्द्र उपपद रहते माङ् धातु से असि प्रत्यय होता है और वह डित् होता है।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'असिः' की अनुवृत्ति आती है।

(१२१) उषः कित्। उषः। **(१२२) सर्तेरप्पूर्वादसिः।** अप्सराः। प्रायेणायं भूम्नि –अप्सरसः। **(१२३) वशेः कनसिः।** उशना। **(१२४) अदिभुवो डुतच्।** अद्भुतम्। **(१२५) गुधेरूमः।** गोधूमः। **(१२६) तृहेः क्नो हलोपश्च।** तृणम्। **(१२७) उदि**

---

(१२१) **उष इति।** उषधातोरसिप्रत्ययः स च कित् स्यादित्यर्थः। **उष इति।** उष्धातोरसि प्रत्यये कित्त्वे च कित्त्वान्नोपधागुणे विभक्तिकार्ये 'उषः' इति।

(१२२) **सर्तेरिति।** अप्पूर्वात्सृधातोरसिः स्यादित्यर्थः।

(१२३) **वशेरिति। उशना–** 'वश कान्तौ' इत्यस्माद्धातोः 'वशेः कनसिः' इत्यनेन कनसि प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, कित्त्वात्सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'उशनस्' इति जाते, सौ 'ऋदुशनस्' इत्यनङि उपधादीर्घे, सलोपे नलोपे कृते 'उशना' इति।

(१२४) **अदीति।** अद्पूर्वाद्भूधातोः डुतच् स्यादित्यर्थः।

(१२५) **गुधेरिति।** गुधधातोः ऊमः स्यादिति।

(१२६) **तृहेरिति।** क्नः स्यात् हलोपश्चेत्यर्थः। **तृणम्–** तृह्धातोः क्नप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, हकारलोपे 'ऋवर्णादि'ति णत्वे सुबादिकार्ये 'तृणमि'ति।

उदाहरण– चन्द्र + ✓ मा + असि (= 'अस्', डिद्वद्भाव–'चन्द्रे मो डित्', टिलोप) – चन्द्रमस् (वि० का०) = चन्द्रमाः।

(१२१) **पद–** उषः, कित्। **अनुवृत्ति–** असिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– उष् धातु से असि प्रत्यय होता है और वह कित् होता है।

विमर्श– 'असिः' की अनुवृत्ति आती है। अतः उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण– उष् + असि (= अस्, कित्त्व, कित्त्वात् गुणनिषेध, वि० का०) = उषः।

(१२२) **पद–** सर्तेः, अप्पूर्वात्, असिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अप्पूर्वक सृ धातु से असि प्रत्यय होता है।

उदाहरण– अप् + सृ + असि (= अस्, 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर) – अप्सरस् (प्र० बहुव० जस् = 'अस्', स् = र् = :) अप्सरसः।

(१२३) **पद–** वशेः, कनसिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– वश् धातु से कनसि प्रत्यय होता है। इकार उच्चारणार्थक है।

उदाहरण– ✓ वश् + कनसि (= 'अनस्', 'व्' = 'उ'–सम्प्रसारण, पूर्वरूप, सु = स्, स् = अनङ् = अन्, दीर्घ, स् का लोप, 'न्' का लोप) = उशना।

(१२४) **पद–** अदिभुवः, डुतच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अद्पूर्वक भू धातु से डुतच् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– अद् + ✓ भू + डुतच् (= 'उत', डित्त्वात् टिलोप, वि० का०) = अद्भुतम्।

(१२५) **पद–** गुधेः, ऊमः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– गुध् धातु से ऊम प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ गुध् + 'ऊम' (–'गुधेरूमः', 'उ' = 'ओ'–गुण– 'पुगन्त०', प्रा० सं०, सु = स् = र् = :) = गोधूमः।

(१२६) **पद–** तृहेः, क्नः, हलोपः, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– तृह् धातु से क्न प्रत्यय और 'ह्' का लोप होता है।

चेर्डैसिः। उच्चैः। (१२८) नौ दीर्घश्च। नीचैः। (१२९) पूञो यण्णुक् ह्रस्वः। यत्प्रत्ययः। पुण्यम्। (१३०) उदि दृणातेरजलौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च। उदरम्। (१३१) डित्खनेर्मुट् चोदात्तः। अजल् च डिद्धातोर्मुट्। मुखम्। (१३२) अमेः

---

(१२७) **उदीति। उच्चैरिति।** उत्पूर्वाच्चिधातोः डैसिप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, डित्त्वाट्टिलोपे श्चुत्वे, सौ सस्य रुत्वे विसर्गे 'उच्चैः' इति।

(१२८) **नाविति।** निपूर्वाच्चिधातोर्डैसिः स्यान्नेर्दीर्घश्च।

(१२९) **पूञ इति।** यत् स्यात्। **पुण्यम्–** पूञ्धातोर्यत्प्रत्यये पुगागमे ह्रस्वे च कृते विभक्तिकार्ये 'पुण्यमि'ति।

(१३०) **उदीति।** उदि उपपदे दृधातोरच्स्यात् पूर्वपदान्त्यलोपश्चेत्यर्थः।

(१३१) **डिदिति।** डित्खनेर्मुडागमः स्यात्।

(१३२) **अमेरिति।** अम्धातोः सन्प्रत्ययः स्यादिति।

उदाहरण– ✓ तृह् + क्न (= 'न', 'ह्' का लोप–'तृहेः क्नो हलोपश्च', णत्व, वि० का०) = तृणम्।

(१२७) **पद–** उदि, चेः, डैसिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– उत्पूर्वक 'चि' धातु से डैसि प्रत्यय होता है।

उदाहरण– उत् + ✓ चि + डैसि (= ऐस्, टि = 'इ' का लोप, 'त्' = 'च्'–श्चुत्व, सु = 'स्' का लुक्, स् = र् = :) = उच्चैः।

(१२८) **पद–** नौ, दीर्घः, च। **अनुवृत्ति–** डैसिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– निपूर्वक चि धातु से डैसि प्रत्यय होता है और 'नि' को दीर्घ होता है।

उदाहरण– नि + ✓ चि + डैसि (= ऐस्, दीर्घ, वि० का०) = नीचैः।

(१२९) **पद–** पूञः, यण्णुक्, ह्रस्वः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– पूञ् धातु से यत् प्रत्यय, णुक् का आगम और प्रकृति को ह्रस्व होता है।

उदाहरण– ✓ पूञ् (पू) + यत् (= 'य', णुक् = 'ण्' का आगम, ऊ = 'उ'–ह्रस्व–'पूञो यण्णुक्०', वि० का०) = पुण्यम्।

(१३०) **पद–** उदि, दृणातेः, अजलौ, पूर्वपदान्त्यलोपः, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– उत्पूर्वक दृ धातु से अच् और अल् प्रत्यय होते हैं तथा उद् के 'द्' का लोप भी होता है।

उदाहरण– उद् + दृ + अच् (= 'अ', 'द्' का लोप–'उदि दृणाते०', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, वि० का०) = उदरम्।

(१३१) **पद–** डित्खनेः, मुट्, च, उदात्तः। **अनुवृत्ति–** अजलौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– खन् से अच् और अल् प्रत्यय होते हैं तथा मुट् का आगम होता है और वह उदात्त होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३०) से 'अजलौ' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ खन् + अच् (= 'अ', मुट् = 'मु' का आगम, आद्यवयव डित् होने से टिलोप, वि० का०) = मुखम्।

(१३२) **पद–** अमेः, सन्। **विधिसूत्र।**

सन्। अंसः। **(१३३) मुहेः खो मूर्च।** मूर्खः। **(१३४) नहेर्हलोपश्च।** नखः। **(१३५) शीङो ह्रस्वश्च।** शिखा। **(१३६) माङ ऊखो मय् च।** मयूखः। **(१३७) जनेष्टन्नलोपश्च।** जटा। **(१३८) क्लिशेरन् लो लोपश्च।** केशः। **(१३९)**

---

(१३३) **मुहेरिति।** मुह्धातोः खप्रत्ययः धातोः 'मूर्' इत्यादेशश्चेत्यर्थः।

(१३४) **नहेरिति।** खः स्यात् हलोपश्च। **नखः**– नह्धातोः खप्रत्यये हकारलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'नखः' इति।

(१३५) **शीङ इति।** खः स्याद्धातोः ह्रस्वश्च। **शिखा**– शीङ्धातोः 'शीङो ह्रस्वश्चे'ति खप्रत्यये ह्रस्वे, स्त्रीत्वे टापि दीर्घे विभक्तिकार्ये 'शिखा' इति।

(१३६) **माङ इति।** माङ्धातोरूखप्रत्ययः स्यात् धातोः मयादेशश्चेत्यर्थः।

(१३७) **जनेरिति।** टन्स्यान्नलोपश्चेति भावः।

(१३८) **क्लिशेरिति।** अन् स्याल्ललोपश्चेत्यर्थः। **केशः**– क्लिश्धातोः 'क्लिशेरन् ललोपश्चे'त्यनेन अन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे लकारलोपे च 'पुगन्त०' इति गुणे, विभक्तिकार्ये 'केशः' इति।

मूलार्थ– अम् धातु से सन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ अम् + सन् (= 'स'–'अमेः सन्', अनुस्वार, वि० का०) = अंसः।

(१३३) **पद**– मुहेः, खः, मूर्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– मुह् धातु से 'ख' प्रत्यय होता है और धातु को 'मूर्' आदेश होता है।

उदाहरण– ✓ मुह् + 'ख' (मुह् = 'मूर्'–'मुहेः खो०', वि० का०) = मूर्खः।

(१३४) **पद**– नहेः, हलोपः, च। **अनुवृत्ति**– खः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– नह् धातु से ख प्रत्यय होता है और ह् का लोप होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३३) से 'खः' की अनवृत्ति आती है।

उदाहरण– ✓ नह् + 'ख' ('ह्' का लोप–'नहेर्हलोपश्च', वि० का०) = नखः।

(१३५) **पद**– शीङः, ह्रस्वः, च। **अनुवृत्ति**– खः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– शीङ् धातु से ख प्रत्यय होता है और ह्रस्व भी होता है।

विमर्श– पूर्ववत् 'ख' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– शीङ् (शी) + 'ख' (ह्रस्व, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ', दीर्घ, वि० का०) = शिखा।

(१३६) **पद**– माङः, ऊखः, मय्, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– माङ् धातु से ऊख प्रत्यय और माङ् को 'मय्' आदेश होता है।

उदाहरण– माङ् (मा) + 'ऊख' ('मा' = 'मय्', वि० का०) = मयूखः।

(१३७) **पद**– जनेः, टन्, नलोपः, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– जन् धातु से टन् प्रत्यय होता है और 'न्' का लोप होता है।

उदाहरण– ✓ जन् + टन् (= 'ट', 'न्' का लोप, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ', दीर्घ, वि० का०) = जटा।

(१३८) **पद**– क्लिशेः, अन्, ललोपः, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– क्लिश् धातु से अन् प्रत्यय होता है और 'ल्' का लोप होता है।

फलेरितजादेश्च पः। पलितम्। **(१४०) कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन्।** करकः। कटकः। नरकः। नरकम्। 'नरको नारकोऽपि च' इति द्विरूपकोशः। **(१४१) चीकयतेराद्यन्तविपर्ययश्च।** कीचकः। **(१४२) जनेररष्ठ च।** जठरम्। **(१४३) हर्यतेः कन्यन् हिर च।** हिरण्यम्। **(१४४) कृञः पासः।** कर्पासः। बिल्वादित्वात्कार्पासम्।

---

(१३९) **फलेरिति।** फलधातोरितच् स्यादादेश्च पकारः।

(१४०) **कृञादिभ्य इति।** वुन् स्यात्। **करकः**– कृधातोः वुन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'युवोरनाकौ' इति अनादेशे, गुणे रपरे विभक्तिकार्ये 'करकः' इति।

(१४१) **चीकयतेरिति। कीचकः**– चीकधातोः वुन्प्रत्यये आद्यन्तविपर्यये कृते 'वु' इत्यस्याकादेशे सुबादिकार्ये कीचकः' इति।

(१४२) **जनेरिति।** जन्धातोररप्रत्ययः धातोः ठकारश्चान्तादेशश्चेत्यर्थः।

(१४३) **हर्यतेरिति।** हर्य्धातोः कन्यन् प्रत्ययः, प्रकृतेर्हिरादेशश्चेति।

(१४४) **कृञ इति।** कृधातोः पासः स्यात्। **कार्पासः**– कृधातोः पासप्रत्यये गुणे रपरे सुबादिकार्ये 'कार्पासः' इति।

उदाहरण– ✓ क्लिश् + अन् (= 'अ', 'ल्' का लोप–'क्लिशेरन्०', गुण, वि० का०) = केशः।

(१३९) **पद**– फलेः, इतच्, आदेः, च, पः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– फल् धातु से इतच् प्रत्यय होता है और आदि 'फ्' के स्थान में 'प्' आदेश होता है।

उदाहरण– ✓ फल् + इतच् (= इत, 'फ्' = 'प्'–'फलेरितजादेश्च पः', वि० का०) = पलितम्।

(१४०) **पद**– कृञादिभ्यः, संज्ञायाम्, वुन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कृञ् आदि धातुओं से संज्ञा अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) ✓ कृ + वुन् (= 'वु'–'कृञादिभ्यः०', 'वु' = 'अक'–'युवोरनाकौ', ऋ = 'अ'–गुण, रपर, वि० का०) = करकः (= कमण्डलु)। (२) ✓ कट् + वुन् (= वु = अक, वि० का०) = कटकः। (३) नृ + वुन् (= वु = अक, ऋ = 'अ'–गुण, रपर) = नरकः।

(१४१) **पद**– चीकयतेः, आद्यन्तविपर्ययः, च। **अनुवृत्ति**– वुन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– चीक् धातु से वुन् प्रत्यय होता है और धातु के आदि-अन्त वर्ण का विपर्यय (अदला-बदली) हो जाता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१४०) से 'वुन्' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण– चीक् + वुन् (= 'वु' = अक आदेश, वर्णविपर्यय)-कीच् अक (वि० का०) = कीचकः (वेणु)।

(१४२) **पद**– जनेः, अरः, ठः, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– जन् धातु से अर प्रत्यय होता है और धातु को ठकार अन्तादेश होता है।

उदाहरण– ✓ जन् + **'अर'** ('न्' = 'ठ्', वि० का०) = जठरम्।

(१४३) **पद**– हर्यतेः, कन्यन्, **हिर**, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– हर्य धातु से 'कन्यन्' प्रत्यय होता है और हर्य को हिर् आदेश होता है।

उदाहरण– ✓ हर्य + कन्यन् (= 'अन्य', हर्य = 'हिर्' आदेश, णत्व, वि० का०) = हिरण्यम्।

(१४४) **पद**– कृञः, पासः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कृञ् धातु से पास प्रत्यय होता है।

(१४५) ऊर्णोतेर्डः। ऊर्णा। **(१४६) दधातेर्यन्नुट् च।** धान्यम्। **(१४७) चतेरुरन्।** चत्वारः। **(१४८) प्राततेररन्।** प्रातः। **(१४९) अमेस्तुट् च।** अन्तः। **(१५०) दहेर्गोलोपो दश्च नः।** दहेर्गप्रत्ययो धातोरन्तस्य लोपो दस्य नः। नगः।

---

(१४५) **ऊर्णोतेरिति।** डः स्यात्।

(१४६) **दधातेरिति। धान्यमिति।** धाधातोः 'दधातेर्यत् नुट् चे'त्यनेन यत्प्रत्यये नुडागमेऽनुबन्धलोपे विभक्तिकार्ये धान्यमिति।

(१४७) **चतेरिति।** चत्धातोरुरन् स्यादित्यर्थः।

(१४८) **प्राततेरिति।** प्रपूर्वादत्धातोररन् स्यादित्यर्थः।

(१४९) **अमेरिति। अन्तः**– अम्धातोः 'अमेस्तुट् चे'त्यनेन अरन्प्रत्यये तुटि, सुबादिकार्ये 'अन्तः' इति।

(१५०) **दहेरिति। नगः**– दह्धातोः 'दहेर्गोलोपो दश्च नः' इत्यनेन गप्रत्यये हलोपे दस्य नत्वे विभक्तिकार्ये 'नगः' इति।

उदाहरण– ✓ कृ + 'पास' (–'कृञः पासः', ऋ = 'अ'–गुण, रपर, सु = स् = र् = :) = कर्पासः। 'बिल्वादिभ्योऽण्' से अण् होकर वृद्धि–कार्पासम्।

(१४५) **पद**– ऊर्णोतेः, डः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ऊर्णुञ् धातु से ड प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ ऊर्णुञ् (ऊर्णु) + ड (= 'अ', डित्त्वाट्टिलोप, टाप् = 'आ', दीर्घ. वि० का०) = ऊर्णा।

(१४६) **पद**– दधातेः, यत्, नुट्, च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– धा धातु से यत् प्रत्यय होता है और नुट् का आगम होता है।

उदाहरण– ✓ धा + यत् (= 'य', नुट् = 'न्' आगम–'दधातेर्यत्०', वि० का०) = धान्यम्।

(१४७) **पद**– चतेः, उरन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– चत् धातु से 'उरन्' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ चत् + उरन् (= 'उर')–चतुर् (प्रथमा) = चत्वारः।

(१४८) **पद**– प्राततेः, अरन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– प्रपूर्वक अत् धातु से अरन् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– प्र + अत् + अरन् (= 'अर्', अ + अ = 'आ', सवर्णदीर्घ, सु का लुक्, र् =:) = प्रातः।

(१४९) **पद**– अमेः, तुट्, च। **अनुवृत्ति**– अरन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अम् धातु से अरन् प्रत्यय होता है और तुट् आगम होता है।

उदाहरण– ✓ अम् + अरन् (= 'अर्', तुट् = 'त्' आगम–'अमेस्तुट् च', अनुस्वार, वि० कार्य) = अन्तः।

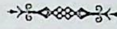
(१५०) **पद**– दहेः, गः, लोपः, दः, च, नः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– दह् धातु से 'ग' प्रत्यय होता है और धातु के अन्त का लोप होता है तथा द् के स्थान में 'न्' आदेश होता है।

उदाहरण– ✓ दह् + 'ग' (ह् का लोप, 'द्' = 'न्'–'दहेर्गोलोपो दश्च नः', वि० का०) = नगः (पर्वत)।

(१५१) हन्तेरच् घुर च। घोरम्। **(१५२) तरतेर्ड्रिः।** त्रयः। त्रीन्। **(१५३) ग्रहेरनिः।** ग्रहणिः। **(१५४) प्रथेरमच्।** प्रथमः। **(१५५) चरेश्च।** चरमः। **(१५६) मङ्गेरलच्।** मङ्गलम्।

इत्युणादिप्रकरणम् ।



---

(१५१) **हन्तेरिति।** अच् स्यात् घुर् चादेशश्चेत्यर्थः।

(१५२) **तरतेरिति।** ड्रिः स्यात्। **'त्रयः'**– तृधातोः ड्रिप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, डित्त्वाट्टिलोपे त्रि इत्यस्य जसि 'त्रयः' इति।

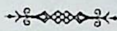
(१५३) **ग्रहेरिति।** ग्रह्धातोरनिः स्यादिति।

(१५४) **प्रथेरिति।** अमच् स्यादित्यर्थः।

(१५५) **चरेरिति।** अमच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१५६) **मङ्गेरिति। अलच् स्यादिति। मङ्गलम्**– मगिधातोः इदित्त्वान्नुमि अनुस्वारे परसवर्णे 'मङ्गेरलच्' इत्यनेन अलच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, सुबादिकार्ये 'मङ्गलमि'ति।

इत्युणादिप्रकरणम् ।



---

(१५१) **पद**– हन्तेः, अच्, घुर् च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– हन् धातु से अच् प्रत्यय होता है और धातु को घुर् आदेश होता है।

उदाहरण– ✓ हन् + अच् (= 'अ', 'हन्' = 'घुर्'–'हन्तेरच्०', वि० का०) = घोरम्।

(१५२) **पद**– तरतेः, ड्रिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– तृ धातु से 'ड्रि' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ तृ + ड्रि (= 'रि'–'तरतेर्ड्रिः', डित्त्वात् 'टि' का लोप)–त्रि (प्रथमा बहुव० जस् = अस्, गुण, अयादेश, स् = र् = :) = त्रयः।

(१५३) **पद**– ग्रहेः, अनिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ग्रह् धातु से 'अनि' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ ग्रह + 'अनि' (णत्व, वि० का०) = ग्रहणिः।

(१५४) **पद**– प्रथेः, अमच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– प्रथ् धातु से अमच् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ प्रथ् + अमच् (= 'अम', वि० का०) = प्रथमः।

(१५५) **पद**– चरेः, च। **अनुवृत्ति**– अमच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– चर् धातु से भी अमच् प्रत्यय होता है।

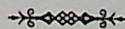
उदाहरण– ✓ चर् + अमच् (= 'अम', वि० का०) = चरमः।

(१५६) **पद**– मङ्गेः, अलच्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– मगि धातु से अलच् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– ✓ मगि (इदित्, नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण)–मङ्ग + अलच् (= 'अल'–'मङ्गेरलच्', सु, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = मङ्गलम्।

उणादि-प्रकरण समाप्त ।



अथोत्तरकृदन्तप्रकरणम्

(१२६१) उणादयो बहुलम् ३।३।१ । एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः। केचिदविहिता अप्यूह्याः।

"संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु"॥

(१२६२) दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने ३।४।७३ । एतौ निपात्येते। दाशन्ति तस्मै दाशः। गां हन्ति तस्मै गोघ्नः अतिथिः। **(१२६३) तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां**

(१२६१) **उणादय इति**। 'वर्तमाने लडि'त्यतः वर्तमान इति, 'पुवः संज्ञायामि'त्यतः संज्ञायामिति चानुवर्तते। अत आह-**एते वर्तमान इत्यादिना। संज्ञास्विति**। संज्ञासु = नामशब्देषु (गवादिशब्देषु डित्थडवित्थादिषु च) धातुरूपाणि ऊहनीयाः = कल्पनीयाः। ततो धातुभ्यः परे यथासम्भवं प्रत्ययाः उण् ञुण् डो इत्यादयः कल्पनीयाः। तेषु च कार्यात् = कार्यानुरूपमित्यर्थः, अनूबन्धम् - अनुबन्धं = णकारककारादिकं, विद्यात् = जानीयात्। एतत् = एतावन्मात्रमेवोणादिषु शास्त्रम् = अनुशासनमस्तीत्यर्थः। भाष्यस्थेयं कारिका। शाकटायनप्रणीतानि उणादिसूत्राणि तु अस्यैव बहुलग्रहणस्य प्रपञ्च इत्यर्थः। बहुलग्रहणेनैव महर्षिणा पाणिनिना तानि सङ्ग्रहीतानीति भावः।

(१२६२) **दाशगोघ्नाविति**। अच्टक्प्रत्ययान्तौ सम्प्रदानेऽर्थे एतौ निपात्येते इत्यर्थः।

(१२६१) **पद**– उणादयः, बहुलम्। **अनुवृत्ति**– वर्तमाने, संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– वर्तमान काल में संज्ञा के वाच्य होने पर उणादि प्रत्यय बहुल प्रकार से होते हैं। इनमें विधान न किये हुए भी प्रत्यय स्वयं कल्पित कर लेना चाहिए।

'संज्ञासु'– संज्ञा शब्दों में यथासम्भव धातु की कल्पना करनी चाहिए और पुनः उससे प्रत्यय की कल्पना करनी चाहिए। प्रयोगों में गुणाभाव, वृद्धि आदि कार्यों को देखकर प्रत्ययों से अनुबन्ध की कल्पना भी करनी चाहिए। उणादियों में यही शास्त्रविधान है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'वर्तमाने लट्'(३।२।१२३) से 'वर्तमाने' तथा 'पुवः संज्ञायाम्' (३।२।१८५) से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार-"धातु से उण् आदि प्रत्यय वर्तमान काल में संज्ञा के वाच्य होने पर बहुल से होते हैं।" बहुल का विवेचन 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (कृत्यप्रकरणम्) सूत्र की व्याख्या में किया जा चुका है। प्रकृत में बहुल ग्रहण का प्रयोजन यह है कि यदि किसी शब्द में प्रत्यय का विधान करने वाला कोई सूत्र न हो तो स्वयं प्रकृति-प्रत्ययों की कल्पना कर लेना चाहिए। उदाहरणार्थ-'ऋफिड्ड' शब्द में ऋ धातु से फिड्ड प्रत्यय की कल्पना की जानी चाहिए। 'ऋ' को गुणनिषेध करने के लिए प्रत्ययों को कित् आदि भी कहना चाहिए।

(१२६२) **पद**– दाशगोघ्नौ, सम्प्रदाने। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– दाश और गोघ्न शब्द सम्प्रदान अर्थ में निपातित होते हैं। दाशः। गोघ्नः।

विमर्श– दाश और गोघ्न कृदन्त शब्द सम्प्रदान-कारक में निपातन किये जाते हैं। तदनुसार-"दाशृ धातु से अच् तथा गोपूर्वक हन् धातु से टक् प्रत्यय निपातन से होता है।"

उदाहरण– (१) ✓ दाशृ + अच् (= 'अ' निपातन से-'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने', प्राति० संज्ञा,

क्रियार्थायाम् ३।३।१० । क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः। मान्तत्वादव्ययत्वम्। कृष्णं द्रष्टुं याति। कृष्णं दर्शको याति। **(१२६४) कालसमयवेलासु**

(१२६३) **तुमुन्निति**। धातोरित्यधिकृतम्। 'भविष्यति गम्यादयः' इत्यतः भविष्यतीत्यनुवर्तते। क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्याः सा क्रियार्था क्रिया, तस्यामुपपदे = क्रियोद्देश्यीभूतक्रियावृत्तिधातावुपपदे इत्यर्थः। तदाह–**क्रियार्थायामिति। द्रष्टुमिति**। 'दृशिर् प्रेक्षणे' इत्यस्माद्धातोः 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इत्यनेन तुमुन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'दृश् तुम्' इति जाते, 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इत्यनेन अमि अनुबन्धलोपे यणि 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादिना शस्य मूर्धन्यादेशे, ष्टुत्वे संयोगे कृते प्रातिपदिकत्वे सौ 'कृन्मेजन्तः' इत्यनेन मान्तत्वादव्ययसंज्ञायाम्, 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यनेन सोर्लुकि 'द्रष्टुमि'ति।

(१२६४) **कालसमयेति**। अत्रार्थोपलक्षणार्थं पर्यायग्रहणम्। अतः कालार्थेषूपपदेषु धातोः तुमुन् स्यादित्यर्थः।

सु = स् = र् = :) = दाशः (जिसके लिए दिया जाता है)। (२) गो + ✓ हन् + टक् (= 'अ'- निपातन से सम्प्रदान अर्थ में, 'ह्' = 'घ्'-कुत्व, 'अ' उपधा का लोप-गमहन०', विभक्तिकार्य) = गोघ्नः (गां = दुग्धादिकं घ्नन्ति = प्राप्नुवन्ति यस्मै स गोघ्नोऽतिथिः = गौ का दूध आदि जिसके लिए प्राप्त किया जाता है, ऐसा अतिथि। अथवा गां = वाचम्, हन्ति = उच्चारयति अस्मै इति गोघ्नः अतिथिः। अर्थात् जिसके लिए स्वागत-वचनों का उच्चारण किया जाता है, ऐसा अतिथि।

(१२६३) **पद**– तुमुन्ण्वुलौ, क्रियायाम्, क्रियार्थायाम्। **अनुवृत्ति**– भविष्यति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– क्रियार्थक क्रिया के उपपद रहते भविष्यत्काल अर्थ में धातु से तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय होते हैं। तुमुन् (= तुम्) प्रत्यय के मकारान्त होने से तदन्त शब्द की 'कृन्मेजन्तः' सूत्र से अव्यय संज्ञा होती है। कृष्णं द्रष्टुं याति, दर्शको याति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'भविष्यति गम्यादयः' (३।३।३) से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। क्रिया अर्थः = प्रयोजनं यस्याः सा क्रियार्था, तस्यां क्रियार्थायाम् (बहुव्रीहिः)। किसी क्रिया की सिद्धि के लिए जब दूसरी क्रिया की जाती है तो वह द्वितीय क्रिया प्रथम क्रिया की क्रियार्था क्रिया कहलाती है। इस प्रकार–''क्रियार्थक क्रिया उपपद हो तो भविष्यत् काल में तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय होते हैं''।

'तुमुन्' में उकार तथा नकार इत्संज्ञक है। 'तुम्' मात्र अवशिष्ट रहता है। 'ण्वुल्' में 'चुटू' से णकार तथा 'हलन्त्यम्' से लकार की इत्संज्ञा होती है। लोप होकर 'वु' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ दृशिर् (दृश्) + तुमुन् (= 'तुम्'-'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्', अम् = 'अ'-सृजिदृशोर्झल्यमकिति', 'ऋ' = 'र्'-यण्, 'श्' = 'ष्'-'व्रश्चभ्रस्ज०', 'त्' = 'ट्'-ष्टुत्व, प्राति० संज्ञा, सु, अव्यय संज्ञा-'कृन्मेजन्तः', 'सु' का लुक्-'अव्ययादाप्सुपः') = द्रष्टुम्। कृष्णं द्रष्टुं याति (= कृष्ण को देखने के लिए जाता है)। (२) ✓ दृश् + ण्वुल् (= 'वु'-'तुमुन्ण्वुलौ०', 'वु' = 'अक'- 'युवोरनाकौ', 'ऋ' = 'अ'-गुण, रपर, प्रातिपदिक संज्ञा, सु = स् = र् = :) = दर्शकः।

(१२६४) **पद**– कालसमयवेलासु, तुमुन्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– काल, समय और वेला उपपद रहने पर धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है। कालः समयो वेला वा भोक्तुम्।

तुमुन् ३।३।१६७ । कालः समयो वेला अनेहा वा भोक्तुम्। (१२६५) भावे ३।३।१८ । सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ्। पाकः। (१२६६) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् ३।३।१९ । कर्तृभिन्ने कारके घञ्। (१२६७) घञि च

(१२६५) **भावे**। भावो धात्वर्थः, स च द्विविधः–साध्यावस्थापन्नः सिद्धावस्थापन्नश्च। तत्र लिङ्गसंख्याद्यन्वययोग्ये सिद्धावस्थापन्ने भावे धात्वर्थे वाच्ये घञ् स्यादित्यर्थः। **पाकः–** पच्-धातोः 'भावे' इत्यनेन घञि, अनुबन्धलोपे 'चजोः कुः' इति चस्य कुत्वे, प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'पाकः' इति।

(१२६६) **अकर्तरि चेति**। 'पदरुजविशस्पृशो घञ्' इत्यतो घञित्यनुवर्तते। अत आह– **कर्तृभिन्न इति**।

(१२६७) **घञीति**। 'रञ्जेश्चे'त्यतः रञ्जेरिति, 'श्नान्नलोपः' इत्यतो नलोप इति चानुवर्तते।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। यहाँ सूत्र में काल, समय और वेला– इन तीनों पर्यायों का ग्रहण कालवाचक शब्दों के उपलक्षणार्थ किया गया है। अतः अन्य कालवाची शब्दों का भी ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार– ''काल, समय, वेला आदि समयवाचक शब्दों के उपपद रहते धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है''।

उदाहरण– ✓ भुज् + तुमुन् (= 'तुम्'–'कालसमयवेलासु तुमुन्', प्राप्त इट् का निषेध– 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्', 'उ' = 'ओ'–लघूपधगुण, 'ज्' = 'ग्'–चोः कुः', 'ग्' = 'क्'–खरि च') = भोक्तुम्।

(१२६५) **पद–** भावे। **अनुवृत्ति–** घञ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थ वाच्य रहते धातु से घञ् प्रत्यय होता है। पाकः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'पदरुजविशस्पृशो घञ्' (३।३।१६) से 'घञ्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। धातु के अर्थ क्रिया को ही भाव कहते हैं। वह धात्वर्थ दो प्रकार का होता है– साध्यावस्थापन्न और सिद्धावस्थापन्न। भवति, पठति, पचति आदि तिङन्त पदों का धात्वर्थ साध्यावस्थापन्न होता है और पाकः, पठनम्, गमनम् आदि कृदन्त पदों में सिद्धावस्थापन्न। प्रकृत सूत्र द्वारा ''सिद्धावस्थापन्न भाव (धात्वर्थ) के वाच्य होने पर धातु से घञ् प्रत्यय होता है''।

'घञ्' प्रत्यय के घकार की 'लशक्वतद्धिते' से तथा ञकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञकों का लोप होने पर 'अ' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– ✓ डुपचष् (पच्) + घञ् (= 'अ'–'भावे', ञित् होने से 'अ' = 'आ'–उपधावृद्धि, 'च्' = 'क्'–'चजोः कु घिण्ण्यतोः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = पाकः (पकाना)।

(१२६६) **पद–** अकर्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति–** घञ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्तृभिन्न कारक में भी धातु से घञ् प्रत्यय होता है, संज्ञा के विषय में।

विमर्श– पूर्ववत् 'घञ्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। न कर्तरि = अकर्तरि (नञ्तत्पुरुष)। तदनुसार–''कर्ता से भिन्न अर्थात् कर्म, करण आदि कारक के वाच्य होने पर संज्ञा के विषय में धातु से घञ् प्रत्यय होता है''। संज्ञा का अर्थ यहाँ 'रूढि' है। ये शब्द यौगिकार्थ के साथ किसी अर्थ-विशेष में रूढ होते हैं।

(१२६७) **पद–** घञि, च, भावकरणयोः। **अनुवृत्ति–** रञ्जेः, नलोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– भाव और करण अर्थ में विहित घञ् प्रत्यय के परवर्ती रहते रञ्ज् धातु के 'न्' का लोप होता है। रागः।

भावकरणयोः ६।४।२७ । रञ्जेर्नलोपः। रागः। अनयोः किम्? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः।
(१२६८) निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ३।३।४१ । एषु चिनोतेर्घञ्, आदेश्च कः। उपसमाधानं राशीकरणम्। निकायः। आकायम्। कायः। गोमयनिकायः।

अत आह–**रञ्जेर्नलोप इति**। **रागः**– रञ्ज्धातोः 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इत्यनेन घञि अनुबन्धलोपे 'घञि च भावकरणयोः' इत्यनेन नकारलोपे 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इत्यनेन कुत्वेन जस्य गकारे, उपधावृद्धौ, प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'रागः' इति।

(१२६८) **निवासचितीति**। अत्र 'हस्तादाने चेरस्तेये' इत्यतः चेरिति, 'पदरुजे'त्यादितः घञिति चानुवर्तते। तदाह–**एष्विति**। **निकायः**– निपूर्वकचिधातोः 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' इति घञि चकारस्य ककारे वृद्धौ, आयादेशे प्रातिपदिकत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे कृते 'निकायः' इति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'रञ्जेश्च' (६।४।२६) से 'रञ्जेः' तथा 'श्नान्नलोपः' (६।४।२३) से 'नलोपः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''भाव और करण अर्थ में विहित घञ् प्रत्यय के परवर्ती रहते भी रञ्ज् के नकार का लोप हो जाता है''।

उदाहरण– ✓ रञ्ज् + घञ् (= 'अ'–'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्', 'न्' का लोप–'घञि च भावकरणयोः', उपधावृद्धि, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = ः) = रागः (जिससे रंगा जाय रंग, भाव में– रंगना या प्रेम रखना)।

प्रत्युदाहरण– अनयोः किम्? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः। प्रकृत सूत्र में 'भावकरणयोः' पद का ग्रहण होने से रञ्ज् के नकार का लोप भाव या करण वाचक घञ् के परवर्ती रहने पर ही होगा, अन्य अर्थों में नहीं। अतः 'रज्यति अस्मिन्निति रङ्गः' (जिसमें मानव अनुरक्त होता है, ऐसी रंगशाला) में अधिकरण में घञ् होने से 'न्' का लोप नहीं होता। ✓ रञ्ज् + घञ् (अ), 'ज्' = 'ग्'–कुत्व, न् = अनुस्वार = 'ङ्'–परसवर्ण, विभक्तिकार्य) = रङ्गः।

(१२६८) **पद**– निवासचितिशरीरोपसमाधानेषु, आदेः. च, कः। **अनुवृत्ति**– चेः, घञ्, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान अर्थों में चिञ् धातु से घञ् प्रत्यय होता है और आदि चकार को ककार आदेश भी होता है। उपसमाधान का अर्थ 'एकत्रित करना' है। निकायः। कायः। गोमयनिकायः।

विमर्श– यहाँ 'हस्तादाने चेरस्तेये' (३।३।४०) से 'चेः', 'पदरुज०' (३।३।१६) से 'घञ्' तथा 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (१२६६) की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान अर्थों में चि धातु से घञ् प्रत्यय होता है तथा धातु के आदि वर्ण के स्थान पर 'क्' आदेश होता है, कर्तृभिन्न कारक में संज्ञा का विषय हो तो।''

उदाहरण– (१) नि + ✓ चि + घञ् (= 'अ'– अधिकरण अर्थ में निवासस्थान वाच्य होने पर, 'च्' = 'क्'– निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः')– नि कि अ ('इ' = 'ऐ'–वृद्धि–'अचो ञ्णिति', 'ऐ' = 'आय्' आदेश, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = ः) = निकायः (घर)। (२) आङ् (आ) ✓ चि + घञ् (= 'अ', चिति = चयन करना अर्थ में, 'च्' = 'क्'–'निवासचिति०', पूर्ववत् वृद्धि, आय् आदेश, विभक्तिकार्य) = आकायम्। (३) ✓ चि + घञ् (= 'अ' शरीर अर्थ में, 'च्' = 'क्', पूर्ववत् वृद्धि, आय् आदेश, विभक्तिकार्य) = कायः (शरीर)। (४) गोमय + नि + ✓ चि + घञ्

(१२६९) एरच् ३।३।५६ । इवर्णान्तादच्। चयः। **(१२७०) ॠदोरप् ३।३।५७ ।** ऋवर्णान्तादुवर्णान्तादप्। करः। गरः। शरः। यवः। लवः। स्तवः। पवः। * घञर्थे क-

(१२६९) **एरच्**। 'भावे' इति 'अकर्तरि च कारके संज्ञायामि'ति चानुवर्तते। धातोरित्यधिकारः तद्विशेषणम् एरिति। तेन तदन्तविधिस्तदाह–**इवर्णान्तादिति**।

(१२७०) **ॠदोरप्**। ऋच्च उश्च ॠदुः, तस्मादिति समाहारद्वन्द्वः। तदाह–**ऋवर्णान्तादिति**। **करः**– कृधातोः 'ॠदोरप्' इत्यपि अनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, अकारे रपरे विभक्तिकार्ये 'करः' इति।

= ('अ' उपसमाधान = 'एकत्रित करना' अर्थ में, 'च्' = 'क्' पूर्ववत् वृद्धि, ऐ = 'आय्' आदेश, विभक्तिकार्य) = गोमयनिकायः (गोबर का ढेर)।

(१२६९) **पद**– एः, अच्। **अनुवृत्ति**– भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– इवर्णान्त धातु से अच् प्रत्यय होता है। चयः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'भावे' (१२६५) तथा 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (१२६६) की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। 'एः' पद धातु का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। इस प्रकार– ''भाव अर्थ में अथवा संज्ञा में कर्तृ-भिन्न कारक वाच्य हो तो इवर्णान्त धातु से अच् प्रत्यय होता है''। अच् में अन्त्य चकार 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। 'अ' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– ✓ चि + अच् (= 'अ'–'एरच्', आर्धधातुक संज्ञा, 'इ' = 'ए'–गुण–'सार्वधातुकार्धधातुकयोः', 'ए' = 'अय्' आदेश, सु = स् = र् = :) = चयः (चुनना)।

(१२७०) **पद**– ॠदोः, अप्। **अनुवृत्ति**– भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– ऋवर्णान्त और उवर्णान्त धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है। करः। गरः। शरः इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। ऋच्च उश्च इति ॠदुः, तस्मात् 'ॠदोः'। यहाँ दकार उच्चारणार्थ है। तपरकरण नहीं है। तदनुसार– ''भाव में अथवा संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक के वाच्य होने पर ऋवर्णान्त तथा उवर्णान्त धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है। 'अप्' में अन्त्य पकार की इत्संज्ञा होती है। उसका लोप होकर 'अ' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ कृ + अप् (= 'अ'–'ॠदोरप्', 'ॠ' = 'अ'–गुण–'सार्वधातुकार्धधातुकयोः', रपर, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = करः (बिखेरना, करण अर्थ में– हाथ)। (२) ✓ गॄ + अप् (= 'अ'–'ॠदोरप्', 'ॠ' = 'अ'–गुण, रपर, विभक्तिकार्य) = गरः (= निगलना, कर्म में– गीर्यत इति गिरः = विष)। (३) शॄ + अप् (= 'अ', गुण, रपर, विभक्तिकार्य) = शरः (बाण)। (४) ✓ यु + अप् (= 'अ', 'उ' = 'ओ'–गुण–'सार्वधातु०', 'ओ' = 'अव्' आदेश, विभक्तिकार्य) = यवः (मिलाना, कर्म में अप् होने पर 'जौ')। (५) ✓ लू + अप् = 'अ', गुण, 'अव्' आदेश, विभक्तिकार्य) = लवः (काटना)। (६) ✓ स्तु + अप् (= 'अ', पूर्ववत् गुण, अवादेश, विभक्तिकार्य) = स्तवः (स्तुति, स्तोत्र)। (७) ✓ पू + अप् (= 'अ', गुण, अवादेश, विभक्तिकार्य) = पवः (पवित्र करना)।

(वा०)– जिस अर्थ में घञ् होता है, उस अर्थ में क प्रत्यय का विधान भी कहना चाहिए।

उदाहरण– (१) ✓ प्र + ✓ ष्ठा (स्था) + क (= 'अ'–वा०–'घञर्थे कविधानम्' से, 'आ' का लोप–'आतो लोप इटि च', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = प्रस्थः (मापक-विशेष)। (२)

विधानम् *। **प्रस्थः। विघ्नः। (१२७१) ड्वितः क्त्रिः ३।३।८८ । भावे, स्वभावात्। (१२७२) क्त्रेर्मम् नित्यम् ४।४।२० । क्त्रिप्रत्ययान्तान्मप् निवृत्तेऽर्थे। पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम्। डुवप्-उप्त्रिमम्। (१२७३) ट्वितोऽथुच् ३।३।८९ । अयमपि भावे। टुवेपृ**

(१२७१) **ड्वित इति**। 'भावे' इत्यनुवर्तते। यस्य धातोः 'डु' इत् स्यात्तस्मात् क्त्रि-प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **पक्त्रिमम्**– डुपचष् धातोः अनुबन्धलोपे 'ड्वितः क्त्रिः' इत्यनेन क्त्रि-प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'क्त्रेर्मम् नित्यमि'त्यनेन मपि अनुबन्धलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ, सोरमि पूर्वरूपे 'पक्त्रिमम्' इति।

(१२७२) **क्त्रेर्ममिति**। 'निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः' इत्यतः 'निर्वृत्ते' इत्यनुवर्तते। तदाह– **क्त्रिप्रत्ययान्तादिति**।

(१२७३) **ट्वित इति**। टु इत् यस्य स ट्वित्, तस्माद्धातोः भावे अथुच् स्यादित्यर्थः। **वेपथुः**– टुवेपृ धातोः 'ट्वितोऽथुच्' इत्यनेन अथुच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'वेपथुः' इति।

वि + ✓ हन् + क (= 'अ' वार्तिक से)– वि हन् अ ('अ' उपधा का लोप–'गमहन०', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्तेः०', विभक्तिकार्य) = विघ्नः (रुकावट)।

(१२७१) **पद**– ड्वितः, क्त्रिः। **अनुवृत्ति**– भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– जिस धातु का 'डु' इत् हो उससे भाव में क्त्रि प्रत्यय होता है।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्ववत् 'भावे' तथा 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। परन्तु लोक में भावार्थक प्रयोग ही देखे जाने से यहाँ 'भावे' ही सम्बद्ध होता है। अतः ''जिसका 'डु' इत् हो ऐसी धातु से भाव में क्त्रि प्रत्यय होता है''। 'क्त्रि' के आदि 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है। उसका लोप होकर 'त्रि' शेष रहता है।

(१२७२) **पद**– क्त्रेः, मप्, नित्यम्। **अनुवृत्ति**– निर्वृत्ते। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– निर्वृत्त अर्थ में क्त्रि-प्रत्ययान्त धातु से मप् प्रत्यय नित्य होता है। पक्त्रिमम्। उप्त्रिमम्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः' (४।४।१९) से 'निर्वृत्ते' की अनुवृत्ति आती है। 'क्त्रेः' में 'क्त्रि' प्रत्यय का ग्रहण है। अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा के अनुसार क्त्रि प्रत्ययान्त का ग्रहण किया जाता है। तदनुसार–''क्त्रि प्रत्यय जिसके अन्त में है उससे नित्य मप् प्रत्यय होता है और वह तद्धितसंज्ञक होता है''। मप् में अन्त्य 'प्' इत्संज्ञक है। उसका लोप होकर 'म' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) पाकेन निर्वृत्तम्। ✓ डुपचष् (पच्) + क्त्रि (= 'त्रि'–'ड्वितः क्त्रिः', 'च्' = 'क्'–'चोः कुः')– पक् त्रि (मप् = 'म'–'क्त्रेर्मम् नित्यम्', प्राति० संज्ञा, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = पक्त्रिमम् (पाक से बना हुआ)। (२) ✓ डु वप् (वप्) + क्त्रि (= 'त्रि', 'व्' = 'उ' सम्प्रसारण–'वचिस्वपि०', पूर्वरूप, निर्वृत्त अर्थ में मप् = 'म', प्राति० संज्ञा, विभक्तिकार्य) = उप्त्रिमम् (बोने या काटने से उत्पन्न)।

(१२७३) **पद**– ट्वितः, अथुच्। **अनुवृत्ति**– भावे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'टु' जिसका इत् हो ऐसे धातु से भाव में अथुच् प्रत्यय होता है। वेपथुः। श्वयथुः।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्ववत् 'भावे' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''जिसका

कम्पने–वेपथुः। श्वयथुः। (१२७४) यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ३।३।९० । यज्ञः। याच्ञा। यत्नः। विश्नः। प्रश्नः। रक्ष्णः। (१२७५) स्वपो नन् ३।३।९१ । स्वप्नः। (१२७६) उपसर्गे घोः किः ३।३।९२ । प्रधिः। उपधिः। (१२७७) स्त्रियां क्तिन्

(१२७४) **यजयाचेति**। एभ्यः नङ्प्रत्ययः स्याद्भावे। **यज्ञः**– यज्धातोः 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' इत्यनेन नङ्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'यज् न' इति जाते, श्चुत्वेन ञकारे संयोगे, प्रातिपदिकत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे च 'यज्ञः' इति।

(१२७५) **स्वपो नन्**। स्वप्धातोः नन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१२७६) **उपसर्ग इति**। उपसर्गपूर्वकात् 'घु'संज्ञकाद् धातोः किप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

'टु' इत् है ऐसे धातु से भाव में अथुच् प्रत्यय होता है''। 'अथुच्' में इत्संज्ञक अन्त्य चकार का लोप होने पर 'अथु' मात्र अवशिष्ट रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ टु वेपृ (वेप्) + अथुच् (= 'अथु'–'ट्वितोऽथुच्', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = वेपथुः (= काँपना)। (२) ✓ टु ओ श्वि ('टु' की इत्संज्ञा–'आदिर्ञिटुडवः', इत्संज्ञक का लोप) = श्वि + अथुच् (= अथु, गुण, अयादेश, विभक्तिकार्य) = श्वयथुः (सूजन)।

(१२७४) **पद**– यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षः, नङ्। **अनुवृत्ति**– भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ् और रक्ष् धातुओं से नङ् प्रत्यय होता है। भाव में अथवा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक में। यज्ञः। याच्ञा आदि।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्ववत् 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''भाव अथवा संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक अर्थ में यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ् और रक्ष् धातुओं से 'नङ्' प्रत्यय होता है''।

नङ् का अन्त्य 'ङ्' इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। 'न' मात्र अवशिष्ट रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ यज् + नङ् (= 'न'–'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्', 'न्' = 'ञ्'–श्चुत्व, ज् + ञ् = 'ज्ञ', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = यज्ञः (देवपूजा, यज्ञ)। (२) ✓ टु याचृ (याच्) + नङ् (= 'न', 'न्' = 'ञ्'–श्चुत्व, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ'–'अजाद्यतष्टाप्', अ + आ = 'आ'–सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य) = याच्ञा (माँगना)। (३) ✓ यत् + नङ् (= 'न', विभक्तिकार्य) = यत्नः (कोशिश)। (४) ✓ विच्छ् + नङ् (= 'न', प्राप्त इट् का 'नेड् वशि कृति' से निषेध, च्छ् = 'श्'–'च्छ्वोः शूडनुनासिके च', विभक्तिकार्य) = विश्नः (गति या चमक)। (४) ✓ प्रच्छ् + नङ् (= 'न', च्छ् = श्, विभक्तिकार्य) = प्रश्नः (पूछना, प्रश्न)। (५) रक्ष् + नङ् (= 'न', 'न्' = 'ण्'–'रषाभ्यां नो णः समानपदे') = रक्ष्णः (रक्षा)।

(१२७५) **पद**– स्वपः, नन्। **अनुवृत्ति**– भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– स्वप् धातु से 'नन्' प्रत्यय होता है। स्वप्नः।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है तथा पूर्ववत् 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''भाव में अथवा संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक के वाच्य होने पर स्वप् धातु से नन् प्रत्यय होता है।''

'नन्' में अन्त्य इत्संज्ञक 'न्' का लोप होने पर 'न' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– ✓ स्वप् + नन् (= 'न'–'स्वपो नन्', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = **स्वप्नः** (सोना, शयन करना)।

३।३।९४ । स्त्रीलिङ्गे भावादौ क्तिन्। घञोऽपवादः। कृतिः। स्तुतिः। * ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः *। तेन नत्वम्। कीर्णिः। गीर्णिः। धूनिः। लूनिः। पूनिः। * सम्पदादिभ्यः क्विप् *। सम्पत्। विपत्। आपत्। * क्तिन्नपीष्यते *। सम्पत्तिः। विपत्तिः। आपत्तिः।

प्रधिः– प्रधीयते अनेनेति विग्रहे प्रपूर्वकाद् धाधातोः 'उपसर्गे घोः किः' इत्यनेन किप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'आतो लोप इटि च' इत्यनेन आकारलोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'प्रधिः' इति।

(१२७७) **स्त्रियामिति। कृतिः**– कृधातोः 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे,

---

(१२७६) **पद**– उपसर्गे, घोः, किः। **अनुवृत्ति**– भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– उपसर्ग उपपद रहते भाव आदि में घुसंज्ञक धातु से कि प्रत्यय होता है। प्रधिः। उपधिः।

विमर्श– पूर्ववत् 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। सप्तम्यन्त 'उपसर्गे' उपपद है। अतः "उपसर्ग के उपपद रहते भाव अर्थ में अथवा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक अर्थ में घुसंज्ञक धातु से कि प्रत्यय होता है"।

'कि' का आदि वर्ण 'क्' 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। 'इ' मात्र अवशिष्ट रहता है। कि-प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिंग होते हैं।[१]

उदाहरण– (१) प्र + ✓ धा + कि (= 'इ'–'उपसर्गे घोः किः', 'आ' का लोप–'आतो लोप इटि च', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = प्रधिः (परिधि)। (२) उप + ✓ धा + क्ति (= 'इ', 'आ' का लोप पूर्ववत्, विभक्तिकार्य) = उपधिः (छल-कपट)।

(१२७७) **पद**– स्त्रियाम्, क्तिन्। **अनुवृत्ति**– भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– स्त्रीलिङ्ग भावादि अर्थ में धातु से क्तिन् प्रत्यय होता है। यह घञ् का अपवाद है। कृतिः। स्तुतिः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'धातोः' का अधिकार है तथा पूर्ववत् 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव अर्थ में तथा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक अर्थ में धातु से क्तिन् प्रत्यय होता है"। 'क्तिन्' के आदि ककार की 'लशक्वतद्धिते' से तथा अन्त्य 'न्' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है। 'ति' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ कृ + क्तिन् (= 'ति'–'स्त्रियां क्तिन्', प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, प्रातिपदिक संज्ञा, सु = स् = र् = :) = कृतिः (करना)। (२) स्तवनं स्तुतिः। ✓ ष्टुञ् (स्तु) + क्तिन् (= 'ति', पूर्ववत् गुणनिषेध, विभक्तिकार्य) = स्तुतिः (स्तुति करना)।

(१) (**वा०**)– ॠदन्त तथा लू आदि धातुओं से विहित क्तिन् प्रत्यय को निष्ठावत् कार्य होते हैं।

उदाहरण– (३) ✓ कॄ + क्तिन् (= 'ति'–'स्त्रियां क्तिन्', प्राप्त गुण का कित्त्व के कारण निषेध–'क्ङिति च', 'ॠ' = 'इ'–'ॠत इद्धातोः', रपर, उपधादीर्घ–'हलि च')–कीर् ति ('ॠल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वक्तव्यः' वार्तिक से क्तिन् को निष्ठावत् मानकर 'त्' = 'न्'–'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः', 'न्' = 'ण्'–'रषाभ्यां नो णः समानपदे', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = कीर्णिः (बिखेरना)। (४) ✓ गॄ + क्तिन् (पूर्ववत् कार्य) = गीर्णिः (निगलना)। (५) ✓ लू + क्तिन् (= 'ति' वार्तिक से क्तिन् को निष्ठावद्भाव, 'त्' = 'न्'–'ल्वादिभ्यः', विभक्तिकार्य) = लूनिः (= काटना)। (६) ✓ धूञ् (धू) + क्तिन् (लूनिवत् कार्य) = धूनिः (कँपाना)। (७) ✓ पू + क्तिन् = पूनिः (विनाश करना)।

---

१. 'क्यन्तो घुः' (लिङ्गानुशासनम्, ४१)।

(१२७८) ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च ३।३।९७ । एते निपात्यन्ते। (१२७९) कृञः ३।३।१०० । क्यप्। कृत्या। (१२८०) श च ३।३।१०० । कृञः शः। चात्

कित्त्वाद्गुणाभावे विभक्तिकार्ये 'कृतिः' इति। **ऋल्वादिभ्य इति**। ऋकारान्ताद् ल्वादिभ्यश्च परः क्तिन्प्रत्ययो निष्ठावद्भवतीत्यर्थः।

(१२७८) **ऊतियूतीति**। इमे क्तिन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। **ऊतिः**—अव्धातोः 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्चे'त्यनेन निपातनात् क्तिन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'ज्वरत्वर०' इत्यादिना अकार-वकारयोः स्थाने ऊठि अनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे च 'ऊतिः' इति सिद्धम्।

(१२७९) **कृञ इति**। 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' इत्यतः क्यप् इत्यनुवर्तते, 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यतः स्त्रियामिति च। कृञः स्त्रियां भावे क्यप्प्रत्ययो भवतीत्यर्थः।

---

(२) **(वा०)- सम्पदादिभ्यः**—सम्पूर्वक पद आदि धातुओं से भाव आदि में क्विप् प्रत्यय होता है।

उदाहरण— (१) सम् + ✓ पद् + 'क्विप्' (– 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' वा० से, क्विप् का सर्वापहार लोप, प्रातिपदिक संज्ञा, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः', 'द्' = 'त्' चर्त्व विकल्प से–'वाऽवसाने') = सम्पद्, सम्पत् (सम्पन्नता)। (२) वि + ✓ पद् + क्विप् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = विपत् (विपन्नता)। (३) आ + पद् + क्विप् = आपत् (= आपत्ति)।

(३) **(वा०)- क्तिन्नपीष्यते**— सम्पूर्वक पद आदि से क्तिन् प्रत्यय भी उक्त अर्थों में इष्ट है अर्थात् होता है।

उदाहरण— (१) सम् + पद् + क्तिन् (= 'ति'–'क्तिन्नपीष्यते' वा० से, 'द्' = 'त्'–'खरि च', विभक्तिकार्य) = सम्पत्तिः। (२) वि + पद् + क्तिन् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = विपत्तिः। (३) आ + पद् + क्तिन् = आपत्तिः।

(१२७८) **पद**— ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयः, च। **अनुवृत्ति**— स्त्रियां क्तिन्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ— ऊति, यूति, जूति, साति, हेति और कीर्ति शब्द क्तिन्नन्त निपातन किये जाते हैं।

विमर्श— प्रकृत सूत्र में 'स्त्रियां क्तिन्' (१२७७), 'भावे' (१२६५) और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (१२६६) की पूर्ववत् अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में अथवा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक में ऊति, यूति, जूति, साति, हेति और कीर्ति– ये छः क्तिन्प्रत्ययान्त शब्द निपातित किये जाते हैं''।

उदाहरण— (१) ✓ अव + क्तिन् (= 'ति' निपातन से– 'ऊतियूति०', अव् = ऊठ् = 'ऊ'– 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = ऊतिः (रक्षा)। (२) ✓ यु + क्तिन् (= 'ति'–निपातन से तथा दीर्घ, विभक्तिकार्य) = यूतिः (मिलाना)। (३) ✓ जु + क्तिन् (= 'ति', दीर्घ–निपातन से, विभक्तिकार्य) = जूतिः (वेग)। (४) ✓ षो (सत्व) = सो + क्तिन् (= 'ति' निपातन से, 'ओ' = 'आ'–'आदेच उपदेशेऽशिति', विभक्तिकार्य) = सातिः (नाश)। (५) ✓ हि + क्तिन् (= 'ति' गुण, निपातन से, विभक्तिकार्य) = हेतिः (गति)। (६) ✓ कृत + क्तिन् (= 'ति', 'ॠ' = 'इ'–'ॠत इद्धातोः', रपर, दीर्घ–'हलि च', विभक्तिकार्य) = कीर्तिः (यश)।

(१२७९) **पद**— कृञः। **अनुवृत्ति**— क्यप्, स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

क्तिन्। प्रकरणम्—प्रक्रिया। कृतिः। **(१२८१) इच्छा ३।३।१०१** । इषेर्निपातोऽयम्। **(१२८२) अप्रत्ययात् ३।३।१०२** । प्रत्ययान्तेभ्यः स्त्रियामकारप्रत्ययः। चिकीर्षा।

(१२८०) **श च**। स्त्रियां, भावे इति चानुवर्तते। तेन कृञः स्त्रियां भावे शप्रत्ययोऽपि भवति। चात् क्तिन्।

(१२८१) **इच्छा**। इषधातोः शप्रत्ययो भावे स्त्रियां च निपात्यत इत्यर्थः।

(१२८२) **अप्रत्ययादिति**। 'स्त्रियामि'ति 'भावे' इति चानुवर्तते। धातोरित्यधिकृतम्। धातोर्विशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह—**प्रत्ययान्तेभ्य इति**। **चिकीर्षा**— सन्नन्तात् चिकीर्षधातोः

मूलार्थ— कृञ् धातु से स्त्रीलिङ्ग-विशिष्ट भाव आदि में क्यप् प्रत्यय होता है। कृत्या।

विमर्श— 'धातोः' का अधिकार है। 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' (३।३।९८) से क्यप् की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'स्त्रियाम्', 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की भी अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार— ''स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में अथवा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक में कृञ् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है''।

'क्यप्' में आदि ककार 'लशक्वतद्धिते' से तथा अन्त्य पकार 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाते हैं। 'य' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण— ✓ कृ + क्यप् (= 'य'—'कृञः', तुक् = 'त्' आगम—'ह्रस्वस्य पिति कृति', कित् होने से गुण का निषेध, टाप् = 'आ', सवर्णदीर्घ, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः०') = कृत्या।

(१२८०) **पद**— श, च। **अनुवृत्ति**— कृञः, स्त्रियां, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ— कृञ् धातु से स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव आदि में श प्रत्यय भी होता है और (चकारात्) क्तिन् भी होता है। प्रक्रिया। कृतिः।

विमर्श— पूर्वसूत्र 'कृञः' (१२७९) की तथा पूर्ववत् 'स्त्रियां', 'भावे', 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। 'च' पद से प्रकरणवशात् क्तिन् का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार— ''स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव तथा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक में कृञ् धातु से श प्रत्यय होता है और क्तिन् भी होता है''।

'श' में आदि वर्ण 'श्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है। उसका लोप होने पर 'अ' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण— प्र + ✓ कृ + श (= 'अ'—'श च', ऋ = रिङ् = 'रि'—'रिङ्शयग्लिङ्क्षु', ष्यङ्, टाप् = 'आ', सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य) = प्रक्रिया। क्तिन् पक्ष में—कृतिः।

(१२८१) **पद**— इच्छा। **अनुवृत्ति**— श, स्त्रियाम्, भावे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ— स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में निपातन से श आदि होकर 'इच्छा' प्रयोग होता है।

विमर्श— पूर्वसूत्र (१२८०) से 'शः' की तथा पूर्ववत् 'स्त्रियाम्' और 'भावे' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार— ''स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में इष् धातु से श प्रत्यय निपातित होता है''।

उदाहरण— ✓ इष् + श (= 'अ'—'इच्छा', शित्त्व के कारण 'सार्वधातुके यक्' से प्राप्त यक् का अभाव निपातन से, 'ष्' = 'छ्'—'इषुगमियमां छः', तुक् = 'त्' आगम—'छे च', 'त्' = 'च्'—श्चुत्व, टाप् = 'आ', अ + आ = 'आ' सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य) = इच्छा (अभिलाषा)।

(१२८२) **पद**— अ, प्रत्ययात्। **अनुवृत्ति**— स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

पुत्रकाम्या। (१२८३) गुरोश्च हलः ३।३।१०३ । गुरुमतो हलन्तात् स्त्रियामप्रत्ययः। ईहा। ऊहा। (१२८४) षिद्भिदादिभ्योऽङ् ३।३।१०४ । जृष्, 'ऋदृशोऽङि गुणः'।

'अप्रत्ययात्' इत्यनेन अप्रत्यये 'अतो लोपः' इत्यनेन सन अकारलोपे, प्रातिपदिकत्वे, स्त्रीत्वे टापि अनुबन्धलोपे, सवर्णदीर्घे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'चिकीर्षा' इति।

(१२८३) **गुरोश्चेति**। 'स्त्रियामि'ति अ इति चानुवर्तते। तदाह–**गुरुमत इति**। **ईहा**– ईह् चेष्टायामिति धातोः 'गुरोश्च हलः' इत्यनेन अप्रत्यये, स्त्रियां टापि सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये 'ईहा' इति।

(१२८४) **षिद्भिदादीति**। षकार इदेषां ते षितस्तेभ्यः भिदादिगणपठितेभ्यश्च स्त्रियां भावेऽङ् स्यादिति स्पष्टार्थः। **जरेति**। 'जृष्'धातोः षित्त्वात् 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यनेन अङि

मूलार्थ– प्रत्ययान्त धातुओं से स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव अथवा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक में 'अ' प्रत्यय होता है। चिकीर्षा। पुत्रकाम्या।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्ववत् 'स्त्रियाम्', 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। 'प्रत्ययात्' पद धातोः का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर 'प्रत्ययान्ताद् धातोः' बन जाता है। इस प्रकार– ''स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में अथवा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक में प्रत्यय जिसके अन्त में है ऐसे धातु से 'अ' प्रत्यय होता है''।

उदाहरण– (१) ✓ डुकृञ् (कृ) + सन् (= 'स', कित्त्व–'इको झल्', 'ऋ' = 'ॠ' दीर्घ– 'अज्झन०', 'ॠ' = 'इ'–इत्व– 'ॠत इद्धातोः', रपर, द्वित्व–'सन्यङोः', अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष, 'क्' = 'च्'–'कुहोश्चुः', दीर्घ–'हलि च', षत्व) = चिकीर्ष (धातुसंज्ञा, 'अ'–'अप्रत्ययात्', 'ष्' के 'अ' का लोप–'अतो लोपः', प्रा० संज्ञा, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ', अ + आ = 'आ'–सवर्णदीर्घ, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः') = चिकीर्षा (= करने की इच्छा)। (२) पुत्र + काम्यच् (= काम्य) = पुत्रकाम्य (धातुसंज्ञा, 'अ'–'अप्रत्ययात्', 'अ' का लोप–'अतो लोपः', टाप्, सवर्णदीर्घ, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०') = पुत्रकाम्या (अपने लिए पुत्र की कामना)।

(१२८३) **पद**– गुरोः, च, हलः। **अनुवृत्ति**– अ, स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव आदि में गुरुमान हलन्त धातु से 'अ' प्रत्यय होता है। ईहा। ऊहा।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु पूर्वसूत्र (१२८२) से 'अ' की तथा पूर्ववत् 'स्त्रियाम्', 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में अथवा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक में हलन्त तथा गुरुवर्ण से युक्त धातु से 'अ' प्रत्यय होता है''।

उदाहरण– (१) ✓ ईह् + 'अ' (–'गुरोश्च हलः', टाप् = 'आ', अ + आ = 'आ'–सवर्णदीर्घ, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०') = ईहा (चेष्टा)। (२) ऊह् + 'अ' (टाप्, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = ऊहा (तर्क)।

(१२८४) **पद**– षिद्भिदादिभ्यः, अङ्। **अनुवृत्ति**– स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव आदि में षकारेत्संज्ञक और भिदादि धातुओं से अङ् प्रत्यय होता है। जरा। त्रपा। भिदा इत्यादि।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्ववत् 'स्त्रियाम्', 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'

जरा। त्रपूष्–त्रपा। भिदा। विदारण एवायम्। भित्तिरन्या। छिदा। मृजा। * क्रपेः सम्प्रसारणं च *। कृपा। (१२८५) आतश्चोपसर्गे ३।३।१०६ । अङ् स्यात्। उपदा। अन्तर्द्धा। (१२८६) ण्यासश्रन्थो युच् ३।३।१०७ । अस्यापवादः। कारणा। (१२८७)

अनुबन्धलोपे 'ऋदृशोऽङि गुणः' इत्यनेन गुणे, रपरे अकारान्तत्वात् स्त्रियाम् 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि, सवर्णदीर्घे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'जरा' इति।

(१२८५) **आतश्चेति**। 'षिद्भिदादिभ्यः' इत्यतोऽङिति अनुवर्तते। उपसर्गे उपपदे आदन्ताद् धातोः अङ्प्रत्ययः स्याद्भावेऽकर्तरि कारके चेत्यर्थः।

(१२८६) **ण्यासश्रन्थ इति**। ण्यन्ताद् असधातोः श्रन्थेश्च युच् स्यादित्यर्थः। **कारणा-**

की अनुवृत्ति आती है। 'षित् च भिदादयश्चेति षिद्भिदादयः, तेभ्यः' (इतरेतरयोगद्वन्द्व)। अतः ''स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में अथवा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक में षकार इत्संज्ञक धातुओं से तथा भिदादि-गणपठित धातुओं से अङ् प्रत्यय होता है''।

'अङ्' में अन्त्य इत्संज्ञक 'ङ्' का लोप होकर 'अ' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) ✓ जृष् (जृ) + अङ् (= 'अ'–'षिद्भिदादिभ्योऽङ्', 'ॠ' = 'अ'–गुण-'ऋदृशोऽङि गुणः', रपर, टाप् = आ, अ + आ = 'आ'–सवर्णदीर्घ, सु = 'स्' का लोप-'हल्ङ्याब्भ्यः०') = जरा (वृद्धावस्था)। (२) त्रपूष् (त्रप्) + अङ् (= 'अ'–'षिद्भिदादिभ्योऽङ्', टाप्, दीर्घ, विभक्तिकार्य) त्रपा (लज्जा)। (३) ✓ भिद् + अङ् (= 'अ', टाप् = 'आ', सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य) = भिदा (फाड़ना)। विदारण अर्थ में ही भिद् धातु से अङ् होता है। अतः अन्यत्र क्तिन् ही होता है–भित्तिः। (४) ✓ छिदिर् (छिद्) + अङ् (= 'अ', टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = छिदा (काटना)। (५) ✓ मृजूष् (मृज्) + अङ् (= 'अ', टाप्, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = मृजा (शुद्ध करना)।

(वा०)– क्रप् धातु से स्त्रीलिंग भाव में अङ् प्रत्यय होता है और धातु को सम्प्रसारण होता है।

उदाहरण– (६) ✓ क्रप् + अङ् (= 'अ', 'र्' = 'ऋ'–सम्प्रसारण–'क्रपेः सम्प्रसारणं च' से, पूर्वरूप, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् = 'आ', सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य) = कृपा।

(१२८५) **पद**– आतः, च, उपसर्गे। **अनुवृत्ति**– अङ्, स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव आदि में उपसर्गपूर्वक आदन्त धातु से अङ् प्रत्यय होता है। उपदा। अन्तर्द्धा।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२८४) से 'अङ्' की तथा पूर्ववत् 'स्त्रियाम्', 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। इस प्रकार–''स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में अथवा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक में उपसर्गपूर्वक आकारान्त धातु से अङ् प्रत्यय होता है''।

उदाहरण– (१) उप + ✓ दा + अङ् (= 'अ', 'आ' का लोप–'आतो लोपः०', टाप् = 'आ', अ + आ = 'आ'–सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य) = उपदा (देना)। (२) अन्तर् + धा + अङ् (= 'अ'–'आतश्चोपसर्गे', टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = अन्तर्धा (छिपना)।

(१२८६) **पद**– ण्यासश्रन्थः, युच्। **अनुवृत्ति**– स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– स्त्रीत्व-विशिष्ट भावादि में ण्यन्त धातु तथा आस् और श्रन्थ् धातुओं से युच् प्रत्यय होता है। यह सूत्र पूर्वोक्त दो सूत्रों द्वारा प्राप्त 'अ' प्रत्यय का अपवाद है। कारणा।

रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् ३।३।१०८ । **प्रच्छर्दिका। प्रवाहिका। विचर्चिका। क्वचिन्न, शिरोऽर्त्तिः। * धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्वक्तव्यः *। आसिका। * इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे *। पचिः। पचतिः। * वर्णात्कारः *। निर्देश इत्येव। अकारः। ककारः। ***

ण्यन्तात् कारिधातोः 'ण्यासश्रन्थो युच्' इत्यनेन युच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'युवोरनाकौ' इत्यनेन 'यु' इत्यस्य स्थाने अनादेशे 'णेरनिटि' इत्यनेन णेर्लोपे, स्त्रीत्वविवक्षायां टापि, सवर्णदीर्घे प्रातिपदिकत्वे सौ, हल्ङ्यादिना सुलोपे 'कारणा' इति।

(१२८७) **रोगाख्यायामिति**। रोगस्य आख्या कथनं तस्मिन् द्योत्ये धातोः बहुलं ण्वुल् स्यादित्यर्थः। **प्रच्छर्दिका**– प्रपूर्वात् छृद्धातोः 'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलमि'ति ण्वुलि, 'युवोरनाकौ' इत्यनेन अकादेशे 'पुगन्त०' इति गुणे रपरे, तुकि, श्चुत्वे टापि दीर्घे 'प्रत्ययस्थात्०' इति इत्वे, सौ हल्ङ्यादिलोपे 'प्रच्छर्दिका' इति। **इक्श्तिपाविति**। धातुस्वरूपे निर्देष्टव्ये इक्श्तिपौ वक्तव्यावित्यर्थः। **वर्णादिति**। वर्णस्वरूपनिर्देशे कर्तव्ये कारप्रत्ययः स्यादिति।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्ववत् 'स्त्रियाम्', 'भावे' और 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'ण्यासश्रन्थः' धातोः का विशेषण है। 'णि' प्रत्यय है, उससे तदन्तविधि होकर 'ण्यन्ताद् धातोः' हो जाता है। तदनुसार– ''स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव तथा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक की विवक्षा में ण्यन्त तथा आस् और श्रन्थ् धातुओं से युच् प्रत्यय होता है।''

'युच्' में इत्संज्ञक चकार का लोप होने पर 'यु' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) कृ + णिच् (= 'इ'–'हेतुमति च', वृद्धि, रपर, धातुसंज्ञा–'सनाद्यन्ता धातवः') = ✓ कारि + युच् (= 'यु'–'ण्यासश्रन्थो युच्', 'यु' = 'अन'–'युवोरनाकौ', णि = 'इ' का लोप–'णेरनिटि', प्राति० संज्ञा, टाप् = 'आ', सवर्णदीर्घ, सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०') = कारणा (= कराना)।

(१२८७) **पद**– रोगाख्यायाम्, ण्वुल्, बहुलम्। **अनुवृत्ति**– स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– रोग-विशेष की संज्ञा वाच्य हो तो स्त्रीत्व-विशिष्ट भावादि में धातु से ण्वुल् प्रत्यय बहुल प्रकार से होता है। प्रच्छर्दिका। प्रवाहिका आदि।

विमर्श– 'धातोः' अधिकृत है। पूर्ववत् 'स्त्रियाम्, भावे और अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– ''स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में अथवा संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक की विवक्षा में धातु से बहुलता से ण्वुल् प्रत्यय होता है, यदि प्रत्ययान्त समुदाय किसी रोग-विशेष की संज्ञा (नाम) हो तो''।

'ण्वुल्' में आदि णकार तथा अन्त्य लकार इत्संज्ञकों का लोप होने पर 'वु' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) प्र + ✓ छृद् + ण्वुल् (= 'वु'–'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्', 'वु' = 'अक'–'युवोरनाकौ', 'ऋ' = 'अ'–गुण, रपर, तुक्, श्चुत्व, टाप् = 'आ', सवर्णदीर्घ, 'अ' = 'इ'–इत्व–'प्रत्ययस्थात्०', सु = 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०') = प्रच्छर्दिका (वमन)। (२) प्र + ✓ वह + ण्वुल् (= 'वु'–'रोगाख्यायाम्०', 'वु' = 'अक', उपधावृद्धि, टाप् = 'आ', दीर्घ, इत्व, विभक्तिकार्य) = प्रवाहिका (पेचिश)। (३) वि + ✓ चर्च् + ण्वुल् (= वु = 'अक', टाप्, दीर्घ, इत्व, विभक्तिकार्य) = विचर्चिका (दाद)। 'बहुल' पद के ग्रहण से कहीं ण्वुल् नहीं भी होता। ✓ अर्द् + क्तिन् (= 'ति', 'द्' = 'त्'–चर्त्व, विभक्तिकार्य) = शिरोऽर्तिः (सिरदर्द)।

रादिफः *। रेफः। **(१२८८) नपुंसके भावे क्तः ३।३।११४ । (१२८९) ल्युट् च ३।३।११५ ।** हसितम्। हसनम्। **(१२९०) करणाधिकरणयोश्च ३।३।११७ ।** ल्युट्। अनुमानः। अनुमानी। **(१२९१) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ३।३।११८ ।**

(१२८८) **नपुंसक इति**। नपुंसकत्वविशिष्टे भावे धातोः क्तप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१२८९) **ल्युट् चेति**। उक्तार्थे ल्युडपि भवतीतिं भावः। **हसितमिति**। हस्धातोः 'नपुंसके भावे क्तः' इत्यनेन क्तप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, इडागमे प्रातिपदिकत्वे सौ, सोरमि पूर्वरूपे च कृते 'हसितम्' इति। ल्युट्पक्षे-हसनमिति।

(१२९०) **करणाधिकरणयोरिति**। 'ल्युट् चे'त्यतः ल्युडित्यनुवर्तते। करणेऽधिकरणे च कारके धातोः ल्युट्प्रत्ययो भवतीत्यर्थः।

---

(१) **(वा०)**– धात्वर्थ निर्देश करना हो तो धातु से ण्वुल् प्रत्यय होता है, ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण– आस् + ण्वुल् (= 'वु'–'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्वक्तव्यः' वार्तिक से, 'वु' = 'अक', टाप् = 'आ', दीर्घ, इत्व, विभक्तिकार्य) = आसिका (आसन)।

(२) **(वा०)**– धातु के निर्देश में धातु से इक् और श्तिप् प्रत्यय होते हैं।

उदाहरण– (१) ✓ पच् + इक् (= 'इ'–'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' वा० से, प्राति० सं०, सु = स् = र् = :) = पचिः। (२) ✓ पच् + श्तिप् (= 'ति' वार्तिक से, सार्वधातुकसंज्ञा, श = 'अ'– 'तुदादिभ्यः शः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = पचतिः।

(३) **(वा०)**– वर्ण के निर्देश में वर्ण से कार प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) अ + 'कार' (–'वर्णात्कारः', विभक्तिकार्य) = अकारः। (२) क + कार (विभक्तिकार्य) = ककारः।

(४) **(वा०)**– रकार के निर्देश में 'र' से 'इफ' प्रत्यय होता है।

उदाहरण– र + इफ–'रादिफः', अ + इ = 'ए' गुण–'आद्गुणः', विभक्तिकार्य) = रेफः।

(१२८८) **पद**– नपुंसके, भावे, क्तः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– नपुंसकलिंग भाव में धातु से क्त प्रत्यय होता है।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार–''नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव में धातु से क्त प्रत्यय होता है''।

(१२८९) **पद**– ल्युट्, च। **अनुवृत्ति**– नपुंसके, भावे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– नपुंसकलिङ्ग-विशिष्ट भाव में धातु से ल्युट् प्रत्यय भी होता है। हसितम्। हसनम्।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२८८) से 'नपुंसके' और 'भावे' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। इस प्रकार–''नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव में धातु से ल्युट् प्रत्यय भी होता है''।

उदाहरण– (१) ✓ हस् + क्त (= 'त'–'नपुंसके भावे क्तः', आर्धधातुकसंज्ञा, इट् = 'इ' आगम–'आर्धधातुकस्येड्वलादेः', कृदन्तत्वात् प्राति० संज्ञा, सु = 'अम्', पूर्वरूप) = हसितम् (हँसना)। (२) ✓ हस् + ल्युट् (= 'यु', 'ल्युट् च', 'यु' = 'अन'–'युवोरनाकौ', प्राति० संज्ञा, सु = 'अम्', पूर्वरूप) = हसनम् (हँसना)।

(१२९०) **पद**– करणाधिकरणयोः, च। **अनुवृत्ति**– ल्युट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– करण और अधिकरण अर्थ में धातु से ल्युट् प्रत्यय होता है। अनुमानः। अनुमानी।

(१२९२) छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ६।४।९६ । द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वो घे। दन्तच्छदः। आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः। **(१२९३) अवे तॄस्त्रोर्घञ् ३।३।१२० ।** अवतारः। अवस्तारो जवनिका। **(१२९४) हलश्च ३।३।१२१ ।** हलन्ताद् घञ्।

(१२९१) **पुंसीति**। 'करणाधिकरणयोरि'त्यनुवर्तते। पुंल्लिङ्गयोः करणाधिकरणयोः धातोः घः प्रायेण भवति, समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यत इत्यर्थः।

(१२९२) **छादेरिति**। अत्र 'ऊदुपधाया गोहः' इत्यत उपधाया इति, 'खचि ह्रस्वः' इत्यतः ह्रस्व इति चानुवर्तते। तदाह–**द्विप्रभृतीति**।

(१२९३) **अव इति**। 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेणे'त्यनुवर्तते। तेन 'अव' इत्युपसर्गे उपपदे तृ–स्तृ इत्याभ्यां पुंसि संज्ञायां प्रायेण घञ् भवतीत्यर्थः। **अवतारः**– अवोपसर्गपूर्वक-तृधातोः

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१२८९) से 'ल्युट्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''करण और अधिकरण अर्थ में भी धातु से ल्युट् प्रत्यय होता है''।

उदाहरण– अनु + ✓ मा + ल्युट् (= 'यु', 'करणाधिकरणयोश्च', 'यु' = 'अन'–'युवोरनाकौ', दीर्घ, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अनुमानः। स्त्रीत्व विवक्षा में ल्युट् के टित् होने से ङीप् = ई) = अनुमानी।

(१२९१) **पद**– पुंसि, संज्ञायाम्, घः, प्रायेण। **अनुवृत्ति**– करणाधिकरणयोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– पुल्लिङ्ग में संज्ञा के वाच्य होने पर करण और अधिकरण अर्थ में धातु से प्रायः 'घ' प्रत्यय होता है।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२८९) से 'करणाधिकरणयोः' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''पुल्लिङ्ग में संज्ञा गम्य होने पर करण और अधिकरण अर्थ में धातु से प्रायः 'घ' प्रत्यय होता है''।

'घ' में आदि वर्ण 'घ्' इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है।

(१२९२) **पद**– छादेः घे, अद्व्युपसर्गस्य। **अनुवृत्ति**– ह्रस्वः, उपधायाः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– द्वि प्रभृति उपसर्गरहित छादि धातु की उपधा को ह्रस्व होता है, 'घ' के परवर्ती रहते। दन्तच्छदः। आकरः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'खचि ह्रस्वः' (६।४।९४) से 'ह्रस्वः' तथा 'ऊदुपधाया गोहः' (६।४।८९) से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। अतः ''दो या दो से अधिक उपसर्गों से युक्त नहीं है ऐसे छादि अंग की उपधा को घ प्रत्यय के परे रहने पर ह्रस्व आदेश हो जाता है''।

उदाहरण– (१) छद् + णिच् (= 'इ' स्वार्थ में, उपधावृद्धि) = ✓ छादि + घ (= 'अ'– 'पुसि संज्ञायां घः प्रायेण', दन्त कर्म में षष्ठी विभक्ति)– दन्त आम् छादि अ (णि = 'इ' का लोप– 'णेरनिटि', 'आ' = 'अ'–ह्रस्व–'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य', समास, विभक्ति का लुक्, तुक् = 'त्'–'छे च', 'त्' = 'च्'–श्चुत्व, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = दन्तच्छदः (ओष्ठ)। (२) आङ् (आ) + ✓ कृ + घ (= 'अ' अधिकरण में–'पुंसि संज्ञायाम्०', 'ऋ' = 'अ'–गुण–'सार्वधातु०', रपर, विभक्तिकार्य) = आकरः (खान)।

(१२९३) **पद**– अवे, तृस्त्रोः, घञ्। **अनुवृत्ति**– करणाधिकरणयोः, पुंसि, संज्ञायां, प्रायेण। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अव उपसर्ग के उपपद रहते तृ और स्तृ धातु से करण और अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय होता है, पुंस्त्व-विशिष्ट संज्ञा वाच्य होने पर। अवतारः। अवस्तारो जवनिका।

घापवाद:। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति राम:। अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिकमित्यपामार्ग:।
(१२९५) ईषद्दु:सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३।३।१२६ । एषु दु:खसुखार्थेषूपपदेषु खल्। 'तयोरेवे'ति भावे कर्मणि च। कृच्छ्रे–दुष्कर: कटो भविता। अकृच्छ्रे–

'अवे तृस्त्रोर्घञ्' इति घञि अनुबन्धलोपे, आर्धधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' इति गुणे रपरे उपधावृद्धौ विभक्तिकार्ये 'अवतार:' इति।

(१२९४) **हलश्चेति**। पूर्वसूत्रात् घञित्यनुवर्तते। तदाह–**हलन्तादिति**। **अपामार्ग:**– अपोपसर्गपूर्वकमृज्धातो: 'हलश्चे'ति घञि अनुबन्धलोपे 'मृजेर्वृद्धि:' इत्यनेन उपधावृद्धौ, 'चजो: कु घिण्ण्यतो:' इत्यनेन जस्य गकारे 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलमि'त्यनेन अपाकारस्य दीर्घे, प्रातिपदिकत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे कृते 'अपामार्ग:' इति।

(१२९५) **ईषद्दु:सुष्विति**। 'तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्था:' इत्यनेन भावे कर्मणि च खल् भवतीत्याशय:। **दुष्कर:**– 'दुस्' उपसर्गात् कृधातो: 'ईषद्दु:सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' इत्यनेन

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२८९) से 'करणाधिकरणयो:' तथा 'पुंसि संज्ञायां घ: प्रायेण' (१२९१) से 'पुंसि, संज्ञायां प्रायेण' की अनुवृत्ति आती है। 'धातो:' का अधिकार है। 'अवे' सप्तम्यन्त होने से 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' के अनुसार उपपदसंज्ञक है। तदनुसार– '''अव' के उपपद होने पर तृ और स्तृ धातुओं से करण और अधिकरण में प्राय: घञ् प्रत्यय होता है; पुंल्लिङ्ग में संज्ञा वाच्य हो तो''।

'घञ' में आदि घकार 'लशक्वतद्धिते' से तथा अन्त्य ञकार 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञक है। उनका लोप होकर 'अ' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) अव + तृ + घञ् (= 'अ'–'अवे तृस्त्रोर्घञ्', 'ॠ' = 'आ'–वृद्धि–'अचो ञ्णिति', रपर, विभक्तिकार्य) = अवतार: (अवतरन्त्यनेनेति, नदी आदि का घाट)। (२) अवस्तीर्यन्तेऽनेनेति– अव + स्तृ + घञ् (= 'अ', वृद्धि, रपर, विभक्तिकार्य) = अवस्तार: (पर्दा)।

(१२९४) **पद**– हल:, च। **अनुवृत्ति**– करणाधिकरणयो:, घञ्, पुंसि संज्ञायां प्रायेण। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– करण और अधिकरण अर्थ में हलन्त धातु से प्राय: घञ् प्रत्यय होता है, पुल्लिङ्ग और संज्ञा में। 'पुंसि संज्ञायाम्०' से प्राप्त घ का यह सूत्र अपवाद है। राम:।

विमर्श– यहाँ पूर्वसूत्र (१२९३) से 'घञ्' की तथा पूर्ववत् 'करणाधिकरणयो:', 'पुंसि संज्ञायां प्रायेण' की अनुवृत्ति आती है। 'धातो:' पद अधिकृत है। 'हल:' 'धातो:' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। तदनुसार– ''पुंस्त्व-विशिष्ट संज्ञा वाच्य होने पर हलन्त धातु से करण और अधिकरण अर्थ में प्राय: घञ् प्रत्यय हो जाता है''।

उदाहरण– (१) रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति। ✓ रम् + घञ् (= 'अ'–'हलश्च', 'अ' = 'आ'– उपधा को वृद्धि–'अत उपधाया:', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = राम: (जिसमें योगीजन रमण करते हैं, राम)। (२) अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादि– अप + मृज् + घञ् (= 'अ', 'ॠ' = 'आ'–वृद्धि– 'मृजेर्वृद्धि:', रपर, 'ज्' = 'ग्'–'चजो: कु: घिण्ण्यतो:', उपसर्ग के पकारोत्तर 'अ' = 'आ' दीर्घ– 'उपसर्गस्य घञ्मनुष्ये बहुलम्', विभक्तिकार्य) = अपामार्ग: (अपामार्ग नामक औषधि)।

(१२९५) **पद**– ईषद्दु:सुषु, कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु, खल्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– दु:खार्थक और सुखार्थक ईषत्, दुस्, सु उपपद रहते धातु से खल् प्रत्यय होता है। 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्था:' के अनुसार यह प्रत्यय भाव और कर्म में ही होता है। दुष्कर: कटो भवता। ईषत्कर:। सुकर:।

ईषत्करः। सुकरः। (१२९६) **आतो युच् ३।३।१२८** । खलोऽपवादः। ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः। सुपानः। (१२९७) **आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः ३।३।१७०** । अवश्यं कारी। शतं दायी। (१२९८) **कृत्याश्च ३।३।१७१** । तथा धातोः। अवश्यं

खल्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'इदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इत्यनेन सस्य षत्वे, ऋकारस्य गुणे रपरे प्रातिपदिकत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे 'दुष्करः' इति।

(१२९६) **आतो युच्।** ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु आदन्ताद्धातोः युच् स्यादित्यर्थः। **ईषत्पानः**– ईषत्पूर्वकपाधातोः 'आतो युच्' इत्यनेन प्राप्तं खल्प्रत्ययं प्रबाध्य युच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'युवोरनाकौ' इत्यनेन 'यु' इत्यस्य अनादेशे, सवर्णदीर्घे प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'ईषत्पानः' इति।

(१२९७) **आवश्यकेति।** आवश्यके आधमर्ण्ये च गम्ये धातोः कर्तरि णिनिः स्यादित्यर्थः।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। कृच्छ्रम् = दुःखम्। अकृच्छ्रम् = सुखम्। कृच्छ्रं च अकृच्छ्रं च कृच्छ्राकृच्छ्रे, अर्थौ येषां ते कृच्छ्राकृच्छ्रार्थास्तेषु (द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः)। अतः "दुःखवाचक दुस् और सुखवाचक ईषत् अथवा सु उपपद रहते धातु से खल् प्रत्यय होता है"। यह प्रत्यय सकर्मक धातुओं से कर्म में और अकर्मक धातुओं से भाव में होता है। खल् में आदि 'ख्' 'लशक्वतद्धिते' से तथा अन्त्य 'ल्' 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। 'अ' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) दुःखेन क्रियत इति। दुस् + ✓ कृ + खल् ('अ'–'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल्', आर्धधातुकसंज्ञा, 'ऋ' = 'अ'–गुण–'सार्वधातु०', रपर, 'स्' = 'ष्'–षत्व–'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = दुष्करः कटो भवता (चटाई बनाना आपके लिए कठिन है)। (२) सुखेन क्रियत इति– ईषत् + कृ + खल् (= 'अ', गुण, रपर, विभक्तिकार्य) = ईषत्करः (आसानी से बनाई जा सके)। (३) सु + कृ + खल् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = सुकरः।

(१२९६) **पद–** आतः, युच्। **अनुवृत्ति–** ईषद्दुःसुषु, कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– ईषदादि के उपपद रहते आदन्त धातु से युच् प्रत्यय होता है। ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः। सुपानः।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (१२९५) से 'ईषद्दुःसुषु, कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु' की अनुवृत्ति आती है। 'आतः' 'धातोः' का विशेषण है। अतः तदन्तविधि होकर 'आदन्ताद् धातोः' हो जाता है। इस प्रकार–"दुःखवाचक दुस् तथा सुखवाचक ईषत् या सु के उपपद रहते आदन्त धातु से युच् प्रत्यय होता है।"

युच् में इत्संज्ञक चकार का लोप होने पर 'यु' मात्र अवशिष्ट रहता है।

उदाहरण– (१) ईषत् + ✓ पा + युच् (= 'यु'–'आतो युच्', 'यु' = 'अन'–'युवोरनाकौ', आ + अ = 'आ'–सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य) = ईषत्पानः सोमो भवता (आप सोम को आसानी से पी सकते हैं)। (२) दुस् + पा + युच् (पूर्ववत्प्रक्रिया, षत्व) = दुष्पानः। (३) सु + पा + युच् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = सुपानः।

(१२९७) **पद–** आवश्यकाधमर्ण्ययोः, णिनिः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– आवश्यक और आधमर्ण्य (लेन-देन) अर्थ गम्य रहने पर धातु से कर्ता में णिनि प्रत्यय होता है। अवश्यंकारी। शतंदायी।

विमर्श– 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– "आवश्यक और आधमर्ण्य (ऋण–विशिष्ट)

हरिः सेव्यः। शतं देयम्। **(१२९९) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् ३।३।१७४ ।** आशिषि। वातिर्वायुः। शिवो देयादेनं शिवदत्तः। **(१३००) अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ३।४।१८ ।** प्राचामिति पूजार्थम्। प्रतिषेधयोरलंखल्वोरुपपदयोः क्त्वा। 'दो दद्

(१२९८) **कृत्याश्चेति**। 'कृत्याः' इत्यधिकारस्थाः तव्यानीयरादिप्रत्ययाः धातोः स्युरिति भावः।

(१२९९) **क्तिच् क्ताविति**। आशीरर्थे धातोः संज्ञायामेतौ स्त इत्यर्थः।

(१३००) **अलंखल्वोरिति**। **अलं दत्त्वा**– दानेन किञ्चिदपि साध्यं नास्तीत्यर्थः। अलंपूर्वक-दाधातोः 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'दो

कर्ता वाच्य होने पर धातु से णिनि प्रत्यय होता है''। णिनि में आदि 'ण्' और 'इ' इत्संज्ञकों का लोप होने पर 'इन्' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) अवश्यम् + ✓ कृ + णिनि (= 'इन्'–'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः', 'ऋ' = 'आ'–वृद्धि, रपर, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', उपधा को दीर्घ–'सौ च', 'स्' का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः०', 'न्' का लोप–'नलोपः०', अनुस्वार) = अवश्यंकारी (अवश्य करने वाला)। (२) शतम् + दा + णिनि (= 'इन्', युक् = 'य्' आगम–'आतो युक् चिण्कृतोः', प्राति० संज्ञा, सु = 'स्', उपधादीर्घ, 'स्' का लोप, 'न्' का लोप) = शतंदायी (सौ रुपये का ऋणी)।

(१२९८) **पद**– कृत्याः, च। **अनुवृत्ति**– आवश्यकाधमर्ण्ययोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आवश्यक और आधमर्ण्य अर्थ गम्य रहते धातु से कृत्यसंज्ञक प्रत्यय होते हैं। अवश्यं सेव्यो हरिः। शतं देयम्।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१२९७) से 'आवश्यकाधमर्ण्ययोः' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' अधिकृत है। तदनुसार– ''आवश्यक और आधमर्ण्य विशिष्ट अर्थ हों तो धातु से कृत्यसंज्ञक तव्यत् आदि प्रत्यय होते हैं''।

उदाहरण– (१) ✓ सिव् + ण्यत् (= 'य'–'कृत्याश्च', 'इ' = 'ए'–गुण–'पुगन्त०', सु = स् = र् = :) = सेव्यः। (२) ✓ दा + यत् (= 'य'–कृत्याश्च', 'आ' = 'ई'–ईद्यति, गुण, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = देयं शतम् (सौ रुपये देने हैं)।

(१२९९) **पद**– क्तिच्क्तौ, च, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**– आशिषि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– संज्ञा अर्थ गम्य रहते आशीर्वाद अर्थ में धातु से क्तिच् और क्त प्रत्यय होते हैं। वातिः। शिवो देयादेनं शिवदत्तः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'आशिषि लिङ्लोटौ' (३।३।१७३) से 'आशिषि' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''संज्ञा अर्थ के वाच्य होने पर आशीर्वाद अर्थ में धातु से क्तिच् और क्त प्रत्यय भी होते हैं।

उदाहरण– (१) ✓ वा + क्तिच् (= 'ति'–'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्', प्रातिपदिक संज्ञा, सु = स् = र् = :) = वातिः (वायु)। (२) शिवो देयादेनम्– शिव + ✓ दा + क्त (= 'त'–'क्तिच्क्तौ०', 'दा' = 'दद्' आदेश–'दो दद् घोः', 'द्' = 'त्'–'खरि च', प्राति० सं०, सु = स् = र् = :) = शिवदत्तः।

(१३००) **पद**– अलंखल्वोः, प्रतिषेधयोः, प्राचाम्, क्त्वा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– निषेधवाची अलं और खलु उपपद रहते धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है। सूत्र में 'प्राचाम्'

घो:'। अलं दत्त्वा। 'घुमास्था' इतीत्वम्। पीत्वा खलु। अलंखल्वो: किम्? मा कार्षी:। प्रतिषेधयो: किम्? अलङ्कार:। (१३०१) समानकर्तृकयो: पूर्वकाले ३।४।२१। समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयो: पूर्वकाले विद्यमानाद्धातो: क्त्वा। 'अव्ययकृतो भावे'। भुक्त्वा व्रजति। द्वित्वमतन्त्रम्। स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति। (१३०२) न क्त्वा सेट्

दद् घो:' इत्यनेन दाधातो: ददादेशे 'खरि चे'ति दस्य तत्वे, प्रातिपदिकत्वे सौ 'क्त्वातोसुन्कसुन:' इत्यव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुप:' इति सोर्लुकि कृते 'अलं दत्वे'ति।

(१३०१) **समानकर्तृकयोरिति**। धातोरित्यधिकृतम्। 'क्त्वा' इत्यनुवर्तते। तदाह– **समानकर्तृकयोरिति। भुक्त्वा व्रजति–** भुज्धातो: 'समानकर्तृकयो: पूर्वकाले' इत्यनेन क्त्वा-प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'चो: कु:' इति जस्य गत्वे 'खरि चे'ति कत्वे विभक्तिकार्ये 'भुक्त्वा' इति।

पद का ग्रहण प्राचीन आचार्यों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए है, विकल्प के लिए नहीं। अलं दत्वा। पीत्वा खलु इत्यादि।

विमर्श– 'धातो:' अधिकृत है। तदनुसार– "प्रतिषेध अर्थात् निषेध अर्थ में वर्तमान अलम् या खलु उपपद रहते प्राचीन आचार्यों के मत में धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है"।

क्त्वा प्रत्यय अव्ययसंज्ञक है[1] और 'कृदतिङ्' से कृत्संज्ञक भी है। अत: 'अव्ययकृतो भावे' इस भाष्योक्ति के अनुसार यह भाव अर्थ में ही होता है।

उदाहरण– (१) अलं + ✓ दा + क्त्वा (= 'त्वा' भाव में–'अलंखल्वो: प्रतिषेधयो: प्राचां क्त्वा', 'दा' = 'दद्' आदेश–'दो दद् घो:', 'द्' = 'त्'–'खरि च', कृदन्तत्वात् प्राति० संज्ञा, सु, अव्ययसंज्ञा, 'सु' का लुक्–'अव्ययादाप्सुप:', पदान्त म् = ं अनुस्वार) = अलं दत्वा (मत दो)। (२) खलु + पा + क्त्वा (= 'त्वा', 'आ' = 'ई'–'घुमास्था०', पूर्ववत् विभक्तिकार्य) = पीत्वा खलु (मत पिओ)।

प्रत्युदाहरण– (१) सूत्र में 'अलंखल्वो:' पद का ग्रहण होने से केवल प्रतिषेधार्थक माङ् आदि के उपपद रहते क्त्वा प्रत्यय नहीं होता। मा कार्षी: (मत करो)। (२) प्रकृत सूत्र में 'अलंखल्वो:' का विशेषण 'प्रतिषेधयो:' होने से यदि अलम् और खलु प्रतिषेधवाची नहीं होंगे तो प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। अलङ्कार: (भाव में घञ्)।

(१३०१) **पद–** समानकर्तृकयो:, पूर्वकाले। **अनुवृत्ति–** क्त्वा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– समानकर्तृक धात्वर्थों में पूर्वकालिक क्रियावाची धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है। 'अव्ययकृतो भावे' के अनुसार भाव में यह प्रत्यय होता है। भुक्त्वा व्रजति। यहाँ द्विवचन का ग्रहण अविवक्षित है अर्थात् प्रधान नहीं है। अत: दो से अधिक धातुओं में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है। स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३००) से 'क्त्वा' की अनुवृत्ति आती है। 'धातो:' का अधिकार है। अत: समानकर्तृकत्व धातुओं का ही होगा। परन्तु वर्णात्मक धातुओं का समानकर्तृकत्व धात्वर्थ में होने से धातु से धात्वर्थ का ही ग्रहण होगा। इस प्रकार–"समान कर्ता वाले दो धात्वर्थों में जो धात्वर्थ पूर्वकाल में हो तद्वाचक धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है"।

उदाहरण– (१) भुक्त्वा व्रजति– पूर्वकालवर्ती ✓ भुज् + क्त्वा (= 'त्वा'–'समानकर्तृकयो: पूर्वकाले', 'ज्' = 'ग्'–'चो: कु:', 'ग्' = 'क्'–'खरि च', प्राति० संज्ञा, सु, अव्ययत्वात् 'सु' का

---

१. 'क्त्वातोसुन्कसुन:' (पा० सू० १।१।४०)।

१।२।१८। सेट् क्त्वा किन्न। शयित्वा। सेट् किम्? कृत्वा। **(१३०३) रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च १।२।२६।** इवर्णोपधाद्धलादेरलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः। द्युतित्वा। द्योतित्वा। लिखित्वा। लेखित्वा। व्युपधात्किम्? वर्तित्वा। रलः किम्? सेवित्वा। हलादेः किम्? एषित्वा। सेट् किम्? भुक्त्वा। **(१३०४) उदितो वा**

(१३०२) **न क्त्वेति। शयित्वा**– शीङ्धातोः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति क्त्वाप्रत्यये अनुबन्धलोपे इडागमे 'न क्त्वा सेट्' इत्यनेन कित्त्वाभावे गुणेऽयादेशे विभक्तिकार्ये 'शयित्वा' इति।

(१३०३) **रल इति।** 'पूङः क्त्वा चे'त्यतः 'क्त्वा' इति, 'न क्त्वा सेट्' इत्यतः सेडिति, 'नोपधादि'त्यतः वेति 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यतश्च किदिति अनुवर्तन्ते। 'धातोरि'त्यधिकृतम्। तस्य 'रलः' इति विशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह–**इवर्णोवर्णोपधादित्यादिना।**

लुक्) = भुक्त्वा (खाकर)। (२) सूत्र में द्विवचन का ग्रहण प्रधान न होने से दो से अधिक क्रियाओं में भी पूर्वकालिक क्रिया या क्रियाओं से क्त्वा हो जाता है। 'स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति' (स्नान कर, खाकर, पीकर जाता है)।

(१३०२) **पद**– न, क्त्वा, सेट्। **अनुवृत्ति**– कित्। **अतिदेश (निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ– इट् सहित क्त्वा कित् नहीं होता। शयित्वा। सेट् किम्? कृत्वा।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५)से 'कित्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''इट् से युक्त क्त्वा प्रत्यय कित् नहीं होता''।

उदाहरण– शी + क्त्वा (= 'त्वा'–'समानकर्तृकयोः०', इट् आगम, 'क्त्वा' के कित्त्व का निषेध–'न क्त्वा सेट्', 'ई' = 'ए'–गुण–'सार्वधातु०', 'ए' = 'अय्' आदेश, विभक्तिकार्य) = शयित्वा (सोकर)।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में सेट् पद का ग्रहण इसलिए किया गया है कि अनिट् क्त्वा कित् ही रहे, अकित् न हो–कृत्वा (कित् होने से गुणनिषेध)।

(१३०३) **पद**– रलः, व्युपधात्, हलादेः, सन्, च। **अनुवृत्ति**– क्त्वा, सेट्, वा, कित्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ– इवर्णोपध, उवर्णोपध हलादि रलन्त धातुओं से परवर्ती सेट् क्त्वा और सेट् सन् विकल्प से कित् होते हैं। द्युतित्वा। द्योतित्वा इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'पूङः क्त्वा च' (१।२।२२) से 'क्त्वा', 'न क्त्वा सेट्' (१३०२) से 'सेट्', 'नोपधात्थफान्ताद्वा' (१।२।२३) से 'वा' तथा 'अंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।२५) से 'कित्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' पद का अध्याहार किया जाता है। 'रलः' धातोः का विशेषण होने से तदन्त-विधि होती है। उश्च इश्चेति वी, वी उपधे यस्य सः व्युपधः, तस्मात् व्युपधात् (द्वन्द्वगर्भबहु०)। इस प्रकार– ''इकार या उकार जिसकी उपधा हो ऐसे हलादि रलन्त धातु से परवर्ती सेट् क्त्वा और सेट् सन् विकल्प से कित् होते हैं''।

उदाहरण– (१) द्युत् + क्त्वा (= 'त्वा'–'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले', इट् = 'इ'–'आर्धधातुकस्येड् वलादेः', विकल्प से किद्वद्भाव–'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च', किद्वद्भाव पक्ष में प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, विभक्तिकार्य) = द्युतित्वा। कित् के अभावपक्ष में गुण होकर–द्योतित्वा

७।२।५६ । उदितः परस्य क्त्व इड् वा। शमित्वा। शान्त्वा। देवित्वा। 'छ्वोः शूडनुनासिके च'ति ऊठ्। द्यूत्वा। दधातेर्हिः। हित्वा। (१३०५) जहातेश्च क्त्वि ७।४।४३ । हित्वा।

(१३०४) **उदितो वा**। अत्र 'जृव्रश्च्योः क्त्वि' इत्यतः क्त्वि इति, 'वसतिक्षुधोरिट्' इत्यतः 'इडि'ति चानुवर्तते। तदाह-**उदित इति। शमित्वा**- शम्धातोः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इत्यनेन क्त्वाप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'उदितो वा' इत्यनेन विकल्पेन इटि अनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ, अव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुलोपे शमित्वा इति। इडभावे 'अनुनासिकस्ये'ति दीर्घे अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'शान्त्वा' इति।

(१३०५) **जहातेश्चेति**। 'ओहाक् त्यागे' इत्यस्य क्त्वाप्रत्यये हिभावो भवतीत्यर्थः।

(चमक कर)। (२) ✓ लिख् + क्त्वा (= 'त्वा', इट्, विकल्प से कित्, प्राप्त गुण का निषेध) = लिखित्वा। कित् के अभावपक्ष में लघूपधगुण-लेखित्वा (लिख कर)।

प्रत्युदाहरण- (१) प्रकृत सूत्र में 'व्युपधात्' पद के ग्रहण से जिस धातु की उपधा में 'इ' 'उ' न हों उनसे परे सेट् क्त्वा को वैकल्पिक कित्त्व नहीं होता। यथा-वर्तित्वा। (२) रलः किम्? सेवित्वा। सूत्र में 'रलः' का ग्रहण होने से रलन्त धातुओं से भिन्न में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। 'सेवित्वा' में 'न क्त्वा सेट्' से अकित् होने पर नित्य गुण हो जाता है। (३) हलादेः किम्? एषित्वा। यहाँ 'हलादेः' पद का ग्रहण होने से अजादि धातु से परे प्रकृत सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। 'एषित्वा' में इष् धातु अजादि है, अतः 'न क्त्वा सेट्' से अकित् होकर लघूपधगुण होता है। (४) सेट् किम्? भुक्त्वा। यहाँ अनुवृत्त 'सेट्' पद का ग्रहण होने से अनिट् क्त्वा में भी यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। भुक्त्वा।

(१३०४) **पद**- उदितः, वा। **अनुवृत्ति**- क्त्वि, इट्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- उदित् धातु से परवर्ती क्त्वा को विकल्प से इट् होता है। शमित्वा। शान्त्वा इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'जृव्रश्च्योः क्त्वि' (७।२।५५) से 'क्त्वि' तथा 'वसतिक्षुधोरिट्' (७।२।५२) से 'इट्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार-''जिसका ह्रस्व उकार इत् हो ऐसे धातु से परवर्ती क्त्वा को विकल्प से इट् होता है''।

उदाहरण- (१) ✓ शमु (शम्) + क्त्वा (= 'त्वा'-'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले', विकल्प से इट् = 'इ' आगम-'उदितो वा', विभक्तिकार्य) = शमित्वा। इट् के अभाव पक्ष में-उपधादीर्घ-'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति', म् = ं अनुस्वार = 'न्'-परसवर्ण) = शान्त्वा (शान्त होकर)। (२) ✓ दिवु (दिव्) + क्त्वा (= 'त्वा', विकल्प से इट्-'उदितो वा', अकित्-'न क्त्वा सेट्', उपधा को इ = 'ए' गुण) = देवित्वा। इट् के अभाव में-'दिव् + त्वा' (व् = ऊठ् = 'ऊ'-'च्छ्वोः शूडनुनासिके च', 'इ' = 'य्'- यण्) = द्यूत्वा।

(१३०५) **पद**- जहातेः, च, क्त्वि। **अनुवृत्ति**- हि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- क्त्वा प्रत्यय के परवर्ती रहते ओहाक् (हा) धातु के स्थान पर 'हि' आदेश हो जाता है। हित्वा।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'दधातेर्हिः' (७।४।४२) से 'हि' की अनुवृत्ति आती है। 'जहाति' (श्तिप् निर्देश) का अर्थ 'ओहाक्' धातु है। अतः ''क्त्वा प्रत्यय के परवर्ती रहते ओहाक् (हा) धातु के स्थान पर 'हि' आदेश होता है''। अनेकाल् होने से यह सर्वादेश है।

उदाहरण- (१) ✓ ओहाक् (हा) + क्त्वा (= 'त्वा', प्राप्त इट् का 'एकाच०' से निषेध, हा = 'हि' आदेश-'जहातेश्च क्त्वि', विभक्तिकार्य) = हित्वा (छोड़कर)। (२) 'ओहाङ् गतौ' धातु से क्त्वा होने पर-हात्वा। यहाँ प्रकृत सूत्र में 'ओहाक्' का ग्रहण होने से 'हि' आदेश नहीं होता।

हाङ्स्तु–हात्वा। (१३०६) समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७।१।३७ । अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः। तुक्–प्रकृत्य। अनञ् किम्? अकृत्वा। पर्युदासाश्रयणान्नेह–परमकृत्वा। (१३०७) वा ल्यपि ६।४।३८ । अनुदात्तोपदेश-वनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपः। स च व्यवस्थितः। * मान्तानिटां वा *। * नान्तानिटां

(१३०६) **समास इति। प्रकृत्य–** प्रपूर्वकात् कृञ्धातोः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति क्त्वाप्रत्यये 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इत्यनेन क्त्वाप्रत्ययस्य स्थाने ल्यपि अनुबन्धलोपे, पित्त्वात् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुगागमेऽनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि 'प्रकृत्य' इति।

(१३०७) **वा ल्यपीति।** 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपः' इत्यनुवर्तते। स च लोपो व्यवस्थितविभाषया भवति।

(१३०६) **पद–** समासे, अनञ्पूर्वे, क्त्वः, ल्यप्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अव्यय पूर्वपद रहते नञ्भिन्न समास में क्त्वा के स्थान पर 'ल्यप्' आदेश होता है। प्रकृत्य इत्यादि।

विमर्श– न नञ् = अनञ्, अनञ् पूर्वं यस्मिन् स अनञ्पूर्वः, तस्मिन् (बहु०)। 'अनञ्पूर्वे' पद 'समासे' का विशेषण है। अनञ् में पर्युदास प्रतिषेध है। अतः 'पर्युदासः सदृशग्राही' के अनुसार नञ्भिन्न नञ्सदृश का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार– ''नञ्भिन्न अव्यय पूर्वपद रहते समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश हो जाता है''। 'ल्यप्' का लकार तथा पकार इत्संज्ञक है। उनका लोप होने पर 'य' मात्र शेष रहता है।

उदाहरण– (१) प्र + ✓ कृ + क्त्वा (= 'त्वा'–'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले', प्राप्त इट् का 'एकाच०' से निषेध, 'प्र' अव्यय के साथ 'कुगतिप्रादयः' से नित्य समास, त्वा = ल्यप् = 'य'– 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्', तुक् = 'त्'–'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्', प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, 'सु' का लुक्–'अव्ययादाप्सुपः') = प्रकृत्य (अच्छी तरह करके)।

प्रत्युदाहरण– (१) **अनञ् किमिति।** सूत्र में 'अनञ्' पद का ग्रहण होने से समास के पूर्व-पद में नञ् (अ) होने पर क्त्वा के स्थान पर ल्यप् नहीं होता–अकृत्वा। (२) अनञ् में पर्युदास का आश्रयण (नञ्भिन्न, नञ्सदृश) होने से 'परमकृत्वा' में 'क्त्वा' = 'ल्यप्' नहीं होता।

(१३०७) **पद–** वा, ल्यपि। **अनुवृत्ति–** अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, अनुनासिकलोपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– 'ल्यप्' प्रत्यय के परवर्ती रहते अनुदात्तोपदेश वन और तन आदि धातुओं के अनुनासिक का विकल्प से लोप होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) से 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, अनुनासिकलोपः' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। अतः ''ल्यप् के परवर्ती रहते अनुदात्तोपदेश वनति (वन्) तथा तनोत्यादि (तन् आदि) अङ्गों के अनुनासिक का विकल्प से लोप होता है''।

स च व्यवस्थित– 'वा ल्यपि' से अनुनासिक का लोप व्यवस्थित (निश्चित) विभाषा है।

(१) **मान्तानिटां वा–** पूर्वोक्त अनुदात्तोपदेशादि मान्त अनिट् धातुओं के नकार का लोप विकल्प से होता है।

नित्यम् *। आगम्य, आगत्य। प्रहत्य। अदो जग्धिः। प्रजग्ध्य। **(१३०८) न ल्यपि ६।४।६९** । घुमास्थेतीत्वम्। प्रधाय। प्रमायेत्यादि। **(१३०९) आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ३।४।२२** । पौनःपुन्ये द्योत्ये क्त्वाविषये णमुल् क्त्वा च। **(१३१०) नित्यवीप्सयोः ८।१।४** । आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं स्यात्। आभीक्ष्ण्ये

(१३०८) **न ल्यपीति**। ल्यपि परे घुमास्थेतीत्वं न भवतीति सूत्रार्थः।

(१३०९) **आभीक्ष्ण्य इति**। आभीक्ष्ण्ये = पौनःपुन्ये गम्यमाने धातोः क्त्वाविषये णमुल्प्रत्ययो भवति चकारात् क्त्वा च।

(१३१०) **नित्यवीप्सयोरिति**। 'सर्वस्य द्वे' इत्यतः 'द्वे' इत्यनुवर्तते। तदाह–**आभीक्ष्ण्य इति। स्मारं स्मारमिति**। स्मृधातोः 'आभीक्ष्ण्ये णमुल्' इत्यनेन णमुल्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'अचो

---

(२) **नान्तानिटां नित्यम्**– नान्त अनिट् धातुओं से नकार का लोप नित्य होता है।

उदाहरण– (१) आङ् (= आ) + ✓ गम् + क्त्वा (= 'त्वा'–'समानकर्तृकयोः', क्त्वा = ल्यप् = 'य'–'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्', 'मान्तानिटां वा' के सहकार से 'वा ल्यपि' से विकल्प से 'म्' अनुनासिक का लोप, तुक् = 'त्' आगम–'ह्रस्वस्य०', प्राति० संज्ञा, 'सु' का लुक्) = आगत्य। अनुनासिक 'म्' के लोप के अभाव पक्ष में– आगम्य (आकर)। (२) प्र + ✓ हन् + क्त्वा (= 'त्वा' = ल्यप् = 'य्', 'न्' का लोप–'नान्तानिटां नित्यम्', तुक् = 'त्', सु, सु का लुक्) = प्रहत्य। (३) प्र + ✓ अद् + क्त्वा (= त्वा = ल्यप् = 'य', 'अद्' = 'जग्ध्'–'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति', प्राति० संज्ञा, सु, अव्ययसंज्ञा, 'सु' का लुक्) = प्रजग्ध्य (खाकर)।

(१३०८) **पद**– न, ल्यपि। **अनुवृत्ति**– घुमास्थागापाजहातिसाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'ल्यप्' के परवर्ती रहते घुसंज्ञक धातु, मा धातु और स्था आदि धातुओं के आकार को ईत्व नहीं होता। प्रधाय। प्रमाय।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (६।४।६६) से 'घुमास्थागापाजहातिसाम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''घुसंज्ञक धातु, मा, पा, स्था आदि को ल्यप् प्रत्यय के परे रहते ईत्व नहीं होता''।

उदाहरण– (१) प्र + ✓ धा + क्त्वा (= त्वा = ल्यप् = 'य', 'घुमास्था०' से प्राप्त ईत्व का निषेध–'न ल्यपि', विभक्तिकार्य) = प्रधाय (धारण कर)। (२) प्र + ✓ मा + क्त्वा (= त्वा = ल्यप् = 'य', प्राप्त ईत्व का निषेध–'न ल्यपि', विभक्तिकार्य) = प्रमाय (माप कर)।

(१३०९) **पद**– आभीक्ष्ण्ये, णमुल्, च। **अनुवृत्ति**– समानकर्तृकयोः पूर्वकाले, क्त्वा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आभीक्ष्ण्य = पौनःपुन्य अर्थ द्योत्य होने पर धातु से क्त्वा के विषय में णमुल् होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१३०१) से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' तथा 'अलंखल्वोः प्रति०' (१३००) से 'क्त्वा' की अनुवृत्ति आती है। आभीक्ष्ण्य का अर्थ 'पुनः-पुनः' या 'बार-बार' है। इस प्रकार–आभीक्ष्ण्य (बार-बार होना) द्योत्य होने पर क्त्वा के विषय (समान कर्ता वाले दो धात्वर्थों में से जो धात्वर्थ पूर्वकाल में स्थित हो उसके वाचक धातु से) में णमुल् और क्त्वा प्रत्यय होते हैं''। 'णमुल्' में णकार 'चुटू' से तथा लकार 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञक है। उकार उच्चारण की सुविधा के लिए है। 'अम्' मात्र अवशिष्ट रहता है।

(१३१०) **पद**– नित्यवीप्सयोः। **अनुवृत्ति**– पदस्य, सर्वस्य, द्वे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आभीक्ष्ण्य और वीप्सा अर्थ द्योत्य हो तो पद को द्वित्व होता है। आभीक्ष्ण्य–'बार-

तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु च। पचति पचति। स्मारं स्मारं नमति गुरुम्। स्मृत्वा स्मृत्वा। पायम्-२। भोजम्-२। श्रावम्-२। (१३११) अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् ३।४।२७। एषु कृञो णमुल् स्यात् सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवम्भूतश्चेत्कृञ्। व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्ह इत्यर्थः। अन्यथाकारम्। एवंकारम्। कथंकारम्। इत्थंकारम् भुङ्क्ते।

ञ्णिति' इत्यनेन वृद्धौ रपरत्वे, स्मारमिति जाते 'नित्यवीप्सयोः' इत्यनेन द्वित्वे, स्मारं स्मारमिति जाते, प्रातिपदिकत्वे सौ 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि 'स्मारं स्मारमि'ति।

(१३११) **अन्यथेति**। 'कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ्' इत्यतः कृञ इति, 'स्वादुमि णमुल्' इत्यतः णमुल् इति चानुवर्तते। तदाह-**एष्विति**। **अन्यथाकारम्**- अन्यथापूर्वककृधातोः 'अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' इत्यनेन णमुल्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, णित्त्वाद् वृद्धौ रपरत्वे सौ, अव्ययत्वात् सोर्लुकि 'अन्यथाकारमि'ति रूपम्।

बार होना' तिङन्तों अथवा अव्ययसंज्ञक कृदन्तों में ही होता है। पचति पचति। स्मारं स्मारं नमति शिवम् इत्यादि।

विमर्श- सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'पदस्य' (८।१।१६) अधिकार का अपकर्षण किया जाता है। 'सर्वस्य द्वे' का यहाँ अधिकार है। किसी क्रिया का 'बार-बार होना' यहाँ नित्य पद का अर्थ है। भिन्न-भिन्न पदार्थों की क्रिया तथा गुण की व्याप्ति को एक साथ कहने की इच्छा को 'वीप्सा' कहते हैं। इस प्रकार- ''बार-बार होना और वीप्सा अर्थ द्योत्य हो तो सम्पूर्ण पद के स्थान पर दो शब्द रूप आदेश (द्वित्व) हो जाता है''।

उदाहरण- (१) पचति पचति (द्वित्व) = बार-बार पकाता है। (२) ✓ स्मृ + णमुल् (= 'अम्'-'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च', 'ऋ' = 'आ'-वृद्धि-'अचो ञ्णिति', रपर, प्राति० संज्ञा, सु, सु का लुक्-'अव्ययादाप्सुपः', पद को द्वित्व-'नित्यवीप्सयोः') = स्मारं स्मारं नमति गुरुम् (बार-बार स्मरण कर गुरु को नमस्कार करता है)। क्त्वा पक्ष में- स्मृत्वा स्मृत्वा। (२) ✓ पा + णमुल् (= 'अम्', युक् = 'य्' आगम-'आतो युक्०', द्वित्व-'नित्यवीप्सयोः') = पायं पायम्। (३) ✓ भुज् + णमुल् (= 'अम्', लघूपधगुण, द्वित्व) = भोजं भोजम्। क्त्वा पक्ष में-भुक्त्वा भुक्त्वा (बार-बार खाकर)।

(१३११) **पद**- अन्यथैवंकथमित्थंसु, सिद्धाऽप्रयोगः, चेत्। **अनुवृत्ति**- कृञः, णमुल्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- अन्यथा, एवम्, कथम् या इत्थम् अव्यय उपपद रहते कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है; यदि वह कृञ् धातु व्यर्थ होने से प्रयोग के अनर्ह (अयोग्य) प्रतीत होती है। अन्यथाकारम्। एवंकारम् इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में 'कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ्' (३।४।२५) से 'कृञः' तथा 'स्वादुमि णमुल्' (३।४।२६) से 'णमुल्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- ''अन्यथा, एवम्, कथम् तथा इत्थम् अव्यय शब्दों के उपपद रहते कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है; यदि कृञ् का अप्रयोग सिद्ध हो तो''। आशय यह है कि निष्पद्यमान पद में कृञ् धातु का अर्थ अन्वित न हो और उसका प्रयोग व्यर्थ-सा लग रहा हो।

उदाहरण- (१) अन्यथा + ✓ कृ + णमुल् (= 'अम्'-'अन्यथैवंकथमित्थंसु०', 'ऋ' = 'आ'-वृद्धि-'अचो ञ्णिति', रपर, उपपद समास, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, सु, अव्ययसंज्ञा, 'सु' का लुक्)

इत्थं भुङ्क्त इत्यर्थः। सिद्धेति किम्? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते। (१३१२) यावति विन्दजीवोः ३।४।३० । यावद्वेदं भुङ्क्ते। यावल्लभते तावदित्यर्थः। यावज्जीवमधीते। (१३१३) निमूलसमूलयोः कषः ३।४।३४ । कर्मण्युपपदे। (१३१४) कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः ३।४।४६ । यस्माण्णमुलुक्तः स एवानुप्रयोक्तव्यः। निमूलकाषं

(१३१२) **यावतीति**। यावच्छब्दे उपपदे विन्दतेः जीवतेश्च णमुल् स्यादित्यर्थः। **यावज्जीवमधीते**– यावदुपपदात् जीवधातोः 'यावति विन्दजीवयोः' इत्यनेन णमुल्प्रत्यये, समासे सुब्लुकि, तकारस्य श्चुत्वेन जकारे, प्रातिपदिकत्वे सौ 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुलोपे 'यावज्जीवम्' इति।

(१३१३) **निमूलसमूलयोरिति**। निमूले समूले च कर्मण्युपपदे कषधातोः णमुल् इत्यर्थः। **समूलकाषं कषति**– समूलं कषतीत्यर्थे समूलोपपदात् कष्धातोः 'निमूलसमूलयोः कषः' इत्यनेन णमुलि अनुबन्धलोपे, समासे सुपो लुकि 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ, सौ मान्तत्वादव्ययत्वे, सुब्लुकि 'समूलकाषमि'ति। ततः 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' इत्यनेन कषधातोरेवानुप्रयोगे 'समूलकाषं कषती'ति।

(१३१४) **कषादिष्विति**। कषादिषु यस्माद्धातोर्णमुल् विहितस्तस्यैव धातोरनुप्रयोगः कर्तव्य इत्यर्थः।

= अन्यथाकारं भुङ्क्ते (अन्य प्रकार से खाता है)। यहाँ कृ अन्वित नहीं हुआ और वह व्यर्थ-सा लग रहा है। (२) इसी प्रकार– एवंकारं भुङ्क्ते (इस प्रकार खाता है)। (३) कथंकारं भुङ्क्ते (कैसे खाता है)। (४) इत्थंकारं भुङ्क्ते (इस तरह खाता है)।

प्रत्युदाहरण– सिद्धेति किम्? शिरोऽन्यथाकृत्वा भुङ्क्ते। यदि कृञ् धातु का अर्थ प्रयोग में अन्वित हो रहा हो तो णमुल् प्रत्यय नहीं होता। यथा– शिरोऽन्यथाकृत्वा भुङ्क्ते (शिर को दूसरी तरफ कर खाता है)।

(१३१२) **पद**– यावति, विन्दजीवोः। **अनुवृत्ति**– णमुल्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'यावत्' शब्द उपपद रहते विन्द् और जीव् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। यावद्वेदं भुङ्क्ते इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'स्वादुमि णमुल्' (३।४।२६) से 'णमुल्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''यावत् शब्द उपपद रहते 'विद्लृ लाभे' एवं 'जीव प्राणधारणे' धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है।

उदाहरण– (१) यावत् + ✓ विद् + णमुल् (= 'अम्'–'यावति विन्दजीवोः', आर्धधातुकसंज्ञा, 'इ' = 'ए'–गुण–'पुगन्त०', प्राति० संज्ञा, सु, मान्तत्वात् अव्ययसंज्ञा, 'सु' का लुक्–'अव्ययादाप्सुपः') = यावद्वेदं भुङ्क्ते (जितना पाता है, उतना खाता है)। (२) यावत् + ✓ जीव् + णमुल् (= 'अम्', समास, सुब्लुक्, 'त्' = 'ज्'–श्चुत्व, विभक्तिकार्य) = यावज्जीवमधीते (जीव पर्यन्त पढ़ता है)।

(१३१३) **पद**– निमूलसमूलयोः, कषः। **अनुवृत्ति**– कर्मणि, णमुल्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मसंज्ञक निमूल और समूल उपपद रहते कष् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'कर्मणि दृशिविदोः' (३।४।२९) से 'कर्मणि' तथा 'स्वादुमि णमुल्' (३।४।२६) से 'णमुल्' पदों की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''निमूल तथा समूल कर्म उपपद रहते कष् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है''।

कषति। समूलकाषं कषति। निमूलं समूलं कषतीत्यर्थः। (१३१५) शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः ३।४।३५ । एषु कर्मसु पिषेर्णमुल्। शुष्कपेषं पिनष्टि। शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः। चूर्णपेषम्। रूक्षपेषम्। (१३१६) समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः ३।४।३६ । कर्मणीत्येव। समूलघातं हन्ति। अकृतकारं करोति। जीवग्राहं गृह्णाति, जीवन्तं गृह्णाती-

---

(१३१५) **शुष्केति**। एषु कर्मसूपदेषु पिषधातोर्णमुल् स्यादित्यर्थः।

(१३१६) **समूलेति**। 'णमुल्' इत्यनुवर्तते। अतः 'समूलादिषु कर्मसूपपदेषु हन्-कृञ्ग्रहधातुभ्यो णमुल् स्यादि'त्यर्थः।

(१३१४) **पद**– कषादिषु, यथाविधि, अनुप्रयोगः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कषादि धातुओं में जिस धातु से णमुल् कहा है, उसी धातु का अनुप्रयोग होता है। निमूलकाषं कषति। समूलकाषं कषति।

विमर्श– कष आदिर्येषां ते कषादयस्तेषु (बहुव्रीहिः)। ''कष आदि धातुओं में यथाविधि अनुप्रयोग होता है''। अर्थात् जिस धातु से णमुल् का विधान होता है उसका ही अनु = पश्चात् प्रयोग होता है।

उदाहरण– (१) निमूल + ✓ कष् + णमुल् (= 'अम्'–'निमूलसमूलयोः कषः', समास, सुब्लुक्, उपधावृद्धि, प्राति० संज्ञा, सु, अव्ययसंज्ञा–'कृन्मेजन्तः', 'सु' का लुक्–'अव्ययादाप्सुपः') = निमूलकाषं कषति (जड को छोड़कर काटता है)। (२) समूल + ✓ कष् + णमुल् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = समूलकाषं कषति (जड सहित काटता है)। यहाँ 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' के अनुसार 'निमूलकाषं' के पश्चात् 'कषति' (कष धातु) का ही प्रयोग हुआ है।

(१३१५) **पद**– शुष्कचूर्णरूक्षेषु, पिषः। **अनुवृत्ति**– कर्मणि, णमुल्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मसंज्ञक शुष्क, चूर्ण और रूक्ष शब्द उपपद हों तो पिष् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। शुष्कपेषं पिनष्टि। चूर्णपेषम्। रूक्षपेषम्।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'कर्मणि' तथा 'णमुल्' की पूर्ववत् (१३१३) अनुवृत्ति आती है। अतः ''शुष्क, चूर्ण तथा रूक्ष कर्म उपपद रहते पिष् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है''।

उदाहरण– (१) शुष्क + ✓ पिष् + णमुल् (= 'अम्'–'शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः', समास, सुब्लुक्, 'इ' = 'ए'–गुण–'पुगन्त०', सु, अव्ययसंज्ञा, 'सु' का लुक्) = शुष्कपेषम्। 'कषादिषु' से यथाविधि अनुप्रयोग–शुष्कपेषं पिनष्टि (= सूखे को पीसता है)। (२) चूर्ण + ✓ पिष् + णमुल् (पूर्ववत्प्रक्रिया) = चूर्णपेषम्। (३) रूक्ष + ✓ पिष् + णमुल् = रूक्षपेषम्।

(१३१६) **पद**– समूलाकृतजीवेषु, हन्कृञ्ग्रहः। **अनुवृत्ति**– कर्मणि, णमुल्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कर्मसंज्ञक समूल, अकृत, जीव शब्द उपपद होने पर हन्, कृञ् और ग्रह् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। समूलघातं हन्ति। अकृतकारं करोति इत्यादि।

विमर्श– सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु पूर्ववत् 'कर्मणि' और 'णमुल्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' पद का अधिकार है। तदनुसार– ''समूल, अकृत तथा जीव कर्म उपपद रहते क्रमशः हन्, कृञ् तथा ग्रह् धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) समूल + ✓ हन् + णमुल् (= 'अम्'–'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः', उपधावृद्धि, 'न्' = 'त्'–'हनस्तोऽचिण्णलोः', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्तेः०', समास, सुब्लुक्, प्रा० संज्ञा, सु, अव्ययसंज्ञा, 'सु' का लुक्) = समूलघातं हन्ति (मूल सहित मारता है)। (२) अकृत + ✓ कृ + णमुल् (= 'अम्', वृद्धि, रपर, समास, सुब्लुक्, अव्ययसंज्ञा, 'सु' का लुक्) = अकृतकारं करोति

त्यर्थः। **(१३१७) करणे हनः ३।४।३७।** पादघातं हन्ति, पादेन हन्तीत्यर्थः। **(१३१८) स्नेहने पिषः ३।४।४८।** स्निह्यते येन तस्मिन्करणे पिषेर्णमुल्। उदपेषं पिनष्टि, उदकेन पिनष्टीत्यर्थः। **(१३१९) हस्ते वर्तिग्रहोः ३।४।३९।** हस्तार्थे करणे। हस्तवर्तं वर्तयति। करवर्तम्, हस्तेन गुलिकां करोतीत्यर्थः। हस्तग्राहं गृह्णाति। करग्राहम्।

(१३१७) **करण इति।** णमुलिति शेषः। **पादघातं हन्ति–** पादेन हन्तीत्यर्थे 'पाद' इत्युपपदात् हन्धातोः 'करणे हनः' इत्यनेन णमुलि अनुबन्धलोपे, समासे सुब्लुकि 'पाद + हन + अम्' इति जाते 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इत्यनेन नकारस्य तकारे 'हो हन्ते०' इत्यनेन हस्य घकारे, उपधावृद्धौ प्रातिपदिकत्वे सौ, अव्ययत्वे सुलोपे 'पादघातमि'ति।

(१३१८) **स्नेहने पिषः।** 'करणे हनः' इत्यतः 'करणे' इत्यनुवर्तते। तदाह–**स्निह्यत इति।**

(१३१९) **हस्त इति।** 'करणे' इति, 'णमुलि'ति चानुवर्तते। तेन हस्तार्थे करणे उपपदे वर्तिग्रहोर्णमुल् स्यादित्यर्थः। **हस्तवर्तं वर्तयति–** 'हस्तेन वर्तयति' इत्यर्थे वृतधातोः 'हस्ते

(न किये हुए को करता है)। (३) जीव + ✓ ग्रह् + णमुल् (= 'अम्', उपधावृद्धि, समास, सुब्लुक्, प्रा० संज्ञा, अव्ययत्वात् 'सु' का लुक्) = जीवग्राहं गृह्णाति (जीव को ग्रहण करता है)। (यहाँ सर्वत्र यथाविधि धातु का अनुप्रयोग होता है।)

(१३१७) **पद–** करणे, हनः। **अनुवृत्ति–** णमुल्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– करण उपपद रहते हन् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। पादघातं हन्ति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्ववत् 'णमुल्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'धातोः' का अधिकार है। इस प्रकार–''करण कारक के उपपद रहते हन् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है''।

उदाहरण– पादेन हन्ति– पाद + ✓ हन् + णमुल् (= 'अम्'–'करणे हनः', समास, सुब्लुक्, 'न्' = 'त्'–'हनस्तः०', 'ह्' = 'घ्'–'हो हन्ते०', उपधावृद्धि, प्राति० संज्ञा, सु, अव्ययसंज्ञा, 'सु' का लुक्) = पादघातं हन्ति (पैर से मारता है)।

(१३१८) **पद–** स्नेहने, पिषः। **अनुवृत्ति–** करणे, णमुल्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– स्नेहबाचक करण उपपद रहने पर पिष् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। उदपेषं पिनष्टि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३१७) से 'करणे' की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'णमुल्' पद अनुवृत्त है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''स्नेह (द्रव) वाचक करण उपपद हो तो पिष् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है''। स्नेह का अर्थ 'द्रव पदार्थ' (बहने वाली वस्तु) है। यथा- जल, तेल आदि।

उदाहरण– (१) उदकेन पिनष्टि– उदक + ✓ पिष् + णमुल् (= 'अम्'–'स्नेहने पिषः', समास, सुब्लुक्, 'उदक्' = 'उद' आदेश–'पेषंवासवाहनधिषु च', 'इ' = 'ए'–गुण, प्रा० संज्ञा, 'सु', अव्ययत्वात् 'सु' का लुक्) = उदपेषं पिनष्टि (= जल से पीसता है)।

(१३१९) **पद–** हस्ते, वर्तिग्रहोः। **अनवृत्ति–** करणे, णमुल्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– हस्तार्थक करण उपपद रहते ण्यन्त वृत् और ग्रह् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। हस्तवर्तं वर्तयति। करवर्तम् इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्रवत् 'करणे' और 'णमुल्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''हस्त (हाथ) वाची करण उपपद हो तो वर्ति (ण्यन्त वृत्) तथा ग्रह् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण– (१) हस्तेन वर्तयति– हस्त + ✓ वृत् + णिच् (= वर्ति) + णमुल् (= 'अम्'–

पाणिग्राहम्। **(१३२०) स्वे पुषः ३।४।४० ।** करण इत्येव। 'स्वे' इत्यर्थग्रहणम्। तेन स्वरूपे पर्याये विशेषे च णमुल्। स्वपोषं पुष्णाति। धनपोषम्। गोपोषम्। **(१३२१) समासत्तौ ३।४।५० ।** तृतीयासप्तम्योर्णमुल् सन्निकर्षे। केशग्राहं युध्यन्ते। हस्तग्राहं

वर्तिग्रहोः' इत्यनेन णमुलि अनुबन्धलोपे, समासे सुब्लुकि 'पुगन्त०' इति गुणे, रपरे सौ, सोर्लोपे 'हस्तवर्तमि'ति।

(१३२०) **स्वे पुषः**। स्वरूपे (स्वशब्दे) पर्याये = धनादिविशेषेषु उपपदेषु पुषधातोर्णमुल् स्यादित्यर्थः। **स्वपोषं पुष्णाति**– स्वेन = धनेन पुष्णातीत्यर्थे पुषधातोः 'स्वे पुषः' इति णमुलि, सुब्लुकि 'पुगन्त०' इति गुणे, सौ मान्तत्वादव्ययत्वे सोर्लोपे 'स्वपोषमि'ति।

(१३२१) **समासत्ताविति**। समासत्तिः = सन्निकर्षोऽव्यवधानेन संयोगः। **केशग्राहमिति**। अत्यन्तं सन्निहिता युध्यन्त इत्यर्थः। केशैः केशेषु वा गृहीत्वा इति सन्निहितार्थे ग्रह्धातोः 'समासत्तौ' इति णमुलि अनुबन्धलोपे, सुब्लुकि उपधावृद्धौ विभक्तिकार्ये केशग्राहमिति।

'हस्ते वर्तिग्रहोः', णि = 'इ' का लोप, सुब्लुक्, विभक्तिकार्य) = हस्तवर्तं वर्तयति (= हाथ से करता है)। (२) कर + वृत् + णमुल् (उक्तवत् प्रक्रिया) = करवर्तम्। (३) हस्त + ग्रह् + णमुल् (= 'अम्'– 'हस्ते०', उपधावृद्धि, समास, सुब्लुक्, प्राति० संज्ञा, 'सु' का लुक्) = हस्तग्राहं गृह्णाति (हाथ से ग्रहण करता है)। (४) कर + ग्रह् + णमुल् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = करग्राहम्। (५) पाणि + ग्रह् + णमुल् = पाणिग्राहम्।

(१३२०) **पद**– स्वे, पुषः। **अनुवृत्ति**– करणे णमुल्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– स्ववाचक करण उपपद रहते पुष् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। स्वपोषं पुष्णाति इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् 'करणे' और 'णमुल्' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। 'स्व' पद यहाँ आत्मीय, धन तथा ज्ञाति का पर्यायवाची है। अतः "स्ववाचक करणसंज्ञक सुबन्त उपपद होने पर पुष् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है"।

उदाहरण– (१) स्वेन पुष्णाति– स्व + ✓ पुष् + णमुल् (= 'अम्'–'स्वे पुषः', समास, सुब्लुक्, 'इ' = 'ए'–गुण– 'पुगन्त०', मान्त होने से अव्ययसंज्ञा, सु, 'सु' का लुक्) = स्वपोषं पुष्णाति (अपने द्वारा अथवा धन से पुष्ट होता है)। (२) धनेन पुष्णाति– धन + ✓ पुष् + णमुल् (= 'अम्', गुण, सुब्लुक्, विभक्तिकार्य) = धनपोषम्। (३) गो + पुष् + णमुल्= गोपोषम्।

(१३२१) **पद**– समासत्तौ। **अनुवृत्ति**– सप्तम्याम्, तृतीयायाम्, णमुल्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– सन्निकर्ष अर्थ गम्यमान हो तो तृतीयान्त और सप्तम्यन्त उपपद रहते धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। केशग्राहं युध्यन्ते। हस्तग्राहं युध्यन्ते।

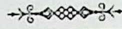
विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'उपदंशस्तृतीयायाम्' (३।४।४७) से 'तृतीयायाम्' तथा 'सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः' (३।४।४९) से 'सप्तम्याम्' की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'णमुल्' पद अनुवृत्त है। 'समासत्ति' का अर्थ सन्निकर्ष = अव्यवहित संयोग है। तदनुसार– "सन्निकटता प्रतीयमान होने पर तृतीयान्त तथा सप्तम्यन्त उपपद होने पर धातु से णमुल् प्रत्यय होता है"।

उदाहरण– (१) केशैः केशेषु वा गृहीत्वा इत्यर्थे– केश + ग्रह् + णमुल् (= 'अम्'–'समासत्तौ', समास, सुब्लुक्, उपधावृद्धि, प्राति० संज्ञा, सु, अव्ययसंज्ञा, सु का लुक्) = **केशग्राहं युध्यन्ते** (= केश पकड़ कर लड़ते हैं)। (२) हस्त + ग्रह् + णमुल् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = **हस्तग्राहं युध्यन्ते** (हाथ पकड़-पकड़ कर लड़ते हैं)।

युध्यन्ते। (१३२२) **स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः ३।४।६१** । क्त्वाणमुलौ स्तः। मुखतः कृत्य, मुखतः कृत्वा, मुखतः कारम्, मुखतो भूय, मुखतो भूत्वा, मुखतो भावम्।

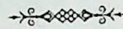
इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम्।

इति कृदन्तप्रक्रिया समाप्ता ।



(१३२२) **स्वाङ्ग इति**। तस्प्रत्ययो यस्मादिति बहुव्रीहिः। तस्प्रत्ययान्ते स्वाङ्गे उपपदे कृञो भुवश्च क्त्वा णमुल् चेत्यर्थः।

इति कृदन्तप्रक्रिया समाप्ता ।



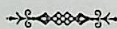
(१३२२) **पद**– स्वाङ्गे, तस्प्रत्यये, कृभ्वोः। **अनुवृत्ति**– क्त्वाणमुलौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– तस्–प्रत्ययान्त स्वाङ्गवाची शब्द उपपद रहते कृ तथा भू धातु से क्त्वा तथा णमुल् प्रत्यय होता है। मुखतः कृत्य। मुखतः कृत्वा। मुखतः कारम् इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अव्ययेऽन्यथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ' (३।४।५९) से 'क्त्वाणमुलौ' की अनुवृत्ति आती है! 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार– ''तस्प्रत्ययान्त स्वाङ्गवाची शब्द उपपद रहते कृञ् और भू धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होता है''।

उदाहरण– (१) मुखतः + ✓ कृ + क्त्वा (= 'त्वा'–'स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः', समास, सुब्लुक्, समास पक्ष में क्त्वा = ल्यप् = 'य'–'क्त्वा च', तुक् = 'त्' आगम–'ह्रस्वस्य०', विभक्तिकार्य) = मुखतः कृत्य। असमासपक्ष में–मुखतः कृत्वा। प्रकृत सूत्र से णमुल् पक्ष में–मुखतः + ✓ कृ + णमुल् (= 'अम्', णित्त्वात् वृद्धि, रपर, विभक्तिकार्य) = मुखतः कारम् (सामने करके)। (२) मुखतः + ✓ भू + क्त्वा (= 'त्वा'–'स्वाङ्गे०', क्त्वा = ल्यप् = 'य'–'क्त्वा च', विभक्त्यादिकार्य) = मुखतो भूय। क्त्वा पक्ष में– मुखतो भूत्वा। णमुल् पक्ष में– मुखतो भावम्।

उत्तरकृदन्त-प्रकरण समाप्त ।



अथ कारकप्रकरणम्

(१३२३) प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६ ।

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्राधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा। प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः।

'ङ्याप्प्रातिपदिकादि'त्यधिकृत्य विहिताः स्वादिप्रत्ययाः सप्रपञ्चं निरूपिताः। अथेदानीं कारकाधिकारे सप्तविभक्तीनामर्थविशेषव्यवस्थां दर्शयितुं प्रकरणमारभते।

(१३२३) **प्रातिपदिकार्थ इति**। प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गञ्च परिमाणञ्चेति द्वन्द्वः। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात्मात्रशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः। मात्रपदार्थश्चावधारणम्। **नियतोपस्थितिक इति**। नियता व्यापिका उपस्थितिर्यस्य स नियतोपस्थितिकः। यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः सोऽत्र प्रातिपदिकार्थः। **परिमाणमात्र इति**। न चात्र प्रातिपदिकार्थमात्र एव

सुबन्त-प्रकरण में सु-औ-जस् इत्यादि सात विभक्तियों का विधान प्रदर्शित किया जा चुका है। 'कारके' के अधिकार में उन विभक्तियों का विशेष अर्थ बताने के लिए प्रस्तुत प्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है।

जो क्रिया को सिद्ध करे, उसे कारक कहते हैं। अतः 'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्' लक्षण प्रसिद्ध है। कारक छः होते हैं– कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण।[1]

प्रकृत प्रकरण में कारकों से भिन्न अनेक उपपद विभक्तियों का भी व्याख्यान है, तथापि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' नियम के अनुसार कारक-बाहुल्य होने से इसको कारक-प्रकरण ही कहा जाता है। वाक्यज्ञान के लिए इस प्रकरण की विशेष उपयोगिता है। अतः सर्वप्रथम प्रथमा विभक्ति का अर्थ प्रदर्शित करने के लिए सूत्र का उल्लेख किया जा रहा है–

(१३२३) **पद–** प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे, प्रथमा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– प्रातिपदिकार्थमात्र में, लिङ्गमात्र की अधिकता में, परिमाणमात्र में और संख्यामात्र में प्रथमा विभक्ति होती है।

विमर्श– प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं चेति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि (इतरेतरद्वन्द्व समास), तान्येव प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रम्, तस्मिन्। यहाँ निश्चयार्थक 'मात्र' शब्द के साथ समास होता है। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' (द्वन्द्वसमास के अन्त में पठित शब्द प्रत्येक पद के साथ सम्बद्ध होता है।) इस न्याय से मात्र शब्द का प्रत्येक प्रातिपदिकार्थ आदि के साथ सम्बन्ध होता है। यहाँ लिङ्गमात्र अथवा परिमाणमात्र का अर्थ प्रातिपदिकार्थ से अधिक लिङ्गमात्र या परिमाणमात्र होता है।

(१) **नियतोपस्थितिक इति–** शब्द से निश्चित वाच्यार्थ की उपस्थिति को 'प्रातिपदिकार्थ' कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रातिपदिक के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियम से उपस्थिति = प्रतीति होती है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। यह शब्द का वाच्यार्थ ही होता है। यथा– उच्चैः (ऊँचा), नीचैः (नीचा), कृष्णः (श्रीकृष्ण), श्रीः (लक्ष्मी), ज्ञानम् (ज्ञान, जानना)। इन सभी में प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा हुई है।

---

१. ''कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च। अपादानाधिकरणे चेत्याहुः कारकाणि षट्''॥

ज्ञानम्। लिङ्गमात्रे—तटः। तटी। तटम्। परिमाणमात्रे—द्रोणो व्रीहिः। वचनं संख्या। एकः। द्वौ। बहवः। **(१३२४) सम्बोधने च २।३।४७ ।** प्रथमा। हे राम। **(१३२५)**

प्रथमाऽस्त्विति वाच्यम्; तथा सति द्रोणस्य व्रीहेश्च द्वयोरपि प्रातिपदिकार्थत्वेन 'नामार्थयोरभेदान्वयः' इति न्यायेन द्रोणाभिन्नो व्रीहिरित्यनिष्टार्थलाभापत्तिः। परिमाणार्थे पृथक् प्रथमाविधाने तु प्रत्ययार्थे परिमाणसामान्ये प्रकृत्यर्थो = द्रोणशब्दार्थो विशेषपरिमाणभेदेन संसर्गेण विशेषणम्। द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणमित्यर्थः। तस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणतयाऽन्वयेन चायमर्थः- द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति।

(१३२४) **सम्बोधन इति।** सम्बोधनमभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्। सम्बोधनेऽधिके गम्येऽपि प्रथमा स्यादित्यर्थः।

---

(२) **लिङ्गमात्रे–** लिङ्गविशिष्टप्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। अतः प्रकृत सूत्र में लिङ्गमात्र का ग्रहण प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त लिङ्गमात्र के आधिक्य के लिए है।

उदाहरण– तटः, तटी, तटम्। यहाँ प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिङ्गमात्र की अधिकता होने पर प्रकृत सूत्र से प्रथमा विभक्ति हो जाती है।

(३) **परिमाणमात्रे–** परिमाणमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। आशय यह है कि जब किसी शब्द से प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त परिमाण (माप) अर्थ की प्रतीति हो तो उसमें प्रथमा विभक्ति होती है।

उदाहरण– द्रोणो व्रीहिः (द्रोणपरिमाण से मापा हुआ धान)– द्रोण प्राचीन काल में लकड़ी का बना एक माप था, जिसमें भरकर धान्य आदि को मापा (तौला) जाता था। यहाँ द्रोण पद से 'परिमाण-सामान्य' अर्थ में प्रथमा होती है। द्रोण स्वयं 'परिमाण-विशेष' है। अतः परिमाण-सामान्य में प्रथमा होकर विशेष और सामान्य का परस्पर अन्वय हो जाता है। 'व्रीहिः' के साथ अन्वय होने पर परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव की प्रतीति होती है। परिच्छेदक 'द्रोणः' विशेषण और परिच्छेद्य 'व्रीहिः' विशेष्य है। अतः 'द्रोणो व्रीहिः' का अर्थ होता है– द्रोण रूप जो परिमाण, उससे परिच्छिन्न अर्थात् मापे हुए धान्य।[१]

(४) **वचनमात्रे–** 'वचन' का अर्थ 'संख्या' है। अतः संख्यामात्र में प्रथमा विभक्ति होती है।

उदाहरण– एकः, द्वौ, बहवः। यहाँ संख्या मात्र अर्थ को द्योतित करने के लिए प्रथमा विभक्ति होती है।

(यहाँ आशङ्का होती है कि एकत्व आदि की नियमेन उपस्थिति होने से 'एकः', 'द्वौ' आदि में प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा हो सकती है। पुनः वचन ग्रहण क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि जब एक आदि शब्द से एकत्व आदि अर्थ प्रदर्शित हो जाने के बाद 'उक्तार्थानामप्रयोगः' न्याय से प्रथमा विभक्ति नहीं आ सकती। अतः सूत्र में पृथक्तया 'वचन' का ग्रहण किया गया है।)

(१३२४) **पद–** सम्बोधने, च। **अनुवृत्ति–** प्रथमा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है। हे राम!

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'प्रातिपदिकार्थमात्रे०' (१३२३) से 'प्रथमा' की अनुवृत्ति आती है। सम् = अभिमुखीकृत्य बोधनम् = ज्ञापनम्। अर्थात् किसी व्यक्ति को (कुछ कहने के लिए) अपनी ओर अभिमुख करना 'सम्बोधन' कहलाता है। अतः ''प्रातिपदिकार्थ से सम्बोधन अर्थ की अधिकता होने पर प्रथमा विभक्ति होती है''।

---

१. ''द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः।'' (सिद्धान्तकौमुदी, सू० ५३२)

'S-17-

कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९ । कर्तुः क्रिययाऽऽप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। **(१३२६) कर्मणि द्वितीया २।३।२ ।** अनुक्ते। हरिं भजति। अभिहिते तु–कर्मादौ प्रथमैव। हरिः सेव्यते। लक्ष्म्या सेवितो हरिः। शतेन क्रीतः शत्यः अश्वः। प्राप्तानन्दश्चैत्रः। अभिधानं तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। ''क्रमादमुं नारद

(१३२५) **कर्तुरीप्सित इति**। अत्र 'कारके' इत्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते। करोति क्रियां निर्वर्त्तयतीति कारकम्। आप्तुमिष्यमाणमीप्सितम्, अतिशयेनेप्सितमीप्सिततमम्। केनाप्तुमित्याकाङ्क्षायामाह–**कर्तुः क्रिययेत्यादिना**।

(१३२६) **कर्मणीति**। 'अनभिहिते' इत्यधिकृत्याह–**अनुक्त इति**। अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यादित्यर्थः। **क्वचिदिति**। प्रायेणेत्यस्य फलं प्रदर्शयति–'क्रमादमुमि'त्यत्र इतिशब्दरूपनिपातेन नारदनिष्ठं कर्मत्वमभिहितमिति न द्वितीया, किन्तु प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमैव।

उदाहरण– हे राम– यहाँ राम को अपनी ओर अभिमुख कर कुछ कहना है। यह अभिमुखीकरण ही सम्बोधन है। उसमें प्रथमा विभक्ति 'सु', उसका लोप–'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः'।

(१३२५) **पद–** कर्तुः, **ईप्सिततमम्**, कर्म। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– कर्ता को क्रिया के द्वारा प्राप्त करने के लिए इष्टतम कारक की कर्मसंज्ञा होती है।

विमर्श– 'कारके' (१।४।२३) का अधिकार है। उसका यहाँ विभक्तिविपरिणाम से 'कारकम्' हो जाता है। इस प्रकार– ''कर्ता का उसकी क्रिया के द्वारा पाने के लिए जो (ईप्सिततम) = अत्यन्त अभीष्ट कारक होता है, उसकी कर्मसंज्ञा होती है।

(१३२६) **पद–** कर्मणि, द्वितीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। हरिं भजति। उक्त कर्म में तो प्रथमा ही होती है। हरिः सेव्यते इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अनभिहिते' (२।३।१) का अधिकार है। न अभिहितम् = अनभिहितम्, तस्मिन् = अनभिहिते (नञ्तत्पुरुष)। जो किसी से कहा हुआ न हो उसे अनभिहित (अनुक्त) कहते हैं। इस प्रकार– ''अनुक्त अर्थात् किसी से न कहे हुए कर्म में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है।''

उदाहरण– हरिं भजति (भक्त हरि को भजता है)– यहाँ भजन-क्रिया के द्वारा भक्त हरि को प्राप्त करना चाहता है। अतः 'हरि' कर्ता का अपनी क्रिया द्वारा ईप्सिततम होने से कर्मसंज्ञक हुआ। 'हरि' का कर्मत्व किसी तिङ्, कृत् आदि के द्वारा भी नहीं कहा गया है। इस प्रकार अनुक्त 'कर्म' हरि में प्रकृत से द्वितीया विभक्ति होती है।

अभिहिते– अभिहित (उक्त) कर्म आदि में प्रथमा ही होती है, द्वितीया नहीं। यह अभिधान (कथन) प्रायः तिङ्, कृत्, तद्धित और समास के द्वारा होता है।

उदाहरण– (१) लक्ष्म्या हरिः सेव्यते (लक्ष्मी द्वारा हरि सेवन किया जाता है)– यहाँ सेवन क्रिया की कर्ता लक्ष्मी है। कर्ता को क्रिया द्वारा ईप्सिततम 'हरि' है, जो 'कर्म है। परन्तु वह 'तिङ्' द्वारा उक्त है। अतः प्रकृत सूत्र से द्वितीया नहीं होती, अपितु प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा होती है।

(२) लक्ष्म्या सेवितो हरिः (लक्ष्मी द्वारा सेवित हरि)– यहाँ कर्म 'हरि' 'सेवितः' में क्त (कृत्प्रत्यय) द्वारा उक्त है, जो क्त प्रत्यय 'कर्म' में हुआ है। इस प्रकार उक्त कर्म में द्वितीया न होकर प्रथमा ही होती है।

इत्यबोधि सः''। **(१३२७) अकथितं च १।४।५१** । अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञकं स्यात्।

''दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्''॥

गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। तण्डुलानोदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति।

(१३२७) **अकथितं चेति**। अपादानसम्प्रदानाधिकरणादिकं यदाऽपादानत्वादिविशेषरूपेण न विवक्षितं किन्तु सम्बन्धसामान्यरूपेण विवक्षितं तदा तत्कारकं कर्मसंज्ञकं स्यादित्यर्थः। **दुह्याजिति** दुह्यादीनां द्वादशधातूनां तथा नीहृकृष्वहां चतुर्णां मुख्यकर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति कारिकार्थः। अत एते धातवो द्विकर्मका इति सिद्धम्। **गां दोग्धि पयः**– पयोऽत्र मुख्यं कर्म, कर्तुरीप्सिततमत्वात् गोश्चापादानत्वस्याविवक्षणादकथितकर्मत्वम्। अतः 'अकथितं चे'-

---

(३) **शतेन क्रीतः शत्यः अश्वः** (सौ से खरीदा हुआ घोड़ा आदि)– यहाँ तद्धित प्रत्यय (शत + यत्) द्वारा कर्म उक्त हो जाने से द्वितीया न होकर प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही होती है।

(४) **प्राप्तानन्दश्चैत्रः** (जिसको आनन्द प्राप्त हो गया है ऐसा चैत्र)– यहाँ प्राप्त और आनन्द का अन्य पदार्थ अर्थात् द्वितीया विभक्ति के अर्थ कर्म में बहुव्रीहि समास है। अतः समास द्वारा कर्म के उक्त हो जाने से द्वितीया नहीं होती। प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा ही होती है।

तिङ्, कृत्, तद्धित और समास के अतिरिक्त कहीं-कहीं पर निपात के द्वारा भी कर्म उक्त हो जाता है।

उदाहरण– (५) **क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः** (इस प्रकार श्रीकृष्ण ने क्रम से यह जान लिया कि यह नारदजी हैं)। यहाँ 'इति' निपात से कर्म उक्त हो जाने से बोधन-क्रिया के कर्म नारद में द्वितीया विभक्ति नहीं होती, प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा होती है।

(१३२७) **पद**– अकथितम्, च। **अनुवृत्ति**– कर्म। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– अपादानादि विशेष से अविवक्षित कारक की कर्मसंज्ञा होती है। (१) दुह् (= दुहना), (२) याच् (= माँगना), (३) पच् (= पकाना), (४) दण्ड् (= दण्ड देना), (५) रुध् (= रोकना), (६) प्रच्छ् (= पूछना), (७) चि (= चुनना), (८) ब्रू (= कहना), (९) शास् (= उपदेश देना), (१०) जि (= जीतना), (११) मथ् (= मथना), (१२) मुष् (चुराना), (१३) नी (= ले जाना), (१४) हृ (= ले जाना), (१५) कृष् (= खींचना) और (१६) वह् (= पहुँचाना)–इन सोलह धातुओं के प्रमुख कर्म से युक्त अपादान आदि विशेष संज्ञाओं की विवक्षा न होने पर कर्म संज्ञा हो जाती है। गां दोग्धि पयः इत्यादि।

विमर्श– 'कारके' इस अधिकृत सूत्र का विभक्तिविपरिणाम से 'कारकम्' हो जाता है। पूर्वसूत्र (१३२५) से 'कर्म' की अनुवृत्ति आती है। कथितम् (उक्त), न कथितम् अकथितम् (नञ्तत्पुरुष)। अर्थात् न कहे गये को 'अकथित' कहते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि किससे न कहा गया? इसका उत्तर है कि 'कारके' के अधिकार में पठित अपादान, सम्प्रदान, करण और अधिकरण आदि संज्ञाएँ की गई हैं, उनसे अकथित। अर्थात् ''जब कोई कारक अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण के रूप में कहना अभीष्ट न हो तो वह कर्मसंज्ञक हो जाता है''।

'दुह्याच्' इति। दुह्, याच् आदि कारिकोक्त सोलह धातुओं के कर्म से युक्त कारक की ही 'अकथितं च' से कर्म संज्ञा होती है।

व्रजमवरुणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षमवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्तीत्यादि। * अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम् *। कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोहमास्ते।

त्यनेन कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां कृतायां 'गां पयो दोग्धि' इति। पयःकर्मकं गोसम्बन्धिदोहनमर्थः। **अर्थनिबन्धनेति**। 'परिगणितधात्वर्थकधात्वन्तरसंयोगेऽपि द्विकर्मकत्वं लभ्यते' इति कैयटादिभिः व्याख्यानेन एतदर्थकधातुयोगेऽकथितकर्मत्वं भवतीति।

उदाहरण– (१) **गां दोग्धि पयः** (गाय से दूध दुहता है)– यहाँ 'गो' अपादान तथा 'पयः' ईप्सिततम कर्म है। यहाँ जब वक्ता गो को अपादान रूप में कहना नहीं चाहता तब अपादान रूप की अविवक्षा होने पर 'गो' की 'अकथितं च' से कर्मसंज्ञा होती है। इस प्रकार दो कर्म हो जाने पर दुह् धातु द्विकर्मक हो जाती है। दोनों कर्म अनुक्त हैं। अतः 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है। (२) **बलिं याचते वसुधाम्** (बलि से पृथ्वी को माँगता है)– यहाँ बलि की अपादान रूप में अविवक्षा कर 'अकथितं च' से कर्म संज्ञा, प्रधान कर्म 'वसुधा' है। दोनों में द्वितीया। (३) **तण्डुलानोदनं पचति** (चावलों से भात पकाता है)— यहाँ तण्डुल पचन-क्रिया के करण हैं। करण की अविवक्षा होने पर कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। 'ओदनम्' प्रधान कर्म तथा 'तण्डुलान्' गौण कर्म है। (४) **गर्गान् शतं दण्डयति** (गर्गों से सौ रुपये दण्ड प्राप्त करता है)– यहाँ जब गर्गों का अपादानत्व अभीष्ट नहीं होता तो कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया होती है। 'शतम्' प्रधान कर्म तथा 'गर्गान्' अप्रधान कर्म है। (५) **व्रजमवरुणद्धि गाम्** (व्रज = गोशाला में गाय को रोकता है)– यहाँ 'व्रज' अधिकरण है। उसकी अधिकरणत्वेन अविवक्षा होने पर प्रकृत सूत्र से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। (६) **माणवकं पन्थानं पृच्छति** (बालक से मार्ग पूछता है)– यहाँ 'माणवक' अपादान है, परन्तु वक्ता द्वारा अपादानत्वेन अविवक्षा होने पर कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। यहाँ 'पन्थानम्' मुख्य कर्म है। (७) **वृक्षमवचिनोति फलानि** (वृक्ष से फलों को चुनता है)– यहाँ 'वृक्ष' की अपादान रूप में विवक्षा न होने पर अप्रधान कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हुई। (८) **माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा** (बालक के लिए धर्म को कहता है, सिखाता है)– यहाँ सम्प्रदानत्वेन माणवक की अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हुई। ब्रू और शास् दोनों धातुएँ द्विकर्मक हो जाती हैं। (९) **शतं जयति देवदत्तम्** (देवदत्त से सौ जीतता है)– यहाँ देवदत्त की अपादानत्वेन अविवक्षा है। अतः कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हुई। (१०) **सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति** (अमृत के लिए क्षीरसागर को मथता है)– यहाँ सम्प्रदान रूप से सुधा की अविवक्षा से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई। (११) **देवदत्तं शतं मुष्णाति** (देवदत्त से १०० रुपये ठगकर प्राप्त करता है)– यहाँ देवदत्त की अपादानत्व से अविवक्षा होने से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई। (१२) **ग्राममजां नयति हरति कर्षति वहति वा** (गाँव में बकरी को ले जाता है, अपहरण करता है, खींचता है अथवा पहुँचाता है)– यहाँ ग्राम अधिकरण है। उसकी अधिकरणत्वेन अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हुई। प्रधान कर्म 'अजाम्' तथा अप्रधान कर्म 'ग्रामम्' है।

अर्थनिबन्धनेति। यह संज्ञा अर्थ को निमित्त मानकर प्रवृत्त होती है। अतः पूर्वोक्त १६ धातुओं के अर्थ के समानार्थक (पर्यायवाची) धातुओं के योग में भी 'अकथितं च' सूत्र से कर्म संज्ञा होती है।

क्रोशमास्ते। **(१३२८) गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ १।४।५२ ।** गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात्।

शत्रूनगमयत् स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत्।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयेद्विधिम्।
आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः।।

(१३२८) **गतिबुद्धीति**। 'कारके' इत्यधिकृतम्। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' त्यतः कर्म इत्यनुवर्तते। गतिः = गमनम्, बुद्धिः = ज्ञानम्, प्रत्यवसानं = भक्षणमर्थो येषामिति, शब्दः कर्म येषामिति बहुव्रीहिः। अविद्यमानं कर्म येषां तेऽकर्मकास्तेषाम्। तदाह- **गत्याद्यर्थानामित्यादिना**। **शत्रूनगमयदिति**। यः शत्रून् स्वर्गमगमयत् = शत्रवः स्वर्गमगच्छन् तान् श्रीहरिः प्रैरयत् इति श्रीहरिः शत्रून् स्वर्गमगमयत्। अत्राण्यन्तावस्थायां शत्रवः कर्तारस्ते ण्यन्तावस्थायां कर्माभवन्

उदाहरण- (१) **बलिं भिक्षते वसुधाम्-** यहाँ याच् के समानार्थक भिक्ष् धातु के योग में भी अपादानत्वेन अविवक्षा से 'बलि' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई। (२) **माणवकं धर्मं भाषते, वक्ति, अभिधत्ते** इत्यादि- यहाँ ब्रू के समानार्थक भाष्, वच् और अभि + धा आदि धातुओं के योग में भी 'माणवक' की प्रकृत सूत्र से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई।

(वा०) **अकर्मकधातुभि०** – अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, भाव और गन्तव्य मार्ग की कर्मसंज्ञा होती है, ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण- (१) **कुरून् स्वपिति** (कुरुदेश में शयन करता है)- यहाँ शयनार्थक 'स्वप्' धातु अकर्मक है। उसके योग में देशवाचक 'कुरु' की वा० से कर्मसंज्ञा, कर्म में द्वितीया-'कर्मणि द्वितीया'। (२) **मासमास्ते-** यहाँ कालवाचक 'मास' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई। (३) **गोदोहमास्ते-** यह भाव का उदाहरण है। गोदोहन क्रिया से स्थिति क्रिया का काल ज्ञान है, अतः कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई। (४) **क्रोशमास्ते-** यहाँ अध्वा = मार्गवाचक शब्द 'क्रोश' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई।

(१३२८) **पद-** गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणाम्, अणि, कर्ता, स, णौ। **अनुवृत्ति-** कर्म। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ- गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, भक्षणार्थक, शब्दकर्मक और अकर्मक धातुओं का अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक हो जाता है।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१३२५) से 'कर्म' की अनुवृत्ति आती है। 'कारके' का अधिकार है, जो विभक्तिविपरिणाम से 'कारकम्' हो जाता है। तदनुसार- ''गमनार्थक, ज्ञानार्थक, भक्षणार्थक, शब्दकर्मक और अकर्मक धातुओं के अण्यन्तावस्था के कर्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा हो जाती है।

उदाहरण- शत्रूनगमयदिति- ''जिन्होंने शत्रुओं को स्वर्ग पहुँचाया, अपने भक्तों को वेदार्थ का ज्ञान कराया, देवताओं को अमृत-भोजन कराया, ब्रह्मा को वेद पढाया और जल में पृथ्वी को ठहराया, वह श्रीहरि भगवान् हमारे रक्षक हों।'' **गत्यर्थक का उदाहरणं-शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन्** (शत्रु स्वर्ग गये)- यहाँ अण्यन्तावस्था में गमनार्थक धातु के प्रयोग में 'शत्रवः' कर्ता है। धातु की ण्यन्तावस्था में यही कर्ता कर्मसंज्ञक हो जाता है। तब इसमें द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है-श्रीहरिः शत्रून् स्वर्गमगमयत् (श्रीहरि ने शत्रुओं को स्वर्ग पहुँचाया)।

*** नीवह्योर्न *। नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन। * नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः *। वाहयति रथं वाहान्सूतः। * आदिखाद्योर्न *। आदयति खादयति वा अन्नं बटुना। * भक्षेरहिंसार्थस्य न *। भक्षयत्यन्नं बटुना। अहिंसार्थस्य किम्? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्। * जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम् *। जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः। * दृशेश्च *। दर्शयति हरिं भक्तान्। * शब्दायतेर्न *। शब्दाययति देवदत्तेन।**

द्वितीयाविभक्तिः गत्यर्थोदाहरणमिदम्। बुद्ध्यर्थोदाहरणमाह–**वेदार्थमिति**। स्वे वेदार्थमविदुः श्रीहरिस्तानवेदयदिति कर्मसंज्ञायां द्वितीया। **प्रत्यवसानार्थोदाहरणं** यथा– देवा अमृतमाश्नन् तान् श्रीहरिराशयत्। अत्रापि अण्यन्तदशायां कर्तारः देवा ण्यन्ते कर्मभूताः, अत एव द्वितीया। **शब्दकर्मोदाहरणं यथा–** विधिः वेदमध्यैत, श्रीहरिः विधिं वेदमध्यापयत्। **अकर्मकोदाहरणमाह–** सलिले पृथ्वी आस्त, श्रीहरिः पृथ्वीमासयत् सः श्रीहरिः मे गतिः संरक्षको भूयादित्यर्थः। **नीवह्योरिति**। नीवह्योरण्यन्तावस्थायां यः कर्ता, तस्य ण्यन्ते प्राप्तं कर्मत्वमनेन निषिध्यते।

अन्य उदाहरण यथा–

धातु	अण्यन्तावस्था	ण्यन्तावस्था
बुद्ध्यर्थक–	स्वे वेदार्थमविदुः,	हरिः स्वान् वेदार्थमवेदयत्।
भक्षणार्थक–	देवा अमृतमाश्नन्,	हरिः देवान् अमृतमाशयत्।
शब्दकर्मक–	विधिः वेदम् अध्यैत,	हरिः विधिं वेदमध्यापयत्।
अकर्मक–	सलिले पृथ्वी आस्त,	हरिः पृथ्वीं सलिले आसयत्।

(१) (**वा०**)– 'नी' और 'वह्' धातु का अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक नहीं होता।

उदाहरण– नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन। (भृत्यो भारं नयति वहति वा)– अण्यन्तावस्था के कर्ता 'भृत्य' की ण्यन्तावस्था में 'गतिबुद्धि०' से प्राप्त कर्मसंज्ञा का निषेध–'नीवह्योर्न', 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया विभक्ति–'भृत्येन'।

(२) (**वा०**)– नियन्तृ (सूत, सारथि) कर्तृक वह् धातु से उक्त निषेध नहीं होता। अर्थात् नियन्तृकर्तृक वह् धातु का अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक हो जाता है।

उदाहरण– वाहयति रथं वाहान् सूतः (वाहाः रथं वहन्ति, सूतस्तान्प्रेरयति)– यहाँ प्राप्त कर्मसंज्ञा के 'नीवह्योर्न' से निषेध का अभाव–'नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः'; अण्यन्तावस्था के कर्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा; द्वितीया–'वाहान्'।

(३) (**वा०**)– आदि और खादि धातुओं के अण्यन्त कर्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा नहीं होती।

उदाहरण– आदयति खादयति वान्नं वटुना– प्राप्त कर्मसंज्ञा का वा० से निषेध– 'अदिखाद्योर्न'। अतः प्रयोज्य कर्ता में तृतीया विभक्ति हुई।

(४) (**वा०**)– अहिंसार्थक भक्ष् धातु का अण्यन्त कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक नहीं होता।

उदाहरण– भक्षयत्यन्नं वटुना– यहाँ 'गतिबुद्धि०' से प्राप्त कर्मसंज्ञा का निषेध– 'भक्षेरहिंसार्थस्य न'। कर्ता में तृतीया।

(१३२९) हृक्रोरन्यतरस्याम् १।४।५३ । हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्म स्यात्। हारयति कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्। * अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् *। अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा। **(१३३०) अधिशीङ्स्थासां कर्म**

(१३२९) **हृक्रोरिति**। हा च का च हृक्रौ तयोरिति विग्रहः। वा कर्तुः ण्यन्ते कर्मत्वमित्याह–**हृक्रोरणाविति**। हारयति कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्। अत्र 'हृक्रोरन्यतरस्यामि'-त्यनेन प्रयोज्यकर्तुः भृत्यस्य विकल्पेन कर्मसंज्ञायां कर्मणि द्वितीयायां भृत्यमिति। पक्षेऽनुक्तत्वात्प्रयोज्यकर्तरि तृतीया भवति।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत वार्तिक में 'अहिंसार्थकस्य' का ग्रहण होने से हिंसार्थक भक्ष् धातु के अण्यन्त कर्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा का निषेध नहीं होता- **भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्** (बैलों को घास खिलाता है)।

(५) (**वा०**)– जल्प आदि धातुओं का अण्यन्त कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक हो जाता है।

उदाहरण– जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः (पुत्र धर्म-विषयक बोलता है, भाषण करता है, उसको देवदत्त प्रेरित करता है)– यहाँ प्रयोज्य 'कर्ता' पुत्र की वा० से कर्मसंज्ञा; द्वितीया।

(६) (**वा०**)– दृश् धातु की अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक हो जाता हैं।

उदाहरण– दर्शयति हरिं भक्तान् (भक्त हरि को देखते हैं, उनको देवदत्त प्रेरणा देता है)– यहाँ प्रयोज्य कर्ता 'भक्त' की कर्मसंज्ञा; द्वितीया–भक्तान्।

(७) (**वा०**)– क्यङ् प्रत्ययान्त 'शब्दायति' (शब्दाय धातु) का अण्यन्त कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक नहीं होता।

उदाहरण– शब्दायति देवदत्तेन (देवदत्तः शब्दं करोति तं रमेशः प्रेरयति = देवदत्त शब्द करता है, उसको रमेश प्रेरणा देता है)– यहाँ शब्द रूप कर्म 'शब्दायति' के अन्तर्गत होने से 'गतिबुद्धि०' से प्राप्त कर्मसंज्ञा का वा० से निषेध होकर तृतीया = 'देवदत्तेन'।

(१३२९) **पद**– हृक्रोः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**– अणि, कर्ता, स णौ, कर्म। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– हृ और कृ धातु के अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्मसंज्ञक होता है। हारयति, कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३२८) से 'अणि कर्ता स णौ' तथा 'कतुरीप्सिततमं कर्म' (१३२५) से 'कर्म' की यहाँ अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''हृञ् तथा कृञ् धातु के अण्यन्तावस्था के कर्ता की ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है''।

उदाहरण– हारयति कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम् ('भृत्यः कटं हरति करोति वा')– इस अण्यन्तावस्था का कर्ता 'भृत्य' विकल्प से कर्मसंज्ञक–'हृक्रोरन्यतरस्याम्'; द्वितीया = भृत्यम्। कर्मसंज्ञा के अभाव पक्ष में तृतीया = भक्तेन।

(**वा०**)– आत्मनेपद में अभिपूर्वक ण्यन्त वादि और दृश् धातु के अण्यन्तावस्था के कर्ता की ण्यन्त में विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है, ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण– अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा– यहाँ वा० से अण्यन्त कर्ता 'भक्त' की ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्मसंज्ञा; द्वितीया विभक्ति–'कर्मणि द्वितीया' = भक्तम्। कर्मसंज्ञा के अभावपक्ष में तृतीया = 'भक्तेन'।

(१३३०) **पद**– अधिशीङ्स्थासाम्, कर्म। **अनुवृत्ति**– आधारः। **संज्ञासूत्र**।

१।४।४६ । अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात्। अधिशेते, अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः। (१३३१) **अभिनिविशश्च १।४।४७** । अभिनीत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात्। अभिनिविशते सन्मार्गम्। क्वचिन्न–पापेऽभिनिवेशः। (१३३२) **उपान्वध्याङ्वसः १।४।४८** । उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात्। उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः। * **अभुक्त्यर्थस्य न** *। वने उपवसति।

उभसर्वतसोः कार्या, धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु, ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥

(१३३०) **अधीति**। 'आधारोऽधिकरणमि'त्यत आधार इत्यनुवर्तते। तदाह–**अधिपूर्वाणामिति**।

(१३३१) **अभिनीति**। 'आधारः' इत्यनुवर्त्याह–**अभिनीत्येतदिति**। **अभिनिविशते सन्मार्गम्**– अत्र 'अभिनिविशश्चे'त्यनेन 'अभिनि' इत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विशतेराधारस्य कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति।

(१३३२) **उपान्विति**। आधार इति कर्म इति चानुवर्तते। तदाह–**उपादिपूर्वस्येति**। **उभसर्वतसोरिति** । उभशब्दस्य सर्वशब्दस्य प्राकृतिकतसन्तयोः प्रयोगे द्वितीया कार्या, यथा–

मूलार्थ– 'अधि' पूर्वक शीङ्, स्था और आस् धातु का आधार कर्मसंज्ञक होता है। अधिशेते, अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'आधारोऽधिकरणम्' (१।४।४५) से 'आधारः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– "'अधि' पूर्वक शीङ्, स्था और आस् धातुओं के आधार की कर्मसंज्ञा होती है"।

उदाहरण– **अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः** (वैकुण्ठ में हरि शयन करते हैं, रहते हैं एवं विद्यमान हैं)– यहाँ 'वैकुण्ठ' की कर्मसंज्ञा–'अधिशीङ्स्थासां कर्म'; द्वितीया।

(१३३१) **पद**– अभिनिविशः, च। **अनुवृत्ति**– कर्म, आधारः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– 'अभि-नि' पूर्वक विश् धातु का आधार कर्मसंज्ञक होता है। अभिनिविशते सन्मार्गम् इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्ववत् 'आधारः' तथा 'कर्म' की अनुवृत्ति आती है। अतः "'अभि-नि' इस समूहपूर्वक विश् धातु के आधार की कर्मसंज्ञा होती है"।

उदाहरण– **अभिनिविशते सन्मार्गम्** (सन्मार्ग में प्रविष्ट होता है)– यहाँ 'सन्मार्ग' आधार की कर्मसंज्ञा; द्वितीया।

क्वचिन्नेति। 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति एवं व्यवस्थित विभाषा से कहीं-कहीं कर्मसंज्ञा का अभाव हो जाता है। अतः 'पापेऽभिनिवेशः' में 'पाप' की कर्मसंज्ञा नहीं होती, अपितु अधिकरणसंज्ञा होकर सप्तमी विभक्ति हुई।

(१३३२) **पद**– उपान्वध्याङ्वसः। **अनुवृत्ति**–आधारः, कर्म। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– उप, अनु, अधि, आङ् पूर्वक वस् धातु का आधार कर्मसंज्ञक होता है। उपवसति, अनुवसति अधिवसति वा वैकुण्ठं हरिः।

विमर्श– पूर्ववत् प्रकृत सूत्र में 'आधारः' तथा 'कर्म' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार– "उप, अनु, अधि और आङ् पूर्वक वस् धातु के आधार की कर्मसंज्ञा होती है"।

उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाभक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः। अध्यधिलोकम्। अधोऽधोलोकम्। * अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि *। अभितः कृष्णम्। परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाभक्तम्। ऋते कृष्णम्। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्। **(१३३३) अन्तराऽन्तरेण युक्ते २।३।४ ।** द्वितीया। अन्तरा त्वां मां वा हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्। **(१३३४) कर्मप्रवचनीयाः**

'उभयतः कृष्णं गोपाः'। धिक्शब्दप्रयोगे द्वितीया कार्या, यथा–धिक्कृष्णाभक्तम्। तथा आम्रेडितान्तेषु (कृतद्विर्वचनेषु) उपर्यादिषु = उपरि, अधि, अधस् इत्येतेषु त्रिषु प्रयुज्यमानेषु द्वितीया कार्या। ततः उक्तप्रदेशेभ्योऽन्यत्रापि द्वितीया दृश्यत इत्यर्थः।

(१३३३) **अन्तरेति**। आभ्यां प्रयोगे द्वितीया स्यादित्यर्थः।

उदाहरण– (१) **उपवसति, अनुवसति, अधिवसति वा वैकुण्ठं हरिः**– यहाँ आधार 'वैकुण्ठ' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति–'वैकुण्ठम्'।

(वा०)– अभुक्त्यर्थक अर्थात् भोजनाभावार्थक वस् धातु का आधार कर्मसंज्ञक नहीं होता।

उदाहरण– (१) **वने उपवसति** (वन में उपवास करता है)– यहाँ पूर्वसूत्र (१३३२) से प्राप्त कर्मसंज्ञा का निषेध–'अभुक्त्यर्थस्य न'; अधिकरण सप्तमी।

उभसर्वतसोरिति। ''तस् प्रत्ययान्त उभ तथा सर्व शब्द के प्रयोग में द्वितीया विभक्ति होती है। 'धिक्' शब्द के योग में और आम्रेडितान्त (कृतद्विर्वचन) उपरि, अधि और अधस् शब्द के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है। इससे अन्यत्र भी प्रयोग के अनुसार द्वितीया होती है।''

उदाहरण– (१) 'उभयतः' के योग में – **उभयतः कृष्णं गोपाः** (कृष्ण के दोनों ओर ग्वाले हैं)।
(२) 'सर्वतः' के योग में – **सर्वतः कृष्णम्** (कृष्ण के चारों ओर)।
(३) 'धिक्' के योग में – **धिक्कृष्णाभक्तम्** (कृष्ण के अभक्त को धिक्कार)।
(४) 'उपरि उपरि' के योग में – **उपर्युपरि लोकं हरिः** (लोक के ऊपर हरि हैं)।
(५) 'अध्यधि के योग में – **अध्यधि लोकम्** (लोक के ऊपर-ऊपर)।
(६) 'अधोऽधः' के योग में – **अधोऽधः लोकम्** (लोक के नीचे-नीचे)।

(वा०)– अभितः (= दोनों ओर), परितः (= चारों ओर), समया (= समीप), निकषा (= समीप), हा (= शोक) और प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है।

उदाहरण– (१) **'अभितः कृष्णम्'** (कृष्ण के दोनों ओर)– यहाँ 'अभितः' के योग में कृष्ण में द्वितीया विभक्ति– 'अभितःपरितः०'।

(२) परितः – **परितः कृष्णम्** (कृष्ण के चारों ओर)।
(३) समया – **ग्रामं समया** (गाँव के पास)।
(४) निकषा – **निकषा लङ्काम्** (लंका के निकट)।
(५) हा – **हा कृष्णाभक्तम्** (कृष्ण का अभक्त निन्दनीय है)।
(६) प्रति – **बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्** (भूखे को कुछ भी अच्छा नहीं लगता)।
उक्त प्रयोगों में द्वितीया होती है।

(१३३३) **पद**– अन्तरान्तरेण, युक्ते। **अनुवृत्ति**– द्वितीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– 'अन्तरा' और 'अन्तरेण' शब्द के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। अन्तरा मां त्वां वा हरिः इत्यादि।

१।४।८३ । इत्यधिकृत्य (१३३५) अनुर्लक्षणे १।४।८४ । लक्षणे द्योत्ये अनुः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्। गत्युपसर्गसंज्ञापवादः। (१३३६) कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८ । जपमनु प्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। (१३३७) तृतीयार्थे १।४।८५ । अनुरुक्तसंज्ञः। नदीमन्ववसिता सेना। नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः।

(१३३४) **'कर्मप्रवचनीयाः'**। अधिकारसूत्रमिदम्।

(१३३५) **अनुरिति**। 'कर्मप्रवचनीये'त्यनुषज्यते। **गत्युपसर्गेति**। तेन क्रियायोग एव कर्मप्रवचनीयसंज्ञेति सूच्यते।

(१३३६) **कर्मेति**। **जपमनु प्रावर्षत्**– कदा पर्जन्योऽवर्षदिति प्रश्ने उत्तरमिदम्। अत्र 'अनुर्लक्षणे' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इत्यनेन द्वितीया विभक्तिर्भवति।

(१३३७) **तृतीयार्थ इति**। 'अनुर्लक्षणे' इत्यत अनुरित्यनुवर्तते। तेन तृतीयार्थे अनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'कर्मणि द्वितीया' (१३२६) से 'द्वितीया' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''अन्तरा और अन्तरेण शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है''।

उदाहरण– (१) **अन्तरा त्वां मां वा हरिः** (तुम्हारे और मेरे बीच हरि है)– यहाँ 'अन्तरा' के योग से 'त्वाम्, माम्' में द्वितीया–'अन्तरान्तरेण युक्ते'। (२) **अन्तरेण हरिं न सुखम्** (हरि के बिना सुख नहीं होता)– यहाँ 'अन्तरेण' के योग में 'हरि' में द्वितीया।

(१३३४) **पद–** कर्मप्रवचनीयाः। **अधिकारसूत्र।**

मूलार्थ– यह अधिकारसूत्र है।

विमर्श– यह अधिकारसूत्र उत्तरवर्ती सूत्रों में विधेयस्वरूप 'कर्मप्रवचनीय' पद को समर्पित करता है। कर्म = क्रियां प्रोक्तवन्त इति कर्मप्रवचनीयाः।

(१३३५) **पद–** अनुः, लक्षणे। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ– 'लक्षण' द्योत्य होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। यह सूत्र गति एवं उपसर्ग संज्ञाविधायक सूत्रों का अपवाद (बाधक) है।

विमर्श– 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है। अतः ''जहाँ लक्षण द्योत्य रहे वहाँ 'अनु' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है''। गति एवं उपसर्ग संज्ञा का बाधरूप ही प्रकृत सूत्र का प्रयोजन है। अन्यथा 'लक्षणेत्थम्०' से यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा सिद्ध ही थी।

(१३३६) **पद–** कर्मप्रवचनीययुक्ते, द्वितीया। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। जपमनु प्रावर्षत्।

विमर्श– अर्थ स्पष्ट है।

उदाहरण– जपमनु प्रावर्षत् (जप के समाप्त होते ही वर्षा हुई)– यहाँ 'अनुर्लक्षणे' से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होकर द्वितीया–'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' = जपम्।

(१३३७) **पद–** तृतीयार्थे। **अनुवृत्ति–** अनुः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ– तृतीयार्थ = 'सह' अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। नदीमन्ववसिता सेना।

(१३३८) हीने १।४।८६ । अनुरुक्तसंज्ञः। अनु हरिं सुराः, हरेर्हीना इत्यर्थः। **(१३३९) उपोऽधिके च १।४।८७** । अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राग्वत्। अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने–उपहरिं सुराः। **(१३४०) लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः १।४।९०** । उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे–वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थम्भूताख्याने–भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा। भागे–लक्ष्मीर्हरिं प्रति

(१३३८) **हीन इति**। हीनेऽर्थे द्योत्ये 'अनुः' कर्मप्रवचनीयसंज्ञः। '**अनु हरिं सुराः**'– अत्र 'हीने' इत्यनेन अनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीये'त्यनेन द्वितीयायां 'हरिम्' इति।

(१३३९) **उपोऽधिक इति**। चकाराद्धीनेऽपीत्याह–**अधिक इत्यादि**।

(१३४०) **लक्षण इति**। लक्षणं = ज्ञापकम्, अयं प्रकार इत्थं तं प्राप्तः इत्थम्भूतस्तस्याख्यानमित्थम्भूताख्यानम्, भागः = स्वीकार्योंऽशः, वीप्सा, एष्वर्थेषु प्रतिपर्यनवः कर्मप्रवचनीय-

---

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३३५) से 'अनु' की अनुवृत्ति आती है। 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है। अतः ''तृतीया विभक्त्यर्थ (सहार्थ) में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है''।

उदाहरण– नदीमन्ववसिता सेना– यहाँ 'नदी के साथ सम्बद्ध' अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा–'तृतीयार्थे'; द्वितीया–'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया'।

(१३३८) **पद**– हीने। **अनुवृत्ति**– अनुः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– 'हीन' अर्थात् न्यून अर्थ द्योत्य होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अनु हरिं सुराः।

विमर्श– पूर्वसूत्रवत् (१३३५) से 'अनुः' की अनुवृत्ति आती है। 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है। तदनुसार– ''जहाँ अनु का हीन (छोटा) अर्थ द्योत्य हो, वहाँ 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है''।

उदाहरण– अनु हरिं सुराः (देवता हरि से छोटे हैं)– यहाँ 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई।

(१३३९) **पद**– उपः, अधिके, च। **अनुवृत्ति**– हीने। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– अधिक और हीन अर्थ में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अधिकार्थक 'उप' के योग में 'यस्मादधिकम्०' से सप्तमी कही जायेगी। हीन अर्थ में– 'उप हरिं सुराः'।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१३३८) से 'हीने' की अनुवृत्ति आती है। 'कर्मप्रवचनीयाः' पद अधिकृत है। अतः ''अधिक एवं हीनार्थ द्योत्य होने पर उप की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है''। अधिकार्थ में 'उप' के योग में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। यहाँ हीन अर्थ में उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

उदाहरण– 'उप हरिं सुराः' (हरि से देवगण हीन हैं)– यहाँ 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा– 'उपोऽधिके च'; द्वितीया।

(१३४०) **पद**– लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु, प्रतिपर्यनवः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– लक्षण आदि चार अर्थों में प्रति, परि और अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। **लक्षण में**– वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत् इत्यादि।

विमर्श– 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है। अतः ''लक्षण (किसी ज्ञान को उत्पन्न करने वाला जो ज्ञान है उसका विषय), इत्थम्भूताख्यान (वह इस प्रकार का है, ऐसा कहना), भाग (अंश) और

पर्यनु वा, हरेर्भाग इत्यर्थः। वीप्सायाम्–वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति। एषु किम्? परिषिञ्चति। **(१३४१) अभिरभागे १।४।९१** । भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात्। हरिमभि वर्तते। भक्तो हरिमभि। देवं देवमभिषिञ्चति। अभागे किम्? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम्। **(१३४२) सुः पूजायाम् १।४।९४** । सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। अनुपसर्गत्वान्न षः। पूजायां किम्? सुषिक्तं किं तवात्र। क्षेपोऽयम्। **(१३४३)**

संज्ञका भवन्तीत्यर्थः। **वृक्षं वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत्**– अत्र 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' इति सूत्रेण कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इत्यनेन द्वितीयाविभक्तौ 'वृक्षमि'ति। 'वृक्षेण लक्ष्यमाणा विद्युत् विद्योतते' इत्यर्थः।

(१३४१) **अभिरिति**। 'लक्षणे' इति सूत्रं भागवर्जमनुवर्तते। तदाह–**भागवर्ज इति**।

(१३४२) **'सुः' इति**। कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यादित्यर्थः। **सुसिक्तम्**– अत्र 'सु'शब्दस्य 'सुः पूजायामि'त्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां तद्योगे द्वितीया।

वीप्सा (क्रिया द्वारा सम्पूर्ण अभिप्रेत पदार्थ का सम्बन्ध = व्याप्ति) अर्थों में प्रति, परि एवम् अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।''

उदाहरण– (१) **'वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत्'** (वृक्ष के सामने, ऊपर या पश्चात् बिजली चमकती है)– यहाँ लक्षण अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा–'लक्षणेत्थम्भूता०'; प्रति के योग में द्वितीया–'वृक्षम्'। (२) **भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा** (भक्त विष्णु के प्रति भक्ति वाला हैं)– यहाँ इत्थंभूताख्यान अर्थ में प्रति, परि और अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर द्वितीया हुई। (३) **'लक्ष्मीः हरिं प्रति पर्यनु वा'** (लक्ष्मी हरि का अंश हैं)– यहाँ भाग अर्थ में प्रति आदि की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होकर द्वितीया हुई। (४) **वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति** (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)– यहाँ वीप्सा अर्थ में प्रति, परि और अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर द्वितीया हुई।

प्रत्युदाहरण– एषु किम्? **परिषिञ्चति**। प्रकृत सूत्र द्वारा लक्षण आदि अर्थों में ही कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'परिषिञ्चति' में लक्षणादि का अभाव होने के कारण कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती। 'उपसर्गात्सुनोति०' से षत्व।

(१३४१) **पद**– अभिः, अभागे। **अनुवृत्ति**– लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– भाग अर्थ को छोड़कर शेष लक्षणादि अर्थों में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। हरिमभिवर्तते इत्यादि।

विमर्श– 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (१३४०) से 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान-भागवीप्सासु' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''भाग को छोड़कर लक्षण, इत्थंभूताख्यान और वीप्सा अर्थ में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है''।

उदाहरण– (१) **हरिमभि वर्तते** (हरि पर विद्यमान है)– लक्षण अर्थ में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा, द्वितीया। (२) **भक्तो हरिमभि**– 'इत्थम्भूताख्यान' अर्थ में 'अभि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा–'अभिरभागे', द्वितीया। (३) **देवं देवमभिषिञ्चति**–'वीप्सा' अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा, द्वितीया।

प्रत्युदाहरण– **अभागे किमिति**। प्रकृत सूत्र में 'अभागे' पद का ग्रहण होने से भाग अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती। **'यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम्'** (इसमें जो मेरा हिस्सा हो, वह मुझे दीजिए)– यहाँ भाग अर्थ होने से कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं हुई।

(१३४२) **पद**–सुः, पूजायाम्। **संज्ञासूत्र**।

अतिरतिक्रमणे च १।४।९५ । चात्पूजायामतिरुक्तसंज्ञ:। अति देवान्कृष्ण:। **(१३४४) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २।३।५** । इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी। मासमधीते। मासं गुडधाना:। क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं गिरि:। अत्यन्तसंयोगे किम्? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वत:। **(१३४५) स्वतन्त्र:**

(१३४३) **अतिरिति**। चात्पूजायामपि। तेन अतिक्रमणे पूजायां चाति: कर्मप्रवचनीय-संज्ञको भवतीत्यर्थ:।

(१३४४) **कालाध्वनोरिति**। अत्यन्तसंयोग: = निरन्तरसंयोग:। गुणक्रियाद्रव्यै: काला-ध्वनोरविच्छिन्नसंयोगे गम्ये द्वितीया स्यादित्यर्थ:। **मासमधीते**– अत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्यनेन द्वितीया भवति। त्रिंशद्दिनात्मके प्रतिदिनमुचितकाले निरन्तरमधीत इत्यर्थ:।

मूलार्थ– पूजा अर्थ में 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। सुसिक्तम्। सुस्तुतम् इत्यादि।

विमर्श– 'कर्मप्रवचनीया:' का अधिकार है। तदनुसार– ''पूजा अर्थ में वर्तमान 'सु' शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।''

उदाहरण– (१) **सुसिक्तम्** (अच्छी तरह सींचा हुआ)– यहाँ 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा– 'सु: पूजायाम्'; द्वितीया। (२) **सुस्तुतम्** (अच्छी प्रकार स्तुति की) 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा; द्वितीया। कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा का बाध होने के कारण षत्व नहीं होता।

प्रत्युदाहरण– (१) **पूजायां किम्** ? प्रकृत सूत्र में 'पूजायाम्' का ग्रहण होने से पूजाभिन्न अर्थ में 'सु' की उक्त संज्ञा नहीं होती। **सुषिक्तं किं तवाऽत्र**– यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा का अभाव। उपसर्गसंज्ञा, षत्व।

(१३४३) **पद**– अति:, अतिक्रमणे च। **अनुवृत्ति**– पूजायाम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– अतिक्रमण और पूजा अर्थ में 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अति देवान्कृष्ण:।

विमर्श– 'कर्मप्रवचनीया:' का अधिकार है। पूर्वसूत्र (१३४२) से 'पूजायाम्' की अनुवृत्ति आती है। अत: ''अतिक्रमण एवं पूजा अर्थ में 'अति' कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होता है''।

उदाहरण– **अति देवान् कृष्ण:** (कृष्ण देवताओं का अतिक्रमण करने वाले हैं अथवा कृष्ण सब देवताओं की अपेक्षा पूज्य हैं)– 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा– 'अतिरतिक्रमणे च', द्वितीया।

(१३४४) **पद**– कालाध्वनो:, अत्यन्तसंयोगे। **अनुवृत्ति**– द्वितीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– कालवाचक और अध्व (मार्ग) वाचक से अत्यन्त संयोग में द्वितीया विभक्ति होती है। मासं कल्याणी। मासमधीते इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'कर्मणि द्वितीया' (१३२६) से 'द्वितीया' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अत्यन्त संयोग में कालवाचक एवं मार्गवाचक शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।'' पूर्ण (निरन्तर) संयोग को 'अत्यन्तसंयोग' कहते हैं।

उदाहरण– (१) **मासं कल्याणी** (मासभर सुखदायी)– यहाँ कालवाचक 'मास' में द्वितीया– 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'। (२) **मासमधीते** (महीने भर पढ़ता है)– द्वितीया। (३) **मासं गुडधाना** (मास भर गुडधानी)– द्वितीया। (४) **क्रोशं कुटिला नदी** (एक कोस तक लगातार टेढ़ी नदी)– मार्गवाचक क्रोश में द्वितीया। (५) **क्रोशमधीते** (कोसभर पढ़ता है)–द्वितीया। (६) **क्रोशं गिरि:** (कोसभर तक पर्वत है)–द्वितीया।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में 'अत्यन्तसंयोगे' का ग्रहण होने से '**मासस्य द्विरधीते**' (महीने

कर्ता १।४।५४ । इति कर्तृसंज्ञा। **(१३४६) साधकतमं करणम् १।४।४२ ।** क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्। **(१३४७) कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८ ।** अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो वाली। * प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् *। प्रकृत्या चारुः। प्रायेण याज्ञिकः। गोत्रेण गार्ग्यः। समेनैति। विषमेणैति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। पञ्चकेन पशून् गृह्णाति। सुखेन दुःखेन

(१३४५) **स्वतन्त्र इति**। क्रियायां स्वातन्त्र्येण = प्राधान्येन विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यादित्यर्थः।

(१३४६) **साधकतममिति**। साध्नोतीति साधकम्, कर्तरि ण्वुल्। कारकाधिकारात् क्रियासिद्धिरित्यधिह्रियते। अतिशयेन साधकं साधकतममिति। तदाह– **क्रियासिद्धाविति**।

(१३४७) **कर्तृकरणयोरिति**। 'अनभिहिते' इत्यधिकारादाह–**अनभिहित इति**। **रामेण**

में दो बार पढ़ता है) तथा 'क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः' (कोसभर मार्ग के एक कोने पर पर्वत है) में 'अत्यन्त संयोग' न होने से द्वितीया नहीं होती।

(१३४५) **पद**– स्वतन्त्रः, कर्ता। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र रूप से विवक्षित होता है, उसकी कर्तृसंज्ञा होती है।

विमर्श– यहाँ 'स्वतन्त्र' शब्द प्रधानार्थक है। 'कारके' के अधिकार से यहाँ 'क्रिया' का लाभ होता है। तदनुसार– ''क्रिया की सिद्धि में प्रधान रूप से विवक्षित (कहा जाने वाले) की कर्तृसंज्ञा होती है।''

(१३४६) **पद**– साधकतमम्, करणम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त उपकारक हो, उसकी करण संज्ञा होती है।

विमर्श– 'कारके' का अधिकार होने से 'क्रियासिद्धि' का अध्याहार किया जाता है। अतिशयेन साधकं = साधकतमम् (तमप् प्रत्यय)। अर्थात् 'क्रिया की सिद्धि में अतीवोपकारक'। इस प्रकार ''क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त उपकारक हो, उस कारक की करणसंज्ञा होती है।''

''यद्व्यापारानन्तरं क्रियानिष्पत्तिस्तत्प्रकृष्टोपकारकम्।'' जिसके व्यापार के तुरन्त बाद क्रिया की सिद्धि होती है उसे प्रकृष्ट या सबसे अधिक उपकारक कहते हैं।

(१३४७) **पद**– कर्तृकरणयोः, तृतीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अनुक्त कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है। रामेण बाणेन हतो वाली।

(वा०)– प्रकृति आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है। प्रकृत्या चारु इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अनभिहिते' का अधिकार है। सूत्रस्थ 'कर्तृकरणयोः' के अनुसार उसका वचनविपरिणाम होकर 'अनभिहितयोः' हो जाता है। तदनुसार– ''अनुक्त कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है''।

उदाहरण– रामेण बाणेन हतो वाली (राम से बाण द्वारा वाली मारा गया)– यहाँ हनन क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक होने से 'बाण' की करण संज्ञा–'साधकतमं करणम्', क्रिया-सिद्धि में स्वतन्त्र = प्रधान रूप से विवक्षित 'राम' की कर्तृ संज्ञा, कर्तृसंज्ञक 'राम' और करणसंज्ञक 'बाण' में तृतीया–'कर्तृकरणयोस्तृतीया' = 'रामेण बाणेन' इति।

(वा०)– प्रकृत्यादिगण पठित शब्दों से तृतीया विभक्ति हो जाती है।

वा यातीत्यादि। **(१३४८) दिवः कर्म च १।४।४३** । दिवः साधकतमं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञं च। अक्षैरक्षान्वा दीव्यति। **(१३४९) सहयुक्तेऽप्रधाने २।३।१९** । सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकंसार्धंसमंयोगेऽपि। विनापि तद्योगे तृतीया। 'वृद्धो यूने'ति निर्देशात्। **(१३५०) येनाङ्गविकारः २।३।२०** ।

बाणेन हतो वाली– 'रामेण' इत्यत्र 'स्वतन्त्रः कर्ता' इत्यनेन कर्तृसंज्ञायां 'बाणेन' इत्यत्र 'साधकतमं करणम्' इत्यनेन करणसंज्ञायाम्, उभयत्र 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यनेन तृतीयाविभक्तिर्भवति।

(१३४८) **दिवः कर्मेति**। दिवुधात्वर्थं प्रति साधकतमं कर्मसंज्ञं स्यात् करणसंज्ञं चेत्यर्थः।

(१३४९) **सहयुक्ते०**। 'सहे'त्यनेन तदर्थग्रहणं, व्याख्यानात्। तेन साकमित्यादीनामपि ग्रहणं भवति। तदाह–**सहार्थेनेति**।

उदाहरण– (१) **प्रकृत्या चारु** (स्वभाव से सुन्दर)– यहाँ 'प्रकृति' में तृतीया–'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' = प्रकृत्या। (२) **प्रायेण याज्ञिकः**– तृतीया। (३) **गोत्रेण गार्ग्यः** (गोत्र से गार्ग्य)– तृतीया। (४) **समेनैति** (सीधा आता है)–तृतीया। (५) **विषमेणैति** (टेढ़ा आता है)– तृतीया। (६) **द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति** (दो द्रोण से धान्य खरीदता है)–तृतीया। (७) **पञ्चकेन पशून् गृह्णाति**– तृतीया। (८) **सुखेन दुःखेन वा याति**–तृतीया इत्यादि।

(१३४८) **पद**– दिवः, कर्म, च। **अनुवृत्ति**– साधकतमम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– दिव् धातु का साधकतम कारक कर्मसंज्ञक और (चकार से) करणसंज्ञक होता है। अक्षैरक्षान्वा दीव्यति।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१३४६) से 'साधकतमम्' की अनुवृत्ति आती है। 'च' के ग्रहण से उक्त सूत्र से ही 'करणम्' की भी अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''दिव् धातु के क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक कारक की कर्मसंज्ञा होती है और करणसंज्ञा भी होती है''।

उदाहरण– (१) **अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति** (पाशों के द्वारा खेलता है)– यहाँ 'अक्ष' की कर्मसंज्ञा और करणसंज्ञा–'दिवः कर्म च'; कर्म में द्वितीया–अक्षान्। करण संज्ञा होने पर तृतीया विभक्ति– अक्षैः।

(१३४९) **पद**– सहयुक्ते, अप्रधाने। **अनुवृत्ति**– तृतीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– सहार्थक शब्द के योग में अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है। पुत्रेण सहागतः पिता। इसी प्रकार साकम्, सार्धम् और समम् के योग में भी अप्रधान में तृतीया होती है।

विमर्श– सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (१३४७) से 'तृतीया' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''सह के अर्थवाची शब्दों के योग में अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है''। सह शब्द के समानार्थक साकम्, सार्धम् और समम् के योग में भी अप्रधान में तृतीया का प्रयोग होता है।

उदाहरण– (१) **पुत्रेण सह आगतः पिता** (पुत्र के साथ पिता आया)– यहाँ 'आगतः' में कर्ता में क्त होने से कर्ता– पिता प्रधान है और पुत्र अप्रधान। 'सह' के योग में अप्रधान में तृतीया– 'पुत्रेण'।

विनापीति। सह आदि के योग के बिना भी यदि सहादि के अर्थ की प्रतीति हो तो भी तृतीया विभक्ति हो जाती है। इसमें प्रमाण 'वृद्धो यूना' पाणिनीय सूत्र का निर्देश है। क्योंकि 'यूना' में सह शब्द के योग के बिना भी तृतीया की गयी है।

(१३५०) **पद**– येन, अङ्गविकारः। **अनुवृत्ति**– तृतीया। **विधिसूत्र**।

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया। अक्ष्णा काणः। अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। (१३५१) अपवर्गे तृतीया २।३।६ । अपवर्गः फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात्। अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः। अपवर्गे किम्? मासमधीतो नायातः। (१३५२) हेतौ २।३।२३ ।

(१३५०) **येनाङ्गविकारः**। अङ्गान्यस्य सन्तीति अङ्गम् = शरीरम्, तस्य विकार इति विग्रहः। येनेत्यनेनाङ्गं परामृश्यते। तदाह-**येनाङ्गेनेत्यादिना। अक्ष्णा काणः**- अत्र विकृतमङ्गम् 'अक्षि' इति। तेनैवाङ्गेन काणत्वं ज्ञायतेऽतोऽक्षिशब्दात् 'येनाङ्गविकारः' इत्यनेन तृतीया भवति।

(१३५१) **अपवर्ग इति**। 'कालाध्वनोः' इत्यनुवर्तते। तदाह- **अपवर्ग इत्यादि। अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः**- अत्र 'अपवर्गे तृतीये'त्यनेन तृतीया भवति। अह्नि क्रोशे वा निरन्तरमनुवाकोऽध्ययनेन गृहीत इत्यर्थः।

(१३५२) **हेताविति**। हेतौ = कारणे तृतीया स्यादित्यर्थः। हेतुरिह कारणपर्यायो विवक्षितः। **'दण्डेन घटः'** इति। अत्र 'हेतौ' इत्यनेन तृतीया। दण्डहेतुको घट इत्यर्थः।

मूलार्थ- जिस अङ्ग के विकृत होने से अङ्गी विकृत लगता हो, उस अङ्गवाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है। अक्ष्णा काणः। अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट अर्थ है।

विमर्श- पूर्वसूत्र (१३४७) से 'तृतीया' की अनुवृत्ति आती है। अङ्गमस्यास्तीति अङ्गः, 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यनेन मतुबर्थेऽच्प्रत्ययः। अङ्गस्य विकारः = अङ्गविकारः (ष० त०)। इस प्रकार- ''जिस अङ्ग के विकृत होने से अङ्गी (शरीर) का विकार प्रतीत होता है, उस अङ्गवाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है''।

उदाहरण- अक्ष्णा काणः (आँख से काना)- यहाँ विकृत अंग 'अक्षि' है, उसी से काणत्व की प्रतीति होने से उसमें तृतीया-'येनाङ्गविकारः' = अक्ष्णा।

(१३५१) **पद**- अपवर्गे, तृतीया। **अनुवृत्ति**- कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- फल की प्राप्ति द्योत्य होने पर अत्यन्त संयोग में काल और अध्व वाचक शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है। अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः इत्यादि।

विमर्श- प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१३४४) से 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' की अनुवृत्ति आती है। 'अपवर्ग' का अर्थ 'फलप्राप्ति' है। अतः ''फलप्राप्ति गम्यमान हो तो अत्यन्त संयोग में कालवाचक और मार्गवाचक शब्दों में तृतीया विभक्ति हो जाती है''।

उदाहरण- अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः (दिनभर अथवा कोशभर चलते-चलते अनुवाक पढ़ लिया)- यहाँ कालवाचक अहन् तथा मार्गवाचक क्रोश से तृतीया-'अपवर्गे तृतीया'।

प्रत्युदाहरण- अपवर्गे किमिति। प्रकृत सूत्र में 'अपवर्गे' का ग्रहण होने से फलप्राप्ति के अभाव में तृतीया नहीं होती। यथा-**'मासमधीतो नायातः'** (महीने भर पढ़ा, परन्तु समझ में नहीं आया) में फलप्राप्ति के प्रतीत न होने से तृतीया नहीं हुई। द्वितीया।

(१३५२) **पद**- हेतौ। **अनुवृत्ति**- तृतीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- हेतु में तृतीया विभक्ति होती है। दण्डेन घटः।

विमर्श- पूर्वसूत्र (१३४७) से 'तृतीया' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''हेतु = कारण वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है''।

तृतीया। दण्डेन घटः। **(१३५३) इत्थम्भूतलक्षणे २।३।२१** । तृतीया। जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्य तापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः। **(१३५४) संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि २।३।२२** । सम्पूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया। पित्रा पितरं वा सञ्जानीते। **(१३५५) कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १।४।३२** । दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः। **(१३५६) चतुर्थी सम्प्रदाने २।३।१३** । अनुक्ते। विप्राय गां ददाति। * क्रियया

(१३५३) **इत्थम्भूतेति**। अयं प्रकारः-इत्थम्, तं भूतः प्राप्तः-इत्थम्भूतः। कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यादित्यर्थः। **जटाभिस्तापसः**- अत्र लक्ष्यलक्षणभावे 'जटाभिरि'त्यत्र इत्थम्भूतलक्षणे' इत्यनेन तृतीया भवति।

(१३५४) **संज्ञ इति**। 'तृतीये'त्यनुवर्तते। तदाह-'**सम्पूर्वस्ये**'ति।

(१३५५) **कर्मणेति**। अन्वर्थेयं संज्ञा। सम्यक् प्रदीयतेऽस्मै तत्सम्प्रदानम्। अत एवाह-**दानस्येति**। अर्थात् दानक्रियाकर्मणा कर्ता यं सम्बध्नाति तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं स्यादित्यर्थः।

(१३५६) **चतुर्थीति**। 'अनभिहिते' सम्प्रदाने चतुर्थी स्यादित्यर्थः। **विप्राय गां ददाति**-

---

उदाहरण- दण्डेन घटः (दण्ड से घड़ा)- यहाँ हेतुवाचक 'दण्ड' शब्द में तृतीया- 'हेतौ' = दण्डेन घटः।

(१३५३) **पद**- इत्थम्भूतलक्षणे। **अनुवृत्ति**- तृतीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- इत्थंभूत का जो लक्षण है उसमें तृतीया विभक्ति होती है। जटाभिस्तापसः।

विमर्श- पूर्ववत् (१३४७) सूत्र से 'तृतीया' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार- '''वह इस प्रकार का है' इस तरह बताने में लक्षण अर्थात् चिह्नवाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है''।

उदाहरण- जटाभिस्तापसः (जटाओं से तपस्वी प्रतीत होता है)- यहाँ लक्षणवाचक 'जटा' में तृतीया-'इत्थम्भूतलक्षणे' = जटाभिः।

(१३५४) **पद**- संज्ञः, अन्यतरस्याम्, कर्मणि। **अनुवृत्ति**- तृतीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- 'सम्' पूर्वक ज्ञा धातु के कर्म में तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है। पित्रा पितरं वा सञ्जानीते।

विमर्श- पूर्ववत् 'तृतीया' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अनभिहिते' का अधिकार है। अतः ''सम् पूर्वक ज्ञा धातु के अनुक्त कर्म में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है''।

उदाहरण- पित्रा पितरं वा संजानीते' (पिता को पहचानता है)- यहाँ ज्ञा धात्वर्थ कर्म 'पिता' है। 'पितृ' में विकल्प से तृतीया-'संज्ञोऽन्यतरस्याम्' = 'पित्रा'। पक्ष में द्वितीया-पितरम्।

(१३५५) **पद**- कर्मणा, यम्, अभिप्रैति, स, सम्प्रदानम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ- कर्ता जिसको दान के कर्म से सम्बद्ध करना चाहता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

विमर्श- 'कारके' का अधिकार है। विभक्तिविपरिणाम से उसका 'कारकम्' हो जाता है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। 'सम्यक् दीयते प्रकर्षेण इति सम्प्रदानम्'। अर्थात् जिसे अच्छी तरह कुछ दिया जाय उसे 'सम्प्रदान' कहते हैं। इस प्रकार इस 'सम्प्रदान' से 'दान-क्रिया के कर्म से' इस अर्थ की उपस्थिति होती है। इस प्रकार- ''कर्ता दान-क्रिया कर्म के साथ जिसको सम्बद्ध करना चाहता है अर्थात् वापस न लेने की दृष्टि से जिसको कुछ देना चाहता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है''।

(१३५६) **पद**- चतुर्थी, सम्प्रदाने। **विधिसूत्र**।

यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् *। पत्ये शेते। (१३५७) **परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् १।४।४४ ।** नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं तस्मिन्साधकतमं कारकं सम्प्रदानं वा। शतेन शताय वा परिक्रीतः। * तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या *। मुक्तये हरिं भजति। * उत्पातेन ज्ञापिते च *। वाताय कपिला विद्युत्। (१३५८) **नमःस्वस्तिस्वाहा-**

दानस्य कर्मणा गवा विप्रं सम्बद्धुमिच्छतीत्यर्थे 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' इत्यनेन विप्रस्य सम्प्रदानसंज्ञायां 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इत्यनेन चतुर्थीविभक्तिर्भवति।

(१३५७) **परिक्रयण इति**। 'साधकतममि'त्यनुवर्तते। तदाह-**नियतकालमित्यादिना**। सम्प्रदानत्वाभावे करणसंज्ञा। शतेन शताय वा परिक्रीतः। सुवर्णादियत्किञ्चिद् द्रव्यशतेनेत्यर्थः।

मूलार्थ– अनुक्त सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। विप्राय गां ददाति इत्यादि।

विमर्श– 'अनभिहिते' का अधिकार है। तदनुसार– ''अनुक्त सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– (१) **विप्राय गां ददाति** (ब्राह्मण को गाय देता है)– यहाँ दान-क्रिया का कर्म 'गो' है, उसके द्वारा कर्ता 'विप्र' को उद्देश्यत्वेन सम्बद्ध करना चाहता है। अतः विप्र की सम्प्रदान संज्ञा–'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्'; सम्प्रदानसंज्ञक में चतुर्थी–'चतुर्थी सम्प्रदाने') = विप्राय।

(वा०)– यदि कर्ता क्रिया के साथ किसी को सम्बद्ध करना चाहता है, तो उसकी भी सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है।

उदाहरण– पत्ये शेते (पति के लिए शयन करती है) यहाँ (शयन-क्रिया द्वारा पति-प्राप्ति की इच्छा होने से 'पति' की सम्प्रदान संज्ञा– 'क्रियया यमभिप्रैति०'; चतुर्थी = पत्ये।

(१३५७) **पद**– परिक्रयणे, सम्प्रदानम्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**– साधकतमम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– परिक्रयण (अर्थात् नियत समय के लिए वेतनादि का स्वीकरण) में साधकतम कारक की विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा होती है। शतेन शताय वा परिक्रीतः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'साधकतमं करणम्' से 'साधकतमं' की अनुवृत्ति आती है। अधिकृत 'कारके' पद विभक्तिविपरिणाम से 'कारकम्' हो जाता है। धनादि देकर जो निश्चित समय तक भृत्य को अत्यन्त स्वाधीन कर लेना परिक्रयण कहलाता है। ''उस परिक्रयण में अत्यन्त साधक कारक की विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा होती है''।

उदाहरण– (१) **शतेन शताय वा परिक्रीतः** (सौ रुपये से खरीदा हुआ)– यहाँ परिक्रयण में प्रकृष्ट उपकारक 'शत' की विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी = 'शताय'। सम्प्रदान संज्ञा के अभाव पक्ष में करण में तृतीया–'शतेन'।

(वा०)– तादर्थ्य (उसके लिए) अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण– (२) **मुक्तये हरिं भजति**। (मुक्ति के लिए हरि को भजता है)–यहाँ तादर्थ्यवाचक मुक्ति शब्द में चतुर्थी–'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' = मुक्तये।

(वा०)– उत्पात (अशुभ घटना का सूचक) से ज्ञापित (जो सूचित) किया जाय, उससे चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण– (३) **वाताय कपिला विद्युत्** (पीतवर्ण की बिजली से आँधी बहुत आती है)– यहाँ वात में चतुर्थी–'उत्पातेन ज्ञापिते च' वा० से = वाताय।

स्वधाऽलंवषड्योगाच्च २।३।१६ । एभिर्योगे चतुर्थी स्यात्। हरये नमः। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्। तेन दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि। **(१३५९) ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४** । अपायो विश्लेषः, तस्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतमपादानम्। **(१३६०) अपादाने पञ्चमी**

(१३५८) **नम इति**। युज्यत इति योगः, कर्मणि घञ्। नमस् इत्यादिभिर्युक्तादित्यर्थः। तदाह– **एभिरिति**। **हरये नमः**– अत्र 'नमः' इत्यस्य योगे 'नमःस्वस्ति' इत्यादिना चतुर्थी भवति।

(१३५९) **ध्रुवमपाय इति**। प्रकृतधात्वर्थानाश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयत्वं ध्रुवत्वम्। अपायो = विश्लेषः, विभागो वा। तस्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतमपादानसंज्ञं स्यात्।

(१३६०) **अपादान इति**। अपादाने पञ्चमी भवतीत्यर्थः।

(१३५८) **पद**– नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगात्, च। **अनुवृत्ति**– चतुर्थी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– नमः, स्वस्ति आदि के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। हरये नमः। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (१३५६) से 'चतुर्थी' पद की अनुवृत्ति आती है। युज्यत इति योगः, कर्मणि घञ्। 'योगात्' में सप्तमी के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति है। तदनुसार– ''नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् और वषट्–इनसे युक्त शब्द में चतुर्थी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– (१) **हरये नमः** (हरि के लिए नमस्कार)– यहाँ 'नमः' से युक्त 'हरि' में चतुर्थी– 'नमःस्वस्तिस्वाहा०' = हरये। (२) **प्रजाभ्यः स्वस्ति** (प्रजाओं का कल्याण हो)– यहाँ 'स्वस्ति' के योग में प्रजा में चतुर्थी = प्रजाभ्यः। (३) **अग्नये स्वाहा** (अग्नि के लिए हविर्दान)– यहाँ 'अग्नि' शब्द में स्वाहा से युक्त होने के कारण चतुर्थी = 'अग्नये'। (४) **पितृभ्यः स्वधा** (पितरों के लिए तर्पण)– यहाँ 'स्वधा' से युक्त 'पितृ' में चतुर्थी = पितृभ्यः।

अलमिति। 'नमःस्वस्ति' सूत्र में 'अलम्' शब्द से पर्याप्त (समर्थ) अर्थवाले शब्दों का ग्रहण किया जाता है। अतः समर्थ अर्थ वाले प्रभुः, शक्तः, समर्थः आदि शब्दों के योग में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण– (५) **दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त** इत्यादि (दैत्यों के लिए हरि समर्थ या प्रबल है)– यहाँ वा० के अनुसार 'नमःस्वस्ति' से चतुर्थी।

(१३५९) **पद**– ध्रुवम्, अपाये, अपादानम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– विश्लेष = वियोग अथवा अलग होने को 'अपाय' कहते हैं। अपाय में अवधिभूत कारक की अपादान संज्ञा होती है।

विमर्श– 'कारके' का अधिकार है। उसका विभक्तिविपरिणाम होने से 'कारकम्' हो जाता है। तदनुसार– ''विश्लेष या वियोग होने में अवधि बने हुए कारक की अपादान संज्ञा होती है''। ध्रुव शब्द का अर्थ यहाँ 'अवधिभूत' है। जब किसी का किसी से वियोग होता है तो उस वियोग (विश्लेष) को 'अवधि' शब्द से प्रकट किया जाता है। यथा 'वृक्षात् पत्रं पतति' (वृक्ष से पत्ता गिरता है)– यहाँ पत्ता और पेड का वियोग कहा जा रहा है। इस विश्लेष में 'वृक्ष' अवधि है, पतन-क्रिया का जनक होने से कारकसंज्ञक भी है। अतः 'वृक्ष' की अपादान संज्ञा होती है।

(१३६०) **पद**– अपादाने, पञ्चमी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अनुक्त अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है। ग्रामाद् आयाति। धावतोऽश्वात्पतति।

२।३।२८ । ग्रामादायाति। धावतोऽश्वात्पतति इत्यादि। (१३६१) **जनिकर्तुः प्रकृतिः** १।४।३० । जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात्। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते। * ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च *। प्रासादात्प्रेक्षते। आसनात्प्रेक्षते। प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः। (१३६२) **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** २।३।२५ । गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात्। जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः। गुणे किम्? धनेन कुलम्। अस्त्रियां किम्? बुद्ध्या मुक्तः। विभाषेति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्। धूमादग्निमान्। नास्ति

(१३६१) **जनिकर्तुरिति**। जननं जनिः = उत्पत्तिः, प्रकृतिः = हेतुः। 'ध्रुवमपायेऽपादान-मि'त्यत अपादानमित्यनुवर्तते। तदाह–**जायमानस्येति**। **ब्रह्मणः प्रजा प्रजायन्ते**– अत्र जायमानाः प्रजास्तासां हेतुर्ब्रह्मा तस्य 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इत्यनेनापादानसंज्ञायाम् 'अपादाने पञ्चमी' इत्यनेन पञ्चमी भवति।

(१३६२) **विभाषेति**। पञ्चमी वेत्यर्थः। पक्षे तृतीया।

विमर्श– 'अनभिहिते' का अधिकार है। तदनुसार– ''जो कृत्, तद्धित, समास आदि के द्वारा उक्त न हो, ऐसे अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– (१) **ग्रामाद् आयाति** (गाँव से आता है)– यहाँ ग्राम और आने वाले व्यक्ति के विश्लेष में अवधिभूत होने से 'ग्राम' की अपादान संज्ञा–'ध्रुवमपायेऽपादानम्'; पञ्चमी–'अपादाने पञ्चमी'। (२) **धावतोऽश्वात्पतति** (दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है)– यहाँ गिरने में दौड़ता हुआ अश्व अवधि है। अतः 'अश्व' की अपादान संज्ञा और उसमें पञ्चमी हो जाती है।

(१३६१) **पद**– जनिकर्तुः, प्रकृतिः। **अनुवृत्ति**– अपादानम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– जायमान (उत्पन्न होने वाले) पदार्थ के कारणीभूत कारक की अपादान संज्ञा होती है। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (१३५९) से 'अपादानम्' की अनुवृत्ति आती है। 'कारके' का अधिकार है। तदनुसार– ''उत्पन्न होने वाले की जो प्रकृति = उपादानकारण है, उसकी अपादान संज्ञा होती है''।

उदाहरण– **ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते** (ब्रह्मा से प्रजा उत्पन्न होती है)– यहाँ 'ब्रह्मा' की अपादान संज्ञा– 'जनिकर्तुः प्रकृतिः'; अपादानसंज्ञक में पञ्चमी–'ब्रह्मणः'।

(वा०)– ल्यप् के लोप में ल्यबन्तार्थ के प्रति कर्म अथवा अधिकरण में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदाहरण– (१) **प्रासादात्प्रेक्षते** (महल पर चढ़कर देखता है)– यहाँ 'ल्यबन्त' के अप्रयोग में ल्यबन्तार्थ के प्रति कर्म प्रासाद में पञ्चमी–'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' = प्रासादात्। (२) **आसनात्प्रेक्षते** (आसन पर बैठकर देखता है)– यहाँ ल्यबन्तार्थ के प्रति अधिकरण 'आसन' में पञ्चमी हुई = आसनात्।

(१३६२) **पद**– विभाषा, गुणे, अस्त्रियाम्। **अनुवृत्ति**– हेतौ, पञ्चमी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– हेतु और स्त्रीलिङ्गभिन्न गुणवाचक शब्द में विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है। जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अकर्त्तर्यृणे पञ्चमी' (२।३।२४) से 'पञ्चमी' की तथा 'हेतौ' (१३५२) की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''गुणवाचक हेतुभूत स्त्रीलिंग को छोड़कर पुल्लिंग या नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान शब्द में विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है''।

घटोऽनुपलब्धेः। **(१३६३) पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।३२ ।** एभिर्योगे तृतीया स्यात्। पञ्चमी-द्वितीये च। पृथग् रामेण रामाद् रामं वा। एवं विना, नाना। **(१३६४) अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते २।३।२९ ।** अन्य इत्यर्थग्रहणम्। इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्। आराद् वनात्। ऋते कृष्णात्। पूर्वो ग्रामात्। दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः। तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना

(१३६३) **पृथगिति**। 'पञ्चमी' इत्यनुवर्तते, द्वितीया चेत्यत आह-**एभिरिति**।

(१३६४) **अन्येति**। 'पञ्चमी' इत्यनुवर्तते। अत अन्य-आरात्-इतर-ऋते-दिक्-शब्द-अञ्चूत्तरपद-आच्-आहि एतैरष्टभिर्योगे पञ्चमी स्यादित्यर्थः।

उदाहरण– 'जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः' (जडता से बँधा हुआ)– यहाँ गुणवाचक जाड्य शब्द (नपुंसकलिङ्ग) बन्धन में हेतुभूत है। अतः विकल्प से पञ्चमी–'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' – 'जाड्यात्'। पञ्चमी के अभाव पक्ष में तृतीया–'जाड्येन'।

प्रत्युदाहरण– (१) गुणेन किम्? **धनेन कुलम्–** प्रकृत सूत्र में 'गुणे' पद ग्रहण किया गया है। अतः धन पद गुणवाचक न होने से उसमें पञ्चमी नहीं होती। तृतीया– 'धनेन'। (२) अस्त्रियां किम्? **बुद्ध्या मुक्तः–** मुक्ति में बुद्धि हेतुभूत है परन्तु वह स्त्रीलिङ्ग है, अतः सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। तृतीया–'बुद्ध्या'।

विभाषेति। यहाँ (प्रकृत सूत्र में) 'विभाषा' ऐसा योगविभाग कर हेतु अर्थ में पञ्चमी होती है। ऐसा अर्थ होने पर गुणवाचक से भिन्न तथा स्त्रीलिंग द्रव्यवाचक से पञ्चमी व तृतीया हो जाती है। (१) **धूमाद् अग्निमान्**'– यहाँ हेतु धूम में पञ्चमी। (२) **अत्र घटो नास्ति अनुपलब्धेः**'– यहाँ स्त्रीलिङ्ग अनुपलब्धि शब्द में भी पञ्चमी–'अनुपलब्धेः'।

(१३६३) **पद–** पृथग्विनानानाभिः, तृतीया, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति–** तृतीया, द्वितीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– पृथक्, विना, नाना के योग में तृतीया, पञ्चमी और द्वितीया विभक्ति होती है। पृथग् ग्रामेण ग्रामात् ग्रामं वा। इसी प्रकार विना, नाना के योग में भी तृतीया, पञ्चमी और द्वितीया होती है।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१३६०) से पञ्चमी तथा 'एनपा द्वितीया' (२।३।३१) से 'द्वितीया' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''पृथक्, विना, नाना– इन शब्दों के योग में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है। पक्ष में पञ्चमी और द्वितीया भी होती है''।

उदाहरण– पृथग् रामेण रामात् रामं वा– यहाँ विकल्प से तृतीया–'रामेण'। पक्ष में पञ्चमी और द्वितीया–'रामात्', 'रामम्'। इसी प्रकार विना और नाना के योग में भी विकल्प से तृतीया तथा पक्ष में पञ्चमी और द्वितीया होती है।

(१३६४) **पद–** अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते। **अनुवृत्ति–** पञ्चमी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्प्रत्ययान्त तथा आहिप्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। अन्य शब्द से अन्यार्थक (पर्याय) शब्दों का ग्रहण किया जाता है। सूत्र में इतर का ग्रहण प्रपञ्चार्थ अर्थात् स्पष्ट अर्थ ज्ञापनार्थ है। अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्। आराद् वनात् इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३६०) से पञ्चमी की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अन्य, आरात् (दूर, या निकट), इतर, ऋते (विना), दिक् शब्द (दिशावाचक शब्द), अञ्चूत्तरपद, आच्प्रत्ययान्त तथा आहि

योगेऽपि भवति। चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः। प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात्। आच्– दक्षिणा ग्रामात्। आहि–दक्षिणाहि ग्रामात्। **(१३६५) अपपरी वर्जने १।४।८८** । एतौ वर्जनार्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञौ स्तः। **(१३६६) आङ् मर्यादावचने १।४।८९** । आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः। वचनग्रहणादभिविधावपि। **(१३६७) पञ्चम्यपाङ्परिभिः २।३।१०** । एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी। अप हरेः, परि हरेः संसारः। परिरत्र वर्जने साहचर्यात्।

(१३६५) **अपेति।** 'कर्मप्रवचनीयाः' इत्यधिकारस्थत्वादनयोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवतीति भावः।

(१३६६) **आङ् इति।** आङ् मर्यादायां कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यादित्यर्थः। **अप हरेः, परि हरेः**– उभयत्र 'अपपरी वर्जने' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इत्यनेन पञ्चमी भवति।

(१३६७) **पञ्चम्यपाडिति।** 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीये'त्यतः 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इत्यनुवर्तते। तदाह–**एतैरित्यादिना।**

प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है''। सूत्रस्थ 'अन्य' पद से अन्य के पर्यायवाची शब्दों का भी ग्रहण होता है। इतर का ग्रहण विस्तार से समझाने के लिए अथवा स्पष्टार्थ है।

उदाहरण– (१) **अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्–** यहाँ 'अन्य' आदि के योग में पञ्चमी–'अन्यारादितर०'–'कृष्णात्'। (२) **आराद् वनात्** (वन के निकट)– यहाँ आरात् के योग में पञ्चमी–'वनात्'। (३) **ऋते कृष्णात्** (कृष्ण के बिना)– यहाँ ऋते के योग में पञ्चमी = 'कृष्णात्'। (४) **पूर्वो ग्रामात्–** पञ्चमी।

दिशि दृष्टः दिक्शब्दः– दिक् शब्द से कभी दिशा में देखा गया शब्द का ग्रहण होता है। सम्प्रति देश या काल बोधक दिक् शब्द रहे तो उसके योग में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। (५) **चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः–** यहाँ चैत्र में पञ्चमी = चैत्रात्। (६) **प्राक् प्रत्यन्तग्रामात्–** यहाँ अञ्चूत्तरपद के योग में पञ्चमी–ग्रामात्। (७) **दक्षिणा ग्रामात्–** यहाँ आच्प्रत्ययान्त दक्षिणा के योग में पञ्चमी–ग्रामात्। (८) **दक्षिणाहि ग्रामात्–** यहाँ आहि प्रत्ययान्त के योग में पञ्चमी–'ग्रामात्'।

(१३६५) **पद–** अपपरी, वर्जने। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ– 'अप' और 'परि' की वर्जन अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

विमर्श– 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है। उसका विभक्तिविपरिणाम से 'कर्मप्रवचनीयौ' हो जाता है। इस पकार–''वर्जन (छोड़ना) अर्थ में अप और परि कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होते हैं''।

(१३६६) **पद–** आङ्, मर्यादावचने। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ– मर्यादा अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। सूत्र में वचन ग्रहण करने से अभिविधि अर्थ में भी आङ् की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

विमर्श– 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है। तदनुसार– ''आङ् की मर्यादा और अभिविधि अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जहाँ से किसी की अवधि आँकी जाय, उसको लेकर अभिविधि होती है और मर्यादा उस अवधि से पूर्व तक समझी जाती है।

(१३६७) **पद–** पञ्चमी, अपाङ्परिभिः। **अनुवृत्ति–** कर्मप्रवचनीययुक्ते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– कर्मप्रवचनीयसंज्ञक अप, आङ् और परि के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। अप हरेः परि हरेः संसारः। परि शब्द यहाँ वर्जनार्थक है। लक्षण अर्थ में–हरिं परि। आ मुक्तेः संसारः। आ सकलाद् ब्रह्म।

लक्षणादौ तु–हरिं परि। आ मुक्तेः संसारः। आ सकलाद् ब्रह्म। (१३६८) **प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः १।४।९२ ।** एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात्। (१३६९) **प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् २।३।११ ।** अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी। प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति। तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्। (१३७०) **षष्ठी शेषे २।३।५० ।**

(१३६८) **प्रतिरिति।** एतयोरर्थयोः प्रतिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञक इत्यर्थः।

(१३६९) **प्रतिनिधि इति।** मुख्यस्याभावे तत्सदृशो य उपादीयते स प्रतिनिधिः दत्तस्य प्रतिनियतिनं प्रतिदानम्। अत्र कर्मप्रवचनीययोगे पञ्चमी भवतीत्यर्थः। **तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्–** अत्र 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' इत्यनेन प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'प्रतिनिधि-प्रतिदाने च यस्मात्' इत्यनेन पञ्चमीविभक्तौ 'तिलेभ्यः' इति। तिलग्रहणपूर्वकं तत्समानमूल्य-कमाषप्रत्यर्पणमिति भावः।

(१३७०) **षष्ठीति।** उक्तादन्यः शेषः। कारकप्रातिपदिकार्थावृत्तौ, तद्भिन्नः सम्बन्धस्तत्र

विमर्श– प्रकृत सूत्र में (१३३६) से 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अप, आङ् और परि–इन कर्मप्रवचनीयसंज्ञकों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– (१) **अप हरेः, परि हरेः संसारः–** यहाँ वर्जनार्थक 'अप' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा–'अपपरी वर्जने'; पञ्चमी–'पञ्चम्यपाङ्परिभिः'; लक्षणार्थ 'परि' की 'इत्थम्भूतलक्षणे' से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर द्वितीया–हरिं परि। (२) **आ मुक्तेः संसारः** (मुक्ति तक अर्थात् मुक्ति को छोड़कर संसार है)– यहाँ मर्यादा अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा–'आङ् मर्यादावचने', पञ्चमी–मुक्तेः। (३) **आ सकलाद् ब्रह्म** (सर्वत्र ब्रह्म की सत्ता है)– यहाँ अभिविधि अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर पञ्चमी–'आ सकलाद्'।

(१३६८) **पद–** प्रतिः, प्रतिनिधिप्रतिदानयोः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ– प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थ में प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

विमर्श– 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है। अतः ''प्रतिनिधि (स्थानापन्न) और प्रतिदान (बदले में देना) अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है''।

(१३६९) **पद–** प्रतिनिधिप्रतिदाने, च, यस्मात्। **अनुवृत्ति–** पञ्चमी, कर्मप्रवचनीययुक्ते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– जिनसे प्रतिनिधि और प्रतिदान हो, उससे कर्मप्रवचनीय योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। प्रद्युम्नः कृष्णात्प्रति। तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३३६) से 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' तथा 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (१३३७) से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''जिसका प्रतिनिधि हो या जिसके बदले में दिया जाय; उससे कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– (१) **प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति** (प्रद्युम्न कृष्ण का प्रतिनिधि है)– यहाँ 'प्रति' की प्रतिनिधि अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा–'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः', कर्मप्रवचनीय 'प्रति' के योग में 'कृष्ण' से पञ्चमी–'कृष्णात्'। (२) **तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्** (तिलों के बदले उड़द देता है)– यहाँ प्रतिदान अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर पञ्चमी–'तिलेभ्यः'।

(१३७०) **पद–** षष्ठी, शेषे। **विधिसूत्र।**

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिशेषः, तत्र षष्ठी। राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव। सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधोदकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः। फलानां तृप्तः। (१३७१) कर्तृकर्मणोः

षष्ठी स्यादिति भावः। आदिपदेन जन्यजनकभावोऽवयवावयविभावादिसम्बन्धश्च गृह्यते। **राज्ञः पुरुषः**– अत्र स्वस्वामिभावसम्बन्धे 'षष्ठी शेषे' इत्यनेन षष्ठी विभक्तिर्भवति 'राज्ञः' इति। **कर्मादीनामपीति**। सतां गतमित्यादौ कर्मकर्तृत्वादीनामपि सम्बन्धत्वसामान्यात्मना विवक्षायां षष्ठ्येव भवति, न तु कारकविभक्तय इति भावः।

(१३७१) **कर्तृकर्मणोरिति**। 'षष्ठी' इत्यनुवर्तते। कृदन्तपदप्रयोगेऽनुक्ते कर्तरि कर्मणि

मूलार्थ– शेष (अर्थात् कारक और प्रातिपदिकार्थ से भिन्न स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध) में षष्ठी विभक्ति होती है। राज्ञः पुरुषः। जब कर्म आदि को भी सम्बन्धमात्र के रूप में कहने की इच्छा हो तो उनमें षष्ठी विभक्ति ही होती है। सतां गतम् इत्यादि।

विमर्श– 'उक्तादन्यः शेषः' कहने से अवशिष्ट को 'शेष' कहते हैं। पाणिनीय अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पहले कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारकों तथा प्रातिपदिकार्थ में विभक्तियों का विधान बताया जा चुका है। अब इनसे अतिरिक्त सम्बन्ध ही शेष है। अतः ''कारक और प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति होती है''।

यह सम्बन्ध विभिन्न प्रकार का होता है। यथा स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध–राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष), अवयवावयविभाव सम्बन्ध– वृक्षस्य शाखा (पेड़ की डाली), जन्यजनकभाव सम्बन्ध– पितुः पुत्रः (पिता का पुत्र) आदि सम्बन्ध स्वयं में एक होता हुआ भी द्विष्ठ अर्थात् दो में स्थित रहता है। यथा–स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध 'स्वामी' और 'स्व' दोनों में स्थित रहता है। जिसका सम्बन्ध कहा जाता है वह सम्बन्ध का प्रतियोगी और जिसमें सम्बन्ध कहा जाता है, वह सम्बन्ध का अनुयोगी होता है। 'राज्ञः पुरुषः' में 'राजा' सम्बन्ध का प्रतियोगी और 'पुरुष' अनुयोगी है। प्रतियोगी शब्द से ही षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण– (१) **'राज्ञः पुरुषः'** (राजा का पुरुष)– यहाँ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध के प्रतियोगी राजन् शब्द से षष्ठी–'षष्ठी शेषे'–'राज्ञः'।

कर्मादीनामपि– जब कर्म, करण आदि को कर्मत्व, करणत्व आदि रूप में न कहकर केवल सम्बन्ध-सामान्य के रूप में प्रस्तुत करना अभीष्ट हो तो शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

उदाहरण– (२) **सतां गतम्** (सज्जनों का गमन)– यहाँ भाव में क्त प्रत्यय है, क्रिया का कर्ता 'सत्' है; परन्तु वक्ता उसे कर्ता के रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहता। तब सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी विभक्ति हुई–'षष्ठी शेषे' = 'सताम्'। (३) **सर्पिषो जानीते** (घृत का ज्ञान रखता है)– यहाँ सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी–'सर्पिषः'। (४) **मातुः स्मरति** (माता का स्मरण करता है)– यहाँ 'स्मरति' क्रिया का कर्म मातृ है, परन्तु सम्बन्ध की विवक्षा में षष्ठी–'मातुः'। (५) **'एधोदकस्योपस्कुरुते'** (ईन्धन जल के गुण को बदलता है)– यहाँ सम्बन्ध-सामान्य विवक्षा में षष्ठी। (६) **'भजे शम्भोश्चरणयोः'** (शंकर के चरणों का ध्यान करता हूँ)– यहाँ भजन-क्रिया में चरण कर्म होने पर सम्बन्ध विवक्षा में षष्ठी–'चरणयोः'। (७) **फलानां तृप्तः** (फलों से तृप्ति)– यहाँ करणत्व की अविवक्षा से सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी–'फलानाम्'।

(१३७१) **पद**– कर्तृकर्मणोः, कृतिः। **अनुवृत्ति**– षष्ठी। **विधिसूत्र**।

कृति २।३।६५ । कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी। कृष्णस्य कृतिः। जगतः कर्ता कृष्णः। गुणकर्मणि वेष्यते। नेताऽश्वस्य स्रुघ्नं स्रुघ्नस्य वा। कृति किम्? तद्धिते मा भूत्। कृतपूर्वी कटम्। **(१३७२) उभयप्राप्तौ कर्मणि २।३।६६** । उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन। **(१३७३) कृत्यानां कर्तरि वा**

च षष्ठी भवतीत्यर्थः। **कृष्णस्य कृतिः**– 'कृतिरि'त्यत्र स्त्रियां भावे क्तिन्, कर्ता कृष्ण अनुक्तः। अतः 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यनेनानुक्ते कर्तरि षष्ठी विभक्तिर्भवति 'कृष्णस्ये'ति। **गुणकर्मणीति**। अप्रधानकर्मणि षष्ठी विकल्प इष्यत इत्यर्थः। प्रधानकर्मणि तु नित्यैव षष्ठी भवति।

(१३७२) **उभयप्राप्ताविति**। 'षष्ठी' इत्यनुवर्तते। उभयशब्देन कर्तृकर्मणोर्ग्रहणम्। तदाह– **उभयोरित्यादिना**।

(१३७३) **कृत्यानामिति**। कृत्यसंज्ञकानामपि कृत्संज्ञत्वात्कर्तृकर्मणोरिति नित्यप्राप्तौ

मूलार्थ– कृत् के योग में अनुक्त कर्ता और कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। कृष्णस्य कृतिः इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र 'षष्ठी शेषे' (१३७०) से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति आती है। 'अनभिहिते' का अधिकार है। तदनुसार– ''कृत् प्रत्ययान्त के साथ योग होने पर अनुक्त कर्ता और कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– (१) **'कृष्णस्य कृतिः'** (कृष्ण की रचना)– यहाँ क्तिन् प्रत्ययान्त 'कृति' के योग में कर्ता 'कृष्ण' में षष्ठी विभक्ति–'कर्तृकर्मणोः कृति'–'कृष्णस्य'। (२) **जगतः कर्ता कृष्णः**'– यहाँ जगत् का कर्ता कृष्ण है, अतः पूर्ववत् षष्ठी–'जगतः'।

(वा०)– गुणकर्मणीति–गौण (अप्रधान) कर्म में विकल्प से षष्ठी होती है।

उदाहरण– (२) **नेताऽश्वस्य स्रुघ्नं स्रुघ्नस्य वा** (घोड़े को स्रुघ्न देश ले जाने वाला)– यहाँ मुख्य कर्म अश्व से नित्य षष्ठी तथा कर्मवाचक 'स्रुघ्न' में विकल्प से षष्ठी–'गुणकर्मणि वेष्यते'। षष्ठी के अभाव पक्ष में कर्म में द्वितीया–'स्रुघ्नम्'।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में 'कृति' पद का ग्रहण होने से कृत्प्रत्ययान्त के योग में ही षष्ठी होती है। अतः **'कृतपूर्वी कटम्'** में इन् (तद्धित-प्रत्ययान्त) का योग होने से षष्ठी नहीं होती।

(१३७२) **पद**– उभयप्राप्तौ, कर्मणि। **अनुवृत्ति**– कृति, षष्ठी। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ– जिस कृत्प्रत्यय के योग में अनुक्त कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी की प्राप्ति हो तो केवल कर्म में ही षष्ठी विभक्ति होती है, कर्ता में नहीं। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३७१) से 'कृति' तथा 'षष्ठी शेषे' (१३७०) से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– प्रकृत सूत्र द्वारा नियम किया जाता है कि ''जहाँ कृदन्त के योग में कर्ता और कर्म दोनों में एक साथ षष्ठी प्राप्त हो, वहाँ अनभिहित (अनुक्त) कर्म में ही षष्ठी होती है; कर्ता में नहीं''।

उदाहरण– आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन– यहाँ 'दोहः' घञ्प्रत्ययान्त कृदन्त है, 'अगोप' कर्ता है और 'गो' कर्म है। अतः 'कर्तृकमणोः कृति' से कर्ता और कर्म दोनों में प्राप्त षष्ठी की प्रवृत्ति 'उभय-प्राप्तौ कर्मणि' के नियमानुसार 'कर्म' में ही हुई– 'गवाम्'।

पद– कृत्यानाम्, कर्तरि, वा। **अनुवृत्ति**– षष्ठी। **विधिसूत्र**।

(१३७३) **मूलार्थ**– कृत्य प्रत्यय के योग में कर्ता में विकल्प से षष्ठी होती है। मया मम वा सेव्यो हरिः।

२।३।७१ । षष्ठी। मया मम वा सेव्यो हरिः।(**१३७४**) **क्तस्य च वर्तमाने २।३।६७ ।** वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी। 'न लोके'ति वक्ष्यमाणनिषेधस्यापवादः। राज्ञां मतः बुद्धः पूजितो वा। (**१३७५**) **अधिकरणवाचिनश्च २।३।६८ ।** क्तस्य प्रयोगे षष्ठी। इदमेषां शयितम्। (**१३७६**) **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् २।३।६९ ।** एषां योगे षष्ठी

विकल्पोऽयम्। कृत्यप्रत्ययान्तयोगे कर्तरि षष्ठी वा स्यादित्यर्थः। **मया मम वा सेव्यो हरिः**– अत्र 'सेव्यः' इति ण्यत्प्रत्ययान्तत्वेन कृदन्तेन योगात् 'कृत्यानां कर्तरि वा' इत्यनेन विभाषया षष्ठी भवति 'मम' इति। तदभावे तृतीया–'मये'ति।

(१३७४) **क्तस्येति।** 'षष्ठी' इत्यनुवर्त्याह–**वर्तमानार्थस्येति। राज्ञां मतः बुद्धः पूजितो वा**– अत्र वर्तमाने विहितस्य क्तान्तस्य 'मतः, बुद्धः, पूजितः' इत्यादीनां योगे 'क्तस्य च वर्तमाने' इत्यनेन राज्ञामिति षष्ठी।

(१३७५) **अधिकरणेति।** 'क्तस्य चे'त्यतः 'क्तस्ये'ति, 'षष्ठी शेषे' इत्यतः 'षष्ठी' इति चानुवर्तते। तेन अधिकरणवाचिनः क्तस्य योगे षष्ठी स्यादित्यर्थः। 'इदमेषां शयितमि'ति। अत्र 'अधिकरणवाचिनश्च' इत्यनेन 'एषामि'त्यत्र' कर्तरि षष्ठी भवति।

(१३७६) **न लोकेति।** 'ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृन्' एषां योगे षष्ठी नेत्यर्थः।

विमर्श– पूर्ववत् 'षष्ठी' की अनुवृत्ति आती है। 'अनभिहिते' का अधिकार है। तदनुसार– ''कृत्यप्रत्ययान्तों के योग में अनुक्त कर्ता में विकल्प से षष्ठी होती है''।

उदाहरण– मया मम वा सेव्यो हरिः (मेरे द्वारा हरि सेवनीय है)– यहाँ 'सेव्य' (ण्यत्प्रत्ययान्त) के योग में अनुक्त कर्ता में विकल्प से षष्ठी–'मम'। पक्ष में तृतीया–'मया'।

(१३७४) **पद–** क्तस्य, च, वर्तमाने। **अनुवृत्ति–** षष्ठी। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– वर्तमानार्थक 'क्त' के योग में भी षष्ठी होती है। 'न लोक०' सूत्र से कहे जाने वाले निषेध का यह सूत्र अपवाद है। राज्ञां मतः बुद्धः, पूजितो वा।

विमर्श– पूर्ववत् 'षष्ठी' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''वर्तमान काल में विहित क्त प्रत्यय के योग में भी षष्ठी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– राज्ञां मतः, बुद्धः, पूजितः– यहाँ 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' से वर्तमान काल में क्त प्रत्यय हुआ है, अतः उसके योग में षष्ठी–'राज्ञाम्'–'क्तस्य च वर्तमाने')।

(१३७५) **पद–** अधिकरणवाचिनः, च। **अनुवृत्ति–** क्तस्य, षष्ठी। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ– अधिकरणवाची क्त के योग में भी षष्ठी विभक्ति होती है। इदमेषां शयितम्।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३७३) से 'क्तस्य' तथा 'षष्ठी शेषे' (१३७०) से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अधिकरण अर्थ में विहित क्त के योग में भी षष्ठी होती है''।

उदाहरण– 'इदमेषां शयितम्' (यह इनके सोने का स्थान है)– यहाँ अधिकरणार्थक 'क्त' के योग में षष्ठी–'अधिकरणवाचिनश्च' = 'एषाम्'।

(१३७६) **पद–** न, लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्। **अनुवृत्ति–** षष्ठी। **विधि(निषेध)सूत्र।**

मूलार्थ– लादेश, उ, उक, अव्यय, निष्ठा (क्त, क्तवतु), खलर्थ और तृन् प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी नहीं होती। कुर्वन् कुर्वाणः सृष्टिं हरिः इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् 'षष्ठी' की अनुवृत्ति आती है। लश्च उश्च उकश्च अव्ययं च निष्ठा च खलर्थश्च

न। लादेशः– कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः। उः– हरिं दिदृक्षुः, अलङ्करिष्णुर्वा। उक– दैत्यान् घातुको हरिः। * कमेरनिषेधः *। लक्ष्म्याः कामुको हरिः। अव्ययम्–जगत्सृष्ट्वा। निष्ठा–दैत्यान् हतवान् विष्णुः। विष्णुना हता दैत्याः। खलर्थः–ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा। तृन्निति प्रत्याहारः। शतृशानचाविति तृशब्दादारभ्य आ तृनो नकारात्। शानच्–सोमं पवमानः। चानश्–आत्मानं मण्डयमानः। शतृ–वेदमधीयन्। तृन्–कर्ता लोकान्। * द्विषः शतुर्वा *। मुरस्य मुरं वा द्विषन्। * सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः *। शेषे षष्ठी तु

ल इत्यनेन लडादीनां ग्रहणम्। **हरिं दिदृक्षुः**– अत्र उप्रत्ययान्तस्य 'दिदृक्षुः' इत्यस्य योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन प्राप्तायाः षष्ठ्याः निषेधे कर्मणि द्वितीया भवति 'हरिमि'ति।

सर्वोऽयमिति। अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वेति न्यायेन कारकषष्ठ्या एव प्रतिषेधो न तु शेषषष्ठ्याः।

तृन् चेति लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनः, तेषाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वसमास)। तदनुसार–"लादेश, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ और तृन्–इन कृत्प्रत्ययान्तों के योग में षष्ठी नहीं होती"। ल से शतृ, शानच् आदि लादेशों का ग्रहण होता है।

उदाहरण– (१) लादेश योग में– **कुर्वन् कुर्वाणः सृष्टिं हरिः** (सृष्टि को रचने वाले हरि)– यहाँ 'कर्तृकर्मणोः कृति' से प्राप्त षष्ठी का निषेध–'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्'; कर्म में द्वितीया = 'सृष्टिम्'।

(२) 'उ'–**हरिं दिदृक्षुः** (हरि को देखने का इच्छुक)–षष्ठी का निषेध उक्तवत्।

(३) 'उक'–**दैत्यान् घातुको हरिः** (राक्षसों के नाशकर्ता हरि हैं)– उक्तवत् प्राप्त षष्ठी का निषेध।

(वा०)– उक-प्रत्यययान्त कमु धातु के योग में षष्ठी का निषेध नहीं होता।

(४) **लक्ष्म्याः कामुको हरिः** (लक्ष्मी की इच्छा करने वाले हरि)– यहाँ प्राप्त षष्ठी-निषेध का वा० से अभाव होने पर षष्ठी होती है = 'लक्ष्म्याः'।

(५) 'अव्यय'– **जगत् सृष्ट्वा**– यहाँ क्त्वा-प्रत्ययान्त अव्यय होने से उसके योग में प्राप्त षष्ठी का निषेध– 'न लोकाव्यय०'; द्वितीया = 'जगत्'।

(६) निष्ठा (क्त क्तवतु)– **दैत्यान् हतवान् विष्णुः; विष्णुना हता दैत्याः**– यहाँ निष्ठासंज्ञक क्त-क्तवतु प्रत्ययान्तों के योग में प्राप्त षष्ठी का निषेध।

(७) 'खलर्थ'– **ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा** (हरि को जगत्प्रपञ्च-रचना आसान है)– यहाँ 'ईषत्करः' में खलर्थ के योग में प्राप्त षष्ठी का निषेध, कर्म में प्रथमा।

'तृन्' प्रत्याहार है। उससे शतृ-विधायक सूत्र के तृ से लेकर 'तृन्' सूत्रपर्यन्त मध्यवर्ती जितने कृत्प्रत्यय हैं वे सब 'तृन्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रत्याहार में शानन्, चानश्, शतृ और तृन् प्रत्ययों का ग्रहण होता है। इन सभी प्रत्ययान्तों के योग में प्राप्त कृद्योगलक्षणा षष्ठी का 'न लोकाव्यय-निष्ठाखलर्थतृनाम्' से निषेध होता है। यथा–

(८) शानन् – **सोमं पवमानः** (सोम को पवित्र करते हुए)।

(९) चानश् – **आत्मानं मुण्डयमानः** (स्वयं को मुण्डित करता हुआ)।

(१०) शतृ – **वेदमधीयन्** (वेद पढ़ता हुआ)।

(११) तृन् – **कर्ता लोकान्** (लोकों को बनाने वाला)।

(वा०)– **द्विष इति**। शतृ-प्रत्ययान्त द्विष के योग में विकल्प से षष्ठी का निषेध होता है।

स्यादेव। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। नरकस्य जिष्णुः। **(१३७७) अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः २।३।७० ।** भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न। सतः पालकोऽवतरति। व्रजं गामी। शतं दायी। * निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां विभक्तीनां प्रायदर्शनम् *। किं निमित्तं वसति, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्तायेत्यादि। एवं–किं कारणं, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि। प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः। ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः। ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि। **(१३७८) षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २।३।३० ।** ग्रामस्य

(१३७७) **अकेनोरिति**। अकश्च इन् च तयोरनेकनोः। भविष्यच्च आधमर्ण्यञ्च तयोरिति द्वन्द्वः। आधमर्ण्यमकेन नान्वेत्यसम्भवात्, इनेस्तूभयोरन्वयस्तदाह–**भविष्यत्यकस्येति**। **व्रजं गामी**– अत्र 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति सूत्रेण षष्ठीनिषेधः।

निमित्तेति। निमित्तवाचकानां पदानां योगे सर्वासां विभक्तीनां प्रायेण प्रयोगो भवतीत्यर्थः।

(१३७८) **षष्ठ्यतसर्थेति**। अतसुच्प्रत्ययार्थो दिग्देशकालरूपः, स एवार्थो यस्य

उदाहरण– (१२) **मुरस्य मुरं वा द्विषन्**– यहाँ प्राप्त षष्ठी का विकल्प से निषेध– 'द्विषः शतुर्वा'; द्वितीया = मुरम्। निषेध के अभावपक्ष में–षष्ठी–'मुरस्य'।

(वा०)– प्रकृत सूत्र 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' नियम के अनुसार यह सभी निषेध–कारक षष्ठी (कृद्योगलक्षणा षष्ठी) का ही निषेध करता है। शेषत्व विवक्षा में तो 'शेषे षष्ठी' सूत्र से षष्ठी निर्बाध होती है। यथा– (१) **ब्राह्मणस्य कुर्वन्** (ब्राह्मण सम्बन्धी कार्य करने वाला)। (२) **नरकस्य जिष्णुः** (नरक सम्बन्धी जयकर्ता)।

(१३७७) **पद**– अकेनोः, भविष्यदाधमर्ण्ययोः। **अनुवृत्ति**– न षष्ठी। **विधि(निषेध)सूत्र**।

मूलार्थ– भविष्यदर्थक अक और भविष्यत् तथा आधमर्ण्यार्थक इनि के योग में षष्ठी नहीं होती। सतः पालकोऽवतरति इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्र 'न लोकाव्यय०' (१३७५) से 'न' तथा 'षष्ठी शेषे' (१३७०) से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''भविष्यत् अर्थ में विधीयमान अक प्रत्यय तथा भविष्यत् और आधमर्ण्य अर्थ में विहित इन् प्रत्यय के योग में प्राप्त षष्ठी नहीं होती।''

उदाहरण– (१) **सतः पालकोऽवतरति** (सज्जनों की रक्षा करने वाला अवतार लेता है)– यहाँ (पाल् + ण्वुल् = 'वु' = अक = 'पालकः') अक प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी का निषेध–'अकेनो०'; द्वितीया–'सतः'। (२) **व्रजं गामी**– यहाँ इन्प्रत्ययान्त 'गामी' के योग में षष्ठी–निषेध उक्तवत्; द्वितीया–'व्रजम्'। (३) **शतं दायी**– यहाँ भविष्यत् और आधमर्ण्यार्थक इन्प्रत्ययान्त 'दायी' के योग में षष्ठी–निषेध; द्वितीया–'शतम्'।

(वा०)– **निमित्तेति**। निमित्त के पर्यायवाची शब्दों के योग में प्रायः सभी विभक्तियाँ देखीं जाती हैं।

उदाहरण– (१) **किं निमित्तम्?** (प्रथमा, द्वितीया)। (२) **केन निमित्तेन** (तृतीया)। (३) **कस्मै निमित्ताय** (चतुर्थी) इत्यादि। (४) निमित्त के पर्याय कारण, हेतु, प्रयोजन आदि के योग में– **किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनम्** (प्रथमा) इत्यादि। (५) **ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः, ज्ञानाय निमित्ताय** इत्यादि (तृतीया, चतुर्थी)। 'प्रायः' पद के ग्रहण से सर्वनाम–भिन्न शब्द से प्रथमा, द्वितीया नहीं होतीं।

(१३७८) **पद**– षष्ठी, अतसर्थप्रत्ययेन। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– अतसर्थक प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है। ग्रामस्य दक्षिणतः इत्यादि।

दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्टात्। **(१३७९) एनपा द्वितीया २।३।३१ ।** एनपेति योगविभागात् षष्ठ्यपि। दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा। एवमुत्तरेण। **(१३८०) दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् २।३।३४ ।** एतैर्योगे षष्ठी पञ्चमी च। दूरं निकटं वा ग्रामस्य ग्रामाद् वा। **(१३८१) दिवस्तदर्थस्य २।३।५८ ।** द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम्?

सोऽतसर्थप्रत्ययस्तद्योगे षष्ठी स्यादित्यर्थः। **ग्रामस्य दक्षिणतः**– अत्र 'दक्षिणतः' इत्यस्य योगे 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेने'त्यनेन षष्ठी भवति।

(१३७९) **एनपेति**। एनप्प्रत्ययान्ते योगे द्वितीया स्यादित्यर्थः, योगविभागात् षष्ठ्यपि।

(१३८०) **दूरान्तिकार्थैरिति**। षष्ठीति पञ्चमीति चानुवर्तते। तदाह–**एतैर्योग इति**।

(१३८१) **दिव इति**। तच्छब्देनात्र पूर्वसूत्रनिर्दिष्टौ व्यवहृतपणौ परामृश्येते। तयोर्व्यवहृतपणोरर्थ एवार्थो यस्येति विग्रहस्तदेवाह–**द्यूतार्थस्येति**। **शतस्य दीव्यति**– अत्र 'शतस्ये'त्यत्र 'दिवस्तदर्थस्ये'त्यनेन षष्ठी विभक्तिर्भवति।

विमर्श– 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' (५।३।३८) से अतसुच् प्रत्यय दिक्-देश-काल अर्थ में होता है। अतः ''उसी अर्थ में विहित अतसर्थ प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्टात् (गाँव के दक्षिण में, सामने, ऊपर आदि)– यहाँ षष्ठी–'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन'–'ग्रामस्य'।

(१३७९) **पद**– एनपा, द्वितीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– एनप् प्रत्ययान्त के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा।

विमर्श– 'एनप्' के अतसर्थ प्रत्यय होने से पूर्वसूत्र से प्राप्त षष्ठी का बाध प्रकृत सूत्र द्वारा होता है। ''एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। 'एनपा' का योगविभाग करने से षष्ठी भी होती है''।

उदाहरण– दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा (ग्राम से दक्षिण)–यहाँ एनबन्त 'दक्षिणेन' के योग में द्वितीया–'ग्रामम्'। योगविभाग से षष्ठी–'ग्रामस्य'। इसी प्रकार 'उत्तरेण' इत्यादि।

(१३८०) **पद**– दूरान्तिकार्थैः, षष्ठी, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**– पञ्चमी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– दूरार्थक और समीपार्थक शब्दों के योग में विकल्प से षष्ठी होती है। पक्ष में पञ्चमी होती है। दूरं निकटं वा ग्रामस्य ग्रामाद् वा।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अपादाने पञ्चमी' (१३६०) से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''दूर अर्थ वाले तथा समीप अर्थ वाले शब्दों के योग में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। पक्ष में पञ्चमी भी होती है''।

उदाहरण– दूरं निकटं वा ग्रामस्य ग्रामाद् वा– यहाँ दूरार्थक और निकटार्थक शब्दों के योग में विकल्प से षष्ठी– 'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्'–'ग्रामस्य'। पक्ष में पञ्चमी–'ग्रामात्'

(१३८१) **पद**– दिवः, तदर्थस्य। **अनुवृत्ति**– कर्मणि षष्ठी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– द्यूतार्थ तथा क्रय-विक्रयार्थक दिव् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। शतस्य दीव्यति इत्यादि।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' (२।३।५२) से 'कर्मणि' तथा 'षष्ठी शेषे' (१३७०) से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति आती है। 'तदर्थस्य' के तत् शब्द से पूर्वसूत्र-निर्दिष्ट 'व्यवहृपणोः'

ब्राह्मणं दीव्यति, स्तौतीत्यर्थः। (१३८२) विभाषोपसर्गे २।३।५९ । शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति। (१३८३) आधारोऽधिकरणम् १।४।४५ । कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात्। (१३८४) सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६ । चाद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा।

(१३८२) **विभाषेति**। उपसर्गे सति व्यवहृतपणार्थस्य दिवः कर्मणि षष्ठी वा स्यादिति भावः।

(१३८३) **आधार इति**। आध्रियतेऽस्मिन्नित्याधारः, अधिकरणे घञ्। 'कारके' इत्यधिकृतं प्रथमान्ततया विपरिणम्यते, तच्च विशेषणमाधारस्य। स चाधारः कस्येत्याकाङ्क्षायां कारकाधिकारात् क्रियाया इति प्राप्यते। तदाधारत्वं न साक्षात् किन्तु कर्तृकर्मद्वारैवेति व्याख्यानात्। अत आह–**कर्तृकर्मद्वारेति**।

(१३८४) **सप्तमीति**। **चकारादिति**। चकारेण 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया चे'ति पूर्वसूत्राद्

का ग्रहण किया जाता है। अतः ''व्यवहारार्थक (द्यूतार्थ और क्रय-विक्रय रूप व्यवहारार्थक) दिव् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– शतस्य दीव्यति (सौ रुपये से खेलता है आदि)– यहाँ व्यवहारार्थक दिव् के कर्म में षष्ठी–'दिवस्तदर्थस्य' – 'शतस्य'।

प्रत्युदाहरण– तदर्थस्य किमिति। प्रकृत सूत्र में 'तदर्थस्य' का ग्रहण करने से द्यूत एवं क्रय-विक्रयरूप व्यवहारार्थक दिव् धातु के कर्म में षष्ठी होती है। इसके अतिरिक्त अन्य स्तुति आदि अर्थों में षष्ठी नहीं होती–**'ब्राह्मणं दीव्यति'** (ब्राह्मण की स्तुति करता है)–द्वितीया।

(१३८२) **पद–** विभाषा, उपसर्गे। **अनुवृत्ति–** दिवस्तदर्थस्य, कर्मणि, षष्ठी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– पूर्वोक्तार्थक सोपसर्गक दिव् धातु के कर्म में विकल्प से षष्ठी होती है। शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति।

विमर्श– पूर्वसूत्र 'दिवस्तदर्थस्य' (१३८१) की यहाँ अनुवृत्ति आती है तथा पूर्ववत् 'कर्मणि' एवं 'षष्ठी' की भी अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार– ''द्यूतार्थक एवं क्रय-विक्रय रूप व्यवहारार्थक सोपसर्गक दिव् धातु के कर्म में विकल्प से षष्ठी होती है''।

उदाहरण– शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति– यहाँ विकल्प से षष्ठी–'विभाषोपसर्गे' – 'शतस्य'। पक्ष में द्वितीया–'शतम्'।

(१३८३) **पद–** आधारः, अधिकरणम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ– कर्ता और कर्म के द्वारा कर्तृ और कर्म निष्ठ क्रिया का आधारभूत कारक अधिकरणसंज्ञक होता है।

विमर्श– 'कारके' का अधिकार है। उसका विभक्तिविपरिणाम होकर 'कारकम्' हो जाता है। आङ् + ✓ धृ से अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय होकर 'आधारः' पद निष्पन्न होता है। आधार का अर्थ 'आश्रय' है। किसका आश्रय? ऐसी आकांक्षा होने पर 'क्रियायाः' का अध्याहार किया जाता है। क्रिया का आधार यहाँ कर्ता या कर्म के द्वारा उनमें रहने वाली क्रिया का आधार समझा जाता है। इस प्रकार 'कर्ता या कर्म द्वारा कर्तृनिष्ठ या कर्मनिष्ठ जो क्रिया का व्यापार या फल है, उसके आधार कारक की अधिकरण संज्ञा होती है''।

(१३८४) **पद–** सप्तमी, अधिकरणे, च। **अनुवृत्ति–** दूरान्तिकार्थेभ्यः। **विधिसूत्र**।

कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छाऽस्ति। सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति। वनस्य दूरेऽन्तिके वा। * क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् *। अधीती व्याकरणे। * साध्वसाधुप्रयोगे च *। साधुः कृष्णो मातरि। असाधुर्मातुले। * निमित्तात्कर्मयोगे *।

दूरान्तिकार्थेभ्य इत्यस्यानुकर्षणादिति भावः। **औपश्लेषिक इति**। उपश्लेषः संयोगादिसम्बन्धः, तत्प्रयोज्य आधार औपश्लेषिकः। विषयतासम्बन्धकृत आधारः वैषयिकः। सकलावयव-व्याप्तिकृत आधारोऽभिव्यापकः। **कटे आस्ते**– 'आधारोऽधिकरणमि'त्यनेन कटस्याधिकरणसंज्ञायां 'सप्तम्यधिकरणे चे'त्यनेन औपश्लेषिकाधारे 'कटे' इत्यत्र सप्तमी भवति। **निमित्तादिति**। कर्मयोगे निमित्तवाचकात्पदात्सप्तमी वाच्येत्यर्थः। निमित्तपदेनात्र फलं गृह्यते। योगश्च संयोगः समवाय

मूलार्थ– अनुक्त अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है। दूरार्थक और समीपार्थकों से भी सप्तमी विभक्ति होती है। आधार तीन प्रकार का होता है– (१) औपश्लेषिक, (२) वैषयिक और (३) अभिव्यापक। 'कटे आस्ते' इत्यादि।

विमर्श– 'अनभिहिते' का अधिकार है। पूर्वसूत्र 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' (२।३।३५) से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अनुक्त अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है। 'च' ग्रहण से दूर या समीप अर्थ वाले शब्दों से भी सप्तमी हो जाती है''। आधार तीन प्रकार का होता है– औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक।

(१) 'उप = समीपे, श्लेषः संयोगादिसम्बन्धः औपश्लेषिकः'। अर्थात् जहाँ आधार और आधेय के साथ संयोग आदि सम्बन्ध हो, वहाँ 'औपश्लेषिक' आधार होता है।

उदाहरण– कटे आस्ते (चटाई पर बैठा है)– यहाँ बैठने वाले के साथ संयोग सम्बन्ध है। अतः अधिकरण संज्ञा–'आधारोऽधिकरणम्', सप्तमी–'सप्तम्यधिकरणे च'– 'कटे' इति। **स्थाल्यां पचति** (वटुलोई में पकाता है)– यहाँ उक्तवत् अधिकरण संज्ञा और सप्तमी।

(२) 'विषयतासम्बन्धकृत आधारो वैषयिकः'। अर्थात् विषयता सम्बन्ध से जब किसी को आधार माना जाता है तो वह 'वैषयिक' आधार कहलाता है।

उदाहरण– मोक्षे इच्छाऽस्ति (मोक्ष के विषय में इच्छा है)– इच्छा का मोक्ष विषय है, अतः विषयत्वेन आधार मोक्ष की अधिकरण संज्ञा और सप्तमी = 'मोक्षे'।

(३) 'अभि = सर्वतोभावेन व्याप्नोतीति अभिव्यापकः'। अर्थात् जहाँ आधार के प्रत्येक अवयव में आधेय की सत्ता विद्यमान हो वहाँ 'अभिव्यापक' आधार होता है।

उदाहरण– सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति (सब में आत्मा (ईश्वर) है)– यहाँ पर सत्तारूप क्रिया का आधार 'आत्मा' (कर्ता) सर्वत्र है। इसका अभिव्यापक आधार 'सर्व' है, उसकी अधिकरण संज्ञा तथा सप्तमी = सर्वस्मिन्। **वनस्य दूरे अन्तिके वा** (वन से दूर अथवा वन के समीप)– यहाँ 'सप्तम्यधिकरणे च' में 'च' के ग्रहण से दूर अथवा समीप अर्थ वाले 'दूर' और 'अन्तिक' शब्दों में सप्तमी = 'दूरे', 'अन्तिके'।

(वा०)– इन् प्रत्यय के विषय 'क्त' के योग में कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है।

उदाहरण– अधीती व्याकरणे– यहाँ क्तान्त से इन् प्रत्यय है, अध्ययन का कर्म व्याकरण है। अतः इन् विषय क्त के योग में कर्मवाचक पद में सप्तमी = 'व्याकरणे'।

(वा०)– साधु तथा असाधु शब्द के प्रयोग में भी सप्तमी होती है।

"चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः"॥

(१३८५) यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७ । यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी। गोषु दुह्यमानासु गतः। (१३८६) षष्ठी चानादरे २।३।३८ । अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्।

एव ग्राह्यः। **चर्मणीति**। चर्मरूपफलप्राप्त्यर्थं व्याघ्रं हन्तीत्यर्थः। चर्मद्वीपिनोः समवायः सम्बन्धः। दन्तार्थं कुञ्जरं = हस्तिनं हन्तीति। केशार्थं चमरीं = गोविशेषं हन्ति। सीम्नि अण्डकोशप्राप्त्यर्थं (तत्र कस्तूरिकासत्त्वात्) पुष्कलकः = गन्धमृगो हतः। अत्र सर्वत्रैव निमित्तवाचकेषु सप्तमी।

(१३८५) **यस्य चेति**। 'सप्तमी'त्यनुवर्तते। भावशब्दावत्र क्रियापर्यायौ। अत आह-**यस्य क्रिययेति। गोषु दुह्यमानासु गतः**- कृष्णः कदा गत इति प्रश्ने उत्तरमिदम्। गवां दोहनक्रियया गमनक्रिया लक्ष्यते। अतः 'यस्य च भावेन भावलक्षणमि'त्यनेन गोशब्दात् सप्तमी भवति। तद्विशेषणत्वेन दुह्यमानशब्दादपि सप्तमी भवतीति।

(१३८६) **षष्ठीति**। 'सप्तमी' इत्यनुवर्तते। अनुवृत्तं 'भावलक्षणमि'ति पदं सप्तम्या विपरिणम्यते। तदाह- **अनादराधिक्य इति**।

उदाहरण- (१) **साधु कृष्णो मातरि** (माता के विषय में कृष्ण अच्छे हैं)- यहाँ 'साधु' के योग में सप्तमी- 'साध्वसाधुप्रयोगे च' = 'मातरि'। (२) **'असाधुर्मातुले'** (मामा = कंस के विषय में क्रूर हैं)- यहाँ असाधु के योग में सप्तमी = 'मातुले'।

(वा०)- निमित्तादिति। कर्म के साथ यदि फल का योग हो तो निमित्त अर्थात् फलवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है।

यहाँ वार्तिक में योग शब्द संयोगार्थक है। वह सम्बन्ध प्रकृत में समवायसंयोग का ही ग्रहण किया जाता है।

उदाहरण- (१) **चर्मणि द्वीपिनं हन्ति** (चर्म के निमित्त गैडे को मारता है)- यहाँ निमित्तवाचक 'चर्मन्' में सप्तमी-'निमित्तात्कर्मयोगे' = 'चर्मणि'। (२) **दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्** (दाँतों के लिए हाथी को मारता है)- पूर्ववत् सप्तमी = 'दन्तयोः'। (३) **केशेषु चमरीं हन्ति** (केशों के निमित्त चँवरी गाय की पूँछ काटता है)- पूर्ववत् निमित्तवाचक में सप्तमी = 'केशेषु'। (४) **सीम्नि पुष्कलको हतः** (अण्डकोश (कस्तूरी होने से) के निमित्त गन्ध-प्रधान मृग को मारता है)- पूर्ववत् सप्तमी = 'सीम्नि'।

(१३८५) **पद**- यस्य, च, भावेन, भावलक्षणम्। **अनुवृत्ति**- सप्तमी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- जिसकी क्रिया से किसी अन्य क्रिया की प्रतीति हो, उससे सप्तमी विभक्ति होती है। गोषु दुह्यमानासु गतः।

विमर्श- पूर्वसूत्र (१३८४) से 'सप्तमी' की अनुवृत्ति आती है। अतः "जिसकी प्रसिद्ध क्रिया से अन्य दूसरी क्रिया लक्षित होती है, उससे सप्तमी विभक्ति होती है"।

उदाहरण- गोषु दुह्यमानासु गतः (गायों के दुहे जाने पर वह गया)- यहाँ गायों की दोहन-क्रिया से गमन-क्रिया लक्षित होती है। अतः 'गो' में सप्तमी- 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' = **'गोषु'**। उसके विशेषण 'दुह्यमाना' में भी सामानाधिकरण्य होने से सप्तमी हो जाती है।

(१३८६) **पद**- षष्ठी, च, अनादरे। **अनुवृत्ति**- यस्य च भावेन भावलक्षणम्, सप्तमी। **विधिसूत्र**।

रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः। **(१३८७) स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च २।३।३९** । एभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। गवां गोषु वा स्वामी। **(१३८८) आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् २।३।४०** । आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। आयुक्तो व्यापारितः। आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा। आसेवायां

(१३८७) **स्वामीश्वरेति**। 'षष्ठी चानादरे' इत्यतः 'षष्ठी'ति 'सप्तम्यधिकरणे च'त्यतः 'सप्तमी'ति चानुवर्तते। तदाह–**एभिर्योग इति**।

(१३८८) **आयुक्तेति**। आसेवायामौत्सुक्ये अनयोः योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्त इत्यर्थः।

मूलार्थ– अनादर का आधिक्य गम्यमान होने पर जिसकी क्रिया से क्रियान्तर लक्षित हो तो उसमें षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती है। रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' पूर्वसूत्र तथा 'सप्तम्यधिकरणे च' (१३८४) से सप्तमी की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''तिरस्कार अर्थ में जिस क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित की जाती है वहाँ षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– रुदति रुदतः वा प्राव्राजीत् (रोते हुए पुत्र आदि को छोड़कर उसकी बिना परवाह किये परिव्राजक = संन्यासी बन गया)– यहाँ रोदन क्रिया से प्रव्रजन क्रिया लक्षित है, अतः 'सप्तमी'; 'च' ग्रहण से 'षष्ठी'–'षष्ठी चानादरे' = 'रुदति', 'रुदतः'।

(१३८७) **पद–** स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः, च। **अनुवृत्ति–** षष्ठी, सप्तमी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– स्वामी, ईश्वर आदि शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती है। गवां गोषु वा स्वामी।

विमर्श– पूर्वसूत्र (१३८६) से 'षष्ठी' तथा 'सप्तम्यधिकरणे च' (१३८४) से 'सप्तमी' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू, प्रसूत शब्दों के योग में भी षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– गवां गोषु वा स्वामी (गायों का स्वामी)– यहाँ 'स्वामी' के योग में 'गो' शब्द में सप्तमी–'स्वामीश्वराधिपति०' = गोषु। षष्ठी पक्ष में = 'गवाम्'।

(१३८८) **पद–** आयुक्तकुशलाभ्याम्, च, आसेवायाम्। **अनुवृत्ति–** षष्ठी, सप्तमी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– आसेवा (तत्परता) गम्यमान हो तो आयुक्त तथा कुशल शब्दों के योग में भी षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं। आयुक्त = व्यापारित (प्रवृत्त होना) है। कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा इत्यादि।

विमर्श– पूर्वसूत्रवत् यहाँ भी 'षष्ठी' एवं 'सप्तमी' की अनुवृत्ति आती है। 'आसेवायाम्' का अर्थ 'तत्परता से सेवा में' है। इस प्रकार– ''तत्परता से सेवा अर्थ की प्रतीति होने पर आयुक्त तथा कुशल शब्दों के योग में षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने (हरि के पूजन में तत्परता से लगा है)–यहाँ आयुक्त तथा कुशल के योग में षष्ठी तथा सप्तमी– 'आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम्' = 'हरिपूजनस्य', 'हरिपूजने'।

प्रत्युदाहरण– प्रकृत सूत्र में 'आसेवायाम्' के ग्रहण से 'पूर्णतया तत्परता से सेवा' अर्थ में ही प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होती है। अतः **'आयुक्तो गौः शकटे'** (बैल रथ में युक्त है) में 'आसेवा' न होने से षष्ठी–सप्तमी नहीं होतीं।

किम्? आयुक्तो गौः शकटे, ईषद्युक्त इत्यर्थः। **(१३८९) यतश्च निर्धारणम् २।३।४१।** जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां गोषु वा कृष्णा गौर्बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः। **(१३९०) पञ्चमी विभक्ते २।३।४२।** विभागो विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी। माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः। **(१३९१) साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः २।६।४३।**

(१३८९) **यतश्चेति**। जात्या, गुणेन, क्रियया संज्ञया वा पृथक्करणं निर्धारणम्। षष्ठीति सप्तमीति चानुवर्तते। तदाह–**जातिगुणक्रियेत्यादि**। **नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः**– अत्र 'यतश्च निर्धारणम्' इत्यनेन निर्धारणे 'नृ'शब्दे षष्ठीसप्तम्यौ भवतः, 'नृणाम्' 'नृषु' इति।

(१३९०) **पञ्चमीति**। 'विभक्ते' इत्यत्र भावे क्तः, 'यतश्च निर्धारणमि'त्यनुवर्तते। यत्र निर्धारणावधेर्निर्धार्यमाणस्य च भेदः स्यात्तत्रैवास्य प्रवृत्तिरित्यर्थः।

(१३९१) **साधुनिपुणाभ्यामिति**। ''साधुनिपुणाभ्यां योगेऽचार्यां सप्तमी भवति यदि प्रतेः

(१३८९) **पद**– यतः, च, निर्धारणम्। **अनुवृत्ति**– षष्ठी, सप्तमी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– जहाँ से निर्धारण अर्थात् जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा द्वारा पृथक्करण हो, तद्वाचक से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है। नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः इत्यादि।

विमर्श– पूर्ववत् षष्ठी तथा सप्तमी की अनुवृत्ति आती है। जाति, गुण, क्रिया एवं संज्ञा के द्वारा समूह के एक भाग को अलग करना 'निर्धारण' कहलाता है! इस प्रकार– ''जिससे पृथक्करण होता है, तद्वाचक शब्द में षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– (१) **नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः** (मनुष्यों में ब्राह्मण उत्तम है)– यहाँ मानव-समुदाय से एक देश 'ब्राह्मण' का पृथक्करण है। उसका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया गया है। अतः समुदायवाचक 'नृ' शब्द में षष्ठी अथवा सप्तमी–'यतश्च निर्धारणम्' = 'नृणाम्', 'नृषु'। (२) **गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा** (गायों में काली गाय बहुत दूध देती है)– यहाँ गुण द्वारा पृथक्करण होने से समुदायवाचक गो शब्द में षष्ठी या सप्तमी = गवां, गोषु वा। (३) **गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः** (गमन करने वालों में दौड़ने वाला शीघ्र होता है)– यहाँ क्रियावाचक से पृथक्करण होने से समुदायवाचक 'गच्छत्' शब्द में षष्ठी-सप्तमी = गच्छताम्, गच्छत्सु। (४) **छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः** (छात्रों में मैत्र चतुर है)– यहाँ संज्ञा द्वारा पृथक्करण है। अतः समुदायवाचक 'छात्र' में षष्ठी-सप्तमी = छात्राणाम्, छात्रेषु।

(१३९०) **पद**– पञ्चमी, विभक्ते। **अनुवृत्ति**– यतश्च निर्धारणम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ– निर्धार्यमाण (अलग किये जाने वाले का जिससे भेद (विभाग) हो, तद्वाचक शब्द में पञ्चमी विभक्ति होती है। माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः।

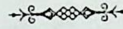
विमर्श– पूर्वसूत्र 'यतश्च निर्धारणम्' (१३८९) की अनुवृत्ति आ रही है। प्रकृत सूत्रगत 'विभक्ते' का अर्थ 'विभाग में' है। अर्थात् जिस निर्धारणाश्रय में सदा विभाग ही रहता है। इस प्रकार– ''विभिन्न दो वस्तुओं या समुदायों में निर्धार्यमाण का जिससे विभाग हो, तद्वाचक में पञ्चमी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– **माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः** (मथुरा-निवासी पटनावासियों से अधिक सम्पन्न हैं)– यहाँ निर्धारण में पञ्चमी–'पञ्चमी विभक्ते' = 'पाटलिपुत्रेभ्यः।

(१३९१) **पद**– साधुनिपुणाभ्याम्, अर्चायाम्, सप्तमी, अप्रतेः। **विधिसूत्र**।

मातरि साधुर्निपुणो वा। अर्चायां किम्? निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्। * अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् *। साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा। (१३९२) **अधिरीश्वरे १।४।९७** । स्वस्वामिभावसम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयः। (१३९३) **यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी २।३।९** । अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी। उप परार्धे हरेर्गुणाः, परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी। अधि भुवि रामः। अधि रामे भूः।

इति कारकप्रकरणम् ।



प्रयोगो न भवेत्'' इत्यर्थः। **अप्रत्यादिभिरिति**। 'प्रति परि अनु' एतैर्योगे साधुनिपुणाभ्यां योगेऽपि न सप्तमीति भावः।

(१३९२) **अधिरीश्वरे**। 'कर्मप्रवचनीयाः' इत्यस्याधिकारः। ईश्वरशब्दः स्वामिवाचकः। तदाह-**स्वस्वामिभावेति**।

(१३९३) **यस्मादिति**। यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र कर्मप्रवचनीययोगे सप्तमी विभक्तिर्भवतीत्यर्थः। **अधिभुवि रामः, अधि रामे भूः**- अत्र 'यस्मादधिकं चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' इत्यनेन ऐश्वर्ये स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी भवतीति।

इति कारकप्रकरणम् ।



मूलार्थ- साधु और निपुण शब्द के योग में पूजा (सत्कार) गम्य रहते यदि प्रति का प्रयोग न हो तो सप्तमी विभक्ति होती है। मातरि साधुर्निपुणो वा।

विमर्श- 'पूजा' (सम्मान) अर्थ की प्रतीति होने पर साधु और निपुण के योग में सप्तमी विभक्ति होती है, किन्तु 'प्रति' का प्रयोग न हो तो।

उदाहरण- मातरि साधुर्निपुणो वा (माता के प्रति साधु अथवा कुशल है)- सप्तमी- 'साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः'।

(वा०)- सूत्र में 'अप्रतेः' के स्थान पर 'अप्रत्यादिभिः' ऐसा कहना चाहिए। अर्थात् प्रति, परि, अनु आदि का प्रयोग रहने पर भी साधु या निपुण के योग में सप्तमी नहीं होती।

उदाहरण- साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा- यहाँ सप्तमी का निषेध-'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्'; द्वितीया = 'मातरम्'।

(१३९२) **पद**- अधिः, ईश्वरे। **अनुवृत्ति**- कर्मप्रवचनीयाः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ- स्वस्वामिभावसम्बन्ध में अधि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

विमर्श- 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है। 'ईश्वर' शब्द स्वस्वामिभावसम्बन्ध का वाचक है। तदनुसार- ''स्वस्वामिभावसम्बन्ध में 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है''।

(१३९३) **पद**- यस्मात्, अधिकम्, यस्य, च, ईश्वरवचनम्, तत्र, सप्तमी। **अनुवृत्ति**- कर्मप्रवचनीययुक्ते। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ- जिससे अधिक हो और जिससे ईश्वरवचन विवक्षित हो, तद्वाचक शब्द से कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है। उप परार्धे हरेर्गुणाः इत्यादि। ऐश्वर्य अर्थ में स्व-

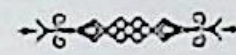
स्वामिभावसम्बन्धवाचक शब्दों में पर्याय से सप्तमी होती है। अधि भुवि रामः, अधि रामे भूः।

विमर्श– प्रकृत सूत्र में (१३३६) से 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार– ''अधिकार्थक कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्द के योग में तथा ईश्वर अर्थ में वर्तमान कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी होती है। ईश्वर अर्थ में जिसका ईश्वरवचन अर्थात् सामर्थ्य हो, उसमें सप्तमी विभक्ति होती है''।

उदाहरण– (१) **उप परार्धे हरेर्गुणाः** (हरि के गुण परार्द्ध से भी अधिक है)– यहाँ पर अधिकार्थ कर्मप्रवचनीय 'उप' के योग में सप्तमी–'यस्मादधिकम्०' = परार्द्धे। (यहाँ 'उपोऽधिके च' से अधिकार्थक 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।) (२) **अधि भुवि रामः, अधि रामे भूः–** यहाँ 'अधि' की 'अधिरीश्वरे' से कर्मप्रवचनीय संज्ञा है। ऐश्वर्य अर्थ में स्वस्वामिभावसम्बन्ध में पर्याय से सप्तमी–'यस्मादधिकम्०' = 'भुवि', 'रामे' (राम पृथ्वी के ईश्वर हैं)।

कारक-प्रकरण समाप्त।

इति डॉ० सुरेशचन्द्रशर्मकृतसुबोधिन्याख्यायां संस्कृत-हिन्दीव्याख्यायां कारकप्रकरणान्तस्तृतीयो भागः।



वार्तिक-सूची

सूत्र-सूची

——x——

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
१८५

श्रीवरदराजाचार्यविरचिता

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेता

(समासप्रकरणादारभ्य स्वरप्रकरणान्तश्चतुर्थो भागः)

व्याख्याकार
डॉ० सुरेशचन्द्र शर्मा
व्याकरणाचार्य, एम०ए०, पी-एच्०डी०



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० 37/117, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : 333371, 335263

प्रथम संस्करण 1999

मूल्य 125-00

अन्य प्राप्ति-स्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० 2113

दूरभाष : 3956391



प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० 1069, वाराणसी 221001

दूरभाष : 320404

अक्षर-संयोजक
जौहरी प्रॉसेस
वाराणसी

मुद्रक
महावीर प्रेस
वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
185

MADHYASIDDHĀNTAKAUMUDĪ

OF

ŚRĪ VARADARĀJĀCĀRYA

(Part 4 : Samāsa to Svara Prakaraṇa)

Edited with

'Subodhini' Sanskrit & Hindi Commentaries

By

Dr. Suresh Chandra Sharma

Vyakaranacharya, M.A., Ph.D.



CHAUKHAMBA SURBHARTI PRAKASHAN
VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publisher & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box. No. 1129
VARANASI 221 001
☎ : 333371, 335263

First Edition
1999

Also can be had of

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
☎ : 3956391

●

Sole Distributors

CHOWKHAMBA VIDHYABHAWAN
Chowk (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
☎ : 320404

निवेदनम्

विदितमेव तत्रभवतां श्रीमतां यत्संस्कृतवाङ्मयज्ञानाय व्याकरणमेव मुख्यं साधनम्। ऐन्द्रचान्द्रादिषु नैकेषु व्याकरणेषु सत्स्वपि सर्वत्राधुना पाणिनीयव्याकरणमेव प्रचलति। तच्च व्याकरणं लक्ष्यलक्षणात्मकम्। तत्र शब्दो हि लक्ष्यः, सूत्रन्तु लक्षणम्। अनयोः सम्यग्ज्ञानार्थं पाणिनीयाष्टाध्याय्या अध्ययनं परमावश्यकम्। अतः 'अष्टाध्यायी'ति ग्रन्थस्य गूढाभिप्रायमवगन्तुं काशिकादिवृत्तिग्रन्थानां पठनपाठनयोः परम्परा पुरा प्रचलिता। परिवर्तनशीलेऽस्मिन्युगे-ऽध्ययनाध्यापनविधावपि परिवर्तनं नास्वाभाविकम्। अत एव सरलरीत्या व्याकरणशास्त्रज्ञानाय अष्टाध्यायीस्थक्रमकाठिन्यनिवारणाय च प्रक्रियाक्रमस्यारम्भो जातः। धर्मकीर्तिकृतरूपावतारादुद्गतेयं प्रक्रियापरम्परया रूपमालया प्रक्रियाकौमुद्या च पल्लविता, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्या च पुष्पिता तत्रैव पर्यवसिताऽपि। श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविदुषा विरचिता सिद्धान्तकौमुदी प्रौढा पाण्डित्यपरिपूर्णा वर्तत इति जानन्त्येव विद्वांसः। अतः सुकुमारमतीनां बालानां प्रवेशोऽत्र दुष्कर इति विचार्य तच्छिष्येण पण्डितप्रवरेण वरदराजाचार्येण प्राथमिकाध्येतृणां बालानामनायासेन बुद्धिप्रवेशलाभाय लघुसिद्धान्तकौमुदी, लब्धकिञ्चित्प्रवेशानां माध्यमिकानाञ्च बालानां व्याकरणशास्त्रबोधसम्पत्तये मध्यसिद्धान्तकौमुदी विरचिता।

सेयं मध्यसिद्धान्तकौमुदी स्वल्पेन कालेन बहुबोधाधायनीति विदन्त्येव वैयाकरणाः। ग्रन्थस्यास्य परमोपादेयतामभिलक्ष्य कैश्चिद्विश्वविद्यालयैः विभिन्नासु कक्षासु विनिर्धारितोऽयं ग्रन्थः। यद्यप्यद्यत्वे मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतानि नैकानि संस्करणानि प्रकाशितानि सन्ति। परं 'विद्यार्थिजनोपयोगि सरलटीकोपेतं किञ्चित्संस्करणं नैव समुपलभ्यते' इत्यभावमनुभवता चौखम्बा-सुरभारतीप्रकाशनाध्यक्षस्याग्रहवशंवदेन छात्रहितैषिणा मया 'सुबोधिनी'ति संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेताया मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः त्रयो भागाः प्रकाशिताः। तेषां लोकप्रियतामवेक्ष्य सम्प्रति चतुर्थो भागः प्रकाश्यते। आशासे यदनेनापि छात्राणां नूनमेवोपकारो भविष्यति।

कार्येऽस्मिन् व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताद्यनेकशास्त्रमर्मविदुषां व्याकरणविभागाध्यक्षचराणां पूज्यगुरुवर्याणां श्रीमतां केशवदेवतिवारीमहाभागानां हार्दिकीमधमर्णतामावहामि, तेषां चरणयोः विनतभावेन प्रणामाञ्जलिं च समर्पयामि, यैरत्यन्तवात्सल्यभावेन पदे-पदे काठिन्यं निरस्यास्माकं साहाय्यं कृतम्। अस्या व्याख्याया लेखनादिकार्ये ममानुजेन डॉ० महेशचन्द्रशर्मणा यत्साहाय्यं विहितं तदर्थं तमपि शुभाशीर्वचनैः सभाजयामि। अत्र कियत्साफल्यमधिगतं मयेत्यत्र तु विद्वांसः प्रेक्षका एव प्रमाणम्। प्रमादेनात्र काश्चन त्रुटयस्स्युस्ताः संशोध्य विद्वद्भिः संसूचनीयोऽप्ययं जन इति शम्।

विदुषामाश्रवः

सुरेशचन्द्र शर्मा

भूमिका

संस्कृत भाषा भारत की ही नहीं, अपितु विश्व की प्राचीनतम भाषा है । सभ्यता के उषःकाल में इस भाषा का उदय हुआ और सर्वप्रथम भारत को ही इस उदय के दर्शन का श्रेय प्राप्त हुआ । 'वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं' यह सभी विद्वानों और ऐतिह्यविदों ने स्वीकार किया है ।

किसी भी भाषा की सुरक्षा और उसका मौलिक ज्ञान उसके व्याकरण में निहित होता है । बिना व्याकरण के भाषा प्रायः विशृंखल और अपूर्ण रहती है । संस्कृत-वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का विशिष्ट स्थान है । 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्' । अर्थात् जिससे साधु शब्दों का ज्ञान होता है, उसे '**व्याकरण**' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । महाभाष्यकार ने इसी को '**शब्दानुशासन**'[१] भी कहा है । शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष-इन षडङ्गों में 'व्याकरण' वेद का मुख रूप से प्रधान अङ्ग माना जाता है । जैसा कि पाणिनीयशिक्षा में कहा गया है-

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ॥'[२]

भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है-'**प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम् ।**'[३]

व्याकरण-वाङ्मय में ऐन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है । शब्दोपदेश के लिए प्रकृति-प्रत्यय विभाग की कल्पना सर्वप्रथम सुरगुरु बृहस्पति के शिष्य इन्द्र ने की थी । देवराज इन्द्र से लेकर महर्षि पाणिनि पर्यन्त[४] अनेक आचार्यों ने व्याकरणशास्त्र का निर्माण किया था, परन्तु आज पाणिनीय व्याकरण ही सर्वाङ्ग परिपूर्ण उपलब्ध होता है । यद्यपि यह संस्कृत के प्राचीन आर्ष व्याकरणों में सबसे अन्तिम और संक्षिप्ततम है; तथापि लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के संस्कृत-वाङ्मय को आलोकित करने वाला एक महान् प्रकाशस्तम्भ है । विश्व की किसी भी भाषा का व्याकरण इतना सरल और परिष्कृत नहीं बन सका है । संसार के सभी विद्वानों ने इसकी वैज्ञानिकता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है । पाणिनीय व्याकरण का मूल ग्रन्थ भगवान् पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है । इसमें ३९९५ सूत्र हैं[५] । इस अष्टाध्यायी के माध्यम से उन्होंने संस्कृत भाषा के परिष्कृत रूप को स्थायित्व प्रदान किया । कालान्तर में महर्षि कात्यायन ने 'अष्टाध्यायी' की समीक्षा करते हुए

---

१. 'अनुशिष्यन्ते अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधुशब्दा अनेनेत्यनुशासनम्, शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासनं सूत्रवार्तिकभाष्यव्याख्यानादिरूपं शास्त्रम् ।'

२. पाणिनीय-शिक्षा (४१-४२) ।

३. महाभाष्यम् (पस्पशाह्निकम्) ।

४. बोपदेव ने इन्द्र आदि आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया है—
'इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥' (कविकल्पद्रुमः)

५. 'चतुःसहस्रो सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता ।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह ॥' (**स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका, श्लोक १५**)

उसके पूरक के रूप में वार्तिक ग्रन्थ की रचना की । सूत्र तथा वार्तिकों के पारस्परिक समन्वय को समझाने के लिए शेषावतार भगवान् पतञ्जलि ने विशद विवरणात्मक ग्रन्थ 'महाभाष्यम्' की रचना की । उन्होंने पूर्ववर्ती दोनों आचार्चों की रचनाओं में सत्यान्वेषण किया और सिद्धान्ततः निष्कर्ष प्रस्तुत किया, जिससे विद्वानों ने उनके सिद्धान्तों को विशेष मान्यता प्रदान की–'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् ।' इस प्रकार सूत्रकार 'पाणिनि', वार्तिककार 'कात्यायन' और भाष्यकार 'पतञ्जलि' ये तीनों आचार्य व्याकरण के 'त्रिमुनि' कहलाते हैं ।

पाणिनि

महर्षि पाणिनि के जन्मस्थान, जन्मकाल आदि के विषय में इतिहासकार एकमत नहीं हैं । **'त्रिकाण्डशेष' कोष में पाणिनि के छह नामों का उल्लेख मिलता है । पाणिन, आहिक, दाक्षीपुत्र,** शालङ्कि, पाणिनि और शालातुरीय । इन नामों द्वारा इनके गोत्र, माता-पिता तथा देश का निर्णय किया जा सकता है । इनमें पाणिन और पाणिनि दोनों नाम गोत्र-व्यपदेशज हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि 'आहिक' इनका मूल नाम है । इनकी माता का नाम दाक्षी था, अतः इनका एक नाम दाक्षीपुत्र भी है । महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है–'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।' कुछ गवेषकों के अनुसार इनके पिता का नाम शलङ्क था। अतः इनको 'शालङ्कि' कहा गया । 'शालातुरीय' नाम इनके जन्मप्रदेश को स्पष्ट करता है । 'गणरत्नमहोदधि' नामक ग्रन्थ में 'शालातुरीय' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है–**'शलातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः ।'** इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि का जन्मस्थान 'शलातुर' नामक ग्राम ही है, जो वर्तमान में 'लाहौर' नाम से प्रसिद्ध है और पाकिस्तान का विशाल नगर है । इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सम्भवतः तक्षशिला में हुई थी, पश्चात् अपने ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए यह अन्यत्र चले गये । इनके गुरु का नाम उपवर्षाचार्य था, जो नालन्दा विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते थे । इन्होंने अपने अध्ययन काल में ही कठिन तपस्या करके आशुतोष भगवान् शङ्कर को प्रसन्न किया और उनके उपदेश से 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरणशास्त्र की रचना की । महर्षि पाणिनि की वन्दना में आचार्यों ने कहा भी है–

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥'

महर्षि पाणिनि के काल के सम्बन्ध में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं । अष्टाध्यायी के 'कुमारः श्रमणादिभिः' (२।१।७०) सूत्र में 'श्रमण' पद प्रयुक्त हुआ है । इससे आलोचक पाणिनि को बुद्धकालीन अथवा तत्पश्चात्कालीन सिद्ध करते हैं । इसी प्रकार कुछ विद्वान् 'इन्द्रवरुण०' (४।१।४९) सूत्र में 'यवन' पद को देखकर इन्हें 'सिकन्दर' के समकालीन स्वीकार करते हैं । परन्तु यह नितान्त भ्रमपूर्ण है । क्योंकि वैदिक ब्राह्मणग्रन्थों में भी श्रमण पद का उल्लेख मिलता है[१] । इसी प्रकार सिकन्दर के भारतागमन से भारतीय लोग यवनों से परिचित हुए, यह भी भ्रम ही है, क्योंकि महाभारत में यवन-सैनिकों के द्वारा युद्ध करने का प्रसङ्ग है ।

१. 'अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः ।' (शतपथब्राह्मण)

पं० युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि पाणिनि विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व हुए हैं। किन्तु भाण्डारकर और गोल्डस्टुकर ने पाणिनि का समय ५०० ई० पू० से पहले निश्चित किया है। इसी प्रकार भारतीय और पाश्चात्य मतों पर सम्यग् विचार करने के उपरान्त डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि का समय ५०० ई० पू० निश्चित किया है।[१]

कात्यायन

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर आवश्यकतानुसार अनेक आचार्यों ने वार्तिकग्रन्थ लिखे थे। उनमें महामुनि कात्यायन का स्थान प्रमुख है। पाणिनीय व्याकरण को सम्पूर्ण एवं समृद्ध बनाने के लिए कात्यायन का विशेष महत्त्व है। पाणिनि और कात्यायन समकालीन और सतीर्थ्य थे। इनका कात्यायन नाम गोत्रज है। आपका मूल नाम 'वररुचि' था। महाभाष्य के प्रथमाह्निक में 'यथा लैकिकवैदिकेषु' इस वार्तिक पर 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या:, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते।' इस पतञ्जलिवचन से विदित होता है कि ये दाक्षिणात्य थे। ये केवल वार्तिककार ही नहीं अपितु महाकवि भी थे। इनके 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों में है। यथा–

'य: स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचि: कवि: ॥'

महाभाष्यकार पतञ्जलि

इस समय पाणिनीय व्याकरण पर पतञ्जलि-विरचित एक ही भाष्य-ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यह विशालकाय होने से महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। भाष्य का तात्पर्य निम्नाङ्कित है–

'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदै: सूत्रानुसारिभि:।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु: ॥'

महामुनि पतञ्जलि एवं उनके महाभाष्य की सभी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उनका महाभाष्य न केवल व्याकरणशास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ है, अपितु अनेक विषयों का आकर ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि अत्यन्त सरल है, तथापि कहीं-कहीं भाव-गाम्भीर्य अत्यधिक है।

भगवान् पतञ्जलि ने मनोवाक्कायदोषनिरसनार्थ 'योगसूत्र', 'महाभाष्य' और 'चरकसंहिता' इन तीन विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की, जैसा कि किसी विद्वान् ने भगवान् पतञ्जलि की स्तुति करते हुए कहा है–

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥'

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने परिचय के विषय में कुछ नहीं लिखा है, किन्तु 'महाभाष्य'

---

१. द्रष्टव्य–श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल : 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'। (पृ० ४७०-४८०)

में कुछ स्थलों पर 'गोर्नदीयस्त्वाह' तथा 'गोणिकापुत्रः' का उल्लेख मिलता है । इससे ज्ञात होता है कि यह गोर्नद प्रदेश के निवासी थे । यह गोर्नद प्रदेश कहाँ है? इस पर आधुनिक विद्वान् गोण्डा जनपद को ही गोर्नद मानते हैं । इनके महाभाष्य में 'पुष्यमित्रो जयते, इह पुष्यमित्रं याजयामः' इत्यादि प्रयोग मिलते हैं । इससे प्रतीत होता है कि ये राजा पुष्यमित्र के समकालिक थे । पुष्यमित्र का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी निश्चित किया गया है । भारतीय पौराणिक गणना के आधार पर पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने पतञ्जलि का समय विक्रम से १२०० वर्ष पूर्व निश्चित किया है ।

पाणिनीय व्याकरण के ये तीनों आचार्य 'त्रिमुनि' के नाम से प्रसिद्ध हैं । आशुतोष भगवान् शंकर के डमरू से पाणिनि के चतुर्दश सूत्र प्राप्त हुए और उन्हीं सूत्रों के आधार पर उन्होंने अष्टाध्यायी की रचना की । उनकी पूर्ति के लिए कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की और भगवान् शेषावतार पतञ्जलि ने जिज्ञासु विद्यार्थियों और मनीषियों के हितार्थ 'महाभाष्य' का प्रवचन किया । ये तीनों व्याकरणशास्त्र के प्रवर्तक हैं ।

अष्टाध्यायी के टीकाकार

पाणिनीय व्याकरण के मूल ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' पर अनेक वृत्तिग्रन्थ लिखे गये । वृत्तिकारों में श्वोभूति, व्याडि, कुणि, माथुर, वररुचि आदि प्रमुख हैं । परन्तु इस समय उपलब्ध वृत्तिग्रन्थों में वामन और जयादित्य द्वारा विरचित 'काशिकावृत्ति' अत्यन्त सराहनीय है । इसका निर्माणकाल विद्वानों ने वि० सं० ६५०-७०० के मध्य स्वीकार किया है ।

इस प्रकार अध्येता को सर्वप्रथम सम्पूर्ण 'अष्टाध्यायी' कण्ठस्थ करके प्रयोग के लिए 'काशिका' का अध्ययन करना होता था । अनन्तर विशेषज्ञानार्थ महाभाष्य पढ़कर ही विशिष्ट पाण्डित्य प्राप्त होता था ।

प्रक्रिया-क्रम

प्रौढ़ एवं विशेष परिश्रम न करने वाले विद्यार्थियों को उक्त प्रणाली में कष्ट और गौरव का अनुभव होने लगा था । अतः सरल रीति से व्याकरणशास्त्र के ज्ञान के लिए तथा अष्टाध्यायी-क्रमस्थ कठिनाई को दूर करने के लिए सर्वप्रथम बौद्धमतावलम्बी धर्मकीर्ति ने वि० सं० १३०० में 'रूपावतार' नामक प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना थी । पश्चात् विमल सरस्वती ने 'रूपमाला' और पं० रामचन्द्राचार्य ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की । किन्तु इन प्रक्रिया-ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था । इस न्यूनता की पूर्ति के लिए म० म० श्रीभट्टोजि दीक्षित ने वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी की रचना की । विद्वानों ने भट्टोजि दीक्षित का समय वि० सं० १५०० से १५७५ के मध्य स्वीकार किया है । उक्त ग्रन्थ अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातुपाठ से सर्वाङ्गपरिपूर्ण है । यह ग्रन्थ इतना उपयोगी सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन इसी के द्वारा होने लगा । 'सिद्धान्तकौमुदी' पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें दीक्षितजी की प्रौढमनोरमा, ज्ञानेन्द्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनी, वासुदेव दीक्षित की बालमनोरमा तथा नागेश का लघुशब्देन्दुशेखर प्रसिद्ध है ।

आचार्य वरदराज

आचार्य वरदराज दाक्षिणात्य पण्डित थे । इनके पिता दुर्गातनय और गुरु भट्टोजिदीक्षित थे । अपने अध्ययन के पश्चात् इन्होंने पाणिनि-व्याकरण में प्रवेशार्थी सुकुमार मति वाले बालकों के लिए 'सिद्धान्तकौमुदी' का पथप्रदर्शक 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की । वरदराज का यह लघु प्रयास प्रारम्भिक छात्रों के लिए परमोपयोगी है ।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

इस प्रकार 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' द्वारा साधारण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिए वरदराज ने द्वितीय सोपान रूप 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' का प्रणयन किया । मध्यसिद्धान्तकौमुदी के अन्त में श्रीवरदराज ने कहा है—

'कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी ।
तस्याः सङ्ख्या तु विज्ञेया खबाणकरवह्निभिः ॥'

यह किंवदन्ती है कि आचार्य वरदराज की इस कृति को देखकर गुरुवर भट्टोजिदीक्षित को सन्देह हो गया था कि मध्यकौमुदी को पढ़ने के पश्चात् मेरी 'सिद्धान्तकौमुदी' को कौन पढ़ेगा? क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी का सार-सर्वस्व मध्यसिद्धान्तकौमुदी है ।

इस ग्रन्थ में सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा संक्षेप के अतिरिक्त प्रकरण-क्रम में भी भिन्नता है । वाक्य में सर्वप्रथम अर्थज्ञान के लिए पदच्छेद अपेक्षित होता है । अतः पूर्व में सन्धि-प्रकरण को रखा गया है । अनन्तर सुबन्त पदों के ज्ञान के लिए षड्लिङ्ग-प्रकरण और अव्यय-प्रकरण का संघटन किया गया है । इसके बाद स्त्रीप्रत्यय की अपेक्षा तिङन्त पदों के ज्ञान के लिए तिङन्तप्रकरण का विन्यास सर्वथा उचित है । क्योंकि स्त्रीप्रत्यय कृत्-तद्धित-समास के बाद ही अपेक्षित है । अतः अन्त में 'स्त्री-प्रत्यय' का होना ही उचित है । इसी प्रकार कारक का भी समास से पूर्व होना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है । क्योंकि विभक्त्यर्थ-ज्ञान पर ही समास-प्रक्रिया आधारित है ।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी की एक अत्यन्त प्राचीन टीका 'मध्यमनोरमा' है; ऐसा कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है । परन्तु इसका मुद्रित संस्करण अद्यावधि अप्राप्य है ।

आजकल मध्यसिद्धान्तकौमुदी के संस्कृत-हिन्दी टीकाओं सहित अनेक संस्करण उपलब्ध हैं । उनमें पं० सदाशिव शास्त्री की 'सुधा' संस्कृत व्याख्या तथा पं० रामचन्द्र झा द्वारा रचित 'इन्दुमती' हिन्दी टीका का प्रमुख स्थान रहा है ।

प्रमुख संस्करण में 'सुबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या का संक्षेप में वर्ण्यविषय इस प्रकार है—संस्कृत में जिज्ञासु छात्रों को सूत्रार्थ समझाना ही उद्देश्य रहा है । हिन्दी में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, अनुवृत्ति तथा सूत्रभेद प्रदर्शित कर विद्यार्थियों को सूत्रार्थ समझने की ओर स्वतः उन्मुख होने की प्रणाली बतलायी गई है । अनन्तर ग्रन्थ की 'वृत्ति' के अनुसार सूत्रार्थ किया गया है । 'विमर्श' में अनुवृत्त सूत्रों का उल्लेख करते हुए सूत्रस्थ पदों के साथ उनका सम्बन्ध प्रदर्शित कर सूत्रार्थ स्पष्ट किया गया है । प्रक्रियानुसार क्रम से उदाहरणों की सिद्धि की गई है और प्रत्युदाहरणों

के द्वारा सूत्रस्थ पदों की सार्थकता दिखलायी गई है । प्रसङ्गवश कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण भी किया गया है । नवीन प्रकरणों के आरम्भ में पूर्वापर सङ्गति उपक्रम के रूप में की गई है । इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है ।

प्रस्तुत संस्करण की व्याख्या के विषय में गुण-दोषों का विवेचन सुधी पाठकजन ही करेंगे । मेरे प्रमाद एवं अज्ञानवश कुछ त्रुटियाँ हुई होंगी । अत: नीर-क्षीर-विवेकी विद्वानों से निवेदन है कि वे उन्हें सुधार कर सूचित करने का कष्ट करें । आशा एवं विश्वास है कि 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' के इस संस्करण से छात्रगण अवश्य ही लाभ उठायेंगे ।

विदुषां वशंवदः
सुरेशचन्द्र शर्मा

प्रकरण-सूची

॥ श्रीः ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता



अथ समासप्रकरणम्

तत्र केवलसमासः

समासः पञ्चधा। तत्र समसनं समासः। स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः। प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः। प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधान-

---

कारकप्रकरणे विभक्त्यर्थं निरूप्येदानीं तदाश्रितसमासान्निरूपयिष्यन् समासप्रकरण-मुपक्रमते — **समासः पञ्चधेति। तत्रेति।** पञ्चविधेषु समासेष्वित्यर्थः। समसनम् = अनेक-पदानामेकीभवनम्। तच्च पृथगर्थपदानामेकार्थोपस्थितिजनकत्वरूपमित्यर्थः।

प्रकृत समास-प्रकरण के पूर्व तदुपयोगी सुबन्त, तिङन्त तथा कृदन्त पदों की सिद्धि एवं विभक्तियों (सुप् प्रत्ययों) के अर्थ-विशेष का प्रतिपादन किया जा चुका है। अब एक से अधिक शब्दों के समूहात्मक स्वरूप (समस्त पद) का निर्वचन प्रदर्शित करने के लिए कारक-प्रकरण के अनन्तर समास-प्रकरण का निरूपण किया जा रहा है —

मूलार्थ—समास पाँच प्रकार के होते हैं — १. केवलसमास, २. अव्ययीभावसमास, ३. तत्पुरुषसमास, ४. बहुव्रीहिसमास और ५. द्वन्द्वसमास।

दो या दो से अधिक पदों के एकपदीकरण को समास कहते हैं। (१) विशेष संज्ञा से रहित को 'केवलसमास' कहते हैं। (२) प्रायः पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव होता है। (३) प्रायः उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष होता है। तत्पुरुष का भेद कर्मधारय है और कर्मधारय का भेद द्विगु है। (४) अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि होता है। (५) प्रायः उभयपदार्थप्रधान द्वन्द्व होता है।

विमर्श—सम् ✓अस् + घञ् से निष्पन्न 'समासः' का शाब्दिक अर्थ है — 'एक साथ रहना'। इस प्रकार अनेक पदों के एकपदीभाव को समास कहते हैं। समास में दो या अधिक पदों के मध्य में स्थित विभक्तियों का लोप हो जाता है तथा प्रयुक्त सभी पद मिलकर एक पद (समस्त) रूप में परिणत हो जाते हैं। प्रमुख रूप से समास के पाँच भेद हैं —

(१) **केवलसमास**—अव्ययीभाव आदि विशेष संज्ञा से रहित 'केवलसमास' कहलाता है। यथा — पूर्वं भूतः भूतपूर्वः। (२) **अव्ययीभाव**—अनव्ययम् अव्ययः सम्पद्यते इति अव्ययीभावः। जो शब्द समास होने के पूर्व अव्यय न हो, किन्तु समास होने के बाद अव्यय हो जाय वह अव्ययीभाव समास है। इस समास में पूर्वपद प्रधान होता है। यथा — उपकृष्णम् (कृष्णस्य समीपे)। यहाँ 'कृष्ण' शब्द अव्यय नहीं है; किन्तु अव्यय 'उप' के साथ समास होने से 'उप' की तरह

स्तत्पुरुषस्तृतीयः। तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगुः। प्रायेणान्यपदार्थ-प्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः। प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः। (१३९४) समर्थः पदविधिः २।१।१। पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः। (१३९५)

(१३९४) **समर्थ इति**। द्विविधं सामर्थ्यम् — व्यपेक्षारूपमेकार्थीभावरूपञ्च। तत्र पदानाम् आकाङ्क्षादिवशात् परस्परसम्बन्धो व्यपेक्षा। तद्रूपं सामर्थ्यं 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादिवाक्य एव भवति। अपृथगुपस्थितिविषयत्वमेकार्थीभावत्वम्। तच्च 'राजपुरुषः' इत्यादिवृत्तावेव भवतीति बोध्यम्।

समस्त पद में अव्यय हो जाता है। अव्ययीभाव में अव्यय के समान कोई विभक्ति नहीं आती। 'उप' शब्दार्थ — 'समीप' की प्रधानता है, जो पूर्व में स्थित है। (३) **तत्पुरुष**—तत्पुरुष समास में उत्तरपदार्थ की प्रधानता रहती है। उदाहरणार्थ — राजपुरुषः (राज्ञः पुरुषः) शब्द में पुरुष की प्रधानता है। अर्थ — राज का पुरुष। विशेषण-विशेष्यवाची पदों के समास को कर्मधारय तत्पुरुष कहते हैं। यथा — नीलोत्पलम् (नीलं च तत् उत्पलम् = नीला कमल)। कर्मधारय के विग्रहवाक्य में दोनों पदों में एक ही विभक्ति होती है। कर्मधारय का भेद द्विगु भी है। विशेषणवाचक पद संख्यावाचक हो तो द्विगु समास होता है। यथा — पञ्चगवम्। (४) **बहुव्रीहि**—यह भी विशेषण-विशेष्य का समास है। इसमें अन्यपदार्थ प्रधान होता है। अर्थात् विशेषण-विशेष्यवाची पद गौण होकर किसी दूसरे का बोध कराते हैं। यथा — पीताम्बरः (पीतम् अम्बरं यस्य सः) में पीतवस्त्रधारी का बोध होता है। (५) **द्वन्द्व**—द्वन्द्व समास में दो या दो से अधिक पदों का समावेश होता है तथा उनकी भिन्नता विग्रहवाक्य में 'च' से सूचित की जाती है। इसके सभी पद प्रधान होते हैं।

यथा — रामलक्ष्मणौ (रामश्च लक्ष्मणश्च) = राम और लक्ष्मण।[१]

(१३९४) **पद**—समर्थः, पदविधिः। **परिभाषासूत्र**।

मूलार्थ—पदसम्बन्धी विधि को समर्थाश्रित (समर्थ पदों के आश्रित) जानना चाहिए।

विमर्श—अनेक पदों का नियमानुसार समावेश होकर एक होना समास है। अर्थात् समर्थ शब्दों का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध होने पर समुदायरूप में निष्पन्न पद 'समास' कहा जाता है। अतः महर्षि पाणिनि ने समर्थ को ही पदविधि माना है। पदविधि के अन्तर्गत कृदन्त, तद्धित, धातु, समास और एकशेष का समावेश होता है। इन पाँचों को वृत्ति कहा गया है। ये वृत्तियाँ एकार्थीभावरूप सामर्थ्य के रहने पर ही सार्थक होती हैं। सामर्थ्य दो प्रकार का होता है — (१) एकार्थीभाव तथा (२) व्यपेक्षाभावरूप[२]। जहाँ प्रधान अर्थ के लिए पद/पदों का अर्थ गौण हो जाय या पद अपना

---

१. निम्नलिखित श्लोक में समासों का नाम निर्देशित करते हुए धान्यसम्पन्न होने की कामना की गयी है —

"द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाऽहं स्यां बहुव्रीहिः॥"

हे पुरुष! हम दो प्राणी हैं (द्वन्द्व) तथा दो गाय-बछड़े वाले हैं (द्विगु)। मेरे घर में (गरीबी के कारण) नित्य व्यय का अभाव रहता है (अव्ययीभाव)। मुझसे बहुत कार्य कराइए (कर्मधारय), जिससे मैं बहुत धान्य-सम्पन्न (बहुव्रीहि) हो जाऊँ।

२. "प्रक्रियादशायां प्रत्येकमर्थवत्त्वेन पृथग् गृहीतानां पदानां समुदायशक्त्या विशिष्टैकार्थप्रतिपादकतारूपः एकार्थीभावः। स्वार्थपर्यवसायिनां पदानामाकाङ्क्षादिवशात् यः परस्परान्वयः स व्यपेक्षा।"

प्राक्कडारात् समासः २।१।३। 'कडाराः कर्मधारये'त्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते। **(१३९६) सह सुपा २।१।४।** सुप् सुपा सह वा समस्यते। समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे सुपो लुक्। पराथाभिधानं वृत्तिः। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातु-

(१३९५) **प्राक्कडारादिति।** 'आकडारादि'त्येव प्रागिति सिद्धे एकसंज्ञाधिकारेऽपि अव्ययीभावादिसंज्ञासमुच्चयार्थं प्राग्ग्रहणमिति भाष्ये स्पष्टम्।

(१३९६) **सह सुपेति।** 'सुबामन्त्रिते' इत्यतः सुबित्यनुवर्तते। सुबन्तं सुबन्तेन सहोच्चरितं समाससंज्ञं भवतीति फलितार्थः। **लौकिक इति।** प्रयोगयोग्यो लौकिकस्तद्भिन्नोऽलौकिकः।

अर्थ त्याग दें या किसी अन्य अर्थ को प्रकट करें वहाँ एकार्थीभाव होता है। इस प्रकार एकार्थीभाव में सभी पदार्थ एक हो जाते हैं। उदाहरणार्थ "राज्ञः पुरुषः" में 'राज्ञः' पद राजा अर्थ को व्यक्त करता है तथा 'पुरुषः' पद पुरुष शब्दार्थ को प्रकट करता है; किन्तु समासवृत्ति में एकार्थक पद हो जाने से 'राजपुरुषः' में राजन् पद भी पुरुष के विशेष प्रकार को बताता है। इस प्रकार दोनों का एकार्थीभाव होता है। सामान्यतया एकार्थीभाव में अवयवार्थ से युक्त समुदायार्थ की उपस्थिति भिन्न रूप में होती है। अतः वैयाकरणों ने समास में पृथक् शक्ति स्वीकार की है।[1]

व्यपेक्षाभावरूप सामर्थ्य में यह स्वीकार किया जाता है कि वाक्य में शब्द अपने-अपने अर्थों का प्रतिपादन करते हुए आकाङ्क्षा, योग्यता, तात्पर्य एवम् आसत्ति से परस्पर सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार का सामर्थ्य 'राज्ञः पुरुषः' आदि वाक्यों में होता है।

(१३९५) **पद**—प्राक्, कडारात्, समासः। **अधिकारसूत्र।**

मूलार्थ—"कडाराः कर्मधारये" (२।२।३८) सूत्र से पहले समास का अधिकार है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'समासः' पद समाससंज्ञा का बोधक है। 'अष्टाध्यायी' में समासविधायक शास्त्र की अवधि के विषय में निर्देश किया जा रहा है। तदनुसार 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र से पूर्व समास संज्ञा का अधिकार है। अतः 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' (२।२।३७) तक 'समासः' की अनुवृत्ति जाती है।

(१३९६) **पद**—सह, सुपा। **अनुवृत्ति**—समासः, सुप्। **विधि/अधिकारसूत्र।**

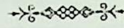
मूलार्थ—सुबन्त का सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। समास होने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुप् का लुक् होता है। परार्थ की अभिव्यक्ति वृत्ति से होती है। कृत्, तद्धित, समास, एकशेष और सनाद्यन्त धातुरूप पाँच वृत्तियाँ हैं। वृत्ति के अर्थ को प्रकट करने वाले 'वाक्य' को विग्रह कहा जाता है। वह लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। भूतपूर्वः इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में अधिकार (१३९५) होने से 'समासः' तथा 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' (२।१।२) से 'सुप्' की अनुवृत्ति आती है। तदन्तविधि होकर इस सूत्र का अर्थ होता है – "सुबन्त पदों के साथ समर्थ सुबन्त पदों का समास होता है।" परन्तु वेद में सुबन्त के साथ तिङन्त का भी समास (पर्यभूषयत्) दिखाई देने से सिद्धान्तकौमदीकार ने सूत्रस्थ सह का योगविभाग कर सुप् की अनुवृत्ति लाकर यह अर्थ किया है कि – "सुबन्त पदों का समर्थ पदों के साथ समास होता

१. "समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत्॥
बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने।
स्यान्महद्गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आश्रितः"॥
(वैयाकरणभूषणसारः-समासशक्तिनिर्णयः, का० ३१-३२)

रूपाः पञ्चवृत्तयः । वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः । स च लौकिकोऽलौकिकश्च द्विधा । तत्र पूर्वं भूत इति लौकिकः, पूर्व अम् भूत सु इत्यलौकिकः । भूतपूर्वः । भूतपूर्वे चरडिति निर्देशात्पूर्वनिपातः । * इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च * । वागर्थौ इव वागर्थाविव ।

इति केवलसमासः ।



भूतपूर्वः – 'पूर्व अम् भूत सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'सह सुपा' इति समासे समासत्वात् 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यनेन सुपो लुकि 'पूर्वभूत' इति जाते 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्युभयोरप्युपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वमि'ति विनिगमकाविरहादुभयोरपि पूर्वनिपाते प्राप्ते 'भूतपूर्वे चरडि'ति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपाते एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वात्प्रथमैकवचने सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'भूतपूर्वः' इति सिद्धम् ।

है ।'' तिङन्त भी समर्थ होते हैं, अतः सुबन्त और तिङन्त का भी समास हो जाता है । फलतः परि + अभूषयत् = पर्यभूषयत् इत्यादि समस्त पद निष्पन्न होते हैं । द्वितीय अंश सुपा के पूर्व में सुप् की अनुवृत्ति लाने पर ''सुबन्त का समर्थ सुबन्तों के साथ समास होता है ।''

समास होने के फलस्वरूप 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१३४) से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है । तदनन्तर विग्रहावस्था में पदों की सुप् विभक्तियों का 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७१) से लुक् होता है । परार्थ (विशिष्टार्थ) की अभिव्यक्ति वृत्ति द्वारा होती है । कृदन्त, तद्धितान्त, समास, एकशेष और सनाद्यन्तधातुरूप ५ वृत्तियाँ एकार्थीभाव प्रसङ्ग में स्वीकार की गयी हैं । वृत्ति के अर्थ को स्पष्ट करने वाला वाक्य 'विग्रह' कहा जाता है । विग्रह दो प्रकार का होता है – १. लौकिक, २. अलौकिक । समस्त पद का अर्थ स्पष्ट करने वाला वाक्य लौकिक विग्रह होता है तथा शास्त्रीय प्रक्रिया सम्पन्न करने वाले सुप् प्रत्ययों से युक्त पद अलौकिक विग्रह के अन्तर्गत आते हैं । उदाहरणार्थ – 'भूतपूर्वः' में 'पूर्वं भूतः' लौकिक विग्रह है । 'पूर्व अम् भूत सु' – अलौकिक ।

उदाहरण—पूर्व अम्, भूत सु ('समास' – 'सह सुपा', दोनों सुबन्त पदों की विभक्तियों = अम्, सु का लुक् – 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः') – पूर्वभूत (उपसर्जनसंज्ञा – 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्', 'उपसर्जनं पूर्वम्' से प्रथमानिर्दिष्ट दोनों पदों के पूर्वप्रयोग की प्राप्ति होने पर 'भूतपूर्वे चरट्' सूत्र के प्रमाण से 'भूत' शब्द का पूर्वप्रयोग, प्रातिपदिक संज्ञा – 'कृत्तद्धितसमासाश्च', **सुविभक्ति**, स् = र् = :) = भूतपूर्वः ।

वा.—इव शब्द के साथ (समर्थ सुबन्त का) समास होता है; किन्तु विभक्ति का लोप नहीं होता ।

उदाहरण—वागर्थाविव । **लौकिक विग्रह**—वागर्थौ इव; **अलौकिक**—वागर्थ औ इव (समास होने पर विभक्तिलुक् नहीं हुआ – 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च', 'औ' = 'अव्' आंदेश) = वागर्थाविव (शब्द और अर्थ के समान) ।

केवलसमास प्रकरण समाप्त ।



अथ अव्ययीभावप्रकरणम्

(१३९७) अव्ययीभावः २।१।५। अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात्। **(१३९८) अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु २।१।६।** विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन नित्यं समस्यते। प्रायेणाविग्रहो नित्यसमासः। प्रायेणास्वपदविग्रहो वा। विभक्तौ हरि ङि अधि इति स्थिते **(१३९९) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३।** समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनं स्यात्। (१४००)

न अव्ययम् अनव्ययम्, अनव्ययस्य अव्ययीभवनम् अव्ययीभावः।

(१३९७) **अव्ययीभावः। अधिकारोऽयमिति।** एकसंज्ञाधिकारेऽपि अनया सञ्ज्ञया समाससंज्ञा न बाध्यत इति भाष्ये स्पष्टम्।

(१३९८) **अव्ययमिति।** अव्ययीभावः, समास इति चाधिकृतम्। अव्ययमिति शब्दनिर्देशः। विभक्त्यादिरर्थनिर्देशः। उच्यन्त इति वचनः। कर्मणि ल्युट्। विभक्त्यर्थादिषु वाच्येष्वित्यर्थः। तदाह — **विभक्त्यर्थादिष्विति।**

(१३९९) **प्रथमानिर्दिष्टमिति।** समासपदमत्र समासविधायकशास्त्रपरम्। तथा च समासविधायकशास्त्रे प्रथमान्ततयोच्चारितं यत्पदं तदुपसर्जनसंज्ञमिति भावः।

केवलसमासप्रकरण के अनन्तर अव्ययीभावसमास का निरूपण किया जा रहा है —

(१३९७) **पद**—अव्ययीभावः। **अधिकारसूत्र।**

मूलार्थ—तत्पुरुष समास से पूर्व 'अव्ययीभावः' का अधिकार है।

विमर्श—यह अधिकारसूत्र है। 'तत्पुरुषः' (२।१।२२) सूत्र के पूर्व तक इसका अधिकारक्षेत्र है। अव्ययीभाव समास में प्रायः पूर्वपद (अव्यय) प्रधान होता है।

(१३९८) **पद**—अव्ययम्, विभक्ति .... वचनेषु। **अनुवृत्ति**—सह, सुपा, सुप्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—विभक्त्यादि अर्थों में अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह 'अव्ययीभाव' कहलाता है।

विमर्श—'समासः' (१३९५) तथा 'अव्ययीभावः' (१३९७) का अधिकार है। पूर्वसूत्र 'सह सुपा' (१३९६) की अनुवृत्ति आती है। सूत्र में द्वन्द्वगर्भित कर्मधारय समास है — विभक्तिश्च, समीपं च, समृद्धिश्च, व्यृद्धिश्च, अर्थाभावश्च, अत्ययश्च, असम्प्रति च, शब्दप्रादुर्भावश्च, पश्चात् च, यथा च, आनुपूर्व्यञ्च च, यौगपद्यं च, सादृश्यं च, सम्पत्तिश्च, साकल्यं च, अन्तश्चेति विभक्ति ...... साकल्यान्ताः, ते वचनाश्च तेषु। तदनुसार ''विभक्त्यादि अर्थों में अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और वह अव्ययीभावसंज्ञक होता है।''

प्रकृत सूत्र से नित्य समास होता है। नित्य समास का प्रायः विग्रह नहीं होता। यदि विग्रह किया जाय तो जिसका समास करना है तो उसके अर्थ को स्पष्ट करने वाले पर्यायवाची शब्द के साथ सम्भव होता है। अतः इसे 'अस्वपद विग्रह' कहा जाता है।

विभक्ति अर्थ में — 'अधिहरि'। 'हरि ङि अधि' अलौकिक विग्रह होता है।

(१३९९) **पद**—प्रथमानिर्दिष्टम्, समासे, उपसर्जनम्। **संज्ञासूत्र।**

उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३०। समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम्। इत्यधेः प्राक् प्रयोगः। सुपो लुक्। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः। अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात्सुपो लुक्। अधिहरि। **(१४०१) अव्ययीभावश्च २।४।१८।** नपुंसकं स्यात्। गाः पातीति गोपाः, तस्मिन्नित्यधिगोपम्। **(१४०२) नाव्ययी-**

(१४००) **उपसर्जनमिति**। 'समासः' इत्यधिकृतम्, तच्च सप्तम्यन्ततया विपरिणम्यते। पूर्वमित्यस्य पूर्वं प्रयोज्यमित्यर्थः। **अधिहरि** – हरौ इत्यधिहरि। 'हरि ङि अधि' इत्यलौकिक-विग्रहे 'अव्ययं विभक्ती'त्यादिना अव्ययीभावसमासे समासत्वात् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यनेन ङेर्लुकि 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनमि' ति 'अधि' इत्यस्योपसर्जनसञ्ज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यनेन तस्य पूर्वनिपाते 'अधिहरि' इति जाते 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचने सौ 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि 'अधिहरि' इति।

(१४०१) **अव्ययीभावश्च**। 'स नपुंसकमि'त्यतः नपुंसकमित्यनुवर्तते। तदाह – **नपुंसकमिति**।

मूलार्थ—समासशास्त्र में प्रथमानिर्दिष्ट की उपसर्जन संज्ञा होती है।

विमर्श—समस्यमान पदों मे पौर्वापर्य को निश्चित करने के लिए प्रकृत सूत्र की व्याख्या की जा रही है। 'उपसर्जनम्' संज्ञा है तथा 'समासे प्रथमानिर्दिष्टम्' संज्ञी है। लक्षणावृत्ति से सूत्रस्थ 'समासे' पद समासविधायक शास्त्र (सूत्र) का बोधक है। इस प्रकार – "समासविधायक सूत्र में जो पद प्रथमाविभक्त्यन्त होगा तद्बोध्य अर्थ के वाचक पद की उपसर्जन संज्ञा होगी।"

(१४००) **पद**—उपसर्जनम्, पूर्वम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—समास में उपसर्जन का पूर्वप्रयोग होता है। अधिहरि इत्यादि।

विमर्श—'समासः' (१३९५) का अधिकार है। अधिकार से प्राप्त प्रथमान्त पद 'समासः' का सप्तमी विभक्ति में विपरिणाम हो जाता है। तदनुसार – "समास में उपसर्जनसंज्ञक शब्द का पहले प्रयोग होता है।"

उदाहरण—**विभक्ति अर्थ** - हरौ इति अधिहरि। **अलौकिक विग्रह** – हरि ङि अधि सु (सप्तमी विभक्ति के अधिकरण अर्थ में वर्तमान 'अधि' अव्यय का हरि के साथ समास – 'अव्ययं विभक्ति०', सुप् विभक्ति का लुक् - 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः', 'अधि' की उपसर्जनसंज्ञा – 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्', 'अधि' का पूर्वप्रयोग – 'उपसर्जनं पूर्वम्') – अधि हरि (प्रातिपदिक संज्ञा – 'कृत्तद्धितसमासाश्च', समुदाय से 'सु' विभक्ति, विभक्ति का लोप – 'अव्ययादाप्सुपः') = अधिहरि। यहाँ 'अधि' अव्यय सप्तमी विभक्ति का द्योतक है।

(१४०१) **पद**—अव्ययीभावः, च। **अनुवृत्ति**—नपुंसकम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग होता है। अधिगोपम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'स नपुंसकम्' (२।४।१७) से 'नपुंसकम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार यह अर्थ होता है कि "अव्ययीभाव समास भी नपुंसकलिङ्ग होता है।" फलतः दीर्घान्त शब्दों को भी 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (१।२।४७) से ह्रस्व हो जाता है।

उदाहरण—गाः पातीति गोपाः, तस्मिन् अधिगोपम्। **अलौकिक स्वपद विग्रह** – गोपा + ङि,

भावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः २।४।८३ । अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक्, तस्य पञ्चमीं विना अमादेशः । कृष्णस्य समीपमुपकृष्णम् । **(१४०३) तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २।४।८४।** अदन्तादव्ययीभावात् तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः । उपकृष्णेन उपकृष्णम् । बहुलग्रहणात् सुमद्रमुन्मत्तगङ्गमित्यादौ नित्यमम्भावः । मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यव-

---

(१४०२) **नाव्ययीभावादिति** ।'अव्ययादाप्सुपः' इत्यस्मात् 'सुपः' इति, 'ण्यक्षत्रियार्षञितः' इत्यतश्च लुगिति चानुवर्तते । अता अव्ययीभावो विशेष्यते । तदन्तविधिस्तदाह — **अदन्तादित्यादिना** ।

(१४०३) **तृतीयेति** ।'नाव्ययीभावादि'त्यस्मात् अतः, अव्ययीभावात् अमिति चानुवर्तन्ते । तदाह — **अदन्तादिति । उपकृष्णेन, उपकृष्णमिति** । कृष्णस्य समीपमुपकृष्णम् । 'कृष्ण + ङस् उप' इत्यलौकिकविग्रहे 'अव्ययं विभक्ति०' इत्यादिना सामीप्यार्थक उपपदेन सह अव्ययी-

---

अधि (पूर्ववत् विभक्त्यर्थ में 'अधि' के साथ 'गोपा' का अव्ययीभाव समास — 'अव्ययं विभक्ति०', सुप् = 'ङि' का लुक् — 'सुपो धातु०') — गोपा अधि ('अधि' की उपसर्जनसंज्ञा — 'प्रथमानिर्दिष्टम्०', पूर्वप्रयोग — 'उपसर्जनं पूर्वम्', नपुंसकलिङ्ग — 'अव्ययी-भावश्च', आ = 'अ' — ह्रस्व — 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य', 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से प्रातिपदिकसंज्ञा — 'कृत्तद्धित०', सु, प्राप्त सु के लुक् का बाधकर 'सु' = 'अम्' — 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः', अ + अ = 'अ' — पूर्वरूप) = अधिगोपम् (गोप के विषय में) ।

(१४०२) **पद**—न अव्ययीभावात्, अतः, अम्, तु, अपञ्चम्याः । **अनुवृत्ति**—सुपः लुक् । **विधि(निषेध)सूत्र** ।

मूलार्थ—अदन्त अव्ययीभाव से परवर्ती सुप् (विभक्ति) का लोप नहीं होता, किन्तु पञ्चमी को छोड़कर (अन्य विभक्तियों में) उसके स्थान पर 'अम्' आदेश हो जाता है । उपकृष्णम् ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'अव्ययादाप्सुपः' (२।४।८२) से 'सुपः' तथा 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिनोः' (२।४।५८) से 'लुक्' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार — ''ह्रस्व अकारान्त अव्ययीभाव समास से उत्तरवर्ती सुप् का लुक् नहीं होता; किन्तु उसी सुप् के स्थान में 'अम्' आदेश होता है । यह 'अम्' आदेश पञ्चमी विभक्ति में नहीं होता ।''

उदाहरण—समीप अर्थ में—उपकृष्णम् । **लौकिक अस्वपद विग्रह**—कृष्णस्य समीपे । अलौकिक स्वपद विग्रह — कृष्ण + ङस्, उप + सु ('उप' के साथ समास — 'अव्ययं विभक्ति०', सुप् = विभक्ति का लोप, उपसर्जन संज्ञा, 'उप' का पूर्वनिपात, प्रातिपदिक संज्ञा, सु) — उपकृष्ण + सु ('सु' = 'अम्' — 'नाव्ययीभावदतोऽम्त्वपञ्चम्याः', अ + अ = 'अ' — पूर्वरूप) = उपकृष्णम् (कृष्ण के समीप) ।

(१४०३) **पद**—तृतीयासप्तम्योः, बहुलम् । **अनुवृत्ति**—अतः, अव्ययीभावात्, अम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अदन्त अव्ययीभाव से परवर्ती तृतीया और सप्तमी को बहुलप्रकार (विकल्प) से अम् भाव (आदेश) होता है । उपकृष्णेन, उपकृष्णम् इत्यादि ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१४०२) से प्राप्त विभक्तियों के स्थान पर होने वाले नित्य 'अम्' का तृतीया और सप्तमी विभक्तियों में वैकल्पिक विधान किया जा रहा है । सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु पूर्वसूत्र (१४०२) से 'अतः', 'अव्ययीभावात्' तथा 'अम्' की अनुवृत्ति होती है । तदनुसार — ''ह्रस्व अकारान्त

नानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम्। मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्। हिमस्यात्ययोऽतिहिमम्। निद्रा सम्प्रति न युज्यतेऽतिनिद्रम्। हरिशब्दस्य प्रकाश इतिहरि। विष्णोः पश्चात् अनुविष्णु। योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः। रूपस्य योग्यमनुरूपम्। अर्थमर्थं

भावसमासे 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्यनेनोपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यनेन 'उप' इत्यस्य पूर्वप्रयोगे, सुपो लुकि, समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां टा विभक्तौ 'अव्ययीभावश्चे'-त्यनेन अव्ययत्वात् सुपो लुकि प्राप्ते 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' इत्यनेन विकल्पेन 'टा' इत्यस्य अमादेशे पूर्वरूपे 'उपकृष्णमि'ति। अयादेशाभावपक्षे उपकृष्ण + टा इति जाते 'टाङसिङसा-मिनात्स्याः' इत्यनेन टा इत्यस्य इनादेशे गुणे 'उपकृष्णेन' इति। **हिमस्यात्यय इति**। अत्ययः = ध्वंसः। 'अति' इत्यव्ययपर्यायोऽत्ययशब्दो विग्रहे ज्ञेयः। **इतिहरि** — 'इति' इत्यव्ययं शब्द-प्रकाशे वर्तते। तस्य हरिशब्देन स्वरूपपरेण षष्ठ्यन्तेन समासः। **यथाशक्ति** — 'शक्ति + अम् + यथा' इत्यलौकिकविग्रहे 'अव्ययं विभक्ति०' इत्यादिना समासे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यनेन

अव्ययीभाव से परवर्ती तृतीया (टा) तथा सप्तमी (ङि) विभक्तियों के स्थान पर विकल्प से 'अम्' आदेश होता है।''

उदाहरण—(१) कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम्। (पूर्ववत् समास, प्रा० संज्ञा, उपकृष्ण + टा, टा = 'अम्' — विकल्प से — 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्', पूर्वरूप) = उपकृष्णम्। अम् आदेश न होने पर 'टा' = 'इन', अ + इ = 'ए' — गुण) = उपकृष्णेन।

इस सूत्र में 'बहुलम्' पद का ग्रहण विशेष प्रयोजन के लिए है। इस शब्द से अनेक अर्थ प्रकट होते हैं। (बहून् अर्थान् लातीति) अतः कहीं-कहीं तृतीया और सप्तमी में भी नित्य अम् आदेश हो जाता है।

उदा०—(२) मद्राणां समृद्धिः, तस्मिन्। **अलौकिक स्वपद विग्रह** — मद्र + आम् + सु (समास — 'अव्ययं विभक्ति०', विभक्तिलोप, सु का पूर्वनिपात) — सुमद्र (पुनः प्राति० संज्ञा, समुदाय से विभक्ति सु, सु = अम्, पूर्वरूप) = सुमद्रम् (= मद्र देश के लोगों की समृद्धि)। (३) यवनानां व्यृद्धिः (क्षय) अर्थ में — 'दुर्'; **अलौकिक विग्रह** – यवन + आम्, दुर् + सु (प्रक्रिया पूर्ववत्) = दुर्यवनम् (= यवनों की दुर्गति)। (४) अभाव अर्थ में — 'निर्'। मक्षिकाणाम् अभावः। **अलौकिक विग्रह** — मक्षिका + आम्, निर् + सु (समास — 'अव्ययम्०', विभक्तिलोप, 'निर्' का पूर्वनिपात) — निर्मक्षिका (समुदाय से विभक्ति — सु, 'आ'='अ' — ह्रस्व — 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य', 'सु'='अम्', पूर्वरूप) = निर्मक्षिकम् (= मक्खियों का अभाव)। (५) अत्यय (विनाश) अर्थ में — 'अति'। हिमस्य अत्ययः। **अलौ० वि०** — हिम + ङस्, अति + सु (पूर्ववत् प्रक्रिया) = अतिहिमम् (= हिम का नाश)। (६) असम्प्रति (अनुचित) अर्थ में — 'अति'। निद्रा सम्प्रति न युज्यते। **अलौ० वि०** — निद्रा + सु, अति + सु (समास, विभक्तिलोप, प्राति०संज्ञा, सु, 'आ' = 'अ' — ह्रस्व — 'ह्रस्वो नपंसके०', 'सु'='अम्', पूवरूप) = अतिनिद्रम् (इस समय सोना ठीक नहीं)। (७) शब्दप्रादुर्भाव (शब्द की अभिव्यक्ति) अर्थ में — इति। हरिशब्दस्य प्रकाशः। **अलौकिक वि०** — हरि + ङस्, इति + सु (प्रक्रिया पूर्ववत्, समुदाय से सु) — इतिहरि + सु ('सु' का लोप — 'अव्ययादाप्सुपः', अकारान्त न होने से 'अम्' की प्राप्ति नहीं है।) = इतिहरि (= हरि शब्द का प्रादुर्भाव)। (८) पश्चात् (बाद में) अर्थ में — अनु। विष्णोः पश्चात्। **अलौकिक वि०** – विष्णु + ङस्, अनु + सु (प्रक्रिया पूर्ववत्, सु का लोप) = अनुविष्णु

प्रति प्रत्यर्थम्। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति। (१४०४) अव्ययीभावे चाकाले ६।३।८१। सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले। हरेः सादृश्यं सहरि। काले तु – सहपूर्वाह्णम्। ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम्। चक्रेण युगपत् सचक्रम्। सदृशः संख्या ससखि। क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम्। तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति। अग्निग्रन्थपर्यन्तम-

---

सुपो लुकि यथाशब्दस्योपसर्जनसंज्ञायाम् तस्य पूर्वनिपाते समासत्वात् 'कृत्तद्धितसमासाश्चे' त्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यनेन सुलोपे 'यथाशक्ति' इति सिद्धम्। **प्रत्यर्थमिति**। अत्र वीप्सायां द्विर्वचनम्। प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगे द्वितीया। समासे तु द्विर्वचनन्न भवति, समासेन वीप्साया द्योतितत्वात्।

(१४०४) **अव्ययीभाव इति**। 'सहस्य सः सञ्ज्ञायामि'त्यतः 'सहस्य सः' इत्यनुवर्तते। तदाह – **सहस्येति**। **न त्विति**। कालवाचके परे सहस्य सो नेत्यर्थः।

(= विष्णु के बाद)। (९) सूत्रस्थ 'यथा' शब्द के चार अर्थ हैं – योग्यता, वीप्सा (बार-बार होना), पदार्थानतिवृत्ति (पदार्थ की सीमा का अतिक्रमण न करना) और सादृश्य (= समानता)। (क) योग्यता अर्थ में 'अनु'। रूपस्य योग्यम्। **अलौकिक वि०** – रूप + ङस्, अनु + सु, (पूर्ववत् प्रक्रिया) = अनुरूपम् (रूप के योग्य)। (ख) वीप्सा अर्थ में – 'प्रति'। अर्थम् अर्थं प्रति। **अलौ० वि०** – अर्थ + अम्, प्रति + सु (पूर्ववत् प्रक्रिया) = प्रत्यर्थम् (= प्रत्येक अर्थ में)। (ग) पदार्थानतिवृत्ति अर्थ में – 'यथा'। शक्तिम् अनतिक्रम्य। **अलौ०वि०** – शक्ति + अम्, यथा + सु (प्रक्रिया पूर्ववत्, अव्ययसंज्ञा होने से 'सु' का लोप) = यथाशक्ति (= शक्तिभर)।

(१४०४) **पद**—अव्ययीभावे, च, अकाले। **अनुवृत्ति**—सहस्य सः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अव्ययीभाव समास में 'सह' को 'स' आदेश होता है; किन्तु काल अर्थ में नहीं होता। सहरि। काल अर्थ में – सह पूर्वाह्णम् इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में स्थानी तथा आदेश वाचक पदों का अभाव है। अतः "सहस्य सः संज्ञायाम्" (६।३।७८) सूत्र से 'सहस्य' तथा 'सः' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) से 'उत्तरपदे' का अधिकार है। तदनुसार – "कालवाचक शब्द के उत्तरपद न रहने पर (अकाले) अव्ययीभाव समास में 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश होता है।"

उदाहरण—(घ) सादृश्य अर्थ में – 'सह'। हरेः सादृश्यम्। **अलौ० वि०** – हरि + ङस्, सह + सु (पूर्ववत् समासादि प्रक्रिया, 'सह' = 'स' – 'अव्ययीभावे चाकाले', विभक्ति-लोप) = सहरि (हरि की समानता)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अकाले' पद का निवेश होने से कालवाचक शब्द के उत्तरपद रहन पर 'सह' के स्थान पर 'स' न होने पर – सहपूर्वाह्णम्।

उदाहरण—(१०) आनुपूर्व्य (अनुक्रम) अर्थ में – 'अनु'। ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण। **अलौ० वि०**—ज्येष्ठ + ङस्, अनु + सु (पूर्ववत् प्रक्रिया) = अनुज्येष्ठम् (= ज्येष्ठ के क्रम से)। (११) यौगपद्य अर्थ में – सह। चक्रेण युगपत्। चक्र + टा, सह + सु (पूर्ववत् समासादि, सह = स, सु = अम्) = सचक्रम्। (१२) सादृश्य अर्थ में – 'सह'। सदृशः संख्या। **अलौ० वि०**—सखि + टा, सह + सु (प्रक्रिया पूर्ववत्, 'सह' = 'स', सुप् का लुक्) = ससखि (मित्र के समान)। (१३) सम्पत्ति अर्थ में – 'सह'। क्षत्राणां सम्पत्तिः। **अलौ० वि०**—क्षत्र + आम्, सह + सु (पूर्ववत्

धीते साग्नि । **(१४०५) यथाऽसादृश्ये २।१।७** । असादृश्ये एव यथाशब्दः समस्यते । नेह – यथा हरिस्तथा हरः । **(१४०६) यावदवधारणे २।१।८** । यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामा इति यावच्छ्लोकम् । **(१४०७) सुप्प्रतिना मात्रार्थे**

(१४०५) **यथाऽसादृश्य इति** । सादृश्यभिन्नार्थे यथाशब्दः समस्यते सोऽव्ययीभावः ।

(१४०६) **यावदिति** । इयत्तापरिच्छेदे गम्ये 'यावत्' इत्यव्ययं समस्यत इत्यर्थः । **यावच्छ्लोकम्** । 'यावन्तः श्लोकाः तावन्तः प्रणामाः' इति विग्रहे 'यावदवधारणे' इति अव्ययीभावसमासे सुब्लुकि उपसर्जनसंज्ञायां पूर्वनिपाते सौ 'नाव्ययीभावात्' इत्यमि पूर्वरूपे 'यावच्छ्लोकमि'त्यस्य सिद्धिः ।

(१४०७) **सुप्प्रतिनेति** । मात्रा = लेशः, तस्मिन् गम्ये सुबन्तं प्रतिना समस्यत इत्यर्थः ।

समास आदि, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = सक्षत्रम् (= क्षत्रियों की सम्पत्ति) । (१४) साकल्य (सम्पूर्णता) अर्थ में – 'सह' । तृणम् अपि अपरित्यज्य । **अलौ० वि०**—तृण + अम्, सह + सु (पूर्ववत् समासादि, सह = स) = सतृणम् अत्ति (तिनके को भी न छोड़कर अर्थात् सब कुछ खा जाता है ।) (१५) अन्त अर्थ में – 'सह' । अग्निग्रन्थपर्यन्तम् अधीते । **अलौ० वि०**—अग्नि + टा, सह + सु (पूर्ववत् समासादि, 'सह' = 'स', सुप् का लोप) = साग्नि (अग्निग्रन्थ तक पढ़ता है) ।

(१४०५) **पद**—यथा, असादृश्ये । **अनुवृत्ति**—अव्ययम्, सुप्, सह, सुपा । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—सादृश्य-भिन्न अर्थ में ही 'यथा' शब्द का समास होता है । अतः यहाँ नहीं हुआ । यथा हरिस्तथा हरः ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'अव्ययं विभक्ति०' (१३९८) से 'अव्ययम्', 'सह सुपा' (१३९६) से 'सह' और 'सुपा' 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' (२।१।२) से 'सुप्' की अनुवृत्ति आती है । 'समासः' तथा 'अव्ययीभावः' का अधिकार है । तदनुसार सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा – ''सादृश्य-भिन्न अर्थ में विद्यमान 'यथा' अव्यय पद का ही समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है ।''

प्रत्युदाहरण—'यथा हरिः तथा हरः' (जैसे-विष्णु वैसे ही शिव) । इस वाक्य में विष्णु के साथ शिव का सादृश्य बताया गया है । इस प्रकार 'यथा' शब्द से हरि की समानता सूचित की गई है । अतः यहाँ सादृश्य अर्थ में प्राप्त समास का निषेध हो जाता है ।

(१४०६) **पद**—यावद्, अवधारणे । **अनुवृत्ति**—अव्ययम्, सुप्, सह, सुपा । **विधि (संज्ञा) सूत्र** ।

मूलार्थ—अवधारण अर्थ में 'यावत्' शब्द का समास होता है । यावच्छ्लोकम् ।

विमर्श—'समासः' तथा 'अव्ययीभावः' का अधिकार है । पूर्वसूत्रवत् यहाँ भी 'अव्ययम्, सुप्, सह, सुपा' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार – ''निश्चयार्थक यावत् शब्द का समर्थ सुबन्त से साथ नित्य समास होता है । वह अव्ययीभावसंज्ञक होता है ।''

उदाहरण—लौकिक विग्रह – यावन्तः श्लोकाः (तावन्तः अच्युतप्रणामाः) । **अलौकिक विग्रह** – यावत् + जस्, श्लोक + जस् (समास – 'यावदवधारणे', विभक्तिलोप, 'यावत्' का पूर्वनिपात, प्राति० संज्ञा, सु, 'सु' = 'अम्', अ + अ = 'अ' पूर्वरूप) – यावत् + श्लोकम् ('त्' = 'च्' - श्चुत्व, 'श्' = 'छ्' – छत्व) = यावच्छ्लोकम् (जितने श्लोक, उतने ही बार विष्णु को प्रणाम) ।

(१४०७) **पद**—सुप्, प्रतिना, मात्रार्थे । **अनुवृत्ति**—सह, सुपा । **विधि (संज्ञा) सूत्र** ।

२।१।९ । शाकस्य लेशः शाकप्रति । (१४०८) विभाषा २।१।११ । अधिकारोऽयम् । (१४०९) अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या २।१।१२ । अपविष्णु संसारः- अपविष्णोः । परिविष्णु - परिविष्णोः । बहिर्वनम् - बहिर्वनात् । प्राग्वनम् -

---

(१४०८) **विभाषेति** । एषैव महाविभाषेति निगद्यते ।

(१४०९) **अपपरीति** । पञ्चम्यन्तेन अपपरिबहिरञ्चवः समस्यन्ते सोऽव्ययीभावः । विभाषाधिकारात्पक्षे पञ्चम्यन्तं वाक्यमपि भवति । **अपविष्णु** — अत्र 'अप' इत्यव्ययं वर्जने । अप विष्णोरिति विग्रहे 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्याः' इत्यनेन समासेऽव्ययीभावे, सुब्लुकि, अपेत्यव्ययस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वादुपसर्जनसंज्ञायां पूर्वनिपाते, सौ, 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुब्लुकि 'अपविष्णु' इति । पक्षे वाक्यमिति ।

मूलार्थ—'मात्रा' अर्थ में वर्तमान प्रति के साथ समर्थ सुबन्त का समास होता है । शाकप्रति ।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् प्रकृत सूत्र में भी 'समासः' तथा 'अव्ययीभावः' का अधिकार है तथा 'सह सुपा' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार – ''मात्रा अर्थात् स्वल्प अर्थ में विद्यमान प्रति शब्द के साथ समर्थ सुबन्त का समास होता है और वह अव्ययीभावसंज्ञक होता है ।''

उदाहरण—लौकिक विग्रह—शाकस्य लेशः । **अलौकिक विग्रह्**—शाक + ङस्, प्रति + सु (मात्रा अर्थ में) (समास – 'सुप्प्रतिना मात्रार्थे' प्रकृत सूत्र में 'प्रतिना' तृतीया विभक्ति में प्रयोग होने से 'प्रति' की उपसर्जन संज्ञा न हुई, अतः उसका पूर्वप्रयोग भी नहीं हुआ । विभक्तिलोप, प्रा० संज्ञा, सु, 'सु' का लोप) = शाकप्रति (= थोड़ा शाक) ।

(१४०८) **पद**—विभाषा । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ—यह अधिकारसूत्र है ।

विमर्श—'विभाषा' यह अधिकारसूत्र है । यहाँ से समासविधि का विकल्प प्रारम्भ होता है । इसका अधिकार 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) सूत्र तक है ।

(१४०९) **पद**—अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या । **अनुवृत्ति**—विभाषा, सुप्, सह सुपा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अप, परि, बहिस् और अञ्च् का पञ्चम्यन्त के साथ विकल्प से समास होता है । अपविष्णु, अपविष्णोः इत्यादि ।

विमर्श—'विभाषा' का अधिकार होने के फलस्वरूप यहाँ से समासविधि का विकल्प प्रारम्भ होता है । 'प्राक्कडारात्समासः' (१३९५) से 'समासः' तथा 'अव्ययीभावः' (१३९७) का अधिकार है और सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' (२।१।२) से 'सुप्' एवं 'सह सुपा' (१३९६) सूत्र की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार – ''अप, परि, बहिस् और अञ्चु पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और यह अव्ययीभाव समास होता है ।''

उदाहरण—विष्णोः अप । यहाँ 'अप' वर्जनार्थक अव्यय है । वह 'अपपरी वर्जने' से कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होता है । अतः उसके योग में पञ्चमी विभक्ति हुई – 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' । विष्णु + ङसि, अप + सु (समास विकल्प से – 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' सुब्लुक्, 'अप' की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वनिपात, प्राति० संज्ञा, सु) – अपविष्णु + सु ('सु' का लोप – 'अव्ययादाप्सुपः') = अपविष्णु । समास न होने पर अपविष्णोः (= विष्णु को छोड़कर संसार) । परि-विष्णु, परिविष्णोः (समासविधान प्रक्रिया पूर्ववत् । **लौकिक विग्रह** – वनात् बहिः । वन + ङसि,

प्राग्वनात्। (१४१०) **तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च २।१।१७।** एतानि निपात्यन्ते। तिष्ठन्ति गावो यस्मिन्काले स तिष्ठद्गु दोहनकालः। (१४११) **पारेमध्ये षष्ठ्या वा २।१।१८।** पारमध्यशब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह वा समस्येते। एदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते। पारेगङ्गम्। गङ्गापारम्। मध्येगङ्गम्। गङ्गामध्यम्। महाविकल्पेन वाक्यमपि। (१४१२)

(१४१०) **'तिष्ठद्गु' इति।** एतानि निपात्यन्ते। **तिष्ठद्गु** — तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् इति विग्रहे 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' इति निपातनात्समासे, सुब्लुकि तिष्ठत्पदस्य पूर्वनिपाते, सौ, 'गोस्त्रियोरि'ति ह्रस्वे, अव्ययत्वात्सुब्लुकि 'तिष्ठद्गु' इति रूपम्।

(१४११) **पारेमध्य इति।** पारमध्यौ षष्ठ्यन्तेन वा समस्येते, एदन्तत्वं निपातनात्। विभाषाधिकारात्पक्षे वाक्यमपि। **पारेगङ्गम्** — पारं गङ्गाया इति लौकिकविग्रहे 'पार + अम् + गङ्गा + ङस्' इत्यलौकिकविग्रहे 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यनेनाव्ययीभावसमासे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, एदन्तत्वनिपाते, 'पारे' इत्यस्योपसर्जनसंज्ञायां पूर्वप्रयोगे च 'पारेगङ्गा' इति जाते, प्रातिपदिकत्वे सौ 'अव्ययीभावश्चे'ति नपुंसकसंज्ञायां 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'इत्यनेन ह्रस्वे 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लुकि प्राप्ते 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः'

बहिः + सु (समास, पूर्ववत्, विभक्तिलोप, 'बहिः' का पूर्वनिपात, पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु) — बहिर्वन + सु ('सु' = 'अम्' — 'नाव्ययीभावाद०', अ + अ = 'अ' — पूर्वरूप — 'अमि पूर्वः') = बहिर्वनम्। समास न होने पर — बहिर्वनात् (= वन से बाहर)। प्राक् वनात् (प्रक्रिया पूर्ववत्) प्राग्वनम्। समासाभाव पक्ष में — प्राग्वनात् (= वन से पूर्व दिशा की ओर)।

(१४१०) **पद**—तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'तिष्ठद्गु' आदि शब्द समस्त निपातित होते हैं। तिष्ठद्गु दोहनकालः।

विमर्श—अव्ययीभाव समास के अन्तर्गत कुछ शब्दों को निपातन से सिद्ध किया जा रहा है। पूर्ववत् प्रकृत सूत्र में भी 'समासः' तथा 'अव्ययीभावः' का अधिकार है। सूत्रस्थ 'च' शब्द एव (= ही) अर्थ का बोधक है। तदनुसार — ''तिष्ठद्गु आदि शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं और वे समस्त शब्द अव्ययीभावसंज्ञक ही होते हैं।''

उदाहरण—लौकिक विग्रह—तिष्ठन्त्यः गावः यत्र सः। ✓स्था तिष्ठ + शतृ + ङीप् + जस्, गो + जस् (समास होने के साथ शतृ आदेश निपातन, विभक्तिलुक् पुंवद्भाव, ह्रस्व — 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य', अव्ययसंज्ञा, पुनः प्रा० संज्ञा, सु) — तिष्ठद्गु + सु ('सु' का लोप) = तिष्ठद्गु (= गोदोहन का समय)।

(१४११) **पद**—पारे, मध्ये, षष्ठ्या, वा। **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पार और मध्य शब्द का षष्ठ्यन्त के साथ विकल्प से समास होता है और समास के साथ ही दोनों शब्द एदन्त निपातित होते हैं। पारेगङ्गम्। गङ्गापारम् इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पूर्ववत् 'विभाषा', 'अव्ययीभावः' तथा 'समासः' का अधिकार है। 'सुप्' तथा 'सह सुपा' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार — सूत्र का अर्थ यह होता है — ''पार तथा मध्य शब्दों का षष्ठ्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है। इन शब्दों के अन्त में एकार का निपातन भी होता है।'' 'विभाषा' अधिकार होने से पक्ष में विग्रहवाक्य का भी प्रयोग होगा।

संख्या वंश्येन २।१।१९। वंशो द्विधा – विद्यया जन्मना च। तत्र भवो वंश्यः। तद्वाचिना सह संख्या समस्यते। द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि। व्याकरणस्य त्रिमुनि। विद्यातद्वतामभेदविवक्षायां–त्रिमुनि व्याकरणम्। एकविंशतिभारद्वाजम्। (१४१३)

इत्यनेन अमादेशे पूर्वरूपे 'पारेगङ्गम्' इति। अव्ययीभावसमासाभावपक्षे 'पारं गङ्गायाः' इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषे 'गङ्गापारमि'ति। तदभावे – 'गङ्गायाः पारम्' इति वाक्यमपि साधु।

(१४१२) **संख्येति**। वंशः = सन्ततिः। वंशे भवो वंश्यः। तद्वाचिना संख्यावाचकः समस्यते। **व्याकरणस्य त्रिमुनि** – त्रयो मुनयः वंश्या इति। 'त्रि + जस् + मुनि + जस्' इत्यलौकिकविग्रहे 'संख्या वंश्येन' इत्यनेनाव्ययीभावसमासे, सुब्लुकि, त्रिपदस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते प्रातिपदिकत्वे सौ 'अव्यायादाप्सुपः' इत्यनेन सुपो लुकि 'त्रिमुनि' इति।

उदाहरण—गङ्गायाः पारम्। गङ्गा + ङस्, पार + अम् (समास, विभक्तिलुक्, एकारान्त निपातन – 'पारेमध्ये०', उपसर्जन संज्ञा, 'पारे' का पूर्वप्रयोग, नपुंसकत्व, 'आ' = 'अ' – ह्रस्व – 'ह्रस्वो नपुंसके०', प्रा० संज्ञा 'सु', उसका प्राप्त लुक् का बाधकर 'सु' = 'अम्' – 'नाव्ययीभावा०', अ + अ = 'अ' – पूर्वरूप) = पारेगङ्गम्। अव्ययीभाव समास के अभावपक्ष में षष्ठीतत्पुरुष – गङ्गापारम्। समास न होने पर – 'गङ्गायाः पारम्' (= गङ्गा के पार)। मध्येगङ्गम्, गङ्गामध्यम्, गङ्गायाः मध्यम् (पूर्ववत् समास प्रक्रिया)।

(१४१२) **पद**—संख्या, वंश्येन। **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संख्यावाचक शब्द का वंश्यवाची सुबन्त के साथ समास होता है। विद्या एवं जन्म से वंश दो प्रकार का होता है। वंश में उत्पन्न होना 'वंश्य' शब्द का अर्थ है। द्विमुनि। त्रिमुनि इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सुप्' तथा 'सह सुपा' की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'विभाषा', 'अव्ययीभावः' तथा 'समासः' का अधिकार है। सूत्रस्थ 'वंश्य' शब्द का अर्थ है – 'वंश में उत्पन्न' (वंशे भवः वंश्यः। वंश + यत् – 'दिगादिभ्यो यत्')। वंश दो प्रकार का होता है – विद्या तथा जन्म से। अनुवृत्त पदों के साथ संख्या तथा वंश्येन की एकवाक्यता होने पर यह अर्थ होता है कि ''संख्यावाची सुबन्त शब्दों का वंश्यबोधक सुबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है।''

उदाहरण—(१) **विद्यावंश के उदाहरण**—(क) द्वौ मुनी वंश्यौ। अलौकिक विग्रह – द्वि + औ, मुनि + औ (विकल्प से समास – 'संख्या वंश्येन' उपसर्जनसंज्ञा, द्वि का पूर्वनिपात, विभक्तिलोप) – द्विमुनि (पुनः विभक्त्युत्पत्ति – सु, विभक्तिलोप – 'अव्यया-दाप्सुपः') = द्विमुनि। (ख) त्रयः मुनयः (व्याकरणस्य) वंश्याः। अलौकिक विग्रह – त्रि + जस्, मुनि + जस् (प्रक्रिया पूर्ववत्) = त्रिमुनि (= व्याकरण के तीन मुनि – पाणिनी, कात्यायन तथा पतञ्जलि। (२) **जन्मवंश का उदाहरण**—एकविंशतिः भरद्वाजाः वंश्याः। अलौकिक विग्रह – एकविंशति + सु, भारद्वाज + जस् (वैकल्पिक समास, विभक्तिलोप, उपसर्जन संज्ञा, 'एकविंशति' का पूर्वप्रयोग, पुनः प्राति० संज्ञा, सु, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = एकविंशतिभारद्वाजम् (भरद्वाज से इक्कीस पीढी अन्तर का कुल।

विशेष—व्याकरण और भारद्वाज शब्दों के वंश्यवाची न होने पर विद्या और विद्यावान् में अभिन्नता स्वीकार कर दोनों का सामानाधिकरण्य माना जाता है। तदनुसार – 'त्रिमुनि व्याकरणम्'

नदीभिश्च २।१।२०। नदीभिः संख्या वा समस्यते। समाहारे चायमिष्यते। सप्त-गङ्गम्। द्वियमुनम्। **(१४१४) अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् २।१।२१।** अन्यपदार्थे सुबन्तं नदीभिः सह नित्यं समस्यते संज्ञायाम्। विभाषाऽधिकारेऽपि वाक्येन संज्ञान-

---

(१४१३) **नदीभिश्चेति**। 'संख्या वंश्येने'त्यतः 'संख्ये'त्यनुवर्तते। विभाषेत्यधि-क्रियते। तदाह — **नदीभिरिति**। **पञ्चगङ्गम्** — 'पञ्चानां गङ्गानां समाहारः' इति लौकिकविग्रहे 'पञ्चन् + आम्, गङ्गा + आम्' इत्यलौकिकविग्रहे द्विगुसमासं प्रबाध्य 'समाहारे चायमिष्यते' इति वार्तिकसहकारेण 'नदीभिश्च' इत्यनेन अव्ययीभावसमासे विभक्तिलोपे उपसर्जनत्वे पञ्चन्पदस्य पूर्वनिपाते नलोपे 'पञ्चगङ्गा' इति जाते 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्ये'ति ह्रस्वे प्रातिपदिकत्वे सौ, सोर्लुकि प्राप्ते 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इत्यनेन सोरमादेशे पूर्वरूपे 'पञ्चगङ्गम्' इति।

(१४१४) **अन्यपदार्थ इति**। **संज्ञेति**। सम्यग् ज्ञायत इति सञ्ज्ञा। 'उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्' इति वाक्येन देशविशेषस्यानवगमादिह नित्यसमास इत्यर्थः। **लोहितगङ्गम्** — 'लोहिता + सु, गङ्गा + सु' इत्यवस्थायां 'अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम्' इत्यनेनाव्ययीभावसमासे सुब्लुकि,

---

(= तीन मुनियों से अभिन्न व्याकरण) और 'एकविंशति भारद्वाजम्' (= इक्कीस भारद्वाजवंशीयों से अभिन्न कुल) प्रयोग साधु होते हैं।

(१४१३) **पद**—नदीभिः, च। **अनुवृत्ति**—संख्या, सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संख्यावाचक शब्दों का नदीवाचक सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। (यह समास समाहार में ही इष्ट है।) पञ्चगङ्गम्। द्वियमुनम्।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र (१४१२) से 'संख्या' तथा पूर्ववत् 'सुप्', 'सह सुपा' की अनुवृत्ति आ रही है। 'विभाषा', 'अव्ययीभावः' तथा 'समासः' का अधिकार है। तदनुसार — ''संख्यावाचक सुबन्त शब्दों का नदीवाचक सुबन्तों के साथ विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है।'' वार्तिक द्वारा यह निश्चित किया जा रहा है — ''इस प्रकार का समास समाहार (= समुदाय) रूप अर्थ को सूचित करने में ही होगा।''

उदाहरण—**विग्रह**—सप्तानां गङ्गानां समाहारः। **अलौकिक विग्रह** — सप्तन् + आम्, गङ्गा + आम् (संख्यावाचक 'सप्तन्' शब्द का नदीवाचक 'गङ्गा' के साथ विकल्प से समास — 'नदीभिश्च', विभक्तिलोप, 'न्' का लोप, प्राति० संज्ञा, सु) — सप्तगङ्गा + सु (अव्ययसंज्ञा, नपुंसक-लिङ्गविधान — 'नाव्ययीभावश्च', आ = 'अ' — ह्रस्व — 'ह्रस्वो नपुंसके०', 'सु' = 'अम्' — 'नाव्ययी०', अ + अ = 'अ' — पूर्वरूप) = सप्तगङ्गम् (= सात नदियों का समूह)। द्वयोः यमुनयोः समाहारः। **अलौकिक विग्रह** — द्वि + ओस्, यमुना + ओस् (प्रक्रिया पूर्ववत्) = द्वियमुनम्।

(१४१४) **पद**—अन्यपदार्थे, च, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—नदीभिः, सुप्, सह सुपा। **विधि-(संज्ञा) सूत्र**।

मूलार्थ—अन्य पदार्थ में वर्तमान सुबन्त का नदीवाचक समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है, संज्ञा के विषय में। 'विभाषा' का अधिकार होने पर भी वाक्य से संज्ञा का बोध न होने के कारण यह समास नित्य है। उन्मत्तगङ्गम् – देश-विशेष का नाम। लोहितगङ्गम्।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु पूर्ववत् 'अव्ययीभावः' तथा 'समासः' का अधिकार है। 'नदीभिश्च' (१४१३) सूत्र से 'नदीभिः' तथा पूर्वनिर्दिष्ट सूत्रों से 'सुप्' और 'सह सुपा' की अनुवृत्ति

वगमादिह नित्यसमासः । उन्मत्तगङ्गं नाम देशः । लोहितगङ्गम् । (१४१५) **तद्धिताः ४।१।७६** । आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् । (१४१६) **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५।४।१०७** । शरदादिभ्यष्टच् स्यात् समासान्तोऽव्ययीभावे । शरदः समीपमुपशरदम् । प्रतिविपाशम् । शरद् । विपाश् । अनस् । मनस् । उपानह् । दिव् ।

लोहितपदस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते पुंवद्भावे च 'अव्ययीभावश्चे'ति नपुंसकत्वे ह्रस्वत्वे प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ सुलोपे प्राप्ते 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इत्यनेन सोरमादेशे पूर्वरूपे 'लोहितगङ्गम्' इति ।

(१४१५) **तद्धिताः** । स्पष्टम् ।

(१४१६) **अव्ययीभाव इति** । 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इत्यतः टजित्यनुवर्तते । तदाह — **शरदादिभ्य इति । उपशरदम्** — शरदः समीपमिति विग्रहे 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना समीपार्थकस्य उपेत्यव्ययस्य शरद इति षष्ठ्यन्तेनाव्ययीभावसमासे सुपो लुकि उपः उपसर्जनत्वे

आ रही है । अतः प्रकृत सूत्र से यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है कि — ''समस्त शब्द से संज्ञा-विशेष का ज्ञान हो तो अन्यपदार्थ अपेक्षित होने पर भी सुबन्त का नदीवाचक सुबन्त के साथ नित्य अव्ययीभाव समास होता है ।'' अन्य पदार्थ में विग्रह वाक्य से संज्ञा की प्रतीति न होने के कारण वैकल्पिक समास-विधान व्यर्थ होगा । अतः 'विभाषा' अधिकार होने पर भी यहाँ उसकी अनुवृत्ति नहीं आती । नित्य समासविधान से यह अस्वपद विग्रह वाला समास होगा ।

उदाहरण—उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् । **अलौकिक विग्रह** — उन्मत्ता + सु, गङ्गा + सु (समास — 'अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्', विभक्तिलोप, 'उन्मत्त' का पूर्वनिपात, 'उन्मत्ता' उपसर्जन का पुंवद्भाव — 'स्त्रियाः पुंवद्', विभक्त्युत्पत्ति सु) — उन्मत्तगङ्गा + सु ('आ' = 'अ' – अव्ययीभाव-निमित्तक नपुंसकलिङ्ग होने से ह्रस्व – 'ह्रस्वो नपुंसके०', 'सु' = 'अम्' – 'नाव्ययी०', पूर्वरूप) = उन्मत्तगङ्गम् (= जहाँ गङ्गा उच्छृंखलता से बहे ऐसा प्रदेश) । लोहिता गङ्गा यस्मिन् देशे । **अलौकिक विग्रह** — लोहिता + सु, गङ्गा + सु (प्रक्रिया पूर्ववत्) = लोहितगङ्गम् (= जहाँ गङ्गा लोहित वर्ण की हो गयी हो ऐसा प्रदेश) ।

(१४१५) **पद**—तद्धिताः ।

मूलार्थ—पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक यह अधिकार है ।

विमर्श—यह अधिकारसूत्र है । इस सूत्र का प्रभाव पञ्चमाध्याय की समाप्ति तक रहेगा ।

(१४१६) **पद**—अव्ययीभावे, शरत्प्रभृतिभ्यः । **अनुवृत्ति**—टच् (समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च) ।

मूलार्थ—अव्ययीभाव में शरद् आदि शब्दों से समासान्त टच् प्रत्यय होता है । उपशरदम् । प्रतिविपाशम् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में विधिबोधक पद का अभाव है । अतः 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) से 'टच्' पद की अनुवृत्ति आती है । 'समासान्ताः', 'तद्धिताः', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्', 'प्रत्ययः' तथा 'परश्च' का अधिकार है । इस प्रकार टच् (= अ) प्रत्यय अव्ययीभाव का ही अवयव होता है । अतः सूत्रार्थ यह होता है कि ''अव्ययीभाव समास में शरदादि गणपठित शब्दों (प्रातिपदिकों) से समासान्त टच् (= अ) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—शरदः समीपम् (समीप अर्थ में – 'उप') । **अलौकिक विग्रह**—

हिमवत्। अनडुह्। दिश्। दृश्। विश्। चेतस्। चतुर्। त्यद्। तद्। यद्। कियत्। 'जराया जरस् च'। उपजरसम्। **(१४१७) अनश्च ५।४।१०८।** अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच्। **(१४१८) नस्तद्धिते ६।४।१४४।** नान्तस्य भस्य

पूर्वनिपाते 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इत्यनेन टच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इत्यनेन सोरमादेशे पूर्वरूपे 'उपशरदमि'ति।

(१४१७) **अनश्चेति**। अनुवृत्तम् 'अव्ययीभावे' इति पञ्चम्या विपरिणम्यते। अन इति तद्विशेषणम्। तदन्तविधिस्तदाह — **अन्नन्तादिति**।

(१४१८) **नस्तद्धित इति**। न इति षष्ठ्यन्तं पदम्। तेन भस्येत्यधिकृतं विशेष्यते। तदन्तविधिः। टेरिति सूत्रम् 'अल्लोपोऽनः' इत्यतः लोप इति चानुवर्तते। अत आह —

शरद् + ङस्, उप + सु (समीप अर्थ में समास — 'अव्ययं विभक्ति०', विभक्तिलोप, उपसर्जन संज्ञा, 'उप' का पूर्वनिपात, टच् = 'अ' — 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः', प्राति० संज्ञा, सु) उपशरद + सु (टच् = 'अ' प्रत्यय, समास का अवयव होने से टच् सहित उपशरद अव्ययीभाव माना गया। अतः अकारान्त अव्ययीभाव मानकर 'सु' = 'अम्' — 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः', अ + अम् = 'अम्' — पूर्वरूप) = उपशरदम् (शरद् ऋतु क समीप)। **विग्रह**—विपाशः समीपम् (समीप अर्थ में — 'प्रति')। **अलौकिक विग्रह** — विपाश + ङस्, प्रति + सु (समीपार्थ में 'प्रति' का 'विपाश्' के साथ समास, विभक्तिलोप, उपसर्जनसंज्ञा, प्रति का पूर्वनिपात, टच् = 'अ', पुनः प्राति० संज्ञा, विभक्ति — सु) — प्रतिविपाश + सु ('सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = प्रतिविपाशम् (विपाशा (व्यास) नदी के समीप)।

शरदादिगणपठित शब्द इस प्रकार हैं — १. शरद्, २. विपाश्, ३. अनस्, ४. मनस्, ५. उपानह्, ६. दिव्, ७. हिमवत्, ८. अनडुह्, ९. दिश्, १०. दृश्, ११. विश्, १२. चेतस्, १३. चतुर्, १४. त्यद्, १५. तद्, १६. यद्, १७. कियत्, १८. जरस्।

गणसूत्र—जराया इति। जरा शब्द को जरस् आदेश भी होता है।

विशेष—शरदादिगणपठित शब्दों में टच् के अतिरिक्त अन्य विशेष विधान गणसूत्र के द्वारा किया जा रहा है। 'उपजरसम्' में टच् के साथ जरा = जरस् आदेश भी गणसूत्र से होता है।

उदाहरण—विग्रह—जरायाः समीपम् (उप)। **अलौ० विग्रह**—जरा + ङस्, उप + सु (समास, विभक्तिलोप, टच् = 'अ', जरा = जरस् — 'जरायाः जरस् च') — उपजरस् + सु ('सु' = 'अम्, पूर्वरूप') = उपजरसम् (वृद्धावस्था के समीप)।

(१४१७) **पद**—अनः, च। **अनुवृत्ति**—अव्ययीभावे, टच्।

मूलार्थ—अन्नन्त अव्ययीभाव से टच् प्रत्यय होता है।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्र (१४१६) से अव्ययीभावे तथा 'राजाऽहःसखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) से 'टच्' की अनुवृत्ति आती है। प्रकरणवश 'समासान्ताः' आदि सूत्रों का भी पूर्ववत् अधिकार है। सूत्रस्थ सप्तम्यन्त पद 'अव्ययीभावे' का पञ्चमी विभक्ति में विपरिणाम (परिवर्तन) किया जाता है। पञ्चम्यन्त 'अनः' इसका विशेषण होने से तदन्तविधि हो जाती है। तदनुसार — "अन्नन्त (जिसके अन्त में अन् हो) अव्ययीभाव से समासान्त टच् (= अ) प्रत्यय होता है।"

(१४१८) **पद**—नः, तद्धिते। **अनुवृत्ति**—टेः, लोपः, भस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तद्धित के परे रहते नान्त भसंज्ञक की टि का लोप होता है। उपराजम्। अध्यात्मम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'भस्य' (६।४।१२९), 'टेः' (६।४।१४३) तथा 'अल्लोपोऽनः'

टेर्लोपस्तद्धिते । उपराजम् । अध्यात्मम् । (१४१९) नपुंसकादन्यतरस्याम् ५।४।१०९ । अन्नन्तं यत्क्लीबं तदन्तादव्ययीभावाट्टच् वा स्यात् । उपचर्मम् । उपचर्म ।

नान्तस्येति । उपराजम् — राज्ञः समीपमित्यर्थः । सामीप्ये उपेत्यव्ययस्य 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना समासे सुपो लुकि, उपः उपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते 'उपराजन्' इति जाते 'अनश्च' इत्यनेन टच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे भसंज्ञायां 'नस्तद्धिते' इत्यनेन टेः अन्भागस्य लोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमादेशे पूर्वरूपे 'उपराजम्' इति ।

(१४१९) **नपुंसकादिति** । 'अनश्चे'त्यत अन इत्यनुवृत्तं नपुंसकस्य विशेषणम्, तेन तदन्तविधिः । अन्नन्तात् क्लीबादिति लब्धम् । तेनानुवृत्तमव्ययीभावे इति पञ्चम्या विपरिणम्यते । तदन्तविधित्वेनाह — **अन्नन्तमिति । उपचर्मम्** — चर्मणः समीपमित्यर्थः । सामीप्ये उपेत्यव्ययस्याव्ययीभावः, वा टचि, टिलोपः, अम्भावः । टजभावे — उपचर्मेति रूपम् ।

(६।४।१३४) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । सूत्रस्थ 'नः' पद 'भस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । तदनुसार — ''तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर नकारान्त भसंज्ञक अङ्ग की 'टि' (अन्तिम अच् सहित परवर्ती समूह) भाग का लोप होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—राज्ञः समीपम् (उप) । **अलौकिक विग्रह**—राजन् + ङस्, उप + सु (सामीप्य अर्थ में अव्ययीभाव समास, विभक्तिलोप, 'उप' का पूर्वनिपात, टच् = 'अ'—'अनश्च') — उपराजन् + अ ('अन्' भाग टि का लोप — 'नस्तद्धिते', प्राति० संज्ञा, सु, 'सु' = 'अम्' — 'नाव्ययी-भावा०', अ + अ = 'अ' — पूर्वरूप) = उपराजम् (= राजा के समीप) । **विग्रह**—आत्मनि इति । **अलौकिक विग्रह**—आत्मन् + ङि, अधि + सु (विभक्ति अर्थ में अव्ययीभावसमास, विभक्तिलोप, 'अधि' का पूर्वप्रयोग, 'इ' = 'य्' — यण्, टच् = 'अ' — 'अनश्च') — अध्यात्मन् + अ (टि = 'अन्' का लोप—'नस्तद्धिते', पुनः विभक्ति सु, 'सु'='अम्', पूर्वरूप) = अध्यात्मम् (आत्मा के विषय में) ।

(१४१९) **पद**—नपुंसकाद्, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—अनः, अव्ययीभावे, टच् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अन्नन्त जो क्लीब (नपुंसकलिङ्ग), तदन्त अव्ययीभाव से विकल्प से टच् होता है । उपचर्मम् । उपचर्म ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से 'टच्', 'अव्ययीभावे०' (१४१६) से 'अव्ययीभावे' तथा 'अनश्च' (१४१७) से 'अनः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'समासान्ताः' आदि का पूर्ववत् अधिकार है । अनुवृत्त पद 'अव्ययीभावे' का पञ्चम्यन्त में विपरिणाम हो जाता है । अनुवृत्त 'अनः' पद 'नपुंसकात्' का विशेषण होने से तदन्तविधि हो जाती है । फलतः सूत्रार्थ इस प्रकार होगा — ''नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान अन् अन्त वाले अव्ययीभाव से समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से होता है ।''

उदाहरण—लौकिक विग्रह—चर्मणः समीपम् (उप) । **अलौकिक विग्रह**—चर्मन् + ङस्, उप + सु (समीप अर्थ में अव्ययीभावसमास, विभक्तिलोप, 'उप' का पूर्वप्रयोग, टच् = 'अ' — 'नपुंसकादन्यतरस्याम्') — उपचर्मन् + अ (टि = 'अन्' का लोप — 'नस्तद्धिते', पुनः विभक्त्युत्पत्ति — सु, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = उपचर्मम् । टच् प्रत्यय न होने पर — उपचर्मन् + सु (अव्ययसंज्ञा होने के कारण 'सु' विभक्ति का लोप, 'न्' का लोप — 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य') = उपचर्म (चर्म के समीप) ।

(१४२०) झयः ५।४।१११ । झयन्तादव्ययीभावाट्टच् वा स्यात्। उपसमित् – उपसमिधम्। **(१४२१) नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ५।४।११० ।** वा टच् स्यात्। उपनदम्। 'यस्येति चे'ति इलोपः। उपनदीत्यादि। **(१४२२) गिरेश्च**

(१४२०) **झयः** । अन्यतरस्यामिति टजिति चानुवर्तते । 'अव्ययीभावे' इत्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणम्यते झया विशेष्यते च । तदाह – **झयन्तादिति** ।

(१४२१) **नदीपौर्णमासी** । अन्यतरस्यामिति टजिति चानुवर्तते । अत आह – **वा टजिति** ।

(१४२०) **पद**—झयः। **अनुवत्ति**—अन्यतरस्याम्, अव्ययीभावे, टच्। **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—झयन्त अव्ययीभाव से समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से होता है। उपसमिधम्। उपसमित् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पूर्ववत् 'टच्', पूर्वसूत्र (१४१६) से 'अव्ययीभावे' तथा (१४१९) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'समासान्ताः' का अधिकार है। अतः ''झयन्त अव्ययीभाव से वैकल्पिक समासान्त टच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—विग्रह—समिधः समीपम्। **अलौकिक विग्रह**—समिध् + ङस्, उप + सु (समास – 'अव्ययं विभक्ति०' विभक्तिलोप, 'उप' का पूर्वप्रयोग, विकल्प से टच् = 'अ' – 'झयः') – उपसमिध् + अ (पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = उपसमिधम्। 'टच्' के अभावपक्ष में – उपसमिध् + सु ('सु' का लोप, 'ध्' = 'द्' – जश्त्व, 'द्' = 'त्' – चर्त्व) = उपसमित् (समिधा के समीप)।

(१४२१) **पद**—नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, अव्ययीभावे, टच्। **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—नदी, पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्दों से समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से होता है। उपनदम्। उपनदि।

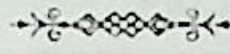
विमर्श—पूर्वसूत्र (१४१९) से 'अन्यतरस्याम्', १४१६ सूत्र से 'अव्ययीभावे' तथा 'राजाहः०' (५।४।९१) से 'टच्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। पूर्ववत् 'समासान्ताः' का अधिकारजन्य प्रभाव है। सूत्र में इतरेतरद्वन्द्व समास है – ''नदी च पौर्णमासी च आग्रहायणी च, ताभ्यः।'' 'अव्ययीभावे' का पञ्चम्यन्त में विपरिणाम होता है। सूत्रस्थ – 'नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः' 'अव्ययीभावे' का विशेषण हो जाने से तदन्तविधि होती है। तदनुसार – ''नदी, पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्द जिस अव्ययीभाव के अन्त में हों, तदन्त से वैकल्पिक समासान्त टच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—लौकिक विग्रह—नद्याः समीपम्। **अलौकिक विग्रह** – नदी + ङस्, उप + सु (सामीप्य अर्थ में अव्ययीभाव समास, विभक्तिलोप, 'उप' का पूर्वनिपात, टच्='अ' प्रत्यय विकल्प से – 'नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः', 'ई' का लोप – 'यस्येति च') – उपनद् + अ (प्राति०संज्ञा, सु, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = उपनदम्। टच् के न होने पर उपनदी (नपुंसकलिङ्गनिमित्तक ह्रस्व 'ई' = 'इ' – 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य', विभक्तिलुक्) = उपनदि (नदी के समीप)।

(१४२२) **पद**—गिरेः, च, सेनकस्य। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, अव्ययीभावे, टच्। **विधिसूत्र** ।

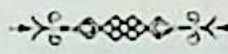
सेनकस्य ५।४।११२ । टच् वा स्यात् । उपगिरम् । उपगिरि । * प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः * । टच् स्यात् । अक्ष्णोऽभिमुखं प्रत्यक्षम् । अक्ष्णः परं परोक्षम् । अत एव समासः । 'परोक्षे लिडि'ति निपातनात्परस्यौकार इत्यादि ।

इत्यव्ययीभावप्रकरणम् ।



(१४२२) **गिरेश्चेति** ।अन्यतरस्यामिति टजिति चानुवर्तते ।सेनकाचार्याणां मते गिर्यन्ताद्वा टच् स्यादित्यर्थः । **उपगिरिमिति** । गिरेः समीपमित्यर्थः । समासे, सुब्लुकि उपेत्यस्य पूर्वनिपाते 'गिरेश्च सेनकस्ये'ति वा टचि, अनुबन्धलोपे 'यस्येति चे'ति इकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ, सोरमि पूवरूपे उपगिरमिति । टजभावपक्षे — 'उपगिरि' इति ।

इत्यव्ययीभावप्रकरणम् ।



मूलार्थ—गिरिशब्दान्त अव्ययीभाव से समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से होता है । उपगिरम् । उपगिरि । **प्रतिपर०**—प्रति, पर, सम् और अनु पूर्वक अक्षि शब्द से अव्ययीभाव समास में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से होता है । प्रत्यक्षम् । परोक्षम् इत्यादि ।

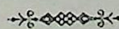
विमर्श—पूर्वसूत्र के अनुसार प्रकृत सूत्र में भी 'अन्यतरस्याम्', 'अव्ययीभावे' तथा 'टच्' की अनुवृत्ति आती है । पूर्ववत् 'समासान्ताः' का अधिकार है ।'अव्ययीभावे' का पञ्चम्यन्त में विपरिणाम होता है । सूत्रस्थ 'गिरेः' उसका विशेषण है । अतः तदन्तविधि होती है । इस प्रकार — ''गिरिशब्दान्त अव्ययीभाव समास से भी समासान्त टच् प्रत्यय सेनक आचार्य के मत में (विकल्प से) होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—गिरेः समीपम् ।**अलौकिक विग्रह**—गिरि + ङस्, उप + सु, (सामीप्यार्थ में समास, विभक्तिलोप, 'उप' का पूर्वनिपात, टच् = 'अ' प्रत्यय विकल्प से, 'इ' का लोप — 'यस्येति च', प्राति० संज्ञा, सु, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = उपगिरम् । 'टच्' के अभावपक्ष में — समासादि के पश्चात् विभक्ति का लोप — 'अव्ययादाप्सुपः') = उपगिरि (पर्वत के समीप) ।

ग० सू०—प्रति, पर, सम् तथा अनु सहित अक्षि शब्दान्त से भी समासान्त टच् प्रत्यय होता है ।

उदाहरण—विग्रह—अक्ष्णी प्रति । **अलौ० वि०**—अक्षि + औ, प्रति + सु (समास — 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये', प्रति का पूर्वनिपात, विभक्तिलोप, 'इ' = 'य्' — यण्, टच् = 'अ' — 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः') — प्रत्यक्षि अ ('इ' का लोप — 'यस्येति च', पुनः विभक्ति — सु, 'सु' = 'अम्', पूर्वरूप) = प्रत्यक्षम् (आँखों के सामने)। **विग्रह**—अक्ष्णः परम् **अलौ० वि०**— अक्षि + ङस्, परम् + सु (सामर्थ्य से अव्ययीभाव समास, विभक्तिलोप, 'पर' का पूर्वनिपात, टच् = 'अ', 'इ' का लोप) — पर अक्ष ('अ' = 'ओ' निपातन 'परोक्षे लिट्' निर्देश होने के कारण, सु = अम्, पूर्वरूप) = परोक्षम् (आँखों से ओझल) ।

अव्ययीभावप्रकरण समास ।



अथ तत्पुरुषसमासप्रकरणम्

(१४२३) तत्पुरुषः २।१।२२ । अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः । **(१४२४) द्विगुश्च २।१।२३ ।** तत्पुरुषसंज्ञः । **(१४२५) द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः २।१।२४ ।** द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते ।

अव्ययीभावसमासान्निरूप्येदानीं तत्पुरुषसमासप्रकरणमारभते –

(१४२३) **तत्पुरुष इति** । **प्रागिति** । 'शेषो बहुव्रीहिः' इत्यतः प्राक् 'तत्पुरुषः' इत्यस्याधिकार इत्यर्थः ।

(१४२४) **द्विगुश्च** । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति वक्ष्यमाणसमासस्य द्विगुसंज्ञा विधास्यते । स द्विगुसमासोऽपि तत्पुरुषसंज्ञक इति ।

(१४२५) **द्वितीयेति** । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमि'ति परिभाषालभ्यस्तदन्तविधिस्तदाह—**द्वितीयान्तमिति** ।सुपेत्यनुवृत्तं बहुवचनान्ततया विपरिणतं प्रत्ययग्रहणपरिभाषया सुबन्त-

---

अव्ययीभाव समास के अनन्तर क्रमप्राप्त तत्पुरुष समास का निर्वचन आरम्भ किया जा रहा है –

(१४२३) **पद**—तत्पुरुषः । **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा, समासः । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ—बहुव्रीहि के पूर्व तत्पुरुष का अधिकार है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र अधिकारसूत्र होने के साथ ही संज्ञासूत्र भी है । 'शेषो बहुव्रीहिः' (२।२।२३) सूत्र से पूर्व तक 'तत्पुरुषः' का अधिकार जाता है । अतः बहुव्रीहि से पूर्व अष्टाध्यायी में वर्णित समास तत्पुरुषसंज्ञक होगा ।

(१४२४) **पद**—द्विगुः, च । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—द्विगु की भी तत्पुरुषसंज्ञा होती है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१४२३) का अधिकार होने से 'तत्पुरुषः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार द्विगु भी तत्पुरुषसंज्ञक होता है । तत्पुरुष का भेद 'कर्मधारय' और कर्मधारय का भेद द्विगु समास कहलाता है ।

(१४२५) **पद**—द्वितीया, श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः । **अनुवृत्ति**—विभाषा, सुप्, सह सुपा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वितीयान्त का श्रितादिप्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है । कृष्णश्रितः इत्यादि ।

विमर्श—द्वितीया से सप्तमीविभक्ति तक ६ विभक्तियों के आधार पर सामान्य तत्पुरुष ६ प्रकार का होता है । सर्वप्रथम द्वितीया तत्पुरुष का विवेचन किया जा रहा है । सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु प्रकृत सूत्र में – 'विभाषा' (२।१।११), 'सह सुपा' (२।१।२) तथा 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' (२।१।२) से 'सुप्' की अनुवृत्ति आती है । सूत्रस्थ 'श्रिता……पन्नैः' पद में इतरेतरद्वन्द्व समास है । श्रितश्च, अतीतश्च, पतितश्च, गतश्च, अत्यस्तश्च, प्राप्तश्च, आपन्नश्च, तैः । समस्यमान श्रित आदि पद तदनुरूप पदों में लाक्षणिक हैं । 'द्वितीया' पद में 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा के अनुसार तदन्तविधि होती है । इस प्रकार – ''द्वितीयान्त सुबन्त शब्दों का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त तथा आपन्न सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।''

कृष्णं श्रितः कृष्णश्रित इत्यादि। (१४२६) तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २।१।३०। तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थेन च सह प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः। धान्येनार्थो धान्यार्थः। तत्कृतेति किम्? अक्ष्णा काणः।

परम्। श्रितादिशब्दाः श्रितादिप्रकृतिकेषु लाक्षणिका इति भावः। अत आह — **द्वितीयान्तमिति**। **कृष्णश्रितः** — कृष्णं श्रित इति। कृष्ण अम् श्रित सु इत्यलौकिकविग्रहे 'द्वितीयाश्रितातीत-पतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' इति समासे प्रातिपदिकत्वे सुपो लुकि 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्'. इति कृष्णमित्यस्योपसर्जनसंज्ञायाम्, तस्य पूर्वनिपाते पुनः प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ रुत्वे विसर्गे 'कृष्णश्रितः' इति।

(१४२६) **तृतीयेति**। 'तृतीये'त्यनेन तृतीयान्तं विवक्षितम्। 'तत्कृत' इति लुप्ततृतीया-कम्, तच्छब्देन तृतीयान्तपरामर्शिना तदर्थो लक्ष्यते। तत्कृतेत्येतच्च गुणद्वारा गुणवचनेऽन्वेति। तदाह — **तृतीयान्तमित्यादिना**। **शङ्कुलाखण्डः** — 'शङ्कुलया खण्डः' इति लौकिकविग्रहे 'शङ्कुला टा खण्ड सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेने'त्यनेन तत्पुरुषसमासे विभक्तिलोपे शङ्कुलाशब्दस्योपसर्जनत्वे पूर्वप्रयोगे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'शङ्कुला-खण्डः' इति।

उदाहरण—विग्रह—कृष्णं श्रितः। **अलौकिक विग्रह**—कृष्ण + अम्, श्रित + सु (द्वितीयान्त कृष्ण का श्रित के साथ समास — 'द्वितीया श्रिता०', उपसर्जनसंज्ञा, कृष्ण का पूर्वनिपात, विभक्तिलोप, प्राति०संज्ञा, पुनः विभक्ति उत्पत्ति सु, स् = र् — 'ससजुषो रुः', र्=: — 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः') = कृष्णश्रितः (= कृष्ण को प्राप्त)।

(१४२६) **पद**—तृतीया, तत्कृतार्थेन, गुणवचनेन। **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त पद का तृतीयान्तार्थ से किये गुणवचन के साथ और अर्थ शब्द के साथ विकल्प से समास होता है। शङ्कुलाखण्डः इत्यादि।

विमर्श—सूत्रार्थ के निर्वचन हेतु यहाँ पूर्ववत् 'सुप्' और 'सह सुपा' की अनुवृत्ति आती है। समासप्रकरण के सूत्र-'प्राक्कडारात्समासः' (१३९५), 'तत्पुरुषः' (१४२३) तथा 'विभाषा' (१४०८) का अधिकार विद्यमान है। सूत्रस्थ 'तत्कृत' पद लुप्ततृतीयान्त है। अतः अर्थ की दृष्टि से उसका स्वरूप 'तत्कृतेन' है। 'तत्कृतेन' पद 'गुणवचनेन' के साथ अन्वित होता है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा के अनुसार 'तृतीया' पद 'तृतीयान्त' का बोधक है। इस प्रकार ''तृतीयान्त सुबन्त का तृतीयान्त के अर्थ द्वारा सम्पादित गुणवाची शब्द के साथ एवम् सुबन्त अर्थ शब्द के साथ विकल्प से समास होता है, वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।''

उदाहरण—लौकिक विग्रह—शङ्कुलया खण्डः। **अलौकिक विग्रह**—शङ्कुला + टा, खण्ड + सु (तृतीयान्त शङ्कुला का तत्कृत गुणवाचक सुबन्त 'खण्डः' के साथ समास — 'तृतीया तत्कृतार्थेन०', विभक्तिलोप, उपसर्जनसंज्ञा, 'शङ्कुला' का पूर्वनिपात, पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु, स् = र् = :) = शङ्कुलाखण्डः (= सरौते से किया हुआ टुकड़ा)। **विग्रह**—धान्येन अर्थः। **अलौकिक विग्रह**—धान्य + टा, अर्थ + सु (तृतीयान्त सुबन्त 'धान्येन' का 'अर्थः' के साथ समास, विभक्तिलोप आदि, अ + अ = 'आ' – दीर्घ, प्राति० संज्ञा, सु, स् = र् = :) = धान्यार्थः (धान्य से प्रयोजन)।

प्रत्युदाहरण—तत्कृत इति। प्रकृत सूत्र में 'तत्कृत' का क्या प्रयोजन है? सूत्र में इस पद का अभाव होने पर 'गुणवाची' पद का तृतीयान्त सुबन्त के अर्थ द्वारा सम्पादित न होने पर भी

(१४२७) पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः २।१।३१ ।तृतीयान्तमेतैः प्राग्वत् । मासपूर्वः । मातृसदृशः । पितृसमः । ऊनार्थे – माषोनं कार्षापणम् । मासविकलम् । वाक्कलहः । आचारनिपुणः । गुडमिश्रः । आचारश्लक्ष्णः । * अवरस्योपसंख्यानम् * । मासावरः । **(१४२८) अन्नेन व्यञ्जनम् २।१।३४ ।**

(१४२७) **पूर्वसदृशेति** । पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थ, कलह, निपुण, मिश्र, श्लक्ष्ण — एतैः सह तृतीयान्तं पदं समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः ।

तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास प्राप्त हो जाता । इस प्रकार – 'अक्ष्णा काणः' (आँख से काना) में भी समास हो जाता । किन्तु यहाँ समास नहीं होता, क्योंकि यहाँ काणत्व आँख के द्वारा सम्पादित है तथा वह दुष्कर्मों का परिणाम है ।

(१४२७) **पद**—पूर्वसदृश .... श्लक्ष्णैः। **अनुवृत्ति**—तृतीया, सुप्, सह सुपा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तृतीयान्त का पूर्व, सदृश आदि के साथ विकल्प से समास होता है । मासपूर्वः । मातृसदृशः । इत्यादि । **वा०**—अवर शब्द का भी (तृतीयान्त सुबन्त के साथ) समास होता है । मासावरः ।

विमर्श—प्रकृत एक पद सूत्र में इतरेतरद्वन्द्व समास है । पूर्वश्च, सदृशश्च, समश्च, ऊनार्थश्च, कलहश्च, निपुणश्च, मिश्रश्च, श्लक्ष्णश्च, तैः । पूर्वसूत्र (१४२६) से 'तृतीया' पद की अनुवृत्ति आती है । पूर्ववत् 'तत्पुरुषः', 'विभाषा' तथा 'समासः' का अधिकार है एवम् 'सुप्', 'सह सुपा' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार – ''तृतीयान्त सुबन्त का पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थ, कलह, निपुण, मिश्र तथा श्लक्ष्ण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है ।''

उदाहरण (१) **लौकिक विग्रह**—मासेन पूर्वः।[1] **अलौकिक विग्रह**—मास + टा, पूर्व + सु (तृतीयान्त 'मासेन' का 'पूर्वः' सुबन्त के साथ समास – 'पूर्वसदृश०', विभक्तिलोप आदि, पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु = स् = र् = :) = मासपूर्वः (= एक मास पहले का) । (२) **लौकिक विग्रह**—मात्रा सदृशः[2] । **अलौकिक विग्रह**—मातृ + टा, सदृश + सु ('मात्रा' तृतीयान्त का 'सदृशः' के साथ समास, विभक्तिलोप, पुनः प्राति०संज्ञा, सु = स् = र् = :) = मातृसदृशः (= माता के समान) । (३) पित्रा समः । **अलौकिक विग्रह**—पितृ + टा, सम + सु (पूर्ववत् समास, विभक्तिलोप, प्राति०संज्ञा, सु = स् = र् =:) = पितृसमः (पिता के समान) । (४) **विग्रह**—माषेण ऊनम् । **अलौ० वि०**—माष + टा, ऊन + सु (पूर्ववत् समास, विभक्तिलोप, अ + ऊ = 'ओ' – गुण, पुनः विभक्त्युत्पत्ति – सु, सु = अम्, अ + अ = 'अ' – पूर्वरूप) = माषोनम् (माष से कम परिमाण) । (५) **विग्रह**—माषेण विकलम् । **अलौ० वि०**—माष + टा, विकल + सु (पूर्ववत् समासादि) = माषविकलम् (माष से हीन परिमाण) । (६) **विग्रह**—वाचा कलहः । **अलौ० वि०**—वाच् + टा, कलह + सु (पूर्ववत्समासादि, 'च्' = 'क्' – कुत्व) = वाक्कलहः (वाणी के द्वारा झगड़ा) । (७) **लौकिक विग्रह**—आचारेण निपुणः । **अलौ० वि०**—आचार + टा, निपुण + सु (पूर्ववत् समास आदि) = आचारनिपुणः (आचरण द्वारा कुशल) । (८) **विग्रह**—गुडेन मिश्रः । **अलौ० वि०**—गुड + टा,

---

१. यहाँ अवधि (मास) प्रतीत होने से 'अन्यारादितरर्ते०' (२/२/२९) से पञ्चमी विभक्ति की प्राप्ति होती है; परन्तु प्रकृत सूत्र (१४२७) द्वारा समासविधान के कारण ज्ञापकवश तृतीया विभक्ति हुई । इसी प्रकार – 'माषेण ऊनम्' इत्यादि में भी तृतीया ।

२. 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीया' से तृतीया विभक्ति । 'पित्रा समः' में भी तृतीया ।

संस्कारकद्रव्यवाचकं तृतीयान्तमन्येन सह प्राग्वत्। दध्ना उपसिक्तमोदनं दध्योदनम्।
(१४२९) भक्ष्येण मिश्रीकरणम् २।१।३५। गुडेन मिश्रा धानाः गुडधानाः।

(१४२८) **अन्नेनेति।** **संस्कारेति।** संस्क्रियते अनेनेति संस्कारः, उपसेकादिसाधनम् तद्वाचकमित्यर्थः। **दध्योदनः** – 'दध्ना उपसिक्तः ओदनः' इति। दधि + टा, ओदन + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'अन्नेन व्यञ्जनम्' इति समासे विभक्तिलोपे 'दधि' इत्यस्योपसर्जनत्वे पूर्वप्रयोगे यणि प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'दध्योदनः' इति।

(१४२९) **भक्ष्येणेति।** मिश्रीक्रियते खाद्यद्रव्यमनेनेति मिश्रीकरणम्। तद्वाचकं तृतीयान्तं भक्ष्यवाचकेन सह समस्यत इत्यर्थः।

मिश्र + सु (पूर्ववत् समासादि) – गुडमिश्र (गुड़ मिलाया हुआ)। (९) **विग्रह**—आचारेण श्लक्ष्णः। **अलौ० वि०**—आचार + टा, श्लक्ष्ण + सु (समासादि पूर्ववत्) = आचारश्लक्ष्णः (आचरण से अच्छा)।

वा०—तृतीयान्त सुबन्त के साथ सुबन्त 'अवर' का समास होता है।

उदाहरण—**विग्रह**—मासेन अवरः। **अलौ० वि०**—मास + टा, अवर + सु (समास 'अवरस्योपसंख्यानम्', विभक्तिलोप, दीर्घ, पुनः सु = स् = र् = :) = मासावरः (एक माह पहले)।

(१४२८) **पद**—अन्नेन, व्यञ्जनम्। **अनुवृत्ति**—तृतीया, सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—संस्कारकद्रव्यवाचक तृतीयान्त सुबन्त का अन्नवाचक शब्द के साथ विकल्प से समास होता है। दध्योदनम्।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्रों से 'तृतीया', 'सुप्' तथा 'सह सुपा' पदों की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'तत्पुरुषः', 'विभाषा' तथा 'समासः' का अधिकारजन्य प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार सूत्र का आशय इस प्रकार है — ''अन्न को स्वादु बनाने के लिए उपयोगी व्यञ्जनवाची तृतीयान्त सुबन्त का अन्नवाची सुबन्त शब्दों के साथ विकल्प से (तृतीयातत्पुरुष) समास होता है।''

उदाहरण—**लौकिक विग्रह**—दध्ना (उपसिक्तः) ओदनः। **अलौकिक विग्रह**—दधि + टा, ओदन + सु (व्यञ्जनवाची तृतीयान्त 'दध्ना' के साथ 'ओदनः' अन्नवाची का समास – 'अन्नेन व्यञ्जनम्', विभक्तिलोप, 'इ' = 'य्' – यण्, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = दध्योदनः (दहीमिश्रित भात)।

(१४२९) **पद**—भक्ष्येण, मिश्रीकरणम्। **अनुवृत्ति**—तृतीया, सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—मिश्रीकरणवाचक तृतीयान्त सुबन्त का भक्ष्यवाचक सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। गुडधानाः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१४२८) के समान यहाँ भी उक्त सभी पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार – 'मिश्रण करना' अर्थात् 'मिलाना' के पर्यायवाचक तृतीयान्त शब्दों का मिश्रितपदार्थसूचक अन्नवाची समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है।

उदाहरण—**लौकिक विग्रह**—गुडेन धानाः। **अलौकिक विग्रह**—गुड + टा, धान + जस् ('गुडेन' तृतीयान्त का भक्ष्यवाची सुबन्त 'धानाः' के साथ समास – 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्', विभक्ति का लोप, पुनः विभक्त्युत्पत्ति जस् = अस्) – गुडधान + अस् (अ + अ = 'आ' – दीर्घ – 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः', स् = र् = :) = गुडधानाः (गुड मिले हुए धान)।

(१४३०) कर्तृकरणे कृता बहुलम् २।१।३२। कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत्। हरिणा त्रातो हरित्रातः। नखभिन्नः। 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' (.प.)। नखनिर्भिन्नः। **(१४३१) चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः २।१।३६।** चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्तद्वाचिनाऽर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। यूपाय

(१४३०) **कर्तृकरण इति**। तृतीयेत्यनुवर्तते। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणम्, कृतेत्यपि तथैव। तदाह — **कर्तरि इत्यादि**। **नखनिर्भिन्नः** — 'नखैर्निर्भिन्नः' इति लौकिक-विग्रहे नख + भिस्, निर्भिन्न + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषाबलात् 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे नखनिर्भिन्नपदस्य प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'नखनिर्भिन्नः' इति।

(१४३१) **चतुर्थीति**। चतुर्थीत्यनेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया चतुर्थ्यन्तं गृह्यते। तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, रक्षित इत्येषां द्वन्द्वः। चतुर्थ्यन्तमेतैः षड्भिः समस्यते स तत्पुरुष इति

(१४३०) **पद**—कर्तृकरणे, कृता, बहुलम्। **अनुवृत्ति**—तृतीया, सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कर्तृतृतीयान्त और करणतृतीयान्त का कृदन्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। हरित्रातः। नखभिन्नः। **परि०**—कृत् के ग्रहण में गतिकारकपूर्वक शब्दों का भी ग्रहण होता है। नखनिर्भिन्नः।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए पूर्वसूत्र के समान सभी पदों की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित है। यहाँ 'विभाषा' की अनुवृत्ति नहीं आती। सूत्र में 'बहुलम्' पद का निवेश होने से 'अधिक' अर्थ का लाभ होता है। सूत्रस्थ 'कर्तृकरणे' में समाहारद्वन्द्व समास है — 'कर्ता च करणं च, तस्मिन्।' तदनुसार — ''कर्तृवाची और करणवाची तृतीयान्त सुबन्त का कृदन्त सुबन्त के साथ अधिकतर (बहुलतया) समास होता है।''

उदाहरण—लौकिक विग्रह—हरिणा त्रातः[1]। **अलौकिक विग्रह**—हरि + टा, त्रात + सु (कर्तृतृतीयान्त 'हरिणा' के साथ क्तप्रत्ययान्त 'त्रातः' के साथ समास, विभक्तिलोप, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = हरित्रातः (हरि से रक्षित)। **विग्रह**—नखैः भिन्नः।[2] **अलौकिक विग्रह**—नख + भिस्, भिन्न + सु (करणतृतीयान्त 'नखैः' के साथ क्तप्रत्ययान्त 'भिन्नः' का समास, विभक्ति-लोपादि पूर्ववत्) = नखभिन्नः (नाखूनों से तोड़कर निकाला)।

परिभाषार्थ—गति तथा कारक पूर्वपद रहने पर भी कृत्संज्ञक प्रत्यय उसी रूप में ग्राह्य होते हैं।

उदाहरण—लौकिक विग्रह—नखैः निर्भिन्नः। **अलौ० वि०**—नख + भिस्, भिन्न + सु (निर् उपसर्ग के योग में भी भिन्न पद कृदन्त का बोधक होने से समास, विभक्तिलोप, पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु = स् = र् = :) = नखनिर्भिन्नः (नाखूनों से तोड़ कर निकाला हुआ)।

(१४३१) **पद**—चतुर्थी, तदर्थार्थ - बलि - हित - सुख - रक्षितैः। **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—चतुर्थ्यन्तार्थ के लिए जो पदार्थ, तद्वाचक शब्द के साथ तथा अर्थ आदि के साथ चतुर्थ्यन्त का विकल्प से समास होता है। यूपदारु। तदर्थ से प्रकृतिविकृतिभाव ही लिया जाता है।

१-२. क्रमशः कर्ता और करण में तृतीया - 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२।३।१८)।

दारु यूपदारु। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्यते। तेनेह न – रन्धनाय स्थाली। अश्ववासादयस्तु षष्ठीतत्पुरुषाः। * अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् *। द्विजायायं द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थं पयः। भूतबलिः।

फलितार्थः। तदर्थेत्यत्र तच्छब्देन चतुर्थ्यन्तार्थो विवक्षितः। चतुर्थ्यन्तवाच्यप्रयोजनकं यत् तत्तदर्थमिति। अत आह – **चतुर्थ्यन्तार्थायेत्यादिना**। **अर्थेनेति**। अर्थशब्देन चतुर्थ्यन्तस्य नित्यसमास इति वक्तव्यम्। अन्यथा विभाषाधिकारात्पक्षे विकल्पः स्यात्। अर्थशब्दस्य नित्यपुंल्लिङ्गत्वेऽपि 'परवल्लिङ्गं' इति पुंल्लिङ्गं बाधित्वाऽनेन विशेष्यलिङ्गानुसारेण स्त्रीलिङ्गता नपुंसकता च। **भूतबलिरिति**। भूतेभ्यो बलिरिति विग्रहः। तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तस्य बलिशब्देन समासः।

अतः 'रन्धनाय स्थाली' में समास नहीं हुआ। **वा०**—अर्थ शब्द के साथ नित्य समास होता है और विशेष्य के समान लिङ्ग भी होता है। द्विजार्थः सूपः इत्यादि।

विमर्श—चतुर्थीतत्पुरुष का प्रकरण आरम्भ होता है। सूत्रस्थ 'तदर्थार्थ.......... रक्षितैः' में इतरेतरद्वन्द्व समास है – "तस्मै इदं तदर्थम्, तदर्थं च, अर्थश्च, बलिश्च, हितञ्च, सुखं च रक्षितं च, तैः।" पूर्ववत् 'समासः', 'विभाषा' तथा 'तत्पुरुषः' का अधिकार है। 'सुप्' और 'सह सुपा' की अनुवृत्ति आ रही है। तदन्तविधि होने से 'चतुर्थी' पद चतुर्थ्यन्त का बोधक है। इस प्रकार – "चतुर्थ्यन्त का तद्वाचक अर्थ में प्रयोग किये जाने वाले प्रातिपदिक के साथ तथा अर्थ, बलि, हित, सुख एवं रक्षित सुबन्तों के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है।"

उदाहरण—विग्रह—यूपाय दारु। **अलौकिक विग्रह**—यूप + ङे, दारु + सु (सुबन्त 'दारु' प्रकृति है और चतुर्थ्यन्त 'यूपाय' विकृति है, अतः समास – 'चतुर्थी०', विभक्तिलोप, पुनः प्राति० संज्ञा, सु, 'सु' का लोप – 'स्वमोर्नपुंसकात्') = यूपदारु (खम्भे = यज्ञस्तम्भ के लिए लकड़ी)।

तदर्थेनेति—तदर्थ से प्रकृतिविकृतिभाव ही लिया जाता है। अर्थात् – चतुर्थ्यन्त सुबन्त के लिए गृहीत वस्तु से यदि चतुर्थ्यन्त पदार्थ में विकार होगा तो समास होगा अन्यथा नहीं। अतः 'रन्धनाय स्थाली' (पकाने के लिए पतीली (बटलोई)) में समास नहीं होता। क्योंकि यहाँ तदर्थवाचक सुबन्त 'स्थाली' है। पकने पर उसमें कोई परिवर्तन (विकार) नहीं होता। इसी प्रकार – अश्वस्य घासः = 'अश्वघासः' में षष्ठीतत्पुरुष समास ही होता है, चतुर्थीतत्पुरुष नहीं। क्योंकि 'अश्व' और 'घास' में भी 'यूप' और 'दारु' के समान प्रकृतिविकृतिभाव नहीं है।

वा०—"चतुर्थ्यन्त का 'अर्थ' सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और समस्त पद का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है।" तत्पुरुष समास में उत्तरपद के अनुसार प्राप्त लिङ्ग का यह बाधक है।[1]

उदाहरण—(क) **अस्वपद विग्रह**—द्विजाय अयम्। द्विज + ङे, अर्थ सु (पुल्लिंग 'अर्थ' के स्थान पर विग्रह में 'अयम्' का प्रयोग हुआ है, वा० से नित्य समास, विभक्तिलोप, अ + अ = 'आ' – दीर्घ, पुनः प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = द्विजार्थः सूपः (द्विज के लिए दाल)। (ख) द्विजाय इयम् = द्विजार्था यवागू (द्विज के लिए लपसी)। (ग) द्विजाय इदम् – द्विजार्थं पयः (द्विज के लिए दूध)। उक्त तीनों उदाहरणों में विशेष्य के अनुसार क्रमशः पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग हुए हैं।

---

१. द्रष्टव्य – 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' (पा० सू० २।४।२६)।

गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्। **(१४३२) पञ्चमी भयेन २।१।३७।** चोराद् भयम् चोरभयम्। **(१४३३) स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन २।१।३९।** **(१४३४) पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ६।३।२।** अलुगुत्तरपदे। स्तोकान्मुक्तः। अल्पान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। विप्रकृष्टादागतः।

(१४३२) **पञ्चमीति**। पञ्चम्यन्तं भयशब्देन सुबन्तेन समस्यत इत्यर्थः। **चोरभयमिति**। चोर ङसि भय सु इत्यलौकिकविग्रहे 'पञ्चमी भयेन' इति समासे सुपो लुकि पञ्चम्यन्तस्य पूर्वनिपाते समुदायात्सौ सोरमि पूर्वरूपे च 'चोरभयमि'ति।

(१४३३) **स्तोकान्तिक इति**। स्तोक, अन्तिक, दूर एतदर्थकानि कृच्छ्र एतानि पञ्चम्यन्तानि क्तप्रत्ययान्तेन समस्यन्त इत्यर्थः। अर्थग्रहणं स्तोकान्तिकदूरेषु सम्बध्यते।

(१४३४) **पञ्चम्या इति**। स्तोकादिशब्देभ्यः पञ्चम्या अलुग् उत्तरपदे परतः।

विग्रह—भूताय बलिः। **अलौकिक विग्रह**—भूत + ङे, बलि + सु (समास – 'चतुर्थी०', विभक्तिलोप, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = भूतबलिः (भूत के लिए बलि)। **लौकिक वि०**—गवे हितम्। **अलौकिक विग्रह**—गो + ङे, हित + सु (समास, विभक्तिलोप, पुनः विभवत्युत्पत्ति सु, सु = 'अम्' – 'अतोऽम्', अ + अ = 'अ' पूर्वरूप – 'अमि पूर्वः') = गोहितम् (गाय के लिए हितकारी)। **विग्रह**—गोभ्यः सुखम्। **अलौ० वि०**—गो + भ्यस्, सुख + सु (पूर्ववत् समासादि) – गोसुखम् (गायों के लिए सुख)। **विग्रह**—गवे रक्षितम्। **अलौ० वि०**—गो + ङे, रक्षित + सु (पूर्ववत् समासादि) – गोरक्षितम् (गाय के लिए रक्षित)।

(१४३२) **पद**—पञ्चमी, भयेन। **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पञ्चम्यन्त भयवाचक सुबन्त के साथ विकल्प से समस्त होता है। चोरभयम्।

विमर्श—पञ्चमीतत्पुरुष का प्रकरण प्रारम्भ होता है। प्रकृत सूत्र में भी पूर्वसूत्र (१४३१) की तरह सभी आवश्यक पदों की अनवृत्ति आती है। तदनुसार – ''पञ्चम्यन्त का सुबन्त भय शब्द समर्थ के साथ विकल्प से समास होता है।''

उदाहरण—**लौकिक विग्रह**—चोराद् भयम्। **अलौकिक विग्रह**—चोर + ङसि, भय + सु (समास – 'पञ्चमी भयेन', विभक्तिलोप, पुन विभक्त्युत्पत्ति सु, सु = 'अम्', पूर्वरूप) = चोरभयम् (चोर से भय)।

(१४३३) **पद**—स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि, क्तेन। **अनुवृत्ति**—पञ्चमी, सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—स्तोकादि पञ्चम्यन्तों का क्तान्त के साथ विकल्प से समास होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१४३२) से 'पञ्चमी' की और पूर्ववत् 'सुप्' तथा 'सह सुपा' की अनुवृत्ति आती है। 'तत्पुरुषः', 'विभाषा' और 'समासः' का अधिकारजन्य प्रभाव विद्यमान है। अत एव ''स्तोकार्थक, अन्तिकार्थक और दूरार्थक पञ्चम्यन्त सुबन्त एवं कृच्छ्रार्थक पञ्चम्यन्त सुबन्त का क्तप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है।''

(१४३४) **पद**—पञ्चम्याः, स्तोकादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—अलुक् उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उत्तरपद के परे रहते स्तोकादि से परवर्ती पञ्चमी का अलुक् होता है। स्तोकान्मुक्तः। अल्पान्मुक्तः इत्यादि।

विमर्श—सूत्र में विधेयांश की पूर्ति हेतु 'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति

कृच्छ्रादागतः । (१४३५) षष्ठी २।२।८ । सुबन्तेन प्राग्वत् । राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः । (१४३६) याजकादिभिश्च २।२।९ । षष्ठ्यन्तं समस्यते । वक्ष्यमाणस्यापवादः । ब्राह्मणयाजकः । देवपूजकः । याजक, पूजक, परिचारक, परिवेषक, स्नातक, अध्यापक, उत्पादक, उद्वर्तक, होतृ, पोतृ, भर्तृ, रथगणक, पत्तिगणक इति याजकादिः । * गुणोत्तरेण

(१४३५) **षष्ठीति** । षष्ठ्यन्तं सुबन्तेन समस्यते, स तत्पुरुष इत्यर्थः । **राजपुरुषः** – राजन् ङस्, पुरुष सु इत्यलौकिकविग्रहे 'षष्ठी' इत्यनेन षष्ठीतत्पुरुषसमासे विभक्तिलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'राजपुरुषः' इति ।

(१४३६) **याजकादिभिश्चेति** । याजकादिगणपठितैः षष्ठ्यन्तं समस्यत इत्यर्थः । **देवपूजकः** – 'देवस्य पूजकः' इति लौकिकविग्रहे 'देव ङस्, पूजक सु' इत्यलौकिकविग्रहे

आती है । तदनुसार – "उत्तरपद परे रहते स्तोक आदि शब्दों की पञ्चमी विभक्ति का लोप नहीं होता ।"

उदाहरण—(१) स्तोकान्मुक्तः । **अलौकिक विग्रह**—स्तोक + ङसि, मुक्त + सु (पञ्चमी-तत्पुरुष समास – 'स्तोकान्तिक०', 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से प्राप्त लुक् का अलुक् – 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः', 'ङसि' = 'आत्' – 'टाङसिङसामिनात्स्याः') – स्तोकात् मुक्तः ('त्' = 'न्' – 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा', पुनः विभक्ति सु, सु = स् = र् = :) = स्तोकान्मुक्तः (थोड़े से ही छूट गया) । (२) अल्पात् मुक्तः । **अलौ० वि०**—अल्प + ङसि, मुक्त + सु (समास, पूर्ववत् विभक्ति का अलुक्, 'त्' = 'न्' विभक्तिकार्य) = अल्पान्मुक्तः (थोड़े से ही छूट गया) । (३) अन्तिकात् आगतः । **अलौ० वि०**—अन्तिक + ङसि, आगत + सु (पूर्ववत् समास एवं अलुक्, 'त्' = 'द्' – 'झलां जशोऽन्ते' विभक्तिकार्य) = अन्तिकादागतः (समीप से आया हुआ) । (४) अभ्याशात् आगतः । **अलौ० वि०**—अभ्यास + ङसि, आगत + सु (पूर्ववत् समासादि) = अभ्याशादागतः (समीप से आया) । (५) दूरात् आगतः । **अलौ० वि०**—दूर + ङसि, आगत + सु (पूर्ववत् समास, अलुक्, जश्त्व, विभक्तिकार्य) = दूरादागतः (दूर से आया हुआ) । (६) विप्रकृष्टात् आगतः (पूर्ववत् कार्य) = विप्रकृष्टादागतः (दूर से आया हुआ) । (७) कृच्छ्रात् आगतः (उक्तवत् कार्य) = कृच्छ्रादागतः (कठिनाई से आया हुआ) ।

(१४३५) **पद**—षष्ठी । **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है । राजपुरुषः ।

विमर्श—षष्ठीतत्पुरुष का प्रकरण प्रारम्भ होता है । सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए पूर्ववत् 'सुप्' तथा 'सह सुपा' की अनुवृत्ति आती हैं । प्रकरणानुसार – 'समासः', 'तत्पुरुषः' तथा 'विभाषा' का अधिकार है । तदनुसार सूत्र का आशय यह है कि "षष्ठ्यन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है ।"

उदाहरण—राज्ञः पुरुषः । **अलौकिक विग्रह**—राजन् + ङस्, पुरुष + सु (समास – '**षष्ठी**', षष्ठ्यन्त की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात, विभक्तिलोप, विभक्तिलोप के बाद प्रत्ययलक्षण का आश्रय लेकर 'न्' का लोप – 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य', पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = राजपुरुषः (राज-सम्बन्धी पुरुष) ।

(१४३६) **पद**—याजकादिभिः, च । **अनुवृत्ति**—षष्ठी, सुप्, सह सुपा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त का याजकादि सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है । ब्राह्मणयाजकः ।

तरलोपश्च *। तरबन्तं यद् गुणवाचि तेन समासः। सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः। सर्वेषां महत्तरः सर्वमहान्। **(१४३७) न निर्धारणे २।२।१०**। षष्ठी न समस्यते। नृणां द्विजः श्रेष्ठः। **(१४३८) पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन**

'याजकादिभिश्चे'त्यनेन समासे, सुब्लुकि देवशब्दस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते च प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'देवपूजकः' इति।

(१४३७) **न निर्धारण इति**। 'षष्ठी' इत्यनुवर्तते। षष्ठी निर्धारणे न समस्यत इत्यर्थः। **नृणामिति**। नृषु द्विजस्य श्रेष्ठत्वेन निर्धारणत्वान्न समास इत्यर्थः।

(१४३८) **पूरणेति**। अत षष्ठीत्यनुवर्तते, 'न निर्धारणे' इत्यतः नेति च। तदाह **–पूरणा-**

देवपूजकः। **वा०**—षष्ठ्यन्त का गुणवाचक तरप् प्रत्ययान्त के साथ समास होता है और तरप् का लोप भी होता है। सर्वश्वेतः इत्यादि।

विमर्श—प्रकरणवश पूर्वसूत्र 'षष्ठी' (१४३५) की अनुवृत्ति आती है। अन्य पदों एवं अधिकारसूत्रों का पूर्ववत् प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार – "षष्ठ्यन्त सुबन्त तदादि का याजक आदि सुबन्तों के साथ भी विकल्प से समास होता है।" सामान्यतया 'षष्ठी' सूत्र से षष्ठीसमास की प्राप्ति होती है, किन्तु उसका निषेध – 'तृजकाभ्यां कर्तरि' (२।२।१५) से सम्भावित है। अतः उस निषेध का बाधक होकर प्रकृत सूत्र चरितार्थ होता है।

उदाहरण—लौकिक विग्रह—ब्राह्मणस्य याजकः। **अलौकिक विग्रह**—ब्राह्मण + ङस्, याजक + सु (षष्ठ्यन्त 'ब्राह्मणस्य' का प्रथमान्त 'याजकः' के साथ समास – 'याजकादिभिश्च', विभक्तिलोप, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = ब्राह्मणयाजकः (ब्राह्मण का यज्ञ कराने वाला)। देवानां पूजकः। **अलौ० वि०**—देव + आम्, पूजक + सु (समासादिकार्य पूर्ववत्) = देवपूजकः (देवताओं का पूजक)।

वार्तिकार्थ—गुणवाचक शब्द से विहित तरप् प्रत्ययान्त षष्ठ्यन्त के साथ वैकल्पिक समास होता है और तरप् प्रत्यय का लोप भी होता है।

उदाहरण—(क) **विग्रह**—सर्वेषां श्वेततरः। **अलौ० वि०**—सर्व + आम्, श्वेततर + सु (समास, तरप् = तर का लोप – 'गुणोत्तरेण तरलोपश्च', विभक्तिलोप, पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = सर्वश्वेतः (सबसे बढ़कर श्वेत बगुला)। (ख) सर्वेषां महत्तरः। **अलौ० वि०**—सर्व + आम्, महत्तर + सु (पूर्ववत् समास, विभक्तिलोप, पुनः प्राति०सं०, सु, नुम् = 'न्' का आगम, उपधादीर्घ – 'सान्तमहतः संयोगस्य') – सर्वमहान् त् सु (सु = 'स्' का लोप – 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०', 'त्' का लोप – 'संयोगान्तस्य लोपः', संयोगान्तलोप असिद्ध होने से न का लोप नहीं होता) = सर्वमहान् (सब में बढ़कर – ईश्वर)।

(१४३७) **पद**—न, निर्धारणे। **अनुवृत्ति**—षष्ठी, सुप्, सह सुपा। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—निर्धारणार्थक षष्ठी समास नहीं होता। नृणां द्विजः श्रेष्ठः।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् 'षष्ठी', 'सुप्' तथा 'सह सुपा' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'समासः' और 'तत्पुरुषः' का अधिकार है। प्रकृत सूत्र षष्ठी समास का निषेधक है। 'निर्धारणे' पद का सन्निवेश होने से यह अर्थ प्रकट होता है कि "'यतश्च निर्धारणम्' (२।३।४१) सूत्र से विहित षष्ठी का समास नहीं होता।"

उदाहरण—नृणां द्विजः श्रेष्ठः (मानवो में द्विज श्रेष्ठ है) – यहाँ 'नृणाम्' पद में निर्धारण अर्थ में षष्ठी विभक्ति होने से समास नहीं होता।

२।२।११ । पूरणाद्यर्थैः सदादिभिश्च षष्ठी न समस्यते । पूरणे – सतां षष्ठः । गुणे – काकस्य कार्ष्ण्यम् । सुहितार्थास्तृप्त्यर्थाः फलानां सुहितः । सद् – द्विजस्य कुर्वन् कुर्वाणो वा । ब्राह्मणस्य कृत्वा । पूर्वोत्तरसाहचर्याद् कृदव्ययमेव गृह्यते । तेन तदुपरीत्यादि सिद्धम् । ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् । तक्षकस्य सर्पस्य । (१४३९) क्तेन च पूजायाम् २।२।१२ ।'मतिबुद्धी'ति सूत्रेण विहितो यः क्तस्तदन्तेन षष्ठी न समस्यते ।

द्यर्थैरिति । सतां षष्ठः — षण्णां पूरणः षष्ठ इति पूरणार्थप्रत्ययत्वेन न षष्ठीसमासः । **तव्य इति ।** 'ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्' इति तव्यान्तेन न समासः । तव्यता तु भवत्येव समासः स्वकर्तव्यमिति ।

(१४३९) **क्तेनेति** । पूजाग्रहणमत्र 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्चे'ति सूत्रोपलक्षणम् । अत आह — **मतिबुद्धीति** ।

(१४३८) **पद**—पूरण······ समानाधिकरणेन । **अनुवृत्ति**—न, षष्ठी, सुप्, सह सुपा । **विधि-(निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—पूरण, गुण और सुहितार्थक प्रत्यय तथा सत् (शतृ-शानच्), अव्यय, तव्य और समानाधिकरण के साथ षष्ठी समास नहीं होता । **पूरण** अर्थ में – सतां षष्ठः । **गुण** अर्थ में – काकस्य कार्ष्ण्यम् ।**'सुहितार्थ'** पद तृप्त्यर्थ का बोधक है – फलानां सुहितः । **सत्**—(शतृशानच्) – ब्राह्मणस्य कुर्वन् अथवा कुर्वाणः (सेवक) । **अव्यय**—ब्राह्मणस्य कृत्वा । पूर्व एवं उत्तर पद के साहचर्य से यहाँ कृत् अव्यय का ही ग्रहण होता है । अतः 'तदुपरि' प्रयोग सिद्ध होता है । **तव्य**—ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् । **समानाधिकरण**—तक्षकस्य सर्पस्य ।

विमर्श—प्रकृत सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'न निर्धारणे' (१४३७) से 'न' तथा 'षष्ठी' (१४३५) सूत्र की अनुवृत्ति आती है । पूर्ववत् 'सुप्' तथा 'सह सुपा' पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । सूत्र में एक ही समस्त पद है – पूरणं च, गुणश्च, सुहितार्थश्च, सत् च, अव्ययं च, तव्यश्च, समानाधिकरणं च, तेन । इस प्रकार – ''पूरण आदि अर्थ तथा सत् आदि (संज्ञावाचक शब्दों) के साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त का समास नहीं होता ।''

उदाहरण—(१) 'पूरण' अर्थ में 'सतां षष्ठः' ('षण्णां पूरणः' अर्थ में षष् + डट् = 'अ' – 'तस्य पूरणे डट्', थुक् = 'थ्' का आगम – 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्') – षष् + थ् + अ ('थ्' = 'ठ्' – ष्टुत्व, प्राप्त षष्ठी समास का निषेध – 'पूरणगुण०') – सतां षष्ठः (= सज्जनों में छठा) । (२) गुणवाची शब्द – काकस्य कार्ष्ण्यम् (कृष्ण + ष्यञ् । गुणवाचक शब्द होने से समास का निषेध) – काकस्य कार्ष्ण्यम् (= कौवे का कालापन) । (३) सुहितार्थ (तृप्त्यर्थक) शब्द के साथ षष्ठी समास का निषेध – फलानां सुहितः (फलों से तृप्त)। (४) सत्संज्ञक शब्द के साथ षष्ठ्यन्त के समास का निषेध – द्विजस्य कुर्वन् (शतृ) अथवा कुर्वाणः (शानच्) (= ब्राह्मण का सेवक) । (५) अव्यय – ब्राह्मणस्य कृत्वा (कृ + क्त्वा = 'त्वा', क्त्वा प्रत्यय अव्ययसंज्ञक है – 'क्त्वातोसुन्कसुनः', षष्ठी समास का निषेध) = ब्राह्मणस्य कृत्वा (ब्राह्मण का कार्य करके) । प्रकृत सूत्र में अव्यय के पूर्व पठित सत् संज्ञा तथा उत्तर में पठित तव्यत्-प्रत्यय दोनों ही कृदन्त से सम्बद्ध हैं । अतः पूर्वापरसाहचर्य के अनुसार यहाँ केवल कृदन्त अव्यय का ही ग्रहण होता है । इस प्रकार तद्धित प्रत्ययान्त अव्ययों में षष्ठी समास का निषेध नहीं होता । तस्य उपरि 'तदुपरि' प्रयोग में षष्ठी समास होता है । (६) तव्यप्रत्यय – कृ + तव्य, तव्य के योग में षष्ठी समास का निषेध – ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् (ब्राह्मण के करने योग्य) । (७) समान अधिकरण में – तक्षकस्य सर्पस्य (यहाँ दोनों

राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा। (१४४०) **अधिकरणवाचिना च २।२।१३** । क्तेन षष्ठी न समस्यते। इदमेषामासितं गतं भुक्तं वा। (१४४१) **कर्मणि च २।२।१४** । उभयप्राप्तौ कर्मणीति या षष्ठी सा न समस्यते। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

(१४४०) **अधिकरणेति** ।अत्र 'षष्ठी 'ति, 'न निर्धारणे' इत्यतः नेति, 'क्तेन चे 'त्यतः क्तेनेति चानुवर्तते, अधिकरणवाचिनेति क्तस्य विशेषणम्। अधिकरणार्थे विहितेन क्तान्तेन षष्ठी न समस्यते।

(१४४१) **कर्मणीति** । क्तेनेति निवृत्तम्। कर्मणि षष्ठी न समस्यत इति सूत्रार्थः।

शब्द समानाधिकरण हैं – तक्षक ही सर्प है और सर्प ही तक्षक है। प्रकृत सूत्र से समास का निषेध) = 'तक्षकस्य सर्पस्य' (= तक्षक सर्प का)।

(१४३९) **पद**—क्तेन, च, पूजायाम्। **अनुवृत्ति**—न, षष्ठी, सुप्, सह सुपा। **विधि (निषेध)-सूत्र**।

मूलार्थ—'मतिबुद्धि' इत्यादि सूत्र से पूजा अर्थ में विहित क्तप्रत्ययान्त के साथ षष्ठी समास नहीं होता।

विमर्श—पूर्ववत् सभी पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार – 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (३।२।१८८) से विहित पूजार्थक क्तप्रत्ययान्त के साथ षष्ठी समास का निषेध होता है।''

उदाहरण—राज्ञां मतः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां पूजितः (राजाओं का माना हुआ, राजाओं का जाना हुआ, राजाओं का पूजित) – प्राप्त षष्ठी समास का प्रकृत सूत्र से निषेध।

(१४४०) **पद**—अधिकरणवाचिना, च। **अनुवृत्ति**—क्तेन, न, षष्ठी, सुप्, सह सुपा। **विधि-(निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—अधिकरण अर्थ में विहित क्तप्रत्ययान्त के साथ षष्ठी का समास नहीं होता। इदमेषामासितं भुक्तं वा।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१४३९) से 'क्तेन' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'षष्ठी', 'न' पदों एवं 'समासः' आदि अधिकारवाची पदों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। इस प्रकार सूत्र से यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है – '''क्तोऽधिकरणे च०' (३।४।७६) सूत्र से अधिकरण अर्थ में विहित क्त प्रत्यय के योग में षष्ठी समास नहीं होता।''

उदाहरण—इदम् एषाम् आसितं गतं भुक्तं वा (= यह उनके बैठने का स्थान, जाने का रास्ता, भोजन का स्थान) – प्राप्त षष्ठी समास नहीं हुआ।

(१४४१) **पद**—कर्मणि, च। **अनुवृत्ति**—न, षष्ठी, सुप्, सह सुपा। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र से कर्म में विहित षष्ठी का समास नहीं होता।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में प्रमुख अनुवृत्त पद 'न' और 'षष्ठी' है। पूर्ववत् 'सुप्' तथा 'सह सुपा' आदि की अनुवृत्ति यहाँ भी विद्यमान है। तदनुसार – ''कर्म में विहित षष्ठी का अन्य समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता।''

उदाहरण—**आश्चर्यो गवां दोहः अगोपेन** (ग्वाला से अतिरिक्त व्यक्ति द्वारा दूध दुहना आश्चर्य का विषय है) – यहाँ 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (३।२।६६) सूत्र से 'गवाम्' पद में षष्ठी होने से प्रकृत सूत्र द्वारा 'दोहः' के साथ समास का निषेध।

(१४४२) तृजकाभ्यां कर्तरि २।२।१५। कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः। अपां स्रष्टा। वज्रस्य भर्ता। ओदनस्य पाचकः। **(१४४३) कर्तरि च २।२।१६।** कर्तरि षष्ठ्या अकेन न समासः। भवतः शायिका। **(१४४४) पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २।२।१।** अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते,

---

(१४४२) **तृजकाभ्यामिति**। षष्ठी इत्यनुवृत्तं तृतीयान्ततया विपरिणम्यते। कर्तरीति तृजकयोरेव विशेषणम्। तदाह–**कर्त्रर्थतृजकाभ्यामिति**।

(१४४३) **कर्तरीति**। कर्तरीत्येतत् षष्ठीत्यनुवृत्ते अन्वेति। 'तृजकाभ्यामि'ति अकेति चानुवर्तते। **भवतः शायिकेति**।'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारे धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्, अकादेशः, टाप्। 'कर्तृकर्मणोः कृती'ति षष्ठी। अत्र अकस्य कर्त्रर्थकत्वाऽभावात् तृजकाभ्यामित्यस्य न प्राप्तिरिति।

(१४४४) **पूर्वापरेति**। अत्रैकदेशशब्दः अवयवे **रूढः**। एकदेशः अस्यास्तीति एकदेशी

(१४४२) **पद**—तृजकाभ्याम्, कर्तरि। **अनुवृत्ति**—कर्मणि, न, षष्ठी, सुप्, सह सुपा। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—कर्त्रर्थक तृच् और अक प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी समास नहीं होता। अपां स्रष्टा। वज्रस्य कर्ता। ओदनस्य पाचकः।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् 'न', 'षष्ठी' तथा पूर्वसूत्र (१४४१) से 'कर्मणि' की प्रमुख अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्य 'सुप्', 'सह सुपा' एवं 'समासः' आदि अधिकारपदों का प्रभाव विद्यमान है। सूत्रस्थ 'कर्तरि' पद 'तृच्' तथा 'अकः' दोनों का विशेषण है। इस प्रकार – "कर्ता कारक के अर्थ में 'तृच्' और 'अक' प्रत्ययान्त के साथ कर्म में विहित षष्ठी का समास नहीं होता।"

उदाहरण—तृच् (क) अपां स्रष्टा (= जल को उत्पन्न करने वाला) – ✓सृज् + तृच्। (ख) वज्रस्य भर्ता (= वज्र को धारण करने वाला) – ✓भृ + तृच्। इन दोनों में कर्म में षष्ठी हुई है – 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५)। अतः 'तृजकाभ्यां कर्तरि' से प्राप्त षष्ठी समास का निषेध। अक – ओदनस्य पाचकः (= भात को पकाने वाला) – ✓पच् + ण्वुल् = अक – 'युवोरनाकौ', प्राप्त षष्ठी समास का प्रकृत सूत्र से निषेध।

(१४४३) **पद**—कर्तरि, च। **अनुवृत्ति**—अक, न, षष्ठी, सुप्, सह सुपा। **विधि-(निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—कर्ता में विहित षष्ठी का अक प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी समास नहीं होता। भवतः शायिका।

विमर्श—'न', 'षष्ठी', 'कर्तरि' तथा पूर्वसूत्र से 'अक' की प्रमुख रूप से अनुवृत्ति आती है। अन्य पदों की भी पूर्ववत् अनुवृत्ति विद्यमान है। अनुवृत्त पदों के साथ एकवाक्यता करते हुए सूत्र से यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है – "कर्ता के अर्थ में विहित षष्ठी भी अक-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समस्त नहीं होती।" अक प्रत्यय नहीं है। ण्वुल् = 'वु' के स्थान पर होने वाला आदेश है।

उदाहरण—भवतः शायिका – ✓शी + ण्वुल् = अक, शै + अक + टाप्, शाय् + अक + आ, शाय् + इ + क + आ। प्राप्त षष्ठी समास का प्रकृत सूत्र से निषेध।

(१४४४) **पद**—पूर्वापराधरोत्तरम्, एकदेशिना, एकाधिकरणे। **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासापवादः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। एकदेशिना किम्? पूर्वं नाभेः कायस्य। एकाधिकरणे किम्? पूर्वश्छात्राणाम्। (१४४५) अर्धं नपुंसकम् २।२।२। समांशवाच्यार्धशब्दो नित्यं क्लीबे स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्याः अर्धपिप्पली। * एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम् *।

अवयवी तेनेति लभ्यते। अधिकरणं द्रव्यम्। एकत्वविशिष्टे द्रव्ये वर्तमानेन अवयविवाचकेन सुबन्तेन अवयववाचकाः पूर्वादयः शब्दाः समस्यन्ते। **पूर्वकायः** — अत्र षष्ठीसमासप्राप्तावपि सूत्रान्तरविधानं पूर्वादिशब्दस्य पूर्वनिपातार्थकम्।

(१४४५) **अर्धमिति**। अत्र 'अर्धमि'ति नपुंसकलिङ्गनिर्देशादेव नपुंसकत्वे लब्धे पुनर्नपुंसकग्रहणं नित्यनपुंसकलिङ्गस्य ग्रहणार्थमित्यत आह– **समांशवाच्यर्धशब्द इत्यादिना। अर्धपिप्पली** – 'अर्धं पिप्पल्याः' इति। 'अर्धं सु, पिप्पली ङस्' इत्यलौकिकविग्रहे 'अर्धं

मूलार्थ—यदि एकत्वसंख्याविशिष्ट अवयवी हो, तो अवयववाची के साथ पूर्वादि समर्थ सुबन्त विकल्प से समस्त होते हैं। पूर्वकायः। अपरकायः।

विमर्श—षष्ठी समास के बाधक सूत्र का विवेचन किया जा रहा है। पूर्ववत् 'सुप्' तथा 'सह सुपा' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'तत्पुरुषः' तथा 'विभाषा' का अधिकार है। सूत्रस्थ 'एकदेशी' पद समुदायार्थक (अवयवी) है। तदनुसार – "पूर्व, अपर, अधर, उत्तर अवयववाची शब्दों का अवयवी (एकदेशिवाचक) के साथ समास होता है। यदि एकदेशी (समुदाय) और एकदेश (अवयव) दोनों की स्थिति एक ही पदार्थ (द्रव्य) में विद्यमान रहे।"

उदाहरण—**विग्रह**—पूर्वं कायस्य। **अलौकिक विग्रह**—काय + ङस्, पूर्व + सु (समास – 'पूर्वापरा०' विभक्तिलुक्, 'पूर्व' का पूर्वनिपात, पुनः विभक्त्युत्पत्ति – सु – पुल्लिङ्ग – 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः', सु = स् = र् = :) = पूर्वकायः (= शरीर का पूर्व भाग)। अपरं कायस्य। **अलौ० वि०**—काय + ङस्, अपर + सु (समास आदि पूर्ववत्) = अपरकायः (= शरीर का दूसरा भाग)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'एकदेशिना' पद का समावेश होने से अवयवी का पूर्व आदि शब्दों के साथ समास विधान किये जाने के कारण 'पूर्वं नाभेः कायस्य' में 'काय' के साथ 'पूर्व' शब्द का समास नहीं होता। क्योंकि यहाँ 'पूर्व' पद 'नाभि' (अवयववाचक) के पूर्वभाग का द्योतक है, न कि 'काय' (अवयवी) का। सूत्र में 'एकाधिकरणे' पद का समावेश होने से अवयव का समष्टिगत एक रूप में बोध अपेक्षित होने से 'पूर्वश्छात्राणाम्' (= छात्रसमूह का पहला भाग) में भी समास नहीं होता।

(१४४५) **पद**—अर्धम्, नपुंसकम्। **अनुवृत्ति**—एकदेशिनैकाधिकरणे, सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नपुंसकलिङ्ग में नित्य वर्तमान समांशवाची अर्ध शब्द अवयविवाचक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समस्त होता है। अर्धपिप्पली। **वार्तिक**—"'एकविभक्तौ चापूर्वनिपाते' सूत्र में अषष्ठ्यन्त ग्रहण करना चाहिए।" ग्रामार्धः इत्यादि।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१४४४) से 'एकदेशिनैकाधिकरणे' प्रमुखरूप से अनुवृत्त है। समान अंशवाचक (दो भाग) 'अर्ध' शब्द नित्य नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। पूर्वसूत्र से विधीयमान एकाधिकरणवाची एकदेशी समास का विस्तार किया जा रहा है। "समान अंशवाचक नित्य नपुंसक-लिङ्ग में वर्तमान अर्ध शब्द का एकाधिकरणवाची एकदेशी (अवयवी) के साथ समास होता है।"

इत्युपसर्जनसंज्ञाबाधाद्ध्रस्वो न । क्लीबे किम् ? ग्रामार्धः । द्रव्यैक्य एव । अर्धं पिप्पली-नाम् ।(१४४६) द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् २।२।३ ।एतान्येकदेशिना सह प्राग्वद्वा । द्वितीयं भिक्षायाः द्वितीयभिक्षा । एकदेशिना किम् ? द्वितीयं भिक्षायाः भिक्षुकस्य । अन्यतरस्यां ग्रहणसामर्थ्यात् पूरणगुणेति निषेधं बाधित्वा पक्षे षष्ठीसमासः ।

नपुंसकम्' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे अर्धशब्दस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः' इति स्त्रीत्वे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'अर्धपिप्पली' इति ।

(१४४६) **द्वितीयतृतीयेति** ।'पूर्वपरा'इत्यतः'एकदेशिने'त्यनुषज्यते ।अत्र विभाषाधिकारेण विकल्पे सिद्धे अन्यतरस्यामिति ग्रहणं पक्षे षष्ठीसमासविधानार्थमिति ज्ञेयम् । स च षष्ठीसमासः पूरणगुण इति निषेधं बाधित्वा प्रवर्तत इति भावः ।

उदाहरण—**विग्रह**—अर्धं पिप्पल्याः । **अलौ० वि०**—अर्ध + सु, पिप्पली + ङस् (समास — 'अर्धं नपुंसकम्', विभक्तिलोप, 'अर्ध' का पूर्वनिपात, पुनः प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का हल्ङ्यादिलोप) = अर्धपिप्पली (= आधी पीपल) । यहाँ 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से प्राप्त ह्रस्व का 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' से निषेध होता है ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में (क्लीबे) नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त 'अर्ध' शब्द की अपेक्षा होने से ग्रामस्य अर्धः = 'ग्रामार्धः' में 'अर्ध' शब्द पुल्लिङ्ग होने के कारण षष्ठीतत्पुरुष समास हुआ । प्रकृत सूत्र से समास नहीं होता ।

पूर्वसूत्र से 'एकाधिकरणे' की अनुवृत्ति होने से अवयविवाचक शब्द की एकता अपेक्षित है । अतः 'अर्धं पिप्पलिनाम्' में पिप्पलियों की अनेकता होने से प्रकृत सूत्र से समास नहीं होता ।

(१४४६) **पद**—द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याणि, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—एकदेशिनैकाधिकरणे, सुप्, सह सुपा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वितीय आदि सुबन्तों का एकदेशी (अवयवी) के साथ विकल्प से समास होता है । द्वितीयभिक्षा । 'एकदेशिना' क्यों कहा? द्वितीयं भिक्षायाः भिक्षुकस्य । सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' के ग्रहणसामर्थ्य से 'पूरणगुण' द्वारा प्राप्त निषेध का बाधकर पक्ष में षष्ठी समास होता है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१४४४) से 'एकदेशिनैकाधिकरणे' की अनुवृत्ति आती है । पूर्ववत् सुप्, 'सह सुपा' की तथा 'तत्पुरुषः', 'विभाषा' और 'समासः' अधिकारसूत्रों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार ''एकाधिकरण गम्यमान होने पर द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और तुर्य सुबन्त शब्द एकदेशिवाची सुबन्त के साथ विकल्प से समस्त होते हैं । यह षष्ठी समास का बाधक है । 'विभाषा' का अधिकार होने से पक्ष में विग्रहवाक्य भी रहता है । इसके अतिरिक्त 'अन्यतरस्याम्' का निवेश होने से 'पूरणगुण' से प्राप्त षष्ठी समास-निषेध को बाधकर षष्ठी समास भी होता है ।''

उदाहरण—**विग्रह**—द्वितीयं भिक्षायाः । **अलौकिक वि०**—द्वितीय + सु, भिक्षा + ङस् ('द्वितीय' का एकदेशिवाची 'भिक्षा' के साथ समास — 'द्वितीयतृतीय०', विभक्तिलुक्, पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु = 'स्' – हल्ङ्यादिलोप) = द्वितीयभिक्षा । पक्ष में षष्ठी समास होने पर — भिक्षा-द्वितीयम् (भिक्षा का दूसरा भाग) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'एकदेशिना' पद की अनुवृत्ति की गई है । अतः 'द्वितीयं भिक्षायाः भिक्षुकस्य' (भिक्षुक की भिक्षा का दूसरा भाग) में 'एकदेशिना' पद के रहने पर 'द्वितीय' का भिक्षुक

भिक्षाद्वितीयम्। **(१४४७) प्राप्तापन्ने च द्वितीयया २।२।४।** पक्षे – द्वितीयाश्रितेति समासः। प्राप्तो जीवनं प्राप्तजीवनः। जीवनप्राप्तः। आपन्नजीवनः। जीवनापन्नः। इह सूत्रे द्वितीयया अ इति छित्वा अकारोऽपि विधीयते। तेन जीविकां प्राप्ता स्त्री प्राप्तजीविका। आपन्नजीविका। **(१४४८) कालाः परिमाणिना २।२।५।** परिच्छेद्यवाचिना सुबन्तेन सह कालाः समस्यन्ते। मासो जातस्य यस्य स मासजातः।

(१४४७) **प्राप्तापन्न इति**। प्राप्त-आपन्न एतौ शब्दौ द्वितीयान्तेन समस्येते इत्यर्थः। **प्राप्तजीवनः**–प्राप्तः जीवनमिति विग्रहे 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' इति समासे सुब्लुकि प्राप्तस्य पूर्वनिपाते सुबादिकार्ये 'प्राप्तजीवनः' इति। तदभावे 'द्वितीयाश्रिते'ति समासे सुब्लुकि द्वितीयान्तस्य पूर्वनिपाते विभक्तिकार्ये 'जीवनप्राप्तः' इति। विभाषाधिकारात्तदभावे वाक्यमपि।

(१४४८) **काला इति**। परिमाणं परिच्छेदकमस्यास्तीति परिमाणी परिच्छेद्यस्तेन कालवाचकाः शब्दाः समस्यन्ते इत्यर्थः।

शब्द के साथ समास नहीं होता। द्वितीय का भिक्षा के साथ भी समास नहीं होता, क्योंकि भिक्षा अवयवीवाचक नहीं है।

(१४४७) **पद**—प्राप्तापन्ने, च, द्वितीयया। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्राप्त और आपन्न शब्द का द्वितीयान्त के साथ विकल्प से समास होता है। प्राप्तजीवनः। जीवनप्राप्तः। आपन्नजीवनः। जीवनापन्नः। प्रकृत सूत्र में 'द्वितीयया + अ' ऐसा विच्छेद कर 'अ' का भी विधान होता है। तब प्राप्तजीविका। आपन्नजीविका प्रयोग भी निष्पन्न होते हैं।

विमर्श—प्रसङ्गवश षष्ठी के अपवादस्वरूप द्वितीयातत्पुरुष समास के बाधकस्थल का विवेचन किया जा रहा है। पूर्वसूत्र से 'अन्यतरस्याम्' की तथा पूर्ववत् 'सुप्' तथा 'सह सुपा' की अनुवृत्ति आ रही है। अन्य पदों की अनुवृत्ति अधिकारवशात् सिद्ध है। इस प्रकार सूत्र का आशय यह है कि "प्राप्त तथा आपन्न शब्द भी द्वितीयान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समस्त होते हैं और वे तत्पुरुषसंज्ञक भी होते हैं।"

उदाहरण—**विग्रह**—जीवनं प्राप्तः। **अलौ० वि०**—प्राप्त + सु, जीवन + अम् ('प्राप्त' का 'जीवन' के साथ समास – 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया', सुब्लुक्, प्राप्त का पूर्वनिपात, पुनः सु = स् = र् = :) = प्राप्तजीवनः। पक्ष में द्वितीयातत्पुरुष – जीवनप्राप्तः (जीवन को प्राप्त)। आपन्नः जीवनम्। **अलौ० वि०**—आपन्न + सु, जीवन + अम् (पूर्ववत् विकल्प से समास आदि) = आपन्नजीवनः। पक्ष में द्वितीया त० स० – जीवनापन्नः।

विशेष—प्रकृत सूत्र के विधेयांश पद 'द्वितीयया' में 'द्वितीयया + अ' विच्छेद माना गया है। तदनुसार दीर्घान्त (स्त्रीप्रत्ययान्त) प्राप्ता एवम् आपन्ना शब्दों के आकार को अकार भी होता है। इसके फलस्वरूप 'जीविकां प्राप्ता' तथा 'जीविकाम् आपन्ना' में समास होने पर आ = 'अ' भी होता है – प्राप्तजीविका, आपन्नजीविका।

(१४४८) **पद**—कालाः, परिमाणिना। **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—परिच्छेद्यवाची सुबन्त के साथ कालवाची सुबन्त का विकल्प से समास होता है। मासजातः।

(१४४९) सप्तमी शौण्डैः २।१।४० । सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत् । अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः । शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याड, प्रवीण, संवीत, अन्तर, अधि, पटु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण इति शौण्डादिः । द्वितीयातृतीयेत्यादियोगविभागा-दन्यत्रापि द्वितीयादीनां प्रयोगवशात्समासो ज्ञेयः । **(१४५०) दिक्संख्ये संज्ञायाम् २।१।५०** । विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्येव सिद्धे संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम् । पूर्वेषुकामशमी । सप्तर्षयः । तेनेह न – उत्तरा वृक्षाः । पञ्च ब्राह्मणाः । **(१४५१)**

(१४४९) **सप्तमीति** । बहुवचननिर्देशात् गणपाठाच्च शौण्डशब्दस्तदादिपरः । **अक्ष-शौण्डः** – अक्षेषु शौण्ड इति विग्रहे 'सप्तमी शौण्डैः' इति समासे सुपो लुकि विभक्तिकार्ये 'अक्षशौण्डः' इति । अक्षविषयकक्रीडाकुशल इत्यर्थः ।

(१४५०) **दिक्संख्य इति** । **नियमार्थमिति** । नियमाकारश्चेत्थम् – तत्पुरुषे दिक्संख्ये संज्ञायामेव समस्येते इति ।

विमर्श—पूर्ववत् 'सुप्' तथा 'सह सुपा' पदों की तथा 'समासः', 'विभाषा' और 'तत्पुरुषः' अधिकारसूत्रों की अनुवृत्ति आती है । सूत्रस्थ परिमाणिन् पद परिच्छेद्यवाची है । काल की निश्चित अवधि उसी के द्वारा सूचित होती है । इस प्रकार सूत्र से यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है – "परिमाणवाची कालविशेष को सूचित करने वाले शब्द परिमाणिवाची (काल के अवधिसूचक) सुबन्त शब्दों के साथ विकल्प से समस्त होते हैं ।"

उदाहरण—मासः जातस्य यस्य सः । **अलौ० वि०**—मास + सु, जात + ङस् (समास – अवधिसूचक 'जात' का कालबोधक 'मास' के साथ, सुब्लुक्, पुनः सु = स् = र् = :) = मासजातः (एक महीने का उत्पन्न हुआ) ।

(१४४९) **पद**—सप्तमी, शौण्डैः । **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त शब्द शौण्ड आदि के साथ विकल्प से समासयुक्त होते हैं । अक्षशौण्डः ।

विमर्श—सप्तमीतत्पुरुष समास का निरूपण किया जा रहा है । पूर्ववत् सभी आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है । अतः सूत्र का आशय इस प्रकार है – "सप्तम्यन्त सुबन्तपदों का शौण्ड आदि सुबन्त शब्दों के साथ विकल्प से समास होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—अक्षेषु शौण्डः । **अलौ० बि०**—अक्ष + सुप्, शौण्ड + सु (समास – 'सप्तमी शौण्डैः', विभक्तिलोप, अक्ष का पूर्वनिपात, पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु = स् = र् = :) = अक्षशौण्डः (जुआ खेलने में धूर्त) ।

(१४५०) **पद**—दिक्संख्ये, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, सुप्, सह सुपा । **नियम (विधि) सूत्र** ।

मूलार्थ—दिग्वाचक और संख्यावाचक शब्दों का केवल संज्ञा में ही तत्पुरुष समास होता है । 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' से प्राप्त समास का यह सूत्र संज्ञा में ही नियमन करता है । पूर्वेषुकामशमी । सप्तर्षयः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र समान अधिकरणवाची समास का विधान करता है । अतः 'पूर्वकालैक०' (२।१।४९) सूत्र से 'समानाधिकरणेन' पद की अनुवृत्ति आती है । इसका प्रभाव द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद की समाप्ति तक रहेगा । पूर्ववत् तत्पुरुष समास में अपेक्षित अन्य पदों की भी अनुवृत्ति

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २।१।५१। तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशाल इति। * समासे कृते सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः *। (१४५२) **दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः**

(१४५१) **तद्धितार्थोत्तरपदेति**। पूर्वसूत्रात् 'दिक्संख्ये' इत्यनुवर्तते। **प्राग्वदिति**। समानाधिकरणेन समस्यते स तत्पुरुष इति। **पौर्वशालः** — 'पूर्वस्यां शालायां भवः' इति विग्रहे 'पूर्वा+ङि, शाला+ङि' इत्यलौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासे, सुब्लुकि पूर्वपदस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते च 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति पूर्वशब्दस्य पुंवद्भावे 'दिक्पूर्वपदात्संज्ञायां ञः' इत्यनेन ञप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ भसंज्ञायां 'यस्येति चे'त्यनेन आकारलोपे संयोगे 'पौर्वशाल' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'पौर्वशालः' इति सिद्धम्।

विद्यमान है। तदनुसार सूत्र का अर्थ होगा – "दिशावाची और संख्यावाची सुबन्त पदों का समानाधिकरण सुबन्तों के साथ संज्ञाविषय में ही तत्पुरुष समास होता है।" 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५७) सूत्र से प्राप्त कर्मधारय समास का यह नियमन करता है। अर्थात् संज्ञा विषय के अतिरिक्त दिशावाचक और संख्यावाचक शब्दों का समास नहीं होगा।

उदाहरण—पूर्वा इषुकामशमी। **अलौ० वि०**—पूर्वा + सु, इषुकामशमी + सु (संज्ञा में दिशावाचक 'पूर्वा' का 'इषुकामशमी' के साथ समास – 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्', विभक्तिलोप, पूर्व-निपात, अ + इ = 'ए' – गुण, पुनः विभक्ति सु, पुंवद्भाव – 'पुंवत्कर्मधारय०', 'सु' का लोप) = पूर्वेषुकामशमी (किसी नगर का नाम)। **सप्त च ते ऋषयः। अलौ० वि०**—सप्तन् + जस्, ऋषि + सु (समास, विभक्तिलोप, पूर्वनिपात, 'न्' का लोप – 'नलोपः', अ + ऋ = 'अर्' – गुण, रपर, पुनः विभक्त्युत्पत्ति जस् = अस्, इ = ए – गुण – 'जसि च', 'ए' = 'अय्', स् = र् = :) = सप्तर्षयः (सात ऋषि)।

संज्ञा न होने से 'उत्तराः वृक्षाः' (उत्तर के वृक्ष) और 'पञ्च ब्राह्मणाः' (पाँच ब्राह्मण) में समास नहीं होता।

(१४५१) **पद**—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे, च। **अनुवृत्ति**—दिक्संख्ये, समानाधिकरणेन, सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तद्धितार्थ के विषय में उत्तरपद के परवर्ती रहते समाहार वाच्य में दिग्वाचक और संख्यावाचक का विकल्प से समास होता है। **वा०**—सर्वनाम को वृत्तिमात्र (पाँचों वृत्तियों) में पुंवद्भाव होता है।

विमर्श—पूर्व दो सूत्रों से 'दिक्संख्ये' तथा 'समानाधिकरणेन' की अनुवृत्ति के साथ ही अन्य अपेक्षित पदों की अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् आ रही हैं। 'तद्धितार्थश्च, उत्तरपदं च, समाहारश्च तद्धितार्थोत्तरपदसमाहाराः, तस्मिन्' के अनुसार सूत्र में समस्त पद सप्तम्यन्त हैं। तीनों पदों में विषयभेद से सप्तमी के भिन्न-भिन्न अर्थ अभिप्रेत हैं। १. तद्धितार्थ में – विषयसप्तमी। २. उत्तरपद में – परसप्तमी तथा ३. समाहार में – गम्यमान सप्तमी है। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ है कि "तद्धित का विषय उपस्थित होने पर उत्तरपद परे रहते तथा समाहार गम्यमान होने पर भी दिशावाची और संख्यावाची सुबन्तों का समानाधिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है।"

४।२।२०७। अस्माद्भवाद्यर्थे ञः स्यादसंज्ञायाम्। **(१४५३) तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।** ञिति णिति च तद्धिते अचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। 'यस्येति च'। पौर्वशालः। पूर्वा शाला प्रिया यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते प्रियाशब्दे उत्तरपदे पूर्वायास्तत्पुरुषः। तेन शालाशब्दे आकार उदात्तः। पूर्वशालाप्रियः। दिक्षु समाहारो नास्त्यनभिधानात्। संख्यायास्तद्धितार्थे – षण्णां मातॄणामपत्यं षाण्मातुरः। 'मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः' इति वक्ष्यमाणोऽण्। पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ अवान्तरतत्पुरुषस्य विकल्पे प्राप्ते। * द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम् *।

(१४५२) **दिक्पूर्वपदादिति**। पञ्चम्यर्थे सप्तमी। असञ्ज्ञाभूतात् दिक्पूर्वपदकात् भवाद्यर्थे ञः स्यादित्यर्थः।

(१४५३) **तद्धितेष्विति**। अचामिति निर्धारणे षष्ठी। 'अचो ञ्णिति' इत्यनुवर्तते, 'मृजेर्वृद्धिरि'त्यतो वृद्धिरिति च। अत आह–**ञितीत्यादिना**। **द्वन्द्वतत्पुरुषयोरिति**। उत्तरपदे परतो यौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ तयोर्नित्यत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।

(१४५२) **पद**—दिक्पूर्वपदात्, असञ्ज्ञायाम् ञः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संज्ञाभिन्न में वर्तमान दिग्वाची शब्द के पूर्वपद रहते समास में भव आदि अर्थ में प्रातिपदिक से ञ प्रत्यय होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'असंज्ञायाम्' पद पञ्चम्यर्थ का बोधक है। प्राकरणिक 'शेषे', 'तद्धिताः' एवम् 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्', 'प्रत्ययः' तथा 'परश्च' का अधिकार है। तदनुसार – "असंज्ञा में विद्यमान दिशावाची शब्द के पूर्वपद रहते हुए प्रातिपदिक से शैषिक भव आदि अर्थ में ञ (= अ) प्रत्यय होता है।"

(१४५३) **पद**—तद्धितेषु, अचाम्, आदेः। **अनुवृत्ति**—अचो ञ्णिति, वृद्धिः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ञित् एवं णित् तद्धित प्रत्ययों के परे रहते अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है। पौर्वशालः इत्यादि।

विमर्श—यहाँ 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) से 'वृद्धिः' तथा 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) की अनुवृत्ति आ रही है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'ञ्णिति' का 'तद्धितेषु' के साथ तथा 'अचः' का 'आदेः' के साथ अन्वय होता है। तदनुसार सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा – "ञ् एवं ण् इत्संज्ञक तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर अङ्ग के अच् में से आदि अच् को वृद्धि होती है।"

उदाहरण—पूर्वस्यां शालायां भवः। **अलौकिक विग्रह**—पूर्वा + ङि, शाला + ङि (समास – 'तद्धितार्थोत्तरपद०', विभक्तिलोप, पूर्वनिपात, 'ञ' = 'अ' – 'दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः')–पूर्वशाला + अ ('आ' का लोप – 'यस्येति च', ऊ = 'औ' – आदिवृद्धि – 'तद्धितेष्वचामादेः', प्राति० संज्ञा, सु, पुंवद्भाव – 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः', स् = र् = :) = पौर्वशालः (पूर्वशाला में हुआ)।

'पूर्वा शाला प्रिया यस्य' इस त्रिपद बहुव्रीहि में प्रिया शब्द उत्तरपद रहते पहले दो शब्दों का तत्पुरुष समास होता है। अतः 'शाला' में 'आ' को उदात्त होता है। दिशावाचक शब्दों का समाहार अर्थ में समास नहीं कहा गया है। तद्धितार्थ में संख्या का उदाहरण – षाण्मातुरः। 'पञ्च गावः धनं यस्य' इस त्रिपद बहुव्रीहि में अवान्तर तत्पुरुष को विकल्प प्राप्त होने पर द्वन्द्वतत्पुरुष समास में उत्तरपद परे रहते नित्य समास होता है।

(१४५४) गोरतद्धितलुकि ५।४।९२ । गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात्समासान्तो न तद्धितलुकि । पञ्चगवधनः । **(१४५५) संख्यापूर्वो द्विगुः २।१।५२** । तद्धितार्थे-त्यत्रोक्तः संख्यापूर्वो द्विगुः । **(१४५६) द्विगुरेकवचनम् २।४।१** । दिग्वर्थः समाहार

(१४५४) **गोरिति** । 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः' इत्यत अनुवृत्तं तत्पुरुषस्येति पदं पञ्चम्या विपरिणम्यते गोरित्यनेन च विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'राजाहस्सखिभ्यः' इत्यतष्टजित्यनुवर्तते । 'समासान्तः' इत्यधिक्रियते । तदाह–**गोऽन्तादिति** ।

(१४५५) **संख्येति** । तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे च परतः, समाहारे च वाच्ये इत्येवं त्रिप्रकारो यः संख्यापूर्वः समास उक्तः स द्विगुरिति ।

(१४५६) **द्विगुरिति** । 'समाहारग्रहणं कर्तव्यमि'ति वार्तिकादत्र समाहार इति लभ्यते । अत आह – **दिग्वर्थ इति** ।

पूर्वा शाला प्रिया यस्य । **अलौ० वि०**—पूर्वा + सु, शाला + सु, प्रिया + सु (समास – 'तद्धितार्थोत्तर०', विभक्तिलोप, पुवंद्भाव) – पूर्वशालाप्रिया (प्रिया की उपसर्जनसंज्ञा – 'एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते', 'आ' = 'अ' – ह्रस्व – 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य', पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = पूर्वशालाप्रियः (जिसे पूर्वशाला प्रिय है) । षण्णां मातृणाम् अपत्यम् । **अलौ० वि०**—षड् + आम्, मातृ + आम् (संख्यावाची षण्णाम् का सुबन्त के साथ समास – विभक्तिलोप आदि, 'ड्' = 'ण्' – 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा') – षण्मातृ (अण् = 'अ', ऋ = उत् = 'उ', रपर, आदिवृद्धि) = षाण्मातुरः (छः माताओं की सन्तान, कार्तिकेय) । पञ्च गावः धनं यस्य । **अलौ० वि०**—पञ्चन् + जस्, गो + जस्, धन + सु ('धन' शब्द परे रहते 'पञ्चन्' का 'गो' के साथ समास – 'तद्धितार्थोत्तर०' से प्राप्त वैकल्पिक समास का नित्यत्व – 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्', सुब्लुक्, 'न्' का लोप – 'नलोपः०', टच् = 'अ' – 'गोरतद्धितलुकि') – पञ्चगो + अ + धन + सु ('ओ' = 'अव्' आदेश, सु = स् = र् = :) = पञ्चगवधनः (पाँच गायों का स्वामी) ।

(१४५४) **पद**—गोः, अतद्धितलुकि । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषस्य, टच् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—गोशब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है, किन्तु तद्धित प्रत्यय के लोप होने पर नहीं होता । पञ्चगवधनः ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः' (५।४।८६) से 'तत्पुरुषस्य' तथा 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) से 'टच्' की अनुवृत्ति आती है । अनुवृत्त पद 'तत्पुरुषस्य' का पञ्चमी में विपरिणाम होता है, 'गो' पद उसका विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । तदनुसार – "गोशब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् (= 'अ') प्रत्यय होता है; किन्तु तद्धित प्रत्यय का लोप होने पर यह टच् नहीं होता ।"

उदाहरण—पञ्चगवधनः (प्रक्रिया पूर्व में प्रदर्शित की गई है) ।

(१४५५) **पद**—संख्यापूर्वः, द्विगुः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—संख्यापूर्व तत्पुरुष की द्विगु संज्ञा होती है ।

विमर्श—यह सूत्र पूर्वपठित 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' सूत्र से सम्बन्धित है । अतः सूत्र का आशय इस प्रकार है – "तद्धितार्थ, उत्तरपद तथा समाहार में संख्यापूर्व समास द्विगुसंज्ञक होता है ।"

(१४५६) **पद**—द्विगुः, एकवचनम् । **विधिसूत्र** ।

एकवत्स्यात्। (१४५७) स नपुंसकम् २।४।१७। समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात्। पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम्। (१४५८) विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५७। भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत्। नीलमुत्पलं नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात्क्वचिन्नित्यम् – कृष्णसर्पः। क्वचिन्न – रामो जामदग्न्यः।

(१४५७) **स इति**। 'द्विगुरेकवचनमि'त्यतः द्विगुरिति, 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्ये'त्यतः द्वन्द्वश्च तच्छब्देन परामृश्येते। व्याख्यानात्तौ च समाहारार्थाविव विवक्षितौ। अत आह – **समाहार इत्यादिना**। **पञ्चगवम्** — पञ्चानां गवां समाहार इति विग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे चे'त्यनेन समासे सुब्लुकि, पञ्चन्पदस्य नलोपे 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि अनुबन्धलोपे 'पञ्च गो अ' इति जाते 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञायाम्, 'द्विगुरेकवचनम्' इति एकवचने पुनः प्रातिपदिकत्वे सौ 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वात्सोरमि पूर्वरूपे च विहिते पञ्चगवमिति।

(१४५८) **विशेषणमिति**। समानाधिकरणेनेत्यधिकृतम्। विशिष्यते अनेनेति विशेषणम्, इतरस्मात् व्यावर्तकम्, व्यावर्त्यं तु विशेष्यम्। अत आह – **भेदकमित्यादि**। **नीलोत्पलम्** —

मूलार्थ—द्विगु-अर्थक समाहार एकवत् (एकवचन) होता है।

विमर्श—द्विगुसंज्ञा प्रकरण के अन्तर्गत तदुपयोगी कार्य का निर्देश किया जा रहा है। तदनुसार – "समाहारार्थ द्विगुसमास एकवचन होता है।"

(१४५७) **पद**—स, नपुंसकम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—समाहार में द्विगु और द्वन्द्व नपुंसकलिङ्ग होते हैं।

विमर्श—समस्त शब्दों के विषय में लिङ्ग निर्देश किया जा रहा है – सूत्रस्थ 'सः' पद का अभिप्राय एकवद्भाव प्रकरण से है। जो प्रकरण अष्टाध्यायी के 'द्विगुरेकवचनम्' (२।४।१) से 'विभाषा समीपे' (२।४।१६) सूत्र पर्यन्त है। अतः सूत्रार्थ इस प्रकार होगा – "इस एकवद्भाव प्रकरण में जिस समाहार द्विगु और द्वन्द्व को एकवद्भाव विधान किया गया है, वह नपुंसकलिङ्ग होता है।"

उदाहरण—पञ्चानां गवां समाहारः। **अलौ० वि०**—पञ्चन् + आम्, गो + आम् (संख्यावाची पञ्चन् का गो के साथ समास – 'तद्धितार्थ०', द्विगुसंज्ञा – 'संख्यापूर्वो द्विगुः', 'न्' का लोप, विभक्तिलोप, टच् = 'अ' – 'गोरतद्धितलुकि') – पञ्च + गो + अ ('ओ' = 'अव्' – आदेश, पुनः विभक्त्युत्पत्ति एकवचन सु, नपुंसकलिङ्ग – 'स नपुंसकम्', 'सु' = 'अम्' पूर्वरूप) = पञ्चगवम् (पाँच गायों का समूह)।

(१४५८) **पद**—विशेषणम्, विशेष्येण, बहुलम्। **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विशेषण (भेदक) और विशेष्य (भेद्य) समानाधिकरण सुबन्त के साथ बहुल प्रकार से समस्त होता है। नीलोत्पलम्। **वा०**—अर्द्ध शब्द के परवर्ती रहने पर अपर को पश्च आदेश होता है। **पश्चार्द्धः**।

विमर्श—तत्पुरुष का ही भेद कर्मधारय है। इस समास में दोनों पद प्रथमान्त होते हैं। एक पद विशेषण का वाचक होता है और दूसरा विशेष्य का। दोनों ही एक पदार्थ को सूचित करते हैं। अतः इन्हें समानाधिकरण कहा जाता है। सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु – 'पूर्वकालैक०' (२।१।४९)

*** अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः * । अपरश्चासावर्धश्च पश्चार्धः । (१४५९) सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः २।१।६१ । सह समस्यन्ते । सद्वैद्यः । (१४६०) आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६ । महावैयाकरणः ।**

नीलमुत्पलमिति विग्रहे 'विशेषणं विशेष्येण बहुलमि'ति समासे विशेषणपदस्य पूर्वनिपाते सुब्लुकि गुणे विभक्तिकार्ये 'नीलोत्पलमि'ति ।

(१४५९) **सन्महदिति** । 'समानाधिकरणैः समस्यन्ते स तत्पुरुषः' इत्यर्थः ।

(१४६०) **आन्महतः** । 'महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे' इति सूत्रार्थः । **महावैयाकरणः** – महांश्चासौ वैयाकरणश्चेति विग्रहे महत् + सु, वैयाकरण + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे

से 'समानाधिकरणेन' तथा 'सह सुपा' (१३९६) की अनुवृत्ति आती है । 'तत्पुरुषः' और 'समासः' का अधिकार है । इन अनुवृत्त पदों की एकवाक्यता होने पर सूत्र से यह अर्थ स्पष्ट होता है कि "विशेषणबोधक सुबन्त का विशेष्यबोधक समानाधिकरण सुबन्त के साथ बहुलतया (प्रायः अधिकतर) समास होता है ।"

उदाहरण—नीलं च तत् उत्पलम् । **अलौकिक विग्रह**—नील + सु, उत्पल + सु (विशेषणवाची 'नील' का विशेष्यवाची 'उत्पल' के साथ समास – 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्', विभक्तिलोप, 'नील' की उपसर्जन संज्ञा, पूर्वनिपात, अ + अ = 'ओ' – गुण, पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु, 'सु' = 'अम्' – 'अतोऽम्', अ + अ = 'अ' पूर्वरूप -- 'अमि पूर्वः') = नीलोत्पलम् (नील-कमल) । पक्ष में 'नीलम् उत्पलम्' भी प्रयोग होता है ।

सूत्र में 'बहुल' पद का ग्रहण होने से कहीं-कहीं समास की नित्य प्रवृत्ति भी होती है । कृष्णः च असौ सर्पः । **अलौ० वि०**—कृष्ण + सु, सर्प + सु (नित्य समास, विभक्तिलुक्, पूर्वनिपातादि) = कृष्णसर्पः (काला साँप) । बहुलग्रहण से कहीं समास होता ही नहीं – **रामो जामदग्न्यः** । यहाँ समास की प्रवृत्ति मान्य नहीं है । अपरश्चासौ अर्धश्च । **अलौ० वि०**— अपर + सु, अर्ध + सु (पूर्ववत् समासादि, 'अपर' = 'पश्च' – 'अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः', अ + अ = 'आ' – सवर्णदीर्घ, पुनः विभक्ति सु = स् = र् = ः) = पश्चार्धः (नीचे का आधा भाग) ।

(१४५९) **पद**—सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः, पूज्यमानैः । **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, सुप्, सह सुपा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सत् आदि सुबन्तों का पूज्यमान समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है । सद्वैद्यः ।

विमर्श—पूर्ववत् सभी पदों की अनुवृत्तियाँ आती हैं । 'तत्पुरुषः', 'विभाषा' तथा 'समासः' का अधिकार विद्यमान है । तदनुसार – "सत्, महत्, परम, उत्तम तथा उत्कृष्ट शब्दों का पूज्यमान समानाधिकरण सुबन्तों के साथ वैकल्पिक तत्पुरुष समास होता है ।"

उदाहरण—सन् चासौ वैद्यः । **अलौ० वि०**—सत् + सु, वैद्य + सु (सत् का वैद्य शब्द के साथ समास – 'सन्महत्०' विभक्तिलोप, 'सत्' का पूर्वनिपात, 'त्' = 'द्' – जश्त्व, प्राति० संज्ञा, सु, सु = स् = र् = ः) = सद्वैद्यः (अच्छा वैद्य) ।

(१४६०) **पद**—आत्, महतः, समानाधिकरणजातीययोः । **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

(१४६१) तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।२।४२। (१४६२) पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६।३।४२। कर्मधारये जातीयदेशीययोश्च परतो भाषितपुंस्कात्पर ऊङ्भावो यस्मिंस्तथाभूतं पूर्वं पुंवत्। पूरणीप्रियादिष्वप्राप्तः पुंवद्भावोऽनेन विधीयते। महानवमी। कृष्णचतुर्दशी। महाप्रिया। पूज्यमानैः किम्? उत्कृष्टो

'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' इत्यनेनाकारान्तादेशे मह + आ + वैयाकरण इति ज्ञाते सवर्णदीर्घे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'महावैयाकरणः' इति।

(१४६१) **तत्पुरुषः**। समानाधिकरणस्तत्पुरुषः कर्मधारयसंज्ञको भवतीत्यर्थः।

(१४६२) **पुंवत्कर्मधारयेति**। 'स्त्रियाः भाषितपुंस्कादनूङि'त्यनुवर्तते। कर्मधारये अधिकरणसप्तमी, जातीयदेशीयविषये परसप्तमी। तदाह — **कर्मधारयेति**। **महानवमी** — महती चासौ नवमी चेति विग्रहः। सन्महत् इत्यादिना समासः। नवानां पूरणी नवमी 'तस्य पूरणे डट्' 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' टित्त्वात् ङीप्।

मूलार्थ—महत् शब्द को आकार अन्तादेश होता है समानाधिकरण उत्तरपद रहते और जातीयर् प्रत्यय परवर्ती रहते। महावैयाकरणः।

विमर्श—'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) सूत्र के अधिकारान्तर्गत प्रकृत सूत्र का पाठ किया गया है। अतः यहाँ 'उत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है, जो 'समानाधिकरणे' के साथ अन्वित होता है। इस प्रकार सूत्र से यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है — ''समानाधिकरण उत्तरपद रहते तथा जातीयर् प्रत्यय के परवर्ती रहते महत् शब्द को आकार अन्तादेश होता है।'' 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के अनुसार यह आकार आदेश महत् के अन्त्य वर्ण 'त्' के स्थान पर होगा।

उदाहरण—महाँश्चासौ वैयाकरणः। **अलौ० वि०**—महत् + सु, वैयाकरण + सु (समास — 'सन्महत्०', विभक्तिलोप, 'महत्' का पूर्वनिपात, 'त्' = 'आ' — 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः', अ + आ = 'आ' — सवर्णदीर्घ, पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = महावैयाकरणः (श्रेष्ठ वैयाकरण)।

(१४६१) **पद**—तत्पुरुषः, समानाधिकरणः, कर्मधारयः। **सञ्ज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय संज्ञा होती है।

विमर्श—तत्पुरुष समास का ही भेद 'कर्मधारय' है। 'समानाधिकरण' पद समान विभक्त्यन्त का बोधक है। अर्थात् समान अधिकरण में पूर्वपद और उत्तरपद दोनों ही समान विभक्ति वाले होते हैं। अतः ''समानविभक्तिक अनेकपदावयवक तत्पुरुष की कर्मधारय संज्ञा होती है।''

(१४६२) **पद**—पुंवत्, कर्मधारयजातीयदेशीयेषु। **अनुवृत्ति**—स्त्रियाः भाषितपुंस्कारदनूङ्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—कर्मधारय समास और देशीयर् तथा जातीयर् प्रत्यय परे रहते ऊङ् रहित भाषितपुंस्क पूर्वपद को पुंवद्भाव होता है। पूरणी, प्रिया आदि शब्दों में अप्राप्त पुंवद्भाव का विधान किया गया है। महानवमी। कृष्णचतुर्दशी इत्यादि।

विमर्श—सूत्रार्थ की निष्पत्ति हेतु 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०' (६।३।३४) से 'स्त्रियाः भाषितपुंस्कादनूङ्' की अनुवृत्ति आती है। 'भाषितपुंस्कात्' में बहुव्रीहि समास है — 'भाषितः पुमान् यस्मिन् सः = प्रातिपदिकः शब्दोऽपि भाषितपुंस्कः, तस्मात्'। 'अनूङ्' में भी बहुव्रीहिसमास है — 'भाषितपुंस्काद् अनूङ् यस्यां सा तस्याः।' इस प्रकार अनुवृत्त पदों की सूत्रस्थ पदों के साथ एकवाक्यता करने पर यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है — ''कर्मधारय समास में तथा जातीयर् एवं देशीयर् प्रत्ययों के परवर्ती रहते ऊङ् रहित भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्गवाचक शब्दों को पुंवद्भाव होता है।''

गौः, पङ्कादुद्धृत इत्यर्थः। **(१४६३) उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५।** पुरुषो घनश्यामः। **(१४६४) उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २।१।५६।** पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः। सामान्याप्रयोगे किम्? पुरुषो व्याघ्र इव शूरः। * शाकपार्थिवादीनामुत्तरपदलोपश्च *। शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः। देवब्राह्मणः।

(१४६३) **उपमानानीति**। उपमानवाचकानि समानधर्मवाचकैः समस्यन्त इत्यर्थः।

(१४६४) **उपमितमिति**। उपमेयं व्याघ्रादिभिः सह प्राग्वत् साधारणधर्मस्याप्रयोगे सतीत्यर्थः। **पुरुषव्याघ्रः** — 'पुरुषः व्याघ्र इवे'ति लौकिकविग्रहे पुरुष + सु, व्याघ्र + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'पुरुषव्याघ्रः' इति सिद्धम्।

उदाहरण—महती चासौ नवमी च। **अलौ० वि०**—महती + सु, नवमी + सु ('महती' का 'नवमी' के साथ समास – 'सन्महत्०', विभक्तिलोप, 'महती' का पूर्वनिपात) – महती नवमी ('महती' को पुंवद्भाव – 'महत्' – 'पुंवत्कर्मधारय०', 'त्' = 'आ' – 'आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः', अ + आ = 'आ' – सवर्णदीर्घ, पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु = 'स्' का लोप – 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०') = महानवमी (आश्विन शुक्ल नवमी)। कृष्णा चासौ चतुर्दशी च। **अलौ० वि०**—कृष्ण + सु, चतुर्दशी + सु (कर्मधारय समास – 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्', विभक्तिलोप आदि, पुंवद्भाव होने से 'कृष्णा' पदस्थ टाप् (आ) की निवृत्ति – 'पुंवत्कर्मधारय०', पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु = 'स्' का लोप) = कृष्णचतुर्दशी। **लौ० वि०**—महती चासौ प्रिया च। **अलौ० वि०**—महती + सु, प्रिया + सु (पूर्ववत् समासादि, पुंवद्भाव) – महत् प्रिया ('त्' = 'आ' – दीर्घ, विभक्तिकार्य) = महाप्रिया।

प्रत्युदाहरण—पूर्वसूत्र (१४५९) में 'पूज्यमानैः' पद का सन्निवेश होने से 'उत्कृष्टः गौः' (= कीचड़ से निकाला गया बैल) में समास नहीं हुआ। क्योंकि प्रकृत वाक्य में उत्कृष्ट पद (पूज्यमान) श्रेष्ठतासूचक नहीं है।

(१४६३) **पद**—उपमानानि, सामान्यवचनैः। **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उपमानवाचक शब्दों का समानधर्मवाचक शब्दों के साथ समास होता है। घनश्यामः।

विमर्श—पूर्ववत् सभी प्रासंगिक अनुवत्तियाँ विद्यमान हैं। तदनुसार निष्कर्ष यह है कि "उपमानवाचक सुबन्तों का समान्यवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है।"

उदाहरण—लौ० वि०—घन इव श्यामः। **अलौ० वि०**—घन + सु, श्याम + सु (समास – 'उपमानानि सामान्यवचनैः', विभक्तिलोप, 'घन' का पूर्वनिपात, पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = घनश्यामः (बादल की तरह श्याम वर्ण)।

(१४६४) **पद**—उपमितम्, व्याघ्रादिभिः, सामान्याप्रयोगे। **अनुवृत्ति**—समानाधिकरणेन, सुप्, सह सुपा। **विधि (नियम) सूत्र**।

मूलार्थ—यदि समान धर्मवाचक शब्द का प्रयोग न हो तो उपमेय का व्याघ्र आदि सुबन्तों के साथ समास होता है। पुरुषव्याघ्रः। **वा०**—शाकपार्थिव आदि शब्दों की सिद्धि के लिए उत्तरपद का लोप भी होता है। शाकपार्थिवः। देवब्राह्मणः।

(१४६५) कडाराः कर्मधारये २।२।३८। कडारादयः शब्दाः कर्मधारये वा पूर्वं प्रयोज्याः। कडारजैमिनिः। जैमिनिकडारः। **(१४६६) मयूरव्यंसकादयश्च २।१।७२।** एते निपात्यन्ते। मयूरो व्यंसको मयूरव्यंसकः। व्यंसको = धूर्तः। उदक् च अवाक् च उच्चावचम्। निश्चितं च प्रचितं च निश्चप्रचम्। नास्ति किञ्चन यस्य

(१४६५) **कडारा इति**। 'उपसर्जनं पूर्वमि'त्यस्मात्पूर्वमित्यनुवर्तते। 'कडाराः' इत्यत्र बहुवचननिर्देशात्तदादिग्रहणम्। अत आह — **कडारादय इति**।

(१४६६) **मयूरव्यंसकादयश्च**। एते निपात्यन्त इति। कृतसमासादिकार्याः निर्दिश्यन्त इत्यर्थः। **आख्यातमिति**। आख्यातं = तिङन्तं क्रियासातत्ये गम्ये तिङन्तं तिङन्तेन समस्यते स

विमर्श—व्याघ्रादिगणपठित शब्दों में समासप्रक्रिया बतलाने के लिए पूर्वसूत्र (१४६३) में उपवर्णित समास-विषयक विशिष्टताओं का विस्तार किया जा रहा है। उपर्युक्त सभी पदों की अनुवृत्तियाँ आ रही हैं। तदनुसार सूत्र का आशय यह है कि ''समान धर्म का प्रयोग न होने पर उपमेयवाचक सुबन्त का समानाधिकरणवाची व्याघ्र आदि सुबन्तों के साथ वैकल्पिक समास होता है।''

उदाहरण—पुरुषः व्याघ्र इव। **अलौ० वि०**—पुरुष + सु, व्याघ्र + सु (उपमेयवाचक 'पुरुष' का 'व्याघ्र' के साथ समास, विभक्तिलोप, 'पुरुष' की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात, पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = पुरुषव्याघ्रः (बाघ के समान शूरवीर पुरुष)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'सामान्याप्रयोगे' का सन्निवेश होने से तद्विपरीत साधारण धर्म का प्रयोग होने पर 'व्याघ्र' आदि पदों के साथ उपमेय का समास नहीं होता। अतः 'पुरुषः व्याघ्र इव शूरः' में समास नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ 'शूरः' का प्रयोग है जो साधारण धर्म का वाचक है।

लौकिक वि०—शाकप्रियः पार्थिवः। **अलौ० वि०**—शाकप्रिय + सु, पार्थिव + सु (समास — 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्', उत्तरपद 'प्रिय' का लोप — 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपश्च', विभक्तिलोप, पुनः विभक्त्युत्पत्ति सु = स् = र् = :) = शाकपार्थिवः (शाकप्रिय राजा)। **लौ० वि०**—देवपूजकः ब्राह्मणः। **अलौ० वि०**—देवपूजक + सु, ब्राह्मण + सु (पूर्ववत् समास एवम् उत्तरपद 'पूजक' का लोप, विभक्तिलोप, विभक्तिकार्य) = देवब्राह्मणः (देवताओं का पूजक ब्राह्मण)।

(१४६५) **पद**—कडाराः, कर्मधारये। **अनुवृत्ति**—वा, पूर्वम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कर्मधारय समास में कडार आदि शब्दों का विकल्प से पूर्वप्रयोग होता है। कडारजैमिनिः। जैमिनिकडारः।

विमर्श—सूत्रार्थ की निष्पत्ति हेतु पूर्वसूत्र 'उपसर्जनं पूर्वम्' (१४००) से 'पूर्वम्' तथा 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' (२।२।३७) से 'वा' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार — ''कर्मधारय समास में कडार आदि गणपठित शब्दों का विकल्प से पूर्वप्रयोग होता है।''

उदाहरण—लौकिक विग्रह—कडारश्चासौ जैमिनिश्च। **अलौ० वि०**—कडार + सु, जैमिनि + सु (पूर्ववत् समास, विभक्तिलोप, 'कडार' का विकल्प से पूर्वप्रयोग — 'कडाराः कर्मधारये' विभक्तिकार्य) = कडारजैमिनिः। पक्ष में — जैमिनिकडारः (= पीला जैमिनि)।

(१४६६) **पद**—मयूरव्यंसकादयः च। **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मयूरव्यंसक आदि का निपातन किया जाता है। मयूरव्यंसकः। 'व्यंसक' का अर्थ

स अकिञ्चनः । * आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये * । अश्नीत पिबतेत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा अश्नीतपिबता । पचतभृज्जता । खादतमोदता । नास्ति कुतो भयं यस्य सः अकुतोभयः । अन्यो राजा राजान्तरम् । चिदेव चिन्मात्रम् । (१४६७) नञ्

तत्पुरुष इत्यर्थः । 'अश्नीतपिबता' इत्यत्र क्रियारूपस्यान्यपदार्थस्य प्राधान्यात् स्त्रीत्वाट्टाप् । एवं पचतभृज्जता इत्यादावपि ।

धूर्त है । उच्चावचम् इत्यादि । **आख्यात०**– क्रियासातत्य (क्रिया का नैरन्तर्य) रहने पर तिङन्त (क्रिया) का तिङन्त के साथ समास होता है । अश्नीतपिबता इत्यादि ।

विमर्श—नित्य समास का विधान होने से यहाँ 'विभाषा' की अनुवृत्ति नहीं आती । अन्य पदों की पूर्ववत् अनुवृत्तियाँ आ रही हैं । इस प्रकार निपातन के द्वारा मयूरव्यंसक आदि गणपठित शब्दों की तत्पुरुष समास में साधुता प्रतिपादित की जा रही है । अतः निपातन के द्वारा ही समासविषयक कार्यों का निर्देश किया गया है ।

उदाहरण—(१) **लौकिक विग्रह**—व्यंसकश्चासौ मयूरश्च । **अलौ० वि०**—व्यंसक + सु, मयूर + सु (निपातन से समास तथा 'मयूर' का पूर्वनिपात – 'मयूरव्यंसकादयश्च', विभक्तिलोप, पुनः प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = मयूरव्यंसकः (चतुर मोर) । (२) **उदक् च अवाक् च** । **अलौ० वि०**—उदञ्च् + सु, अवाञ्च् + सु (समास तथा उदक् = उच्च, अवाक् = अवच, विभक्तिलोप, अ + अ = 'आ' – सवर्णदीर्घ, सु = अम्, पूर्वरूप) = उच्चावचम् (ऊँचा-नीचा) । (३) निश्चितं च प्रचितं च । **अलौ० वि०**—निश्चित + सु, प्रचित + सु (निपातन से समास तथा निश्चित = निश्च, प्रचित = प्रच, विभक्तिलोप, पुनः सु, सु = अम्, पूर्वरूप) = निश्चप्रचम् (निश्चित की हुई) । (४) नास्ति किञ्चन यस्य सः । **अलौ० वि०**—नञ् + सु, किञ्चन + सु (तत्पुरुष समास का निपातन, बहुव्रीहि का अपवाद तथा नञ् के 'न्' का लोप, सुब्लुक्, पुनः सु = स् = र् = :) = अकिञ्चनः (जिसके पास कुछ भी न हो, निर्धन) ।

गणसूत्र—जब क्रिया से नैरन्तर्य अर्थ बोधित होता हो तो तिङन्त का तिङन्त के साथ समास होता है ।

उदाहरण—(१) अश्नीत पिबत इत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा । **अलौ० वि०**—✓अश् + लिङ्, ✓पा + लिङ् = अश्नीत पिबत (सुबन्त न होने पर भी गणसूत्र से निपातनवश समास, क्रियारूप अन्य पदार्थ की प्रधानता होने से 'अश्नीतपिबत' शब्द अकारान्त प्रातिपदिक होने के कारण टाप् = 'आ' – 'अजाद्यतष्टाप्', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = अश्नीतपिबता (= निरन्तर खाओ और पिओ) । (२) पचत भृज्जत इत्येवं सततं यत्र अभिधीयते सा (निपातन से तत्पुरुष समास, टाप् = आ, दीर्घ, पुनः सु = स् का लोप – 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०') = पचतभृज्जता (निरन्तर पकाओ और भूनो) । (३) खादत मोदन्ताम् इत्येवं सततं यत्र अभिधीयते सा (पूर्ववत् तत्पुरुष समास का निपातन, मोदन्ताम् = मोदत, टाप्, दीर्घ तथा सु का लोप) = खादतमोदता (निरन्तर खाओ और आनन्दित रहो) । (४) नास्ति कुतो भयं यस्य सः । **अलौ० वि०**—नञ् + सु, कुतोभय + सु (बहुव्रीहि का बाधकर निपातन से तत्पुरुष समास, 'न्' का लोप, विभक्तिलोप, पुनः सु = स् = र् = :) = अकुतोभयः (= जिसे किसी का भय न हो – निर्भय) । (५) अन्यः राजा । **अलौ० वि०**—अन्य + सु, राजन् + सु (विशेषणसमास का अपवाद नित्य समास एवम् अन्य अर्थवाची 'अन्तर' का पूर्वनिपात, 'न्' का लोप, सवर्णदीर्घ, पुनः सु = अम्, पूर्वरूप) = राजान्तरम् (दूसरा राजा) । (६) चिद् एव । **अलौ० वि०**—चिद् + सु, एव (मात्र + सु (निपातन से नित्य समास, 'द्' = 'न्' – 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्') – चिन्मात्र (प्राति० संज्ञा, सु = 'अम्', पूर्वरूप) = चिन्मात्रम् (केवल चैतन्यरूप, ब्रह्म) ।

२।२।६। सुपा प्राग्वत्। (१४६८) नलोपो नञः ६।३।७३। नञो नस्य लोप उत्तरपदे। न ब्राह्मणः अब्राह्मणः। (१४६९) तस्मान्नुडचि ६।३।७४। लुप्त-नकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुट्। अनश्वः। नैकधेत्यादौ तु नशब्देन सह सुप्सुपेति समासः। (१४७०) कुगतिप्रादयः २।२।१८। एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते।

(१४६७) **नञिति**। नञ् सुपा सह समस्यत इत्यर्थः।

(१४६८) **नलोप इति**। 'न' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्। तदाह — **नञो नस्येति**।

(१४६९) **तस्मादिति**। तच्छब्देनात्र लुप्तनकारो नञ् परामृश्यते। 'उत्तरपदे' इत्यनुवृत्तम् अचीत्यनेन विशेष्यते। तदादिविधिः। तदाह — **लुप्तनकारादिति**। **अनश्वः** - न अश्वः इति विग्रहे न+अश्व+सु इत्यलौकिकविग्रहे 'नञ्' इत्यनेन तत्पुरुषसमासे विभक्तिलोपे 'नलोपो नञः' इत्यनेन नकारलोपे 'अ अश्व' इति जाते 'तस्मान्नुडचि' इत्यनेन नुडागमेऽनुबन्धलोपे संयोगे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'अनश्वः' इति।

(१४७०) **कुगतीति**। कुत्सितार्थकस्य 'कु' इत्यव्ययस्यैव ग्रहणं न तु पृथ्वीपर्यायस्य,

---

(१४६७) **पद**—नञ्। **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नञ् का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक समस्त पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार – 'नञ्' अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है।

(१४६८) **पद**—नलोपः, नञः। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उत्तरपद परे रहते नञ् के नकार का लोप होता है। अब्राह्मणः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र से 'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) से 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार – ''उत्तरपद के परवर्ती रहने पर नञ्तत्पुरुष सम्बन्धी नकार का लोप होता है।''

उदाहरण—न ब्राह्मणः। **अलौ० वि०**—नञ् + सु, ब्राह्मण + सु (तत्पुरुष समास – 'नञ्', विभक्तिलोप, 'न्' का लोप – 'नलोपो नञः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अब्राह्मणः (ब्राह्मणेतर)।

(१४६९) **पद**—तस्मात्, नुट्, अचि। **अनुवृत्ति**—नञः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—लुप्तनकारक नञ् से उत्तरवर्ती अजादि पद को नुट् का आगम होता है। अनश्वः। 'नैकधा' इत्यादि में 'न' के साथ 'सह सुपा' से समास होता है।

विमर्श—नञ्तत्पुरुष समास के अन्तर्गत अजादि उत्तरपद के रहने पर विशेष विधान किया जा रहा है। पूर्वसूत्र (१४६८) से 'नञः' तथा 'अलुगुत्तरपदे' से 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार – ''लुप्त नकार वाले नञ् से अजादि शब्द उत्तरपद रहने पर नुट् (= 'न्') का आगम होता है।''

उदाहरण—**लौकिक विग्रह**—न अश्वः। **अलौ० वि०**—नञ्, अश्व + सु (नञ् का सुबन्त 'अश्व' के साथ समास – 'नञ्', 'न्' का लोप – 'नलोपो नञः') – अ अश्वः (नुट् = 'न्' का अश्व के पूर्व आगम – 'तस्मान्नुडचि', विभक्तिकार्य) = अनश्वः (घोड़े से भिन्न)।

विशेष—न + एकधा (= नैकधा) में नञ्तत्पुरुष समास नहीं है; अपितु 'सह सुपा' से विहित सामान्य समास है।

(१४७०) **पद**—कुगतिप्रादयः। **अनुवृत्ति**—सुप्, सह सुपा। **विधि (संज्ञा) सूत्र**।

कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः। (१४७१) ऊर्यादिच्विडाचश्च १।४।६१। ऊर्यादयश्च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। उररीकृत्य। शुक्लीकृत्य। पटपटाकृत्य। * कारिकाशब्दस्योपसंख्यानम् *। कारिका = क्रिया। कारि-

---

गत्यादिसाहचर्यात्। **कुपुरुषः** — 'कुत्सितः पुरुषः' इति विग्रहे 'कुगतिप्रादयः' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'कुपुरुषः' इति।

(१४७१) **ऊर्यादीति**। च्विडाचौ प्रत्ययौ, तदन्ताः ऊर्यादयश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युरित्यर्थः। **ऊरीकृत्य** — उरीत्यव्ययम्, तस्य 'ऊर्यादिच्विडाचश्चे'ति गतिसंज्ञायां 'कुगतिप्रादयः' इति 'कृत्वा' इत्यनेन सह समासे 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इति 'क्त्वा' इत्यस्य स्थाने ल्यपि अनुबन्धलोपे 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुगागमेऽनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लोपे 'ऊरीकृत्ये'ति।

मूलार्थ—कु और गति संज्ञक प्रादि का समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है। कुपुरुषः।

विमर्श—'तत्पुरुषः' और 'समासः' का अधिकार है। गति समास (तत्पुरुष का भेद) का निर्वचन किया जा रहा है। पूर्ववत् 'सुप्' तथा 'सह सुपा' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्र में बहुव्रीहिगर्भ द्वन्द्व समास है — 'प्र आदिर्येषां ते प्रादयः। कुश्च गतिश्च प्रादयश्च कुगतिप्रादयः'। इस प्रकार अनुवृत्त पदों के साथ एकवाक्यता होने पर सूत्र से यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है कि — "कुत्सितार्थक कु शब्द, गतिसंज्ञक तथा प्रादि शब्द किसी अन्य समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समस्त होते हैं।"

उदाहरण—कुत्सितः पुरुषः। **अलौ० वि०**—कु + सु, पुरुष + सु ('कु' अव्यय का 'पुरुष' के साथ समास — 'कुगतिप्रादयः', विभक्तिलोप, 'कु' का पूर्वनिपात, पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = कुपुरुषः (दुष्ट पुरुष)।

(१४७१) **पद**—ऊर्यादिच्विडाचः, च। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—ऊरी आदि शब्दों की तथा च्व्यन्त और डाजन्त की क्रिया के योग में गतिसंज्ञा होती है। ऊरीकृत्य इत्यादि। **वा०** — कारिका शब्द की भी क्रिया के योग में गतिसंज्ञा होती है। कारिकाकृत्य।

विमर्श—प्रसंगवश गतिसंज्ञा का उल्लेख किया जा रहा है। प्रकृत सूत्र में 'गतिश्च' (१।४।६०) से गति, 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (१।४।५९) से 'क्रियायोगे' तथा 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१।४।५७) से 'निपाताः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार — "ऊरी आदि शब्द तथा च्विप्रत्ययान्त और डाच् प्रत्ययान्त शब्दों की क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है।"

उदाहरण—**लौ० वि०**—ऊरीकृत्वा। **अलौ० वि०**—ऊरी कृ + क्त्वा ('ऊरी' शब्द की प्रकृत सूत्र से गतिसंज्ञा होने पर समास — 'कुगतिप्रादयः', क्त्वा = ल्यप् = 'य' — 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्', कृ को तुक् = 'त्' का आगम — 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्', विभक्तिकार्य) = ऊरीकृत्य (= स्वीकार करके)। '**च्वि**' का उदाहरण — **लौ० वि०**—अशुक्लं शुक्लं कृत्वा। **अलौ० वि०**—शुक्ल + च्वि, कृ + क्त्वा ('च्वि' के परे रहते 'अ' = 'ई' — 'अस्य च्वौ', 'च्वि' में च् और इ की इत्संज्ञा तथा 'व्' का लोप — 'वेरपृक्तस्य', 'शुक्ली' की गति संज्ञा — 'ऊर्यादि०', गतिसंज्ञक शुक्ली का कृ के साथ समास — 'कुगतिप्रादयः', क्त्वा = ल्यप् = 'य', 'कृ' को तुक् = 'त्' का आगम, प्राति० संज्ञा, सु = 'स्' का लोप — 'अव्ययादाप्सुपः') = शुक्लीकृत्य (श्वेत करके)। **डाच् प्रत्ययान्त** का उदाहरण — **लौ० वि०**—पटत् पटत् इति कृत्वा। **अलौ० वि०**—पटत् + डाच्,

काकृत्य। (१४७२) अनुकरणं चानितिपरम् १।४।६२ । खाट्कृत्य। अनितिपरं किम् ? खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत् ।(१४७३) आदरानादरयोः सदसती १।४।६३ । सत्कृत्य। असत्कृत्य। (१४७४) भूषणेऽलम् १।४।६४ । अलंकृत्य। भूषणे

(१४७२) **अनुकरणमिति**। अनुकरणं गतिसंज्ञं स्यादित्यर्थः। **खाट्कृत्येति**। खाडिति शब्दं कृत्वेत्यर्थः। गतिसमासे क्त्वो ल्यप्।

(१४७४) **भूषणेऽलमिति**। भूषणेऽर्थे विद्यमानमलमित्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः।

कृ + क्त्वा (कृ धातु के योग में 'पटत्' से डाच् प्रत्यय, 'डाचि द्वे भवतः' वा० से द्वित्व) – पटत् पटत् आ, कृत्वा (पूर्व 'पटत्' की आम्रेडित संज्ञा, त् तथा प् को 'आदेश – 'नित्यमाम्रेडिते डाचि', टि = 'अत्' का लोप – टेः' (डाच् प्रत्ययान्त का कृत्वा के साथ गतिसंज्ञक समास, ल्यप् = 'य', तुक्, विभक्तिकार्य) = पटपटाकृत्य (पट-पट शब्द करके)।

वा०—कारिका शब्द की भी गतिसंज्ञा में गणना की जानी चाहिए।

उदाहरण—कारिकाकृत्य – कारिका + अम्, कृ + क्त्वा (गतिसंज्ञा होने से समास, क्त्वा = ल्यप् प्रत्ययादि कार्य पूर्ववत्) = कारिकाकृत्य (क्रिया = कार्य करके)।

(१४७२) **पद**—अनुकरणम्, च, अनितिपरम्। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—यदि इति शब्द परे न हो तो अनुकरण की भी गति संज्ञा होती है। खाट्कृत्य।

विमर्श—विशेष अवस्था में अनुकरणवाची शब्दों की भी गति संज्ञा का विधान किया जा रहा है। पूर्ववत् 'गतिः', 'क्रियायोगे' तथा 'निपाताः' की अनुवृति आती है। तदनुसार – ''इतिपरक से भिन्न अनुकरण की क्रिया के योग में गति संज्ञा होती है।''

उदाहरण—लौ० वि०—खाट् कृत्वा। **अलौ० वि०**—खाट्, कृ + क्त्वा (खाट् की गतिसंज्ञा, तदनन्तर समास, क्त्वा = ल्यप् = य, तुक् = 'त्' का आगम, विभक्ति सु का लुक्) = खाट्कृत्य (खाट् – थूकने की ध्वनि का अनुकरण करके)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में इति शब्द परे रहते गति संज्ञा का विधान न होने से 'खाट् इति कृत्वा' में गतिसंज्ञा नहीं होती। अतः समास भी नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ अनुकरणवाचक खाट् के पश्चात् 'इति' का प्रयोग किया गया है।

(१४७३) **पद**—आदरानादरयोः, सदसती। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—आदर और अनादर अर्थ में सत् और असत् की क्रिया के योग में गतिसंज्ञा होती है। सत्कृत्य। असत्कृत्य।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार – ''सत् और असत् शब्द क्रमशः आदर और अनादर अर्थ में विद्यमान हों तो उनकी क्रिया के योग में गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—लौ० वि०—सत् कृत्वा। **अलौ० वि०**—सत् कृ + क्त्वा। (आदरार्थ में सत् की गतिसंज्ञा – 'आदरानादरयोः सदसती', कृ के साथ समास, पूर्ववत् क्त्वा = ल्यप् = 'य', तुक् = 'त्' का आगम, अव्ययसंज्ञा, विभक्तिलोप) = सत्कृत्य (सत्कार करके)। असत् कृत्वा। **अलौ० वि०**—असत् कृ + क्त्वा (प्रक्रिया पूर्ववत्) = असत्कृत्य (= अनादर करके)।

(१४७४) **पद**—भूषणे, अलम्। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

किम्? अलं कृत्वौदनं गतः, पर्याप्तमित्यर्थः। अनुकरणमित्यादि त्रिसूत्री स्वभावात्कृञ्विषया। (१४७५) **अन्तरपरिग्रहे १।४।६५**। अन्तर्हत्य। मध्ये हत्वेत्यर्थः। अपरिग्रहे किम्? अन्तर्हत्वा गतः, हतं परिगृह्य गत इत्यर्थः। (१४७६) **कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते १।४।६६**। कणेहत्य पयः पिबति। मनोहत्य। कणेशब्दः सप्तमीप्रतिरूपको निपातोऽभिलाषातिशये वर्तते। मनःशब्दोऽप्यत्रैव। (१४७७) **पुरोऽ-**

(१४७५) **अन्तरेति**। अपरिग्रहे विद्यमानम् अन्तरित्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः।

(१४७६) **कणेमनसीति**। श्रद्धाप्रतिघाते=अत्यन्ताभिलाषनिवृत्तौ कणेशब्दो मनःशब्दश्च गतिसंज्ञौ स्तः। **कणेहत्य, मनोहत्य** — कणे हत्वा, मनो हत्वा इति विग्रहे 'कणेमनसी' इति गतिसंज्ञायां 'कुगतिप्रादयः' इति समासे सुब्लकि 'समासे' इति ल्यपि तुगागमे सुबादिकार्ये च कृते 'कणेहत्य, मनोहत्य' इति रूपे भवतः।

मूलार्थ—भूषण अर्थ में क्रिया का योग रहने पर 'अलम्' की गतिसंज्ञा होती है। अलंकृत्य। 'भूषणे' क्यों कहा? अलंकृत्वा ओदनं गतः। 'अलम्' पद पर्याप्त अर्थ का सूचक है।

विमर्श—पूर्ववत् उक्त पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — भूषण अर्थ में वर्तमान 'अलम्' गतिसंज्ञक होता है। गतिसंज्ञा का फल 'कुगतिप्रादयः' से समास तथा क्त्वा के स्थान पर 'ल्यप्' आदेश होता है।

उदाहरण—अलं कृत्वा। **अलौ० वि०**—अलं + कृ + क्त्वा (गतिसंज्ञा – 'भूषणेऽलम्', समास – 'कुगतिप्रादयः', विभक्तिलुक्, क्त्वा = ल्यप् = 'य', तुक् = 'त्' का आगम, विभक्तिकार्य) = अलंकृत्य (सजाकर)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में भूषण अर्थ का कथन होने से अतिरिक्त 'पर्याप्त' आदि अर्थ में 'अंलं' का कृत्वा के साथ समास नहीं होता। अलं कृत्वा।

अनुकरणमिति—'अनुकरणम्०' (१४७२) से 'भूषणेऽलम्' (१४७४) तक तीन सूत्र स्वभावतः कृञ् विषयक हैं। अर्थात् उक्त त्रिसूत्री से विहित गतिसंज्ञा कृञ् के योग में होती है।

(१४७५) **पद**—अन्तः, अपरिग्रहे। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—अपरिग्रह अर्थ में अन्तर् की गतिसंज्ञा होती है। अन्तर्हत्य इत्यादि।

विमर्श—उपर्युक्त पदों की अनुवृत्ति आने से प्रकृत सूत्र द्वारा ''अपरिग्रह (अस्वीकार) अर्थ में क्रिया के योग में 'अन्तर्' अव्यय की गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—वि०—अन्तर् + हत्वा (अस्वीकारार्थक 'अन्तर्' अव्यय की गतिसंज्ञा, समास, क्त्वा = ल्यप् = 'य', तुक्, 'न्' अनुनासिक का लोप, विभक्तिलोप) = अन्तर्हत्य (मारने के बाद मृत को त्याग कर)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में अपरिग्रह अर्थ का निर्देश होने के कारण 'अन्तर्हत्वा गतः' (मृत को उठाकर गया) में स्वीकारार्थक होने से गतिसंज्ञा नहीं होती। फलतः समास भी नहीं होता।

(१४७६) **पद**—कणेमनसी, श्रद्धाप्रतीघाते। **अनुवृत्ति**—गतिः क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—'कणे' और 'मनसि' शब्द की श्रद्धा के प्रतीघात (स्वेच्छित कार्य करने पर) अर्थ में गतिसंज्ञा होती है। कणेहत्य पयः पिबति। मनोहत्य। यहाँ 'कणे' शब्द सप्तमी प्रतिरूपक निपात है, जिसका अर्थ अभिलाषा की अधिकता है। मनस् शब्द भी अभिलाषातिशय का बोधक है।

व्ययम् १।४।६७। पुरस्कृत्य। (१४७८) अस्तं च १।४।६८। अस्तमिति मान्तमव्ययं गतिसंज्ञं स्यात्। अस्तंगत्य। (१४७९) अच्छगत्यर्थवदेषु १।४।६९। अव्ययमित्येव। अच्छगत्य। अच्छोद्य, अभिमुखं गत्वा उक्त्वा चेत्यर्थः। अव्ययं किम्?

(१४७७) **पुर इति**। पुर इत्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः।

(१४७८) **अस्तं चेति**। गतिसंज्ञं स्यादिति भावः।

(१४७९) **अच्छेति**। गत्यर्थकधातुषु वद्धातौ च प्रयुज्यमाने 'अच्छ' इत्यव्ययं गतिसंज्ञं स्यादित्यर्थः। **अच्छगत्य, अच्छोद्य** — अच्छेत्यस्य 'अच्छगत्यर्थवदेषु' इति गतिसंज्ञायां 'कुगतिप्रादयः' इति समासे सुब्लुकि अच्छ गत्वा, अच्छ उक्त्वा इति स्थिते 'समासेऽनञ्०' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये अच्छगत्य, अच्छोद्य इति।

उदाहरण—लौ० वि०—कणे हत्वा ('कणे' की हत्वा के योग में गतिसंज्ञा — 'कणेमनसी०', गतिसमास, क्त्वा = ल्यप् = 'य', तुक्, अनुनासिकलोप, विभक्तिकार्य) = कणेहत्य पयः पिबति (तृप्तिपर्यन्त दूध पीता है)। **मनो हत्वा** (उक्तवत् गतिसंज्ञा, समास, ल्यप्, तुक्, अनुनासिकलोप, स् = र्= 'उ', अ + उ = 'ओ' — गुण, पुनः विभक्ति सु, अव्ययसंज्ञा, लोप) = मनोहत्य (मन भर दूध पीता है)।

(१४७७) **पद**—पुरः, अव्ययम्। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—क्रिया के योग में अव्यय 'पुरस्' शब्द की गतिसंज्ञा होती है। पुरस्कृत्य।

विमर्श—'गतिः' आदि पदों की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — ''क्रिया के योग में अव्ययवाची 'पुरस्' शब्द की गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—पुरस् कृत्वा — **अलौ० वि०**—पुरस्, कृ + क्त्वा ('पुरस्' की गतिसंज्ञा — 'पुरोऽव्ययम्', समास, ल्यप्, तुक्, अव्ययसंज्ञानिमित्तक विभक्ति का लोप) = पुरस्कृत्य (आगे करके)।

(१४७८) **पद**—अस्तं, च। **अनुवृत्ति**—अव्ययम्, गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—'अस्तम्' इस मकारान्त अव्यय की भी गतिसंज्ञा होती है। अस्तंगत्य।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१४७७) से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति आती है। 'गतिः' और 'क्रियायोगे' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — ''मकारान्त अव्यय 'अस्तम्' की भी गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—अस्तं, गत्वा। **अ० वि०**—अस्तम्, गम् + क्त्वा (प्रकृत सूत्र से गतिसंज्ञा, समास, क्त्वा = ल्यप् = 'य', तुक् = 'त्' आगम, अनुनासिक 'म्' का लोप, विभक्तिलोप) = अस्तंगत्य (छिपने पर)।

(१४७९) **पद**—अच्छ, गत्यर्थवदेषु। **अनुवृत्ति**—अव्ययम्, गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—गत्यर्थक धातु और वद् धातु के परवर्ती रहने पर 'अच्छ' अव्यय की गतिसंज्ञा होती है।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१४७७) के 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति आने से अच्छ पद भी अव्ययवाची लिया जाता है। तदनुसार — ''अच्छ अव्यय की गत्यर्थक धातुओं के योग में तथा वद् धातु के योग में गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—अच्छ गत्वा। **अलौ० वि०**—अच्छ, गम् + क्त्वा (प्रकृत सूत्र से गतिसंज्ञा, समास, क्त्वा = ल्यप्, तुक्, अनुनासिकलोप आदि पूर्ववत्) = अच्छगत्य (सामने जाकर)। अच्छ

जलमच्छं गच्छति। (१४८०) अदोऽनुपदेशे १।४।७०। अदःकृत्य। अदःकृतम्। परं प्रत्युपदेशे प्रत्युदाहरणम्, अदः कृत्वा, अदः कुरु। (१४८१) तिरोऽन्तर्धौ १।४।७१। तिरोभूय। (१४८२) विभाषा कृञि १।४।७२। (१४८३)

(१४८०) **अद इति**। अनुपदेशेऽदश्शब्दो गतिसंज्ञको भवतीत्यर्थः।

(१४८१) **तिर इति**। अन्तर्धिः = व्यवधानम्। तत्र तिरस् इत्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः। **तिरोभूय इति** — 'तिरो भूत्वा' इति विग्रहे 'तिरोऽन्तर्धौ' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि ल्यपि विभक्तिकार्ये 'तिरोभूय' इति रूपम्।

(१४८२) **विभाषेति**। कृञि प्रयुज्यमाने तिरस् इत्यव्ययं वा गतिसंज्ञं स्यादित्यर्थः।

उदित्वा। **अलौ० वि०**—अच्छ, वद् + क्त्वा (वद् धातु के योग में गतिसंज्ञा, समास, ल्यप् = य) — अच्छ वद् य (व् = 'उ' — सम्प्रसारण, पूर्वरूप, अ + उ = 'ओ' — गुण, विभक्ति-लोप) = अच्छोद्य (सामने कहकर)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति आने से अव्ययातिरिक्त अच्छ की गतिसंज्ञा न होने के कारण 'जलमच्छं गच्छति' में गतिसंज्ञा नहीं हुई। क्योंकि यहाँ अच्छ पद 'जलम्' का विशेषण है। (अर्थ — स्वच्छ जल में प्रवेश करता है।)

(१४८०) **पद**—अदः, अनुपदेशे। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—अनुपदेश में अदस् शब्द की गतिसंज्ञा होती है। अदःकृत्य इत्यादि।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्तियाँ आ रही हैं। तदनुसार — ''अनुपदेश (यदि वाक्य से किसी को समझाने की प्रतीति न हो) में 'अदस्' शब्द की गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—अदस् कृत्वा। **अलौ० वि०**—अदस् + अम्, कृ + क्त्वा (प्रकृत सूत्र से गतिसंज्ञा, समास, क्त्वा = ल्यप् = य, तुक् = 'त्' का आगम, स् = र् = :, विसर्ग, विभक्तिकार्य) = अदःकृत्य, अदःकृतम् (= पहले यह करके दूसरा यह कार्य करो)।

प्रत्युदाहरण—अदः कृत्वा, अदः कुरु (यह इस तरह करके पुनः यह दूसरा करो)। यहाँ दूसरे को समझाने की प्रक्रिया का निर्देश होने से 'अदः' की गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(१४८१) **पद**—तिरः, अन्तर्धौ। **अनुवृत्ति**—गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—अन्तर्धि (छिपना) अर्थ में 'तिरस्' शब्द की गतिसंज्ञा होती है।

विमर्श—पूर्ववत् 'गतिः' और 'क्रियायोगे' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। 'तिरस्' शब्द के तिरछापन, प्रच्छन्नरूप से, अनादर करना, छिपना, हटाना आदि अनेक अर्थ हैं। इनमें से केवल ''व्यवधान (छिपना) अर्थ में तिरस् शब्द की क्रियायोग में गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—लौ० वि०—तिरस् भूत्वा। **अलौ० वि०**—तिरस्, भू + क्त्वा (गतिसंज्ञा — 'तिरोऽन्तर्धौ', समास, क्त्वा = ल्यप् = य, स् = र् = 'उ' — 'हशि च', अ + उ = 'ओ' — गुण, विभक्तिलोप) = तिरोभूय (छिपकर)।

(१४८२) **पद**—विभाषा, कृञि। **अनुवृत्ति**—तिरोऽन्तर्धौ, गतिः क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—कृञ् के योग में तिरस् शब्द की विकल्प से गतिसंज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र (१४८१) की पूरी अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्य अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार — ''व्यवधान अर्थ में तिरस् शब्द की केवल कृञि धातु के योग में विकल्प से गतिसंज्ञा होती है।''

तिरसोऽन्यतरस्याम् ८।३।४२ । सो वा स्यात्कुप्वोः । तिरःकृत्य । तिरस्कृत्य, तिरस्कृत्वा । **(१४८४) उपाजेऽन्वाजे १।४।७३** । एतौ कृञि वा गतिसंज्ञौ । उपाजेकृत्य, अन्वाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा, अन्वाजे कृत्वा । दुर्बलस्य बलमाधायेत्यर्थः । **(१४८५) साक्षात्प्रभृतीनि च १।४।७४** । कृञि वा गतिसंज्ञानि स्युः । * **च्व्यर्थ इति वक्तव्यम्** * । साक्षात्कृत्य, साक्षात्कृत्वा । लवणं कृत्य, लवणं कृत्वा । मान्तत्वं

(१४८३) **तिरस इति** । 'सोऽपदादावि'त्यतः स इति अनुवर्तते, कुप्वोरिति, विसर्जनीयस्येति च । तदाह – **सो वा स्यादिति** ।

(१४८४) **उपाजे** । उपाजेऽन्वाजे इत्यव्यये दुर्बलस्य बलाधाने वर्तेते । कृञि प्रयुज्यमाने एतौ वा गतिसंज्ञौ स्त इत्यर्थः ।

(१४८५) **साक्षादिति** । साक्षादित्यव्ययम् । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे – **कृञि वेत्यादिना** । **साक्षात्कृत्य** — अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं कृत्वेत्यर्थः । गतिसंज्ञापक्षे समासः, क्त्वो ल्यप् ।

(१४८३) **पद**—तिरसः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, सः, कुप्वोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तिरस् शब्द सम्बन्धी विसर्ग के स्थान पर विकल्प से 'स्' (सत्व) होता है – कवर्ग के परे रहते । तिरःकृत्य । तिरस्कृत्य । तिरस्कृत्वा ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'विसर्जनीयस्य सः' (१०४) से 'विसर्जनीयस्य', 'सोऽपदादौ' (१०७) से 'सः' तथा 'कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च' (१०६) से 'कुप्वोः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार – ''कवर्ग पवर्ग के परवर्ती रहते तिरस् शब्द के विसर्ग को विकल्प से 'स्' आदेश होता है ।''

उदाहरण—तिरस् कृत्वा । **अलौ० वि०**—तिरस्, कृ + क्त्वा (विकल्प से गति संज्ञा – 'विभाषा कृञि', समास, क्त्वा = ल्यप् = 'य', तुक् = 'त्' आगम, स् = र् = :, : = स् विकल्प से – 'तिरसोऽन्यतरस्याम्', विभक्तिकार्य) = तिरस्कृत्य । स् के न होने पर – तिरःकृत्य । गतिसंज्ञा के अभाव पक्ष में – तिरस्कृत्वा (छिपकर) ।

(१४८४) **पद**—उपाजे, अन्वाजे । **अनुवृत्ति**—विभाषा, कृञि, गतिः, क्रियायोगे । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—'उपाजे' और 'अन्वाजे' की कृञ् के योग में विकल्प से गतिसंज्ञा होती है । उपाजेकृत्य इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु पूर्वसूत्र 'विभाषा कृञि' (१४८२) की तथा पूर्ववत् 'गतिः' और 'क्रियायोगे' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार – ''कृ धातु के योग में 'उपाजे' और 'अन्वाजे' इन दो अव्ययों की विकल्प से गतिसंज्ञा होती है ।''

उदाहरण—उपाजे कृत्वा । **अलौ० वि०**—उपाजे, कृ + क्त्वा (विकल्प से गतिसंज्ञा, समास, क्त्वा = ल्यप् = 'य', तुक् आदि कार्य पूर्ववत्) = उपाजेकृत्य । गतिसंज्ञा के अभाव पक्ष में – उपाजे कृत्वा । इसी प्रकार – अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा (दुर्बल की सहायता करके) ।

(१४८५) **पद**—साक्षात्, प्रभृतीनि, च । **अनुवृत्ति**—विभाषा, कृञि, गतिः, क्रियायोगे । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—कृञ् के योग में साक्षात् आदि शब्दों की विकल्प से गति संज्ञा होती है । **वा०**— 'च्वि' के अर्थ में हो – ऐसा कहना चाहिए । साक्षात्कृत्य, साक्षात्कृत्वा इत्यादि ।

विमर्श—साक्षात् इत्यादि अव्यय शब्दों की कृ धातु के योग में विकल्प से गतिसंज्ञा का विधान

निपातनात्। (१४८६) **अनत्याधान उरसिमनसी १।४।७५**। उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा। अभ्युपगम्येत्यर्थः। मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा। निश्चित्येत्यर्थः। अत्याधानमुपश्लेषणम्, तत्र उरसि कृत्वा पाणिं शेते। (१४८७) **मध्ये पदे निवचने च १।४।७६**। एते कृञि वा गतिसंज्ञाः स्युरनत्याधाने। मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा। पदेकृत्य, पदे कृत्वा। निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा। वाचं नियम्येत्यर्थः। (१४८८) **नित्यं**

(१४८६) **अनत्याधान इति**। अनत्याधाने = अनुपश्लेषे उरसि मनसि इति विभक्तिप्रतिरूपके अव्यये गतिसंज्ञके स्त इत्यर्थः।

(१४८७) **मध्ये पदे इति**। गतिसंज्ञापक्षे तदभावे च त्रयाणामेदन्तत्वं निपात्यते।

किया गया है। अतः पूर्वसूत्र 'विभाषा कृञि' (१४८२) तथा पूर्ववत् 'गतिः' एवं 'क्रियायोगे' की अनुवृत्ति आ रही है। उक्त वार्तिक द्वारा यह भी प्रतिपादित किया गया है कि उक्त गतिसंज्ञा च्विप्रत्यय के अर्थ की विवक्षा में ही होती है, सामान्य अर्थ में नहीं।

उदाहरण—साक्षात् कृत्वा। **अलौ० वि०**—साक्षात्, कृ + क्त्वा (विकल्प से गति संज्ञा, समास, क्त्वा = ल्यप् = 'य', तुक् = 'त्' आगम, विभक्तिकार्य) = साक्षात्कृत्य। गतिसंज्ञा के अभावपक्ष में समास और ल्यप् आदि भी नहीं होते – साक्षात्कृत्वा (अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष करके)। लवणं कृत्वा। लवणं, कृ + क्त्वा ('लवण' में मकारान्त निपातन होने से 'लवणं', विकल्प से गति संज्ञा होने पर समास, ल्यप्, तुक् आदि) = लवणंकृत्य। गतिसंज्ञा न होने पर – लवणं कृत्वा (बिना नमकीन को नमकीन करके)।

(१४८६) **पद**—अनत्याधाने, उरसिमनसी। **अनुवृत्ति**—विभाषा, कृञि, गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—कृञ् के योग में 'उरसि' और 'मनसि' की विकल्प से गतिसंज्ञा होती है – अनत्याधान (= उपश्लेष या सम्पर्क से भिन्न) अर्थ में। उरसिकृत्य। उरसि कृत्वा इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पूर्ववत् सभी अनुवृत्तियाँ आती हैं। अतः ''उपश्लेष से भिन्न अर्थ में उरसि तथा मनसि निपातों की विकल्प से गतिसंज्ञा होती है।'' 'उरसि' तथा 'मनसि' दोनों विभक्त्यन्त प्रतिरूपक निपात (अव्यय) हैं।

उदाहरण—उरसि कृत्वा। **अलौ० वि०**—उरसि, कृ + क्त्वा (प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक गतिसंज्ञा, समास, क्त्वा = ल्यप्, तुक्, विभक्तिलोप) = उरसिकृत्य। गतिसंज्ञा न होने पर समास, ल्यप् आदि भी नहीं – उरसि कृत्वा (= समझकर)। **मनसि कृत्वा**। (पूर्ववत् विकल्प से गतिसंज्ञा, समास, ल्यप् आदि) = मनसि कृत्य। गतिसंज्ञा न होने पर – मनसि कृत्वा (= मन में निश्चय कर)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में अनत्याधान (संयोग रहित) का कथन होने के कारण 'उरसि कृत्वा पाणिं शेते (= छाती पर हाथ रखकर सोता है) में उपश्लेष (संयोग) होने के कारण उक्त सूत्र से गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(१४८७) **पद**—मध्ये, पदे, निवचने, च। **अनुवृत्ति**—अनत्याधाने, विभाषा, कृञि, गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—अनुपश्लेष अर्थ में मध्ये, पदे और निवचने की कृञ् के योग में विकल्प से गतिसंज्ञा होती है। मध्येकृत्य। मध्ये कृत्वा इत्यादि।

विमर्श—पूर्वसूत्र से 'अनत्याधाने' तथा पूर्ववत् 'विभाषा, कृञि, गतिः तथा क्रियायोगे' की

हस्ते पाणावुपयमने १।४।७७। कृञि। उपयमनं विवाहः। स्वीकारमात्रमित्यन्ये। हस्तेकृत्य। पाणौकृत्य। **(१४८९) प्राध्वं बन्धने १।४।७८।** प्राध्वमित्यव्ययम्। प्राध्वंकृत्य, बन्धनेनानुकूलं कृत्वेत्यर्थः। प्रार्थनादिना त्वानुकूल्यकरणे – प्राध्वं कृत्वा। **(१४९०) जीविकोपनिषदावौपम्ये १।४।७९।** जीविकामिव कृत्वा जीविका-

---

(१४८८) **नित्यमिति।** उपयमने = विवाहे 'हस्ते' इति 'पाणौ' इति च कृञि नित्यं गतिसंज्ञौ भवत इत्यर्थः। **पाणौकृत्येति।** कन्यां स्वीकर्तुं पाणिं गृहीत्वेत्यर्थः।

(१४८९) **प्राध्वमिति।** प्राध्वमित्यव्ययम्। बन्धने गम्ये प्राध्वमित्यव्ययं गतिसंज्ञकं स्यादित्यर्थः।

अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''सूत्रोक्त मध्ये, पदे और निवचने इन तीनों अव्ययों की कृञ् धातु के योग में विकल्प से गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—मध्ये कृत्वा। **अलौ० वि०**—मध्ये, कृ + क्त्वा (विकल्प से गतिसंज्ञा – 'मध्ये पदे०', समास, क्त्वा = ल्यप्, तुक्, विभक्तिलोप) = मध्येकृत्य। गतिसंज्ञा न होने पर समास आदि का अभाव – मध्ये कृत्वा (बीच में लेकर)। पदेकृत्य, पदे कृत्वा (प्रक्रिया पूर्ववत्)। (अर्थ – पद में गिनकर।) निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा (अर्थ – वाणी को संयमित कर)।

(१४८८) **पद**—नित्यं, हस्ते, पाणौ, उपयमने। **अनुवृत्ति**—कृञि, गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—कृञ् का योग होने पर 'हस्ते' और 'पाणौ' शब्द की विवाह अर्थ में नित्य गतिसंज्ञा होती है। उपयमन का अर्थ – विवाह है। अन्य लोगों के मतानुसार 'विवाह की स्वीकृति' अर्थ है। हस्तेकृत्य। पाणौकृत्य।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'नित्यम्' पद का समावेश होने से 'विभाषा' की अनुवृत्ति नहीं आती। अन्य अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार – ''कृञ् के योग में 'हस्ते' तथा 'पाणौ' शब्द की उपयमन (विवाह) अर्थ में गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—हस्ते कृत्वा। **अलौ० वि०**—हस्ते, कृ + क्त्वा (गतिसंज्ञा – 'नित्यम्०', समास, क्त्वा = ल्यप् = 'य', तुक् = 'त्' आगम, विभक्तिलोप) = हस्तेकृत्य (विवाह करके)। पाणौ, कृ + क्त्वा (पूर्ववत्प्रक्रिया) = पाणौकृत्य (विवाह करके)।

(१४८९) **पद**—प्राध्वम् बन्धने। **अनुवृत्ति**—नित्यम्, कृञि, गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—बन्धन अर्थ में कृञ् के योग में 'प्राध्वम्' की नित्य गतिसंज्ञा होती है। प्राध्वंकृत्य।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१४८८) से 'नित्यम्' की तथा पूर्ववत् अन्य पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार – ''मकारान्त 'प्राध्वम्' निपात (अव्यय) की बन्धनविषयक अनुकूलता अर्थ में कृञ् के योग में नित्य गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—प्राध्वं कृत्वा। **अलौ० वि०**—प्राध्वम्, कृ + क्त्वा (नित्य गतिसंज्ञा, समास, क्त्वा = ल्यप्, तुक्, म् = ं अनुस्वार तथा अव्यय संज्ञा के कारण विभक्तिलुक्) = प्राध्वंकृत्य (बन्धन से अधीन करके)। इसके विपरीत 'मनाने से वश में कर' अर्थ में गतिसंज्ञा न होने के कारण 'प्राध्वं कृत्वा' प्रत्युदाहरण होता है।

(१४९०) **पद**—जीविकोपनिषदौ, औपम्ये। **अनुवृत्ति**—नित्यं, कृञि, गतिः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र।**

कृत्य। औपम्ये किम्? जीविकां कृत्वा। प्रादिग्रहणमगत्यर्थम्। सुपुरुषः। * प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया *। प्रगत आचार्यः प्राचार्यः। * अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया *। अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे (**१४९१) एकविभक्ति चापूर्वनिपाते १।२।४४।** विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनं, न तु तस्य पूर्वनिपातः। (**१४९२**)

(१४९०) **जीविकोप इति**। उपमैव औपम्यम्, तस्मिन्विषये जीविकाशब्दः उपनिषच्छब्दश्च कृञि योगे गतिसंज्ञौ भवत इत्यर्थः।

(१४९१) **एकविभक्ति चेति**। 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनमि'त्यतः समास इति उपसर्जनमिति चानुवर्तते। समास इत्यनेन विग्रहवाक्यं लक्ष्यते। एकैकं विभक्तिर्यस्य तदेकविभक्ति, नियतविभक्तिकमिति यावत्। तदाह — **विग्रहे यदित्यादि**।

मूलार्थ—उपमा अर्थ में 'जीविका' और 'उपनिषत्' शब्द की कृञ् का योग रहते नित्य गतिसंज्ञा होती है। जीविकाकृत्य। उपनिषत्कृत्य। 'औपम्ये' क्यों कहा? जीविकां कृत्वा। 'कुगति०' सूत्र में गति से भिन्न प्रादियों का ग्रहण किया गया है — सुपुरुषः। **वा०**—प्रादियों का गत आदि अर्थ में प्रथमान्त के साथ समास होता है। प्राचार्यः। **वा०**—अत्यादि शब्दों का क्रान्त आदि अर्थों में द्वितीयान्त के साथ समास होता है।

विमर्श—पूर्ववत् सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'नित्यम्, कृञि, गतिः तथा क्रियायोगे' पदों की यहाँ अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार — ''कृञ् का योग होने पर 'जीविका' और 'उपनिषत्' शब्दों की तुलना अर्थ में नित्य गतिसंज्ञा होती है।''

उदाहरण—जीविकाम् इव कृत्वा। **अलौ० वि०**—जीविका + अम्, कृ + क्त्वा ('जीविका' की गतिसंज्ञा, समास, विभक्तिलोप, क्त्वा = ल्यप् = 'य', तुक् = 'त्' आगम, पुनः विभक्ति तथा उसका अव्ययसंज्ञा होने से लुक्) = जीविकाकृत्य (जीविका के समान करके)। उपनिषदम् इव कृत्वा। **अलौ० वि०**—उपनिषत् + अम्, कृ + क्त्वा (प्रक्रिया पूर्ववत्) = उपनिषत्कृत्य (= उपनिषद् की तरह करके)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'औपम्ये' पद का निवेश होने से उपमार्थक जीविका आदि शब्द अपेक्षित हैं। अतः 'जीविकां कृत्वा' में गतिसंज्ञा नहीं हुई।

'कुगतिप्रादयः' सूत्र में गति से पृथक् प्रादि का ग्रहण क्रिया का योग न रहने पर भी प्रादि का समास करने के लिए है। अतः 'शोभनः पुरुषः' = 'सुपुरुषः' में समास होता है। **अलौ० वि०**— सु + सु, पुरुष + सु (समास, विभक्तिलोप, पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = सुपुरुषः।

'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) सूत्र द्वारा विहित प्रादि समास के विषय में भाष्योक्त पाँच वार्तिकों का क्रमशः उल्लेख किया जा रहा है —

(१) **वा०**—गत आदि अर्थ में प्र, परा आदि का प्रथमान्त सुबन्त के साथ नित्य समास होता है।

उदाहरण—प्रगत आचार्यः। **अलौ० वि०**—प्र + सु, आचार्य + सु ('प्र' का आचार्य के साथ समास, विभक्तिलोप, प्र का पूर्वनिपात, अ + आ = 'आ' — दीर्घ, पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = प्राचार्यः (प्रतिष्ठित आचार्य)।

(२) **वा०**—क्रान्त आदि अर्थ में अति आदि का द्वितीयान्त सुबन्त के साथ समास होता है।

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८। उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः। अतिमालः। * अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया *। अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः। * पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या *। परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः। * निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या *। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या निष्कौशा-

---

(१४९२) **गोस्त्रियोरिति।** 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्ये'त्यतः ह्रस्व इति प्रातिपदिकस्येति चानुवर्तते। उपसर्जनस्येति गोस्त्रियोर्विशेषणम्। स्त्रीपदेन स्त्रीप्रत्ययो गृह्यते। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तविधिस्तदाह — **उपसर्जनमित्यादिना। निष्कौशाम्बिः** — निष्क्रान्ता कौशाम्ब्या इति लौकिकविग्रहे 'कौशाम्बी+ङसि, निर्' इत्यलौकिकविग्रहे 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इत्यनेन तत्पुरुषसमासे विभक्तिलोपे, निर् इत्यस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते निर्+कौशाम्बी इति जाते रेफस्य विसर्जनीयत्वे रुत्वे षत्वे संयोगे 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इत्यनेन 'निष्कौशाम्बी' इत्यस्योपसर्जनत्वे 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इत्यनेन ह्रस्वे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'निष्कौशाम्बिः' इति।

(१४९१) **पद**—एकविभक्ति, च, अपूर्वनिपाते। **अनुवृत्ति**—समासः, उपसर्जनम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—विग्रह में नियत विभक्त्यन्त की उपसर्जन संज्ञा होती है; परन्तु पूर्वनिपात नहीं होता।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्र 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' (१३९९) से 'समासः' तथा 'उपसर्जनम्' पदों की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'एक' पद निश्चयार्थक है। अनुवृत्त 'समासः' पद विग्रहवाक्य का बोधक है। तदनुसार आशय यह है कि "विग्रह वाक्य में निश्चित अर्थ वाले पद की भी उपसर्जनसंज्ञा होती है, किन्तु वह पद पहले नहीं रखा जाता।"

(१४९२) **पद**—गोस्त्रियोः, उपसर्जनस्य। **अनुवृत्ति**—समासः, उपसर्जनम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उपसर्जन जो गोशब्द और स्त्रीप्रत्ययान्त, तदन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है। अतिमालः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ह्रस्वो नपंसके प्रातिपदिकस्य' (२६४) के 'ह्रस्वः' तथा 'प्रातिपदिकस्य' पदों की अनुवृत्ति आने से सूत्रार्थ पूर्ण होता है। तदन्तविधि से 'स्त्री' शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त का बोधक है। गो एवं स्त्रीप्रत्ययान्त समुदाय भी अनुवृत्तिलभ्य 'प्रातिपदिकस्य' के विशेषण हैं। अतः तदन्तविधि होती है। इस प्रकार — "जिस प्रातिपदिक के अन्त में उपसर्जनसंज्ञक गो शब्द अथवा स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द हो उसका ह्रस्व होता है।" अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार यह ह्रस्व अन्तिम स्वर के स्थान में होता है।"

उदाहरण—अतिक्रान्तः मालाम्। **अलौ० वि०**—अति + सु, माला + अम् (समास — 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया', 'अति' की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात, 'माला' की उपसर्जनसंज्ञा — 'एकविभक्ति०', आ = 'अ' – ह्रस्व – 'गोस्त्रियोः०', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अतिमालः (माला का अतिक्रमण करने वाला)।

(१) **वा०**—क्रुष्ट आदि अर्थ में विद्यमान तृतीयान्त का अव आदि का नित्य समास होता है।

उदाहरण—अवक्रुष्टः कोकिल्या। **अलौ० वि०**—अव + सु, कोकिला + टा ('अव' का कोकिला के साथ समास, विभक्तिलोप, 'अव' का पूर्वनिपात, आ = 'अ' – ह्रस्व – 'गोस्त्रियोः', प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = अवकोकिलः (कोयल के क्रोधित)।

म्बिः । (१४९३) तत्रोपपदं समीपस्थम् ३।१।९२ । (१४९४) उपपदमतिङ् २।२।१९ । उपपदं समर्थेन नित्यं समस्यते । अतिङन्तश्चायं समासः । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः । अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत् । माङि लुङिति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम् ।

(१४९३) अथोपपदसमासं निरूपयिष्यन् उपपदसंज्ञामाह — **तत्रेति** । अधिकारोऽयम् । सप्तमीति तदन्तग्रहणम् । सप्तम्यन्ते पदे 'कर्मणि' इत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं कुम्भादि तद्वाच्यं पदमुपपदसंज्ञं स्यादित्यर्थः ।

(१४९४) **उपपदमतिङ्** । प्रथमान्तं समर्थग्रहणं तृतीयान्ततया विपरिणम्यते । उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यत इति भावः । **कुम्भकारः** — कुम्भं करोतीत्यर्थे 'कुम्भ+अम्+

---

(२) **वा०** — ग्लान आदि अर्थ में परि आदि का चतुर्थ्यन्त सुबन्त के साथ समास होता है ।

उदाहरण — परिग्लानोऽध्ययनाय । **अलौ० वि०** — परि + सु, अध्ययन + ङे (समास, विभक्ति-लोप, 'परि' का पूर्वनिपात, 'इ' = 'य्' – यण्, विभक्तिकार्य पूर्ववत्) = पर्यध्ययनः (अध्ययन के लिए अनुत्साही) ।

(३) **वा०** — क्रान्त आदि अर्थ में निर् का पञ्चम्यन्त पद के साथ समास होता है ।

उदाहरण — निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः । **अलौ० वि०** — निर् + सु, कौशाम्बी + ङसि (निर् का कौशाम्बी के साथ समास, विभक्तिलोप, र् = : विसर्ग, : = 'स्' – 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य', ई = इ — ह्रस्व – 'गोस्त्रियोः०', विभक्तिकार्य) = निष्कौशाम्बिः (कौशाम्बी से निकला हुआ) ।

(१४९३) **पद** — तत्र, उपपदं, समीपस्थम् । **अनुवृत्ति** — धातोः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ — सप्तम्यन्त पद 'कर्मणि' इत्यादि में वाच्यरूप से स्थित 'कुम्भ' आदि पद की उपपदसंज्ञा होती है ।

विमर्श — गतिसमास के अनन्तर उपपद समास का निरूपण किया जा रहा है — यहाँ 'धातोः' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है । यहाँ उपपद अन्वर्थ संज्ञा है और 'तत्र समीपस्थम्' संज्ञी । तदनुसार — "'धातोः' के अधिकार में जो सप्तमीनिर्दिष्ट पद हैं उनकी उपपद संज्ञा होती है ।"

(१४९४) **पद** — उपपदम्, अतिङ् । **अनुवृत्ति** — नित्यम्, सुप् (सुपा)। **विधि (संज्ञा) सूत्र** ।

मूलार्थ — उपपद सुबन्त का अतिङन्त समर्थ के साथ नित्य समास होता है । कुम्भकारः । अतिङ् क्यों कहा? मा भवान् भूत् । यहाँ 'माङि लुङ्' में 'माङि' सप्तम्यन्त पद होने से माङ् उपपद है । गति कारक और उपपद का कृदन्त पदों के साथ सुबुत्पत्ति से पहले ही समास होता है । व्याघ्री । कच्छपी । अश्वक्रीती इत्यादि ।

विमर्श — उपपदसंज्ञा का निरूपण करने के अनन्तर उपपद (तत्पुरुष) समास का निर्वचन किया जा रहा है । प्रकृत सूत्र में पूर्वपद (उपपदम्) उल्लिखित है । 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' (२।१।२) से 'सुप्' की अनुवृत्ति आने से समस्यमान पूर्वपद तदन्तविधि से सुबन्त अपेक्षित है । उत्तरपद के सम्बन्ध में 'अतिङ्' का आश्रय लिया जाता है । उपपदसंज्ञक सुबन्त का किसके साथ समास हो? इस आकांक्षा में 'समर्थः' पद पूर्ववत् अनुवृत्त होता है और 'सह सुपा' सूत्रस्थ 'सह' के प्रभाव से 'समर्थः' पद तृतीयान्त में विपरिणत होकर यह अर्थ अभिव्यञ्जित करता है — "उपपद सुबन्त का समर्थ पद के साथ नित्य समास होता है । इस उपपदसमास का उत्तरपद तिङन्ततदादि नहीं होना चाहिए ।" यहाँ 'अतिङ्' पद में तदन्तविधि द्वारा 'अतिङन्त' अर्थ लिया जाता है ।

उदाहरण — कुम्भं करोति । द्वितीयान्त 'कुम्भ' पद उपपद रहने पर 'कर्मण्यण्' (३।२।१) सूत्र

*** गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः * । व्याघ्री । कच्छपी । अश्वक्रीती इत्यादि । (१४९५) अमैवाव्ययेन २।२।२० । अमैव तुल्यविधानं यदुपपदं तदेवाव्ययेन सह समस्यते । स्वादुंकारम् । 'स्वादुमि णमुल्' इति णमुल् । नेह – 'कालसमयवेलासु तुमुन्' । कालः समयो वेला वा भोक्तुम् । अमैवेति किम् ?**

कृ+अण्' इत्यलौकिकविग्रहे 'उपपदमतिङ्' इत्यनेनोपपदससासे विभक्तिलोपे 'अचो ञ्णिति' इत्यनेन वृद्धौ रपरे संयोगे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'कुम्भकारः' इति ।

(१४९५) **अमैवेति** । अत्र अमैवेत्यनन्तरं तुल्यविधानमिति पदमध्याहार्यम् । अम्प्रत्यय-विधायकसूत्रेण अमैव सह यस्योपपदसंज्ञा विधीयते तदुपपदमव्ययेन समस्यत इत्यर्थः । पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह – **तदेवेति** ।

से अण् (अ) प्रत्यय होकर – कुम्भ + अम्, कृ + अ (ऋ = 'आ' वृद्धि – 'अचो ञ्णिति', रपर – 'आर्') – कुम्भ + अम्, कार (उपपद 'कुम्भ' का तिङ्भिन्न 'कार' के साथ समास, विभक्तिलोप, कुम्भ का पूर्वनिपात) – कुम्भकार + सु ('एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा, सुबुत्पत्ति, सु = स् = र् = :) = कुम्भकारः (कुम्हार) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अतिङ्' पद का उल्लेख होने से 'मा भवान् भूत्' में तिङन्त के साथ उपपद समास नहीं होता । यहाँ 'माङ्' के योग में 'माङि लुङ्' (३।३।१७५) सूत्र से लुङ् लकार होता है । यहाँ 'माङि' पद सप्तम्यन्त होने के कारण 'माङ्' उपपदसंज्ञक है ।

प० —गतिकारकेति । गति, कारक और उपपदसंज्ञक का कृदन्त पदों के साथ समास सुप् (विभक्तियाँ) आने से पूर्व होता है । क्रमशः **उदाहरण** – (१) गतिसमास – वि = विशेषेण आ = समन्तात् जिघ्रति । वि + आ + ✓घ्रा + क = 'अ' ('आतश्चोपसर्गे', 'आ' का लोप – 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) । वि + आ + घ्र् + अ (प्रकृत परिभाषा के अनुसार सर्वप्रथम विभक्ति आने से पूर्व 'आ' के साथ 'घ्र' का उपपद समास) – व्याघ्र (पुनः 'वि' का आघ्र शब्द के साथ गति समास, यण् – 'व्याघ्र', ङीष् = ई – 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' (४।१।३३) । 'अ' का लोप – 'यस्येति च') – व्याघ्री + सु (सुप् उत्पत्ति, सु का लोप 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०') = व्याघ्री (= बाघिन) (२) कारक समास का उदाहरण – अश्वेन क्रीता । **अ० वि०**—अश्व + टा, क्रीत (सुबुत्पत्ति के पूर्व ही 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (१४३०) से समास, प्रतिपदिकसंज्ञा, विभक्तिलोप) – अश्वक्रीत + ङीष् = ई ('क्रीतात्करणपूर्वात्', 'अ' का लोप – 'यस्येति च', सु = 'स्' का लोप पूर्ववत्) = अश्वक्रीती (घोड़े से खरीदी हुई) । (३) उपपद का उदाहरण – कच्छेन पिबति । कच्छ + ✓पा + क = 'अ', आकारलोप – 'प' (उपर्युक्त परिभाषा के नियम से कच्छेन का कदन्त 'प' के साथ उपपद समास, विभक्तिलोप) – कच्छप (ङीष् = ई, अकारलोप, पुनः विभक्त्युत्पत्ति, विभक्तिलोप) = कच्छपी (कछुई) ।

(१४९५) **पद**—अमा, एव, अव्ययेन । **अनुवृत्ति**—उपपदम्, सुप्, सह सुपा । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—अम् के साथ तुल्यविधान उपपद ही अव्यय के साथ समस्त होता है । स्वादुंकारम् । णमुल् । 'कालः समयो वेला वा भोक्तुम्' में समास नहीं हुआ । क्योंकि 'कालसमयवेलासु तुमुन्' सूत्र तुमुन् का विधान करता है । 'अमैव' क्यों कहा गया? 'अग्रे भोजम्, अग्रे भुक्त्वा' में 'विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु' सूत्र से क्त्वा और णमुल् प्रत्ययों का विधान है । यह विधान अम् और क्त्वा दोनों से समान रूप में है । अतः यहाँ उपपद समास नहीं हुआ ।

अग्रे भोजम्। अग्रे भुक्त्वा। विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेष्विति क्त्वाणमुलौ। अमा चान्येन च तुल्यविधानमेतत्। (१४९६) **तृतीया प्रभृतीन्यन्यतरस्याम् २।२।२१।** उपदंशस्तृतीयायामित्यादीन्युपपदान्यमन्तेनाव्ययेन सह वा समस्यन्ते। मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते मूलकोपदंशम्। उपदंशस्तृतीयायामिति णमुल्। (१४९७) **क्त्वा च २।२।२२।**

(१४९६) **तृतीयेति।** तृतीयापदेनात्र 'उपदंशस्तृतीयायाम्' इत्यारभ्य 'अन्वच्यानुलोम्ये' इत्यन्तसूत्रोपात्तान्युपपदानि विवक्षितानि। अमेति अव्ययेनेति चानुवर्तते। तदाह — **उपदंशस्तृतीयायामिति।**

विमर्श—पूर्वसूत्र (१४९५) से 'उपपदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। इसके अतिरिक्त तत्पुरुष समास के अन्तर्गत अपेक्षित पूर्वोक्त पदों की अनुवृत्ति भी आ रही है। तदनुसार यह अर्थ निष्पन्न होता है — "अव्यय के साथ यदि उपपद समास हो तो केवल अमन्त अव्यय के साथ ही हो, अन्य किसी अव्यय के साथ नहीं।" इस प्रकार यह सूत्र नियम करता है।

उदाहरण—लौकिक विग्रह—स्वादुं कृत्वा भुङ्क्ते। **अ० वि०**—स्वादु + अम्, कृ + णमुल् ('स्वादु' की उपपदसंज्ञा, ✓कृ से णमुल् = अम्, स्वादु को मकारान्तत्व निपातन, ऋ = आर् — वृद्धि, रपर) — स्वादुम् + अम्, कार् + अम् (मकारान्त कृदन्त होने से 'कारम्' की अव्ययसंज्ञा — 'कृन्मेजन्तः', अतः समास — 'अमैवाव्ययेन', विभक्तिलोप, आदि म् = ं अनुस्वार — 'नश्चापदान्तस्य झलि' (८।३।२४), ं = ङ् — 'परसवर्ण') — स्वादुङ्कारम् (पुनः विभक्ति सु = 'स्' का लोप) = स्वादुङ्कारम् (= स्वादिष्ट बनाकर)।

विशेष—प्रकृत सूत्र के नियम से विशेष परिस्थिति में कृत् — णमुल् अव्यय के साथ ही उपपद समास होता है। अतः 'कालः समयो वेला वा भोक्तुम्' (भोजन करने का समय) तुमुन् अव्यय के साथ समास नहीं होता।

प्रत्युदाहरण—इस सूत्र द्वारा अम् का ही विधान होने पर उपपद का अव्यय के साथ समास होता है। अतः 'अग्रे भुक्त्वा, अग्रे भोजम्' में 'विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु' (३।४।२४) से 'क्त्वा' तथा 'णमुल्' (= अम्) दोनों प्रत्ययों का विधान होने के कारण उपपद समास नहीं हुआ। यहाँ एक णमुल् (= अम्) और दूसरे क्त्वा से समानरूप में यह विधान है।

(१४९६) **पद**—तृतीयाप्रभृतीनि, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—अमा, अव्ययेन, उपपदम्, सुप्, सह सुपा, समासः। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—तृतीया आदि उपपदों का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प से समास होता है। मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते मूलकोपदंशम्।

विमर्श—अमन्त अव्यय के वैकल्पिक उपपद समास का प्रतिपादन किया जा रहा है। सम्पूर्ण पूर्वसूत्र (१४९५) की अनुवृत्ति के अतिरिक्त अन्य उल्लिखित पदों की अनुवृत्तियाँ आ रही हैं। तदनुसार — "'उपदंशस्तृतीयायाम्' (३।४।४७) सूत्र से लेकर 'अन्वच्यानुलोम्ये' (३।४।६४) सूत्र तक गृहीत उपपदों को अमन्त अव्यय के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है।"

उदाहरण—लौ० वि०—मूलकेन उपदंशं भुङ्क्ते। मूलक + टा, उप ✓दंश् + णमुल् = अम्, ('उपदंशस्तृतीयायाम्' से तृतीयानिर्दिष्ट 'मूलक' की उपपद संज्ञा होने से तथा उसी सूत्र से णमुल् का विधान होने से प्रकृत सूत्र द्वारा उपपद समास, विभक्तिलोप, अ + उ = 'ओ' — गुण, पुनः विभक्ति सु, सु = अम्, पूर्वरूप) = मूलकेनोपदंशम् (मूली को दाँत से खाता है।)

तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वान्तेन सह वा समस्यन्ते। उच्चैःकृत्य, उच्चैः कृत्वा।
(१४९८) अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ ३।४।५९।
(१४९९) तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ५।४।८६। संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य समासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम्। निरङ्गुलम्।

(१४९७) **क्त्वा चेति**। तृतीयाप्रभृतीनीति पूर्वसूत्रमनुवर्तते। क्त्वेति तृतीयार्थे प्रथमा। तदाह — **तृतीयेति**।

(१४९९) 'अच्प्रत्यन्ववपूर्वादि'त्यतः अजित्यनुवर्तते। 'समासान्त' इत्यधिकृतम्। तदाह — **संख्याव्ययादेरिति**।

(१४९७) **पद**—क्त्वा, च। **अनुवृत्ति**—तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीया प्रभृति उपपदों का क्त्वा प्रत्ययान्त अव्यय के साथ विकल्प से समास होता है। उच्चैःकृत्य। उच्चैः कृत्वा।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति के अतिरिक्त पूर्वोक्त आधिकारिक पदों की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं। प्रथमान्त क्त्वा पद तृतीया के अर्थ का बोधक है। अतः "तृतीया प्रभृति उपपदों का क्त्वाप्रत्ययान्त पदों के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है।"

उदाहरण—उच्चैः ✓कृ + क्त्वा (समास — 'क्त्वा च' विकल्प से, क्त्वा = ल्यप् = 'य' — 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) तुक् = 'त्' आगम) = उच्चैःकृत्य। समास न होने पर क्त्वा = ल्यप् भी नहीं होगा — उच्चैः कृत्वा (ऊँचा करके)।

(१४९८) **पद**—अव्यये, अयथा, अभिप्रेताख्याने, कृञः, क्त्वा-णमुलौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अयथार्थाभिप्रेताख्यान में अव्यय पूर्व रहते कृञ् से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं।

विमर्श—प्रकृत सूत्र द्वारा अव्यय पूर्व ✓कृ से णमुल् और क्त्वा प्रत्ययों का विधान दर्शाया जा रहा है। **उदाहरण** — ✓कृ + णमुल् = अम्, वृद्धि, रपर = उच्चैः कारम्। णमुल् के पाक्षिक होने से क्त्वा होने पर पूर्ववत् उच्चैः कृत्य। उच्चैः कृत्वा।

(१४९९) **पद**—तत्पुरुषस्य, अङ्गुलेः, संख्याव्ययादेः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संख्यादि तथा अव्ययादि अङ्गुल्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य द्व्यङ्गुलम्। निरङ्गुलम्।

विमर्श—तत्पुरुषसमास के अङ्गभूत समासान्त प्रत्यय का निर्वचन किया जा रहा है। प्रस्तुत सूत्र में 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्', 'प्रत्ययः', 'परश्च' तथा 'समासान्ताः' (५।४।६८) सूत्रों की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है। 'अच् प्रत्यन्वयपूर्वात् समालोम्नः' (५।४।७५) सूत्र से 'अच्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "संख्यावाची तथा अव्ययवाची शब्दों की आदि में स्थिति रहने पर अङ्गुल्यन्त तत्पुरुष समास का अन्तावयव अच् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—लौकिक विग्रह—द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य। **अलौकिक वि०**—द्वि + औ, अङ्गुलि + औ ('तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (१४५१) से तद्धितार्थ प्रमाण में द्वि का अङ्गुलि के साथ समास, विभक्तिलोप) — द्वि अङ्गुलि (द्विगुसंज्ञा — 'संख्यापूर्वो द्विगुः' (१४५५), मात्रच् =

(१५००) अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ५।४।८७। एभ्यो रात्रेरच् स्यात्। चात् संख्याव्ययादेः। अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्। **(१५०१) रात्राह्नाहाः पुंसि २।४।२९।** एते पुंस्येव। अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः। सर्वरात्रः। पूर्वरात्रः। संख्यातरात्रः। * संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्। द्विरात्रम् *। अतिक्रान्तो रात्रिम् अतिरात्रः। (१५०२)

(१५००) **अहःसर्वैकदेशेति**। अहन्नादिपूर्वपदकस्य रात्र्यन्तस्य तत्पुरुषस्य अच्स्यादित्यर्थः। **द्वन्द्वार्थमिति**। 'अह्नो रात्रिः' इति षष्ठीतत्पुरुषस्याऽसम्भवादिति।

(१५०१) **रात्रेति**। **सर्वरात्रः** – सर्वा चासौ रात्रिश्चेति विग्रहे 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इत्यनेन समासे सुपो लुकि, 'अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः' इत्यचि भसंज्ञायाम्, 'यस्येति चे'त्यनेन इकारलोपे 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'सर्वरात्रः' इति।

मात्र प्रत्यय – 'प्रमाणे द्वयसच्०' (५।२।३७), मात्रच् का लोप – वा० – 'द्विगोर्नित्यम्', इ = य् – 'यण्') – द्व्यङ्गुलि (अच् = 'अ' प्रत्यय – 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः०', इ का लोप – 'यस्येति च', पुनः विभक्ति सु = अम् – 'अतोऽम्', अ + अम् – पूर्वरूप) = द्व्यङ्गुलम् (दो अङ्गुल नाप की लकड़ी आदि)। **लौ० वि०**—निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः। **अलौ० वि०**—निर् + सु, अङ्गुलि + भ्यस् (निर् अव्यय के साथ निर्गत अर्थ में अङ्गुलि शब्द के साथ समास, विभक्तिलोप, 'निर्' का पूर्वनिपात, समासान्त अच् = 'अ' प्रत्यय, इकारलोप, पुनः विभक्ति सु = अम्, पूर्वरूप) = निरङ्गुलम् (अँगुलियों से बड़ा)।

(१५००) **पद**—अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्यात् च, रात्रेः। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषस्य, संख्याव्ययादेः, अच्, समासान्ताः आदि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अहः, सर्व आदि पूर्वक रात्रि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। अहन् शब्द का ग्रहण द्वन्द्व के लिए है।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु पूर्वसूत्र (१४९९) से 'तत्पुरुषस्य' तथा 'संख्याव्ययादेः' की अनुवृत्ति आ रही है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् विद्यमान हैं। अतः ''अहन्, सर्व, एकदेश, संख्यात तथा पुण्य शब्दों से परवर्ती रात्रि शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय होता है।'' अहन् शब्द का रात्रि शब्द के साथ तत्पुरुष समास नहीं मिलता। अतः उस सम्बन्ध में द्वन्द्व समास का ग्रहण होता है। इसका सूचक वार्तिक यहाँ उद्धृत किया गया है।''

(१५०१) **पद**—रात्राह्नाहाः, पुंसि। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वतत्पुरुषयोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—रात्र, अह्न और अहशब्दान्त द्वन्द्व एवं तत्पुरुष पुल्लिङ्ग में होते हैं। अहोरात्रः। सर्वरात्रः। पूर्वरात्रः। संख्यापूर्वक 'रात्र' शब्द नपुंसकलिंग में होता है। द्विरात्रम्। अतिरात्रः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' (२।४।२६) से अनुवृत्त 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' पद प्रथमा बहुवचन में विपरिणत होकर सूत्रस्थ 'रात्राह्नाहाः' का विशेष्य हो जाता है। तदन्तविधि से यह सूत्रार्थ होता है – ''रात्र, अह्न तथा अह शब्दों का द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में पुल्लिंग में ही प्रयोग होता है।''

उदाहरण—लौ० वि०—अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः। **अ० वि०**—अहन् + सु, रात्रि + सु (द्वन्द्व समास – 'चार्थे द्वन्द्वः', विभक्तिलोप, न् = रु = र् – वा० – 'रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्', 'र्' = 'उ' – 'हशि च', अ + उ = 'ओ' – गुण, समासान्त अच् = 'अ', इकारलोप, पुनः विभक्ति सु, प्राप्त नपुंसकलिंग का बाधकर पुल्लिङ्ग – 'रात्राह्नाहाः पुंसि', सु = स् = र् = :) = अहोरात्रः

राजाहःसखिभ्यष्टच् ५।४।९१ । एतदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् । **परमराजः । कृष्णसखः । (१५०३) अह्नष्टखोरेव ६।४।१४५ ।** टिलोपः । **परमाहः । (१५०४) अह्नोऽह्न**

(१५०२) **राजाह इति । परमराजः** — परमश्चासौ राजा चेति विग्रहे समासे सुपो लुकि समासान्तष्टचि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'परमराजः' इति ।

(१५०३) **अह्नष्टखोरेवेति ।** एतयोरेव परतोऽह्नष्टिलोपः स्यान्नान्यत्र । टप्रत्यये उदा-हरणम् — **परमाह इति ।**

(दिन-रात) । सर्वा चासौ रात्रिः । **अ० वि०** —सर्वा + सु, रात्रि + सु (समास, विभक्तिलोप, अच् = 'अ' — 'अहःसर्वैकदेश०', इकारलोप, पुल्लिंग, सु = स् = र् = :) = सर्वरात्रः (= सारी रात) । पूर्वं रात्रेः । **अ० वि०** —पूर्व + सु, रात्रि + ङस् ('पूर्वापराधरोत्तर०' से समास, विभक्तिलोप, समासान्त अच्, इकारलोप, सु, पुंस्त्व, विभक्तिकार्य पूर्ववत्) = पूर्वरात्रः (रात का पहला भाग) । संख्याता रात्रिः । **अ० वि०** —संख्याता + सु, रात्रि + सु (कर्मधारय समास, विभक्तिलोप, अच्, इकारलोप, पुंस्त्व, विभक्तिकार्य) = संख्यातरात्रः (गिनी हुई रात) ।

वा० —संख्यापूर्वक 'रात्र' शब्द नपुंसकलिङ्ग में होता है । **उदाहरण** —द्वयोः रात्र्योः समाहारः । **अ० वि०** —द्वि + ओस्, रात्रि + ओस् (समास — 'तद्धितार्थोत्तरपद०', विभक्तिलोप, समासान्त अच् = 'अ', इकारलोप, विभक्ति सु, नपुंसकलिंग — 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्', सु = अम्, पूर्वरूप) = द्विरात्रम् (दो रात) । अतिक्रान्तः रात्रिम् । **अ० वि०** --अति + सु, रात्रि + अम् (समास — 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया', विभक्तिलोप, अच्, इकारलोप, पुनः विभक्ति, पुंस्त्व, रुत्व, विसर्ग) = अतिरात्रः (जिसने रात व्यतीत की हो) ।

(१५०२) **पद** —राजाहःसखिभ्यः टच् । **अनुवृत्ति** —तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ —राजन्, अहन् और सखि शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है । परमराजः । कृष्णसखः ।

विमर्श —सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः०' (१४९९) से 'तत्पुरुषस्य' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् आ रही हैं । अनुवृत्त 'तत्पुरुषस्य' पद पञ्चमी बहुवचन में विपरिणत होकर सूत्रस्थ 'राजाहःसखिभ्यः' का विशेषण बनता है । तदन्तविधि होकर सूत्रार्थ इस प्रकार होगा — ''यदि तत्पुरुष समास के अन्त में राजन्, अहन् तथा सखि शब्द हों तो उससे टच् (= अ) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण —**लौ० वि०** —परमश्चासौ राजा च । **अ० वि०** —परम + सु, राजन् + सु (कर्मधारय समास — 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्', विभक्तिलोप, समासान्त टच् = 'अ' — 'राजाहःसखिभ्यष्टच्') — परमराजन् + अ (टि = 'अन्' का लोप — 'नस्तद्धिते', पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = परमराजः (श्रेष्ठ राजा) । **लौ० वि०** —कृष्णस्य सखा । **अ० वि०** —कृष्ण + ङस्, सखि + सु (समास — 'षष्ठी', विभक्तिलोप, टच् = 'अ', इकारलोप, पुनः विभक्ति स् = र् = :) = कृष्णसखः (कृष्ण का मित्र) ।

(१५०३) **पद** —अह्नः, टखोः, एव । **अनुवृत्ति** —तद्धिते, टेर्लोपः, भस्य, अङ्गस्य । **नियमसूत्र ।**

मूलार्थ —अहन् शब्द की टि का लोप 'ट' और 'ख' प्रत्यय के परवर्ती रहने पर ही होता है, अन्य के परे नहीं । परमाहः ।

एतेभ्यः ५।४।८८ । सर्वादिभ्योऽहन्शब्दस्याह्नादेशः स्यात् समासान्ते परे । (१५०५)
अह्नोऽदन्तात् ८।४।७ । अदन्तपूर्वपदस्थान्निमित्तादह्नो नस्य णः । सर्वाह्णः । पूर्वाह्णः ।

(१५०४) **अह्नोऽह्न इति**। पूर्वसूत्रे अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्यशब्दा विनिर्दिष्टाः। अहन्शब्दवर्जं एतच्छब्देन ते सर्वे परामृश्यन्ते। न त्वहश्शब्दः। यतो हि अहश्शब्दात्परस्य अहन्शब्दस्य तत्पुरुषोऽसम्भव इत्यत आह — **सर्वादिभ्य इति**।

(१५०५) **अह्नोऽदन्तादिति**। 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इत्यतः पूर्वपदादित्यनुवर्तते। तच्चादन्तादित्यत्रान्वेति। 'रषाभ्यां नो णः' इति षकारवर्जमनुवर्तते। तदाह — **अदन्तपूर्वेति**।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र द्वारा अहन् शब्द के टिलोप की सीमा निर्धारित की जा रही है। यहाँ 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) सूत्र से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति आती है। 'टेः' (६।४।१४३) सूत्र तथा 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'लोपः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'भस्य' एवम् 'अङ्गस्य' की आधिकारिक अनुवृत्ति भी विद्यमान है। अतः '''ट' तथा 'ख' प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर ही अहन् अङ्ग की टि का लोप होता है, अन्यत्र नहीं।''

उदाहरण—परमं च तदहश्च। **अ० वि०**—परम + सु, अहन् + सु (समास — 'विशेषणम्०', विभक्तिलोप, अ + अ = 'आ' — दीर्घ, टच् = 'अ', टिलोप — 'अह्नष्टखोरेव', पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = परमाहः (श्रेष्ठ दिन)।

(१५०४) **पद**—अह्नः, अह्नः, एतेभ्यः। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषस्य, संख्याव्ययादेः, सर्वैकदेशपुण्यात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सर्व आदि शब्दों से परे अहन् शब्द के स्थान में अह्न आदेश होता है, समासान्त प्रत्यय के परवर्ती रहने पर।

विमर्श—सूत्रस्थ पूर्वपद 'अह्नः' में स्थानषष्ठी है। द्वितीय 'अह्नः' पद प्रथमान्त (आदेशवाची) है। पूर्वसूत्र (१५००) 'अहःसर्वैकदेश०' से 'सर्वैकदेशपुण्यात्' तथा 'तत्पुरुषस्य' (१४९९) से 'तत्पुरुषस्य' एवम् 'संख्याव्ययादेः' की अनुवृत्ति आ रही है। इसके अतिरिक्त अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार — ''सर्व, एकदेश, संख्यात, पुण्य एवं संख्यावाचक और अव्यय शब्दों से परे तत्पुरुष में अहन् शब्द के स्थान पर 'अह्न' आदेश होता है।''

(१५०५) **पद**—अह्नः, अदन्तात्। **अनुवृत्ति**—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अदन्त पूर्वपदस्थ निमित्त से परवर्ती अहन् शब्द के नकार को णकार होता है। सर्वाह्णः। पूर्वाह्णः।

विमर्श—अहन् शब्द के सम्बन्ध में णत्वविधान का निर्देश किया जा रहा है। सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।१।४), 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (१५५) दोनों सम्पूर्ण सूत्रों की तथा 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' (८।४।३) से 'पूर्वपदात्' और 'संहितायाम्' की आधिकारिक अनुवृत्ति आती है। तदनुसार — ''अकारान्त पूर्वपदस्थ निमित्त रेफ से उत्तरवर्ती अह्न सम्बन्धी नकार के स्थान पर णकार आदेश होता है।''

उदाहरण—सर्वम् अहः। **अ० वि०**—सर्व + सु, अहन् + सु (समास — 'पूर्वकालिकैक०', विभक्तिलोप, समासान्त टच् = अ) — सर्व अहन् अ (अहन् = अह्न — 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः', अ +

(१५०६) न संख्यादेः समाहारे ५।४।८९। अह्नोऽह्नादेशो न। द्व्यहः।
(१५०७) उत्तमैकाभ्यां च ५।४।९०। अह्नोऽह्नादेशो न। उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः। पुण्यशब्दमाह। * पुण्यसुदिनाभ्यामह्नः क्लीबतेष्टा *। पुण्याहम्। सुदिनाहम्।

(१५०६) **न संख्यादेः**। समाहारे वर्तमानस्य संख्यादेरह्नादेशो न भवतीत्यर्थः।

(१५०७) **उत्तमैकाभ्यां चेति**। 'अह्नोऽह्न' इत्यनुवर्तते। **पुण्याहमिति**। पुण्यमहरिति विग्रहे विशेषणसमासे, टचि, टिलोपे 'पुण्यसुदिनाभ्यामि'ति क्लीबत्वे सौ, सोरमि पूर्वरूपे 'पुण्याहमि'ति।

अ = 'आ' – सवर्णदीर्घ, न् = ण् – 'अह्नोऽदन्तात्', 'अ' का लोप – 'यस्येति च', पुनः विभक्ति सु) – सर्वाह्ण + सु (सु = स् = र् = :) = सर्वाह्णः (पूरा दिन)। पूर्वम् अह्नः। **अ० वि०**— पूर्वम् + सु, अहन् + सु (प्रक्रिया पूर्ववत्) = पूर्वाह्णः (दिन का प्रथम भाग)।

(१५०६) **पद**—न, संख्यादेः, समाहारे। **अनुवृत्ति**—अह्नोऽह्नः, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—समाहार में वर्तमान संख्यादि से परे अहन् को अह्न आदेश नहीं होता। द्व्यहः।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए पूर्वसूत्र (१५०३) से 'अह्नोऽह्नः' की तथा (१४९९) से 'तत्पुरुषस्य' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। इस प्रकार ''समाहारार्थक तत्पुरुष समास में संख्यादि से परवर्ती 'अहन्' शब्द को 'अह्न' आदेश नहीं होता।''

उदाहरण—द्वयोः अह्नोः समाहारः। **अ० वि०**—द्वि + ओस्, अहन् + ओस् (समास – 'तद्धितार्थोत्तरपद०', विभक्तिलोप, टच् = 'अ') – द्वि अहन् अ (प्राप्त अह्न आदेश का प्रकृत सूत्र से निषेध, टि = अन् का लोप – 'अह्नष्टखोरेव', इ = य् 'यण्', पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = द्व्यहः (दो दिन)।

(१५०७) **पद**—उत्तमैकाभ्यां, च। **अनुवृत्ति**—न, अह्नोऽह्नः, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः। **विधि-(निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—इन दोनों से परवर्ती अहन् को अह्न आदेश नहीं होता। उत्तम शब्द अन्त्यार्थक है। अन्त्य शब्द पुण्यवाची है। पुण्य और सुदिन शब्द से परे अहन् शब्द नपुंसकलिंग हो। पुण्याहम्। सुदिनाहम्। एकाहः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५०५) से 'न' तथा पूर्ववत् 'अह्नोऽह्नः' एवम् 'तत्पुरुषस्य' की अनुवृत्तियाँ अपेक्षित हैं। शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ भी प्रभावी हैं। तदनुसार – ''उत्तम और एक शब्दों से परवर्ती 'अहन्' शब्द को तत्पुरुष समास में अह्न आदेश नहीं होता।''

उदाहरण—पुण्यम् अहः। **अ० वि०**—पुण्य + सु, अहन् + सु (समास – 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्', विभक्तिलोप, टच् = अ) – पुण्य अहन् अ (प्राप्त 'अह्न' आदेश का इस सूत्र से निषेध, अ + अ = 'आ' – दीर्घ, टि = 'अन्' का लोप) – पुण्याह + सु (प्राप्त पुल्लिंग का निषेध, नपुंसकलिङ्ग – 'पुण्यसुदिनाभ्यां च', सु = अम्, पूर्वरूप) = पुण्याहम् (पवित्र दिन)। सुदिनम् अहः (प्रक्रिया पूर्ववत्) = सुदिनाहम् (अच्छा दिन)। एकम् अहः (प्रक्रिया पूर्ववत्, पुल्लिङ्ग) = एकाहः (= एक दिन)।

एकाहः । (१५०८) **अग्राख्यायामुरसः ५।४।९३** । टच् । अश्वानामुर इव अश्वोरसम् । मुख्योऽश्व इत्यर्थः । (१५०९) **ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः ५।४।९५** । ग्रामतक्षः । कौटतक्षः । (१५१०) **अतेः शुनः ५।४।९६** । अतिश्वो वराहः ।

(१५०८) **अग्राख्यायामिति** । पञ्चम्यर्थे सप्तमी । अग्रं मुख्यम् । उरश्शब्देन मुख्यवाचिना षष्ठीसमासे टचि नपुंसकत्वे 'अश्वोरसमि'ति ।

(१०५९) **ग्रामकौटाभ्यामिति** । टच् स्यादित्यर्थः ।

(१५१०) **अतेः शुनः** । अतीत्यव्ययात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टजित्यर्थः ।

(१५०८) **पद**—अग्राख्यायाम्, उरसः । **अनुवृत्ति**—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—मुख्यता अर्थ गम्य होने पर उरस् शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है । अश्वोरसम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५०२) से 'टच्' की अनुवृत्ति आ रही है । 'तत्पुरुषस्य' पद की तथा अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार — ''अग्र = मुख्य अर्थ में वर्तमान उरस् शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—लौ० वि०—अश्वानाम् उर इव । **अ० वि०**—अश्व + आम्, उरस् + सु (षष्ठी समास, विभक्तिलोप, टच् = 'अ' — 'अग्राख्यायामुरसः', अ + उ = 'ओ' — गुण) — अश्वोरस् अ (पुनः विभक्ति सु = अम्, पूर्वरूप) = अश्वोरसम् (मुख्य घोड़ा) ।

(१५०९) **पद**—ग्रामकौटाभ्याम्, च, तक्ष्णः । **अनुवृत्ति**—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः आदि । **विधिसूत्र** ।

मलार्थ—ग्राम और कौट शब्द से परवर्ती तक्षन् शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है । ग्रामतक्षः । कौटतक्षः ।

विमर्श—समासान्त टच् का प्रकरण चल रहा है । अतः पूर्ववत् सभी अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार — ''ग्राम तथा कौट शब्दों से परवर्ती तक्षन् शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—ग्रामस्य तक्षा । **अ० वि०**—ग्राम + ङस्, तक्षन् + सु (षष्ठी समास, प्रकृत सूत्र से टच् = अ) — ग्रामतक्षन् अ (टि = अन् का लोप, पुंल्लिङ्ग में विभक्तिकार्य) = ग्रामतक्षः (गाँव का बढ़ई) । कौटश्चासौ तक्षा । **अ० वि०**—कौट + सु, तक्षन् + सु (समास — 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्', विभक्तिलोप, टच्, टिलोप, सु = स् = र् = :) = कौटतक्षः (कुटी पर बैठकर कार्य करने वाला बढ़ई) ।

(१५१०) **पद**—अतेः, शुनः । **अनुवृत्ति**—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अतिपूर्वक श्वन् शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है । अतिश्वः वराहः ।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् सभी अनुवृत्तियों का प्रभाव यथावत् विद्यमान है । तदनुसारं — '''अति' शब्द से उत्तरवर्ती श्वन् शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—लौ० वि०—श्वानम् अतिक्रान्तः । **अ० वि०**—अति + सु, श्वन् + अम् (समास —'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' (वा०), विभक्तिलोप, प्रकृत सूत्र से टच् = अ) — अतिश्वन् + अ (टिलोप, पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = अतिश्वः (सूअर) ।

(१५११) उपमानादप्राणिषु ५।४।९७। अप्राणिविषयोपमानवाचिनः शुनष्टच्। आकर्षः श्वेव आकर्षश्वः। **(१५१२) उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः ५।४।९८।** चादुपमानात्। उत्तरसक्थम्। मृगसक्थम्। पूर्वसक्थम्। फलकमिव सक्थि फलकसक्थम्। **(१५१३) नावो द्विगोः ५।४।९९।** द्विनावम्। त्रिनावम्। **(१५१४)**

(१५११) **आकर्षश्व इति**। आकृष्यतेऽनेनेत्याकर्षः=पञ्चाङ्गुलो दारुविशेषः। 'उपमितं व्याघ्रादिभिरि'त्यनेन समासे, टचि, टिलोपः।

(१५१२) **उत्तरमृगेति**। उत्तरमृगपूर्वेभ्य उपमानाच्च परो यः सक्थिशब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् भवतीत्यर्थः।

(१५१३) **नावो द्विगोः**। नौशब्दाद् द्विगोष्टच् स्यान्न तु तद्धितलुकीत्यर्थः। **द्विनावमिति**।

(१५११) **पद**—उपमानात्, अप्राणिषु। **अनुवृत्ति**—शुनः, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अप्राणि विषयक-उपमानवाची श्वन् शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय हो। आकर्षश्वः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'अतेः शुनः' (१५१०) से 'शुनः' की अनुवृत्ति आ रही है। अन्य अनुवृत्तियों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। अतः "प्राणिभिन्न उपमानवाची श्वन् शब्द से अव्यवहित उत्तरवर्ती समासान्त टच् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—आकर्षः श्वा इव। **अ० वि०**—आकर्ष + सु, श्वन् + सु (समास – 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यवचनैः' (१४६४), विभक्तिलोप, प्रकृत सूत्र से टच् = अ) – आकर्ष श्वन् अ (टि = 'अन्' का लोप, पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = आकर्षश्वः (खलिहान में धान्य आदि खींचने के लिए कुत्ते की तरह लकड़ी का बना काष्ठ-विशेष)।

(१५१२) **पद**—उत्तरमृगपूर्वात्, च, सक्थ्नः। **अनुवृत्ति**—उपमानात्, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उत्तर, मृग, पूर्व और उपमानपूर्वक सक्थि शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो। उत्तरसक्थम्। मृगसक्थम्। पूर्वसक्थम्। फलकसक्थम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५११) से 'उपमानात्' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'टच्' आदि पदों की अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अपेक्षित हैं। तदनुसार सूत्रार्थ इस प्रकार होगा – "उत्तर, मृग, पूर्व तथा उपमानवाची शब्दों से परवर्ती सक्थि शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है।"

क्रमशः उदाहरण—लौ० वि०—उत्तरं सक्थि। **अ० वि०**—उत्तर + सु, सक्थि + सु (समास – 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्', विभक्तिलोप, पूर्वनिपातादि, प्रकृत सूत्र से टच् = अ) – उत्तरसक्थि अ (इकार का लोप – 'यस्येति च', पुनः विभक्ति सु (नपुंसकलिंग), सु = अम्, पूर्वरूप) = उत्तरसक्थम् (टाँग का ऊपरी भाग)। मृगस्य सक्थि। **अ० वि०** — मृग + ङस्, सक्थि + सु (षष्ठी समास, शेष प्रक्रिया पूर्ववत्) = मृगसक्थम् (हिरन की टाँग)। पूर्वं सक्थि। **अ० वि०**—पूर्व + सु, सक्थि + सु ('पूर्वकालिकैक०' से समास, शेष कार्य पूर्ववत्) = पूर्वसक्थम् (टाँग का निचला भाग)। फलकमिव सक्थि। **अ० वि०**—फलक + सु, सक्थि + सु (समास – 'मयूरव्यंसकादयश्च', टच् आदि पूर्ववत्) = फलकसक्थम् (फलक – पटरी के समान टाँग)।

(१५१३) **पद**—नावः, द्विगोः। **अनुवृत्ति**—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नौशब्दान्त द्विगुसमासान्त टच् प्रत्यय होता है, अतद्धित लुक् में। द्विनावम्। त्रिनावम्।

अर्धाच्च ५।४।१००। अर्धनावम्। (१५१५) खार्याः प्राचाम् ५।४।१०१। द्विगोरर्धाच्च खार्याष्टज्वा। द्विखारम्, द्विखारि। अर्धखारम्, अर्धखारि। (१५१६)

द्वयोः नावोः समाहार इति विग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे चे'ति समासे विभक्तिलोपे 'नावो द्विगोः' इति टचि अनुबन्धलोपे आवादेशे द्विगुसंज्ञायामेकवद्भावे नपुंसकत्वे प्रातिपदिकत्वे सोरमि पूर्वरूपे द्विनावमिति।

(१५१४) **अर्धाच्चेति**। अर्धशब्दात्परो यो नौशब्दः, तदन्तात्तत्पुरुषाट्टजित्यर्थः।

(१५१५) **खार्या इति**। 'द्विगोरि'ति 'अर्धाच्चे'ति च पदेऽनुवर्तेते। तदाह — **द्विगोरर्धाच्चेति**। **द्विखारमिति**। द्वयोः खार्य्योः समाहार इति विग्रहे द्विगुसमासे, टचि, 'यस्येति चे'-तीकारलोपे 'स नपुंसकमि'ति नपुंसकत्वे विभक्तिकार्ये 'द्विखारमि'ति। टजभावपक्षे नपुंसकह्रस्वे 'द्विखारि' इति।

विमर्श—प्रकरणवशात् 'टच्' सहित अन्य सभी पदों की अनुवृत्तियाँ आ रही हैं। मण्डूकप्लुति के समान 'गोरतद्धितलुकि' (५।४।९२) से 'अतद्धितलुकि' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार — ''नौ शब्दान्त द्विगु से समासान्त टच् प्रत्यय होता है; किन्तु तद्धित प्रत्यय का लुक् होने पर टच् नहीं होता।''

उदाहरण—लौ० वि०—द्वयोः नावोः समाहारः। **अ० वि०**—द्वि + ओस्, नौ + ओस् (समाहार अर्थ में द्विगुसमास, विभक्तिलोप, टच् = 'अ' - 'नावो द्विगोः') द्वि नौ अ (औ = आव् आदेश, पुनः विभक्ति सु, नपुंसकलिंग में सु = अम्, पूर्वरूप) = द्विनावम् (दो नौकाएँ)।

(१५१४) **पद**—अर्धात्, च। **अनुवृत्ति**—नावः, द्विगोः, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अर्ध शब्द से परे नौ शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। अर्धनावम्।

विमर्श—यहाँ 'नावो द्विगोः' (१५१३) समग्र सूत्र की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् आ रही हैं। अतः ''अर्ध शब्द से परवर्ती नौ शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—नावः अर्धम्। **अ० वि०**—नौ + ङस्, अर्ध + सु (समास — 'अर्धं नपुंसकम्', विभक्तिलोप, अर्ध का पूर्वनिपात, टच् = 'अ' - 'नावो द्विगोः') — अर्ध नौ अ (औ = आव् आदेश, विभक्तिकार्य) = अर्धनावम् (आधी नौका)।

(१५१५) **पद**—खार्याः, प्राचाम्। **अनुवृत्ति**—द्विगोः, अर्धात्, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्विगु तथा अर्धपूर्वक खारी शब्दान्त तत्पुरुष से विकल्प से टच् होता है। द्विखारम् - द्विखारि। अर्धखारम् - अर्धखारि।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'नावो द्विगोः' (१५१३) से 'द्विगोः' तथा 'अर्धाच्च' (१५१४) से 'अर्धात्' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'टच्' तथा अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव भी पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार सूत्र से यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है — ''खारीशब्दान्त द्विगुसंज्ञक तत्पुरुष से तथा अर्ध शब्द से परे खारीशब्दान्त तत्पुरुष से प्राचीन आचार्यों के मत में समासान्त टच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—द्वयोः खार्योः समाहारः। **अ० वि०**—द्वि + ओस्, खारी + ओस् (द्विगुसमास, विभक्तिलोप, टच् = 'अ' - 'खार्याः प्राचाम्', 'ई' का लोप - 'यस्येति च', विभक्तिकार्य, नपुंसक-

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ५।४।१०२। द्व्यञ्जलम्, द्व्यञ्जलि। (१५१७) ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ५।४।१०४। ब्रह्मान्तात्तत्पुरुषाट्टच्। सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः। (१५१८) कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् ५।४।१०५। कुब्रह्मः, कुब्रह्मा। महाब्रह्मः,

---

(१५१६) **द्वित्रिभ्यामिति**। द्विगौ टज्वा स्यादित्यर्थः।

(१५१७) **ब्रह्मण इति**। 'जानपदः' इत्यत्र भावप्रधानो निर्देशः। जनपदे भवो जानपदः।

(१५१८) **कुमहद्भ्यामिति**। आभ्यां ब्रह्मणो वा टच् स्यात्तत्पुरुषे इत्यर्थः। **कुब्रह्म इति**। 'कुगतिप्रादयः' इति समासे विभक्तिलोपे टचि टिलोपे रूपम्। टजभावे – **कुब्रह्मा** इति।

लिङ्ग – 'स नपुंसकम्') = द्विखारम्। टच् के अभावपक्ष में पुनः विभक्त्युत्पत्ति होने पर – ह्रस्व – 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य', 'सु' का लोप – 'स्वमोर्नपुंसकात्') = द्विखारि (दो खारी = ३२ द्रोण)। **लौ० वि०**—खार्याः अर्धम्। (सामासिक प्रक्रिया पूर्ववत् टच् होने पर) = अर्धखारम्। टच् के अभाव में — अर्धखारि (आधी खारी)।

(१५१६) **पद**—द्वित्रिभ्याम्, अञ्जलेः। **अनुवृत्ति**—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वि-त्रिपूर्वक अञ्जलिशब्दान्त द्विगु से टच् विकल्प से होता है। द्व्यञ्जलम्, द्व्यञ्जलि।

विमर्श—पूर्ववत् 'टच्', 'तत्पुरुषस्य' आदि पदों की अनुवृत्ति आ रही है। विकल्पार्थक 'प्राचाम्' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (१५१५) से अपेक्षित है। अतः "द्वि और त्रि शब्द से परे अञ्जलिशब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—द्वयोः अञ्जल्योः समाहारः। **अ० वि०**—द्वि + ओस्, अञ्जलि + ओस् (द्विगुसमास, विभक्तिलोप, टच् = 'अ', इकारलोप, नपुंसकलिङ्ग में विभक्तिकार्य) = द्व्यञ्जलम्। टच् के न होने पर (ह्रस्व, विभक्तिलोप) = द्व्यञ्जलि (दो अंजलि)।

(१५१७) **पद**—ब्रह्मणः, जानपदाख्यायाम्। **अनुवृत्ति**—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ब्रह्मन्शब्दान्त तत्पुरुष से टच् होता है; यदि समास से जनपद-विशेषवाची बोध होता हो। सुराष्ट्रब्रह्मः।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु पूर्ववत् 'टच्, तत्पुरुषस्य' आदि पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "ब्रह्मन्शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है; यदि उस समस्त पद से ब्रह्मा का किसी जनपद-विशेष के साथ सम्बन्ध बोधित होता हो।"

उदाहरण—**लौ० वि०**—सुराष्ट्रे ब्रह्मा। **अलौ० वि०**—सुराष्ट्र + ङि, ब्रह्मन् + सु ('सप्तमी शौण्डैः' सूत्रस्थ सप्तमी का योगविभाग करने से समास, विभक्तिलोप तथा सुराष्ट्र का पूर्वनिपात, टच् = 'अ' – 'ब्रह्मणः०', टि – 'अन्' का लोप, 'परवल्लिङ्गम्०' के अनुसार पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = सुराष्ट्रब्रह्मः (सुराष्ट्र जनपद में होने वाला ब्रह्मा)।

(१५१८) **पद**—कुमहद्भ्याम्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—ब्रह्मणः, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कु और महत् से परे ब्रह्मन् से समासान्त टच् विकल्प से होता है। कुब्रह्मः। कुब्रह्मा। महाब्रह्मः। महाजातीयः।

विमर्श—समासान्त टच् का प्रकरण चल रहा है। अतः पूर्वोक्त पदों की अनुवृत्ति के साथ पूर्वसूत्र (१५१७) से 'ब्रह्मणः' पद की अनुवृत्ति भी आ रही है। तदनुसार – "कु और महत् से परे ब्रह्मन् से समासान्त टच् तत्पुरुष में विकल्प से होता है।"

महाब्रह्मा । 'प्रकारवचने जातीयर्' । महाप्रकारो महाजातीयः । (१५१९) द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६।३।४७ । आत्स्यात् । द्वादश । अष्टादश । अबहुव्रीह्यशीत्योः किम् ? द्वित्राः । द्व्यशीतिः । * प्राक्शतादिति वक्तव्यम् * । नेह – द्विशतम् । (१५२०) त्रेस्त्रयः ६।३।४८ । त्रिशब्दस्य त्रयसादेशः स्यात्पूर्वविषये ।

(१५१९) **द्व्यष्टन इति** । द्विशब्दस्य अष्टन्शब्दस्य च संख्यावाचके उत्तरपदे आत्स्यात्, न तु बहुव्रीह्यशीत्योरित्यभिप्रायः ।

(१५२०) **त्रेस्त्रय इति** । प्राक्शतात् संख्यावाचके उत्तरपदे परतः त्रेः स्थाने त्रयसादेशः

उदाहरण—कुत्सितः ब्रह्मा । **अ० वि०**—कु + ब्रह्मन् + सु (समास – 'कुगतिप्रादयः', विभक्तिलोप, 'कु' का पूर्वनिपात) – कुब्रह्मन् (टच् = 'अ' – 'कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम्', टि = अन् का लोप, विभक्तिकार्य) = कुब्रह्मः । टच् के अभाव पक्ष में – कुब्रह्मन् + सु (उपधादीर्घ, सुलोप तथा न का लोप) = कुब्रह्मा (निन्दनीय ब्राह्मण) । महांश्चासौ ब्रह्मा । **अ० वि०**—महत् + सु, ब्रह्मन् + सु (समास – 'सन्महत्०', विभक्तिलोप, 'त्' = 'आ' – 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' ((६।३।४६), आ + आ = 'आ' – दीर्घ) – महाब्रह्मन् (विकल्प से टच् = 'अ', टिलोप, विभक्तिकार्य) = महाब्रह्मः । टच् के न होने पर पूर्ववत् कार्य) = महाब्रह्मा (महाब्राह्मण) । महांश्चासौ जातीयश्च । **अ० वि०**—महत् + सु, जातीय + सु ('महान् प्रकारः' अर्थ में महत् शब्द से 'प्रकारवचने जातीयर्' से जातीयर् प्रत्यय होने पर 'जातीय' – समास, विभक्तिलोप, महत् का पूर्वनिपात, 'त्' = 'आ' – आत्व, दीर्घ, विभक्तिकार्य पूर्ववत्) = महाजातीयः (बड़ों की तरह पुरुष) ।

(१५१९) **पद**—द्व्यष्टनः, संख्यायाम्, अबहुव्रीह्यशीत्योः । **अनुवृत्ति**—आत्, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वि और अष्टन् शब्द को आत्व होता है । द्वादश । अष्टादश । 'अबहुव्रीह्यशीत्योः' क्यों कहा? द्वित्राः । द्व्यशीतिः । शत से पूर्व ही होता है — ऐसा कहना चाहिए । अतः यहाँ नहीं होता – द्विशतम् ।

विमर्श—'आन्महतः०' (६।३।४६) सूत्र से आदेशार्थक 'आत्' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अतः ''बहुव्रीहि समास तथा 'अशीति' उत्तरपद को छोड़कर द्वि और अष्टन् शब्द को संख्यावाचक शब्दों के परवर्ती रहने पर आत्व (आकार अन्तादेश) होता है ।''

उदाहरण—द्वौ च दश । **अ० वि०**—द्वि + औ, दशन् + जस् (समास – 'चार्थे द्वन्द्वः', विभक्तिलोप, इ = 'आ' – 'द्व्यष्टनः संख्यायाम्०') – द्वादशन् (पुनः विभक्ति सु = स् का लोप, 'न्' का लोप) = द्वादश (बारह) । अष्टौ च दश च । **अ० वि०**—अष्टन् + जस्, दशन् + जस् (समास, आत्व, दीर्घ आदि पूर्ववत्) = अष्टादश (अठारह) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अबहुव्रीहि' और 'अशीति' पदों का निवेश होने से 'द्वित्राः' और 'द्व्यशीतिः' में आत्व नहीं होता । द्वित्राः (दो या तीन) में बहुव्रीहि समास होने से तथा द्व्यशीतिः (बयासी) में 'अशीति' शब्द के परवर्ती होने से प्रकृत सूत्र द्वारा आकार अन्तादेश नहीं हुआ ।

प्राक्शतादिति । द्वि तथा अष्टन् शब्द से परवर्ती शब्द यदि शत से पूर्व कोई संख्यावाची हो तभी आकार अन्तादेश होगा, अन्यथा नहीं । तदनुसार 'द्विशतम्' (द्वौ च शतं च) में आकारान्त आदेश नहीं होता ।

(१५२०) **पद**—त्रेः, त्रयः । **अनुवृत्ति**—संख्यायाम्, अबहुव्रीह्यशीत्योः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—त्रि शब्द को त्रयस् आदेश पूर्वविषय में होता है । त्रयोदश । त्रयोविंशतिः ।

त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । **(१५२१) विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् ६।३।४९** । द्व्यष्टनोस्त्रेश्च प्रागुक्तं वा चत्वारिंशदादौ परे । द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत् । अष्टचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत् । एवं पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तति-नवतिषु । **(१५२२) परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २।४।२६** । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्धपिप्पली । * द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगति-समासेषु न *। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः । प्राप्तो जीविकां

स्यादिति । **त्रयोदश इति** । त्रयश्च दश चेति, त्र्यधिका दश वेति विग्रहे समासे सुब्लुकि त्रिशब्दस्य स्थाने 'त्रेस्त्रयः' इति त्रयसादेशे रुत्वे उत्वे गुणे विभक्तिकार्ये त्रयोदश इति ।

(१५२१) **विभाषेति** । 'सर्वेषामि'त्यस्य द्व्यष्टनोस्त्रेश्चेत्यर्थः ।

(१५२२) **परवल्लिङ्गमिति** । द्वन्द्वतत्पुरुषयोः उत्तरपदस्य यथा तथैव लिङ्गं स्यादित्यर्थः । **द्विगुप्राप्तेति** । एतेषु परवल्लिङ्गस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः ।

विमर्श—'उत्तरपदे' का अधिकार है । पूर्वसूत्र (१५१९) से 'संख्यायाम्' तथा 'अबहुव्रीह्य-शीत्योः' की अनुवृत्ति आने से यह अर्थ निष्पन्न होता है — ''बहुव्रीहि समास तथा अशीति शब्द को छोड़कर संख्यावाची शब्द उत्तरपद रहते त्रि शब्द के स्थान पर त्रयस् आदेश होता है ।''

उदाहरण—त्रयश्च दश च । **अ० वि०**—त्रि + जस्, दशन् + जस् (द्वन्द्वसमास — 'चार्थे द्वन्द्वः', विभक्तिलोप) — त्रयस् दशन् (स् = रु = 'र्' — 'ससजुषो रुः', 'र्' = 'उ' — 'हशि च', अ + उ = 'ओ' — गुण, पुनः विभक्ति, विभक्तिलोप, न् का लोप) = त्रयोदश (तेरह) । त्रयश्च विंशतिश्च । **अ० वि०**—त्रि + जस्, विंशति + सु (द्वन्द्वसमास, विभक्तिलोप, स् = र् = 'उ', अ + उ = 'ओ' — गुण, विभक्तिकार्य) = त्रयोविंशतिः (तेईस) ।

(१५२१) **पद**—विभाषा, चत्वारिंशत्प्रभृतौ, सर्वेषाम् । **अनुवृत्ति**—संख्यायाम्, अबहुव्रीह्य-शीत्योः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—चत्वारिंशत् आदि शब्दों के परवर्ती रहते द्वि, अष्टन् एवं त्रि को पूर्वनिर्दिष्ट कार्य विकल्प से होते हैं । द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत् इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'सर्वेषाम्' पद पूर्वोक्त दो सूत्रों (१५१८, १५१९) के स्थानी तथा आदेशों की ओर इंगित करता है । पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — ''द्वि, अष्टन् तथा त्रि को चत्वारिंशत् आदि संख्यावाचक के उत्तरपद रहते विकल्प से आकारान्त आदेश तथा त्रयस् आदेश होता है; किन्तु बहुव्रीहि समास तथा अशीति शब्द उत्तरपद रहते यह आदेश नहीं होते ।''

उदाहरण—द्विचत्वारिंशत् – द्वाचत्वारिंशत् (द्वि को आकारान्त आदेश, पूर्ववत् प्रक्रिया) । अष्टचत्वारिंशत् — अष्टाचत्वारिंशत् (अड़तालीस) । त्रिचत्वारिंशत् (विकल्प से त्रि = त्रयस् आदेश, शेष कार्य पूर्ववत्) — त्रयश्चत्वारिंशत् (तेतालीस) । इसी प्रकार आगे की संख्याओं के भी उत्तरपद रहते आकारान्त तथा त्रयस् आदेश होते हैं ।

(१५२२) **पद**—परवत्, लिङ्गम्, द्वन्द्वतत्पुरुषयोः । **नियम (अतिदेश) सूत्र** ।

मूलार्थ—द्वन्द्व और तत्पुरुष में परवत् लिङ्ग होता है । कुक्कुटमयूर्यौ इमे । मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्धपिप्पली । **वा०**—द्विगुसमास और प्राप्त, आपन्न, अलं पूर्व समास तथा गतिसमास में परवल्लिङ्गता नहीं होती । पञ्चकपालः । प्राप्तजीविकः आदि ।

प्राप्तजीविकः । आपन्नजीविकः । अलंकुमारिः । अत एव ज्ञापकात् समासः । निष्कौशाम्बिः । **(१५२३) पूर्ववदश्ववडवौ २।४।२७** । द्वित्वमतन्त्रम् । अश्ववडवौ । अश्ववडवान् । **(१५२४) अपथं नपुंसकम् २।४।३०** । तत्पुरुष इत्येव । अन्यत्र तु अपथो देशः । कृतसमासान्तग्रहणान्नेह – अपन्थाः । * अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः

(१५२३) **पूर्ववदिति** । अश्ववडवाशब्दयोर्द्वन्द्वे पूर्ववल्लिङ्गं स्यादित्यर्थः । परवल्लिङ्गापवादोऽयम् ।

(१५२४) **अपथमिति** । न पन्था इति विग्रहे नञ्समासे, नञो नस्य लोपे 'ऋक्पूरि'ति अप्रत्यये टिलोपे अपथशब्दः स नपुंसकमित्यर्थः ।

विमर्श—समास के अनन्तर पूर्वपद के अनुसार लिङ्ग हो या उत्तरपद के अनुसार? इस सन्देह का निराकरण करने के लिए व्यवस्था की जा रही है – ''द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास में पर पद के समान लिङ्ग होता है ।''

उदाहरण–(१) कुक्कुटश्च मयूरी च (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, उत्तरपद मयूरी के समान स्त्रीलिङ्ग, स्पष्टता के लिए 'इमे' सर्वनाम का प्रयोग) = कुक्कुटमयूर्यौ इमे । मयूरी च कुक्कुटश्च (में उत्तरपद के समान पुल्लिङ्ग) = मयूरीकुक्कुटौ । (२) पिप्पल्याः अर्धम् (समास – 'अर्धं नपुंसकम्', विभक्तिलोप, पश्चात् उत्तरपद पिप्पली के समान स्त्रीलिङ्ग) = अर्धपिप्पली । कुछ परिस्थितियों में परवत् लिङ्ग नहीं होता । **वा०**–''द्विगुसमास एवं प्राप्त, आपन्न, अलंपूर्वक समास और गति समास में उत्तरपद के समान लिङ्ग नहीं होता ।'' (३) पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः (तद्धितार्थ में द्विगुसमास, विभक्तिलोप, परपद के समान नपुंसकलिङ्ग न होकर पुल्लिङ्ग हुआ) = पञ्चकपालः । (४) प्राप्तः जीविकाम् = प्राप्तजीविकः (स्त्रीलिंग का वार्तिक द्वारा निषेध होकर पुल्लिङ्ग) = प्राप्तजीविकः । (५) अलंपूर्वक समास होने से स्त्रीलिंग का वार्तिक से निषेध – अलंकुमारि । (६) निर्गतः कौशाम्ब्याः (समास – 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' वार्तिक से उत्तरपद के समान स्त्रीलिङ्ग का निषेध, पुल्लिङ्ग, विभक्तिकार्यः) = निष्कौशाम्बिः (कौशाम्बी से निकला हुआ) ।

(१५२३) **पद**—पूर्ववत्, अश्ववडवौ । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—द्विवचन अविवक्षित है । अश्ववडवौ । अश्ववडवान् ।

विमर्श—द्वन्द्व एवं तत्पुरुष समास समस्त पद की लिङ्ग व्यवस्था बताई जा चुकी है । अब सामान्य नियम के अपवादस्वरूप स्थल-विशेष में लिङ्ग व्यवस्था का उल्लेख किया जा रहा है – ''अश्व एवं वडवा शब्द को तत्पुरुष समास में पूर्वपद के समान ही लिङ्ग होता है ।''

उदाहरण—**अश्वश्च** वडवा च (द्वन्द्वसमास प्रक्रिया पूर्ववत्) = अश्ववडवौ (घोड़ा और घोड़ी) । यहाँ पूर्वसूत्र से प्राप्त स्त्रीलिङ्ग का बाधकर अश्व के समान समस्त पद पुल्लिङ्ग हुआ । यहाँ द्विवचन का प्रयोग अविवक्षित ही है । अतः 'अश्ववडवान्' आदि प्रयोगों की बहुवचन में भी साधुता मानी गयी है ।

(१५२४) **पद**—अपथम्, नपुंसकम् । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अपथ' शब्द तत्पुरुष में नपुंसकलिङ्ग हो । अन्यत्र अपथः (देश) । समासान्त प्रत्यय सहित निर्देश होने के कारण 'अपन्थाः' में नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र भी परवत् लिङ्ग-व्यवस्था का अपवाद है । 'परवल्लिङ्गम्०' (१५२२) से 'तत्पुरुषः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार यह अर्थ निष्पन्न होता है – ''नञ्तत्पुरुष समास में 'अपथ' शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है ।''

स्त्रियामिष्टः * । पञ्चमूली । * आबन्तो वा * । पञ्चखट्वम्, पञ्चखट्वा । * पात्राद्यन्तस्य न * । पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् । चतुर्युगम् । (१५२५) छाया बाहुल्ये २।४।२२ । छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् पूर्वपदार्थबाहुल्ये । इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम् । (१५२६) सभाराजाऽमनुष्यपूर्वा २।४।२३ । राजपर्यायपूर्वोऽमनु-

---

(१५२६) **सभाराजेति । इनसभम् ।** इनेश्वरशब्दौ राजपर्यायौ ।

उदाहरण—**विग्रह**—न पन्थाः (नञ्समास, 'न्' का लोप, अप्रत्यय – 'ऋक्पू०') – अपथिन् अ (टि = इन् का लोप, नपुंसकलिङ्ग – 'अपथं नपुंसकम्', विभक्तिकार्य) = अपथम् (बुरा मार्ग) । तत्पुरुष के अतिरिक्त बहुव्रीहि समास में नपुंसकलिङ्ग नहीं होता । अविद्यमानः पन्थाः यस्य सः । अप्रत्यय (वैकल्पिक समासान्त) न होने पर विशेष्य पद में पुल्लिङ्ग होने के कारण पुल्लिङ्ग ही हुआ – अपथः (बिना मार्ग का देश) ।

सूत्रस्थ पद 'अपथ' में समासान्त प्रत्यय होने से 'पथिन्' से समासान्त प्रत्यय न होने की स्थिति में नपुंसकलिङ्ग नहीं होता । 'अपथिन्' के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में – अपन्थाः (बिना मार्ग का) ।

वा०—अकारान्त शब्द यदि द्विगु समास का उत्तरपद है तो वह स्त्रीलिङ्ग वाञ्छित है । यह वार्तिक नपुंसकलिङ्ग का निषेधक है ।

उदाहरण—पञ्चानां मूलानां समाहारः । **अ० वि०**—पञ्चन् + आम्, मूल + आम् (द्विगु समास, विभक्तिलोप, प्रकृत वार्तिक से स्त्रीत्वविधान, ङीप् = ई – 'द्विगोः', अ का लोप, पुनः विभक्ति सु, विभक्तिलोप) = पञ्चमूली (पाँच जड़ें) ।

वा०—द्विगु समास में आकारान्त शब्द उत्तरपद रहने पर विकल्प से स्त्रीलिङ्ग होता है ।

उदाहरण—पञ्चानां खट्वानां समाहारः । **अ० वि०**—पञ्चन् + आम्, खट्वा + आम् (समाहार द्विगुसमास, विभक्तिलोप, न् का लोप, उपसर्जन ह्रस्व, वार्तिक से वैकल्पिक स्त्रीलिङ्ग, ङीप्, विभक्तिकार्य) – पञ्चखट्वी । स्त्रीत्व के अभावपक्ष में नपुंसकलिङ्ग होने पर – पञ्चखट्वम् (पाँच खाटें) ।

वा०—पात्रादि अन्त वाला समाहार द्विगु स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता ।

उदाहरण—पञ्चानां पात्राणां समाहारः पञ्चपात्रम् (पाँच पात्र) । प्रकृत वार्तिक से स्त्रीलिङ्ग का निषेध होने के फलस्वरूप द्विगुसमासान्त शब्दों में 'द्विगोः' सूत्र से ङीप् नहीं होता । 'स नपुंसकम्' से नपुंसकलिङ्ग में – पञ्चपात्रम् । अन्य उदाहरण – त्रयाणां भुवनानां समाहारः – त्रिभुवनम् (तीन भुवन) । चतुर्णां युगानां समाहारः चतुर्युगम् (चार युग) ।

(१५२५) **पद**—छाया, बाहुल्ये । **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः, नपुंसकम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—छायान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है यदि पूर्वपद बहुवचन में प्रयुक्त हो । इक्षुच्छायम् ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः' (२।४।१९) अधिकारसूत्र एवं 'नपुंसकम्' पद की पूर्ववत् अनुवृत्ति आती है । तदनुसार – "पूर्वपद का बाहुल्य अर्थात् बहुवचन गम्यमान हो, तो नञ्समास और कर्मधारय को छोड़कर छायान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है ।"

उदाहरण—इक्षूणां छाया (षष्ठीतत्पुरुष, विभक्तिलोप, तुक् = 'त्' आगम – 'छे च', 'त्' = 'च्' – श्चुत्व, नपुंसकलिङ्ग में ह्रस्व, प्रथमा एकवचन में) = इक्षुच्छायम् (ईख की छाया) ।

(१५२६) **पद**—सभा, राजा, अमनुष्यपूर्वा । **अनुवृत्ति**—नपुंसकम् । **विधिसूत्र** ।

ष्यपूर्वश्च सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात्। इनसभम्। ईश्वरसभम्। अमनुष्यशब्दो रूढ्या रक्षःपिशाचादीनाह। रक्षःसभम्। पिशाचसभम्। **(१५२७) विभाषा सेना-सुराच्छायाशालानिशानाम् २।४।२५।** एतदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं वा। ब्राह्मणसेनम्, ब्राह्मणसेना इत्यादि। **(१५२८) अशाला च २।४।२४।** सङ्घातार्था या सभा तदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात्। स्त्रीसभम्। स्त्रीसङ्घात इत्यर्थः। **(१५२९) अर्धर्चाः**

(१५२७) **विभाषेति**। क्लीबं वा स्यादिति भावः।

मूलार्थ—राजपर्यायपूर्वक और मनुष्यपूर्वक सभाशब्दान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग होता है। इनसभम्। ईश्वरसभम्। अमनुष्य शब्द रूढ़ि शक्ति द्वारा राक्षस एवं पिशाच आदि का बोधक है। रक्षःसभम्। पिशाचसभम्।

विमर्श—लिङ्ग-व्यवस्था का प्रकरण चल रहा है। तदनुसार – ''राजशब्दपूर्वक सभान्त शब्द और मनुष्यभिन्नवाची सभान्त शब्द तत्पुरुष में नपुंसकलिङ्ग होता है।''

उदाहरण—इनस्य सभा (षष्ठीतत्पुरुष समास, प्रकृत सूत्र से नपुंसकलिङ्ग, विभक्तिकार्य) = इनसभम्। ईश्वरस्य सभा (समासादि कार्य पूर्ववत्) = ईश्वरसभम् (राजा की सभा)। यहाँ राजपर्यायवाची ईश्वर तथा इन शब्द हैं। अमनुष्यपूर्वक सभान्त का **उदाहरण**—रक्षसां सभा = रक्षःसभम् (राक्षसों की सभा)। पिशाचानां सभा = पिशाचसभम् (पिशाचों की सभा)।

(१५२७) **पद**—विभाषा, सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्। **अनुवृत्ति**—तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः, नपुंसकम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन शब्दों में से कोई भी शब्द जिसके अन्त में हो वह तत्पुरुष विकल्प से नपुंसकलिङ्ग में होता है। ब्राह्मणसेनम् – ब्राह्मणसेना इत्यादि।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु पूर्ववत् 'तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः' तथा 'नपुंसकम्' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्र में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग प्रथमा के अर्थ में हुआ है, जो अनुवृत्त 'तत्पुरुषः' का विशेषण है। इस प्रकार तदन्तविधि होकर यह अर्थ निष्पन्न होता है – ''सेना, सुरा, छाया, शाला तथा निशान्त तत्पुरुष का विकल्प से नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होता है।''

उदाहरण—ब्राह्मणस्य सेना (षष्ठीतत्पुरुष समास, विभक्तिलोप, प्रकृत सूत्र से विकल्प से नपुंसकलिङ्ग होने पर) = ब्राह्मणसेनम्। नपुंसकलिङ्ग न होने पर परपदानुसार स्त्रीलिङ्ग = ब्राह्मणसेना (ब्राह्मण की सेना)।

(१५२८) **पद**—अशाला, च। **अनुवृत्ति**—सभा, तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः, नपुंसकम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संघातार्थक सभा शब्दान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग होता है। स्त्रीसभम्। अशाला क्यों कहा? धर्मसभा (धर्मशाला)।

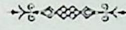
विमर्श—पूर्वोक्त अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। सभा शब्द के दो अर्थ शाला एवं संघात (समूह) अर्थ हैं। अतः प्रकृत सूत्र से ''शालाभिन्नार्थक अर्थात् समूहवाचक सभाशब्दान्त तत्पुरुष को नपुंसकलिङ्ग विधान होता है।''

उदाहरण—स्त्रीणां सभा (षष्ठीतत्पुरुष समास, विभक्तिलोप, नपुंसकलिङ्ग में) – स्त्रीसभम् (स्त्रियों का समूह)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अशाला' पद का पाठ होने से धर्मसभा (धर्मशाला) में सभा शब्द समूहवाचक न होने से नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ। परपद के अनुसार स्त्रीलिङ्ग।

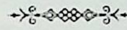
पुंसि च २।४।३१ । अर्धर्चादयः पुंसि क्लीबे च स्युः । अर्धर्चः, अर्धर्चम् । एवं ध्वजतीर्थमण्डपयूपदेहाङ्कुशकलशसूत्रपात्रादयः । सामान्ये नपुंसकम् । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् ।

इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ।



(१५२९) **अर्धर्चः** । ऋचोऽर्धमिति लौकिकविग्रहे ऋच् + ङस्, अर्ध + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'अर्धं नपुंसकमि'ति समासे विभक्तिलोपे अर्धपदस्योपसर्जनत्वे पूर्वप्रयोगे गुणे रपरत्वे, अर्द्धर्च् इति जाते 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इत्यप्रत्यये 'अर्द्धर्चाः पुंसि च' इत्यनेन नपुंसकत्वे प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे अर्धर्चमिति । पुंसि — 'अर्धर्चः' इति रूपम् ।

इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ।



(१५२९) **पद**—अर्धर्चाः, पुंसि, च । **अनुवृत्ति**—नपुंसकम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अर्धर्चादि शब्द पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग होते हैं । अर्धर्चः – अर्धर्चम् । इसी प्रकार तीर्थ, शरीर, मण्ड, पीयूष, देह, अंकुश, कलश, सूत्र, पात्र आदि भी हैं । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'पुंसि' पद पुल्लिङ्ग का बोधक है । 'च' पद के कारण पूर्वसूत्र 'अपथं नपुंसकम्' (१५२४) से 'नपुंसकम्' का अनुसरण किया जाता है । तदनुसार — ''अर्धर्च आदि गणपठित शब्द पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।''

उदाहरण—विग्रह – ऋचः अर्धम् (समास, विभक्तिलोप, समासान्त 'अ' प्रत्यय, ऋ = 'अ' – गुण, रपर, प्रकृत सूत्र से पुल्लिङ्ग में) = अर्धर्चः । नपुंसकलिङ्ग में – अर्धर्चम् । इसी प्रकार ध्वज आदि शब्द भी पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में होते हैं । ध्वजः – ध्वजम् । तीर्थः – तीर्थम् । शरीरः – शरीरम् । मण्डः – मण्डम् । पीयूषः – पीयूषम् । देहः – देहम् । अङ्कुशः – अङ्कुशम् । कलशः – कलशम् । सूत्रः – सूत्रम् । पात्रः – पात्रम् इत्यादि ।

सामान्ये नपुंसकम्—सामान्य में नपुंसकलिङ्ग होता है । अर्थात् किसी लिङ्ग-विशेष की विवक्षा न हो, केवल लिङ्गसामान्य ही विवक्षित हो तो नपुंसकलिङ्ग होता है ।

उदाहरण—मृदु पचति (मृदु पकाता है) — यहाँ ✓पच् का अर्थ पकाना है । पकाने पर अन्न मृदु (कोमल) हो जाता है । इस प्रकार 'विक्लित्यनुकूलो व्यापारः' ✓पच् का अर्थ है । इस व्यापार का फल पाक (मृदु होना) है । मृदु और पाक यद्यपि अभिन्न है तथापि उनमें विशेष्यविशेषणभाव कल्पित किया जाता है । मृदु पदार्थ फलरूप क्रिया का विशेषण है, तथापि व्यपदेशिवद्भाव से वह कर्म है । अतः द्वितीया विभक्ति में 'सामान्ये नपुंसकम्' से नपुंसकलिङ्ग विधान होने पर 'अम्' का लुक् होता है = मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् (सुन्दर प्रभात) — यहाँ भी 'प्रातर्' से नपुंसकलिङ्ग में द्वितीया विभक्ति 'अम्' का लुक् होता है ।

तत्पुरुषसमास-प्रकरण समाप्त ।



अथ बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्

(१५३०) शेषो बहुव्रीहिः २।२।२३। अधिकारोऽयं प्राग्द्वन्द्वात्।

(१५३१) अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४। अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थे वर्तमानं वा

(१५३०) **शेषो बहुव्रीहिः**। उक्तादन्यः शेषः। 'द्वितीया श्रिते'त्यादिना यस्य त्रिकस्य (विभक्तेः) विशिष्य समासो नोक्तः स शेषः प्रथमान्तार्थ इत्यर्थः।

(१५३१) **अनेकमन्यपदार्थे**। अनेकम् = एकाधिकम् अन्यस्य पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यत इति। स बहुव्रीहिः। बहुव्रीहिसमासे अन्यपदार्थस्य प्राधान्यात् समस्तपदस्य तदनुसारेण लिङ्गवचनानि भवन्ति।

क्रमप्राप्त बहुव्रीहि समास का निर्वचन किया जा रहा है। बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ प्रधान होता है – 'अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः'। इस समास में वचन एवं लिङ्ग सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ भी हैं। समस्त शब्दों में कोई भी वचन आ सकता है। विशेष्यवाची शब्द के अनुसार लिङ्गविधान होता है। यथा पीताम्बरः – यहाँ 'पीतानि अम्बराणि यस्य' विग्रह करने पर पीत शब्द अपने विशेष्यवाची अम्बर का अनुसरण कर वचन को बदलता है; किन्तु समस्त पद में विशेष्यवाची शब्द के अनुसार पुल्लिङ्ग होता है। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में क्रमशः पीताम्बरा (पीतम् अम्बरं यस्याः सा) तथा पीताम्बरम् (पीतम् अम्बरं यस्य तत्) रूप बनते हैं। बहुव्रीहि समास में प्रयुक्त शब्दों के विशेष्य-विशेषण तो यथावत् रहते हैं किन्तु वे गौण हो जाते हैं तथा समास के पद मिलकर अन्य पदार्थ के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हो जाते हैं।

(१५३०) **पद**—शेषः, बहुव्रीहिः। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—द्वन्द्व समास से पूर्व बहुव्रीहि का अधिकार है।

विमर्श—सूत्रस्थ 'शेषः' पद पूर्व प्रतिपादित समास से अवशिष्ट समास संज्ञा का बोधक है। उक्तादन्यः शेषः। अष्टाध्यायी क्रम में इसके पूर्व 'द्वितीयाश्रितातीत०' (२।१।२४), 'तृतीया तत्कृतार्थ०' (२।१।३०) आदि सूत्रों द्वारा विभक्तिनिर्देश करके तत्पुरुष समास का निरूपण किया जा चुका है। वहाँ प्रथामान्त का समास वर्णित नहीं है। अतः सूत्रस्थ 'शेषः' से प्रथमान्त का बहुव्रीहि समास ध्वनित होता है। इस प्रकार द्वन्द्व समास के पूर्व ('चार्थे द्वन्द्वः' २।२।२९) तक बहुव्रीहि का अधिकार है।

(१५३१) **पद**—अनेकम्, अन्यपदार्थे। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अन्य पद के अर्थ में वर्तमान अनेक प्रथमान्त विकल्प से समस्त होते हैं, वह बहुव्रीहि समास कहलाता है।

विमर्श—सूत्र में विधेयांश का अभाव है। अतः 'शेषो बहुव्रीहिः' (१५३०) से 'बहुव्रीहिः' पद की अनुवृत्ति के साथ पूर्ववत् उक्त पदों की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'अनेकम्' पद 'सुप्' पद की अनुवृत्ति द्वारा विशेषण के रूप में तदन्तविधि होने पर सूत्रार्थ में सहायक होता है। इस प्रकार अनेक सुबन्त (प्रथमान्त पद) बहुव्रीहि समास के प्रमुख अङ्ग होते हैं। तदनुसार – ''प्रथमान्त समानाधिकरण पदों का समस्यमान पदों से भिन्न अन्यपदार्थ गम्यमान रहने पर परस्पर विकल्प से समास होता है तथा उसकी बहुव्रीहि संज्ञा होती है।''

समस्यते, स बहुव्रीहिः। (१५३२) सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ २।२।३५। सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। (१५३३) हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ६।३।९। हलन्ताददन्ताच्च सप्तम्या अलुक्। कण्ठेकालः। अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः। प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्।

(१५३२) **सप्तमीविशेषण इति**। सप्तमी प्रत्ययग्रहणपरिभाषया सप्तम्यञ्च विशेषणञ्च ते सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ पूर्वं प्रयोज्यम्। सर्वोपसर्जनत्वाद् बहुव्रीहेरनियमे प्राप्ते नियमार्थमिदं वचनम्।

(१५३३) **हलदन्तादिति**। स्पष्टम्। **कण्ठेकालः**। कण्ठे कालोऽस्येति विग्रहे, कण्ठ + ङि, काल + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेन ज्ञापकात्समासे 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इत्यनेन सप्तम्यन्तस्य 'कण्ठे' इत्यस्य पूर्वनिपाते विभक्तिलोपे प्राप्ते 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायामि'ति सप्तम्या अलुकि, प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'कण्ठेकालः' इति।

(१५३२) **पद**—सप्तमीविशेषणे, बहुव्रीहौ। **अनुवृत्ति**—पूर्वम्। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त और विशेषण का बहुव्रीहि समास में पूर्वनिपात होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में विधेय पद का अभाव है। उसकी पूर्ति 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'पूर्व' पद की अनुवृत्ति लाकर की जाती है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा के अनुसार सूत्रस्थ 'सप्तमी' पद तदन्त का बोधक है। इस प्रकार यह अर्थ निष्पन्न होता है – ''बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त पद एवं विशेषणवाची पदों का पूर्वप्रयोग होता है।''

(१५३३) **पद**—हलदन्तात्, सप्तम्याः, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हलन्त और अदन्त से परवर्ती सप्तमी का अलुक् होता है। कण्ठेकालः। अत एव ज्ञापक से ज्ञात होता है कि व्यधिकरणपद बहुव्रीहि भी होता है। प्राप्तोदकः ग्रामः। ऊढरथः। उपहृत-पशुः। उद्धृतौदना। पीताम्बरः। वीरपुरुषकः इत्यादि।

विमर्श—विधेयांश की पूर्ति हेतु 'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार – ''संज्ञा के विषय में हलन्त तथा अकारान्त शब्दों से परे सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं होता।''

उदाहरण—कण्ठे कालः **यस्य** (**बहुव्रीहि** समास, प्राप्त विभक्तिलुक् का 'हलदन्तासप्तम्याः संज्ञायाम्' से अलुक्, '**कण्ठे**' **का** पूर्वप्रयोग – 'सप्तीविशेषणे बहुव्रीहौ', विभक्तिकार्य) = कण्ठेकालः (जिनके गले में काल **अर्थात्** विष हों – शिव)।

अत एवेति। 'अनेकमन्यपदार्थे' के द्वारा अनेक प्रथमान्त पदों का बहुव्रीहि समास विधान होने से सप्तम्यन्त पद के साथ बहुव्रीहि समास होना सम्भव नहीं होता। तब 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' सूत्र के द्वारा सप्तम्यन्त पद का बहुव्रीहि समास में पूर्वनिपात विधान व्यर्थ हो जायेगा। वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि कहीं-कहीं व्यधिकरणपद बहुव्रीहि भी होता है।

बहुव्रीहि समास के विग्रह करने में 'यत्' शब्द की विभक्ति से द्वितीयादि समानाधिकरण बहुव्रीहि की प्रतीति होती है। छः विभक्तियों के समानाधिकरण बहुव्रीहि के उदाहरण निम्नवत् हैं –

१. द्वितीयानिष्ठ समानाधिकरण बहुव्रीहि – प्राप्तम् उदकं यं सः = प्राप्तोदकः ग्राम (ऐसा गाँव जहाँ पानी पहुँच चुका हो)।

२. **तृतीयानिष्ठ बहुव्रीहि – ऊढः रथः येन सः** = ऊढरथः अनड्वान् (ऐसा बैल जिसने रथ खींचा हो)।

उपहृतपशू रुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः। * प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः *। प्रपतितपर्णः प्रपर्णः। * नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः *। अविद्यमानपुत्रोऽपुत्रः। (१५३४) **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ६।३।३४।**

प्रादिभ्य इति। प्रादिभ्यः परं यद्धातुजप्रकृतिकं प्रथमान्तं तस्याऽन्येन बहुव्रीहिर्वाच्यः। तत्र बहुव्रीहौ प्रादिभ्यः परस्योत्तरपदस्य धातुजस्य लोपश्च विकल्पेन वाच्य इत्यर्थः।

नञोऽस्त्यर्थानामिति। नञः परेषामस्त्यर्थवाचिनां सुबन्तानां बहुव्रीहिर्वाच्यः। अस्त्यर्थवाचिनमुत्तरपदानां लोपश्च वा वक्तव्य इत्यर्थः। अस्त्यर्थकस्य विद्यमानपदस्य लोपे रूपम् – **अपुत्र इति**।

(१५३४) **स्त्रिया इति**। भाषितः पुमान् यस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिनिमित्तं स भाषितपुंस्कपदेनो-

---

३. चतुर्थीनिष्ठ बहुव्रीहि — उपहृतः पशुः यस्मै सः = उपहृतपशुः रुद्रः (जिनके लिए पशु लाया गया हो)।

४. पञ्चमीनिष्ठ बहुव्रीहि — उद्धृतम् ओदनं यस्मात् सा = उद्धृतौदना स्थाली (ऐसी बटलोई जिससे भात निकाल लिया गया हो)।

५. षष्ठीनिष्ठ बहुव्रीहि — पीतम् अम्बरं यस्य सः – पीताम्बरः हरिः (जिनका वस्त्र पीला हो)।

६. सप्तमीनिष्ठ बहुव्रीहि — वीराः पुरुषाः यस्मिन् सः = वीरपुरुषकः ग्रामः (ऐसा गाँव जिसमें वीर पुरुष हों)।

१ वा०—प्र आदि से परवर्ती यदि धातुज शब्द हो तो तदन्त शब्द का अन्य पद के साथ समास होता है तथा विकल्प से उत्तरपद का लोप भी होता है।

उदाहरण—लौकिक विग्रह—प्रपतितानि पर्णानि यस्मात्। **अ. वि.**—प्रपतित + जस्, पर्ण + जस् (समास, विभक्तिलोप, पतित शब्द का वा० से वैकल्पिक लोप, विभक्तिकार्य) = प्रपर्णः। पक्ष में — प्रपतितपर्णः (जिससे पत्ते गिर चुके हों ऐसा वृक्ष)।

२ वा०—नञ् से परवर्ती अस्त्यर्थ (विद्यमानार्थ) वाचक शब्द का उत्तरपद के साथ समास होता है तथा नञ् के उत्तरवर्ती पद का लोप विकल्प से होता है।

उदाहरण—लौ० वि०—अविद्यमानः पुत्रः यस्य सः। **अ० वि०**—न विद्यमान + सु, पुत्र + सु (समास — वार्तिक से, विभक्तिलोप, न से परवर्ती 'विद्यमान' का विकल्प से लोप, 'न्' का लोप — 'नलोपो नञः', पुनः विभक्तिकार्य) = अपुत्रः। पक्ष में विद्यमान पद का लोप न होने पर — अविद्यमानपुत्रः (जिसके पुत्र न हों)।

(१५३४) **पद**—स्त्रियाः, भाषितपुंस्कात्, अनूङ्, समानाधिकरणे, स्त्रियाम्, अपूरणीप्रियादिषु। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—भाषितपुंस्क से परे ऊङ्प्रत्यय के अभाव वाले स्त्रीवाचक शब्द के पुंवाचक के समान रूप होते हैं, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद के परे रहते। किन्तु पूरणप्रत्ययान्त और प्रियादि के परे यह पुंवद्भाव नहीं होता। चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। अनूङ् क्यों कहा? वामोरूभार्यः।

विमर्श—अनुवृत्त आधिकारिक पद 'उत्तरपदे' का अन्वय सूत्र के 'समानाधिकरणे' तथा 'स्त्रियाम्' पदों के साथ होता है। 'भाषितपुंस्कादनूङ्' पदस्थ 'अनूङ्' का विग्रह बहुव्रीहिपरक है — ऊङ् अभावः अस्याम्। निपातनवश पञ्चमी का लोप नहीं होता। 'अनूङः' में षष्ठी विभक्ति का लोप हुआ है। जिस निमित्त (अर्थ) को लेकर पुल्लिङ्ग में शब्द प्रवृत्त होता है, यदि नपुंसकलिङ्ग में प्रवृत्ति

उक्तपुंस्कात्पर ऊङ्भावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकशब्दस्येव रूपं स्यात्समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे, न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः। चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। अनूङ् किम्? वामोरूभार्यः। पूरण्यां तु। (१५३५) अप्पूरणीप्रामाण्योः ५।४।११६। पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत् स्त्रीलिङ्गं तदन्तात्प्रामाण्याच्च बहुव्रीहेरप् स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः।

च्यते। तस्य प्रतिपादको यः शब्दः सोऽपि भाषितपुंस्कः। ऊङोऽभावोऽनूङ्। तथाभूतस्य स्त्रीप्रत्ययान्तशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात् न तु पूरणप्रत्ययान्तशब्दे प्रियादौ च परत इत्यर्थः। **चित्रगुः** — चित्राः गावो यस्येति विग्रहे, चित्रा + जस्, गो + जस् इत्यलौकिकविग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिसमासे सुपो लुकि, 'सप्तमीविशेषणे' इति विशेषणस्य पूर्वनिपाते 'चित्रागो' इति जाते 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०' इत्यनेन 'चित्रा' इत्येतस्य पुंवद्भावेन टापो निवृत्तौ, गोशब्दस्योपसर्जनत्वेन 'गौस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इत्यनेन ह्रस्वे ओकारस्य उकारे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'चित्रगुः' इति।

(१५३५) **कल्याणीपञ्चमा इति**। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः इति लौकिक-

---

का भी वही निमित्त हो, तो उस शब्द को 'भाषितपुंस्क' कहते हैं। भाषितपुंस्क में प्रवृत्तिनिमित्त की एकरूपता अपेक्षित होती है। इस प्रकार — ''जिस शब्द के प्रयोग का कारण पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में तुल्य हो तथा जिसके परे ऊङ् प्रत्यय न हो ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुंवाचक शब्द के समान रूप होता है, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे रहते। यदि पूरणी संख्या और प्रिया आदि शब्द उत्तरपद में न हों।''

उदाहरण—लौकिक विग्रह—चित्राः गावः यस्य सः। **अलौकिक वि०**—चित्रा + जस्, गो + जस् (समास = 'अनेकमन्यपदार्थे', विभक्तिलोप, स्त्रीवाचक 'चित्रा' को पुंवद्भाव — 'स्त्रियाः पुंवद्०', गो की उपसर्जनसंज्ञा, 'ओ' = 'उ' — ह्रस्व — 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य', पुनः प्रातिपदिक संज्ञा सु = स् = र् = :) = चित्रगुः (जिसकी गायें चितकबरी हों ऐसा व्यक्ति)। **लौ० वि०**—रूपवती भार्या यस्य सः। **अ० वि०**—रूपवती + सु, भार्या + सु (समास, विभक्तिलोप, प्रकृत सूत्र से पुंवद्भाव) — रूपवत् भार्या ('त्' = 'द्' जश्त्व — 'झलां जशोऽन्ते', 'आ' = 'अ' — ह्रस्व — 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य', विभक्तिकार्य) = रूपवद्भार्यः (जिसकी पत्नी सुन्दर हो)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अनूङ्' का निवेश क्यों किया गया? 'अनूङ्' के अभाव में 'वामौ ऊरू यस्याः सा = वामोरूः'। वामोरू भार्या यस्य सः = 'वामोरूभार्या' में ऊङन्त वामोरू पद को पुंवद्भाव होने पर उरूभाग को ह्रस्व हो जाता। अतः 'अनूङ्' पद का निवेश किया गया है।

(१५३५) **पद**—अप्, पूरणीप्रामाण्योः। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पूरणप्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग तदन्त से और प्रमाण्यन्त बहुव्रीहि से अप् प्रत्यय होता है। कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। स्त्रीप्रमाणः। **वा०**—पुंवद्भाव का प्रतिषेध और अप् प्रत्यय - ये दोनों कार्य प्रधान पूरणीप्रत्ययान्त के होने पर ही हों। रात्रि शब्द उक्त उदाहरण में पूरणीवाच्य है, अतः उसका प्राधान्य है।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०' (५।४।११२) से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति आ रही है तथा 'समासान्ताः' का अधिकारजन्य प्रभाव विद्यमान है। अनुवृत्त 'बहुव्रीहौ'

स्त्री प्रमाणी यस्य सः स्त्रीप्रमाणः। पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्प्रत्ययश्च प्रधानपूरण्यामेव। रात्रिः पूरणी वाच्या चेत्युक्तोदाहरणे मुख्या। अन्यत्र तु। (१५३६) नद्यृतश्च ५।४।१५३। नद्युत्तरपदादृदन्तोत्तरपदाच्च बहुव्रीहेः कप्। पुंवद्भावः। (१५३७) केऽणः ७।४।१३। ह्रस्वः। इति प्राप्ते। (१५३८) न कपि ७।४।१४। अणो

विग्रहे, कल्याणी + सु, पञ्चमी + सु इत्यलौकिकविग्रहे बहुव्रीहिसमासे विभक्तिलोपे, पुंवद्भावे प्राप्ते 'अप्पूरणीप्रामाण्योः' इत्यनेन अप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे भत्वे 'यस्येति चे'तीकारलोपे प्रातिपदिकत्वे जसि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'कल्याणीपञ्चमाः' इति।

(१५३६) **नद्यृतश्च**। नदी च ऋच्चेति समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्यतो बहुव्रीहावित्यनुवर्तते, तच्च पञ्चम्या विपरिणम्यते। तदाक्षिप्तमुत्तरपदं नद्यृद्भ्यां विशेष्यते, तदन्तविधिः। 'उरःप्रभृतिभ्यः' इत्यतः 'कप्' इत्यनुवर्तते। तदाह — **नद्युत्तरपदादिति।**

(१५३७) **केऽणः**। के परेऽणो ह्रस्वः स्यादित्यर्थः।

पद 'पूरणीप्रामाण्योः' का विशेष्य है। विशेषण होने से 'पूरणीप्रामाण्योः' में तदन्तविधि होती है। 'पूरणी' पद पूरणप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग का बोधक है। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होता है — "जिस बहुव्रीहि समास के अन्त में पूरणार्थक प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग या प्रमाणी पद हो, उससे समासान्त अप् (= 'अ') प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः (बहुव्रीहिसमास, विभक्तिलोप, उत्तरपदस्थ पञ्चमी पद पूरणप्रत्ययान्त होने से 'कल्याणी' को पुंवद्भाव नहीं होता, अप् = 'अ' — 'अप्पूरणीप्रामाण्योः') — कल्याणीपञ्चमी अ ('ई' का लोप — 'यस्येति च', स्त्रीलिङ्ग में टाप् = 'आ', दीर्घ, प्रथमा बहुवचन में विभक्तिकार्य) = कल्याणीपञ्चमाः रात्रयः (जिन रातों में पाँचवीं कल्याणप्रद हो)। स्त्री प्रमाणी यस्य सः (समास, विभक्तिलोप, अप् = 'अ' — पुंवद्भाव का प्रतिषेध, ईकारलोप — 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = स्त्रीप्रमाणः (जिसको स्त्री प्रमाण हो)।

वा०—पुंवद्भाव का प्रतिषेध तथा अप् प्रत्यय ये दोनों प्रधानपूरणी में प्रवृत्त होते हैं। तदनुसार पूर्वोक्त प्रयोग 'कल्याणीपञ्चमाः रात्रयः' में पञ्चमी शब्द का रात्रि के साथ सम्बन्ध है। यहाँ पूरणीप्रत्ययान्त पञ्चमी की प्रधानता है, न कि रात्रि की। अतः पुंवद्भाव का अभाव और अप् प्रत्यय होता है। जहाँ पूरणीप्रत्यय प्रधान नहीं है, वहाँ पूर्व पद को पुंवद्भाव होकर 'कल्याणपञ्चमीकः' रूप बनेगा।

(१५३६) **पद**—नद्यृतः, च। **अनुवृत्ति**—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नद्युत्तरपद और ऋदन्तोत्तरपद बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय होता है।

विमर्श—'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' (५।४।१५१) सूत्र से विधेय 'कप्' की अनुवृत्ति आती है। अन्य पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — "नदीसंज्ञक तथा ऋकारान्त बहुव्रीहि समास से भी समासान्त कप् (= अ) प्रत्यय होता है।"

(१५३७) **पद**—के, अणः। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—क परे रहते अण् को ह्रस्व होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में विधेय का उल्लेख नहीं है। अतः 'शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा' (७।४।१२) से 'ह्रस्वः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। अतः "क परे रहते अङ्ग को ह्रस्व होता है।"

ह्रस्वो न। कल्याणपञ्चमीकः पक्षः। अत्र तिरोहितावयवभेदस्य पक्षस्यान्यपदार्थतया रात्रिरप्रधानम्। बहुकर्तृकः। अप्रियादिषु किम्? कल्याणप्रियः। प्रिया। मनोज्ञा। कल्याणी। सुभगा। दुर्भगा। भक्तिः। सचिवा। स्वसा। कान्ता। क्षान्ता। सभा। चपला। दुहिता। बाला। वामा। अबला। तनया। * सामान्ये नपुंसकम् *। दृढं भक्तिर्यस्य सः दृढभक्तिः। स्त्रीत्वविवक्षायां तु दृढा भक्तिः। (१५३९) तसिलादिष्वाकृत्वसुचः ६।३।३५। तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेषु स्त्रियाः पुंवत्। परिगणनं

(१५३८) **न कपि**। 'केऽणः' इत्यतः 'अणः' इति 'शृदॄप्राम्' इत्यतः ह्रस्व इति चानुवर्तेते। तदाह — **अणो ह्रस्व इति**। **बहुकर्तृक इति**। बहवः कर्त्तारो यस्येति विग्रहः। **दृढभक्तिः** — दृढा भक्तिर्यस्येति विग्रहे दृढपदस्य प्रियादिषु पाठात् दृढभक्तिरित्यत्र कथं पुंस्त्वमिति जिज्ञासायां 'सामान्ये नपुंसकम्' इत्यनेन नपुंसकत्वात् दृढं भक्तिर्यस्येति विग्रहं कृत्वा बहुव्रीहिसमासो ज्ञेयः।

(१५३९) **तसिलादिष्विति**। 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्यारभ्य 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने

(१५३८) **पद**—न, कपि। **अनुवृत्ति**—अणः, ह्रस्वः। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—कप् प्रत्यय के परे अण् ह्रस्व न हो। कल्याणपञ्चमीकः पक्षः। यहाँ तिरोहित अवयवगत भेद पक्ष का अन्य-पदार्थता के कारण रात्रि शब्द को अप्रधान = गौण कहा गया है। बहुकर्तृकः। सूत्र में अप्रियादिषु क्यों कहा? कल्याणीप्रियः। प्रिया आदि। सामान्य में नपुंसकलिङ्ग हो। दृढभक्तिः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५३७) से 'अणः' तथा 'शृदॄप्राम्०' से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'अङ्गस्य' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा — ''कप् प्रत्यय के परवर्ती रहते अण् को ह्रस्व नहीं होता।''

उदाहरण—जहाँ पूरणी प्रत्यय मुख्य नहीं है वहाँ — कल्याणी पञ्चमी यस्य (बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, पूर्वपद को पुंवद्भाव, कप् = 'क' — 'नद्यृतश्च', 'केऽणः' से प्राप्त ह्रस्व = 'ई' = 'इ' का 'न कपि' सूत्र से निषेध, विभक्तिकार्य) = कल्याणपञ्चमीकः। यहाँ पञ्चमी शब्द मुख्यतया 'रात्रि' को बोधित करता है और रात्रि शब्द पक्ष को बोधित करता है। रात्रि गौण है, पक्ष प्रधान है। बहवः कर्तारः यस्य सः। **अ० वि०**—बहु + जस्, कर्तृ + जस् (समास — 'अनेकमन्यपदार्थे', विभक्तिलोप, ऋकारान्त बहुव्रीहि से कप् = 'क' — 'नद्यृतश्च', पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = बहुकर्तृकः (जिसके बहुत कर्ता हों)।

प्रत्युदाहरण—'स्त्रियाः पुंवद्०' सूत्र से पुंवद्भाव होने के लिए अप्रियादिषु = 'प्रिया आदि पदों का परवर्ती न होना' का निवेश किया गया है। अतः 'कल्याणीप्रियः' में उत्तरपद प्रिया होने के कारण पुंवद्भाव नहीं होता। कल्याणी प्रिया यस्य सः (समास, विभक्तिलोप, प्रिया के 'आ' को ह्रस्व – 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य', विभक्तिकार्य) = कल्याणीप्रियः। प्रिया आदि शब्दों का परिगणन किया गया है। वे १७ हैं। परिगणित शब्दों में से भक्ति शब्द का दृढ के साथ बहुव्रीहि समास करने पर पदसंस्कार पक्ष में सामान्यतः परत्व का आश्रय लेकर 'सामान्ये नपुंसकम्' नियम के अनुसार 'दृढं भक्तिर्यस्य सः = दृढभक्तिः' विग्रह होगा (अर्थ — जिसकी भक्ति दृढ हो)।

(१५३९) **पद**—तसिलादिषु, आकृत्वसुचः। **अनुवृत्ति**—स्त्रियाः पुंवद्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तसिलादि से कृत्वसुच् पर्यन्त प्रत्यय के परे रहते स्त्रीवाचक शब्द को पुंवद्भाव होता

कर्तव्यम्। त्रतसौ। तरप्तमपौ। चरट्जातीयरौ। कल्पब्देशीयरौ। रूपप्पाशपौ। थाल्। तिलथ्यनौ। एषु परेषु स्त्रियाः पुंवत्। बह्वीषु इति बहुत्र। बहुत इत्यादि। * त्वतलोर्गुणवचनस्य *। शुक्लत्वम्। शुक्लता। * भस्याऽढे तद्धिते *। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्। अढेः किम्? रौहिणेयः। * कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु *। कुक्कुटाण्डम्।

कृत्वसुच्' इत्येतत्पर्यन्तसूत्रविहितेष्वर्थः। 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यनुवर्तते। तदाह — **तसिलादिष्वित्यादि। बहुत्र इति।** 'बह्वीषु' इत्यर्थे बह्वीशब्दात् 'सप्तम्यास्त्रल्' इति त्रलि, 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति पुंवत्त्वे ङीषो निवृत्तौ बहुत्रेति रूपमिति। **भस्याऽढ इति।** ढभिन्ने तद्धिते परे स्त्रियाः पुंवत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। **हास्तिकमिति।** हस्तिनीनां समूह इति विग्रहे 'अचित्तहस्ति-

---

है। परिगणन करना चाहिए — त्रल्, तस्, तरप्, तमप्, चरट्, जातीयर्, कल्पप्, देशीयर्, रूपप्, पाशप्, थाल्, तिल्, थ्यन् प्रत्यय तसिलादि हैं। बह्वीषु इस अर्थ में — बहुत्र, बहुतः। **वा०**—त्व और तल् प्रत्यय के परवर्ती रहते स्त्रीवाचक शब्द को पुंवद्भाव होता है। शुक्लत्वम्, शुक्लता। **वा०**—ढ प्रत्यय भिन्न तद्धित के परे रहते भसंज्ञक को पुंवद्भाव होता है। हास्तिकम्। अढे किम्? रोहिणेयः। **वा०**—कुक्कुटी आदि शब्दों को पुंवद्भाव होता है, अण्ड आदि उत्तरपद के परे रहते। कुक्कुटाण्डम्। मृगपदम् इत्यादि।

विमर्श—पुंवद्भाव का प्रकरण चल रहा है। पूर्वसूत्र (१५३४) से 'स्त्रियाः पुंवद्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'आकृत्वसुचः' में आङ् का प्रयोग अभिविधि अर्थ में हुआ है। तदनुसार "तसिल् आदि से कृत्वसुच् पर्यन्त प्रत्यय के परवर्ती रहते स्त्रीवाचक शब्द को पुंवद्भाव होता है।" तद्धित प्रकरण के अन्तर्गत 'पञ्चम्यास्तसिल्' (५।३।७) से लेकर 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५।४।१७) तक पठित प्रत्यय तसिलादि से गृहीत हैं। उनका परिगणन किया जा रहा है। तदनुसार वे प्रत्यय १३ हैं। इन प्रत्ययों के परे रहते स्त्रीवाची शब्दों को पुंवद्भाव होता है।

उदाहरण—विग्रह—बह्वीषु। बह्वी + त्रल् (= 'त्र' — 'सप्तम्यास्त्रल्', पुंवद्भाव — 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः') = बहुत्र (बहुतों में)। विग्रह — बह्वीभ्यः। बह्वी + तसिल् (= तस् — 'पञ्चम्यास्तसिल्', पुंवद्भाव, स् = र् = :) = बहुतः (बहुतों से)।

१ वा०—त्व और तल् प्रत्यय परे रहते गुणवाचक शब्दों को पुंवद्भाव होता है। **उदाहरण** — शुक्लत्वम् (सफेदी)। शुक्लता। विग्रह — शुक्लायाः भावः। क्रमशः त्व और तल् प्रत्यय — 'तस्य भावस्त्वतलौ', वार्तिक से पुंवद्भाव के अनन्तर त्वप्रत्ययान्त नपुंसकलिङ्ग में तथा तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होगा।

२ वा०—ढभिन्न तद्धित प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक को पुंवद्भाव होता है। **उदाहरण**—विग्रह — हस्तिनीनां समूहः (हस्तिनी + ठक् = ठ — 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्', 'ठ' = 'इक' — 'ठस्येकः', पुंवद्भाव) — हस्तिन् इक ('टि' का लोप — 'नस्तद्धिते', आदिवृद्धि — 'किति च', विभक्तिकार्य — नपुंसकलिङ्ग में) = हास्तिकम् (हथिनियों का समूह)। **प्रत्युदाहरण**—प्रकृत वार्तिक में 'अढे' पद का निवेश होने से ढ प्रत्यय परे रहते पुंवद्भाव नहीं होता। अतः 'रौहिणेयः' (= रोहिणी का पुत्र) में ढ प्रत्यय होने से पुंवद्भाव नहीं हुआ।

३ वा०—अण्ड आदि शब्दों के परवर्ती होने पर कुक्कुटी आदि शब्दों को पुंवद्भाव होता है। **उदाहरण—विग्रह**—कुक्कुट्याः अण्डम् (कुक्कुटी + ङस्, अण्ड + सु) (षष्ठी समास, पुंवद्भाव, अ + अ = 'आ' - दीर्घ, नपुंसकलिङ्ग में विभक्तिकार्य) = कुक्कुटाण्डम् (मुर्गी का अण्डा)।

मृगपदम्। मृगक्षीरम्। काकशावः। (१५४०) क्यङ्मानिनोश्च ६।३।३६। पुंवत्। एनीवाचरति एतायते। श्येनीवाचरति श्येतायते। दर्शनीयां स्त्रियं मन्यते दर्शनीयमानिनी। (१५४१) न कोपधायाः ६।३।३७। स्त्रियाः पुंवत्। पाचिकाभार्यः। रसिकाभार्यः। मद्रिकायते। मद्रिकामानिनी। * कोपधप्रतिषेधे तद्धित-

धेनोः' इति ठकि ठस्येकादेशे 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे 'भस्याऽढे तद्धिते' इति पुंवत्त्वे सति नान्तलक्षणङीपो निवृत्तौ विभक्तिकार्ये 'हास्तिकमि'ति।

(१५४०) **क्यङ्मानिनोश्चेति**। क्यङि मानिनि चोत्तरपदे परत एतयोः पुंवत्त्वं स्यादित्यर्थः। **एतायत इति**। एता = चित्रवर्णा। 'वर्णानुदात्तादि'ति ङीप् नकारश्च। 'उपमानादाचारे' इत्यनुवर्तमाने 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति एनीशब्दात् क्यङि पुंवत्त्वेन ङीब्नत्वयोर्निवृत्तौ 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घे 'एतायते' इति।

(१५४१) **न कोपधाया इति**। 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यनुवर्तते। **पाचिकाभार्यः** — पाचिका भार्या यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे विभक्तिलोपे 'स्त्रियाः पुंवद्भाषित०' इत्यनेन पुंवद्भावे

विग्रह — मृग्याः पदम् (समास, पुंवद्भाव आदि पूर्ववत्) = मृगपदम् (हिरनी का पैर)। मृग्याः क्षीरम् (प्रक्रिया उक्तवत्) = मृगक्षीरम् (हिरनी का दूध)। काक्याः शावः (पुंवद्भाव आदि पूर्ववत् पुल्लिङ्ग में विभक्तिकार्य) = काकशावः (मादा कौए का बच्चा)।

(१५४०) **पद**—क्यङ् मानिनोः, च। **अनुवृत्ति**—स्त्रियाः पुंवद्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—क्यङ् और मनिन् प्रत्यय के परे रहते स्त्रीवाचक शब्द को पुंवद्भाव होता है। एतायते। श्येतायते। दर्शनीयमानिनी।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए पूर्वसूत्र (१५३४) से 'स्त्रियाः पुंवत्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'उत्तरपदे' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "क्यङ् और मनिन् प्रत्यय के परे रहते पूर्वपद को पुंवद्भाव होता है।"

उदाहरण—एनी इव आचरति (एन + ई — ङीप् — 'वर्णानुदात्तात्तोपधात्तो नः', त् = न्, क्यङ् = य — 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च', पुंवद्भाव, दीर्घ — 'अकृत्सार्वधातुकयोः', आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन का रूप) = एतायते (जो हिरनी (चीतल) की तरह व्यवहार करता है)। श्येनी इव आचरति (प्रक्रिया पूर्ववत्) = श्येतायते (मादा बाज की तरह व्यवहार करता है)। दर्शनीयाम् (मन् + णिनि = इन् — 'मनश्च') — दर्शनीया + अम्, मन् + इन् (उपपदसमास, विभक्तिलोपादि, उपधावृद्धि, पुंवद्भाव) — दर्शनीयमानिन् (ङीप् = ई तथा विभक्तिकार्य) = दर्शनीयमानिनी (जो अपने से भिन्न किसी स्त्री को सुन्दर समझती है)।

(१५४१) **पद**—न, कोपधायाः। **अनुवृत्ति**—स्त्रियाः पुंवत्। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—ककारोपध स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता। पाचिकाभार्यः। रसिकाभार्यः। मद्रिकायते। मद्रिकामानिनी। **वा०**—कोपध प्रतिषेध में तद्धित सम्बन्धी और वु सम्बन्धी कोपध का ही ग्रहण होता है। अतः 'पाकभार्यः' में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ।

विमर्श—पूर्वोक्त सूत्रों से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध किया जा रहा है। 'स्त्रियाः पुंवत्' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "ककार उपधा वाले स्त्रीवाचक शब्दों को पुंवद्भाव नहीं होता।"

उदाहरण—**विग्रह**—पाचिका भार्या यस्य सः। **अ० वि०**—पाचिका + सु, भार्या + सु

वुग्रहणम् * । नेह – पाकभार्यः । **(१५४२) संज्ञापूरण्योश्च ६।३।३८ ।** न पुंवत् । दत्ताभार्यः । पञ्चमीभार्यः । **(१५४३) वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धित-स्यारक्तविकारे ६।३।३९ ।** वृद्धिशब्देन विहिता या वृद्धिस्तद्धेतुर्यस्तद्धितोऽरक्त-

---

प्राप्ते 'न कोपधायाः' इति तन्निषेधे 'भार्या'पदस्योपसर्जनत्वे 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्ये'ति ह्रस्वे विभक्तिकार्ये 'पाचिकाभार्यः' इति ।

(१५४२) **संज्ञापूरण्योश्चेति** । अनयोर्न पुंवदित्यर्थः । **दत्ताभार्यः** — दत्ता भार्या यस्येति विग्रहे समासे विभक्तिलोपे 'संज्ञापूरण्योश्चे'ति पुंवत्त्वनिषेधे उपसर्जनत्वे ह्रस्वे विभक्तिकार्ये 'दत्ताभार्यः' इति ।

(१५४३) **वृद्धिनिमित्तस्येति** । वृद्धिर्निमित्तं हेतुरिति विग्रहः । रक्तं च विकारश्चेति

(✓पच् + ण्वुल् = वु = अक, उपधावृद्धि, टाप् = आ, आ = इत् = 'इ' — 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वात् इदाप्यसुपः') — पाचिका (भार्या के साथ बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, 'स्त्रियाः पुंवद्०' से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध — 'न कोपधायाः', 'भार्या' की उपसर्जनसंज्ञा, ह्रस्व — 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य', विभक्तिकार्य) = पाचिकाभार्यः (जिसकी पत्नी पाचिका है) । **विग्रह**—रसिका भार्या यस्य सः । **अ० वि०**—रसिका + सु, भार्या + सु (समास, पुंवद्भावनिषेध आदि कार्य पूर्ववत्) = रसिकाभार्यः (जिसकी पत्नी रसिका है) । **विग्रह**—मद्रिका इव आचरति (आचार अर्थ में क्यङ् = 'य', 'क्यङ्मानिनोश्च' से प्राप्त पुंवद्भाव का प्रकृत सूत्र से निषेध) — मद्रिकायते (मद्रिका के समान आचरण करता है) । **विग्रह**—मद्रिकां मन्यते (✓मन् + णिनि = इन् — 'मनश्च', उपधावृद्धि, उपपद-समास, 'क्यङ्मानिनोश्च' से प्राप्त पुंवद्भाव का प्रकृत सूत्र से निषेध, स्त्रीलिङ्ग में विभक्ति-कार्य) = मद्रिकामानिनी (जो स्त्री अपने को मद्रिका मानती हो) ।

वा० —कोपध इति । "तद्धित प्रत्यय सम्बन्धी और ण्वुल् या वुन् के वु को जहाँ अक आदेश होता है, तत्सम्बन्धी क की उपधा को ही पुंवद्भाव का निषेध किया जाय" । इस वार्तिक के नियम से 'पाकभार्यः' में 'न कोपधायाः' सूत्र से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ । क्योंकि 'पाका' शब्द का अवयव 'क' न तो तद्धित सम्बन्धी है और न 'वु' सम्बन्धी है ।

(१५४२) **पद**—संज्ञापूरण्योः, च । **अनुवृत्ति**—न, स्त्रियाः पुंवत् । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—संज्ञावाचक और पूरणप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता । दत्ताभार्यः । पञ्चमीभार्यः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५४१) से 'न' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । इसके अतिरिक्त 'स्त्रियाः पुंवत्' की भी अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है । तदनुसार "संज्ञावाची तथा पूरणप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों को भी पुंवद्भाव नहीं होता ।"

उदाहरण—विग्रह—दत्ता भार्या यस्य सः (बहुव्रीहि समास, प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध — 'संज्ञापूरण्योश्च', विभक्तिलोप, उपसर्जन संज्ञा, ह्रस्व, विभक्तिकार्य) = दत्ताभार्यः (जिसका भार्या नाम दत्ता हो) । **विग्रह**—पञ्चमी भार्या यस्य सः (बहुव्रीहि समास, प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध, अन्य कार्य पूर्ववत्) = पञ्चमीभार्यः (जिसकी पाँचवीं पत्नी हो) ।

(१५४३) **पद**—वृद्धिनिमित्तस्य, च, तद्धितस्य, अरक्तविकारे । **अनुवृत्ति**—न, स्त्रियाः पुंवत् । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—वृद्धि शब्द से विहित वृद्धि का हेतुभूत जो रक्तविकारार्थभिन्न तद्धित तदन्त स्त्रीलिङ्ग

विकारार्थस्तदन्ता स्त्री न पुंवत्। स्त्रौघ्नीभार्यः। रक्ते तु – काषायकन्थः। विकारे तु – हैममुद्रिकः। (१५४४) स्वाङ्गाच्चेतः ६।३।४०। स्वाङ्गाद्य ईकारस्तदन्तात्स्त्री न पुंवत्। सुकेशीभार्यः। स्वाङ्गात्किम्? पटुभार्यः। ईतः किम्? अकेशभार्यः।

समाहारद्वन्द्वः। ततो नञ्तत्पुरुषः। वृद्धिपदेनात्र वृद्धिपदेन विहितैव वृद्धिः विवक्षिता, व्याख्यानादित्याह — **वृद्धिशब्देनेत्यादिना। स्त्रौघ्नीभार्यः** — स्रुघ्नो देशः, 'तत्र भव' इत्यण्, अकारलोपः, णित्त्वादादिवृद्धिः, ङीप्। स्त्रौघ्नी भार्या यस्येति विग्रहे समासे विभक्तिलोपे प्राप्तस्य पुंवद्भावस्य 'वृद्धिनिमित्तस्ये'त्यादिना निषेधे उपसर्जनत्वे ह्रस्वे विभक्तिकार्ये 'स्त्रौघ्नीभार्यः' इति।

(१५४४) **स्वाङ्गाच्चेति**। ईत इति च्छेदः। **सुकेशीभार्यः** — सु = शोभना केशाः

शब्दों को पुंवद्भाव नहीं होता। स्त्रौघ्नीभार्यः। रक्त अर्थ में — काषायकन्थः। विकारार्थ में — हैममुद्रिकः।

विमर्श—पुंवद्भाव के निषेध का प्रकरण होने से पूर्वोक्त 'न' और 'स्त्रियाः पुंवत्' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'वृद्धिनिमित्तस्य' का विग्रह है—वृद्धिः निमित्तं यस्य सः। निमित्त का अर्थ 'हेतुः' है। तदनुसार "वृद्धि के हेतुभूत रक्तार्थक एवं विकारार्थक तद्धित प्रत्ययों से भिन्न अन्य तद्धित प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों को पुंवद्भाव नहीं होता।"

उदाहरण—लौ० वि०—स्त्रौघ्नी भार्या यस्य सः। **अ० वि०**—स्त्रौघ्नी + सु, भार्या + सु (समास, 'स्त्रियाः पुंवत्०' से प्राप्त पुंवद्भाव का प्रकृत सूत्र से निषेध, उपसर्जनसंज्ञा, ह्रस्व, विभक्तिकार्य) =स्त्रौघ्नीभार्यः (जिसकी पत्नी स्रुघ्न जनपद की हो)। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'अरक्तविकारे' पद का निवेश होने से काषायी कन्था यस्य सः = 'काषायकन्थः' (जिसकी कथरी गेरुए रंग की हो) में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ। क्योंकि 'काषायी' पद में 'कषायेन रक्ता' अर्थ में 'तेन रक्तं रागात्' से अण् प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार 'हैमी मुद्रिका यस्य सः हैममुद्रिकः' (जिसकी अँगूठी स्वर्ण की है) में विकारार्थक अण् प्रत्यय होने के कारण पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ।

(१५४४) **पद**—स्वाङ्गात्, च, ईतः। **अनुवृत्ति**—न, स्त्रियाः पुंवत्। **विधि (निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ—स्वाङ्गवाचक से परवर्ती जो ई प्रत्यय तदन्त स्त्रीवाचक शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता। सुकेशीभार्यः। स्वाङ्गात् क्यों कहा? पटुभार्यः। ईतः क्यों कहा? अकेशभार्यः। **वा०**—"मानिनी शब्द के परे रहते पुंवद्भाव का निषेध नहीं होता"। सुकेशमानिनी।

विमर्श—पुंवद्भावनिषेध का प्रकरण चल रहा है। पूर्ववत् उक्त पदों की अनुवृत्तियाँ विद्यमान हैं। तदनुसार — "अपने अङ्गवाची शब्द से उत्तर जो ईत् (ई), वह जिसके अन्त में है उस स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता।"

उदाहरण—सुकेशी भार्या यस्य सः। **अ० वि०**—सुकेशी + सु, भार्या + सु (बहुव्रीहिसमास, विभक्तिलोप, पुंवद्भाव का निषेध – 'स्वाङ्गाच्चेतः', उपसर्जनसंज्ञा, भार्या को ह्रस्व, विभक्तिकार्य) = सुकेशीभार्यः (जिसकी पत्नी सुन्दर बालों वाली है)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'स्वाङ्गात्' पद का निवेश होने से 'पटुभार्यः' (जिसकी पत्नी निपुण है) में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ ईकारान्त स्त्रीवाचक पट्वी शब्द स्वाङ्गवाचक नहीं है। सूत्र में 'ईतः' पद का निवेश होने से 'अकेशा भार्या यस्य सः' — 'अकेशभार्यः' (जिसकी पत्नी सुन्दर केशवाली न हो) में स्वाङ्गवाची अकेश पद ईकारान्त नहीं होने के कारण पुंवद्भाव का निषेध नहीं होता। पुंवद्भाव होकर — **अकेशभार्यः।**

* अमानिनीति वक्तव्यम् *। सुकेशमानिनी। **(१५४५) जातेश्च ६।३।४१।** न पुंवत्। ब्राह्मणीभार्यः। शूद्राभार्यः। **(१५४६) संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये २।२।२५।** संख्येयार्थया संख्ययाऽव्ययादयः समस्यन्ते स बहुव्रीहिः। **(१५४७) बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् ५।४।७३।** संख्येये बहुव्रीहिस्तस्माड्डच् समासान्तः। दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशाः। अबहुगणात्किम् ?

यस्याः सा सुकेशी। सुकेशी भार्या यस्य स इति विग्रहः, 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तस्यानेन निषेधः।

(१५४५) **जातेश्च**। जातेः परो यः स्त्रीप्रत्ययस्तदन्तं न पुंवदित्यर्थः।

(१५४६) **संख्ययेति**। बहुव्रीहिरित्यनुवर्वते। सुप्सुपा इति च। संख्येये इत्येतत्संख्ययेत्यत्रान्वेति। संख्यया परिच्छेद्यं संख्येयम्, तत्रार्थे विद्यमानतया संख्ययेति लभ्यते। संख्याशब्दश्चात्र एकादिशतान्तशब्दपरस्तदाह — **संख्येयार्थयेति**।

(१५४७) **बहुव्रीहाविति**। संख्ययाव्यय इति विहित इति शेषः। **उपदशाः** — दशानां

वा०—स्वाङ्गवाची दीर्घ ईकारान्त पद से परवर्ती यदि 'मानिनी' शब्द हो तो पुंवद्भाव का निषेध नहीं होता। **उदाहरण**—सुकेशमानिनी (अपने केशों के सुन्दर मानने वाली)। 'सुकेशी मन्यते' अर्थ में 'मानिनी' शब्द परवर्ती होने के कारण ईकारान्त सुकेशी को पुंवद्भाव हो जाता है।

(१५४५) **पद**—जातेः, च। **अनुवृत्ति**—न स्त्रियाः पुंवत्। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—जातिवाचक शब्द से विहित स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता। ब्रह्मणीभार्यः। शूद्राभार्यः।

विमर्श—पूर्ववत् उक्त अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। अतः "जातिवाचक शब्द से विहित स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों को पुंवद्भाव का निषेध होता है।"

उदाहरण—विग्रह—ब्राह्मणी भार्या यस्य सः। **अ० वि०**—ब्राह्मणी + सु, भार्या + सु (समास, विभक्तिलोप, 'स्त्रियाः पुंवत्०' से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध — 'जातेश्च', अतः 'ब्राह्मणी' शब्द में ङीष् की निवृत्ति नहीं हुई, उपसर्जनत्व, ह्रस्व, विभक्तिकार्य) = ब्राह्मणीभार्यः (जिसकी पत्नी ब्राह्मण है)। शूद्रा भार्या यस्य सः (प्रक्रिया पूर्ववत्, पुंवद्भावनिषेध) = शूद्राभार्यः (जिसकी पत्नी शूद्रा है)।

(१५४६) **पद**—संख्यया, अव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः, संख्येये। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समास। **विधि (संज्ञा) सूत्र**।

मूलार्थ—संख्येयार्थक संख्यावाचक शब्द के साथ अव्ययादि का समास होता है, वह बहुव्रीहिसंज्ञक होता है।

विमर्श—विशेष व्यवस्था में बहुव्रीहि समास का विधान किया जा रहा है। 'शेषो बहुव्रीहिः' (२।२।२३) से 'बहुव्रीहिः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'समासः', 'विभाषा' तथा 'सुप्' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। इस प्रकार सूत्र का तात्पर्य यह होता है — "संख्येय अर्थ में वर्तमान संख्या के साथ अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक तथा संख्या - इन सुबन्तों का विकल्प से बहुव्रीहि समास होता है।"

(१५४७) **पद**—बहुव्रीहौ, संख्येये, डच्, अबहुगणात्। **अनुवृत्ति**—समासान्ताः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संख्येय अर्थ में हुए बहुव्रीहि से समासान्त डच् प्रत्यय होता है, बहुशब्दान्त और गणशब्दान्त को छोड़कर। उपदशाः। 'अबहुगणात्' क्यों कहा ? उपबहवः। उपगणाः।

उपबहवः। उपगणाः। (१५४८) ति विंशतेर्डिति ६।४।१४२। विंशतेर्भस्य टेर्लोपो डिति। आसन्नविंशाः, विंशतेरासन्ना इत्यर्थः। अदूरत्रिंशाः। अधिकचत्वारिंशाः। द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः। (१५४९) दिङ्नामान्यन्तराले २।२।२६। दिशो नामा-

---

समीपे ये सन्तीति लौकिकविग्रहे दशन् + आम् + उप इत्यलौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च' इति समासे विभक्तिलोपे 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' इत्यनेन डच् प्रत्ययेऽ-नुबन्धलोपे उपपदस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते डित्त्वाट्टिलोपे प्रातिपदिकत्वे जसि अनुबन्धलोपे दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'उपदशाः' इति।

(१५४८) **ति विंशतेर्डिति**। तीति लुप्तषष्ठीकं पदम्। भस्येत्यधिकृतम्। **'अल्लोपोऽनः'** इत्यस्माल्लोप इत्यनुवर्तते। तदाह — **विंशतेर्भस्येति**।

(१५४९) **दिङ्नामानीति**। नामानीत्यनन्तरं सुबन्तानि परस्परमिति शेषः। **प्राग्वदिति**।

विमर्श—बहुव्रीहि समास से सम्बद्ध समासान्त प्रत्यय का प्रतिपादन किया जा रहा है। प्रकृत सूत्र में 'तद्धिताः', 'समासान्ताः', 'प्रत्ययः' और 'परश्च' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है। सप्तम्यन्त 'बहुव्रीहौ' पद पञ्चम्यन्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तदनुसार "बहु तथा गणशब्दान्त बहुव्रीहि से भिन्न संख्येय अर्थ में वर्तमान बहुव्रीहि समास से समासान्त डच् (= अ) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—**लौ० वि०**—दशानां समीपे ये सन्ति। **अ० वि०**—दशन् + आम्, उप + जस् (संख्यावाची 'दशन्' के साथ 'उप' अव्यय का समास — 'संख्ययाव्यया०', विभक्तिलोप, समासान्त डच् = 'अ' प्रत्यय) — उपदशन् अ (टि = अन् का लोप – 'टेः', पुनः विभक्ति जस् = अस्, दीर्घ, स् = र् = :) = उपदशा (दश के लगभग)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र 'अबहुगणात्' का निवेश होने से — बहूनां समीपे ये सन्ति = 'उपबहवः' (= लगभग बहुत) में डच् प्रत्यय नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ बहु शब्द का उप के साथ बहुव्रीहि समास हुआ है। इसी प्रकार 'उपगणाः' में भी डच् नहीं होता।

(१५४८) **पद**—ति, विंशतेः, डिति। **अनुवृत्ति**—लोपः, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—भसंज्ञक विंशति शब्द के ति का लोप होता है, डित् प्रत्यय के परे रहते। आसन्न-विंशाः। अदूरत्रिंशाः। अधिकचत्वारिंशाः। द्वित्राः।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है। 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार — "भसंज्ञक विंशति अङ्ग के 'ति' का डित् (डकार-इत्संज्ञक) प्रत्यय परे रहते लोप होता है।"

उदाहरण—**विग्रह**—विंशतेः आसन्नाः। **अ० वि०**—विंशति + जस्, आसन्न + जस् (समास— 'संख्ययाव्यया०', समासान्त डच् = 'अ', 'ति' का लोप — 'ति विंशतेर्डिति') — आसन्नविंश अ, (दीर्घ का बाधकर पररूप, विभक्तिकार्य प्रथमा बहुवचन) = आसन्नविंशाः (उन्नीस या इक्कीस)। त्रिंशतः अदूराः। **अ० वि०**—त्रिंशत् + जस्, अदूर + जस् (प्रक्रिया पूर्ववत् डच्, टिलोप आदि) = अदूरत्रिंशाः (उन्तीस या इकत्तीस)। चत्वारिंशतः अधिकाः। **अ० वि०**—चत्वारिंशत् + जस्, अधिक + जस् (पूर्ववत् समासादि) = अधिकचत्वारिंशाः (इकतालीस)। द्वौ वा त्रयः वा। **अ० वि०**—द्वि + औ, त्रि + जस् (समासादि कार्य उक्तवत्) = द्वित्राः (दो या तीन)।

(१५४९) **पद**—दिङ्नामानि, अन्तराले। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः। **विधि (संज्ञा) सूत्र**।

न्यन्तराले वाच्ये प्राग्वत्। दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशो यदन्तरालं दक्षिणपूर्वा। **(१५५०) तत्र तेनेदमिति सरूपे २।२।२७।** सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्धं प्रवृत्तमित्यर्थे समस्येते कर्मव्यतिहारे। **(१५५१) इच् कर्मव्यतिहारे ५।४।१२७। (१५५२) अन्येषामपि दृश्यते ६।३।१३७।** दीर्घः। केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि। दण्डैर्दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं

समस्यन्ते स च बहुव्रीहिरित्यर्थः।

(१५५०) **तत्रेति**। तत्र इत्यनेन सप्तम्यन्ते पदे विवक्षिते। ग्रहणविषये इति प्रथमाद्वि-वचनान्तं तद्विशेषणमध्याहार्यम्। सरूपे इति पदविशेषणम्। इदमित्यर्थनिर्देशः। युद्धं प्रवृत्तमिति तद्विशेष्यमध्याहार्यम्, कर्मव्यतिहारे द्योत्ये इत्यप्यध्याहार्यम्। तदाह — **सप्तम्यन्त इत्यादिना**।

(१५५२) **अन्येषामपीति**। 'ढ्रलोपे०' इत्यतः 'दीर्घः' इत्यनुवर्तते इति भावः। **केशा-**

मूलार्थ—अन्तराल (= मध्य) विवक्षित होने पर दिग्वाचक शब्दों का समास होता है। दक्षिणपूर्वा।

विमर्श—प्रकरणवश उक्त 'बहुव्रीहिः', 'विभाषा' तथा 'सुप्' और 'समासः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार — ''दिशा के नामवाची सुबन्तों का अन्तराल (बीच की दिशा) वाच्य हो तो परस्पर विकल्प से समास होता है और वह बहुव्रीहिसंज्ञक होता है।''

उदाहरण—विग्रह—दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च अन्तरालम्। **अ० वि०**—दक्षिणा + ङस्, पूर्वा + ङस् (प्रकृत सूत्र से बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, दक्षिणा को पुंवद्भाव — 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः', विभक्तिकार्य) = दक्षिणपूर्वा (दक्षिणपूर्व का कोना)।

(१५५०) **पद**—तत्र, तेन, इदम्, इति सरूपे। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः। **विधि (संज्ञा) सूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त और तृतीयान्त ग्रहण विषय प्रहरणविषयरूप उपपदों का 'इदं युद्धं प्रवृत्तम्' अर्थ में समास होता है, कर्मव्यतिहार से।

विमर्श—विशेष प्रकार के बहुव्रीहि समास का विधान प्रकृत सूत्र से किया जा रहा है। पूर्वसूत्रवत् सभी प्राकरणिक तथा आधिकारिक अनुवृत्तियाँ आ रही हैं। सूत्रस्थ 'तत्र' पद विवक्षित सप्तम्यन्त दोनों का बोधक है। इसी प्रकार 'तेन' पद भी विवक्षित तृतीयान्त का बोधक है। 'सरूपे' पद प्रथमा द्विवचनान्त है तथा पद का विशेषण है। अध्याहारवश 'ग्रहणविषये' तथा 'प्रहरणविषये' दो पर अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए क्रमशः 'तत्र' और 'तेन' समस्यमान पदों के साथ अन्वित होते हैं। 'इदम्' अर्थनिर्देश हेतु प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार – ''ग्रहणविषय (पकड़ना) अर्थ सूचित करने वाले सप्तम्यन्त समान रूप पदों का प्रहरण विषय (प्रहार करना) अर्थ के बोधक तृतीयान्त समानरूप पदों का (कर्मव्यतिहारे) 'युद्ध प्रवृत्त हुआ है' इस अर्थ में क्रमशः परस्पर ग्रहण एवं परस्पर प्रहरण द्योत्य होने पर विकल्प से बहुव्रीहि समास होता है।''

(१५५१) **पद**—इच्, कर्मव्यतिहारे। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कर्मव्यतिहार में बहुव्रीहि से समासान्त इच् प्रत्यय होता है।

विमर्श—उक्त अनुवृत्तियों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — ''परस्पर ग्रहण और परस्पर प्रहरण अर्थ में बहुव्रीहि से समासान्त इच् (= इ) प्रत्यय होता है।''

(१५५२) **पद**—अन्येषाम्, अपि, दृश्यते। **अनुवृत्ति**—दीर्घः पूर्वस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कर्मव्यतिहार बहुव्रीहि में इच् प्रत्यय के परे रहते पूर्वपद को दीर्घ होता है।

प्रवृत्तं दण्डादण्डि। मुष्टीमुष्टि। (१५५३) तेन सहेति तुल्ययोगे २।२।२८। तुल्ययोगे वर्तमानं सहेत्यन्तं तृतीयान्तेन प्राग्वत्। (१५५४) वोपसर्जनस्य ६।३।८२। बहुव्रीहेरवयवस्य सहस्य सः स्याद्वा। पुत्रेण सह सपुत्रः सहपुत्रो वाऽऽगतः।

केशि — केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तमिति लौकिकविग्रहे 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इत्यनेन समासे सुपो लुकि 'अन्येषामपि दृश्यते' इति पूर्वपदस्य दीर्घे 'इच् कर्मव्यतिहारे' इत्यनेन इचि अनुबन्धलोपे 'केशाकेश इ' इति जाते भसंज्ञायां 'यस्येति चे'त्यनेन अकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि चे'त्यनेनाव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यनेन सुपो लुकि 'केशाकेशि' इति सिद्धम्।

(१५५३) **तेनेति**। युगपत्कालिकक्रियायोगे वर्तमानं सहेत्यन्तं तृतीयान्तेन समस्यत इत्यर्थः।

(१५५४) **वोपसर्जनस्येति**। 'उत्तरपदे' इत्यधिकृतम्। 'सहस्य सः संज्ञायाम्' इत्यतः 'सहस्य सः' इत्यनुवर्तते। उपसर्जनमस्यास्तीत्युपसर्जनः। उपसर्जनवतः समासस्येत्यर्थस्तदाह — **बहुव्रीहेरवयवस्येति**।

विमर्श—विधेयांश की स्पष्टता हेतु 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से 'पूर्वस्य' तथा 'दीर्घः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार — "इच् परे रहते कर्मव्यतिहार में बहुव्रीहि के पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है।"

उदाहरण—लौकिक वि०—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्। **अ० वि०**—केश + सुप्, केश + सुप् (बहुव्रीहिसमास — 'तत्र तेनेदमिति सरूपे', विभक्तिलोप, इच् = 'इ' — 'इच् कर्मव्यतिहारे', अ = आ — दीर्घ — 'अन्येषामपि दृश्यते') — केशाकेश + इ ('अ' का लोप — 'यस्येति च', पुनः विभक्ति सु, 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' से अव्ययीभाव होने के कारण विभक्तिलोप — 'अव्ययादाप्सुपः') = केशाकेशि (एक दूसरे के बालों को पकड़कर प्रारम्भ हुआ युद्ध)। दण्डैर्दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तम्। **अ० वि०**—दण्ड + भिस्, दण्ड + भिस् (प्रक्रिया पूर्ववत्) = दण्डादण्डि (डण्डे का प्रहार कर लड़ा जाने वाला युद्ध)। मुष्टिभिः मुष्टिभिः प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तम्। **अ० वि०**—मुष्टि + भिस्, मुष्टि + भिस् (प्रक्रिया उक्तवत्) = मुष्टीमुष्टि (घूँसों का प्रहार कर होने वाला युद्ध)।

(१५५३) **पद**—तेन, सहेति, तुल्ययोगे। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तुल्ययोग में वर्तमान सह शब्द का तृतीयान्त के साथ विकल्प से समास होता है।

विमर्श—पुनः बहुव्रीहिविधायक सूत्र का उल्लेख किया जा रहा है। अतः (१५५०) पूर्वसूत्रवत् 'बहुव्रीहिः' तथा 'विभाषा' पदों की अनुवृत्ति आती है। अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान हैं। तदनुसार "तुल्ययोग = एक साथ होने वाली दो क्रियाओं को एकत्रित करने वाले 'सह' का तृतीयान्त प्रातिपदिक के साथ विकल्प से बहुव्रीहि समास होता है।"

(१५५४) **पद**—वा, उपसर्जनस्य। **अनुवृत्ति**—सहस्य सः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—बहुव्रीहि के अवयव 'सह' को 'स' आदेश विकल्प से होता है। सपुत्रः, सहपुत्रो वा आगतः।

विमर्श—सूत्र में स्थानी और आदेशवाचक पदों का अभाव है। अतः 'सहस्य सः संज्ञायाम्' सूत्र से 'सहस्य' व 'सः' की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ उपसर्जन पद 'बहुव्रीहि' अर्थ का द्योतक

(१५५५) प्रकृत्याशिषि ६।३।८३ । सहशब्दः । स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय, सहामात्याय । * अगोवत्सहलेष्विति वक्तव्यम् * । सवत्साय । सहलाय । **(१५५६) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् ५।४।११३** । स्वाङ्गवाचि सक्थ्यन्ताद्बहुव्रीहेः षच् । दीर्घसक्थः । जलजाक्षी । स्वाङ्गात्किम् ? दीर्घसक्थि शकटम् । स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः ।

(१५५५) **प्रकृत्याशिषि** । प्रकृत्या = स्वभावेन स्थितः स्यादित्यर्थः ।

(१५५६) **बहुव्रीहाविति** । **जलजाक्षीति** । जलजे इव अक्षिणी यस्या इति लौकिकविग्रहे जलज+औ, अक्षिन्+औ इत्यलौकिकविग्रहे बहुव्रीहिसमासे विभक्तिलोपे जलजपदस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इत्यनेन षचि अनुबन्धलोपे, भत्वात् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे 'जलज+अक्ष+अ' इति जाते, दीर्घे स्त्रीत्वविवक्षायां ङीषि 'यस्येति चे'त्यकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'जलजाक्षी' इति ।

है । पूर्ववत् 'विभाषा' की अनुवृत्ति भी आ रही है । तदनुसार ''बहुव्रीहि समास के अवयव 'सह' शब्द के स्थान पर 'सः' आदेश विकल्प से होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—पुत्रेण सह । **अ० वि०**—पुत्र + टा, सह (समास — 'तेन सहेति तुल्ययोगे', उपसर्जनसंज्ञा, सह का पूर्वप्रयोग, विभक्तिलोप, सह = स — 'वोपसर्जनस्य', विभक्तिकार्य) = सपुत्रः । सह के स्थान पर स आदेश न होने पर — सहपुत्रः आगतः (पुत्र के साथ आया) ।

(१५५५) **पद**—प्रकृत्या, आशिषि । **अनुवृत्ति**—सहस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आशीर्वाद अर्थ में सह शब्द प्रकृतिवत् रहता है अर्थात् स आदेश नहीं होता । स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय, सहामात्याय । **वा०**—गो, वत्स तथा हल् शब्दों से भिन्न में उक्त कार्य कहा जाय । सगवे । सवत्साय । सहलाय ।

विमर्श—सह के स्थान पर स आदेश के अपवाद का प्रतिपादन किया जा रहा है — स्थानी और आदेशवाचक पदों की पूर्ववत् अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार — ''आशीर्वाद अर्थ में सह शब्द को प्रकृतिभाव होता है ।''

उदाहरण—स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय सहामात्याय (पुत्र तथा मन्त्री के साथ राजा का कल्याण हो) — यहाँ समास होने पर प्रकृत सूत्र द्वारा निषेध (प्रकृतिभाव) हो जाने से 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश नहीं हुआ ।

वा०—गो, वत्स एवं हल के परे आशीर्वाद अर्थ में सह को प्रकृतिभाव नहीं होता ।

उदाहरण—सगवे (गाय के साथ) । सवत्साय (बछड़े के साथ) । सहलाय (हल के साथ) । उक्त तीनों प्रयोगों में प्रकृतिभाव न होने से 'स' आदेश हुआ ।

(१५५६) **पद**—बहुव्रीहौ, सक्थ्यक्ष्णोः, स्वाङ्गात्, षच् । **अनुवृत्ति**—समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—स्वाङ्गवाचक सक्थि और अक्षि शब्दान्त बहुव्रीहि से षच् प्रत्यय होता है । दीर्घसक्थः । जलजाक्षी । स्वाङ्गात् क्यों कहा ? वेणुयष्टिः । यहाँ 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' से अच् प्रत्यय हुआ है ।

विमर्श—समासान्त प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । 'समासान्ताः' आदि की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है । सूत्रस्थ 'सक्थ्यक्ष्णोः' में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है । अतः ''स्वाङ्गवाची सक्थ्यन्त और अक्ष्यन्त बहुव्रीहि से समासान्त षच् (= अ) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—दीर्घे सक्थिनी यस्य सः । **अ० वि०**—दीर्घ + औ, सक्थि + औ

अक्ष्णोऽदर्शनादिति वक्ष्यमाणोऽच्। (१५५७) द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ५।४।११५। आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद्बहुव्रीहौ। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः। (१५५८) अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ५।४।११७। अप् स्यात्। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः। (१५५९) पादस्य

(१५५७) **द्वित्रिभ्यामिति**। स्पष्टम्। **द्विमूर्धः** — द्वौ मूर्धानौ यस्येति विग्रहः षप्रत्यये 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः।

(१५५८) **अन्तर्लोमः**। अन्तः लोमानि यस्येति विग्रहः। अप्प्रत्ययः टिलोपश्च।

(समास — 'अनेकमन्यपदार्थे', विभक्तिलोप, षच् = 'अ' प्रत्यय – 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्', टिलोप, विभक्तिकार्य) = दीर्घसक्थः (जिसकी जाँघें लम्बी हों)। **विग्रह**—जलजे इव अक्षिणी यस्याः। **अ० वि०**—जलज + औ, अक्षि + औ (समास, विभक्तिलोप, षच् = अ, टिलोप, दीर्घ) — जलजाक्ष + ङीष् (= 'ई' – 'षिद्गौरादिभ्यश्च', पुनः विभक्ति सु, अकारलोप, विभक्तिलोप) = जलजाक्षी (कमल के साथ नेत्रों वाली)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में स्वाङ्गात् पद का निवेश होने के कारण 'दीर्घसक्थि शकटम्' (लम्बे जोड़ वाली गाड़ी) में षच् प्रत्यय नहीं होता। क्योंकि शकट प्राणिवाचक नहीं है। अतः सक्थि उसका अंग नहीं है। स्थूले अक्षिणी यस्याः सा स्थूलाक्षाः (बड़ी गाँठों (आँखों) वाली छड़ी) में भी षच् प्रत्यय नहीं होता। क्योंकि वेणुयष्टिः प्राणिवाचक नहीं है। स्थूल + औ, अक्षि + औ (समास, विभक्तिलोप, अच् = 'अ' — 'अक्ष्णोऽदर्शनात्', दीर्घ, टिलोप, स्त्रीलिङ्ग में टाप् = आ, विभक्तिकार्य) = स्थूलाक्षा।

(१५५७) **पद**—द्वित्रिभ्याम्, षः, मूर्ध्नः। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—बहुव्रीहि में द्वि-त्रि शब्दपूर्वक मूर्धन् से ष प्रत्यय होता है। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः।

विमर्श—प्राकरणिक तथा आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। ष में प्रथमा विभक्ति का लोप हुआ है। तदनुसार — "द्वि तथा त्रि से उत्तरवर्ती मूर्धन् शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त ष प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—विग्रह—द्वौ मूर्धानौ यस्य सः। **अ० वि०**—द्वि + औ, मूर्धन् + औ (बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, ष = 'अ' प्रत्यय — 'द्वित्रिभ्याम्०') — द्विमूर्धन् + अ (अन् = 'टि' का लोप — 'नस्तद्धिते', विभक्तिकार्य) = द्विमूर्धः (दो सिर वाला)। त्रयः मूर्धानः यस्य। **अ० वि०**—त्रि + जस्, मूर्धन् + जस् (समासादि पूर्ववत्) = त्रिमूर्धः (तीन सिर वाला)।

(१५५८) **पद**—अन्तर्बहिर्भ्याम्, च, लोम्नः। **अनुवृत्ति**—अप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अन्तर् और बहिर् शब्द से परवर्ती लोमन् शब्दान्त बहुव्रीहि से अप् प्रत्यय होता है। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः।

विमर्श—'अप्पूरणीप्रामाण्योः' (५।३।११६) से 'अप्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — "अन्तर् और बहिर् शब्दों से परे लोमन् शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—विग्रह—अन्तः लोमानि यस्य। **अ० वि०**—अन्तर्, लोम + जस् (बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, अप् = 'अ' प्रत्यय — 'अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः') — अन्तर्लोमन् + अ (टि = 'अन्' का लोप, विभक्तिकार्य) = अन्तर्लोमः (जिसके रोम अन्दर को अर्थात् सूक्ष्म हैं)। इसी प्रकार बहिर्लोमः (जिसके लोम बाहर को हैं)।

लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५।४।१३८ । हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादस्य लोपः । व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात् । अहस्त्यादिभ्यः किम् ? हस्तिन इव पादौ यस्य हस्तिपादः । कुसूलपादः । (१५६०) **संख्यासुपूर्वस्य ५।४।१४०** । पादशब्दस्य लोपः । द्विपात् । सुपात् । (१५६१) **उद्विभ्यां काकुदस्य ५।४।१४८** । लोपः । उत्का-

---

(१५६०) **संख्यासुपूर्वस्येति** । 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' इत्यतः पादस्य लोप इत्यनुवर्तते । तदाह — **पादशब्दस्येति** ।

(१५६१) **उद्विभ्यामिति**। उद्विभ्यां परस्य काकुदस्य लोपो वा स्याद्बहुव्रीहावित्यर्थः।

(१५५९) **पद**—पादस्य, लोपः अहस्त्यादिभ्यः । **अनुवृत्ति**—उपमानात्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—हस्त्यादिवर्जित उपमान से परवर्ती पाद के अन्त का लोप होता है, बहुव्रीहि में । व्याघ्रपात् । अहस्ति आदि क्यों कहा ? हस्तिपादः । कुसूलपादः ।

विमर्श – अर्थ की स्पष्टता हेतु 'उपमानाच्च' (५।४।१३७) सूत्र से 'उपमानात्' की अनुवृत्ति आती है । अन्य अनुवृत्तियों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है । समासान्त के अधिकार द्वारा यह सूचित किया जा रहा है कि लोप भी समासान्त के रूप में स्वीकार किया जाय । अतः ''बहुव्रीहि में हस्ति आदि शब्दों से भिन्न उपमानवाचक से परवर्ती पाद शब्द का समासान्त लोप होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—व्याघ्रस्य पादौ इव पादौ यस्य । **अ० वि०**—व्याघ्रपाद् + औ, पाद + औ (समास तथा उत्तरपद का लोप — वा० 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य०', पाद के अन्त्य 'अ' का लोप — 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः', विभक्तिकार्य, 'द्' = 'त्' — चर्त्व) = व्याघ्रपात् (जिसके पैर बाघ के समान हों) ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अहस्त्यादि' का पाठ होने से 'हस्तिपादः' तथा 'कुसूलपादः' में हस्त्यादि 'पाद' के उपमान रहने पर अन्त्य 'अ' का लोप नहीं होता ।

(१५६०) **पद**—संख्या-सुपूर्वस्य । **अनुवृत्ति**—पादस्य लोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संख्या और सु पूर्व रहते भी पाद के अन्त का लोप होता है । द्विपात् । सुपात् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५५९) से 'पादस्य लोपः' की अनुवृत्ति आ रही है । अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियाँ भी अपेक्षित हैं । अतः ''बहुव्रीहि में संख्यावाचक एवं सुपूर्वक पाद शब्द के अन्त्य अकार का समासान्त लोप होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—द्वौ पादौ यस्य । **अलौ० वि०**—द्वि + औ, पाद + औ (समास — 'अनेकमन्यपदार्थे', विभक्तिलोप, 'अ' का समासान्त लोप — 'संख्यासुपूर्वस्य', पुनः विभक्ति और लोप, 'द्' = 'त्' — चर्त्व) = द्विपात् । **विग्रह**—शोभनौ पादौ यस्य (प्रक्रिया पूर्ववत्) = सुपात् (सुन्दर पैर वाला) ।

(१५६१) **पद**—उद्विभ्याम्, काकुदस्य । **अनुवृत्ति**—लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'उत्' और 'वि' पूर्व रहते काकुद के अन्त का लोप होता है । उत्काकुत् । विकाकुत् ।

विमर्श—यहाँ 'काकुदस्यावस्थायां लोपः' (५।४।१४६) सूत्र से 'लोपः' की अनुवृत्ति आ रही है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् हैं । अतः ''बहुव्रीहि में उत् एवं वि पूर्वक काकुद शब्द में अन्त्य अकार का समासान्त लोप होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—उन्नतं काकुदं यस्य । **अलौ० वि०**—उत् + सु, काकुद + सु (समास,

कुत्। विकाकुत्। (१५६२) पूर्णाद्विभाषा ५।४।१४९। पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुदः। (१५६३) सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ५।४।१५०। सुहृन्मित्रम्। दुर्हृदमित्रः। * नेतुर्नक्षत्रे अब्वक्तव्यः *। मृगो नेता यासां रात्रीणां ता मृगनेत्रा रात्रयः। (१५६४) अच् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ५।४।११८। नासिकान्ताद्बहुव्रीहेरच् स्यात् नासिकाशब्दश्च नसं प्राप्नोति, न तु स्थूलपूर्वात्। (१५६५)

(१५६२) **पूर्णादिति**। पूर्णात्परस्य काकुदस्य लोपो वा स्यादित्यर्थः।

(१५६३) **सुहृद्दुर्हृदाविति**। सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। **नेतुरिति**। नक्षत्रेऽर्थे विद्यमानो यो नेतृशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरप् वक्तव्य इत्यर्थः।

(१५६४) **अच् नासिकाया इति**। नासिकाया इत्यस्य बहुव्रीहेर्विशेषणत्वात् तदन्त-

---

विभक्तिलोप, अन्त्य 'अ' का लोप — 'उद्विभ्यां काकुदस्य', विभक्तिकार्य) = उत्काकुत् (जिसका तालु ऊँचा है)। **विग्रह**—विगतं काकुदं यस्य। (प्रक्रिया पूर्ववत्) = विकाकुत् (जिसका तालु नहीं है)।

(१५६२) **पद**—पूर्णात्, विभाषा। **अनुवृत्ति**—काकुदस्य, लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पूर्ण शब्द पूर्व रहते काकुद के अन्त का विकल्प से लोप होता है। उत्काकुत्। विकाकुत्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५६१) से 'काकुदस्य' तथा 'काकुदस्यावस्थायां लोपः' (५।४।१४६) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है। शेष पदों की अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार ''पूर्णपद-पूर्वक काकुद शब्द का बहुव्रीहि में समासान्त अकार का विकल्प से लोप होता है।''

उदाहरण—**विग्रह**—पूर्णं काकुदं यस्य (समास एवं विभक्तिलोप, 'अ' का पाक्षिक लोप — 'पूर्णाद्विभाषा', विभक्तिकार्य, चर्त्व) = पूर्णकाकुत्। पक्ष में — पूर्णकाकुदः (पूर्ण तालु वाला)।

(१५६३) **पद**—सुहृद्दुर्हृदौ, मित्रामित्रयोः। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मित्र और अमित्र अर्थ में क्रमशः 'सुहृद्' और 'दुर्हृद्' दोनों निपातन होते हैं। सुहृन्मित्रम्। दुर्हृदमित्रः। **वा०**—नक्षत्र अर्थ में नेतृ शब्द से अप् प्रत्यय होता है। मृगनेत्राः रात्रयः।

विमर्श—उक्त आधिकारिक अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। यथासंख्य होने से मित्र अर्थ में 'सुहृद्' और अमित्र अर्थ में 'दुहृद्' का निपातन होता है। अर्थात् 'सु' तथा 'दुर्' से परवर्ती हृदय को हृद् आदेश निपातन हो।

उदाहरण—**विग्रह**—शोभनं हृदयं यस्य। **अलौ० वि०**—सु, हृदय + सु (समास, विभक्ति-लोप, हृदय = हृद् निपातन से – 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः', विभक्तिकार्य) = सुहृद् (मित्र)। **विग्रह**—दुष्टं हृदयं यस्य (प्रक्रिया उक्तवत्) = दुर्हृद् (शत्रु)।

वा०—नक्षत्र अर्थ में वर्तमान नेतृ शब्द से समासान्त अप् प्रत्यय होता है।

उदाहरण—**विग्रह**—मृगो नेता यासां = रात्रीणां ताः। **अलौ० वि०**—मृग + सु, नेतृ + सु (समास, विभक्तिलोप, अप् = 'अ' प्रत्यय — 'नेतुर्नक्षत्रे अब्वक्तव्यः') — मृगनेतृ + अ (ऋ = र् — 'यण्', विभक्तिकार्य — प्रथमा बहुवचन) = मृगनेत्रा (जिन रातों का नेता मृगशिरा नामक नक्षत्र हो)।

(१५६४) **पद**—अच्, नासिकायाः, संज्ञायां, नसं, च, अस्थूलात्। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—स्थूलपूर्वक से भिन्न नासिकान्त बहुव्रीहि से अच् प्रत्यय होता है और नासिका शब्द

पूर्वपदात्संज्ञायामगः ८।४।३ । पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नस्य णः, न तु गकारव्यवधाने । द्रुरिव नासिका यस्य द्रुणसः । * खुरखराभ्यां वा नस् * । खुरणाः । खरणाः । पक्षे अजपीष्यते । खुरणसः । खरणसः । **(१५६६) उपसर्गाच्च ५।४।११९** ।

विधिः, तदाह — **नासिकान्तादिति** ।

(१५६५) **पूर्वपदादिति** । रषाभ्यामित्यनुवृत्तम् । पूर्वपदशब्देन पूर्वपदस्थमिति लक्ष्यते । रषाभ्यामित्यनेन लब्धो रेफः षकारश्च प्रत्येकमन्वेति । तदाह — **पूर्वपदस्थादिति** । **द्रुणसः** — द्रुरिव नासिका यस्येति विग्रहः । द्रु + सु + नासिका + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे विभक्तिलोपे 'अञ्नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात्' इत्यनेन अच्प्रत्यये नासिकायाः नसादेशे 'द्रु + नस् + अ' इति जाते 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इत्यनेन नस्य णत्वे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'द्रुणसः' इति सिद्धम् ।

(१५६६) **उपसर्गाच्चेति** । प्रादेर्यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरच् नासिकायाः नसा-

---

को नस् आदेश होता है — संज्ञा में ।

विमर्श—आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् है । तदनुसार — "नासिकाशब्दान्त बहुव्रीहि समास से संज्ञाविषय में समासान्त अच् प्रत्यय होता है तथा नासिका के स्थान पर नस् आदेश होता है, यदि पूर्वपद में स्थूल शब्द न हो ।"

(१५६५) **पद**—पूर्वपदात्, संज्ञायाम्, अगः । **अनुवृत्ति**—रषाभ्यां नो णः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्वपद में स्थित निमित्त से परे नकार को णकार होता है, संज्ञा में । गकार के व्यवधान में नहीं होता । द्रुणसः । **वा०**—खुर और खर से परवर्ती नासिका को नस् आदेश विकल्प से होता है । खुरणाः । खरणाः । पक्ष में अच् भी होता है । खुरणसः । खरणसः ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से 'रषाभ्यां नो णः' तथा 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (८।४।२) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'संहितायाम्' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है । अनुवृत्त रेफ और षकार णत्व के निमित्त हैं । तदनुसार सूत्र का अर्थ होगा — "पूर्वपद में स्थित रेफषकारात्मक निमित्त से परे 'न्' के स्थान पर संज्ञा विषय में 'ण्' आदेश होता है, किन्तु गकार के व्यवधान में णत्व नहीं होता ।"

उदाहरण—**विग्रह**—द्रुरिव नासिका यस्य । **अलौ० वि०**—द्रु + सु, नासिका + सु (समास, विभक्तिलोप, अच् = 'अ' प्रत्यय तथा नासिका = 'नस्' आदेश – 'अञ् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात्', न् = ण् – णत्व – 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः', विभक्तिकार्य) = द्रुणसः (वृक्ष के समान नाक वाला) ।

वा०—खुर और खर से परवर्ती नासिका को नस् आदेश विकल्प से होता है । पक्ष में अच् भी होगा ।

उदाहरण—खुररूपा नासिका यस्य । खुर + सु, नासिका + सु (समास, विभक्तिकार्य, नासिका = नस् विकल्प से, पुनः सु = स् का लोप, दीर्घ — 'अत्वसन्तस्य०', स् = र् = :) = खुरणाः (खुर के समान नाक वाला) । पक्ष में अच् = 'अ' प्रत्यय होने पर खुरणसः । इसी प्रकार — खरणाः । खरणसः ।

(१५६६) **पद**—उपसर्गात्, च । **अनुवृत्ति**—अञ्नासिकायाः नसं चाऽस्थूलात्, बहुव्रीहौ,

उन्नसः । * वेर्ग्रो वक्तव्यः * । विगता नासिका अस्य विग्रः । * ख्यश्च * । विख्यः ।
(१५६७) नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् ५।४।१२१ । अहलः, अहलि । असक्थः, असक्थि । एवं दुःसुभ्याम् । शक्त्योरिति पाठान्तरम् । अशक्तः, अशक्ति ।

देशश्च भवतीत्यर्थः ।

(१५६७) **नञ्दुःसुभ्य इति** । शेषपूरणेन व्याचष्टे — **अच् वा स्यादिति** । **अहलः** — अविद्यमानो हलिर्यस्येति विग्रहः । समासे अचि, 'यस्येति चे'तीकारलोपः । तदभावे — **अहलिरिति**।

समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उपसर्ग से परे नासिका को नस् आदेश होता है । उन्नसः । **वा०**—वि उपसर्ग से परे नासिका शब्द को ग्र आदेश होता है । विग्रः । **वा०**—ख्य आदेश भी होता है । विख्यः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१५६४) 'अच् नासिकायाः नसं चाऽस्थूलात्' की अनुवृत्ति आ रही है । शेष आधिकारिक पदों की पूर्ववत् अनुवृत्ति विद्यमान है । तदनुसार — ''प्रादि उपसर्गों से परवर्ती नासिकान्त बहुव्रीहि से अच् प्रत्यय होता है तथा नासिका शब्द के स्थान पर नस् आदेश भी होता है ।'' समस्त पद के संज्ञा का बोधक न होने पर भी इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है ।

उदाहरण—**विग्रह**—उन्नता नासिका यस्य सः । **अलौ० वि०**—उत्, नासिका + सु (समास, विभक्तिलोप, अच् = 'अ' प्रत्यय तथा नासिका = नस् आदेश — 'उपसर्गाच्च', 'त्' = 'न्' — अनुनासिक, विभक्तिकार्य) = उन्नसः (ऊँची नाक वाला) ।

१. वा०—वि से परवर्ती नासिका के स्थान पर ग्र आदेश होता है ।

उदाहरण—**विग्रह**—विगता नासिका यस्य । **अलौ० वि०**—वि, नासिका + सु (समास, विभक्तिलोप, नासिका = ग्र आदेश, विभक्तिकार्य) = विग्रः (कटी नाक वाला) ।

२. वा०—बहुव्रीहि में नासिका के स्थान पर ख्य आदेश भी होता है । **उदाहरण**—विगता नासिका यस्य (समासादि कार्य पूर्ववत्, नासिका = ख्य आदेश) = विख्यः ।

(१५६७) **पद**—नञ्दुःसुभ्यः, हलिसक्थ्योः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—अच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—नञ्, दुस् और सु से परे हलि और सक्थि शब्दान्त बहुव्रीहि से अच् प्रत्यय विकल्प से होता है । अहलः, अहलि । असक्थः, असक्थि । सक्थि के स्थान में कहीं शक्ति पाठ है । अशक्तः, अशक्ति ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५६४) से 'अच्' की अनुवृत्ति आती है । 'अन्यतरस्याम्' पद विकल्प का सूचक है । तदनुसार — ''नञ्, दुस् और सु से परवर्ती हलि तथा सक्थि शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त अच् प्रत्यय विकल्प से होता है ।''

उदाहरण—**विग्रह**—अविद्यमानः हलिः यस्य । **अलौ० वि०**—न विद्यमान + सु, हलि + सु (समास तथा नञ् से उत्तरवर्ती विद्यमान पद का लोप — 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः', अच् = 'अ' प्रत्यय — 'नञ्दुःसुभ्यः०', न् का लोप - 'नलोपो नञः') — अ हलि + अ ('इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = अहलः । पक्ष में अच् प्रत्यय न होने पर — अहलिः (जिसके पास हल न हो) । **विग्रह**—अविद्यमानं सक्थि यस्य (पूर्ववत् प्रक्रिया) — असक्थः, असक्थि (जिसके टाँग न हो) । अशक्तः, अशक्ति ।

(१५६८) नित्यमसिच् प्रजामेधयोः ५।४।१२२ । नञ्दुःसुभ्य इत्येव । अप्रजाः । अमेधाः । दुर्मेधाः । सुमेधाः । **(१५६९) धर्मादनिच् केवलात् ५।४।१२४ ।** केवलपूर्वपदाद्यो धर्मशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरनिच् स्यात् । कल्याणधर्मा । केवलात् किम् ? परमः स्वो धर्मो यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ मा भूत् । परमस्वधर्मः । * इच् कर्मव्यतिहारे * ।

(१५६८) **नित्यमिति** । नञ्दुःसुभ्यः पराभ्यां प्रजामेधाशब्दाभ्यां नित्यमसिच् समासान्तः स्यात्स तद्धित इत्यर्थः । असिचः चकार इत्, इकार उच्चारणार्थः ।

(१५६९) **कल्याणधर्मा**: । कल्याणो धर्मो यस्येति विग्रहः । अनिचि 'यस्येति चे'त्यकारलोपे सौ 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे **कल्याणधर्मा इति** ।

(१५६८) **पद**—नित्यम्, असिच्, प्रजामेधयोः । **अनुवृत्ति**—नञ्दुःसुभ्यः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—नञ्, दुस् और सु से परे प्रजा और मेधा शब्दान्त बहुव्रीहि से नित्य असिच् प्रत्यय होता है । अप्रजाः । अमेधाः । दुर्मेधाः । सुमेधाः ।

विमर्श—समासान्त असिच् प्रत्यय की व्यवस्था की जा रही है । विकल्प की निवृत्ति के लिए नित्य पद का प्रयोग हुआ है । पूर्वसूत्र (१५६७) से 'नञ्दुःसुभ्यः' की अनुवृत्ति आती है । अतः सूत्र से यह अर्थ स्पष्ट होता है कि ''नञ्, दुस् और सु से परवर्ती प्रजा तथा मेधा शब्दान्त बहुव्रीहि से नित्य समासान्त असिच् (अस्) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—अविद्यमाना प्रजा यस्य । **अलौ० वि०**—न विद्यमाना + सु, प्रजा + सु (समास, विभक्तिलोप, विद्यमाना का लोप — 'नञोऽस्त्यर्थानाम्०', न् का लोप, असिच् = अस् प्रत्यय) — अ प्रजा + अस् (आ का लोप — 'यस्येति च', पुनः विभक्ति सु = स् का हल्ङ्यादिलोप, उपधादीर्घ, स = र् = :) = अप्रजाः (जिसके कोई सन्तान न हो) । अविद्यमाना मेधा यस्य । **अलौ० वि०**—न विद्यमाना + सु, मेधा + सु (समासादि प्रक्रिया पूर्व उदाहरण के समान) = अमेधा (बुद्धिहीन) । **विग्रह**—दुर्गता मेधा यस्य (प्रक्रिया पूर्ववत्) = दुर्मेधाः (बुरी बुद्धि वाला) । **विग्रह**—शोभना मेधा यस्य (प्रक्रिया पूर्ववत्) = सुमेधाः (अच्छी बुद्धि वाला) ।

(१५६९) **पद**—धर्मात्, अनिच्, केवलात् । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—किसी एक पूर्वपद से परे धर्मशब्दान्त बहुव्रीहि से अनिच् प्रत्यय होता है । कल्याणधर्माः । केवलात् क्यों कहा ? 'परमः स्वः धर्मः यस्य' इस त्रिपद बहुव्रीहि में न हो । परमस्वधर्मः । इच्कर्मव्यतिहारे । केशाकेशि । मुसलामुसलि ।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् उक्त सभी पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । सूत्रस्थ केवल शब्द दूसरे पूर्वपद का निवारक है । तदनुसार — ''किसी एक शब्द के पूर्व में रहने पर धर्मशब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त अनिच् (= अन्) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—कल्याणः धर्मः यस्य । **अलौ० वि०**—कल्याण + सु, धर्म + सु (समास — 'अनेकमन्यपदार्थे', विभक्तिलोप, अनिच् = 'अन्' प्रत्यय — 'धर्मादनिच् केवलात्', 'अ' — का लोप — 'यस्येति च') — कल्याणधर्मन् (पुनः विभक्ति सु, उपधादीर्घ, सुलोप, न् का लोप) = कल्याणधर्मा (जिसका धर्म कल्याणप्रद हो) ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'केवलात्' पद का निवेश होने से त्रिपद बहुव्रीहि 'परमः स्वः धर्मः यस्य' में धर्म शब्द से पूर्व दो पदों के होने के कारण अनिच् प्रत्यय नहीं होता । परमस्वधर्मः ।

केशोकेशि। मुसलामुसलि। (१५७०) प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः ५।४।१२९। प्रज्ञुः। संज्ञुः। (१५७१) ऊर्ध्वाद्विभाषा ५।४।१३०। ऊर्ध्वज्ञुः। ऊर्ध्वजानुः। (१५७२) ऊधसोऽनङ् ५।४।१३१। कुण्डोध्नी। (१५७३) धनुषश्च

(१५७०) **प्रसंभ्यामिति**। प्रसंभ्यां परस्य जानुपदस्य ज्ञुरादेश इत्यर्थः।

(१५७१) **ऊर्ध्वादिति**। ऊर्ध्वपदात्परो यो जानुशब्दस्तस्य ज्ञुरादेशो वा स्यादित्यर्थः।

(१५७२) **ऊधसोऽनङ्**। बहुव्रीहावित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्या विपरिणम्य ऊधस इत्यनेन विशेष्यते। अतः ऊधोऽन्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशः स्यात् स्त्रियामित्यर्थः।

(१५७३) **धनुषश्च**। 'ऊधसोऽनङ्' इत्यतोऽनङ् इत्यनुवर्तते, बहुव्रीहाविति च, तच्च

वा०—' कर्मव्यतिहार (परस्पर ग्रहण और प्रहरण) में बहुव्रीहि से समासान्त इच् प्रत्यय होता है'। **उदाहरण**—केशाकेशि। मुसलामुसलि (रूपसिद्धि सू. १५५२ में देखें)।

(१५७०) **पद**—प्रसंभ्याम्, जानुनोः, ज्ञः। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्र और सम् से परे बहुव्रीहि में जानु शब्द को ज्ञु आदेश होता है। प्रज्ञुः। संज्ञुः।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। अतः "बहुव्रीहि समास में प्र एवं सम् से परवर्ती 'जानु' शब्द के स्थान में समासान्त 'ज्ञु' आदेश होता है।"

उदाहरण—विग्रह—प्रगते जानुनी यस्य। **अलौ० वि०**—प्रगत + औ, जानु + औ (समास तथा गत शब्द का लोप — 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' वा०, जानु = 'ज्ञु' आदेश — 'प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः', विभक्तिकार्य) = प्रज्ञुः (जिसके घुटने चौड़े हों)। **विग्रह**—संगते जानुनी यस्य (प्रक्रिया उक्तवत्) = संज्ञुः (सटे हुए घुटने वाला)।

(१५७१) **पद**—ऊर्ध्वात्, विभाषा। **अनुवृत्ति**—जानुनोः ज्ञुः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ऊर्ध्व शब्द से परे जानु शब्द को समासान्त 'ज्ञु' आदेश विकल्प से होता है। ऊर्ध्वज्ञुः। ऊर्ध्वजानुः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५७०) से 'जानुनोः ज्ञुः' की अनुवृत्ति आती है। अन्य पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — "ऊर्ध्व शब्द से परवर्ती जानु के स्थान पर बहुव्रीहि समास में 'ज्ञु' आदेश विकल्प से होता है।"

उदाहरण—विग्रह—ऊर्ध्वे जानुनी यस्य (समासादि कार्य पूर्ववत्, जानु = ज्ञु आदेश विकल्प से — 'ऊर्ध्वाद्विभाषा') = ऊर्ध्वज्ञुः। ज्ञु आदेश के न होने पर — ऊर्ध्वजानुः (जिसके घुटने ऊँचे हों)।

(१५७२) **पद**—ऊधसः, अनङ्। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ऊधस् अन्त बहुव्रीहि से समासान्त अनङ् आदेश स्त्रीलिङ्ग में होता है। कुण्डोध्नी।

विमर्श—पूर्ववत् उक्त पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार — "ऊधोऽन्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिङ्ग में समासान्त अनङ् (= अन्) आदेश होता है।"

उदाहरण—विग्रह—कुण्डमिव ऊधः यस्याः (समास, विभक्तिलोप, अस् = अनङ् = 'अन' आदेश, अ + ऊ = 'ओ' — गुण, 'अ' का लोप — 'अल्लोपोऽनः') — कुण्डोध्नी (ङीप् = 'ई' — 'बहुव्रीहेरूधसः', विभक्तिकार्य) = कुण्डोध्नी।

(१५७३) **पद**—धनुषः, च। **अनुवृत्ति**—अनङ्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

५।४।१३२ । धनुरन्ताद्बहुव्रीहेरनङादेशः । शार्ङ्गधन्वा । (१५७४) वा संज्ञायाम् ५।४।१३३ । शतधन्वा । शतधनुः । (१५७५) जायाया निङ् ५।४।१३४ । जायान्तस्य बहुव्रीहेर्निङादेशः । (१५७६) लोपो व्योर्वलि ६।१।६६ । युवतिर्जाया

षष्ठ्या विपरिणम्यते ऊधस इत्यनेन विशेष्यते तदन्तविधिस्तदाह — **धनुरन्तादिति** ।

(१५७४) **वा संज्ञायामिति** । 'धनुषश्चे'त्युक्ताऽनङ्संज्ञायां वा स्यादित्यर्थः ।

(१५७५) जायाया निङ् । स्पष्टम् ।

(१५७६) **लोप इति** । वलि परे यकारवकारयोः लोपः स्यादित्यर्थः । **युवजानिः** — युवतिर्जाया यस्येति विग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे चे'ति समासे विभक्तिलोपे 'जायाया निङ्' इत्यनेन निङादेशेऽनुबन्धलोपे, युवति + जाय + नि इति जाते 'लोपो व्योर्वलि' इत्यनेन यलोपे 'स्त्रियाः पुंवत्०' इत्यादिना पुंवद्भावे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'युवजानिः' इति ।

मूलार्थ—धनुरन्त बहुव्रीहि से भी समासान्त अनङ् आदेश होता है । शार्ङ्गधन्वा ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५७२) से अनङ् की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । अतः "बहुव्रीहि में धनुष् के अन्तिम वर्ण को अनङ् आदेश होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—शार्ङ्गं धनुः यस्य । **अलौ० वि०**—शार्ङ्ग + सु, धनुष् + सु (समास, विभक्तिलोप, ष् = अनङ् = अन् आदेश — 'धनुषश्च') — शार्ङ्ग + धनु + अन् ('उ' = 'व्'— यण्, विभक्ति सु = स्, उपधादीर्घ, सुलोप, नलोप) = शार्ङ्गधन्वा (सींग के धनुष वाला) ।

(१५७४) **पद**—वा, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—धनुषः, अनङ्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः ।

मूलार्थ—संज्ञा में पूर्वोक्त कार्य विकल्प से होता है । शतधन्वा । शतधनुः ।

विमर्श—पूर्वोक्त दोनों सूत्रों से क्रमशः 'अनङ्' तथा 'धनुषः' पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — "संज्ञाविषय में धनुष् शब्दान्त बहुव्रीहि को समासान्त अनङ् आदेश विकल्प से होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—शतानि धनूंषि यस्य । **अलौ० वि०**—शत + जस्, धनुष् + जस् (समास, विभक्तिलोप, विकल्प से ष् = अनङ् = 'अन्' आदेश, यण्, पुनः विभक्ति सु, उपधादीर्घ, सुलोप, न् का लोप) = शतधन्वा । अनङ् न होने पर — शतधनुः (सौ धनुष वाला) ।

(१५७५) **पद**—जायायाः, निङ् । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ – जायान्त बहुव्रीहि को समासान्त निङ् आदेश होता है ।

विमर्श—सामासान्त आदेश रूप प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है । पूर्वोक्त प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ आ रही है । अतः "जाया शब्दान्त बहुव्रीहि को समासान्त निङ् (= नि) आदेश होता है ।"

(१५७६) **पद**—लोपः, व्योः, वलि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वल् प्रत्याहार परे रहते वकार और यकार का लोप होता है । युवजानिः ।

विमर्श—वल् प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के परवर्ती रहने पर व् तथा य् का लोप विधान किया गया है ।

उदाहरण—विग्रह—युवतिः, जाया यस्य । **अलौ० वि०**—युवति + सु, जाया + सु (बहुव्रीहिसमास, विभक्तिलोप, आ = निङ् = 'नि' आदेश — 'जायाया निङ्') — युवति जाय्नि ('य्' का लोप — 'लोपो व्योर्वलि', युवति = 'युवन्' — पुंवद्भाव — 'स्त्रियाः पुंवद्०', न् का लोप, विभक्तिकार्य) = युवजानिः (जिसकी पत्नी युवती हो) ।

यस्य युवजानिः । (१५७७) गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ५।४।१३५ । उद्गन्धिः । पूतिगन्धिः । सुगन्धिः । (१५७८) उपमानाच्च ५।४।१३७ । पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः । (१५७९) वयसि दन्तस्य दतृ ५।४।१४१ । संख्यासुपूर्वस्येत्येव ।

(१५७७) **गन्धस्येदुदिति** । उत्, पूति, सु, सुरभि एतेभ्यो गन्धस्येकारोऽन्तादेशः स्यादित्यर्थः ।

(१५७८) उपमानवाचिपूर्वपदात्परस्यापि गन्धशब्दस्येकारोऽन्तादेशः स्याद्बहुव्रीहाविति त्यर्थः । **पद्मस्येवेति** । फलितार्थकथनमिदम् । पद्मगन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहः । सप्तम्युपमानपूर्वपदस्येति समासः ।

(१५७९) **वयसीति** । संख्यासुपूर्वस्य दन्तस्य स्थाने दतृ इत्यादेशः स्याद्वयसीति भावः ।

(१५७७) **पद**—गन्धस्य, इत्, उत्पूति-सु-सुरभिभ्यः । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः ।

मूलार्थ—उत्, पूति, सु और सुरभि शब्दों से परवर्ती गन्धान्त बहुव्रीहि को समासान्त इकार आदेश होता है । उद्गन्धिः । पूतिगन्धिः । सुगन्धिः ।

विमर्श—पूर्वोक्त शब्दों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । समासान्त प्रत्यय का आदेशात्मक विधान बताया जा रहा है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के अनुसार ''गन्ध के अन्तिम वर्ण अकार के स्थान पर समासान्त आदेश इकार होता है; यदि उत्, पूति, सु तथा सुरभि शब्द गन्ध के पूर्ववर्ती हों तो ।''

उदाहरण—**विग्रह**—उद्गतः गन्धः यस्य । **अलौ० वि०**—उद्गन्ध + सु, गन्ध + सु (समास — 'प्रादिभ्यः धातुजस्य०' वा० 'गत' शब्द का लोप, विभक्तिलोप, 'अ' = 'इ' आदेश — 'गन्धस्वेदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः', विभक्तिकार्य) = उद्गन्धिः (उत्कट गन्धवाला) । **विग्रह**—पूतिः गन्धः यस्य । **अलौ० वि०**—पूति + सु, गन्ध + सु (बहुव्रीहिसमास, अ = इ आदेश आदि पूर्ववत्) = पूतिगन्धिः (दुर्गन्ध) । सु = शोभनः गन्धः यस्य (समासादि कार्य पूर्ववत्) = सुगन्धिः (जिसकी अच्छी गन्ध हो) ।

(१५७८) **पद**—उपमानात्, च । **अनुवृत्ति**—गन्धस्य, इत्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उपमानवाची पूर्वपद से परे गन्धान्त बहुव्रीहि को इकार आदेश होता है । पद्मगन्धिः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र के समान उक्त सभी अनुवृत्तियाँ विद्यमान हैं । पूर्वसूत्र (१५७७) से 'गन्धस्य इत्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार — ''उपमानवाची शब्दों से परवर्ती गन्ध शब्द को भी बहुव्रीहि में समासान्त इकार आदेश होता है ।''

उदाहरण—**लौ० वि०**—पद्मगन्धस्य इव गन्धः यस्य । **अलौ० वि०**—पद्मगन्ध + सु, गन्ध + सु (समास तथा उत्तरपद का लोप - वा० 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य०', 'अ' = 'इ' — 'उपमानाच्च', विभक्तिकार्य) = पद्मगन्धिः (जिसमें कमल के समान गन्ध हो) ।

(१५७९) **पद**—वयसि, दन्तस्य, दतृ । **अनुवृत्ति**—संख्यासुपूर्वस्य, बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वय (अवस्था) गम्यमान होने पर संख्या तथा सु पूर्वक दन्त शब्द को समासान्त दतृ आदेश होता है । द्विदन् । चतुर्दन् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'संख्यासुपूर्वस्य' (५।४।१४०) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है । अन्य पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है । अतः ''संख्या तथा सु शब्दपूर्वक दन्त शब्द के स्थान में अवस्था गम्यमान होने पर बहुव्रीहि में समासान्त दतृ (दत्) आदेश होता है ।''

द्विदन्। चतुर्दन्। (१५८०) अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ५।४।१४५। एभ्यो दन्तस्य दतृ वा। कुड्मलाग्रदन्तः। कुड्मलाग्रदन्। (१५८१) उरःप्रभृतिभ्यः कप् ५।४।१५१। व्यूढोरस्कः। प्रियसर्पिष्कः। * अर्थान्नञः *। अनर्थकम्। नञः किम्?

(१५८०) **कुड्मलाग्रदन्निति**। कुड्मलानां मुकुलानाम् अग्राणीव दन्ता यस्येति विग्रहः।

(१५८१) **व्यूढोरस्कः** — व्यूढम् उरः यस्येति लौकिकविग्रहे, 'व्यूढ + सु, उरस् + सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे विभक्तिलोपे व्यूढपदस्योपसर्जनत्वे पूर्वप्रयोगे 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इत्यनेन कप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे गुणे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'व्यूढोरस्कः' इति।

उदाहरण—विग्रह—द्वौ दन्तौ यस्य। **अलौ० वि०**—द्वि + औ, दन्त + औ (बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, दन्त = दतृ = दत् आदेश — 'वयसि दन्तस्य दतृ', पुनः विभक्ति) — द्विदत् सु (दतृ में ऋकार की इत्संज्ञा होने से नुम् = 'न्' — 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः', सुलोप, 'त्' का लोप — 'संयोगान्तस्य लोपः') = द्विदन् (जिसके केवल दो दाँत निकले हों)। **विग्रह**—चत्वारः दन्ताः यस्य (प्रक्रिया पूर्ववत्) = चतुर्दन् (जिसके चार दाँत हों)।

(१५८०) **पद**—अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—विभाषा, दन्तस्य, दतृ, बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अग्र आदि से परवर्ती दन्त के स्थान पर विकल्प से दतृ आदेश होता है। कुड्मलाग्रदन्तः। कुड्मलाग्रदन्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५७९) से 'दन्तस्य दतृ' तथा 'विभाषा श्यावारोकाभ्याम्' (५।४।१४४) से 'विभाषा' की अनुवृत्ति आती है। शेष उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव पूर्ववत् है। तदनुसार — "अग्रशब्दान्त तथा पद, शुद्ध, शुभ्र, वृष व वराह शब्दों से परवर्ती दन्त के स्थान पर समासान्त दतृ आदेश विकल्प से होता है।"

उदाहरण—विग्रह—कुड्मलाग्राणि इव दन्ताः यस्य। **अलौ० वि०**—कुड्मलाग्र + जस्, दन्त + जस् (समास एवं उत्तरपद का लोप, विभक्तिलोप, दन्त = दतृ = 'दत्' आदेश विकल्प से, पुनः विभक्ति सु) — कुड्मलाग्र दत् + सु (नुम् = 'न्' आगम, विभक्तिलोप, 'त्' का संयोगान्त-लोप) = कुड्मलाग्रदन्। दत् आदेश के अभावपक्ष में — कुड्मलाग्रदन्तः (जिसके दाँत कली के अग्रभाग के समान हों)।

(१५८१) **पद**—उरःप्रभृतिभ्यः, कप्। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उरस् आदि शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त कप् प्रत्यय होता है। व्यूढोरस्कः। प्रियसर्पिष्कः।

विमर्श—प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होगा "उरस् आदि (गणपठित) अन्तवाले शब्दों से बहुव्रीहि समास में कप् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—विग्रह—व्यूढम् उरः यस्य। **अलौ० वि०**—व्यूढ + सु, उरस् + सु (बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, कप् = क – 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्') — व्यूढ उरस् क (अ + उ = 'ओ' — गुण, स् = रु = र् = : = स् — 'सोऽपदादौ', पुनः विभक्ति सु = स् = र् = :) = व्यूढोरस्कः (जिसका वक्षःस्थल विशाल हो)। **विग्रह**—प्रियं सर्पिः यस्य (प्रक्रिया उक्तवत्, स् = र् = :, : = ष् — 'इणः षः') = प्रियसर्पिष्कः (जिसे घी प्रिय हो)।

अपार्थम्। (१५८२) इनः स्त्रियाम् ५।४।१५२। इन्नन्ताद्बहुव्रीहेः कप्। बहुदण्डिका नगरी। * अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति *। बहुवाग्मिका। (१५८३) शेषाद्विभाषा ५।४।१५४। अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः कब्वा। महायशाः, महायशस्कः। अनुक्तेत्यादि किम्? व्याघ्रपाद्। (१५८४)

(१५८२) **इनः स्त्रियाम्**। इन्नन्तात् कप् स्याद् बहुव्रीहावित्यर्थः। **बहुदण्डिका**—दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी 'अत इनिठनौ' इति इनिः। बहवो दण्डिनो यस्यामिति बहुदण्डिका नगरी।

(१५८३) **महायशाः, महायशस्क इति**। महद् यशो यस्येति विग्रहे 'तद्धितार्थ०' इत्यादिना समासे विभक्तिलोपे 'आन्महतः' इति महतः आकारान्तादेशे, सवर्णदीर्घे 'शेषाद्विभाषा' इत्यनेन विकल्पेन कपि अनुबन्धलोपे 'महायशस् क' इति जाते सस्य रुत्वे विसर्गे च

गणसूत्र—बहुव्रीहि समास में नञ् से परवर्ती अर्थ शब्द से कप् प्रत्यय होता है।

उदाहरण—**विग्रह**—अविद्यमानः अर्थः यस्य (समास, विद्यमान पद का लोप, 'न्' का लोप, कप् = 'क' प्रत्यय – 'अर्थान्नञः', विभक्तिकार्य) = अनर्थकम्।

प्रत्युदाहरण—गणसूत्र में 'नञः' का पाठ होने से 'अपगतः अर्थः यस्मात्' में प्रकृत ग० सू० से कप् नहीं होता, अपितु 'शेषाद्विभाषा' से पाक्षिक कप् प्रत्यय होकर अपार्थकम् तथा कप् के अभाव पक्ष में अपार्थम् (अर्थ रहित) रूप बनते हैं।

(१५८२) **पद**—इनः, स्त्रियाम्। **अनुवृत्ति**—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन्नन्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिङ्ग में समासान्त कप् प्रत्यय होता है। बहुदण्डिका।

परिभाषा—जहाँ अन्, इन्, अस् और मन् का ग्रहण हो वहाँ अर्थवान् एवम् अनर्थक दोनों से तदन्तविधि होती है। बहुवाग्मिका।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५८१) से 'कप्' की अनुवृत्ति आ रही है। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् विद्यमान हैं। अतः ''स्त्रीलिङ्ग के विषय में इन् अन्त बहुव्रीहि समास से समासान्त कप् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—**विग्रह**—बहवः दण्डिनः यस्याम्। **अलौ० वि०**—बहु + जस्, दण्डिन् + जस् (बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, कप् = 'क' — 'इनः स्त्रियाम्', 'न्' का लोप) — बहुदण्डिक, (टाप् = आ, दीर्घ, पुनः विभक्ति 'सु' का लोप) = बहुदण्डिका नगरी (जिसमें बहुत दण्डधारी सन्यासी हों)। **विग्रह**—बहवः वाग्मिनः यस्याम्। **अलौ० वि०**—बहु + जस्, वाग्मिन् + जस् (समास, विभक्तिलोप, 'अनिनस्मन्०' के आधार पर तदन्तविधि द्वारा कप् = 'क' प्रत्यय, टाप् = आ, न् का लोप तथा विभक्तिलोप) = बहुवाग्मिका (जिस नगरी में बहुत वक्ता हों)।

(१५८३) **पद**—शेषाद्, विभाषा। **अनुवृत्ति**—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अनुक्त समासान्त शेषाधिकारस्थ बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय विकल्प से होता है। महायशाः, महायशस्कः। 'अनुक्त इत्यादि' क्यों कहा ? व्याघ्रपाद्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' (१५८१) से 'कप्' की अनुवृत्ति आ रही है। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् आ रही हैं। 'शेष' पद का सामान्यतः अभिप्राय यह है कि 'पूर्वोक्त कथन के अतिरिक्त अवशेष कथन।' तदनुसार — ''अष्टाध्यायी क्रम में इस सूत्र के पूर्व बहुव्रीहि समास में यदि किसी समासान्त प्रत्यय का विधान न किया गया हो तो उससे समासान्त कप् प्रत्यय होता है।''

आपोऽन्यतरस्याम् ७।४।१५ । कपि ह्रस्वः । बहुमालाकः, बहुमालकः, बहुमालः । **(१५८५) न संज्ञायाम् ५।४।१५५** । शेषादिति प्राप्तः कब् न । विश्वे देवा अस्य विश्वदेवः । **(१५८६) ईयसश्च ५।४।१६६** । ईयसन्तोत्तरपदान्न कप् । बहवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान् । गोस्त्रियोरिति ह्रस्वे प्राप्ते – * ईयसो बहुव्रीहेर्न *। बहुश्रेयसी ।

'सोऽपदादौ' इत्यनेन विसर्गस्य सकारे विभक्तिकार्ये 'महायशस्कः' इति । कप्प्रत्ययाऽभावपक्षे प्रातिपदिकत्वे सौ 'अत्वसन्तस्य चाऽधातोः' इत्यनेन उपधादीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'महायशाः' इति ।

(१५८४) **आपोऽन्यतरस्याम्** । कपि कृते आबन्तस्य ह्रस्वो वा स्यादित्यर्थः ।

(१५८५) **न संज्ञायाम्** । **शेषादिति** । 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इति न्यायात् 'शेषाद्विभाषा' इति विहितस्य कप एवायं निषेधः ।

(१५८६) (वा०) **ईयसो बहुव्रीहेर्नेति** । ईयसन्ताद् बहुव्रीहेः परस्य स्त्रीप्रत्ययस्य ह्रस्वो

उदाहरण—विग्रह—महद् यशः यस्य । **अलौ० वि०**—महत् + सु, यशस् + सु (बहुव्रीहि समास, 'त्' = 'आ' — 'आन्महतः०' अ + आ = 'आ' — दीर्घ, कप् = 'क' प्रत्यय — 'शेषाद्विभाषा', स् = रु = र् = : = स् = 'सोऽपदादौ', विभक्तिकार्य)= महायशस्कः । कप् प्रत्यय के अभावपक्ष में — महायशस् (दीर्घ — 'अत्वसन्तस्य०' विभक्तिलोप, रुत्व-विसर्ग) = महायशाः (जिसका यश बहुत हो, परमयशस्वी) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अनुक्त' पद का समावेश होने से 'व्याघ्रपाद्' में वैकल्पिक कप् प्रत्यय नहीं होता । क्योंकि यहाँ 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' से अकारलोप रूप समासान्त उक्त है ।

(१५८४) **पद**—आपः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—कपि, ह्रस्वः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कप् प्रत्यय परे रहते आबन्त को विकल्प से ह्रस्व होता है । बहुमालकः । बहुमालः ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'न कपि' (७।४।१४) से 'कपि' की तथा 'शृदृप्रां ह्रस्वो वा' से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार — "कप् प्रत्यय के परवर्ती रहते आबन्त को विकल्प से ह्रस्व होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—बह्व्यः मालाः यस्य । **अलौ० वि०**—बह्वी + जस्, माला + जस् (समास, विभक्तिलोप, विकल्प से कप् = 'क' — 'शेषाद्विभाषा', बह्वी = 'बहु' — पुंवद्भाव, विकल्प से आ = 'अ' — ह्रस्व, विभक्तिकार्य) = बहुमालकः । वैकल्पिक कप् प्रत्यय के न होने पर — बहुमालः । ह्रस्व न होने पर — बहुमालाकः (बहुत-सी मालाओं वाला) ।

(१५८५) **पद**—न, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संज्ञा में 'शेषाद्विभाषा' सूत्र से प्राप्त कप् नहीं होता । विश्वदेवः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१५८१) से 'कप्' की अनुवृत्ति आ रही है । अन्य उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार "बहुव्रीहि समास में समस्त पद यदि संज्ञा का बोधक हो तो 'शेषाद्विभाषा' से प्राप्त कप् प्रत्यय नहीं होता ।"

उदाहरण—विग्रह—विश्वे देवाः अस्य । **अलौ० वि०**—विश्व + जस्, देव + जस् (समास, विभक्तिलोप, प्राप्त कप् का निषेध — 'न संज्ञायाम्', विभक्तिकार्य) = विश्वदेवः ।

(१५८६) **पद**—ईयसः, च । **अनुवृत्ति**—न, कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

बहुव्रीहेः किम्? अतिश्रेयसिः । (१५८७) वन्दिते भ्रातुः ५।४।१५७ । पूजार्थ-भ्रात्रन्तान्न कप् । प्रशस्तो भ्राताऽस्य प्रशस्तभ्राता । सुभ्राता । वन्दिते किम्? मूर्ख-भ्रातृकः । 'नद्यृतश्चे'ति कप् । * सर्वनामसंख्येययोर्बहुव्रीहौ पूर्वनिपातः * । सर्वश्वेतः । द्विशुक्लः । * संख्याया अल्पीयस्याः * । द्वित्राः । * द्वन्द्वेऽपि * । द्वादश । * वा प्रियस्य * । गुडप्रियः । प्रियगुडः । * गड्वादेः परा सप्तमी * । गडुकण्ठः । क्वचिन्न-

---

नेति वक्तव्यमित्यर्थः ।

(१५८७) **द्वन्द्वेऽपीति** । इदं वार्तिकं द्वन्द्वेऽपि प्रवर्तत इति भावः । **सुभ्रातेति** । सु शोभनो भ्राता यस्य स इति विग्रहः । 'नद्यृतश्च' इति प्राप्तस्य कपो निषेधः ।

मूलार्थ—ईयस् प्रत्ययान्त उत्तरपद से कप् नहीं होता । बहुश्रेयान् । **वा०**—ईयस् प्रत्ययान्त बहुव्रीहि को ह्रस्व नहीं होता । बहुश्रेयसी । 'बहुव्रीहेः' क्यों कहा ? अतिश्रेयसिः ।

विमर्श—कप् के निषेध का प्रकरण चल रहा है । पूर्वसूत्र (१५८५) से 'न' की अनुवृत्ति आ रही है । शेष पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार — "ईयस् प्रत्ययान्त उत्तरपद वाले बहुव्रीहि समास से भी कप् प्रत्यय नहीं होता ।"

उदाहरण—विग्रह—बहवः श्रेयांसः अस्य । **अलौ० वि०**—बहु + जस्, श्रेयस् + जस् (समास, विभक्तिलोप, 'शेषाद्विभाषा' से प्राप्त कप् का प्रकृत सूत्र से निषेध, पुनः विभक्ति सु = स्, नुम् = 'न्' आगम, उपधादीर्घ, सुलोप, संयोगान्तलोप) = बहुश्रेयान् (उत्तम गुणवाला) ।

वा०—ईयस् प्रत्ययान्त बहुव्रीहि में परवर्ती स्त्रीप्रत्यय को ह्रस्व नहीं होता ।

उदाहरण—विग्रह—बह्व्यः श्रेयस्यः यस्य । **अलौ० वि०**—बह्वी + जस्, श्रेयसी + जस् (समास, विभक्तिलोप, 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से श्रेयसी को प्राप्त ह्रस्व का वा० — 'ईयसो बहुव्रीहेर्न' से निषेध, बह्वी = बहु — पुंवद्भाव — 'स्त्रियाः पुंवत्०', पुनः विभक्ति, सु का 'हल्ङ्याब्भ्यो...' 'हल्ङ्यादिलोप') = बहुश्रेयसी (जिसके पास बहुत-सी उत्तम स्त्रियाँ हों) ।

प्रत्युदाहरण—बहुव्रीहि के अतिरिक्त अन्य समास में वार्तिक से ह्रस्व का निषेध नहीं होता । 'श्रेयसीम् अतिक्रान्तः' विग्रह में तत्पुरुष समास, उपसर्जन ह्रस्व होकर — अतिश्रेयसिः (गुणवती स्त्री से बढ़कर) ।

(१५८७) **पद**—वन्दिते, भ्रातुः । **अनुवृत्ति**—न कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—पूजार्थक भ्रातृशब्दान्त बहुव्रीहि से कप् नहीं होता । प्रशस्तभ्राता । सुभ्राता । 'वन्दिते' क्यों कहा ? मूर्खभ्रातृकः ।

विमर्श—कप् प्रत्यय के निषेध का प्रकरण चल रहा है । पूर्ववत् उक्त सभी पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — "वन्दित (पूजा, सम्मान) अर्थ में विद्यमान भ्रातृशब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त कप् प्रत्यय नहीं होता ।"

उदाहरण—विग्रह—प्रशस्तः भ्राता अस्य । **अलौ० वि०**—प्रशस्त + सु, भ्रातृ + सु (समास, विभक्तिलोप, 'नद्यृतश्च' से प्राप्त कप् का निषेध — 'वन्दिते भ्रातुः', प्रथमा विभक्ति एकवचन — विभक्तिकार्य) = प्रशस्तभ्राता (जिसका भाई प्रशंसनीय हो) । **विग्रह**—शोभनः भ्राता अस्य (प्रक्रिया पूर्ववत्) = सुभ्राता (जिसका भाई सुन्दर हो) ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'वन्दिते' पद का निवेश होने से 'मूर्खभ्रातृकः' में कप् का निषेध नहीं हुआ । क्योंकि यहाँ 'मूर्ख' पद सम्मानार्थक नहीं है । 'नद्यृतश्च' से कप् होता है ।

वहेगडुः । (१५८८) निष्ठा २।२।३६ । निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । कृतकृत्यः । ∗ जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या ∗ । सारङ्गजग्धी । मांसजाता । सुखजाता ।

(१५८८) **निष्ठा** । **कृतकृत्य इति** । कृतं कृत्यं येनेति विग्रहः । निष्ठान्तस्य पूर्वप्रयोगः ।

---

१. **वा०**—बहुव्रीहि में सर्वनाम और संख्यावाचक का पूर्वनिपात होता है ।

उदा०— विग्रह—सर्वः श्वेतः यस्य । **अलौ० वि०**—सर्व + सु, श्वेत + सु (समास, विभक्तिलोप, सर्व का पूर्वप्रयोग — 'सर्वनामसंख्येययोर्बहुव्रीहौ पूर्वनिपातः', विभक्तिकार्य) = सर्व-श्वेतः (पूर्णतया सफेद) । द्वौ शुक्लौ यस्य (प्रक्रिया उक्तवत्) = द्विशुक्लः (जिसके दो सफेद हों) ।

२. **वा०**—दो न्यून और अधिक संख्यावाचक का समास होने पर बहुव्रीहि में अल्प संख्यावाचक शब्द का पूर्वनिपात होता है ।

उदाहरण—विग्रह—द्वौ वा त्रयो वा (समास, विभक्तिलोप, द्वि का पूर्वप्रयोग, विभक्ति-कार्य) = द्वित्राः (दो या तीन) ।

३. **वा०**—द्वन्द्व समास में भी अपेक्षाकृत न्यून संख्यावाचक का पूर्वप्रयोग होता है ।

उदाहरण—विग्रह—द्वौ च दश च (द्वन्द्वसमास, द्वि का पूर्वप्रयोग, विभक्तिकार्य) = द्वादश (बारह) ।

४. **वा०**—बहुव्रीहि में 'प्रिय' शब्द का विकल्प से पूर्वप्रयोग होता है ।

उदाहरण—विग्रह—गुडः प्रियः यस्य (समास, विभक्तिलोप, वार्तिक से 'प्रिय' का वैकल्पिक पूर्वप्रयोग, विभक्तिकार्य) = प्रियगुडः । प्रिय का पूर्वप्रयोग न होने पर — गुडप्रियः (जिसे गुड़ प्रिय हो) ।

५. **वा०**—बहुव्रीहि में गडु आदि शब्दों के साथ समास होने पर सप्तम्यन्त का परप्रयोग होता है ।

उदाहरण—गडुः कण्ठे यस्य (समास, विभक्तिलोप, 'कण्ठ' का परप्रयोग, विभक्तिकार्य) = गडुकण्ठः (जिसके गले में कण्ठमाल हो) । कहीं पर गडु शब्द के होने पर भी सप्तम्यन्त पद का परप्रयोग नहीं होता । अतः वहेगडुः (जिसके कन्धे पर मांसपिण्ड हो) में सप्तम्यन्त 'वहे' का पूर्वप्रयोग हुआ ।

(१५८८) **पद**—निष्ठा । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, पूर्वम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—बहुव्रीहि में निष्ठान्त का पूर्वप्रयोग होता है । कृतकृत्यः । **वा०**—''जाति, काल, सुख आदि शब्दों के साथ समास में निष्ठा का परप्रयोग होता है ।'' सारङ्गजग्धी । मासजाता । सुखजाता ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'पूर्वम्' तथा 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' (२।२।३५) से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति आती है । 'निष्ठा' पद कृदन्त क्त तथा क्तवतु प्रत्ययों का बोधक है । अतः ''बहुव्रीहि समास में निष्ठा प्रत्ययान्त पद का पूर्वप्रयोग होता है ।''

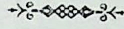
उदाहरण—विग्रह—कृतं कृत्यं येन (बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, निष्ठान्त कृत का पूर्व-निपात — 'निष्ठा', विभक्तिकार्य) = कृतकृत्यः (जिसने कर्तव्य पूरा किया) ।

वा०—जातिवाचक, कालवाचक एवं सुख आदि शब्दों के साथ समास में निष्ठा प्रत्ययान्त पद का परप्रयोग होता है ।

उदाहरण—विग्रह—जग्धः सारङ्गः यया (समास, जातिवाचक 'सारङ्ग' का पूर्वप्रयोग, स्त्रीलिङ्ग में विभक्तिकार्य) = सारङ्गजग्धी (जिसने मृग खाया है, ऐसी स्त्री) । मासः जातः यस्याः

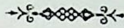
(१५८९) वाहिताग्न्यादिषु २।२।४७। आहिताग्निः। अग्न्याहितः। आकृतिगणोऽयम्।

इति बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्।



(१५८९) **वाहिताग्न्यादिष्विति**। निष्ठायाः पूर्वप्रयोग इति शेषः। **आहिताग्निः** — आहिताः = आधानेन संस्कृता अग्नयो येनेति विग्रहः।

इति बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्।



(प्रक्रिया उक्तवत्, कालवाचक 'मास' का पूर्वप्रयोग) = मासजाता (जिसे पैदा हुए एक महीना हो)। सुखं जातं यस्याः = सुखजाता (जिसका जन्म सुख से हुआ हो)।

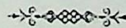
(१५८९) **पद**—वा, आहिताग्न्यादिषु। **अनुवृत्ति**—निष्ठा, बहुव्रीहौ, पूर्वम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—आहिताग्नि आदि शब्दों में निष्ठा का पूर्वप्रयोग विकल्प से होता है। आहिताग्निः। अग्न्याहितः। यह आकृतिगण है।

विमर्श—पूर्वोक्त 'निष्ठा' (१५८८) सूत्र तथा उल्लिखित अन्य पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार यह अर्थ ध्वनित होता है – ''आहिताग्न्यादि गण में निष्ठाप्रत्ययान्त शब्दों का विकल्प से पूर्वप्रयोग होता है।''

उदाहरण—विग्रह—आहिताः अग्नयः येन सः (समास, विभक्तिलोप, दीर्घ, 'आहित' का विकल्प से पूर्वप्रयोग — 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु', विभक्तिकार्य) = आहिताग्निः। पक्ष में — अग्न्याहितः (जो अग्नि का आधान कर चुका)। आहिताग्नि गण आकृतिगण है।

बहुव्रीहिसमास-प्रकरण समाप्त।



अथ द्वन्द्वसमासप्रकरणम्

(१५९०) चार्थे द्वन्द्वः २।२।२९ । अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः । समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्रेश्वरं गुरुं च भजस्वेति परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । भिक्षामट गां चानयेति अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः । अनयोरसामर्थ्यात् समासो न । धवखदिरौ छिन्धीति

(१५९०) अथ द्वन्द्वसमासो निरूप्यते — **चार्थे द्वन्द्व इति** । समास इति विभाषा इति चाधिकृतम् । 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यस्मादनेकमिति, 'सुबामन्त्रिते' इत्यतः सुबिति चानुवर्तते । तदाह — **अनेकमित्यादिना** । **मिलितानामिति** । परस्परापेक्षितानां समुदितानामेकस्मिन्क्रियापदेऽन्वयः । **धवखदिराविति** । अत्र धवखदिरयोः एकस्यामेव छेदनक्रियायामन्वयादितरेतर-

---

क्रमप्राप्त द्वन्द्व समास का विवेचन आरम्भ किया जा रहा है । द्वन्द्व समास में दो या दो से अधिक पदों का समावेश होता है । उनकी भिन्नता 'च' (= और) अव्यय के द्वारा सूचित होती है । अर्थात् अनेक शब्द विग्रह की अवस्था में 'च' के द्वारा सम्बद्ध होते हैं (चकारबहुलो द्वन्द्वः) ।

(१५९०) **पद**—चार्थे, द्वन्द्वः । **अनुवृत्ति**—विभाषा, सुप्, समासः, अनेकम् । **विधि (संज्ञा) सूत्र** ।

मूलार्थ—'च' के अर्थ में विद्यमान अनेक समर्थ सुबन्तों का विकल्प से समास होता है । च के चार अर्थ हैं — (१) समुच्चय, (२) अन्वाचय, (३) इतरेतरयोग और (४) समाहार । (१) परस्पर निरपेक्ष अनेकों का एक में अन्वय समुच्चय कहलाता है । (२) एक का आनुषंगिक अन्वय अन्वाचय कहलाता है । (३) जहाँ पदार्थ मिलकर आगे अन्वित होते हैं, वह इतरेतरयोग है । (४) समूह को समाहार कहते हैं । इनमें से 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इस समुच्चय में तथा 'भिक्षाम् अट गां च आनय' इस अन्वाचय में सामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं होता । द्वन्द्व के उदाहरण — धवखदिरौ । संज्ञापरिभाषम् ।

विमर्श—द्वन्द्व समास अनेक पदों का होता है । अतः 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से 'अनेकम्' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । इसके अतिरिक्त 'प्राक्कडारात्समासः' से 'समासः', 'सुबामन्त्रिते०' (२।१।२) से 'सुप्' तथा 'विभाषा' (२।१।१६) की भी अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — ''च अव्यय के अर्थ में विद्यमान अनेक समर्थ सुबन्त शब्दों का परस्पर द्वन्द्व समास विकल्प से होता है ।'' 'च' के अर्थगत चार भेदों को स्पष्ट किया जा रहा है — (१) **समुच्चय**— परस्पर निरपेक्ष अनेक पदार्थों के एक क्रिया में पृथक् अन्वय करने को समुच्चय कहा जाता है । यथा — 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' (ईश्वर और गुरु की सेवा करो) में ईश्वर और गुरु दोनों आपस में निरपेक्ष हैं । दोनों का भजन क्रिया में स्वतन्त्र रूप से अन्वय होने के कारण 'च' से समुच्चय अर्थ सूचित होता है । समुच्चय में समास की योग्यता न होने से समास नहीं होता । (२) **अन्वाचय**— समुच्चीयमान पदार्थों में एक का अप्रधानरूप से अन्वय हो, तो उसे अन्वाचय कहते हैं । यथा — ''भिक्षाम् अट गां च आनय'' (भिक्षा के लिए जाओ और गाय भी ले आओ) इस वाक्य द्वारा भिक्षा के लिए जाते समय यदि गाय भी मिल जाय तो उसे भी लाने का आदेश दिया गया है । इस प्रकार मुख्य उद्देश्य भिक्षाटन है । गाय लाना गौण कार्य है । 'भिक्षाटन' और 'गो आनयन' —

मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः। संज्ञापरिमाणमिति। समूहः समाहारः। (१५९१) **राजदन्तादिषु परम् २।२।३१**। एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात्। दन्तानां राजा राजदन्तः। * **धर्मादिष्वनियमः** *। अर्थधर्मौ धर्मार्थौ। दम्पती, जम्पती, जायापती। जायाशब्दस्य

द्वन्द्वः। धवश्च खदिरश्चेति लौकिकविग्रहे, 'धव + सु, खदिर + सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'चार्थे द्वन्द्वः' इति समासे विभक्तिलोपे पुनः प्रातिपदिकत्वे औ विभक्तौ, सवर्णदीर्घे प्राप्ते 'नादिचि' इत्यनेन निषेधे 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ 'धवखदिरौ' इति।

(१५९१) **राजदन्तादिष्विति**। एषु प्रथमानिर्दिष्टत्वादुपसर्जनत्वेन पूर्वप्रयोगयोग्यं पदं परं स्यादित्यर्थः।

इन समुच्चीयमान पदार्थों में 'गाय लाना' रूप अप्रधान पदार्थ का अन्वय होने से 'च' का अर्थ अन्वाचय है। यहाँ भी असामर्थ्य होने के कारण समास नहीं होता। (३) **इतरेतरयोग**—जहाँ समस्त पद पृथक्-पृथक् अर्थबोध कराते हुए आगे अन्वित हों, तो उसे इतरेतरयोग कहा जाता है। यथा — 'धवखदिरौ छिन्धि' (धव और खैर को काटो) इस वाक्य में 'धव' और 'खदिर' पृथक्-पृथक् अर्थबोध कराते हुए परस्पर मिलकर आगे छेदनक्रिया में अन्वित होते हैं। इस प्रकार 'च' का अर्थ इतरेतरयोग (एक-दूसरे से सम्बन्ध) भी है। यहाँ सहविवक्षा रूप सामर्थ्य होने के कारण समास होता है। (४) **समाहार**—समाहार समूह को कहते हैं। अर्थात् जिनमें अनेक वस्तुओं के समूह अथवा संग्रह का भाव रहता है, उसे समाहार कहा जाता है। यथा — संज्ञापरिभाषम् (संज्ञा और परिभाषा)। **विग्रह**—'संज्ञा च परिभाषा च, तयोः समाहारः' में च का प्रयोग समूह अर्थ में हुआ है। समाहारद्वन्द्व में समुदाय के एकरूपात्मक होने के कारण एकवचन एवं नपुंसकलिङ्ग ही होता है।

(१५९१) **पद**—राजदन्तादिषु, परम्। **अनुवृत्ति**—उपसर्जनम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—राजदन्त आदि में पूर्वप्रयोगार्ह का परप्रयोग हो। राजदन्तः। **वा०**—धर्म आदि शब्दों में कोई नियम नहीं है। **उदाहरण**—अर्थधर्मौ। धर्मार्थौ। दम्पती, जम्पती, जायापती। 'जाया' शब्द के स्थान में 'जम्' अथवा 'दम्' का निपातन होता है। यह आकृतिगण है।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'उपसर्जनं पूर्वम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार यह सूत्रार्थ होता है कि "राजदन्त आदि गणपठित शब्दों में पूर्वपद के योग्य पद (उपसर्जन) का परप्रयोग होता है।"

उदाहरण—**विग्रह**—दन्तानां राजा। **अलौ० वि०**—दन्त + आम्, राजन् + सु (षष्ठीतत्पुरुष समास, दन्त की उपसर्जन संज्ञा होने से प्राप्त पूर्वनिपात का बाध कर परनिपात — 'राजदन्तादिषु परम्', विभक्तिकार्य) = राजदन्तः (दाँतों में श्रेष्ठ)।

वा०—राजदन्तादिगणपठित शब्दों में धर्म आदि शब्दों के विषय में पूर्व/परप्रयोग का कोई नियम प्रवृत्त नहीं होता। अर्थात् धर्म आदि शब्दों में इच्छानुसार कोई भी शब्द पूर्वप्रयुक्त हो सकता है।

उदाहरण—अर्थश्च धर्मश्च (द्वन्द्वसमास) = अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ (धर्म और अर्थ) दोनों रूप बनते हैं। **विग्रह**—जाया च पतिश्च (द्वन्द्व समास — 'चार्थे द्वन्द्वः', विभक्तिलोप, 'जाया' शब्द को 'दम्' और 'जम्' — निपातन से, परवल्लिङ्ग — 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः', पुंल्लिङ्ग प्रथमा द्विवचन में विभक्तिकार्य) = जम्पती। दम्पती। निपातन न होने पर — जायापती (पति और पत्नी)।

दम्भावो जम्भावश्च वा निपात्यते। आकृतिगणोऽयम्। **(१५९२) द्वन्द्वे घि २।२।३२।** द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात्। हरिहरौ। **(१५९३) अजाद्यदन्तम् २।२।३३।** ईशकृष्णौ। **(१५९४) अल्पाच्तरम् २।२।३४।** शिवकेशवौ। *** ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणामानुपूर्व्येण *।** हेमन्तशिशिरवसन्ताः। कृत्तिकारोहिण्यौ।

(१५९२) **द्वन्द्वे घि। हरिहरौ**—हरिश्च हरश्चेति विग्रहे इतरेतरयोगद्वन्द्वसमासे सुब्लुकि 'द्वन्द्वे घि' इति घिसंज्ञकस्य हरिशब्दस्य पूर्वनिपाते द्विवचने विभक्तिकार्ये 'हरिहरौ' इति।

(१५९३) **अजाद्यदन्तमिति**। अजादित्वे सति अदन्तं पूर्वं प्रयोज्यमित्यर्थः।

(१५९४) **अल्पाच्तरमिति**। अल्पः अल्पसंख्यः अच्यस्य तदल्पाच्, तदेवाल्पाच्तरम्। द्वन्द्वे अल्पसंख्यावाचकं पदं पूर्वं प्रयोज्यमिति।

(१५९२) **पद**—द्वन्द्वे, घि। **अनुवृत्ति**—पूर्वम्। **विधि (नियम) सूत्र**।

मूलार्थ—द्वन्द्व में घिसंज्ञक का पूर्वनिपात होता है। हरिहरौ।

विमर्श—पूर्वनिपात का प्रकरण चल रहा है। सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार – ''द्वन्द्व समास में घिसंज्ञक का पूर्वप्रयोग होता है''।

उदाहरण—विग्रह—हरिश्च हरश्च (समास — 'चार्थे द्वन्द्वः', विभक्तिलोप, हरि शब्द की घिसंज्ञा होने से पूर्वप्रयोग — 'द्वन्द्वे घि', प्रथमा द्विवचन, विभक्तिकार्य) = हरिहरौ (हरि और हर)।

(१५९३) **पद**—अजाद्यदन्तम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वे, पूर्वम्। **विधि (नियम) सूत्र**।

मूलार्थ—जो शब्द अजादि और अदन्त है, उसका द्वन्द्व में पूर्वनिपात होता है। ईशकृष्णौ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्र 'द्वन्द्वे घि' (१५९२) से 'द्वन्द्वे' तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार — ''द्वन्द्व समास में अजादि (स्वर) और अदन्त पद का पूर्वप्रयोग होता है।''

उदाहरण—विग्रह—ईशः च, कृष्णः च (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, अजादि एवम् अकारान्त होने से 'ईश' का पूर्वप्रयोग, विभक्तिकार्य) = ईशकृष्णौ (ईश्वर और कृष्ण)।

(१५९४) **पद**—अल्पाच्तरम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वे, पूर्वम्। **विधि (नियम) सूत्र**।

मूलार्थ—द्वन्द्व में अल्प अच् वाले शब्द का पूर्वनिपात होता है। शिवकेशवौ। **वा०**—ऋतु और नक्षत्र वाचक समान अक्षरों वाले शब्दों का आनुपूर्वी क्रम से पूर्व एवं पर निपात होता है। हेमन्तशिशिरवसन्ताः। कृत्तिकारोहिण्यौ। 'समाक्षराणाम्' क्यों कहा? ग्रीष्मवसन्तौ।

वा०—लघु अक्षर वाले शब्द का द्वन्द्व में पूर्वप्रयोग होता है। कुशकाशम्। **वा०**—अभ्यर्हित (= श्रेष्ठ) का पूर्वनिपात होता है। तापसपर्वतौ। **वा०**—वर्णों का आनुपूर्वी क्रम से पूर्वनिपात होता है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः। **वा०**—ज्येष्ठ भ्रातृबोधक शब्द का द्वन्द्व में पूर्वनिपात होता है। युधिष्ठिरार्जुनौ।

विमर्श—पूर्वप्रयोग का ही प्रकरण चल रहा है। पूर्वसूत्र के समान प्रकृत सूत्र में भी 'द्वन्द्वे' और 'पूर्वम्' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — ''अल्प अच् = स्वर वर्ण वाले पद का पूर्वप्रयोग होता है।''

उदाहरण—विग्रह—शिवश्च केशवश्च (समास, विभक्तिलोप, अल्प अच् वाले पद 'शिव' का पूर्वप्रयोग — 'अल्पाच्तरम्', विभक्तिकार्य) = शिवकेशवौ (शंकर और विष्णु)।

१. वा०—समान अक्षर वाले ऋतु एवं नक्षत्रवाचक शब्दों का कालक्रमानुसार पूर्वनिपात होता

समाक्षराणां किम् ? ग्रीष्मवसन्तौ। लघ्वक्षरं पूर्वम्। कुशकाशम्। * अभ्यर्हितं च *। तापसपर्वतौ। * वर्णानामानुपूर्व्येण *। ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः। * भ्रातुर्ज्यायसः *। युधिष्ठिरार्जुनौ। **(१५९५) द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २।४।२**। एषां द्वन्द्व एकवत्। पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्। **(१५९६) अध्य-**

(१५९५) **द्वन्द्वश्चेति**। एषां=प्राण्यङ्गतूर्याङ्गसेनाङ्गानां द्वन्द्वः एकवत्स्यादित्यर्थः। समाहारस्यैकत्वेनैव सिद्धे प्राण्यङ्गानां समाहारद्वन्द्व एव स्यादिति नियमार्थमिदं वचनम्। **पाणिपादम्**। 'पाणी च पादौ च एषां समाहारः' इति विग्रहे द्वन्द्वसमासे विभक्तिलोपे घिसंज्ञकस्य पूर्वप्रयोगे 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इत्येकवद्भावे क्लीबत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे 'पाणिपादमि'ति।

है। **उदाहरण—विग्रह**—हेमन्तश्च शिशिरश्च वसन्तश्च। **अलौ० वि०**—हेमन्त + सु, शिशिर + सु, वसन्त + सु (समास — 'चार्थे द्वन्द्वः', विभक्तिलोप, ऋतुओं के पौर्वापर्य के अनुसार पौर्वापर्य, विभक्तिकार्य) = हेमन्तशिशिरवसन्ताः। **विग्रह**—कृत्तिका च रोहिणी च (द्वन्द्व समास, विभक्तिकार्य, नक्षत्रों के क्रमानुसार पौर्वापर्य, वि० कार्य) = कृत्तिकारोहिण्यौ।

वार्तिक में 'समाक्षराणाम्' (समान अक्षर युक्त) शब्दों तक ही उक्त नियम सीमित रहने से ग्रीष्मश्च वसन्तश्च = 'ग्रीष्मवसन्तौ' में उक्त नियम लागू नहीं हुआ; अपितु — 'अल्पाच्तरम्' के अनुसार न्यून स्वर वर्णयुक्त ग्रीष्म का पूर्वप्रयोग हुआ।

२. वा०—द्वन्द्व समास में दीर्घ स्वर अक्षर युक्त पद की अपेक्षा लघु स्वर अक्षर वाले पद का पूर्वप्रयोग होता है। **उदाहरण—विग्रह**—कुशाश्च काशाश्च, तेषां समाहारः (समास, विभक्तिलोप, लघु अच् होने से कुश का पूर्वप्रयोग, समाहार में नपुंसकलिङ्ग एकवचन में विभक्तिकार्य) = कुशकाशम् (कुश और काश)।

३. वा०—अभ्यर्हित (पूज्य) का द्वन्द्व में पूर्वप्रयोग होता है। **उदाहरण—विग्रह**—तापसश्च, पर्वतश्च (समास, पूज्य होने के कारण तापस का पूर्वप्रयोग, प्रक्रिया पूर्ववत्) = तापसपर्वतौ (तपस्वी और पर्वत)।

४. वा०—ब्राह्मण आदि वर्णों का द्वन्द्व में आनुपूर्वी (यथाक्रम) से पूर्वप्रयोग होता है। **उदाहरण— विग्रह**—ब्राह्मणश्च, क्षत्रियश्च, विट् च, शूद्रश्च (समासप्रक्रिया पूर्ववत्, वर्णवाचक पदों का क्रम से पूर्वप्रयोग) = ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः।

५. वा०—भ्राताओं के मध्य में ज्येष्ठ का पूर्वप्रयोग होता है। **उदाहरण—विग्रह**—युधिष्ठिरश्च अर्जुनश्च (समास — द्वन्द्व, ज्येष्ठभ्रातृवाचक युधिष्ठिर का पूर्वप्रयोग, विभक्तिकार्य) = युधिष्ठिरार्जुनौ (युधिष्ठिर और अर्जुन)।

(१५९५) **पद**—द्वन्द्वः, च, प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्। **अनुवृत्ति**—एकवचनम्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—प्राण्यङ्ग, तूर्याङ्ग और सेनाङ्गवाची द्वन्द्व एकवत् होता है। पाणिपादम्। रथिकाश्वारोहम्।

विमर्श—समाहार द्वन्द्व की विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है। 'द्विगुरेकवचनम्' (२।४।१) से 'एकवचनम्' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'अङ्ग' पद का अन्वय प्राणि, तूर्य तथा सेना — तीनों शब्दों के साथ पृथक्-पृथक् होता है। अतः "प्राणी के अङ्ग, तूर्य (वाद्य-विशेष) के अङ्ग तथा सेना के अङ्गों के द्वन्द्व समास को भी एकवद्भाव हो जाता है।"

उदाहरण—विग्रह—पाणी च पादौ च, तयोः समाहारः। **अलौ० वि०**—पाणि + औ,

यनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् २।४।५ । अध्ययनेन प्रत्यासन्ना आख्या येषां तेषां द्वन्द्व एकवत्। पदकक्रमकम्। **(१५९७) जातिरप्राणिनाम् २।४।६ ।** प्राणिवर्ज्य-जातिवाचिनां द्वन्द्व एकवत्। धानाशष्कुलि। प्राणिनां तु – विट्शूद्राः। **(१५९८) विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः २।४।७ ।** ग्रामवर्जनदीदेशवाचिनां भिन्नलिङ्गानां द्वन्द्व

(१५९६) **पदकक्रमकमिति।** पदान्यधीयते इति पदकाः। क्रमान् अधीयत इति क्रमकाः। पदकानां क्रमकाणाञ्च समाहार इति विग्रहः।

(१५९७) **जातिरप्राणिनामिति।** जातिरित्यत्र षष्ठीबहुवचनस्थाने व्यत्ययेन प्रथमा। जातिवाचिनामित्यर्थः। **धानाशष्कुलि** – धानाश्च शष्कुल्यश्च तासां समाहार इति विग्रहः। जातिवाचित्वादेकवत्त्वम्। नपुंसकत्वात् ह्रस्व इति भावः।

(१५९८) **विशिष्टलिङ्ग इति।** ग्रामवाचकभिन्नाः भिन्नलिङ्गकाः ये नदीवाचिनः, ये देशवाचिनश्च शब्दाः तेषां द्वन्द्व एकवत्स्यादिति सूत्रार्थः।

पाद + औ (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, पाणि का पूर्वनिपात — 'द्वन्द्वे घि', एकवद्भाव — 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्', नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन विभक्तिकार्य) = पाणिपादम् (हाथ और पैर)। **विग्रह**—मार्दङ्गिकाश्च वैणविकाश्च, तेषां समाहारः (द्वन्द्वसमास, एकवद्भाव आदि) = मार्दङ्गिकवैणविकम् (मृदङ्ग बजाने वाला और वेणु बजाने वाला)। **विग्रह**—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च, तेषां समाहारः (द्वन्द्वसमास, रथिक का पूर्वनिपात, प्रकृत सूत्र से एकवद्भाव, विभक्तिकार्य) = रथिकाश्वारोहम् (रथसैनिक तथा अश्वारोही सैनिक)।

(१५९६) **पद**—अध्ययनतः, अविप्रकृष्टाख्यानाम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—जिनकी संज्ञा अध्ययन से निकट हो उनका द्वन्द्व एकवत् होता है। पदकक्रमकम्।

विमर्श—एकवद्भाव का प्रकरण चल रहा है। 'विप्रकृष्ट' पद दूरार्थक है। अतः 'अविप्रकृष्ट' का अर्थ सन्निकट है। अतः सूत्रार्थ इस प्रकार होगा — "अध्ययन से जिनकी आख्या (संज्ञा) निकट हो; तद्वाची शब्दों के द्वन्द्व समास का प्रयोग एकवचन में होता है।"

उदाहरण—विग्रह—पदकानां क्रमकाणां च समाहारः (समास, विभक्तिलोप, एकवद्भाव — 'अध्ययनतोऽविप्रकृष्टानाम्', समाहार में नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में विभक्तिकार्य) = पदकक्रमकम् (पदपाठ और क्रमपाठ करने वाले)।

(१५९७) **पद**—जातिः, अप्राणिनाम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—प्राणिभिन्न जातिवाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है। धानाशष्कुलि। विट्शूद्राः।

विमर्श—प्रथमान्त 'जातिः' पद षष्ठ्यन्त अर्थ का बोधक है। पूर्वसूत्र (१५९५) से 'द्वन्द्वः' तथा 'द्विगुरेकवचनम्' (२।४।१) से 'एकवचनम्' की अनुवृत्ति आती है। अतः "प्राणिभिन्न जातिवाचक शब्दों का द्वन्द्व समास में एकवद्भाव किया जाता है।"

उदाहरण—विग्रह—धानाश्च, शष्कुल्यश्च, तासां समाहारः (समास, एकवद्भाव — 'जातिर-प्राणिनाम्', नपुंसकलिङ्ग, ह्रस्व आदि) = धानाशष्कुलि (भुने हुए धान और पूड़ी)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में प्राणिभिन्नवाचक जाति शब्दों की अपेक्षा होने के कारण 'विशः च शूद्राः च = विट्शूद्राः' यहाँ इतरेतरद्वन्द्व में एकवद्भाव नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ वैश्य और शूद्र शब्द प्राणि-भिन्न नहीं हैं।

(१५९८) **पद**—विशिष्टलिङ्गः, नदीदेशः, अग्रामाः। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेशसूत्र**।

एकवत्। उद्ध्यश्च इरावती च उद्ध्येरावति। गङ्गाशोणम्। कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरु-कुरुक्षेत्रम्। (१५९९) क्षुद्रजन्तवः २।४।८। एषां द्वन्द्व एकवत्। यूकालिक्षम्। आनकुलात्क्षुद्रजन्तवः। (१६००) येषां च विरोधः शाश्वतिकः २।४।९। प्राग्वत्। अहिनकुलम्। गोव्याघ्रम्। काकोलूकमित्यादौ परत्वाद्विभाषा वृक्षेति प्राप्तं

(१५९९) **क्षुद्रजन्तव इति। यूकालिक्षमिति।** यूकाश्च लिक्षाश्चेति विग्रहः। केश-बहुले शिरःप्रदेशे स्वेदजाः जन्तुविशेषाः यूकाः लिक्षाश्च। एकवत्त्वं नपुंसकह्रस्वं च।

(१६००) **येषां चेति।** शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे – **प्राग्वदिति।** समाहारद्वन्द्वः एकवद्भवतीत्यर्थः। **अहिनकुलम्** — अहयो नकुलश्चेति विग्रहः। अनयोः स्वाभाविकः विरोधः प्रसिद्धः। विरोधः = वैरम्, न तु सहानवस्थितिः।

मूलार्थ—ग्रामवर्जभिन्न लिङ्ग वाले नदी और देशवाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है। उद्ध्येरावति। गङ्गाशोणम्। कुरुकुरुक्षेत्रम्।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार — ''ग्रामवाची शब्दों को छोड़कर विभिन्न लिङ्ग वाले नदीवाचक तथा देशवाचक शब्दों का द्वन्द्व समास होने पर एक-वद्भाव होता है।''

उदाहरण—विग्रह—उद्ध्यश्च इरावती च, तयोः समाहारः (समासादि कार्य पूर्ववत्, यहाँ उद्ध्य शब्द पुल्लिङ्ग तथा इरावती शब्द स्त्रीलिङ्ग है। अतः दोनों शब्द भिन्न लिङ्ग एवं नदीवाचक हैं। प्रकृत सूत्र द्वारा एकवद्भाव, नपुंसकलिङ्ग में ह्रस्व) = उद्ध्येरावति (उद्ध्य नद तथा इरावती नदी)। **विग्रह**—गङ्गा च शोणश्च (समासादि कार्य, एकवद्भाव, विभक्तिकार्य) = गङ्गाशोणम् (गङ्गा और सोन नदी)। **विग्रह**—कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च (देश तथा नगरवाची शब्दों का द्वन्द्वसमास, एकवद्भाव, विभक्तिकार्य) = कुरुकुरुक्षेत्रम् (कुरुदेश तथा कुरुक्षेत्र)।

(१५९९) **पद**—क्षुद्रजन्तवः, **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—क्षुद्र जन्तुवाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है। यूकालिक्षम्। नेवले से लेकर छोटे सभी जीव-जन्तुओं को 'क्षुद्रजन्तु' कहा जाता है।

विमर्श—एकवद्भाव का ही प्रकरण चल रहा है। अतः उक्त अनुवृत्तियों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। अतः ''क्षुद्र जन्तुवाचक शब्दों का द्वन्द्व समास होने पर एकवद्भाव हो जाता है।''

उदाहरण—विग्रह—यूकाश्च लिक्षाश्च (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, क्षुद्रजन्तुओं यूक और 'लिक्ष' का समाहार द्वन्द्व होने से एकवद्भाव — 'क्षुद्रजन्तवः', विभक्तिकार्य) = यूकालिक्षम् (जूँ और लीख)।

(१६००) **पद**—येषां च, विरोधः, शाश्वतिकः। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—जिनका सहज विरोध है, तद्वाची शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है। अहिनकुलम्। गोव्याघ्रम्। काकोलूकम्। अन्तिम दो उदाहरणों में इस सूत्र के परवर्ती होने के कारण 'विभाषा वृक्षमृग०' सूत्र से प्राप्त वैकल्पिक एकवद्भाव का 'च' से बाध हो जाता है।

विमर्श—उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव यथावत् विद्यमान है। तदनुसार — ''जिन जीवों का स्वाभाविक विरोध होता है, उनका समाहार द्वन्द्व भी एकवत् होता है।''

उदाहरण—विग्रह—अहयश्च नकुलाश्च। **अलौ० वि०**—अहि + जस्, नकुल + जस् (समासादि कार्य पूर्ववत्, एकवद्भाव — **'येषां च विरोधः शाश्वतिकः'**, विभक्तिकार्य) = **अहिनकुलम्**

चकारेण बाध्यते। (१६०१) शूद्राणामनिरवसितानाम् २।४।१०। अबहिष्कृतानां शूद्राणां द्वन्द्वः प्राग्वत्। तक्षायस्कारम्। पात्राद्बहिष्कृतानां तु चण्डालमृतपाः। (१६०२) गवाश्वप्रभृतीनि च २।४।११। यथोच्चारितानि तथैव साधूनि। गवाश्वम्। दासीदासमित्यादि। (१६०३) विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनप-

---

(१६०१) **शूद्राणामनिरवसितानाम्**। अनिरवसितानाम् = अबहिष्कृतानामिति। **तक्षायस्कारमिति**। तक्षाणश्च अयस्कारश्चेति विग्रहः।

(१६०२) **गवाश्वप्रभृतीनि च**। गवाश्वप्रभृतीनि यथा गणे पठितानि तथैव साधूनीत्यर्थः।

(सर्प और नेवला)। काकाश्च उलूकाश्च (समासादि उक्तवत्) = काकोलूकम् (कौआ और उल्लू)। **विग्रह**—गावश्च व्याघ्राश्च (गाय तथा शेर) = गोव्याघ्रम्।

विशेष—'गोव्याघ्रम्' तथा 'काकोलूकम्' में 'विभाषा वृक्षमृगतृणधान्य०' (१६०३) सूत्र से परत्वात् वैकल्पिक एकवद्भाव स्वतः प्राप्त था; परन्तु प्रकत सूत्रस्थ चकार से उसका बाध होकर नित्य एकवद्भाव होता है।

(१६०१) **पद**—शूद्राणाम्, अनिरवसितानाम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—अबहिष्कृत शूद्रों का द्वन्द्व एकवत् होता है। तक्षायस्कारम्। पात्रों की अग्राह्यता से निरवसित (= बहिष्कृत) शूद्रवाची शब्दों का द्वन्द्व समास होने पर 'चण्डालमृतपाः' में एकवद्भाव नहीं होता।

विमर्श—सूत्रस्थ अनिरवसित शब्द का अर्थ 'अबहिष्कृत' है। बहिष्कृत होने में स्मृतिप्रतिपादित नियमों की ओर ध्यान दिलाया गया है। त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) से भिन्न वर्ण के लिए शूद्र शब्द का प्रयोग किया गया है। उसमें भी कुछ ग्राह्य और कुछ अग्राह्य बताये गये हैं। जिनके उच्छिष्ट (जूठे) पात्र क्षारमिश्रित जल से माँजने पर भी शुद्ध न माने जायें, वे निरवसनीय हैं। इसके विपरीत क्षार आदि से माँजने पर जिनके पात्र शुद्ध माने जायें, वे अनिरवसनीय कहलाते हैं। निरवसनीय में चाण्डाल आदि की गणना की जाती है।

उदाहरण—विग्रह—तक्षाणश्च अयस्काराश्च तेषां समाहारः। **अलौ० वि०**—तक्षन् + जस्, अयस्कार + जस् (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, न् का लोप, दीर्घ, प्रकृत सूत्र से एकवद्भाव, पुनः विभक्ति सु, नपुंसकलिङ्ग में सु = अम्, पूर्वरूप) = तक्षायस्कारम् (बढ़ई तथा लोहार)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अनिरवसित' का निवेश होने से निरवसित शूद्रों के द्वन्द्व समास में एकवद्भाव नहीं होता। चण्डालाश्च मृतपाश्च = चण्डालमृतपाः (चाण्डाल और डोम) में एकवचन नहीं हुआ।

(१६०२) **पद**—गवाश्वप्रभृतीनि, च। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—गवाश्व आदि जैसा गणपठित है वैसा ही साधु माना जाय। गवाश्वम्। दासीदासम्।

विमर्श—गवाश्व आदि गण में जैसा गवाश्व आदि का पाठ है वैसे ही समीचीन समझे जायें। पूर्वोक्त पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "गवाश्व आदि पदों की एकवद्भाव युक्त साधुता मानी जाती है।"

उदाहरण—विग्रह—गावश्च अश्वाश्च। **अलौ० वि०**—गो + जस्, अश्व + जस् (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, ओ = अवङ् = अव आदेश, दीर्घ, प्रकृत सूत्र से एकवद्भाव होने पर नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन) = गवाश्वम् (गाय और घोड़े)। यहाँ पशुवाची द्वन्द्व होने से वैकल्पिक एकवद्भाव प्राप्त है, उसका यह निपातन बाधक है।

शुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् २।४।१२। वृक्षादीनां सप्तानां द्वन्द्वः, अश्ववडवेत्यादि द्वन्द्वत्रयं च प्राग्वद्वा। वृक्षादौ विशेषाणामेव ग्रहणम्। प्लक्षन्यग्रोधं, प्लक्षन्यग्रोधाः। रुरुपृषतम्, रुरुपृषतः। कुशकाशम्, कुशकाशाः। व्रीहियवम्, व्रीहियवाः। दधिघृतम्, दधिघृते। गोमहिषम्, गोमहिषाः। शुकबकम्, शुकबकाः। अश्ववडवम्, अश्ववडवौ। पूर्वापरम्, पूर्वापरे। अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे। *फलसेनाङ्गवनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवदिति वाच्यम्*। बदराणि चामलकानि च बदरामलकम्। नेह—बदरामलके। रथिकाश्वारोहावित्यादि।

(१६०३) **विभाषेति। प्राग्वद्वेति** — विकल्पेन एकवदित्यर्थः। **वृक्षादाविति।** वृक्षविशेषवाचिनां तृणविशेषवाचिनां धान्यविशेषवाचिनां पशुविशेषवाचिनां चेत्यर्थः।

(१६०३) **पद**—विभाषा, वृक्षमृग.......... पूर्वापराधरोत्तराणाम्। **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वः, एकवत्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ—वृक्ष आदि सातों का तथा अश्व, वडव आदि तीनों का द्वन्द्व विकल्प से एकवत् होता है। **वा०**—वृक्ष आदि में विशेष का ही ग्रहण होता है। प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः। रुरुपृषतम्, रुरुपृषताः। कुशकाशम्, कुशकाशाः। व्रीहियवम्, व्रीहियवाः। दधिघृतम्, दधिघृते। गोमहिषम्, गोमहिषाः। शुकबकम्, शुकबकाः। अश्ववडवम्, अश्ववडवौ। पूर्वापरम्, पूर्वापरे। अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे। **वा०**—फल, सेना, वनस्पति, मृग, शकुनि, क्षुद्रजन्तु, धान्य तथा तृण — इनके द्वन्द्व में बहुवचन ही एकवत् होता है। बदरामलकम्, बदरामलके आदि में एकवद्भाव नहीं होता।

विमर्श—एकवद्भाव का प्रकरण चल रहा है। पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होता है "वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, शकुनि — इन सात शब्दों का तथा अश्ववडव, पूर्वापर एवं अधरोत्तरवाची शब्दों का द्वन्द्व समास विकल्प से एकवत् होता है।" वार्तिक द्वारा 'वृक्ष' के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण दिया गया है। वृक्ष-विशेषवाचक शब्दों का द्वन्द्व में एकवद्भाव होगा।

वृक्ष आदि के क्रमशः उदाहरण—(१) **वृक्ष**—**विग्रह**—प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च (समास, विभक्तिलोप, समाहारद्वन्द्व में विकल्प से एकवद्भाव — 'विभाषा वृक्षमृग०', नपुंसकलिङ्ग में एकवचन विभक्तिकार्य) = प्लक्षन्यग्रोधम्। एकवद्भाव के अभाव पक्ष में इतरेतरद्वन्द्व की स्थिति में वृक्षगत अनेकता के कारण बहुवचन पुल्लिङ्ग का प्रयोग — 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः') = प्लक्षन्यग्रोधाः (पाकड़ तथा बरगद)। **मृग**—(२) रुरवश्च पृषताश्च (प्रक्रिया उक्तवत्, समाहार की विवक्षा में एकवद्भाव, पक्ष में इतरेतरयोगद्वन्द्व अतः बहुवचन) = रुरुपृषतम्, रुरुपृषताः (काले और चित्तीदार हिरन)। **तृण**—(३) **विग्रह**—कुशाः च काशाः च (प्रक्रिया उक्तवत्, विकल्प से एकवद्भाव) = कुशकाशम्, कुशकाशाः (कुश और काश)। **धान्य**—(४) **विग्रह**—व्रीहयश्च यवाश्च (निपातन के फलस्वरूप एकवद्भाव। पक्ष में — बहुवचन) = व्रीहियवम्, व्रीहियवाः (धान और जौ)। **व्यञ्जन**—(५) **विग्रह**—दधि च घृतं च (पूर्ववत् विकल्प से एकवद्भाव) = दधिघृतम्, दधिघृते (दही और घी)। **पशु**—(६) **विग्रह**—गावः च महिषाः च (पूर्ववत् प्रक्रिया) = गोमहिषम्, गोमहिषाः (गायें और भैंसें)। **शकुनि**—(७) **विग्रह**—शुकाश्च बकाश्च (उक्तवत् विकल्प से एकवद्भाव) = शुकबकम्, शुकबकाः। सूत्रोक्त सात शब्दों की प्रक्रिया का निर्देश कर अब तीन अश्ववडवादि की प्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है। (८) **विग्रह**—अश्वाश्च वडवाश्च (पूर्ववत् समाहारद्वन्द्व, एकवद्भाव विकल्प से) = अश्ववडवम्। पक्ष में — अश्ववडवौ (घोड़े और घोड़ियाँ)। (९) पूर्वम् च अपरं

(१६०४) न दधिपय आदीनि २।४।१४। नैकवत्स्युः। दधिपयसी। इध्मा-बर्हिषी। निपातनाद्दीर्घः। ऋक्सामे। वाङ्मनसे। **(१६०५) आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ६।३।२५।** विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनां ऋदन्तानां द्वन्द्वे आनङ् स्यादुत्तरपदे। होता-

---

(१६०४) **न दधिपय आदीनि।** एषां समाहारद्वन्द्वो नास्तीत्यर्थः। **दधिपयसी** — दधि च पयश्चेति विग्रहः। 'जातिरप्राणिनामि'ति प्राप्तं नित्यमेकवत्त्वं बाधित्वा विकल्पः प्राप्तः सोऽपि न भवति।

(१६०५) **आनङ्ऋतो द्वन्द्वे। विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनामिति।** विद्यासम्बन्धवाचिनां योनिसम्बन्धवाचिनामित्यर्थः। 'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः।

च (निपातन के अनुसार समाहार द्वन्द्व में नपुंसकलिङ्ग, एकवद्भाव) = पूर्वापरम्। पक्ष में प्रथमा द्विवचन — पूर्वापरे। (१०) अधरं च उत्तरं च (पूर्ववत् प्रक्रिया, विकल्प से एकवद्भाव) = अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे (नीचे का और ऊपरी भाग)।

वा० — फल, सेना, वनस्पति, मृग, शकुनि, क्षुद्रजन्तु, धान्य तथा तृण – इन शब्दों के बहुवचन-प्रकृतिक द्वन्द्व को ही एकवद्भाव होता है। अर्थात् एकवचन और द्विवचनान्त द्वन्द्व को एकवद्भाव नहीं होता।

उदाहरण — बदराणि च आमलकानि च (द्वन्द्व समास, वार्तिक से एकवद्भाव, नपुंसकलिङ्ग में विभक्तिकार्य) = बदरामलकम् (बेर और आँवले)। वार्तिक में 'बहुप्रकृतिक' पद का निवेश होने से 'बदरामलके' में एकवद्भाव नहीं होता। इसी प्रकार 'रथिकाश्वारोहौ' में भी एकवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं हुई।

(१६०४) **पद** — न, दधिपय आदीनि। **अनुवृत्ति** — द्वन्द्वः, एकवचनम्। **अतिदेश (निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ — दधिपयस् आदि का द्वन्द्व एकवत् नहीं होता। दधिपयसी। इध्माबर्हिषी। निपातन से दीर्घ। ऋक्सामे। वाङ्मनसे।

विमर्श — पूर्वप्राप्त एकवद्भाव का निषेध बतलाया जा रहा है। पूर्ववत् 'द्वन्द्वः' तथा 'एकवचनम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — ''दधिपयसी आदि शब्दों को द्वन्द्व में एकवद्भाव नहीं होता है।'' दधिपयस् शब्दों के व्यञ्जनवाची होने से 'विभाषा वृक्षमृग०' से प्राप्त एकवद्भाव का यह सूत्र निषेधक है।

उदाहरण — विग्रह — दधि च पयसश्च (समास, समाहारद्वन्द्व एकवद्भाव का निषेध होने से नहीं होता, अतः इतरेतरद्वन्द्व में द्विवचन) = दधिपयसी (दही और दूध)। इध्मं च बर्हिश्च (एकवद्भाव का निषेध, द्विवचन, निपातन से इध्म को दीर्घ) = इध्माबर्हिषी (हवन की लकड़ी और कुश)। ऋक् च साम च (समास, विभक्तिलोप, एकवद्भाव का निषेध, अच् = 'अ' – 'अचतुर-विचतुर०') — ऋक्सामन् + अ (टि = अन् का लोप, औ विभक्ति, औ = शी = ई, गुण) = ऋक्सामे (ऋग्वेद और सामवेद)। वाक् च मनश्च (समास, एकवद्भाव का निषेध, पूर्ववत् समासान्त अच् प्रत्यय होकर प्रथमा द्विवचन में) = वाङ्मनसे (वाणी और मन)।

(१६०५) **पद** — आनङ्, ऋतः, द्वन्द्वे। **अनुवृत्ति** — विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ — विद्यायोनि सम्बन्धवाची ऋदन्तों के द्वन्द्व में आनङ् होता है, उत्तरपद के परे रहते। होतापोतारौ। मातापितरौ। यहाँ 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' सूत्र से 'पुत्रे' पद की अनुवृत्ति करने पर — पितापुत्रौ।

विमर्श — द्वन्द्वसमास-विषयक अन्य आदेश का उल्लेख किया जा रहा है। 'ऋतो विद्यायोनि-सम्बन्धेभ्यः' (६।३।२२) से 'विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'उत्तरपदे' का

पोतारौ । मातापितरौ । पुत्रे इत्यनुवृत्तेः पितापुत्रौ । (१६०६) देवताद्वन्द्वे च ६।३। २६ । इहोत्तरपदे पूर्वपदस्यानङ् । मित्रावरुणौ । * वायुशब्दप्रयोगे प्रतिषेधः * । अग्नि-वायू । वाय्वग्नी । (१६०७) ईदग्नेः सोमवरुणयोः ६।३।२७ । देवताद्वन्द्व इत्येव ।

मातापितरौ — माता च पिता चेति लौकिकविग्रहे 'मातृ + सु, पितृ + सु' इत्यलौकिकविग्रहे द्वन्द्वसमासे विभक्तिलोपे 'मातरपितरावुदीचामि'त्यनेन अरङादेशे निपातिते प्रातिपदिकत्वे 'मातर्पितृ + औ' इति जाते औप्रत्ययस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन गुण रपरत्वे 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' इति पूर्वपदस्थानङादेशे विभक्तिकार्ये 'मातापितरौ' इति ।

(१६०६) **देवताद्वन्द्वे चेति** । 'उत्तरपदे' इत्यधिकृतम् । **मित्रावरुणौ** — मित्रश्च वरुणश्चेति विग्रहे द्वन्द्वसमासे विभक्तिलोपे 'देवताद्वन्द्वे चे' त्यनेन पूर्वपदस्यानङदेशेऽनुबन्धलोपे प्रातिपदिकत्वे औ विभक्तौ 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धौ 'मित्रावरुणौ' इति ।

(१६०७) **ईदग्नेः** । **इत्येवेति** । 'देवताद्वन्द्वे' इत्यनुवर्तत एवेति भावः । सोमशब्दे वरुण-शब्दे च उत्तरपदे परे अग्नेरीदादेशः स्याद्देवताद्वन्द्वे इत्यर्थः ।

आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार — ''विद्या सम्बन्धी एवं रक्तसम्बन्धवाची ह्रस्व ऋकारान्त पदों के द्वन्द्व समास में उत्तरपद परे रहते आनङ् आदेश होता है ।'' 'ङिच्च' सूत्र के अनुसार ङित् अनेकाल् आदेश आनङ् = आन् अन्त्य अल् के स्थान पर होगा ।

उदाहरण—विग्रह—होता च पोता च । **अलौ० वि०**—होतृ + सु, पोतृ + सु (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, पुनः विभक्ति औ, ऋ = आनङ् = 'आन्' — 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे', 'न्' का लोप) — होतापोतृ + औ (ऋ = अर् — गुण, रपर, अ = 'आ' – दीर्घ – 'असृन्तृच्०') = होतापोतारौ (होता और ऋत्विक) । माता च पिता च (समासप्रक्रिया पूर्ववत्, ऋ = आनङ् आदेश) = मातापितरौ (माता और पिता) । पिता च पुत्रश्च = 'पितापुत्रौ' में उक्त सूत्र से आनङ् की प्राप्ति नहीं होती । क्योंकि उक्त सूत्र से ह्रस्व ऋकारान्त पदों का ऋकारान्त के साथ समास होने पर ही आनङ् की प्रवृत्ति होती है । इसके समाधान के लिए कहा गया है कि प्रकृत सूत्र में 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' (६।३।२२) से मण्डूकप्लुति द्वारा 'पुत्रे' पद की अनुवृत्ति करने से पुत्र शब्द के परवर्ती होने पर भी पूर्वपद को आनङ् हो जाता है ।

(१६०६) **पद**—देवताद्वन्द्वे, च । **अनुवृत्ति**—आनङ्, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—देवताद्वन्द्व में भी उत्तरपद परे रहते आनङ् होता है । मित्रावरुणौ । **वा०**—द्वन्द्व में देवतावाची वायु का प्रयोग होने पर इसका निषेध होता है । अग्निवायू – वाय्वग्नी ।

विमर्श—'उत्तरपदे' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । पूर्वसूत्र (१६०५) से 'आनङ्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — ''देवतावाची शब्दों के द्वन्द्व समास में भी उत्तरपद परे रहते पूर्वपद को आनङ् आदेश होता है ।'' ङित् होने से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान में होगा ।

उदाहरण—विग्रह—मित्रश्च वरुणश्च (द्वन्द्वसमास, विभक्तिलोप, अ = आनङ् = 'आन्' आदेश — 'देवताद्वन्द्वे च', 'न्' का लोप, पुनः विभक्ति औ, अ + औ = 'औ' वृद्धि — 'वृद्धिरेचि') = मित्रावरुणौ (सूर्य और वरुण) ।

वा०—वायु शब्द के पूर्वपद या उत्तरपद में रहने पर आनङ् नहीं होता । तदनुसार — (अग्निश्च वायुश्च) = 'अग्निवायू' और 'वाय्वग्नी' (अग्नि और वायु) में द्वन्द्व समास होने पर आनङ् नहीं होता ।

(१६०७) **पद**—ईत्, अग्नेः, सोमवरुणयोः । **अनुवृत्ति**—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

(१६०८) अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः ८।३।८२। अग्नेः परेषामेषां सस्य षः समासे। अग्निष्टुत्। अग्निष्टोमः। अग्निषोमौ। अग्नीवरुणौ। **(१६०९) इद् वृद्धौ ६।३।२८।** वृद्धिमित्युत्तरपदे अग्नेरिदादेशो देवताद्वन्द्वे। अग्नामरुतौ देवते अस्य अग्निमारुतं कर्म। अग्नीवरुणौ देवते अस्य अग्निवारुणम्। 'देवताद्वन्द्वे चे'त्युभयपदवृद्धिः। * विष्णौ

(१६०८) **अग्नेः स्तुत्स्तोमस्तोमाः**। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यनुवर्तते। तदाह — **अग्नेः परेषामिति**। अग्निष्टुत्। क्रतुविशेषः।

(१६०९) **इद् वृद्धौ**। अग्नेरिति देवताद्वन्द्वे इति चात्रानुवर्तते, वृद्धिपदेन वृद्धिमल्लक्ष्यते। तदाह — **वृद्धिमतीति**। **विष्णौ नेति**। विष्णुशब्दे परेऽग्नेरिकारो नेति वक्तव्यमित्यर्थः।

मूलार्थ—सोम और वरुण शब्द के परवर्ती रहते अग्नि शब्द को ईत् होता है। यह विधान देवताद्वन्द्व में ही होता है।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१६०६) से 'देवताद्वन्द्वे' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "देवतावाची शब्दों के द्वन्द्व समास में सोम और वरुण शब्द उत्तरपद रहते अग्नि शब्द को दीर्घ ईकार आदेश हो जाता है।" 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा द्वारा यह आदेश अन्तिम अल् के स्थान पर होगा।

(१६०८) **पद**—अग्नेः, स्तुत्-स्तोम-स्तोमाः। **अनुवृत्ति**—समासे, सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—समास में अग्नि से परे स्तुत्, स्तोम और सोम शब्द के स् को ष् आदेश होता है। अग्निष्टुत्। अग्निष्टोमः। अग्नीषोमौ। अग्नीवरुणौ।

विमर्श—प्रसंगवश षत्वप्रकरण का सूत्र उद्धृत किया जा रहा है। अतः 'तयोर्य्वाचि संहितायाम्' (८।२।१०८) से 'संहितायाम्', 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' (८।३।३०) से 'समासे', 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से षष्ठ्यन्त 'सः' तथा 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।५।५५) की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'अग्नेः' पद पञ्चम्यन्त है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होगा कि "अग्नि शब्द से परवर्ती स्तुत्, स्तोम और सोम के सकार को समास में मूर्धन्य (षकार) आदेश होता है।"

उदाहरण—**विग्रह**—अग्निः स्तूयते यत्र। अग्नि + स्तु + क्विप् ('क्विप्' का सर्वापहारलोप, तुक् = 'त्' का आगम तथा उपपदसमास, 'स्' = 'ष्' — आदेश — 'अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः') = अग्निष्टुत् (एक यज्ञ का नाम)। **विग्रह**—अग्नेः स्तोमः (षष्ठीतत्पुरुष, स् = ष् — प्रकृत सूत्र से, त् = ट् — 'ष्टुत्व', विभक्तिकार्य) = अग्निष्टोमः (स्तोत्रविशेष)। **विग्रह**—अग्निश्च सोमश्च (द्वन्द्व-समास, विभक्तिलोप, 'इ' = 'ई' — 'ईदग्नेः सोमवरुणयोः', स् = ष् — प्रकृत सूत्र से, प्रथमा द्विवचन में) = अग्नीषोमौ (यज्ञविशेष)। **विग्रह**—अग्निश्च वरुणश्च (द्वन्द्वसमास, 'इ' = 'ई' आदेश, प्रथमा द्विवचन विभक्तिकार्य) = अग्नीवरुणौ (अग्नि और वरुण)।

(१६०९) **पद**—इद्, वृद्धौ। **अनुवृत्ति**—अग्नेः, देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वृद्धिमान उत्तरपद परे रहते अग्नि को इत् होता है, देवताद्वन्द्व में। अग्निमारुतम्। अग्निवारुणम्। 'देवताद्वन्द्वे च' से उभयपदवृद्धि हुई है। **वा०** – विष्णु शब्द परे रहते इत् आदेश नहीं होता। अग्नावैष्णवम्।

विमर्श—देवताद्वन्द्व का प्रकरण है। पूर्वसूत्र (१६०६) से 'देवताद्वन्द्वे' तथा (१६०७) से 'अग्नेः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। 'उत्तरपदे' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "देवताद्वन्द्व में उत्तरपदस्थ पद यदि वृद्धि युक्त हो तो पूर्वपदस्थ अग्नि शब्द को इत् (ह्रस्व इकार) अन्तादेश होता है।"

न *। **अग्नावैष्णवम्। (१६१०) दिवो द्यावा ६।३।२९ । देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे। द्यावाभूमी। (१६११) मातरपितरावुदीचाम् ६।३।३२ । उदीचां किम् ? माता-**

(१६१०) **द्यावाभूमी**। द्यौश्च भूमिश्चेति विग्रहः। दिवो द्यावादेशः।

(१६११) **मातरपितराविति**। उदीचां मते 'मातरपितरावि'ति भवतीत्यर्थः। **मातरपितरौ** — माता च पिता चेति लौकिकविग्रहे मातृ + सु, पितृ + सु इत्यलौकिकविग्रहे द्वन्द्वसमासे विभक्तिलोपे 'मातरपितरावुदीचामि'ति अरङादेशे निपातिते प्रातिपदिकत्वे औ-विभक्तौ सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' इति गुणे रपरत्वे 'मातरपितरौ' इति उदीचां मते सिद्धम्। अन्यत्र तु आनङ् आदेशे कृते 'मातापितरौ' इति।

उदाहरण—**विग्रह**—अग्निश्च मरुत् च (द्वन्द्वसमास, विभक्तिलोप, इ = आनङ् = 'आन्' आदेश — 'देवताद्वन्द्वे च', 'न्' का लोप, प्रथमा द्विवचन, तदनन्तर — 'अग्नामरुतौ देवतेऽस्य' अर्थ में अण् = 'अ' — 'साऽस्य देवता') — अग्नामरुत् + अ (औ विभक्ति, विभक्तिलोप — 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः', उभयपदवृद्धि — 'देवताद्वन्द्वे च', 'अग्ना' के आ = इत् = 'इ' आदेश — 'इद्-वृद्धौ', प्रथमा एकवचन नपुंसकलिङ्ग में विभक्तिकार्य) = अग्निमारुतम् (जिस कर्म के अधिष्ठाता देव अग्नि और मरुत् हों)। **विग्रह**—अग्निवरुणौ देवते यस्य (प्रक्रिया उक्तवत्) = अग्निवारुणम् (जिस कर्म के अधिष्ठाता अग्निदेव और वरुण हों)।

वा०—देवताद्वन्द्व में 'विष्णु' के उत्तरपद रहने पर पूर्वपदस्थ अग्नि के स्थान पर इकार अन्तादेश नहीं होता।

उदाहरण—अग्निश्च विष्णुश्च = अग्नाविष्णू। अग्नाविष्णू देवते यस्य (अग्नाविष्णु + अण् = 'अ', उभयपदवृद्धि) - अग्नावैष्णु + अ (उ = 'ओ' - गुण - 'ओर्गुणः', ओ = 'अव्' आदेश, प्राप्त इत् का निषेध — 'विष्णौ न', प्रथमा एकवचन) = अग्नावैष्णवम् (जिस कर्म के अधिष्ठाता देव अग्नि और विष्णु हों)।

(१६१०) **पद**—दिवः, द्यावा। **अनुवृत्ति**—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—देवताद्वन्द्व समास में उत्तरपद परे रहते दिव् को 'द्यावा' आदेश होता है। द्यावाभूमी।

विमर्श—पूर्ववत् 'देवताद्वन्द्वे' तथा 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — ''देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में उत्तरपद के परवर्ती रहते पूर्ववर्ती 'दिव्' शब्द के स्थान में 'द्यावा' आदेश हो जाता है।''

उदाहरण—द्यौश्च भूमिश्च (द्वन्द्वसमास, विभक्तिलोप, दिव् = द्यावा आदेश — 'दिवो द्यावा', प्रथमा द्विवचन में विभक्तिकार्य) = द्यावाभूमी (आकाश और पृथ्वी)।

(१६११) **पद**—मातरपितरौ, उदीचाम्। **विधिसूत्र**।

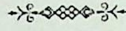
मूलार्थ—पश्चिमी आचार्यों के मत से 'मातरपितरौ' इस द्वन्द्व में मातृ शब्द को अरङ् आदेश होता है। मातरपितरौ। 'उदीचाम्' क्यों कहा ? मातापितरौ।

विमर्श—मातृ और पितृ शब्द के द्वन्द्वसमास में उदीच्य आचार्यों के मत में 'मातरपितरौ' शब्द निपातित है। तदनुसार मातृ शब्द से अरङ् = अर आदेश होता है।

उदाहरण—माता च पिता च। **अलौ० वि०**—मातृ + सु, पितृ + सु (द्वन्द्वसमास, ऋ = अरङ् = 'अर' निपातन प्रकृत सूत्र से, प्रथमा द्विवचन में विभक्तिकार्य) = मातरपितरौ। प्राच्य आचार्यों के मत में ऋ = आनङ् = आन् होकर — मातापितरौ (माता और पिता)।

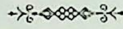
पितरौ। (१६१२) द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ५।४।१०६ । चवर्गान्ताद्दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् समाहारे। वाक्त्वचम्। त्वक्स्रजम्। शमीदृषदम्। वाक्त्विषम्। छत्रोपानहम्। समाहारे किम्? प्रावृट्शरदौ।

इति द्वन्द्वसमासप्रकरणम्।



(१६१२) **द्वन्द्वाच्चुदषहान्तादिति।** 'राजाहस्सखिभ्यः' इत्यतः टजित्यनुवर्तते। तदाह — **चवर्गान्तादित्यादिना।** **वाक्त्वचमिति।** वाक्च त्वक् चेति समाहारद्वन्द्वः। कुत्वस्यासिद्धत्वाच्चवर्गान्तत्वाट्टच्। **प्रावृट्शरदाविति।** प्रावृट् च शरच्चेति विग्रहः। इतरेतरयोगद्वन्द्वान्न टजिति भावः।

इति द्वन्द्वसमासः।



(१६१२) **पद**—द्वन्द्वात्, चुदषहान्तात्, समाहारे। **अनुवृत्ति**—टच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—समाहार में चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त द्वन्द्व से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। वाक्त्वचम्। त्वक्स्रजम्। शमीदृषदम्। वाक्त्विषम्। छत्रोपानहम्। 'समाहारे' क्यों कहा? प्रावृट्शरदौ।

विमर्श—प्रसङ्गवश समासान्त टच्-विधायक सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। 'समासान्ताः' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) से 'टच्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "समाहार द्वन्द्व में विद्यमान चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त तथा हकारान्त शब्दों से समासान्त टच् (= अ) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—**विग्रह**—वाक्च, त्वक् च तयोः समाहारः (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, कुत्व के असिद्ध होने से चवर्गान्त मानकर टच् = 'अ' – 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे', पूर्वपद के 'च्' = 'क्' — कुत्व, पुनः विभक्ति) — वाक्त्वच + सु (सु = अम्, पूर्वरूप) = वाक्त्वचम् (वाणी और त्वचा)। **विग्रह**—त्वक् च स्रक् च (समासादि कार्य पूर्ववत्, टच्) = त्वक्स्रजम् (त्वचा और माला)। **विग्रह**—शमी च दृषद् च (समास आदि कार्य उक्तवत्) = शमीदृषदम् (शमीवृक्ष और सिल)। **विग्रह**—वाक् च त्विट् च (समासप्रक्रिया उक्तवत्, जश्त्व के असिद्ध होने के कारण ष् के अनन्तर टच्) = वाक्त्विषम् (वाणी और कान्ति)। **विग्रह**—छत्रं च उपानत् च (समास, ह् के स्थान पर होने वाले 'घ्' के असिद्ध होने से ह् के अनन्तर टच्) = छत्रोपानहम् (छाता और जूता)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'समाहारे' पद का निवेश होने से इतरेतरयोग द्वन्द्व में टच् नहीं होता। तदनुसार — प्रावृट् च शरद् च = 'प्रावृट्शरदौ' (वर्षा और शरद् ऋतु) में समासान्त टच् नहीं होता।

द्वन्द्वसमास-प्रकरण समाप्त।



अथैकशेषसमासप्रकरणम्

विरूपाणामपि समानार्थानाम्। वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च वक्रदण्डौ। कुटिलदण्डौ।(१६१३) **वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः १।२।६५**।यूना सहोक्तौ गोत्रं शिष्यते गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं चेत्तयोः कृत्स्नं वैरूप्यं स्यात्। गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ। वृद्धः किम्? गर्गगार्ग्यायणौ। यूना किम्? गर्गगार्ग्यौ। कृत्स्नं किम्?

विरूपाणामिति। एकार्थकत्वे विरूपाणामप्येकशेषो वक्तव्य इत्यर्थः।

(१६१३) **वृद्धो यूना**। रूपतोऽर्थतश्च भेदेऽपि प्राप्त्यर्थमिदम्। **यूनेति**। 'जीवति तु वंश्ये युवा' इति वक्ष्यमाणयुवप्रत्ययान्तेनेत्यर्थः। **गोत्रमिति**। 'अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रम्' इत्यनेनोक्तं गोत्रं विवक्षितमित्यर्थः। तथा च गोत्रयुवप्रत्ययान्तयोर्विशेषः वैरूप्यं तल्लक्षणश्चेत् गोत्र-युवप्रत्ययनिमित्तकश्चेदित्यर्थः। **गार्ग्याविति**। गर्गशब्दस्य गार्ग्यायणशब्दस्य च गोत्रयुवप्रत्यय-कृतमेव वैरूप्यमिति गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दः शिष्यत इति भावः।

अब एकशेष समास का प्रकरण आरम्भ होता है। एकशेष समास की प्रमुख विशेषता यह है कि समान स्वरूप या समान अर्थ वाले अनेक शब्दों में से केवल एक शब्द शेष रहकर सभी शब्दों का अर्थ प्रकट करता है।

मूलार्थ—वा०—समानार्थक विरूप शब्दों का भी एकशेष होता है। वक्रदण्डौ। कुटिलदण्डौ।

विमर्श—द्वन्द्व समास के निरूपण के अनन्तर उसके अपवादस्वरूप एकशेष-प्रकरण का निरूपण किया जा रहा है। अष्टाध्यायी में प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के अन्त में एकशेष का प्रतिपादन किया गया है। उसमें सर्वप्रथम 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (१।२।६४) सूत्र का उल्लेख किया गया है। तदनुसार ''एक विभक्ति में जो समान रूप हों, उनमें एक ही शेष रहता है; अन्य शब्दों का लोप हो जाता है।'' यथा — 'रामश्च रामश्च = रामौ'। यहाँ द्वन्द्व प्राप्त है, परन्तु एकशेषविधायक शास्त्र निरवकाश होने से (अपवादस्वरूप) द्वन्द्व का बाधक होता है। एकशेष में अवशिष्ट शब्द लुप्त हुए अन्य के अर्थ का भी बोध कराता है। यह एकशेष केवल समानरूपात्मक शब्दों में ही नहीं होता, अपितु समानार्थक विरूपों का भी एकशेष होता है। (वा०)

उदाहरण—वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च (वक्र और कुटिल शब्द यहाँ समानरूपात्मक नहीं हैं तथापि समानार्थक हैं। अतः वार्तिक द्वारा एकशेष होने पर विवक्षानुसार पाक्षिक दो रूप बनते हैं) = वक्रदण्डौ। कुटिलदण्डौ (दो टेढ़ी लाठी)।

(१६१३) **पद**—वृद्धः, यूना, तल्लक्षणः, चेद् एव विशेषः। **अनुवृत्ति**—शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—युवसंज्ञक के साथ गोत्रसंज्ञक की उक्ति हो तो गोत्रसंज्ञक ही शेष रहता है, यदि दोनों में गोत्रप्रत्यय और युवप्रत्यय मात्र ही विशेष हो। गार्ग्यौ। 'यूना' क्यों कहा? गर्गगार्ग्यौ (गार्ग्य का शेष नहीं हुआ)। 'वृद्धः' क्यों कहा? गर्गगार्ग्यायणौ। कृत्स्न क्यों कहा? गार्ग्यवात्स्यायनौ।

विमर्श—'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (१।२।६४) से 'शेषः' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'वृद्ध' शब्द से 'अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रम्' सूत्रोक्त गोत्र अर्थ लिया जाता है। 'यूना' में सहार्थक तृतीया विभक्ति है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होगा कि ''युवप्रत्ययान्त के साथ गोत्र (वृद्ध) प्रत्ययान्त का कथन होने पर गोत्रवाची शब्द शेष रह जाता है, युवप्रत्ययान्त निवृत्त हो जाता है। यदि वृद्धयुव-

गार्ग्यवात्स्यायनौ। (१६१४) स्त्री पुंवच्च १।२।६६। यूना सहोक्तौ वृद्धा स्त्री शिष्यते तदर्थश्च पुंवत्। गार्गी च गार्ग्यायणौ च गर्गाः। (१६१५) पुमान् स्त्रिया १।२।६७। स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। हंसा च हंसश्च

(१६१४) **स्त्री पुंवच्च**। 'वृद्धो यूने' त्यादितः 'वृद्धो यूने' त्यनुवर्तते। वृद्धेति स्त्रीलिङ्गेन विपरिणम्यते। तदाह — **यूनेत्यादिना**। **गर्गाः** — गर्गादियञन्तात् 'यञश्चे' ति ङीष्। गर्गाद्य-ञन्ताद् यून्यपत्ये 'यञिञोश्चे' ति फक्, फस्यायनादेशः। अत्र स्त्रीत्वकृतवैरूप्याधिक्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तः स्त्रीवाचको गार्गीशब्दः शिष्यते स पुंवत्, यञो लुक्। गर्गस्यापत्यं स्त्री इत्यर्थः।

(१६१५) **पुमान् स्त्रिया**। **तल्लक्षण एवति**। 'वृद्धो यूना' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः।

निमित्तक प्रत्यय का ही भेद लक्षित हो।''

उदाहरण—विग्रह—गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च (यहाँ क्रमशः 'गार्ग्य' में अपत्यार्थक गोत्र (पौत्र) अर्थ का सूचक 'गर्गादिभ्यो यञ्' से यञ् प्रत्यय हुआ है तथा 'गार्ग्यायण' में अपत्यार्थक युवसंज्ञक फक् प्रत्यय हुआ है। दोनों के समास होने पर वृद्धसंज्ञक (गोत्र प्रत्ययान्त) 'गार्ग्य' शब्द शेष। क्योंकि इन दोनों में प्रत्यय मात्रकृत (यञ् तथा फक्) वैरूप्य है। प्रकृतिगत (गर्ग) साम्य है) = गार्ग्यौ (गर्ग का पौत्र और प्रपौत्र)।

प्रत्युदाहण—प्रकृत सूत्र में 'वृद्धः' पद का निवेश होने से गर्गश्च गार्ग्यायणश्च = 'गर्ग-गार्ग्यायणौ' में एकशेष नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ गर्ग शब्द गोत्रप्रत्ययान्त नहीं है। 'यूना' पद का निवेश होने से गर्गश्च गार्ग्यश्च = 'गर्गगार्ग्यौ' (गर्ग और उसका पौत्र) में भी एकशेष नहीं हुआ। यहाँ यञ्प्रत्ययान्त गार्ग्य के साथ समस्त होने वाला गर्ग पद युवप्रत्ययान्त नहीं है। सूत्र में 'एव' से उपलक्षित 'कृत्स्न' का निवेश होने से 'गार्ग्यवात्स्यायनौ' (गर्ग का पौत्र और वत्स का युवा प्रपौत्र) में एकशेष नहीं हुआ। यहाँ प्रकृतिकृत वैरूप्य है।

(१६१४) **पद**—स्त्री, पुंवत् च। **अनुवृत्ति**—वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः। (विधि) **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—युवप्रत्ययान्त के साथ वृद्धा स्त्री की उक्ति हो तो वृद्धा स्त्री शेष रहती है और पुंवद्भाव होता है। गर्गाः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' (१६१३) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। प्राकरणिक 'शेषः' पद की अनुवृत्ति विधेयांश की पूर्ति हेतु अपेक्षित है। 'वृद्धः' पद स्त्रीलिङ्ग में विपरिणत हो जाता है। तदनुसार — ''युवप्रत्ययान्त के साथ वृद्धसंज्ञक स्त्रीवाचक शब्द की स्थिति होने पर गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीवाची (वृद्धसंज्ञक) शेष रहता है और उसका पुंवद्भाव भी होता है।''

उदाहरण—विग्रह—गार्गी च गार्ग्यायणौ च (समास, 'गार्गी' शब्द गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्गवाची (गर्ग + यञ् + ङीप्) है तथा 'गार्ग्यायण' शब्द युवप्रत्ययान्त (गर्ग + यञ् = गार्ग्य + फक् = आयन्) है। अतः वैरूप्य होने पर भी प्रकृत सूत्र से एकशेष होने पर 'गार्गी' शेष रहा। बहुत्वविवक्षा में पुंवद्भाव होने पर 'यञञोश्च' से यञ् का लोप, गर्ग + जस्) = गर्गाः (गर्ग की पौत्री तथा दो प्रपौत्र)।

(१६१५) **पद**—पुमान्, स्त्रिया। **अनुवृत्ति**—तल्लक्षणश्चेदेव, विशेषः, शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—स्त्री के साथ पुरुष की उक्ति में पुरुष शेष रहता है, तावन्मात्र ही यदि विशेष हो।

हंसौ।

हंसौ। **(१६१६) भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् १।२।६८। भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ। (१६१७) नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् १।२।६८। अक्लीबेन सहोक्तौ क्लीबं शिष्यते तच्च वा एकवत् स्याल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रम्, तदिदं शुक्लम्, तानीमानि**

(१६१६) **भ्रातृपुत्राविति**। स्वसृदुहितृभ्यां सहोक्तौ क्रमात् भ्रातृपुत्रौ शिष्येते इत्यर्थः।

(१६१७) **नपुंसकमिति**। अन्यतरस्यां ग्रहणमेकवदित्यनेनैवान्वेति आनन्तर्यात् न त्वेकशेषेणेत्याह — **तच्चेति**। **तल्लक्षण एवेति**। नपुंसकत्वानपुंसत्वमात्रकृतवैरूप्यञ्चेदित्यर्थः।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक 'शेषः' की अनुवृत्ति आ रही है तथा सूत्र १६१३ से 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' की अनुवृत्ति भी आ रही है। सूत्रस्थ 'स्त्रिया' पद में सहार्थक तृतीया विभक्ति है। तदनुसार — ''स्त्रीवाचक शब्द के साथ पुल्लिङ्गवाची शब्द के रहने पर पुल्लिङ्गवाची शब्द शेष रहता है; यदि उनमें स्त्रीत्व एवं पुंस्त्व कृत ही विशेषता हो।''

उदाहरण—हंसश्च हंसी च (समास, विभक्तिलोप, पुंल्लिङ्गवाची 'हंस' शेष — 'पुमान् स्त्रिया', द्विवचन में विभक्तिकार्य) = हंसौ (हंस और हंसी)।

(१६१६) **पद**—भ्रातृपुत्रौ, स्वसृदुहितृभ्याम्। **अनुवृत्ति**—शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—भ्राता के साथ स्वसा की उक्ति हो तो भ्राता शेष रहता है और पुत्र के साथ दुहिता की उक्ति हो तो 'पुत्र' शेष रहता है। भ्रातरौ। पुत्रौ।

विमर्श—विधेयांश की पूर्ति हेतु पूर्ववत् 'शेषः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'स्वसृदुहितृभ्याम्' में सहार्थक तृतीया है। तदनुसार — ''स्वसृ और दुहितृ शब्दों के साथ क्रमशः भ्रातृ और पुत्र शब्द का कथन होने पर 'पुत्र' और 'दुहितृ' शब्द शेष रह जाते हैं।''

उदाहरण—विग्रह—भ्राता च स्वसा च (समास, विभक्तिलोप, एकशेष होने पर 'भ्रातृ' शेष, प्रथमा द्विवचन में विभक्तिकार्य) = भ्रातरौ (भाई और बहिन)। **विग्रह**—पुत्रश्च, दुहिता च (समासादि प्रक्रिया उक्तवत् एकशेष) = पुत्रौ (पुत्र और पुत्री)।

(१६१७) **पद**—नपुंसकम्, अनपुंसकेन, एकवत्, च, अस्य, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः। **विधि (अतिदेश) सूत्र**।

मूलार्थ—अनपुंसक के साथ नपुंसक की उक्ति हो तो नपुंसक शेष रहता है तथा विकल्प से एकवद्भाव होता है। यदि दोनों में नपुंसकत्व और अनपुंसकत्व मात्र विशेष हो तो। शुक्लः (पटः), शुक्ला (शाटी), शुक्लं (वस्त्रम्) तदिदं शुक्लम्, तानीमानि शुक्लानि।

विमर्श—प्राकरणिक 'शेषः' की अनुवृत्ति के साथ 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' (१६१३) की भी अनुवृत्ति आ रही है। 'अन्यतरस्याम्' पद अपने निकटस्थ 'एकवत्' के साथ अन्वित होकर एकवचन के विकल्प का बोधक है। तदनुसार सूत्र का आशय यह है कि ''नपुंसकलिङ्गवाचक तथा नपुंसकलिङ्गभिन्नवाचक (अर्थात् पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्गवाचक) शब्दों का साहचर्य होने पर स्त्रीलिङ्ग एवं पुल्लिङ्गवाची शब्द हट जाते हैं तथा शेष नपुंसकलिङ्गवाची शब्द को विकल्प से एकवद्भाव होता है; यदि उन शब्दों में नपुंसकगुण एवं नपुंसकभिन्न गुणों की ही विशेषता हो एवं शेष प्रकृति आदि समान हों।''

उदाहरण—शुक्लः (पटः), शुक्ला (शाटी), शुक्लं (वस्त्रम्) (यहाँ भिन्नलिङ्गवाचक पदों

शुक्लानि। (१६१८) **पिता मात्रा १।२।७०**। मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते। माता च पिता च पितरौ, मातापितरौ। (१६१९) **श्वसुरः श्वश्रू वा १।२।७१**। श्वश्रू वा सहोक्तौ श्वशुरो वा शिष्यते। श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ। श्वश्रूश्वशुरौ। (१६२०) **त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् १।२।७२**। सर्वैः सहोक्तौ त्यदादीनि शिष्यन्ते। स च देवदत्तश्च

(१६१८) **पिता मात्रा**। 'पुमान् स्त्रिया' इत्यत्र सरूपाणामित्यनुवृत्तेरप्राप्तौ वचनमिदं विकल्पार्थम्। **पितरौ** — माता च पिता चेति विग्रहे द्वन्द्वसमासे 'पिता मात्रा' इत्यनेन विभाषया पितृशब्दस्यैकशेषे प्रथमाद्विवचने औप्रत्यये सर्वनामस्थानत्वे 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन गुणे रपरत्वे च 'पितरौ' इति सिद्धम्।

(१६१९) **श्वशुरौ** — श्वश्रू श्वशुरश्चेति विग्रहे द्वन्द्वसमासे विभक्तिलोपे 'श्वशुरः श्वश्रू वा' इत्यनेन श्वशुरशब्दस्यैकशेषे प्रथमाद्विवचने औप्रत्यये वृद्धौ 'श्वशुरौ' इति। एकशेषाभाव-पक्षे 'श्वश्रूश्वशुरौ' इति। अत्राभ्यर्हितत्वात् श्वश्रूपदस्य पूर्वनिपातो बोध्यः।

(१६२०) **त्यदादीनामिति**। त्यदादिगणे यत्परं पठितं तच्छिष्यत इति, शब्दपरवि-

---

के साहचर्य में नपुंसक-गुण तथा तद्भिन्न पुंस्त्व एवं स्त्रीत्व की विशेषता है तथा प्रकृति (शुक्ल) समान है। अतः प्रकृत सूत्र से एकशेष नपुंसकलिङ्ग तथा विकल्प से एकवद्भाव) = (तदिदं) शुक्लम्। पक्ष में बहुवचन — तानि इमानि = शुक्लानि।

(१६१८) **पद**—पिता, मात्रा। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्। शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—माता के साथ पिता की सहविवक्षा में विकल्प से पिता शेष रहता है। पितरौ। मातापितरौ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए पूर्ववत् 'शेषः' की तथा पूर्वसूत्र (१६१७) से 'अन्यतर-स्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "मातृ के साथ पितृ का कथन होने पर विकल्प से 'पितृ' पद शेष रह जाता है।"

उदाहरण—**विग्रह**—माता च पिता च। **अलौ० वि०**—मातृ + सु, पितृ + सु (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, पितृ शब्द शेष (मातृ का लोप) विकल्प से — 'पिता मात्रा', प्रथमा द्विवचन औ) — पितृ + औ (ऋ = अर् — गुण, रपर - 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः') = पितरौ। एकशेष न होने पर पक्ष में मातृ-पितृ + औ (ऋ = आनङ् = आन् — 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे', 'न्' का लोप, गुण, रपर) = मातापितरौ (माता और पिता)।

(१६१९) **पद**—श्वशुरः श्वश्रू, वा। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—श्वश्रू के साथ श्वशुर की उक्ति में विकल्प से श्वशुर शेष रहता है। श्वशुरौ। श्वश्रूश्वशुरौ।

विमर्श—पूर्ववत् 'अन्यतरस्याम्' तथा 'शेषः' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "श्वश्रू के साथ श्वशुर की सहविवक्षा में विकल्प से श्वशुर शेष रहता है।"

उदाहरण—श्वश्रूश्च श्वशुरश्च (द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप, श्वशुर का एकशेष — 'श्वशुरः श्वश्रू वा', प्रथमा द्विवचन में) = श्वशुरौ। एकशेष न होने पर पक्ष में (इतरेतरद्वन्द्वसमास, प्रथमा द्विवचन) = श्वश्रूश्वशुरौ (सास और ससुर)।

(१६२०) **पद**—त्यदादीनि, सर्वैः, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—शेषः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अन्य सबके साथ त्यदादियों की उक्ति हो तो नित्य त्यदादि ही शेष रहते हैं। तौ।

तौ । * त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते * । स च यश्च यौ । * पूर्वशेषोऽपि दृश्यते * । इति भाष्यम् । स च यश्च तौ । * त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि * । सा च देवदत्तश्च तौ । तच्च देवदत्ता च यज्ञदत्तश्च तानि । (१६२१) ग्राम्य-पशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री १।२।७३ । एषु सहविवक्षायां स्त्री शिष्यते । गाव इमाः ।

प्रतिषेधाश्रयणादिति भावः । **पूर्वशेषोऽपीति** । परपदस्येष्टवाचित्वात् क्वचित्पूर्वमपि शिष्यत इति । **त्यदादित इति** । त्यदादीनां स्त्रीशेषेऽपि सह विवक्षितेषु यः पुमान् यच्च नपुंसकं तद्वशेन लिङ्ग-प्रतिपादकानि भवन्तीति भावः ।

(१६२१) **ग्राम्य पशु** । **एष्विति** । तरुणभिन्नेषु ग्राम्याणां पशूनां सङ्घेष्वित्यर्थः । **गाव इमाः** – गौश्च गौश्च गौश्चेति गावः । अत्र पुल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गेषु गोशब्देषु सहविवक्षितेषु 'पुमान्

वा०—त्यदादियों की परस्पर सहोक्ति हो तो पर शेष रहता है । स च यश्च = यौ । भाष्यकार के मत में कहीं पूर्ववर्ती शब्द भी शेष रहता है । **वा०**—त्यदादि के एकशेष में जो त्यदादि शेष रहता है उसके लिङ्ग और वचन पूर्वविद्यमान पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग शब्दों की तरह होते हैं । स च देवदत्तश्च = तौ । तच्च देवदत्ता च यज्ञदत्तश्च = तानि ।

विमर्श—त्यदादि सर्वनाम शब्दों के सम्बन्ध में एकशेष की व्यवस्था की जा रही है । सूत्र में 'नित्य' पद का निवेश 'अन्यतरस्याम्' की निवृत्ति के लिए किया गया है । पूर्ववत् 'शेषः' की अनुवृत्ति विद्यमान है । तदनुसार — ''अन्य शब्दों के साथ प्रयुक्त त्यद् आदि सर्वनामवाचक शब्द शेष रह जाते हैं ।''

उदाहरण—**विग्रह**—स च देवदत्तश्च (द्वन्द्वसमास, विभक्तिलोप, 'तत्' का एकशेष – 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्', द्विवचन औ, द् = अ, पररूप, वृद्धि) = तौ (वह और देवदत्त) ।

१. वा०—जब अनेक त्यदादि शब्द परस्पर साथ रहें तो त्यदादि गणपाठ के अनुसार उत्तरवर्ती पद शेष रह जाते हैं । **उदाहरण**—स च यश्च (समास, विभक्तिलोप, गणपाठ के अनुसार 'यत्' शेष, विभक्तिकार्य) = यौ (वह और जो) । महाभाष्यकार के मतानुसार कहीं-कहीं पूर्ववर्ती शब्द का प्रयोग भी दिखायी देता है । स च यश्च = तौ ।

२. वा०—''त्यदादि शब्दों का एकशेष होने पर जो शब्द शेष रहता है उसके लिङ्ग का निर्धारण एकशेष से पूर्व विद्यमान पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्गवाचक शब्दों से होता है ।''

उदाहरण—सा च देवदत्तश्च (समासादि, पुल्लिङ्ग के अनुसार प्रथमा द्विवचन) = तौ । तच्च देवदत्ता च यज्ञदत्तश्च ('तत्' नपुंसकलिङ्ग के अनुसार प्रथमा बहुवचन एकशेष में) = तानि (वह, देवदत्त तथा यज्ञदत्ता) ।

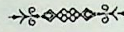
(१६२१) **पद**—ग्राम्यपशुसङ्घेषु, अतरुणेषु, स्त्री । **अनुवृत्ति**—शेषः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अतरुण ग्राम्य पशुओं के संघ की सहोक्ति में स्त्रीवाचक शेष रहता है । गावः इमाः । ग्राम्य क्यों कहा ? रुरव इमे । पशु क्यों कहा ? ब्राह्मणा इमे । सङ्घेषु क्यों कहा ? एतौ गावौ । अतरुणेषु क्यों कहा ? वत्सा इमे । **वा०**—उक्त व्यवस्था अनेक शफों (खुरों) वालों के लिए ही है, ऐसा कहा जाय । अश्वा इमे ।

विमर्श—पूर्ववत् 'शेषः' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । पशुओं को अभिलक्षित कर एकशेष की व्यवस्था की जा रही है । अतः ''तरुणावस्थाभिन्न ग्रामीण पशुओं के समूह की उक्ति होने पर स्त्रीपशुवाची शब्द का एकशेष होता है ।'' यह सूत्र 'पुमान्स्त्रिया' का अपवाद है ।

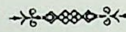
ग्राम्येति किम्? रुरव इमे। पशुग्रहणं किम्? ब्राह्मणा इमे। सङ्घेषु किम्? एतौ गावौ। अतरुणेषु किम्? वत्सा इमे। * अनेकशफेष्विति वाच्यम् *। अश्वा इमे।

इत्येकशेषसमासप्रकरणम्।



स्त्रिया' इत्यनेन पुंसः शेषं प्रबाध्य 'ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री' इत्यनेन स्त्रीलिङ्गः गौशब्दः शिष्यते। तेन 'गावः इमाः' इति सङ्गच्छते।

इत्येकशेषसमासप्रकरणम्।

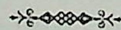


उदाहरण—गौश्च गौश्च गौश्च (द्वन्द्वसमास, विभक्तिलोप, गो शब्द दोनों लिङ्गों में समान होने से स्त्रीलिङ्ग का एकशेष होने पर इमाः का अनुप्रयोग) = इमाः गावः (ये बैल एवं गायें)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'ग्राम्य' का निवेश होने से रुरुश्च रुरुश्च रुरुश्च = 'रुरव इमे' = (ये काले मृग) में वन्य पशुओं का समूह होने से स्त्रीलिङ्गवाची का एकशेष नहीं हुआ। पुल्लिङ्गवाची का एकशेष। सूत्र में 'पशु' का निवेश होने से पशुभिन्न ग्राम्य प्राणियों के समूह की विवक्षा में भी स्त्रीलिङ्गवाचक का एकशेष नहीं होता। ब्राह्मणी च ब्राह्मणश्च = ब्राह्मणा इमे (ये ब्राह्मणी और ब्राह्मण)। 'संघे' पद का निवेश होने से द्वित्व की विवक्षा में स्त्रीलिङ्गवाची का एकशेष नहीं होता। एतौ गावौ (ये दो बैल और गाय)। 'अतरुणेषु' का सूत्र में पाठ होने से तरुणवाची पशुसंघ की विवक्षा में स्त्रीवाचक शब्द शेष नहीं रहता। यथा — वत्साश्च वत्साश्च = वत्सा इमे (ये बछिया और बछड़े)।

वा०—प्रकृत सूत्र में जिन ग्राम्य-पशुओं का उल्लेख किया गया है उनके सम्बन्ध में व्यवस्था दी जा रही है कि वे पशु अनेक शफ = खुर वाले हों। अतः अश्वाश्च अश्वाश्च = 'अश्वाः इमे' (ये घोड़ी और घोड़े) में स्त्रीवाचक 'अश्वाः' शेष नहीं रहा। क्योंकि अश्व एक खुरवाला पशु है।

एकशेषसमास-प्रकरण समाप्त।



अथ समासान्तप्रकरणम्

(१६२२) ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे ५।४।७४। ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवः, अक्षे या धूस्तदन्तस्य न। अर्धर्चः। अनृचबह्वृचावध्येतर्येव। नेह – अनृक् साम। बह्वृक् सूक्तम्। विष्णुपुरम्। विमलापं सरः। (१६२३)

अथ सर्वसमाससाधारणसमासान्ता निरूप्यन्ते —

(१६२२) ऋक्पूरब्धूः। **छेद इति**। सूत्रे अ इति लुप्तप्रथमान्तनिर्देश इति भावः। 'समासान्ताः' इत्यधिकृतम्। ऋगादिभिः समासो विशेष्यते। तेन तदन्तविधिस्तदाह — **ऋगाद्यन्तस्येति**। **अर्धर्चः** — ऋचोऽर्धमिति विग्रहे, 'अर्ध+सु, ऋच्+ङस्' इत्यलौकिकविग्रहे 'अर्धं नपुंसकमि'ति समासे विभक्तिलोपे 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इत्यनेन अप्रत्यये 'अर्ध ऋच् अ' इति जाते गुणे रपरत्वे 'अर्धर्चाः पुंसि च' इति पुंस्त्वे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'अर्धर्चः' इति।

समास-प्रकरण के अनन्तर श्री वरदराजाचार्य सामान्य रूप से सभी समासों में उपयोगी समासान्त प्रत्ययों के प्रकरण का प्रारम्भ कर रहे हैं। इस प्रकरण में 'समासान्ताः' के साथ 'तद्धिताः' का भी अधिकार है। समासान्त प्रत्यय समास के ही अवयव होते हैं।

(१६२२) **पद**—ऋक्-पू-रब्-धूः पथाम्, अ, अनक्षे। **अनुवृत्ति**—समासान्ताः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ऋगाद्यन्त समास का अन्तावयव अ प्रत्यय होता है, किन्तु अक्ष सम्बन्धी धुर्वाचक धूःशब्दान्त को नहीं होता। अर्धर्चः। 'अनृच्' तथा 'बह्वृच्' से अध्येता अर्थ में ही अप्रत्यय होता है। अतः 'अनृक् साम' तथा 'बह्वृक् सूक्तम्' में नहीं हुआ। विष्णुपुरम्। विमलापं सरः।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'समासान्ताः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'आनक्षे' में अ + अनक्षे पदच्छेद है। 'अः' लुप्त प्रथमान्त पद है। ऋक् च, पुर् च, अप् च, धुर् च पन्थाश्च ऋक्पूरब्धूः पन्थानः, तेषाम् = 'ऋक्पूरब्धूः पथाम्' में इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास है। यह पद समास का विशेषण है। अतः तदन्तविधि होती है। 'अनक्षे' का सम्बन्ध सूत्रस्थ धूर् से ही होता है। तदनुसार सूत्रार्थ होगा कि ''जिस समास के अन्त में ऋक्, पुर्, अप्, पथिन् और अक्ष भिन्न धूर् अन्त वाले शब्द हों, उनसे समासान्त अ प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—**विग्रह**—ऋचः अर्धम् (समास — 'अर्धं नपुंसकम्', विभक्तिलोप, अ प्रत्यय — 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे') — अर्ध + ऋच् + अ (ऋ = अर् गुण, रपर, 'अर्धर्चाः पुंसि च' के अनुसार विभक्तिकार्य) = अर्धर्चः (आधी ऋचा)। पुर् शब्दान्त — **विग्रह**—विष्णोः पूः। **अलौ० वि०**—विष्णु + ङस्, पुर् + सु (षष्ठीतत्पुरुष समास, विभक्तिलोप, समासान्त 'अ' प्रत्यय, नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन) = विष्णुपुरम् (विष्णु का नगर)। अप् शब्दान्त। **विग्रह**—विमला आपः यत्र। **अलौ० वि०**—विमल + जस्, अप् + जस् (बहुव्रीहिसमास, विभक्तिलोप, समासान्त अ, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = विमलापं सरः (स्वच्छ जल वाला तालाब)।

विशेष—'अनृच्' और 'बह्वृच्' शब्दों से अध्येता अर्थ में ही अ प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—अविद्यमानाः ऋचः यस्य = अनृचः। बहवः ऋचः यस्य = बह्वृचः। अध्येता से भिन्न अर्थ में अ प्रत्यय न होने पर 'अनृक्' तथा सूक्त अर्थ में 'बह्वृक्' रूप बनते हैं। **विग्रह**—(क) न विद्यमानाः ऋचः

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ६।३।९७। द्वीपम्। अन्तरीपम्। प्रतीपम्। समीपम्। * अवर्णान्ताद् वा *। प्रेपम्, प्रापम्। (१६२४) ऊदनोर्देशे ६।३।९८। अनूपो देशः। राजधुरा। अक्षे तु – अक्षधूः। दृढधूरक्षः। सखिपथः। रम्यपथो देशः।

(१६२३) **द्व्यन्तरुपसर्गेभ्य इति**। द्वि-अन्तर-उपसर्ग एतेभ्यः परस्याऽप्शब्दस्याऽ-प्रत्ययान्तस्याऽकारस्य ईत्स्यादित्यर्थः। **द्वीपम्** — द्वयोः पार्श्वयोर्गता आपो यस्मिन्निति विग्रहे 'द्वि + ङस्, अप + जस्' इत्यलौकिकविग्रहे उपपदसमासे विभक्तिलोपे अप्रत्यये, 'द्व्यन्त-रुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इत्यनेन अप अकारस्य ईदादेशे 'द्वि + ईप् + अ' इति जाते सवर्णदीर्घे प्रातिपदिकत्वे सौ, सोरमि पूर्वरूपे 'द्वीपम्' इति।

(१६२४) **ऊदनोर्देशे**। अनोः परस्याऽपस्य उत्स्याद् देशे। ईत्वस्यापवादः।

यस्मिन् तत् 'अनृक् साम' (= ऋचाओं से रहित साम)। (ख) बहवः ऋचः यस्मिन् तत् = बह्वृक् सूक्तम् (बहुत मन्त्रों वाला सूक्त)।

(१६२३) **पद**—द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः, अपः, ईत्। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वि, अन्तर् और उपसर्ग से परवर्ती कृत समासान्त अप् शब्द के अकार को ईत् होता है। द्वीपम्। अन्तरीपम्। प्रतीपम्। समीपम्। **वा०**—अवर्णान्त से परे अप् के अकार को ईत् विकल्प से होता है। प्रेपम्, प्रापम्।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता हेतु 'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) से 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'अपः' शब्द अ प्रत्यय युक्त 'अप्' का बोधक है। 'अपः' षष्ठ्यन्त है। 'आदेः परस्य' परिभाषा के अनुसार अप् के अकार को 'ई' आदेश होगा। इस प्रकार सूत्रार्थ यह होगा कि "द्वि, अन्तर् तथा उपसर्ग से उत्तरवर्ती अप् के अकार को ईत् = (ई) आदेश होता है।"

उदाहरण—**विग्रह**—द्वयोः गताः आपः यस्मिन्। **अलौ० वि०**—द्वि + ओस्, अप् + जस् (समास — 'अनेकमन्यपदार्थे', विभक्तिलोप, समासान्त 'अ' प्रत्यय — 'ऋक्पूरब्धूः०', 'अप्' का अ = ई – 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्', इ + ई = 'ई' — सवर्णदीर्घ, नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में विभक्तिकार्य) = द्वीपम् (= टापू, जिसके दोनों ओर जल हो)। **विग्रह**—अन्तर्गताः आपः यस्मिन् तत्। **अलौ० वि०**—अन्तर् + जस्, अप् + जस् (समास, विभक्तिलोप, समासान्त अ, अ = ई, विभक्ति-कार्य) = अन्तरीपम् (जिसमें अन्दर तक पानी हो)। **विग्रह**—सङ्गताः आपः यस्मिन् तत् (प्रक्रिया उक्तवत्) = समीपम् (जहाँ पानी मिलता हो)।

वा०—अवर्णान्त से परे कृतसमासान्त अप् के अकार के स्थान पर ईत् (ई) विकल्प से होता है। **उदाहरण**—**विग्रह**—प्रगताः आपः यस्य (समासादि पूर्ववत्, अ प्रत्यय) प्र + अप् + अ (अ = ई विकल्प से, अ + ई = ए – 'गुण', विभक्तिकार्य) = प्रेपम्। ईत् न होने पर पक्ष में दीर्घ = प्रापम् (गड्ढा)।

(१६२४) **पद**—ऊत्, अनोः, देशे। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—देशवाच्य होने पर अनु से परे अप् के अकार को ऊत् होता है। अनूपः। राजधुरा। अक्षधूः। दृढधूः अक्षः। सखिपथः। रम्यपथः।

विमर्श—पूर्ववत् 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार – "देश-विशेष का कथन होने पर 'अनु' उपसर्ग से उत्तरवर्ती अप् शब्द के अकार के स्थान पर ऊत् (= ऊ) आदेश होता है।" यह ईत्व का अपवाद है।

(१६२५) अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः ५।४।७५ । प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । अवलोमम् । * कृष्णोदकपाण्डुसंख्यापूर्वाया भूमेरजिष्यते * । कृष्णभूमः । उदग्भूमः । पाण्डुभूमः । द्विभूमः । त्रिभूमः प्रासादः । * संख्याया नदीगोदावरीभ्यां च * । पञ्चनदम् । सप्तगोदावरम् । अजिति योगवि-

---

(१६२५) **अच् प्रत्यन्ववपूर्वादिति** । प्रति-अनु-अव एतत्पूर्वात्सामलोमन्तात्समासादच् स्यादित्यर्थः। **प्रतिसामम्** — प्रतिगतं सामेति विग्रहः। अच् प्रत्ययः। 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः।

उदाहरण—विग्रह—अनुगताः आपः यस्मिन् (बहुव्रीहिसमास, विभक्तिलोप, समासान्त 'अ' प्रत्यय, 'अ' = 'ऊ' - 'ऊदनोर्देशे')- अनु + ऊप् + अ (उ + ऊ = 'ऊ' - सवर्णदीर्घ, विभक्ति-कार्य) = अनूपः (जिस देश में जल न हो) । **विग्रह**—राज्ञः धूः (षष्ठीतत्पुरुष समास, विभक्तिलोप, 'न्' लोप, समासान्त 'अ') — राजधुर् + अ (टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = राजधुरा (राजा का शासनभार) । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र (१६२२) में 'अनक्षे' (अक्षभिन्न) पद का निवेश होने से (विग्रह-अक्षे धूः) सप्तमीतत्पुरुष = 'अक्षधूः' (गाड़ी के अगले भाग में लगा जुआ) में समासान्त अ प्रत्यय नहीं होता । इसी प्रकार 'दृढा धूः यस्य' = दृढधूः (मजबूत जुआँ) में भी समासान्त अ प्रत्यय नहीं होता । (उपसर्जन ह्रस्व तथा धुर् के उकार को उपधादीर्घ — 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः') **पथिन् पूर्वक का उदाहरण—विग्रह**—सख्युः पन्थाः (षष्ठी समास, विभक्तिलोप, समासान्त अ) — सखि + पथिन् + अ (टि = 'इन्' का लोप — 'नस्तद्धिते', विभक्तिकार्य) = सखिपथः (मित्र का मार्ग) । **विग्रह**—रम्यः पन्थाः यस्य सः (बहुव्रीहि समास तथा शेष कार्य उक्तवत्) = रम्यपथः देशः (जिस देश का मार्ग सुन्दर है) ।

(१६२५) **पद**—अच्, प्रत्यन्ववपूर्वात्, सामलोम्नः । **अनुवृत्ति**—समासान्ताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रति, अनु और अवपूर्वक साम और लोमान्त समास से अच् प्रत्यय होता है। प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अवलोमम् । **वा०**—कृष्ण, उदच्, पाण्डु एवं संख्यावाचक शब्दों के पूर्ववर्ती होने पर भूमि शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है । कृष्णभूमः । उदग्भूमः । पाण्डुभूमः । द्विभूमः । त्रिभूमः । **वा०**—संख्यापूर्वक नदी और गोदावरी शब्द से समासान्त अच् होता है । पञ्चनदम् । सप्तगोदावरम् । अच् इस योगविभाग से अन्य शब्दों से भी समासान्त अच् प्रत्यय होता है । पद्मनाभः ।

विमर्श—पूर्ववत् 'समासान्ताः' आदि की आधिकारिक अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "प्रति, अनु और अव उपसर्गों के पूर्ववर्ती रहने पर सामन् और लोमन् प्रातिपदिकों से समासान्त अच् (= अ) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—प्रतिगतं साम (अव्ययीभावसमास, विभक्तिलोप, समासान्त अच् = अ) — प्रतिसामन् + अ (टि = 'अन्' का लोप - 'नस्तद्धिते', विभक्तिकार्य) = प्रतिसामम् (रूखेपन से) । **विग्रह**—अनुगतं साम (समासादि कार्य पूर्ववत्) = अनुगतं साम (सौहार्द से) । **विग्रह**—अवगतं साम (प्रक्रिया उक्तवत्) = अवसामम् (असज्जनता से) । **विग्रह**—प्रतिगतं लोम (समासादि उक्तवत्) = प्रतिलोमम् (विलोम) । **विग्रह**—अनुगतं लोम = अनुलोमम् (यथाक्रम) । **विग्रह**—अवगतं लोम = अवलोमम् (ज्ञातक्रम से) ।

१. वा०—कृष्ण, उदक्, पाण्डु एवं संख्यावाचक शब्दों से उत्तरवर्ती भूमिशब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है । **उदाहरण—विग्रह**—कृष्णा भूमिः यस्य (बहुव्रीहिसमास, विभक्तिलोप,

भागादन्यत्रापि। पद्मनाभः। **(१६२६) अक्ष्णोऽदर्शनात् ५।४।७६।** अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात्। गवामक्षीव गवाक्षः। **(१६२७) अचतुरविचतुरसुचतुर-स्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तंदिवरात्रिंदिवाह-र्दिवसरजस्निःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुन-गोष्ठश्वाः ५।४।७७।** एते पञ्चविंशतिरजन्ता निपात्यन्ते। आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः। अविद्यमानानि चत्वार्यस्य अचतुरः। विगतानि चत्वार्यस्य विचुतरः। सुचतुरः। * त्र्यु-

---

(१६२६) **अक्ष्णोऽदर्शनादिति**। दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुः। करणे ल्युट्। अचक्षुर्वाचिन इति। तदाह — **अचक्षुपर्यायादिति**।

(१६२७) **अचतुर इति**। 'नञोऽस्त्यर्थानामि'ति विद्यमानपदलोपः। **ऊर्वष्ठीवम्**।

पुंवद्भाव — 'स्त्रियाः पुंवत्०', अच् = 'अ' प्रत्यय – वा० 'कृष्णोदक्पाण्डुसंख्यापूर्वायाः.') — कृष्ण भूमि + अ ('इ' का लोप – 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = कृष्णभूमः (जिसकी भूमि काली हो)। उदीची भूमिः यस्य (समासादि पूर्ववत्) = उदग्भूमः (जिस भवन की भूमि उत्तर की ओर झुकी हो)। पाण्डुः भूमिः यस्य (समासादि प्रक्रिया पूर्ववत्) = पाण्डुभूमः (जिसकी भूमि सफेद हो)। द्वे भूमी यस्य = द्विभूमः (दो भूमि वाला अर्थात् दो मंजिला भवन)। तिस्रः भूमयः यस्य = त्रिभूमः (तीन मंजिला भवन)।

२. **वा०**—संख्यापूर्वक नदी और गोदावरी शब्द से भी समासान्त अच् होता है।

उदाहरण—विग्रह—पञ्चानां नदीनां समाहारः (अव्ययीभावसमास — 'नदीभिश्च', वार्तिक से अच् = अ) — पञ्चनदी + अ ('ई' का लोप — 'यस्येति च', समाहार में नपुंसकलिङ्ग एकवचन, विभक्तिकार्य) = पञ्चनदम् (पाँच नदियों वाला प्रदेश, पंजाब)। **विग्रह**—सप्तानां गोदावरीणां समाहारः (समास तथा अच् आदि कार्य पूर्ववत्) = सप्तगोदावरम् (सात गोदावरी वाला प्रदेश)। प्रकृत सूत्र में 'अच्' ऐसा योगविभाग करने से यह सूचित होता है कि इनसे अन्यत्र भी अच् होता है। अतः 'पद्मं नाभौ यस्य' विग्रह में बहुव्रीहि समास करने पर समासान्त अच्, इकारलोप एवं विभक्तिकार्य होने पर — पद्मनाभः (विष्णु) रूप बनता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने योगविभाग की चर्चा नहीं की है। अतः पृषोदरादिगण में कल्पना कर 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' के अनुसार 'पद्मनाभः' की सिद्धि की जा सकती है।

(१६२६) **पद**—अक्ष्णः, अदर्शनात्। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अचक्षुपर्याय अक्षिशब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है। गवाक्षः।

विमर्श—'समासान्ताः' की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। पूर्वसूत्र (१६२५) से 'अच्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है कि "चक्षु (नेत्र) भिन्न अर्थ-सूचक अक्षि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—विग्रह—गवाम् अक्षि इव। **अलौ० वि०**—गो + आम्, अक्षि + सु (षष्ठीतत्पुरुष समास, विभक्तिलोप, अच् = 'अ' – 'अक्ष्णोऽदर्शनात्') — गो + अक्षि + अ ('इ' का लोप, अवङ् आदेश, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = गवाक्षः (झरोखा)।

(१६२७) **पद**—अचतुर……गोष्ठश्वाः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अचतुर, विचतुर इत्यादि पच्चीस शब्द अच् प्रत्ययान्त निपातित हैं। इनमें से प्रथम तीन बहुव्रीहि हैं। अविद्यमानानि चत्वारि यस्य — अचतुरः। विचतुरः। सुचतुरः। **वा०**—त्रि और

पाभ्यां चतुरोऽजिष्यते * । त्रिचतुराः । चतुर्णां समीपे उपचतुराः । तत एकादशद्वन्द्वाः — स्त्रीपुंसौ । धेन्वनडुहौ । ऋक्सामे । वाङ्मनसे । अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम् । दाराश्च गावश्च दारगवम् । ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम् । निपातनाट्टिलोपः । पदष्ठीवम् । निपातनात्पादशब्दस्य पद्भावः । नक्तं च दिवा च नक्तंदिवम् । रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम् । रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यते । अहनि च दिवा च अहर्दिवम् । वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यते अहन्यहनीत्यर्थः । सरजसमिति साकल्येऽव्ययीभावः । बहुव्रीहौ तु सरजः

ऊरू = सक्थिनी, अष्ठीवन्तौ = जानुनी। प्राण्यङ्गत्वादेकवत्वम्। **सरज इति**। रजोभिः = परागैः सहेति विग्रहः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। 'वोपसर्जनस्ये'ति सहस्य सः। बहुव्रीहित्वान्नाच्।

उप शब्द से परवर्ती चतुर्शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है। त्रिचतुराः। उपचतुराः। तदनन्तर ग्यारह द्वन्द्वसमास हैं। स्त्रीपुंसौ। धेन्वनडुहौ। ऋक्सामे। वाङ्मनसे। अक्षिभ्रुवम्। दारगवम्। ऊर्वष्ठीवम् (निपातन से टिलोप)। पदष्ठीवम् (निपातन से पाद = पद् आदेश)। नक्तन्दिवम्। रात्रिन्दिवम् (रात्रि को मकारान्त निपातन होता है)। अहर्दिवम् (वीप्सा में द्वन्द्व का निपातन, अर्थ — प्रतिदिन)। 'सरसजम्' में साकल्यार्थ अव्ययीभाव है। बहुव्रीहि में — सरजः पङ्कजम्। निःश्रेयसम्। निःश्रेयस् में तत्पुरुष में अच्। अतः 'निःश्रेयान् पुरुषः' में अच् नहीं। पुरुषायुषम्। द्व्यायुषम्। त्र्यायुषम्। तदनन्तर पुनः द्वन्द्व — ऋग्यजुषम्। पश्चात् तीन कर्मधारय। जलोक्षः। महोक्षः। वृद्धोक्षः। उपशुनम् (टिलोप तथा सम्प्रसारण निपातन से)। गोष्ठश्वः।

विमर्श—उक्त 'समासान्ताः' आदि की अनुवृत्ति के अतिरिक्त विधीयमान समासान्त 'अच्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। पाणिनीय अष्टाध्यायी का यह दीर्घकाय सूत्र है। इसमें पच्चीस प्रयोगों की सिद्धि के लिए निपातन का आश्रय लिया गया है। प्रकृत सूत्र में इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास है। तदनुसार "अचतुर आदि पच्चीस शब्द समासान्त अच् प्रत्यय के साहचर्य से निपातित होते हैं।" अच् के अतिरिक्त अन्य निपातन का निर्देश भी वृत्ति में यथास्थान किया गया है।

उदाहरण—आरम्भ के तीन शब्द भाष्यकार के मतानुसार बहुव्रीहिसमास में निपातित हैं। (१) अविद्यमानानि चत्वारि यस्य (समास तथा 'विद्यमान' पद का लोप — 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः', निपातन से अच् = 'अ', पुल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन) = अचतुरः (जिसके पास चार न हों)। (२) **विग्रह**—विगतानि चत्वारि यस्य (प्रक्रिया उक्तवत्) = विचतुरः (जिसके चार नष्ट हो गये हों)। (३) सु = शोभनानि चत्वारि यस्य = सुचतुरः (जिसके चार सुन्दर हों)।

१. वा०—त्रि तथा उप से परवर्ती चतुर् शब्द से भी अच् प्रत्यय होता है।

उदाहरण—(क) **विग्रह**—त्रयः वा चत्वारः वा यस्य (बहुव्रीहिसमास — 'संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' वा० से अच् = 'अ', विभक्तिकार्य) = त्रिचतुराः (जिसके पास तीन या चार हों)। (ख) **विग्रह**—चतुर्णां समीपे ये सन्ति (अव्ययीभाव तथा वा० से अच्, विभक्तिकार्य) = उपचतुराः (चार के लगभग)। तदनन्तर ग्यारह शब्द द्वन्द्व समास के हैं। (४) **विग्रह**—स्त्री च पुमान् च (इतरेतरद्वन्द्व समास, निपातन से अच् = 'अ') = स्त्रीपुंसौ (स्त्री और पुरुष)। (५) **विग्रह**—धेनुः च अनड्वान् च (इतरेतरयोग द्वन्द्व समास तथा अच्) = धेन्वनडुहौ (गाय और बैल)। (६) ऋक् च साम च (इतरेतरद्वन्द्व, अच्, टिलोप) = ऋक्सामे (ऋग्वेद और सामवेद)। (७) **वाक् च मनश्च (अच्, नपुंसकलिङ्ग प्रथमा द्विवचन) = वाङ्मनसे (वाणी और मन)। (८) अक्षिणी**

पङ्कजम्। निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम्। तत्पुरुष एव। नेह – निःश्रेयसान्पुरुषः। पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम्। ततो द्विगुः। द्व्यायुषम्। त्र्यायुषम्। ततो द्वन्द्वः। ऋग्यजुषम्। ततस्त्रयः कर्मधारयाः – जातोक्षः। महोक्षः। वृद्धोक्षः। शुनः समीपम् उपशुनम्। टिलोपाभावः सम्प्रसारणं च निपात्यते। गोष्ठे श्वा गोष्ठश्वः। **(१६२८) ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ५।४।७८।** अच्। ब्रह्मवर्चसम्। हस्तिवर्चसम्। *पल्यराजभ्यां च*।

(१६२८) **ब्रह्महस्तिभ्यामिति**। अच् स्यादित्यर्थः। **ब्रह्मवर्चसमिति**। ब्रह्मणो वर्च इति विग्रहः। अच्। **पल्यराजभ्यां चेति**। आभ्यां परो यो वर्चशब्दस्तस्मादपि अच् स्यादित्यर्थः।

च भ्रुवौ च (द्वन्द्वसमास, अच्, एकवद्भाव — 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्') = अक्षिभ्रुवम् (आँख और भौंह)। (९) दाराः च गावः च (समाहारद्वन्द्व, अच्, अवादेश, विभक्तिकार्य) = दारगवम् (पत्नी और गायें)। (१०) ऊरू च अष्ठीवन्तौ च (द्वन्द्व, अच्, प्राणी का अङ्ग होने से एकवद्भाव, टि = 'इन्' का लोप निपातन से) = ऊर्वष्ठीवम् (जाँघें तथा घुटनें)। (११) पादौ च अष्ठीवन्तौ च (द्वन्द्व समास, अच् तथा पाद् = पद् आदेश निपातन से) = पदष्ठीवम् (पैर तथा घुटने)। (१२) नक्तं च दिवा च (निपातन से द्वन्द्व समास, अच्, नक्तम् — मकारान्त निपातन, दिवा में 'आ' का लोप — 'यस्येति च', अव्ययत्व तथा नपुंसकलिङ्ग — 'अव्ययीभावश्च', अम्, पररूप) = नक्तन्दिवम् (रात-दिन)। (१३) रात्रौ च दिवा च (पूर्ववत् प्रक्रिया) = रात्रिन्दिवम् (रात और दिन)। (१४) अहनि च दिवा च (द्वन्द्वसमास, अच्, आ का लोप अव्ययत्व, नपुंसकलिङ्ग, न् = र्, आदिकार्य) = अहर्दिवम् (प्रतिदिन)। निपातन से वीप्सा अर्थ में द्वन्द्व समास होता है। इनके बाद एक शब्द अव्ययीभाव है। (१५) **विग्रह**—रजः अपि परित्यज्य। सह रजस् (साकल्य अर्थ में अव्ययीभाव निपातन से, सह = स आदेश — 'अव्ययीभावे चाकाले', अच् = 'अ', विभक्ति तथा अम्भाव) = सरसजम् (धूल से भरा हुआ)। बहुव्रीहि समास (रजोभिः सहितः) करने पर सरजः (कमल) रूप बनेगा। (१६) निश्चितं श्रेयः (कर्मधाय, अच्) = निःश्रेयसम् (परमकल्याण)। भाष्यकार ने तत्पुरुष समास में ही अच् स्वीकार किया है। अतः बहुव्रीहि समास में 'निश्चितं श्रेयः यस्य' = निःश्रेयान् पुरुषः (परमकल्याणवाला पुरुष)। (१७) पुरुषस्य आयुः (षष्ठीतत्पुरुष, निपातन से अच् प्रत्यय, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = पुरुषायुषम् (पुरुष की उम्र)। तदनन्तर दो शब्द द्विगु समास के हैं। (१८) द्वयोः आयुषोः समाहारः (समास, 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च', अच् प्रत्यय, विभक्तिकार्य) = द्व्यायुषम् (दो पुरुषों की आयु)। (१९) त्रयाणाम् आयुषां समाहारः (समासादि उक्तवत्) = त्र्यायुषम् (तीन पुरुषों की आयु)। (२०) ऋचः च यजूंषि च, एषां समाहारः (द्वन्द्वसमास में अच् निपातन से) = ऋग्यजुषम् (ऋग्वेद और यजुर्वेद)। इसके बाद तीन शब्द कर्मधारय में अच्प्रत्ययान्त निपातित हैं। (२१) **विग्रह**—जातश्चासौ उक्षा च (कर्मधारय समास, विभक्तिलोप, अच् = अ, टिलोप, अ + उ = 'ओ' — गुण, विभक्तिकार्य) = जातोक्षः (युवा बैल)। (२२) महान् चासौ उक्षा च (कर्मधारय, विभक्तिलोप) — महत् + उक्षन् ('त्' = 'आ' — 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः', दीर्घ, टच् = 'अ', टिलोप) — महा + उक्ष + अ (आ + उ = 'ओ' — गुण, विभक्तिकार्य) = महोक्षः (बड़ा बैल)। (२३) वृद्धश्चासौ उक्षा च (पूर्ववत् समासादि) = वृद्धोक्षः (बूढ़ा बैल)। (२४) **विग्रह**—शुनः समीपम् (अव्ययीभाव समास, टच् = अ) — उप + श्वन् + अ (टिलोप का अभाव, व् को सम्प्रसारण निपातन से, पूर्वरूप, विभक्तिकार्य) = उपशुनम् (कुत्ते के पास)। (२५) **विग्रह**—

पल्यवर्चसम्। राजवर्चसम्। (१६२९) अवसमन्धेभ्यस्तमसः ५।४।७९। अवतमसम्। सन्तमसम्। अन्धतमसम्। (१६३०) अन्ववतप्ताद्रहसः ५।४।८१। अनुरहसम्। अवरहसम्। तप्तरहसम्। (१६३१) प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात्

(१६२९) **अवसमन्धेभ्य इति**। अव-सम-अन्ध एभ्यः परो यस्तमश्शब्दस्तस्मादच् स्यादित्यर्थः। **अवतमसमिति**। अवहीनं तम इति विग्रहः। प्रादिसमासः, अच्।

(१६३०) अनु-अव-तप्त एभ्यः परो यो रहश्शब्दस्तस्मादच् स्यादित्यर्थः।

गोष्ठे श्वा (सप्तमीतत्पुरुष समास, विभक्तिलोप, समासान्त अच् एवं टिलोप — निपातन से) गोष्ठश्व् + अ, विभक्तिकार्य) = गोष्ठश्वः (गोशाला में कुत्ता)।

(१६२८) **पद**—ब्रह्महस्तिभ्याम्, वर्चसः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ब्रह्म और हस्ति शब्द से परवर्ती वर्चस् शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है। ब्रह्मवर्चसम्। हस्तिवर्चसम्। **वा०**—पल्य और राज शब्द से भी अच् होता है। पल्यवर्चसम्। राजवर्चसम्।

विमर्श—पूर्ववत् 'अच्' तथा 'समासान्ताः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "ब्रह्मन् एवं हस्तिन् शब्द से परवर्ती वर्चस् शब्दान्त से समासान्त अच् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—विग्रह—ब्रह्मणः वर्चः। **अलौ० वि**—ब्रह्मन् + ङस्, वर्चस् + सु (समास, विभक्तिलोप, अच् = 'अ' — 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः') — ब्रह्मन् वर्चस् अ ('न्' का लोप, विभक्ति-कार्य) = ब्रह्मवर्चसम् (ब्रह्मतेज)। **विग्रह**—हस्तिनः वर्चः (प्रक्रिया पूर्ववत्) = हस्तिवर्चसम् (हाथी का बल)।

१. वा०—पल्य एवं राजन् शब्द के परवर्ती वर्चस् शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। **उदाहरण—विग्रह**—पल्यस्य वर्चः (षष्ठीतत्पुरुषसमास, विभक्तिलोप, अच् = 'अ' वा० से, नपुंसक-लिङ्ग प्रथमा ए० व० विभक्तिकार्य) = पल्यवर्चसम् (मांसाहारी का बल)। **विग्रह**—राज्ञां वर्चांसि (पूर्ववत् समासादि) = राजवर्चसम् (राजाओं का बल)।

(१६२९) **पद**—अवसमन्धेभ्यः, तमसः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अव, सम और अन्ध से परे तमः शब्दान्त समास से अच् होता है। अवतमसम्। सन्तमसम्। अन्धतमसम्।

विमर्श—समासान्त अच् का प्रकरण चल रहा है। पूर्ववत् सभी अनुवृत्तियाँ आ रही हैं। अतः "अव, सम् तथा अन्ध शब्दों से उत्तरवर्ती तमस् शब्द से अच् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—विग्रह—अवहीनं तमः (प्रादि समास, अच् = 'अ' — 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः', विभक्तिकार्य) = अवतमसम् (सामान्य अन्धकार)। सन्ततं तमः (पूर्ववत् समासादि) = सन्तमसम् (अधिक अन्धकार)। **विग्रह**—अन्धं तमः (कर्मधारयसमास, शेष प्रक्रिया उक्तवत्) = अन्धतमसम् (घोर अन्धकार)।

(१६३०) **पद**—अन्ववतप्तात्, रहसः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अनु, अव और तप्त से परे रहस् शब्दान्त समास से अच् होता है। अनुरहसम्। अवरहसम्। तप्तरहसम्।

विमर्श—उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति आने से यह सूत्रार्थ होता है कि "अनु, अव और तप्त शब्दों से उत्तरवर्ती रहस् शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है।"

५।४।८२। उरसि इति प्रत्युरसम्। (१६३२) अनुगवमायामे ५।४।८३। एतन्निपात्यते दीर्घत्वे। अनुगवं यानम्। 'यस्य चायामः' इति समासः। (१६३३) उपसर्गादध्वनः ५।४।८५। प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः। (१६३४) न पूजनात्

(१६३१) **प्रतेरुरसः**। सप्तम्यर्थे द्योतकतया वर्तत इति सप्तमीस्थम्। सप्तम्यर्थद्योतकात् प्रतेः परो य उरश्शब्दः तस्मादच् स्यादिति।

(१६३२) **अनुगवमिति**। अनुना दीर्घत्वे द्योत्येऽच्प्रत्ययान्तो निपात्यत इत्यर्थः। आयामपदं दीर्घपरम्।

(१६३३) **उपसर्गादध्वनः**। उपसर्गात्परो योऽध्वन्शब्दस्तस्मादच् स्यादित्यर्थः। **प्राध्वो रथः** — प्रगतोऽध्वानमिति लौकिकविग्रहे, 'अध्वन् + अम् + प्र' इत्यलौकिकविग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे प्रपदस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते 'उपसर्गादध्वनः' इत्यनेन अच्प्रत्यये भत्वे 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'प्राध्वः' इति।

उदाहरण—विग्रह—अनुगतं रहः (प्रादिसमास — 'कुगतिप्रादयः', अच् = 'अ' प्रकृत सूत्र से, नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन विभक्तिकार्य) = अनुरहसम् (निर्जन स्थान)। **विग्रह**—अवहीनं रहः (प्रक्रिया उक्तवत्) = अवरहसम् (अधिक एकान्त स्थान)। **विग्रह**—तप्तं रहः (समास — 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्', शेष अच् आदि पूर्ववत्) = तप्तरहसम् (दूसरे से अप्राप्त एकान्त)।

(१६३१) **पद**—प्रतेः, उरसः, सप्तमीस्थात्। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यर्थद्योतक प्रति शब्द से परे उरस् शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है। प्रत्युरसम्।

विमर्श—पूर्ववत् 'अच्' आदि पदों की अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार ''प्रति से उत्तरवर्ती सप्तमी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त उरस् शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—विग्रह—उरसि प्रति। **अलौ० वि०**—प्रति + सु, उरस् + ङि (विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास, विभक्तिलोप, अच् = 'अ' — 'प्रतेरुरसः०', विभक्तिकार्य, अम्भाव) = प्रत्युरसम् (हृदय में स्थित)।

(१६३२) **पद**—अनुगवम्, आयामे। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दीर्घत्व गम्य रहते 'अनुगव' निपातित है। अनुगवं यानम्।

विमर्श—उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति आने पर सूत्र से यह अर्थ निष्पन्न होता है — ''लम्बाई (दीर्घत्व) अर्थ में 'अनुगवम्' निपातन होता है।''

उदाहरण—विग्रह—गोः अनु। **अलौ० वि०**—गो + ङस्, अनु + सु (समास — 'यस्य चायामः', उपसर्जन ह्रस्व) — अनुगु (अच् = 'अ' निपातन, उ = 'ओ' — गुण — 'ओर्गुणः', अव् आदेश, विभक्तिकार्य) = अनुगवम् (वह गाड़ी जो बैल की बराबर हो)।

(१६३३) **पद**—उपसर्गात्, अध्वनः। **अनुवृत्ति**—अच्, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उपसर्गपूर्वक अध्वन् शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है। प्राध्वो रथः।

विमर्श—पूर्ववत् 'अच्' आदि की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार — ''उपसर्ग से उत्तरवर्ती अध्वन्शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—विग्रह—प्रगतः अध्वानम् (प्रादिसमास — 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया',

५।४।६९ । पूजनार्थात्परेभ्यः समासान्ता न स्युः । सुराजा । अतिराजा । * स्वतिभ्यामेव * । नेह – परमराजः । (१६३५) किमः क्षेपे ५।४।७० । कुत्सितो राजा किंराजा । किंसखा । किंगौ । (१६३६) नञस्तत्पुरुषात् ५।४।७१ ।

(१६३४) **न पूजनादिति** । 'समासान्ताः' इत्यनुवर्तते । तदाह — **पूजनार्थादिति** । **सुराजा** — सु = शोभनः राजा इति विग्रहे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे विभक्तिलोपे 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टचि प्राप्ते 'न पूजनादि'ति निषेधे सुराजन्शब्दात् सौ सर्वनामस्थानत्वे 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्यनेनोपधादीर्घे सुलोपे नलोपे च 'सुराजा' इति सिद्धम् ।

(१६३५) **किमः क्षेपे** । 'समासान्ताः' इति 'न' इति चानुवर्तते । अतः समासान्ताः न भवन्तीत्यर्थः । **किंराजा** — 'कुत्सितः राजा' इति लौकिकविग्रहे 'राजन् + सु + कु' इत्यलौकिकविग्रहे 'किं क्षेपे' इति समासे 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इत्यनेन टच्प्रत्यये प्राप्ते 'किमः क्षेपे' इति निषेधे प्रातिपदिकत्वे सौ उपधादीर्घे सुलोपे नलोपे च कृते 'किंराजा' इति ।

(१६३६) **नञस्तत्पुरुषादिति** । नञ्पूर्वपदात्तत्पुरुषात्समासान्तो न स्यादित्यर्थः ।

अच् = 'अ' — 'उपसर्गादध्वनः') — प्र + अध्वन् + अ (टि = 'अन्' का लोप, अ + अ = 'आ' — दीर्घ, विभक्तिकार्य) = प्राध्वः रथः (गतिशील रथ) ।

(१६३४) **पद**—न, पूजनात् । **अनुवृत्ति**—समासान्ताः । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—पूजनार्थक से परे समासान्त नहीं होता । सुराजा । अतिराजा । **वा०**—सु और अति से परे ही यह निषेध प्रवृत्त होता है । परमराजः ।

विमर्श—समासान्त के निषेध का सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है । 'समासान्ताः' की अनुवृत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है । तदनुसार "पूजार्थक शब्दों से समासान्त प्रत्यय नहीं होते ।" **वा०**—समासान्त प्रत्यय पूजनवाची सु और अति से परे ही नहीं होता ।

उदाहरण—विग्रह—शोभनः राजा (प्रादिसमास, विभक्तिलोप) — सु राजन् ('राजाहःसखिभ्यष्टच्' से प्राप्त टच् का निषेध — 'न पूजनात्', विभक्ति सु, उपधादीर्घ, सुलोप, न् का लोप) = सुराजा (अच्छा नृप) । अतिशयितः राजा (पूर्ववत् प्रक्रिया) = अतिराजा (सम्माननीय राजा) ।

उक्त वार्तिक के अनुसार सु और अति शब्दों के अतिरिक्त अन्य पूजार्थक शब्दों में निषेध की प्रवृत्ति न होने पर 'परमराजः' (परमश्चासौ राजा) में समासान्त टच् का निषेध नहीं हुआ ।

(१६३५) **पद**—किमः, क्षेपे । **अनुवृत्ति**—न समासान्ताः । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

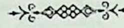
मूलार्थ—निन्दार्थक किम् शब्द से परे समासान्त नहीं होते । किंराजा । किंसखा । किंगौः ।

विमर्श—समासान्त प्रत्ययों के निषेध का सूत्र है । अतः पूर्वसूत्र (१६३४) से 'न' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार "निन्दार्थक किम् शब्द से परवर्ती शब्दों से समासान्त प्रत्यय नहीं होता ।"

उदाहरण—विग्रह—कुत्सितः राजा । **अलौ० वि०**—किं + सु, राजन् + सु (तत्पुरुष समास — 'किं क्षेपे', विभक्तिलोप, प्राप्त टच् का निषेध — 'किमः क्षेपे', पुनः विभक्ति प्रथमा एकवचन) = किंराजा (निन्दनीय राजा) । **विग्रह**—कुत्सितः सखा (समास, टच् का निषेध, पुनः विभक्ति सु, अनङ्, उपधादीर्घ, सुलोप, न् का लोप) = किंसखा (बुरा मित्र) । **विग्रह—कुत्सितः** गौः (समास के अनन्तर 'गोरतद्धितलुकि' से प्राप्त टच् का निषेध, पुनः विभक्ति) किंगो + सु, (णिद्वद्भाव एवं वृद्धि, स् = र् = :) = किंगौः (दुष्ट बैल) ।

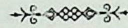
अराजा । तत्पुरुषात् किम् ? अधुरं शकटम् । (१६३७) पथो विभाषा ५।४।७२ । अपथम्, अपन्थाः । तत्पुरुषादित्येव – अपथो देशः ।

इति समासान्तप्रकरणम् ।



(१६३७) **पथो विभाषा** । पथिन्शब्दात्तत्पुरुषात्समासान्तो वा नेत्यर्थः । **अपथमिति** । न पन्था इति विग्रहे नञ्तत्पुरुषसमासे विभक्तिलोपे नलोपे 'ऋक्पूरब्धूः०' इत्यप्रत्यये 'पथो विभाषा' इति वैकल्पिकनिषेधे निषेधाऽभावपक्षे 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे 'पथः संख्ययाव्ययादेः' इति नपुंसकत्वे सोरमि पूर्वरूपे 'अपथमि'ति । अप्रत्ययाभावे — 'अपन्थाः' इति रूपम् ।

इति समासान्तप्रकरणम् ।



(१६३६) **पद**—नञः, तत्पुरुषात् । **अनुवृत्ति**—न, समासान्ताः । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—नञ्पूर्वक तत्पुरुष से समासान्त प्रत्यय नहीं होता । अराजा । 'तत्पुरुषात्' क्यों कहा ? अधुरं शकटम् ।

विमर्श—पूर्ववत् 'न्' तथा 'समासान्ताः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — ''नञ्तत्पुरुष से परे समासान्त नहीं होता ।''

उदाहरण—न राजा (नञ्तत्पुरुष समास, विभक्तिलोप, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से प्राप्त टच् का निषेध — 'नञस्तत्पुरुषात्', विभक्तिकार्य) = अराजा (जो राजा न हो) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'तत्पुरुषात्' पद का निवेश होने से 'अधुरं शकटम्' (बिना जुँए की गाड़ी) में बहुव्रीहि समास (अविद्यमाना धूः यस्य) होने से समासान्त का निषेध नहीं होता । 'ऋक्पूरब्धूः०' से यहाँ समासान्त 'अ' प्रत्यय होता है ।

(१६३७) **पद**—पथः, विभाषा । **अनुवृत्ति**—नञस्तत्पुरुषात्, न, समासान्ताः । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—नञ्पूर्वक पथिन्शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त प्रत्यय विकल्प से होते हैं । अपथम् — अपन्थाः । यह नियम तत्पुरुष में ही है । अतः 'अपथः देशः' में टच् होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्र (१६३६) 'नञस्तत्पुरुषात्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । पूर्ववत् 'न' और 'समासान्ताः' की अनुवृत्ति भी आती है । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ होगा कि ''नञ्पूर्वक पथिन् शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त प्रत्यय का निषेध विकल्प से होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—न पन्थाः (नञ्तत्पुरुष समास, विभक्तिलोप, 'ऋक्पूरब्धूः०' से प्राप्त 'अ' प्रत्यय का प्रकृत सूत्र से विकल्प से निषेध, निषेध के अभाव पक्ष में 'अ' प्रत्यय) — अपथिन् + अ (टि = इन् का लोप – 'नस्तद्धिते', 'पथः संख्ययाऽव्ययादेः' के अनुसार नपुंसकलिङ्ग में विभक्ति-कार्य) = अपथम् । निषेधपक्ष में — अपन्थाः (मार्ग का अभाव) ।

विशेष—'तत्पुरुषात्' की अनुवृत्ति के प्रभाव से बहुव्रीहिसमास में नित्य समासान्त अ होगा । अतः 'अविद्यमानः पन्था यस्य = अपथः देशः' (वह देश जिसमें मार्ग न हो) में पाक्षिक निषेध न होकर नित्य 'अ' प्रत्यय होता है ।

समासान्त-प्रकरण समाप्त ।



अथालुक्समासप्रकरणम्

(१६३८) अलुगुत्तरपदे ६।३।१ । इत्यधिकृत्य। **(१६३९) ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः ६।३।३ ।** ओजसाकृतमित्यादि। *** अञ्जस उपसंख्यानम् *।** अञ्जसाकृतम्। **(१६४०) आत्मनश्च ६।३।६ ।** तृतीयाया अलुक् । *** पूरणे**

अथ अलुक्समासो निरूप्यते —

(१६३८) **अलुगुत्तरपदे**। नायं विधिः 'राजपुरुषः' इत्यादावतिप्रसङ्गात्, 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्याद्यारम्भाच्च।

(१६३९) **ओजसादि**। ओजस्-सहस्-अम्भस्-तमस् एभ्यः परस्यास्तृतीयाया अलुक् स्यादुत्तरपदे इत्यर्थः। **ओजसाकृतम्** — 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे प्राप्ते 'ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः' इत्यनेन तृतीयाया अलुकि 'ओजसाकृतमि'ति।

(१६४०) **आत्मनश्च**। चकारेण तृतीयाया अलुगिति चानुकृष्यते। तदाह — **तृतीयाया इति**।

समास-प्रक्रिया में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि समास होने पर समस्यमान शब्दों की विभक्तियों का लोप हो जाता है, किन्तु कहीं-कहीं 'युधिष्ठिरः' तथा 'आत्मनेपदम्' आदि में मध्यवर्तिनी विभक्तियाँ दिखायी देती हैं। जिससे सन्देह होता है कि इन स्थलों पर समास हुआ कि नहीं? इस सन्देह के निवारण हेतु अलुक्विधि सूत्रों का निर्माण किया गया है। अतः समास सम्बन्धी अलुक्-प्रकरण का प्रतिपादन किया जा रहा है।

(१६३८) **पद**—अलुक्, उत्तरपदे। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—यह अधिकार-सूत्र है।

विमर्श—अलुक् का अधिकार 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' (६।३।२४) से पूर्व तक है तथा पाद की समाप्ति पर्यन्त 'उत्तरपदे' का अधिकार है। सुप् विभक्तियों का लोप प्राप्त होने पर उसका निषेध करने के लिए अलुक् की चरितार्थता है।

(१६३९) **पद**—ओजःसहोऽम्भस्तमसः, तृतीयायाः। **अनुवृत्ति**—अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उत्तरपद के परे रहने पर ओजस् आदि शब्दों से तृतीया का अलुक् होता है। ओजसाकृतम्। **वा०**—अञ्जस् शब्द से भी तृतीया का अलुक् होता है। अञ्जसाकृतम्।

विमर्श—'अलुगुत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति आती है। तदनुसार — "ओजस्, सहस्, अम्भस् तथा तमस् शब्दों से परवर्ती तृतीया विभक्ति का उत्तरपद परे रहते अलुक् होता है।"

उदाहरण—विग्रह—ओजसा कृतम् (समास — 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्', विभक्तिलोप प्राप्त होने पर अलुक् — 'ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः') = ओजसाकृतम् (शक्ति से सम्पन्न)। अलुक् होने पर विग्रह और समास में एक ही रूप (समान रूप) होता है।

वा०—अञ्जस् शब्द की तृतीया का अलुक् हो जाता है।

उदाहरण—अञ्जसा कृतम् (समास तथा तृतीया का अलुक् – 'अञ्जस उपसंख्यानम्') = अञ्जसाकृतम् (अच्छी तरह से किया गया)।

(१६४०) **पद**—आत्मनः, च। **अनुवृत्ति**—अलुगुत्तरपदे, तृतीयायाः। **विधिसूत्र**।

इति वक्तव्यम् *। पूरणप्रत्ययान्ते उत्तरपदे इत्यर्थः। आत्मना पञ्चमः। (१६४१) **वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ६।३।७**। आत्मन इत्येव। आत्मनेपदम्। आत्मने-भाषा। (१६४२) **परस्य च ६।३।८**। परस्मैपदम्। परस्मैभाषा। (१६४३) **हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ६।३।९**। हलदन्तादिति डेरलुक्। त्वचिसारः।

(१६४१) **आत्मनेपदम्**। 'तादर्थ्ये चतुर्थी' इत्यत्र चतुर्थीति योगविभागात्समासे विभक्ति-लोपे प्राप्ते 'वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः' इत्यनेन चतुर्थ्या अलुकि विभक्तिकार्ये 'आत्मनेपदमि'ति।

(१६४२) **परस्य चेति**। वैयाकरणाख्यायां परशब्दस्यापि चतुर्थ्या अलुग्भवतीत्यर्थः।

(१६४३) **हलदन्तादिति**। त्वचिसारः। अत एव ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः।

मूलार्थ—आत्मन् शब्द परे तृतीया का अलुक् होता है। **वा०**—पूरणप्रत्ययान्त उत्तरपद के परे रहते हो, ऐसा कहना चाहिए। आत्मना पञ्चमः।

विमर्श—विधेयांश की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्र (१६३९) से 'तृतीयायाः' की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'अलुगुत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार ''आत्मन् शब्द से परे भी तृतीया का अलुक् होता है।'' वार्तिक द्वारा इस सूत्र के विषय को सीमित किया गया है। अतः पूरणप्रत्ययान्त के परवर्ती रहने पर ही तृतीया का अलुक् होगा।

उदाहरण—आत्मनापञ्चमः (तृतीयासमास, प्राप्त विभक्ति के लोप का प्रकृत सूत्र से अलुक्। यहाँ पञ्चम शब्द पूरणप्रत्ययान्त है)। **अर्थ**—अपने सहित पाँचवाँ।

(१६४१) **पद**—वैयाकरणाख्यायाम्, चतुर्थ्याः। **अनुवृत्ति**—आत्मनः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—आत्मन् शब्द से चतुर्थी का अलुक् होता है, वैयाकरणों की संज्ञा-विशेष गम्य होने पर। आत्मनेपदम्। आत्मनेभाषा।

विमर्श—पूर्वसूत्र से 'आत्मनः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अलुगुत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार — ''वैयाकरणों की व्यावहारिक संज्ञा अर्थ में आत्मन् शब्द से उत्तर-वर्ती चतुर्थी विभक्ति का लोप नहीं होता।''

उदाहरण—आत्मनेपदम् (वैयाकरणों की संज्ञा, चतुर्थी का अलुक्)। आत्मनेभाषा।

(१६४२) **पद**—परस्य, च। **अनुवृत्ति**—वैयाकरणाख्यायाम्, चतुर्थ्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पर शब्द से भी चतुर्थी का लुक् नहीं होता, पूर्वविषय में। परस्मैपदम्। परस्मैभाषा।

विमर्श—'आत्मनेपद' की तरह व्याकरणशास्त्र में प्रयुक्त परस्मैपद शब्द में भी चतुर्थी का अलुक् विधान किया जा रहा है।

उदाहरण—परस्मैपदम् (चतुर्थी का अलुक्)। परस्मैभाषा।

(१६४३) **पद**—हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संज्ञा अर्थ गम्य होने पर हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् होता है। त्वचिसारः।

विमर्श—विधेयांश की पूर्ति हेतु आधिकारिक 'अलुगुत्तरपदे' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''संज्ञा के विषय में हलन्त तथा ह्रस्व अकारान्त शब्दों से उत्तरपद परे रहते सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं होता।''

(१६४४) गवियुधिभ्यां स्थिरः ८।३।९५ । सस्य षः । गविष्ठिरः । युधिष्ठिरः । अरण्ये तिलकः । अत्र संज्ञायामिति सप्तमीसमासः । * हृद्द्युभ्यां च * । हृदिस्पृक् । दिविस्पृक् । (१६४५) मध्याद्गुरौ ६।३।११ । मध्येगुरुः । * अन्ताच्च * ।

(१६४४) **युधिष्ठिर इति** । युधि तिष्ठतीत्यस्मिन् विग्रहे, 'युधि ङि स्थिर सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'संज्ञायामि'ति समासे विभक्तिलोपे प्राप्ते 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायामि'ति सप्तम्या अलुकि, 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' इत्यनेन स्थिरशब्दस्य सकारस्य षकारे ष्टुत्वे संयोगे च, प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे कृते 'युधिष्ठिरः' इति ।

(१६४५) **मध्याद्गुरौ** । गुरुशब्दे परे मध्यपदात्सप्तम्या अलुक् स्यादित्यर्थः ।

उदाहरण—हलन्त — त्वचिसारः (जिसकी त्वचा मजबूत हो) । 'संज्ञायाम्' से तत्पुरुषसमास होने पर प्रकृत सूत्र से सप्तमी विभक्ति का अलुक् ।

(१६४४) **पद**—गवियुधिभ्याम्, स्थिरः । **अनुवृत्ति**—सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—गवि और युधि से परवर्ती स्थिर के सकार को षत्व होता है । युधिष्ठिरः । अरण्येतिलकः । यहाँ 'संज्ञायाम्' से सप्तमीसमास होता है । **वा०**—हृद् और द्यु शब्द से परे सप्तमी का अलुक् होता है । हृदिस्पृक् । दिविस्पृक् ।

विमर्श—प्रसङ्गवश षत्व के सूत्र का उल्लेख किया जा रहा है । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है । 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से षष्ठ्यन्त 'सः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार ''सप्तम्यन्त गवि तथा युधि से परवर्ती स्थिर शब्द के सकार के स्थान में मूर्धन्य आदेश (षकार) हो जाता है ।''

उदाहरण—युधि स्थिरः ('संज्ञायाम्' से सप्तमीसमास, सप्तमी का अलुक् — 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्', स् = ष् — 'गवियुधिभ्यां स्थिरः') = युधिष्ठिरः (पाण्डव धर्मराज) । गवि स्थिरः (उक्तवत् प्रक्रिया, सप्तमी का अलुक्, षत्व) = गविष्ठिरः (एक ऋषि का नाम) । ह्रस्व अकारान्त की सप्तमी का उदाहरण — अरण्येतिलकाः (जंगली तिल) । सप्तमी का अलुक् ।

१. वा०—हृद् और दिव् शब्दों की सप्तमी का भी अलुक् होता है ।

उदाहरण—हृदयं स्पृशति । **अलौ० वि०**—हृदय + ङि, स्पृश् + सु (सप्तमीसमास, हृदय = हृद् आदेश — 'पद्दन्नोमास०', सप्तमी विभक्ति का वार्तिक से अलुक्, पुनः विभक्ति) — हृदिस्पृश् + सु (सु का लोप, श् = ष्, ष् = ड्—जश्त्व, ड् = ग् – कुत्व, ग् = क् – चर्त्व) = हृदिस्पृक् (हृदयस्पर्शी) । इसी प्रकार — दिविस्पृक् (आकाशस्पर्शी) ।

(१६४५) **पद**—मध्याद्, गुरौ । **अनुवृत्ति**—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—मध्य शब्द से सप्तमी का अलुक् होता है, गुरु शब्द के उत्तरपद रहते । मध्येगुरुः । **वा०**—अन्त शब्द से सप्तमी का अलुक् होता है । अन्तेगुरुः ।

विमर्श—पूर्ववत् 'अलुगुत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है । पूर्वसूत्र (१६४३) से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — ''गुरु शब्द के उत्तरवर्ती रहते मध्य शब्द की सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है ।''

उदाहरण—मध्येगुरुः (मध्य में गुरु) ।

वा०—गुरु शब्द के परे रहते अन्त शब्द की सप्तमी का भी अलुक् होता है । **उदाहरण**—अन्तेगुरुः (अन्त में गुरु) । सप्तमी का अलुक् ।

अन्तेगुरुः। **(१६४६) अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे ६।३।१२** । कण्ठेकालः। उरसिलोमा। अमूर्धमस्तकात् किम्? मूर्धशिखः। अकामे किम्? मुखे कामोऽस्य मुखकामः। **(१६४७) तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६।३।१४** । स्तम्बेरमः। कर्णेजपः। **(१६४८) शयवासवासिष्वकालात् ६।३।१८** । वा लुक्। खेशयः,

---

(१६४६) **अमूर्धमस्तकादिति**। मूर्धमस्तकवर्जितात् स्वाङ्गवाचकात् सप्तम्या अलुक् स्यान्न तु कामशब्दे उत्तरपदे इत्यर्थः।

(१६४७) **तत्पुरुषे कृति**। तत्पुरुषे संज्ञायां बहुलमलुक् स्यात् सप्तम्याः कृदन्ते उत्तरपदे इत्यर्थः। **कर्णेजपः** — कर्णे जपति = परदोषमुपांशु एकान्ते आविष्करोति इति कर्णेजपः। 'स्तम्बकर्णयोरमिजपोः' इत्यच्। उपपदसमासः, सप्तम्या अलुक्।

(१६४८) **शयवास इति**। शय-वास-वासिन् एतेषु परेषु कालभिन्नात्सप्तम्या अलुक् स्यादित्यर्थः।

(१६४६) **पद**—अमूर्धमस्तकात्, स्वाङ्गात्, अकामे। **अनुवृत्ति**—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मूर्ध और मस्तक से भिन्न स्वाङ्गवाचक शब्द से परवर्ती सप्तमी का अलुक् होता है, कामशब्दभिन्न उत्तरपद परे रहते। कण्ठेकालः। उरसिलोमा। 'अमूर्धमस्तकात्' क्यों कहा? मूर्धशिखः। 'अकामे' क्यों कहा? मुखकामः।

विमर्श—कुछ स्वाङ्गवाची शब्दों में सप्तमी विभक्ति का अलुक् विधान बताया जा रहा है। पूर्ववत् उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। अतः "मूर्धन् तथा मस्तक शब्दभिन्न स्वाङ्गवाची शब्दों की सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है, कामभिन्न शब्द उत्तरपद में रहने पर।"

उदाहरण—कण्ठेकालः (जिनके गले में काल अर्थात् विष हो — शिव) — सप्तमी का अलुक्। उरसिलोमा (जिसकी छाती पर बाल हों)। विग्रह — उरसि लोमानि यस्य सः। सप्तमी का अलुक्।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अमूर्धमस्तकात्' पद का निवेश होने से 'मूर्धशिखः' (जिसके सिर पर चोटी हो) में सप्तमी का अलुक् नहीं होता। सूत्र में 'अकामे' पद का निवेश होने से काम शब्द के परवर्ती रहने पर सप्तमी का अलुक् नहीं होगा। अतः मुखे कामः यस्य = 'मुखकामः' (जिसके मुख में काम हो) में सप्तमी का लुक् होता है।

(१६४७) **पद**—तत्पुरुषे, कृति, बहुलम्। **अनुवृत्ति**—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कृदन्त उत्तरपद के परवर्ती रहते तत्पुरुष समास में सप्तमी का बहुल प्रकार से अलुक् हो। स्तम्बेरमः। कर्णेजपः।

विमर्श—'अलुगुत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। पूर्वसूत्र (१६४३) से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'कृति' पद 'उत्तरपदे' का विशेषण है। अतः उसमें तदन्तविधि होती है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ यह होगा कि "तत्पुरुष समास में कृदन्त के उत्तरपद रहने पर पूर्वपद की सप्तमी विभक्ति का बहुलतया लोप नहीं होता।"

उदाहरण—स्तम्बेरमः (अलुक् होने पर)। अलुक् न होने पर — स्तम्बरमः (घास के ढेर में मस्त हाथी)। कर्णेजपः (अलुक्)। कर्णजपः (लुक् होने पर)। **अर्थ**—चुगलखोर।

(१६४८) **पद**—शयवासवासिषु, अकालात्। **अनुवृत्ति**—विभाषा, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

खशयः । ग्रामेवासः, ग्रामवासः । ग्रामेवासी, ग्रामवासी । (१६४९) षष्ठ्या आक्रोशे ६।३।२१ । चौरस्य कुलम् । आक्रोशे किम् ? ब्राह्मणकुलम् । * वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु * । वाचो युक्तिः । दिशोदण्डः । पश्यतोहरः । * आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति च * । * देवानां प्रिय इति च मूर्खे * । अन्यत्र – देवप्रियः । * शेप-पुच्छ-लाङ्गूलेषु शुनः * । शुनःशेपः । शुनःपुच्छः । शुनो लाङ्गूलः । * दिवश्च

(१६४९) **षष्ठ्या आक्रोशे** । 'अलुगुत्तरपदे' इत्यधिकृतम् । आक्रोशे = निन्दायां षष्ठ्या अलुकग्भवतीत्यर्थः । **वाग्दिक्** — वाक्-दिक्-पश्यत् एतेभ्यः परस्याः षष्ठ्याः अलुग्भवति — युक्ति-दण्ड-हर एतेषु क्रमादुत्तरपदेष्वित्यर्थः ।

मूलार्थ—राम, वास और वासिन् शब्द उत्तरपद में रहते कालभिन्न से परे सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है । खेशयः, खशयः । ग्रामेवासः, ग्रामवासः । ग्रामेवासी, ग्रामवासी ।

विमर्श—पूर्ववत् 'सप्तम्याः' तथा 'अलुगुत्तरपदे' की अनुवृत्ति आ रही है । वैकल्पिक विधान हेतु 'विभाषा वर्षक्षरशरवरात्' (६।३।१६) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार — "शय, वास और वासिन् शब्द परे रहते कालवाचक शब्द से भिन्न शब्द की सप्तमी विभक्ति का विकल्प से अलुक् होता है ।"

उदाहरण—खेशयः (सप्तमी का अलुक्) । पक्ष में — खशयः (सप्तमी का लुक्) । विग्रह — खे शेते (शय = ✓शीङ् + अच्) । **अर्थ**—आकाश में सोने वाला । विग्रह — ग्रामे वसति (उपपद समास, विभक्ति का विकल्प से अलुक्) = ग्रामेवासः । पक्ष में लुक् होने पर – ग्रामवासः (गाँव में रहने वाला) । ग्रामे वासः अस्य = ग्रामेवासी (अलुक्) । पक्ष में — ग्रामवासी ।

(१६४९) **पद**—षष्ठ्याः, आक्रोशे । **अनुवृत्ति**—अलुगुत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आक्रोश = निन्दा अर्थ में षष्ठी का अलुक् होता है, उत्तरपद के परे रहते । चौरस्य कुलम् । 'आक्रोशे' क्यों कहा ? ब्राह्मणकुलम् । **१. वा०**—वाक्, दिक् तथा पश्यत् शब्दों से क्रमशः युक्ति, दण्ड तथा हर शब्द के परे रहते षष्ठी का अलुक् हो । वाचोयुक्तिः । दिशोदण्डः । पश्यतोहरः । **२. वा०**—आमुष्यायणादि तीनों शब्द षष्ठी के अलुक् में निपातित हैं । **३. वा०**—मूर्ख अर्थ में 'देवानांप्रियः' निपातित है । **४. वा०**—श्वन् से शेप, पुच्छ तथा लाङ्गूल शब्द परे रहते षष्ठी का अलुक् हो । शुनःशेपः । शुनःपुच्छः । शुनोलाङ्गूलः । **५. वा०**—दिव से दास शब्द परे रहते षष्ठी का अलुक् होता है । दिवोदासः ।

विमर्श—'अलुगुत्तरपदे' का अधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । अतः "आक्रोश = निन्दा अर्थ गम्यमान होने पर षष्ठी का अलुक् होता है ।"

उदाहरण—चौरस्य कुलम् (षष्ठीतत्पुरुष समास, षष्ठी का अलुक् — 'षष्ठ्याः आक्रोशे') = चौरस्य कुलम् (चोर का कुल) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'आक्रोशे' पद का निवेश होने से 'ब्राह्मणकुलम्' में तत्त्वकथन होने से षष्ठी का अलुक् नहीं हुआ । षष्ठी समास होने पर विभक्ति का लुक् हुआ ।

१. वा०—"वाच्, दिश् तथा पश्यत् शब्दों से क्रमशः युक्ति, दण्ड और हर शब्द के परवर्ती रहते षष्ठी विभक्ति का लुक् नहीं होता ।" **उदाहरण**—वाचो युक्तिः (षष्ठीसमास, वार्तिक से षष्ठी का अलुक्) — वाचस् + युक्ति (स् = र् = 'उ' — 'हशि च', गुण, विभक्तिकार्य) = वाचोयुक्तिः (वचन का प्रामाण्य) । दिशोदण्डः (अलुक् तथा विभक्तिकार्य) । पश्यतोहरः (देखते-देखते चोरी करने वाला) ।

दासे *। दिवोदासः। (१६५०) ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः ६।३।२३। होतुरन्तेवासी। (१६५१) विभाषा स्वसृपत्योः ६।३।२४। ऋदन्तात्षष्ठ्या वा अलुक्। (१६५२) मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम् ८।३।८५। स्वसुः सस्य षः

(१६५०) **ऋतो विद्या**। विद्यासम्बन्धयोनिसम्बन्धवाचिनः ऋदन्तात् षष्ठ्या अलुक् स्यादित्यर्थः।

(१६५१) **विभाषेति**। ऋदन्तात् षष्ठ्या वाऽलुक् स्वसृपत्योः परतः।

(१६५२) **मातुःपितुर्भ्यामिति**। 'मातृपितृभ्यां स्वसा' इत्यस्मात् स्वसेत्यनुवर्तते। 'सहेः

---

२. वा०—"अमुष्यायण आदि तीन शब्द षष्ठी के अलुक् होने पर निपातित हैं।" **उदाहरण**—'अमुष्य अपत्यम्' अर्थ में अमुष्य + फक् (— 'नडादिभ्यः फक्', फ = आयन्, वृद्धि, 'अ' का लोप, णत्व, विभक्तिकार्य, षष्ठी का अलुक्) = अमुष्यायणः। अमुष्यपुत्रस्य भावः = अमुष्यपुत्रिका (इनके पुत्र का स्वभाव)। अमुष्यकुलस्य भावः = अमुष्यकुलिका (इनके कुल का स्वभाव)।

३. वा०—'देवानांप्रियः' शब्द मूर्ख अर्थ में षष्ठी के अलुक् द्वारा निपातित है। देवानांप्रियः (= मूर्ख)। अन्यत्र — देवप्रियः।

४. वा०—"श्वन् शब्द से शेप, पुच्छ तथा लाङ्गूल शब्दों के परवर्ती रहते समासगत षष्ठी का लोप नहीं होता।" **उदाहरण**—शुनः शेप इव शेपः अस्य (बहुव्रीहि समास, षष्ठी का अलुक्, 'व्' = 'उ' — सम्प्रसारण, पररूप, विभक्तिकार्य) = शुनः शेपः (एक ऋषि का नाम)। शुनः पुच्छम् इव पुच्छम् अस्य (बहुव्रीहिसमास, षष्ठी का अलुक्) = शुनःपुच्छः। शुनः लाङ्गूलम् इव लाङ्गूलम् अस्य = शुनोलाङ्गूलः।

५. वा०—"'दास' उत्तरपद रहते दिव से षष्ठी का अलुक् होता है।" **उदाहरण**—दिवः दासः (षष्ठीसमास, विभक्ति का अलुक्, स् = र् = 'उ', गुण) = दिवोदासः (काशी के एक प्राचीन राजा का नाम)।

(१६५०) **पद**—ऋतः, विद्या-योनिसम्बन्धेभ्यः। **अनुवृत्ति**—षष्ठ्याः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विद्यासम्बन्धवाची और योनिसम्बन्धवाची ऋदन्त से परे षष्ठी का अलुक् होता है, उत्तरपद के परवर्ती रहते। होतुरन्तेवासी।

विमर्श—पूर्ववत् 'अलुगुत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। पूर्वसूत्र (१६४९) से 'षष्ठ्याः' की अनुवृत्ति आने पर उक्त सूत्रार्थ सम्पन्न होता है।

उदाहरण—विग्रह—होतुः अन्तेवासी (षष्ठी समास, षष्ठी का अलुक्, विभक्तिकार्य) = होतुरन्तेवासी (होता का शिष्य)।

(१६५१) **पद**—विभाषा, स्वसृपत्योः। **अनुवृत्ति**—ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, अलुगुत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

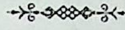
मूलार्थ—स्वसृ और पति शब्द उत्तरपद रहते ऋदन्त से षष्ठी का अलुक् विकल्प से होता है।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु पूर्वसूत्र 'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' तथा 'अलुगुत्तरपदे' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "विद्या तथा जननसम्बन्धवाची ऋकारान्त शब्दों से 'स्वसृ' तथा 'पति' शब्द उत्तरपद रहते षष्ठी का विकल्प से अलुक् होता है।"

(१६५२) **पद**—मातुःपितुर्भ्याम्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—स्वसा, समासे, सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः। **विधिसूत्र**।

स्यात्समासे। मातुःष्वसा, मातुःस्वसा। पितुःष्वसा, पितुःस्वसा। लुक्पक्षे तु –
(१६५३) मातृपितृभ्यां स्वसा ८।३।८४। स्वसुः सस्य षः समासे। मातृष्वसा।
पितृष्वसा। असमासे तु – मातुःस्वसा। पितुःस्वसा।

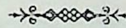
इत्यलुक्समासप्रकरणम्।



साडः सः' इत्यतः स इति षष्ठ्यन्तं पदमनुवर्तते। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम्। तदाह— **स्वसुः सस्येति**।

(१६५३) **मातृपितृभ्यामिति**। स्वसेति षष्ठ्यर्थे प्रथमा। **मातुःष्वसा इति**। 'मातुः स्वसा' इति विग्रहे षष्ठीसमासे विभक्तिलोपे प्राप्ते 'विभाषा स्वसृपत्योः' इत्यनेन षष्ठ्या अलुकि, 'मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम्' इत्यनेन स्वसुः सकारस्य विकल्पेन षत्वे 'मातुःष्वसा' इति। पक्षे — मातुःस्वसा इति। अलुगभावपक्षे (लुक्पक्षे) तु — 'मातृस्वसा' इत्यत्र 'मातृपितृभ्यां स्वसा' इत्यनेन सस्य षत्वे 'मातृष्वसा' इति रूपम्।

इत्यलुक्समासप्रकरणम्।



मूलार्थ—मातुर् और पितुर् से परवर्ती स्वसृ के सकार को विकल्प से षत्व होता है। मातुःष्वसा। मातुःस्वसा। पितुःष्वसा। पितुःस्वसा।

विमर्श—प्रसङ्गवश षत्वविधायक सूत्र की व्याख्या की जा रही है। समास का प्रकरण है। स्थानी का निर्देश नहीं है। पूर्वसूत्र (१६५३) से 'स्वसा' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से 'सः' की अनुवृत्ति आती है। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार है। 'स्वसा' में प्रथमा षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त है। तदनुसार — "मातुः और पितुः से परे स्वसृ के सकार को समास में विकल्प से मूर्धन्य आदेश (षत्व) होता है।"

उदाहरण—मातुः स्वसा (पूर्वसूत्र (१६५१) से समास होने पर षष्ठी का अलुक्, विकल्प से स् = 'ष्', विभक्तिकार्य) = मातुःष्वसा। षत्व के अभाव में मातुःस्वसा (मौसी)। पितुःष्वसा। पितुःस्वसा (उक्तवत् कार्य)। अर्थ — बुआ।

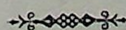
(१६५३) **पद**—मातृ-पितृभ्यां स्वसा। **अनुवृत्ति**—समासे, सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मातृ और पितृ से परवर्ती स्वसृ के स को विकल्प से षत्व होता है। मातृष्वसा। पितृष्वसा। समास न होने पर — मातुः स्वसा। पितुः स्वसा।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "मातृ और पितृ शब्द से उत्तरवर्ती स्वसृ के सकार को समास में मूर्धन्य षकार होता है।"

उदाहरण—उक्त सूत्र (१६५१) से षष्ठी का अलुक् न होने पर षष्ठी समास, विभक्ति का लुक्, प्रकृत सूत्र से षत्व होने पर — मातृष्वसा। पितृष्वसा। समास न होने पर प्रकृत सूत्र से षत्व भी नहीं होता — मातुः स्वसा। पितुः स्वसा।

अलुक्समास-प्रकरण समाप्त।



अथ समासाश्रयप्रकरणम्

(१६५४) घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः ६।३।४३। भाषितपुंस्काद्यो ङी तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वः स्यात्, घरूपकल्पप्रत्यये चेलडादिषु चोत्तरपदेषु। ब्राह्मणितरा। ब्राह्मणितमा। ब्राह्मणिरूपा। ब्राह्मणिकल्पा। ब्राह्मणिचेली। ब्राह्मणिब्रुवा। ब्राह्मणिगोत्रेत्यादि। ब्रूञः वचाद्यचि वच्यादेशगुणयोर-

---

अथ समासाश्रयविधिः निरूप्यते —

(१६५४) **घरूप इति**। अधिकृतम् 'उत्तरपदे' इति पदं चेलडादिष्वन्वेति। 'स्त्रियाः पुंवत्०' इत्यस्माद् 'भाषितपुंस्कादि'त्यनुवृत्तम्। ङ्य इति तदन्तग्रहणं केवलस्यानेकाच्त्वाभावात्। तदाह — **भाषितपुंस्काद्यो ङी इत्यादि**। **ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणितमा**। अतिशायने तरप्तमपौ। 'तसिलादिषु' इति पुंवद्भावस्तु न, 'जातेश्चे'ति निषेधात्।

पूर्व-प्रकरणों में समास के भेद एवम् उपभेदों का निरूपण करने के अनन्तर सभी समासों में उपयोगी 'समासाश्रयविधि' का निरूपण किया जा रहा है। इन विधियों के द्वारा सामासिक पदों में वार्णिक परिवर्तन, पद-परिवर्तन तथा निपातन आदि की व्यवस्था की गई है।

(१६५४) **पद**—घरूपकल्प.........हतेषु, ङ्यः, अनेकाचः, ह्रस्वः। **अनुवृत्ति**—भाषितपुंस्कात्, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—घ, रूपप् और कल्पप् प्रत्यय के परे रहते तथा चेलट् आदि उत्तरपद के परे भाषितपुंस्क से परवर्ती जो ङी, तदन्त अनेकाच् को ह्रस्व होता है। ब्राह्मणितरा। ब्राह्मणितमा। ब्राह्मणिरूपा। ब्राह्मणिकल्पा। ब्राह्मणिचेली। ब्राह्मणिब्रुवा। ब्राह्मणिगोत्रा इत्यादि। ब्रूञ् धातु से पचादि अच् होने पर वच् आदेश तथा गुणाभाव का निपातन है। दत्तातरा। भाषितपुंस्क क्यों कहा? आमलकीतरा। कुवलीतरा।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्०' (६।३।३३) सूत्र से 'भाषितपुंस्कात्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'उत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। 'ङ्यः अनेकाचः' ह्रस्वविधि का स्थानी है। अर्थात् ङी (ङीप्, ङीष् तथा ङीन्) स्त्रीप्रत्यय से निष्पन्न होने वाले दीर्घ ईकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग अनेकाच् शब्द। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के द्वारा स्त्रीप्रत्यय सम्बन्धी अन्तिम ईकार को ही स्थानी माना जाता है। तदनुसार यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है — ''भाषितपुंस्क शब्द से उत्तरवर्ती जो ङी, तदन्त अनेकाच् शब्द को घ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत तथा हत शब्दों के परे रहते ह्रस्व होता है।''

उदाहरण—(१) **विग्रह**—इयम् अनयोः अतिशयेन उत्कृष्टा ब्राह्मणी (ब्राह्मणी + तर 'तमप्' + टाप्) — ब्राह्मणीतरा (भाषितपुंस्क तथा ङ्यन्त 'ई' को ह्रस्व – 'इ' – 'घरूपकल्प०', सु विभक्ति, हल्ङ्यादिलोप) = ब्राह्मणितरा (दो में श्रेष्ठ ब्राह्मणी)। यहाँ 'ब्राह्मणी' शब्द ब्राह्मणस्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर पुल्लिङ्ग का भी बोध कराता है, अतः भाषितपुंस्क है। (२) **विग्रह**—प्रशस्ता ब्राह्मणी (पूर्ववत् ह्रस्व) = ब्राह्मणिरूपा (श्रेष्ठ ब्राह्मणी)। (३) ईषत् असमाप्ता ब्राह्मणी (पूर्ववत् प्रक्रिया) = ब्राह्मणिकल्पा (पूरी ब्राह्मणी में कुछ कम)। (४) **विग्रह**—नीचा ब्राह्मणी (ब्राह्मणी + चेलट्, स्त्रीलिङ्ग में ङीप् = 'ई' — 'टिड्ढाणञ्०', ह्रस्व, विभक्तिकार्य) = ब्राह्मणिचेली (निन्दित

भावो निपात्यते। ङ्यः किम्? दत्तातरा। भाषितपुंस्कात् किम्? आमलकीतरा। कुवलीतरा। (१६५५) नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ६।३।४४। अङ्यन्तनद्याः ङ्यन्तैकाचंश्च घादिषु ह्रस्वो वा। ब्रह्मबन्धुतरा, ब्रह्मबन्धूतरा। स्त्रितरा, स्त्रीतरा। * कृन्नद्या न *। लक्ष्मीतरा। (१६५६) उगितश्च ६।३।४५। उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु ह्रस्वो वा स्यात्। विदुषितरा। ह्रस्वाभावपक्षे पुंवत्। विद्वत्तरा।

(१६५५) **नद्या इति**। उक्तादन्यः शेषः। ङ्यन्तस्यानेकाच इति पूर्वसूत्रे उक्तम्, तदन्यत्वं च अनेकाचो ङ्यन्तत्वाभावे ङ्यन्तस्यानेकाच्त्वाभावेऽपि सम्भवति। अत आह — **अङ्य-न्तनद्या इति**।

(१६५६) **विदुषितरेति**। अतिशायने विदुषी इति विग्रहे तरप्प्रत्यये टापि अनुबन्धलोपे

आचरण वाली ब्राह्मणी)। (५) ब्राह्मणिब्रुवा (नीच ब्राह्मणी)। (६) ब्राह्मणिगोत्रा (निन्दिता ब्राह्मणी) इत्यादि। ✓ब्रू धातु से पचादिगण में होने के कारण अच् प्रत्ययान्त ब्रुव शब्द बनता है। ब्रू के स्थान में प्राप्त 'वचि' आदेश ('ब्रुवो वचिः') तथा गुण भी निपातनवश नहीं होते। अतः 'उवङ्' आदेश होता है।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में ङ्यः (ङ्यन्त) पद का निवेश होने से 'दत्तातरा' (अधिक दी हुई) में 'दत्ता' के टाबन्त होने के कारण ह्रस्व नहीं हुआ। 'भाषितपुंस्कात्' पद का निवेश होने से **आमलकीतरा** (अच्छे आँवले का वृक्ष) और **कुवलीतरा** (अच्छा कुवलीवृक्ष) में भी ह्रस्व नहीं होता। यहाँ 'आमलकी' और 'कुवली' शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग हैं, भाषितपुंस्क नहीं हैं।

(१६५५) **पद**—नद्याः, शेषस्य, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अङ्यन्त नदीसंज्ञक और ङ्यन्त एकाच् को ह्रस्व विकल्प से होता है, घ आदि के परवर्ती रहने पर। ब्रह्मबन्धुतरा, ब्रह्मबन्धूतरा। स्त्रितरा, स्त्रीतरा। **वा०**—नदीसंज्ञक कृत् प्रत्यय को ह्रस्व नहीं होता। लक्ष्मीतरा।

विमर्श—पूर्वसूत्र का ही विषय है। 'उत्तरपदे' की प्राकरणिक अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। पूर्वसूत्र (१६५४) से 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से अपेक्षित है। पूर्वसूत्र में ङ्यन्त नदीसंज्ञकों को ह्रस्व-विधान कहा गया है। अतः 'शेषः' पद से तद्भिन्न 'अङ्यन्त' का ग्रहण किया जाता है। अतः सूत्र का अर्थ यह है कि "अङ्यन्त नदीसंज्ञक शब्दों को और ङ्यन्त एकाच् शब्दों को घ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र आदि के परवर्ती रहने पर विकल्प से ह्रस्व होता है।"

उदाहरण—ब्रह्मबन्धुतरा (ह्रस्व होने पर)। ह्रस्व के न होने पर — ब्रह्मबन्धूतरा (केवल नाम मात्र की ब्राह्मणी)। यहाँ ब्रह्मबन्धु + ऊङ् — 'ऊङुतः' से दीर्घ होकर 'ब्रह्मबन्धू' शब्द ऊकारान्त निष्पन्न होता है। स्त्रितरा ('स्त्री' को ह्रस्व विकल्प से)। ह्रस्व के अभावपक्ष में — स्त्रीतरा (श्रेष्ठ स्त्री)।

वा०—कृत्प्रत्ययान्त नदीसंज्ञक शब्दों को ह्रस्व नहीं होता। **उदाहरण**—लक्ष्मीतरा (श्रेष्ठ लक्ष्मी)। यहाँ प्राप्त ह्रस्व का प्रकृत वार्तिक से निषेध। ✓लक्ष् + ई (+ मुट् = 'म्' का आगम — 'लक्षेर्मुट् च') — लक्षि + म् + ई (णिच् = 'इ' का लोप — 'णेरनिटि') = लक्ष्मी।

(१६५६) **पद**—उगितश्च। **अनुवृत्ति**—नद्याः, अन्यतरस्याम्, घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहंतेषु ह्रस्वः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

(१६५७) पादस्य पदाज्योतिगोपहतेषु ६।३।५२। एषूत्तरपदेषु पादस्य पद इत्यदन्तादेशः स्यात्। पदाभ्याम् अजतीति पदाजिः। पदातिः। *अज्यतिभ्यां पादे च*। इतीण् प्रत्ययः। पदगः। पदोपहतः। (१६५८) पद्यत्यतदर्थे ६।३।५३। पादस्य पत् स्यादतदर्थे यति। पादौ विध्यन्ति पद्याः = शर्कराः। 'विध्यत्यधनुषे'ति

'विदुषी + तर + आ' इति जाते 'उगितश्च' इत्यनेन विकल्पेन ईकारस्य ह्रस्वत्वे विदुषितरा इति। ह्रस्वाऽभावपक्षे 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इत्यनेन पुंवद्भावात् ङीपो निवृत्तौ प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'विद्वत्तरा' इति सिद्धम्।

(१६५७) **पादस्येति**। पद इति लुप्तप्रथमाकं पृथक्पदम्। **पदातिः** — पादाभ्याम् अततीति विग्रहे पाद उपपदात् अत सातत्यगमने इति धातोः औणादिक इण्प्रत्यये णित्त्वादुपधा-वृद्धौ 'पादस्य पदाऽऽज्यातिगोपहतेषु' इत्यनेन पदादेशे 'पद् आति' इति जाते, प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'पदातिः' इति।

(१६५८) **पद्यत्यतदर्थे**। पद्यति अतदर्थे इतिच्छेदः। **पद्या इति**। 'विध्यत्यधनुषा' इति यत्प्रत्ययः।

मूलार्थ—उगित् से परे नदीसंज्ञक शब्दों को घ आदि परवर्ती रहते विकल्प से ह्रस्व होता है। विदुषितरा। ह्रस्व के अभावपक्ष में पुंवद्भाव — विद्वत्तरा।

विमर्श—ह्रस्व का प्रकरण चल रहा है। पूर्वसूत्र (१६५५) से 'नद्याः, अन्यतरस्याम्' तथा सूत्र १६५४ से 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से आ रही है। 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। सूत्रस्थ 'उगितः' पद के साथ अनुवृत्त पदों की एकवाक्यता होने पर यह अर्थ निष्पन्न होता है कि ''उगित् (उ, ऋ, लृ — इत्संज्ञक) शब्दों से परे नदीसंज्ञक शब्दों को भी 'घ' आदि के उत्तरवर्ती रहने पर विकल्प से ह्रस्व होता है।''

उदाहरण—(१) विदुषीतरा (प्रकृत सूत्र से विकल्प से ह्रस्व) = विदुषितरा। ह्रस्व न होने पर — विद्वत्तरा (यहाँ 'विदुषी' को पुंवद्भाव होने पर 'विद्वस्')। **अर्थ**—दो में अधिक विदुषी।

(१६५७) **पद**—पादस्य, पद, आज्यातिगोपहतेषु। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन शब्दों के उपपद रहने पर 'पाद' के स्थान में 'पद' आदेश होता है। पादाभ्याम् अजति — पदाजिः। पदातिः। 'अज्यतिभ्यां पादे च' से इण् प्रत्यय। पदगः। पदोपहतः।

विमर्श—'उत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'पद' शब्द में लुप्त प्रथमा विभक्ति है। तदनुसार — ''आजि, आति, ग तथा उपहत शब्दों के उत्तरवर्ती रहने पर 'पाद' शब्द के स्थान में 'पद' आदेश होता है।''

उदाहरण—**विग्रह**—पादाभ्याम् अजति (पाद + √अज् + इण् — 'अज्यतिभ्यां पादे च', उपधावृद्धि, 'पाद' = 'पद' आदेश — प्रकृत सूत्र से, अ + अ = 'आ' — दीर्घ, विभक्तिकार्य) = पदाजिः (पैदल चलने वाला)। **विग्रह**—पादाभ्याम् अतति (पाद + √अत + इण्, शेष प्रक्रिया पूर्ववत्, पद आदेश) = पदातिः (पैदल चलने वाला)। **विग्रह**—पादाभ्यां गच्छति (पाद + √गम् + ड —'गमेर्डः', टि = 'अम्' का लोप, पाद = पद आदेश, विभक्तिकार्य) = पदगः (पैदल जाने वाला)। पादाभ्याम् उपहतः (समास — 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्', उप + √हन् + क्त = उपहतः, पाद = पद आदेश, अ + उ = 'ओ' — गुण) = पदोपहतः (पैरों से मारा गया)।

(१६५८) **पद**—पद्, यति, अतदर्थे। **अनुवृत्ति**—पादस्य, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

यत्। अतदर्थे किम्? पादार्थमुदकं पाद्यम्। 'पादार्घाभ्यां चे'ति यत्। (१६५९) उदकस्योदः संज्ञायाम् ६।३।५७। उत्तरपदे। उदमेघः। *उत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम्*। क्षीरोदः। (१६६०) पेषंवासवाहनधिषु च ६।३।५८। उदपेषं पिनष्टि।

(१६५९) **उदकस्योदः**। उदकशब्दस्य उद इत्यादेशः स्यादुत्तरपदे संज्ञायामित्यर्थः।

(१६६०) **उदपेषं पिनष्टि**। पेषमिति णमुलन्तमव्ययम्। उदकेन पिनष्टीत्यर्थः। कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः।

मूलार्थ—अतदर्थक यत् प्रत्यय के परे रहते पाद को पद् आदेश होता है। पद्याः शर्कराः। 'अतदर्थे' क्यों कहा? पाद्यम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१६५७) से 'पादस्य' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। 'उत्तरपदे' का अधिकार है। तदनुसार — ''तादर्थ्यभिन्न यत् प्रत्यय के परे रहते पाद को पद् (हलन्त) आदेश होता है।''

उदाहरण—विग्रह—पादौ विध्यन्ति (पाद + यत् = 'य' - 'विध्यत्यधनुषा', पाद = 'पद्' आदेश — 'पद्यत्यतदर्थे', प्रथमा बहुवचन विभक्तिकार्य) = पद्याः शर्कराः (पैरों में चुभने वाले कंकड़)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अतदर्थे' पद का निवेश होने से 'पाद्यम्' (जल, पैर धोने में तदर्थ है) में पद् आदेश नहीं होता। पादार्थम् उदकम् = पाद्यम्।

(१६५९) **पद**—उदकस्य, उदः, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उदक शब्द को उद आदेश होता है, उत्तरपद के परे रहते संज्ञा में। उदमेघः। **वा०**—उत्तरपद में स्थित उदक को भी उद आदेश होता है। क्षीरोदः।

विमर्श—'उत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार — ''संज्ञा में उत्तरपद परे रहते 'उदक' के स्थान में 'उद' आदेश होता है।''

उदाहरण—विग्रह—उदकस्य मेघः (षष्ठीतत्पुरुष समास, उदक = उद आदेश प्रकृत सूत्र से, विभक्तिकार्य) = उदमेघः (जल से भरे मेघ)।

वा०—समस्यमान पदों में उदक की उत्तरत्र स्थिति होने पर भी उद आदेश होगा। **उदाहरण—विग्रह**—क्षीरम् उदकं यस्य (बहुव्रीहि समास, उदक = उद आदेश वार्तिक से, अ + उ = 'ओ' — गुण, विभक्तिकार्य) = क्षीरोदः (दूध का समुद्र, नाम-विशेष)।

(१६६०) **पद**—पेषं-वास-वाहन-धिषु, च। **अनुवृत्ति**—उदकस्योदः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पेषम् आदि उत्तरपद के परे भी उदक को उद आदेश होता है। उदपेषं पिनष्टि। उदवासः। उदवाहनः। उदधिर्घटः।

विमर्श—पूर्ववत् 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। पूर्वसूत्र (१६५९) से 'उदकस्योदः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — ''पेषं, वास, वाहन तथा धि शब्दों के उत्तरपद रहते भी उदक के स्थान में उद आदेश होता है।''

उदाहरण—विग्रह—उदकेन पिनष्टि (उदक + टा, पिष + णमुल् - 'स्नेहने पिषः') — उदक + पिष् + अम् (उपपदसमास, लघूपधगुण, उदक = उद आदेश, विभक्तिकार्य) = उदपेषं पिनष्टि (पानी डालकर पीसता है)। **विग्रह**—उदकस्य वासः (षष्ठीसमास, उद आदेश) = उदवासः (जल में निवास)। उदकस्य वाहनः (वाहकः) (षष्ठीत०स०, उद आदेश) = उदवाहनः (जल

उदवासः । उदवाहनः । उदधिर्घटः । (१६६१) एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् ६।३।५९ । उदकुम्भः, उदककुम्भः । एकेति किम् ? उदकस्थाली । पूरयितव्येति किम् ? उदकपर्वतः ।(१६६२) मन्थौदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च ६।३।६० । उदमन्थः - उदकमन्थः । उदौदनः - उदकौदनः । (१६६३) इको

(१६६१) **एकहलादाविति** । हल्त्वस्य एकैकवर्णधर्मत्वादेव सिद्धे एकग्रहणादसंयुक्तत्वं लभ्यते । असंयुक्तहलादौ पूरयितव्यवाचके उत्तरपदे परे उदकस्य उद इत्यादेशः स्यादित्यर्थः ।

(१६६२) **मन्थौदन इति** । उदकस्य उदादेशो वेति शेषः । **उदमन्थः** — उदकमिश्रो मन्थ इति विग्रहः । द्रवद्रव्यसम्पृक्ताः सक्तवः = मन्थः । विभाषया उदकस्य उदादेशः । पक्षे — उदकमन्थ इति ।

ढोने वाला) । उदकं धीयते अस्मिन् (उदक + सु, धा + कि — 'कर्मण्यधिकरणे च', 'आ' का लोप, उदक = उद आदेश) = उदधिः (जल रखने वाला घड़ा) ।

(१६६१) **पद**—एकहलादौ, पूरयितव्ये, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—उदकस्योदः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—असंयुक्त हलादि पूर्ण करने योग्य पात्रवाचक शब्द के उत्तरवर्ती रहने पर उदक को उद आदेश विकल्प से होता है । उदकुम्भः । उदककुम्भः । 'एकः' क्यों कहा? उदकस्थाली । 'पूरयितव्ये' क्यों कहा? उदकपर्वतः ।

विमर्श—स्थानी और आदेश वाचक पद दोनों ही पूर्ववत् अनुवृत्त किये जा रहे हैं । 'उत्तरपदे' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है । अनुवर्तमान पदों के साथ सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता होने पर सूत्र से यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है कि ''एकमात्र हल्वर्ण है आदि में जिसके (एकहलादि) ऐसा 'पूर्ण किया जाना (पूरयितव्य)' अर्थ के सूचक शब्द के उत्तरवर्ती रहने पर उदक शब्द के स्थान में 'उद' आदेश हो जाता है ।''

उदाहरण—**विग्रह**—उदकस्य कुम्भः (ष० तत्पुरुष) अथवा उदकपूर्णः कुम्भः (शाकपार्थिवादि समास, 'पूर्ण' का लोप, उदक = उद आदेश विकल्प से — 'एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्', विभक्तिकार्य) = उदकुम्भः । उद आदेश न होने पर — उदककुम्भः (जल का भरा घड़ा) ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'एकहलादौ' पद का निवेश होने से '**उदकस्थाली**' (जल की वटलोई) में उदक के स्थान पर उद आदेश नहीं हुआ । क्योंकि उत्तरपदस्थ 'स्थाली' शब्द के आदि में स् तथा थ् दो हल् हैं । 'पूरयितव्ये' पद का निवेश होने से '**उदकपर्वतः**' (पर्वत की चोटी) में उद आदेश नहीं होता । क्योंकि पर्वत पूर्ण किये जाने वाला 'घड़े' की तरह नहीं है ।

(१६६२) **पद**—मन्थौदन......गाहेषु, च । **अनुवृत्ति**—उदकस्य, उदः, अन्यतरस्याम्, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—मन्थादि उत्तरपद के परे रहते उदक को उद आदेश विकल्प से होता है । उदमन्थः । उदकमन्थः । उदौदनः । उदकौदनः ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'च' पद से पूर्वसूत्र (१६६१) स्थित 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । शेष पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार — ''मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध तथा गाह शब्दों के उत्तरपद रहते 'उदक' शब्द के स्थान पर विकल्प से 'उद' आदेश होता है ।''

ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य ६।३।६१। इगन्तस्याङ्यन्तस्य ह्रस्वो वा उत्तरपदे। ग्रामणिपुत्रः – ग्रामणीपुत्रः।'इकः' किम्? रमापतिः।'अङ्यः' इति किम्? गौरीपतिः। **(१६६४) ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ६।१।१३।** ष्यङन्तस्य पूर्वपदस्य सम्प्रसारणं स्यात् पुत्रपत्योः परतः। **(१६६५) सम्प्रसारणस्य ६।३।१३९।** दीर्घः स्यादुत्तरपदे। कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः कौमुदगन्धीपुत्रः। कौमुदगन्धीपतिः। (१६६६)

(१६६३) **इको ह्रस्वः**। 'अङ्यः' इतिच्छेदः। **ग्रामणिपुत्रः** — कर्मधारयः षष्ठी-समासो वा।'नी' धातोरीकारोऽयं न तु ङीप्प्रत्यय इति भावः।

(१६६४) **ष्यङः सम्प्रसारणमिति**।'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' इति परिभाषया ष्यङ इति तदन्तग्रहणम्। अत आह – **ष्यङन्तस्येति**।

(१६६५) **सम्प्रसारणस्य**।'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यतः दीर्घ इत्यनुवर्तते। तदाह — **दीर्घ इति**। **कौमुदीगन्धीपुत्रः** — 'कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः' इति विग्रहे षष्ठीसमासे

उदाहरण—विग्रह—उदकेन मन्थः (तृतीयातत्पुरुष समास, उदक = उद आदेश विकल्प से) = उदमन्थः। उद आदेश न होने पर — उदकमन्थः (जलमिश्रित सत्तू)। उदकमिश्र ओदनः (विकल्प से उदक = उद आदेश) = उदौदनः। उद आदेश के अभावपक्ष में — वृद्धि = उदकौदनः (जल में पका भात)।

(१६६३) **पद**—इकः, ह्रस्वः, अङ्यः गालवस्य। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अङ्यन्त इगन्त को ह्रस्व विकल्प से होता है, उत्तरपद के परे रहते। ग्रामणिपुत्रः। ग्रामणीपुत्रः।'इकः' क्यों कहा? रमापतिः।'अङ्यः' क्यों कहा? गौरीपतिः।

विमर्श—ह्रस्वविधि का सूत्र है। स्थानी 'इकः' तथा आदेश 'ह्रस्वः' दोनों सूत्र में हैं।'इकः' का विशेषण 'अङ्यः' है। अतः तदन्तविधि द्वारा अङ्यन्त का बोध होता है।'ङी' से ईकारान्त स्त्रीप्रत्यय 'ङीप्, ङीष् तथा ङीन्' का ग्रहण होता है।'अन्यतरस्याम्' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''ङ्यन्त से भिन्न इगन्त को उत्तरपद के परे रहने पर विकल्प से ह्रस्व होता है।''

उदाहरण—विग्रह—ग्रामण्याः पुत्रः (षष्ठीसमास, 'ग्रामणी' के इगन्त होने से विकल्प से 'ई' = 'इ' — ह्रस्व — 'इको ह्रस्वो०', विभक्तिकार्य) = ग्रामणिपुत्रः। ह्रस्व न होने पर — ग्रामणीपुत्रः (गाँव के मुखिया का पुत्र)। यहाँ ईकार ✓नी धातु का है। (ग्राम ✓नी + क्विप्)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'इकः' पद का निवेश होने से '**रमापतिः**' (लक्ष्मीपति) में 'आ' को ईकारान्त न होने के कारण ह्रस्व नहीं हुआ।'अङ्यः' पद का समावेश होने से **गौरीपतिः** (शिव) में 'ई' को ह्रस्व नहीं हुआ। क्योंकि 'गौरी' में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् प्रत्यय हुआ है।

(१६६४) **पद**—ष्यङः, सम्प्रसारणम्, पुत्रपत्योः, तत्पुरुषे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पुत्र और पति शब्द के उत्तरपद रहते ष्यङन्त पूर्वपद को सम्प्रसारण होता है।

विमर्श—प्रसङ्गवश सम्प्रसारणविधि का सूत्र उद्धृत किया जा रहा है। ष्यङ् पद में 'प्रत्यय-ग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषानुसार तदन्त का ग्रहण होता है। अतः ''तत्पुरुष समास में पुत्र और पति शब्द के उत्तरपद रहने पर ष्यङ् प्रत्ययान्त पूर्वपद में ष्यङ् के 'य्' को सम्प्रसारण होता है।''

(१६६५) **पद**—सम्प्रसारणस्य। **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उत्तरपद परे रहते सम्प्रसारण को दीर्घ होता है। कौमुदगन्धीपुत्रः। कौमुदगन्धीपतिः।

इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु ६।३।६५ । इष्टकादीनां तदन्तानां च चितादिषु ह्रस्वः स्यात्। इष्टकचितम्। पक्वेष्टकचितम्। इषीकतूलम्। मुञ्जेषीकतूलम्। मालभारी। उत्पलमालभारी। (१६६७) **ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु ६।३।८५** । समानस्य सः। सज्योतिः। (१६६८)

'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे' इत्यनेन सम्प्रसारणे यकारस्य इकारे पूर्वरूपे 'सम्प्रसारणस्य' इति दीर्घे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'कौमुदगन्धीपुत्रः' इति।

(१६६६) **इष्टकेषीका**। 'उत्तरपदे' इत्यधिकृतम्। पूर्वपदम् इष्टकादिभिर्विशेष्यते। तदन्तविधिः। 'इको ह्रस्वः' इत्यतः ह्रस्व इत्यनुवर्तते। तदाह — **इष्टकादीनामिति**।

(१६६७) **ज्योतिर्जनपद इति**। अच्छन्दोऽर्थं सूत्रमिदम्। **सज्योतिरिति**। समानं ज्योतिर्यस्येति विग्रहः। समानस्य स आदेशः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में आदेशवाचक पद का अभाव है। अतः 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से 'पूर्वस्य, दीर्घोऽणः' की अनुवृत्ति आती है। 'उत्तरपदे' का अधिकार है। तदनुसार सूत्र से यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है कि ''सम्प्रसारणान्त पूर्वपद के अण् को उत्तरपद परे रहते दीर्घ होता है।''

उदाहरण—विग्रह—कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः (ष० त० समास, 'य्' = 'इ' - सम्प्रसारण — 'ष्यङः सम्प्रसारणम्', आ = 'ई' — पूर्वरूप, 'इ' = 'ई' — दीर्घ — 'सम्प्रसारणस्य', विभक्तिकार्य) = कौमुदगन्धीपुत्रः (कौमुदगन्ध्या नामक स्त्री का पुत्र)। इसी प्रकार - कौमुदगन्ध्यायाः पतिः = कौमुदगन्धीपतिः।

(१६६६) **पद**—इष्टकेषीकामालानां, चिततूलभारिषु। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इष्टकादि तथा तदन्तों को चित, तूल और भारि शब्दों के उत्तरपद रहते ह्रस्व होता है। इष्टकचितम्। पक्वेष्टकचितम्। इषीकतूलम्। मुञ्जेषीकतूलम्। मालभारी। उत्पलमालभारी।

विमर्श—ह्रस्वविधान का विषय है। पूर्वसूत्र (१६६३) से 'ह्रस्वः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'उत्तरपदे' का अधिकार 'पदस्य' (८।१।१६) के अन्तर्गत होने से 'पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च' परिभाषानुसार तदन्तविधि होती है। तदनुसार ''इष्टका, इषीका और माला तथा तदन्तान्त शब्दों को क्रमशः चित, तूल तथा भारिन् शब्दों के उत्तरवर्ती होने पर ह्रस्व होता है।''

उदाहरण—विग्रह—इष्टकाभिः चितम् (तृतीयातत्पुरुष समास, आ = 'अ' — ह्रस्व, विभक्तिकार्य) = इष्टकचितम् (ईंटों से चुना गया)। पक्वाः इष्टकाः पक्वेष्टकाः, ताभिः चितम् (कर्मधारययुक्त तृतीयातत्पुरुष समास, आ को ह्रस्व) = पक्वेष्टकचितम् (पकी ईंटों से चुना हुआ)। **विग्रह**—इषीकायाः तूलम् (ष० त० समास, आ = 'अ' ह्रस्व) = इषीकतूलम् (सींकों का गुच्छा)। **विग्रह**—मुञ्जेषीकायाः तूलम् (ष० त० समास, 'आ' को ह्रस्व) = मुञ्जेषीकतूलम् (मूँज की सीकों का गुच्छा)। **विग्रह**—मालां बिभर्ति (✓भृ + णिनि = 'इ', वृद्धि, रपर) = भारिन् (उप-पदसमास, आ = 'अ' ह्रस्व, प्र० ए० व० विभक्तिकार्य) मालभारी (माला को लिये हुए)। **विग्रह**—उत्पलानां माला — उत्पलमाला। उत्पलमालां बिभर्ति (प्रक्रिया उक्तवत्, ह्रस्व) = उत्पल-मालभारी (कमलों की माला लिये हुए)।

(१६६७) **पद**—ज्योतिर्जनपद.......बन्धुषु। **अनुवृत्ति**—समानस्य सः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ज्योति आदि शब्दों के उत्तरपद रहने पर समान को 'स' आदेश होता है। सज्योतिः।

चरणे ब्रह्मचारिणि ६।३।८६। ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे समानस्य सश्चरणे समानत्वेन गम्यमाने। चरणः शाखा। ब्रह्मवेदः, तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरतीति ब्रह्मचारी। सब्रह्मचारी इत्यादि। **(१६६९) तीर्थे ये ६।३।८७।** यादौ प्रत्यये विवक्षिते समानस्य सः। सतीर्थ्यः एकगुरुकः। 'समानतीर्थे वासी'ति यत्प्रत्ययः। **(१६७०) विभा-**

(१६६८) **चरणे ब्रह्मचारिणि**। 'समानस्ये'ति स इति चानुवर्तते। 'उत्तरपदे' इत्यधिकृतम्। अत आह — **ब्रह्मचारिण्युत्तरपद इति**।

(१६६९) **तीर्थे ये**। अकारान्तात्यशब्दात् सप्तम्येकवचनम्, अकारो न विवक्षितः। प्रत्यय इति विशेष्यमध्याहार्यम्। तदादिविधिस्तदाह — **यादाविति**। **सतीर्थ्यः** — समाने तीर्थे वसतीति विग्रहे 'समानतीर्थे वासी'ति यत्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'समानतीर्थ + य' इति जाते 'तीर्थे ये' इत्यनेन समानस्य सादेशे भसंज्ञायाम् 'यस्येति चे' त्यनेन अकारलोपे संयोगे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'सतीर्थ्यः' इति।

विमर्श—'उत्तरपदे' का अधिकार है। 'समानस्य च्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (६।३।८४) से 'समानस्य' तथा 'सहस्य सः संज्ञायाम्' (६।३।७८) से 'सः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार - ''ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नामन्, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन तथा बन्धु शब्दों के उत्तरपद रहते समान शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होता है।''

उदाहरण—विग्रह—समानं ज्योतिः यस्य (समान + सु, ज्योतिस् + सु (बहुव्रीहिसमास, समान = 'स' — आदेश, सु विभक्ति, सुलोप, स् = र् = :) = सज्योतिः (नक्षत्रों के उदय तक का काल)।

(१६६८) **पद**—चरणे, ब्रह्मचारिणि। **अनुवृत्ति**—समानस्य, सः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—चरण (वेदशाखा) की समानता गम्य होने पर ब्रह्मचारी शब्द के उत्तरपद रहते समान शब्द को 'स' आदेश होता है। 'चरण' का अर्थ — शाखा है। 'ब्रह्म' वेद को कहते हैं। वेद के अध्ययन हेतु व्रत भी 'ब्रह्म' ही है। ब्रह्म (वेदव्रत) का आचरण करने वाला - ब्रह्मचारी। सब्रह्मचारी।

विमर्श—पूर्ववत् 'उत्तरपदे' एवम् 'समानस्य, सः' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — ''चरण (वेदशाखा) अर्थ गम्यमान होने पर ब्रह्मचारिन् शब्द के उत्तरपद में रहने पर 'समान' शब्द के स्थान में 'स' आदेश होता है।''

उदाहरण—विग्रह—समानः ब्रह्मचारी (कर्मधारय समास, विभक्तिलोप, समान = 'स' आदेश — 'चरणे ब्रह्मचारिणि', विभक्ति सु) — स ब्रह्मचारिन् + सु (उपधादीर्घ, सुलोप, 'न्' का लोप) = सब्रह्मचारी (समान वेदव्रती अर्थात् वेद की समान शाखा को पढ़ने वाला विद्यार्थी)।

(१६६९) **पद**—तीर्थे, ये। **अनुवृत्ति**—समानस्य, सः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—यादि प्रत्यय की विवक्षा में तीर्थ शब्द उत्तरपद रहते समान को स आदेश होता है। सतीर्थ्यः। 'समानतीर्थेवासी' से यत्प्रत्यय।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् उक्त पदों की अनुवृत्ति यहाँ भी विद्यमान है। अतः ''तीर्थ शब्द उत्तरपद रहते यकारादि प्रत्यय परे हो तो समान शब्द के स्थान पर स आदेश होता है।''

उदाहरण—विग्रह—समानं तीर्थम् = समानतीर्थम् (कर्मधारयसमास)। समाने तीर्थे वसति (यत् = 'य' प्रत्यय — 'समानतीर्थे वासी') — समान + तीर्थ + य (समान = 'स' आदेश प्रकृत

षोदरे ६।३।८८। सोदर्यः। समानोदर्यः। **(१६७१) दृग्दृशवतुषु ६।३।८९।** सदृक्। सदृशः। *दृक्षे च*। सदृक्षः। **(१६७२) इदंकिमोरीश्की ६।३।९०।** दृग्दृशवतुषु। ईदृक्, ईदृशः। कीदृक्, कीदृशः। *दृक्षे च*। ईदृक्षः। (१६७३)

(१६७०) **विभाषोदरे**। उदरशब्दे परे समानस्य सभावो वा स्याद् यादौ प्रत्यये विवक्षिते इत्यर्थः।

(१६७१) **दृग्दृशवतुषु**। समानस्य स इति शेषः। **सदृक्** — समानो दृश्यते इत्यर्थे 'समानान्ययोश्चे'ति दृशेः क्विन् कञ् च। **दृक्षे चेति**। समानस्य स भवतीत्यर्थः।

(१६७२) **इदमिति**। दृग्दृशवतुषु इदम ईश्, किमः की स्यादित्यर्थः।

सूत्र से, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सतीर्थ्यः (सहपाठी, एक गुरु के पास अध्ययन करने वाला छात्र)।

(१६७०) **पद**—विभाषा, उदरे। **अनुवृत्ति**—ये, समानस्य, सः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—यादि प्रत्यय की विवक्षा में उत्तरपद के परे रहते विकल्प से समान को स आदेश होता है। सोदर्यः। समानोदर्यः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१६६९) से 'ये' पद की अनुवृत्ति आ रही है। शेष आधिकारिक एवं प्राकरणिक उक्त पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार — ''यकारादि प्रत्यय विवक्षित होने पर उदर शब्द परे रहते समान शब्द के स्थान में विकल्प से 'स' आदेश होता है।''

उदाहरण—विग्रह—समानः उदरः (कर्मधारय समास, समान = स आदेश विकल्प से 'विभाषोदरे', 'य' प्रत्यय — 'सोदराद्यः', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सोदर्यः। स आदेश न होने पर — समानोदर्यः (सहोदर भाई)।

(१७७१) **पद**—दृग्दृशवतुषु। **अनुवृत्ति**—समानस्य, सः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दृक्, दृश और वतु के परे रहते समान को स आदेश होता है। सदृक्। सदृशः।
वा०—दृक्ष के परे रहते भी उक्त आदेश हो। सदृक्षः।

विमर्श—'उत्तरपदे' का अधिकार है। पूर्ववत् 'समानस्य, सः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'दृग्दृशवतुषु' पद अनुवर्तमान 'उत्तरपदे' के साथ अन्वित होता है। तदनुसार — ''दृक्, दृश् तथा वतु शब्दों के परवर्ती होने पर समान शब्द के स्थान पर स आदेश होता है।'' सूत्रस्थ 'वतु' की उपयोगिता अग्रिम सूत्र में अनुवृत्ति के लिए है। क्योंकि वतुप् प्रत्यय यत्, तत् तथा एतद् शब्दों से ही होता है। 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्'। 'समान' शब्द से वतुप् सम्भव नहीं है।

उदाहरण—विग्रह—समानम् आत्मानं पश्यति (समान + अम्, ✓दृश + क्विन् (क्विन् का सर्वापहार लोप, उपपदसमास, समान = 'स' आदेश, पुनः विभक्ति, 'श्' = 'क्' — 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः', 'सु' का हल्ङ्यादिलोप) = सदृक् (समान)। समानं पश्यति (समान + अम् ✓दृश + कञ् = 'अ', उपपदसमास, समान = 'स' आदेश, विभक्तिकार्य) = सदृशः (समान)।

वा०—दृक्ष शब्द उत्तरपद में रहने पर भी 'समान' के स्थान पर 'स' आदेश होता है। **उदाहरण**—समान + दृश् + क्स = स ('श्' = 'क्', स् = ष् — षत्व, समान = स आदेश) सदृक् + ष (क् + ष् = क्ष्) = सदृक्षः।

(१६७२) **पद**—इदंकिमोः, ईश्-की। **अनुवृत्ति**—दृग्दृशवतुषु, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दृक्, दृश् और वतु के परे रहते 'इदम्' को 'ईश्' और 'किम्' को की आदेश होता है। ईदृक्, ईदृशः। कीदृक्, कीदृशः। **वा०**—दृक्ष के परे भी उक्त आदेश हो। ईदृक्षः।

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु ६।३।९९ । अन्यशब्दस्य दुगागमः स्यादाशीरादिषु परेषु । अन्यदाशीः । अन्यदाशा । अन्यदास्था । अन्यदास्थितः । अन्यदुत्सुकः । अन्यदूतिः । अन्यद्रागः । अषष्ठीत्यादि किम् ? अन्यस्यान्येन वाशीः अन्यशीः । *कारके छे च नायं निषेधः* । अन्यस्य

(१६७३) **अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य** । अषष्ठ्याम् अतृतीयां च परतस्तिष्ठतीति अषष्ठ्यतृतीयास्थः, तस्येति । **कारके छे चेति** । भाष्योक्तमिदम् ।

विमर्श—'उत्तरपदे' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । पूर्वसूत्र 'दृग्दृशवतुषु' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः "दृक्, दृश तथा वतु शब्दों के उत्तरवर्ती रहने पर 'इदम्' तथा 'किम्' को क्रमानुसार 'ईश्' तथा 'की' आदेश होते हैं ।" ये दोनों आदेश 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' के अनुसार सर्वादेश होते हैं ।

उदाहरण—**विग्रह**—इदम् इव दृश्यते (इदम् + √दृश् + क्विन् = इदम् दृश्, इदम् = की = 'ई' — 'इदंकिमोरीश्की', 'श्' = 'क्' — 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः', विभक्ति 'सु' का लोप) = ईदृक् (ऐसा) । इदम् से दृश उत्तरपद रहने पर — ईदृशः (ऐसा) । **विग्रह**—किम् इव दृश्यते (किम् + √दृश + क्विन्; किम् = की आदेश, अन्य प्रक्रिया उक्तवत्) = कीदृक् (कैसा) । किम् से दृश उत्तरपद रहते — कीदृशः (कैसा) ।

वा०—'दृक्ष' परे रहते भी 'इदम्' तथा 'किम्' शब्दों को क्रमशः ईश् तथा की आदेश होते हैं ।

उदाहरण—ईदृशः (ऐसा) ।

(१६७३) **पद**—अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य, अन्यस्य, दुक्, आशीराशाऽऽस्थाऽऽस्थितोत्सुकोतिकारक-रागच्छेषु । **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आशीः आदि शब्दों के परे रहते षष्ठ्यन्त और तृतीयान्त से भिन्न अन्य शब्द को 'दुक्' का आगम होता है । अन्यदाशीः । अन्यदाशाः । अन्यदास्थितः । अन्यदुत्सुकः । अन्यदूतिः । अन्यद्रागः । 'अषष्ठी इत्यादि' क्यों कहा? अन्याशीः । **वा०**—कारक और छ में यह निषेध नहीं होता । अन्यदीयः ।

विमर्श—प्रासङ्गिक विधानों के अनन्तर पुनः समासाश्रयविधि के प्रत्यय का उल्लेख किया जा रहा है । 'उत्तरपदे' का अधिकार है । 'अन्य' शब्द स्थानी है । आगमविधायक पद दुक् = 'द्' है । ककारेत्संज्ञक होने से आगम अन्तावयव (अन्य शब्द के अकार के अनन्तर) होगा । तदनुसार सूत्र का अर्थ होगा कि "षष्ठी तथा तृतीया विभक्तियों से भिन्न विभक्ति में प्रयुक्त 'अन्य' शब्द से आशिष्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग तथा छ प्रत्यय के परवर्ती रहने पर दुक् (= द्) का आगम होता है ।"

उदाहरण—(१) **विग्रह**—अन्या आशी (अन्या + सु + आशिष् + सु — कर्मधारयसमास, विभक्तिलोप, 'अन्या' को पुंवद्भाव — 'पुंवत्कर्मधारय०', दुक् = 'द्' का आगम प्रकृत सूत्र से) — अन्यद् आशिष् + सु (विभक्तिलोप, स् = ऱ्, 'इ' = 'ई' - दीर्घ – 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः', ऱ् = :) = अन्यदाशीः (दूसरा आशीर्वाद) । (२) **विग्रह**—अन्या आशा (समासादि कार्य उक्तवत्) = अन्यदाशा (दूसरी आशा) । (३) **विग्रह**—अन्यस्मिन् आस्था (सप्तमीतत्पुरुष समास, 'दुक्' का आगम आदि) = अन्यदास्था (दूसरे में आसक्ति) । (४) **विग्रह**—अन्यम् आस्थितः (प्रक्रिया

कारकोऽन्यत्कारकः। अन्यस्यायमन्यदीयः। **(१६७४) अर्थे विभाषा ६।३।१०० ।** अन्यदर्थः अन्यार्थः। **(१६७५) कोः कत्तत्पुरुषेऽचि ६।३।१०१ ।** अजादावुत्तरपदे। कुत्सितोऽश्वः कदश्वः। कदन्नम्। तत्पुरुषे किम्? कूष्ट्रो राजा। *त्रौ च*।

(१६७४) **अर्थे विभाषा**। अन्यस्य दुग्भवतीत्यर्थः।

(१६७५) **कोः कत्तदिति**। कत् इतिच्छेदः। **कदश्वः**—'कुगति' इति समासः। **कूष्ट्रो राजेति**। कुत्सित उष्ट्रो यस्येति विग्रहे बहुव्रीहित्वान्नात्र कदादेशः। **त्रौ चेति**। त्रिशब्दे परे कदादेशो वक्तव्य इत्यर्थः।

उक्तवत्) = अन्यदास्थितः (दूसरे के पास गया)। (५) **विग्रह**—अन्यस्मै उत्सुकः (समासादि पूर्ववत्) = अन्यदुत्सुकः (दूसरे के लिए उत्सुक)। (६) **विग्रह**—अन्या ऊतिः (कर्मधारयसमास, पुंवद्भाव तथा दुक् का आगम) = अन्यदूतिः (दूसरी बनावट)। (७) **विग्रह**—अन्यः रागः (कर्मधारयसमास, दुक् का आगम, विभक्तिकार्य) = अन्यद्रागः (दूसरा राग)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अषष्ठी' एवम् 'अतृतीया' पदों का निवेश होने से 'अन्यस्य अन्येन वा आशीः' विग्रह में समास करने पर दुक् का आगम नहीं होता। क्योंकि यहाँ विग्रह में षष्ठी और तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। अन्याशीः (दूसरे का दिया आशीर्वाद)।

१. **वा०**—कारक शब्द और छ प्रत्यय के परवर्ती रहते षष्ठ्यन्त और तृतीयान्त 'अन्य' पद को दुक् के आगम का निषेध नहीं होता। **उदाहरण**— (८) **विग्रह**—अन्यस्य कारकः (षष्ठीतत्पुरुष एवं दुक् का आगम) = अन्यत्कारकः (दूसरे का करने वाला)। (९) अन्यस्य इदम् (अन्य + छ — 'गहादिभ्यश्च', दुक् = 'द्' का आगम, छ = ईय) = अन्यदीयः (दूसरे का)।

(१६७४) **पद**—अर्थे, विभाषा। **अनुवृत्ति**—अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य, अन्यस्य दुक्, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अर्थ शब्द परे रहते अन्य को दुक् आगम विकल्प से होता है। अन्यार्थः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१६७३) से 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य, अन्यस्य दुक्' अंश की अनुवृत्ति आती है। 'उत्तरपदे' का अधिकार है। अतः "षष्ठी तथा तृतीया से भिन्न विभक्त्यन्त अन्य शब्द से अर्थ शब्द के परे रहने पर दुक् का आगम विकल्प से होता है।"

उदाहरण—**विग्रह**—अन्यः अर्थः (कर्मधारयसमास, विभक्तिलोप, विकल्प से दुक् = 'द्' का आगम, विभक्तिकार्य) = अन्यदर्थः। दुक् आगम न होने पर दीर्घ — अन्यार्थः (दूसरा अर्थ)।

(१६७५) **पद**—कोः, कत्, तत्पुरुषे, अचि। **अनुवृत्ति**—उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अजादि उत्तरपद के परे तत्पुरुष समास में 'कु' को 'कत्' आदेश होता है। कदश्वः। कदन्नम्। 'तत्पुरुषे' क्यों कहा? कूष्ट्रो राजा। **वा०**—त्रि शब्द परे रहते भी कत् आदेश होता है। कत्त्रयः।

विमर्श—'उत्तरपदे' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। स्थानी 'कु' तथा आदेश 'कत्' है। तदनुसार — "तत्पुरुष समास में अजादि शब्द उत्तरपद रहते 'कु' के स्थान में कत् आदेश होता है।" अनेकाल् हो से यह आदेश सम्पूर्ण 'कु' के स्थान में होगा।

उदाहरण—**विग्रह**—कुत्सितः अश्वः (समास — 'कुगतिप्रादयः') — कु अश्वः (कु = 'कत्' आदेश — 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि', 'त्' = 'द्' — 'झलां जशोऽन्ते', विभक्तिकार्य) = कदश्वः (बुरा घोड़ा)। कुत्सितम् अन्नम् = कदन्नम् (बुरा अन्न)।

कत्त्रयः। (१६७६) रथवदयोश्च ६।३।१०२। कद्रथः। कद्वदः। (१६७७) तृणे च जातौ ६।३।१०३। कत्तृणम्। (१६७८) का पथ्यक्षयोः ६।३।१०४।

(१६७६) **रथवदयोश्च**। कोः कत्तत्पुरुषे इति शेषः।

(१६७७) **तृणे चेति**। तृणपदे कोः कत्स्याज्जातौ वाच्यायामित्यर्थः। **कत्तृणम्** — कुत्सितं तृणमिति विग्रहे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे विभक्तिलोपे 'तृणे च जातौ' इत्यनेन तृणशब्दे परतः कुशब्दस्य कदादेशे प्रातिपदिकत्वे सौ, सोरमि 'कत्तृणमि'ति सिद्धम्।

(१६७८) **का पथ्यक्षयोः**। पथिन्-अक्ष अनयोः परतः कोः का इत्यादेशः स्यादित्यर्थः।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'तत्पुरुषे' पद का समावेश होने से 'कूष्ट्रः राजा' (दुष्ट ऊँट वाला राजा) में 'कु' के स्थान में 'कत्' आदेश नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ बहुव्रीहिसमास है— 'कुत्सितः उष्ट्रः यस्य'।

वा०—'त्रि' शब्द उत्तरपद रहते कु शब्द के स्थान पर कत् आदेश कहा जाय। **उदाहरण**—**विग्रह**—कुत्सिताः त्रयः (कु = कत् आदेश) = कत्त्रयः (दुष्ट तीन)।

(१६७६) **पद**—रथवदयोः, च। **अनुवृत्ति**—कोः कत्, तत्पुरुषे, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—रथ और वद शब्द परे रहते 'कु' को 'कत्' आदेश होता है। कद्रथः। कद्वदः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१६७५) से 'कोः कत्तत्पुरुषे' की अनुवृत्ति आती है। 'उत्तरपदे' का अधिकार है। तदनुसार — ''रथ और वद शब्द के उत्तरपद में रहने पर भी तत्पुरुष समास में 'कु' के स्थान में 'कत्' आदेश होता है।''

उदाहरण—**विग्रह**—कुत्सितः रथः (समास एवं कु = कत् आदेश — 'रथवदयोश्च', विभक्तिकार्य) = कद्रथः (बुरा रथ)। **विग्रह**—कुत्सितः वदः (✓वद् + अच् = अ, समास एवं कत् आदेश) = कद्वदः (बुरा बोलने वाला)।

(१६७७) **पद**—तृणे, च, जातौ। **अनुवृत्ति**—कोः, कत्, तत्पुरुषे, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जाति वाच्य रहते तृण शब्द परे हो तो 'कु' को 'कत्' आदेश होता है। कत्तृणम्।

विमर्श—'उत्तरपदे' तथा 'कोः कत्तत्पुरुषे' की पूर्ववत् अनुवृत्ति विद्यमान है। अतः 'तृण पद के उत्तरवर्ती रहने पर भी जाति अर्थ में 'कु' के स्थान में कत् आदेश होता है।''

उदाहरण—**विग्रह**—कुत्सितं तृणम् (समास-'कुगतिप्रादयः', 'कु' = 'कत्' आदेश, विभक्ति-कार्य) = कत्तृणम् (विशेष घास)।

(१६७८) **पद**—का पथ्यक्षयोः। **अनुवृत्ति**—कोः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पथिन् और अक्ष शब्द परे रहते 'कु' को 'का' आदेश होता है। कापथम्। काक्षः।

विमर्श—स्थानीवाचक 'कोः' पद की पूर्वसूत्र (१६७५) से अनुवृत्ति आती है। 'पथ्यक्षयोः' पद अनुवर्तमान 'उत्तरपदे' के साथ अन्वित होता है। तदनुसार — ''पथिन् और अक्ष शब्द के परवर्ती रहते 'कु' शब्द को 'का' आदेश होता है।''

उदाहरण—**विग्रह**—कुत्सितः पन्थाः (पूर्ववत् समास, कु = 'का' आदेश — 'का पथ्यक्षयोः') — कु + पथिन् (समासान्त 'अ' प्रत्यय — 'ऋक्पूरब्धूः०', टि = 'इन्' का लोप, विभक्ति-कार्य) = कापथः (बुरा मार्ग)। **विग्रह**—कुत्सितः अक्षः (समास, कु = 'का' आदेश, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = काक्षः (खराब पांसा, बुरी आँख वाला)।

कापथम्। काक्षः। **(१६७९) ईषदर्थे ६।३।१०५।** ईषज्जलं काजलम्। **(१६८०) विभाषा पुरुषे ६।३।१०६।** कुपुरुषः, कापुरुषः। **(१६८१) कवं चोष्णे ६।३।१०७।** उष्णशब्दे उत्तरपदे कवं का च वा स्यात्। कोष्णम्। कवोष्णम्। कदुष्णम्। **(१६८२) पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ६।३।१०९।** पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि। पृषत उदरम् पृषोदरम्। तलोपः।

(१६७९) **ईषदर्थे**। ईषदर्थे वर्तमानस्य कोः 'का' इत्यादेशः स्यादिति भावः।

(१६८०) **विभाषा पुरुषे**। कोः का आदेशः स्यादित्यर्थः।

(१६८१) **कवमिति**। 'विभाषा' इत्यनुवर्तते। तदाह — **उष्णशब्द इति**।

(१६८२) **पृषोदरादीनीति**। आदिशब्दोऽत्र न प्रभृतिवाची, किन्तु प्रकारवाची। प्रकारः सादृश्यम्, तच्च शास्त्रोक्तलोपागमादेशादिरहितत्वेन बोध्यम्, व्याकरणशास्त्रागृहीतानीति यावत्। उपपूर्वको दिशिधातोरुच्चारणार्थः। भावे क्तः। उपदिष्टमुच्चारणम्। तदनतिक्रम्य यथोपदिष्टम्।

(१६७९) **पद**—ईषदर्थे। **अनुवृत्ति**—कोः, का उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ईषदर्थ में विद्यमान 'कु' को 'का' आदेश होता है। काजलम्।

विमर्श—'उत्तरपदे' का अधिकार है। स्थानिवाचक 'कोः' पद की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (१६७५) से आ रही है। आदेशवाचक पद 'का' की अनुवृत्ति भी पूर्वसूत्र (१६७८) से आती है। तदनुसार ''ईषत् (थोड़ा) अर्थ में विद्यमान 'कु' के स्थान में उत्तरपद परे रहते 'का' आदेश होता है।''

उदाहरण—विग्रह—ईषत् जलम् (कु + जल + सु – कर्मधारयसमास, कु = 'का' आदेश तथा विभक्तिकार्य) = काजलम् (थोड़ा पानी)।

(१६८०) **पद**—विभाषा, पुरुषे। **अनुवृत्ति**—का, कोः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पुरुष उत्तरपद के परे विकल्प से 'कु' को का आदेश होता है। कुपुरुषः। कापुरुषः।

विमर्श—'का' आदेश का प्रकरण है। केवल 'पुरुष' पद के परवर्ती रहने पर प्रकृत सूत्र द्वारा विकल्प से 'कु' के स्थान पर 'का' आदेश की व्यवस्था की जा रही है।

उदाहरण—विग्रह—कुत्सितः पुरुषः (कु + पुरुष + सु, कर्मधारयसमास, कु = 'का' आदेश विकल्प से, विभक्तिकार्य) = कापुरुषः। 'का' आदेश न होने पर — कुपुरुषः (निन्दनीय पुरुष)।

(१६८१) **पद**—कवं, च, उष्णे। **अनुवृत्ति**—विभाषा, का, कोः, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उष्ण शब्द उत्तरपद रहते कु को 'कव' आदेश होता है तथा पक्ष में 'का' आदेश भी होता है। कोष्णम्। कवोष्णम्। कदुष्णम्।

विमर्श—'उत्तरपदे' का अधिकार है। 'कोः' तथा 'विभाषा' दोनों पदों की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — ''उष्ण शब्द के उत्तरवर्ती रहने पर 'कु' शब्द को विकल्प से 'कव' आदेश होता है।''

उदाहरण—विग्रह—ईषत् उष्णम् (कु + उष्ण + सु, समास, कु = 'कव' आदेश विकल्प से, अ + उ = 'ओ' — गुण, विभक्तिकार्य) = कवोष्णम्। पक्ष में 'का' आदेश होने पर — कोष्णम्। पूर्वोक्त दोनों आदेशों के न होने पर कु = 'कत्' आदेश — 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' – कदुष्णम् (थोड़ा गर्म)।

(१६८२) **पद**—पृषोदरादीनि, यथा, उपदिष्टम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पृषोदर आदि शब्दों का उच्चारण जैसे शिष्टों ने किया है, वैसे ही साधु हों। पृषोदरम्।

वारिवाहको बलाहकः। पूर्वपदस्य वः उत्तरपदादेश्च लत्वम्। ''भवेद्वर्णागमाद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात्। गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात्पृषोदरम्॥'' (१६८३) मतौ

'शिष्टैः' इति पदमध्याहार्यम्। तदाह — **शिष्टैर्यथोच्चारितानीति**। **तलोप इति**। षष्ठीसमासे सुब्लुकि तलोपे गुण इति भावः। **बलाहकः** — वारिवाहकशब्दे 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इत्यनेन वारिपदस्य 'ब' इति सर्वादेशे उत्तरपदस्य चादेः लकारादेशे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'बलाहकः' इति। **भवेद्वर्णागमादित्यादि**। वर्णागमात् — 'हस हसने' इत्यस्माद्धातोः पचाद्यचि अनुस्वारागमे 'हंसः' इति सिद्ध्यति। अन्ये — हन्धातोः सगागमे नस्यानुस्वारे 'हंसः' इति स्वीकुर्वन्ति। 'सिंहो वर्णविपर्ययात्' 'हिसि हिंसायाम्' इत्यतः पचाद्यचि इदित्त्वान्नुमि 'नश्च०' इत्यनेनानुस्वारे हकारस्य सकारे, सकारस्य हकारे 'सिंहः' इति रूपम्। **गूढोत्मा वर्णविकृतेरिति**। गूढः आत्मा यस्येति बहुव्रीहौ उत्तरपदादेराकारस्य उकारे गुणे रूपमिति भावः। **वर्णनाशात्पृषोदरमिति**। पृषत् उदरमित्यत्र तकारलोपे 'आद्गुणः' इति गुणे 'पृषोदरमि'ति भवतीत्यर्थः।

बलाहकः। यहाँ पूर्वपद के स्थान में 'ब' तथा उत्तरपद के आदि वर्ण को 'ल' हुआ। वर्णागम के कारण 'हंस' शब्द तथा वर्णविपर्यय से 'सिंह', वर्ण के विकार से गूढोत्मा तथा वर्णलोप से 'पृषोदर' शब्द निष्पन्न हुए हैं।

विमर्श—सूत्र पूर्ण है। ''पृषोदर इत्यादि शब्द शिष्ट-पुरुषों द्वारा जिस प्रकार उच्चरित हैं वैसे ही साधु माने जाते हैं।'' इस प्रकार का विधान निपातन कहलाता है। शिष्ट पुरुष कौन है ? इस विषय में महाभाष्यकार पतंजलि का कथन है कि ''आर्यावर्त (भारत) में निवास करने वाले जो मनीषी अपने घर में केवल एक घड़ा भर धान्य ही संचित करते हैं तथा लोभरहित एवं बिना किसी कारण निष्काम भाव से किसी विद्या में पारंगत हैं — शिष्ट कहलाते हैं[1]।'' ऐसे शिष्टों द्वारा उच्चरित शब्द समीचीन होते हैं। इन शब्दों की साधुता में लोप, आगम, वर्णविकार, वर्णविपर्यय आदि दृष्टिगोचर हों, किन्तु शास्त्र द्वारा उनका विधान न हो। उन्हें शिष्टपुरुषों के द्वारा उच्चारण किये जाने से साधु समझना चाहिए।[2] इस प्रकार पृषोदरादिगणपठित शब्दों को यथानुरूप रखना ही व्याकरणसम्मत है।

उदाहरण—**विग्रह**—पृषत् उदरं यस्य अथवा - पृषतः उदरम् (बहुव्रीहि या तत्पुरुष समास, 'त्' का लोप निपातन से — 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्', अ + उ = 'ओ' — गुण, विभक्तिकार्य) = पृषोदरम् (चितकबरे मृग का पेट)। **विग्रह**—वारिणः वाहकः (समास, वारि = 'ब' तथा 'वाहक' शब्द के 'व्' = 'ल्' आदेश निपातन से, विभक्तिकार्य प्र० वि० एकवचन) = बलाहकः (मेघ)।

प्रसङ्गवश अन्य शब्दों की साधुता बतलायी जा रही है—(क) **वर्णागम** — **विग्रह** — हसति इति (✓हस् + अच् = 'अ' — 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः', 'न्' का आगम) — हन् स (न् = ं अनुस्वार, विभक्तिकार्य) = हंसः। (ख) **वर्णविपर्यय**—**विग्रह**—हिनस्ति इति (✓हिस् + अच् = 'अ', नुम् = न् ं अनुस्वार, ह् = स् और स् = ह् — वर्णविपर्यय, विभक्तिकार्य) = सिंहः। (ग) **वर्णविकार**—**विग्रह**—गूढः आत्मा यस्य (बहुव्रीहिसमास, आ = उ, अ + उ = 'ओ' — गुण) — गूढोत्मन् (प्रथमा विभक्ति) — गूढोत्मा। (घ) **वर्णनाश**—पृषोदरम् ('त्' का लोप, प्रक्रिया उक्तवत्)।

---

१. ''एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारगास्ते तत्रभवन्तः शिष्टाः।'' **(महाभाष्यम्)**

२. ''वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥'' **(निरुक्ते — यास्कः)**

बह्वचोऽनजिरादीनाम् ६।३।११९। दीर्घः स्यात्। अमरावती। अनजिरादीनां किम्? अजिरवती। बह्वचः किम्? व्रीहिमती। संज्ञायामित्येव। नेह – वलयवती। **(१६८४) शरादीनां च** ६।३।१२०। शरावती। **(१६८५) उपसर्गस्य घञ्य-**

(१६८३) **मतौ**। मतुप्प्रत्यये परे बह्वचो दीर्घः स्यात्संज्ञायां, न तु अजिरादीनामित्यर्थः।

(१६८४) **शरादीनां चेति**। मतौ दीर्घः संज्ञायामिति भावः।

(१६८३) **पद**—मतौ, बह्वचः, अनजिरादीनाम्। **अनुवृत्ति**—संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घः। **विधि (नियम) सूत्र**।

मूलार्थ—मतुप् के परवर्ती रहने पर संज्ञा में अजिरादि से भिन्न बह्वच् को दीर्घ होता है। अमरावती। 'अनजिरादीनाम्' क्यों कहा? अजिरवती। 'बह्वचः' क्यों कहा? व्रीहिमती (दीर्घ नहीं)। संज्ञा के विषय में ही दीर्घ का विधान होने से 'वलयवती' में दीर्घ नहीं हुआ।

विमर्श—सूत्र में आदेशवाचक पद का अभाव है। अतः 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से 'पूर्वस्य दीर्घः' की अनुवृत्ति आती है। 'संहितायाम्' का अधिकार है। तदनुसार — ''संज्ञा के विषय में अजिरादि शब्दों को छोड़कर मतुप् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर पूर्वपदस्थ बह्वच् शब्दों के अन्तिम अच् को दीर्घ होता है।''

उदाहरण—विग्रह—अमराः यस्यां सन्ति (अमर + मतुप् = मत् — 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्', म् = व् — 'मादुपधायाश्च०', 'अ' = 'आ' — दीर्घ — 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्', ङीप् = ई तथा विभक्तिकार्य) = अमरावती (इन्द्र की नगरी)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अनजिरादीनां च' पद का निवेश होने से 'अजिरवती' (राप्ती नदी) में रकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ नहीं हुआ। क्योंकि अजिर पद अजिरादिभिन्न नहीं है। 'बह्वचः' पद का निवेश होने से व्रीहिमती (बहुत धान्य वाली स्त्री) में पूर्वपद व्रीहि के अन्तिम इकार को दीर्घ नहीं हुआ। क्योंकि 'व्रीहि' पद में दो ही अच् है, दो से अधिक (बहुत) नहीं। 'संज्ञायाम्' की आधिकारिक अनुवृत्ति का प्रभाव होने से वलयवती (जिसके पास कंगन हों, ऐसी स्त्री) में 'य' को दीर्घ नहीं होता। यहाँ 'वलयवती' नाम नहीं है।

(१६८४) **पद**—शरादीनाम्, च। **अनुवृत्ति**—संज्ञायाम्, मतौ, पूर्वस्य दीर्घोऽणः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मतुप् परे रहते संज्ञा अर्थ में शर आदि को भी दीर्घ होता है। शरावती।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१६८३) से 'मतौ' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। शेष प्राकरणिक एवं आधिकारिक उक्त पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार सूत्र का अर्थ है कि ''संज्ञा के विषय में मतुप् प्रत्यय के परवर्ती होने पर शरादि शब्दों के अन्तिम अण् को दीर्घ होता है।''

उदाहरण—विग्रह—शराः सन्ति अस्याम् (✓शर + मतुप् = मत्, म् = व् — आदेश, अ = 'आ' — दीर्घ — 'शरादीनां च', ङीप् एवं विभक्तिकार्य) = शरावती (नदी)।[१]

---

१. सूत्र (१।१।७५) की व्याख्या में नागेश ने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत किया है। तदनुसार 'शरावती' नदी प्राच्य और उदीच्य देशों के बीच की सीमा थी। व्याकरणशास्त्र में शब्दरूपों के भेद को स्पष्ट करने के लिए प्राच्य और उदीच्य का विचार शरावती नदी से किया जाता था। सम्प्रति अम्बाला जिले में प्रवाहित होने वाली इस नदी का नाम 'घाघर' है।

''प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरापके यथा। विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥''

मनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२ । परीपाकः, परिपाकः । अमनुष्ये किम्? निषादः । (१६८६) नरे संज्ञायाम् ६।३।१२९ । विश्वानरः । (१६८७) मित्रे चर्षौ ६।३।१३० । विश्वामित्रः । *शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्घो वाच्यः* ।

(१६८५) **उपसर्गस्येति** । उपसर्गस्य बहुलं दीर्घः स्याद् घञन्ते परे, न तु मनुष्ये । **परीपाक इति** । पचेर्भावे घञ् उपधावृद्धिः । 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति कुत्वम् । **निषाद इति** । पुलिन्दो नाम मनुष्यजातिविशेषः । निषीदत्यस्मिन् पापमिति निषादः 'हलश्चे'त्यधिकरणे घञ् ।

(१६८६) **नर इति** । विश्वस्य दीर्घ इति शेषः ।

(१६८७) **मित्रे चर्षौ** । विश्व दीर्घ इति शेषः । **विश्वामित्रः — विश्वस्य मित्र इति विग्रहे समासे 'मित्रे चर्षौ' इत्यनेन पूर्वपदस्य दीर्घे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'विश्वामित्रः' इति ।**

(१६८५) **पद**—उपसर्गस्य, घञि, अमनुष्ये, बहुलम् । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संज्ञायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—मनुष्यभिन्न वाच्य रहते घञन्त उत्तरपद के परे उपसर्ग को बहुलता से दीर्घ होता है । परीपाकः । परिपाकः । 'अमनुष्ये' क्यों कहा? निषादः ।

विमर्श—दीर्घ का ही प्रकरण है । उक्त पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार "मनुष्यभिन्न अर्थ वाच्य होने पर घञन्त उत्तरपद रहते पूर्वपदस्थ उपसर्ग के अण् को विकल्प से दीर्घ होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—परिपचनम् (परि + ✓पच् + घञ् = 'अ' — 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्', उपधावृद्धि, 'च्' = 'क्' — कुत्व, उपसर्गस्थ इ = 'ई' - दीर्घ बहुलतया, विभक्तिकार्य) = परीपाकः । दीर्घ न होने पर — परिपाकः (अच्छी तरह से पकना) ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अमनुष्ये' पद का निवेश होने से 'निषादः' (वनवासी मानव) शब्द के मनुष्यवाची होने से 'नि' उपसर्ग को दीर्घ नहीं होता । **विग्रह**—निषीदति पापम् अस्मिन् (नि + ✓सद् + अ — 'हलश्च', उपधावृद्धि, स् = ष्, विभक्तिकार्य) = निषादः ।

(१६८६) **पद**—नरे, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—विश्वस्य, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—नर शब्द परे रहते संज्ञा में विश्व को दीर्घ होता है । विश्वानरः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में स्थानिवाचक 'विश्वस्य' पद की अनुवृत्ति 'विश्वस्य वसुराटोः' (६।३।१२८) से आती है । 'द्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से आदेशवाचक 'पूर्वस्य दीर्घोऽणः' की अनुवृत्ति आ रही है । 'उत्तरपदे' का अधिकार है । इस प्रकार सूत्रार्थ यह होता है कि "संज्ञा के विषय में नर शब्द के उत्तरवर्ती रहने पर विश्व के अन्तिम अण् को दीर्घ होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—विश्वे नराः यस्य (बहुव्रीहिसमास, 'अ' = 'आ' — दीर्घ, विभक्तिकार्य) = विश्वानरः (अग्नि के पिता का नाम) ।

(१६८७) **पद**—मित्रे, च, ऋषौ । **अनुवृत्ति**—विश्वस्य, पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ऋषि वाच्य होने पर मित्र शब्द परे रहते विश्व को दीर्घ होता है । **विश्वामित्रः** ।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् उक्त पदों की अनुवृत्तियाँ यहाँ भी अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार — "मित्र शब्द उत्तरपद रहने पर भी ऋषि अभिधेय होने पर विश्व के अन्तिम अच् को दीर्घ होता है ।"

उदाहरण—विश्वं मित्रं यस्य (बहुव्रीहिसमास तथा विश्व के अ = 'आ' — दीर्घ, विभक्तिकार्य) = विश्वामित्रः (एक प्रसिद्ध ऋषि) ।

श्वादन्तः ।(१६८८) प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि ८।४।५ । एभ्यः परस्य वनस्य नस्य णत्वम् । प्रवणम् । (१६८९) विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ८।४।६ । दूर्वावणम् । दूर्वावनम् । शिरीषवणम् । शिरीषवनम् । *द्व्यच्त्र्यज्भ्यामेव* । नेह – देवदारुवनम् । *इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः* ।

(१६८८) **प्रनिरन्तः** । प्र, निर्, अन्तर्, शर्, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा इत्येतेभ्यः वनस्य णत्वं स्यादित्यर्थः । प्रवणम् । प्रकृष्टं वनमिति विग्रहः । प्रादिसमासः ।

(१६८९) **विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः** । एभ्यो वनस्य णत्वं वा स्यादित्यर्थः ।

वा०—श्वन् शब्द को दन्त, दंष्ट्रा, कर्ण, कुन्द, वराह, पुच्छ तथा पद शब्दों के परवर्ती रहने पर दीर्घ होता है । **उदाहरण—विग्रह**—शुनः दन्तः (षष्ठीत० समास, अ = आ- दीर्घ, विभक्ति-कार्य) = श्वादन्तः (कुत्ते का दाँत) ।

(१६८८) **पद**—प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यस्वदिपीयूक्षाभ्यः, असंज्ञायाम्, अपि । **अनुवृत्ति**—वनम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इनसे परे वन के नकार को णत्व होता है, असंज्ञा में भी । प्रवणम् ।

विमर्श—णत्व-प्रकरण का सूत्र है । 'वनं पुरगामिश्रका०' (८।४।४) से 'वनम्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । आदेशार्थक 'रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से आ रही है । 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' (८।४।३) से अनुवर्तमान पद 'पूर्वपदात्' प्र, निर् आदि की स्थिति पूर्वत्र बताता है । तदनुसार — "प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा शब्दों से परवर्ती वन के नकार को संज्ञा अर्थ न होने पर भी णकार आदेश होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—प्रकृष्टं वनम् (प्रादिसमास — 'कुगतिप्रादयः', 'न्' = 'ण्' — प्रकृत सूत्र से, विभक्तिकार्य) = प्रवणम् (उत्तम वन) ।

(१६८९) **पद**—विभाषा, औषधिवनस्पतिभ्यः । **अनुवृत्ति**—वनम्, पूर्वपदात्, रषाभ्यां नो णः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—औषधि और वनस्पतिवाचक शब्दों से उत्तरवर्ती 'वन' शब्द के 'न्' को विकल्प से णत्व होता है । दूर्वावणम्, दूर्वावनम् । शिरीषवणम्, शिरीषवनम् । **वा०**—यह णत्व द्व्यच्क और त्र्यच्क शब्दों से ही होता है । देवदारुवनम् (णत्व नहीं होता) । **वा०**—इरिका आदि शब्दों से परे णत्व नहीं होता । इरिकावनम् । मिरिकावनम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र के समान उक्त सभी पदों की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । उत्तरपद में 'वन' शब्द अपेक्षित है । तदनुसार—"ओषधिवाचक तथा वनस्पतिवाचक पूर्वपदस्थ शब्दों से परवर्ती 'वन' के 'न्' के स्थान पर 'ण्' विकल्प से होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—दूर्वायाः वनम् (षष्ठीतत्पुरुष समास, विकल्प से 'न्' = 'ण्' — णत्व, विभक्तिकार्य) = दूर्वावणम् । णत्व न होने पर — दूर्वावनम् (दूब का जंगल) । **विग्रह**—शिरीषस्य वनम् (उक्तवत् समास एवं पाक्षिक णत्व) = शिरीषवणम् । शिरीषवनम् (सिरिस का जंगल) ।

१. **वा०**—"दो अच् और तीन अच् वाले ओषधि और वनस्पतिवाचक शब्दों से परवर्ती वन के नकार को ही णत्व होता है ।" अतः **'देवदारुवनम्'** (देवदारु का जंगल) में वन से पूर्ववर्ती 'देवदारु' पद में चार अच् होने से णत्व नहीं होता ।

इरिकावनम्। मिरिकावनम्। (१६९०) **वाहनमाहितात् ८।४।८** । आरोप्य यदुह्यते तद्वाचिस्थान्निमित्ताद्वाहननकारस्य णत्वम्। इक्षुवाहणम्। आहितात् किम् ? इन्द्रवाहनम्। (१६९१) **पानं देशे ८।४।९** । पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य पानस्य नस्य णः। क्षीरं पानं येषां ते क्षीरपाणा उशीनराः। सुरापाणाः प्राच्याः। (१६९२) **वा भावकरणयोः ८।४।१०** । क्षीरपाणम्। क्षीरपानम्। (१६९३) **प्रातिपदिकान्तनुम्वि-**

(१६९०) **वाहनमिति**। वाहने आधीयते वहनाय यत् न तु स्वयमेवारोढुं शक्नोति तदाहितम्। तदाह — **आरोप्येति**।

(१६९१) **पानं देशे**। पानमिति षष्ठ्यर्थे प्रथमेत्यभिप्रेत्याह — **पानस्येति**।

(१६९२) **वा भावकरणयोः**। भावे करणे च यः पानशब्दस्तस्योक्तविषये णत्वं वा स्यादित्यर्थः।

---

२. **वा०**—इरिका आदि शब्दों से परे वन के नकार को णत्व नहीं होता। इरिकावनम्। मिरिकावनम्।

उदाहरण—इरिकावनम् (एक प्रकार की घास का वन)। मिरिकावनम् (एक पौधा)। प्राप्त णत्व का वार्तिक से निषेध।

(१६९०) **पद**—वाहनम्, आहितात्। **अनुवृत्ति**—पूर्वपदात्, रषाभ्यां नो णः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—''आहित अर्थात् जो वस्तु उठाकर ले जायी जाय, तद्वाची पूर्वपद में स्थित निमित्त से परे वाहन के 'न्' को णत्व होता है।'' इक्षुवाहणम्। 'आहितात्' क्यों कहा? इन्द्रवाहनम्।

विमर्श—णत्व का प्रकरण है। अतः पूर्ववत् उक्त पदों की अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। उठा कर ले जाने वाली अचेतन वस्तु को 'आहित' कहा जाता है। अतः ''ढोकर ले जाने वाली वस्तु के वाचक शब्दों के पूर्वपद में रहने पर उसमें स्थित निमित्त (रेफ या षकार) से परे 'वाहन' के नकार को णकार आदेश हो जाता है।'' **उदाहरण**—इक्षूणां वाहनम् = इक्षुवाहणम् (ईख की गाड़ी)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'आहितात्' पद का निवेश होने से 'इन्द्रवाहनम्' (इन्द्र का वाहन) में णत्व नहीं होता। क्योंकि यहाँ वाहन गन्नों की तरह ढोकर ले जाने वाली वस्तु का नहीं है।

(१६९१) **पद**—पानं, देशे। **अनुवृत्ति**—पूर्वपदात्, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—देशविशेष अर्थ गम्यमान होने पर पूर्वपदस्थ निमित्त से परे पान शब्द के 'न्' को णत्व होता है। क्षीरपाणाः उशीनराः। सुरापाणाः प्राच्याः।

विमर्श—णत्व का प्रकरण होने से पूर्ववत् उक्त पदों की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है। सूत्रस्थ पदों के साथ अनुवर्तमान पदों की एकवाक्यता होने पर यह अर्थ स्पष्ट होता है कि ''पूर्वपद में स्थित निमित्त (र्, ष्) से परवर्ती पान शब्द के नकार के स्थान में णकार आदेश होता है, यदि देश-विशेष अर्थ की प्रतीति हो तो।''

उदाहरण—**विग्रह**—क्षीरं पानं येषां ते (बहुव्रीहिसमास, न् = ण् आदेश, विभक्तिकार्य) = क्षीरपाणाः (दूध पीने वाले उशीनर देशवासी)। **विग्रह**—सुरा पानं येषां ते (पूर्ववत् प्रक्रिया, णत्व) = सुरापाणाः (प्राच्याः) (सुरापान करने वाले प्राच्य देशवासी)। यहाँ **✓पा + ल्युट्** प्रत्यय होने पर 'पान' शब्द निष्पन्न होता है।

(१६९२) **पद**—वा, भावकरणयोः। **अनुवृत्ति**—पानं, पूर्वपदात्, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

भक्तिषु च ८।४।११। पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य एषु स्थितस्य नस्य णो वा। प्रातिपदिकान्ते – माषवापिणौ। नुमि – व्रीहिवापाणि। विभक्तौ – माषवापेण। पक्षे माषवापिनावित्यादि। (१६९४) कुमति च ८।४।१३। कवर्गवत्युत्तरपदे प्राग्वत्। हरिकामिणौ। हरिकामाणि। हरिकामेण। (१६९५) पदव्यवायेऽपि

(१६९३) **प्रातिपदिकान्त०**। 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इत्यतः 'पूर्वपदादि'त्यनुवर्तते। तदाह — **पूर्वपदस्थादिति**।

(१६९४) **कुमति च**। कवर्गवत्युत्तरपदे प्रातिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य नित्यं णत्वं स्यादित्यर्थः।

मूलार्थ—पूर्वपदस्थ निमित्त से परे ल्युडन्त भाव-करणवाची पान शब्द के नकार को विकल्प से णत्व होता है। क्षीरपाणम्। क्षीरपानम्।

विमर्श—णत्व-विधान का सूत्र है। पूर्वसूत्र (१६९१) से 'पानम्' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अन्य पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार — "पूर्वपद में स्थित निमित्त से परे भाव और करण अर्थ में ल्युट्प्रत्ययान्त पान शब्द के 'न्' को विकल्प से णत्व होता है।"

उदाहरण—विग्रह—क्षीरस्य पानम् (ष० त० समास, 'न्' = 'ण्' णत्व विकल्प से, विभक्तिकार्य) = क्षीरपाणम्। णत्व न होने पर — क्षीरपानम्।

(१६९३) **पद**—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, च। **अनुवृत्ति**—वा, पूर्वपदात्, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पूर्वपदस्थ निमित्त से परवर्ती प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्ति में स्थित नकार को णत्व विकल्प से होता है। माषवापिणौ। नुम् — व्रीहिवापाणि। विभक्ति — माषवापेण। पक्ष में — माषवापिनौ इत्यादि।

विमर्श—णत्व-विधान का ही प्रकरण है। पूर्वसूत्र (१६९२) से 'वा' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है। शेष पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ है कि "पूर्वपदस्थ निमित्त से परवर्ती प्रातिपदिक के अन्त में जो नकार तथा नुम् एवं विभक्ति सम्बन्धी नकार को भी विकल्प से णकार आदेश होता है।"

उदाहरण—(प्रातिपदिकान्त) विग्रह—माषान् वपत (माष ✓वप् + णिनि = इन्, उपधा-वृद्धि) — माषवापिन् (+ औ विभक्ति, न् = ण् विकल्प से) = माषवापिणौ (उड़द बोने वाले दो व्यक्ति)। **(नुम्) विग्रह**—व्रीहीन् वपन्ति (व्रीहि + ✓वप + अण् = 'अ' — 'कर्मण्यण्', उपधा-वृद्धि) — व्रीहिवाप + जस् (जस् = शि = 'इ', नुम् = 'न्' का आगम — 'नपुंसकस्य झलचः', 'अ' को दीर्घ — 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ, 'न्' = 'ण्' — णत्व विकल्प से) = व्रीहिवापाणि। णत्व न होने पर — व्रीहिवापानि (धान बोने वाले)। **(विभक्ति) विग्रह**—माषान् वपति (माषवाप + टा = इन, गुण, 'न्' = 'ण्' विकल्प से) = माषवापेण। णत्व के न होने पर — माषवापेन।

(१६९४) **पद**—कुमति, च। **अनुवृत्ति**—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, पूर्वपदात्, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कवर्गवत् उत्तरपद रहते पूर्वपदस्थ निमित्त से परे नकार को पूर्वविषय में णत्व होता है। हरिकामिणौ। हरिकामाणि। हरिकामेण।

विमर्श—पूर्ववत् णत्व का ही प्रकरण है। प्रकृत सूत्र में उत्तरपदस्थ निमित्त को बताने वाला 'कुमति' शब्द है। पूर्वसूत्र (१६९३) से 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित

८।४।३८ । णत्वं न । माषकुम्भवापेन । * अतद्धित इति वक्तव्यम् * । आर्द्रगोमयेण । शुष्कगोमयेण । (१६९६) पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ६।१।१५७ । एतानि ससुट्कानि निपात्यन्ते । पारस्करः । किष्किन्धा । * तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट्

(१६९५) **पदव्यवायेऽपि** । 'न भाभूपूकमिगमि' इत्यतो नेत्यनुवर्तते । पदेन व्यवधानेऽपि णत्वं न स्यादित्यर्थः । **अतद्धित इति** । अतद्धिते परे यत्पदं तेन व्यवधानेऽयं निषेधो न तु तद्धितपरकपदेनेत्यर्थः ।

(१६९६) **पारस्करः**। पारं करोतीति विग्रहः। 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति टः।

है । शेष पदों की अनुवृत्ति पूर्वसूत्रवत् आ रही है । 'कु' शब्द कवर्ग का द्योतक है । अतः "कवर्गवान् शब्द के उत्तरपदस्थ होने पर प्रातिपदिक के अन्तस्थित नकार, नुम् तथा विभक्तिस्थ नकार को नित्य णकार आदेश होता है।"

उदाहरण—विग्रह—हरिं कामयते, तौ (हरि + ✓कम् + णिनि = इन् — 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये', उपधावृद्धि, 'न्' = 'ण्'-'कुमति च', विभक्तिकार्य) = हरिकामिणौ (हरि को चाहने वाले दो व्यक्ति) । नुम् का उदाहरण-हरिकाम + जस् (जस् = शि = 'इ', नुम् = न्, उपधादीर्घ, न् = ण् — णत्व) = हरिकामाणि । विभक्तिस्थ न् — (हरिकाम + टा = इन, गुण, णत्व) = हरिकामेण ।

(१६९५) **पद**—पदव्यवाये, अपि । **अनुवृत्ति**—न, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—पद का व्यवधान होने पर भी पूर्वविषय में णत्व नहीं होता । माषकुम्भवापेन । **वा०**—तद्धितभिन्न कहा जाय । आर्द्रगोमयेण । शुष्कगोमयेण ।

विमर्श—णत्व-निषेध का सूत्र है । अतः 'न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम्' (८।४।३४) से 'न' की अनुवृत्ति आती है । शेष निमित्तसम्बन्धी अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार — "निमित्त (र, ष) तथा न के मध्य यदि किसी पद का व्यवधान हो तो न् के स्थान पर ण् आदेश नहीं होता।"

उदाहरण—विग्रह—माषाणां कुम्भः = माषकुम्भः, तस्य वापः माषकुम्भवापः (ष० त०), तेन माषकुम्भवापेन (यहाँ 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' से विभक्ति 'टा' (= इन) के न को प्राप्त णत्व का 'पदव्यवायेऽपि' से निषेध) = माषकुम्भवापेन (एक घड़ा उडद बोने योग्य से) ।

वा०—व्यवहित पद के विषय में स्पष्टीकरण किया जा रहा है कि वह पद "तद्धितप्रत्ययान्त से भिन्न होना चाहिए।" **उदाहरण**—गोः पुरीषं — गो + मयट् = गोमयम् । आर्द्रं च तत् गोमयम् आर्द्रगोमयम् (कर्मधारयसमास), तेन आर्द्रगोमयेण (गीले गोबर से) । यहाँ गो शब्द से तद्धित प्रत्यय मयट् हुआ है । अतः णत्व का निषेध नहीं हुआ । इसी प्रकार 'शुष्कगोमयेण' (सूखे गोबर से) में भी प्राप्त णत्व का निषेध नहीं हुआ ।

(१६९६) **पद**—पारस्करप्रभृतीनि, च, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—सुट्, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संज्ञा अर्थ में पारस्कर आदि शब्द सुट् सहित निपातित हैं । पारस्करः । किष्किन्धा । **वा०**—चोर और देवता अर्थ होने पर कर और पति शब्दों के परवर्ती रहते तत् और बृहत् शब्दों को सुट् आगम और त का लोप भी होता है । तस्करः । बृहस्पतिः । **वा०**—चित्त और चित्ति परे रहते 'प्राय' शब्द को सुट् का आगम होता है । प्रायश्चित्तिः । प्रायश्चित्तम् । वनस्पतिः इत्यादि । यह आकृतिगण है ।

विमर्श—'सुट्कात्पूर्वः' (६।१।१३५) से विधीयमान 'सुट्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । 'संहितायाम्' का अधिकार है । 'पारस्कर' के साथ प्रभृति शब्द का प्रयोग किये जाने से उसके

तलोपश्च * ।तात्पूर्वं चर्त्वेन दकारोऽपि बोध्यः ।तद्बृहतोर्दकारतकारौ लुप्येते, करपत्योस्तु सुट् । चोरदेवतयोरिति समुदायोपाधिः । तस्करः । बृहस्पतिः । *प्रायस्य चित्तिचित्तयोः * । प्रायश्चित्तिम्, प्रायश्चित्तम् । वनस्पतिरित्यादि । आकृतिगणोऽयम् ।

इति समासाश्रयविधिप्रकरणम् ।

सुडागमः । **बृहस्पतिः** — बृहत्याः (वाचः) पतिरिति विग्रहे समासे, विभक्तिलोपे पुंवद्भावे, बृहत् पति इति जाते 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्चे'ति वार्तिकेन सुडागमेऽनुबन्धलोपे तकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'बृहस्पतिः' इति । **प्रायश्चित्तमिति** । प्रायस्य चित्तमिति विग्रहे समासे विभक्तिलोपे 'प्रायस्य चित्तिचित्तयोः' इत्यनेन सुटि अनुबन्धलोपे सस्य श्चुत्वेन शकारे प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे प्रायश्चित्तमिति । 'प्रायं पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनमि'ति स्मृतिः ।

इति समासाश्रयविधिप्रकरणम् ।

गणपाठ होने का संकेत मिलता है । तदनुसार—''संज्ञा के विषय में 'पारस्कर' आदि शब्दों में भी सुट् (= स्) का आगम निपातन किया जाता है ।''

उदाहरण—विग्रह—पारं करोति — पार + ✓कृ + ट (= 'अ' — 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु', ऋ = 'अ' — गुण, रपर, सुट् = स् का आगम निपातन से) = पारस्करः (एक ऋषि का नाम) । किम् अपि धत्ते — किम् + ✓धा + क (= अ — 'आतोऽनुपसर्गे कः', आ का लोप, किम् को द्वित्व) — किम् किम् ध (टाप् = आ — निपातन, प्रथम 'म्' का लोप तथा द्वितीय म् = ं अनुस्वार, निपातन से सुट् = स् का आगम, षत्व, विभक्तिकार्य) = किष्किन्धा (बालि की राजधानी) ।

१. **वा०**—'तत्' और 'बृहत्' शब्द से क्रमशः 'कर' और 'पति' शब्दों के परवर्ती होने पर तत् और बृहत् शब्दों को सुट् का आगम होता है । **उदाहरण—विग्रह**—तत् करोति – तत् + कृ + अ (— अच्, द् का लोप, सुट् = 'स्' का लोप, विभक्तिकार्य) = तस्करः (चोर) । **विग्रह**—बृहतां पतिः (षष्ठीत० पु० समास, त् का लोप, सुट् का आगम — 'तद्बृहतोः०') = बृहस्पतिः (देवताओं के गुरु) । यहाँ तद् का द् और बृहत् का त् लुप्त हो जाते हैं ।

२. **वा०**—प्राय शब्द से परे चित्त और चित्ति शब्द को सुट् का आगम होता है । **उदाहरण**—प्रायस्य चित्तं विशोधनं यस्मात् (बहुव्रीहिसमास, सुट् का आगम, विभक्तिकार्य) = प्रायश्चित्तिः (पापी व्यक्ति के शोधन का कर्म) । प्रायस्य चित्तम् (ष० त० समास, सुट् = स् का आगम, स् = श् — श्चुत्व, विभक्तिकार्य) = प्रायश्चित्तम् (पापशोधन कार्य) । वनस्य पतिः (षष्ठीतत्पुरुष समास, सुट् = 'स्' का आगम, विभक्तिकार्य) = वनस्पतिः (वृक्ष आदि) । पारस्करादि आकृतिगण है ।

समासाश्रयविधिप्रकरण समाप्त ।

तद्धितप्रकरणम्

अथापत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः

(१६९७) समर्थानां प्रथमाद्वा ४।१।८२ । इदं पदत्रयमधिक्रियते, प्राग्दिश इति यावत् । **(१६९८) प्राग्दीव्यतोऽण् ४।१।८३ ।** 'तेन दीव्यती' त्यतः प्रागणधिक्रियते । **(१६९९) अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४ ।** एभ्योऽण् स्यात्प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम् । गाणपतम् । **(१७००) दित्यदित्यादित्य-**

अथ समासान्निरूप्य तद्धितप्रकरणमारभते —

(१६९७) **समर्थानामिति** । विधेयस्यात्रादर्शनान्नायं स्वतन्त्रविधिरिति मत्वाह — **इदमिति** । समर्थानां मध्ये यः प्रथमः तस्मात् अर्थात् सूत्रे प्रथमोच्चारितशब्दबोध्यात् प्रत्ययो **वा** स्यादिति सूत्रार्थः ।

(१६९८) **प्राग्दीव्यतोऽण्** । 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' इति सूत्रस्थदीव्यतिशब्दस्यैकदेशस्यानुसरणमिह दीव्यच्छब्दः। अतस्तद्घटितं तत्सूत्रं लक्ष्यते। तदाह — **तेनेत्यादि**।

(१६९९) **अश्वपत्यादिभ्यश्च** । चकारात् 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यनुकृष्यते । तदाह —

संस्कृत शब्दों की संरचना में कृत् और तद्धित प्रत्यय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । कृत् प्रत्यय धातुओं से विहित हैं; किन्तु तद्धित प्रत्यय प्रातिपदिक (शुद्ध या कृदन्त) से विहित हैं । ये भिन्न-भिन्न अर्थों को लक्ष्य कर प्रयुक्त होते हैं । अतः समासप्रकरण के निरूपण के अनन्तर तद्धितवृत्ति के आरम्भस्वरूप उपयोगी साधारण प्रत्ययों का निर्वचन किया जा रहा है । 'तद्धित' शब्द योगरूढ है — 'तस्मै हिताः' तद्धिताः । अर्थात् तद्धित प्रत्यय प्रकृत्यर्थ के लिए (हिताः) = उपकारक हैं । अतः संज्ञावाचक एवं विशेषणवाचक शब्दों की संरचना में तद्धित प्रत्ययों की सार्थकता है ।

(१६९७) **पद**—समर्थानां, प्रथमाद्, वा । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ—'प्राग्दिशो विभक्तिः' तक 'समर्थानाम्, प्रथमाद्, वा' ये तीनों पद अधिकृत हैं । सामर्थ्य का अर्थ परिनिष्ठित है ।

विमर्श—उक्त तीनों पदों का अधिकृत सूत्रों में प्रभाव रहेगा । सूत्रस्थ 'समर्थानाम्' पद निर्धारणार्थक षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है । अतः 'प्राग्दिशो विभक्तिः' (५।१।३) सूत्र के पूर्व तक इस सूत्र के अधिकार में आने वाले प्रत्यय समर्थों में जो प्रथम हो, उससे विकल्प से होते हैं ।

(१६९८) **पद**—प्राक्, दीव्यतः, अण् । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः, परश्च । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ—'तेन दीव्यति' सूत्र के पूर्व तक अण् का अधिकार है ।

विमर्श—'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' (४।४।२) सूत्र से पहले तक 'अण्' प्रत्यय का अधिकार है । तो भी अण् प्रत्यय केवल उत्सर्ग-सूत्रों से ही होगा, अपवाद-सूत्रों से नहीं । क्योंकि अपवाद-सूत्र द्वारा उत्सर्ग का बाध होता है ।

(१६९९) **पद**—अश्वपत्यादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतोऽण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में इनसे अण् प्रत्यय होता है, विकल्प से । आश्वपतम् । गाणपतम् ।

पत्युत्तरपदाण्ण्यः ४।१।८५। प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु। दितेरपत्यादि दैत्यः। अदितेरादित्यस्य वा आदित्यः। * यणो मयो द्वे वाच्ये *। मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठीति पक्षे

एभ्योऽण् स्यादित्यादि। आश्वपतम् — अश्वपतेरपत्यमिति विग्रहे 'तस्यापत्यमि'त्यनेन अणि 'अश्वपति + ङस् + अ' इति जाते 'कृत्तद्धितसमासाश्चे'त्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यनेन सुपो लुकि 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'यस्येति च' इति इकारलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ सौ, सोरमि पूर्वरूपे 'आश्वपतमि'ति रूपम्।

(१७००) **दित्यदित्यादित्य इति**। दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च ण्यः स्यादित्यर्थः। **आदित्यः** — अदितेरपत्यमिति विग्रहे 'अदितिशब्दात्' दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति ण्यप्रत्यये णकारलोपे 'अदिति + ङस् + अ' इति जाते प्रातिपदिकत्वे सुपो लुकि भत्वे 'यस्येति चे' त्यनेन इकारलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ आदित्य इति जाते सौ रुत्वे विसर्गे च 'आदित्यः' इति।

विमर्श—उक्त आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। सूत्रस्थ पदों के साथ आधिकारिक पदों का अन्वय होने पर यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है कि "अश्वपति आदि समर्थ प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय आदि अर्थों में विकल्प से अण् (= अ) होता है।"

उदाहरण—विग्रह—अश्वपतेः अपत्यम् (अश्वपति + ङस् + अण् — 'अश्वपत्यादिभ्यश्च') — अश्वपति + अ (विभक्तिलोप — 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः', आदि अच् को वृद्धि — अ = आ — 'तद्धितेष्वचामादेः', भ संज्ञा, इकारलोप — 'यस्येति च', प्रातिपदिकसंज्ञा — 'कृत्तद्धितसमासाश्च', पुनः विभक्ति सु, सु = अम् — 'अतोऽम्', अ + अम् = अम्, पूर्वरूप — 'अमि पूर्वः') = आश्वपतम् (अश्वपति की सन्तति)। **विग्रह**—गणपतेरपत्यम् (प्रक्रिया उक्तवत्) = गाणपतम् (गणपति की सन्तति)।

(१७००) **पद**—दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्, ण्यः। **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दित्यादि और पत्युत्तरपद से प्राग्दीव्यतीय अर्थ में विकल्प से ण्य प्रत्यय होता है। दैत्यः। आदित्यः। **वा०**—यण् से परे मय् और मय् से परे यण् को द्वित्व होता है। 'मयः' में पञ्चमी और 'यण्' में षष्ठी पक्ष में 'य्' को द्वित्व होता है।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'प्राग्दीव्यतीय' की प्रमुख आधिकारिक अनुवृत्ति के अतिरिक्त अन्य पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार — "दिति, अदिति, आदित्य तथा पति उत्तरपदक समर्थ प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय (अपत्य आदि) अर्थों में ण्य प्रत्यय होता है।" ण्य प्रत्यय सामान्यतः विहित अण् प्रत्यय का अपवाद है।

उदाहरण—विग्रह—दितेः अपत्यम् (दिति + ङस् + ण्य = 'य' — 'दित्यदित्यादित्य०', विभक्तिलोप, आदिवृद्धि, भसंज्ञा, 'इ' का लोप — 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = दैत्यः (दिति की सन्तान)। **विग्रह**—अदितेः अपत्यम् (अदिति + ङस् + ण्य = य, आदिवृद्धि, भसंज्ञा, इकारलोप, विभक्तिकार्य) = आदित्यः (अदिति की सन्तान)। आदित्यस्य अपत्यम् (आदित्य + ङस् + ण्य = 'य', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) आदित्य् + य (पूर्व 'य्' को विकल्प से द्वित्व — 'यणो मयो द्वे वाच्ये', 'य्' का पाक्षिक लोप — अग्रिम सूत्र-'हलो यमां यमि लोपः) = आदित्य्यः। द्वित्व न होने एवं लोप

यस्य द्वित्वम् । (१७०१) हलो यमां यमि लोपः ८।४।३४ । वा स्यात् । इत्यसति लोपे द्वित्वे च सति त्रियं रूपम् । असति लोपे द्वित्वलोपयोर्वा द्वियम् । द्वित्वाभावे लोपे च सति -एकयम् । प्राजापत्यः । * देवाद्यञञौ * । दैव्यम्, दैवम् । * बहिषष्टिलोपो यञ्च * । बाह्यः । * ईकक् च * । (१७०२) किति च ७।२।११८ । किति तद्धितेऽचामादेरचो वृद्धिः । वाहीकः । * गोरजादिप्रसङ्गे यत् * । गोरपत्यादि गव्यम् । (१७०३)

(१७०१) **हलो यमामिति** । हलः परस्य यमो लोपः स्याद् वा यमीत्यर्थः ।

(१७०२) **किति च** । 'तद्धितेष्वचामादेः' इति सूत्रम्, 'अचो ञ्णिति' इत्यत 'अचः' इति 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरिति चानुवर्तते । तदाह — **किति तद्धितेऽचामित्यादि** ।

न होने पर भी दो 'य्' वाला रूप) = आदित्य्यः । द्वित्व न होने पर एवं य् का लोप होने पर **एक** यकारात्मक रूप-आदित्यः (आदित्य की सन्तान) ।

(१७०१) **पद**—हलः, यमां, यमि, लोपः । **अनुवृत्ति**—वा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—हल् से परे यम् का लोप विकल्प से होता है, यम् परे रहते । प्राजापत्यः । **वा०**—देव शब्द से यञ् और अञ् प्रत्यय होते हैं । दैव्यम् । दैवम् । **वा०**—बहिस् शब्द से यञ् प्रत्यय होता है और टि का लोप होता है । बाह्यः । **वा०**—बहिस् से ईकक् भी होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'वा' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार—पूर्वोक्त सूत्रार्थ निष्पन्न होता है ।

उदाहरण—**विग्रह**—अदितेः अपत्ययम् = आदित्यः (प्रक्रिया सू० १७०० के विमर्श में बतायी जा चुकी है । पत्युत्तर शब्द — **विग्रह**—प्रजापतेः अपत्यम् (प्रजापति + ण्य = य, आदिवृद्धि, इकार-लोप एवं विभक्तिकार्य) = प्राजापत्यः (प्रजापति की सन्तान) ।

१. **वा०**—अपत्यादि अर्थ में देव शब्द से यञ् एवम् अञ् प्रत्यय होते हैं । **उदाहरण**—**विग्रह**—देवस्य अपत्यादि (देव + यञ् = य — 'देवाद्यञञौ', आदिवृद्धि, भसंज्ञा — 'अ' का लोप, विभक्ति-कार्य) = दैव्यम् (देव की सन्तान) । देव + अञ् (= अ — 'देवाद्यञञौ', आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = दैवम् (देव की सन्तान) ।

२. **वा०**—बहिस् शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में यञ् प्रत्यय तथा 'टि' का लोप होता है । **उदाहरण**—बहिर्भवः (बहिस् + यञ् = य, टि = 'इस्' का लोप — 'बहिषष्टिलोपश्च', आदिवृद्धि एवम् विभक्तिकार्य) = बाह्यः (बाहरी) ।

३. **वा०**—बहिस् शब्द से ईकक् प्रत्यय और टि = इस् का लोप होता है । **उदाहरण**—बहिस् + ईकक् = ईक, टि = 'इस्' का लोप — 'ईकक् च', आदिवृद्धि- 'किति च' अग्रिम सूत्र से तथा विभक्तिकार्य) = बाहीकः (बाहरी) ।

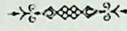
(१७०२) **पद**—किति, च । **अनुवृत्ति**—तद्धितेष्वचामादेः, अचः, वृद्धिः अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कित्-तद्धित प्रत्यय के परवर्ती रहने पर अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है । बाहीकः । गो शब्द से अजादि प्रत्यय के प्रसङ्ग में यत्प्रत्यय होता है । गव्यम् ।

विमर्श—'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) सूत्र की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से अपेक्षित है । 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'अचः' तथा 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) से 'वृद्धि' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होता है कि "क् इत्संज्ञक तद्धित प्रत्यय के परवर्ती होने पर अचों **में आदि अच् वर्ण को वृद्धि होती है** ।"

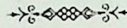
उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६ ।औत्सः ।

इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः ।



(१७०३) **उत्सादिभ्योऽञ्** । प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्विति शेषः । **औत्सः** — उत्सस्यापत्यमिति विग्रहे 'उत्सादिभ्योऽञ्' इत्यनेन अञ्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'उत्स + ङस् + अ' इति जाते प्रातिपदिकत्वे सुपो लुकि सौ रुत्वे विसर्गे च 'औत्सः' इति ।

इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः ।



उदाहरण—बाहीकः (प्रक्रिया उक्त सूत्र (१७०१) में बतायी जा चुकी है) ।

१. **वा०**—गो शब्द से अच् आदि प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर सर्वत्र अपत्यादि एवं प्राग्दीव्यतीय अर्थों में यत् प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—गवि भवम् (गो + यत् = य, ओ = अव् आदेश — 'वान्तो यि प्रत्यये', विभक्तिकार्य) = गव्यम् (गाय में होने वाला, गाय सम्बन्धी) ।

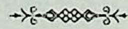
(१७०३) **पद**—उत्सादिभ्यः, अञ् । **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्राग्दीव्यतीय आदि अर्थ में उत्स आदि शब्दों से अञ् प्रत्यय होता है । औत्सः ।

विमर्श—उक्त पदों की अनुवृत्ति का पूर्ववत् प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार—''उत्स आदि प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय आदि अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—उत्स + अञ् (= अ — 'उत्सादिभ्योऽञ्', उ = 'औ' — आदिवृद्धि —'तद्धितेष्वचामादेः', अ का लोप, विभक्तिकार्य) = औत्सः (उत्स की सन्तान) ।

अपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्यय समाप्त ।



अथापत्याधिकारप्रकरणम्

(१७०४) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४।१।८७। धान्यानां भवन इत्यतः प्रागर्थेष्वाभ्यामेतौ स्तः। स्त्रैणः। पौंस्नः। (१७०५) तस्यापत्यम् ४।१।९२। षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ताः वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः। (१७०६)

अथापत्याधिकारो निरूप्यते —

(१७०४) **स्त्रीपुंसाभ्यामिति**। भवनपदेनात्र 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' इति सूत्रं विवक्षितम्। **'प्राग्दीव्यतः'** इत्यस्मात्प्रागिति अनुवृत्तम्। अत आह — **धान्यानामित्यादि**। **स्त्रैण इति**। स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः, स्त्रियाः अपत्यमित्यादिविग्रहे **'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनादि'**त्यनेन नञि 'स्त्री + ङस् + नञ्' इति जाते सुपो लुकि 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यनेनाद्यचो वृद्धौ 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे सौ रुत्वे विसर्गे **'स्त्रैणः'** इति।

(१७०५) **तस्यापत्यम्**। तद्धिताः, प्रत्ययः परश्चेति चाधिकृतम्। तच्छब्द उपगवादिसर्वविशेषबोधकः। सुप् चेह तस्येति प्रथमोच्चारिते पदे उपस्थिततत्वात् षष्ठ्येव गृह्यते। ततश्च षष्ठ्यन्तादिति फलति। सामर्थ्यं कृतसन्धिकार्यत्वम्। तदाह — **षष्ठ्यन्तादिति**। **उक्ता इति**। 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्याद्यौत्सर्गिका इति। **वक्ष्यमाणाश्चेति**। 'अत इञ्' इत्याद्याः वैशेषिका इत्यर्थः। **औपगवः** — 'उपगोरपत्यमि'ति विग्रहे उपगुशब्दात् 'तस्यापत्यम्' इत्यणि प्रातिपदिकसंज्ञायां सुपो लुकि 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम्, आद्यचो वृद्धौ 'ओर्गुणः' इत्यनेन उकारस्य गुणे ओकारे अवादेशे सौ रुत्वे विसर्गे च 'औपगवः' इति।

(१७०४) **पद**—स्त्रीपुंसाभ्याम्, नञ्स्नञौ, भवनात्। **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'धान्यानां भवने क्षेत्रे' से पूर्व अर्थों में स्त्री और पुमस् शब्द से क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय विकल्प से होता है। स्त्रैणः। पौंस्नः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त 'भवन' शब्द का अभिप्राय 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' (५।२।१) से है। आधिकारिक 'प्राक्' पद 'भवनात्' के साथ अन्वित होता है। यथासंख्य परिभाषा के अनुसार नञ् और स्नञ् प्रत्यय क्रम से होते हैं। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होता है कि "'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' सूत्र से पहले तक जितने अर्थ कहे गये हैं उन सभी (अपत्य, भव, समूह आदि) अर्थों में स्त्री और पुंस् शब्द से क्रमशः 'नञ्' और 'स्नञ्' प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—विग्रह—स्त्रियः अपत्यम्, स्त्रीणां समूहः आदि (स्त्री + नञ् = न — 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्', इ = ऐ — आदिवृद्धि, णत्व, विभक्तिकार्य) = स्त्रैणः (स्त्री की सन्तान आदि)। **विग्रह**—पुंसः अपत्यम् (पुंस् + स्नञ् = स्न प्रत्यय, 'स्' का लोप — 'संयोगान्तस्य लोपः', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = पौंस्नः (पुरुष की सन्तान आदि)।

(१७०५) **पद**—तस्य, अपत्यम्। **अनुवृत्ति**—समर्थानां प्रथमाद् वा, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त कृतसन्धि समर्थसुबन्त से अपत्य अर्थ में उक्त (अण्, ण्य आदि) और वक्ष्यमाण (इञ् आदि) प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

विमर्श—प्रकृत सूत्र के तस्य और अपत्य दोनों पर अर्थ के बोधक हैं। 'तस्य' का अभिप्राय

ओर्गुणः ६।४।१४६ । उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते । ओरोदिति वक्तव्ये गुणोक्तिः 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्य' इति ज्ञापयितुम् । तेन स्वायम्भुवमित्यादि सिद्धम् । उपगोरपत्यम् औपगवः । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः । **(१७०७) अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४।१।१६२** । अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ।

(१७०६) **ओर्गुणः** । 'ओः' इति षष्ठ्येकवचनम् । तेन भस्येत्यधिकृतं विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'नस्तद्धिते' इत्यस्मात्तद्धिते इत्यनुवर्तते । अत आह — **उवर्णान्तस्येति** ।

(१७०७) **अपत्यमिति** । अपत्याधिकारात्सिद्धे पुनरपत्यग्रहणं व्यर्थमित्यत आह — **अपत्यत्वेन विवक्षितमिति** । पौत्रप्रभृति अपत्यं गोत्रसंज्ञकमित्यर्थः ।

है — 'षष्ठ्यन्त पद' और 'अपत्य' का अर्थ है — अपत्य अर्थ का बोधक कोई भी प्रत्यय । पूर्वोक्त आधिकारिक पदों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार सूत्र का आशय यह है कि "अपत्य (सन्तान) अर्थ में जिन प्रत्ययों का इस सूत्र के पूर्व अथवा बाद में विधान किया गया है वे सभी प्रत्यय प्रथम षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त पद से होते हैं ।"

(१७०६) **पद**—ओः, गुणः । **अनुवृत्ति**—तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उवर्णान्त भसंज्ञक को गुण होता है, तद्धित प्रत्यय के परे रहते । यहाँ 'ओरोत्' कहना ही पर्याप्त था, गुण पद का कथन संज्ञानिर्देशपूर्वक विधान की अनित्यता को सूचित करता है । उससे 'स्वायम्भुवः' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं । औपगवः । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः ।

विमर्श—प्राकरणिक एवम् आधिकारिक 'तद्धिते', 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' की अनुवृत्तियाँ आ रही हैं । तदनुसार "उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग को तद्धित प्रत्यय के परवर्ती होने पर पर (ओ) गुण होता है ।"

विशेष—'उ' के स्थान में 'ओ' गुण विधान करने के लिए सूत्र में 'ओरोत्' निर्देश से ही कार्य चल सकता था, गुण शब्द के प्रयोग का क्या औचित्य है? इसका समाधान यह है कि सूत्रों में संज्ञावाचक शब्दों का प्रयोग करने पर विधीयमान कार्य नित्य नहीं होता । अर्थात् कहीं-कहीं गुण न होने पर भी प्रयोगों को साधु माना जाता है । इस प्रकार 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' परिभाषा को ज्ञापित करने के लिए गुण पद आवश्यक है । इससे 'स्वायम्भुवः' आदि प्रयोग साधु माने गये हैं । स्वयम्भू + अण् (= अ, गुण न होने पर ऊ = उवङ् = उव आदेश, आदिवृद्धि तथा विभक्ति-कार्य) = स्वायम्भुवः ।

उदाहरण—(१) **विग्रह**—उपगोः अपत्यम् (उपगु + ङस् + अण् = 'अ' — 'तस्यापत्यम्', विभक्ति का लुक्, आदि वर्ण उ = 'औ' वृद्धि — 'तद्धितेष्वचामादेः') — औपगु + अ (उ = 'ओ' — गुण — 'ओर्गुणः', ओ = अव् आदेश, प्रातिपदिक संज्ञा — 'कृत्तद्धितसमासाश्च', विभक्ति सु = स् = र् = ः) = औपगवः (उपगु की सन्तान) । (२) अश्वपतेः अपत्यम् (अश्वपति + अण् = अ, प्राप्त ण्य का बाध), आदिवृद्धि, इकारलोप — 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = आश्वपतः (अश्वपति की सन्तान) । (३) **विग्रह**—दितेः अपत्यम् (दिति + ण्य — अण् के अपवादस्वरूप 'दित्यदित्या-दित्य०')- दिति + य (आदिवृद्धि, इकारलोप, विभक्तिकार्य) = दैत्यः (दिति की सन्तान) । (४) उत्सस्य अपत्यम् (उत्स + अञ् = 'अ' — इञ् का बाधकर — 'उत्सादिभ्योऽञ्', आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = औत्सः (उत्स की सन्तान) । (५) स्त्रैणः (स्त्री की सन्तान) । (६) पौंस्नः (पुरुष की सन्तान) । प्रक्रिया सूत्र १७०४ में देखें ।

(१७०७) **पद**—अपत्यम्, पौत्रप्रभृति, गोत्रम् । **संज्ञासूत्र** ।

(१७०८) एको गोत्रे ४।१।९३। गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात्। उपगोर्गोत्रापत्यम् औपगवः। **(१७०९) गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५।** गोत्रापत्ये। गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। वात्स्यः। **(१७१०) यञञोश्च २।४।६४।** गोत्रे यद्यञन्तमञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक्, तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। गर्गाः। वत्साः। **(१७११)**

(१७०८) **एको गोत्रे।** अपत्याधिकारात्प्रत्ययाधिकाराच्च अपत्यप्रत्यय इति तद्विशेष्यलाभः। अत आह — **गोत्रे एक एवेति।**

(१७०९) **गर्गादिभ्यो यञ्। गार्ग्यः** — गर्गस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहे 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञि आदिवृद्धौ अकारलोपे सौ सस्य रुत्वे विसर्गे च गार्ग्यः।

(१७१०) **यञञोश्च।** 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति सूत्रं तद्राजस्येति वर्जमनुवर्तते। 'ण्यक्षत्रिय' इत्यतो लुगिति 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' इति गोत्रे इति च। तदाह — **गोत्रे यदिति।**

मूलार्थ—अपत्य (सन्तान) के रूप में विवक्षित पौत्रप्रभृति गोत्रसंज्ञक होते हैं।

विमर्श—सामान्यत: पौत्र आदि अपत्य (पुत्र) की श्रेणी में नहीं आते। अत: सूत्रस्थ 'अपत्यम्' शब्द विशिष्ट अर्थ का सूचक है। ''यदि पौत्र एवम् प्रपौत्र आदि को भी 'अपत्य' कहना अभीष्ट हो तो उनकी 'गोत्र' संज्ञा होती है।'' इस प्रकार पौत्र एवं प्रपौत्र को गोत्रापत्य कहा जाता है।

(१७०८) **पद**—एक:, गोत्रे। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—'गोत्र' में एक ही अपत्य प्रत्यय होता है। औपगवः।

विमर्श—'तस्यापत्यम्' की प्राकरणिक अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार — ''गोत्र अर्थ में एक ही अपत्यवाचक प्रत्यय होता है।'' अर्थात् पौत्र से लेकर आगे की पीढ़ियों को बताने के लिए भिन्न-भिन्न प्रत्ययों की आवश्यकता होती है, उसका निवारण करने के लिए इस नियम की चरितार्थता होती है।

उदाहरण—औपगवः (उपगु का पौत्र, प्रपौत्र आदि) — उपगु + अण् — 'गोत्र अर्थ में', प्रपौत्र आदि अर्थ को सूचित करने के लिए इञ् (अत इञ्) की आवश्यकता नहीं है।

(१७०९) **पद**—गर्गादिभ्य:, यञ्। **अनुवृत्ति**—गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिता:। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—गोत्रापत्य अर्थ में गर्ग आदि शब्दों से यञ् प्रत्यय होता है। गार्ग्यः। वात्स्यः।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'गोत्रे' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। 'आधिकारिक पदों के साथ एकवाक्यता होने पर सूत्रार्थ होता है कि ''गर्ग आदि समर्थ प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य अर्थ में यञ् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—विग्रह—गर्गस्य गोत्रापत्यम् (गर्ग + यञ् = य — 'गर्गादिभ्यो यञ्', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = गार्ग्यः (गर्ग का पौत्र आदि)। वत्सस्य गोत्रापत्यम् (यञ् आदि पूर्ववत्) = वात्स्यः (वत्स का पौत्र आदि)।

(१७१०) **पद**—यञञो:, च। **अनुवृत्ति**—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैवास्त्रियाम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—गोत्रार्थक यञन्त और अञन्त के अवयव यञ् और अञ् का लुक् होता है, तत्कृत बहुत्व गम्य होने पर; किन्तु स्त्रीलिङ्ग में लुक् नहीं होता। गर्गाः। वत्साः।

विमर्श—'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञो:' (२।४।५८) से विधेयवाचक पद 'लुक्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' (२।४।६२) से 'बहुषु, तेनैवास्त्रियाम्' तथा 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' (२।४।६३) से 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ यञ् और अञ्

गोत्रेऽलुगचि ४।१।८९ । अजादौ प्राग्दीव्यतीये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययस्यालुक् स्यात् । गर्गाणां छात्राः । वक्ष्यमाणो वृद्धाच्छः । **(१७१२) आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ४।१।१५१ ।** हलः परस्यापत्यस्य यस्य लोपस्तद्धिते, न त्वाकारे । गार्गीयाः । अनाति किम् ? गार्ग्यायणः । प्राग्दीव्यतीये किम् ? गर्गेभ्यो हितं गर्गीयम् । अचि किम्? गर्गेभ्य

(१७११) **गोत्रेऽलुगचि** । प्राग्दीव्यत इति पदानुवृत्तेः प्रत्ययाधिकाराच्च प्राग्दीव्यतीये प्रत्यये इति लब्धम् । अचीति तद्विशेषणम् । अतस्तदादिविधिस्तदाह — **अजादावित्यादि** ।

(१७१२) **आपत्यस्येति** । 'ढे लोपोऽकद्र्वा' इत्यतो लोप इति 'सूर्यतिष्य' इत्यतो य इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । 'हलस्तद्धितस्ये'त्यतो 'हलः' इति पञ्चम्यन्तं पदमनुवर्तते । तदाह — **हलः परस्येति** । **गार्गीयाः** — गार्ग्यशब्दाच्छप्रत्यये यञोऽलुकि न वृद्ध्यभावः, यकारस्य लोपे छस्य ईयादेशे 'गार्गीयाः' इति ।

पद प्रत्ययवाची हैं । प्रत्ययग्रहण परिभाषा से यञ् और अञ् में तदन्तविधि होती है । तदनुसार — "स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्गों में गोत्र अर्थ में वर्तमान यञ् प्रत्ययान्त एवम् अञ् प्रत्ययान्त का बहुवचन में लोप होता है।" 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' परिभाषा के अनुसार यह लोप 'यञ्' और 'अञ्' प्रत्यय का ही होता है ।

उदाहरण—विग्रह—गर्गस्य गोत्रापत्यानि पुमांसः (गर्ग + ङस् + यञ् = 'य' — 'गर्गादिभ्यो यञ्', विभक्तिलोप, यञ् = 'य' का लोप — 'यञञोश्च', प्रातिपदिक संज्ञा, विभक्ति — जस् = अस्, अ + अ = 'आ' — पूर्वसवर्णदीर्घ, स् = र् = :) = गर्गाः (गर्ग के बहुत से गोत्रापत्य पुरुष) । वत्सस्य गोत्रापत्यानि पुमांसः = वत्साः (वत्स के गोत्रापत्य पुरुष) — प्रक्रिया उक्तवत् ।

(१७११) **पद**—गोत्रे, अलुक्, अचि । **अनुवृत्ति**—प्राग्दीव्यतः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय विवक्षित रहते गोत्र प्रत्यय का लुक् नहीं होता । गर्गाणां छात्राः । 'वृद्धाच्छः' (छ प्रत्यय) ।

विमर्श—सूत्रस्थ पद 'अचि' में विषय-सप्तमी है । 'प्राग्दीव्यतः' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है । सामान्यतः अञ् और यञ् प्रत्यय का बहुवचन में लुक् होता है; किन्तु "अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय की विवक्षा होने पर गोत्र प्रत्यय का अलुक् होता है ।"

(१७१२) **पद**—आपत्यस्य, च, तद्धिते, अनाति । **अनुवृत्ति**—हलः, यः, लोपः, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तद्धित प्रत्यय के परवर्ती रहने पर हल् से परे अपत्यार्थक यकार का लोप होता है, यदि आकार परे न हो तो । गार्गीयाः । 'अनाति' क्यों कहा? गार्ग्यायणः । 'प्राग्दीव्यतीय' क्यों कहा? गर्गीयम् । 'अचि' क्यों कहा? गर्गरूप्यम् ।

विमर्श—'अङ्गस्य' तथा 'भस्य' का अधिकार है । 'हलस्तद्धितस्य' (६।४।१५०) से 'हलः', 'सूर्यतिष्या०' (६।४।१४९) से 'यः' तथा 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' (६।४।१४७) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — "हल् (व्यञ्जन) वर्ण से उत्तरवर्ती भसंज्ञक अङ्ग के अपत्यप्रत्यय सम्बन्धी यकार का भी आकारभिन्न तद्धित प्रत्यय परे रहते लोप होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—गर्गाणां छात्राः (गर्ग + यञ् — 'गर्गादिभ्यो यञ्', उपधावृद्धि, अकार-लोप) — गार्ग्य + जस् (यञ् का बहुवचन में लोप — 'यस्कादिभ्यो गोत्रे') = गर्गाः । 'गर्गाणां छात्राः' इस अर्थ की विवक्षा में — गार्ग्य + छ (— 'वृद्धाच्छः', यञ् का अलुक् — 'गोत्रेऽलुगचि',

आगतं गर्गरूप्यम्। (१७१३) जीवति तु वंश्ये युवा ४।१।१६३। वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव स्यान्न तु गोत्रसंज्ञम्। (१७१४) गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ४।१।९४। यून्यपत्ये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसंज्ञा। (१७१५) यञिञोश्च ४।१।१०१। गोत्रे यौ यञिञौ

(१७१३) **जीवतीति**। वंश = उत्पादकपित्रादिपरम्परा, तत्र भवो वंश्यः, दिगादित्वाद् यत्। 'तस्यापत्यमि'त्यत अपत्यमित्यनुवर्तते। तदाह — **वंश्ये पित्रादाविति**।

(१७१४) **गोत्राद्यून्यस्त्रियामिति**। गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्यया इति नियमः क्रियते। तदाह — **गोत्राद्यूनीति**।

(१७१५) **यञिञोश्च**। 'गोत्रे' इत्यधिकृतं यञिञोर्विशेषणम्, न तु विधेयस्य फकः व्याख्यानादित्याह — **गोत्रे इति**।

छ = ईय, अ का लोप — 'यस्येति च', 'य्' का लोप — 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति', प्रथमा बहुवचन) — गार्गीयाः।

प्रत्युदाहरण — प्रकृत सूत्र में 'अनाति' पद का निवेश किये जाने से 'गार्ग्यायणः' में अकार में आकार परे होने से य् का लोप नहीं होता। गार्ग्य + फक् (= 'फ', फ = आयन्, आकार परे होने से 'य्' का लोप नहीं होता, विभक्तिकार्य, णत्व) = गार्ग्यायणः। 'प्राग्दीव्यतीये' की अनुवृत्ति आने से 'गर्गेभ्यो हितम् — गर्गीयम्' (गर्गवंशजों के लिए हितकारी) में — गर्ग + छ (— 'तस्मै हितम्', छ = ईय, प्राग्दीव्यतीय न होने के कारण लुक् का निषेध नहीं, यञ् का लुक् — 'यञञोश्च') = गर्गीयम्। 'अचि' पद का निवेश 'गोत्रेऽलुगचि' सूत्र में होने से अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय की विवक्षा में गोत्र प्रत्यय का लोप नहीं होगा। गर्गरूप्यम् (गर्गवंशजों से आगत) में यञ् का लोप होता है।

(१७१३) **पद**—जीवति तु वंश्ये युवा। **अनुवृत्ति**—अपत्यं पौत्रप्रभृति। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—वंशगत पिता आदि के जीवित रहते पौत्रादि का अपत्य जो चतुर्थादि उसकी युवसंज्ञा होती है, गोत्रसंज्ञा नहीं।

विमर्श—सूत्रस्थ 'जीवति तु वंश्ये' और अनुवृत्त 'पौत्रप्रभृति, अपत्यम्' संज्ञी है, 'युव' संज्ञा है। सूत्र में वंश्ये भवः = वंश्य शब्द 'सन्तति के नैरन्तर्य' का सूचक है। पूर्वसूत्र 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' (१७०७) से 'अपत्यं पौत्रप्रभृति' की अनुवृत्ति आ रही है। प्रथमान्त 'पौत्रप्रभृति' का षष्ठ्यन्त में विपरिणाम किया जाता है। तदनुसार — ''वंश्ये जीवति = पिता आदि के जीवित रहने पर पौत्रप्रभृति की सन्तान (प्रपौत्र आदि) की युवसंज्ञा होती है; गोत्र संज्ञा नहीं।''

(१७१४) **पद**—गोत्राद्, यूनि, अस्त्रियाम्। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—युवा अपत्य विवक्षित होने पर गोत्रप्रत्ययान्त से ही प्रत्यय होता है, स्त्रीलिङ्ग में युवसंज्ञा नहीं होती है।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७१३) में गोत्रापत्य की युवसंज्ञा प्रतिपादित की गई है। युवापत्य अर्थ में प्रत्यय-विधान का यह नियमन करता है। तदनुसार — ''युवापत्य की विवक्षा होने पर गोत्र से ही प्रत्यय होता है। इसके साथ ही स्त्रीवाच्य में युवसंज्ञा नहीं होती।'' गोत्रसंज्ञा के कारण एक ही प्रत्यय होगा। 'अपत्य' पद पुत्र-पौत्रादि का वाचक है।

(१७१५) **पद**—यञिञोः, च। **अनुवृत्ति**—फक्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

तदन्तात्फक् । (१७१६) आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२ । प्रत्ययादेः फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः । गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः । (१७१७) अत इञ् ४।१।९५ । अपत्येऽर्थे । दाक्षिः ।

(१७१६) **आयनेयीनीयिय इति** । स्पष्टम् । **गार्ग्यायणः** — गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । गार्ग्यस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहे 'जीवति तु वंश्ये युवा' इत्यनेन युवसंज्ञायां 'गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्' इति सहकारेण 'यञिञोश्चे'ति गोत्रप्रत्ययान्तात् यञन्ताद् गार्ग्यशब्दात् फकि कलोपे 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' इति फस्य आयनादेशे गार्ग्य + आयन् इति जाते भसंज्ञायाम् 'यस्येति चे'त्यनेन गकारोत्तरवर्त्यकारलोपे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे प्रातिपदिकत्वेन सौ रुत्वे विसर्गे च 'गार्ग्यायणः' इति ।

(१७१७) **अत इञ्** । अदन्तं यत्प्रातिपदिकं तत्प्रकृतिकात् षष्ठ्यन्तादिञ् स्यादपत्येऽर्थे इत्यर्थः । **दाक्षिः** — दक्षस्यापत्यमिति विग्रहे 'अत इञ्' इत्यनेन इञ्प्रत्यये, दक्ष + ङस् + इञ्

मूलार्थ—गोत्र अर्थ में विहित यञन्त एवम् इञन्त प्रत्ययों से फक् प्रत्यय होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की निष्पत्ति हेतु 'नडादिभ्यः फक्' (४।१।९९) से 'फक्' तथा 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यः' (४।१।९८) से 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति आती है । यञ् और इञ् प्रत्यय होने से तदन्तविधि होती है । तदनुसार — ''गोत्रापत्य में विहित यञ्प्रत्ययान्त और इञ्प्रत्ययान्त से 'फक्' प्रत्यय होता है ।'' पूर्वोक्त (१७१४) नियम के कारण यह फक् प्रत्यय युवापत्य अर्थ में ही होगा ।

(१७१६) **पद**—आयनेयीनीयियः, फढखछघाम्, प्रत्ययादीनाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रत्यय के आदि फ को **आयन्**, ढ को **एय**, ख को **ईन**, छ को **ईय** और घ को **इय** आदेश होते हैं । गार्ग्यायणः । दाक्षायणः ।

विमर्श—सूत्र स्वतः पूर्ण है । प्रकृत सूत्र द्वारा विविध तद्धित प्रत्ययों के स्थान में होने वाले आदेशों की व्यवस्था की जा रही है । तदनुसार — ''प्रत्यय के आदि में स्थित फ = आयन्, ढ = एय, ख = ईन, छ = ईय और घ = इय आदेश होते हैं ।''

उदाहरण—विग्रह—गर्गस्य युवापत्यम् । यञन्त — गार्ग्यः (गर्गस्य गोत्रापत्यम्) । गार्ग्यस्य अपत्यम् ('युव' संज्ञा — 'जीवति तु वंश्ये युवा', 'गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्' के सहकार से 'यञिञोश्च' से फक् = फ, फ = आयन् आदेश — 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्') — गार्ग्य + आयन् (भ संज्ञा, 'अ' का लोप — 'यस्येति च', न् = ण् - णत्व — 'अट्कुप्वाङ्नुम्०', प्रातिपदिक संज्ञा, सु = स् = र् = :) = गार्ग्यायणः (गर्ग कुल का युवा सदस्य) । **विग्रह**—दक्षस्य गोत्रापत्यम् (दक्ष + इञ् = इ — 'अत इञ्', आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = दाक्षिः । दाक्षेः युवापत्यम् (दाक्षि + फक् = फ = आयन्, इकारलोप — 'यस्येति च', णत्व, विभक्तिकार्य) = दाक्षायणः (दक्ष का प्रपौत्र आदि) ।

(१७१७) **पद**—अत इञ् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अपत्य अर्थ में अदन्त से इञ् प्रत्यय होता है । दाक्षिः ।

विमर्श—उक्त आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । सूत्रस्थ 'अतः' पद प्रातिपदिक का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । अतः ''षष्ठ्यन्त समर्थ अकारान्त प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—दक्षस्य अपत्यम् (दक्ष + ङस् + इञ् = 'इ' — 'अत इञ्', सुप् का

(१७१८) बाह्वादिभ्यश्च ४।१।९६। बाहविः। औडुलोमिः। औडुलोमी। * लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः *। बाह्वादेरपवादः। उडुलोमाः। आकृतिगणोऽयम्।
(१७१९) अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् ४।१।१०४। ये त्वयानृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे। विदस्य गोत्रं वैदः। वैदौ। विदाः। पुत्रस्यापत्यं पौत्रः। पौत्रौ। यञञोश्चेति सूत्रे प्रवराध्यायप्रसिद्धं गोत्रं, तेनेह न – पौत्राः। एवं दौहित्रादयः।

इति जाते प्रातिपदिकत्वे सुपो लुकि भसंज्ञायां 'यस्येति चे'त्यकारलोपे आद्यचो वृद्धौ सौ रुत्वे विसर्गे च 'दाक्षिः' इति।

(१७१८) **बाह्वादिभ्यश्च**। इञ् स्यादित्यर्थः। **औडुलोमिः** — उडूनीव (=नक्षत्राणीव) लोमानि यस्य स उडुलोमा। उडुलोम्नोऽपत्यं पुमान् औडुलोमिः। इञ्, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः।

(१७१९) **अनृष्यानन्तर्ये**। अनृषीति लुप्तपञ्चमीकं पदम्, 'विदादिभ्योऽञ्' इति द्विरावर्तते। तथा च अनृष्यानन्तर्ये 'विदादिभ्योऽञ्' इति कृत्स्नमेकं वाक्यम्। 'विदादिभ्योऽञ्' इति वाक्यान्तरम्, इत्यभिप्रेत्याह — **ये त्वित्यादिना**। **वैदः** — विदस्य गोत्रापत्यमित्यत्र 'अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्' इत्यञि भत्वे अकारलोपे, आद्यचो वृद्धौ विभक्तिकार्ये 'वैदः' इति।

लोप, आदिवृद्धि) — दाक्ष + इ (भसंज्ञा, 'अ' का लोप — 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = दाक्षिः (दक्ष का पुत्र या प्रपौत्र)।

(१७१८) **पद**—बाह्वादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—इञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अपत्य अर्थ में बाह्वादि शब्दों से इञ् प्रत्यय होता है। बाहविः। औडुलोमिः। औडुलोमी। **वा०** — लोमन् शब्दान्त से बहुत्वविशिष्ट अपत्य अर्थ में अ प्रत्यय होता है। बाह्वादि का यह अपवाद है। उडुलोमाः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७१७) से 'इञ्' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। शेष प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। अतः "षष्ठ्यन्त समर्थ बाहु आदि से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—बाहु + इञ् (= 'इ' — 'बाह्वादिभ्यश्च', आदिवृद्धि, 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्ति' के अनुसार उ = ओ — गुण — 'ओर्गुणः', ओ = अव् आदेश, विभक्तिकार्य) = बाहविः। उडुलोम्नः अपत्यम् (उडुलोमन् + इञ् = इ, टि = 'अन्' का लोप — 'नस्तद्धिते', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = औडुलोमिः (उडुलोमन् का अपत्य)। औडुलोमी (प्र० द्विवचन)।

१. **वा०**—लोमन् शब्दान्त से बहुत्वविशिष्ट अपत्य अर्थ में अ प्रत्यय होता है। यह 'बाह्वादिभ्यश्च' का अपवाद है। **उदाहरण**—उडुलोम्नः अपत्यानि (उडुलोमन् + 'अ' वार्तिक से, टिलोप, उपधावृद्धि, प्रथमा बहुवचन जस् = अस्, पूर्वसवर्णदीर्घ, स् = र् = :) = उडुलोमाः (उडुलोमन् की सन्तानें)। यह आकृतिगण है।

(१७१९) **पद**—अनृषि, आनन्तर्ये, विदादिभ्यः, अञ्। **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विदादिगणपठित ऋषिओं से गोत्र अर्थ में और ऋषि-भिन्नों से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। वैदः। वैदौ। विदाः। पौत्रः। पौत्रौ इत्यादि।

विमर्श—'अनृषि' पद लुप्तपञ्चम्यन्त है। अतः 'अनृषिभ्यः' पद 'विदादिभ्यः' का विशेषण है। 'विदादिभ्यः' पद की आवृत्ति की जाती है। तदनुसार प्रथम अर्थ होता है — 'अनृष्यानन्तर्ये

(१७२०) शिवादिभ्योऽण् ४।१।११२ । अपत्ये – शैवः । गाङ्गः । (१७२१) ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ४।१।११४ । ऋषिभ्यः – वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः – श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः – वासुदेवः । कुरुभ्यः – नाकुलः । साहदेवः ।

(१७२०) **शिवादिभ्योऽण्** । शिवादिभ्यः अण् स्यादपत्येऽर्थे । **शैवः** — शिवस्यापत्यमिति इञोऽपवादेन 'शिवादिभ्योऽण्' इत्यणि आदिवृद्धौ अकारलोपे विभक्तिकार्ये 'शैवः' इति ।

(१७२१) **ऋष्यन्धक इति** । अण् स्यादित्यर्थः ।

विदादिभ्यः अञ्' । द्वितीय — 'विदादिभ्य अञ् गोत्रे' । आधिकारिक पदों के साथ सूत्रस्थ पदों का अन्वय करने पर सूत्रार्थ होता है कि ''षष्ठ्यन्त समर्थ विदादि से गोत्रापत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है; किन्तु ऋषिवाचीभिन्न शब्दों से अनन्तरापत्य अर्थ में ही अञ् प्रत्यय होगा।'' आशय यह है कि ''विदादि गण के अन्तर्गत ऋषिवाची शब्दों से गोत्रापत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है; अनन्तरापत्य में नहीं।''

उदाहरण—विग्रह—विदस्य गोत्रापत्यम् (विद + अञ् = 'अ' — 'अनृष्यानन्तर्ये०', आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = वैदः (विद ऋषि के पौत्र) । प्र० द्विवचन — वैदौ । प्रथमा बहुवचन — विदाः (बहुवचन में 'यञञोश्च' से 'अञ्' का लुक्, अतः आदिवृद्धि नहीं होती) । पुत्रस्यापत्यं पुमान् (पुत्र + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = पौत्रः (पुत्र का पुत्र) । पौत्रौ (द्विवचन) । 'यञञोश्च' सूत्र में प्रवराध्यायप्रसिद्ध गोत्र अर्थ का ग्रहण होता है । अर्थात् गोत्र पद केवल धर्मशास्त्रोक्त प्रवराध्याय में प्रसिद्ध कश्यप आदि सात ऋषियों की सन्तान के रूप में गृहीत है । अतः 'पौत्राः' (पुत्र के अनेक पुत्र) में 'अञ्' का लुक् नहीं हुआ । इसी प्रकार दौहित्राः (लड़की के बहुत-से पुत्र) में भी अञ् का लुक् नहीं होता ।

(१७२०) **पद**—शिवादिभ्यः, अण् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अपत्य अर्थ में शिवादि से अण् प्रत्यय होता है । शैवः । गाङ्गः ।

विमर्श—आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है । तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त समर्थ शिवादि प्रातिपदिकों से अपत्य में ही अण् प्रत्यय होता है।'' यह सूत्र इञ् आदि का बाधक है ।

उदाहरण—विग्रह—शिवस्य अपत्यम् (शिव + अण् = 'अ' — 'शिवादिभ्योऽण्', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = शैवः (शिव का पुत्र) । गङ्गायाः अपत्यं पुमान् (गङ्गा + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = गाङ्गः (गङ्गा का पुत्र) ।

(१७२१) **पद**—ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ऋष्यादि से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । **अन्धकों से** श्वाफल्कः । **वृष्णियों से** — वासुदेवः । **कुरुओं से** — नाकुलः । साहदेवः ।

विमर्श—विधेयांश हेतु पूर्वसूत्र (१७२०) से 'अण्' की अनुवृत्ति आती है । अन्य उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार — ''ऋषिवाची, अन्धक, वृष्णि और कुरु वंश वाले समर्थ प्रातिपदिकों से भी अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।''

ऋषिवाची के उदाहरण—(१) वसिष्ठस्य अपत्यं पुमान् (वसिष्ठ + अण् = 'अ' — 'ऋष्यन्धक०', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप एवं विभक्तिकार्य) = वासिष्ठः (वसिष्ठ का पुत्र) । (२) **विश्वामित्रस्य** अपत्यं पुमान् (प्रक्रिया पूर्ववत्) = वैश्वामित्रः (विश्वामित्र का पुत्र) । (३) **अन्धकवंश का उदाहरण** — श्वाफल्कः (विग्रह आदि पूर्ववत्) = श्वफल्क का पुत्र । **वृष्णिवंश का उदाहरण—**

(१७२२) मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ४।१।११५ । संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्यादण्प्रत्ययश्च । द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । भाद्रमातुरः । **(१७२३) स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२० ।** स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् । वैनतेयः । **(१७२४) कन्यायाः कनीन**

(१७२२) **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** ।**द्वैमातुरः** — द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान् इति विग्रहे 'तद्धितार्थ०' इति समासे सुपो लुकि 'मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः' इति मातुरुदादेशे अणि च 'द्वि मातुर अ' इति जाते आद्यचो वृद्धौ विभक्तिकार्ये 'द्वैमातुरः' इति ।

(१७२३) **स्त्रीभ्यो ढक्** । स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्योऽपत्येऽर्थे ढक् स्यात् । **वैनतेयः** — विनताया अपत्यमिति विग्रहे 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढकि ढस्येयादेशे 'किति चे'त्यादिवृद्धौ सौ रुत्वे विसर्गे 'वैनतेयः' इति ।

---

(४) वसुदेवस्य अपत्यम् (प्रक्रिया उक्तवत्) = वासुदेवः (वसुदेव का पुत्र — कृष्ण) । (५) आनिरुद्धः (विग्रहादि पूर्ववत्) = अनिरुद्ध का पुत्र । **कुरुवंश का उदाहरण**—(६) नाकुलः (नकुल का पुत्र) । (७) साहदेवः (सहदेव का पुत्र) ।

(१७२२) **पद**—मातुः, उत्, संख्यासंभद्रपूर्वायाः । **अनुवृत्ति**—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संख्यादिपूर्वक मातृ शब्द को उत् आदेश होता है और अण् प्रत्यय होता है । द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । भाद्रमातुरः ।

विमर्श—पूर्ववत् 'अण्' आदि पदों की अनुवृत्ति आ रही है । वाक्यभेद से सूत्रस्थ 'मातुः' पद पञ्चमी एवं षष्ठी दोनों विभक्तियों का सूचक है । अण् प्रत्यय के विधान हेतु पञ्चमी विभक्ति तथा 'ऋ' के स्थान पर 'उत्' आदेश के लिए षष्ठी विभक्ति मानी जाती है । अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार 'उत्' आदेश मातृ के ऋ के स्थान पर होता है । तदनुसार — ''संख्यावाचक शब्द, सम् एवम् भद्र पूर्वक मातृ शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और मातृशब्दावयव ऋ के स्थान पर उत् = 'उ' आदेश होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—द्वयोः मात्रोः अपत्यम् (द्वि + ओस्, मातृ + ओस् — समास, 'तद्धितार्थोत्तर-पदसमाहारे च', विभक्तिलोप, अण् = 'अ' तथा ऋ = उत् = 'उ' आदेश, रपर) — 'द्वि मात् उ र् + अ' (आदिवृद्धि इ = ऐ, विभक्तिकार्य) = द्वैमातुरः (दो माताओं की सन्तान अर्थात् जिसे दो माताएँ पुत्र मानें) । षण्णां मातॄणाम् अपत्यम् (षष् + आम्, मातृ + आम् — समास, विभक्तिलोप, अण् तथा उत् आदेश, रपर, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = षाण्मातुरः (छः माताओं द्वारा पालित) । भद्रा चासौ माता (कर्मधारयसमास) — भद्रमातुः अपत्यम् (समास — 'तद्धितार्थो०', विभक्तिलोप, भद्रा को पुंवद्भाव, अण् = 'अ', 'ऋ' = 'उ', रपर, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = भाद्रमातुरः (अच्छी माँ का पुत्र) ।

(१७२३) **पद**—स्त्रीभ्यः, ढक् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अपत्य अर्थ में स्त्रीप्रत्ययान्तों से ढक् होता है । वैनतेयः ।

विमर्श—प्राकरणिक अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार — ''स्त्रीप्रत्ययान्त (जिनके अन्त में 'टाप्' आदि स्त्रीप्रत्यय हों) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—विनतायाः अपत्यम् (विनता + ढक् = ढ — **'स्त्रीभ्यो ढक्'**, ढ = **'एय'** —

च ४।१।११६। चादञ्। कानीनो व्यासः कर्णश्च। (१७२५) राजश्वसुराद्यत् ४।१।१३७। *राज्ञो जातावेव*। (१७२६) ये चाभावकर्मणोः ६।४।१६८। यादौ तद्धिते अन् प्रकृत्या स्यान्न तु भावकर्मणोः। राजन्यः। श्वशुर्यः। जातावेवेति

(१७२४) अपत्यार्थे कन्याशब्दस्य 'कनीन' इत्यादेशो भवति 'अण्' प्रत्ययश्चेत्यर्थः।

(१७२५) **राजश्वशुराद्यत्**। राजन्शब्दात् श्वशुरशब्दाच्चापत्ये यत्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **राज्ञो जातावेवेति**। जातिः समुदायवाच्या चेदित्यर्थः।

(१७२६) **ये चेति**। 'अन्' इति सूत्रमनुवर्तते 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यतः प्रकृत्येति च। 'अङ्गस्ये'त्यधिकारप्राप्तप्रत्ययो यकारेण विशिष्यते, तेन तदादिविधिस्तदाह — **यादाविति**।

'आयनेयीनीयियः०', आदि वर्ण इ = 'ऐ' — वृद्धि, आकारलोप — 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = वैनतेयः (विनता का पुत्र — गरुड)।

(१७२४) **पद**—कन्यायाः, कनीन, च। **अनुवृत्ति**—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कन्या शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और कन्या शब्द को 'कनीन' आदेश होता है। कानीनः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७२३) से विधेयांश 'अण्' की अनुवृत्ति आती है। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं। तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त कन्या शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है तथा कन्या शब्द के स्थान में 'कनीन' आदेश होता है।'' अनेकाल् होने से 'कनीन' सम्पूर्ण कन्या शब्द के स्थान में होता है।

उदाहरण—विग्रह—कन्यायाः अपत्यं पुमान् (कन्या + अण् = 'अ', कन्या = 'कनीन' आदेश — 'कन्यायाः कनीन च', आदिवृद्धि, भसंज्ञा, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = कानीनः (कन्या अर्थात् अविवाहिता की सन्तति-व्यास या कर्ण)।

विशेष—''शास्त्रोक्त विधि से विवाह होने से पूर्व पुरुष के साथ संयोग होने पर भी 'कन्या' कहलाती है।'' यह महाभाष्यकार पतञ्जलि ने प्रकृत सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया है। 'प्रदीप' व्याख्या में कैयट ने उक्त का आशय स्पष्ट करते हुए कहा है कि मुनि एवं देवता के माहात्म्य से पुरुष संयोग होने पर भी व्यास एवं कर्ण को कन्या की सन्तति कहा गया।

(१७२५) **पद**—राजश्वशुराद्, यत्। **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—राजन् और श्वशुर शब्द से अपत्य अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। **वा०** राजन् शब्द से यत्प्रत्यय जाति अर्थ में ही कहा जाय।

(१७२६) **पद**—ये, च, अभावकर्मणोः। **अनुवृत्ति**—अन्, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—भाव और कर्मार्थक भिन्न यादि तद्धित प्रत्यय परे रहते 'अन्' को प्रकृति**भाव** होता है। राजन्यः। श्वशुर्यः। पूर्व सूत्र में 'जातावेव' क्यों कहा? राजनः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से 'तद्धिते', 'प्रकृत्यैकाच्' (६।४।१६३) से 'प्रकृत्या' तथा सम्पूर्ण 'अन्' (१७२६) सूत्र की अनुवृत्तियाँ आ रही हैं। सूत्रस्थ 'ये' पद में 'तद्धिते' का विशेषण होने से तदादिविधि होती है। 'भस्य' एवम् 'अङ्गस्य' का आधिकारिक प्रभाव भी विद्यमान है। तदनुसार — ''भाव एवं कर्म से भिन्न अन्य अर्थों में वर्तमान यकारादि तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर भी अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव होता है। अर्थात् 'अन्' का लोप नहीं होता।''

किम् ? (१७२७) अन् ६।४।१६७ । प्रकृत्याऽणि परे राजनः । (१७२८) क्षत्राद् घः ४।१।१३८ । क्षत्रियः । जातावित्येव । क्षात्रिरन्यः । (१७२९) रेवत्यादि-भ्यष्ठक् ४।१।१४६ । (१७३०) ठस्येकः ७।३।५० । अङ्गात्परस्य ठस्येका-

---

राजन्यः — क्षत्रियात् क्षत्रियायां स्वभार्यायामुत्पन्नो 'राजन्यः' इति प्रसिद्धम् । राज्ञोऽपत्यमि'ति विग्रहे राजन्शब्दात् 'तस्याऽपत्यमि'त्यणि प्राप्ते 'राजश्वशुराद्यत्' इति यत्प्रत्यये 'राजन् + ङस् + यत्' इति स्थिते प्रातिपदिकत्वे सुपो लुकि 'ये चाऽभावकर्मणोः' इत्यनेन 'अन्' इत्यस्य प्रकृति-भावात् टिलोपाभावे सौ रुत्वे विसर्गे च राजन्यः ।

(१७२७) **अन्** । '**इनण्य**नपत्ये' इत्यत अणीत्यनुवर्तते 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यतः प्रकृत्येति च । तदाह — **अणीति** ।

(१७२८) **क्षत्राद्घः** । अपत्ये इति शेषः । **क्षत्रियः** — क्षत्रशब्दात् 'क्षत्राद्घः' इति घ-प्रत्यये घस्य इयादेशे 'यस्येति चे'त्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'क्षत्रियः' इति ।

(१७२९) **रेवत्यादिभ्य इति** । 'अपत्ये' इत्यर्थः । ढगाद्यपवादः ।

(१७३०) **ठस्येकः** । अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते । अत आह — **अङ्गादिति** ।

उदाहरण—विग्रह—राज्ञः क्षत्रियायां जातम् अपत्यं पुमान् (राजन् + यत् = 'य' — 'राज-श्वशुराद्यत्', 'अन्' का प्रकृतिभाव — 'ये चाभावकर्मणोः', प्रातिपदिकसंज्ञा, सु = स् = र् = :) = राजन्यः (राजा का क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र) । श्वशुरस्य अपत्यम् पुमान् (श्वशुर + यत् = य, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = श्वशुर्यः (श्वशुर का पुत्र - साला) ।

(१७२७) **पद**—अन् । **अनुवृत्ति**—अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अण् प्रत्यय के परवर्ती रहते 'अन्' को प्रकृतिभाव होता है । राजनः ।

विमर्श—'इनण्यनपत्ये' (६।४।१६४) से 'अणि' तथा 'प्रकृत्यैकाच्' (६।४।१६३) से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति आती है । उक्त आधिकारिक पदों का प्रभाव भी वर्तमान है । अतः "अण् प्रत्यय परवर्ती होने पर भी 'अन्'अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव होता है ।"

उदाहरण—उक्त (१७२५) सूत्र में स्थित वार्तिक में 'जातावेव' का ग्रहण होने से राजा से भिन्न जाति में पुत्र उत्पन्न करने के अर्थ में यत् प्रत्यय नहीं होता । राजन् + अण् (= अ — 'प्राग्दीव्यतोऽण्', टिलोप की प्राप्ति होने पर 'अन्' सूत्र से 'अन्' का प्रकृतिभाव, विभक्तिकार्य) = राजनः ।

(१७२८) **पद**—क्षत्राद्, घः । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—क्षत्र शब्द से अपत्य अर्थ में 'घ' प्रत्यय होता है, समुदाय से जाति गम्यमान होने पर । क्षत्रियः । अन्यत्र - क्षात्रिः ।

विमर्श—उक्त अनुवृत्त पदों के साथ सूत्रस्थ पदों का अन्वय करने पर यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है कि "क्षत्र शब्द से अपत्य अर्थ में घ प्रत्यय होता है ।" यह जाति अर्थ प्रतीत होने पर ही होता है ।

उदाहरण—क्षत्रस्य अपत्यम् (क्षत्र + घ, घ = इय, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = क्षत्रियः (क्षत्र अर्थात् रक्षक का पुत्र) । अन्यत्र अर्थात् क्षत्र से शूद्रा में उत्पन्न सन्तति के अर्थ में 'क्षात्रिः' (क्षत्र + इञ्) प्रयोग होगा ।

(१७२९) **पद**—रेवत्यादिभ्यः, ठक् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—रेवत्यादि शब्दों से अपत्य अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है ।

देशः। रैवतिकः। (१७३१) गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ४।१।९८। (१७३२) व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ५।३।११३। व्रातवाचिभ्यश्च्फञन्तेभ्यश्च स्वार्थे ञ्यप्रत्ययः स्यात्। कौञ्जायन्यः। कौञ्जायिन्यौ। बहुत्वे लुग् वक्ष्यते ब्राध्नायन्यः। (१७३३)

रैवतिकः — रेवत्या अपत्यं पुमान् इति विग्रहे 'रेवत्यादिभ्यष्ठक्' इति ठकि 'ठस्येकः' इति ठस्य इकादेशे आदिवृद्धौ अकारलोपे सौ रुत्वे विसर्गे च 'रैवतिकः' इति।

(१७३१) **गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्**। स्पष्टम्।

(१७३२) **व्रातच्फञोः**। 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वादि'त्यतः 'ञ्यः' इत्यनुवर्तते। तदाह — **व्रातवाचिभ्य इति**। **कौञ्जायन्यः** — कुञ्जस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहे कुञ्जशब्दात् च्फञ्प्रत्यये फस्य आयनादेशे आदिवृद्धौ, अकारलोपे ततः कौञ्जायनशब्दात् ञ्यप्रत्यये सौ रुत्वे विसर्गे च 'कौञ्जायन्यः' इति।

विमर्श—उक्त प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान होने से उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

(१७३०) **पद**—ठस्य, इकः। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अङ्ग से परे 'ठ' को 'इक' आदेश होता है। रैवतिकः।

विमर्श—अधिकृत 'अङ्गस्य' का पञ्चमी विभक्ति में विपरिणाम होता है। तदनुसार — "अङ्ग से परवर्ती 'ठ' के स्थान में 'इक' आदेश हो जाता है।"

उदाहरण—विग्रह—रेवत्याः पुत्रः (रेवती + ठक् = 'ठ' — १७२९ सूत्र से, ठ = 'इक' — 'ठस्येकः', आदिवृद्धि, 'ई' का लोप — 'यस्येति च', सु = स् = र् = :) = रैवतिकः (रेवती का पुत्र)।

(१७३१) **पद**—गोत्रे, कुञ्जादिभ्यः, च्फञ्। **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गोत्र अर्थ में कुञ्जादि शब्दों से च्फञ् प्रत्यय होता है।

विमर्श—प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति के साथ एकवाक्यता होने पर यह अर्थ स्पष्ट होता है कि "कुञ्ज आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से गोत्र अर्थ में च्फञ् प्रत्यय होता है।"

(१७३२) **पद**—व्रातच्फञोः, अस्त्रियाम्। **अनुवृत्ति**—ञ्यः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—व्रातवाचक से और च्फञ् प्रत्ययान्त से स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है। कौञ्जायन्यः। कौञ्जायन्यौ। बहुवचन की विवक्षा में अण् का लुक् कहा जायेगा। ब्राध्नायन्यः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' (५।३।११२) से स्वार्थ में विहित 'ञ्यः' की अनुवृत्ति आती है। अन्य प्राकरणिक अनुवृत्तियों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। सूत्रस्थ 'वातच्फञोः' षष्ठ्यन्त पद पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तदनुसार — "व्रातवाचक एवम् च्फञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है, किन्तु स्त्रीलिंग में नहीं होता।"

उदाहरण—विग्रह—कुञ्जस्य गोत्रापत्यम् (कुञ्ज + ङस् + च्फञ् = 'फ' — 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्', च्फञ् में 'च्' तथा 'ञ्' की इत्संज्ञा लोप) — कुञ्ज + फ (फ = आयन्, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) — कौञ्जायन + ञ्य (= 'य' — 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्', 'अ' का लोप — 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = कौञ्जायन्यः (कुञ्ज का गोत्रापत्य)। द्विवचन में — कौञ्जायन्यौ। बहुवचन में तद्राज-संज्ञा होने से 'ञ्य' प्रत्यय का लोप हो जाता है — 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्'। अतः बहुवचन में — '**कौञ्जायनाः**।' ब्रध्नस्य गोत्रापत्यम् (प्रक्रिया उक्तवत्) = **ब्राध्नायन्यः** (ब्रध्न का पौत्र आदि)।

नडादिभ्यः फक् ४।१।९९ । गोत्र इत्येव । नाडायनः । चारायणः । अनन्तरो नाडिः । (१७३४) अश्वादिभ्यः फञ् ४।१।११० । गोत्रे आश्वायनः । (१७३५) इतश्चानिञः ४।१।१२२ । इकारान्ताद् द्व्यचोऽपत्ये ढक्, न त्विञन्ताद् । दौलेयः ।

(१७३३) **नडादिभ्यः फक्** । स्पष्टम् । इञोऽपवादः ।

(१७३४) **अश्वादिभ्यः फञ्** । स्पष्टम् ।

(१७३५) **इतश्चानिञः** । अस्त्रीप्रत्ययान्तार्थमिदं सूत्रम् । **दौलेयः** — दुलेरपत्यं पुमान्, ढक्, ढस्य एयादेशः, 'किति चे'त्यादिवृद्धिः ।

(१७३३) **पद**—नडादिभ्यः, फक् । **अनुवृत्ति**—गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—गोत्र अर्थ में ही नडादि शब्दों से फक् होता है। नाडायनः। चारायणः। अनन्तर = साक्षात्पुत्र अर्थ में — नाडिः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७३१) से 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से अपेक्षित है । अन्य प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व आ रही हैं । तदनुसार — ''नडादिगणपठित षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से गोत्र अर्थ में फक् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—नडस्य गोत्रापत्यम् (नड + फक् = 'फ' — 'नडादिभ्यः फक्', फ = आयन्, आदिवृद्धि — 'किति च', भसंज्ञा, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = नाडायनः । चरस्य गोत्रापत्यम् (प्रक्रिया उक्तवत्) = चारायणः (चर का गोत्रापत्य) ।

प्रत्युदाहरण—'गोत्रे' की अनुवृत्ति होने के कारण साक्षात्पुत्र की विवक्षा में — **नाडिः** (नड + इञ्) ।

(१७३४) **पद**—अश्वादिभ्यः, फञ् । **अनुवृत्ति**—गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अश्वादि शब्दों से गोत्र अर्थ में फञ् प्रत्यय होता है । आश्वायनः ।

विमर्श—पूर्ववत् 'गोत्रे' तथा अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । अतः ''षष्ठी-समर्थ अश्वादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य अर्थ में फञ् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—अश्वस्य गोत्रापत्यम् (अश्व + फञ् = फ, फ = आयन्, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = आश्वायनः (अश्व का पौत्र आदि) ।

(१७३५) **पद**—इतः, च, अनिञः । **अनुवृत्ति**—द्व्यचः, ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इकारान्त द्व्यच्क शब्द से अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है; इञन्त से नहीं होता । दौलेयः । नैधेयः । आत्रेयः । आत्रेयौ ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'द्व्यचः' (४।१।१२१) सूत्र तथा 'स्त्रीभ्यो ढक्' (१७२३) से 'ढक्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार — ''इञन्त-भिन्न द्व्यच्क (दो अच् वाले) इकारान्त प्रातिपदिकों से भी अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—दुलेः अपत्यम् (दुलि + ढक् = ढ — 'इतश्चानिञः', ढ = एय, आदिवृद्धि, इकारलोप तथा विभक्तिकार्य) = दौलेयः (दुलि का अपत्य) । निधेः अपत्यम् (ढक् आदि पूर्ववत्) = नैधेयः (निधि का पुत्र) । यहाँ नि + √धा + कि = इ — 'उपसर्गे घोः किः' प्रत्ययान्त है, इञन्त नहीं है। अत्रेः अपत्यम् (प्रक्रिया उक्तवत्) = आत्रेयः (अत्रि का पुत्र) । आत्रेयौ (द्विवचनान्त) ।

नैधेयः । आत्रेयः । आत्रेयौ । (१७३६) अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च २।४।६५ । एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् स्यात्, तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । अत्रयः । भृगवः । कुत्साः । वसिष्ठाः । गोतमाः । अङ्गिरसः । **(१७३७) शुभ्रादिभ्यश्च ४।१।१२३ ।** शौभ्रेयः । **(१७३८) कल्याण्यादीनामिनङ् ४।१।१२६ ।** एषामिनङ् स्यात्, ढक् च । कल्याणिनेयः । बान्धकिनेयः । **(१७३९) कुलटाया वा**

(१७३६) **अत्रिभृगु०** । 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' इत्यस्माद् 'गोत्रे' इत्यनुवर्तते । 'ण्यक्षत्रियार्ष०' इत्यतो लुगिति 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियामि'त्यतश्च 'बहुषु तेनैवास्त्रियामि'ति चानुवर्तते । तदाह — **एभ्यो गोत्रेति** ।

(१७३७) **शुभ्रादिभ्यश्च** । ढक् स्यादित्यर्थः ।

(१७३८) **कल्याणिनेय इति** । कल्याण्या अपत्यमिति विग्रहे 'कल्याण्यादीनामिनङ्' इति ईकारस्य इनङादेशे कल्याणिन्‌शब्दात् ढकि, ढस्य एयादेशे आदिवृद्धौ स्वादिकार्ये 'कल्याणिनेयः' इति ।

(१७३६) **पद**—अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतमाङ्गिरोभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—गोत्रे, ढक्, बहुषु तेनैवास्त्रियाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अत्रि आदि से तत्कृत बहुत्व गम्य होने पर गोत्र प्रत्यय का लुक् होता है, स्त्रीलिङ्ग में नहीं । अत्रयः । भृगवः । कुत्साः । वसिष्ठाः । गोतमाः । अङ्गिरसः ।

विमर्श—'यस्कादिभ्यो गोत्रे' (२।४।६३) से 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । 'ण्यक्षत्रियार्ष०' (२।४।५८) से 'लुक्' तथा 'तद्राजस्य बहुषु०' (२।४।६४) से 'बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — "अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम तथा अङ्गिरस शब्दों से स्त्रीलिङ्ग के अतिरिक्त बहुवचन में विवक्षित गोत्रापत्य प्रत्यय का लोप होता है ।"

उदाहरण—अत्रेः अपत्यानि (अत्रि + ढक् = 'ढ' — 'इतश्चानिञः', 'ढक्' का लुक् — प्रकृत सूत्र से, विभक्ति जस् = अस्) — अत्रि + अस् (इ = 'ए' — गुण — 'जसि च', ए = अय् आदेश, स् = र् = :) = अत्रयः (अत्रि के अनेक पौत्र आदि) । भृगोः अपत्यानि (बहुत्व विवक्षा में अण् —'ऋष्यन्धकवृष्णि०', अण् का प्रकृत सूत्र से लुक्) = भृगवः । वसिष्ठस्य अपत्यानि (प्रक्रिया उक्तवत्) = वसिष्ठाः (वसिष्ठ के पौत्र आदि) । कुत्साः (कुत्स के पौत्रादि) । अङ्गिरसः (अङ्गिरस् के पौत्र आदि) । अण् आदि का लुक् होने से आदिवृद्धि नहीं होती ।

(१७३७) **पद**—शुभ्रादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—शुभ्रादि से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है । शौभ्रेयः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७२३) से 'ढक्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार "शुभ्रादिगणपठित शब्दों से भी अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—**विग्रह**—शुभ्रस्य अपत्यम् (शुभ्र + ढक् = ढ — 'शुभ्रादिभ्यश्च', ढ = एय, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = शौभ्रेयः (शुभ्र का पुत्र) ।

(१७३८) **पद**—कल्याण्यादीनाम्, इनङ् । **अनुवृत्ति**—ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कल्याणी आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है और इनङ् आदेश होता है । कल्याणिनेयः । बान्धकिनेयः ।

४।१।१२७। इनङ्मात्रं विकल्प्यते, ढक् तु नित्यः पूर्वेणैव। कौलटेयः। कौलटिनेयः। सती भिक्षुक्यत्र कुलटा। (१७४०) चटकाया ऐरक् ४।१।१२८। *चटकादिति वाच्यम्*। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सिध्यति। चटकस्य चटकायाः वा अपत्यं चाटकैरः। *स्त्रियामपत्ये लुग्वक्तव्यः*। तयोरेव

(१७३९) **कुलटाया वा**। **इनङ्मात्रमिति**। व्याख्यानादिति भावः। **पूर्वेणैवेति**। 'स्त्रीभ्यो ढक्' इत्यनेनेत्यर्थः।

(१७४०) **चटकादिति**। तेन 'चटक' इत्यस्मादपि स्यादेव, स्त्रीलिङ्गात्तु प्रातिपदिकग्रहणपरिभाषया सिध्यतीति भावः।

विमर्श—ढक् प्रत्यय का प्रकरण चल रहा है। अतः विधेयवाचक 'ढक्' पद की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है। तदनुसार — ''कल्याणी आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है तथा इन शब्दों को इनङ् आदेश ('ङिच्च' से अन्तिम वर्ण को) भी होता है।''

उदाहरण—विग्रह—कल्याण्याः अपत्यम् (कल्याणी + इनङ् = इन् + ढक् = ढ — 'कल्याण्यादीनामिनङ्', ढ = एय) — कल्याणिन् एय (आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = कल्याणिनेयः (कल्याणी नामक स्त्री का पुत्र)। बन्धक्याः अपत्यम् (प्रक्रिया उक्तवत्) = बान्धकिनेयः (बन्धकी का पुत्र)।

(१७३९) **पद**—कुलटायाः वा। **अनुवृत्ति**—ढक्, इनङ्; तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कुलटा शब्द को इनङ् विकल्प से होता है। ढक् तो पूर्वसूत्र से प्राप्त ही है। कौलटेयः। कौलटिनेयः। कुलटा शब्द यहाँ सती भिक्षुकी के अर्थ में है।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७३८) से 'इनङ्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'वा' पद विकल्प का सूचक है। अतः ''कुलटा को इनङ् आदेश विकल्प से होता है अपत्यार्थ में, ढक् प्रत्यय तो नित्य ही होता है।''

उदाहरण—विग्रह—कुलटायाः अपत्यं पुमान् (कुलटा के आ = इनङ् = इन् विकल्प से, ढक् नित्य, ढ = एय) — कुलटिन् + एय (आदिवृद्धि — 'किति च', विभक्तिकार्य) = कौलटिनेयः। इनङ् न होने पर केवल ढक् प्रत्यय (कुलटा + एय, आदिवृद्धि, आकारलोप, विभक्तिकार्य) = कौलटेयः। यहाँ 'कुलटा' शब्द का अर्थ — सती साध्वी भिक्षुकी महिला है। दुराचारिणी स्त्री अर्थ होने पर — ढ्रक् प्रत्यय होकर 'कौलटेरः' रूप बनता है।

(१७४०) **पद**—चटकायाः, ऐरक्। **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'चटका' से ऐरक् प्रत्यय होता है। **वा०** — चटक शब्द से ऐरक् हो, ऐसा कहना चाहिए। क्योंकि 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा से चटका शब्द का भी ग्रहण हो जायेगा। चाटकैरः। स्त्री अपत्य में ऐरक् का लुक् होता है। चटका।

विमर्श—'ढक्' के अपवादस्वरूप ऐरक् का विधान किया जा रहा है। उक्त प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति आने पर यह अर्थ निष्पन्न होता है — ''चटका शब्द से अपत्य अर्थ में ऐरक् प्रत्यय होता है।''

१. **वा०**—पुल्लिङ्गवाचक चटक शब्द से भी ऐरक् प्रत्यय होता है। लिङ्गविशिष्टपरिभाषा से स्त्रीलिङ्गवाची चटका का भी ग्रहण हो जायेगा।

उदाहरण—विग्रह—चटकायाः चटकस्य वा अपत्यं पुमान् (चटका + ऐरक् = 'ऐर्'—प्रकृत

स्त्र्यपत्यं = चटका। (१७४१) गोधाया ढ्रक् ४।१।१२९ । गौधेरः । शुभ्रादित्वा-ड्ढक् । गौधेयः । (१७४२) क्षुद्राभ्यो वा ४।१।१३१ । अङ्गहीनाः शीलहीनाश्च क्षुद्राः, ताभ्यो ढ्रक् वा। पक्षे – ढक् । काणेरः । काणेयः । दासेरः । दासेयः । (१७४३) पितृष्वसुश्छण् ४।१।१३२ । अणोऽपवादः । पैतृष्वस्त्रीयः । (१७४४)

(१७४१) **गोधाया ढ्रक्** । **गौधेर इति** । गोधायाः अपत्यमिति विग्रहः । ढ्रकि ढस्य एयादेशे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपः, कित्त्वादादिवृद्धिरिति भावः ।

(१७४२) **क्षुद्राभ्यो वा** । ढ्रक् स्यादित्यर्थः । अङ्गहीनाः = चक्षुरादिकतियावयवविकला इत्यर्थः ।

(१७४३) **पैतृष्वस्त्रीयः** । पितृष्वसुरपत्यमिति विग्रहे छण्प्रत्यये छस्य ईयादेशे, णित्त्वादादिवृद्धौ ऋकारस्य यणि विभक्तिकार्ये 'पैतृष्वस्त्रीयः' इति ।

सूत्र से, 'आ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = चाटकैरः (चिड़िया की सन्तति) । चटक से ऐरक् होने पर अ का लोप होगा ।

२. **वा०**—सन्तान के स्त्रीवाचक होने पर ऐरक् प्रत्यय का लोप होता है । **उदाहरण**—चटकस्य चटकायाः अपत्यं स्त्री (चटका + ऐरक्, ऐरक् का लोप — वार्तिक से, टाप्, विभक्तिकार्य) = चटका ।

(१७४१) **पद**—गोधायाः, ढ्रक् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'गोधा' से अपत्य अर्थ में ढ्रक् प्रत्यय होता है । गौधेरः । पक्ष में ढक् — गौधेयः ।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार — ''गोधा शब्द से अपत्यार्थ में ढ्रक् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—विग्रह—गौधायाः अपत्यं पुमान् (गोधा + ढ्रक् — 'गोधायाः ढ्रक्', ढ = एय आदेश, 'आ' का लोप) — गोध् एय र (आदिवृद्धि, 'य्' का लोप — 'लोपो व्योर्वलि', विभक्तिकार्य) = गौधेरः । शुभ्रादि गण में भी 'गोधा' शब्द का पाठ होने से 'शुभ्रादिभ्यश्च' से ढक् प्रत्यय होने पर — 'गौधेयः' बनता है ।

(१७४२) **पद**—क्षुद्राभ्यः, वा । **अनुवृत्ति**—ढ्रक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—क्षुद्रा से अपत्य अर्थ में विकल्प से ढ्रक् प्रत्यय होता है । अङ्गहीना और शीलहीना क्षुद्रा कहलाती हैं । पक्ष में ढक् । काणेरः, काणेयः । दासेरः, दासेयः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७४१) से विधेय पद ढ्रक् की अनुवृत्ति आती है । अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार ''अङ्गहीन और शीलहीन स्त्रियाँ क्षुद्रा हैं, क्षुद्रावाचक शब्दों से अपत्य अर्थ में विकल्प से ढ्रक् प्रत्यय होता है ।'' पक्ष में ढक् ।

उदाहरण—विग्रह—काणायाः अपत्यं पुमान् (काणा + ढ्रक् विकल्प से — 'क्षुद्राभ्यो वा', ढ = एय, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = काणेरः । पक्ष में 'स्त्रीभ्यो ढक्' से ढक् (= ढ = एय, विभक्तिकार्य) = काणेयः (कानी स्त्री का पुत्र) । दास्याः अपत्यं पुमान् (दासी + ढ्रक्, ढ = एय, 'ई' का लोप, वि० कार्य) = दासेरः । पक्ष में ढक् — दासेयः (शीलहीन दासी का पुत्र) । असद् आचरण वाली होने से दासी क्षुद्रावाची है ।

(१७४३) **पद**—पितृष्वसुः, छण् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पितृष्वसृ शब्द से अपत्य अर्थ में छण् प्रत्यय होता है । यह सूत्र अण् का बाधक है । पैतृष्वस्त्रीयः ।

ढकि लोपः ४।१।१३३ । अत एव ज्ञापकाड्ढक् । पैतृष्वसेयः । **(१७४५) मातृ-ष्वसुश्च ४।१।१३४ ।** पितृष्वसुर्यदुक्तं तदस्यापि स्यात् । मातृस्वस्त्रीयः, मातृष्वसेयः । **(१७४६) कुलात्खः ४।१।१३९ ।** कुलीनः । तदन्तादपि उत्तरसूत्रे अपूर्वपदादिति

(१७४४) **ढकि लोपः** । पितृष्वसुरित्यनुवर्तते । अलोऽन्त्यपरिभाषयाऽनेन अन्त्यस्य लोपः ।

(१७४५) **मातृष्वसुश्च** । चकाराच्छण् । ढकि लोपश्चानुकृष्यते । अत आह — **पितृ-ष्वसुरिति** ।

(१७४६) **कुलात्खः**। अपत्ये इति शेषः। **कुलीनः** — कुलस्यापत्यम्, खस्य ईनादेशः।

विमर्श—सभी प्राकरणिक अनुवृत्तियों की उपस्थिति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — "पितृष्वसृ शब्द से अपत्य अर्थ में छण् प्रत्यय होता है।" 'तस्यापत्यम्' से प्राप्त अण् का यह अपवाद है।

उदाहरण—(१) पितृष्वसुः अपत्यं पुमान् (पितृष्वसृ + छण् = छ, छ = ईय आदेश, ण् इत्संज्ञानिमित्तक आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य, ऋ = र् = 'यण्') = पैतृष्वस्रीयः (बुआ का लड़का)।

(१७४४) **पद**—ढकि, लोपः। **अनुवृत्ति**—पितृष्वसुः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ढक् के परवर्ती रहने पर पितृष्वसृ के अन्त्य का लोप होता है। ज्ञापक होने से ढक् होता है। पैतृष्वसेयः।

विमर्श—उद्देश्यवाचक पद 'पितृष्वसुः' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (१७४३) से आती है। निमित्तवाचक पद सूत्रस्थ — 'ढकि' है। ढक् प्रत्यय का विधान करने वाला यहाँ कोई सूत्र नहीं है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र की वैयर्थ्य की सम्भावना होने पर ज्ञापन किया जाता है कि "पितृष्वसृ शब्द से ढक् प्रत्यय भी होता है।" तभी लोप-विधान की सार्थकता होती है। इस प्रकार — "ढक् प्रत्यय के परे रहते पितृष्वसृ शब्द के अन्त्य वर्ण ('अलोऽन्त्यस्य' से) का लोप होता है।"

उदाहरण—पितृष्वसुः अपत्यम् (पितृष्वसृ + ढक्, ढ = एय, 'ऋ' का लोप — 'ढकि लोपः', आदिवृद्धि — 'किति च', विभक्तिकार्य) = पैतृष्वसेयः।

(१७४५) **पद**—मातृष्वसुः, च। **अनुवृत्ति**—ढकि लोपः, पितृष्वसुः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पितृष्वसृ शब्द को जो कार्य कहे गये हैं वे सब कार्य मातृष्वसृ को भी होते हैं। मातृस्वस्रीयः। मातृष्वसेयः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'च' पद पूर्वनिर्दिष्ट प्रत्ययों आदि का अनुकर्षण किया जाता है। तदनुसार — "पितृष्वसृ की तरह मातृष्वसृ शब्द से भी ढक्, छण् तथा अन्त्य वर्ण का लोप आदि कार्य होते हैं।"

उदाहरण—मातृष्वसुः अपत्यं पुमान् (मातृष्वसृ + छण्, छ = ईय, यण्, विभक्तिकार्य) = मातृस्वस्रीयः। ढक् होने पर 'ऋ' का लोप, ढ = एय = मातृष्वसेयः (स् = ष् आदेश — 'मातृपितृभ्यां स्वसा')। अर्थ — मौसी का पुत्र।

(१७४६) **पद**—कुलात्, खः। **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कुल शब्द से 'ख' प्रत्यय होता है। तदन्त से भी 'ख' होता है। कुलीनः। आढ्यकुलीनः।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार — "षष्ठ्यन्त समर्थ कुल शब्द से अपत्य अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है।"

लिङ्गात् । आढ्यकुलीनः । (१७४७) अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ ४।१।१४० । कुलादित्येव । पक्षे खः । कुल्यः, कौलेयकः, कुलीनः । (१७४८) महाकुलादञ्-खञौ ४।१।१४१ । माहाकुलः, माहाकुलीनः, महाकुलीनः । (१७४९) दुष्कु-लाड्ढक् ४।१।१४२ । वा । पक्षे – खः । दौष्कुलेयः, दुष्कुलीनः । (१७५०)

(१७४७) **अपूर्वपदादिति** । पूर्वपदरहितात् कुलादपत्ये यड्ढकञौ वा स्त इत्यर्थः ।

(१७४८) **महाकुलादिति** । 'पूर्वसूत्रादन्यतरस्यामि'त्यनुवर्तते । अन्यथा महाविभाषा-धिकारे अपवादेन मुक्ते उत्सर्गस्याप्रवृत्तेः 'पीलाया वा' इति सूत्रे उक्तत्वात्पूर्वसूत्रोक्तः खो न स्यादिति भावः ।

(१७४९) **दुष्कुलाड्ढक्** । अन्यतरस्यामित्यनुवर्तते । अत आह — **वेति** ।

उदाहरण—विग्रह—कुलस्य अपत्यम् (कुल + ख — 'कुलात्खः', ख = ईन, अ का लोप तथा विभक्तिकार्य) = कुलीनः (अच्छे कुल में उत्पन्न) । कुलशब्दान्त प्रातिपदिक से 'ख' होने पर — आढ्यकुलीनः (धनीकुल में उत्पन्न पुत्र) ।

(१७४७) **पद**—अपूर्वपदात्, अन्यतरस्याम्, यड्ढकञौ । **अनुवृत्ति**—कुलात्, तस्यापत्यम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्वपद-रहित कुल शब्द से विकल्प से 'यत्' और 'ढकञ्' प्रत्यय होते हैं । पक्ष में 'ख' । कुल्यः, कौलेयकः, कुलीनः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७४६) से 'कुलात्' पद की अनुवृत्ति आ रही है । शेष पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है । अतः "पूर्वपद रहित कुल शब्द से अपत्य अर्थ में विकल्प से 'यत्' और 'ढकञ्' प्रत्यय होते हैं" । 'ढकञ्' में 'ञ्' तथा 'अ' की इत्संज्ञा एवं ढ = एय आदेश होने से (एयक्) अवशिष्ट रहता है ।

उदाहरण—कुल + यत् (= य, विभक्तिकार्य) = कुल्यः । कुल + ढकञ् (= ढक्, ढ = एय, आदिवृद्धि — 'किति च', विभक्तिकार्य) = कौलेयकः । पक्ष में ख (ख = ईन, 'अ' का लोप) = कुलीनः (सत्कुल में उत्पन्न) ।

(१७४८) **पद**—महाकुलात्, अञ्-खञौ । **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—महाकुल शब्द से अपत्य अर्थ में विकल्प से अञ् और खञ् प्रत्यय होते हैं । माहाकुलः, माहाकुलीनः । पक्ष में ख — महाकुलीनः ।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति विद्यमान होने से "महाकुल शब्द से 'अञ्' और 'खञ्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं । पक्ष में यथाप्राप्त 'ख' प्रत्यय भी होता है ।"

उदाहरण—महाकुल + अञ् (= 'अ', आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = माहाकुलः । महाकुल + खञ् (= ख, ख = ईन, आदिवृद्धि) = माहाकुलीनः । पक्ष में — ख, ख = ईन = महा-कुलीनः (अच्छे कुल की सन्तान) ।

(१७४९) **पद**—दुष्कुलात्, ढक् । **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दुष्कुल शब्द से अपत्य अर्थ में विकल्प से ढक् प्रत्यय होता है । दौष्कुलेयः । पक्ष में 'ख' — दुष्कुलीनः ।

स्वसुश्छः ४।१।१४३। स्वस्रीयः। **(१७५१) भ्रातुर्व्यच्च ४।१।१४४।** चाच्छः। भ्रातृव्यः, भ्रात्रीयः। **(१७५२) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च ४।१।१६१।** समुदायार्थो जातिः। मानुषः, मनुष्यः। ***तक्ष्णोऽण उपसंख्यानम्*। (१७५३)**

(१७५०) **स्वसुश्छः**। **स्वस्रीयः** — स्वसुरपत्यं पुमान् इति विग्रहः। छस्य ईयादेशः, ऋकारस्य यण्।

(१७५१) **भ्रातुर्व्यच्च**। भ्रातृशब्दादपत्येऽर्थे व्यत्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। चकाराच्छः इति भावः। **भ्रातृव्यः** — भ्रातुरपत्यमिति विग्रहे 'भ्रातुर्व्यच्च' इत्यनेन व्यत्प्रत्यये प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'भ्रातृव्यः' इति। चकारात् छप्रत्यये तस्य ईयादेशे 'भ्रात्रीयः' इति।

(१७५२) **मनोर्जातावित** **ि**। मनुशब्दात् 'अञ्' 'यत्' एतौ प्रत्ययौ स्तः, तयोश्च मनुशब्दस्य षुगागमः स्यात्, प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन जातौ गम्यायामित्यर्थः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७४७) से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार '''दुष्कुल' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में विकल्प से 'ढक्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—विग्रह—दुष्कुले जातः पुत्रः (दुष्कुल + ढक्, ढ = एय, आदिवृद्धि — 'किति च', विभक्तिकार्य) = दौष्कुलेयः। पक्ष में ख (ख = ईन, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = दुष्कुलीनः (हीन कुल में उत्पन्न)।

(१७५०) **पद**—स्वसुः, छः। **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—स्वसृ शब्द से अपत्य अर्थ में छ प्रत्यय होता है। स्वस्रीयः।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार उक्त अर्थ निष्पन्न होता है।

उदाहरण—विग्रह—स्वसुः अपत्यम् (स्वसृ + छ, छ = ईय, ऋ = र् — यण्, विभक्तिकार्य) = स्वस्रीयः (भानजा)।

(१७५१) **पद**—भ्रातुः, व्यत्, च। **अनुवृत्ति**—छः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—भ्रातृ शब्द से अपत्य अर्थ में व्यत् प्रत्यय होता है, चकारात् छ प्रत्यय भी होता है। भ्रातृव्यः, भ्रात्रीयः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७५०) से 'च' ग्रहण द्वारा 'छः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''षष्ठ्यन्त भ्रातृ शब्द से अपत्यार्थ में व्यत् प्रत्यय होता है, च ग्रहण से पक्ष में छ भी होता है।''

उदाहरण—भ्रातुः अपत्यम् (भ्रातृ + व्यत् = व्य — 'भ्रातुर्व्यच्च', विभक्तिकार्य) = भ्रातृव्यः। च ग्रहण से छ होने पर (छ = ईय, ऋ = र् — 'यण्', विभक्तिकार्य) = भ्रात्रीयः (भतीजा)।

(१७५२) **पद**—मनोः, जातौ, अञ्यतौ, षुक् च। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मनु शब्द से अञ् और यत् प्रत्यय होते हैं और उनके परे रहते मनु शब्द को षुक् का आगम होता है। मानुषः। मनुष्यः। तक्षन् शब्द से अण् होता है।

विमर्श—सूत्रस्थ 'जाति' पद समुदाय अर्थ का वाचक है। आदि पुरुष मनु के नाम की सार्थकता भी मनुष्य जाति का बोध कराने में ही है। अतः यहाँ 'तस्यापत्यम्' की अनुवृत्ति का प्रभाव नहीं है। तदनुसार-''मनु शब्द से जाति अर्थात् समुदाय-विशेष का कथन होने पर अञ् एवं यत् प्रत्यय होते हैं तथा मनु शब्द को षुक् (= ष्) का आगम भी होता है।''

षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि ६।४।१३५। एषामपि तद्धितेऽनोऽकारलोपः। ताक्ष्णः। (**१७५४**) **तिकादिभ्यः फिञ्** ४।१।१५४। तैकायनिः। (**१७५५**) **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्** १।१।७३। यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिवृद्धिस्तद्वृद्धसंज्ञं स्यात्। (**१७५६**) **उदीचां वृद्धादगोत्रात्** ४।१।१५७। आम्रगुप्तायनिः।

(१७५३) **षपूर्वहन्**। 'भस्ये'त्यधिकृतम्। 'अल्लोपोऽनः' इत्यनुवर्तते। तदाह — **एषामपीति**। **ताक्ष्णः** — तक्ष्णोऽपत्यं पुमान् इति विग्रहः। तक्षन्शब्दादणि तक्षन् इत्यस्याऽकारलोपे णत्वे आदिवृद्धौ विभक्तिकार्ये 'ताक्ष्णः' इति।

(१७५४) **तिकादिभ्यः फिञ्**। स्पष्टम्।

(१७५५) **वृद्धिर्यस्येति**। अचामिति बहुत्वमनेकत्वोपलक्षणम्, तेन शालापदस्यापि वृद्धत्वं सिध्यति।

(१७५६) **उदीचामिति**। वृद्धसंज्ञकाद् गोत्रप्रत्ययान्तात् फिञ् स्यात् उदीचां मते इत्यर्थः।

उदाहरण—मनोः अपत्यम् (जातिः) (मनु + अञ् = 'अ', षुक् = ष् का आगम, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = मानुषः। मनु + यत् (= य, ष् का आगम) = मनुष्यः (मानव-समुदाय)।

वा०—तक्षन् शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

(१७५३) **पद**—षपूर्वहन्धृतराज्ञाम्, अणि। **अनुवृत्ति**—अल्लोपोऽनः, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षकारपूर्वक अन्, हन् आदि शब्दों के भसंज्ञक अकार का लोप होता है। ताक्ष्णः।

विमर्श—'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से आ रही है। अतः "षकारपूर्वक अन्नन्त तथा हन् एवं धृतराजन् सम्बन्धी भसंज्ञक अङ्ग के अन्-विषयक अकार का लोप होता है।"

उदाहरण—तक्ष्णः अपत्यम् (तक्षन् + अण् — 'तक्ष्णोऽण उपसंख्यानम्', 'अ' का लोप — 'षपूर्व०', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = ताक्ष्णः (बढ़ई का पुत्र)।

(१७५४) **पद**—तिकादिभ्यः, फिञ्। **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तिकादि शब्दों से फिञ् प्रत्यय होता है। तैकायनिः।

विमर्श—तिकादिगणपठित शब्दों से अपत्य अर्थ में फिञ् प्रत्यय होता है। इञ् का अपवाद है।

उदाहरण—तिक + फिञ् (= फि, फ = आयन्, आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = तैकायनिः (तिक का पुत्र)।

(१७५५) **पद**—वृद्धिः, यस्य, अचाम्, आदिः, तत्, वृद्धम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—जिस शब्द के अचों के बीच में यदि आदि अच् वृद्धि रूप हो तो उस शब्द की वृद्ध संज्ञा होती है।

विमर्श—प्रसङ्गप्राप्त वृद्ध संज्ञा का निर्वचन किया जा रहा है। षष्ठी विभक्ति निर्धारण अर्थ में है। 'अचां' बहुवचन प्रयोग एक से अधिक को अभिलक्षित कर किया गया है। तदनुसार — "जिस शब्द के अचों (स्वरसमूह) में प्रथम अच् वर्ण वृद्धिसंज्ञक (आ, ए तथा औ) हो उसकी वृद्ध संज्ञा होती है।"

(१७५६) **पद**—उदीचां, वृद्धाद्, अगोत्रात्। **अनुवृत्ति**—फिञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

प्राचां तु – आम्रगुप्तिः । (१७५७) प्राचामवृद्धात्फिन् बहुलम् ४।१।१६० । ग्लुचुकायनिः । (१७५८) जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् ४।१।१६८ । जनपद-क्षत्रिययोर्वाचकादञ् अपत्ये । पाञ्चालः । * क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्य-पत्यवत् * । पाञ्चालानां राजा पाञ्चालः । * पुरोरण् वक्तव्यः * । पौरवः । (१७५९)

आम्रगुप्तायनिः — आम्रगुप्तस्यापत्यमिति विग्रहे आम्रगुप्तशब्दात् वृद्धसंज्ञायाम् 'उदीचां वृद्धादगोत्रात्' इति फिञ्प्रत्यये ञित्वादादिवृद्धौ फस्य आयनादेशे विभक्तिकार्ये 'आम्रगुप्तायनिः' इति । प्राचां मते तु — इञ्प्रत्यये 'आम्रगुप्तिः' इति रूपम् ।

(१७५७) **प्राचामिति** । अवृद्धसंज्ञकादपत्ये बहुलं फिन् स्यादित्यर्थः । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् ।

(१७५८) **जनपदशब्दादिति** । जनपदो देशः, तद्वाचकशब्दो जनपदशब्दः, तथाभूतो यः क्षत्रियवाचकशब्दः तस्मादित्यर्थः । तदाह — **जनपदक्षत्रिययोरिति** ।

मूलार्थ—उदीच्य आचार्यों के मत में गोत्रभिन्न वृद्धसंज्ञक शब्द से अपत्य अर्थ में फिञ् प्रत्यय होता है । आम्रगुप्तायनिः । प्राच्य के मत में - आम्रगुप्तिः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७५४) से 'फिञ्' की अनुवृत्ति आ रही है । शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार — "गोत्रप्रत्ययान्त से भिन्न वृद्धसंज्ञक शब्द से उदीच्य आचार्यों के मत में अपत्यार्थ में फिञ् प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—आम्रगुप्त + फिञ् (= फि, आम्रगुप्त की वृद्ध संज्ञा होने पर फिञ् — 'उदीचां वृद्धाद्०', फ = आयन्, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = आम्रगुप्तायनिः । प्राच्य आचार्यों के मत में — आम्रगुप्त + इञ् (= इ, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = आम्रगुप्तिः (आम्रगुप्त का पुत्र) ।

(१७५७) **पद**—प्राचाम्, अवृद्धात्, फिन्, बहुलम् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्राचीन आचार्यों के मत में गोत्रभिन्न अवृद्ध शब्द से बहुल प्रकार से फिन् प्रत्यय होता है । ग्लुचुकायनिः ।

विमर्श—प्राकरणिक अनुवृत्तियों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान होने से उक्त अर्थ निष्पन्न होता है । फिन् के अभाव पक्ष में 'अत इञ्' से 'इञ्' भी होता है ।

उदाहरण—ग्लुचुकस्य अपत्यं पुमान् (ग्लुचुक + फिन् = फि = आयनि, अकारलोप तथा विभक्तिकार्य) = ग्लुचुकायनिः (ग्लुचुक का पुत्र) । पक्ष में इञ् होने पर 'ग्लौचुकिः' भी प्रयोग होगा ।

(१७५८) **पद**—जनपदशब्दात्, क्षत्रियात्, अञ् । **अनुवृत्ति**—तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—जनपद और क्षत्रिय वाचक शब्दों से अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है । पाञ्चालः ।

वा०—क्षत्रिय-जातिवाचक के समानवाचक शब्द से राजा अर्थ में अपत्यार्थवत् प्रत्यय होते हैं । पञ्चालानां राजा पाञ्चालः । **वा०**—पुर शब्द से अपत्य अर्थ में अण् होता है । पौरवः ।

विमर्श—प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथावत् विद्यमान हैं । तदनुसार — "यदि जनपदवाची शब्द क्षत्रियवाची भी हो तो उससे अपत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—पञ्चालो देशः राजा च, तस्यापत्यम् (पञ्चाल + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = पाञ्चालः (पञ्चाल की सन्तान) ।

१. **वा०**—"यदि क्षत्रियवाचक शब्द के समान ही जनपदवाचक शब्द हो तो उससे राजा अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है ।" **उदाहरण**—पञ्चाल + अञ् (प्रक्रिया उक्तवत्) = पाञ्चालः (पञ्चाल क्षत्रियों का राजा) ।

द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् ४।१।१७०। द्व्यच्। आङ्गः। वाङ्गः। मागधः। * पाण्डोर्ड्यण् *। पाण्ड्यः। (१७६०) वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् ४।१।१७१। वृद्धात् – आम्बष्ठ्यः। इत् – आबन्त्यः। कौसल्यः। अजादस्यापत्यम् आजाद्यः।

(१७५९) **द्व्यञ्मगध इति**। जनपदशब्दादिति विहितस्याञोऽपवाद इत्यर्थः। **मागधः** — मगधस्यापत्यमिति विग्रहे 'द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्' इत्यणि आद्यचो वृद्धौ भत्वे अकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'मागधः' इति।

(१७६०) **वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्**। जनपदक्षत्रियोभयवाचकाद् इदन्तात् कोशलाद् अजादाच्चापत्ये ञ्यङ् स्यादित्यर्थः।

---

२. **वा०** — पुरु शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण** — पुरूणाम् अपत्यम् (पुरु + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, 'उ' = 'ओ' — गुण, ओ = 'अव्' आदेश, विभक्तिकार्य) = पौरवः (पुरु की सन्तान)।

(१७५९) **पद** — द्व्यज्मगधकलिङ्गसूरमसात्, अण्। **अनुवृत्ति** — जनपदशब्दात्, क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ — जनपद और क्षत्रियवाची द्व्यच्क और मगध आदि से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। आङ्गः। वाङ्गः। मागधः। **वा०** — पाण्डु से अपत्य अर्थ में ड्यण् प्रत्यय होता है। पाण्ड्यः।

विमर्श — प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व अनुसरण कर रही हैं। पूर्वसूत्र (१७५८) से 'जनपदशब्दात्, क्षत्रियात्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — "जनपद और क्षत्रिय-वाची दो अच् वाले शब्दों से तथा मगध, कलिङ्ग, सूरमस शब्दों से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण — अङ्गानां राजा अपत्यं वा (अङ्ग + अण् = अ, आदि अच् को वृद्धि, 'अ' का लोप, प्राति० संज्ञा, सु = स् = र् = :) = आङ्गः (अंग देश का राजा या क्षत्रिय का पुत्र)। वङ्ग + अण् (प्रक्रिया पूर्ववत्) = वाङ्गः (वङ्ग देश का राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र)। मगध + अण् = मागधः (मगध देश का राजा या क्षत्रिय का पुत्र)।

वा० — पाण्डु शब्द से अपत्य अर्थ में 'ड्यण्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण** — पाण्डोः अपत्यम् (पाण्डु + ड्यण् = 'य', आदिवृद्धि — 'उ' का लोप — 'डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः' के अनुसार, विभक्तिकार्य) = पाण्ड्यः (पाण्डु की सन्तान)।

(१७६०) **पद** — वृद्धेत्कोसलादाजात्, ञ्यङ्। **अनुवृत्ति** — जनपदशब्दात्, क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ — जनपद और क्षत्रियोभयवाचक वृद्धसंज्ञक से, इदन्त से, कोसल और अजाद शब्द से अपत्य अर्थ में ञ्यङ् प्रत्यय होता है। वृद्ध — आम्बष्ठ्यः। इकारान्त - आवन्त्यः। कौसल्यः। आजाद्यः।

विमर्श — पूर्वसूत्रवत् सभी पदों की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार — "क्षत्रिय और जनपदवाची वृद्धसंज्ञक, इकारान्त, कोसल तथा आजाद शब्दों से अपत्य अर्थ में ञ्यङ् (य) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण — वृद्धसंज्ञक — विग्रह — आम्बष्ठानां राजा अपत्यं च (आम्बष्ठ + ञ्यङ् = य, आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = आम्बष्ठ्यः (आम्बष्ठ देश के राजा या क्षत्रिय का पुत्र)।

(१७६१) कुरुनादिभ्यो ण्यः ४।१।१७२ । कौरव्यः । नैषध्यः । **(१७६२) ते तद्राजाः ४।१।१७४ ।** अञादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः । **(१७६३) तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् २।४।६२ ।** बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक् तत्कृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम् ।

(१७६१) **कुरुनादिभ्यो ण्यः** । कुरुशब्दात् नकारादिभ्यश्च जनपदक्षत्रियवाचकेभ्योऽपत्ये राजनि चार्थे ण्यप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । **कौरव्यः** — कुरोरपत्यं कुरूणां राजा वा इति विग्रहे 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' इति ण्यप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे आद्यचो वृद्धौ भत्त्वे 'ओर्गुणः' इत्यनेन गुणेऽवादेशे विभक्तिकार्ये 'कौरव्यः' इति ।

(१७६२) **ते तद्राजाः** । स्पष्टम् ।

(१७६३) **तद्राजस्येति** । तद्राजसंज्ञकस्य प्रत्ययस्य लुगिति भावः ।

इकारान्त — विग्रह—अवन्तीनां राजा, अपत्यं च (अवन्ति + ञ्यङ्, प्रक्रिया उक्तवत्) = आवन्त्यः (अवन्ति देश के राजा या क्षत्रिय का पुत्र) । कोसल + ञ्यङ् = कौसल्यः (कोसल देश के राजा अथवा क्षत्रिय का पुत्र) । अजाद + य (ञ्यङ्, पूर्ववत् प्रक्रिया) = आजाद्यः (अजाद देश के राजा या क्षत्रिय का पुत्र) ।

(१७६१) **पद**—कुरुनादिभ्यः, ण्यः । **अनुवृत्ति**—जनपदशब्दात्, क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—जनपद और क्षत्रियवाचक कुरु शब्द तथा नकारादि शब्दों से अपत्य अर्थ में ण्य प्रत्यय होता है । कौरव्यः । नैषध्यः ।

विमर्श—पूर्ववत् उक्त पदों की अनुवृत्ति विद्यमान है । अतः "क्षत्रिय और जनपद वाची कुरु तथा नकारादि शब्दों से अपत्यार्थ में 'ण्य' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—कुरूणां राजा अपत्यं वा (कुरु + ण्य = 'य', आदिवृद्धि, उ = 'ओ' — गुण — 'ओर्गुणः', ओ = 'अव्' — 'वान्तो यि प्रत्यये', विभक्तिकार्य) = कौरव्यः (कुरुदेश का राजा या क्षत्रिय का पुत्र) । निषध + ण्यत् (= य, आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = नैषध्यः (निषध देश का राजा या क्षत्रिय का पुत्र) ।

(१७६२) **पद**—ते, तद्राजाः । **अनुवृत्ति**—जनपदशब्दात्, क्षत्रियात् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्वविहित अञ् आदि की तद्राजसंज्ञा होती है ।

विमर्श—संज्ञिवाचक 'ते' पद पूर्वनिर्दिष्ट प्रत्ययों का बोधक है । अतः 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' (४।१।१६६) से लेकर जो अञ्, अण्, ञ्यङ् आदि प्रत्यय कहे गये हैं, उनकी 'तद्राज' संज्ञा होती है ।"

(१७६३) **पद**—तद्राजस्य, बहुषु, तेन एव, अस्त्रियाम् । **अनुवृत्ति**—लुक् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्ग के अतिरिक्त बहुत्व अर्थ में विद्यमान 'तद्राज' प्रत्यय का लुक् होता है । पञ्चालाः इत्यादि ।

विमर्श—'ण्यक्षत्रियार्ष०' (२।४।५८) सूत्र से विधेयवाचक पद 'लुक्' की अनुवृत्ति आ रही है । 'तेन' सर्वनाम 'तद्राज' का बोधक है । तदनुसार — "स्त्रीलिङ्ग के अतिरिक्त अन्य लिङ्गों में बहुत्व अर्थ में विद्यमान तद्राज प्रत्यय का लुक् होता है । यह बहुत्व तद्राजप्रत्यय के ही अर्थ का होना चाहिए ।"

उदाहरण—पञ्चालानां राजा अपत्यानि वा (पञ्चाल + अञ्, 'अञ्' की तद्राजसंज्ञा – 'ते

पञ्चाला इत्यादि। **(१७६४) कम्बोजाल्लुक् ४।१।१७५।** तद्राजस्य। कम्बोजः। कम्बोजौ। * **कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्** *। चोलः। शकः। केरलः। यवनः। **(१७६५) अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे ४।१।७८।** ञ्यादीनामन्त्यमुत्तमं, तस्य समीपमुपोत्तमम्। गोत्रे यावणिञौ विहितादनार्षौ तदन्तयोर्गुरूपो-

---

(१७६४) **कम्बोजाल्लुगिति।** कम्बोजात्परस्य तद्राजप्रत्ययस्य लुक् स्यादित्यर्थः। अबहुवचनार्थं सूत्रम्। **कम्बोजः** — कम्बोजस्यापत्यं कम्बोजानां राजा वेति विग्रहे 'जनपद-शब्दादिति' विहितस्य अञः 'कम्बोजाल्लुक्' इत्येन लुकि स्वादिकार्ये 'कम्बोजः' इति।

(१७६५) **अणिञोरिति। समीपमुपोत्तममिति।** सामीप्येऽव्ययीभावः। प्रातिपदिकादित्यधिकृतं षष्ठीद्विवचनेन विपरिणम्यते। 'अणिञोरि'त्यनेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया अणिञन्तयोर्ग्रहणम्।'गोत्रे'इत्येतद् अणिञोरन्वेति।'स्त्रियामि'त्यधिकृतम्।तदाह – **'गोत्रे' इत्यादि।**

तद्राजाः', अञ् का लुक् — प्रकृत सूत्र से, विभक्तिकार्य प्रथमा बहुवचन) = पञ्चालाः (पञ्चालों का राजा अथवा सन्तति)।

(१७६४) **पद**—कम्बोजात्, लुक्। **अनुवृत्ति**—जनपदशब्दात्, क्षत्रियात्, तद्राजाः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—कम्बोज शब्द से तद्राज प्रत्यय का लुक् होता है। कम्बोजः। कम्बोजौ। **वा०** — कम्बोज आदि से तद्राज का लुक् होता है, ऐसा कहना चाहिए। चोलः। शकः। केरलः। यवनः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७६२) से 'तद्राजः' की अनुवृत्ति आती है। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् विद्यमान हैं। तदनुसार "क्षत्रिय और जनपदवाची कम्बोज शब्द से अपत्य अर्थ में विहित तद्राज प्रत्यय का लुक् होता है।"

उदाहरण—विग्रह—कम्बोजानां राजा (कम्बोज + अञ् 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्', अञ् का लुक् — 'कम्बोजाल्लुक्', लुक् होने पर आदिवृद्धि भी नहीं हुई, विभक्तिकार्य) = कम्बोजः (कम्बोज देश का राजा)। द्विवचन में — 'कम्बोजौ'।

वा०—कम्बोजादि शब्दों में भी तद्राज प्रत्ययों का लोप होता है, ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण—चोल + अण्, अण् का लुक्, विभक्तिकार्य) = चोलः (चोल जनपद का राजा)। शक + अण् का लुक = शकः (शकों का राजा)। केरल + अञ् का लुक् = केरलः (केरल देश का राजा)। यवन + अञ् का लुक् = यवनः (यवन = यूनान देश का राजा)।

(१७६५) **पद**—अणिञोः, अनार्षयोः, गुरूपोत्तमयोः, ष्यङ्, गोत्रे। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

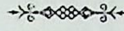
मूलार्थ—गोत्र अर्थ में विहित जो अनार्ष अण् और इञ् प्रत्यय, तदन्त गुरूपोत्तम शब्द को स्त्रीलिङ्ग में ष्यङ् आदेश होता है। कौमुदगन्ध्या। वाराह्या। 'अनार्षयोः' क्यों कहा? वासिष्ठी। 'गुरूपोत्तमयोः' क्यों कहा? औपगवी। 'गोत्रे' क्यों कहा? आहिच्छत्री।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "गोत्र अर्थ में विहित ऋषिवाचक अपत्य से भिन्न अण् और इञ्प्रत्ययान्त उपोत्तम गुरुवर्णयुक्त शब्दों को स्त्रीलिङ्ग में ष्यङ् (= 'य') आदेश होता है।"

उदाहरण—कुमुदस्य गन्ध इव गन्धः यस्य (कुमुद + ङस्, गन्ध + सु, गन्ध + सु—समास तथा पूर्व 'गन्ध' का लोप — 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य०', इत् = 'इ' — 'उपमानाच्च', विभक्तिकार्य) = कुमुदगन्धिः। कुमुदगन्धेः अपत्यम् (कुमुदगन्धि + अण्, आदिवृद्धि) = कौमुदगन्धः। कौमुदगन्ध +

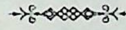
त्तमयोः प्रातिपदिकयोः स्त्रियां ष्यङादेशः। 'यङश्चाप्'। कुमुदगन्धेर्गोत्रापत्यं स्त्री कौमुदगन्ध्या। वाराह्या। अनार्षयोः किम्? वासिष्ठी। गुरूपोत्तमयोः किम्? औपगवी। गोत्रे किम्? आहिच्छत्रे जाता आहिच्छत्री।

इत्यपत्याधिकारप्रकरणम्।



कौमुदगन्ध्या इति। कुमुदस्य गन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहे 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहि-र्वाच्य उत्तरपदलोपश्च' इत्यनेन समासे विभक्तिलोपे 'उपमानाच्च' इत्यनेन इत्वे, कुमुदगन्धिरिति जाते कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्रीति विग्रहे 'तस्यापत्यम्' इत्यणि भत्वे इकारलोपे आद्यचो वृद्धौ कौमुद-गन्ध इति स्थिते 'अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे' इत्यणः ष्यङादेशे कौमुदगन्ध्य-शब्दात् 'यङश्चाप्' इत्यनेन चापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'कौमुदगन्ध्या' इति रूपम्।

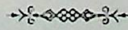
इत्यपत्याधिकारप्रकरणम्।



ष्यङ् (= 'य', 'अ' का लोप — 'यस्येति च', यङन्त से चाप् = 'आ' — 'यङश्चाप्', दीर्घ तथा विभक्तिकार्य) = कौमुदगन्ध्या (कुमुदगन्धि की पौत्री आदि)। यहाँ 'कौमुदगन्धि' शब्द में पाँच वर्ण हैं, अन्तिम वर्ण 'धि' है, उससे पूर्व वर्ण 'ग' संयुक्त वर्ण 'धि' से पूर्ववर्ती होने से गुरुसंज्ञक है — 'संयोगे गुरुः'। अतः प्रकृत सूत्र द्वारा 'ष्यङ्' प्रत्यय होता है। वराहस्य अपत्यं स्त्री वराह + इञ् (= 'इ', अकारलोप, वृद्धि) — वाराहि + ष्यङ् (= 'य', र् के उत्तरवर्ती 'आ' उपान्त्य के गुरुसंज्ञक होने से, चाप् = आ, दीर्घ तथा विभक्तिकार्य) = वाराह्या (वराह की पौत्री)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अनार्षयोः' पद का निवेश होने से 'वासिष्ठी' में अण् के स्थान पर 'ष्यङ्' नहीं हुआ, क्योंकि यह ऋषिवाचक है। 'गुरूपोत्तमयोः' का ग्रहण होने से 'औपगवी' में उपान्त्य वर्ण 'ग' के गुरु न होने से ष्यङ् नहीं होता। ङीष्। सूत्र में 'गोत्रे' पद का सन्निवेश होने से 'जातः' अर्थ में अण् प्रत्ययान्त 'आहिच्छत्री' में भी ष्यङ् नहीं होता। स्त्रीप्रत्यय ङीप् होता है।

अपत्याधिकारप्रकरण समाप्त।



अथ रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्

(१७६६) तेन रक्तं रागात् ४।२।१। कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम्। माञ्जिष्ठम्। रागात् किम्? देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम्। **(१७६७) लाक्षारोचनाट्ठक् ४।२।२।** लाक्षिकः। रौचनिकः। * शकलकर्दमाभ्यामुपसंख्यानम् *। शाकलिकः।

(१७६६) **तेनेति**। तेन इति तृतीयान्तात् रागवाचकाच्छब्दात् रक्तमित्यस्मिन्नर्थे अण् स्यादित्यर्थः, 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यधिकारात्। रागः = रक्तपीतकषायादिवर्ण इत्यर्थः। **माञ्जिष्ठमिति**। 'मञ्जिष्ठया रक्तं वस्त्रमि'ति विग्रहे मञ्जिष्ठाशब्दात् 'तेन रक्तं रागात्' इत्यनेन अणि आद्यचो वृद्धौ भत्वे आकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे 'माञ्जिष्ठमि'ति।

(१७६७) **लाक्षारोचनाट्ठक्**। अणोऽपवादः। **लाक्षिकः**। लाक्षया रक्त इति विग्रहः।

अपत्य अर्थ में विहित प्रत्ययों का निर्वचन करने के उपरान्त प्रस्तुत प्रकरण में लोकोपयोगी विभिन्न अर्थों में विहित तद्धित प्रत्ययों का विधान किया जा रहा है।

(१७६६) **पद**—तेन, रक्तं, रागात्। **अनुवृत्ति**—समर्थानां प्रथमाद्, तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—रागवाचक तृतीयान्त से रक्त अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। काषायम्। माञ्जिष्ठम्। 'रागात्' क्यों कहा? देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम्।

विमर्श—पूर्वोक्त सभी आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। सूत्रस्थ 'राग' शब्द रंग-विशेष का वाचक है। (रज्यतेऽनेन इति रागः = जिससे रंगा जाय वह राग है।) अनुवृत्त पदों के साथ सूत्रस्थ पदों की एकवाक्यता होने पर यह अर्थ निष्पन्न होता है कि ''समर्थों में प्रथम तृतीयाविभक्त्यन्त रङ्गविशेषवाची प्रातिपदिक से 'रंगा गया' अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—विग्रह—कषायेण रक्तं वस्त्रम् (कषाय + अण् = 'अ', प्रातिपदिक संज्ञा, विभक्ति-लुक्, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप — 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = काषायम् (गेरुए रंग से रंगा हुआ वस्त्र)। **विग्रह**—मञ्जिष्ठया रक्तं वस्त्रम् (मञ्जिष्ठ + टा, अण्, प्रक्रिया उक्तवत्) = माञ्जिष्ठम् (मजीठ में रंगा वस्त्र)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'रागात्' पद का निवेश होने से 'देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम्' में रंगने वाली वस्तु का अभाव होने से अण् नहीं हुआ।

(१७६७) **पद**—लाक्षारोचनात्, ठक्। **अनुवृत्ति**—तेन रक्तं रागात्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—रागवाचक तृतीयान्त लाक्षा और रोचना शब्द से ठक् प्रत्यय होता है। लाक्षिकः। रौचनिकः। **वा०**—शकल और कर्दम शब्द से भी रक्त अर्थ में ठक् कहा जाय। शाकलिकः। कार्दमिकः। **वा०**—नीली शब्द से 'अन्' होता है। नीलं वस्त्रम्। **वा०**—पीत शब्द से कन् होता है। पीतकम्। **वा०**—हरिद्रा और महारंजन शब्द से अञ् प्रत्यय होता है। हारिद्रम्। माहारजनम्।

विमर्श—पूर्वोक्त आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति के साथ पूर्वसूत्र 'तेन रक्तं रागात्' (१७६६) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — ''रागविशेषवाची तृतीयान्त लाक्षा तथा रोचना प्रातिपदिकों से ठक् (= ठ) प्रत्यय होता है।''

कार्दमिकः। * नील्या अन् *। नील्या रक्तं नीलम्। *पीतात्कन् *। पीतकम्। * हरिद्रामहारजनाभ्यामञ् *। हारिद्रम्। माहारजनम्। (१७६८) नक्षत्रेण युक्तः कालः ४।२।३। * तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् *। पुष्येण युक्तं पौषमहः। (१७६९) लुबविशेषे ४।२।४। पूर्वेण विहितस्य लुप् षष्टिदण्डात्मकस्य

(१७६८) **नक्षत्रेणेति**। 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यर्थे नक्षत्रवाचकात् शब्दात् प्राग्दी-व्यतीयाः प्रत्ययाः यथायथं स्युरित्यर्थः। **पौषम् अहरिति**। पुष्यपदादणि 'तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यमि'ति यलोपः।

(१७६९) **लुबविशेषे। अद्य पुष्य इति**। अद्येत्यव्ययम्। पुष्यः=पुष्येण युक्त इत्यर्थः। पूर्वेण विहितस्याणो लुप्।

उदाहरण—लाक्षया रक्तः पटः (लाक्षा + ठक् = ठ, ठ = इक - 'ठस्येकः', 'आ' का लोप, प्रातिपदिक संज्ञा, सु = स् = र् = :) = लाक्षिकः (लाख से रंगा हुआ कपड़ा)। रोचनया रक्तः पटः (रोचना + ठक्, ठ = इक, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य, आदिवृद्धि) = रौचनिकः (गोरोचन से रंगा हुआ वस्त्र)।

१. **वा०**—'शकल' तथा 'कर्दम' से भी रक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—शकलेन रक्तः (शकल + ठक् = ठ, ठ = इक आदेश, आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = शाकलिकः (काले रंग से रंगा हुआ)। कर्दमेन रक्तः (कर्दम + ठक्, शेष प्रक्रिया उक्तवत्) = कार्दमिकः (कीचड़ से रंगा हुआ)।

२. **वा०**—तृतीयान्त नीली शब्द से भी रक्त अर्थ में अन् प्रत्यय होता है। 'अन्' के णित् न होने से आदिवृद्धि नहीं होती। **उदाहरण**—नीली + अन् (= 'अ', ईकारलोप, विभक्तिकार्य) = नीलम् (नीले रंग से रंगा वस्त्र)।

३. **वा०**—तृतीयान्त पीत शब्द से भी रक्त अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—पीतेन रक्तं वस्त्रम् (पीत + कन् = 'क', विभक्तिकार्य) = पीतकम् (पीले रंग से रंगा हुआ)।

४. **वा०**—तृतीयान्त हरिद्रा तथा महारजन शब्दों से रक्त अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है।

उदाहरण—हरिद्रया रक्तम् (हरिद्रा + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, आकारलोप, विभक्तिकार्य) = हारिद्रम् (हल्दी से रंगा हुआ)। महारजन + अञ् (= 'अ', आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = माहारजनम् (महावर से रंगा हुआ)।

(१७६८) **पद**—नक्षत्रेण, युक्तः, कालः। **अनुवृत्ति**—तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नक्षत्रविशेषयुक्त तृतीयान्त पुष्य आदि शब्दों से युक्त अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय होते हैं। **वा०**—तिष्य और पुष्य के यकार का लोप होता है, नक्षत्र सम्बन्धी अण् के परे रहते। पौषमहः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७६६) से 'तेन' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार — "नक्षत्र-विशेषवाचक तृतीयान्त प्रातिपदिक से तद्युक्त (उन्हीं नक्षत्रों से युक्त) काल अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—पुष्येण युक्तम् अहः (पुष्य + अण् = 'अ' — 'नक्षत्रेण युक्तः कालः', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, 'य्' का लोप - 'तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्', विभक्तिकार्य) = **पौषम् अहः (पुष्यनक्षत्र से युक्त दिन)**।

कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते। अद्य पुष्यः। **(१७७०) दृष्टं साम ४।२।७।** तेनेत्येव। वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम। **(१७७१) वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ ४।२।९।**

(१७७०) **दृष्टं साम**। 'तेने' त्यनुवर्तते। 'तेन दृष्टं सामे'त्यर्थे तृतीयान्तादण् स्यादित्यर्थः।

(१७७१) **वामदेवादिति**। तृतीयान्तात् वामदेवशब्दात् दृष्टमित्यर्थे ड्यत् ड्य एतौ प्रत्ययौ स्यातामित्यर्थः। **वामदेव्यमिति**। वामदेवेन दृष्टं साम इति विग्रहे वामदेवशब्दात् 'वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ' इत्यनेन ड्यत्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे डित्त्वाट्टिलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे 'वामदेव्यमि'ति।

(१७६९) **पद**—लुप्, अविशेषे। **अनुवृत्ति**—तेन, नक्षत्रेण युक्तः कालः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—साठ घड़ी काल का अवान्तर-विशेष गम्य न हो तो पूर्वविहित प्रत्यय का लुप् होता है। अद्य पुष्यः।

विमर्श—पूर्वसूत्र का ही विषय है। सूत्रस्थ अविशेष पद का अर्थ है — सामान्य। अर्थात् रात या दिन के निश्चित क्षण का बोध न होना। पूर्वसूत्र (१७६८) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार ''यदि साठ घड़ी वाले (२४ घण्टे) समय का अवान्तर भेद न बताया गया हो तो पूर्वसूत्र से नक्षत्रवाचक शब्दों से विहित प्रत्यय का लुप् (लोप) होता है।''

उदाहरण—'अद्य पुष्यः' (पुष्य + 'अण्', उसका प्रकृत सूत्र से लुप्, विभक्तिकार्य)। यहाँ 'अद्य पुष्यः' से यह अर्थ सामान्यतया होता है कि 'आज का दिन पुष्य नक्षत्र से युक्त है।' इसमें यह नहीं कहा गया है कि ६० घड़ी में से कितनी अवधि तक पुष्य नक्षत्र युक्त चन्द्रमा है। इस प्रकार यहाँ कालघटित अवान्तर भेद विवक्षित नहीं है। पुष्य से विहित अण् का लोप होने पर 'न लुमताङ्गस्य' से प्रत्ययलक्षण का निषेध होने के कारण आदिवृद्धि नहीं होती।

(१७७०) **पद**—दृष्टं साम। **अनुवृत्ति**—तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त से दृष्ट अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। वासिष्ठं साम।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७६६) से 'तेन' पद की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से आ रही है। शेष आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — ''तृतीयान्त से 'सामवेद को देखा' (अर्थात् सामवेद की ऋचा का साक्षात्कार किया) अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—वसिष्ठेन दृष्टं साम (वसिष्ठ + अण् = 'अ' — 'दृष्टं साम', 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = वासिष्ठं साम (सामवेद का वह भाग जिसका वसिष्ठ ने साक्षात्कार किया)।

(१७७१) **पद**—वामदेवात्, ड्यत्ड्यौ। **अनुवृत्ति**—तेन, दृष्टं साम, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त वामदेव शब्द से 'दृष्टं साम' अर्थ में 'ड्यत्' और 'ड्य' प्रत्यय होते हैं। वामदेव्यम्।

विमर्श—'दृष्टं साम' (१७७०) की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है। शेष पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — ''तृतीयान्त वामदेव शब्द से 'देखा गया सामवेद' अर्थ में ड्यत् और ड्य प्रत्यय होते हैं।'' 'ड्यत्' और 'ड्य' में 'य' शेष बचता है। दोनों प्रत्ययों में अन्तर केवल स्वर का है। ड्यत् प्रत्यय होने पर 'तित्स्वरितम्' (६।१।१७९) से अन्तस्वरित तथा ड्य होने पर 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) से अन्तोदात्त होता है।

वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम्। (१७७२) परिवृतो रथः ४।२।१०। वस्त्रैः परिवृतः वास्त्रो रथः। (१७७३) तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ४।२।१४। शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः। (१७७४) संस्कृतं भक्षाः ४।२।१६। सप्तम्यन्तादण् स्यात्संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः। भ्राष्ट्रे संस्कृता भ्राष्ट्रा यवाः। (१७७५) शूलोखाद्यत्

(१७७२) **परिवृतो रथः**। अस्मिन्नर्थे अण् स्यादित्यर्थः।

(१७७३) **तत्रेति**। पात्रवाचकशब्देभ्यः तत्रोद्धृतमित्यर्थे अण् स्यादित्यर्थः।

(१७७४) **संस्कृतमिति**। भक्षयन्तीति भक्षाः, कर्मणि घञ्। तत्रेत्यनुवर्तते। अत आह — **सप्तम्यन्तादिति**।

(१७७५) **शूलोखाद्यत्**। समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी। तत्रेति, संस्कृतं भक्षेति चानुवर्तते। सप्तम्यन्ताच्छूलशब्दादुखाशब्दाच्च 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यर्थे यत् स्यादित्यर्थः।

उदाहरण—विग्रह—वामदेवेन दृष्टं साम (वामदेव + 'ड्यत्' अथवा 'ड्य' = 'य', डित् होने से 'अ' का लोप — 'टेः', विभक्तिकार्य) = वामदेव्यम् (वामदेव ऋषि द्वारा देखा गया सामवेद)।

(१७७२) **पद**—परिवृतः, रथः। **अनुवृत्ति**—तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त से 'परिवृतः रथः' अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। वास्त्रो रथः।

विमर्श—'तेन' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से आ रही है। शेष अनुवृत्त प्राकरणिक पदों के साथ एकवाक्यता होने पर यह अर्थ निष्पन्न होता है कि "तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'उससे ढका हुआ रथ' अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—विग्रह—वस्त्रेण परिवृतः रथः (वस्त्र + अण् = 'अ', 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = वास्त्रः रथः (वस्त्र से ढका हुआ रथ)।

(१७७३) **पद**—तत्र, उद्धृतम्, अमत्रेभ्यः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त पात्रवाचक शब्दों से 'उद्धृतम्' अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। शाराव ओदनः।

विमर्श—उद्धृत अर्थ में प्रत्ययों का निरूपण किया जा रहा है। सूत्रस्थ 'तत्र' पद सप्तम्यन्त समर्थ का सूचक है। 'अमत्र' शब्द पात्रवाचक है। अतः "सप्तम्यन्त समर्थ पात्रवाची प्रातिपदिक से उद्धृत (निकाल कर रखा गया) अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—विग्रह—शरावे उद्धृत ओदनः (शराव + अण् = 'अ', अकारलोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = शारावः ओदनः (सकोरे में निकालकर रखा गया भात)।

(१७७४) **पद**—संस्कृतं, भक्षाः। **अनुवृत्ति**—तत्र, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त समर्थ से 'संस्कृतम्' अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं; यदि वह भक्ष्य हो तो। भ्राष्ट्राः यवाः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'संस्कृतम्' में एकवचन तथा 'भक्षाः' में बहुवचन का प्रयोग सामान्यापेक्ष है। अर्थात् 'जाति' के कथन में एकवचन तथा 'वस्तु' के कथन में बहुवचन है। पूर्वसूत्र (१७७३) से 'तत्र' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'संस्कार किया गया' अर्थ में वस्तु के भक्ष्य पदार्थ होने पर यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—विग्रह—भ्राष्ट्रे संस्कृताः (भ्राष्ट्र + अण् = 'अ', 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, प्रथमा बहुवचन में विभक्तिकार्य) = भ्राष्ट्राः यवाः (भाड़ में भुने हुए जौ)।

४।२।१७। अणोऽपवादः। शूले संस्कृतं शूल्यं मांसम्। उख्यम्। (१७७६) दध्नष्ठक् ४।२।१८। दध्नि संस्कृतं दाधिकम्। (१७७७) सास्मिन्पौर्णमासीति ४।२।२१। इतिशब्दात्'संज्ञायामि'ति लभ्यते। पौषी पौर्णमासी अस्मिन् पौषो मासः। (१७७८) साऽस्य देवता ४।२।२२। इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः। पाशुपतम्।

(१७७६) **दध्नष्ठक्।** **दाधिकमिति।** दधिशब्दात् ठकि ठस्येकादेशे 'यस्येति चे' तीकार-लोपे विभक्तिकार्ये दाधिकमिति।

(१७७७) **सास्मिन्निति।** सा पौर्णमासी अस्मिन्नित्यर्थे प्रथमान्तात्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **पौषो मासः** — पौषीशब्दादणि 'यस्येति चे'ति ईकारलोपे विभक्तिकार्ये पौषो मास इति।

(१७७८) **साऽस्येति।** प्रथमान्ताद् देवतावाचकात् शब्दात् अस्येत्यर्थे अण् स्यादित्यर्थः। **पाशुपतम्** — पशुपतिदेवताऽस्येति विग्रहः, अण् आदिवृद्धिश्च।

(१७७५) **पद**—शूलोखात्, यत्। **अनुवृत्ति**—संस्कृतं भक्षाः, तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सप्तम्यन्त शूल और उखा शब्द से 'संस्कृतम्' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। शूल्यं मांसम्। ऊख्यम्।

विमर्श—अण् प्रत्यय का यह सूत्र अपवाद है। पूर्वसूत्र 'संस्कृतं भक्षाः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अतः ''सप्तम्यन्त समर्थ 'शूल' और 'उखा' प्रातिपदिकों से 'संस्कृतं भक्षाः' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—**विग्रह**—शूले संस्कृतम् (शूल + यत् = 'य', 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = शूल्यं मांसम् (लोहे की छड़ पर भुना हुआ मांस)। **विग्रह**—उखायां संस्कृतम् (उखा + यत्, 'आ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = उख्यम् (पात्र-विशेष या तवे पर भुना मांस)।

(१७७६) **पद**—दध्नः, ठक्। **अनुवृत्ति**—संस्कृतं भक्षाः, तत्र, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सप्तम्यन्त दधि शब्द से 'संस्कृतं भक्षाः' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। दाधिकम्।

विमर्श—पूर्ववत् 'तत्र' तथा 'संस्कृतं भक्षाः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से अपेक्षित है। तदनुसार — ''सप्तम्यन्त समर्थ दधि प्रातिपदिक से 'संस्कृतं भक्षाः' अर्थ में ठक् (= ठ) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—दध्नि संस्कृतम् (दधि + ठक् = 'ठ', ठ = इक — 'ठस्येकः', इकारलोप, आदि-वृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = दाधिकम् (दही में बनाई गई वस्तु)।

(१७७७) **पद**—सा, अस्मिन्, पौर्णमासी इति। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रथमान्त समर्थ पौर्णमासीवाचक से 'अस्मिन्' अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। पौषो मासः। 'इति' शब्द से 'संज्ञायाम्' अर्थ का लाभ होता है।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार ''प्रथमान्त समर्थ (सा) पौर्णमासीवाचक प्रातिपदिक से 'अस्मिन्' अर्थात् अधिकरण अभिधेय होने पर यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—**विग्रह**—पौषी पौर्णमासी अस्मिन् (पौषी + अण् = 'अ', 'ई' का लोप, विभक्तिकार्य) = पौषः मासः (पूस का महीना)। यहाँ 'पौषी' का अर्थ है — 'पुष्य नक्षत्र युक्त पौर्णमासी।'

(१७७८) **पद**—सा, अस्य, देवता। **अनुवृत्ति**—समर्थानां प्रथमाद् वा, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

बार्हस्पत्यम् । त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता, मन्त्रस्तुत्या च । ऐन्द्रो मन्त्रः । (१७७९) कस्येत् ४।२।२५ । कशब्दस्य इदादेशः स्यात्प्रत्ययसन्नियोगेन । यस्येति लोपात्पर-त्वादादिवृद्धिः । को ब्रह्मा देवताऽस्य कायं हविः । श्रीदेवताऽस्य श्रायम् । (१७८०) शुक्राद्घन् ४।२।२६ । शुक्रियम् । (१७८१) सोमाट्ट्यण् ४।२।३० । सौम्यम् ।

(१७७९) **कस्येत्** । 'साऽस्य देवता' इति विहिते कपदादण् प्रत्यये परे प्रकृतेरिकारो-ऽन्तादेश इत्यर्थः ।

(१७८०) **शुक्राद् घन्** । 'साऽस्य देवता' इत्यर्थे इति शेषः । **शुक्रियमिति** । शुक्रो देवता अस्येति विग्रहः ।

मूलार्थ—प्रथमान्त देवतावाचक शब्द से अस्य (षष्ठ्यर्थ) में अण् आदि प्रत्यय होते हैं । ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पत्यम् । हवनीय द्रव्य (वस्तु) में उद्देश्य विशेष देवता है । अथवा मन्त्रों द्वारा की गई स्तुति अथवा स्तुत किया जाने वाला भी देवता है । ऐन्द्रो मन्त्रः ।

विमर्श—सूत्रस्थ प्रथमान्त पद 'सा' 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से पञ्चमी विभक्ति में विपरिणाम होता है । तदनुसार — "'वह इसका देवता है' इस अर्थ में देवतावाचक शब्द से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।"

उदाहरण—विग्रह—इन्द्रः देवता अस्य (इन्द्र + अण् = 'अ', 'अ' का लोप, इ = ऐ — आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = ऐन्द्रं हविः (वह हविस् जिसका देवता इन्द्र है ।) पशुपतिः देवता अस्य (पशुपति + अण् = 'अ', इकारलोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = पाशुपतम् (वह हविस् जिसके देवता पशुपति हैं) । **विग्रह**—बृहस्पतिः देवता अस्य (बृहस्पति + ण्य = य, ऋ = 'आर्' — आदिवृद्धि, रपर, इकारलोप, विभक्तिकार्य) = बार्हस्पत्यम् (जिस हवि के देवता बृहस्पति हैं) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'देवता' शब्द का प्रयोग दो अर्थों को अभिलक्षित कर किया गया है । (१) सामान्यतया देवता उसको कहा गया है जो यज्ञ आदि में देवता को उद्दिष्ट कर दिया जाने वाला हवनीय द्रव्य हो । (२) देवता शब्द का आशय उस स्तुत्यात्मक मन्त्र से है जिसके द्वारा देवता को हविस् अर्पित किया जाता है । अतः 'ऐन्द्रः मन्त्रः' (इन्द्र का स्तुतिपरक मन्त्र) में अण्, आदिवृद्धि, अकारलोप आदि कार्य होते हैं ।

(१७७९) **पद**—कस्य, इत् । **अनुवृत्ति**—सास्य देवता, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रत्यय सन्नियोग में क शब्द को इकार होता है । कायं हविः । श्रायम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'साऽस्य देवता' (१७७८) की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से आ रही है । स्थानी 'क' तथा आदेश 'इत्' है । तपर करने से ह्रस्व इकार का ग्रहण होता है । तदनुसार — "देवतावाची क शब्द से षष्ठ्यर्थ में अण् प्रत्यय होता है तथा 'क' को प्रत्यय के साथ इकार आदेश भी होता है ।"

उदाहरण—विग्रह—कः देवता अस्य (क + 'इ' आदेश तथा अण् = 'अ', इ = ऐ — आदिवृद्धि) — कै + अ (ऐ = आय् आदेश, नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन) = कायं हविः (जिस हवि के देवता प्रजापति हों) । **विग्रह**—श्री देवता अस्य (श्री + अण् = 'अ', ई के लोप की विवक्षा होने पर आदिवृद्धि) — श्रै + अ (ऐ = आय् आदेश, विभक्तिकार्य) = श्रायम् (वह हवि, जिसकी देवता लक्ष्मी हों) ।

(१७८०) **पद**—शुक्रात्, घन् । **अनुवृत्ति**—सास्य देवता, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अस्य' अर्थ में देवतावाचक प्रथमान्त शुक्र शब्द से घन् प्रत्यय होता है । शुक्रियम् ।

(१७८२) वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ४।२।३१। वायव्यम्। ऋतव्यम्। **(१७८३) रीङ् ऋतः ७।४।२७।** अकृद्यकारेऽसार्वधातुकयकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः। 'यस्येति च'। पित्र्यम्। उषस्यम्। **(१७८४) द्यावापृथिवीशुना-**

(१७८१) **सोमाट्ट्यण्।** **सौम्यमिति।** सोमो देवता अस्येति विग्रहः।

(१७८२) **वाय्वृतुपित्रुषसो यत्।** वायु, ऋतु, पितृ, उषस् एभ्य इत्यर्थः।

(१७८३) **रीङ्ऋतः।** 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम्, ऋता विशेष्यते, तेन तदन्तविधिः। 'अयङ् यि क्ङिति' इत्यतः 'यि' इत्यनुवर्तते। 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इत्यत 'अकृत्सार्वधातुकयोरि'ति। 'च्वौ च' इति सूत्रं च। तदाह — **अकृदित्यादिना।**

विमर्श—पूर्वसूत्र 'साऽस्य देवता' का ही विषय है। अतः "प्रथमान्त शुक्र शब्द से षष्ठ्यर्थ 'अस्य देवता' अर्थ में घन् (= घ = इय) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—विग्रह—शुक्रः देवता अस्य (शुक्र + घन् = घ, घ = इय, 'अ' लोप तथा विभक्तिकार्य) = शुक्रियम् (जिस हवि अथवा मन्त्र के देवता शुक्र हैं)।

(१७८१) **पद**—सोमात्, ट्यण्। **अनुवृत्ति**—साऽस्य देवता, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सोम शब्द से 'अस्य' अर्थ में ट्यण् प्रत्यय होता है। सौम्यम्।

विमर्श—पूर्ववत् उक्त पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। अतः "प्रथमान्त देवतावाचक सोम शब्द से षष्ठ्यर्थ में ट्यण् प्रत्यय होता है।" ट्यण् में अनुबन्ध ट् तथा ण् की इत्संज्ञा लोप होने पर 'य' शेष रहता है।

उदाहरण—विग्रह—सोमः देवता अस्य (सोम + ट्यण् = 'य', भसंज्ञा, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = सौम्यम् (जिस हविस् के देवता सोम हों)।

(१७८२) **पद**—वाय्वृतु-पित्रुषसः, यत्। **अनुवृत्ति**—साऽस्य देवता, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—देवतावाची वायु आदि शब्दों से अस्य अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। वायव्यम्। ऋतव्यम्।

विमर्श—पूर्ववत् 'साऽस्य देवता' के अर्थ का ही प्रकरण है। अतः "प्रथमान्त समर्थ देवतावाची वायु, ऋतु, पितृ तथा उषस् शब्दों से षष्ठ्यर्थ में यत् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—विग्रह—वायुः देवता अस्य (वायु + यत् = य, उ = 'ओ' — गुण — 'ओर्गुणः', ओ = 'अव्' — 'वान्तो यि प्रत्यये', विभक्तिकार्य) = वायव्यम् (जिस हवि के देवता वायु हों)। **विग्रह**—ऋतुः देवता अस्य (ऋतु + यत् = 'य', उ = 'ओ' — गुण, ओ = अव् आदेश, विभक्ति-कार्य) = ऋतव्यम् (जिस हविस् का देवता ऋतु हो)।

(१७८३) **पद**—रीङ् ऋतः। **अनुवृत्ति**—च्वौ, अकृत्सार्वधातुकयोः, यि, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अकृत् यकार तथा असार्वधातुक यकार के परे रहते और च्वि के परे रहते ऋदन्त अङ्ग को 'रीङ्' आदेश होता है। पित्र्यम्। उषस्यम्।

विमर्श—प्रसङ्ग प्राप्त 'पितृ + यत्' में रीङ् आदेशविधायक सूत्र का निर्वचन किया जा रहा है। सूत्र में 'ऋतः' स्थानी और 'रीङ्' आदेशवाचक पद हैं। 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७।४।२५) से 'अकृत्सार्वधातुकयोः', 'अयङ् यि क्ङिति' (७।४।२२) से 'यि' तथा 'च्वौ च' (७।४।२६) से 'च्वौ' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। सूत्र का 'ऋतः' पद 'अङ्गस्य' का

सीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च ४।२।३२। चाद्यत्। द्यावापृथिवीयम्। द्यावापृथिव्यम्। शुनासीरीयम्, शुनासीर्यम्। (१७८५) अग्नेर्ढक् ४।२।३३। अग्नेर्ढक् स्यात् साऽस्य देवतेत्यर्थे। आग्नेयम्। (१७८६) महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ् ४।२।३५। माहाराजिकम्। प्रौष्ठपदिकम्। (१७८७) देवताद्वन्द्वे च

(१७८४) **द्यावापृथिवी इति**। एतेभ्यः छो यच्च स्यादित्यर्थः। **द्यावापृथिवीयम्**। द्यावापृथिव्यौ देवते अस्येति विग्रहः।

(१७८५) **अग्नेर्ढक्**। प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ढक् भवतीत्यभिप्रायः।

(१७८६) **महाराज इति**। **माहाराजिकमिति**। महाराजो = वैश्रवणः (कुबेरः) स देवताऽस्येति विग्रहः।

विशेषण है। अतः तदन्तविधि होती है। तदनुसार — ''कृद्भिन्न और सार्वधातुकभिन्न यकार तथा च्वि प्रत्यय के परवर्ती रहने पर ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग के स्थान में रीङ् (= री) आदेश होता है।''

उदाहरण—विग्रह—पितरः देवता अस्य (पितृ + यत् — 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्', ऋ = रीङ् = 'री' आदेश कृद्भिन्न 'य' के परे रहने पर — 'रीङ् ऋतः', 'ई' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = पित्र्यम् (जिस हविस् के देवता पितृगण हों)। **विग्रह**—उषः देवता अस्य (उषस् + यत् = य, विभक्तिकार्य) = उषस्यम् (जिस हविस् के देवता उषस् हों)।

(१७८४) **पद**—द्यावापृथिवी-शुनासीर-मरुत्वत्-अग्नीषोम-वास्तोष्पति-गृहमेधात्, छः, च। **अनुवृत्ति**—यत्, साऽस्य देवता। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—देवतावाचक प्रथमान्त द्यावापृथिवी आदि शब्दों से 'अस्य' अर्थ में छ और यत् प्रत्यय होते हैं। द्यावापृथिवीयम्, द्यावापृथिव्यम्। शुनासीरीयम्, शुनासीर्यम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७७८) से 'साऽस्य देवता' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'च' शब्द से 'यत्' (१७८२) का अनुकर्षण होता है। सूत्रस्थ 'छ' पद लुप्त प्रथमान्त है। तदनुसार ''प्रथमान्त समर्थ देवतावाची द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति तथा गृहमेध शब्दों से षष्ठ्यर्थ में 'छ' तथा 'यत्' प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—विग्रह—द्यावापृथिव्यौ देवते अस्य (द्यावापृथिवी + छ, छ = ईय आदेश, विभक्तिकार्य) = द्यावापृथिवीयम्। यत् पक्ष में – द्यावापृथिवी + यत् (ईकारलोप, विभक्तिकार्य) = द्यावापृथिव्यम् (जिस हविस् के देवता द्यावा = आकाश और पृथिवी हों)। **विग्रह**—शुनासीरौ देवते अस्य (शुनासीर + छ, छ = ईय, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = शुनासीरीयम्। यत् पक्ष में — शुनासीर्यम् (जिस हविस् के देवता शुन = वायु और सीर = सूर्य हों)।

(१७८५) **पद**—अग्नेः ढक्। **अनुवृत्ति**—साऽस्य देवता, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—देवतावाचक प्रथमान्त अग्नि शब्द से 'अस्य' अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है। आग्नेयम्।

विमर्श—'साऽस्य देवता' (१७७८) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — ''प्रथमान्त समर्थ देवतावाचक अग्नि शब्द से षष्ठ्यर्थ में ढक् (ढ) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—विग्रह—अग्निः देवता अस्य (अग्नि + ढक् = ढ, ढ = एय आदेश, 'इ' का लोप — 'यस्येति च', आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = आग्नेयम् (जिस हविस् का देवता अग्नि हो)।

(१७८६) **पद**—महाराज-प्रोष्ठपदात् ठञ्। **अनुवृत्ति**—साऽस्य देवता, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—देवतावाचक प्रथमान्त महाराज और प्रोष्ठपद शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है। माहाराजिकम्। प्रौष्ठपदिकम्।

७।३।२१। अत्र पूर्वोत्तरपदयोराद्यचो वृद्धिर्ञिति णिति किति च। आग्निमारुतम्। (१७८८) नेन्द्रस्य परस्य ७।३।२२। सौमेन्द्रः। परस्य किम्? ऐन्द्रायणः।

(१७८७) **देवताद्वन्द्वे चेति**। 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरित्यनुवर्तते 'अचो ञ्णिति' इत्यतः ञ्णितीति 'किति चे'ति सूत्रं चानुवर्तते। 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यत अचामादेरिति 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य चे'त्यतः पूर्वपदस्येति 'उत्तरपदस्य चे'ति सूत्रं चानुवर्तते। अत आह – **अत्रेत्यादिना**।

(१७८८) **नेन्द्रस्येति**।'देवताद्वन्द्वे च' इत्युक्ता उभयपदवृद्धिः उत्तरपदस्य इन्द्रस्य नेत्यर्थः।

विमर्श—पूर्ववत् उक्त पदों की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है। तदनुसार — "प्रथमान्त देवतावाची 'महाराज' तथा 'प्रोष्ठपद' प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में ठञ् (= ठ) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—विग्रह—महाराजः देवता अस्य (महाराज + ठञ् = ठ, ठ = इक आदेश — 'ठस्येकः', अकारलोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = माहाराजिकम् (जिस हविस् के देवता महाराज = कुबेर हों)। **विग्रह**—प्रोष्ठपदः देवता अस्य (प्रोष्ठपद + ठञ् = ठ = इक, अकारलोप तथा आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = प्रौष्ठपदिकम् (प्रौष्ठपद अर्थात् पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र है देवता जिसका)। नक्षत्रवाची शब्द से प्राप्त 'अण्' का यह अपवाद है।

(१७८७) **पद**—देवताद्वन्द्वे, च। **अनुवृत्ति**—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—देवताद्वन्द्व में पूर्वपद और उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि होती है — ञित्, णित् और कित् के परे रहते। आग्निमारुतम्।

विमर्श—प्रसङ्गप्राप्त उभयपदवृद्धि के सूत्र का उल्लेख किया गया है। सूत्र में आदेश और स्थानीवाचक पदों का अभाव है। अतः 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य' (७।३।१९) से 'पूर्वपदस्य', अधिकार सूत्र 'उत्तरपदस्य' (७।३।१०), 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५), 'किति च' (७।२।११८) सूत्र तथा 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार — "देवतावाची द्वन्द्व समास में भी पूर्वपद तथा उत्तरपदों के अचों में आदि अच् को ञित्, णित् तथा कित् तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर वृद्धि होती है।"

उदाहरण—विग्रह—अग्नामरुतौ देवते अस्य ('अग्निश्च, मरुच्च' विग्रह में द्वन्द्व समास होकर 'अग्नामरुतौ'; विग्रह की स्थिति में आनङ् का बाधकर इद् = 'इ' आदेश — 'इद् वृद्धौ'; अग्निमरुत् + अण् = 'अ' — 'साऽस्य देवता', पूर्वपद 'अग्नि' के आदि अकार तथा उत्तरपद 'मरुत्' के आदि अकार को वृद्धि = 'आ', विभक्तिकार्य) = आग्निमारुतम् (जिस हविस् के देवता अग्नि और मरुत् हों)।

(१७८८) **पद**—न, इन्द्रस्य, परस्य। **अनुवृत्ति**—देवताद्वन्द्वे, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—परपदस्थ इन्द्र शब्द को वृद्धि न हो। सौमेन्द्रः। परस्य किम्? ऐन्द्राग्नः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७८७) द्वारा प्राप्त वृद्धि का विशेष स्थल पर निषेध किया जा रहा है। 'देवताद्वन्द्वे च' (१७८७) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। पूर्वसूत्रवत् उक्त अन्य पदों की अनुवृत्ति भी आ रही है। तदनुसार — "देवतावाची द्वन्द्व समास में उत्तरपद में स्थित 'इन्द्र' शब्द के आदि अच् को पूर्वसूत्र से प्राप्त वृद्धि नहीं होती।"

(१७८९) दीर्घाच्च वरुणस्य ७।३।२३ । न वृद्धिः । ऐन्द्रावरुणम् । दीर्घात्किम्? आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत । **(१७९०) पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४।२।३६ ।** एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता पितृव्यः । मातुर्भ्राता मातुलः । मातुः

(१७८९) **दीर्घाच्चेति । ऐन्द्रावरुणमिति ।** इन्द्रावरुणौ देवता अस्येति विग्रहे आनङ्, दीर्घाकारात्परत्वात् वरुणस्य नादिवृद्धिः ।

(१७९०) **पितृव्यमातुल इति ।** पितुर्भ्रातरि व्यत्, मातुः भ्रातरि डुलच्, मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्प्रत्ययैः पितृव्यादयः निपात्यन्ते ।

उदाहरण—विग्रह—सोमेन्द्रौ देवते यस्य (सोमश्च इन्द्रश्च = 'सोमेन्द्रौ' — द्वन्द्व समास, सोमेन्द्र + अण् = 'अ' — 'साऽस्य देवता', प्राप्त उभयपद वृद्धि में 'इन्द्र' के आदि अच् = 'इ' को वृद्धि का निषेध — 'नेन्द्रस्य परस्य', विभक्तिकार्य) = सौमेन्द्रः (जिस मन्त्र के देवता सोम और इन्द्र हों) ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'परस्य' पद का निवेश होने से 'ऐन्द्राग्नः' में इन्द्र पद 'उत्तरपदस्थ' न होने के कारण उभयपद वृद्धि का निषेध नहीं हुआ । 'इ' और 'अ' दोनों को वृद्धि हुई ।

(१७८९) **पद**—दीर्घात्, च, वरुणस्य । **अनुवृत्ति**—न, देवताद्वन्द्वे, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—दीर्घ से परे वरुण को वृद्धि नहीं होती । ऐन्द्रावरुणम् । 'दीर्घात्' क्यों कहा? आग्निवारुणीम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७८८) से 'न' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । शेष पदों की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र के समान अनुसरण कर रही है । इस प्रकार "देवताद्वन्द्व में दीर्घ से परवर्ती 'वरुण' के आदि अच् को पूर्वसूत्र (१७८७) से प्राप्त वृद्धि नहीं होती ।"

उदाहरण—विग्रह—इन्द्रावरुणौ देवते अस्य (इन्द्रश्च वरुणश्च = 'इन्द्रावरुणौ' — द्वन्द्वसमास तथा 'इन्द्र' को आनङ् — 'देवताद्वन्द्वे च') — इन्द्रावरुण + अण् (= 'अ' — 'साऽस्य देवता', दीर्घ 'द्रा' से परवर्ती होने से 'वरुण' के आदि अच् को प्राप्त वृद्धि का प्रकृत सूत्र से निषेध, इन्द्र के आदि अच् = 'इ' वृद्धि, विभक्तिकार्य) = ऐन्द्रावरुणम् (इन्द्र और वरुण देवता हैं जिस हविस् के) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'दीर्घात्' पद का निवेश होने से '**आग्निवारुणीम्** अनड्वाहीम् आलभेत' में नकारोत्तरवर्ती 'ई' के स्थान में 'ह्रस्व' 'इ' आदेश (इद् वृद्धौ) होने के फलस्वरूप वरुण पद दीर्घ से परवर्ती नहीं है । अतः प्रकृत सूत्र से वृद्धि का निषेध नहीं होता, उभयपदवृद्धि होती है ।

(१७९०) **पद**—पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पितृव्य आदि शब्द निपातित हैं । पितृव्यः । मातुलः । मातामहः । पितामहः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र द्वारा कतिपय सम्बन्धवाचक शब्दों का निपातन किया जा रहा है ।

उदाहरण—विग्रहार्थ—पितुः भ्राता (पितृ + व्यत् = 'व्य' निपातन से, विभक्तिकार्य) = पितृव्यः (पिता का भाई — 'चाचा') । मातुः भ्राता (मातृ + डुलच् = 'उल' निपातन से, 'ऋ' का लोप — 'टेः', विभक्तिकार्य) = मातुलः (मामा) । मातुः पिता (मातृ + डामहच् = आमह — निपातन से, डित् होने से टि = 'ऋ' का लोप — 'टेः', विभक्तिकार्य) = मातामहः (माता का पिता — नाना) । पितुः पिता (पितृ + डामहच् = आमह — निपातन से, टिलोप आदि) = पितामहः (पिता का पिता — दादा) ।

पिता मातामहः। पितुः पिता पितामहः। (१७९१) तस्य समूहः ४।२।३७। काकानां समूहो काकम्। बकानां समूहः बाकम्। (१७९२) भिक्षादिभ्योऽण् ४।२।३८। भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम्। इह भस्याढे इति पुंवद्भावे कृते। (१७९३) इनण्यनपत्ये ६।४।१६४। अनपत्यार्थेऽणि इन् प्रकृत्या। तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न। युवतीनां समूहो यौवनम्। (१७९४) गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराज-

---

(१७९१) **तस्येति**। षष्ठ्यन्तात् 'समूहः' इत्यर्थेऽण् भवतीत्यर्थः।

(१७९२) **भिक्षादिभ्योऽण्**। 'तस्य समूहः' इत्येव।

(१७९३) **इनण्यनपत्ये**। 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यतः 'प्रकृत्या' इत्यनुवर्तते। तदाह — **अनपत्यार्थ इति**। **यौवनमिति**। 'युवतीनां समूहः' इति विग्रहे 'यूनस्तिः' इति तिप्रत्ययान्तात् युवतिशब्दात् समूहेऽर्थे 'भिक्षादिभ्योऽण्' इत्यनेन अणि अनुबन्धलोपे 'भस्याढे तद्धिते' इति

(१७९१) **पद**—तस्य, समूहः। **अनुवृत्ति**—समर्थानां प्रथमाद्वा, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ से समूह अर्थ में यथाविहित प्राग्दीव्यतीय अण् आदि प्रत्यय होते हैं। काकम्। बाकम्।

विमर्श—पूर्वोक्त आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "षष्ठ्यन्त समर्थ (तस्य) प्रातिपदिक से समूह अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—विग्रह—काकानां समूहः (काक + आम् + अण् = 'अ', 'सुप्' का लुक्, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = काकम् (कौओं का समूह)। **विग्रह**—बकानां समूहः (अण् आदि उक्तवत्) = बाकम् (बगुलों का समूह)।

(१७९२) **पद**—भिक्षादिभ्यः, अण्। **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—भिक्षादि से समूह अर्थ में अण् होता है। भैक्षम्। गार्भिणम्। यहाँ 'भस्याढे तद्धिते' से पुंवद्भाव करने पर (शेष प्रक्रिया = 'इन्' को प्रकृतिभाव अग्रिम सूत्र द्वारा कहा जा रहा है)।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१७९१) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अतः "समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त भिक्षादि गणपठित शब्दों से अण् प्रत्यय होता है।" यह सूत्र प्राप्त ठक् तथा अञ् का अपवाद है।

उदाहरण—विग्रह—भिक्षाणां समूहः (भिक्षा + अण् = 'अ', 'आ' का लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = भैक्षम् (भिक्षुकों का समूह)। **विग्रह**—गर्भिणीनां समूहः (गर्भिणी + अण् = अ, 'भस्याढे तद्धिते' वार्तिक से पुंवद्भाव होने से गर्भिणी = गर्भिन्) — गर्भिन् + अ ('नस्तद्धिते' से टि = 'इन्' का लोप प्राप्त होने पर — शेष प्रक्रिया अग्रिम सूत्र में देखें)।

(१७९३) **पद**—इन्, अणि, अनपत्ये। **अनुवृत्ति**—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अनपत्यार्थ अण् के परे रहने पर 'इन्' को प्रकृतिभाव होता है। यौवनम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'प्रकृत्यैकाच्' (६।४।१६३) सूत्र से विधेयांश 'प्रकृत्या' पद की अनुवृत्ति आती है। 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार — "अपत्यभिन्न अर्थ में अण् प्रत्यय के परवर्ती होने पर 'इन्' को प्रकृतिभाव होता है।"

उदाहरण—उक्त प्रयोग में 'गर्भिन् + अ' स्थिति में 'इन्' को प्रकृतिभाव होने से टिलोप नहीं होता (आदिवृद्धि, णत्व, विभक्तिकार्य) = गार्भिणम् (गर्भिणिओं का समूह)। **विग्रह**—युवतीनां समूहः (युवति + अण् = 'अ' — 'भिक्षादिभ्योऽण्', युवति = 'युवन्' — पुंवद्भाव) — युवन् + अ ('नस्तद्धिते' से प्राप्त टिलोप का प्रकृतिभाव होने पर निषेध — 'इनण्यनपत्ये', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = यौवनम्

राजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद् वुञ् ४।२।३९ । ग्लुचुकानीनां समूहो ग्लौचुकायनकम् । औक्षकमित्यादि । 'आपत्यस्य चे'ति यलोपे प्राप्ते- * **प्रकृत्या अके राजन्यमनुष्ययुवानः** * । राजन्यकम् । मानुष्यकम् । * **वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्** *। वार्धकम् ।

पुंवद्भावे 'युवन् + अ' इति जाते आद्यचो वृद्धौ 'अन्' इति वार्तिकेन प्रकृतिभावे प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे 'यौवनमि'ति । शत्रन्तादुगतिश्चेति ङीप्प्रत्यये युवतीशब्दात् 'अनुदात्तादेरञ्' इत्यञ्प्रत्यये भत्वे ईकारलोपे आद्यचो वृद्धौ विभक्तिकार्ये यौवनमिति ।

(१७९४) **गोत्रोक्षो०** । गोत्र, उक्षन्, उष्ट्र, उरभ्र, राजन्, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य, अज एतेभ्यः समूहेऽर्थे वुञ् स्यादित्यर्थः । **प्रकृत्येति** । राजन्य-मनुष्य-युवन्शब्दा अके परतः प्रकृत्या = प्रकृतिभावेन भवन्तीत्यर्थः । तेन राजन्यमनुष्ययोर्यलोपो युवन्शब्दस्य टिलोपश्च नेति भावः ।

(युवतियों का समूह) । ✓यु धातु से शतृ (अत्) प्रत्ययान्त 'युवत्' शब्द प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त होने के कारण अनुदात्तादि है । स्त्रीलिङ्ग में 'उगितश्च' से ङीप् = (ई) होने पर 'युवती' (युवती + अञ् = 'अ', पुंवद्भाव होने पर ङीप् की निवृत्ति) — युवत् अ (आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = यौवतम् ।

(१७९४) **पद**—गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याऽजात् वुञ् । **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—गोत्रप्रत्ययान्त तथा उक्ष आदि शब्दों से समूह अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है । ग्लौचुकायनकम् । औक्षकम् इत्यादि । 'आपत्यस्य च' से यलोप प्राप्त होने पर — **वा०**—अक परे रहते राजन्यादि को प्रकृतिभाव होता है । राजन्यकम् । मानुष्यकम् । **वा०**—षष्ठ्यन्त वृद्ध शब्द से भी वुञ् प्रत्यय होता है । वार्धकम् ।

विमर्श—समूहार्थ के विषय में वुञ्प्रत्यय विषयक निर्वचन किया जा रहा है । तदनुसार "षष्ठ्यन्त गोत्रवाची शब्दों से तथा उक्षन्, उष्ट्र, उरभ्र, राजन्, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य एवम् अज प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में वुञ् (= वु) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—ग्लुचुकायनीनां समूहः (ग्लुचुक + फिन् = 'फि' — 'प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्', फ = 'आयन्' — 'आयनेयीनी०', ङीष् = 'ई' — 'इतो मनुष्यजातेः', दीर्घ) = ग्लुचुकायनी (समूह अर्थ में वुञ् = 'वु', वु = 'अक' — 'युवोरनाकौ', 'ई' का लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = ग्लौचुकायनकम् (ग्लुचुकायनियों का समूह) । उक्ष्णां समूहः (उक्षन् + वुञ् = 'वु' = अक, टि = अन् का लोप)- उक्ष् + अक (आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = औक्षकम् (बैलों का समूह) इत्यादि ।

१. **वा०**—अक परे रहते राजन्य आदि को प्रकृतिभाव होता है । **उदाहरण**—राजन्यानां समूहः (राजन्य + वु, वु = अक, 'अ' का लोप होने के पश्चात् 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' से 'य्' के लोप की प्राप्ति होने पर वार्तिक से प्रकृतिभाव — 'प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवानः', अतः 'य्' का लोप नहीं होता, विभक्तिकार्य) = राजन्यकम् (राजकुमारों का समूह) । मनुष्याणां समूहः (मनुष्य + वुञ् = वु = अक, टिलोप, प्रकृतिभाव, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = मानुष्यकम् (मनुष्यों का समुदाय) ।

२. **वा०**—षष्ठ्यन्त वृद्ध शब्द से भी समूह अर्थ में वुञ् प्रत्यय का विधान होता है । **उदाहरण**—

(१७९५) केदाराद्यञ्च ४।२।४० । चाद् वुञ् । कैदार्यम्, कैदारकम् । * गणिकाया यञिति वक्तव्यम् * । गाणिक्यम् । **(१७९६) ठञ् कवचिनश्च ४।२।४१ ।** चात्केदारादपि । कवचिनां समूहः कावचिकम् । कैदारिकम् । **(१७९७) ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ४।२।४३ ।** ग्रामता । जनता । बन्धुता । तलन्तं स्त्रियाम् । * गजसहायाभ्यां

(१७९५) **केदाराद्यञ्चेति** । **कैदार्यमिति** । केदाराणां समूह इति विग्रहः ।

(१७९६) **ठञ्कवचिनश्च** । कवचिन्शब्दात् केदारशब्दाच्च समूहे ठञ्स्यादित्यर्थः ।

(१७९७) **ग्रामजन इति** । समूह इत्येव । **ग्रामता** — ग्रामाणां समूह इति विग्रहः ।

वृद्धानां समूहः (वृद्ध + वुञ् = 'वु' = अक, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, रपर, विभक्तिकार्य) = वार्धकम् (वृद्धों का समूह) ।

(१७९५) **पद**—केदाराद्, यञ्, च । **अनुवृत्ति**—वुञ्, तस्य समूहः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त केदार शब्द से समूह अर्थ में यञ् होता है, वुञ् भी होता है । कैदार्यम् । कैदारकम् । **वा०**—'गणिका' शब्द से भी समूह अर्थ में यञ् होता है । गाणिक्यम् ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'च' शब्द से पूर्वसूत्र (१७९४) से वुञ् का ग्रहण होता है । तदनुसार "षष्ठ्यन्त केदार शब्द से समूहार्थ में 'यञ्' और 'वुञ्' प्रत्यय होते हैं ।"

उदाहरण—विग्रह—केदाराणां समूहः (केदार + यञ् = 'य' — प्रकृत सूत्र से, अकारलोप, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) — कैदार्यम् । वुञ् होने पर — (केदार + वु = अक, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = कैदारकम् (खेतों का समूह) ।

१. **वा०**—षष्ठ्यन्त समर्थ गणिका शब्द से समूह अर्थ में यञ् प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—गणिकानां समूहः (गणिका + यञ् = य, 'आ' का लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = गाणिक्यम् (वेश्याओं का समुदाय) ।

(१७९६) **पद**—ठञ्, कवचिनः, च । **अनुवृत्ति**—तस्य, समूहः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त कवचिन् शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है, चकारात् केदार शब्द से भी । कावचिकम् । कैदारिकम् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्रस्थ 'च' पद पूर्वसूत्र के केदार शब्द का भी अनुकर्षण करता है । तदनुसार "षष्ठ्यन्त समर्थ कवचिन् तथा केदार शब्दों से समूह अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—कवचिनां समूहः (कवचिन् + ठञ् = ठ, ठ = इक आदेश, टि = इन् का लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = कावचिकम् (कवचधारियों का समूह) । केदार + ठञ् (प्रक्रिया उक्तवत्) = कैदारिकम् ।

(१७९७) **पद**—ग्रामजनबन्धुभ्यः, तल् । **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ग्राम, जन और बन्धु शब्द से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय होता है । ग्रामता । जनता । बन्धुता । **वा०**—गज और सहाय से भी तल् कहा जाय । गजता । सहायता । **वा०**—अहन् शब्द से यज्ञ वाच्य रहते समूह अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है । अहीनः ।

विमर्श—समूह अर्थ का ही प्रकरण है । अतः उक्त पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार — "ग्राम, जन तथा बन्धु षष्ठ्यन्त समर्थ शब्दों से समूह अर्थ में 'तल्' प्रत्यय होता है ।" तल् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में होते हैं[1] ।

१. 'तलन्तं स्त्रियाम्' (लिङ्गानुशासनम् स्त्री. २६) ।

चेति वक्तव्यम् *। गजता। सहायता। * अह्नः खः क्रतौ *। अहीनः क्रतुरित्यर्थः। (१७९८) अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ४।२।४७। (१७९९) इसुसुक्तान्तात्कः ७।३।५१। इस् उस् उक् त एतदन्तात्परस्य ठस्य कः। साक्तुकम्। हास्तिकम्।

(१७९८) **अचित्तहस्ति**। षष्ठ्यन्तात् अचित्तात् हस्तिशब्दात् धेनुशब्दाच्च समूहेऽर्थे ठक् स्यादित्यर्थः।

(१७९९) **इसुसुक्तान्तात्कः**। इकादेशापवादोऽयम्। **साक्तुकम्** — सक्तूनां समूह इति विग्रहः।

उदाहरण—विग्रह—ग्रामाणां समूहः (ग्राम + तल् = त, टाप् = 'आ' — 'अजाद्यतष्टाप्', अ + आ = 'आ' दीर्घ, विभक्ति सु = स्, 'स्' का लोप — 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०') = ग्रामता (गावों का समूह)। **विग्रहार्थ**—जनानां समूहः (जन + तल् = त, टाप्, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = जनता (जनों का समुदाय)। **विग्रह**—बन्धूनां समूहः (प्रक्रिया उक्तवत्) = बन्धुता (बन्धुओं का समुदाय)।

१. वा०—"गज तथा सहाय शब्दों से भी समूह अर्थ में 'तल्' प्रत्यय का विधान किया जाता है।" **उदाहरण**—गजानां समूहः (गज + तल् = त, टाप् = आ, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = गजता (हाथियों का झुण्ड)। सहायानां समूहः (तल् आदि उक्तवत्) = सहायता (सहायकों का समूह)।

२. वा०—"षष्ठ्यन्त 'अहन्' शब्द से समूह अर्थ में क्रतु = यज्ञ वाच्य रहने पर 'ख' प्रत्यय होता है।" **उदाहरण—विग्रहार्थ**—अह्नां समूहेन साध्यः क्रतुः (अहन् + ख, 'ख' = 'ईन' आदेश, 'अह्नष्टखोरेव' नियम के अनुसार 'टि' = अन् का लोप — 'नस्तद्धिते', विभक्तिकार्य) = अहीनः (कई दिन चलने वाला यज्ञ)।

(१७९८) **पद**—अचित्तहस्तिधेनोः, ठक्। **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त अचित्तवाचक तथा हस्ति और धेनु शब्दों से समूह अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति विद्यमान है। अतः "षष्ठ्यन्त समर्थ अचेतन पदार्थवाचक तथा हस्ति और धेनु शब्दों से समूह अर्थ में ठक् = 'ठ' प्रत्यय होता है।"

(१७९९) **पद**—इसुसुक्तान्तात्, कः। **अनुवृत्ति**—ठस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इस्, उस्, उक् तथा तकारान्त से परवर्ती 'ठ' को 'क' आदेश होता है। साक्तुकम्। हास्तिकम्। धैनुकम्।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है। षष्ठ्यन्त 'अङ्गस्य' पञ्चमी में विपरिणत होकर 'इसुसुक्तान्तात्' का विशेष्य बन जाता है। 'ठस्येकः' (७।३।५०) से 'ठस्य' पद स्थानी की अनुवृत्ति आती है। अतः "इस्, उस्, उक् तथा त — ये जिसके अन्त में हों ऐसे अङ्ग से परे 'ठ' के स्थान में 'क' आदेश होता है।"

उदाहरण—विग्रह—सक्तूनां समूहः (सक्तु + ठक् = 'ठ' — 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्', ठ = 'क' आदेश — 'इसुसुक्तान्तात्कः', आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = साक्तुकम् (सत्तुओं का ढेर)। **विग्रह**—हस्तिनां समूहः (हस्तिन् + ठक् = ठ, ठ = क आदेश, 'न्' का लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = हास्तिकम् (हाथियों का समूह)। **विग्रह**—धेनूनां समूहः (धेनु + ठक् = ठ = क, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = **धैनुकम्** (गायों का समूह)।

धैनुकम् । (१८००) केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम् ४।२।४८ । पक्षे ठगणौ । कैश्यम् । कैशिकम् । अश्वीयम् । आश्वम् । **(१८०१) पाशादिभ्यो यः । ४।२।४९ ।** पाश्या । तृण्या । धूम्या । वन्या । वात्या । **(१८०२) खलगोरथात् ४।२।५० ।** खल्या ।

(१८००) **केशाश्वाभ्यामिति** । समूह इत्येव । केशाद्यञ् वा अश्वाच्छो वेत्यर्थः । पक्षे ठक् अण् चेत्यर्थः ।

(१८०१) **पाशादिभ्यो यः** । समूह इत्येव । **पाश्येति** । पाशानां समूह इति विग्रहः, स्त्रीत्वं लोकात् ।

(१८०२) **खलगोरथात्** । खल, गो, रथ एभ्यो यः स्यात् समूहे इत्यर्थः ।

(१८००) **पद**—केशाश्वाभ्याम्, यञ्छौ, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—केश और अश्व शब्द से विकल्प से यञ् और छ प्रत्यय होते हैं । पक्ष में ठक् और अण् भी होते हैं । कैश्यम्, कैशिकम् । अश्वीयम्, आश्वम् ।

विमर्श—पूर्ववत् समूह अर्थ का प्रकरण है । अतः पूर्वोक्त अनुवृत्तियों का प्रभाव है । इस प्रकार — "षष्ठ्यन्त समर्थ केश और अश्व शब्दों से समूह अर्थ में क्रमशः 'यञ्' तथा 'छ' प्रत्यय होते हैं । पक्ष में यथाप्राप्त ठक् और अण् भी होंगे ।"

उदाहरण—केशानां समूहः (केश + यञ् = 'य' विकल्प से, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = कैश्यम् । यञ् के अभावपक्ष में (केश + ठक् = ठ — 'अचित्त०', ठ = इक, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि) = कैशिकम् (केशों का समूह) । अश्वानां समूहः (अश्व + 'छ' — विकल्प से, छ = ईय आदेश, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = अश्वीयम् । पक्ष में — अण् (अश्व + 'अ', 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = आश्वम् (घोड़ों का झुण्ड) ।

(१८०१) **पद**—पाशादिभ्यः, यः । **अनुवृत्ति**—तस्य समूहः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पाश आदि शब्दों से समूह अर्थ मे 'य' प्रत्यय होता है । पाश्या । तृण्या । धूम्या । वन्या । वात्या ।

विमर्श—पूर्ववत् समूह अर्थ में उक्त आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । अतः "षष्ठ्यन्त समर्थ पाश आदि शब्दों से समूह अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है । पूर्वसूत्र (१७९८) से प्राप्त ठक् का यह अपवाद है ।"

उदाहरण—पाशानां समूहः (पाश + य, आकार का लोप, टाप् = आ) — पाश्य + आ (दीर्घ, विभक्तिकार्य) = पाश्या (जालों का समूह) । तृणानां समूहः (तृण + य, 'अ' का लोप, टाप् = आ, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = तृण्या (तिनकों का समूह) । धूमानां समूहः (धूम + य, अकारलोप, टाप्, दीर्घ) = धूम्या (धूमराशि) । वनानां समूहः (वन + य, प्रक्रिया उक्तवत्) = वन्या (वनों का समूह) । वातानां समूहः (वात + य + टाप् आदि) = वात्या (आँधी) ।

(१८०२) **पद**—खल-गो-रथात् । **अनुवृत्ति**—यः, तस्य, समूहः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—खल आदि शब्दों से समूह अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है । खल्या । गव्या । रथ्या ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८०१) से 'यः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार – "षष्ठी समर्थ खल, गो तथा रथ शब्दों से समूह अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—खलानां समूहः (खल + य, 'अ' का लोप, टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = खल्या (खलिहानों का समूह) । गवां समूहः (गो + य, ओ = अव् — 'वान्तो यि प्रत्यये', टाप्

गव्या । रथ्या । (१८०३) इनित्रकट्यचश्च ४।२।५१ । खलादिभ्यः क्रमात्स्युः । खलिनी । गोत्रा । रथकट्या । * खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः *। डाकिनी । कुटुम्बिनी । आकृतिगणोऽयम् । (१८०४) तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः ४।२।५७ । दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा । मौष्टा । (१८०५) घञः साऽस्यां क्रियेति ञः

(१८०३) **इनित्रकट्यचश्च** । खलात् इनिः, गोत्रात् त्रः, रथात् कट्यच् समूह एवेति भावः ।

(१८०४) **तदस्यामिति** । तदस्यां क्रीडायां प्रहरणमित्यर्थे प्रथमान्तात् प्रहरणवाचकाद् णप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । **मौष्टा** — मुष्टिः प्रहरणमस्यां क्रीडायामिति विग्रहः, णे, आदिवृद्धिः ।

आदि) = गव्या (गायों का समूह) । रथानां समूहः (रथ + य, 'अ' का लोप, टाप् आदि) = रथ्या (रथों का झुण्ड) ।

(१८०३) **पद**—इनित्रकट्यचः, च । **अनुवृत्ति**—खलगोरथात्, तस्य समूहः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—समूह अर्थ में खल से 'इनि', गो से त्र और रथ से कट्यच् प्रत्यय भी होते हैं । खलिनी । गोत्रा । रथकट्या । **वा०**—खल आदि से इनि प्रत्यय कहना चाहिए । डाकिनी । कुटुम्बिनी । यह आकृतिगण है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८०२) 'खलगोरथात्' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है । शेष उक्त पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त खल, गो तथा रथ से समूह अर्थ में क्रमशः इनि, त्र तथा कट्यच् प्रत्यय (च) भी होते हैं ।'' 'इनि' में इकार उच्चारणार्थक है ।

उदाहरण—खलानां समूहः (खल + इनि = इन्, अकारलोप) — खलिन् (ङीप् = 'ई' — 'ऋन्नेभ्यो ङीप्', विभक्तिकार्य) = खलिनी । गवां समूहः (गो + त्र, टाप् = 'आ', दीर्घ आदि) = गोत्रा (गायों का समूह) । रथानां समूहः (रथ + कट्यच् = कट्य + टाप् आदि) = रथकट्या (रथों का समूह) । इन सभी प्रयोगों में स्त्रीलिङ्ग विधान लोकाधीन है ।

वा०—खल आदि उक्त शब्दों से इनि (= इन्) प्रत्यय भी होता है । खल आदि को आकृतिगण माना जाता है । अतः 'खलिनी' के अतिरिक्त (डाक + इन् + ङीप्) = डाकिनी (राक्षसियों का समुदाय) तथा (कुटुम्ब + इन् + ङीप्) = कुटुम्बिनी (कुटुम्ब का समूह) आदि उदाहरण भी समूह अर्थ में निष्पन्न होते हैं ।

(१८०४) **पद**—तत्, अस्याम्, प्रहरणम्, इति, क्रीडायाम्, णः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रहरणवाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अस्यां क्रीडायाम्' अर्थ में ण प्रत्यय होता है । दाण्डा । मौष्टा ।

विमर्श—पूर्वोक्त प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । अतः ''प्रथमान्त समर्थ (तत्) प्रहरणवाचक प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ में यदि 'अस्यां' से क्रीडा निर्दिष्ट हो तो ण प्रत्यय होता है ।'' 'ण' में 'चुटू' से 'ण्' की इत्संज्ञा होने पर 'अ' मात्र शेष रहता है ।

उदाहरण—दण्डः प्रहरणम् अस्यां क्रीडायाम् (दण्ड + ण = 'अ', 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, टाप् = आ) — दाण्ड + आ (अ + आ = 'आ' — दीर्घ, विभक्तिकार्य) = दाण्डा (डण्डा है आयुध जिस क्रीडा में) । मुष्टिः प्रहरणमस्यां क्रीडायाम् (मुष्टि + ण = 'अ', 'इ' का लोप, आदिवृद्धि, टाप्, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = मौष्टा (मुट्ठि जिस क्रीडा में आयुध हो) ।

४।२।५८। घञन्तात् क्रियावाचिनः प्रथमान्तादस्यामित्यर्थे स्त्रीलिङ्गे ञप्रत्ययः। (१८०६) श्येनतिलस्य पाते ञे ६।३।७१। अनयोर्मुम् स्यात् ञप्रत्यये परे पातशब्दे उत्तरपदे। श्यैनंपाता मृगया। तैलंपाता स्वधा। श्येनतिलस्य किम् ? दण्डपातोऽस्यां तिथौ वर्तते दण्डपाता तिथिः।(१८०७) तदधीते तद्वेद ४।२।५९।

(१८०५) **घञ इति**। अत्रास्यामित्यनन्तरं मृगयायामित्यादि स्त्रीलिङ्गं विशेष्यमध्याहार्यम्। फलितार्थमाह — **घञन्तादित्यादिना**।

(१८०६) **श्येनतिलस्येति**। 'अरुर्द्विषत्' इत्यतः 'मुम्' इत्यनुवर्तते। तदाह — **अनयोर्मुमिति**।

(१८०७) **तदधीते तद्वेद इति**। द्वितीयान्ताद् एतस्मिन्नर्थेऽणादयः प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः।

(१८०५) **पद**—घञः, सास्याम्, क्रिया, इति, ञः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—घञन्त क्रियावाची प्रथमान्त से 'अस्याम्' अर्थ में स्त्रीलिङ्ग वाच्य होने पर ञ प्रत्यय होता है।

विमर्श—प्रथमान्त समर्थ (सा) क्रियावाचक घञन्त प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ में 'ञ' प्रत्यय होता है।

(१८०६) **पद**—श्येनतिलस्य, पाते, ञे। **अनुवृत्ति**—मुम्, उत्तरपदे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—श्येन और तिल शब्द को 'मुम्' का आगम होता है — ञ प्रत्यय के परे रहते तथा पात शब्द के उत्तरपद में रहने पर। श्यैनंपाता मृगया। तैलंपाता स्वधा। 'श्येनतिलस्य' क्यों कहा? दण्डपाता तिथिः।

विमर्श—प्रसङ्गवश षष्ठाध्याय का सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६।३।६७) सूत्र से विधेयांश मुम् की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार 'श्येन' और 'तिल' शब्दों को ञ प्रत्यय युक्त पात शब्द के उत्तरवर्ती रहते मुम् (= म्) का आगम होता है।"

उदाहरण—श्येनपातः अस्यां क्रियायां वर्तते (श्येन + √पत् + घञ् = अ, आदिवृद्धि) — श्येनपात + ञ (= 'अ', मुम् = 'म्' का आगम — 'श्येनतिलस्य०', अनुस्वार, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि) — श्यैनंपात (टाप् = आ, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = श्यैनंपाता। परसवर्ण होने पर — **श्यैनम्पाता मृगया** (जिस शिकार में आक्रमण हेतु बाज छोड़ा जाय)। तिलपातः अस्यां क्रियायां वर्तते (तिल + (घञन्त) पात + ञ = 'अ' — 'घञः साऽस्याम्०', मुम् = 'म्' का आगम, अनुस्वार, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, टाप् आदि उक्तवत्) = तैलंपाता स्वधा (जिस श्राद्ध में तिल गिराये जायें)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'श्येनतिलस्य' पद का समावेश होने से 'दण्डपाता तिथिः' (जिस तिथि में दण्ड की हानि हो) में 'मुम्' का आगम नहीं हुआ। केवल घञन्त पात से 'ञ' प्रत्यय होता है।

(१८०७) **पद**—तत्, अधीते, तत्, वेद। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त समर्थ से अधीते और वेद अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अधीते' (पढ़ता है) तथा 'वेद' (जानता है) पदों के द्वारा प्रत्यय के अर्थ का निर्देश दिया गया है। दोनों 'तत्' पद द्वितीयाविभक्त्यन्त हैं; परन्तु आधिकारिक 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से पञ्चम्यन्त में विपरिणमित होकर तदन्त का ज्ञान कराते हैं। अतः **"द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अधीते' (अध्ययन करता है) तथा 'वेद' (जानता है) इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय अण् आदि होते हैं।"**

(१८०८) न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ७।३।३ । पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्याचो न वृद्धिः, किन्तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैचावागमौ स्तः। व्याकरणमधीते वेत्ति वा वैयाकरणः। **(१८०९) क्रमादिभ्यो वुन् ४।२।६१ ।** क्रमकः। पदकः। शिक्षकः। मीमांसकः। **(१८१०) क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्**

(१८०८) **न य्वाभ्यामिति**। यकारात्पूर्वम् 'ऐ', वकारात्पूर्वं 'औ' स्यातामिति भावः। **वैयाकरणः** — व्याकरणमधीते वेत्ति वेति विग्रहे व्याकरणशब्दात् 'तदधीते तद्वेद' इत्यणि 'न य्वाभ्यामि'त्यादिना वृद्ध्यभावे यकारात्पूर्वं च ऐकारागमे विभक्तिकार्ये 'वैयाकरणः' इति।

(१८०९) **क्रमादिभ्य इति**। 'तदधीते तद्वेद' इत्यर्थे क्रमादिभ्यो वुन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **शिक्षक इति**। शिक्षामधीते वेद वेत्यर्थे शिक्षाशब्दात् 'क्रमादिभ्यो वुन्' इत्यनेन वुन्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'युवोरनाकौ' इत्यनेन अकादेशे भत्वे 'यस्येति चे'त्याकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'शिक्षकः' इति।

(१८०८) **पद**—न, य्वाभ्याम्, पदान्ताभ्याम्, पूर्वौ तु, ताभ्याम्, ऐच्। **अनुवृत्ति**—किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—पदान्त यकार-वकार से परवर्ती अक् को वृद्धि नहीं होती किन्तु उनसे पूर्व क्रमशः 'ऐ' और 'औ' आगम होते हैं। वैयाकरणः।

विमर्श—सूत्रार्थ की सुस्पष्टता हेतु 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) से 'वृद्धिः' तथा 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५), 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) तथा 'किति च' (७।२।११८) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'ऐच्' प्रत्याहार से ऐ और औ वर्णों का बोध होता है। 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा के अनुसार ऐ का अन्वय यकार से तथा औ का अन्वय वकार से होता है। तदनुसार "ञित्, णित् तथा कित् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर पदान्त यकार और वकार के पश्चात् आदि अच् को वृद्धि नहीं होती; किन्तु यकार के पूर्व 'ऐ' और वकार के पूर्व 'औ' आगम होते हैं।"

उदाहरण—व्याकरणम् अधीते वेद वा (व्याकरण + अम् + अण् = 'अ' — 'तदधीते तद्वेद', 'अम्' विभक्ति का लुक्, प्राप्त आदिवृद्धि का निषेध, 'य्' के पूर्व 'ऐ' का आगम — 'न य्वाभ्याम्०', विभक्तिकार्य) = वैयाकरणः (व्याकरण का अध्ययन करने वाला या ज्ञाता)।

(१८०९) **पद**—क्रमादिभ्यः, वुन्। **अनुवृत्ति**—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त क्रम आदि शब्दों से 'अधीते' तथा 'वेद' अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है। क्रमकः। पदकः। शिक्षकः। मीमांसकः।

विमर्श—'तदधीते तद्वेद' (१८०७) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — "द्वितीयान्त क्रमादि गणपठित शब्दों से 'पढ़ता है' या 'जानता है' इस अर्थ में वुन् (= वु) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—क्रमम् अधीते वेद वा (क्रम + वुन् = वु, वु = 'अक' आदेश — 'युवोरनाकौ', 'अ' का लोप, प्रातिपदिक संज्ञा, सु = स् = र् = :) = क्रमकः (क्रमपाठ का अध्ययन करने वाला या ज्ञाता)। पदपाठमधीते वेद वा (पद + वुन् = वु = अक, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = पदकः (पदपाठ का अध्येता या ज्ञाता)। शिक्षाम् अधीते वेद वा (शिक्षा + वु = अक, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = शिक्षकः (शिक्षाग्रन्थ का अध्येता या ज्ञाता)। मीमांसामधीते वेद वा (मीमांसा + वुन्, प्रक्रिया पूर्ववत्) = मीमांसकः (मीमांसाशास्त्र का अध्येता या ज्ञाता)।

४।२।६०। क्रतुविशेषवाचिनामेवेह ग्रहणम्। तेभ्यो मुख्यार्थेभ्यो वेदितरि, तत्प्रतिपादकग्रन्थवरेभ्यस्त्वध्येतरि। आग्निष्टोमिकः। वाजपेयिकः। उक्थं सामविशेषः, तल्लक्षणपरो ग्रन्थविशेषो लक्षणयोक्थम्, तदधीते वेद वा – औक्थिकः। * मुख्यार्थात्तूक्थशब्दाट्ठगणौ नेष्येते *। नैयायिकः। वार्तिकः। लौकायतिकः। * सूत्रान्तात्त्वकल्पादेरेवेष्यते *।

(१८१०) **क्रतूक्थादि इति**। तदधीते तद्वेदेत्यर्थयोः क्रतु-उक्थादिसूत्रान्तशब्देभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः। **नैयायिक इति**। न्यायमधीते वेद वेति विग्रहे न्यायशब्दात् 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' इति ठक्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'ठस्येकः' इत्यनेन ठस्य इकादेशे 'न य्वाभ्यामि'त्यादिना यकारात्पूर्वम् ऐजागमेऽनुबन्धलोपे विभक्तिकार्ये 'नैयायिकः' इति। **विद्यालक्षण इति**। विद्यालक्षणकल्पान्ताच्चापि शब्दात् ठक् स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः। **अङ्गक्षत्रेति**। ठक् नेत्यर्थः।

(१८१०) **पद**—क्रतूक्थादिसूत्रान्तात्, ठक्। **अनुवृत्ति**—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'तदधीते तद्वेद' अर्थ में क्रतूक्थादि और सूत्रादि शब्दों से ठक् प्रत्यय होता है। आग्निष्टोमिकः। वाजपेयिकः। साम-विशेष की 'उक्थ' संज्ञा है। लक्षणा से प्रातिशाख्य ग्रन्थ ही 'उक्थ-विशेष' अभीष्ट है। औक्थिकः। **वा०**—मुख्यार्थक उक्थ शब्द से ठक् और अण् प्रत्यय इष्ट नहीं है। नैयायिकः। वार्तिकः। लौकायतिकः। **वा०**—सूत्रान्त से विहित ठक् अकल्पादि से ही इष्ट है। सांग्रहसूत्रिकः। 'अकल्पादेः' क्यों कहा? काल्पसूत्रः। **वा०**—विद्यालक्षण और कल्पान्त से भी ठक् होता है। वायसविद्यकः। गौलक्षणकः। पाराशरकल्पिकः। **वा०**—अङ्गक्षत्रधर्म और त्रिपूर्वक विद्यान्त से ठक् नहीं होता। आङ्गविद्यः। क्षात्रविद्यः। धार्मविद्यः। त्रैविद्यः।

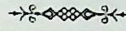
विमर्श—'तदधीते तद्वेद' सूत्र के अर्थ का ही विषय है। विधेय प्रत्यय ठक् 'अण्' का बाधक है। यहाँ 'क्रतु' शब्द यज्ञपरक ही नहीं है, अपितु यज्ञ-विशेष अर्थ का बोधक है। तदनुसार — "द्वितीयान्त समर्थ मुख्यार्थक क्रतु (यज्ञ) वाचक शब्द से ज्ञाता अर्थ में तथा लक्षणावृत्ति से यज्ञप्रतिपादक ग्रन्थपरक क्रतुवाचक शब्द से 'अध्येता' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।" साम-विशेष की उक्थ संज्ञा है। अतः लक्षणावृत्ति से सामप्रतिपादक ग्रन्थ 'प्रातिशाख्य' ग्रन्थ अर्थ भाष्यकार को अभीष्ट है। अतः उक्थग्रन्थ के अध्येता एवं ज्ञाता अर्थों में ही ठक् प्रत्यय होता है।

उदाहरण—अग्निष्टोमम् अधीते वेद वा (अग्निष्टोम + ठक् = ठ, ठ = इक आदेश—'ठस्येकः', 'अ' का लोप, आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य) = आग्निष्टोमिकः (अग्निष्टोम यज्ञविधि का अध्येता या ज्ञाता)। वाजपेयमधीते वेत्ति वा (वाजपेय + ठक्, शेषकार्य पूर्ववत्) = वाजपेयिकः (वाजपेय यज्ञ का ज्ञाता या उसकी विधि का ज्ञाता)। उक्थम् अधीते वेद वा (उक्थ + उक् = उ = इक, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = औक्थिकः (सामवेद के प्रातिशाख्य का अध्येता या ज्ञाता)।

१. **वा०**—मुख्यार्थ साम-विशेषवाची उक्थ शब्द से ठक् और अण् प्रत्यय इष्ट नहीं हैं। अतः भाष्यकार के अनुसार प्रातिशाख्यपरक गौण अर्थ को अभिलक्षित कर प्रत्यय विधान किया जाता है। उक्थादि गणपठित शब्द — **उदाहरण**—(क) न्यायशास्त्रम् अधीते वेद वा (न्याय + ठक् = ठ, ठ = इक आदेश, वृद्धिनिषेध तथा ऐच् = 'ऐ' का आगम) — न् ऐय् आय इक ('अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = नैयायिकः (न्यायशास्त्र का अध्येता या विद्वान्)। (ख) वृत्तिग्रन्थमधीते वेद वा (वृत्ति + ठक् = ठ = इक, ऋ = आर् — 'आदिवृद्धि, रपर', इ का लोप तथा विभक्तिकार्य) = वार्तिकः (वृत्तिग्रन्थ का अध्येता या ज्ञाता)। (ग) लोकायतम् अधीते वेद वा (लोकायत + ठक् = ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = लौकायतिकः (लोकायत को जानने वाला या अध्येता)। भाष्यकार पतञ्जलि ने भागुरि के मत को लोकायतिकों की बानगी कहा है — 'वर्णिका

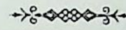
सांग्रहसूत्रिकः। अकल्पादेः किम्? काल्पसूत्रः। * विद्यालक्षणकल्पान्ताच्चेति वक्तव्यम् *। वायसविद्यकः। गौलक्षणिकः। पाराशरकल्पिकः। * अङ्गक्षत्रधर्मत्रिपूर्वाद्विद्यान्तान्नेति वक्तव्यम् *। आङ्गविद्यः। क्षात्रविद्यः। धार्मविद्यः। त्रिविधा विद्या त्रिविद्या। तामधीते वेद वा – त्रैविद्यः।

इति रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्।



आङ्गविद्य इति। अङ्गविद्यामधीते वेद वेति विग्रहे 'विद्यालक्षणकल्पान्ताच्चेति वक्तव्यमि'ति वार्तिकेन ठकि प्राप्ते 'अङ्गक्षत्रधर्मत्रिपूर्वाद्विद्यान्तान्नेति वक्तव्यमि'ति तन्निषेधे 'तदधीते तद्वेद' इत्यणि आद्यचो वृद्धौ भत्वे अकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'आङ्गविद्यः' इति।

इति रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्।



भागुरी लोकायतस्य' (७।३।४५)। इससे विदित होता है कि लोकायत-सम्प्रदाय पाणिनि के समय नास्तिक सम्प्रदायों में प्रसिद्ध था।[१]

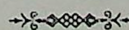
२. **वा०**—कल्पसूत्र को छोड़कर अन्य सूत्रान्त शब्दों से उक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होतां है। **उदाहरण**—(क) संग्रहाख्यं सूत्रम् अधीते वेद वा (संग्रहसूत्र + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = सांग्रहसूत्रिकः (संग्रहसूत्र का अध्येंता या विद्वान्)। आचार्य व्याडि कृत लक्षश्लोकात्मक ग्रन्थ संग्रह के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत वार्तिक में 'अकल्पादेः' का पाठ होने से 'काल्पसूत्रः' (कल्पसूत्रम् अधीते वेद वा) में ठक् नहीं होता। अण् आदि कार्य।

३. **वा०**—विद्या, लक्षण तथा कल्प में कोई शब्द अन्त में रहे तो ऐसे शब्द से पूर्वोक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—(क) वायसविद्यामधीते वेद वा (वायसविद्या + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'आ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = वायसविद्यकः (काकविद्या का अध्येता या विद्वान्)। (ख) गोलक्षणग्रन्थमधीते वेद वा (गोलक्षण + ठक् = ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = गौलक्षणिकः (गाय के लक्षणग्रन्थों का अध्ययन करने वाला अथवा ज्ञाता)। (ग) पाराशरकल्पमधीते वेद वा (पाराशरकल्प + ठक् आदि उक्तवत्) = पाराशरकल्पिकः (पाराशरकल्प का अध्येता या विद्वान्)।

४. **वा०**—अङ्ग, क्षत्र, धर्म एवं त्रिशब्दपूर्वक विद्यान्त से ठक् प्रत्यय नहीं होता। **उदाहरण**—(क) अङ्गविद्यामधीते वेद वा (अङ्गविद्या, प्राप्त ठक् का प्रकृत वार्तिक से निषेध, अण् = 'अ', 'आ' का लोप तथा आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = आङ्गविद्यः (अङ्गविद्या का अध्ययन करने वाला या ज्ञाता)। (ख) क्षत्रविद्याम् अधीते वेद वा = क्षात्रविद्यः (अण् आदि उक्तवत्)। अर्थ — क्षत्रविद्या = युद्धविद्या का अध्येता या ज्ञाता। (ग) धर्मविद्या + अण् आदि, ठक् का निषेध = धार्मविद्यः (धर्मविद्या का अध्येता या ज्ञाता)। (घ) त्रिविधा विद्या = त्रिविद्या (मध्यमपदलोपी समास, त्रिविद्या + अण् आदि) = त्रैविद्यः (तीन वेदों का अध्येता या विद्वान्)।

रक्ताद्यर्थक प्रकरण समाप्त।



१. द्रष्टव्य — "पाणिनिकालीन भारतवर्ष" : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (पृ० ३७९)।

अथ चातुरर्थिकप्रकरणम्

(१८११) तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४।२।६७ । उदुम्बराः सन्त्यस्मिन्देशे औदुम्बरो देशः । (१८१२) तेन निर्वृत्तम् ४।२।६८ । कुशाम्बेन निर्वृत्ता

(१८११) **तदस्मिन्नस्तीति** । तदस्मिन्नस्तीत्यर्थे प्रथमान्तादणादयः स्युः, प्रत्ययान्तेन तन्नामके देशे गम्ये इत्यर्थः । **औदुम्बरो देशः** — 'उदुम्बराः सन्त्यस्मिन्देशे' इत्यर्थे 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' इत्यणि भत्वे, भत्त्वादलोपे वृद्धौ, विभक्तिकार्ये, 'औदुम्बरः' इति ।

(१८१२) **तेनेति** । तृतीयान्ताद् निर्वृत्तमित्यर्थेऽणादयः स्युरित्यर्थः ।

(१८११) **पद**—तत्, अस्मिन्, अस्ति, इति, देशे, तन्नाम्नि । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रथमान्त से 'तदस्मिन्नस्ति' (वह इसमें है) अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं, प्रत्ययान्त से यदि तन्नामक देश गम्य हो । औदुम्बरो देशः ।

विमर्श—'तद्धित' के अन्तर्गत चातुरर्थिक प्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है । प्रस्तुत प्रकरण में सूत्र 'अदूरभवश्च' से पूर्व तीन अर्थों का निरूपण किया जा चुका है । चौथा अर्थ — 'अदूरभवः' है । सूत्रस्थ चकार से पूर्वप्रतिपादित तीनों अर्थों 'देश', 'निर्वृत्त' तथा 'निवास' का अनुकर्षण कर इस प्रकरण की चातुरर्थिक संज्ञा अन्वर्थ है । (चतुर्णां सूत्राणामर्थाः चतुरर्थाः, तत्र भवः चातुरर्थिकः) ।

प्रकृत सूत्र में पूर्व 'तत्' पद प्रथमाविभक्त्यन्त है । 'अस्मिन्' सप्तम्यर्थवाचक है । दूसरे 'तत्' पद का आशय 'प्रत्ययान्त' से है, उसका नाम शब्द के साथ समास होता है । पूर्वोक्त आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति विद्यमान है । तदनुसार "अस्ति समानाधिकरण वाले प्रथमान्त प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ (अस्मिन्) में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं, यदि प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय (प्रत्ययान्त से) तन्नामक देश का बोध होता हो ।"

उदाहरण—उदुम्बराः अस्मिन् देशे सन्ति (उदुम्बर + जस् + अण् = 'अ' — प्रकृत सूत्र से, 'सुप्' का लुक्, आदि 'उ' = 'औ' — वृद्धि, 'अ' का लोप, प्रथमा एकवचन विभक्तिकार्य) = औदुम्बरः देशः (गूलर के वृक्षों वाला देश-विशेष) ।

(१८१२) **पद**—तेन, निर्वृत्तम् । **अनुवृत्ति**—देशे, तन्नाम्नि, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तृतीयान्त से निर्वृत्त (उसने बसाया) अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं । कौशाम्बी नगरी ।

विमर्श—दूसरे अर्थ के प्रतिपादक सूत्र का निरूपण किया जा रहा है । पूर्वसूत्र (१८११) से 'देशे तन्नाम्नि' की अनुवृत्ति आ रही है । अतः "तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'निर्वृत्तम्' (बनाया या बसाया गया) अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं, यदि उस शब्द से देश का नाम गम्य हो ।"

उदाहरण—कुशाम्बेन निर्वृत्ता (कुशाम्ब + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) — कौशाम्ब + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = कौशाम्बी नगरी (कुशाम्ब नामक राजा के द्वारा बसायी गई नगरी) ।

कौशाम्बी नगरी। (१८१३) तस्य निवासः ४।२।६९। शिबीनां निवासो देशः शैबः। **(१८१४) अदूरभवश्च ४।२।७०।** विदिशाया अदूरभवं वैदिशम्। **(१८१५) वुञ्छणकठजिलसेनिर्ढञ्ण्ययफक्फिञिञ्ञ्यकक्ठकोऽरीहणकृशाश्वर्श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसङ्काशबलपक्षकर्णसुतङ्गमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः ४।२।८०।** एभ्यः सप्तदशभ्यः सप्तदश क्रमात्स्युश्चातुरर्थ्याम्। अरीहणादिभ्यो वुञ्-

(१८१३) **तस्येति**। 'तस्य निवासः' इत्यर्थे षष्ठ्यन्तादणादयः स्युः तन्नाम्नि देशे गम्ये इत्याशयः।

(१८१४) **अदूरभवश्च**। तस्येति तन्नाम्नि देशे इति चानुवर्तते। तस्य अदूरभव इत्यर्थे षष्ठ्यन्तादणादयः स्युः तन्नाम्नि देशे इत्यर्थः। **वैदिशम्** — विदिशाया अदूरभवमित्यर्थे अण्, आकारलोपः आदिवृद्धिः = 'वैदिशम्' इति।

(१८१५) **वुञ्छण्**। वुञ्, छण्, क, ठच्, इल्, स, इनि, र्, ढञ्, ण्य, य, फक्, फिञ्, इञ्, ञ्य, कक्, ठक् एतेषां सप्तदशानां द्वन्द्वात्प्रथमाबहुवचनम्। अरीहण, कृशाश्व, ऋश्य, कुमुद,

(१८१३) **पद**—तस्य, निवासः। **अनुवृत्ति**—देशे, तन्नाम्नि, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त से निवास अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। शैबः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८११) से 'देशे, तन्नाम्नि' की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है। तदनुसार ''षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिक से 'निवास' अर्थ में देश का नाम गम्य होने पर यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—शिबीनां निवासः देशः (शिबि + अण् = 'अ', 'इ' का लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = शैबः (शिबि क्षत्रियों का निवासवाला देश)।

(१८१४) **पद**—अदूरभवः, च। **अनुवृत्ति**—तस्य देशे तन्नाम्नि, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त से 'अदूरभवः' अर्थ में देश-विशेष गम्य होने पर अण् आदि प्रत्यय होते हैं। वैदिशम्।

विमर्श—पूर्ववत् 'देशे, तन्नाम्नि' की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। पूर्वसूत्र (१८१३) से 'तस्य' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से अदूरभव (न दूरम् अदूरम्, तत्र भवः = 'निकट होना') अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—विदिशाया अदूरभवं नगरम् (विदिशा + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्य 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = वैदिशम् (विदिशा के निकट नगर)।

(१८१५) **पद**—वुञ्छण्.........ठकः, अरीहण..........कुमुदादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन सत्रह गणों से चातुरर्थिक वुञ् आदि सत्रह प्रत्यय क्रम से होते हैं। जैसे — अरीहणादि से वुञ् आदि। १. आरीहणकम्। २. कार्शाश्वीयम्। ३. ऋश्यकम्। ४. कुमुदिकम्। ५. काशिलः। ६. तृणसम्। ७. प्रेक्षी। ८. अश्मरः। ९. साखेयम्। १०. साङ्काश्यम्। ११. वल्यम्। १२. (क) पाक्षायणः। (ख) पान्थायनः। १३. कर्णायनिः। १४. सौतङ्गमिः। १५. प्रागद्यः। १६. वाराहकः। १७. कौमुदिकः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में प्रकृतिवाचक और प्रत्यय दोनों की संख्या १७ है। अतः 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्र के अनुसार क्रमशः विधान होता है। सूत्र के प्रथम पद

अरीहणेन निर्वृत्तम् आरीहणकम् । कृशाश्वादिभ्यश्छण् – कार्शाश्वीयम् । ऋश्यादिभ्यः कः – ऋश्यकम् । कुमुदादिभ्यष्ठच् – कुमुदिकम् । काशादिभ्य इलः – काशिलः । तृणादिभ्यः सः–तृष्णसम् । प्रेक्षादिभ्य इनिः–प्रेक्षी । अश्मादिभ्यो रः – अश्मरः । सख्यादिभ्यो ढञ् – साखेयम् । सङ्काशादिभ्यो ण्यः – साङ्काश्यम् । बलादिभ्यो यः – बल्यम् । पक्षादिभ्यः फक् – पाक्षायणः । * पथः पन्थ च *। पान्थायनः । कर्णादिभ्यः फिञ् – कार्णायनिः । सुतङ्गमादिभ्य इञ्–सौतङ्गमिः । प्रगद्यादिभ्यो ञ्यः – प्रागद्यः । वराहादिभ्यः कक् – वाराहकः । कुमुदादिभ्यष्ठक् – कौमुदिकः । (१८१६)

काश, तृण, प्रेक्ष, अश्मन्, सखि, संकाश, बल, पक्ष, कर्ण, सुतङ्गम, प्रगदिन्, वराह, कुमुद एतेषां सप्तदशानां शब्दानां द्वन्द्वः । एते आदयः येषामिति बहुव्रीहेः पञ्चमीबहुवचनम् । यथासंख्याव-गमाय कुमुदशब्दयोरेकशेषः न विहितः । प्रगदिन्पदे नलोपाभावस्तु इकारान्तत्वभ्रमनिरासाय । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्यादिशब्दस्य प्रत्येकमन्वयः । तेन अरीहणादिभ्यो वुञ्, कृशाश्वादिभ्यः छण् इत्येवं वाक्यानि सम्पन्नानि । तदाह — **एभ्य इत्यादि** ।

'वुञ्छण्.........ठकः' में द्वन्द्व समास है तथा द्वितीय पद 'अरीहण.........कुमुदादिभ्यः' में द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि है । तदनुसार "अरीहण आदि गणपठित शब्दों से चातुरर्थिक अर्थों में वुञ् आदि प्रत्यय होते हैं ।" (अरीहणादि से वुञ्, कृशाश्व आदि से छण्, ऋश्यादि से क, कुमुदादि से ठच्, काशादि से इल, तृणादि से स, प्रेक्षादि से इनि, अश्मादि से र, सख्यादि से ढञ्, संकाश आदि से ण्य, बलादि से य, पक्षादि से फक्, कर्णादि से फिञ्, सुतङ्गमादि से इञ्, प्रगदिन् आदि से ञ्य, वराह आदि से कक् और कुमुद आदि से ठक् प्रत्यय होता है ।")

उदाहरण—(१) अरीहणेन निर्वृत्तम् (अरीहण + वुञ् = वु, वु = 'अक' आदेश — 'युवोरनाकौ', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = आरीहणकम् (अरीहण के द्वारा बनाया गया नगर) । (२) कृशाश्वेन निर्वृत्तम् (कृशाश्व + छण् = छ, छ = ईय, आदिवृद्धि, रपर, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = कार्शाश्वीयम् (कृशाश्व द्वारा निर्मित नगर) । (३) ऋश्याः सन्ति अस्मिन् देशे (ऋश्य + क, विभक्तिकार्य) = ऋश्यकम् (जहाँ बारहसिंघे बहुत रहते हों, मृगदाव) । (४) कुमुदेन निर्वृत्तम् (कुमुद + ठच् = ठ, ठ = 'इक' — 'ठस्येकः', अकारलोप, विभक्तिकार्य) = कुमुदिकम् । (५) काशेन निर्वृत्तम् (काश + इल, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = काशिलः (काश से बनाया हुआ) । (६) तृणैः निर्वृत्तम् (तृण + स, विभक्तिकार्य) = तृणसम् (तिनकों से बना हुआ) । (७) प्रेक्षया निर्वृत्तः (प्रेक्षा + इनि = इन्, 'आ' का लोप) = प्रेक्षिन् (विभक्ति सु = स्, उपधादीर्घ, 'स्' का हल्ङ्यादिलोप, 'न्' का लोप — 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य') = प्रेक्षी (प्रेक्षा द्वारा निर्मित) । (८) अश्मानः सन्ति अस्मिन् देशे (अश्मन् + र, 'न्' का लोप, विभक्तिकार्य) = अश्मरः (जहाँ पत्थर अधिक हों, ऐसा देश) । (९) सखिनामकेन निर्वृत्तम् (सखि + ढञ् = ढ, ढ = 'एय' आदेश, 'इ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = साखेयम् ('सखि' द्वारा निर्मित) । (१०) सङ्काशेन निर्वृत्तं नगरम् (सङ्काश + ण्य = य, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = साङ्काश्यम्[1] (सङ्काश द्वारा

---

१. **सांकाश्य** – "फर्रुखाबाद जनपद में ईशन (इक्षुमती) नदी के किनारे बसा 'संकिशा' नामक स्थान जहाँ अशोककालीन स्तम्भ के चिह्न हैं, बौद्ध मन्दिर भी है । इसी गण में 'काम्पिल्य' भी है जो कायमगंज तहसील में वर्तमान नाम 'कपिल' के नाम से प्रसिद्ध है ।"

जनपदे लुप् ४।२।८१ । जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप् । **(१८१७) लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने १।२।५१ ।** लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । कलिङ्गाः । **(१८१८) वरणादिभ्यश्च**

(१८१६) **जनपदे लुप्** । चतुरर्थ्यां भवश्चातुरर्थिकः, तस्य लुबित्यर्थः ।

(१८१७) **लुपीति** । लुपः प्रवृत्तेः प्राक् प्रत्ययप्रकृतेर्यल्लिङ्गं वचनं ते एव लुपि सति भवतः, न तु प्रत्ययार्थविशेष्यमनुसृत्येत्यर्थः ।

निर्मित नगर) । (११) बलेन निर्वृत्तं नगरम् (बल + य, विभक्तिकार्य) = बल्यम् (बलराम द्वारा निर्मित नगर) । (१२) (क) पक्षैः निर्वृत्तः (पक्ष + फक् = फ, फ = आयन्, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, णत्व आदि) = पाक्षायणः (पंखों से निर्मित) । (१२) (ख) पन्थानः सन्ति अस्मिन् देशे (पथिन् = पन्थ + फक् = फ, फ = आयन्, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = पान्थायनः (जिस जनपद में बहुत से मार्ग हों) । (१३) कर्णेन निर्वृत्तं नगरम् (कर्ण + फिञ् = फि, फ = आयन्, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = कार्णायनिः (कर्ण के द्वारा निर्मित नगर) । (१४) सुतङ्गमेन निर्वृत्तं नगरम् (सुतङ्गम + इञ् = 'इ', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सौतङ्गमिः (सुतङ्गम के द्वारा बसाया गया नगर) । (१५) प्रगदिना निर्वृत्तः (प्रगदिन् + ञ्य = य, आदिवृद्धि, टि = 'इन्' का लोप, विभक्तिकार्य) = प्रागद्यः (प्रगदिन् द्वारा निर्मित) । (१६) वराहाः सन्ति अस्मिन् देशे (वराह + कक् = 'क', आदिवृद्धि — 'किति च', विभक्तिकार्य) = वाराहकः (जहाँ सूकर बहुत हों ऐसा देश) । (१७) कुमुदानि सन्ति अस्मिन् देशे (कुमुद + ठक् = ठ, ठ = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = कौमुदिकः (वह स्थान, जहाँ कुमुद बहुत हों) ।

(१८१६) **पद**—जनपदे, लुप् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—जनपद वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप होता है ।

विमर्श—जनपद अर्थ वाच्य होने पर पूर्वोक्त चारों अर्थों में विहित प्रत्यय का लोप होता है ।

(१८१७) **पद**—लुपि, युक्तवत्, व्यक्तिवचने । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रत्यय का लुप् होने पर प्रकृतिवत् लिङ्गवचन होते हैं । पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः ।

विमर्श—प्रसङ्गवश अतिदेश सूत्र का उल्लेख किया जा रहा है । व्यक्तिः वचनं च = 'व्यक्ति-वचने' शब्द पूर्ववर्ती आचार्यों ने 'लिङ्ग और संख्या' के अर्थ में प्रयुक्त किया है । 'युक्त' शब्द प्रकृत्यर्थबोधक है । इवार्थ में 'वत्' प्रत्यय है । इस प्रकार "प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी प्रत्यय उत्पत्ति से पूर्व जो प्रकृत्यर्थ के लिङ्ग और वचन थे, वही लिङ्ग और संख्या (वचन) रहते हैं ।"

उदाहरण—पञ्चालानां निवासः जनपदः (पञ्चाल + आम् + अण् = 'अ' — 'तस्य निवासः', विभक्तिलुक्, 'अण्' का लुक् — 'जनपदे लुप्', प्रातिपदिक संज्ञा, जस् विभक्ति) — पञ्चाल + जस् (जनपदवाची शब्द होने से 'एकवचन' की प्राप्ति है; किन्तु 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' सूत्र के अनुसार प्रत्यय के लोप होने से पूर्व 'पञ्चालानाम्' में पुल्लिङ्ग एवं बहुवचन था, अतः तदनुसार पुल्लिङ्ग एवम् बहुवचन जस् = अस्, पूर्वसवर्णदीर्घ, स् = र् = :) = पञ्चालाः (पञ्चाल क्षत्रियों का निवास जनपद) । कुरूणां निवासो जनपदः (कुरु + अण्, अण् का लुक्, पुं० बहुवचन में विभक्तिकार्य) = कुरवः (कुरु देश के क्षत्रियों का जनपद) । अङ्गानां निवासो जनपदः (प्रक्रिया उक्तवत्) = अङ्गाः (अङ्ग क्षत्रियों का निवास जनपद) । वङ्गानां निवासो जनपदः = वङ्गाः (वङ्गदेश के क्षत्रियों का रहने का जनपद) । कलिङ्गानां निवासो जनपदः = कलिङ्गाः (कलिङ्ग देश के क्षत्रियों के निवास का जनपद) ।

४।२।८२। अजनपदार्थ आरम्भः। वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः। **(१८१९) शर्कराया वा ४।२।८३।** अस्माच्चातुरर्थिकस्य वा लुप् स्यात्।**(१८२०) ठक् छौ च ४।२।८४।** शर्कराया एतौ स्तः। कुमुदादौ वराहादौ च पाठसामर्थ्यात्पक्षे ठच्ककौ। वाग्ग्रहणसामर्थ्यात्पक्षे औत्सर्गिकोऽण्, तस्य लुब्विकल्पः। षड्रूपाणि – शर्करा, शर्करिकम्, शार्करम्, शर्करीयम्, शार्करिकम्, शार्करकम्।**(१८२१) नद्यां**

(१८१८) **वरणादिभ्यश्च**। वरणादिभ्यः परस्य चातुरर्थिकप्रत्ययस्य लुप् स्यादित्यर्थः। पूर्वेणैव सिद्धे किमर्थमिदं सूत्रमित्यत आह — **अजनपदार्थ इति**।

(१८१९) **शर्कराया वा**। लुबित्यनुवर्तते। **तदाह — अस्मादिति**।

(१८२०) **ठक्छौ चेति**। 'शर्कराया' इत्यनुवर्तते। तदाह — **शर्कराया इत्यादि**। **ठच्ककाविति**। कुमुदादित्वात् ठच्, वराहादित्वात् कक् इत्यर्थः।

(१८१८) **पद**—वरणादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—लुप्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वरणादि शब्दों से विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है। जहाँ जनपद अर्थ नहीं है, वहाँ के लिए सूत्र का आरम्भ है। **वरणाः**।

विमर्श—विधेयांश की पूर्ति हेतु पूर्वसूत्र 'जनपदे लुप्' (१८१६) से 'लुप्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। प्रकरणवश यह लुप् चातुरर्थिक प्रत्यय का ही होता है। तदनुसार — "वरणा आदि गणपठित शब्दों से परे चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है।" पूर्वसूत्र (१८१६) से भी चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप सम्भव है। अतः जनपद के भिन्न अर्थ में भी चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप विधान करने के लिए प्रकृत सूत्र की सार्थकता है।

उदाहरण—वरणानाम् अदूरभवं नगरम् (वरणा + अण् = 'अ' — 'अदूरभवश्च', अण् का लोप — 'वरणादिभ्यश्च', 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' से युक्तवद्भाव होने से प्रकृतिवत् स्त्रीलिङ्ग प्रथमा बहुवचन) = वरणाः ('वरणा' नदी के समीपवर्ती नगर)।

(१८१९) **पद**—शर्करायाः, वा। **अनुवृत्ति**—लुप्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शर्करा से विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का विकल्प से लुप् होता है।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८१६) से 'लुप्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "षष्ठ्यन्त समर्थ 'शर्करा' शब्द से परे चातुरर्थिक प्रत्यय का विकल्प से 'लुप्' होता है।"

(१८२०) **पद**—ठक्छौ, च। **अनुवृत्ति**—शर्करायाः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शर्करा शब्द से 'ठक्' और 'छ' प्रत्यय भी होते हैं। पक्ष में औत्सर्गिक अण्। कुमुदादि तथा वराहादि में पाठ होने से क्रमशः 'ठच्' और 'कक्' भी होते हैं। अण् का वैकल्पिक लोप भी होता है। इस प्रकार छः रूप बनते हैं — १. शर्करा, २. शार्करम्, ३. शार्करिकम्, ४. शर्करीयम्, ५. शर्करिकम्, ६. शार्करकम्।

विमर्श — 'शर्करा' शब्द से विहित औत्सर्गिक अण् के अतिरिक्त अन्य प्रत्ययों का विधान निरूपित किया जा रहा है। तदनुसार — "शर्करा शब्द से चातुरर्थिक 'ठक्' तथा 'छ' प्रत्यय भी होते हैं।"

उदाहरण—(१) शर्करा सन्त्यस्मिन् (शर्करा + अण् — 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि', 'अण्' का विकल्प से लुप् — 'शर्कराया वा', युक्तवद्भाव होने पर स्त्रीलिङ्ग एकवचन) = शर्करा। (२) अण् का लोप न होने पर — शर्करा + 'अ' (आदिवृद्धि तथा 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = शार्करम्।

मतुप् ४।२।८५। चातुरर्थिकः। इक्षुमती। (१८२२) कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ४।२।८७। (१८२३) झयः ८।२।१०। मतोर्मस्य वः। कुमुद्वान्।

(१८२१) **नद्यामिति**। शेषपूरणेन व्याचष्टे — **चातुरर्थिक इति**। **इक्षुमती** — इक्षवः सन्ति अस्यामिति विग्रहे मतुप्, मतुपि उपावितौ, 'उगितश्चे'ति ङीप्।

(१८२२) **कुमुदनड इति**। एतेभ्यः ड्मतुप् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **कुमुद्वान्** — कुमुदा अस्मिन् सन्तीति विग्रहे कुमुदशब्दात् 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इति ड्मतुप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'झयः' इत्यनेन मस्य वादेशे कुमुदवत्शब्दात् भत्वे अकारलोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ उगित्वान्नुमि उपधादीर्घे हल्ङ्यादिना सुलोपे संयोगान्तलोपे 'कुमुद्वान्' इति सिद्धम्।

(१८२३) **झयः**। झयन्तान्मतोर्मस्य वः स्यादित्यर्थः।

---

(३) कुमुदादि गण में पाठ होने से — शर्करा + ठच् (= ठ, ठ = इक — 'ठस्येकः', 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = शर्करिकम्। (४) वराहादि गण में पाठ होने से — शर्करा + कक् (= 'क', आदिवृद्धि, रपर) = शार्करकम्। (५) ठक् प्रत्यय होने पर — शर्करा + ठक् (= 'ठ' — 'ठक्छौ च', ठ = इक, आदिवृद्धि, 'आ' का लोप = शार्करिकम्। (६) छ प्रत्यय होने पर — शर्करा + छ (छ = ईय, आ का लोप, विभक्तिकार्य) = शर्करीयम् (शर्करा = शक्कर अथवा छोटे कंकण जिस देश में है)।

(१८२१) **पद**—नद्याम्, मतुप्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नदी वाच्य होने पर चातुरर्थिक मतुप् प्रत्यय होता है। इक्षुमती।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार "यदि नदी अभिधेय हो तो प्रातिपदिक से चातुरर्थिक मतुप् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—इक्षवः सन्त्यस्मिन् (इक्षु + मतुप् = 'मत्', ङीप् = 'ई' — 'उगितश्च', विभक्ति-कार्य) = इक्षुमती (ईशन नदी अथवा ईख-बहुल देश की नदी)।

(१८२२) **पद**—कुमुदनडवेतसेभ्यः, ड्मतुप्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कुमुद, नड तथा वेतस से ड्मतुप् प्रत्यय होता है।

विमर्श—"यदि प्रत्ययान्त शब्द देशवाचक हो तो कुमुद, नड तथा वेतस शब्दों से चातुरर्थिक 'ड्मतुप्' प्रत्यय होता है।"

(१८२३) **पद**—झयः। **अनुवृत्ति**—मतोः, वः, पदस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—झयन्त से 'मतुप्' के म् को व् होता है। कुमुद्वान्। नड्वान्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (यहाँ अग्रिम सूत्र १८२४) से 'मतोः' तथा 'वः' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'पदस्य' (८।१।१६) का अधिकार है। तदनुसार "झयन्त से परवर्ती 'मतुप्' के मकार के स्थान में वकार आदेश होता है।"

उदाहरण—कुमुदाः सन्ति अस्मिन् देशे (कुमुद + ड्मतुप् = 'मत्' — 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्', डित् होने से टि = 'अ' का लोप, 'म्' = 'व्' आदेश — 'झयः', प्रातिपदिकसंज्ञा, सु = स्) — कुमुद्वत् स् (नुम् = 'न्' का आगम, दीर्घ, स् का लोप, 'त्' का संयोगान्त लोप) = कुमुद्वान् (जिस देश में कुमुद होते हैं)। नडाः सन्ति अस्मिन् देशे (नड + ड्मतुप् = मत्, शेष प्रक्रिया उक्तवत्) = नड्वान् (जिस देश में नरकट अधिक होते हैं)।

नड्वान्। (१८२४) मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९। मवर्णावर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः। वेतस्वान्। **(१८२५) नडशादाड्ड्वलच् ४।२।८८।** नड्वलः। शाद्वलः। **(१८२६) शिखाया वलच् ४।२।८९।** शिखावलः। **(१८२७) उत्करादिभ्यश्छः ४।२।९०।** उत्करीयः।

(१८२४) **मादुपधायाश्चेति**। मात् उपधायाश्चेति च्छेदः। मादित्यावर्तते। म् च अश्चेति समाहारद्वन्द्वात्पञ्चम्येकवचनम्। मतुप्प्रत्ययाक्षिप्तप्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः। मादित्युपधाविशेषणं च। अतः फलितार्थमाह — **मवर्णेत्यादिना**। **वेतस्वान्** — वेतसा अस्मिन् सन्तीति विग्रहः।

(१८२५) **नडशादाड्ड्वलच्**। **नड्वलः** — नडाः सन्त्यस्मिन् इति विग्रहे ड्वलच्, डित्त्वाट्टिलोपः।

(१८२६) **शिखाया वलच्**। निर्वृत्ताद्यर्थं सूत्रम्। **शिखावलः** — शिखाऽस्त्यस्मिन्निति शिखावलः = मयूरः।

(१८२७) **उत्करादिभ्य इति**। चातुरर्थिक इति शेषः।

(१८२४) **पद**—मादुपधायाः, च, मतोः, वः, अयवादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—पदस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—यवादिवर्जित मवर्णान्त, अवर्णान्त तथा मकारोपध एवम् अकारोपध शब्दों से परे 'मतुप्' के मकार को वकार होता है। वेतस्वान्।

विमर्श—'पदस्य' के अधिकार का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "मकारान्त एवम् अकारान्त (मश्च अश्च = माम्, तस्मात् मात्) तथा मकार एवम् अवर्ण उपधा वाले प्रातिपदिक से परवर्ती 'मतुप्' प्रत्यय सम्बन्धी 'म्' के स्थान में 'व्' आदेश होता है; किन्तु यवादिगणपठित शब्दों से उत्तरवर्ती 'म्' को 'व्' नहीं होता।"

उदाहरण—वेतसाः सन्त्यस्मिन् (वेतस + ड्मतुप् = मत्, टि = 'अ' का लोप) — वेतस् मत् ('म्' = 'व्' आदेश — 'मादुपधायाश्च०', प्रथमा एकवचन विभक्तिकार्य) = वेतस्वान् (जिस देश में बेंत अधिक हों)।

(१८२५) **पद**—नडशादात्, ड्वलच्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नड और शाद शब्दों से ड्वलच् प्रत्यय होता है। नड्वलः। शाद्वलः।

विमर्श—"नड और शाद शब्दों से मतुबर्थ में ड्वलच् प्रत्यय होता है।" ड् तथा च् इत्संज्ञक हैं।

उदाहरण—नडाः सन्ति अस्मिन् देशे (नड + ड्वलच् = वल, डित् होने से टि = 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = नड्वलः (जिस देश में नरकट हों)। शाद + ड्वलच् = वल, टिलोप, विभक्तिकार्य) = शाद्वलः (घास का मैदान, अमरकोष के अनुसार 'शाद' का अर्थ 'कीचड़' तथा 'कोमल हरी घास' है)।

(१८२६) **पद**—शिखायाः, वलच्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

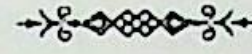
मूलार्थ—शिखा शब्द से वलच् प्रत्यय होता है। शिखावलम्।

विमर्श—"शिखा शब्द से चातुरर्थिक वलच् (वल) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—शिखाऽस्त्यस्मिन्निति (शिखा + वलच् = वल, विभक्तिकार्य) = शिखावलः (= मोर अथवा शिखावाला नगर, रीवाँ का सिंहवल)।

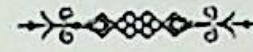
(१८२८) नडादीनां कुक् च ४।२।९१। नडकीयम्। * क्रुञ्चा ह्रस्वत्वं च *। क्रुञ्चकीयः। * तक्षन्नलोपश्च *। तक्षकीयः।

इति चातुरर्थिकप्रकरणम्।



(१७२८) **नडादीनामिति**। नडादिभ्यः छः स्यात् चातुरर्थिकः प्रकृतेः कुक् चेत्यर्थः।

इति चातुरर्थिकप्रकरणम्।



(१८२७) **पद**—उत्करादिभ्यः, छः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उत्करादि शब्दों से चातुरर्थिक छ प्रत्यय होता है। उत्करीयः।

विमर्श—सभी चातुरर्थिक में उक्त प्रत्यय होता है।

उदाहरण—उत्करः अस्ति अस्मिन्, उत्करेण निर्वृत्तम्, उत्करस्य निवासः उत्करस्य अदूरभव इति वा (उत्करण + छ, छ = ईय; अकारलोप, विभक्तिकार्य) = उत्करीयः (जहाँ धान फैलाया जाय, उत्कर से बनाया देश, उत्कर का निवास अथवा उत्कर के समीप नगर)।

(१८२८) **पद**—नडादीनाम्, कुक्, च। **अनुवृत्ति**—छः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नडादि शब्दों से 'छ' प्रत्यय होता है और प्रकृति को कुक् का आगम होता है। नडकीयम्। **ग० सू०**—क्रुञ्चा शब्द को ह्रस्व भी होता है। क्रुञ्चकीयः।

ग० सू०—तक्षन् शब्द के नकार का लोप भी होता है। तक्षकीयः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८२७) से 'छ' की अनुवृत्ति आ रही है। शेष आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार — ''नड आदि शब्दों से चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को कुक् (= क्) का आगम भी होता है।''

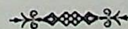
उदाहरण—नडाः सन्ति अस्मिन् देशे (नड + छ, कुक् = 'क्' का आगम) — नड क् छ (छ = ईय, विभक्तिकार्य) = नडकीयम् (नरकुल जहाँ हों, ऐसा स्थान)।

१. **गणसूत्र**—नडादिगणपठित क्रुञ्चा शब्द को छ तथा कुक् के साथ ह्रस्व भी होता है।

उदाहरण—क्रुञ्चा अस्मिन् सन्तीति (क्रुञ्चा + छ, कुक् = 'क्' का आगम, गणसूत्र से आ = 'अ' — ह्रस्व, विभक्तिकार्य) = क्रुञ्चकीयः (क्रुञ्च जिसमें हों ऐसा स्थान)।

२. **गणसूत्र**—तक्षन् शब्द से छ एवं कुक् के साथ 'न्' का लोप भी होता है। **उदाहरण**—तक्ष्णा निर्वृत्तं नगरम् (तक्षन् + छ, कुक् = 'क्' का आगम तथा 'न्' का लोप, विभक्तिकार्य) = तक्षकीयम् (तक्षन् द्वारा बनाया गया नगर)।

चातुरर्थिक-प्रकरण समाप्त।



अथ शैषिकप्रकरणम्

(१८२९) शेषे ४।२।९२। अपत्यादिचतुर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषः, तत्राणादयः स्युः। चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम्। श्रावणः शब्दः। औपनिषदः पुरुषः। दृषदि पिष्टाः दार्षदाः सक्तवः। उलूखले क्षुण्णः औलूखलो यावकः। अश्वैरुह्यते आश्वो रथः। चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम्। चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः। 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः। **(१८३०) राष्ट्रावारपाराद् घखौ ४।२।९३।** आभ्यां घखौ

अथ शैषिकप्रकरणं निरूप्यते —

(१८२९) **शेषे। अणादय इति।** 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यादिसाधारणप्रत्यया इत्यर्थः। **चाक्षुषं रूपम्** — 'चक्षुषा गृह्यते' इत्यर्थे चक्षुष्शब्दात् 'शेषे' इत्यणि अनुबन्धलोपे आद्यचो वृद्धौ प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे चाक्षुषम् रूपम्।

पिछले प्रकरणों में अपत्यादि अनेक अर्थों में होने वाले तद्धित प्रत्ययों का प्रतिपादन किया गया। अब शेष = अन्य अर्थों में विहित प्रत्ययों का विवेचन किया जा रहा है।

(१८२९) **पद**—शेषे। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र। अधिकारसूत्र।**

मूलार्थ—अपत्य से लेकर चातुरर्थिक तक कहे गये अर्थों से अन्य की शेष संज्ञा है। उसमें अण् आदि प्रत्यय होते हैं। चाक्षुषं रूपम्। श्रावणः शब्दः। औपनिषदः पुरुषः। दार्षदाः सक्तवः। औलूखलो यावकः। आश्वः रथः। चातुरं शकटम्। चातुर्दशं रक्षः। 'तस्य विकारः' से पहले तक इसका अधिकार है।

विमर्श—'तस्यापत्यम्' (१७०५) से चातुरर्थिक पर्यन्त जितने अर्थ कहे गये हैं, उनसे जो शेष अर्थात् अवशिष्ट = बचे हुए जो अर्थ हैं, उनमें अण् आदि प्रत्यय होंगे। 'शेषे' का अधिकार 'तस्य विकारः' (४।३।१३४) सूत्र से पहले तक है। 'शेषे' यह अधिकारसूत्र भी है और विधिसूत्र भी। अतः जिन अर्थों में पाणिनि ने साक्षात्प्रत्ययों का विधान नहीं किया है उनमें औत्सर्गिक यथाविहित अण् आदि इसी सूत्र से होंगे। अधिकारसूत्र होने से इसका प्रभाव आगे के सूत्रों में भी होगा।

उदाहरण—(१) चक्षुषा गृह्यते (चक्षुष् + टा, अण् = 'अ' — 'शेषे', विभक्तिलुक्, आदि-वृद्धि, विभक्तिकार्य) = चाक्षुषं रूपम् (रूप, जिसका ग्रहण आँख से होता है)। (२) श्रवणेन गृह्यते (श्रवण + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = श्रावणः शब्दः (शब्द, कान से जिसका ग्रहण किया जाता है)। (३) उपनिषद्भिः प्रतिपादितः (उपनिषद् + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = औपनिषदः पुरुषः (उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित पुरुष)। (४) दृषदि पिष्टाः (दृषद् + अण् = 'अ', ऋ = 'आर्' — आदिवृद्धि, रपर, प्रथमा बहुवचन में विभक्तिकार्य) = दार्षदाः सक्तवः (पत्थर पर पिसे हुए सत्तू)। (५) उलूखले क्षुण्णः (उलूखल + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अकारलोप) = औलूखलः यावकः (ओखली में कूटा गया जौ)। (६) अश्वैः उह्यते (अश्व + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अकारलोप) = आश्वः रथः (घोड़ों से चलाया जाने वाला रथ)। (७) चतुर्भिः उह्यते (चतुर् + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = चातुरं शकटम् (चार बैलों से ले जाने वाली गाड़ी)। (८) चतुर्दश्यां दृश्यते (चतुर्दशी + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, 'ई' का लोप, विभक्तिकार्य) = चातुर्दशं रक्षः (चतुर्दशी को दिखायी पड़ने वाला राक्षस)।

स्तः। राष्ट्रे जातादि राष्ट्रियः। अवारपारीणः। * अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् *। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। इह प्रकृतिविशेषात् घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते। **(१८३१) ग्रामाद्यखञौ ४।२।९४।** ग्राम्यः। ग्रामीणः। **(१८३२) नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७।** नादेयम्। माहेयम्। वाराणसेयम्। **(१८३३) दक्षिणापश्चा-**

(१८३०) **राष्ट्रावारपारादिति।** **राष्ट्रिय इति।** राष्ट्रे जातो भवो वेत्यर्थे राष्ट्रशब्दात् 'राष्ट्रावारपाराद्घखौ' इत्यनेन घप्रत्यये 'आयनेयीनीयियः' इत्यादिना घस्य इयादेशे, भत्वे अलोपे विभक्तिकार्ये 'राष्ट्रियः' इति।

(१८३१) **ग्राम्य इति।** ग्रामे जातो भवो वा इति विग्रहे ग्रामशब्दात् 'ग्रामाद्यखञौ' इति यप्रत्यये 'यस्येति चे'त्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'ग्राम्यः' इति। खप्रत्यये खस्य ईनादेशे णत्वे अकारलोपे 'ग्रामीणः' इति।

(१८३२) **नद्यादिभ्यो ढक्।** नदी, मही, वाराणसी, श्रावस्ती इत्यादिभ्य इत्यर्थः।

(१८३०) **पद**—राष्ट्रावारपारात्, घखौ। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—राष्ट्र और अवारपार शब्द से क्रमशः 'घ' और 'ख' प्रत्यय होते हैं। राष्ट्रियः। अवारपारीणः। **वा०**—विगृहीत अर्थात् पृथक्कृत अवार और पार शब्द से भी 'ख' प्रत्यय होता है। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। यहाँ प्रकृति-विशेष से घादि ट्युट्युलन्त प्रत्यय कहे गये हैं। उनके अर्थ-विशेष जात आदि तथा समर्थ विभक्तियाँ आगे कही जायेगीं।

विमर्श—'शेषे' अधिकार का प्रभाव विद्यमान है। इस अधिकार के अन्तर्गत प्रकृत सूत्र से लेकर 'विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्' (४।३।२४) पर्यन्त ट्यु-ट्युल् प्रत्ययों का समावेश है। इनके अर्थ-विशेष एवं समर्थ विभक्तियाँ 'तत्र जातः' इत्यादि सूत्रों में निर्दिष्ट हैं, जो आगे बताया जायेगा। इस प्रकार ''राष्ट्र आदि शब्दों से जात आदि अर्थों में अण् आदि प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—राष्ट्रे जातः भवः वा (राष्ट्र + 'घ' — प्रकृत सूत्र से, घ = इय आदेश, 'अ' का लोप व विभक्तिकार्य) = राष्ट्रियः (राष्ट्र में उत्पन्न या होने वाला)। अवारपारं गतः (अवारपार + 'ख', ख = ईन आदेश, अन्त्य 'अ' का लोप, णत्व, विभक्तिकार्य) = अवारपारीणः (आरपार गया हुआ)।

१. **वा०**—विगृहीत अर्थात् पृथक्-पृथक् 'अवार' और 'पार' से तथा उलट देने पर 'पारावार' से भी 'ख' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—अवारं गतः (अवार + ख, ख = ईन, 'अ' का लोप, णत्व, विभक्तिकार्य) = अवारीणः (इस ओर को आया हुआ)। पारं गतः (पार + ख, प्रक्रिया उक्तवत्) = पारीणः (पार गया हुआ)। (३) पारावरं गतः (पारावार + ख) = पारावारीणः (पारंगत)।

(१८३१) **पद**—ग्रामाद्, यखञौ। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ग्राम शब्द से य और खञ् प्रत्यय होते हैं। ग्राम्यः। ग्रामीणः।

विमर्श—'शेषे' (१८२९) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — ''ग्राम शब्द से जात आदि अर्थों में 'य' और 'खञ्' प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—ग्रामे जातः भवः वा (ग्राम + 'य', अकारलोप, विभक्तिकार्य) = ग्राम्यः। (ग्राम + ख, ख = ईन, 'अ' का लोप, 'न्' = 'ण्' — णत्व, विभक्तिकार्य) = ग्रामीणः (गाँव में उत्पन्न या रहने वाला)।

(१८३२) **पद**—नद्यादिभ्यः, ढक्। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

त्युरसस्त्यक् ४।२।९८ । दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः । **(१८३४) द्युप्रागपागुदक् प्रतीचो यत् ४।२।१०१ ।** दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् ।

वाराणसेयमिति । वाराणस्यां जातं भवं वेति विग्रहे ढक्प्रत्यये ढस्य एयादेशे 'किति चे'त्यादिवृद्धौ ईकारलोपे विभक्तिकार्ये 'वाराणसेयमि'ति ।

(१८३३) **दक्षिणापश्चादिति । दाक्षिणात्यः** — दक्षिणस्यां भवो जात इति वेति विग्रहे त्यक्, 'किति चे'त्यादिवृद्धिः ।

(१८३४) **द्युप्रागपागुदक् इति** । भवार्थे यत्स्यादित्यर्थः ।

मूलार्थ—नद्यादिगणपठित शब्द से शेष अर्थ में ढक् होता है । नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयंम् ।

विमर्श—'शेषे' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार — ''नदी आदि शब्दों से जात आदि अर्थों में ढक् (= ढ) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—नद्यां जातं भवं वा (नदी + ढक् = ढ, ढ = एय आदेश, 'ई' का लोप, आदिवृद्धि — 'किति च', विभक्तिकार्य) = नादेयम् (नदी में होने वाला) । मह्यां भवम् (मही + ढक्, ढ = एय, 'ई' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = माहेयम् (पृथ्वी पर होने वाला) । वाराणस्यां भवम् (वाराणसी + ढक्, प्रक्रिया पूर्ववत्) = वाराणसेयम् (वाराणसी में होने वाला) ।

(१८३३) **पद**—दक्षिणा-पश्चात्-पुरसः, त्यक् । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् शब्द से त्यक् प्रत्यय होता है । दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — ''दक्षिणा, पश्चात् तथा पुरस् अव्ययों से जात आदि अर्थों में त्यक् (= त्य) प्रत्यय होता है ।'' 'दक्षिणा' शब्द आच् प्रत्ययान्त अव्यय है ।

उदाहरण—दक्षिणा भवः (दक्षिणा + त्यक् = 'त्य', आदिवृद्धि, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = दाक्षिणात्यः (दक्षिण में उत्पन्न होने वाला) । पश्चाद् भवः (पश्चात् + त्यक् = त्य, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = पाश्चात्यः (पश्चिम में उत्पन्न होने वाला) । पुरः भवः जातः वा (पुरस् + त्यक् = त्य, आदिवृद्धि) = पौरस्त्यः (पूर्व में होने वाला या उत्पन्न) ।

(१८३४) **पद**—द्युप्राग्-उदक्-प्रतीचः, यत् । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—भव आदि अर्थों में दिव्, प्राच्, अवाच्, उदच् और प्रतीच् शब्दों से यत् प्रत्यय होता है । दिव्यम् । प्राच्यम् । अवाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

विमर्श—पूर्ववत् 'शेषे' आदि की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है । तदनुसार — ''दिव्, प्राच्, अवाच्, उदच् तथा प्रत्यच् शब्दों से शैषिक 'यत्' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—दिवि भवम् (दिव् + यत् = 'य', विभक्तिकार्य) = दिव्यम् (स्वर्ग में होने वाला) । प्राचि भवम् (प्राञ्च + ङि + यत् = 'य', 'सुप्' का लुक्, 'न्' का लोप — 'अनिदिताम्०', विभक्तिकार्य) = प्राच्यम् (पूर्वी देश में होने वाला) । अवाचि भवम् (अवाच् + यत्, विभक्तिकार्य) = अवाच्यम् (दक्षिण में होने वाला) । उदीचि भवम् (उदच् + यत् = 'य', अ = 'ई' आदेश — 'उद ईत्', विभक्तिकार्य) = उदीच्यम् (उत्तर में होने वाला) । प्रतीचि भवम् (प्रतीच् + यत्) = प्रतीच्यम् (पश्चिम में होने वाला) ।

प्रतीच्यम्। (१८३५) अव्ययात्त्यप् ४।२।१०४। * अमेहक्वतसित्रेभ्य एव *। अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्यः। तत्रत्यः। * त्यब् नेर्ध्रुव इति वाच्यम् *। नित्यः। * निसो गते *। (१८३६) ह्रस्वात्तादौ तद्धिते ८।३।१०१। ह्रस्वादिणः सस्य षस्तादौ तद्धिते। निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्ट्यः चाण्डालादिः। * अरण्याण्णः *।

(१८३५) **अव्ययात्त्यप्**। **अमेहेति**। अमा, इह, क्व, तसि, त्र एभ्य एवाव्ययेभ्यः त्यप्-प्रत्यय इति परिगणनवार्तिकमिदम्। **अमात्यः** — अमा सह समीपे वा भवतीति अमात्यः = मन्त्री। **त्यबिति**। 'नि' इत्यस्मात् ध्रुवेऽर्थे त्यप्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१८३६) **ह्रस्वात्तादाविति**। 'इण्कोरि'त्यत इण्ग्रहणमनुवर्तते। 'सहेः साडः सः' इत्यतः 'सः' इति षष्ठ्यन्तं पदमनुवर्तते, 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इति च। अत आह — **ह्रस्वादिण इति**।

(१८३५) **पद**—अव्ययात्, त्यप्। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अव्यय से भव आदि अर्थों में त्यप् प्रत्यय होता है। **वा०**—केवल अमा, इह, क्व तथा तसिल् एवं त्रल् प्रत्ययान्त से ही त्यप् प्रत्यय होता है। अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्यः। तत्रत्यः। **वा०**—नि अव्यय से ध्रुव अर्थ में त्यप् प्रत्यय होता है। नित्यः। **वा०**—'निस्' अव्यय से गत अर्थ में त्यप् प्रत्यय होता है।

विमर्श—"अव्ययों से जात, भव आदि अर्थों में त्यप् प्रत्यय होता है।" वार्तिककार परिगणन द्वारा त्यप् प्रत्यय हेतु अव्ययों को सीमित कर रहे हैं। यथा —

१. **वा०**—"अमा, इह, क्व, तसिल् तथा त्रल् प्रत्ययान्त अव्ययों से ही त्यप् प्रत्यय होता है।" **उदाहरण**—अमा + त्यप् (= त्य, विभक्तिकार्य) = अमात्यः (साथ रहने वाला — मन्त्री)। इह भवः (इह + त्यप् = त्य, विभक्तिकार्य) = इहत्यः (यहाँ रहने वाला)। क्व भवः (क्व + त्यप् = 'त्य') = क्वत्यः (कहाँ रहने वाला)। तत आगतः (ततस् + त्यप्) = ततस्त्यः (वहाँ से आया हुआ)। तत्र भवः (तत्र + त्यप्) = तत्रत्यः (वहाँ रहने वाला)।

२. **वा०**—"'नि' अव्यय से ध्रुव (स्थिर) अर्थ में त्यप् प्रत्यय होता है।" **उदाहरण**—नितरां भवः (नि + त्यप् = त्य, विभक्तिकार्य) = नित्यः (शाश्वत)।

३. **वा०**—गत अर्थ में 'निस्' उपसर्ग से त्यप् प्रत्यय होता है।

(१८३६) **पद**—ह्रस्वात्, तादौ, तद्धिते। **अनुवृत्ति**—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्द्धन्यः, संहितायाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ह्रस्व इण् से परवर्ती स् को ष् होता है, तकारादि तद्धित के उत्तरवर्ती रहने पर। निष्ट्यः। **वा०**—अरण्य शब्द से ण प्रत्यय होता है। आरण्याः सुमनसः। **वा०**—दूर शब्द से त्य प्रत्यय होता है। दूरेत्यः। **वा०**—उत्तर शब्द से आहञ् प्रत्यय होता है। औत्तराहः।

विमर्श—प्रसङ्गवश षत्वप्रकरण का सूत्र उद्धृत किया जा रहा है। सूत्र में स्थानी एवं आदेश-वाचक शब्दों का अभाव है। अतः 'इण्कोः' (८।३।५७) सूत्र, 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) से 'सः', 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (८।३।५८) तथा 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३।५५) से 'मूर्धन्यः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'संहितायाम्' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है।" अतः "ह्रस्व इण् (इ, उ) से उत्तरवर्ती 'स्' के स्थान में तकारादि तद्धित प्रत्यय के परे रहते मूर्धन्य आदेश 'ष्' होता है।"

उदाहरण—निर्गतः वर्णाश्रमेभ्यः (निस् + त्यप् = 'त्य' — वा० 'निसो गते', 'स्' = 'ष्' — षत्व — प्रकृत सूत्र से, 'त्' = 'ट्' — ष्टुत्व, विभक्तिकार्य) = निष्ट्यः (वर्णाश्रम से पृथक्)।

आरण्याः सुमनसः । * दूरादेत्यः *। दूरेत्यः । * उत्तरादाहञ् *। औत्तराहः । (१८३७) ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम् ४।२।१०५ । एभ्यस्त्यब्वा । पक्षे वक्ष्यमाणौ ट्युट्युलौ । ऐषमस्त्यम्, ऐषमस्तनम् । ह्यस्त्यम्, ह्यस्तनम् । श्वस्त्यम् । श्वस्तनम् । पक्षे शौवस्तिकं वक्ष्यते । (१८३८) वृद्धाच्छः ४।२।११४ । शालीयः । (१८३९)

(१८३७) **ऐषमोह्य इति** । **एभ्य इति** । ऐषमस्, ह्यस्, श्वस् एतेभ्य इत्यर्थः । **ऐषमस्त्यम्** — 'ऐषमस्' इत्यव्ययं वर्तमाने संवत्सरे वर्तते, तत्र भवं जातं वा **ऐषमस्त्यमिति** ।

(१८३८) **वृद्धाच्छः** । वृद्धसंज्ञकात् छप्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

---

१. **वा०** — 'अरण्य' शब्द से शैषिक ण प्रत्यय होता है । **उदाहरण** — अरण्ये भवाः (अरण्य + ण = 'अ', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) — आरण्य (+ टाप् = 'आ', दीर्घ, प्रथमा बहुवचन) = आरण्याः सुमनसः (जंगली फूल) ।

२. **वा०** — दूरात् अव्यय से शैषिक 'एत्य' प्रत्यय होता है । **उदाहरण** — दूरात् आगतः भवः वा (दूरात् + एत्य, टि = 'आत्' का लोप — 'अव्ययानां भमात्रे०', विभक्तिकार्य) = दूरेत्यः (दूर जाने वाला - पथिक) ।

३. **वा०** — उत्तर शब्द से भव आदि अर्थों में आहञ् प्रत्यय होता है । **उदाहरण** — उत्तरस्मात् आगतः (उत्तर + आहञ् = आह, आदिवृद्धि, अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = औत्तराहः (उत्तर में होने वाला या उत्तर से आया हुआ) ।

(१८३७) **पद** — ऐषमो-ह्यः-श्वसः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति** — त्यप्, शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ — ऐषमस्, श्वस् और ह्यस् से जात आदि अर्थ में विकल्प से त्यप् प्रत्यय होता है । पक्ष में आगे कहे जाने वाले ट्यु और ट्युल् भी होते हैं । ऐषमस्त्यम्, ऐषमस्तनम् । ह्यस्त्यम्, ह्यस्तनम् । श्वस्त्यम्, श्वस्तनम् । पक्ष में 'शौवस्तिकम्' भी बतलाया जायेगा ।

विमर्श — पूर्वसूत्र (१८३६) से 'त्यप्' की अनुवृत्ति आती है । शेष आधिकारिक अनुवृत्तियाँ यथापूर्व विद्यमान हैं । तदनुसार — "ऐषमस्, ह्यस् तथा श्वस् प्रातिपदिकों से वैकल्पिक त्यप् (= त्य) प्रत्यय होता है ।" त्यप् के अभाव पक्ष में 'सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' (४।३।२३) सूत्र से ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय और तुट् (= त्) का आगम होंगे । तुट् आगम टित् होने से ट्यु (= अन) का आदि अवयव होता है ।

उदाहरण — 'ऐषमस्' इत्यव्ययं संवत्सरेऽर्थे वर्तते तत्र भवं जातं वा (ऐषमस् + त्यप् = 'त्य' विकल्प से - 'ऐषमोह्यः०', विभक्तिकार्य) = ऐषमस्त्यम् । 'त्यप्' के अभाव पक्ष में - ऐषमस् + ट्यु या ट्युल् (= 'यु', तुट् = 'त्' का आगम - 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च', 'यु' = 'अन' - आदेश, विभक्तिकार्य) = ऐषमस्तनम् (इस वर्ष होने वाला) । ह्यस् + त्यप् (= 'त्य' — विकल्प से, विभक्तिकार्य) = ह्यस्त्यम् । पक्ष में — ह्यस् + ट्यु (= 'यु', तुट् = 'त्' का आगम, विभक्तिकार्य) = ह्यस्तनम् (विगत दिन होने वाला) । श्वस् = 'त्यप्' (— विकल्प से, विभक्तिकार्य) = श्वस्त्यम् । पक्ष में (पूर्ववत् 'ट्यु' अथवा ट्युल्, तुट् का आगम) = श्वस्तनम् (आने वाले कल होने वाला) । इसके अतिरिक्त श्वस् अव्यय का तीसरा रूप 'शौवस्तिकम्' भी बनता है । **प्रक्रिया** - श्वस् + ठञ् (= 'ठ', तुट् = 'त्' का आगम - 'श्वसस्तुट् च', 'ठ' = 'इक') — श्वस् त् इकम् (वृद्धिनिषेध तथा ऐच् = 'ऐ' का आगम - द्वारादीनां च', विभक्तिकार्य) = 'शौवस्तिकम्' ।

(१८३८) **पद** — वृद्धात्, छः । **अनुवृत्ति** — शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

त्यदादीनि च १।१।७४। वृद्धसंज्ञानि स्युः। तदीयः। * **वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा** *। देवदत्तीयः, दैवदत्तः। **(१८४०) भवतष्ठक्छसौ ४।२।११५।** वृद्धाद् भवत एतौ स्तः। भावत्कः। **(१८४१) सिति च १।४।१६।** तद्धिते पूर्वं पदं स्यात्। जश्त्वम्। भवदीयः। वृद्धादित्यनुवृत्तेः शत्रन्तादणेव। भावतः। **(१८४२) काश्या-**

(१८३९) **त्यदादीनि च**। शेषपूरणेन व्याचष्टे — **वृद्धसंज्ञानीति**।

(१८४०) **भवत इति**। स्पष्टम्। **भावत्क इति**। भवच्छब्दात् 'भवतष्ठक्छसौ' इत्यनेन ठक्प्रत्यये ठस्य 'इसुसुक्तान्तात्कः' इति कादेशे कित्त्वादादिवृद्धौ विभक्तिकार्ये 'भावत्कः' इति।

(१८४१) **सिति च**। सकारः इत् यस्य सः सित्। तस्मिन्परे पूर्वं पदं स्यादित्यर्थः। **भवदीयः** — पूर्वसूत्रेण छस् प्रत्यये 'सिति चे'ति पदत्वात् जश्त्वम् — तकारस्य दकारः, छस्य ईयादेशः 'भवदीयः' इति।

मूलार्थ—वृद्धसंज्ञक से छ प्रत्यय होता है। शालीयः।

विमर्श—अग्रिम सूत्र (१८३९) द्वारा प्रतिपादित वृद्धसंज्ञा के फल को अभिलक्षित कर प्रकृत सूत्र प्रस्तुत किया है। तदनुसार "वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—शालायां भवः (शाला + छ — 'वृद्धाच्छः', 'आ' का लोप, छ = ईय, विभक्तिकार्य) = शालीयः (शाला में होने वाला)।

(१८३९) **पद**—त्यदादीनि, च। **अनुवृत्ति**—वृद्धम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—त्यद् आदि की वृद्ध संज्ञा होती है। तदीयः। **वा०**—नामधेय की विकल्प से वृद्ध संज्ञा होती है। देवदत्तीयः, दैवदत्तः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' (१।१।७३) से 'वृद्धम्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "त्यदादिगणपठित शब्दों की वूद्धसंज्ञा होती है।"

उदाहरण—तस्य अयम् (तद् + 'त्यदादीनि च' से वृद्धसंज्ञा होने पर 'छ' प्रत्यय — 'वृद्धाच्छः', छ = ईय, विभक्तिकार्य) = तदीयः (उसका)।

१. **वा०**—नामधेय अर्थात् व्यक्ति के नाम की विकल्प से वृद्ध संज्ञा होती है। **उदाहरण**—देवदत्त + 'विकल्प' से वृद्धसंज्ञा होने पर 'छ' प्रत्यय (छ = ईय, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = देवदत्तीयः। वृद्धसंज्ञा न होने पर 'छ' प्रत्यय भी नहीं होता। अतः पक्ष में - अण्, वृद्धि) = दैवदत्तः (देवदत्त सम्बन्धी)।

(१८४०) **पद**—भवतः, ठक्छसौ। **अनुवृत्ति**—वृद्धात्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वृद्धसंज्ञक 'भवत्' शब्द से ठक् और छस् प्रत्यय होते हैं। भावत्कः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८३८) से 'वृद्धात्' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "वृद्धसंज्ञक 'भवत्' शब्द से शैषिक ठक् (= ठ) और छस् (= छ) प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—भवतः अयम् (भवत् + 'ठक्' — प्रकृत सूत्र से, ठ = इक का बाधकर — ठक् = 'क' — 'इसुसुक्तान्तात्कः', आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = भावत्कः (आपका)।

(१८४१) **पद**—सिति, च। **अनुवृत्ति**—पदम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—सित् प्रत्यय के परे पूर्व की पदसंज्ञा होती है। भवदीयः। 'वृद्धात्' की अनुवृत्ति होने से शतृप्रत्ययान्त से अण् होता है। भावतः।

विमर्श—'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) से 'पदम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "'स्' इत्संज्ञक प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है।"

दिभ्यष्ठञ्ञिठौ ४।२।११६ । इकार उच्चारणार्थः । काशिकी, काशिका । वैदिकी, वैदिका । * आपदादिपूर्वपदात्कालान्तात् * । आपदादिराकृतिगणः । आपत्कालिकी, आपत्कालिका । **(१८४३) धन्वयोपधाद् वुञ् ४।२।१२१** । धन्वविशेषवाचिनो यकारोपधाच्च देशवाचिनो वृद्धाद् वुञ् स्यात् । ऐरावतं धन्व ऐरावतकः । साङ्काश्य-

---

(१८४२) **काश्यादिभ्य इति** । ठञ् ञिठ् च प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । **काशिकी, काशिका** — काश्यां भवा जाता वेत्यर्थे काशीशब्दात् ठञ्प्रत्यये ठस्य इकादेशे ईकारलोपे ठञन्तात् ङीपि अकारलोपे विभक्तिकार्ये काशिकी इति । ञिठ्प्रत्यये ठस्येकादेशे ईकारलोपे टापि दीर्घे च 'काशिका' इति ।

(१८४३) **धन्वयोपधाद् वुञ्** । **ऐरावतमिति** । ऐरावताख्यं धन्वेत्यर्थः । धन्वा मरुप्रदेशः । वुञ्, अकादेशः, **ऐरावतकः इति** ।

उदाहरण—भवत् + छस् (= 'छ' — पूर्वसूत्र (१८४०) से, छ = ईय, छस् प्रत्यय के सकारेत्संज्ञक होने के कारण 'सिति च' से भसंज्ञा का बाधकर पद संज्ञा, 'त्' = 'द्' — जश्त्व — 'झलां जशोऽन्ते', विभक्तिकार्य) = भवदीयः (आपका) । त्यदादिगण में ✓भा + डवतु प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्द का पाठ होने से उसी की वृद्धसंज्ञा होती है । ✓भू + शतृप्रत्ययान्त 'भवत्' की वृद्धसंज्ञा न होने से औत्सर्गिक अण् (भवत् + अण्, आदिवृद्धि) = 'भावतः' रूप बनता है ।

(१८४२) **पद**—काश्यादिभ्यः, ठञ्ञिठौ । **अनुवृत्ति**—वृद्धात्, शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—काश्यादिगणपठित शब्दों से ठञ् और ञिठ् प्रत्यय होते हैं । काशिकी, काशिका । वैदिकी, वैदिका ।

विमर्श—"काशी आदि वृद्धसंज्ञक शब्दों से शैषिक 'ठञ्' और 'ञिठ्' प्रत्यय होते हैं ।" इन दोनों प्रत्ययों में 'ठ' ही शेष रहता है । स्त्रीत्वविवक्षा में 'ठञ्' होने पर ङीप् तथा 'ञिठ्' होने पर टाप् होगा ।

उदाहरण—काश्यां भवा, काश्याः इयमिति वा (काशी + ठञ् = ठ, ठ = इक, 'ई' का लोप, ङीप् = 'ई', विभक्तिकार्य) = काशिकी । ञिठ् होने पर — काशी + ठ (ठ = इक, ईकारलोप, टाप् = आ, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = काशिका (काशी में होने वाली) । वेदौ भवा (वेदि + ठञ् = ठ = इक, इकारलोप, ङीप्, विभक्तिकार्य) = वैदिकी । ञिठ् होने पर (टाप्) = वैदिका (वेदि में होने वाली) ।

१. **वा०**—आपदादि पूर्वपद कालान्त शब्दों से ठञ् और ञिठ् प्रत्यय होते हैं । **उदाहरण**—आपत्काल + ठञ् (= ठ, प्रक्रिया उक्तवत् ङीप्) = आपत्कालिकी । ञिठ् होने पर टाप् = आपत्कालिका (आपत्काल में होना) ।

(१८४३) **पद**—धन्वयोपधात्, वुञ् । **अनुवृत्ति**—वृद्धात्, देशे, शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—धन्वविशेषवाची और यकारोपधक देशवाची वृद्धसंज्ञक शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है । ऐरावतकः । 'सांकाश्य' तथा 'काम्पिल्य' शब्द 'वुञ्छण्०' सूत्र से ण्यप्रत्ययान्त हैं । उनसे वुञ् होने से 'सांकाश्यकः' तथा 'काम्पिल्यकः' रूप बनते हैं ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'वृद्धात्प्राचाम्' (४।२।१२०) से 'वृद्धात्' तथा 'ओर्देशे' (४।२।११९) से 'देशे' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार — "धन्ववाची और यकारोपधक देशवाचक वृद्धसंज्ञक शब्दों से शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है ।" यहाँ मरुदेशवाची धन्व शब्द का ग्रहण होता है ।

काम्पिल्यशब्दौ वुञ्छणादिसूत्रेण ण्यान्तौ। साङ्काश्यकः। काम्पिल्यकः। (१८४४) नगरात्कुत्सनप्रावीण्ययोः ४।२।१२८। कुत्सने प्रावीण्ये च नगरशब्दाद् वुञ् स्यात्। नागरकश्चौरः शिल्पी वा। 'कुत्सन' इति किम्? नागराः ब्राह्मणाः। (१८४५) अरण्यान्मनुष्ये ४।२।१२९। वुञ् स्यात्। औपसंख्यानि कणस्यापवादः। * पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वाच्यम् *। आरण्यकः पन्थाः, अध्यायः, न्यायः, विहारः, मनुष्यः हस्ती वा। (१८४६) गर्तोत्तरपदाच्छः ४।२।१३७। देश इत्येव।

(१८४४) **नगरात्कुत्सन इति। नागरा इति।** कन्थादिषु महिष्मतीसाहचर्येण संज्ञाभूत-स्यैव नगरशब्दस्य ग्रहणम्।

(१८४५) **अरण्यान्मनुष्ये। आरण्यक इति।** अरण्ये भव इति विग्रहे अरण्यशब्दात् 'अरण्यान्मनुष्ये' इति वुञ्प्रत्यये अकादेशे आदिवृद्धौ विभक्तिकार्ये 'आरण्यकः' इति।

(१८४६) **गर्तोत्तरपदाच्छः। देशे इति।** शेषपूरणम्, देशवाचिन इति यावत्।

उदाहरण—ऐरावताख्ये मरुप्रदेशे भवः (ऐरावत + वुञ् = 'वु', वु = अक आदेश, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = ऐरावतकः (ऐरावत नामक मरु प्रदेश में होने वाला)। **यकारोपध का उदाहरण**—सांकाश्ये जातः (सांकाश्य + वुञ् = 'वु' = अक, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सांकाश्यकः। ('सांकाश्य' में हुआ)। काम्पिल्ये भवः (काम्पिल्य + वुञ्, वु = अक, 'अ' का लोप आदि) = काम्पिल्यकः (काम्पिल्य में हुआ)।

(१८४४) **पद**—नगरात्कुत्सनप्रावीण्ययोः। **अनुवृत्ति**—वुञ्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कुत्सन और प्रावीण्य अर्थ गम्य रहते नगर शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है। **नागरकः** चौरः शिल्पी वा। 'कुत्सनः' क्यों कहा? 'नागराः ब्राह्मणाः'।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८४३) से 'वुञ्' की अनुवृत्ति आ रही है। शेष पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। अतः "नगर शब्द से 'निन्दा' और 'निपुणता' अर्थ अभिधेय होने पर शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—नगरे भवः जातः वा (नगर + वुञ् = वु, वु = अक आदेश, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) = नागरकः (नगर में रहने वाला चोर या शिल्पी)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'कुत्सन' पद का निवेश होने से 'नागराः ब्राह्मणाः' (नगर में रहने वाले ब्राह्मण) में औत्सर्गिक अण् हुआ। क्योंकि यहाँ निन्दा अर्थ नहीं है।

(१८४५) **पद**—अरण्यात्, मनुष्ये। **अनुवृत्ति**—वुञ्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मनुष्य वाच्य रहते 'अरण्य' शब्द से 'वुञ्' होता है। प्राप्त 'ण' का यह अपवाद है। **वा०**—पथिन्, अध्याय, न्याय, विहार, मनुष्य तथा हस्ती के अभिधेय होने पर यह वुञ् कहा जाय। आरण्यकः पन्थाः, अध्यायः, न्यायः, विहारः, मनुष्यः हस्ती वा।

विमर्श—यहाँ भी पूर्वसूत्र (१८४३) से 'वुञ्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "अरण्य शब्द से मनुष्य अभिधेय होने पर शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है।" वार्तिककार के अनुसार — "पथिन्, अध्याय, न्याय, विहार तथा हस्ती के अभिधेय होने पर भी वुञ् होता है।"

उदाहरण—अरण्ये भवः मनुष्यः, पन्थाः, अध्यायः, न्यायो वा (अरण्य + वुञ् = वु, वु = अक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = आरण्यकः (जंगली — मनुष्य, मार्ग, ग्रन्थ का अध्याय, न्याय, विहार अथवा हाथी)।

(१८४६) **पद**—गर्तोत्तरपदात्, छः। **अनुवृत्ति**—देशे, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

वृकगर्तीयम्। (१८४७) **गहादिभ्यश्च ४।२।१३८।** गहीयः। (१८४८) **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ४।३।१।** चाच्छः। पक्षेऽण्। युवयोर्युष्माकं वाऽयं युष्मदीयः। अस्मदीयः। (१८४९) **तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ४।३।२।** युष्मदस्मादोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च। यौष्माकीणः, आस्माकीनः। यौष्माकः,

---

(१८४७) **गहादिभ्यश्च**। छः स्यादित्यर्थः।

(१८४८) **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यामिति**। युष्मच्छब्दादस्मच्छब्दाच्च जाताद्यर्थेषु खञ् स्यादित्यर्थः।

(१८४९) **तस्मिन्नणि चेति**। खञ्प्रत्ययेऽण्प्रत्यये च विशेषमाह — **तस्मिन्नित्यादि**। तच्छब्देनात्र पूर्वसूत्रनिर्दिष्टः खञ् परामृश्यते। अत आह — **खञि अणि चेति**। **यौष्माकीणः** — युवयोः युष्माकं वाऽयमिति विग्रहे युष्मद्शब्दात् 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् चे'त्यनेन खञ्-

---

मूलार्थ—गर्तोत्तरपद से देश अर्थ गम्य रहते छ प्रत्यय होता है।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। अतः "गर्त शब्द उत्तर-पदपरक देशवाची शब्दों से शैषिक छ प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—वृकगर्ते जातः (वृकगर्त + छ, छ = ईय, अकारलोप) = वृकगर्तीयम् (वृकगर्त देश में होने वाला)।

(१८४७) **पद**—गहादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—छः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गहादिगणपठित शब्दों से छ प्रत्यय होता है। गहीयः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८४६) से 'छः' की अनुवृत्ति आ रही है। शेष आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। अतः "गहादिगणपठित शब्दों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—गहे जातः (गह + छ, छ = ईय, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = गहीयः (गुफा में रहने वाला)।

(१८४८) **पद**—युष्मदस्मदोः, अन्यतरस्यां, खञ् च। **अनुवृत्ति**—छः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से शेष अर्थों में 'खञ्' प्रत्यय होता है और 'छ' प्रत्यय भी होता है। पक्ष में - अण्। युष्मदीयः। अस्मदीयः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'च' से पूर्वसूत्र (१८४६) से अनुवर्तमान 'छ' प्रत्यय का लाभ होता है; किन्तु प्रमुख प्रत्यय 'खञ्' और 'छ' दोनों विकल्प से होते हैं। अतः पक्ष में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से 'अण्' भी होता है। तदनुसार — "युष्मद् और अस्मद् शब्दों से 'खञ्' और 'छ' विकल्प से होते हैं; पक्ष में 'अण्' भी होता है"।

उदाहरण—युवयोः युष्माकं वा (युष्मद् + छ — विकल्प से, छ = ईय, विभक्तिकार्य) = युष्मदीयः (तुम दो का अथवा तुम सबका)। आवयोः अस्माकं वा (अस्मद् + 'छ' विकल्प से, छ = ईय) = अस्मदीयः (हम दो या हम सब का)। यहाँ सुप् का लोप होने से 'युव' और 'आव' आदेश नहीं होते। खञ् और अण् प्रत्यय के उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं —

(१८४९) **पद**—तस्मिन्, अणि च, युष्माकास्माकौ। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'खञ्' और 'अण्' के परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्द को क्रमशः युष्माक और अस्माक आदेश होते हैं। यौष्माकीणः। आस्माकीनः। यौष्माकः। आस्माकः।

आस्माकः। (१८५०) तवकममकावेकवचने ४।३।३। एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञि अणि च। तावकीनः, तावकः। मामकीनः, मामकः। छे तु – (१८५१) प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७।२।९८। मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोस्त्वमौ

प्रत्यये खस्य ईनादेशे भत्वे 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' इत्यनेन 'युष्माक' आदेशे 'यस्येति चे'त्यकारलोपे आद्यचो वृद्धौ नस्य णत्वे प्रातिपदिकत्वे सौ सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'यौष्माकीणः' इति।

(१८५०) **तवकममकाविति**। 'एकवचने' इति युष्मदस्मदोः प्रकृत्योर्विशेषणम्, एकवचने = एकस्योक्तौ व्याप्रियमाणयोर्युष्मदस्मदोरित्यर्थः। अत आह – **एकार्थवाचिनोरिति**। **तावकीनः** — तवायमिति विग्रहे युष्मद्शब्दात् 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' इति विकल्पेन खञ्प्रत्यये खस्य ईनादेशे 'तवकममकावेकवचने' इत्यनेन तवकादेशे 'तवक ईन' इति जाते भत्वे अकारलोपे आद्यचो वृद्धौ संयोगे विभक्तिकार्ये 'तावकीनः' इति। पक्षे अणि प्रत्यये 'तावकः' इति।

विमर्श — पूर्वसूत्र (१८४८) से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ पद 'तस्मिन्' का अभिप्राय पूर्वसूत्र से विहित खञ् से है। अनेकाल् होने से आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होंगे। यथासंख्य परिभाषा के अनुसार ये आदेश यथाक्रम से होते हैं। इस प्रकार "खञ् और अण् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर 'युष्मद्' के स्थान पर युष्माक और अस्मद् के स्थांन पर 'अस्माक' आदेश होते हैं।"

उदाहरण — युष्मद् + खञ् (= ख, ख = ईन, 'युष्मद्' = 'युष्माक' — प्रकृत सूत्र से, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, न् = ण् — 'णत्व', विभक्तिकार्य) = यौष्माकीणः। अस्मद् + 'खञ्' (= 'ख' — 'युष्मदस्मदोः०', ख = 'ईन', 'अस्मद्' = 'अस्माक' आदेश, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = आस्माकीनः। अण् प्रत्यय होने पर — युष्मद् + अण् (= 'अ', युष्माक आदेश, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = यौष्माकः। इसी प्रकार अस्मद् + अण् = आस्माकः।

(१८५०) **पद** — तवक-ममकौ, एकवचने। **अनुवृत्ति** — तस्मिन्नणि, युष्मदस्मदोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ — एकार्थवाची युष्मद् और अस्मद् को खञ् और अण् परे रहते क्रमशः 'तवक' और 'ममक' आदेश होते हैं। तावकीनः, तावकः। मामकीनः, मामकः।

विमर्श — पूर्वसूत्र (१८४८) से 'युष्मदस्मदोः' की तथा १८४९ से 'तस्मिन्नणि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "खञ् तथा अण् प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर एकवचन में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों के स्थान में क्रमशः 'तवक' और 'ममक' आदेश होते हैं।"

उदाहरण — युष्मद् + खञ् (= 'ख' — 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च', ख = 'ईन' आदेश, युष्मद् = 'तवक' आदेश — 'तवकममकावेकवचने', आदिवृद्धि, अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = तावकीनः। **पक्ष में अण्** — युष्मद् + अण् (= 'अ', 'तवक' आदेश, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि) = तावकः (तेरा)। मम अयम् (अस्मद् + खञ्, ख = ईन, अस्मद् = 'ममक' आदेश, आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = मामकीनः। पक्ष में — अस्मद् + अण् (अस्मद् = ममक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = मामकः (मेरा)।

(१८५१) **पद** — प्रत्ययोत्तरपदयोः च। **अनुवृत्ति** — त्वमावेकवचने, मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च। त्वदीयः। मदीयः। त्वत्पुत्रः। (१८५२) मध्यान्मः ४।३।८। मध्यमः। (१८५३) अ साम्प्रतिके ४।३।९। मध्यशब्दादप्रत्ययः साम्प्रतिकेऽर्थे। उत्कर्षापकर्षहीनः 'मध्यः' वैयाकरणः। मध्यं दारु नातिह्रस्वं

(१८५१) **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च**।'त्वमावेकवचने'इत्यनुवर्तते,'युष्मदस्मदोरनादेशे'इत्यतो 'युष्मदस्मदोरि'त्यनुर्वतते।'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम्। अत आह – **मपर्यन्तयोरिति**।

(१८५२) **मध्यान्मः**। स्पष्टम्।

(१८५३) **अ साम्प्रतिके**।'अ'इति लुप्तप्रथमाकं पदम्। मध्यादित्यनुवर्तते। सम्प्रतीत्यव्ययम् उत्कर्षापकर्षहीनत्वात्मकसाम्येऽर्थे वर्तते। स्वार्थे ठञि साम्प्रतिकमिति, तस्मिन् साम्प्रतिके = साम्ये गम्यमाने मध्यशब्दात् 'अ'प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

मूलार्थ—प्रत्यय अथवा उत्तरपद के परे रहते एकार्थवाची युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं। त्वदीयः। मदीयः। त्वत्पुत्रः।

विमर्श—सप्तमाध्यायपठित इस प्रासङ्गिक सूत्र में 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (७।२।८६) से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'त्वमावेकचने' (७।२।९४) से आदेशवाची पदों का लाभ होता है। 'मपर्यन्तस्य' (७।२।९१), 'विभक्तौ' (७।२।८४) तथा 'अङ्गस्य' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार ''प्रत्यय तथा उत्तरपद के परवर्ती रहते भी एकवचन में वर्तमान 'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग के मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं।''

उदाहरण—तव अयम् (युष्मद् + छ, छ = ईय, युष्म = 'त्व' आदेश — 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च') — त्व + अद् + ईय (अ + अ = 'अ' पररूप — 'अतो गुणे', विभक्तिकार्य) = त्वदीयः (तेरा)। मम अयम् (अस्मद् + छ, छ = ईय, अस्म = 'म', पररूप आदि) = मदीयः (मेरा)। परवर्ती विभक्ति के न होने से 'शेषे लोपः' से 'द्' का लोप नहीं होता। तव पुत्रः (युष्मद् + पुत्रः, ष० त० समास, युष्म = 'त्व' आदेश, द् = त् — चर्त्व) = त्वत्पुत्रः (तेरा पुत्र)।

(१८५२) **पद**—मध्यात्, मः। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मध्य शब्द से म प्रत्यय होता है। मध्यमः।

विमर्श—''मध्य शब्द से शैषिक म प्रत्यय होता है''।

उदाहरण—मध्ये भवः (मध्य + म, विभक्तिकार्य) = मध्यमः (बीच का)।

(१८५३) **पद**—अ, साम्प्रतिके। **अनुवृत्ति**—मध्यात्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—साम्प्रतिक = साम्य अर्थ में मध्य शब्द से 'अ' प्रत्यय होता है। मध्यः वैयाकरणः। मध्यं दारु।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८५२) से 'मध्यात्' पद की अनुवृत्ति आ रही है। विधेयवाची 'अ' पद लुप्त प्रथमाविभक्त्यन्त है। तदनुसार ''मध्य शब्द से साम्प्रतिक (उचित) अर्थ गम्यमान होने पर शैषिक 'अ' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—मध्ये भवः (मध्य + 'अ', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = मध्यः वैयाकरणः (मध्यम कोटि का वैयाकरण)। मध्ये भवम् (मध्य + अ, नपुंसकलिङ्ग एकवचन में विभक्तिकार्य) = मध्यं दारु (मझोली लकड़ी)।

विशेष—अव्यय - सम्प्रति + ठञ् (— स्वार्थ में, ठ = इक, इकारलोप, आदिवृद्धि) = साम्प्रतिकः (उत्कर्ष और अपकर्ष से रहित उचित साम्य)।

नातिदीर्घमित्यर्थः। **(१८५४) द्वीपादनुसमुद्रं यञ् ४।३।१०।** समुद्रसमीपे यो द्वीपस्तद्विषयाद् द्वीपशब्दाद्यञ् स्यात्। द्वैप्यम्, द्वैप्या। **(१८५५) कालाट्ठञ् ४।३।११।** मासिकम्। सांवत्सरिकम्। * अव्ययानां भमात्रे टिलोपः *। सायंप्रतिकः। पौनःपुनिकः। कथं तर्हि 'शार्वरस्य तमसो निषिद्धये' इति कालिदासः; 'अनुदितौषसरागा' इति भारविः; 'समानकालीनं प्राक्कालीनमि'ति च। 'अपभ्रंशा एवैते' इति

(१८५४) **द्वीपादनु।** अनुसमुद्रमिति सामीप्येऽव्ययीभावः। विद्यमानादित्यध्याहार्यम्। अत आह - **समुद्रसमीप इति।**

(१८५५) **कालाट्ठञ्।** 'न केवलं कालशब्दस्यैव ग्रहणम् किन्तु कालशब्दस्य कालविशेषवाचकानां च ग्रहणम्' इति भाष्ये स्पष्टम्। कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यादित्यर्थः।

(१८५४) **पद**—द्वीपात्, अनुसमुद्रम्, यञ्। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—समुद्र की समीपस्थ द्वीप विषयक द्वीप शब्द से यञ् प्रत्यय होता है। द्वैप्यम्, द्वैप्या।

विमर्श—'अनुसमुद्रम्' में समीपार्थक अव्ययीभाव समास है। उल्लिखित आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। अतः "समुद्र के समीपस्थ विषयीभूत द्वीप शब्द से यञ् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—द्वीपे भवम् (द्वीप + यञ् = य, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = द्वैप्यं मधु (द्वीप में होने वाला मधु)। स्त्रीलिङ्ग में — द्वीप + यञ् (आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = द्वैप्या (द्वीप में रहने वाली महिला)।

(१८५५) **पद**—कालात्, ठञ्। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—कालवाची शब्दों से ठञ् प्रत्यय होता है। मासिकम्। सांवत्सरिकम्।

वा०—"भसंज्ञक अव्यय की 'टि' का लोप होता है।" सायंप्रतिकः। पौनःपुनिकः। 'शार्वरस्य तमसो निषिद्धये' यह कालिदासप्रयोग तथा 'अनुदितौषसरागाः' इस भारविप्रयोग की समीचीनता कैसे मानी जाय? एवं 'समानकालीनम्' तथा 'प्राक्कालीनम्' इत्यादि प्रयोग कैसे ठीक समझे जायें? प्रामाणिकों ने इन्हें **अपभ्रंश** माना है। 'तत्र जातः' सूत्रपर्यन्त 'काल' का अधिकार है।

विमर्श—प्रकृत सूत्रस्थ 'काल' शब्द समय का बोध कराने वाले शब्दों का ग्राहक है, स्वरूपपरक नहीं है।[१] तदनुसार — "कालवाचक शब्दों से जात आदि अर्थों में शैषिक 'ठञ्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—मासे भवम् (मास + ठञ्, ठ = इक, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = मासिकम् (महीने में होने वाला)। संवत्सरे भवम् (संवत्सर + ठञ् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सांवत्सरिकम् (वर्ष में होने वाला)।

१. **वा०**—भसंज्ञक अव्ययों की 'टि' का लोप होता है। **उदाहरण**—सायम्प्रातर्भवः (सायम्प्रातर् + ठञ् = ठ, ठ = इक, टि = 'अर्' का लोप — 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः', विभक्तिकार्य) = सायम्प्रतिकः (प्रातः और सायं होने वाला)। पुनर्पुनर्भवः (पुनः पुनर् + ठञ्, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'टि' का लोप, विभक्तिकार्य) = पौनःपुनिकः (बार-बार होने वाला)।

कालवाची शब्दों से अण् आदि प्रत्ययों का बाधकर ठञ्-विधायक प्रकृत सूत्र के होते हुए कालिदास महाकवि द्वारा प्रयुक्त अण् प्रत्ययान्त 'शार्वरस्य' एवं भारवि द्वारा प्रयुक्त 'औषसः' तथा

---

१. "कालग्रहणे यथाकथञ्चिदपि कालबोधकानां ग्रहणम्।" (शब्देन्दुशेखरे नागेशः — ४।३।११)

प्रामाणिकाः। 'तत्र जात' इति यावत्कालिकाधिकारः। (१८५६) श्राद्धे शरदः ४।३।१२। ठञ् स्यात्। ऋत्वणोऽपवादः। 'शरदि भवं' शारदिकं श्राद्धम्। (१८५७) विभाषा रोगातपयोः ४।३।१३। शारदिकः शारदो वा रोगः आतपो वा। (१८५८) निशाप्रदोषाभ्यां च ४।३।१४। ठञ् वा। नैशिकम्, नैशम्। प्रादोषि-

---

(१८५६) **श्राद्धे शरदः**। शरद्शब्दात् श्राद्धेऽर्थे ठञ् स्यादित्यर्थः।

(१८५७) **विभाषेति**। ठञिति शरद इति चानुवर्तते। रोगे आतपे च वाच्ये शरद्शब्दात् वा ठञ् स्यादित्यर्थः।

(१८५८) **निशाप्रदोषाभ्यां च**। 'कालाट्ठञि'ति नित्ये प्राप्ते विभाषार्थमिदं सूत्रम्। पक्षेऽण्।

ख प्रत्ययान्त 'समानकालीनम्', 'प्राक्कालीनम्' आदि प्रयोगों की साधुता कैसे समझी जायें ? प्रामाणिक वैयाकरणों ने इन प्रयोगों को अपभ्रंश ही माना है।

(१८५६) **पद**—श्राद्धे, शरदः। **अनुवृत्ति**—कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—श्राद्ध अर्थ वाच्य रहते शरद् शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है। यह ऋत्वण् का अपवाद है। शारदिकं श्राद्धम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'कालाट्ठञ्' (१८५५) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अतः "कालार्थक शब्दों के प्रसङ्ग में श्राद्ध अभिधेय होने पर शरद् शब्द से शैषिक ठञ् प्रत्यय होता है।" शरद् शब्द के ऋतुवाचक होने से 'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' (४।३।१६) सूत्र से अण् प्राप्त है, उसका यह अपवाद है।

उदाहरण—शरदि भवम् (शरद् + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = शारदिकं श्राद्धम् (शरद् ऋतु में होने वाला श्राद्ध)।

(१८५७) **पद**—विभाषा, रोगातपयोः। **अनुवृत्ति**—शरदः, कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—रोग और आतप वाच्य रहते शरद् शब्द से वैकल्पिक ठञ् प्रत्यय होता है। शारदिकः शारदो वा रोग आतपो वा।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८५६) से 'शरदः' तथा 'कालाट्ठञ्' (१८५५) की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "रोग और आतप अभिधेय होने पर कालवाचक शरद् शब्द से शैषिक ठञ् प्रत्यय विकल्प से होता है।" पक्ष में अण्।

उदाहरण - शरद् + ठञ् (= 'ठ' विकल्प से, ठ = इक, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = शारदिकः। पक्ष में — शरद् + अण् (= 'अ' - 'सन्धिवेला०', आदिवृद्धि) = शारदः रोगः आतपो वा (शरद् ऋतु में होने वाला रोग या धूप)।

(१८५८) **पद**—निशाप्रदोषाभ्याम्, च। **अनुवृत्ति**—विभाषा, कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—निशा और प्रदोष शब्द से भी वैकल्पिक ठञ् प्रत्यय होता है। नैशिकम्, नैशम्। प्रादोषिकम्, प्रादोषम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८५७) से 'विभाषा' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्य उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "कालविशेषवाचक निशा तथा प्रदोष शब्दों से भी विकल्प से ठञ् प्रत्यय होता है।" पक्ष में — अण्।

कम्, प्रादोषम्। (१८५९) श्वसस्तुट् च ४।३।१५। श्वसष्ठञ् वा तुट् च। **(१८६०) द्वारादीनां च ७।३।४।** एषां न वृद्धिरैजागमश्च। शौवस्तिकम्। **(१८६१) सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् ४।३।१६।** सन्धिवेलायां भवं सान्धिवेलम्। ग्रैष्मम्। तैषम्। सन्धिवेला। सन्ध्या। अमावस्या। त्रयोदशी। चतुर्दशी।

(१८५९) **श्वसस्तुट् चेति**। स्पष्टम्।

(१८६०) **द्वारादीनां च**। 'न य्वाभ्यामि'ति सूत्रं पदान्ताभ्यामिति वर्जमनुवर्तते, 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरिति च। तदाह — **एषामिति**। **शौवस्तिकमिति**। श्वस् इत्यव्ययात् जाताद्यर्थे '**श्वसस्तुट् चे**'त्यनेन ठञि इकादेशे तुडागमे '**द्वारादीनां चे**'ति वकारात्पूर्वमैजागमेन औकारे वृद्ध्यभावे च विभक्तिकार्ये '**शौवस्तिकमि**'ति।

(१८६१) **सन्धिवेला**। ठञोऽपवादः। **ग्रैष्मम्** — ग्रीष्मे भवमित्यर्थेऽण् आदिवृद्धिः अकारलोपश्च।

उदाहरण—निशायां भवम् (निशा + ठञ् = 'ठ' विकल्प से, ठ = इक, इ = 'ऐ' — आदिवृद्धि, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = नैशिकम्। पक्ष में — निशा + अण् (= 'अ', आदिवृद्धि, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = नैशम् (रात्रि में होने वाला)। प्रदोषे भवम् (प्रदोष + 'ठञ्' विकल्प से, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'आ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = प्रादोषिकम्। पक्ष में (अण् आदि पूर्ववत्) = प्रादोषम् (प्रदोषकाल में होने वाला)।

(१८५९) **पद**—श्वसः, तुट्, च। **अनुवृत्ति**—विभाषा, कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—श्वस् शब्द से विकल्प से ठञ् होता है और तुट् का आगम भी होता है।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "कालविशेषवाची श्वस् शब्द से वैकल्पिक ठञ् प्रत्यय तथा तुट् (= त्) का आगम होता है।"

(१८६०) **पद**—द्वारादीनाम्, च। **अनुवृत्ति**—न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वार आदि शब्दों को वृद्धि नहीं होती किन्तु यकार-वकार से पूर्व क्रमशः 'ऐच्' (ऐ, औ) का आगम होता है। शौवस्तिकम्।

विमर्श—यह सप्तमाध्यायपठित प्रासंगिक सूत्र है। कित्, ञित् तथा णित् तद्धित प्रत्ययों के सन्दर्भ में आदिवृद्धि के निषेध-प्रकरण में यह सूत्र पढ़ा गया है। 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' (७।३।३) सूत्र की अनुवृत्ति 'पदान्ताभ्याम्' पद को छोड़कर आ रही है। 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) से 'वृद्धिः' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव भी विद्यमान है। तदनुसार "द्वार आदि गणपठित शब्दों के यकार-वकार से उत्तर ञित्, णित् तथा कित् तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर आदि अच् को वृद्धि नहीं होती; किन्तु यकार-वकार से पूर्व ऐच् (= 'ऐ' और 'औ') का आगम होता है।"

उदाहरण—श्वस् भवम् (श्वस् + ठञ् = 'ठ' तथा तुट् = 'त्' का आगम — 'श्वसस्तुट् च') — श्वस् त् ठ ('ठ' = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि का निषेध तथा 'ऐच्' = 'व्' से पूर्व 'औ' का आगम — 'द्वारादीनां च', विभक्तिकार्य) = शौवस्तिकम् (कल होने वाला)।

(१८६१) **पद**—सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्यः, अण्। **अनुवृत्ति**—कालात्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

पौर्णमासी। प्रतिपत्। (१८६२) प्रावृष एण्यः ४।३।१७। प्रावृषेण्यः। (१८६३) वर्षाभ्यष्ठक् ४।३।१८। वर्षासु साधु वार्षिकं वासः। (१८६४) सर्वत्राण् च तलोपश्च ४।३।२२। हेमन्तादण् तलोपश्च वेदलोकयोः। चकारात्पक्षे

(१८६२) **प्रावृष एण्यः**। ऋत्वणोऽपवादोऽयम्। **प्रावृषेण्यः** — प्रवर्षतीति प्रावृट् = वर्षर्तुः तत्र भवः इत्यर्थे एण्यप्रत्ययः।

(१८६३) **वर्षाभ्यष्ठक्**। वर्षाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। वर्षाशब्दाज्जाताद्यर्थे ठगित्यर्थः।

(१८६४) **सर्वत्राणिति**। छन्दसीत्यनुवृत्तिनिवृत्त्यर्थं सर्वत्रपदग्रहणम्। 'हेमन्ताच्च' इत्यतः 'हेमन्तादि'त्यनुवर्तते। तदाह — **हेमन्तादित्यादिना**।

मूलार्थ—सन्धिवेला आदि और ऋतुवाचक तथा नक्षत्रवाचक शब्दों से अण् प्रत्यय होता है। सान्धिवेलम्। ग्रैष्मम्। तैषम्। सन्धिवेला, सन्ध्या, अमावस्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पौर्णमासी, प्रतिपद्।

विमर्श—कालवाची शब्दों का विषय है। अतः पूर्वोक्त पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "कालविशेषवाची सन्धिवेला आदि गणपठित शब्दों तथा ऋतुवाचक एवं नक्षत्रवाचक शब्दों से अण् प्रत्यय होता है।" यह सूत्र 'कालाट्ठञ्' का अपवाद है।

उदाहरण—सन्धिवेलायां भवम् (सन्धिवेला + अण् = 'अ' — 'सन्धिवेलाद्यृतु०', आदिवृद्धि तथा 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सान्धिवेलम् (सन्ध्या में होने वाला)। ग्रीष्मे भवम् (ग्रीष्म + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = ग्रैष्मम् (गर्मी का)। तिष्ये भवम् (तिष्य + अण्, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप तथा 'य्' का लोप — 'तिष्यपुष्ययोः नक्षत्राणि०') = तैषम् (तिष्य में उत्पन्न)। सन्धिवेलादि गण में ८ शब्द पढ़े गये हैं - सन्धिवेला, सन्ध्या, अमावस्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पौर्णमासी, प्रतिपद्।

(१७६२) **पद**—प्रावृषः, एण्यः। **अनुवृत्ति**—कालात्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रावृष् शब्द से 'एण्य' प्रत्यय होता है। प्रावृषेण्यः।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। अतः "कालवाची प्रावृष् शब्द से शैषिक 'एण्य' प्रत्यय होता है।" यह पूर्वसूत्र से प्राप्त अण् का अपवाद है।

उदाहरण—प्रावृषि भवः (प्रावृष् + 'एण्य', विभक्तिकार्य) = प्रावृषेण्यः (वर्षा में होने वाला)।

(१८६३) **पद**—वर्षाभ्यः, ठक्। **अनुवृत्ति**—कालात्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वर्षा शब्द से शैषिक 'ठक्' प्रत्यय होता है। वार्षिकं वासः।

विमर्श—पूर्ववत् अनुवृत्तियाँ आ रही हैं। अतः "वर्षा प्रातिपदिक से शैषिक अर्थ में ठक् (= क) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—वर्षासु साधु (वर्षा + ठक् = ठ, ठ = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि, 'आ' का लोप) = वार्षिकं वासः (वर्षा में उपयोगी वस्त्र)।

(१८६४) **पद**—सर्वत्र, अण्, च, तलोपश्च। **अनुवृत्ति**—हेमन्तात्, कालात्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—लोक एवं वेद में (सर्वत्र) हेमन्त शब्द से अण् और ठञ् प्रत्यय और 'त्' का लोप होता है। सूत्र में चकारग्रहण से पक्ष में केवल 'अण्' भी होता है। हैमनम्, हैमन्तम्।

विमर्श—'हेमन्ताच्च' (४।३।२१) सूत्र से 'हेमन्तात्' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'सर्वत्र' पद लोक एवं वेद दोनों का सूचक है। शेष आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है।

ऋत्वण्। हेमन्ते भवं हैमन्तं वसनम्। (१८६५) **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ४।३।२३।** सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युट्युलौ स्तः तयोस्तुट् च। सायं भवं सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णेप्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते। प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम्। दोषातनम्। दिवातनम्। * चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः *। चिरत्नम्। परुत्नम्। परारित्नम्। * अग्रादिपश्चाड्डिमच् *। अग्रिमम्। आदिमम्।

(१८६५) **सायंचिरम्।** **चतुर्भ्य इति।** सायं, चिरं, प्राह्णे, प्रगे इत्येभ्य इत्यर्थः। **सायन्तनम्** — सायंशब्दात् ट्युप्रत्यये ट्युल्प्रत्यये वा 'यु' इत्यस्य अनादेशे तुडागमे च अनुस्वारे परसवर्णे च कृते विभक्तिकार्ये 'सायन्तनम्' इति।

तदनुसार ''हेमन्त शब्द से वैदिक तथा लौकिक प्रयोगों में अण् प्रत्यय होता है और 'त्' का लोप होता है। पक्ष में केवल अण् होता है।''

उदाहरण—हेमन्ते भवम् (हेमन्त + अण् = 'अ', 'त्' का लोप — 'सर्वत्राण्०', 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = हैमनम्। 'च' ग्रहण से (पक्ष में केवल अण्) = हैमन्तम् (हेमन्त ऋतु में होने वाला)।

(१८६५) **पद**—सायंचिरं........अव्ययेभ्यः, ट्युट्युलौ, तुट्, च। **अनुवृत्ति**—कालात्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे और कालवाची अव्ययों से 'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्यय होते हैं और 'तुट्' का आगम भी होता है। सायंतनम्। चिरंतनम्। प्राह्ण और प्रग को एदन्त निपातन होता है। प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम्। दोषातनम्। दिवातनम्। **वा०**—चिर, परुत् और परारि से 'त्न' प्रत्यय होता है। चिरत्नम्। परुत्नम्। परारित्नम्। **वा०**—अग्र, आदि तथा पश्च से 'डिमच्' प्रत्यय होता है। अग्रिमम्। आदिमम्। पश्चिमम्। **वा०**—अन्त से भी 'डिमच्' प्रत्यय होता है। अन्तिमम्।

विमर्श—कालवाचक शब्दों का ही विषय है। अतः पूर्वसूत्र (१८५५) से 'कालात्' की अनुवृत्ति आ रही है। शेष पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — ''कालवाचक सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे तथा अव्ययवाचक शब्दों से 'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्यय होते हैं और इन प्रत्ययों को तुट् (= त्) का आगम भी होता है।'' 'प्राह्ण' और 'प्रग' शब्दों को एकारान्त निपातन भी होता है।

उदाहरण—(१) सायं भवम् (सायम् + ट्यु अथवा ट्युल् = 'यु', यु = अन, तुट् = 'त्' का आगम — प्रकृत सूत्र से, 'म्' को अनुस्वार, विभक्तिकार्य) = सायंतनम् (दिन के अन्त (सायं) में हुआ)। (२) चिरं भवम् (पूर्ववत् प्रक्रिया) = चिरंतनम् (पुराना)। (३) प्राह्णे भवम् (प्राह्ण + 'ट्यु' या 'ट्युल्' = यु, यु = 'अन', तुट् = 'त्' का आगम, विभक्तिकार्य) = प्राह्णेतनम् (दिन के प्रथम प्रहर में हुआ)। (४) प्रगे जातम् (प्रगे + ट्यु, प्रक्रिया उक्तवत्) = प्रगेतनम् (प्रातः होने वाला)। (५) **अव्ययवाचक शब्द** — दोषा भवम् (दोषा + ट्यु = यु = अन, 'त्' का आगम, विभक्तिकार्य) = दोषातनम् (रात्रि में होने वाला)। (६) दिवा भवम् (प्रक्रिया उक्तवत्) = दिवातनम् (दिन में होने वाला)।

१. **वा०**—चिर, परु तथा परारि अव्ययों से जातादि अर्थ में 'त्न' प्रत्यय होता है।

उदाहरण—चिरकाले भवम् (चिर + 'त्न' — प्रकृत वार्तिक से, विभक्तिकार्य) = चिरत्नम् (प्राचीनकाल का)। परुद् भवम् (परुत् + त्न, 'त्' का लोप — 'झरो झरि सवर्णे') = परुत्नम् (गत वर्ष का)। परारि भवम् (परारि + त्न) = परारित्नम् (गत वर्ष के पहले वर्ष का)।

२. **वा०**—अग्र, आदि तथा पश्च शब्दों से डिमच् प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—अग्रे भवम्

पश्चिमम्। * अन्ताच्च *। अन्तिमम्। (१८६६) विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् ४।३।२४। आभ्यां ट्युट्युलौ वा स्तस्तयोस्तुट् च। पक्षे ठञ्। पूर्वाह्णेतनम्, पौर्वाह्णिकम्। अपराह्णेतनम्, आपराह्णिकम्। (१८६७) तत्र जातः ४।३।२५। सप्तमी-समर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः। स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः। औत्सः। राष्ट्रियः।

(१८६६) **विभाषेति। पक्षे ठञिति।** तथा सति न तुट्, तस्य ट्युट्युल्भ्यां सन्नियोग - शिष्टत्वादिति भावः।

(१८६७) **तत्र जातः।** तत्रेत्यनेन सप्तम्यन्तस्यैव ग्रहणम्। **स्रौघ्नः** — स्रुघ्ने जात इत्यर्थे

(अग्र + डिमच् = 'इम', टि का लोप, विभक्तिकार्य) = अग्रिमम् (आगे का)। आदौ भवम् (आदि + डिमच् = 'इम', टिलोप) = आदिमम् (आरम्भ का)। पश्चाद् भवम् (पश्चाद् + डिमच्, टि = 'आत्' का लोप) = पश्चिमम् (पीछे का)।

३. **वा०**—अन्त शब्द से भी 'डिमच्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—अन्ते भवम् (अन्त + डिमच् = इम, टिलोप) = अन्तिमम् (अन्त का)।

(१८६६) **पद**—विभाषा, पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्। **अनुवृत्ति**—ट्युट्युलौ, तुट्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पूर्वाह्ण और अपराह्ण शब्दों से 'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं और तुट् का आगम होता है। पक्ष में ठञ्। पूर्वाह्णेतनम्, पौर्वाह्णिकम्। अपराह्णेतनम्, आपराह्णिकम्।

विमर्श—दो स्थलों पर 'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्ययों का पाक्षिक विधान किया जा रहा है। अतः पूर्वसूत्र (१८६५) से विधेयांश 'ट्युट्युलौ तुट् च' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव भी विद्यमान है। तदनुसार "कालवाचक पूर्वाह्ण और अपराह्ण शब्दों से शैषिक 'ट्यु' तथा 'ट्युल्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं तथा उनको तुट् (= त्) का आगम भी होता है।" पक्ष में 'कालाट्ठञ्' से ठञ् प्रत्यय होगा।

उदाहरण—पूर्वाह्णे जातम् (पूर्वाह्णे + ट्यु = 'यु', यु = अन तथा 'तुट्' = 'त्' का आगम — विकल्प से, विभक्तिकार्य) = पूर्वाह्णेतनम्। पक्ष में (पूर्वाह्ण + ठञ्, ठ = इक, आदिवृद्धि आदि) = पौर्वाह्णिकम् (दोपहर पूर्व का)। अपराह्णे जातम् (अपराह्णे + 'ट्यु' या 'ट्युल्', यु = अन, 'त्' का आगम विकल्प से, विभक्तिकार्य) = अपराह्णेतनम्। पक्ष में ठञ् होने पर — आपराह्णिकम् (दोपहर के बाद का)।

(१८६७) **पद**—तत्र, जातः। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त समर्थ से जात अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। स्रौघ्नः। औत्सः। राष्ट्रियः। अवारपारीणः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'तत्र' पद अर्थ का निर्देशक है। यहाँ उसका अभिप्राय 'सप्तमी' विभक्ति से है। 'जातः' का अर्थ — 'उत्पन्न हुआ' है। पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'जातः' अर्थ में यथाविहित अपत्यादि विकारान्तार्थ 'अण्' आदि तथा विशेष विहित 'घ' आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—स्रुघ्ने जातः (स्रुघ्न + अण् = 'अ' — प्रकृत सूत्र से, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = स्रौघ्नः[1] (स्रुघ्न नगर में उत्पन्न)। उत्से जातः (उत्स + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, 'अ'

१. स्रुघ्न नगर थानेश्वर से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग ५० मील पर स्थित वर्तमान सुग्ध नाम से जाना जाता है। कुछ ऐतिह्यविद् आगरा का प्राचीन नाम स्रुघ्न मानते हैं।

अवारपारीण इत्यादि। **(१८६८) प्रावृषष्ठप् ४।३।२६।** एण्यस्यापवादः। प्रावृषिकः। **(१८६९) प्रायभवः ४।३।३९।** तत्रेत्येव। स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति स्रौघ्नः। **(१८७०) सम्भूते ४।३।४१।** स्रुघ्ने सम्भवति स्रौघ्नः। **(१८७१) कोशाड्ढञ् ४।३।४२।** कौशेयं वस्त्रम्। **(१८७२) तत्र भवः ४।३।५३।**

स्रुघ्नशब्दात् 'तत्र जातः' इत्यनेनाणि आदिवृद्धौ अकारलोपे विभक्तिकार्ये 'स्रौघ्नः' इति।

(१८६८) **प्रावृषष्ठप्**। ठपः पित्त्वं स्वरार्थम्। तत्र जात इत्यर्थे एण्यापवादः ठप् स्यादिति भावः।

(१८६९) **प्रायभवः**। प्रायभव इत्यर्थे सप्तम्यन्तादणादयो घादयश्च यथायथं स्युरित्यर्थः।

(१८७०) **सम्भूते**। सप्तम्यन्तात्सम्भूतेऽर्थेऽणादयो घादयश्च स्युरित्यर्थः।

(१८७१) **कोशाड्ढञ्**। **कौशेयम्** — कोशस्य विकार इत्यर्थे ढञ्प्रत्यये ढस्य एयादेशे ञित्वादादिवृद्धौ अकारलोपे विभक्तिकार्ये 'कौशेयमि'ति।

का लोप आदि) = औत्सः (उत्स = झरने में उत्पन्न)। राष्ट्रे जातः (राष्ट्र + 'घ' — प्रकृत सूत्र से, घ = इय, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = राष्ट्रियः (राष्ट्र में उत्पन्न)। अवारपारे जातः (अवारपार + ख, ख = ईन, 'अ' का लोप, णत्व) = अवारपारीणः (दोनों तटों पर उत्पन्न)।

(१८६८) **पद**—प्रावृषः, ठप्। **अनुवृत्ति**—तत्र, जातः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रावृष् शब्द से जात अर्थ में ठप् प्रत्यय होता है। प्रावृषिकः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तत्र जातः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "जात अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रावृष् शब्द से 'ठप्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—प्रावृषि जातः (प्रावृष् + ठप् = ठ, ठ = इक, विभक्तिकार्य) = प्रावृषिकः (वर्षा ऋतु में पैदा हुआ)। 'ठप्' में प् इत् स्वरार्थ है। यह सूत्र 'एण्य' का अपवाद है।

(१८६९) **पद**—प्रायभवः। **अनुवृत्ति**—तत्र, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'प्रायभव' अर्थ में सप्तम्यन्त से यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं। स्रौघ्नः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८६७) से 'तत्र' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिक से 'प्रायः होता है' अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—स्रुघ्ने प्रायेण भवति (स्रुघ्न + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = **स्रौघ्नः** (जो स्रुघ्न में प्रायः हो)।

(१८७०) **पद**—सम्भूते। **अनुवृत्ति**—तत्र, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सम्भूत अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं। स्रौघ्नः।

विमर्श—"सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिक से 'सम्भव' अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—स्रुघ्ने सम्भवति (स्रुघ्न + अण्) = स्रौघ्नः (स्रुघ्न में जो सम्भव हो)।

(१८७१) **पद**—कोशात्, ढञ्। **अनुवृत्ति**—सम्भूते, तत्र, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त कोश शब्द से सम्भव अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है। कौशेयम्।

विमर्श—'तत्र' पद की अनुवृत्ति एवं 'सम्भूते' (१८७०) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "सप्तमीसमर्थ कोश शब्द से सम्भूत (सम्भव) अर्थ में 'ढञ्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—कोशे सम्भूतम् (कोश + ढञ् = ढ, ढ = 'एय' आदेश, 'अ' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = कौशेयम् (रेशमी वस्त्र)।

स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः। औत्सः। राष्ट्रियः। (१८७३) दिगादिभ्यो यत् ४।३।५४। दिश्यम्। वर्ग्यम्। (१८७४) शरीरावयवाच्च ४।३।५५। दन्त्यम्। कण्ठ्यम्। (१८७५) दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ् ४।३।५६। दार्तेयम्। कलशिर्घटः,

---

(१८७२) **तत्र भवः**। सप्तम्यन्ताद्भव इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च यथायथं स्युरित्यर्थः।

(१८७३) **दिगादिभ्यः**। भव इत्यर्थे सप्तम्यन्तेभ्य इत्यर्थः।

(१८७४) **शरीरावयवाच्चेति**। भव इत्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः।

(१८७५) **दृतिकुक्षि०**। सप्तम्यन्तेभ्यो भव इत्यर्थे ढञ् स्यादित्यर्थः।

(१८७२) **पद**—तत्र, भवः। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त से भव अर्थ में अण् आदि प्रत्यय और घ आदि प्रत्यय होते हैं। स्रौघ्नः। औत्सः। राष्ट्रियः।

विमर्श—पूर्ववत् सभी आधिकारिक एवं प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिकों से 'भव' अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—स्रुघ्ने भवः (स्रुघ्न + अण्, प्रक्रिया पूर्ववत्) = स्रौघ्नः (स्रुघ्न में होने वाला)। राष्ट्रे भवः (राष्ट्र + घ) = राष्ट्रियः (राष्ट्र में होने वाला)। उत्से भवः (उत्स + अण्) = औत्सः।

(१८७३) **पद**—दिगादिभ्यः, यत्। **अनुवृत्ति**—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दिगादिगणपठित शब्दों से भव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। दिश्यम्। वर्ग्यम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तत्र भवः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अतः ''सप्तम्यन्त दिश् आदि शब्दों से भव अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—दिशि भवम् (दिश् + यत् = 'य', विभक्तिकार्य) = दिश्यम् (दिशा में होने वाला)। वर्गे भवम् (वर्ग + यत् = 'य', अन्त्य 'अ' का लोप) = वर्ग्यम् (वर्ग या समूह में होने वाला)।

(१८७४) **पद**—शरीरावयवात्, च। **अनुवृत्ति**—यत्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शरीरावयववाची शब्द से भी भव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। दन्त्यम्। कण्ठ्यम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८७२) से 'तत्र भवः' की तथा सूत्र १८७३ से 'यत्' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से आ रही है। तदनुसार ''सप्तम्यन्तसमर्थ शरीर के अवयववाचक शब्दों से भी भव अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—दन्तेषु भवम् (दन्त + यत् = 'य', 'अ' का लोप) = दन्त्यम् (दाँतों में होने वाला)। कण्ठे भवम् (कण्ठ + यत्, 'अ' का लोप) = कण्ठ्यम् (गले में होने वाला)।

(१८७५) **पद**—दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेः, ढञ्। **अनुवृत्ति**—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अस्ति और अहि शब्दों से भव अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है। दार्तेयम्। कालशेयम्। वास्तेयम्।

विमर्श—उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार — ''सप्तमीसमर्थ दृति आदि शब्दों से भव अर्थ में शैषिक ढञ् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—दृतौ भवम् (दृति + ढञ् = ढ, ढ = 'एय' आदेश, आदिवृद्धि, रपर, 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = दार्तेयम् (मशक में होने वाला)। कलशौ भवम् (कलशि + ढञ् = ढ, ढ = एय, आदिवृद्धि, इकारलोप) = कालशेयम् (घड़े में रहने वाला)। वस्तौ भवम् (वस्ति + ढञ्, ढ = एय, आदिवृद्धि, इकारलोप) = वास्तेयम् (पेडू में होने वाला)।

तत्र भवं कालशेयम्। वास्तेयम्। (१८७६) ग्रीवाभ्योऽण् च ४।३।५७। चात् ढञ्। ग्रैवेयम्, ग्रैवम्। (१८७७) गम्भीराञ्ञ्यः ४।३।५८। गम्भीरे भवं गाम्भीर्यम्। (१८७८) अव्ययीभावाच्च ४।३।५९। परिमुखे भवं पारिमुख्यम्। *परिमुखादिभ्य एवेष्यते*। नेह – औपकूलः। (१८७९) अन्तःपूर्वपदाट्ठञ्

(१८७६) **ग्रीवाभ्योऽण् चेति**। 'शरीरावयवाच्च' इति यतोऽपवादः। ग्रीवाशब्दोऽयं धमनीसङ्घेऽर्थे वर्तते। तत्र उद्भूतावयवभेदसङ्घविवक्षायां बहुवचनान्तात्प्रत्यय इति सूचयितुं बहुवचनं सूत्रे प्रयुक्तम्।

(१८७७) **गम्भीराञ्ञ्यः**। **गाम्भीर्यमिति**। गम्भीरशब्दात् ञ्यप्रत्यये ञित्त्वादादिवृद्धौ 'यस्येति चे'त्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'गाम्भीर्यमि'ति।

(१८७८) **अव्ययीभावाच्च**। 'ञ्य' इति शेषः।

(१८७६) **पद**—ग्रीवाभ्यः, अण्, च। **अनुवृत्ति**—ढञ्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त ग्रीवा शब्द से भव अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और ढञ् प्रत्यय भी। ग्रैवेयम्, ग्रैवम्।

विमर्श—सूत्रस्थ 'च' से पूर्व प्रत्यय 'ढञ्' (१८७५) का अनुकर्षण होता है। अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार — "सप्तमीसमर्थ ग्रीवा शब्द से भव अर्थ में 'अण्' और 'ढञ्' प्रत्यय होते हैं।" ग्रीवा शब्द 'धमनी' का वाचक है, उनके बहुत होने से सूत्र में बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

उदाहरण—ग्रीवासु भवम् (ग्रीवा + अण् = 'अ' — प्राप्त 'यत्' का बाधकर 'ग्रीवाभ्योऽण् च', आदिवृद्धि, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = ग्रैवम्। च ग्रहण से ढञ् — ग्रीवा + ढञ् (= ढ, ढ = एय, आदिवृद्धि, 'आ' का लोप) = ग्रैवेयम् (धमनियों में रहने वाला)।

(१८७७) **पद**—गम्भीरात्, ञ्यः। **अनुवृत्ति**—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गम्भीर शब्द से भव अर्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है। गाम्भीर्यम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८७२) से 'तत्र भवः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — "सप्तमी समर्थ गम्भीर शब्द से भव अर्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—गम्भीरे भवम् (गम्भीर + ञ्य = 'य', आदिवृद्धि एवम् अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = गाम्भीर्यम् (गहराई में होने वाला)।

(१८७८) **पद**—अव्ययीभावात्, च। **अनुवृत्ति**—ञ्यः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अव्ययीभाव से भव अर्थ में ञ्य प्रत्यय होता है। पारिमुख्यम्।

वा०—परिमुखादि से ही ञ्य प्रत्यय इष्ट है। अतः यहाँ नहीं — औपकूलः।

विमर्श—सूत्रस्थ चकार पूर्वसूत्र (१८७६) से 'ञ्यः' की अनुवृत्ति का सूचक है। शेष उल्लिखित प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव है। अतः "सप्तमीसमर्थ अव्ययीभावसंज्ञक शब्द से भवार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—परिमुखं भवम् (परिमुख + ञ्य = 'य', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = पारिमुख्यम् (उपस्थिति या सामीप्य)। **वा०**—"परिमुख आदि शब्दों से ही ञ्य प्रत्यय होता है।" अतः 'कुलस्य समीपम् उपकुलम्, तत्र भवः' अर्थ में 'ञ्य' प्रत्यय नहीं होता — उपकुल + अण् = औपकुलः (कुल के समीप होने वाला)।

४।३।६०। अव्ययीभावादित्येव। वेश्मनि इति अन्तर्वेश्मम्, तत्र भवम् आन्तर्वेश्मिकम्। आन्तर्गणिकम्। * अध्यात्मादेष्ठञिष्यते *। अध्यात्मं भवम् आध्यात्मिकम्। (१८८०) अनुशतिकादीनां च ७।३।२०। एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। ऐहलौकिकम्। पारलौकिकम्। आकृतिगणो-

---

(१८७९) **अन्त इति**। **अन्तर्वेश्ममिति**। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। समासान्तष्टच् टिलोपः अन्तर्वेश्म इति। ततो भवार्थे ठञि, ठस्येकादेशे आदिवृद्धिः **आन्तर्वेश्मिकमिति**।

(१८८०) **अनुशतिकादीनामिति**। आदिवृद्धिप्रकरणे उत्तरपदस्य, पूर्वपदस्य चेत्यधिकारे सूत्रमिदं पठितम्। अत आह — **एषामिति**।

(१८७९) **पद**—अन्तःपूर्वपदात्, ठञ्। **अनुवृत्ति**—अव्ययीभावात्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अन्तः पूर्वपद अव्ययीभाव से भव अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। आन्तर्वेश्मिकम्। आन्तर्गणिकम्। **वा०**—अध्यात्म आदि शब्दों से भव अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। आध्यात्मिकम्।

विमर्श—अव्ययीभाव का ही विषय होने से पूर्वसूत्र (१८७८) से 'अव्ययीभावात्' की अनुवृत्ति आती है। 'तत्र भवः' (१८७२) आदि की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। अतः ''सप्तमीसमर्थ अव्ययीभावसंज्ञक शब्दों से भव अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—वेश्मनि इति अन्तर्वेश्मम्, तत्र भवम् (अन्तर्वेश्म + ठञ् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = आन्तर्वेश्मिकम् (मकान के अन्दर होने वाला)। अन्तर्गणं भवम् (अन्तर्गण + ठञ् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) = आन्तर्गणिकम् (गण या समूह के अन्दर होने वाला)।

वा०—अध्यात्म आदि शब्दों से भवार्थ में ठञ् प्रत्यय इष्ट है। **उदाहरण**—आत्मनि इति अध्यात्मम्, तत्र भवम् (अध्यात्म + ठञ् = 'ठ' वार्तिक से, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) = आध्यात्मिकम् (आत्मसम्बन्धी)।

(१८८०) **पद**—अनुशतिकादीनां, च। **अनुवृत्ति**—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, किति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ञित्, णित् और कित् प्रत्यय परे रहते अनुशतिकादिगणपठित शब्दों में उभयपदवृद्धि होती है। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। ऐहलौकिकम्। पारलौकिकम्। यह आकृतिगण है।

विमर्श—यह वृद्धिप्रकरण का सूत्र है। अतः उक्त पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अनुशतिकादि आकृतिगण है। इसमें अनुशतिक, अधिदेव, अधिभूत, इहलोक तथा परलोक आदि शब्दों का समावेश है। तदनुसार — ''ञित्, णित् तथा कित् तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर अनुशतिक आदि अङ्गों के पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों के अचों में आदि अच् को भी वृद्धि होती है।''

उदाहरण—देवेषु इति अधिदेवम्, तत्र भवम् (अधिदेव + ठञ् = ठ — 'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते'-वा०', 'ठ' = 'इक' आदेश, उभयपद आदिवृद्धि) — आधिदैव + इक (अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = आधिदैविकम् (ईश्वर में होने वाला)। भूतेषु इति अधिभूतम्, तत्र भवम् (अधिभूत + ठञ्, ठ = इक, उभयपदवृद्धि एवं 'अ' का लोप) = आधिभौतिकम् (प्राणियों या पदार्थों में होने वाला)। इहलोके भवम् (इहलोक + ठञ् = ठ, ठ = इक, उभयपदवृद्धि, 'अ' का लोप) = ऐहलौकिकम् (इस लोक में होने वाला)। परलोके भवम् (परलोक + ठञ्, प्रक्रिया उक्तवत्) = पारलौकिकम् (परलोक में होने वाला)।

ऽयम्। (१८८१) जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ४।३।६२। जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्। (१८८२) वर्गान्ताच्च ४।३।६३। कवर्गीयम्। (१८८३) तत आगतः ४।३।७४। स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः। (१८८४) ठगायस्थानेभ्यः ४।३।७५।

(१८८१) **जिह्वामूलेति**। 'शरीरावयवाच्चे'ति यतोऽपवादोऽयम्।

(१८८२) **वर्गान्ताच्च**। छ इति शेषः।

(१८८३) **तत आगतः**। 'तत आगतः' इत्यर्थे पञ्चम्यन्ताद् यथायथं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः।

(१८८४) **ठगायस्थानेभ्यः**। तत आगत इत्यर्थे इति शेषः। हट्टादिषु स्वामिग्राह्यो भागः आयः। स यस्मिन् गृह्यते तदायस्थानम्, तद्वाचिभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः।

(१८८१) **पद**—जिह्वामूलाङ्गुलेः, छः। **अनुवृत्ति**—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जिह्वामूल और अङ्गुलि शब्द से भव अर्थ में छ प्रत्यय होता है। जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्।

विमर्श—यहाँ 'तत्र भवः' (१८७२) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — "सप्तमीसमर्थ जिह्वामूल तथा अङ्गुलि शब्दों से भव अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—जिह्वामूले भवम् (जिह्वामूल + छ, छ = ईय, अन्त्य 'अ' का लोप) = जिह्वामूलीयम् (जिह्वामूल में होने वाला)। अङ्गुल्यां भवम् (अङ्गुलि + छ, छ = ईय, शेष कार्य उक्तवत्) = अङ्गुलीयम् (अँगूठी)।

(१८८२) **पद**—वर्गान्तात्, च। **अनुवृत्ति**—छः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वर्गान्त शब्दों से भी छ प्रत्यय होता है। कवर्गीयम्।

विमर्श—'तत्र भवः' तथा अन्य प्राकरणिक अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। पूर्वसूत्र (१८८१) से विधेयांश 'छ' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार — "सप्तमीसमर्थ वर्गशब्दान्त शब्दों से भी भवार्थ में छ प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—कवर्गे भवम् (कवर्ग + छ, छ = ईय, अन्त्यलोप, विभिक्तिकार्य) = कवर्गीयम् (कवर्ग में होने वाला)।

(१८८३) **पद**—ततः, आगतः। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पञ्चम्यन्त से आगत अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। स्रौघ्नः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'ततः' पद पञ्चम्यन्त का सूचक है। 'आगतः' का अर्थ 'आया हुआ' है। अतः "पञ्चम्यन्त समर्थ शब्दों से 'आया हुआ' अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—स्रुघ्नात् आगतः (स्रुघ्न + अण् = 'अ', 'तत आगतः', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = स्रौघ्नः (स्रुघ्न से आया हुआ)।

(१८८४) **पद**—ठक्, आयस्थानेभ्यः। **अनुवृत्ति**—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—आयस्थानवाची पञ्चम्यन्त से आगत अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। शौल्कशालिकः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तत आगतः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "पञ्चमीसमर्थ आय (= कर) स्थानवाची शब्दों से 'आगत' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—शुल्कशालाया आगत (शुल्कशाला + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = शौल्कशालिकः (चुंगीघर से आया हुआ)।

शौल्कशालिकः । (१८८५) विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ४।३।७७ । औपाध्यायकः । पैतामहकः । (१८८६) ऋतष्ठञ् ४।३।७८ । वुञोऽपवादः । हौतृकम् । मातृकम् । भ्रातृकम् । (१८८७) पितुर्यच्च ४।३।७९ । चाट्ठञ् । रीङ्तः, यस्येति

(१८८५) **विद्यायोनिसम्बन्धेभ्य इति** । 'तत आगतः' इत्यत्रेव ।

(१८८६) **ऋतष्ठञ्** । ऋदन्ताद् विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनष्ठञ् भवतीत्यर्थः ।

(१८८७) **पितुर्यच्च** । यति प्रक्रियां दर्शयति – **रीङृत इति** ।

(१८८५) **पद**—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, वुञ् । **अनुवृत्ति**—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विद्या और योनि सम्बन्धवाची पञ्चम्यन्त से आगत अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है । औपाध्यायकः । पैतामहकः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तत आगतः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार ''पञ्चमीसमर्थ विद्यासम्बन्धवाचक तथा योनि (उत्पत्ति) सम्बन्धवाचक शब्दों से आगत अर्थ में वुञ् (= वु) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—उपाध्यायात् आगतः (उपाध्याय + वुञ् = 'वु', वु = 'अक' आदेश, आदिवृद्धि, अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = औपाध्यायकः (गुरु से प्राप्त—ज्ञान) । पितामहात् आगतः (पितामह + वुञ्, वु = 'अक', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = पैतामहकः (पितामह से प्राप्त) ।

(१८८६) ऋतः, ठञ् । **अनुवृत्ति**—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, तत आगतः, शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विद्या और योनि सम्बन्धवाची पञ्चम्यन्त ऋदंन्त से आगत अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है । यह वुञ् का अपवाद है । हौतृकम् । मातृकम् । भ्रातृकम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८८५) से 'विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' तथा 'तत आगतः' (१८८३) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार — ''पञ्चमीसमर्थ विद्या और योनि सम्बन्धवाचक ऋकारान्त शब्दों से आगत अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—होतुः आगतम् (होतृ + ठञ् = ठ, 'ठ' = 'क' आदेश - 'इसुसुक्तान्तात्कः', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = हौतृकम् (होता से प्राप्त) । मातुः आगतम् (मातृ + ठञ् = ठ, ठ = क, विभक्तिकार्य) = मातृकम् (माता से प्राप्त) । भ्रातुः आगतम् (भ्रातृ + ठञ्, प्रक्रिया उक्तवत्) = भ्रातृकम् (भाई से प्राप्त) ।

(१८८७) **पद**—पितुः, यत्, च । **अनुवृत्ति**—ठञ्, शेषे, तद्धिताः, तत आगतः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पञ्चम्यन्त पितृ शब्द से आगत अर्थ में यत् और ठञ् प्रत्यय होते हैं । पित्र्यम्, पैतृकम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र से 'च' ग्रहण होने के कारण 'ठञ्' का अनुकर्षण होता है । शेष पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है । अतः ''पञ्चमीसमर्थ पितृ शब्द से आगत अर्थ में 'यत्' और 'ठञ्' प्रत्यय भी होते हैं ।''

उदाहरण—पितुः आगतम् (पितृ + यत् = 'य' — 'पितुर्यच्च', ऋ = रीङ् = 'री' आदेश — 'रीङृतः') — पित् री य ('ई' का लोप — 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = पित्र्यम् । ठञ् पक्ष में — पितृ + ठञ् = ठ, 'ठ' = 'क' आदेश, आदिवृद्धि) = पैतृकम् (पिता से प्राप्त) ।

लोपः। पित्र्यम्। पैतृकम्। (१८८८) **गोत्रादङ्कवत् ४।३।८०। बिदेभ्य आगतं** बैदः। गार्गम्। दाक्षम्। औपगवकम्। (१८८९) **हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ४।३।८१। समादागतं समरूप्यम्। पक्षे - गहादित्वाच्छः। समीयम्। देवदत्तीयम्। देवदत्तरूप्यम्। (१८९०) मयट् च ४।३।८२। सममयम्। (१८९१) प्रभवति**

(१८८८) **गोत्रादङ्कवदिति**। अङ्के ये प्रत्ययास्ते तत आगत इत्यर्थेऽपि भवन्तीत्यर्थः।

(१८८९) **हेतुमनुष्येभ्य इति**। तत आगत इत्येव।

(१८९०) **मयट् चेति**। उक्तविषये इति शेषः।

(१८८८) **पद**—गोत्रात्, अङ्कवत्। **अनुवृत्ति**—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गोत्रसंज्ञक शब्दों से अङ्क अर्थ के समान आगत अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। बैदम्। गार्गम्। दाक्षम्। औपगवम्।

विमर्श—आगत का ही विषय है। अतः उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार — "पञ्चमीसमर्थ गोत्रवाचक शब्दों से आगत अर्थ में अङ्कवत् प्रत्यय होते हैं। अङ्कवत् प्रत्ययविधि का अतिदेश होने से 'सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्' (४।४।१२७) से विहित 'अण्' का ही विधान जानना चाहिए। यहाँ 'अङ्क' शब्द सामान्य अर्थ का उपलक्षण है। जिस प्रकार गोत्रवाची शब्दों से 'तस्येदम्' अर्थ में प्रत्यय होते हैं उसी प्रकार 'तत आगतः' अर्थ में भी हों। अतः गोत्रसंज्ञ 'वुञ्' ('गोत्रचरणाद् वुञ्' ४।३।१२६) भी होगा।"

उदाहरण—बिदेभ्य आगतम् (बिद + अञ् = 'अ' — 'अपत्य अर्थ में') = बैदः (बैद + अण् = 'अ', अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = बैदम् (बिदों से प्राप्त)। गर्गेभ्यः आगतम् (गर्ग + यञ् — अपत्यार्थ) = गार्ग्यः (गार्ग्य + अण् = 'अ', अकारलोप तथा 'य्' का लोप, विभक्तिकार्य) = गार्गम् (गार्ग्यों से प्राप्त)। दक्षेभ्यः आगतम् (दक्ष + इञ्) = दाक्षिः (दाक्षि + अण्, 'इ' का लोप) = दाक्षम् (दाक्षों से प्राप्त)। औपगवेभ्य आगतम् (उपगु + अण्) = औपगवः (औपगव + वुञ् = वु, वु = 'अक', 'अ' का लोप) = औपगवकम् (औपगवों से प्राप्त)।

(१८८९) **पद**—हेतुमनुष्येभ्यः, अन्यतरस्याम्, रूप्यः। **अनुवृत्ति**—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हेतु और मनुष्यवाची शब्दों से 'तत आगतः' अर्थ में 'रूप्य' प्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में यथाप्राप्त प्रत्यय भी। समरूप्यम्, समीयम्। देवदत्तरूप्यम्, देवदत्तीयम्।

विमर्श—'तत आगतः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अतः "हेतु तथा मनुष्यवाची शब्दों से आगत अर्थ में विकल्प से 'रूप्य' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—समाद् आगतः (सम + 'रूप्य' — विकल्प से, विभक्तिकार्य) = समरूप्यः। पक्ष में — सम + 'छ' (— 'गहादिभ्यश्च', 'छ' = 'ईय', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = समीयम् (समतल)। देवदत्ताद् आगतः (देवदत्त + 'रूप्य' विकल्प से, विभक्तिकार्य) = देवदत्तरूप्यम्। **पक्ष में** — छ = देवदत्तीयम् (देवदत्त से प्राप्त)।

(१८९०) **पद**—मयट्, च। **अनुवृत्ति**—हेतुमनुष्येभ्यः, तत आगतः, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उक्त विषय में मयट् भी होता है। सममयम्।

४।३।८३ । हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा । (१८९२) विदूराञ्ज्यः ४।३।८४ । विदूरात्प्रभवति वैदूर्यो मणिः । (१९९३) तद्गच्छति पथिदूतयोः ४।३।८५ । स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा । (१८९४) अभिनिष्क्रामति द्वारम् ४।३।८६ ।

(१८९१) **प्रभवति** । प्रभवतीत्यर्थे पञ्चम्यन्ताद् यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । प्रभवः प्रथमः प्रकाशः । **हैमवती** — हिमवतः प्रभवतीति विग्रहे हिमवत्शब्दात् 'प्रभवति' इत्यनेन अणि आद्यचो वृद्धौ 'टिड्ढाणञ्०' इत्यादिना ङीपि 'हैमवत + ई' इति जाते भत्वे अकारलोपे विभक्तिकार्ये 'हैमवती' इति ।

(१८९२) **विदूराञ्ज्यः** । 'ततः प्रभवती'त्येव । विदूरशब्दो दन्तमध्यः, देशविशेषवाचकश्च । **वैदूर्यः** — विदूरशब्दात् ञ्यप्रत्यये आदिवृद्धौ 'यस्येति चे'त्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'वैदूर्यः' इति ।

(१८९३) **तद्गच्छतीति** । द्वितीयान्ताद् गच्छतीत्यर्थे यथायथं प्रत्ययाः स्युः, स चेद् गन्ता पन्था दूतो वेत्यर्थः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८८९) से 'हेतुमनुष्येभ्यः' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है । 'तत आगतः' का ही विषय है । तदनुसार ''पञ्चमीसमर्थ हेतु तथा मनुष्यवाची शब्दों से आगत अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय भी होता है ।''

उदाहरण—सम + मयट् (= 'मय', विभक्तिकार्य) = सममयम् ।

(१८९१) **पद**—प्रभवति । **अनुवृत्ति**—ततः, शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'ततः प्रभवति' अर्थ में पञ्चम्यन्त से अण् आदि प्रत्यय होते हैं । हैमवती गङ्गा ।

विमर्श—पञ्चम्यन्त का प्रभाव होने से पूर्वसूत्र 'तत आगतः' (१८८३) से केवल 'ततः' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है । इस प्रकार — ''पञ्चम्यन्त से 'प्रभवति' (निकलती है) अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।''

उदाहरण—हिमवतः प्रभवति (हिमवत् + अण् = 'अ' — 'प्रभवति', आदिवृद्धि, ङीप् = 'ई', अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = हैमवती गङ्गा (हिमालय से निकलती है अर्थात् गङ्गा) ।

(१८९२) **पद**—विदूरात्, ञ्यः । **अनुवृत्ति**—प्रभवति, ततः, शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विदूर शब्द से 'प्रभवति' अर्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है । वैदूर्यः ।

विमर्श—''पञ्चमीसमर्थ विदूर शब्द से 'प्रभवति' अर्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है'' । उक्त सूत्र 'प्रभवति' तथा १८८३ से 'ततः' की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है ।

उदाहरण—विदूर + ञ्य (= 'य', आदिवृद्धि, अकारलोप, विभक्तिकार्य) = वैदूर्यः मणिः (विदूर (बालवाय पर्वत) से निकलने वाली वैदूर्य मणि) ।

(१८९३) **पद**—तद्, गच्छति, पथिदूतयोः । **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वितीयान्त शब्द से 'गच्छति' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं, यदि जाने वाला पन्था या दूत हो । स्रौघ्नः पन्था दूतो वा ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'तत्' पद द्वितीयान्त है । तदनुसार — ''द्वितीयान्तसमर्थ शब्द से 'जाता है' अर्थ में यदि जाना क्रिया का कर्ता मार्ग अथवा दूत हो तो अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।''

उदाहरण—स्रुघ्नं गच्छति (स्रुघ्न + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = स्रौघ्नः (स्रुघ्न को जाने वाला मार्ग या दूत) ।

स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम्। (१८९५) अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७। शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः। 'शारीरकं भाष्यमि'ति त्वभेदोपचारात्। (१८९६) सोऽस्य निवासः ४।३।८९। स्रुघ्नो निवासोऽस्य

(१८९४) **अभिनिष्क्रामतीति**। द्वितीयान्ताद् अभिनिष्क्रामतीत्यर्थे यथायथमणादयः स्युरित्यर्थः। **कान्येति**। कान्यकुब्जाख्यजनपदस्य द्वारमित्यर्थः।

(१८९५) **अधिकृत्येति**। 'अधिकृत्यं कृतो ग्रन्थः' इत्यर्थेऽणादयः प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। **शारीरकीयः** — शरीरस्यायं शारीरः = जीवात्मा। स एव शारीरकः, तस्येदमित्यणन्तात्स्वार्थे कः, शारीरकं = जीवात्मानम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः इत्यर्थे छप्रत्यये, छस्य ईयादेशे 'शारीरकीयः' इति।

(१८९६) **सोऽस्य निवासः**। अस्मिन्नर्थे प्रथमान्तात् प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। 'यत्र सम्प्रत्युष्यते स निवासः' इति भाष्यम्।

(१८९४) **पद**—अभिनिष्क्रामति, द्वारम्। **अनुवृत्ति**—तद्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त से 'अभिनिष्क्रामति' अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं, यदि वह द्वार हो तो। स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८९३) से 'तद्' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'अभिनिष्क्रामति' (निकलता है) अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं, यदि निकलने वाला द्वार हो।"

उदाहरण—स्रुघ्नमभिगच्छति (स्रुघ्न + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् (कन्नौज का द्वार जो स्रुघ्न = आगरा की ओर निकलता है)।

(१८९५) **पद**—अधिकृत्य, कृते, ग्रन्थे। **अनुवृत्ति**—तद्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त से 'अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं। शारीरकीयः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८९३) से 'तत्' पद की अनुवृत्ति आती है। अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — "द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'उस विषय को लेकर लिखा गया ग्रन्थ' अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—शारीरकम् अधिकृत्य कृतः ग्रन्थः (शारीरक + छ, छ = 'ईय', अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = शारीरकीयः (जीवात्मा को लेकर लिखा गया ग्रन्थ)। 'शारीरकं भाष्यम्' प्रयोग अभेद के बल पर है। 'शरीरम् एव शरीरकम् (कन्) — तत्र भवः (अण्) = शारीरकः' यहाँ क प्रत्यय प्रतिपाद्य जीव तथा तत्प्रतिपादक भाष्य का लक्षणा से अभेदारोप किया जाता है।

(१८९६) **पद**—सः, अस्य, निवासः। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रथमान्त शब्द से 'अस्य निवासः' अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं। स्रौघ्नः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'सः' पद प्रथमा विभक्ति का सूचक है। तदनुसार — "प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'इसका निवास है' अर्थ में यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—स्रुघ्नः निवासः अस्य (स्रुघ्न + अण्) = स्रौघ्नः (स्रुघ्न देश का निवासी)।

स्त्रौघ्नः । **(१८९७) तेन प्रोक्तम् ४।३।१०१** । पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् । **(१८९८) पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४।३।११०** । णिनिः स्यात् । पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते पाराशरिणो भिक्षवः । शैलालिनो नटाः । **(१८९९) कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ४।३।१११** । कर्मन्देन प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते कर्मन्दिनो भिक्षवः । कृशाश्विनो नटाः । **(१९००) उपज्ञाते ४।३।११५** । पाणि-

---

(१८९७) **तेनेति** । तृतीयान्तात्प्रोक्तेऽर्थेऽणादयो घादयश्च स्युरित्यर्थः ।

(१८९८) **पाराशर्य इति** । णिनिः स्यादिति । मण्डूकप्लुत्या णिनिरेवानुवर्तते इति भावः ।

(१८९९) **कमन्द इति** । कमन्देन प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमित्यर्थे कृशाश्वेन प्रोक्तमित्यर्थे च तृतीयान्तादिनिः स्यादित्यर्थः ।

(१८९७) **पद**—तेन, प्रोक्तम् । **अनुवृत्ति**—सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तृतीयान्त से 'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में पूर्वोक्त अण् आदि प्रत्यय होते हैं । पाणिनीयम् ।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक तथा आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है । अतः ''तृतीयान्त शब्दों से 'कहा गया' (प्रोक्तम्) अर्थ में यथाविहित अण्, छ आदि प्रत्यय होते हैं ।''

उदाहरण—पाणिनिना प्रोक्तम् (पाणिनि + छ, छ = 'ईय' आदेश, 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = पाणिनीयम् (पाणिनि के द्वारा कहा गया — व्याकरण) ।

(१८९८) **पद**—पाराशर्य-शिलालिभ्याम्, भिक्षुनटसूत्रयोः । **अनुवृत्ति**—तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—भिक्षुसूत्र और नटसूत्र वाच्य रहते पाराशर्य और शिलालिन् शब्द से प्रोक्त अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है । पाराशरिणः भिक्षवः । शैलालिनः नटाः ।

विमर्श—यहाँ मण्डूकप्लुत्या 'णिनि' की अनुवृत्ति 'काश्यपकौशिकाभ्याम्०' (४।३।१०३) सूत्र से आती है । पूर्वसूत्र 'तेन प्रोक्तम्' की अनुवृत्ति भी विद्यमान है । तदनुसार ''तृतीयासमर्थ 'पाराशर्य' तथा 'शिलालिन्' शब्दों से क्रमशः भिक्षुसूत्र और नटसूत्र का विषय अभिधेय होने पर णिनि (= इन्) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—पाराशर्येण प्रोक्तमधीयते (पाराशर्य + णिनि = 'इन्' — प्रकृत सूत्र से, 'अ' का लोप तथा 'य्' का लोप — 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति') — पाराशरिन् + अण् — अध्येत्रर्थ, विभक्ति जस्, अण् का लोप, जस् = अस्, स् = र् = :, णत्व) = पाराशरिणः (पाराशर्य के द्वारा प्रोक्त भिक्षुसूत्रों के अध्येता) । शिलालिना प्रोक्तम् अधीयते (शिलालिन् + णिनि = 'इन्', टि = 'इन्' का लोप, आदिवृद्धि) — शैलालिन् + अण् (— 'अध्येत्रर्थक', 'अण्' का लोप, जस् = अस्, स् = र् = :) = शैलालिनः नटाः (शिलालिन् द्वारा प्रोक्त नटसूत्रों के अध्येता) ।

(१८९९) **पद**—कर्मन्द-कृशाश्वात्, इनिः । **अनुवृत्ति**—भिक्षुनटसूत्रयोः, तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कर्मन्द और कृशाश्व शब्दों से क्रमशः भिक्षुसूत्र और नटसूत्र वाच्य रहते 'इनि' प्रत्यय होता है । कर्मन्दिनः भिक्षवः । कृशाश्विनः नटाः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८९८) से 'भिक्षुनटसूत्रयोः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'तेन प्रोक्तम्' (१८९७) का विषय है । तदनुसार — ''तृतीयान्त कर्मन्द और कृशाश्व शब्दों से क्रमशः भिक्षुसूत्र और नटसूत्र का प्रोक्त विषय अभिधेय होने पर इनि (= इन्) प्रत्यय होता है ।''

निना उपज्ञातं पाणिनीयम्। (१९०१) तस्येदम् ४।३।१२०। उपगोरिदम् औपगवम्। * समिधामाधाने षेण्यण् *। सामिधेन्यो मन्त्रः। (१९०२) रथाद्यत् ४।३।१२१। रथ्यं चक्रम्। (१९०३) पत्रपूर्वादञ् ४।३।१२२। अश्वरथस्येदम्

(१९००) **उपज्ञाते**। उपज्ञातं = प्रथमज्ञातम्, 'उपदेशेन विना ज्ञातमि'ति मनोरमाकारः। 'तेनोपज्ञातमि'त्यर्थे तृतीयान्ताद् यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः।

(१९०१) **तस्येदम्**। षष्ठ्यन्तादिदमित्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युरिति सूत्रार्थः।

(१९०२) **रथाद्यत्**। 'तस्येदमि'त्येव।

(१९०३) **पत्रपूर्वादञ्**। रथादित्येव।

उदाहरण—कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते[1] (कर्मन्द + इनि = 'इन्', 'अ' का लोप) — कर्मन्दिन् + जस् (= अस्, स् = र् = :) = कर्मन्दिनः भिक्षवः (कर्मन्द के द्वारा प्रोक्त भिक्षुसूत्रों के अध्येता)। कृशाश्वेन प्रोक्तमधीयते (कृशाश्व + इनि = 'इन्', अ का लोप, जस्, विभक्तिकार्य) = कृशाश्विनः नटाः (कृशाश्व के द्वारा प्रोक्त नटसूत्रों के अध्येता)।

(१९००) **पद**—उपज्ञाते। **अनुवृत्ति**—तेन, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त से 'उपज्ञात' अर्थ में पूर्वोक्त अण् आदि प्रत्यय होते हैं। पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१८८७) से 'तेन' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — ''तृतीयान्तसमर्थ प्रातिपदिक से उपज्ञात (अपनी बुद्धि से आविष्कृत) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—पाणिनिना उपज्ञातम् (पाणिनि + छ, छ = 'ईय', 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = पाणिनीयम् (पाणिनि के द्वारा आविष्कृत)।

(१९०१) **पद**—तस्य, इदम्। **अनुवृत्ति**—शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त से 'इदम्' इस अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं। औपगवम्। **वा०**—षष्ठ्यन्त समित् शब्द से आधान अर्थ में षेण्यण् प्रत्यय होता है। सामिधेन्यः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'तस्य' पद सम्बन्ध में षष्ठी होने से षष्ठी समर्थ का सूचक है। 'इदम्' का अर्थ 'यह' है। शैषिक के व्यापक अर्थ को 'इदम्' से सूचित किया गया है। तदनुसार — ''षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिक से 'इदम्' (यह) अर्थ में यथाविहित अण् आदि एवम् घ आदि प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—उपगोः इदम् (उपगु + अण् = 'अ', 'उ' = 'ओ' — गुण, आदिवृद्धि, ओ = 'अव्' आदेश, विभक्तिकार्य) = औपगवम् (उपगु सम्बन्धी)।

वा०—षष्ठ्यन्त समिध् शब्द से आधान अर्थ में षेण्यण् प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—समिधः आधीयन्ते अनेन (समिध + षेण्यण् = 'एन्य', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = सामिधेन्यः (अग्नि में समिधा डालने के समय पढ़ा जाने वाला मन्त्र)।

(१९०२) **पद**—रथात्, यत्। **अनुवृत्ति**—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—रथ शब्द से 'तस्येदम्' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। रथ्यं चक्रम्।

---

१. कर्मन्द के ग्रन्थ के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती, किन्तु पाराशर्य कृत भिक्षुसूत्र वर्तमान 'वेदान्तसूत्र' ज्ञात होते हैं, जो उपनिषदों पर आधारित हैं। कुछ विद्वान् भिक्षुसूत्रों में सांख्यसूत्रों का पूर्वरूप मानते हैं। महाभारत के अनुसार इनकी रचना पाराशर्यगोत्रीय 'पञ्चशिख' ने की थी। (द्रष्टव्य — म० भा० शान्तिपर्व ३०८/२४)

आश्वरथम्। (१९०४) हलसीराट्ठक् ४।३।१२४। हालिकम्। सैरिकम्। (१९०५) गोत्रचरणाद् वुञ् ४।३।१२६। औपगवकम्। *चरणाद्धर्माम्नाययोरिति वक्तव्यम्*। काठकम्। (१९०६) सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्

(१९०४) **हलसीराट्ठक्**। तस्येदमित्येव। **हालिकम्** — 'हलस्येदमि'ति विग्रहे 'हलसीराट्ठक्' इत्यनेन ठकि, ठस्य इकादेशे 'किति चे'त्यनेन आद्यचो वृद्धौ भत्वे अकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे च 'हालिकमि'ति।

(१९०५) **गोत्रचरणाद् वुञ्**। गोत्रप्रत्ययान्तात् शाखाध्येतृवाचिनश्च षष्ठ्यन्तादिदमित्यर्थे वुञ् स्यादित्यर्थः।

विमर्श—सूत्र 'तस्येदम्' (१९०१) की अनुवृत्ति यहाँ प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त रथ शब्द से 'इदम्' अर्थ.में यत् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—रथस्य इदम् (रथ + यत् = 'य', अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = रथ्यम् (रथ का पहिया)।

(१९०३) **पद**—पत्रपूर्वात्, अञ्। **अनुवृत्ति**—रथात्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पत्र (वाहन) पूर्वक षष्ठ्यन्त रथ शब्द से इदम् अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है। आश्वरथम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९०२) से 'रथात्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'तस्येदम्' का विषय है। अतः ''पत्र अर्थात् वाहनवाचक षष्ठ्यन्त रथ शब्द से 'इदम्' अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—अश्वरथस्य इदम् (अश्वरथ + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = आश्वरथम् (अश्वरथ-सम्बन्धी)।

(१९०४) **पद**—हल-सीरात्, ठक्। **अनुवृत्ति**—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हल और सीर शब्दों से 'तस्येदम्' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। हालिकम्। सैरिकम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र का ही विषय है। तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त हल और सीर शब्दों से 'इदम्' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—हलस्य इदम् (हल + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्य 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = हालिकम् (हल सम्बन्धी)। सीरस्य इदम् (सीर + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) = सैरिकम् (हल सम्बन्धी)।

(१९०५) **पद**—गोत्रचरणाद्, वुञ्। **अनुवृत्ति**—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

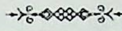
मूलार्थ—गोत्रप्रत्ययान्त और चरणवाची शब्दों से 'तस्येदम्' अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। औपगवकम्। **वा०**—चरणवाची से धर्म और आम्नाय (वेद) वाच्य रहने पर वुञ् होता है, ऐसा कहना चाहिए।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९०१) से 'तस्येदम्' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है। इस प्रकार — ''षष्ठीसमर्थ गोत्रवाची तथा चरण (शाखाध्येतृ) वाची शब्दों से 'इदम्' अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है।'' यहाँ शास्त्रीय गोत्र का ग्रहण होता है।

उदाहरण—औपगवस्य इदम् (औपगव + वुञ् = वु, वु = 'अक' आदेश, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = औपगवकम् (औपगव सम्बन्धी)। कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः, तेषां धर्मः आम्नायः

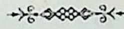
४।३।१२७। * घोषग्रहणमपि कर्तव्यम् *। अञ् – बैदः सङ्घोऽङ्को घोषो वा। बैदं लक्षणम्। यञ् – गार्गः, गार्गम्। इञ्-दाक्षिः, दाक्षम्। परम्परासम्बन्धोऽङ्कः। साक्षात् लक्षणम्।

इति शैषिकप्रकरणम्।



(१९०६) **सङ्घाङ्क**। अञन्तात्, यञन्तात् इञन्ताच्च सङ्घे अङ्के लक्षणे च इदन्त्वेन विवक्षिते अणित्यर्थः। छस्यापवादः। **घोषग्रहणमपीति**। घोषेऽपि इदन्त्वेन विवक्षितेऽणित्यर्थः। **परम्परासम्बन्ध इति**। ननु अङ्कलक्षणयोः पर्यायत्वात् पृथग्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह – **परम्परेति**। तथा गवादिनिष्ठस्तप्तमुद्राविशेष अङ्कः, तस्य हि गोद्वारा (परम्परया) स्वामिसम्बन्धः। विद्यादिविशेषस्तु देवदत्तादौ साक्षाद् विद्यमानत्वाल्लक्षणम्।

इति शैषिकप्रकरणम्।



वा (कठ + वुञ् = वु, वु = अक, आदिवृद्धि तथा 'अ' का लोप) = काठकम्[1] (कठों का धर्म या वैदिक परम्परा)।

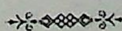
(१९०६) **पद**—सङ्घाङ्कलक्षणेषु, अञ्-यञिञाम्, अण्। **अनुवृत्ति**—गोत्राद्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अञन्त, यञन्त और इञन्त षष्ठ्यन्त से 'इदम्' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है; यदि संघ आदि इदन्त्वेन विवक्षित रहें तो। **वा०**—घोषग्रहण भी करना चाहिए। अञन्त – बैदः। बैदं लक्षणम्। यञन्त – गार्गः, गार्गम्। इञन्त – दाक्षः, दाक्षम्। परम्परया सम्बन्ध अङ्क एवं लक्षणया सम्बन्ध 'लक्षण' कहा जाता है।

विमर्श—'तस्येदम्' सूत्र का ही विषय है। पूर्वसूत्र (१९०५) से 'गोत्रात्' की अनुवृत्ति आ रही है। शेष प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार – "संघ, अङ्क तथा लक्षण अभिधेय होने पर गोत्रप्रत्ययान्त अञन्त, यञन्त तथा इञन्त शब्दों से 'इदम्' अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है।" वार्तिक के अनुसार घोष वाच्य रहते भी उक्त प्रत्यय होता है। जिसका परम्परया सम्बन्ध हो वह 'अङ्क' कहलाता है और जिसका साक्षात् सम्बन्ध हो वह 'लक्षण' कहलाता है।

उदाहरण—अञन्त—बिदानां समूहः अङ्कः घोषो वा (बिद् + अञ् = 'अ' – 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्') – बैद + अण् (= 'अ', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = बैदः। लक्षण अर्थ में नपुंसकलिङ्ग – **बैदम्** (बिदों के वंशजों का समूह)। **यञन्त**—गर्गाणां सङ्घः, अङ्कः घोषो वा (गर्ग + यञ्) = गार्ग्य + अण् (= 'अ', अन्त्य 'अ' का लोप तथा 'य्' का लोप – 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति') = गार्गः (गर्ग के वंशजों का समूह, चिह्न, गोशाला आदि)। **इञन्त**—दक्षाणां सङ्घः (दक्ष + 'इञ्' – 'अत इञ्') – दाक्षि + अण् (= 'अ', 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = दाक्षिः। नपुं० – दाक्षम् (दक्ष के वंशजों का समूह)।

शैषिक-प्रकरण समाप्त।



---

१. कठ ऋषि ने मूल यजुर्वेदसंहिता में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार जो पाठभेद कर अपने शिष्यों को पढ़ाया वह प्रवचन 'काठक' नाम से प्रसिद्ध है।

अथ प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्

(१९०७) तस्य विकारः ४।३।१३४ । *अस्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः* । अश्मनो विकार आश्मः । भास्मनः । मार्तिकः । **(१९०८) अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ४।३।१३५ ।** चाद्विकारे । मयूरस्य विकारोऽवयवो वा मायूरः ।

(१९०७) **तस्य विकारः** । विक्रियते इति विकारः, कर्मणि घञ् । षष्ठ्यन्ताद् विकार इत्यर्थे प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। **आश्मः** — 'अश्मनो विकारः' इति विग्रहे 'अश्मन्' शब्दात् 'तस्य विकारः' इत्यनेन अणि अनुबन्धलोपे भत्वे 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे प्राप्ते 'अन्' इत्यनेन प्रकृति-भावे प्राप्ते 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन टिलोपे आद्यचो वृद्धौ प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'आश्मः' इति ।

(१९०८) **अवयवे चेति** । प्राणिवाचिनः ओषधिवाचिनो वृक्षवाचिनश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः अवयवे विकारे च अणादयः उक्ताः वक्ष्यमाणाश्च प्रत्ययाः यथाविहितं स्युरित्यर्थः ।

शैषिक प्रत्ययों के विवेचन के अनन्तर विकारार्थ प्रत्ययों का निरूपण किया जा रहा है। 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४।१।८३) का अधिकार 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' (४।२।२) से पूर्व तक है । अतः इस प्रकरण का शीर्षक 'प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्' रखा गया है ।

(१९०७) **पद**—तस्य, विकारः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त से विकार अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं । **वा०**—विकारार्थ में अश्मन् की 'टि' का लोप कहा जाय । आश्मः । भास्मनः । मार्तिकः ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'तस्य' पद षष्ठ्यन्त का सूचक है ।'विकारः' पद अर्थसूचक है । आधिकारिक सूत्र 'प्राग्दीव्यतोऽण्' का प्रभाव होने से अण् का विधान होगा । अतः ''षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिक से विकार अर्थ में सामान्य 'अण्' एवं विशेष 'घ' आदि प्रत्यय होते हैं ।'' **वा०**—विकारार्थक प्रत्यय के परवर्ती रहते 'अश्मन्' शब्द की टि (= अन्) का लोप होता है ।

उदाहरण—अश्मनः विकारः (अश्मन् + अण् = 'अ' — 'तस्य विकारः', टि = 'अन्' का लोप — वार्तिक से, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = आश्मः (पत्थर का बना हुआ) । यहाँ यद्यपि 'नस्तद्धिते' से टिलोप प्राप्त है; किन्तु 'अन्' से प्रकृतिभाव हो जाने से उसकी निवृत्ति हो जाती है । भस्मनः विकारः (भस्मन् + अण् = 'अ', आदिवृद्धि) = भास्मनः (राख का विकार) । मृत्तिकायाः विकारः (मृत्तिका + अण्, आदिवृद्धि, रपर, अन्त्यलोप) = मार्तिकः (मिट्टी का बना हुआ) ।

(१९०८) **पद**—अवयवे, च, प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः । **अनुवृत्ति**—तस्य विकारः तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्राणी, ओषधि और वृक्षवाचक षष्ठ्यन्त शब्दों से अवयव और विकार अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । मायूरः । मौर्वम् । पैप्पलम् ।

विमर्श—'तस्य विकारः' (१८०७) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार — ''षष्ठीसमर्थ प्राणिवाची, ओषधिवाची तथा वृक्षवाची शब्दों से अवयव तथा विकार अर्थों में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।''

उदाहरण—मयूरस्य विकारः अवयवः वा (मयूर + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) =

मौर्वं काण्डं भस्म वा। पैप्पलम्। (१९०९) त्रपुजतुनोः षुक् ४।३।१३८। आभ्यामण् एतयोः षुक् च। त्रापुषम्। जातुषम्। (१९१०) ओरञ् ४।३।१३९। दैवदारवम्। (१९११) अनुदात्तादेश्च ४।३।१४०। अञ्। कापित्थम्। दाधि-

(१९०९) **त्रपुजतुनोः षुक्**। **त्रापुषम्** — त्रपुषः (रङ्गस्य) विकारः त्रापुषम्। अण्, षुक्, आदिवृद्धिश्च।

(१९१०) **ओरञ्**। उवर्णान्ताद् विकारेऽञ् स्यादित्यर्थः।

(१९११) **अनुदात्तादेश्च**। विकारे अञिति शेषः, 'अवयवे च' ति सूत्रमप्यत्र सम्बध्यते। **कापित्थमिति**। कपित्थस्यावयवो विकारो वेत्यर्थः।

मायूरः (मोर का अङ्ग अथवा मोरनिर्मित)। मूर्वायाः अवयवः विकारः वा (मूर्वा + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = मौर्वं काण्डं भस्म वा (गोकर्णी औषधि का डंठल या भस्म)। पिप्पलस्य अवयवः विकारः वा (पिप्पल + अण्, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = पैप्पलम् (पीपल का तना या पीपल से बना हुआ)।

(१९०९) **पद**—त्रपुजतुनोः, षुक्। **अनुवृत्ति**—अण्, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—त्रपु और जतु शब्दों से विकार अर्थ में अण् प्रत्यय और षुक् का आगम होता है। त्रापुषम्। जातुषम्।

विमर्श—यहाँ 'बिल्वादिभ्योऽण्' (४।३।१३६) से 'अण्' की अनुवृत्ति आती है। 'तस्य विकारः' (१९०७) का विषय है। तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त त्रपु एवं जतु प्रातिपदिकों से विकार अर्थ में अण् प्रत्यय होता है तथा दोनों को षुक् (= ष्) का आगम भी होता है। षुक् कित् होने से अन्तावयव होता है।''

उदाहरण—त्रपुषः विकारः (त्रपु + षुक् = ष् + अण् = 'अ', आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = त्रापुषम् (राँगे का बना हुआ)। जतुनः विकारः (जतु + ष् + अण्, आदिवृद्धि) = जातुषम् (लाख का बना हुआ)।

(१९१०) **पद**—ओः, अञ्। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उकारान्त शब्द से विकार अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। दैवदारवम्।

विमर्श—'तस्य विकारः' (१९०७) सूत्र तथा पूर्वसूत्र (१९०८) से 'अवयवे' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त उवर्णान्त शब्द से विकार और अवयव अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है।'' उकारान्त शब्द यदि प्राणी, ओषधि तथा वृक्षवाचक हो तो विकार और अवयव दोनों अर्थों में, इतरों से केवल विकार अर्थ में अञ् होता है।

उदाहरण—देवदारोः अवयवः विकारो वा (देवदारु + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, 'उ' = 'ओ' — 'ओर्गुणः', 'ओ' = 'अव्' आदेश, विभक्तिकार्य) = दैवदारवम् (देवदारु का अवयव या उससे बना हुआ)।

(१९११) **पद**—अनुदात्तादेः, च। **अनुवृत्ति**—अञ्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त अनुदात्तादि से भी विकारादि अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। कापित्थम्। दाधित्थम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'ओरञ्' (१९१०) से 'अञ्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अन्य

त्थम्। (१९१२) पलाशादिभ्यो वा ४।३।१४१। पालाशम्। खादिरम्। (१९१३) शम्याः ष्लञ् ४।३।१४२। शामीलं भस्म। (१९१४) मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४।३।१४३। प्रकृतिमात्रान्मयड् वा स्याद्वि-

---

(१९१२) **पलाशादिभ्यो वेति**। अञिति शेषः। अवयवे चेत्येव।

(१९१३) **शम्या इति**। शमीशब्दात्षष्ठ्यन्तादवयवे विकारे ष्लञ् स्यादित्यर्थः। 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञोऽपवादः।

(१९१४) **मयड्वैतयोः**। अधिकारादेव विकारावयवयोरिति सिद्धे सूत्रे एतयोरिति ग्रहणम्

पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। अतः ''षष्ठ्यन्त अनुदात्त आदि शब्दों से विकार और अवयव अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—कपित्थस्य विकारः अवयवः वा (कपित्थ + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप तथा विभक्तिकार्य) = कापित्थम् (कैथ का अङ्ग या उससे बना हुआ)। दधित्थस्य अवयवः विकारः वा (दधित्थ + अञ्, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = दाधित्थम् (दही का अवयव या उससे बना हुआ)।

विशेष—अव्युत्पन्न पक्ष में उक्त दोनों शब्द 'फिषोऽन्तोदात्तः' से अन्तोदात्त होने के कारण अनुदात्तादि हैं। व्युत्पत्ति पक्ष में दोनों शब्द कप्रत्ययान्त हैं (कपि + स्था + क) 'कपौ तिष्ठति' में उपपदसमास स्था के 'स्' = 'त्' — 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'। 'थाऽथघञ्०' (६।२।१४४) से अन्तोदात्त होने से अवशिष्ट सम्पूर्ण पद निघात होकर अनुदात्तादि होने से प्रकृत सूत्र से 'अञ्' होता है।

(१९१२) **पद**—पलाशादिभ्यः, वा। **अनुवृत्ति**—अञ्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पलाशादिगणपठित शब्दों से उक्त अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है। पालाशम्। खादिरम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९१०) से विधेय 'अञ्' की अनुवृत्ति आती है। 'अवयवे' तथा 'तस्य विकारः' आदि की अनुवृत्ति पूर्ववत् अनुसरण कर रही है। तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त पलाश आदि से अवयव एवं विकार अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है।''

उदाहरण—पलाशस्य अवयवः विकारः वा (पलाश + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = पालाशम् (पलाश का अङ्ग या उससे बना हुआ)। पक्ष में औत्सर्गिक 'अण्'। खदिरस्य अवयवः विकारः वा (खदिर + अञ्) = खादिरम् (खैर का अङ्ग या उससे बना यज्ञपात्र)।

(१९१३) **पद**—शम्याः, ष्लञ्। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विकार और अवयव अर्थ में शमी शब्द से ष्लञ् प्रत्यय होता है। शामीलम्।

विमर्श—'शमी' शब्द ङीष्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग है। पूर्वसूत्र (१९०८) से 'अवयवे' की तथा 'तस्य विकारः' (१९०७) की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त शमी शब्द से अवयव और विकार अर्थ में ष्लञ् प्रत्यय होता है।'' 'ष्लञ्' में ष् और ल् इत्संज्ञक है।

उदाहरण—शम्याः विकारः (शमी + ष्लञ् = 'ल', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = शामीलम् (शमी की राख)। ष्लञ् के षित् होने से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् — 'षिद्गौरादिभ्यश्च' होकर 'शामीली' प्रयोग होता है।

(१९१४) **पद**—मयट्, वा, एतयोः, भाषायाम्, अभक्ष्याच्छादनयोः। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

कारावयवयो:। अश्ममयम्, आश्मनम्। अभक्ष्येत्यादि किम्? मौद्गः सूपः। कार्पासमाच्छादनम्। (१९१५) नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४।३।१४४। आम्रमयम्।

उक्तवक्ष्यमाणापवादविषयेष्वपि पक्षे मयडर्थमिति महाभाष्ये स्पष्टम्। **अश्ममयमिति**। अश्मनः विकार अवयवो वेति विग्रहे 'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयो:' इति विकल्पेन मयट्प्रत्यये नलोपे 'अश्ममय' इति जाते, प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे 'अश्ममयमि'ति। मयडभावे 'तस्य विकार:' इत्यणि आद्यचो वृद्धौ 'अन्' इति प्रकृतिभावाट्टिलोपाभावे विभक्तिकार्ये 'आश्मनमि'ति।

(१९१५) **नित्यमिति**। मयडिति शेषः। **वाङ्मयम्** – नित्यमिति योगविभागाल्लब्धमिदम्। वाचो विकारो वाङ्मयम् = शास्त्रमिति।

मूलार्थ—प्रकृतिमात्र से विकार और अवयव अर्थ में भाषा में मयट् प्रत्यय होता है। अश्ममयम्, आश्मनम्। अभक्ष्य इत्यादि क्यों कहा? मौद्गः सूपः। कार्पासम् आच्छादनम्।

विमर्श—सूत्रस्थ 'एतयो:' पद से प्रकरणानुसार विकार और अवयव अर्थों का ग्रहण होता है। तदनुसार सूत्रार्थ यह होता है कि ''षष्ठ्यन्त सभी शब्दों (प्रकृतिमात्र) से भक्ष्य और आच्छादन वर्जित 'विकार' तथा 'अवयव' अर्थों में लौकिक प्रयोग (भाषा) में विकल्प से मयट् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—अश्मनः विकारः अवयवः वा (अश्मन् + मयट् = 'मय', अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को निमित्त मानकर पद संज्ञा होने से 'न्' का लोप, विभक्तिकार्य) = अश्ममयम्। मयट् न होने पर औत्सर्गिक अण् (अश्मन् + अ, आदिवृद्धि) = आश्मनम्। 'अन्' से प्रकृतिभाव होने से टि का लोप नहीं होता।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अभक्ष्याच्छादनयो:' पद का निवेश होने के कारण '**मौद्गः**' सूपः (मुद्गानां विकारः - मूँग की दाल) तथा 'कार्पासस्य विकार:' = **कार्पासम्** आच्छादनम् (कपास की बनी चादर) में मयट् नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ मूँग भक्ष्य है तथा कपास आच्छादन योग्य है। दोनों प्रयोगों में अण्।

(१९१५) **पद**—नित्यं वृद्धशरादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—मयट्, भाषायामभक्ष्याच्छादनयो:, अवयवे, तस्य विकार:, तद्धिता:। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वृद्धसंज्ञक और शरादिगणपठित शब्दों से नित्य मयट् प्रत्यय होता है। आम्रमयम्। शरमयम्। **वा०**—एकाच् शब्दों से नित्य मयट् हो। वाङ्मयम्।

विमर्श—कतिपय विशिष्ट प्रयोगों में मयट्विधायक सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है। पूर्वसूत्र (१९१४) से मयट् तथा 'अभक्ष्याच्छादनयो:' की अनुवृत्ति आती है। 'अवयवे' तथा 'तस्य विकार:' आदि की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — ''भक्ष्य और आच्छादनवर्जित विकार और अवयव अर्थों में षष्ठ्यन्त वृद्धसंज्ञक तथा शरादिगणपठित शब्दों से नित्य मयट् (= मय) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—वृद्धसंज्ञक — आम्रस्य विकारः अवयवः वा (आम्र + मयट् = मय, विभक्तिकार्य) = आम्रमयम् (आम का विकार या अवयव)। **शरादि**—शराणां विकारः अवयवः वा (शर + मयट् = मय) = शरमयम् (सरकण्डों से बना या उनका अवयव)।

वा०—एक अच् वाले शब्दों से भी पूर्वोक्त अर्थ में नित्य मयट् होता है। **उदाहरण**—वाचः विकारः अवयवः वा (वाच् + मयट् = मय, 'च्' = 'क्' — कुत्व, 'क्' = 'ङ्' — 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्') = वाङ्मयम् (शास्त्र, साहित्य)।

शरमयम्। * एकाचो नित्यम् *। वाङ्मयम्। (१९१६) गोश्च पुरीषे ४।३।१४५। गोमयम्। (१९१७) एण्या ढञ् ४।३।१५९। ऐणेयम्, एणस्य तु – ऐणम्। (१९१८) गोपयसोर्यत् ४।३।१६०। गव्यम्। पयस्यम्। (१९१९) फले लुक् ४।३।१६३। विकारावयवप्रत्ययस्य। (१९२०) लुक् तद्धितलुकि

(१९१६) **गोश्चेति**। गोशब्दात्पुरीषेऽर्थे नित्यं मयट् स्यादित्यर्थः।

(१९१७) **एण्या ढञ्**। एणीशब्दात् ढञ् स्यादवयवे विकारे चार्थे। एण्या अवयवो विकारो वा ऐणेयम्।

(१९१८) **गोपयसोर्यत्**। गोशब्दात् पयःशब्दाच्च यत्स्यादवयवे विकारे चार्थे। **गव्यमिति**। गोशब्दात् यति वान्तादेशे 'गव्यमि'ति।

(१९१९) **फले लुक्**। वृक्षस्य विकारः फलम्, तस्मिन् = फलरूपे विकारेऽवयवे वा वाच्ये प्रत्ययस्य लुग्भवतीत्यर्थः।

(१९१६) **पद**—गोः, च, पुरीषे। **अनुवृत्ति**—मयट्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गो शब्द से पुरीष अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है। गोमयम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९१४) से 'मयट्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — "पुरीष अर्थात् मल अर्थ अभिधेय होने पर षष्ठ्यन्त गो शब्द से मयट् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—गोः पुरीषम् (गो + मयट् = 'मय', विभक्तिकार्य) = गोमयम् (गोबर)।

(१९१७) **पद**—एण्याः, ढञ्। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—एणी शब्द से अवयव और विकार अर्थ में नित्य ढञ् प्रत्यय होता है। ऐणेयम्। 'एण' शब्द से — ऐणम्।

विमर्श—पूर्ववत् 'अवयवे' और 'तस्य विकारः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार — "षष्ठ्यन्त 'एणी' शब्द से विकार अथवा अवयव अर्थ में ढञ् (= ढ) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—एण्याः अवयवः विकारः वा (एणी + ढञ् = ढ, 'ढ' = 'एय' आदेश, आदिवृद्धि तथा 'ई' का लोप, विभक्तिकार्य) = ऐणेयम् (हिरनी का अङ्ग या चर्म)। सूत्रस्थ 'एणी' के स्त्रीलिङ्ग होने से पुल्लिङ्ग में ढञ् नहीं होता। एणी + अण् = ऐणम्।

(१९१८) **पद**—गोपयसोः, यत्। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गो और पयस् शब्दों से अवयव और विकार अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। गव्यम्। पयस्यम्।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार — "षष्ठ्यन्त 'गो' तथा 'पयस्' शब्दों से विकार तथा अवयव अर्थों में यत् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—गोः विकारः अवयवः वा (गो + यत् = 'य', 'ओ' = 'अव्' आदेश — 'वान्तो यि प्रत्यये', विभक्तिकार्य) = गव्यम्। पयसः विकारः (पयस् + यत्) = पयस्यम् (खीर आदि)।

(१९१९) **पद**—फले, लुक्। **अनुवृत्ति**—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—फल अर्थ में विकारार्थक और अवयवार्थक प्रत्ययों का लुक् होता है।

विमर्श—'अवयवे' तथा 'तस्य विकारः' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार — "फल अभिधेय होने पर विकार एवम् अवयव अर्थों में विहित प्रत्यय का लुक् होता है।"

१।२।४९। उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य। आमलक्याः फलम् आमलकम्। (१९२१) प्लक्षादिभ्योऽण् ५।३।१६४। विधानसामर्थ्यान्न लुक्। प्लाक्षम्। (१९२२) न्यग्रोधस्य च केवलस्य ७।३।५। अस्य न वृद्धिरैजागमश्च। नैयग्रोधम्।

(१९२०) **लुगिति**। तद्धितलुकि उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य लुक् स्यादित्यर्थः। **आमलकम्**— आमलक्याः फलमिति विग्रहे 'मयड्वैतयोर्भाषायामि' त्यादिना मयट्प्रत्यये 'फले लुक्' इत्यनेन मयट्प्रत्ययस्य लुकि 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इत्यनेनोपसर्जनसंज्ञायां 'लुक् तद्धित-लुकि' इत्यनेनोपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य लुकि प्रातिपदिकत्वे सौ, सोरमि पूर्वरूपे 'आमलकमि'ति।

(१९२१) **प्लक्षादिभ्योऽण्**। विकारेऽवयवे चेति शेषः।

(१९२२) **न्यग्रोधस्य चेति**। 'न य्वाभ्यामि'त्युत्तरसूत्रमिदम्। **नैयग्रोधमिति**। न्यग्रोधस्य फलमिति विग्रहे 'प्लक्षादिभ्योऽण्' इत्यणि 'न्यग्रोधस्य च केवलस्ये'ति वृद्ध्यभावे यकारात्पूर्वमैकारागमे विभक्तिकार्ये 'नैयग्रोधमि'ति।

(१९२०) **पद**—लुक्, तद्धितलुकि। **अनुवृत्ति**—स्त्री उपसर्जनस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तद्धित प्रत्यय का लुक् होने पर उपसर्जन स्त्री प्रत्यय का लुक् होता है। आमलकम्।

विमर्श—यहाँ 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१।२।४८) से 'स्त्री उपसर्जनस्य' अंश की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार यह अर्थ निष्पन्न होता है कि "तद्धित प्रत्यय के लुक् हो जाने पर उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् हो जाता है।"

उदाहरण—आमलक्याः फलम् (आमलकी + मयट् — 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः', मयट् का लुक् — 'फले लुक्', ङीष् = 'ई' का लुक् — 'लुक् तद्धितलुकि') — आमलक (विभक्तिकार्य) = आमलकम् (आँवले का फल)।

(१९२१) **पद**—प्लक्षादिभ्यः, अण्। **अनुवृत्ति**—फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्लक्षादिगणपठित शब्दों से अण् होता है। विधानसामर्थ्य से अण् का लुक् नहीं होता। प्लाक्षम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९१९) से 'फले' की तथा पूर्ववत् 'अवयवे' और 'तस्य विकारः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार — "षष्ठीसमर्थ प्लक्ष आदि शब्दों से फल के विकार और अवयव की विवक्षा होने पर अण् प्रत्यय होता है।" विधानसामर्थ्य से इस अण् का 'फले लुक्' से लुक् नहीं होता।

उदाहरण—प्लक्षस्य विकारः (प्लक्ष + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = प्लाक्षम् (पाकर वृक्ष का विकार या अङ्ग)।

(१९२२) **पद**—न्यग्रोधस्य, च, केवलस्य। **अनुवृत्ति**—न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधि (नियम) सूत्र**।

मूलार्थ—केवल (पदान्त रहित) न्यग्रोध शब्द को वृद्धि नहीं होती, किन्तु 'ऐच्' का आगम होता है। नैयग्रोधम्।

विमर्श—अष्टाध्यायी के वृद्धिनिषेधप्रकरण में यह सूत्र पठित है। अतः 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' (७।३।३) सूत्र 'पदान्ताभ्याम्' को छोड़कर अनुवृत्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त

(१९२३) जम्ब्वा वा ४।३।१६५ ।अण् फले ।जाम्बवम् ।पक्षे ओरञ् ।तस्य लुक् । जम्बु। (१९२४) लुप् च ४।३।१६६। जम्ब्वाः फलप्रत्ययस्य लुब्वा स्यात्। लुपि युक्तवत्। जम्बूः। * फलपाकशुषामुपसंख्यानम् *। व्रीहयः। मुद्गाः। *पुष्पमूलेषु बहुलम् *। मल्लिकायाः पुष्पं मल्लिकाः। जात्याः पुष्पं जातीः। विदार्या

(१९२३) **जम्ब्वा वा**। जम्बूशब्दादण् वा स्यात्फले इत्यर्थः।

(१९२४) **लुप् चेति**। लुकैव सिद्धे लुब्विधेः फलं दर्शयति - **लुपि युक्तवदिति**। फलप्रत्ययस्य लुपि युक्तवत्वेन विशेष्यलिङ्गवचने बाधित्वा स्त्रीत्वमेकवचनं चेत्यर्थः। तथा च जम्ब्वाः फलानि अपि जम्बूरेवेति।

'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) आदि सूत्रों की भी अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार ''केवल न्यग्रोध शब्द के अचों में आदि (प्रथम) अच् को वृद्धि नहीं होती, किन्तु 'य्' के पूर्व ऐच् = 'ऐ' का आगम होता है।''

उदाहरण—न्यग्रोधस्य विकारः अयवयः वा (न्यग्रोध + अण् = 'अ' — 'प्लक्षादिभ्योऽण्', 'य्' से पूर्व ऐच् = 'ऐ' का आगम, अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = नैयग्रोधम् (बड़ का अवयव या विकार)।

(१९२३) **पद**—जम्ब्वाः, वा। **अनुवृत्ति**—अण्, फले, अवयवे, तस्य विकारः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जम्बू शब्द से फल अर्थ में विकल्प से अण् प्रत्यय होता है। जाम्बवम्। पक्ष में 'ओरञ्' से 'अञ्' तथा उसका लुक्। जम्बु।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९१९) से 'फले' तथा 'प्लक्षादिभ्योऽण्' (१९२१) से 'अण्' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है। 'अवयवे' और 'तस्य विकारः' आदि की अनुवृत्ति भी पूर्ववत् आ रही है। तदनुसार — ''षष्ठ्यन्त 'जम्बू' शब्द से विकार तथा अवयव अर्थों में फल अभिधेय होने पर विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है।'' अण् प्रत्यय का विधानसामर्थ्य से 'फले लुक्' से लुक् नहीं होता।

उदाहरण—जम्ब्वाः फलम् (जम्बू + अण् = 'अ' विकल्प से, 'उ' = 'ओ' —'ओर्गुणः', ओ = 'अव्' आदेश, आदिवृद्धि, नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में विभक्तिकार्य) = जाम्बवम्। पक्ष में — जम्बू + अञ् (= 'अ' — 'ओरञ्', उसका लुक्, 'ऊ' = 'उ' — ह्रस्व — 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य') = जम्बु (जामुन का फल)।

(१९२४) **पद**—लुप्, च। **अनुवृत्ति**—जम्ब्वाः वा, फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जम्बू शब्द से फलार्थक प्रत्यय का विकल्प से लुप् होता है। 'लुपि युक्तवत्' से युक्तवद्भाव होकर जम्बूः। **वा०**—फलपाक से सूखने वाले धान्यवाचक से फलार्थक प्रत्यय का लुप् होता है। व्रीहयः। मुद्गाः। **वा०**—पुष्प और मूल अर्थ में विकार और अवयवार्थक प्रत्यय का प्रायः लुप् होता है। मल्लिकाः। जाती। विदारी। बहुलग्रहण से यहाँ नहीं होता — पाटलानि पुष्पाणि। साल्वानि मूलानि। बहुल ग्रहण से कहीं-कहीं लोप भी होता है — अशोकम्। करवीरम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'जम्ब्वा वा' (१९२३) का विषय है। अतः उक्त सूत्र की अनुवृत्ति आती है। शेष प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व अनुसरण कर रही है। तदनुसार सूत्रार्थ यह निष्पन्न

मूलं विदारी। बहुलग्रहणान्नेह – पाटलानि पुष्पाणि। साल्वानि मूलानि। बाहुलकात् क्वचिल्लुक् – अशोकम्, करवीरम्। (१९२५) हरीतक्यादिभ्यश्च ४।३।१६७।

(१९२५) **हरीतक्यादिभ्यश्चेति।** **हरीतक्यादीनामिति।** लुपि युक्तवदिति वचनेन लिङ्गवचनयोरुभयोः प्रकृतिवत्त्वे प्राप्ते वचनातिदेशनिषेधार्थं वार्तिकमिदम्। **हरीतक्यः** —

होता है कि "षष्ठीसमर्थ जम्बू शब्द से फल अभिधेय होने पर विकारावयव अर्थों में विहित प्रत्यय का लुप् होता है।" यहाँ 'अण्' प्रत्यय का तो विधानसामर्थ्य से लोप नहीं होता। पूर्वसूत्र 'जम्ब्वाः वा' से विहित पाक्षिक 'अञ्' का ही विकल्प से लुप् होता है। दूसरे पक्ष में 'फले लुक्' से लुक्। 'लुप्' और 'लुक्' में अन्तर यह है कि लुप् होने पर 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' (१।२।५१) से युक्तवद्भाव होकर फलार्थक जम्बू शब्द भी स्त्रीलिङ्ग ही रहता है। जम्बूः। लुक् होने पर युक्तवद्भाव नहीं होता।

उदाहरण—जम्ब्वाः फलम् (जम्बू = 'अञ्', उसका विकल्प से 'लुप्' — 'लुप् च', युक्तवद्भाव होने पर स्त्रीलिङ्ग में विभक्तिकार्य) = जम्बूः। लुक् करने पर युक्तवद्भाव नहीं होता तब अधियेय 'फलं' के अनुसार नपुंसकलिङ्ग होकर 'जम्बुफलम्' प्रयोग होता है।

१. **वा०**—"फल के पकने से सूखने वाले धान्यवाची शब्दों से विहित फलार्थक प्रत्यय का लुप् (लोप) होता है।" **उदाहरण**—व्रीहीणां फलानि (व्रीहि + अण् = 'अ' — 'बिल्वादिभ्योऽण्', 'अण्' का लुप् - 'फलपाकशुषामुपसंख्यानम्', युक्तवद्भाव होने से प्रकृति के समान लिङ्गवचन विभक्तिकार्य) = व्रीहयः फलानि (धान)। मुद्गानां फलानि (मुद्ग + अण्, पूर्ववत् लुप् आदि कार्य) = मुद्गाः (मूँग)।

२. **वा०**—"पुष्प और मूल अर्थ में विकारावयवार्थक प्रत्यय का लुप् होता है।" **उदाहरण**—मल्लिकायाः पुष्पम् (मल्लिका + अञ् = 'अ' — 'अनुदात्तादेश्च', 'अञ्' का प्रकृत वार्तिक से लुप्, युक्तवद्भाव से प्रकृति के अनुसार लिङ्गवचन) = मल्लिकाः (मोगरे का फूल)। जात्याः पुष्पम् (जाती + अञ्, लुप् आदि पूर्ववत्) = जाती (चमेली का फूल)। विदार्याः मूलम् (विदारी + अञ्, लुप् आदि) = विदारी (बिदारीकन्द)।

विशेष—उक्त वार्तिक में बहुल पद का ग्रहण होने से **'पाटलानि पुष्पाणि'** (गुलाब के फूल) तथा **'साल्वानि मूलानि'** (साल की जड़) में क्रमशः 'बिल्वादिभ्योऽण्' से विहित अण् और 'अनुदात्तादेश्च' से विहित 'अञ्' का लुप् नहीं होता। 'बहुल' ग्रहण अनेकार्थक होने से 'अशोकम्' (अशोक का फूल) तथा 'करवीरम्' (कनेर का फूल) में प्रत्यय का लुक् होता है। पुष्प को अभिलक्षित कर विशेष्यानुसारि नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होता है।

(१९२५) **पद**—हरीतक्यादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—लुप्, फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हरीतक्यादिगणपठित शब्दों से विहित फलार्थक प्रत्यय का लुप् होता है। **वा०**—हरीतकी आदि का लिङ्ग ही प्रकृतिवत् होता है। हरीतक्यः।

विमर्श—फलवाची प्रत्यय के लुप् का ही विषय है। अतः 'लुप् च' (१९२४) से 'लुप्' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है। अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार — "षष्ठीसमर्थ हरीतकी आदि शब्दों से विकारावयव अर्थों में विहित प्रत्यय का फल

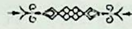
फलप्रत्ययस्य लुप्। * हरीतक्यादीनां लिङ्गमेव प्रकृतिवत् *। हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः।

इति प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्।



जातिङीषन्तः हरीतकीशब्दः। ततोऽनुदात्तादित्वादञि तस्य 'फले लुक्' इति लुकि प्राप्ते 'हरीतक्यादिभ्यश्चे'ति लुपि युक्तवत्वात् स्त्रीत्वम्, बहुवचनविशेष्यानुरोधादिति।

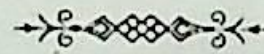
इति प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्।



अभिधेय होने पर भी लुप् होता है।''

उदाहरण—हरीतक्याः फलानि अवयवः वा (हरीतकी + अण् – 'अवयवे च प्राण्योषधि-वृक्षेभ्यः', 'अण्' का लुप्, लुप् होने से युक्तवद्भाव होकर जात्यर्थक स्त्रीप्रत्यय ङीष् का लुक् नहीं होता। अतः हरीतकी आदि में केवल लिङ्ग ही प्रकृति के समान होता है, वचन नहीं। यहाँ वचन विशेष्यफलानि के अनुसार बहुवचन, विभक्तिकार्य) = हरीतक्यः फलानि (हर्रें या उनका अवयव)।

प्राग्दीव्यतीय-प्रकरण समाप्त।



अथ ठगधिकारप्रकरणम्

(१९२६) प्रागवहतेष्ठक् ४।४।१। तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते। *तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्*। माशब्दः कारि इति य आह स माशाब्दिकः। *आहौ प्रभूतादिभ्यः*। प्रभूतमाह प्राभूतिकः। पार्याप्तिकः। *पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः*। सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः। सौखशायनिकः। अनुशतिकादिः।

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः प्रारभ्यते –

(१९२६) **प्रागवहतेष्ठक्**। वहतीत्येकदेशेन 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति सूत्रं परामृश्यते। अत आह – **तद्वहतीत्यत इति**। **माशाब्दिक इति**। 'मा शब्दः कारि इति य आह सः' इति विग्रहे माशब्दशब्दात् 'तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानमि' त्यनेन वार्तिकेन ठकि, 'ठस्येकः' इति ठस्य इकादेशे भत्वे अकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'माशाब्दिकः' इति।

अष्टाध्यायी के चतुर्थाध्याय के तृतीयपाद में प्रतिपादित प्रत्ययों के प्रकरण (प्राग्दीव्यतीय) के निरूपण के अनन्तर अब चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद में वर्णित 'ठगधिकारप्रकरण' का आरम्भ किया जा रहा है –

(१९२६) **पद**—प्राक्, वहतेः, ठक्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—'तद्वहति रथयुग०' सूत्र से पहले तक 'ठक्' का अधिकार है। **वा०** - 'वह कहता है' अर्थ में माशब्द आदि से भी 'ठक्' प्रत्यय होता है। माशाब्दिकः। **वा०** - द्वितीयान्त प्रभूत आदि से आह अर्थ में 'ठक्' होता है। प्राभूतिकः। पार्याप्तिकः। **वा०**—पृच्छति अर्थ में द्वितीयान्त सुस्नात आदि में ठक् प्रत्यय होता है। सौस्नातिकः। सौखशायनिकः। **वा०**—द्वितीयान्त परदार आदि से गच्छति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। पारदारिकः। गौरुतल्पिकः।

विमर्श—यह अधिकारसूत्र है। 'वहति' एकदेशीय निर्देश है। इस प्रकार — 'तद्वहति रथ - युगप्रासङ्गम्' (४।४।७६) सूत्र के पहले तक 'ठक्' का अधिकार है। अर्थात् इस सूत्र तक निर्दिष्ट अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता है।"

१. **वा०**—'तद् आह' (वह कहता है) अर्थ में माशब्द आदि प्रकृतिरूप द्वितीयान्त शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय होता है।" **उदाहरण**—मा शब्दः कारि (माशब्द + ठक् = ठ, 'ठ' = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि — 'किति च', 'अ' का लोप एवं विभक्तिकार्य) = माशाब्दिकः ('मत बोलो' कहने वाला)। यहाँ विग्रहवाक्य में 'कारि' कर्मवाच्य में लुङ् लकार का रूप है। 'माङ्' के योग में अट् आगम नहीं हुआ।

२. **वा०**—द्वितीयान्त प्रभूत आदि शब्दों से 'आह' (कहता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—प्रभूतम् इति आह सः (प्रभूत + ठक्, ठ = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = प्राभूतिकः (बहुत कहने वाला)। पर्याप्तम् इति आह सः (पर्याप्त + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = पार्याप्तिकः (पर्याप्त कहने वाला)।

३. **वा०**—द्वितीयान्त सुस्नात आदि से 'अच्छी तरह से स्नान कर लिया आदि पूछने वाला' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—सुस्नातं पृच्छति यः आह सः (सुस्नात + ठक् = ठ, ठ = 'इक' आदेश, उभयपदवृद्धि — 'अनुशतिकादीनां च', अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = सौस्नातिकः

*** गच्छतौ परदारादिभ्यः *** । पारदारिकः । गौरुतल्पिकः । **(१९२७) तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ४।४।२** । अक्षैर्दीव्यति जयति जितं वा आक्षिकः । अभ्रया खनति आभ्रिकः । **(१९२८) संस्कृतम् ४।४।३** । दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारिचिकम् । **(१९२९) तरति ४।४।५** । उडुपेन तरति औडुपिकः । **(१९३०)**

(१९२७) **तेन दीव्यतीति** । दीव्यतीत्याद्यर्थेषुं तृतीयान्तात् ठग्भवतीर्थः ।

(१९२८) **संस्कृतमिति** । तेनेत्येव । संस्कृतमित्यर्थे तृतीयान्ताट्ठगित्यर्थः ।

(१९२९) **तरतीति** । तरतीत्यर्थे तृतीयान्तात् ठगित्यर्थः ।

(अच्छी तरह स्नान कर लिया, यह पूछने वाला) । सुखशयनं पृच्छति य आह सः (सुखशयन + ठक्, ठ = 'इक', उभयपदवृद्धि, अन्त्यलोप) = सौखशायनिकः (तुम अच्छी तरह सोये, यह पूछने वाला) ।

४. **वा०**—द्वितीयान्त से परदार आदि शब्दों से गच्छति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—परदारान् गच्छति (परदार + ठक्, ठ = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि एवम् अन्त्यलोप) = पारदारिकः (परस्त्री से सम्बन्ध रखने वाला) । गुरुतल्पं गच्छति (गुरुतल्प + ठक् = 'ठ', ठ = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = गौरुतल्पिकः (गुरुपत्नी से सम्बन्ध रखने वाला) ।

(१९२७) **पद**—तेन, दीव्यति, खनति, जयति, जितम् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तृतीयान्त से दीव्यति आदि अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है । आक्षिकः । आभ्रिकः ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'तेन' पद तृतीया विभक्ति का सूचक है, जो अनुवृत्त 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' का विशेषण है । अतः तदन्तविधि होती है । दीव्यति आदि पद अर्थ-निर्देशक हैं । तदनुसार "'खेलता है', 'खोदता है', 'जोतता है' तथा 'जीता हुआ' अर्थों में तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—अक्षैः दीव्यति (अक्ष + ठक् = 'ठ', 'ठ' = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = आक्षिकः (पासों से खेलता है) । अभ्रया खनति (अभ्र + ठक् आदि पूर्ववत्) = आभ्रिकः (लकड़ी की कुदाल से खोदने वाला) ।

(१९२८) **पद**—संस्कृतम् । **अनुवृत्ति**—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तृतीयान्त से संस्कृत अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । दाधिकम् । मारिचिकम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९२७) से 'तेन' तथा १९२६ से 'ठक्' की अनुवृत्ति आ रही है । सूत्रस्थ 'संस्कृतम्' पद अर्थ-निर्देशक है । तदनुसार — "'संस्कार किया हुआ' अर्थ में तृतीयान्त शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—दध्ना संस्कृतम् (दधि + ठक् = ठ, ठ = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि, 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = दाधिकम् (दही से संस्कारित) । मरीचिभिः संस्कृतम् (मरीचि + ठक्, 'ठ' = 'इक', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = मारिचिकम् (काली मिर्चों से संस्कार किया हुआ) ।

(१९२९) **पद**—तरति । **अनुवृत्ति**—तेन, ठक्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तृतीयान्त से 'तरति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । औडुपिकः ।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् प्रकृत सूत्र में भी 'तेन' व 'ठक्' आदि पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार — "तृतीयान्त शब्द से 'तैरता है' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—उडुपेन तरति (उडुप + ठक् = ठ, 'ठ' = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = औडुपिकः (छोटी नाव से तैरता है) ।

गोपुच्छाट्ठञ् ४।४।६। गौपुच्छिकः। **(१९३१) नौद्व्यचष्ठन् ४।४।७।** नाविकः। घटिकः। **(१९३२) चरति ४।४।८।** हस्तिना चरति हास्तिकः। दध्ना भक्षयति दाधिकः। शकटेन चरति शाकटिकः। **(१९३३) पर्पादिभ्यः ष्ठन् ४।४।१०।** पर्पेन चरति पर्पिकः। येन पीढेन पङ्गवश्चरन्ति सः पर्पः। अश्विकः।

(१९३०) **गोपुच्छादिति।** तरतीत्यर्थे तृतीयान्तादिति शेषः। **गौपुच्छिकः** — गोपुच्छेन तरतीति विग्रहे गोपुच्छशब्दात् 'गोपुच्छाट्ठञ्' इति ठञि आदिवृद्धौ ठस्येकादेशे विभक्तिकार्ये 'गौपुच्छिकः' इति।

(१९३१) **नौद्व्यचष्ठन्।** तरतीत्यर्थे नौशब्दात् द्व्यचश्च तृतीयान्तात् ठनित्यर्थः।

(१९३२) **चरति।** चरतीत्यर्थे तृतीयान्तात् ठग्भवतीत्यर्थः।

(१९३३) **पर्पादिभ्य इति।** चरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्य इति शेषः।

(१९३०) **पद**—गोपुच्छात्, ठञ्। **अनुवृत्ति**—तरति, तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तृतीयान्त गोपुच्छ शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है। गौपुच्छिकः।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति आ रही है। 'तरति' का ही विषय है। तदनुसार "तृतीयासमर्थ गोपुच्छ शब्द से 'तरति' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—गोपुच्छेन तरति (गोपुच्छ + ठञ् = 'ठ', ठ = 'इक', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = गौपुच्छिकः (गाय की पूँछ से पार होता है)।

(१९३१) **पद**—नौद्व्यचः, ठन्। **अनुवृत्ति**—तरति, तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नौ तथा द्व्यच् प्रकृतिक तृतीयान्त से चरति अर्थ में 'ठन्' प्रत्यय होता है। नाविकः। घटिकः।

विमर्श—'तरति' का ही विषय है। विधेय प्रत्यय 'ठन्' है। पूर्ववत् उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार — "तृतीयान्त 'नौ' शब्द तथा 'दो अच् वाले' शब्दों से 'तरति' अर्थ में ठन् प्रत्यय होता है।" यह विधान 'ठक्' का अपवाद है। 'ठन्' होने पर आदिवृद्धि नहीं होती।"

उदाहरण—नावा तरति (नौ + ठन् = 'ठ', 'ठ' = 'इक' आदेश, 'औ' = 'आव्', विभक्तिकार्य) = नाविकः (नाव से पार करता है)। घटेन तरति (घट + ठन्) = घटिकः (घड़े से पार करता है)।

(१९३२) **पद**—चरति। **अनुवृत्ति**—तेन, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तृतीयान्त से चरति (खाता है या जाता है) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। हास्तिकः। शाकटिकः। दाधिकः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'चरति' पद अर्थनिर्देशक है। √चर् धातु का अर्थ - 'खाना' तथा 'जाना' है। अन्य प्राकरणिक अनुवृत्तियों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। अतः "तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'जाता है' तथा 'खाता है' इन अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—हस्तिना चरति (हस्तिन् + ठक् = 'ठ', ठ = इक, टि = 'इन्' का लोप, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = हास्तिकः (हाथी के द्वारा चलता है)। दध्ना भक्षयति (दधि + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'इ' का लोप) = दाधिकः (दही से खाता है)। शकटेन चरति (शकट + ठक्, आदिवृद्धि, ठ = इक, अन्त्यलोप) = शाकटिकः (गाड़ी से जाता है)।

(१९३३) **पद**—पर्पादिभ्यः, ष्ठन्। **अनुवृत्ति**—चरति, तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

रथिकः। (१९३४) श्वगणाट्ठञ् च ४।४।११ । चात्ष्ठन्। (१९३५) श्वादेरिञि ७।३।८ । ऐज् न। श्वाभस्त्रिः। * इकारादाविति वाच्यम् *। श्वगणेन चरति श्वागणिकः, श्वागणिकी, श्वगणिकः। (१९३६) वेतनादिभ्यो जीवति ४।४।१२ ।

(१९३४) **श्वगणाट्ठञ् च**। तृतीयान्तात् श्वगणशब्दाच्चरतीत्यर्थे ठञ् ष्ठन् च स्यादित्यर्थः।

(१९३५) **श्वादेरिञि**। 'न कर्मव्यतिहारे' इत्यतो नेत्यनुवर्तते। 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम्। श्वन्शब्दपूर्वपदस्याङ्गस्य इञि परे नैजागम इत्यर्थः।

मूलार्थ—पर्पादिप्रकृतिक तृतीयान्त से 'चरति' अर्थ में 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है। पर्पिकः। अश्विकः। रथिकः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'चरति' (१९३२) की अनुवृत्ति आ रही है। पूर्वसूत्र 'तेन दीव्यति०' (१९२७) से 'तेन' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार ''तृतीयासमर्थ पर्प आदि प्रातिपदिकों से 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है।'' पङ्गु (लंगड़े) को सहारा देनेवाली लकड़ी को 'पर्प' कहते हैं।

उदाहरण—पर्पेण चरति (पर्प + ष्ठन् = 'ठ', 'ठ' = 'इक', 'अ' का लोप, विभक्ति-कार्य) = पर्पिकः (वैशाखी के सहारे चलने वाला)। अश्वेन चरति (अश्व + ष्ठन्, प्रक्रिया उक्तवत्) = अश्विकः (घोड़े से चलने वाला)। रथेन चरति (रथ + ष्ठन्) = रथिकः (रथ से चलने वाला)।

(१९३४) **पद**—श्वगणात्, ठञ्, च। **अनुवृत्ति**—ष्ठन्, चरति, तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त श्वगण शब्द से चरति अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है। पक्ष में ष्ठन् भी होता है।

विमर्श—'चरति' (१९३२) का ही विषय है। 'च' पद से पूर्वसूत्रोक्त 'ष्ठन्' का अनुकर्षण होता है। अतः ''तृतीयान्त श्वगण शब्द से 'ठञ्' और 'ष्ठन्' दोनों प्रत्यय होते हैं।''

(१८३५) **पद**—श्वादेः, इञि। **अनुवृत्ति**—न, अङ्गस्य। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—श्वादि को इञ् प्रत्यय परे रहते 'ऐच्' का आगम नहीं होता है। श्वाभस्त्रिः।

वा०—'इकारादि प्रत्यय परे रहते ऐच् नहीं होता' ऐसा कहना चाहिए। श्वागणिकः, श्वगणिकः।

विमर्श—सप्तमाध्याय का प्रासंगिक सूत्र है। 'न कर्मव्यतिहारे' (७।३।६) सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति आती है। उससे 'ऐच्' के निषेध का संकेत मिलता है। 'अङ्गस्य' का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार — ''श्वन् आदि में है जिनके ऐसे अङ्ग को इञ् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर पूर्वोक्त कार्य अर्थात् 'ऐच्' का आगम नहीं होता।'' 'श्वन्' शब्द का द्वारादिगण में पाठ होने से 'द्वारादीनां च' सूत्र से प्राप्त 'ऐच्' आगम का यह निषेध करता है।

उदाहरण—श्वभस्त्रस्य अपत्यम् (श्वभस्त्र + इञ् — 'अत इञ्', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप, 'द्वारादीनां च' से प्राप्त 'ऐच्' आगम का निषेध — 'श्वादेरिञि', विभक्तिकार्य) = श्वाभस्त्रिः (श्वभस्त्र की सन्तान)। यहाँ यह शंका होती है कि द्वारादिगण में श्वन् शब्द का पाठ है, न कि 'श्वभस्त्र' का। अतः ऐच् आगम की प्राप्ति की सम्भावना न होने पर प्रकृत सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि द्वारादिगणपठित शब्दों में तदादि विधि भी होती है। इस प्रकार श्वभस्त्र आदि शब्दों में भी निषेध की चरितार्थता है।

वा०—इकारादि तद्धित प्रत्यय परे रहते श्वादि शब्दों को ऐच् का आगम नहीं होता।

उदाहरण— श्वगणेन चरति (श्वगण + ठञ् = 'ठ' — 'श्वगणाट्ठञ् च', ठ = इक, अन्त्य-लोप, प्राप्त 'ऐच्' का निषेध — 'इकारादाविति वाच्यम्', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = श्वागणिकः

वेतनेन जीवति वैतनिकः। धानुष्कः। (१९३७) हरत्युत्सङ्गादिभ्यः ४।४।१५। उत्सङ्गेन हरति औत्सङ्गिकः। (१९३८) भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् ४।४।१६। भस्त्रया हरति भस्त्रिकः। षित्त्वाद् भस्त्रिकी। (१९३९) विभाषा विवधात् ४।४।१७। ष्ठन्। पक्षे - ठक्। विवधेन हरति विवधिकः। एकदेशविकृतत्वाद्वीवधादपि।

(१९३६) **वेतनादिभ्य इति**। तृतीयान्तेभ्यो वेतनादिभ्यो जीवतीत्यर्थे ठगित्यर्थः।

(१९३७) **हरत्युत्सङ्गादिभ्य इति**। हरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्य उत्सङ्गादिभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः।

(१९३८) **भस्त्रादिभ्य इति**। हरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यो भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् स्यादित्यर्थः।

(१९३९) **विभाषेति**। हरतीत्यर्थे तृतीयान्तात् विवधशब्दात् विकल्पेन ष्ठन् स्यादित्यर्थः।

(कुत्तों को लेकर चलने वाला)। स्त्रीलिङ्ग में 'टिड्ढाणञ्०' से ङीप् होकर — श्वागणिकी। पक्ष में 'च' ग्रहण से ष्ठन् होने पर आदिवृद्धि नहीं होती — श्वगणिकः। षित् होने से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् = 'श्वगणिकी' (कुत्तों को साथ लेकर चलने वाली महिला)।

(१९३६) **पद**—वेतनादिभ्यः, जीवति। **अनुवृत्ति**—तेन, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त वेतन आदि शब्दों से जीवति अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है। वैतनिकः। धानुष्कः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'जीवति' पद अर्थनिर्देशक है। पूर्ववत् 'तेन' तथा 'ठक्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "तृतीयासमर्थ वेतन आदि प्रातिपदिकों से जीवति (निर्वाह करने वाला) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—वेतनेन जीवति (वेतन + ठक् = ठ, 'ठ' = 'इक', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = वैतनिकः (वेतन लेकर जीवन निर्वाह करने वाला)। धनुषा जीवति (धनुष + ठक्, ठ = 'क' — 'इसुसुक्तान्तात्कः', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = धानुष्कः (धनुष से निर्वाह करने वाला)।

(१९३७) **पद**—हरति, उत्सङ्गादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—ठक्, तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त उत्सङ्ग आदि शब्दों से 'हरति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। औत्सङ्गिकः।

विमर्श—'हरति' (ले जाता है) का विषय प्रारम्भ होता है। पूर्ववत् आधिकारिक एवं प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार — "तृतीयासमर्थ उत्सङ्ग आदि शब्दों से 'हरति' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—उत्सङ्गेन हरति (उत्सङ्ग + ठक् = ठ, 'ठ' = 'इक' आदेश, आदिवृद्धि, अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = औत्सङ्गिकः (गोद में लेकर चलने वाला)।

(१९३८) **पद**—भस्त्रादिभ्यः, ष्ठन्। **अनुवृत्ति**—हरति, तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त भस्त्रादि से हरति अर्थ में 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है। भस्त्रिकः। भस्त्रिकी।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९३७) से 'हरति' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। तदनुसार — "भस्त्रा आदि गणपठित शब्दों से हरति अर्थ में 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है।" 'ष्ठन्' में 'ष्' और 'न्' इत्संज्ञक हैं। अतः स्त्रीलिङ्ग में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् हो जाता है।

उदाहरण—भस्त्रया हरति (भस्त्रा + ष्ठन् = 'ठ', ठ = इक, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = भस्त्रिकः (मशक से ले जाने वाला)। स्त्रीलिङ्ग — भस्त्रिकी।

(१९३९) **पद**—विभाषा, विवधात्। **अनुवृत्ति**—हरति, ष्ठन्, तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

वीवधिकः। विवधवीवधशब्दौ उभयतो बद्धशिक्ये स्कन्धवाह्ये काष्ठे वर्तेते। (१९४०) **निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः ४।४।१९।** अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम् आक्षद्यूतिकं वैरम्। (१९४१) **संसृष्टे ४।४।२२।** दध्ना संसृष्टं दाधिकम्। (१९४२) **लवणाल्लुक् ४।४।२४।** लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः। (१९४३) **मुद्गादण्**

(१९४०) **निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्य इति।** 'निर्वृत्तम्' इत्यर्थे तृतीयान्तेभ्योऽक्षद्यूतादिभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः।

(१९४१) **संसृष्टे।** 'संसृष्टमि'त्यर्थे तृतीयान्तात् ठगित्यर्थः।

(१९४२) **लवणाल्लुक्।** पूर्वसूत्रविहितस्य ठक्प्रत्ययस्येति शेषः।

मूलार्थ—तृतीयान्त विवध शब्द से हरति अर्थ में विकल्प से ष्ठन् प्रत्यय होता है। पक्ष में ठक् होता है। विवधिकः। पक्ष में - वैवधिकः। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के अनुसार 'वीवध' से भी 'ष्ठन्' होता है। दोनों ओर जिसके शिल्य बँधे रहते हैं, ऐसे काष्ठ को 'विवध' या 'वीवध' कहते हैं।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'हरति उत्सङ्गादिभ्यः' (१९३७) से 'हरति' तथा 'भस्त्रादिभ्यः ष्ठन्' (१९३८) से 'ष्ठन्' की अनुवृत्ति आ रही है। अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार ''तृतीयान्त 'विवध' (या 'वीवध') शब्द से हरति अर्थ में विकल्प से 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है''। जिस काष्ठ के दोनों सिरों पर बोझ बाँधकर ढोया जाय उसे विवध (बँहगी) कहते हैं।''

उदाहरण—विवधेन हरति (विवध = 'ष्ठन्' = 'ठ' विकल्प से, 'ठ' = 'इक', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = विवधिकः। पक्ष में — ठक् (= 'ठ' = 'इक', आदिवृद्धि — 'किति च', अन्त्य-लोप) = वैवधिकः (बँहगी से ढोने वाला)।

(१९४०) **पद**—निर्वृत्ते, अक्षद्यूतादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—तेन, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तृतीयान्त अक्षद्यूतादि शब्दों से निर्वृत्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। आक्षद्यूतिकम्।

विमर्श—'निर्वृत्तम्' (उत्पन्न किया या सम्पन्न) अर्थ का प्रसङ्ग आरम्भ होता है। उक्त प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''तृतीयान्त अक्षद्यूत आदि गणपठित शब्दों से 'उत्पन्न किया गया या सम्पन्न किया' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम् (अक्षद्यूत + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप तथा विभक्तिकार्य) = आक्षद्यूतिकं वैरम् (जुएँ के द्वारा उत्पन्न हुआ वैर)।

(१९४१) **पद**—संसृष्टे। **अनुवृत्ति**—तेन, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तृतीयान्त से संसृष्ट अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। दाधिकम्।

विमर्श—'संसृष्टे' पद अर्थ-निर्देशक है। शेष प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार ''तृतीयान्त शब्दों से 'मिला हुआ' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—दध्ना संसृष्टम् (दधि + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = दाधिकम् (दही मिला हुआ)।

(१९४२) **पद**—लवणात्, लुक्। **अनुवृत्ति**—संसृष्टे, तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—लवण शब्द से पूर्वविहित 'ठक्' का लुक् होता है। लवणः सूपः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'संसृष्टे' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है। अतः ''तृतीयान्त लवण से संसृष्ट अर्थ में हुए प्रत्यय का लुक् होता है।''

४।४।२५। मौद्ग ओदनः। (१९४४) उञ्छति ४।४।३२। बदराण्युञ्छति बादरिकः। (१९४५) रक्षति ४।४।३३। समाजं रक्षति सामाजिकः। (१९४६) शब्ददर्दुरं करोति ४।४।३४। शब्दं करोति शाब्दिकः। दार्दुरिकः। (१९४७)

(१९४३) **मुद्गादण्**। तेन संसृष्टमित्यर्थे तृतीयान्तात् मुद्गशब्दादण् स्यादित्यर्थः।

(१९४४) **उञ्छति**। उञ्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तात् ठक् इत्यर्थः।

(१९४५) **रक्षति**। रक्षतीत्यर्थे द्वितीयान्तात् ठक् स्यादित्यर्थः। **सामाजिकः** — समाजं रक्षतीत्यर्थे 'रक्षति' इति ठकि, ठस्य इकादेशे आदिवृद्धौ भत्वे अकारलोपे, विभक्तिकार्ये 'सामाजिकः' इति।

(१९४६) **शब्ददर्दुरं करोतीति**। द्वितीयान्तात् ठगिति शेषः। **शाब्दिकः** — 'शब्दं करोति' विग्रहे 'शब्ददर्दुरं करोति' इत्यनेन ठकि अनुबन्धलोपे, ठस्य इकादेशे, 'किति चे'-त्यादिवृद्धौ भत्वे अकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'शाब्दिकः' इति।

उदाहरण—लवणेन संसृष्टः (लवण + 'ठक्' — 'संसृष्टे', ठक् प्रत्यय का लुक् — 'लवणाल्लुक्', विभक्तिकार्य) = लवणः सूपः (नमक मिली हुई दाल)।

(१९४३) **पद**—मुद्गात्, अण्। **अनुवृत्ति**—संसृष्टे, तेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्त मुद्ग शब्द से संसृष्ट अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। मौद्गः ओदनः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'संसृष्टे' (१९४१) की अनुवृत्ति प्रमुखतया आती है। अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार — ''तृतीयान्त मुद्ग शब्द से 'संसृष्ट' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—मुद्गैः संसृष्टः (मुद्ग + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = मौद्गः ओदनः (मूँग मिला भात अर्थात् खिचड़ी)।

(१९४४) **पद**—उञ्छति। **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त से 'उञ्छति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। बादरिकः।

विमर्श—'तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्' (४।४।२८) सूत्र से द्वितीयान्त 'तत्' की अनुवृत्ति आती है। अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। तदनुसार - ''द्वितीयासमर्थ शब्द से 'उञ्छति' (चुनता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—बदराणि उञ्छति (बदर + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = बादरिकः (बेर बीनने वाला)। धरती पर गिरे हुए दानों को बीनना 'उञ्छ' कहलाता है।

(१९४५) **पद**—रक्षति। **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त से रक्षति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। सामाजिकः।

विमर्श—पूर्ववत् 'तत्' और 'ठक्' आदि पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'रक्षा करता है' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—समाजं रक्षति (समाज + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = सामाजिकः (समाज की रक्षा करने वाला)।

(१९४६) **पद**—शब्ददर्दुरम्, करोति। **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त और दर्दुर शब्दों से करोति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। शाब्दिकः। दार्दुरिकः।

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ४।४।३५। स्वरूपस्य पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहणम्। मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव। पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः। शाकुनिकः। मायूरिकः। मात्स्यिकः। मैनिकः। शाकुलिकः। मार्गिकः। हारिणिकः। सारङ्गिकः। (१९४८) **धर्मं चरति ४।४।४१।** धार्मिकः। * अधर्माच्चेति वक्तव्यम् *। आधर्मिकः।

(१९४७) **पक्षिमत्स्यमृगान् इति।** 'हन्ती'त्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः पक्षिमत्स्यमृगेभ्यः ठग्भवतीत्यर्थः।

(१९४८) **धर्मं चरति।** द्वितीयान्ताद् धर्मशब्दात् चरतीत्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। सूत्रस्थ पद 'करोति' अर्थनिर्देशक है। तदनुसार "द्वितीयान्त शब्द और दर्दुर शब्द से 'करता है' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—शब्दं करोति (शब्द + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = शाब्दिकः (शब्द की निष्पत्ति करने वाला — वैयाकरण)। दर्दुरं करोति (दर्दुर + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = दार्दुरिकः (मिट्टी के घड़े को बजाने वाला — कुम्हार)।

(१९४७) **पद**—पक्षि-मत्स्य-मृगान्, हन्ति। **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त पक्षी, मत्स्य और मृग शब्द से हन्ति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। इन शब्दों के पर्यायवाची और विशेषवाची शब्दों का भी ग्रहण होता है। मत्स्य का पर्याय केवल 'मीन' शब्द का पर्याय लिया जाता है। पाक्षिकः। शाकुनिकः। मायूरिकः। मात्स्यिकः। मैनिकः। शाकुलिकः। मार्गिकः। हारिणिकः। सारङ्गिकः।

विमर्श—सूत्र में अर्थनिर्देशक एवम् उद्देश्यवाचक पद होने से विधेयांश का लाभ अनुवृत्ति से होता है। अतः पूर्ववत् 'तत्', 'ठक्' आदि पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "द्वितीयान्त पक्षि, मत्स्य तथा मृगवाची शब्दों से 'मारता है' अर्थ में ठक् = 'ठ' प्रत्यय होता है।" यहाँ पक्षिन्, मत्स्य एवं मृग शब्द पर्यायवाची एवम् विशेष विधानवाची शब्दों के भी ग्राहक हैं। किन्तु 'मत्स्य' शब्द से केवल 'मीन' पर्याय का ही ग्रहण होता है।

उदाहरण—(१) पक्षिणः हन्ति (पक्षिन् + ठक् = 'ठ', 'ठ' = 'इक', टि = 'इन्' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = पाक्षिकः (पक्षियों को मारने वाला)। (२) **पक्षि का पर्यायवाची**—शकुनीन् हन्ति (शकुनि + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = शाकुनिकः (पक्षियों को मारने वाला) (३) **पक्षि-विशेषवाची**—मयूरं हन्ति (मयूर + ठक्, प्रक्रिया उक्तवत्) = मायूरिकः (मोर को मारने वाला)। (४) **मत्स्य शब्द**—मत्स्यान् हन्ति (मत्स्य + ठक्) = मात्स्यिकः (मछली मारने वाला)। (५) **मीन शब्द**—मीनान् हन्ति (मीन + ठक्) = मैनिकः (मछलीमार)। (६) **मीन-विशेष**—शकुलान् हन्ति (शकुल + ठक्) = शाकुलिकः (तीव्रगामी मछली का हन्ता)। (७) **मृग शब्द**—मृगान् हन्ति (मृग + ठक्) = मार्गिकः (हिरनों को मारनें का वाला)। (८) हरिणान् हन्ति (हरिण + ठक्) = हारिणिकः (हिरनों का हन्ता)। (९) **मृग-विशेषवाची**—सारङ्गान् हन्ति (सारङ्ग + ठक्) = सारङ्गिकः (चित्रमृग को मारने वाला)।

(१९४८) **पद**—धर्मं, चरति। **अनुवृत्ति**—तत्, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त धर्म शब्द से चरति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। धार्मिकः। अधर्म शब्द से भी ठक् होता है। आधर्मिकः।

(१९४९) तदस्य पण्यम् ४।४।५१। अपूपाः पण्यमस्य आपूपिकः। (१९५०) लवणाट्ठञ् ४।४।५२। लावणिकः। (१९५१) शिल्पम् ४।४।५५। मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः। (१९५२) प्रहरणम् ४।४।५७।

(१९४९) **तदस्य पण्यमिति**। 'अस्य पण्यमि'त्यर्थे प्रथमान्तात् ठक् स्यादित्यर्थः।

(१९५०) **लवणाट्ठञ्**। 'अस्य पण्यमि'त्यर्थे प्रथमान्ताल्लवणशब्दात् ठग्भवतीत्यर्थः। **लावणिकः** — लवणं पण्यमस्येति विग्रहे 'लवणाट्ठञ्' इत्यनेन लवणशब्दात् ठञि, ठस्य इकादेशे आद्यचो वृद्धौ भत्वे अकारलोपे विभक्तिकार्ये 'लावणिकः' इति।

(१९५१) **शिल्पम्**। अस्य शिल्पमित्यर्थे प्रथमान्तात् ठक् स्यादित्यर्थः।

(१९५२) **प्रहरणम्**। अस्य प्रहरणमित्यर्थे प्रथमान्तात् ठग्भवतीत्यर्थः। **आसिकः** — असिः प्रहरणमस्य इति विग्रहे ठकि, ठस्येकादेशः, आदिवृद्धिश्च।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार ''द्वितीयान्त धर्म शब्द से 'आचरण करता है' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—धर्मं चरति (धर्म + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = धार्मिकः (धर्माचरण करने वाला)।

वा०—अधर्म शब्द से भी उक्त अर्थ में ठक् होता है। **उदाहरण**—अधर्मं चरति (अधर्म + ठक्, प्रक्रिया पूर्ववत्) = आधर्मिकः (अधर्म अर्थात् पाप करने वाला)।

(१९४९) **पद**—तत्, अस्य, पण्यम्। **अनुवृत्ति**—ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रथमान्त से 'अस्य पण्यम्' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। आपूपिकः।

विमर्श—आधिकारिक एवम् प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् आ रही हैं। तदनुसार ''प्रथमा समर्थ से 'अस्य पण्यम्' (यदि वह वस्तु खरीदने योग्य हो) षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—अपूपाः पण्यम् अस्य (अपूप + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = आपूपिकः (जिसके पुए विक्रययोग्य हैं अर्थात् दूकानदार)।

(१९५०) **पद**—लवणात्, ठञ्। **अनुवृत्ति**—तदस्य पण्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पूर्वोक्त अर्थ में लवण शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है। लावणिकः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तदस्य पण्यम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार '''अस्य पण्यम्' अर्थ में लवण शब्द से ठञ् (= ठ) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—लवणं पण्यम् अस्य (लवण + ठञ्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = लावणिकः (नमक बेचने वाला)।

(१९५१) **पद**—शिल्पम्। **अनुवृत्ति**—तदस्य पण्यम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अस्य शिल्पम्' अर्थ में प्रथमान्त से ठक् प्रत्यय होता है। मार्दङ्गिकः।

विमर्श—विभक्तिवाचक 'तत्' एवम् अर्थवाचक 'अस्य' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (१९४९) से आती है। शेष प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। अतः ''प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से 'इसका शिल्प = कुशलता' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—मृदङ्गवादनं शिल्पम् अस्य (मृदङ्ग + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, रपर, अन्त्य वर्ण का लोप, विभक्तिकार्य) = मार्दङ्गिकः (मृदङ्ग बजाने वाला)।

(१९५२) **पद**—प्रहरणम्। **अनुवृत्ति**—तदस्य, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रथमान्त से 'अस्य प्रहरणम्' अर्थ में ठक् होता है। आसिकः। धानुष्कः।

असिः प्रहरणमस्य आसिकः। धानुष्कः। (१९५३) शक्तियष्ट्योरीकक् ४।४।५९। शाक्तीकः। याष्टीकः। (१९५४) अस्ति - नास्ति - दिष्टं मतिः ४।४।६०। अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः। नास्तीति मतिर्यस्य सः नास्तिकः। दिष्टमिति मतिर्यस्य सः दैष्टिकः। (१९५५) शीलम् ४।४।६१।

(१९५३) **शक्तियष्ट्योरीकक्**। शक्तियष्टिशब्दाभ्यां प्रथमान्ताभ्याम् 'अस्य प्रहरणमि'-त्यर्थे ईकक्प्रत्ययः स्यात्। ठकोऽपवादोऽयम्।

(१९५४) **अस्ति - नास्तीति**। इति मतिरस्यास्तीत्यर्थे अस्ति-नास्ति-दिष्टशब्देभ्यः प्रथमान्तेभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः। **आस्तिकः** — अस्ति परलोक इति मतिर्यस्येति विग्रहे अस्तिशब्दात् 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इत्यनेन ठकि अनुबन्धलोपे ठस्य इकादेशे आद्यचो वृद्धौ भत्वे इकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'आस्तिकः' इति।

विमर्श—'ठक्' का ही प्रकरण है। 'तदस्य' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (१९४९) से आती है। तदनुसार ''प्रथमान्त से 'अस्य प्रहरणम्' (शस्त्र का प्रहार) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—असिः प्रहरणम् अस्य (असि + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = आसिकः (तलवार चलाने वाला)। धनुः प्रहरणम् अस्य (धनुष् + ठक्, 'ठ' = 'क' — 'इसुसुक्तान्तात्कः', विभक्तिकार्य) = धानुष्कः (धनुष चलाने वाला)।

(१९५३) **पद**—शक्तियष्ट्योः, ईकक्। **अनुवृत्ति**—प्रहरणम्, तदस्य, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अस्य प्रहरणम्' अर्थ में शक्ति और यष्टि शब्द से ईकक् प्रत्यय होता है। शाक्तीकः। याष्टीकः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'प्रहरणम्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार ''प्रथमान्त शक्ति और यष्टि शब्दों से प्रहरण = 'प्रहार करने' अर्थ में 'ईकक्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—शक्तिः प्रहरणम् अस्य (शक्ति + ईकक् = 'ईक', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = शाक्तीकः (बर्छी चलाने वाला)। यष्टिः प्रहरणम् अस्य (यष्टि + ईकक्) = याष्टीकः (लाठी चलाने वाला)।

(१९५४) **पद**—अस्ति-नास्ति-दिष्टम्, मतिः। **अनुवृत्ति**—तदस्य, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'इति मतिरस्य' इस अर्थ में प्रथमान्त अस्ति, नास्ति और दिष्ट शब्द से ठक् प्रत्यय होता है। आस्तिकः। नास्तिकः। दैष्टिकः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९४९) से 'तदस्य' की अनुवृत्ति का प्रवाह विद्यमान है। सूत्रोक्त अस्ति तथा नास्ति शब्द निपात हैं। दिष्ट शब्द भाग्य का पर्यायवाची है। अतः ''प्रथमान्त अस्ति, नास्ति तथा दिष्ट प्रातिपदिकों से 'इसकी मति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।''

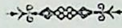
उदाहरण—अस्ति इति मतिरस्य (अस्ति + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्य 'इ' का लोप) = आस्तिकः (ईश्वर या परलोक की सत्ता को मानने वाला)। नास्ति इति मतिः अस्य (नास्ति + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = नास्तिकः (ईश्वर या परलोक को न मानने वाला)। दिष्टम् इति मतिः अस्य (दिष्ट + ठक्) = दैष्टिकः (भाग्य को मानने वाला)।

(१९५५) **पद**—शीलम्। **अनुवृत्ति**—तदस्य, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अस्य शीलम्' अर्थ में प्रथमान्त से ठक् प्रत्यय होता है। आपूपिकः।

अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः। (१९५६) छत्रादिभ्यो णः ४।४।६२। गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रं, तच्छीलमस्य छात्रः। (१९५७) तत्र नियुक्तः ४।४।६९। आकरे नियुक्त आकरिकः। (१९५८) निकटे वसति ४।४।७३। नैकटिको भिक्षुः।

इति ठगधिकारप्रकरणम्।



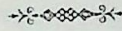
(१९५५) **शीलम्**। प्रथमान्तादस्य शीलमित्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः।

(१९५६) **छत्रादिभ्यो णः**। अस्य शीलमित्यर्थे छत्रादिभ्यः णः प्रत्ययो भवतीत्यर्थः।

(१९५७) **तत्र नियुक्तः**। सप्तम्यन्तात् नियुक्तमित्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः।

(१९५८) **निकटे वसति**। सप्तम्यन्तात् निकटशब्दात् वसतीत्यर्थे ठक् स्यादिति।

इति ठगधिकारप्रकरणम्।



विमर्श—'तदस्य' का ही विषय है। पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है। अतः ''प्रथमान्त शील समानाधिकरणवाची शब्द से षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—अपूपभक्षणं शीलमस्य (अपूप + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, विभक्ति-कार्य) = आपूपिकः (पुआ खाने वाला)।

(१९५६) **पद**—छत्रादिभ्यः, णः। **अनुवृत्ति**—शीलम्, तदस्य, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अस्य शीलम्' अर्थ में छत्र आदि शब्दों से 'ण' प्रत्यय होता है। छात्रः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'शीलम्' का ही विषय है। तदनुसार ''छत्र आदि शब्दों से 'इसका शील = स्वभाव' अर्थ में ण (अ) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—गुरोर्दोषाणाम् आवरणं छत्रम्, तच्छीलम् अस्य (छत्र + ण = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = छात्रः (छत्र की तरह गुरु की त्रुटियों को छिपाने वाला शिष्य)।

(१९५७) **पद**—तत्र, नियुक्तः। **अनुवृत्ति**—ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त से नियुक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। आकरिकः।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार ''सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से नियुक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है''।

उदाहरण—आकरे नियुक्तः (आकर + ठक्, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = आकरिकः (खान-निरीक्षक)।

(१९५८) **पद**—निकटे, वसति। **अनुवृत्ति**—ठक्, तत्र, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त निकट शब्द से वसति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। नैकटिकः भिक्षुः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९५७) से 'तत्र' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''सप्तमी-समर्थ निकट शब्द से 'रहता है' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—निकटे वसति (निकट + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = नैकटिकः भिक्षुः (ग्राम आदि के निकट रहने वाला भिक्षु)।

ठगधिकारप्रकरण समाप्त।



अथ प्राग्घितीयप्रकरणम्

(१९५९) प्राग्घिताद्यत् ४।४।७५। 'तस्मै हितम्' इत्यतः प्राक् यदधिक्रियते। **(१९६०) तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् ४।४।७६।** रथं वहति रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः। **(१९६१) धुरो यड्ढकौ ४।४।७७।** धुर्यः, धौरेयः।

(१९५९) **प्राग्घिताद्यत्।** हितपदं तद्घटितसूत्रपरम्। तदाह – **तस्मै हितमिति।**

(१९६०) **तद्वहतीति।** द्वितीयान्तेभ्यो रथयुगप्रासङ्गशब्देभ्यो वहतीत्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः। **रथ्यः** — रथं वहतीति विग्रहे रथशब्दात् 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इत्यनेन यत्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे भत्वे अकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'रथ्यः' इति।

(१९६१) **धुरो यड्ढकौ।** द्वितीयान्ताद् धुर्शब्दात् वहतीत्यर्थे यत् ढक् च स्यादित्यर्थः। **धुर्यः** — धुरं वहतीति विग्रहे 'धुरो यड्ढकौ' इत्यनेन यत्प्रत्यये अकारलोपे, 'हलि चे' ति दीर्घे प्राप्ते 'न भकुर्छुराम्' इति तन्निषेधे विभक्तिकार्ये 'धुर्यः' इति। ढकि कृते तु ढस्य एयादेशे कित्त्वादादिवृद्धौ अन्त्यवर्णलोपे विभक्तिकार्ये 'धौरेयः' इति।

(१९५९) **पद**—प्राक्, हितात्, यत्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'तस्मै हितम्' सूत्र से पहले तक इसका अधिकार है।

विमर्श—यह अधिकारसूत्र है। सूत्रस्थ 'हितात्' पद एकदेशीय निर्देश है, जो 'तस्मै हितम्' सूत्र का प्रत्यायक है। इस प्रकार यहाँ से प्रारम्भ कर 'तस्मै हितम्' (५।१।५) से पूर्व तक अपवाद विषयों को छोड़कर सामान्य 'यत्' प्रत्यय का अधिकार रहेगा। अर्थात् इस सूत्र का प्रभाव 'भावे च' (४।४।१४४) तक रहेगा।

(१९६०) **पद**—तत्, वहति, रथयुगप्रासङ्गम्। **अनुवृत्ति**—यत्, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—द्वितीयान्त रथ, युग और प्रासङ्ग शब्दों से 'वहति' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'तत्' पद द्वितीया विभक्ति का सूचक है। 'वहति' (ढोता है) अर्थ-निर्देशक है। 'तत्' पद 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। अतः तदन्तविधि होती है। पूर्वसूत्र (१९५९) के अधिकार से 'यत्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''द्वितीयान्त रथ, युग तथा प्रासङ्ग शब्दों से 'ढोता है' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—रथं वहति (रथ + यत् = 'य', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = रथ्यः (रथ खींचने वाला घोड़ा या बैल)। युगं वहति (युग + यत्, प्रक्रिया उक्तवत्) = युग्यः (जुआँ ढोने या खींचने वाला बैल)। प्रासङ्गं वहति (प्रासङ्ग + यत्) = प्रासङ्ग्यः (प्रासङ्ग = प्रशिक्षण हेतु जुएँ को ढोने वाला)।

(१९६१) **पद**—धुरः, यड्ढकौ। **अनुवृत्ति**—तद्वहति, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—द्वितीयान्त धुर् शब्द से 'वहति' अर्थ में 'यत्' और 'ढक्' प्रत्यय होते हैं। धुर्यः, धौरेयः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९६०) से 'तद्वहति' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से आ रही है। तदनुसार ''द्वितीयान्त धुर् प्रातिपदिक से 'वहति' अर्थ में 'यत्' और 'ढक्' प्रत्यय होते हैं।''

(१९६२) हलसीराट्ठक् ४।४।८१। हलं वहति। हालिकः। सैरिकः। **(१९६३) विध्यत्यधनुषा ४।४।८३।** द्वितीयान्ताद्विध्यतीत्यर्थे यत् स्यात्, न चेत्तत्र धनुः, कारणम्। पादौ विध्यन्ति पद्याः शर्कराः। **(१९६४) नौवयोधर्मविषमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाभ्यसमसमितसम्मितेषु ४।४।९१।** नावा तार्यं नाव्यं जलम्। वयसा तुल्यः वयस्यः। धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्। विषेण

(१९६२) **हलसीराट्ठक्।** द्वितीयान्ताभ्यां हलसीरशब्दाभ्यां वहतीत्यर्थे ठक् इत्यर्थः। हालिकः।

(१९६३) **विध्यत्यधनुषा। न चेत्तत्रेति।** तत्र वेधने धनुः कारणं न चेदित्यर्थः।

(१९६४) **नौवयोधर्म।** नावादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यः क्रमेण तार्यादिष्वर्थेषु यत्स्यादित्यर्थः। **नाव्यम्** — नावा तार्यमिति विग्रहे नौशब्दात् 'नौवयोधर्म०' इत्यादिना यति अनुबन्धलोपे वान्तादेशे विभक्तिकार्ये 'नाव्यमि'ति।

उदाहरण—धुरं वहति (धुर् + यत् = 'य', प्राप्त उपधादीर्घ का 'न भकुर्छुराम्' से निषेध, विभक्तिकार्य) = धुर्यः। पक्ष में, ढक् (= ढ, ढ = एय, आदिवृद्धि) = धौरेयः (धुरी को वहन करने वाला)।

(१९६२) **पद**—हलसीरात्, ठक्। **अनुवृत्ति**—तद्वहति, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—द्वितीयान्त हल और सीर शब्द से वहति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। हालिकः। सैरिकः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९६०) से 'तद्वहति' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "द्वितीयासमर्थ हल और सीर प्रातिपदिकों से 'वहति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—हलं वहति (हल + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = हालिकः (हल ढोने वाला कृषक)। सीरं वहति (सीर + ठक्, प्रक्रिया उक्तवत्) = सैरिकः (हल खींचने वाला बैल)।

(१९६३) **पद**—विध्यति, अधनुषा। **अनुवृत्ति**—तत्, यत्, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—धनुषकरणक बेध को छोड़कर द्वितीयान्त से विध्यति अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। पद्याः शर्कराः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९६०) से विभक्त्यर्थक 'तत्' पद की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'अधनुषा' पद सप्तमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सूत्र में विधेय का निर्देश न होने से औत्सर्गिक 'यत्' का अधिकार है। तदनुसार "द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'बीधता है' अर्थ में यदि धनुष साधन न हो तो 'यत्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—पादौ विध्यन्ति (पाद + यत् = 'य', पाद = 'पत्' आदेश — 'पद्यतदर्थे', 'त्' = 'द्', प्रथमा बहुवचन में विभक्तिकार्य) = पद्याः शर्कराः (पैरों को बींधने (घायल) करने वाले कंकड)।

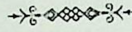
(१९६४) **पद**—नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यः, तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्यानाभ्य-सम-समित-संमितेषु। **अनुवृत्ति**—यत्; तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तृतीयान्त नौ आदि शब्दों से क्रमशः तार्य आदि अर्थों में यत् प्रत्यय होता है। नाव्यं जलम्। वयस्यः। धर्म्यम्। विष्यः। मूल्यम्। मूल्यः। सीत्यम्। तुल्यम्।

विमर्श—आधिकारिक 'यत्' प्रत्यय का विषय है। सूत्र में नौ, वयस् आदि आठ उद्देश्यवाची शब्द निर्दिष्ट हैं तथा आठ ही तार्य आदि शब्द अर्थनिर्देशक हैं। उनका यथासंख्य अन्वय होता है।

वध्यः विष्यः। मूलेन आनाम्यं मूलम्। मूलेन समः मूल्यः। सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम्। तुलया सम्मितं तुल्यम्। (१९६५) तत्र साधुः ४।४।९८। सामसु साधु सामन्यः। अग्र्यः। कर्मण्यः। शरण्यः। (१९६६) सभाया यः ४।४।१०५। सभ्यः।

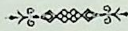
इति प्राग्घितीयप्रकरणम्।



(१९६५) **तत्र साधुः**। सप्तम्यन्तात्साधुरित्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः।

(१९६६) **सभाया यः**। सप्तम्यन्तात् सभाशब्दात् साधुरित्यर्थे यप्रत्ययः स्यात्, न तु यत्। ययतोः स्वरभेदः। **सभ्यः** — 'सभायां साधुः' इति विग्रहे सभाशब्दात् 'सभाया यः' इति यप्रत्यये भत्वे अकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'सभ्यः' इति।

इति प्राग्घितीयप्रकरणम्।



तार्य आदि का नौ आदि से करणादि अर्थ-विशेष द्वारा सम्बन्ध है। अतः ''तृतीयान्त नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता और तुला शब्दों से क्रमशः तार्य (पार करने योग्य), तुल्य (समान), प्राप्य (प्राप्त करने योग्य), वध्य (वध करने योग्य), आनाम्य (प्राप्त करने योग्य), सम (बराबर), समित (बराबर किया हुआ) और संमित (समान रूप से नापा हुआ) अर्थों में यत् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—(१) नावा तार्यम् (नौ + यत् = 'य', 'औ' = 'आव्' आदेश — 'वान्तो यि प्रत्यये', विभक्तिकार्य) = नाव्यं जलम् (नाव से तरने योग्य जल)। (२) वयसा तुल्यः (वयस् + यत् = 'य', विभक्तिकार्य) = वयस्यः (समान आयु वाला — मित्र)। (३) धर्मेण प्राप्यम् (धर्म + यत् = 'य', अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = धर्म्यम् (धर्म से प्राप्त करने योग्य)। (४) विषेण वध्यः (विष + यत्, अन्त्यलोप) = विष्यः (विष से मारने योग्य)। (५) मूलेन आनाम्यम् (मूल + यत्, अन्त्यलोप) = मूल्यम् (मूलधन से प्राप्त होने वाला लाभांश)। (६) मूलेन समः (मूल + यत्, अन्त्यलोप) = मूल्यम् (मूल के समान)। (७) सीतया समितम् (सीता + यत्, अन्त्य-वर्णलोप) = सीत्यम् (हल से बराबर किया हुआ खेत)। (८) तुलया संमितम् (तुला + यत्, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = तुल्यम् (तराजू से बराबर तौला हुआ)।

(१९६५) **पद**—तत्र, साधुः। **अनुवृत्ति**—यत्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त से साधु अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। अग्र्यः। सामन्यः। कर्मण्यः। शरण्यः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'तत्र' पद सप्तमी विभक्ति का सूचक है। 'साधु' अर्थ-निर्देशक है। 'प्राग्घिताद्यत्' की आधिकारिक अनुवृत्ति से 'यत्' विधेय पद का लाभ होता है। तदनुसार ''सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से साधु (कुशल या प्रवीण) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—अग्रे साधुः (अग्र + यत् = 'य', अन्त्य 'अ' का लोप) = अग्र्यः (आगे रहने में प्रवीण)। सामसु साधुः (सामन् + यत् = 'य', 'नस्तद्धिते' से प्राप्त टिलोप का बाध — 'ये चाऽभावकर्मणोः' प्रकृतिभाव, विभक्तिकार्य) = सामन्यः (सामगान में निपुण)। कर्मणि साधु (कर्मन् + यत्, णत्व) = कर्मण्यः (कार्य करने में कुशल)। शरणे साधुः (शरण + यत् = 'य',

अन्त्यलोप) = शरण्यः (रक्षा करने में प्रवीण)।

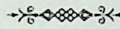
(१९६६) **पद**—सभायाः, यः। **अनुवृत्ति**—तत्र साधुः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त सभा शब्द से साधु अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। सभ्यः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९६५) से 'तत्र साधुः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''सप्तमी-समर्थ सभा शब्द से साधु अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—सभायां साधुः (सभा + 'य', अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = सभ्यः (सभा के व्यवहार आदि में कुशल)।

प्राग्घितीय-प्रकरण समाप्त।



अथ आर्हीये छयदधिकारप्रकरणम्

(१९६७) प्राक् क्रीताच्छः ५।१।१। 'तेन क्रीतमि'त्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते। **(१९६८) उगवादिभ्यो यत् ५।१।२।** प्राक् क्रीतादित्येव। उवर्णान्ताद्गवादिभ्यश्च यत्स्याच्छस्यापवादः। * नाभि नभं च *। नभ्यः अक्षः। नभ्यम् अञ्जनम्। रथनामावेवेदम्। * शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम् *। शुन्यम्,

---

(१९६७) **प्राक्क्रीताच्छः**। अधिकारसूत्रमिदम्। क्रीतपदमत्र तद्घटितसूत्रपरम्। तदाह — **तेन क्रीतमिति**। 'तेन क्रीतमि'त्यतः प्राक् येषु सूत्रेषु अर्था एव निर्देक्ष्यन्ते न तु प्रत्ययास्तेषु छ इत्युपस्थितं भवतीत्याशयः।

(१९६८) **उगवादिभ्य इति**। उश्च गवादयश्च इति द्वन्द्वात्पञ्चमी। उ इति प्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः। तदाह — **उवर्णान्तादिति**।

पञ्चमाध्याय के सूत्रों का विवेचन किया जा रहा है। सर्वप्रथम औत्सर्गिक छ प्रत्यय का अधिकार बताया जा रहा है।

(१९६७) **पद**—प्राक्क्रीतात्, छः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—'तेन क्रीतम्' से पूर्व तक 'छ' का अधिकार है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र की आधिकारिक सीमा का सूचक 'क्रीतात्' पद है, जो 'तेन क्रीतम्' (५।१।३६) का सूचक है। तदनुसार ''क्रीत अर्थ के आरम्भ होने से पूर्व तक छ का अधिकार रहेगा।''

(१९६८) **पद**—उगवादिभ्यः, यत्। **अनुवृत्ति**—प्राक् क्रीतात्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—चतुर्थ्यन्त उकारान्त और गवादि शब्दों से 'यत्' प्रत्यय होता है। 'छ' का अपवाद है। **ग० सू०** — 'नाभि' शब्द को 'नभ' आदेश होता है और 'यत्' प्रत्यय होता है। नभ्यः। रथ की नाभि को अभिलक्षित कर इसकी प्रवृत्ति होती है। **ग० सू०** — श्वन् शब्द से यत् प्रत्यय और सम्प्रसारण होता है तथा सम्प्रसारण को विकल्प से दीर्घ होता है। शुन्यम्, शून्यम्। **ग० सू०**—ऊधस् शब्द से यत् और अनङ् आदेश होता है। ऊधन्यः।

विमर्श—'प्राक्क्रीतात्' (१९६७) की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''उवर्णान्त तथा गवादिगणपठित शब्दों से प्राक्क्रीतीय (क्रीत अर्थ से पहले कहे गये) अर्थों में यत् (= य) प्रत्यय होता है।'' यह 'छ' का अपवाद है। इसके उदाहरण आगे 'तस्मै हितम्' (१९७१) सूत्र में दिये जायेंगे। यहाँ गवादिगण-पठित कतिपय गणसूत्रों का उल्लेख किया गया है।

१. **ग० सू०**—''नाभि शब्द से हितार्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है और 'नाभि' को 'नभ' आदेश होता है।'' **उदाहरण**—नाभये हितः (नाभि + यत् = 'य', नाभि = नभ' आदेश, अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = नभ्यः अक्षः (पहिये के मध्य छिद्र के लिए उपयुक्त धुरी)। नाभये हितम् (नाभि + यत्, नाभि = 'नभ' आदेश आदि उक्तवत्) नभ्यम् अञ्जनम् (पहिये के मध्य छिद्र के लिए उपयुक्त तेल)। रथ की नाभि अर्थ में इस आदेश की प्रवृत्ति होती है; मानव-शरीरावयव में नहीं। वहाँ 'नाभ्यम्' रूप बनता है।

२. **ग० सू०**—''चतुर्थीसमर्थ श्वन् शब्द से हितार्थ में यत् प्रत्यय और 'व्' को सम्प्रसारण होता है तथा उसे विकल्प से दीर्घ भी होता है।'' **उदाहरण**—शुने हितम् (श्वन् + यत् = 'य', 'व्' = 'उ' सम्प्रसारण, पूर्वरूप, 'उ' को विकल्प से दीर्घ, विभक्तिकार्य) = शून्यम्। दीर्घ न होने पर — शुन्यम् (कुत्ते के लिए उपयुक्त)।

शून्यम्। * ऊधसोऽनङ् च *। ऊधन्यः। (१९६९) कम्बलाच्च संज्ञायाम् ५।१।३। यत्। कम्बल्यम् ऊर्णापलशतम्। संज्ञायां किम्? कम्बलीया ऊर्णा। (१९७०) विभाषा हविरपूपादिभ्यः ५।१।४। आमिक्ष्यं दधि, आमिक्षीयम्। पुरोडाश्यास्तण्डुलाः, पुरोडाशीयाः। अपूप्यम्, अपूपीयम्। (१९७१) तस्मै हितम् ५।१।५। वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक्। शङ्कव्यं दारु। गव्यम्। हविष्यम्।

(१९६९) **कम्बलाच्चेति**। कम्बलशब्दात् यत्स्यात्प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु।

(१९७०) **विभाषेति**। हविर्विशेषवाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु यत्प्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः। पक्षे — छः। **आमिक्ष्यं दधि** — आमिक्षायै हितम् = आमिक्ष्यम्, विकल्पेन यत्। पक्षे छप्रत्ययः — आमिक्षीयम्। तप्ते पयसि दध्नि निक्षिप्ते सति यद्घनीभूतं निष्पद्यते सा आमिक्षा इत्युच्यते।

(१९७१) **तस्मै हितमिति**। चतुर्थ्यन्ताद् हितमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः।

---

३. **ग० सू०** — ''ऊधस् शब्द से यत् प्रत्यय होता है और ऊधस् को अनङ् आदेश (अन्तावयव) होता है।'' **उदाहरण** — ऊधसे हितम् (ऊधस् + यत् = य, स् = अनङ् = 'अन्' आदेश, अ + अ = अ = 'अ' पररूप, 'ये चाऽभावकर्मणोः' से प्रकृतिभाव होने से टि — 'अन्' का लोप नहीं होता, विभक्तिकार्य) = ऊधन्यः (कुआँ)।

(१९६९) **पद** — कम्बलात्, च, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति** — यत्, प्राक्क्रीतात्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ — चतुर्थ्यन्त कम्बल से संज्ञा वाच्य होने पर हित आदि अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है। कम्बल्यम्। 'संज्ञायाम्' क्यों कहा? कम्बलीया ऊर्णा।

विमर्श — पूर्वसूत्र (१९६८) से 'यत्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'प्राक्क्रीतात्' आदि का अधिकार है। अतः ''कम्बल शब्द से प्राक्क्रीतीय अर्थों में संज्ञा अभिधेय होने पर 'यत्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण — कम्बलाय हितम् (कम्बल + यत् = 'य', अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = कम्बल्यम् ऊर्णापलशतम् (कम्बल के लिए उपयुक्त पाँच सेर ऊन)।

प्रत्युदाहरण — प्रकृत सूत्र में 'संज्ञायाम्' का निवेश होने से 'कम्बलीया ऊर्णा' (कम्बल के लिए उपयोगी ऊन) में संज्ञा अभिधेय न होने से यत् नहीं होता, छ प्रत्यय होता है।

(१९७०) **पद** — विभाषा, हविः, अपूपादिभ्यः। **अनुवृत्ति** — यत्, प्राक्क्रीतात्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ — चतुर्थ्यन्त हविविशेषवाची अपूप आदि शब्दों से हित आदि अर्थों में विकल्प से यत् होता है। आमिक्ष्यं दधि। आमिक्षीयम्। पुरोडाश्याः, पुरोडाशीयाः। अपूप्यम्, अपूपीयम्।

विमर्श — पूर्ववत् 'यत्' और 'प्राक्क्रीतादि' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''हविष् विशेषवाची तथा अपूप आदि शब्दों से प्राक्क्रीतीय अर्थों में विकल्प से 'यत्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण — आमिक्षायै हितम् (आमिक्षा + यत् = 'य' विकल्प से, अन्त्यवर्णलोप तथा विभक्तिकार्य) = आमिक्ष्यम्। यत् के अभावपक्ष में (औत्सर्गिक छ, छ = ईय, 'आ' का लोप) = आमिक्षीयम् (छेना बनाने के लिए दही)। पुरोडाशाय हिताः (पुरोडाश + यत् विकल्प से, 'अ' का लोप) = पुरोडाश्याः। पक्ष में छ होने पर — पुरोडाशीयाः तण्डुलाः (पुरोडाश के लिए हितकर चावल)। अपूपेभ्यो हितम् (अपूप + यत् विकल्प से, अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = अपूप्यम्। पक्ष में ('छ', छ = ईय) = अपूपीयम् (पुआ बनाने के लिए उपयुक्त)।

(१९७१) **पद** — तस्मै, हितम्। **अनुवृत्ति** — तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र**।

(१८७२) शरीरावयवाद्यत् ५।१।६ । दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् । (१९७३) अजाविभ्यां थ्यन् ५।१।८ । अजथ्या यूथिः । अविथ्या । (१९७४) आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः ५।१।९ । (१९७५) आत्माध्वानौ खे ६।४।१६९ ।

(१९७२) **शरीरावयवाद्यत्** । चतुर्थ्यन्तात् शरीरावयववाचकाद् हितमित्यर्थे यत्स्यादित्यर्थः । **दन्त्यमिति** । दन्ताय हितमिति विग्रहे 'शरीरावयवाद्यत्' इत्यनेन यत्प्रत्यये भत्वे अकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे 'दन्त्यमि'ति ।

(१९७३) **अजाविभ्यामिति** । अजशब्दात् अविशब्दाच्च हितमित्यर्थे थ्यन् स्यादित्यर्थः ।

(१९७४) **आत्मन्विश्वजन इति** । चतुर्थ्यन्तेभ्य आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरशब्देभ्यो हितमित्यर्थे खप्रत्ययो भवतीत्यर्थः ।

मूलार्थ—चतुर्थ्यन्त से हित अर्थ में यथाविहित छ आदि प्रत्यय होते हैं । वत्सीयः गोधुक् । शङ्कव्यं दारु । गव्यम् । हविष्यम् ।

विमर्श—'तस्मै' पद चतुर्थीसमर्थ विभक्ति का सूचक है । 'हितम्' अर्थ निर्देशक है । अतः "चतुर्थीसमर्थ प्रातिपदिक से हित अर्थ में यथाविहित छ आदि प्रत्यय होते हैं ।"

उदाहरण—वत्सेभ्यः हितः (वत्स + छ, 'छ' = 'ईय', अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = वत्सीयः गोधुक् (बछड़े के लिए हितकारी दूध दुहने वाला) । शङ्कवे हितम् (शङ्कु + यत् = 'य' — 'उगवादिभ्यो यत्', 'उ' = 'ओ' — गुण, 'ओ' = 'अव्' आदेश, विभक्तिकार्य) = शङ्कव्यं दारु (खूँटी के लिए उपयुक्त लकड़ी) । गवे हितम् (गो + यत् = 'य' — 'उगवादिभ्यो यत्', अवादेश) = गव्यम् (गाय के लिए उपयुक्त) । हविषे हितम् (हविष् + यत् = 'य' — यवादि गण में पाठ होने से, विभक्तिकार्य) = हविष्यम् (हविस् के लिए उपयुक्त) ।

(१९७२) **पद**—शरीरावयवात्, यत् । **अनुवृत्ति**—तस्मै हितम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—शरीरावयववाचक चतुर्थ्यन्त से हित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् । नाभ्यम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तस्मै हितम्' की अनुवृत्ति आ रही है । अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार "चतुर्थीसमर्थ शरीर के अवयववाची शब्दों से हित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—दन्तेभ्यः हितम् (दन्त + यत् = 'य', अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = दन्त्यम् (दाँतों के लिए हितकर) । कण्ठाय हितम् (कण्ठ + यत्, अन्त्यवर्णलोप) = कण्ठ्यम् (गले के लिए हितकारी) । नासिकायै हितम् (नासिका + यत्, नासिका = 'नस्' आदेश, विभक्तिकार्य) = नस्यम् (नाक के लिए हितकारी) । नाभये हितम् (नाभि + यत्, अन्त्यवर्णलोप) = नाभ्यम् (नाभि के लिए हितकारी) ।

(१९७३) **पद**—अजाविभ्याम्, थ्यन् । **अनुवृत्ति**—तस्मै हितम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

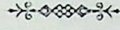
मूलार्थ—चतुर्थ्यन्त अज और अवि शब्द से थ्यन् प्रत्यय होता है । अजथ्या । अविथ्या ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तस्मै हितम्' (१९७१) की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है । तदनुसार "चतुर्थीसमर्थ अज और अवि शब्दों से हित अर्थ में थ्यन् प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—अजेभ्यः हिता (अज + थ्यन् = थ्य, टाप् = 'आ' दीर्घ, विभक्तिकार्य) = अजथ्या (बकरों के लिए हितकर जुही) । अविभ्यः हिता (अवि + थ्यन् = 'थ्य', टाप् आदि) = अविथ्या (भेड़ों के लिए हितकर) ।

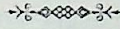
प्रकृत्या स्तः। आत्मने हितम् आत्मनीनम्। विश्वजनीनम्। * कर्मधारयादेवेष्यते *। अन्यत्र – विश्वजनीयम्। * पञ्चजनादुपसंख्यानम् *। पञ्चजनीनम्। 'कुमति च' इति णः। मातृभोगीणः। * आचार्यादणत्वं च *। आचार्यभोगीनः।

इति छयतोः पूर्णोऽवधिः।



(१९७५) **आत्माध्वानौ खे। प्रकृत्या स्तः**। 'प्रकृत्यैकाच्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः।

इति छयदधिकारप्रकरणम्।



(१९७४) **पद**—आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्, खः। **अनुवृत्ति**—तस्मै हितम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—चतुर्थ्यन्त आत्मन्, विश्वजन और भोगोत्तर शब्दों से हित अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है।

(१९७५) **पद**—आत्माध्वानौ, खे। **अनुवृत्ति**—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ख प्रत्यय के परे रहने पर आत्मन् और अध्वन् शब्दों को प्रकृतिभाव होता है। आत्मनीनम्। विश्वजनीनम्। **वा०**—खप्रत्यय कर्मधारय से हो। अन्यत्र—विश्वजनीयम्। **वा०**—पञ्चजन से भी ख प्रत्यय होता है। पञ्चजनीनम्। मातृभोगीणः। **ग० सू०**—आचार्यपूर्वक भोग शब्द से ख प्रत्यय होता है और णत्व नहीं होता। आचार्यभोगीनः।

विमर्श—यह सूत्र प्रकृतिभाव के प्रसङ्ग में उद्धृत किया गया है। 'प्रकृत्यैकाच्' (६।४।१६३) से 'प्रकृत्या' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है। अतः "आत्मन् तथा अध्वन् सम्बन्धी भसंज्ञक अङ्ग को 'ख' प्रत्यय के परवर्ती रहने पर प्रकृतिभाव होता है।"

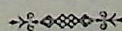
उदाहरण—आत्मने हितम् (आत्मन् + 'ख' — 'आत्मन्विश्वजन०', ख = 'ईन' आदेश, प्रकृत सूत्र से प्रकृतिभाव होने पर 'नस्तद्धिते' से प्राप्त टि - 'अन्' का लोप नहीं होता, विभक्तिकार्य) = आत्मनीनम् (अपने लिए हितकर)। विश्वस्मै जनाय हितम् (विश्वजन + ख, ख = ईन, प्रक्रिया उक्तवत्) = विश्वजनीनम् (सब लोगों के लिए हितकर)। विश्वजन शब्द से खप्रत्यय कर्मधारय समास होने पर ही होगा। अतः बहुव्रीहि समास (विश्वः जनः यस्य — विश्वजनः, तस्मै हितम्) में छ प्रत्यय होता है — **विश्वजनीयम्**।

वा०—"पञ्चजन शब्द से भी 'ख' प्रत्यय होता है।" **उदाहरण**—पञ्चजनेभ्यः हितम् (पञ्चजन + ख, 'ख' = ईन, अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = पञ्चजनीनम् (पञ्चजन के लिए हितकर)। **भोगोत्तर पद** — मातुः भोगः = शरीरं, तस्मै मातृभोगाय हितः (मातृभोग + ख, ख = ईन, अन्त्यवर्णलोप एवं णत्व) = मातृभोगीणः (माता के शरीर के लिए हितकारी)।

ग० सू०—"आचार्य शब्दपूर्वक भोग शब्द से भी ख प्रत्यय होता है और नकार को णत्व नहीं होता।" **उदाहरण**—आचार्यभोगाय हितः (आचार्यभोग + ख, ख = ईन, अन्त्यलोप, प्राप्त णत्व का ग० सू० से निषेध, विभक्तिकार्य) = आचार्यभोगीनः (आचार्य के शरीर के लिए हितकारी)।

छ और यत् प्रत्ययों की अवधि पूर्ण हुई।

छयदधिकारप्रकरण समाप्त।



अथ आर्हीये ठञधिकारप्रकरणम्

(१९७६) प्राग्वतेष्ठञ् ५।१।१८ । 'तेन तुल्यमि'त्यतः प्राक् ठञधिक्रियते। **(१९७७) आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् ५।१।१९** । तदर्हतीत्येदधिव्याप्य ठञधिकारमध्ये ठञोऽपवादष्ठगधिक्रियते। गोपुच्छादीन्वर्जयित्वा। **(१९७८) असमासे निष्कादिभ्यः ५।१।२०** । अर्हादित्येतत् 'तेन क्रीतमि'ति यावदनुवर्तते। **'निष्कादिभ्योऽसमासे ठक् आर्हीयेष्वर्थेषु'** । **निष्केण क्रीतमिति नैष्किकम्** । **समासे तु**

(१९७६) **प्राग्वतेष्ठञ्** । वतिशब्दस्तद्घटितसूत्रपरः। तदाह — 'तेने'ति। 'तेन तुल्यमि'-ति सूत्रतः प्राक् येषु सूत्रेषु अर्था एव निर्दिश्यन्ते तत्र ठञित्युपतिष्ठत इति।

(१९७७) **आर्हादगोपुच्छ इति** । तदर्हतीति सूत्रे अर्हतिशब्दे एकदेशानुकरणमर्हेति तच्च तद्घटितसूत्रपरम्। आङभिव्याप्तौ व्याख्यानात्। अत आह — **तदर्हतीति** ।

(१९७८) **असमास इति** । **यावदिति** । तेन क्रीतमित्येतत्सूत्रपर्यन्तमित्यर्थः। पूर्वसूत्रात् 'ठगि'त्यनुवर्तते। तदाह — **अर्हादित्येतदिति** । **नैष्किकम्** — निष्केण क्रीतमिति विग्रहे निष्कशब्दात् 'असमासे निष्कादिभ्यः' इति ठकि ठस्य इकादेशे 'किति चे'त्यनेनाद्यचो वृद्धौ भत्वादकारलोपे, प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे 'नैष्किकमि'ति।

(१९७६) **पद**—प्राक्, वतेः, ठञ्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'तेन तुल्यम्' सूत्र से पूर्व तक 'ठञ्' का अधिकार है।

विमर्श—सूत्रस्थ 'वतेः' पद से 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५।१।११४) सूत्र अभिलक्षित होता है। अतः वति अर्थ के आरम्भ होने के पहले तक इस सूत्र का अधिकार है। इस प्रकार उन सभी अर्थों में प्रत्यय का निर्देश न होने पर सामान्यतः ठञ् प्रत्यय होता है।

(१९७७) **पद**—आ, अर्हात्, अगोपुच्छसंख्यापरिमाणात्, ठक्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'तदर्हति' इस सूत्र तक ठञधिकार के मध्य में उसके अपवाद ठक् का अधिकार है; गोपुच्छादि को छोड़कर।

विमर्श—अब एक बीच में पठित दूसरे अधिकार का निरूपण किया जा रहा है। तदनुसार "ठञ् अधिकार के मध्य में 'तदर्हति' सूत्र (५।१।६३) पर्यन्त जितने अर्थ कहे हैं, उन सब अर्थों में सामान्यतः ठक् प्रत्यय का अधिकार रहेगा। केवल गोपुच्छ आदि में ठक् नहीं होगा, अपितु 'ठञ्' होगा।" यह ठक् ठञ् का अपवाद है। सूत्रस्थ 'आर्हात्' में आङ् उपसर्ग है। उसका अर्थ 'तदर्हति' सूत्र पर्यन्त है।

(१९७८) **पद**—असमासे, निष्कादिभ्यः। **अनुवृत्ति**—आर्हात्, ठक्, तद्धिताः। **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अर्हात्' यह 'तेन क्रीतम्' तक अनुवृत्त होता है। तृतीयान्त निष्कादि शब्दों से आर्हीय अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है। नैष्किकम्।

विमर्श—'तेन क्रीतम्' (१९८५) सूत्रपर्यन्त 'अर्हात्' की अनुवृत्ति जाती है। तदनुसार "निष्क आदि शब्द जब समास में वर्तमान न हों (असमासे) तब उनसे आर्हीय (तदर्हति अर्थ पर्यन्त) सभी अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है।" यह सूत्र ठञ् का अपवाद है।

ठञ्। (१९७९) **परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः** ७।३।१७। उत्तरपदवृद्धिर्ञ्जि-दादौ। परमनैष्किकः। (१९८०) **शताच्च ठन्यतावशते** ५।१।२१। शतेन क्रीतं शत्यम्, शतिकम्। अशते किम्? (१९८१) **संख्याया अतिशदन्तायाः कन्** ५।१।२२। आर्हीयेऽर्थे। शतं परिमाणस्य शतकः सङ्घः। बहुकः। त्यन्तायास्तु

(१९७९) **परिमाणान्तस्यासञ्ज्ञाशोणयोः**। आदिवृद्धिप्रकरणे उत्तरपदस्येत्यधिकारे इदं सूत्रम्। शेषपूरणेन व्याचष्टे — **उत्तरपदवृद्धिरिति**।

(१९८०) **शताच्चेति**। आर्हीयेष्वर्थेषु शतशब्दात् ठन्यतौ स्तः। **शतिकम्** — शतेन क्रीतमिति विग्रहे शतशब्दात् 'शताच्च ठन्यतावशते' इति ठनि, ठस्येकादेशे भत्वे अकारलोपे विभक्तिकार्ये 'शतिकम्' इति। यत्पक्षे 'शत्यमि'ति रूपम्।

(१९८१) **संख्याया इति**। तिशदन्तभिन्नायाः संख्यायाः कन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

उदाहरण—निष्केण क्रीतम् (निष्क + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = नैष्किकम् (स्वर्ण से खरीदा हुआ)। समास में तो 'ठञ्' होगा —

(१९७९) **पद**—परिमाणान्तस्य, असंज्ञाशाणयोः। **अनुवृत्ति**—संख्यायाः, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—परिमाणान्त शब्दों में उत्तरपद की वृद्धि होती है ञिदादि परे रहते; संज्ञा और शाण को छोड़कर।

विमर्श—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। 'उत्तरपदस्य' और 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च' (७।३।१५) से 'संख्यायाः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। शेष उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव भी विद्यमान है। तदनुसार "परिमाणवाची शब्द है अन्त में जिस अङ्ग के उस संख्यावाची शब्द के परवर्ती पद के आदि अच् को ञित्, णित् तथा कित् तद्धित प्रत्यय के परवर्ती रहते वृद्धि होती है; किन्तु संज्ञाविषय और शाण शब्द के उत्तरपद में रहते वृद्धि नहीं होती।"

उदाहरण—परमनिष्केण क्रीतः (परमनिष्क + ठञ् = 'ठ' — 'प्राग्वतेष्ठञ्', 'ठ' = 'इक', आदिवृद्धि का बाध तथा उत्तरपद के आदि अच् = 'इ' = 'ऐ'. — वृद्धि, विभक्तिकार्य) = परमनैष्किकः (उत्तम स्वर्ण सिक्के से खरीदा हुआ)।

(१९८०) **पद**—शतात्, च, ठन्यतौ, अशते। **अनुवृत्ति**—आर्हात्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शत शब्द से आर्हीय अर्थों में ठन् और यत् प्रत्यय होते हैं, यदि शतवाच्य न हो तो। शत्यम्, शतिकम्। 'अशते' क्यों कहा?

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९७७) से 'आर्हात्' की अनुवृत्ति आ रही है। अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार "यदि सौ अभिधेय न हो तो शत शब्द से आर्हीय अर्थों में 'ठन्' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—शतेन क्रीतम् (शत + ठन् = ठ, ठ = 'इक' आदेश, अन्त्यवर्णलोप, विभक्ति-कार्य) = शतिकम्। यत् पक्ष में (शत + यत्) = शत्यम् (सौ मुद्राओं से खरीदा हुआ)।

(१९८१) **पद**—संख्यायाः, अतिशदन्तायाः, कन्। **अनुवृत्ति**—आर्हात्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तिप्रत्ययान्त और शदन्त से भिन्न संख्यावाचक शब्दों से आर्हीय अर्थों में कन् प्रत्यय होता है। शतकः सङ्घः। बहुकः। साप्ततिकः। चत्वारिंशत्कः।

वृद्धिः । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । (१९८७) तदस्य परिमाणम् ५।१।५७ । प्रस्थः परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः । * स्तोमे डविधिः *। पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य पञ्चदशः । सोमयागेषु च्छन्दोगैः क्रियमाणा पृष्ठ्यादिसंज्ञिका स्तुतिः सोमः । (१९८८) पङ्क्तिविंशतित्रिंशत्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम्

(१९८७) **तदस्येति** । प्रथमान्तादस्य परिमाणमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । **प्रास्थिकः** — प्रस्थः परिमाणमस्येति विग्रहे प्रस्थशब्दात् 'तदस्य परिमाणम्' इत्यनेन ठकि ठस्य इकादेशे आद्यचो वृद्धौ प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'प्रास्थिकः' इति ।

(१९८८) **पङ्क्तिविंशति इति । निपात्यन्त इति** । 'तदस्य परिमाणमि'त्यर्थे इति शेषः ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त सर्वभूमि और पृथिवी शब्द से ईश्वर अर्थ में अण् तथा अञ् प्रत्यय होते हैं । सार्वभौमः ।

विमर्श—'सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ' (५।१।४१) सूत्र यहाँ अनुवृत्त होता है। पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार ''षष्ठीसमर्थ सर्वभूमि तथा पृथिवी शब्दों से ईश्वर (स्वामी) अर्थ में क्रमशः 'अण्' और 'अञ्' प्रत्यय होते हैं ।''

उदाहरण—सर्वभूमेः ईश्वरः (सर्वभूमि + अण् = 'अ', उभयपदवृद्धि — 'अनुशतिकादीनां च', अन्त्यवर्ण 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सार्वभौमः (समग्र भूमि का स्वामी) ।

(१९८७) **पद**—तत्, अस्य, परिमाणम् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अस्य परिमाणम्' अर्थ में प्रथमान्त से यथाविहित ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं । प्रास्थिकः । **वा०**—स्तोमवाच्य रहते ड प्रत्यय होता है । पञ्चदशः । सप्तदशः । स्तोमः ।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति विद्यमान है । विभक्ति का सूचक 'तत्' प्रथमान्त पद 'तत् परिमाणम्' का समानाधिकरणवाची है । अतः ''परिमाणसमानाधिकरणवाची प्रथमान्त प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं ।''

उदाहरण—प्रस्थः परिमाणम् अस्य (प्रस्थ + ठञ् = ठ, 'ठ' = 'इक', आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण-लोप) = प्रास्थिकः (प्रस्थभर ढेर) ।

वा०—स्तोम वाच्य होने पर 'ड' प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—पञ्चदश मन्त्राः परिमाणम् अस्य समूहस्य (पञ्चदशन् + ड = 'अ', टि — 'अन्' का लोप, विभक्तिकार्य) = पञ्चदशः स्तोमः (सोमयाग में पढ़े जाने वाले स्तुति के पन्द्रह मन्त्र) । सप्तदश मन्त्राः परिमाणमस्य (सप्तदशन् + ड = 'अ', टिलोप) = सप्तदशः ।

विशेष—सोमयाग में सामवेद के गायकों द्वारा की गई पृष्ठ्यादि स्तुति को स्तोम कहते हैं ।

(१९८८) **पद**—पङ्क्तिविंशति······शतम् । **अनुवृत्ति**—तदस्य परिमाणम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

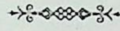
मूलार्थ—पङ्क्ति, विंशति आदि शब्द 'अस्य परिमाणम्' अर्थ में निपातित हैं ।

विमर्श—इस एकपदात्मक सूत्र में समाहारद्वन्द्व समास है । 'तदस्य परिमाणम्' (१९८७) की अनुवृत्ति के आने से प्रत्ययार्थ का लाभ होता है । अतः '''तदस्य परिमाणम्' अर्थ में पङ्क्ति, विंशति आदि दश शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं ।''

उदाहरण—(१) पञ्च परिमाणम् अस्य (पञ्चन् + 'ति' निपातन से, टि = 'अन्' का लोप निपातन, 'च्' = 'क्' कुत्व — 'चजोः कुः०', अनुस्वार तथा परसवर्ण 'ङ्', विभक्तिकार्य) = पङ्क्तिः (पाँच पदों वाला छन्द) (२) द्वौ दशतौ परिमाणमस्य (द्विदशत् + शतिच्, द्विदशत् = विन्

५।१।५९। एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते। **(१९८९) तदर्हति ५।१।६३।** श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः। **(१९९०) दण्डादिभ्यो यत् ५।१।६६।** एभ्यो यत्। दण्डमर्हति दण्ड्यः। अर्घ्यः। बध्यः। **(१९९१) तेन निर्वृत्तम् ५।१।७९।** अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम्।

इति ठञ्ठकोरवधिः।



(१९८९) **तदर्हति**। द्वितीयान्तात् अर्हतीत्यर्थे ठञादयः स्युरित्यर्थः।

(१९९०) **दण्डादिभ्यो यत्**। अर्हतीत्यर्थे इति शेषः। **अर्घ्यः** — अर्घमर्हतीति विग्रहे अर्घशब्दात् 'दण्डादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्यये भत्वादलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'अर्घ्यः' इति।

(१९९१) **तेनेति**। तृतीयान्तान्निर्वृत्तमित्यर्थे ठञ् स्यादित्यर्थः। **आह्निकम्** – अह्ना

आदेश निपातन, न् = ं अनुस्वार - 'नश्चापदान्तस्य०') = विंशतिः (दो दशक जिस समूह का परिमाण हो, बीस)। (३) त्रयः दशतः परिमाणस्य (त्रिदशत् + 'शत्' प्रत्यय, त्रिदशत् = 'त्रिन्' आदेश निपातन, न् = ं अनुस्वार) = त्रिंशत् (तीस)। (४) चत्वारः दशतः परिमाणमस्य (चतुर्दशत् + 'शत्' प्रत्यय, चतुर्दशत् = 'चत्वारिन्' आदेश, अनुस्वार आदि) = चत्वारिंशत् (चालीस)। (५) पञ्च दशतः परिमाणमस्य (पञ्चदशन् + शत्, पञ्चदशन् = 'पञ्चा' आदेश निपातन) = पञ्चाशत् (पचास)। (६) षड् दशतः परिमाणमस्य (षड्दशत् + ति, षड्दशत् = 'षष्' आदेश निपातन, 'त्' = 'ट्' — ष्टुत्व) = षष्टिः (साठ)। (७) सप्त दशतः परिमाणमस्य (सप्तदशत् + ति, सप्तदशत् = सप्त, निपातन) = सप्ततिः (सत्तर)। (८) अष्टौ दशतः परिमाणमस्य (अष्टदशत् + ति, अष्टदशत् = 'अशी' आदेश निपातन) = अशीतिः (अस्सी)। (९) नवदशतः परिमाणमस्य (नवदशत् + 'ति' प्रत्यय तथा नवदशत् = 'नव' निपातन) = नवतिः (नब्बे)। (१०) दश दशतः परिमाणमस्य (दशदशत् + 'त' प्रत्यय तथा 'दश-दशत्' = 'श' निपातन, विभक्तिकार्य) = शतम् (सौ)।

(१९८९) **पद**—तद्, अर्हति। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त से 'अर्हति' अर्थ में ठक्, ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं। **श्वैतच्छत्रिकः**।

विमर्श—सूत्रस्थ 'अर्हति' (प्राप्त करने योग्य) पद प्रत्ययार्थ का बोधक है। 'तत्' से 'द्वितीया समर्थ' का बोध होता है। तदनुसार "द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'प्राप्त करने योग्य होता है' अर्थ में यथाविहित ठक्, ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—श्वेतच्छत्रम् अर्हति (श्वेतच्छत्र + ठक् = ठ, ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = श्वैतच्छत्रिकः (श्वेत छत्र का अधिकारी)।

(१९९०) **पद**—दण्डादिभ्यः, यत्। **अनुवृत्ति**—तदर्हति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

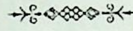
मूलार्थ—द्वितीयान्त दण्ड आदि से यत् प्रत्यय होता है। दण्ड्यः। अर्घ्यः। वध्यः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तदर्हति' (१९८९) की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से अपेक्षित है। तदनुसार "द्वितीयान्त दण्ड आदि प्रातिपदिकों से 'अर्हति' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—दण्डम् अर्हति (दण्ड + यत् = 'य', भसंज्ञा, अन्त्यवर्ण 'अ' का लोप,

निर्वृत्तम् इति विग्रहे 'तेन निर्वृत्तमि'त्यनेन ठकि अनुबन्धलोपे कित्त्वादादिवृद्धौ भत्वादकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे 'आह्निकमि'ति ।

इति ठञोऽवधिप्रकरणम् ।



विभक्तिकार्य) = दण्ड्यः (दण्ड पाने का अधिकारी) । अर्घम् अर्हति (अर्घ + यत् = 'य', अन्त्य-लोप) = अर्घ्यः (सम्मान पाने का अधिकारी) । वधम् अर्हति (वध + यत्, 'अ' का लोप) = वध्यः (वध करने योग्य) ।

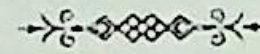
(१९९१) **पद**—तेन, निर्वृत्तम् । **अनुवृत्ति**—ठञ्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तृतीयान्त से निर्वृत्तम् अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । आह्निकः ।

विमर्श—ठञ् की अनुवृत्ति का लाभ अधिकार से होता है । 'तेन' पद समर्थ विभक्ति का सूचक है । तदनुसार "तृतीयान्त प्रातिपदिकों से निर्वृत्त (सिद्ध हुआ, सम्पन्न हुआ) अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—अह्ना निर्वृत्तम् (अहन् + ठञ् = 'ठ', 'ठ' = 'इक', 'अ' का लोप - 'अल्लोपोऽनः', आदिवृद्धि एवम् विभक्तिकार्य) = आह्निकम् (एक दिन में सम्पन्न होने वाला) ।

आर्हीयप्रकरण समाप्त ।



अथ भावकर्मार्थकप्रकरणम्

(१९९२) तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५।१।११५। ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवत् अधीते। क्रिया चेत् किम्? गुणतुल्ये मा भूत्। पुत्रेण तुल्यः स्थूलः। **(१९९३) तत्र तस्येव ५।१।११६।** मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। चैत्रस्येव चैत्रवत् मैत्रस्य गावः। **(१९९४) तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९।**

(१९९२) **तेन तुल्यमिति।** तृतीयान्तात्तुल्यमित्यर्थे वतिप्रत्ययः स्यात्, यत्तुल्यं सा चेत् क्रियेत्यर्थः।

(१९९३) **तत्र तस्येवेति।** सप्तम्यन्तात् षष्ठ्यन्ताच्च इवार्थे वतिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(१९९४) **तस्य भाव इति।** षष्ठ्यन्ताद्भाव इत्यर्थे त्वप्रत्ययः तलप्रत्ययश्च स्यादित्यर्थः।

भावकर्मार्थक प्रत्ययों का निरूपण करने से पूर्व तुल्यार्थक प्रत्ययों का निरूपण किया जा रहा है।

(१९९२) **पद**—तेन, तुल्यं, क्रिया, चेत्, वतिः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय होता है, यदि क्रिया तुल्य हो तो। ब्राह्मणवत् अधीते।

विमर्श—'तुल्यं' पद क्रिया का विशेषण है। 'तेन' पद आधिकारिक रूप से अनुवर्तमान 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से उसमें तदन्तविधि होती है। तदनुसार "तृतीयान्त प्रातिपदिक से क्रिया की समानता होने पर तुल्य (समान) अर्थ में 'वति' प्रत्यय होता है। 'वति' में इकार उच्चारणार्थ है।" 'वत्' शेष रहता है।

उदाहरण—ब्राह्मणेन तुल्यमधीते (ब्राह्मण + वति = वत्) = ब्राह्मणवत् (ब्राह्मण के समान अध्ययन करता है)। वति प्रत्ययान्त शब्द अव्यय तथा क्रियाविशेषण होते हैं।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'क्रिया चेत्' का निवेश न होने पर गुण की समानता होने पर भी वति प्रत्यय होता। तदनुसार 'पुत्रेण तुल्यः स्थूलः' (पुत्र के समान मोटा) में वत् प्रत्यय नहीं होता।

(१९९३) **पद**—तत्र, तस्य, इव। **अनुवृत्ति**—वतिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त से 'इव' अर्थ में 'वति' प्रत्यय होता है। मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। चैत्रवत् मैत्रस्य गावः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९९२) से 'वति' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'तत्र' पद सप्तमी और 'तस्य' पद षष्ठी विभक्ति का सूचक है। 'इव' अर्थ निर्देशक है। अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार "सप्तमीसमर्थ तथा षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिक से 'इव' (समान) अर्थ में 'वति' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—मथुरायाम् इव (मथुरा + वति = वत्) = मथुरावत् (मथुरा के समान)। चैत्रस्य इव (चैत्र + वति = 'वत्') = चैत्रवत् मैत्रस्य गावः (चैत्र की तरह मैत्र की गायें हैं)।

(१९९४) **पद**—तस्य, भावः, त्वतलौ। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्यप्प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त से भाव अर्थ में 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय होते हैं। गोत्वं, गोता। त्वप्रत्ययान्त नपुंसकलिङ्ग तथा तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः। गोर्भावो गोत्वम्, गोता। * त्वान्तं क्लीबम् *। तलन्तं स्त्रियाम्। (१९९५) आ च त्वात् ५।१।१२०। 'ब्राह्मणस्त्वः' इत्यतः प्राक् त्वतलावधिक्रियेते। अपवादैः सह समावेशार्थमिदम्। चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः। स्त्रियाः भावः स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता। पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता। (१९९६) पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५।१।१२२। वावचनमणादिसमावेशार्थम्।

प्रकृतिजन्यबोध इति। त्वतलप्रकृतिभूतगवादिशब्देभ्यो जायमानो गोव्यक्त्यादिबोधे प्रकारो = विशेषणं जात्यादिकं भावः, भावशब्देन विवक्षित इत्याशयः।

(१९९५) **आ च त्वादिति**। त्वतलावित्यनुवर्तेते। आङ् मर्यादायाम्। अत आह — **ब्राह्मणस्त्व इत्यादिना**।

(१९९६) **पृथ्वादिभ्य इति**। 'तस्य भावः' इत्यनुवर्तते। षष्ठ्यन्तेभ्यः पृथ्वादिभ्यः भावेऽर्थे इमनिज्वा स्यादित्यर्थः। **वावचनमणादिसमावेशार्थमिति**। पृथु-मृदुप्रभृतिषु 'इगन्ताच्च

विमर्श—सूत्रस्थ 'तस्य' पद षष्ठीसमर्थ विभक्ति का बोधक है। 'भावः' अर्थ निर्देशक है। तदनुसार "षष्ठी-समर्थ प्रातिपदिक से भाव अर्थ में 'त्व' और 'तल्' (= ता) प्रत्यय होते हैं।" जिस गुण के होने से शब्द का किसी अर्थ के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है, वही यहाँ 'भाव' शब्द से अभिप्रेत है। 'त्व' प्रत्ययान्त नपुंसकलिंग में और तल् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

उदाहरण—गोः भावः (गो + त्व) = गोत्वम्। गो + तल् (= 'त', स्त्रीलिङ्ग में टाप् = 'आ', दीर्घ एवं विभक्तिकार्य) = गोता (गाय का स्वभाव)।

(१९९५) **पद**—आ, च, त्वात्। **अनुवृत्ति**—त्वतलौ, तद्धिताः। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—'ब्राह्मणस्त्व' से पूर्व त्व और तल् का अधिकार है। अपवादों के साथ समावेश के लिए यह अधिकार है। स्त्रियाः भावः स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता। पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता।

विर्मश—यह अधिकारसूत्र है। 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय के अधिकारी की सीमा का निर्देश किया जा रहा है। सूत्रस्थ 'आङ्' मर्यादाबोधक है। इसका अधिकार 'ब्राह्मणस्त्वः' (५।१।१३६) सूत्र के पूर्व तक है। 'च' का निवेश होने से नञ् - स्नञ् के साथ-साथ त्व और तल् प्रत्यय भी होते हैं। यद्यपि 'त्व-तल्' का अधिकार 'ब्राह्मणस्त्वः' सूत्र तक मानने से भी काम चल जाता तथापि प्रकृत सूत्र का प्रयोजन यह भी है कि जहाँ 'त्व' और 'तल्' के अपवादस्वरूप अन्य भावार्थक प्रत्ययों का विधान है, वहाँ भी उनके साथ त्व और तल् प्रत्यय हो जायें। जैसे 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' से विधीयमान 'इमनिच्' प्रत्यय 'त्व' और 'तल्' का अपवाद है। वहाँ भी 'इमनिच्' के साथ 'त्व' और 'तल्' हो जायें।

उदाहरण—स्त्रियाः भावः (स्त्री + 'नञ्' = 'न' - 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्', णत्व, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = स्त्रैणम्। स्त्री + 'त्व' (विभक्तिकार्य) = स्त्रीत्वम्। स्त्री + तल् (= 'त', टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = स्त्रीता (स्त्रीजाति)। पुंस् + स्नञ् (= 'स्न', 'स्' का लोप, आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = पौंस्नम्। पुंस् + त्व = पुंस्त्वम्। पुंस् + तल् (= 'त', टाप् = 'आ', दीर्घ) = पुंस्ता (पुरुष जाति)। यहाँ संयोगान्त लोप होने पर 'म्' = 'रु' — 'पुमः खय्यम्परे', पाक्षिक अनुनासिक, अनुस्वार र = :, विसर्ग — : = 'स्' सत्व आदि कार्य।

(१९९६) **पद**—पृथ्वादिभ्यः, इमनिच्, वा। **अनुवृत्ति**—तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

(१९९७) र ऋतो हलादेर्लघोः ६।४।१६१। इष्ठेमेयस्सु। (१९९८) टेः ६।४।१४३। लोपः इष्ठेमेयस्सु। * पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम् *। पृथोर्भावः प्रथिमा, पार्थवम्। म्रदिमा, मार्दवम्। (१९९९) वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च

लघुपूर्वात्' इत्यणः चण्डरवादिषु गुणवचनलक्षणस्य ष्यञः, बालवत्सादिषु वयोवचनलक्षणस्य अञश्चौत्सर्गिकस्य समावेशार्थमित्यर्थः। अन्यथा 'विभाषावशादपवादेन मुक्ते पुनरुत्सर्गो न प्रवर्तते इति 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इति सूत्रस्य भाष्ये सिद्धान्तिततत्वादिमनिच्त्वतलाभावेऽणादीनां प्रवृत्तिर्न स्यादिति भावः।

(१९९७) **र ऋत इति**। हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्यात् इष्ठन्-इमनिच्-ईयसुन्प्रत्ययेषु परेष्वित्यर्थः।

(१९९८) **टेः**। इष्ठेमेयस्सु इत्यनुवर्तते, 'अल्लोपोऽनः' इत्यतः लोपः इति च। तदाह — **टेर्लोप इति। प्रथिमा** — पृथोर्भाव इति विग्रहे पृथुशब्दात् 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति विकल्पेन इमनिच्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रकारे भत्वाट्टिलोपे 'प्रथिमन्'

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त पृथु आदि शब्दों से भाव अर्थ में विकल्प से इमनिच् प्रत्यय होता है। वा का निवेश अण् आदि के समावेश के लिए है।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९९४) से 'तस्य भावस्त्वतलौ' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "भाव अर्थ में पृथ्वादिगणपठित षष्ठ्यन्त शब्दों से विकल्प से इमनिच् (= इमन्) प्रत्यय होता है।" 'वा' पद के निवेश से पक्ष में 'इमन्ताच्च लघुपूर्वात्' से यथाप्राप्त अण् आदि प्रत्यय होते हैं। अधिकारवश त्व और तल् भी होते हैं।

(१९९७) **पद**—रः, ऋतः, हलादेः, लघोः। **अनुवृत्ति**—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हलादि लघु ऋकार को 'र' आदेश होता है, इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय के परवर्ती रहते।

विमर्श—षष्ठाध्याय में पठित यह प्रासङ्गिक सूत्र है। भसंज्ञा एवम् अङ्गाधिकार के अन्तर्गत इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् - इन तीन तद्धितप्रत्ययों को अभिलक्षित कर यह आदेश विधान किया गया है। अतः 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (६।४।१५४) से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययों के परवर्ती रहते हलादि लघु (ह्रस्व) 'ऋ' के स्थान में 'र' आदेश होता है।"

(१९९८) **पद**—टेः। **अनुवृत्ति**—इष्ठेमेयस्सु, लोपः, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—भसंज्ञक 'टि' का लोप होता है; इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययों के परे रहते। प्रथिमा, पार्थवम्। म्रदिमा, मार्दवम्।

विमर्श—'ढे लोपोऽकद्र्वाः' (६।४।१४७) से 'लोपः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। पूर्वसूत्रवत् 'इष्ठेमेयस्सु', 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति भी आ रही है। इस प्रकार "इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् प्रत्ययों के परवर्ती रहते भसंज्ञक अङ्ग के 'टि' भाग का लोप होता है।"

वा०—पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ तथा परिवृढ शब्दों के ऋकार को ही 'र' आदेश होता है।

उदाहरण—पृथोः भावः (पृथु + इमनिच् = 'इमन्', 'ऋ' = 'र्' आदेश — 'र ऋतो हलादेर्लघोः') — प्रथु इमन् (टि = 'उ' का लोप — 'टेः', पुल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन विभक्तिकार्य) =

५।१।१२३। चादिमनिच्। शौक्ल्यम्, शुक्लिमा। दार्ढ्यम्, द्रढिमा। (२०००) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१२४। चाद्भावे। जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम्। ब्राह्मण्यम्। आकृतिगणोऽयम्। * चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम् *। चातुर्वर्ण्यम्। चातुराश्रम्यम्। त्रैवर्ग्यम्। षाड्गुण्यम्। सैन्यम्। सान्निध्यम्। सामी-

---

इति जाते, प्रातिपदिकत्वे सौ उपधादीर्घे हल्ङ्यादिना सुलोपे नलोपे 'प्रथिमा' इति। पक्षे 'इग-न्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यनेन अणि आद्यचो वृद्धौ 'ओर्गुणः' इत्युकारस्य गुणेऽवादेशे विभक्तिकार्ये 'पार्थवमि'ति रूपम्।

(१९९९) **वर्णदृढादिभ्य इति**। षष्ठ्यन्तेभ्यो वर्णवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च भावे ष्यञ् च स्यादित्यर्थः।

(२०००) **गुणवचन इति**। षष्ठ्यन्तेभ्यो गुणवाचकेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च कर्मणि भावे चार्थे ष्यञ् स्यादित्यर्थः। **चतुर्वर्णादीनामिति**। चतुर्वर्णादिगणपठितानां शब्दानां स्वार्थे ष्यञ् वक्तव्य इत्यर्थः।

प्रथिमा। इमनिच् के अभावपक्ष में – पृथु + अण् (= 'अ', आदिवृद्धि, 'उ' = 'ओ' — गुण - 'ओर्गुणः', ओ = 'अव्' आदेश, विभक्तिकार्य) = पार्थवम् (विशालता)। मृदोः भावः (मृदु + 'इमनिच्' = इमन् विकल्प से, ऋ = र्, टिलोप आदि) = म्रदिमा। पक्ष में अण् = मार्दवम् (कोमलता)।

(१९९९) **पद**—वर्णदृढादिभ्यः, ष्यञ्, च। **अनुवृत्ति**—इमनिच्, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त वर्णवाचक शब्दों से तथा दृढादि शब्दों से कर्म और भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है। 'च' ग्रहण से इमनिच् होता है। शौक्ल्यम्, शुक्लिमा। दार्ढ्यम्, द्रढिमा।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९९६) से 'इमनिच्' की अनुवृत्ति आ रही है तथा 'तस्य भावस्त्वतलौ' (१९९४) की अनुवृत्ति भी अपेक्षित है। तदनुसार "वर्णविशेषवाचक तथा दृढादि षष्ठ्यन्त शब्दों से 'ष्यञ्' तथा 'इमनिच्' प्रत्यय होते हैं। इसके साथ ही त्व और तल् भी होते हैं।"

उदाहरण—शुक्लस्य भावः (शुक्ल + ष्यञ् = 'य', आदिवृद्धि, अन्त्यवर्णलोप, विभक्ति-कार्य) = शौक्ल्यम्। ष्यञ् के अभाव में इमनिच् (= इमन्, अकारलोप तथा विभक्तिकार्य) = शुक्लिमा (सफेदी)। दृढस्य भावः (दृढ + ष्यञ्, आदिवृद्धि, रपर, अन्त्यलोप) = दार्ढ्यम्। इमनिच् होने पर — दृढ + इमन् (ऋ = र, अन्त्यलोप - टेः, विभक्तिकार्य) = द्रढिमा (मजबूती)।

(२०००) **पद**—गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः, कर्मणि, च। **अनुवृत्ति**—ष्यञ्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त गुणवाचक शब्दों से और ब्राह्मणादि शब्दों से कर्म और भाव अर्थों में ष्यञ् प्रत्यय होता है। जाड्यम्, ब्राह्मण्यम्। यह आकृतिगण है।

वा०—चतुर्वर्णादि शब्दों से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है। चातुर्वर्ण्यम् इत्यादि।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१९९९) से 'ष्यञ्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार "षष्ठ्यन्त गुणवाचक तथा ब्राह्मणादिगणपठित शब्दों से कर्म तथा भाव अभिधेय होने पर ष्यञ् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—जडस्य कर्म भावो वा (जड + ष्यञ् = 'य' आदिवृद्धि तथा अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = जाड्यम्। ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा (ब्राह्मण + ष्यञ् = 'य', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) = ब्राह्मण्यम् (ब्रह्मत्व)।

प्यम्। औपम्यम्। त्रैलोक्यमित्यादि। (२००१) स्तेनाद्यन्नलोपश्च ५।१।१२५। नेति सङ्घातग्रहणम्। स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम्। (२००२) सख्युर्यः ५।१।१२६। सख्यम्। (२००३) कपिज्ञात्योर्ढक् ५।१।१२७। कापेयम्।

(२००१) **स्तेनाद्यदिति**। षष्ठ्यन्तात् स्तेनशब्दात् कर्मणि भावे च यत्स्याद् नकारलोपश्चेत्यर्थः। **स्तेयमिति**। स्तेनस्य भावः कर्म वेति विग्रहे 'स्तेनाद्यन्नलोपश्च' इति यत्प्रत्यये सङ्घातस्य नस्य लोपे प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे 'स्तेयमि'ति रूपम्।

(२००२) **सख्युर्यः**। षष्ठ्यन्तात् सखिशब्दात् भावे कर्मणि चार्थे यप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(२००३) **कपिज्ञात्योरिति**। कपिज्ञातिशब्दाभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां भावे कर्मणि चार्थे ढक् स्यादित्यर्थः।

वा०—'चतुर्वर्ण' आदि शब्दों से भी स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—(१) चत्वारः वर्णाः (चतुर्वर्ण + ष्यञ् = 'य', आदिवृद्धि, अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = चार्तुवर्ण्यम् (चार वर्ण)। (२) चत्वारः आश्रमाः एव (चतुराश्रम + ष्यञ्, प्रक्रिया पूर्ववत्) = चातुराश्रम्यम् (चार आश्रम)। (३) त्रयः स्वराः एव (त्रिस्वर + ष्यञ्) = त्रैस्वर्यम् (तीन स्वर)। (४) षड् गुणाः एव (षड्गुण + ष्यञ्) = षाड्गुण्यम् (छः गुण)। (५) सेना एव = सैन्यम् (सेना)। (६) सन्निधि एव (सन्निधि + ष्यञ्) = सान्निध्यम् (समीप)। (७) समीपम् एव (समीप + ष्यञ्) = सामीप्यम् (समीप)। (८) उपमा एव (उपमा + ष्यञ्) = औपम्यम् (उपमा)। (९) त्रयो लोकाः एव (त्रिलोक + ष्यञ्) = त्रैलोक्यम् (तीनों लोक) इत्यादि।

(२००१) **पद**—स्तेनात्, यत्, नलोपः, च। **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त 'स्तेन' शब्द से कर्म और भाव अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है और नकार का लोप होता है। स्तेयम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०००) से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति तथा 'तस्य भावस्त्वतलौ' (१९९४) से 'तस्य भावः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार ''षष्ठ्यन्त 'स्तेन' प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थ में 'यत्' (= य) प्रत्यय होता है और 'स्तेन' शब्द के नकार का लोप होता है।''

उदाहरण—स्तेनस्य भावः कर्म वा (स्तेन + यत् = 'य' और 'न' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = स्तेयम् (चोरी)।

(२००२) **पद**—सख्युः, यः। **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त सखि शब्द से भाव और कर्म अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। सख्यम्।

विमर्श—भाव-कर्म अर्थ का ही विषय है। अतः पूर्ववत् 'कर्मणि' तथा 'तस्य भावः' आदि की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''षष्ठीसमर्थ सखि शब्द से भाव और कर्म अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—सख्युः भावः (सखि + 'य', अन्त्यवर्ण 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सख्यम् (मित्रता)।

(२००३) **पद**—कपिज्ञात्योः, ढक्। **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त कपि और ज्ञाति शब्दों से भाव और कर्म अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है। कापेयम्। ज्ञातेयम्।

ज्ञातेयम्। (२००४) पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यत् ५।१।१२८। सैनापत्यम्। पौरोहित्यम्। * राजाऽसे *। राजन्शब्दोऽसमासे यकं लभत इत्यर्थः। राज्ञो भावः राज्यम्। समासे तु ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। आधिराज्यम्। (२००५) प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ५।१।१२९। प्राणभृज्जातिः - आश्वम्, औष्ट्रम्।

(२००४) **पत्यन्त इति**। षष्ठ्यन्तेभ्यः पत्यन्तशब्देभ्यः पुरोहितादिभ्यश्च यक्प्रत्ययः स्याद्भावे कर्मणि चार्थे इत्यर्थः। **पौरोहित्यम्** – पुरोहितस्य भावः कर्म वेति विग्रहे 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इत्यनेन यकि अनुबन्धलोपे कित्त्वादाद्यचो वृद्धौ भत्वादकारलोपे विभक्तिकार्ये 'पौरोहित्यमि'ति रूपम्।

(२००५) **प्राणभृज्जातीति**। प्राणिजातिवाचिभ्यो वयोविशेषवाचिभ्य उद्गात्रादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो भावे कर्मणि चार्थेऽञ्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

विमर्श—'कपिज्ञात्योः' पद में षष्ठी का प्रयोग पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में हुआ है। भाव-कर्म अर्थ का विषय है। अतः ''षष्ठीसमर्थ 'कपि' तथा 'ज्ञाति' शब्दों से भाव और कर्म अर्थों में ढक् (= ढ) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—कपेः भावः कर्म वा (कपि + ढक् = ढ, 'ढ' = 'एय' आदेश, आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण 'इ' का लोप; विभक्तिकार्य) = कापेयम् (बन्दर का स्वभाव या कार्य)। ज्ञातेर्भावः कर्म वा (ज्ञाति + ढक्, ढ = एय आदि पूर्ववत्) = ज्ञातेयम् (जातिवालों का स्वाभाव या कार्य)।

(२००४) **पद**—पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः, यक्। **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त पत्यन्त शब्दों से तथा पुरोहितादि शब्दों से यक् प्रत्यय होता है। सैनापत्यम्। पौरोहित्यम्। **वा०**—असमास में राजन् शब्द से यक् होता है। राज्यम्। समास में ष्यञ् — आधिराज्यम्।

विमर्श—पूर्ववत् भाव-कर्म अर्थ का विषय है। तदनुसार उक्त पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। अतः ''षष्ठीसमर्थ पति शब्दान्त तथा पुरोहित आदि प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में 'यक्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—सेनापतेः भावः कर्म वा (सेनापति + यक् = 'य', आदिवृद्धि — 'किति च', अन्त्य 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सैनापत्यम् (सेनापति का स्वभाव या कर्म)। पुरोहितस्य भावः कर्म वा (पुरोहित + यक्, प्रक्रिया पूर्ववत्) = पौरोहित्यम् (पुरोहित का स्वभाव या कार्य)।

वा०—समास के अतिरिक्त भाव और कर्म अर्थ में राजन् शब्द से भी यक् होता है। **उदाहरण**—राज्ञः भावः कर्म वा (राजन् + यक् = 'य', टि = 'अन्' का लोप, विभक्तिकार्य) = राज्यम्। समास में तो ब्राह्मणादिगण में पाठ होने से ष्यञ् (अधिराज + ष्यञ् = 'य', आदिवृद्धि आदि) = 'आधिराज्यम्' रूप बनेगा।

(२००५) **पद**—प्राणभृज्जातिवयोवचन-उद्गोत्रादिभ्यः, अञ्। **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त प्राणधारी जातिवाचक शब्दों से, अवस्थाविशेषवाची शब्दों से और उद्गात्रादि शब्दों से भाव और कर्म अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है। आश्वम्। कौमारम्। औद्गात्रम्। औन्नेत्रम्। सौष्ठवम्।

वयोवचनम् - कौमारम्। औद्गात्रम्। औन्नेत्रम्। सौष्ठवम्। **(२००६) हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ५।१।१३०।** द्वैहायनम्। त्रैहायनम्। यौवनम्। स्थाविरम्। ** श्रोत्रियस्य यलोपश्च *।** श्रौत्रम्। कुशलचपलनिपुणपिशुनकुतूहलक्षेत्रज्ञा युवादिषु ब्राह्मणादिषु च पठ्यन्ते। कौशल्यम्, कौशलमित्यादि। **(२००७) इगन्ताच्च लघुपूर्वात्**

(२००६) **हायनान्तयुवादिभ्योऽण्।** हायनान्तेभ्यो युवादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो भावे कर्मणि च अण् स्यादित्यर्थः। **द्वैहायनम्** – द्विहायनस्य भावः कर्म वा द्वैहायनम्, अण् आदिवृद्धिश्च।

विमर्श—पूर्वोक्त भाव और कर्म अर्थ का विषय चल रहा है। अतः ''षष्ठीसमर्थ प्राणधारी (प्राणभृत्)शब्दों से, जातिवाची शब्दों से तथा अवस्थाविशेषवाची (वयोवचन) शब्दों से भाव और कर्म अर्थ में अञ् (= अ) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—(१) **प्राणिवाची**—अश्वस्य भावः कर्म वा (अश्व + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्य-लोप, विभक्तिकार्य) = आश्वम् (घोड़े का स्वभाव या कर्म)। (२) **वयोवचन**—कुमारस्य भावः कर्म वा (कुमार + अञ्, पूर्ववत् अन्य कार्य) = कौमारम् (कुमारावस्था या कुमार का कर्म)। (३) उद्गातुः भावः कर्म वा (उद्गातृ + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि एवं 'ऋ' = 'र्' — यण्) = औद्गात्रम् (उद्गाता = सामवेद का गान करने वाले का स्वभाव या कर्म)। (४) उन्नेतुः भावः कर्म वा (उन्नेतृ + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, यण्) = औन्नेत्रम् (सोमरस पात्र में उड़ेलने वाले का स्वभाव या कर्म)। (५) सुष्ठोः भावः कर्म वा (सुष्ठु + अञ् = 'अ', आदिवृद्धि, 'उ' = 'ओ' — गुण, अव् आदेश) = सौष्ठवम् (सज्जनता)।

(२००६) **पद**—हायनान्तयुवादिभ्यः, अण्। **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त हायनान्त और युवादि शब्दों से भाव और कर्म अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। द्वैहायनम्। त्रैहायनम्। यौवनम्। स्थाविरम्। **वा०**—श्रोत्रिय शब्द से भाव और कर्म अर्थ में अण् प्रत्यय और य का लोप होता है। श्रौत्रम् इत्यादि।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है। तदनुसार ''षष्ठीसमर्थ हायनान्त एवम् युवादि शब्दों से भाव और कर्म अर्थों में अण् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—(१) **हायनान्त**—द्विहायनस्य भावः कर्म वा (द्विहायन + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्य 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = द्वैहायनम् (दो वर्ष वाले का स्वभाव या कार्य)। (२) त्रिहायनस्य भावः कर्म वा (त्रिहायन + अण्) = त्रैहायनम् (तीन वर्ष वाले का स्वभाव या कर्म)। (३) **युवादि**—यूनः भावः कर्म वा (युवन् + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य) = यौवनम् (युवा पुरुष का स्वभाव या कर्म)। (४) स्थविरस्य भावः कर्म वा (स्थविर + अण्) = स्थाविरम् (वृद्ध पुरुष का स्वभाव या कर्म)।

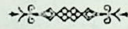
वा०—श्रोत्रियप्रकृतिक षष्ठ्यन्त से भाव और कर्म अर्थ में अण् प्रत्यय और 'य' का लोप भी होता है।

उदाहरण—श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा (श्रोत्रिय + अण् = 'अ' तथा 'य' का लोप, आदिवृद्धि व 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = श्रौत्रम् (श्रोत्रिय का स्वभाव या कर्म)।

विशेष—कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, कुतूहल और क्षेत्रज्ञ शब्दों का समावेश युवादि तथा

५।१।१३१ । शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् । मौनम् । (२००८) योपधाद्गुरूपोत्तमाद् वुञ् ५।१।१३२ । रामणीयकम् । आभिधानीयकम् । * सहायाद्वा * । साहाय्यम् । साहायकम् । (२००९) द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ५।१।१३३ । शैष्योपाध्यायिका । मानोज्ञकम् ।

इति भावकर्मार्थकप्रकरणम् ।



(२००७) **इगन्ताच्चेति** । लघुपूर्वो य इक् तदन्तात्प्रातिपदिकात् षष्ठ्यन्ताद् भावे कर्मणि चार्थेऽण् स्यादित्यर्थः ।

(२००८) **योपधादिति** । योपधात् गुरूपोत्तमात् प्रातिपदिकात्षष्ठ्यन्ताद्भावे कर्मणि चार्थे वुञ् स्यादित्यर्थः । **रामणीयकम्** — रमणीयस्य भावः कर्म वेति विग्रहे रमणीयशब्दात् 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इत्यनेन वुञ्प्रत्यये 'युवोरनाकौ' इति 'वु' इत्यस्य अकादेशे कित्त्वादादिवृद्धौ भत्वादकारलोपे विभक्तिकार्ये 'रामणीयकमि'ति ।

ब्राह्मणादि दोनों गणों में हुआ है । अतः 'कुशलस्य भावः कर्म वा' में कुशल शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय होने पर '**कौशल्यम्**' तथा 'अञ्' प्रत्यय होने पर '**कौशलम्**' रूप बनता है । (अर्थ — कुशलता) ।

(२००७) **पद**—इगन्तात्, च, लघुपूर्वात् । **अनुवृत्ति**—अण्, कर्मणि, तस्य भावः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लघुपूर्वक इगन्त षष्ठ्यन्त से भाव-कर्म अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । शौचम् । मौनम् ।

विमर्श—भाव-कर्म अर्थ का ही विषय है । पूर्वसूत्र (२००६) से विधेयवाचक 'अण्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार "लघुपूर्व इक् है अन्त में जिसके ऐसे षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—शुचेः भावः कर्म वा (शुचि + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = शौचम् (पवित्रता) । मुनेः भावः कर्म वा (मुनि + अण्, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = मौनम् (मुनि का स्वभाव या कर्म) ।

(२००८) **पद**—योपधात्, गुरूपोत्तमात्, वुञ् । **अनुवृत्ति**—कर्मणि, तस्य भावः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

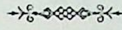
मूलार्थ तथा विमर्श—पूर्ववत् प्रासङ्गिक तथा आधिकारिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "षष्ठीसमर्थ गुरुवर्णसंज्ञक उपोत्तम (गुरु उपोत्तमं यस्य सः, तस्मात्) यकार उपधा वाले शब्द से भाव और कर्म अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है ।" यहाँ 'उत्तम' का तात्पर्य तीन या तीन से अधिक वर्ण वाले शब्द के अन्तिम वर्ण से है । उसके समीप का वर्ण - 'उपोत्तम' कहलाता है ।

उदाहरण—रमणीयस्य भावः कर्म वा (रमणीय + वुञ्, यह शब्द यकारोपधक तथा गुरूपोत्तम है, 'णी' उपान्त्य है', 'वु' = अक, आदि अच् की वृद्धि, अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = रामणीयकम् (सुन्दर व्यक्ति का स्वभाव या कर्म) । अभिधानीयस्य भावः कर्म वा (अभिधानीय + वुञ्, आदिवृद्धि, वु = अक, अन्त्यलोप) = आभिधानीयकम् (संज्ञा या नाम का स्वभाव या कर्म) ।

वा०—सहाय शब्द से भाव और कर्म अर्थ में विकल्प से 'वुञ्' होता है । **उदाहरण**—सहायस्य भावः कर्म वा (सहाय + 'वुञ्' विकल्प से, वुञ् = 'वु' = 'अक', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप,

(२००९) **द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्चेति।** द्वन्द्वात् मनोज्ञादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो वुञ् स्यादित्यर्थः। **मानोज्ञकम्** — मनोज्ञस्य भावः कर्म वेति विग्रहे 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्चे'ति वुञ् वोरकि ञित्त्वादाद्यचो वृद्धौ भत्वादकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ, सोरमि पूर्वरूपे 'मानोज्ञकमि'ति रूपम्।

इति भावकर्मार्थकप्रकरणम्।



विभक्तिकार्य) = साहायकम्। 'वुञ्' के न होने पर (सहाय + ष्यञ् = 'य', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = साहाय्यम् (सहायता)।

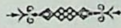
(२००९) **पद**—द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—वुञ्, कर्मणि, तस्य भावः, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त द्वन्द्व और मनोज्ञ आदि शब्दों से भाव और कर्म अर्थों में वुञ् प्रत्यय होता है। शैष्योपाध्यायिका। मनोज्ञकम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२००८) से विधेयवाचक 'वुञ्' की अनुवृत्ति आती है। अन्य प्रासंगिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। अतः ''षष्ठीसमर्थ द्वन्द्वसंज्ञक और मनोज्ञ आदि शब्दों से भी भाव और कर्म अर्थों में 'वुञ्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—शिष्योपाध्याययोः भावः कर्म वा (शिष्योपाध्याय + वुञ् = 'वु', 'वु' = 'अक', आदिवृद्धि, अन्त्यवर्णलोप, स्त्रीलिङ्ग में टाप्, दीर्घ, विभक्तिकार्य) = शैष्योपाध्यायिका (शिष्य और आचार्य का स्वभाव या कर्म)। मनोज्ञस्य भावः कर्म वा (मनोज्ञ + वुञ् = वु, वु = अक, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = मानोज्ञकम् (सुन्दर व्यक्ति का स्वभाव या कर्म)।

भावकर्मार्थक-प्रकरण समाप्त।



अथ पाञ्चमिकप्रकरणम्

(२०१०) धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५।२।१। मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम्। **(२०११) व्रीहिशाल्योर्ढक् ५।२।२।** व्रैहेयम्। शालेयम्। **(२०१२) यवयवकषष्टिकाद्यत् ५।२।३।** यव्यम्। यवक्यम्। षष्टिक्यम्।

अथ पाञ्चमिकाः निरूप्यन्ते –

(२०१०) **धान्यानामिति**। भवन्त्यस्मिन्निति भवनम् = उत्पत्तिस्थानम्। षष्ठ्यन्तात् धान्यवाचकात् शब्दाद्भवनं क्षेत्रमित्यर्थे खञ्स्यादित्यर्थः।

(२०११) **व्रीहिशाल्योर्ढक्**। षष्ठ्यन्ताभ्यां व्रीहिशालिभ्यां भवनं क्षेत्रमित्यर्थे ढक् स्यादिति सूत्रार्थः।

(२०१२) **यवयवक इति**। एभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः भवनं क्षेत्रमित्यर्थे यद्भवतीत्यर्थः।

अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के प्रथम पाद में प्रतिपादित तद्धित प्रत्ययों को छोड़कर पञ्चमाध्याय के अन्तर्गत आने वाले अन्य तद्धित प्रत्ययों का विवेचन प्रस्तुत पाञ्चमिक प्रकरण में किया जा रहा है।

(२०१०) **पद**—धान्यानां, भवने, क्षेत्रे, खञ्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त धान्यवाचक शब्दों से 'भवनं क्षेत्रम्' अर्थ में 'खञ्' प्रत्यय होता है। मौद्गीनम्।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'भवन' शब्द क्षेत्र अर्थात् उत्पत्तिस्थान का बोधक है। (भवन्ति अस्मिन्निति भवनम्, ✓भू + ल्युट्)। 'धान्यानां' पद अपने अर्थ के साथ समर्थविभक्ति का भी सूचक है। अतः 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' पद का विशेषण होने से षष्ठी में तदन्तविधि होती है। तदनुसार "षष्ठीसमर्थ धान्य-विशेषवाचक प्रातिपदिक से भवन (उत्पत्तिस्थान) अर्थ में खञ् (ख) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—मुद्गानां भवनं क्षेत्रम् (मुद्ग + खञ् = 'ख', 'ख' = 'ईन', आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = मौद्गीनम् (मूँग की उत्पत्ति का स्थान 'खेत')।

(२०११) **पद**—व्रीहिशाल्योः, ढक्। **अनुवृत्ति**—धान्यानां भवने क्षेत्रे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त व्रीहि और शालि शब्दों से 'भवनक्षेत्र' अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है। व्रैहेयम्। शालेयम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'धान्यानां भवने क्षेत्रे' (२०१०) की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से आ रही है। अन्य प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार "षष्ठीसमर्थ धान्य-विशेषवाची 'व्रीहि' तथा 'शालि' शब्दों से 'भवन = उत्पत्तिस्थान क्षेत्र' वाच्य होने पर 'ढक्' प्रत्यय होता है।" यह सूत्र प्राप्त 'खञ्' का बाधक है।

उदाहरण—व्रीहीणां भवनं क्षेत्रम् (व्रीहि + ढक् = 'ढ', ढ = 'एय', आदिवृद्धि, 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = व्रैहेयम् (धान का खेत)। शालीनां भवनं क्षेत्रम् (शालि + ढक्, ढ = एय, आदि-वृद्धि, अन्त्यलोप) = शालेयम् (शालीधान का खेत)।

(२०१२) **पद**—यवयवकषष्टिकात्, यत्। **अनुवृत्ति**—धान्यानां भवने क्षेत्रे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

(२०१३) विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः ५।२।४ । यत् । पक्षे खञ् । तिल्यम्, तैलीनम् । भाष्यम्, भाषीणम् । उम्यम्, औमीनम् । भङ्ग्यम्, भाङ्गीनम् । अणव्यम्, आणवीनम् । (२०१४) तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ४।२।७ । सर्वादेः पथ्याद्यन्तात् द्वितीयान्तात्खः । सर्वपथान् व्याप्नोति सर्वपथीनः । सर्वाङ्गीणः ।

यव्यम् — यवानां भवनं क्षेत्रमिति विग्रहे यवशब्दात् 'यवयवकषष्टिकाद्यत्' इति यत्प्रत्यये 'यस्येति चे'त्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'यव्यमि'ति ।

(२०१३) **विभाषेति** । तिल-माष-उमा-भङ्ग-अणु एतेभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो यद्वा स्यादित्यर्थः ।

(२०१४) **तत्सर्वादेः** । पथिन्, अङ्ग, कर्मन्, पत्र, पात्र एषां समाहारद्वन्द्वात् पञ्चम्यर्थे द्वितीया ।प्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह — **सर्वादेः पथ्याद्यन्तादिति ।सर्वाङ्गीणः** —

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त यव, यवक और षष्टिक शब्द से भवन क्षेत्र अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । यव्यम् । यवक्यम् । षष्टिक्यम् ।

विमर्श—पूर्वोक्त अर्थ का विषय होने से 'धान्यानां भवने क्षेत्रे' (२०१०) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार ''षष्ठीसमर्थ धान्य-विशेषवाची यव, यवक तथा षष्टिक शब्दों से 'उत्पत्तिस्थान क्षेत्र' अर्थ में यत् (य) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—यवानां भवनं क्षेत्रम् (यव + यत् = 'य', अन्त्यवर्ण 'अ' का लोप, विभक्ति-कार्य) = यव्यम् (जिस खेत में जौ होते हैं) । यवकानां भवनं क्षेत्रम् (यवक + यत्) = यवक्यम् ('यवक' नामक धान्य - विशेष खेत) । षष्टिकानां भवनं क्षेत्रम् (षष्टिका + यत् = 'य', अन्त्यवर्ण-लोप) = षष्टिक्यम् (साठीधान का उत्पत्तिस्थान — खेत) ।

(२०१३) **पद**—विभाषा, तिलमाषोमाभङ्गाऽणुभ्यः । **अनुवृत्ति**—यत्, धान्यानां भवने क्षेत्रे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त तिल, माष, उमा, भङ्ग और अणु शब्द से भवनक्षेत्र अर्थ में विकल्प से यत् प्रत्यय होता है । पक्ष में - खञ् । तिल्यम्, तैलीनम् । माष्यम्, माषीणम् इत्यादि ।

विमर्श—पूर्वोक्त अर्थ का ही विषय है । खञ् के अपवादस्वरूप विकल्प से 'यत्' का विधान किया जा रहा है । अतः ''षष्ठीसमर्थ धान्यविशेषवाची तिल, माष, उमा; भङ्गा और अणु शब्दों से विकल्प से 'यत्' प्रत्यय होता है ।'' पक्ष में 'खञ्' होगा ।

उदाहरण—(१) तिलानां भवनं क्षेत्रम् (तिल + यत् = 'य', अन्त्यवर्णलोप) = तिल्यम् । पक्ष में खञ् — तिल + खञ् (= 'ख', 'ख' = 'ईन', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = तैलीनम् (तिल का उत्पत्तिस्थान खेत) । (२) माषाणां भवनं क्षेत्रम् (माष + यत्) = माष्यम् । पक्ष में खञ् — माष + खञ् (प्रक्रिया पूर्ववत्) = माषीणम् (उड़द का खेत) । (३) उमानां भवनं क्षेत्रम् (उमा + विकल्प से यत्, अन्त्यलोप) = उम्यम् । पक्ष में खञ्, आदिवृद्धि आदि पूर्ववत् = औमीनम् (अलसी को पैदा करने वाला खेत) । (४) भङ्गानां भवनं क्षेत्रम् (भङ्गा + यत् विकल्प से) = भङ्ग्यम् । पक्ष में खञ् होने पर - भाङ्गीनम् (भङ्गा का उत्पत्तिस्थान खेत) । (५) अणूनां भवनं क्षेत्रम् (अणु + यत्, गुण, अवादेश आदि) = अणव्यम् । पक्ष में अणु + खञ् (ख = ईन, आदिवृद्धि, गुण तथा अवादेश) = आणवीनम् ('चीना' का खेत) ।

(२०१४) **पद**—तत्सर्वादेः, पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं, व्याप्नोति । **अनुवृत्ति**—खः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

सर्वकर्मीणः। सर्वपत्रीणः। सर्वपात्रीणः। (२०१५) हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ५।२।२३। नवनीते निपातोऽयम्। (२०१६) तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ ५।२।२४। पीलूनां पाकः पीलुकुणः। कर्णस्य मूलं कर्ण-

---

सर्वाङ्गानि व्याप्नोतीति विग्रहे सर्वाङ्गशब्दात् 'तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति' इत्यनेन खप्रत्यये खस्य ईनादेशे भत्वादकारलोपे नस्य णत्वे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'सर्वाङ्गीणः' इति।

(२०१५) **हैयङ्गवीनमिति**। ह्यस् इत्यव्ययं पूर्वेद्युरित्यर्थे। तत्रोत्पन्नो गोदोहः गोपयः ह्योगोदोहः। तस्मात् षष्ठ्यन्तात् विकारार्थे खञि खस्य ईनादेशे प्रकृतेः 'हियङ्गु' इत्यादेशे 'ओर्गुणः' इति गुणेऽवादेशे आदिवृद्धौ 'हैयङ्गवीनम्' (नवनीतमित्यर्थः) इति।

(२०१६) **तस्य पाकमूल इति**। 'पाकमूले' इति समाहारद्वन्द्वात्सप्तमी। षष्ठ्यन्तेभ्यः पील्वादिभ्यः पाकेऽर्थे कुणप्प्रत्ययः, कर्णादिभ्यस्तु मूलेऽर्थे जाहच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

मूलार्थ—पथ्याद्यन्त सर्वादि द्वितीयान्त से व्याप्नोति अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है। सर्वपथीनः। सर्वाङ्गीणः। सर्वकर्मीणः। सर्वपत्रीणः। सर्वपात्रीणः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः' (५।२।६) से 'ख' की अनुवृत्ति आ रही है। 'पथ्यङ्गपत्रपात्रम्' में पञ्चमी के अर्थ में द्वितीया का प्रयोग है। 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। तदनुसार "द्वितीयासमर्थ सर्वशब्दपूर्वक पथिन्, अङ्ग, कर्म, पत्र तथा पात्र शब्दों से 'व्याप्त होता है' अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—(१) सर्वपथान् व्याप्नोति (सर्वपथ + ख, 'ख' = ईन, अन्त्यवर्णलोप, विभक्ति-कार्य) = सर्वपथीनः (सभी मार्गों पर चलने योग्य रथ)। (२) सर्वाङ्गाणि व्याप्नोति (सर्वाङ्ग + 'ख', 'ख' = 'ईन', अन्त्यलोप, णत्व) = सर्वाङ्गीणः (सभी अङ्गों में व्याप्त होने वाला)। (३) सर्वकर्माणि व्याप्नोति (सर्वकर्मन् + 'ख', 'ख' = 'ईन', 'अन्' टि का लोप, णत्व) = सर्वकर्मीणः (सब प्रकार के कर्म करने वाला)। (४) सर्वपत्राणि व्याप्नोति (सर्वपत्र + ख, प्रक्रिया पूर्ववत्) = सर्वपत्रीणः (सभी प्रकार के वाहनों को चलाने वाला)। (५) सर्वपात्राणि व्याप्नोति (सर्वपात्र + ख) = सर्वपात्रीणः (सभी प्रकार के बर्तनों में पकने वाला भात आदि)।

(२०१५) **पद**—हैयङ्गवीनं, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—खञ्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विकार अर्थ में 'ह्योगोदोह' शब्द को संज्ञा वाच्य होने पर 'हियङ्गु' आदेश और खञ् प्रत्यय का निपातन होता है। हैयङ्गवीनम्।

विमर्श—'गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे' (५।२।१८) सूत्र से 'खञ्' की अनुवृत्ति आती है। अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। तदनुसार "संज्ञाविषय में षष्ठ्यन्त 'ह्योगोदोह' शब्द से 'हैयङ्गवीन' शब्द निपातन होता है। अर्थात् 'ह्योगोदोह' शब्द के स्थान में 'हियङ्गु' आदेश तथा 'उसका विकार' अर्थ में 'खञ्' प्रत्यय निपातित होते हैं।" 'ह्योगोदोह' शब्द का अर्थ है 'कल बीता हुआ दिन का दुहा दूध'। उस दूध को जमा कर मथकर मक्खन (नवनीत) बनाया जाता है।

उदाहरण—ह्योगोदोहस्य विकारः (ह्योगोदोह + खञ् = 'ख', 'ख' = 'ईन' आदेश, ह्योगोदोह = 'हियङ्गु' निपातन से, आदिवृद्धि, 'उ' = 'ओ' — गुण — 'ओर्गुणः', अव् आदेश, विभक्तिकार्य) = हैयङ्गवीनम् (नवनीत)।

(२०१६) **पद**—तस्य, पाकमूले, पील्वादिकर्णादिभ्यः, कुणब्जाहचौ। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

जाहम्। (२०१७) पक्षात्तिः ५।२।२५। मूले इत्यनुवर्तते। पक्षस्य मूलं पक्षतिः। (२०१८) तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ ५।२।२६। यकारः प्रत्यययोरादौ लुप्तनिर्दिष्टः, तेन चस्य नेत्वम्। विद्यया वित्तो विद्याचुञ्चुः। विद्याचणः। (२०१९) वेः शालच्छङ्कटचौ ५।२।२८। क्रियाविशिष्टसाधनवाचकात् स्वार्थे। विस्तृतम्। विशालम्।

(२०१७) **पक्षात्तिः**। षष्ठयन्तात् पक्षशब्दात् मूलेऽर्थे तिप्रत्ययो भवतीत्याशयः।

(२०१८) **तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ**। तृतीयान्तात् समर्थात् वित्त इत्यर्थे चुञ्चुप्-चणपौ भवतः। ननु चुञ्चुप्प्रत्ययस्य चणप्प्रत्ययस्य चादिश्चकारः 'चुटू' इति सूत्रेणेत्संज्ञः स्यादिति चेदत्रोच्यते - **यकारः प्रत्यययोरिति**।

(२०१९) **वेः शालच्छङ्कटचाविति**। क्रियाविशिष्टकारकवाचकात्स्वार्थे शालच्-शङ्कटच् प्रत्ययौ स्तः।

मूलार्थ—षष्ठयन्त पीलु आदि शब्दों से पाक अर्थ में 'कुणप्' प्रत्यय होता है तथा कर्णादि शब्दों से मूल अर्थ में 'जाहच्' प्रत्यय होता है। पीलुकुणः। कर्णजाहम्।

विमर्श—सूत्र के स्वतः पूर्ण होने से उक्त अर्थ निष्पन्न होता है। कुणप् तथा जाहच् अन्त्य वर्ण की इत्संज्ञा होने पर 'कुण' और 'जाह' शेष रहता है।

उदाहरण—पीलूनां पाकः (पीलु + कुणप् = 'कुण', विभक्तिकार्य) = पीलुकुणः (पीलु के फलों का पकना)। कर्णस्य मूलम् (कर्ण + जाहच् = 'जाह', विभक्तिकार्य) = कर्णजाहम् (कान के नीचे का भाग)।

(२०१७) **पद**—पक्षात्, तिः। **अनुवृत्ति**—तस्य, मूले, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठयन्त पक्ष शब्द से मूल अर्थ में 'ति' प्रत्यय होता है। पक्षतिः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०१६) से 'तस्य' तथा 'मूले' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "षष्ठीसमर्थ पक्ष शब्द से मूल अभिधेय होने पर 'ति' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—पक्षस्य मूलम् (पक्ष + ति, विभक्तिकार्य) = पक्षतिः (प्रतिपदा तिथि या पंख की जड़)।

(२०१८) **पद**—तेन, वित्तः, चुञ्चुप्-चणपौ। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तृतीयान्तसमर्थ से वित्त अर्थ में चुञ्चुप् और चणप् प्रत्यय होते हैं। विद्याचुञ्चुः। विद्याचणः।

विमर्श—यह सूत्र अर्थ की दृष्टि से पूर्ण है। तदनुसार "तृतीयासमर्थ शब्द से वित्त अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ में चुञ्चुप् (= चुञ्चु) और चणप् (= चण) प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—विद्यया वित्तः (विद्या + चुञ्चुप् = 'चुञ्चु', विभक्तिकार्य) = विद्याचुञ्चुः। 'चणप्' प्रत्यय होने पर - विद्याचणः (विद्या में प्रसिद्ध)। यहाँ इन दोनों प्रत्ययों के आदि वर्ण 'च्' की इत्संज्ञा 'चुटू' तथा 'षः प्रत्ययस्य' सूत्रों के पृथक्-पृथक् होने से आद्यवयव 'च्' की इत्संज्ञा की अनित्यता सूचित होने के कारण नहीं होती। महाभाष्यकार ने यह समाधान दिया है कि 'चुञ्चुप्' एवं 'चणप्' के पूर्व यकार की स्थिति है उसका लोप होने पर 'च्' प्रत्ययादि नहीं रह जाता।[1]

(२०१९) **पद**—वेः, शालच्छङ्कटचौ। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

---

१. 'यकारादी चुञ्चुप्-चणपौ। लुप्तनिर्दिष्टो यकारः'। (महाभाष्यम्)

विशङ्कटम्। (२०२०) सम्प्रोदश्च कटच् ५।२।२९। सङ्कटम्। प्रकटम्। उत्कटम्। चाद् विकटम्। * अलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम् *। अलाबूनां रजः अलाबूकटम्। तिलकटम्। * गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः *। गवां स्थानं गोगोष्ठम्। * सङ्घाते कटच् *। अवीनां सङ्घातः अविकटः। * विस्तारे पटच् *। अविपटः। *द्वित्वे गो युगच् *। द्वावुष्ट्रौ उष्ट्रगोयुगम्। *षट्त्वे षड्गवच् *। अश्वषड्गवम्। *स्नेहे तैलच् *। तिलतैलम्। सर्षपतैलम्। (२०२१)

(२०२०) **सम्प्रोदश्चेति**। सम् - प्र - उद् इत्येतेभ्यः क्रियाविशिष्टसाधनवाचकेभ्यः स्वार्थे कटच् स्यादित्यर्थः। **सङ्कटम्** — संहतं क्रियासाधनमित्यर्थे समुपसर्गशब्दात् 'सम्प्रोदश्च कटच्' इति कटच्प्रत्यये मस्य अनुस्वारे परसवर्णे च कृते विभक्तिकार्ये 'सङ्कटमि'ति। **अविपटः** — 'अवीनां विस्तारः' इति विग्रहे अविशब्दात् 'विस्तारे पटच्' इति वार्तिकेन पटच्प्रत्यये विभक्तिकार्ये 'अविपटः' इति।

मूलार्थ—क्रियाविशिष्ट कारकवाची 'वि' शब्द से शालच् और शङ्कटच् प्रत्यय होते हैं। विशालम्। विशङ्कटम्।

विमर्श—"क्रियाविशिष्ट कारकवाचक 'वि' उपसर्ग प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'शालच्' तथा 'शङ्कटच्' प्रत्यय होते हैं।" यहा 'वि' शब्द से उपसर्गगत अर्थ को लेकर प्रत्यय होते हैं।

उदाहरण—विस्तृतम् (वि + शालच् = शाल, विभक्तिकार्य) = विशालम् (फैला हुआ)। वि + शङ्कटच् = शङ्कट, विभक्तिकार्य) = विशङ्कटम् (बृहत्)।

(२०२०) **पद**—संप्रोदश्च, कटच्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—क्रियाविशिष्ट साधनवाचक सम्, प्र तथा उद् शब्दों से स्वार्थ में 'कटच्' प्रत्यय होता है। सङ्कटम्। प्रकटम्। उत्कटम्। **वा०**—अलाबू, तिल, उमा और भङ्गा शब्दों से रजस् अर्थ में 'कटच्' होता है। अलाबूकटम्। तिलकटम्। **वा०**—षष्ठ्यन्त पशुवाचक शब्दों से स्थान अर्थ में 'गोष्ठच्' आदि प्रत्यय होते हैं। गोगोष्ठम्। **वा०**—संघात अर्थ में कटच् प्रत्यय होता है। अविकटः। **वा०**—विस्तार अर्थ में पटच् प्रत्यय होता है। अविपटः। **वा०**—द्वित्व वाच्य रहते गोयुगच् प्रत्यय होता है। उष्ट्रगोयुगम्। **वा०**—छः संख्या वाच्य रहने पर षड्गवच् प्रत्यय होता है। अश्वषड्गवम्। **वा०**—स्नेह वाच्य रहते 'तैलच्' प्रत्यय होता है। तिलतैलम्। सर्षपतैलम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०१९) से 'वेः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अतः "सम्, प्र, उत् तथा वि — इन क्रियाविशिष्ट — साधनवाची उपसर्ग प्रातिपदिकों से स्वार्थ में कटच् (= कट प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—संहतम् (सम् + कटच् = 'कट', म् = — अनुस्वार तथा परसवर्ण, विभक्तिकार्य) = सङ्कटम् (दुःख)। प्रज्ञातम् (प्र + कटच् = 'कट') = प्रकटम् (प्रकट होना)। उत् + कटच् = उत्कटम् (बढ़ा हुआ)। विकृतम् (वि + कटच्) = विकटम् (विचित्र)।

१. **वा०**—"षष्ठ्यन्त अलाबू, तिल, उमा तथा भङ्गा शब्दों से 'धूल' अभिधेय होने पर 'कटच्' प्रत्यय होता है।" विकारार्थ प्रत्ययों का यह अपवाद है। **उदाहरण**—अलाबूनां रजः (अलाबू + कटच् = 'कट', विभक्तिकार्य) = अलाबूकटम् (लौकी की धूल)। तिलानां रजः (तिल + कटच्) = तिलकटम् (तिलों की रज)।

अवात्कुटारच्च ५।२।३०। चात्कटच्। अवकुटारः। अवकटः। **(२०२२) नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः ५।२।३१।** अवादित्येव। नतं नमनम्, नासिकाया नतम् अवटीटम्। अवनाटम्। अवभ्रटम्। तद्योगान्नासिका अवटीटा।

(२०२१) **अवात्कुटारच्च।** क्रियाविशिष्टसाधनवाचकाद् अवशब्दात् कुटारच्प्रत्ययः स्यात्स्वार्थे, चकारात्कटच्प्रत्ययोऽपि स्यादित्यर्थः।

(२०२२) **नते नासिकाया इति।** अवशब्दात् नासिकाया अवनतेऽर्थे टीटच् - नाटच् - भ्रटच् एते प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः।

२. **वा०**—पशुओं के नाम से स्थान आदि अभिधेय होने पर षष्ठ्यन्त से 'गोष्ठच्' आदि प्रत्यय होते हैं। **उदाहरण**—गवां स्थानम् (गो + गोष्ठच् = गोष्ठ) = गोगोष्ठम् (गोशाला)।

३. **वा०**—षष्ठ्यन्त पशुवाची शब्द से समुदाय अर्थ में 'कटच्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—अवीनां सङ्घातः (अवि + कटच्) = अविकटः (भेड़ों का झुण्ड)।

४. **वा०**—षष्ठ्यन्त पशुवाची शब्दों से विस्तार अर्थ में 'पटच्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—अवीनां विस्तारः (अवि + पटच्) = अविपटः (भेड़ों का विस्तार)।

५. **वा०**—षष्ठ्यन्त पशुवाची शब्दों से दो का कथन होने पर 'गोयुगच्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—द्वौ उष्ट्रौ (उष्ट्र + गोयुगच् = 'गोयुग') = उष्ट्रगोयुगम् (दो ऊँट)।

६. **वा०**—षष्ठ्यन्त पशुवाची शब्दों से छः का कथन होने पर षड्गवच् प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—षड् अश्वाः (अश्व + षड्गवच् = षड्गव) = अश्वषड्गवम् (छः घोड़े)।

७. **वा०**—षष्ठ्यन्त स्निग्धधान्यवाची शब्द से तेल अर्थ अभिधेय होने पर 'तैलच्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—तिलानां स्नेहः (तिल + तैलच् = 'तैल') = तिलतैलम् (तिलों का तेल)। सर्षपाणां स्नेहः (सर्षप + तैलच्) = सर्षपतैलम् (सरसों का तेल)।

(२०२१) **पद**—अवात्, कुटारच्, च। **अनुवृत्ति**—कटच्, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—क्रियाविशिष्ट साधनवाची अव़ शब्द से स्वार्थ में कटारच् प्रत्यय होता है। च से 'कटच्' भी। अवकुटारः। अवकटः।

विमर्श—सूत्रस्थ 'च' पद पूर्वसूत्र (२०२०) से 'कटच्' की अनुवृत्ति का सूचक है। अतः "क्रियाविशिष्ट साधनवाचक अव उपसर्ग से स्वार्थ में 'कुटारच्' तथा 'कटच्' प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—अवाचीनः (अव + कुटारच् = 'कुटार', विभक्तिकार्य) = अवकुटारः। अव + कटच् = अवकटः (नीचे की ओर झुका हुआ)।

(२०२२) **पद**—नते, नासिकायाः, संज्ञायां, टीटच्-नाटच्-भ्रटचः। **अनुवृत्ति**—अवात्, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अव शब्द से नासिका के नमन अर्थ में टीटच्, नाटच् और भ्रटच् प्रत्यय होते हैं। अवटीटम्। अवनाटम्। अवभ्रटम्। अवटीटा। अवटीटः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०२१) से उद्देश्यवाची 'अव' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "क्रियाविशिष्ट साधनवाचक अव उपसर्ग से नासिका सम्बन्धी झुकाव कहने पर संज्ञा के विषयं में टीटच्, नाटच् तथा भ्रटच् प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—नासिकायाः नतम् (अव + टीटच् = 'टीट', विभक्तिकार्य) = अवटीटम्। अव + नाटच् = अवनाटम्। अव + भ्रटच् = अवभ्रटम् (नाक का झुकना)। इस लक्षण से झुकी हुई नाक को 'अवटीटा' कहा जाता है। झुकी हुई नाक के संयोग से पुरुष 'अवटीटः' कहलाता है।

पुरुषोऽप्यवटीटः । (२०२३) उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः ५।२।३४ । पर्वतस्यासन्नं स्थलम् उपत्यका । आरूढं स्थलम् - अधित्यका । (२०२४) कर्मणि घटोऽठच् ४।२।३५ । कर्मणि घटते इति कर्मठः । (२०२५) तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५।२।३६ । तारकाः सञ्जाता अस्य तारकितं नभः । पण्डितः ।

(२०२३) **उपाधिभ्यामिति** । उप-अधिशब्दाभ्यां यथासंख्यमासन्ने **आरूढे चार्थे** वर्तमानाभ्यां स्वार्थे त्यकन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

(२०२४) **कर्मणीति** । सप्तम्यन्तात् कर्मन्शब्दात् घट इत्यर्थेऽठच् स्यादित्यर्थः । **कर्मठः** — 'कर्मणि घटते' इति विग्रहे कर्मन्शब्दात् 'कर्मणि घटोऽठच्' इत्यनेन अठच्प्रत्यये अनुबन्धलोपे भत्वाट्टिलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'कर्मठः' इति ।

(२०२५) **तदस्य सञ्जातमिति** । प्रथमान्तेभ्यस्तारकादिभ्यः 'तदस्य सञ्जातमि'त्यर्थे इतच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । **पण्डितः** — सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पण्डा । पण्डा सञ्जाता अस्येति

(२०२३) **पद**—उपाधिभ्याम्, त्यकन्, आसन्नाऽऽरूढयोः । **अनुवृत्ति**—संज्ञायाम्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उप और अधि से क्रमशः आसन्न (समीप) और आरूढ (उच्च) अर्थ में 'त्यकन्' प्रत्यय होता है । उपत्यका । अधित्यका ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०२२) से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार ''उप तथा अधि उपसर्गों से क्रमशः 'आसन्न' और 'आरूढ' अर्थों में संज्ञा विषय गम्यमान होने पर 'त्यकन्' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—पर्वतस्य आसन्नं स्थलम् (उप + त्यकन् = 'त्यक', स्त्रीलिङ्ग लोकप्रयोग से टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = उपत्यका (पहाड़ के निकट की भूमि) । यहाँ 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' से प्राप्त इत्व का 'त्यकनश्च निषेधः' वार्तिक से निषेध होता है । पर्वतस्य आरूढं स्थलम् (अधि + त्यकन् = 'त्यक', प्रक्रिया पूर्ववत्) = अधित्यका (पहाड़ का ऊपरी समतल भाग या पठार) ।

(२०२४) **पद**—कर्मणि, घटः, अठच् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त कर्मन् शब्द से 'घटते' अर्थ में 'अठच्' प्रत्यय होता है । कर्मठः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में स्थित 'घटः' पद 'कलश' का पर्याय नहीं है, अपितु चेष्टार्थक √घट धातु से 'पचाद्यच्' से अच्प्रत्ययान्त 'घट' शब्द कर्मशीलता का सूचक है (घटते इति घटः) । तदनुसार ''सप्तमीसमर्थ कर्मन् शब्द से 'चेष्टा करने वाला' अर्थ में 'अठच्' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—कर्मणि घटते (कर्मन् + अठच् = 'अठ', टि = 'अन्' का लोप — 'नस्तद्धिते', अङ्ग से परे 'अ' होने से 'ठ' = 'इक' नहीं होता, विभक्तिकार्य) = कर्मठः (सदा कर्मशील पुरुष) ।

(२०२५) **पद**—तदस्य, सञ्जातम्, तारकादिभ्यः, इतच् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रथमान्त तारकादि शब्दों से 'अस्य सञ्जातम्' अर्थ में इतच् प्रत्यय होता है । तारकितं नभः । पण्डितः । यह आकृतिगण है ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'तत्' पद समर्थ प्रथमा विभक्ति का सूचक है । 'तारकादिभ्यः' का विशेषण होने से उसमें तदन्तविधि होती है । 'अस्य सञ्जातम्' अर्थ निर्देशक है । तदनुसार ''प्रथमासमर्थ तारक आदि से 'अस्य सञ्जातम्' (उत्पन्न होना) अर्थ में 'इतच्' प्रत्यय होता है ।''

आकृतिगणोऽयम्। (२०२६) **प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५।२।३७।** ऊरू प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्। ऊरुमात्रम्।

प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम।
ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः॥

(२०२७) **पुरुषहस्तिभ्यामण् च ५।२।३८।** पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम्, पुरुषद्वयसम्। हास्तिनम्, हस्तिद्वयसम्। (२०२८) **यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्**

विग्रहे पण्डाशब्दात् 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इति इतच्प्रत्यये भत्वादाकारलोपे विभक्तिकार्ये 'पण्डितः' इति।

(२०२६) **प्रमाण इति।** प्रथमान्तादस्य प्रमाणमित्यर्थे द्वयसच्-दघ्नञ्-मात्रच्प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः।

(२०२७) **पुरुषहस्तिभ्यामण् चेति।** प्रथमान्ताभ्यां पुरुषहस्तिशब्दाभ्यां तदस्य प्रमाणमित्यर्थेऽण् स्यात्। चकारात् द्वयसजादयोऽपि भवन्तीत्यर्थः।

उदाहरण—तारकाः सञ्जाताः अस्य (तारका + इतच् = 'इत', अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = तारकितं नभः (ताराओं से सुशोभित आकाश)। पण्डा सञ्जाता अस्य (पण्डा + इतच् = 'इत', अन्त्यवर्ण 'आ' का लोप) = पण्डितः (जिसमें विवेक-बुद्धि आ गयी है)।

(२०२६) **पद**—प्रमाणे, द्वयसच्-दघ्नञ्-मात्रचः। **अनुवृत्ति**—तदस्य, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'अस्य प्रमाणम्' अर्थ में प्रथमान्त से द्वयसच्, दघ्नञ् और मात्रच् प्रत्यय होते हैं। ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०२५) से 'तदस्य' अंश की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "प्रथमान्त प्रमाणसमानाधिकरणवाची शब्दों से षष्ठ्यर्थ में द्वयसच्, दघ्नञ् और मात्रच् प्रत्यय होते हैं। प्रमाण शब्द लम्बाई और ऊँचाई नापने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।"

उदाहरण (१) ऊरू प्रमाणम् अस्य (ऊरु + द्वयसच् = 'द्वयस', विभक्तिकार्य) = ऊरुद्वयसम्। ऊरु + दघ्नञ् = 'दघ्न' = ऊरुदघ्नम्। ऊरु + मात्रच् = मात्र = ऊरुमात्रम् (जाँघ तक गहरा जल आदि)।

कारिकार्थ—प्रथमश्चेति। 'द्वयसच्' और 'दघ्नञ्' ये दोनों प्रत्यय ऊर्ध्वमान में होते हैं। ऊर्ध्वमान उन्मान (ऊपर की गिनती) को कहते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों ऊँचाई नापने में प्रयुक्त होते हैं। ऊँचाई एवं लम्बाई सभी प्रकार के नाप के लिए 'परिमाण' शब्द का प्रयोग होता है। 'परिमाण' अर्थ में 'मात्रच्' होता है। आयाम = दीर्घता (लम्बाई) को 'प्रमाण' कहते हैं; किन्तु संख्या सभी परिमाणों से पृथक् = (बाहर) है।

(२०२७) **पद**—पुरुषहस्तिभ्याम्, अण्, च। **अनुवृत्ति**—प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः, तदस्य, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रथमान्त पुरुष और हस्तिन् शब्दों से 'अस्य प्रमाणम्' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। पक्ष में द्वयसच् आदि भी होते हैं। पौरुषम्, पुरुषद्वयसम्। हास्तिनम्, हस्तिद्वयसम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र का ही विषय है। अतः सम्पूर्ण सूत्र 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' की अनुवृत्ति आ रही है। पूर्वसूत्र (२०२५) से 'तदस्य' की अनुवृत्ति भी आती है। तदनुसार "प्रथमान्त प्रमाण

५।२।३९ । यत्परिमाणमस्य यावान् । तावान् । एतावान् । (२०२९) किमिदंभ्यां वो घः ५।२।४० । आभ्यां वतुष्वस्य च यः । (२०३०) इदंकिमोरीश्की ६।३।९० ।

(२०२८) **यत्तदेतेभ्य इति** । परिमाणवाचिभ्यः प्रथमान्तेभ्यः यद्, तद्, एतद् इत्येतेभ्यः अस्य परिमाणमित्यर्थे वतुप् स्यादित्यर्थः । **यावान्** — यत्परिमाणमस्येति विग्रहे यत्शब्दात् 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' इति वतुप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वे सौ 'अत्वसन्तस्ये'ति उपधादीर्घे 'उगिदचामि'ति नुमि संयोगान्तत्वेन तकारस्य लोपे 'यावान्' इति ।

(२०२९) **किमिदंभ्यामिति** । 'परिमाणे' इत्यनुवर्तते । प्रथमान्ताभ्यां किमिदंशब्दाभ्यामस्य परिमाणमित्यर्थे वतुप् स्यात्, वतुपो वस्य घादेशश्च स्यादित्यर्थः ।

(२०३०) **इदंकिमोरीश्की** । दृग्दृशवतुषु इदम ईश्, किमः की स्यादित्यर्थः । **कियान्** — किम्परिमाणमस्येति विग्रहे किम्शब्दात् 'किमिदंभ्यां वो घः' इत्यनेन वतुप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे,

---

समानाधिकरणवाची पुरुष तथा हस्तिन् शब्दों से षष्ठ्यर्थ में अण् प्रत्यय और द्वयसच्, दघ्नञ् और मात्रच् प्रत्यय होते हैं ।"

उदाहरण—पुरुषः प्रमाणम् अस्य (पुरुष + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप, विभक्ति-कार्य) = पौरुषम् । पुरुष + द्वयसच् = 'द्वयस' = पुरुषद्वयसम् आदि । हस्ती प्रमाणम् अस्य (हस्तिन् + अण् = 'अ', आदिवृद्धि) = हास्तिनम् । द्वयसच् होने पर — हस्तिद्वयसम् ।

(२०२८) **पद**—यत्तदेतेभ्यः, परिमाणे, वतुप् । **अनुवृत्ति**—तदस्य, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रथमान्त यत्, तत् और एतत् शब्दों से परिमाण अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है । यावान् । तावान् । एतावान् ।

विमर्श—पूर्ववत् 'तदस्य' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "प्रथमासमर्थ यत्, तत् और एतत् शब्दों से षष्ठ्यर्थ में वतुप् (= वत्) प्रत्यय होता है ।" 'वतुप्' में 'उ' तथा 'प्' की इत्संज्ञा और लोप होता है । जिसको चारों ओर से नापा जाय उसे 'परिमाण' कहते हैं (परिमाणन्तु सर्वतः) ।

उदाहरण—यत् परिमाणमस्य (यत् + वतुप् = 'वत्', 'द्' = 'आ' - 'आ सर्वनाम्नः', अ + आ = 'आ' - दीर्घ, प्रातिपदिक संज्ञा, सु = स्, नुम् = 'न्' का आगम) - यावन्त् स् (उपधादीर्घ — 'अत्वसन्तस्य०', 'स्' का हल्ङ्यादिलोप, 'त्' का संयोगान्त लोप) = यावान् (जितना) । तत्परिमाणमस्य (तद् + वतुप्, प्रक्रिया पूर्ववत्) = तावान् (उतना) । एतत् परिमाणम् अस्य (एतद् + वतुप्) = एतावान् (इतना) ।

(२०२९) **पद**—किमिदंभ्याम्, वो, घः । **अनुवृत्ति**—तदस्य, परिमाणे, वतुप् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रथमान्त किम् और इदम् शब्द से परिमाण अर्थ में 'वतुप्' प्रत्यय होता है और उसके 'व' को 'घ' आदेश होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः०' (२०२५) से 'तदस्य' अंश, 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' (२०२८) से 'परिमाणे' और 'वतुप्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "परिमाण अर्थ में प्रथमासमर्थ किम् और इदम् शब्दों से वतुप् (वत्) प्रत्यय होता है और उसके 'व' के स्थान में 'घ' आदेश होता है ।"

(२०३०) **पद**—इदंकिमोः ईश्-की । **अनुवृत्ति**—दृग्दृशवतुषु, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दृग्, दृश् और वतु के परे रहते 'इदम्' को 'ईश' तथा 'किम्' को की आदेश होता है । कियान् । इयान् ।

दृग्दृशवतुषु। कियान्। (२०३१) किमः संख्यापरिमाणे डति च ५।२।४१। चाद्वतुप्, तस्य च घः। का संख्या येषां ते कति। कियन्तः। (२०३२) संख्याया अवयवे तयप् ५।२।४२। पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयं दारु। (२०३३) द्वित्रिभ्यां

वस्य घ आदेशे च, घस्य इयादेशे 'इदंकिमोरीश्की' इत्यनेन किमः की आदेशे 'की + इयत्' इति जाते, भत्वादिकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ उगित्वान्नुमि हल्ङ्यादिना सुलोपे संयोगान्तलोपे नान्तत्वादुपधादीर्घे 'कियान्' इति।

(२०३१) **किम इति**। का संख्यैषामित्यैवं संख्यापरिच्छेदविषयकप्रश्ने विद्यमानात् प्रथमान्तात्किम्शब्दात् डतिप्रत्ययाद् वतुप् स्यादित्यर्थः।

(२०३२) **संख्याया इति**। अवयवीभूतसंख्यावाचकात्प्रथमान्ताद् अस्यावयविन इत्यर्थे तयप् स्यादित्यर्थः।

विमर्श—'दृग्दृशवतुषु' (६।३।८९) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। 'उत्तरपदे' का अधिकार है। अतः अनुवृत्त पद 'उत्तरपदे' के साथ अन्वित हो जाता है। सूत्रस्थ 'इदम्' तथा 'किम्' स्थानी हैं और 'ईश्' तथा 'की' आदेशवाची हैं। दोनों सर्वादेश होते हैं। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होता है कि "दृक्, दृश तथा वतु शब्दों के उत्तरवर्ती होने पर 'इदम्' तथा 'किम्' को क्रमशः 'ईश्' तथा 'की' आदेश होते हैं।"

उदाहरण—किं परिमाणमस्य (किम् + वतुप् = 'वत्' तथा 'व' = 'घ' आदेश, 'घ' = 'इय', किम् = 'की' - 'इदंकिमोरीश्की') — की इयत् ('ई' का लोप — 'यस्येति च', पुल्लिङ्ग में विभक्ति-कार्य) = कियान् (कितना)।

(२०३१) **पद**—किमः, संख्यापरिमाणे, डति च। **अनुवृत्ति**—वंतुप्, वो घः, तदस्य, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रथमान्त किम् शब्द से संख्याविषयक प्रश्न में 'डति' प्रत्यय होता है और 'वतुप्' भी होता है। कति। कियन्तः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०२८) से 'वतुप्' की तथा २०२९ से 'वो घः' की अनुवृत्ति आ रही है। पूर्ववत् 'तदस्य' अंश भी अनुवर्तमान है। इसके अतिरिक्त आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव भी पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार "संख्या के परिमाण अर्थ में विद्यमान प्रथमासमर्थ किम् शब्द से षष्ठ्यर्थ में 'डति' तथा 'वतुप्' प्रत्यय होते हैं। **व** के स्थान में 'घ' आदेश भी हो जाता है।"

उदाहरण—किम् + डति (= अति, टि = 'इम्' का लोप - 'टेः') - कति (कति + जस्, संख्यासंज्ञा - 'बहुगणवतुडति संख्या', षट्संज्ञा - 'डति च', 'जस्' का लुक् - 'षड्भ्यो लुक्') = कति (कितने)। किम् + वतुप् (= 'वत्', 'व' = 'घ' = 'इय', प्रथमा बहुवचन में विभक्तिकार्य) = कियन्तः (कितने)।

विशेष—यहाँ परिमाण शब्द का अर्थ परिच्छेद है। परिच्छेद का तात्पर्य 'संख्या सम्बन्धी परिपृच्छा'। इस प्रकार किम् शब्द से जब संख्यासम्बन्धी प्रश्न या पूछताछ की जायेगी तभी डति और वतुप् प्रत्यय होंगे।

(२०३२) **पद**—संख्यायाः, अवयवे, तयप्। **अनुवृत्ति**—तदस्य, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रथमान्त अवयवार्थक संख्यावाचक शब्दों से षष्ठ्यर्थ में 'तयप्' प्रत्यय होता है। पञ्चतयं दारु।

तयस्यायज्वा ५।२।४३ । द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् । **(२०३४) उभादुदात्तो नित्यम् ५।२।४४ ।** उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात्, स चाद्युदात्तः । उभयम् । **(२०३५) तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ५।२।४५ ।** एकादश अधिका अस्मिन् एकादशम् ।

(२०३३) **द्वित्राभ्यामिति** । द्वित्राभ्यां परस्य तयपोऽयच् वा स्यादित्यर्थः ।

(२०३४) **उभादुदात्तो नित्यमिति** । **उभयमिति** । उभौ अवयवौ अस्येति उभयम्, तयपोऽयचि अकारलोपः ।

(२०३५) **तदस्मिन्नधिकमिति** । तदधिकमस्मिन्निति विग्रहे प्रथमान्ताद् दशन्शब्दात् समासान्तादस्मिन्नित्यर्थे डः स्यादित्यर्थः ।

विमर्श—पूर्ववत् 'तदस्य' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । 'अस्य' का अन्वय 'अवयवे' के साथ होता है । 'तत्' पद संख्या का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । इस प्रकार "अवयव अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त संख्यावाचक शब्दों से षष्ठ्यर्थ में 'तयप्' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—पञ्च अवयवा अस्य (पञ्चन् + तयप् = 'तय', 'न्' का लोप, विभक्तिकार्य) = पञ्चतयं दारु (पाँच भाग वाली लकड़ी) ।

(२०३३) **पद**—द्वित्रिभ्याम्, तयस्य, अयच्, वा । **अनुवृत्ति**—तदस्य, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—द्वि और त्रि शब्द से परे तयप् को अयच् विकल्प से होता है । द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् ।

विमर्श—पूर्ववत् यहाँ 'तदस्य' अंश की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार "द्वि और त्रि से परवर्ती 'तयप्' के स्थान पर 'अयच्' आदेश विकल्प से होता है ।"

उदाहरण—द्वौ अवयवौ अस्य (द्वि + 'तयप्' — 'संख्याया अवयवे तयप्', 'तयप्' = 'अयच्' = 'अय' विकल्प से — 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा', 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = द्वयम् । 'अयच्' के न होने पर 'तयप्' ही रहेगा - द्वितयम् (दोहरा) । त्रयः अवयवाः अस्य (त्रि + 'तयप्', तयप् = अयच् = 'अय' विकल्प से, इकारलोप) = त्रयम् । अयच् के अभावपक्ष में — त्रितयम् (तिहरा) ।

(२०३४) **पद**—उभात्, उदात्तः, नित्यम् । **अनुवृत्ति**—तयस्यायच्, तदस्य, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उभ शब्द से तयप् के स्थान पर नित्य 'अयच्' होता है और वह उदात्त होता है । उभयम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०३३) से 'तयस्यायच्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार "प्रथमान्त उभ शब्द से परवर्ती तयप् के स्थान पर षष्ठ्यर्थ में नित्य 'अयच्' आदेश होता है और वह अयच् आद्युदात्त भी होता है ।"

उदाहरण—उभौ अवयवौ अस्य (उभ + तयप् = अयच् = 'अय', 'अ' का लोप — 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = उभयम् (दोनों) ।

(२०३५) **पद**—तत्, अस्मिन्, अधिकम्, इति, दशान्तात्, डः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रथमान्त समासान्त दशन् शब्द से 'अस्मिन् अधिकम्' अर्थ में 'ड' प्रत्यय होता है । एकादशम् । **वा०**—शत और सहस्र ही जब प्रत्ययार्थ हो, तभी 'ड' प्रत्यय इष्ट है । अतः

***शतसहस्त्रयोरेवेष्यते*। नेह – एकादश अधिका अस्यां विंशतौ। *प्रकृतिप्रत्यया-र्थयोः समानजातीयत्व एवेष्यते*। नेह – एकादश माषा अधिका अस्मिन् सुवर्णशते। (२०३६) शदन्तविंशतेश्च ५।२।४६। डः स्यादुक्तेऽर्थे। त्रिंशदधिका अस्मिन् त्रिंशं शतम्, विंशम्। (२०३७) तस्य पूरणे डट् ५।२।४८। संख्याया इत्येव। एका-**

(२०३६) **शदन्तविंशतेश्चेति**। शेषपूरणेन व्याचष्टे – **डः स्यादुक्तेऽर्थे इति**।

(२०३७) **तस्येति**। संख्येयार्थकसंख्यावाचिनः षष्ठ्यन्तात्प्रवृत्तिनिमित्तसंख्यायाः पूरणे वाच्ये डट्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

'एकादश अधिका अस्यां विंशतौ' में ड नहीं हुआ। **वा०**—प्रकृति और प्रत्ययार्थ का समानजातीय होने पर ही 'ड' प्रत्यय इष्ट होता है, अन्यत्र नहीं। **उदाहरण**—'एकादश माषाः अस्मिन् सुवर्णशते' में 'ड' नहीं होता।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "प्रथमासमर्थ दशन्शब्दान्त समासान्त प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ में 'ड' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—एकादश अधिकाः अस्मिन् (एकादशन् + ड = 'अ', टि = 'अन्' का लोप — 'टेः', विभक्तिकार्य) = एकादशं शतं सहस्रं वा (एक सौ या एक हजार ग्यारह)।

यहाँ अधिक अर्थ साकांक्ष है। उसकी पूर्ति हेतु वार्तिक का उल्लेख किया जा रहा है।

१. **वा०**—शत और सहस्र शब्दों से ही एकादश संख्या का अधिक लिया जाना अभीष्ट है। अतः 'एकादश अधिकाः अस्यां विंशतौ' (इकत्तीस) में 'ड' प्रत्यय नहीं होता।

२. **वा०**—प्रकृति-प्रत्ययार्थ की समानजातीयता की स्थिति में 'ड' होना इष्ट है। फलस्वरूप 'एकादश माषाः अधिकाः अस्मिन् सुवर्णशते' में भी 'ड' प्रत्यय नहीं होता।

(२०३६) **पद**—शदन्तविंशतेः, च। **अनुवृत्ति**—तदस्मिन्नधिकम्, डः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रथमान्त शदन्त और विंशति शब्दों से 'अस्मिन्नधिकम्' अर्थ में 'ड' प्रत्यय होता है। त्रिंशं शतम्। विंशम्।

विमर्श—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए पूर्वसूत्र (२०३५) से 'तदस्मिन्नधिकम्' तथा 'डः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "प्रथमान्त शदन्त और विंशति प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ में 'ड' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—त्रिंशत् अधिकाः यस्मिन् शते (त्रिंशत् + ड = 'अ', टि = 'अत्' का लोप, विभक्तिकार्य) = त्रिंशम् (एक सौ तीस)। विंशतिः अधिकाः यस्मिन् शते (विंशति + ड = अ, 'ति' का लोप - 'तिविंशतेर्डिति') = विंशम् (एक सौ बीस)।

(२०३७) **पद**—तस्य, पूरणे, डट्। **अनुवृत्ति**—संख्यायाः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संख्येयार्थक संख्यावाची षष्ठ्यन्त से पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय होता है। एकादशः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'संख्याया अवयवे तयप्' (२०३२) से 'संख्यायाः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'तस्य' पद संख्यावाचक पद का विशेषण होने से तदन्त का बोधक है। अतः "षष्ठीसमर्थ संख्यावाचक प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में डट् (= अ) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—एकादशानां पूरणः (एकादशन् + डट् = 'अ', टि = 'अन्' का लोप, विभक्तिकार्य) = एकादशः (ग्यारहवाँ)। (पूर्यते अनेन इति पूरणः अवयवः, स एव प्रत्ययार्थः)। दशवें के बाद वाला व्यक्ति ग्यारहवीं संख्या का पूरक (पूरण) करने वाला होता है।

दशानां पूरणः एकादशः। (२०३८) नान्तादसंख्यादेर्मट् ५।२।४९। डटो मडागमः। पञ्चानां पूरणः पञ्चमः। नान्तात्किम्? विंशः। असंख्यादेः किम्? एकादशः। (२०३९) षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ५।२।५१। डटि। षण्णां पूरणः षष्ठः। कतिथः। कतिपयशब्दस्यासंख्यत्वेऽपि अत एव ज्ञापकात् डट्। कतिपयथः।

(२०३८) **नान्तादसंख्यादेर्मट्**। मटि टकार इत्। **पञ्चमः** — पञ्चन्शब्दात् डटि तस्य मडागमे सति नलोपे रूपम्।

(२०३९) **षट्कतिकतिपय इति**। डटि परत एषां युगागमः स्यादित्यर्थः। **षष्ठः** — 'षण्णां पूरणः' इति विग्रहे षष्शब्दात् 'तस्य पूरणे डट्' इत्यनेन डटि अनुबन्धलोपे 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्' इति थुकि अनुबन्धलोपे 'षष् थ् अ' इति जाते ष्टुत्वे विभक्तिकार्ये 'षष्ठः' इति।

(२०३८) **पद**—नान्तात्, असंख्यादेः, मट्। **अनुवृत्ति**—तस्य पूरणे डट्, संख्यायाः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—असंख्यादि नान्त संख्यावाचक से परवर्ती 'डट्' को मट् (म्) का आगम होता है। पञ्चमः। 'नान्तात्' क्यों कहा? विंशः। 'असंख्यादेः' क्यों कहा? एकादशः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में स्थानिवाचक पद का अभाव है। अतः पूर्वसूत्र (२०३७) से 'डट्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। आगम 'मट्' के विधान से 'डट्' का षष्ठ्यन्त में विपरिणाम हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'संख्याया अवयवे०' (२०३२) से 'संख्यायाः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "असंख्यादि नकारान्त संख्यावाचक प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में विहित 'डट्' प्रत्यय को मट् (= म्) का आगम होता है।"

उदाहरण—पञ्चानां पूरणः (पञ्चन् + डट् = 'अ', मट् = 'म्' का आगम, 'न्' का लोप, विभक्तिकार्य) = पञ्चमः।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'नान्तात्' पद का निवेश होने से 'विंशः' में 'मट्' नहीं होता, क्योंकि 'विंशति' शब्द नकारान्त नहीं है। 'असंख्यादेः' का ग्रहण होने से 'एकादशः' में भी 'मट्' आगम नहीं है। यहाँ एकादश शब्द के आदि में एक शब्द संख्यावाची है।

(२०३९) **पद**—षट्-कति-कतिपय-चतुराम्, थुक्। **अनुवृत्ति**—तस्य पूरणे डट्, संख्यायाः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन शब्दों को डट् परे रहते 'थुक्' का आगम होता है। षष्ठः। कतिथः। कतिपय शब्द के संख्यावाची न होने पर भी इस ज्ञापन से डट् होता है। कतिपयथः। चतुर्थः। **वा०**—चतुर् शब्द से पूरण अर्थ में छ और यत् प्रत्यय होते हैं और आदि अक्षर का लोप होता है। तुरीयः, तुर्यः।

विमर्श—पूर्वसूत्र के समान यहाँ भी पूर्वोक्त पदों की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है। अनुवृत्त 'डट्' का सप्तम्यन्त में विपरिणाम होता है। तदनुसार "षष्ठ्यन्त षट्, कति, कतिपय तथा चतुर् शब्दों को पूरण अर्थ में विहित डट् प्रत्यय के परे रहते थुक् (थ्) का आगम होता है।"

उदाहरण—षण्णां पूरणः (षष् + डट् = 'अ' - 'तस्य पूरणे डट्', थुक् = 'थ्' का आगम — प्रकृत सूत्र से, 'थ्' = 'ठ्' — ष्टुत्व, विभक्तिकार्य) = षष्ठः (छठा)। कतीनां पूरणः (कति + डट् = 'अ', थुक् = 'थ्' का आगम) = कतिथः (कौन-सा)। कतिपय शब्द के संख्यावाची न होने से

चतुर्थः। *चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च*। तुरीयः, तुर्यः। (२०४०) बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक् ५।२।५२। डटि। बहुतिथः। (२०४१) वतोरिथुक् ५।२।५३। डटि। यावतिथः। (२०४२) द्वेस्तीयः ५।२।५४। डटोऽपवादः।

(२०४०) **बहुपूगगण०**। बहु-पूग-गण-सङ्घ – एषां डटि तिथुगागमः स्यादित्यर्थः।

(२०४१) **वतोरिथुक्**। वतुबन्तस्य इथुगागमः स्यात् डटीत्यर्थः। 'यावतां पूरणः' इत्यर्थे इथुगागमे — यावतिथः।

(२०४२) **द्वेस्तीयः**। षष्ठ्यन्ताद् द्विशब्दात् पूरणे तीयप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

'डट्' प्रत्यय होने का प्रश्न नहीं उठता। अतः वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "संख्यावाची न होते हुए भी 'कतिपय' शब्द से डट् प्रत्यय हो।" तब आगम-विधान सार्थक होता है। कतिपयानां पूरणः (कतिपय + डट् = 'अ', थुक् = 'थ्' का आगम) = कतिपयथः (कितनों का)। चतुर्णां पूरणः (चतुर् + डट् = 'अ', थुक् = 'थ्' का आगम) = चतुर्थः (चौथा)।

वा०—षष्ठ्यन्त चतुर् शब्द से पूरण अर्थ में 'छ' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं तथा 'चतुर्' शब्द के आदि अक्षर (च) का लोप भी होता है। **उदाहरण**—चतुर् + छ ('छ' = 'ईय', 'च' का लोप) = तुरीयः। चतुर् + यत् (= 'य', 'च' का लोप) = तुर्यः (चौथा)।

(२०४०) **पद**—बहुपूगगणसङ्घस्य, तिथुक्। **अनुवृत्ति**—तस्य पूरणे डट्, संख्यायाः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—बहु, पूग, गण और संघ शब्द को डट् परे रहते 'तिथुक्' का आगम होता है। बहुतिथः।

विमर्श—'तस्य पूरणे डट्' (२०३७) तथा पूर्वसूत्र (२०३२) से 'संख्यायाः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। 'डट्' पद सप्तम्यन्त में विपरिणत हो जाता है। तदनुसार "बहु, पूग, गण तथा संघ शब्दों से पूरण अर्थ में विहित डट् प्रत्यय के परवर्ती रहते तिथुक् (= तिथ्) आगम होता है।" यहाँ 'बहु' तथा 'गण' की संख्या संज्ञा है।

उदाहरण—बहूनां पूरणः (बहु + डट् = 'अ', तिथुक् = 'तिथ्' आगम, विभक्तिकार्य) = बहुतिथः।

(२०४१) **पद**—वतोः, इथुक्। **अनुवृत्ति**—तस्य पूरणे डट्, संख्यायाः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वतुप् प्रत्ययान्त को डट् परे रहते इथुक् का आगम होता है। यावतिथः।

विमर्श—पूर्ववत् 'तस्य पूरणे डट्' तथा 'संख्यायाः' आदि की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। अतः "वतु प्रत्ययान्त शब्द को पूरण अर्थ में विहित डट् के उत्तरवर्ती रहते इथुक् (= इथ्) आगम होता है।" कित् होने से यह आगम आद्यवयव होगा।

उदाहरण—यावतां पूरणः (यावत् + डट् = 'अ', इथुक् = 'इथ्' का आगम, विभक्तिकार्य) = यावतिथः।

(२०४२) **पद**—द्वेः, तीयः। **अनुवृत्ति**—तस्य पूरणे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त द्वि शब्द से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है। द्वितीयः।

विमर्श—संख्यावाची शब्दों का ही विषय है। अतः 'तस्य पूरणे' आदि अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुवृत्त हो रही हैं। तदनुसार — "षष्ठीसमर्थ द्वि शब्द से पूरण अर्थ में 'तीय' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—द्वयोः पूरणः (द्वि + 'तीय', विभक्तिकार्य) = द्वितीयः (दूसरा)।

द्वयोः पूरणः द्वितीयः। **(२०४३) त्रेः सम्प्रसारणं च ५।२।५५।** तृतीयः। इह 'हल' इति दीर्घो न। द्वितीयतृतीयेति निर्देशात्। **(२०४४) विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम्। ५।२।५६।** एभ्यो डटस्तमडागमो वा स्यात्। विंशतितमः, विंशः। एकविंशतितमः, एकविंशः। **(२०४५) नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च ५।२।५७।** शतस्य पूरणः शततमः। मासादेरत एव ज्ञापकात् डट्।

(२०४३) **त्रेः सम्प्रसारणं चेति**। त्रिशब्दात् तीयप्रत्ययः स्यात्प्रकृतेः सम्प्रसारणं चेत्यर्थः। **तृतीयः** — 'त्रयाणां पूरणः' इत्यर्थे 'त्रेः सम्प्रसारणं चे'त्यनेन तीयप्रत्यये रेफस्य सम्प्रसारणे ऋकारे, विभक्तिकार्ये 'तृतीयः' इति।

(२०४४) **विंशत्यादिभ्य इति**। विंशत्यादिभ्यो डटस्तमडागमो वा स्यादित्यर्थः।

(२०४५) **नित्यं शतादि**। शतादिभ्यो मासार्धमासात् संवत्सराच्च नित्यं तमडादेशः स्यादित्यर्थः।

(२०४३) **पद**—त्रेः, सम्प्रसारणं, च। **अनुवृत्ति**—तीयः, संख्यायाः, तस्य पूरणे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—त्रि शब्द से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है और 'त्रि' को सम्प्रसारण होता है। तृतीयः। 'हलः' सूत्र से यहाँ सम्प्रसारण को दीर्घ नहीं होता। क्योंकि 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' सूत्र में 'तृतीया' यह दीर्घरहित का ही ग्रहण किया गया है।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०४२) से 'तीयः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अन्य पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार ''त्रि शब्द से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है तथा प्रकृति 'त्रि' के 'र्' को 'ऋ' सम्प्रसारण होता है।''

उदाहरण—त्रयाणां पूरणः (त्रि + 'तीय', 'र्' = 'ऋ' — सम्प्रसारण, ऋ + इ = 'ऋ' — पूर्वरूप — 'सम्प्रसारणाच्च', प्रातिपदिकसंज्ञा, सु = स् = र् = :) = तृतीयः।

(२०४४) **पद**—विंशत्यादिभ्यः, तमट्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—संख्यायाः, तस्य पूरणे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विंशति आदि शब्दों से विहित डट् को 'तमट्' आगम होता है, विकल्प से। विंशतितमः, विंशः। एकविंशतितमः, एकविंशः।

विमर्श—पूर्ववत् 'संख्यायाः' और 'तस्य पूरणे डट्' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से आ रही है। संख्यावाची शब्दों का ही प्रकरण है। अतः ''षष्ठीसमर्थ संख्यावाचक विंशति आदि शब्दों से पूरण अर्थ में विहित डट् प्रत्यय को 'तमट्' (= तम्) आगम विकल्प से होता है।''

उदाहरण—विंशतेः पूरणः (विंशति + डट् = 'अ', विकल्प से तमट् = 'तम्' आगम—डट् का आद्यवयव) = विंशतितमः। पक्ष में — विंशति + डट् (= 'अ', 'ति' का लोप — 'ति विंशतेर्डिति', अ + अ = 'अ' — पररूप) = विंशः (बीसवाँ)। एकविंशतेः पूरणः (एकविंशति + डट् = 'अ', विकल्प से तमट् = 'तम्' का आगम) = एकविंशतितमः। पक्ष में (डट्, प्रक्रिया उक्तवत्) = एकविंशः।

(२०४५) **पद**—नित्यम्, शतादिमासार्धमाससंवत्सरात्, च। **अनुवृत्ति**—तमट्, तस्य पूरणे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शत आदि शब्दों से तथा मास, अर्धमास, संवत्सर शब्दों से पूरण अर्थ में विहित 'डट्' को तमट् = 'तम्' आगम होता है। शततमः। मासतमः।

मासतमः। **(२०४६) षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः ५।२।५८।** षष्टितमः। संख्यादेस्तु 'विंशत्यादिभ्य' इति विकल्प एव। एकषष्टः, एकषष्टितमः। **(२०४७) मतौ छः सूक्तसाम्नोः ५।२।५९।** मत्वर्थे छः। अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति अच्छावाकीयं सूक्तम्। वारवन्तीयं साम। **(२०४८) श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते ५।२।८४।** श्रोत्रियः

(२०४६) **षष्ट्यादेश्चेति**। असंख्यापूर्वपदान्तषष्ट्यादेः परस्य डटो नित्यं तमडागमः स्यादित्यर्थः।

(२०४७) **मतौ छः**। मतुपदं मत्वर्थे लाक्षणिकमित्याह — **मत्वर्थे इति**।

(२०४८) **श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते**। 'छन्दोऽधीते' इति वाक्यार्थे 'श्रोत्रियम्' इति निपात्यते। द्वितीयान्तात् छन्दस्शब्दादधीते इत्यर्थे घन् प्रकृतेः श्रोत्रादेशश्चेति सूत्रार्थः। **श्रोत्रियः** —

विमर्श—पूर्वसूत्र से 'तमट्' की अनुवृत्ति आ रही है। अन्य पदों की उल्लिखित अनुवृत्ति भी विद्यमान है। तदनुसार — ''षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिकों से तथा मास, अर्धमास और संवत्सर शब्दों से विहित डट् प्रत्यय को 'तमट्' आगम होता है।''

उदाहरण—शतस्य पूरणः (शत + डट् = 'अ', तमट् = 'तम्' आगम, विभक्तिकार्य) = शततमः (सौवाँ)। एकशतस्य पूरणः (एकशत + डट् = 'अ', 'तम्' आगम) = एकशततमः। मासस्य पूरणः (डट् = 'अ', तमट्) = मासतमः।

(२०४६) **पद**—षष्ट्यादेः, च, असंख्यादेः। **अनुवृत्ति**—नित्यं, तमट्, संख्यायाः, तस्य पूरणे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—असंख्यादि षष्टि आदि शब्दों से डट् को तमट् आगम नित्य होता है। षष्टितमः। एकषष्टः, एकषष्टितमः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०४५) से 'नित्यम्' तथा २०४४ से 'तमट्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार ''षष्ठीसमर्थ असंख्यादि (जिसके आरम्भ में संख्यावाचक शब्द न हो) षष्ठी आदि शब्दों से पूरण अर्थ में विहित डट् को नित्य 'तमट्' का आगम होता है।''

उदाहरण—षष्टेः पूरणः (षष्टि + डट् = 'अ', तमट् = 'तम्' नित्य) = षष्टितमः (साठवाँ)। एकषष्टेः पूरणः (डट् = 'अ', तमट् = तम् आगम) = एकषष्टितमः। संख्यादि से 'विंशत्यादिभ्यः' सूत्र से तमट् विकल्प से होता है। अतः 'तमट्' के अभाव पक्ष में — एकषष्टि + डट् (= 'अ', 'इ' का लोप — 'यस्येति च') = एकषष्टः (इकसठवाँ)।

(२०४७) **पद**—मतौ, छः, सूक्तसाम्नोः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सूक्त और साम वाच्य रहते मत्वर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है। अच्छावाकीनं सूक्तम्। वारवन्तीयं सूक्तम्।

विमर्श—पूर्वोक्त आधिकारिक अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार ''प्रथमान्त प्रातिपदिक से सूक्त और साम अर्थ अभिधेय होने पर मत्वर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—अच्छावाकशब्दः अस्मिन् अस्ति (अच्छावाक + छ, छ = ईय, विभक्तिकार्य) = अच्छावाकीयं सूक्तम् (अच्छावाक शब्द से प्रारम्भ होने वाली ऋचाएँ)। वारवन्तशब्दः अस्मिन् अस्ति (वारवन्त + छ = ईय) = वारवन्तीयं साम (वारवन्त शब्द वाला साम)।

(२०४८) **पद**—श्रोत्रियन्, छन्दः, अधीते। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त 'छन्दस्' शब्द से 'अधीते' अर्थ में 'घन्' प्रत्यय होता है और छन्दस् को 'श्रोत्र' आदेश होता है। श्रोत्रियः। 'वा' की अनुवृत्ति आने पर पक्ष में — छान्दसः।

'वा' इत्यनुवृत्तेः – छान्दसः । (२१४९) श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ५।२।८५ । श्राद्धी, श्राद्धिकः । (२०५०) पूर्वादिनिः ५।२।८६ । पूर्वं कृतमनेन पूर्वी । (२०५१) सपूर्वाच्च ५।२।८७ । कृतपूर्वी । (२०५२) इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८ ।

छन्दस्शब्दाद् घन्प्रत्यये प्रकृतेः छन्दसः श्रोत्रादेशे च घस्य इयादेशे भत्वादकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'श्रोत्रियः' इति ।

(२०४९) **श्राद्धमनेनेति** । श्राद्धं भुक्तमनेनेति प्रथमान्तात् श्राद्धशब्दादिनिठनौ स्तः ।

(२०५०) **पूर्वादिनिः** । पूर्वशब्दात् कृतमनेनेत्यर्थे इनिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

(२०५१) **सपूर्वाच्चेति** । विद्यमानपूर्वात् पूर्वशब्दात् कृतमनेनेत्यर्थे इनिः स्यादित्यर्थः ।

कृतपूर्वी — कृतम्पूर्वमनेन इति विग्रहे समासनिष्पन्नात् कृतपूर्वशब्दात् 'सपूर्वाच्च' इति इनिप्रत्यये अनुबन्धलोपे भत्वादकारलोपे 'कृतपूर्विन्' इति जाते, सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे नान्तत्वाद्दीर्घे नलोपे 'कृतपूर्वी' इति ।

विमर्श—'वेद का अध्ययन करता है' इस अर्थ में 'श्रोत्रियन्' शब्द का निपातन होता है। अर्थात् ''''अधीते' अर्थ में 'घन्' प्रत्यय और 'छन्दस्' को 'श्रोत्र' आदेश होता है।''

उदाहरण—छन्दस् + घन् (= 'घ', छन्दस् = श्रोत्र आदेश निपातन, 'घ' = 'इय', अन्त्यवर्ण-लोप) = श्रोत्रियः (वेदाध्ययन करने वाला) । 'श्रोत्रियन्' में नकार 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त करने के लिए है) ।

(२०४९) **पद**—श्राद्धम्, अनेन, भुक्तम्, इनि-ठनौ । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विमर्श—प्राकरणिक एवं आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् अनुसरण कर रही है। तदनुसार ''प्रथमान्त श्राद्ध शब्द से 'अनेन भुक्तम्' (इसके द्वारा खाया गया) अर्थ में 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय होते हैं।''

उदाहरण—श्राद्धं भुक्तम् अनेन (श्राद्ध + इनि = 'इन्', अन्त्यलोप) — श्राद्धिन् + सु (= स्, उपधादीर्घ, 'स्' का हल्ङ्यादिलोप, 'न्' का लोप) = श्राद्धी । ठन् होने पर — श्राद्ध + ठन् (= ठ, ठ = इक, अन्त्यलोप, विभक्तिकार्य) = श्राद्धिकः (श्राद्धभोजी) ।

(२०५०) **पद**—पूर्वात्, इनिः । **अनुवृत्ति**—अनेन, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्व शब्द से 'कृतमनेन' अर्थ में इनि प्रत्यय होता है। पूर्वी ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०४९) से 'अनेन' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''प्रथमान्त पूर्व प्रातिपदिक से अनेन (इसने किया आदि) अर्थ में इनि = 'इन्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—पूर्वं कृतम् अनेन (पूर्व + इनि = 'इन्', अन्त्यवर्णलोप) - पूर्विन् (प्रथमा विभक्ति एकवचन, विभक्तिकार्य) = पूर्वी (पहले करने वाला) ।

(२०५१) **पद**—सपूर्वात्, च । **अनुवृत्ति**—पूर्वात्, इनिः, अनेन, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

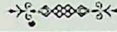
मूलार्थ—सपूर्व पूर्व शब्द से भी 'इनि' प्रत्यय होता है। कृतपूर्वी ।

विमर्श—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिए पूर्वसूत्र 'पूर्वादिनिः' की तथा २०४९ से 'अनेन' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'सपूर्व' का अर्थ है 'जिसके पहले कुछ हो' (विद्यमानं पूर्वं यस्मात्) । तदनुसार ''पूर्व शब्द से पहले किसी शब्द के रहने पर प्रथमासमर्थ पूर्वशब्दान्त से भी 'इनि' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—कृतं पूर्वम् अनेन (कृतपूर्व + इनि = 'इन्', अन्त्यवर्णलोप) - कृतपूर्विन् (प्रथमा एकवचन विभक्तिकार्य) = कृतपूर्वी (जिसने पहले ही कर लिया हो) ।

इष्टमनेन इष्टी। अधीती। **(२०५३) अनुपद्यन्वेष्टा ५।२।९०।** अनुपदमन्वेष्टा अनुपदी गवाम्। **(२०५४) साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् ५।२।९१।** साक्षाद् द्रष्टा साक्षी।

इति पाञ्चमिकप्रकरणम्।

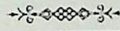


(२०५२) **इष्टादिभ्यश्च**। प्रथमान्तेभ्य इष्टादिभ्योऽनेनेत्यर्थे इनिप्रत्ययः स्यादिति भावः।

(२०५३) **अनुपद्यन्वेष्टा**। अन्वेष्टर्यर्थे इनिप्रत्ययान्तोऽनुपदी इति निपात्यते।

(२०५४) **साक्षाद् द्रष्टरि इति**। 'साक्षात्' इत्यव्ययात् द्रष्टर्य्यर्थे इनिः स्यात् संज्ञायामित्यर्थः। **साक्षी** — साक्षात् द्रष्टा इत्यर्थे साक्षात् अव्ययात् 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायामि'त्यनेन इनिप्रत्यये अनुबन्धलोपे भत्वे टिलोपे साक्षिन् इति जाते, प्रातिपदिकत्वे सौ सुलोपे नान्तत्वाद्दीर्घे नलोपे 'साक्षी' इति।

इति पाञ्चमिकप्रकरणम्।



(२०५२) **पद**—इष्टादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—इनिः, अनेन, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रथमान्त 'इष्ट' आदि शब्दों से 'अनेन' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है। इष्टी। अधीती।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०५०) से विधेयांश 'इनिः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'श्राद्धमनेन भुक्तम्०' (२०४९) से 'अनेन' की अनुवृत्ति आती है। अतः ''प्रथमासमर्थ इष्ट आदि शब्दों से 'अनेन' इस अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—इष्टम् अनेन (इष्ट + इनि = इन्, अन्त्यलोप) - इष्टिन् (प्रथमा एकवचन विभक्तिकार्य) = इष्टी (जिसने यज्ञ किया)। अधीतम् अनेन (अधीत + इनि = इन्) = अधीती (जिसने अध्ययन किया)।

(२०५३) **पद**—अनुपदी, अन्वेष्टा। **अनुवृत्ति**—इनिः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अन्वेष्टा अर्थ में अनुपद शब्द से इनि प्रत्यय निपातित होता है। अनुपदी।

विमर्श—'इनि' का ही विषय है। '''अन्वेष्टा' (पीछे जाने वाला या अन्वेषणकर्ता) अर्थ में 'अनुपदी' शब्द निपातन होता है अर्थात् 'अनुपद' शब्द से 'इनि' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—अनुपदम् अन्वेष्टा (अनुपद + इनि = 'इन्' निपातन से, अन्त्यवर्णलोप, विभक्त्यादि कार्य) = अनुपदी (गायों के पीछे चलने वाला चरवाहा)।

(२०५४) **पद**—साक्षात्, द्रष्टरि, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—इनिः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्रष्टा अर्थ में 'साक्षात्' शब्द से संज्ञा वाच्य रहते 'इनि' प्रत्यय होता है। साक्षी।

विमर्श—पूर्ववत् 'इनि' प्रत्यय का ही विषय है। 'साक्षात्' पद अव्यय है। तदनुसार ''साक्षात् अव्यय से यदि द्रष्टा वाच्य हो तो संज्ञा गम्यमान होने पर इनि (= इन्) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—साक्षात् द्रष्टा (साक्षात् + इनि = 'इन्', 'टि' भाग — 'आत्' का लोप — 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' वा०) — साक्षिन् (पुल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन का रूप) = साक्षी (प्रत्यक्ष द्रष्टा, गवाह)।

पाञ्चमिक प्रकरण समाप्त।



अथ मत्वर्थीयप्रकरणम्

(२०५५) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ५।२।९४। गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति गोमान्। **(२०५६) तसौ मत्वर्थे १।४।१९।** तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। **वसोः सम्प्रसारणम्। विदुष्मान्। गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः।** शुक्लो गुणोऽ-

---

(२०५५) **तदस्यास्तीति।** तदस्यास्तीति तदस्मिन्नस्तीति च विग्रहे अस्तिसमानाधिकरणात् प्रथमान्तादस्याऽस्मिन्निति चार्थे मतुप् स्यादित्यर्थः। 'मतुप्' इत्यत्र उपावितौ। इतिशब्दो विषयविशेषलाभार्थः। यथोक्तं श्लोकवार्तिके —

"भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥"

(२०५६) **तसाविति।** मत्वर्थप्रत्ययाक्षिप्तप्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह — **तान्तसान्ताविति। विदुष्मान्** — विद्वांसः सन्त्यस्मिन्निति विग्रहे 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इत्यनेन मतुप्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'विद्वस्+मत्' इति जाते 'तसौ मत्वर्थे' इति भसंज्ञायां 'वसोः

(२०५५) **पद**—तत्, अस्य, अस्ति, अस्मिन् इति मतुप्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रथमान्त से 'अस्य' और 'अस्मिन्' अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय होता है। गोमान्।

विमर्श—आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार "प्रथमा-समर्थ प्रातिपदिक से 'तत् अस्य अस्ति' (इसका यह है) अथवा 'अस्मिन् अस्ति' (इसमें है) अर्थों में मतुप् (= मत्) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—गावः अस्य अस्मिन् वा सन्ति (गो + मतुप् = मत्, प्रातिपदिक संज्ञा सु = स्, नुम् = 'न्' आगम — 'उगिदचाम्०', उपधादीर्घ, 'स्' का हल्ङ्यादिलोप, 'त्' का संयोगान्त-लोप) = गोमान् (जिसके पास गाय या बैल हों)।

विशेष—मतुबर्थीय प्रत्ययों के सम्बन्ध में प्रकृत सूत्र की संस्कृत व्याख्या में उल्लिखित श्लोक वार्तिक के अनुसार "भूमा (बहुत्व), निन्दा, प्रशंसा (स्तुति), नित्ययोग (सर्वथा) सम्बद्ध, अतिशय (आधिक्य), संसर्ग (सम्बन्ध) एवम् अस्ति की विवक्षा में ये प्रत्यय होते हैं।"

(२०५६) **पद**—तसौ, मत्वर्थे। **अनुवृत्ति**—भम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—मत्वर्थ प्रत्यय के परवर्ती रहते तकारान्त और सकारान्त की भसंज्ञा होती है। विदुष्मान्।

विमर्श—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। 'यचि भम्' (१।४।१८) से संज्ञावाचक पद 'भम्' की अनुवृत्ति आती है। 'तसौ' संज्ञिवाचक है। तदनुसार "तकारान्त और सकारान्त शब्दों की मत्वर्थ प्रत्यय के परे भसंज्ञा होती है।"

उदाहरण—विद्वान् अस्य अस्मिन् वा अस्ति (विद्वस् + मतुप् = 'मत्', मतुप् के परवर्ती रहने पर 'विद्वस्' की भसंज्ञा - 'तसौ मत्वर्थे', 'व' = 'उ' - सम्प्रसारण - 'वसोः सम्प्रसारणम्', उ + अ = 'उ' - पूर्वरूप — 'सम्प्रसारणाच्च', स् = ष् - 'षत्व') — विदुष्मत् (प्रथमा एकवचन, विभक्तिकार्य) = विदुष्मान् (विद्वान् वाला)।

वा०—"गुणवाचकों से 'मतुप्' का लुक् होता है।" तदनुसार — **शुक्लः पटः** (सफेद

स्यास्ति शुक्लः पटः। कृष्णः। (२०५७) प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ५।२।९६। चूडालः, चूडावान्। प्राणिस्थात्किम्? शिखावान्दीपः। प्राण्यङ्गादेव। नेह – मेधावान्। (२०५८) सिध्मादिभ्यश्च ५।२।९७। लज्वा। सिध्मलः, सिध्मवान्। * वातदन्तबलललाटानामूङ् च *। वातूलः। दन्तूलः। बलूलः। ललाटूलः।

सम्प्रसारणम्' इति वकारस्य सम्प्रसारणे उकारे पूर्वरूपे सस्य षत्वे विदुष्मत्शब्दात् सौ उगित्त्वान्नुमि, हल्ङ्यादिना सुलोपे नान्तोपधादीर्घे संयोगान्तलोपे नलोपे च कृते 'विदुष्मान्' इति।

(२०५७) **प्राणिस्थादात इति**। अदन्तात्प्राणिस्थवाचिनः शब्दात् मत्वर्थे लच् वा स्यादित्यर्थः। **चूडालः** — चूडाऽस्यास्तीति विग्रहे विकल्पेन लच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे सौ सस्य रुत्वे विसर्गे 'चूडालः' इति। पक्षे मतुपि 'मादुपधायाश्चे'ति मस्य वकारे 'चूडावान्' इति।

(२०५८) **सिध्मादिभ्यश्चेति**। मत्वर्थे लज्वा भवतीत्यर्थः।

वस्त्र) में 'शुक्लः गुणः अस्य अस्ति' अर्थ में शुक्ल + मतुप् (मतुप् का प्रकृत वार्तिक से लुक्) = शुक्लः। कृष्णः गुणः अस्य अस्ति (कृष्ण + मतुप्, मतुप् का लुक्) = कृष्णः (काला)।

(२०५७) **पद**—प्राणिस्थात्, आतः, लच्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्राणिस्थवाचक आकारान्त शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से लच् प्रत्यय होता है। चूडालः। चूडावान्। 'प्राणिस्थात्' क्यों कहा? शिखावान् दीपः। **वा०**—प्राणीवाचक शब्द के अङ्ग से ही हो। मेधावान्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०५५) से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' तथा अन्य प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''प्राणिस्थवाची आकारान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में विकल्प से लच् (= ल) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—चूडा अस्य अस्ति (चूडा + लच् = 'ल' विकल्प से, विभक्तिकार्य) = चूडालः। पक्ष में — चूडा + मतुप् (= 'मत्', 'म्' = 'व्' आदेश - 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः', प्रथमा एकवचन में विभक्तिकार्य) = चूडावान् (शिखा वाला)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में प्राणिस्थवाची शब्द का निवेश होने से 'शिखावान्' में लच् प्रत्यय नहीं होता। क्योंकि यहाँ 'शिखा' पद दीपक की लौ का बोधक है।

वा०—उक्त लच् प्रत्यय प्राणी के अङ्गवाची शब्द से ही होता है। अतः मेधावान् (बुद्धिमान्) में लच् प्रत्यय नहीं होता। क्योंकि मेधा प्राणिस्थ होते हुए भी प्राणी का अङ्ग नहीं है।

(२०५८) **पद**—सिध्मादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—लच्, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सिध्मादिगणपठित शब्दों से मत्वर्थ में विकल्प से 'लच्' प्रत्यय होता है। सिध्मलः, सिध्मवान्। **वा०**—वात, दन्त, वल और ललाट शब्द से मत्वर्थ में लच् प्रत्यय और अन्त को ऊङ् आदेश होता है। वातूलः। दन्तूलः। बलूलः। ललाटूलः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०५७) से 'लच्, अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार ''मत्वर्थ की विवक्षा में सिध्मादिगणपठित शब्दों से वैकल्पिक 'लच्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—सिध्मम् अस्य अस्ति (सिध्म + लच् = 'ल्' विकल्प से, विभक्तिकार्य) = सिध्मलः। पक्ष में मतुप् — सिध्म + 'मत्' (= 'म्' = 'व्' आदेश - 'मादुपधायाश्च', विभक्तिकार्य) =

(२०५९) वत्सांसाभ्यां कामबले ५।२।९८ । लज्वा यथासंख्यं कामवति बलवति चार्थे । वत्सलः । अंसलः । **(२०६०) फेनादिलच्च ५।२।९९ ।** चाल्लच् । अन्यतरस्यां ग्रहणं मतुप्समुच्चयार्थमनुवर्तते । फेनिलः, फेनलः, फेनवान् । **(२०६१) लोमादि-पामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ५।२।१०० ।** लोमादिभ्यः शः । लोमशः, लोमवान् ।

(२०५९) **वत्सांसाभ्यामिति** । मत्वर्थे लज्वा स्यादिति शेषः । कामबलशब्दौ तद्वति लाक्षणिकावित्यभिप्रेत्याह — **कामवतीति** ।

(२०६०) **फेनादिलच्चेति**। मत्वर्थे इति शेषः। **चाल्लजिति**। सन्निहितत्वादिति भावः। **फेनिलः** — फेनः अस्त्यस्मिन्निति विग्रहे फेनशब्दात् 'फेनादिलच्चे'ति इलच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे भत्वादकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'फेनिलः' इति । चकाराल्लच्प्रत्यये 'फेनलः' इति । पक्षे मतुपि — 'फेनवान्' इति त्रीणि रूपाणीति ।

सिध्मवान् । **गणसूत्र** - ''सिध्मादिगणपठित शब्दों में वात, दन्त, बल तथा ललाट आदि शब्दों से मतुबर्थ में 'लच्' के साथ प्रकृति के अन्तिम वर्ण को ऊङ् (= ऊ) आदेश भी होता है ।''

उदाहरण—वातः अस्य अस्ति (वात + लच् = 'ल्', 'अ' = 'ऊ', विभक्तिकार्य) = वातूलः । वातरोगी । दन्त + लच् (अ = ऊङ्) = दन्तूलः (दाँत वाला) । इसी प्रकार — बलूलः (बलशाली) । ललाटूलः (बड़े मस्तिष्क वाला) ।

(२०५९) **पद**—वत्सांसाभ्याम्, कामबले । **अनुवृत्ति**—लच्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वत्स और अंस शब्द से क्रमशः कामवान् और बलवान् अर्थ गम्य होने पर लच् प्रत्यय होता है । वत्सलः । अंसलः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०५७) से 'लच्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । अन्य प्राकरणिक एवं आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार ''वत्स और अंस शब्दों से मत्वर्थ में क्रमशः काम और बल अर्थ गम्यमान रहने पर 'लच्' प्रत्यय होता है ।'' काम और बल शब्द यहाँ तद्वान् में लाक्षणिक है ।

उदाहरण—वत्सः अस्य अस्ति (वत्स + लच् = 'ल') वत्सलः (बच्चों पर स्नेह रखने वाला) । अंसौ अस्य स्तः (अंस + लच्) = अंसलः (बलवान्) ।

(२०६०) **पद**—फेनात्, इलच्, च । **अनुवृत्ति**—लच्, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—फेन शब्द से मत्वर्थ में इलच् प्रत्यय होता है । पक्ष में लच् भी । फेनिलः, फेनलः, फेनवान् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०५७) से 'लच् अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से आ रही है । अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार ''प्रथमान्त फेन शब्द से 'अस्य' एवम् 'अस्मिन्' अर्थ में 'इलच्' और 'लच्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं । पक्ष में मतुप् होता है ।''

उदाहरण—फेनः अस्य अस्तीति (फेन + इलच् = 'इल', अन्त्य वर्ण 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = फेनिलः । 'च' ग्रहण से विकल्प से 'लच्' फेन + लच् = 'ल' = फेनलः । पक्ष में फेन + मतुप् (= 'मत्', 'म्' = 'व्' आदेश, विभक्तिकार्य) = फेनवान् (साबुन) ।

रोमशः, रोमवान्। पामादिभ्यो नः। पामनः। * अङ्गात्कल्याणे *। अङ्गना। * लक्ष्म्या अच्च *। लक्ष्मणः। * पिच्छादिभ्य इलच् *। पिच्छिलः, पिच्छवान्। उरसिलः, उरस्वान्।

(२०६२) प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चाभ्यो णः ५।२।१०१। प्राज्ञो व्याकरणे। प्रज्ञा। श्राद्धः।

(२०६१) **लोमादीति**। श, न, इलच् एते त्रिभ्यो गणेभ्यो यथासंख्यं स्युर्मत्वर्थे इति भावः।

(२०६२) **प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः**। प्रज्ञा-श्रद्धा-अर्चा एभ्यो मत्वर्थे णप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **वृत्तेश्चेति**। वृत्तिशब्दान्मत्वर्थे णप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(२०६१) **पद**—लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः, शनेलचः। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—लोमादि शब्दों से मत्वर्थ में विकल्प से 'श' प्रत्यय होता है। पामादि शब्दों से 'न' प्रत्यय होता है और पिच्छादि शब्दों से 'इलच्' प्रत्यय होता है। लोमशः, लोमवान्। रोमशः, रोमवान्। पामनः। **वा०**—अङ्ग शब्द से कल्याण अर्थ में 'न' होता है। अङ्गना। **वा०**—लक्ष्मी शब्द से 'न' प्रत्यय और अकार अन्तादेश होता है। लक्ष्मणः। पिच्छिलः, पिच्छवान्। उरसिलः, उरस्वान्।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। सूत्र में प्रकृतिवाचक तीन पद हैं और तीन प्रत्यय भी निर्दिष्ट हैं। अतः यथासंख्य अन्वय होता है। तदनुसार ''मत्वर्थ में प्रथमान्त लोमादिगणपठित शब्दों से 'श' प्रत्यय, पामादि से 'न' प्रत्यय और पिच्छादि से 'इलच्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं। पक्ष में 'मतुप्' भी होता है।''

उदाहरण—(क) **लोमादि**—लोमानि अस्य सन्ति (लोम + 'श' विकल्प से, विभक्ति-कार्य) = लोमशः। पक्ष में लोम + मतुप् (= 'मत्', 'म्' = 'व्', प्रथमा ए० व० विभक्तिकार्य) = लोमवान् (अधिक लोम वाला)। रोमाणि अस्य सन्ति (रोम + श) = रोमशः। पक्ष में मतुप् — रोमवान् (अधिक रोम वाला)। (ख) **पामादि**—पामा अस्य अस्तीति (पाम + न) = पामनः (अधिक खुजली वाला)।

१. **गणसूत्र**—अङ्ग शब्द से कल्याण अर्थ में 'न' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—अङ्गानि अस्याः सन्ति (अङ्ग + न + टाप् = 'आ', दीर्घ आदि) = अङ्गना (सुन्दर अङ्ग वाली स्त्री)।

२. **ग०सू०**—लक्ष्मी शब्द से मत्वर्थ में 'न' प्रत्यय और अकार अन्तादेश होता है। **उदाहरण**—लक्ष्मीः अस्य अस्ति (लक्ष्मी + 'न', 'ई' = 'अ' आदेश, णत्व) = लक्ष्मणः (सौन्दर्य-युक्त)। (ग) **पिच्छादि**—पिच्छम् अस्य अस्ति (पिच्छ + इलच् = 'इल', 'अ' का लोप, विभक्ति-कार्य) = पिच्छिलः। पक्ष में मतुप् - पिच्छवान् (फिसलने वाला)। उरः अस्य अस्ति (उरस् + इलच् = 'इल') = उरसिलः। पक्ष में मतुप् - उरस्वान् (चौड़े वक्षःस्थल वाला)।

(२०६२) **पद**—प्रज्ञा-श्रद्धाऽर्चाभ्यः, णः। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रज्ञा, श्रद्धा और अर्चा शब्द से मत्वर्थ में 'ण' प्रत्यय होता है। प्राज्ञः, प्राज्ञा। श्राद्धः। आर्चः। **वा०**—वृत्ति शब्द से भी 'ण' प्रत्यय होता है। वार्तः।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''प्रज्ञा, श्रद्धा और अर्चा प्रातिपदिकों से मतुबर्थ में 'ण' (= अ) प्रत्यय होता है।''

आर्चः । *वृत्तेश्च* । वार्तः । (२०६३) तपःसहस्राभ्यां विनीनी ५।२।१०२ । विनीन्योरिकारो नकारपरित्राणार्थः । तपस्वी । सहस्री । (२०६४) अण् च ५।२।१०३ । तापसः । साहस्रः । *ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्* । ज्यौत्स्नः । तामिस्रः ।

(२०६३) **तपःसहस्राभ्यामिति** । तपःसहस्रशब्दाभ्यां क्रमशो मत्वर्थे विनिप्रत्ययः इनि-प्रत्ययश्च भवतीत्यर्थः ।

(२०६४) **अण् चेति** । तपःसहस्राभ्यां मत्वर्थे इति शेषः ।

उदाहरण—प्रज्ञा अस्मिन् अस्ति (प्रज्ञा + ण = 'अ', आदिवृद्धि तथा 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = प्राज्ञः (प्रकृष्ट ज्ञान वाला) । स्त्रीलिङ्ग में 'प्राज्ञा' — टाप् आदि । श्रद्धा अस्य अस्ति (श्रद्धा + ण = 'अ', आदिवृद्धि तथा 'आ' का लोप) = श्राद्धः (श्रद्धा युक्त कार्य) । अर्चा अस्य अस्मिन् वा अस्ति (अर्चा + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, 'आ' का लोप) = आर्चः (पूजा वाला) ।

वा०—वृत्ति से भी मतुबर्थ में 'ण' प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—वृत्तिः अस्य अस्ति (वृत्ति + ण = 'अ', आदिवृद्धि, रपर, 'इ' का लोप) = वार्तः (वृत्ति वाला) ।

(२०६३) **पद**—तपःसहस्राभ्याम्, विनीनी । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तपस् शब्द से मत्वर्थ में 'विनि' प्रत्यय होता है और सहस्र शब्द से इनि प्रत्यय होता है । तपस्वी । सहस्री ।

विमर्श—पूर्ववत् अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार ''तपस् और सहस्र शब्दों से मत्वर्थ में क्रमशः 'विनि' (= विन्) तथा इनि (= इन्) प्रत्यय होते हैं ।'' दोनों प्रत्ययों के इकारान्त होने का फल यह है कि ये प्रत्यय नकारान्त नहीं हैं । अन्यथा 'न्' की इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता ।

उदाहरण—तपः अस्य अस्ति (तपस् + विनि = 'विन्') — तपस्विन् (प्रथमा एकवचन, विभक्तिकार्य) = तपस्वी (तप वाला) । सहस्रम् अस्य अस्ति (सहस्र + इनि = 'इन्', अन्त्य 'अ' का लोप) — सहस्रिन् (विभक्तिकार्य) = सहस्री (हजार कार्षापण वाला) ।

(२०६४) **पद**—अण्, च । **अनुवृत्ति**—तपःसहस्राभ्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तपस् और सहस्र शब्दों से मत्वर्थ में अण् प्रत्यय भी होता है । तापसः । साहस्रः ।
वा०—ज्योत्स्ना आदि शब्दों से मत्वर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०६३) से 'तपःसहस्राभ्याम्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार ''प्रथमान्त तपस् और सहस्र शब्दों से मतुबर्थ में 'अण्' प्रत्यय भी होता है ।''

उदाहरण—तपस् + अण् (= 'अ', आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = तापसः । सहस्र + अण् (= 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = साहस्रः ।

वा०—ज्योत्स्ना और तमिस्रा शब्दों से भी उक्त अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

उदाहरण—ज्योत्स्ना अस्य अस्ति (ज्योत्स्ना + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्य 'आ' का लोप) = ज्यौत्स्नः (शुक्लपक्ष) । तमिस्राः अस्य सन्ति (तमिस्रा + अण्, आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = तामिस्रः (कृष्णपक्ष) ।

(२०६५) सिकताशर्कराभ्यां च ५।२।१०४। सैकतो घटः। शार्करः। **(२०६६) देशे लुबिलचौ च ५।२।१०५।** चादण् मतुप् च। सिकताः सन्त्यस्मिन्देशे सिकताः, सिकतिलः, सैकतः, सिकतावान्। एवं शर्करा इत्यादि। **(२०६७) दन्त उन्नत उरच् ५।२।१०६।** उन्नता दन्ता अस्य दन्तुरः। (२०६८)

(२०६५) **सिकताशर्कराभ्यां चेति**। मत्वर्थे अण् इति शेषः।

(२०६६) **देशे लुबिलचौ चेति**। पूर्वसूत्रविहितस्याणो लुप् इलच् च स्यादित्यर्थः। लुपि – 'सिकता' इति। इलचि – सिकतिल इति।

(२०६७) **दन्त उन्नत इति**। दन्तानामौन्नत्येऽर्थे दन्तशब्दान्मत्वर्थे उरच् स्यादित्यर्थः।

(२०६५) **पद**—सिकता-शर्कराभ्याम्, च। **अनुवृत्ति**—अण्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सिकता और शर्करा शब्द से मत्वर्थ में अण् प्रत्यय होता है। सैकतः। शार्करः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०६४) से 'अण्' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है। तदनुसार "सिकता और शर्करा से मत्वर्थ में अण् (अ) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—सिकताः सन्त्यस्मिन् (सिकता + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सैकतः घटः (बालूयुक्त घड़ा)। शर्कराः सन्ति अस्मिन् (शर्करा + अण्, प्रक्रिया पूर्ववत्) = शार्करः (कंकड़ों वाला)।

(२०६६) **पद**—देशे, लुप्, इलचौ च। **अनुवृत्ति**—सिकताशर्कराभ्याम्, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सिकता और शर्करा से विहित 'अण्' का लुप् विकल्प से होता है. पक्ष में इलच् होता है। चात् पक्ष में अण् और मतुप् भी होते हैं। सिकता। सिकतिलः। सैकतः। सिकतावान्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०६५) से 'सिकताशर्कराभ्याम्' की तथा (२०५७) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार "सिकता और शर्करा शब्दों से देश अर्थ वाच्य होने पर पूर्वसूत्र से विहित अण् का लुप् (लोप) होता है और 'इलच्' प्रत्यय होता है।" साथ ही अण् और मतुप् भी।

उदाहरण—सिकताः सन्त्यस्मिन् (सिकता + अण्, अण् प्रत्यय का विकल्प से लुप् = लोप, विभक्तिकार्य) = सिकताः। सिकता + इलच् (= 'इल', 'आ' का लोप) = सिकतिलः। सिकता + अण् (= 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यलोप) = सैकतः। सिकता + मतुप् = सिकतावान् (बालूवाला देश)। इसी प्रकार 'शर्कराः' इत्यादि।

(२०६७) **पद**—दन्तः, उन्नतः, उरच्। **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दन्त शब्द से मत्वर्थ में उरच् प्रत्यय होता है, दन्तौन्नत्य गम्य रहते।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "दाँतों का औन्नत्य (ऊँचा या बड़ा होना) अर्थ में दन्त शब्द से मत्वर्थ में उरच् (= उर) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—दन्ताः उन्नताः अस्य सन्ति (दन्त + उरच् = 'उर', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = दन्तुरः (जिसके दाँत ऊपर को निकले हुए हों)।

ऊषसुषिमुष्कमधो रः ५।२।१०७ । ऊषरः । सुषिरः । मुष्कोऽण्डः मुष्करः । मधुरः । * **रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्** * । खरः । मुखरः । कुञ्जो हस्तिहनुः । कुञ्जरः । * **नगपांसुपाण्डुभ्यश्च** * । नगरम् । पांसुरः । पाण्डुरः । * **कच्छ्वा ह्रस्वत्वं च** * । कच्छुरः । (२०६९) **द्युद्रुभ्यां मः ५।२।१०८** । द्युमः । द्रुमः । (२०७०)

(२०६८) **ऊषसुषि इति** । ऊष, सुषि, मुष्क, मधु एषां समाहारद्वन्द्वात् पञ्चम्येकवचनम् । एभ्यो मत्वर्थे रप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । **ऊषरः** — ऊषः = क्षारमृत्तिका विशेषोऽस्यास्तीति विग्रहे ऊषशब्दात् रप्रत्यये विभक्तिकार्ये 'ऊषरः' इति ।

(२०६९) **द्युद्रुभ्यामिति** । दिव्शब्दात् द्युशब्दाच्च मत्वर्थे मप्रत्ययः स्यादिति । **द्रुमः** — द्रु (शाखा) अस्यास्तीति विग्रहे 'द्युद्रुभ्यां मः' इति मप्रत्यये प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'द्रुमः' इति ।

(२०६८) **पद**—ऊष-सुषि-मुष्कमधोः, रः । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ऊष, सुषि, मुष्क और मधु शब्द से मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है । ऊषरः । मुष्करः । **वा०**—ख, मुख और कुञ्ज शब्द से मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय कहा जाय । खरः । मुखरः । कुञ्जरः । **वा०**—नग, पांसु और पाण्डु शब्द से भी मत्वर्थ में र प्रत्यय होता है । नगरम् । पांसुरः । पाण्डुरः । **वा०**—कच्छू शब्द से र प्रत्यय और अन्त को ह्रस्व भी होता है । कच्छुरः ।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "ऊष, सुषि, मुष्क तथा मधु शब्दों से मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—ऊषः अस्य अस्ति (ऊष + 'र', विभक्तिकार्य) = ऊषरः (खारी मिट्टी वाला अर्थात् ऊषर) । सुषिः अस्य अस्ति (सुषि + र) = सुषिरः (छिद्र वाला) । मुष्कः अस्य अस्ति (मुष्क + र) = मुष्करः (अण्डकोश वाला) । मधु = माधुर्यम् अस्य अस्ति (मधु + र) = मधुरः (मीठा) ।

१. **वा०**—ख, मुख तथा कुञ्ज शब्दों से भी मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—खं महत्कण्ठविवरम् अस्य अस्ति (ख + र) = खरः (गदहा) । मुखं (निन्दितं) अस्य अस्ति (मुख + र) = मुखरः (व्यर्थ बोलने वाला) । कुञ्जः (अतिशयितः) हनुः अस्य अस्ति (कुञ्ज + र) = कुञ्जरः (हाथी) ।

२. **वा०**—नग, पांसु तथा पाण्डु शब्दों से भी मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—नगाः वृक्षाः सन्त्यस्मिन् (नग + र) = नगरम् (शहर) । पांसुः अस्य अस्ति (पांसु + र) = पांसुरः (धूल वाला) । पाण्डुः अस्य अस्ति (पाण्डु + र) = पाण्डुरः (सफेद वर्ण वाला) ।

३. **वा०**—कच्छू शब्द से मत्वर्थ में र और 'ऊ' को ह्रस्व होता है । **उदाहरण**—कच्छूः = त्वग्रोगविशेषः अस्य अस्ति (कच्छू + र, 'ऊ' = 'उ' — ह्रस्व, विभक्तिकार्य) = कच्छुरः (खाज रोग वाला कुत्ता आदि) ।

(२०६९) **पद**—द्यु-द्रुभ्याम्, मः । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दिव् और द्रु शब्द से मत्वर्थ में म प्रत्यय होता है । द्युमः । द्रुमः ।

विमर्श—सूत्रार्थ स्पष्ट है ।

उदाहरण—द्यौ अस्य अस्ति ('दिव्' के व = 'उ' — 'दिव उत्', इ = 'य्' - 'यण्') — द्यु + 'म' (विभक्तिकार्य) = द्युमः (प्रकाश) । द्रुः = शाखा अस्य अस्ति (द्रुम) = द्रुमः (वृक्ष) ।

केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ५।२।१०९ । प्रकृतेनान्यतरस्यां ग्रहणेन मतुपि सिद्धे पुनर्ग्रहणम् इनिठनोः समावेशार्थम्। केशवः, केशी, केशिकः, केशवान्। *अन्येभ्योऽपि दृश्यते*। मणिवो नागविशेषः। हिरण्यवो निधिविशेषः। *अर्णसो लोपश्च*। अर्णवः। **(२०७१) गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम् ५।२।११० ।** ह्रस्वदीर्घयोर्यणा तन्त्रेण निर्देशः। गाण्डीवम्, गाण्डिवम् अर्जुनस्य धनुः। अजगवं पिनाकः। (२०७२)

(२०७०) **केशाद्वोऽन्यतरस्यामिति**। केशशब्दान्मत्वर्थे वप्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः। **केशवः** — केशाः सन्त्यस्येति विग्रहे केशशब्दात् 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पेन वप्रत्यये सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'केशवः' इति। पक्षे इनि-ठनौ — 'केशी', 'केशिकः' इति। पक्षे मतुपि कृते 'केशवान्' इति पञ्चरूपाणि।

(२०७१) **गाण्ड्यजगादिति**। गाण्डिशब्दात् गाण्डीशब्दात् अजगशब्दाच्च मत्वर्थे संज्ञायां वप्रत्ययो भवतीत्यर्थः।

(२०७०) **पद**—केशात्, वः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—केश शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से 'व' प्रत्यय होता है। अनुवर्तमान 'अन्यतरस्यां' से ही मतुप् सिद्ध है पुनः 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण होने से 'इन्' और 'ठन्' का भी समावेश हो जाता है। केशवः, केशी, केशिकः, केशवान्। **वा०**—अन्य शब्दों से भी 'व' का प्रयोग मिलता है। मणिवः। हिरण्यवः। **वा०**—अर्णस् शब्द के अन्तिम वर्ण का लोप और 'व' होता है। अर्णवः।

विमर्श—'प्राणिस्थादातो०' (२०५७) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "केश शब्द से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय विकल्प से होता है, पक्ष में 'मतुप्'। पुनः 'अन्यतरस्याम्' के ग्रहण से पक्ष में 'इन्' और 'ठन्' (अत इनिठनौ) भी होते हैं।"

उदाहरण—केशाः सन्त्यस्मिन् (केश + 'व' विकल्प से) = केशवः। पक्ष में — केश + इन् (अन्त्य 'अ' का लोप) - केशिन् (प्रथमा ए० व० विभक्तिकार्य) = केशी। ठन् होने पर (केश + ठन् = 'ठ', 'ठ' = 'इक' आदेश, अन्त्यलोप) = केशिकः। पक्ष में — केश + मतुप् (= 'मत्', 'म्' = 'व्', विभक्तिकार्य) = केशवान् (केशों वाला)।

१. **वा०**—केश के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी मतुबर्थ में 'व' प्रत्यय दिखायी देता है। **उदाहरण**—मणिः अस्य अस्तीति (मणि + व) = मणिवः (मणि वाला सर्प-विशेष)। हिरण्यम् अस्य अस्ति (हिरण्य + व) = हिरण्यवः (सुवर्णवाला निधि-विशेष)।

२. **वा०**—अर्णस् शब्द से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय और अन्तिम वर्ण का लोप होता है।

उदाहरण—अर्णांसि सन्त्यस्मिन् (अर्णस् + 'व', 'स्' का लोप) = अर्णवः (लहरों वाला समुद्र)।

(२०७१) **पद**—गाण्ड्यजगात्, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—वः, तदस्त्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गाण्डी तथा गाण्डि शब्द से और अजग शब्द से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय होता है, संज्ञा गम्य होने पर। गाण्डीवम्। अजगवम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०७०) से विधेय 'वः' की अनुवृत्ति आती है। अन्य उल्लिखित पदों की अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। सूत्र में दीर्घान्त 'गाण्डी' तथा ह्रस्वान्त 'गाण्डि' का एकतन्त्र

काण्डाण्डादीरन्नीरचौ ५।२।१११ । काण्डीरः । आण्डीरः । (२०७३) **रजः-कृष्यासुतिपरिषदो वलच् ५।२।११२** । रजस्वला स्त्री । कृषीवलः । 'वले' इति दीर्घः । आसुतीवलः शौण्डिकः । परिषद्वलः । पर्षदिति पाठान्तरम् । पर्षद्वलम् । * अन्येभ्योऽपि दृश्यते * । भ्रातृवलः । पुत्रवलः । (२०७४) **दन्तशिखात्संज्ञायाम्**

(२०७२) **काण्डाण्डादीरन्नीरचौ**। काण्ड-आण्डशब्दाभ्याम् ईरन्-ईरच्प्रत्ययौ मत्वर्थे स्त इत्यर्थः ।

(२०७३) **रजःकृष्यासुतीति** । एभ्यो वलच् स्यान्मत्वर्थे इत्यर्थः ।

से निर्देश है । तदनुसार ''गाण्डी तथा गाण्डि और अजग शब्दों से संज्ञा गम्यमान होने पर मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—गाण्डिः अथवा गाण्डी (ग्रन्थिः) अस्य अस्ति (गाण्डि + 'व' अथवा गाण्डी + व) = गाण्डिवम्, गाण्डीवम् (गाँठवाला, अर्जुन का प्रसिद्ध धनुष) । अजगः अस्ति शरत्वेन अस्मिन् (अजग + व) = अजगवम् (शिव का धनुष) ।

(२०७२) **पद**—काण्डाण्डात्, ईरन्नीरचौ । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—काण्ड और आण्ड शब्दों से मत्वर्थ में 'ईरन्' और 'ईरच्' प्रत्यय होते हैं । काण्डीरः । आण्डीरः ।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । अतः ''काण्ड तथा आण्ड शब्दों से मत्वर्थ में क्रमशः 'ईरन्' तथा 'ईरच्' प्रत्यय होते हैं ।''

उदाहरण—काण्डम् अस्य अस्ति (काण्ड + ईरन् = 'ईर', अन्त्यवर्ण 'अ' का लोप, विभक्ति-कार्य) = काण्डीरः (बाण बाला) । आण्डम् अस्य अस्ति (आण्ड + ईरच् = ईर, अन्त्यलोप) = आण्डीरः (अंडों वाला) ।

(२०७३) **पद**—रजःकृष्यासुतिपरिषदः, वलच् । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—रजस्, कृषि, आसुति और परिषद् शब्दों से मत्वर्थ में वलच् प्रत्यय होता है । रजस्वला । कृषीवलः । आसुतीवलः । परिषद्वलः । **वा०**—अन्य शब्दों से भी मत्वर्थ में वलच् होता है । भ्रातृवलः इत्यादि ।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक पदों की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार ''रजस्, कृषि, आसुति तथा परिषद् शब्दों से मत्वर्थ में वलच् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—रजः अस्याः अस्ति (रजस् + वलच् = 'वल', स्त्रीलिङ्ग में टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = रजस्वला (ऋतुमती स्त्री) । कृषिः अस्य अस्ति (कृषि + वलच् = 'वल', इ = 'ई' — दीर्घ — 'वले', विभक्तिकार्य) = कृषीवलः (खेतीवाला, किसान) । आसुतिः अस्य अस्मिन् वा अस्ति (आसुति + वलच् = वल, पूर्ववत् दीर्घ आदि) = आसुतीवलः (शराब बेचने व बनाने वाला) । परिषदः अस्य सन्ति (परिषद् + वलच्) = परिषद्वलः (विशिष्ट सभा वाला - राजा) । पर्षद् पाठान्तर होने पर - पर्षद्वलः ।

वा०—उक्त के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी वलच् प्रत्यय देखा जाता है । **उदाहरण**—भ्रातरः सन्ति अस्य (भ्रातृ + वलच्) = भ्रातृवलः (भाइयों वाला) । पुत्राः सन्ति अस्य (पुत्र + वलच्) = पुत्रवलः (पुत्रों वाला) । शत्रवः सन्ति अस्य (शत्रु + वलच्) = शत्रुवलः (शत्रुओं वाला) ।

५।२।११३ । दन्तावलो हस्ती । शिखावलः केकी । (२०७५) अत इनिठनौ ५।२।११५ । दण्डी, दण्डिकः । (२०७६) व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६ । व्रीही, व्रीहिकः । (२०७७) तुन्दादिभ्य इलच्च ५।२।११७ । चादिनिठनौ मतुप् च । तुन्दिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान् । उदर पिचण्ड यव व्रीहि इति तुन्दादिः ।

(२०७४) **दन्तशिखादिति** । दन्तशब्दात् शिखाशब्दाच्च वलच्प्रत्ययः स्यात् संज्ञायां मत्वर्थे । **दन्तावलो हस्ती** — दन्ता अस्य सन्तीति विग्रहे दन्तशब्दात् 'दन्तशिखात्संज्ञायाम्' इत्यनेन वलचि अनुबन्धलोपे 'वले' इति अकारस्य दीर्घे विभक्तिकार्ये 'दन्तावलः' इति ।

(२०७५) **अत इनिठनौ** । अदन्तान्मत्वर्थे इनि-ठनौ स्तः ।

(२०७६) **व्रीह्यादिभ्यश्चेति** । इनिठनौ मत्वर्थे इति शेषः ।

(२०७७) **तुन्दादिभ्य इति** । मतुबर्थे इति शेषः ।

(२०७४) **पद**—दन्तशिखात्, संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—वलच्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दन्त और शिखा शब्दों से मत्वर्थ में संज्ञा गम्य होने पर 'वलच्' होता है । दन्तावलः । शिखावलः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०७३) से 'वलच्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार "दन्त और शिखा शब्दों से संज्ञा गम्यमान होने पर मत्वर्थ में वलच् = 'वल' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—दन्ताः सन्ति अस्य (दन्त + वलच् = 'वल', अ = 'आ' - दीर्घ - 'वले') = दन्तावलः हस्ती (बड़े दाँतों वाला हाथी) । शिखा अस्य अस्ति (शिखा + वलच्) = शिखावलः केकी (चोटी वाला मोर) ।

(२०७५) **पद**—अतः, इनि-ठनौ । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आदन्त शब्द से मत्वर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं । दण्डी, दण्डिकः ।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "प्रथमान्त अकारान्त शब्दों से मत्वर्थ में 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय होते हैं ।"

उदाहरण—दण्डः अस्य अस्ति (दण्ड + इनि = इन्, अन्त्यवर्ण 'अ' का लोप) - दण्डिन् (प्रथमा ए० व० विभक्तिकार्य) = दण्डी (दण्डधारी) । दण्ड + ठन् (= ठ, ठ = इक, अन्त्यवर्ण-लोप) = दण्डिकः ।

(२०७६) **पद**—व्रीह्यादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—इनिठनौ, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—व्रीहि आदि शब्दों से मत्वर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं । व्रीही, व्रीहिकः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०७५) से 'इनि-ठनौ' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "व्रीहि आदि शब्दों से भी मत्वर्थ में 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय होते हैं ।"

उदाहरण—व्रीहयः अस्य सन्ति (व्रीहि + इनि = 'इन्', 'इ' का लोप) — व्रीहिन् (प्रथमा ए० व०) = व्रीही । व्रीहि + ठन् (= 'ठ', ठ = इक, अन्त्यलोप) = व्रीहिकः (धानवाला) ।

(२०७७) **पद**—तुदादिभ्यः, इलच्, च । **अनुवृत्ति**—इनिठनौ, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्य-स्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तुन्द आदि शब्दों से मत्वर्थ में इलच् प्रत्यय होता है । इनि, ठन् और मतुप् भी

(२०७८) रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ५।२।१२०। आहतं रूपमस्यास्तीति रूप्यः कार्षापणः। प्रशस्तं रूप्यमस्यास्तीति रूप्यो गौः। ⁕अन्येभ्योऽपि दृश्यते⁕। हिम्याः पर्वताः। गुण्या ब्राह्मणाः। **(२०७९) अस्मायामेधास्रजो विनिः ५।२।१२१।** यशस्वी, यशस्वान्। मायावी, मायावान्। व्रीह्यादिपाठात् मायी, मायिकः। स्रग्वी। ⁕शृङ्गवृन्दाभ्यामारन्⁕। शृङ्गारकः। वृन्दारकः। ⁕फलबर्हाभ्यामिनच्⁕। फलिनः।

(२०७८) **रूपादाहत इति**। आहते प्रशंसायां च गम्ये मतुबर्थे रूपशब्दात् यप् स्यादित्यर्थः।

(२०७९) **अस्माया इति**। अस् = असन्तात् माया-मेधा-स्रज्शब्देभ्यश्च विनिः स्यान्मतुबर्थे। अन्यतरस्यां ग्रहणमिह सम्बद्ध्यते, 'यशस्वान्' इति भाष्योदाहरणात्। **यशस्वी** —

होते हैं। तुन्दिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान्। तुन्द, उदर, पिचण्ड, यव तथा व्रीहि शब्द तुन्दादिगण के अन्तर्गत आते हैं।

विमर्श—सूत्र में 'च' का पाठ होने से पूर्वसूत्र (२०७५) से इनिठनौ की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आने से पक्ष में 'मतुप्' भी होता है। इस प्रकार "तुन्दादिगणपठित शब्दों से मत्वर्थ में इलच् (= इल), इनि (= इन्), 'ठन्' तथा मतुप् (मत्) प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—तुन्दम् अस्य अस्ति (तुन्द + इलच् = 'इल', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = तुन्दिलः। तुन्द + इनि (= इन्, अन्त्यवर्णलोप) — तुन्दिन् (प्रथमा ए० व०) = तुन्दी। तुन्द + ठन् (= 'ठ', ठ = 'इक' आदेश, 'अ' का लोप) = तुन्दिकः। तुन्द + मतुप् (= मत्, 'म्' = 'व्', प्रथमा ए० व०) = तुन्दवान् (तोंद वाला)। इस प्रकार चार रूप बनते हैं।

(२०७८) **पद**—रूपात्, आहतप्रशंसयोः, यप्। **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—आहत और प्रशंसा अर्थ में रूप शब्द से यप् प्रत्यय होता है और मतुप् भी होता है। रूप्यः कार्षापणः। रूप्यो गौः। **वा०**—अन्य शब्दों से भी यप् दिखायी देता है। हिम्याः। गुण्याः।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "आहत और प्रशंसा अर्थ में रूप प्रातिपदिक से मत्वर्थ में यप् (= य) प्रत्यय होता है।" साँचे में ठोंककर (ढाल कर) रूप निखार कर बनाये गये सिक्के 'आहत' कहे जाते हैं।

उदाहरण—आहतं रूपम् अस्य (रूप + यप् = 'य', भसंज्ञा, अन्त्यवर्ण 'अ' का लोप) = रूप्यः कार्षापणः (साँचे में ढालकर बनाया गया कार्षापण)। प्रशस्तं रूपमस्य (रूप + यप् = 'य', अन्त्यवर्णलोप) = रूप्यः गौः (प्रशंसित रूप वाला बैल)।

वा०—रूप के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी 'यप्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—हिम् + यप् (= य, अन्त्यलोप) = हिम्याः पर्वताः (बर्फ-बहुल पर्वत)। गुण + यप् (= य, अन्त्यलोप) = गुण्याः ब्राह्मणाः (गुणों से युक्त ब्राह्मण)।

(२०७९) **पद**—अस्माया-मेधा-स्रजः, विनिः। **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—असन्त तथा माया, मेधा और स्रज् शब्दों से विनि प्रत्यय होता है। यशस्वी, यशस्वान्। मायावी, मायावान्। व्रीह्यादि गण में पाठ होने से इनि और ठन्। मायी, मायिकः। **वा०**—शृङ्ग और वृन्द शब्द से आरकन् प्रत्यय होता है। शृङ्गारकः। वृन्दारकः। **वा०** - फल और

बर्हिणः । *हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम्* । हृदयालुः, हृदयी, हृदयिकः, हृदयवान् । *शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तदसहने* । शीतं न सहते शीतालुः । उष्णालुः । तृप्रः पुरोडाशः, तं न सहते तृप्रालुः । *तप्पर्वमरुद्भ्याम्* । पर्वतः । मरुत्तः । (२०८०) ऊर्णाया

यशोऽस्यास्तीति यशस्शब्दात् विनि, विभक्तिकार्ये 'यशस्वी' इति । पक्षे मतुपि – 'यशस्वान्' इति । 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वात्पदत्वाभावेन रुत्वन्नेति भावः ।

बर्ह शब्द से इनच् प्रत्यय होता है । फलिनः । बर्हिणः । **वा०**—हृदय शब्द से विकल्प से आलु प्रत्यय होता है, पक्ष में इनि, ठन् और मतुप् भी होता है । हृदयालुः, हृदयी, हृदयिकः, हृदयवान् । **वा०**—शीत, उष्ण और तृप्र शब्दों से असहन अर्थ में आलु प्रत्यय होता है । शीतालुः । उष्णालुः । तृप्रालुः । **वा०**—पर्व और मरुत् शब्द से तप् प्रत्यय होता है । पर्वतः । मरुत्तः ।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । सूत्रस्थ 'अस्' पद असन्त का बोधक है । तदनुसार ''अस् अन्त वाले शब्दों से तथा माया, मेधा एवं स्रज् शब्दों से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है ।'' 'विनि' में नकारोत्तरवर्ती इकार उच्चारणार्थ है ।

उदाहरण—यशः अस्य अस्ति (यशस् + विनि = 'विन्' — 'अस्मायामेधा०', 'तसौ मत्वर्थे' से भसंज्ञा होने के कारण रुत्व नहीं होता) — यशस्विन् (प्रथमा एकवचन विभक्तिकार्य) = यशस्वी । पक्ष में मतुप् का समुच्चय होने पर — यशस् + मतुप् (= 'मत्', 'म्' = 'व्', प्रातिपदिकसंज्ञा सु = स्, नुम् आगम, उपधादीर्घ, सुलोप, संयोगान्तलोप) = यशस्वान् । माया अस्य अस्ति (माया + विन्, विभक्तिकार्य) = मायावी । पक्ष में – माया + इनि (= 'इन्' - 'व्रीह्यादिभ्यश्च', 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = मायी । ठन् होने पर — माया + ठन् (= 'ठ', ठ = इक, 'आ' का लोप, विभक्ति-कार्य) = मायिकः ।

१. **वा०**—शृङ्ग तथा वृन्दारक शब्दों से मत्वर्थ में 'आरकन्' प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—फलम् अस्य अस्ति (शृङ्ग + आरकन् = 'आरक', अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = शृङ्गारकः (सींग वाला) । वृन्दम् अस्य अस्ति (वृन्द + आरक, विभक्तिकार्य) = वृन्दारकः (झुण्ड वाला) ।

२. **वा०**—फल और बर्ह शब्दों से इनच् प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—फलम् अस्य अस्ति (फल + इनच् = इन्, विभक्तिकार्य) = फलिनः (फल वाला) । बर्हम् अस्य अस्ति (बर्ह + इनच् = इन्, अन्त्यवर्णलोप, णत्व) = बर्हिणः (पूँछ वाला, मोर) ।

३. **वा०**—हृदय शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से आलु प्रत्यय होता है । अतः पक्ष में यथाप्राप्त इनि, ठन् तथा मतुप् प्रत्यय भी होते हैं । **उदाहरण**—हृदयम् अस्य अस्ति (हृदय + आलुच् = 'आलु' विकल्प से, विभक्तिकार्य) = हृदयालुः । पक्ष में हृदय + इनि (= इन्, अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = हृदयी । ठन् पक्ष में — हृदय + ठन् (= ठ = इक, अन्त्यलोप) = हृदयिकः (प्रशस्त हृदय वाला) । मतुप् होने पर — हृदयवान् ।

४. **वा०**—असहन अर्थ में द्वितीयान्त शीत, उष्ण तथा तृप्र शब्दों से आलु प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—शीतं न सहते (शीत + आलु) = शीतालुः (जो ठण्ड को सहन न कर सके) । उष्णं न सहते (उष्ण + आलुः) = उष्णालुः (जो गरम न सह सके) । तृप्रं = पुरोडाशं कष्टं वा न सहते (तृप्र + आलुः) = तृप्रालुः (पुरोडाश या कष्ट न सहन करने वाला) ।

५. **वा०**—मत्वर्थ में पर्व और मरुत् शब्दों से तप् (= त) प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—पर्वाणि अस्य सन्ति (पर्वन् + तप् = 'त', 'न्' का लोप, विभक्तिकार्य) = पर्वतः (पहाड़) । मरुतः अस्य सन्ति (मरुत् + तप् = 'त', वि० कार्य) = मरुत्तः (एक राजा) ।

युस् ५।२।१२३ । ऊर्णायुः । (२०८१) वाचो ग्मिनिः ५।२।१२४ । वाग्मी । (२०८२) आलजाटचौ बहुभाषिणि ५।२।१२५ । * कुत्सित इति वक्तव्यम् * । कुत्सितं बहु भाषते – वाचालः, वाचाटः । यस्तु सम्यग्बहु भाषते स वाग्मी इत्येव । (२०८३) स्वामिन्नैश्वर्ये ५।२।१२६ । ऐश्वर्यवाचकान् स्वशब्दान्मत्वर्थे आमिनच् ।

(२०८०) **ऊर्णाया युस्** । ऊर्णाशब्दान्मत्वर्थे युस् स्यादित्यर्थः ।

(२०८१) **वाचो ग्मिनिः** । मत्वर्थे इति शेषः ।

(२०८२) **आलजाटचौ** । वाक्शब्दात् आलच्, आटच् च बहुभाषित्वे गम्ये इति ।

(२०८३) **स्वामिन्नैश्वर्ये** । 'ऐश्वर्ये' इति प्रकृतिविशेषणमित्यभिप्रेत्याह — **ऐश्वर्यवाचकादिति** । आमिनच् इति । निपात्यत इति शेषः ।

(२०८०) **पद**—ऊर्णायाः युस् । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ऊर्णा शब्द से युस् प्रत्यय होता है । ऊर्णायुः ।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार "मत्वर्थ में ऊर्णा शब्द से युस् (= यु) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—ऊर्णाः सन्ति अस्य (ऊर्णा + युस् = 'यु', विभक्तिकार्य) = ऊर्णायुः (ऊन वाला) । यहाँ 'सिति च' से प्राप्त भसंज्ञा का 'तसौ मत्वर्थे' से बाध होकर पद संज्ञा होने से 'आ' का लोप नहीं होता ।

(२०८१) **पद**—वाचः, ग्मिनिः । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वाच् शब्द से ग्मिनि प्रत्यय होता है । वाग्मी ।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "प्रथमान्त वाच् शब्द से मत्वर्थ में ग्मिनि (ग्मिन्) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—वाक् अस्य अस्ति (वाच् + ग्मिनि = 'ग्मिन्', 'च्' = 'क्' - कुत्व, 'क्' = 'ग्' - जश्त्व, विभक्तिकार्य) = वाग्मी (बोलने की सामर्थ्य वाला) ।

(२०८२) **पद**—आलजाटचौ, बहुभाषिणि । **अनुवृत्ति**—वाचः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ एवं विमर्श—पूर्वसूत्र (२०८१) से 'वाचः' पद की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । अतः "वाच् शब्द से मत्वर्थ में 'बहुत बोलने वाला' अर्थ में 'आलच्' और 'आटच्' प्रत्यय होते हैं ।"

वा०—कुत्सित अर्थात् निन्दा अर्थ गम्यमान होने पर ही उक्त प्रत्यय होते हैं ।

उदाहरण—कुत्सितं बहु भाषते (वाच् + आलच् = 'आल') = वाचालः । वाच् + आटच् = 'आट' = वाचाटः (व्यर्थ बकवास करने वाला) । जो सम्यग् बहुभाषी हो वह 'वाग्मी' कहलाता है ।

(२०८३) **पद**—स्वामिन्, ऐश्वर्ये । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ऐश्वर्य अर्थ में 'स्वामिन्' निपातन होता है । स्वामी ।

विमर्श—पूर्ववत् अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । अतः "ऐश्वर्य अर्थ में 'स्वामिन्' निपातन होता है । अर्थात् ऐश्वर्यवाचक स्व शब्द से 'आमिन्' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—स्वम् = ऐश्वर्यम् अस्य अस्ति (स्व + आमिन्, अन्त्यवर्णलोप, विभक्त्यादि कार्य) = स्वामी (नियन्ता) ।

स्वामी। (२०८४) अर्शआदिभ्योऽच् ५।२।१२७। अर्शांसि अस्य विद्यन्ते अर्शसः। आकृतिगणोऽयम्। (२०८५) वातातीसाराभ्यां कुक् च ५।२।१२९। चादिनिः। वातकी। अतीसारकी। *पिशाचाच्च*। पिशाचकी। (२०८६) हस्ताज्जातौ ५।२।१३३। हस्ती। (२०८७) वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ५।२।१३४।

(२०८४) **अर्शआदिभ्य इति**। मतुबर्थे इति शेषः।

(२०८५) **वातातीसाराभ्यामिति**। वात-अतीसारशब्दाभ्यां मत्वर्थे इनिप्रत्ययः स्यात् प्रकृतेः कुकागमश्चेत्यर्थः।

(२०८६) **हस्ताज्जातौ**। हस्तात् मत्वर्थे इनिः स्यात्समुदायेन जातौ गम्यमानायामित्यर्थः।

(२०८७) **वर्णादिति**। वर्णशब्दान्मत्वर्थे इनिप्रत्ययः स्यात् ब्रह्मचारिणि गम्ये। **वर्णी** —

(२०८४) **पद**—अर्शआदिभ्यः, अच्। **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अर्शस्‌गणपठित शब्दों से मत्वर्थ में अच् प्रत्यय होता है। अर्शसः। यह आकृतिगण है।

विमर्श—पूर्ववत् अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "अर्शस् आदि गणपठित शब्दों से मत्वर्थ में अच् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—अर्शांसि अस्य सन्ति (अर्शस् + अच् = 'अ', विभक्तिकार्य) = अर्शसः (बवासीर रोग वाला)।

(२०८५) **पद**—वातातीसाराभ्याम्, कुक्, च। **अनुवृत्ति**—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वात और अतिसार शब्दों से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है और 'कुक्' का आगम होता है। वातकी। अतिसारकी। **वा०**—पिशाच शब्द से भी इनि प्रत्यय और कुक् का आगम होता है। पिशाचकी।

विमर्श—'द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः' (५।२।१२८) से 'इनिः' की अनुवृत्ति आ रही है। उसके साहचर्य से यहाँ कुक् आगम का भी विधान किया गया है। तदनुसार "मत्वर्थ में वात और अतिसार शब्दों से इनि प्रत्यय होता है और कुक् = 'क्' का आगम होता है।"

उदाहरण—वातः अस्य अस्ति (वात + इनि = 'इन्' तथा कुक् = 'क्' का आगम 'वात' का अन्तावयव, विभक्तिकार्य) = वातकी (वात रोग वाला)। अतिसारः अस्य अस्ति (अतिसार + क् + इन्, प्रथमा ए० व० विभक्तिकार्य) = अतिसारकी (अतिसार = विरेचन रोग वाला)।

वा०—पिशाच शब्द से भी इनि प्रत्यय और कुक् का आगम होता है।

उदाहरण—पिशाचाः अस्य सन्ति (पिशाच + क् + इन्) = पिशाचकी (पिशाचों वाले)।

(२०८६) **पद**—हस्तात्, जातौ। **अनुवृत्ति**—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जाति गम्य रहने पर हस्त शब्द से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है। हस्ती।

विमर्श—पूर्ववत् 'इनिः' तथा अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अतः "हस्त शब्द से जाति वाच्य होने पर मत्वर्थ में इनि (= इन्) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—हस्तः अस्य अस्ति (हस्त + इनि = इन्, अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = हस्ती (हाथी)। यहाँ हस्त शब्द का प्रयोग 'हाथी की सूँड' के लिए किया गया है।

(२०८७) **पद**—वर्णात्, ब्रह्मचारिणि। **अनुवृत्ति**—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

वर्णी ।(२०८८) कंशंभ्यां वभयुस्तितुतयसः ५।२।१३८ । कमित्युदकसुखयोः । शमिति सुखे । आभ्यां सप्त प्रत्ययाः स्युः । युस्यसोः सकारः पदत्वार्थः । कंवः, कंभः, कंयुः, कंतिः, कंतुः, कंतः, कंयः । एवं शंव इत्यादि । **(२०८९) तुन्दि-**

वर्णोऽस्यास्तीति विग्रहे वर्णशब्दात् 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इत्यनेन इनिप्रत्यये अनुबन्धलोपे भत्वादकारलोपे 'वर्णिन्' इति जाते, सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे नान्तोपधादीर्घे नलोपे च 'वर्णी' इति ।

(२०८८) **कंशंभ्यामिति** । कंशब्दात् शंशब्दाच्च ब-भ-युस्-ति-तु-त-यस् एते सप्त प्रत्ययाः स्युः मत्वर्थे ।

(२०८९) **तुन्दिवलिवटेर्भः** । तुन्दि-वलि-वटि एभ्यो भप्रत्ययः स्यान्मत्वर्थे ।

मूलार्थ—वर्ण शब्द से ब्रह्मचारी गम्य रहते मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है । वर्णी ।

विमर्श—पूर्ववत् 'इनिः' आदि की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार ''वर्ण शब्द से ब्रह्मचारी वाच्य होने पर मत्वर्थ में इनि (= इन्) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—वर्णः अस्य अस्ति (वर्ण + इनि = इन्, प्रक्रिया उक्तवत्) = वर्णी (ब्रह्मचर्य से युक्त) ।

(२०८८) **पद**—कंशंभ्याम्, वभयुस्तितुतयसः । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कम् और शम् शब्दों से मत्वर्थ में व, भ, युस्, ति, तु, त और यस् प्रत्यय होते हैं । 'कम्' शब्द का अर्थ - जल और सुख है । इन दोनों से उक्त सात प्रत्यय होते हैं । युस् और यस् का सकार पद संज्ञा के लिए है । कंवः, कंभः, कंयुः, कंतिः, कंतुः, कंतः, कंयः । इसी प्रकार शंवः इत्यादि ।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही है । तदनुसार ''जल एवं सुख-वाचक 'कम्' तथा सुखवाचक शम् शब्द से मत्वर्थ में व, भ, युस्, ति, तु, त तथा यस् - ये सात प्रत्यय होते हैं ।'' युस् तथा यस् प्रत्ययों में सकार 'सिति च' से पदसंज्ञा के लिए है । अतः पदसंज्ञा होकर 'म्' को अनुस्वार हो जाता है ।

उदाहरण—कम् अस्य अस्ति (कम् + व, म् = — अनुस्वार, विभक्तिकार्य) = कंवः । कम् + भ (अनुस्वार) = कंभः । कम् + युस् (अनुस्वार) = कंयुः । कम् + ति = कंतिः । कम् + तु (अनुस्वार) = कंतुः । कम् + त = कंतः । कम् + य = कंयः (जल या सुखवाला) । इसी प्रकार 'शम् अस्य अस्ति' अर्थ में 'शंवः' आदि सात रूप बनते हैं ।

(२०८९) **पद**—तुन्दिवलिवटेः, भः । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

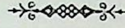
मूलार्थ—तुन्दि, वलि और वटि शब्दों से मत्वर्थ में 'भ' प्रत्यय होता है । तुन्दिभः । वलिभः । वटिभः ।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार ''तुन्दि, वलि तथा वटि शब्दों से मत्वर्थ में 'भ' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—तुन्दिः अस्य अस्ति (तुन्दि + भ, विभक्तिकार्य) = तुन्दिभः । वलयः अस्य सन्ति (वलि + भ) = वलिभः (झुर्रियों वाला) । वटिः अस्य अस्ति (वटि + भ) = वटिभः (वाटी वाला) ।

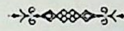
वलिवटेर्भः ५।२।१३९ ।तुन्दिभः ।वलिभः ।वटिभः ।(२०९०) **अहंशुभमोर्युस् ५।२।१४०** । अहंयुः, अहङ्कारवान् । शुभंयुः, शुभान्वितः ।

इति मत्वर्थीयप्रकरणम् ।



(२०९०) **अहमिति** । अहमिति मान्तमव्ययमहङ्कारे शुभमिति शुभे ताभ्यां मत्वर्थे युस् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । **शुभंयुरिति** । शुभमस्यास्तीति विग्रहे 'शुभम्'शब्दात् 'अहंशुभमोर्युस्' इति युस्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे मस्यानुस्वारे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'शुभंयुः' इति ।

इति मत्वर्थीयप्रकरणम् ।



(२०९०) **पद**—अहंशुभमोः, युस् । **अनुवृत्ति**—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अहम् और शुभम् से युस् प्रत्यय होता है । अहंयुः अर्थात् अहङ्कारवान् । शुभंयुः अर्थात् शुभान्वित ।

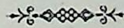
विमर्श—अहम् और शुभम् अव्ययसंज्ञक हैं । अहङ्कार अर्थ में 'अहम्' तथा कल्याण अर्थ में 'शुभम्' का प्रयोग होता है । इस प्रकार ''अहम् तथा शुभम् अव्ययों से मत्वर्थ में युस् प्रत्यय होता है ।'' यहाँ 'युस्' में 'स्' की इत्संज्ञा होने से 'सिति च' से पद संज्ञा होती है ।

उदाहरण—अहम् अस्य अस्ति (अहम् + युस् = यु, अनुस्वार, विभक्तिकार्य) = अहंयुः (अहङ्कारी) । शुभम् अस्य अस्ति (शुभम् + युस् = यु, अनुस्वार) = शुभंयुः (कल्याणवाला) ।

पञ्चमाध्याय के द्वितीय पाद में वर्णित प्रत्ययों का मत्वर्थीय प्रकरण समाप्त ।

पञ्चमाध्याय के तृतीय पाद का प्रकरण आरम्भ होता है । इसमें विभक्तिसंज्ञक प्रत्ययों का विधान किया गया है । ये प्रत्यय स्वार्थिक हैं अर्थात् प्रकृतिवाचक शब्द के अर्थ को अभिलक्षित कर विधान किये जाते हैं ।

मत्वर्थीय प्रकरण समाप्त।



अथ प्राग्दिशीयप्रकरणम्

(२०९१) प्राग् दिशो विभक्तिः ५।३।१ । 'दिक्शब्देभ्य' इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसंज्ञाः स्युः । अथ स्वार्थिकप्रत्ययाः । **(२०९२) किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ५।३।२ ।** किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते । **(२०९३) पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७ ।** पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल्

(२०९१) **प्राग्दिशो विभक्तिः** । दिक्पदेनात्र तद्घटितं सूत्रं विवक्षितम् । तदाह — **दिक्शब्देभ्य इत्यादि** । विभक्तिसंज्ञायाः फलन्तु 'न विभक्तौ तुस्माः' इति निषेधः त्यदाद्यत्वं चेति ।

(२०९२) **किं सर्वनाम इति** । 'अद्व्यादिभ्यः' इतिच्छेदः । प्राग्दिश इत्यनुवर्तते । तदाह — **प्राग्दिशोऽधिक्रियत इति** । सर्वनामत्वेऽपि द्व्यादिनिषेधात् किमः पृथग्ग्रहणम् ।

(२०९३) **पञ्चम्यास्तसिल्** । 'किंसर्वनामत्वेऽपि' इत्यनुवर्तते । अत आह — **किमादिभ्य इति** ।

(२०९१) **पद**—प्राक्, दिशः, विभक्तिः । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—'दिक्शब्देभ्यः०' सूत्र से पूर्व कहे जाने वाले प्रत्यय विभक्तिसंज्ञक होते हैं । ये प्रत्यय स्वार्थिक कहे जाते हैं ।

विमर्श—प्राग्दिशीय प्रकरण के आरम्भ में उस प्रकरण की सीमा बताने वाले शब्द का सूत्र में उल्लेख किया गया है । तदनुसार "दिक्शब्देभ्यः पञ्चमीसप्तमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः" (५।३।२७) से पूर्व तक जितने प्रत्यय कहे गये हैं, उनकी विभक्तिसंज्ञा होती है ।" इन प्रत्ययों का कोई अर्थ निर्देश न होने से उन्हें स्वार्थिक प्रत्यय कहा जाता है ।

(२०९२) **पद**—किंसर्वनामबहुभ्यः, अद्व्यादिभ्यः । **अनुवृत्ति**—प्राग्दिशः, तद्धिताः । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ—'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी०' इस सूत्र से पूर्व तक 'किमः', 'सर्वनाम्नः', 'बहुभ्यः' और 'अद्व्यादिभ्यः' का अधिकार है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०९१) से 'प्राग्दिशः' की अनुवृत्ति आ रही है । यहाँ से आगे "'दिक्शब्देभ्यः०' सूत्र से पूर्व तक जितने भी प्रत्यय होंगे वे सब द्वि आदि शब्दों को छोड़कर केवल किम् शब्द, सर्वनाम तथा बहु शब्दों से ही होंगे ।" विधेय का सूत्र में उल्लेख न होने से यह अधिकार सूत्र है । 'किम्' शब्द द्व्यादि के अन्तर्गत आता है । अतः उससे प्रत्यय का निषेध न हो, इसलिए किम् का पृथक् निर्देश किया गया है ।

(२०९३) **पद**—पञ्चम्याः, तसिल् । **अनुवृत्ति**—किंसर्वनामबहुभ्यः, अद्व्यादिभ्यः, विभक्तिः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पञ्चम्यन्त किम् आदि शब्दों से स्वार्थ में 'तसिल्' प्रत्यय विकल्प से होता है ।

विमर्श—यहाँ 'किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः' (२०९२) का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । सूत्रस्थ 'पञ्चम्याः' पद उसका विशेषण है । अतः तदन्तविधि होती है । 'समर्थानां प्रथमाद्वा'

वा। **(२०९४) कुतिहोः ७।२।१०४।** किमः कुस्तादौ हादौ च विभक्तौ। कुतः, कस्मात्। **(२०९५) इदम इश् ५।३।३।** प्राग्दिशीये। इतः। **(२०९६) एतदोऽन् ५।३।५।** एतदः प्राग्दिशीये। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। अतः। इतः। अमुतः। यतः।

(२०९४) **कुतिहोः**। 'किमः कः' इत्यतः 'किमः' इत्यनुवर्तते। 'अष्टन आ' इत्यतो विभक्ताविति। तिश्च ह च तयोरिति द्वन्द्वः, इकार उच्चारणार्थः, ताभ्यां विभक्तिर्विशेष्यते तदादिविधिस्तदाह — **किमः कु इत्यादिना**। **कुतः** — पञ्चम्यन्तात् किम्शब्दात् 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्यनेन वा तसिल्प्रत्यये इलोपे सुपो लुकि 'प्राग्दिशो विभक्तिः' इति तसिलो विभक्तिसंज्ञायां 'कुतिहोः' इति किमः क्वादेशे 'कु + तस्' इति जाते, अव्ययत्वे प्रातिपदिकत्वे सौ, 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लुकि सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गे कृते 'कुतः' इति। पक्षे 'कस्मादि'ति।

(२०९५) **इदम इश्**। शित्वात्सर्वादेशः।

(२०९६) **एतदोऽन्**। प्राग्दिशीये प्रत्यये परे एतद्शब्दस्य अन् स्यादित्यर्थः।

(४।१।८२) से 'वा' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "पञ्चम्यन्त द्व्यादिभिन्न किम् शब्द, सर्वनामवाचक शब्द तथा बहु शब्द से तसिल् (= तस्) प्रत्यय विकल्प से होता है।"

(२०९४) **पद**—कु, तिहोः। **अनुवृत्ति**—किमः, विभक्तौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तकारादि और इकारादि विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय परे रहते 'किम्' को 'कु' आदेश होता है। कुतः, कस्मात्।

विमर्श—यह प्रासङ्गिक विधिसूत्र है। 'कु' पद लुप्तप्रथमाविभक्त्यन्त है। 'किमः कः' (७।२।१०३) से किम् शब्द की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति आती है। 'तिहोः' पद 'विभक्तौ' का विशेषण होने से उसमें तदादिविधि होती है। अतः "तकारादि और इकारादि विभक्तिसंज्ञक प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर 'किम्' के स्थान में 'कु' आदेश होता है।"

उदाहरण—कस्मात् (किम् + ङसि + तसिल् = 'तस्' - 'पञ्चम्यास्तसिल्', सुब्लुक् - 'सुपो धातु०', किम् = 'कु' आदेश - 'कुतिहोः', पुनः विभक्ति) — कुतस् + सु (अव्ययसंज्ञा - 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः', 'सु' का लुक्, स् = र् = : विसर्ग) = कुतः (कहाँ से)।

(२०९५) **पद**—इदमः, इश्। **अनुवृत्ति**—प्राग्दिशः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते इदम् को 'इश्' आदेश होता है। इतः।

विमर्श—'दिक्शब्देभ्यः०' सूत्र पर्यन्त कहे जाने वाले प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर 'इदम्' के स्थान में 'इश्' (= इ) आदेश होता है।" शित् होने से यह सर्वादेश होगा।

उदाहरण—अस्मात् (इदम् + तसिल् = 'तस्', इदम् = ईश् = 'इ' - 'इदम इश्') — इ + तस् (सुब्लुक् तथा पुनः विभक्ति का लुक्, स् = र् = :) = इतः (इधर से)।

(२०९६) **पद**—एतदः, अन्। **अनुवृत्ति**—प्राग्दिशः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते 'एतत्' को 'अन्' आदेश होता है। अतः, अमुतः, यतः, ततः, बहुतः। द्व्यादि शब्दों से — द्वाभ्याम्।

विमर्श—पूर्ववत् 'दिक्शब्देभ्यः०' सूत्र तक विहित प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर 'एतद्' शब्द के स्थान में 'अन्' आदेश होता है। 'अनेकाल्०' परिभाषा के अनुसार यह आदेश सम्पूर्ण 'एतद्' के स्थान पर होगा।

ततः। बहुतः। द्व्यादेस्तु – द्वाभ्याम्। **(२०९७) पर्यभिभ्यां च ५।३।९।** तसिल्। परितः, सर्वत इत्यर्थः। अभितः, उभयत इत्यर्थः। **(२०९८) सप्तम्यास्त्रल् ५।३।१०।** कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र। **(२०९९) इदमो हः ५।३।११।** त्रलोऽपवादः।

(२०९७) **पर्यभिभ्यां च**। पूर्वसूत्रात् 'तसिल्' इत्यनुवर्तते।

(२०९८) **सप्तम्यास्त्रल्**। किमादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्योऽद्व्यादिभ्यः त्रल्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **कुत्र** — कस्मिन्निति विग्रहे किम्शब्दात् 'सप्तम्यास्त्रल्' इति त्रल्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे विभक्तिलोपे 'कुतिहोः' इत्यनेन किमः कु आदेशे, प्रातिपदिकत्वे सौ अव्ययत्वे सुलोपे 'कुत्र' इति रूपम्।

(२०९९) **इदमो हः**। सप्तम्यन्तात् इदम्शब्दात् हप्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

उदाहरण—एतस्मात् (एतत् + तसिल् = 'तस्', एतत् = 'अन्' आदेश – 'एतदोऽन्', 'न्' का लोप तथा अव्ययसंज्ञा होने से विभक्तिलोप, स् = र् = :) = अतः (इसलिए)। अमुष्मात् (अदस् + तसिल् = 'तस्', स् = 'अ' – त्यदादीनामः, पररूप – 'अतो गुणे') — अद + तस् (अ = उ तथा द् = म् आदेश – 'अदसोऽसेर्दादु दो मः', विभक्ति – सु, अव्यय संज्ञा होने से विभक्तिलुक्, स् = र् = :) = अमुतः (यहाँ से)। यस्मात् (यत् + तसिल् = 'तस्', त् = 'अ' – 'त्यदादीनामः', पररूप, विभक्तिलुक, स् = र् = :) = यतः (जहाँ से)। तस्मात् (तत् + तसिल् = तस्, अत्व, पररूपादि कार्य) = ततः (वहाँ से)। बहुभ्यः (बहु + तस्) = बहुतः (बहुतों से)।

प्रत्युदाहरण—'किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः' सूत्र में 'अद्व्यादि' का निवेश होने से 'द्वाभ्याम्' में तसिल् प्रत्यय नहीं होता।

(२०९७) **पद**—पर्यभिभ्याम्, च। **अनुवृत्ति**—तसिल्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—परि और अभि शब्दों से भी तसिल् प्रत्यय होता है। परितः। अभितः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०९३) से 'तसिल्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "परि तथा अभि शब्दों से तसिल् प्रत्यय होता है"। 'सर्वोभयार्थाभ्यामेव' के अनुसार 'परि' का अर्थ – 'चारों ओर' तथा 'अभि' का अर्थ – 'दोनों ओर' होने पर ही उक्त प्रत्यय होता है।

उदाहरण—परि + तसिल् (= तस्, विभक्ति सु, अव्ययसंज्ञा, विभक्तिलुक्, स् = र् = :) = परितः (चारों ओर)। अभि + तसिल् (= तस्, प्रक्रिया उक्तवत्) = अभितः (दोनों ओर से)।

(२०९८) **पद**—सप्तम्याः, त्रल्। **अनुवृत्ति**—किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त किम् आदि से त्रल् प्रत्यय होता है। कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'किंसर्वनाम०' (२०९२) सूत्र की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "सप्तम्यन्त किम्, सर्वनाम तथा बहु शब्दों से त्रल् (= त्र) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—कस्मिन् (किम् + ङि + त्रल् = 'त्र', विभक्तिलुक्, किम् = 'कु' – 'कुतिहोः', पुनः विभक्ति – सु, अव्ययसंज्ञा होने पर 'सु' का लुक्) = कुत्र (कहाँ)। यस्मिन् (यद् + त्रल् = 'त्र', द् = 'अ' तथा पररूप – 'त्यदादीनामः', पूर्ववत् विभक्तिकार्य) = यत्र (जहाँ)। तस्मिन् (तद् + त्रल्, प्रक्रिया पूर्ववत्) = तत्र (वहाँ)। बहुषु (बहु + त्रल् = 'त्र', प्रक्रिया पूर्ववत्) = बहुत्र (बहुत स्थानों में)।

इह । (२१००) **किमोऽत् ५।३।१२** । वा स्यात् । (२१०१) **क्वाति ७।२।१०५** । किमः । क्व, कुत्र । (२१०२) **इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ५।३।१४** । पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते। दृशिग्रहणाद्भवदादिग्रहणयोग एव। स भवान्। ततो भवान्। तत्र भवान्। तं भवन्तम्। ततो भवन्तम्। तत्र भवन्तम्। एवं

(२१००) **किमोऽत्**। वाग्रहणमपकृष्यते। सप्तम्यन्तात् किमोऽप्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः। पक्षे त्रल्।

(२१०१) **क्वाति**। किमः 'क्व' आदेशः स्यात् 'अत' प्रत्यये इत्यर्थः।

(२१०२) **इतराभ्योऽपीति**। किमादिप्रातिपदिकादिति शेषः।

(२०९९) **पद**—इदमः, हः। **अनुवृत्ति**—सप्तम्याः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त इदम् शब्द से 'ह' प्रत्यय होता है। इह।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०९८) से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से आ रही है। अतः "सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्द से स्वार्थ में 'ह' प्रत्यय होता है। यह त्रल् का अपवाद (बाधक) है।"

उदाहरण—अस्मिन् इति (इदम् + ङि + ह, विभक्तिलुक्, इदम् = 'इ' - 'इदम इश्', विभक्तिकार्य) = इह (यहाँ)।

(२१००) **पद**—किमः, अत्। **अनुवृत्ति**—सप्तम्याः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्यन्त शब्द से 'अत्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

विमर्श—पूर्ववत् 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'वाह च छन्दसि' (५।३।१३) अग्रिम सूत्र से 'वा' का अपकर्ष किये जाने पर यह अर्थ निष्पन्न होता है - "सप्तम्यन्त किम् शब्द से अत् = 'अ' प्रत्यय विकल्प से होता है।" यह पूर्वसूत्र से प्राप्त 'त्रल्' का बाधक है।

(२१०१) **पद**—क्व, अति। **अनुवृत्ति**—किमः, विभक्तौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अत् प्रत्यय के परे रहते 'किम्' को 'क्व' आदेश होता है। क्व, कुत्र।

विमर्श—सूत्र में स्थानी का निर्देश नहीं है। अतः 'किमः कः' (७।२।१०३) से 'किमः' तथा 'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) से निमित्तवाचक पद 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "अत् प्रत्यय के परवर्ती रहते 'किम्' शब्द के स्थान पर 'क्व' आदेश होता है।"

उदाहरण—कस्मिन् इति (किम् + ङि + अत् = 'अ' - 'किमोऽत्', किम् = 'क्व' आदेश - 'क्वाति', अन्त्यलोप, विभक्ति - सु, अव्ययसंज्ञा, 'सु' का लुक्) = क्व। **पक्ष में** — अत् प्रत्यय न होने पर त्रल् — किम् + ङि + त्रल् (= 'त्र', किम् = 'कु', विभक्तिकार्य) = कुत्र (कहाँ)।

(२१०२) **पद**—इतराभ्यः, अपि, दृश्यन्ते। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पञ्चमी और सप्तमी से इतर विभक्ति अन्त में हो तो भी किम् आदि शब्दों से तसिल् आदि प्रत्यय होते हैं। **वा०** - सूत्र में दृश् धातु का ग्रहण करने से भवत् आदि शब्दों के योग में ही होंगे। सः भवान्। ततः भवान्। तत्र भवान् इत्यादि। इसी प्रकार - दीर्घायुः। देवानां प्रियः। आयुष्मान्।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। सूत्रस्थ 'इतर' शब्द पूर्वोक्त पञ्चमी और सप्तमी विभक्ति से भिन्न विभक्तियों का सूचक है। तदनुसार "पञ्चमी और सप्तमी से भिन्न अन्य विभक्त्यन्त शब्दों से भी 'तसिल्' एवं 'त्रल्' आदि प्रत्ययों का प्रयोग देखा जाता है।"

वा०—दृश् धातु के ग्रहण से भवत् आदि शब्दों के योग में ही तसिल् आदि होते हैं।

दीर्घायुः । देवानां प्रियः । आयुष्मान् । **(२१०३) सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ५।३।१५** । सप्तम्यन्तेभ्य एभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात् । **(२१०४) सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५।३।६** । दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा । सर्वस्मिन् काले - सदा, सर्वदा । एकदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे । **(२१०५)**

(२१०३) **सर्वैकान्य इति** । 'सप्तम्याः' इत्यनुवर्तते । तदाह — **सप्तम्यन्तेभ्य इति** ।

(२१०४) **सर्वस्येति** । **सर्वदा** — 'सर्वस्मिन् काले' इति विग्रहे सर्वशब्दात् 'सर्वैकान्य-किंयत्तदः काले दा' इत्यनेन स्वार्थे दाप्रत्यये 'सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि' इति विकल्पेन सर्वस्य सभावे 'सदा' इति । पक्षे 'सर्वदा' इति ।

(२१०५) **इदमो र्हिल्** । इदम र्हिल् इतिच्छेदः ।

उदाहरण—प्रथमा विभक्ति — स भवान् (तद् + तसिल् = तस्, अत्व, पररूप, विभक्तिलुक्, पुनः विभक्ति सु, अव्ययसंज्ञा होने से विभक्तिलुक्, स् = र् = :) = ततः भवान् । त्रल् होने पर.— तत्र भवान् (माननीय आप) । द्वितीया विभक्ति—तं भवन्तम् = ततः भवन्तम् (तसिल्) = तत्र भवन्तम् (त्रल्) (माननीय आपको) । इसी प्रकार से दीर्घायुः = ततः दीर्घायुः । इसी प्रकार 'स देवानांप्रियः' (देवताओं का प्रिय) आदि शब्दों के साथ भी सब विभक्तियों में तसिल् और त्रल् प्रत्ययों का प्रयोग होता है ।

(२१०३) **पद**—सर्वैकान्यकिंयत्तदः, काले, दा । **अनुवृत्ति**—सप्तम्याः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कालवाचक सप्तम्यन्त सर्व, एक, अन्य, किम्, यत् और तत् शब्द से स्वार्थ में 'दा' प्रत्यय होता है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०९८) से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । अतः ''सप्तम्यन्त सर्व, एक, अन्य, किम्, यत् तथा तत् प्रातिपदिकों से काल अर्थ में दा प्रत्यय होता है ।'' सप्तम्यन्तों से प्राप्त त्रल् का यह अपवाद है ।

(२१०४) **पद**—सर्वस्य, सः, अन्यतरस्याम्, दि । **अनुवृत्ति**—प्राग्दिशः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते सर्व को स आदेश विकल्प से होता है । सदा, सर्वदा । एकदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । 'काले' क्यों कहा? सर्वत्र देशे ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'दि' सप्तम्यन्त पद है । अनुवृत्त 'प्राग्दिशः' का विशेषण होने से तदादिविधि होती है । तदनुसार ''प्राग्दिशीय दकारादि प्रत्यय परे रहते सर्व शब्द के स्थान में विकल्प से 'स' आदेश होता है ।'' 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषा के अनुसार यह आदेश सम्पूर्ण सर्व के स्थान पर होता है ।

उदाहरण—सर्वस्मिन् काले (सर्व + 'दा' प्रत्यय, सर्व = 'स' आदेश विकल्प से — 'सर्वस्य सः०', विभक्तिकार्य) = सदा । पक्ष में - सर्वदा (हमेशा) । अन्यस्मिन् काले (अन्य + दा) = अन्यदा (दूसरी बार) । कस्मिन् काले (किम् + दा, किम् = क) = कदा (कब) । यस्मिन् काले (यत् + दा, त् = 'अ' - अत्व, पररूप) = यदा (जब) । तस्मिन् काले (तत् + दा, त् = 'अ', पररूप) = तदा (तब) ।

प्रत्युदाहरण—उक्त सूत्र (२१०३) में 'काले' पद का निवेश होने से काल से भिन्न देश वाच्य होने पर 'सर्वत्र देशे' आदि प्रयोगों में 'दा' प्रत्यय नहीं होता ।

(२१०५) **पद**—इदमः, र्हिल् । **अनुवृत्ति**—काले, सप्तम्याः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

इदमो र्हिल् ५।३।१६ । सप्तम्यन्तात् । **(२१०६) एतेतौ रथोः ५।३।४ ।** इदम 'एत' 'इत्' एतौ स्तो रेफादौ । अस्मिन् काले एतर्हि । काले किम् ? इह देशे । **(२१०७) अधुना ५।३।१७ ।** इदमो निपातोऽयम् । **(२१०८) दानीं च ५।३।१८ ।** इदमो

(२१०६) **एतेतौ रथोः** । इदम इत्यनुवर्तते । एतश्च इच्चेति द्वन्द्वात्प्रथमाद्विवचनम् । रश्च थ् च तयोरिति द्वन्द्वः । रेफादकार उच्चारणार्थः । रेफादौ एतः थादौ इत् इति विवेकः । तदाह — **इदम इत्यादिना** ।

(२१०७) **अधुना** । इदम्शब्दात् सप्तम्यन्तात् कालवाचकात् स्वार्थे 'अधुना' प्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

(२१०८) **दानीं चेति** । सप्तम्यन्तात् इदमः कालवाचिनः स्वार्थे दानीमिति च प्रत्ययः

मूलार्थ—सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्द से काल अर्थ में र्हिल् प्रत्यय होता है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१०३) से 'काले' की तथा (२०९८) से 'सप्तम्याः' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार ''सप्तम्यन्त इदम् शब्द से काल अर्थ में र्हिल् (= र्हि) प्रत्यय होता है ।''

(२१०६) **पद**—एतेतौ, रथोः । **अनुवृत्ति**—इदमः, प्राग्दिशः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते इदम् को 'एत' और 'इत्' आदेश होते हैं । एतर्हि । 'काले' क्यों कहा? इह देशे ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१०५) से स्थानिवाचक पद 'इदमः' की अनुवृत्ति आ रही है । सूत्रस्थ 'एतेतौ' और 'रथोः' पदों में इतरेतरयोगद्वन्द्व समास है । तदनुसार ''इदम् के स्थान में रेफादि और थकारादि प्रत्यय के परे रहते क्रमशः 'एत' और 'इत्' आदेश होते हैं ।'' 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषानुसार 'रथोः' में तदादिविधि होती है ।

उदाहरण—अस्मिन् काले (इदम् + र्हिल् = र्हि - 'इदमो र्हिल्', इदम् = 'एत' आदेश - 'एतेतौ रथोः', विभक्ति - सु, अव्ययसंज्ञा होने से विभक्ति का लुक्) = एतर्हि (इस समय) ।

प्रत्युदाहरण—'इदमो र्हिल्' सूत्र में अनुवृत्त 'काले' के प्रभाव से कालभिन्न अर्थ में 'इह देशे' (इस देश में) प्रयोग में र्हिल् नहीं होता, 'इदमो हः' से 'ह' होता है ।

(२१०७) **पद**—अधुना । **अनुवृत्ति**—इदमः, काले, सप्तम्याः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कालवाचक सप्तम्यन्त इदम् शब्द से स्वार्थ में 'अधुना' प्रत्यय होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र से 'अधुना' शब्द निपातन किया जाता है ।

उदाहरण—अस्मिन् काले (इदम् + 'अधुना' प्रत्यय, इदम् = इश् = 'इ' - 'इदम इश्', 'इ' का लोप - 'यस्येति च', विभक्तिलुक्) = अधुना (इस समय) ।

(२१०८) **पद**—दानीम्, च । **अनुवृत्ति**—इदमः, काले, सप्तम्याः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कालवाचक सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्द से 'दानीम्' प्रत्यय भी होता है । इदानीम् ।

विमर्श—पूर्ववत् पूर्वसूत्र (२१०५) से 'इदमः', २१०३ से 'काले' तथा २०९८ से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार ''सप्तम्यन्त कालवाचक 'इदम्' शब्द से 'दानीम्' प्रत्यय भी होता है ।''

उदाहरण—अस्मिन् काले (इदम् + 'दानीम्', इदम् = इश् = 'इ' आदेश, विभक्तिलुक्) = इदानीम् (इस समय) ।

दानीं प्रत्ययः काले । इदानीम् । (२१०९) तदो दा च ५।३।१९ । तदा, तदानीम् । (२११०) अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ५।३।२१ । कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि तदा । (२१११) एतदः ५।३।५ । एत इत एतौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दि-

---

स्यादित्यर्थः । **इदानीमिति** । इदम्शब्दात् 'दानीम्' प्रत्यये इदमः इशादेशेऽनुबन्धलोपे विभक्ति-कार्ये 'इदानीम्' इति रूपम् ।

(२१०९) **तदो दा चेति** । सप्तम्यन्तात् कालवाचिनः तच्छब्दात् दानीम्प्रत्ययो दाप्रत्ययश्च स्यादित्यर्थः ।

(२११०) **अनद्यतन इति** । अनद्यतनकालवृत्तिभ्यः किमादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो र्हिल्प्रत्ययो वा स्यात् पक्षे दाप्रत्ययश्चेति ।

(२१११) **एतद इति** । 'एतदोऽन्' इत्यत्र 'एतदः' इति योगविभागः कर्तव्यः । 'एतेतौ रथोः' इत्यनुवर्तते । एतच्छब्दस्य एतेतौ स्तः रेफथकारादौ प्रत्यये परे इत्यर्थः । **एतर्हि** —

(२१०९) **पद**—तदः, दा, च । **अनुवृत्ति**—दानीम्, काले, सप्तम्याः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कालवाचक सप्तम्यन्त तद् शब्द से 'दा' और 'दानीम्' प्रत्यय होते हैं । तदा, तदानीम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१०८) से 'दानीम्' की अनुवृत्ति आ रही है । 'काले' तथा 'सप्तम्याः' आदि पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है । इस प्रकार ''सप्तम्यन्त कालवाचक तद् शब्द से 'दा' तथा 'दानीम्' दोनों प्रत्यय होते हैं ।''

उदाहरण—तस्मिन् काले (तद् + 'दा' प्रत्यय, 'द्' = 'अ' - 'त्यदादीनामः', पररूप) = तदा । दानीम् प्रत्यय होने पर (प्रक्रिया पूर्ववत्) = तदानीम् (तब) ।

(२११०) **पद**—अनद्यतने, र्हिल्, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—काले, सप्तम्याः, किं, सर्वनाम-बहुभ्यः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अनद्यतन कालवाची सप्तम्यन्त किम्, सर्वनाम आदि से वैकल्पिक र्हिल् प्रत्यय होता है । कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा ।

विमर्श—पूर्ववत् 'काले', 'सप्तम्याः' तथा 'किं सर्वनामबहुभ्यः' (२०९२) की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार ''सप्तम्यन्त किम्, सर्वनाम और बहु शब्दों से अनद्यतन काल अर्थ में विकल्प से र्हिल् प्रत्यय होता है । पक्ष में 'दा' भी होता है ।''

उदाहरण—किम् (किम् + र्हिल् = 'र्हि' प्रत्यय विकल्प से, किम् = 'क' आदेश - 'किमः कः') = कर्हि । पक्ष में - किम् + 'दा' (किम् = 'क' आदेश) = कदा (कब) । यस्मिन् काले (यद् + र्हिल् = 'र्हि' विकल्प से, 'द्' = 'अ' - 'त्यदादीनामः', पररूप) = यर्हि । पक्ष में 'दा' होने पर (प्रक्रिया पूर्ववत्) = यदा (जब) । तस्मिन् काले (तद् + र्हिल् विकल्प से, अत्व, पररूप) = तर्हि । पक्ष में - तदा (तब) ।

(२१११) **पद**—एतदः । **अनुवृत्ति**—एतेतौ रथोः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—रेफादि और थकारादि प्रत्यय के परे एतद् शब्द को 'एत' आदेश होता है । एतर्हि ।

विमर्श—'एतदोऽन्' (५।३।५) सूत्र के योगविभाग की कल्पना की गयी है । तदनुसार '''एतदः' अंश में 'एतेतौ रथोः' (५।३।४) पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति का प्रभाव होने से रेफादि और थकारादि प्रत्ययों के परे रहते एत और इत् आदेश होते हैं'' ।

शीये। एतस्मिन् काले - एतर्हि। (२११२) सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युदितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ५।३।२२। एते निपात्यन्ते। * द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः *। उभयद्युः। (२११३) प्रकारवचने थाल् ५।३।२३। प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल्। तेन प्रकारेण तथा। यथा।

'एतस्मिन्काले' इति विग्रहे एतच्छब्दात् 'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्' इत्यनेन र्हिल्प्रत्यये 'एतद' इति योगविभागात् रेफादौ एतादेशे 'एतर्हि' इति।

(२११२) **सद्यःपरुत्**। सद्यः परुदादयः निपात्यन्त इति। **सद्य इति**। समानशब्दात् द्यस् प्रत्यये 'समानो द्यश्चाहनि' इति समानस्य सभावे सस्य रुत्वे विसर्गे 'सद्यः' इति।

(२११३) **प्रकारवचने थाल्**। सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारस्तद्वृत्तिभ्य इत्यर्थः।

उदाहरण—एतस्मिन् काले (एतद् + र्हिल् = 'र्हि', 'एतदः' योगविभाग से एतद् = 'एत' आदेश) = एतर्हि (इस समय)।

(२११२) **पद**—सद्यःपरुत्..................उत्तरेद्युः। **अनुवृत्ति**—काले, सप्तम्याः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सद्यः, परुत् आदि शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं। उभय शब्द से द्युस् प्रत्यय कहना चाहिए। उभयद्युः।

विमर्श—''सप्तम्यन्त कालवाचक शब्दों से सद्यः आदि १४ शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं।''

उदाहरण—(१) समानेऽहनि (समान + 'द्यस्' प्रत्यय तथा समान = 'स' आदेश निपातन, विभक्तिलुक्, स् = र् = :) = सद्यः। (२) पूर्वस्मिन् वत्सरे (पूर्व + 'उत्' प्रत्यय, पूर्व = 'पर' भाव निपातन से, 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = परुत् (गतवर्ष)। (३) पूर्वतरस्मिन् वत्सरे (पूर्वतर + 'आरि' प्रत्यय तथा पूर्वतर = 'पर' आदेश, 'अ' का लोप) = परारि (गतवर्ष से पहले वर्ष)। (४) अस्मिन् वत्सरे (इदम् + 'समसण्' प्रत्यय, इदम् = 'इश्' आदेश = 'इ', समसण् = 'समस्', आदिवृद्धि, 'स्' = 'ष्') — ऐषमस् (स् = र् = :) = ऐषमः (इस वर्ष)। (५) परस्मिन् अहनि (पर + 'एद्यवि' प्रत्यय, 'अ' का लोप) = परेद्यवि (दूसरे दिन)। (६) अस्मिन् अहनि (इदम् + द्य, इदम् = अश् = 'अ' आदेश) = अद्य (= आज)। (७) पूर्वस्मिन् अहनि (पूर्व + एद्यसुच् = 'एद्यसु' प्रत्यय, 'अ' का लोप) = पूर्वेद्युः (पहले दिन)। (८) अन्यस्मिन् अहनि (अन्य + एद्यसुच्, 'अ' का लोप, स् = र् = :) = अन्येद्युः (दूसरे दिन)। (९) अन्यतरस्मिन् अहनि (अन्यतर + एद्यसुच्, प्रक्रिया उक्तवत्) = अन्यतरेद्युः (दूसरे दिन)। (१०) इतरस्मिन् अहनि (इतर + एद्यसुच् = एद्यस्) = इतरेद्युः (दूसरे दिन)। (११) अपरस्मिन् अहनि (अपर + एद्यसुच्) = अपरेद्युः (दूसरे दिन)। (१२) अधरस्मिन् अहनि (अधर + एद्यसुच्) = अधरेद्युः (दूसरे दिन)। (१३) उभयोः अह्नोः (उभय + एद्यसुच्) = उभयेद्युः (दोनों दिन)। (१४) उत्तरस्मिन् अहनि (उत्तर + एद्यसुच्) = उत्तरेद्युः (अगले दिन)।

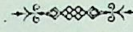
(२११३) **पद**—प्रकारवचने, थाल्। **अनुवृत्ति**—किंसर्वनामबहुभ्यः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रकारवाचक किम् आदि शब्दों से 'थाल्' प्रत्यय होता है। तथा। यथा।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२०९२) से 'किंसर्वनामबहुभ्यः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। 'प्रकारवचने' में पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग किया गया है। तदनुसार ''प्रकारवचन में वर्तमान किम्, सर्वनाम और बहु शब्दों से थाल् (= था) प्रत्यय होता है।'' सामान्य का भेदक

(२११४) इदमस्थमुः ५।३।२४ । थालोऽपवादः । *** एतदो वाच्यः *** । अनेन एतेन वा प्रकारेण । इत्थम् । **(२११५) किमश्च ५।३।२५ ।** केन प्रकारेण कथम् ।

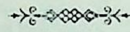
इति प्राग्दिशीयप्रकरणम् ।



(२११४) **इदमस्थमुः** । इदम्शब्दात् प्रकारवृत्तेस्थमुप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । **इत्थमिति** । अनेन प्रकारेणेति विग्रहे 'इदमस्थमुः' इति थमुप्रत्यये सुपो लुकि 'एतेतौ रथोः' इत्यनेन इदम एतादेशे इत्थमिति जाते सौ अव्ययत्वे सुलोपे इत्थमिति ।

(२११५) **किमश्चेति** । प्रकारवृत्तेः किंशब्दात् थमुः स्यादित्यर्थः ।

इति तद्धिते प्राग्दिशीयं प्रकरणम् ।



अर्थात् विशिष्ट व्यावर्तक दिखाना 'प्रकार' कहलाता है । सादृश्य के अर्थ में यहाँ प्रकार विवक्षित नहीं है ।''

उदाहरण—तेन प्रकारेण विशिष्टः (तद् + थाल् = 'था', द् = 'अ' - अत्व, पररूप, विभक्ति-लुक्) = तथा (उस प्रकार से) । येन प्रकारेण विशिष्टः (यद् + थाल् = 'था', अत्व, पर-रूप) = यथा (जिस प्रकार से) ।

(२११४) **पद**—इदमः, थमुः । **अनुवृत्ति**—प्रकारवचने, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रकारवचन इदम् शब्द से थमु प्रत्यय होता है । यह थाल् का अपवाद है । **वा०**—एतद् शब्द से भी थमु प्रत्यय होता है । इत्थम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२११३) से 'प्रकारवचने' की अनुवृत्ति आ रही है । अतः ''इदम् शब्द के प्रकारवचन अर्थ में वर्तमान होने पर स्वार्थ में 'थमु' प्रत्यय होता है ।'' यह विधान थाल् का बाधक है ।

उदाहरण—अनेन प्रकारेण विशिष्टम् (इदम् + थमु = 'थम्', इदम् = 'इत्' आदेश - 'एतेतौ रथोः', अव्ययसंज्ञा, विभक्तिलुक्) = इत्थम् (इस प्रकार) ।

वा०—'एतद्' शब्द से भी प्रकार अर्थ वाच्य होने पर 'थमु' प्रत्यय होता है ।

उदाहरण—एतेन प्रकारेण (एतद् + थमु = 'थम्', 'एतदोऽन्' के योगविभाग से इत् आदेश) = इत्थम् ।

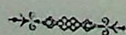
(२११५) **पद**—किमः, च । **अनुवृत्ति**—थमुः, प्रकारवचने, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रकारवचन किम् शब्द से भी थमु प्रत्यय होता है । कथम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२११४) से विधेय पद 'थमुः' की अनुवृत्ति आती है । पूर्ववत् 'प्रकारवचने' की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार ''प्रकारवचन अर्थ में किम् शब्द से स्वार्थ में थमु = 'थम्' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—केन प्रकारेण (किम् + थमु = थम्, किम् = 'क' आदेश - 'किमः कः', अव्ययसंज्ञा, विभक्तिलुक्) = कथम् (किस प्रकार) ।

प्राग्दिशीय प्रकरण समाप्त ।



अथ प्रागिवीयप्रकरणम्

(२११६) दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ५।३।२७। सप्तम्याद्यन्तेभ्यो दिशि रूढेभ्यो दिग्देशकालवृत्तिभ्यः स्वार्थेऽस्तातिः। **(२११७) पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ५।३।३९।** एभ्योऽस्तीत्यर्थेऽसिस्तद्योगे चैषां पुर् अध् अव् इत्यादेशाः स्युः। **(२११८) अस्ताति च ५।३।४०।**

(२११६) **दिक्शब्देभ्यः**। **सप्तम्याद्यन्तेभ्य इति**। सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमान्तेभ्य इत्यर्थः। **रूढेभ्य इति**। शब्दग्रहणलभ्यमिदम्। 'संख्याया विधार्थे धा' इति सूत्रं यावदिदं सूत्रमस्तातिवर्जमनुवर्तते।

(२११७) **पूर्वाधरावराणाम्**। असीति लुप्तप्रथमाकं पदम्। पुर् अध् अव् एषां द्वन्द्वात्प्रथमाबहुवचनम्। तदाह — **एभ्य इति**।

(२११८) **अस्ताति च**। पूर्वशब्दात् अस्तातिप्रत्ययः प्रकृतेः पुर् आदेशश्चेत्यर्थः।

विभक्तिसंज्ञक प्राग्दिशीय प्रकरण के अनन्तर कुछ स्फुट प्रत्ययों के विधान का प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है। 'इवे प्रतिकृतौ' (५।३।९६) सूत्र से पहले तक इन प्रत्ययों का प्रतिपादन किया गया है। अतः इस प्रकरण को 'प्रागिवीयप्रकरण' नाम दिया गया है।

(२११६) **पद**—दिक्शब्देभ्यः, सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यः, दिग्देशकालेषु, अस्तातिः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सप्तम्याद्यन्त दिशा अर्थ में रूढ, दिशा, देश और कालवाचक शब्दों से स्वार्थ में अस्ताति प्रत्यय होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में दिक्, देश और काल इन तीन अर्थों तथा सप्तमी, पञ्चमी और प्रथमा — इन तीन विभक्तियों का उल्लेख किया गया है; तथापि उनमें यथासंख्य विवक्षित नहीं है। 'अस्ताति' प्रत्यय में इकार उच्चारणार्थ है। इस प्रकार "दिशा, देश और काल अर्थों में वर्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त तथा प्रथमान्त दिशावाचक शब्दों से स्वार्थ में अस्ताति (= अस्तात्) प्रत्यय होता है।"

(२११७) **पद**—पूर्वाधरावराणाम्, असि, पुरधवः, च एषाम्। **अनुवृत्ति**—दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यः, दिग्देशकालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन शब्दों से अस्ताति के अर्थ में असि प्रत्यय होता है। असि के योग में पूर्व, अधर और अवर को क्रमशः पुर्, अध् तथा अव् आदेश होते हैं। पुरः, पुरस्तात्। अधः, अधस्तात्। अवः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यः०' (२११६) की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से आ रही है। सूत्रस्थ 'असि' पद लुप्तप्रथमाविभक्तिक है। तीन स्थानी और तीन आदेश होने से यथासंख्य नियम की प्रवृत्ति होती है। तदनुसार "सप्तमी, पञ्चमी तथा प्रथमान्त पूर्व, अधर तथा अवर शब्दों से अस्ताति प्रत्यय के अर्थ में 'असि' (= अस्) प्रत्यय होता है और उस प्रत्यय के योग में 'पूर्व' के स्थान में 'पुर्', 'अधर' के स्थान में 'अध्' तथा 'अवर' के स्थान में 'अव्' आदेश भी होते हैं।"

(२११८) **पद**—अस्ताति, च। **अनुवृत्ति**—पूर्वाधरावराणाम्, पुरधवः, दिक्शब्देभ्यः, सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

पूर्वादीनां पुरादयः स्युः। पूर्वस्यां पूर्वस्याः पूर्वा वा दिक् – पुरः, पुरस्तात्। अधः, अधस्तात्। अवः, अवस्तात्। (२११९) विभाषाऽवरस्य ५।३।४१। अस्तातौ अव् वा स्यात्। अवस्तात्, अवरस्तात्। एवं देशे काले च। दिशि रूढेभ्यः किम्? ऐन्द्र्यां वसति। सप्तम्याद्यन्तेभ्यः किम्? पूर्वं ग्रामं गतः। दिगादिवृत्तिः किम्? पूर्वस्मिन् गुरौ वसति। 'अस्ताति च' इति ज्ञापकादसिरस्तातिं न बाधते। (२१२०)

(२११९) **विभाषेति**। पूर्वसूत्रादस्तातीत्यनुवर्तते। अत आह—**अस्ताताविति**। **ऐन्द्र्यां वसतीति**। ऐन्द्रीशब्दो न केवलं दिशि रूढः, किन्तु इन्द्रदेवताके पदार्थे।

मूलार्थ—अस्ताति प्रत्यय के परवर्ती रहने पर भी पूर्वादि के स्थान में पुर् आदि आदेश होते हैं। पुरः, पुरस्तात्। अधः, अधस्तात्। अवः, अवस्तात्।

विमर्श—'अस्ताति' पद लुप्तसप्तम्यन्त है। स्थानी एवं आदेशवाचक पदों का सूत्र में अभाव है। अतः पूर्वसूत्र (२११७) से 'पूर्वाधरावराणाम्, पुरधव:' की तथा (२११६) से 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु' की अनुवृत्ति आ रही हैं। तदनुसार ''अस्ताति प्रत्यय के परे भी सप्तमी, पञ्चमी तथा प्रथमान्त पूर्व, अधर और अवर शब्दों के स्थान में क्रमशः पुर्, अध् तथा अव् आदेश होते हैं।''

उदाहरण—पूर्वस्यां, पूर्वस्याः, पूर्वा वा दिक् (पूर्वा + 'असि' प्रत्यय = 'अस्' तथा पूर्वा = 'पुर्' आदेश - 'पूर्वाधरावराणाम्०', विभक्तिलुक्, स् = र् = :) = पुरः। अस्ताति प्रत्यय होने पर पूर्वा + अस्ताति (= 'अस्तात्' - 'दिक्शब्देभ्यः०', 'पूर्वा' = 'पुर्' - 'अस्ताति च') = पुरस्तात् (पूर्व दिशा में, पूर्वदिशा से, पूर्व दिशा)। अधरस्याम्, अधरस्याः, अधरा वा दिक् (अधरा + असि = अस् तथा अधरा = 'अध्' आदेश) = अधः। अस्ताति प्रत्यय पक्ष में - अधस्तात् (नीचे की ओर, नीचे से या नीचे)। इसी प्रकार - अवरस्याम्, अवरस्याः अवरा वा दिक् = अवः, अवरस्तात्।

(२११९) **पद**—विभाषा, अवरस्य। **अनुवृत्ति**—अस्ताति, दिक्शब्देभ्यः, सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अस्ताति प्रत्यय के परे रहते 'अवर' को 'अव्' आदेश विकल्प से होता है। अवस्तात्, अवरस्तात्। इसी प्रकार देश और काल अर्थ में भी उक्त प्रत्यय होते हैं। 'दिशि रूढेभ्यः' क्यों कहा? ऐन्द्र्यां वसति। 'सप्तम्याद्यन्तेभ्यः' क्यों कहा? 'पूर्वं ग्रामं गतः' (उक्त प्रत्यय नहीं हुए)। 'दिगादिवृत्तिभ्यः किम्?' पूर्वस्मिन् गुरौ वसति। सूत्रक्रम में पर होने पर भी 'अस्ताति च' ज्ञापन से असि प्रत्यय अस्ताति का बाधक नहीं होता।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति विद्यमान है। अवर शब्द के सम्बन्ध में पूर्वसूत्र से नित्य प्राप्त अवादेश का यह विकल्प-विधान है। तदनुसार ''सप्तमी, पञ्चमी तथा प्रथमान्त दिग्देशकालवाचक अवर शब्द के स्थान में अस्ताति प्रत्यय के परवर्ती रहते विकल्प से 'अव्' आदेश होता है।''

उदाहरण—अवर + अस्ताति (= अस्तात्, विकल्प से अवर = 'अव्' आदेश —'विभाषाऽवरस्य', विभक्तिकार्य) = अवस्तात्। पक्ष में अन्त्यलोप होकर — अवरस्तात्। **प्रत्युदाहरण**—अस्तति प्रत्यय के विधान में (२११६) 'दिशि रूढेभ्यः' का निवेश होने से 'ऐन्द्र्यां वसति' (पूर्व दिशा में रहता है) में ऐन्द्री शब्द से अस्ताति प्रत्यय नहीं होता। क्योंकि यह शब्द पूर्व दिशा अर्थ में रूढ नहीं है। इसी प्रकार - 'सप्तम्याद्यन्त का निवेश होने से सप्तमी, पञ्चमी तथा प्रथमान्त से ही अस्ताति का विधान होने के कारण 'पूर्वं ग्रामं गतः' (पूर्व के गाँव को गया) में द्वितीया विभक्ति

दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ५।३।२८। अस्तातेरपवादः। दक्षिणतः। उत्तरतः। **(२१२१) विभाषा परावराभ्याम् ५।३।२७।** परतः, परस्तात्। अवरतः, अवरस्तात्। **(२१२२) अञ्चेर्लुक् ५।३।३०।** अञ्चत्यन्ताद्दिक्शब्दादस्तातेर्लुक् स्यात्।

(२१२०) **दक्षिणोत्तराभ्यामिति।** दिग्देशकालवृत्तिभ्यामिति शेषः।

(२१२१) **विभाषा परावराभ्यामिति।** अतसुच् स्यादित्यर्थः।

होने से अस्ताति प्रत्यय नहीं होता। उक्त सूत्र में 'दिग्देशकालेषु' पद का निवेश होने से 'पूर्वस्मिन् गुरौ वसति' (पहले के गुरु के यहाँ रहता है) में पूर्व शब्द की वृत्ति दिशा आदि अर्थ में न होने से 'अस्ताति' प्रत्यय नहीं होता .

यहाँ 'अस्ताति च' सूत्र के ज्ञापक से असि प्रत्यय के द्वारा अस्ताति का बाध नहीं होता। अर्थात् सूत्र की सार्थकता के लिए यह माना जाता है कि सूत्रक्रम में पर होने पर भी असि प्रत्यय अस्ताति का बाधक नहीं होता।

(२१२०) **पद**—दक्षिणोत्तराभ्याम्, अतसुच्। **अनुवृत्ति**—दिक्शब्देभ्यः········कालेषु, तद्धितांः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अस्ताति के अर्थ में दक्षिण और उत्तर शब्द से अतसुच् प्रत्यय होता है। यह अस्ताति का अपवाद है। दक्षिणतः। उत्तरतः।

विमर्श—अस्ताति प्रत्यय का यह बाधक सूत्र है। पूर्ववत् दिशावाचक शब्दों का ही विषय है। अतः 'दिक्शब्देभ्यः········कालेषु' (२११६) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''सप्तमी, पञ्चमी और प्रथमान्त दिक्, देश और काल अर्थ में वर्तमान दक्षिण और उत्तर शब्दों से स्वार्थ में अतसुच् (= अतस्) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—दक्षिणस्यां दिशि, दक्षिणस्याः दिशः दक्षिणा दिक् वा (दक्षिण + अतसुच् = 'अतस्', 'अ' का लोप, स् = र् = ः) = दक्षिणतः (दक्षिण की ओर , दक्षिण से अथवा दक्षिण दिशा)। उत्तरस्यां दिशि, उत्तरस्याः दिशः, उत्तरा दिग् वा (उत्तर + अतसुच्) = उत्तरतः (उत्तर की ओर, उत्तर से अथवा उत्तर दिशा)।

(२१२१) **पद**—विभाषा, परावराभ्याम्। **अनुवृत्ति**—अतसुच्, दिक्शब्देभ्यः········कालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पर और अवर शब्द से विकल्प से अतसुच् प्रत्यय होता है। परतः, परस्तात्। अवरतः, अवरस्तात्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१२०) से 'अतसुच्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से अपेक्षित है। अन्य प्राकरणिक एवं आधिकारिक पदों की अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। अतः ''दिशा, देश और कालवाचक सप्तमी, पञ्चमी और प्रथमान्त पर और अवर शब्दों से विकल्प से स्वार्थ में अतसुच् (= अतस्) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—परस्यां दिशि, परस्याः दिशः परा वा दिक् (पर + अतसुच् = 'अतस्' विकल्प से, स् = र् = :) = परतः। अतसुच् के अभाव पक्ष में – पर + **अस्ताति** (= अस्तात्) = परस्तात् (बाहर की ओर, बाहर से अथवा बाहर)। अवरस्यां दिशि, **अवरस्याः** दिशः अवरा वा दिक् (अवर + अतसुच् विकल्प से) = अवरतः। पक्ष में – अस्ताति = अवरस्तात् (बाहर की ओर आदि)।

(२१२२) **पद**—अञ्चेः, लुक्। **अनुवृत्ति**—दिक्शब्देभ्यः········कालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

प्राक्। उदक्। (२१२३) उपर्युपरिष्टात् ५।३।३१। निपातावेतौ। (२१२४) पश्चात् ५।३।३२। तथा। (२१२५) उत्तराधरदक्षिणादातिः ५।३।३४। उत्तरात्।

(२१२२) **अञ्चेर्लुक्।** **प्रागिति।** प्राक्=प्राच्यां, प्राच्याः प्राची वेत्यर्थः। उदक्=उदीच्यां उदीच्याः उदीची वा।

(२१२३) **उपर्युपरिष्टात्।** अस्तातेर्विषये ऊर्ध्वशब्दस्य उपादेशः स्यात्, रिल् रिष्टातिल् च प्रत्ययौ स्याताम्।

(२१२४) **पश्चात्।** अपरस्य पश्चभावः आतिश्च प्रत्ययोऽस्तातेर्विषये। अस्तातेरपवादोऽयमातिप्रत्ययः।

(२१२५) **उत्तराधर इति।** आतिप्रत्यये इकार उच्चारणार्थः।

मूलार्थ—अञ्चत्यन्त दिक् शब्द से परे अस्ताति प्रत्यय का लुक् होता है। प्राक्। उदक्।

विमर्श—अस्ताति प्रत्यय का विषय है। अतः पूर्ववत् 'दिक्शब्देभ्यः०' (२११६) की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "सप्तमी, पञ्चमी, प्रथमान्त दिग्देशकाल अर्थवाचक अञ्च धातु अन्त वाले दिशावाची शब्द से परवर्ती अस्ताति प्रत्यय का लुक् (लोप) होता है।"

उदाहरण—प्राच्यां दिशि, प्राच्याः दिशः, प्राची वा दिक् (प्राची + अस्ताति = 'अस्तात्' प्रत्यय, 'अस्ताति' प्रत्यय का लुक् - 'अञ्चेर्लुक्', तद्धित प्रत्यय का लोप होने पर स्त्री प्रत्यय ङीप् = 'ई' का भी लोप - 'लुक् तद्धितलुकि', स्त्रीप्रत्यय का लुक् होने से तन्निमित्तक 'अ' का लोप, अ + अ = 'आ' - सवर्णदीर्घ, विभक्ति 'सु', अव्ययसंज्ञा, विभक्तिलुक्, 'च्' = 'क्' - कुत्व) = प्राक् (पूर्व दिशा में आदि)। उदीच्यां दिशि आदि (उदीची + अस्ताति, 'अस्ताति' का प्रकृत सूत्र से लुक्, ङीप्लोप, ङीप् का लुक् होने से भसंज्ञानिमित्तक 'उद ईत्' से विहित ईत्व की निवृत्ति) — उदच् (विभक्तिकार्य, कुत्व आदि) = उदक् (उत्तरदिशा में आदि)।

(२१२३) **पद**—उपर्युपरिष्टात्। **अनुवृत्ति**—दिक्शब्देभ्यः……दिग्देशकालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अस्ताति के अर्थ में उपरि और उपरिष्टात् निपातन होते हैं।

विमर्श—पूर्ववत् प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार "अस्ताति के अर्थ में 'उपरि' और 'उपरिष्टात्' निपातन से सिद्ध होते हैं। अर्थात् 'ऊर्ध्व' शब्द को 'उप' भाव तथा 'रिल्' (= रि) तथा 'रिष्टातिल्' (= रिष्टात्) प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—ऊर्ध्वायां दिशि, ऊर्ध्वायाः दिशः आदि (ऊर्ध्व + रिल् = 'रि' प्रत्यय तथा ऊर्ध्व = 'उप' निपातन से) = उपरि। ऊर्ध्व + रिष्टातिल् (= रिष्टात्, ऊर्ध्व = 'उप' निपातन) = उपरिष्टात् (ऊपर से या ऊपर आदि)।

(२१२४) **पद**—पश्चात्। **अनुवृत्ति**—दिक्शब्देभ्यः……कालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अस्ताति के विषय में 'पश्चात्' निपातन होता है।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित अनुवृत्तियों का प्रभाव विद्यमान है। अतः "अस्ताति के विषय में अवर शब्द से आति (= आत्) प्रत्यय और अपर को पश्च आदेश निपातन होता है।"

उदाहरण—अपरस्यां दिशि आदि (अपर + आति = 'आत्' तथा अपर = 'पश्च' आदेश निपातन) = पश्चात् (पश्चिम की ओर आदि)।

(२१२५) **पद**—उत्तराधरदक्षिणात्, आतिः। **अनुवृत्ति**—दिक्शब्देभ्यः……कालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

अधरात्। दक्षिणात्। **(२१२६) एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ५।३।३५।** उत्तरादिभ्य एनब्वा स्यादवध्यवधिमतोः सामीप्ये। पञ्चम्यन्तात्तु न। उत्तरेण। अधरेण। दक्षिणेन। पक्षे यथास्वं प्रत्ययाः। इह केचिद्दिक्शब्दमात्रादेनपमाहुः। पूर्वेण ग्रामम्। **(२१२७) दक्षिणादाच् ५।३।३६।** अस्तातेर्विषये। दक्षिणा वसति। 'अपञ्चम्याः'

(२१२६) **एनबन्यतरस्यामिति**। 'अपञ्चम्या इति प्रागसेः' इति भाष्यम्। सूत्रक्रमे 'पूर्वाधर' इत्यसिं वक्ष्यति ततः प्रागित्याशयः। पूर्वसूत्रात् 'उत्तराधरदक्षिणादि'त्यनुवर्तते। तदाह — **उत्तरादिभ्य इति**। **यथास्वमिति**। एनबभावपक्षे — अस्तातिः असिः आतिश्चेत्यर्थः।

(२१२७) **दक्षिणादाच्**। **अस्तातेर्विषय इति**। अदूरे इति नानुवर्तत इति सूचितम्। एवं च आच्प्रत्यये 'उत्तराधरदक्षिणादि'त्यातिप्रत्यये 'दक्षिणोत्तराभ्याम्' इत्यतसुचि च कृते त्रीणि रूपाणि भवन्तीत्यर्थः।

मूलार्थ—उत्तर, अधर और दक्षिण शब्द से आति प्रत्यय होता है। उत्तरात्। अधरात्। दक्षिणात्।

विमर्श—"उत्तर, अधर तथा दक्षिण इन दिशावाचक शब्दों से अस्ताति के अर्थ में आति प्रत्यय होता है।" यह अस्ताति का अपवाद है।

उदाहरण—उत्तरस्यां दिशि आदि (उत्तर + आति = आत्, अन्त्यवर्णलोप तथा विभक्ति-लुक्) = उत्तरात् (उत्तर की ओर आदि)। अधरस्यां दिशि आदि (अधर + आति = आत्) = अधरात् (नीचे की ओर आदि)। दक्षिणस्यां दिशि (दक्षिण + आति = आत्) = दक्षिणात् (दक्षिण की ओर)।

(२१२६) **पद**—एनप्, अन्यतरस्याम्, अदूरे, अपञ्चम्याः। **अनुवृत्ति**—उत्तराधरदक्षिणात्, दिक्छब्देभ्यः······कालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अवधि और अवधिमान का सामीप्य गम्य होने पर उत्तर आदि शब्दों से एनप् प्रत्यय विकल्प से होता है। पञ्चम्यन्त से एनप् नहीं होता। उत्तरेण। अधरेण। दक्षिणेन। पक्ष में यथाप्राप्त प्रत्यय होंगे। यहाँ कोई आचार्य समस्त दिक् शब्दों से एनप् प्रत्यय मानते हैं। पूर्वेण ग्रामम्।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१२५) से 'उत्तराधरदक्षिणात्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "पञ्चम्यन्त से भिन्न अर्थात् सप्तम्यन्त तथा प्रथमान्त उत्तर, अधर और दक्षिण शब्दों से निकटता (सामीप्य) गम्यमान होने पर विकल्प से एनप् (= एन) प्रत्यय होता है।" पक्ष में यथाप्राप्त 'आति' एवं उत्तर, दक्षिण से अतसुच् आदि होते हैं।

उदाहरण—उत्तरस्यां दिशि, उत्तरा वा दिक् (उत्तर + एनप् = 'एन', 'अ' का लोप - 'यस्येति च', णत्व, विभक्तिलुक्) = उत्तरेण (समीप ही उत्तर की ओर आदि)। अधरस्यां दिशि अधरा वा दिक् (अधर + एनप् = 'एन', अन्त्यवर्णलोप, णत्व) = अधरेण (नीचे की ओर पास में)। दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणा वा दिक् (दक्षिण + एनप् = 'एन') = दक्षिणेन।

विशेष—कतिपय आचार्यों के मतानुसार यहाँ पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित नहीं है। अतः सभी दिशावाचक शब्दों से उक्त अर्थ में एनप् प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—पूर्वस्यां दिशि पूर्वा वा दिक् (पूर्व + एनप् = 'एन', अन्त्यवर्णलोप, णत्व) = पूर्वेण ग्रामम् (गाँव के पास ही पूरब की ओर)।

(२१२७) **पद**—दक्षिणात्, आच्। **अनुवृत्ति**—अपञ्चम्याः, दिक्शब्देभ्यः········कालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अस्ताति के विषय में दक्षिण शब्द से आच् प्रत्यय होता है। दक्षिणा वसति। पञ्चम्यन्त से यह नहीं होता। दक्षिणादागतः।

इत्येव। दक्षिणादागतः। (२१२८) **आहि च दूरे ५।३।३७।** चादाच्। दक्षिणाहि, दक्षिणा। (२१२९) **उत्तराच्च ५।३।३८।** उत्तराहि, उत्तरा। (२१३०) **संख्याया विधार्थे धा ५।३।४२।** क्रियाप्रकारार्थे वर्तमानात् संख्याशब्दात्स्वार्थे धा

(२१२८) **आहि चेति**। दक्षिणादित्यनुवर्तत इति भावः। अतः दक्षिणाशब्दाद्दूरेऽर्थे आहिः स्यादित्यर्थः।

(२१२९) **उत्तराच्चेति**। आच् आहि चेति शेषः। उत्तराहि—उत्तरस्यां दिशि दूरे इत्यर्थः।

(२१३०) **संख्याया विधार्थे धा इति**। विधार्थः प्रकारः स चेहाभिधानस्वभावात् क्रियाविषयक एव गृह्यते। तदाह — **क्रियाप्रकार इति**। **चतुर्धा इति**। चतुर्भिः प्रकारैः इति विग्रहे यत्वे सुलोपे 'चतुर्धा' इति।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१२६) से 'अपञ्चम्याः' की अनुवृत्ति आ रही है। अन्य प्राकरणिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार "पञ्चम्यन्त से भिन्न अर्थात् सप्तमी-प्रथमान्त दिशावाचक दक्षिण शब्द से अस्ताति के अर्थ में 'आच्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—दक्षिणस्यां वसति (दक्षिण + आच् = 'आ', अन्त्यवर्णलोप) = दक्षिणा वसति (दक्षिण में रहता है)।

प्रत्युदाहरण—पूर्वसूत्र से 'अपञ्चम्याः' की अनुवृत्ति के प्रभाव से 'दक्षिणात् आगतः' में पञ्चम्यन्त होने के कारण 'आच्' प्रत्यय नहीं होता।

(२१२८) **पद**—आहि, च, दूरे। **अनुवृत्ति**—दक्षिणादाच्, अपञ्चम्याः, दिक्शब्देभ्यः······कालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दक्षिण शब्द से दूर अर्थ में 'आहि' प्रत्यय भी होता है। दक्षिणाहि, दक्षिणा।

विमर्श—सम्पूर्ण पूर्वसूत्र 'दक्षिणादाच्' की अनुवृत्ति आती है। शेष उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् अनुसरण कर रही है। अतः "सप्तम्यन्त तथा प्रथमान्त दक्षिण शब्द से 'आहि' प्रत्यय भी होता है। पूर्वसूत्रोक्त आच् भी होता है।"

उदाहरण—दक्षिणस्यां दक्षिणा वा (दक्षिण + आहि, अन्त्यवर्ण 'अ' का लोप) = दक्षिणाहि (दूर दक्षिण में या दक्षिण)। पक्ष में 'आच्' होने पर 'दक्षिणा'।

(२१२९) **पद**—उत्तरात्, च। **अनुवृत्ति**—आहि, दूरे, आच्, अपञ्चम्याः, दिक्शब्देभ्य······कालेषु, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उत्तर शब्द से भी 'आहि' और 'आच्' प्रत्यय होते हैं। उत्तराहि, उत्तरा।

विमर्श—सूत्रस्थ 'च' से पूर्वसूत्रोक्त 'आहि' तथा 'आच्' का अनुकर्षण होता है। पूर्ववत् सभी प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्तियाँ प्रभावी हैं। तदनुसार "पञ्चम्यन्त भिन्न उत्तर शब्द से भी दूर अर्थ के विषय में 'आहि' और 'आच्' प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—दूरे उत्तरस्यां दिशि, उत्तरा दिक् वा (उत्तर + 'आहि', अन्त्यवर्णलोप) = **'उत्तराहि'**। 'आच्' होने पर - **उत्तरा**।

(२१३०) **पद**—संख्यायाः, विधार्थे, धा। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—क्रियाविषयक प्रकार अर्थ में वर्तमान संख्यावाचक शब्द से स्वार्थ में 'धा' प्रत्यय होता है। चतुर्धा।

विमर्श—संख्यावाचक शब्दों से विशेष अर्थ में प्रत्यय विधान किया जा रहा है। **'विधार्थे'**

स्यात्। चतुर्धा। **(२१३१) एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम् ५।३।४४**। ऐकध्यम्, एकधा। **(२१३२) द्वित्र्योश्च धमुञ् ५।३।४५**। आभ्यां धा इत्यस्य धमुञ् वा। द्वैधम्, द्विधा। त्रैधम्, त्रिधा। **(२१३३) एधाच्च ५।३।४६**। द्वेधा। त्रेधा।

(२१३१) **एकाद्ध इति**। एकशब्दात्परस्य धाप्रत्ययस्य विकल्पेन ध्यमुञादेशः स्यादित्यर्थः। ञित्त्वादादिवृद्धिः — ऐकध्यम्। पक्षे — एकधा।

(२१३२) **द्वित्र्योश्चेति**। अन्यतरस्यामित्यनुवर्तते, धा इति च। 'द्वित्र्योः' इत्यत्र पञ्चम्यर्थे षष्ठी। अत आह — **आभ्यामिति**।

(२१३३) **एधाच्चेति**। द्वित्रिभ्यां परस्य धाप्रत्यय एधाच् इत्यादेशः स्यादित्यर्थः।

का अर्थ 'प्रकार' होता है। सामान्य के निवर्तक विशेष को प्रकार कहा जाता है। सूत्र में 'अर्थ' पद का निवेश होने से विधार्य - 'क्रियाविषयक अर्थ का प्रकार' स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार ''क्रिया के प्रकार में विद्यमान संख्यावाचक शब्दों से 'धा' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—चतुर्भिः प्रकारैः (चतुर् + धा) = चतुर्धा (चार प्रकार से)।

(२१३१) **पद**—एकात्, धः, ध्यमुञ्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—एक शब्द से परे धा को ध्यमुञ् आदेश विकल्प से होता है। ऐकध्यम्, एकधा।

विमर्श—सूत्रस्थ 'धः' पद षष्ठ्यन्त है। वह स्थानी है और ध्यमुञ् आदेश है। तदनुसार ''एक शब्द से परवर्ती 'धा' के स्थान में विकल्प से ध्यमुञ् (ध्यम्) आदेश होता है।''

उदाहरण—एकेन प्रकारेण (एक + 'धा' - 'संख्याया विधार्थे धा', धा = ध्यमुञ् = 'ध्यम्' विकल्प से, ध्यमुञ् के ञित् होने से आदिवृद्धि, 'ए' = 'ऐ') = ऐकध्यम्। पक्ष में - एकधा (एक प्रकार से)।

(२१३२) **पद**—द्वित्र्योः, च, धमुञ्। **अनुवृत्ति**—धः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वि, त्रि शब्द से परे 'धा' को 'धमुञ्' आदेश विकल्प से होता है। द्वैधम्, द्विधा। त्रैधम्, त्रिधा।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१३०) से स्थानिवाचक 'धा' की तथा २१३१ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''द्वि तथा त्रि शब्दों से परवर्ती 'धा' प्रत्यय के स्थान में विकल्प से धमुञ् (= धम्) आदेश होता है।''

उदाहरण—द्विप्रकारम् (द्वि + 'धा', धा = धमुञ् = 'धम्' विकल्प से, आदिवृद्धि, विभक्ति सु, अव्ययसंज्ञा, सुब्लुक्) = द्वैधम्। पक्ष में 'धा' प्रत्यय होने पर - 'द्विधा'। त्रिप्रकारम् (त्रि + धा = धमुञ् विकल्प से, आदिवृद्धि) = त्रैधम्। पक्ष में - त्रिधा।

(२१३३) **पद**—एधात्, च। **अनुवृत्ति**—द्वित्र्योः, धः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वि, त्रि शब्दों से परे 'धा' को एधाच् आदेश भी होता है। द्वेधा। त्रेधा।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१३२) से स्थानिवाचक 'द्वित्र्योः' की अनुवृत्ति आ रही है। पूर्ववत् 'धः' तथा 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति भी आ रही है। अतः ''द्वि, त्रि सम्बन्धी 'धा' के स्थान में विकल्प से 'एधाच्' आदेश भी होता है।''

उदाहरण—द्वि + धा (= एधाच् = 'एधा' विकल्प से, अन्त्य 'इ' का लोप) = द्वेधा (दो प्रकार से)। त्रि + धा (धा = एधाच् = 'एधा') = त्रेधा। पक्ष में उक्त रूप भी होंगे।

(२१३४) याप्ये पाशप् ५।३।४७। कुत्सितो भिषक् भिषक्पाशः। * तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः *। द्वैतीयीकः, द्वितीयः। तार्तीयीकः, तृतीयः। * न विद्यायाः *। द्वितीया, तृतीया विद्येत्येव। **(२१३५) एकादाकिनिच्चासहाये ५।३।५२।** चात्कन्लुकौ। एकः। एकाकी। एककः। **(२१३६) भूतपूर्वे चरट् ५।३।५३।**

(२१३४) **याप्ये पाशप्**। याप्यः=कुत्सितः। कुत्सिते विद्यमानात्स्वार्थे पाशप् स्यादिति।

(२१३५) **एकादाकिनिच्चासहाये**। असहायवाचकादेकशब्दात्स्वार्थे आकिनिच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। चकारात्पक्षे कन्, कनो लुक् च भवति।

(२१३६) **भूतपूर्वे चरट्**। भूतपूर्वे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे चरट्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(२१३४) **पद**—याप्ये, पाशप्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कुत्सित अर्थ में पाशप् प्रत्यय होता है। भिषक्पाशः। **वा०**—तीयप्रत्ययान्त से स्वार्थ में 'ईकक्' प्रत्यय होता है। द्वैतीयकः, द्वितीयः। तार्तीयीकः, तृतीयः। **वा०**—विद्या अर्थ में तीय प्रत्ययान्त से ईकक् नहीं होता। द्वितीया तृतीया वा विद्या।

विमर्श—"याप्ये (= कुत्सित, निन्दा) अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिकों से 'पाशप्' (= पाश) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—कुत्सितः भिषक् (भिषक् + पाशप् = पाश) = भिषक्पाशः (निन्दित कर्म करने वाला चिकित्सक)।

१. **वा०**—तीयप्रत्ययान्त से स्वार्थ में विकल्प से ईकक् (= ईक) प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—द्वितीय + ईकक् (= 'ईक' विकल्प से, अन्त्यवर्णलोप, आदिवृद्धि - 'किति च', विभक्तिकार्य) = द्वैतीयीकः। पक्ष में — द्वितीयः (दूसरा)। तृतीय + ईकक् = (ईक, अन्त्यलोप, ऋ = 'आ', आदिवृद्धि, रपर) =तार्तीयीकः। पक्ष में -- तृतीयः (= तीसरा)।

२. **वा०**—विद्यार्थक द्वितीय एवं तृतीय शब्दों से 'ईकक्' प्रत्यय नहीं होता। अतः 'द्वितीया विद्या' (दूसरी विद्या), 'तृतीया विद्या' (तीसरी विद्या) में ईकक् प्रत्यय नहीं होता।

(२१३५) **पद**—एकात्, आकिनिच्, च, असहाये। **अनुवृत्ति**—कन्लुकौ, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—असहाय अर्थ में वर्तमान एक शब्द से स्वार्थ में आकिनिच् प्रत्यय होता है। 'च' ग्रहण से पक्ष में 'कन्' का लुक् भी होता है। एकः, एकाकी, एककः।

विमर्श—यहाँ 'मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च' (५।३।५१) से 'कन्लुकौ' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "असहाय (अकेला) अर्थ में वर्तमान एक शब्द से आकिनिच् (= आकिन्) प्रत्यय तथा 'कन्' प्रत्यय का लुक् भी होता है।"

उदाहरण—असहायः (एक + आकिनिच् = आकिन्, अन्त्यवर्णलोप, प्रथमा एकवचन में विभक्तिकार्य) = एकाकी। कन् प्रत्यय होने पर - एककः। 'कन्' का लुक् होने पर - एकः (अकेला)।

(२१३६) **पद**—भूतपूर्वे, चरट्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—भूतपूर्व अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में चरट् प्रत्यय होता है। आढ्यचरः।

विमर्श—आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। जिसका समय बीत

आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यचरः । (२१३७) षष्ठ्या रूप्य च ५।३।५४ । षष्ठ्यन्ताद्भूत-पूर्वेऽर्थे रूप्यः स्याच्चरट् च। कृष्णस्य भूतपूर्वो गौः कृष्णरूप्यः, कृष्णचरः । **(२१३८) अतिशायने तमबिष्ठनौ ५।३।५५ ।** अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः । अयमेषामतिशयेनाढ्यः आढ्यतमः । लघुतमः, लघिष्ठः । **(२१३९) तिङश्च ५।३।५६ ।** तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् । **(२१४०) तरप्तमपौ घः १।१।२२ ।**

(२१३७) **षष्ठ्या इति** । 'भूतपूर्वे चरट्' इत्यनुवर्तते । तदाह — **षष्ठ्यन्तादिति** ।

(२१३८) **अतिशायन इति** । अतिपूर्वकः शीङ्धातुरुत्कर्षेऽर्थे वर्तते । अतिशायने इति प्रकृत्यर्थविशेषणम् । अतिशयितरि विद्यमानात् शब्दात्स्वार्थे तमप् इष्ठन् च स्यादित्यर्थः । **लघिष्ठः** — इष्ठन्प्रत्यये ओर्गुणे प्राप्ते 'इष्ठेमेयस्सु' इत्यनुवृत्तौ टेरिति टिलोपः ।

(२१३९) **तिङश्चेति** । अत्राप्रातिपदिकत्वाप्राप्ते वचनम् ।

गया उसे पूर्वं भूतः = भूतपूर्व कहा जाता है । तदनुसार "भूतपूर्व अर्थ में वर्तमान शब्द से चरट् (= चर) प्रत्यय होता है । ट् की इत्संज्ञा होने से स्त्रीलिंग में ङीप् होता है ।"

उदाहरण—आढ्यः भूतपूर्वः (आढ्य + चरट् = चर, विभक्तिकार्य) = आढ्यचरः (जो पहले धनवान् रहा हो) ।

(२१३७) **पद**—षष्ठ्याः, रूप्य, च । **अनुवृत्ति**—भूतपूर्वे चरट्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त से भूतपूर्व अर्थ में 'रूप्य' प्रत्यय होता है और चरट् भी । कृष्णरूप्यः, कृष्णचरः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'भूतपूर्वे चरट्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । 'रूप्य' पद लुप्त-प्रथमाविभक्तिक है । अतः "भूतपूर्व अर्थ में वर्तमान षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'रूप्य' और 'चरट्' प्रत्यय होते हैं ।"

उदाहरण—कृष्णस्य भूतपूर्वः गौः (कृष्ण + रूप्य) = कृष्णरूप्यः । कृष्ण + चरट् (= 'चर') = कृष्णचरः (पहले का कृष्ण का बैल) ।

(२१३८) **पद**—अतिशायने, तमबिष्ठनौ । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अतिशय विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में तमप् और इष्ठन् प्रत्यय होते हैं । आढ्यतमः । लघुतमः, लघिष्ठः ।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति विद्यमान है । 'अतिशायने' पद प्रकर्ष अर्थ का बोधक है । तदनुसार "अतिशय (विशिष्ट) अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'तमप्' (= तम) तथा 'इष्ठन्' (= इष्ठ) प्रत्यय होते हैं ।" ये दोनों प्रत्यय बहुतों में उत्कर्षता सूचित होने पर होते हैं । इष्ठन् प्रत्यय होने पर टिलोप होता है ।

उदाहरण—अयम् एषाम् अतिशयेन आढ्यः (आढ्य + तमप् = 'तम') = आढ्यतमः (सब में अधिक सम्पन्न) । अयम् एषाम् अतिशयेन लघुः (लघु + तमप् = तम) = लघुतमः । लघु + इष्ठन् (= 'इष्ठ', टि = 'उ' का लोप) = लघिष्ठः (इन में सबसे छोटा) ।

(२१३९) **पद**—तिङः, च । **अनुवृत्ति**—अतिशायने, तमप्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तिङन्त से अतिशय द्योत्य रहने पर तमप् प्रत्यय होता है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१३८) से 'अतिशायने तमप्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार पूर्वोक्त अर्थ निष्पन्न होता है । यहाँ 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (४।१।१) का अधिकार होने से तद्धित प्रत्यय

(२१४१) किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११ । किम एदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्तादामुः स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे । किन्तमाम् । प्राह्णतमाम् । प्रगेतमाम् । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्षे तु - उच्चैस्तमस्तरुः । **(२१४२) द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५।३।५७ ।** द्वयोरेकस्यातिशये विभक्तव्ये चोपपदे

(२१४०) **तरप्तमपौ घः** । एतौ घसञ्ज्ञौ स्त इत्यर्थः ।

(२१४१) **किमेत्तिङव्यय इति** । आमु इतिच्छेदः, उकार उच्चारणार्थः । किम्, एत्, तिङ्, अव्यय एषां चतुर्णां द्वन्द्वः । 'किमेत्तिङव्ययप्रकृतिको घः' इति मध्यमपदलोपीसमासः अत आह — **किम एदन्तादित्यादिना** ।

(२१४२) **द्विवचनविभज्योपपद इति** । उच्यतेऽनेनेति वचनम्, द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनम् । 'अतिशायने' इति तिङ इति चानुवर्तते । सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिरिति सिद्धान्तात्सुबन्तं

प्रातिपदिक से ही होते हैं । अतः विशेष दशा में तिङन्त से पृथक् विधान किया गया है । 'अजादी गुणवचनादेव' से अजादि इष्ठन् प्रत्यय गुणवचन प्रातिपदिकों से ही होता है । इस नियम के अनुसार यहाँ तिङन्त (क्रियावाचक) से विधान होने के कारण 'इष्ठन्' की अनुवृत्ति नहीं आती ।

(२१४०) **पद**—तरप्-तमपौ, घः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—इन दोनों की घ संज्ञा होती है ।

विमर्श—यह संज्ञासूत्र है । 'तरप्' और 'तमप्' प्रत्ययों की घ संज्ञा होती है ।

(२१४१) **पद**—किमेत्तिङव्ययात्, आमु, अद्रव्यप्रकर्षे । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—किम् शब्द और एदन्त प्रातिपदिक, तिङन्त तथा अव्यय से परे जो घ, तदन्त से द्रव्यप्रकर्ष से भिन्न अर्थ में 'आमु' प्रत्यय होता है । किन्तमाम् । प्राह्णेतमाम् । प्रगेतमाम् । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्ष रहने पर - उच्चैस्तमस्तरुः (आम् नहीं होता) ।

विमर्श—घ संज्ञा के प्रसङ्ग में प्रकृत सूत्र का उल्लेख किया गया है । किम् च, एत् च, तिङ् च, अव्ययं च - किमेत्तिङव्ययानि, तेभ्यः विहितः घः किमेत्तिङव्ययघः, तस्मात् (द्वन्द्वगर्भतत्पुरुष) । 'आमु' लुप्तप्रथमान्त पद है । तदनुसार "द्रव्यप्रकर्ष अर्थ से भिन्न अन्य प्रकार का प्रकर्ष अपेक्षित होने पर किम् शब्द, एकारान्त शब्द, तिङन्त तथा अव्यय शब्दों से विहित 'घ' (= तरप् तथा तमप् प्रत्ययान्त) शब्दों से आमु (= आम्) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—एषाम् अतिशयेन किम् (किम् + तमप् = 'तम' - 'अतिशायने तमबिष्ठनौ', 'घ' संज्ञा - 'तरप्तमपौ घः', आमु = 'आम्' प्रत्यय - प्रकृत सूत्र से) — किम् + तम + आम् ('अ' का लोप, म् = ं अनुस्वार = 'न्' - परसवर्ण, विभक्तिलुक्) = किन्तमाम् (कितना अधिक) । अतिशयिते पूर्वाह्णे (प्राह्णे + तमप् = 'तम' + आम्, प्रक्रिया उक्तवत्) = प्राह्णेतमाम् (बिलकुल पूर्वाह्ण में) । **तिङन्त**—अतिशयिता पाकक्रिया (पचति + तम + आम्) = पचतितमाम् (अत्युत्तम पाक) । **अव्यय**—अतिशयिता आशंसनक्रिया (उच्चैस् + तम + आम्) = उच्चैस्तमाम् (बहुत जोर से) ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अद्रव्यप्रकर्षे' का पाठ होने से 'उच्चैस्तमः तरुः' (सबसे ऊँचा पेड़) में द्रव्यप्रकर्ष की अपेक्षा होने से 'आमु' प्रत्यय नहीं होता ।

(२१४२) **पद**—द्विवचनविभज्योपपदे, तरबीयसुनौ । **अनुवृत्ति**—अतिशायने, तिङः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

सुप्तिङन्तादेतौ स्तः। पूर्वयोरपवादः। अयमनयोरतिशयेन लघुः, लघुतरः, लघीयान्। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटीयांसः। (२१४३) अजादी गुणवचनादेव ५।३।५८। इष्ठन्नीयसुनौ नेह – पाचकतरः, पाचकतमः। (२१४४) प्रशस्यस्य श्रः ५।३।६०। इष्ठयसोः परतः। (२१४५) प्रकृत्यैकाच् ६।४।१६३। इष्ठादिष्वेकाच्

प्रातिपदिकविशेषणमत आह – **द्वयोरेकस्येति**। द्वयोर्मध्ये अन्यतरापेक्षया अतिशयविशिष्टस्वार्थ-वृत्तेः विभागप्रयोजकीभूतधर्मवाचकात् च शब्दात् तरप्–ईयसुन्प्रत्ययौ स्त इत्यर्थः।

(२१४३) **अजादी इति**। तरप्तमपौ इष्ठनीयसुनाविति चत्वारः प्रत्यया अनुक्रान्तास्तेषां मध्ये यौ अजादी इष्ठनीयसुनौ तौ गुणवाचकादेव स्त इत्यर्थः।

(२१४४) **प्रशस्यस्य श्रः**। प्रशस्यशब्दस्य श्रादेशः स्यादित्याशयः।

मूलार्थ—दो में से एक का अतिशय द्योत्य होने पर अथवा विभक्तव्य उपपद होने पर सुबन्त और तिङन्त शब्दों से तरप् तथा ईयसुन् प्रत्यय होते हैं। लघुतरः, लघीयान्। पटुतराः, पटीयांसः।

विमर्श—पूर्वसूत्र अतिशायने तमबिष्ठनौ' (२१३८) से 'अतिशायने' की अनुवृत्ति आ रही है। प्रकृत सूत्र में उद्देश्यवाचक पद का अभाव है। अतः आधिकारिक रूप से अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' एवं 'तिङश्च' (२१३९) से अनुवृत्त 'तिङः' का आश्रय लेना पड़ता है। तदनुसार "दो में से एक का आधिक्य रहने पर तथा विभाग करने योग्य शब्द यदि समीप में हों तो प्रातिपदिक एवं तिङन्त से अतिशयविशिष्ट अर्थ में तरप् (= तर) तथा ईयसुन् (= ईयस्) प्रत्यय होते हैं।" 'अजादी गुणवचनादेव' नियम के अनुसार ईयसुन् प्रत्यय केवल गुणवाचक प्रातिपदिक से ही होता है।"

उदाहरण—**द्व्यर्थ**—(क) अयम् अनयोः अतिशयेन लघुः (लघु + तरप् = तर, सु = स् = र् :) = लघुतरः। (ख) लघु + ईयसुन् (= ईयस्, टि का लोप) = लघीयस् (प्रथमा एकवचन में) = लघीयान् (इन दोनों में यह छोटा)। **विभज्य अर्थ**—(क) उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटवः (पटु + तरप् = 'तर', प्रथमा बहुवचन) = पटुतराः। (ख) पटु + ईयसुन् (= ईयस्, टिलोप) = पटी-यांसः (उत्तर के लोग पूर्व लोगों से अधिक चतुर हैं)।

(२१४३) **पद**—अजादी, गुणवचनात्, एव। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय गुणवाचक शब्दों से ही होते हैं। गुणवचन (कथन) न होने से 'पाचकतरः, पाचकतमः' में इष्ठन् और ईयसुन् नहीं होते।

विमर्श—पूर्वसूत्रों द्वारा 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' का विधान किया जा चुका है। यहाँ नियमन किया जा रहा है कि अतिशयार्थक दो अजादि प्रत्यय (इष्ठन् और ईयसुन्) केवल गुणवाचक प्रातिपदिक से ही होते हैं।"

प्रत्युदाहण—उपर्युक्त अजादिप्रत्ययविषयक नियम गुणवाचक शब्दों से ही किये जाने से अनयोः अतिशयेन पाचकः = 'पाचकतरः' तथा एषाम् अतिशयेन पाचकः = 'पाचकतमः' में केवल 'तरप्, तमप्' प्रत्यय ही होते हैं, इष्ठन् आदि नहीं। पाचक शब्द यहाँ द्रव्य (व्यक्ति) वाचक है।

(२१४४) **पद**—प्रशस्यस्य, श्रः। **अनुवृत्ति**—अजादी, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इष्ठन् और ईयसुन् (अजादि) प्रत्ययों के परे रहते 'प्रशस्य' शब्द को 'श्र' आदेश होता है।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१४३) से 'अजादी' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार "प्रशस्य शब्द के स्थान में 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' प्रत्ययों के परवर्ती रहते 'श्र' आदेश होता है।"

प्रत्ययः स्यात्। श्रेष्ठः, श्रेयान्। (२१४६) ज्य च ५।३।६१ । प्रशस्यस्य ज्यादेशः इष्ठेयसोः। ज्येष्ठः। (२१४७) ज्यादादीयसः ६।४।१६० । 'आदेः परस्य'।

(२१४५) **प्रकृत्यैकाच्**।एकः अच् यस्येति बहुव्रीहिः।'तुरिष्ठेमेयःसु' इत्यतः 'इष्ठेमेयः-सु' इत्यनुवर्तते। तदाह — **इष्ठादिष्विति**। **श्रेष्ठः** — 'अतिशयेन प्रशस्यः' इति विग्रहे प्रशस्य-शब्दात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्यनेन इष्ठन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'प्रशस्यस्य श्रः' इत्यनेन श्र आदेशे, टिलोपे प्राप्ते 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावे 'आद्गुणः' इति गुणे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'श्रेष्ठः' इति। ईयसुन्प्रत्ययपक्षे 'प्रशस्य + ईयस्' इति जाते श्र आदेशे 'प्रकृत्यै-काच्' इति प्रकृतिभावे गुणे श्रेयस् इति जाते प्रातिपदिकत्वात् सुलोपे उगित्वान्नुमि हल्ङ्यादिना सुलोपे नान्तत्वाद्दीर्घे संयोगान्तलोपे 'श्रेयान्' इति।

(२१४६) **ज्य चेति**। ज्य इति लुप्तप्रथमाकम्। प्रशस्येति अजादी इति चानुवर्तते। तदाह — **प्रशस्यस्येति**।

(२१४७) **ज्यायादीयसः**। ज्यात्परस्य ईयस आकारादेशः स्यादित्यर्थः।

(२१४५) **पद**—प्रकृत्या, एकाच्। **अनुवृत्ति**—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इष्ठन् आदि प्रत्यय परे रहते एकाच् को प्रकृतिभाव होता है। श्रेष्ठः, श्रेयान्।

विमर्श—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (६।४।१५४) से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति आती है। 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार "एक अच् वाला भसंज्ञक अङ्ग, इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् प्रत्यय के परे रहते प्रकृतिवत् रह जाता है।"

उदाहरण—अयम् एषाम् अतिशयेन प्रशस्यः (प्रशस्य + इष्ठन् = 'इष्ठ', प्रशस्य = श्र आदेश) = श्रेष्ठः (सबसे अधिक प्रशंसनीय)। यहाँ 'प्रकृत्यैकाच्' से प्रकृतिभाव होने के कारण 'टेः' से प्राप्त टिलोप नहीं होता; अ + इ = 'ए' - गुण होकर उक्त रूप निष्पन्न होता है। प्रशस्य + ईयसुन् (= ईयस्, प्रकृतिभाव, गुण, प्रथमा एकवचन) = श्रेयान्।

(२१४६) **पद**—ज्य, च। **अनुवृत्ति**—प्रशस्यस्य, अजादी, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रशस्य शब्द को ज्य आदेश भी होता है; इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय के परे रहते। ज्येष्ठः।

विमर्श—'ज्य' पद लुप्तप्रथमोन्त है। 'प्रशस्यस्य श्रः' (२१४४) से 'प्रशस्यस्य' की तथा २१४३ से 'अजादी' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार यह अर्थ निष्पन्न होता है कि "अजादि (इष्ठन् और ईयसुन् आदि) प्रत्ययों के परवर्ती रहते प्रशस्य शब्द के स्थान में 'ज्य' आदेश होता है।"

उदाहरण—(क) अतिशयेन प्रशस्यः (प्रशस्य + इष्ठन् = 'इष्ठ', प्रशस्य = 'ज्य' आदेश, अ + इ = 'ए', गुण, विभक्तिकार्य) = ज्येष्ठः।

(२१४७) **पद**—ज्यात्, आत्, ईयसः। **अनुवृत्ति**—भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ज्य से परे ईयस् को 'आत्' आदेश होता है। 'आदेः परस्य' परिभाषानुसार ईयस् के 'ई' को होगा।

विमर्श—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार "ज्य अङ्ग से परवर्ती ईयस् को आत् (= आ) आदेश होता है।" 'आदेः परस्य' के अनुसार यह आदेश आदि वर्ण 'ई' के स्थान में होता है।

ज्यायान्। **(२१४८) वृद्धस्य च ५।३।६२।** ज्यादेशः अजाद्योः। ज्येष्ठः, ज्यायान्। **(२१४९) अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ ५।३।६३।** अजाद्योरिष्ठेयसोः। नेदिष्ठः, नेदीयान्। साधिष्ठः, साधीयान्। **(२१५०) स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ६।४।१५६।** एषां यणादिपरं लुप्यते, पूर्वस्य च गुण

(२१४८) **वृद्धस्य चेति। ज्यादेशः स्यादजाद्योरिति।** इष्ठन्नीयसुनोरित्यर्थः।

(२१४९) **अन्तिकबाढयोरिति।** अन्तिक बाढ अनयोरिष्ठेयसुनोः परतः नेद, साध एतावादेशौ स्त इत्यर्थः। अतिशयेन अन्तिकः नेदिष्ठः।

(२१५०) **स्थूलदूर इति। एषामिति।** स्थूल दूर युवन् ह्रस्व क्षिप्र क्षुद्र इत्येतेषामित्यर्थः। **यणादीति।** यण् आदिर्यस्येति विग्रहः, परमिति यणादीत्यस्य विशेषणम्, परभूतं यणादि इत्यर्थः। 'तुरिष्ठेमेयःसु' इत्यतः 'इष्ठेमेयःसु' इत्यनुवर्तते। तदाह – **एषामित्यादिना। स्थविष्ठ**

उदाहरण—(ख) प्रशस्य + ईयसुन् (= ईयस्, प्रशस्य = 'ज्य' आदेश - 'ज्य च', ई = 'आ' आदेश - 'ज्यायादीयसः', अ + आ = 'आ' - दीर्घ) — ज्यायस् (प्रथमा एकवचन) = ज्यायान्।

(२१४८) **पद**—वृद्धस्य, च। **अनुवृत्ति**—ज्य, अजादी, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वृद्ध शब्द को भी 'ज्य' आदेश होता है; अजादि प्रत्यय के परे रहते। ज्येष्ठः, ज्यायान्।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'ज्य च' (२१४६) से 'ज्य' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। अन्य पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् अनुसरण कर रही है। तदनुसार '''वृद्ध' शब्द के स्थान में भी अजादि प्रत्यय के परवर्ती रहते 'ज्य' आदेश होता है।''

उदाहरण—(क) अतिशयेन वृद्धः (वृद्ध + इष्ठन् = इष्ठ, वृद्ध = 'ज्य' आदेश - 'वृद्धस्य च', अ + इ = 'ए' - गुण, विभक्तिकार्य) = ज्येष्ठः (सबसे अधिक आयु वाला)। (ख) अनयोः अतिशयेन वृद्धः (वृद्ध + ईयसुन् = 'ईयस्', वृद्ध = 'ज्य' आदेश, ई = आत् = 'आ', दीर्घ, प्रथमा एकवचन) = ज्यायान् (दो में अधिक आयु वाला)।

(२१४९) **पद**—अन्तिकबाढयोः, नेदसाधौ। **अनुवृत्ति**—अजादी, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इष्ठन् और ईयसुन् परे रहते अन्तिक और बाढ शब्द को नेद और साध आदेश होते हैं। नेदिष्ठः, नेदीयान्। साधिष्ठः, साधीयान्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में दो स्थानी एवं दो आदेश हैं। पूर्वसूत्र (२१४३) से 'अजादी' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार ''अजादि प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'अन्तिक' शब्द के स्थान में 'नेद' आदेश तथा 'बाढ' शब्द के स्थान में 'साध' आदेश होता है।''

उदाहरण—(क) सर्वेषाम् अतिशयेन अन्तिकः (अन्तिक + इष्ठन् = 'इष्ठ', अन्तिक = 'नेद' आदेश, अन्त्यवर्णलोप) = नेदिष्ठः। (ख) अनयोः अतिशयेन अन्तिकः (अन्तिक + ईयसुन् = ईयस्, अन्तिक = 'नेद' आदेश, अन्तिम वर्ण 'अ' का लोप) — नेदीयस् (प्रथमा एकवचन) = नेदीयान् (दो में अधिक समीप)। (क) सर्वेषाम् अतिशयेन बाढः (बाढ = इष्ठन् = 'इष्ठ', बाढ = 'साध' आदेश, अन्त्यवर्णलोप) = साधिष्ठः (सबसे शक्तिशाली)। (ख) अनयोः अतिशयेन बाढः (बाढ + ईयसुन् = 'ईयस्', बाढ = 'साध' आदेश, टिलोप, विभक्तिकार्य) = साधीयान् (दो में शक्तिशाली)।

(२१५०) **पद**—स्थूल.........क्षुद्राणाम्, यणादिपरम्, पूर्वस्य च गुणः। **अनुवृत्ति**—इष्ठेमेयस्सु, लोपः, भस्य, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इष्ठन्, ईयसुन् और इमनिच् प्रत्यय परे रहते स्थूल आदि शब्दों में यणादिपर रूप

इष्ठादिषु । स्थविष्ठः । दविष्ठः । यविष्ठः । ह्रसिष्ठः । क्षेपिष्ठः । क्षोदिष्ठः । एवमीयसुन् । ह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां पृथ्वादित्वात् - ह्रसिमा, क्षेपिमा, क्षोदिमा । (२१५१) प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः ६।४।१५७ । प्रियादीनां प्रादयः स्युरिष्ठादिषु । प्रेष्ठः । स्थेष्ठः । स्फेष्ठः । वरिष्ठः । बंहिष्ठः । गरिष्ठः । वर्षिष्ठः । त्रपिष्ठः । द्राघिष्ठः । वृन्दिष्ठः । एवमीयसुन् । प्रेयान् ।

इति । अतिशयेन स्थूल इति विग्रहे स्थूलशब्दात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्यनेन इष्ठन्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'स्थूलदूरयुवह्रस्व०' इत्यादिना लस्य लोपे गुणेऽवादेशे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते '**स्थविष्ठः**' इति ।

(२०५१) **प्रियस्थिर इति** । प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक — एषां दशानां प्र, स्थ, स्फ, वर, बंहि, गर, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द एते आदेशाः अयमतिशयेन प्रिय इति विग्रहे 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्यनेन इष्ठन्प्रत्यये 'प्रियस्थिर०' इत्या-

---

भाग का लोप होता है और पूर्वभाग को गुण होता है । स्थविष्ठः । दविष्ठः । यविष्ठः । ह्रसिष्ठः । क्षेपिष्ठः । क्षोदिष्ठः । ह्रस्व आदि का पृथ्वादिगण में पाठ होने से - ह्रसिमा । क्षेपिमा । क्षोदिमा ।

विमर्श—'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (६।४।१५४) से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति आती है । 'अल्लोपोऽनः' से विधेयवाचक 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "इष्ठन्, ईयसुन् तथा इमनिच् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र तथा क्षुद्र - इन अङ्गों से परे जो यणादि भाग (यण् आदिर्यस्य तद् - यणादि, यणादि च अदः परं च = यणादिपरम्) उसका लोप होता है और उस यणादि से पूर्व को गुण होता है।"

उदाहरण—(क्रमशः) (१) एषु आवयोर्वा अतिशयेन स्थूलः (स्थूल + इष्ठन् = 'इष्ठ', 'ल' यणादिभाग का लोप तथा 'उ' = 'ओ' - गुण - प्रकृत सूत्र से, ओ = 'अव्' आदेश, विभक्ति-कार्य) = स्थविष्ठः (सबसे मोटा) । (२) अतिशयेन दूरः (दूर + इष्ठन् = इष्ठ, दूर में 'र' का लोप तथा ऊ = ओ - गुण - 'स्थूलदूर०', ओ = 'अव्' आदेश) = दविष्ठः (बहुत दूर) । (३) अतिशयेन युवा (युवन् + इष्ठन् = 'इष्ठ', 'वन्' यणादिभाग का लोप तथा 'उ' = 'ओ' गुण, अवादेश) = यविष्ठः (सबसे अधिक युवक) । (४) अतिशयेन ह्रस्वः (ह्रस्व + इष्ठन् = 'इष्ठ', 'व' का लोप) = ह्रसिष्ठः (सबसे छोटा) । (५) अतिशयेन क्षिप्रः (क्षिप्र + इष्ठ, 'र' का लोप, 'इ' = 'ए' - गुण) = क्षेपिष्ठः (सबसे शीघ्र) । (६) अतिशयेन क्षुद्रः (क्षुद्र + इष्ठ, 'र' का लोप तथा 'उ' = 'ओ' - गुण) = क्षोदिष्ठः (सबसे क्षुद्र) । इसी प्रकार ईयसुन् = 'ईयस्' प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर यणादि भाग का लोप एवम् उससे पूर्व वर्ण को गुण होता है । स्थवीयान्, दवीयान्, यवीयान् आदि रूप बनते हैं ।

विशेष—ह्रस्व, क्षिप्र तथा क्षुद्र शब्दों का पृथ्वादिगण में पाठ होने से इमनिच् प्रत्यय (पृथ्वादिभ्य इमनिच्) होकर ह्रसिमा, क्षेपिमा और क्षोदिमा रूप बनते हैं ।

(२१५१) **पद**—प्रियस्थिर······वृन्दारकाणाम्, प्रस्थ······वृन्दाः । **अनुवृत्ति**—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय के परे रहते प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ और वृन्दारक को यथाक्रम से प्र, स्थ, स्फ, वर, बंहि, गर, वर्षि, त्रप्, द्राघि और वृन्द आदेश होता है । प्रेष्ठः । स्फेष्ठः । वरिष्ठः । बंहिष्ठः । गरिष्ठः । वर्षिष्ठः । त्रबिष्ठः । द्राघिष्ठः ।

प्रियोरुबहुलगुरुदीर्घाणां पृथ्वादित्वादिमनिच्। प्रेमा इत्यादि। (२१५२) बहोर्लोपो भू च बहोः ६।४।१५८। बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्याद्बहोश्च भूरादेशः। भूमा।

दिना प्र आदेशे 'प्र + इष्ठ' इति जाते, टिलोपे प्राप्ते 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावे गुणे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'प्रेष्ठः' इति सिद्धम्।

(२१५२) **बहोर्लोप इति**। 'इष्ठेमेयस्स्वि'त्यनुवर्तते। तत्र इष्ठन उत्तरसूत्रे कार्यान्तरविधानादिह तस्य न सम्बन्धः। तदाह — **बहोः परयोरिति**।

वृन्दिष्ठः। इसी प्रकार 'इमनिच्' में भी आदेश होते हैं। प्रेयान्। प्रिय, उरु, बहुल, गुरु और दीर्घ का पृथ्वादिगण में पाठ होने से 'इमनिच्' प्रत्यय होकर 'प्रेमा' आदि रूप भी बनेंगे।

विमर्श—'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति पूर्ववत् अनुसरण कर रही है। इस सूत्र में दस शब्द स्थानी हैं और दस ही आदेश हैं। अतः 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' के अनुसार आदेश क्रम से होते हैं। तदनुसार ''प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ तथा वृन्दारक इन अङ्गों को इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय के परवर्ती रहते क्रमशः प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि तथा वृन्द आदेश होते हैं।''

उदाहरण—(१) अतिशयेन प्रियः (प्रिय + इष्ठन् = 'इष्ठ', 'प्रिय' = 'प्र' आदेश - 'प्रियस्थिर०', 'प्रकृत्यैकाच्' से प्रकृतिभाव होने के कारण टिलोप नहीं होता। अ + इ = 'ए' - गुण, विभक्तिकार्य) = प्रेष्ठः (अत्यन्त प्रिय)। (२) अतिशयेन स्थिरः (स्थिर + इष्ठ, 'स्थिर' + 'स्थ' आदेश, गुण) = स्थेष्ठः (अतिशय स्थिर)। (३) अतिशयेन स्फिरः (स्फिर + इष्ठ, स्फिर = 'स्फ' आदेश, गुण आदि) = स्फेष्ठः (सबसे अधिक)। (४) अतिशयेन उरुः (उरु + 'इष्ट', उरु = वर आदेश) = वरिष्ठः (सबसे श्रेष्ठ)। (५) अतिशयेन बहुलः (बहुल + इष्ठ, बहुल = 'बंहि' आदेश, 'बंहि' में इकार उच्चारणार्थ है अन्यथा इकारोच्चारणसामर्थ्य से लोप की प्राप्ति नहीं होगी) = बंहिष्ठः (सबसे अधिक)। (६) अतिशयेन गुरुः (गुरु + इष्ठ, गुरु = 'गर्' आदेश) = गरिष्ठः (सबसे बड़ा)। (७) अतिशयेन वृद्धः (वृद्ध + इष्ठ, वृद्ध = वर्षि = 'वर्ष्' आदेश) = वर्षिष्ठः (सबसे वृद्ध)। (८) अतिशयेन तृप्रः (तृप्र + 'इष्ठ', तृप्र = 'त्रप्' आदेश) = त्रपिष्ठः (सबसे शीघ्र)। (९) अतिशयेन दीर्घः (दीर्घ + इष्ठ, दीर्घ = द्राघि = 'द्राघ्' आदेश (इकार उच्चारणार्थ) = द्राघिष्ठः (सबसे लम्बा या बड़ा)। (१०) अतिशयेन वृन्दारकः (वृन्दारक + इष्ठ, वृन्दारक = 'वृन्द' आदेश, अकार उच्चारणार्थ) = वृन्दिष्ठः (सबसे बड़ा समूह या झुण्ड)। इसी तरह ईयसुन् (= ईयस्) प्रत्यय होने पर प्रेयान्, स्थेयान्, स्फेयान्, वरीयान्, बंहीयान्, गरीयान्, वर्षीयान्, त्रपीयान्, द्राघीयान् तथा वृन्दीयान् रूप बनते हैं।

प्रिय, गुरु, उरु, बहुल तथा दीर्घ शब्दों का पृथ्वादिगण में पाठ होने से 'इमनिच्' प्रत्यय होकर प्रेमा, वरिमा, गरिमा आदि रूप भी बनते हैं।

(२१५२) **पद**—बहोः, लोपः, भू, च बहोः। **अनुवृत्ति**—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—बहु शब्द से परे इम और ईयस् का लोप होता है और बहु शब्द को भू आदेश होता है। भूमा, भूयान्।

विमर्श—यह भी आदेशात्मक विधान करने वाला सूत्र है। पूर्वसूत्रवत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार ''बहु शब्द से परवर्ती इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् का लोप होता है और 'बहु' शब्द के स्थान में भू आदेश भी होता है।'' 'आदेः परस्य' के नियम से यह लोप आदि वर्ण का होता है।

भूयान्। **(२१५३) इष्ठस्य यिट् च ६।४।१५९** । बहोः परस्य इष्ठस्य लोपो यिडागमश्च । भूयिष्ठः । **(२१५४) विन्मतोर्लुक् ५।३।६५** । इष्ठेयसोः परतः । अतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः । अतिशयेन त्वग्वान् त्वचिष्ठः, त्वचीयान् । **(२१५५) प्रशंसायां रूपप्**

(२१५३) **इष्ठस्येति** । **लोप इति** । 'आदेः परस्ये'ति बोध्यम् । **भूयिष्ठः** — बहुशब्दादिष्ठनि इलोपे यिडागमे भूरादेशे च 'भूयिष्ठः' इति ।

(२१५४) **विन्मतोर्लुक्** । विनोः मतुपश्च लुक् स्यादिष्ठेयसोः परतः ।

(२१५५) **प्रशंसायामिति**। 'तिङश्चे'त्यनुवर्तते प्रातिपदिकादिति च। प्रशंसाविशिष्टे स्वार्थे वर्तमानात् तिङन्तात्सुबन्ताच्च रूपबिति फलितार्थः ।

उदाहरण—(क) अतिशयेन बहुः (बहु + इमनिच् = 'इमन्' - 'पृथ्वादिभ्य इमनिच्', 'आदेः परस्य' के नियम से आदिवर्ण 'इ' का लोप तथा बहु = 'भू' आदेश - 'बहोर्लोपो भू च बहोः') — भूमन् (प्रथमा एकवचन) = भूमा । (ख) बहु + ईयसुन् (= ईयस्, 'ई' का लोप तथा बहु = 'भू' आदेश) — भूयस् (प्रथमा एकवचन विभक्तिकार्य) = भूयान् (सबसे अधिक) ।

(२१५३) **पद**—इष्ठस्य, यिट्, च । **अनुवृत्ति**—बहोः, लोपः, भू, च, बहोः, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—बहु से परे 'इष्ठ' का लोप होता है, यिट् का आगम होता है और बहु शब्द को 'भू' आदेश भी होता है । भूयिष्ठः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१५२) की अनुवृत्ति आ रही है । 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार "बहु शब्द से उत्तरवर्ती इष्ठन् के आदि वर्ण का लोप होता है, इष्ठन् को यिट् (= यि) का आगम होता है तथा बहु के स्थान में 'भू' आदेश भी होता है ।"

उदाहरण—बहु + इष्ठन् (= 'इष्ठ', प्रकृत सूत्र से 'इ' का लोप, यिट् = 'यि' का आगम तथा बहु = 'भू' आदेश) = भूयिष्ठः (अत्यधिक) ।

विशेष—महाभाष्यकार के अनुसार प्रकृत सूत्र में 'लोपः' की अनुवृत्ति नहीं आती तथा इष्ठन् में 'इ' की स्थिति रहने के कारण केवल 'य्' का ही आगम होता है । 'यिट्' में टकार इत्संज्ञक है तथा इकार उच्चारणार्थक है । तदनुसार (बहु + इष्ठ, बहु = 'भू' तथा यिट् = यि = 'य्' का आगम) = भूयिष्ठः ।

(२१५४) **पद**—विन्मतोः, लुक् । **अनुवृत्ति**—अजादी, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इष्ठ और ईयस् परे रहते विन् और मतुप् का लुक् होता है । स्रजिष्ठः । त्वचिष्ठः, त्वचीयान् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१४३) से 'अजादी' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । अतः "इष्ठन् तथा ईयस् प्रत्यय के परवर्ती रहने पर 'विन्' और 'मतुप्' का लुक् (= लोप) होता है ।"

उदाहरण—(क) अतिशयेन स्रग्वी (स्रज् + विन् + इष्ठन् = इष्ठ, विन् का लुक्) = स्रजिष्ठः (सबसे अधिक माला वाला) । (ख) अतिशयेन त्वग्वान् (त्वच् + मतुप् = मत् + इष्ठन् = 'इष्ठ', मतुप् = 'मत्' का लुक्) = त्वचिष्ठः (सबसे अच्छी त्वचा वाला) । अयम् अनयोः अतिशयेन त्वग्वान् (त्वग्वत् + ईयसुन् = 'ईयस्', मतुप् का लुक्) — त्वचीयस् (प्रथमा एकवचन में विभक्तिकार्य) = त्वचीयान् (दोनों में अच्छी त्वचा वाला) ।

(२१५५) **पद**—प्रशंसायाम्, रूपम् । **अनुवृत्ति**—तिङः, तद्धिताः, प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र** ।

५।३।६६ । सुबन्तात्तिङन्ताच्च । प्रशस्तः पटुः पटुरूपः । पचतिरूपम् । (२१५६) ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५।३।६७ । ईषदूनो विद्वान् विद्वत्कल्पः । विद्वद्देश्यः । विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् । (२१५७) विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ५।३।६८ । ईषदूनः पटुर्बहुपटुः । पटुकल्पः । सुपः किम् ? यजतिकल्पम् ।

(२१५६) **ईषदसमाप्ताविति** । ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे विद्यमानात् सुबन्तात् तिङन्ताच्च स्वार्थे कल्पप्-देश्य-देशीयर् इत्येते प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । **विद्वत्कल्प इति** । ईषदूनः विद्वान् इति विग्रहे विद्वस्शब्दात् 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इति कल्पप्प्रत्यये सस्य जश्त्वे चर्त्वे च प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'विद्वत्कल्पः' इति । देशीयर्प्रत्यये कृते - 'विद्वद्देशीयः' इति रूपम् ।

(२१५७) **विभाषेति** । ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्तात् बहुच्प्रत्ययो वा स्यात्स च प्रागेव न तु परत इत्यर्थः ।

मूलार्थ—सुबन्त और तिङन्त से प्रशंसा अर्थ में रूपप् प्रत्यय होता है । पटुरूपः । पचतिरूपम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तिङश्च' (२१३९) से 'तिङः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । तदनुसार "प्रशंसा अर्थ में प्रातिपदिक तथा तिङन्त से स्वार्थ में 'रूपप्' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—प्रशस्तः पटुः (पटु + रूपप् = रूप, विभक्तिकार्य) = पटुरूपः (अच्छा निपुण) । प्रशस्तं पचति (पचति + रूपप् = रूप, विभक्तिकार्य) = पचतिरूपम् (अच्छा पकाता है) ।

(२१५६) **पद**—ईषत्, असमाप्तौ, कल्पप्-देश्य-देशीयरः । **अनुवृत्ति**—तिङः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ईषत् असमाप्ति (थोड़ी-सी कमी) अर्थ में वर्तमान सुबन्त और तिङन्त से कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय होते हैं । विद्वत्कल्पः, विद्वद्देश्यः, विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् ।

विमर्श—पूर्ववत् 'तिङः' की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है । तदनुसार "किञ्चित् अपूर्णता (न्यूनता) अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक एवं तिङन्त से कल्पप् (कल्प), देश्य और देशीयर् (देशीय) प्रत्यय होते हैं ।"

उदाहरण—(**सुबन्त**) ईषत् ऊनः विद्वान् (विद्वस् + कल्पप् = 'कल्प', 'स्' = 'द्' - 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः', 'द्' = 'त्' - चर्त्व, प्रातिपदिकसंज्ञा सु = स् = र् = :) = विद्वत्कल्पः (कुछ कम विद्वान्) । विद्वस् + देश्यः = विद्वद्देश्यः (पूर्ववत् स् = द्) । विद्वस् + देशीयर् (= देशीय, 'स्' = 'द्') = विद्वद्देशीयः । **तिङन्त**—ईषत् ऊना पाकक्रिया (पचति + कल्पप् = कल्प) = पचतिकल्पम् (कुछ कम पकना) ।

(२१५७) **पद**—विभाषा, सुपः, बहुच्, पुरस्तात् । **अनुवृत्ति**—ईषदसमाप्तौ, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ईषत् असमाप्ति अर्थ में सुबन्त से बहुच् प्रत्यय विकल्प से होता है और यह बहुच् प्रत्यय प्रकृति से पूर्व होता है । बहुपटुः, पटुकल्पः । 'सुपः' क्यों कहा? पचतिकल्पम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१५६) से 'ईषदसमाप्तौ' अंश की अनुवृत्ति आ रही है । अन्य आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है । अतः "ईषद् असमाप्ति (किञ्चित् अपूर्णता) अर्थ में वर्तमान सुबन्त से बहुच् (= बहु) प्रत्यय होता है और वह 'परश्च' के आधिकारिक प्रभाव से मुक्त होकर प्रकृतिवाची शब्द के पूर्व में संयुक्त होता है ।"

(२१५८) प्रागिवात्कः ५।३।७०। इवे प्रतिकृतावित्यतः प्राक्काधिकारः। (२१५९) अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५।३।७१। कापवादः। तिङश्चेत्यनुवर्तते। (२१६०) कस्य च दः ५।३।७२। कान्ताव्ययस्य दादेशोऽकच्च। (२१६१) अज्ञाते ५।३।७३। कस्यायमश्वः अश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके।

(२१५८) **प्रागिवात्कः**। अधिकारसूत्रमिदम्। इवपदं तद्घटितसूत्रपरमिति मत्वाह — **इवे प्रतिकृताविति**।

(२१५९) **अव्ययसर्वनाम्नामिति**। अव्ययसर्वनाम्नां तिङन्ताच्च टेः प्रागकच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(२१६०) **कस्य चेति**। स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलात् पूर्वसूत्रादव्ययग्रहणमेवात्रानुवर्तते। चकारेण 'अकच्' इत्यनुवर्तते। तदाह — **कान्ताव्ययस्येति**।

(२१६१) **अज्ञाते**। अज्ञातेऽर्थे विद्यमानात् सुबन्तात् स्वार्थे कप्रत्ययः स्यादव्ययसर्वनाम्नां तिङन्तानां च टेः प्रागकच्।

उदाहरण—ईषत् ऊनः पटुः ('पटु' से पूर्व वैकल्पिक बहुच् = 'बहु' प्रत्यय) = बहुपटुः। पक्ष में 'कल्पप्' होकर = पटुकल्पः (कुछ कम चतुर)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'सुपः' पद का निवेश होने से ईषत् ऊना पाकक्रिया = **'यजतिकल्पम्'** में तिङन्त से बहुच् प्रत्यय नहीं हुआ, कल्पप् प्रत्यय होता है।

(२१५८) **पद**—प्राक्, इवात्, कः। **अनुवृत्ति**—सुपः, तद्धिताः। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—'इवे प्रतिकृतौ' सूत्र से पूर्व 'क' प्रत्यय का अधिकार है।

विमर्श—'इव' शब्द तद्घटित सूत्र का सूचक है। अतः 'इवे प्रतिकृतौ' (५।३।९६) सूत्र से पहले तक इसका अधिकार रहेगा।

(२१५९) **पद**—अव्ययसर्वनाम्नाम्, अकच्, प्राक्, टेः। **अनुवृत्ति**—सुपः, प्रागिवात् तिङश्च, तद्धिताः। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—प्रागिवीयादि अर्थों में अव्यय, सर्वनाम और तिङन्त की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है।

विमर्श—पूर्वसूत्र से 'सुपः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। पूर्वसूत्र 'प्रागिवात् कः' (२१५८) से अनुवृत्त पद - 'प्रागिवात्' के अतिरिक्त मण्डूकप्लुंति से 'तिङश्च' की अनुवृत्ति भी आती है। तदनुसार ''अव्यय, सर्वनाम और तिङन्त से इवार्थ से पूर्व तक अकच् (= अक) प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय टि से पूर्व होता है।''

(२१६०) **पद**—कस्य, च, दः। **अनुवृत्ति**—अव्ययम्, अकच्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ककारान्त अव्यय को दकार आदेश होता है और टि से पूर्व अकच् प्रत्यय भी होता है।

विमर्श—स्वरितत्व प्रतिज्ञा के अनुसार पूर्वसूत्र (२१५९) से केवल 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति आती है। 'अकच्' का अधिकार है। 'कस्य' पद 'क्' का बोधक है, अव्यय का विशेषण होने से तदन्त का बोधक होता है। इस प्रकार ''ककारान्त अव्यय को अकच् प्रत्यय होता है और 'क्' के स्थान में दकार आदेश भी होता है।''

(२१६१) **पद**—अज्ञाते। **अनुवृत्ति**—अव्ययसर्वनाम्नाम् अकच्, प्राक्टेः, प्रागिवात्कः, तिङः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

पचतकि। धकित्। (२१६२) कुत्सिते ५।३।७४। कुत्सितोऽश्वः अश्वकः। (२१६३) अल्पे ५।३।८५। अल्पं तैलं तैलकम्। ह्रस्वो वृक्षः वृक्षकः। * अस्मिन्प्रकरणे हलादौ प्रत्यये द्वितीयादचः परस्य लोपो वा वाच्यः *। देवदत्तकः। देवकः। * लोपः पूर्वपदस्य च *। दत्तकः। * विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वा वाच्यः *।

(२१६२) **कुत्सिते**। येन धर्मेण वस्तु कुत्स्यते तद्धर्मयुक्तार्थाभिधायिनः प्रातिपदिकात् स्वार्थे प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। अव्ययसर्वनाम्नां तु टेः प्रागकच् भवति, कान्तस्याव्ययस्य दकारश्चान्तादेश इति।

(२१६३) **अल्पे**। अल्पत्वविशिष्टे विद्यमानात् यथाविहितं प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः।

मूलार्थ—अज्ञात अर्थ में सुबन्त से 'क' प्रत्यय होता है और अव्यय, सर्वनाम तथा तिङन्त से अकच् (टि से पूर्व) होता है। अश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके। पचतकि। धकित्।

विमर्श—'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' तथा 'प्रागिवात्कः' का अधिकार है। 'तिङः' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। अन्य प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार "अज्ञात अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक तथा तिङन्त से स्वार्थ में यथाविहित (अव्यय, सर्वनाम तथा तिङन्त से 'अकच्' एवम् अन्य प्रातिपदिकों से 'क') प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—(१) अज्ञातः अश्वः (अश्व + क) = अश्वकः (ऐसा घोड़ा जिसका स्वामी ज्ञात न हो)। (२) किम् उच्चैः (अव्यय) - उच्चैस् + अकच् (= 'अक्' — टि भाग से पूर्व) उच्च् + अक् + ऐस् (स् = र् = :) = उच्चकैः (क्या ऊँचा है)। (३) किम् नीचैः (नीचैस् + अकच्, टि भाग से पूर्व, प्रक्रिया उक्तवत्) = नीचकैः (क्या नीचा है)। (४) **सर्वनाम** - अज्ञाताः सर्वे (सर्वे + अकच् = 'अक्' — टि से पूर्व) = सर्व + अक् + ए = सर्वके (सब अज्ञात है)। (५) **तिङन्त**—पचति + अकच् (= 'अक्' टि से पूर्व) = पचत् + अक् + इ = पचतकि (क्या पकाता है)। (६) धिक् + अकच् (= 'अक्' 'टि' से पहले) = ध् + अक् + इक् = धकित्।

(२१६२) **पद**—कुत्सिते। **अनुवृत्ति**—अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः, प्रागिवात्कः, तिङः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कुत्सित अर्थ में यथाविहित क आदि प्रत्यय होते हैं। अश्वकः।

विमर्श—पूर्ववत् उल्लिखित अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार "कुत्सित (निन्दा) अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक तथा तिङन्त से यथाविहित 'क' आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—कुत्सितः अश्वः (अश्व + क) = अश्वकः (खराब या सुस्त घोड़ा)।

(२१६३) **पद**—अल्पे। **अनुवृत्ति**—तिङः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अल्प अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है। तैलकम्। वृक्षकः। **वा०** - इस प्रकरण में हलादि प्रत्यय परे रहते द्वितीय अच् से पर भाग का विकल्प से लोप होता है। देवदत्तकः, देवकः। **वा०** - हलादि प्रत्यय के परे कहीं-कहीं पूर्व पद का लोप भी होता है। दत्तकः। **वा०** - प्रत्यय के बिना भी पूर्व अथवा पर पद का लोप होता है। सत्यभामा, भामा, सत्या।

विमर्श—पूर्ववत् 'तिङः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त 'प्रातिपदिकात्' आदि की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है। अतः "अल्प (थोड़ा) अर्थ में प्रातिपदिक तथा तिङन्त से यथाविहित 'क' आदि प्रत्यय होते हैं।"

उदाहरण—अल्पं तैलम् (तैल + 'क' प्रत्यय) = तैलकम् (थोड़ा तेल)। ह्रस्वः वृक्षः (वृक्ष + क) = वृक्षकः (छोटा पेड़)।

सत्यभामा। भामा। सत्या। (२१६४) **कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ५।३।८८।** ह्रस्वा कुटी कुटीरः। शमीरः। शुण्डारः। (२१६५) **कुत्वा डुपच् ५।३।८९।** ह्रस्वा कुतूः कुतुपः। कुतूः कृत्तेः स्नेहपात्रं ह्रस्वा सा कुतुपः पुमान्। (२१६६) **कासूगोणीभ्यां ष्टरच् ५।३।९०।** आयुधविशेषा कासूः ह्रस्वा सा कासूतरी।

(२१६४) **कुटीशमी०**। ह्रस्वार्थे एभ्यो रप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। **कुटीरः** — ह्रस्वा कुटी इति विग्रहे 'कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः' इत्यनेन रप्रत्यये प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'कुटीरः' इति।

(२१६५) **कुत्वा डुपच्**। ह्रस्वार्थे इति शेषः।

(२१६६) **कासूगोणीभ्यामिति**। ह्रस्वार्थे इति शेषः। **कासूतरी** — ष्टरचः षित्त्वात् 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्।

---

१. **वा०**—''इस प्रागिवीय प्रत्यय के प्रकरण में हलादि प्रत्यय के परवर्ती रहते द्वितीय अच् से परभाग का लोप विकल्प से होता है।'' **उदाहरण**—देवदत्त + कन् (= 'क', 'दत्त' का विकल्प से लोप) = देवकः। लोप न होने पर - देवदत्तकः।

२. **वा०**—''हलादि प्रागिवीय प्रत्यय के परवर्ती होने पर पूर्वपद का भी लोप होता है।'' **उदाहरण**—देवदत्त + कन् (= 'क', पूर्वपद 'देव' का लोप) = दत्तकः।

३. **वा०**—''यदि कोई प्रत्यय न भी हो तो भी पूर्वपद या उत्तरपद का विकल्प से लोप होता है।'' **उदाहरण**—अकम्पिता सत्यभामा (सत्यभामा, सत्य का लोप) = भामा। उत्तरपद भामा का लोप होने पर - सत्या।

(२१६४) **पद**—कुटीशमीशुण्डाभ्यः, रः। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ह्रस्व अर्थ में कुटी, शमी और शुण्डा शब्द से र प्रत्यय होता है। कुटीरः। शमीरः। शुण्डारः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'ह्रस्वे' (५।३।८६) की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है। शेष आधिकारिक पदों की अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार ''ह्रस्व अर्थ द्योत्य होने पर कुटी, शमी तथा शुण्डा शब्दों से 'र' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—ह्रस्वा कुटी (कुटी + र) = कुटीरः (छोटी कुटी)। ह्रस्वः शमीवृक्षः (शमी + र) = शमीरः (छोटा शमी वृक्ष)। ह्रस्वा शुण्डा (शुण्डा + र) = शुण्डारः (छोटी सूँड़)।

(२१६५) **पद**—कुत्वाः, डुपच्। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ह्रस्व अर्थ में कुतू शब्द से डुपच् प्रत्यय होता है। कुतुपः।

विमर्श—पूर्ववत् 'ह्रस्वे' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है। अतः ''ह्रस्वत्व द्योतित होने पर कुतू शब्द से डुपच् (= उप) प्रत्यय होता है।'' 'डुपच्' में 'चुटू' से ड् की इत्संज्ञा होती है तथा अन्त्यवर्ण होने से 'च्' इत्संज्ञक है।

उदाहरण—ह्रस्वा कुतूः (कुतू + डुपच् = 'उप', डित् होने से टि = 'ऊ' का लोप) = कुतुपः (चमड़े से निर्मित छोटा थैला)। अमरकोश के अनुसार कुतू घी आदि रखने के लिए चमड़े का बड़ा थैला होता था। उसके छोटे आकार को 'कुतुप' कहते हैं। (पुं०)।

(२१६६) **पद**—कासूगोणीभ्याम्, ष्टरच्। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ह्रस्व अर्थ में कासू और गोणी शब्दों से 'ष्टरच्' प्रत्यय होता है। कासूतरी। गोणीतरी।

गोणीतरी । (२१६७) **वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे ५।३।९१** । वत्सतरः । उक्षतरः । अश्वतरः । ऋषभतरः । (२१६८) **किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५।३।९२** । अनयोः कतरो वैष्णवः ? यतरः । ततरः । (२१६९) **वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।९३** । जातिपरिप्रश्न इति प्रत्याख्यातमाकरे । कतमो भवतां

(२१६७) **वत्सोक्ष इति** । वत्स, उक्ष, अश्व, ऋषभ एभ्यः तनुत्वविशिष्टवृत्तिभ्यः ष्टरच् स्यादित्यर्थः ।

(२१६८) **किंयत्तदो निर्धारणे** । द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्ये निर्धार्यमाणवाचिभ्यः किमादिभ्यो डतरच् स्यादित्यर्थः । **कतरः** — डतरच्, डित्त्वाट्टिलोपः ।

विमर्श—ह्रस्वार्थ का विषय होने से पूर्ववत् सभी अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "कासू तथा गोणी शब्दों से ह्रस्व अर्थ में 'ष्टरच्' प्रत्यय होता है ।" 'ष्टरच्' में 'ष्' और 'च्' इत्संज्ञक हैं । 'तर' शेष रहता है । षित् होने से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' हो जाता है ।

उदाहरण—ह्रस्वा कासूः (कासू + ष्टरश्च् = 'तर', 'षः प्रत्ययस्य' से ष् की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर 'ट्' = 'त्' — 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः', स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष् = 'ई', विभक्तिकार्य) = कासूतरी (छोटा अस्त्र) । ह्रस्वा गोणी (गोणी + तर + ङीष्) = गोणीतरी (छोटी गाय) ।

(२१६७) **पद**—वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यः, च, तनुत्वे । **अनुवृत्ति**—ष्टरच्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तनु अर्थ में वत्स, उक्षन्, अश्व और ऋषभ शब्दों से ष्टरच् (= तर) प्रत्यय होता है । वत्सतरः । उक्षतरः । अश्वतरः । ऋषभतरः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१६६) से विधेय पद 'ष्टरच्' की अनुवृत्ति आ रही है । अन्य आधिकारिक अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "तनुत्व (न्यूनता, कमी) द्योतित होने पर वत्स, उक्षन्, अश्व तथा ऋषभ शब्दों से ष्टरच् (= तर) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—तनुर्वत्सः (वत्स + ष्टरच् = 'तर') = वत्सतरः (बछड़े की प्रथम अवस्था वत्सत्व में कमी अर्थात् द्वितीय अवस्था को प्राप्त बछड़ा) । तनुरुक्षा (उक्षन् + ष्टरच् = 'तर', 'न्' का लोप, विभक्तिकार्य) = उक्षतरः (युवावस्था को पार कर गया बैल) । तनुः अश्वः (अश्व + ष्टरच्) = अश्वतरः (अश्व से गर्दभी में उत्पन्न 'खच्चर') । तनुः ऋषभः (ऋषभ + ष्टरच्) = ऋषभतरः (मन्दशक्ति - बैल) ।

(२१६८) **पद**—किंयत्तदः, निर्धारणे, द्वयोः, एकस्य, डतरच् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दो में से एक के निर्धारण में किम्, यत् और तत् शब्दों से डतरच् प्रत्यय होता है । कतरः । यतरः । ततरः ।

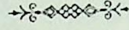
विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । अतः "'दो में से एक को अलग करना' अर्थ गम्य होने पर किम्, यद् तथा तद् शब्दों से डतरच् (= अतर) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—अनयोः कतरः वैष्णवः (किम् + डतरच् = 'अतर', टि = 'इम्' का लोप — 'टेः', विभक्तिकार्य) = कतरः (इन दोनों में से कौन वैष्णव है) । यद् + डतरच् = 'अतर', टि = 'अद्' का लोप) = यतरः (जो) । तद् + डतरच् (= अतर, टिलोप) = ततरः (दोनों में से वह) ।

(२१६९) **पद**—वा, बहूनां, जातिपरिप्रश्ने, डतमच् । **अनुवृत्ति**—किंयत्तदः निर्धारणे, एकस्य, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

कठः । यतमः । ततमः । वाग्रहणमकजर्थम् । (२१७०) एकाच्च प्राचाम् ५।३।९४ । डतरच् डतमच्च स्यात् । अनयोरेकतरो मैत्रः । एषामेकतमः ।

इति प्रागिवीयाः ।



(२१६९) **वा बहूनामिति** । जातौ परिप्रश्ने च गम्ये बहूनामेकस्य निर्धारणे निर्धार्यमाणवाचिभ्यः डतमच् वा भवतीत्यर्थः ।

(२१७०) **एकाच्च प्राचाम्** । 'बहूनां डतमच्' इति 'निर्धारणे एकस्य डतमच्' इति चानुवर्तते । तदाह — **डतरजिति** । **एकतमः** — अनयोरेकः इति विग्रहे एकशब्दात् 'एकाच्च प्राचाम्' इत्यनेन डतमच्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे सौ रुत्वे विसर्गे च 'एकतमः' इति ।

इति प्रागिवीयाः ।



मूलार्थ—जाति अथवा परिप्रश्न गम्य होने पर बहुतों में से एक के निर्धारण में किम्, यत् और तत् शब्द से 'डतमच्' प्रत्यय विकल्प से होता है । आकर ग्रन्थ में 'जातिपरिप्रश्ने' का प्रत्याख्यान किया गया है । कतमः भवतां कठः । यतमः । ततमः ।

विमर्श—निर्धारण का ही विषय होने से पूर्वसूत्र (२१६८) से 'किंयत्तदो निर्धारणे एकस्य' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से आ रही है । 'बहूनाम्' पद में निर्धारणार्थक षष्ठी का प्रयोग है । तदनुसार ''जाति तथा परिप्रश्न (पूछना) अर्थ गम्य होने पर 'किम्', 'यत्' तथा 'तत्' शब्दों से एक का निर्धारण होने पर विकल्प से डतमच् (= अतम) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—कतमः भवतां कठः (किम् + डतमच् = अतम, टि = 'इम्' का लोप, विभक्ति-कार्य) = कतमः (आपलोगों में से कौन कठशाखाध्यायी है?) । इसी प्रकार यत् + डतमच् (= अतम) = यतमः (जो) । तत् + डतमच् (= अतम, टिलोप) = ततमः (वह) । सूत्र में 'वा' पद का निवेश होने से पक्ष में सर्वनाम होने के कारण 'अकच्' प्रत्यय होता है ।

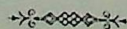
(२१७०) **पद**—एकात्, च, प्राचाम् । **अनुवृत्ति**—बहूनां डतमच्, निर्धारणे, एकस्य, डतरच्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्राचीन आचार्यों के मत में एक शब्द से भी पूर्वोक्त अर्थों में डतरच् और डतमच् प्रत्यय होते हैं । एकतरः । एकतमः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१६९) से 'बहूनाम्, डतमच्' तथा २१६८ से 'एकस्य, डतरच्' अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार ''एक शब्द से प्राचीन आचार्यों के मत में 'दो में से एक के निर्धारण में' डतरच् तथा 'बहुतों में से एक के निर्धारण में' डतमच् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—अनयोः एकतरः मैत्रः (एक + डतरच् = अतर, टि = 'अ' का लोप, विभक्ति-कार्य) = एकतरः (इन दोनों में से एक मैत्र है) । एषाम् एकतमः मैत्रः (एक + डतमच् = अतम, टिलोप) = एकतमः (इनमें से एक मैत्र है) ।

प्रागिवीय प्रकरण समाप्त ।



अथ स्वार्थिकप्रकरणम्

(२१७१) इवे प्रतिकृतौ ५।२।९६ । कन् स्यात्। अश्व इव प्रतिकृतिः अश्वकः । **(२१७२) शाखादिभ्यो यः ५।३।१०३ ।** शाखेव शाख्यः । मुख्यः । जघन्यः । अग्र्यः । शरण्यः । **(२१७३) कुशाग्राच्छः ५।३।१०५ ।** कुशाग्रीया

अथ स्वार्थिकप्रकरणं निरूप्यते —

(२१७१) **इवे प्रतिकृताविति** । इवार्थे (सादृश्यार्थे) वर्तमानात्प्रातिपदिकात् कन् स्यात्प्रतिकृतौ । मृदादिनिर्मिता प्रतिमा प्रतिकृतिः ।

(२१७२) **शाखादिभ्यो यः** । इवार्थे इति शेषः ।

(२१७३) **कुशाग्राच्छः** । इवार्थे इति शेषः । **कुशाग्रीयः** — कुशाग्रमिवेत्यर्थे छप्रत्यये, छस्येयादेशे रूपम् ।

अब स्वार्थिक प्रत्ययों के निर्वचन हेतु प्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है । इस स्वार्थिक प्रत्ययों का विधान होने पर अर्थान्तर व्यक्त नहीं होता । अतः अवयवार्थ से अतिरिक्त कोई संघातार्थ नहीं होता ।

(२१७१) **पद**—इवे, प्रतिकृतौ । **अनुवृत्ति**—कन्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इवार्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है; यदि उपमेय प्रतिकृति अर्थात् चित्र अथवा मूर्ति हो । अश्वकः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'अवक्षेपणे कन्' (५।३।९५) से विधेयांश 'कन्' की अनुवृत्ति आ रही है । अन्य प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार ''इव के अर्थ अर्थात् (सादृश्यवान्) उपमान अर्थ में प्रातिपदिक से कन् = (क) प्रत्यय होता है; यदि उपमेय प्रतिकृति (चित्र, मूर्ति आदि) हो तो ।''

उदाहरण—अश्व इव प्रतिकृतिः (अश्व + कन् = 'क', पुल्लिङ्ग में विभक्तिकार्य) = अश्वकः (घोड़े की तरह प्रतिमा) । स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृतिगत लिङ्ग और वचन का अनुसरण करते हैं ।

(२१७२) **पद**—शाखादिभ्यः, यः । **अनुवृत्ति**—इवे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—शाखादि से इवार्थ में 'य' प्रत्यय होता है । शाख्यः । मुख्यः । जघन्यः । अग्र्यः । शरण्यः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१७१) से 'इवे' की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है । अतः ''शाखादिगणपठित शब्दों से स्वार्थ में 'य' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—शाखा इव (शाखा + 'य', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = शाख्यः (शाखा के समान) । मुखम् इव (मुख + य, 'अ' का लोप) = मुख्यः (मुख के समान) । जघनमिव = (जघन + य, 'अ' का लोप) = जघन्यः (जंघा के समान) । अग्रम् इव (अग्र + य, 'अ' का लोप) = अग्र्यः (आगे की तरह, प्रमुख) । शरणम् इव (शरण + य) = शरण्यः (शरण के समान) ।

(२१७३) **पद**—कुशाग्रात्, छः । **अनुवृत्ति**—इवे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इवार्थ में विद्यमान कुशाग्र शब्द से 'छ' प्रत्यय होता है । कुशाग्रीयः ।

विमर्श—पूर्ववत् 'इवे' का सातत्य विद्यमान है । अतः ''कुशाग्र शब्द से इवार्थ में 'छ' प्रत्यय होता है ।''

बुद्धिः। **(२१७४) तत्प्रकृतवचने मयट् ५।४।२१।** प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम्, तस्य वचनं प्रतिपादनम्। भावे अधिकरणे वा ल्युट्। आद्ये प्रकृतमन्नम् अन्नमयम्। अपूपमयम्। द्वितीये – अन्नमयो यज्ञः। अपूपमयं पर्व। **(२१७५) संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ५।२।१७।** अभ्यावृत्तिर्जन्म, क्रियाजन्मगणनवृत्तेः संख्यायाः स्वार्थे कृत्वसुच्। पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते। संख्यायाः किम्? भूरिवारान्भुङ्क्ते।

(२१७४) **तत्प्रकृतवचने मयट्**। तदिति प्रथमान्तनिर्देशः। **प्राचुर्येणेति**। बहुलतया उपस्थितं बहुलशब्देन विवक्षितमित्यर्थः। **अधिकरणे वेति**। प्राचुर्यविशेषणकं यद्वस्तु यस्मिन्नु-च्यते तदधिकरणे वाच्ये तादृशवस्तुवृत्तेः शब्दात् मयडिति फलितार्थः।

(२१७५) **संख्याया इति**। **अभ्यावृत्तिर्जन्म इति**। अभ्यावृत्तिशब्देन यदि द्वितीयादि-प्रवृत्तिर्गृह्यते तदा चतुर्वारं पाकप्रवृत्तौ त्रिः पचतीति स्यात्। इत्यत आह — **अभ्यावृत्तिरिति**।

उदाहरण—कुशाग्रम् इव (कुशाग्र + छ, 'छ' = 'ईय' + टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = कुशाग्रीया बुद्धिः (कुश के अग्रभाग के समान तीक्ष्ण बुद्धि)।

(२१७४) **पद**—तत्, प्रकृतिवचने, मयट्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्राचुर्येण प्रस्तुत अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में मयट् प्रत्यय होता है। 'वचन' पद में भाव या अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय हुआ है। (क) अन्नमयम्, अपूपमयम्। (ख) अधिकरण में ल्युट् - अन्नमयः यज्ञः। अपूपमयं पर्व।

विमर्श—सूत्रस्थ 'तत्' प्रथमान्त पद समर्थ विभक्ति का सूचक है। 'प्र' उपसर्ग के बल से प्रकृत शब्द का अर्थ 'प्राचुर्य से प्रस्तुत' होना है। पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार ''प्रथमान्तसमर्थ प्रातिपदिक से 'जो प्राचुर्य रूप से प्रस्तुत किया गया हो' उससे स्वार्थ में मयट् (= मय) प्रत्यय होता है।'' सूत्रस्थ 'वचन' पद ल्युट् प्रत्ययान्त है। ल्युट् का प्रयोग 'भाव' और 'अधिकरण' दोनों अर्थों में होता है। भाव अर्थ में 'प्रकृतस्य वचनम् = उक्तिः प्रकृत-वचनम्' अर्थात् 'प्राचुर्य (आधिक्य) का कथन' मात्र अर्थ होता है।

उदाहरण—(क) प्रकृतम् अन्नं (अन्न + मयट् = 'मय', विभक्तिकार्य) = अन्नमयम् (अन्न प्रधान)। प्रकृतः अपूपः (अपूप + मयट् = मय) = अपूपमयम् (मालपुए की प्रचुरता)। (ख) अधिकरणार्थ ल्युट् प्रत्यय के विधान में 'प्रकृतम् उच्यते अस्मिन्' अर्थ में — प्रकृतम् अन्नं यस्मिन् (अन्न + मयट्) = अन्नमयः यज्ञः (जिस यज्ञ में अन्न की प्रचुरता हो)। प्रकृताः अपूपाः यस्मिन् (अपूप + मयट्) = अपूपमयं पर्व (जिस पर्व (त्यौहार) में मालपुओं का प्राचुर्य हो)।

(२१७५) **पद**—संख्यायाः, क्रियाभ्यावृत्तिगणने, कृत्वसुच्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अभ्यावृत्ति = जन्म। क्रियोत्पत्ति के गणन अर्थ में वर्तमान संख्यावाचक शब्द से स्वार्थ में 'कृत्वसुच्' प्रत्यय होता है। पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते। 'संख्यायाः' क्यों कहा? भूरिवारान् भुङ्क्ते।

विमर्श—यहाँ 'अभ्यावृत्ति' का अर्थ जन्म अर्थात् उत्पत्ति ग्रहण किया जाता है। तदनुसार ''क्रियाजन्म की गणना में वर्तमान संख्यावाची प्रातिपदिकों से स्वार्थ में कृत्वसुच् (= कृत्वस्) प्रत्यय होता है।'' इस प्रत्यय में 'च्' इत्संज्ञक और 'उ' उच्चारणार्थ है।

उदाहरण—पञ्चवारान् भुङ्क्ते (पञ्चन् + कृत्वसुच् = 'कृत्वस्', 'न्' का लोप, अव्ययसंज्ञा होने से विभक्तिलुक्, स् = र् = :) = पञ्चकृत्वः भुङ्क्ते (पाँच बार भोजन करता है)।

(२१७६) द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५।४।१८ । कृत्वसुचोऽपवादः । द्विर्भुङ्क्ते । त्रिर्भुङ्क्ते । 'रात्सस्य' – चतुर्भुङ्क्ते । **(२१७७) एकस्य सकृच्च ५।४।१९** । सकृदादेशः चात्सुच् । सकृद् भुङ्क्ते । **(२१७८) देवतान्तात्तादर्थ्ये यत् ५।४।२४** । तदर्थ एव तादर्थ्यम् । अत एव स्वार्थे ष्यञ् । अग्निदेवतायै इदम् अग्निदेवत्यम् । पितृदेवत्यम् ।

(२१७६) **द्वित्रिचतुर्भ्य इति** । क्रियाभ्यावृत्तिगणने इति शेषः । चतुर्शब्दात् सुच्प्रत्यये 'रात्सस्ये'ति सलोपः । अत आह – **रात्सस्येति** ।

(२१७७) **एकस्येति । सकृद् भुङ्क्ते** — एकशब्दात् सुच्प्रत्यये प्रकृतेः सकृदित्यादेशे च रूपम् । एकशब्दोऽत्र क्रियाविशेषणम्, एकत्वविशिष्टा भुजिक्रियेत्यर्थः ।

(२१७८) **देवतान्तात्तादर्थ्ये यत्** । देवतान्तात् प्रातिपदिकात् तादर्थ्ये यत्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

प्रत्युदाहरण—'संख्यायाः' पद का सूत्र में निवेश होने से संख्यातिरिक्त 'भूरिवारान् भुङ्क्ते' (अनेक बार खाता है) में 'कृत्वसुच्' नहीं होता ।

(२१७६) **पद**—द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् । **अनुवृत्ति**—संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—क्रियोत्पत्ति अर्थ में वर्तमान द्वि, त्रि और चतुर् शब्द से 'सुच्' प्रत्यय होता है । यह पूर्वोक्त 'कृत्वसुच्' का अपवाद है । द्विर्भुङ्क्ते । त्रिर्भुङ्क्ते । चतुर्भुङ्क्ते ।

विमर्श—पूर्वसूत्र से 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "द्वि, त्रि तथा चतुर् संख्यावाचक शब्दों से क्रिया की उत्पत्ति अर्थ में स्वार्थिक सुच् (= स्) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—द्विवारं भुङ्क्ते (द्वि + सुच् = 'स्', स् = र् = :, अव्यय संज्ञा होने से विभक्ति-लुक्) = द्विर्भुङ्क्ते (दो बार खाता है) । त्रिवारं भुङ्क्ते (त्रि + सुच् = 'स्' = र् = :, विभक्तिकार्य) = त्रिः भुङ्क्ते (तीन बार खाता है) । चतुर्वारं भुङ्क्ते (चतुर् + सुच् = स् = र् = :) = चतुः भुङ्क्ते (चार बार खाता है) । यहाँ रेफ (र्) से परवर्ती 'स्' का लोप होता है - 'रात्सस्य' ।

(२१७७) **पद**—एकस्य, सकृत्, च । **अनुवृत्ति**—सुच्, क्रियाभ्यावृत्तिगणने, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्वोक्त विषय में एक शब्द से 'सुच्' प्रत्यय होता है और एक को 'सकृत्' आदेश भी होता है । सकृद्भुङ्क्ते ।

विमर्श—क्रियागणन का ही विषय है । अतः पूर्वसूत्र (२१७५) से 'क्रियाभ्यावृत्तिगणने' की तथा २१७६ से 'सुच्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "क्रियागणन अर्थ में वर्तमान एक शब्द से 'सुच्' प्रत्यय होता है और एक शब्द के स्थान में 'सकृत्' आदेश होता है ।" यह कृत्वसुच् का अपवाद है ।

उदाहरण—एकवारं भुङ्क्ते (एक + सुच् = स् तथा 'एक' = 'सकृत्' आदेश) सकृत् + स्, विभक्तिलुक् तथा 'स्' का संयोगान्तलोप) = सकृद् भुङ्क्ते (एक बार खाता है) ।

(२१७८) **पद**—देवतान्तात्, तादर्थ्ये, यत् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—चतुर्थ्यन्त देवतान्त प्रातिपदिक से तादर्थ्य में 'यत्' प्रत्यय होता है । अग्निदेवत्यम् । पितृदेवत्यम् ।

विमर्श—"तदर्थ एव तादर्थ्यम् अर्थात् प्रकृत्यर्थार्थ वाच्य होने पर चतुर्थीसमर्थ देवतान्त प्रातिपदिक से यत् (= य) प्रत्यय होता है ।" 'तादर्थ्य' शब्द में स्वार्थिक ष्यञ् प्रत्यय हुआ है ।

(२१७९) पादार्घाभ्यां च ५।४।२५ । पादार्थमुदकं पाद्यम् । अर्घ्यम् । **(२१८०) अतिथेर्ञ्यः ५।४।२६ ।** अतिथये इदम् आतिथ्यम् । *** नवस्य नू आदेशस्त्नप्तनप्खाश्च वक्तव्याः *** । स्वार्थे । नत्नम् । नूतनम् । नवीनम् । *** भागरूपनामभ्यो धेयः *** । भागधेयम् । रूपधेयम् । नामधेयम् । *** आग्नीध्रसाधारणादञ् *** । आग्नीध्रम् ।

(२१७९) **पादार्घाभ्यां चेति** । तादर्थ्ये एव यत् भवतीत्यर्थः ।

(२१८०) **अतिथेर्ञ्यः** । अतिथिशब्दात् तादर्थ्ये ञ्यः प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । **आतिथ्यम्** — अतिथेर्भावः इति विग्रहे अतिथिशब्दात् 'अतिथेर्ञ्यः' इत्यनेन ञ्यप्रत्यये आद्यचो वृद्धौ भत्वाट्टि-लोपे प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे आतिथ्यमिति ।

उदाहरण—अग्निदेवतायै इदम् (अग्निदेवता + यत् = 'य', अन्त्यवर्ण 'आ' का लोप, विभक्तिकार्य) = अग्निदेवत्यम् (अग्निदेवता के लिए यह हविष्) । पितृदेवताभ्य इदम् (पितृदेवता + यत्) = पितृदेवत्यम् (पितृदेवता के लिए हविष्) ।

(२१७९) **पद**—पादार्घाभ्याम्, च । **अनुवृत्ति**—तादर्थ्ये, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पाद और अर्घ शब्द से तादर्थ्य में 'यत्' प्रत्यय होता है । पाद्यम् । अर्घ्यम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१७८) से 'तादर्थ्ये' तथा 'यत्' की अनुवृत्ति आती है । 'तादर्थ्ये' में प्रत्ययविधान होने से समर्थ चतुर्थी विभक्ति का ग्रहण होता है । तदनुसार ''पाद और अर्घ शब्दों से तादर्थ्य वाच्य रहते यत् = 'य' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—पादार्थम् उदकम् (पाद + यत् = 'य') = पाद्यम् (पैर धोने के लिए जल) । अर्घार्थम् उदकम् (अर्घ + यत्) = अर्घ्यम् (पूजा के लिए जल) ।

(२१८०) **पद**—अतिथेः, ञ्यः । **अनुवृत्ति**—तादर्थ्ये, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अतिथि शब्द से तादर्थ्य में 'ञ्य' प्रत्यय होता है । आतिथ्यम् । **वा०**—नव शब्द से स्वार्थ में त्नप्, तनप् तथा ख प्रत्यय होते हैं और नव को 'नू' आदेश होता है । नूत्नम्, नूतनम्, नवीनम् । **वा०**—भाग, रूप और नाम शब्द से स्वार्थ में धेय प्रत्यय होता है । भागधेयम् । रूपधेयम् । नामधेयम् । **वा०**—अग्नीध्र और साधारण शब्दों से स्वार्थ में अञ् प्रत्यय होता है । आग्नीध्रम् । साधारणम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१७८) से 'तादर्थ्ये' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः ''अतिथि शब्द से तादर्थ्य में ञ्य (य) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—अतिथये इदम् (अतिथि + ञ्य = 'य', आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण 'इ' का लोप, विभक्तिकार्य) = आतिथ्यम् (अतिथि का स्वागत-सत्कार) ।

१. **वा०**—''नव शब्द से स्वार्थ में त्नप्, तनप् तथा 'ख' प्रत्यय होते हैं और नव शब्द के स्थान में 'नू' आदेश भी होता है ।'' **उदाहरण**—नवम् एव (नव + त्नप् = 'त्न' तथा नव = 'नू' आदेश, विभक्तिकार्य) = नूत्नम् । नव + तनप् (= 'तन', 'नू' आदेश, विभक्तिकार्य) = नूतनम् । नव + 'ख' तथा नव = 'नू' आदेश (ख = ईन) — नू + ईन (ऊ = 'ओ' - 'ओर्गुणः', ओ = 'अव्' आदेश, विभक्तिकार्य) = नवीनम् (नया) ।

२. **वा०**—''भाग, रूप तथा नाम शब्दों से धेय प्रत्यय होता है ।'' **उदाहरण**—भाग एव (भाग + धेय, विभक्तिकार्य) = भागधेयम् (भाग्य) । रूपमेव (रूप + धेय) = रूपधेयम् (रूप) । नाम एव (नाम + धेय) = नामधेयम् (नाम) ।

साधारणम्। (२१८१) देवात्तल् ५।४।२७ । देव एव देवता। **(२१८२) अवेः कः ५।४।२८ ।** अविरेव अविकः। **(२१८३) यावादिभ्यः कन् ५।४।२९ ।** याव एव यावकः। मणिकः। * **सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्** *। बहुतरकम्। **(२१८४) मृदस्तिकन् ५।४।२९ ।** मृदेव मृत्तिका। **(२१८५) सस्नौ प्रशंसायाम् ५।४।४० ।**

(२१८१) **देवात्तल्**। तादर्थ्ये इति निवृत्तम्। स्वार्थे तल् भवतीति भावः।

(२१८२) **अवेः कः**। स्वार्थे इति शेषः।

(२१८३) **यावादिभ्यः कन्**। **यावकः** — यवानामयं यावः ओदनादि, स एव यावकः। अलक्तवृक्षो वा यावः, स एव यावकः। स्वार्थे कन्।

(२१८४) **मृदस्तिकन्**। मृद्शब्दात् स्वार्थे तिकन्प्रत्ययो भवतीत्यर्थः।

(२१८५) **सस्नौ प्रशंसायाम्**। मृदः प्रशंसायां सप्रत्ययः स्नप्रत्ययश्च स्यादित्यर्थः।

---

३. **वा०**—''आग्नीध्र तथा साधारण शब्दों से अञ् प्रत्यय होता है।'' **उदाहरण**—आग्नीध्रम् एव (आग्नीध्र + अञ् = 'अ', अन्त्यवर्णलोप, विभक्तिकार्य) = आग्नीध्रम् (यज्ञ में अग्निस्थापन का स्थान)। साधारणम् एव (साधारण + अञ् = 'अ') = साधारणम् (= साधारण)।

(२१८१) **पद**—देवात्, तल्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—देव शब्द से स्वार्थ में तल् (= त) प्रत्यय होता है। देवता।

विमर्श—अर्थ स्पष्ट है। शब्दशक्ति स्वभाव से तल् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। तदनुसार टाप् = 'आ' प्रत्यय भी संयुक्त होता है।

उदाहरण—देवः एव (देव + तल् = 'त' + टाप् = 'आ', दीर्घ तथा विभक्तिकार्य) = देवता (= देव)।

(२१८२) **पद**—अवेः, कः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अवि शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होता है। अविकः।

विमर्श—अर्थ स्पष्ट है।

उदाहरण—अविः एव (अवि + क) = अविकः (भेड़)।

(२१८३) **पद**—यावादिभ्यः, कन्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ तथा विमर्श—''यावादिगण-पठित शब्दों से स्वार्थ में कन् (= क) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—यवानाम् अयं यावः, याव एव (याव + कन् = 'क') = यावकः (जौ)। मणिः एव (मणि + कन् = 'क') = मणिकः (= मणि)।

(२१८४) **पद**—मृदः, तिकन्। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मृद् शब्द से स्वार्थ में 'तिकन्' प्रत्यय होता है। मृत्तिका।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। अतः ''प्रथमासमर्थ मृद् प्रातिपदिक से तिकन् (= तिक) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—मृद् एव (मृद् + तिकन् = 'तिक', 'द्' = 'त्' - चर्त्व, टाप् = 'आ', दीर्घ, विभक्तिकार्य) = मृत्तिका (मिट्टी)।

(२१८५) **पद**—सस्नौ, प्रशंसायाम्। **अनुवृत्ति**—मृदः, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मृद् शब्द से प्रशंसा अर्थ में स और स्न प्रत्यय होते हैं। मृत्सा, मृत्स्ना।

रूपपोऽपवादः । प्रशस्ता मृत् मृत्सा, मृत्स्ना । **(२१८६) प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८ ।** अण् स्यात् । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । दैवतः । बान्धवः । **(२१८७) पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् ५।३।११२ ।** स्वार्थे । नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्घाः पूगाः । लौहितध्वज्यः । **(२१८८) ञ्यादयस्तद्राजाः ५।३।११९ ।** तद्राजस्येति लुक् । लोहितध्वजाः । व्रातेति च्फञ् । कापोतपाक्यः । कपोतपाकाः । कौञ्जायना इत्यादि ।

मृत्स्ना — प्रशस्ता मृदिति विग्रहे मृत्शब्दात् 'सस्नौ प्रशंसायाम्' इत्यनेन स्नप्रत्यये प्रातिपदिकत्वे टापि दीर्घे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'मृत्स्ना' इति सिद्धम् ।

(२१८६) **प्रज्ञादिभ्यश्च** । 'तद्युक्तात् कर्मणोऽण्' इत्यत अणित्यनुवर्तते । तदाह – **अण् स्यादिति** ।

(२१८७) **पूगाञ्ञ्यः** । पूगवाचकात् स्वार्थे ञ्यप्रत्ययः स्यात् । ग्रामणीवाचकपूर्वावयवकात्तु न, पूगेति न स्वरूपग्रहणं व्याख्यानात् । **लौहितध्वज्यः** — लोहिताः ध्वजाः यस्य पूगस्य स लोहितध्वजः, स एव लौहितध्वज्यः । ञ्यप्रत्ययः ।

(२१८८) **ञ्यादयः** । एते तद्राजसंज्ञाः स्युरित्यर्थः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१८४) से उद्देश्यवाचक पद 'मृदः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः "प्रशंसा अर्थ में वर्तमान मृद् शब्द से 'स' और 'स्न' प्रत्यय होते हैं ।"

उदाहरण—मृद् एव (मृद् = 'स' प्रत्यय, 'द्' = 'त्' - चर्त्व, टाप् = 'आ', दीर्घ एवं विभक्तिकार्य) = मृत्सा । मृद् + 'स्न' ('द्' = 'त्' - चर्त्व, टाप् आदि पूर्ववत्) = मृत्स्ना (मिट्टी) ।

(२१८६) **पद**—प्रज्ञादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—अण्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रज्ञादिगणपठित शब्दों से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है । प्राज्ञः । दैवतः । बान्धवः ।

विमर्श—'तद्युक्तात् कर्मणोऽण्' (५।६।३६) से 'अण्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "प्रज्ञादिगणपठित शब्दों से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—प्रज्ञः एव (प्रज्ञ + अण् = 'अ', आदिवृद्धि तथा अन्त्यवर्ण 'अ' का लोप) = प्राज्ञः (बुद्धिमान्) । देवता एव (देवता + अण् = 'अ', आदिवृद्धि तथा अन्त्यलोप) = दैवतः (देवता) । बन्धुः एव (बन्धु + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, 'उ' = 'ओ' - गुण, अवादेश) = बान्धवः (भाई-बन्धु) ।

(२१८७) **पद**—पूगात्, ञ्यः, अग्रामणीपूर्वात् । **अनुवृत्ति**—तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूगवाचक शब्दों से स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है; ग्रामणीपूर्वक से यह प्रत्यय नहीं होता । लौहितध्वज्यः ।

विमर्श—नानाजातीय और अनियत वृत्तिवाले तथा अर्थ और काम में आसक्त पुरुषों के समूह को पूग कहते हैं । "तद्वाचक से स्वार्थ में ञ्य (= य) प्रत्यय होता है । ग्रामणी शब्द पूर्वपद में होने की स्थिति में 'ञ्य' नहीं होता ।"

उदाहरण—लोहिता ध्वजा यस्य सः लोहितध्वजः, स एव (लोहितध्वज + ञ्य = 'य', आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = लौहितध्वज्यः (लाल ध्वजा वाला संघ) ।

(२१८८) **पद**—ञ्यादयः, तद्राजाः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—ञ्य आदि प्रत्यय तद्राजसंज्ञक होते हैं । लोहितध्वजाः । कपोतपाकाः । कौञ्जायनाः ।

विमर्श—यहाँ 'तद्राज' संज्ञा है और 'ञ्यादयः' संज्ञी । तदनुसार "पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्"

(२१८९) बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ५।४।४२। बहूनि ददाति - बहुशः। अल्पानि - अल्पशः। बह्वल्पार्थान्मङ्गलामङ्गलवचनम्। नेह – बहु ददात्यनिष्टेषु। अल्पं ददात्याभ्युदयिकेषु। **(२१९०) संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ५।४।४३।** द्वौ द्वौ ददाति द्विशः। माषं माषं माषशः। परिमाणशब्दा वृत्तावेकार्था एव। संख्यैकवचनात्किम्? घटं घटं ददाति। वीप्सायां किम्? द्वौ ददाति। कार-

---

(२१८९) **बह्वल्पार्थादिति।** बह्वर्थात् अल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनः शब्दात् स्वार्थे शस् प्रत्ययो वा स्यादित्यर्थः।

(२१९०) **संख्यैकवचनाच्चेति।** संख्यावाचकाद् अन्यस्माच्चैकत्वविशिष्टवाचकात् कारकाभिधायिनः प्रातिपदिकात् वीप्सायां शस् भवतीत्यर्थः। **द्विशः** — द्वौ द्वौ ददाति 'नित्यवीप्सयोरि'ति द्विर्वचनम्। द्विशब्दात् शस्प्रत्यये सौ सुब्लुकि सस्य रुत्वे विसर्गे 'द्विशः' इति।

(५।३।११२) से लेकर इस सूत्र के पूर्व तक कहे हुए प्रत्ययों की तद्राजसंज्ञा होती है।'' इसके फलस्वरूप बहुवचन में 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' (२।४।६२) से प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

उदाहरण—लोहितध्वजाः ('पूगाञ्ञ्यः' से विहित 'ञ्य' का लुक्)। कपोतपाकाः (ञ्य का लुक्)। कौञ्जायनाः ('व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' से विहित 'ञ्य' का लुक्)।

(२१८९) **पद**—बह्वल्पार्थात्, शस्, कारकात्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—स्वार्थे, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—बह्वर्थक और अल्पार्थक कारकाभिधायी शब्दों से स्वार्थ में विकल्प से 'शस्' प्रत्यय होता है। बहुशः। अल्पशः।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार ''बहु तथा अल्पार्थक कारकाभिधायी शब्दों से स्वार्थ में वैकल्पिक 'शस्' प्रत्यय होता है।'' सामान्यतया यहाँ छः कारकों का ग्रहण होता है। 'अन्यतरस्याम्' पद का निवेश होने से पक्ष में विग्रहवाक्य ही रहेगा।

उदाहरण—बहूनि ददाति (बहु + शस्, अव्यय होने से विभक्तिलुक्, स् = र् = :) = बहुशः (बहुत)। अल्पं ददाति (अल्प + शस्, विभक्तिलोप तथा स् = र् = :) = अल्पशः (थोड़ा)। **वा०**—बहु शब्द से मङ्गल (कल्याण) अर्थ में और अल्प शब्द से अमङ्गल (अकल्याण) अर्थ में 'शस्' प्रत्यय होता है। अतः 'बहु ददात्यनिष्टेषु' (अनिष्ट के समय बहुत देता है) तथा 'अल्पं ददाति आभ्युदयिकेषु' (कल्याण के समय कम देता है) में विपरीत दशा होने से शस् प्रत्यय नहीं होता।

(२१९०) **पद**—संख्यैकवचनात्, च, वीप्सायाम्। **अनुवृत्ति**—शस्, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—संख्यावाचक और एकत्वविशिष्टवाचक कारकाभिधायी प्रातिपदिक से वीप्सा में शस् प्रत्यय होता है। द्विशः। माषशः। परिमाणवाचक शब्द समास, तद्धित आदि वृत्ति में एकार्थ ही होते हैं। 'संख्यैकवचनात्' क्यों कहा? घटं घटं ददाति। 'वीप्सायाम्' क्यों कहा? द्वौ ददाति। कारक से ही यह प्रत्यय होता है। अतः 'द्वयोर्द्वयोः स्वामी' में नहीं हुआ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१८९) से 'शस्' तथा 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः ''संख्यावाचक तथा एकार्थाभिधायी प्रातिपदिक से भी वीप्सा में विकल्प से 'शस्' प्रत्यय होता है।''

कादित्येव। द्वयोर्द्वयोः स्वामी। **(२१९१) प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ५।४।४४।** प्रतिना कर्मप्रवचनीयेन योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसिः। प्रद्युम्नः कृष्णतः। प्रति। * आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् *। आदौ आदितः। मध्यतः। पृष्ठतः। पार्श्वतः। आकृतिगणोऽयम्। स्वरेण स्वरतः। वर्णतः। **(२१९२) कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः ५।४।५०।** * अभूततद्भाव इति वक्तव्यम् *। विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां

(२१९१) **प्रतियोगे इति**। **पञ्चमीविहितेति**। 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदाने च' इति प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां तद्योगे 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मादि'ति पञ्चमीविहितेत्यर्थः।

(२१९२) **कृभ्वस्तियोगे**। **अभूतेति**। येन रूपेण प्रागभूतं यद्वस्तु तस्य तद्रूपप्राप्तिः = अभूततद्भावः तस्मिन् गम्ये च्विः स्यादित्यर्थः।

उदाहरण—द्वौ द्वौ ददाति (द्वि + 'शस्' - विकल्प से, विभक्तिलुक् तथा स् = र् = :) = द्विशः। पक्ष में — द्वौ द्वौ (द्वित्व युक्त (वीप्सा) रूप)। अर्थ - दो-दो। माषं माषं ददाति (माष + शस्, रुत्व, विसर्ग) = माषशः (एक-एक माशा)। पक्ष में - माषम् माषम्। समास, तद्धित आदि में परिमाण के बहुत्व होने पर भी एक ही अर्थ माष आदि शब्दों से कहा ज़ाता है।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'संख्यैकवचनात्' का ग्रहण होने से 'घटं घटं ददाति' में घट शब्द के जातिबोधक होने से 'अनेक घडों का दाता घड़े-घड़े भर देता है' यह अर्थ भी सम्भव है। अतः शस् नहीं होता। 'वीप्सायाम्' का निवेश होने से 'द्वौ ददाति' (दो देता है) में वीप्सा (द्विरुक्ति) न होने से 'शस्' नहीं होता। 'कारकात्' की अनुवृत्ति आने से यह प्रत्यय कारक से ही होता है। अतः 'द्वयोः द्वयोः स्वामी' (दो-दो का स्वामी) में षष्ठी के कारक विभक्ति न होने से शस् प्रत्यय नहीं होता।

(२१९१) **पद**—प्रतियोगे, पञ्चम्याः, तसिः। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कर्मप्रवचनीय 'प्रति' के योग में विहित पञ्चम्यन्त से तसि प्रत्यय होता है। प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रति। **वा०**—आद्यादिगणपठित शब्दों से तसि प्रत्यय होता है। आदितः। मध्यतः। पृष्ठतः। पार्श्वतः। यह आकृतिगण है। स्वरतः। वर्णतः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१८९) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार ''कर्मप्रवचनीयसंज्ञक प्रति के योग से विहित जो पञ्चमी विभक्ति, तदन्त (पञ्चम्यन्त) प्रातिपदिक से तसि (= तस्) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रति ('प्रति' के योग में तसि = 'तस्', स् = र् = :) = कृष्णतः। पक्ष में पञ्चमी विभक्ति — कृष्णात् (प्रद्युम्न कृष्ण के प्रतिनिधि हैं)।

वा०—आद्यादिगणपठित शब्दों के उत्तरवर्ती सभी विभक्तियों को अभिलक्षित कर तसि प्रत्यय होता है।

उदाहरण—आदौ (आदि + तसि = तस्) = आदितः (प्रारम्भ में)। मध्यात् मध्ये वा (मध्य + तसि = तस्) = मध्यतः (बीच से या बीच में)। पृष्ठात् (पृष्ठ + तस्) = पृष्ठतः (पीछे से)। पार्श्वात् (पार्श्व + तस्) = पार्श्वतः (बगल से)। आकृतिगण होने से स्वरेण (स्वर + तस्) = स्वरतः (स्वर से) तथा वर्णेन (= वर्णतः) में भी तस् होता है।

(२१९२) **पद**—कृभ्वस्तियोगे, सम्पद्यकर्तरि, च्विः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विकार रूप को प्राप्त करने वाली प्रकृति के अर्थ में वर्तमान विकारवाचक शब्द

प्रकृतौ वर्तमानात् विकारशब्दात्स्वार्थे च्विर्वा स्यात् करोत्यादिभिर्योगे। (२१९३) **अस्य च्वौ ७।४।३२**। अवर्णस्य ईत् स्यात् च्वौ। अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते, तं करोति कृष्णीकरोति। ब्रह्मीभवति। गङ्गीस्यात्। * अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् *। दोषाभूतमहः। दिवाभूता रात्रिः। (२१९४) **क्यच्व्योश्च ६।४।१५२**। हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपः क्ये च्वौ च परतः। गार्गीभवति। (२१९५) **च्वौ च**

(२१९३) **अस्य च्वाविति**। अवर्णस्य ईत् स्यात् च्वौ इत्यर्थः।

(२१९४) **क्यच्व्योश्च**। 'अल्लोपोऽनः' इत्यतः लोप इति, 'हलस्तद्धितस्ये'ति हल इति

से स्वार्थ में 'च्वि' प्रत्यय होता है। कृ, भू और अस् धातु के योग में विकल्प से होता है। **वा०**—अभूततद्भाव अर्थ में च्वि प्रत्यय हो।

विमर्श—सम्पद्यस्य कर्ता सम्पद्यकर्ता, तस्मिन् सम्पद्यकर्तरि। इस प्रकार ''सम्पद्यमान में वर्तमान कर्ता प्रातिपदिक से कृ, भू तथा अस् धातु के योग में च्वि प्रत्यय होता है।'' किस रूप में किसका परिवर्तन अपेक्षित है? इस शंका का निवारण करने के लिए महाभाष्यकार ने ''अभूत-तद्भाव इति वक्तव्यम्'' वार्तिक उद्धृत किया है। तदनुसार ''जो वस्तु पहले जिस रूप में नहीं थी बाद में वह उस रूप को प्राप्त हो, (अभूततद्भाव) अर्थ गम्यमान होने पर = तद्वाची शब्द के वर्तमान होने पर कृ, भू तथा अस् धातुओं में से किसी एक के भी निष्पन्न रूप के योग में 'च्वि' प्रत्यय होता है।''

(२१९३) **पद**—अस्य, च्वौ। **अनुवृत्ति**—ई, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'च्वि' परे रहते 'अ' को ईत् आदेश होता है। कृष्णीकरोति। ब्रह्मीभवति। गङ्गीस्यात्। **वा०**—च्वि परे रहते अव्यय के आकार को ईत् नहीं होता। दोषाभूतम् अहः। दिवाभूता रात्रिः।

विमर्श—यह प्रासङ्गिक सूत्र है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'ई घ्राध्मोः' (७।४।३१) से 'ई' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार ''च्वि प्रत्यय के परवर्ती रहते अवर्णान्त अङ्ग के स्थान में 'ई' कार आदेश होता है।'' 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषानुसार यह आदेश अन्त्य वर्ण को होगा।

उदाहरण—अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते, तं करोति (यहाँ सम्पद्यमान होने से अभेदारोपित 'कृष्ण' 'सम्पद्यते' क्रिया का कर्ता है और 'कृ' धातु के साथ उसका योग भी है। अतः कृष्ण + च्वि = व् 'च्' की इत्संज्ञा, लोप तथा 'इ' उच्चारणार्थ, 'अ' = 'ई' - 'अस्य च्वौ', 'व्' का लुक् - 'वेरपृक्तस्य', पुनः विभक्ति सु) — कृष्णी + सु ('ऊर्यादिच्विडाचश्च' से निपातसंज्ञा होने पर 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' से अव्ययसंज्ञा होने से विभक्ति का लुक्) = कृष्णीकरोति (जो कृष्ण नहीं उसे कृष्ण करता है)। अब्रह्म ब्रह्म सम्पद्यमानं भवति (ब्रह्मन् + च्वि = व्, 'न्' का लोप, अ = 'ई' तथा 'व्' का लोप आदि कार्य) = ब्रह्मीभवति (ब्रह्म होता है)। अगङ्गा गङ्गा सम्पद्यमाना भवति (प्रक्रिया पूर्ववत्) = गङ्गीस्यात् (गङ्गा हो जाय)।

वा०—अव्ययवाची शब्द से 'च्वि' प्रत्यय होने पर अकार के स्थान में इत्व नहीं होता।

उदाहरण—अदोषा दोषा अभूत् (दोषा + 'च्वि', 'अस्य च्वौ' से प्राप्त ईत्व का प्रकृत वार्तिक से निषेध, शेष प्रक्रिया उक्तवत्) = दोषाभूतम् अहः (दिन रात हो गया)। अदिवा दिवा अभूत् (यहाँ दिवा के 'आ' को 'ई' नहीं हुआ) = दिवाभूता रात्रिः (रात दिन हो गया)।

(२१९४) **पद**—क्यच्व्योः, च। **अनुवृत्ति**—आपत्यस्य, हलः, अङ्गस्य, लोपः। **विधिसूत्र**।

७।४।२६ । दीर्घः । शुचीभवति । पटूस्यात् । (२१९६) अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च ५।४।५१ । चात् च्विः । अरूकरोति । उन्मनीकरोति । उच्चक्षूकरोति । उच्चेतीकरोति । विरहीकरोति । विरजीकरोति । (२१९७) विभाषा साति कात्स्न्र्ये

'सूर्यतिष्य' इत्यतः य इति 'आपत्यस्य चे' त्यस्मात् आपत्यस्येति चानुवर्तते । अत आह — **हलः परस्येति । गार्गीभवति** — अगार्ग्यो गार्ग्यः सम्पद्यमानो भवति = गार्गीभवति । 'गर्गादिभ्यो यञि'ति यञन्तात् च्वौ यकारलोपः ।

(२१९५) **च्वौ च** । च्वौ परे पूर्वस्य दीर्घ इत्यर्थः । **शुचीभवति** — अशुचिः शुचिः सम्पद्यमानो भवति । च्वौ परे दीर्घः ।

(२१९६) **अरुर्मनश्चक्षु० । एषामिति** । अरुस्, मनस्, चक्षुष्, चेतस्, रहस्, रजस् इत्येतेषामित्यर्थः । पूर्वेणैव प्रत्ययसिद्धेस्तत्सन्नियोगेन अन्त्यलोप इह विधीयते ।

मूलार्थ—हल् से परे अपत्यार्थक प्रत्यय के यकार का लोप होता है, क्य और च्वि परे रहते । गार्गीभवति ।

विमर्श—यह भी प्रासङ्गिक सूत्र है । सूत्रार्थ की निष्पत्ति हेतु 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' (६।४।१५१) से 'आपत्यस्य', 'हलस्तद्धितस्य' (६।४।१५०) से 'हलः' तथा 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' (६।४।१४८) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार ''क्य तथा च्वि प्रत्यय परवर्ती रहते हल् से उत्तरवर्ती अङ्ग के अपत्यसम्बन्धी यकार (य्) का लोप होता है ।''

उदाहरण—अगार्ग्यः गार्ग्यः सम्पद्यमानः भवति (अपत्याधिकारीय यडन्त गार्ग्य + च्वि, 'य्' का लोप - 'क्यच्व्योश्च', ईत्व, विभक्त्यादिकार्य) = गार्गीभवति (गर्ग का वंशज हो रहा है) ।

(२१९५) **पद**—च्वौ, च । **अनुवृत्ति**—दीर्घः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'च्वि' परे रहते पूर्व को दीर्घ होता है । शुचीभवति । पटूस्यात् ।

विमर्श—यह प्रासङ्गिक सूत्र है । 'अकृत्सार्वधातुकयोः' (६।४।२५) से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । तदनुसार ''च्वि प्रत्यय के परवर्ती रहते पूर्व अङ्ग को दीर्घ होता है ।''

उदाहरण—अशुचिः शुचिः सम्पद्यमानः भवति (शुचि + च्वि, 'इ' = 'ई' - दीर्घ - 'च्वौ च', 'च्वि' का सर्वापहार लोप) = शुचीभवति (पवित्र होता है) । अपटुः पटुः सम्पद्यमानः स्यात् (पटु + च्वि, दीर्घ, लोपादि) = पटूस्यात् (निपुण हो जाय) ।

(२१९६) **पद**—अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसाम्, लोपः, च । **अनुवृत्ति**—कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य-कर्तरि, च्विः, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अरुष्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस् और रजस् शब्द के अन्त्य वर्ण का लोप होता है और इनसे च्वि प्रत्यय होता है । अरूकरोति । उन्मनीकरोति । उच्चक्षूकरोति । उच्चेतीकरोति । विरहीकरोति । विरजीकरोति ।

विमर्श—'च्वि' का ही प्रसङ्ग है । अतः 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' (२१९२) की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार ''सम्पद्यमान कर्ता में वर्तमान अरुस्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस् और रजस् शब्दों के अन्त्यवर्ण (स्) का लोप होता है तथा कृ, भू, अस् के योग में होने के साथ ही च्वि प्रत्यय भी होता है ।''

उदाहरण—(१) अनुरुः उरुः सम्पद्यते, तत् करोति (उरुस् + च्वि + करोति, 'स्' का लोप,

५।४।५२ । च्वेर्विषये सातिर्वा स्यात्साकल्ये । 'सात्पदाद्योः' । कृत्स्नं शस्त्रमग्निः सम्पद्यते अग्निसाद्भवति, अग्नीभवति । कात्स्र्न्ये किम्? एकदेशेन शुक्लीभवति पटः ।
(२१९८) अभिविधौ सम्पदा च ५।४।५३ । सम्पदा कृभ्वस्तिभिश्च योगे सातिर्वा व्याप्तौ । पक्षे – कृभ्वस्तियोगे च्विः, सम्पदा तु वाक्यमेव । अग्निसात् सम्पद्यते, अग्निसाद्भवति शस्त्रम्, अग्नीभवति । जलसात्सम्पद्यते, जलीभवति लवणम् ।

(२१९७) **विभाषेति** । सातीति लुप्तप्रथमाकम् । कृभ्वस्तियोगे, 'सम्पद्यकर्तरि' इति चानुवर्तते । तदाह — **च्वेर्विषय इत्यादि** ।

(२१९८) **अभिविधाविति** । **सम्पदा इति** = सम्पूर्वकपदधातुनेत्यर्थः ।

तथा 'उ' को दीर्घ - 'च्वौ च', 'च्वि' का सर्वापहार लोप) = उरूकरोति (घाव करता है) । (२) अनुन्मनाः उन्मनाः सम्पद्यते तत्करोति (उन्मनस् + 'च्वि' तथा 'स्' का लोप - प्रकृत सूत्र से, 'अ' = 'ई' -'अस्य च्वौ', 'च्वि' का सर्वापहार लोप) = उन्मनीकरोति (उदास करता है) । (३) अनुच्चक्षुः उच्चक्षुः सम्पद्यते, तत् करोति (उच्चक्षुस् + च्वि + करोति, स् का लोप तथा दीर्घ — 'च्वौ च', 'च्वि' का लोप) = उच्चक्षूकरोति (आँख ऊपर करता है) । (४) अनुच्चेताः उच्चेताः करोति (उच्चेतस् + च्वि + करोति, 'स्' का लोप तथा च्वि, ईत्व, 'च्वि' का लोप आदि पूर्ववत्) = उच्चेतीकरोति (चित्त को प्रसन्न करता है) । (५) अविरहः विरहः सम्पद्यते तं करोति (विरहस् + च्वि + करोति, अन्त्य वर्ण लोप, 'अ' = 'ई' 'च्वि' का लोप) = विरहीकरोति (अलग करता है) । (६) अविरजाः विरजाः सम्पद्यते, तत् करोति (विरजस् + च्वि + करोति, 'स्' का लोप, 'अ' = 'ई' तथा 'च्वि' का सर्वापहार लोप) = विरजीकरोति (धूल से रहित करता है) ।

(२१९७) **पद**—विभाषा, साति, कात्स्र्न्ये । **अनुवृत्ति**—कृभ्वस्तियोगे, सम्पद्यकर्तरि, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—साकल्य अर्थ में च्वि प्रत्यय के विषय में विकल्प से 'साति' प्रत्यय होता है । अग्निसाद्भवति, अग्नीभवति । 'कात्स्र्न्ये' क्यों कहा? एकदेशेन शुक्लीभवति पटः ।

विमर्श—''कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य कर्तरि'' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । सूत्रस्थ 'साति' पद लुप्तप्रथमाविभक्तिक है । तदनुसार ''सम्पद्यते क्रिया के कर्ता में वर्तमान प्रातिपदिक से कृ, भू तथा अस्ति के योग में साकल्य अर्थ गम्यमान होने पर विकल्प से साति (= सात्) प्रत्यय होता है ।'' पक्ष में यथाप्राप्त 'च्वि' होता है ।

उदाहरण— अनग्निः अग्निः सम्पद्यते तं करोति (अग्नि + साति = 'सात्' प्रत्यय + भवति, 'आदेशप्रत्यययोः' से प्राप्त षत्व का 'सात्पदाद्योः' से निषेध, 'त्' = 'द्' — जश्त्व) = अग्निसाद्भवति (अग्निमय हो जाता है) । पक्ष में 'च्वि' होने पर — अग्नीभवति ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'कात्स्र्न्ये' पद का निवेश होने से '**एकदेशेन शुक्लीभवति पटः**' में 'सात्' प्रत्यय नहीं होता । क्योंकि वस्त्र में सफेदी किसी एक भाग में हो रही है न कि पूरे वस्त्र में । यथाप्राप्त 'च्वि' प्रत्यय हुआ ।

(२१९८) **पद**—अभिविधौ, सम्पदा, च । **अनुवृत्ति**—विभाषा, साति, कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अभिविधि (अभिव्याप्ति) अर्थ गम्यमान हो तो कृ, भू, अस् और सम्पूर्वक पद के योग में च्वि के विषय में विकल्प से 'साति' प्रत्यय होता है । पक्ष में कृ, भू और अस्ति के योग

(२१९९) तदधीनवचने ५।४।५४ । सातिः कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे राजसात्करोति । राजाधीनमित्यर्थः । **(२२००) देये त्रा च ५।४।५५ ।** तदधीने देये त्रा स्यात्सातिश्च कृभ्वादियोगे । विप्राधीनं देयं करोति विप्रत्राकरोति । विप्रत्रा सम्पद्यते । पक्षे – विप्रसात्करोति । देये किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् । **(२२०१) देवमनुष्य-**

(२१९९) **तदधीनवचने** । 'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' इत्यस्मात् 'साती'ति, 'अभिविधौ सम्पदा चे'त्यतः 'सम्पदे'ति चानुवर्तते । 'कृभ्वस्तियोगे' इत्यप्यनुवर्तते । अत आह – **'सातिः' इत्यादिना** ।

(२२००) **देये त्रा चेति** । 'तदधीनवचने' इत्यनुवर्तते । **कृभ्वादियोग इति** । कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे इत्यर्थः ।

में 'च्वि' प्रत्यय होता है । सम् + पद् से तो वाक्य ही रहेगा । अग्निसाद् सम्पद्यते । अग्निसाद्भवति शस्त्रम् अग्नीभवति । जलसात् सम्पद्यते जलीभवति ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२१९७) से 'विभाषा' तथा 'साति' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'कृभ्वस्तियोगे' की अनुवृत्ति भी विद्यमान है । तदनुसार "अभिव्याप्ति गम्यमान होने पर कृ, भू तथा अस् के योग में एवं सम्पूर्वक पद् धातु के योग में विकल्प से साति प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—अग्निसात्सम्पद्यते तथा कृ, भू के योग में अग्निसाद्भवति (विकल्प से साति = 'सात्' प्रत्यय) (समग्र शस्त्र अग्निरूप में परिणत होता है) । पक्ष में 'च्वि' — अग्नीभवति । इसी प्रकार जलसात्सम्पद्यते (साति) = जलीभवति (च्वि) लवणम् (= पूरा नमक जल रूप में परिणत होता है) ।

(२१९९) **पद**—तदधीनवचने । **अनुवृत्ति**—सम्पदा, सातिः, कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तदधीनता बोध्य होने पर कृ, भू तथा अस् और सम् + पद् के योग में साति प्रत्यय होता है । राजसात्करोति ।

विमर्श—'साति' प्रत्यय का ही विषय है । अतः पूर्वसूत्रों से 'सम्पदा', 'सातिः' और 'कृभ्वस्तियोगे' की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं । तदनुसार "तदधीनवचन = उसके अधीन है ऐसे कथन में कृ, भू, अस्ति तथा सम्पद् के योग में साति = 'सात्' प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—राजसात् करोति (√कृ के योग में साति = 'सात्' प्रत्यय) । अर्थ – राजा के अधीन करता है ।

(२२००) **पद**—देये, त्रा, च । **अनुवृत्ति**—तदधीनवचने, सम्पदा, सातिः, कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तदधीन देयता अर्थ गम्य होने पर कृ, भू, अस् तथा सम्पद् के योग में साति प्रत्यय होता है । विप्रत्राकरोति । विप्रत्रासम्पद्यते । पक्ष में – विप्रसात्करोति । 'देये' क्यों कहा? राजसाद् भवति राष्ट्रम् ।

विमर्श—पूर्वसूत्र के विषय के अतिरिक्त विशेष अर्थ में प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । अतः सम्पूर्ण पूर्वसूत्र 'तदधीनवचने' की अनुवृत्ति आती है । अन्य उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति भी पूर्ववत् आ रही है । तदनुसार "यदि देय (देने योग्य वस्तु) दिये जाने वाले के अधीन की जाय तो तद्वाचक शब्द से कृ, भू, अस्ति और सम् + पद् के योग में 'त्रा' तथा 'साति' प्रत्यय होते हैं ।"

उदाहरण—'कृ' के योग में — विप्र + 'त्रा' प्रत्यय = विप्रत्राकरोति । **'सम्पद्' के योग**

पुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् ५।४।५६। एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यश्च त्रा स्यात्। देवत्रा वन्दे रये वा। बहुलोक्तेरन्यत्रापि, बहुत्रा जीवतो मनः। **(२२०२) अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितो डाच् ५।४।५७।** द्व्यच्, अवरं न्यूनं न तु ततो न्यूनम्; अनेकाजिति यावत्। तादृशमर्धं यस्य तस्माड्डाच् कृभ्वस्तिभिर्योगे। *डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्*। डाचि विवक्षिते द्वित्वम्।

(२२०१) **देवमनुष्य इति**। **एभ्य इति**। देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, मर्त्य इत्येतेभ्य इत्यर्थः। **बहुत्रा जीवितो मनः**। जीवतो जन्तोर्मनो बहुषु विषयेषु गच्छतीत्यर्थः। बहून् विषयान् वा व्याप्नोतीत्यर्थः।

(२२०२) **अव्यक्तानुकरणादिति**। यस्मिन् ध्वनौ अकारादयो वर्णविशेषाः न व्यज्यन्ते सः अव्यक्तो ध्वनिः, तस्यानुकरणमव्यक्तानुकरणम्, तस्मात्। **पटपटाकरोति** — पटत् करोतीति

में — विपत्रासम्पद्यते (देने योग्य वस्तु ब्राह्मण के अधीन करता है)। पक्ष में साति = 'सात्' प्रत्यय होने पर — विप्रसात्करोति।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'देये' पद का निवेश होने से 'राजसाद् भवति राष्ट्रम्' में देय न होने से 'त्रा' प्रत्यय नहीं होता।

(२२०१) **पद**—देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः, द्वितीयासप्तम्योः, बहुलम्। **अनुवृत्ति**—त्रा, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्वितीयान्त तथा सप्तम्यन्त देव आदि शब्दों से 'त्रा' प्रत्यय बहुल प्रकार से होता है। देवत्रा वन्दे रमे वा। बहुल ग्रहण होने से अन्यत्र भी होता है - बहुत्रा जीवतो मनः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२००) से 'त्रा' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "द्वितीया तथा सप्तमी विभक्त्यन्त देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु तथा मर्त्य शब्दों से बहुलतया (प्रायः) 'त्रा' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—देवान् वन्दे, देवेषु रमे वा (देव + 'त्रा' प्रत्यय) = देवत्रा वन्दे रमे वा (देवताओं को नमस्कार करता हूँ या उनमें रमता हूँ)।

प्रकृत सूत्र में 'बहुलम्' पद का निवेश होने से उल्लिखित शब्दों से अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी 'त्रा' प्रत्यय होता है। यथा - 'बहुत्रा जीवतः मनः' (जीवित प्राणी का मन बहुत जगह रमता है) में 'बहु' शब्द से 'त्रा' प्रत्यय हुआ है।

(२२०२) **पद**—अव्यक्तानुकरणात्, द्व्यजवरार्धात्, अनितौ, डाच्। **अनुवृत्ति**—कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—द्व्यजवरार्ध अर्थात् अनेकाच् अव्यक्त (ध्वनि) का अनुकरण शब्द से इति शब्द परे न हो तो कृ, भू और अस् के योग में 'डाच्' प्रत्यय होता है। **वा०**—डाच् प्रत्यय की विवक्षा में (डाच् से पूर्व) द्वित्व होता है। **वा०**—डाच्परक आम्रेडित के परे पूर्व और पर वर्ण के स्थान में नित्य ही पररूप हो, ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार त् + प् = 'प्' होता है। पटपटाकरोति। 'अव्यक्तानुकरणात्' क्यों कहा? ईषत्करोति। 'द्व्यजवरार्धात्' क्यों कहा? श्रत्करोति। 'अवर' क्यों कहा? खरटखरटाकरोति (डाच्)। 'अनितौ' क्यों कहा? पटितिकरोति (डाच् नहीं हुआ)।

विमर्श—पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है। मण्डूकप्लुति से 'कृभ्वस्तियोगे' की अनुवृत्ति यहाँ आती है। अव्यक्त अनुकरणवाचक शब्द उद्देश्य के रूप में उल्लिखित है ?

*** नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम् *। डाच्यरं यदाम्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात्। इति तपयोः पः। पटपटाकरोति। अव्यक्तानुकरणात् किम्? ईषत्करोति। द्व्यजवरार्धात् किम्? श्रत्करोति। अवरेति किम्? खरटखरटाकरोति। अनितौ किम्? पटितिकरोति। (२२०३) कृञो द्वितीयतृतीयशंबबीजात्कृषौ ५।४।५८। द्वितीयादिभ्यो डाच् कृञ एव योगे कर्षणेऽर्थे। बहुलोक्तेरव्यक्तानुकरणा-**

विग्रहे 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' इत्यनेन डाचः प्रागेव द्वित्वे 'पटत् पटत्' इति जाते 'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्' इत्यनेन डाचि अनुबन्धलोपे डित्त्वाट्टिलोपे 'नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्' इत्यनेन पररूपे 'पटपटा' इति जाते, प्रातिपदिकत्वे सौ अव्ययत्वात्सुलोपे 'पटपटाकरोति' इति सिद्धम्।

(२२०३) **कृञ इति। कृञ एवेति।** कृञ्ग्रहणात् कृभ्वस्तिर्नानुवर्तत इत्याशयः। 'मद्रात्परिवापणे' इत्येतत्पर्यन्तं कृञ इत्यनुवर्तते। **बहुलोक्तेरिति।** 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति बहुलग्रहणात् अव्यक्तानुकरणस्यैव डाचि द्वित्वम्, न तु तदन्तस्येत्यर्थः। **बीजाकरोति** — बीजेन

'द्व्यजवरार्धात्' अर्थात् अनुकरणात्मक शब्दों में उनका आधा भाग कम-से-कम दो अच् वर्णों वाला अवश्य हो, इससे न्यून न हो। इस प्रकार अनेक अच्वर्णात्मक अर्धभाग अपेक्षित है। इस प्रकार सूत्र का आशय यह है कि "कृ, भू तथा अस् के योग में अनेकाच् अर्धभागात्मक अव्यक्त अनुकरण (ध्वन्यनुकरण) प्रातिपदिक से परे डाच् = 'आ' प्रत्यय होता है, यदि इति शब्द परवर्ती न हो तो।" डाच् के प्रसङ्ग में ही कतिपय वार्तिकों का उल्लेख किया जा रहा है —

१. **वा०** — डाच् की विवक्षा में प्रायः पहले ही प्रकृतिवाचक शब्द को द्वित्व हो जाता है।

२. **वा०** — डाच्परक आम्रेडित परे रहते पूर्व तथा परवर्ण के स्थान में पररूप (आदेश) होता है।

उदाहरण — पटत्-पटत् करोति (पटत् + करोति, उक्त वार्तिक के अनुसार 'डाच्' होने से पूर्व 'पटत्' को द्वित्व) — पटत् + पटत् + करोति (पटत् पटत् का पूर्वभाग द्व्यच्क होने से डाच् = 'आ') — पटत् पटत् + आ (द्वितीय 'पटत्' की आम्रेडित संज्ञा - 'तस्य परमाम्रेडितम्', उससे पूर्व वाले पटत् के 'त्' को पररूप, टि = 'अत्' का लोप, समुदाय से आगत 'सु' का अव्यय होने से लुक्) = पटपटाकरोति (पट-पट शब्द करता है)।

प्रत्युदाहरण — प्रकृत सूत्र में 'अव्यक्तानुकरणात्' का निवेश होने से 'दृषत्करोति' (पत्थर बना देता है) में अव्यक्त अनुकरण के अभाव में डाच् नहीं हुआ। 'श्रत् करोति' (श्रत् शब्द करता है) में 'द्व्यजवरार्धात्' के ग्रहण से श्रत् के एकाच् होने के कारण डाच् नहीं होता। 'अवरेति' का ग्रहण न होने से तीन अच् वाले **'खरटखरटाकरोति'** (खरटत् - खरटत् शब्द करता है) में डाच् नहीं होता। सूत्र में 'अनितौ' का ग्रहण होने से पटितिकरोति (पटत् शब्द करता है) में 'इति' शब्द परे होने के कारण 'डाच्' प्रत्यय नहीं होता। 'पटत् + इति' में 'अत्' को पररूप - 'अव्यक्तस्यानुकरणस्यात इतौ'।

(२२०३) **पद** — कृञः, द्वितीय-तृतीय, शम्ब-बीजात्, कृषौ। **अनुवृत्ति** — डाच्, तद्धिताः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ — कृषि (खेती) अभिधेय हो तो कृञ् के योग में द्वितीय, तृतीय, शम्ब और बीज शब्द से डाच् (= आ) प्रत्यय होता है। द्वितीयाकरोति। तृतीयाकरोति। शम्बाकरोति। बीजाकरोति।

दन्यस्य डाचि न द्वित्वम्। द्वितीयं तृतीयं कर्षणं करोति द्वितीयाकरोति। तृतीयाकरोति। शम्बाकरोति। बीजाकरोति। (२२०४) संख्यायाश्च गुणान्तायाः ५।४।५९। द्विगुणाकरोति क्षेत्रम्। (२२०५) समयाच्च यापनायाम् ५।४।६०। कृषाविति निवृत्तम्। समयाकरोति। कालं यापयतीत्यर्थः। (२२०६) सपत्रनिष्पत्राद-

---

सह विलेखनं करोतीति विग्रहे 'कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात् कृषौ' इत्यनेन डाचि अनुबन्ध-लोपे डित्त्वाट्टिलोपे प्रातिपदिकत्वात्सौ अव्ययत्वात् सुलोपे 'बीजाकरोति' इति।

(२२०४) **संख्यायाश्चेति**। कृञो योगे कृषौ गुणान्तात् संख्यावाचकात् डाच् स्यादित्यर्थः।

(२२०५) **समयाच्चेति**। समयशब्दात् यापनायां गम्यमानायां कृञो योगे डाच्प्रत्ययो भवतीत्यर्थः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२०२) से 'डाच्' की अनुवृत्ति आ रही है। वह केवल कृ धातु के योग में ही विहित है। अतः "द्वितीय, तृतीय, शम्ब और बीज शब्दों से कृषि अभिधेय होने पर डाच् (= आ) प्रत्यय होता है।" बहुलग्रहण (पूर्वसूत्र में) होने से अव्यक्त अनुकरण से भिन्न डाच् परे रहते द्वित्व नहीं होता।

उदाहरण—द्वितीय + (डाच् = 'आ', टिलोप) = द्वितीयाकरोति (दूसरी बार हल से जोतता है)। तृतीय + डाच् (= आ, टिलोप) = तृतीयाकरोति (तीसरी बार जोतता है)। शम्ब + डाच् (टिलोप) = शम्बाकरोति (एक बार जोतकर पुनः उलटा जोतता है)। बीज + डाच् (= आ, टिलोप) = बीजाकरोति (बीज बोते हुए हल से जोतता है)।

(२२०४) **पद**—संख्यायाः, च, गुणान्तायाः। **अनुवृत्ति**—कृञः, कृषौ, डाच्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गुणशब्दान्त संख्यावाचक शब्द से कृञ् के योग में कृषि बोध्य रहते डाच् प्रत्यय होता है। द्विगुणाकरोति क्षेत्रम्।

विमर्श—डाच् प्रत्यय का ही विषय है। अतः 'अव्यक्तानुकरणाद्०' (२२०२) से 'डाच्' की तथा पूर्वसूत्र (२२०३) से 'कृञः' और 'कृषौ' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "संख्यापूर्वक गुण-शब्दान्त प्रातिपदिक से कृ धातु के योग में कृषि अभिधेय होने पर डाच् (= आ) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—द्विगुणं क्षेत्रं करोति (द्विगुण + डाच् = 'आ', टिलोप) = द्विगुणाकरोति (दो बार खेत जोतता है)।

(२२०५) **पद**— समयात्, च, यापनायाम्। **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—समय शब्द से यापना (बिताना) गम्य होने पर कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है। समयाकरोति।

विमर्श—कृषि वाच्य अर्थ यहाँ अपेक्षित नहीं है। अतः पूर्वसूत्रों से 'कृञः' तथा 'डाच्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "बिताना अर्थ गम्यमान होने पर समय शब्द से कृ धातु के योग में 'डाच्' (= आ) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—समयं यापयति (समय + डाच् = 'आ', टि = 'अ' का लोप + करोति) = समया-करोति (समय बिताता है या नष्ट करता है)।

तिव्यथने ५।४।६१ । सपत्राकरोति मृगम् । सपुङ्खशरप्रवेशनेन सपत्रं करोतीत्यर्थः । निष्पत्राकरोति । सपुङ्खस्य शरस्याऽपरपार्श्वेन निर्गमनान्निष्पत्रं करोतीत्यर्थः । अतिव्यथने किम् ? सपत्रं निष्पत्रं वा करोति भूतलम् । **(२२०७) निष्कुलान्निष्कोषणे ५।४।६२** । निष्कुलाकरोति दाडिमम् । निर्गतं कुलमन्तरवयवानां समूहो यस्मादिति बहुव्रीहेर्डाच् । **(२२०८) सुखप्रियादानुलोम्ये ५।४।६३** । सुखाकरोति । प्रियाकरोति गुरुम् । अनुकूलाचरणेनानन्दयतीत्यर्थः । **(२२०९) दुःखात्प्रातिलोम्ये**

(२२०६) **सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने** । सपत्रनिष्पत्रशब्दाभ्यामतिव्यथनेऽर्थे कृञो योगे डाच् भवतीत्यर्थः ।

(२२०७) **निष्कुलान्निष्कोषणे** । डाजिति शेषः । निष्कोषणम् = अन्तर्गताऽवयवानां बहिष्करणम् ।

(२२०८) **सुखप्रियादानुलोम्ये** । सुखशब्दात् प्रियशब्दाच्चानुलोम्ये गम्ये कृञो योगे डाच् भवतीत्यर्थः ।

(२२०६) **पद**—सपत्र-निष्पत्रात्, अतिव्यथने । **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अतिव्यथन अर्थ में वर्तमान सपत्र और निष्पत्र शब्द से कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है । सपत्राकरोति मृगम् । निष्पत्राकरोति । 'अतिव्यथने' क्यों कहा? सपत्रं निष्पत्रं वा करोति भूतलम् ।

विमर्श—विधेय 'डाच्' और 'कृञः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार ''सपत्र और निष्पत्र शब्दों से अतिव्यथन (पीडन) अर्थ गम्यमान होने पर कृ के योग में डाच् (= आ) प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—सत्पत्रं करोति (सत्पत्र + डाच् = 'आ', टिलोप) = सपत्राकरोति (पूँछ पर लगे परों सहित बाण मृग के शरीर में प्रविष्ट करता है) । निष्पत्रं करोति (निष्पत्र + डाच् = 'आ', टिलोप) = निष्पत्राकरोति (इतने वेग से मृग को बाण - विद्ध कि बाण पंखों के साथ दूसरी ओर निकल जाता है) ।

(२२०७) **पद**—निष्कुलात्, निष्कोषणे । **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ–निष्कोषण (निचोड़ना) अर्थ में निष्कुल शब्द से कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है । निष्कुलाकरोति दाडिमम् ।

विमर्श—पूर्ववत् 'कृञः' एवं 'डाच्' की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है । 'निष्कोषण' का अर्थ है — 'अन्तस्थ अवयवों को बाहर निकालना' । 'कुल' शब्द का अर्थ है — 'भीतरी अवयवों का समूह ।' इस प्रकार — ''निष्कोषण अर्थ में निष्कुल शब्द से कृ धातु के योग में डाच् = 'आ' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—निष्कुल + डाच् (= 'आ', टिलोप) = निष्कुलाकरोति दाडिमम् (अनार को इस प्रकार छीलता है कि उसके सब भीतरी दानें बाहर आ जायें) ।

(२२०८) **पद**—सुखप्रियात्, आनुलोम्ये । **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आनुलोम्य अर्थ में सुख और प्रिय शब्द से कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है । सुखाकरोति, प्रियाकरोति गुरुम् ।

विमर्श—यथापूर्व उल्लिखित पदों की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है । तदनुसार ''आनु-

५।४।६४। दुःखाकरोति स्वामिनम्। पीडयतीत्यर्थः। (२२१०) शूलात्पाके ५।४।६५। शूलाकरोति मांसम्। शूलेन पचतीत्यर्थः। (२२११) सत्यादशपथे ५।४।६६। सत्याकरोति भाण्डं वणिक्। क्रेतव्यमिति तथ्यं करोतीत्यर्थः। शपथे

(२२०९) **दुःखात्प्रातिलोम्ये**। डाजिति शेषः। आराध्यगुर्वादिचित्तानुवर्तनमानुलोम्यम्, आराध्यप्रतिकूलाऽऽचरणं प्रातिलोम्यम्।

(२२१०) **शूलात्पाके**। डाच् स्यादित्यर्थः। शूलाकरोति—अत्र करोति पाकेऽर्थे वर्तते।

(२२११) **सत्यादशपथे**। डाजिति शेषः। **सत्याकरोति** — अत्र सत्यशब्दस्तथ्ये वर्तते। **शपथे तु सत्यं करोतीति**। एतावतैव मूल्येन क्रेतव्यमिति, नातोऽधिकमूल्येनेत्येवं यथाभूतार्थं वदतीत्याशयः।

लोम्य = अनुकूलता अर्थ में वर्तमान सुख और प्रिय शब्दों से कृ धातु के योग में डाच् = 'आ' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—सुख + डाच् (= 'आ', टिलोप + करोति) = सुखाकरोति गुरुम् (गुरु को सुखी करता है - अनुकूलाचरणेन गुरुं प्रीणयति)। प्रियं करोति (प्रिय + डाच् = 'आ', टिलोप) = प्रिया-करोति (प्रिय करता है)।

(२२०९) **पद**—दुःखात्, प्रातिलोम्ये। **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रातिलोम्य (= प्रातिकूल्य) अर्थ में दुःख शब्द से कृञ् के योग में 'डाच्' प्रत्यय होता है। दुःखाकरोति।

विमर्श—यथापूर्व उल्लिखित पदों की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार ''दुःख शब्द से कृञ् धातु के योग में प्रतिकूलता गम्यमान होने पर डाच् = (आ) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—दुःख + डाच् (टिलोप) = दुःखाकरोति (विपरीताचरणेन स्वामिनं पीडयति = विपरीत आचरण से स्वामी आदि को पीडित करता है)।

(२२१०) **पद**—शूलात्, पाके। **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शूल शब्द से पाक अर्थ में कृञ् का योग होने पर 'डाच्' प्रत्यय होता है। शूलाकरोति मांसम्।

विमर्श—'डाच्' का विषय होने से उल्लिखित पदों की अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। तदनुसार ''पकाना अर्थ गम्य होने पर शूल शब्द से कृञ् धातु के योग में डाच् (= आ) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—शूलेन पचति (शूल + डाच् = 'आ', टिलोप + करोति) = शूलाकरोति मांसम् (= लोहे की सलाई में चिपका कर मांस पकाता है)।

(२२११) **पद**—सत्यात्, अशपथे। **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शपथ से भिन्न अर्थ में कृञ् के योग में सत्य शब्द से डाच् = 'आ' प्रत्यय होता है। सत्याकरोति भाण्डं वणिक्।

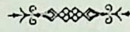
विमर्श—'कृञः' तथा 'डाच्' की अनुवृत्ति यथापूर्व आ रही है। तदनुसार ''सत्य शब्द से यदि शपथ वाच्य न हो तो कृ धातु के योग में डाच् = 'आ' प्रत्यय होता है।'' शपथ का वाचक सत्य शब्द भी होता है।

उदाहरण—सत्य + डाच् (= 'आ', टि = 'अ' का लोप + करोति) = सत्याकरोति भाण्डं

तु – सत्यं करोति विप्रः। (२२१२) **मद्रात्परिवापणे ५।४।६७।** मद्रशब्दो मङ्गलार्थः। परिवापणं मुण्डनम्। मद्राकरोति कुमारम्। माङ्गल्यमुण्डनेन संस्करोतीत्यर्थः। * भद्राच्चेति वक्तव्यम् *। भद्राकरोति। अर्थः प्राग्वत्। परिवापणे किम्? भद्रं करोति।

इति स्वार्थिकप्रकरणम्।

इति तद्धिताः।



(२२१२) **मद्रात्परिवापणे**। डाच् स्यादिति शेषः। **भद्राच्चेति**। भद्रशब्दाच्च डाच् स्यादित्यर्थः। **अर्थः प्राग्वदिति**। भद्र-मद्रशब्दौ मङ्गलार्थौ। भद्राकरोति = माङ्गल्यमुण्डनेन संस्करोतीत्यर्थः।

इति स्वार्थिकप्रकरणम्।



वणिक् (क्रेतव्यमिति तथ्यं करोतीत्यर्थः = रत्न आदि मुझे इतने में खरीदना है, इस प्रकार वणिक् (व्यापारी) सच कहता है)।

प्रत्युदाहरण—सत्यं करोति विप्रः (ब्राह्मण शपथ लेता है) में सत्य शब्द शपथ का वाचक होने से डाच् नहीं होता।

(२२१२) **पद**—मद्रात्, परिवापणे। **अनुवृत्ति**—कृञः, डाच्, तद्धिताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—परिवापण (मुण्डन) अर्थ में मद्र शब्द से कृञ् के योग में 'डाच्' प्रत्यय होता है। मद्राकरोति कुमारम्। **वा०** – भद्र से भी डाच् होता है। भद्राकरोति। 'परिवापणे' क्यों कहा? भद्रं करोति।

विमर्श—'डाच्' का ही विषय है। अतः पूर्ववत् उल्लिखित पदों की अनुवृत्तियाँ अनुसरण कर रही हैं। सूत्र में उद्देश्यवाचक 'मद्र' शब्द मङ्गलार्थक है तथा 'परिवापण' शब्द का अर्थ – 'मुण्डन' है। तदनुसार "मुण्डन वाच्य होने पर मङ्गलार्थक मद्र शब्द से कृञ् धातु के योग में डाच् = 'आ' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—मद्र + डाच् (= 'आ', टिलोप + करोति) = मद्राकरोति (माङ्गल्यमुण्डनेन संस्करोति = मुण्डन संस्कार करता है)।

वा०—कृञ् का योग होने पर मुण्डन अर्थ में भद्र शब्द से भी डाच् प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—भद्र + डाच् (= 'आ', टिलोप + करोति) = भद्राकरोति।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'परिवापणे' का ग्रहण होने से परिवापण अर्थात् माङ्गल्य मुण्डन से अतिरिक्त केवल मङ्गलार्थक मद्र शब्द से 'डाच्' प्रत्यय नहीं होता। मद्रं करोति (= प्रसन्न करता है)।

स्वार्थिकप्रकरण समाप्त।



अथ द्विरुक्तप्रकरणम्

(२२१३) सर्वस्य द्वे ८।१।१ । इत्यधिकृत्य । **(२२१४) परेर्वर्जने ८।१।५** । परेर्वर्जनेऽर्थे द्वे स्तः । परि परि वङ्गेभ्यो वृष्टो देवः । **(२२१५) उपर्यध्यधसः सामीप्ये ८।१।७** । उपर्युपरि ग्रामम्, ग्रामस्योपरिष्टात् समीपे देशे इत्यर्थः । अध्यधि सुखम्; सुखस्योपरिष्टात् समीपकाले दुःखमित्यर्थः । अधोधो लोकम्, लोकस्याधस्तात् समीपे देशे इत्यर्थः । **(२२१६) वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयाऽसंमतिकोप-**

(२२१३) **सर्वस्य द्वे** । अधिकारसूत्रमिदम् । द्विर्वचनविधयोऽनुक्रंस्यन्त इति शेषः ।

(२२१४) **परेर्वर्जने** । वर्जनेऽर्थे परीत्यस्य द्वे स्त इत्यर्थः ।

(२२१५) **उपर्यध्यधस इति** । उपरि अधि अधः इत्येतेषां सामीप्ये (देशकृते कालकृते वा) गम्ये द्वे स्त इत्यर्थः ।

(२२१६) **वाक्यादेरिति** । 'साऽऽमन्त्रितम्' इत्यनेन सम्बोधनप्रथमान्तस्य आमन्त्रित-

---

(२२१३) **पद**—सर्वस्य, द्वे । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ—यह अधिकारसूत्र है ।

विमर्श—इस अधिकार की अवधि 'पदस्य' (८।१।१६) सूत्र के पहले तक है । अतः 'पदस्य' तक 'सर्वस्य द्वे' आधिकारिक रूप से संयुक्त होगा । अर्थात् जो विधान होगा वहाँ 'समस्त भाग को द्वित्व होता है ।' ऐसा अर्थ होता जायेगा ।

(२२१४) **पद**—परेः, वर्जने । **अनुवृत्ति**—सर्वस्य, द्वे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वर्जन अर्थ में 'परि' को द्वित्व होता है । 'परि परि बङ्गेभ्यो वृष्टो देवः ।'

विमर्श—'सर्वस्य द्वे' (२२१३) का अधिकार है । ''वर्जन अर्थात् छोड़ना अर्थ में विद्यमान 'परि' शब्द को द्वित्व होता है ।''

उदाहरण—परि परि बङ्गेभ्यः वृष्टः देवः (यहाँ वर्जन अर्थ में 'परि' को प्रकृत सूत्र से द्वित्व हुआ । 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' में 'बङ्गेभ्यः' में पञ्चमी विभक्ति हुई) । **अर्थ** - बंगाल को छोड़कर चारों ओर वर्षा हुई ।

(२२१५) **पद**—उपर्यध्यधसः, सामीप्ये । **अनुवृत्ति**—सर्वस्य द्वे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सामीप्य अर्थ में उपरि, अधि और अधस् शब्द को द्वित्व होता है । उपर्युपरि ग्रामम् । अध्यधि सुखम् । अधः अधः लोकम् ।

विमर्श—'सर्वस्य द्वे' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है । तदनुसार ''निकटता अर्थ द्योतित होने पर उपरि, अधि तथा अधस् को द्वित्व होता है ।''

उदाहरण—उपरि उपरि ग्रामम् (गाँव के पास का प्रदेश) । अध्यधि सुखम् (सुख के बाद दुःख) । अधः अधः लोकम् (लोक के नीचे का प्रदेश) । इन तीनों उदाहरणों में क्रमशः १ तथा ३ में देशतः एवं २ में कालतः सामीप्य होने से प्रकृत सूत्र से द्वित्व होता है ।

(२२१६) **पद**—वाक्यादेः, आमन्त्रितस्य, असूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु । **अनुवृत्ति**—सर्वस्य द्वे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन और भर्त्सन अर्थ गम्य रहते वाक्य के आदि में प्रयुज्यमान आमन्त्रित को द्वित्व होता है । सुन्दर सुन्दर वृथा ते सौन्दर्यम् इत्यादि ।

कुत्सनभर्त्सनेषु ८।१।८। सुन्दर सुन्दर वृथा ते सौन्दर्यम्। संमतौ – देव देव वन्द्योऽसि। कोपे – दुर्विनीत दुर्विनीत इदानीं ज्ञास्यसि। कुत्सने – धानुष्क धानुष्क वृथा ते धनुः। भर्त्सने – चोर चोर घातयिष्यामि त्वाम्। **(२२१७) एकं बहुव्रीहिवत् ८।१।९**। तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ। एकैकमक्षरम्। इह द्वयोरपि सुपोर्लुकि सति बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वात् समुदायात्सुप्। तच्च एकवचनमेव। एकैकया आहुत्या। **(२२१८) आबाधे च ८।१।१०**। पीडायां द्वे स्तो बहुव्रीहिवच्च।

संज्ञा भवति। वाक्यादौ प्रयुज्यमानस्य आमन्त्रितस्य असूया-सम्मति-कोप-कुत्सन-भर्त्सनेषु द्वे **स्त** इत्यर्थः।

(२२१७) **एकं बहुव्रीहिवत्**। **द्विरुक्त इति**। द्विर्वचनं प्राप्त इत्यर्थः। **एकैकमिति**। एकमित्यस्य द्वित्वे 'एकम् एकम्' इत्यत्र 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि पुनः समुदायात् सुप् एकैकम्। **एकैकया आहुत्या इति**। 'एकया' इत्यस्य द्वित्वे सति 'एकं बहुव्रीहिवत्' इत्यनेन समुदायस्य बहुव्रीहित्वेन प्रातिपदिकत्वात् सुपो लुकि पूर्व एकापदस्य पुंवद्भावे वृद्धौ प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये 'एकैकया' इति।

(२२१८) **आबाधे च**। आबाधः = पीडा। तदाह — **पीडायामिति**।

विमर्श—'सर्वस्य द्वे' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''यदि वाक्य से असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन और भर्त्सन अर्थ गम्यमान हो तो वाक्य के आदि आमन्त्रितसंज्ञक को द्वित्व होता है।''

उदाहरण—(१) सुन्दर सुन्दर वृथा ते सौन्दर्यम् (यहाँ 'सुन्दर' शब्द 'सामन्त्रितम्' (२।३।४८) से आमन्त्रितसंज्ञक है तथा वाक्य के आदि में स्थित है। अतः असूया अर्थ में 'सुन्दर' को प्रकृत सूत्र से द्वित्व होता है)। **अर्थ** - हे सुन्दर! हे सुन्दर! तुम्हारी सुन्दरता व्यर्थ है। (२) **सम्मति अर्थ में** - देव देव वन्द्योऽसि (हे देव! हे देव! तुम वन्दनीय हो)। (३) **कोप** - दुर्विनीत! दुर्विनीत! इदानीं ज्ञास्यसि (अरे दुष्ट! अरे दुष्ट! अब तू जानेगा)। (४) **कुत्सन** - धानुष्क धानुष्क वृथा ते धनुः (धनुर्धर! धनुर्धर! तुम्हारा धनुष व्यर्थ है)। (५) **भर्त्सन** - चोर! चोर! घातयिष्यामि त्वाम् (रे चोर! चोर! तुझे मार डालूँगा)। इन सभी उदाहरणों में पूर्ववत् आमन्त्रित एवं वाक्यादि में प्रयुक्त उक्त शब्दों को द्वित्व होता है)।

(२२१७) **पद**—एकम्, बहुव्रीहिवत्। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—द्वित्व करने पर एक शब्द बहुव्रीहिवत् होता है। उससे सुप् का लोप और पुंवद्भाव होता है। एकैकमक्षरम्। यहाँ दोनों शब्दों की विभक्ति का लोप होने पर बहुव्रीहिवद्भाव से प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण समुदाय से पुनः विभक्त्युत्पत्ति होती है। एकैकया आहुत्या।

विमर्श–यह अतिदेशसूत्र है। तदनुसार ''द्वित्व होने पर एक शब्द को बहुव्रीहि के समान कार्य होता है।''

उदाहरण—एकैकम् (एक-एक) में वीप्सा अर्थ में द्वित्व होने पर बहुव्रीहिवद्भाव (प्रकृत सूत्र से) होने से आगत 'सु' विभक्ति का 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से लुक्। (पुनः विभक्ति सु) एक एक + सु (अ + ए = 'ऐ' - वृद्धि, सु = 'अम्', पूर्वरूप) = एकैकम्। स्त्रीलिङ्ग में — एकैकया (एक-एक से) (द्वित्व - एका + टा, एका + टा, बहुव्रीहिवद्भाव तथा विभक्तिलुक्, पुनः विभक्ति

गतगतः । गतगता । **(२२१९) प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ ।** सादृश्ये द्योत्ये गुणवचनस्य द्वे स्तः । तच्च कर्मधारयवत् । पटुपट्वी । पटुपटुः । पटुसदृशः । ईषत्पटुरिति यावत् । * आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये * । मूले मूले स्थूलः । * सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ यतेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः * । सर्पः सर्पः बुध्यस्व बुध्यस्व । सर्पः सर्पः सर्पः बुध्यस्व बुध्यस्व बुध्यस्व । * कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम् * । बहुलग्रहणादन्य-परयोर्न समासवत् । इतरशब्दस्य तु नित्यम् । * असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः

(२२१९) **प्रकारे गुणवचनस्येति** । प्रकारः सादृश्यम्, व्याख्यानात् । अत आह — **सादृश्य इति । अन्योन्यमिति** । 'अन्यमि'त्यस्य 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' इति वार्तिकेन द्वित्वे अन्यमिति जाते 'असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः' इत्यनेन पूर्वपदस्य सु विभक्तौ सस्य रुत्वे 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इति रोः उत्वे 'आद्गुणः' इति गुणे पूर्वरूपे च प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपेऽन्योऽन्यमिति ।

'टा', 'स्त्रियाः पुंवत्०' से पुंवद्भाव, वृद्धि तथा विभक्तिकार्य) = एकैकया । यहाँ प्रकृत सूत्र से बहुव्रीहिवद्भाव (अतिदेश) का **फल** 'सुप्लोप' तथा पुंवद्भाव है ।

(२२१८) **पद**—आबाधे, च । **अनुवृत्ति**—सर्वस्य द्वे, बहुव्रीहिवत् । **विधि (अतिदेशसूत्र)** ।

मूलार्थ—पीडा गम्य होने पर द्वित्व होता है और बहुव्रीहिवद्भाव भी होता है । गतगतः । गतगता ।

विमर्श—'सर्वस्य द्वे' (२२१३) की आधिकारिक अनुवृत्ति के साथ पूर्वसूत्र से 'बहुव्रीहिवत्' की अनुवृत्ति भी अपेक्षित है । इस प्रकार ''पीडा अर्थ में विद्यमान शब्द को भी द्वित्व होता है तथा उस शब्द को बहुव्रीहि के समान कार्य होता है ।''

उदाहरण—प्रियजन के वियोग में किसी का कथन है - गतगतः (समय बीत गया) । यहाँ पीडा अर्थ गम्य होने पर 'गत' को द्वित्व तथा बहुव्रीहिवद्भाव होने से सुप् का लुक् होने पर पुनः समासनिमित्तक विभक्तिकार्य होता है । (२) स्त्रीलिङ्ग में — गतगता (दुःख है, चली गई) । यहाँ बहुव्रीहिवद्भाव होने से सुप्लोप तथा पूर्वपद 'गता' को पुंवद्भाव भी होता है ।

(२२१९) **पद**—प्रकारे, गुणवचनस्य । **अनुवृत्ति**—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे । **विधि (अतिदेश) सूत्र** ।

मूलार्थ—सादृश्य द्योत्य होने पर गुणवाचक शब्द को द्वित्व होता है और वह द्विरुक्त शब्द कर्मधारयवत् होता है । पटुपट्वी । पटुपटुः । **वा०**—आनुपूर्व्य अर्थ गम्य होने पर द्वित्व होता है । मूले मूले स्थूलः । **वा०**—संभ्रम से प्रवृत्ति हो तो यथेष्ट अनेकधा प्रयोग न्यायसिद्ध है । सर्पः सर्पः बुध्यस्व बुध्यस्व । **वा०**—कर्मव्यतिहार (क्रियाविनिमय) अर्थ में सर्वनाम को द्वित्व होता है और वह बहुलता से समासवत् होता है । बहुलग्रहण से अन्य तथा पर शब्दों को समासवद्भाव नहीं होता तथा इतर शब्द को नित्य समासवद्भाव होता है । **वा०**—असमासवद्भाव में पूर्वपदस्थ सुप् को 'सु' आदेश होता है । अन्योऽन्यं विप्राः नमन्ति । अन्योऽन्यौ । अन्योऽन्येन कृतम् । अन्योऽन्यस्मै दत्तम् । **वा०** - स्त्री और नपुंसकलिङ्ग में अन्य और पर शब्द की उत्तरपदस्थ विभक्ति को आम् आदेश होता है । अन्योन्याम्, अन्योन्यम्, परस्परमित्यादि । **श्लोकार्थ** - स्त्रीलिङ्ग में पूर्वोत्तर दोनों दलों में टाप् का अभाव, नपुंसकलिङ्ग में सु तथा अम् को अद्ड् का अभाव और समास में सु का अलुक् ये तीनों बहुल ग्रहण से सिद्ध होते हैं । यथा 'अन्योन्यम्' इत्यादि में दोनों दलों में टाप् तथा अद्ड् आदेश प्राप्त है । इसके

सुर्वक्तव्यः * । अन्योऽन्यं विप्रा नमन्ति, अन्योन्यौ अन्योन्येन कृतम्, अन्योन्यस्मै दत्त-मित्यादि । *स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्भावो वाच्यः * । अन्योन्याम्, अन्योन्यम् । परस्पराम्, परस्परम् । इतरेतराम्, इतरेतरम् वा । इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः ।

"दलद्वये टाबभावः क्लीबे चादड्विरहः स्वमोः ।
समासे सोरलुक् चेति सिद्धं बाहुलकात् त्रयम् ॥"

दलद्वय इति । 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलमि'त्यस्मिन् वार्तिके बहुलग्रहणस्य प्रयोजनमाह — **दलद्वये इति** । स्त्रियाम् अन्य-पर-इतरशब्देषु कर्मव्यतिहारे द्वित्वे सति अन्योऽन्यमित्यादौ पूर्वोत्तरखण्डयोः टाप्निवृत्तिः बहुलग्रहणस्य प्रथमं प्रयोजनम् । नपुं-सकलिङ्गे च 'अन्योन्यम्, इतरेतरमि'त्यादौ 'अद्ड्डुतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इत्यनेन स्वमो प्राप्तोऽद्ड्

अतिरिक्त 'अन्योऽन्यसंसक्तम्' आदि में सु का लुक् प्राप्त होता है । इन सबका समाधान बहुलग्रहण से किया जाता है ।

विमर्श—इस सूत्र से अतिदेशात्मक और विध्यर्थक दोनों प्रकार के कार्य होते हैं । अतः 'सर्वस्य द्वे' की आधिकारिक अनुवृत्ति के साथ 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' (८।१।११) से 'कर्मधारयवत्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "सादृश्य अर्थ में वर्तमान गुणवाचक शब्दों को द्वित्व होता है और वह द्विरुक्त शब्द कर्मधारय के समान समझा जाता है ।" प्रकार शब्द यहाँ सादृश्यार्थक है । अतः पूर्वसूत्र के समान यहाँ भी द्वित्व होने पर 'पुंवत्कर्मधारय०' (६।३।४२) से पूर्व भाग को पुंवद्भाव एवं समुदाय से सुप् की सिद्धि होती है ।

उदाहरण—पट्वी को द्वित्व तथा कर्मधारयवद्भाव (- प्रकृत सूत्र से, अवान्तर विभक्ति का लोप) — पट्वी पट्वी (पूर्वभाग को पुंवद्भाव पट्वी = 'पटु' - 'पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशेषु', विभ-क्तिकार्य) = पटुपट्वी । इसी प्रकार पुल्लिङ्ग में (पटु को द्वित्व, कर्मधारयवद्भाव होने से सुप् का लोप, पुनः सु = स् = र् = :) = पटुपटुः (कुछ चतुर, चतुरसदृश) ।

१. **वा०**—आनुपूर्व्य = क्रमिक अर्थ बोध्य होने पर तद्वायक शब्द को द्वित्व होता है । **उदाहरण**—मूले मूले स्थूलः (प्रत्येक जड़ मोटी होती गई) में मूले को द्वित्व हुआ । यहाँ प्रकृत सूत्र से कर्मधारयवत् का सम्बन्ध न होने से विभक्तिलोप नहीं होता ।

२. **वा०**—संभ्रम अर्थात् घबराहट से जहाँ प्रवृत्ति हो वहाँ यथेष्ट (अर्थात् अनेक बार) प्रयोग करना न्यायसिद्ध (साधु) माना जाता है ।

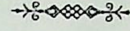
उदा०—सर्पः सर्पः बुध्यस्व बुध्यस्व अथवा सर्पः सर्पः सर्पः बुध्यस्व बुध्यस्व बुध्यस्व (अरे साँप, साँप, साँप - सावधान, सावधान, सावधान हो जाओ) यहाँ घबराहट की स्थिति में जितनी बार कहने से श्रोता को बोध हो उतनी बार उच्चारण करना समीचीन (साधु प्रयोग) माना जाता है । कर्मधारय का अतिदेश न होने से सुप्लुक् नहीं होता ।

३. **वा०**—"कर्मव्यतिहार (क्रिया का विनिमय) द्योत्य रहते सर्वनाम शब्दों को द्वित्व होता है तथा प्रायः (बहुलतया) समासवद्भाव भी होता है ।" बहुल ग्रहण होने से 'अन्य' तथा 'पर' शब्दों को समासवद्भाव नहीं होता तथा 'इतर' शब्द को नित्य समासवद्भाव हो जाता है ।

उदाहरण—अन्योऽन्यं विप्राः नमन्ति (ब्राह्मण एक दूसरे को प्रणाम करते हैं) अन्योऽन्यौ (एक दूसरे को) । अन्योऽन्येन कृतम् (एक दूसरे के द्वारा किया गया) । अन्योन्यस्मै दत्तम् (एक

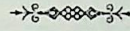
अन्योन्यमित्यादौ दलद्वये टाप्। 'अदड्डतर०' इत्यदड् च प्राप्तः। 'अन्योन्य-संसक्तमहस्त्रियामम्'। अन्योन्याश्रयः। परस्पराक्षिसादृश्यम्। अदृष्टपरस्पैररित्यादौ सोर्लुक् च प्राप्ताः। सर्वं बाहुलकेन समाधेयम्।

इति द्विरुक्तप्रकरणम्।



बाहुलकात् न भवतीति तस्य द्वितीयं प्रयोजनम्। 'अन्योऽन्यस्याश्रयः' इत्यादौ सोर्लुक् प्राप्तः बाहुलकात् न भवति सोर्लुक् चेति तृतीयं प्रयोजनं वेदितव्यम्। एवमेव 'परस्पराक्षिसादृश्य-मि'त्यादौ च समासे सुलुक् प्राप्तो बहुलकान्न भवतीति।

इति द्विरुक्तप्रकरणम्।



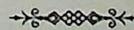
दूसरे को दिया गया)। इन प्रयोगों में द्वित्व होता है तथा बहुल ग्रहण से समासवद्भाव नहीं होता। फलस्वरूप विभक्तिलुक् भी नहीं होता।

४. **वा०**—स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान अन्य, इतर तथा पर शब्दों को क्रिया-विनिमय अर्थ में द्वित्व होने पर उत्तरपदस्थ विभक्ति के स्थान में बहुलता से 'आम्' आदेश होता है।

उदाहरण—अन्योन्याम्, अन्योन्यं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः। परस्पराम् परस्परं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः (ये दोनों ब्राह्मणियाँ अथवा कुल एक-दूसरे को भोजन कराते हैं)। इतरेतराम् इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः। (इन प्रयोगों में 'अन्याम्' को द्वित्व करने पर 'अन्याम् - अन्याम्'। पुंवद्भाव होने पर टाप् की निवृत्ति पूर्वपदस्थ विभक्ति सु (= स् = र् = 'उ' - गुण, उत्तरपदस्थ विभक्ति = 'आम्' आदेश, पररूप) = अन्योऽन्याम्। 'आम्' आदेश न होने पर पुंवद्भाव होने से टाप्-निवृत्ति, पूर्व विभक्ति सु = स् = रु = 'उ', गुण, अन्य शब्द के नपुंसकलिङ्ग में - 'अन्योऽन्यम्' रूप बनेगा। इसी प्रकार - 'परस्पराम्' तथा 'परस्परम्' एवं 'इतरेतराम्' व 'इतरेतरम्' भी बनते हैं।

उपर्युक्त बाहुल्य के प्रभाव को कारिका में संकलित किया गया है। यथा - "दोनों दलों (पूर्व और उत्तर खण्डों में) टाप् का अभाव (न होना), नपुंसकलिङ्ग में 'सु' एवम् 'अम्' के स्थान में अदड् (अन्य व इतर में) आदेश का न होना तथा समासवद्भाव होने पर भी प्रत्यय का लुक् न होना — ये तीनों कार्य बाहुलक से सिद्ध होते हैं।" जैसे - 'अन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्', 'अन्योन्याश्रयः', 'परस्पराक्षिसादृश्यम्' आदि में सु का लुक् प्राप्त होता है। इस सबका समाधान बहुलप्रयोग से किया जाता है।

द्विरुक्त-प्रकरण समाप्त।



अथ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्

(२२२०) **स्त्रियाम्** ४।१।३। अधिकारोऽयम्। समर्थानामिति यावत्।
(२२२१) **अजाद्यतष्टाप्** ४।१।४। अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र

अथ स्त्रीप्रत्यया निरूप्यन्ते —

(२२२०) **स्त्रियाम्**। 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इत्येतत्सूत्रपर्यन्तं 'स्त्रियाम्' इत्यस्याधिकार इत्यर्थः।

'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (४।१।१) सूत्र द्वारा यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि 'ङी' प्रत्ययान्त, आप्प्रत्ययान्त तथा प्रातिपदिकों से विभक्तियाँ संयुक्त होती हैं। ङीबन्त तथा आबन्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं। अत: यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि शब्दों की लिङ्ग-व्यवस्था का विनिगमक क्या है ? प्राचीन शब्दशास्त्रवेत्ताओं ने इस विषय पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। लोक में अवयवसंस्थान (शरीर की विशेषताएँ) ही पुरुष और स्त्री के भेद का निर्धारण करते हैं। यथा —

''स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमश: पुरुष: स्मृत:।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥''

(अर्थात् स्तन, केश आदि स्त्रीत्व के प्रतीक हैं तथा रोम आदि पुंस्त्व के प्रतीक हैं। इन दोनों के सादृश्य का अभाव नपुंसकत्व का प्रतीक माना गया है।) परन्तु इस प्रकार पुरुष और स्त्री के शारीरिक चिह्नों के अनुसार भाषा में लिङ्गनिर्धारण होना संम्भव नहीं है। अत: वैयाकरण उक्त चिह्नों के आधार पर शब्दों की लिङ्गव्यवस्था स्वीकार नहीं करते। लिङ्गविषयक शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार संस्त्यान अर्थ में √स्त्यै + ड्रट् प्रत्यय करने पर स्त्री शब्द निष्पन्न होता है। प्रसव अर्थ में √पू + डुम्सुन् प्रत्यय करने पर 'पुमान्' शब्द की निष्पत्ति होती है।[१] महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार स्त्री का सम्बन्ध 'स्त्यायति' से है और शास्त्रीय स्त्री का सम्बन्ध भी उसी से है। इसी प्रकार लौकिक और शास्त्रीय पुरुष का सम्बन्ध भी 'सूते' से है। लोक में 'स्त्री' अधिकरण होने से उसमें गर्भ का संस्त्यान होता है तथा 'पुरुष' कर्ता है। वह उत्पन्न करता है। शास्त्रीय अर्थ में दोनों भाव साधन हैं। गुणों का संस्त्यान स्त्री है और प्रवृत्ति पुमान् है। सांख्यशास्त्र के अनुसार सत्त्व, रजस् और तमस् गुण हैं। गुणों की प्रवृत्ति अर्थात् उपचय पुंस्त्व का द्योतक है। गुणों का संस्त्यान अर्थात् अपचय स्त्रीत्व का प्रतीक है। गुणों की स्थिति (साम्यावस्था) नपुंसकत्व का द्योतक है। इस प्रकार सभी शब्दों में तीनों लिङ्गों की सत्ता होते हुए भी किसी विशेष शब्द से विशेष लिङ्ग की प्रतीति होना शिष्टों के प्रयोग से है।

(२२२०) **पद**—स्त्रियाम्। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—यह अधिकारसूत्र है। 'समर्थानां प्रथमाद्वा' सूत्र से पहले तक इसका अधिकार है।

विमर्श—इस (स्त्रियाम्) के अधिकार की सीमा 'समर्थानां प्रथमाद्वा' (४।१।८२) सूत्र तक है। अर्थात् इस सूत्र के पूर्व तक स्त्रीत्व का बोध कराने के लिए प्रातिपदिक से अनेक स्त्रीप्रत्ययों (ङीप्, ङीष्, ङीन् तथा टाप्, डाप्, चाप् तथा ऊङ् आदि) का विधान किया जायेगा।

---

१. ''संस्त्यानप्रसवो लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्तत:।
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूते: सप् प्रसवे पुमान्।''

द्योत्ये टाप् स्यात् । अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह – पञ्चाजी । अत्र हि समासार्थ-समाहारनिष्ठं स्त्रीत्वम् । अजा । खट्वा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला । वत्सा । होडा । मन्दा । विलाता । *सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्* । संफला । भस्त्रफला इत्यादि । *सदच्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्* । सत्पुष्पा । प्राक्पुष्पा । प्रत्यक्पुष्पा । *शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः* । पुंयोगे तु – शूद्री । अमहत्पूर्वा किम् ?

(२२२१) **अजाद्यतष्टाप्** । अज आदिर्यस्य सोऽजादिः, अजादिश्च अच्चेति तयोः समाहारः अजाद्यत्, तस्य अजाद्यतः वाच्यं यत्स्त्रीत्वं तस्मिन् (स्त्रीत्वे) द्योत्ये अजादिगणपठितात् अकारान्ताच्च प्रातिपदिकात् टाप् स्यादित्यर्थः । **पञ्चाजी** — 'अजाद्यतः' इत्यत्र षष्ठीमाश्रित्य अजादीनामजन्तस्य च वाच्ये स्त्रीत्वे टाप् इत्येवमजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणादत्र टाप् न भवति। पञ्चानामजानां समाहार इति विग्रहे 'तद्धितार्थ०' इति द्विगुसमासे सुपो लुकि 'अकारान्तोत्तरपदे द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' इति ङीप् 'यस्येति च' त्यकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'पञ्चाजी' इति । **अजा इति** । अजत्वजातिविशिष्टा स्त्री इति विग्रहे अज-शब्दात् 'अजाद्यतष्टाप्' इत्यनेन टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये 'अजा' इति । **सम्भस्त्राजिन इति** । सम्भस्त्रादिपूर्वात् फलशब्दात् टाप् स्यात्र तु पाककर्णेति ङीष् इत्यर्थः ।

(२२२१) **पद**—अजाद्यतः, टाप् । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अजादिगणपठित शब्दों से और अकरान्त शब्दों से तद्वाच्य स्त्रीत्व द्योत्य रहते टाप् प्रत्यय होता है । अजादि अंश स्त्रीत्व का विशेषण होने से 'पञ्चाजी' में टाप् नहीं हुआ । यहाँ समासार्थ समाहार से स्त्रीत्व बोध्य है । अजा । खट्वा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला । वत्सा । होडा । मन्दा । विलाता । **वा०**—सम्, भस्त्रा, अजिन, शण और पिण्ड शब्दपूर्वक फल शब्द से टाप् होता है । संफला । भस्त्रफला इत्यादि । **वा०**—सत्, अञ्च, काण्ड, प्रान्त, शत शब्दपूर्वक पुष्प शब्द से टाप् होता है । सत्पुष्पा, प्राक्पुष्पा, प्रत्यक्पुष्पा । **वा०**—महत्पूर्वक से भिन्न शूद्र शब्द से जाति वाच्य होने पर टाप् प्रत्यय होता है । पुंयोग में शूद्री । 'अमहत्पूर्वा' क्यों कहा ? महाशूद्री । क्रुञ्चा । उष्णिहा । देवविशा । ज्येष्ठा । कनिष्ठा । मध्यमा । कोकिला । कोकिल शब्द से जाति और पुंयोग में भी टाप् होता है । **वा०**—नञ्पूर्वक मूल शब्द से भी टाप् होता है । अमूला ।

विमर्श—स्त्रीप्रत्ययविधायक समस्त सूत्रों में 'स्त्रियाम्' (२२२०) तथा 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' के अंश 'प्रातिपदिकात्' की आधिकारिक अनुवृत्ति रहेगी । सूत्रस्थ 'अतः' पद प्रातिपदिकात् का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । तदनुसार "अजादिगणपठित शब्द तथा अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य होने पर टाप् (= आ) प्रत्यय होता है ।" टाप् में 'ट्' ('चुटू') तथा 'प्' ('हलन्त्यम्') इत्संज्ञक हैं । इत्संज्ञक का लोप होने पर 'आ' मात्र शेष रहता है । अजादि अंश स्त्रीत्व का विशेषण है । अतः अजादिवाच्य स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर 'पञ्चाजी' (पञ्चानाम् अजानां समाहारः 'द्विगोः' से ङीप् = 'पञ्चाजी') में टाप् नहीं होता । यहाँ समासार्थ समाहार से स्त्रीत्व बोध्य है – 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' । **अर्थ** — पाँच बकरियाँ ।

उदाहरण—(१) अज + टाप् (= 'आ' – 'अजाद्यतष्टाप्', अ + आ = 'आ' – सवर्णदीर्घ, प्रातिपदिकसंज्ञा 'सु' विभक्ति, 'सु' का लोप – 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०') = अजा (= बकरी) ।

महाशूद्री । क्रुञ्चा । उष्णिहा । देवविशा । ज्येष्ठाकनिष्ठामध्यमेति पुंयोगेऽपि कोकिला-जातावपि । * मूलान्नञः * । अमूला । (२२२२) उगितश्च ४।१।६ । ङीप् । भवन्ती ।

शूद्रा चामहत्पूर्वेति । शूद्रा जातिवाच्या चेत् अमहत्पूर्वः शूद्रशब्दः स्त्रियां टापं लभते इत्यर्थः । जातिलक्षणङीषोऽपवादः । शूद्रात्स्वभार्यायामूढायामुत्पन्ना स्त्री शूद्रा । जातिरित्यस्य प्रयोजन-माह — शूद्रस्य स्त्री इत्येवं पुंयोगात् स्त्रियां वृत्तौ जातिवाचित्वाऽभावान्न टाप्, किन्तु 'पुंयोगा-दाख्यायाम्' इत्यनेन ङीष् भवतीत्यर्थः — 'शूद्री' ।

(२२२२) **उगितश्च** । उगिदन्तात्प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यादित्यर्थः ।

---

(२) एडक + टाप् (= 'आ', अ + आ = 'आ' - दीर्घ, पूर्ववत् विभक्तिकार्य) = एडका (भेड़ी) । (३) इसी प्रकार अश्व + टाप् (प्रक्रिया उक्तवत्) = अश्वा (घोड़ी) । (४) चटक + टाप् = चटका (चिड़िया) । (५) मूषक + टाप् = मूषिक, (चूहिया) । (६) बाल + टाप् = बाला (छोटी बच्ची) । (७) वत्स + टाप् = वत्सा (लड़की) । (८) होड + टाप् = होडा (कुँवारी) । (९) मन्द + टाप् = मन्दा (कुमारी) । (१०) विलात + टाप् = विलाता (कुमारी) ।

१. **वा०**—"सम्, भस्त्र, अजिन, शण तथा पिण्ड पूर्वक फल शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर टाप् प्रत्यय होता है ।" **उदाहरण**—समृद्धानि फलानि यस्याः (सम् + फल + टाप् = 'आ' - वार्तिक से, अनुस्वार, अ + आ = 'आ' दीर्घ तथा विभक्तिकार्य) = संफला (समृद्ध फलों वाली) । (२) भस्त्रा इव फलानि यस्याः (बहुव्रीहिसमास, आ = 'अ', ह्रस्व - 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्', टाप् = 'आ', दीर्घ आदि) = भस्त्रफला ।

२. **वा०**—"सत्, अञ्च्, काण्ड, प्रान्त, शत तथा एक शब्दपूर्वक पुष्पशब्दान्त स्त्रीवाचक से टाप् = 'आ' होता है ।" **उदाहरण**—सन्ति पुष्पाणि यस्याः (सत्पुष्प + टाप् = 'आ', दीर्घ तथा विभक्तिकार्य) = सत्पुष्पा (पुष्पों से लदी हुई लता) । प्राञ्चि पुष्पाणि यस्याः (प्राक्पुष्प + टाप्) = प्राक्पुष्पा (पहले से पुष्पयुक्त लता) । प्रत्यञ्चि पुष्पाणि यस्याः (प्रत्यक्पुष्प + टाप्) = प्रत्यक्पुष्पा (बाद में खिलने वाले पुष्पों से युक्त) ।

३. **वा०**—जातिवाच्य हो तथा महत् शब्द पूर्व में न हो, तो स्त्रीवाचक शूद्र शब्द से टाप् होता है । **उदाहरण**—शूद्र + टाप् (= 'आ', दीर्घ तथा विभक्तिकार्य) = शूद्रा (शूद्र जाति की स्त्री) । 'शूद्र पुरुष की स्त्री' अर्थ में 'पुंयोगादाख्यायाम्' से ङीष् प्रत्यय होकर 'शूद्री' रूप बनता है । **प्रत्युदाहरण**—(१) प्रकृत वार्तिक में 'अमहत्पूर्वा' का निवेष होने से महत्पूर्वक शूद्र शब्द से टाप् प्रत्यय नहीं होता । महती च शूद्रा (महाशूद्र + ङीष् = 'ई' - 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्', 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = महाशूद्री (आभीरजाति की स्त्री) ।

(११) क्रुञ्च् + टाप् (= 'आ', दीर्घ) = क्रुञ्चा (बगुली) । (१२) उष्णिह् + टाप् = उष्णिहा (छन्दविशेष) । (१३) देवविश् + टाप् = देवविशा (मरुद्गण) । (१४) ज्येष्ठ + टाप् = ज्येष्ठा (बड़ी) । (१५) कनिष्ठ + टाप् = कनिष्ठा (छोटी) । (१६) मध्यम + टाप् = मध्यमा (बीच की) । इन तीन शब्दों में प्राप्त ङीष् का बाध होकर टाप् होता है । (१७) कोकिल + टाप् = कोकिला (कोयल) । यहाँ जातिलक्षण ङीष् का बाधकर टाप् होता है ।

वा०—"नञ्पूर्वक मूल शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर टाप् होता है ।" **उदाहरण**—न विद्यमानं मूलं यस्याः (अमूल + टाप् = 'आ', दीर्घ) = अमूला । यहाँ 'पाककर्ण०' से प्राप्त ङीष् का बाध होकर टाप् होता है । अर्थ - बिना जड़ वाली लता (अमरबेल) ।

(२२२२) **पद**—उगितः, च । **अनुवृत्ति**—ङीप् । **विधिसूत्र** ।

पचन्ती । (२२२३) वनो र च ४।१।७ । वन्नन्तात्तदन्ताच्च ङीप् स्यात् रश्चान्तादेशः । सुत्वानमतिक्रान्ता - अतिसुत्वरी । अतिधीवरी । शर्वरी । * वनो न हश इति वक्तव्यम् * । अवावा । ब्राह्मणी । राजयुध्वा । * बहुव्रीहौ वा * । बहुधीवा, बहुधीवरी । (२२२४)

(२२२३) **वनो र चेति** । र इति लुप्तप्रथमाकम्, अकार उच्चारणार्थः । चकारात् ङीप् समुच्चीयते । वन इति पञ्चम्यन्तम् । प्रातिपदिकादित्यधिकृतम् । तदाह — **वन्नन्तादिति । अवावा इति** । 'ओणृ अपनयने' इत्यस्माद् वनिपि 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इति णकारस्यात्वे ओकारस्य अवादेशे अवावन्शब्दात् 'वनो र चे'ति ङीपि प्राप्ते 'वनो न हश इति वक्तव्यमि'ति तन्निषेधे नान्तोपधादीर्घे विभक्त्यादिकार्ये 'अवावा' इति ।

मूलार्थ—उगित् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है । भवन्ती । पचन्ती ।

विमर्श—'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आती है । सूत्रस्थ उगित् पद से उक् (उ, ऋ, लृ) इत्संज्ञक वर्ण अपेक्षित है । 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से 'उगित्' में तदन्तविधि होती है । तदनुसार "उगिदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीप् प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—भवतु - भवत् (भवतु का सर्वादिगण में पाठ है, यह उत्कारेत्संज्ञक है, भवत् + ङीप् = 'ई', नुम् तथा विभक्तिकार्य) = भवन्ती (आप) । पच् + ✓शतृ (= 'अत्', शप् = 'अ') - पच अत् (अ + अ = 'अ' - पररूप - 'अतो गुणे', ङीप् = 'ई', नुम् = 'न्' का आगम - = 'शप्श्य-नोर्नित्यम्') = पचन्ती (पकाती हुई) ।

(२२२३) **पद**—वनः, र, च । **अनुवृत्ति**—ङीप् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वन्नन्त और वन्नन्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है तथा न को रेफ आदेश होता है । अतिसुत्वरी । अतिधीवरी । **वा०**—हशन्त धातु से विहित वन् और तदन्त को ङीप् और रेफ आदेश नहीं होता । अवावा । ब्राह्मणी । राजयुध्वा । **वा०**—बहुव्रीहि समास में पूर्वोक्त कार्य विकल्प से होते हैं । बहुधीवा । बहुधीवरी ।

विमर्श—पूर्ववत् 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार विद्यमान है । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आ रही है । 'वनः' पद पञ्चम्यन्त है तथा 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि होती है । 'वन्' के नकार को रेफादेश विधान में वाक्यभेद से 'वनः' षष्ठ्यन्त भी है । अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार अन्त्य वर्ण 'न्' के स्थान में रेफ (र्) आदेश होता है । इस प्रकार "वन्प्रत्ययान्त और वन्नन्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है तथा वन् के 'न्' को 'र्' आदेश भी होता है ।"

उदाहरण—✓षु = सु + वनिप् (= 'वन्' - 'सुयजोर्ङ्वनिप्', तुक् = 'त्' का आगम - 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्') - सुत्वन् (+ ङीप् तथा न् = र्) = सुत्वरी । सुत्वानम् अतिक्रान्ता (अतिसुत्वन् + ङीप् = 'ई', 'न्' = 'र्' आदेश - 'वनो र च', विभक्तिकार्य) = अतिसुत्वरी (सोम निचोड़ने वाले का अतिक्रमण करने वाली) । ✓धा + वनिप् (= वन्, 'आ' = 'ई' - 'घुमास्था०', ङीप् = 'ई' तथा न् = 'र्' आदेश) = धीवरी । धीवानम् अतिक्रान्ता (अतिधीवन् + ङीप् = 'ई' तथा न् = र् आदेश, विभक्तिकार्य) = अतिधीवरी (काम करने वाले का अतिक्रमण करने वाली) । शॄ + वनिप् (= 'वन्' - 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते', ऋ = 'अर्' - गुण तथा रपर, ङीप् = ई तथा न् = 'र्' आदेश, विभक्तिकार्य) = शर्वरी (रात्रि) ।

१. **वा०**—हश् के अन्तर्गत आने वाले वर्णों से विहित वन् प्रत्ययान्त एवं तदन्तान्त प्रातिपदिक

पादोऽन्यतरस्याम् ४।१।८ । द्विपदी, द्विपात् । **(२२२५) टाबृचि ४।१।९** । द्विपदा ऋक् । एकपदा । **(२२२६) मनः ४।१।११** । मन्नन्तान्न ङीप् । सीमा । सीमानौ ।

(२२२४) **पादोऽन्यतरस्यामिति** । पादशब्दः कृतसमासान्तः तदन्तात्प्रातिपदिकात् ङीप् वा स्यादित्यर्थः ।

(२२२५) **टाबृचि** । ऋचि वाच्यायां पादान्ताट्टाप् स्यादित्यर्थः ।

(२२२६) **मनः** । 'न षडि'त्यतो 'ने'त्यनुवर्तते, 'ऋन्नेभ्य' इत्यतो ङीबिति चानुवर्तते । तदाह — **मन्नन्तादिति** ।

से ङीप् और रेफ आदेश नहीं होते । **उदाहरण**—✓ओणृ = ओण् + वनिप् (= वन् - 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते', 'ण्' = 'आ' — 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्', ओ = 'अव्' आदेश) — अवावन् (यहाँ ✓ओण् के अवयव 'ण्' का हश् प्रत्याहार में पाठ होने से तदुत्तर वन् प्रत्ययान्त शब्द से प्राप्त ङीप् तथा रेफादेश का प्रकृत वार्तिक से निषेध, प्रातिपदिक संज्ञा - सु = 'स्', स् का लोप, दीर्घ तथा 'न्' का लोप) = अवावा (ब्राह्मणी) । **वन्नन्तान्त**—राजानं योधितवान् - राजन् + ✓युध् + वनिप् (= 'वन्' - 'राजनि युधि कृञः', सु विभक्ति) — राजयुध्वन् स् (प्राप्त ङीप् तथा 'र्' आदेश का वार्तिक से निषेध, विभक्त्यादिकार्य) = राजयुध्वा (राजाओं को युद्ध कराने वाली) ।

२. **वा०**—बहुव्रीहि समास में ङीप् तथा 'न्' को रेफ आदेश विकल्प से होता है। **उदाहरण**—बहवः धीवानः यस्यां नगर्याम् (बहुधीवन् + ङीप् = 'ई' तथा 'न्' = 'र्' आदेश विकल्प से - 'बहुव्रीहौ वा', विभक्तिकार्य) = बहुधीवरी । पक्ष में - डाप् = 'आ' - 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्', टि = 'अन्' का लोप, विभक्तिकार्य) = बहुधीवा ।

(२२२४) **पद**—पादः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—ङीप् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पाद शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से ङीप् होता है । द्विपदी, द्विपाद् ।

विमर्श—पूर्ववत् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आ रही है । पूर्ववत् 'स्त्रियाम्' एवं 'प्रातिपदिकात्' की आधिकारिक अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । पाद शब्द से तदन्त विधि होती है । अतः ''कृतसमासान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व अर्थ द्योत्य होते विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—द्वौ पादौ यस्याः सा (द्वि + औ, पाद + औ = द्विपाद, 'अ' का लोप - 'संख्या-सुपूर्वस्य', ङीप् = 'ई', भसंज्ञा, पाद् = 'पत्' आदेश, 'त्' = 'द्' - जश्त्व) = द्विपदी । ङीप् के अभाव पक्ष में भसंज्ञा न होने से 'पत्' आदेश नहीं होता = द्विपाद् (दो चरण वाली) ।

(२२२५) **पद**—टाप्, ऋचि । **अनुवृत्ति**—पादः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ऋचा वाच्य हो तो पादशब्दान्त से 'टाप्' होता है । द्विपदा । एकपदा ।

विमर्श—विशेष अर्थ में पूर्वसूत्र से प्राप्त ङीप् का बाधकर 'टाप्' का विधान किया जा रहा है । पूर्वसूत्र (२२२४) से 'पादः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । पूर्ववत् 'स्त्रियाम्' और 'प्रातिपदिकात्' की आधिकारिक अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार ''कृतसमासान्त पादशब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऋचा वाच्य होने पर टाप् (= 'आ') प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—द्वौ पादौ यस्याः (द्विपाद + टाप् = 'आ' — 'टाबृचि', दीर्घ तथा विभक्तिकार्य) = द्विपदा ऋक् (दो चरण वाली ऋचा) । एकः पादः यस्याः (एकपाद + टाप्) = एकपदा (एक चरण वाली ऋचा) ।

(२२२६) **पद**—मनः । **अनुवृत्ति**—न ङीप् । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

(२२२७) अनो बहुव्रीहेः ४।१।१२ । अन्नन्ताद् बहुव्रीहेर्न ङीप्। बहुयज्वा, बहुयज्वानौ । **(२२२८) डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ४।१।१३ ।** सूत्रद्वयोपात्ताभ्यां डाप् वा । सीमा । सीमे, सीमानौ । दामे, दामानौ । **(२२२९) अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ४।१।२८ ।** अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनो वा ङीप्। पक्षे – डाब्-

---

(२२२७) **अनो बहुव्रीहेः** । अन इति बहुव्रीहेरित्यस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः । नेति ङीबिति चात्र पूर्ववदनुवर्तते । अत आह — **अन्नन्तादिति** ।

(२२२८) **डाबुभाभ्यामिति** । **सूत्रद्वयोपात्ताभ्यामिति** । 'मनः' 'अनो बहुव्रीहेः' इति सूत्रद्वयोक्ताभ्यामित्यर्थः ।

(२२२९) **अन उपधालोपिन इति** । पूर्वसूत्रात् 'बहुव्रीहेः' इत्यनुवर्तते । तदाह —

मूलार्थ—मन्प्रत्ययान्त से ङीप् नहीं होता । सीमानौ ।

विमर्श—पूर्ववत् सभी आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति आ रही है । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से 'ङीप्' तथा 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' (४।१।१०) से 'न' की अनुवृत्ति आती है । 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से 'मनः' में तदन्तविधि होती है । तदनुसार ''मन्नन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय नहीं होता ।''

उदाहरण—षि = ✓सि + मनिन् (= 'मन्' प्रत्यय, प्रकृति को दीर्घ) = सीमन् ('मनः' से 'ऋन्नेभ्यः०' से प्राप्त दीर्घ का निषेध, प्रथमा एकवचन, विभक्तिकार्य) = सीमा । प्रथमा द्विवचन में — सीमानौ ।

(२२२७) **पद**—अनः, बहुव्रीहेः । **अनुवृत्ति**—न, ङीप् । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—अन्नन्त बहुव्रीहि से ङीप् नहीं होता । बहुयज्वा, बहुयज्वानौ ।

विमर्श—पूर्ववत् 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । पूर्वसूत्र (२२२६) के समान यहाँ भी 'न' और 'ङीप्' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से अपेक्षित है । तदनुसार ''अन् अन्त वाले बहुव्रीहि से ङीप् नहीं होता ।''

उदाहरण—बहवः यज्वानः यस्याः (बहुयज्वन् में 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से नान्तलक्षण ङीप् की प्राप्ति होने पर 'अनो बहुव्रीहेः' से निषेध, प्रथमा एकवचन में विभक्तिकार्य) = बहुयज्वा (बहुत याज्ञिकों वाली नगरी) । प्रथमा द्विवचन में - बहुयज्वानौ ।

(२२२८) **पद**—डाप्, उभाभ्याम्, अन्यतरस्याम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्वोक्त दोनों सूत्रों में उल्लिखित शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'डाप्' प्रत्यय होता है । सीमा । सीमे, सीमानौ । दामे, दामानौ ।

विमर्श—पूर्ववत् 'स्त्रियाम्' और 'प्रातिदिकात्' का अधिकार है । 'उभाभ्याम्' पद से पूर्वोक्त दो सूत्रों ('मनः' तथा 'अनो बहुव्रीहेः') का ग्रहण होता है । तदनुसार ''मन्नन्त तथा बहुव्रीहिसमास युक्त अन्नन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से डाप् = 'आ' प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—मन्नन्त - सीमन् + डाप् (= 'आ' विकल्प से - 'डाबुभाभ्याम्०', टि = 'अन्' का लोप, विभक्तिकार्य) = सीमा । प्रथमा द्विवचन में डाप् होने पर - सीमे । डाप् के अभाव पक्ष में 'मनः' से प्राप्त ङीप् का निषेध - सीमानौ । इसी प्रकार 'दामन्' से डाप् (= 'आ', टिलोप, प्रथमा द्विवचन में विभक्तिकार्य) = दामे । पक्ष में ङीप् का निषेध - दामानौ ।

(२२२९) **पद**—अनः, उपधालोपिनः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहेः, ङीप् । **विधिसूत्र** ।

निषेधौ। बहुराज्ञी, बहुराज्ञ्यौ। बहुराजे, बहुराजानौ। (२२३०) प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७।३।४४। प्रत्ययस्थात्ककारात्पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि परे, स आप् सुपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। अतः किम्? नौका। प्रत्ययस्थात्किम्? शक्नोतीति शका। असुपः किम्? बहुपरिव्राजका नगरी। *मामकनर-

---

अन्नन्तादिति। **बहुराज्ञी** — बहवो राजानो यस्यामिति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे सुब्लुकि, बहुराजन्शब्दात् 'अनो बहुव्रीहेः' इति ङीब्निषेधे 'डाबुभाभ्यामि'ति डापि प्राप्ते 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिको ङीपि अल्लोपे श्चुत्वे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'बहुराज्ञी' इति।

(२२३०) **प्रत्ययस्थादिति।** **ककारादिति।** क् इति वर्णादित्यर्थः, अकार उच्चारणार्थः। **सुपः परो नेति।** आपि सुपः परस्मिन् सति इत्वं न भवतीत्याशयः। **सर्विकेति।** सर्वशब्दात् स्त्रियां टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' इत्यनेन टेः प्रागकचि

मूलार्थ—उपधालोपी अन्नन्त बहुव्रीहि से वैकल्पिक ङीप् होता है। बहुराज्ञी, बहुराज्ञ्यौ। बहुराजे, बहुराजानौ।

विमर्श—प्रकरणवश 'स्त्रियाम्' व 'प्रातिपदिकात्' आदि पदों का अधिकार आ रहा है। पूर्वसूत्र 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' (४।१।२५) सूत्र से 'बहुव्रीहेः' तथा 'संख्याव्ययादेर्ङीप्' (४।१।२६) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'अनः' पद 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से उसमें तदन्तविधि होती है। इस प्रकार "अन्नन्त उपधालोपी बहुव्रीहि समास से स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—बहवः राजानः यस्यां सा - बहुव्रीहिः (बहुराजन् + ङीप् = 'ई' विकल्प से, 'अ' का लोप - 'अल्लोपोऽनः', 'न्' = 'ञ्' - श्चुत्व, ज् + ञ् = 'ज्ञ', प्रातिपदिक संज्ञा सु = स्, 'स्' का हल्ङ्यादिलोप) = बहुराज्ञी। प्रथमा द्विवचन - बहुराज्ञ्यौ। ङीप् न होने पर - बहुराजन् + डाप् (= 'आ', टि = 'अन्' का लोप, सु, विभक्तिलोप) = बहुराजा। प्रथमा द्विवचन में बहुराजे। डाप् तथा ङीप् का निषेध होने पर - बहुराजानौ।

(२२३०) **पद**—प्रत्ययस्थात्, कात्, पूर्वस्य, अतः, इत्, आपि, असुपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रत्ययस्थ ककार से पूर्ववर्ती अकार को आप् परे रहते इकार आदेश होता है, यदि यह आप् सुप् से परे न हो तो। सर्विका। कारिका। 'अतः' क्यों कहा? नौका। 'प्रत्ययस्थात्' क्यों कहा? शका। 'असुकः' क्यों कहा? बहुपरिव्राजका नगरी। **वा०**—मामक और नरक शब्द में ककार से पूर्ववर्ती अकार को इकार होता है। मामिका। नरिका। **वा०**—त्यक् और त्यप् प्रत्ययान्त शब्द में भी पूर्वोक्त कार्य होता है। दाक्षिणात्यिका। इहत्यिका।

विमर्श—अर्थ की दृष्टि से सूत्र पूर्ण है। अत् (ह्रस्व 'अ') स्थायी है और इत् (= 'इ') आदेश है। तदनुसार "प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्ववर्ती 'अ' वर्ण के स्थान में आप् (टाप्, डाप्, चाप्) के परे रहते इत् (इकार) आदेश हो जाता है; यदि यह आप् सुप् से परवर्ती न हो तो।"

उदाहरण—✓सर्व + टाप् (= 'आ', अ + आ = 'आ' - सवर्णदीर्घ) - सर्वा + अकच् (= 'अक्' - अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः) — सर्व् अक् आ (यहाँ 'सर्वक् आ' में ककार अकच् प्रत्यय का है, उसके पश्चात् 'आ' (टाप्) है। अतः उससे पूर्व 'अ' = 'इ' आदेश - 'प्रत्ययस्थात्कात्०',

कयोरुपसंख्यानम् *। मामिका। नरिका। *त्यक्त्यपोश्च *। दाक्षिणात्यिका। इहत्यिका। (२०३१) न यासयोः ७।३।४५। यत्तदोरस्येन्न। यका। सका। यकाम्। तकाम्। *त्यकनश्च निषेधः *। उपत्यका। अधित्यका। *आशिषि वुनश्च न *। जीवका। भवका। *उत्तरपदलोपे न *। देवदत्तिका, देवका। *क्षिपकादीनां

अनुबन्धलोपे 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' इत्यनेन ककारात् पूर्वस्याकारस्य इकारे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'सर्विका' इति।

(२२३१) **न यासयोः**।'प्रत्ययस्थादि'ति प्राप्ते निषेधोऽयम्। यासेति यत्तदोरुपलक्षणम्, न तु प्रथमान्तानुकरणम्, तथा सति 'यकामि'त्यत्र निषेधो न स्यादिति। **त्यकनश्चेति**। त्यक-

---

विभक्तिकार्य) = सर्विका (सभी)। ✓कृ + ण्वुल् (= वु = अक, ऋ = 'आर्' - वृद्धि, रपर) - कारक + टाप् (= 'आ', दीर्घ, 'अ' = 'इ' आदेश) = कारिका (करने वाली या श्लोक)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अतः' पद का ग्रहण होने से ह्रस्व अकार के स्थान में इकार आदेश अपेक्षित है। अतः 'नौका' में प्रत्ययस्थ 'क्' से पूर्व 'औ' के स्थान में इकार नहीं हुआ। ✓नौ + कन् + टाप् = 'आ', दीर्घ = नौका।

'प्रत्ययस्थात्' का प्रकृत सूत्र में निवेश होने से इकास विधान में प्रत्यय में स्थित ककार होना अपेक्षित है। अतः शक् + अच् (= 'अ' — 'नन्दिग्रहि०', टाप् = 'आ', दीर्घ) = 'शका' में इकार नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ ककार प्रत्यय सम्बन्धी नहीं है, धातुसम्बन्धी है।

प्रत्यय से परवर्ती टाप् सुप् से परे न होने पर ही यह इकार विधान होता है। अतः बहवः परिव्राजकाः यस्यां नगर्यां सा (बहुव्रीहिः – बहुपरिव्राजक + टाप् (= 'आ', दीर्घ, 'असुपः' ग्रहण से यहाँ ककार से पूर्व 'अ' को इकार नहीं होता। यहाँ समासप्रक्रिया में लुप्त विभक्ति 'जस्' में प्रत्यय होने से उससे परवर्ती टाप् (आ) की स्थिति है) = बहुपरिव्राजका नगरी (बहुत संन्यासियों वाली नगरी)।

१. **वा०**—मामक और नरक शब्दों में ककार से पूर्व 'अ' के स्थान में इकार आदेश होता है; पूर्व की स्थिति में। **उदाहरण**—अस्मद् + अण् (= 'अ' - 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च', अस्मद् = 'ममक' आदेश - 'तवममकावेकवचने', आदिवृद्धि, टाप् = 'आ', दीर्घ) - मामका (क् से पूर्व अ = 'इ' आदेश - 'मामकनरकयोः०', विभक्तिकार्य) = मामिका (मेरी)। नरान् कायति ✓नर + के + क (= 'अ', ए = 'आ' - 'आदेच उपदेशेऽशिति', टाप् = 'आ', 'आ' का लोप, दीर्घ) = नरका। वार्तिक से अ = 'इ' आदेश, विभक्तिकार्य) = नरिका (मानवों को आवाज देने वाली)।

२. **वा०**—त्यक् और त्यप् प्रत्ययों के अन्त में भी प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अ के स्थान में इकार आदेश होता है। **उदाहरण**—दक्षिणस्यां दिशि अदूरे — दक्षिणा + आच् (= 'आ' प्रत्यय - 'दक्षिणादाच्') = दक्षिणा अव्यय, दक्षिणा भवा — दक्षिणा + त्यक् (= 'त्य' - 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्', अ = 'आ' - आदिवृद्धि, टाप् = आ, दीर्घ) = दाक्षिणात्या (स्वार्थिक 'क' प्रत्यय, आ = 'अ' - ह्रस्व - 'केऽणः', 'अ' = 'इ' - 'व्यक्त्यपोश्च', विभक्तिकार्य) = दाक्षिणात्यिका (दक्षिणदेश में उत्पन्न होने वाली)। इह + त्यप् (= 'त्य' - 'अव्ययात्त्यप्', टाप् = 'आ', दीर्घ, 'क' प्रत्यय तथा 'केऽणः' से ह्रस्व, 'अ' = 'इ' आदेश, विभक्तिकार्य) = इहत्यिका।

(२२३१) **पद**—न, यासयोः। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययस्थात्, कात्, पूर्वस्य, अतः, इत्, आपि, असुपः। **विधि (निषेध) सूत्र**।

निषेधौ। बहुराज्ञी, बहुराज्ञ्यौ। बहुराजे, बहुराजानौ। (२२३०) प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७।३।४४। प्रत्ययस्थात्ककारात्पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि परे, स आप् सुपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। अतः किम्? नौका। प्रत्ययस्थात्किम्? शक्नोतीति शका। असुपः किम्? बहुपरिव्राजका नगरी। *मामकनर-

---

अन्नन्तादिति। **बहुराज्ञी** — बहवो राजानो यस्यामिति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे सुब्लुकि, बहुराजन्शब्दात् 'अनो बहुव्रीहेः' इति डीब्निषेधे 'डाबुभाभ्यामि'ति डापि प्राप्ते 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिको ङीपि अल्लोपे श्चुत्वे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'बहुराज्ञी' इति।

(२२३०) **प्रत्ययस्थादिति**। **ककारादिति**। क् इति वर्णादित्यर्थः, अकार उच्चारणार्थः। **सुपः परो नेति**। आपि सुपः परस्मिन् सति इत्वं न भवतीत्याशयः। **सर्विकेति**। सर्वशब्दात् स्त्रियां टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' इत्यनेन टेः प्रागकचि

मूलार्थ—उपधालोपी अन्नन्त बहुव्रीहि से वैकल्पिक ङीप् होता है। बहुराज्ञी, बहुराज्ञ्यौ। बहुराजे, बहुराजानौ।

विमर्श—प्रकरणवश 'स्त्रियाम्' व 'प्रातिपदिकात्' आदि पदों का अधिकार आ रहा है। पूर्वसूत्र 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' (४।१।२५) सूत्र से 'बहुव्रीहेः' तथा 'संख्याव्ययादेर्ङीप्' (४।१।२६) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'अनः' पद 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से उसमें तदन्तविधि होती है। इस प्रकार "अन्नन्त उपधालोपी बहुव्रीहि समास से स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—बहवः राजानः यस्यां सा – बहुव्रीहिः (बहुराजन् + ङीप् = 'ई' विकल्प से, 'अ' का लोप – 'अल्लोपोऽनः', 'न्' = 'ञ्' – श्चुत्व, ज् + ञ् = 'ज्ञ', प्रातिपदिक संज्ञा सु = स्, 'स्' का हल्ङ्यादिलोप) = बहुराज्ञी। प्रथमा द्विवचन – बहुराज्ञ्यौ। ङीप् न होने पर – बहुराजन् + डाप् (= 'आ', टि = 'अन्' का लोप, सु, विभक्तिलोप) = बहुराजा। प्रथमा द्विवचन में बहुराजे। डाप् तथा ङीप् का निषेध होने पर – बहुराजानौ।

(२२३०) **पद**—प्रत्ययस्थात्, कात्, पूर्वस्य, अतः, इत्, आपि, असुपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रत्ययस्थ ककार से पूर्ववर्ती अकार को आप् परे रहते इकार आदेश होता है, यदि यह आप् सुप् से परे न हो तो। सर्विका। कारिका। 'अतः' क्यों कहा? नौका। 'प्रत्ययस्थात्' क्यों कहा? शका। 'असुकः' क्यों कहा? बहुपरिव्राजका नगरी। **वा०**—मामक और नरक शब्द में ककार से पूर्ववर्ती अकार को इकार होता है। मामिका। नरिका। **वा०**—त्यक् और त्यप् प्रत्ययान्त शब्द में भी पूर्वोक्त कार्य होता है। दाक्षिणात्यिका। इहत्यिका।

विमर्श—अर्थ की दृष्टि से सूत्र पूर्ण है। अत् (ह्रस्व 'अ') स्थायी है और इत् (= 'इ') आदेश है। तदनुसार "प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्ववर्ती 'अ' वर्ण के स्थान में आप् (टाप्, डाप्, चाप्) के परे रहते इत् (इकार) आदेश हो जाता है; यदि यह आप् सुप् से परवर्ती न हो तो।"

उदाहरण—✓सर्व + टाप् (= 'आ', अ + आ = 'आ' – सवर्णदीर्घ) – सर्वा + अकच् (= 'अक्' – अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः) — सर्व् अक् आ (यहाँ 'सर्वक् आ' में ककार अकच् प्रत्यय का है, उसके पश्चात् 'आ' (टाप्) है। अतः उससे पूर्व 'अ' = 'इ' आदेश – 'प्रत्ययस्थात्कात्०',

कयोरुपसंख्यानम् *। मामिका। नरिका। *त्यक्त्यपोश्च *। दाक्षिणात्यिका। इहत्यिका। (२०३१) न यासयोः ७।३।४५। यत्तदोरस्येत्र। यका। सका। यकाम्। तकाम्। *त्यकनश्च निषेधः *। उपत्यका। अधित्यका। *आशिषि वुनश्च न *। जीवका। भवका। *उत्तरपदलोपे न *। देवदत्तिका, देवका। *क्षिपकादीनां

अनुबन्धलोपे 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' इत्यनेन ककारात् पूर्वस्याकारस्य इकारे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्याादिना सुलोपे 'सर्विका' इति।

(२२३१) **न यासयोः**।'प्रत्ययस्थादि'ति प्राप्ते निषेधोऽयम्। यासेति यत्तदोरुपलक्षणम्, न तु प्रथमान्तानुकरणम्, तथा सति 'यकामि'त्यत्र निषेधो न स्यादिति। **त्यकनश्चेति**। त्यक-

---

विभक्तिकार्य) = सर्विका (सभी)। ✓कृ + ण्वुल् (= वु = अक, ऋ = 'आर्' - वृद्धि, रपर) - कारक + टाप् (= 'आ', दीर्घ, 'अ' = 'इ' आदेश) = कारिका (करने वाली या श्लोक)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अतः' पद का ग्रहण होने से ह्रस्व अकार के स्थान में इकार आदेश अपेक्षित है। अतः 'नौका' में प्रत्ययस्थ 'क्' से पूर्व 'औ' के स्थान में इकार नहीं हुआ। ✓नौ + कन् + टाप् = 'आ', दीर्घ = नौका।

'प्रत्ययस्थात्' का प्रकृत सूत्र में निवेश होने से इकास विधान में प्रत्यय में स्थित ककार होना अपेक्षित है। अतः शक् + अच् (= 'अ' — 'नन्दिग्रहि०', टाप् = 'आ', दीर्घ) = 'शका' में इकार नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ ककार प्रत्यय सम्बन्धी नहीं है, धातुसम्बन्धी है।

प्रत्यय से परवर्ती टाप् सुप् से परे न होने पर ही यह इकार विधान होता है। अतः बहवः परिव्राजकाः यस्यां नगर्यां सा (बहुव्रीहिः - बहुपरिव्राजक + टाप् (= 'आ', दीर्घ, 'असुपः' ग्रहण से यहाँ ककार से पूर्व 'अ' को इकार नहीं होता। यहाँ समासप्रक्रिया में लुप्त विभक्ति 'जस्' में प्रत्यय होने से उससे परवर्ती टाप् (आ) की स्थिति है) = बहुपरिव्राजका नगरी (बहुत संन्यासियों वाली नगरी)।

१. **वा०**—मामक और नरक शब्दों में ककार से पूर्व 'अ' के स्थान में इकार आदेश होता है; पूर्व की स्थिति में। **उदाहरण**—अस्मद् + अण् (= 'अ' - 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च', अस्मद् = 'ममक' आदेश - 'तवममकावेकवचने', आदिवृद्धि, टाप् = 'आ', दीर्घ) - मामका (क् से पूर्व अ = 'इ' आदेश - 'मामकनरकयोः०', विभक्तिकार्य) = मामिका (मेरी)। नरान् कायति ✓नर + के + क (= 'अ', ए = 'आ' - 'आदेच उपदेशेऽशिति', टाप् = 'आ', 'आ' का लोप, दीर्घ) = नरका। वार्तिक से अ = 'इ' आदेश, विभक्तिकार्य) = नरिका (मानवों को आवाज देने वाली)।

२. **वा०**—त्यक् और त्यप् प्रत्ययों के अन्त में भी प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अ के स्थान में इकार आदेश होता है। **उदाहरण**—दक्षिणस्यां दिशि अदूरे — दक्षिणा + आच् (= 'आ' प्रत्यय - 'दक्षिणादाच्') = दक्षिणा अव्यय, दक्षिणा भवा — दक्षिणा + त्यक् (= 'त्य' - 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्', अ = 'आ' - आदिवृद्धि, टाप् = आ, दीर्घ) = दाक्षिणात्या (स्वार्थिक 'क' प्रत्यय, आ = 'अ' - ह्रस्व - 'केऽणः', 'अ' = 'इ' - 'व्यक्त्यपोश्च', विभक्तिकार्य) = दाक्षिणात्यिका (दक्षिणदेश में उत्पन्न होने वाली)। इह + त्यप् (= 'त्य' - 'अव्ययात्त्यप्', टाप् = 'आ', दीर्घ, 'क' प्रत्यय तथा 'केऽणः' से ह्रस्व, 'अ' = 'इ' आदेश, विभक्तिकार्य) = इहत्यिका।

(२२३१) **पद**—न, यासयोः। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययस्थात्, कात्, पूर्वस्य, अतः, इत्, आपि, असुपः। **विधि (निषेध) सूत्र**।

च *। क्षिपका। ध्रुवका। कन्यका। चटका। *तारका ज्योतिषि *। *वर्णका तान्तवे *। *वर्तका शकुनौ प्राचाम् *। *अष्टका पितृदेवत्ये *। *सूतकापुत्रिका-वृन्दारकाणां वेति वक्तव्यम् *। एषां वा अकारो भवतीत्यर्थः। सूतिका, सूतकेत्यादि।

न्प्रत्ययान्तस्यापि प्रत्ययस्थादितीत्वप्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः। **तारका ज्योतिषि**। ज्योतिषि वाच्ये 'तारका' इत्यत्र इत्वं न भवतीत्याशयः।

मूलार्थ—यत् और तत् शब्द के अकार को इत्व नहीं होता। यका। सका। यकाम्। तकाम्। **वा०** - त्यकन् के आधार को भी इत्व नहीं होता। उपत्यका। अधित्यका। **वा०**—आशीर्वाद अर्थ में वुन् प्रत्यय के आदेश 'अक' के अकार को भी इत्व नहीं होता। जीवका। भवका। **वा०**—उत्तरपद लोप में भी इत्व नहीं होता। देवदत्तिका, देवका। **वा०**—क्षिपकादि शब्दों में भी इत्व नहीं होता। क्षिपका। ध्रुवका। कन्यका। **वा०**—ज्योति वाच्य होने पर 'तारका' ही बनता है अर्थात् इत्व नहीं होता। **वा०**—तन्तु के विकार अर्थ में 'वर्णका' रूप होता है, इत्व नहीं होता। **वा०**—शकुनि (पक्षी) अर्थ में प्राचीन आचार्यों के अनुसार 'वर्तका' शब्द में इत्व नहीं होता। **वा०**—पितृदेवत्य अर्थ वाच्य होने पर 'अष्टका' शब्द में इत्व नहीं होता। **वा०**—सूतका, पुत्रिका, वृन्दारका शब्दों में 'अ' को इत्व विकल्प से कहना चाहिए। सूतिका, सूतका इत्यादि।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२३०) से प्राप्त इत्व का निषेध किया जा रहा है। अतः सम्पूर्ण पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व यत् और तत् सम्बन्धी अकार के स्थान में इकार आदेश नहीं होता।"

उदाहरण—यत् + अकच् (= 'अक्' टि से पूर्व, द् = 'अ' — 'त्यदादीनामः', पररूप)—यक + टाप् (= आ, दीर्घ) — यका (पूर्वसूत्र (२२३०) से प्राप्त अ = 'इ' का निषेध - 'न यासयोः', विभक्तिकार्य) = यका। इसी प्रकार तत् शब्द से ('त्' = 'स्' — 'तदोः सः०', शेष कार्य पूर्ववत्) = सका। सूत्र में उल्लिखित 'या', 'सा' से केवल प्रथमान्त ही विवक्षित नहीं है, अपितु यत् तथा तत् सम्बन्धी प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व 'अ' का होना वाञ्छित है। अतः द्वितीया विभक्ति के उदाहरण यकाम्, तकाम् प्रदर्शित किये गये हैं।

१. **वा०**—त्यकन् प्रत्ययान्त शब्दों में ककार से पूर्ववर्ती अकार के स्थान में भी इकार आदेश का निषेध होता है। **उदाहरण**—उप + त्यकन् (= 'त्यक्', टाप् = 'आ', प्रकृत वार्तिक से प्राप्त अ = इत्व का निषेध, सुलोप) = उपत्यका (पर्वत के निचले भाग का तराई क्षेत्र)। अधि + त्यकन् (टाप्, विभक्तिलोप तथा इत्व निषेध) = अधित्यका (पर्वत का ऊपरी पठारी भाग)।

२. **वा०**—आशीर्वाद अर्थ में वुन् प्रत्यय के आदेश 'अक' सम्बन्धी 'अ' के स्थान में 'इ' नहीं होता। **उदाहरण**—✓जीव् + वुन् (= 'वु' = 'अक' - 'युवोरनाकौ', टाप् = 'आ', दीर्घ, प्रकृत वार्तिक से प्राप्त इत्व का निषेध, विभक्तिकार्य) = जीवका (जीओ)। ✓भू + वुन् (= वु = अक, गुण, अवादेश, टाप्, इत्वनिषेध पूर्ववत्) = भवका (हो)।

३. **वा०**—उत्तरपद का लोप होने पर भी 'अ' के स्थान में इत्व नहीं होता। **उदाहरण**—देवदत्त + 'क' — प्रत्यय स्वार्थ में, उत्तरपद 'दत्त' का वैकल्पिक लोप - "अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्यः', टाप् = 'आ', दीर्घ तथा प्रकृत वार्तिक से इत्वनिषेध) = देवका। उत्तरपद का लोप न होने पर 'अ' के स्थान में इत्व हो जाता है - देवदत्तिका।

४. **वा०**—क्षिपका आदि शब्दों में भी प्रत्ययस्थ ककार से पूर्ववर्ती 'अ' के स्थान में इकार आदेश नहीं होता। **उदाहरण**—क्षिप् + क = 'अ' - 'इगुपधात्०', टाप् = 'आ', दीर्घ) =

(२२३२) उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ७।३।४६ ।यकपूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययस्यातः स्थाने योऽत् तस्य कात्पूर्वस्येद्वाऽऽपि परे। केऽण इति ह्रस्वः। आर्यका, आर्यिका। चटकका, चटकिका। आतः किम्? साङ्काश्ये भवा साङ्काश्यिका। यकेति किम्?

(२२३२) **उदीचामात इति**। 'प्रत्ययस्थादि'ति सूत्रमनुवर्तते। यकेति वर्णग्रहणम्, अकारावुच्चारणार्थौ, यकपूर्वाया इत्येतत् 'आत्' इत्यस्य विशेषणम्। तेनाकारे अर्थगतं स्त्रीत्व-मारोप्य 'यकपूर्वायाः' इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। तदाह — **यकपूर्वस्येति**। **आर्यिकेति**। आर्या-

क्षिपा + 'क' (– स्वार्थ में, आ = 'अ' — ह्रस्व – 'केऽणः', टाप् = 'आ', दीर्घ तथा विभक्तिकार्य, प्राप्त अ = 'इ' का प्रकृत वार्तिक से निषेध) = क्षिपका। ✓ध्रुव + क (= 'अ' + टाप् = 'आ', दीर्घ) = ध्रुवा + क (टाप्, दीर्घ, इत्वनिषेध) = ध्रुवका। ✓चट + अच् (= 'अ', टाप् = आ, 'क' प्रत्यय, ह्रस्व, प्राप्त इत्व का निषेध आदि) = चटका। कन्या + 'क' (आ = 'अ' ह्रस्व, टाप्, दीर्घ, इत्वनिषेध) = कन्यका।

५. **वा०**—ज्योति वाच्य होने पर 'तारका' ही बनता है, 'तारिका' नहीं। **उदाहरण**—तृ + ण्वुल् (= वु = 'अक' आदेश, ऋ = आर् – वृद्धि, रपर, टाप् = आ, प्रकृत वार्तिक से इत्वनिषेध) = तारका (नक्षत्र, आँख की पुतली)।

६. **वा०**—तन्तुविकार बोध्य होने पर 'वर्णका' शब्द में इत्व नहीं होता। **उदाहरण**—✓वर्ण + णिच् (= 'इ' = वर्णि + ण्वुल् = वु, णिलोप, वु = अक, टाप्, इत्वनिषेध, विभक्तिकार्य) = वर्णका (ओढ़नी)। अन्य अर्थ में – वर्णिका।

७. **वा०**—पक्षी अर्थ में वर्तका शब्द प्राचीन आचार्यों के मतानुसार निष्पन्न होता है। **उदाहरण**—✓वृत् + ण्वुल् (= वु = 'अक', ऋ = 'अर्' – गुण, रपर, प्राप्त इत्व का प्रकृत वार्तिक से निषेध, विभक्तिकार्य) = वर्तका (= बटेर)। अन्य वैयाकरणों के मतानुसार 'वर्तिका' भी साधु है।

८. **वा०**—पितृकर्म वाच्य होने पर 'अष्टका' शब्द में इत्व नहीं होता। **उदाहरण**—अश्नन्ति ब्राह्मणाः यस्याम् (✓अश् + तकन् = 'तक्', टाप् = आ, प्राप्त इत्व का निषेध, 'श्' = 'ष्' – 'व्रश्च०', ष्टुत्व 'त्' = 'ट्') = अष्टका (आश्विन कृष्णपक्ष की अष्टमी के दिन पितरों की तृप्ति हेतु ब्राह्मणों को भोजन कराना)।

९. **वा०**—सूतका, पुत्रिका, वृन्दारका शब्दों में प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व 'अ' के स्थान में इकार विकल्प से होता है। **उदाहरण**—✓सू (षू) + क्त = 'त' = सूत + टाप् (= 'आ', दीर्घ, स्वार्थिक 'क' प्रत्यय, आ = 'अ' – 'केऽणः', टाप् = आ, दीर्घ तथा प्रकृत वार्तिक से वैकल्पिक अ = 'इ' आदेश, विभक्तिकार्य) = सूतिका। पक्ष में इत्व न होने पर – सूतका (प्रसव करने वाली)।

(२२३२) **पद**—उदीचाम्, आतः स्थाने, यकपूर्वायाः। **अनुवृत्ति**—न, प्रत्ययस्थात्, कात्, पूर्वस्यातः, इत्, आपि, असुपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—यकार-ककारपूर्वक स्त्रीप्रत्यय सम्बन्धी आकारस्थानिक ककार से पूर्ववर्ती अकार को विकल्प से इत्व होता है, आप् के परे रहते। आर्यिका, आर्यका। चटकिका, चटकका। 'आतः' क्यों कहा ? सांकाश्यिका। 'यकः' क्यों कहा ? अश्विका। 'स्त्रीप्रत्यय' क्यों कहा ? शुभंयिका।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२३१) से 'न' तथा सम्पूर्ण सूत्र 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' (२२३०) की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'उदीचाम्' पद के द्वारा उदीच्य आचार्यों के मत को प्रतिपादित किया गया है। 'यकपूर्वायाः' स्त्रीलिंग निर्देश से स्त्रीप्रत्यय का बोध होता है। अतः "यकार

अश्विका। स्त्रीप्रत्ययेति किम्? शुभंयिका। (२२३३) अभाषितपुंस्काच्च ७।३।४८। एतस्माद्विहितस्यातः स्थानेऽत इद्वा। गङ्गका, गङ्गिका। (२२३४) आदाचार्याणाम् ७।३।४९। पूर्वविषये गङ्गाका। (२२३५) अनुपसर्जनात्

शब्दात् कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे पुनः आर्यकशब्दात् टापि 'उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः' इत्यनेन वैकल्पिके इत्वे आर्यिका। पक्षे — 'आर्यका' इति।

(२२३३) **अभाषितपुंस्काच्च**। 'उदीचामातः स्थाने' इत्यनुवर्तते अत इदिति, अभाषितः पुमान् येन इति विग्रहः विहितस्येत्यध्याहार्यम्। अत आह — **एतस्मादिति**।

(२२३४) **आदाचार्याणाम्**। पूर्वसूत्रविषये 'आद्' वा भवतीत्यर्थः।

तथा ककार के पूर्व में स्थित आकार के स्थान में होने वाले (प्रत्ययस्थ ककार से पूर्ववर्ती) अकार के स्थान में आप् परे रहते उदीच्य आचार्यों के मत में (विकल्प से) इकार होता है।''

उदाहरण—आर्या + क (—स्वार्थ में, आ = 'अ' - ह्रस्व - 'केऽणः', पुनः टाप् = 'आ', दीर्घ, विकल्प से अ = 'इ' इत्व, विभक्तिकार्य) = आर्यिका। पक्ष में - आर्यका (पूजनीया)। चटका + स्वार्थिक 'क' (ह्रस्व, टाप्, दीर्घ आदि, वैकल्पिक इत्व) = चटकिका। इत्व न होने पर - चटकका (= गौरैया)।

प्रत्युदाहरण—'आतः' पद का सूत्र में निवेश होने से आकारस्थानिक स्थानी अकार के स्थान में ही इत्व विकल्प से होता है। अतः 'सांकाश्यिका' में नित्य इकार आदेश हुआ।

प्रक्रिया—साङ्काश्येन निर्वृत्तं नगरं - साङ्काश्यम् (ण्य)। साङ्काश्य + वुञ् (= वु = अक, टाप् = 'आ', अ = 'इ' नित्य) = साङ्काश्यिका। 'यकः' पद का निवेश होने से 'य' तथा 'क' से पूर्व अकार के स्थान पर विकल्प से इत्व विधान होता है। अतः 'अश्विका' में नित्य इकार हुआ। स्थानी अकार स्त्रीप्रत्यय सम्बन्धी आकार के आदेश रूप में हो, तभी वैकल्पिक इत्व होता है। अतः 'शुभंयिका' (शुभकारिणी) में नित्य इत्व होता है। प्रक्रिया—शुभम् + √या + विच् (विच् का सर्वापहारलोप, क, ह्रस्व - 'केऽणः', टाप्, दीर्घ, अ = 'इ', विभक्तिकार्य) = शुभंयिका।

(२२३३) **पद**—अभाषितपुंस्कात्, च। **अनुवृत्ति**—न, नञ्पूर्वाणामपि, उदीचाम्, आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात्, पूर्वस्य, अतः, इत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अभाषितपुंस्क शब्द से विहित आकार के स्थान में हुए अकार को विकल्प से इत्व होता है। गङ्गका, गङ्गिका।

विमर्श—विकल्प से इत्वविधान का प्रकरण चल रहा है। अतः 'न यासयोः' (२२३१) से 'न', 'उदीचामातः०' (२२३२) से 'उदीचामातः स्थाने' तथा सम्पूर्ण पूर्वसूत्र 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्यात इत्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वा नञ्पूर्वाणामपि' (७।३।४७) से 'नञ्पूर्वाणाम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार ''अभाषितपुंस्क शब्द से विहित प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्ववर्ती आकारस्थानिक अकार के स्थान में नञ्पूर्व या अनञ्पूर्व होने पर उदीच्य आचार्यों के मतानुसार इत्व नहीं होता। अन्य आचार्यों के मत में इकार आदेश हो जाता है।'' नित्य स्त्रीलिंगवाची शब्दों को अभाषितपुंस्क (न भाषितः पुमान् येन) कहा गया है।

उदाहरण—गङ्गा + 'क' (ह्रस्व - 'केऽणः', टाप् = 'आ' - दीर्घ, प्राप्त अ = इत्व का निषेध विकल्प से, विभक्तिकार्य) = गङ्गका। अन्य आचार्यों के मत में इत्व होने पर - गङ्गिका।

(२२३४) **पद**—आत्, आचार्याणाम्। **अनुवृत्ति**—अभाषितपुंस्कात्, नञ्पूर्वाणामपि, आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यातः, आपि। **विधिसूत्र**।

४।१।१४। अधिकारोऽयं यूनस्तिरित्यभिव्याप्य। (२२३६) टिड्ढाणञ्द्वयसज्-दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ४।१।१५। अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततो ङीप्। कुरुचरी। उपसर्जनत्वान्नेह – बहुकुरुचरा। नदट् – नदी। देवट् – देवी। सौपर्णेयी। ऐन्द्री। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुदघ्नी। ऊरुमात्री।

(२२३५) **अनुपसर्जनादिति**। न उपसर्जनम् अनुपसर्जनम्। उपसर्जनत्वं च समासादौ गुणीभूतत्वम्।

(२२३६) **टिड्ढाणञिति**। 'अनुपसर्जनादि'त्यधिक्रियते। अनुपसर्जनं यत् टिडादि = टित्-ढ-अण्-अञ्-द्वयसज्-दघ्नञादि, तदन्ताद् अकारान्तात् स्त्रियां ङीप् स्यादित्यर्थः। **कुरु-चरी** — कुरुषु चरतीति विग्रहे 'चरेष्टः' इति टप्रत्यये तस्य टित्त्वात्तदन्तात् 'कुरुचर' इत्यदन्तात् 'टिड्ढाणञि'त्यनेन ङीपि अनुबन्धलोपे 'यस्येति चे'त्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'कुरुचरी' इति। **नदडिति**। पचादिषु नदट् देवट् इत्यनयोः पाठात् स्वत एव टित्वमिति भावः। **सौपर्णेयी** —

मूलार्थ—पूर्वसूत्र के विषय में विकल्प से आत्व होता है। गङ्गाका।

विमर्श—इत्वविधान का ही प्रकरण है। पूर्वसूत्र (२२३३) से 'अभाषितपुंस्कात्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। पूर्वसूत्र में अनुवृत्त पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव यहाँ भी विद्यमान है। इस प्रकार "अभाषितपुंस्क से विहित प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व आकारस्थानिक अकार के स्थान में नञ्पूर्व तथा अनञ्पूर्व होने पर अन्य आचार्यों के मत में आत् (= आ) आदेश होता है।" उदीच्य आचार्यों के मतानुसार आत्व न होकर इत्व-विकल्प होगा।

उदाहरण—गङ्गका (अ = आत् = 'आ') = गङ्गाका (शेष प्रक्रिया पूर्ववत्)।

(२२३५) **पद**—अनुपसर्जनात्। **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम्। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—'यूनस्तिः' सूत्र तक इसका अधिकार है।

विमर्श—यह अधिकारसूत्र है। 'यूनस्तिः' (४।१।७७) सूत्रपर्यन्त इसका अधिकार जाता है। तदनुसार विधीयमान टाप्, ङीप् आदि स्त्रीप्रत्यय अनुपसर्जन प्रातिपदिक से ही होते हैं, उपसर्जन से नहीं। यहाँ अनुपसर्जन का अर्थ 'प्रधान' तथा उपसर्जन का तात्पर्य 'गौण' है।

(२२३६) **पद**—टिड्ढाणञ्.........क्वरपः। **अनुवृत्ति**—अतः, ङीप्, स्त्रियाम्, अनुपसर्जनात्, प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अनुपसर्जन जो टित् आदि तदन्त अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है। कुरुचरी। उपसर्जन होने से 'बहुकुरुचरा' में ङीप् नहीं होता। नदी। देवी। सौपर्णेयी। ऐन्द्री। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुदघ्नी। ऊरुमात्री। पञ्चतयी। आक्षिकी। लावणिकी। यादृशी। इत्वरी। **वा०** - नञ्, स्नञ्, ईकक् और ख्युन्प्रत्ययान्त से तथा तरुण, तलुन शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है। स्त्रैणी। पौंस्नी। शाक्तीकी। आढ्यंकरिणी। तरुणी। तलुनी।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२३५) 'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार है। 'अजाद्यतष्टाप्' (२२२१) से 'टाप्' की एवम् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदन्तविधि होने से सूत्रस्थ टित्, ढ आदि में तदन्त का ग्रहण होता है। अनुवृत्त 'अतः' पद भी 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। अतः तदन्तविधि होती है। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होता है कि "टिदाद्यन्त तथा अकारान्त अनुपसर्जन (गौण) प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर ङीप् (= ई) प्रत्यय होता है।"

पञ्चतयी। आक्षिकी। लावणिकी। यादृशी। त्विरी। * नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनामुपसंख्यानम् *। स्त्रैणी। पौंस्नी। शाक्तीकी। आढ्यङ्करणी। तरुणी। तलुनी।

सुपर्णाया अपत्यं स्त्री इति विग्रहे 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढकि ढस्य एयादेशे कित्त्वादाद्यचो वृद्धौ भत्वादकारलोपे 'सौपर्णेय' इति जाते 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीपि 'यस्येति च'त्यकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'सौपर्णेयी' इति सिद्धम्। **नञ्स्नञीकक् इति**। नञ् स्नञ् ईकक् ख्युन् इत्येतत् प्रत्ययान्तानां तरुणतलुनशब्दयोश्च ङीपो विधिवचनं कर्तव्यमित्यर्थः। **स्त्रैणी** — स्त्रिय इयमिति विग्रहे 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ' इति नञ्प्रत्यये आदिवृद्धौ णत्वे 'स्त्रैण' इत्यस्मात् ङीपि अकारलोपे 'स्त्रैणी' इति।

उदाहरण—(१) कुरुषु चरति (कुरु + ✓चर् + ट = 'अ' - 'चरेष्टः', ङीप् = 'ई' - टिड्ढाणञ्०, 'अ' का लोप - 'यस्येति च', विभक्तिकार्य) = कुरुचरी (कुरु देश में चलने वाली)। (२) टित् प्रातिपदिक नदट् ('ट्' इत्संज्ञक है। अतः प्रकृत सूत्र से ङीप् = 'ई', 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = नदी। (३) देवट् = देव + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप) = देवी। (४) सुपर्णी + ढक् = ('ढ' = 'एय', आदिवृद्धि, 'ई' का लोप - 'यस्येति च') - सौपर्णेय + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = सौपर्णेयी (सुपर्णी की पुत्री, गरुड़ की बहिन)। (५) इन्द्र + अण् (= 'अ' - 'सास्य देवता', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) — ऐन्द्र + ङीप् ('अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = ऐन्द्री (इन्द्र सम्बन्धिनी)। (६) उत्स + अञ् (= 'अ' - 'उत्सादिभ्योऽञ्', आदिवृद्धि तथा 'अ' का लोप) = औत्स + ङीप् (= 'ई', अलोप) = औत्सी (झरना सम्बन्धी)। (७) ऊरु + द्वयसच् (= 'द्वयस' - 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः', ङीप् = 'ई', अ का लोप) = ऊरुद्वयसी (जाँघ तक जल वाली वापी आदि)। (८) ऊरु + दघ्नञ् (= 'दघ्न' + ङीप् = 'ई', अ का लोप) = ऊरुदघ्नी। (९) ऊरु + मात्रच् (= 'मात्र' + ङीप् = 'ई', 'अ' का लोप) = ऊरुमात्री। (१०) पञ्च + तयप् (= 'तय' –'संख्याया अवयवे तयप्' + ङीप् = 'ई', 'अ' का लोप) = पञ्चतयी (पाँच अवयव वाली)। (११) अक्ष + ठक् (= ठ, 'तेन दीव्यति०', ठ = इक, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) — आक्षिक + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप) = आक्षिकी (पाँसों से खेलने वाली)। (१२) लवण + ठञ् (= 'ठ' - 'लवणाट्ठञ्', ठ = इक, आदिवृद्धि, अन्त्य 'अ' का लोप) — लावणिक + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप) = लावणिकी (नमक बेचने वाली)। (१३) यत् दृश् + कञ् (= 'अ' - 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च', 'त्' = 'आ' - दीर्घ) - यादृश + ङीप् = 'ई', 'अ' का लोप) = यादृशी (जैसी)। (१४) ✓ई + क्वरप् (= 'वर' - 'इण्नसर्जिसर्तिभ्यः क्वरप्', तुक् = 'त्' का आगम - 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्') — इत्वर + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप) = इत्वरी (कुलटा)।

वा०—नञ्, स्नञ्, ईकक् और ख्युन् प्रत्ययान्त से तथा तरुण और तलुन शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर ङीप् (= ई) प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—(१) स्त्री + नञ् (= 'न' - 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्', आदिवृद्धि, 'न' = 'ण्' - णत्व, ङीप् = 'ई' - 'नञ्स्नञीकक्०' वार्तिक से, 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = स्त्रैणी (स्त्री सम्बन्धिनी)। (२) पुंस् + स्नञ् (= 'स्न', आदिवृद्धि, 'स्' का संयोगान्त लोप) - पौंस्न + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप) = पौंस्नी (पुरुष सम्बन्धिनी)। (३) शक्ति + ईकक् (= 'ईक' - 'शक्तियष्ट्योरीकक्', आदिवृद्धि तथा 'इ' का लोप) शाक्तीक + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप) = शाक्तीकी। (४) आढ्य + ✓कृ + ख्युन् (= 'यु' = 'अन' आदेश, मुम् = 'म्' का आगम, अनुस्वार ं = 'ङ्' - परसवर्ण) - आढ्यङ्करण + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप, विभक्ति-

(२२३७) यञश्च ४।१।१६ । यञन्तात् प्रातिपदिकात् ङीप् । अकारलोपे कृते – **(२२३८) हलस्तद्धितस्य ६।४।१५०** । हल उत्तरस्योपधाभूततद्धितयस्य लोप ईति । गार्गी । **(२२३९) प्राचां ष्फ तद्धितः ४।१।१७** । यञन्तात् ष्फो वा ।

(२२३७) **यञश्चेति** । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इत्यस्मात् 'ङीप्' इत्यनुवर्तते । 'प्रातिपदिकादि'त्यधिकृतम् । तदाह — **यञन्तादिति** ।

(२२३८) **हलस्तद्धितस्येति** । हल इति पञ्चमी । परस्येत्यध्याहार्यम् । 'यस्येति चे'ति सूत्रात् ईतीत्यनुवर्तते, 'सूर्यतिष्यागस्त्य' इत्यस्मात् 'उपधायाः' इति 'य' इति षष्ठ्यन्तं च, 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' इत्यतः लोप इति च । अत आह — **हल उत्तरस्येत्यादिना** ।

गार्गी — गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री इति विग्रहे यञ्प्रत्ययान्तात् गार्ग्यशब्दात् 'यञश्चे'ति ङीपि 'यस्येति चे'त्यकारलोपे 'हलस्तद्धितस्ये'ति यकारलोपे 'गार्गी' इति ।

कार्य) = आढ्यङ्करणी (धनवान् बनाने वाली) । (५) तरुण + ङीप् (= 'ई', अ का लोप) = तरुणी (युवती) । (६) तलुन + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप) = तलुनी ।

विशेष—प्रकृत सूत्र (२२३६) में 'अनुपसर्जनात्' का अधिकार होने से (बहवः कुरुचराः यस्याम्) 'बहुकुरुचरा' में ङीप् प्रत्यय नहीं होता । यहाँ बहुव्रीहि समास होने से अन्यपदार्थ (नगरी) प्रधान है । अतः ट् इत्संज्ञक ('ट' प्रत्ययान्त) प्रातिपदिकार्थ अन्य पदार्थ (नगरी) में विशेषण (उपसर्जन) है । इस प्रकार ट् इत्संज्ञानिमित्तक 'टिड्ढाणञ्०' से ङीप् प्रत्यय नहीं होता ।

(२२३७) **पद**—यञः, च । **अनुवृत्ति**—ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है । अकारलोप करने पर (आगे 'ष्फ' का विधान होगा) !

विमर्श—पूर्ववत् 'अनुपसर्जनात्' (२२३५), 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार है । इसके अतिरिक्त 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आती है । सूत्रस्थ 'यञः' में यञ्प्रत्यय का ग्रहण होने से तदन्तविधि होती है । तदनुसार "यञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है ।"

(२२३८) **पद**—हलः, तद्धितस्य । **अनुवृत्ति**—उपधायाः, ईति, लोपः, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—हल् से परवर्ती उपधास्वरूप तद्धित यकार का लोप होता है, ईकार के उत्तरवर्ती रहने पर । गार्गी ।

विमर्श—'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'सूर्यतिष्यागस्त्य०' (६।४।१४९) से 'यः' और 'उपधायाः', 'यस्येति च' (६।१।१४८) से ईति तथा 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' (६।४।१४७) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आ रही है । इस प्रकार यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है कि "ईकार परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के हल् से उत्तरवर्ती तद्धित के उपधाभूत यकार का लोप होता है ।"

उदाहरण—गर्गस्य अपत्यं स्त्री (गर्ग + यञ् = 'य' - 'गर्गादिभ्यो यञ्', आदिवृद्धि तथा 'अ' का लोप) = गार्ग्य + ङीप् (= 'ई' - 'यञश्च', 'अ' का लोप तथा तद्धित के उपधाभूत 'य्' का लोप - 'हलस्तद्धितस्य', विभक्तिकार्य) = गार्गी (गर्गगोत्र की लड़की) ।

(२२३९) **पद**—प्राचाम्, ष्फ, तद्धितः । **अनुवृत्ति**—यञः । **विधिसूत्र** ।

(२२४०) षः प्रत्ययस्य १।३।६ । प्रत्ययस्यादिः ष इत्स्यात् । 'आयनेयीनी' इत्यायनादेशः । षित्त्वसामर्थ्यात् षिद्गौरेति ङीष् । गार्ग्यायणी । **(२२४१) वयसि प्रथमे ४।१।२० ।** प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीप् । कुमारी । *वयस्यचरम इति

(२२३९) **प्राचामिति** । 'यञ' इत्यनुवर्तते । ष्फेति लुप्तप्रथमाकम् । तदाह — **यञन्तादिति** ।

(२२४०) **षः प्रत्ययस्येति** । 'आदिर्ञिटुडवः' इत्यत आदिरित्यनुवर्तते 'उपदेशेऽजिं'-त्यादितः 'इदि'ति च । तदाह — **प्रत्ययस्यादिरिति** । **गार्ग्यायणी** — गार्ग्यशब्दात् 'प्राचां ष्फ तद्धितः' इति ष्फप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, फस्य 'आयन्' आदेशे, णत्वे षित्त्वात् ङीषि विभक्तिकार्ये रूपम् ।

(२२४१) **वयसीति** । 'अतः' इति 'ङीबि'ति चानुवर्तते । तदाह — **प्रथमवयोवाचिन इति** । **कुमारी** — कुमारत्वजातिविशिष्टेति विग्रहे कुमारशब्दात् 'वयसि प्रथमे' इत्यनेन ङीपि अनुबन्धलोपे भत्वादकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'कुमारी' इति ।

मूलार्थ—यञन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य होने पर विकल्प से 'ष्फ' प्रत्यय होता है ।

विमर्श—'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' के अधिकार के अतिरिक्त पूर्वसूत्र (२२३७) से 'यञः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "अनुपसर्जन यञन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते प्राचीन आचार्यों के मत में 'ष्फ' प्रत्यय होता है और वह तद्धितसंज्ञक होता है ।"

(२२४०) **पद**—षः, प्रत्ययस्य । **अनुवृत्ति**—उपदेशे, आदिः, इत् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—प्रत्यय का आदि षकार इत्संज्ञक होता है । गार्ग्यायणी ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'आदिर्ञिटुडवः' (१।४।५) से 'आदिः' तथा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (१।३।२) से 'उपदेशे' एवम् 'इत्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "उपदेशावस्था में प्रत्यय के आदि में स्थित 'ष्' की इत्संज्ञा होती है ।"

उदाहरण—पूर्वप्रक्रियानुसार यञन्त गार्ग्य + ष्फ (– विकल्प से – 'प्राचां ष्फ तद्धितः', ष्फ = 'फ' – 'ष्' की इत्संज्ञा 'षः प्रत्ययस्य' तथा लोप, 'फ' = आयन् = 'आय' – 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्', 'अ' का लोप – 'यस्येति च') — गार्ग्यायन + ङीष् (= 'ई' – षिद्गौरादिभ्यश्च', 'अ' का लोप तथा 'न्' = 'ण्', विभक्तिकार्य) = गार्ग्यायणी ।

(२२४१) **पद**—वयसि, प्रथमे । **अनुवृत्ति**—ङीप्, अतः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रथम अवस्थावाचक अदन्त शब्द से ङीप् प्रत्यय होता है । कुमारी । **वा०** – अन्तिम वय से भिन्न वयोवाची शब्द से ङीप् होता है, ऐसा कहना चाहिए । वधूटी । चिरण्टी ।

विमर्श—'अजाद्यतष्टाप्' (२२२१) से 'अतः' तथा 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है । 'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार "प्रथम अवस्था (कौमार अवस्था) वाचक अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीप् (= ई) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—कुमार + ङीप् (= 'ई' – 'वयसि प्रथमे', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = कुमारी (अविवाहित बालिका) ।

वा०—वार्तिक के अनुसार सूत्रस्थ 'प्रथमे' के स्थान पर 'अचरमे' का निवेश किया जाना चाहिए । अतः वृद्धावस्थावाचक शब्दों को छोड़कर अन्य वयोवाचक शब्दों से ङीप् होता है ।

वक्तव्यम् *। वधूटी। चिरण्टी। **(२२४२) द्विगोः ४।१।२१** । अदन्तात् द्विगोर्ङीप्। त्रिलोकी। अजादित्वात् त्रिफला। त्र्यनीका सेना। **(२२४३) अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ४।१।२२** । अपरिमाणान्ताद्बिस्ताद्यन्ताच्च द्विगोर्न ङीष् तद्धितलुकि। पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा। आर्हीयष्ठक्। 'अध्यर्ध' इति लुक्। द्वौ बिस्तौ पचति द्विबिस्ता। द्व्याचिता। द्विकम्बल्या। परिमाणान्तात्तु द्व्या-

---

(२२४२) द्विगोः। 'अतः' इति 'ङीबि'ति च पूर्ववदनुवर्तते। अत आह — **अदन्तादिति**। **अजादित्वादिति**। त्रिलोकीवत् त्रिफला, त्र्यनीका इत्यादावपि ङीप् स्यादित्यत आह — **अजादित्वादिति**। अजादिगणपाठात् 'अजाद्यतष्टाप्' इति टाप् तस्य ङीपोऽपवादत्वात्।

(२२४३) **अपरिमाण इति**। 'द्विगोः' इति 'ङीबि'ति चानुवर्तते। प्रातिपदिकादित्यधिकृतमपरिमाणादिभिर्विशेष्यते। तदन्तविधिस्तदाह — **अपरिमाणान्तादित्यादि**।

उदाहरण—वधूट + ङीप् (= 'ई', 'अ' का लोप) = वधूटी (बहू)। चिरण्ट + ङीप् ('अ' का लोप) = चिरण्टी (युवती)।

(२२४२) **पद**—द्विगोः। **अनुवृत्ति**—अतः, ङीप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अदन्त द्विगु से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है। त्रिलोकी। अजादिगण में पाठ होने से टाप् - त्रिफला। त्र्यनीका सेना।

विमर्श—'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' आदि का पूर्ववत् अधिकार है। 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से 'ङीप्' की तथा (२२२१) पूर्वसूत्र से 'अतः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''उपसर्जन रहित अकारान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—त्रयाणां लोकानां समाहारः ('तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' से समास, द्विगुसंज्ञा तथा एकवचन - 'द्विगुरेकवचनम्', 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' (यदि उत्तरपद में अकारान्त शब्द हो तो उसका स्त्रीलिंग में प्रयोग होता है) नियम से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' = 'ई' - 'द्विगोः', 'अ' का लोप) = त्रिलोकी (तीनों लोक)।

अजादिगणपठित शब्दों से 'टाप्' ही होता है, ङीप् नहीं। अतः — त्रयाणां फलानां समाहारः (त्रिफल + टाप् = 'आ' दीर्घ) = त्रिफला (प्रसिद्ध तीन फलों की औषधि)। त्रयाणाम् अनीकानां समाहारः (त्र्यनीक + टाप्) = त्र्यनीका सेना (तीन सेनाओं का समुदाय)।

(२२४३) **पद**—अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यः, न, तद्धितलुकि। **अनुवृत्ति**—द्विगोः, ङीप्, अतः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तद्धितप्रत्यय का लुक् हुआ हो तो - अपरिमाणान्त और बिस्ताद्यन्त द्विगु से ङीप् नहीं होता। पञ्चाश्वा। आर्हीयप्रकरणस्थ ठक् प्रत्यय का 'अध्यर्ध०' से लुक्। द्विबिस्ता। द्व्याचिता। द्विकम्बल्या। परिमाणान्त शब्दों से द्व्याढकी। 'तद्धितलुकि' क्यों कहा ? समाहार अर्थ में — पञ्चाश्वी।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२४२) 'द्विगोः' तथा 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से आ रही है। पूर्वोक्त सभी आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव भी विद्यमान है। तदनुसार ''परिमाणभिन्न तथा बिस्त, आचित और कम्बल्य शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से तद्धित प्रत्यय के लुक् हो जाने पर स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय नहीं होता।'' बिस्ता आदि पद परिमाणवाचक हैं, इनमें ङीप्-निषेध के लिए सूत्र में इनका पृथक् ग्रहण किया गया है।

ढकी। 'तद्धितलुकि' किम्? समाहारे पञ्चाश्वी। (२२४४) काण्डान्तात् क्षेत्रे ४।१।२३। क्षेत्रे यः काण्डान्तो द्विगुस्ततो न ङीप् तद्धितलुकि। द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। मात्रचः 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इति लुक्। क्षेत्रे

(२२४४) **काण्डान्तादिति**। षोडशहस्तप्रमाणो दण्डः = काण्डम्। 'द्विगोः' इति 'न तद्धितलुकी'ति चानुवर्तते। तदाह — **क्षेत्रे य इत्यादि**। **द्विकाण्डा इति**। द्वे काण्डे प्रमाणमस्या इति विग्रहे 'तद्धितार्थे'ति द्विगुसमासे 'प्रमाणे द्वयसजि'ति विहितस्य मात्रच्प्रत्ययस्य 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इति लुकि 'द्विगोः' इति प्राप्तस्य ङीप्प्रत्ययस्य 'काण्डान्तात्क्षेत्रे' इति निषेधे टापि दीर्घे विभक्तिकार्ये द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः इति।

उदाहरण—(१) **अपरिमाणान्त** - पञ्चभिः अश्वैः क्रीता (पञ्चाश्व + ठक् = 'ठ' - 'तेन क्रीतम्', 'ठक्' का लुक् - 'अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्', 'द्विगोः' से प्राप्त ङीप् का निषेध - 'अपरिमाणबिस्ताचित०', टाप् = 'आ', दीर्घ) = पञ्चाश्वा (पाँच घोड़ों से खरीदी हुई)। (२) **बिस्तादि** - द्वौ बिस्तौ पचति (द्विबिस्त - द्विगुसमास, 'ठक्' - 'सम्भवत्यवहरति पचति', ठक् का लुक् - 'अध्यर्धपूर्वाद्०', प्राप्त ङीप् का निधेष, टाप् = 'आ', दीर्घ) = द्विबिस्ता (अस्सी गुंजा सोने को गलाने वाली)। (३) द्वौ आचितौ वहति (द्विगुसमास, 'द्विगोः ष्ठश्च' से विहित ठञ् का लुक् - 'अध्यर्धपूर्वाद्०', प्रकृत सूत्र से ङीप् का निषेध, टाप् = 'आ', दीर्घ) = द्व्याचिता (बीस गाड़ी अन्न ढोने वाली)। (४) द्वाभ्यां कम्बल्याभ्यां क्रीता (समास, 'तेन क्रीतम्' से विहित 'ठक्' का लुक्, ङीप् का निषेध होने से टाप् = 'आ', दीर्घ) = द्विकम्बल्या (दो कम्बलों से खरीदी हुई)।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र द्वारा परिमाणवाचक भिन्न (अपरिमाण) शब्दों से ङीप् का निषेध किये जाने से परिमाणवाचक अकारान्त शब्द (द्वौ आढकौ पचति - अर्थ में ठञ् तथा उसका लुक्) से ङीप् होता है - द्व्याढकी। प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति में तद्धित प्रत्यय का लोप होना आवश्यक माना गया है। अतः 'पञ्चानाम् अश्वानां समाहारः = पञ्चाश्वी' में तद्धित प्रत्यय का लुक् न होने से ङीप् का निषेध नहीं होता। 'द्विगोः' से ङीप्।

(२२४४) **पद**—काण्डान्तात्, क्षेत्रे। **अनुवृत्ति**—न, तद्धितलुकि, द्विगोः, ङीप्। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—क्षेत्र के विषय में काण्डान्त द्विगुसमास से तद्धितलुक् होने पर ङीप् नहीं होता। द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। 'क्षेत्रे' क्यों कहा? द्विकाण्डी रज्जुः।

विमर्श—ङीप्-निषेध का प्रकरण चल रहा है। अतः पूर्वसूत्र (२२४३) से 'न तद्धितलुकि' की अनुवृत्ति आती है। 'द्विगोः' (२२४२) सूत्र तथा 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आ रही है। पूर्वसूत्रों में उल्लिखित पदों की आधिकारिक अनुवृत्ति भी प्रवर्तमान है। तदनुसार "काण्डशब्दान्त अनुपसर्जन द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से तद्धित का लुक् होने पर स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीप् नहीं होता।"

उदाहरण—द्वे काण्डे प्रमाणम् अस्याः (द्विकाण्ड, 'प्रमाणे द्वयसच्०' से विहित मात्रच् का 'द्विगोर्नित्यम्' से लुक्, 'द्विगोः' से प्राप्त ङीप् का प्रकृत सूत्र से निषेध, टाप् = 'आ' - दीर्घ) = द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः (सोलह हस्त के बराबर भूभाग)।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'क्षेत्रे' पद का निवेश होने से रस्सी की लम्बाई का सूचक 'द्विकाण्ड' शब्द से ङीप् का निषेध नहीं होता। द्विकाण्ड + 'ङीप्' (अ का लोप) = द्विकाण्डी रज्जुः।

किम् ? द्विकाण्डी रज्जुः। (२२४५) पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम् ४।१।२४। प्रमाणे यः पुरुषस्तदन्ताद् द्विगोर्ङीब्वा स्यात्तद्धितलुकि। द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः द्विपुरुषी द्विपुरुषा वा परिखा। (२२४६) ऊधसोऽनङ् ५।४।१३१। ऊधोऽन्तस्य बहुव्रीहेरनङ् स्त्रियाम्। (२२४७) बहुव्रीहेरूधसो ङीप् ४।१।२५। ऊधोऽन्ता-

---

(२२४५) **पुरुषादिति**। 'द्विगोरि'ति, 'तद्धितलुकी'ति ङीबिति चानुवर्तते। अत आह — **प्रमाणे य इत्यादिना**।

(२२४६) **ऊधसोऽनङ्**। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्यस्माद् 'बहुव्रीहावि'त्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते, 'ऊधसः' इत्यनेन विशेष्यते, तेन तदन्तविधिस्तदाह — **ऊधोऽन्तस्येति**।

(२२४७) **बहुव्रीहेरिति**। स्त्रियामित्यधिकृतम्। ऊधस् इति बहुव्रीहेर्विशेषणम्, तदन्तविधिस्तदाह — **ऊधोऽन्तादिति**। **कुण्डोध्नी** — कुण्डमिव ऊधो यस्या इति बहुव्रीहौ विभ-

---

(२२४५) **पद**—पुरुषात्, प्रमाणे, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—न, तद्धितलुकि, द्विगोः, ङीप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्रमाणवाचक पुरुष शब्दान्त द्विगु से तद्धितलुक् होने पर विकल्प से ङीप् होता है। द्विपुरुषी द्विपुरुषा वा परिखा।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् आधिकारिक एवम् प्राकरणिक सभी पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "प्रमाण अर्थ में विद्यमान पुरुषशब्दान्त अनुपसर्जन द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते तद्धित प्रत्यय का लुक् होने पर विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है।" पक्ष में टाप् होगा।

उदाहरण—द्वौ पुरुषौ प्रमाणौ यस्याः (द्विपुरुष, विहित मात्रच् प्रत्यय का लुक्, विकल्प से ङीप् = 'ई' - 'पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम्', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = द्विपुरुषी। पक्ष में — द्विपुरुष + टाप् (= 'आ', दीर्घ) = द्विपुरुषा (दो पुरुष के बराबर खाई)।

(२२४६) **पद**—ऊधसः, अनङ्। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्ग में ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि को अनङ् आदेश होता है।

विमर्श—प्रसङ्गवश अनङ् आदेशविधायक सूत्र का उल्लेख किया जा रहा है। सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (५।४।११३) से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'समासान्ताः' (५।४।६८) तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार है। तदनुसार "ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि को स्त्रीलिङ्ग में समास का अन्तावयव 'अनङ्' आदेश होता है।"

(२२४७) **पद**—बहुव्रीहेः, ऊधसः, ङीष्। **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है। कुण्डोध्नी। 'स्त्रियाम्' क्यों कहा? कुण्डोधः धैनुकम्।

विमर्श—'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार है। अतः "बहुव्रीहि समास में ऊधस् शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है।" यह ङीप्-निषेध तथा डाप् का अपवाद है।

उदाहरण—कुण्डमिव ऊधः यस्याः सा (कुण्ड + सु, ऊधस् + सु - बहुव्रीहिसमास, विभक्तिलुक्, गुण, स् = अनङ् = 'अन्' आदेश - 'ऊधसोऽनङ्', अ + अ = 'अ' - पररूप) - कुण्डोधन् + ङीष् (= 'ई' - 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्', 'अ' का लोप - 'अल्लोपोऽनः', विभक्तिकार्य) = कुण्डोध्नी (भरे प्याले की तरह स्तनों वाली धेनु)।

द्विबहुव्रीहेः । कुण्डोध्नी । स्त्रियां किम् ? कुण्डोधो धैनुकम् । (२२४८) दामहायनान्ताच्च ४।१।२७ । संख्यादेर्बहुव्रीहेर्दामान्ताद्धायनान्ताच्च ङीप् । द्विदाम्नी, द्विहायनी बाला । * त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम् * । * वयोवाचकस्यैव हायनस्य ङीप् णत्वं चेष्यते * । त्रिहायणी । चतुर्हायणी । वयसोऽन्यत्र – त्रिहायना, चतुर्हायना शाला । (२२४९) अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ४।१।३२ । नान्तत्वान्ङीप् । अन्तर्वत्नी,

---

क्तिलुकि 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनेन अनङि आदेशे कुण्डोधन्शब्दात् 'बहुव्रीहेरूधसो ङीप्' इति ङीपि भत्वात् 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे संयोगे 'कुडोध्नी' इति जाते, प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'कुण्डोध्नी' इति रूपम् । ङीष्विधेस्तु स्वरे विशेषः ।

(२२४८) **दामहायनान्ताच्चेति** । संख्यादेः ङीप् चानुवर्तते । तदाह — **संख्यादेरिति** । **द्विदाम्नी** — द्वे दामनी यस्या इति विग्रहे द्विदामन्शब्दात् ङीपि 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'द्विदाम्नी' इति ।

(२२४९) **अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्** । गर्भिण्यां जीवद्भर्तृकायां च 'अन्तर्वत्' 'पतिवत्' इति प्रकृतिभावो निपात्यते तयोश्च नुक् स्यादित्यर्थः ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'स्त्रियाम्' की आधिकारिक अनुवृत्ति आने से 'कुण्डोधः' में 'अनङ्' तथा ङीष् नहीं होता । कुण्डम् इव ऊधः यस्य तत् (कटोरे की तरह ऐन वाली गायों का कुल) = कुण्डोधः ।

(२२४८) **पद**—दामहायनान्तात्, च । **अनुवृत्ति**—संख्यादेः, ङीप्, बहुव्रीहेः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संख्यादि दामान्त और हायनान्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है । द्विदाम्नी । द्विहायनी बाला । **वा०**—त्रि और चतुर् शब्द से परे हायन के नकार को णत्व होता है । **वा०** - अवस्थावाचक हायन शब्द को ही ङीप् और णत्व इष्ट है । त्रिहायणी । चतुर्हायणी । वयोवाचक से अन्यत्र - चतुर्हायना शाला ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'संख्याव्ययादेः ङीप्' (४।१।२६) से 'संख्यादेः' और 'ङीप्' की अनुवृत्ति आती है । पूर्वसूत्र (२२४७) से 'बहुव्रीहेः' पद का अनुवर्तन किया जा रहा है । 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार ''संख्यावाची शब्दों के पूर्व में रहने पर दामान्त एवम् हायनान्त बहुव्रीहि समासयुक्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीप् प्रत्यय होता है ।''

उदाहरण—द्वे दामनी यस्याः सा (द्विदामन् + ङीप् = 'ई', 'अ' का लोप - 'अल्लोपोऽनः') = द्विदाम्नी (दो रस्से वाली) । द्वे हायनी यस्याः सा (द्विहायन + ङीप् = 'ई', टाप् का बाधकर - 'दामहायनान्ताच्च', 'अ' का लोप) = द्विहायनी बाला (दो वर्ष की लड़की) ।

१. **वा०**—त्रि और चतुर् शब्दपूर्वक हायन शब्द के 'न्' को णत्व होता है ।

२. **वा०**—वयोवाचक शब्दावयव 'न्' के स्थान पर 'ण्' तथा ङीप् भाष्यकार को इष्ट है ।

उदाहरण—त्रयः हायनाः यस्याः सा (त्रिहायन + ङीप् = 'ई', 'अ' का लोप, 'न्' = 'ण्' - 'त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्', विभक्तिकार्य) = त्रिहायणी (तीन वर्ष वाली) । चत्वारः हायनाः यस्याः सा (चतुर्हायन + ङीप्, णत्व) = चतुर्हायणी । वयोवाची न होने से 'द्विहायना' (दो कक्ष वाली) तथा 'चतुर्हायना' (चार कक्ष वाली) में ङीप् और णत्व नहीं हुए । अकारान्त होने से 'टाप्' होता है ।

(२२४९) **पद**—अन्तर्वत्पतिवतोः, नुक् । **विधिसूत्र** ।

पतिवत्नी । गर्भभर्तृसंयोग एवेष्यते । अन्यत्र तु – अन्तरस्त्यस्यां शालायां घटः । पतिमती पृथिवी । (२२५०) पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ४।१।३३ । वशिष्ठस्य पत्नी । (२२५१) विभाषा सपूर्वस्य ५।१।३४ । पतिशब्दान्तस्य नो वा । गृहपत्नी, गृहपतिः । दृढपत्नी,

---

(२२५०) **पत्युर्नो यज्ञसंयोगे**। पतिशब्दस्य नकारोऽन्तादेशः स्यात् यज्ञेन सम्बन्धे इत्यर्थः।

(२२५१) **विभाषेति** । 'पत्युर्नः' इत्यनुवर्तते, प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणतं पत्युरित्यनेन विशेष्यते तेन तदन्तविधिः। 'सपूर्वस्य' इति पतिशब्दान्तप्रातिपदिके अन्वेति। तदाह – **पतिशब्दान्तस्येति** ।

मूलार्थ—अन्तर्वत् और पतिवत् शब्दों से नुक् का आगम होता है । नान्त होने से ङीप् होता है । अन्तर्वत्नी । पतिवत्नी । गर्भिणी और जीवद्भर्तृका अर्थ में ही नुक् का आगम निपातित है । इससे भिन्न अर्थ में - अन्तः अस्ति अस्यां शालायां घटः । पतिमती पृथिवी ।

विमर्श—गर्भिणी और जीवद्भर्तृका अर्थों में क्रमशः 'अन्तर्वत्नी' और 'पतिवत्नी' शब्दों की सिद्धि हेतु नुक् (= न्) का आगम विधान किया जा रहा है । 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार है । नुक् आगम में 'उ' तथा 'क्' इत्संज्ञक हैं । अतः कित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' के अनुसार 'न्' 'अन्तर्वत्' तथा 'पतिवत्' शब्दों का अन्तावयव होगा । 'उ' की इत्संज्ञा होने से 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् होता है ।

उदाहरण—अन्तर् + मतुप् (= 'मत्', म् = व् आदेश निपातन) — अन्तर्वत् + नुक् (= 'न्' का आगम) - अन्तर्वत्न् + ङीप् (= 'ई' - 'ऋन्नेभ्यो ङीप्', विभक्तिकार्य) = अन्तर्वत्नी (गर्भिणी स्त्री) । पतिवत् + नुक् (= 'न्' का आगम + ङीप् = 'ई') = पतिवत्नी (सधवा स्त्री) । अन्तर् शब्द से मतुप् तथा नुक् आगम गर्भिणी अर्थ में ही निपातित हैं, अन्यत्र नहीं । १. 'अन्तर् अस्ति अस्यां शालायां घटः' (जिस शाला के भीतरी भाग में घड़ा है) तथा २. 'पतिमती पृथिवी' (पृथिवी राजा से युक्त है) में नुक् आगम नहीं होता । 'पतिमती' में यथाप्राप्त ङीप् होता है ।

(२२५०) **पद**—पत्युः, नः, यज्ञसंयोगे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यज्ञसंयोग में स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर पति शब्द को नकार अन्तादेश होता है । वसिष्ठस्य पत्नी ।

विमर्श—'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । अतः ''पति शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते यज्ञ-सम्बन्ध में नकार अन्तादेश होता है ।''

उदाहरण—(वसिष्ठस्य) पत्नी (पति + 'न्' अन्तादेश + ङीप् = 'ई') = पत्नी (वसिष्ठ द्वारा सम्पन्न यज्ञ के फल की भोक्त्री सहचरी पत्नी) ।

(२२५१) **पद**—विभाषा, सपूर्वस्य । **अनुवृत्ति**—पत्युः, न । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सपूर्व अर्थात् पतिशब्दान्त को नकार आदेश विकल्प से होता है । गृहपत्नी, गृहपतिः । दृढपत्नी, दृढपतिः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र द्वारा विहित नकारादेश का विस्तार किया जा रहा है । पूर्ववत् 'स्त्रियाम्' एवम् 'प्रातिपदिकात्' की आधिकारिक अनुवृत्ति के साथ पूर्वसूत्र (२२५०) से 'पत्युः नः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार ''पति शब्द से पूर्व किसी शब्द के होने पर अर्थात् पतिशब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से अन्तिम वर्ण के स्थान पर नकार आदेश होता है ।''

उदाहरण—गृहस्य पतिः (ष०त० समास - गृहपति, इ = 'न्' आदेश विकल्प से - 'विभाषा

दृढपतिः । (२२५२) नित्यं सपत्न्यादिषु ४।१।३५ । सपत्नी । एकपत्नी । वीरपत्नी । (२२५३) पूतक्रतोरै च ४।१।३६ । पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी । (२२५४) वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः ४।१।३७ । एषामुदात्त ऐ आदेशो ङीप् च । वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी । अग्नायी । कुसितायी । कुसिदायी । (२२५५) मनोरौ

(२२५२) **नित्यमिति** । पूर्वविकल्पापवादः । सपत्न्यादिविषये नित्यं नत्वमित्यर्थः ।

(२२५३) **पूतक्रतोरै च** । पूतक्रतुशब्दात् स्त्रियां ङीप् स्यात् प्रकृतेरैकारोऽन्तादेशश्चेत्यर्थः ।

(२२५४) **वृषाकप्यग्नि इति** । 'ङीबि'ति ऐ चेत्यनुवर्तते । तदाह — **एषामिति** ।

सपूर्वस्य', ङीप् = 'ई', विभक्तिकार्य) = गृहपत्नी । पक्ष में - गृहपतिः ('न्' आदेश न होने पर ङीप् भी नहीं होता) । दृढः पतिः यस्याः सा (दृढपति, इ = 'न्' आदेश विकल्प से + ङीप् = ई) = दृढ-पत्नी । पक्ष में - दृढपतिः ।

(२२५२) **पद**—नित्यम्, सपत्न्यादिषु । **अनुवृत्ति**—पत्युः नः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सपत्नी आदि शब्दों में नित्य नकार अन्तादेश होता है । सपत्नी । एकपत्नी । वीरपत्नी ।

विमर्श—पूर्वसूत्र से सपत्नी आदि सामासिक शब्दों में विकल्प से 'न्' अन्तादेश प्राप्त होने पर नित्य विधान किया जा रहा है । पूर्वसूत्र (२२५०) से 'पत्युः नः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार ''सपत्नी आदि गणपठित शब्दों की सिद्धि हेतु स्त्रीलिङ्ग में नित्य नकार अन्तादेश होता है ।''

उदाहरण—समानः पतिः यस्याः सा (बहुव्रीहिसमास, समान = स) - सपति ('इ' = 'न्' नित्य आदेश - 'नित्यं सपत्न्यादिषु', ङीप् = ई, विभक्तिकार्य) = सपत्नी (समान पति वाली, सौत) । एकः पतिः यस्याः सा (एकपति, इ = न् + ङीप् = ई) = एकपत्नी (एक पति वाली) । वीरः पतिः यस्याः सा (प्रक्रिया उक्तवत्) = वीरपत्नी (वीर पति वाली) ।

(२२५३) **पद**—पूतक्रतोः, ऐ, च । **अनुवृत्ति**—ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूतक्रतु शब्द के उकार के स्थान में 'ऐ' आदेश होता है और ङीप् प्रत्यय होता है । पूतक्रतायी ।

विमर्श—'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है । पूर्वसूत्र 'संख्याऽव्ययादेर्ङीप्' (४।१।२६) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार ''विशेषण रहित पूतक्रतु शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीप् प्रत्यय होता है और ऐकार अन्तादेश (उ = 'ऐ') होता है ।''

उदाहरण—पूतक्रतोः स्त्री (पूतक्रतु + ङीप् = 'ई' तथा 'उ' = 'ऐ' - आदेश - 'पूतक्रतोरै च', 'ऐ' = 'आय्' आदेश, विभक्तिकार्य) = पूतक्रतायी (पूतक्रतु पुरुष की स्त्री) ।

(२२५४) **पद**—वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानाम्, उदात्तः । **अनुवृत्ति**—ऐ, ङीप् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वृषाकपि, अग्नि, कुसित और कुसिद शब्द को उदात्त ऐकार अन्तादेश होता है तथा ङीप् प्रत्यय होता है । वृषाकपायी । अग्नायी । कुसितायी । कुसिदायी ।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । पूर्वसूत्र (२२५३) से 'ऐ' तथा 'संख्याव्ययादेर्ङीप्' (४।१।२६) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार ''वृषाकपि, अग्नि, कुसित और कुसिद - इन अनुपसर्जन शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीप् प्रत्यय तथा अन्तिम वर्ण के स्थान में उदात्त 'ऐ' आदेश होता है ।''

वा ४।१।३८ । मनुशब्दस्यौकारादेशः स्यादुदात्त एकारश्च वा ङीप् च । मनोः स्त्री मनावी, मनायी, मनुः ।(२२५६) वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ४।१।३९ ।वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्ताद्वा ङीप्, तस्य नः । एनी, एता । रोहिणी, रोहिता ।

(२२५५) **मनोरौ वा** । ऐ चेति, उदात्त इति ङीबिति चानुवर्तते । अत आह — **मनुशब्दस्येति । मनावी इति** । मनोः स्त्री इति विग्रहे 'मनोरौ वा' इत्यनेन मनुशब्दात् विकल्पेन ङीपि औकारादेशे च 'मनौ ई' इति जाते आवादेशे 'मनावी' इति । पक्षे ऐकारादेशे 'मनै + ई' इति जाते आयादेशे कृते 'मनायी' इति । उभयोरभावे 'मनुः' इति त्रीणि रूपाणि भवन्ति ।

(२२५६) **वर्णादनुदात्तादिति** । 'ङीबि'त्यनुवर्तते । तदाह — **वर्णवाचीति** ।

उदाहरण—वृषाकपेः स्त्री (वृषाकपि + ङीप् = 'ई', 'इ' = 'ऐ' अन्तादेश, 'ऐ' = 'आय्' आदेश, विभक्तिकार्य) = वृषाकपायी (वृषाकपि की स्त्री) । अमरकोष के अनुसार वृषाकपि शब्द विष्णु तथा शिव का समानार्थक है । अग्नेः स्त्री (अग्नि + ङीप् = 'ई', इ = 'ऐ' आदेश, 'ऐ' = 'आय्') = अग्नायी (अग्नि की स्त्री) । इसी प्रकार कुसित + ङीप् (= 'ई' तथा अ = 'ऐ', 'ऐ' = आय्) = कुसितायी (कुसित की स्त्री) । कुसिद + ङीप् (तथा अ = ऐ, ऐ = आय्) = कुसिदायी ।

(२२५५) **पद**—मनोः, औ, वा । **अनुवृत्ति**—उदात्तः, ऐ, ङीप् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—मनु शब्द को स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से औकार आदेश होता है । पक्ष में विकल्प से उदात्त ऐकार आदेश एवं ङीप् भी होता है । मनावी, मनायी, मनुः ।

विमर्श—'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । पूर्वसूत्र (२२५४) से 'उदात्तः', २२५३ से 'ऐ' तथा 'ङीप्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । इस प्रकार ''मनु शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीप् होने पर अन्तिम वर्ण के स्थान पर विकल्प से 'औ' तथा 'ऐ' आदेश का विधान किया जाता है ।''

उदाहरण—मनु (उ = 'औ' आदेश विकल्प से, ङीप् = 'ई', औ = 'आव्' आदेश) = मनावी । पक्ष में ('उ' = 'ऐ' + ङीप् = 'ई', 'ऐ' = 'आय्' आदेश) = मनायी । यहाँ ऐ आदेश के प्रभाव से आकार उदात्त है । 'ऐ' तथा 'औ' आदेश न होने की स्थिति में ङीप् भी नहीं होता - 'मनुः' (मनु की स्त्री) ।

(२२५६) **पद**—वर्णात्, अनुदात्तात्, तोपधात्, तः नः । **अनुवृत्ति**—वा, ङीप् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अनुदात्तान्त तकारोपध जो वर्णवाचक शब्द तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीप् होता है । ङीप् के साथ ही तकार के स्थान में नकार भी होता है । एनी, एता । रोहिणी, रोहिता ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२५५) से 'वा' की तथा 'संख्याव्ययादेर्ङीप्' (४।१।२६) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है । सूत्रस्थ 'अनुदात्तात्' पद 'वर्णात्' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि होती है । इस प्रकार ''रंग-विशेष के वाचक, अनुदात्त स्वरान्त, तकार उपधा वाले शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है और तकार के स्थान में नकार आदेश भी होता है ।''

उदाहरण—एत + ङीप् (= 'ई' तथा 'त्' = 'न्' - आदेश - 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः', भसंज्ञा होने से 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = एनी । ङीप् न होने पर टाप्, दीर्घ - एता (चितकबरी) । रोहित + ङीप् (= 'ई' तथा 'त्' = 'न्' आदेश विकल्प से, 'न्' = 'ण्') = रोहिणी । पक्ष में - टाप्, दीर्घ = रोहिता (लाल रंग वाली) ।

(२२५७) षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१। ङीष्। नर्तकी। गौरी। अनड्वाही, अनडुही। *पिप्पल्यादयश्च*। आकृतिगणोऽयम्। *मत्स्यस्य ङ्याम्*। यलोपः– मत्सी। **(२२५८) जानपदकुण्डगोणस्थलभाजनागकालनीलकुशकामुक-कबराद् वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णानाच्छादनायोविकारमैथुनेच्छा-केशवेशेषु ४।१।४२।** एभ्य एकादशभ्यः क्रमाद् वृत्त्यादिष्वर्थेषु ङीष्, जानपदी वृत्तिश्चेत्। अन्या तु – जानपदा। अजन्तत्वात् ङीपि आद्युदात्तः। कुण्डी अमत्रं चेत्। कुण्डाऽन्या। गोणी आवपनं चेत्। गोणाऽन्या। स्थली अकृत्रिमा चेत्। स्थलाऽन्या। भाजी श्राणा चेत्। भाजाऽन्या। 'यवागूरुष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा' इत्यमरः। नागी स्थूला चेत्। नागाऽन्या। काली वर्णश्चेत्। कालाऽन्या। नीली

(२२५७) **षिद्गौरादिभ्यश्च**। षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीप् स्यादित्यर्थः। **नर्तकी** — नृती गात्रविक्षेपे 'शिल्पिनि ष्वुन्' इति ष्वुन् षनावितौ 'वु' इत्यस्य अकादेशे लघूपधगुणे रपरत्वे 'षिद्गौरादिभ्यश्चे'ति ङीषि कृते 'नर्तकी' इति।

(२२५८) **जानपद इति**। जानपदेत्यादि कबरादित्यन्तमेकं पदम्, समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी। जानपदेत्यादिभ्यः एकादशभ्यः क्रमाद् वृत्त्यादिष्वर्थेषु ङीष् स्यादित्यर्थः।

(२२५७) **पद**—षिद्गौरादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—ङीष्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षित् तथा गौरादिगणपठित शब्दों से ङीष् होता है। नर्तकी। गौरी। अनड्वाही, अनडुही। **वा०**—पिप्पल्यादि से भी स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। **वा०**—मत्स्य शब्द से ङी के परवर्ती रहते यकार का लोप होता है। मत्सी।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'अन्यतो ङीष्' (४।१।४०) से विधेयवाचक 'ङीष्' की अनुवृत्ति आ रही है। अन्य प्राकरणिक तथा आधिकारिक पदों की अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। सूत्र में उल्लिखित गौरादि आकृतिगण है। तदनुसार ''षकार इत्संज्ञक प्रातिपदिक तथा गौरादिगणपठित शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् (= ई) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—षित् — ✓नृत् = नृ + ष्वुन् (= 'वु' = अक, गुण, रपर) — नर्तक + ङीष् (= 'ई' - 'षिद्गौरादिभ्यश्च', अ का लोप, विभक्तिकार्य) = नर्तकी (नृत्य करने वाली स्त्री)। गौर + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप) = गौरी (गौरवर्ण की स्त्री)। अनडुह् + ङीष् (= 'ई', विकल्प से आम् = 'आ' आगम - 'आमनडुहः स्त्रियां वा') — अनडु आ ह् ई ('उ' = 'व्' यण् आदेश) = अनड्वाही। 'आम्' के अभाव पक्ष में - अनडुही।

ग० सू०—पिप्पली आदि शब्दों से भी स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होता है।

वा०—ङी प्रत्यय के परे रहते मत्स्य के यकार का लोप होता है। **उदाहरण**— मत्स्य + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप, 'य्' का लोप - 'मत्स्यस्य ङ्याम्') = मत्सी (मछली)।

(२२५८) **पद**—जानपद·······कबरात्, वृत्त्यमत्र·······केशवेशेषु। **अनुवृत्ति**—ङीष्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जानपद आदि शब्दों से क्रमशः वृत्ति आदि अर्थों में स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीष् प्रत्यय होता है। जानपदी। अन्य अर्थ में - जानपदी। पात्र अर्थ में - कुण्डी। अन्यत्र - कुण्डा। कोठली अर्थ में - गोणी। अन्यत्र - गोणा। अकृत्रिमभूमि - स्थली। अन्यत्र - स्थला। व्यञ्जनविशेष - भाजी। अन्यत्र - भाजा। मोटी स्त्री अर्थ में - नागी। अन्यत्र - नागा। काला रंग वाली - काली। अन्यत्र -

अनाच्छादनं चेत्। नीलाऽन्या, नील्या रक्ता शाटीत्यर्थः। कुशी अयोविकारश्चेत्। कुशाऽन्या। कामुकी मैथुनेच्छा चेत्। कामुकाऽन्या। कबरीकेशानां सन्निवेशश्चेत्। कबराऽन्या। (२२५९) शोणात्प्राचाम् ४।१।४३। शोणी, शोणा। (२२६०)

(२२५९) **शोणात्प्राचाम्**। शोणशब्दो वर्णवाची, 'अन्यतो ङीष्' इति नित्यं ङीषि प्राप्ते विकल्पार्थं वचनमिदम्।

काला। गाय - नीली। अन्यत्र - नीला (नीली रंगी हुई साड़ी)। लोहे के फाल अर्थ में - कुशी। अन्यत्र - कुशा। सहवास की इच्छुक स्त्री के अर्थ में - कामुकी। अन्यत्र - कामुका। केशों को सम्हालने वाली - कबरी। अन्यत्र - कबरा।

विमर्श—पूर्ववत् 'अन्यतो ङीष्' (४।१।४०) से ङीष् की अनुवृत्ति आती है। पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। अतः "जानपद, कुण्ड, गोण, भाज, नाग, काल, नील, कुश, कामुक और कबर शब्दों से क्रमशः वृत्ति, पात्रविशेष, कोठली (बोरा आदि), अकृत्रिम भूमि, व्यञ्जन, अधिक मोटा, काला रंग, वस्त्र से भिन्न अर्थ, लोहे से निर्मित उपकरण - विशेष, सम्भोग की इच्छा तथा केशविन्यास अर्थ वाच्य होने पर स्त्रीलिङ्ग में ङीष् (= ई) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—(१) जानपद (जनपद + अण् = 'अ', आदिवृद्धि, अन्त्यवर्णलोप) - जानपद + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप) = जानपदी (आजीविका)। आजीविका से भिन्न अर्थ में - जनपद + अञ् (= 'अ' - 'उत्सादिभ्योऽञ्', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप + ङीप् = 'ई' - 'टिड्ढाणञ्०', 'अ' का लोप) = जानपदी। ङीप् होने पर आद्युदात्त - जानपदी। (२) कुण्ड + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप) = कुण्डी (संन्यासी का कमण्डलु)। अन्यत्र - कुण्ड + टाप् (= 'आ' दीर्घ) = कुण्डा (जलने वाली वस्तु)। (३) गोण + ङीष् ('अ' का लोप) = गोणी (अनाज रखने की कोठली, बोरा आदि)। अन्यत्र टाप् होकर - गोणा (नाम-विशेष)। (४) स्थल + 'ङीष्' (अ का लोप) = स्थली (अकृत्रिम भूमि)। अन्यत्र - स्थला (कृत्रिम भूमि)। (५) भाज + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप) = भाजी (व्यञ्जन-विशेष)। अन्यत्र - भाजा (टाप्)। (६) नाग + ङीष् (अन्त्यवर्णलोप) = नागी (मोटी स्त्री)। अन्य अर्थ में – नागा। (७) काल + ङीष् (= ई, अ का प) = काली (काले रंग की स्त्री)। अन्यत्र टाप् = काला (क्रूर स्त्री)। (८) नील + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप) = नीली (नील गाय)। अन्यत्र टाप् = नीला (नीले रंग की साड़ी)। (९) कुश + ङीष् ('अ' का लोप) = कुशी (लोहे की फाल)। इससे भिन्न अर्थ में टाप् - कुशा (गूलर की छोटी लकड़ी)। (१०) कामुक + ङीष् = कामुकी (कामवासना युक्त स्त्री)। अन्यत्र टाप् - कामुका (धनादि की इच्छुक स्त्री)। (११) कबर + ङीष् (= ई, 'अ' का लोप) = कबरी (चित्र-विचित्र केशविन्यास वाली)। अन्य अर्थ में टाप् - कबरा (चितकबरा)।

(२२५९) **पद**—शोणात्, प्राचाम्। **अनुवृत्ति**—ङीष्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शोण शब्द से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् होता है। शोणी, शोणा।

विमर्श—'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार है। 'अन्यतो ङीष्' (४।१।४०) से 'ङीष्' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "उपसर्जन रहित शोण शब्द से स्त्रीलिङ्ग में प्राचीन आचार्यों के मत में 'ङीष्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—शोण + ङीष् (= 'ई' विकल्प से, 'अ' का लोप) = शोणी। अन्य आचार्यों के मत में - शोणा (टाप्) (लाल घोड़ी)।

वोतो गुणवचनात् ४।१।४४ । उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीष् । मृद्वी, मृदुः । उतः किम् ? शुचिः । गुणेति किम् ? आखुः । * खरुसंयोगोपधान्न * । खरुः पतिंवरा कन्या । पाण्डुः । **(२२६१) बह्वादिभ्यश्च ४।१।४५** । वा ङीष् । बह्वी, बहुः । * कृदिकारादक्तिनः * । रात्री, रात्रिः । * सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके * । शकटी, शकटिः ।

(२२६०) **वोतो गुणवचनात्** । 'ङीषि'त्यनुवर्तते । तदाह — **उदन्तादिति** ।

(२२६१) **बह्वादिभ्यश्चेति** । आकडारसूत्रभाष्यरीत्या संख्याशब्दानां गुणवाचित्वाऽनभ्युपगमाद् बहुशब्दग्रहणम् । 'वा' इति 'ङीषि' ति चानुवर्तते । तदाह — **वेति** । **कृदिकारादिति** । कृत्प्रत्ययस्य य इकारः तदन्तात्प्रातिपदिकात् ङीष् वा स्यात्; न तु क्तिन्नन्तादित्यर्थः ।

(२२६०) **पद**—वा, उतः, गुणवचनात् । **अनुवृत्ति**—ङीष् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—गुणवाचक उदन्त शब्द से वैकल्पिक ङीष् होता है । मृद्वी, मृदुः । 'उतः' क्यों कहा ? शुचिः । 'गुण' क्यों कहा ? आखुः । **वा०** - खरु शब्द और संयोगोपध शब्दों से ङीष् नहीं होता । खरुः । पाण्डुः ।

विमर्श—पूर्वसूत्रवत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है । 'अन्यतो ङीष्' से 'ङीष्' की अनुवृत्ति आती है । 'उतः' पद 'गुणवचनात्' एवं 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । तदनुसार "उकारान्त गुणवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् होता है ।"

उदाहरण—मृदु + ङीष् (= 'ई', 'उ' = 'व्' - यण्) = मृद्वी । ङीष् न होने पर - मृदुः (कोमल स्वभाव वाली स्त्री) ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'उतः' पद का निवेश होने से 'शुचिः' (पवित्र स्त्री) में ङीष् नहीं होता । यहाँ शुचि शब्द उकारान्त नहीं है । उकारान्त शब्द गुणवाची अपेक्षित होने से 'आखुः' (मूषिका) में ङीष् नहीं होता ।

वा०—खरु तथा संयुक्त वर्णोपध शब्दों से ङीष् प्रत्यय नहीं होता । **उदाहरण**—खरुः (पति को वरण करने वाली) — यहाँ प्राप्त ङीष् का प्रकृत वार्तिक से निषेध । पाण्डुः (श्वेतवर्णा स्त्री)— यहाँ ङीष् प्राप्त होने पर संयुक्त वर्ण होने से वार्तिक द्वारा ङीष् का निषेध होता है ।

(२२६१) **पद**—बह्वादिभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—वा, ङीष् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—बह्वादिगणपठित शब्दों से विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है । बह्वी, बहुः । **ग० सू०** - कृत्प्रत्यय सम्बन्धी इकारान्त शब्दों से वैकल्पिक ङीष् होता है । रात्री, रात्रिः । **ग०सू०** - कोई आचार्य यह मानते हैं कि क्तिन् प्रत्यय के अर्थ से भिन्न कृत् अथवा अकृत् इकारान्त से वैकल्पिक ङीष् प्रत्यय होता है । शकटी, शकटिः ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२६०) से 'वा' तथा 'अन्यतो ङीष्' से 'ङीष्' की अनुवृत्ति आती है । पूर्ववत् 'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्', 'प्रातिपदिकात्' आदि की आधिकारिक अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है । इस प्रकार "बह्वादिगणपठित शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् (= ई) प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—बहु + ङीष् (= 'ई' विकल्प से - 'बह्वादिभ्यश्च', 'उ' = 'व्' - यण्) = बह्वी । पक्ष में 'बहुः' (बहु + स् = र् = :) । (बहुत गुणों वाली स्त्री) ।

१. ग०सू०—क्तिन् प्रत्यय के अर्थ से भिन्न इकारान्त कृत्प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—रात्रि + ङीष् (= ई, दीर्घ) = रात्री । पक्ष में - रात्रिः (रात) ।

(२२६२) पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८ । या पुमाख्या पुंयोगात्स्त्रियां वर्तते ततो ङीष्। गोपस्य स्त्री गोपी। *पालकान्तान्न*। गोपालिका। अश्वपालिका। *सूर्याद्देवतायां चाप् वाच्यः*। सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या। देवतायां किम्? सूरी, कुन्ती, मानुषीयम्। **(२२६३) इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ४।१।४९** । ङीष् च। इन्द्राणी। *हिमारण्ययोर्महत्त्वे*।

(२२६२) **पुंयोगादाख्यायाम्**। 'ङीषि'त्यनुवर्तते। अत आह — **या पुमाख्येति**।

(२२६३) **इन्द्रवरुण इति**। एषामानुगागमो ङीष् चेत्यर्थः। **इन्द्राणी** — इन्द्रस्य स्त्रीति विग्रहे इन्द्रशब्दात् 'इन्द्रवरुणभवे'त्यादिना ङीषि आनुगागमे च कित्त्वादन्त्यावयवे सवर्णदीर्घे

---

२. **ग०सू०** — कुछ आचार्यों के मत में क्तिन् प्रत्यय के अर्थ से भिन्न सभी इकारान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है। **उदाहरण** — शकटि + ङीष् (= 'ई') = शकटी। पक्ष में - शकटिः (बैलगाड़ी)।

(२२६२) **पद** — पुंयोगात्, आख्यायाम्। **अनुवृत्ति** — ङीष्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ — जो पुरुषवाचक शब्द पुंयोग से स्त्रीलिङ्ग में प्रवृत्त हो तो उससे ङीष् प्रत्यय होता है। गोपी। **वा०** - पालकान्त से ङीष् नहीं होता। गोपालिका। अश्वपालिका। **वा०** - देवता अर्थ में सूर्य शब्द से पुंयोग में 'चाप्' प्रत्यय होता है। सूर्या। 'देवतायाम्' क्यों कहा? सूरी, कुन्ती, मानुषीयम्।

विमर्श — ङीष् प्रत्यय के विधान का प्रकरण चल रहा है। पूर्ववत् सभी आधिकारिक सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है। 'अन्यतो ङीष्' से ङीष् की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'आख्यायाम्' में सप्तम्यन्त पद पञ्चम्यन्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'पुम्' की आवृत्ति की जाती है। 'पुम्' शब्द का अन्वय 'योग' के साथ तथा 'आख्या' के साथ किया जाता है। 'पुमाख्या' शब्द का अर्थ - पुरुषवाचक है। तदनुसार "यदि पुरुषवाचक शब्द का प्रयोग पुरुष के साथ साहचर्य होने के कारण स्त्रीलिङ्ग में हो, तो अनुपसर्जन (विशेषण रहित) अकारान्त प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण — गोप + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप) = गोपी (ग्वाले की स्त्री)।

१. **वा०** — जिस पुरुषवाचक शब्द के अन्त में पालक शब्द हो, उससे पुंयोग होने पर ङीष् प्रत्यय नहीं होता। **उदाहरण** — गोपालक ('पुंयोगादाख्यायाम्' से प्राप्त ङीष् का प्रकृत वार्तिक से निषेध, अकारान्त होने से टाप् = 'आ', 'अ' = 'इ', दीर्घ) = गोपालिका (गोपालक की स्त्री)। इसी प्रकार अश्वपालक (प्राप्त ङीष् का निषेध, टाप्) = अश्वपालिका (अश्वपालक की स्त्री)।

२. **वा०** — सूर्य शब्द से पुंयोग में देवता वाच्य रहते चाप् (= 'आ') प्रत्यय होता है।

उदाहरण — सूर्य + चाप् (= 'आ', दीर्घ) = सूर्या (सूर्य की देवता स्त्री)। **प्रत्युदाहरण** — मनुष्य जाति की स्त्री वाच्य होने पर 'देवतायाम्' का ग्रहण वार्तिक में होने से चाप् नहीं होता। सूर्य + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप होने पर 'य्' का लोप - 'सूर्यतिष्यागस्त्य०') = सूरी (सूर्य की मानवी स्त्री, कुन्ती)।

(२२६३) **पद** — इन्द्रवरुण.........मातुलाचार्याणाम्, आनुक्। **अनुवृत्ति** — पुंयोगात्, ङीष्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ — इन्द्र, वरुण आदि शब्दों को पुंयोग में 'आनुक्' का आगम होता है और ङीष् प्रत्यय भी होता है। इन्द्राणी। **वा०** - हिम और अरण्य शब्दों से महत्त्व अर्थ में आनुक् = 'आन्'

महद्धिमं हिमानी । *यवाद्दोषे* । दुष्टो यवो यवानी । *यवनाल्लिप्याम्* । यवनानां लिपिर्यवनानी । *मातुलोपाध्याययोरानुग्वा* । मातुलानी, मातुली । उपाध्यायानी, उपाध्यायी । *आचार्यादणत्वं च* । आचार्याणी । *अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे* । अर्याणी, अर्या । क्षत्रियाणी, क्षत्रिया । पुंयोगे तु – अर्यी । (२२६४) क्रीतात्करण-

---

णत्वे विभक्तिकार्ये 'इन्द्राणी' इति । **हिमारण्ययोर्महत्त्वे** । महत्त्वविशिष्टे हिमे अरण्ये च वर्तमानयोरानुङ्ङीषावित्यर्थः ।

और 'ङीष्' होता है । हिमानी । **वा०** – यव शब्द से दोष अर्थ में आनुक् और ङीष् होता है । यवानी । **वा०** – यवन शब्द से लिपि अर्थ में आनुक् और ङीष् होता है । यवनानी । **वा०** – मातुल और उपाध्याय शब्द से आनुक् विकल्प से होता है । उपाध्यायानी, उपाध्यायी । मातुलानी, मातुली । **वा०** – आचार्य शब्द से परे आनुक् के नकार को णत्व नहीं होता । आचार्याणी । **वा०** – अर्य और क्षत्रिय शब्द से स्वार्थ में विकल्प से आनुक् और ङीष् होता है । अर्याणी, अर्या । क्षत्रियाणी, क्षत्रिया । पुंयोग में – अर्यी । क्षत्रियी ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२६२) से 'पुंयोगात्' की तथा 'अन्यतो ङीष्' (४।१।४०) से 'ङीष्' की अनुवृत्ति आती है । पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है । तदनुसार ''पुंल्लिङ्ग के हेतु से स्त्रीत्व में वर्तमान इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल तथा आचार्य शब्दों से आनुक् (= आन्) का आगम तथा ङीष् प्रत्यय होता है ।'' 'आनुक्' में 'क्' की इत्संज्ञा होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषानुसार इन्द्र आदि का अन्तावयव होगा ।

उदाहरण—इन्द्रस्य स्त्री (इन्द्र + आनुक् = 'आन्' + ङीष् = 'इ' – 'इन्द्रवरुण०', 'न्' 'ण्' – 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि') = इन्द्राणी (इन्द्र की स्त्री) ।

१. **वा०**—''हिम और अरण्य शब्दों से आधिक्य अर्थ में ङीष् प्रत्यय और आनुक् का आगम होता है ।'' **उदाहरण**—हिम + आनुक् (= 'आन्' + ङीष् = 'ई') = हिमानी (सदैव रहने वाली बर्फ) ।

२. **वा०**—''यव शब्द से दुष्ट अर्थ में आनुक् आगम एवं ङीष् प्रत्यय होते हैं ।'' **उदाहरण**— यव + आनुक् (= आन् + ङीष् = ई) = यवानी (अजवाइन) छोटा होना ही इसका दोष है ।

३. **वा०**—''यवन शब्द से लिपि अर्थ में आनुक् एवं ङीष् होते हैं ।'' **उदाहरण**— यवन + आनुक् (= आन् + ङीष् = ई) = यवनानी (यवनों की लिपि) ।

४. **वा०**—''मातुल और उपाध्याय शब्दों से विकल्प से आनुक् का आगम होता है ।'' **उदाहरण**—मातुल + आनुक् (= 'आन्' विकल्प से, दीर्घ + ङीष् = 'ई') = मातुलानी । पक्ष में – आनुक् आगम के न होने पर 'पुंयोगादाख्यायाम्' से ङीष् – मातुली (मामी) । उपाध्याय + आनुक् (= 'आन्' विकल्प से, दीर्घ + ङीष् = ई) = उपाध्यायानी । पक्ष में – उपाध्यायी (गुरु की पत्नी) ।

५. **वा०**—''आचार्य शब्द से परवर्ती आनुक् के 'न्' को णत्व नहीं होता ।'' **उदाहरण**— आचार्य + आनुक् (= 'आन्', सवर्णदीर्घ + ङीष् = 'ई', प्राप्त णत्व का प्रकृत वार्तिक से निषेध) = आचार्यानी (आचार्य की पत्नी) ।

६. **वा०**—''अर्य और क्षत्रिय शब्दों से स्वार्थ में विकल्प से 'आनुक्' और ङीष् होते हैं ।'' **उदाहरण**—अर्य + आन् (दीर्घ, ङीष् = 'ई' – विकल्प से, णत्व) = अर्याणी (वैश्य स्त्री या स्वामिनी) । पक्ष में टाप् होकर – अर्या । क्षत्रिय + आन् + ङीष् (= 'ई' विकल्प से) = क्षत्रियाणी (क्षत्रिय की स्त्री) । पक्ष में – क्षत्रिया । पुंयोग में – 'पुंयोगादाख्यायाम्' से ङीष् होता है ।

पूर्वात् ४।१।५० । क्रीतान्ताददन्तात्करणादेर्ङीष् । वस्त्रक्रीती । क्वचिन्न – धनक्रीता । (२२६५) बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ४।१।५२ । क्तान्तान्ङीष् । ऊरुभिन्नी । (२२६६) अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा ४।१।५३ । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सुरापीती,

---

(२२६४) **क्रीतात्करणपूर्वात्** । ङीष् इत्यनुवर्तते, अत इति च । प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तम् 'अत' इत्यनेन क्रीतादित्यनेन च विशेष्यते, तदन्तविधिस्तदाह – **क्रीतान्तादित्यादिना** ।

(२२६५) **बहुव्रीहेश्चेति** । बहुव्रीहेः क्तान्तादन्तोदात्तादन्तात् स्त्रियां ङीष् स्यादित्यर्थः ।

(२२६६) **अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वेति** । न स्वाङ्गम् = अस्वाङ्गम् । अस्वाङ्गं यत्पूर्वपदं तस्मात्परं यत् क्तान्तं तदन्ताद् बहुव्रीहेः ङीष् वा स्यादिति सूत्रार्थः ।

उदाहरण—अर्य + ङीष् (= 'ई' 'अ' का लोप) = अर्यी (वैश्यपुरुष की पत्नी) । क्षत्रिय + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप) = क्षत्रियी (क्षत्रिय पुरुष की पत्नी) ।

(२२६४) **पद**—क्रीतात्, करणपूर्वात् । **अनुवृत्ति**—ङीष्, अतः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—करणपूर्वक अदन्त क्रीतान्त प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय होता है । वस्त्रक्रीती । कहीं नहीं भी होता - धनक्रीता ।

विमर्श—पूर्ववत् 'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' एवम् 'प्रातिपदिकात्' की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है । 'अन्यतो ङीष्' (४।१।४०) से 'ङीष्' तथा 'अजाद्यतष्टाप्' (२२२१) से 'अतः' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप से अपेक्षित है । 'क्रीताम्' एवम् 'अतः' पद अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं, अतः तदन्तविधि होती है । तदनुसार "करणकारकपूर्व एवं क्रीतशब्दान्त अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीष् प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—वस्त्रेण क्रीता ('कर्तृकरणे कृता बहुलम्' से समास, विभक्तिलुक्) — वस्त्रक्रीत + ङीष् (= 'ई' - 'क्रीतात्करणपूर्वात्', 'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) = वस्त्रक्रीती । इसके अपवादस्वरूप कहीं-कहीं धनक्रीता (= धन से खरीदी हुई) आदि में ङीष् नहीं होता ।

(२२६५) **पद**—बहुव्रीहेः, च, अन्तोदात्तात् । **अनुवृत्ति**—क्तान्तात्, अतः, ङीष् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अन्तोदात्त क्तान्त अदन्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है । ऊरुभिन्नी ।

विमर्श—ङीष् विधान का प्रकरण चल रहा है । 'क्तात् अल्पाख्यायाम्' (४।१।५१) से 'क्तात्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अन्य प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति पूर्वसूत्रवत् विद्यमान है । तदनुसार "अन्तोदात्त युक्त प्रत्ययान्त ह्रस्व अकारान्त बहुव्रीहि से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीष् प्रत्यय होता है ।"

उदाहरण—ऊरू भिन्नौ यस्याः (ऊरुभिन्न - यहाँ √भिद् + क्त = भिन्न होने से ङीष् = 'ई', 'अ' का लोप) = ऊरुभिन्नी (असंयुक्त जाँघ वाली) ।

(२२६६) **पद**—अस्वाङ्गपूर्वपदात्, वा । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहेः च अन्तोदात्तात्, क्तात्, ङीष् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—स्वाङ्गभिन्न पूर्वपद हो तो पूर्व विषय में विकल्प से ङीष् होता है । सुरापीती, सुरापीता ।

विमर्श—सम्पूर्ण पूर्वसूत्र (२२६५) की अनुवृत्ति के साथ पूर्वसूत्र 'क्तात् अल्पाख्यायाम्' (४।१।५१) से 'क्तात्' की अनुवृत्ति आती है । 'ङीष्' की अनुवृत्ति पूर्ववत् अनुसरण कर रही है । अन्य आधिकारिक सूत्रों की अनुवृत्ति का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार "स्वाङ्गवाचक शब्द

सुरापीता। (२२६७) स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४।१।५४। असंयोगोपधमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्ताद्वा ङीष्। अतिकेशी, अतिकेशा। चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा। संयोगोपधात्तु – सुगुल्फा।

अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥ १॥

(२२६७) **स्वाङ्गाच्चेति**। स्वाङ्गादित्येतत् अत इत्यनुवृत्तं च प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तस्य विशेषणम्, तदन्तविधिस्तदाह – **असंयोगोपधमित्यादिना**। 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यस्माद्वेति 'अन्यतो ङीष्' इत्यतः ङीषिति चानुवर्तते। तदाह – **वा ङीषिति**। **अतिकेशी** – केशानतिक्रान्तेति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासे सुपो लुकि 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इत्यनेन विकल्पेन ङीषि भत्वाट्टिलोपे विभक्तिकार्ये 'अतिकेशी' इति। पक्षे टापि

पूर्वपद में न रहने पर बहुव्रीहि समास एवं अन्तोदात्तस्वरयुक्त क्तप्रत्ययान्त ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—सुरा पीता यया सा (सुरापीत + ङीष् = 'ई' विकल्प से, 'अ' का लोप) = सुरापीती। पक्ष में - टाप् - सुरापीता (सुरा पी हुई स्त्री)।

(२२६७) **पद**—स्वाङ्गात्, च, उपसर्जनात्, असंयोगोपधात्। **अनुवृत्ति**—वा, अतः, ङीष्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—असंयोगोपध और उपसर्जन स्वाङ्गवाचक अदन्त प्रातिपदिक से वैकल्पिक ङीष् होता है। अतिकेशी, अतिकेशा। चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा। संयोगोपध से - सुगुल्फा। स्वाङ्ग तीन प्रकार का है - (१) अद्रव - न पिघलने वाला, मूर्तिमान् तथा प्राणिस्थित अविकारज। द्रवत्व होने के कारण - सुस्वेदा। अमूर्त होने के कारण - सुज्ञाना। अप्राणिस्थ होने के कारण - सुमुखा शाला। विकारज होने से - सुशोफा। (२) प्राणिस्थ न होने पर भी प्राणी में दृष्टिगोचर हो। प्राणिस्थ न होने पर प्राणी में दिखाई देने से - सुकेशी, सुकेशा। (३) जिस अङ्ग से प्राणी युक्त होता हो, उसी अंग से अप्राणी भी युक्त हो। प्राणी के समान प्राणीसदृश में विद्यमान होने के कारण - सुस्तनी, सुस्तना आदि।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२६६) से 'वा' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। 'अजाद्यतष्टाप्' (२२२१) से 'अतः' तथा 'अन्यतो ङीष्' (४।१।४०) से 'ङीष्' की अनुवृत्ति आती है। अन्य आधिकारिक सभी अनुवृत्तियाँ पूर्ववत् अनुसरण कर रही हैं। 'स्वाङ्गात्' पद अनुवृत्त 'अतः' तथा 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं। अतः तदन्तविधि होती है। तदनुसार ''असंयोगोपध (= जिसकी उपधा में संयुक्त वर्ण न हो) तथा विशेषण के रूप में प्रयुक्त स्वाङ्गवाचक शब्द अन्त में हो, ऐसे अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—केशान् अतिक्रान्ता (तत्पुरुष समास होने से अतिकेश शब्द का उपान्त्य वर्ण 'श्' संयोग पूर्व नहीं है; साकार होने से स्वाङ्ग है, उपसर्जन भी है। अतः ङीष् = 'ई' विकल्प से, 'अ' का लोप आदि) = अतिकेशी। पक्ष में - टाप् = अतिकेशा (केशों का उल्लङ्घन करने वाली माला आदि)। चन्द्रः इव मुखं यस्याः (चन्द्रमुख + ङीष् = 'ई' विकल्प से, 'अ' का लोप) = चन्द्रमुखी। पक्ष में टाप् - चन्द्रमुखा (चन्द्रमा के तुल्य मुख वाली)। **प्रत्युदाहरण**—'सुगुल्फ' शब्द की उपधा में संयुक्त वर्ण 'ल्फ्' है। अतः वैकल्पिक ङीष् नहीं हुआ। सुगुल्फ + टाप् = सुगुल्फा (सुन्दर गुल्फ वाली)।

सुस्वेदा, द्रवत्वात्। सुज्ञाना, अमूर्तत्वात्। सुमुखा शाला, अप्राणिस्थत्वात्। सुशोफा, विकारजत्वात्। सुकेशी, सुकेशा वा रथ्या, अप्राणिस्थस्यापि प्राणिनि द्रष्टत्वात्। सुस्तनी, सुस्तना वा प्रतिमा; प्राणिवत्प्राणिसदृशे स्थितत्वात्। (२२६८) **नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च ४।१।५५।** वा ङीष्। तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका। ***पुच्छाच्च***। सुपुच्छी, सुपुच्छा। ***कबरमणिविषशरेभ्यो नित्यम्***।

कृते – 'अतिकेशा' इति। **अद्रवमिति**। महाभाष्ये त्रिधा निरुक्तं पारिभाषिकं स्वाङ्गमत्र विवक्षितमिति प्रदर्शयति – **अद्रवमित्यादिना**। न विद्यते द्रवो यस्य तत् अद्रवम्, मूर्तिः = अवयवसंयोगोऽस्यास्तीति मूर्तिमत् मूर्तं द्रव्यमिति भावः। किञ्च प्राणिस्थम् = प्राणधारिजन्तौ विद्यमानम्, अविकारजम् = रोगादिविकाराजन्यं द्रव्यं स्वाङ्गम् इति प्रथमं स्वाङ्गलक्षणम्। अति-केशी इत्यादि। अतत्स्थम् = अप्राणिस्थं तत्र प्राणिनि दृष्टं यत्तदपि स्वाङ्गम्। यथा – सुकेशी, सुकेशा वा रथ्या। इह रथ्यस्थानां केशानां प्राणिस्थत्वाभावादपि प्राणिनि दृष्टत्वमस्तीति स्वाङ्गम्। तेन प्राणिस्थेन स्तनाद्यङ्गाकृतिकावयवविशेषेण अप्राणिद्रव्यं प्रतिमादि यदि प्राणिद्रव्यवत् सम्बद्धं स्यात्तदा तत् अप्राणिनोऽपि स्तनाद्याकृतिकं वस्तु स्वाङ्गम्। यथा – सुस्तनी, सुस्तना वा प्रतिमा। स्वाङ्गलक्षणस्य पदकृत्यं प्रदर्शयति – **सुस्वेदेत्यादि**।

यहाँ स्वाङ्ग पारिभाषिक शब्द है, उसके तीन लक्षण कारिका में बताये गये हैं।

(क) प्रथम लक्षण के अनुसार "जो द्रववाचक न हो तथा मूर्तिमान् हो एवं प्राणी में वर्तमान होने के साथ ही अविकारज (विकार रहित) हो, वह स्वाङ्ग है।" यथा - अतिकेशी बाला।

प्रत्युदाहरण—सु = शोभनः स्वेदः = घर्मजः उदकप्रसवो यस्याः सा = 'सुस्वेदा' में द्रव होने से स्वाङ्ग न होने के कारण ङीष् नहीं हुआ (सुस्वेद + टाप्)। अमूर्त होने से 'सुज्ञाना' (= अच्छे ज्ञान वाली) में ङीष् नहीं होता। प्राणिस्थ न होने से 'सुमुखा शाला' (= अच्छे अग्रभाग वाली शाला) में ङीष् नहीं होता। इसी प्रकार रोगज होने से स्वाङ्ग न होने के कारण 'सुशोफा' (बहुत फूली हुई) में ङीष् नहीं होता।

(ख) "जो सम्प्रति प्राणी में स्थित न हो; किन्तु प्राणी में कभी अवश्य देखा गया हो, वह भी स्वाङ्ग है।" यथा - सुकेशी सुकेशा वा रथ्या (अच्छे बालों वाली गली)। बालों को काटकर गली में फेंक दिया गया है। यहाँ बाल यद्यपि इस समय प्राणी से संयुक्त नहीं हैं; किन्तु काटे जाने से पूर्व प्राणी में देखे गये थे। अतः पारिभाषिक स्वाङ्ग होने से वैकल्पिक ङीष् होता है।

(ग) "जो प्राण्यङ्ग के समान आकृति युक्त होकर अप्राणी को प्राणी के समान सुशोभित करता है, वह भी स्वाङ्ग है"। यथा - सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमा (सुन्दर स्तनों वाली प्रतिमा)। यहाँ प्रतिमा (मूर्ति) का सुन्दर वक्षःस्थल प्राण्यङ्ग के समान आकृति युक्त होकर मूर्ति को शोभित करता है। अतः स्वाङ्गवाचक होने से वैकल्पिक ङीष् होता है। पक्ष में टाप्।

(२२६८) **पद**—नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गात्, च। **अनुवृत्ति**—स्वाङ्गात्, च उपसर्जनात्, वा, ङीष्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नासिकाद्यन्त स्वाङ्गवाची उपसर्जन प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् होता है। तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका। **वा०** - पुच्छान्त प्रातिपदिक से भी स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। सुपुच्छी, सुपुच्छा। **वा०** - कबर, मणि, विष और शर से परे पुच्छान्त प्रातिपदिक से नित्य ङीष् होता है।

कबरपुच्छी। * उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाच्च *। उलूकपक्षी शाला। उलूकपुच्छी सेना। (२२६९) न क्रोडादिबह्वचः ४।१।५६। क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गान्न ङीष्। कल्याण-क्रोडा। आकृतिगणोऽयम्। सुजघना। (२२७०) सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च

(२२६८) **नासिकोदरौष्ठ इति**। 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यस्माद्वेति 'अन्यतो ङीष्' इत्यतो ङीषिति चानुवर्तते। तदाह — **वेति**।

(२२६९) **न क्रोडादिबह्वचः**। 'ङीषि'त्यनुवर्तते। तदाह — **क्रोडादेरित्यादि**। **कल्याणक्रोडा** — कल्याणी क्रोडा = उरःस्थलं यस्याः सा कल्याणक्रोडा वडवा, पूर्वपदे पुंवद्भावः, ङीषृनिषेधश्च।

कबरपुच्छी। **वा०** - उपमानवाचक से परे पक्ष और पुच्छ शब्दान्त प्रातिपदिक से नित्य ङीष् होता है। उलूकपक्षी शाला। उलूकपुच्छी सेना।

विमर्श—स्वाङ्गवाचक शब्दों के सन्दर्भ में नासिका आदि शब्दों को अभिलक्षित कर ङीष् विधान का प्रकरण है। अतः पूर्वसूत्र (२२६७) से 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' की, २२६६ से 'वा' तथा 'अन्यतो ङीष्' (४।१।४०) से 'ङीष्' की अनुवृत्ति आ रही है। पूर्ववत् आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार "नासिका, उदर, ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण तथा शृङ्ग इन स्वाङ्ग-वाचक शब्दों के उपसर्जन (विशेषण) के रूप में प्रयुक्त होने पर तदन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—तुङ्गा नासिका यस्याः सा (तुङ्गनासिक - बहुव्रीहि समास के बाद विकल्प से ङीष् = 'ई', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = तुङ्गनासिकी। पक्ष में - टाप् = तुङ्गनासिका (ऊँची नाक वाली स्त्री)।

१. **वा०**—पुच्छान्त प्रातिपदिक से भी स्त्रीलिङ्ग में वैकल्पिक ङीष् होता है। **उदाहरण**—सुपुच्छ + ङीष् (= 'ई' विकल्प से - 'पुच्छाच्च') = सुपुच्छी। ङीष् न होने पर टाप् - सुपुच्छा (अच्छी पूँछ वाली)।

२. **वा०**—कबर, मणि, विष तथा शर शब्दों से परे पुच्छ शब्दान्त प्रातिपदिकों से नित्य ङीष् होता है। **उदाहरण**—कबरपुच्छ + ङीष् (= 'ई', अन्त्यवर्णलोप) = कबरपुच्छी (चितकबरी पूँछ वाली, मोरनी)।

३. **वा०**—उपमानवाचक से परे पक्ष तथा पुच्छशब्दान्त प्रातिपदिक से भी ङीष् होता है। **उदाहरण**—उलूकपक्षौ इव पक्षौ यस्याः सा (उलूकपक्ष + ङीष्) = उलूकपक्षी शाला (उल्लू के पंखों की तरह पार्श्व भाग वाला कक्ष। उलूकपुच्छमिव पुच्छं यस्याः (उलूकपुच्छ + ङीष्) = उलूकपुच्छी (उल्लू की पूँछ की तरह पृष्ठभाग वाली सेना)।

(२२६९) **पद**—न, क्रोडादिबह्वचः। **अनुवृत्ति**—स्वाङ्गोपसर्जनात्, ङीष्, अतः। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—स्वाङ्गवाचक जो क्रोडादिगणपठित शब्द और बह्वच्क शब्द तदन्त प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय नहीं होता। कल्याणक्रोडा। यह आकृतिगण है। सुजघना।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२६७) से 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' तथा 'अजाद्यतष्टाप्' से 'अतः' और 'अन्यतो ङीष्' (४।१।४०) से 'ङीष्' की अनुवृत्ति आती है। 'स्त्रियाम्' आदि आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। अतः "स्वाङ्गवाचक क्रोडादिगणपठित शब्द एवं अनेक अच् युक्त ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् नहीं होता।"

४।१।५७। न ङीष्। सकेशा। अकेशा। विद्यमाननासिका। (२२७१) नखमुखात्संज्ञायाम् ४।१।५८। ङीष् न। शूर्पणखा। गौरमुखा। संज्ञायां किम्?

(२२७०) **सहनञ् इति**। सहेत्यादित्रिकपूर्वान्न ङीष् इति भावः।

(२२७१) **नखमुखादिति**। स्वाङ्गाच्चेति प्राप्तस्य ङीषो निषेधोऽयम्। **शूर्पणखा** — शूर्पाणीव नखानि यस्याः सा राक्षसी इति विग्रहे शूर्पनखशब्दात् 'स्वाङ्गाच्चे'ति प्राप्तस्य ङीष्-प्रत्ययस्य 'नखमुखात्संज्ञायाम्' इत्यनेन निषेधे टापि 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति नस्य णत्वे प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्याादिना सुलोपे 'शूर्पणखा' इति।

उदाहरण—कल्याणी क्रोडा यस्याः सा (कल्याणक्रोड - 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्०' से प्राप्त ङीष् का निषेध - 'न क्रोडादिबह्वचः', टाप् = 'आ' दीर्घ) = कल्याणक्रोडा (सुन्दर वक्षःस्थल युक्त अश्वा)। शोभनं जघनं यस्याः (प्राप्त ङीष् का निषेध, सुजघन + टाप्) = सुजघना (सुन्दर जाँघ वाली)।

(२२७०) **पद**—सहनञ्विद्यमानपूर्वात्, च। **अनुवृत्ति**—न, स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्, ङीष्। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—सह, नञ् और विद्यमान शब्दपूर्वक स्वाङ्गवाचक शब्द से ङीष् नहीं होता। सकेशा। अकेशा। विद्यमाननासिका।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२६९) से 'न', २२६७ से 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' की तथा 'अन्यतो ङीष्' (४।१।४०) से ङीष् की अनुवृत्ति प्रमुखरूप से आती है। आधिकारिक सूत्रों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार "सह, नञ् और विद्यमान शब्द पूर्व में रहने पर स्वाङ्गवाचक उपसर्जनात् प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीष् नहीं होता।"

उदाहरण—सह केशाः यस्याः ('तेन सहेति तुल्ययोगे' से समास, 'सह' = 'स' आदेश - 'वोपसर्जनस्य') - सकेश ('स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' से प्राप्त ङीष् का निषेध - 'सहनञ्०', टाप् = 'आ', दीर्घ) = सकेशा (केशों से युक्त स्त्री)। न विद्यमानाः केशाः यस्याः (बहुव्रीहि समास, विद्यमान पद का लोप - 'नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः', 'न्' का लोप, प्राप्त ङीष् का निषेध, टाप्) = अकेशा (बिना केशों की स्त्री)। विद्यमाना नासिका यस्याः (विद्यमाननासिक, प्राप्त ङीष् का निषेध, टाप् = 'आ', दीर्घ) = विद्यमाननासिका (नाक वाली)।

(२२७१) **पद**—नखमुखात्, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—न, स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्, ङीष्। **विधि (निषेध) सूत्र**।

मूलार्थ—संज्ञा में नखान्त और मुखान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् नहीं होता। शूर्पणखा। गौरमुखा। 'संज्ञायाम्' क्यों कहा? ताम्रमुखी कन्या।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२७०) में अनुवृत्त सभी प्राकरणिक एवम् आधिकारिक पदों की अनुवृत्तियाँ यहाँ भी अनुसरण कर रही हैं। सूत्रस्थ 'नखमुखात्' का अन्वय अनुवृत्त स्वाङ्गात् के साथ होता है। 'स्वाङ्गात्' पद 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। तदनुसार "स्वाङ्गवाचक नखशब्दान्त तथा मुखशब्दात् प्रातिपदिकों से संज्ञा द्योत्य रहते स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय नहीं होता।"

उदाहरण—शूर्पाणि इव नखानि यस्याः सा (शूर्पनख, 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्०' से प्राप्त ङीष् का निषेध - 'नखमुखात्संज्ञायाम्', टाप् = 'आ', दीर्घ, 'न्' = 'ण्' - 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः') = शूर्पणखा (सूप के समान नाखून वाली राक्षसी)। गौरं मुखं यस्याः (गौरमुख, प्राप्त ङीष् का निषेध, टाप्) = गौरमुखा (गोरे मुख वाली - इस नाम की स्त्री)।

ताम्रमुखी कन्या। (२२७२) वाहः ४।१।६१ । वाहन्तात् ङीष्। दित्यौही। दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे। (२२७३) सख्यशिश्वीति भाषायाम् ४।१।६२ । सखी। अशिश्वी। (२२७४) जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३ । जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततो ङीष्।

(२२७२) **वाहः**। ङीषित्यनुवर्तते। वाह् इति प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तस्य विशेषणम्। तेन तदन्तविधिस्तदाह — **वाहन्तादिति**।

(२२७३) **सख्यशिश्वीति**। लौकिकप्रयोगो भाषा। सखिशब्दात् अशिशुशब्दाच्च स्त्रियां ङीष् निपात्यते भाषायामित्यर्थः।

(२२७४) **जातेरस्त्रीविषयादिति**। 'ङीषि'त्यनुवर्तते, यकार उपधायां यस्य तद् योपधं,

---

प्रत्युदाहरण—संज्ञावाचक शब्दों से ही ङीप् का निषेध होने से 'ताम्रमुखी' (ताम्रं मुखं यस्याः) में ङीष् का निषेध नहीं होता।

(२२७२) **पद**—वाहः। **अनुवृत्ति**—छन्दसि, ङीष्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वाहन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। दित्यौही। दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे।

विमर्श—'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार है। 'दीर्घजिह्वी च छन्दसि' (४।१।४९) से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। 'ङीष्' पद पूर्ववत् अनुवृत्त हो रहा है। इस प्रकार ''वाह्शब्दान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से वैदिक प्रयोग में स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीष्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—दित्यं वहति (उपपदसमास, दित्यवह् + ण्वि, उपधावृद्धि, 'ण्वि' का सर्वापहार-लोप) — दित्यवाह् + ङीष् (= 'ई' - 'वाहः', 'व्' = 'ऊठ्' = 'ऊ', अ + ऊ = 'औ' - वृद्धि - 'एत्येधत्यूठ्सु') — दित्यौही + सु (= 'स्' का लोप - 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०') = दित्यौही (तृतीय अवस्था को प्राप्त हुई गाय)।

(२२७३) **पद**—सखी, अशिश्वी, इति भाषायाम्। **अनुवृत्ति**—ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—भाषा (लोक) में सखि और अशिशु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् निपातन होता है। सखी। अशिश्वी।

विमर्श—'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार है। 'ङीष्' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''लौकिक प्रयोग में 'सखी' और 'अशिश्वी' शब्द ङीषन्त निपातित होते हैं।'' अतः वेद में कहीं-कहीं यह निपातन दृष्टिगोचर नहीं होता।

उदाहरण—सखि + ङीष् (= 'ई', 'इ' का लोप) = सखी (सहचरी, सहेली)। अशिशु + ङीष् (= 'ई', 'उ' = 'व्' - यण्) = अशिश्वी (बिना बच्चे वाली स्त्री)।

(२२७४) **पद**—जातेः, अस्त्रीविषयात्, अयोपधात्। **अनुवृत्ति**—ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नित्य स्त्रीलिङ्ग से भिन्न, अयोपध, जातिवाचक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है। (१) आकृति से जिसका ज्ञान हो वह जाति है। अर्थात् एक स्वरूप से जो पहचाना जाय उसे जाति कहते हैं। यथा - तटी।

"आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां न च सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥"

तटी। वृषली। औपगवी। कठी। जातेः किम्? मुण्डा। अस्त्रीविषयात्किम्? बलाका। अयोपधात्किम्? क्षत्रिया। *योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्थानाम-प्रतिषेधः*। हयी। गवयी। मुकयी। मनुषी। मत्सी। (२२७५) पाककर्णपर्ण-

न योपधम् = अयोपधमित्याह – **जातिवाचीति**। **आकृतिग्रहणेति**। भाष्याभिमतां त्रिविधां जातिं लक्षयति – **आकृतिग्रहणा जातिः**। आकृतिः = अवयवसन्निवेशः ग्रहणं = व्यञ्जकं यस्याः सा जातिः (अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्या) इति प्रथमं जातिलक्षणम्। यथा – तटी, घटी इत्यादि। जलसमीपप्रदेशः आकृतिविशिष्टस्तरः। अतस्तटत्वमाकृतिव्यङ्ग्यत्वाज्जातिः। द्वितीयं जातिलक्षणमाह – **लिङ्गानां न च सर्वभाक्**। या सर्वाणि लिङ्गानि न भजते। अयं भावः – असर्वलिङ्गत्वे सति एकस्यां व्यक्तौ कथनात् व्यक्त्यन्तरे कथनं विनापि सुग्रहा जातिरित्यर्थः। यथा – वृषली। वृषलत्वं हि असर्वलिङ्गं नपुंसकत्वाभावात् एकस्यां व्यक्तौ वृषलत्वे उपदिष्टे सति व्यक्त्यन्तरे अपत्यादिषु तदुपदेशं विना सुग्रहत्वात् ङीष्सिद्धिः। तृतीयां जातिमाह – **गोत्रं च चरणैः सह**। गोत्रम् = अपत्यप्रत्ययान्तः, चरणैः = शाखाध्येतृवाचिभिः सह जातिः =

(२) जिससे सब लिङ्ग न हों तथा एकत्र एक बार ग्रहण हो जाने पर अन्यत्र बिना कहे उसका ज्ञान हो, वह भी जाति है। यथा - वृषली।

(३) चरण (वेदशाखा) वाची शब्दों के साथ गोत्रप्रत्ययान्त शब्द भी जाति कार्य को प्राप्त करते हैं। यथा - औपगवी। कठी। 'जातेः' क्यों कहा? मुण्डा। 'अस्त्रीविषयात्' क्यों कहा? बलाका। 'अयोपधात्' क्यों कहा? क्षत्रिया। **वा०** - यकारोपध के प्रतिषेध में हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य को छोड़कर अन्य शब्दों का ग्रहण किया जाय। हयी। गवयी। मुकयी। मनुषी। मत्सी।

विमर्श—ङीष् का प्रकरण है। उल्लिखित सभी आधिकारिक पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व अनुसरण कर रही है। सूत्रस्थ 'अस्त्रीविषयक' का तात्पर्य है - 'जिसका विषय केवल स्त्रीलिङ्ग न हो।' य उपधा यस्य स योपधः, न योपधः 'अयोपधः' अर्थात् यकारोपध से भिन्न। तदनुसार यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है कि "यंकार से भिन्न उपधा वाले, नित्य स्त्रीलिङ्ग रहित जातिवाचक प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीष्' प्रत्यय होता है।"

महाभाष्यकार ने सूत्रस्थ 'जाति' शब्द को पारिभाषिक स्वीकार किया है। तदनुसार मूलोक्त कारिका में जाति के तीन प्रकार बताये गये हैं।

(१) आकृतिः ग्रहणं = व्यञ्जकं यस्याः सा - आकृतिग्रहणा जातिः। अर्थात् अवयवसन्निवेश विशेष (स्वरूप) देखने से जिसका ज्ञान हो, वह जाति है। **उदाहरण**—तट + ङीष् (= 'ई', अकारलोप) = तटी। नदी आदि का जलसमीपवर्ती स्थान 'तट' कहलाता है। उसका ज्ञान उस स्थान की आकृति से होता है, अतः 'तटत्व' जाति है। तट शब्द का प्रयोग तीनों लिङ्गों में होता है। इसलिए यह नियतस्त्रीलिङ्ग नहीं है। उपधा में यकार भी नहीं है, अतः प्रकृत सूत्र से ङीष् हुआ।

(२) दूसरा जातिपरिचायक बतलाया जा रहा है — "लिङ्गानां न च सर्वभाक्। सकृदा-ख्यातनिर्ग्राह्या'।" जिससे सभी लिङ्ग न होते हों अर्थात् जो शब्द पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग

पुष्पफलमूलबालोत्तरपदाच्च ४।१।६४। पाकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचिनः स्त्रीविषयादपि ङीष्। ओदनपाकी। शङ्कुकर्णी। शालपर्णी। शङ्खपुष्पी। दासीफली।

जातिकार्यं लभते इत्यर्थः। यथा — औपगवी। उपगोरपत्यं स्त्रीति विग्रहेऽपत्यार्थेऽणि वृद्धौ गुणेऽवादेशे 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधादि'त्यनेन ङीष्प्रत्यये 'औपगवी' इति। एवमेव — कठेन प्रोक्तमधीयाना स्त्री 'कठी' इति।

(२२७५) **पाककर्ण इति**। 'जातेरस्त्रीविषयात्' इति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिद-मित्यत आह — **स्त्रीविषयादपीति**।

इन तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त न हों एवम् एक बार बताने पर जिसका ज्ञान अन्यत्र भी हो उसे भी जाति कहा जाता है।'' जैसे 'वृषल' कहने से उसकी सन्तान आदि में भी वृषलत्व जाति का परिज्ञान हो जाता है। अतः 'वृषल + ङीष्' = वृषली।

(३) गोत्रं च चरणैः सह (अपत्यप्रत्ययान्तः शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इत्यर्थः) — गोत्रप्रत्ययान्त एवं शाखाध्येतृवाचक शब्द भी जातिकार्य को प्राप्त होते हैं। अर्थात् इन दोनों अर्थों के बोधक प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों से भी जातिप्रयुक्त कार्य होते हैं। **उदाहरण**— औपगव + ङीष् = औपगवी (उपगु की कन्या)। कठ + ङीष् = कठी (कठशाखाध्येत्री)।

प्रत्युदाहरण—(१) प्रकृत सूत्र द्वारा जातिवाची शब्दों से ही ङीष् का विधान होने के कारण 'मुण्डा' में ङीष् नहीं होता। क्योंकि मुण्डत्व पारिभाषिक जाति नहीं है। (२) अस्त्रीविषय अर्थात् नियत स्त्रीलिङ्ग न होने पर ही ङीष् होता है। अतः नियत स्त्रीलिङ्गवाची बलाक शब्द से ङीष् नहीं हुआ। बलाक + टाप् = बलाका (पक्षी)। (३) ङीष्-विधान में अयोपध अर्थात् यकारोपध न होने की अपेक्षा होने के कारण क्षत्रिय शब्द से ङीष् नहीं होता। 'क्षत्रिय' शब्द यकारोपध है, अतः क्षत्रिय + टाप् = क्षत्रिया (क्षत्रिय स्त्री)।

वा०—''हय, गवय, मुकय, मनुष्य तथा मत्स्य शब्दों से भिन्न यकारोपध शब्दों में ङीष् का निषेध होता है।'' आशय यह है कि प्रकृत वार्तिक द्वारा हयादि शब्दों से प्राप्त ङीष्-निषेध का प्रतिषेध किया जाता है। तब ङीष् होकर 'हयी' आदि रूप बनते हैं। **उदाहरण**—हय + ङीष् (= 'ई', अकारलोप) = हयी (घोड़ी)। मुकय + ङीष् = मुकयी (खच्चरी)। मनुष्य + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप होने पर 'य्' का लोप - 'हलस्तद्धितस्य') = मानुषी (मानवी)। मत्स्य + ङीष् (= 'ई', 'अ' का लोप तथा 'य्' का लोप) = मत्सी (मछली)।

(२२७५) **पद**—पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलबालोत्तरपदात्, च। **अनुवृत्ति**—जातेः, ङीष्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पाक, कर्ण आदि उत्तरपद में हों तो जातिवाची स्त्रीलिङ्ग शब्दों से भी ङीष् होता है। ओदनपाकी। शङ्कुकर्णी। शालपर्णी। शङ्खपुष्पी। दासीफली। दर्भमूली। गोवाली। ये शब्द औषधिविशेष में रूढ़ हैं।

विमर्श—प्राकरणिक 'ङीष्' की एवम् 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' आदि की आधिकारिक अनुवृत्ति यथापूर्व अनुसरण कर रही है। पूर्वसूत्र (२२७४) से 'जातेः' की अनुवृत्ति प्रमुखतया अपेक्षित है। तदनुसार ''पाक, कर्ण, पर्ण, पुष्प, फल, मूल तथा बाल - ये शब्द यदि उत्तरपद में हों तो जातिवाचक प्रातिपदिक से भी स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है।'' नियतलिङ्ग शब्दों के विषय में इस ङीष्-विधान की उपयोगिता है।

दर्भमूली। गोवाली। ओषधिविशेषे रूढा एते। (२२७६) इतो मनुष्यजातेः ४।१।६५। ङीष्। दाक्षी। (२२७७) ऊङुतः ४।१।६६। ऊकारान्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ्। कुरूः। (२२७८) पङ्गोश्च ४।१।६८। पङ्गूः। * श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च *। चादूङ्। पुंयोगलक्षणङीषोऽपवादः। श्वश्रूः।

(२२७६) **इतो मनुष्यजातेः**। इदन्तान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियां ङीष् इत्यर्थः। **दाक्षी** — दक्षस्यापत्यं स्त्री इत्यर्थे 'अत इञ्' इति इञ्प्रत्यये आदिवृद्धौ दाक्षिशब्दात् 'इतो मनुष्यजातेः' इति ङीषि 'यस्येति चे'तीकारलोपे 'दाक्षी' इति।

(२२७७) **ऊङुतः**। 'अयोपधादि'ति 'मनुष्यजातेः' इति चानुवर्तते। उत इति तद्विशेषणम्, तदन्तविधिस्तदाह — **ऊकारान्तादिति**। **कुरूः** — कुरुक्षेत्रस्य राजा कुरुः, तस्याऽपत्यं स्त्रीति विग्रहे 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वात् कुरुशब्दात् 'ऊङुतः' इत्यनेन ऊङ्प्रत्यये 'कुरु + ऊ' इति जाते सवर्णदीर्घे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'कुरूः' इति।

उदाहरण—(१) ओदनपाक + ङीष् (= 'ई' - 'पाककर्ण०', 'अ' का लोप, विभक्तिकार्य) = ओदनपाकी (नीलझिण्टी नामक जड़ी)। (२) शङ्कुकर्ण + ङीष् = शङ्कुकर्णी (औषधि-विशेष)। (३) शङ्खपुष्प + ङीष् = शङ्खपुष्पी (सफेद फूलों वाली प्रसिद्ध ओषधि)। (४) शालपर्ण + ङीष् = शालपर्णी (ओषधि-विशेष)। (५) दासीफल + ङीष् = दासीफली। (ओषधि-विशेष)। (६) दर्भमूल + ङीष् = दर्भमूली (ओषधि-विशेष)। (७) गोवाल + ङीष् = गोवाली (ओषधि-विशेष)। ये सभी शब्द ओषधि विशेष में रूढ़ होने से जातिवाचक हैं, अतः ङीष् होता है।

(२२७६) **पद**—इतः, मनुष्यजातेः। **अनुवृत्ति**—ङीष्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इदन्त मनुष्यजातिवाचक शब्द से ङीष् होता है। दाक्षी।

विमर्श—'ङीष्' की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है। 'अनुपसर्जनात्', 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है। सूत्रस्थ 'इतः' पद अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि होती है। इस प्रकार ''मनुष्यजातिवाचक अनुपसर्जन (विशेषण रहित) इकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—दक्ष + इञ् (= 'इ' - 'अत इञ्', आदिवृद्धि, अकारलोप) = दाक्षि + ङीष् (= 'ई' - 'इतो मनुष्यजातेः', 'इ' का लोप) = दाक्षी (दक्ष की स्त्री सन्तान)।

(२२७७) **पद**—ऊङ्, उतः। **अनुवृत्ति**—मनुष्यजातेः, अयोपधात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उकारान्त अयोपध मनुष्यजातिवाची से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है। कुरूः।

विमर्श—सूत्रार्थ की निष्पत्ति हेतु 'इतो मनुष्यजातेः' (४।१।६५) से 'मनुष्यजातेः' तथा 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' (२२७४) से 'अयोपधात्' की अनुवृत्ति आती है। अन्य आधिकारिक सूत्रों की अनुवृत्ति यथापूर्व अनुसरण कर रही है। सूत्रस्थ 'उतः' पद अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से तदन्त का बोधक होता है। तदनुसार ''यकारोपधभिन्न एवं मनुष्यजातिवाचक उकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ऊङ् (= ऊ) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—कुरु + ऊङ् (= 'ऊ' - 'ऊङुतः', उ = ऊ = 'ऊ' - दीर्घ, विभक्तिकार्य) = कुरूः (कुरुवंश की स्त्री)।

(२२७८) **पद**—पङ्गोः, च। **अनुवृत्ति**—ऊङ्। **विधिसूत्र**।

(२२७९) ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४।१।६९। उपमानवाचिपूर्वपदमुरूत्तरपदं यत्तस्मादूङ्। करभोरूः। **(२२८०) संहितशफलक्षणवामादेश्च ४।१।७०।** संहितोरूः। ***सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्*।** सहितोरूः। सहोरूः। **(२२८१)**

(२२७८) **पङ्गोश्चेति**। पङ्गुत्वं न जातिरिति 'ऊङुतः' इत्यप्राप्तौ वचनम्। पङ्गुशब्दादपि स्त्रियामूङ् स्यादित्यर्थः।

(२२७९) **ऊरूत्तरपदादिति**। ऊरूः उत्तरपदं यस्येति विग्रहः। 'प्रातिपदिकादि'त्यनुवर्तते। उत्तरपदेत्यनेन पूर्वपदमाक्षिप्तम्, 'औपम्ये' इति तत्रान्वेति। उपमीयते अनयेत्युपमा — उपमानम्। तदाह — **उपमानवाचीति**। **करभोरूः** — करभाविव ऊरूः यस्याः इति विग्रहे करभोरुशब्दात् 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यनेन ऊङिअनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे प्रातिपदिकत्वे सौ सस्य रुत्वे विसर्गे च 'करभोरूः' इति।

(२२८०) **संहितशफलक्षण इति**। अनौपम्यार्थमिदं वचनम्। 'ऊरूत्तरपदादि'ति

मूलार्थ—पङ्गु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है। पङ्गूः। **वा०** - श्वसुर शब्द के उकार और अकार का लोप होता है तथा ङीष् प्रत्यय होता है। पुंयोगनिमित्तक ङीष् का अपवाद है। श्वश्रूः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२७७) से 'ऊङ्' की अनुवृत्ति आती है। अन्य आधिकारिक सूत्रों की अनुवृत्ति का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार ''पङ्गु शब्द स्त्रीत्व द्योत्य रहते ऊङ् = 'ऊ' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—पङ्गु + ऊङ् (= 'ऊ' - 'पङ्गोश्च', उ + ऊ = 'ऊ' - सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य) = पङ्गूः। (पङ्गु शब्द के जातिवाचक न होने से पूर्वसूत्र से ऊङ् प्राप्त नहीं होता)।

वा०—श्वसुर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है तथा 'श्वसुर' शब्द के उकार एवम् अकार का लोप भी होता है। **उदाहरण**—श्वसुर + ऊङ् (= 'ऊ', 'उ' तथा 'अ' का लोप) - श्वस्र् (विभक्ति सु = स् = र् :) = श्वश्रूः (सास)।

(२२७९) **पद**—ऊरूत्तरपदात्, औपम्ये। **अनुवृत्ति**—ऊङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उपमानवाचक पूर्वपदक ऊरूत्तरपदक प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है। करभोरूः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (२२७७) से 'ऊङ्' की अनुवृत्ति आ रही है। स्त्रीप्रत्यय के अधिकारसूत्रों का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। अतः ''ऊरु शब्द उत्तरपद में रहने पर तदन्त प्रातिपदिक से औपम्य गम्यमान होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—करभौ इव ऊरू यस्याः (बहुव्रीहिसमास) — करभोरु + ऊङ् (= 'ऊ' - 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये', उ + ऊ = 'ऊ' - दीर्घ, विभक्तिकार्य) = करभोरूः (हाथी की सूँड़ के समान जङ्घा वाली)।

(२२८०) **पद**—संहितशफलक्षणवामादेः, च। **अनुवृत्ति**—ऊरूत्तरपदात्, ऊङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—संहित, शफ, लक्षण और वाम शब्द पूर्वपद में हों तो ऊरु शब्द से ऊङ् प्रत्यय होता है। संहितोरूः। **वा०**—सहित और सह शब्द पूर्व रहते भी ऊरु शब्द से ऊङ् प्रत्यय होता है। सहितोरूः। सहोरूः।

शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४।१।७३। शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन्। शार्ङ्गरवी। बैदी। * नृनरयोर्वृद्धिश्च *। नारी। (२२८२) यङश्चाप् ४।१।७४। यङन्ताच्चाप्। आम्बष्ठ्या। कारीषगन्ध्या। * षाद्यञश्चाप् वाच्यः *। पौतिमाष्या।

ऊङिति चानुवर्तते। संहित-शफ-लक्षणवामादिभ्यः परो य ऊरुशब्दस्तस्मादपि ऊङ् स्यादित्यर्थः। **सहितेति**। सहित, सह आभ्यां परो य ऊरुशब्दस्तस्मादपि ऊङ् वक्तव्यमित्यर्थः।

(२२८१) **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्। शार्ङ्गरवी** — शृङ्गरोरपत्यं स्त्रीति विग्रहे शृङ्गरुशब्दादपत्याऽर्थेऽणि णित्त्वादाद्यचो वृद्धौ 'ओर्गुणः' इति उकारस्य गुणेऽवादेशे शार्ङ्गरवशब्दात् 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इति ङीन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे भत्वादकारलोपे विभक्तिकार्ये 'शार्ङ्गरवी' इति।

(२२८२) **यङश्चाप्**। यङन्ताच्चाप् स्यादित्यर्थः।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु २२७७ से 'ऊङ्' की तथा पूर्वसूत्र (२२७९) से 'ऊरूत्तरपदात्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "संहित, शफ, लक्षण और वाम शब्दों के पूर्वपद में स्थित होने पर तथा 'ऊरु' शब्द के उत्तरपद में होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—संहितौ ऊरू यस्याः सा (समास, संहितोरु + ऊङ् = 'ऊ', उ + ऊ = 'ऊ' - सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य) = संहितोरूः (मिली हुई जाँघों वाली)।

वा०—सहित और सह शब्द से परवर्ती ऊरु शब्द के होने पर भी तदन्त शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' होता है। **उदाहरण**—सहितौ ऊरू यस्याः सा सहितोरु + 'ऊङ्' (= 'ऊ', सवर्णदीर्घ) = सहितोरूः (हित से युक्त ऊरु = जाँघ वाली)।

(२२८१) **पद**—शार्ङ्गरवाद्यञः, ङीन्। **अनुवृत्ति**—अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शार्ङ्गरव आदि शब्दों से तथा अञ्प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीन् (= ई) प्रत्यय होता है। शार्ङ्गरवी। बैदी। **वा०** - नृ और नर शब्द को वृद्धि और ङीन् प्रत्यय भी होता है। नारी।

विमर्श—उल्लिखित 'स्त्रियाम्' आदि सूत्रों की आधिकारिक अनुवृत्ति आ रही है। **'शार्ङ्गरवादि'** शब्द लुप्तपञ्चम्यन्त है। 'अञः' पद अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि होती है। तदनुसार "शार्ङ्गरव आदि गणपठित शब्दों से तथा अञ्प्रत्ययान्त जातिवाचक प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीन् (= ई) प्रत्यय होता है।"

उदाहरण—शृङ्गरु + अण् (= 'अ', आदिवृद्धि, रपर, 'उ' = 'ओ' - गुण, 'ओ' = अव् आदेश) — शार्ङ्गरव + ङीन् (= 'ई', 'अ' का लोप) = शार्ङ्गरवी (शृङ्गरु मुनि की स्त्री सन्तान)। बिद + अञ् (= 'अ' – 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्', 'अ' का लोप, आदिवृद्धि) — बैद + ङीन् (= 'ई', 'अ' का लोप) = बैदी (बिद की स्त्री सन्तान)। ये दोनों शब्द गोत्रवाची होने से जातिवाचक हैं।

वा०—जातिवाचक नृ तथा नर शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते ङीन् प्रत्यय होता है तथा उनके अच् को वृद्धि भी होती है। **उदाहरण**—नृ + ङीन् (= 'ई', ऋ = आर् - वृद्धि, रपर) = नारी। नर + ङीन् (= 'ई', अ = 'आ' - वृद्धि, 'अ' का लोप) = नारी (स्त्री)।

(२२८२) **पद**—यङः, चाप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—यङन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'चाप्' प्रत्यय होता है। आम्बष्ठ्या। कारीषगन्ध्या। **वा०**—षकार से परे यञन्त से भी स्त्रीलिङ्ग में चाप् होता है। पौतिमाष्या।

(२२८३) आवट्याच्च ४।१।७५ । अस्माच्चाप्। 'यञश्च' इति ङीषोऽपवादः। अवटशब्दो गर्गादिः। आवट्या। **(२२८४) यूनस्तिः ४।१।७७ ।** युवन्शब्दात्तिः।

(२२८३) **आवट्याच्च**। पूर्वसूत्रात् 'चाप्' इत्यनुवर्तते। तदाह — **अस्माच्चेति**।

(२२८४) **यूनस्तिः**। **युवतिः** — युवत्वजातिविशिष्टा स्त्रीति विग्रहे युवन्शब्दात् 'यूनस्तिः' इत्यनेन तिप्रत्यये 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वान्नलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ सस्य

विमर्श—'स्त्रियाम्', 'प्रातिपदिकात्' आदि की आधिकारिक अनुवृत्ति यथापूर्व अनुसरण कर रही है। तदनुसार "यङन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते चाप् (= आ) प्रत्यय होता है।" यङ् से यहाँ 'ञ्यङ्' तथा 'ष्यङ्' प्रत्ययों का सामान्यतया ग्रहण होता है।

उदाहरण—अम्बष्ठस्य अपत्यं स्त्री — अम्बष्ठ + ञ्यङ् (= 'य' - 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्', आदिवृद्धि तथा 'अ' का लोप) — आम्बष्ठ्य + चाप् (= 'आ', अ + 'आ' – सवर्णदीर्घ, विभक्ति-कार्य) = आम्बष्ठ्या (अम्बष्ठ जाति की स्त्री)। करीषस्य इव गन्धः यस्य (अ = इत् = 'ई' - उप-मानाच्च) — करीषगन्धि + अण् (= 'अ', अण् = ष्यङ् = 'य' आदेश - 'अणिञोरनार्षयोः', आदि-वृद्धि) — कारीषगन्ध्य + चाप् (= 'आ', सवर्णदीर्घ) = कारीषगन्ध्या (गोबर की तरह गन्ध वाली)।

वा०—षकार से परवर्ती यञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से चाप् होता है। **उदाहरण**—पूतिमाष + यञ् (= 'य', 'अ' का लोप, आदिवृद्धि) - पौतिमाष्य + चाप् (= 'आ' - प्रकृत वार्तिक से, दीर्घ) = पौतिमाष्या (पूतिमाष की स्त्री सन्तति)।

(२२८३) **पद**—आवट्यात्, च। **अनुवृत्ति**—चाप्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—यञन्त आवट्य शब्द से भी 'चाप्' होता है। आवट्या।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२८२) से 'चाप्' की अनुवृत्ति आ रही है। स्त्रियाम्, अनुपसर्जनात् तथा प्रातिपदिकात् का अधिकार है। तदनुसार "आवट्य शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते चाप् (= आ) प्रत्यय होता है।" यह 'यञश्च' से प्राप्त 'ङीप्' का अपवाद है।

उदाहरण—अवट + यञ् (= 'य', आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) - आवट्य + चाप् = ('आ' - 'आवट्याच्च', दीर्घ तथा विभक्तिकार्य) = आवट्या (अवट की स्त्री सन्तान)।

(२२८४) **पद**—यूनः, तिः। **अनुवृत्ति**—तद्धिताः, स्त्रियाम्, अनुपसर्जनात्, प्रातिपदिकात्। **विधिसूत्र**।

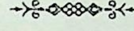
मूलार्थ—युवन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ति' प्रत्यय होता है। युवतिः। उपसर्जनरहित से ही 'ति' होगा। बहुयुवा। ✓यु धातु से शतृ प्रत्यय करने पर तदन्त से ङीप् होने पर 'युवती' शब्द निष्पन्न होता है।

विमर्श—उक्त अधिकारसूत्रों की अनुवृत्ति यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार "युवन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ति प्रत्यय होता है और उसकी तद्धिता संज्ञा होती है।"

उदाहरण—युवन् + 'ति' (- 'यूनस्तिः', 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से पदसंज्ञा, 'न्' का लोप - 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य', विभक्ति सु = स् = र् = :) = युवतिः (युवा स्त्री)। 'अनुपसर्जनात्' का अधिकार होने से उपसर्जन (विशेषण) के रूप में प्रयुक्त न होने पर ही युवन् शब्दान्त से ति प्रत्यय होता है। अतः 'बहवो युवानो यस्यां सा (बहुत-से युवकों से युक्त नगरी) में 'ति' प्रत्यय नहीं होता। क्योंकि यहाँ अन्य पदार्थ 'नगरी' में 'युवन्' पदार्थ उपसर्जन है। बहुयुवन् + डाप् (= 'आ' -

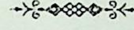
युवतिः । अनुपसर्जनादित्येव । बहवो युवानो यस्यां सा बहुयुवा । युवतीति तु यौतेः शत्रन्तात् ङीपि बोध्यम् ।

इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।



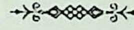
रुत्वे विसर्गे च 'युवतिः' इति । 'यु मिश्रणे' इत्यस्मात् लटः शतृआदेशेऽदादित्वेन शपो लुकि उवङि युवत्शब्दात् 'उगितश्चे'ति ङीप्रत्यये कृते 'युवती'शब्दो निष्पद्यते ।

इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।



'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्', टि = 'अन्' का लोप) = बहुयुवा । स्त्रीलिङ्ग में 'युवती' शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है । तदनुसार ✓यु + शतृ (= 'अत्', शप् तथा शप् का लुक्, 'उ' = 'उवङ्' = 'उव्' आदेश) — युवत् + ङीप् (= 'ई' - 'उगितश्च') = युवती ।

स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण समाप्त ।



अथ वैदिकप्रकरणम्

(२२८५) षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा १।४।९। पतिशब्दो घिसंज्ञः। **क्षेत्रस्य पतिना वयम्।** इह वा इति योगं विभज्य 'छन्दसि' इत्यनुवर्तते। तेन सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः। 'बहुलं छन्दसि' इत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः। **(२२८६) अयस्मयादीनि च्छन्दसि १।४।२०।** एतानि छन्दसि साधूनि। भपदसंज्ञाधिकाराद्यथायोगं संज्ञाद्वयं बोध्यम्। तथा च वार्तिकम्। * उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यम् *। **स सुष्टुभा स ऋक्वता**

अथ वैदिकप्रकरणं निरूप्यते —

(२२८५) **षष्ठीयुक्त इति।** 'शेषो घ्यसखि' इत्यतः 'घि' इत्यनुवर्तते, 'पतिः समास एव' इत्यतः पतिरिति च। षष्ठ्यन्तेन युक्तः पतिशब्दश्छन्दसि घिसञ्ज्ञो वा स्यादित्यर्थः। तेन 'क्षेत्रस्य पतिना' इत्यत्र घिसंज्ञात्वेन 'आङो नाऽस्त्रियामि'त्यनेन नाभावः।

(२२८६) **अयस्मयादीनीति।** 'आकडारादेका संज्ञा' इति नियमाल्लोके भपदसंज्ञयोर्मध्यत एकैव संज्ञा भवति, छन्दस्युभयथा सिद्धये निपातनमिदम्। **स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेनैंति।**

लौकिक भाषा में प्रयुक्त शब्दों के विविध रूपों का विवेचन करने के उपरान्त कतिपय वैदिक प्रयोगों के सिद्धि की प्रक्रिया बतायी जा रही है।

(२२८५) **पद**—षष्ठीयुक्तः, छन्दसि, वा। **अनुवृत्ति**—पतिः, घिः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—षष्ठ्यन्त से युक्त पति शब्द की विकल्प से घि संज्ञा होती है। क्षेत्रस्य पतिना वयम्। यहाँ सूत्र के 'वा' अंश का विभाजन करके 'छन्दसि' की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार वेद में सभी विधियाँ विकल्प से होती हैं। 'बहुलं छन्दसि' सूत्र इसी का प्रपञ्च है।

विमर्श—सूत्रार्थ की निष्पत्ति हेतु पूर्वसूत्र 'पतिः समास एव' (२०७) से 'पतिः' तथा 'शेषो घ्यसखि' (१९१) से 'घि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''षष्ठी विभक्त्यन्त पद से युक्त पति शब्द की विकल्प से घिसंज्ञा होती है।'' 'पतिः समास एव' सूत्र के अनुसार समासाभाव में घिसंज्ञा प्राप्त नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र द्वारा विकल्प से घिसंज्ञा का विधान किया गया है। यहाँ प्रकृत सूत्र से 'वा' ऐसा पृथक् विभाजन कर 'छन्दसि' की अनुवृत्ति लाकर ''वा छन्दसि'' सूत्र कल्पित किया जाता है। अतः इस शास्त्र में प्रतिपदिक सभी विधान वेद में विकल्प से होते हैं। 'अष्टाध्यायी' में स्थान-स्थान में आया 'बहुलं छन्दसि' सूत्र इसी योगविभाग 'वा' का प्रपञ्च (अनुवादक मात्र) है।

उदाहरण—'क्षेत्रस्य पतिना वयम्' (यहाँ वैदिक प्रयोग होने से 'पति + टा' की विकल्प से घिसंज्ञा, टा = 'ना' - 'आङो नाऽस्त्रियाम्') = पतिना। घि संज्ञा के अभाव पक्ष में पति + टा (= 'आ', 'इ' = 'य्' - यण्) = पत्या।

(२२८६) **पद**—अयस्मयादीनि, छन्दसि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अयस्मय आदि शब्द वेद में निपातन से साधु हैं। भ-पद संज्ञा में प्रयोगानुरोध से दोनों संज्ञाएँ होती हैं। **वा०**—वेद में भसंज्ञा और पदसंज्ञा दोनों होती हैं। स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन। नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।

विमर्श—वेद में अयस्मयादि शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं। प्रयोगानुरोध से भसंज्ञा या पदसंज्ञा अथवा दोनों संज्ञाएँ एक साथ हो जाती हैं। 'उभसंज्ञान्यपीति वक्तव्यम्' वार्तिक भी इसी आशय का

गणेन। पदत्वात्कुत्वम्, भत्वाज्जशत्वाभावः। नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अत्र पदत्वाज्जशत्वं, भत्वात्कुत्वाभावः। 'ते प्राग्धातोः'। (२२८७) **छन्दसि परेऽपि ४।१।८१।** (२२८८) **व्यवहिताश्च १।४।८२।** हरिभ्यां याह्योक आ। आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि। (२२८९) **तृतीया च होश्छन्दसि २।३।३।** जुहोतेः कर्मणि तृतीया

'अयस्मयादीनि छन्दसि' इत्यनेन भपदसंज्ञे सार्धमेव भवतः। 'उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यमि'ति वार्तिकेनापि उक्तम्। अतः 'ऋच् + वता' इत्यत्र पदत्वात् कुत्वम्, भत्वाज्जशत्वाभावः।

(२२८७) **छन्दसि परेऽपि**। गत्युपसर्गसंज्ञकाः छन्दसि परे प्रयोक्तव्याः, अपिशब्दात्पूर्वे इत्यर्थः।

(२२८८) **व्यवहिताश्च**। व्यवहिता अपि गत्युपसर्गसंज्ञकाः प्रयोक्तव्या इति भावः। **हरिभ्यामिति**। आ याहीति प्राप्ते 'याहि ओक आ' इति परप्रयोगः।

(२२८९) **तृतीया चेति**। 'कर्मणि द्वितीये' त्यतः 'कर्मणी'त्यनुवर्तते। कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां तृतीयाऽनेन विधीयते चकाराद् द्वितीयाऽपि।

बोधक है। लोक में 'आकडारादेका संज्ञा' सूत्र के नियम से भ और पद संज्ञा में से एक ही संज्ञा होती है। अतः वैदिक प्रयोगों में आवश्यकतानुसार दोनों संज्ञाओं के विधान हेतु यह निपातन किया गया है।

उदाहरण—ऋच् + वता (यहाँ प्रकृत सूत्र द्वारा पद संज्ञा होने से 'च्' = 'क्' - कुत्व तथा भसंज्ञा का निपातन होने से पदसंज्ञा का बाध होने पर जश्त्व नहीं होता) = ऋक्वता। वाच् + इनेषु (यहाँ पदसंज्ञा का निपातन होने से 'च्' = 'ज्' - जश्त्व - 'झलां जश् झशि') = वाजिनेषु। भसंज्ञा होने पर पदसंज्ञा का बाध हो जाने पर कुत्व (ज् = ग्) नहीं होता।

ते प्राग्धातोः—गतिसंज्ञक एवम् उपसर्गसंज्ञक का धातु के पूर्व प्रयोग होता है।

(२२८७) **पद**—छन्दसि, परेऽपि। **अनुवृत्ति**—ते, धातोः। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—छन्द में उपसर्ग और गतिसंज्ञक प्रादियों का धातु से परे भी प्रयोग होता है।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'ते प्राग्धातोः' (१।४।८०) से 'ते' और 'धातोः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "ते = उपसर्गसंज्ञक एवम् गतिसंज्ञक प्र आदि का धातु से पर प्रयोग भी होता है।"

(२२८८) **पद**—व्यवहिताः, च। **अनुवृत्ति**—छन्दसि, ते, धातोः। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—उक्त का धातु से व्यवहित प्रयोग भी होता है। 'हरिभ्यां याह्योक आ'। आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२८७) से 'छन्दसि' की तथा 'ते प्राग्धातोः' (१।४।८०) से 'ते, धातोः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अतः "धातु से किसी शब्द का व्यवधान होने पर भी उपसर्गसंज्ञक और गतिसंज्ञक का प्रयोग होता है।"

उदाहरण—आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि (यहाँ 'ते प्राग्धातोः' के नियम से आङ् का पूर्वप्रयोग होकर 'आयाहि' प्राप्त था, परन्तु वेद में 'व्यवहिताश्च' का नियम के अनुरोध से आङ् और याहि के बीच में व्यवधान होने पर भी आङ् का प्रयोग साधु है)। हरिभ्यां याह्योक आ ('छन्दसि परेऽपि' के नियम से धातु से पर 'आ' का प्रयोग हुआ है)।

(२२८९) **पद**—तृतीया, च, होः, छन्दसि। **अनुवृत्ति**—अनभिहिते, कर्मणि, द्वितीया। **विधिसूत्र**।

स्यात् द्वितीया च। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति। (२२९०) मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् ३।२।७१। *श्वेतवहादीनां डस् पदस्येति वक्तव्यम्*। यत्र पदत्वं भावि तत्र ण्विनोऽपवादो डस् वक्तव्य इत्यर्थः। श्वेतवाः, श्वेतवाहौ, श्वेतवाहः। उक्थानि उक्थैर्वा शंसति उक्थशा यजमानः, उक्थशासौ। पुरो दाश्यते दीयते पुरोडाः। (२२९१) अवे यजः ३।२।७२। अवयाः, अवयाजौ, अवयाजः।

(२२९०) **मन्त्रे श्वेतवहो०**। श्वेतादिपूर्वेभ्यो वहादिभ्यो ण्विन् स्यादिति सूत्रार्थः। **श्वेतवाः** — श्वेता एव यं वहन्ति स श्वेतवाः = इन्द्रः। 'श्वेतवह्' इत्यस्मात् भाविपदत्वेन ण्विनोऽपवादे 'श्वेतवहादीनां डस् पदस्येति वक्तव्यम्' इति डसि डित्त्वाट्टिलोपे श्वेतवस् इति जाते, प्रातिपदिकत्वे सौ हल्ङ्याादिना सुलोपे उपधादीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'श्वेतवाः' इति।

(२२९१) **अवे यजः**। अवपूर्वकाद् यजेः ण्विन्, पदत्वे भाविनि तदपवादो डस् भवतीत्यर्थः।

मूलार्थ—हु धातु के कर्म में तृतीया और चकार से द्वितीया भी होती है। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति।

विमर्श—'अनभिहिते' (२।३।१) तथा 'कर्मणि द्वितीया' (२।३।२) की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "वेदविषय में हु धातु के अनभिहित कर्म में तृतीया विभक्ति होती है। चकार-प्रयोग से द्वितीया भी होती है।"

उदाहरण—यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति (हु धातु के कर्म में तृतीया - यवागू + टा (= 'आ', यण्) = यवाग्वा (यवागू (लप्सी) से अग्निहोत्र करता है)।

(२२९०) **पद**—मन्त्रे, श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशः, ण्विन्। **अनुवृत्ति**—सुपि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—मन्त्र में श्वेतवहादि से ण्विन् प्रत्यय होता है। **वा०**—जहाँ पदत्व की सम्भावना हो वहाँ ण्विन् का अपवाद 'डस्' प्रत्यय होता है। श्वेतवाः, श्वेतवाहौ, श्वेतवाहः। उक्थशाः यजमानः, उक्थशासौ। पुरोडाः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सुपि स्थः' (३।२।४) सूत्र से 'सुपि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "सुप् के परवर्ती रहते मन्त्र में श्वेत उपपदक वह् धातु से, उक्थ उपपदक शंस् धातु से तथा पुरस् उपपदक दा धातु से 'ण्विन्' प्रत्यय होता है।"

वा०—श्वेतवहादि शब्दों से जहाँ पदत्व होने वाला हो, वहाँ ण्विन् को बाधकर डस् (= अस्) प्रत्यय होता है।

उदाहरण—श्वेताः एनं वहन्ति स श्वेतवाः (इन्द्रः)। श्वेत + √वह् (ण्विन् का बाधकर प्रकृत वार्तिक से डस् = 'अस्', डित् होने से टि = 'अह्' का लोप) - श्वेतवस् (अ = 'आ' - दीर्घ - 'अत्वसन्तस्य०', सुलोप तथा स् = र् = :) = श्वेतवाः। प्रथमा विभक्ति में - श्वेतवाः, श्वेतवाहौ, श्वेतवाहाः। उक्थानि उक्थैर्वा शंसति (उक्थ + √शंस् + डस् = 'अस्' पूर्ववत्, टिलोप, दीर्घ आदि) = उक्थशा यजमानः। प्रथमा द्विवचन में 'न्' लोप, उपधावृद्धि - उक्थशासौ। पुरो दाश्यते दीयते (पुरस् + √दा + ण्विन् का अपवाद डस् = अस्, टिलोप, द् = 'ड्', उपधादीर्घ तथा विभक्तिकार्य) = पुरोडाः।

(२२९१) **पद**—अवे, यजः। **अनुवृत्ति**—मन्त्रे, ण्विन्, धातोः। **विधिसूत्र**।

(२२९२) अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च ८।२।६७। एते सम्बुद्धौ कृतदीर्घा निपात्यन्ते। चादुक्थशाः। (२२९३) लिङर्थे लेट् ३।४।७। (२२९४) सिब्बहुलं लेटि ३।१।३४। (२२९५) इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ३।४।९७। लेटस्तिङामितो लोपो वा स्यात्परस्मैपदेषु। (२२९६) लेटोऽडाटौ ३।४।९४। स्तो वा। तौ च

(२२९२) **अवया इति**। सम्बुद्धौ 'अत्वसन्तस्य' इत्यप्राप्तौ दीर्घोऽनेन निपात्यते।

(२२९३) **लिङर्थे लेट्**। विध्यादौ हेतुहेतुमद्भावादौ च धातोर्लेट् स्याच्छन्दसीत्यर्थः।

(२२९४) **सिब्बहुलमिति**। लेटि बहुलं सिप् स्यादित्यर्थः।

(२२९५) **इतश्चेति**। लेटस्तिङामितो लोपो वा स्यात्परस्मैपदेषु।

मूलार्थ—अवपूर्वक यज् धातु से मन्त्र में ण्विन् प्रत्यय होता है। अवयाः, अवयाजौ, अवयाजः।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२३०) से 'मन्त्रे' तथा 'ण्विन्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार ''मन्त्र में अव पूर्वक यज् धातु से ण्विन् प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—अव + √यज् (ण्विन् को बाधकर पदत्वभावी डस् = अस्, टिलोप, उपधादीर्घ, विभक्तिकार्य उक्तवत्) = अवयाः। अन्यत्र ण्विन्, उपधादीर्घ - अवयाजौ, अवयाजः।

(२२९२) **पद**—अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः, च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ये तीनों सम्बुद्धि में कृतदीर्घ निपातित हैं। चकार से - उक्थशाः।

विमर्श—मन्त्र में 'अवयाः', 'श्वेतवाः' और 'पुरोडाः' ये तीनों सम्बुद्धि अर्थात् सम्बोधन प्रथमा विभक्ति में दीर्घ किये हुए निपातन हैं। सम्बोधन में 'अत्वसन्तस्य०' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः प्रकृत सूत्र द्वारा दीर्घ निपातन किया गया है।

उदाहरण—अव + √यज् (ण्विन् का अपवाद डस् = अस्, टिलोप, सम्बोधन में दीर्घ निपातन, विभक्तिकार्य) = अवयाः। इसी प्रकार - श्वेतावाः। पुरोडाः।

(२२९३) **पद**—लिङर्थे, लेट्। **अनुवृत्ति**—छन्दसि, धातोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—लिङ् के अर्थों में वेद में लेट् लकार होता है।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (३।४।६) से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। अतः ''विध्यादि और हेतुहेतुमद्भावादि लिङर्थ में धातु से लेट् लकार होता है।''

(२२९४) **पद**—सिप्, बहुलं, लेटि। **अनुवृत्ति**—धातोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—लेट् के परे रहने पर धातु से सिप् प्रत्यय बहुलतया होता है।

विमर्श—पूर्ववत् 'धातोः' की अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार ''लेट् के परवर्ती रहते धातु से सिप् प्रत्यय बहुल प्रकार से होता है।''

(२२९५) **पद**—इतः, च, लोपः, परस्मैपदेषु। **अनुवृत्ति**—वा, लेटः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—परस्मैपद में लेट्-स्थानिक तिङ् के इकार का लोप विकल्प से होता है।

विमर्श—'वैतोऽन्यत्र' (३।४।९६) से 'वा' तथा 'लेटोऽडाटौ' (२२९६) से 'लेटः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''परस्मैपद विषय में लेट् लकार सम्बन्धी इकार का भी विकल्प से लोप होता है।''

(२२९६) **पद**—लेटः, अडाटौ। **अनुवृत्ति**—वा। **विधिसूत्र**।

पितौ । *सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः* । वृद्धिः । प्र ण॒ आयूंषि तारिषत् । सुपेशस्करति जोषिषद्धि । आ साविषदर्शसा॒नाय । सिप इलोपस्य चाभावे । पताति वि॒द्युत् । प्रियः सूर्ये प्रि॒यो अ॒ग्ना भवाति । (२२९७) स उत्तमस्य ३।४।९८ । लेट उत्तमस्य वा लोपः । करवावः, करवाव । टेरेत्वम् । (२२९८) आत ऐ ३।४।९५ । लेट

(२२९६) **लेटोऽडाटौ** । लेटः अट् आट् एतावागमौ स्तः, तौ च पितौ स्यातामिति ।

प्रण॒ आयूंषिं तारिषत् — तृधातोर्लेटि अनुबन्धलोपे लस्य स्थाने तिपि 'सिब्बहुलं लेटि' इत्यनेन सिपि अनुबन्धलोपे 'लेटोऽडाटौ' इत्यडागमे 'सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः' इत्यनेन सिपः णित्त्वात् 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरत्वे आर्धधातुकत्वादिडागमे, सस्य षत्वे 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' इत्यनेन तिप इकारलोपे 'तारिषत्' इति ।

(२२९७) **स उत्तमस्य** । लेटस्थानिकयोः वस्मसोः सस्य वा लोपः स्यादित्यर्थः ।

(२२९८) **आत ए** । 'लेटः' इत्यनुवर्तते । तदाह — **लेट इत्यादिना** ।

मूलार्थ—लेट् को विकल्प से अट्, आट् आगम होते हैं और वे पित् होते हैं ।

वा०—सिप् को बहुलप्रकार से णिद्वद्भाव होता है । प्रण आयूंषि तारिषत् । सुपेशस्करति जोषषद्धि । आ साविषदर्शसानाय । सिप् और इकारलोप के अभाव में - पताति विद्युत् । प्रियः सूर्ये प्रियो अग्नाभवति ।

विमर्श—'वा छन्दसि' (३।४।८८) से 'वा' की अनुवृत्ति आती है तथा 'आडुत्तमस्य पिच्च' (३।४।९२) से 'पित्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "लेट् को अट् और आट् का आगम विकल्प से होता है और पित् माने जाते हैं ।"

वा०—सिप् प्रत्यय को बहुल प्रकार से णिद्वद्भाव होता है ।

उदाहरण—(१) ✓तृ + लेट् (= 'ल्' - 'लिङर्थे लेट्', ल् = तिप् = 'ति', 'सिप्' - 'सिब्बहुलं लेटि', इट् = 'इ', अट् = 'अ' का आगम - 'लेटोऽडाटौ', 'सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः' से णिद्वद्भाव होने पर ॠ = 'आ' र् वृद्धि, रपर, षत्व, 'इ' का लोप - 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु') = तारिषत् । (२) ✓जुषी = जुष् + लेट् (= ल्, व्यत्यय से परस्मैपद - तिप् = ति, सिप् = 'स्', इट् = 'इ' का आगम, षत्व, उपधागुण, अट् आगम तथा इकारलोप) = जोषिषत् । (३) आङ् + 'षु प्रसवैस्वर्ययोः' + लेट् (प्रक्रिया उक्तवत्) = आसाविषत् । (४) ✓पत् + लेट् (तिप् = 'ति', इकारलोप के अभाव पक्ष में तथा सिप् के अभाव में आट् = 'आ' का आगम) = पताति । (५) ✓भू + लेट् (तिप् = 'ति', इकारलोप तथा सिप् के अभाव पक्ष में - आट् आगम, गुण तथा अवादेश) = भवाति ।

(२२९७) **पद**—स, उत्तमस्य । **अनुवृत्ति**—लोपः, लेटः, वा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लेट् के उत्तमपुरुष के सकार का लोप विकल्प से होता है । करवावः, करवाव ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (२२९५) से 'लोपः', 'लेटोऽडाटौ' (२२९६) से 'लेटः' तथा 'वैतोऽन्यत्र' (३।४।९६) से 'वा' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "लेट् लकार सम्बन्धी उत्तमपुरुष के सकार का लोप विकल्प से होता है ।"

उदाहरण—✓कृञ् = कृ + लेट् (= वस्, 'उ' - 'तनादिकृञ्भ्य उः', ऋ = 'अर्' - गुण, रपर, 'आट्' = 'आ' - आगम - 'लेटोऽडाटौ', 'उ' = 'ओ' - गुण, अवादेश, 'स्' का लोप विकल्प से - 'स उत्तमस्य') = करवाव । सकारलोप के न होने पर रुत्व-विसर्ग - करवावः ।

(२२९८) **पद**—आतः, ऐ । **अनुवृत्ति**—लेटः । **विधिसूत्र** ।

आकारस्य ऐ स्यात् । सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते । आतामित्याकारस्य ऐ । (२२९९) वैतोऽन्यत्र ३।४।९६ । लेट एकारस्य ऐ स्याद्वा । 'आय ऐ' इत्यस्य विषयं विना । पशूनामीशै । ग्रहा गृह्यान्तै । अन्यत्र किम् ? सुप्रयसा मादयैते । (२३००) उपसंवादाशङ्कयोश्च ३।४।८ । पणबन्धे आशङ्कायां च लेट् । अहमेव पशूनामीशै । नेज्जिह्मयान्तो नरकं पताम । (२३०१) व्यत्ययो बहुलम् ३।१।८५ । विकरणानां बहुलं

(२२९९) **वैतोऽन्यत्र** । **पशूनामीशै** — 'ईश् ऐश्वर्ये' लेटि, लस्य स्थाने उत्तमपुरुषैकवचने इटि टेरेत्वे 'ईश + ए' इति स्थिते 'वैतोऽन्यत्र' इति एकारस्य ऐकारे 'ईशै' इति ।

(२३००) **उपसंवादाशङ्कयोश्च** । लेडित्यनुवर्तते । तदाह — **पणबन्ध इति** ।

(२३०१) **व्यत्ययो बहुलम्** । शबादीनां विकरणानां बहुलं व्यत्ययः स्याच्छन्दसीत्यर्थः ।

मूलार्थ—लेट् के आत् को ऐ होता है । सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'लेटोऽडाटौ' (२२९६) से 'लेटः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "लेट् लकार सम्बन्धी (आत्मनेपद के आताम् और आथाम् के आदि) आकार को 'ऐ' आदेश होता है ।"

उदाहरण— ✓मदी - हर्षे (णिजन्त) = मादि + लेट् (= ल् = प्रथमपुरुष द्विवचन –'आताम्', टि - 'आम्' = 'ए' - 'टित आत्मनेपदानां टेरे', आ = 'ऐ' - 'आत ऐ') — मादि + ऐते (इ = 'ए' - गुण, ए = 'अय्' आदेश) = मादयैते ।

(२२९९) **पद**—वा, एतः, अन्यत्र । **अनुवृत्ति**—ऐ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'आत ऐ' के विषय को छोड़कर अन्यत्र लेट् के एकार को ऐ विकल्प से होता है । पशूनामीशै । ग्रहा गृह्यान्तै । 'अन्यत्र' क्यों कहा ? सुप्रयसा मादयैते ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२९८) से 'ऐ' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "'आत ऐ' इस पूर्वसूत्र के विषय को छोड़कर लेट् सम्बन्धी आकार को ऐकार आदेश विकल्प से होता है ।"

उदाहरण—✓ईश् + लेट् (आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन इट् = 'इ' = 'ए', एत्व) — ईश् + ए (ए = 'ऐ' विकल्प से - वैतोऽन्यत्र) = ईशै । पक्ष में - ईशे । ✓ग्रह् + कर्म में लेट् (= 'झ' = 'अन्त' आदेश, यक् = 'य्' का आगम, र् = 'ऋ' सम्प्रसारण - 'ग्रहिज्या०', आट् = 'आ' आगम - 'लेटोऽडाटौ', टि को एत्व, ए = 'ऐ' आदेश प्रकृत सूत्र से) = गृह्यान्तै ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अन्यत्र' का निवेश होने से 'आत ऐ' के विषय में ऐत्व हेतु इसकी प्रवृत्ति नहीं होती । अतः 'सुप्रयसा मादयैते' में एकार को ऐत्व नहीं होता ।

(२३००) **पद**—उपसंवादाशङ्कयोः, च । **अनुवृत्ति**—लेट् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पणबन्ध और आशङ्का अर्थ में भी लेट् लकार होता है । अहमेव पशूनामीशै । नेज्जिह्मयान्तो नरकं पताम ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२२९३) से 'लेट्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार "उपसंवादं अर्थात् पणबन्ध (= शर्त, बाजी मारना) और आशङ्का अर्थ में धातु से लेट् लकार भी होता है ।"

उदाहरण—✓ईश् + लेट् (- 'पणबन्ध अर्थ' में, सिद्धिप्रक्रिया पूर्ववत्) = अहमेव पशूनाम् ईशै (मैं समस्त जीवों का अधिपति हूँ) । ✓पत् + लेट् (- आशंका अर्थ में, उत्तमपुरुष बहुवचन -'मस्', आट् = 'आ' आगम, स् का लोप) = पताम (गिरे) ।

(२३०१) **पद**—व्यत्ययः, बहुलम् । **अनुवृत्ति**—छन्दसि । **विधिसूत्र** ।

व्यत्ययः स्याच्छन्दसि । आण्डा शुष्मस्य भेदति । भिनत्तीति प्राप्ते । जरसा मरते पतिः । म्रियत इति प्राप्ते । इन्द्रो बस्तेन नेषतु । नयतेर्लोट् । शप्सिपौ द्वौ विकरणौ । इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्, तरेमेत्यर्थः । तरतेर्विध्यादौ लिङ् । उः शप् सिप् चेति त्रयो विकरणाः ।

"सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥"

धुरि दक्षिणायाः । दक्षिणस्यामिति प्राप्ते । चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति । उपग्रहः – परस्मैपदात्मनेपदे । ब्रह्मचारिणमिच्छते । इच्छतीति प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति । युध्यत

आण्डा शुष्मस्य भेदति । भिद्धातोः लटि तिपि रुधादित्वात् श्नमि प्राप्ते 'व्यत्ययो बहुलम्' इति व्यत्ययेन शपि उपधागुणे 'भेदति' इति । **सुप्तिङिति** । शास्त्रकृत् = आचार्यः पाणिनिः सुप्तिङ्-प्रभृतीनां विपर्यासं वाञ्छति । सोऽपि व्यत्ययो बहुलतया सिद्ध्यति । अत एवाचार्येण बहुलग्रहणं कृतम् । दक्षिणस्यामिति प्राप्ते 'धुरि दक्षिणायाः' इत्यादीनि क्रमेणोदाहरणानि वृत्तौ दर्शितानीति ।

मूलार्थ—छन्द (वेद) में विकरणों का बहुल प्रकार से व्यत्यय होता है । भिनत्ति प्राप्त होने पर - आण्डा शुष्मस्य भेदति । म्रियते प्राप्त होने पर जरसा मरत्ते पतिः । इन्द्रो वस्तेन नेषतु । ✓नी + लोट् । शप् और सिप् दो विकरण हुए । इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्, तरेम प्राप्त था । तृ + विध्यादि में लिङ् । उ, शप् और सिप् तीन विकरण हुए ।

सुप्तिङ्०—शास्त्रकार आचार्य पाणिनी सुप्, तिङ्, उपग्रह अर्थात् परस्मैपद - आत्मनेपद, लिङ्ग, नर = पुरुष, काल, हल्, अच्, उदात्तादिस्वर, कारक तथा तद्वाचक कृत्तद्धित और यङ् इनका वेद में व्यत्यय चाहते हैं; किन्तु यह सब बहुलग्रहण से सिद्ध है । उदा० - 'दक्षिणस्याम्' प्राप्त रहने पर धुरि दक्षिणाया इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'छन्दसि शायजपि' (३।१।८४) से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "वेद में विकरण प्रत्ययों का बहुल करके व्यत्यय होता है ।"

उदाहरण—(१) आण्डा शुष्मस्य भेदति (यहाँ '✓भिदिर् विदारणे' धातु से 'रुधादिभ्यः-श्नम्' से 'श्नम्' होकर 'भिनत्ति' प्राप्त था, परन्तु व्यत्यय से शप् = 'अ' प्रत्यय (विकरण) जो बाध्य है, होता है, उपधागुण) = भेदति । (२) जरसा मरते पतिः (यहाँ ✓'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से 'तुदादिभ्यः शः' के श विकरण होकर रिङादेश तथा इयङ् होकर 'म्रियते' प्राप्त है, किन्तु व्यत्यय से 'श' प्रत्यय) = मरते । (३) इन्द्रो वस्तेन नेषतु (✓'नी' धातु से लोट् लकार में शप् होकर 'नयतु' प्राप्त है, किन्तु यहाँ शप् और सिप् दो विकरण हुए, गुण, षत्व) = नेषतु । (४) इन्द्रेण युजा तरुषेम (✓तृ धातु से विधिलिङ् में तरेम प्राप्त है, किन्तु यहाँ उत्तमपुरुष बहुवचन में व्यत्यय से उ, शप् और सिप् तीन विकरण हुए, गुण, षत्व) - तरुष + मस् (यासुट् = 'यास्' आगम, यास् के 'स्' का लोप - 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' तथा 'मस्' के 'स्' का लोप - 'नित्यं ङितः', या = 'इय्' - 'अतो येयः', 'य्' का लोप - 'लोपो व्योः०' अ + इ = 'ए' - गुण) = तरुषेम ।

कारिकार्थ—"शब्दशास्त्र के रचनाकार आचार्य पाणिनि सुप्, तिङ्, उपग्रह (परस्मैपद तथा आत्मनेपद) — लिङ्, पुरुष, काल (कालवाचक प्रत्यय), हल्, अच्, स्वर, कर्तृ (कारकवाची, कृत् और तद्धित तथा यङ् (यङ् के यकार से आरम्भ कर 'लिङ्याशिष्यङ्' के ङकार तक प्रत्याहार) इन सबका वेद में व्यत्यय चाहते हैं और वह व्यत्यय बहुलप्रकार से सिद्ध होता है ।"

इति प्राप्ते। मधोस्तृप्ता इवासते। मधुन इति प्राप्ते। नरः – पुरुषः। अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः। वियूयादिति प्राप्ते। कालः – कालवाची प्रत्ययः। श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन। लुटो विषये लृट्। तमसो गा अदुक्षत्। अधुक्षदिति प्राप्ते। मित्र वयं च सूरयः। मित्रा वयमिति प्राप्ते। स्वरव्यत्ययस्तु वक्ष्यते, कर्तृशब्दः कारकमात्रपरः, तथा च तद्वाचिनां कृत्तद्धितान्तानां व्यत्ययः। अन्नादाय। अण्विषये अच्। यङो यशब्दादारभ्य 'लिङ्याशिष्यङ्' इति ङकारेण प्रत्याहारः। तेषां व्यत्ययो 'भेदति' इत्यादिरुक्त एव। **(२३०२) छन्दस्युभयथा ३।४।११७।** धात्वधिकारे उक्तः प्रत्ययः सार्वधातुकार्धधातुकोभयसंज्ञः स्यात्। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः। वर्धयन्त्वित्यर्थः।

(२३०२) **छन्दस्युभयथा**। धात्वधिकारोक्तः प्रत्ययः वेदे सार्वधातुकार्धधातुकोभयसंज्ञः स्यादित्यर्थः। **वर्धन्तु** — णिजन्ताद् वृध्धातोर्लोटि प्रथमपुरुषबहुवचेन रूपम्। 'छन्दस्युभयथा' इत्यार्धधातुकत्वेन 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'वर्धन्तु' इति।

उदाहरण—(१) **सुप् का व्यत्यय** यथा - 'धुरि दक्षिणायाः' (यहाँ 'दक्षिणस्याम्' प्राप्त था, व्यत्यय से 'ङि' के स्थान में ङस्) = दक्षिणायाः। (२) **तिङ् व्यत्यय** यथा - 'चाषालं ये अश्वयूपाय तक्षति' (यहाँ तक्षन्ति प्राप्त था, किन्तु व्यत्यय से 'झि' के स्थान पर तिप्) = तक्षति। (३) आत्मनेपद एवं परस्मैपद को उपग्रह कहते हैं। **उपग्रह व्यत्यय** यथा - ब्रह्मचारिणमिच्छते (यहाँ 'इच्छति' परस्मैपद प्राप्त था, व्यत्यय से आत्मनेपद) = इच्छते। (४) प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति (यहाँ आत्मनेपद - 'युध्यते' प्राप्त होने पर व्यत्यय से परस्मैपद) = युध्यति। (५) **लिङ्** - मधोस्तृप्ता इवासते (यहाँ 'मधुनः' नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था; परन्तु व्यत्यय से पुल्लिङ्ग) = मधोः। (६) **नर (पुरुष) व्यत्यय** यथा - अघा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः (प्रथमपुरुष 'वियूयात्' प्राप्त होने पर व्यत्यय से मध्यमपुरुष) = वियूयाः। (७) **काल (= कालवाची) प्रत्यय** - श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन (यहाँ लुट् के विषय में व्यत्यय से लृट्, शानच् रूप) = आधास्यमानेन। (८) **हल् का व्यत्यय** यथा - तमसो गा अदुक्षत् (व्यत्यय से 'ध्' के स्थान पर 'द्') = अदुक्षत्। अधुक्षत् प्राप्त था। (९) **अच् व्यत्यय** - मित्र वयं च सूरयः (मित्रा वयम् प्राप्त था, व्यत्यय से मित्र)। (१०) स्वरों का व्यत्यय स्वरप्रक्रिया में स्पष्ट किया जायेगा। (११) कर्तृ शब्द कारकमात्र परक है। कारकवाचक कृत् एवं तद्धित प्रत्ययों का व्यत्यय **कर्तृव्यत्यय** है। यथा - अन्नादाय (यहाँ व्यत्यय से अण् के विषय में अच् प्रत्यय हुआ)। यद्यपि रूपसिद्धि में अच् और अण् में कोई भेद नहीं है तथापि अवग्रह में भिन्नता है। अण् होने पर - 'अन्न आदाय'। अच् होने पर 'अन्न अदाय'। (१२) **यङ् व्यत्यय** - यङ् के यकार से लेकर 'लिङ्याशिष्यङ्' के ङकार तक यङ् प्रत्याहार है। यङ् का व्यत्यय 'भिनत्ति' के स्थान पर 'भेदति' पूर्व में कहा जा चुका है।

(२३०२) **पद**—छन्दसि, उभयथा। **अनुवृत्ति**—सार्वधातुकम्, आर्धधातुकम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—छन्द में धात्वधिकारोक्त प्रत्यय की सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनों संज्ञाएँ होती हैं। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः। आर्धधातुक होने से णिलोप - विशृण्विरे। सार्वधातुक संज्ञा होने से श्नः तथा श्नुभाव, यण्।

विमर्श—सूत्रोक्त 'उभयथा' पद दो संज्ञाओं की अनुवृत्ति का परामर्शक है। अतः 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३।४।११३) से 'सार्वधातुकम्' की तथा 'आर्धधातुकं शेषः' (३।४।११४) से

आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः । विशृण्विरे । सार्वधातुकत्वात् श्नः शृभावश्च । हुश्नुवोरिति यण् । **(२३०३) तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ३।४।९** । से – वक्षे रायः । सेन् – ता वामेषे । असे – शरदो जीवसे धाः । असेन् – नित्त्वादाद्युदात्तः । क्से – प्रेषे । कसेन् – गवामिव श्रियसे । अध्यै-अध्यैन् – जठरं पूर्णध्यै । पक्षे – आद्युदात्तम् । कध्यै -कध्यैन् – आहवध्यै । शध्यै – राधसः, सहमादयध्यै । शध्यैन् – वायवे पिबध्यै । तवै – दातवा उ । तवेङ् – सूतवे । तवेन् – कर्तवे । **(२३०४) प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै ३।४।१० ।**

(२३०३) **तुमर्थे इति** । धातोरेते पञ्चदश प्रत्ययाः तुमर्थे भवन्तीत्यर्थः । **पिबध्यै** — 'पा पाने' इत्यस्माद्धातोः 'तुमर्थे सेसेनसे' इत्यादिना शध्यैन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे शित्त्वात्सार्वधातुकत्वेन 'पा' इत्यस्य पिबादेशे 'पिबध्यै' इति ।

(२३०४) **प्रयै रोहिष्यायिति** । एते तुमर्थे निपात्यन्त इत्यर्थः ।

'आर्धधातुकम्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार ''धातु के अधिकार में विहित प्रत्ययों की सार्वधातुक एवम् आर्धधातुक दोनों संज्ञाएँ होती हैं ।''

उदाहरण—णिजन्त ✓वृध् + लोट् (प्रथमपुरुष बहुवचन में आर्धधातुक संज्ञा होने पर णिलोप) = वर्धन्तु । वि + ✓श्रु + लिङ् प्र० पु० बहुवचन में सार्वधातुक संज्ञा होने से श्नु और शृभाव,, झ = इरेच् = 'इरे', यण् - 'हुश्नुवोः०' = विशृण्विरे ।

(२३०३) **पद**—तुमर्थे, से……तवेनः । **अनुवृत्ति**—छन्दसि, धातोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—तुमुन् के अर्थ में धातु से से, सेन इत्यादि १५ प्रत्यय वेद में होते हैं । से - वक्षे रायः । सेन् - ता वामेषे । असे - शरदो जीवसे धाः इत्यादि ।

विमर्श—'धातोः' का अधिकार है । पूर्वसूत्र 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (३।४।६) से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार ''वेद में तुमुन् प्रत्यय के अर्थ (भावार्थ) में धातु से से, सेन, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ् और तवेन् प्रत्यय होते हैं ।''

उदाहरण—(१) ✓वच् + 'से' (– प्रत्यय प्रकृत सूत्र से, 'च्' = 'क्' - कुत्व, 'स्' = 'ष्' - षत्व) = वक्षे । (२) ✓इण् + सेन् (= से, 'इ' = 'ए' - गुण, षत्व) = एषे । लोक में एतुम् । (३) जीव् + असे = जीवसे । लोक में - जीवितुम् । (४) असेन् प्रत्यय में आदि उदात्त है । नित् प्रत्ययान्त तदादि का आदि उदात्त होता है । (५) प्र + ✓इण् + क्स (= 'स' प्रत्यय, कित् होने से गुण का अभाव, षत्व, गुण) = प्रेषे । (६) ✓श्रिञ् = श्रि + कसेन् (= कसे = 'असे', कित्वात् गुणाभाव, इयङ् आदेश) = श्रियसे । लोक में - श्रयितुम् । (७) ✓पृ + अध्यै या अध्यैन् प्रत्यय (= 'अध्यै' विकरण - श्ना = 'ना', ह्रस्व - 'प्वादीनां ह्रस्वः', अ का लोप तथा णत्व) = पृणध्यै । अध्यैन् प्रत्यय में नकार की इत्संज्ञा होने से स्वर में भेद है । रूप में विशेषता नहीं है । (८) आ + ✓हु + कध्यै अथवा कध्यैन् = ('अध्यै' गुणाभाव, उवङ्) = आहुवध्यै । लोक में - आहोतुम् । (९) ण्यन्त ✓मद = मादि + शध्यै (= 'अध्यै' प्रत्यय, शप् = 'अ', गुण, अय् आदेश) = मादयध्यै । लोक में - मादयितुम् । (१०) ✓पा + शध्यैन् (= 'अध्यै' प्रत्यय, शित् होने से सार्वधातुकसंज्ञा, शप् = 'अ', पा = 'पिब्' आदेश) = पिबध्यै । लोक में - पातुम् । (११) दा + तवै = दातवै उ (ऐ = 'आय्' आदेश, 'य्' का लोप - 'लोपः शाकल्यस्य') = दातवा उ । लोक में - दातुम् । (१२)

एते निपात्यन्ते। प्रायतुं रोद्धुम्, अव्यथितुमित्यर्थः। **(२३०५) दृशे विख्ये च ३।४।११।** निपातौ। द्रष्टुं, विख्यातुमित्यर्थः। **(२३०६) कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ३।४।१४।** धातोरेते स्युः। तवै – अन्वतवै। केन् – अवगाहे। केन्य – दिदृक्षेण्यः। त्वन् – कर्त्वम्। **(२३०७) सृपितृदोः कसुन् ३।४।१७।** तुमर्थे।

(२३०५) **दृशे विख्ये चेति**। दृशेः विपूर्वकख्याधातोश्च केप्रत्ययः निपात्यत इति। कित्त्वाद् दृशेर्नोपधागुणः।

(२३०६) **कृत्यार्थ इति**। कृत्यानां = तव्यदादीनामर्थे = भावकर्मणोः एते प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः। **अन्वेतवै** — अनुपूर्वादिण्धातोः 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' इत्यनेन तवैप्रत्यये आर्धधातुकत्वाद् गुणे 'अनु + ए + तवै' इति जाते, यणि प्रातिपदिकत्वे सौ 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वे सोर्लुकि 'अन्वेतवै' इति।

सू + तवेङ् (= तवे, ङित्वात् गुणाभाव) = सूतवे। लोक में - सोतुम्। (१३) कृञ् + तवेन् (= तवे, ऋ = 'अर्' - गुण, रपर) = कर्तवे। लोक में - कर्तुम्।

(२३०४) **पद**—प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै। **अनुवृत्ति**—तुमर्थे, छन्दसि, धातोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ये तीनों तुमर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२३०३) से 'तुमर्थे', 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (३।४।६) से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आती है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार "वेद में प्रयै, रोहिष्यै और अव्यथिष्यै निपातन से सिद्ध होते हैं।"

उदाहरण—प्र + ✓या + कै (= 'ऐ' निपातन, आ का लोप) = प्रयै। लोक में - प्रयातुम्। ✓रुह् + 'इष्यै' प्रत्यय निपातन, उपधागुण) = रोहिष्यै। लोक में - प्रयातुम्। ✓रुह् + 'इष्यै' (- प्रत्यय निपातन, उपधागुण) = रोहिष्यै। लोक में – रोढुम्। नञ् + ✓व्यथ् + इष्यै = अव्यथिष्यै। लोक में - अव्यथितुम्।

(२३०५) **पद**—दृशे, विख्ये, च। **अनुवृत्ति**—तुमर्थे, छन्दसि, धातोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ये दोनों तुमर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं।

विमर्श—पूर्ववत् 'तुमर्थे' और 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार "'दृशे' और 'विख्ये' - ये दोनों तुमर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं।"

उदाहरण—दृश् + के (= 'ए' प्रत्यय निपातन, कित्वात् गुणाभाव) = दृशे। वि + ख्या + के (= 'ए', 'आ' का लोप) = विख्ये।

(२३०६) **पद**—कृत्यार्थे, तवैकेन्केन्यत्वनः। **अनुवृत्ति**—छन्दसि, धातोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विमर्श—उक्तवत् 'छन्दसि' की अनुवृत्ति विद्यमान है। तदनुसार "कृत्य प्रत्यय के अर्थ में धातु से तवै, केन्, केन्य और त्वन् प्रत्यय वेद में होते हैं।"

उदाहरण—भावकर्म अर्थ में - अनु + ✓इण् (= इ + तवै, 'इ' = 'ए' - गुण, उ = 'व्' - यण्) = अन्वेतवै। अव + ✓गाहू विलोडने (= गाह् + केन् = 'ए' प्रत्यय निपातन) = **अवगाहे**। सन्नन्त ✓दृश् = **दिदृक्ष** + 'केन्य' (- प्रत्यय निपातन = एन्य, 'अ' का लोप, णत्व) = दिदृक्षेण्यः। कृञ् + त्वन् (= 'त्व' निपातन से, गुण, रपर) = कर्त्वम् (= कार्य)।

(२३०७) **पद**—सृपि-तृदोः, कसुन्। **अनुवृत्ति**—भावलक्षणे, छन्दसि, तुमर्थे। **विधिसूत्र**।

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्। पुरा जत्रुभ्य आतृदः। (२३०८) प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे ६।१।११५। ऋक्पादमध्यस्थ एङ् प्रकृत्या स्यादिति परे, न तु वकारयकारपरेऽति। उपप्रयन्तो अध्वरम्। सुजाते अश्वसूनृते। अन्तःपादं किम्? एतास एतेऽर्चन्ति। अव्यपरे किम्? तेऽवदन्। **(२३०९) अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च ६।१।११६।** एषु व्यपरेऽप्यति एङ् प्रकृत्या। वसुभिर्नो अव्यात्।

(२३०७) **सृपितृदोः कसुन्।** भावलक्षणेऽर्थे विद्यमानयोः सृपितृदोस्तुमर्थे कसुन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः।

(२३०८) **प्रकृत्यान्त इति।** पादस्य मध्ये इत्यन्तः पादमित्यव्ययीभावः। पादश्चेह ऋक्पाद एव गृह्यते। 'वा छन्दसी'त्यतो मण्डूकप्लुत्या छन्दसीत्यनुवर्तते। अत आह — **ऋक्पादमध्यस्थ इति।**

(२३०९) **अव्यादवद्यादिति।** अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु,

---

मूलार्थ—सृप् और तृद् धातु से तुमर्थ में कसुन् प्रत्यय होता है। पुरा क्रुरस्य **विसृपो** विरप्शिन्। पुरा **जत्रुभ्य** आतृदः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'भावलक्षणे स्थेणकृञ्०' (३।४।१६) से 'भावलक्षणे' की अनुवृत्ति आती है। 'छन्दसि' की अनुवृत्ति पूर्ववत् विद्यमान है। 'धातोः' का अधिकार है। तदनुसार ''भावलक्षण में विद्यमान गत्यर्थक सृप् और हिंसार्थक तृद् धातु से तुमनर्थ में वेद में कसुन् (= अस्) प्रत्यय होता है।''

उदाहरण—वि + ✓सृप् + कसुन् (= 'अस्' प्रत्यय, कित्वात् उपधागुण का अभाव, स् = र् = :) = विसृपः। आ + तृद् + कसुन् (= 'अस्' प्रत्यय) = आतृदः।

(२३०८) **पद**—प्रकृत्या, अन्तःपादम्, अव्यपरे। **अनुवृत्ति**—एङः, अति, संहितायाम्।

मूलार्थ—ऋक्पादमध्यस्थ एङ् को प्रकृतिभाव होता है, किन्तु वकार-यकारपरक अत् परे रहते नहीं होता। उपप्रयन्तो अध्वरम्। सुजाते अस्वसूनृते। 'अन्तः पादम्' क्यों कहा? एतास एतेऽर्चन्ति। 'अव्यपरे' क्यों कहा? तेऽवदन्।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'एङः पदान्तादति' (४८) से 'एङः' और 'अति' की अनुवृत्ति आती है। 'संहितायाम्' का अधिकार है। तदनुसार ''ऋक्पादमध्यस्थ एङ् का अत् परे रहते प्रकृतिभाव होता है। किन्तु यकार-वकारपरक अत् के परे यह प्रकृतिभाव नहीं होता।''

उदाहरण—'उपप्रयन्तो + अध्वरम्' (में 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप प्राप्त होने पर प्रकृत सूत्र से प्रकृतिभाव) = उपप्रयन्तो अध्वरम्। सुजाते + अश्वसूनृते (पूर्वरूप प्राप्त होने पर प्रकृतिभाव) सुजाते अश्वसूनृते।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अन्तः पादम्' का निवेश होने से 'एतास एतेऽर्चन्ति' में पादमध्यस्थ के अभाव में प्रकृतिभाव नहीं होता, पूर्वरूप हुआ। 'अव्यपरे' का सूत्र में ग्रहण होने से 'तेऽवदन्' में प्रकृतिभाव नहीं होता। क्योंकि यहाँ वकारपरक अत् है।

(२३०९) **पद**—अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु, च। **अनुवृत्ति**—प्रकृत्या, अन्तःपादम्, एङः, अति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमु, अव्रत, अयम्, अवन्तु और अवस्यु शब्द परे रहते एङ् को प्रकृतिभाव होता है।

मित्रमहो अवद्यात् । मा शिवासो अवक्रमुः । ते नो अव्रत । शतधारो अयं मणिः । ते नो अवन्तु । कुशिकासो अवस्यवः । (२३१०) **सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ७।१।३९** । ऋजवः सन्तु पन्थाः । पन्थान इति प्राप्ते । परमे व्योमन् । व्योमनीति प्राप्ते । धीती मती सुष्टुती । धीत्या मत्या सुष्टुत्येति प्राप्ते पूर्वसवर्णः । या सुरथा रथीतमोभा । यौ सुरथाविति प्राप्ते आ । नताद् ब्राह्मणम् । नतमिति प्राप्ते आत् । यादेव विद्म ता त्वा । यमिति प्राप्ते । न युष्मे वाजबान्धवः, अस्मे इन्द्रा बृहस्पती, युष्मासु अस्मभ्यमिति प्राप्ते शे । उरुया, धृष्णुया । उरुणा धृष्णुनेति प्राप्ते या । नाभा पृथिव्याः ।

अवस्युः इत्येतेषु परत एङः प्रकृतिभावो निपात्यत इत्यर्थः । **अवक्रमुः** — अवपूर्वकस्य क्रमेर्लिट्युसि 'द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वा वचनमि'ति द्विर्वचनाभावे रूपम् ।

(२३१०) **सुपां सुलुक् इति** । सुपां स्थाने सुलुक् – पूर्वसवर्ण – आ – आत् – या – डा – ड्यायाच् आल् इत्येते आदेशाः स्युश्छन्दसीत्यर्थः । **ऋजवः सन्तु पन्थाः** – अत्र 'पन्थानः' इति बहुवचने प्राप्ते 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' इत्यनेन जसः स्थाने सु–विभक्तौ अनुबन्धलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'पन्थाः' इति ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (२३०७) से 'प्रकृत्या' तथा 'अन्तःपादम्' की अनुवृत्ति आती है । 'एङः पदान्तादति' (४८) से 'एङः' और 'अति' की अनुवृत्ति आ रही है । इस प्रकार "वेद में अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमु, अव्रत, अयम्, अवन्तु और अवस्यु शब्द का अवयव अत् परे रहते एङ् को प्रकृतिभाव होता है । इनमें यकार-वकारपरक अत् के परवर्ती रहने पर पूर्वसूत्र से प्रकृतिभाव प्राप्त नहीं था । अतः प्रकृत सूत्र द्वारा निपातन किया गया है ।"

उदाहरण—(१) वसुभिर्नो + अव्यात् (प्रकृतिभाव निपातन) = वसुभिर्नो अव्यात् । (२) मित्रमहो अवद्यात् । (३) मा शिवासो अवक्रमुः । (४) ते नो अव्रत । (५) शतधारो अयं मणिः । (६) ते नो अवन्तु । (७) कुशिकासो अवस्यवः (इन सभी प्रयोगों में प्रकृत सूत्र से प्रकृतिभाव निपातन होने से अव् आदि नहीं होते) ।

(२३१०) **पद**—सुपाम्, सुलुक्, पूर्व........जालः । **अनुवृत्ति**—छन्दसि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वेद में सुप् के स्थान में सु, लुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल् ये आदेश बहुल करके होते हैं । ऋजवः सन्तु पन्थाः । 'पन्थानः' प्राप्त था । परमे व्योमन्, 'व्योमनि' प्राप्त था । धीती मती सुष्टुती इत्यादि ।

विमर्श—'क्त्वापि छन्दसि' (७।१।३८) से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "वेद में सुप् के स्थान में सु, सुप् का लुक्, पूर्वसवर्णदीर्घ, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच् और आल् ये आदेश होते हैं ।"

उदाहरण—(१) पन्थाः (जस् को 'सु' आदेश, रुत्व, विसर्ग) = पन्थाः । 'पन्थानः' प्राप्त था । (२) परमे व्योमन् ('ङि' का लुक्) । लोक में – व्योमनि । (३) धीती मती (पूर्वसवर्णदीर्घ) । लोक में - धीत्या, मत्या । इसी प्रकार - सुष्टुती । (४) या सुरथा रथीतमोभा (यहाँ 'सुरथौ' प्राप्त था, औ = 'आ') = सुरथा । (५) नताद् ब्राह्मणम् ('नतम्' प्राप्त था, अम् = 'आत्' आदेश) = नताद् । (६) याद् देव विद्म ता त्वा (यहाँ 'यम्' प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से अम् = आत्) = यात् । (७) न युष्मे वाजबन्धवः (यहाँ सप्तमी बहुवचन सुप् को 'से' आदेश) = युष्मे । (८) अस्मे इन्द्राबृहस्पती ('भ्यस्' के शे आदेश) = अस्मे । इन दोनों में 'युष्मासु' और 'अस्मभ्यम्' रूप प्राप्त थे । (९) उरुया

नाभाविति प्राप्ते डा। ता अनुष्ठ्योच्च्यावयतात्। आङो ड्या। साधुया, साध्विति प्राप्ते याच्। वसन्ता यजेत। वसन्त इति प्राप्ते आल्। * इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् *। उर्विया। उरुणेति प्राप्ते इया। सुक्षेत्रिया। सुक्षेत्रिणेति प्राप्ते डियाच्। 'दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्'। सरस्यामिति प्राप्ते ई। **(२३११) आज्जसेरसुक् ७।१।५०।** ब्राह्मणासः। * तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् *। तन्वं पुषेम, तनुवं पुषेम। विष्वं पश्य, विषुवं पश्य। स्वर्गो लोकः। सुवर्गो लोकः। त्र्यम्बकम्, त्रियम्बकम्। वरेण्यम्, वरेणिम्। अतो भिस ऐस्। **(२३१२) बहुलं छन्दसि ७।१।१०।** अग्निर्देवेभिः। **(२३१३)**

(२३११) **आज्जसेरसुक्**। अवर्णान्तादङ्गात्परस्य जसोऽसुक् स्यादित्यर्थः। **ब्राह्मणासः** — ब्राह्मणशब्दाज्जसि अनुबन्धलोपे 'आज्जसेरसुक्' इत्यसुगागमेऽनुबन्धलोपे 'ब्राह्मण + अस्' इति जाते सवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'ब्राह्मणासः' इति। **तन्वादीनामिति**। तन्वादीनां छन्दसि बहुलमिति वार्तिकमत्र संक्षिप्योक्तम्। तन्वादिगस्थानां शब्दानामियङ्-उवङौ छन्दसि वा स्यातामित्यर्थः।

धृष्णुया (यहाँ 'टा' के स्थान में या आदेश) = उरुया, धृष्णुया। लोक में - उरुणा, धृष्णुना। (११) नाभा पृथिव्या ('ङि' को डा = 'आ' आदेश) = नाभा। लोक में - नाभौ। (१२) ता अनुष्ठ्योच्या-वयतात् (अनुष्ठानम् - अनुष्ठा तथा अनुष्ठ्या, आङ् के स्थान में ड्या आदेश - टिलोप) = अनुष्ठ्या। (१३) साधुया (सु = याच् = 'या') = साधुया। (१४) वसन्ता यजेत (वसन्ते यजेत प्राप्त था, ङि = आल् = 'आ' आदेश) = वसन्ता।

वा०—वेद में सुप् के स्थान में इया, डियाच् और ईकार आदेश होते हैं। **उदाहरण**—उर्विया (उरु + टा = 'इया' आदेश, यण्) = उर्विया। लोक में - उरुणा। सुक्षेत्रिया (सुक्षेत्रिणा प्राप्त था, टा = डियाच् = इया, टिलोप) = सुक्षेत्रिया। दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् ('सरसि' प्राप्त था, इ = 'ई' आदेश) = सरसी। लोक में - 'सरस्याम्'।

(२३११) **पद**—आत्, जसेः, असुक्। **अनुवृत्ति**—छन्दसि, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—वेद में अवर्णान्त अङ्ग से परे जस् को असुक् का आगम होता है। ब्राह्मणासः। **वा०** - तन्वादि को वेद में इयङ् - उवङ् विकल्प से होते हैं। तन्वं पुषेम, तनुवं पुषेम। विष्वं पश्य, विषुवं पश्य। स्वर्गो लोकः, सुवर्गो लोकः। त्र्यम्बकम्, त्रियम्बकम्। वरेण्यम्, वरेणिम्।

विमर्श—'क्त्वापि छन्दसि' (७।१।३८) से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार "वेद में अवर्णान्त अङ्ग से परे विद्यमान जस् को असुक् का आगम बहुल करके होता है।"

उदाहरण—ब्राह्मण + जस् (जस् को असुक् = 'अस्' का आगम) — ब्राह्मण अस् अस् (पूर्वसवर्णदीर्घ, अन्त्य स् = र् = :) = ब्राह्मणासः।

वा०—तनु आदि शब्दों में इयङ्-उवङ् विकल्प से होते हैं। **उदाहरण**—(१) तनु + अम् ('उ' = 'उवङ्' = 'उव' वार्तिक से) = तनुवम्। पक्ष में - यण् = तन्वम्। (२) विषु + अम् (उवङ्) = विषुवम्। पक्ष में यण् - विष्वम्। (३) सु + अर्गः (उ = उवङ् वैकल्पिक) = सुवर्गः। पक्ष में यण् - स्वर्गः। (४) त्रि + अम्बकम् (इ = इयङ् विकल्प से) = त्रियम्बकम्। पक्ष में यण् - त्र्यम्बकम्। (५) वरेणि + अम् (इयङ्) = वरेणियम्। पक्ष में यण् - वरेण्यम्।

मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः ६।४।१४१ । आत्मन्शब्दस्यादेर्लोपि आङि। त्मना देवेषु। अपोभि । *** मासश्छन्दसीति वक्तव्यम् *** । माद्भिः । शरद्भिः । **(२३१४) प्रसमुपोदः पादपूरणे ८।१।६ ।** एषां द्वे स्तः पादपूरणे । प्रप्रायमग्निः । संसमिद्युवसे । उपोप मे

(२३१२) **बहुलं छन्दसि** । छन्दसि बहुलं भिस ऐस् स्यात्, कुत्रचित् प्राप्तावपि न भवतीत्याशयः । **अग्निर्देवेभिः** — अत्र ऐसादेशाभावे 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्वम् ।

(२३१३) **मन्त्रेष्वाङ्यादेरिति** । **आङीति** । टाविभक्तावित्यर्थः । **माद्भिः** — मास-शब्दस्य 'पद्दन्नोमास्०' इत्यादिना सकारान्तो 'मास्' इत्यादेशे भिसि, 'मास् + भिस्' इत्यत्र 'मासश्छन्दसीति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन सस्य तकारे जश्त्वेन दकारे, सस्य रुत्वे विसर्गे च 'माद्भिः' इति रूपम् ।

(२३१४) **प्रसमुपोद इति** । **प्रप्रायमग्निः** — अत्र 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' इत्यनेन प्र उपसर्गस्य द्वित्वं भवतीति ।

(२३१२) **पद**—बहुलं, छन्दसि । **अनुवृत्ति**—अतो भिस ऐस्, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—वेद में भिस् को ऐस् बहुलता से होता है । अग्निर्देवेभिः ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है । अङ्गस्य का अधिकार है । तदनुसार "वेद में अदन्त अङ्ग से परवर्ती 'भिस्' के स्थान में 'ऐस्' आदेश बहुलप्रकार से होता है ।"

उदाहरण—देव + भिस् (भिस् = 'ऐस्' बहुल प्रकार से, वृद्धि, स् = र् = :) = देवैः । भिस् = ऐस् के अभाव पक्ष में - देव + भिस् (अ = ए - 'एत्व' 'बहुवचने झल्येत्', स् = र् = :) = देवेभिः ।

(२३१३) **पद**—मन्त्रेषु,. आङि, आदेः, आत्मनः । **अनुवृत्ति**—लोपः, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—मन्त्र में आङ् परे रहते आत्मन् शब्द के आदि का लोप होता है । त्मना देवेषु । अपोभि । **वा०**—छन्द में मास् शब्द के सकार को तकार आदेश होता है । माद्भिः । शरद्भिः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "मन्त्र में आङ् (= टा) के परवर्ती रहते आत्मन् शब्द के आदि आकार का लोप होता है ।"

उदाहरण—आत्मन् + टा (= 'आ', 'आत्मन्' के आदिवर्ण 'आ' का लोप) = त्मना ।

वा०—वेद में मास् के स् के स्थान में 'त्' आदेश होता है भादि प्रत्यय के परे ।

उदाहरण—मास + भिस् (मास = 'मास्' आदेश - 'पद्दन्नोमास्०', 'स्' = 'त्' आदेश - वार्तिक से, 'त्' = 'द्' - जश्त्व, स् = र् = :) = माद्भिः ।

(२३१४) **पद**—प्रसमुपोदः, पादपूरणे । **अनुवृत्ति**—सर्वस्य द्वे । **विधिसूत्र** ।

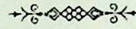
मूलार्थ—वेद में प्र, सम्, उप और उद् को द्वित्व होता है, यदि पादपूर्ति होती हो । प्रप्रायमग्निः । संसमिद्युवसे । उपोपमे परामृश । किं नो दुदु हर्षसे ।

विमर्श—यहाँ 'सर्वस्य द्वे' (८।१।१) की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "पादपूरणार्थक प्र, सम्, उप और उत् को वेद में द्वित्व होता है ।"

उदाहरण—प्र + अयम् अग्निः ('प्र' को द्वित्व, दीर्घ) = प्र प्रायमग्निः । सम् + इद्युवसे (सम्

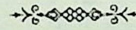
परामृश। किं नो दुदु हर्षसे। (२३१५) षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ८।३।५३। विसर्गस्य सः स्यात्। वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्। दिवस्पुत्राय सूर्याय। दिवस्पृष्ठं भन्दमानः। तमसस्पारमस्य। परीवीत। इलस्पदे। दिवस्पयो दिधिषाणा। रायस्पोषं यजमानेषु।

इति वैदिकप्रकरणम्।



(२३१५) **षष्ठ्या इति**। षष्ठ्यन्तविसर्गस्य पतिपुत्रादिषु परतः सकारादेशः स्याच्छन्दसीत्यर्थः। **वाचंस्पतिमिति**। 'वाचः + पतिम्' इत्यत्र षष्ठ्याः 'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वे 'वाचस्पतिमि'ति रूपम्।

इति वैदिकप्रकरणम्।



को द्वित्व) = संसमिद्युवसे। उप मे परामृश ('उप' को द्वित्व) — उप उप (गुण) = उपोप मे परामृश। किं न उदु हर्षसे (उत् को द्वित्व) = किन्नो दुदु हर्षसे।

(२३१५) **पद**—षष्ठ्याः, पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु। **अनुवृत्ति**—छन्दसि, विसर्जनीयस्य, सः, पदस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् और पोष शब्द परे रहते षष्ठी के विसर्ग को सकार आदेश होता है। वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्। दिवस्पुत्राय सूर्याय। दिवस्पृष्ठं भन्दमानः। तमसस्पारमस्य। परीवीत इलस्पदे। दिवस्पयो दिधिषाणाः। रायस्पोषं यजमानेषु।

विमर्श—'छन्दसि वाऽऽम्रेडितयोः' (८।३।४९) से 'छन्दसि' तथा 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) की अनुवृत्ति आती है। 'संहितायाम्' का अधिकार है। तदनुसार ''वेद में - पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् और पोष के परवर्ती रहते षष्ठी सम्बन्धी विसर्ग को सत्व ('स्' आदेश) होता है।''

उदाहरण—(१) वाचः + पतिम् (ः = 'स्' आदेश प्रकृत सूत्र से) = वाचस्पतिम्। (२) दिवः + पुत्राय (विसर्ग = स्) = दिवस्पुत्राय। (३) तमसः + पारम् (स् आदेश) = तमसस्पारम्। (४) इलः + पदे (सत्व) = इलस्पदे। (५) दिवः + पयः (सत्व) = दिवस्पयः। (६) रायः + पोषम् (सत्व) = रायस्पोषम्।

वैदिक-प्रकरण समाप्त।



अथ स्वरप्रकरणम्

(२३१६) धातोः ६।१।१६२ । अन्त उदात्तः स्यात् । **(२३१७) अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ६।१।१५८ ।** परिभाषेयं स्वरविधिविषया। यस्मिन्पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्कं स्यात्। गोपाय तं नः। अत्र 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे धातुस्वरेण यकाराकार उदात्तः।

अथ स्वरप्रकरणं निरूप्यते – वेदेषु मुख्यास्त्रयः (उदात्तानुदात्तस्वरिताः) स्वरा उपयुज्यन्ते।

(२३१६) **धातोः**। धातोरन्त उदात्तः स्यादित्यर्थः।

(२३१७) **अनुदात्तं पदमिति**। परिभाषाया लिङ्गापेक्षायामाह – **स्वरविधीति**। अत्रानुदात्तस्य क्रियमाणत्वात् तद्भिन्न उदात्तः स्वरितो वा वर्ज्यत इत्याह – **तमेकमिति**। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्यस्योदात्तस्वरितविधानं तस्यैव वर्जनम्। गोपायतं नः – 'गुपू रक्षणे' इत्यस्माद्धातोः लोट्लकारस्य मध्यमपुरुषद्विवचनस्य रूपमेतत्। अत्र 'धातोः' इत्यनेनान्तोदात्तः। ततः आयप्रत्ययः 'आद्युदात्तश्चे'ति प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः। ततः धातुसंज्ञायां 'धातोः' इत्यनेन यकाराकार उदात्तः। स च प्रागुक्तयोः उदात्तयोः सतोः पश्चात्प्रवृत्तत्वात् सति शिष्टः अतो बलवान्। तस्य 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनेनानुदात्तेन शपोऽकारेण सह 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः थसस्तमादेशः'। तस्य 'तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्' इत्युपदेशात्परत्वादनुदात्तत्वम्।

वैदिक प्रकरण में वेदों में प्रयुक्त कतिपय शब्दों की सिद्धि-प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया। अब वैदिक स्वरों को स्पष्ट करने के लिए स्वरप्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है। वेदों के मन्त्रों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन प्रकार के स्वरों का उपयोग किया गया है।

(२३१६) **पद**—धातोः। **अनुवृत्ति**—अन्त उदात्तः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—धातु का अन्त उदात्त होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' (६।१।१५९) से 'अन्त उदात्तः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''धातु का अन्त उदात्त होता है।''

(२३१७) **पद**—अनुदात्तम्, पदम्, एकवर्जम्। **परिभाषासूत्र**।

मूलार्थ तथा विमर्श—यह स्वरविधि विषयक परिभाषासूत्र है। ''जिस पद में जिस अच् को उदात्त अथवा अनुदात्त विधान किया गया है, उस एक अच् को छोड़कर उस पद के शेष सभी अच् अनुदात्त होते हैं।''

उदाहरण— गोपायतं नः — 'गुपू रक्षणे' में उकार की इत्संज्ञा लोप होने पर 'धातोः' (२३१६) सूत्र से गकारोत्तरवर्ती उकार उदात्त है। उससे 'आय' प्रत्यय हुआ। वह 'आद्युदात्तश्च' इस प्रत्यय स्वर से आकार आद्युदात्त है। 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातुसंज्ञा होने पर 'गोपाय' में अन्तिम अकार 'धातोः' से उदात्त है। शेष को निघात (अनुदात्त) है। यह उदात्त पूर्व प्रवृत्त √गुप् के उकार को उदात्तत्व एवं 'आय' के अकार को जो उदात्त स्वर हुआ था उसके पश्चाद्भावी होने से शिष्टस्वर है। अतः बलवान् है। इस प्रकार √गोपाय अन्तोदात्त है। अनन्तर शप् (अ) विकरण है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' से शप् का अकार अनुदात्त होता है। इस अनुदात्त से पूर्ववर्ती उदात्त 'अ' का 'अतो गुणे' से पररूप। पररूप से निष्पन्न एकादेश रूप अकार 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से उदात्त है। 'थस्' =

शिष्टमनुदात्तम्। (२३१८) उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ८।४।६६। इति तकाराकारः। स्वरितः। (२३१९) स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् १।२।३९। एकश्रुतिः स्यात्। इति नकाराकारः प्रचयः। (२३२०) अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ६।१।१६१। यस्मिन्ननुदात्ते उदात्तो लुप्यते, तस्योदात्तः। देवीं वाचम्। अत्र

तस्य 'उदात्तानुदात्तस्य स्वरितः' इत्यनेन स्वरितत्वे 'स्वरितात्संहितायाम्' इत्यनेन नकारस्य एकश्रुतौ 'गोपायतं नः' इति।

(२३१८) **उदात्तादनुदात्तस्येति**। उदात्तात्परस्य अनुदात्तस्य स्वरितः स्यादित्यर्थः।

(२३१९) **स्वरितात्संहितायामिति**। स्वरितात्परेषामनुदात्तानां संहितायामेकश्रुतिः स्यादित्यर्थः। 'गोपायतं नः' इत्यत्र नकाराकारः प्रचयः = एकश्रुतिः।

(२३२०) **अनुदात्तस्य चेति। देवीं वाचमिति**। अत्र देवशब्दोऽच्प्रत्ययान्तत्वात् 'चितः' इत्यनेनान्तोदात्तः। पचादिषु देवडिति पाठात् टित्त्वात् 'टिड्ढाणञ्०' इत्यादिना ङीप्प्रत्यये तस्य 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनुदात्तत्वे 'यस्येति चे'त्यनेनाकारलोपे 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' इत्यनेन ङीपः उदात्तत्वे **देवीमिति**।

'तम्' आदेश। उसको अदुपदेश से परत्व के कारण 'तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशात्' से अनुदात्तत्व होता है। तब 'उदात्तानुदात्तस्य स्वरितः' से तकारोत्तरवर्ती अकार को 'स्वरित' हो जाता है।

(२३१८) **पद**—उदात्तात्, अनुदात्तस्य, स्वरितः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ एवं विमर्श—"उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित होता है।" 'गोपायतं नः' में तकारोत्तरवर्ती 'अकार' स्वरित है।

(२३१९) **पद**—स्वरितात्, संहितायाम्, अनुदात्तानाम्। **अनुवृत्ति**—एकश्रुतिः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—स्वरित से परे अनुदात्त को संहिता में एकश्रुति स्वर होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ' (१।२।३३) से 'एकश्रुति' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "स्वरित से परवर्ती अनुदात्त को संहिता में एकश्रुति (प्रचय) स्वर होता है।" **उदाहरण**—'गोपायतं नः' में नकारोत्तरवर्ती अकार प्रचय (एकश्रुति) है।

विशेष—एका श्रुतिः श्रवणं यस्य तत् एकश्रुतिः। वाक्य में पृथक्-पृथक् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का श्रवण न होकर एक प्रकार का स्वर सुनाई देता है, उसे एकश्रुति कहते हैं।

(२३२०) **पद**—अनुदात्तस्य, च, यत्र, उदात्तलोपः। **अनुवृत्ति**—उदात्तः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जिस अनुदात्त के परे रहते उदात्त का लोप हो जाय तो वह अनुदात्त स्वर उदात्त हो जाता है। देवीं वाचम्। यहाँ ङीप् उदात्त है।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' (६।१।१५९) से 'उदात्तः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "जिस अनुदात्त अच् के परवर्ती रहते उदात्त अच् का लोप हुआ हो तो उस अनुदात्त अच् को उदात्त आदेश हो जाता है।"

उदाहरण— देवीं वाचम्। यहाँ 'देव' शब्द अच्प्रत्ययान्त होने से 'चितः' से अन्तोदात्त है। पचादिगण में 'देवट्' का पाठ है। अतः टित् होने से 'टिड्ढाणञ्०' से ङीप् होता है, वह ङीप् (ई) 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' से अनुदात्त है। 'यस्येति च' से 'अ' का लोप होने पर 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' से ङीप् (ई) को उदात्त आदेश - देवीम्।

ङीबुदात्तः । (२३२१) आद्युदात्तश्च ३।१।३ । प्रत्ययस्याद्युदात्तः स्यात् । कर्तव्यम् । **(२३२२) अनुदात्तौ सुप्पितौ ३।१।४ ।** पूर्वस्यापवादः । यज्ञस्य । न यो युच्छति । शिप्तिपोरनुदात्तत्वे स्वरितप्रचयौ ।**(२३२३) चितः ६।१।१६३ ।** अन्त उदात्तः स्यात् । * चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम् * । चिति प्रत्यये सति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यान्त उदात्तो वाच्य इत्यर्थः । नभन्तामन्यके समे । यके सरस्वतीमनु । तकत्सुते । **(२३२४) तद्धितस्य ६।१।१६४ ।(२३२५) कितः ६।१।१६५ ।** चितस्तद्धित-

---

(२३२१) **आद्युदात्तश्चेति** । प्रत्ययस्याद्युदात्तः स्यादिति ।

(२३२२) **अनुदात्ताविति** । सुपः पितश्च प्रत्यया आद्यनुदात्ताः स्युरित्यर्थः ।

(२३२३) **चितः** । चितोऽन्तोदात्तो भवतीत्याशयः ।

(२३२४) **तद्धितस्य** । **कौञ्जायनाः** – कुञ्जस्यापत्यानीति विग्रहे 'गोत्रे कुञ्जादिभ्य-

---

(२३२१) **पद**—आद्युदात्तः, च । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्रत्यय का आदि उदात्त होता है । कर्तव्यम् ।

विमर्श—'प्रत्ययः' (३।१।१) की अनुवृत्ति आ रही है । अतः ''प्रत्यय का आदि वर्ण उदात्त होता है ।''

उदाहरण—✓कृ + तव्यत् (= तव्य, गुण, रपर, विभक्तिकार्य) = कर्तव्यम् । यहाँ तव्य प्रत्यय का आदि 'अ' वर्ण उदात्त हुआ ।

(२३२२) **पद**—अनुदात्तौ, सुप्पितौ । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सुप् और पित् प्रत्यय का आदि अनुदात्त होता है । पूर्वसूत्र का यह अपवाद है । यज्ञस्य । यो न युच्छति ।

विमर्श—पूर्ववत् 'प्रत्ययः' की अनुवृत्ति अनुसरण कर रही है । तदनुसार ''सुप् तथा पित् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं ।'' यह पूर्वसूत्र का बाधक है ।

उदाहरण—**यज्ञस्य** । यहाँ सुप् प्रत्यय अनुदात्त हुआ । ✓युच्छ प्रमादे + शप् प्रत्यय अनुदात्त हुआ । यहाँ शप् - तिप् को अनुदात्तत्व होने पर स्वरित (प्रचय) होता है ।

(२३२३) **पद**—चितः । **अनुवृत्ति**—अन्त उदात्तः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—चित् प्रत्यय का अन्त उदात्त होता है । **वा०**—चित् प्रत्यय होने पर प्रकृति-प्रत्यय समुदाय का अन्त उदात्त होता है, ऐसा कहना चाहिए । नभन्तामन्यके समे । यके सरस्वतीमनु । तकत्सुते ।

विमर्श—'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' (६।१।१५९) से 'अन्त उदात्तः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार ''चकारेत्संज्ञक प्रत्यय का अन्त्य वर्ण उदात्त होता है ।''

वा०—प्रत्यय चित् होने पर प्रकृति-प्रत्यय समुदाय का ही अन्त उदात्त करना चाहिए ।

उदाहरण—नभन्तामन्यके समे । यहाँ 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' से अकच् = अक प्रत्ययघटित समुदाय 'अन्यके' का एकार उदात्त हुआ । यके सरस्वतीमनु । यत् शब्द से अकच् होने पर 'यके' का एकार उदात्त । तकत्सुते । यहाँ अकच्घटित समुदाय का एकार उदात्त होता है ।

(२३२४) **पद**—तद्धितस्य । **अनुवृत्ति**—चितः, अन्त उदात्तः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—चित् तद्धित प्रत्यय का अन्त उदात्त होता है । पूर्वसूत्र से ही उदात्तत्व सिद्ध था, यह सूत्र ञित् स्वर बाधनार्थ है । कौञ्जायनाः ।

स्यान्त उदात्तः। यदाग्नेयः। (२३२६) तित्स्वरितम् ६।१।१८५। क्व नूनम्। (२३२७) उपोत्तमं रिति ६।१।११७। रित्प्रत्ययान्तस्योपोत्तममनुदात्तं स्यात्। **यदाहवनीये। (२३२८) ञ्नित्यादिर्नित्यम् ६।१।१९७।** ञिदन्तस्य निदन्तस्य

श्च्फञ्' इति च्फञ्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे फस्यायनादेशे आद्यचो वृद्धौ कौञ्जायन इति जाते 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' इति ञ्प्रत्यये तद्राजसंज्ञायाम् 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति ञ्यप्रत्ययस्य लुकि प्रातिपदिकत्वे जसि 'कौञ्जायनाः' इति। अत्र 'तद्धितस्ये'त्यनेनान्तोदात्तत्वं भवति।

(२३२५) **कितः**। कितस्तद्धितान्तस्यान्त उदात्तो भवतीत्यर्थः।

(२३२६) **तित्स्वरितम्**। तकारः इत् यस्येति तित् बहुव्रीहिः। तित्स्वरितं भवतीत्यर्थः।

(२३२७) **उपोत्तमं रिति**। अनुदात्तमित्यनुवर्तते। तदाह — **रित्प्रत्ययान्तस्येति। यदाहवनीये** — आङ्पूर्वाद् हुधातोरनीयर्प्रत्ययः। उपोत्तमम् = उपान्त्यमित्यर्थः, ततो गतिसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः।

(२३२८) **ञ्नित्यादिरिति**। पूर्वसूत्राद् 'उदात्तः' इत्यनुवर्तते। अत आह — **ञिदन्त-**

विमर्श—पूर्वसूत्र 'चितः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। पूर्ववत् 'अन्त उदात्तः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ''तद्धित प्रत्ययसम्बन्धी चित् प्रत्यय का अन्त उदात्त होता है।''

उदाहरण—कौञ्जायनाः (बहुत्वविशिष्ट अपत्य अर्थ में कुञ्ज शब्द से 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्' सूत्र से च्फञ् = 'फ' प्रत्यय, फ = आयन, आद्यच् को वृद्धि) - कौञ्जायन + 'ञ्य' प्रत्यय (- 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्', तद्राजसंज्ञा, 'ञ्य' का लुक् - 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम्', प्रथमा बहुवचन में विभक्तिकार्य) = कौञ्जायनाः। यहाँ 'तद्धितस्य' से अन्तोदात्त हुआ।

(२३२५) **पद**—कितः। **अनुवृत्ति**—तद्धितस्य, अन्त उदात्तः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—कित् तद्धित का अन्त उदात्त होता है। यदाग्नेयः।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'तद्धितस्य' (२३२४) की तथा पूर्ववत् 'अन्त उदात्तः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''तद्धितसम्बन्धी कित् प्रत्यय का अन्त्य वर्ण उदात्त होता है।''

उदाहरण—यदाग्नेयः (अग्नि + ढक् = ढ = एय, आदिवृद्धि, 'इ' का लोप) = आग्नेयः। यहाँ अन्त 'अ' उदात्त हुआ।

(२३२६) **पद**—तित्, स्वरितम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—तित् प्रत्यय का अन्त स्वरित होता है। क्व नूनम्।

विमर्श—तकार की इत्संज्ञा युक्त प्रत्यय होने पर स्वरित होता है।

उदाहरण— क्व नूनम् — किम् + अत् (= 'अ' प्रत्यय, किम् = 'क्व' आदेश) = 'क्वातिः'। प्रकृत सूत्र द्वारा 'क्व' का अन्त स्वरित हुआ।

(२३२७) **पद**—उपोत्तमम्, रिति। **अनुवृत्ति**—उदात्तः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—रित् प्रत्यय का उपोत्तम (अन्त से पूर्व अच्) उदात्त होता है। यदाहवनीये।

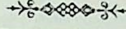
विमर्श—पूर्ववत् 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' (६।१।१५९) से 'उदात्तः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ''रेफ इत्संज्ञक प्रत्ययान्त का उपोत्तम (अन्त्य अच् से पूर्व अच्) वर्ण उदात्त होता है।''

उदाहरण—आङ् + हु + अनीयर् = आहवनीये (यहाँ उपोत्तम वर्ण उदात्त हुआ)।

(२३२८) **पद**—ञ्निति, आदिः, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—उदात्तः। **विधिसूत्र**।

चादिरुदात्तः। यस्मि॒न्विश्वानि॒ पौंस्या। पुंसः कर्मणि ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। सु॒तेदधिष्व न॒श्चन। चायतेरसुन्। चायेरन्ने ह्रस्वश्चेति चकारादसुनो नुडागमः। **(२३२९) लिति ६।१।१९३।** इत्यादिप्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं स्यात्। चिकीर्षकः। अत्र ईकारस्योदात्तता। इत्यादिप्रयोगमनुसृत्यान्वाख्यातम्।

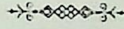
इति स्वरप्रक्रिया।



स्येति। यस्मिन्विश्वानि पौंस्या — पुंसः कर्मणि ब्राह्मणादित्वात् ष्यञि आद्यचो वृद्धौ स्त्रियां टापि 'पौंस्या' इत्यत्र 'ञ्नित्यादेर्नित्यमि'त्यनेन आद्युदात्तत्वे उक्तं रूपम्।

(२३२९) **लिति।** लिति परे प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं भवतीत्यर्थः। **चिकीर्षकः** — सन्नन्तात् चिकीर्षधातोः 'ण्वुल्तृचौ' इति ण्वुलि, 'वु' इत्यस्य अकादेशे आर्धधातुकत्वात् 'अतो लोपः' इत्यकारलोपे प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च 'चिकीर्षकः' इति। 'लिति' इत्यनेन ईकारस्य उदात्तत्वे 'चिकीर्षकः' इति।

इति स्वरप्रक्रिया।



मूलार्थ—ञिदन्त और निदन्त का आदि उदात्त होता है। यस्मिन्विश्वानि पौंस्या। 'पौंस्या' में पुंस् से कर्म में - ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। सुते दधिष्व नश्चनः। चाय् से असुन्, ह्रस्व एवं नुडागम ('चायतेरन्ने ह्रस्वश्चे'ति — उणादिसूत्र)।

विमर्श—पूर्ववत् 'उदात्तः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "ञिदन्त और निदन्त का आदि वर्ण उदात्त होता है।"

उदाहरण—यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ('पौंस्या' में पुंस् से कर्म में ष्यञ् = 'य', आदिवृद्धि, टाप्) = पौंस्या (यहाँ 'ञ्नित्यादेर्नित्यम्' से आदि वर्ण उदात्त)। नश्चनः (चाय् + असुन् = 'अस्', ह्रस्व तथा नुट् = 'न्' का आगम - 'चायतेरन्ने ह्रस्वश्च') = नश्चनः। यहाँ आदि वर्ण उदात्त हुआ।

(२३२९) **पद**—लिति। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययात्, पूर्वम्, उदात्तः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—लित् प्रत्यय परे रहते पूर्व उदात्त होता है। चिकीर्षकः। यहाँ ईकार उदात्त है।

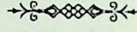
विमर्श—यहाँ 'भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात्पूर्वं पिति' (६।१।१९२) से 'प्रत्ययात् पूर्वम्' की तथा 'कर्षात्वतो घञोऽन्तोदात्तः' (६।१।१५९) से 'उदात्तः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "लकारेत्संज्ञक प्रत्यय के परवर्ती रहते पूर्ववर्ण उदात्त होता है।"

उदाहरण—सन्नन्त चिकीर्ष + ण्वुल् (= वु, वु = 'अक' आदेश) — ✓चिकीर्ष + अक ('अ' का लोप - 'अतो लोपः', प्रातिपदिकसंज्ञा सु = स् = र् = :) = चिकीर्षकः (यहाँ लित् प्रत्यय 'ण्वुल्' से पूर्व 'इ' को 'लिति' से उदात्त होता है)।

स्वरप्रक्रिया-प्रकरण समाप्त।



एषा वरदराजेन बालानामुपकारिका।
अकारि पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदी ॥ १॥
कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी।
तस्याः संख्या तु विज्ञेया खबाणकरवह्निभिः ॥ २॥
इति श्रीवरदराजकृता मध्यसिद्धान्तकौमुदी समाप्ता।

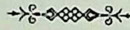


एषा वरदराजेनेति। पाणिनि मुनि प्रणीत व्याकरणशास्त्र को पढ़ने वाले बालकों के लिए परम उपकारिका यह मध्यसिद्धान्तकौमुदी महामहोपध्याय श्रीवरदराज भट्टाचार्य ने बनाई है।

वरदराज भट्टाचार्य की इस कृति मध्यसिद्धान्तकौमुदी की संख्या अनुष्टुप् छन्द के प्रमाण से ३२५० है (यद्यपि इसमें सूत्रसंख्या २३२९ है)।

वाग्देवताप्रसादेन श्रीमुंशीलालसुसूनुना।
शर्मणा सुरेशचन्द्रेण विहितेयं सुबोधिनी॥
व्याख्याता वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी।
बालानां सुखबोधाय तया तुष्यतु शङ्करः॥

इति श्री एटामण्डलान्तर्गत - उम्मेदपुरग्रामनिवासि - श्री पं० मुंशीलालशर्मसूनुना व्याकरणाचार्येण डॉ० सुरेशचन्द्रशर्मणा विरचिता सुबोधिनी नाम मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः संस्कृत - हिन्दीविवृत्तिः सम्पूर्णा।
॥ इति शम् ॥



सूत्र-सूची

वार्तिक-सूची

४५२

-1

15 – बुधवार – [illegible]
17 – शुक्र – इतिहास
20 – सोमवार – अंग्रेजी
22 – बुधवार – हिन्दी
24 – शुक्रवार – राजनीति
[illegible] – सोमवार – [illegible]

